काशी की पाण्डित्य-परम्परा

(काशीस्थ संस्कृत विद्वानों के जीवनचरित एवं साहित्यिक अवदानों का प्रामाणिक विवरण)

लेखक

पद्मभूषण आचार्य पण्डित बलदेव उपाध्याय

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

KĀSHĪ KĪ PĀNDITYA PARAMPARĀ

by

PADMBHUSAN ĀCHĀRYA PANDIT BALDEVA UPĀDHYĀYA

A Comprehensive historical account of the Sanskrit Pandits of Varanasi with their biography and works, literary attainments and reminiscences.

प्रकाशक
विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसो

मुद्रक
वाराणसी एलेक्ट्रानिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०, चौक, वाराणसी

समर्पण

अपनो परिभाषेन्दुशेखर-व्याख्या 'हैमवती' के द्वारा
व्याकरणशास्त्र को नवीन दिशा प्रदानकर्ता
व्याकरणवाचस्पति

पण्डित यागेश्वर ओझा

की

पुण्यमयी स्मृति में
सादर सप्रमोद समर्पित

बलदेव उपाध्याय

रसायनमयी शीता परमानन्ददायिनी ।
नानन्दयति कं नाम साधुसंगति-चन्द्रिका ।।

संस्कृत-कालेज की स्थापना के लगभग २५ वर्षों के अनन्तर कलकत्ता में भी संस्कृत-कालेज की स्थापना की गयी थी। उस विद्यालय में अध्यापन कार्य के लिये काशी के विद्वान् बुलाये जाते थे। इन पण्डितों का परिचय कलकत्ता से बगला में प्रकाशित कालेज के इतिहास के दो खण्डों में मिलता है। उस काल के काशीस्थ पण्डितो के परिचय का यह भी एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है।

ग्रन्थ के इस नवीन संस्करण को तैयार करने में अनेक शोधकर्त्ता विद्वानों का सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है जिनमें प्रधान है सम्पूर्णानन्द सस्कृत-विश्वविद्यालय के पुस्तकालयाध्यक्ष डॉ० विजयनारायण मिश्र। विजयनारायणजी ने समय-समय पर मेरी माँग के अनुसार अनेक पुस्तके उपलब्ध कराके विशेष सहायता प्रदान की है। इसके लिये मैं उनको भूरिशः आशीर्वाद देता हूँ।

मेरी दोनो आत्मजायें—श्रीमती अन्नपूर्णा मिश्र तथा डा० मालती त्रिपाठी भी धन्यवाद के पात्र है, जिन्होने नाना प्रकार की सहायता से मुझे साहित्यिक कार्य के लिए निश्चिन्त कर रखा है।

एक सहस्र पृष्ठों में मुद्रित ग्रन्थ का प्रूफ सशोधन भी एक विकट समस्या थी, परन्तु इस कार्य के लिए मुमुक्षुभवन विद्यालय के साहित्यशास्त्राध्यापक पण्डित महेशदत्त शुक्लजी का मै बहुत ही कृतज्ञ हूँ। वे इस शोधकार्य के लब्धवर्ण विद्वान् है जिन्होंने स्वामी गङ्गेश्वरानन्द द्वारा प्रकाशित 'भगवान् वेद·' नामक प्रख्यात वैदिक ग्रन्थ का प्रूफ सशोधन बड़े ही परिश्रम तथा लगन के साथ किया है। इस कार्य के लिए उन्हे अनेक बार पूरे ग्रन्थ का सशोधन करना पड़ा है। मै उन्हे अपना हार्दिक अभिनन्दन समर्पित करता हूँ। अनुक्रमणी के कार्य में उमाकान्त चतुर्वेदी ने बड़ा परिश्रम किया है। ये भी धन्यवाद के पात्र है।

मुझे पूरी आशा है कि 'काशी की पाण्डित्य-परम्परा' का यह अभिनव संस्करण इतिहास के जिज्ञासुओं के लिए अत्यन्त उपयोगी होगा। बाबा विश्वनाथ से लेखक की करबद्ध प्रार्थना है कि यह ग्रन्थ उस उद्देश्य को पूर्ण करे जिसके लिए लेखक ने इतना परिश्रम किया है। तथास्तु। भक्तों के कामपूरक भगवान् से मेरी विनीत प्रार्थना है—

असदविषयमङ्घ्रिं भावगम्यं प्रपन्नान्
अमृतममरवर्यानाशयत् सिन्धुमध्यम्।
कपटयुवतिवेषो मोहयन् यः सुरारीन्
तमहमुपसृतानां कामपूरं नतोऽस्मि॥

बलदेव उपाध्याय

आमुख

योऽनुग्रहार्थं भजतां पादमूलमनामरूपो भगवाननन्तः ।
नामानि रूपाणि च जन्मकर्मभिर्भेजे स मह्यं परमः प्रसीदतु ॥

भगवान् अनन्त के आत्यन्तिक अनुग्रह से संस्कृत-साहित्य के अनुरागी पाठकों के सामने 'काशी की पाण्डित्य-परम्परा' नामक यह नूतन रचना प्रस्तुत करते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है। इसमें विद्यानगरी काशी के मध्ययुगीन (१२०० ई०–१७५० ई०) तथा अर्वाचीन (१७५० ई०–१९५० ई०) संस्कृत विद्वानों की प्रामाणिक जीवनी, तत्प्रणीत ग्रन्थों की आलोचना एवं पावन संस्मरणों की परिचिति अतिशय निष्ठा, नैसर्गिक भक्ति तथा प्रभूत परिश्रम के द्वारा दी गई है।

इतः पूर्व कतिपय विद्वानों का ही परिचय उपलब्ध तथा प्रकाशित था। मध्ययुगीन संस्कृत विद्वानों का परिचय, संक्षिप्त ही सही, अवश्यमेव उपलब्ध होता है। महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज का एतद्विषयक प्रयास नितान्त स्तुत्य है जिन्होंने अपनी 'काशी की सारस्वत साधना' के द्वारा उस युग के महनीय लेखकों का संक्षिप्त परिचय प्रदान किया है। परन्तु गत दो शताब्दियों का इतिहास तो अज्ञान के अन्धकार में ही छिपा है। इस युग के पण्डितों के नाम की जितनी प्रसिद्धि है, परिचय की उतनी ही अल्पता है। आज से सौ वर्ष पूर्व ही से पण्डितों का ध्यान इधर गया, परन्तु ग्रन्थों का नितान्त अभाव है। पण्डित गङ्गाधर शास्त्री तैलंग ने अपने दोनों गुरुओं—पण्डित राजाराम शास्त्री एवं पण्डित बालशास्त्री—का परिचय तत्कालीन प्रख्यात पत्र 'काशी विद्या सुधानिधि' में (जो 'दी पण्डित' अंग्रेजी नाम से अधिक विख्यात था) क्रमशः १८७६ ई० में तथा १८८३-८४ ई० में चम्पूशैली में ललित संस्कृत पद्यों में निबद्ध किया। यही प्रथम प्रयास था अर्वाचीन काशीस्थ विद्वान् के चरित लिखने का। तदनन्तर पण्डित शिवकुमार शास्त्री ने 'यतीन्द्रजीवन-चरितम्' में भास्करानन्द स्वामी का तथा पण्डित प्रमथनाथ तर्कभूषण ने 'विजयप्रकाशः' (१८९१ ई०) में स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती का चरित संस्कृत पद्यों में निबद्ध कर सम्मान्य संन्यासियों के परिचय देने की परम्परा चलाई। पण्डित सुधाकर द्विवेदी ने 'गणक तरङ्गिणी' में, पण्डित नारायण शास्त्री खिस्ते ने 'विद्वच्चरित-पञ्चकम्' में (१९२८ ई०) तथा डॉ० मंगलदेव शास्त्री ने 'सारस्वती सुषमा' के आरम्भिक अंक में (१९४२ ई०) इसी परम्परा को अग्रसर किया। हिन्दी में इन संस्कृतज्ञों की जीवनी लिखने का आरम्भ किया पं० माधवप्रसाद मिश्र ने 'विशुद्धानन्दचरितावली' की रचना से (१८५५ ई० के आसपास) जिसका अनुकरण पं० नारायण शास्त्री पटवर्धन ने किया बालशास्त्री तथा बापूदेव शास्त्री-विषयक लघुकाय हिन्दी ग्रन्थों के निर्माण द्वारा (१८९८ ई०, राज-राजेश्वरी प्रेस, वाराणसी)। इन्हीं प्रामाणिक जीवनियों के आधार पर हिन्दी में छोटे-छोटे छिटपुट ग्रन्थों की रचना होती रही। परन्तु गत दो सौ वर्षों के भीतर उत्पन्न प्रख्यात संस्कृत पण्डितों का सामूहिक रूप से समवेत वर्णन अभी तक उपलब्ध

नहीं होता। इसी त्रुटि के निवारणार्थ इस 'काशी की पाण्डित्य-परम्परा' का प्रणयन किया गया है।

१२०० ई० से आरम्भ कर १९५० ई० तक साढ़े सात सौ वर्षों का काशीस्थ विद्वानों के साहित्यिक अवदान का यह प्रामाणिक विवरण एकान्त निष्ठा तथा सातिशय परिश्रम से प्रस्तुत किया गया है। यहाँ पण्डितों की केवल जीवनी ही नहीं दी गयी है, अपितु तद्विरचित ग्रन्थों का विश्लेषण एवं समालोचन प्रथम बार उपन्यस्त किया गया है। पण्डितों के रुचिकर एवं ज्ञानवर्धक संस्मरण अपने आप में एक महनीय उपलब्धि है। इनमें से कतिपय मैंने गुरुजनों से सुनकर संग्रह किया है, परन्तु अधिकांश संस्मरण मेरे निजी अनुभव की सम्पत्ति हैं। मैं इस विद्यानगरी में द्वादशवर्षी पञ्चयुगी से निरन्तर निवास कर रहा हूँ और समसामयिक सम्मान्य पण्डितों से सम्पर्क रखने का सतत प्रयत्न करता रहा हूँ। विद्वानों की जीवनगाथा की जिज्ञासा मेरे हृदय में पचासों वर्षों से जागरित है और इसी की पूर्ति का यह एक कमनीय प्रयास है।

ग्रन्थ में चुने गये विद्वानों को हम तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम श्रेणी में उन विद्वानों की गणना है जिनके लिए वाराणसी अध्ययन-स्थली एवं अध्यापन-स्थली दोनों रही है। यहीं इन विद्वानों ने परम्परा से ज्ञान अर्जन किया और इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए यहीं उस उपार्जित ज्ञान का वितरण भी किया। द्वितीय श्रेणी के विद्वान् वे है जिन्होंने संस्कृत के शास्त्रीय विषय का समुपार्जन तो यहाँ किया, परन्तु भारत के अन्य प्रान्तों में जाकर उस ज्ञान के समुचित वितरण में अपना जीवन विताया। तृतीय श्रेणी में उन पण्डितों का समावेश किया गया है जिन्होंने संस्कृत के शास्त्रों का अध्ययन तो काशी के बाहर किया, परन्तु काशी के छात्रों को अपने पाण्डित्य का प्रसाद वितरित किया। काशी के तीन महनीय संस्थानों से ये पण्डित किसी न किसी रूप में सम्बन्ध रखते थे। इनमें से सर्वप्रधान है काशी राजकीय पाठशाला, जो संस्कृत कालेज या गवर्नमेण्ट सस्कृत कालेज के नाम से विख्यात है, जिसकी स्थापना १७९१ ई० में काशीनरेश महाराजा महीपनारायण सिंह के शासनकाल में हुई और जो १९५८ ई० में संस्कृत विश्वविद्यालय के रूप में परिणत होकर आज वाराणसेय (सम्पूर्णानन्द) संस्कृत विश्वविद्यालय के अभिधान से विख्यात है। दूसरा है महाराजा काशीनरेश का दरबार, जो अपने आरम्भ काल से ही पण्डितों का आश्रयस्थल रहा है। ये दोनों समसामयिक संस्थान हैं लगभग दो सौ वर्ष प्राचीन। इधर पचास-साठ वर्षो से तीसरा संस्थान भी महामना मदनमोहन मालवीयजी द्वारा संस्थापित हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत संस्कृत महाविद्यालय के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। काशी में इस कालखण्ड के भीतर राजा-महाराजा, तथा सेठ-साहूकारों के द्वारा भी संस्कृत विद्या के प्रचारार्थ संस्कृत विद्यालयों की स्थापना की गई है जिनसे भी अनेक विद्वान् सम्बद्ध रहे हैं, परन्तु मुख्यता उपरिवर्णित तीन संस्थानों ही की है। फलतः विद्वानों के कार्यकलापों की पूरी जानकारी के लिए इन तीनों का वर्णन ग्रन्थ में तत्तत् स्थानों में किया गया है।

इस ग्रन्थ के तीन खण्ड हैं जो क्रमशः पूर्वपीठिका, अवतरणिका तथा उत्तरपीठिका के नाम से यहाँ अभिहित किये गये हैं। पूर्वपीठिका मध्ययुगीन (१२०० ई०–१७५० ई०) विद्वानों का, अद्वैती श्रीहर्ष से आरम्भ कर महावैयाकरण नागेशभट्ट तक, संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करती है। अवतरणिका मध्यस्थ खण्ड है जो पूर्व तथा उत्तर-पीठिकाओं को संयुक्त करने का

कार्य करता है। इसमें संस्कृत कालेज की स्थापना, काशीनरेश के इतिहास तथा संस्कृतप्रचार कार्य तथा काशीस्थ पण्डितों का वैशिष्ट्य क्रमशः वर्णित है। उत्तरपीठिका गत दो शताब्दियों के विद्वज्जनों का विस्तृत विवरण पूर्ण वैभव के साथ उपन्यस्त करती है। इस पीठिका के दो खण्ड हैं—प्रथम खण्ड में संस्कृत के विशुद्ध विद्वानों का ही परिचय है। इसमें ४० विद्वानों का मुख्यरूपेण वर्णन है, परन्तु इनके प्रतिस्पर्धी, सतीर्थ्य तथा शिष्य शताधिक पण्डित भी यथास्थान उपन्यस्त हैं। द्वितीय खण्ड में छह विद्वान् संन्यासियों के तथा छह अंग्रेजी-वेत्ता संस्कृतज्ञों के जीवनचरित तथा कार्य-कलाप का क्रमशः प्रतिपादन किया गया है। इसके अनन्तर लेखक का आत्मचरित तथा कतिपय परिशिष्ट ग्रन्थ के अन्त में सन्निविष्ट किये गये हैं। यही 'काशी की पाण्डित्य-परम्परा' के वर्ण्य विषयों की संक्षिप्त रूप-रेखा है।

परिशिष्ट खण्ड के पाँच परिशिष्टों के द्वारा मूल ग्रन्थ के कतिपय अंश की पूर्ति की गई है। प्रथम परिशिष्ट पुराणों में काशी का विवरण प्रस्तुत करता है जिसमें कतिपय पुराणों में निर्दिष्ट काशी-विषयक ललित पद्यों का उद्धरण देकर काशी के पुराणकालीन नगरविन्यास तथा वैभव का दिग्दर्शन कराया गया है। द्वितीय परिशिष्ट पाणिनि के प्रसिद्ध सूत्र 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' (अष्टाध्यायी १।२।७५) के अर्थवत्त्व पदार्थ का स्वरूप परिष्कार शैली से निरूपण करने में चरितार्थ होता है। संस्कृतज्ञ व्याकरण-वेत्ताओं को लक्ष्य कर यह संस्कृत में दिया गया है। भाषा सुबोध है जिससे समझने में विशेष कष्ट नहीं होगा। तृतीय परिशिष्ट काशी के प्रख्यात साधक तैलंग स्वामी का परिचय देता है। स्वामीजी काशी की एक महनीय आध्यात्मिक विभूति थे। उनके अध्ययन-अध्यापन, लेख तथा ग्रन्थ का परिचय न होने से मूल ग्रन्थ में इनका स्थान नहीं दिया जा सका था। इसी की पूर्ति यह परिशिष्ट करता है। चतुर्थ परिशिष्ट डॉ० गंगानाथ झा के द्वारा विरचित विशाल साहित्य का एकत्र परिचय देता है और अन्तिम पञ्चम परिशिष्ट एक ऐसे विदेशी संस्कृतज्ञ का परिचय प्रस्तुत करता है जिसने अपने जीवन के चालीस वर्ष के सुदीर्घ काल को काशी में ही रहकर बिताया, संस्कृत का गम्भीर अध्ययन करता रहा तथा अनेक अनूदित ग्रन्थों में 'दुर्गासप्तशती' का अपनी मातृभाषा यूनानी में पद्यानुवाद प्रस्तुत किया। इस अल्पज्ञात यूनानी संस्कृतज्ञ 'डेमेट्रियस गैलोनोस' का यह परिचय प्रथम बार हिन्दी के माध्यम से यहाँ दिया जा रहा है। आशा है, इन परिशिष्टों के द्वारा मूल ग्रन्थ के ज्ञातव्य विषयों की यथेष्ट पूर्ति होगी।

भगवती की कृपा ही समझिये कि ग्रन्थ में वर्णित प्राचीन पण्डितों के चित्र भी खोज करने पर उपलब्ध हो सके जिन्हें यथास्थान उपन्यस्त किया गया है। सौभाग्य का विषय है कि काशी के वरिष्ठ विद्यासंस्थान साङ्गवेद विद्यालय रामघाट के अधिकारियों ने अपने विद्यालय में इन चित्रों को सुसज्जित कर रखा है। अधिकांश चित्र वहीं से लिये गये हैं और इसके लिए मैं विद्यालय के व्यवस्थापक पण्डित उदयकृष्ण नागर का विशेष आभार मानता हूँ।

ग्रन्थ की सामग्री का सङ्कलन एक विषम समस्या थी, परन्तु अनेक विद्वानों तथा सहयोगियों के उद्योग तथा सत्परामर्श से इस कार्य में मुझे विशेष सफलता प्राप्त हो सकी है। काशीनरेश डॉ० विभूतिनारायण सिंह का मैं प्रभूत उपकार मानता हूँ जिन्होंने अपने पुस्तकालय से काष्ठजिह्व स्वामी की अलभ्य रचनाओं को मेरे अध्ययन के लिए सुलभ बनाया तथा अपने पूर्वजों के महनीय वृत्तों का परिचय देकर मुझे श्लाघनीय सहायता दी। मेरे अनुज डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय इस ग्रन्थ के लिखने में मेरे सन्तत सहायक रहे हैं। इस ग्रन्थ के निर्माण

के वे ही प्रेरणास्रोत रहे है तथा अनेक अंशों के लिपिबद्ध करने का श्रेय उन्हें प्राप्त है। इसके लिए मैं उन्हें आशीर्वाद देता हूँ। अनेक शुभचिन्तकों ने पुस्तक, लेख, चित्र आदि आवश्यक सामग्री को प्रस्तुत करने में मुझे सहयोग पहुँचाया है जिसके लिए मैं उनका विशेष आभार मानता हूँ। इनमें से कतिपय उपकारी सज्जनों का नाम यहाँ निर्दिष्ट करता हूँ—पं० गोपालदत्त पाण्डेय (सेवानिर्मुक्त उपशिक्षा-निदेशक, वाराणसी); पं० ब्रह्मदत्त द्विवेदी (अध्यक्ष मुरारका संस्कृत महाविद्यालय, पटना); पं० लाल बिहारी पाण्डेय (प्रवक्ता, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी); डॉ० गङ्गासागर राय (सह सम्पादक 'पुराणम्', पुराण संस्थान, काशीराजन्यास, दुर्ग रामनगर, वाराणसी); पं० नरेश झा (प्राचार्य, श्यामा संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी); पं० वासुदेव द्विवेदी (अध्यक्ष, सार्वभौम संस्कृत विद्यालय, वाराणसी); पं० चक्रवर्ती रामाधीन चतुर्वेदी (रीडर, सस्कृत महाविद्यालय, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी); सेठ मुरारीलाल केडिया (साहित्यप्रेमी उपकारव्रती उद्योगपति, वाराणसी)। पण्डित लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी' जी तथा मेरे ज्येष्ठ आत्मज गौरीशङ्कर जी ने ग्रन्थ के प्रूफ संशोधन में तथा अनुक्रमणिका के निर्माण में मेरी बड़ी सहायता की है। इसके लिए मेरा विशेष आभार।

विश्वविद्यालय प्रकाशन के अध्यक्ष बाबू पुरुषोत्तमदास मोदी ने बड़ी निष्ठा तथा लगन से इस विशालकाय ग्रन्थ का प्रकाशन किया है। इसे सुन्दर साज-सज्जा से समन्वित करने में उन्होंने अपनी ओर से कुछ उठा नही रखा है। इसके लिए मै उनका गुण मानता हूँ और आशा करता हूँ कि इसी प्रकार सत्-साहित्य के प्रकाशन में ये दत्तचित्त रहेंगे।

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज जी ने ही सर्वप्रथम काशी के पण्डितों का सुव्यवस्थित विवरण देने का श्लाघनीय प्रयत्न अपने लघुकाय ग्रन्थ 'काशी की सारस्वत-साधना' में किया। यह ग्रन्थ मध्ययुगीन काशिकेय विद्वानों का सक्षेप में परिचय प्रदान करता है। इस ग्रन्थ की 'पूर्वपीठिका' लिखने में मैने इसका पर्याप्तरूपेण उपयोग किया है। अतः मै कविराज जी का विशेष आभार मानता हूँ। जहाँ यह ग्रन्थ समाप्त होता है, वहीं से इस ग्रन्थ की 'उत्तरपीठिका' आरम्भ होती है और यही मेरे विपुल शोध, अध्ययन तथा मनन का पर्यवसित प्रयास है। इस कालखण्ड के विद्वानो की ही सुखद संस्मृति तथा कमनीय कीर्ति आज भी यथाकथञ्चित् जागरूक है जिसे यहाँ शब्दमय विग्रह देने का मैंने यथाशक्ति प्रयत्न किया है।

लेखक के लिए आत्माभिव्यक्ति ही परमाह्लादजननी होती है। इस दृष्टि से मैने अपने हार्दिक भावों की पूर्ण अभिव्यञ्जना का प्रयास इस ग्रन्थ में किया है। फलतः आनन्दातिरेक की अभिव्यक्ति होने के कारण मै प्रस्तुत ग्रन्थ को अपने जीवन की सौभाग्यशाली रचनाओ में विशेष महनीय मानता हूँ। अर्जना (कमीशन) की सम्भाव्य त्रुटियों की मार्जना करने का मैंने सन्तत प्रयत्न किया है। वर्जना (ओमीशन) की त्रुटियों को अस्वीकार नही किया जा सकता। विज्ञ पाठकों से मेरी प्रार्थना है कि जिन विद्वानों के नाम तथा काम परिचय के अभाव में यहाँ उपन्यस्त नही किये गये है, उनका परिचय देने की वे कृपा करें जिससे इस त्रुटि को दूर किया जा सके।

काशिकेय पण्डितों की विमल यशोगाथा का संरक्षण, उनके आदर्श जीवन के परिचय से विद्वानों को संस्कृत विद्या की उपलब्धि तथा समृद्धि के लिए सन्तत जागरण एवं प्रभूत ऋषिऋण से आत्मा का उन्मोचन—'काशी की पाण्डित्य-परम्परा' के प्रणयन का यही महनीय उद्देश्य है। बाबा काशीपति विश्वनाथ से यह विनम्र निवेदन है कि काशी में ही एक काशिकेय

विद्यासेवी द्वारा निबद्ध काशिकेय पण्डितों की यह कीर्तिकथा अपने कमनीय लक्ष्य की पूर्ति में सर्वथा सफल रहे और संस्कृत विद्या के समुन्नयन का दिव्य संदेश देकर इस भारतभूमि को भव्य बनावे।

विश्वाराध्य विश्वेश्वर से करबद्ध प्रार्थना है कि उनका हरिहरात्मक स्वरूप लेखक का परम मङ्गल सम्पादन करे—

अर्धं यदुत्पलदलैरुमयेन्दुगौरम् अर्धं श्रियाऽर्चितमलिद्युति मालतीभिः ।
विच्छित्तिमेत्य निमिषेक्षणशुक्तिपेयां तन्मङ्गलं दिशतु हारिहरं वपुर्नः ॥

अपने ही कुकर्मों से अधोगति को प्राप्त होने वाला यह जीव आपके तिरस्कार का पात्र कैसे हो सकता है ? अपनी तरुणाई से मतवाला पशु यदि अन्धकूप में स्वयं गिर जाता है, तो दयालु लोग क्या उसकी उपेक्षा करते हैं ? इसी प्रकार इस दृप्तजन का आप अपनी करुणा द्वारा उद्धार कर दें—यही लेखक की अन्तिम प्रार्थना है—

स्वैरेव यद्यपि गतोऽहमधः कुकृत्यै-
स्तत्रापि नाथ तव नास्म्यवलेपपात्रम् ।
दृप्तः पशुः पतति यः स्वयमन्धकूपे
नोपेक्षते तमपि कारुणिको हि लोकः ॥

बलदेव उपाध्याय

विषयानुक्रम

प्रथम भाग

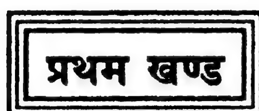
पूर्वपीठिका

उत्तरपीठिका

काशी की पाण्डित्य-परम्परा

प्रथम भाग

पूर्वपीठिका



अवतरणिका

अध्याय	
१	काशी का प्राचीन इतिहास एव महत्त्व।
२	काशी विद्वानो का आकर्षण केन्द्र।
३	काशी के विद्वानो का साहित्यिक अवदान।

•

अध्याय १

काशी का प्राचीन इतिहास एवं महत्त्व

भारतीय सस्कृति, साधना एवं साहित्य की केन्द्रस्थली के रूप मे परमपावनी काशी नगरी का स्थान मूर्धन्य रहा है। विभिन्न युगों में हमें इसकी गौरव-गरिमा के दर्शन भारतीय वाङ्मय के माध्यम से होते है। बल्कि, कहा तो यहाँ तक जा सकता है कि इस नगरी से प्रस्फुटित ज्ञानरश्मियों ने समय-समय पर ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रो में समग्र भारतीय नभोमण्डल को प्रोद्भासित किया है। परा-अपरा विद्याओं के मर्मज्ञ मनीषियों की आश्रयस्थली के रूप में काशी की प्रसिद्धि की परम्परा अति प्राचीन काल से चली आ रही है। यही कारण है कि संस्कृत-भाषा, भारतीय सस्कृति एवं साधना के अनेकानेक उन्नायकों ने अपना सम्पूर्ण अथवा आंशिक जीवन-काल यहीं व्यतीत किया। अतएव यह निर्विवाद है कि संस्कृत साहित्य के विकास में काशी का योगदान अन्यतम और महत्त्वपूर्ण रहा है।

काशी भारतवर्ष की प्राचीनतम एव पवित्रतम नगरी है। विद्यानगरी होने के साथ ही धर्मनगरी होने का भी महनीय गौरव काशी को प्राप्त है। काशी की प्राचीनता का इतिहास वैदिक साहित्य में भी उपलब्ध होता है। वैदिक साहित्य के तीनों स्तरों मे—सहिता, ब्राह्मण एवं उपनिषद् मे —काशी का विवरण पाया जाता है। पैप्पलाद-शाखानुसारी अथर्ववेद के एक मन्त्र (५।२२।१४) में 'काशि' के बहुवचनान्त रूप (काशयः) का प्रयोग मिलता है। 'काशयः' का अभिप्राय काशिजनपद के निवासियों से है। इस मन्त्र में 'तक्मा' (ज्वर) को सबोधित करते हुए कहा गया है कि वह कोशल, काशि और विदेह जनपदों में चला जाय। इसमे स्पष्ट है कि ये तीनों ही उस काल में पार्श्ववर्ती जनपद थे।

आर्यों के काशी में बस जाने के बाद से वैदिक धर्म की निरन्तर वृद्धि होती रही, यहाँ तक कि काशिराज धृतराष्ट्र ने अश्वमेध यज्ञ भी प्रारम्भ किया। प्रत्येक राजा अश्वमेध यज्ञ करने का साहस नहीं करता था। प्रभावशाली तथा विस्तृत अधिकार वाले राजा ही सम्राट् होने के प्रयत्न में यह महनीय यज्ञ करते थे। इससे स्पष्ट है कि उस समय काशिराज्य समृद्ध तथा शक्तिमान् हो चुका था तथा काशी में वैदिक धर्म सुप्रतिष्ठित हो गया था। शतपथब्राह्मण का यह वैदिक निर्देश इस प्रकार है—

तदेतद् गाथयाभिगीतम्—

शतानीकः समन्तासु मेध्यं सात्राजितो हयम्।
आदत्त यज्ञं काशीनां, भरतः सत्त्वतामिव ॥

—शतपथब्राह्मण १३।५।४।२१

यह वैदिक गाथा है जो शतपथ ब्राह्मण से भी पूर्व होने वाली घटना का निर्देश करती है। इसका अर्थ है कि सात्राजित शतानीक ने काशिजनपद के राजा के यज्ञीय अश्व को छीन लिया। यह काशिराज धृतराष्ट्र नामधारी था। शतानीक ने इस बलात् पकड़े गये अश्व से अपना अश्वमेध यज्ञ पूरा किया। काशी के राजा का अश्वमेध यज्ञ पूर्णतया समाप्त नहीं हो

सका । इस हार के कारण काशीवासियों ने अग्निकर्म–अग्निहोत्र–करना ही छोड़ दिया था । इस घटना का उल्लेख शतपथब्राह्मण में इस प्रकार किया गया है—

सात्राजित ईजे काश्यस्याश्वमादाय ततो हैतदर्वाक् काशयोऽग्नीन् नादधत । आत्तसोमपीथाः स्म इति वदन्तः ।

—शतपथब्राह्मण १३।५।४।१६

इस उद्धरण मे कहा गया है- काशीवासी कहते है कि हमसे सोमपान छीन लिया गया है। इसलिए हम श्रौताग्नि धारण नही कर रहे है । यहाँ 'काश्य' पद काशिराज के लिए तथा 'काशय·' काशिजनपद के निवासियों के लिए प्रयुक्त हुआ है । इस कथन से काशीवासियों की वैदिक धर्म के प्रति पूर्ण निष्ठा एव धार्मिक कट्टरपन का परिचय मिलता है । उनके किसी धार्मिक शैथिल्य का यह परिचायक नही है ।

गोपथब्राह्मण (पूर्वभाग, २।६) में 'काशिकोशलाः' पद का समस्त रूप मे प्रयोग किया गया है जिससे काशिराज्य तथा कोशलराज्य के सयुक्त होने की घटना की ओर सकेत है । यह राजनीतिक स्थिति ईस्वीपूर्व द्वितीय शती में भी बनी रही, क्योकि पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य मे 'काशिकोशलीया ' उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है । (द्रष्टव्य ४।१।५४ सूत्र के वार्तिक पर महाभाष्य) ।

उपनिषदो में, मिथिला के ही समान, काशी को भी अध्यात्मविद्या का केन्द्र स्वीकार किया गया है । बृहदारण्यक उपनिषद् (२।१।१, ३।८।२) मे एव कौषीतकी उपनिषद् (४।१) में यह उल्लेख मिलता है कि "काशी के राजा अजातशत्रु के पास गार्ग्य बालाकि नामक विद्वान् ब्रह्मज्ञानी — जो अभिमानी भी थे — आये और उनसे कहा कि आपको ब्रह्मज्ञान का उपदेश करूँगा । इस पर राजा ने उत्तर दिया कि काशी में आकर हमारे सामने ब्रह्मविद्या का उपदेश करने की जो बात आपने हमसे कही, उसी के पुरस्कार-स्वरूप हम आपको एक सहस्र गायें देंगे क्योंकि आज कल लोग जनक, जनक कहते हुए मिथिला की ओर ही दौड़ते हैं ।"

राजा का मूल कथन इस प्रकार है—

स होवाचाजातशत्रुः सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मो जनको जनक इति वै जनाः धावन्ति ।

—बृहदारण्यक उपनिषद् २।१

कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् में गार्ग्य बालाकि तथा काशिराज अजातशत्रु का सवाद भी इसी प्रकार का है ।

इस कथन से पता चलता है कि उस युग मे मिथिला का स्थान काशी से ऊंचा था । फिर भी अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति के लिए, अपने ज्ञान की पिपासा की तृप्ति के लिए लोग काशी आया करते थे ।

महर्षि पाणिनि ने काशी शब्द को गण के आदि मे दिखलाया है ।[१] अष्टाध्यायी मे 'काशीयः' रूप की भी सिद्धि बताई गई है ।[२] यह बात ध्यान देने योग्य है कि ऋग्वेद[३] की सर्वानुक्रमणी मे ऋषि प्रदर्तन को काशिराज कहा गया है । हिरण्यकेशि-गृह्यसूत्र[४] ने तर्पण मे काशीश्वर को विष्णु एव रुद्रस्कन्द के साथ उल्लिखिन किया है । ऋग्वेद में राजा दिवोदास

---

१ काश्यादिभ्यष्ठञ्ञिठौ । अष्टाध्यायी ४।२।११६ ।

२. वही ४।२।११३ ।

३. ऋग्वेद १०।१७९।२ ।

४. हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र २।८।१९।६ ।

का वर्णन अनेक स्थानो मे हुआ है। ऋग्वेद[1] मे यह विवरण उपलब्ध होता है कि इन्द्र ने दिवोदास की ९० (नब्बे) नगरियो को जीत लिया था। इस वेद से यह भी पता चलता है कि इन्द्र ने दिवोदास को १०० नगर भी प्रदान किये थे।[2] पतञ्जलि ने 'विदूराञ्ञ्यः' (४।३।८४) सूत्र के भाष्य मे एक बड़े पते की बात लिखी है। उनका कहना है—

नियतपुरुषापेक्षो व्यवहारो दृश्यते। यथा वणिज एव वाराणसी जित्वरीति व्यवहरन्ति एवं वैयाकरणा एवाद्रिं विदूर इति।

आशय है कि व्यवहार नियत पुरुषो की अपेक्षा रखता है। विशेष व्यक्ति लाग अपनी ओर से किसी वस्तु का विशिष्ट नाम दे देते है। जैसे वाराणसी को बनिया लोग 'जित्वरी' नाम से पुकारते है। उसी प्रकार वैयाकरण लोग 'बालवाय' नाम पर्वत को 'विदूर' नाम से पुकारते है। अतः वहाँ उत्पन्न होने वाले मणि 'वैदूर्य' नाम से प्रसिद्ध है। उस युग मे वाराणसी वणिग्जनो मे **जित्वरी** (जयशील) नाम मे प्रसिद्ध थी। ग्रन्थ मे मथुरा और काशी के समान लम्बाई-चौडाई वाले वस्त्र के मूल्य मे अन्तर बतलाया गया है।[3] इससे प्रकट होता है दि आधुनिक काल के समान ही ई० पू० दूसरी शताब्दी मे भी काशी अपने बारीक वस्त्रो के लिए प्रसिद्ध थी। उपर्युक्त उल्लेखो से स्पष्ट प्रतीत होता है कि शतपथब्राह्मण के निर्माणकाल के बहुत पहिले से ही काशी एक देश या जनपद का नाम था और वही नाम इसी अर्थ मे पतञ्जलि के समय (ई० पू० द्वितीय शताब्दी) तक चलता आया था। सुप्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियान (३९९- ४१३ई०) काशी राज्य क वाराणसी नगर मे आया था। इससे प्रकट होता है कि लगभग चौथी शताब्दी मे भी काशी एक जनपद था और वाराणसी उसकी राजधानी थी। किन्तु महाभाष्य के निर्देशो से पता चलता है कि काशी नगर एव देश (जनपद) दोनो का नाम था

वाराणसी की स्थापना

महाभारत के अनुशासन पर्व मे राजा दिवोदास के पितामह हर्यश्व 'काशि' लोगो के राजा कहे गये है। हर्यश्व का पुत्र सुदेव था जो 'काशि' का राजा बना और वह अन्त मे अपने पिता की ही भाँति मारा गया था। इसके उपरान्त उसका पुत्र अर्थात् हर्यश्व के पौत्र दिवोदास ने काशी के राज्य के सिंहासन को सुशोभित किया इसी राजा ने गोमती के उत्तरी तट पर सभी वर्णों से युक्त वाराणसी नगर की स्थापना की। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्राचीन काल मे काशी एक राज्य का नाम था और प्राचीन विश्वास के अनुसार राजा दिवोदास ही वाराणसी नगरी का संस्थापक या प्रतिष्ठापक था।

राजा दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन हुआ। इसने दुर्दम मे काशी के अपहृत तथा नष्टभ्रष्ट राज्य को पुनः प्राप्त कर लिया। दिवोदास के पौत्र तथा प्रतर्दन के पुत्र अलर्क ने काशी के राज्य को सगठित कर वाराणसी को पुनः बसाया। हरिवशपुराण (१ अध्याय २९) से ज्ञात होता है कि वाराणसी का कई बार नाश हुआ और इस पर अनेक कुलो का राज्य स्थापित हुआ। वायु पुराण (अध्याय ९८) से भी इसका समर्थन होता है।[4]

---

१ ऋग्वेद १।१३०।७।

२ ऋग्वेद ४।३०।२०।

३ इह समान आयामे विस्तारे पटस्यान्योऽर्घो भवति काशिकस्य अन्यो माथुरस्य (महाभाष्य ५।३।५५ सूत्रपर)।

४ काणे धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ३ पृ० १३३९-४०।

काशिराज दिवोदास

काशिराज की वशपरम्परा मे आयुर्वेद के रक्षण और प्रचार-प्रसार का कार्य आरम्भ से ही होता आता था। दिवोदास ने उसे एक सुव्यवस्थित एव विशिष्ट रूप दिया। सम्भवतः ये एक आयुर्वेदीय विद्यापीठ का सचालन करते थे और स्वय ही शल्यप्रधान आयुर्वेद की शिक्षा देते थे। उसी विद्यापीठ के आश्रम मे बैठ कर दिवोदास ने आयुर्वेद के विशिष्ट विद्वान् बारह शिष्यो को शल्य चिकित्सा का शिक्षण दिया जिनमे 'सुश्रुतसहिता' के निर्माता सुश्रुत सर्वश्रेष्ठ शिष्य थे। इसका उल्लेख उन्होने स्वय किया है —आश्रमस्थ काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि (सुश्रुत सहिता १।१)। इस उल्लेख मे दिवोदास 'धन्वन्तरि' कहे गये है। 'धन्वन्तरि' समुद्रमन्थन के समय समुद्र से उत्पन्न चौदह रत्नो मे से अन्यतम थे जो अपने हाथ मे अमृतकलश लेकर आविर्भूत हुए थे तथा जो भगवान् विष्णु के अशावतार माने जाते थे। वे आयुर्वेद के आद्य प्रवर्तक आचार्य थे। आयुर्वेद की वैदुषी से मण्डित होने के कारण ही सम्भवत 'दिवोदास' को 'धन्वन्तरि' नाम उपाधि के रूप मे प्रदान किया गया था। फलतः आद्य प्रवर्तक से भिन्नता दिखलाने के लिए दिवोदास को धन्वन्तरि द्वितीय कहना अधिक उचित तथा स्पष्ट होगा।

काशिराज दिवोदास वैदिक सहिता, ब्राह्मण एव उपनिषद् मे उल्लिखित किये गये है। काठकसहिता मे महर्षि आरुणि के समकालीन भीमसेन के पुत्र दिवोदास का उल्लेख किया गया है। कौषीतकिब्राह्मण तथा कौषीतकि उपनिषद् मे **दैवोदासि प्रतर्दन** का उल्लेख नामतः मिलता है। इससे स्पष्ट है कि दिवोदास भीमसेन के पुत्र तथा प्रतर्दन के पिता थे। यह वैदिक निर्देश इनके व्यक्तित्व की ऐतिहासिकता सिद्ध करने मे उपादेय माना जायेगा। इस वशपरम्परा का उल्लेख हरिवशपुराण (पर्व १, अध्याय २६), वायुपुराण (उत्तरकाण्ड, अध्याय ३०) एव ब्रह्माण्डपुराण (उपोद्घात पाद, अध्याय ६७) मे मिलता है जिससे वैदिक एव पौराणिक परम्परा की एकता स्वय सिद्ध होती है। दिवोदास ने ही इन्द्र की आज्ञा से 'वाराणसी' नगरी को बसाया था अर्थात् ये ही इस नगरी के सस्थापक थे—

दिवोदासस्तु विज्ञाय वीर्यं तेषां यतात्मनाम् ।
वाराणसी महातेजा निर्ममे शक्रशासनात् ॥

— म० भा०, अनुशासन ३०।१६

दिवोदास के आविर्भावकाल का निर्णय अनुमानतः किया जा सकता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी (सूत्र ५।१।६२ तथा ४।४।१२४) मे तथा यास्क के निरुक्त (१ ६) मे निर्दिष्ट होने के कारण कौषीतकि ब्राह्मण का काल अष्टम शती विक्रमी पूर्व है। शकर बालकृष्ण दीक्षित ने इस ब्राह्मण का समय ३००० १५०० वि० पू० माना है। कौषीतकिब्राह्मण मे निर्दिष्ट दिवोदास का समय इससे प्राचीनतर होना ही चाहिये। दिवोदास धन्वन्तरि के द्वारा प्रचारित होने के कारण शल्यप्रधान आयुर्वेद 'धान्वन्तरीय सम्प्रदाय' के नाम से तथा उसके उपासक वैद्य 'धान्वन्तरीय' (सर्जन) के नाम से प्रसिद्ध हुए। चरकसहिता के अनेक स्थलो पर धन्वन्तरि का मत उद्धृत किया गया है तथा धान्वन्तरीयो के विशिष्ट अधिकार को मान्यता दी गई है। इसके विपरीत सुश्रुतसहिता मे आत्रेय अग्निवेश का नाम कही नही मिलता। फलत दिवोदास आत्रेय अग्निवेश से, जिनका समय लगभग १००० वर्ष ई० पूर्व माना जाता है, कुछ पूर्ववर्ती निश्चयेन सिद्ध होते है। अतएव काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि द्वितीय का समय १२०० वर्ष ईस्वी पूर्व मानना सर्वथा उचित है।[१]

---

१ द्रष्टव्य—आचार्य प्रियव्रत शर्मा आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास पृ० ५० ५२, प्रकाशक चौखम्भा ओरियन्टालिया वाराणसी १६७५ ई०।

शल्यचिकित्सा के संस्थापक होने के कारण काशी का नाम आयुर्वेद के इतिहास में सुवर्णाक्षरों में अंकित किया जाता है। तथ्य यह है कि इतने सुदूर प्राचीन काल में काशी के अध्यात्मविद्या की पीठस्थली एव शल्यचिकित्सा की उद्गम-स्थली होने के नाते अखिलभारतीय ख्याति का अर्जन किया था, यह अपने आप में एक नितान्त महनीय तथा समादरणीय घटना है।

रामायण में काशी का उल्लेख

वाल्मीकीय रामायण में काशी के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण उल्लेख प्राप्त होते है। राजा दशरथ ने अपने अश्वमेध यज्ञ में काशिराज को निमन्त्रित किया और उन्हें मित्र, सन्तत प्रियवादी, सच्चरित्र एवं देवतुल्य बतलाया तथा साथ लाने के लिए कहा—

तथा काशिपतिं स्निग्धं सन्ततं प्रियवादिनम् ।
सद्वृत्तं देवसंकाशं स्वयमेवानयस्व ह ॥

—वाल्मीकीय रामायण १।१३।२३

अयोध्याकाण्ड में कैकेयी के क्रोध को शात करने के लिए दशरथ ने अपने विशाल माम्राज्य का नामोल्लेख किया तथा वहाँ उत्पन्न होने वाली वस्तुओं को मँगाने का भी प्रस्ताव रखा। इन देशों में समृद्ध 'काशि' का उल्लेख मिलता है—

यावदावर्तते चक्रं तावती मे वसुन्धरा ॥३६॥
द्राविडाः सिन्धुसौवीराः सौराष्ट्रा दक्षिणापथाः ।
वङ्गाङ्गमागधा मत्स्याः समृद्धाः काशिकोशलाः ॥३७॥
तत्र जातं बहुद्रव्यं धनधान्यमजाविकम्
ततो वृणीष्व कैकेयि यद् यत्त्वं मनसेच्छसि ॥३८॥

—तत्रैव २।१०

किष्किन्धाकाण्ड में सुग्रीव के द्वारा वानरो को भेजे गये देशों में 'काशिकोशल' का नाम मिलता है (४।४२।२२)। उत्तरकाण्ड में राम के राज्याभिषेक के अवसर पर आये राजाओं में **काशिपति (काशेय) प्रतर्दन** का उल्लेख है तथा उन्हें दो बार 'अकुतोभय' कहा गया है तथा वाराणसी को रमणीय, सुन्दर प्राकार तथा तोरणों वाली नगरी बताया गया है—

तद् भवानद्य काशेय पुरीं वाराणसीं व्रज ।
रमणीयां त्वया गुप्तां सप्राकारां सुतोरणाम् ॥

—तत्रैव, ७।३८।१७

फलतः वाल्मीकि की दृष्टि में वाराणसी सुन्दर प्राकार वाली तथा तोरणवाली नगरी थी तथा वहाँ का शासक प्रतर्दन अकुतोभय नरेश था।

महाभारत में काशी का वर्णन

व्यास की शतसाहस्री में काशी का उल्लेख दो विशिष्ट प्रसंगों में हुआ है—(१) तीर्थ के रूप में, (२) काशिराज का महाभारत के युद्ध में पाण्डवों की ओर से लड़ने के प्रसंग में।

यह विशद रूप से उल्लेखनीय है कि काशी का तीर्थरूप में वर्णन[1] सबसे पहिले महाभारत में ही हुआ है। वनपर्व में पाण्डवों के अज्ञातवास के अवसर पर उनके काशी आने का उल्लेख पाया जाता है। वनपर्व में लिखा है—

अविमुक्तं समासाद्य, तीर्थसेवी कुरूद्वह ।
दर्शनाद् देवदेवस्य मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥

× × ×

१. महाभारत, वनपर्व ८४।७८।

ततो वाराणसीं गत्वा देवमर्च्य वृषध्वजम् ।
कपिला-ह्रदमुपस्पृश्य, राजसूयफलं लभेत् ॥[१]

इस निर्देश से पता चलता है कि उस समय काशी मे 'कपिला ह्रद' नामक तीथ बड़ा प्रसिद्ध था । आजकल यह तीर्थ 'कपिलधारा' के नाम से विख्यात है और काशी नगरी के भीतर न होकर पचक्रोशी की प्रदक्षिणा के मार्ग मे अवस्थित है ।

महाभारत के युद्ध मे काशी के राजा का उल्लेख 'काशिराज' अथवा 'काश्य' शब्दो से किया गया है । परन्तु काशी का कौन-सा राजा महाभारत-युद्ध मे लडने गया था इसका नाम से उल्लेख नही पाया जाता । महाभारत मे जिस काशिराज के नाम का पता है उसके काम का पता नही चलता और जिसके काम का पता है उसके नाम का ही पता नही चलता । उदाहरण के लिए युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ मे काशी के किसी राजा ने भाग लिया था परन्तु उसका नाम ज्ञात नही है । इसी प्रकार जिस काशिराज की तीन कन्याओं—अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका— का भीष्म ने अपहरण किया था उसके नाम का उल्लेख महाभारत मे नही पाया जाता ।[२]

एक जनपद के रूप मे काशि का उल्लेख महाभारत मे अनेक स्थलो पर किया गया है । इसे अनेक बार जीतने का सकेत महाभारत मे मिलता है । महाराजा पाण्डु, अर्जुन, महदेव तथा श्रीकृष्ण के द्वारा विभिन्न समयो मे काशि मण्डल के विजय का उल्लेख है । भीमसेन ने काशि मे उस देश के राजा की कन्या जलन्धरा के साथ विवाह किया (आदिपर्व ९५ ७७) । काशिराज 'दीर्घजिह्व' नामक दैत्य के अश बताये गये है (आदि० ६७।४०) । ये युधिष्ठिर के बड़े प्रेमी थे । उपप्लव्य नगर मे अभिमन्यु के विवाह मे एक अक्षौहिणी सेना के साथ इनका शुभागमन हुआ था (विराट० ७२।१६) । ये बडे पराक्रमी थे और महाभारत युद्ध मे इन्होंने पाण्डवो का पक्ष ग्रहण किया था (भीष्म० २५।५) । गीता (प्रथम अध्याय) मे **काशिराजश्च वीर्यवान्** वाक्य मे इन्ही का सकेत है ।

बौद्ध ग्रन्थों में काशी

काशी का उल्लेख बौद्ध तथा जैन ग्रन्थो मे भी उपलब्ध होता है । प्राचीन बौद्ध ग्रन्थो से पता चलता है कि वाराणसी बुद्ध-काल (कम से कम पांचवी ई० पू० शताब्दी) मे चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत एव कौशाम्बी जैसे महान् एव प्रसिद्ध नगरो मे परिगणित होती थी ।[३] गौतम बुद्ध ने गया मे सम्बोधि प्राप्त करने के उपरान्त वाराणसी के पास मृगदाव अर्थात् सारनाथ मे आकर 'धर्मचक्र प्रवर्तन' किया था । इससे प्रकट होता है कि उस समय तक यह नगर (वाराणसी) आर्यों की सस्कृति के क्रियाकलापो का प्रमुख केन्द्र बन चुका था । कतिपय जातककथाओं मे वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त का उल्लेख पाया जाता है । कुछ जातक कथाओं का तो प्रारम्भ ही 'अतीते वाराणसिय ब्रह्मदत्ते राज कारेन्ते' इस पक्ति से होता है । जातक की कथाओं का समय ई० पू० तृतीय शताब्दी है । इस प्रकार ईसा के जन्म के कई शताब्दियो पूर्व ही वाराणसी ब्रह्मदत्त राजाओं की राजधानी बन चुकी थी । मत्स्य पुराण ने एक ही प्रकार

१ महाभारत, वनपर्व, ८४।७९ ।

२ म० भा०, आदिपर्व १०२।५६, ६४-६५ ।

३ महापरिनिब्बानसुत्त तथा महासुदस्सनसुत्त का अग्रेजी भाषा मे अनुवाद । सेक्रेड बुक आफ दि ईस्ट सीरीज, जिल्द ११, पृ० ९९ तथा २४७ (आक्सफोर्ड) ।

की उपाधियों वाले सैकड़ो राजाओं का उल्लेख किया है और १०० (एक सौ) ब्रह्मदत्त और १०० काशि और १०० कुश राजाओं का वर्णन किया है।[१]

बुद्धकाल में काशी की महिमा को जानने के लिए त्रिपिटक तथा जातको का बड़ा महत्त्व है। इनके अध्ययन से काशी के राजनैतिक महत्त्व का अनुमान सहज मे ही लगाया जा सकता है। बुद्ध के समय मे यह देश षोडश महाजनपदो मे विभक्त था। इन महाजनपदो मे कोशल और मगध के समान काशी भी प्रसिद्ध था। सच तो यह है कि काशी जनपद इन सभी जनपदो से श्रेष्ठ, महत्त्वपूर्ण तथा विख्यात था। काशी के राजा ने कोशल तथा विदेह जनपदो को अपने साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया था। इस प्रकार काशी का एकच्छत्र साम्राज्य था। काशिराज सार्वभौम राजा माना जाता था।

काशी के राजा मनोज ने कोशल, मगध तथा अग के राजाओं को पराजित किया था। काशी के राजाओं मे ब्रह्मदत्त का प्रभुत्व तथा महत्त्व बहुत अधिक था। उसने महती विशाल सेना को लेकर कोशल पर आक्रमण किया था और उसे अपने राज्य मे सम्मिलित कर लिया था। पालि मे प्रायः सब जातको का आरम्भ इन शब्दो से होता है--'अतीते वाराणसिय ब्रह्मदत्ते रज्ज कारेन्ते' जिससे सूचित होता है कि वाराणसी के शासको की 'ब्रह्मदत्त' उपाधि थी। इस तथ्य की पुष्टि पुराणो (मत्स्य तथा वायु) एव महाभारत से भी होती है। महाभारत के सभापर्व (अध्याय ८।२३) मे यह उल्लेख मिलता है—

धृतराष्ट्राश्चैकशतमशीतिर्जनमेजयाः। शत च ब्रह्मदत्ताना वीरिणामीरिणां शतम् ॥

इस श्लोक की टीका मे नीलकण्ठ ने स्पष्ट शब्दो मे सेनापत्य आदि के समान ही धृतराष्ट्रादि नामो को अधिकारी वाचक माना है, व्यक्ति वाचक नही।

भोजाजानीय (न० २३) जातक मे यह उल्लेख मिलता है कि काशी का राजा बडा ही समृद्धिशाली था। सभी राजा उससे द्वेष करते थे।[२] अतः उसे परास्त करने के लिए सात राजाओं ने एक सघ (कान्फेडेरेसी) का निर्माण किया और सातो ने एक साथ मिल कर काशी के राजा पर चढ़ाई कर दी। परन्तु फिर भी वे लोग इसे परास्त नही कर सके। वे राजा सभ्यता तथा सस्कृति मे काशी की तुलना नही कर सकते थे। अतः काशी पर इसकी गिद्ध दृष्टि सदा लगी रहती थी। परन्तु युद्ध मे विजयश्री ने सदा काशी के राजा को ही वरण किया।

इस घटना का उल्लेख डॉ० रायचौधरी ने बडे ही सुन्दर शब्दो मे किया है।

जैन-ग्रंथों में काशी

जैन तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ ने—जो अतिम तीर्थङ्कर महावीर से २५० वर्ष पहिले लगभग ७७७ ई० पू० मे पैदा हुए थे—काशी मे ही चैत्र कृष्ण चतुर्थी को जन्म ग्रहण किया

---

१ मत्स्य पुराण २७३।७२-७३
शतमेक धार्तराष्ट्रा ह्यशीतिर्जनमेजयाः।
शत वै ब्रह्मदत्ताना, वीराणा कुरवः शतम् ॥
ततः शत च पाञ्चालाः शत काशिकुशादयः।

२ We learn from Bhoja Janiya Jatak that "all the kings round coveted the kingdom of Benares We are told that on one occassion seven kings encompassed Benares Benares in this respect resembled ancient Babylon and mediaeval Rome, being the coveted prize of its more warlike but less civilized neighbours" —Dr Roy Chaudhury *Political History of Ancient India* (University of Calcutta 1953) sixth edition, p 98

था । इनके पिता काशी के राजा थे और उनका नाम अश्वसेन था । काशी के ही समीप इसिपत्तन (वर्तमान सारनाथ) भी जैनधर्मियो के लिए एक बहुत बडा तीर्थस्थान है ।

सारनाथ जैन-आगम ग्रन्थो मे सिहपुर के नाम से प्रख्यांत है । यही पर जैन धर्म के ११वें तीर्थड्कर श्रेयासनाथ ने जन्म ग्रहण किया था और अपने अहिसा धर्म का प्रचुर प्रचार भारतवर्ष मे किया था । सुपार्श्व तथा चन्द्रप्रभ का भी जन्म काशी मे हुआ था ।

पार्श्वनाथ की जन्मभूमि के स्थान पर निर्मित मदिर आज भी काशी के भेलूपुरा मुहल्ले मे महाराजा विजयानगरम् के महल के पास स्थित है । जब तीर्थङ्कर महावीर की मृत्यु हुई तब काशी और कोशल के अठारह सयुक्त राजाओं ने लिच्छवियो और मल्लको के अन्य राजाओं के साथ दिवाली के दिन प्रकाश किया था ।[१]

महाकवि अश्वघोष ने अपने 'बुद्धचरित' मे वाराणसी और काशी को एक ही माना है ।[२] बुद्धचरित मे एक अन्य स्थान पर लिखा है कि[३] बुद्ध वणरा के पास एक वृक्ष की छाया मे पहुँचे । सभवतः अश्वघोष के द्वारा वर्णित यह वणरा आधुनिक वरणा नदी है । इससे प्रकट होता है कि कम से कम पहिली शताब्दी मे वाराणसी और काशी समानार्थक थी ।

बुद्ध के द्वारा काशी के समीप ही 'इसिपत्तन' मे 'धर्मचक्रप्रवर्तन' से सिद्ध होता है कि बुद्ध के जन्म (५६३ ई० पू०) से पहिले ही काशी धर्म की नगरी एव अध्यात्म का केन्द्र बन चुकी थी ।

बौद्धकाल के पश्चात् भारत मे मौर्यवश का साम्राज्य स्थापित हुआ । मौर्यवश के सबसे महान् सम्राट् अशोक ने काशी के पास सारनाथ मे धम्मेक स्तूप की स्थापना की तथा एक शिलालेख को उत्कीर्ण कराया । उस काल मे इसिपत्तन मे बौद्धो का बहुत बडा विहार भी था जिसके खण्डहर आज भी उपलब्ध होते है ।

गुप्तयुग मे भी काशी का महत्त्व कुछ कम नही था । इन राजाओं ने सस्कृतभाषा को राजभाषा घोषित कर अपने समस्त शिलालेखो तथा ताम्रलेखो को सस्कृत मे ही उत्कीर्ण कराया है । सम्राट् स्कन्दगुप्त ने हूणो को परास्त करने के लिए काशी की भी यात्रा की थी । गाजीपुर जिले मे भीतरी नामक स्थान पर उसका एक शिलालेख प्राप्त हुआ है जिससे पता चलता है कि हूणो के साथ उसका जो भयकर युद्ध हुआ था उससे पृथ्वी कॉपने लगी थी । उसने तीन दिनो तक जमीन पर सोकर अपनी रात काटी थी और इस प्रकार हूणो को प्रचण्ड रूप से परास्त किया था[४]—

हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता ।

× × ×

क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा ।

मध्ययुग की १२वी शताब्दी मे गाहडवाल राजाओं ने कान्यकुब्ज के अतिरिक्त काशी को भी अपनी राजधानी बनाया था । आज भी काशी में राजघाट के पास इन राजाओं के

---

१ सेक्रेड बुक आफ दि ईस्ट, जिल्द २२, पृ० २६६ और २७१ ।

२ बुद्ध चरित १५।१०१।
वाराणसी प्रविश्याथ भासा सम्भासयञ्जिनः । चकार काशिदेशीयान् कौतुकाक्रान्तचेतसः ॥

३ से० बु० आफ दि० ईस्ट, जिल्द ४६, भाग १, पृ० १६६ ।

४ डॉ० वासुदेव उपाध्याय गुप्त-अभिलेख (हिन्दी अकादमी, पटना, बिहार) सन् १९७५ ई० ।

दुर्ग के खण्डहर उपस्थित है। इन राजाओं में जयचन्द्र तथा उसके पिता विजयचन्द्र प्रसिद्ध थे जिन्होंने काशी को धार्मिक महत्त्व के साथ ही राजनैतिक महत्त्व भी प्रदान किया।

मुसलमानी काल में विभिन्न मुस्लिम शासकों ने काशी पर पाँच बार आक्रमण किया और इसके प्रधान मंदिरों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। फिर भी कालान्तर में इन मदिरों का जीर्णोद्धार हो गया और काशी की जनता पर इन आक्रमणों का कोई स्थायी प्रभाव नही पड़ सका। काशीवासियों का धार्मिक जीवन अक्षुण्ण गतिमान् रहा और काशी धर्म और शिक्षा की केन्द्र स्थली पूर्ववत् बनी रही।

बंगाल के नवद्वीप मे १५वीं शती में जिस न्याय-विद्यापीठ की स्थापना हुई थी उसमे भी काशी का महत्त्वपूर्ण योगदान माना जा सकता है। यह ऐतिहासिक घटना इस प्रकार घटी थी।[1] नवद्वीप के सुप्रसिद्ध न्याय के विद्वान् वासुदेव सार्वभौम (लगभग १४५०–५२५ ई०) नव्य न्याय में प्रौढ़ि प्राप्त करने के निमित्त मिथिला में पक्षधर मिश्र के विद्यापीठ मे अध्ययन के लिए उपस्थित हुए थे। वहाँ रहकर उन्होंने न्यायशास्त्र का विधिवत् अध्ययन किया और नव्य न्याय में प्रकृष्ट व्युत्पत्ति प्राप्त की। उस युग के मैथिल नैयायिक न्यायशास्त्र के ग्रन्थों को मूल्यवान् धरोहर के रूप में रखते थे और वे इन हस्तलिखित ग्रन्थो को अपने देश (मिथिला) के बाहर किसी भी मूल्य पर किसी को ले जाने नही देते थे। सार्वभौम के सामने भी यही समस्या उत्पन्न हुई। परन्तु उन्होंने अपनी चतुराई से इस समस्या का समाधान अनायास ही कर लिया। उन्होंने उदयनाचार्य की **न्याय-कुसुमाञ्जलि** तथा गगेश उपाध्याय के **तत्त्वचिन्तामणि** इन दोनों ग्रन्थों को पूर्णतया कठाग्र कर लिया। इतनी सावधानी से, कि कोई भी अंश छूटने नहीं पाया। इस प्रकार न्यायरूपी इस निधि को अपने कण्ठ में स्थापित करके वे नवद्वीप लौटे परन्तु अपने ऊपर चोरी के सम्भावित सन्देह के निवारण के लिए वे सीधे बगाल न जाकर काशी चले आये। यहाँ आकर उन्होंने दो महत्त्वपूर्ण कार्य किये। पहिला काम तो यह था कि उन्होंने अपनी विलक्षण मेधा शक्ति के द्वारा इन अधीत दोनों ग्रन्थों को अक्षरशः लिपिबद्ध कर लिया। दूसरा काम था वेदान्त का अध्ययन। यहाँ के संन्यासियो से इन्होंने वेदान्त की शिक्षा प्राप्त की। वंग देश में लौटकर, काशी में लिपिबद्ध किये गये हस्तलेखों के आधार पर ही इन्होंने अपने शिष्यों का अध्यापन करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार काशी में लिखे गये ये हस्तलिखित ग्रन्थ ही नवद्वीप मे नव्य न्याय के अध्ययन और अध्यापन की आधारशिला बने।

राजपूत काल में राजपूत राजाओं तथा मराठे राजाओं ने इस नगरी को बड़ा महत्त्व प्रदान किया। सुप्रसिद्ध महारानी अहिल्याबाई ने विश्वनाथजी के भग्न मन्दिर का पुनर्निर्माण किया। ग्वालियर के सिंधिया और नागपुर के भोंसला राजाओं ने काशी में गंगा के तट पर अनेक मंदिरों तथा घाटों का निर्माण किया जो आज भी उनकी कीर्ति को उच्च स्वर से घोषित कर रहे हैं।

अंग्रेजी राज्य में भी काशी का कुछ कम महत्त्व नहीं था। लार्ड कार्नवालिस के समय में इस नगर में गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज की स्थापना हुई जो आधुनिक काल में संस्कृत की सबसे पुरानी शिक्षासंस्था है। आज काशी धर्म का ही केन्द्र नहीं है बल्कि विद्या की भी स्थली है। आज यहाँ पर तीन-तीन विश्वविद्यालय, अनेक डिग्री कालेज, सैकड़ों संस्कृतविद्यालय विद्यमान हैं जो संस्कृतविद्या का प्रचार-प्रसार अबाध गति से कर रहे हैं।

१. द्रष्टव्य—डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण : हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक, (कलकत्ता वि० विद्या० १९२१), पृ० ४६१-६२।

काशी का महत्त्व

वेदो, ब्राह्मणो, उपनिषदो, पुराणो तथा विभिन्न धार्मिक स्तोत्र-ग्रन्थो मे काशी की महिमा का जितना वर्णन किया गया है, सभवत' ससार के किसी भी नगर की इतनी महिमा नही गायी गयी होगी। म० म० डॉ० काणे ने तो ठीक ही लिखा है कि काशी का महत्त्व ईसाइयो के रोम, मूसाइयो के यारूसलेम और मुसलमानो के मक्का से भी कही अधिक है।[१] भगिनी निवेदिता (मिस मारग्रेट नोबेल) ने काशी की महिमा का प्रतिपादन करते हुए यहाँ तक लिखा है[२]– यह हिन्दुओं के लिए कैण्टरबरी ही नही, बल्कि आक्सफोर्ड भी है। रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के अनुयायियो के लिए पोप-पुरी (वेटिकन) का जो महत्त्व है, काशी की गरिमा उससे भी कही सहस्रगुनी अधिक है।" इस प्रकार काशी ससार की नगरियों मे अत्यन्त पवित्र, प्रसिद्ध तथा मुक्तिदायिनी मानी जाती है।

पुराणो मे तो वाराणसी की महिमा प्रचुर परिमाण मे पायी ही जाती है। प्रायः प्रत्येक पुराण में काशी की प्रशसा मे अनेक श्लोक उपलब्ध होते है। मत्स्य पुराण मे लिखा है कि--"वाराणसी मेरा सर्वोत्तम तीर्थस्थल है। सभी प्राणियो के लिए यह मोक्ष का कारण है। यह तीर्थराज प्रयाग से भी महान् है। ज्योही कोई व्यक्ति इस अविमुक्त क्षेत्र—काशी मे प्रवेश करता है, त्योही उसके सहस्रो अतीत जीवनो मे किये गये पाप नष्ट हो जाते है। महस्रो जन्मो की योगसाधना के उपरान्त मोक्ष-प्राप्ति होती है, परन्तु काशी मे मृत्यु होने से इसी जीवन मे मनुष्य को परम मोक्ष प्राप्त हो जाता है।[३] पद्मपुराण के अनुसार यहाँ पापी, शठ एव अधार्मिक व्यक्ति भी पापमुक्त हो जाता है।[४] भोगी एव कामचारिणी स्त्रियाँ भी यहाँ पर मोक्ष प्राप्त कर लेती हैं।[५] इस विश्व मे बिना योग के मानव मोक्ष नही पा सकता किन्तु अविमुक्त क्षेत्र मे निवास करने से योग और मोक्ष दोनो ही की प्राप्ति होती है।[६] दुष्ट प्रकृति के पुरुषो के द्वारा जान या अनजान मे जो भी दुष्ट कर्म किये जाते है वे सब यहाँ आते ही भस्म हो जाते है।[७] काशी मे निवास करने वाला म्लेच्छ भी भाग्यशाली है, परन्तु काशी से बाहर रहने वाला, चाहे वह यज्ञ करने वाला दीक्षित ब्राह्मण ही क्यो न हो, मुक्ति प्राप्त नही कर सकता। इन विवरणो मे काशी की महती महिमा का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

पुराणों में काशी की महिमा

अनेक पुराणो मे काशी अथवा वाराणसी की विशद प्रस्तुति गायी गयी है।

स्कन्द पुराण के केवल काशी खण्ड मे काशी के तीर्थों और उपतीर्थों का वर्णन १५,००० (लगभग पन्द्रह हजार) श्लोको मे किया गया है। यदि विभिन्न पुराणो मे काशी के सम्बन्ध मे दिये गये श्लोको का केवल सग्रहमात्र कर दिया जाय तो एक बृहत् ग्रन्थ का निर्माण हो सकता है। परन्तु यहाँ स्थानाभाव से विभिन्न पुराणो के नाम, काशी से सम्बन्ध रखने वाले सन्दर्भ स्थल और प्रत्येक पुराण मे काशी सम्बन्धी श्लोको की समस्त सख्या पाठको की सुविधा के लिए प्रस्तुत की जाती है[८]—

१ काणे　हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, भाग ४।
२ सिस्टर निवेदिता　फुटफाल्स आफ इण्डियन हिस्ट्री।
३ मत्स्य पुराण, १८०।४७।
४ पद्मपुराण १।३३।३८।
५ मत्स्य पुराण १८४।३६।
६ वही, १८५।१५–१६।
७ स्कन्दपुराण (का० ख०) ८५।१५।
८ काणे　ध० शा० इ०, भा० ३, पृष्ठ १३४२।

	पुराण का नाम	सन्दर्भ स्थल	श्लोक सख्या
(१)	मत्स्यपुराण	(अध्याय १८० से १८५ तक)	४११
(२)	कूर्मपुराण	(पूर्वार्ध अ० ३१ से ३५ तक)	२२६
(३)	लिंगपुराण	(पूर्वार्ध, अध्याय ९२)	१९०
(४)	पद्मपुराण	(आदिखण्ड, अ० ३३ से ३७ तक)	१७०
(५)	अग्निपुराण		११२
(६)	स्कन्दपुराण	(काशीखण्ड)	१५,०००
(७)	नारदीय पुराण	(उत्तर भाग, अ० ४८ से ५१ तक)	
			१६,१०९

यदि नारदीय पुराण के श्लोकों की भी संख्या इसमे जोड़ दी जाय तो पुराणों में काशी का वर्णन कम से कम लगभग १६,५०० श्लोकों मे उपलब्ध होता है।

स्कन्दपुराण का तो एक पृथक् खण्ड ही **काशी-खण्ड** नाम से प्रसिद्ध है। इस खण्ड में काशी के समस्त तीर्थों, मन्दिरों तथा देवी और देवताओं के आयतनों का भौगोलिक परिचय दिया गया है। इस पुराण में काशी को विष्णु-पीठ, शिव-पीठ, देवी-पीठ, आदित्य-पीठ, विनायक-पीठ, षडानन-पीठ, भैरव-पीठ आदि में विभक्त कर उन पीठों से सम्बन्धित तीर्थों, देवताओं तथा देवायतनों का साङ्गोपाङ्ग विवरण प्रस्तुत किया गया है। काशी के धार्मिक स्वरूप को जानने के लिये यह काशीखण्ड दर्पण के समान है।

काशी के महत्त्व के विषय मे पुराणों ने यह डिण्डिमनाद करते हुए घोषणा की है—'काश्या मरणान् मुक्तिः' अर्थात् काशी मे मरने से मुक्ति की प्राप्ति होती है और इसकी सिद्धि के लिए उन्होंने अनेक प्रमाणों तथा युक्तियों को प्रस्तुत किया है।

पुराणों में यह श्लोक[१] अनेक स्थलो पर पाया जाता है—

अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काञ्ची, अवन्तिका।
पुरी, द्वारावती चैव, सप्तैता मोक्षदायिकाः॥

अर्थात् ऊपर लिखित सातो नगरियों में निवास तथा दर्शन करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है, परन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि नगरियाँ स्वतः मोक्ष प्रदान करने वाली नहीं है। बल्कि इन नगरियों में निवास करने के पुण्य के फलस्वरूप मनुष्य काशी में जनमता है और यहाँ मृत्यु होने पर उसे मुक्ति की सद्यः प्राप्ति होती है। अतः इन सातों नगरियों में काशी सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। 'त्रिस्थली सेतु' में यह पुराणवचन उद्धृत है—

अन्यानि मुक्तिक्षेत्राणि, काशीप्राप्तिकराणि हि।
काशीं प्राप्य विमुच्येत नान्यथा तीर्थकोटिभिः॥

इस उद्धरण से उपर्युक्त कथन को समर्थन प्राप्त होता है।

काशी के विभिन्न नाम

प्राचीन काल में काशी के विभिन्न नाम प्रचलित थे जिनमें से पाँच नाम अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—(१) काशी, (२) वाराणसी, (३) अविमुक्त, (४) आनन्द-कानन और (५) श्मशान या महाश्मशान। इन विभिन्न नामों के तात्पर्य के विषय में पुराणों एवं अन्य ग्रन्थों में संकेत प्राप्त होते हैं।[२]

---

१ काशीखण्ड २३।७, गरुड पुराण, प्रेत खण्ड २४।५।

२ काणे धर्मशास्त्र का इतिहास, भा० ३, पृ० १३४३।

इन नामों की निरुक्ति—काशी शब्द काश् धातु (चमकना) से बना है। कोशकार आप्टे के अनुसार काशी शब्द 'काश् दीप्तौ' धातु से अच् तथा ङीष् प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है।[१] स्कन्द पुराण मे लिखा है कि काशी इसलिए प्रसिद्ध हुई कि यह निर्वाण अर्थात् मोक्ष के मार्ग में प्रकाश डालती है। अथवा यहाँ अनिर्वचनीय ज्योति अर्थात् साक्षात् शिव भासमान रहते है।[२] वाराणसी नाम की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे पुराणों में दो मत प्रचलित है। प्रथम मत के अनुसार वरणा और असि नामक दो धाराओं के बीच में अवस्थित होने के कारण इस नगरी का यह नाम पड़ा है। वरणा नदी वाराणसी की उत्तरी तथा असि दक्षिणी सीमा बनाती है। दूसरे मत के अनुसार वाराणसी शब्द 'वरणा' और 'नासी' शब्दों के योग से बना हुआ है (न कि वरणा और असि से)। वरणा का नाम इसलिए पडा कि यह इन्द्रियजन्य दोषों का निवारण करती है और 'नासी' इन्द्रियजन्य पापो का नाश करने वाली है। अतः वाराणसी का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ हुआ--वह नगरी जो विभिन्न इन्द्रियो से उत्पन्न होने वाले दोषों तथा पापों को नष्ट करती है।[३] वामनपुराण में 'असी' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। पद्मपुराण में भी यह उल्लेख उपलब्ध होता है। काशी का तीसरा नाम अविमुक्त (क्षेत्र) भी है। यहाँ निषेधात्मक 'न' के अर्थ में अ का प्रयोग किया गया है। अनेक पुराणों के अनुसार इस पवित्र स्थान का नाम 'अविमुक्त' इसलिए पड़ा कि शिव (बाबा विश्वनाथ) और शिवा (माता अन्नपूर्णा) ने इस नगर को कभी नही छोडा, परित्याग नही किया (अ+विमुक्त)।[४] लिगपुराण में इस शब्द की एक अन्य व्युत्पत्ति दी गई है। इसके अनुसार 'अवि' का अर्थ पाप है। अतः यह नगरी पाप (अवि) से मुक्त अर्थात् रहित है (अवि+मुक्त)।[५]

भगवान् शिव को वाराणसी नगरी अत्यन्त प्रिय है। यह उन्हे आनन्द देती है। अतः यह आनन्द कानन या आनन्द वन है।[६] कुछ कारणो से काशी श्मशान अथवा महाश्मशान भी कही जाती है। लोगों का ऐसा विश्वास है कि काशी लोगों को ससार से मुक्ति प्रदान करती है।[७] काशी मे मृत्यु प्राप्त करने के लिए भारत के सुदूर प्रान्तो से भक्त लोग आते है। उनका यह अटल विश्वास है कि काशी में मरने से मुक्ति मिलती है—'काश्या मरणान् मुक्तिः'।

काशी में गगां के तट पर मणिकर्णिका घाट पर सर्वदा शव जलते रहते है। साधारणतया श्मशान को अपवित्र माना जाता है। परन्तु आज हजारों वर्षों से यह स्थल श्मशानघाट होने पर भी परम पवित्र समझा जाता है। स्कन्दपुराण के अनुसार 'श्म' का अर्थ शव है और

---

१ आप्टे · सस्कृत हिन्दी कोश, पृ० २७४।

२ स्क० पु० (का० ख०) २६।६७।

३ सर्वानिन्द्रियकृतदोषान् वारयति तेन वरणा भवति। सर्वानिन्द्रियकृतान् पापान् नाशयति तेन नासी भवति। अविमुक्तः वरणाया नाश्या च मध्ये प्रतिष्ठितः। जाबाल उप०, खण्ड २।

४ (क) मुने प्रलयकालेऽपि न तत्क्षेत्र कदाचन। विमुक्त हि शिवाभ्या यदविमुक्त ततो विदुः॥
—स्क० पु० (का० ख०), २६।२७, त्रि० से०, पृ० ८६

(ख) विमुक्त न मया यस्मान्मोक्ष्यते वा कदाचन। मम क्षेत्रमिद तस्मात् अविमुक्तमिति स्मृतम्॥
--लि० पु० (पूर्वार्ध ९२।४५-४६)

५ अविशब्देन पापस्तु वेदोक्तः कथ्यते द्विजैः। तेन मुक्त मया जुष्ट अविमुक्तमतोच्यते॥
—लि० पु० (पूर्वार्ध ९२।१४३)

६ यथा प्रियतमा देवि! मम त्व सर्वसुन्दरी। तथा प्रियतर चैतन् मे सदानन्दकाननम्॥
—स्क० पु०, काशीखण्ड ३२।१११

७. नमामि गंगे तव पादपकजं, सुरासुरैर्वन्दितदिव्यरूपम्।
भुक्तिञ्च मुक्तिञ्च ददासि नित्य भावानुसारेण सदा नराणाम्॥
उपर्युक्त वर्णन काशी मे ही विराजमान गंगा का है।

'शान' का अर्थ सोना, शयन करना अथवा पृथ्वी पर सदा के लिए सो जाना है। जब विश्व का प्रलय या अन्त होता है तब महान् तत्त्व, शवो के समान, यहाँ पड जाते है। अतएव यह स्थान (काशी) महाश्मशान कहलाता है। पद्मपुराण[1] मे लिखा है कि शिव जी कहते है कि "अविमुक्त एक विख्यात श्मशान है। मै काल देवता बनकर यहाँ रहता हूँ तथा विश्व का नाश करता हूँ।" मत्स्यपुराण मे बहुधा वाराणसी को श्मशान कहा गया है। इन उल्लेखो से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल मे काशी उपर्युक्त पाँच नामो से प्रसिद्ध थी और उमके विभिन्न नामकरण के कारण भी भिन्न-भिन्न थे।

काशी के तीर्थ

पुराणो मे ऐसा वर्णन मिलता है कि काशीक्षेत्र मे पद-पद पर तीर्थ है। यहाँ एक तिल भर भी ऐसा स्थान नही है जहाँ शिव का लिग न हो।[2] स्कन्द पुराण के काशीखण्ड के केवल दसवे अध्याय मे ही ६४ लिङ्गो का उल्लेख किया गया है। ह्वेनसाङ्ग ने लिखा है कि उसके समय मे बनारस मे एक सौ मदिर थे। उसने एक ऐसे मदिर का उल्लेख किया है जिसमे शिव (देव महेश्वर) की ताम्र प्रतिमा एक सौ फुट से कम ऊँची नही थी। सन् ११६४ ई० मे कुतुबुद्दीन ऐबक ने काशी के एक हजार मदिरो को तोड फोडकर नष्ट कर दिया था।[3] अलाउद्दीन खिलजी ने गर्व के साथ कहा है कि उसने केवल बनारस मे ही एक सहस्र मदिरो को नष्ट कर भूमिसात् कर दिया था।[4] इस तोड-फोड मे विश्वनाथजी का मदिर भी था। सन् १५८५ ई० मे अकबर के राजस्व मन्त्री राजा टोडरमल की सहायता से, नारायण भट्ट ने विश्वनाथजी के मदिर को पुनः बनवाया। किन्तु यह मदिर भी कुछ काल के बाद नष्ट कर दिया गया।

काशी मे प्राचीन विश्वेश्वर के मन्दिर को तोड़कर औरगजेब ने एक मसजिद बनवायी जो आज भी स्थित है। उसने हजारो मन्दिरो को नष्ट करने के साथ ही पचगगाघाट पर स्थित बिन्दु-माधव का भी मन्दिर तोडकर नष्ट कर दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि औरगजेब के काल (सन् १६५६ ई० से १७०७ ई० तक) मे काशी मे बीस मन्दिरो को भी पाना कठिन था।[5] परन्तु इस काल के पश्चात् मराठा राजाओं तथा सरदारो ने अनेक मन्दिर बनवाये और अग्रेजो के शासनकाल मे भी बहुत से मन्दिरो का निर्माण हुआ। सन् १८२८ ई० मे जेम्स प्रिन्सेप ने गणना कराई थी जिससे पता चलता है कि काशी मे उस समय एक हजार मन्दिर विद्यमान थे। शेरिग ने लिखा है कि उसके समय मे १४५४ मन्दिर स्थित थे।[6] हैवेल का कथन है कि उसकी गणना के अनुसार उस समय १५०० मन्दिर काशी मे मौजूद थे और दीवारो मे लगी हुई प्रतिमाएँ अथवा मूर्तियाँ असख्य थी।[7]

तीर्थ—वाराणसी के रक्षक देवता विश्वनाथ माने जाते है और उनका मन्दिर सर्वोच्च

---

१ प० पु०, १।३३।१४।

२ (क) तीर्थानि सन्ति भूयांसि, काश्यामत्र पदे पदे। न पञ्चनदतीर्थस्य कोट्यंशेन समान्यपि॥

—का० ख० ५६।१।८

(ख) तिलान्तरापि नो काश्या भूमिर्लिङ्ग विना क्वचित्।

—वही, १०।१०३

३ इलिएट एण्ड डाउसन हिस्ट्री आफ इण्डिया जिल्द २, पृ० २२२।

४ शेरिग दि सेक्रेड सिटी आफ दि हिन्दूज, पृ० ३१।

५ शेरिग वही, पृ० ३२

६ वही, पृ० ४१ ४२।

७ हैवेल, पृ० ७५।

एव परमपवित्र है। औरगजेब के द्वारा विश्वनाथ का मन्दिर नष्ट कर दिया गया था। तब से लगभग एक सौ वर्षों से अधिक समय तक काशी मे विश्वनाथ का कोई भी मन्दिर नही था। विश्वनाथजी का आधुनिक मन्दिर सुप्रसिद्ध महारानी अहल्याबाई होल्कर के द्वारा १८वी शताब्दी के अन्तिम चरण मे बनवाया गया था। 'त्रिस्थलीसेतु' के अनुसार पापी तथा अस्पृश्य भी विश्वनाथ के लिग को स्पर्श कर पूजा कर सकता है।[१]

मत्स्यपुराण के अनुसार विश्वेश्वर (विश्वनाथ) के आनन्दकानन (वाराणसी) मे पॉच प्रमुख तीर्थ है—(१) दशाश्वमेध, (२) लोलार्क, (३) केशव (आदिकेशव), (४) बिन्दुमाधव और (५) मणिकर्णिका। आधुनिक काल मे प्रमुख पचतीर्थ है असि और गगा का सगम, दशाश्वमेधघाट, मणिकर्णिका, पचगगाघाट और वरणा तथा गगा का सगम। लोलार्कतीर्थ असि (वाराणसी की दक्षिणी सीमा) एव गगा के सगम पर अवस्थित माना जाता है। दशाश्वमेघघाट शताब्दियो से विख्यात रहा है। डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने लिखा है कि यहॉ पर भारशिव राजाओं ने दस अश्वमेघ यज्ञो का अनुष्ठान कर अभिषेक किया था, यह मत उचित ही है।[२] इस घाट की महिमा का विशेष वर्णन काशीखण्ड[३] और त्रिस्थली[४]-सेतु मे उपलब्ध होता है। मणिकर्णिका --जिसे मुक्तिक्षेत्र भी कहा जाता है --वाराणसी के धार्मिक जीवन का केन्द्र है और यहॉ के सभी तीर्थों मे सर्वोच्च माना जाता है। पचगगाघाट का नाम इसलिए प्रसिद्ध हुआ कि यहॉ पाँच नदियों या धाराओं के मिलने की कल्पना की गई है।[५] नारदीय पुराण तथा काशीखण्ड मे कहा गया है कि जो मनुष्य पचगगा मे स्नान करता है वह पचतत्त्वो मे रचित इस शरीर को पुनः धारण नही करता अर्थात् उसकी मुक्ति हो जाती है। वरणा और गगा का सगम तीर्थ अर्थात् आदिकेशवघाट बहुत ही प्राचीन है। कन्नौज के गाहडवाल राजाओं ने, जो विष्णु-भक्त थे, जब काशी को अपनी राजधानी बनाया तब इस घाट को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया। उनके ताम्रपत्रो तथा शिलालेखो से यह सिद्ध होता है कि यह घाट लगभग एक हजार वर्ष प्राचीन है। इन राजाओं ने सन् १०९९ ई० (स० ११५६ वि०) मे इस घाट पर ५०० ब्राह्मणो को ३० गाँव दान मे दिए थे।[६]

उपतीर्थ – वाराणसी मे बहुत से उपतीर्थ भी है। काशीखण्ड मे ज्ञानवापी का उल्लेख मिलता है। यह स्थान आजकल विश्वनाथजी के मन्दिर के पास ही उत्तर दिशा मे स्थित है। विश्वेश्वर के मन्दिर से दो मील की दूरी पर भैरवनाथ का मन्दिर स्थित है। वे काशी के कोतवाल माने जाते है। ये बड़ी मोटी पत्थर की लाठी (दण्ड) धारण करते है। इसलिए इन्हे 'दण्डपाणि' भी कहा जाता है। इनका वाहन कुत्ता है। काशी मे गणेशजी के भी अनेक मन्दिर है। काशीखण्ड मे ५६ गणेशो के नाम दिये गये है। इनमे ढुण्ढिराज गणेश विश्वनाथमन्दिर के पास और बड़ागणेश--जिनका मन्दिर मुहल्ला लोहटिया मे है —प्रसिद्ध है। बारहवी शताब्दी मे काशी मे गगातट पर कपालमोचन घाट भी था। सन् ११२० ई० मे सम्राट् गोविन्दचन्द्र ने इस घाट पर स्नान कर व्यास नामक ब्राह्मण को एक गॉव दान मे दिया था।[७]

---

१ त्रिस्थलीसेतु, पृ० १८३।

२ डॉ० जायसवाल हिस्ट्री आफ इण्डिया (१५० ई० से ३५० ई०), पृ० ५।

३ स्क० पु० (का० ख०) ५२।८३।

४ त्रि० से०, पृ० १५९।

५ किरणा, धूतपापा च, पुण्यतोया सरस्वती। गगा च यमुना चैव, पच नद्यः पुनन्तु माम्॥

६ डॉ० काणे धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ३, पृ० १३४८।

७ डॉ० काणे वही, पृ० १३५०।

सम्भवतः आजकल काशी मे इस नाम से कोई घाट तो प्रसिद्ध नही है परन्तु तीर्थ अवश्य विद्यमान है।

पुराणो मे काशी के लिगो और तीर्थों का बड़े ही विस्तार के साथ वर्णन उपलब्ध होता है।[१] केवल काशीखण्ड मे १४ नामो का उल्लेख हुआ है जो महालिग के नाम से प्रसिद्ध है। काशीखण्ड मे पुनः १४ लिगो के वर्णन है जो इनसे भिन्न है। इसके साथ ही १४ आयतनो का विवरण भी दिया गया है। काशीखण्ड मे काशी के १२५ तीर्थों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार काशी के तीर्थों और उपतीर्थों का वर्णन पुराणो मे प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होता है।

काशी के यात्रा क्रम*

तीर्थों के साथ यात्राओं का सम्बन्ध रहता है। यात्रा का विधान दोनो प्रकार के मनुष्यो के लिए होता है। एक तो तीर्थ मे बाहर से आने वाले यात्रियो के लिए होता है और दूसरा तीर्थ के निवासियो के लिए होता है। काशी मे दो यात्राय प्रसिद्ध है– (क) जलतीर्थयात्रा तथा (ख) देवायतन-यात्रा। स्कन्दपुराण के अन्तर्गत **काशीखण्ड** मे इन यात्राओं का विशेष विवरण दिया गया है। काशीखण्ड मे कहा गया है कि ऐसा कोई भी दिन नही होना चाहिये जिस दिन कोई न कोई यात्रा न की जाय

न वन्ध्य दिवस कुर्याद् विना यात्रा कचित् कृती।

(क) जलतीर्थी यात्रा छ प्रकार की होती है – एक से लेकर छ तक। इनमे **पञ्चतीर्थी यात्रा** बड़ी पवित्र मानी जाती है और विशिष्ट यात्राओं मे इसकी गणना होती है। कम से कम पन्द्रह सौ वर्षों से यह यात्राक्रम इसी प्रकार चल रहा है। अस्सीघाट से प्रारम्भ करके दशाश्वमेध घाट (विशेषतः अहल्याबाई घाट) पर स्नान करते हुए वरणासगम जाना होता है। वहाँ सगम मे स्नान करके लौट कर पचगगाघाट पर और अन्त मे मणिकर्णिकाघाट पर स्नान करने का विधान है। इन तीर्थों मे स्नान करने के साथ ही साथ उस स्थान के देवायतनो का भी दर्शन पूजन किया जाता है।

(ख) **देवायतन-यात्रा** के अन्तर्गत सबसे अधिक शिवायतनो की यात्रा होती है। इसके अन्तर्गत नित्य यात्रा, एकायतन, द्विरायतन, निरायतन, चतुरायतन, पचायतन, षडायतन, अष्टायतन, एकादशायतन, चतुर्दशायतन यात्रा नाम से दश यात्राओं का विधान काशीखण्ड, लिगपुराण, सनत्कुमारसहिता, ब्रह्मवैवर्तपुराण आदि मे किया गया है।

(१) अन्तर्गृही यात्रा—काशी तीन खण्डो मे विभक्त है। मध्यखण्ड का नाम विश्वेश्वर (विश्वनाथ) खण्ड है, इसके दक्षिण केदारखण्ड है और उत्तर मे ओंकारेश्वरखण्ड है। इन तीनो खण्डो के केदारखण्ड तथा विश्वेश्वरखण्ड की अन्तर्गृही यात्रा आज भी प्रचलित है और प्रत्येक के अन्तर्गत आने वाले शिवलिगो का परिचय एव स्थान का पता पर्याप्तरूपेण है, परन्तु ओंकारेश्वरखण्ड की अन्तर्गृही लुप्तप्राय है।

(२) द्वादशज्योतिर्लिङ्गयात्रा—समग्र भारतवर्ष मे भगवान् शिव के १२ ज्योतिर्लिगो

१ इस वर्णन के लिए देखिए—लि० पु० (पूर्वार्द्ध ९२।६७ १००), पद्म पुराण (आ० ख०, अध्याय ३४ ३७), कू० पु० (१।३२।१ १२ तथा १।३५।१ १५), स्क० पु० (का० ख० १०।८६ ९७, अध्याय ३३, ५३।२७ एव अध्याय ५५-५८ तथा ६१)।

* द्रष्टव्य—कुबेरनाथ सुकुल काशी के यात्राक्रम, प्रकाशक रामुउग्रह पाण्डेय, सप्तसागर, वाराणसी।

की प्रतिष्ठा विभिन्न तीर्थों में मानी जाती है। काशी समस्त भारतवर्ष का प्रातिनिध्य करता है। फलतः इन बारहों के स्थान काशी में निर्दिष्ट हैं जिनकी यात्रा करने का विधान है।

(३) **देवीपीठों में दो यात्राएँ**— विशेष प्रसिद्ध है—(१) नवदुर्गायात्रा तथा (२) नवगौरीयात्रा। यह यात्रा दोनों नवरात्रों—वासन्तिक नवरात्र (चैत्र) तथा शारद नवरात्र (आश्विन) में आज भी खूब प्रचलित है और काशीवासी धार्मिक व्यक्ति इन यात्राओं का विधिवत् पालन करते हैं। इसी क्रम में (४) **भैरवयात्रा** भी सम्पन्न की जाती है। भैरवों की संख्या नौ है जिनमें कालभैरव (इसी नाम से प्रसिद्ध मुहल्ले में) तथा बटुकभैरव (कमच्छा मुहल्ले में) विशेष आकर्षण के केन्द्र हैं। सामान्यतः काशी में शिव तथा दुर्गा का प्राधान्य है, परन्तु अन्य देवताओं के भी पूजन-अर्चन का विधान यहाँ सम्पन्न किया जाता है। इसलिए इन देवों की यात्रा के क्रम हैं।

(५) **आदित्ययात्रा**—प्रतिमास में विहित है। आदित्य के १२ स्थान है जिनमें 'उत्तरार्क' के लुप्त हो जाने पर ग्यारह आदित्य पीठों की यात्रा होती है। भदैनी मुहल्ले में स्थित **लोलार्क** बड़ा ही महत्त्वशाली आदित्यपीठ है जहाँ लोलार्क षष्ठी (भाद्रपद, शुक्लषष्ठी) को विशाल मेला जुटता है।

(६) **विनायकयात्रा**—काशीमण्डल के भीतर ५६ विनायक हैं जिनकी यात्रा के अन्तर्गत विश्वनाथजी की सात प्रदिक्षणा होती हैं। प्रत्येक आवरण में स्थित आठ विनायक पीठों के पूजन का विधान है। सबसे बड़ा आवरण पंचक्रोशी को भी अपने अन्तर्गत करता है और सबसे छोटा आवरण विश्वनाथजी के मन्दिर के आसपास तक ही रहता है। विनायकों में अधिक प्रसिद्ध **बड़ागणेश-मन्दिर** लोहटिया मुहल्ले में प्रधान सड़क के पास ही है।

(७) **विष्णु भगवान् की यात्रा**—काशी के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक भगवान् विष्णु के विभिन्न अवतारों के पीठ विद्यमान हैं। सबसे पूरब में 'आदिकेशव' का मन्दिर है, तो सबसे दक्षिण में 'नरसिंह' की प्रचण्ड मूर्ति जगन्नाथ मन्दिर की परिक्रमा के अन्तर्गत है। इस यात्रा का कोई विशिष्ट क्रम नहीं है।

(८) **सप्तपुरी-यात्रा**—पुराणों के अनुसार काशी में प्रसिद्ध सप्तपुरियो के भी नियत स्थान हैं। शंखूधारा के पास द्वारका, बिन्दु माधव के पास विष्णुकाञ्ची, रामकुंड पर अयोध्या, असी संगम पर हरद्वार, कृत्तिवासेश्वर की मस्जिद से वृद्धकाल तक उज्जयिनी, बकरिया कुड से उत्तर वरणा तट तक मथुरा, विश्वेश्वर के समीप काशी तथा शिवकाञ्ची की यात्रा होती है।

(९) **सप्तर्षि-यात्रा**—सात ऋषियों के अत्रीश्वर, मरीचीश्वर, पुलहेश्वर, पुलस्त्येश्वर, अंगिरसेश्वर, वसिष्ठेश्वर, कृत्वीश्वर नामक लिंगमूर्तियों का पूजन-अर्चन होता है। इनके स्थान भिन्न-भिन्न घाटों पर अथवा मन्दिरों के भीतर उपलब्ध हैं।

(१०) **पञ्चक्रोशी-यात्रा**—यह यात्रा पाँच दिन या छह दिनों में पूरी होती है। यह पचास मील की यात्रा है। प्रथम दिन कर्दमेश्वर (कँदवा) मे, दूसरे दिन भीमचण्डी मे, तीसरे दिन रामेश्वर में, चौथे दिन शिवपुर में तथा पाँचवें दिन कपिलधारा में रात्रिवास होता है। अन्तिम दिन प्रातःकाल वृषभध्वज का पूजन कर यात्रा का अन्तिम चरण आरम्भ होता है जो विश्वेश्वर में तथा मुक्तिमण्डप में समाप्त होता है। यतः यह यात्रा प्रधान मानी जाती है अतः

प्रत्येक काशीवासी को इसका विधान ज्ञात है। यह यात्रा काशीक्षेत्र की प्रदक्षिणा है जो स्वय शिवलिंग रूप माना जाता है। यात्रान्त में काशी विश्वनाथ से यह प्रार्थना की जाती है—

अनेकजन्मपापानि कृतानि मम शङ्कर। गतानि, पंचक्रोशात्मलिङ्गस्यास्य प्रदक्षिणात् ॥

(११) समन्वित यात्रा—वाराणसी मे तीन यात्राएँ ऐसी है जिनमें सभी देवताओं के अर्चन-पूजन होते हैं। इनमें से विश्वनाथजी के उत्तरदिशा में उत्तरदिक् यात्रा (अथवा उत्तर मानस यात्रा), दक्षिण में दक्षिणदिक्-यात्रा (अथवा दक्षिण मानस यात्रा) का पौराणिक आधार नहीं मिलता, परन्तु कम से कम पाँच सौ वर्ष से ये प्रचलित है। तीसरी पचक्रोशी यात्रा ब्रह्मवैवर्त पुराण के आधार पर होती है और इसका प्रचलन कम से कम एक हजार वर्ष से प्रमाणित है। ये तीनो सम्मिलित यात्रायें है, क्योंकि इनमें सभी देवताओं के दर्शन-पूजन होते है। इन तीनों के विशेष विवरण पण्डित कुबेर नाथ सुकुल ने अपनी 'काशी के यात्राक्रम' नामक प्रामाणिक पुस्तिका में दिये है (पृ० १७-१८ तथा पृ० २२-३१)।



अध्याय २

काशी : विद्वानों का आकर्षण-केन्द्र

काशी उपनिषत् काल से ही विद्या की विश्रुत स्थली है। यहाँ विद्याध्ययन के लिए भारत के अनेक प्रान्तो से विद्वान् आते थे और यहाँ के प्रकृष्ट विद्वानो से विभिन्न शास्त्रो का गम्भीर अध्ययन कर अपनी विद्वत्ता को परिपुष्ट करते थे। बहुत से लोग अपने जीवन की गोधूलि मे काशीवास के लिए भी आया करते थे। इस प्रकार काशी-आगमन के प्रति विद्वानो मे बडा आकर्षण था। इस आकर्षण के प्रधानतया तीन कारण माने जा सकते है -

१ काशी का तीर्थस्थली होना।

२ काशी का विद्याकेन्द्र होना।

३ जीविका का सुगम साधन होना।

काशी अत्यन्त प्राचीन काल से तीर्थ स्थान रहा है। वेद तथा उपनिषत् के काल मे काशी एक महती तीर्थस्थली रही होगी, यद्यपि इसका स्पष्टतः उल्लेख नही मिलता। तीर्थ स्थानो के भ्रमण करने से और वहाँ स्नान, दानादि के सम्पादन करने से पुण्य की प्राप्ति होती है—यह कल्पना महाभारत काल मे प्रचलित हो गयी थी। यद्यपि यह परम्परा इसके पहिले भी वर्तमान रही होगी परन्तु महाभारत मे ही इसका सर्वप्रथम उल्लेख स्पष्टतः पाया जाता है। महाभारत के वनपर्व मे ये श्लोक उपलब्ध होते है[1]—

अविमुक्तं समासाद्य, तीर्थसेवी कुरूद्वह ! दर्शनाद् देवदेवस्य, मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥
ततो वाराणसी गत्वा, देवमर्च्य वृषध्वजम् । कपिलाह्रदमुपस्पृश्य, राजसूयफल लभेत् ॥

इस उल्लेख से पता चलता है कि महाभारत के काल मे अर्थात् आज से कम से कम २३०० वर्ष पूर्व काशी एक तीर्थस्थान के रूप मे प्रसिद्ध हो गयी थी और यहाँ शिव की पूजा का प्रचार था। तब स लेकर काशी भारत की एक विख्यात तीर्थस्थली रही है और आज भी इसकी तीर्थरूपेण ख्याति कुछ कम नही है। महामहोपाध्याय डॉ० काणे ने काशी के एक प्रसिद्ध तथा महत्त्वपूर्ण तीर्थ होने के सम्बन्ध मे लिखा है[2]—

"विश्व मे ऐसा कोई नगर नही है जो बनारस (वाराणसी) से बढ कर प्राचीनता, निरन्तरता एव मोहक आदर का पात्र हो। लगभग तीन सहस्राब्दियो से यह पुनीतता ग्रहण करता आ रहा है। इस नगर के कई नाम प्रचलित है जैसे वाराणसी, अविमुक्त और काशी। काशी से बढ कर हिन्दू मात्र की धार्मिक भावनाओं को जगाने वाला कोई अन्य नगर नही है। हिन्दुओं के लिए यह नगर अटूट धार्मिक पवित्रता, पुण्य एव विद्या का प्रतीक रहा है। अपनी महान् जटिलताओं एव विरोधो के कारण यह नगर सभी युगो मे भारतीय जीवन का

---

१ महाभारत, वनपर्व, अ० ८४।७८-७९।

२ म० म० डॉ० काणे धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ३, पृ० १३३९ अर्जुन चौबे काश्यप के द्वारा हिन्दी अनुवाद (हिन्दी समिति, लखनऊ) तृतीय सस्करण, १९८० ई०।

एक सूक्ष्म स्वरूप रहता आया है। न केवल हिन्दू धर्म अपने कतिपय सम्प्रदायों के साथ यहाँ फूलता-फलता आया है, प्रत्युत संसार के एक बहुत बड़े धर्म—बौद्धधर्म—के सिद्धान्त यहाँ उद्घोषित हुए हैं। वाराणसी या काशी के विषय में महाकाव्यों एवं पुराणों में सहस्रों श्लोक कहे गये हैं। गत सैकड़ों वर्षों के भीतर संस्कृतसाहित्य के अनेक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है और यह परम्परा आज भी जागरूक है।"

एक अन्य स्थान पर डॉ० काणे लिखते हैं[१]—

काशी के नाम के साथ विद्या की महान् परम्पराएँ लगी हुई हैं। ××× यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि बनारस एवं कश्मीर अलबेरूनी के काल में हिन्दू विद्वानों की उत्तम पाठशालाओं के लिए प्रसिद्ध थे।[२] आईने अकबरी में लिखा है कि बनारस पुरातन काल से भारत में विद्या का प्रथम पीठ रहा है।[३] काशीखण्ड में उल्लिखित है कि यह विद्या का सदन है—'विद्यानां सदनं काशी।' इस प्रकार काशी की महिमा वेद से लेकर पुराणों तक में गाई गई है और यह अत्यन्त प्राचीन काल से विद्या की स्थली रही है।

अतः प्राचीन काल से काशी के एक प्रख्यात तीर्थस्थान होने के कारण विद्वान् तथा साधारण जन पुण्य की प्राप्ति के लिए यहाँ आया करते थे। कान्यकुब्ज के गाहड़वाल राजाओं ने काशी को अपनी राजधानी बनाकर १२वीं शती में इसे राजनैतिक महत्त्व भी प्रदान किया। उस काल से साधारण जन-समुदाय के अतिरिक्त यह विद्वानों के लिए भी आकर्षण केन्द्र बन गई। इसी समय राजतरंगिणी के सुप्रसिद्ध लेखक कल्हण के समकालीन **लोष्टक** या **लोष्टदेव** नामक कवि अपने जीवन की सन्ध्या में संन्यासी बनकर ११०० ई० के आसपास काशी आये। यहाँ निवास करते हुए इन्होंने काशी-विश्वनाथ की स्तुति में **दीनाक्रन्दन-स्तोत्र** की रचना भी की।[४]

पुराणों में काशी की महिमा के सम्बन्ध में लिखा है **काश्यां मरणान्मुक्तिः** अर्थात् काशी में मरने से साक्षात् मुक्ति की प्राप्ति होती है। इस विचार से प्रभावित होकर अनेक विद्वान् अपने जीवन के अन्तिम दिनों को व्यतीत करने के लिए काशी आया करते थे। लोष्टदेव का उदाहरण ऊपर दिया गया है। भागवत के प्रसिद्ध टीकाकार श्रीधरस्वामी जो उत्कल निवासी थे—ने काशी में १६०० ई० के आसपास आकर श्रीमद्भागवत पर अपनी विख्यात श्रीधरी टीका लिखी। ये यहाँ ही पंचगंगाघाट पर 'बिन्दुमाधव' के मन्दिर के पास रहते थे और यहाँ ही उनका काशीवास हो गया।

काशी विद्या की केन्द्र-स्थली

अत्यन्त प्राचीन काल से काशी विद्या की केन्द्र स्थली रही है। ब्राह्मणकाल में ही राजा दिवोदास ने यहाँ पर एक आयुर्वेदविद्यापीठ की स्थापना की थी, इसका उल्लेख इसी ग्रन्थ में अन्यत्र किया गया है। उपनिषद् काल में भी काशी के तत्कालीन राजा अजातशत्रु, जो स्वयं बहुत बड़े ब्रह्मवेत्ता थे, के पास विद्वानों का जमघट लगा रहता था। स्कन्दपुराण के काशीखण्ड में **जैगीषव्य** नामक प्रसिद्ध ऋषि का उल्लेख पाया जाता है जो इस युग के महान्

---

१. काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास (हिन्दी), भाग ३, पृ० १३५० ।
२. वही, जिल्द १, पृ० १७६ ।
३. वही, जिल्द २, पृ० १५८ ।
४. प्रो० बलदेव उपाध्याय : सं० सा० इ०, पृ० ३६५ (१६७८ ई०) ।

योगी थे।[१] काशी में ही ये ऋषि एक गुफा में रहा करते थे जो आज भी जागेश्वर महादेव के मठ (मुहल्ला औसानगंज) के पास विद्यमान है। इसे आज भी 'जैगीषव्य गुफा' कहते हैं। यहीं पर भगवान् का दर्शन इन्हें उपलब्ध हुआ था और भगवान् ने इनसे कहा था कि तुम योग-विद्या में अत्यन्त निपुण हो। अतः तुम यही रह कर इसकी शिक्षा अन्य व्यक्तियों को प्रदान करो।[२]

त्रिरात्रं तत्र स्थित्वा वै, यो नरः पूजयिष्यति ।
गुह्यं प्रविश्यते चैव ज्ञानयुक्तो भवेन्नरः ॥

पुराणों तथा महाभारत के रचयिता महर्षि वेदव्यास भी काशी में ही निवास करते थे। आज भी इनका मदिर व्यासपुरी में विद्यमान है जो काशी से लगभग पाँच मील की दूरी पर अवस्थित है। माघ के महीने में व्यासजी का दर्शन करना काशीनिवासियों के लिए आवश्यक बतलाया गया है। आज भी उस मदिर के पास, माघ मास में मेला लगता है जो 'वेदव्यास का मेला' के नाम से प्रसिद्ध है। महाराज काशीनरेश के रामनगर के दुर्ग में भी पश्चिम भाग की ओर **व्यासेश्वर** की मूर्ति विराजमान है जिसे साधारण जनता 'छोटा वेदव्यास' के नाम से पुकारती है। वास्तव में वेदव्यास की यही मूर्ति सबसे प्राचीन है। यही उनका आदिम स्थान है। सन् ११९४ ई० में मुसलमानों के आक्रमण के फलस्वरूप तोड़-फोड़ के बाद इसकी पुनः स्थापना समीप के ही एक गाँव में की गई जहाँ यह शिवलिंग बाद के कई बार के तोड-फोड़ से किसी प्रकार से बच गया था। व्यासजी के द्वारा काशी को शाप देने के कारण विश्वेश्वर (विश्वनाथजी) के द्वारा व्यासजी काशी से निष्कासित कर दिये गये। तब व्यासजी लोलार्कमंदिर के आग्नेय कोण में गंगाजी के पूर्वी तट पर स्थित हुए।[३] इस घटना का उल्लेख काशी खण्ड में इस प्रकार किया गया है—

लोलार्काद् अग्निदिग्भागे, स्वर्धुनीपूर्वरोधसि ।
स्थितो ह्यद्यापि पश्येत्सः काशीप्रासादराजिकाम् ॥

—स्कन्दपुराण, काशीखण्ड ९६।२०१

व्यासजी ने पुराणों तथा महाभारत की रचना करने के पश्चात् ब्रह्मसूत्रों की रचना भी यहाँ ही की थी।

नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भगवान् शकराचार्य भारत के सुदूर दक्षिणी प्रान्त केरल में जन्म ग्रहण करने पर भी वहाँ से पैदल चलकर उस अतीत काल में—जब रेल का आविष्कार नहीं हुआ था और न पक्की सड़कों का ही निर्माण हुआ था—काशी आये और यहीं रहकर उन्होंने ब्रह्मसूत्रों के ऊपर अपने शारीरकभाष्य का निर्माण किया। शंकराचार्य का काशी में पधारने का उद्देश्य यह था कि जहाँ रह कर स्वयं व्यास ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की वहाँ निवास करने पर मुझे स्फूर्ति तथा प्रेरणा प्राप्त होगी। अतएव काशी में ही अपने भाष्य की रचना कर अपनी कृति पर काशी की मुहर लगा कर ही उन्होंने समस्त भारत के प्रधान तीर्थों की परिक्रमा की थी।

शंकराचार्य के बाद श्रीवैष्णवधर्म के आचार्य भी जब उत्तरभारत की तीर्थयात्रा करते

१. पं० कुबेरनाथ सुकुल · वाराणसी-वैभव (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९७७) पृ० १२० तथा १५८०, प्रथम संस्करण।
२. कृत्यकल्पतरु में लिङ्गपुराण का उद्धृत वचन।
३. कुबेरनाथ सुकुल　वाराणसी-वैभव, पृ० १७४।

थे तब काशी अवश्य ही आते थे। इन लोगों ने भी विद्या की केन्द्रस्थली होने के कारण काशी को महत्त्व प्रदान किया था। ऐसे आचार्यों मे यामुनाचार्य का नाम विशेष उल्लेखनीय है जो दशम शताब्दी के उत्तरार्ध में काशी पधारे थे।[१] इसी प्रकार द्वैत मत के संस्थापक मध्वाचार्य (जीवनकाल १२३८ ई० से १३१७ ई०) ने उत्तरभारत की यात्रा दो बार की थी। इन्होंने उडुपी (कर्नाटक) से बदरीनाथ तक की पैदल यात्रा की थी। वहाँ से लौटते समय कुरुक्षेत्र, दिल्ली, काशी होते हुए ये अपने देश को गये थे। इनका भी निवास काशी में कुछ दिनों तक अवश्य रहा।[२]

स्वामी वल्लभाचार्य के पिता तो काशी में ही निवास करते थे परन्तु मुसलमानों के उत्पात के कारण जब वे काशी से अपने देश लौट रहे थे तब रास्ते में मध्यप्रदेश के रायपुर जिले के चम्पारन नामक गाँव में वल्लभ का जन्म स० १५३५ वि० (१४७८ ई०) में हुआ। परन्तु रायपुर में जन्म होने पर भी वल्लभाचार्य का यज्ञोपवीत तथा शिक्षा-दीक्षा सब काशी में ही हुई। इस प्रकार ये काशी की ही देन थे। आज भी काशी में गोपालमंदिर—जो चौखम्भा मुहल्ले में स्थित है—वल्लभसम्प्रदाय का बड़ा भारी केन्द्र है।

गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदाय के सस्थापक महाप्रभु चैतन्य ने (सन् १४८५ ई०—१५३३ ई०) भी जगन्नाथपुरी से वृन्दावन की यात्रा के लिए आते-जाते काशी में कई महीनों तक निवास किया था। सं० १५७२ वि० (१५१५ ई०) में विजयादशमी के दिन चैतन्य ने जगन्नाथपुरी से वृन्दावन के लिए प्रस्थान किया और झारखण्ड (उड़ीसा तथा छोटा नागपुर के वन्य प्रदेश) के मार्ग से चलकर कार्तिक मास में काशी पहुँचे। यहाँ तपन मिश्र नामक अपने पूर्व-बंगीय शिष्य के घर पर दस दिनों तक निवास किया। इसके अनन्तर वे प्रयाग होते हुए कार्तिक मास के अन्त में वृन्दावन पहुँचे। वहाँ दो मास—अगहन तथा पौष तक निवास कर वे पुनः इसी मार्ग से जगन्नाथपुरी लौटे। मार्ग में उन्होंने माघ की अमावस्या—मकर संक्रान्ति के दिन त्रिवेणी में स्नान किया। इसके बाद वे काशी आये और दो मास तक यहाँ भी निवास किया। ये काशी के जतनबर मुहल्ले—जो विश्वेश्वर गंज के पास है—में निवास करते थे। उस समय इनके सम्बन्ध की दो घटनाएँ प्रसिद्ध तथा महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं। काशी में उस समय **प्रकाशानन्द सरस्वती** नामक संन्यासी रहते थे जो अद्वैतवेदान्त के पोषक थे। महाप्रभु ने शास्त्रार्थ में परास्त कर उन्हें अपना शिष्य बना लिया। प्रकाशानन्द ने अब प्रबोधानन्द नाम धारण कर लिया। दूसरी घटना यह है कि महाप्रभु ने सनातन गोस्वामी—जो पहिले बगाल के नवाब हुसेनशाह के प्रधान मंत्री थे—को भक्तिशास्त्र का उपदेश यहीं दिया और इन्हें अपना पट्टशिष्य स्वीकार कर लिया। आचार्य ने अपने श्रीमुख से भक्ति के तत्त्वों का प्रतिपादन इसी काशी में किया था। इस प्रकार काशीपुरी चैतन्यसम्प्रदाय में भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

रामावत-सम्प्रदाय के संस्थापक रामानन्दजी की साधनास्थली यही काशी ही तो थी। वे काशी में पंचगङ्गा घाट पर रहते थे। आज भी इस घाट पर वह मढ़ी (कक्ष) बनी हुई है जहाँ पर इन्होंने कबीर को 'राम-नाम' का उपदेश दिया था। रामानन्द ने अपने **वैष्णवमताब्जभास्कर** की तथा वेदान्त के **ब्रह्मसूत्रों पर आनन्दभाष्य** की रचना इसी काशी

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय : वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त (चौखम्भा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी, वि० २०३५), पृ० १५६।

२. वही, पृ० १७०-७१।

में ही की। सन्त कबीर की जन्मस्थली तथा साधनास्थली—दोनों ही काशी थी। आज भी काशी का एक मुहल्ला कबीरचौरा के नाम से प्रसिद्ध है जहाँ उनकी भव्य मूर्ति स्थापित है।

रामचरितमानस के रचयिता गोस्वामी तुलसीदासजी की जन्मस्थली तो राजापुर थी परन्तु कर्मस्थली तथा साधनास्थली काशी ही थी। वे यहाँ अस्सीघाट पर रहा करते थे जहाँ उन्होंने अपने निवासस्थल पर हनुमान की चारों दिशाभिमुखी चार मूर्तियों की स्थापना की थी। आज भी काशी में वह मन्दिर स्थित है। अस्सीघाट में जिस स्थान पर गोस्वामीजी रहा करते थे, वह आजकल 'तुलसीघाट' के नाम से प्रसिद्ध है। तुलसीदास ने रामायण का प्रारम्भ 'अवधपुरी' में अवश्य किया था परन्तु उसके अन्तिम चार काण्डों की रचना उन्होंने यहाँ ही की थी। तुलसीघाट पर दक्षिणाभिमुखी हनुमानजी की मूर्ति के पास ही उन्होंने रामयंत्र की स्थापना की थी जो आज भी विद्यमान है एवं दर्शनीय है।

तुलसीदासजी के ही काल में महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त एकनाथजी स० १६२८ वि० (सन् १५७१ ई०) में काशी आये थे और उन्होंने अपने दो प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना यहीं की थी जिनके नाम नाथ-भागवत तथा रुक्मिणीस्वयंवर हैं। इनमें नाथभागवत श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध की मराठी भाषा में छन्दोबद्ध विस्तृत अनुशीलनात्मक टीका है, जिसमें ज्ञान एवं भक्ति के सिद्धान्तों का विशद विवेचन है। एकनाथजी काशी में आत्मावीरेश्वर मन्दिर (संकटाघाट के समीप) के पास ही रहते थे और यहीं पर १५७३ ईस्वी में उन्होंने अपने मौलिक व्याख्याग्रन्थ नाथभागवत की समाप्ति की थी। छत्रपति शिवाजी के गुरु तथा महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध कर्मयोगी सन्त स्वामी रामदास ने भी काशी में पधारने की कृपा की थी। यहाँ आकर उन्होंने मंगलागौरी मुहल्ला में रामजानकी की स्थापना एक सुन्दर मन्दिर बनवाकर की। जानकार व्यक्तियों का कहना है कि स्वामीजी के द्वारा धुलिया (महाराष्ट्र) में स्थापित मूर्ति तथा मन्दिर के प्रतिरूप ही काशी का यह रामजानकी-मन्दिर है। आज भी इस मन्दिर की पूजा-अर्चना महाराष्ट्रीय पुजारियों द्वारा सम्पन्न की जाती है। सन्त रामदास ने सन् १६३१ ई० में भारतवर्ष की यात्रा प्रारम्भ की थी जब उनकी अवस्था केवल २३ वर्ष की थी। वे लगातार १२ वर्षों तक भ्रमण करते रहे। इसी भ्रमण के बीच वे १६३४ ई० में काशी भी आये थे। उस समय उनकी अवस्था संभवतः तीस वर्ष की रही होगी।

सिख धर्म के प्रवर्तक गुरु नानक (१४६९ ई०–१५३८ ई०) का जन्म पंजाब के तलबण्डी नामक गाँव में १४६९ ई० में हुआ था। 'नानकाना' के नाम से प्रसिद्ध सिखों का यह प्रधान तीर्थस्थल पाकिस्तान नें चला गया है, जहाँ यात्रा के लिए भारतवर्ष से सैकड़ों तीर्थयात्री प्रतिवर्ष जाया करते हैं। गुरुजी ने भारतवर्ष की दो यात्राएँ की थीं। प्रथम यात्रा उत्तरभारत की दस वर्षों (१४९९ ई०–१५०९ ई०) में समाप्त हुई थी। इसी यात्रा में वे काशी पधारे थे सम्भवतः १५०५ ई० में और जिस बगीचा में उन्होंने निवास किया था वह आज 'गुरु का बाग' नाम से प्रख्यात है।

इस प्रकार गौतम बुद्ध से लेकर गुरु नानक तक भारत के महान् सम्प्रदाय-प्रवर्तकों तथा आचार्यों के आकर्षण का केन्द्र काशी सर्वदा रही। काशी में निवास कर इन आचार्यों ने अपने सिद्धान्तों को अपनी साधना के द्वारा परिपुष्ट तथा वाणी के द्वारा उनका प्रचार किया। ये आचार्य काशी के विद्वानों के द्वारा अपने सम्प्रदाय की प्रामाणिकता की छाप लगवाने के लिए ही यहाँ आये थे। यही उनके आकर्षण का प्रधान कारण था।

काशी विद्वानों तथा संस्कृत के अध्येताओं के लिए जीविका की साधिका भी थी। यहाँ राजा-महाराजाओं तथा श्रेष्ठजनों ने अनेक अन्नसत्रों की स्थापना की थी जहाँ विद्वानों तथा साधु-महात्माओं को निःशुल्क भोजन दिया जाता था। ये सत्र आज भी काशी में विद्यमान हैं यद्यपि इनकी सख्या धीरे-धीरे कम होती जा रही है। भारत के विभिन्न प्रान्तों के विद्वान् इस कारण भी काशी में आना अधिक पसन्द करते थे कि यहाँ जीविका की कोई समस्या नहीं थी। भोजन की प्राप्ति के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता था। 'क्षेत्रे भोजनं मठे निद्रा' की सूक्ति इसी तथ्य की द्योतिका है जिसका उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है। सच तो यह है कि काशी में आकर कोई भूखा नहीं रह सकता। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने काशी के विषय में ठीक ही तो लिखा है—

आधा पेट कोई ना सुतता, ऐसी है यह काशी ॥

—प्रेमयोगिनी

इन्ही कारणो से भारत के प्रत्येक प्रान्त के विद्वानो का काशी के प्रति सार्वभौम आकर्षण था। इस देश के नाना प्रान्तों से ब्राह्मणों के विशिष्ट कुल या वंश काशी आते थे। वे विद्याध्ययन तथा भोजन की सुविधा पाकर यही बस जाते थे तथा अध्ययन एव अध्यापन द्वारा अपना जीवन बिताते थे। इसीलिए शास्त्र की यह सूक्ति यथार्थ ही है—

मरणं मङ्गलं यत्र, विभूतिश्च विभूषणम् ।
कौपीनं यत्र कौशेयं, सा काशी किन्न सेव्यते ॥



अध्याय ३

काशी के विद्वानों का साहित्यिक अवदान

(मध्ययुग)

काशी भारत की नितान्त प्रख्यात नगरी है । यहाँ के मनीषियो द्वारा विरचित सस्कृत-साहित्य अपनी मौलिकता तथा प्रामाणिकता के कारण अखिलभारतवर्षीय कीर्ति से मण्डित है, पुण्यक्षेत्र होने के साथ ही साथ यह विद्या क्षेत्र भी है जिसने भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तो से पण्डितो को अपना जीवन पुण्यमय तथा पवित्र बनाने के लिए आकृष्ट किया । भारत के विभिन्न प्रान्तीय विद्वानो ने काशी मे निवाम कर इसे अपनाया तथा सस्कृत के विभिन्न शास्त्रो मे अपनी रचनाएँ निर्मित कर सस्कृत के साहित्य को अधिक विकसित किया । दक्षिण भारत के आन्ध्र, द्रविड, कर्नाटक तथा महाराष्ट्र से, पश्चिम के गुजरात तथा राजस्थान से, पूरब के बगाल तथा मिथिला से, उत्तर के काश्मीर तथा कूर्माचल से आकर विद्वान् ब्राह्मणो ने काशी को अपना कार्यक्षेत्र बनाया । धनी मानी राजा महाराजा तथा धनाढ्य सरदारो ने इन पण्डितो की जीविका का प्रबन्ध कर सस्कृत की उन्नति मे स्मरणीय सहायता प्रदान की । इन पण्डितो ने इन आश्रयदाताओं की सहायता का स्मरण तथा अभिनन्दन अपनी रचनाओं मे बडी उदारता से किया है । महाकवि श्रीहर्ष को काशी के प्रशासक गोविन्दचन्द्र तथा उनके पुत्र जयचन्द्र से (ताम्बूलद्वयमासन च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्), शेषश्रीकृष्ण को अकबर के राजस्वमन्त्री टोडरमल्ल तथा राजा बीरबल से (जिनके कुल का वर्णन उन्होने अपने 'प्रक्रिया प्रकाश' के आरम्भ मे बहुशः किया), नीलकण्ठ भट्ट को मध्यप्रदेश के सरदार भगवन्त सिह से (जिनके नाम पर उन्होने अपना महत्त्वपूर्ण धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ 'भगवन्त भास्कर' का प्रणयन १२ मयूखो अथवा प्रकरणो मे किया), नागोजि भट्ट को शृगवेरपुर के बिसेनवशी राजाराम से (शृङ्गवेरपुराधीशाद् रामतो लब्धजीविकः) तथा बालशास्त्री को मडी के महाराजा विजयसेन सिह से प्रभूत आर्थिक सहायता मिलती थी जिससे अपनी जीविका से निश्चिन्त होकर इन पण्डितो ने प्रचुर ग्रन्थो का प्रणयन किया । साहित्य के सवर्धन मे काशीमण्डल के भी निवासी पण्डितो का क्रियाकल्प कम महत्त्वशाली नही है ।

काशी मे निर्मित साहित्य सस्कृत का सारभूत प्राणवान् साहित्य है । काशी के पण्डितो ने प्रत्येक शास्त्र के विकास मे एक नवीन दिशा दिखलायी, एक नया मोड दिया, जिसके सूत्र को पकडकर ये शास्त्र उन्नति के मार्ग मे अग्रसर होते गये । अनेक शास्त्रों के इतिहास मे 'नव्य सम्प्रदाय' के प्रतिष्ठापन-प्रचारण का श्रेय इन पण्डितो को है जिन्होने अपनी घोर तपस्या तथा साहित्य-साधना से देववाणी के भण्डार को अपने जीवन रस से पूर्ण किया । काशी के इन्ही मध्ययुगीय सारस्वत साधको की साधना का सक्षिप्त वर्णन अगले पृष्ठो मे किया जा रहा है ।

(१) वेद-तन्त्र

काशी के मनीषियों ने वेद तथा तन्त्र का प्रगाढ अनुशीलन, अनुसन्धान एवं ग्रन्थ-निर्माण किया था। इन उभयविध—आगम निगम—विषयों में ग्रन्थ-प्रणयन का श्रेय **महीधर** को दिया जाता है। ये वत्सगोत्रीय अहिच्छत्रीय ब्राह्मण थे। ये मूलतः अहिछत्र (उत्तरप्रदेश के मुरादाबाद मण्डल का रामनगर) के निवासी थे जहाँ इन्होंने अपने जीवन का अधिकाश बिताया, परन्तु संसार की असारता से प्रेरित होकर ये अपने 'कल्याण' नामधारी पुत्र के साथ काशी चले आये। काशी में ये कालभैरव-मन्दिर के समीपस्थ मुहल्ले में रहते थे और रामेश्वर-शिव के निकट इन्होंने देहत्याग किया।

ये विविधविषयक ग्रन्थों के प्रणेता मनीषी थे। वेदान्त, ज्यौतिष, भक्तिशास्त्र, वेद तथा तन्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थ इनकी ललित लेखनी से प्रसूत हुए। परन्तु दो ग्रन्थों को इनकी धवल कीर्ति को विद्वत्समाज में फैलाने का श्रेय है और वे है—(क) शुक्लयजुर्वेदीय वाजसनेयी संहिता का भाष्य वेददीप। (ख) सब तन्त्रग्रन्थों का एकग्रन्थस्थित सारप्रकटनकर्ता मन्त्रमहोदधि। ये नृसिह के परम भक्त तथा उपासक साधक थे और इसलिए अपने ग्रन्थों के आदि में इन्होंने लक्ष्मीनृसिंह की सर्वत्र स्तुति की है परन्तु काशी के समीपस्थ स्थानीय देवो का भी स्मरण किया है--

विश्वेशो गिरिजा बिन्दुमाधवो मणिकर्णिका।
भैरवो जाह्नवी दण्डपाणिर्मे तन्वतां शिवम्॥

--मन्त्रमहोदधि, पद्य ३०

महीधर के पितामह का नाम था रत्नाकर, पिता का रामदास (उपनाम फनू भट्ट) तथा पुत्र का कल्याण। महीधर ने अपने गुरु का नाम रत्नेश्वर मिश्र लिखा है जो केशव के पुत्र थे। यह पूरा परिवार ही विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध था। वेद के विषय में—

(क) वेददीप वाजसनेयी सहिता का प्रख्यात भाष्य है। इसके पूर्व उव्वट तथा सायण ने भाष्य लिखा था, परन्तु इनका भाष्य इन भाष्यो की अपेक्षा सरल-सुबोध है। इसमें अनेक मौलिक तथ्यों का समावेश तथा कठिन स्थलों का विवरण है। इस प्रधान ग्रन्थ के अतिरिक्त इन्होंने गृह्य तथा शुल्बसूत्रों पर भाष्य लिखा है। इन ग्रन्थो के नाम है—(१) ईशावास्यभाष्य, (२) कात्यायन-गृह्यसूत्र-विवरण, (३) कात्यायन-शुल्बसूत्र-विवरण, (४) पुरुष-सूक्त-टीका, (५) रुद्रजपभाष्य, (६) षडङ्गरुद्रजपटीका, (७) सौत्रामणिनियोगसूत्रार्थ।

(ख) तन्त्रग्रन्थ—मन्त्रमहोदधि—महीधर ने नाना ग्रन्थों में विकीर्ण देवमन्त्रों का विधिपूर्वक स्वरूप, अनुष्ठान-विधि आदि आवश्यक तात्रिक विषयों का विवरण प्रस्तुत कर यह ग्रन्थ रचा है जो तन्त्रशास्त्र का श्लाघनीय विश्वकोश निःसन्देह है। पूरा ग्रन्थ २५ तरगों में विभक्त है। ग्रन्थकार की 'नौका' नाम्नी स्वोपज्ञ टीका भी है। ग्रन्थ के अन्त में श्लोक १२१-१३२ में ग्रन्थकार ने अपना परिचय दिया है। ग्रन्थ की रचना काशी में की गयी। काल तथा स्थान का निर्देशक अन्तिम श्लोक इस प्रकार है—

अब्दे विक्रमतो जाते बाण-वेद-नृपैर्मिते। ज्येष्ठाष्टम्यां शिवस्याग्रे पूर्णो मन्त्रमहोदधिः॥

रचना-समय है १६४५ विक्रमी तथा काशी में शिव के आगे मन्त्रमहोदधि पूर्ण हुआ। 'नौका' के अनुसार 'शिवस्याग्रे' का अर्थ है 'रामेश्वरस्याग्रे' अर्थात् काशी के समीपस्थ 'रामेश्वर' नामक स्थान पर समाप्ति का निर्देश है।

वर्ण्य-विषय

प्रथम तरंग में पूजाविषयक सामान्य तथ्यों का निर्देश है। तदनन्तर एक देवता के विषय में पूरा एक तरंग विहित है। यथा गणेश (द्वितीय तरंग), दक्षिणा काली (तृतीय त०), तारा (४ तथा ५ त०), छिन्नमस्ता (६ त०), नाना यक्षिणी (७ त०), बाला (८), अन्नपूर्णा (९), बगलामुखी (१०), श्रीविद्या (११ तथा १२), हनुमान् (१३), विष्णु (१४), रवि (१५), महामृत्युञ्जय (१६), कार्तवीर्यार्जुन (१७), कालरात्रि (१८), चरणायुध, शास्ता आदि (१९)। इन देवताओं की समग्र पूजा तान्त्रिक विधान से विहित है। अन्तिम छः तरंगों में यन्त्रसाधना, नित्यपूजा, विशेष अर्घ्य, मन्त्रशोधन, षट्कर्म का विस्तृत विवेचन है। इस सामान्य विषय-तालिका से ही ग्रन्थ की गम्भीरता, विशालता तथा उपादेयता का पूर्ण परिचय मिलता है।

स्वोपज्ञ नौका टीका तो टिप्पणीमात्र है। कठिन स्थलों का ही केवल निर्देश है। पण्डित शुकदेव चतुर्वेदी द्वारा प्रणीत पाण्डित्यपूर्ण मोहिनी हिन्दी व्याख्या तथा तान्त्रिक-विवरण बड़ा ही मूल्यवान्, प्रामाणिक तथा उपादेय है। इसके लिए चतुर्वेदीजी तान्त्रिक विषय के जिज्ञासुओं द्वारा सर्वथा अभिनन्दनीय हैं। लगभग साढ़े सात सौ पृष्ठों का यन्त्रों से संवलित संस्करण प्रज्ञा प्रकाशन, वाराणसी द्वारा प्रकाशित महनीय ग्रन्थरत्न है (जगतगंज, वाराणसी, १९८१ ई०)।

महीधर की यह नृसिंहवन्दना सप्तविभक्ति से समन्वित होने से नितान्त आवर्जक है—

राजा लक्ष्मी नृसिंहो जयति, सुखकरं श्रीनृसिंहं भजेयं,
दैत्याधीशा महान्तोऽहसत नृहरिणा श्रीनृसिंहाय नौमि।
सेव्यो लक्ष्मीनृसिंहादपर इह नहि श्रीनृसिंहस्य पादौ
सेवे, लक्ष्मीनृसिंहे वसतु मम मनः श्रीनृसिंहावभक्तम्॥

—मन्त्रमहोदधि २५।१३०

इतर ग्रन्थ

वेदान्तविषयक ग्रन्थ—(१) योगवासिष्ठसारविवृति, (२) रामगीताटीका, (३) विष्णुभक्तिकल्पलताप्रकाश। ज्योतिषविषयक ग्रन्थ—(१) बृहज्जातकविवरण तथा (२) लीलावतीविवरण। कोषविषयक ग्रन्थ—(१) एकाक्षरकोश, (२) मातृकाक्षरनिघण्टु (अथवा मातृकानिघण्टु), (३) सारस्वतप्रक्रिया टीका, उपरिनिर्दिष्ट प्रकाशपुरुषोत्तम रचित विष्णुभक्तिकल्पलता की टीका है। विषय भक्ति से सम्बद्ध है। इतने ग्रन्थों के रचयिता होने से महीधर को लेखनी का धनी सर्वतोभावेन कह सकते हैं।

महीधर के पुत्र कल्याण की एकमात्र रचना वैद्यक शास्त्र से सम्बद्ध है जिसका नाम है बालतन्त्र। इसकी भी रचना काशी में १५८८ ईस्वी में हुई।

समय—महीधर के ग्रन्थों में रचनाकाल मिलता है—

१६४५ वि० सं० (= १५८९ ईस्वी) में मन्त्रमहोदधि,

१६४६ वि० सं० (= १५९० ईस्वी) में कात्यायनशुल्बसूत्रभाष्य,

१६५४ वि० सं० (= १५९७ ईस्वी) में विष्णुभक्तिकल्पलताप्रकाश,

१६६० वि० सं० (= १६०३ ई०) में रामगीता की टीका।

इस प्रकार महीधर का कार्यकाल १५४० ई० से १६१० ई० तक काशी में माना जा सकता है।[1]

---

१. द्रष्टव्य–पी० के० गोडे : स्टडीज इन इण्डियन लिटररी हिस्ट्री, खण्ड २, पृष्ठ १०७-१२१; बम्बई, १९५४ ई०।

(२) तन्त्रशास्त्र

राघवभट्ट

तन्त्रशास्त्र के संवर्धन एवं परिबृंहण में काशी के तन्त्रशास्त्रीय विद्वानों का महनीय योगदान रहा है। अत्यन्त प्राचीन काल के तन्त्र-लेखकों का परिचय नही मिलता, परन्तु पन्द्रहवी शताब्दी से आरम्भ होनेवाली परम्परा आज तक किसी-न-किसी रूप में चलती रही है। काशी के तन्त्र-रचयिताओं में सर्वाधिक प्राचीन राघवभट्ट का नाम उल्लेखनीय है। साहित्य-जगत् में अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक की **अर्थद्योतनिका** नाम्नी प्रमेयबहुला व्याख्या के प्रणेता होने से राघवभट्ट की जो प्रख्याति है, 'शारदातिलक' के ऊपर **पदार्थादर्श** नामक व्याख्यान लिखने के कारण वह तान्त्रिक-जगत् में कथमपि न्यून नही है। इस व्याख्यान के अन्त में उन्होंने अपने वश का पूरा परिचय दिया है।

वे महाराष्ट्र ब्राह्मण थे। उनका मूलस्थान गोदावरीतीरस्थ जनस्थान (नासिक) था। उनके पितामह का नाम रामेश्वरभट्ट था जो 'वादिमत्तेभसिंह' कहे गये है। फलतः वे न्यायशास्त्र के प्रौढ़ पण्डित थे। पिता का नाम **पृथ्वीधर भट्ट** था जो भाट्टमीमांसा, वेदान्त तथा व्याकरणमहाभाष्य के प्रवीण पण्डित थे। ये ही नासिक से काशी आये और यही राघवभट्ट का जन्म हुआ। ये नाना शास्त्रों के पारंगत पण्डित थे। उनका पदार्थादर्श के अन्त में कहना है—

> **तस्माद् राघवभट्ट एष समभूद् वेदान्तसम्न्यायवित्**
> **ख्यातो भट्टनये समस्तगणिते साहित्यरत्नाकरः ।**
> **आयुर्वेदनिधिः कलासु कुशलः कामार्थशास्त्रे गुरुः**
> **संगीते निपुणः सदागमनिधेः पारं प्रयातः परम् ॥६॥**

इस पद्य में राघवभट्ट के अधीत शास्त्रों का निर्देश है। वे वेदान्त, न्याय, मीमासा, ज्यौतिष, साहित्य, आयुर्वेद, कला, कामशास्त्र, अर्थशास्त्र, संगीत तथा आगमशास्त्र के पारगामी पण्डित थे। इतने शास्त्रों में वैदुष्य दैवीशक्ति की महनीय कृपा का परिणत फल है। साहित्य तथा तन्त्र में उनकी रचनायें प्रख्यात तथा विद्वन्मान्य हैं। उन्होंने शाकुन्तल नाटक के अतिरिक्त उत्तररामचरित तथा मालतीमाधव पर टीका लिखी है। तन्त्र-साहित्य में उनकी तीन रचनायें निर्दिष्ट हैं—(१) कालीतत्त्वरहस्य, (२) दुर्गातत्त्व तथा (३) पदार्थादर्श (शारदातिलक की व्याख्या)। काशी मे ही इन ग्रन्थों की रचना की गई। अन्तिम पद्य में ग्रन्थ-रचना का निर्देश है—पौषशुक्ल वि० सं० १५५० (= रविवार, १५ दिसम्बर १४९३ ईस्वी)। फलतः इनका समय १४७५ से १५०० ई० तक मानना युक्तियुक्त है।

शारदातिलक

तन्त्रशास्त्र के समग्र तथ्यों का—उपासना का, तत्प्रयुक्त मन्त्रों तथा यन्त्रों का—विशद वर्णनपरक ग्रन्थ है। इसके रचयिता का नाम लक्ष्मण देशिकेन्द्र है जो विजयाचार्य के पौत्र तथा श्रीकृष्ण के पुत्र बतलाये गये हैं। शारदातिलक सब तन्त्रों का सार है एवं चारों पुरुषार्थों की सिद्धि का हेतु है। ग्रन्थकार कहते हैं—

सारं वक्ष्यामि तन्त्राणां शारदातिलकं शुभम्। धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राप्तेः परमकारणम् ॥

इसमें २५ पटल हैं जिनका वर्ण्यविषय राघवभट्ट के अनुसार इस प्रकार है। प्रथम पटल सृष्टि प्रतिपादक होने से मूल प्रकृति का प्रतिपादनपरक है; मध्य में २३ पटल प्रकृति-विकृति के प्रतिपादनपरक हैं तथा अन्तिम २५वाँ पटल पुरुष प्रतिपादनपरक है। इन पटलों में विभिन्न

देवियों के बीजमन्त्र, देवी-देवता, उनकी शक्तियाँ, दीक्षा, अठारह संस्कार, वर्णमाला के अक्षर, तांत्रिक मन्त्रों से पूजा, जगद्धात्री, त्वरिता, दुर्गा, त्रिपुरा, गणेश, नृसिंह, पुरुषोत्तम आदि के मन्त्र और उनके जप, पूजन, ध्यान आदि के प्रकार वर्णित हैं।

शारदातिलक की अनेक टीकायें विद्यमान हैं—

(१) त्रिविक्रम भट्टारक (राम-भारती-शिष्य) द्वारा रचित गूढार्थदीपिका या सुगूढार्थदीपिका,

(२) प्रेमनिधि पन्त रचित शब्दार्थचिन्तामणि,

(३) श्रीहर्ष दीक्षित रचित हर्षकौमुदी,

(४) कामरूप पण्डित अथवा जगद्गुरु भट्टाचार्य सिद्धान्त-वागीश द्वारा रचित गूढार्थप्रकाशिका,

(५) माधवकृत शारदातिलक टीका,

(६) राघवभट्ट कृत पदार्थादर्श[१] टीका।

यह टीका बड़ी विशद तथा प्राञ्जल है। इसमें मन्त्रों के उद्धार आदि के विवरण के साथ प्राचीन तन्त्र-ग्रन्थों के उद्धरण भी अर्थ की पुष्टि में दिये गये है। शारदातिलक अपने वर्ण्य विषयों की दृष्टि में शंकराचार्य के प्रपचसार से समता रखता है। प्रपञ्चसार कठिन एव साधारणतः बोधगम्य नहीं है। इसकी गुत्थियों को, विषम स्थलों को सुलझाने के लिए भी पदार्थादर्श सहायक है। राघवभट्ट का कहना है कि यह व्याख्या विशुद्ध सम्प्रदायानुसारी है और इसीलिए यह 'सत्सम्प्रदायकृत व्याख्या' कही गयी है।

सुन्दराचार्य

'दक्षिणकालिकासपर्याकल्पलता' की रचना सुन्दराचार्य ने काशी में १४८० शकाब्द (१५५८ ई०) मे की जिसमें दक्षिणकालिका की सांगोपांग पूजा-विधि प्रतिपादित है।[२]

जगदानन्द परमहंस

१८वी शती का प्रख्यात तान्त्रिक। इनके ग्रन्थ का नाम है कौलिकार्चन दीपिका जो कहीं 'कुलदीपिका' और कहीं 'अर्चनदीपिका' नाम से भी उल्लिखित है। रचनाकाल १७०० शकाब्द (= १७७८ ई०)। काशी में रचना की गयी। ग्रन्थ का परिमाण १५०० श्लोक। कुलपूजा का बड़ा ही विस्तृत तथा प्रामाणिक ग्रन्थ है। कौलिक पूजा का अंगों तथा उपागों के साथ बड़ा ही विस्तृत ग्रन्थ है। हस्तलेख उपलब्ध है।[३]

प्रेमनिधि पन्त

ये कूर्मांचल (कुमाऊँ) निवासी भारद्वाजगोत्री उमापति पन्त के पुत्र थे। माता का नाम था उद्योतमती। नेपाल के अन्तर्गत ताकम प्रदेश के नरेश मलयवर्मा की कृपा से काशी में निवास करते थे। इनकी विदुषी पत्नी प्राणमञ्जरी ने 'तन्त्रराज' की सुदर्शना-नाम्नी व्याख्या अपने दिवंगत पुत्र सुदर्शन की स्मृति में लिखी। प्रेमनिधिजी नाना शास्त्रों के, विशेषतः तन्त्र

१. इसका प्रकाशन चौखम्भा कार्यालय, काशी से एवं कलकत्ते की आगमानुसन्धान समिति द्वारा दो भागों में हुआ है—तान्त्रिक टेक्स्ट सीरीज, भाग १६, १७, पृष्ठसंख्या ६५०, कलकत्ता १६३३ ई०।

२. गोपीनाथ कविराज : तान्त्रिक-साहित्य, पृ० २८५, प्रकाशक हिन्दी समिति, लखनऊ, १६७२ ई०।

३ गोपीनाथ कविराज—तत्रैव, पृ० १५८-१५६।

तथा धर्मशास्त्र के, मर्मज्ञ विद्वान् थे। इनके ग्रन्थों की प्रसिद्धि विद्वत्समाज में पर्याप्त रूप से है। ग्रन्थों के नाम—(१) शारदातिलक की 'शब्दार्थ चिन्तामणि' टीका, (२) शिवताण्डव की यन्त्रोद्धारिका मल्लादर्श टीका जो आश्रयदाता के नाम पर प्रणीत है (रचना-काल १६४८ शक= १७२६ ई०)। धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ—(३) प्रायश्चित्तप्रदीप (१६७५ शक = १७५३ ई०), (४) प्रयोगरत्न, (५) समयारामः, (६) पृथ्वीप्रेमोदयः (१६५६ शाके = १७३७ ई०), (७) कार्तवीर्य-सपर्या, (८) भक्तितरंगिणी (मल्लादर्श में निर्दिष्ट), (९) दीप प्रकाश[1] (नन्दपुत्र दीनानाथ के प्रेम से पन्तजी द्वारा स्वरचित टीका 'शब्दप्रकाश' से युक्त, ग्रन्थ-रचना १६४८ शाके = १७२६ ई०) टीका का रचनाकाल १७५५ ई०। श्लोक-संख्या १०३६, कार्तवीर्य, बटुकभैरव तथा राजराजेश्वरी की दीपदानविधि का परिचायक ग्रन्थ है। गुरु का नाम दिनकर। प्रेमनिधि तान्त्रिक-परम्परा में मूर्धन्य विद्वान् के रूप में सर्वत्र प्रतिष्ठित है।

मल्लादर्श टीका के अन्तिम पद्य में रचनातिथि का निर्देश है—

यस्योद्द्योतमती सती गुणवती माता पितोमापति-
र्नाम प्रेमनिधीति पन्तकुलभूः कूर्माचलो जन्मभूः।
तेनाष्टाब्धिषडिन्दुशाक— गमितान्योर्जाद्यतिथ्यर्कनिट्—
काले श्रीशिवताण्डवस्य विहितं सट्टिप्पणं सत्वरम्॥

भास्करराय

तन्त्रशास्त्र के इतिहास में काशी का नाम उजागर करने वाले भास्कर राय इसी युग की एक जाज्वल्यमान विभूति थे। भास्करराज दीक्षित, भासुरानन्द, भास्करानन्द नाथ—इनके अपर नाम हैं। ये महाराष्ट्र ब्राह्मण थे जिन्होंने काशी को अपनी निवासस्थली बनाकर अपने महनीय तान्त्रिक-ग्रन्थों का निर्माण सम्पन्न किया। इनके पिता का नाम था गम्भीरराय दीक्षित तथा माता का कोणाम्बिका। शैशवावस्था में ही पिता ने ही इन्हें सारस्वत मन्त्र का उपदेश दिया था जिसकी आराधना से समस्त विद्याएँ एवं कलाएँ इनके स्वायत्त हो गयीं। संस्कृतभाषा के अतिरिक्त पिताजी फारसी भाषा भी जानते थे। तभी तो बादशाह के आज्ञापालन में समर्थ हो सके। पिता कर्नाटक प्रान्त में बीजापुर के बादशाह के सचिव थे। बादशाह की आज्ञा से इन्होंने महाभारत का फारसी में अनुवाद किया। इस कार्य से प्रसन्न होकर शासक ने इन्हें 'भारती' उपाधि दी। इनकी वंश-परम्परा इस प्रकार है। विश्वामित्रगोत्रीय एकनाथ—तुकदेव—यमाजि पण्डित (पत्नी का नाम चन्द्रमाम्बा)—गम्भीरराय (पत्नी का नाम कोणाम्बिका)।

इन्होंने नारायण नामक अपने मामा से आगमशास्त्र पढ़ा। भास्कर की विशिष्ट पूजा के फलस्वरूप बालक का जन्म होने से 'भास्करराय' नाम पड़ा। पाँच वर्ष के वय में ये काशी आये। 'सौभाग्यभास्कर' में 'विद्याष्टादशकस्य मर्मभिदभूद् यः श्रीनृसिंहाद्गुरोः' के अनुसार इन्होंने **नृसिंहयज्वा** से समग्र विद्याओं का अर्जन किया। गुजरात के सूरतनगरवासी शिवदत्त शुक्ल नामक गुरु से तन्त्रशास्त्र का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। इन्ही के द्वारा तान्त्रिक पूर्णाभिषेक प्राप्त किया। अनन्तर भारत का दिग्विजय सम्पन्न किया। दक्षिणभारत से आरम्भ कर हिमालय में उत्तरकाशी तक तथा पूर्व में कामाख्या तक यात्रा की। इनके अनेक शिष्यों में काशीवासी **घनश्याम शास्त्री जडे** अन्यतम थे। इनके गोवा वाले निवास पर वे स्वयं रहे और वहीं उन्होंने

१. परिचय के लिए द्रष्टव्य—तान्त्रिक-साहित्य, पृ० २०३।

'सेतुबन्ध टीका' का प्रणयन किया। अनन्तर काशी में आकर रहने लगे जहाँ प्रणाम करने पर स्वयंप्रकाशानन्द यति के कमण्डलु के शतधा विशीर्ण होने के चमत्कार की बात कही जाती है। सारस्वत वैभव तथा तान्त्रिक-साधना का अनुपम मणिकाञ्चन योग जितना भास्करराय में था, उतना अन्यत्र मिलना नितान्त कठिन है। उन्होंने भारतवर्ष के विस्तृत भूमण्डल की यात्रा की थी, राजाओं को अपना अनुगत शिष्य बनाया था, समग्र शास्त्रों के तथ्यों का विधिवत् परिज्ञान किया था। ऐसा क्यों न हो, वे पराशक्ति के साक्षात् आकार ही जो थे —

यस्यादृष्टो नास्ति भूमण्डलांशो यस्याऽदासो विद्यते न क्षितीशः।
यस्याज्ञातं नैव शास्त्रं किमन्यैर्यस्याकारः सा पराशक्तिरेव ॥

भास्करराय के विलक्षण गुणगणों की प्रकाशिका यह प्रशस्ति भी ध्यातव्य है—

भूषावानखिलैर्गुणैः स्वकृतिभिः सन्तानवान् भूयसा
विद्याभिर्धनवान् सुधाधवलया कीर्त्या चिरं देहवान्।
पित्रा दैवतवानभूत् सुकृतवान् लोकोपकारेण यः
साधर्म्यं लभतामनेन भुवि कः श्रीभारतीयज्वना ॥

भास्करराय लेखनी के धनी थे। उन्होंने तन्त्र के अतिरिक्त वेद तथा छन्दःशास्त्र पर भी ग्रन्थों का प्रणयन किया (१) तृचभास्कर ऋग्वेद के सूर्यविषयक तीन मन्त्रों की उपासना-विधि का प्रकाशक अलौकिक ग्रन्थ है। सूर्य की उपासना से इन्होंने अपने दीर्घरोग को दूर किया था। ये तीन मन्त्र ऋग्वेद के १।५०।११, १२ तथा १३ है। ग्रन्थ का रचनाकाल १६३० शक संवत् (= १७०८ ई०) है। छन्दःशास्त्रविषयक तीन व्याख्या-ग्रन्थ है—१७ वर्ष के वय में लिखा छन्दःकौस्तुभ, २० वर्ष के वय में वृत्तरत्नाकर पर 'मृतसञ्जीवनी' टीका, तथा ५७ वर्ष के वय में पिङ्गलसूत्र पर 'भाष्यराज' नामक व्याख्या (१७३० ई० मे)। वृत्तचन्द्रोदय इनका मौलिक छन्दोग्रन्थ प्रतीत होता है। छन्दोभास्कर का निर्देश तृचभास्कर के पृष्ठ ४४ पर किया गया है।

भास्करराय के कीर्तिस्तम्भ वे ग्रन्थ है जिनमें शाक्त तन्त्रों के रहस्यो का उद्घाटन तथा उन्मीलन किया गया है। ये समस्त ग्रन्थ प्रायः काशी में रहकर प्रणीत है। सौभाग्यभास्कर (ललितासहस्रनामभाष्य) का रचनाकाल है १६५० शाके (= १७२८ ई०) तथा 'सेतुबन्ध' का १६५५ शाके (= १७३३ ई०)। गणेशसहस्रनाम की टीका का नाम है—खद्योत (जो श्लोकबद्ध है)। १७५० ई० के बाद ही इनका निधन अनुमानसिद्ध है।[१] तन्त्र-साहित्य के उज्ज्वल हीरकभूत ग्रन्थ हैं—गुप्तवती (दुर्गासप्तशती की व्याख्या), वरिवस्या-रहस्य (तान्त्रिक पूजा का रहस्यप्रकाशक ग्रन्थ), सेतुबन्ध (वामकेश्वर-तन्त्र के अन्तर्गत नित्याषोडशिकार्णव की व्याख्या), भावनोपनिषद्भाष्य तथा कौलोपनिषद्भाष्य। काशी में इनके द्वारा प्रचारित तन्त्र-परम्परा पर्याप्तरूपेण जागरूक रही और आज भी उसके अन्तर्भुक्त साधक विद्यमान बताये जाते है।

उमानन्द

इनके शिष्य उमानन्द नाथ के पूर्वाश्रम का नाम जगन्नाथ था। इन्होंने १७४२ ई० में हृदयामृत तथा १७४५ ई० में नित्योत्सव निबन्ध का प्रणयन किया। यह ग्रन्थ परशुराम कल्पसूत्र, वैशम्पायनसंहिता, सारसंग्रह, भैरवतन्त्र आदि से संगृहीत है। इसमें दीक्षा, पूजा

---

१. भास्करराय का जीवनवृत्त तन्त्रमर्मज्ञ पण्डित बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते द्वारा लिखित 'तृचभास्कर' की भूमिका के आधार पर है। इसके लिए मैं शास्त्रीजी का नितान्त आभार मानता हूँ।

आदि का प्रतिपादन है। इसके यौवनोल्लास नामक तृतीय उल्लास में आह्निक प्रकरण, सपर्या, होम, जप, मुद्रा, न्यास, नैमित्तिक अर्चन नाम से सात प्रकरण हैं। **नित्योत्सवतन्त्र** नामक इनका ही प्रणीत ग्रन्थ है। इसी परम्परा में **रामेश्वर** ने **परशुरामकल्पसूत्र** पर सौभाग्योदय वृत्ति का निर्माण किया १७५३ शकाब्द (= १८३१ ई०)। परशुरामकल्पसूत्र का ही **परशुरामसूत्र** भी नामान्तर है।

शङ्करानन्द

कविमण्डन शम्भुभट्ट संन्यास लेने पर शङ्करानन्द नाथ नाम से प्रसिद्ध हुए। इनके गुरु का नाम था—रामानन्दनाथ अथवा रामानन्द सरस्वती। शङ्करानन्द प्रणीत ग्रन्थ **सुन्दरीमहोदय**, सुन्दरीहृदय या त्रिपुरसुन्दरीमहोदय तन्त्रशास्त्र का प्रख्यात ग्रन्थ माना जाता है। इसका ग्रन्थ-परिमाण तीन सहस्र श्लोक है। इसके छः उल्लासों का विषय वर्णित है—दीक्षाविधि, उपोद्घात, न्यासादि-खण्ड, नित्यपूजन आदि विषयों का प्रामाणिक वर्णन है। हस्तलेख उपलब्ध (द्र० तान्त्रिक साहित्य, पृ० ७०५)। इनके आविर्भाव का समय १८वीं शती का आरम्भकाल है।

कविमण्डन शम्भुभट्ट मीमांसकमूर्धन्य खण्डदेव के शिष्य थे तथा अपने गुरु के मान्य ग्रन्थ 'भाट्टदीपिका' पर प्रभावली नाम्नी व्याख्या लिखी है।[1] अपने तन्त्र-ग्रन्थ 'सुन्दरीहृदय' के अन्त में इन्होंने लिखा है—

शङ्करानन्दनाथेन कविमण्डनशम्भुना। कृतं ग्रन्थं गुरुप्रीत्यै भजन्तु समुपासकाः॥

इस पद्य से मीमांसक तथा तान्त्रिक दोनों का ऐक्य सिद्ध होता है। शम्भुभट्ट विशिष्ट धर्माचार्य भी थे जिन्होंने रघुनाथ भट्ट के 'कालतत्त्वविवेचन' पर **सारसंग्रह** टीका का प्रणयन किया।

(३) पुराणेतिहास

पुराणेतिहास के महनीय ग्रन्थों के अर्थोद्घाटन का श्रेय काशी के दो विख्यात विद्वानों को प्राप्त है—

(१) **श्रीधर स्वामी** (१३५० ई०—१४५० ई० के आसपास) चतुर्दश शती में काशी में मणिकर्णिका घाट पर एक मठ में रहते थे जो उन्हीं के नाम से आज भी विख्यात है। ये किसी भिन्न प्रान्त के मूल निवासी थे। इन्होंने 'भावार्थदीपिका' व्याख्या द्वारा श्रीमद्भागवत के गम्भीर अर्थ का प्रकाशन किया जो इन्हीं के नाम पर श्रीधरी कहलाती है। विष्णुपुराण के मर्म का प्रकाशन इनकी दूसरी 'आत्मप्रकाश' टीका करती है। भगवद्गीता पर श्रीधरी सुबोध तथा सरल व्याख्या है और उसका 'सुबोधिनी' नाम यथार्थ है। 'भक्ति-रत्नावली' के रचयिता विष्णुपुरीजी स्वामीजी के विशिष्ट भक्त थे। चैतन्य महाप्रभु श्रीधर स्वामी को भागवत के अर्थद्योतन के निमित्त प्रमाण मानते थे।

(२) **महाभारत** के अर्थप्रकाशन का श्रेय नीलकण्ठ को देना सर्वथा समुचित है (समय १६५० ई०—१७०० ई०) जिनकी 'भारतभावदीप' नामक व्याख्या नितान्त लोकप्रिय है। इसके पहले महाभारत पर अनेक टीकाएँ विद्यमान[2] थीं परन्तु इस व्याख्या के प्रभाव के कारण वे प्रायः विस्मृत हो गयी हैं। इनका मूलस्थान महाराष्ट्र में था जहाँ से आकर ये काशी में बस गये थे। भावदीप का निर्माण काशी में ही हुआ। इन्होंने 'मन्त्ररामायण' तथा 'मन्त्रभागवत'

१. इस ग्रन्थ के लिये आगे पृ० ३६ पर परिचय देखिये।

२. द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय : संस्कृत-साहित्य का इतिहास, पृ० ६६-७० (दशम सं०, १९७८ ई०, काशी)।

नामक अपूर्व ग्रन्थों में ऋग्वेद के मन्त्रों के द्वारा क्रमशः रामकथा तथा कृष्णकथा का वर्णित होना सिद्ध किया है। इनके पुत्र-पौत्रों ने भी नाना विषय के ग्रन्थों का निर्माण किया है।

नीलकण्ठ ने वेदान्त के अपने गुरु का नाम **लक्ष्मणार्य** लिखा है। इन्होंने अपने गुरुओं का नाम एक श्लोक में निर्दिष्ट किया है जिसमें 'वेदान्ते लक्ष्मणार्य' प्रथमतः निर्दिष्ट है। इनका संक्षिप्त परिचय प्राप्त हुआ है। इन्हींका नाम **लक्ष्मण पण्डित** भी था। ये काशी में दक्षिण देश से आकर रहते थे। इसका निर्देश 'अद्वैतसुधा' में किया गया है—

स लक्ष्मणो दक्षिणदिश्यपास्य श्रियः सदानन्दममन्दमिच्छन् ।
काश्यामुदासीनमतिः शरीरे विश्वेशसेवी समयाकरोति ॥

ये महाराष्ट्र ब्राह्मण थे। कौण्डिन्यगोत्री ब्रह्मज्ञानिकुल के विश्वनाथ के पौत्र तथा दत्तसूरि के पाँच पुत्रों में चतुर्थ पुत्र थे। इनकी माता आत्रेय गोत्र की थीं। नाम उनका था गरेजा। लक्ष्मण पण्डित ने अपने इन गुरुओं की प्रशसा की है—**उत्तमश्लोक** तथा **रामाश्रम** की, जो भट्टोजिदीक्षित के पुत्र तथा अमरकोश की रामाश्रमी टीका (= व्याख्यासुधा) के रचयिता से अभिन्न है। **उत्तमश्लोक** लघुवार्तिक टीका के रचयिता है। लक्ष्मण पण्डित की तीन रचनायें प्रकाश में आयी है—योगचन्द्रिका, सारचन्द्रिका तथा अद्वैतसुधा। अद्वैतसुधा का ही अपर नाम सारस्वताद्वैतसुधा भी है। यह विलक्षण ग्रन्थ प्रतीत होता है जिसमें कालिदास के रघुवंश महाकाव्य की वेदान्तपरक व्याख्या की गई है। सारचन्द्रिका राघवपाण्डवीय काव्य की व्याख्या है। 'अद्वैतसुधा' में काव्यप्रकाश, चित्रमीमांसा, सरस्वतीकण्ठाभरण आदि अलकार-ग्रन्थो के साथ वेदान्त तथा धर्मशास्त्र आदि नाना शास्त्रों के उद्धरणों को देखकर लक्ष्मण पण्डित के व्यापक तथा विशाल पाण्डित्य का परिचय प्राप्त होता है।[1] अद्वैतसुधा की रचना काशी मे ही १६६३ ईस्वी सन् में हुई थी। ये भट्टोजिदीक्षित तथा अप्पय दीक्षित का संकेत अद्वैतसुधा में करते है। फलतः इनका समय १६२० ई०–१६७० ई० मानना उचित है।

(४) न्याय-वैशेषिक शास्त्र

शंकर मिश्र

न्याय-वैशेषिक दर्शन के विकास में भी काशी के विद्वानों का क्रिया-कलाप नितान्त महत्त्वपूर्ण तथा आदरणीय है। मिथिला के सर्वश्रेष्ठ नैयायिक शंकर मिश्र ने काशी मे निवास करते समय ही अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति की रचना की जिनके नाम है : (१) उपस्कार तथा (२) **भेदरत्न प्रकाश**। उपस्कार महर्षि कणाद के वैशेषिक सूत्रों की सर्वश्रेष्ठ वृत्ति है जिसमें मूलग्रन्थ के गम्भीर सिद्धान्तों के रहस्य का उद्घाटन है। 'भेदरत्न प्रकाश' न्यायशास्त्र के भेदवादी दृष्टिकोण को प्रकाशित करनेवाला मौलिक ग्रन्थ है। इस 'भेदरत्न प्रकाश' ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति का लेखन-काल १५१६ वि० (१४६८ ई०) है जो जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय में सुरक्षित है। यह प्रति उनके जीवनकाल में ही लिखी गई थी। अतः इनका समय १५वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। ये मिथिला के 'सरखव' गाँव के निवासी थे। इनके पूज्य पिता पण्डित भवनाथ मिश्र भी उस समय के प्रकाण्ड विद्वान् समझे जाते थे।

शंकर मिश्र ने अपने विद्वान् पिता से सकल शास्त्रों का अध्ययन किया था। परन्तु पिताजी ने इनकी विद्या को अधिक प्रखर करने के लिए इन्हें अध्ययनार्थ काशी भेजा। यहाँ शंकर मिश्र ने अत्यन्त ख्याति प्राप्त की। इनके बढ़ते हुए यश को देखकर काशी के पण्डितो

---

१. द्रष्टव्य—पी० के० गोडे : स्टडीज इन इंडियन लिटररी हिस्ट्री, भाग ३, पृ० ४८-५४, पुणें, १९५६ ई०।

मे ईर्ष्या की भावना जाग्रत हुई और उन्होंने इनके चरित्र पर कल्पित तथा असत्य आरोप लगाकर इनके पिता के पास पत्र प्रेषित किया। पिता भवनाथ मिश्र ने अपने पुत्र को जो पत्र भेजा वह इस प्रकार श्लोकरूप मे है—

शैत्यं नाम गुणस्तवैव तदनु स्वाभाविकी स्वच्छता,
किं ब्रूमः शुचिता भवन्ति शुचयः स्पर्शेन यस्यापरे।
किं वाऽतः परमुच्यते स्तुतिपदं त्व जीवनं जीविनां,
त्वं चेन्नीचपथेन गच्छसि पुनः कस्त्वां निरोद्धु क्षमः॥

इस श्लोकबद्ध पत्र को पाकर अपनी सफाई देते हुए इनके पुत्र शकर मिश्र ने जो उत्तर भेजा वह निम्नाकित है--

तापो नापगतस्तृषा न च कृशा, धौता न धूलिस्तनो-
र्न स्वच्छन्दमकारि कन्दकवलः, का नाम केलेः कथा।
दूरोत्क्षिप्तकरेण हन्त ! करिणा स्पृष्टा न वा पद्मिनी,
प्रारब्धो मधुपैरकारणमहो झाङ्कारकोलाहल.॥

इस अभिराम पद्य मे अन्योक्ति के द्वारा शकर मिश्र ने अपनी निर्दोषता तथा 'मधुप' शब्द के प्रयोग से काशी के पण्डितो की लम्पटता की ओर सकेत बहुत ही सरस शब्दो मे किया है। यह उत्तर पाकर इनको सावधान करते पिताजी ने यह पत्र पुनः प्रेषित किया -

परीवादस्तथ्यो भवतु वितथो वाऽपि महतां,
तथाऽप्युच्चैर्धाम्नां हरति महिमानं जनरव.।
तुलोत्तीर्णस्यापि प्रकटितहताशेष-तमसो,
रवेस्तादृक् तेजो नहि भवति कन्यां गतवत.॥

यहाँ 'कन्या' शब्द श्लिष्ट है। भाव यह है कि जिस प्रकार कन्या राशि मे सक्रान्त होने पर सूर्य का भी तेज कम हो जाता है उसी प्रकार किसी कन्या मे सम्पर्क करना कीर्ति को नष्ट करनेवाला सिद्ध हो सकता है। इस पत्र को पाकर सदाचारी तथा दृढप्रतिज्ञ शकर मिश्र ने परीवाद से नही डरना चाहिए, इस आशय का उत्तर पिता के पास भेजा

सुधाशोर्जातेय कथमपि कलङ्कस्य कणिका,
विधातुर्दोषोऽय न च गुणनिधेस्तस्य किमपि।
स किं नात्रेः पुत्रो हरशिरसि चूडार्चनमणि-
र्न वा हन्ति ध्वान्त, जगदुपरि किं वा न वसति॥

इसमे शकर मिश्र ने चन्द्रमा के साथ अपनी तुलना करते हुए अपने चरित्र के कल्पित कलक को निन्दको की काली करतूत सिद्ध किया।

पिता पुत्र के इस साहित्यिक पत्र-व्यवहार से पता चलता है कि शकर मिश्र खूसट नैयायिक नही थे, प्रत्युत एक स्निग्धहृदय सरस कवि थे। इनका समय १५वी शती का उत्तरार्ध है।

इसी काल के एक नितान्त प्रौढ़ गौड़ नैयायिक का भी कार्यक्षेत्र काशी ही था। नाम इनका था **प्रगल्भ** अथवा शुभङ्कर। काशी मे ही इन्होंने 'तत्त्वचिन्तामणि' का अध्यापन आरम्भ किया था जिसके चारों खण्डो पर इनकी प्रमेयबहुला टीका थी तथा उसके विद्वान् रचयिता की कीर्ति पर्याप्तरूपेण सर्वत्र व्याप्त रही। **खण्डन-दर्पण** नामक वेदान्त-ग्रन्थ मे

प्रगल्भाचार्य ने अभिनव वाचस्पति के खण्डनोद्धार का खण्डन कर श्रीहर्ष के 'खण्डनखण्डखाद्य' का मण्डन किया है। 'न्याये प्रगल्भ' वाक्य इनकी प्रौढ़ नैयायिक वैदुषी का स्पष्ट परिचायक है।

१६वी शताब्दी मे अनेक तार्किको ने काशी को अपनी कर्मस्थली बनाया जिनमें नरहरि विशारद, रुद्र न्यायवाचस्पति, विश्वनाथ सिद्धान्तपञ्चानन, महेश ठक्कुर तथा भवानन्द सिद्धान्तवागीश के नाम उल्लेखनीय है। नरहरि विशारद प्रख्यात नैयायिक तथा कृष्णभक्त वासुदेव सार्वभौम के पिता थे जो १६वी शती के बगाली पण्डितो मे प्रधान थे।

नवद्वीप मे नव्यन्याय विद्यापीठ की स्थापना का श्रेय प्रख्यात नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि के गुरु वासुदेव सार्वभौम को दिया जाता है। इन्होने भी काशी मे वेदान्त के अध्ययनार्थ कतिपय वर्षों तक निवास किया था और काशी मे ही उन्होने मिथिला मे कठस्थ किये गये तत्त्वचिन्तामणि एव न्यायकुसुमाञ्जलि को अपनी अलौकिक मेधा के सहारे अक्षरशः लिपिबद्ध किया था। इसका परिचय अन्यत्र लिखा गया है।

सार्वभौमजी नैयायिक होने के अतिरिक्त महाप्रभु चैतन्य के अनन्य भक्त तथा गौडीय वैष्णव धर्म के आचार्य भी थे। वि०स० १५६६ (= १५०६ ई०) मे वे जगदीशपुरी गये और वही चैतन्यदेव से भेट हुई, शास्त्रार्थ किया और अन्ततः उनका शिष्यत्व स्वीकारा। उन्होने चैतन्य को श्रीकृष्ण का अवतार सिद्ध किया है। 'चैतन्यशतक' इनकी ही मनोज्ञ ललाम रचना है। एक ही पद्य देखिये—

शमन-दमन-नामा कृष्णनामप्रदानः परम-पतित-दीन-त्राणकारुण्यसीमः ।
व्रजविपिनरहस्य-प्रोल्लसच्चारुगात्रः स्फुरतु हृदयमध्ये गौरचन्द्रो नटेन्दुः ॥

- हिन्दी अनुवाद के साथ काशी से प्रकाशित

विशारदजी के ही कनिष्ठ आत्मज विद्यावाचस्पति के पुत्र **विद्यानिवास भट्टाचार्य** भी काशी मे ही रहकर अपनी कीर्ति का विस्तार करते थे। ये भी प्रौढ़ नैयायिक थे, परन्तु दुर्भाग्यवश उनके न्यायशास्त्रीय ग्रन्थो का पता नही चलता। इस विषय मे इनके दोनो प्रख्यात पुत्र अपने पिता से भी अधिक भाग्यशाली थे। विद्यानिवास के कनिष्ठ पुत्र **विश्वनाथ सिद्धान्तपञ्चानन** की अनेक नैयायिक रचनाओ मे **न्यायसूत्र-वृत्ति** (रचनाकाल १५५६ शकाब्द = १६३४ ई०) नितान्त प्रख्यात है। 'भाषापरिच्छेद' तथा 'न्यायमुक्तावली' इनके ही ग्रन्थ माने जाते है, परन्तु नयी खोज से ये कृष्णदास सार्वभौम की रचनाएँ प्रतीत होती है।[1] इनके ज्येष्ठ भ्राता **रुद्र न्यायवाचस्पति** एक ही साथ कवि तथा नैयायिक थे। इन्होने जयपुर नरेश राजा मानसिह के पुत्र भावसिह के प्रसादनार्थ जहाँ **भावविलास** अन्योक्तिपरक काव्य का प्रणयन किया, वही तत्त्वचिन्तामणि, कुसुमाञ्जलिकारिका, रघुनाथ शिरोमणिरचित 'चिन्तामणि दीधिति' आदि अनेक प्रौढ़ न्यायशास्त्रीय ग्रन्थो पर प्रमेयबहुल टीकाओं की भी रचना की। **महेश ठक्कुर** मिथिला के वर्तमान राजवश के सस्थापक के रूप मे पर्याप्तरूपेण प्रख्यात है, परन्तु उनका दार्शनिक वैदुष्य भी प्रथम कोटि का था और उसीके बल पर उन्होने मिथिला का राज्य प्राप्त किया। वे काशी मे ही रहते थे और उन्होंने गङ्गेश उपाध्याय के 'तत्त्वचिन्तामणि' की पक्षधर मिश्र रचित 'आलोक' नाम्नी टीका की व्याख्या 'दर्पण' नाम से लिखी। नैयायिक होने पर भी वे वेदान्त के प्रति परम श्रद्धालु थे और न्याय की अपेक्षा उसे ही 'श्रुति-स्मृति-पुराण-शिष्टानुशिष्ट' मानते थे। इसी शती के अन्त में हम बगाल के एक लब्धप्रतिष्ठ नैयायिक को काशी में निवास करते पाते हैं। इनका नाम था—**भवानन्द सिद्धान्तवागीश**।

१. दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य : वंगे नव्यन्यायचर्चा, पृ० ११७–२०।

इन्होने 'चिन्तामणि दीधिति' पर प्रौढ़ व्याख्या लिखी थी जो इन्हींके नाम पर **भवानन्दी** नाम्ना प्रख्यात हुई, परन्तु नवद्वीप के बगीय विद्वानो ने असूयावश इसकी विपरीत आलोचना की। फलतः भवानन्दी बगाली नैयायिको की दृष्टि मे सर्वदा उपेक्षित ही रही। इसका आदर काशी मे विशेष हुआ महाराष्ट्र पण्डितो के द्वारा, क्योकि काशी के ही एक महाराष्ट्र विद्वान् ने बगीय विद्वानो के द्वारा प्रचारित दोषाभासो से इसका उद्धार कर भवानन्द के तार्किक वैदुष्य का प्रमाणपुरःसर समर्थन किया। इनका नाम था— **महादेव पुणताम्बेकर**।

इनका वश सम्भवतः १६वी शती के अन्त अथवा १७वी के प्रारम्भ मे ही अपने मूल स्थान गोदावरी-तीरस्थ पुण्यस्तम्भ नामक स्थान से काशी मे आया था। महादेव पुणताम्बेकर अपने वश के सबसे बडे विश्रुत विद्वान् तथा प्रौढ़ नैयायिक थे। भवानन्द सिद्धान्तवागीश पर इनकी बडी आस्था थी। महादेव ने इनकी भवानन्दी टीका पर विशाल व्याख्या लिखी जिमका नाम है— **भवानन्दी-प्रकाश**। यह बडी ही विस्तृत टीका है जो भवानन्दी के सिद्धान्तो पर गौडीय नैयायिको द्वारा आरोपित विपरीत आलोचना का खण्डन कर मूल लेखक के भावो का मण्डन करती है। इसका एक लघु सस्करण भी इन्होने तैयार किया था **सर्वोपकारिणी** नाम से। काशी मे इनका परिवार आज भी विद्यमान है। परिवार के पुस्तकालय मे इनके स्वहस्तलिखित अनेक ग्रन्थ है जिनमे सबसे प्राचीन काल का निर्देश सवत् १७२७ विक्रमी (१६७० ई०) है। इससे १७वी शती के उत्तरार्ध मे इनका आविर्भाव-काल सिद्ध होता है। तब से लेकर आज तक काशी मे न्याय के दोनो सम्प्रदायो के ग्रन्थो के पठन पाठन की परम्परा जागरूक है। इस युग के विद्वानो ने अनेक टीका ग्रन्थो का प्रणयन भी किया है।

(५) सांख्ययोगदर्शन

साख्य तथा योगदर्शन के इतिहास मे काशी के एक विश्रुत साख्य-योगाचार्य का नाम अपनी प्रौढ़ता तथा मौलिकता के लिए सर्वदा उल्लेखनीय रहेगा। इनका नाम है **विज्ञान भिक्षु** और इनके आविर्भाव का काल है १६वी शती। इनके अभिधान मे 'भिक्षु' शब्द को देखकर यह सम्भावना प्रतीत होती है कि ये सन्यासी थे, परन्तु तथ्य यह नही है। ये सन्यासी नही थे, प्रत्युत इन्होने अद्वैतियो का प्रबल खण्डन अपने ग्रन्थो मे किया है और इस विषय मे इनका एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही विद्यमान है **पाषण्ड-मत-खण्डन** जिसमे शकर मतानुयायियो को 'पाषण्ड' कहकर तिरस्कृत किया गया है। अन्यत्र 'वेदान्तिब्रुव' शब्द द्वारा उनका उपहास किया गया है। इन्होने 'ब्रह्मसूत्र' पर **विज्ञानामृत भाष्य** का निर्माण कर अपने वेदान्त विषयक मतवाद का प्रतिपादन किया जो 'अविभागाद्वैत' नाम्ना सकेतित किया जाता है। इस मत के अनुसार जगत् के समस्त पदार्थों से अविभक्त ब्रह्म ही एक अद्वैत तत्त्व है।

साख्य-दर्शन को इन्होने एक नवीन दिशा की ओर विकसित किया। औपनिषद साख्य ईश्वरवादी है और वह वेदान्त के समकक्ष है। कपिल ने 'साख्यसूत्र' मे ईश्वर का खण्डन नही किया, परन्तु ईश्वर कृष्ण द्वारा विरचित 'साख्यकारिका' मे व्याख्यात साख्य निरीश्वरवादी है और इसीका प्रमुख मण्डन 'प्रधानमल्ल निवर्हण'[1] न्याय से आचार्य शकर ने अपने ब्रह्मसूत्र शारीरकभाष्य में बडी प्रौढ़ता तथा दृढ़ आस्था से किया। साख्यदर्शन के इस अनीश्वरवादी

१ अतः प्रधानमल्लनिवर्हणन्यायेनातिदिशति। एतेन प्रधानकारणवादप्रतिषेधन्यायकलापेन सर्वेऽण्वादिकारणवादा अपि प्रतिषिद्धतया व्याख्याता वेदितव्याः।

—शारीरकभाष्य १।४।२८

रूप का विज्ञान भिक्षु ने बड़ी विशदता से सांख्यसूत्र के स्वनिर्मित भाष्य **सांख्यप्रवचनभाष्य** में खण्डन किया और उसे विशुद्ध औपनिषदस्वरूप प्रदान करने का श्रेय इसीलिए उन्हें दिया जाता है। व्यासकृत पातञ्जलयोगभाष्य पर विज्ञानभिक्षु ने योगवार्तिक नामक एक प्रमेयबहुल व्याख्यान का निर्माण किया जिसमें वाचस्पति मिश्र कृत 'तत्त्ववैशारदी' की विभिन्न स्थलो पर समालोचना की गई है। योगदर्शन के अध्ययन के लिए यह बृहद् ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है। **सांख्यसार** तथा **योगसार संग्रह** दोनों दर्शनों के सिद्धान्त सक्षेप मे प्रस्तुत करते हैं।

विज्ञानभिक्षु के तीन प्रधान शिष्य माने जाते है—(१) **प्रसाद माधव** योगी, जिन्होने **कारिकाभाष्य** या **कारिकार्थविनिश्चय** नामक ग्रन्थ में 'एकया द्वे विनिश्चित्य' इस प्रसिद्ध कारिका[1] पर भाष्य लिखा। (२) **भावागणेश दीक्षित**—ये **तत्त्वयाथार्थ्यदीपन** नामक तत्त्वसमास की व्याख्या के प्रणेता है। (३) **दिव्यसिंह मिश्र**, जिन्होने प्रसादमाधव रचित 'शारीरक-कारिकाभाष्य' पर वार्तिक की रचना की थी। इनके मत में प्रसादमाधव ही विज्ञानभिक्षु के मुख्य छात्र थे, परन्तु ख्याति भावागणेश की ही अधिक हुई थी।

(६) मीमांसा

मीमासा-दर्शन के इतिहास मे भी काशीस्थ विद्वानो का योगदान कम महत्त्व का नही है। यही के प्रख्यात मीमासक **खण्डदेव मिश्र** ने मीमासा शास्त्र को एक नवीन दिशा विकास के लिए प्रदान की। इन्होने ही सर्वप्रथम तत्त्वचिन्तामणि द्वारा उद्भासित नव्यन्याय की शैली का प्रयोग मीमासा के व्याख्यान में किया जिससे मीमासा के मौलिक सिद्धान्तों का आविष्कार और परिष्कार अभिनव प्रकार से किया गया। इसीलिए खण्डदेव भट्टसम्प्रदाय के इतिहास मे 'नवीन मत' के सस्थापक के रूप मे सर्वदा ही समादृत तथा विश्रुत रहेगे। इनके पिता का नाम 'रुद्रदेव' था। ये काशी के ही ब्रह्मनाल मुहल्ले मे रहते थे। खण्डदेव मिश्र का व्यक्तित्व पूर्णतया अज्ञात है। फलतः यह कहना दुष्कर है कि ये काशी-मण्डल के ही ब्राह्मण थे अथवा मिथिला या बगाल के मूल निवासी थे। इनके प्रधान शिष्य शम्भुभट्ट के कथनानुसार इनकी मृत्यु १७७२ वि० स० (= १६६५ ई०) मे हुई। अतः इनका आविर्भाव-काल १६०० ई०–१६६५ ई० सामान्यतः मानना सर्वथा उचित है।

इनके तीन प्रसिद्ध ग्रन्थ है— **भाट्टकौस्तुभ**, **भाट्टदीपिका** तथा **भाट्टरहस्य**। भाट्टकौस्तुभ मीमासासूत्र के बलाबलाधिकरण तक (३।३।७) का बड़ा ही विस्तृत, विशद तथा नव्य नैयायिक शैली मे निबद्ध तर्कबहुल व्याख्यान है। भाट्टकौस्तुभ एव भाट्टदीपिका दोनो मे तर्कपाद की टीका इन्होंने नही लिखी, ऐसा इनके शिष्य शम्भुभट्ट का कथन है। भाट्टदीपिका इनका मौलिक ग्रन्थरत्न है जिसका अध्ययन मीमांसा में पाण्डित्य की पूर्ण सिद्धि के लिए नितरा अपेक्षित है। यह निबन्ध-ग्रन्थ है—स्वतन्त्र विवेचना से मण्डित तथा नवीन रहस्यो का प्रकाशक। भाट्टरहस्य इन दोनों ग्रथों से विषय-विवेचन मे पार्थक्य रखता है। इसमे मीमासाशास्त्रानुसार शाब्दबोध का प्रौढ़ विवेचन तथा प्रतिपादन है। काशी के इस मीमासकमूर्धन्य के ये तीनों ग्रन्थ मीमासा में पाण्डित्य के निकषग्रावा है।

खण्डदेव अप्पय दीक्षित का बड़ा आदर करते थे। जब दीक्षितजी काशीवास करते थे, तब उनसे इनका परिचय होना प्रतीत होता है। काशीवास के समय में दीक्षितजी ने क्या लिखा? इसका पता नहीं चलता। खण्डदेव ने अपने ग्रन्थों में [illegible] 'मीमांसकमूर्धन्य' नाम

---

१. एकया द्वे विनिश्चित्य त्रीश्चतुर्भिर्वशीकुरु। पञ्च जित्वा विदित्वा ष[illegible] [illegible] [illegible] सुखी भव॥

से सातिशय आदर के साथ उल्लेख किया है। खण्डदेव से लगभग एक शताब्दी पूर्व **रामकृष्णभट्ट** ने **युक्तिस्नेह-प्रपूरणी** नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया था (रचनाकाल १६०० वि० स० = १५४३ ई०) जिसमे शास्त्रदीपिका के तर्कपादान्त भाग की टीका प्रस्तुत की गई है। मुख्यतः यह टीका ही है, परन्तु प्रसगतः नाना शास्त्रो के विषय विवेचित किये गये है। इनके पिता पाराशरगोत्री माधव भट्ट अपने देश मालवा से काशी मे आये। रामकृष्ण का जन्म काशी मे ही हुआ। समय १६वी शती का मध्य भाग।

भट्टकुल के प्रख्यात धर्मशास्त्री नारायणभट्ट के पुत्रो तथा पौत्रो ने मीमामाशास्त्र के विषय मे प्रमेयबहुल ग्रन्थो का निर्माण कर इस शास्त्र के इतिहास मे अपना नाम अमर कर दिया। नारायणभट्ट के दो पुत्र थे रामकृष्णभट्ट तथा शकरभट्ट। इनमे शकरभट्ट की मीमासाविषयक रचनाएँ सख्या मे अधिक तथा महत्त्व मे विश्रुत है। रामकृष्णभट्ट की एक ही रचना मिलती है और यह है- कुमारिल के तन्त्रवार्तिक की टीका, परन्तु शकरभट्ट की चार रचनाएँ प्रख्यात है–

(१) **शास्त्रदीपिका प्रकाश** —पार्थसारथि मिश्र (लगभग १०५० ई० ११२० ई०) की विश्रुत रचना शास्त्रदीपिका की यह अभिराम व्याख्या है।

(२) **मीमासा बालप्रकाश** - यह एक प्रकरण-ग्रन्थ है जिसमे जैमिनि-मीमासा-सूत्र के समग्र १२ अध्यायो के विषयो का साराश प्रस्तुत किया गया है (चौखम्भा, काशी, १९०२)।

(३) **मीमासासार-सग्रह** – जो पद्यो मे मीमासा के मूलसिद्धान्तो का विवरण प्रस्तुत करता है (काशी, १९०४ मे प्रकाशित)।

(४) **विधिरसायन-दूषण** प्रसिद्ध शैवदार्शनिक अप्पयदीक्षित के 'विधिरसायन' मे प्रतिपादित सिद्धान्तो का खण्डन। खण्डदेव के साक्षात् शिष्य **शम्भुभट्ट** ने अपने गुरु के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भाट्टदीपिका' की अपनी व्याख्या 'प्रभावती' मे स्पष्ट शब्दो मे सकेत किया है कि खण्डदेव मिश्र ने अनेक स्थलो पर 'प्रकाशकार' को निर्दिष्ट किया है तथा यह प्रकाशकार 'विधिरसायन दूषण' के प्रणेता है। इससे स्पष्ट है कि शकरभट्ट अप्पयदीक्षित तथा खण्डदेव के मध्यकाल मे उत्पन्न हुए थे। फलतः इनका आविर्भाव-काल १५५० ई० से १६२५ ई० तक मानना समुचित प्रतीत होता है। नारायणभट्ट (१५१३ ई०–१५७३ ई०) के पुत्र होने से इस तथ्य की पर्याप्त पुष्टि होती है। धर्मशास्त्र के विषय मे इनका **द्वैतनिर्णय** प्रामाणिक ग्रन्थ है जिसमे इन्होने धर्म के विषय मे दाक्षिणात्य ग्रन्थकारो के विवादग्रस्त मतो का विवरण प्रस्तुत किया है। इन्होने **गाधिवंशानुचरित** काव्य मे अपने वश के ग्रन्थकारो के जीवनवृत्त का ऐतिहासिक वर्णन किया है।

इनके ग्रन्थ 'शास्त्रदीपिका प्रकाश' का हस्तलेख १६९० विक्रम स० (= १६३३ ईस्वी) का है। यह इनके किसी शिष्य की सम्पत्ति थी, क्योकि इसके अन्तिम पृष्ठ पर 'श्रीशङ्करभट्टगुरुचरणाभ्या नमः' लिखा हुआ है। फलतः इनका समय १६वी शती का अन्त अथवा १७वी शती का आरम्भ मानना समुचित है।

दिनकरभट्ट या दिवाकरभट्ट

ये मीमासाशास्त्र के बड़े ही प्रकृष्ट विद्वान् के रूप मे प्रसिद्ध है। इन्होने जैमिनीय मीमासा-दर्शन के समग्र द्वादश अध्यायो पर सक्षिप्त वृत्ति का प्रणयन किया है जो शास्त्रदीपिका के आदर्श पर लिखी गई है।

दिनकरभट्ट

शकरभट्ट के ज्येष्ठ भ्राता रामकृष्णभट्ट के आत्मज थे। इन्होने शास्त्रदीपिका की व्याख्या की रचना की जो इनके नाम पर **दिनकरी** अभिहित की गई है। इन्होंने धर्मशास्त्र के ऊपर भी अनेक ग्रन्थो का प्रणयन किया, जैसे **आचारदिनकर** आदि। छत्रपति शिवाजी (१६२७–१६८० ई०) की प्रार्थना पर इन्होने धर्मशास्त्र के सर्वाङ्गीण ग्रन्थ का निर्माण आरम्भ किया जो छत्रपति के नाम पर **शिवद्युमणिदीपिका** और ग्रन्थकार के नाम पर दिनकरोद्द्योत नाम से प्रसिद्ध हुआ। परन्तु मृत्युपर्यन्त वे इसे पूरा नही कर सके। ये १७वी शती मे वर्तमान थे।

कमलाकरभट्ट

ये दिनकरभट्ट के ही अनुज थे। इनका 'दादाभट्ट' नाम भी प्रसिद्ध था। **धर्मशास्त्र** के विषय मे इनके ग्रन्थ की चर्चा आगे की जायेगी। मीमासा मे भी इनके ग्रन्थ प्रख्यात है-- (क) जैमिनिसूत्र पर **शास्त्रमाला** नाम्नी व्याख्या, (ख) तन्त्रवार्तिक की टीका (जिसमे प्राधान्येन **राणक** को सामान्य जनो को ठगनेवाला, मीमासा के मूल सिद्धान्तो का यथार्थतः खण्डनकर्ता बतलाया गया है), (ग) शास्त्रदीपिका की **आलोक** नाम्नी टीका।

अनन्तभट्ट

ये अपने को दादाभट्ट का पुत्र बतलाते है। इससे सिद्ध होता है कि कमलाकरभट्ट इस नाम से भी उस युग मे प्रख्यात थे। अनन्तभट्ट ने मीमासा सूत्रो पर टीका लिखी जिसका नाम है **न्यायरहस्य** तथा अपने पिता की मीमासासम्बन्धी रचना **शास्त्रमाला** पर वृत्ति भी लिखी। धर्मशास्त्र के विषय मे ये **रामकल्पद्रुम** के प्रणेता है जिसमे आचार, श्राद्ध, प्रायश्चित्त आदि का वर्णन है। ये वे ही अनन्तभट्ट है जिनके लिए कमलाकरभट्ट ने काव्यप्रकाश की टीका लिखी थी।

गागाभट्ट

(अपर नाम विश्वेश्वरभट्ट) ये दिनकरभट्ट के पुत्र थे। इनकी प्रधान मीमासा रचना है भाट्ट चिन्तामणि। पिता के प्यार का नाम था गागा। इनका असली नाम विश्वेश्वरभट्ट था, परन्तु ये अपने प्यार के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध हो गये। इनका लोकप्रिय नाम गागाभट्ट ही था। इन्होने अपने पूज्य पिता की अधूरी धार्मिक रचना दिनकरोद्द्योत को (जिसके आचार तथा शूद्र दो खण्ड है) पूरा किया। शिवाजी के आग्रह पर इन्होने शिवार्कोदय नामक ग्रन्थ का निर्माण किया जिसमे कुमारिलभट्ट के श्लोकबद्ध श्लोकवार्तिक का श्लोको मे ही विषय अग्रसारित किया गया है। १६७४ ई० मे गागाभट्ट ने ही शिवाजी का राज्याभिषेक रायगढ़ में कराया और उनकी ही आज्ञा से इसी कार्य के लिए उन्होने अपने सन्यास आश्रम को भग किया था। इस घटना का उल्लेख इन शब्दो मे किया गया है—

> **यत् तर्कपादै(भट्टपादै)र्बहुनाग्रहेण श्लोकैः कृतं वार्तिकमार्यवर्यैः ।**
> **गागाभिधेनायमपूरि शेषः तस्याज्ञया छत्रपतेः शिवस्य ॥**
> **तस्यानुरोधादिह वादिकर्णाधिक्ये चतुर्थाऽश्रमभङ्गदोषः ।**

१६६४ ई० मे महाराष्ट्र के कोंकण प्रान्त के राजापुर ग्राम की धर्मसभा मे काशीस्थ पण्डितों का निमन्त्रण द्वारा गमन हुआ था जहाँ गागाभट्ट सभापति थे। राज्याभिषेक कराने की दक्षिणा के रूप मे भट्टजी को शिवाजी ने बहुत-से जेवर और जवाहिरात भेंट किये।

शिवदिग्विजय नामक मराठी **बखर** में गागाभट्ट महासमर्थ ब्राह्मण, तेजोराशि, तपोराशि, अपर सूर्य, साक्षात् वेदनारायण तथा महाविद्वान् बताये गये है जिससे इनकी विद्वत्ता एव तेजस्विता का परिचय मिलता है। इनका समय १७वी शती का उत्तरार्ध है (१६४० ई०–१७०० ई०)।

गागाभट्ट के ग्रन्थ

(१) उद्द्योत या दिनकरोद्द्योत (पिता के अधूरे ग्रन्थ को पूरा किया)

(२) शिवार्कोदय (शिवाजी के आदेश पर रचा)

(३) समयनय (रचनाकाल १६०३ शाके = १६८१ ई०, शिवाजी के पुत्र शम्भाजी के लिए प्रणीत)

(४) कायस्थधर्मप्रदीप (१६४७ इस्वी) शिवाजी के ही एक कायस्थ प्रभू अमात्य के आदेश से लिखा। इसीका अपर नाम कायस्थ पद्धति है।

(५) भाट्टचिन्तामणि

खण्डदेव मिश्र के दो शिष्यो का परिचय हमे प्राप्त है जिनमे एक है **शम्भुभट्ट** और दूसरे है **पेरुभट्ट** (पण्डितराज जगन्नाथ के पिता) जिनका उल्लेख पण्डितराज ने रसगङ्गाधर के आरम्भिक पद्य मे किया है ('देवादेवाध्यगीष्ट स्मरहर नगरे शासनं जैमिनीयम्')। **पेरुभट्ट** की रचना का सकेत नही मिलता, परन्तु शम्भुभट्ट ने अपने गुरु खण्डदेव के प्रमुख ग्रन्थ भाट्टदीपिका के ऊपर प्रभावली नामक अपनी प्रख्यात व्याख्या का प्रणयन किया जो नितान्त प्रामाणिक एवं लोकप्रिय मानी जाती है। शम्भुभट्ट खण्डदेव के साक्षात् शिष्य है जिसका उल्लेख प्रभावली के आरम्भ के इस पद्य में मिलता है।

यो वेद-शास्त्रार्णवपारदृश्वा यज्ञादिकर्माचरणोऽतिदक्षः।
सदाशिवाराधन-शुद्धचित्तस्तं बालकृष्णं पितरं नमामि॥
श्रीखण्डदेवं प्रणिपत्य सद्गुरुं मीमांसकस्वान्तसरोजभास्करम्।

इनके पिता का नाम **बालकृष्ण** भट्ट था जो वेद तथा शास्त्र के पारगामी विद्वान्, यज्ञादि कर्मों के अधिष्ठाता एवं भगवान् शंकर की आराधना से शुद्धचित्त भक्त थे। शम्भुभट्ट साक्षात् शिष्य होने के नाते अपने गुरुदेव खण्डदेव के मन्तव्यों को भलीभाँति जानते थे और इसीलिए यह टीका मूल ग्रन्थ के सिद्धान्तों का यत्र-तत्र उपबृंहण भी करती है। यह बहुत ही विस्तृत व्याख्या है जो मीमासा के नव्यमत की पर्याप्तरूपेण पुष्टि करती है। प्राचीन मीमांसकों का जैसे पार्थसारथि मिश्र, अप्पय दीक्षित, आपदेव तथा शंकरभट्ट आदि आचार्यों का—प्रभूत खण्डन भी यहाँ उपलब्ध होता है।

इस प्रकार काशी के पूर्वोक्त मीमांसकों ने प्राचीन मीमांसा-ग्रन्थों पर व्याख्या-निर्माण के साथ ही साथ मीमांसा-दर्शन में नव्यमत की प्रतिष्ठा की। इससे मीमांसाशास्त्र के प्रभूत उपबृंहण, प्रचारण एवं नव्य दिशा के दर्शन के कारण काशीस्थ मीमांसकों का नाम इस शास्त्र के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा।

(७) वेदान्त शास्त्र

काशीस्थ मनीषियों ने वेदान्त के प्रसार तथा प्रचार के निमित्त जो कार्य किया, वह वेदान्त के इतिहास में सुवर्णाक्षरों से अंकित करने योग्य है। तथ्य तो यह है कि वेदान्त की सार्वभौम मौलिक रचनाओं के निमित्त दार्शनिक समाज काशी के विद्वानों का चिरऋणी रहेगा।

इस अभिनव प्रयास में विरक्त संन्यासियों तथा अनुरक्त गृहस्थों, दोनों का सम्मिलित योगदान सर्वदैव श्लाघनीय तथा स्मरणीय रहेगा। विद्वान् संन्यासियों का योगदान अधिक होने से निःसन्देह मननीय तथा माननीय है। इनके रचनाकलाप का अनुशीलन करने से एक विशिष्ट तथ्य की अभिव्यक्ति होती है और वह है ज्ञानमार्गी ग्रन्थों के प्रणयन के साथ ही भक्तिमार्गी ग्रन्थों का निर्माण। यह तथ्य कतिपय संन्यासियों की रचनाओं के द्वारा ही परिस्फुटित होता है अवश्य, परन्तु इसका अपलाप कथमपि नहीं किया जा सकता। 'अद्वैतसिद्धि' के प्रणेता श्री मधुसूदन सरस्वती एक साथ ही प्रौढ़ दार्शनिक तथा सहृदय भक्त दोनों थे। 'अद्वैतसिद्धि' जैसे प्रमेयबहुल तार्किक ग्रन्थ के निर्माण का श्रेय जहाँ उन्हे प्राप्त है, वहीं 'भक्तिरसायन' जैसे भक्तिरस के प्रतिष्ठापक ग्रन्थ की रचना का गौरव भी उन्हें उपलब्ध है। नारायणतीर्थ का भी वैदुष्य इसी प्रकार का था। जहाँ उन्होंने वेदान्त, साख्य, योग तथा न्याय-वैशेषिक के विषय में ग्रन्थों का निर्माण किया, वहीं शांडिल्यकृत भक्तिसूत्र की भी **भक्तिचन्द्रिका** नाम्नी अपूर्व व्याख्या की रचना की जिसमें भक्तिशास्त्र के महनीय सिद्धान्तों का परिष्कार बड़े कौशल तथा वैशद्य से किया गया है। इसे काशीस्थ सन्यासियों का वैशिष्ट्य मानना कथमपि अनुचित न होगा। और लेखक की दृष्टि में श्रीमद्भागवत का गम्भीर अध्ययन इस वैशिष्ट्य का साधक प्रमाण माना जा सकता है। श्रीमद्भागवत में अद्वैत के साथ भक्ति का मञ्जुल समन्वय प्रस्तुत किया गया है। भागवत दोनों के साहचर्य तथा सामरस्य का प्रतिपादक एक गम्भीरार्थद्योतक दिव्यग्रन्थ है जिसके अध्ययन से अद्वैतवादी सन्यासियों का दार्शनिक सिद्धान्त भक्तिरस से स्निग्ध तथा मञ्जुल है। काशी के अद्वैती सन्यासियों की यह परम्परा आज भी जागरूक है। आज भी करपात्रीजी महाराज की जहाँ कट्टर अद्वैत के प्रतिपादन में तार्किक बुद्धि का विलास मिलता है, वहीं 'रासपञ्चाध्यायी' के विशद अनुशीलन में तथा 'भक्तिरसार्णव' जैसे भक्तिरस के संस्थापक ग्रन्थ के निर्माण में उनका भक्तिरसाप्लुत स्निग्ध हृदय भी अभिव्यक्त होता है।

आदि शङ्कराचार्य ने काशी को अपनी कर्मस्थली बनाकर उसे गौरव ही प्रदान नही किया, अपितु उस प्राचीन परम्परा का भी अनुसरण किया जो विद्वानों से अपने सिद्धान्तो के परीक्षण तथा समीक्षण के लिए काशी में आने के लिए आग्रह करती थी। आचार्य शकर ने अपने ग्रन्थों का निर्माण कहाँ किया ? इस प्रश्न के उत्तर मे विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। कुछ तो बदरीनाथ के पास 'व्यास गुहा' को भाष्यो की रचना का स्थल मानते हैं,[१] परन्तु अधिकाश आलोचक काशी को इसके लिए गौरव प्रदान करते है। जो कुछ भी हो, काशी में वेदान्त-भाष्य के अध्ययन-अध्यापन का कार्य अवश्य ही सुसम्पन्न हुआ। फलतः काशीस्थ विद्वानों का अद्वैत के प्रति दृढ़ आग्रह और अद्वैतविषयक ग्रन्थों के प्रणयन के प्रति नैसर्गिक निष्ठा बोधगम्य है। यहाँ विशिष्ट वेदान्त-तत्त्वज्ञो का ही सक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है--

द्वादश शती के अन्तिम चरण में नैषधचरित 'महाकाव्य' के रचयिता श्रीहर्ष (श्रीहर्ष मिश्र) ने 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' जैसे प्रौढ़ ग्रन्थ की रचना कर नव्यन्याय की शैली में द्वैत मत का तीव्र खण्डन कर अद्वैत-मत की वैजयन्ती फहराई। उनसे पूर्वयुग के प्रख्यात नैयायिक उदयन के मौलिक ग्रन्थ तात्पर्य-परिशुद्धि, बौद्धधिक्कार तथा 'न्यायकुसुमाञ्जलि' श्रीहर्ष की आलोचना के मुख्य लक्ष्य हैं। इन तीनों में प्रतिपादित मतों का खण्डन श्रीहर्ष ने बड़ी मार्मिकता से 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' में किया।[२] फलतः न्याय के द्वैतमत का गम्भीर आलोचन तथा खण्डन

१. द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय : श्री शङ्कराचार्य, पृ० ६३, द्वितीय सं०, प्रकाशक, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, १९६३ ई०।

२. द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय : सं० सा० इ०, पृ० २२७, नवीन स०, शारदामन्दिर, वाराणसी, १९७३ ई०।

एवं अद्वैतमत का मण्डन तथा संस्थापन श्रीहर्ष का बहुचर्चित कार्य है। श्रीहर्ष कान्यकुब्ज के ब्राह्मण थे। पिता का नाम था हीरमिश्र, माता का मामल्लदेवी। आश्रयदाता थे गहड़वाल वंशी विजयचन्द्र तथा उनके पौत्र जयचन्द्र जिन्होंने मिलकर ११५६ ईस्वी से लेकर ११९३ ई० तक काशी की अपनी राजधानी से राज्य किया था।

चतुर्दशशती के वेदान्तज्ञ संन्यासियों मे स्वामी **ज्ञानानन्द** का विशिष्ट स्थान था। इनके प्रधान शिष्य **प्रकाशानन्द** ने 'वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली' नामक अपूर्व ग्रन्थ का निर्माण किया। यह 'एकजीववाद' का प्रतिपादक ग्रन्थ है। वेदान्त के दो प्रख्यात सम्प्रदाय हैं—(क) सृष्टि-दृष्टिवाद तथा (ख) दृष्टि-सृष्टिवाद। प्रकाशानन्द का ग्रन्थ इसी द्वितीय मत का प्रतिपादक तथा गम्भीर विवेचक है। इस ग्रन्थ की रचना से दो शताब्दी पीछे षोडशशती में अनेक वेदान्त-पर्मज्ञ सन्यासियों ने काशी को अलंकृत किया जिनमें नृसिंहाश्रम, मधुसूदन सरस्वती, नारायण तीर्थ तथा ब्रह्मानन्द सरस्वती का नाम विशेषरूपेण उल्लेखनीय है। **नृसिंहाश्रम** उस युग के परम प्रसिद्ध तथा आदरणीय सन्यासी थे। ये अपने को 'वेदान्तसिद्धान्त-साराभिज्ञ' कहकर उल्लिखित करते है। ये पहले नर्मदा तट पर रहते थे। पीछे काशी में आकर निवास करते लगे थे। इनकी वेदान्तविषयक अनेक रचनाएँ उपलब्ध है जिनमें प्रधान हैं— **भावप्रकाशिका** (प्रकाशात्मदेव रचित 'पञ्चपादिका-विवरण' की टीका), **वेदान्ततत्त्वविवेक** तथा उसकी टीका **दीपन** (रचनाकाल मूलग्रन्थ का १६०४ वि० = १५४७ ई०), **तत्त्वदीपन** (अभेदरत्न की टीका), **भेदधिक्कार** (भेदवाद का खण्डन)। इनके उपास्यदेव नृसिंहदेव थे। ये सम्भवतः काञ्ची के निवासी थे। इनके ऊपर अप्पय दीक्षित की असीम श्रद्धा थी और इनके कहने पर अप्पय दीक्षित ने शैव मत का त्याग कर वेदान्त का आश्रय लिया। नृसिंहाश्रम के शिष्य भारतवर्ष के अनेक प्रान्तों में फैले हुए थे। **अप्पयदीक्षित** भी काशी में इसी शती में विद्यमान थे, परन्तु यहाँ निवास करते समय इन्होने किन ग्रन्थों का प्रणयन किया था? इस विषय मे अनुसन्धान की अपेक्षा है।

मधुसूदन सरस्वती

इनका संक्षिप्त परिचय उनके ग्रन्थों की सहायता से प्राप्त है। इनके वंश के मूल पुरुष का नाम श्रीराम मिश्र था। बगाल के फरीदपुर के अन्तर्गत 'कोटालपाड़ा' ग्राम सरस्वती जी का जन्मस्थल था। इनके पिता का नाम प्रमोदन पुरन्दर था जिनके चार पुत्रों में से मधुसूदन तृतीय पुत्र थे। इनका मूल नाम था — कमलनयन। नवद्वीप में हरिराम तर्कवागीश से इन्होंने न्यायशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया था। न्याय के अगाध विद्वान् गदाधर भट्टाचार्य इनके सहाध्यायी थे। न्याय के आमूलचूल अध्ययन के अनन्तर ये काशी पधारे और यहाँ **विश्वेश्वर सरस्वती** से इन्होंने अद्वैत वेदान्त का गाढ़ अनुशीलन किया और उन्हीं से संन्यास की दीक्षा ग्रहण की। मधुसूदन अपने गुरु को श्री शकराचार्य का नूतन अवतार मानते थे जिसका उल्लेख इन्होंने अपने 'सिद्धान्तबिन्दु' के मगल श्लोक मे किया है[1]। माधव सरस्वती से इन्होंने शास्त्रो का अध्ययन किया था।[2] महामहोपध्याय हरप्रसाद शास्त्री के मतानुसार माधव नारायण भट्ट

१. श्रीशङ्कराचार्य-नवावतारं विश्वेश्वरं विश्वगुरुं प्रणम्य।
वेदान्तशास्त्र-श्रवणालसानां बोधाय कुर्वे कमपि प्रबन्धम्॥

२. श्रीमाधवसरस्वत्यो जयन्ति यमिनां वराः। वयं येषां प्रसादेन शास्त्रार्थे परिनिष्ठिताः॥

—अद्वैतसिद्धि की परिसमाप्ति

के पिता रामेश्वर भट्ट के छात्र माधव सरस्वती से अभिन्न थे। श्रीराम या रामानन्द इनके परम गुरु माने जाते हैं। इन तीनों गुरुओं का स्मरण एक साथ मधुसूदन ने अपने गीताभाष्य की समाप्ति पर किया है—

श्रीराम-विश्वेश्वर-माधवानां प्रसादमासाद्य मया गुरूणाम् ।
व्याख्यानमेतद् विहितं सुबोधं समर्पितं तच्चरणाम्बुजेषु ॥

मधुसूदन सरस्वती का पाण्डित्य सर्वतोमुखी था। ये वेदान्त के जैसे प्रगाढ़ पण्डित थे; नव्य न्यायादि शास्त्रों में भी इनकी वैसी ही अप्रतिहत गति थी। किंवदन्ती है कि जब सरस्वती जी एक बार नवद्वीप में आये थे, तो वहाँ के नैयायिकों में खलबली मच गई थी। इसका चित्रण एक कवि ने इस प्रकार किया है—

नवद्वीपं समायाते मधुसूदनवाक्पतौ । चकम्पे तर्कवागीशः कातरोऽभूद् गदाधरः ॥

सुनते है कि ये अपने सतीर्थ्य गदाधर के घर पर ही टिके थे। जब गदाधर अपने अन्तेवासियों को नव्यन्याय का अध्यापन करने लगे, तब मधुसूदन ने सोपहास पूछ डाला—क्या छात्रावस्था में संकलित अपनी टिप्पणी ही पढ़ाते हो, या और कुछ अधिक ? इसी प्रसग मे शास्त्रचर्चा छिड़ गयी। तब गादाधरी के स्वनामधन्य लेखक गदाधर को सरस्वती की अपूर्व तर्कशैली का अवलोकन कर नतमस्तक होना पड़ा था और इन्हें साष्टांग प्रणाम कर इनके नैयायिक वैदुष्य को मानना पड़ा था। मधुसूदन सरस्वती ने 'अद्वैतसिद्धि' के अपनी नाना विद्याओं, विशेषकर न्याय के, मनन तथा तर्क के उपयोग करने का स्वतः संकेत प्रस्तुत किया है इस पद्य में—

गुरूणां माहात्म्यान्निजविविधविद्यापरिचयान् श्रुतेर्यन्मे सम्यङ्मननपरिनिष्पन्नमभवत् ।
परब्रह्मानन्दस्फुरणमखिलानर्थशमनं तदेतस्मिन् ग्रन्थे निखिलमतियत्नेन निहितम् ॥

—अद्वैतसिद्धि की परिसमाप्ति

मधुसूदन सरस्वती की वेदान्त-रचनाएँ इस प्रकार हैं—

(क) सिद्धान्तबिन्दु - यह शंकराचार्य की दशश्लोकी की टीका है जो बलभद्र के अनुरोध से लिखी गयी थी। यह टीका क्या है, अखिल वेदान्त के तत्त्वों का परिनिष्ठित निरूपण एवं अनुशीलन है। **(ख) वेदान्तकल्पलतिका**—भारतीय दर्शनों में मोक्ष की गम्भीर एवं तुलनात्मक आलोचना यहाँ प्रस्तुत की गयी है। **(ग) अद्वैतरत्नरक्षण**—नैयायिक शकर मिश्र के 'भेदरत्न' का यह खण्डन है। **(घ) संक्षेपशारीरक सारसंग्रह**—संक्षेपशारीरक की व्याख्या, **(ङ) गूढ़ार्थदीपिका**—भगवद्गीता का विस्तृत भाष्य, जिसमें नाना शास्त्रों के प्रमेयों का विस्तार से आलोड़न, मन्थन तथा आलोचन किया गया है। यही मधुसूदनी टीका लोकप्रिय आख्या द्वारा प्रसिद्ध है जो सरस्वती के लोकातीत वैदुष्य की परिचायिका है। **(च) अद्वैतसिद्धि**—यह उनके अद्वैती ग्रन्थों का मुकुटमणि है तर्कों के विन्यास में, भेदवाद के पुंखानुपुंख खण्डन में एवं अद्वैत तत्त्व के विपुल परिष्करण में। माध्वसम्प्रदाय के प्रख्यात विद्वान् व्यासराज ने **न्यायामृत** की रचना कर भेदवाद को वेदप्रतिपाद्य, न्यायानुमोदित एवं तर्कप्रमाणसिद्ध करने का जो विपुल प्रयास किया, उसीका यह तर्ककर्कश तीव्र खण्डन है। **नृसिंहाश्रम** ने भी न्यायामृत का खण्डन किया था, परन्तु वह उतना तीव्र नहीं था जितना तीव्र है मधुसूदन सरस्वती का अद्वैतसिद्धि में निबद्ध खण्डन। इस खण्डन का **रामाचार्य** ने अपनी **न्यायामृततरङ्गिणी** में उत्तर दिया। ये रामाचार्य गोदावरीतीरस्थ अम्बापुर के निवासी तथा उत्तरादिमठ के प्रसिद्ध साधु द्वैतवादी **रघूत्तमतीर्थ** के शिष्य थे जिनका निधन १४९६ ई० में हुआ था। किंवदन्ती ऐसी भी है कि

इन्हीं रामाचार्य ने मधुसूदन के समीप छद्म वेश में प्रत्येक पंक्तिशः अद्वैतसिद्धि का पाठ ग्रहण किया और गुरुदक्षिणा के रूप में अद्वैतसिद्धि का खण्डन गुरु को समर्पित किया। इस घटना का संकेत अद्वैतसिद्धि के अन्त में स्पष्टतः मिलता है—

इह कुमतिरतत्त्वे तत्त्ववादी वराकः प्रलपति यदकाण्डे खण्डनाभासमुच्चैः ।
प्रतिवचनममुष्मै तस्य को वक्तु विद्वान् न हि रुतमनुरौति ग्रामसिंहस्य सिंहः ॥

मधुसूदन सरस्वती की कृष्ण-भक्ति अतुलनीय है। वे जैसे ज्ञानी थे, वैसे ही भक्त भी थे। इस प्रकार उनके समान अद्वैत वेदान्त तथा कृष्ण-भक्ति का मधुमय सामञ्जस्य निराला ही दिखाई पड़ता है। उन्होंने अपने गीताभाष्य में विष्णु भगवान् के प्रति अपनी भक्ति का परिचय सर्वत्र ही दिया है। श्रीकृष्ण की उनकी स्तुति कितनी भव्य, भावुक तथा मनोमोहक है—

वंशी-विभूषितकरान् नव-नीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्ब-फलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दु-सुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

भक्तिशास्त्र में उनका अनमोल ग्रन्थ है—**भगवद्भक्ति-रसायन** तथा उसके प्रथम उल्लास की टीका, श्रीमद्भागवत के प्रथम या प्रथम तीन श्लोकों की टीका, शिवमहिम्न स्तोत्र की हरिहरात्मक टीका। **आनन्दमन्दाकिनी** तथा **कृष्णकुतूहल** सरस्वतीजी के क्रमशः काव्य तथा नाटक है। मधुसूदन तुलसीदास के प्रति श्रद्धा रखते थे और इस विषय में उनका यह पद्य नितान्त लोकप्रचलित है :

आनन्दकानने काश्यां तुलसी जङ्गमस्तरुः। कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमर-भूषिता ॥

श्रद्धा हो क्यों नही ? आखिर गोसाईजी भी अद्वैत ज्ञान के साथ भक्ति के मञ्जुल सामञ्जस्य के ही तो उपासक प्रचारक थे। भागवत के प्रथम श्लोक की व्याख्या में कितनी नम्रता से सरस्वतीजी ने अपने उद्देश्य का परिचय दिया है :

अनुदिनमिदमायुः सर्वदाऽसत्प्रसङ्गैर्बहुविध-परितापैः क्षीयते व्यर्थमेव ।
हरिचरित-सुधाभिः सिच्यमानं तदेतत् क्षणमपि सफलं स्यादित्ययं मे श्रमोऽत्र ॥

मधुसूदन के एक शिष्य थे **पुरुषोत्तम सरस्वती** जिन्होंने गुरु के ग्रन्थ सिद्धान्तबिन्दु पर 'बिन्दुसदीपन' नामक टीका लिखी और उनके दूसरे शिष्य थे **शेष गोविन्द** जिन्होंने सिद्धान्तबिन्दु पर ही **सिद्धान्तरहस्य** नामक टीका लिखी थी।

इसी परम्परा के अन्तर्भुक्त १७वी तथा १८वी शती में भी अनेक अद्वैती सन्यासियों ने सुन्दर ग्रन्थों का निर्माण किया -(क) **नारायण तीर्थ** ने अनेक दर्शनों पर ग्रन्थों की रचना की। वेदान्त के विषय में इनका ग्रन्थ **सिद्धान्तचन्द्र** (अपर नाम लघुव्याख्या) सिद्धान्तबिन्दु की व्याख्या है। भक्तिशास्त्र में इनकी **भक्तिचन्द्रिका** नितान्त प्रख्यात है जिसमें शाण्डिल्यसूत्रों का भाष्य प्रस्तुत किया गया है। (ख) **ब्रह्मानन्द सरस्वती** जगद्-विख्यात वेदान्त के विद्वान् थे। ये वंगदेशीय प्रतीत होते है क्योंकि 'गौड ब्रह्मानन्द' के नाम से इनकी प्रसिद्धि है। इनकी रचनाएँ हैं—(१) **अद्वैतचन्द्रिका** (मधुसूदन-रचित अद्वैतसिद्धि की व्याख्या। इसके दो संस्करण हैं—लघुचन्द्रिका तथा गुरुचन्द्रिका), (२) **न्यायरत्नावली** (सिद्धान्तबिन्दु की टीका) तथा (३) अद्वैतसिद्धान्त-विद्योतन।

इसके अनन्तर भी अद्वैत वेदान्त का परम्परागत पठन-पाठन, प्रसार-प्रचार आज तक काशी में चल रहा है। इस संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है कि काशी के विद्वान् संन्यासियों ने तथा पण्डित गृहस्थों ने वेदान्त के इतिहास में अपनी विमल तपस्या से, अपने तर्कमण्डित ग्रन्थों से

तथा अपने सुयोग्य शिष्यो से अपनी अनुपम कीर्ति स्थापित की। द्वैतमत का तर्कसम्मत प्रौढ़ खण्डन कर अद्वैत मत का प्रसारण तथा सरक्षण काशी के वेदान्ती पण्डितो की अपूर्व देन है।

(८) धर्मशास्त्र

धर्मशास्त्र के इतिहास मे भी काशी के विद्वानो का योगदान अपना विशेष महत्त्व रखता है। इनकी रचनाएँ अखिलभारतीय मान्यता से मण्डित है, क्योकि इनका आदर एव प्रामाण्य समस्त भारतवर्ष के धर्मशास्त्रियो ने स्वीकार किया। इन्होने अपने मौलिक सिद्धान्तो के प्रतिपादन द्वारा इस शास्त्र को एक नई दिशा प्रदान की। १२वी शती से लेकर आज तक का इतिहास इस तथ्य का सद्यः प्रतिपादक है।

लक्ष्मीधरभट्ट

१२वी शती के उत्तरार्ध मे लक्ष्मीधर भट्ट ने १४ खण्डो मे विभक्त अपने विशालकाय ग्रन्थ **कृत्यकल्पतरु** के द्वारा धर्मशास्त्र के विविध विषयो का गम्भीर तथा विशद विवेचन कर निबन्ध-ग्रन्थ की रचना का सूत्रपात किया। ये काशी के गहडवालवशी महाराजाधिराज गोविन्दचन्द्र के 'सान्धिविग्रहिक' थे तथा भट्ट हृदयधर के पुत्र थे। व्रत, तीर्थ, श्राद्ध आदि धार्मिक विषयो की जानकारी के लिए यह निःसन्देह मूल्यवान् विश्वकोश है। बगाल के सभी प्रसिद्ध लेखको (जैसे बल्लालसेन, शूलपाणि, रघुनन्दन) ने कल्पतरु की चर्चा की है तथा इसके लेखक के मत को आदर से उल्लिखित किया है। मैथिल धर्मशास्त्री चण्डेश्वर ने 'विवाद रत्नाकर' मे तथा श्रीदत्त ने 'आचारादर्श' मे कल्पतरु का बहुशः उल्लेख किया है। दक्षिण तथा पश्चिम भारत मे भी इसका प्रभूत प्रभाव लक्षित होता है। तभी तो हेमाद्रि द्वारा इसका सादर उल्लेख आश्चर्यजनक नही प्रतीत होता।

'कृत्यकल्पतरु' के स्थान पर यह ग्रन्थ केवल कल्पतरु, कल्पद्रुम या कल्पवृक्ष भी कहा जाता है। कल्पतरु मे लिखा है कि लक्ष्मीधर की कूटनीतिक चालो से ही गोविन्दचन्द्र ने अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त की। इसमे आचार सम्बन्धी बातो के अतिरिक्त व्यवहारविषयक भी कई काण्ड थे। राजधर्म पर भी इन्होने पर्याप्त प्रकाश डाला है। फलतः इस विशालकाय ग्रन्थरत्न का महत्त्व केवल धार्मिक दृष्टि मे न होकर व्यवहार (कानून) तथा राजनीति की दृष्टि से भी उपलब्ध होता है। विशेषतः उद्धरण तथा सकेत स्मृतिकारो, महाकाव्यो एव पुराणो के ही है, परन्तु व्यवहार काण्ड मे मेधातिथि विज्ञानेश्वर (मिताक्षरा) हलायुध एव कामधेनु नामक निबन्धो के भी उद्धरण मिलते है। लक्ष्मीधर ने याज्ञवल्क्यस्मृति के विख्यात व्याख्याकार विज्ञानेश्वर (समय ११०० ई०) को उद्धृत किया है एव बगाल के [illegible] **अनिरुद्ध** के द्वारा पितृदयिता अथवा **कर्मोपदेशिनी पद्धति** (रचनाकाल ११६० ई०) [illegible] किये गये है। फलतः इनका समय ११०० ई० ११५० ई० के बीच मानना उचित है।

कुल्लूकभट्ट

कुल्लूकभट्ट की मनुस्मृति की टीका मन्वर्थ**मुक्तावली** मनुभाष्यो मे अति उत्तम मानी जाती है। इनकी व्याख्या सक्षिप्त, स्पष्ट एव उद्देश्यपूर्ण है। मेधातिथि एव गोविन्दराज के भाष्यों से उद्धरण दिया है, परन्तु कृतज्ञता-प्रकाशन के बिना ही। कटु आलोचना भी इनकी की है। ये बगाल के वारेन्द्र श्रेणी के नन्दननिवासी दिवाकरभट्ट के पुत्र थे। ग्रन्थ का प्रणयन काशी मे किया गया। कुल्लूकभट्ट ने भोजदेव, कल्पतरु की चर्चा की है। फलत. ये ११५० ई०

के पश्चाद्वर्ती तथा रघुनन्दन के द्वारा दायतत्त्व मे निर्दिष्ट होने मे १३०० ई० से पूर्ववर्ती थे। सम्भवतः ११५० ई० १३०० ई० के बीच मे कभी वर्तमान थे।

१३वी शती मे **कविकान्त सरस्वती** ने **विश्वादर्श** का निर्माण किया जिसमे सदाचार, व्यवहार, प्रायश्चित्त तथा ज्ञानकाण्ड का वर्णन १६५ श्लोको मे किया गया है। मिताक्षरा का उल्लेख करने से एव हेमाद्रि द्वारा 'चतुर्वर्गचिन्तामणि के परिशेष-खण्ड मे उल्लिखित होने से इनका समय १३वी शती मानना उपयुक्त है। कविकान्त सरस्वती ने अपने ग्रन्थ के ऊपर स्वोपज्ञ व्याख्या लिखी है जिसका नाम **विवरण** है। यह पूरे ग्रन्थ पर उपलब्ध है तथ प्रकाशित है। प्रथम काण्ड की पुष्पिका इस प्रकार है—

इति श्रीगीतार्थप्रवीणश्रीमदाचार्यादित्यसुत-कविकान्त-सरस्वतीरित- विश्वादर्शाख्य-धर्मशास्त्रविवरण सदाचारकाण्डः प्रथमः समाप्तः।

इससे पता चलता है कि **श्रीमदाचार्यादित्य** इनके पिता का नाम था जो गीता का अर्थ करने मे प्रवीण थे। ग्रन्थ का रचनाकाल ईस्वी सन् १२०० और १२३० के बीच मे सिद्ध होता है।

१६ १७वी शती मे काशी मे धर्मशास्त्र का अनुशीलन अपनी प्रौढावस्था पर पहुँच गया। महाराष्ट्र के मूल निवासी काशीवासी दो महाराष्ट्रीय ब्राह्मणकुल के पण्डितो ने इस शास्त्र का खूब ही [illegible] नन्द पण्डित धर्माधिकारी नामक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण वश मे उत्पन्न हुए थे। इन्होने [illegible] ग्रन्थो का [illegible] किया जिनमे प्रख्यात रचनाऐ है—(१) **विद्वन्मनोहरा** (पराशर स्मृति का [illegible]), (२) प्रमिताक्षरा (मिताक्षरा पर सक्षिप्त भाष्य), (३) **श्राद्धकल्पलता**, (४) **शुद्धिचन्द्रिका**, (५) दत्तकमीमासा तथा (६) **वैजयन्ती** (या केशव वैजयन्ती विष्णुधर्मसूत्र का विशद भाष्य)। आधुनिक हिन्दू कानून की वाराणसी शाखा मे वैजयन्ती का प्रामुख्य है अग्रेजो के प्रभुत्वकाल मे [illegible] मीमासा का हवाला प्रिवी कौन्सिल तक दिया जाता रहा है और आज भी दत्तक लेने के विषय मे यह सर्वापेक्षया महत्त्वशाली ग्रन्थ है। मिताक्षरा का बहुशः अनुसरण होने पर भी, स्थान स्थान पर प्रमिताक्षरा मे उसका खण्डन नन्दपण्डित के मौलिक चिन्तन का [illegible] निदर्शन है।

नन्दपण्डित की वैजयन्ती, जो 'विष्णुधर्मसूत्र पर बडा ही विशद एव प्राञ्जल भाष्य है, सम्भवतः उनकी अन्तिम रचना थी। इसका निर्माण काशी मे १६२३ ई० मे हुआ था। अनुमान के आधार पर कहा जा सकता है कि नन्दपण्डित की कृतियो का निर्माणकाल १५९० ई० से लेकर १६२५ ई० तक है। फलतः इनका आविर्भावकाल १६वी शती का उत्तरार्ध एव १७वी शती का प्रथम चरण है। नन्दपण्डित रचित ग्रन्थो की पूरी सख्या १८ है जिममे से अब तक कतिपय ही ग्रन्थ मुद्रित हो सके है। इनके **नवरात्रप्रदीप** का प्रकाशन सरस्वती भवन सीरीज मे हुआ है (ग्रन्थ स० ९३)। इस ग्रन्थ मे नवरात्र के विषय मे बड़ा ही गम्भीर धर्मशास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत है। मौलिक विचारो के विन्यास से ग्रन्थ की अधिक उपयोगिता है।

इसी धर्माधिकारी वश के ही **नारायण पण्डित** के पुत्र खण्डेराय पण्डित ने **परशुराम प्रकाश** नामक धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ मे दो उल्लास है— आचार उल्लास तथा श्राद्ध-उल्लास। यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। इसके हस्तलेख का लिपिकाल १६९७ वि० स० (= १६४० ई०) है [illegible] के आधार तथा [illegible] इस

ग्रन्थ का निर्माण किया। परशुराम मिश्र शाकद्वीपीय ब्राह्मण थे—पिता का नाम था होरिल मिश्र तथा पितामह का सूर्याकर मिश्र जो 'यमुनापुर' के शासक तथा स्वामी थे। परशुराम मिश्र धार्मिक, विद्वान् एवं उदार थे। श्रुति तथा स्मृति के अनुष्ठानपरक ग्रन्थों के वे रचयिता कहे गये है। वह शास्त्रार्थ के महारथी थे (उद्दण्डवादप्रखरतरवचोवीचिवादीन्द्रजेता) तथा ललित कलाओं के पारखी थे। उनकी कविता ने शोक (सम्भवतः अपनी बेगम के निधनजन्य सन्ताप) से सन्तप्त शाहजहाँ के हृदय को शान्ति पहुँचाई और उसने प्रसन्न होकर **वाणीरसाल राय** की उपाधि से इन्हें विभूषित किया—

वाणीरसालरायेतिपदवीं मानपूर्वकम्। स्ववाङ्माधुर्यसन्तुष्टात् सार्वभौमादवाप यः॥

उनकी कविता के अलौकिक प्रभाव का वर्णन इस पद्य में मिलता है—

सोत्कण्ठं यस्य वाणीं विबुधपतिसुधाजित्वरीं पावनीं तां
श्रुत्वा दिल्लीमरुत्वान् मनसि गुरुमदं प्राप तापं जहौ च।
या गन्धर्वैस्त्रिलोक्ये सदसि सुमनसां गीयते स्तूयते त्रैः
पृथ्वीपालार्तिहन्ता जगति विजयते रायवाणीरसालः॥

उपाधि-प्राप्ति के अनन्तर परशुराम मिश्र इसी उपाधि से विशेष प्रख्यात हो गये। शाहजहाँ के द्वारा सम्मानित कवीन्द्राचार्य सरस्वती के ये समकालीन थे। चतुर्भुज के **रसकल्पद्रुम** सूक्तिसग्रह मे इसीलिए ये दोनो कवि अपने उपनामों से ही सकेतित किये गये है। इस सग्रह का हस्तलेख १७८५ स० (= १७२८ ईस्वी) का है। फलतः मिश्रजी का कार्यकाल १७वी शती का पूर्वार्द्ध मानना समुचित है।

नारायण भट्ट

नारायण भट्ट वाराणसी के सुप्रसिद्ध भट्ट कुल के सर्वश्रेष्ठ लेखक माने जाते है। ये अपने वश में सूर्य के समान एक ज्योतिष्मान् नक्षत्र थे जिसके प्रकाश से यह भट्टकुल सदियो से प्रकाशित होता रहा है। नारायण भट्ट के पिता का नाम रामेश्वर भट्ट था जो प्रतिष्ठान (पैठन) से काशी आये थे। इनकी विद्वत्ता से आकृष्ट होकर सुदूर प्रान्तों के शिष्यगण इनके चरणों में बैठकर विद्याध्ययन के लिए काशी आया करते थे।

नारायण भट्ट के पुत्र शकरभट्ट ने अपने पिता का जीवन-चरित लिखा है जिसके अनुसार उनका जन्म सन् १५१३ ई० मे हुआ था। नारायण भट्ट अपने पिता रामेश्वर भट्ट के समान ही प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनकी विद्वत्ता के कारण इनके वश को बड़ी सुप्रसिद्धि प्राप्त हुई। नारायण भट्ट की अगाध विद्वत्ता की ख्याति चारो ओर फैल गई और विद्वानो ने इसी कारण इनको 'जगद्गुरु' की उपाधि से विभूषित किया था। भट्टकुल के वैदुष्य के कारण ही काशी मे दक्षिणी ब्राह्मण विद्वानों की इतनी प्रतिष्ठा हो सकी तथा इन लोगों का लोहा सभी मानने लगे।

ग्रन्थ—नारायण भट्ट ने धर्मशास्त्रसम्बन्धी अनेक ग्रन्थों की रचना की है जिनमें (१) **अन्त्येष्टि-पद्धति**, (२) **त्रिस्थली-सेतु** एवं (३) **प्रयोग-रत्न** अत्यन्त प्रसिद्ध है। इनका प्रथम ग्रन्थ 'अन्त्येष्टि-पद्धति' और्ध्वदैहिक पद्धति के नाम से भी प्रसिद्ध है। त्रिस्थली-सेतु इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके प्रथम भाग में सभी तीर्थों से सम्बद्ध कृत्यों का विवेचन किया गया है। परन्तु इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें प्रयाग, काशी और गया इन तीन तीर्थस्थानों का बड़ा विशद, विस्तृत तथा विद्वत्तापूर्ण वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ का निर्माण लगभग १५५०–६० ई० के बीच में हुआ था।[1] (३) **प्रयोगरत्न**—यह

१. यह ग्रन्थ आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना से प्रकाशित हुआ है।

ग्रन्थ आश्वलायन-गृह्यसूत्र के आधार पर निर्मित किया गया है। इसमे गर्भाधान से लेकर विवाह तक के समस्त सस्कारों का वर्णन किया गया है।

नारायण भट्ट का रचनाकाल सन् १५४० ई० से लेकर सन् १५९० ई० तक माना जाता है। उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने अनेक भाष्यों की भी रचना की है। इस प्रकाण्ड विद्वान् ने अपने पुत्रों और पौत्रों द्वारा भारतवर्ष के समस्त लेखकों को प्रभावित किया।

काशी के प्रख्यात भट्ट वश का मूलस्थान पैठण (प्रतिष्ठानपुर) था। इस वश के आदिपुरुष यही निवास करते थे जिसकी वश-परम्परा इस प्रकार है—नागनाथ भट्ट—चांगदेवभट्ट - गोविन्दभट्ट—रामेश्वर भट्ट। रामेश्वर भट्ट ही सपत्नीक तीर्थयात्रा के निमित्त काशी मे १५१३ ईस्वी में आये और उसी वर्ष इनके पुत्र **नारायण भट्ट** का जन्म हुआ। इन्होने अपने विद्वान् पिता से अशेष शास्त्रों का अध्ययन किया और लोकोत्तर विद्वान् बन गये। ख्याति बढाने का सुअवसर भी इन्हें प्राप्त हुआ। बादशाह अकबर के राजस्व मन्त्री राजा टोडरमल्ल के श्राद्ध मे नवद्वीप (बगाल) निवासी विद्वान् **विद्यानिवास** से नारायण भट्ट का श्राद्ध-विषय में शास्त्रार्थ हुआ जिसमें भट्टजी विजयी हो गये। १५८५ ईस्वी में इन्होंने विश्वेश्वर की स्थापना की जिसे मुसलमान बादशाह ने ध्वस्त कर दिया था। टोडरमल्ल धार्मिक व्यक्ति थे। उन्ही के आग्रह तथा प्रयत्न से विश्वेश्वर की मूर्ति स्थापित हो सकी थी। उनका **टोडरानन्द** धर्मशास्त्र का एक महनीय विश्वकोश ही है। इनकी मृत्यु १५८९ ई० मे लाहौर में हुई।

कमलाकर भट्ट

नारायण भट्ट के वश मे उत्पन्न कमलाकर भट्ट ने अपनी प्रतिभा और अलौकिक विद्वत्ता के द्वारा इसकी ख्याति में अतिशय वृद्धि की। ये नारायण भट्ट के पौत्र थे। इनके पिता का नाम रामकृष्ण भट्ट था। कमलाकर भट्ट का समय निश्चित रूप से बतलाया जा सकता है। इन्होने सन् १६१२ ई० में **निर्णयसिन्धु** नामक अपने ग्रन्थ की रचना की थी जो इनकी प्रारम्भिक कृतियो में माना जाता है। इन्होने बीसियों ग्रन्थों की रचना की है। अतः इनका रचनाकाल सन् १६१० ई० से लेकर १६४० ई० तक माना जा सकता है।

कमलाकर भट्ट बड़े ही उद्‌भट विद्वान् थे। इनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। इसीलिए इन्होंने विभिन्न विषयों पर अपने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। ये तर्कशास्त्र, न्यायशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, मीमांसा, वेदान्त, साहित्यशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा वैदिक कर्मकाण्ड आदि सभी विषयों के गम्भीर विद्वान् थे। इनकी सारग्राहिणी प्रतिभा ने सकल शास्त्रों का आलोड़न किया था और उससे जो रत्न निकले उन्हें अपने वैदुष्यपूर्ण ग्रन्थों में निहित किया है। इनके द्वारा निर्मित **विवादताण्डव** नामक ग्रन्थ में उल्लिखित है कि इन्होंने कुमारिलकृत मीमांसा (शास्त्र-तत्त्व) के वार्तिक पर 'निर्णयसिन्धु' नामक भाष्य लिखा था। विवादताण्डव से यह भी पता चलता है कि इस भाष्य के अतिरिक्त इन्होंने अन्य २० (बीस) ग्रन्थों की रचना की थी। कहीं-कहीं इनके निर्मित ग्रन्थों की संख्या २२ (बाईस) भी उपलब्ध होती है। इनके ग्रन्थों की संख्या जो भी रही हो, इतना तो निश्चित रूप से निर्विवाद कहा जा सकता है कि ये विलक्षण प्रतिभा से सम्पन्न विद्वान् थे और इनकी लेखनी विभिन्न शास्त्रों के गहन तत्त्वों के उद्‌घाटन में बड़ी सफलता से चलती थी।

ग्रन्थ—कमलाकर भट्ट ने जिन बीस या बाईस ग्रन्थो की रचना की है उनमे से आधी पुस्तके धर्मशास्त्र से सम्बद्ध है जिनके नाम निम्नाकित है-

(१) निर्णयसिन्धु, (२) दान-कमलाकर, (३) शान्तिरत्न, (४) पूर्त-कमलाकर, (५) व्रतकमलाकर, (६) प्रायश्चित्तरत्न, (७) विवादताण्डव, (८) बहवृचाह्निक, (९) गोत्र प्रवर-दर्पण, (१०) कर्मविपाकरत्न, (११) शूद्र कमलाकर और (१२) लघु त्रिस्थलीसेतु (काशी, गया तथा प्रयाग मे धार्मिक कृत्यो का विवरण)। इन ग्रन्थो मे से शूद्रकमलाकर, विवादताण्डव एव निर्णयसिन्धु अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ है। स्थानाभाव के कारण इन सभी ग्रन्थो का वर्णन यहाँ सम्भव नही है। अतएव केवल प्रसिद्ध ग्रन्थो का ही सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जाता है —

(क) शूद्रकमलाकर—भट्टजी का यह एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। जैसा कि इसके नाम से ही विदित होता है, इसमे शूद्रो के सम्बन्ध मे कुछ चर्चा की गई है। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'शूद्र धर्मतत्त्व' या 'शूद्र धर्मतत्त्व प्रकाश' भी है। ऐसा माना जाता है कि शूद्र वेदाध्ययन नही कर सकते। वे ब्राह्मणो द्वारा स्मृतियो और पुराणो का केवल पाठ सुन सकते है। इन शूद्रो की धार्मिक क्रियाएँ केवल पौराणिक मन्त्रो द्वारा सम्पादित होनी चाहिए। इस ग्रन्थ के अन्य विषय है —विष्णु पूजा, अन्य देवताओ की पूजा, व्रत और उपवास आदि। सर्वसाधारण जनता के कल्याण के कार्यों मे शूद्र दान दे सकता है, शूद्र गोद भी ले सकता है। वैदिक मन्त्रो के बिना इनके विभिन्न सस्कारो के विधान के सम्बन्ध मे मत भेद का भी उल्लेख किया गया है।

(ख) निर्णयसिन्धु—कमलाकर भट्ट के ग्रन्थो मे निर्णयसिन्धु सबसे अधिक प्रख्यात है। यह ग्रन्थ इनकी अगाध विद्वत्ता, कठोर परिश्रम तथा गम्भीर चिन्तन का प्रतीक है। यह एक अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। नीलकण्ठ तथा मित्र मिश्र के केवल दो अपवादो को छोडकर, किसी अन्य धर्मशास्त्रकार ने इतने अधिक ग्रन्थो तथा ग्रन्थकारो का उल्लेख नही किया है जितना कमलाकर भट्ट ने। इन्होने लगभग एक सौ स्मृतियो तथा तीन सौ से भी अधिक निबन्धकारो का उल्लेख अपने ग्रन्थो मे किया है। यह आश्चर्य का विषय है कि इतने अधिक ग्रन्थो का इन्होने कैसे और कब अध्ययन किया और इन विभिन्न ग्रन्थो की यह विपुल राशि इन्हे कहाँ से प्राप्त हुई जब कि उस काल मे प्रेसो का अभाव था और पुस्तके केवल हस्तलेख के रूप मे ही सुरक्षित रहती थी। इसी तथ्य से भट्टजी की बहुज्ञता बहुश्रुतता और बहुपठनशीलता का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। निर्णयसिन्धु मे तीन परिच्छेद है। प्रथम परिच्छेद मे तिथियो का निर्णय है। एकादशी का निर्णय सबसे अधिक कठिन है। इसके लिए परिच्छेद के अन्त मे एक निर्णयपट्ट ही दे दिया गया है। व्रत, ग्रहण आदि का विवेचन विशेष महत्त्व रखता है। द्वितीय परिच्छेद मे वर्षभर के बारहो महीनो के व्रतादि का विचार है। तीसरा परिच्छेद मुख्य सस्कारो का विवरण देता है। अनन्तर पूर्त, वापी, तडाग, गृह के निर्माण के काल का विवेचन है। इसके उत्तरार्ध मे श्राद्ध, तीर्थश्राद्धविधि, आशौच, प्रायश्चित्त, सन्यास-निर्णय आदि विविध विषयो का समावेश बडे विस्तार से किया गया है। ग्रन्थ के आदि तथा अन्त मे अपने गुरुजनो का निर्देश है। इसमे इन्होने अपने ज्येष्ठभ्राता का नाम दिवाकर भट्ट तथा दिनकर भट्ट दोनो दिया है। पृ० २८६ पर श्राद्ध मे पितरो को समर्पणीय फलो का नाम निर्देश है। इनका कमलाकर ने हिन्दी नाम दिया है। ध्यातव्य है कि ये नाम उस युग मे प्रचलित रहा थे और इसीलिए इन्होने हिन्दी को 'मध्यदेश भाषा' अभिहित किया है। वैद्यक की दृष्टि से यह प्रसग अवलोकनीय है।

नीलकण्ठ भट्ट

ये नारायण भट्ट के पौत्र और शकर भट्ट के पुत्र थे। अतः विद्वत्ता तथा प्रतिभा इन्हे अपने पिता और पितामह से रिक्थ रूप मे मिली थी। नीलकण्ठ ने सेगरवशी बुन्देल सरदार भगवन्त देव के सम्मान मे **भगवन्त-भास्कर** नामक धार्मिक ग्रन्थ लिखा है जो १२ (बारह) मयूखो या प्रकरणो मे समाप्त हुआ है। इन प्रकरणो के नाम है (१) सस्कार, (२) आचार, (३) काल, (४) श्राद्ध, (५) व्यवहार, (६) दान, (७) उत्सर्ग, (८) प्रतिष्ठा, (९) प्रायश्चित्त, (१०) शुद्धि एव (११) शान्ति आदि। नीलकण्ठ ने **व्यवहारमयूख** का एक सक्षिप्त सस्करण भी **व्यवहार-तत्त्व** के नाम से प्रकाशित किया है। इनमे सबमे प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय ग्रन्थ – **व्यवहारमयूख** है जिसका प्रचुर उपयोग आजकल भी हिन्दू कानून की जानकारी के लिए कचहरी मे भारत न्यायपालिका के द्वारा किया जाता है

कालनिर्णय- नीलकण्ठ शकर भट्ट के कनिष्ठ पुत्र थे। शकर भट्ट ने अपने द्वैत निर्णय मे टोडरानन्द के मतो का उल्लेख किया है। ये टोडरानन्द वही है जो अकबर बादशाह के प्रधान दरबारी तथा राजस्व मत्री थे। टोडरानन्द के ज्योतिसौख्य प्रकरण की रचना १५७२ ई० मे की गई अतः इनका समय १६वी शती का उत्तरार्ध है।

द्वैत निर्णय का समय सन् १५६० ई० के पूर्व प्रतीत नही होता नीलकण्ठ भट्ट शकर भट्ट के कनिष्ठ पुत्र होने के नाते कमलाकर भट्ट के पूर्व ग्रन्थ की रचना नही कर सकते थे। कमलाकर भट्ट ने अपने 'निर्णयसिन्धु' की रचना सन् १६१२ ई० मे की थी। अतः नीलकण्ठ का लेखनकाल सन् १६१० ई० के बाद ही समझना चाहिए। व्यवहार तत्त्व की एक हस्तलिखित प्रति का काल १६४४ ई० है। इससे स्पष्ट होता है कि इस तिथि से पहले ही इस ग्रन्थ की रचना हो चुकी होगी। अतः इनका काल सन् १६१० ई० से १६४५ ई० के बीच मानना समुचित प्रतीत होता है।

नीलकण्ठ भट्ट की गणना प्रसिद्ध निबन्धकारो मे की जाती है। ये मीमासको के कुल मे उत्पन्न हुए थे। अतः धर्मशास्त्र मे मीमासा के नियमो के प्रयोग मे ये बडे सिद्धहस्त थे। इनकी लेखन शैली सुन्दर थी। विद्वत्ता और स्मृतिज्ञान मे ये मध्य काल मे उत्पन्न सभी धर्मशास्त्रकारो मे सर्वश्रेष्ठ थे। यद्यपि इन्होने विज्ञानेश्वर और हेमाद्रि आदि की प्रशसा की है किन्तु वे किसी भी विद्वान् का अन्ध अनुकरण करते हुए नही दिखाई पडते। व्यवहारमयूख इनका सबसे प्रधान ग्रन्थ है जो पश्चिमभारत मे व्यवहार (कानून) के सबन्ध मे अत्यन्त प्रामाणिक पुस्तक मानी जाती है।

नागोजि भट्ट

नागोजि भट्ट सुप्रसिद्ध महावैयाकरण भट्टोजि दीक्षित की शिष्य-परम्परा मे उत्पन्न हुए थे। ये महाराष्ट्र ब्राह्मण थे और इनकी उपाधि काले थी। इनकी विद्वत्ता का प्रधान क्षेत्र व्याकरण शास्त्र था। परन्तु ये बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे।

नागोजि भट्ट ने व्याकरणशास्त्र का प्रकाण्ड विद्वान् होते हुए भी, साहित्यशास्त्र, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र तथा अन्य शास्त्रो पर भी अधिकारपूर्वक ग्रन्थो की रचना की है। अब तक इनके तीस (३०) ग्रन्थ प्राप्त हो चुके है जिनमे से धर्मशास्त्रीय प्रधान ग्रन्थो के नाम है—(१) आचारेन्दुशेखर, (२) तिथीन्दुशेखर, (३) तीर्थेन्दुशेखर, (४) प्रायश्चित्तेन्दुशेखर, (५)

श्राद्धेन्दुशेखर, (६) सपिण्डिमंजरी, (७) अशौचनिर्णय, (८) सापिण्ड्य दीपक । समय १८वी शती का पूर्वार्ध ।

रत्नाकर सम्राट्

जयपुर के संस्थापक सवाई महाराजा जयसिंह जयपुर नरेश के आदेशानुसार विरचित जयसिंह कल्पद्रुम नामक प्रौढ धर्मशास्त्रीय निबन्ध के निर्माता **रत्नाकर भट्ट** का काशी से पारिवारिक सम्बन्ध था । यह ब्राह्मण-वंश महाराष्ट्र से काशी आया, काशी मे निवास किया और कालान्तर मे जयपुर चला गया । यही रत्नाकर भट्ट जयसिंह महाराज के सम्पर्क मे आये, और अपने पाण्डित्य एव चारित्र्य के बल पर महाराजा के गुरु के उदात्त पद पर प्रतिष्ठित हुए । अपना परिचय इन्होने पूर्वोक्त ग्रन्थ मे अनेकत्र दिया है । ग्रन्थ के उपोद्घात मे वे लिखते है —

> **रामाङ्घ्रिप्रणवः सुकर्मनिरतः शाण्डिल्यगोत्रोद्भवः**
> **काशीस्थ-द्विजदेवभट्टतनयः सम्राट् सुविद्यान्वितः ।**
> **सलब्धैर्धनसञ्चयैर्बहुविधैः सर्वान् क्रतूनाचरन्**
> **तत्प्रीत्यै व्रतकल्पशाखिनममुं निर्माति रत्नाकरः ॥३४॥**

इससे स्पष्ट है कि रत्नाकर का गोत्र शाण्डिल्य था, पिता का नाम देवभट्ट था तथा उनकी उपाधि थी सम्राट् । पिताजी काशी मे निवास करनेवाले थे । रामचन्द्र उनके उपास्य थे । रत्नाकर काशी के नागेशभट्ट के समकालीन थे । अपने आश्रयदाता के विशेष आग्रह पर रत्नाकर ने व्रतो के विषय मे समस्त सामग्री के प्रदायक 'जयसिंह कल्पद्रुम' ग्रन्थ का प्रणयन किया । रचना का समय वि०स० १७७० (भाद्रपाद मास) पुष्पिका मे निर्दिष्ट है जो २५ जुलाई, १७१३ ईस्वी अग्रेजी गणना से सिद्ध होता है । रत्नाकर के ही प्रपौत्र विश्वेश्वर ने **निर्णयकौस्तुभ** नामक धर्मशास्त्रसम्बद्ध ग्रन्थ का निर्माण १८०३ ई० मे किया । धर्मशास्त्रीय परम्परा के प्रचलन का यह एक सुन्दर दृष्टान्त है ।

जयसिंह-कल्पद्रुम

यह धर्मशास्त्र का विशाल निबन्ध ग्रन्थ है जिसे बम्बई के ख्यातनामा सेठ खेमराज श्रीकृष्णदास ने प्रकाशित किया है । बडे आकार के ६५० पृष्ठो का यह विराट् ग्रन्थ अपनी भव्यता, उपयोगिता तथा प्रामाणिकता मे अद्वितीय है । इसमे पूरे वर्ष मे होनेवाले व्रतो का काल-निर्णय, पूजाविधान, तथा कर्मकाण्डीय विधि का सागोपाग विवरण प्राचीन धार्मिक ग्रन्थो के आधार पर इतना विस्तृत तथा विशाल है कि यह वास्तव मे 'व्रतो का विश्वकोश' ही है । व्रतविषयक शायद ही कोई तथ्य हो, जो यहाँ ग्रन्थोद्धरणपुरःसर व्याख्यात, विवेचित तथा परिबृंहित न हो । यह सचमुच अपूर्व है जो ग्रन्थकार के गम्भीर गवेषण, शास्त्रालोडन तथा सूक्ष्म विमर्श का सद्यः परिचायक है । चैत्र के आरम्भ से लेकर फाल्गुन की पूर्णिमा तक पूरे वर्ष की विभिन्न तिथियो मे अनुष्ठीयमान कर्मों का व्यापक तथा विस्तृत विवेचन प्रमाणो के साथ एकत्र प्रस्तुत कर ग्रन्थकर्ता ने अद्भुत कार्य सम्पन्न किया है । नवरात्र, गणेश चतुर्थी, दीपावली, होलिका आदि का तथा श्रौत यागो का विवरण दृष्टान्त रूप में निर्दिष्ट किये जा सकते हैं । एकादशी-निर्णय १५० पृष्ठो में है । यह तो हुआ धार्मिक महत्त्व । इसका ऐतिहासिक महत्त्व भी कम नही है । ग्रन्थ के आरम्भ मे जयसिंह के राजवंश का वर्णन एकदम प्राचीन काल से लेकर अर्वाचीन काल तक दिया गया है. जिसका महत्त्व इतिहास की दृष्टि से सातिशय

है। अकबर के समय ख्यातिप्राप्त मानसिंह से लेकर जयसिंह द्वितीय (आश्रयदाता) तक ध्यातव्य है।

राजवंश का वर्णन—मानसिंह, जगत् सिंह, महासिंह, जयसिंह (मिर्जा महाराजा जयसिंह प्रथम), रामसिंह प्रथम, कृष्णसिह, विष्णुसिह, जयसिंह द्वितीय (१६६६ ई०–१७४४ ई०)। प्रत्येक स्तबक के अन्त मे ग्रन्थकार दो श्लोक देता है जिसमें एक तो उनका परिचायक है और दूसरा उनके आश्रयदाता जयसिंह का, जो इस प्रकार है—

श्रीमद्दिल्लीशसेनोद्भटविकटभटोद्दण्ड-मत्तेभसिंह-
श्चण्डोन्माद्यत्तुरुष्क-क्षुभित-वसुमतीपालने धर्मराजः ।
पौत्रः श्रीकृष्ण-सिंहक्षितिप-कुलमणेर्विष्णुसिंहस्य पुत्रः,
श्रीमान् राजाधिराजो जयहरिरमराधीशवत् कौ सुखी स्यात् ॥

इस पद्य में जयसिंह (सवाई जयसिह) कृष्णसिंह के पौत्र तथा विष्णुसिंह के पुत्र बतलाये गये है। यह ऐतिहासिक तथ्य महत्त्वपूर्ण है, क्योकि कई ग्रन्थों में कृष्णसिंह का नामोल्लेख नही मिलता। जयसिह के प्रभूत दानो का, उज्जयिनी तथा हरिद्वार में सुवर्ण के तुलादानो का वर्णन राजा की उदारता का प्रचुर प्रमापक है। समसामयिक वर्णन होने से यह निर्देश महत्त्व रखता है।

(६) ज्योतिष शास्त्र

काशी मे ज्योतिषशास्त्र की भी परम्परा मध्ययुग मे विशेषरूपेण दृष्टिगोचर होती है। १६वी से लेकर १८वी शती तक तीन सौ वर्षों मे काशी ने महनीय ज्योतिर्विदो को जन्म दिया है जिनकी कृतियाँ अखिलभारतीय ख्याति से मण्डित है। इन दैवज्ञो ने ज्योतिर्विद्या को नये आयाम दिये, नूतन शास्त्रीय ग्रन्थो का प्रणयन किया तथा इसे पूर्ण प्रतिष्ठित किया।

ऐसे दैवज्ञो मे मकरन्द का नाम अग्रगण्य है। इन्होने काशी में ही सूर्यसिद्धान्त के अनुसार तिथ्यादि के साधन के निमित्त अपने नाम से प्रसिद्ध मकरन्द नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। ग्रन्थ मे दी गयी सारणी से इसका आरम्भ १४०० शक से होता है। फलतः यही इसका रचनाकाल है—१४७८ ई०। यदि ग्रन्थ के आरम्भ-काल मे इनका वय चालीस वर्ष माना जाय, तो इनका जन्मकाल १४३८ ई० में अनुमानतः सिद्ध है, इसके ऊपर दिवाकर दैवज्ञ रचित 'विवरण' तथा विश्वनाथकृत 'उदाहरण' प्रकाशित है। पचांग के निर्माण के निमित्त यह महान् उपयोगी है। मध्ययुग में काशी मे महाराष्ट्रीय ब्राह्मणो के अनेक कुल काशीवास करने की दृष्टि से यहाँ आकर निवास करने लगे थे। उनमे अनन्त दैवज्ञ का वंश ज्योतिर्विद्या के उन्नयन तथा प्रचारण मे विशेषरूपेण प्रख्यात हुआ। ये अनन्त दैवज्ञ विदर्भ (वर्तमान बरार) प्रान्त के अन्तर्गत धर्मपुर के निवासी थे। इनके पिता का नाम चिन्तामणि दैवज्ञ था। अपने पुत्र के उल्लेखानुसार इन्होंने दो ग्रन्थो का निर्माण किया था—(१) जातक-पद्धति तथा (२) कामधेनु गणित की टीका। कामधेनु-गणित प्रसिद्ध लेखक बोपदेव के पुत्र महादेव की प्रख्यात रचना है (१३५७ ई०)। इसीके ऊपर अनन्त दैवज्ञ ने अपनी टीका लिखी थी। अपने पुत्र नीलकण्ठ के द्वारा प्रणीत ताजिकनीलकण्ठी की रचना के समय (१५०६ शक = १५८७ ई०) अनन्त जीवित थे। यदि उस समय उनका वय पचास वर्ष हो, तो इनका जन्म १५३७ ई० मे माना जा सकता है।

अनन्त दैवज्ञ के दो पुत्र थे—(१) नीलकण्ठ तथा (२) राम। नीलकण्ठ दैवज्ञ अकबर

बादशाह के दरबार के प्रधान पण्डित थे । इसका उल्लेख इन्हींके पुत्र गोविन्द दैवज्ञ ने मुहूर्तचिन्तामणि की टीका **पीयूषधारा** के आरम्भ मे इस प्रकार किया है—

सीमा मीमासकाना कृतसुकृतचयः कर्कशस्तर्कशास्त्रे
ज्योतिःशास्त्रे च गर्गः फणिपतिभणितिव्याकृतौ शेषनागः ।
पृथ्वीशाकब्बरस्य स्फुरदतुलसभामण्डन पण्डितेन्द्रः
साक्षाच्छ्रीनीलकण्ठः समजनि जगतीमण्डले नीलकण्ठः ॥

गुणग्राही बादशाह अकबर का प्रधान पण्डित होना कोई हँसी खेल की बात नही थी । ऊपर के पद्य मे वे मीमासको मे अग्रगण्य, तर्कशास्त्र मे कर्कश तार्किक, व्याकरण मे पतञ्जलि तथा ज्योतिःशास्त्र मे साक्षात् गर्गाचार्य बतलाये गये है । अकबर के दरबार मे रहते समय नीलकण्ठ ने अरबी ज्योतिष का गम्भीर अध्ययन किया और उसीका परिणत फल था— **ताजिक नीलकण्ठी** का प्रणयन । यह ग्रन्थ फलादेश के लिए ज्योतिषियो का कण्ठहार है । नीलकण्ठ की दूसरी रचना है – **जातक पद्धति** जिसमे ६० श्लोक है और जो मिथिला प्रान्त मे सर्वाधिक प्रसिद्ध है । नीलकण्ठी का रचनाकाल १५०६ शक सवत् (१५८७ ई०) है । उस समय यदि नीलकण्ठ का वय तीस वर्ष का हो, तो इनका जन्मकाल १५३७ ई० अनुमान से प्रतीत होता है ।

नीलकण्ठ के अनुज थे **राम दैवज्ञ** जिनकी रचना **मुहूर्त चिन्तामणि** मुहूर्त विषय मे समस्त भारतवर्ष मे नितान्त लोकप्रिय तथा आदरणीय ग्रन्थरत्न है । रचनाकाल है १५२२ शक – १६०० ई० । इन्होने अकबर बादशाह के कृपापात्र जयपुर नरेश राम नृपति के सन्तोषार्थ **रामविनोद** नामक करण ग्रन्थ का भी प्रणयन किया (१५१२ शाके – १५६० ई०) । राजपूताने मे इस ग्रन्थ का बहुल प्रचार है और वहा के ज्योतिषी इसीके अनुसार पञ्चाङ्ग बनाते है । सुनते है इनकी तीसरी रचना **मन्त्र-प्रकाश** नामक है । अकबर के ही प्रख्यात मन्त्री टोडरमल के प्रसन्नतार्थ इन्होने **टोडरानन्द** नामक ज्योतिष ग्रन्थ का भी निर्माण किया ।

राम दैवज्ञ के ही भ्रातुष्पुत्र **गोविन्द दैवज्ञ** ने अपने पितृव्य राम दैवज्ञ कृत मुहूर्तचिन्तामणि की **पीयूषधारा** टीका का प्रणयन काशी मे ही १५२५ शाके अर्थात् १६०३ ई० मे किया । यह टीका मुहूर्त के विषय मे अनेक उपयोगी तथ्यो का वर्णन प्राचीन आचार्यों के वचनो की सहायता से करती है जिससे टीकाकार की बहुज्ञता का पूरा सकेत मिलता है ।

इसी वश के समान ही बल्लाल ज्योतिषी का कुल भी ज्योतिर्विद्या के उन्नयन तथा उपबृहण के कारण काशीस्थ दैवज्ञो मे सातिशय प्रसिद्ध है । बल्लाल की धर्मपत्नी का नाम गोजि था । बल्लाल स्वय गणक थे एव महादेव शकर के बड़े नैष्ठिक भक्त तथा उपासक थे । इनके पाच पुत्र हुए जिनके नाम है राम, कृष्ण, गोविन्द, रगनाथ और महादेव । इन पञ्चभ्राताओं मे द्वितीय कृष्ण तथा चतुर्थ रगनाथ अपनी अलौकिक प्रतिभा एव ग्रन्थ निर्माण कुशलता के कारण काशी के ज्योतिर्विदो मे मूर्धन्य स्थान पाने के योग्य है ।

कृष्ण दैवज्ञ – इन्होने भास्कराचार्य के बीजगणित की अनेक विशेषताओं से मण्डित **बीजाङ्कुरा** अथवा नवाङ्कुरा नाम्नी महनीय टीका की रचना की । यह टीका आजकल समस्त ज्योतिर्विदो के द्वारा समादृत तथा सम्मानित व्याख्या मानी जाती है । ग्रन्थ के आदि मे अपने गुरु के तथा अन्त मे अपने वश का वर्णन बड़ी सुन्दरता से किया गया है । परन्तु ग्रन्थ के प्रणयन का काल निर्दिष्ट नही है । इनके अनुज के जन्मकाल से इनका अनुमित जन्मसमय १४८७ शाके अर्थात् १५६७ ई० सुधाकर द्विवेदी ने माना है । इन्होने **श्रीपतिपद्धति**

की टीका एवं छादक-निर्णय नामक ग्रन्थों का प्रणयन किया था। रंगनाथ के कथनानुसार ये जहाँगीर बादशाह के दरबार में विश्वस्त पण्डितपद पर अधिष्ठित थे।[१] बीजाङ्कुरा के अन्त में इन्होंने बड़े गर्व से लिखा है कि इस ग्रन्थ के प्रणयन में जो-जो परिश्रम मैंने किया है, उसे परमेश्वर को छोड़ और कौन जान सकता है? अतएव भगवान् की तुष्टि के निमित्त यह ग्रन्थ उन्हींके चरणों में समर्पित है—

यैर्यैः श्रमैर्विरचितोऽस्ति नवाङ्कुरोऽसौ तेषामभिज्ञ इह कः परमात्मनोऽन्यः।
इत्थं विचिन्त्य जगदीश! तवैव तुष्ट्यै सर्वज्ञ ते चरणयोर्निहितस्ततोऽयम्॥

रंगनाथ दैवज्ञ—ये कृष्णदैवज्ञ के तृतीय भ्राता थे। इन्होंने सूर्यसिद्धान्त का 'गूढार्थप्रकाशक' नामक टिप्पण १५२२ शाके – १६०३ ई० में अकबर के राज्य के अन्तिम वर्षों में बनाया। उस समय फिरंगियों (– अंग्रेजों या यूरोप देश के गौरांगों) का वाणिज्य के लिए भारतवर्ष में आना जाना आरम्भ हो गया था। इन्होंने सूर्यसिद्धान्त के गोलाध्याय (यन्त्राधिकार, २२ श्लोक) की टीका में लिखा है 'इय स्वयंवहविद्या समुद्रान्तर्निवासिजनैः फिरङ्गाख्यैः सम्यगभ्यस्तोति।' ग्रन्थ-लेखन के समय यदि इनका वय तीस साल का मान लिया जाय तो इनका जन्म १५७३ ई० के आसपास माना जा सकता है। इस टिप्पण के साथ सूर्यसिद्धान्त कलकत्ते के एशियाटिक सोसाइटी के द्वारा प्रकाशित है।

इनके पुत्र **मुनीश्वर** भी अपने युग के विद्वान् ज्योतिर्विद् थे। इस टिप्पण की रचना के समय ही मुनीश्वर का जन्म हुआ था। इसलिए रङ्गनाथ ने अपने ग्रन्थ को मुनीश्वर का 'सहज' या साथ उत्पन्न होनेवाला भाई कहा है—

गूढप्रकाशकं दृष्ट्वा रङ्गनाथभवं भुवि।
मुनीश्वरस्य सहजं लभन्तां गणकाः सुखम्॥

मुनीश्वर ने भास्कराचार्य के दोनों प्रख्यात ग्रन्थ लीलावती तथा सिद्धान्तशिरोमणि के ऊपर अपनी टीका लीलावती पर **निसृष्टार्थदूती** तथा सिद्धान्तशिरोमणि पर मरीचि[२] नामक व्याख्या लिखी। यह मरीचि प्रमेयों के बाहुल्य, प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण एवं सिद्धान्तों के तर्कयुक्त विवरण के कारण भाष्य नाम से अभिहित किया जाता है। इसके दो खण्ड हैं—पूर्वार्ध की रचना १५५७ शक (– १६३५ ई०) में तथा उत्तरार्ध का निर्माण तीन साल पीछे १५६० शाक (– १६३८ ई०) में हुआ। मुनीश्वर को शाहजहाँ बादशाह का आश्रय प्राप्त था। शाहजहाँ के राज्याभिषेक का ठीक समय हिजरी सन् में यहाँ दिया गया है जो ४ फरवरी १६२८ ई० में सूर्योदय से ३ घड़ी बाद सिद्ध होता है। इन्होंने दो स्वतन्त्र ग्रन्थों का भी प्रणयन किया था—(१) **सिद्धान्तसार्वभौम** (सिद्धान्तज्योतिष का मौलिक ग्रन्थ) स्वोपज्ञ टीका के साथ। ग्रन्थ का रचनाकाल १५६८ शक (१६४६ ई०), टीका का निर्माणकाल १५७२ शक (= १६५० ई०)। (२) **पाटीसार** (पाटीगणित पर स्वतन्त्र ग्रन्थ)।

इन ग्रन्थों में **मरीचिभाष्य** ही मुनीश्वर का सर्वाधिक उत्कृष्ट तथा प्रमेयबहुल ग्रन्थ है। मुनीश्वर भास्कराचार्य के परम भक्त थे। और इसीलिए भास्करविरोधी कमलाकर भट्ट

---

१ सार्वभौमजहाँगीरविश्वासास्पदभाषणम्। यस्य तं भ्रातरं कृष्णं बुधं वन्दे जगद्गुरुम्।
ततः स कृष्णो जहाँगीर-सार्वभौमस्य सर्वाधिगतप्रतिष्ठः।
श्रीभास्करीयं विवृतं तु येन बीजं तथा श्रीपतिपद्धतिः सा॥

—सूर्यसिद्धान्तटिप्पणे

२ पण्डित केदारदत्त जोशी ने अपनी हिन्दी विवृति के साथ इस भाष्य का संस्करण दो भागों में प्रकाशित किया है (हिन्दू विश्वविद्यालय, १९६४ ई०)।

के साथ इनका महान् संघर्ष हुआ था। इस सघर्ष के खण्डन-मण्डन के प्रमापक ग्रन्थों का उल्लेख गणक-तरंगिणी (पृ० ९२) में विस्तार से किया गया है। इतने प्रौढ़ ग्रन्थों की रचना से स्पष्ट है कि मुनीश्वर १७वीं शती के ज्योतिर्विदों में अति उन्नत स्थान के अधिकारी माने जाते थे।

काशी में ही एक अन्य महाराष्ट्रीय ब्राह्मण-कुल ने ज्योतिर्विद्या के सवर्धन में अभूतपूर्व योगदान किया है। इस वंश का मूलस्थान गोदावरी नदी के तट पर अवस्थित गोल नामक ग्राम था। वहीं से आकर यह वंश काशी में निवास करने लगा, इस वंश के ज्योतिर्विदों ने अपना पूरा परिचय दिया है। मूलपुरुष का नाम राम था जो गणक-कार्य में नितान्त दक्ष थे। वंशपरम्परा = राम—भट्टाचार्य—दिवाकर (इन्होंने वेदान्त का अभ्यास कर पुण्यमय शरीर को काशी में ही विसर्जित किया। ये भी गणक थे तथा सम्भवतः अपने मूलस्थान से काशी में निवास करनेवाले प्रथम व्यक्ति थे)- श्रीकृष्ण दैवज्ञ, विष्णु, मल्लारि, केशव तथा विश्वनाथ (पाँच पुत्र)। इनमें से ज्येष्ठ भ्राता श्रीकृष्ण दैवज्ञ के दो पुत्र हुए—(१) नृसिंह तथा (२) शिव दैवज्ञ। इनमें से नृसिंह के चार पुत्र उत्पन्न हुए —(१) दिवाकर, (२) कमलाकर, (३) गोपीनाथ तथा (४) रगनाथ।

इस परिवार के **नृसिंह दैवज्ञ** अपनी प्रतिभा तथा उत्कृष्ट ज्योतिषविषयक वैदुष्य के कारण १७वीं शती के पूर्वार्ध में काशी के दैवज्ञो में नितान्त विश्रुत थे। पचीस वर्ष के वय में इन्होंने सूर्यसिद्धान्त की टीका **सौरभाष्य** का तथा पैतीस साल की उम्र मे भास्कर के सिद्धान्त-शिरोमणि की **वासनावार्तिक** नामक प्रमेय विशेषगर्भित व्याख्या का प्रणयन किया। इनका जन्म १५०८ शक (= १५८६ ई०) मे हुआ। सौरभाष्य का निर्माणकाल है १५३३ शक (१६११ ई०) तथा शिरोमणि वार्तिक का रचना समय १५४३ शक (१६२१ ई०) है। नृसिह दैवज्ञ के ही अनुज **शिव दैवज्ञ** ने ज्योतिष शास्त्र के विशेष अध्यापक होने के नाते अपनी पूरी आयु अध्यापन कार्य मे ही व्यतीत की। इनकी केवल दो रचनाओं का उल्लेख मिलता है—गणित मे 'अनन्तसुधारस' ग्रन्थ की विवृति तथा फलित में **मुहूर्त-चूडामणि** नामक ग्रन्थ। इस फलित ग्रन्थ के आदि में इन्होने अपने वश का विस्तृत वर्णन किया है। इसीके आधार पर इस वश का ऊपर वर्णन किया गया है।[1]

नृसिह दैवज्ञ के ही ज्येष्ठ आत्मज **दिवाकर भट्ट** का जन्म १५२८ शक (= १६०६ ई०) में काशी में हुआ था। इन्होने अपने सुयोग्य पितृव्य शिव दैवज्ञ से ज्योतिर्विद्या का गाढ़ अनुशीलन किया था। ग्रन्थों की रचना करने में इनकी पटुता नितान्त अभिनन्दनीय है—

(१) **पद्धति-प्रकाश** (अपरनाम **पद्मजातक**)—यह जातक पद्धति केशव तथा श्रीपति दैवज्ञ की जातक-पद्धति का अनुसरण करती है। इसके आरम्भ में अपने गुरु एवं पितृव्य शिवभट्ट की यह उदात्त स्तुति उपलब्ध होती है—

श्रीमच्छिवाख्यं गणितज्ञचक्रचूडामणिं सज्जनवृन्दवन्द्यम्।
विदुर्विदो यं धिषणेन तुल्यं तं नौमि नित्यं धिषणाप्तिहेतोः॥

(२) **मकरन्द विवरण** (मुद्रित उपलब्ध होता है)।

(३) **प्रौढ मनोरमा** (केशवरचित पद्धति की टीका), इसका रचनाकाल १५४८ शाके (= १६२६ ई०) उल्लिखित है।

---

१. द्रष्टव्य—गणकतरगिणी, पृ० ८६—८८।

(४) **गणित-तत्त्व-चिन्तामणि** (अपने ही ग्रन्थ पद्धतिप्रकाश की उदाहरणसम्पन्न टीका)।

कमलाकर भट्ट

नृसिंह दैवज्ञ के द्वितीय पुत्र, दिवाकर के अनुज तथा शिष्य प्रख्यात ज्योतिर्विद् कमलाकर भट्ट के जन्ममवत् का उल्लेख नही मिलता। अपने अग्रज एव गुरु दिवाकर भट्ट के जन्म से यदि इनका जन्म दस साल के बाद हुआ हो, तो इनका अनुमित जन्म-काल १६१६ ई० है। इन्होने अपने विश्रुत ग्रन्थ 'सिद्धान्त-तत्त्व-विवेक' का निर्माण ४२ वर्ष के वय में काशी मे ही किया था। सुधाकर द्विवेदी ने लिखा है कि कमलाकर भट्ट ने अपने ग्रन्थ की रवना जिस वर्ष मे की, उस समय इग्लैण्ड में प्रख्यात गणितज्ञ और वैज्ञानिक न्यूटन का वय १६ वर्ष था। इस उल्लेख द्वारा सुधाकरजी दोनों की मौलिक विचारधारा की ओर सकेत करते है।

'मरीचिभाष्य' के निर्माण के बीस नर्ष के बाद कमलाकर भट्ट ने अपने प्रख्यात ग्रन्थ **सिद्धान्त-तत्त्व-विवेक** का प्रणयन किया (१५८० शके = १६५८ ई०)। फलतः ये मुनीश्वर के कनिष्ठ सममामयिक थे। इनका यह ग्रन्थ इस ममय प्रचलित सूर्यसिद्धान्त के अनुसार सौरतत्त्व का विवेचन करनेवाला है। ये सूर्यसिद्धान्त के कट्टर अनुयायी थे और इस कारण उसके विचारों के विरोधी तथा आलोचक ज्योतिर्विदों के ये तीव्र विरोधी थे। कमलाकर भट्ट एक साथ उद्भट एव उद्धत ज्योतिषी थे। ये इतने उद्भट विद्वान् थे कि आलोचकों की दृष्टि में गोल-विषय का इतना बड़ा विशेषज्ञ विद्वान् भारतवर्ष मे दूसरा हुआ ही नही। साथ ही साथ इतने उद्धत थे कि भास्कराचार्य जैसे समन्वयवादी ज्योतिषी को अपशब्द कहने से नही चूकते। सूर्यसिद्धान्त का तनिक भी विरोध इन्हे असह्य था। कमलाकर भट्ट ज्योतिष शास्त्र के इतिहास पर अपनी अमिट छाप छोड़ गये है। इनके लगभग तीस साल पूर्व ही **विट्ठल दीक्षित** ने काशी में रहकर अपने दोनों ग्रन्थों —मुहूर्तकल्पद्रुम तथा इसकी व्याख्या मञ्जरी —का प्रणयन १५४६ शाके (= १६२५ ई०) में किया था।

इन्ही मान्य ज्योतिर्विदों ने काशी मे जिस गणितीय पाण्डित्य की परम्परा स्थापित की उसका पालन इनके बाद होनेवाले काशिकेय पण्डितो ने भलीभाँति किया। १८वी शती के अन्तिम दशक मे काशिराजकीय सस्कृत पाठशाला में ज्योतिषशास्त्र आरम्भ से ही एक स्वतन्त्र विभाग के रूप मे प्रतिष्ठित हुआ। तब से उसका अध्ययन-अध्यापन काशी में मुख्यरूपेण प्रचलित है।

(१०) व्याकरणशास्त्र

वाराणसी व्याकरण का नितान्त प्रख्यात अखाड़ा था जहाँ विद्वानो मे प्राचीन काल से शास्त्रीय तत्त्वों के विषय में शास्त्रार्थ के रूप में मल्लयुद्ध होता आया है और आज भी होता है। पाणिनीय व्याकरण को नया मोड़ देने में काशी के वैयाकरणों को विशेष गौरव दिया जाना सर्वथा समुचित है। व्याकरण के प्रति काशीस्थ पण्डितों की एकान्त निष्ठा का विशेष कारण खोजा जा सकता है।

ईसवी पूर्व द्वितीय शताब्दी में महाभाष्य के रचयिता पतञ्जलि काशी-मण्डल के ही निवासी थे। उनके जीवन-चरित तथा रचनाओं का संक्षिप्त वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

पतञ्जलि

व्याकरणशास्त्र के इतिहास मे पतञ्जलि पाणिनि के पश्चात्, सर्वश्रेष्ठ स्थान के अधिकारी है। 'मुनित्रय' की गणना मे ये अन्तिम मुनि है। शकराचार्य जैसे अनेक अलौकिक विद्वानो ने अनेक भाष्यो की रचना की, परन्तु पतञ्जलि का भाष्य ही 'महाभाष्य' कहलाने का अधिकारी हुआ। आचार्य शकर ने जिस प्रकार अद्वैतवेदान्त को अपनी रचनाओं द्वारा उदात्त तथा उच्चभूमि पर प्रतिष्ठापित किया, उसी प्रकार पतञ्जलि ने पाणिनिव्याकरण को महाभाष्य की रचना द्वारा स्थिरता प्रदान कर प्रतिष्ठित कर दिया।

पतञ्जलि की प्रतिभा अलौकिक तथा बहुमुखी थी। व्याकरणशास्त्र के तो ये पारगत पण्डित थे ही, परन्तु अन्य शास्त्रो पर भी इनका अधिकार कुछ कम नही था। व्याकरणशास्त्र मे पतञ्जलि का कथन अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है। 'उत्तरोत्तर मुनीना प्रामाण्यम्' इस कथन से यह बात सिद्ध हो जाती है।

महाभाष्य के अनुशीलन से पता चलता है कि पतञ्जलि ने जन जीवन का निरीक्षण कितनी सूक्ष्म दृष्टि से किया था। तत्कालीन समाज का चित्रण जिस सूक्ष्मता से इस ग्रन्थ मे किया गया है, वैसा अन्यत्र उपलब्ध नही है। यह नि.सन्देह कहा जा सकता है कि महाभाष्य व्याकरण का चूडान्त ग्रन्थ होने के अतिरिक्त पतञ्जलिकालीन समाज का विश्वकोश है।

जीवन-चरित - पतञ्जलि शेषनाग के अवतार थे, यही बात सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इनके जीवन चरित के विषय मे हमारा ज्ञान नगण्य है। परन्तु द्रविड देश के सुकवि रामभद्र दीक्षित जो सोलहवी शताब्दी मे उत्पन्न हुए थे ने **पतञ्जलि-चरित** नामक काव्य मे महाभाष्यकार के जीवन के विषय मे कुछ नवीन तथ्यो की उद्भावना की है। उनके मत से शकराचार्य के दादा गुरु आचार्य गौडपाद भाष्यकार पतञ्जलि के शिष्य थे, परन्तु यह नही कहा जा सकता कि यह तथ्य परम्परा से कितना पुष्ट है। इधर उनमे प्राचीन विद्यारण्य स्वामी ने अपने 'शकरदिग्विजय' मे शकराचार्य के गुरु गोविन्दपादाचार्य को पतञ्जलि का रूपान्तर माना है। इस उल्लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि पतञ्जलि का सम्बन्ध अद्वैत वेदान्त के सम्प्रदाय से आचार्यों ने जोडा है। इसका कारण यह भी प्रतीत होता है कि शब्दब्रह्म के प्रतिपादक पतञ्जलि शब्दाद्वैतवादी थे। शब्द मे ही सृष्टि होती है और शब्द मे ही सृष्टि का विलय होता है। इसी शब्दाद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक होने मे पतञ्जलि को अद्वैतवादी सम्प्रदाय से सम्बद्ध किया गया है।

पतञ्जलि का समय महाभाष्य के अन्तरग अनुशीलन से पतञ्जलि के समय का निर्धारण किया जा सकता है। पतञ्जलि ने पुष्यमित्र मे स्वय यज्ञ कराने का उल्लेख किया है और इस क्रिया को वर्तमानकालिक बतलाया है पुष्यमित्र काण्व वश का सस्थापक ब्राह्मण राजा था जिसने विजय के उपलक्ष्य मे अनेक अश्वमेध यज्ञ किये थे। पतञ्जलि ने इसी यज्ञ की ओर सकेत किया है। यह घटना ईसवी पूर्व द्वितीय शताब्दी के उत्तरार्ध मे घटित हुई थी। इसी प्रकार लङ् लकार की व्याख्या मे उनका कहना है कि लोक विज्ञात परोक्ष के लिए—जो प्रयोक्ता के दर्शन का विषय हो सकता है—लङ् का प्रयोग होता है। इसके उदाहरण मे उन्होने 'अरुणत् यवनः साकेतम्' तथा अरुणत् यवनो माध्यमिकाम्' का उल्लेख किया है। यह यवन आक्रामक 'मिनाण्डर' था जो बौद्ध हो जाने पर 'मिलिन्द' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पजाब तथा अफगानिस्तान पर वह १४२ ई० पू० के आसपास शासन करता था। अतः इन उदाहरणो के आधार पर महाभाष्य की रचना का काल ई० पू० द्वितीय शताब्दी का मध्यभाग

अथवा १५० ई० पू० स्वीकार किया जा सकता है। इसलिए पतञ्जलि का समय इन उल्लेखों के आधार पर ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी निश्चित रूप से माना जा सकता है।

पतञ्जलि का देश

पण्डित युधिष्ठिर मीमासक ने पतजलि को काश्मीर देश का निवासी बतलाया है। परन्तु यह मत नितान्त असत्य तथा निर्मूल है। महाभाष्य की अन्तरग समीक्षा करने पर उनके देशकाल का पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है।

पतजलि भारत के उत्तरप्रदेश के पूर्वी अचल से पूर्णतया परिचित ज्ञात होते है। इनका प्रतिनिधि व्यक्ति 'देवदत्त' नाम का है जिसको सम्बोधित कर कोई अन्य पुरुष कहता है कि जानते हो देवदत्त ! मै कश्मीर जाऊँगा और वहाँ जाकर सत्तू पीऊँगा या खाऊँगा। उस व्यक्ति को कश्मीर जाने की बड़ी उत्कण्ठा हो रही है। यदि पतंजलि कश्मीर के निवासी होते तो ऐसी बाते नही लिखते। पतजलि ने देवदत्त को दही भात खाने का शौकीन बतलाया है। वह सातू पीने का भी अभ्यासी है। मगध प्रदेश के सुगन्धित शालि का, व्रीहि तथा नीवार आदि चावलो के विभिन्न प्रकारो का उल्लेख महाभाष्य मे पाया जाता है। दधि के साथ मिलाकर सातू पीने तथा गुड की चाशनी से पकाया गया भूँजा धान 'गुडधाना' (तिलकुट) खाने तथा ब्राह्मणभोजन में दही परोसने का वर्णन पतजलि ने अपने महाभाष्य में भूरिश किया है। इतना ही नहीं, पतजलि ने जिन मुहावरो का प्रयोग किया है वे भी पूर्वाञ्चल मे ही प्रयुक्त होते है। महाभाष्य में लिखित इन सब वर्णनो के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पतजलि काशी-मण्डल के ही निवासी थे, कश्मीर के निवासी कदापि नही थे।[१]

रचना—पतञ्जलि की एकमात्र रचना महाभाष्य है जो उनकी कीर्ति को अमर बनाने के लिए पर्याप्त है। दर्शन-शास्त्र के इतिहास में जो स्थान शकराचार्य के ब्रह्मसूत्रो पर लिखित शारीरक भाष्य का है, सभवतः वही स्थान व्याकरण-शास्त्र के इतिहास म महाभाष्य का है। महाभाष्य का महत्त्व केवल इसी बात से जाना जा सकता है कि अन्य शास्त्रो के ऊपर अनेक विद्वानो तथा मनीषियो ने जो व्याख्याग्रन्थ लिखे है वे केवल भाष्य के नाम से अभिहित होते है, परन्तु पतञ्जलि का यह ग्रन्थ महाभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। पतजलि ने इस ग्रन्थ की रचना कर पाणिनिव्याकरण की प्रामागिकता पर अपनी अन्तिम मुद्रा (सील) लगा दी है (यथोत्तर मुनीना प्रामाण्यम्) इस कथन के आधार पर पाणिनिव्याकरण के शकास्थलो पर पतजलि ही अन्तिम प्रमाण (एथारिटी) है। इसीलिए महाभाष्य का नाम व्याकरण-शास्त्र मे बड़े ही आदर तथा श्रद्धा के साथ लिया जाता है।

महाभाष्य अष्टाध्यायी के सूत्रों की व्याख्या न होकर उसके वार्तिकों का भी बृहत् व्याख्यान है। पतजलि से पूर्व अनेक वैयाकरणों ने अष्टाध्यायी के ऊपर वार्तिकों का निर्माण किया जिनमें कात्यायन तथा सुनाग के वार्तिक मुख्य थे। इन सभी आचार्यों के मतों की यथार्थ समीक्षा कर खण्डन-मण्डन के द्वारा पतंजलि ने अपनी विशिष्ट इष्टियों की उद्भावना की। महाभाष्य व्याकरण-शास्त्र का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमे व्याख्यान के द्वारा व्याकरण-दर्शन के सिद्धान्तों का विस्तार से निरूपण किया गया है। पतंजलि के सिद्धान्तो के आधार पर ही भर्तृहरि ने अपने 'वाक्यपदीय' नामक ग्रन्थ का प्रासाद प्रतिष्ठित किया तथा नागेश भट्ट ने अपनी 'मजूषा' के निमित्त सिद्धान्त-रत्नों का सकलन किया। महाभाष्य की वर्णन-शैली इतनी सुबोध तथा प्रसादमयी है कि इसके तथ्यों को हृदयंगम करने में विशेष

१. इस विषय के विशेष विवरण के लिए देखिए—आचार्य बलदेव उपाध्याय सं० शा० इ०, पृ ४४-६०।

प्रयास की आवश्यकता नहीं होती। यह ग्रन्थ व्याकरण-शास्त्र के सिद्धान्तों का ही आकर नहीं है, अपितु निखिल शास्त्रों के तथ्यों की प्रतिपादिका महनीय कृति है।

महाभाष्य की दूसरी विशेषता यह है कि यह तत्कालीन सामाजिक प्रथाओं, रीति-रिवाज, रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा आदि का विश्वकोश है। पतंजलि ने अपने समय के समाज का जो सर्वाङ्गीण तथा सटीक चित्रण किया है वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। व्याकरण जैसे शुष्क विषय के प्रतिपादक ग्रन्थ में इतनी रोचक तथा तथ्यपूर्ण सामग्री की उपलब्धि पाठकों को आश्चर्यान्वित कर देती है। किम्बहुना, पतञ्जलि की पैनी दृष्टि से लोक में बहुशः प्रयुक्त होनेवाले मुहावरे भी ओझल नहीं हो पाये है। एक-दो उदाहरण ही यहाँ पर्याप्त हैं—

(१) द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति।

(२) बुभुक्षित न प्रतिभाति किञ्चित्।

(३) आम्रान् पृष्टः कोविदारान् आचष्टे।

(पूछा आम बतावे इमली)

रामचन्द्राचार्य

मध्ययुग मे काशी पाणिनीय व्याकरण के उपबृंहण में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। १४वीं शती से लेकर १८वी शती तक के समय को व्याकरण के इतिहास में स्वर्णयुग माना जाना चाहिए और इस सुवर्णयुग के लाने का श्रेय काशी के ही वैयाकरणों को प्राप्त है। इस युग के प्रख्यात वैयाकरण **रामचन्द्राचार्य** ने (१३५० ई०-१४०० ई०) 'प्रक्रियाकौमुदी' नामक अपनी विश्रुत रचना के द्वारा व्याकरण के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात किया। प्रयोगानुसारी क्रम में अष्टाध्यायी के सूत्रों को विषय-क्रम से बांधना रामचन्द्राचार्य की नई सूझ है। इन्होंने इस ग्रन्थ के निर्माण में कातन्त्र का तथा बोपदेवीय व्याकरण का भी सहानुभूति से उपयोग किया है। फलतः इस घटना से इनकी उदार वृत्ति का हमें परिचय मिलता है। इस प्रक्रियाकौमुदी पर दो विद्वानों ने व्याख्याएँ लिखी जिनमें एक हैं—ग्रन्थकार के ही पौत्र विट्ठल जिनकी व्याख्या का नाम 'प्रसाद' है और दूसरे हैं— उस युग के पारगामी वैयाकरण **शेषकृष्ण** जिनकी टीका का नाम 'प्रकाश' है।[1]

रामचन्द्राचार्य 'प्रक्रियाकौमुदी' के रचयिता के रूप में समधिक प्रसिद्ध हैं। इनके पौत्र का नाम विट्ठल था जिन्होंने 'प्रक्रियाकौमुदी' पर 'प्रसाद' नाम्नी वृत्ति का निर्माण किया। विट्ठल ने इस वृत्ति के प्रारम्भ मे तथा अन्त में अपने वश का विस्तृत वर्णन दिया है। इस वर्णन के आधार पर इनके वंश का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया जा सकता है।

रामचन्द्राचार्य का वंश भी आन्ध्र देश से सम्बद्ध था। इस वंश की उपाधि 'शेष' थी जिसे ये लोग अपने नाम के पूर्व में लिखा करते थे। ये कौण्डिन्य-गोत्री ऋग्वेदी ब्राह्मण थे। रामचन्द्राचार्य के पिता का नाम कृष्णाचार्य था। ये अपने पिता के कनिष्ठ पुत्र थे। ये सार्वभौम विद्वान् थे तथा चतुर्दश विद्याओं का अध्यापन करते थे जिनमें पतञ्जलि का महाभाष्य भी सम्मिलित था।

इन्होंने तीन ग्रन्थों का प्रणयन किया था जिनके नाम हैं—(१) प्रक्रियाकौमुदी, (२) काल-निर्णय-दीपिका तथा (३) वैष्णव-सिद्धान्त-दीपिका। इन्होंने अपने ज्येष्ठ पितृव्य गोपालाचार्य

१. प्रसाद का प्रकाशन बम्बई से हुआ था और—प्रकाश का प्रथम प्रकाशन संस्कृत विश्वविद्यालय के द्वारा काशी से हुआ है। सं० २०३३ विक्रमी, वाराणसी। दो भाग प्रकाशित हैं। तृतीय भाग यन्त्रस्थ है।

तथा पूज्य पिता कृष्णाचार्य से अनेक शास्त्रो का अध्ययन किया था। अतः ये दोनो ही इनके गुरु थे।

प्रक्रियाकौमुदी—यह रामचन्द्राचार्य का सबसे प्रसिद्ध तथा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। रामचन्द्र ने अपने इस ग्रन्थ मे महाभाष्य तथा काशिका के कतिपय श्लोको को उद्धृत किया है। प्रक्रिया शैली का प्राचीन ग्रन्थ होने के कारण प्रक्रियाकौमुदी का महत्त्व अत्यधिक है। इसकी सबसे बडी विशेषता यह है कि भट्टोजि दीक्षित ने इसी ग्रन्थ से प्रेरणा तथा प्रोत्साहन प्राप्त कर अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'सिद्धान्तकौमुदी' का निर्माण किया। यह तथ्य इन दोनो ग्रन्थो की तुलना से नितान्त स्पष्ट है।

प्रक्रियाकौमुदी का उद्देश्य लोकव्यवहार मे प्रयुक्त शब्दो की साधुता की परीक्षा करना है। इसके फलस्वरूप रामचन्द्राचार्य ने एक सौ से अधिक अपाणिनीय प्रयोगो—जिनका लोक मे व्यवहार होता है—को सिद्ध करने की सुन्दर व्यवस्था की है। इन्होने लोक व्यवहार को दृष्टि मे रखकर पाणिनि से विभिन्न वैयाकरणो के भी मतो को प्रक्रियाकौमुदी मे सगृहीत किया है। इस प्रकार रामचन्द्राचार्य का पाणिनितत्र मे अन्य वैयाकरणो के मतो का सन्निवेश करना इनका भट्टोजिदीक्षित के सिद्धान्तो से स्पष्ट पार्थक्य सिद्ध कर रहा है।[1]

शेष श्रीकृष्ण

रामचन्द्राचार्य के अनन्तर काशी के वैयाकरणो मे सर्वाधिक ख्याति प्राप्त करनेवाले शेषश्रीकृष्ण नृसिह के पुत्र थे। 'शेष' इनकी उपाधि थी जिसे ये अपने नाम के पूर्व लिखा करते थे। इन्होने प्रक्रियाकौमुदी पर 'प्रकाश' नाम की व्याख्या लिखी है। यह व्याख्या बडी ही विशद तथा विस्तृत है। शेषश्रीकृष्ण ने प्रक्रियाकौमुदी की अपनी वृत्ति को 'सत्-प्रक्रिया-व्याकृत' नाम दिया है परन्तु यह 'प्रकाश' के नाम से ही विशेष प्रसिद्ध है। भट्टोजि दीक्षित इन्ही शेषकृष्ण के व्याकरण शास्त्र के शिष्य थे, तथापि अपनी 'प्रौढमनोरमा' मे 'प्रक्रिया-प्रकाश' मे उपन्यस्त अपने गुरु के मत के खण्डन करने से वे कथमपि पराङ्मुख नही हुए। ऐसे अनेक स्थल उपलब्ध होते है जहाँ दीक्षित ने शेषकृष्ण के मत का खण्डन अपने ग्रन्थो मे किया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने शेषकृष्ण के पुत्र शेष वीरेश्वर से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था। अतएव अपने गुरु के पूज्य पिता के ग्रन्थ मे भट्टोजि दीक्षित के द्वारा प्रदर्शित दोषो की कल्पना उनके लिए असह्य हो उठी और इसलिए उन्हे बाध्य होकर 'प्रौढमनोरमा' का खण्डन लिखना पड़ा था। इस प्रकार शिष्य के द्वारा अपने गुरु के मत के खण्डन को महान् अपराध मानकर पण्डितराज जगन्नाथ ने भट्टोजि दीक्षित को 'गुरुद्रोही' की अपमानजनक उपाधि प्रदान की थी। इन्होने 'मनोरमा-कुच-मर्दन' नामक अपने व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थ को लिखकर दीक्षित के प्रत्याख्यानो का बुरी तरह से खण्डन किया है और शेष कृष्ण के मूल आशय को बडी ही प्रौढता के साथ प्रतिपादित कर उनके मत का मण्डन किया है। शेषकृष्ण के पौत्र तथा शेष वीरेश्वर के पुत्र **चक्रपाणि दत्त** या **शेष चक्रपाणि** ने 'प्रौढ मनोरमाखण्डन' लिखकर प्रक्रिया-प्रकाश के दूषणो का प्रत्याख्यान पूर्व मे ही किया था। इन्होने 'प्रक्रिया-दीपक' नामक एक अन्य ग्रन्थ भी बनाया था।

प्रक्रियाप्रकाश—शेष वंश के प्रख्यात विद्वान् शेषकृष्ण ने इस विस्तृत तथा पाण्डित्यपूर्ण

---

१ विशेष द्रष्टव्य—डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र रचित प्रक्रियाकौमुदी विमर्श (प्रकाशक, सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी)।

टीका का प्रणयन किया है। ये अकबर के समकालीन थे। अकबर के प्रसिद्ध मंत्री बीरबल के पुत्र कल्याण को व्याकरण सिखाने के लिए उन्हीके आदेश से इन्होने यह व्याख्या लिखी थी। शेषकृष्ण शेषनृसिंह के पुत्र थे और १६वी शताब्दी के वैयाकरणो मे प्रधान थे। शेषकृष्ण ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ मे अपने आश्रयदाता राजा बीरबल के वंशवृक्ष का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किया है।

प्रक्रिया-प्रकाश के अतिरिक्त इन्होने अनेक काव्य तथा नाटको की भी रचना की है जिनका उल्लेख निम्नलिखित है—

(क) कंसवध नाटक, (ख) पारिजातहरण चम्पू, (ग) शब्दालंकार, (घ) पदचन्द्रिका, (ङ) कृष्णकौतूहल, जो पदचन्द्रिका का विवरण है।

भट्टोजि दीक्षित

पाणिनीय व्याकरण के क्षितिज मे भट्टोजि दीक्षित एक प्रकाशमान नक्षत्र के समान है। ये व्याकरण के अद्वितीय विद्वान् थे। संस्कृतव्याकरण के प्रचार तथा प्रसार मे इन्होने जितना अद्भुत योगदान दिया है उतना संभवतः अन्य किसी वैयाकरण ने नही। पाणिनीय व्याकरण के सबसे लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सिद्धान्त-कौमुदी' की रचना कर इन्होने एक नये सम्प्रदाय की स्थापना की। यह ग्रन्थ व्याकरण शास्त्र के इतिहास मे मूलग्रन्थ के रूप मे माना जाता है। दीक्षितजी का यह ग्रन्थ इतना प्रसिद्ध हुआ कि बाद के अनेक वैयाकरणो के लिए इस ग्रन्थ की टीका टिप्पणी लिखना ही उनके पाण्डित्य की कसोटी माना जाने लगा।

भट्टोजि दीक्षित केवल व्याकरण शास्त्र के ही प्रकाण्ड तथा दुर्धर्ष विद्वान् नही थे अपितु धर्मशास्त्र मे भी अनेक ग्रन्थो की रचना कर इन्होने अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है। दीक्षितजी की दूसरी विशेषता यह थी कि इनकी एक नही, बल्कि कई पीढ़ियाँ संस्कृत व्याकरण की सेवा मे निरन्तर संलग्न रही। दीक्षित के पुत्र भानुजि दीक्षित तथा इनके पौत्र एवं भानुजि के पुत्र हरि दीक्षित भी व्याकरण के तलस्पर्शी विद्वान् थे और इन लोगो ने अपनी प्रौढ रचनाओं के द्वारा व्याकरण शास्त्र के भण्डार को भरा है।

भट्टोजि दीक्षित ने जहाँ एक ओर अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'सिद्धान्त-कौमुदी' की रचना कर व्याकरण के पठन-पाठन मे [illegible] सम्प्रदाय की स्थापना की, [illegible] अपने पुत्र पौत्रा तथा शिष्यमण्डली द्वारा [illegible] भण्डार की वृद्धि कर [illegible] व्याकरण शास्त्र के इतिहास मे भट्टोजि दीक्षित और उनके परिवार [illegible] अलौकिक योगदान दिया है उतना सम्भवतः अन्य किसी व्यक्ति ने नही। [illegible] व्याकरण शास्त्र मे [illegible] रूप से अधिकारी है

देशकाल —भट्टोजि दीक्षित आन्ध्रप्रदेश के निवासी थे ये तैलंग ब्राह्मण थे। ये महाराष्ट्रीय नहीं थे, जैसा कि सामान्य लोगो का असामान्य विश्वास है। इनके कुल को व्याकरण शास्त्र के पारंगत तथा प्रकाण्ड विद्वानो को उत्पन्न करने का श्रेय प्राप्त है। इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर भट्ट और भ्राता का नाम रंगोजि भट्ट था। इनके पुत्र भानुजि दीक्षित थे जिन्होने सन्यास लेकर अपना नाम 'रामाश्रम' रखा था। इनके पौत्र हरि दीक्षित के नाम से प्रसिद्ध थे तथा भ्रातुष्पुत्र कौण्ड भट्ट नाम से।

भट्टोजि दीक्षित व्याकरण, धर्मशास्त्र, वेदान्त और मीमांसा आदि अनेक शास्त्रो के पारंगत पण्डित थे। [illegible] के व्याख्याकार [illegible] व्याकरण तथा धर्मशास्त्र

का अध्ययन किया था। वेदान्त का पाठ नृसिहाश्रम से पढ़ा था जिनकी 'तत्त्वविवेक' नामक टीका पर इन्होंने स्वयं 'विवरण' नाम्नी टीका लिखी थी। मीमासा-शास्त्र का अध्ययन इन्होने दक्षिण भारत के भ्रमण के अवसर पर अप्पय दीक्षित से किया था। दीक्षितजी ने वेदान्त और धर्मशास्त्र के विषय में अनेक मौलिक तथा टीका-ग्रन्थो की रचना की है परन्तु वैयाकरण के रूप मे ही इनकी प्रसिद्धि लोकविश्रुत हुई। इन्होने 'सिद्धान्त-कौमुदी' की रचना से पूर्व अपने अनेक ग्रन्थो का प्रणयन काशी मे ही किया था। इन्होने अष्टाध्यायी की महनीय व्याख्या 'शब्द-कौस्तुभ' के नाम से लिखी जो आज अपूर्ण रूप मे ही मिलती है।

दीक्षितजी ने सिद्धान्त-कौमुदी पर स्वय ही **प्रौढ़मनोरमा** नामक प्रथम व्याख्या लिखी थी। ये खण्डन मण्डन मे रस लेनेवाले पण्डित थे। इसलिए न्याम, पदमजरी तथा काशिका का इनके द्वारा किया गया खण्डन विद्वानो को आश्चर्य मे डाल देता है। परन्तु इससे भी अधिक आश्चर्यजनक बात विद्वानो के लिए यह है कि इन्होने अपने ही गुरु शेषकृष्ण द्वारा रचित 'प्रक्रिया-प्रकाश' के मतो का अपनी 'प्रौढ़मनोरमा' मे पदे-पदे प्रचुर खण्डन किया है। ये वैयाकरणो के द्वारा स्थापित मतो का खण्डन करने मे बद्धपरिकर थे। पूर्व वैयाकरणो के सिद्धान्तो का खण्डन करने मे ये गौरव का अनुभव किया करते थे तभी ये कहा करते थे कि कैयट से लेकर आज तक के विद्वानो के ग्रन्थ शिथिल ही है। भट्टोजि दीक्षित का व्याकरण-शास्त्र-सबन्धी वैदुष्य नितान्त स्पृहणीय तथा आदरणीय था – इस विषय मे दो मत हो ही नही सकते। इनकी सिद्धान्त-कौमुदी के अध्ययन की अखिलभारतीय परम्परा रही है और आज भी है। इस प्रकार दीक्षितजी व्याकरण शास्त्र मे एक परम्परा के प्रतिष्ठापक के रूप मे प्रतिष्ठित पाये जाते है।

भट्टोजि दीक्षित के आविर्भाव-काल के विषय मे विद्वानो मे ऐकमत्य नही है, परन्तु अनेक हस्तलेखो के आधार पर इनके समय का निर्णय किया जा सकता है। विद्वानो ने इनके समय को १५६० ई० से १६१० ई० के बीच मे स्वीकार किया है।[1]

भट्टोजि दीक्षित के ग्रन्थ

दीक्षितजी ने व्याकरण, धर्मशास्त्र, वेदान्त और मीमासा विषयो मे अनेक ग्रन्थो की रचना की है परन्तु इनकी कीर्तिकौमुदी को प्रकाशित करनेवाली इनकी व्याकरणशास्त्र सबन्धी रचनाएं ही है, इन्होंने व्याकरण सबन्धी निम्नलिखित ग्रन्थो की रचना की-

(१) शब्दकौस्तुभ, (२) सिद्धान्तकौमुदी, (३) प्रौढ़मनोरमा, (४) धातुपाठ-निर्णय तथा (५) लिङ्गानुशासन-वृत्ति।

इनमे से प्रथम तीन ग्रन्थ दीक्षितजी की शास्त्रीय वैदुषी के प्रतिष्ठापक ग्रन्थ है जिनके ऊपर इनकी कीर्ति प्रतिष्ठित है। **शब्दकौस्तुभ** का उल्लेख सिद्धान्तकौमुदी के अन्त–उत्तर कृदन्त— मे किया गया है।[2] अतः यह ग्रन्थ सिद्धान्तकौमुदी के निर्माण से प्रथम ही विरचित हो गया था। शब्दकौस्तुभ व्याकरण-शास्त्र का बड़ा ही प्रौढ़ तथा व्यापक ग्रन्थ है। परन्तु यह तृतीय अध्याय के चतुर्थ आह्निक तक ही लिखा गया था। यह ग्रन्थ अष्टाध्यायी की ही विस्तृत वृत्ति है परन्तु महाभाष्य मे प्रतिपाद्य विषयो का भी समीक्षण तथा परिबृहण करने के कारण यह महाभाष्य का भी विवेचक ग्रन्थ माना जाता है। इसके विषय मे दीक्षितजी ने स्वय लिखा

---

१ इसके विस्तृत विवरण के लिए देखिये—बलदेव उपाध्याय : सस्कृत शास्त्रो का इतिहास, पृ० ५०२-३।

२ इत्थ लौकिक-शब्दाना दिङ्मात्रमिह दर्शितम्। विस्तरस्तु यथाशास्त्र दर्शितः शब्दकौस्तुभे॥

है कि "महाभाष्यरूपी समुद्र से उद्धृत किया गया यह कौस्तुभमणि है"।[1] इस प्रकार दीक्षितजी स्वयं इस ग्रन्थ को महाभाष्य के सिद्धान्तों का सार मानते हैं।

प्रौढ़-मनोरमा—भट्टोजि दीक्षित ने अपनी सिद्धान्तकौमुदी पर स्वयं प्रौढ़ मनोरमा नाम की विशद तथा विस्तृत व्याख्या का निर्माण किया। इस ग्रन्थ में खण्डन-मण्डन का प्राचुर्य है। भाष्य के ऊपर इनकी महती आस्था है। फलतः इसी ग्रन्थ को केन्द्र-बिन्दु मानकर अपने व्याकरण-शास्त्र के गुरु शेषकृष्ण द्वारा रचित प्रक्रिया-प्रकाश ग्रन्थ में निहित मतों का खण्डन करने से ये पराङ्मुख नहीं हुए। शेषकृष्ण के मतों के इस खण्डन से उनके पक्षधर पण्डितों का क्षुब्ध होना स्वाभाविक ही है। इसलिए शेषकृष्ण के पौत्र तथा शेषवीरेश्वर के पुत्र शेषचक्रपाणि ने **परमत-खण्डन** लिखकर तथा शेष वीरेश्वर के शिष्य पण्डितराज जगन्नाथ ने **मनोरमा-कुच-मर्दन** लिखकर क्रमशः अपने पितामह तथा गुरु के खण्डन का मुँहतोड़ उत्तर दिया।

सिद्धान्त-कौमुदी—यह प्रक्रिया-पद्धति का चूडान्त अध्यवसाय है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह पाणिनीय व्याकरण का सबसे अधिक लोकप्रिय तथा लोकमान्य ग्रन्थ है। यह प्रक्रिया-पद्धति का प्रतिष्ठापक ग्रन्थ है। इसी ग्रन्थ को मूलभूत मानकर संस्कृतव्याकरण का अध्ययन-अध्यापन समस्त भारत में होता रहा है और आज भी होता है।

सिद्धान्त-कौमुदी में अष्टाध्यायी के समग्र सूत्र तत्तत् प्रकरणों में सन्निविष्ट कर दिये गये हैं। इसमें समस्त सूत्रों की संख्या ३९९२ है। यह ग्रन्थ अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों का प्रक्रियानुसारी संकलन है। यही इसकी लोकप्रियता का प्रधान कारण है। आज भी सिद्धान्त-कौमुदी संस्कृतव्याकरण के विद्वानों तथा विद्यार्थियों का उपजीव्य तथा मूल ग्रन्थ माना जाता है।

सिद्धान्त-कौमुदी प्रक्रिया-पद्धति का मूलभूत ग्रन्थ होने से अनेक विद्वानों ने इस पर टीका तथा व्याख्या-ग्रन्थों की रचना की है। कौमुदी के सबसे प्राचीन टीकाकार हैं ज्ञानेन्द्र सरस्वती जिनकी तत्त्वबोधिनी टीका प्रौढ़मनोरमा पर आश्रित होने के कारण अत्यन्त प्रख्यात तथा प्रामाणिक मानी जाती है। दूसरी लोकप्रिय तथा छात्रोपयोगी व्याख्या **बालमनोरमा** है जिसके लेखक वासुदेव दीक्षत हैं।

इतर ग्रन्थ—दीक्षितजी ने व्याकरण के अतिरिक्त धर्मशास्त्र तथा वेदान्तशास्त्र के ग्रन्थों का भी प्रणयन किया है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या लगभग ३४ (चौंतीस) है। धर्मशास्त्र के विषय में इनके ग्रन्थ हैं आशौच-प्रकरण, तिथि-निर्णय तथा लघु त्रिस्थलीसेतु। वेदान्त-शास्त्र-संबन्धी इनके निम्न ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—(१) वेदान्ततत्त्वकौस्तुभ, (२) दीपन-व्याख्या, (३) अद्वैत-कौस्तुभ और (४) तत्त्व-सिद्धान्त-चन्द्रिका। इनके इतर कुछ ग्रन्थों के नाम हैं—(क) तन्त्राधिकार-निर्णय, (ख) वेदभाष्यसार, (ग) तत्त्व-सिद्धान्त-दीपिका और (घ) तैत्तिरीय सन्ध्याभाष्य। इन ग्रन्थों की रचना से पता चलता है कि भट्टोजि दीक्षित की प्रतिभा बहुमुखी थी और वे अनेक शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित तथा तलस्पर्शी विद्वान् थे।

भट्टोजि दीक्षित का परिवार

भट्टोजि दीक्षित स्वयं तो व्याकरण तथा धर्मशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे ही। उन्होंने अपने पुत्र और पौत्र के रूप में संस्कृत-साहित्य को जो रिक्थ प्रदान किया वह अलौकिक तथा

---

१. फणि-भाषितभाष्याब्धेः शब्दकौस्तुभ उद्धृतः।

अनुपमेय है। इतना ही नहीं, इनके भ्राता तथा भ्रातुष्पुत्र ने भी संस्कृत-साहित्य के भाण्डार को भरा है।

(१) रङ्गोजि भट्ट—ये भट्टोजि दीक्षित के सहोदर भ्राता थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ में भट्टोजि को अपना गुरु माना है। अतः इससे पता चलता है कि ये उनके अनुज थे। रङ्गोजि भट्ट अद्वैत वेदान्त के विद्वान् थे। इस विषय में इनकी तीन रचनाएँ उपलब्ध होती हैं—

(क) **अद्वैत-चिन्तामणि** तथा (ख) **अद्वैत-सारोद्धार**। अद्वैतचिन्तामणि दो परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में न्याय वैशेषिक के पदार्थों का विस्तृत खण्डन है तथा द्वितीय में अद्वैत वेदान्त के तत्त्वों का यथाविधि विवरण प्रस्तुत किया गया है। इनका तीसरा ग्रन्थ (ग) **ब्रह्मसूत्रवृत्ति** है जिसका निर्देश कौण्ड भट्ट ने अपने वैयाकरणभूषण में किया है।

(२) भानुजि दीक्षित—ये भट्टोजि दीक्षित के पुत्र थे। इनका दूसरा नाम वीरेश्वर दीक्षित था। संन्यास ग्रहण करने पर ये रामाश्रम के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्होंने भी अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है जिनमें अमरकोश की टीका व्याख्या-सुधा—जो रामाश्रमी के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध है—विद्वत्ता के कारण बड़ी प्रामाणिक मानी जाती है। धर्मशास्त्र के सम्बन्ध मे इनका ग्रन्थ **दानविवेक** प्रसिद्ध है। व्याकरण-शास्त्र-सम्बन्धी इनकी **मनोरमामण्डन** नामक रचना विद्वत्तापूर्ण है जिसमें शेषचक्रपाणि के 'परमतखण्डन' का खण्डन कर भट्टोजि दीक्षित के मत का मण्डन किया गया है।

(३) कौण्ड भट्ट—रङ्गोजि भट्ट के पुत्र तथा भट्टोजि दीक्षित के भ्रातुष्पुत्र कौण्ड भट्ट ने व्याकरण तथा न्याय-वैशेषिक पर अनेक ग्रन्थों की रचना की है। इनका **वैयाकरण-भूषण** तथा **वैयाकरण-भूषण-सार** नामक ग्रन्थ पाणिनिव्याकरण के दार्शनिक तथ्यों के प्रकाशक ग्रन्थ-रत्नों में अन्यतम हैं। इन ग्रन्थों के हस्तलेखों से पता चलता है कि इनका प्रणयन १६५० ई० से पूर्व ही हो गया था। **न्याय-पदार्थ-दीपिका** (अथवा पदार्थ-दीपिका) में कौण्ड भट्ट ने वैयाकरण-भूषण और तर्करत्न नामक अपने ग्रन्थों का उल्लेख किया है। फलस्वरूप पदार्थ-दीपिका की रचना वैयाकरणभूषण के बाद की घटना है। इनके अन्य ग्रन्थ **तर्कप्रदीप** तथा **तर्करत्न** हैं। इस प्रकार ये व्याकरण के अतिरिक्त न्यायशास्त्र के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। कौण्ड भट्ट ने अपने पिता के एक शास्त्रार्थ का संकेत किया है जिसमें उन्होंने माध्व-सम्प्रदाय के मान्य यतिवर्य बडेरु को शास्त्रार्थ में परास्त कर द्वैत-मत का खण्डन किया। फलतः वे अद्वैतवेदान्त के प्रबल समर्थक तथा मर्मज्ञ विद्वान् थे। 'वैयाकरण भूषण' के अन्त में घटना का उल्लेख इस प्रकार है—

विद्याधीशवडेरुसंज्ञकयतिं श्रीमाध्वभट्टारकं
जित्वा केलदिवेङ्कटप्यसविधेऽप्यान्दोलिकां प्रासवान्।
यश्चक्रे मुनिवर्यसूत्रविवृतिं सिद्धान्तभङ्गं तथा
माध्वानां, तमहं गुरूपमगुरुं रङ्गोजिभट्टं भजे॥

इस पद्य में केलदि के शासक वेङ्कटप्पा का भी नाम है जिससे इन्होंने विजय के पारितोषिक रूप में पालकी (आन्दोलिका) प्राप्त की। ब्रह्मसूत्रविवृति का एवं माध्वों के सिद्धान्त भंग करने का इस श्लोक का निर्देश रङ्गोजि भट्ट को अद्वैतवेदान्त का विशिष्ट विद्वान् सिद्ध कर रहा है।

कौण्ड भट्ट के द्वितीय ग्रन्थ वैयाकरण-भूषण-सार की काशिका वृत्ति के लेखक थे काशीवासी केशव दीक्षित के पुत्र हरिराम दीक्षित काले जिन्होंने १८५४ संवत्सर (१७९७

ईस्वी) मे काशी मे ही इस काशिका का प्रणयन किया। इसका उल्लेख टीका के अन्त मे मिलता है। **वनमाली मिश्र** की **वैयाकरणमतोन्मज्जिनी** टीका लघुकाय होने पर भी बड़ी उपादेय है। **लघुभूषणकान्ति** नामक एक अन्य टीका का भी हस्तलेख मिलता है। इस टीका-सम्पत्ति से 'वैयाकरण-भूषण-सार' की लोकप्रियता का परिचय मिलता है।[1]

(४) हरि दीक्षित— ये भट्टोजि दीक्षित के पौत्र तथा भानुजि दीक्षित के पुत्र थे। ये अपने समय के प्रौढ़ वैयाकरण माने जाते थे। नागोजि भट्ट जैसे प्रकाण्ड विद्वान् का गुरु होने का गौरव इन्हे प्राप्त है। इन्होने 'शब्दरत्न' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया जो भट्टोजि दीक्षित की प्रौढ़ मनोरमा की टीका है। इस ग्रन्थ मे इन्होने अपने पितामह के इस ग्रन्थ के खण्डन करनेवाले विद्वानो के मतो का खण्डन कर उनके मत का विस्तारपूर्वक मण्डन किया है। शब्द रत्न के दो सस्करण उपलब्ध होते है (१) लघु शब्द रत्न तथा (२) बृहत् शब्द रत्न। पण्डितो की मान्यता यह है कि लघु शब्द रत्न का निर्माण नागेजि भट्ट ने ही किया था परन्तु अपने पूज्य गुरु हरि दीक्षित के नाम से इसे प्रचारित किया। इस ग्रन्थ की दो टीकाएँ उपलब्ध होती है (१) श्री वैद्यनाथ पायगुण्डे की 'भाव प्रकाशिका' तथा (२) भैरव मिश्र की 'रत्न प्रकाशिका'। इस प्रकार हरि दीक्षित ने अपने पितामह भट्टोजि दीक्षित की कीर्ति को अक्षुण्ण बनाने तथा विद्वत् परम्परा को प्रवाहित रखने मे प्रचुर योगदान दिया।[2]

नागेश भट्ट

इन्हे नव्यव्याकरण के प्रतिष्ठापक होने का गौरव प्राप्त है। ये हरि दीक्षित के प्रमुख तथा पट्ट शिष्य थे। काशी मे ही रहकर इन्होने अपने समस्त ग्रन्थो की रचना की। अन्त मे इन्होने क्षेत्र-सन्यास ले लिया था जिसके कारण जयपुर (राजस्थान) के सस्थापक महाराजा सवाई जयसिंह के द्वारा निमन्त्रित होने पर भी ये उनके विश्रुत अश्वमेध यज्ञ मे सम्मिलित न हो सके। यह प्रख्यात अश्वमेध आषाढ़ बदी द्वितीया स १७९९ वि० (१७४२ ई०) मे जयपुर मे सम्पन्न हुआ था। अतएव नागेश भट्ट का समय १७वी शताब्दी का अन्तिम चरण तथा १८वी शती का पूर्वार्द्ध (अर्थात् १६७५ ई० से लेकर १७४५ के लगभग) समझना चाहिए।

नागेश भट्ट महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम शिव भट्ट और माता का नाम सती देवी था। इनका उपनाम काले था अतः महाराष्ट्रीय परम्परा के अनुसार इनका पूरा नाम नागेश शिव भट्ट काले था। प्रयाग के समीपस्थ शृंगवेरपुर (वर्तमान सिंगरौर) के राजा इनके आश्रयदाता थे जिनका उल्लेख इन्होने इस प्रकार किया है—

याचकानां कल्पतरोररिकक्षहुताशनात्। शृङ्गवेरपुराधीशाद् रामतो लब्धजीविकः ॥

ये नाना शास्त्रो के प्रौढ़ विद्वान् थे। इन्होने साहित्य, धर्मशास्त्र, कर्मकाण्ड, तन्त्र तथा व्याकरण आदि विषयो पर अपनी लेखनी चलाई परन्तु इनकी कीर्ति का मेरुदण्ड व्याकरण-शास्त्र ही है। ये मुख्यतः वैयाकरण थे और उनकी व्याकरण सम्बन्धी रचनाएँ नागेश के गम्भीर पाण्डित्य, अलौकिक शास्त्र-वैदुष्य तथा दृढ़ तर्क-निपुणता का परिचय देती है। व्याकरण-शास्त्र मे इनके द्वारा रचित मान्य ग्रन्थ है (१) **वैयाकरण-सिद्धान्तमञ्जूषा** जो लघुमञ्जूषा और

---

१ वैयाकरण-भूषण तथा काशिका व्याख्या सवलित वैयाकरण-भूषण-सार का विशद सस्करण अंग्रेजी मे विशद टिप्पणियो के साथ प कमलाशकर त्रिवेदी के द्वारा सम्पादित होकर बम्बई से प्रकाशित है, १९१५ ई०।

२ भट्टोजि दीक्षित तथा उनके परिवार के विशेष तथा प्रामाणिक विवरण के लिए देखिए—आचार्य बलदेव उपाध्याय 'सस्कृत-शास्त्रो का इतिहास' (काशी), पृ० ५०१–५१२।

परमलघुमञ्जूषा के नाम से दोनों सस्करणों में उपलब्ध है। (२) **परिभाषेन्दुशेखर**, (३) **लघुशब्देन्दुशेखर**। इसका परिवर्धित सस्करण बृहत्शब्देन्दुशेखर के नाम से तीन बृहत् भागों मे संस्कृतविश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है। (४) **महाभाष्य-प्रदीपोद्द्योत** — जो महाभाष्य के ऊपर कैयट के प्रदीप की टीका है। इन चारो ग्रन्थो का प्रभाव अवान्तरकालीन वैयाकरणो के ऊपर इतना अधिक है कि प्राचीन व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थो को छोड़कर इन्ही ग्रन्थो मे व्युत्पत्ति लाभ करना आजकल वैदुष्य का निकषग्रावा माना जाता है। अतः व्याकरण-सम्प्रदाय के आधुनिक काल को 'शेखर युग' कहना कथमपि अत्युक्ति नहीं है।

ग्रन्थ-परिचय

(१) **वैयाकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषा** का विषय व्याकरण के दार्शनिक तत्त्वो का तुलनात्मक अनुशीलन तथा मार्मिक विवेचन है। व्याकरण केवल शब्दरूपो की सिद्धि करनेवाला ही सामान्य शास्त्र नही है, अपितु धात्वर्थ, कारकार्थ, समासार्थ, नाना स्फोट पदार्थ, सृष्टि तत्त्व आदि गम्भीर तत्त्वो का विवेचक विशिष्ट शास्त्र है, अनेक विषयो के विवेचन मे न्याय वैशेषिक तथा जैमिनीय मीमासा से विपरीत सिद्धान्त का समर्थक होने मे नागेश भट्ट ने व्याकरणागम के सिद्धान्तो का बडी प्रौढ़ता के साथ इस मञ्जूषा मे उपन्यास किया है। वाक्यपदीय के अनन्तर एक सहस्र वर्षों के बाद ऐसे महनीय ग्रन्थरत्न की सृष्टि नागेश के लोकातीत वैदुष्य का प्रबल प्रमाण है।

(२) **परिभाषेन्दुशेखर** पाणिनीय तन्त्र के लिए उपयोगी एव स्वीकृत परिभाषाओं के स्वरूप का विवेचक यह ग्रन्थ नि सन्देह अप्रतिम है। इसकी टीका सम्पत्ति इसके महत्त्व की भूरिशः परिचायिका है।

(३) **लघुशब्देन्दुशेखर** प्रौढ़मनोरमा की विस्तृत व्याख्या होने के साथ ही साथ नवीन सिद्धान्तो का विद्योतक होने के कारण निःसन्देह यह मौलिक ग्रन्थ है। 'बृहत्शब्देन्दुशेखर' का निर्माण कर नागेश ने अपने मस्तिष्क की उर्वराशक्ति का तथा अपने लेखनकौशल का बडा ही प्रगल्भ प्रदर्शन किया है।

(४) **महाभाष्यप्रदीपोद्द्योत** यह पातञ्जल महाभाष्य के प्रमुख व्याख्याकार काश्मीर-निवासी कैयटरचित व्याख्यानप्रदीप के गूढ़ अर्थ को प्रकाश मे लानेवाला महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। ये चारो ही ग्रन्थ नागेश के उत्कृष्ट एव गम्भीर विवेचन के साक्षात् परिचायक है।

नागेश का वैशिष्ट्य

नागेश का वैदुष्य व्याकरण शास्त्र मे अनुपम था। अपने प्रौढ़ ग्रन्थो की रचना के कारण वे अपने युग मे भी प्राचीन शास्त्रो के मर्मवेत्ता तथा विशिष्ट वैदुष्य मण्डित पण्डित माने जाते थे। उद्द्योत के द्वारा महाभाष्य के तथा शब्देन्दुशेखर (बृहत् तथा लघु द्विविध सस्करण) के द्वारा प्रौढ़-मनोरमा के गम्भीर रहस्यों की पूर्ण अभिव्यक्ति करने में वे सर्वथा समर्थ है — इस विषय में विद्वानों में ऐकमत्य है। परिभाषेन्दुशेखर में उन्होंने विशेष अनुशीलन के द्वारा परिभाषाओं के स्वरूप तथा क्षेत्र का विशिष्ट प्रतिपादन कर विषय को नवीनता के साथ उपस्थित किया। आज के व्याकरण-युग को 'शेखर-युग' की संज्ञा देना नितान्त समुचित है। शेखर इतना छाया हुआ है आज हमारे व्याकरण-अनुशीलन पर कि इसके मूलभूत ग्रन्थ

महाभाष्य का अध्ययन-अध्यापन नगण्य हो गया है। आज शेखर की विजय नागेश के पाण्डित्य का ही डिण्डिम-घोष है।

परन्तु यथार्थ मे नागेश का **वैयाकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषा** ही सर्वाधिक मौलिक ग्रन्थ है जो पाणिनीय दर्शन के विस्मृत स्वरूप को विद्वानो के सामने पूर्णवैभव के साथ प्रस्तुत करने में कृतकार्य हुआ है। व्याकरण-दर्शन का बीज तो अष्टाध्यायी मे ही है, उसे अकुरित किया दाक्षायण व्याडि ने अपने लक्ष-श्लोक-परिमाणवाले 'सग्रह' मे, उसे पल्लवित-पुष्पित किया पतञ्जलि ने महाभाष्य मे और उसे फल-सम्पन्न बनाया भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में। परन्तु वाक्यपदीय के लुप्तप्राय अध्ययन तथा अनुशीलन को १८वी शती के मध्य-भाग मे नागेश भट्ट ने सिद्धान्त-मञ्जूषा के द्वारा पुनः प्रवर्तित किया और वैयाकरणो का ध्यान इस विषय की ओर बलात् आकृष्ट किया। व्याकरण के दर्शनत्व की प्रतिष्ठा की ओर नागेश के समस्त वैदुष्य की धारा अग्रसर होती है। उन्होने वाक्यपदीय के अध्ययन की ओर विद्वानो का जो ध्यान आकृष्ट किया, वह क्षणिक ही रहा। उसे स्थायिता प्राप्त न हो सकी। यह सौभाग्य का विषय है कि विद्वानो की दृष्टि आजकल वाक्यपदीय के गम्भीर तथा सर्वाङ्गीण अनुशीलन के प्रति आकृष्ट हुई है। इस प्रसग मे ध्यान देने की बात है कि भर्तृहरि ने पाणिनीय तन्त्र के दार्शनिक तथ्यो की अवगति के लिए व्याकरण आगम की ओर स्पष्ट सकेत किया है। यह आगम शैव आगम की ही अन्यतम धारा थी। आज शैव आगम की विभिन्न धाराओं के तथ्यो से हमारा परिचय बढ़ता जा रहा है। उत्तर भारत मे काश्मीर का अद्वैतवादी त्रिकदर्शन तथा दक्षिण भारत मे द्वैतवादी शैवसिद्धान्त उसी शैवागम के ऊपर आधारित दार्शनिक सम्प्रदाय है। व्याकरण-दर्शन का भी इस शैवागम के साथ पूर्ण सम्बन्ध है—भर्तृहरि ने अपने ग्रन्थ मे इसका विशद सकेत किया है। इस शैवागम के साथ पूर्ण सामजस्य स्थापित कर ही व्याकरण-दर्शन अपनी विशद अभिव्यक्ति कर सकता है। नागेश के ग्रन्थो मे इस शैवागम के सिद्धान्तो के साथ व्याकरण का कितना सामजस्य स्थापित किया गया है—यह तो उनके ग्रथो के गम्भीर अनुशीलन-अध्ययन के बाद ही निश्चित किया जा सकता है। परन्तु आलोचको के चित्त मे यह सन्देह जागरूक है कि नागेश ने शैवागम की अपेक्षा अद्वैत-वेदान्त के प्रकाश मे ही पाणिनीय दर्शन की व्याख्या प्रस्तुत की है। लगभग एक सहस्र वर्षों के अनन्तर वाक्यपदीय के महत्त्व की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए पण्डित-समाज नागेश भट्ट का सर्वदा अधमर्ण रहेगा और नागेश की सार्वभौम प्रतिष्ठा का यही मर्म है।

नागेश की गुरु-शिष्य-परम्परा

नागेश भट्ट ने महाभाष्य का अध्ययन भट्टोजि दीक्षित के पौत्र **हरि दीक्षित** से किया था तथा न्यायशास्त्र का अध्ययन रामराम भट्टाचार्य से किया था जो काशी में उस युग के प्रख्यात तर्कवेत्ता थे। नागेश को अपने गुरु पर असीम श्रद्धा थी और श्री रामराम की अनुकम्पा से न्यायशास्त्र के अपने गम्भीर ज्ञान पर भी उन्हें सविशेष गर्व था। इस तथ्य का सकेत उन्होंने लघुमञ्जूषा में इन शब्दों में स्वय किया है—

अधीत्य फणिभाष्याब्धिं सुधीन्द्र-हरिदीक्षितात्।
न्यायतन्त्रं रामरामाद् वादिरक्षोघ्नरामतः॥
'दृढस्तर्केऽस्य नाभ्यास' इति चिन्त्यं न पण्डितैः।
दृषदोऽपि हि संतीर्णाः पयोधौ रामयोगतः॥

इन दो गुरुओं के अतिरिक्त इनके अन्य गुरु का परिचय हमें प्राप्त नहीं है।

इनके अनेक शिष्य रहे होगे, यह कल्पना अनुचित नही है, परन्तु इन शिष्यो मे अग्रणी थे — **वैद्यनाथ पायगुण्डे** । इन्होने अपने गुरु के प्रायः समग्र वैयाकरण-ग्रन्थो के ऊपर गुरु की मर्मप्रकाशिका व्याख्याएँ लिखी है जिनमे नागेश के भावो का विशद विशदीकरण है । इनके पिता का नाम महादेव भट्ट था । गुरु के समान ही वैद्यनाथ भी व्याकरण के पारगामी पण्डित थे । इनके नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ ये है—(१) शब्दकौस्तुभ की टीका (**प्रभा**), (२) शब्दरत्न की टीका (**भाव-प्रकाशिका**), (३) उद्द्योत की टीका (**छाया**), (४) लघुशब्देन्दुशेखर की टीका (**चिदस्थिमाला**), (५) परिभाषेन्दु की टीका (**गदा और काशिका**), (६) मञ्जूषा की टीका (**कला**), (७) लघुशब्दरत्न की टीका तथा (८) र प्रत्यय का खण्डन । ये टीकाएँ प्रमेय-बहुल, प्रख्यात तथा प्रकाशित है ।

(११) काव्य तथा अलंकार-शास्त्र

ललित काव्य के सर्जन तथा उसके समालोचन एव समीक्षण के प्रति भी काशी के पण्डितो की अभिरुचि कुछ न्यून नही थी । इनकी अनेक रचनाओं को अखिलभारतीय कीर्ति प्राप्त है तथा ये अपने विषय के प्रसिद्ध एव बहुचर्चित ग्रन्थ है । ऐसे ग्रन्थो मे पण्डितराज जगन्नाथ का 'रस गगाधर' तथा विश्वेश्वर पाण्डेय का 'अलकार-कौस्तुभ' अपने प्रौढ़ तार्किक विवेचन तथा गम्भीर आलोचना के कारण अलकार-साहित्य के इतिहास मे अनुपम स्थान रखते है ।

पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ अलकार शास्त्र के इतिहास मे सबसे प्रसिद्ध तथा अन्तिम प्रौढ़ आलकारिक थे । ये तैलग ब्राह्मण थे । इनके पिता का नाम पेरुभट्ट एव माता का नाम लक्ष्मी देवी था । पण्डितराज अप्पय दीक्षित के समकालीन थे । इनके पिता ने वेदान्त की शिक्षा ज्ञानेन्द्र भिक्षु से, न्याय-वैशेषिक की महेन्द्र पण्डित से, पूर्वमीमासा की खण्डदेव से तथा व्याकरण की शिक्षा शेष वीरेश्वर से ली थी । पण्डितराज ने इन विषयो का अध्ययन अपने पिता से तथा अपने पिता के ही एक गुरु वीरेश्वर से किया था ।

इनके विषय मे अनेक किवदन्तियॉ सुनी जाती है । दिल्ली के तत्कालीन बादशाह शाहजहाँ ने इन्हे **पण्डितराज** की उपाधि से विभूषित किया था । ये कुछ दिनो तक शाहजहॉ के ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह को सस्कृत पढ़ाते थे । अपने जगदाभरण' काव्य मे इन्होने दाराशिकोह की प्रशसा की है । कहा जाता है कि गगालहरी का पाठ करते समय स्वय गगा बढ़ती चली गईं और काशी मे इन्होने गगा की गोद मे प्रवेश किया ।

इन्होने अपना यौवन-काल दिल्ली के बादशाह शाहजहॉ की छत्रछाया मे व्यतीत किया जैसा स्वय इनके उल्लेख से ज्ञात होता है—

दिल्ली-वल्लभ-पाणिपल्लवतले नीत नवीन वयः ।

ये परम वैष्णव थे । भगवान् विष्णु की स्तुति मे इनके सरस पद्यो को पढ़कर कोई भी आलोचक इनकी अहैतुकी भक्ति से प्रभावित ुए बिना नही रह सकता । काशी इनकी जन्मभूमि न होते हुए भी कर्मभूमि अवश्य थी ।

समय—बादशाह शाहजहाँ तथा दाराशिकोह का समकालीन होने के कारण पण्डितराज का समय भलीभाँति निश्चित किया जा सकता है । इन्होने शाहजहाँ की प्रशसा मे अपना एक पद्य रस-गगाधर मे दिया है । दारशिकोह की प्रशसा मे इन्होने अपना सम्पूर्ण

काव्य 'जगदाभरण' लिखा है। शाहजहाँ के दरबार के एक सरदार आसफ खाँ की मृत्यु के दुःख में इन्होने 'आसफ विलास' नामक ग्रन्थ लिखा था। इन सब उल्लेखो से इनका काल सत्रहवी (१७) शताब्दी का मध्यभाग सिद्ध होता है।

ग्रन्थ – पण्डितराज जगन्नाथ ने अनेक काव्य ग्रन्थो की रचना की है जिनमे 'भामिनी विलास', गगा-लहरी, करुणा लहरी, अमृत लहरी, लक्ष्मी लहरी, आसफ विलास, जगदाभरण, प्राणाभरण, सुधा लहरी, यमुनावर्णन चम्पू प्रसिद्ध है। भट्टोजि दीक्षित की प्रौढ मनोरमा के खण्डन के लिए इन्होने 'मनोरमा कुच मर्दन' नामक व्याकरणशास्त्र के ग्रन्थ की भी रचना की थी।

रसगंगाधर—अलकार जगत मे पण्डितराज का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ रसगगाधर है। यह ध्वन्यालोक तथा काव्यप्रकाश के समान ही प्रामाणिक ग्रन्थ है यह अधूरा होने पर भी नितान्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। रसगगाधर पाण्डित्य का निकषग्रावा समझा जाता है। पण्डितराज ने इस ग्रन्थ मे पाण्डित्य तथा वैदग्ध्य का अद्भुत सम्मिश्रण प्रस्तुत किया है। इनकी आलोचना निष्पक्ष होती थी और खण्डन के अवसर पर विलक्षण तीव्रता दिखलाती थी। इन्होने मम्मट और आनन्दवर्धन की भी आलोचना करने मे कोई सकोच नही किया, परन्तु अप्पय दीक्षित के मत का इन्होने विशेष खण्डन किया है। दीक्षित के 'चित्र मीमासा' नामक अलकार ग्रन्थ के खण्डन के लिए ही इन्होने 'चित्र मीमासा खण्डन' की रचना की

रसगगाधर की केवल दो टीकाए उपलब्ध है जिनमे नागेश भट्ट कृत **गुरुमर्म-प्रकाशिका** ही अब तक प्रकाशित हुई है रसगगाधर की दूसरी टीका का भी पता चला है जिसका नाम 'विषमपदी' है। परन्तु यह अब तक अप्रकाशित है। इसके ऊपर सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय ने हाल मे ही नैयायिकप्रवर पण्डित बदरीनाथ ओझा की **रसचन्द्रिका** नाम्नी प्रौढ व्याख्या (दो भागो मे) प्रकाशित की है ओझा जी न्याय के निष्णात विद्वान् थे। फलतः रसगगाधर की नैयायिक ग्रन्थियो के उद्घाटन का सफल प्रयास इस व्याख्या को महत्त्व प्रदान कर रहा है।

विश्वेश्वर पाण्डेय

विश्वेश्वर पाण्डेय अल्मोडा जिला के अन्तर्गत पाटिया ग्राम के पाण्डेय थे। इनका समय १८वी शताब्दी का प्रारम्भ निश्चित रूप मे माना जाता है (१७०० ई०)। ये अपने समय के एक मूर्धन्य विद्वान् थे। इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर था जिनका उल्लेख इन्होने अपने ग्रन्थो के अन्त मे किया है। पिता ने काशी आने पर मणिकर्णिकाघाट के पास सन्तानार्थ पार्थिव-पूजन करना आरम्भ किया। तीन वर्षों के भीतर इन्होने कोटिलिंग (एक करोड पार्थिव लिंग) का अर्चन किया। पूजा के फलस्वरूप सातवे मास मे ही उनकी स्त्री गर्भिणी बनी। बालक का नाम काशी विश्वेश्वर के नाम पर 'विश्वेश्वर' रखा गया। ये अलकारशास्त्र, काव्य तथा न्यायशास्त्र के प्रौढ विद्वान् थे। इनका व्याकरण का प्रौढ ग्रन्थ **व्याकरण-सिद्धान्त-सुधानिधि** महाभाष्यानुसारी अष्टाध्यायी व्याख्या है जिसके तीन अध्याय मुद्रित है तथा अन्तिम पाँच अध्याय जम्मू के रणवीर पुस्तकालय मे हस्तलेख रूप मे है। इसमे भट्टोजि दीक्षित का बहुशः उल्लेख मिलता है।

काव्यग्रन्थो में रोमावलीशतक तथा आर्यासप्तशती (७६४ आर्याये) मुख्य है। इनमे साहित्यिक चमत्कार, रसस्निग्धता एव अभिरामता दर्शनीय है।

(१) अलंकार-कौस्तुभ विश्वेश्वर पण्डित का यह सबसे प्रसिद्ध तथा उत्कृष्ट ग्रन्थ है। अलकारकौस्तुभ पण्डितराज की शैली मे निबद्ध अलकार-शास्त्र का अन्तिम प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसकी महती विशेषता है अलकारो के स्वरूप का प्रामाणिक विवेचन जिसमें स्थान स्थान पर अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज के मतो का बडी युक्ति के साथ खण्डन किया गया है। इनका पाण्डित्य बड़ा व्यापक था। ये साहित्य के अतिरिक्त न्याय तथा व्याकरण के भी अद्वितीय पडित थे। इनके अलकार सम्बन्धी अन्य ग्रन्थो के नाम है

(२) **अलंकारमुक्तावली**, (३) **रसचन्द्रिका**, (४) **अलंकार प्रदीप** तथा (५) **कवीन्द्रकण्ठाभरण**। यह चित्रकाव्य का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण है।

मन्दारमञ्जरी—कादम्बरी की शैली मे निबद्ध इनका अभिराम प्रौढ गद्यकाव्य है। इसमे लौकिक पदार्थों के साथ ही साथ शास्त्रीय विषयो का भी प्रतिपादन किया गया है। यही इसका साहित्यिक वैशिष्ट्य है।

शृंगारमञ्जरी शौरसेनी तथा महाराष्ट्री प्राकृतो मे निबद्ध सट्टक (प्राकृत-भाषामयी नाटिका) है। सस्कृत साहित्य मे इने गिने सट्टको मे यह अपना स्थान बनाये हुए है।

दीधितिव्याख्या—प्रौढ नैयायिक ग्रन्थ है जिसमे तत्त्वचिन्तामणि की प्रख्यात व्याख्या दीधिति की टीका की गई है।

तारा सहस्रनामव्याख्या तान्त्रिक ग्रन्थ है जिसमे भगवती तारा के सहस्रनामों की व्याख्या की गई है। अन्तिम दोनो अप्रकाशित ग्रन्थ विश्वेश्वर पाण्डेय की नैयायिक तथा तान्त्रिक वैदुषी के उज्ज्वल प्रतीक है। ये अभी तक अप्रकाशित है, परन्तु इनमे पूर्वनिर्दिष्ट ग्रन्थ मुद्रित तथा प्रकाशित होकर विद्वानो के अध्ययन के लिए सुलभ है।

अनन्त पण्डित

अनन्त पण्डित का मूलस्थान गोदावरी नदी के किनारे पुण्यस्तम्भ नामक नगर था। परन्तु बाद मे ये काशी मे आकर निवास करने लगे थे। इन्होने भानुदत्त की 'रस-मजरी' पर व्यङ्ग्यार्थकौमुदी नामक टीका काशी मे ही रहते समय स० १६६२ वि० (१६३६ ई०) में की थी। इसके अतिरिक्त इन्होने गोवर्धन की सप्तशती के ऊपर भी टीका लिखी है जो 'काव्यमाला' मे मूल ग्रन्थ के साथ प्रकाशित हो चुकी है। इन दोनो की रचना काशी में ही की गई थी।

श्रीहर्ष

काशी के कवियो मे मूर्धन्य स्थान है श्रीहर्ष का जो सस्कृत-साहित्य के प्रथम श्रेणी के महाकवि थे और इसके साथ ही एक अति उत्कृष्ट प्रकाण्ड दार्शनिक भी थे। इनमें पाण्डित्य और वैदग्ध्य का अनुपम सम्मिलन था। ये जिस प्रकार हृदय-कलिका को प्रफुल्लित करनेवाली स्वभाव मधुरा कविता लिखने में नितान्त दक्ष थे, उसी प्रकार मस्तिष्क को आश्चर्यान्वित करनेवाली, पण्डित-समाज का मद चूर्ण करनेवाली तर्क कर्कशा वाणी के गुम्फन में भी अत्यन्त प्रवीण थे। जिस श्रीहर्ष ने काव्यकला के अनुपम शृंगारभूत नैषधीय काव्य की रचना की, उसी श्रीहर्ष ने प्रखर पाण्डित्य के चूडान्त निदर्शनरूप 'खण्डन खण्ड खाद्य' की भी सृष्टि की। जिस श्रीहर्ष ने अपनी मनोहारिणी कविता के कारण कश्मीर देश में अपनी विमल कीर्तिपताका फहराई, उन्हींने जयचन्द्र के दरबार में अपने पूज्य पिता को परास्त करनेवाले मानी तार्किक-प्रकाण्ड उदयन का भी मद चूर्ण कर डाला।

श्रीहर्ष केवल कवि-पण्डित ही नही थे, अपितु एक प्रचण्ड साधक तथा उत्कृष्ट योगी भी थे। गुरु से दीक्षा लेकर श्रीहर्ष ने चिन्तामणि-मन्त्र को सिद्ध किया था जिससे प्रसन्न होकर भगवती सरस्वती ने इन्हें अलौकिक प्रतिभा प्रदान की थी। अपने योगी होने के बारे में उन्होंने स्वय लिखा है कि वे समाधि मे ब्रह्मानन्द का आस्वादन किया करते थे।

श्रीहर्ष कान्यकुब्ज-नरेश जयचन्द्र की सभा मे विद्यमान थे जिसका उल्लेख उन्होने स्वय बड़े आदर के साथ किया है। ये नरेश गहड़वाल कहलाते थे। इनकी राजधानी कन्नौज थी परन्तु बाद मे इन्होने काशी को ही अपनी राजधानी बनाया। जयचन्द्र ने तथा उसके पिता विजयचन्द्र ने मिलकर सन् ११५६ ई० से लेकर ११९३ ई० तक शासन किया। अतः श्रीहर्ष का समय बारहवी शताब्दी का उत्तरार्ध है।

ग्रन्थ —महाकवि श्रीहर्ष ने अनेक ग्रन्थो की रचना की है जिनके नाम है—(१) स्थैर्य-विचारण-प्रकरण, (२) विजय प्रशस्ति, (३) खण्डन खण्ड-खाद्य, (४) गौडोर्वीश-कुल-प्रशस्ति, (५) छिन्दप्रशस्ति, (६) नवसाहसाकचरित चम्पू तथा (७) नैषधीय चरित। परन्तु ये सस्कृत-साहित्य मे अपनी अन्तिम रचना —नैषधीय चरित- के लिए ही प्रख्यात है। यह महाकाव्य २२ लम्बे-लम्बे सर्गों मे विभक्त है जिसमे कुल मिलाकर २८३० श्लोक है। इस महाकाव्य मे नल और दमयन्ती की कथा का वर्णन किया गया है।

श्रीहर्ष कवि होने के अतिरिक्त एक बहुत बडे दार्शनिक थे जिसका पता इनके खण्डन-खण्ड-खाद्य नामक ग्रन्थ से चलता है। स्वय नैषधीय चरित मे भी इनकी दर्शन-शास्त्र सम्बन्धी विद्वत्ता सर्वतोभावेन दिखाई पडती है। अपने महाकाव्य के १७वे सर्ग मे इन्होने अनेक दार्शनिक सम्प्रदायो की कलि के द्वारा खिल्ली उडाई है। इन वर्णनो मे पद-पद पर इनकी दार्शनिकता दिखाई पडती है।

समीक्षा-- श्रीहर्ष की कवि प्रतिभा अत्यन्त उच्चकोटि की है। परन्तु कालिदास की प्रसाद गुण विशिष्ट शैली और रस-भावमयी पद्धति से उसकी तुलना कथमपि नही की जा सकती। श्रीहर्ष अलकृंत शैली के सर्वश्रेष्ठ कवि है। ये शृगार काव्य के प्रवीण रचयिता है। शृगार के दोनो पक्षो —सयोग और वियोग का वर्णन इन्होने बडे घटाटोप के साथ किया है परन्तु इसमे हृदय पक्ष का अभाव है और कला पक्ष की ही प्रधानता है। नैषधीयचरित के चतुर्थ सर्ग मे वियोग का वर्णन अवश्य किया गया है परन्तु वह मस्तिष्क का पोष करता है, मन का तोष नही।

अलकारो मे श्रीहर्ष श्लेष, यमक और अनुप्रास के विशेष प्रेमी ज्ञात होते है। श्लेष की पराकाष्ठा वहाँ दिखाई पडती है जहाँ एक ही श्लोक मे पचनली का पृथक् वर्णन एकाकार शब्दावली मे किया गया है। श्रीहर्ष वैदर्भी रीति के कवि है जिसकी प्रशसा इन्होने स्वय की है। प्रकृति-वर्णन मे भी इन्होने जो लोक व्यवहार से अप्रस्तुत विधान का सग्रह किया है वह अवश्य ही अत्यन्त सुन्दर हुआ है।

श्रीहर्ष अपने अलौकिक पाण्डित्य के लिए जितने प्रसिद्ध है उतने ही अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा, विलक्षण वर्णन-चातुरी तथा रसमयी अनूठी उक्तियो के लिए भी विख्यात है। नैषध कलात्मक काव्य का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है एव 'बृहत-त्रयी' का यह अन्तिम तथा श्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है। इनके सम्मुख भारवि और माघ सब फीके पड जाते है। अतः यह ठीक ही कहा है—

तावद् भा भारवेर्भाति, यावन्माघस्य नोदयः ।
उदिते नैषधे काव्ये, क्व माघः क्व च भारविः ॥

लोष्टदेव

लोष्टक या लोष्टदेव का **दीना-क्रन्दन-स्तोत्र** भक्तिरस से स्निग्ध हृदय के भावों की मधुर अभिव्यक्ति करनेवाला नितान्त रमणीय स्तोत्र है। ये कल्हण के समकालीन कश्मीरी कवि थे। 'श्रीकण्ठचरित' के अन्तिम सर्ग से लोष्टदेव तथा इनके पूज्य पिता रम्यदेव का पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है। **रम्यदेव** काश्मीर के महान् अध्यात्म-चिन्तक वेदान्ती थे जो अपने छात्रों के सरक्षण तथा शिक्षण दोनो के लिए कल्पवृक्ष के समान थे। इनके पुत्र लोष्टदेव अपने जीवन की सन्ध्या में सन्यासी बनकर वाराणसी मे रहते थे। इसी समय इन्होंने बाबा विश्वनाथ की स्तुति मे एक स्तोत्र की रचना की थी जिसका 'दीना-क्रन्दन' अभिधान दीनता की अभिव्यक्ति तथा सरस भावो की विज्ञप्ति के कारण सर्वथा समुचित है।

पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ का विशेष परिचय अलकारशास्त्र के प्रसग मे दिया जा चुका है। ये अपने समय के बडे ही उच्च कोटि के विद्वान् तथा सरस कवि थे। ये परम वैष्णव थे जिसका परिचय वृद्धावस्था मे मथुरा मे निवास के अतिरिक्त उनकी भक्तिमयी कविताओं से विशेष रूप से मिलता है।

सस्कृत-साहित्य मे पण्डितराज अपने सम्बन्ध मे कही गई अभिमानपूर्ण गर्वोक्तियो के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है। भवभूति तथा श्रीहर्ष के समान इनमे भी आत्माभिमान की मात्रा अत्यधिक थी। पण्डितराज जगन्नाथ रसमयी पद्धति के प्रौढ़ कवि थे। काव्य की रचना करने में इनकी प्रतिभा अलौकिक थी। इनकी शैली प्रसादमयी तथा कल्पना की उड़ान नितान्त ऊँची थी। भगवान् की स्तुति में इन्होने अपने कोमल भावपूर्ण हृदय का परिचय दिया है। इनके भाव बडे कोमल तथा रुचिर है। मुगल-दरबार मे आदरपूर्वक रहने पर भी इनकी कविता दरबारी नही है। **जगदाभरण** काव्य में दाराशिकोह का, आसफ-विलास (गद्य-काव्य) में नवाब आसफ खाँ का तथा 'प्राणाभरण' काव्य में कामरूप के राजा प्राणनारायण का वर्णन इन्होंने अवश्य किया है, परन्तु देवविषयक प्रशस्तियो के लिखने में इनका हृदय विशेषरूप से रमता था। कवित्व के साथ ही पाण्डित्य का मजुल सम्मिलन इनके काव्यों की विशेषता है। कविता के निर्माण की शक्ति इनमें इतनी अधिक थी कि रसगगाधर मे अलकारों तथा रसों के उदाहरण के लिए इन्होंने स्वरचित नवीन श्लोकों को प्रस्तुत किया है। किसी प्राचीन कवि की कविता को उदाहरण के लिए उच्छिष्ट समझकर उसे छूना भी इन्होंने उचित नही समझा।

ग्रन्थ—पण्डितराज के काव्य-ग्रन्थों में पाँच लहरियों का स्थान मुख्य है। (१) **करुणा-लहरी**—इसमें भगवान् से दया की प्रार्थना की गई है। (२) **गंगालहरी या पीयूषलहरी**—इसमें भगवती भागीरथी (गगा) की स्तुति सुन्दर शिखरिणी छन्द के ५२ पद्यों में की गई है। यह अपने भावोद्रेक के लिए रसिकों में विश्रुत लोकप्रिय स्तुति है। (३) **अमृत-लहरी**—इसमें केवल दस पद्यों में यमुना की स्तुति की गई है। (४) **सुधा-लहरी**—यह तीस स्रग्धरा वृत्तों में निबद्ध भगवान् सूर्य की स्तुति है। (५) **लक्ष्मी-लहरी**—इसमें भगवती लक्ष्मी की स्तुति ४१ शिखरिणी छन्दों में की गई है जो बहुत ही सुन्दर तथा सरस है। इनका

एक अन्य ग्रन्थ **भामिनी-विलास** भी है जिसमें अनेक अन्योक्तिपरक कविताओं के साथ सुन्दर भावनाओं का सन्निवेश किया गया है।

पण्डितराज की कविता में स्वाभाविक प्रवाह है, पदों की मनोरम शय्या है तथा कल्पना का अभिनव चमत्कार है। भगवान् कृष्ण के चरणों में प्रगाढ़ भक्ति के कारण इनकी कविता भक्तिरस से पूर्ण है जिसे 'द्राक्षापाक' का सुन्दर उदाहरण कहा जा सकता है। ये सस्कृत के मध्ययुग के अन्तिम प्रतिभापूर्ण सरस कवि थे—इसमे तनिक भी सन्देह नही है।

चन्द्रशेखर कवि

चन्द्रशेखर का समय १६वी शताब्दी का अन्तिम भाग समझना चाहिए। ये गौड़ (बंगाल) देश के निवासी थे। इन्होने **सुरजन चरित** नामक महाकाव्य की रचना काशी में की थी। इस महाकाव्य मे वर्णित राजा सुरजन अकबर बादशाह के बड़े ही विश्वासपात्र सामन्त थे तथा उसके द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण स्थानो मे युद्ध करने के निमित्त भेजे गये थे। इस काव्य में बीस सर्ग है जिनमे बूँदी के हाड़ा-वशीय राजाओं का चरित बड़ी ही सुन्दरता के साथ वर्णित किया गया है, अतः साहित्यिक सौन्दर्य के साथ इसका ऐतिहासिक मूल्य भी कुछ कम नही है। चन्द्रशेखर कवि ने कालिदास की शैली का सफल अनुकरण किया है।

विश्वनाथ भट्ट रानाडे

विश्वनाथ भट्ट के पिता का नाम महादेव था। विश्वनाथ विरक्त होकर ससार के प्रपंचों से अपने को दूर रखने के लिए काशी चले आये। यही इन्होंने **शम्भुविलास** काव्य का प्रणयन १७२० ई० मे किया। इससे पूर्व वे अम्बेर के महाराजा मिर्जा जयसिह के पुत्र रामसिह के दरबारी कवि थे। आश्रयदाता के आदेश से इन्होंने **शृङ्गार-वापिका** नामक नाटिका की रचना की। रामसिह प्रथम का राज्यकाल १६६७ ई० से लेकर १६७५ ई० तक था। १६६७ ई० में वे गद्दी पर अभिषिक्त हुए और १६७५ ई० में उनका निधन हुआ। इसीके बीच इस नाटिका का निर्माण काशी में हुआ जिसमें ये अपने को कमलाकर भट्ट का अन्तेवासी कहते है। फलतः १६४० ई० में यह घटना घटी। रामसिंह साहित्य में बड़ी रुचि रखते थे। अतः वे नाटिका के प्रेरक थे। काशी-निवास का कारण कवि ने स्वय बतलाया है—

भुक्त्वा वैषयिकं सुखं कविरसौ जातप्रबोधस्ततो
दृश्यं स्थावरजङ्गमात्मकमिदं ज्ञात्वा प्रपञ्चं मृषा।
सर्वानन्दगृहं परात् परतरं श्रीराजराजेश्वरी-
रूपं ब्रह्म हृदि स्मरन् शिववने काश्यां स्थितिं निर्ममे ॥

—शम्भुविलास, तृतीय सर्ग, पद्य १४

पण्डित रामानन्दपति त्रिपाठी

१७वीं शती के काशिकेय विद्वानो की मण्डली में रामानन्दपति त्रिपाठी शीर्षस्थान पर विराजमान थे। ये चतुरस्र पाण्डित्य से मण्डित एक अलौकिक व्यक्ति थे जो दिल्ली के तत्कालीन मुगल बादशाह शाहजहाँ के द्वारा विशेष प्रतिष्ठा तथा सत्कार-सम्मान के पद पर प्रतिष्ठित किये गये थे। शाहजहाँ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह को वाराणसी मण्डल में अपना वरिष्ठ अधिकारी बनाकर भेजा था। तब रामानन्दजी उसके सम्पर्क में आये और उसे संस्कृत के अध्यात्मशास्त्र को विधिवत् पढ़ाया। दाराशिकोह की दुःखद मृत्यु (१६५८ ई०) के अनन्तर

विह्वलचेता त्रिपाठीजी ने पद्यचतुष्टयी के द्वारा अपना शोक प्रकट किया था, जिसके दो पद्य इस प्रकार हैं—

येनेयं श्रीदकाशीसकलकविजनोद्दामदानप्रकाशै-
राकीर्णा धर्मवर्णामृतयुतसलिलैः संस्कृता स्वर्णदी च ।
आकूपारं क्षितीशो नतिविनयमतिर्यश्च कर्त्रेश्वरस्तद्
दाराशाहेन्द्रमौलौ विपदि कथमहो जीवनीयं हि विश्वम् ॥

धर्मस्तुर्ययुगेन तेन जयति त्वेकाङ्घ्रितां श्रावितो
यावत् तावदपुण्यपण्यनिरतं निर्जित्य दानैः कलिम् ।
यः पुण्यामृतवाहिनीं सुकृतवान् विश्वम्भरां श्रीदवद्
दाराशाहविपत्सु हा कथमहो प्राणा न गच्छन्त्यमी ॥

इस घटना से तथा ग्रन्थों के रचनाकाल से स्पष्ट प्रतीत होता है कि पण्डित रामानन्दपति त्रिपाठी का आविर्भाव १७वीं शती के मध्य भाग में हुआ था (लगभग १६२५ ई०-१६७५ ई०)। इस प्रकार ये पण्डितराज जगन्नाथ के समकालीन सिद्ध होते हैं।

पण्डित रामानन्दपति बड़े ही नैष्ठिक तथा आध्यात्मिक विद्वान् थे जिन्होंने अपने युग के हिन्दूधर्म की दुर्दशा का तथा मुगल बादशाहों के अत्याचारों का वर्णन बड़े ही मार्मिक शब्दों में किया है। **हास्यसागर** प्रहसन के इस पद्य में उन्होने तत्कालीन हिन्दूधर्म की दीन दशा का चित्रण किया है जिसमें गायों की हत्या, कठिन कर ग्रहण करनेवाले अमलों के द्वारा साधुजनों के उत्पीड़न का सद्यः संकेत है--

हन्यन्ते निर्निमित्तं सकलसुरभयो निर्दयैर्म्लेच्छजातै-
र्दार्यन्तेऽमी सदेवाः सकलसुमनसामालयाश्चातिदीर्घाः ।
पीड्यन्ते साधुलोकाः कठिनतरकरग्राहिभिः कामचारैः
प्रत्यूहैस्तैः क्रतूनां सभयमिव जगत् पामराणां कुमारैः ॥

औरंगजेब के समय के धार्मिक अत्याचारों का यह जीवन्त चित्रण है।

सौभाग्य से रामानन्द त्रिपाठी के वंश का पूरा परिचय उपलब्ध होता है। इनके प्रपितामह पण्डित दिवाकर त्रिपाठी गोरखपुर मण्डल से विद्याध्ययन के निमित्त काशी आये और काशी में ही पाण्डित्य अर्जन कर यहीं के निवासी बन गये। इनका पूरा परिवार ही सरस्वती का आराधक एवं लक्ष्मी का अनुग्रहभाजन था। इनके पूज्य पिता का नाम मधुकर त्रिपाठी था। पण्डित रामानन्द त्रिपाठी चतुरस्र पाण्डित्य से मण्डित होने के कारण तद्युगीन पण्डितमण्डली के सिरमौर माने जाते थे—इसमें तनिक भी आश्चर्य नहीं है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों के अनुशीलन से रामानन्द त्रिपाठी की विद्वत्ता का पूरा संकेत प्राप्त होता है। ये तन्त्र-विद्या में जितने निपुण थे, उतने ही प्रतिभासम्पन्न सरस काव्यकला में तथा अलंकार-शास्त्र के गम्भीर आलोडन में भी थे।

सुनते हैं कि इन्होंने वृद्धावस्था में संन्यास ले लिया था। तब इनका नाम पड़ गया—**ज्ञानानन्द**। इन्होंने काशी में लक्ष्मीकुण्ड के समीप ही 'कालीमठ' की स्थापना की, जहाँ आज भी भगवती कालीजी की दिव्य मूर्ति विराजमान है। तन्त्रविषयक स्तोत्रों में **आद्यास्तवराज**, **श्यामास्तवराज** तथा **बगलामुखीस्तवराज** पूर्णतः उपलब्ध होते हैं। इनके तन्त्रविषयक अन्य

ग्रन्थों के नाम है . आकाशवासिनी-सपर्या, असितादि-विद्यापद्धति, कालरात्रिविधानम् (१७३५ विक्रमी = १६७८ ई० में लिखित) तथा गुह्यसोढा-विवरणम् ।

श्यामास्तवराज मे १६ विकट पद्यों में भगवती कालिका की भक्तिभाव से उच्छलित दिव्यभावनामयी स्तुति निबद्ध की गई है । इसका एक पद्य उदाहरणार्थ प्रस्तुत है[1]---

वामे पाणौ कृपाणं विकटनरलसच्छिन्नमुण्डं दधानां
ऊर्ध्वाधो-दक्ष-पाणावभय-वरवतीमम्बुद- श्यामलाङ्गीम् ।
दिग्वस्त्रां घोरदंष्ट्रोत्कट-रुधिर-गलद्रक्तधाराकरालां
वन्दे कालीं सकालां स्मितमुदितमुखीं बिभ्रतीं मुण्डमालाम् ॥

पण्डित रामानन्दपति त्रिपाठी मुख्यतया सरस कविता की रचना में दक्ष एक सरस कवि थे जिनकी कविता पदशय्या तथा भावभगिमा से अलकृत रहती थी, नवीन भावो के आविष्कार तथा शब्दों मे आलकारिक चमत्कार दिखलाने में सर्वथा समर्थ थी तथा रसिकों के हृदय का आवर्जन करने में सातिशय कुशल थी । इनके साहित्यविषयक ग्रन्थो की सख्या कम नही है, जिनमे प्रधान है---

(१) रसिकजीवनम्---यह नायिका-नायक विषयक ग्रन्थ है । इसमे प्रथमतः वर्ण्य भेद का लक्षण दिया गया है । तदुपरान्त उसका सरस उदाहरण है (प्रकाशित) ।

(२) पद्यपीयूषम् —इसमे अन्योक्तियों का ललित सग्रह है । इस ग्रन्थ मे ३८ पद्य विद्यमान थे जिनमें आदिम २१ पद्य उपलब्ध नही है । शेष पद्यो में वृक्षान्योक्ति, वायुवर्णन, नवरस-निरूपण, कीर्ति-प्रस्ताव, दान-प्रस्ताव आदि विषयों का वर्णन मिलता है ।

(३) रामचरित्रम्—वाल्मीकिरामायण के उत्तरकाण्ड की कथा का दोहा तथा चौपाई छन्दों में अभिराम वर्णन सस्कृत में उपलब्ध होता है ।

(४) कटाक्षशतकम्, (५) धन्यशतकम्, (६) शशाकशतकम् (७) हास्यसागरः (लघु प्रहसन), (८) काशीकुतूहल (विशाल ग्रन्थ, परन्तु खण्डित । नाना प्रकार के कुतूहलो का वर्णन), (६) किरात-भाव-दीपिका (किरातार्जुनीय महाकाव्य की खण्डित टीका), (१०) काव्य-प्रकाश-प्राकृतार्थः (काव्य-प्रकाश के प्राकृत पद्यों का संस्कृतानुवाद) । ये इनके अन्य ग्रन्थ हैं । इनमें से केवल प्रथम ग्रन्थ ही प्रकाशित है ।

पण्डित रामानन्दपति त्रिपाठी भगवती विन्ध्यवासिनी की तीव्र उपासना के फलस्वरूप कमनीय कविता की रचना मे पारगामी सहृदय कवि थे । संस्कृत भाषा के ऊपर इनकी अगाध प्रभुता थी । विभिन्न नायिकाओं के स्वरूप को इन्होंने अपने 'रसिकजीवन'[2] में बडी सहृदयता तथा अन्तरगता के साथ चित्रित किया है । इनकी अन्योक्तियाँ बड़ी मार्मिक एवं मनोहारिणी है । इनकी रसमयी तथा चमत्कार-रुचिरा कविता के कतिपय उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते है—

मध्या प्रोष्यतपतिका का यह चारु चित्रण कितना मर्मस्पर्शी है—

गन्तुं पृच्छति वल्लभे नयनयोर्बाष्पं तिरोभावितं
नोच्चैर्निश्वसितं मनागपि न वा सोद्वेगमुद्विग्नया ।

---

१. यह पूरा स्तोत्र त्रिपाठीजी के 'विराड्विवरणम्' नामक ग्रन्थ के साथ प्रकाशित है जिसका इसी वंश के पण्डित नारायणपति त्रिपाठी द्वारा रचित हिन्दीपद्यानुवाद भी संलग्न है (काशी, वि० सं० १६६०) ।

२. पण्डित करुणापति त्रिपाठी द्वारा सम्पादित विस्तृत भूमिका के साथ (संस्कृतविश्वविद्यालय, काशी १६७८ ई०) ।

केशैः किन्तु मृगीदृशः सरसिजैः शैवाल-जालैरिवो-
त्कीर्णैः सुन्दरकान्ति वक्त्रमभितो रोलम्बवल्लम्बितैः ॥

—रसिकजीवन १।१११

विटावतरण देखिए —

मरीचि — रुचिसञ्चयैश्चपलचञ्चुकोटीभृतः
समुल्लसति चन्द्रमाश्चपलयंश्चकोरानिह ।
मरुच्चलति शीतलो रटति चञ्चरीकश्चिरं
भविष्यति हि निश्चलस्तव स चण्डि ! मानः कथम् ॥

—वही, २।१५

रसाल-विषयक अन्योक्ति का आस्वादन कीजिए—

रसाल ! किमचीकरत् किल भवानपूर्वं तपो
गुणप्रकरमीरितुं न खलु शक्यते मादृशैः ।
यथा तव पचेलिमामृतफले रसः पीयते
तथा न तरुणीजनाधरसुधोद्भवा माधुरी ॥

सस्कृत का यह दोहा देखिये, कितना सुन्दर है—

नश्वरमिदमिति तत्त्वतः संसारं कलयन्ति ।
तदपि न हरिमिह तत्त्वतो 'रामानन्द' भजन्ति ॥

—रामचरित्र

चन्द्रमा के कलङ्क के विषय में एक सुन्दर उत्प्रेक्षा का चनत्कार देखिए—

पायसपिण्डश्चन्द्रः तत्र कलङ्कस्तिल-प्रक्षेपः। विष्णुपदे किल दत्तो रत्या कामाय कान्ताय ॥

—शशाङ्कशतक

'विष्णुपद' का श्लिष्ट अर्थ अवलोकनीय है। एक अर्थ है आकाश और दूसरा अर्थ है गयाधाम में भगवान् विष्णु का चरण, जिस पर श्राद्धपिण्ड दिये जाते है।

रामानन्दपति त्रिपाठी हिन्दी के भी सुकवि थे। फलतः इनकी हिन्दी कविताएँ भी बड़ी रोचक तथा आकर्षक है——

शरद् का वर्णन

बिरह झकोरी मन नेकऊ न उझकोरी औचक चकोरी बैन बिष सो सुनाई है ।
बाज आयो जिऊ कैसे करि जीतिऐं री जिऊ 'रामानन्द' चंद जिऊ जारत जुन्हाई है ॥
चंचरीक चंचल री देखि चित चंचल री कियो चित चंचल री तैहूं चंचलाई है ।
बिरह सरद ही मैं बिरह सर दही मैं बिरह दरद को सरद देन आई है ॥

चतुरस्र पाण्डित्य से मण्डित ऐसे विद्वान् को 'दाराशिकोह' ने यदि **विविध-विद्या-चमत्कार-पारङ्गम** की पदवी से विभूषित किया, तो आश्चर्य की कोई बात नही है। रामानन्दपति त्रिपाठी का वंश आज भी काशी में विराजमान है जो भगवती शारदा के साथ ही साथ भगवती लक्ष्मी का भी कृपापात्र बनकर संस्कृत की सेवा कर रहा है। उसी वंश के विद्वत्तल्लज पण्डित करुणापति त्रिपाठी ने 'रसिकजीवन' का विस्तृत प्रस्तावना से मण्डित विशुद्ध सस्करण प्रकाशित कर साहित्य-सेवियों का महान् उपकार किया है।

विश्वेश्वर पाण्डेय

विश्वेश्वर पाण्डेय की 'मन्दार-मंजरी' कादम्बरी की शैली में निबद्ध गद्यकाव्य का एक

मनोरम रूप प्रस्तुत करती है। विश्वेश्वर पाण्डेय अल्मोड़ा जिले के पाटिया ग्राम के निवासी भारद्वाजगोत्री पर्वतीय ब्राह्मण थे। इनके पिता लक्ष्मीधर वृद्धावस्था मे काशी आये और बाबा विश्वनाथ की अलौकिक कृपा से उन्हे पुत्ररत्न प्राप्त हुआ जिसका नामकरण उन्हीके नाम पर विश्वेश्वर किया गया। ये अलौकिक-प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् थे तथा अनेक शास्त्रो पर इन्होंने ग्रन्थ रचना की है। अलकार-शास्त्र के प्रसग मे इनके अन्य ग्रन्थो का उल्लेख किया जा चुका है।

मन्दार-मंजरी—यह गद्यकाव्यमयी प्रौढ़ रचना है। ग्रन्थ के आरम्भ मे २१ आर्या छन्दो मे देवताओं की स्तुति के अनन्तर अनेक प्राचीन कवियो की स्तुति की गई है। यह कवि की उदात्त तथा सरस कृति है। गद्य-काव्य के प्रख्यात गुणो से मण्डित यह रचना विशेष लोकप्रिय होने की योग्यता रखती है। इस ग्रन्थ मे वर्णन को स्निग्ध तथा सरस बनाने के लिए कवि का विशेष आग्रह पाया जाता है। कादम्बरी से प्रभावित होने पर भी कवि ने सर्वत्र नवीनता लाने का सफल प्रयास किया है। प्रकृति का चित्रण भी इसमे प्रचुर मात्रा मे हुआ है। अलकारो की छटा—विशेषकर परिसख्या अलकार का प्रयोग—बाणभट्ट की स्मृति को नवीन कर देता है।

लल्ला दीक्षित

ये काशीनिवासी 'बान्धोकर' उपनामक भारद्वाजगोत्रीय शङ्कर दीक्षित के पौत्र एव लक्ष्मण दीक्षित के पुत्र थे। इनकी रचना का नाम है —**आनन्दमन्दिरस्तोत्र** जिसका रचना काल १८५६ वि० स० (= १८०२ ई०) है। भगवती की यह स्तुति प्रसाद गुण एव भक्तिभावना से सम्पन्न है। **कवीन्द्र बहादुर** इनकी उपाधि प्रतीत होती है। यह शतक काव्यमाला के अन्तर्गत सकलित (१९०६ ई०) है।



कवीन्द्राचार्य सरस्वती

व्यक्तित्व और कृतित्व

कवीन्द्राचार्य सरस्वती काशी में सत्रहवीं शताब्दी के मध्य मे विद्यमान विद्वानों में अलौकिक, अप्रतिम तथा अद्वितीय थे। ये अपने काल के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे। यों तो उस समय काशी में अनेक सन्यासी विद्यमान थे और आज भी हैं, परन्तु इनके समान ओजस्वी, तेजस्वी, वावदूक एवं प्रतिभाशाली विद्वान् संन्यासी का मिलना कठिन ही नहीं, दुर्लभ है।

कवीन्द्राचार्य सरस्वती सामान्य सन्यासी नहीं थे, अपितु अपने काल के एक अत्यन्त उत्कृष्ट विद्वान् तथा वैदुष्य सम्पन्न व्यक्ति थे। 'काम्याना कर्मणा न्यास सन्यास कवयो विदुः' इस वाक्य के कट्टर पक्षपाती होने पर भी जनता के हित के लिए, परोपकार के कार्यों में अग्रणी बनना इनके जीवन का परम लक्ष्य था। सन्यस्तता तथा कर्मठता, ससार से विरक्ति के साथ ही जनहित के कार्यों मे आसक्ति, जगत् से उदासीनता के साथ ही परोपकार में सलग्नता, ससार की असारता का ज्ञान होते हुए भी इसे ससार (सारयुक्त) समझना और सन्यास योग के साथ ही कर्मयोग का कट्टर अनुगामी ही नहीं, बल्कि उस पर आचरण करना ये परस्पर विरोधी ऐसे गुण थे जिन्होंने कवीन्द्राचार्य के व्यक्तित्व को सर्वाधिक प्रोद्दीप्त बना दिया था।

व्यक्तित्व

सस्कृत में एक श्लोक है—

विद्यया, वपुषा, वाचा, वस्त्रेण, विभवेन च।
वकारैः पञ्चभिर्युक्तो नरः प्राप्नोति गौरवम्॥

अर्थात् उपर्युक्त पॉच वकारो से युक्त होने पर मनुष्य गौरव को प्राप्त करता है।

यह कहने की आवश्यकता नही कि ये पॉचो 'वकार' कवीन्द्राचार्यजी के व्यक्तित्व मे पूर्ण मात्रा मे विद्यमान थे। फ्रास देश का प्रख्यात यात्री **बर्नियर** उसी समय (१७६० ई० के आसपास) भारत-भ्रमण करने के लिए आया था। आगरा में कवीन्द्राचार्य की बर्नियर से भेंट हुई थी और दोनों तीन वर्षों तक साथ ही रहे थे। अतः बर्नियर ने अपने यात्रा-वृत्तान्त में इनके विषय में जो कुछ लिखा है वह निरीक्षण तथा अनुभव के आधार पर आश्रित है। अतः उसमें त्रुटि अथवा अतिशयोक्ति का कोई कारण नहीं हो सकता। वह लिखता है—

"कवीन्द्राचार्य सरस्वती का शरीर अत्यन्त दृढ़ और सुगठित था। उनका वस्त्र साधारण था। वे अपनी कमर में सफेद रेशम की धोती पहनते थे जो कटि में बँधी रहती थी। यह धोती घुटने तक लटकती रहती थी। वे उत्तरीय के रूप में लाल रेशम की बनी चादर अपने कन्धों पर ओढ़े रहते थे। मैने उनको इसी अत्यन्त साधारण वेश में आगरा की सड़कों पर, दीवाने आम में अथवा मुगल बादशाह के सामने दीवाने खास में उपस्थित देखा है। वे आगरा

की सड़कों पर प्रायः पैदल चला करते थे अथवा पालकी में बैठकर निकलते थे।"[१] इस प्रकार बर्नियर ने उनके शारीरिक सौन्दर्य का जो चित्र खींचा है वह अत्यन्त प्रभावोत्पादक है।

कवीन्द्राचार्य की विद्वत्ता के विषय में कुछ कहना व्यर्थ है। इनके द्वारा लिखित पुस्तकों की जो सूची अन्यत्र दी गई है तथा इनके विशाल पुस्तकालय का जो वर्णन किया गया है उसीसे इनकी विद्वत्ता तथा विद्याव्यसनिता का कुछ अनुमान किया जा सकता है। इण्डिया आफिस, लंदन में सुरक्षित 'कवीन्द्रकल्पतरु' की हस्तलिखित प्रति में स्वयं कवीन्द्राचार्य ने अपने द्वारा अधीत विविध शास्त्रों के नाम तथा संन्यास-धर्म ग्रहण करने की चर्चा इस पद्य में की है—

अधीत्य वेदवेदाङ्ग-काव्यशास्त्राणि सर्वशः। ततः स्वीकृत्य संन्यासं ब्रह्माभ्यासं समाश्रितः॥

बर्नियर जब बनारस आया था, तब उसने अपने मित्र के पास भेजे गये एक पत्र में लिखा है—"जब मैं गंगा के किनारे-किनारे घूम रहा था तब मैंने बनारस के प्रधान पण्डित को अपने पुस्तकालय में बैठे देखा। वह फकीर (संन्यासी) और भक्त है। बादशाह शाहजहाँ इन्हें दो हजार रुपयों की पेंशन इनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर देता है।"[२] और वह धन कवीन्द्राचार्य काशी मे गंगा के किनारे ब्राह्मणों में वितरण कर देते थे, अपने पास एक पैसा भी नहीं रखते थे। बर्नियर के इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि कवीन्द्राचार्य आजकल के संन्यासियों की भाँति मधुकरी वृत्ति पर अपना जीवनयापन करनेवाले व्यक्ति नहीं थे, बल्कि एक समृद्ध संन्यासी थे जो दूसरों को भी दान दिया करते थे।

जीवन-चरित

कवीन्द्र अथवा आचार्य कवीन्द्र मूलतः गोदावरी के तीरस्थ 'पुण्यभूमि' के निवासी थे। इन्होंने वेद, वेदाङ्ग एवं इतर शास्त्रों का अध्ययन किया। अनन्तर इन्होंने सन्यास ग्रहण कर लिया और ब्रह्मचिन्तन में अपना समय बिताया। ये ऋग्वेद की आश्वलायन शाखा के अध्येता थे। संन्यासी बनने पर इन्होंने काशी को अपना कार्यक्षेत्र बनाया और यहीं निवास करने लगे। ये वरुणा नदी के किनारे जिस बगीचे में रहा करते थे, वह काशी की जनता में 'वेदान्ती का बगीचा' के नाम से प्रख्यात हुआ। वे अनेक शास्त्रों के प्रौढ़ विद्वान् थे। वे ग्रन्थ-संग्रह करने में विशेष अभिरुचि रखते थे। उनका अनेक दुर्लभ हस्तलेखों से मण्डित पुस्तकालय उनकी वैदुषी तथा नाना शास्त्रों की अभिज्ञता का पर्याप्त सूचक था। इस पुस्तकालय की ग्रन्थसूची 'बड़ोदा संस्कृत सीरीज' में डॉ० गंगानाथ झा के सम्पादकत्व में प्रकाशित है जो पूर्वोक्त तथ्य को प्रमाणित करती है।

मुगल बादशाह शाहजहाँ (राज्यकाल १६२८ ई० १६५८ ई०) ने काशी तथा प्रयाग के तीर्थयात्रियों पर यात्री-कर (पिलग्रिम टैक्स) लगा दिया था जिससे इन तीर्थों में यात्रा करनेवाली आस्तिक हिन्दू जनता का कष्ट बढ़ गया था। एक तो भारत के दूर-दूर प्रान्तों से यात्रा करना उस युग में नितान्त कष्टसाध्य था, तिस पर यात्री-कर का बोझ ऊपर से त्रास दे रहा था। ऐसी विषम स्थिति में सर्वत्र त्राहि-त्राहि मची हुई थी। उनके दुख-दर्द की कहानी आगरा जाकर बादशाह को सुनाने की कौन हिम्मत करे? फरियाद करने के नाम पर अपनी जान को जोखिम में कौन डाले?

ऐसी ही विषम परिस्थिति में भारत की सामान्य जनता की, विशेषकर काशी के विद्वानों की दृष्टि, उस समय के सर्वश्रेष्ठ कर्मठ एवं वावदूक संन्यासी कवीन्द्राचार्य पर पड़ी।

---

१. डॉ० पी० के० गोडे : 'स्टडीज इन इण्डियन लिटरेरी हिस्ट्री' भाग २, पृ० ३६८।
२. डॉ० गोडे : वही, पृ० ३६७।

सब लोगों ने मिलकर समवेत स्वर में इस दुःखद कर से मुक्ति दिलाने के लिए स्वामीजी से प्रार्थना की। उस युग की यातायात कठिनाइयों को देखकर किस व्यक्ति का चित्त यात्रा की कठिनाइयों से आक्रान्त न हो उठेगा ? न सवारी की व्यवस्था, न पक्की सड़कों की स्थिति। चोर-डाकुओं एवं राहजनों का भय ऊपर से विद्यमान। इन सब असुविधाओं का बिना विचार किये श्री कवीन्द्राचार्यजी मुट्ठीभर अपने इने-गिने काशीस्थ सहयोगियों के साथ अपने महनीय उद्देश्य की पूर्ति के लिए काशी से आगरा के लिए चल ही पड़े।

यात्रा का अभियान—कवीन्द्राचार्यजी ने आगरा की यात्रा करने के पहले यात्रा के मार्ग में आनेवाली कठिनाइयों पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। उनके संन्यस्त मन में परोपकार की इतनी उमग थी, जनता-जनार्दन की सेवा की त्रिवेणी इतने अत्यधिक वेग से प्रवाहित होती थी कि उसके आगे समस्त बाधाएँ तिनके की तरह बह जाती थीं। उन दिनों काशी से आगरा पैदल जाना कोई हँसी-खेल का काम नहीं था। रास्ते में न तो गंगा नदी पर पुल बना था और न यमुना पर ब्रिज (सेतु)। अतः निश्चित रूप से छोटी डोंगियों में बैठकर इन विशाल नदियों को पार करना पड़ा होगा। सड़कों के न रहने के कारण कुश-कण्टकावृत पगडण्डियों पर पैर रखकर मार्ग में चलना पड़ा होगा। यद्यपि बर्नियर ने कवीन्द्राचार्य के आगरा जाने के मार्ग का कुछ वर्णन नहीं किया है तथापि निश्चय ही उन्हें काशी मे लेकर आगरा तक जंगल-झाड़ियों, घाटियों, बीहड़ों, नदियों की रेतियों तथा पेटियों से गुजरना पड़ा होगा।

कवीन्द्राचार्य के इस आगरा-अभियान की समानता सिक्खों के स्वनामधन्य गुरु, गुरु तेगबहादुर के अभियान से की जा सकती है जो हिन्दुओं के दुःखों को सुनकर मुगल बादशाह से मिलने दिल्ली चल पड़े थे। दोनों का उद्देश्य एक ही प्रकार पावन और पवित्र था। अन्तर केवल इतना ही था कि गुरु तेगबहादुर की सेना सशस्त्र थी और कवीन्द्राचार्य के साथी शान्तिसेना के सिपाही थे।

कवीन्द्राचार्य : शाहजहाँ के दरबार में

शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह बड़ा ही उदारचेता, सहृदय, विद्यानुरागी तथा भारतीय दर्शन एवं संस्कृतविद्या का प्रेमी था। जैसा कि बर्नियर ने लिखा है, कवीन्द्राचार्य अपने समय के भारत के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे।[१] अतः उसने इनकी अगाध विद्वत्ता से प्रभावित होकर इन्हें अपना गुरु-समकक्ष मानकर इनसे प्रगाढ़ मैत्री प्राप्त कर ली। उसका उदारचेता पिता शाहजहाँ भी कवीन्द्राचार्य की अलौकिक विद्वत्ता से प्रभावित होकर इनका बड़ा आदर तथा सम्मान करने लगा। उसने इनके अगाध पाण्डित्य एवं अलौकिक त्याग के कारण इन्हें 'विद्या-निधान' अथवा 'सर्व-विद्या-निधान' की उपाधि से अलंकृत किया था।[२] शाहजहाँ ने इनके लिए २००० (दो हजार) रुपये की पेंशन भी प्रदान की थी। परन्तु संन्यासी होने के कारण ये इन रुपयों का स्वयं अपने लिए उपयोग न करके काशी के पण्डितों में वितरित कर दिया करते थे जिसका उल्लेख 'कवीन्द्रचन्द्रोदय' में किया गया है।[३]

इस प्रकार शाहजहाँ के दरबार में तथा उसके संस्कृत-प्रेमी पुत्र दाराशिकोह के हृदय

---

१. "One of the most celebrated Pandits in all the Indies"

—बर्नियर का यात्रावृत्तान्त (ट्रेवेल्स)

२. विद्यानिधानकृतमान बहुप्रदान दील्लीश्वरादृत शमत्र भवत्कृपातः।

—कवीन्द्रचन्द्रोदय, पृ० ५

३. श्रीविश्वेश्वर-काशिका-सुरनदीतीरे सुवर्णं ददौ, श्रीमत्साहिजहाँदिलीप-कृपया विद्यानिधानाधिपः॥

—कवीन्द्रचन्द्रोदय, पृ० १६

पर कवीन्द्राचार्य ने अपना गहरा प्रभाव जमा लिया था। इन्हीं दिनों, किसी शुभ घड़ी में इन्होंने शाहजहाँ से काशी-प्रयाग में लगे हुए यात्री-करों को निरस्त कर देने की प्रार्थना की। भारत के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक तथा संस्कृत के विद्वान् डॉ० हरप्रसाद शास्त्री ने इस घटना का वृत्तान्त बड़े ही सजीव शब्दों में इस प्रकार किया है—"कवीन्द्राचार्य अपने बहुसंख्यक अनुगामियों के साथ आगरा पहुँचे और वहाँ के 'दीवाने-आम' (राजदरबार) में जाकर हिन्दू-यात्रियों से यात्री-कर हटाने के पक्ष में अनेक अकाट्य तर्कों तथा युक्तियों को देते हुए इतना प्रबल तथा ओजस्वी भाषण दिया कि उस दरबार में उपस्थित इराक, ईरान, बलख और बदख्शां से आये हुए अमीर और उमरा उनकी प्रचण्ड वाक्शक्ति से आश्चर्यचकित हो गये। इस भाषण को सुनकर शाहजहाँ तथा दाराशिकोह ने हिन्दू-यात्रियो के कष्टों को सोचकर अत्यन्त दुःख प्रकट किया और इस यात्री-कर (पिलग्रिम टैक्स) को निरस्त कर दिया।" इस प्रकार जिस कार्य के लिए कवीन्द्राचार्य सरस्वती ने इतने कष्टो को सहते हुए काशी से यात्रा की थी उसमें इन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हो गयी और इन्होंने हिन्दुओं को इस कर से मुक्ति दिलाकर बहुत बड़ा पुण्यकार्य किया।

कवीन्द्राचार्य ने जिस प्रबल ओजस्विता तथा प्रचण्ड एवं प्रखर वावदूकता के साथ अकाट्य तर्कों और प्रबल युक्तियो के सहित यात्री-कर की व्यर्थता तथा कष्टदायिता का वर्णन सम्राट् के दरबार में किया उसका बड़ा ही सजीव चित्रण 'कवीन्द्र-चन्द्रोदय' मे निम्न रीति मे किया गया उपलब्ध होता है—

काश्मीरैराककारस्करदरद- खुरासान-हबशान-जाताः,
बङ्गाब्बास्ते फिरङ्गास्तुरुक-शक- बदकृशान-मुल्तान-बल्काः।
खान्दाराः काविलेन्द्राः अपि धरणिभृतस्ते मगाः रूम-सामाः
श्रीमत्श्रीसाहिजाहांनरपतिसदसि त्वां कवीन्द्रं स्तुवन्ति ॥

यह अवसर समस्त हिन्दुओं के लिए आनन्द और उछाह का था। इसी शुभ अवसर पर मानो इनकी विजयश्री को अधिक उज्ज्वल बनाने के लिए शाहजहाँ ने इनको 'सर्वविद्यानिधान' की महनीय पदवी से अलकृत किया था। डॉ० हरप्रसाद शास्त्री ने इस घटना का इतना सजीव रूप में वर्णन किया है कि उसे मूलरूप मे देने का लोभ हम सवरण नही कर सकते।[१]

कवीन्द्र-चन्द्रोदय — कवीन्द्राचार्य सरस्वती ने अपने अथक उद्योग, अविश्रान्त परिश्रम तथा अलौकिक वाग्मिता के द्वारा शाहजहाँ के दरबार मे जाकर काशी और प्रयाग के हिन्दू-यात्रियों पर लगनेवाले यात्री-कर को सदा के लिए निरस्त करा दिया। इस निरस्तीकरण के उपलक्ष्य मे काशी की जनता तथा विशेषतः तत्कालीन विद्वान् इतने प्रसन्न हुए कि उन्होने कवीन्द्राचार्य की स्तुति में एक प्रशस्ति-ग्रन्थ की रचना की जो 'कवीन्द्र-चन्द्रोदय' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ के सम्पादक है डॉ० हरदत्त शर्मा और एम० एम० पाटकर, जो ओरियन्टल सीरीज नामक ग्रन्थमाला, पूना से प्रकाशित हुआ है।

---

१ "He (Kabindracharya) journeyed to Agra with a large following and proceeded to Diwan-i-am and there he pleaded the cause of the Hindu pilgrims, with so much force of eloquence, that all the noble men of the court from Irak, Iran, Badakshan, Balkh etc. were struck with wonder, Shah Jahan and Dare Shikoh relented and abolished the tax (i. e. the pilgrim tax). That was the day of great rejoicing throughout Hindu India. It was on this occassion that the title of सर्वविद्यानिधान was conferred on him."

—Dr H P Shastri : *Indian Antiquary*, Vol XLI, (1912), p II.

इस ग्रन्थ मे काशी के समसामयिक ६६ लेखको तथा कवियो -- जिनकी सूची परिशिष्ट मे दी गई है — ने कवीन्द्राचार्य सरस्वती के विशाल व्यक्तित्व, अद्भुत गुणो तथा शाहजहाँ एव उसके गुणग्राही पुत्र दाराशिकोह के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध का वर्णन किया है। किस प्रकार काशी और प्रयाग के तीर्थयात्रियो पर से यह यात्री-कर हटा लिया गया इसका वर्णन हीराराम कवि ने निम्नाकित श्लोक मे बडी सुन्दर भाषा मे किया है -

येन श्रीशाहजाहाँ नरपतितिलक. स्वस्य वश्यः कृतोऽभूत्
किं चावश्यं प्रपन्नः पुनरपि विहितः शाहिदाराशिकोहः ।
काशी—तीर्थ—प्रयाग— प्रतिजनित-करग्राह-मोक्षैकहेतुः
सोऽयं श्रीमान् कवीन्द्रो जयति, कविगुरुस्तीर्थराजाधिराजः ॥

इन पण्डितो ने इस ग्रन्थ मे कवीन्द्राचार्य की विशद शब्दो मे भूरि भूरि प्रशसा की है। तत्कालीन मुगल बादशाह शाहजहाँ तथा उसके पुत्र दाराशिकोह पर इनका कितना प्रभाव था तथा काशी के विद्वानो तथा निर्धन लोगो को दान के रूप मे देने के लिए शाहजहाँ इन्हे प्रचुर धन दिया करता था, इसका उल्लेख निम्नलिखित पद्याशो मे पाया जाता है —

दिल्लीश्वराय निगमागम-शास्त्रबुद्ध्या, संबोधयन् प्रतिदिनं त्रिजगत्कवीन्द्रः ।
श्री विश्वेश्वर-काशिका-सुरनदीतीरे सुवर्णं ददौ
श्रीमत्साहिजहाँदिलीपकृपया विद्यानिधानाधिपः ॥

किसी कवि ने दिल्ली जाकर कवीन्द्र का दर्शन करके सुखी होने की बात लिखी है—

द्रष्टुं वाञ्छसि चेत्तदा बुधवरं दिल्लीपुर सादरं
गत्वा विज्ञ-कवीन्द्र-वर्य-विबुधं दृष्ट्वा सुखी त्वं भव ॥

शाहजहाँ ने इनकी विद्वत्ता से प्रसन्न होकर इन्हे 'विद्यानिधान' की उपाधि प्रदान की थी।

एक और प्रशसा सुनिये—

भूपालाः कति नागतास्तव गृहे, किं वर्णयामो वयं
दिल्लीशो यवनाधिपो नर-वरो, भाग्योदयं वाञ्छति ।

'कवीन्द्रचन्द्रोदय' मे उल्लिखित इन श्लोको से पता चलता है कि पण्डितों की दृष्टि मे कवीन्द्राचार्य की कितनी अधिक निष्ठा तथा श्रद्धा थी।

ग्रन्थ-रचना

कवीन्द्राचार्य साहित्य और दर्शन के प्रकाण्ड तथा तलस्पर्शी विद्वान् थे। परन्तु लोकोपकारी कार्यों में इनका इतना अधिक समय व्यतीत होता था कि इन्हे ग्रन्थ-रचना के लिए अवकाश ही नही मिलता था। अतः इन्होने कुछ ही ग्रन्थो का प्रणयन किया जिनका सक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

(क) प्रकाशित ग्रन्थ

(१) दण्डी के दशकुमारचरित की टीका—जहाँ तक प्रस्तुत लेखक को ज्ञात है कवीन्द्राचार्य ने यों तो अनेक ग्रन्थों की रचना की है परन्तु इनका केवल एक ही ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित हुआ है। यह ग्रन्थ महाकवि दण्डी के दशकुमारचरित की 'पदचन्द्रिका' नामक टीका है। अनेक हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर श्री एन० बी० गोडबोले तथा श्री के० पी० परब नामक विद्वानों ने इस ग्रन्थ का वैज्ञानिक पद्धति से सुसम्पादित सस्करण 'निर्णय-सागर प्रेस' बम्बई से सन् १८८३ ई० में प्रकाशित किया था। यह टीका दशकुमारचरित के

केवल आठ उच्छ्वासों तक ही उपलब्ध होती है।[1] पूर्वपीठिका तथा उत्तरपीठिका पर यह टीका प्राप्त नही होती। डॉ० मित्र के हस्तलेख की पुष्पिकाओं में कवीन्द्राचार्य के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है उनसे उनकी विद्वत्ता का कुछ पता चलता है।

(ख) अप्रकाशित ग्रन्थ

(२) कवीन्द्रकल्पद्रुम—यह एक काव्यात्मक रचना है। इस हस्तलिखित पुस्तक में १५७२ श्लोक है जिससे ज्ञात होता है कि निश्चित ही यह एक बहुत बड़ा काव्य-ग्रन्थ होगा। इसमें अनेक नदियों, देवियों, देवताओं, भगवान् के विभिन्न अवतारों तथा अनेक अन्य विषयों का भी वर्णन किया गया है जैसा कि इसकी विषय-सूची से ज्ञात होता है।

इस ग्रन्थ में जिन विषयो का वर्णन किया गया है उनकी सूची निम्नाकित है—

(१) गणेशस्तोत्रकीर्तनम्, (२) गगास्तोत्रकीर्तनम्, (३) यमुनास्तोत्र, (४) वितस्तास्तोत्र, (५) सूर्य्यस्तोत्र, (६) शिवस्तोत्र, (७) भवानीस्तोत्रं, (८) नृसिंह-रूप-वर्णनम्, (९) श्रीकृष्ण-रूप-वर्णन, (१०) रामचन्द्र रूप-वर्णनं, (११) हनुमत्स्तोत्रं, (१२) प्रास्ताविक श्लोक-कथनं, (१३) शिवराम-वर्णन, (१४) पत्रावलम्बन-पद्यकथनं और (१५) पत्र-प्रशस्ति-वर्णनम्।

इस पुस्तक का जिस प्रकार समापन किया गया है उससे ज्ञात होता है कि कवीन्द्राचार्य सरस्वती का शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह से बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध था। यह घटना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझी जानी चाहिए जिसका उल्लेख पहले भी किया जा चुका है।[2]

(३) योगभास्कर—डॉ० आउफ्रेक्ट ने इसका उल्लेख अवश्य किया है परन्तु पुस्तक के विषय में विशेष ज्ञात नही है। इसके नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि योगशास्त्र के सम्बन्ध में इसका निर्माण किया गया होगा। परन्तु इसका उल्लेख अन्य किसी हस्तलेख-सूची मे प्राप्त नहीं होता।

(४) शतपथब्राह्मण भाष्य—कलकत्ता के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० राजेन्द्रलाल मित्र ने बीकानेर राजदरबार की हस्तलिखित पुस्तकों की सूची में इसका उल्लेख किया है जहाँ पर इसके सम्बन्ध में यह लिखा मिलता है—"शतपथब्राह्मण के छठे खण्ड के ऊपर कवीन्द्राचार्य सरस्वती द्वारा विरचित टीका या व्याख्या।" इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि कवीन्द्राचार्य ने शतपथब्राह्मण पर भी कोई व्याख्या लिखी थी जो आज पूर्णतया उपलब्ध नहीं होती।

(५) हंसदूत काव्य— डॉ० बर्नल ने तंजौर हस्तलिखित पुस्तको की सूची (१८७९) पृ० १६३ (A) मे इस ग्रन्थ का इस प्रकार से वर्णन किया है—

इस हस्तलेख के ऊपर 'सर्वविद्यानिधान-कवीन्द्राचार्य-सरस्वतीना' ऐसा उल्लेख उपलब्ध होता है जिससे ज्ञात होता है कि यह हस्तलिखित प्रति कभी कवीन्द्राचार्य के पास रही होगी। इस हस्तलेख की प्रतिलिपि करने की तिथि १६५० (शक ? या संवत्) दी गई है। यदि यह तिथि संवत् मान ली जाय तो इसकी प्रतिलिपि सन् १५९४ ई० में की गई होगी। इस ग्रन्थ के लेखक का नाम अज्ञात है। डॉ० बर्नल ने इस 'हंसदूत' को कवीन्द्राचार्य सरस्वती की रचना

१. डॉ० राजेन्द्र लाल मित्र ने संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकों की सूची (नोटिसेज) भाग ९, सन् १८८८ ई० में 'पदचन्द्रिका' का जो उल्लेख किया है उसकी समाप्ति इस प्रकार उल्लिखित है—

"इति श्रीसकलशास्त्रार्थ-सार्थकीकृत-धीमुषीविलास-रससान्द्र-प्रवर्तिताशेषयशः-समुद्रपरिषचन्द्र-यतीन्द्र-सर्वविद्यानिधान-श्रीमत्कवीन्द्राचार्यसरस्वतीकृतायां दशकुमार-व्याख्यायां पदचन्द्रिकाभिधानायां विश्रुतचरितं नाम अष्टमः उच्छ्वासः।"

२. तत्त्वज्ञानदूरीकृतमहामोह-समवगतसप्तभूमिकासमारोहमहम्मददाराशिको(ह)कृता नारायणेत्यष्टाक्षर-मन्त्रपूर्वका नमस्काराः सन्ति—कवीन्द्रकल्पद्रुम का अन्तिम अंश।

स्वीकार किया है। परन्तु पूना के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० पी० के० गोडे के विचार से यह मत भ्रमात्मक तथा अशुद्ध है।[१]

कवीन्द्राचार्यजी की दो हिन्दी रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। कवीन्द्र, कवीन्द्र-सरस्वती तथा कवीन्द्राचार्य सरस्वती—इन तीन नामों से ग्रन्थ के लेखक का निर्देश किया गया है। संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् का हिन्दी भाषा से परिचय पाना तथा हिन्दी में पद्य-रचना करना—दोनों ही बातें उनके लोकजीवन के साथ सम्पर्क की सूचिका हैं। पहले ग्रन्थ का नाम है—**वासिष्ठसार** जिसमें **योगवासिष्ठ** के उपदेशों का साराश हिन्दी पद्यों में दिया गया है। इसके अन्य नाम हैं—**ज्ञानसार** और **योगवासिष्ठसार**। रचनाकाल है १७१४ विक्रमी संवत् (= १६५७ ईस्वी)। दूसरे ग्रन्थ का नाम है--**समयसार** जिसका विषय युद्ध में जाने के समय मुहूर्त का विचार है। पहले का विषय अध्यात्म है, दूसरे का ज्योतिष। ये दोनों अमुद्रित हैं। इनके हस्तलेख ही उपलब्ध होते है।[२]

कवीन्द्राचार्य सरस्वती हिन्दी में भी काव्य-रचना किया करते थे। इनकी एक कविता उदाहरण के रूप में 'मिश्रबन्धुविनोद'[३] में उद्धृत की गई है जो इस प्रकार है—

मंदिर ते ऊँचे मनिमंदिर ए सुंदर हैं, मेदिनी पुरंदर को पुर दरसत है।
हिय में हुलास होत नगर विलास लखि, रूप कयलास हू ते अति सरसत है।
दुंदुभि मृदंग नाद विविध सुबाद जहाँ, साहिजहाँबाद अति सुख बरसत है।
छहौ ऋतु छाई, छाजै आछी छवि, देखन को मानुष की कहा कहै, इंद्र तरसत है॥

यह तत्कालीन आगरा शहर का सुन्दर वर्णन है। 'मिश्रबन्धु विनोद' में कवीन्द्राचार्य द्वारा रचित हिन्दी ग्रन्थ का नाम **कवीन्द्रकल्पलता** दिया हुआ है जो इन्होंने शाहजहाँ की प्रशंसा में बनाया था, जिसमे १५० छन्दों द्वारा शाहजहाँ, उनके पुत्रों का तथा उनके मुख्य नगर का वर्णन हिन्दी पद्यों मे किया गया है। ऊपरवाला छन्द इसी ग्रन्थ का प्रतीत होता है। ग्रन्थ का प्रकाशन राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला, ग्रन्थाक ३४, जयपुर १९५८ ई० मे हुआ। सम्पादक श्रीमती रानी लक्ष्मीकुमारीजी चूड़ावत है। **कवीन्द्रकल्पलता** का प्रधान विषय शाहजहाँ का यशोवर्णन है। थोड़े से पद्य कृष्ण तथा तत्त्वज्ञान से सम्बद्ध है। दोहा, छप्पय, सरसी, सवैया, कवित्त, चौपाई आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है।

कवीन्द्राचार्य की प्रशस्ति[४]

दिल्लीश्वराय निगमाऽऽगमशास्त्रबुद्ध्या संबोधयन् प्रतिदिनं त्रिजगत्-कवीन्द्रः।
श्रीतीर्थराजकरकांचनलब्ध-कीर्तिर्विद्यानिधानमहिमा न हि मानगम्यः॥११५॥

यः साक्षादङ्गराजलब्धमहिमा प्राप्तः प्रतिष्ठां पुन-
र्देवत्वं निजशारदातनुलसल्लेभे कवीन्द्रः प्रभुः।
श्रीविश्वेश्वरकाशिकासुरनदीतीरे सुवर्णं ददौ
श्रीमत्साहिजहाँदिलीपकृपया विद्यानिधानाभिधः॥११६॥

---

१. डॉ० गोडे : स्टडीज इन इण्डियन लिटरेरी हिस्ट्री, भाग २, पृ० ३७९।

२. द्रष्टव्य. 'हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' (दो खण्ड) प्रकाशक नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० वि० २०२१ (= १९६४ ई०) पृ० ३६६–३६७, पृ० ५१८ (द्वितीय खण्ड)।

३ द्वितीय भाग, पृ० ४०४–४०५, द्वितीय संस्करण।

४ कवीन्द्र-चन्द्रोदय में संगृहीत पद्य।

कवीन्द्राचार्य का पुस्तकालय

कवीन्द्राचार्य सरस्वती केवल एक संन्यासी ही नहीं थे, बल्कि संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् भी थे। इनका पुस्तकालय बड़ा विशाल था जिसमें हजारों पुस्तकें हस्तलिखित रूप में विद्यमान थीं। उस अतीत काल में जब पुस्तकों की 'कैटेलागिंग' की प्रणाली प्रचलित नहीं थी, कवीन्द्राचार्य ने अपने पुस्तकालय की पुस्तकों का 'सूचीपत्र' तैयार किया था। जिस प्रकार आधुनिक पुस्तकालयों की प्रत्येक पुस्तक पर उस महाविद्यालय या विश्वविद्यालय की 'सील' (मुहर या मुद्रा) अंकित रहती है उसी तरह आज से तीन सौ वर्ष पहले कवीन्द्राचार्य ने अपनी समस्त पुस्तकों के मुखपृष्ठ पर 'सर्वविद्यानिधान-कवीन्द्राचार्य-सरस्वतीनां पुस्तकम्' यह मुद्रा (सील या मुहर) अंकित की थी जिससे आज इन पुस्तकों को पहचानने में बड़ी सरलता होती है।

कवीन्द्राचार्य सरस्वती संन्यासी थे। अतः इनका कोई उत्तराधिकारी नहीं था। इन्होंने अपनी कोई गद्दी भी स्थापित नहीं की। अतएव इनकी मृत्यु के पश्चात् इनका विशाल पुस्तकालय बिखर गया अथवा नष्ट हो गया। इनके पुस्तकालय की अधिकांश पुस्तकों को सम्पूर्णानन्द-संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी ने खरीद लिया है जिससे उनकी सुरक्षा हो रही है। कवीन्द्राचार्य के पुस्तकालय की अनेक हस्तलिखित पुस्तकें 'ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा' में विद्यमान हैं जिनकी पहचान उनके मुखपृष्ठ पर लिखे 'सर्वविद्यानिधान-कवीन्द्राचार्य-सरस्वतीनां पुस्तकम्' इस उल्लेख से होती है। 'गायकवाड़ ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा' ने इनकी पुस्तकों का एक सूचीपत्र 'कवीन्द्राचार्य-सूचीपत्रम्' के नाम से 'गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज' संख्या १७ बड़ौदा से सन् १९२१ ई० में प्रकाशित किया था। यह सूचीपत्र वाराणसी के किसी मठ से प्राप्त किया गया था। डॉ० सर गंगानाथ झा ने उस सूचीपत्र की भूमिका में लिखा है : "कवीन्द्राचार्य संन्यासी थे और एक धनी व्यक्ति थे। ऐसी दशा में इनके पुस्तकालय का विशाल तथा समृद्ध होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।"

कवीन्द्राचार्य की कुछ हस्तलिखित पुस्तकें 'भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना' में भी सुरक्षित हैं। इस शोधसंस्थान में जनार्दन के द्वारा लिखित (१५१४-१४५८ ई०) **तत्त्वालोक** नामक ग्रन्थ का एक हस्तलेख विद्यमान है जिस पर यह वाक्य अंकित है 'श्रीमद्-विद्यानिधान-कवीन्द्राचार्य-सरस्वतीनां वेदान्त-तत्त्वालोकः।'

इन उल्लेखों से पता चलता है कि कवीन्द्राचार्य का पुस्तकालय कितना विशाल तथा महत्त्वपूर्ण था। इनकी मृत्यु के पश्चात् इनका कोई उत्तराधिकारी न होने के कारण यह सुसंगठित पुस्तकालय बिखर गया और इसकी पुस्तकें सुदूर बड़ौदा और पूना तक पहुँच गयीं।

बर्नियर से मित्रता—जब कवीन्द्राचार्य सरस्वती आगरा में थे तभी फ्रांस का सुप्रसिद्ध यात्री बर्नियर भारत-भ्रमण करने के लिए आया हुआ था। वह भारतीय संस्कृति का बड़ा प्रेमी था। अतः कवीन्द्राचार्य जैसे प्रकाण्ड विद्वान् से परिचय प्राप्त करना उसके लिए स्वाभाविक था। उसी समय शाहजहाँ के दरबार में **दानिशमन्द खाँ** नामक व्यक्ति रहता था जो बादशाह का बड़ा प्रियपात्र और प्रभावशाली सरदार था। आगरा में वह बर्नियर का आश्रयदाता था। अतः जब कवीन्द्राचार्य आगरा पहुँचे तब बर्नियर के माध्यम से इनका परिचय दानिशमन्द खाँ से भी हो गया। चूँकि वह स्वयं गुणग्राही व्यक्ति था अतः कवीन्द्राचार्य के प्रकाण्ड पाण्डित्य से प्रभावित होकर उसने इन्हें भी अपने आश्रय में स्थान दिया। बहुत सम्भव है कि हिन्दुओं के ऊपर लगाये गये यात्रीकर को हटाने में दानिशमन्द खाँ का भी हाथ रहा हो, यद्यपि बर्नियर ने इसका कहीं उल्लेख नहीं किया है। कवीन्द्राचार्य तीन वर्षों तक आगरा में रहे जहाँ इन्हें

शाहजहाँ और दाराशिकोह की कृपा और दानिशमन्द खाँ का आश्रय प्राप्त था। बर्नियर से इनकी बड़ी घनिष्ठ मित्रता हो गई थी जिसने इनकी भूरि-भूरि प्रशसा की है और 'समस्त भारत का एक महान् विद्वान्' की उपाधि से इन्हे मण्डित किया है।

कवीन्द्राचार्य का अन्तिम जीवन

सन् १६५८ ई० मे औरगजेब ने शाहजहाँ को बन्दी बनाकर आगरा के किले मे बन्द कर दिया। सन् १६५६ ई० मे उसने दाराशिकोह का बड़ी निर्दयता के साथ कत्ल कर दिया। दानिशमन्द खाँ की मृत्यु सन् १६७० ई० मे हो गयी। अतः अपने आश्रयदाता मुगल बादशाह तथा उसके गुणग्राही पुत्र की हत्या के बाद कवीन्द्राचार्य काशी लौट आये। सन् १६६७ ई० के पहले बर्नियर काशी की यात्रा के लिए आया था और उसने अपने यात्रावृत्तान्त मे लिखा है कि उसने कवीन्द्राचार्य के विशाल पुस्तकालय का निरीक्षण किया था। इसी अवसर पर कवीन्द्र ने काशी के तत्कालीन छः महान् विद्वानो को बर्नियर से भारतीय दर्शन पर वार्तालाप करने के लिए आमन्त्रित किया था। बर्नियर ने मूर्तिपूजा की उपयोगिता पर इन लोगो से प्रश्न भी किया था जिसका इन्होने बडा ही तर्कपूर्ण उत्तर दिया था।

कवीन्द्राचार्य का अन्तिम जीवन काशी मे ही पठन-पाठन तथा पूजा-पाठ मे व्यतीत हुआ। ये शाहजहाँ के द्वारा प्रदत्त धन को काशी के पण्डितो तथा निर्धनो मे वितरित कर दिया करते थे। इसमे सन्देह नही कि कवीन्द्राचार्य के समान विद्वान्, कर्मठ, परोपकारी, त्यागी और तपस्वी संन्यासी का होना अत्यन्त कठिन ही नही, दुर्लभ भी है।

परिशिष्ट (१)

सत्रहवी शताब्दी मे वर्तमान काशी के उन विद्वानो के ये नाम है, जिन्होने कवीन्द्राचार्य सरस्वती के द्वारा यात्री-कर के निरस्त कर दिये जाने के उपलक्ष्य मे, उनकी स्तुति मे, गद्य और पद्य मे, प्रशस्ति लिखी थी। इस सूची से ज्ञात होता है कि उस समय मे ये प्रसिद्ध विद्वान्, पण्डित तथा कवि वर्तमान थे। इनकी सख्या ६६ (उनहत्तर) थी जो निम्नाकित है—

(१) श्रीकृष्ण उपाध्याय (२) महाराज मिश्र या हेमराज मिश्र (३) जयराम भट्टाचार्य (४) माधव भट्ट (५) रामदेव भट्टाचार्य (६) कूर्माचल वीरेश्वर पण्डित (जो सभवतः कुमायूँ के निवासी थे) (७) खड्ग मिश्र (८) रघुनन्दन द्विवेदी (६) रघुनाथ दीक्षित (१०) क्षमानन्द वाजपेयिन् (११) भैय्या भट्ट या भय्या भट्ट (१२) केशव मिश्र (१३) सिद्धेश्वर भट्ट मीमासक (१४) चक्रपाणि पण्डित (१५) गणेश भट्ट धर्माधिकारिन् (१६) नागेश जो सोमराज पण्डित के पुत्र थे। (१७) परमेश्वराचार्य (१८) रामकृष्ण नागर (१६) विश्वभर मैथिलोपाध्याय (२०) जगदीश जानी (२१) रामेश्वर पचानन भट्टाचार्य (२२) जयकृष्ण उपाध्याय (२३) गौरीपति मिश्र (२४) नीलकण्ठ आचार्य (२५) दामोदर भट्टकाल (२६) विश्वनाथ ज्योतिर्विद् (२७) धर्मेश्वर अग्निहोत्री (२८) दामोदर उपाध्याय मैथिल (२६) ब्रजभूषण कवि (३०) श्री स्वामिन् (३१) कृष्णचन्द्र भट्ट (३२) बालकृष्ण त्रिपाठिन् (३३) अनिरुद्ध मिश्र (३४) बालगोविन्द ज्योतिर्विद् (३५) पूर्णानन्द ब्रह्मचारिन् (३६) मुरलीधर जो कालिदास मिश्र के पौत्र थे। (३७) कृष्णाचार्य (३८) महादेव पट्टवर्धन (३६) लीलाधर भट्ट (४०) बदरीनाथ उपाध्याय (४१) हीराराम कवि (४२) मौनि वीरेश्वर भट्ट (४३) श्री महीपति उपाध्याय (४४) शिवदत्त मिश्र (४५) कवि शेखर (४६) भूधर पाठक (४७) रघुनाथ उपाध्याय (४८) लक्ष्मण महापात्र (४६) श्री स्वामि शिष्य (५०) तिलभाण्डेश्वर (५१) ब्रह्मेन्द्र सरस्वती (५२) ब्रह्मेन्द्र स्वामिन् (५३) नारायण चतुर्वेद (५४) भानभट्ट या भानु भट्ट (५५) तैलग बैकुण्ठ भट्ट (५६) गगाराम मिश्र

(५७) जगन्नाथ पचानन भट्टाचार्य (५८) मैथिल कायस्थ (५६) गुर्जर (६०) स्वामिन् (६१) दयालु मिश्र (६२) वीरेश्वर भट्ट (६३) कमलनयन दीक्षित (६४) ब्रह्मगिरि (६५) त्वरित कविराय या त्वरित-गति कवि (६६) रामचन्द्र वाजपेयिन् (६७) मौनि रगनाथ भट्ट (६८) दिवाकर भट्ट और (६६) रगनाथ भट्ट गुर्जर।

काशी के ये समस्त उनहत्तर (६६) विद्वान् कवीन्द्राचार्य के समसामयिक थे और बर्नियर ने जब सन् १६६७ ई० मे बनारस की यात्रा की थी उसके पहले ये सभी विद्वान् जीवित थे। यह बहुत सभव है कि कवीन्द्राचार्य ने बर्नियर से जिन छः विद्वानो का परिचय तथा वार्तालाप कराया था वे छः इन्ही पण्डितो मे से हो। यह घटना सन् १६५६ ई० से लेकर सन् १६६७ ई० के बीच कभी घटित हुई थी।

परिशिष्ट (२)

प्रोफेसर श्रीराम शर्मा ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'बिब्लियोग्राफी आफ मुगल इण्डिया' (१५२६ १७०७ ई०) मे, जिसे कर्नाटक पब्लिशिंग हाउस, बम्बई ने सन् १६३६ ई० मे प्रकाशित किया है परिशिष्ट III, पृ० १५४ १६५ पर 'सस्कृत राइटर्स आफ दि मुगल पीरियड' नाम से तत्कालीन विद्वानो की एक सूची दी है जिससे कवीन्द्राचार्य के विषय मे यह सूचना मिलती है

कवीन्द्राचार्य यह एक विख्यात वैदिक विद्वान् थे जिन्होने ऋग्वेद के ऊपर एक टीका लिखी थी जिसका एक अश ही त्रुटित रूप मे उपलब्ध होता है। सभवत. यह उल्लेख 'शतपथ ब्राह्मण भाष्य' के सबन्ध मे ही ज्ञात होता है जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

सस्कृत के विद्वानो के लिए, उनकी अनुसन्धान सबन्धी सुविधा के लिए, मुगल काल (१५२६ १७०७ ई०) के उन सभी विद्वानो का यहा नाम्ना उल्लेख कर दिया जाता है जो लगभग इन दो शताब्दियो के बीच उत्पन्न हुए थे और जिनमे से सभवत अधिकाश काशी के ही निवासी थे।[1]

(१) अनन्तभट्ट (२) अनन्त पण्डित (३) अनन्त देव (४) कमलाकर भट्ट (५) कमलाकर (६) कविचन्द (७) कृष्ण (१६४५ ई०) (८) कृष्णदत्त मिश्र (सन् १६५० ई० के आसपास) (६) कालिदास (१६३२) (१०) गङ्गाधर (१६३३ ई०) (११) गगाधर (१२) गोविन्द (१३) गोकुलजित् (१४) गौरीपति (१६४० ई०) (१५) चिन्तामणि (१६३० ई०) (१६) जगन्नाथ पण्डित (१७) जगदानन शर्मन् (१८) जिनार्जुन (१६) जीव गोस्वामी (२०) द्या द्विवेद (१६८८) (२१) दुर्गादास (१६२८) (२२) देवसागर (१६६०), (२३) धनराज (२४) नन्दपण्डित (२५) नित्यानन्द (१६२६-१६४०), (२६) नीलकण्ठ भट्ट (२७) नीलकण्ठ दीक्षित (२८) पुरुषोत्तम (१६८८) (२६) बलभद्र (३०) भावदेव मिश्र (३१) भावदेव (१६६४) (३२) भट्टोजि दीक्षित यह वैयाकरण तथा विधिवेत्ता उस समय तक (१६२८) जीवित था, यद्यपि डॉ० पी० के० गोड ने इसमे सन्देह प्रकट किया है। (३३) मणिराम (१६४२) (३४) मणिराम दीक्षित (३५) माधव शुक्ल (१६४५) (३६) माधव ज्योतिर्विद् (३७) महादेव (३८) मित्र मिश्र (३६) रघुनाथ (१६५६) (४०) रगनाथ (१६५६) (४१) रामचन्द्र राजर्षि (१६३३) (४२) रामनाथ विद्यावाचस्पति (४३) रामाश्रम (४४) दत्त (४५) विजयानन्द (१६४१) (४६) विद्यानन्द (४७) विद्याधर (१६३६-१६४४) (४८) विष्णुपुरी (४६) विष्णु

[1] इस सूची के प्रामाणिक विवरण के लिए देखिए डॉ० बी० के० गोडे स्टडीज इन इण्डियन लिटरेरी हिस्ट्री, भाग २, पृ० ३३७।

(५०) विष्णुराम (५१) विश्वरूप (५२) विश्वनाथ दैवज्ञ (५३) विश्वनाथ पंचानन भट्टाचार्य (५४) वेदाङ्ग राय (१६४३) (५५) वेणिदत्त (१६४४), शिवराम, श्री धर्मपति शर्मन् (५६) सहज कीर्ति (५७) हरिदत्त भट्ट (१६३०) और (५८) अथर्वण प्रातिशाख्य के टीकाकार कोई अज्ञात लेखक।

मुगलकालीन विद्वानों की ऊपर सूची दी गयी है। उनमें से अनेक वैयाकरण जैसे — भट्टोजि दीक्षित, विधि-वेत्ता जैसे नन्द पण्डित, सबने काशी को ही अपनी कर्मस्थली बनाया था। इस सूची में उल्लिखित जगन्नाथ पण्डित से तात्पर्य पण्डितराज जगन्नाथ से ही समझना चाहिए जो मुगल बादशाह शाहजहाँ के अत्यन्त प्रियपात्र थे और उसके ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह के गुरु थे। सस्कृत-साहित्य के इतिहास के विद्यार्थियो के लिए तथा काशी की पाण्डित्य-परम्परा के अनुसन्धान-कर्त्ताओं के लिए, यह सूची अत्यन्त उपयोगी है। इसके साथ ही काशी के कवीन्द्राचार्य के समसामयिक जिन ६६ विद्वानों तथा कवियो ने उनकी प्रशसा में प्रशस्ति की रचना की है उस सूची का भी ऐतिहासिक मूल्य बहुत अधिक है। आशा है, भविष्य में अनुसधानकर्त्ता इन दोनो सूचियो का उपयोग कर अपने शोध को प्रगति प्रदान करेगे।

काशी के मध्ययुगीय विद्वानो की सरस्वती सेवा का यह सर्वेक्षण यहीं समाप्त किया जाना है। इसके अनुशीलन मे उसकी महत्ता, नूतनता तथा विकास की नवीन दिशा का सकेत सद्यः उपलब्ध होता है। अन्त मे यह कहना उचित प्रतीत होता है--

धन्येयं नगरी काशी, धन्यास्तत्रत्यपण्डिताः।
धन्यं तत्सृष्ट-साहित्यं, धन्यास्तद्रसिका बुधाः॥

परिशिष्ट (३)

१६५७ ई० काशी के मुक्तिमण्डप में महाराष्ट्र पण्डितों की सभा की गई थी जिसमें 'दैवरुखे' नामक महाराष्ट्र ब्राह्मणो के ब्राह्मणत्व का निर्णय किया गया था। उस सभा मे उपस्थित पण्डितों के नाम यहाँ दिये जाते है। इससे निश्चित है कि १७वी शती के मध्य भाग मे इन विद्वानों का आवास तथा प्रसिद्धि काशी मे थी। **पण्डितों के नाम**[१] पूर्णेन्द्र सरस्वती स्वामी। महाशरदे ज्योतिषी। ब्रह्मेन्द्र सरस्वती। गौतम राम भट्ट। शिवराम तीर्थ। माधवदेव। नारायण तीर्थ। राम राम भट्टाचार्य। व्यासेन्द्र। गोमाजी भट्ट। रामहृदय। भट्ट नीलकण्ठ। काशी सोमयाजी शेष। कृष्णभट्ट। कृष्णभट्ट बरकले। भावे गणेश दीक्षित। अनन्त देव। विद्यानिवास भट्टाचार्य। गागा भट्ट। गोपी भट्ट मौनी। साम्राज्यपण्डित (जगन्नाथ ?)। रघुदेव भट्टाचार्य। खण्डदेव। दशपुत्र गोविन्द भट्ट। अपय्या दीक्षित। आरडे नारायण भट्ट। बालकृष्ण कविमण्डन। गह्वार नृसिह भट्ट। भट्ट अनन्त मीमासक (गाडगिल)। गोविन्द भट्टाचार्य। जयराम न्यायपञ्चानन। तुलसी देव भट्ट। भारद्वाज महादेव। चण्डी भैरव। साठे महादेव। भास्कर ज्योतिषी। पोटे महादेव। १६५७ ई०—कवीन्द्राचार्य वरणा तट आश्रम में निवास।

यह काशीस्थ पण्डितो की तीसरी सूची दी गई है। ये समस्त पण्डित १७वी शती के मध्यभाग मे काशी में अपनी विद्वत्ता के कारण प्रसिद्धि-प्राप्त थे। इन तीनों सूचियो के एकत्र करने से स्पष्ट है कि १७वीं शती का काल पण्डितों के गौरव का सुवर्णयुग था। इतने पण्डितों की सत्ता उस युग के संस्कृत भाषा तथा साहित्य के उत्कर्ष की सद्यः द्योतक है।

●

१. द्रष्टव्य—पं० भाऊशास्त्री बझे रचित 'काशीतिहासः' नामक सस्कृत ग्रन्थ, (पृ० ७५), वाराणसी, वि० स० २०११।

द्वितीय खण्ड

अवतरणिका

अध्याय	
४	काशिराजकीय सस्कृत पाठशाला का सक्षिप्त इतिहास ।
५	काशिराज का इतिहास तथा सस्कृत-सेवा ।
६	काशीस्थ पण्डितो की सामान्य विशेषताएँ ।
७	आक्षेपो का निरसन ।



अध्याय ४

काशिराजकीय संस्कृत पाठशाला

(बनारस संस्कृत कॉलेज)

संक्षिप्त इतिहास

काशी की पाण्डित्य-परम्परा के इतिहास मे २८ अक्टूबर १७६१ ई० (स० १८४८ वि०) का दिनाक सुवर्णाक्षरो मे अकित करने योग्य है क्योकि इसी दिन के मगल प्रभात म **काशि-राजकीय सस्कृतपाठशाला** की स्थापना की गई थी। इसी पाठशाला मे विधिवत् अध्ययन करनेवाले छात्रो ने तथा अध्यापन करनेवाले गुरुजनो ने सस्कृतविद्या के नाना विभागो की अभिवृद्धि मे अभूतपूर्व योगदान दिया। इसी विद्यालय ने प्राचीनकाल से चली आती हुई सस्कृत परम्परा का सरक्षण किया तथा विगत दो सौ वर्षों से अखिल भारत मे सस्कृत विद्या के प्रचार तथा प्रसार का श्रेय भी प्राप्त किया इसी विद्यालय मे शिक्षा प्राप्त करके अनेक विद्वानो ने अखिलभारतीय कीर्ति प्राप्त की और अपनी यशरूपी पताका फहराई।

काशी के पण्डितो तथा विद्वानो के लिए यह पाठशाला विद्या की उत्स भूमि रही है। सभवतः कदाचित् ही कोई सस्कृत का ऐसा विद्वान् रहा हो जो इस पाठशाला से छात्र अथवा शिक्षक के रूप मे सबद्ध न रहा हो, प्राचीनकाल से ही काशी विद्या की केन्द्रस्थली रही है। परन्तु इस विद्यालय के द्वारा काशी की यह कीर्ति शताधिक गुणवृद्धि को प्राप्त हो गई। अनेक भारतीय राजा और महाराजा अपने राजगुरुओं को काशी के इस विद्यालय मे सस्कृत का अध्ययन करने के लिए भेजा करते थे। सच तो यह है कि इस विद्यालय मे बिना अध्ययन किये हुए किसी विद्वान् की विद्या पूर्ण नही समझी जाती थी।

कॉलेज का जन्म तथा उद्देश्य

इसी समय (१७५० ई०) के आस पास ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अधिकार बगाल, बिहार तथा उत्तरप्रदेश मे हुआ। कम्पनी के अधिकारियो ने इस देश मे अपने राज्य को प्रतिष्ठित करने के लिए हिन्दुओं तथा मुसलमानो को प्रसन्न करने के लिए उनकी प्राचीन विद्या को सुरक्षित करने का सकल्प किया और इसी सकल्प को कार्यान्वित करने के लिए उन्होने मुसलमानो की शिक्षा के लिए कलकत्ता मे 'मदरसा' को स्थापित किया। हिन्दुओं की प्राचीन तथा पवित्र सस्कृत विद्या को सरक्षण प्रदान करने के लिए उन्होने काशी को चुना। उस समय काशी मण्डल के शासनाधिकारी (रीजण्ट) डकन साहब थे जिन्होने लार्ड कार्नवालिस (शासनकाल १७८६ ई० १७६४ ई०) से प्रार्थना कर यहाँ एक सस्कृतविद्यालय की स्थापना करने की स्वीकृति प्राप्त कर ली। इसी डकन साहब के प्रार्थना तथा अनुरोध करने पर तत्कालीन काशीनरेश **महाराजा महीपनारायण सिंह** ने प्रचुर धन तथा भूमि प्रदान कर एक विद्यालय की स्थापना की, जिसका नाम **काशिराजकीय सस्कृतपाठशाला** रखा गया। महाराजा ने इस पाठशाला के सचालन के लिए मिर्जापुर जिले की 'सतासी परगना' नामक अपनी जमीदारी

का एक विशिष्ट भाग भी प्रदान किया। उन्होने वह विस्तृत भूमिखण्ड भी दान मे दिया जहाँ वह पाठशाला जो अब सम्पूर्णानन्द-सस्कृत विश्वविद्यालय के नाम से प्रसिद्ध है– आज भी स्थित है।

इस प्रकार सन् १७९१ ई० मे काशिराजकीय सस्कृतपाठशाला की स्थापना काशीनरेश की आर्थिक सहायता से सम्पन्न हुई। इसकी स्थापना करने मे ईस्टइण्डिया कम्पनी के तत्कालीन अधिकारी **जोनाथन डकन** साहब का प्रमुख हाथ रहा। ये डकन साहब कम्पनी की ओर से कम्पनी के अधिकार मे आनेवाले भारत के पूर्वी प्रदेश के शासनाधिकारी (रीजेण्ट) नियुक्त किये गये थे। इन्होने बनारस तथा इसके आसपास के पूर्वी जिलो मे जमीन के लगान का बन्दोबस्त एक नयी शैली से किया जो उन्हीके नाम पर 'डकनी बन्दोबस्त' के नाम से आज भी प्रसिद्ध है।

जोनाथन डकन ने उस युग के पख्यात शासक तथा गवर्नर का पद सुशोभित किया। इनका जन्म १५ मई, १७५६ ईस्वी मे हुआ पिता का नाम था एलेकजेन्डर डकन। ईस्ट इडिया कम्पनी की सेवा मे ये कलकत्ता आये १७७२ ईस्वी मे। बनारस के रेजिडेन्ट तथा सुपरिन्टेन्डेन्ट बनाये गये १७८८ ई० मे और इन्होने शासन मे होनेवाले दोषो को दूर कर उसे स्वच्छ बनाया और बनारस मे प्रचलित शिशु हत्या की प्रथा को बन्द कराया। काशी मे रहते हुए इसी कालखण्ड मे इन्होने 'काशिराजकीय सस्कृतपाठशाला' की स्थापना मे योगदान दिया। बडी कीर्ति अर्जित की फलत: बम्बई प्रान्त के १६ साल की सुदीर्घ अवधि तक गवर्नर (वरिष्ठ शासक) बने रहे (१७९५ ई० १८११ ई०) भारतवर्ष के इतिहास मे इस समय टीपू सुल्तान तथा मराठो मे युद्ध चल रहा था। इन कार्यों मे भी इन्होने सहायता की तथा पश्चिमी प्रान्त मे कम्पनी सरकार की शासन व्यवस्था को सुदृढ किया। वे बम्बई मे १८११ ई० मे मरे जहा इनकी कब्र पर इनके लिये प्रशसा के शब्द अकित है अग्रेजी मे 'ही वाज ए गुड मैन एण्ड ए जस्ट' (वे बडे भले तथा न्यायप्रिय व्यक्ति थे)। बनारस सस्कृत कालेज की स्थापना मे योगदान के कारण इनका नाम पण्डित समाज मे सर्वदा समादृत रहेगा।

इस सस्कृत विद्यालय मे जो बाद मे बनारस सस्कृतकालेज के नाम से प्रसिद्ध हुआ वेद वेदाङ्ग, दर्शन और धर्मशास्त्र का अध्यापन किया जाता था परन्तु इन विषयो मे भी धर्मशास्त्र की शिक्षा पर सरकार का विशेष बल था, क्योकि उन दिनो की सरकारी कचहरियो मे हिन्दू ला (विधि) की मीमासा करने के लिए इन धर्मशास्त्रियो की नितान्त आवश्यकता थी। इन्ही धर्मशास्त्रियो की सहायता से तत्कालीन न्यायाधीश (जज) हिन्दू ला (विधि) सम्बन्धी व्यवहारो (मुकदमो) का निर्णय किया करते थे। इसके अतिरिक्त शासको का यह भी उद्देश्य था कि हिन्दुओं के कानून के अनुसार उनके मुकदमो का निर्णय करने से वे प्रसन्न होगे तथा ब्रिटिश सरकार की न्यायप्रियता मे विश्वास करने लगेगे। इस प्रकार इस सस्कृतविद्यालय की स्थापना का उद्देश्य केवल सस्कृतविद्या का प्रचार ही नही था, बल्कि सरकारी अदालतो मे इन पण्डितो से सहायता लेना भी था। इसीलिए इस विद्यालय के सर्वप्रथम विद्वान् पण्डित **राजाराम शास्त्री** की नियुक्ति, इस महाविद्यालय मे नियुक्ति के पूर्व, आजमगढ़ के जिला जज की कचहरी मे न्याय पण्डित के पद पर की गई थी।

इस प्रकार आरम्भ की अर्ध शताब्दी मे सन् १७९१ ई० से लेकर सन् १८४४ ई० तक –इस महाविद्यालय की व्यवस्था तथा सरक्षण का कार्य यहाँ के शासनाधिकारियो (रीजेण्ट) के हाथो मे ही रहा। परन्तु धीरे धीरे इन अधिकारियो को यह ज्ञात होने लगा कि भारतवासियो

को यूरोपीय साहित्य तथा दर्शनशास्त्र का ज्ञान कराना आवश्यक है। इसलिए वे ऐसे किसी व्यक्ति को इस विद्यालय का प्रिन्सिपल बनाना चाहते थे जो प्रथमतः तो संस्कृतज्ञ हो और इसके साथ ही यूरोप के ज्ञान-विज्ञान से भी परिचित हो। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए यूरोप से ऐसे विद्वानों को बुलाया जाने लगा जो उपर्युक्त दोनों कार्यों को करने में समर्थ हों। १८४६ ई०-४८ ई० में प्रथम बार अंग्रेजी-संस्कृत-विभाग की स्थापना की गई जिसमें अंग्रेजी के अध्ययन की व्यवस्था हो सकी।

(१) जान म्यूर (१८४४-४५ ई०)

संस्कृतकॉलेज के प्रथम प्रिन्सिपल पद पर नियुक्त जान म्यूर साहब का स्काटलैंण्ड के ग्लासगो शहर में १८१० ई० में जन्म हुआ। इनके पिता बड़े व्यापारी थे। इनकी शिक्षा प्रथमतः उसी शहर के विश्वविद्यालय में हुई, तत्पश्चात् ईस्ट इण्डिया कम्पनी के द्वारा 'हेलीबरी' नामक स्थान में स्थापित कॉलेज में हुई जहाँ इन्होंने भारतीय इतिहास एवं शासकीय प्रबन्ध का ज्ञान प्राप्त किया। आई० सी० एस० सेवा में नियुक्त होकर ये भारतवर्ष १८२८ ई० में आये और १८५३ ई० में सेवामुक्त होकर स्वदेश लौट गये। भारतवर्ष में इन्होंने एक वर्ष तक कलकत्ता फोर्ट विलियम कॉलेज में ही बंग भाषा के प्रोफेसर विलियम केरी से बँगला भाषा सीखी। उत्तरप्रदेश में ही इनकी प्रशासनिक सेवायें आरम्भ से अन्त तक रही। इसी समय इन्होंने संस्कृत का अभ्यास किया। संस्कृत में लिखने की तथा पद्य-रचना की क्षमता इन्होंने प्राप्त की जो सर्वथा श्लाघनीय तथा अभिनन्दनीय थी। इलाहाबाद में बोर्ड आफ रेवेन्यू के सहायक सेक्रेटरी तथा आजमगढ़ के कलक्टर के रूप में इन्होंने कार्य किया। १८४४-४५ ई० में संस्कृतकॉलेज की अध्यक्षता के समय इन्होंने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन संस्कृत में किया। कॉलेज में अध्ययन तथा पठन की सुव्यवस्था करने में इन्होंने बड़ी निष्ठा दिखलाई। सरल संस्कृत में आदेश निकालते थे तथा इनके अनुष्ठान पर बड़ा आग्रह करते थे। ३ जून सन् १८४४ में इन्होने अनुष्टुप् पद्यों में अपना आदेश निकाला था—

योज्यमेव बुधैः सर्वैः सच्छात्राणां च शिक्षणम्।
ग्रन्थानां लापने शक्तिर्यथा जायेत सत्वरम्॥
व्यायामेन विना यद्वद् वपुश्शक्तिर्न जायते।
तद्वत् स्वबुद्ध्या व्याख्यानं विना नो बुद्धिशक्तयः॥
स्वशक्त्योत्प्लुत्य तरणे निमज्योन्मज्य चाचिरात्।
प्लवशक्तिस्तथा बुद्धिः स्वशक्त्या ग्रन्थवर्णने॥

श्लोक सरल—सुबोध हैं तथा साधारण छात्रों को भी बोधगम्य है। इसके लिए म्यूर साहब प्रशंसा के योग्य है।[1] काशी के पण्डितों को अंग्रेज जाति के इतिहास से परिचित करने के लिये इन्होंने संस्कृत में ग्रन्थ लिखा तथा प्रकाशित किया। ग्रन्थ का नाम है–नूत्नोदन्तोदोत्सः अर्थात् ज्ञानप्रशंसापूर्वकं इंग्लडाख्यदेशरीतिवर्णनम्। ग्रन्थ का विचित्र नाम है जिसे लेखक ने अपने संस्कृत-ज्ञान के परिचय के निमित्त तैयार किया है। नाम का अर्थ—नूत्न (नूतन)+उदन्त (वृत्तान्त)+उद (उदक)+उत्स (मूल स्थान)। संस्कृत तथा भारतीय भाषाओं में उनके ग्रन्थ हैं। थे तो वे प्रशासनाधिकारी, किन्तु वे हृदय से ईसाई-धर्म के प्रचारक-प्रसारक भी थे। उनका

---

१. इनके संस्कृतबद्ध आदेशों के लिए देखिये—रजतजयन्ती स्मारिका १९८३ (प्रकाशक—सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी) पृष्ठ १७-२२।

एतद्विषयक अनुष्टुप्-बद्ध संस्कृतग्रन्थ **मतपरीक्षा** है जिसका वर्णन आगे किया जायेगा। १८८२ ई० में इनका निधन हुआ।

सेवानिवृत्ति के अनन्तर वे स्काटलैण्ड की राजधानी 'एडिनबरो' में निवास करने लगे और संस्कृत भाषा तथा साहित्य की उन्नति के लिए उन्होंने उस नगर के प्राचीन विश्वविद्यालय में 'संस्कृत चेयर' की स्थापना की। यहीं रहकर उन्होंने बारह वर्षों तक लगातार परिश्रम कर अपना शिरोमणि ग्रन्थ पाँच विशाल खण्डों में प्रकाशित किया जिसका अंग्रेजी नाम है—**ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट आन दी ओरिजिन ऐण्ड हिस्टरी आफ दी पीपुल आफ इण्डिया** अर्थात् भारत के निवासियों के इतिहास तथा उद्गम के विषय में मूल संस्कृत उद्धरण। इस ग्रन्थ में भारतवासियों के प्राचीन इतिहास, धर्म, आचार-विचार-विषयक संस्कृत के उद्धरण नाना ग्रन्थों से एकत्र कर अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित हैं। यह पञ्चखण्डात्मक ग्रन्थ उपादेय सामग्री से मण्डित होने के कारण आज भी उपादेय एवं संग्रहणीय है।

जान म्यूर के अनुज सर विलियम म्यूर (१८१९–१९०५) अरबी के विद्वान् थे। मुहम्मद साहब तथा कोरान पर प्रामाणिक ग्रन्थ-लेखन के लिए वे प्रसिद्ध हैं। वे प्रशासनिक सेवा में उच्चतर पद पर प्रतिष्ठित थे। उत्तरप्रदेश के सबसे बड़े अधिकारी लेफटिनेन्ट गवर्नर थे। उन्हींकी स्मृति में इलाहाबाद का म्यूर सेन्ट्रल कॉलेज स्थापित किया गया।

कॉलेज के व्यवस्थित रूप से स्थापित तथा प्रचारित होने पर अंग्रेजी ग्रन्थों का संस्कृत मे तथा संस्कृत ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद प्रस्तुत करने का कार्य विधिवत् प्रारम्भ हुआ। उस युग के संस्कृत के चार विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने अंग्रेजी में निबद्ध दार्शनिक ग्रन्थों का अनुवाद सरस-सुबोध संस्कृत में स्वतः सम्पादित किया तथा अंग्रेज विद्वानों को अनुवाद-कार्य में पूरा सहयोग दिया। उस युग में अंग्रेजी भाषा का प्रकृष्ट ज्ञान प्राप्त करनेवाले ये पण्डित सर्वथा अभिनन्दनीय हैं। इनके नाम हैं—

१. पण्डित केशवशास्त्री मराठे

ज्ञानसिद्धान्तचन्द्रिका। यह *A Treatise Concerning the Principle of Human Knowledge* नामक अंग्रेजी ग्रन्थ का अनुवाद है। इस ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन काशी विद्या सुधानिधि (दी पण्डित) में सन् १८७३–१८७५ ई० के अंकों में प्रकाशित किया गया था। इस ग्रन्थ का नवीन प्रकाशन इधर तुलनात्मक धर्मदर्शन-विभाग के प्राध्यापक श्री राधेश्याम धर द्विवेदी ने किया है।

२. पण्डित ढुण्ढिराजशास्त्री

मानवज्ञानविषयक शास्त्रावतार : अंग्रेज दार्शनिक ह्यूम के *The Essay Concerning Human Understanding* का अनुवाद है जो कॉलेज से प्रकाशित होनेवाली पण्डित पत्रिका (दी पण्डित) में प्रकाशित किया गया था।

३. पण्डित विट्ठल शास्त्री

सुप्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक बेकन के द्वारा निर्मित प्रसिद्ध ग्रन्थ नोवुम आरगेनुम, *(Novum Organum)* के प्रथम तथा द्वितीय भाग का संस्कृत में अनुवाद विट्ठल शास्त्रीजी ने किया था।

उस युग के पंडितों में श्री विट्ठलशास्त्री का नाम विशेष आदर तथा सत्कार के साथ लिया जाता है। इनका मूल स्थान कोंकण में कल्याण नामक गाँव था। इनके पिता श्री

बालकृष्ण जोशी महाराष्ट्री ब्राह्मण थे। जब शास्त्री आठ वर्ष के थे तभी उनके माता पिता काशी मे आकर रहने लगे। चार वर्ष के भीतर ही माता पिता दोनो लोग मर गये। १२ वर्ष की अवस्था मे ही इन्होने ऋग्वेद तथा ब्राह्मण का अध्ययन कर लिया था। उस युग के पर्वतीय **पडित भवानी शंकर शास्त्री** के पास इन्होने साहित्यशास्त्र का गभीर अध्ययन किया। आन्ध्रदेशीय विद्वान् **पं० भाऊ शास्त्री** से इन्होने न्यायशास्त्र का विधिवत् अध्ययन किया। कालेज के प्रिंसिपल व्यालटाइन की आज्ञा से उसके अंग्रेजी विभाग मे पढ़ने के लिए प्रवेश प्राप्त हो गया। वहाँ इन्होने १० वर्षो तक अंग्रेजी की प्रौढ़ शिक्षा प्राप्त की। वे इतने चतुर तथा गम्भीर विद्वान् बन गये कि इन्होने बेकन के अंग्रेजी ग्रन्थ का, जिसका नाम ऊपर दिया गया है, सस्कृत मे अनुवाद किया। यह बड़ी विलक्षण बात है। एक तो अंग्रेजी का प्रौढ़ ज्ञान प्राप्त करना ही पहले कठिन काम है, फिर अंग्रेजी ग्रन्थ का सस्कृत मे अनुवाद करना और भी कठिन है। इस अनुवाद से विट्ठल शास्त्री के गभीर पाण्डित्य का सद्य परिचय मिलता है। इन्होने व्यालटाइन को सस्कृत ग्रन्थो का अंग्रेजी अनुवाद करने मे विशेष सहायता प्रदान की। इनकी विद्वत्ता से प्रसन्न होकर उन्होने १८५३ ई० मे शास्त्रीजी को न्यायशास्त्र का सहकारी अध्यापक नियुक्त किया। इनका कार्य इतना उत्तम था कि उन्होने इनको १८५६ ई० मे साख्यशास्त्र का प्रधान अध्यापक नियुक्त कर दिया। इनके ऊपर ग्रिफिथ साहब की भी बडी कृपा रही जो नये प्रिंसिपल होकर आये थे। विट्ठल शास्त्रीजी अध्यापन कार्य मे बडे निपुण थे परन्तु उनका स्वास्थ्य गिरने लगा। थोड़े ही दिनो मे रोग बढ़ता ही गया। १८६७ ई० के २७ मार्च को इनका देहान्त हो गया। ये उस समय ३६ वर्ष के ही थे। इतनी कम आयु मे इतने विशिष्ट कार्य का सपादन इनके अलौकिक व्यक्तित्व को प्रकट करता है।

४. पण्डित गोविन्द देव शास्त्री

वेदान्तसार का अंग्रेजी अनुवाद। शास्त्रीजी ने ए० ई० गफ साहब के साथ सयुक्त रूप मे विद्वन्मनोरजनी नामक टीका के साथ यह अनुवाद प्रस्तुत किया था जो पण्डित पत्रिका मे प्रकाशित हुआ था। इसके अतिरिक्त शास्त्रीजी ने राजशेखर कवि के प्रख्यात नाटक **बालरामायण** का भी सस्करण प्रकाशित किया था जो बहुत दिनो तक उस ग्रन्थ का एकमात्र सस्करण था।

डॉक्टर गफ साहब (A. E. Gaugh) ने सस्कृत के ग्रन्थों का अंग्रेजी मे अनुवाद किया था जिनमे प्रमुख है—(१) कणाद के वैशेषिक सूत्रों का अनुवाद, (२) सिद्धान्त मुक्तावली का अनुवाद, (३) सर्वदर्शनसग्रह का अंग्रेजी अनुवाद (डॉ० कावेल के साथ)। अनुवाद का कार्य 'आङ्ग्ल सस्कृत' विभाग के अन्तर्गत किया जाता था (१८४७ ई० –४८ ई०) से। १८७७ ई० में यह विभाग बन्द कर दिया गया, परन्तु १८८२ ई० मे ग्रिफिथ साहब के प्रयत्न से पुनः प्रारम्भ किया गया। उन्होने स्वय वेदो का तथा रामायण का सरल सुबोध अनुवाद किया। प्रिन्सिपल जे० आर० ब्येलेन्टाइन ने **न्यायकौमुदी** के आरम्भ में ब्रिटिश तथा गौतम के विचारो के तुलनात्मक विवेचन की ओर स्वय सकेत किया है—

> **यन्मतम् इङ्गलैण्डीयानां मतं यद् गौतमस्य च ।**
> **तयोः साम्यं विरोधश्च विषयोऽत्र विविच्यते ॥**

अंग्रेज प्रिन्सिपल

इस महाविद्यालय के प्रथम प्रिन्सिपल के पद पर (१) **जान म्यूर** की नियुक्ति की गयी जिन्होंने सन् १८४४ और १८४५ ई० केवल दो वर्षों तक कार्य किया। इसके अनन्तर जे०

आर० बैलेन्टाइन दूसरे प्रिन्सिपल (सन् १८४६ से १८६१ ई०) नियुक्त हुए। इन दोनों प्रिंसिपलों के कार्यकाल में इंग्लैड के इतिहास, पश्चिमी दर्शन, नीतिशास्त्र, पश्चिमी विधान आदि विषयों के ऊपर संस्कृत के माध्यम से नये-नये ग्रन्थों की रचना की गयी। इन विषयों के ऊपर इस महाविद्यालय में अनेक भाषण भी होते थे।

(२) डॉ० बैलेन्टाइन (१८४६ ई०-१८६१ ई०)

बैलेन्टाइन का जीवनवृत्त : (पूरा नाम था 'जेम्स राबर्ट बैलेन्टाइन')-- स्काटलैण्ड में दिसम्बर १३, १८१३ ई० में जन्म। एडिनबरो न्यू अकाडेमी तथा कॉलेज में अध्ययन और यहीं उन्होंने पूर्वीय भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया। एडिनबरो के नाविक तथा सैनिक अकाडेमी में इन्होंने इन भाषाओं का अध्यापन किया। इसके अनन्तर ये भारत आये और बनारस संस्कृत कॉलेज के अध्यक्ष नियुक्त हुए जहाँ सन् १८४६ ई०-१८६१ ई० तक कार्य किया। भारत में रहते समय इन्होंने संस्कृत के दार्शनिक ग्रन्थों का विधिवत् अध्ययन किया। संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद अंग्रेजी भाषा में किया। सस्कृत सीखने के लिए लघुकाय व्याकरण की रचना अंग्रेजी में की। भारतवर्ष से लौट आने पर ये लण्डन के इंडिया आफिस नामक पुस्तकालय के अध्यक्ष बनाये गये। भारत की अनेक भाषाओं का ज्ञान इन्हें था। फलतः हिन्दुस्तानी तथा मराठी दोनों भाषाओं का व्याकरण लिखा। लण्डन में ही १६ फरवरी, १८६४ ई० में इनका निधन हुआ। एल० एल० डी० की उपाधि भी इन्हें प्राप्त थी।

संस्कृत भाषा के प्रचार तथा प्रसार के निमित्त अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। नीलकण्ठ शास्त्री गोरे इनके सहायक पण्डित थे। इनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

'बनारस संस्कृत कॉलेज' के आरम्भिक काल में कॉलेज की व्यवस्था एवं अध्यक्षता की दृष्टि से तीन योरोपी संस्कृतज्ञों का नामोल्लेख पाया जाता है। इनमें से एक हैं—(१) एफ० ई० हाल् तथा दूसरे हैं—(२) ए० डबलू० गफ। हाल् महोदय बालेन्टाइन के समय में १८५१ ईस्वी में कॉलेज के सहायक (ऐसिस्टेन्ट) प्रिन्सिपल थे। इसका उल्लेख कॉलेज के ही अध्यापक प० विट्ठलशास्त्री ने अपने एक पत्र में किया है जिसे उन्होंने 'शब्दकल्पद्रुम'[१] के मुख्य सम्पादक सर राधाकान्त देव को लिखा था। हाल् साहब की दो रचनायें उपलब्ध होती हैं। उन्होंने नीलकण्ठ शास्त्री गोरे द्वारा रचित भारतीय दर्शन के खण्डनपरक **षड्दर्शनदर्पण** नामक हिन्दी ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद १८६० ई० में किया था जिसका नाम है *A Rational Refutation of the Hindu Philosophical Systems*। उनका दूसरा ग्रन्थ दशरूपक का अनेक हस्तलेखों के आधार पर प्रस्तुत प्रसिद्ध संस्कृत नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ है, जिसके प्रथम पृष्ठ पर अंकित है—श्रीयुतेन फित्स-एड्वार्ड्-हल-नामकमहोदयेन प्रकाशितम्। कलिकातानगरे वाप्तिस्टमिशन-यन्त्रे ग्रन्थोऽयं मुद्राङ्कितोऽभूत्। शकाब्दा १७८६। इं० १८६५॥ इस ग्रन्थ की ३२ पृष्ठों की अंग्रेजी भूमिका में भारतीय नाट्य विषयक बहुत विशिष्ट उपादेय तथ्य संगृहीत किये गये हैं। दशरूपक तथा उसकी आलोक टीका से मण्डित यह संस्करण इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण माना जाता है। सम्पादक को भरत नाट्यशास्त्र के हस्तलेख प्राप्त हुए। दशरूपक की पूर्वपीठिका के रूप में उन्होंने नाट्यशास्त्र के चार अध्यायों (१८, १९, २० तथा २४) को परिशिष्ट में दे दिया है। इस ग्रन्थ की भूमिका की रचना २० फरवरी १८६२ ईस्वी में 'भिलसा कैम्प' में की गई थी। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये काशी से मध्यप्रदेश में चले आये थे

---

१. शब्दकल्पद्रुम के द्वितीय संस्करण की भूमिका में पृष्ठ ७ पर उनका संस्कृत में निबद्ध पत्र प्रकाशित है।

जहाँ स्कूलो के निरीक्षक पद पर नियुक्त थे। दोनो ग्रन्थो से इनके सस्कृत भाषा के ज्ञान तथा साहित्यिक अभिरुचि का परिचय मिलता है।

दूसरे अग्रेज सस्कृतज्ञ **गफ साहब** थे। ये १८७६ ई० मे कॉलेज के स्थानापन्न प्रिन्सिपल थे। इन्होने उपनिषदो के विषय मे अग्रेजी मे ग्रन्थ का प्रणयन किया था जो उस युग मे विख्यात तथा लोकप्रिय रहा।

(३) तीसरे अग्रेजी विद्वान् **जान नेसफील्ड** १८७६ ई० मे कॉलेज के प्रिन्सिपल थे। इनकी सस्कृत-सेवा अज्ञात है, परन्तु इन्होने स्कूलो मे छात्रोपयोगी अग्रेजी भाषा का ग्रामर अनेक भागो मे तैयार किया था जो माध्यमिक स्कूलो मे अनेक वर्षों तक पाठ्यग्रन्थ रहा। ये इस प्रान्त मे शिक्षा-विभाग के डायरेक्टर (निदेशक) भी थे और इस दृष्टि से इनकी उस समय विशेष ख्याति थी।

(१) बैलेण्टाइन ने सस्कृत सीखने के लिए एक छोटा सा व्याकरण भी अग्रेजी मे लिखा था जिसका हिन्दी अनुवाद डॉ० अमरनाथ पाण्डेय, अध्यक्ष, सस्कृत विभाग, काशी विद्यापीठ ने प्रकाशित कराया है। ग्रन्थ छोटा होने पर भी उपादेय है।

(२) **लघुसिद्धान्तकौमुदी** का सुबोध अग्रेजी अनुवाद। यह अनुवाद बडी ही सुबोध भाषा मे किया गया है जिसकी सहायता से इस आरम्भिक ग्रन्थ का पूरा परिचय पाठको को मिल जाता है। इस ग्रन्थ की भूमिका ३१ जुलाई १८४६ ई० मे लिखी गई थी और यही इसके प्रथम प्रकाशन का वर्ष है। यह ग्रन्थ बडा ही लोकप्रिय हुआ। चतुर्थ सस्करण १८९१ ई० मे प्रकाशित हुआ था। इसीका पुनः मुद्रण मोतीलाल बनारसीदास ने दिल्ली से प्रकाशित किया है। प्रथम पुनर्मुद्रण १९६७ मे था, द्वितीय पुनर्मुद्रण १९७६ मे।

(३) इनका तीसरा ग्रन्थ कपिल के साख्यसूत्रो का अग्रेजी अनुवाद है—**साख्य अफारिज्म्स आफ कपिल**। इसका प्रथम प्रकाशन १८५२ ईस्वी मे हुआ था और दूसरा मुनर्मुद्रण चौखम्भा ने काशी से इधर प्रकाशित किया है (१९५० ई०)। यह बडा उपादेय अनुवाद है, केवल मूलसूत्रो का ही नही, अपितु साख्यप्रवचनभाष्य के उपयोगी अशो का भी, जिससे सूत्र का तात्पर्य भलीभाँति बोधगम्य हो जाता है। ग्रन्थ की भूमिका मे डॉ० बैलेन्टाइन ने बडी ईमानदारी से लिखा है कि "इस अनुवाद का उद्देश्य यही है कि अग्रेजी से परिचित होनेवाले हमारे विद्यालय के पण्डितजन इसकी समीक्षा करे कि सस्कृत के पारिभाषिक शब्दो तथा दुरूह सिद्धान्तो का अनुवाद अग्रेजी माध्यम से ठीक-ठीक हो सका है या नही। उनकी अनुकूल आलोचना से ही मै अपने परिश्रम को सफल मानूँगा।" इसका प्रचुर प्रचार उस युग मे हुआ तथा इनका प्रयोजन पर्याप्तरूपेण सफल हुआ।

(४) डॉ० बैलेन्टाइन का चतुर्थ ग्रन्थ सदानन्द के 'वेदान्तसार' का एक सुन्दर सस्करण है जिसको अग्रेजी अनुवाद के साथ उन्होने १८४० ईस्वी मे प्रकाशित किया था। यह उस समय बहुत प्रसिद्ध हुआ था, परन्तु १८९३ ई० से बहुत पहले ही दुर्लभ हो गया था। इसकी सूचना का कर्नल जेकब के द्वारा सम्पादित टीकाद्वयी के साथ सम्पन्न 'वेदान्तसार' की भूमिका[1] से पता चलता है।

---

१ नृसिहसरस्वती तथा रामतीर्थ की टीका के साथ सम्पादित (निर्णय-सागर प्रेस, बम्बई, १९१६ ई०)।

(३) आर० टी० एच० ग्रिफिथ (१८६१-१८७८ ई०)
(४) डॉ० जी० थीबो (१८७६-१८८८ ई०)

इन दोनों उपर्युक्त प्रिन्सिपलों के काल में इस सस्कृत महाविद्यालय (कॉलेज) की बड़ी उन्नति हुई। इन्होंने अपने पूर्व के प्रिन्सिपलों की नीति को बदलकर सस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद करने का उद्देश्य बनाया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन्होंने **काशी विद्या सुधानिधि** अथवा 'दि पण्डित' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन सन् १८६६ ई० से प्रारम्भ किया जिसमें अप्रकाशित प्राचीन ग्रन्थ, नवीन संस्कृत की गद्य-पद्यात्मक रचनाएँ तथा संस्कृत के प्राचीन एवं कठिन ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद प्रकाशित होता था। यह पत्रिका सन् १९१७ ई० तक— अर्थात् अर्ध शताब्दी से भी अधिक वर्षों तक—निरन्तर प्रकाशित होती रही। इसके माध्यम से संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थो का उद्धार हुआ तथा विशेषतः दर्शन तथा ज्योतिष विषय के कठिन ग्रन्थों का अग्रेजी अनुवाद भी प्रस्तुत किया गया।

इन दोनों प्रिन्सिपलों ने भी संस्कृत साहित्य की अनुपम सेवा की। ग्रिफिथ साहब मूलतः साहित्य के विद्वान् होने के अतिरिक्त कवि भी थे। अतः उन्होंने चारों वेदों का अग्रेजी में पद्यानुवाद प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त वाल्मीकीय रामायण का भी सुन्दर अनुवाद अग्रेजी पद्यों मे किया। आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् तथा हरिद्वार गुरुकुल के सस्थापक मुन्शीरामजी (स्वामी श्रद्धानन्दजी) ने अपने आत्मचरित (ज्ञानमण्डल, काशी से प्रकाशित) में ग्रिफिथ साहब के विषय में अनेक रोचक तथ्यो का उल्लेख किया है। मुन्शीरामजी के पिता काशी में ही कोतवाल थे। फलतः उनकी शिक्षा-दीक्षा काशी में ही हुई थी। उन्होंने लिखा है कि ग्रिफिथ साहब ने विवाह नही किया था। उन्होने अपने बॅंगले को, जो कॉलेज के ही हाते में था, बड़ी सहृदयता से सजा रखा था। सायंकाल बग्गी पर चढ़कर वे जब बाहर घूमने जाया करते थे, तब उनका नौकर दर्शनार्थियों को उनका बँगला दिखाया करता था जिसे देखने के लिए शहर के शौकीन लोगों की भीड़ लगी रहती थी। वे भारतीयो से खूब प्रेम करते थे। आत्मीयता का व्यवहार करते थे। जिस स्थान पर बैठकर उन्होंने रामायण का अनुवाद किया था वह वर्तमान संस्कृतविश्वविद्यालय के मुख्य कार्यालय के समीप मे ही था। उनकी स्मृति में आज यह सुन्दर श्लोक यहाँ सगमरमर पर खुदा हुआ है—

तमसातट-कोकिलेन यच्चरितं कूजितमूर्जितं हरेः।
तदिहैव निषीदता सुखं ग्रिफिथेनात्मगिराऽप्यगीयत ॥

इस श्लोक का आशय है कि तमसा नदी के किनारे रहने वाले ऋषि वाल्मीकि ने जो रामचन्द्र का चरित सस्कृत भाषा में निबद्ध किया था उसीको लण्डन के टेम्स नदी के किनारे रहनेवाले ग्रिफिथ साहब ने इसी स्थान पर रहकर अपनी वाणी अर्थात् अंग्रेजी भाषा में अनुवाद कर प्रस्तुत किया है। यही स्थान है जहाँ कॉलेज के प्रिन्सिपल ग्रिफिथ महोदय ने अग्रेजी कविता में वाल्मीकिरामायण का अनुवाद किया था।

ग्रिफिथ का पूरा नाम—राल्फ टामस हाचकिन ग्रिफ़िथ है। इंगलैण्ड में जन्म २५ मई १८२६ ईस्वी, पिता थे ईसाई धर्मप्रचारक आर० सी० ग्रिफिथ, वेस्टमिनिस्टर स्कूल तथा क्वीन्स कॉलेज, आक्सफोर्ड में शिक्षित, वहीं पर विश्वविद्यालयीय बोडेन संस्कृत स्कालर के रूप में संस्कृत की शिक्षा प्राप्त की, मार्लबरो नामक स्थान के सहायक अध्यापक नियुक्त हुए। अनन्तर बनारस-संस्कृतकॉलेज में प्रथमतः अंग्रेजी साहित्य के अध्यापक १८५४–६२ तथा अनन्तर प्रिन्सिपल १८६३–७८; पश्चिमोत्तर प्रान्त के शिक्षानिदेशक १८७८–८५। १८८५

ईस्वी में सेवानिवृत्त हुए। अनन्तर बनारस से दक्षिण भारत में ऊटी नामक स्थान में निवास किया और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का प्रणयन किया :

1. *Specimens of Old Indian Poetry* 1852
2. *The Birth of War God* 1853
3. *Idylls from the Sanskrit* 1866
4. *Scenes from the Ramayana* 1868
5. *The Ramayana of Valmiki* 1870–75
6. *The Hymns of the Rigveda* 1889-92
7. *The Hymns of the Atharvaveda* 1895–96
8. *The Text of White Yajurveda* 1899

इन ग्रन्थों मे वाल्मीकिरामायण, ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा शुक्ल यजुर्वेदसहिता के अग्रेजी अनुवाद है। आरम्भ में पाँच ग्रन्थ काशी में लिखे गये तथा अन्तिम तीन ग्रन्थ सेवामुक्ति के अनन्तर प्रणीत हुए। 'दी पण्डित' पत्रिका के ग्रिफिथ संस्थापक थे तथा आठ वर्षों तक उसका सम्पादन भी किया। ग्रिफिथ साहब के समय में ही काशी में एक विशिष्ट यूरोपी विद्वान् अध्यापन-कार्य करते थे। वे सस्कृत भाषा, विशेषतः आयुर्वेद तथा भाषाविज्ञान के गम्भीर शोधकर्ता तथा लेखक के रूप मे प्रसिद्ध है। उनका नाम **आगस्टस रुडाल्फ हार्नली** था। वे जर्मन थे। जर्मनी में ही उनका जन्म १८४१ ईस्वी में हुआ। स्टुटगार्ट तथा टूबिनजन विश्वविद्यालय में अध्ययन किया। १८७० ई० में ये काशी के जयनारायण कॉलेज में अध्यापक नियुक्त हुए। अनन्तर कलकत्ता मदरसा के प्रिन्सिपल थे १८८१ ई०–१८९९ ई०। वे भाषाविज्ञान के प्रख्यात अध्येता तथा लेखक थे। कम्परेटिव ग्रामर ऑफ गौडियन लेंगुएजेज के लेखक, चण्डप्राकृत व्याकरण के सम्पादक रूप में प्रसिद्ध हुए। मध्यएशिया से प्राप्त आयुर्वेद से सम्बद्ध 'बाबर हस्तलेख' का इन्होंने अध्ययन कर प्रकाशित किया। पुरातत्त्वसम्बन्धी अनेक लेखों का प्रकाशन इनकी विद्वत्ता के परिचायक है। उनके द्वारा पं० सरयूप्रसाद मिश्र को दिया गया प्रमाणपत्र उनके पौत्र के पास है।

ग्रिफिथ के अनन्तर १८७८ ई० में डॉ० थीबो कॉलेज के प्रिन्सिपल नियुक्त किये गये और वर्षों तक वे उस महनीय पद पर वर्तमान रहे। थीबो साहब जर्मन थे। वे गणित के बहुत ही उत्कृष्ट विद्वान् थे तथा दर्शन में—विशेषतः वेदान्त में, उनका पाण्डित्य यूरोपीय विद्वानों में प्रसिद्ध था। पण्डित सुधाकर द्विवेदी के साथ उनकी घनिष्ठ मित्रता थी। दोनों ने मिलकर अनेक प्राचीन ज्योतिष के ग्रन्थों का सम्पादन किया। 'पञ्चसिद्धान्तिका' का विमर्शात्मक संस्करण दोनों के सम्मिलित प्रयास का परिणत फल था। वे बड़े गुणग्राही थे। पण्डित सुधाकरजी की अलौकिक गणितीय विद्वत्ता को उन्होंने खूब पहचाना और उन्होंने ही सरस्वती भवन के पुस्तकालयाध्यक्ष पद से उन्नति कर अध्यापन-कार्य में उन्हें नियुक्त किया। ब्रह्मसूत्र के शंकराचार्य के शारीरक भाष्य तथा रामानुजाचार्य के श्रीभाष्य—दोनों दुरूह भाष्यों का अंग्रेजी में पहली बार अनुवाद उन्होंने ही किया जो बड़ा ही सफल तथा प्रामाणिक अनुवाद माना जाता है। कॉलेज में उस युग में अनेक दार्शनिक विद्वान् विराजमान थे। इनकी भी विद्वत्ता का उपयोग इस अनुवाद-कार्य में किया गया है। थीबो साहब ने ग्रन्थ की भूमिका में इसका उल्लेख भी किया है। ये दोनों अनुवाद प्रोफेसर मैक्सम्यूलर द्वारा सम्पादित 'सेक्रेड

बुक्स आफ दि ईस्ट' नामक विश्वविश्रुत ग्रन्थमाला (आक्सफोर्ड) मे प्रकाशित हुए है। १८८८ ई० में प्रिन्सिपल पद से निवर्तमान होने पर ये म्यूर सेण्ट्रल कॉलेज (इलाहाबाद) मे प्रिन्सिपल नियुक्त हुए। डॉ० गगानाथ झा से भी इनकी बडी घनिष्ठता थी और दोनो विद्वानो ने मिलकर दर्शन के अनेक दुरूह सस्कृत ग्रन्थो का अनुवाद कर 'इण्डियन थाट' नामक पत्रिका के द्वारा प्रकाशित किया था। डॉ० थीबो के पश्चात् डॉ० वेनिस कॉलेज के अध्यक्ष नियुक्त हुए।

डॉ० थीबो का जीवनवृत्त

जर्मनी के हाइडेनबर्ग नामक नगर मे जन्म १८४८ ईस्वी, नगर के विश्वविद्यालय के पुस्तकालयाध्यक्ष, कार्ल थीबो के पुत्र तथा प्रख्यात विधिवेत्ता ए० एफ० जे० थीबो के पौत्र, हाइडेलबर्ग के स्कूल मे आरम्भिक शिक्षा प्राप्त, हाइडेलवर्ग तथा बर्लिन के विश्वविद्यालयो मे उच्च शिक्षा प्राप्त, १८७१ ई० मे इग्लैण्ड गये और अनेक वर्षों तक प्रोफेसर मैक्सम्यूलर के सहायक रूप मे कार्य किया। बनारस सस्कृतकॉलेज ऐंग्लो-सस्कृत विभाग मे अध्यापक नियुक्त हुए १८७५ मे। कॉलेज के प्रिन्सिपल नियुक्त तथा ९ वर्षों तक कार्य किया १८७९ से १८८८ तक। इलाहाबाद के म्यूर सेन्ट्रल कॉलेज मे अध्यापक नियुक्त १८८८ ई० से १८९५ ई० तक। कॉलेज के प्रिन्सिपल १८९५ ई०। भारतीय दर्शन, ज्योतिष तथा गणित विषयो मे ग्रन्थो का निर्माण तथा सस्करण किया--

शुल्बसूत्र १८७५, बौधायन के शुल्बसूत्र अनुवाद स माथ १८७५, मीमासाग्रन्थ 'अर्थसग्रह' का अग्रेजी अनुवाद १८८२, पण्डित सुधाकर द्विवेदी के माथ वराहमिहिर की 'पचसिद्धान्तिका' का सस्करण १८८९, शारीरकभाष्य का अग्रेजी अनुवाद (आरम्भ मे लगभग डेढ़ सौ पृष्ठो की भूमिका के साथ) सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट सीरीज मे दो भाग ३४ तथा ३८, भारतीय गणित, फलित तथा ग्रहगणित अगेजी ग्रन्थ १८९०, श्रीभाष्य का अग्रेजी अनुवाद (खण्ड ४८) १९०४ ई०।

डॉ० थीबो ने शारीरकभाष्य के अनुवाद की भूमिका के अन्त मे तीन विशिष्ट पण्डितो को ग्रन्थ मे सहायतार्थ धन्यवाद-ज्ञापन इन शब्दो मे किया है —

My best thanks are due to Pandits Ram Misra Shastrin and Gangadhara Shastrin of the Benares Sanskrit College whom I have consulted on several difficult passages Greater still are my obligations to Pandit Keshava Shastrin, of the same institution, who most kindly undertook to read a proof of the whole of the present volume, and whose advice has enabled me to render my version of more than one passage more definite or correct

बनारस-सस्कृतकॉलेज के इस उद्धरण मे तीन पण्डितो के प्रति अनुवादक ने अपनी कृतज्ञता प्रकट की है—पण्डित राम मिश्र शास्त्री, गगाधर शास्त्री तथा केशव शास्त्री। इन तीनों में भी केशव शास्त्री के प्रति सर्वाधिक कृतज्ञता उनके द्वारा प्रूफ देखने के लिए तथा अनेक वाक्यपुजो के यथार्थ अर्थ बतलाने के निमित्त किया है। इन वाक्यो से थीबो साहब की गुणग्राहिता का परिचय मिलता है।

(५) डॉ० आर्थर वेनिस (१८८८-१९१८ ई०)

डॉ० आर्थर वेनिस का दीर्घ अध्यक्ष-काल सस्कृतकॉलेज के इतिहास मे चिरस्मरणीय रहेगा। डॉ० वेनिस सब अर्थों में काशी के सुयोग्य पुत्र थे। काशी के ही उस युग के विख्यात

चिकित्सक डॉ० इ० जे० लाजरस साहब की वे योग्य सन्तान थे। उनका समस्त जीवन काशी मे ही व्यतीत हुआ। जन्म, पोषण, अध्ययन, अध्यापन सब कुछ इस विद्यानगरी काशी मे ही सम्पन्न हुआ। केवल कुछ वर्षों के लिए आक्सफोर्ड मे अंग्रेजी तथा संस्कृत अध्ययन के लिए वे अवश्य गये हुए थे, परन्तु उस काल के अतिरिक्त उनका काशी से कभी वियोग नही हुआ।

उन्ही के साथीलाल छात्र पण्डित अम्बिकाप्रसाद उपाध्यायजी ने वेनिस साहब के विषय में बहुत ही तथ्यपूर्ण जानकारी इस लेखक को दी है जिसके आधार पर हम कह सकते है कि पण्डितो के प्रति उनका नैसर्गिक आदर भाव, संस्कृत भाषा की उन्नति के लिए उनका अनवरत प्रयास, छात्रो के प्रति उनका मञ्जुल उदार व्यवहार तथा भारतीय दर्शन का उनका गाढ़ अनुशीलन सर्वथा स्तुत्य है। संस्कृत के पण्डितो को, संस्कृतकॉलेज के अध्यापक विद्वानो को वे कभी अपने अधीनस्थ व्यक्ति नही मानते थे, प्रत्युत वे उनका सर्वतोभावेन समादर एव सत्कार करते थे। महामहोपाध्याय कैलासचन्द्र शिरोमणि तथा महामहोपाध्याय गगाधर शास्त्री को वे गुरुतुल्य मानते थे, क्योंकि इनके सग उन्होने दर्शन के विशिष्ट ग्रन्थो का पङ्क्तिशः अध्ययन किया था। वे भरी सभा मे भी उनके चरण को छूकर अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करने मे कभी सकोच का अनुभव नही करते थे। न्यायशास्त्र तथा वेदान्त मे उनका प्रशसनीय प्रवेश था। यूनानी दर्शन का अध्ययन उन्होने मूल ग्रन्थो के आधार पर किया था। पाश्चात्त्य दर्शन की अपनी अभिज्ञता के आधार पर वे भारतीय दर्शन के प्रौढ़ ग्रन्थो के तुलनात्मक अध्ययन मे सर्वथा कृतकार्य थे। **वेदान्तपरिभाषा** का उन्होने अंग्रेजी मे अनुवाद किया था जो 'पण्डित पत्र' के चतुर्थ खण्ड मे प्रकाशित हुआ था। यह केवल अक्षरशः अनुवाद नही है, अपितु स्थान स्थान पर मार्मिक व्याख्याओं मे भी सवलित है। अन्य प्रौढ़ ग्रन्थो के भी, जैसे **वेदान्त-मुक्तावली** के उनके अनुवाद उस समय प्रकाशित हुए थे और जो आज भी प्रामाणिकता की दृष्टि से अनुपम है।

अपने छात्रो को उत्साहित तथा शोधकार्य के निमित्त प्रेरित करने मे वे सर्वथा सलग्न रहते थे। कविराज गोपीनाथजी तो अपने को उनका मानस पुत्र ही मानते थे। अधिक वेतन पर कलकत्ता विश्वविद्यालय मे संस्कृतविभाग के अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए तत्कालीन कुलपति आशुतोष मुखर्जी ने बहुत प्रयास किया, परन्तु कविराजजी सदा यही कहते थे कि 'डॉ० वेनिस ने जिस अध्यापन परम्परा का प्रचार काशी मे किया है, उस कार्य को अग्रसर करना मै अपने जीवन का लक्ष्य मानता हूँ।' वेनिस के छात्रानुराग का स्पष्ट सकेत उन पत्रो के द्वारा मिलता है जिन्हे उन्होने कविराजजी को भेजा था। वे संस्कृत भारती के निश्छल आराधक थे और इसीलिए उनके काल मे इस विद्यालय की विशेष उन्नति हुई। उन्हीके शासनकाल मे **बनारस संस्कृत सीरीज** तथा **चौखम्भा संस्कृत सीरीज** का सार्वत्रिक अभ्युदय सम्पन्न हुआ। **सरस्वतीभवन** की नयी इमारत तैयार हुई। पुस्तकालय की विशेष उन्नति हुई। संस्कृत परीक्षाओं का विशेष प्रसार प्रचार हुआ तथा वे पहले की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय बनती गयी। सरस्वतीभवन के उपयोगी हस्तलेखो को मुद्रित करने तथा शोध-पत्रिका निकालने की योजना उन्हीने बनाई थी जिसकी कार्यरूप मे परिणति आगे चलकर डॉ० गगानाथ झा के कार्यकाल मे हुई।

डॉ० वेनिस वेदान्त के साथ ही साथ न्याय के भी बहुत ही गम्भीर विद्वान् थे। वे न्याय के इतिहास के विषय मे एक ग्रन्थ लिखना चाहते थे जिसका प्रकाशन जर्मनी की ग्रुनड्रिश

ग्रन्थमाला मे होनेवाला था, परन्तु आकस्मिक निधन होने के कारण वे उस ग्रन्थ का निर्माण ही नही कर सके। **वेदान्त-परिभाषा** के अनुवाद को बोधगम्य बनाने के लिए इन्होने अनेक उपादेय टिप्पणियों लिखी है। कर्नल जैकब ने 'वेदान्त सार' के अपने संस्करण की टिप्पणियो में इन्हे उपयोगी होने के कारण बडे सम्मान तथा आदर के साथ उद्धृत किया है।

गुणग्राहकता डॉ० वेनिस का सबसे बडा गुण यह था कि ये बडे ही गुणग्राही विद्वान् थे। ये दूसरो के गुणो का बडा ही आदर करते थे तथा उन्हे प्रोत्साहन प्रदान किया करते थे। प० गोपीनाथजी कविराज पर इनकी बडी कृपादृष्टि रहती थी। डॉ० वेनिस तथा कविराजजी का जो पारस्परिक पत्राचार प्रकाशित हुआ है उससे स्पष्ट पता चलता है कि डॉ० वेनिस ने गोपीनाथ कविराज की कितनी सहायता की थी जब कविराजजी ने जयपुर से बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण कर गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, बनारस मे एम० ए० की कक्षा मे प्रवेश लेने की इच्छा प्रकट की तब डा० वेनिस ने जयपुर छोडकर इनके काशी आने का कारण पूछा। इस पर कविराजजी ने उत्तर दिया आपके नाम की प्रसिद्धि सुनकर काशी आया हूँ। डॉ० वेनिस के द्वारा यह पूछने पर कि तुमने मेरा नाम कैसे जाना, कविराजजी ने एपिग्राफिका इण्डिका तथा इण्डियन एण्टीक्वेरी मे प्रकाशित डॉ० वेनिस के लेखो का उल्लेख किया जिसको सुनकर गुणग्राही वेनिस साहब बहुत ही प्रसन्न हुए। इतना ही नही, कविराजजी ने 'सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट' मे डॉ० थीबो के द्वारा प्रकाशित ब्रह्मसूत्र के अग्रेजी अनुवाद की भूमिका मे डा० वेनिस का नामोल्लेख भी किया जिससे उन्हे पता चल गया कि यह छात्र मेधावी तथा बहुश्रुत है। फिर तो डॉ० वेनिस ने कविराज को एम० ए० की कक्षा मे केवल प्रवेश ही नही दिया, बल्कि कॉलेज के छात्रावास मे रहने के लिए स्थान की व्यवस्था कर दी तथा इन्हे छात्रवृत्ति भी प्रदान की।

डॉ० वेनिस ने ही कविराजजी की सरस्वतीभवन के पुस्तकालयाध्यक्ष के पद पर नियुक्ति की, इनके पठन पाठन तथा शोधकार्यों मे इन्हे सदा उत्साहित किया तथा इनकी विद्वत्ता की प्रशसा सदा दूसरो से भी करते रहे। **'मनीषी की लोकयात्रा'**[1] नामक पुस्तक मे डॉ० वेनिस द्वारा कविराजजी को लिखित जो पत्र व्यवहार प्रकाशित हुआ है उसमे डॉ० वेनिस की विद्वत्ता, उदारता तथा गुणग्राहकता का पूर्णतया परिचय मिलता है।

डॉ० वेनिस की संस्कृतसेवा डॉ० वेनिस संस्कृतविद्या की सर्वाङ्गीण उन्नति चाहते थे उनका यह दृढ विचार था कि संस्कृत के पण्डितो को प्राचीन भारतीय पद्धति से शास्त्रो का गहन अभ्यास करने के साथ ही, नवीन पाश्चात्त्य शैली से अनुसधान-कार्य भी करना चाहिए। अपने इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होने निम्नाङ्कित चार कार्यों का शुभारम्भ अपने जीवन काल मे किया –

(१) साधोलाल रिसर्च स्कालरशिप की स्थापना।

(२) सरस्वती-भवन टेक्स्ट्स के प्रकाशन की योजना।

(३) सरस्वती भवन स्टडीज के प्रकाशन की योजना।

(४) बनारस-संस्कृत-सीरीज तथा विजयानगरम् संस्कृत-सीरीज का शुभारम्भ।

अपने विचारो को कार्यरूप मे परिणत करने के लिए डॉ० वेनिस ने काशी के तत्कालीन रईस तथा धनाढ्य व्यक्ति राजा मुशी माधोलाल से प्रार्थना कर अपने कॉलेज मे माधोलाल

१ डॉ० भगवतीप्रसाद सिह 'मनीषी की लोकयात्रा', प्रकाशक विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय सस्करण, १९७८ ई०।

रिसर्च स्कालरशिप की स्थापना की। इस स्कालरशिप का उद्देश्य यह था कि आचार्य की सर्वश्रेष्ठ परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् सस्कृत के जो छात्र अनुसधान करना चाहे उन्हे यह छात्रवृत्ति प्रदान की जाय। डॉ० वेनिस इन शोधछात्रो की कक्षा को स्वय लिया करते थे तथा उन्हे अभिलेख शास्त्र (एपिग्राफी), हिस्ट्री (इतिहास) तथा वेदान्तशास्त्र पढ़ाते थे।

डॉ० वेनिस का दूसरा कार्य 'सरस्वती भवन टेक्स्ट्स' का प्रकाशन था। यह कहने की आवश्यकता नही है कि 'सरस्वती भवन' का ठोस पाषाण का बना हुआ जो दो मजिला विशाल भवन है, उसे डॉ० वेनिस ने ही बनवाया था। इस पुस्तकालय मे एक लाख से भी अधिक सस्कृत की हस्तलिखित पुस्तके विद्यमान है जिनमे से अनेक ग्रन्थ आज भी प्रकाश मे आने की प्रतीक्षा कर रहे है। इस पुस्तकालय मे दुर्लभ तथा अलभ्य हस्तलिखित प्रतियाँ विराजमान है जिनकी ससार मे केवल एक प्रति इस ग्रन्थागार मे ही विद्यमान है। डॉ० वेनिस इन दुर्लभ पुस्तको को प्रकाशित करके सस्कृत के विद्वानो के समक्ष उन्हे लाना चाहते थे जिसमे सस्कृत भाषा के अक्षय भाण्डार का पता लोगो को चल सके। इसलिए दुर्लभ पुस्तको के प्रकाशन के लिए इन्होने 'सरस्वती भवन टेक्स्ट्स' ग्रन्थमाला की स्थापना की योजना तैयार की थी।

डॉ० वेनिस का तीसरा प्रयास 'सरस्वतीभवन स्टडीज' के प्रकाशन की योजना था। वे चाहते थे कि अनुसधान मे लगे छात्रो के शोध प्रबन्धो का प्रकाशन इस ग्रन्थमाला के द्वारा किया जाय। इन दोनो ग्रन्थमालाओं मे अनेक पुस्तको का प्रकाशन हुआ जिनमे से अनेक अलभ्य थी। इनमे मे 'सरस्वतीभवन टेक्स्ट्स' ग्रन्थमाला का प्रकाशन आज भी चालू है जिसमे सैकडो अमूल्य ग्रन्थ अब तक छप चुके है।

डॉ० वेनिस ने स्वय तो सस्कृतविद्या की सेवा की ही, इन्होने अनेक धनीमानी व्यक्तियो को इस कार्य के लिए प्रेरित तथा प्रोत्साहित किया। 'साधोलाल रिसर्च स्कालर' की चर्चा पहले की जा चुकी है। इसके अतिरिक्त डॉ० वेनिस ने काशी के महाराजा विजयानगरम् से प्रार्थना कर उनको 'विजयानगरम् सस्कृत सीरीज' नामक ग्रन्थमाला प्रकाशित करने की प्रेरणा प्रदान की। महाराजा ने सन् १८६० ई० मे अपने विपुल धन से इस 'सीरीज' मे अनेक दुर्लभ ग्रन्थो का प्रकाशन कर सुरभारती के भाण्डार को भरने की कृपा की। इसके अतिरिक्त इन्ही की प्रेरणा से 'काशी सस्कृत सीरीज' नामक ग्रन्थमाला का अभ्युदय सम्पन्न हुआ। सन् १८६३ ई० मे 'चौखम्भा सस्कृत सीरीज' नामक नवीन ग्रन्थमाला के प्रादुर्भाव होने मे डॉ० वेनिस की प्रेरणा तथा प्रोत्साहन ही प्रधान कारण था। इस प्रकार डॉ० वेनिस ने अनेक प्राचीन ग्रन्थो का पुनरुद्धार करने मे अपना महनीय योगदान किया।

डॉ० आर्थर वेनिस ने गवर्नमेन्ट सस्कृतकॉलेज, बनारस की लगातार तीस वर्षों तक सेवा की। ये सन् १८८८ ई० से लेकर १९१८ ई० तक इस कॉलेज मे प्राध्यापक तथा प्रिन्सिपल के महनीय पद पर कार्य करते रहे। सभवतः इतने दीर्घ काल तक — तीस वर्षों तक — किसी भी यूरोपीय अथवा भारतीय प्रिन्सिपल ने इस कॉलेज की सेवा नही की।

डॉ० वेनिस की प्रिन्सिपली का काल इस कॉलेज का अत्यन्त उत्कर्ष का काल माना जाता है। इस कॉलेज मे उस समय भारत प्रसिद्ध विद्वानो के प्राध्यापक होने के अतिरिक्त भी सर्वाङ्गीण उन्नति हुई। डॉ० वेनिस के पहले सस्कृत की अलभ्य पुस्तको को एकत्र स्थापित करने के लिए भवन नही था। डॉ० वेनिस ने 'सरस्वती भवन' का निर्माण कराकर इन पुस्तको के लिए एक सुन्दर भवन प्रदान किया।

डॉ० वेनिस इस कॉलेज के अन्तिम अग्रेज प्रिन्सिपल थे। ये सस्कृतविद्या तथा भारतीय

संस्कृति के परम अनुरागी थे। अतः संस्कृत के प्रति इनकी सेवाओं को कभी भुलाया नहीं जा सकता।

(६) डॉ० गङ्गानाथ झा (१९१८-१९२३ ई०)

(७) पण्डित गोपीनाथ कविराज (१९२३-१९३७ ई०)

डॉ० वेनिस के अनन्तर डॉ० **गङ्गानाथ झा** संस्कृतकॉलेज के अध्यक्ष-पद पर प्रतिष्ठित किये गये। उन्होंने केवल पाँच वर्षों तक (१९१८-१९२३ ई०) अध्यक्ष के पद को सुशोभित किया। उस समय पण्डित गोपीनाथ कविराज सरस्वतीभवन-पुस्तकालय के अध्यक्ष थे। दोनों विद्वान् संस्कृतविद्या के उत्थान के लिए कृतसंकल्प थे। गङ्गानाथ झा संस्कृतकॉलेज के प्रथम भारतीय प्रिन्सिपल थे। कविराजजी उनके अनन्तर द्वितीय भारतीय प्रिन्सिपल बने तथा १९२३ ई० से १९३७ ई० तक अपने पद का उत्तरदायित्व बड़ी योग्यता तथा सावधानी से सँभाला। दोनों विद्वानों ने मिलकर १९२० ई० में 'सरस्वतीभवन-ग्रन्थमाला' तथा 'सरस्वतीभवनानुशीलन पत्रिका' (अंग्रेजी) का बड़े समारोह से आरम्भ किया जो आगे डॉ० मंगलदेव शास्त्री के कार्यकाल में भी सुचारु रूप से चलता रहा।

अनुसंधान छात्रवृत्ति की व्यवस्था डॉ० वेनिस ने प्रथमतः की। राजा मुंशी माधोलाल को १९०५ ई० में प्रेरित कर चार हजार रुपयो की एक द्रव्यराशि स्थापित की गई जिससे माधोलाल छात्रवृत्ति देने की व्यवस्था उस समय की गई थी। १९२० ई० में डॉ० गङ्गानाथ झा ने 'पोस्ट आचार्य' नामक छः छात्रवृत्तियों की स्थापना की। इन दोनों वृत्तियों की सहायता से अनेक छात्रों ने आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण होने के उपरान्त नवीन शास्त्रीय विषयों का अध्ययन तथा अनुशीलन किया।

डॉ० गङ्गानाथ झा के अनन्तर म० म० पण्डित गोपीनाथ कविराज संस्कृतकॉलेज के अध्यक्ष-पद पर प्रतिष्ठित किये गये। उनके समय में विद्यालय की विशेष उन्नति हुई। उन्होंने १४ वर्षों तक (१९२३ ई० -१९३७ ई०) बड़ी योग्यता के साथ अपने गम्भीर उत्तरदायित्वपूर्ण पद का संचालन किया। डॉ० गङ्गानाथ झा के द्वारा सचालित कार्यों के सचालन में कविराजजी ने किसी प्रकार की त्रुटि नहीं की। उनके समय में शोधकार्य तथा ग्रन्थ-प्रकाशन का कार्य बड़ी तेजी से आगे बढ़ता गया। परन्तु स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण उन्होंने समय से पहले ही अवकाश ग्रहण कर लिया (१९३७ ई० में) और सेवामुक्त होकर वे अध्यात्म के चिन्तन तथा अनुशीलन में अपना समय बिताने लगे।

(८) डॉ० मंगलदेव शास्त्री

पण्डित गोपीनाथ कविराज १९३७ ई० में अपने समय से पहले ही अध्यक्ष-पद से निवृत्त हो गये। तदनन्तर डॉ० मंगलदेव शास्त्री विद्यालय के अध्यक्ष बने। साथ ही साथ ये संस्कृत परीक्षाओं के परीक्षाधिकारी रजिस्ट्रार भी थे। डॉ० साहब ने बी० ए० की परीक्षा हिन्दूविश्वविद्यालय से उत्तीर्ण की थी। अनन्तर पंजाब विश्वविद्यालय में डॉ० ऊलनर के छात्र रूप में एम० ए० परीक्षा पास की तथा सरकारी छात्रवृत्ति प्राप्त कर वे आक्सफोर्ड में अनुसंधान-कार्य के लिए चले गये। वहीं से ऋक्प्रातिशाख्य का अनुसंधान तथा अनुशीलन कर डी० फिल्० की उपाधि प्राप्त की। **ऋक्प्रातिशाख्य** के मूल का विमर्शात्मक संस्करण तथा अंग्रेजी अनुवाद उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। संस्कृत में श्लोक-रचना भी वे बड़ी निपुणता से करते थे। उनके कार्यकाल में संस्कृतकॉलेज की विशेष उन्नति हुई।

उत्तरप्रदेश के बदायूँ जिले मे इनका १८६० ई० मे जन्म हुआ था। आक्सफोर्ड से लौटने पर ये सस्कृतकॉलेज के अन्तर्गत 'सरस्वतीभवन' पुस्तकालय के अध्यक्ष नियुक्त किये गये। अनन्तर कविराजजी के सेवानिवृत्त होने पर कॉलेज के प्रिसिपल हुए (१६३७ ई०)। बाद मे कॉलेज जब 'वाराणसेय सस्कृतविश्वविद्यालय' मे परिणत हुआ, तब कुछ समय तक उसके भी कुलपति रहे। वैदिक प्रातिशाख्य, वैदिक सस्कृति एव भाषाविज्ञान के ऊपर निर्मित इनके ग्रन्थ बड़े ही उपयोगी तथा ज्ञानवर्धक है। भाषाविज्ञान के अतिरिक्त आपने वैदिक साहित्य में स्थान-स्थान पर उदात्त मानवीय गुणो के सम्बन्ध मे प्रायः होनेवाली सूक्तियो का बड़े अध्यवसाय से सकलन किया है। मुख्य ग्रन्थ -हिन्दी, **भाषाविज्ञान** (१६२६ ई०), **भारतीय संस्कृति का विकास —वैदिक धारा** (१६५६ ई०)। सस्कृत सपादित **ऋग्वेद-प्रातिशाख्य** (तीन भाग, १६३१ ई०), **रश्मिमाला** (१६५४ ई०) तथा **सूक्ति-सप्तशती** (उदात्त सस्कृत सूक्तियो का कमनीय सग्रह, सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली से प्रकाशित)।

डॉ० सम्पूर्णानन्द की प्रेरणा तथा श्लाघनीय उद्योग के कारण सस्कृतकॉलेज सस्कृत विश्वविद्यालय के रूप मे परिणत हो गया। सस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना २०१५ वि० स० के चैत्र शुक्ल (= २२ मार्च, १६५८ ई०) मे हुई। तब से इसका अभ्युदय दिन-प्रतिदिन हो रहा है। इस विश्वविद्यालय के अभ्युत्थान मे दो कुलपतियो का अध्यवसाय विशेष उल्लेखनीय है। इनमे से एक है डॉ० आदित्यनाथ झा, जो इसके प्रथम व्यवस्थापक है तथा दूसरे है पण्डित सुरतिनारायणमणि त्रिपाठी, जिन्होने महान् उत्साह, नैसर्गिक निष्ठा तथा अदम्य शासनिक दक्षता से इसे सुचारु रूप से परिचालित किया। इन दोनो कुलपतियो का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

(१) डॉ० आदित्यनाथ झा

डॉ० आदित्यनाथ झा आई० सी० एम०, गवर्नमेण्ट सस्कृत कॉलेज, बनारस के प्रिंसिपल तथा बाद मे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के वाइसचासलर, स्वनाम धन्य, डॉ० सर गंगानाथ झा पाँचवे तथा कनिष्ठ पुत्र थे। ये बडे ही तीक्ष्ण बुद्धि व्यक्ति थे। इन्होने आई० सी० एस० जैसी कठिन परीक्षा मे सम्मानजनक उत्तीर्णता प्राप्त की थी तथा उत्तर प्रदेश मे शासकीय सेवा मे नियुक्त हो गये थे। जब सन् १६५८ ई० मे डॉ० सम्पूर्णानन्दजी की प्रेरणा तथा प्रयास मे गवर्नमेण्ट सस्कृत कॉलेज, सस्कृत विश्वविद्यालय के रूप मे परिणत कर दिया गया, तब आप उत्तरप्रदेश सरकार के चीफ सेक्रेटरी (मुख्य सचिव) के पद पर सुस्थित थे। उस समय सस्कृत-विश्वविद्यालय को एक ऐसे कुलपति की आवश्यकता थी जो संस्कृत का विद्वान् होते हुए भी एक कुशल प्रशासक भी हो। अतः आपकी नियुक्ति इस विश्वविद्यालय के प्रथम कुलपति के रूप मे हुई।

आपके कुलपतित्व-काल मे इस विश्वविद्यालय की सर्वाङ्गीण उन्नति हुई। आप स्वय उत्तरप्रदेश सरकार के चीफ सेक्रेटरी रह चुके थे। अतः कुलपति के रूप मे आप जो भी आर्थिक योजना सरकार के पास भेजते थे वह सदा स्वीकृत हो जाती थी। अतः इनके काल में संस्कृत-विश्वविद्यालय को प्रचुर आर्थिक अनुदान (ग्राण्ट) प्राप्त हुआ। आपने अनेक नये नये विभागों की यहाँ स्थापना की तथा उनके संचालन के लिए प्रचुर धनराशि प्राप्त की। आपके समय में अनेक नवीन छात्रावासों के निर्माण का कार्य प्रारम्भ हुआ। आपके प्रयास से आल इण्डिया ओरिएण्टल कानफरेन्स का अधिवेशन इसी विश्वविद्यालय में हुआ था जिसका सचालन आपने बड़ी योग्यता से किया था। उस कान्फरेन्स की स्वागत-समिति के आप सभापति थे।

उस समय सरल, सुबोध, काव्यमय संस्कृत-गद्य में जो भाषण आपने दिया था वह आपकी अगाध संस्कृत-विद्वत्ता का परिचायक था।

डॉ० आदित्यनाथ झा को संस्कृतविद्या अपने पूजनीय पिता डॉ० गंगानाथ झा से रिक्थ के रूप में प्राप्त हुई थी और शासन का गुण आपको अपनी प्रतिभा के प्रसाद के रूप में प्राप्त हुआ था। ऐसी दशा में एक कुलपति में शासन तथा विद्वत्ता के जो दो गुण अपेक्षित हैं, वे दोनों ही आपमें प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे। आपके पदग्रहण से पहले संस्कृत-विश्वविद्यालय का कोई एक परिसर नहीं था। वह दो स्थानों में विभक्त था। डॉ० झा ने इन दोनों स्थानों को एक में मिलाकर विश्वविद्यालय को एक संयुक्त परिसर (कैम्पस) प्रदान किया। इसके चारों ओर चहारदीवारी बनाने का आयोजन किया और संग्रहालय का भी सूत्रपात किया। कहने का आशय है, इस विश्वविद्यालय के प्रारम्भिक काल में जैसे सुयोग्य तथा विद्वान् कुलपति की आवश्यकता थी, झा साहब उसके सर्वथा अनुकूल थे। परन्तु दुःख यही है कि वे अधिक वर्षों तक इस पद को सुशोभित नहीं कर सके और सरकार ने इन्हें पुनः प्रशासनिक सेवा में वापस बुला लिया। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में ये दिल्ली के उप-राज्यपाल (लेफ्टिनेण्ट गवर्नर) के पद को अलंकृत कर रहे थे। परन्तु स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण इस पद से अवकाश प्राप्त करने के पहले ही इनका असामयिक निधन हो गया।

(२) पं० सुरतिनारायणमणि त्रिपाठी

पं० सुरतिनारायणमणि त्रिपाठी आई० ए० एस० संस्कृत विश्वविद्यालय के दूसरे कुलपति थे जिनमें शासन और विद्वत्ता का मणि-काञ्चन योग पाया जाता है। यदि डॉ० आदित्यनाथ झा ने इस विश्वविद्यालयरूपी वृक्ष की जड़ों को सुदृढ़ तथा मजबूत किया तो उसे पल्लवित और पुष्पित करने का श्रेय त्रिपाठीजी को प्राप्त है। आपके काल में इस विश्वविद्यालय ने चतुरंगीण समुन्नति प्राप्त की जिसका उल्लेख आगे किया जाएगा।

त्रिपाठीजी ने अपना जीवन वकील (अधिवक्ता) के रूप में प्रारम्भ किया था। परन्तु इस काल में ही समाज-सेवा की धुन इनमें इतनी पक्की थी कि जब सन् १९२०-२१ ई० में सुप्रसिद्ध चौराचौरी काण्ड हुआ था जिसके फलस्वरूप लगभग १७० व्यक्तियों को फाँसी की सजा हो गयी थी, तब त्रिपाठीजी ने ही इन अभियुक्तों के मामले को लेकर महामना मालवीयजी से हाईकोर्ट में इन अभियुक्तों की ओर से वकालत करने की प्रार्थना की और मालवीयजी की अकाट्य दलीलों और अद्भुत वचन-चातुरी तथा गम्भीर कानूनी ज्ञान के कारण एक सौ से भी अधिक व्यक्तियों को फाँसी की सजा से मुक्ति मिल गयी और वे बेदाग छोड़ दिये गये। यह थी त्रिपाठीजी की सामाजिक सेवा और लगन।

त्रिपाठीजी बाद में पी० सी० एस० की परीक्षा उत्तीर्ण कर प्रशासनिक सेवा में चले आये और उन्नति करते-करते आई० ए० एस० ग्रेड को भी सुशोभित करने लगे। प्रशासनिक सेवा से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् त्रिपाठीजी लोक-सेवा-आयोग, उत्तरप्रदेश के अनेक वर्षों तक सदस्य भी रहे।

सन् १९६३ ई० में आपकी नियुक्ति संस्कृत-विश्वविद्यालय के कुलपति के पद पर हुई। ये चार वर्षों तक (१९६६ ई० तक) कुलपति रहे। इनके कुलपतित्व के काल में विश्वविद्यालय में अनेकानेक नये विभागों की सृष्टि हुई। तंत्र तथा योगशास्त्र एवं प्राचीन राजनीति-शास्त्र-विभाग आपके ही समय में खोले गये थे। इसमें प्रथम पद पर महामहोपाध्याय

डॉ० गोपीनाथ कविराज तथा द्वितीय पद पर पण्डितराज राजेश्वर शास्त्री द्रविड़ को सम्मानपूर्वक आमन्त्रित किया गया था। त्रिपाठीजी बडे ही गुणग्राही व्यक्ति थे। ये सुयोग्य विद्वानों को चुन चुनकर अपने विश्वविद्यालय मे लाया करते थे। यहाँ पुराण तथा इतिहास-विभाग में प्रोफेसर का पद बहुत दिनो से खाली पडा था। त्रिपाठीजी ने इस ग्रन्थ के लेखक को सादर निमन्त्रित कर इस पद पर कार्य करने का निवेदन किया। इतना ही नही जब इस विश्वविद्यालय में सस्कृत शोध सस्थान के निदेशक का पद रिक्त हुआ तब भी किसी योग्य व्यक्ति के अभाव में पुनः त्रिपाठीजी ने इस ग्रन्थ के लेखक से इस पद के कार्यभार को सँभालने का आग्रह किया। यह थी त्रिपाठीजी की गुण-ग्राहकता। इन्होने अनेक सुप्रसिद्ध विद्वानो को सादर बुलाकर अपनी सस्था को गौरवान्वित करने की चेष्टा की। आजकल सस्कृत विश्वविद्यालय जो कुछ भी पुष्पित और पल्लवित दिखाई पडता है उसका अधिकाश श्रेय पडित सुरतिनारायणमणि त्रिपाठी को प्राप्त है।

पण्डित सुरतिनारायणमणिजी के कार्यकाल मे ही योगतन्त्र तथा प्राचीन राजनीति नामक दो नितान्त उपयोगी विभाग खोले गये जिनके द्वारा भारतवर्ष के दो प्रशसनीय विषयो के अध्ययन अध्यापन का कार्य आरम्भ किया गया। तन्त्रशास्त्र सस्कृत साहित्य का बडा ही महत्त्वपूर्ण अग है जिसकी विपुल ग्रन्थराशि अभी तक हस्तलेख के रूप मे ही इतस्ततः विकीर्ण पडी हुई है तथा विश्वविद्यालय के ही 'सरस्वतीभवन' मे हजारो हस्तलेख विद्यमान है। इस विभाग की स्थापना १९६५ ई० मे स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज के निर्देशन मे की गई। तन्त्रयोग का आलोचनात्मक अध्ययन एव विशिष्ट तन्त्रग्रन्थो का प्रकाशन प्रधान कार्य माना गया। ऐतिहासिक दृष्टि से तथा आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से भी व्यापक रूप से तन्त्रयोग का अध्ययन आवश्यक सिद्ध किया गया। ग्रन्थो के प्रकाशन का कार्य सुचारु रूप से आरम्भ किया गया। महत्त्वपूर्ण तन्त्रग्रन्थ प्रकाशन मे लाये गये

(१) **नित्या-षोडशिकार्णव**--इसके परिशिष्ट मे **दीपकनाथ सिद्ध** के त्रिपुरसुन्दरी दण्डक का **शिवानन्द मुनि** के सुभगोदय, सुभगोदयवासना तथा सौभाग्यहृदय स्तोत्र का और **अमृतानन्दयोगी** के सौभाग्यसुभगोदय और चिद्विलासतन्त्र का प्रकाशन किया गया (१९६८ ई०)।

(२) **तन्त्रसंग्रह**—नाम के दो भागो मे नाना तन्त्रग्रन्थो का प्रकाशन किया गया है। इसके प्रथम भाग मे सटीक विरूपाक्ष पञ्चाशिका, साम्बपञ्चाशिका, त्रिपुरमहिम्नस्तोत्र, स्कन्द प्रदीपिका, अनुभवसूत्र और वातुलशुद्धाख्यतन्त्र समाविष्ट है। द्वितीय भाग मे निर्वाणतन्त्र, तोडलतन्त्र, कामधेनुतन्त्र, फेत्कारिणीतन्त्र, ज्ञानसकलिनी और सटीक देवीकालोत्तरतन्त्र प्रकाशित हुए है (१९७० ई०)।

(३) महेश्वरानन्दप्रणीत **महार्थमञ्जरी** का स्वोपज्ञ परिमल टीका के साथ प्रकाशन हुआ है (१९७२ ई०)।

(४) **लुप्तागमसंग्रह**— लुप्तप्राय तन्त्रागमो का सकलन दो भागो मे किया गया है। द्वितीय भाग के आरम्भ मे सकलित सामग्री का ऐतिहासिक, दार्शनिक एव सास्कृतिक दृष्टि से महत्त्व का गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस विभाग के प्रथम अध्यक्ष पण्डित गोपीनाथ कविराज ही थे जिन्होने १९६५ ई० से सन् १९७० ई० तक कार्य करने और इस विभाग को व्यवस्थित कर देने के उपरान्त अवकाश ग्रहण कर लिया। कुछ वर्षों के अनन्तर सन् १९७८ ई० मे पण्डित व्रजवल्लभ द्विवेदी इस विभाग के स्थायी अध्यक्ष हुए, १९८२ ई०

में अवकाश ग्रहण किया तथा आजकल चूडामणि अध्यापक के रूप में कार्य कर रहे हैं। ऊपर निर्दिष्ट तन्त्रग्रन्थों के प्रकाशन में इनका महनीय योगदान रहा है। प्रथम, तृतीय तथा चतुर्थ ग्रन्थों का विशद सम्पादन उन्हींकी क्रियाशीलता से सम्पन्न हुआ है। **लुप्तागमसंग्रह** ग्रन्थ का ऐतिहासिक एवं धार्मिक मूल्यांकन तो उन्हीके अन्वेषण का परिणत फल है। इसी विभाग से सम्बद्ध डॉ० शिवशंकर अवस्थी का हिन्दी मे लिखा गया तन्त्रविषयक **मन्त्र तथा मातृकाओं का रहस्य** ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी तथा प्रमेयबहुल है। इस प्रामाणिक ग्रन्थ का प्रकाशन चौखम्भा विद्याभवन ने किया है (वाराणसी, १९६६ ई०)।

प्राचीन राजशास्त्र-अर्थशास्त्र विभाग की स्थापना, सुरतिनारायणमणि त्रिपाठी के द्वारा ही १९६४ में की गई। पण्डितराज राजेश्वर शास्त्री द्रविड़ ने १९६४ से १९७१ ई० तक विभागीय आचार्य एवं अध्यक्ष-पद को सुशोभित किया और तब से यह विभाग व्यवस्थित रूप से कार्य कर रहा है। विविध टीकाओं के साथ 'कौटिलीय-अर्थशास्त्रम्' द्वितीय भाग के द्वितीय संपुट तक जो प्रकाशन हुआ है वह द्रविड़जी के अध्यवसाय एवं उनके सुयोग्य शिष्य पण्डित विश्वनाथ शास्त्री दातार के सहयोग का फल है। नवीन राजतन्त्र के साथ प्राचीन राजतन्त्र का तुलनात्मक विवेचन शास्त्रीजी तथा पण्डित शम्भुनाथ मिश्र के अन्वेषण का परिणाम है। **तुलनात्मक धर्मदर्शन विभाग** इस विश्वविद्यालय में एक विशेष उपयोगी तथा सामयिक विषय का अनुशीलन करनेवाला विभाग है जिसके आचार्य पण्डित महाप्रभुलाल गोस्वामी तथा प्राध्यापक पं० राधेश्यामधर द्विवेदी बड़े उत्साह एवं अध्यवसाय से विभाग के संवर्धन में प्रसक्त है।[१]

भवन-निर्माण का विवरण आजकल 'मुख्य भवन' के नाम से अभिहित भवन का निर्माण आज से एक सौ तैतालीस (१४३) वर्ष पूर्व हुआ। अपने जीवन के आरम्भिक ६० वर्षों को विद्यालय ने परगृहवास के दुःख में बिताया। ६१वें वर्ष के आरम्भ में इसने अपने भव्य भवन में पदार्पण किया। इस ऐतिहासिक भवन के निर्माण की रामकहानी बड़ी ही रोचक तथा आकर्षक है। विक्रम संवत् १९०४ में (१ नवम्बर १८४७ ईस्वी में) काशी के तत्कालीन महाराज ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह तथा अंग्रेजी सैनिक अधिकारी श्री नीव साहब ने इसकी नींव उस भूमि पर रखी जिसे महाराजा महीपनारायण सिंह भवन-निर्माण के लिए पहले ही दे चुके थे। निर्माण-कार्य चार वर्षों में सम्पन्न हुआ। आरम्भ तो हुआ था १९४८ ई० के अप्रैल मास से और समाप्ति हुई १९५२ ईस्वी मे। यह भवन स्थापत्य विशारद मेजर मारखम किट्टो (Major Markham Kittoe architect) के निरीक्षण मे बनकर तैयार हुआ। भवन के निर्माण में अर्थसाहाय्य देनेवाले महानुभावो का स्मृतिलेख दीवालो में अंकित है। पाश्चात्त्य गाथिक स्थापत्य कला मे इस भवन का निर्माण हुआ। यूरोप मे इस भव्य कला का उपयोग गिरजाघरों के निर्माण मे किया गया है। भारतवर्ष में भी ईसाई गिरजाघरों का निर्माण इसी शैली मे किया गया है। गाथिक शैली की भव्यता, आवर्जकता तथा महत्ता के कारण ही इसका उपयोग शिक्षण प्रतिष्ठानो में भी किया जाता है।

भवन के निर्माण में साहाय्य प्रदाता व्यक्तियों की सूची में राजा, रानी, सेठ, साहूकारों का नाम प्रमुख है। ऐसे व्यक्तियों के नाम इस प्रकार है---डुमराँव के राजा महेश्वर बक्ससिंह, गोरखपुर की मझौली रियासत के राजा उदयनारायण मल्ल, जौनपुर के राजा शिवलाल दूबे के पौत्र राजा शिवगुलाम दूबे, तुलसीपुर के राजा दृगराज सिंह के पुत्र साहबजी सिंह, बेतिया

१ संस्कृत विश्वविद्यालय के अन्य पारम्परिक तथा नवीन विभागो के विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य है विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'रजतजयन्ती स्मारिका' १९८३ (वाराणसी)।

के राजा नवलकिशोर सिंह, सतासी राज की रानी व्यकट नरसैया, विजयनगर के महाराजा तथा महारानी अपल कुंडिया, बॉमीराज के दो राजपुत्र --महीपाल सिह और महेन्द्र सिह, काशी के धनाढ्य सेठ जैसे बाबू हरखचन्द्र तथा राजा पटनीमल के पौत्र नारायणदास। पूर्वोत्तर सूबा के शासक के उपमन्त्री तायसेन साहब। मुख्य भवन बनने के बाद चारो कोनो पर अटारियों का तथा जल पीने के लिए टावर के भीतर ही कुएँ का निर्माण कुछ पीछे हुआ (१८५१ ई०)। इस कूप के निर्माता सज्जन काशीराज के ही वशज फतेनारायण है

गौतमश्रेष्ठकाशेयराजवंशे बभूव यः। फतेनारायणः कूपमिदं स निरमापयत्॥

इसी समय लूई आबादी साहब ने भवन के सामने फौआरा भी बनाया (१८५१ ई०)।

ध्यान देने की बात है कि पूर्वोक्त दाताओं के नामोल्लेख के साथ ही साथ सस्कृत, हिन्दी, फारसी तथा अग्रेजी मे नीति की सुन्दर सूक्तियो का भी लेख विद्यमान है जिनमे धर्मसम्बन्धी तथ्यो का बडा ही अभिराम सन्निवेश किया गया है।

संस्कृत के सुभाषित

अमित्रो वापि मित्रो वा यो न स्यात् स्थिरवाङ् नरः।
न तस्मै विश्वसेत् प्राज्ञो विश्वासे निश्चिता विपत्॥
यस्य यस्य हि कार्यस्य फलितस्य विशेषतः।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम्॥
अहो खलभुजङ्गस्य विपरीतवधक्रमः।
कर्णे लगति चान्यस्य प्राणैरन्यो विमुच्यते॥

हिन्दी के सुभाषित

विद्या धन उद्यम बिना कहौ जु पावै कौन।
बिना डुलाये ना मिलै ज्यों पंखा की पौन॥
पाप जिते जग मे कहे नहि असत्य सम कोय।
जो गुंजा कोटिक मिलें लाल न पर्वत होय॥

अंग्रेजी सुभाषित

One that walketh with wise men shall be wise
A companion of fools shall be despised.
The lip of truth shall be established for ever
A lying tongue is but for a moment

बायबिल के बहुत से वाक्य धर्म तथा राजभक्ति के विषय मे यहाँ उद्धृत किये गये है।[1]

कॉलेज के प्राचीन अध्यापक

सस्कृत कॉलेज के आरम्भिक समय के अध्यापक पण्डितो का परिचय देना नितान्त दुष्कर है। उस युग की लिखित सामग्री का अभाव इसमे सर्वथा बाधक है। उसी कालखण्ड से सम्बद्ध तीन प्रमाणपत्रो के परीक्षण से अध्यापको के नाम तथा तत्सम्बद्ध शास्त्र विभागो का संकेत मिलता है। इस शैक्षणिक सस्थान का नाम सस्कृत मे 'काशिक राजकीय सस्कृत पाठशाला' तथा अग्रेजी मे 'बनारस कॉलेज' निर्दिष्ट किया गया है—

१ रजत जयन्ती स्मारिका, १९८३, पृष्ठ ८ १६ (प्रकाशक, सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालय, ८ अप्रैल १९८३ ई०)।

(क) १८४४ ई० के जुलाईवाले प्रमाणपत्र के समय कॉलेज के प्रिन्सिपल पद पर जान म्यूर साहब आसीन थे तथा सात पण्डितो के नाम तथा उनके द्वारा अधिष्ठित विभागो का भी सकेत मिलता है -

(१) पण्डित विट्ठल शास्त्री—व्याकरण के अध्यापक थे जहॉ छः वर्षों मे महाभाष्यान्त अध्यापन की व्यवस्था थी।

(२) पण्डित श्रीकृष्णचरण तर्कभूषण –न्यायशास्त्र के अध्यापक थे जहॉ चार वर्षों मे पूरे न्यायशास्त्र का अध्यापन पूर्ण होता था।

(३) पण्डित उमाराव सुकुल -वेदान्त के अध्यापक थे जहॉ दो वर्षों मे अध्यापन की व्यवस्था थी।

(४) चतुर्वेद हीरानन्द शर्मा साख्य के अध्यापक थे जहॉ एक वर्ष म उस शास्त्र के ग्रन्थ पढ़ाये जाते थे।

अन्य तीन पण्डितो के नामनिर्देश तो है, परन्तु उनके द्वारा पाठ्य विषय का सकेत नही है। ये है– (५) प० नारायण शास्त्री, (६) प० काशीनाथ शास्त्री तथा (७) प० गुलजार शर्मा। इस पद्धति के अनुसार छात्र १३ वर्षों मे पूरा पण्डित हो जाता था। इसी काल के भीतर अन्य पण्डितो से साहित्य तथा धर्मशास्त्र के अध्ययन का सकेत भी दिया गया है। इस प्रमाणपत्र पर ... विट्ठलशास्त्रीजी का हस्ताक्षर नही है।[1] इसी काल के अन्य तीन विद्वानो का भी नाम्ना परिचय मिलता है -

(१) ज्यौतिष के अध्यापक पण्डित लक्ष्मीपति (इनका सामान्य परिचय प० सुधाकर द्विवेदी ने अपने प्रख्यात ग्रन्थ **गणकतरङ्गिणी** मे दिया है)।

(२) वेदान्त के अध्यापक **प० राजीवलोचन न्यायभूषण** (महामना मालवीयजी ने अपने गुरु म० म० आदित्यराम भट्टाचार्य के जीवनवृत्त मे इन्हे भट्टाचार्यजी का मातामह तथा सस्कृतकॉलेज का वेदान्ताध्यापक लिखा है)। समय ईस्वी १८१२ के आसपास।

(३) न्यायशास्त्र के अध्यापक प० चन्द्रनारायण न्यायपञ्चानन। अनुश्रुति के आधार पर इनका वृत्त नीचे दिया जा रहा है। न्यायशास्त्रविषयक इनका क्रोडपत्र आज भी सुबुद्ध नैयायिको मे अपनी मौलिकता के कारण प्रसिद्ध है।

(ख) दूसरा प्रमाणपत्र प्रथम प्रमाणपत्र के ३२ वर्षों के बाद का है—४ अगस्त १८७६ ईस्वी का। उस समय कॉलेज के अध्यक्ष थे आर्चिबाल्ड ई० गफ[2] जो पूरे समय के नही, बल्कि कार्यवाहक अध्यक्ष थे। विद्यार्थी का नाम है प० ठाकुर ओझा जो उस युग के वरिष्ठ पण्डित यागेश्वर शर्मा के भ्रातुष्पुत्र बतलाये गये है। ये शर्माजी ग्रन्थलेखक के वृद्ध श्वशुर (श्वशुर के पिता) थे जिनका जीवनवृत्त आगे दिया गया है। इसी समय गफ साहब ने कॉलेज के ही अध्यापक पण्डित गोविन्ददेव शास्त्री के साथ विद्वन्मनोरञ्जिनी टीका के साथ 'वेदान्तसार' का अग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया। इस प्रमाणपत्र मे ११ अध्यापको के हस्ताक्षर है—बालशास्त्री, बापूदेव शास्त्री, देवकृष्ण शर्मा, वामनाचार्य, द्विवेद पण्डित बस्तीराम शर्मा, वेकटेश शर्मा, शिवकुमार शर्मा, शीतलाप्रसाद त्रिपाठी, कैलासचन्द्र शर्मा, राममिश्र शास्त्री, कालीप्रसाद शर्मा।

---

१ प्रमाणपत्र के लिए द्रष्टव्य रजत जयन्ती स्मारिका १६८३, पृष्ठ ७।

२ Archibald E Gaugh Officiating Principal

प्राचीन प्रमाण-पत्र

श्रीः

श्रीझोपनामकठाकुरशर्मा पण्डितवरयागेश्वरशर्मणो भ्रातुष्पुत्रः सप्तषष्ट्यधिकाष्टादशशततमे ख्रीष्टशके काशीस्थराजकीयपाठशालायां पठनार्थं प्रविष्टो रघुवंशकुमारसम्भवकिरातार्जुनीयमाघनैषधादीनि काव्यानि सिद्धान्तकौमुदीमनोरमाशब्दरत्नपरिभाषेन्दुशेखरादीन् व्याकरणग्रन्थान् लीलावत्यादिकतिपयज्योतिषग्रन्थांश्चाधीत्याधीतग्रन्थेषु दत्तसम्यक्परीक्षः साम्प्रतमयमधीतग्रन्थाध्यापनादिराजकार्यनिर्वहणक्षमः संपन्न इति निश्चिन्वन्ति।

We certify that Pandit Thákura Ojhá the nephew of the great Pandit Yágesvara Sarmá, with a desire of reading entered the Sanskrit College Benares 1867. Here, he read, in Poetry, the Raghuvansa, Kumárasambhava, Kirátárjuníya, Mágha, Naishadha and so forth; in Grammar, Siddhánta-Kaumudi, Manorama, Sabdaratna, Paribháshendusekhara and others; and a few astronomical works as Lílávati and so on. He has passed a good examination in the works which

he has read. He is, now, qualified to discharge the duties of a Pandit viz. the teaching of the works he has read and others.

बालशास्त्री
बापूदेवशास्त्री ।
देवकृष्णशर्म्मा
रामनाथाचार्यः
द्विवेदपाठिभात्तीरामशर्म्मा
पं. वेङ्कटेशशर्म्मा
शिवकुमारशर्म्मा
प. शीतलाप्रसादत्रिपाठी
कैलाशचन्द्रशर्म्मा
रामिश्रशास्त्री

कालीप्रसादशर्म्मा

Archibald E. Gough
Offg Principal

Benares College
August 4. 1876

आज से १०० वर्ष पूर्व संस्कृत कालेज के प्रमाण-पत्र का एक नमूना

इन हस्ताक्षरो मे कैलासचन्द्र शर्मा तथा कालीप्रसाद शर्मा के हस्ताक्षर बॅगला लिपि मे है जिससे इनके बगाली होने का स्पष्ट सकेत है। ये दोनो सज्जन न्याय तथा वेदान्त के अध्यापक थे। इस सूची के वामनाचार्य तथा वेंकटेश शर्मा का वृत्त अज्ञात होने के कारण नही दिया जा सका। अन्य नौ पण्डितो का परिचय दिया गया है।

(ग) तीसरा प्रमाणपत्र गगाधर शास्त्री मानवल्ली का है जो आगे चलकर महामहोपाध्याय पदवी से मण्डित किये गये। इस प्रमाणपत्र मे ऊपरवाले ११ पण्डितो के हस्ताक्षर है। इसका समय १८७९ ई० है जब नेसफील्ड साहब प्रिन्सिपल थे[१]। इनका हस्ताक्षर अग्रेजी मे टिप्पणी मे दिया जाता है।



१ John C Nesfield, Principal, Banaras College, The 15th January 1879

अध्याय ५

काशिराज का इतिहास तथा संस्कृत-सेवा

वर्तमान काशिराज वश की स्थापना आज से लगभग ढाई सौ वर्ष पूर्व हुई थी। यह गौतम गोत्री भूमिहार ब्राह्मण-वश है। गौतम ऋषि के वश मे कृष्णमिश्र नामक एक तपस्वी ब्राह्मण हुए। सुनते है[1] कि इनकी दो पत्नियाँ थी जिनसे एक एक पुत्र उत्पन्न हुआ- देवशर्मा तथा रामशर्मा। इस वश का मूल आवास स्थान दातृपुर नामक ग्राम था जिसका आजकल नाम 'दतरिया' है और जो काशी से पश्चिम लगभग दस कोस पर स्थित 'गगापुर' नामक प्रसिद्ध गाँव के निकट ही है। जेठे पुत्र **देवशर्मा** शास्त्र धर्म का अवलम्बन कर मूल स्थान छोडकर कही अन्यत्र चले गये, परन्तु कनिष्ठ पुत्र **रामशर्मा** दातृपुर मे ही रहकर शास्त्र तथा शस्त्र दोनो से सम्पन्न होकर म्लेच्छ द्वारा उत्पीडित आसपास के भूमिखण्ड पर विधिवत् शासन करने लगे। रामशर्मा का वश धीरे धीरे बहुत विस्तृत हो चला उस बढे हुए वश की दूर परम्परा मे **मनुरञ्जन** नामक एक प्रतापशाली व्यक्ति हुए जिनके चार पुत्रो मे ज्येष्ठ पुत्र **मनसाराम** ने इस राजवश के संस्थापक एव प्रभावशाली शासक होने का महनीय गौरव प्राप्त किया। इनके तीनो अनुजो--दशाराम, दयाराम एव मायाराम ने अपने अग्रज मनसाराम के सहायक तथा अनुगामी बनकर उनके शासन को सुस्थिर तथा दृढ करने मे अपनी समस्त शक्ति का उपयोग किया।

राजा मनसाराम

राजा मनसाराम बडे ही शौर्य सम्पन्न तथा अनुशासन प्रिय पुरुष थे। यवनो के शासन के अन्तिम काल मे डाकुओं के द्वारा प्रजा बडी ही दुखित थी, जीवन असुरक्षित था, जान तथा माल दोनो पर चोट करनेवाले डाकुओं का टोटा नही था। मनसाराम ने अपनी शूरता, वीरता तथा युक्तिप्रियता के सहारे इन अराजक तत्त्वो के ऊपर अपना प्रभाव जमाया, उन्हे छिन्न-भिन्न कर अपना शासन दृढ किया और एक नवीन राजवश की स्थापना का गौरव तथा श्रेय भी प्राप्त किया।

महाराजा बलवन्त सिंह

मनसाराम की नन्दकुमारी नामक धर्मपत्नी के गर्भ से **बरिबंड सिंह** या बलवन्त सिह का जन्म हुआ। ये अपने पिता से भी अधिक प्रभावशाली व्यक्ति हुए और पिता के द्वारा जीते गये भूखण्ड को इन्होने और बढ़ाया, राज्य का पूरा विस्तार किया और गगापुर से हटकर रामनगर को अपनी राजधानी बनाया। रामनगर के वर्तमान दुर्ग के बनानेवाले शासक महाराजा बलवन्त सिह बहादुर ही थे। इस दुर्ग या किले के बनाने का समय १७४० ई० के आसपास

१ काशिराज के आरम्भिक काल का यह वर्णन राजा चेतसिह के सभापण्डित बलभद्र कविरचित 'चेतसिह-विलास' के आधार पर है। इस अमुद्रित ग्रन्थ के लिए द्रष्टव्य—विद्यामन्दिर पत्रिका (१९७६ ई०), पृ० २०–२२, रामनगर-दुर्ग से प्रकाशित।

है। किले के पश्चिम ओर महाराजा ने भगवान् शकर का मन्दिर बनवाकर उसमे शिवलिग की स्थापना की है। इस मन्दिर के द्वार पर अकित ये दो श्लोक उपलब्ध होते है

श्रीमद्—गौतमवंश-भूषणमणिस्त्रैलोक्यरक्षामणिः
स्त्रीणां कान्तमणिर्वनीयकजन-प्रख्यात-चिन्तामणिः ।
पौत्रः श्रीमनरञ्जनस्य मनसारामात्मजः श्रीयुतो
वीरः श्रीबरिबंडसिंहनृपतिर्वर्वर्ति सर्वोपरि ॥
यश्चतुर्दिक्षु काशीतः सौराज्यं कुरुतेतराम् ।
मान्धातेव धराधीशो येन राजन्वती मही ॥
सं० १७९९ १७४२ ई०

इस शिलालेख मे महाराज के वश, पिता पितामह तथा शासन क्षेत्र का निःसदिग्ध सकेत मिलता है। राजा बलवन्त सिह के जीवनचरित तथा शासनकाल का विवरण देनेवाला ग्रन्थ उर्दू मे निबद्ध **बलवन्तनामा** है। उसका अध्ययन इनके विषय मे पूरी जानकारी के लिए नितान्त आवश्यक है। यह **बलवन्तनामा** महाराजा काशीनरेश के पुस्तकालय मे उपलब्ध है। रामनगर किला के लिए मुहूर्त शोधन करनेवाले प्रवीण फलितदैवज्ञ का नाम **पण्डित परमानन्द पाठक** था। ये बलवन्त सिह की सभा के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् एव गणक थे। फलित ज्योतिष के विषय मे इन्होने **प्रश्न-माणिक्यमाला** नामक ग्रन्थ की रचना की है जिसका विशेष विवरण आगे दिया जावेगा।

निष्कर्ष यह है कि महाराजा बलवन्त सिह शौर्यसम्पन्न शासक होने के अतिरिक्त धर्मानुरागी व्यक्ति थे। यवनो के प्रकोप से काशी के सभी मन्दिर ध्वस्त हो गये थे और जो छोटे-मोटे मन्दिर थे उनमे भी उनके भय से घण्टा नही बजते थे। महाराज बलवन्त सिह के काल मे मन्दिरो मे घण्टा बजने प्रारम्भ हो गये। विश्वनाथ मन्दिर का निर्माण भी इन्ही के सरक्षण मे महारानी अहल्याबाई ने कराया और दुर्गाकुण्ड पर दुर्गाजी के मन्दिर का निर्माण भी इसी समय हुआ। गगा की प्रबल तीव्र धारा से सर्वदा टकराने पर भी अपनी अडिग स्थिति बनाये रखनेवाला यह किला राजा बलवन्त सिह के वास्तु-निर्माण-कौशल का भी पूरा परिचायक है। उनकी सभा मे सरस्वती के सेवको का आदर होता था। 'बलवन्तनामा' का पूरा अनुशीलन करने पर ही उनकी साहित्य सेवा का पूरा अकन किया जा सकता है। इतना तो कहा ही जा सकता है कि **प्रश्न-माणिक्यमाला** के लेखक पण्डित परमानन्द पाठक को अपना प्रधान पण्डित बनाकर महाराजा ने अपनी गुणग्राहिता का पूरा परिचय दिया। महाराजा की दो पत्नियाँ थी। 'पतिप्राणा' नामक पत्नी से दो पुत्र उत्पन्न हुए — चेतसिह और सुजानसिह। दूसरी पत्नी से एकमात्र कन्या उत्पन्न हुई, जो दरभगा मे नरहन नामक रियासत के स्वामी को ब्याही गई थी। बलवन्त सिह की मृत्यु १७७० ई० मे हुई।

रानी का नाम चेतसिह विलास के आधार पर ऊपर दिया गया है। इतिहास के ग्रन्थो मे ये नाम भिन्न प्रकार से मिलते है। बनारसीलाल पाण्डेय 'आर्य' द्वारा प्रणीत 'महाराजा बलवन्त सिह' नामक ग्रन्थ[1] मे पहली रानी का नाम गुलाब कुँवर तथा दूसरी रानी का नाम पन्ना कुँवर दिया गया है (पृष्ठ २८-३२)। पहली रानी पिडरा के बाबू बरियारसिंह की कन्या तथा दूसरी रानी डोभी के रघुवशी क्षत्रिय भीमसिंह की कन्या बताई गई है। दूसरी रानी से राजा चेतसिह का जन्म हुआ था।

---

१ 'महाराजा बलवन्त सिह और काशी का अतीत' प्रकाशक बनारसीलाल पाण्डेय 'आर्य', गुरुबाग, लक्सा, वाराणसी, सन् १९७५।

राजा बलवन्त सिंह के आश्रित दरबारी कवि रघुनाथ थे। काशी के राजा सदा से संस्कृत के विद्वानों तथा हिन्दी के कवियों के आश्रयदाता रहे हैं। अनेक कवि इन राजाओं के दरबार को सुशोभित करते रहते थे। कवि रघुनाथ बन्दीजन (भाट) थे और प्रसिद्ध कवि थे।

रघुनाथ कवि

ठाकुर शिवसिंह ने अपने सरोज में इनके चार ग्रन्थों का उल्लेख किया है : **काव्य-कलाधर, रसिक मोहन, जगत मोहन,** और **इश्क-महोत्सव**। इनका कविताकाल सं० १७९० (१७३३ ई०) से सं० १८१० (१७५३ ई०) समझना चाहिए।[1] नागरीप्रचारिणी से प्रकाशित 'हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवेचन'[2] के द्वितीय खण्ड में 'इश्क-महोत्सव' का नाम नहीं है। अन्य तीन ग्रन्थों का नाम इस प्रकार है—**जगत-विमोहन, दूषणदूषण** तथा **बालगोपाल-चरित्र**। इनके ये छहों ग्रन्थ पद्यात्मक बताये गये है। कतिपय ग्रन्थों का विषय उनके नाम से ही प्रकट होता है।

इनके सुपुत्र गोकुलनाथ ने अपने पिता के समान ही कवित्व शक्ति प्राप्त की थी। इन्होने चेतसिंह की प्रशस्ति में लिखे गये अपने ग्रन्थ चेतचन्द्रिका में राजा बलवन्त सिंह की उदारता का परिचय इन दोहों में दिया है—

आदर करि बरिबण्ड नृप, राख्यो कवि रघुनाथ।
दै हय गज रथ पालकी, दीन्हें अगनित गाथ॥
दियो ग्राम चौरा तिन्हें, सुरसरिता के तीर।
सुरसरिता सी बसत जहँ सकति सुमति की भीर॥

इससे स्पष्ट है कि राजा बलवन्त सिहजी ने अपने आश्रित कवि **रघुनाथ** को गगा के तीर पर स्थित चौरा नामक ग्राम दिया था। राजा साहब मुसलमान सन्तो को भी आश्रय देते थे। उस युग के मशहूर फकीर फारस के **शेख अली-हजी** को आपने काशी में रहने के लिए स्थान तथा आश्रय प्रदान किया था। ये शेख साहब मूलतः ईरान के निवासी थे। ये नादिरशाह के भय से भागकर दिल्ली आये थे। वहॉ की अशान्ति से ऊबकर वे काशी आये। यहाँ शान्तिमय वातावरण में निवास करते थे। इन्होंने काशी की प्रशसा में फारसी में शेर लिखा है। राजा बलवन्त सिंह इनका बड़ा आदर और सम्मान करते थे। उनकी मजार आज भी काशी में विद्यमान है। शाह साहव को आश्रय देने से स्पष्ट है कि बलवन्त सिंह बड़े ही उदार एवं सब धर्मो के आश्रयदाता नरेश थे। सनातनधर्मी हिन्दू राजा के लिए यह बड़े ही गौरव की बात है।

महाराजा चेतसिंह

काशी के राजाओं मे महाराजा चेतसिह का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। भारत मे ब्रिटिश शासन के इतिहास से परिचित कौन ऐसा व्यक्ति होगा जिसने चेतसिंह का नाम न सुना हो। ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के शासन के प्रारम्भिक काल में प्रथम ब्रिटिश गवर्नर जनरल लार्ड वारेन हेस्टिंग्स (१७७४ ई०—१७८५ ई०)से इन्होंने लोहा लिया था। हेस्टिग्स ने काशी पर आक्रमण तो कर दिया परन्तु काशी की समस्त जनता ने चेतसिंह के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया और इस प्रकार उसे लेने के देने पड़ गये। उस समय वारेन हेस्टिंग्स इतना भयभीत होकर घबरा

---

१. रामचन्द्र शुक्ल · हिन्दी साहित्य का इतिहास (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १५वाँ संस्करण, पृ० २७५)।
२. प्रकाशन-काल सं० २०२१ विक्रमी।

गया था और इतनी हडबडी मे यहाँ से भागा कि इस घटना से सम्बद्ध यह कहावत आज भी प्रचलित है -

घोड़ा पर हौदा, और हाथी पर जीन। रातो रात भाग गया वारेन हेस्टीन ॥

यदि यह अग्रेज शासक भाग न गया होता, तो उसकी जान की भी आफत आ जाती और भारत का इतिहास ही कुछ बदल गया होता।

महाराजा चेतसिह ने सन् १७७० ई० से १७८१ ई० अर्थात् केवल १० वर्षों तक राज्य किया। इसी अल्पकाल मे इन्होने अपने पराक्रम तथा वीरता का जो परिचय दिया वह भारतीय इतिहास मे स्वर्णाक्षरो मे लिखने योग्य है।

महाराजा चेतसिह के जीवन का ऐतिहासिक पक्ष अत्यन्त उजागर है जिसे सभी इतिहास के विद्यार्थी जानते है। परन्तु इनके जीवन का धार्मिक पक्ष तथा साहित्य सवर्धन पक्ष सर्वसाधारण लोगो को विदित नही है इन पक्षो का द्योतक साधन **चेतसिंहविलास** काव्य के रूप मे अभी उपलब्ध हुआ है। इसका प्रणयन इन्ही राजा के दरबारी कवि श्री बलभद्र ने किया था। इस काव्य मे नाना छन्दो मे ११६६ पद्य है। इसमे कवि ने चेतसिह के दादा मनसाराम और पिता बलवन्त सिंह का परिचय देने के पश्चात् महाराजा चेतसिह के जीवन का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इसमे चेतसिह के दरबार के प्रधान विद्वानो तथा पण्डितो के नामो का भी उल्लेख किया गया है जिनमे प्रधान निम्न थे ज्योतिषी **रगनाथ**, पुरोहित **देवभद्र**, कविवर रघुनाथ कवि के पुत्र **गोकुलनाथ**। चेतसिंह के गुरु का नाम **भोलानाथ मिश्र** था जिन्होने इन्हे साहित्य मे दीक्षित किया था। इन्होने ही चेतसिंह का राज्याभिषेक भी कराया था। पण्डित भोलानाथ मिश्र ने ही चेतसिंह को शिक्षित तथा विनीत बनाया, इसकी सूचना निम्न श्लोक से स्पष्ट मिलती है

विद्या-विनय-दाक्षिण्य-क्रिया-प्रागल्भ्यशालिना। भोलानाथेन मिश्रेण चेतसिंहो व्यनीयत ॥

राजा चेतसिह के राज्यारोहण का सकेत इस पद्य मे बडी ही सुन्दर भाषा मे किया गया है –

बलवति बलिवन्धे बालशीतांशुमौलि, प्रविशति जगतः श्री सानुरागान् कटाक्षान् ।
दरविकसितपद्मश्रेणिदम्भेन चक्रे, शरदमलपटीका चेतसिंहे नृसिंहे ॥

चेतसिह ने राजगद्दी पर बैठने के पश्चात् काशी की पचक्रोशी की यात्रा की थी। इस यात्रा मे अनेक मदिरो का इन्होने दर्शन किया ये अपने गाँव गगापुर भी गये थे जहाँ पर स्थित सागर (जलाशय) का सुन्दर वर्णन 'चेतसिंहविलास'[1] मे इस प्रकार पाया जाता है

अदूर-गङ्गापुर-सुन्दरीक्षणैरगाधतोयानतिपङ्कजोऽपि यः,
प्रभूतविद्याकरता विगाहते प्रगे प्रगे स्नानविधौ प्रसङ्गिणी ।
कियन्ति रत्नानि यदङ्गसगता बुधाः प्रतिष्ठासमये न लेभिरे,
यशः सुधांशुर्वलिवन्द्य-भूपतेर्यतः स दृष्टः शिवसागरोऽमुना ॥

इस ग्रन्थ मे घटनाओं की तिथि तथा मास तो दिया गया है, परन्तु सन् सवत् का कही भी उल्लेख नही है। अतः इतिहास की दृष्टि से यह ग्रन्थ विशेष मूल्यवान् न होते हुए भी साहित्य की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है। यह ग्रन्थ वर्तमान काशीनरेश के पुस्तकालय मे अपूर्ण हस्तलिखित प्रति के रूप मे सुरक्षित है जिसके प्रकाशन की अत्यन्त अपेक्षा है।

---

१ 'चेतसिंहविलास' के विस्तृत विवरण के लिए देखिए –
'विद्यामदिर पत्रिका', सन् १९७९ वार्षिकी, दुर्ग रामनगर, वाराणसी, पृ० २०-३०।

महाराजा महीपनारायण सिंह

महीपनारायणसिंह राजा चेतसिंह के अपदस्थ किये जाने के अनन्तर १७८१ ई० मे काशिराज की गद्दी पर आरूढ़ हुए। ये महाराजा बरिबंडसिंह के दौहित्र थे। अभी राज्य मे अस्त-व्यस्तता विराजती थी जिसे इन्होने बड़ी बुद्धिमत्ता से दूर किया। काशिराज-संस्कृत-पाठशाला की स्थापना २१ मार्च १७९१ ई० म आपकी ही उदारता तथा विद्या प्रेम की परिचायिका है। इसके लिए इन्होने मिर्जापुर जिले में 'सगासी' नामक एक पूरा परगना ही दे डाला तथा वह भूमिखण्ड भी दे दिया जिसके ऊपर पाठशाला की भव्य इमारत खड़ी की गई जिसमे आजकल सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के अन्तर्गत नाना विभागो की कक्षाएँ चलती है तथा जो अपनी 'गाथिक' शैली की रचना के निमित्त नितान्त प्रसिद्ध है। इनके विषय मे ब्रह्मदत्त कवि ने अपने **दीपप्रकाश** नामक अलकार ग्रन्थ मे यह प्रशस्ति लिखी है--

भाल विशाल सुभाग को शाली मनोवच काली के प्रेम परायन।
बुद्धि विचार अगार उदार सुसीलमै संयत सूधे सुभायन॥
कज से नैन कलानिधि सो मुख बाहु प्रलम्ब करौ कमलायन।
पायन पूजे किते पुहमीप भये कुलदीप महीप नरायन॥

इनके तीन पुत्र थे-(१) **उदितनारायण**, जो ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण राज्य के उत्तराधिकारी हुए (२) **दीपनारायण,** मध्यम पुत्र जिनके आग्रह तथा अनुग्रह से ब्रह्मदत्त ने अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए उन्हीके नाम पर 'दीपप्रकाश' नामक यह ग्रन्थ बनाया, (३) प्रसिद्धनारायण (कनिष्ठ पुत्र)।

महाराजा उदितनारायण सिंह (सन् १७८३-१८३५ ई०)

महाराजा महीपनारायण सिंह के निधन (१७९६ ई०) के अनन्तर उन्हीके सुपुत्र राजकुमार महाराजा उदितनारायण सिंह राजगद्दी पर बैठे। ये संस्कृतविद्या के प्रेमी, धर्मानुरागी तथा गो-ब्राह्मण-सेवक थे। महाराज उदितनारायण सिंह रामनगर की विश्वविश्रुत रामलीला के संस्थापक या विशेष समुन्नायक के रूप मे रामभक्तो और लीलाप्रेमियो के लिये विशेष रूप मे स्मर्तव्य है। इन्ही पुण्यश्लोक महाराज ने रामनगर की विश्रुत रामलीला का वर्तमान रूप राजकीय साज सँभार के साथ प्रवर्तित किया। महाराज उदितनारायण सिंह को दो ही प्रसिद्ध व्यसन थे--बाघो का शिकार करना और रामलीला या रामकथा का चर्चा। रामायण पर इन्होने तीन भाष्य या व्याख्याये चलाईं--(१) रामलीला, (२) चित्ररामायण और (३) **मानसदीपिका** नामक टीका। चित्र-रामायण का निर्माण, जिसमे रामचरितमानस की चौपाइयो के साथ उनके स्वर्णिम भावप्रदर्शक चित्र उन्होने उस समय लक्षाधिक रुपया व्यय कर निर्माण कराया, जो आज भी विश्व मे अनुपम है। कवियो और गुणिजनो के तो वे कल्पद्रुम ही थे। उनके अनुज कुँवर दीपनारायण सिंह भी रामचरितमानस के प्रेमी और प्रचारक थे तथा कविजन उनके आश्रय मे काव्य-रचना करते थे। बाबू प्रसिद्धनारायण सिंह अपने अग्रजों के गुण के साथ ही उद्यान के शौकीन थे और राज्य मे बगीचो का उन्होने निर्माण कराया। रामायण और काव्य के ये भी पोषक थे। इनके आश्रय में पनपनेवाले पण्डितों में **बबुआ ज्योतिषी** की ख्याति सबसे अधिक थी। ये काशी के ही महाराष्ट्र ब्राह्मण थे। इनका वंश बड़ा ही प्रतिष्ठित था। ज्योतिषशास्त्र के समस्त विभागो के ये पारगत पण्डित थे परन्तु फलितज्योतिष में ही इनकी विशेष ख्याति थी। ये मुहूर्त के बहुत ही बड़े विद्वान् थे। यात्रा का मुहूर्त (उचित समय) बतलाने में इनकी इतनी प्रसिद्धि थी कि हिन्दू राजा और मुसलमान बादशाह दोनो

ही समान रूप से इनके यहाँ मुहूर्त पूछने के लिए आया करते थे। ऐसी प्रसिद्धि है कि नेपाल के राजा को—जिन्हे ब्रिटिश सरकार ने पदच्युत कर दिया था--इन्होने इतना शुभ मुहूर्त बतलाया था कि उसी मुहूर्त मे अपने देश नेपाल गये। वहाँ जाने पर उनके ऊपर जितने प्रतिबन्ध ब्रिटिश सरकार ने लगाये थे वे सब उठा लिये गये और वे राजा अपने देश मे शासक के रूप में सुखपूर्वक रहने लगे।

इसी प्रकार लखनऊ के नवाब आसफउद्दौला के पुत्र जो वजीरअली के नाम से अधिक प्रसिद्ध था- को इन्होने युद्ध का मुहूर्त दिया था। परन्तु वजीरअली ने शुभ मुहूर्त के पहले ही अग्रेजो से युद्ध छेड दिया। अतः युद्ध मे वह पराजित हो गया।

इसी प्रकार से यह भी प्रसिद्धि है कि इन्होने किसी यवन (मुसलमान) को यात्रा का शुभ मुहूर्त दिया था। उसने उसी मुहूर्त मे प्रस्थान किया। परन्तु कुछ दूर जाने के बाद बीमार पड गया। कही यात्रा मे मृत्यु न हो जाय इस डर से उसने चार रुपयो मे एक खच्चर खरीदा और उसी पर चढ़कर घर लौट आया। कुछ दिनो के बाद ज्योतिषीजी पर रोष प्रकट करते हुए उसने अपनी दुर्गति की गाथा कह सुनाई। ज्योतिषीजी ने उस मृत खच्चर की बची हुई काठी (चारजामा) को ही फाडने का आदेश दिया। परन्तु उस समय उसके आश्चर्य का ठिकाना नही रहा जब उस काठी के भीतर से दो सौ सुवर्ण मुद्राएँ (अशर्फियाँ) निकली। वह बबुआ ज्योतिषी के इस मुहूर्त से अत्यन्त प्रसन्न हुआ और दक्षिणा मे इन्हे अनेक सुवर्ण मुद्राएँ दी। यह थी बबुआ ज्योतिषी के फलित ज्योतिष की करामात। सचमुच ज्योतिष का ऐसा गम्भीर विद्वान् आज मिलना अत्यन्त दुर्लभ है।

बबुआ ज्योतिषी के अनुज पण्डित **बालकृष्ण** ज्योतिषी थे। ये भी महाराजा के राज ज्योतिषी थे जो अपनी विद्या के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध थे। बबुआ ज्योतिषी के पुत्र प० जयराम भी ज्योतिष शास्त्र के प्रकाण्ड ज्ञाता थे। ये गणित ज्योतिष के कठिन प्रश्नो का उत्तर बिना पाटी की सहायता से ही अपने मन मे हिसाब लगाकर दे दिया करते थे। ये अपने शास्त्र के अद्वितीय विद्वान् थे। पण्डित जयरामजी के पुत्र भाऊजी भी ज्योतिष शास्त्र के अलौकिक विद्वान् थे। इन्हे अपने पूर्वजो की ही भाँति महाराजा से वृत्ति मिलती थी। इस प्रकार से बबुआ ज्योतिषी के परिवार मे अनेक पीढ़ियो तक ज्योतिष विद्या विराजमान थी और प्रायः सभी लोगो ने काशिराज का आश्रय प्राप्त कर यश तथा धन प्रचुर मात्रा मे अर्जित किया।

इसी वश के ऊपर लिखित प० बालकृष्ण ज्योतिषी के पट्टशिष्य प० **सेवाराम शर्मा** थे जो म० म० प० बापूदेव शास्त्री के गुरु थे। बबुआ ज्योतिषी का जन्मकाल सन् १७५६ ई० था और निधन काल सन् १८१६ ई० था। फलत. आज से १५० वर्षों पूर्व ही इनका निधन हो गया था।

गोकुलनाथ भट्ट— इन्होने चेतसिह, महीपनारायणसिह एव उदितनारायणसिह तीनो काशीनरेशो की सभा को सुशोभित किया था। पूर्व मे ये राजा चेतसिह के दरबारी कवि थे। इन्होने आश्रयदाता चेतसिह की कीर्तिकौमुदी को फैलानेवाली काव्यरचना **चेत-चन्द्रिका** के नाम से की है (रचनाकाल १८२८ वि० - १७७१ ई०)। यह अलकार ग्रन्थ है जिसके उदाहरण अधिकतर चेतसिह के स्तुतिपरक है। इसका साहित्यिक मूल्य के अतिरिक्त राजनैतिक महत्त्व भी है, क्योकि इसके आरम्भ मे काशिराज के वश का वर्णन दिया गया है। बलभद्र कवि ने अपने चेतसिहविलास चम्पू मे इन्हे चेतसिह का आश्रित कवि बतलाया है। बन्दीजन होने के नाते ये प्रातःकाल कमनीय पद्यो के द्वारा काशिराज का उद्‌बोधन (जागरण) कराया

करते थे। इससे प्रतीत होता है कि एक महनीय शासक होने के लिए जिस साजसज्जा की, आभूषण-अलकरण की औपचारिक आवश्यकता होती है, उसे राजा चेतसिह ने पूरा कर लिया था। 'चेत-चन्द्रिका' तो कभी भारती जीवन प्रेस, काशी से प्रकाशित हुई थी, परन्तु इनके इतर ग्रन्थो के मुद्रण का परिचय नही मिलता। ये ग्रन्थ निम्नलिखित है—

अमरकोष (भाषा), कविमुखमण्डन (पद्य), राधाकृष्ण विलास (पद्य), राधा जू को नखशिख (पद्य), सीतारामगुणार्णव रामायण (पद्य), महाभारतदर्पण (पद्य)। इनमे से अन्तिम दोनो ग्रन्थ बडे महत्त्वपूर्ण है। सीतारामगुणार्णव रामायण अध्यात्मरामायण का भाषानुवाद अथवा तदाश्रित निर्मित पद्यबद्ध काव्य है। महाभारत के अनेक अनुवाद हिन्दी पद्यो मे प्राप्त है। **धर्मदास** कृत अनुवाद (१६६४–१७११ विक्रमी – १६०७ ई० मे लेकर १६५४ ई० तक प्रणीत) तथा **सबल सिंह चौहान** रचित अनुवाद (रचना-काल १७१८ वि०–१७३४ वि० अर्थात् १६६१ ई०---१६७७ ई०) १७वी शती की रचनाएँ है, परन्तु साहित्यिक दृष्टि से उतने अभिराम एव मनोरम नही है जितना महाभारतदर्पण कमनीय एव ललित है।

महाभारत-दर्पण

गोकुलनाथ ने अपने पुत्र गोपीनाथ तथा शिष्य मणिदेव के साथ मिलकर हिन्दीसाहित्य मे एक [illegible] कार्य किया। इन्होने सस्कृत के महाकाव्य तथा लक्षश्लोकात्मक समस्त महाभारत एव हरिवश (जो महाभारत का ही परिशिष्ट माना जाता है) का हिन्दी पद्य मे अनुवाद किया। इस अनुवाद मे अनेक छन्दो का प्रयोग किया गया है जो अत्यन्त कवित्वपूर्ण है। कथा प्रबन्ध का इतना बडा महाकाव्य हिन्दी-साहित्य मे दूसरा उपलब्ध नही है। इस महाकाव्य का हिन्दी मे अनुवाद लगभग दो हजार (२०००) पृष्ठो मे समाप्त हुआ है। इतना बडा ग्रन्थ होने पर भी न तो इस अनुवाद मे कही शिथिलता आने पाई है और न रोचकता मे कही कमी हुई है। इसमे काव्य गुण भी प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होते है।

इतने बडे महाकाव्य मे छन्दो का विधान जिस रीति से होना चाहिए इन्होने ठीक उसी रीति से किया है। जिस छन्द को लिया है उसका कुछ दूर तक उचित रीति से निर्वाह किया है। महाकवि केशवदास की भॉति इन्होने छन्दो का तमाशा नहीं दिखलाया और न इसे छन्दो का 'अजायबघर' ही बनाया। विभिन्न छन्दो का चुनाव भी बहुत उत्तम हुआ है। घनाक्षरी, सवैया, रूपमाला आदि मधुर छन्दो का ही इसमे अधिक प्रयोग हुआ है परन्तु बीच-बीच मे दोहा और चौपाइयो का भी उपयोग किया गया है। इस ग्रन्थ की भाषा प्राञ्जल और सुव्यवस्थित है। अनुप्रास आदि शब्दालकारो पर अधिक आग्रह न होने पर भी यथास्थान इनका आवश्यक विधान हुआ है। यह रचना सभी प्रकार से साहित्यिक और मनोहर है और इन तीनो लेखको की काव्य-कुशलता का परिचय देती है।

काशीनरेश महाराजा उदितनारायण सिह की आज्ञा से इस ग्रन्थ की रचना हुई थी। इन्होने इसके लिए लाखों रुपये व्यय किये थे। इस महाग्रन्थ के निर्माण मे ५० वर्षों से भी अधिक समय लगा था। अनुमानतः इसका प्रारम्भ स० १८३० (१७७३ ई०) मे हो चुका था और यह स० १८८४ वि० (सन् १८२७ ई०) मे जाकर समाप्त हुआ। इस महान् साहित्यिक यज्ञ के अनुष्ठान के लिए हिन्दीजगत् महाराजा उदितनारायण सिह का सदा कृतज्ञ रहेगा। हिन्दी-संसार के कल्याणार्थ काशिराज का यह योगदान अविस्मरणीय है।

गोकुलनाथ

'महाभारत दर्पण' का सर्वप्रथम प्रकाशन पण्डित लक्ष्मीनारायण द्वारा शुद्ध कराकर सवत् १८६६ (१८०९ ईस्वी) मे कलकत्ता के शास्त्रप्रकाश मुद्रायन्त्र से हुआ। दूसरा सस्करण बाजपेयी रामरतन से शुद्ध कराकर नवल प्रेस, लखनऊ से १८८३ ई० मे प्रकाशित हुआ। इसी प्रेस से इसका तीसरा सस्करण भी १८९१ ई० मे प्रकाशित हुआ, यह अनुवाद भावो की अभिव्यञ्जना, शब्दचयन, भाषा सौष्ठव आदि साहित्यिक शिल्प की दृष्टि से मूल सस्कृत के बहुत ही निकट है।

महाभारत का यह अनुवाद गोकुलनाथ, गोपीनाथ और मणिदेव इन तीनो के सम्मिलित प्रयास का उत्तम परिणाम है। परन्तु इन तीनो अनुवादको मे भी गोकुलनाथ ही श्रेष्ठ स्थान के अधिकारी है। इनका कविताकाल स० १८४० से स० १८७० वि० तक माना जा सकता है। इन्होने रीति और प्रबन्ध दोनो प्रकार के ग्रन्थो की प्रचुर रचना की है। इतने अधिक परिमाण मे और इतने प्रकार की काव्य रचना करने मे वही व्यक्ति समर्थ हो सकता है जो पूर्ण साहित्यमर्मज्ञ, काव्य-कला मे सिद्धहस्त और काव्य भाषा का पूर्ण अधिकारी हो। गोकुलनाथजी ऐसे ही व्यक्ति थे। ग्रन्थ रचना और प्रबन्ध रचना दोनो मे समान रूप से कुशल, इनको छोडकर अन्य कोई कवि,[1] रीति-काल के अन्तर्गत नही पाया जाता।

मणिदेव—गोकुलनाथ के पट्टशिष्य मणिदेव बदीजन भरतपुर राज के जहानपुर नामक गॉव के निवासी थे। ये अपनी विमाता के दुष्ट व्यवहार से रुष्ट होकर काशी चले आये थे। काशी मे ये अपने गुरु गोकुलनाथजी के यहाँ ही रहते थे। जीवन के अन्तिम दिनो मे ये कभी-कभी विक्षिप्त भी हो जाते थे। इनकी मृत्यु स० १९८० (१८६६ ई०) मे हुई। इन्होने महाभारत के कुछ अशो का हिन्दी मे अनुवाद किया है।

कविता के उदाहरण—महाभारत का अनुवाद सम्मिलित रूप से उपर्युक्त तीनो कवियो ने किया परन्तु जिस–जिस अश का अनुवाद जिसने जिसने किया है उस उस अश मे उसका नाम दिया हुआ है। अतः इन कवियो के काव्य का नमूना जानने मे कोई कठिनाई उपस्थित नही होती।

गोकुलनाथ की कविता[2]—ये बडे ही सरस, सहृदय और विदग्ध कवि थे। महाभारत के अनुवाद मे शाल्व के युद्ध का इन्होने जो वर्णन किया है उसका एक उदाहरण लीजिए

दुर्ग अति ही महत् रक्षित भटन सो चहुँ ओर।
ताहि घेर्‌यो शाल्व भूपति सेन लै अति घोर॥
एक मानुष निकसिबे की रही कतहुँ न राह।
परी सेना शाल्व नृप की भरी जुद्ध-उछाह॥

परन्तु जहाँ गोकुलनाथजी ने किसी सरस वस्तु का वर्णन किया है वहाँ पर इनकी कविता बड़ी मधुर, रसपेशल और सुन्दर है। राधा के बिछुओं (पैर के एक आभूषण) की आवाज की करामात सुनिए जो सखियो के कान मे कोकिल की मधुर ध्वनि पैदा करती है परन्तु सौतिन (सपत्नी) के कर्ण-कुहरो मे हलाहल विष ही उड़ेलती है। पदशय्या कितनी कोमल है—

सखिन की श्रुति में उकुति कल कोकिल की,
गुरुजन हू पै पुनि लाज के कथान की।

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल हि० सा० इ०, रीतिकाल, प्र० ३—अन्य कवि, पृ० ३४८–५०।
२ शुक्ल वही।

'गोकुल' अरुन चरनाम्बुज पै गुंज पुंज,
धुनि सी चढ़ति चंचरीक चरचान की ॥
प्रीतम के श्रवन समीप ही जुगुति होती,
मैन मंत्र-तंत्र के बरन गुन-गान की ।
सौतिन के कानन में हलाहल ह्वै हूलति,
ए री सुखदानि ! तौ बजनि बिछुवान की ॥

राधाकृष्ण विलास

गोपीनाथ की कविता का उदाहरण -

सर्व दिसि में फिरत भीषम को सुरथ मनमान ।
लखे सब कोउ तहाँ भूप अलात चक्र समान ॥
सर्व थल सब रथिन सों तेहि समय नृप सब ओर ।
एक भीषम सहस सम रन जुरो हो तहँ जोर ॥

महाभारत से

मणिदेव की कविता

बचन यह सुनि कहत भो चक्रांग हंस उदार ।
उड़ौगे मम संग किमि तुम कहहु सो उपचार ॥
खाग जूठो पुष्ट, गर्वित काग सुनि ये बैन ।
कह्यौ जानत उड़न की शत रीति हम बल ऐन ॥

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि गोपीनाथ और मणिदेव की कविताएँ अत्यन्त साधारण कोटि की है परन्तु इन लोगो ने महाभारत-जैसे महाग्रन्थ के अनुवाद करने का साहस किया इसीको बहुत मानना चाहिए ।

ब्रह्मदत्त कवि

महाराजा उदितनारायण सिंह के दरबारी कवियो मे ब्रह्मदत्त अन्यतम थे । इन्होने दीपनारायण सिंह के आदेशानुसार उन्हीके नाम पर **दीपप्रकाश**[1] नामक अलकार ग्रन्थ की हिन्दी मे रचना की । ये 'जखिनी' नामक ग्राम मे उत्पन्न हुए थे जो रामनगर से अग्निकोण मे पाँच कोस पर स्थित है । अन्त मे ग्रन्थ की रचना का काल १८६७ विक्रमी सवत् (१८१० ई०) बतलाया गया है । फलतः ये १९वी सदी के प्रथम चरण मे विद्यमान थे । यह हिन्दी की रीतिकालीन शैली मे निबद्ध ग्रन्थ है । साहित्य के रस, अलकार आदि विषयो का प्रथमतः लक्षण दिया गया है, तदनन्तर उसके उदाहरण भी दिये गये है । बाबू जगन्नाथदास (रत्नाकर) ने इस ग्रन्थ की भूमिका मे लिखा है —"अन्त मे विरक्त होकर ये काशी के पचगगा घाट पर रहते थे । महाराजा के यहाँ से इन्हे भोजन के लिए सीधा मिलता था और वही इनकी जीविका का आधार था । इनके **परमेश** नामक एक पुत्र थे जो अच्छे कवि थे । जानकीजी के वर्णन मे आठ कवित्त इनके लिखे रत्नाकर को मिल गये थे । **ब्रह्म** कवि के नाम से ये कविता करते थे ।" महाराज उदितनारायण सिंह की इनकी लिखी प्रशस्ति इस प्रकार है

तत् क्षण ही हरिबो बिचक्षण बिलोकि कीबो
लक्षन को मौज प्रतिपच्छन पछारिबो ।

---

१. 'दीपप्रकाश' भारत जीवन प्रेस, काशी मे मुद्रित हुआ था । स० १९४६ माघ (= १८९९ ई०) मे बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर द्वारा परिशोधित तथा उन्हीके द्वारा प्रकाशित ।

कहै 'कवि ब्रह्म' अम्भ अंबर सरित कैसो
उज्ज्वल सुजस जगती में बिसतारिबो ।
चोप सों चरित भगवन्त कौ निहारिबो औ
भारी भूमिभार भुजदण्डनि सँभारिबो ।
महाराज उदित नरेश के ये काज गज-
राजन को दीबो मृगराजन को मारिबौ ॥ ७ ॥

महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह (१८२१-१८८६ ई०)

महाराजा उदितनारायण सिंह के अनन्तर उनके ज्येष्ठ पुत्र महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह सन् १८३५ ई० में केवल चौदह वर्ष के वय में ही गद्दी पर बैठे। इन्होंने लगातार चौवन (५४) वर्षों तक राजगद्दी को सुशोभित किया। काशिराज के इतिहास में महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिह का काल सुवर्ण-युग मानना चाहिए, क्योंकि इस युग में काशी का राज अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया। इनके राज्यकाल मे भारतीय विद्या, संस्कृत तथा संस्कृति की बड़ी ही उन्नति हुई। तत्कालीन काशी के समाज पर महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह का प्रभुत्व छाया हुआ था। उस समय काशी मे कोई भी ऐसा सामाजिक अथवा सास्कृतिक कार्य नहीं होता था जिसमें काशिराज का योगदान न हो। इनके दरबार में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र प्रायः आया-जाया करते थे और महाराज इनको अपने पुत्र के समान मानते थे। दोनों से खूब नोक-झोंक चलती थी। सुनते है, एक बार महाराजा ने हरिश्चन्द्र के अपव्यय की कथा सुनकर इनसे कहा कि "बबुआ ! इतना अधिक अपव्यय मत किया करो।" इस पर हाजिरजवाब भारतेन्दु ने तपाक से उत्तर दिया कि "महाराज ! इस धन ने हमारे पूर्वजों को खा डाला है। अब मै इसे खा डालूँगा।"

महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिंहजी बड़े गुणग्राही व्यक्ति थे। अतः इनके दरबार में विद्वानो तथा गुणियों का जमघट लगा रहता था। पण्डित लोग इनका आश्रय प्राप्त करने के लिए दूर-दूर से आते थे और राजदरबार मे आदर-सम्मान प्राप्त कर सतुष्ट हो जाते थे। महात्मा काष्ठजिह्व स्वामी इनके गुरु थे। महाराज ईश्वरीप्रसादनारायण सिह को दीक्षा देने के कारण काष्ठजिह्व स्वामी के गुरु रुष्ट हो गये और उन्होंने उन्हें आदेश दिया कि तुम पतित हो गये। काष्ठजिह्व स्वामी ने गुरु के आदेश को विश्वनाथमदिर के द्वार पर लिख दिया कि मैं पतित हूँ। महाराजा उनका बड़ा सम्मान करते थे और उनसे अपने राज काज में भी सलाह लेते थे। इन्होंने गुरु के द्वारा रचित ग्रन्थ **रामसुधा** के ऊपर टीका लिखी है जिसमें महाराजा ने स्वामीजी के पदों में अन्तर्निहित अध्यात्म पक्ष को प्रकाशित करने का सफल प्रयास किया है। इनकी सबसे महत्त्वपूर्ण साहित्यिक रचना रामायण की टीका है जो 'रामायण-परिशिष्ट' के नाम से प्रसिद्ध है। सन् १८३५ ई० में राजगद्दी पर आसीन होने के दो वर्ष के भीतर ही महाराजा ने रामायण की टीका लिखने के लिए काष्ठजिह्व स्वामी को प्रेरित किया। स्वामीजी के द्वारा लिखित टीका का नाम 'रामायण परिचर्या' है जिसमे केवल सक्षिप्त टिप्पणियाँ दी गई हैं। इन्ही टिप्पणियो को स्पष्ट करने के लिए महाराजा ने अपनी टीका का निर्माण किया। यह टीका बहुत ही अच्छी है। स्वामीजी ने जो टिप्पणियाँ लिखी है वे इतनी दुरूह है कि साधारण लोग उन्हें नही समझ सकते। महाराज ने अपनी टीका के द्वारा स्वामीजी के तात्पर्य को अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह बड़े ही गुणग्राही तथा विद्वानों के आश्रयदाता

थे। इसीलिए उनके दरबार मे विद्वानों का जमघट जमा करता था। इनमें से कतिपय संस्कृत पण्डितो का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है

(क) ताराचरण तर्करत्न—ये ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह की सभा के नाना शास्त्रो मे निष्णात सर्वश्रेष्ठ पण्डित थे। ये न्यायशास्त्र के अच्छे विद्वान् तथा काव्यरचना मे दक्ष सुकवि थे। मुख्य सभापण्डित होने के कारण ये पण्डित-सभाओं मे महाराजा के साथ ही रहते थे। दयानन्द स्वामी का जो शास्त्रार्थ काशी मे दुर्गाकुण्ड के समीपस्थ आनन्दबाग मे हुआ था, उसमे सभापति महाराजा के आदेश से प० ताराचरणजी ने प्रमुख भाग लिया था।

ताराचरण तर्करत्नजी कमच्छा मुहल्ले मे रहते थे। भारतेन्दुजी के यहाँ प्रायः जाया करते थे। भारतेन्दुजी के द्वारा 'राधा मयाऽऽराध्यते' समस्या दी गई थी जिसकी सद्यःपूर्ति इन्होने की थी। वह पद्य इस प्रकार है-

श्रुत्वा वेणुरवं निकुञ्जभवने जाता निशीथेऽबला
नो दृष्ट्वा प्रियकृष्णवक्त्रकमलं मुग्धा भ्रमन्ती मुहुः।
पश्चाच्छन्नतमं विलोक्य दयितं शान्ता ततः संस्थिता
नाथेन स्मितचुम्बिता स्मितमुखी राधा मयाऽऽराध्यते॥

तर्करत्नजी का कहना है कि यद्यपि यह श्लोक मेरे चित्त का नही बना, तथापि बाबू साहब (भारतेन्दुजी) बहुत प्रसन्न भये और इनसे कोई समस्या देने के लिए कहा। पण्डितजी ने तब २-३ समस्याये दी जिनमे नमूने के तौर पर एक पूर्ति इस प्रकार थी

वेई कहैं अतिसुन्दर पंकज, वेई कहैं मृगनैन बड़ारे।
वेई कहै अतिचंचल खंजन, वेई कहै अति मीन सुधारे।
वेई कहैं अति बान को तीछन, वेई कहैं उगिया बटपारे।
वेई कहैं धनु काम लिये, जिन कामिनी के नहिं नैन निहारे।

ये कविताये 'कविवचनसुधा' (जिल्द १, अक ५, पौष शुद्ध १५, स० १९२४, १८६७ ई०) मे प्रकाशित हुई थी।[1] तर्करत्नजी के अलकार-ग्रन्थ का नाम **शृंगार-रत्नाकर** है जो महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह की आज्ञा से १९१९ वि० स० (= १८६२ ई०) मे काशी लिथो मे प्रकाशित हुआ था। इसी मे तर्करत्नजी ने लिखा था —

हरिश्चन्द्रास्तु वात्सल्य-सख्य-भक्त्यानन्दाख्यमधिकं रसचतुष्टयं मन्वते।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र चार नये रसो की कल्पना मानते है और इसकी पुष्टि मे वे पर्याप्त तर्क एव रमणीय उदाहरण भी देते है। तर्करत्नजी के ग्रन्थो का विवरण इस प्रकार है—

(१) तर्करत्नाकर जिसमे न्यायशास्त्र का सार ६ तरगो मे संस्कृत पद्यो मे प्रस्तुत किया गया है। महाराजाधिराज काशीनरेश के आज्ञानुसार इसके विरचित होने का तथ्य मुख्य पृष्ठ पर अंकित है। रचनाकाल १७७९ शाके अर्थात् १८५७ ई० तथा मुद्रणकाल स० १९१५ विक्रमी (= १८६८ ई०) निर्दिष्ट है। बनारस के लाइट प्रेस मे गोपीनाथ पाठक द्वारा मुद्रित किया गया था।

(२) सत्यनारायण-कथा- सत्यनारायण की कथा स्कन्दपुराण के रेवाखण्ड मे उपलब्ध न होने से महाराजा की आज्ञा से इसका निर्माण तर्करत्नजी ने किया। ऋग्वेद के

१ 'तू वृथा मन क्यों अभिलाष करै' इस दूसरी समस्या की पूर्ति के लिए देखिये --बाबू ब्रजरत्नदास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० ६४ (प्र० हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, तृ० स० १९६२ ई०)।

मत्रो के आधार पर अश्विनीकुमार की परोपकारमयी कथा श्लोकों मे निबद्ध की गई है। पत्रात्मक रूप मे मुद्रित है।

(३) काशिराज-काननशतक—महाराजा के राज्यान्तर्गत चकिया के जगल का अभिराम सस्कृत पद्यो मे मनोरम वर्णन है। नाना छन्दो मे १३४ पद्य है। इस ग्रन्थ मे कवि ने अपना परिचय दिया है कि वगदेश के प्रख्यात भट्टपल्ली ग्राम के निवासी वसिष्ठगोत्री ताराचरणजी थे। ये महाराज ईश्वरीप्रसादनारायण सिहजी की सभा की विद्वन्मण्डली के अग्रगण्य नेता थे—

श्रीकाशीशसभाबुधाग्रपदवीं प्राप्तस्य तर्कप्रिय-
श्रीताराचरणस्य साम्प्रतमियं निष्ठां गता सत्कृतिः ॥

—शतक का अन्तिम पद्य

कविता बडी सुन्दर प्रसादमयी है। अपने आश्रयदाता के विषय मे तर्करत्नजी का यह पद्य है -

यदनुरागरक्तानां स्फुरति कृतिचमत्कृतिः कृतिनाम् ।
स जयति काशिराजः श्रीईश्वरीप्रसादनारायणो द्विजः ॥

– बनारस लाइट प्रेस मे १९२५ विक्रमी (-- १८६८ ई०) मे मुद्रित

(४) शृङ्गाररत्नाकर – इसम रस तथा अलकार का विवरण शास्त्रीय दृष्टि से दिया गया है। रससख्या के विषय मे इन्होने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के मत का उल्लेख बडे आदर के साथ किया है। भारतेन्दुजी ने अनेक नवीन रसो की प्रकल्पना की थी और उनका सुन्दर उदाहरण भी प्रस्तुत किया था। यह तथ्य नवीन है जो शायद ही किसी भाषा ग्रन्थ मे उल्लिखित हो। भारतेन्दु के आचार्यत्व का द्योतक यह ग्रन्थ सचमुच अपूर्व एव विलक्षण है। भारतेन्दुजी का मत इतना प्रमाणपुरःसर था कि सस्कृत के रस ग्रन्थ मे उसे उद्धृत करने की आवश्यकता एक सस्कृत विद्वान् को भी प्रतीत हुई।

(ख) प्रियनाथ तत्त्वरत्न—पण्डित ताराचरणजी के दो पुत्रो का परिचय मिलता है, (१) **प्रियनाथतत्त्वरत्न** तथा (२) **प्रमथनाथ तर्कभूषण**, जिनमे द्वितीय पुत्र आगे चलकर महामहोपाध्याय एव हिन्दू विश्वविद्यालय के सस्कृतमहाविद्यालय के प्रख्यात अध्यक्ष हुए। इनका वर्णन आगे दिया जायगा।

पण्डित प्रियनाथ तत्त्वरत्न की दो कृतियो का पता चलता है

(क) तत्त्वरत्नाकर (रचनाकाल १८८३ ई०)- युवराज प्रभुनारायण सिहजी की आज्ञा से उनके पुत्र आदित्यनारायण सिह को पढ़ाने के लिए यह ग्रन्थ लिखा गया। साख्य आदि दर्शनो के सिद्धान्तो का पद्यबद्ध वर्णन जिज्ञासुओं के लिए बडा ही उपादेय है।

(ख) विरहगीतिका –यह काव्यग्रन्थ भी युवराज प्रभुनारायण सिह के द्वारा अनुमोदित होकर विरचित तथा प्रकाशित है (प्रकाशन काल १९४२ विक्रमी – १८८५ ई०)। सुन्दर वैदर्भी शैली मे यह विरहवर्णनपरक काव्यग्रन्थ अत्यन्त मनोरम तथा आवर्जक है। पद्यसख्या १०४। काम के जलाने का यह कारण पढ़िए—

सतनुरेष सदैव वियोगिनी-वधरतो भवितेति रतीश्वरः ।
सखि ! सती-विरहाकुलचेतसाऽतनुरसौ विहितोऽम्बरवाससा ॥

(ग) जयनारायण तर्करत्न—**तर्करत्नावली** (न्यायशास्त्र के तत्त्वो का नैयायिक भाषा में सुबोध उपादेय वर्णन) ग्रन्थ का प्रकाशन-काल १९४५ विक्रमी स० (१८८८ ई०)

है । ग्रन्थ के अन्त मे लेखक ने अपने गॉव का नाम कोटालिपाड़ा लिखा है और अपना गोत्र 'काश्यप' बतलाया है ।

(घ) कृष्णपन्त धर्माधिकारी– इन्होने **काशीश विनोद** चम्पू काव्य की रचना ईश्वरीप्रसादनारायण सिह के विनोदार्थ की थी जिसका सशोधन युवराज श्री प्रभुनारायण सिह की आज्ञा से मानवल्ली गगाधर शास्त्री ने किया । अमर प्रेस मे मुद्रित । १६४२ विक्रमी स० १८८५ ई० में काशीनरेश के मनोविनोद के निमित्त यह काव्य प्रणीत हुआ है । गद्य-पद्य दोनों रुचिर एव आवर्जक है । रामनगर की राजधानी का बड़ा ही सुन्दर तथा मनोमोहक वर्णन है ।

कृष्णपण्डित जी काशी के विशिष्ट धर्माधिकारी महाराष्ट्रीय वश मे उत्पन्न हुए थे । इनका जन्म १८३३ ई० में तथा निधन १८८४ ई० में हुआ । ये काशी से राजपूताने के प्रसिद्ध नरेश उदयपुर के राजा **सज्जन सिह** की सभा मे गये थे और वही इन्होने राजा की स्तुति मे **सज्जनेन्द्रप्रयोगकल्पद्रुम** नामक व्याकरण ग्रन्थ का प्रणयन किया ।[1] इनका यह पद्य इस तथ्य का सकेत करता है –

अविमुक्तो भेदपाटे वृत्त्या त्यागस्य सुन्दरम् । सज्जनेन्द्रप्रयोगीयं ग्रन्थं रचितवानहम् ॥

–पृ० ४६

इस ग्रन्थ मे पाँच कुसुम है— कारककुसुम, समासकुसुम, तद्धितकुसुम, तिङ्कुसुम तथा कृत्कुसुम । इनका लक्षण पद्यबद्ध है तथा उदाहरण के समस्त श्लोक उदयपुराधीश राजा सज्जन सिह की प्रशसा मे है । साथ ही साथ व्याकरण के रूपो की भी शिक्षा मिलती है । इस प्रकार व्याकरण के प्रयोगो का शिक्षण सुगमता से करना ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य है । उदाहरण देखिये

शतवर्षं तु कल्याणी भूयात् सज्जनभूपतिः ।
राज्यं चायुतगव्यूति तस्य भूयादकण्टकम् ॥

ग्रन्थ की रचना का समाप्ति-वर्ष है १६३७ वि० स० (अर्थात् १८८० ई०) । इनके अन्य दो ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नही हुए है—**रत्नावली** (गद्यकाव्य) तथा **कालिकामन्दाक्रान्ता-शतक** (शतककाव्य) । प्रतीत होता है कि उदयपुर मे रहते ही समय इन्होने पूर्वनिर्दिष्ट चम्पूकाव्य का प्रणयन किया था ।

महाराजा की गुणग्राहिता

महाराज ईश्वरीप्रसादनारायण सिहजी एक प्रसिद्ध पहलवान भी थे । जिस प्रकार सन्त, महात्मा और पण्डितो से इनका दरबार भरा पूरा रहता था, उसी तरह इनका पुलिस विभाग भी पहलवानों से सुगठित था । प्रत्येक प्रान्त के प्रायः प्रसिद्ध पहलवान राजा की सेना मे विद्यमान थे । राजा साहब स्वय पहलवानो के सग्रह मे अभिरुचि रखते थे, पहलवानो की कद्र करते थे । इनकी प्रसिद्धि थी कि ये बादाम अँगूठे से फोडकर ही खाते थे । इसलिए दूर-दूर के पहलवान इन्हें देखने आते थे ।

बिहार प्रान्त के रोहतास मण्डल के चैनपुर परगने के पहलवान कल्पनाथ चौबे जब इनके दर्शन के लिए रामनगर पहुँचे तो उस समय शाम को राजा साहब किले से बगीचे मे जाने के लिए बग्गी पर सवार हो रहे थे । जनता की खासी भीड थी । चौबेजी अपने साथियो को छोड़कर राजा को अच्छी तरह से देखने के लिए आगे बढ़ गये । सामान्य मनुष्य से एक

१ चौखम्भा सस्कृत सीरीज से प्रकाशित (काशी, १६३३ ई०) ।

फुट लम्बे-चौड़े शरीरवाले चौबे पर राजा की दृष्टि पड़ी। ये भी उन्ही को देख रहे थे। राजा की बग्गी एक मिनट रुककर चली गयी। इसके बाद एक सिपाही ने चौबे से आकर पूछा कि तुम महाराज के यहाँ सिपाही में भर्ती होना चाहते हो तो चलो, तुम्हारे बल की परीक्षा कर तुम्हें रख लिया जाय। राजा ने कहा है कि यदि वह रहना चाहता है तो रख लो। चौबेजी ने स्वीकार कर लिया। बल की परीक्षा हुई, जिसमें एड़ी के ऊपर की नस दबायी गयी, पर चौबे का पैर टस से मस नही हुआ। इस पर दबानेवाले ने पूछा--कैसा लगा ? चौबेजी ने कहा, यदि आप बुरा न मानें तो एक बात कहूँ। उसने कहा--कहो। इसमें बुरा मानने की बात ही क्या है। चौबेजी ने कहा, मेरा गाँव यहाँ से बीस कोस है, मै पैदल ही चलकर आया हूँ, इसलिए थक गया हूँ। आपने दाहिने पैर को दबाकर आधी थकान दूर कर दी, बायाँ पैर भी दबा देते तो बडी कृपा होती। उसने हँसकर कहा, तुम सच्चे और अच्छे पहलवान हो। चलो तुम्हारी भर्ती हो गयी। धीरे-धीरे चौबेजी राजा साहब के बहुत नजदीक पहुँच गये जिससे राजा साहब की वीरता और दयालुता का विशेष परिचय उन्हें प्राप्त हुआ। अन्य घटनाये इस प्रकार है--

एक बार एक नट पहलवान राजदरबार मे पहुँचा। राजा का आदेश था कि यदि कोई पहलवान मुझसे मिलने आये तो उसे रोकना नही। राजा उसके सुडौल शरीर को देखकर बहुत प्रभावित हुए और उसे कुछ चाँदी के सिक्के दिलवाये। उसने उनमे से एक सिक्का लौटाते हुए कहा कि महाराज, यह तो घिसा हुआ है, बिल्कुल चिकना है, मालूम होता है नकली है। राजा ने उसे लेकर अपने अँगूठे से ऐसा दबाया कि वह दोबर हो गया और कहा, हाँ, यह ठीक नही है। इसके बदले मे इसे दूसरा सिक्का दे दो। राजा की इस वीरता को देखकर वह इनके पैरो पर माथा टेककर कहने लगा, सरकार, मुझे माफ कर दीजिए, मुझसे बड़ी गलती हुई। राजा ने कहा, इसमे माफ करने की क्या बात है, मुझे तो बडी प्रसन्नता हुई कि मेरे राज्य मे ऐसे पहलवान है जो अपने अँगूठे मे इतनी ताकत रखते है, जिसे दबाने से ही सिक्के के सन्-सवत् भी मिट जाते है। तुम मेरे दरबार में आते रहना, तुम्हारे लिए कोई रोक-टोक नही है।

इनकी दयालुता भी प्रसिद्ध है। एक बार कुछ कसाई गायो को लेकर कही जा रहे थे, शाम हो जाने के कारण रामनगर मे ही रुक गये। सुबह जब सिपाही कल्पनाथ चौबे अपने शिविर से निकले तब देखा, एक बछिया इनके पास आकर खड़ी हो गयी और इन्हे चाटने लगी। तब तक एक ने आकर कहा, यह मेरी है, गायों के झुड में से भागकर यहाँ आ गयी है। चौबेजी ने कहा--तुम्हारे पास कितनी गायें है ? उसने कहा, सौ से ऊपर है। चौबेजी ने कहा, इसे मुझे दे दो, जितना दाम हो, ले लो। उसने न बेचने की इच्छा से काफी दाम बताया। चौबेजी ने कहा, यही रुको, मै अभी आता हूँ। चौबेजी ने मन्त्री के पास जाकर सारी बात कह दी। मन्त्री ने राजा से जाकर कहा कि कसाई सौ से ऊपर गायों को लेकर कही जा रहे थे, रात मे यही रुके थे। सिपाही कल्पनाथ चौबे ने अभी मुझे बताया है। राजा ने मन्त्री से कहा, उसे उचित मूल्य देकर सभी गायों को अपनी गोशाला मे ले आओ। आदेश मिलने की देर थी, कसाइयों के हाथ से छूटकर सभी गायें राजा की गोशाला में आ गयी।

इस प्रकार महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिंहजी गुणग्राहियों के गुणग्राही, मल्लों के मल्ल तथा दयालुओं के दयालु थे।

महाराजा की मानस-मर्मज्ञता

महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह मानस के गम्भीर मर्मज्ञाता थे। उनका दरबार रामचरितमानस के विद्वान् व्यासों से सर्वदा समादृत रहता था। उन्होंने अपने दीक्षागुरु काष्ठजिह्व स्वामी की रामायण-परिचर्या (मानस-टिप्पणियों) पर अपनी गूढार्थबोधिनी व्याख्या **परिशिष्ट** का प्रणयन किया था। फलतः गोस्वामी तुलसीदास के काव्यार्थ के निःसन्देह पक्के पारखी थे। उनकी सभा मिर्जापुर के मानस के दो महान् मर्मज्ञ व्यासों के सान्निध्य से सर्वदा विराजमान रहती थी जिनमें एक थे पं० रामगुलाम द्विवेदी तथा दूसरे थे पं० बन्दन पाठक। द्विवेदीजी (१८३० वि० सं० -१९०८ सं० = १७७३ ई०–१८५१ ई०) मीरजापुर के ही किसी महाजन के यहाँ जमादारी करते थे। इस सेवाकाल में उनके जीवन में एक अलौकिक घटना घटी जिससे प्रभावित होकर उन्होंने लोंहदी महावीर के प्रतिदिन दर्शन-पूजन का व्रत ले लिया और मानस की कथा सुनाने का नियम बना लिया। कथाप्रसग में उन्हें चौपाइयों के नये-नये अर्थ सूझते थे। रोचकता का रसास्वादन तो साधारण श्रोता किया करता था, परन्तु गम्भीर अर्थ की धारणा मेधावी श्रोता ही किया करते थे। मुन्शी छक्कनलाल ऐसे ही शिष्य थे जिन्होंने रामचरितमानस के पाठ की एक शुद्ध प्रति छपवाई थी जिसका आदर मानस की गम्भीर गवेषणा के लिए आज भी किया जाता है। रामगुलामजी ने तुलसी के ग्रन्थों की संख्या १२ ही निश्चित की है। रीवांनरेश के समान काशीनरेश भी इनका विशेष आदर-सत्कार करते थे। अन्त समय में इन्होने रामनगर मे ईश्वरीप्रसादनारायण जी के सान्निध्य में रह कर काशी में ही ऐहिक लीला समाप्त की।[1]

दूसरे मर्मज्ञ व्यास पण्डित **बन्दन पाठक** का जन्म मीरजापुर के ही एक सन्त ब्राह्मण परिवार में हुआ। रामचरितमानस के गूढार्थ जानने की अभिलाषा से इन्होंने मणिकर्णिकाघाट पर भगवती भागीरथी की बड़ी सेवा की। ये घंटों गंगाजल में खड़े होकर भगवन्नाम का जप किया करते थे। उद्देश्य यही था कि मानस का वास्तव अर्थ हृदय में स्फुरित हो। इस कठिन तपस्या का फल इन्हें सद्यः मिला। गोस्वामीजी की चौपाइयों के वर्ण-वर्ण में इन्हें नये अर्थ की स्फूर्ति होने लगी। काशिराज के दरबार में इन्हें लोकातीत प्रतिष्ठा मिली। मानस की विषम समस्या का समाधान इनके बायें हाथ का खेल था। अन्तसमय में काशीनरेश से किसी बात पर रुष्ट होकर ये काशी में रहते थे और विश्वनाथजी के मन्दिर के पास ज्ञानवापी की व्यासगद्दी पर (जो आज भी वहाँ विराजमान है) बैठकर रात में आठ से दस बजे तक प्रतिदिन कथा कहते थे जिसमें काशी के नागरिकों की सर्वदा भीड़ लगा करती थी। काशीनरेश को किसी चौपाई के अर्थ में अथवा किसी शास्त्रीय विषय में कभी सन्देह होता था, तो पाठकजी के पास ही गुप्त रूप से अपना आदमी भेजकर उसका समाधान उत्सुकता से खोजते थे। वह व्यक्ति कथा की समाप्ति पर पाठकजी से पूछता था। वे झट कह बैठते थे कि यह विकट प्रश्न आपका तो नहीं है। यह तो 'रजवा' (काशीराज) का प्रश्न है। प्रश्नकर्त्ता कोई भी हो भाई, यह उत्तर ले जाओ। ऐसी जीवनचर्या थी बन्दन पाठकजी की। इन्होंने मानस के विषम स्थलों पर मार्मिक टिप्पणियों की लघुकाय पुस्तक भी लिखी है जो 'मानसपीयूष' में प्रकाशित भी हो गयी है।

१. पं० रामगुलाम द्विवेदी के विशिष्ट परिचय के लिए द्रष्टव्य 'समाजधर्म एवं दर्शन' पत्रिका, नवम वर्ष का प्रथम अंक (प्रयाग से प्रकाशित १९९१ ई०)।

महाराजा प्रभुनारायण सिंह

महाराजा प्रभुनारायण सिंह का जन्म १८५५ ई० तथा निधन १९३१ ई० में हुआ। इस प्रकार इन्होंने ७६ वर्षों की लम्बी आयु पायी थी। ये सन् १८८९ ई० में ३४ साल के वय में गद्दी पर बैठे थे। इन्होंने ४२ वर्षों तक राज्य किया। महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह ने राज की जो परम्परा चलाई थी उसका इन्होंने अक्षरशः अनुसरण किया। सच तो यह है कि महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह तथा इनके राज के समय मे काशी का राज अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ था। इन्हीं महाराज प्रभुनारायण सिंह के काल में काशिराज एक स्वतन्त्र रियासत (राज्य) के रूप में परिणत हो गया और भारत के प्रधान स्वतन्त्र नरेशों में इनकी भी गणना होने लगी।

ये महाराजा अपने पिता की ही भाँति पण्डितों, गुणियों तथा कवियों के आश्रयदाता थे। इनके दरबार में अनेक कवियों का जमघट लगता था परन्तु इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि ये केवल कवियों के आश्रयदाता ही नही थे, बल्कि स्वय भी एक सुकवि थे। ये संस्कृत मे समस्या-पूर्ति भी किया करते थे। म० म० पं० गगाधर शास्त्री समस्या-पूर्ति के सम्बन्ध मे जो 'सूक्ति-सुधा' नामक पत्रिका प्रकाशित करते थे, उसमे महाराजा की अनेक समस्यापूर्तियाँ प्रकाशित होती थी।

महाराजा प्रभुनारायण सिंह अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के बड़े ही प्रेमी थे। इन्होने रामनगर के अपने राजप्रासाद में एक 'शकुन्तला-गृह' का निर्माण कराया था जिसमें शकुन्तला नाटक के विभिन्न दृश्यों को बड़ी ही सुन्दर रीति से दीवालो पर चित्रित किया गया था। महाराजा स्वयं भी संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। इन्होने **पार्थ-पाथेय**[1] नामक उल्लाप्य—जो उपरूपक का एक भेद है — की रचना करके अपनी सरस कवित्व-शक्ति का परिचय दिया है। इसमें महाभारत के वीर अर्जुन के जीवन की उस घटना का उल्लेख है जब अर्जुन जंगल में एक विशिष्ट प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए घूम रहे थे और जिसका अवसान सुभद्रा के हरण से हुआ था। प्रभुनारायण सिह मे कवित्व-शक्ति प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी। इनकी कविता के एक-दो उदाहरण ही पर्याप्त होंगे—

एधः शुद्धं विधमसि मुधा पाचिके साचिवेषा,
पेषिण्येषा दृषदुपलतः पिष्यते किं विशिष्य ।
नाङ्गारोऽयं विरम सरले नापि भद्रे हरिद्रा,
मुद्रा हेम्नः सदनलुठिता काशिराजेन दत्ता ॥

श्लोक का आशय यह है कि हे पाचिका (रसोइया)! तुम केवल शुद्ध लकड़ी को क्यों फूँक रही हो, ए पीसनेवाली! तुम क्यों हलदी पीस रही हो? तुम जानती नहीं कि न तो यह अंगार है और न यह हलदी है। बल्कि यह काशिराज के द्वारा दान में दी गई सुवर्ण-मुद्राएँ हैं जो घर में पीली-पीली दिखाई पड़ती है। इस श्लोक में काशिराज की दानशीलता का वर्णन किया गया है।

महाराजा संस्कृत मे गीतों की रचना में भी निपुण थे। उक्त नाटक की प्रस्तावना में महाराजा ने किसी विरहिणी नायिका का वर्णन कितनी मधुर तथा सरस भाषा में गीति के रूप में किया है। यह एक ही गीति इनके काव्य की सरसता तथा मधुरता की परिचायिका है :

---

१. रामनगर फोर्ट, वाराणसी से १९२७ ई० में प्रकाशित। इस ग्रन्थ की टीका उन्हींके सभापण्डित श्री हरिकान्त झा ने की है।



संस्कृत विद्या के संरक्षक एव पोषक

महाराजा प्रभुनारायण सिह

विपिने नृत्यति मत्तकलापी —ध्रु०
वर्षति, हृष्यति, तरुमारोहति तपातपैरुपतापी ।
अतिलोभादुचितं जहाति पुरुषः प्रथतेऽपि च पापी
अभिसदनं पथिको निवर्तते, नीडमेति वियदापी ।
न तु हतविधेरुपैति वल्लभो वर्षाणामपयापी,
विरहिजनम् आसयति मन्मथो जलदमिषादुपजापी ॥

महाराजा ने सस्कृतविद्या तथा भारतीय सस्कृति के प्रचार के लिए सबसे बडा तथा महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि महामना मालवीयजी महाराज के निवेदन पर हिन्दूविश्वविद्यालय की स्थापना के लिए हजारो एकड़ जमीन दान रूप मे दे दी । इससे महाराज की दानशीलता का पता चलता है । हिन्दूविश्वविद्यालय की स्थापना से सस्कृतविद्या के उन्नयन का गौरव प्रभुनारायण सिह को प्राप्त है ।

काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय की स्थापना से पूर्व डॉ० एनी बेसेण्ट द्वारा स्थापित सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज, जो हिन्दूविश्वविद्यालय की स्थापना होने पर उसका केन्द्रभूत कॉलेज बना, महाराज प्रभुनारायण सिह के उदार दान की प्रसूति था । हिन्दू कॉलेज को हिन्दूविश्वविद्यालय को समर्पित करते समय, श्रीमती एनी बेसेण्ट ने महाराज प्रभुनारायण सिह की बड़ी भव्य तथा भावुक प्रशसा करते हुए इस महाविद्यालय को हिन्दूविश्वविद्यालय को सौपा था । काशी का एग्लो बगाली कॉलेज और बगालीटोला कॉलेज, नीचीबाग का घण्टाघर, ईश्वरी मेमोरियल अस्पताल महाराज प्रभुनारायण सिह की प्रोज्ज्वल कीर्ति के साक्षी है । राज्य के अन्य स्थानो मे विद्यालय तथा चिकित्सालय स्थापित करने मे भी महाराज प्रभुनारायण सिह अग्रणी थे और बिहार के मुजफ्फरपुर मे लगट सिह कॉलेज की स्थापना मे भी उन्होने उदार दान दिया था ।

महाराज प्रभुनारायण सिह न्याय-मीमासा वेदान्त और नीतिशास्त्र के परिनिष्ठित विद्वान् थे । उनके पाण्डित्य की प्रशसा उस समय के सर्वमान्य विद्वान् महामहोपाध्याय प० गङ्गाधर शास्त्री और म० म० प० वामाचरण भट्टाचार्य ने महाराज प्रभुनारायण सिह विरचित 'पार्थ-पाथेयम्' और प० जीवन झा विरचित 'प्रभुचरित महाकाव्यम्' की भूमिका मे की है । प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् ड्युसन ने अपने सस्मरण मे लिखा है कि वार्तालाप मे जिस सरलता और सहजता से महाराज प्रभुनारायण सिह सस्कृत भाषा का प्रयोग करते है वैसा उसे भारत मे कोई नही मिला । उनके सस्कृत-पाण्डित्य के कारण अग्रेज सरकार ने उन्हे महामहोपाध्याय की उपाधि से अलकृत करना चाहा पर महाराज प्रभुनारायण सिह ने उसे यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि यह उपाधि विद्या से जीविका चलाने वाले ब्राह्मणों को दी जानी चाहिये, न कि राज्य-शासन करनेवाले ब्राह्मणो को ।

महाराज प्रभुनारायण सिह तत्कालीन काशी विद्वन्मण्डल की पत्रिका 'सूक्ति-सुधा' मे समस्या-पूर्ति भी किया करते थे । इस पत्रिका मे महाराज प्रभुनारायण सिह के ही साथ म० म० गङ्गाधर शास्त्री, म० म० लक्ष्मण शास्त्री तैलङ्ग, दामोदरलाल गोस्वामी प्रभृति विद्वान् भी समस्या-पूर्ति करते थे ।

महाराज प्रभुनारायण सिह की प्रथम समस्या-पूर्ति उस पत्रिका के (वैशाखी पूर्णिमा स० १९६२) प्रथम खण्ड के दशम अङ्क में **सिंहावलोकनम्** शीर्षक से छपी है । समस्या थी

'ययौ निशान्तं न वधूर्निशान्तम्' । उसकी पूर्ति और महामहोपाध्याय पं० गङ्गाधर शास्त्री की टिप्पणी इस प्रकार वहाँ मुद्रित है—

(सिंहावलोकनम्)

श्रीमन्महाराज द्विजराज काशिराज जी० सी० एस० आई०

प्रभुनारायणसिंहमहोदयानाम्

अलीकलज्जाभिनिवेशमन्दा कथञ्चिदासाद्य वने स्वकान्तम् ।
चिरात् कथान्ते सुरतैकताना ययौ निशान्तं न वधूर्निशान्तम् ॥

यद्यपीयं समस्यापूर्तिरतीते मासि मुद्रणीयाऽऽसीत्, तथापि श्रीमन्महाराजैः पूरिता मया समासादितेति गौरवेणाऽनादिष्टोऽपि तत्प्रकाशनायास्मिन् मासे तां मुद्रयितुं प्रेषये । मुद्रयिष्यते चावश्यं भवतेत्याशासे ।

प्रातिमासिकी समस्या श्रीमन्महाराजैः पूरयिष्यते इति नास्ति नियमो यैव तद्रुचिता स्यात् सैव यथेच्छं पूरयिष्यत इत्येव ध्येयमिति

वैशाख शुक्ल ३ रवौ १९६२ महामहोपाध्यायो गङ्गाधर शास्त्री

पूरयितुरनुमन्तुश्चासाधारणसाहायकादाविर्भविष्णुरियं पत्रिका कथमिव तौ नानुरुणद्धुतमामिति—सम्पादकः ।

इस पत्रिका में महाराज की 'ज्वलितदहनमध्ये पश्य पङ्केरुहाभाम्', 'युवतिरियमुताहो साङ्ख्यसिद्धान्तरीतिः' तथा 'रतान्तसमये सखीं सदलकान्तकान्तां स्वजे' समस्यापूर्तियाँ प्रकाशित हुई थीं । इनका विवरण रामनगर दुर्ग की विद्यामन्दिर पत्रिका १९७८ में द्रष्टव्य है ।

महाराज प्रभुनारायण सिंहजी ने अखिलभारतवर्षीय ब्राह्मण महासम्मेलन के स्वागताध्यक्ष के पद से जो संस्कृत में अभिभाषण किया था सं० १९८५ विक्रमी (१९२८ ई०) में वह नितान्त गम्भीर, भावप्रवण एवं हिन्दूसमाज के अभ्युदय-प्रापक उपायों का विशिष्ट निर्देशक है । प्रभुनारायण सिंहजी को १८८९ ई० में महारानी विक्टोरिया ने 'लेफ्टिनेण्ट कर्नल' की उच्च उपाधि प्रदान की थी । उस समय पर काशी (भदैनी) के निवासी **गणेशदत्त त्रिपाठीजी वैद्य** ने आपकी **काशीश्वर-पुष्पाञ्जलि** नामक २८ पद्य-सन्दर्भों के द्वारा जो काव्य-प्रशस्ति बनाई थी उसमें के एक-दो श्लोक यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

ऐश्वर्यं धनदस्य पाण्डुजनुषः शौर्यं मतिर्गीष्पते-
र्विज्ञानं जनकस्य वेदविदितं गाम्भीर्यमम्भोनिधेः ।
दानं कल्पतरोर्बलेरिह जगत्येकत्र ते स्युर्यदि
श्रीमत्काशिनरेश्वरस्य परितः साम्यं तदोन्मीलतु ॥

काशिराज की काव्यरचना-चातुरी का यह अभिराम वर्णन नितान्त आवर्जक है—

यः साहित्यकला-विलास-कलना-वैदग्ध्यलीलागुरु-
र्येनाविक्रियतेऽनवद्य—कविता—वेद्यप्रमोदार्णवः ।
तस्यामिन्दुनरेन्द्रवन्दितपदद्वन्द्वस्य काशीपतेः
सान्द्रानन्दमयीमहो किल यशोमूर्तिं कथं कीर्तये ॥

इस पुष्पाञ्जलि के रचयिता कवि भदैनी मुहल्ले के निवासी चिकित्सा में प्रख्यातकीर्ति पण्डित गणेशदत्त वैद्य थे जिन्हें चिकित्सा के समान कविता लिखने में भी प्रचुर कीर्ति प्राप्त थी । इसका प्रकाशन काशी के भारतजीवन प्रेस १९४६ सं० वि० (= १८८९ ई०) में हुआ था ।

महाराजा प्रभुनारायण सिंह के प्रधान सभापण्डित थे **पण्डित जीवन झा मैथिल** जो दरभंगा के हरिपुर ग्राम के निवासी थे तथा पण्डित वनमाली शर्मा के पुत्र थे। ये महाराजा के दानाध्यक्ष भी थे। ये स्निग्ध कविता लिखने में नितान्त दक्ष थे। १९०२ ई० में सप्तम एडवर्ड के राज्याभिषेक के अवसर पर इन्होंने **शृङ्गार-सागर** नामक रस का वर्णनपरक अलकार-ग्रन्थ बनाया था। यहाँ रस के अगों और उपांगों का लक्षण देकर सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये गये है। जीवन झाजी काव्यकला के प्रवीण पारखी थे और पद्य-रचना में भी चतुर थे। इस ग्रन्थ से कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते है—

वासकसज्जा नायिका के स्वरूप का परिचायक यह पद्य सुन्दर तथा सौष्ठव-सम्पन्न है-

देहली-गेहलीनाधदिहा स्नेहात् कमीक्षसे ? रत्यै वासकसज्जा स्यात् गेहदेहे प्रसाधनी ॥

खण्डिता नायिका का यह चित्रण भी मनोभिराम है—

विशिनष्टि सुमैः सौधं पिनद्धि मृदुचन्दनम्। खण्डिताऽन्यसमासक्तप्रेयसा रात्रिमुज्झिता ॥

रसाभास का यह उदाहरण पदशय्या से सुतरां सम्पन्न है—

कोकी सोमोद्भवाकूले न दिवापि प्रसीदति।
भिनत्ति करजैर्भिल्लो भिल्लीधम्मिल्लमातपे ॥

पण्डित जीवन झा ने मैथिल कवि **गोकुलनाथ** विरचित शिवस्तुति या **शिवशतक** पर रसना नामक टीका लिखी जिसका भाषानुवाद पण्डित प्रेमवल्लभ शास्त्री ने किया। ग्रन्थ में आर्या छन्द में १०५ पद्य है। कविता बडी सुन्दर एव हृदयावर्जक है। दार्शनिक विचारो का पुट है। दार्शनिक एव व्यावहारिक—दोनो प्रकार की कल्पना से यह सुरम्य है।

भवपथपथिकोऽस्मि ...पाटच्चर मिलितोऽसि विलुण्ठ्य संपदो मे।
अहमपि भवदन्तरं प्रविश्य ध्रुवमचिरेण हरामि ते विभूतीः ॥

--पद्य ६८, प्रकाशक—अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, स० १९९९ विक्रमी

महाराजा आदित्यनारायण सिंह

महाराजा प्रभुनारायण सिह के एकमात्र आत्मज महाराजा आदित्यनारायण सिह को रामनगर की गद्दी पर बैठने का सुयोग केवल आठ वर्षों (१९३१ ई०—१९३९ ई०) तक ही प्राप्त हुआ। इस काल मे वे अपने पूज्य पिता के द्वारा दिखाये गये मार्ग का विधिवत् पालन करते थे, धर्म मे निष्ठावान् व्यक्ति थे और सस्कृत की उन्नति मे भी अपना हाथ बँटाते थे।

महाराज डॉ० आदित्यनारायण सिह यद्यपि अल्पकाल तक ही शासक रहे पर अपने लोकप्रिय तथा प्रजापालक रूप में विशेष रूप से ख्यात हुए। राज्य में सिचाई की सुविधा उपलब्ध कराने के लिये महाराज ने नहरों की श्रेणी चलाई जिसके चलते जब देश के अन्य भागों में अकाल और कण्ट्रोल की दुर्दशा थी, काशिराज्य में पर्याप्त सस्ती और अन्न की प्रचुरता थी। महाराज के प्रजापालक और लोकरञ्जक रूप को दर्शाने के लिये एक घटना का उल्लेख आवश्यक है। महाराज के अन्तिम दिनों में काशिराज्य में नेताओं के प्रभाव से 'जगल काटो' अभियान चला। चकिया का महाराज का प्रिय [illegible]ावाला जंगल आन्दोलनकारी काट रहे थे। महाराज आदित्यनारायण सिह महाराजकुमार विभूतिनारायण सिंह के साथ चकिया की कोठी में ठहरे हुए थे। राज्य के अधिकारी महाराज से आग्रह कर रहे थे कि आंन्दोलनकारियों को गोली मार दी जाय, किन्तु उस समय महाराज आदित्यनारायण सिह ने जो उत्तर दिया था वह उनकी प्रजाप्रियता तथा उच्च नैतिक जीवन का परिचायक है। उन्होंने कहा कि 'जगल तो प्रजा का ही है, वह चाहे उसकी रक्षा करे या काटे। उसका हानि-लाभ तो उसका ही है।

मैं तो अपने जलावन के लिये भी लकड़ी मोल खरीदता हूँ।' जब वे आन्दोलनकारी पण्डित जवाहरलाल नेहरू के पास आन्दोलन का नेतृत्व कराने के लिये गये तो पण्डितजी ने श्रीप्रकाशजी के माध्यम से स्थिति का ज्ञान किया और उत्तर दिया कि वहाँ तो सत्याग्रही स्वयं महाराज बनारस हैं। पण्डित नेहरू ने 'जंगल काटो' आन्दोलन को तत्काल हस्तक्षेप कर बन्द करा दिया। काशी हिन्दूविश्वविद्यालय ने महाराज आदित्यनारायण सिंह को डी० लिट्० की उपाधि से सम्मानित किया तथा प्रोचान्सलर चुना था। महाराज आदित्यनारायण सिंह भी अपने पिताश्री की भाँति संस्कृत में समस्यापूर्ति करते थे जो गवर्नमेण्ट संस्कृत कॉलेज की पत्रिका अमर भारती में छपती थी। 'ता लता लभ्यते' समस्या की पूर्ति इस पत्रिका के पूर्णिमा अंक सं०१९९३ (६ अप्रैल १९३६ ई०) में दो प्रकार से छपी है।

महाराजा डॉक्टर विभूतिनारायण सिंह

महाराजा आदित्यनारायण सिंह के निधन के अनन्तर महाराजा विभूतिनारायण सिंह उनके उत्तराधिकारी के रूप में अंग्रेजी शासन के द्वारा प्रतिष्ठित किये गये। इनका जन्म ५ नवम्बर १९२७ ई० को हुआ। आठ वर्ष के वय मे आदित्यनारायण सिंह ने इन्हे अपना दत्तक पुत्र बनाया (१९३४ ई० में) और इनकी शिक्षा दीक्षा की विधिवत् व्यवस्था की। उचित समय पर इनका यज्ञोपवीत-संस्कार भी कराया, परन्तु बारह साल के वय में ही महाराजा आदित्यनारायणजी की छत्रछाया इनके सिर से हट गई। इनके नाबालिग होने के कारण राज्य का कार्य चार सदस्यों की एक कमेटी को सुपुर्द किया गया। कुछ सालों के अनन्तर महामना मालवीय महाराज के आदेश से ये अजमेर के महाराजा कॉलेज में पढ़ने के लिए गये जहाँ अंग्रेजी शासकों की ओर से राजकुमारों के अध्यापन की विशेष व्यवस्था थी। आगे चलकर इन्होंने हिन्दूविश्वविद्यालय से संस्कृत विषय में एम० ए० की परीक्षा पास की। विश्वविद्यालय के वे आजकल चान्सलर तथा संस्कृतविश्वविद्यालय के कुलाधिपति है। हिन्दूविश्वविद्यालय ने इन्हें डी० लिट्० की मानद उपाधि से विभूषित किया है।

बालिग होने पर १९४७ ई० में इन्हें राजगद्दी विधिवत् मिली। राज्य के शासन में सुधार करने का आयोजन हो ही रहा था कि १९४९ ई० में राज्य का स्वतन्त्र भारत में विलय हो गया।

वैदिकधर्म तथा संस्कृतशास्त्रों के प्रति नैसर्गिक निष्ठा की भावना इन्हें अपने पूर्वजो से रिक्थ के रूप में प्राप्त हुई है। संस्कृत भाषा के प्रचार तथा संस्कृत-विद्या के अभ्युत्थान में इनका अकृत्रिम प्रेम नितान्त श्लाघनीय एवं अनुकरणीय है। इन्होने 'अखिलभारतीय काशिराज न्यास' की स्थापना की है जिसके अन्तर्गत अनेक धार्मिक कृत्यों का सम्पादन होता है। इसके अनुसार पुराणों के वैज्ञानिक संस्करण यावत् उपलब्ध हस्तलेखों के आधार पर प्रकाशित किये जाते है। आज तक **वामन** तथा **कूर्म पुराणों** का विमर्शात्मक संस्करण तथा उनके हिन्दी एवं अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। **वाराह पुराण** इसी वर्ष प्रकाश्यमान है। इस न्यास से **पुराणम्** नामक एक षाण्मासिकी पत्रिका भी संस्कृत-अंग्रेजी में प्रकाशित होती है जो केवल इतिहास-पुराणों से सम्बद्ध शोधपूर्ण लेख प्रकाशित करती है। अपने लेखों के उच्चस्तर तथा वैदुष्यपूर्ण होने के कारण इस पत्रिका ने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर ली है। महाराजा ने अपने किले में प्राचीन राजकीय कलात्मक वस्तुओं का एक अभिराम संग्रहालय भी स्थापित किया है जिससे इनकी कलात्मक अभिरुचि का परिचय मिलता है।

इस न्यास के अतिरिक्त अनेक धार्मिक न्यासों का भी स्थापन तथा संचालन किया



काशी के सुप्रसिद्ध परम्पराशील तथा वैदिक शिक्षा के लिए विख्यात सांगवेद महाविद्यालय के वार्षिक समारोह के अवसर पर पं० राजेश्वर शास्त्री द्राविड, काशीनरेश महाराजा विभूतिनारायण सिंह, पं० गिरधारीलाल मेहता, पं० हर्षलाल मेहता तथा डॉ० गौरीनाथ शास्त्री ।



संस्कृत शिक्षा का प्रमुख केन्द्र : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का प्राच्यविद्या संकाय
(संस्कृत महाविद्यालय)

जाता है जिनके द्वारा धार्मिक कार्य ही केवल नही, अपितु सस्कृत एव अग्रेजी का शिक्षण भी निष्पन्न किया जाता है। अपने राजकुमार अनन्तनारायण सिह को अग्रेजी शिक्षण देने से पूर्व इन्होने सस्कृत भाषा तथा साहित्य का प्रथमतः शिक्षण दिलाया है। मनु ने मानवो के लिए पिता पितामह के द्वारा अभ्यस्त मार्ग के अनुगमन का जो प्रशस्त उपदेश दिया है उसे महाराजा विभूतिनारायणजी यथासाध्य अपने जीवन मे पालन करते है और सफलतापूर्वक पालन करते है-

येनास्य पितरो याता येन याता पितामहाः ।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन् न रिष्यति ॥

– मनुस्मृति (४ । १७८)

फलतः वर्तमान महाराजा का सस्कृत की अभिवृद्धि का प्रयास नितान्त श्लाघनीय एव अनुकरणीय है। काशी की धार्मिक जनता की दृष्टि मे काशिराज का गौरव एव उच्च सम्मान नितान्त अक्षुण्ण है जो 'हरहर महादेव' के उच्च अभिनादन से अभिव्यक्त होता है।

शताधिक वर्षों से चलनेवाली रामलीला का वर्तमान महाराजा बडी निष्ठा, आस्था तथा आदर मे उसके पूर्ण वैभव के साथ आज भी प्रतिवर्ष सम्पादन करते है, यह उनकी धार्मिक प्रवृत्ति का उज्ज्वल प्रतीक है।



अध्याय ६

काशीस्थ पण्डितों की सामान्य विशेषताएँ

काशी के पण्डितो मे कुछ ऐसी विशेषताएँ थी जो प्रायः सभी मे समान रूप से पायी जाती थी। इन विद्वानो मे सादा जीवन, उच्च विचार, स्वभाव मे सरलता, व्यवहार मे कृत्रिमता का नितान्त अभाव, सच्चरित्रता, धार्मिकता आदि ऐसे गुण विद्यमान थे जो सामान्य जनता के हृदय पर अमिट छाप डालने मे समर्थ होते है। गवर्नमेण्ट सस्कृत कॉलेज के अग्रेज प्रिन्सिपल तथा विदेशी विद्वान् भी इनके पाण्डित्य से प्रभावित हुए बिना नही रह सके।

काशी के इन पण्डितो की सामान्य विशेषताओं को निम्नांकित सात वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—

(क) धार्मिक जीवन (दिनचर्या)

(ख) निःशुल्क विद्या दान

(ग) शास्त्रार्थ पटुता

(घ) वाणी की उदारता, परन्तु लेखन मे बद्धमुष्टिता

(ङ) सस्कृतसाहित्य के प्रति प्रगाढ़ प्रेम

(च) सादा जीवन, उच्च विचार

(छ) धार्मिक उदारता

(ज) उच्चारण की शुद्धि

इन्ही विषयो का सक्षेप मे यहाँ विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

(क) काशी के पण्डितों की दिनचर्या—धार्मिक जीवन

काशिकेय पण्डितो की दिनचर्या की रामकहानी अपने आपमे एक गम्भीर रहस्य सँजोये विराजमान है। वह गम्भीर रहस्य है उनकी आध्यात्मिकता, तापस वृत्ति एव पूजा अर्चा के प्रति नैसर्गिक निष्ठा। विशिष्ट पण्डितो की ओर दृष्टिपात करते हुए यह दिनचर्या अकित की जाती है। वे प्रातःकाल भगवती भागीरथी मे स्नान करने के अभ्यासी थे। तदनन्तर भूतभावन बाबा विश्वनाथ का अभिषेक तथा काशीपुराधीश्वरी भगवती अन्नपूर्णा का दर्शन एव सप्तशती का पाठ उनकी जीवनधारा की एक सामान्य दिशा थी। जो पण्डित अन्नपूर्णाजी से दूर रहता था वह अपने ही आवास पर सप्तशती का पाठ भले ही करे, परन्तु भगवती का दर्शन कभी न कभी दिन मे अवश्य करता था। काशी के सस्कृत कॉलेज मे अध्यापनकाल प्रायः पूर्वाह्न मे होता था। अतएव पूर्वाह्न मे अध्यापन का कार्य समाप्त कर वह अपने आवास पर भोजनादि कार्यों का विधिवत् सम्पादन करता था तथा कुछ समय विश्राम करने के पश्चात् अपने छात्रो के अध्यापन मे पुनः प्रवृत्त हो जाता था। यह व्यापार सायकाल तक चलता रहता था। सन्ध्यावेला मे वह काशी के परिसर मे विद्यमान उद्यानो एव बगीचो मे अवश्य जाता था।

अकेले नहीं, अपितु अपने मित्रों के साथ, परन्तु अधिकतर अपने छात्रों के साथ; जिन्हें वह रास्ते में भी शास्त्रीय विषयों का चिन्तन कराता चलता था। वह शास्त्रार्थ करने की पद्धति का रहस्य भी बतलाता चलता था। इस प्रकार 'बहरी तरफ' से निपटकर घर लौटने पर वह अन्य उपस्थित छात्रों को पढ़ाया करता था और यह प्रक्रिया बहुत रात तक चलती रहती थी। वह रात्रि बेला में अपने भी पठनीय एवं अभ्यसनीय ग्रन्थों का मनन-चिन्तन किया करता था। इस प्रकार उसका जीवन पूजा-अर्चा तथा अध्ययन-अध्यापन के सुवर्णमय सयोग से सम्पन्न था। यही थी उसकी दिनचर्या की एक सामान्य प्रणाली। काशी के पण्डित सरस्वती की गम्भीर उपासना में ही अपना समय बिताते थे। इन पण्डितों का आवास ही स्वतः एक महनीय विद्यालय था जहाँ वे निष्ठापूर्वक अपने अधीत शास्त्रों का विधिवत् अध्यापन कर भगवती सरस्वती की दिव्य आराधना में अपना समय बिताते थे।

इन पण्डितों की जीविका के प्रधान साधन थे पाठशालीय अध्यापन तथा विद्वत्सभा का सेवन। काशी में भारतवर्ष के राजाओं ने अपने-अपने विद्यालयों की स्थापना की थी। उनका एकमात्र लक्ष्य था संस्कृतविद्या की उन्नति जिसके द्वारा भारतीय धर्म तथा आचार-विचार की सुचारु रूप से रक्षा हो सके। ये राजा संस्कृत विद्यालयों की स्थापना कर संस्कृत विद्या के प्रचार को अपने धर्म का अविभाज्य अग मानते थे। यह उनका धार्मिक कृत्य था जिसके लिए अपनी शक्ति के अनुसार एक विशिष्ट धनराशि की व्यवस्था राजकीय कोष से प्रतिवर्ष की जाती थी।

गगा के घाटों का निर्माण भारतीय राजाओं की धर्मनिष्ठा का ही एक समुज्ज्वल प्रतीक है। घाटों के निर्माण के अनन्तर वे देवताओं के मन्दिरों का भी निर्माण करते थे जहाँ पूजन-अर्चन के लिए सुन्दर आर्थिक व्यवस्था की गई थी। यहाँ पाठशालाएँ भी स्थापित की जाती थीं जहाँ विद्यार्थियों के लिए तथा निर्धन व्यक्तियों के भोजन-छाजन के निमित्त 'अन्नसत्र' का भी प्रबन्ध था। फलतः संस्कृत के विद्यार्थी अपने भोजन-छाजन के लिए कभी चिन्तित नही रहते थे। इसीलिए काशी में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि 'सत्रे भोजनं, मठे निद्रा'। अर्थात् काशी का छात्र सत्र में भोजन तथा मठ या मन्दिर में शयन करके अपना जीवन सुखपूर्वक बिताता था। सत्र में भोजन तथा पाठशाला में अध्ययन—इन दोनों की समुचित व्यवस्था से वह निर्धन छात्र संस्कृत का विशिष्ट विद्वान् बनकर अपने घर लौटता था और काशी में अभ्यस्त शास्त्रों की शिक्षा-दीक्षा से अपने जीवन को सुचारु रूप से बिताता था। इसके साथ ही अपने सुन्दर आचार-विचार से स्थानीय जनता का उपकार करता था। विद्यालयों के संस्थापक राजा-महाराजाओं के द्वारा सम्पादित यह सुन्दर व्यवस्था वैदिक धर्म के उत्थान एवं प्रचार की साधिका बनती थी। इस प्रकार संस्कृत के प्रचार और प्रसार के द्वारा भारतीय संस्कृति के प्रसार की प्रतिष्ठा काशी में भारतीय नरेशों की कीर्ति-कौमुदी को उजागर करती थी। मन्दिरों में पुराणों का प्रवचन पूर्वाह्न एवं अपराह्न में विधिवत् होता था। इसके लिए पौराणिक पण्डितों की वृत्ति की सुचारु रूप से व्यवस्था थी। इस प्रकार काशी के पण्डितों को अपनी जीविका के लिए कभी चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी।

राजा, महाराजा, धनी-मानी श्रेष्ठी लोग काशी में विद्वानों की गोष्ठी का आयोजन प्रायः किया करते थे। इस गोष्ठी में पण्डित लोग अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करने के लिए आपस में शास्त्रार्थ किया करते थे। इसमें जय-पराजय का कोई प्रश्न नहीं होता था, बल्कि यह शास्त्रार्थ केवल मनोरंजन तथा विद्वज्जन-विनोद के लिए हुआ करता था। शास्त्रार्थ के अन्त

मे उस गोष्ठी मे समागत सभी पण्डितो को समान रूप से दक्षिणा तथा मिष्टान्न दिया जाता था। इसी विद्वद्गोष्ठी को 'पण्डितसभा' के नाम से पुकारा जाता था।

पण्डित-सभा

काशी के पण्डितो के लिए इस पण्डितसभा का दुगुना उपयोग था। पहला उपयोग तो उनके जीवन का प्रधान आर्थिक स्रोत होने के कारण था और दूसरा उपयोग उनकी विद्या बुद्धि के परिष्कार का महनीय माध्यम होने के हेतु था। राजा महाराजाओं के द्वारा पण्डित सभा के अनुष्ठान के लिए सुव्यवस्थित नियम बनाये गये थे। किसी राजा ने प्रतिमास सभा करने का नियम निर्धारित कर दिया था, तो किसी ने प्रत्येक पक्ष मे उसका विधान बनाया था। विजयादशमी, दीपावली, होली, नवरात्र आदि प्रमुख धार्मिक उत्सवो पर तो सभा अवश्यमेव की जाती थी। धनी मानी, धनाढ्य सेठ भी कभी-कभी काशी के विद्वानो का समादर एव सत्कार करने के लिए इसकी योजना किया ही करते थे। फलतः काशी मे सभाएँ आये दिन होती ही रहती थी। यह पण्डितो की जीविका का एक महनीय साधन था। इसका दूसरा उपयोग और भी गम्भीर एव आदरणीय था। काशी की पण्डितसभाएँ विद्वानो की विद्या-बुद्धि, शास्त्रीय चिन्तन तथा दार्शनिक अनुशीलन के विकास के निमित्त निःसन्देह एक शक्तिशाली माध्यम थी। शास्त्रार्थ मे समस्या का समाधान सद्यः करना पडता था। इसलिए पण्डितो को ग्रन्थो की पूरी तैयारी करनी पडती थी – नयी नयी कोटि-कल्पना से परिचय पाने का उन्हे अवसर मिलता था। असमाधेय प्रश्नो के उत्तर जानने के लिए उनके हृदय मे तीव्र लालसा का उदय होता था। तात्पर्य यह है कि काशिकेय विद्वानो के सारस्वत विकास एव बुद्धि-वैभव के प्रदर्शन के निमित्त पण्डितसभाएँ बहुत ही समर्थ साधन होती थी।

काशी के पण्डितो की बुद्धि की उत्तरोत्तर चमत्कारिणी अभिवृद्धि के लिए सभा की उपादेयता नितान्त होती थी और इन्ही सभाओं के फलस्वरूप वे बाहर जाकर अपनी विद्वत्ता का सिक्का अन्यप्रान्तीय विद्वानो पर जमाने मे कृतकार्य होते थे। सावन के महीने मे दुर्गाजी के मन्दिर के परिसर मे एव नागकुआँ पर छात्रो की सभाएँ शिक्षण-का[र्य] करती थी। व्याकरण शास्त्र मे परिष्कार-पद्धति के उपबृहण मे एव अभिवृद्धि मे इन सभाओं का विशेष योगदान था। प्रश्नो के उत्तर मे विद्वान् लोग अपनी बुद्धि का वैभव दिखलाकर श्रोता मण्डली को चमत्कृत किया करते थे। आजकल शास्त्रार्थ के दुर्दिन का समय है। शास्त्रो के अध्ययन के प्रति निष्ठा के अभाव का साम्राज्य चारो ओर छाया हुआ है। ऐसी विपन्नावस्था मे शास्त्रार्थ की प्रबुद्ध शैली को समाप्त होने से बाबा विश्वनाथ ही बचाये— यही उनसे हमारी विनम्र प्रार्थना है।

उस युग मे वेद के अध्ययन के प्रति भी छात्रो के हृदय मे विशेष उत्सुकता थी और शास्त्रो की शिक्षा से पहले अपनी शाखावाली सहिता का आरम्भ मे अध्ययन करना अनिवार्य माना जाता था। बाल्यकाल मे अधीत वेद का भविष्य मे बड़ा ही कल्याणकारी परिणाम होता था। महाराष्ट्र-पण्डितो मे वेदाध्ययन के प्रति तात्त्विक निष्ठा थी और इसीलिए वे श्रौतयाग के सम्पादन मे बड़े दक्ष होते थे। काशी-मण्डल के ब्राह्मणो मे वेद के प्रति श्रद्धा का उदय धीरे-धीरे सम्पन्न हुआ। यही कारण है कि बालशास्त्री मे शास्त्र-पाण्डित्य के साथ-साथ वैदिक कर्मकाण्ड का ज्ञान भी मणि काञ्चनयोग माना जाता था और इसीलिए वे श्रौतयागो के सम्पादन मे स्वय ही ऋत्विक् का कार्य करते थे। अपने जीवन की सन्ध्यावेला मे उन्होने अग्निष्टोम का विधान बडे आग्रह एव निष्ठा के साथ किया था। पण्डित गगाधर शास्त्री भी

वेद एव शास्त्र दोनों विषयों के अगाध पण्डित थे। उत्तरभारतीय ब्राह्मणों में पं० युगलकिशोर पाठक एवं उनके सुयोग्य शिष्य महामहोपाध्याय प० प्रभुदत्त गौड़ तथा उनके सुपुत्र महामहोपाध्याय पं० विद्याधर गौड़ इस विषय के परिनिष्ठित विद्वान् माने जाते थे। दुःख की बात है कि शास्त्रों के अध्ययन के समान वेदों का भी अनुशीलन इस समय ह्रास पर है। भगवान् की अनुकम्पा से ही इसका पुनरुद्धार हो सकेगा ऐसी आशा करना सर्वथा समुचित है।

(ख) निःशुल्क विद्या-दान

काशी के पण्डितों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे छात्रों को निःशुल्क विद्या-दान दिया करते थे। ये विद्यालय में अध्यापन करने के पश्चात् छात्रों को अपने घर पर भी पढ़ाते थे। परन्तु कभी किसी पण्डित ने किसी छात्र से एक पैसा भी शुल्क नही लिया। आजकल के युग में जब आधुनिक अध्यापक अपने अध्यापन-कार्य का मूल्यांकन प्रति घण्टे रुपयो के हिसाब से करते है और चाँदी के टुकड़ो को लिये विना अध्यापन की बात भी नही करते, तब इन पण्डितो का निःशुल्क अध्यापन अलौकिक त्याग का निःसन्देह अनुपम आदर्श है। पण्डित गगाधर शास्त्री के विषय में यह कहा जाता है कि उनके यहाँ अध्ययन करनेवाले छात्रो की भीड़ लगी रहती थी। घर में, निवास-स्थान मे जगह का अभाव होने के कारण छात्र गली में खड़े रहते थे। छात्रो की एक टोली के पढ़ने के पश्चात् ही दूसरी टोली पढ़ने के लिए घर के भीतर जाती थी। 'तिवारीजी' तथा 'महाशयजी' के विषय मे भी यही बात सुनी जाती है। इन गुरुओं को अपने छात्रो को निःशुल्क विद्या-दान का व्यसन-सा था और वे दिन रात अध्यापन में ही अपना जीवन बिताते थे। कुछ अध्यापक तो अपने छात्रो को निःशुल्क भोजन तथा आवास भी देते थे अथवा इसका प्रबन्ध कर देते थे।

(ग) शास्त्रार्थ-पटुता

काशी व्याकरण तथा न्यायशास्त्र के अध्ययन की केन्द्रस्थली रही है। महर्षि पतञ्जलि की कर्मस्थली होने के कारण काशी व्याकरणशास्त्र के अध्ययन की पीठस्थली रही है। अतः यहाँ के विद्वान् व्याकरण, वेदान्त, न्याय और धर्मशास्त्र में शास्त्रार्थ करने में अत्यन्त पटु तथा प्रवीण थे।

वैयाकरण-केसरी म० म० पण्डित दामोदर शास्त्री और मैथिल पण्डित बच्चा झा में जो प्रचण्ड ऐतिहासिक शास्त्रार्थ हुआ था वह अब इतिहास की वस्तु बन गया है। इन दोनों पण्डितों के गम्भीर शास्त्रार्थ को देखने के लिए विद्वानों के अतिरिक्त साधारण जनता भी हजारो की सख्या में उपस्थित हुई थी। आर्यसमाज के सस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती से काशी के अनेक सुप्रसिद्ध विद्वानों—जिनमे पंडित बालशास्त्री भी सम्मिलित थे—का जो सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ था वह आर्य समाज के इतिहास की एक प्रसिद्ध घटना है। स्वामीजी ने शास्त्रार्थ में सर्वत्र विजयश्री प्राप्त की थी, परन्तु काशी के पण्डितों के समक्ष उन्हें भी अपनी पराजय स्वीकार करनी पड़ी थी, आज भले ही उनके अनयायी इस बात को न मानें।

काशी के मूर्धन्य विद्वान् म० म० पण्डित गगाधर शास्त्री का वल्लभ-सम्प्रदाय के विख्यात विचक्षण पण्डित प्रज्ञाचक्षु श्री गट्टूलालजी से गोपालमन्दिर में जो प्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ उसकी स्मृति आज भी विद्वानों में जागरूक है। इस शास्त्रार्थ में विजयश्री ने पडित गंगाधर शास्त्री को वरण किया था।

उन दिनो काशी मे आयेदिन 'सभा' आयोजित हुआ करती थी। इन सभाओं मे समागत विद्वान् पहले शास्त्रार्थ करते थे और इसके उपरान्त ही दक्षिणा को स्वीकार करते थे। नागपचमी के दिन काशी के नागकुआँ पर पण्डितो तथा छात्रो के आपस मे शास्त्रार्थ करने की परम्परा आज भी प्रचलित है। किम्बहुना, आज भी विवाह के अवसर पर कन्या और वर पक्ष के विद्वान् आपस मे नाना उपयोगी प्रमेयो पर शास्त्रार्थ किया करते है।

प्राचीन काल मे किसी विद्वान् व्यक्ति की विद्वत्ता की परीक्षा करने के लिए शास्त्रार्थ ही निकषग्रावा स्वीकार किया जाता था। यह परम्परा काशी मे आधुनिक काल तक विद्यमान रही है। परन्तु दुःख है कि अब धीरे-धीरे इस परम्परा का ह्रास होने लगा है। अभी कुछ वर्षों पूर्व तक काशी मे पण्डित हाराणचन्द्र भट्टाचार्य तथा पण्डित पूर्णचन्द्राचार्य बहुत बडे शास्त्रार्थी थे जो व्याकरणशास्त्र मे वाद-विवाद करने मे बडे ही प्रौढ़ एव प्रसिद्ध थे। सच तो यह है कि अध्यापन के साथ ही शास्त्रार्थ करना काशी के पण्डितो का व्यसन था और वे इस कला मे अत्यन्त निपुण थे। किसी पण्डित के पाण्डित्य को परखने के लिए शास्त्रार्थरूपी मौखिक परीक्षा एक अचूक माध्यम तथा साधन था। काशी के विद्वानो ने इसमे अपूर्व सफलता प्राप्त की थी—इसमे किसी को शका के लिए तनिक भी स्थान नही है।

(घ) वाणी की उदारता, परन्तु लेखन में बद्धमुष्टिता

काशी के पण्डित वाणी के बड़े ही धनी थे। ये वाग्वैभव से अत्यन्त सम्पन्न थे। इनकी शास्त्रार्थ-पटुता की चर्चा अभी पिछले पृष्ठो मे की जा चुकी है। इन विद्वानो की वाग्मिता प्रसिद्ध थी। किसी शास्त्रीय विषय को लेकर लगातार घटो तक उसका विवेचन करते रहना इनके बाये हाथ का खेल था। ये वावदूक ही नही, वाग्मी भी थे।

परन्तु यह दुःख का विषय है कि ये विद्वान् वाग्वैभव से जितने ही समृद्ध थे, विद्या दान मे जितने ही दानी थे वे लेखन कर्म मे उतने ही बद्धमुष्टि थे। इसका प्रधान कारण यह था कि शास्त्रो के अध्ययन तथा अध्यापन मे ये इतने निमग्न रहते थे कि इन्हे ग्रन्थ लेखन के लिए अवकाश ही नही मिलता था। दूसरा कारण यह था कि इनकी प्रतिभा मौखिकी थी। यही कारण है कि इनकी लेखनी की प्रतिभा का प्रसाद हमे प्राप्त नही हो सका। म० म० प० कैलासचन्द्र शिरोमणि जैसे दुर्धर्ष नैयायिक तथा म० म० प० हाराणचन्द्र भट्टाचार्य जैसे प्रकाण्ड वैयाकरण ने अपनी विद्वत्ता के रिक्थ रूप मे अग्रिम पीढ़ियो के लिए कुछ भी नही छोड़ा। म० म० प० गगाधर शास्त्री जैसा साहित्य का गभीर ज्ञाता तथा सरस कवि नैषधीयचरित के समान किसी अन्य महाकाव्य की रचना मे पूर्णतया सक्षम था, परन्तु उन्होने भी 'अलिविलासि सलाप' को छोड़कर अपनी अलौकिक काव्य-पटुता का प्रसाद हमे नही दिया। कहने का आशय यह है कि केवल दो-चार विद्वानो के अपवाद को छोडकर अधिकाश ने सुरभारती के भाण्डार को भरने की कृपा नही की।

(ङ) संस्कृत-साहित्य के प्रति प्रगाढ़ प्रेम

काशी के विद्वानो का सस्कृत से प्रगाढ़ प्रेम था। इनका जीवन सस्कृतमय था यदि यह कहा जाय तो कुछ भी अत्युक्ति न होगी। ये पण्डितगण भारतवर्ष के विभिन्न राज्यो से अपना घर-बार छोडकर सुदूर काशी मे केवल विद्याध्ययन के लिए आये। इनमे से कोई मिथिला से आया था तो कोई बगदेश से। कोई महाराष्ट्र से पधारा था, तो कोई तमिल देश से। कोई कर्णाटक का निवासी था तो कोई आन्ध्र प्रदेश का। किसी ने पजाब से पदार्पण

करने का कष्ट किया था तो किसी ने राजस्थान से। परन्तु इन सभी विद्वानों का एकमात्र लक्ष्य था काशी में आकर सस्कृत के विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन।

इन पण्डितो ने यावज्जीवन सस्कृत का अध्ययन अध्यापन किया। धर्मशास्त्रों में वर्णित आचार का पालन किया। यद्यपि इनकी मातृभाषा तमिल, तेलुगु, कन्नड़, गुजराती, मराठी, मैथिली, बँगला और पंजाबी थी तथापि इन्होंने अपनी भाषा में ग्रन्थो की रचना न करके केवल सस्कृत मे ही ग्रन्थों का प्रणयन किया। यद्यपि एक-दो विद्वान् इस नियम के अपवाद हो सकते है तथापि उन्होंने भी अपनी प्रधान तथा महत्त्वपूर्ण कृतियों की रचना केवल सस्कृत मे ही की। सस्कृत इनके विचारो के प्रकाशन की वाणी थी और सस्कृत ही इनके जीवन की प्रक्रिया थी जिसका निर्वाह इन्होंने यावज्जीवन किया।

(च) सादा जीवन, उच्च विचार

काशी के पण्डितो का जीवन अत्यन्त सरल और कृत्रिमता से रहित था। ये 'सादा जीवन, उच्च विचार' के ज्वलन्त प्रतीक थे। इन्होने अपने जीवन मे बनावटीपन को कभी स्थान नही दिया। इनकी वेश-भूषा बड़ी साधारण होती थी। प्राचीन ऋषियो की भाँति ये प्रायः अघोवस्त्र (धोती) और उत्तरीय (चादर) को ही धारण करते थे। यही इनकी सामान्य वेश-भूषा थी। दाक्षिणात्य पण्डित अपने सिर को मराठी पगड़ी से सुशोभित करते थे जो बड़ी सुन्दर होती थी। उत्तरभारत के विद्वान् सिर पर रेशमी अथवा सूती पगड़ी बाँधते थे। इनकी देह मे अगरक्षा विराजती थी और पैरों में साधारण उपानह या जूता। इनकी वेश-भूषा में न तो किसी बनावट का स्थान था और न कृत्रिमता के लिए जगह।

ऐसा सादा तथा साधारण जीवन बिताने पर भी इन मनीषियो का विचार अत्यन्त उन्नत था। ये ब्रह्म, जीव, जगत्, आत्मा और परमात्मा का सदा चिन्तन किया करते थे, भारतीय दर्शन के उच्च विचारो मे सदा निमग्न रहते थे। कुछ पण्डितो ने तो घर-गृहस्थी की झझटो को त्यागकर अध्ययन, मनन और निदिध्यासन मे ही अपनी वृत्ति रमा ली थी। काशी मे गगा मे स्नान तथा बाबा विश्वनाथ का दर्शन ही इनके जीवन का ध्येय था। ऐसे ही एक विद्वान् ने सस्कृत के पण्डितो का प्रतिनिधित्व करते हुए अपने विषय मे उचित ही कहा था –

अधीतमध्यापितमर्जितं यशो, न चिन्तनीयं किमपीह भूतले ।
अतः परं श्रीभवनाथशर्मणो, मनो मनोहारिणि जाह्नवीतटे ॥

(छ) धार्मिक उदारता

वैदिक धर्म के प्रति पूर्ण निष्ठा के साथ ही साथ काशेय पण्डितो की धार्मिक उदारता भी नितान्त श्लाघनीय है। ये लोग अन्य धर्मों के प्रति, यदि वे भारतीय धर्म एव सस्कृति के प्रति आदर तथा सम्मान की भावना रखते हो, तो सर्वदा उदारता रखते थे और आज भी रखते है। आज से सौ वर्ष पूर्व काशी मे एक ऐतिहासिक घटना का विवरण देना नितान्त सामयिक होगा। गत शताब्दी के उत्तरार्ध मे ऑलकाट नामक अमेरिकन सज्जन ने 'थिआसोफिकल सोसाइटी' (ब्रह्मविद्या-समाज) नामक एक नवीन धर्म-प्रचारक सस्था की स्थापना की तथा उसके प्रचार के लिए वे भारतवष में आये और 'आर्यसमाज' के सस्थापक दयानन्द सरस्वती से भेंट करने, धर्म-सम्बन्धी परामर्श करने तथा यदि सम्भव हो, तो उनको भी नयी धर्म-सस्था में सम्मिलित करने के लिए बहुत उद्योग किया। उनसे उत्तरी भारत के अनेक नगरों मे भेट की। इसी प्रसग मे वे काशी के मान्य विद्वानों का साहाय्य प्राप्त करने के

लिए भी यहाँ आये थे। पण्डितों ने उन्हें अपना पूर्ण सहयोग देने का आश्वासन दिया था। वह घटना इस प्रकार है।

दिसम्बर १४ ईस्वी १८८० को बाबू प्रमदादास मित्र के घर पर ऑलकाट के अभिनन्दन तथा परामर्श के निमित्त एक सभा बुलाई गई थी जिसमें उपस्थित थे—डॉ० थीबो (बनारस संस्कृत कॉलेज के प्रिन्सिपल), बालशास्त्री (कॉलेज के हिन्दू विधिशास्त्र के अध्यापक), बापूदेव शास्त्री, यज्ञेश्वर ओझा, दामोदर शास्त्री (व्याकरण के अध्यापक), ढुंढिराज शास्त्री (कॉलेज के पुस्तकालयाध्यक्ष), रामकृष्ण शास्त्री (साख्य शास्त्र के अध्यापक), गंगाधर शास्त्री तथा प्रमदादास मित्र (कॉलेज के ऐंग्लो-संस्कृत-विभाग के अध्यापक)। कर्नल ऑलकाट ने अपनी यात्रा का उद्देश्य बतलाया। उन्होने कहा कि मेरी यह नई संस्था थिआसोफिकल सोसाइटी ब्रह्मविद्या तथा अध्यात्म-ज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए स्थापित की गई है। यह संस्कृत भाषा एव भारतीय सस्कृति के प्रचार में सर्वथा सहायता देती रहेगी। मै काशीस्थ विद्वानों का साहाय्य तथा परामर्श लेने के लिए ही यह सभा कर रहा हूँ। आप लोगों से गम्भीर सलाह तथा पथ-प्रदर्शन लेना ही मेरा उद्देश्य है। कर्नल ने अंग्रेजी में भाषण किया था जिसका प्रमदादास मित्र सस्कृत में अनुवाद करते जाते थे। वह संस्कृतभाषण इतना सुन्दर तथा मर्मस्पर्शी था कि ऑलकाट ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और कहा कि मेरे व्याख्यान का इतना सुन्दर अनुवाद योरोप का कोई संस्कृतज्ञ नहीं कर सकता। इस सभा में यह निश्चय किया गया कि कर्नल साहब की यह थिआसोफिकल सोसाइटी सस्कृत-साहित्य एव वेदविद्या के विकास की इच्छुक है। इसलिये इसे पण्डित-समाज द्वारा पूरा सहयोग दिया जायेगा। इस प्रस्ताव पर पण्डितो की ओर से बापूदेव शास्त्री ने तथा सोसाइटी की ओर से ऑलकाट ने हस्ताक्षर किया। इस घटना से पूर्व ही कर्नल ऑलकाट श्रीलका में बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गये तथापि पण्डितों ने इसे कुछ बुरा नहीं माना और अपना पूर्ण सहयोग इस शुभ कार्य के लिए दिया। पण्डितों की यह धार्मिक उदारता अभिराम शब्दों में सर्वथा अभिनन्दनीय है। इस घटना का उल्लेख कर्नल ऑलकाट ने अपनी 'ओल्ड डायरिंग' नामक दैनन्दिनी में किया है।

(ज) काशीस्थ विद्वानों की उच्चारण-शुद्धि

काशी के विद्वानों का वेद तथा लौकिक संस्कृत का उच्चारण अत्यन्त शुद्ध तथा आदर्श माना जाता है। यहाँ के महाराष्ट्र पण्डित वैदिक मन्त्रों का जैसा शुद्ध उच्चारण करते थे और आज भी करते हैं वह आदर्श तथा मानक (स्टैण्डर्ड) माना जाता था और आज भी माना जाता है। काशी के पण्डितों के उच्चारण की विशेषता की ख्याति केवल इस देश में ही सीमित नहीं थी, बल्कि वह सुदूर विदेशों में भी फैली हुई थी। इस प्रसंग में एक विशेष घटना का उल्लेख करना आवश्यक है जिससे ज्ञात होता है कि विदेशी विद्वानों को भी काशी के पण्डितों के शुद्ध उच्चारण पर कितनी आस्था थी।

आज से लगभग पचहत्तर वर्ष पूर्व की यह घटना है। उस समय बनारस-संस्कृत-कॉलेज के प्रिन्सिपल डॉ० वेनिस थे और म० म० पं० सुधाकर द्विवेदी कॉलेज के प्रथम पण्डित थे। उसी काल में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् डॉ० मैकडानल संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष थे और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में डॉ० रैप्सन सस्कृत की अध्यक्षता कर रहे थे। ये दोनों ही वेदों के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इन दोनों विद्वानों में वेद की किसी ऋचा के उच्चारण में स्वर-संबन्धी विवाद खड़ा हो गया। एक विद्वान् का कथन था कि वैदिक प्रातिशाख्य के अनुसार उस मत्र के उच्चारण में उदात्त स्वर का प्रयोग होना चाहिए परन्तु

दूसरे विद्वान् की सम्मति मे उसका उच्चारण स्वरित में होना ही समुचित था। इन दोनों मनीषियों में स्वर-संबन्धी यह विवाद इतना बढ़ गया कि अन्त में दोनों ने यही निश्चित किया कि इसका निर्णय काशी के वैदिक विद्वान् ही कर सकते है। उक्त ऋचा का वे जिस स्वर में उच्चारण करते हैं उसीको ठीक तथा प्रामाणिक माना जाएगा।

बनारस-सस्कृतकॉलेज के तत्कालीन प्रिन्सिपल डॉ० वेनिस के पास यह सूचना भेजी गई कि वे काशी के वैदिक पण्डितों से उस मत्र का शुद्ध उच्चारण करवाकर, उसका रेकार्ड तैयार करायें तथा उसे इग्लैण्ड भेज दें। डॉ० वेनिस ने अपने गुरु पं० गंगाधर शास्त्री को यह काम सौपा। शास्त्रीजी ने कॉलेज के वैदिक पण्डितों को इस कार्य के लिए कलकत्ता भेजने का प्रबन्ध किया क्योंकि उन दिनों काशी में कोई रेकार्डिंग कम्पनी नहीं थी। वहाँ जाकर इन पण्डितो ने विवादास्पद मंत्र के आगे-पीछे अनेक मन्त्रों का सस्वर पाठ किया। उसका रेकार्ड तैयार किया गया और उसे इग्लैंड भेजा गया। इस प्रकार इन दोनों अग्रेज वैदिक विद्वानों के स्वरसम्बन्धी विवाद का निपटारा हुआ। उस वैदिक ऋचा की रेकार्डिंग को सुनकर उन्हें पता चला कि उक्त मंत्र में किस स्वर को विशुद्ध मानना चाहिए। इस घटना से विदेशी वैदिकों का स्वर के प्रति आग्रह तथा जिज्ञासा दिखाई पड़ती है।

इस घटना से यह भी पता चलता है कि काशी के वैदिक विद्वानों के विशुद्ध उच्चारण के सम्बन्ध में विदेशी वैदिकों की भी कितनी ऊँची आस्था थी।[१]

इस प्रसग में शब्दों की उच्चारण विधि के स्वरूप तथा विशुद्ध उच्चारण के नियमों का सक्षिप्त निरूपण यहाँ प्रस्तुत करना कथमपि अप्रासगिक न होगा।

संस्कृतभाषा मे उच्चारण की शुद्धता पर सबसे अधिक आग्रह है। वेद का एक महनीय अग ही 'शिक्षा' के नाम से प्रख्यात है और 'शिक्षा' का अर्थ है उच्चारण की शिक्षा देनेवाला ग्रन्थ। वैदिक मन्त्रों के उच्चारण में यदि छोटी-सी भी त्रुटि हो जाती है, वर्ण की अथवा स्वर की, तो महान् अनर्थ उत्पन्न हो जाता है, और इस अनर्थ का भाजन स्वयं वृत्र को बनना पड़ा था, जिसे यज्ञ मे स्वर के अपराध से लेने के देने पड़ गये थे। महर्षि पाणिनि ने व्याघ्री को अपने बच्चे को मुँह में ले जाते देखा था और उसीको उन्होंने वर्णोच्चारण-विधान में आदर्श माना। बोलनेवाले को चाहिए कि न तो वह वर्णों को काटे, न वर्णों को मुँह से बिखरने दे—

व्याघ्री यथा हरेत् पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्।
भीता पतन-भेदाभ्यां तद्वद् वर्णान् प्रयोजयेत्॥

—पाणिनीय शिक्षा, श्लोक २५

स्वरों की तो महिमा ही अलग है। वेद में स्वरों के यथावत् निर्वाह के ऊपर मन्त्रों का उचित अर्थ भी आश्रित रहता है। अतः स्वरों का माहात्म्य एक विशिष्ट वस्तु है। जो व्यक्ति सस्कृत के शब्दों का ठीक ठीक उच्चारण नही कर सकता वही 'म्लेच्छ' है। 'म्लेच्छ' शब्द में आरम्भ से ही, उच्चारण की ही भावना जागरूक है; धार्मिक भावना का उदय अवान्तर घटना है। जो व्यक्ति वैदिक धर्म का अनुयायी न हो उसे धर्मशास्त्रों ने 'म्लेच्छ' की संज्ञा अवश्य प्रदान की है, परन्तु मूलतः वही 'म्लेच्छ' है जो संस्कृत शब्दों का यथार्थतः उच्चारण नहीं कर सकता। इसीलिए, महाभाष्यकार पतञ्जलि का कथन है—

१. स्वरों के सम्बन्ध में उक्त घटना का उल्लेख, गंगाधर शास्त्री के तत्कालीन पट्टशिष्य तथा इस घटना के समसामयिक साक्षी व्याकरणाचार्य पण्डित केशवप्रसाद मिश्र (अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, का० हि० वि० वि०, वाराणसी) ने लेखक से किया था। इस घटना के यथार्थ होने में किसी भी प्रकार के सशय के लिए स्थान नही है।

तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः । तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै, नापभाषितवै । म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः ॥

इस वाक्य का अर्थ है कि असुर लोग 'हेलयः' 'हेलयः' कहते हुए पराजय को प्राप्त हुए । इसलिए, ब्राह्मण को चाहिए कि वह कभी गलत उच्चारण न करे । अपशब्द ही म्लेच्छ कहलाता है । 'हेऽलयः', 'हेऽलयः' में अपशब्द क्या है ? इसके विषय मे विभिन्न मत है । कैयट ने दोनों का उल्लेख प्रदीप में किया है । किसी का मत है कि यहाँ प्लुत तथा प्रकृति-भाव होना चाहिए था, जिनके न होने से यह अपशब्द हुआ । दूसरे आलोचकों की सम्मति में पदद्विर्वचन के स्थान पर वाक्य का द्विर्वचन तथा रेफ का लकार होना वहाँ म्लेच्छन है ('हेऽरयः' का 'हेलयः' होना) । शतपथ-ब्राह्मण में इस प्रसग का दूसरा रूप मिलता है । वहाँ असुरो की पराजय 'हेलवो हेलवो इति वदन्तः' हेलव-हेलव कहने के कारण हुआ था । यहाॅ यकार के स्थान पर वकार का प्रयोग अपशब्द हुआ । जो कुछ भी हो, असुरो की पराजय का कारण उच्चारण की त्रुटि थी, यह वेदों में माना गया है । अतः, सुसस्कृत व्यक्ति के लिए अपशब्द का प्रयोग नितान्त निन्दनीय है ।

भारत के विभिन्न प्रान्तो के निवासियों का सस्कृतोच्चारण अपनी विशिष्टता लिए हुए है, जिसका उल्लेख राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमासा' (सप्तम परिच्छेद) में सुन्दरता से किया है । यह वर्णन मध्ययुगीय उच्चारण की विशिष्टता जानने में अनुसन्धानप्रेमियो के लिए परमोपयोगी है । आजकल भी भारत के प्रत्येक प्रान्त के निवासियो के उच्चारण मे विलक्षणता दीख पड़ती है । प्राचीनकाल का शुद्ध वैदिक उच्चारण काशी के महाराष्ट्र वैदिको के मुख से आज भी श्रुतिगोचर होता है । गुजरातियो के मुख में सस्कृत के अनेक शब्द विकृत हो जाते है । 'तुलसी' का 'तलसी' तथा 'मुकुन्द' का 'मकन्द' होना तो श्रोताओं को उतना नही खलता, जितना खलता है 'शिव' का 'शव' हो जाना । प्रातःकाल किसी गुजराती सज्जन के मुख से शव-शव की ध्वनि सुनते ही श्रोता के मन मे विचित्र उद्वेग उत्पन्न होता है । इसीलिए, गुजराती उच्चारण पर यह व्यग्योक्ति वस्तुतः तथ्योक्ति ही है :

तुलसी तलसी जाता मुकुन्दोऽपि मकन्दताम् ।
गुर्जराणां मुखं प्राप्य शिवोऽपि शवतां गतः ॥

बगालियो के मुख से दन्त्य स, मूर्धन्य ष तथा तालव्य श के पारस्परिक विभेद का सर्वथा लोप होकर एकमात्र तालव्य शकार का उच्चारण ऐतिहासिक कारणों से है । अकार का गोल-मटोल ओकार के रूप में ही उच्चारण नही है, प्रत्युत एकार का ह्रस्व अकार के रूप में उच्चारण भी कम विचित्र नही है । 'रसगुल्ला' का 'रोसोगुल्ला' उच्चारण सुनकर यदि वक्ता के मुँह के मिठाई से भरपूर होने की सम्भावना से हम चमत्कृत होते है, तो 'केला' को 'कला' के रूप में कलकतिये रेल के डब्बों में बिकते हुए सुनकर हमे कम अचरज नही होता ।

विभिन्न प्रान्तों के उच्चारणों में कभी-कभी आश्चर्यजनक साम्य भी दृष्टिगोचर होता है । यदि भोजपुरी में 'चहुँपना' सुनकर हम घबराते है, तो पजाबी में 'आमदी' का 'मतबल' जानकर हमें कम आश्चर्य नहीं होता । यदि अवध के किसी निवासी के मुँह से 'फबेरे फबेरे मुँह फेंकारे फतुआ फटाफट फाँक आवा' सुनकर हमारे मुँह से हँसी का फौवारा फूट पड़ता है, तो हमें भूलना न चाहिए कि जापान का निवासी भी 'फिफ्टी' (Fifty) को सदा 'सिफ्टी' ही कहता है । प्राकृत में ही पकार का बकार नहीं होता, अपितु आज भी अनेक मिस्र-निवासी

मार्गदर्शक सायंकाल नमाज पढ़ने के समय Let me bray कहकर भारतीय यात्रियों को अचम्भित करता है (Pray = प्रार्थना करना; Bray = रेंकना, गधे की बोली)।

ध्यान देने की बात है कि मिस्र देश के अनेक निवासी पकार के स्थान पर बकार का ही उच्चारण करते हैं। उनकी यही प्रकृति है। फलतः सन्ध्या होने पर मिस्र का मार्गदर्शक गाइड नमाज पढ़ने के लिए जब किसी मसजिद में जाना चाहता है, तब वह आगन्तुक दर्शनार्थियों से प्रार्थना करने की बात कहकर कुछ समय के लिए अवकाश चाहता है। अंग्रेजी में उसे कहना चाहिए- -लेट मी प्रे (Let me pray = मुझे नमाज पढ़ने का हुकुम दीजिए), परन्तु 'प' के स्थान 'ब' के विनिमय के कारण वह कह उठता है—लेट मी ब्रे (Let me bray)। अंग्रेजी में ब्रे का प्रयोग गदहे के रेंकने के लिए होता है। फलतः मिस्री गाइड के वाक्य का अर्थ होता है—मेहरबानी कर मुझे रेंकने दीजिए और उच्चारण-वैषम्य से अर्थ का यह विकार-वैषम्य हँसी का प्रधान कारण बन जाता है। काशी के ही शिक्षाविद् पण्डित रामनारायण मिश्र ने अपने 'यात्रा-विवरण' में इस हास्योत्पादिनी घटना का उल्लेख किया है।

उच्चारण की विशिष्टता पर आज भी नामकरण का विधान पाया जाता है। पतञ्जलि ने महाभाष्य मे 'यर्वाणः, तर्वाणः' नामक ऋषियों का उल्लेख किया है जो 'यद्वानः, तद्वानः' के स्थान पर यही विलक्षण उच्चारण किया करते थे।[१] आज भी लड़के विचित्र उच्चारण के बल पर अपने अध्यापकों को विचित्र नाम दे डालते हैं। अंग्रेजी के एक प्रोफेसर साहब Calculation (कैलकुलेशन) शब्द का 'कालकुलेशन' उच्चारण किया करते थे, फलतः उनका नाम ही हो गया कालकुलेशन साहब। संस्कृत के एक पण्डितजी 'ज्ञ' का उच्चारण 'ज्यँ' के समान करते थे। फलतः, उनका नाम ही छात्रों ने 'ज्याँनी' जी रख छोड़ा था।

उच्चारण की गलतियों का उल्लेख पाणिनि ने अपने सूत्रों में किया है।[२] परीक्षा-काल में एक गलती या अप-पाठ करनेवाला व्यक्ति 'ऐकान्यिक'[३] तथा दो गलतियाँ करनेवाला व्यक्ति 'द्वैयन्यिक' कहलाता है। जो व्यक्ति बारम्बार अशुद्ध स्वरों का उच्चारण करता है, उसके लिए 'पदं मिथ्या कारयते' का प्रयोग काशिका में किया गया है। एक बार अशुद्ध उच्चारण के लिए 'कारयति' का प्रयोग होता है, अर्थात् बारम्बार अशुद्ध उच्चारण करने पर 'कारयते' आत्मनेपद का प्रयोग समुचित माना जाता है। इसके लिए पाणिनि का विधान इस सूत्र में है—'मिथ्योपपदात् कृञोऽभ्यासे' (१।३।७१)।

उच्चारण की गलती करनेवाले छात्र को दण्ड देने की विधि भी प्राचीन भारत में विचित्र थी। पतञ्जलि ने उदात्त के स्थान पर अनुदात्त की गलती करनेवाले छात्र के लिए लिखा है कि उसके अध्यापक छात्र को चपत रसीद करते थे—'चपेटा' देते थे। यही प्राचीन विधि है, और हाल तक हमारे गुरु लोग भी उच्चारण की शिक्षा के लिए इस विधान को विशेष उपयोगी पाते थे। परन्तु, पुरानी बाइबिल में 'शकार' का शुद्ध उच्चारण न करने के कारण ऐसे जघन्य दण्ड का विधान पाया जाता है, जिसे सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। यहूदी लोगों में एक जाति थी, जिसका नाम था 'इफ्रैमाइट'। इसने बगावत की थी और इसे दण्ड देने की विचित्र व्यवस्था की गई थी—'शिब्बोलेथ' (Shibboleth) शब्द का शुद्ध उच्चारण। 'शिब्बोलेथ' यहूदी

---

१. एवं हि श्रूयते 'यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुः। ते तत्रभवन्तो 'यद्वानस्तद्वान' इति प्रयोक्तव्ये यर्वाणस्तर्वाण इति प्रयुञ्जते। (महाभाष्य, पस्पशाह्निक)।

२. कर्माध्ययने वृत्तम् ४।४।६३; बह्वच्पूर्वपदाट्ठच् ४।४।६४।

३. यस्याध्ययने प्रवृत्तस्य परीक्षाकाले विपरीतोच्चारणरूपमेकं स्खलितं जातम्।

—कौमुदी

शब्द है, जिसका अर्थ होता है 'अनाज की बाली'। परन्तु उस जाति के लोगो की जीभ ही ऐसी थी कि तालव्य शकार का उच्चारण नही कर सकती थी, फलतः वह दन्त्य सकार ही बोल सकती थी, ठीक उसी तरह जैसे आज के स्पेन तथा लिथुएनिया के निवासी श के स्थान पर दन्त्य सकार ही बोल सकते है, यहूदी लोगो ने, इस जाति के सभी लोगो को, जिनकी सख्या ४२ हजार थी, मृत्यु के घाट उतार दिया। जोर्डन नदी के घाटो पर नदी पार करने के स्थानो पर यह दुर्घटना घटी थी। ऐसे दण्ड की नैतिकता पर टीका करना व्यर्थ है। इतना जान लीजिए कि इस पूरी जाति को उच्चारण सम्बन्धी त्रुटि के लिए एक महान् दण्ड सहना पडा था और उसका उच्छेद सदा के लिए हो गया। बाइबिल मे इस विचित्र घटना का उल्लेख किया गया है।[१]

अशुद्ध उच्चारण के निमित्त इससे घोरतम दण्ड की कल्पना शायद ही की जा सकती है। इसमे प्रतिहिसा की भावना ही अधिक व्यापक तथा बद्धमूल है। भगवान् बचाये शुद्ध उच्चारण के ऐसे दुराग्रह से !!!



1 " and he said Shibboleth, for he could not frame to pronounce it right, then they laid hold on him, and slew him at the fords of Jordan and there fell at that time of Ephraim forty and two thousand "

—*Old Testament,* The Judges, XII, (R V)

अध्याय ७

आक्षेपों का निरसन

(क) राष्ट्रभाषा की उपेक्षा

काशी के संस्कृत-विद्वानों पर यह दोषारोपण—और वह भी आग्रहपूर्ण—लगाया जाता है कि वे राष्ट्रभाषा हिन्दी से अनभिज्ञ होते थे तथा उसकी घोर उपेक्षा करते थे। परन्तु यह आरोप नितान्त मिथ्या है एकदम झूठ, सरासर झूठ। हिन्दी में काव्यरचना करना ही हिन्दी प्रेम के परिचय का प्रमापक नहीं है। अनेक संस्कृत विद्वानों ने हिन्दी में काव्यों की रचना की है। ध्यान देने की बात तो यह है कि काशी की विद्वन्मण्डली भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों से आकर यहाँ जमी थी। पण्डितों की मातृभाषाएँ भिन्न-भिन्न थीं। महाराष्ट्री, तेलुगु, तमिल, बंगाली, मैथिली, गुजराती, राजस्थानी आदि भाषाएँ काशिकेय संस्कृत पण्डितों की मातृभाषाएँ थी जिन्हें वे परिवार के परिचित व्यक्तियों से बोलचाल में प्रयोग करते थे। परन्तु वे राष्ट्रभाषा हिन्दी से कथमपि अनभिज्ञ नहीं थे। संस्कृत विद्यालयों में देववाणी ही निश्चय रूप से शिक्षण की माध्यम-भाषा थी जिसका प्रयोग गुरुजन छात्रों से अपने भावों को प्रकट करने के लिए किया करते थे। परन्तु जब छात्र शास्त्रीय तथ्यों को संस्कृत के माध्यम से हृदयगम नहीं कर सकता था, तब उसे समझाने के लिए गुरुजन हिन्दी का ही प्रयोग किया करते थे। फलतः इन संस्कृत-विद्यालयों में हिन्दी द्वितीय भाषा के रूप में व्यवहृत होती थी। वह संस्कृत-पण्डितों के द्वारा कथमपि उपेक्षित नहीं की जाती थी।

उस युग के पण्डितों ने जनता को समझाने के लिए जिन ग्रन्थों का प्रणयन किया, उनकी भाषा निश्चयेन हिन्दी ही थी। उस युग में दर्शन, ज्योतिष, गणित, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा वेदान्त के ग्रन्थों का मूल संस्कृत से हिन्दी में अनुवाद करने का कार्य पण्डितों ने बड़े उत्साह तथा लगन के साथ किया। मराठी-भाषाभाषी म० म० पण्डित बापूदेव शास्त्री ने 'बीजगणित' का प्रणयन हिन्दी में किया जो बम्बई से १८५० ई० में प्रकाशित हुआ। उस युग में अभी तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा प्रवर्तित एव परिशोधित 'हरिश्चन्द्री हिन्दी' का जन्म भी नहीं हुआ था।

भारतेन्दु युग की महती देन है—भाषा को नया परिधान। भारतेन्दुजी १८७३ ई० को वर्तमान हिन्दी के सूत्रपात का वर्ष मानते हैं। जिस हिन्दी की संरचना उस समय की गई, वह न तो फारसी शब्दों को अपने में समेटे थी और न वह संस्कृत के शब्दों के द्वारा बोझिल थी। काशी की जनता की बोलचाल की भाषा का ही मुख्य आधार उसमें विद्यमान था और उसीका परिष्कृत रूप हम आज अपने व्यवहार में लाते हैं। ध्यान देने की बात है कि बापूदेव शास्त्री के ऊपर निर्दिष्ट ग्रन्थ की भाषा यही हिन्दी है जिसे हम बोलते हैं और समझते-बूझते हैं। उन्होंने मराठीभाषी होते हुए भी जनता के लिए निर्मित अपने ग्रन्थ में १८७३ ई० से लगभग २५ वर्ष पूर्व ही उस हिन्दी का प्रयोग किया है जिसे प्रचलित करने का श्रेय भारतेन्दुजी

को दिया जाता है। दिवंगत रायकृष्णदासजी ने भी लेखक के पूर्वोक्त मत की ही प्रकारान्तर से पुष्टि की है।

उनका कहना है कि पण्डित लोगों में से कुछ व्यक्ति हिन्दी को हेयदृष्टि से भले ही देखते हों, परन्तु हिन्दी के विकास में उन्होंने कोई अड़ंगा नहीं लगाया। "हिन्दी का जो प्रचार चल रहा था, उसमें उन्होंने किसी तरह टाँग अड़ाई हो यह तो हमें नहीं मालूम। हिन्दी के प्रचार के विरोध मे कोई आन्दोलन किया हो, इसका कोई प्रमाण नहीं। हिन्दी एवं जनता के प्रतिनिधिस्वरूप भारतेन्दुजी संस्कृत के विद्वानों का बड़ा सम्मान, आदर करते थे।" (धर्मयुग, मार्च १९८१)—यह पूर्वोक्त तथ्य का पोषक है।

तेलुगु भाषा-भाषी पण्डित नरसिंह शास्त्री (महामहोपाध्याय गगाधर शास्त्री के पिता) ने काशीनरेश के दरबार मे रहकर उनके पूर्वजों के विषय में 'साहित्य-सागर' नामक एक महाकाव्य की रचना हिन्दी में की थी जो आज भी काशिराज के पुस्तकालय में सुरक्षित है। तमिल-भाषाभाषी पण्डित लक्ष्मण शास्त्री तथा उनके सुयोग्य पुत्र पण्डितराज राजेश्वर शास्त्री ने 'पण्डितपत्र' की स्थापना ही नहीं की, अपितु इसमें वे हिन्दी के द्वारा ही अपने लेखों का प्रकाशन करते रहे। धर्म एव राजनीति-विषयक भाषणों में वे लोग हिन्दी ही का प्रयोग करते थे। अन्य भाषाभाषी पण्डितों की भी यही रीति थी।

राजस्थानीभाषी, जयपुरिया पण्डित अम्बिकादत्त व्यास की हिन्दी-सेवा तो नितान्त प्रसिद्ध ही है। भारत धर्म महामण्डल के बँगलाभाषी स्वामी दयानन्दजी ने धर्मकल्पद्रुम जैसे विराट् ग्रन्थ की रचना कर हिन्दी के धार्मिक साहित्य की विशेष श्रीवृद्धि की है। हिन्दी भाषाभाषी सस्कृत-पण्डितों की हिन्दी-सेवा भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। संस्कृत-कॉलेज के ही अध्यापक पं० रामजसनजी ने 'कामन्दक नीतिसार' का हिन्दी में अनुवाद कर जनता को प्राचीन राजनीतिक तथ्यो का परिचय भलीभाँति कराया। काशीनरेश ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह के गुरु स्वामी काष्ठजिह्व ने राम-कृष्ण की लीलाओं का ललित पदों में वर्णन कर हिन्दी में एक विशिष्ट पदावली-साहित्य का सर्जन किया है। इतना ही नही, उन्होंने रामचरितमानस की परिचर्या नामक टीका लिखकर पहली बार मानस के गूढ़ भावों का बड़ा ही सुन्दर विश्लेषण किया है। महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी की हिन्दी-सेवा की प्रशसा किन शब्दों में की जाय जिन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्त्य गणित के सिद्धान्तों का हिन्दी में विवरण दिया।

काशी के पण्डितों का कार्य इतना महत्त्वपूर्ण है कि हिन्दी साहित्य उनका चिरऋणी रहेगा। एक प्रख्यात विद्वान् का यहाँ संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है·

काशी के अनेक पण्डितों की हिन्दी-सेवा ऐतिहासिक महत्त्व रखती है और आज भी वह आदर की दृष्टि से देखी जाती है। हिन्दी के प्रथम अभिनीत नाटक की रचना का श्रेय पण्डित **शीतलाप्रसाद त्रिपाठी** को दिया जाता है। ये काशी के गोबरधनसराय मुहल्ले के निवासी थे। पिता का नाम था—पं० देवीदयाल तिवारी। त्रिपाठीजी काशीनरेश महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह के मान्य सभापण्डित, भारतेन्दु के मित्र तथा संस्कृतकॉलेज के साहित्याध्यापक थे। जब सस्कृतकॉलेज के अध्यापक थे, तब वहाँ से प्रकाशित होनेवाली पाक्षिक 'पण्डित पत्रिका' के सम्पादक भी थे। ये प्राचीन शिलालिपि पढ़ने में बड़े ही दक्ष थे एवं कुशल अनुवादक थे। संस्कृत से हिन्दी में अनूदित नाटकों में ये भारतेन्दुजी के सहायक रहे हैं। भारतेन्दु की प्रशंसा में प्रख्यात पद्य इन्हींकी रचना है—

श्रूयन्ते ये हरिश्चन्द्रे जगदाह्लादिनो गुणाः ।
दृश्यन्ते ते हरिश्चन्द्रे चन्द्रवत् प्रियदर्शने ॥

इनकी अनेक रचनाये है—१ **सावित्री-चरित** (महाभारत के वनपर्व से दोहा चौपाई मे पद्यानुवाद), २ रामचरितावली नाटक (अनुपलब्ध), ३ नल-दमयन्ती (महाभारत वनपर्व की प्रख्यात प्रणय-कथा दोहा-चौपाई मे), ४ अनुवाद-दीपिका (सरल सस्कृतशिक्षक), ५ करुणात्रिशतिका (डुमरॉव नरेश राधाप्रसाद सिह की मृत्यु पर शोकोद्गार तीस सस्कृत श्लोको मे), ६ सिद्धान्तसग्रह (अग्रेजी पुस्तक 'सिनापसिस आफ सायन्स' का हिन्दी अनुवाद), जिसमे पाश्चात्त्य और पौर्वात्य दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। ७ सस्कृतव्याकरण (१६०४ ई० मे सस्कृतकॉलेज से प्रकाशित), ८ **जानकी-मंगल —हिन्दी** का प्रथम अभिनीत नाटक (सन् १८६८ ई० मे काशी से प्रथम प्रकाशन)। यह नाटक हिन्दी रगमच-परम्परा का अग्रदूत है। प्रयाग से स० १६३३ (= १८७६ ई०) मे मुद्रित सस्करण की भूमिका मे त्रिपाठीजी ने लिखा है —इस नाटक का अभिनय पहली बार बनारस के थियेटर रॉयल से महाराजा काशीनरेश के आज्ञानुसार चैत्र शुक्ल एकादशी स० १६२५ (१८६८ ई०) मे हुआ था। यह तुलसीदास के रामचरितमानम मे सीता स्वयवर के अनुसार उपन्यस्त है। इस अभिनय को देखने के लिए काशीनरेश रामनगर से स्वय आये थे और 'लक्ष्मण' की भूमिकावाले पात्र की अनुपस्थिति मे भारतेन्दु ने स्वय लक्ष्मण का अभिनय किया था। ऐसी महत्त्वशाली रचना के लिए प० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी का हिन्दी ससार आज भी ऋणी है। इनका निधन १८६५ ई० मे हुआ।

(ख) समाज-सेवा से विमुखता

सस्कृत पण्डितो पर सामान्यतः और काशीस्थ पण्डितो के ऊपर विशेषतः, यह दोषारोपण किया जाता रहा है कि वे लोग भारतीय समाज से एकदम पृथक् रहते है, वे अपने अध्ययन कक्ष मे शास्त्र के चिन्तन मे इतने व्यस्त रहते है कि वे यह न जानते है और न जानने का प्रयास ही करते है कि बाहरी भारतीय समाज किस सघर्ष से जूझता रहता है, उसके सुख दुःख की दशा उनकी शास्त्रीय बुद्धि के बाह्य तट को भी स्पर्श नही करती। वे अपने मे ही मस्त रहते है अपने शास्त्रो के चिन्तन मे व्यस्त रहते है। अतः उनके अध्ययन से, उनकी विशाल विद्वत्ता से भारतीय समाज का कोई लाभ नही होता। उनका पठन-पाठन नितान्त निरर्थक है।

यह दोषारोपण जितना अपमानजनक है, उतना ही मिथ्या अपलाप भी है। तथ्य तो यह है कि सस्कृतज्ञ विद्वान् किसी अन्य लोक का जीव न होकर भारतीय देश का ही नागरिक है। यह कैसे हो सकता है कि जनता की विषम समस्याएँ उसे स्पर्श नही करे, उसके मानसिक सन्तुलन को क्षुब्ध न बना डाले। कुछ ठोस उदाहरणो के द्वारा इस दोष का निराकरण यहॉ प्रस्तुत किया जाता है। आज से एक सौ वर्ष पूर्व गत शताब्दी के मध्यकाल मे विधवा विवाह को लेकर बडा हगामा मचा था। बगाल का ब्रह्म-समाज और महाराष्ट्र का प्रार्थना समाज तथा पजाब एव उत्तरप्रदेश का आर्य-समाज—इन तीनो समाजो मे एकवाक्यता थी कि विधवाओं का विवाह कर देने पर ही हिन्दूसमाज का कल्याण हो सकता है और इस विषय के प्रचार के लिए वे बद्धपरिकर होकर आगे बढ़ने लगे थे। इसी समय १८५० ई० के आसपास बगाल की ब्राह्मण-सभा ने काशी के उस युग के महान् धर्मशास्त्री पण्डित राजाराम शास्त्री से इस विषम प्रश्न का समुचित समाधान करने के लिए बड़ा आग्रह किया। शास्त्रीजी

ने वेदसम्मत धर्मशास्त्रीय ग्रन्थो का गाढ़ अनुशीलन कर अपनी सम्मति विधवा-विवाह के विपक्ष मे दी और दूसरे पक्ष के तर्कों और युक्तियों का समुचित खण्डन कर अपना मत स्थिर किया। इतना ही नही, उन्होने उस समय के काशी के अन्य मान्य पण्डितो के पास अपनी व्यवस्था भेजकर उनकी भी बहुमूल्य सम्मति प्राप्त की। उन लोगो ने भी शास्त्रीजी की व्यवस्था के औचित्य एव प्रामाण्य को समुचित ठहराया। इसी प्रकार बम्बई के किसी सज्जन ने उसका खण्डन करने का दृढ़ प्रयास किया, तब काशी के उनके शिष्य बालशास्त्रीजी ने इस खण्डन का पुङ्खानुपुङ्ख खण्डन किया तथा उस ग्रन्थ की अपनी नवीन टीका लिखकर तुरन्त प्रस्तुत की। मूलग्रन्थ का नाम था—**विधवोद्वाहशङ्का-समाधिः** तथा टीका का नाम था – दोषाभास निरासः। समाज को धार्मिक सकट से उबारने के लिए काशीस्थ पण्डितों का यह श्लाघनीय प्रयास नितान्त प्रशसनीय था।

उसी समय काशी के सम्पन्न अग्रवाल समाज मे मृत्यु के उपरान्त आशौच के विषय मे घोर विवाद उठ खडा हुआ। समाज के वरिष्ठ व्यक्ति तो प्राचीन परम्परा के ही भक्त थे जो वैश्यो का आशौच मासार्ध १५ दिनो का मानने की थी, परन्तु नवीन अंग्रेजी शिक्षित युवक एकता तथा समता के नाम पर ब्राह्मणवर्ग के समान दस दिनो का ही आशौच मानने के पक्ष मे था। बडा उद्वेग था काशीस्थ अग्रवाल समाज मे। तब भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की सलाह से निर्णय का गुरुतर भार काशी के दूसरे मनीषी महामहोपाध्याय स्वामी राममिश्र शास्त्री को सौपा गया। उन्होने एतद्विषयक समग्र विषयो का अनुशीलन कर अपना सिद्धान्त 'शुद्धि सर्वस्व' नामक नवीन ग्रन्थ को ही प्रणयन कर प्रचारित किया जो प्राचीन परम्परा का समर्थक था

बाबू हरिश्चन्द्र की प्रेरणा से विक्रमी सवत् १९२७ (= १८७० ई०) मे महारानी विक्टोरिया के सुपुत्र ड्यूक आफ एडिनबरा के काशी आगमन के अवसर पर **सुमनोऽञ्जलिः** नामक एक काव्यपुस्तिका प्रकाशित की गई थी जिसमे उनके आगमन पर हर्ष तथा ड्यूक की प्रशस्ति सस्कृत पद्यो मे बडी भव्यता के साथ सम्पन्न की गई थी। जिन कवि-पण्डितो के पद्य उसमे सम्मिलित किये गये थे उनके नाम ये है

(१) श्री बापूदेव शास्त्री, (२) श्री राजाराम शास्त्री, (३) श्री बेचनराम शास्त्री, (४) श्री बस्तीराम शास्त्री, (५) श्री बाल शास्त्री, (६) श्री गोविन्ददेव शास्त्री, (७) श्री शीतलाप्रसाद, (८) श्री ताराचरण शास्त्री, (९) श्री गगाधर शास्त्री, (१०) श्री रमापति दूबे, (११) नृसिह शास्त्री, (१२) श्री ढुढिराज धर्माधिकारी, (१३) श्री विश्वनाथ शास्त्री, (१४) श्री विनायक शास्त्री, (१५) रामकृष्ण शास्त्री पटवर्धन, (१६) नारायण कवि, (१७) हनुमान कवि।

(अन्तिम दोनो कवियो की हिन्दीरचना सम्मिलित की गई है)।

इस ग्रन्थ की भूमिका अंग्रेजी मे लिखी है (१० मार्च, १८७० ई०) भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने, जिसमे २० जनवरी १८७० ई० को उन्हीके आवास पर एक सभा होने का विवरण है। इसमे पूर्वोक्त पण्डितो के अतिरिक्त नगर के उपस्थित गण्यमान्य नागरिको के भी नाम दिये गये है। इस अवसर पर उपरिनिर्दिष्ट पण्डितो ने अपनी कविताएँ सुनाई थी और प्रकाशित काव्य-पुस्तिका ड्यूक को भेट की गई थी। सभा के आरम्भ मे भारतेन्दुजी ने ड्यूक की जीवनी हिन्दी मे बताई थी।

१८७७ ई० मे हरिश्चन्द्र ने **मानसोपायन** नामक काव्य-सग्रह पुस्तक प्रकाशित की

जिसको उन्होंने विक्टोरिया के पुत्र राजकुमार को समर्पित किया उनके भारत-आगमन के अवसर पर। इनमें श्रीमती महारानी को 'भारत की राजराजेश्वरी' के पद-ग्रहण करने की सूचना दी गई है। इसी अवसर पर यह संकलन प्रकाशित किया गया था। इसमें हिन्दी, पंजाबी, महाराष्ट्री, उर्दू (१६ पृ०), बँगला (५२ पृ०), अंग्रेजी (४ पृ०), तेलुगु आदि भाषाओं (८ पृष्ठ) की कविताएँ संगृहीत कर प्रकाशित की गई हैं। इस संग्रह में संस्कृत के पद्य ३१ पृष्ठों में प्रकाशित हैं। ६६ कवियों ने अंग्रेजी राज, विक्टोरिया आदि की स्तुति में पद्यों की रचना की है। इनके नाम हैं :

(१) पं० बापूदेव शास्त्री, (२) पं० सखाराम भट्ट, (३) वेंकटेश शास्त्री, (४) पं० विष्णुदत्त, (५) राजाराम गोरे, (६) कैलासचन्द्र शिरोमणि, (७) बालकृष्ण भट्ट, (८) गदाधरशर्मा मालवीय, (९) आबा शास्त्री हलदीकर, (१०) विहारी शर्मा चतुर्वेदी, (११) गोपाल शर्मा, (१२) लक्ष्मीनाथ द्रविड़, (१३) रामचन्द्र शास्त्री, (१४) रामशरण त्रिपाठी, (१५) पं० रामचन्द्र, (१६) अनन्तराम भट्ट, (१७) चित्रधर मैथिल, (१८) गोविन्द शर्मा, (१९) पं० माधवराम, (२०) भवानीप्रसाद, (२१) रामप्रसाद मिश्र, (२२) रामगोविन्द मिश्र, (२३) श्रीधर मैथिल, (२४) पं० शालिग्राम, (२५) हरिनाथ द्विवेदी, (२६) गोस्वामी राग्गोपाल शर्मा, (२७) ईश्वरदत्त, (२८) दामोदर शास्त्री, (२९) रामकृष्ण पटवर्धन, (३०) कान्तानाथ भट्ट, (३१) शिवनारायण शर्मा ओझा, (३२) विश्वनाथ शर्मा, (३३) गोविन्द भारद्वाज, (३४) रामब्रह्म शास्त्री, (३५) विश्वनाथ शास्त्री, (३६) परमेश्वर मैथिल, (३७) नारायण पण्डित, (३८) पं० विजयनाथ, (३९) नन्दकुमार शर्मा, (४०) सोहन शर्मा, (४१) भद्दू शास्त्री अष्टपुत्रे, (४२) प० विश्वेश्वर नाथ, (४३) प० उदयानन्द शर्मा, (४४) राजेश्वर द्रविड़, (४५) केशव शास्त्री पर्वतीय, (४६) काशीनाथ भट्ट, (४७) बापू शर्मा, (४८) पं० शीतलाप्रसाद, (४९) पं० गणेशदत्त, (५०) पं० बस्तीराम द्विवेदी, (५१) दामोदर भारद्वाज, (५२) शिवकुमार मिश्र, (५३) गंगाधर शास्त्री तैलंग, (५४) रामकृष्ण पटवर्धन, (५५) पं० राजाराम, (५६) पं० राम मिश्र, (५७) पं० सरयूप्रसाद, (५८) शीतलाप्रसाद त्रिपाठी, (५९) श्री मकरध्वज सिंह, (६०) कन्हैयालाल पाण्डेय, (६१) बेचनराम त्रिपाठी, (६२) पं० राधाकृष्ण, (६३) कालीप्रसाद शिरोमणि, (६४) लक्ष्मीनाथ कवि, (६५) पण्डित माधोदास और (६६) पं० राधाकृष्ण।

इन पद्य-लेखकों में कुछ तो हमारे परिचित काशीस्थ विद्वानों के नाम ऊपर परिगणित किये गये हैं, परन्तु अन्य लेखकों के विषय में इदमित्थं रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे काशी के ही निवासी थे। प्रतीत होता है कि संकलन को व्यापक तथा विशद बनाने की दृष्टि से काशी के बाहर के भी कविजनों के पद्य संकलित किये गये हैं। आज से १०३ वर्ष पूर्व प्रकाशित इस संग्रह-ग्रन्थ के अवलोकन से पता चलता है कि संस्कृत के ज्ञाता कविजनों की संख्या पर्याप्तरूपेण विस्तृत थी। काशी के पण्डितों द्वारा राजपुरुषों का यह साहित्यिक अभिनन्दन किसी स्वार्थ को दृष्टि में रखकर नहीं किया गया था, प्रत्युत यह उस प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुरूप ही था जिसमें राजा को देवता के रूप में माना जाता था। काशी के प्रबुद्ध समाज के द्वारा किये गये इस राजकीय अभिनन्दन को पण्डितों ने भी स्वीकार किया और इस महनीय कार्य में अपना योगदान किया।

१९११ ई० की एक मार्मिक घटना की ओर ध्यान दीजिए। भारतवर्ष में मनुष्य-गणना होने जा रही थी। सरकार द्वारा यह घोषणा प्रचारित की गई कि निम्न अछूत जातियों (हरिजनों) के सामने धर्म के निर्दिष्ट स्थान (कालम) में हिन्दू न लिखकर 'अहिन्दू' लिखा

जायेगा। फिर क्या था ? महान् कोलाहल मचा। वादविवाद का बाजार गर्म हो गया। काशी के टाउनहाल के मैदान मे काशीवासियों की ओर से एक विराट् सभा हुई। सभा के मन्त्री पण्डित रामनारायण मिश्र ने लेखक को बताया कि वे स्वय शिवकुमार शास्त्री के पास नागरिको का सन्देश लेकर पहुँचे और इस विषम स्थिति की तथा सरकारी घोषणा की सूचना उन्हे दी। सभा का सभापति बनने के लिए उनसे आग्रह किया। शास्त्रीजी ने बिना किसी हिचकिचाहट के तुरन्त सभापति बनना स्वीकार कर लिया। सभामण्डप मे अपने शिष्यो तथा सहयोगियो के साथ शास्त्रीजी पधारे और सभा का विधिवत् सचालन किया। पण्डित शिवकुमार शास्त्रीजी ने सभापति के आसन से घोषणा की कि--"अछूत होने से कोई व्यक्ति हिन्दू-धर्म के क्षेत्र मे बहिष्कृत नही किया जा सकता। वह उतनी ही मात्रा मे हिन्दू है जितनी मात्रा मे कोई सवर्ण व्यक्ति। अछूत हिन्दू समाज का अविभाज्य अग है। उसे हिन्दू समाज से बहिष्कृत कर देना नितान्त अनुचित, अव्यावहारिक एव अशास्त्रीय है।" शिवकुमार पण्डितजी की यह व्यवस्था जब सरकारी शासको के सामने रखी गई, तब नतमस्तक होकर उन्होने उसे स्वीकार कर लिया। इस प्रकार अछूत हिन्दू समाज के ही अग बने रहे। समस्या का समाधान पण्डितजी ने सर्वदा के लिए कर दिया।

शारदा एक्ट का पण्डितों द्वारा विरोध

सन् १९२८ २९ ई० मे शारदा एक्ट के पास हो जाने पर काशी के पण्डितो ने इसे अशास्त्रीय घोषित कर इसका प्रचण्ड विरोध किया। म० म० प० लक्ष्मण शास्त्री द्रविड इस आन्दोलन के नेता थे। उन्होने 'पण्डितपत्र' का प्रकाशन कर इस एक्ट के विरोध मे बडा प्रचार किया। इतना ही नही, काशी के अनेक विद्वानो ने अपनी महामहोपाध्याय की महनीय पदवी का भी परित्याग कर दिया। यद्यपि इस आन्दोलन से यह एक्ट निरस्त तो नही हो सका, परन्तु इससे पण्डितो की शास्त्रो के प्रति निष्ठा तथा हिन्दू समाज के कल्याण के प्रति उनकी प्रबुद्ध दृष्टि का परिचय भलीभाँति मिलता है।

ऐसे स्पष्ट दृष्टान्तो के होते हुए पण्डित मण्डली को कौन व्यक्ति भारतीय समाज से उदासीन बताने का साहस कर सकता है ?

अंग्रेजी सरकार द्वारा पण्डितों का सत्कार

गत शताब्दी मे ब्रिटिश सरकार ने भारतवर्ष मे अपने राज्य को दृढ बनाने के लिए भारतीय सस्कृति तथा धर्म के अभ्युत्थान के निमित्त अनेक प्रयत्न किये। १८३७ ई० मे महारानी विक्टोरिया इग्लैण्ड की गद्दी पर आसीन हुई। उस समय भारतवर्ष कम्पनी के अधीन था। इस अधिकार की समाप्ति तब हुई जब १८५७ के बलवे मे भारतवर्ष के निवासियो ने अपने को स्वतन्त्र करने के प्रयास मे अग्रेजी सरकार से बगावत की। इसके अनन्तर भारत का शासन इग्लैण्ड की महारानी के हाथ मे प्रत्यक्ष रूप मे आ गया। विक्टोरिया को भारतवर्ष की सम्राज्ञी महारानी घोषित किया गया। उसने भी भारतीयो के धर्म मे, आचार-विचार मे, किसी प्रकार का व्याघात डालने की नीति का सर्वदा के लिए परित्याग कर दिया और भारतीय विद्या तथा विद्वानो का समादर करने की नीति अपनाई।

१८८७ ई० मे महारानी विक्टोरिया की 'सुवर्ण जुबिली' का उत्सव मनाया गया क्योंकि यह उसके सिहासन पर बैठने का ५०वाँ वर्ष था। इसी जुबिली के उपलक्ष्य मे ब्रिटिश सरकार ने सुयोग्य सस्कृत विद्वानो को समादृत करने के लिए एक नवीन उपाधि की स्थापना

की। इसका नाम है—महामहोपाध्याय की उपाधि। इस प्रसग में बड़े लाट की ओर से जो विज्ञप्ति प्रकाशित हुई थी उसका आवश्यक अंश इस प्रकार है—

"His Excellency the Viceroy and Governor General having taken into his consideration that adequate means do not exist whereby he can recognise eminent distinction in learning among the loyal Hindu and Mohamedan subjects of Her Most Gracious Majesty the Queen—Empress of India and being desirous to commemorate the event of the Jubilee of Her Majesty's Accession to the throne has resolved to institute a new title for eminent services rendered by Hindus or Mohamedans in the promotion of Oriental Learning."[1]

इसका आशय यह है कि वाइसराय हिन्दुओं तथा मुसलमान विद्वानों के द्वारा अर्जित विद्वत्ता का सम्मान करना चाहते है परन्तु इसके लिए अब तक उचित प्रबन्ध नही था। महारानी के इस जुबिली-महोत्सव पर ऐसे सम्मान के लिए प्रबन्ध करने का निर्णय किया गया है। हिन्दुओं में सस्कृतविद्या के वरिष्ठ विद्वानों को महामहोपाध्याय की उपाधि दी जायगी। इस वर्ष से यह आरम्भ हो रहा है और प्रतिवर्ष यह उपाधि देने की व्यवस्था की जाएगी।

इस घोषणा के अनुसार १८८७ के फरवरी मास में इस उपाधि को देने की व्यवस्था की गई। इस उपाधि के चिह्नरूप उष्णीष तथा उत्तरीय दो वस्तुएँ दी जाती थीं। उष्णीष तो पगड़ी है तथा उत्तरीय है शाल। दरबार में इन लोगों के बैठने के स्थान राजाओं के बाद ही निश्चित किये गये थे। आरम्भ में तो किसी प्रकार की दक्षिणा नही थी, परन्तु १६१७ ई० में महामहोपाध्याय उपाधिधारी पण्डितों के लिए वार्षिक पेंशन १००) रु० नियत किया गया जो यावज्जीवन पण्डितों को मिलता था। इस उपाधि का प्रमाणपत्र भी मिलता था जिसे 'सनद' कहते थे। उस सनद में सर्वप्रथम उपाधि प्राप्त करनेवाले का नाम रहता था और उसके बाद यह वाक्य रहता था—

"I here by confer upon you the title of Maha Mahopadhyaya as a personal distinction."

नई दिल्ली	(हस्ताक्षरित)
तिथि—वर्ष	वाइसराय तथा गवर्नर जनरल
	भारतवर्ष

जब तक अंग्रेजी शासन रहा संस्कृत पण्डितों को महामहोपाध्याय की उपाधि तथा साथ में वार्षिक वृत्ति मिलती रही। अंग्रेजी राज्य का अवसान होने पर यह समाप्त हो गया। स्वतन्त्र भारत में पण्डितों के सत्कार की यह प्रक्रिया आज भी प्रचलित है। इसको Award of President's Certificate कहते हैं जो १५ अगस्त को प्रतिवर्ष दिया जाता है। इसके लिए वार्षिक वृत्ति पाँच हजार रुपयो की है। इस प्रकार महामहोपाध्याय की परम्परा आज भी किसी न किसी रूप में चालू है।



1. Foreign Dept. Notification No. 811, 16 फरवरी 1887, Vide कलकत्ता गजट, फरवरी 23, 1887, पार्ट I A, पृ० 23.

उत्तरपीठिका

(क) १८वीं शती का उत्तरार्ध—रचना एवं प्रवृत्ति

(ख) काशिकेय पण्डितों का साहित्यिक अवदान

अर्वाचीन युग
(१७५० ई०–१९५० ई०)

अर्वाचीनयुगीनानां विदुषां यदपेक्षितम् ।
चरितं रचनं चैव तत् संक्षिप्तं विविच्यते ॥

नागेशोत्तर-काल

१८वीं शती का उत्तरार्ध : साहित्य एवं प्रवृत्ति
(१७५० ई०—१८०० ई०)

महावैयाकरण नागेशभट्ट के निधन तथा काशिराजकीय पाठशाला (स्थापनाकाल १७६१ई०) की स्थापना के बीच मे लगभग ५० वर्षों का अन्तराल है। इस कालखण्ड की साहित्यरचना के विषय में विशेष रूप से हमारा परिचय नगण्य ही है। इतना तो निश्चित है कि यह काल नागेश के शिष्य-प्रशिष्यों की व्याकरण एव धर्मशास्त्र सम्बन्धी रचनाओं के द्वारा उद्भासित हुआ था। नागेशभट्ट के पट्टशिष्य **वैद्यनाथ पायगुण्डे** के कतिपय ग्रन्थों का निर्माण-काल इस कालखण्ड के आदिम वर्षों के भीतर आता है—ऐसा अनुमान लगाना अनुचित नही है। वैद्यनाथ ने अपने गुरुवर्य नागेश के महनीय ग्रन्थो के ऊपर अपनी जिन टीकाओं का निर्माण किया, उनमें से कतिपय का रचनाकाल इस कालखण्ड के आरम्भिक दशक में माना जा सकता है।

नागेशभट्ट के पट्टशिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे के सम्बन्धी तथा शिष्यों के द्वारा पाणिनीय व्याकरण महाराष्ट्र मण्डल में भी प्रविष्ट हो गया और वहाँ के प्रमुख वैयाकरण एक प्रकार से नागेश की शिष्यपरम्परा के अन्तर्गत ही आते है। यह पायगुण्डे के वैदुष्य का प्रभाव है। पायगुण्डे के जामाता **देव** तथा शिष्य **भैरव मिश्र** दोनों ही व्याकरण के महनीय आचार्य थे। प्रसिद्ध है कि पूना के प्रख्यात वैयाकरण **नीलकण्ठ शास्त्री** जिस **अहोबल शास्त्री** के शिष्य थे उन्होंने पायगुण्डे के जामाता **देव** के पास ही विद्याध्ययन किया था। ये नीलकण्ठ शास्त्री अपने समय के बड़े ही प्रौढ़ वैयाकरण तथा प्रतिभाशाली विद्वान् थे। इन्हीके विद्यार्थी थे **राघवेन्द्राचार्य गजेन्द्रगड़कर** जो नागेश की जोड़ी के विद्वान् माने जाते थे। व्याकरण शास्त्र मे **विषमी, त्रिपथगा, प्रभा** आदि इनके ग्रन्थ प्रसिद्ध है। केलकर का कहना है कि काशी की विद्वन्मण्डली इनकी त्रिपथगा को विशेष महत्त्व देती है तथा परिभाषेन्दुशेखर के अनन्तर त्रिपथगा पर आग्रह रखती है।[1]

कृष्णभट्ट आर्डे

वैद्यनाथ पायगुण्डे के समकालीन कृष्णभट्ट आर्डे न्यायशास्त्र के विद्वान् होने के साथ धर्मशास्त्र तथा काव्य के भी मर्मज्ञ पण्डित थे। अठारहवी शती के अन्तिम दशक में काशी में दो विशिष्ट घटनाये घटी थीं जिनमे कृष्णभट्ट का भी योगदान था। भारतवर्ष के प्रथम गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स के ऊपर लखनऊ की बेगमो तथा काशी के राजा चेतसिंह के साथ अत्याचार तथा दुर्व्यवहार के लिए लण्डन के सर्वोच्च न्यायालय में घनघोर आरोपों के कारण मुकदमा चल रहा था। बचाव पक्ष की ओर से हेस्टिंग्स का नीतियुक्त शासन तथा प्रचुर ईमानदारी सिद्ध करने के लिए काशी के पण्डित की ओर से लाटसाहब के कतिपय अभिनन्दनों

---

१ नरसिंह चिन्तामणि केलकर—संस्कृत विद्येचे पुनरुज्जीवन—पृ० ४६-५० (द्वितीय सं० १९२८, पूना)।

का अंग्रेजी अनुवाद पेश किया गया था १७६६ ईस्वी मे। इन अभिनन्दन-कर्ताओं मे कृष्णभट्ट आर्डे का नामोल्लेख है। दूसरी घटना थी १८०१ ई० मे बाजीराव पेशवा द्वितीय के समय मे कायस्थ प्रभु जाति के निर्णय के निमित्त काशी के ८१ महाराष्ट्र पण्डितो के व्यवस्था देने की। इस व्यवस्था-पत्र पर भी कृष्णभट्ट का नाम उल्लिखित है। ये इन ग्रन्थो के लेखक थे –

(१) **निर्णयसिन्धु-दीपिका**—यह कमलाकर भट्ट के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'निर्णयसिन्धु' (रचनाकाल—१६१२ ई०) की टीका है। इसका नाम 'रत्नमाला' भी है। इसके काशी हस्तलेख का समय १८८५ विक्रमी सवत् (१८२८ ईस्वी) है।

(२) गदाधर के ग्रन्थ पर टीका **गादाधरी विवृति** या **गादाधरी**।

(३) जागदीशी पर **मञ्जूषा** नाम्नी व्याख्या। इसका पूरा नाम **चतुर्दशलक्षणी मञ्जूषा** है।

(४) दशकुमारचरित पूर्वपीठिकासार।

इनके पितामह का नाम था महादेव (ई० १६७५-१७२५), पिता रङ्गनाथ (ई० १७००-१७७५), अग्रज नारायण भट्ट (१७५० ई०-१८२५ ई०)। कृष्णभट्ट का भी यही समय मान्य है (१७५० ई० १८२५ ई०)। माता का नाम कमला[1]। बालभट्टजी पायगुण्डे के हस्ताक्षर १८०१ ई० वाले व्यवस्था-पत्र पर है। अतः कोलब्रुक साहब द्वारा धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना मे नियुक्त पायगुण्डे से ये अभिन्न व्यक्ति थे, इसमे सन्देह नहीं।

इस युग (१७७५ ई०-१८२५ ई०) के पण्डितो के नाम जो व्यवस्थापत्र तथा वारेन हेस्टिंग्स के अभिनन्दन दोनो मे उल्लिखित है (१) रामचन्द्र भट्ट तारे (२) हीरा पण्डित शेष, (३) हरिराम पडित शेष, (४) मुकुन्द देव, (५) वच भट्ट मौनि (६) जयराम जोशी, (७) चिन्तामणि भट्ट कार्लेकर, (८) बालदीक्षित अयाचित, (९) कृष्णभट्टजी अर्डे, (१०) बालमुकुन्द अर्डे, (११) कृष्ण दीक्षित लेले, (१२) चिन्तामणि दीक्षित कानडे।

बालम्भट्ट

वैद्यनाथ के पुत्र **बालम्भट्ट पायगुण्डे** तथा उनके प्रधान शिष्य **मनुदेव** की रचनाओं का काल इस निर्धारित समयखण्ड के बीच मे ही आता है। बालम्भट्ट वैयाकरण होने से बढ़कर धर्मशास्त्रवेत्ता थे। 'मिताक्षरा' के ऊपर 'लक्ष्मी' नामक व्याख्या मिलती है जिसके आचार खण्ड तथा व्यवहार खण्ड का प्रकाशन हो चुका है।

बालम्भट्टी

मिताक्षरा की भाष्यभूता **बालम्भट्टी** के विषय मे कहा जाता है कि यह पुस्तक लक्ष्मीदेवी नामक किसी विदुषी नारी के द्वारा रचित है। अतः इसे **लक्ष्मी व्याख्यान** भी कहते है। यह एक बृहद् ग्रन्थ है, परन्तु बहुत ही अस्त-व्यस्त पद्धति से इसकी रचना की गयी है। बालम्भट्टी मे अनेक ग्रन्थो तथा ग्रन्थकारो के नामो का निर्देश किया गया है जिनमे कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थ निम्नाकित है निर्णयसिन्धु, वीरमित्रोदय, नीलकण्ठ द्वारा लिखित मयूख, संस्कार कौस्तुभ और कायस्थ धर्म प्रदीप। ग्रन्थकारो मे नीलकण्ठ के भतीजे **सिद्धेश्वर भट्ट**, मीमासासूत्र पर भाट्टदीपिका के लेखक **खण्डदेव** और **गागाभट्ट** का नाम आया है।

---

१ वैकुण्ठमध्यावसतोः कमला रङ्गनाथयोः। देहजः कृतवानेना कृष्णो नारायणानुजः॥ गादाधरीविवृति द्रष्टव्य, गोडेकृत ग्रन्थ स्टडीज इन इडियन लिटररी हिस्ट्री, भाग ३, पृ० २८।

बालम्भट्टी के लेखक के विषय मे कुछ लिखना पहेली बूझना है। साहित्य के क्षेत्र मे शीला, विज्जका, अवन्तिसुन्दरी जैसी कवयित्रियो के नाम प्रसिद्ध है। लेकिन धर्मशास्त्र के क्षेत्र मे नारी-लेखको का प्रायः अभावसा पाया जाता है। परन्तु यह सन्तोष का विषय है कि 'बालम्भट्टी' जैसे धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ की रचना एक नारी ने ही की है। इसकी लेखिका का नाम **लक्ष्मी** था जो पायगुण्डे की पत्नी और मुद्गल गोत्र मे उत्पन्न महादेव की पुत्री थी। बालम्भट्टी के प्रारम्भ से पता चलता है कि इस लक्ष्मी का दूसरा नाम उमा भी था। इस ग्रन्थ के आचारभाग के अन्तिम अश से यह भी ज्ञात होता है कि बालम्भट्टी की लेखिका लक्ष्मी महादेव और उमा की पुत्री, वैद्यनाथ पायगुण्डे की पत्नी और बालकृष्ण की माता थी। लक्ष्मी ने स्त्रियो के अधिकारो की रक्षा करने का भरपूर प्रयत्न किया है। इस ग्रन्थ मे स्थान-स्थान पर नागोजिभट्ट के शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे के ग्रन्थ तथा लेखक के गुरु एव पिता के ग्रन्थो की चर्चा उपलब्ध होती है। अतः इससे अनुमान किया जा सकता है कि 'बालम्भट्टी' नामक ग्रन्थ या तो वैद्यनाथ पायगुण्डे ने स्वय लिखा और उन्होने प्रेमवश लेखक के रूप मे अपनी पत्नी का नाम दे दिया अथवा यह पुस्तक उनके पुत्र बालकृष्ण—जिनका अपर नाम बालम्भट्ट भी था—के द्वारा रचा गया और उन्होने आदर तथा श्रद्धा प्रदर्शित करने के लिए अपनी माता का नाम दे दिया। वैद्यनाथ पायगुण्डे तथा बालकृष्ण दोनो ही धर्मशास्त्र के प्रसिद्ध लेखक थे, इसमे सन्देह का कोई स्थान नही है। बहुत सम्भव है कि बालकृष्ण ने ही बालम्भट्टी का प्रणयन किया हो।[१]

सम्भवतः पत्नी को आदर तथा सम्मान देने की दृष्टि से टीका का नामकरण उसीके नाम पर किया गया है। **बालम्भट्टी** के अन्वर्थक नाम्ना प्रख्यात यही ग्रन्थ वाराणसी सम्प्रदाय के धर्मशास्त्रियो का उपजीव्य मुख्य ग्रन्थ है। बालम्भट्ट ने कलकत्ते के अग्रेज सस्कृतज्ञ अधिकारी डॉ० कोलब्रुक (हेनरी टामस कोलब्रुक १७६५ ई० १८३७ ई०) के आदेश से अपने मुख्य शिष्य मनुदेव के सहयोग से धर्मशास्त्र सग्रह नामक धर्मशास्त्र के व्यवहार विषयक सिद्धान्तो का प्रतिपादक ग्रन्थ तैयार किया (१८०० ई०) जो उस समय अग्रेजी कचहरियो मे हिन्दुओं के कानून जानने का प्रधान साधन माना जाता था। बालम्भट्ट ने १८३० ई० मे ७० वर्ष की आयु मे देह त्यागी। फलतः इनका जन्म १७६० ई० मे हुआ था और इनका आविर्भाव काल १७६० ई० से १८३० ई० तक माना जाता है।

नीलकण्ठ सूरि थत्ते

काशी की पाण्डित्य-परम्परा नागेशभट्ट के प्रशिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे के माध्यम से महाराष्ट्र मे पहुँचकर दक्षिण भारत मे भी व्याप्त हो गई। इसके साक्षात् प्रचारक तथा प्रसारक थे पुणे के **नीलकण्ठ सूरि थत्ते**। आरम्भिक शिक्षा तो इन्होने पुणे मे ही प्राप्त की थी। अनन्तर रामशास्त्री प्रभूणे (मृत्यु-समय १६८६ ईस्वी) ने इनकी योग्यता तथा विद्याप्रेम से प्रभावित होकर सस्कृत-शास्त्रो की प्रौढ़ शिक्षा प्राप्त करने के निमित्त इन्हे काशी भेजा। रामशास्त्रीजी छत्रपति शिवाजी के पुत्र शम्भाजी के पुत्र के शासन-काल मे पेशवा-युग के विख्यात न्यायाधीश थे। नाना फडनवीस के आग्रह पर रामशास्त्रीजी बारह वर्षों तक १७७७ ई० से लेकर १७८९ ई० के बीच मे न्यायाधीश के महनीय पद पर प्रतिष्ठित रहे। सम्भवतः यह कल्पना की जा सकती है कि ईस्वी सन् १७८५ से लेकर १७८९ के बीच मे नीलकण्ठ सूरि पेशवा

१ इस विषय के विस्तृत तथा प्रामाणिक विवरण के लिए देखिए—डॉ० काणे . धर्मशास्त्र का इतिहास (हिन्दी सस्करण), भाग १, पृ० ६५ ६६, १९८० ई०।

के खर्च से काशी मे अध्ययन करने के लिए भेजे गये। नीलकण्ठ सूरि का वशवृक्ष इस प्रकार है। केशव—गोपाल-विश्वनाथ—नारायण—विनायक—नीलकण्ठ शास्त्री। नीलकण्ठ ने काशी मे निवास कर प्रख्यात विद्वान् वैद्यनाथ पायगुण्डे से विशेषतः व्याकरण, न्याय तथा मीमासा का प्रौढ ज्ञान प्राप्त किया। मान्यता है कि वैद्यनाथ पायगुण्डे नागेशभट्ट के साक्षात् शिष्य **रामचन्द्र भट्ट तारे** के शिष्य थे। काशी मे शास्त्रो के गम्भीर रहस्यो का ज्ञान प्राप्त कर नीलकण्ठ सूरि ने पुणे मे अपना विद्यालय खोला तथा योग्य शिष्यो को तैयार किया जिनमे कुछ के नाम ये है—(१) मोरशास्त्री साठे (नैयायिक), (२) कुप्पाशास्त्री द्रविड (नैयायिक), (३) त्र्यम्बकशास्त्री शालिग्राम (मीमासक), (४) विनायक शास्त्री दिवेकर, (५) भास्कर शास्त्री अभ्यङ्कर (वैयाकरण), (६) राघवेन्द्राचार्य गजेन्द्रगडकर (वैयाकरण) तथा (७) गोविन्दाचार्य अष्टपुत्रे। बालाजी पन्त नातू ने सतारा की अदालत कचहरी मे नीलकण्ठ शास्त्री को न्यायाधीश के सहायक के स्थान पर नियुक्त किया एक सौ रुपये मासिक पर।[१] इनके पिता का नाम था विनायक शास्त्री। फलतः इनका पूरा नाम था **नीलकण्ठ विनायक थत्ते**। इन्होने **कायस्थपरभूधर्मादर्श** नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमे महाराष्ट्र के कायस्थ की जाति तथा धर्माचरण की व्यवस्था दी गई है। इनके शिष्यो ने भी बडी कीर्ति अर्जित की तथा सस्कृत शास्त्रो का अध्ययन-अध्यापन के द्वारा खूब प्रसार प्रचार किया। पूर्वोक्त शिष्यो मे से राघवेन्द्राचार्य गजेन्द्रगडकर ने शब्देन्दुशेखर की व्याख्या लिखी जो अपनी प्रौढता तथा गम्भीरता के कारण काशी के वैयाकरणो द्वारा भी विशेष रूप मे समादृत तथा बहुशः चर्चित हुई। इस प्रकार दक्षिणभारत मे भी काशी की पाण्डित्य परम्परा का विपुल प्रसार हुआ। नीलकण्ठ शास्त्री का निधन १८३४ ईस्वी मे हुआ।

शेखर की टीकायें

नागेशभट्ट अपने व्याकरण ग्रन्थो के ऊपर प्रणीत टीका-सम्पत्ति की दृष्टि से निःसन्देह बडे भाग्यशाली व्यक्ति थे। ग्रन्थो के प्रणयन के पचास वर्ष के भीतर ही विद्वानो की दृष्टि उन ग्रन्थो का मर्म तथा रहस्य समझाने की ओर स्वतः आकृष्ट हुई और उन्होने बडे परिश्रम तथा अध्यवसाय से उन्हे पाठको के लिए सुबोध सरल बनाने का सफल प्रयत्न किया। नागेशभट्ट के दोनो शेखरग्रन्थ व्याकरण के मर्मज्ञ विद्वानो के लिए आदरणीय तथा सम्माननीय बने। इस विषय मे परिभाषेन्दुशेखर की अपेक्षा लघुशब्देन्दुशेखर समधिक भाग्यशाली एव प्रेरक सिद्ध होता है। परिभाषेन्दुशेखर की आजकल तीन व्याख्याये विशेष आकर्षक तथा परिष्कारमञ्जुल है और ये तीनो ही इस विद्यानगरी के विद्वानो की रचनाये है—(१) वैयाकरणपञ्चानन पण्डित यागेश्वर ओझा की **हैमवती**; (२) महामहोपाध्याय पण्डित तात्याशास्त्री की **भूति**, तथा (३) महामहोपाध्याय पण्डित जयदेव मिश्र की **विजया**। इन तीनो मे अन्तिम दोनो का प्रकाशन उनके रचयिताओं के द्वारा ही सम्पन्न हुआ, परन्तु प्रथम टीका का सम्पादन तथा प्रकाशन काशी के सम्पूर्णानन्द सस्कृतविश्वविद्यालय के अनुसन्धान सस्थान के द्वारा किया गया जिसके लिए इस ग्रन्थ का लेखक प्रयत्नशील तथा प्रेरणाप्रद रहा। यह कार्य ओझाजी के निधन के साठ सालो के अनन्तर सिद्ध हुआ। लघुशब्देन्दुशेखर की टीका सम्पत्ति महत्तर है तथा मूल ग्रन्थकार के समय से लेकर अद्यतन काल तक सम्बद्ध है। इसकी सर्वाधिक प्राचीन टीका (१) **चिदस्थिमाला** नागेश के साक्षात् शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे की रचना है। वैद्यनाथजी ग्रन्थकार के शिष्य होने के कारण नागेश के मन्तव्यो के यथार्थ व्याख्याता माने जाने चाहिए। गुरु के

---

१ द्रष्टव्य पी० के० गोडे स्टडीज इन इण्डियन लिटररी हिस्ट्री, भाग ३, पृ० ७६-८४, पूना, १९५६।

अध्यापन से फलीभूत होकर शिष्य की लेखनी से निष्पन्न यह व्याख्या अपनी प्रामाणिकता तथा आवर्जकता से सम्पन्न है।

(२) **ज्योत्स्ना**—उदयशङ्कर पाठक, सदाशिव भट्ट आदि अवान्तरकालीन टीकाकारों ने इसका आदर किया है। वि० सं० १८५०=१७९३ ई० में काशी में ही इसका निर्माण किया गया।

(३) **तिलक** (भट्टी, सदाशिव भट्टीय) इस टीका के रचयिता प० सदाशिव भट्ट काशी के ही निवासी थे। वि० सं० १८७३ (= १८१६ ई०) में ये काशी में विद्यमान थे। यह टीका मूल के प्रक्रियांश के व्याख्यान में मूर्धन्य मानी जाती है तथा यही इसके गौरव का रहस्य है। इसे ग्रन्थकार ने 'विवृतिसंग्रह' कहा है।

(४) **विषमा** (विषमपदविवृति)—राघवेन्द्राचार्य। इन्होंने मगलश्लोक में वृषाद्रि (वेंकटाचल) पर स्थित श्रीनिवास भगवान् का स्मरण किया है। ये परम-वैष्णवमतानुयायी थे। ये नीलकण्ठ शास्त्री के शिष्य थे तथा नागेश के सम्प्रदाय के ही अनुयायी थे। स्वनिर्मित **चन्द्रिका** टीका को संक्षिप्त कर केवल विषम पदों की व्याख्या के लिए इसे बनाया। प्रक्रियांश का विशेष विवरण है। पण्डित राजाराम शास्त्री तथा पण्डित बालशास्त्री टीकाग्रन्थ पढ़ाते समय इस ग्रन्थ का विशेषतः प्रमाण देते थे। यह इसके महत्त्व का पर्याप्त सूचक है। ये आत्रेय-वंश के थे। ग्रन्थ के आरम्भ में अपना उद्देश्य इन शब्दों में प्रकट किया है—

नवयुक्तिगुम्फिततया प्रौढां तां चन्द्रिकां तु संक्षिप्य ।
विषमपदवाक्यविवृतिं कुर्वेऽहं बालबोधाय ॥

(५) **अभिनवचन्द्रिका**—विश्वनाथ दण्डिभट्ट। दण्डिभट्ट के कुल में उत्पन्न वीर राघव के पुत्र विश्वनाथ पण्डित की यह रचना है। ये काशी-निवासी थे तथा बालशास्त्री के शिष्य थे। ये अपने को 'बालशास्त्रिपदाम्भोजध्यानसंलब्धबुद्धि' बतलाते है। फलतः बालशास्त्री के द्वारा बताये गये परिष्कारों से युक्त यह टीका अत्यन्त महत्त्व की मानी जाती है। दुःख की बात है कि अत्यन्त उपयोगी यह व्याख्या केवल हलन्त प्रकरण तक ही है।

(६) **विजया**—शिवनारायण शास्त्री। अभिनवपरिष्कारमजुला यह व्याख्या केवल दो प्रकरणों पर—कारक तथा अव्ययीभाव पर—ही है।

(७) **वरवर्णिनी**—गुरुप्रसाद शास्त्री। परिष्कार की दृष्टि से यह टीका बड़ी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि काशी के महामान्य शिवकुमार शास्त्री, दामोदर शास्त्री, तात्याशास्त्री तथा देवनारायण तिवारी (तिवारीजी) चार वैयाकरणों के द्वारा उद्भावित परिष्कारों का यह अभिराम संग्रह प्रस्तुत करती है।

पण्डित भैरव मिश्र

व्याकरणशास्त्र के प्रौढ़ व्याख्याकारों में पण्डित भैरव मिश्र को पर्याप्त ख्याति प्राप्त है। इनके चार ग्रन्थों का परिचय मिलता है—

(१) वैयाकरणभूषणसार की 'परीक्षा' नाम्नी टीका।

(२) लघुशब्देन्दुशेखर की 'चन्द्रकला' टीका।

(३) परिभाषेन्दुशेखर की टीका।

(४) लिङ्गानुशासन का विवरण।

इन टीकाओं के आदि-अन्त मे मिलनेवाले श्लोको के आधार पर इनके जीवनवृत्त के विषय मे सामान्य विवरण मिलता है। पिता का नाम था **भवदेव** जो अगस्त्य गोत्र के ब्राह्मण थे। माता का नाम सीता था जो भारद्वाज गोत्र मे उत्पन्न थी। पिता से ही इन्होंने विद्या ग्रहण की थी। फलतः वे इनके गुरु भी थे—

नत्वा तातं गुरुं देवं भवदेवाभिधं विभुम् ।
यद्‌यशोभिर्धवलिताः ककुभो जननीं पराम् ॥
सीतां पतिव्रतां देवीं भारद्वाजकुलोद्‌भवाम् ।
विवृतेः परिभाषाणां व्याख्यां कुर्वे यथामति ॥

—परिभाषेन्दुशेखर टीका का आरम्भ

टीका भूषणसारस्य परीक्षानामिका शुभा। भवदेवात्मजेनाथ भैरवेण वितन्यते ॥

—भूषणसार की टीका का आरम्भ

चन्द्रकला टीका के अन्त मे ग्रन्थ-समाप्ति का काल इस प्रकार निर्दिष्ट है—

शश्यष्टसिद्धिचन्द्राख्ये मन्मथे शुभवत्सरे ।
माघे मास्यसिते पक्षे मूले कामतिथौ शुभा ॥
पूर्णा वारे दिनमणेरियं चन्द्रकलाभिधा ।
शब्देन्दुशेखरव्याख्या भैरवेण यथामति ॥

इन दोनो श्लोको से पता चलता है कि मन्मथ नामक सवत्सर के माघ कृष्णपक्ष मे मूलनक्षत्र कामतिथि (त्रयोदशी) रविवार के दिन १८८१ सवत् (=१८२४ ई०) मे इस व्याख्या की समाप्ति हुई। उस समय इनका वय तीस वर्ष मान ले, तो इनका जन्मकाल १७६४ ईस्वी सभावित होता है। फलतः पण्डित भैरव मिश्र का कार्यकाल १७६४ से लेकर १८७० ईस्वी तक अनुमानतः सिद्ध होता है। १८७० ई० मे 'काशीधर्मसभा' की स्थापना के लिए काशीनरेश ने भैरव मिश्र मे मन्त्रणा की थी। इसका उल्लेख 'पण्डित परिक्रमा' के पृष्ठ १६१ पर मिलता है।

मनुदेव

वैद्यनाथ पायगुण्डे के प्रधान शिष्य मनुदेव व्याकरण तथा धर्मशास्त्र दोनो विषयो मे निष्णात विद्वान् थे। 'धर्मशास्त्र-सग्रह' मे इनके साहाय्य देने का सकेत ऊपर किया गया है। इन्होने कोण्डभट्ट के 'वैयाकरणभूषणसार' पर **लघुभूषणकान्ति** नामक टीका का प्रणयन सम्भवतः १८वी शती के अन्तिम चरण मे किया।

हरिदीक्षित

ये इसी कालखण्ड के एक महनीय वैयाकरण थे। इनके पिता का नाम केशव दीक्षित काले था। फलतः ये महाराष्ट्र ब्राह्मण थे। इन्होने कौण्डभट्ट के वैयाकरणभूषणसार पर **काशिका** नामक व्याख्या लिखी जो विशद, विस्तृत एव प्रमेयबहुल है। इसकी रचना का काल ग्रन्थ मे ही निर्दिष्ट किया गया है[1]—वि० १८५४ (= १७९७ ई०) मार्गशीर्ष शुक्ल पूर्णिमा। काशी मे ही इसका निर्माण किया गया। फलतः यह ग्रन्थ काशिराजकीय पाठशाला की स्थापना के छठे वर्ष काशी में निर्मित हुआ था।

---

१ युगभूतदिगीशात्मसम्मिते वत्सरे गते। मार्गशीर्षशुक्लपक्षे पौर्णमास्या विधोर्दिने।
समाप्तिमगमद् ग्रन्थस्तेन तुष्यतु नः शिवः ॥
वैयाकरणभूषणसार का काशिका के साथ प्रकाशन १९१५ ई० मे बाम्बे-सस्कृत-ग्रन्थमाला मे किया गया है।

परमानन्द पाठक

काशिराज्य के आदिम अधिपति महाराजा बलवन्त सिंह के सभापण्डित, उस युग के प्रख्यात ज्योतिषी **पण्डित परमानन्द पाठक** ने फलितज्योतिष के विषय मे **प्रश्नमाणिक्यमाला** ग्रन्थ का प्रणयन किया (सम्भवतः १८६० ई० मे)। यह ग्रन्थ चार खण्डो मे विभक्त है। प्रथम तीन खण्डो की रचना परमानन्द ने ही की है तथा अन्तिम खण्ड का प्रणयन उन्हीके वशज पण्डित उमापति शर्मा ने स्वय कर पाठकजी के ग्रन्थ को पूरा किया। **प्रश्नमाणिक्यमाला** फलितज्योतिष का एक बहुमूल्य, नितान्त उपादेय तथा प्रामाणिक ग्रन्थ है। जन्मकुण्डली के बारहो भावो के शुभाशुभ फलो का निर्णय प्राचीन ग्रन्थो के आधार पर बडी विशदता से इसमे किया गया है। ये पञ्चाग की भी रचना करते थे जिसमे फलादेश सम्बन्धी अनेक विषयो का निर्देश भी किया गया उपलब्ध होता है। ये सारस्वत ब्राह्मण थे और काशी के ही निवासी थे। महाराज बलवन्त सिंह के समकालीन होने से इनका समय १८वी शती का मध्यकाल है।[1]

बलभद्र

महाराजा बलवन्त सिंह के ही ज्येष्ठ पुत्र तथा उनके उत्तराधिकारी राजा चेतसिंह (१७७०-१७८१ई०) के प्रधान सभापण्डित **बलभद्रजी** उस युग के बडे ही प्रतिष्ठित तथा विश्रुत राजकवि थे। इन्होने १७७५ ई० के आसपास अपने आश्रयदाता राजा चेतसिंह के राज्यारोहण एव यज्ञानुष्ठान का बडा ही सागोपाग वर्णन अपने महाकाव्य **चेतसिंह-विलास** मे किया है जो अधूरा ही है तथा अभी तक मुद्रित नही हुआ है। यह एक महान् काव्य है जिसमे एक सहस्र के ऊपर पद्य उपलब्ध होते है।

शिवलाल पाठक

अठारहवी शती के अन्तिम चरण मे ही **पण्डित शिवलाल पाठक** नामक एक नितान्त प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् का आविर्भाव काशी मे हुआ था। ये सरयूपारीण ब्राह्मण सोनौरा पाठक कश्यपगोत्री थे और काशी मे ही असीसगम के निकट निवास करते थे। ये त्रिस्कन्धज्योतिष शास्त्र मे पारगामी, पुराण, इतिहास के वेत्ता तथा तन्त्र विद्या मे नितान्त कुशल विद्वान् थे। ज्योतिर्विद् होने के अतिरिक्त ये वास्तु विद्या मे चतुर तथा सगीत विद्या के नितान्त मर्मज्ञ एव रसिक व्यक्ति थे। इन्होने वाल्मीकि रामायण की **सुन्दरी** नामक टीका का प्रणयन किया था। गोस्वामी तुलसीदास के ग्रन्थो के ऊपर भी इनकी महती प्रीति तथा गाढ अनुराग था। इनके द्वारा सशोधित विनय पत्रिका की एक प्रति के लेखन-समय का निर्देश सुधाकर द्विवेदी ने अपनी गणकतरगिणी (पृ० ११२) मे १८५१ विक्रमी (= १७६४ ई०) किया है। यदि उस समय इनका वय साठ साल के आसपास हो, तो इनका जन्मकाल १७३४ ई० सिद्ध होता है। फलतः इनका आविर्भावकाल १८वी शती का उत्तरार्ध मानना चाहिए—लगभग १७३४ ई०–१८०० ई०।

रामानन्द पाठक

इनके विद्वान् पुत्र का नाम **रामानन्द पाठक** था। ये काशिराजकीय पाठशाला मे सब पण्डितो मे मूर्धन्य पण्डित के रूप मे नियुक्त किये गये (१७९१ ई० मे), तब इनके पिताजी

---

१ द्रष्टव्य—गणकतरगिणी, पृ० ११२।

ने विरक्त होकर अपना घर-द्वार छोड दिया। कारण ? इन्होने देखा कि पुत्र के द्वारा अर्जित विधर्मी अग्रेजो के द्रव्य से खरीदे गये अन्न का मुझे भोजन करना पडेगा। इसी आशका से धर्मभीरु पिताजी विरक्त हो गये और भगवान् के भजन-पूजन मे अपना दिन बिताने लगे। ऐसी अपूर्व निष्ठा थी पण्डित शिवलालजी की सनातनधर्म के पालन मे तथा सदाचार के निभाने मे।

पण्डित लक्ष्मीपति

इन्ही पण्डित शिवलाल पाठक के गुरु थे प्रख्यात दैवज्ञ पण्डित लक्ष्मीपति। ये पर्वतीय ब्राह्मण थे। इस युग मे कूर्माचल से पर्वतीय ब्राह्मण कुलो का काशी मे आगमन आरम्भ हो गया था। ये ज्योतिष-सिद्धान्त तथा पाटीगणित एव बीजगणित मे अत्यन्त प्रगल्भ तथा उत्कृष्ट विद्वान् माने जाते थे। सुधाकर द्विवेदी ने लिखा है कि इन्हींके समय से काशी मे फलित विद्या का ह्रास तथा सिद्धान्त विद्या की वृद्धि होने लगी। इनके छात्र भारत के विभिन्न प्रान्तो मे भी लब्धकीर्ति थे तथा ज्योतिर्विद्या के धुरन्धर विद्वान् माने जाते थे। काशिराजकीय सस्कृत पाठशाला की स्थापना के समय ही ये विद्यालय मे ज्योतिष विषय के प्रधान अध्यापक नियुक्त किये गये। इनका जन्म १६७० शाके (१७४८ ई०) तथा निधन १७४२ शाके (–१८२० ई०) मे हुआ। इस प्रकार ये १८वी शती के उत्तरार्ध तथा १६वी शती के प्रथम चरण मे आविर्भूत हुए थे। इन्ही पर्वतीय ज्योतिर्विद् लक्ष्मीपति को काशी मे **सिद्धान्त-ज्योतिष** के विशेष प्रचारक होने का महनीय गौरव प्राप्त है। इसी युग मे काशी मे ही **बबुआ ज्योतिषी** नामक एक अन्य दैवज्ञ थे जो फलित ज्योतिष के सर्वश्रेष्ठ मर्मज्ञ विद्वान् माने जाते थे। गुरु पण्डित लक्ष्मीपति एव शिष्य शिवलाल पाठक ये ही दोनो विद्वान् उस युग के मूर्धन्य दैवज्ञ होने की ख्याति से मण्डित थे।

पाणिनीय व्याकरण की विकास-दिशा

पाणिनीय सम्प्रदाय को अखिलभारतीय होने का गौरव प्राप्त है। कैयट, भट्टोजिदीक्षित और नागेश भट्ट जैसे शास्त्र धुरन्धर विद्वानो के हाथ मे पडने से विद्वत्समाज मे इसको विशेष गौरव तथा सम्मान मिला। इन विद्वानो ने अपनी अलोकसामान्य प्रतिभा के बल पर इस शास्त्र को एक विशिष्ट धारा मे प्रवाहित किया जिससे परिचय रखना शब्दो के साधुत्व-ज्ञान के लिए न होकर शब्दार्थ-सम्बन्ध के विमर्श के लिए अत्यावश्यक है। इस विशिष्ट धारा का त्रिविध रूप दृष्टिगोचर होता है – पदार्थ चर्चा, न्यास और परिष्कार। पदार्थ-चर्चा के कारण अब पाणिनीय व्याकरण पदविद्या न होकर पदार्थविद्या माना जाने लगा। पदार्थ-विचार मे अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जनावृत्ति, धात्वर्थ, प्रातिपदिकार्थ, कारकार्थ, समासार्थ आदि विषयो का समावेश होता है। 'वैयाकरण सिद्धान्तभूषण' तथा 'लघुमञ्जूषा' मे इन समस्त विषयो का बड़ा ही साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इन विषयो पर न्याय तथा मीमासा के भी अपने विशिष्ट मत है। उन मतो के साथ व्याकरण-मत का सघर्ष होना स्वाभाविक है। जैसे नैयायिको के मत में फल और व्यापार धात्वर्थ है, ति ˉ का अर्थ कृति है। मीमासक फल को धात्वर्थ मानते है और व्यापार को तिडर्थ। इन दोनो के विरुद्ध वैयाकरण फल और व्यापार को धात्वर्थ मानते है और आश्रय (कर्तृ, कर्म) को तिडर्थ।[1] दृष्टान्तो के सहारे इसे समझना

---

१ फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिडः स्मृताः। फले प्रधान व्यापारस्तिडर्थस्तु विशेषणम्॥

—वैयाकरणभूषण, कारिका द्वितीय

चाहिए। 'देवदत्तः ओदन पचति' इस वाक्य के शाब्दबोध मे नैयायिको के अनुसार कर्ता विशेष्य है–वर्तमान-कालिक-ओदनकर्मक-पचनानुकूल व्यापाराश्रयो देवदत्तः। वैयाकरणो के मतानुकूल शाब्दबोध मे व्यापार विशेष्य है--देवदत्तकर्तृको वर्तमानकालिक ओदनकर्मकः पचनानुकूलो व्यापारः। स्फोटवाद के प्रतिपादन मे वैयाकरणो ने अपूर्व प्रतिभा दिखलाई। शब्द को अनित्य माननेवाले नैयायिक, शब्द को नित्य माननेवाले मीमासक इन दोनो के मतो का खण्डन कर वैयाकरणो ने **स्फोटवाद** का नया सिद्धान्त निकाला, जिसके अनुसार ध्वनिरूप शब्द तो अनित्य है, परन्तु स्फोटरूप शब्द नित्य है। अर्थ के प्रकाशन की क्षमता स्फोट मे है, ध्वनि मे नही। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय मे इसी स्फोटरूपी शब्द को ब्रह्म मानकर ससार का शब्दब्रह्म का विवर्त कहा है—

अनादिनिधन ब्रह्म शब्दतत्त्व यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

वैयाकरणो ने स्फोट के प्रतिपादनार्थ स्वतन्त्र ग्रन्थो का प्रणयन किया। इनके कारण विचारशास्त्र के रूप मे पाणिनीय व्याकरण का मस्तक ऊँचा हुआ।

प्राचीन वैयाकरण लक्ष्यैकचक्षुष्क थे। वे भाषा मे होनेवाले परिवर्तनो का अध्ययन कर उनको नियमो के द्वारा बाँधने का उद्योग करते थे। पिछले युग के वैयाकरण लक्षणैक चक्षुष्क बन गये, सूत्रार्थ की व्याख्या तथा सूत्रस्थ पदो की सार्थकता पर ही विचार करना आरम्भ किया, तब उनके स्वतन्त्र मत का परिष्कार दृष्टिगोचर होने लगा। अब मूल ग्रन्थ का प्रणयन उनका ध्येय न था, अब पूर्व ग्रन्थो की टीका-उपटीका की रचना तथा मतो का खण्डन मण्डन ही उनका लक्ष्य बन गया। व्याकरणशास्त्र मे यह खण्डन मण्डन की परम्परा आज भी जागरूक है और इसका दर्शन शास्त्रार्थ के अवसर पर हमे होता है। इस परम्परा को हम मोटे तौर से चार भागो म बाँट सकते है— प्राचीनतर, प्राचीन, नवीन तथा नवीनतर। प्राचीनतर मे वामन जयादित्य, जिनेन्द्रबुद्धि, कैयट, हरदत्त, रामचन्द्र, विट्ठल तथा शेष श्रीकृष्ण आते है। प्राचीन मे भट्टोजिदीक्षित प्रधान है। नवीन मे नागेश तथा उनके पट्टशिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे है। नवीनतर मे शब्दरत्न, शब्देन्दुशेखर तथा परिभाषेन्दुशेखर के टीकाकार है। आजकल हम इसी युग मे है जिसे हम **शेखर-युग** के नाम से अभिहित करते है। इन चारो परम्पराओं मे उत्तरपरम्परा न पूर्वपरम्परा का खण्डन तो किया ही, किन्तु परम्परा के भीतर भी उत्तर विद्वान् पूर्व विद्वान् का खण्डन करते थे। जैसे जिनेन्द्रबुद्धि का खण्डन हरदत्त ने किया। इस प्रणाली को भट्टोजिदीक्षित ने खूब प्रोत्साहन दिया जिसके फलस्वरूप उनके टीकाकारो ने इस शैली की खूब ही वृद्धि की। उधर नव्य न्याय की विषय प्रतिपादन की तथा सम्बन्ध निर्णय की शैली ने व्याकरणशास्त्र के भीतर प्रवेश किया, तब वैयाकरणो ने अपनी बुद्धि की प्रखरता दिखलाने के लिए **न्यास** का आश्रय लिया। **न्यास** शैली है, **ग्रन्थ** नही। पाणिनि के किसी सूत्र को लेकर उसमे लाघव के लिए परिवर्तन करने के प्रयास को **न्यास** की पारिभाषिक सज्ञा दी जाती है। सूत्रो मे परिवर्तन करने से कौन सी कठिनाई उत्पन्न हो सकती है और उस कठिनाई का दूरीकरण किस प्रकार किया जा सकता है – आदि विषयो का सूक्ष्म विचार इतनी प्रौढ़ता से किया जाता है कि वास्तव मे बुद्धि वैभव के चमत्कार को देखकर चकित हो जाना पड़ता है। यह शास्त्रार्थ प्रणाली काशी के वैयाकरणो की महती देन है—उनकी बुद्धि का विशद चमत्कार है। पहले ये युक्तियाँ गुरुमुखैकगम्य थी। आज अनेक क्रोड पत्र प्रकाशित हो गये है। फलतः अध्ययन के लिए ये उपलब्ध है, परन्तु उनके भीतर प्रवेश करना तथा शाब्दिक चक्रव्यूह का भग करना गुरु कृपा की पूर्ण अपेक्षा रखता है।

आज वाराणसेय वैयाकरणों के सम्प्रदाय में जो नवीनतम प्रणाली प्रचलित है वह न्यास नहीं, परिष्कार है। नव्यन्याय की अवच्छेदकावच्छिन्न शैली में सूत्रार्थ की व्याख्या करना **परिष्कार**[1] कहलाता है। न्यास का प्रचार व्याकरण के छात्रों के लिए है, परिष्कार का प्रचार व्याकरण के विद्वानों के निमित्त है। इस शैली का आरम्भ नागेशभट्ट से होता है और उनके उत्तरकालीन टीकाकारों के ग्रन्थों में यह शैली अपने पूर्ण वैभव के साथ हमारे सामने उपस्थित होती है। समय के प्रवाह में उत्तरोत्तर टीकाएँ परिष्कार से जटिल होती जाती हैं। उदाहरणार्थ, गुरुप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित लघुशब्देन्दु-शेखर का षट्-टीका-सम्पन्न नवीनतम सस्करण देखने योग्य है। परिभाषेन्दुशेखर की तात्याशास्त्री की **भूति** टीका में तथा जयदेव मिश्र की **विजया** टीका में भी इसका स्वरूप देखने योग्य है। परिभाषेन्दुशेखर की पण्डित यागेश्वरशास्त्री रचित **हैमवती** टीका में परिष्कार शैली के स्थान पर प्राचीन प्रक्रिया शैली का ही विशुद्ध रूप देखने को मिलता है। इधर ग्रन्थो के प्रकाशन से परिष्कार शैली के मूर्त विग्रह का दर्शन आलोचकों को होने लगा है। यह शैली वाराणसेय वैयाकरणों की ही देन है। उचित है कि इस शैली की रक्षा की जाय। शास्त्रार्थ की प्रणाली का संरक्षण होना चाहिए जिससे काशी का यह वैशिष्ट्य अक्षुण्ण बना रहे। भगवान् विश्वनाथ की भूयसी अनुकम्पा से ही इस शास्त्र का संरक्षण हो सकेगा। तथास्तु।



१. परिष्कार के उदाहरण के लिए द्रष्टव्य परिशिष्ट (१)।

काशी के प्राचीन पण्डित

पण्डित नाथूराम शास्त्री

संस्कृतकालेज के आरम्भिक काल के विद्वान् पण्डितो का पता पाने के लिए कलकत्ता के संस्कृतकालेज के इतिहास को देखना आवश्यक है। कलकत्ते के संस्कृतकालेज की स्थापना २५ दिसम्बर १८२४ ईस्वी मे हुई। उस समय वहाँ अध्यापन के निमित्त बनारस संस्कृतकालेज के प्राचीन पण्डित बुलाये जाते थे तथा उन्हे आदरपूर्वक नियुक्त किया जाता था। काशी तो पाणिनीय व्याकरण का गढ ही ठहरा, परन्तु आरम्भिक काल मे न्याय, वेदान्त तथा साहित्यशास्त्र के अध्यापन के लिए भी इन विषयो के ज्ञाता पण्डितो की वहाँ नियुक्ति बडे आदर के साथ की जाती थी। ऐसे दो महनीय विद्वानो का संक्षिप्त परिचय यहा दिया जाता है जिनमे एक है **पण्डित नाथूराम शास्त्री** और दूसरे है **पण्डित कृष्णदेव उपाध्याय**। नाथूरामजी न्याय, वेदान्त के साथ ही अलंकार शास्त्र के भी प्रौढ आचार्य थे। उनकी पहली नियुक्ति १८२५ ई० के आसपास न्याय के अध्यापक पद पर हुई और आगे चलकर उन्हे ही अलंकार शास्त्र के अध्यापन का भी कार्य सौपा गया। उनकी योग्यता के विषय मे उनकी बडी प्रशस्ति की गयी थी जिसका संकेत अंग्रेजी मे नीचे दिया गया है।[1]

प्रथमतः न्याय तथा वेदान्त का अध्यापन करते थे। उस समय इनके दो प्रमुख छात्र तैयार हुए **तारानाथ तर्कवाचस्पति** तथा जयनारायण तर्कपञ्चानन। पण्डित जयनारायण **ने सभाष्य न्यायसूत्रो का प्रथम संस्करण सम्पादित कर प्रकाशित किया था जिसकी भूमिका मे इन्होने अपना शिष्यत्व स्वीकार किया है**

वेदान्तादीनि शास्त्राणि नाथूरामस्य शास्त्रिणः। सकाशादासवानस्मि पुरा गुर्जरवासिनः॥

इससे नाथूराम शास्त्री का गुजराती पण्डित होना सिद्ध होता है। कुछ वर्षों के अनन्तर जब ये काशी मे लौटकर आये, तब अलंकारशास्त्र के अध्यापक नियुक्त किये गये। इस समय संस्कृतकालेज की शिक्षाकमेटी के आदेश पर इन्होने साहित्यदर्पण एवं काव्यप्रकाश का सम्पादन कर प्रकाशित किया, जिससे इनकी विद्वत्ता का संकेत मिलता है। इस बार इन्होने दो वर्षों तक (१८२७ १८२९ ई०) अध्यापन किया। १८३२ ई० के फरवरी मे इनका निधन हो गया।[2]

---

1 The secretary begs to propose Nathu Rama, a Pandit of considerable abilities for the office as a fit person to succeed to the appointment The individual in question was in the college of Banares, where he bore a high character He lost his appointment there, in consequence of exceeding his leave of absence which it subsequently appeared was owing to family distresses and not to any improper neglect (24th July, 1827)

२ ये दोनो उद्धरण 'कलिकाता संस्कृत कालेजेर इतिहास' नामक बँगला ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड से यहाँ उद्धृत किये गये है। (प्रकाशक संस्कृत कालेज, कलकत्ता, १९४६ई०)।

उस युग के दूसरे **पण्डित कृष्णदेव उपाध्याय** थे। इनके बनारस संस्कृतकालेज मे अध्यापकत्व का संकेत तो नही मिलता, परन्तु ये काशी के माननीय दार्शनिक विद्वान् थे। इसका परिचय मिलता है कलकत्ता के 'बिशप कालेज' के अध्यक्ष पादरी मिल साहब (W H Mill) द्वारा दिये गये प्रमाणपत्र से। इसमे साहब ने लिखा है कि- "मुझे एक सुयोग्य संस्कृत विद्वान् की वेदान्त पढ़ने के लिए आवश्यकता थी। मैं इन्हे काशी से कलकत्ता ले आया जहाँ इन्होने बड़ी योग्यता के साथ मुझे वेदान्त पढ़ाया। आर्थिक लाभ की दृष्टि मे ही मै इन्हे संस्कृत-कालेज के वेदान्ताध्यापक के लिए संस्तुति कर रहा हूँ।" यह संस्तुति १८२५ ई० की है। उपाध्यायजी ने १८२६ मार्च तक वेदान्त का अध्यापन किया। तदनन्तर इनका निधन हो गया।[1]

वैद्यनाथ मिश्र

कलकत्ते मे अंग्रेजी राज्य के आरम्भकाल मे कचहरी स्थापित थी। उसमे धर्मशास्त्रविषयक प्रश्नो के समाधान हेतु व्यवस्था देने का प्रबन्ध किया गया था। इस कार्य मे वैद्यनाथ मिश्र व्यवस्था देनेवाले धर्मशास्त्री थे। उस युग मे जो व्यवस्थाएं दी जाती थी उनका संग्रह ग्रन्थ रूप मे किया गया है। ऐसे एक ग्रन्थ का नाम **धर्मशास्त्रीय व्यवस्था-संग्रह** है जिसे सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय ने प्रकाशित किया है (वाराणसी १९५७ ई०)। इस अनुपम ग्रन्थ मे वैद्यनाथ मिश्र की व्यवस्थाओ का विवरण दिया गया है। विवरण तो बॅगला मे है जो भाषा की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है, मिश्रजी की व्यवस्था संस्कृत मे है। लिपि बंगाक्षर है। मिश्रजी का हस्ताक्षर देवनागरी मे है जिससे उनके अबंगीय होने की सूचना मिलती है। इस संग्रह मे उत्तराधिकार से सम्बद्ध विषय ही विशेषरूपेण निर्णीत है। व्यवस्था पत्र का समय १८२४ ई० १८३९ ई० है। व्यवस्थापत्रो की संख्या २६३ है। मिश्रजी के सहायक पण्डित का नाम था **रामतनु शर्मा विद्यावागीश** जो बंगीय विद्वान् प्रतीत होते है।

उत्तरपीठिका के अन्तर्गत काशी के पण्डितो का यहाँ क्रमश॰ वर्णन किया जाता है। कालक्रम के अनुसार ही यह वर्णन यहाँ विन्यस्त है। पूर्ण ऐतिहासिकता का आश्रय यहाँ लिया गया है, परन्तु कही कही त्रुटि की भी संभावना है। संस्कृतकालेज के प्रारम्भिक अध्यापको का अन्वेषण किया गया है परन्तु इस कार्य मे पूरी सफलता की आशा नही की जा सकती।

पण्डित हरिकृष्ण पाठक

काशीनिवासी सारस्वत ब्राह्मण थे। प० रामदयालु पाठक के पुत्र थे। इनके गुरु का नाम पण्डित रामकृष्ण था। ये अध्यात्मशास्त्र के गम्भीर विद्वान् प्रतीत होते है। इनके दो ग्रन्थ (१) **रामायणाध्यात्मविचारः** तथा (२) **भागवताध्यात्मगोचरः** काशी के 'संस्कृतमुद्रायन्त्र'

1 The bearer Crishna Deva Pandit was recommended to me at Banares when in quest of a Hindustani Pandit for Bishop's college by the late profound Sanskrit Scholar Captain Fell, as a person eminently qualified to answer my wishes From that time (oct 1822) to the present, I have been in the habit of reading with him and consulting him on various points of Brahmanical Literature, particularly on the Vedant Philosophy From the information I have derived from him I can with confidence recommend him as a learned man and able teacher and one whom nothing but the hope of receiving rewards with a lucrative appointment could induce me now to dispense with (Calcutta, April 22nd, 1825)

नामक छापाखाने में वि० सं० १६३१ (= १८७४ ई०) में मुद्रित होकर प्रकाशित किये गये थे। प्रथम ग्रन्थ में रामायण का तथा दूसरे में भागवत के आध्यात्मिक तत्त्वों का विवेचन किया गया है जिससे ग्रन्थकार के अध्यात्मचिन्तन तथा दार्शनिक वैदुष्य का परिचय मिलता है। दोनो ही ग्रन्थ दार्शनिक तत्त्वों का निर्देश करते है और इन दोनों ग्रन्थों के भीतर निर्दिष्ट दार्शनिक विचारों का बड़ा ही सुन्दर, आवर्जक तथा आकर्षक विवरण उपन्यस्त है।



अर्वाचीन युग के विद्वान्

१

पण्डित चन्द्रनारायण न्यायपञ्चानन

काशी के सस्कृतकालेज के आरम्भिक काल मे अनेक विद्वानों ने इसके शैक्षणिक अभ्युदय के निमित्त बड़े स्मरणीय कार्यों का सम्पादन किया है जिसे हम भूलते चले जा रहे है। उस समय के न्यायशास्त्र के प्रख्यात अध्यापक पण्डित चन्द्रनारायण न्यायपञ्चानन भी ऐसे ही एक प्रौढ़ नैयायिक थे। ये वंगीय पण्डित थे। बगाल के फरीदपुर मण्डल के धानुका गाँव में पण्डित कृष्णजीवन न्यायालंकार इनके पिता थे। माता का नाम था सुरूपा देवी। पिताजी से चन्द्रनारायण ने कलाप-व्याकरण पढ़ा। अनन्तर इन्होंने न्यायशास्त्र का गम्भीर अध्ययन उन्हीसे किया। इनकी बुद्धि तीव्र थी अत· शास्त्र के तथ्यों की जानकारी इन्हें शीघ्र प्राप्त हो गयी। पहले तो ये पिताजी के छात्रों को पाठ चिन्ताते थे, परन्तु पीछे स्वय ही शिक्षक बन गये। धीरे-धीरे इनमे पाण्डित्य का प्रकर्ष लक्षित होने लगा। बगाल के त्रिवेणी स्थान के प्रौढ़ विद्वान् पण्डित जगन्नाथ तर्कपञ्चानन ने एक ऐसे ग्रन्थ का निर्माण किया था जिसमें जाने-अनजाने अनेक अशुद्धियाँ आपाततः विद्वानों की दृष्टि मे आने लगी और सभी ने उसे नितान्त अशुद्ध ग्रन्थ बताकर उसकी अवहेलना की। परन्तु चन्द्रनारायण ने उन अशुद्धियों का निराकरण अपनी प्रौढ़ बुद्धि के प्रकर्ष से कर दिखलाया और उन आपाततः अशुद्ध प्रतीयमान सिद्धान्तों की भी संगति बैठा दी। इससे विद्वानों को बड़ा आश्चर्य लगा। बगाल के पण्डित-समाज में इनकी ख्याति बढ़ी।

उस समय के एक प्रख्यात नैयायिक पण्डित राजनारायण तर्कसिद्धान्त के आग्रह पर ये काशी आये और यहाँ भी अपने पाण्डित्य का सिक्का जमाया। १८१३ ईस्वी में काशी के संस्कृत कालेज मे ये न्याय के अध्यापक नियुक्त किये गये और इस पद पर बीस वर्षों तक अध्यापन-कार्य किया। इनके इस अध्यापकी की—वृत्ति लेकर अध्यापन की—घनघोर निन्दा तत्कालीन बगीय पण्डित समाज ने की, परन्तु इन्होंने शिक्षा-प्रसार में ऐसे आचरण को अनुचित मानते हुए इसकी सर्वथा उपेक्षा की। ये सवृत्तिक अध्यापन-कार्य से विरत नहीं हुए। इनके आरम्भिक शिष्यों में हरिनारायण तर्कालंकार तथा स्वीय ज्येष्ठ आत्मज राधाकान्त शिरोमणि अन्यतम थे। १८२५ ईस्वी में कालेज के अध्यक्ष ने इनका मासिक वेतन ६० रु० से ८० रु० कर दिया जो इनके योग्य अध्यापन का सद्यः परिणाम था। अध्यापन के साथ ही साथ इन्होंने न्याय के क्रोडपत्र का निर्माण किया जिसका प्रचार कालेज के मैथिल तथा दाक्षिणात्य छात्रों में पहली बार होने लगा। सुनते है कि इन्होंने अपना अच्छा पुस्तकालय भी बना रखा था जिसमें पाँच सौ पुस्तकें विद्यमान थी। यह उस समय विशेष बात समझी जाती थी। इनके ही वरिष्ठ शिष्य कालीशंकर शिरोमणि भट्टाचार्य भी थे जो आगे चलकर सम्भवतः गुरु के रिक्त पद पर नियुक्त किये गये। गुरु और शिष्य दोनों ही संस्कृतकालेज के न्याय के अध्यापक थे। दोनों ने क्रोडपत्रों का निर्माण किया तथा छात्रों में उनका प्रचार किया। इस प्रकार कालेज के छात्रों

मे न्यायशास्त्र के प्रति अभिरुचि बढ़ी, क्योकि इन्ही क्रोडपत्रो के परिष्कार की सहायता से वे शास्त्रार्थ मे सुगमता से विजय प्राप्त करने तथा अपनी कीर्ति बढ़ाने मे सफल हुए।

काशी के ही पण्डित अहोबल शास्त्री से शास्त्रार्थ मे विजय पाने से चन्द्रनारायणजी पेशवा अमृतराव के भी सम्माननीय तथा आदरणीय व्यक्ति बन गये। अमृतराव पेशवा का काल अन्तिम पेशवाओं से सम्बन्ध रखता है। १८१८ ई० मे पेशवाओं की सम्पत्ति तथा समस्त महाराष्ट्र मण्डल अग्रेजो ने जीत लिया और पेशवा तथा उनके परिवार को दक्षिण छोडकर उत्तर मे काशीमण्डल मे रहने के लिए बाध्य किया। पेशवा बाजीराव द्वितीय को ब्रह्मावर्त मे (कानपुर बिठूर मे), चिमणाजी अप्पाराव को काशी मे तथा अमृतराव को चित्रकूट मे स्थायी रूप से निवास करने का आदेश किया गया। इनको पेन्शन मिलती थी। चित्रकूटस्थ अमृतराव पेशवा ने इससे पहले ही १८०७ ई० मे काशी मे रामघाट के पार्श्ववर्ती अग्नीश्वर घाट मे 'अमृत विनायक' मन्दिर का निर्माण किया जिसमे भगवान् गणेश की भव्य मूर्ति स्थापित की गयी तथा जिसकी पूजन-व्यवस्था आज भी चली आती है। १८१८ ई० के बाद तो वे वृद्धावस्था मे स्वय काशी मे ही रहने लगे थे। ये बडे धार्मिक, उदार तथा तत्त्वनिष्ठ व्यक्ति थे। काशी मे सबसे अधिक दान देने की उनकी ख्याति चारो ओर व्याप्त थी। उसी युग मे कलकत्ते का बिशप (ईसाइयो का श्रेष्ठ धर्माधिकारी) हेबर यात्रा करने के लिए काशी मे आया था। उसने अपने यात्रा विवरण मे अमृतराव के विशिष्ट गुणो का वर्णन बडी ही आकर्षक भाषा मे किया है। उसमे काशी के सर्वातिशायी दानी के रूप मे इनकी प्रसिद्धि का उल्लेख किया है। ईसाइ धर्म के प्रति भी इनकी उदार दृष्टि का वह उल्लेख करता है। उसके काशी निवास के समय ही ६ सितम्बर १८२५ ई० की रात मे अमृतराव पेशवा का निधन काशी मे हुआ। उसने लोगो की उनके प्रति विशेष अनुरक्ति की खूब प्रशसा की है।[१]

अमृतराव पेशवा पण्डितो को सम्मान तथा आदर देने मे बडे उदार थे। उन्हीकी सभा की यह अपूर्व घटना है। अहोबल शास्त्री द्रविड देश के महनीय दार्शनिक विद्वान् थे। वे १७९७ ईस्वी मे काशी मे आये और यही जमकर रहने लगे। अमृतराव पेशवा पण्डितो के शास्त्रार्थ के बडे अनुरागी थे। एक बार उनकी सभा मे इन्ही अहोबल शास्त्री के साथ पण्डित चन्द्रनारायण न्यायपञ्चानन का जमकर शास्त्रार्थ हुआ। सुनते है वह शास्त्रार्थ तीन दिनो तक चलता रहा। अन्त मे विजयश्री ने न्यायपञ्चाननजी को वरण किया। वे शास्त्रार्थ मे जीत गये। पेशवा ने उनका उत्कृष्ट आदर किया। पालकी पर चढ़ाकर विशिष्ट सम्मान देकर उन्हे अपने घर भेजा। इस शास्त्रार्थ की घटना आज भी काशी के पण्डितो मे जनश्रुति के रूप मे प्रचलित है। पेशवा की मृत्यु के आठ वर्षों के अनन्तर इनका भी निधन १८३३ ईस्वी के अप्रैल मास मे काशी मे ही हुआ। निधन के समय ६० वर्ष की आयु मान लेने पर इनका जन्म १७७३ ई० मे सिद्ध होता है।

इनके अनन्तर इन्हीके शिष्य **प० काली प्रसाद भट्टाचार्य** सस्कृतकालेज मे न्यायशास्त्र के अध्यापक नियुक्त किये गये। प० चन्द्रनारायणजी के समय मे ही १८२८ ईस्वी मे पण्डित **राजीवलोचन न्यायभूषण** कालेज मे वेदान्त के अध्यापक थे। इस प्रकार सस्कृतकालेज के आरम्भिक दिनो मे बगीय पण्डितो का वर्चस्व पूर्णरूपेण विद्यमान था तथा न्याय एव वेदान्त जैसे दर्शनो के अध्यापक का महनीय पद उन्हे प्राप्त होता था और पीछे भी यह वर्चस्व अक्षुण्ण बना रहा।

●

१ द्रष्टव्य—पं० भाऊशास्त्री बझे प्रणीत 'काशीतिहास' पृ० ५४–५६।

२

पण्डित काशीनाथ शास्त्री

(आस्पद—अष्टपुत्रे; उपाधि—वैयाकरण-सार्वभौम)

काशिराजकीय सस्कृतपाठशाला के आरम्भिक काल के व्याकरणाध्यापक विद्वानो के परिचय प्रसग मे श्री काशीनाथ शास्त्री का नाम अग्रगण्य के रूप मे आलोचको के सामने उपस्थित होता है। उनके विषय की जानकारी एक अप्रत्याशित स्रोत से हमे उपलब्ध होती है। महाराष्ट्र के प्रख्यात गणितिविद श्री नरसिह चिन्तामणि केलकर ने 'सस्कृत विद्येचे पुनरुज्जीवन' नामक मराठी ग्रन्थ[1] मे 'महाराष्ट्रातील काशी पडितघराणी' शीर्षक अध्याय मे महाराष्ट्र के प्रसिद्ध नगर 'वाई' मे पनपनेवाले पण्डित घरानो के अन्तर्गत काशीनाथ शास्त्री के पूज्य पिता गोविन्दाचार्य अष्टपुत्रे का विशेष उल्लेख किया है। इस उल्लेख से पता चलता है कि गोविन्दाचार्य महाराष्ट्र के तत्कालीन पण्डितो मे नितान्त प्रसिद्ध थे, पुण्यपत्तन (पुणे) के सस्कृतविद्यालय के मुख्य अध्यापक थे तथा महामहोपाध्याय गगाधराचार्य कहाडकर जैसे विद्वान् शिष्य के गुरु होने के महनीय गौरव से मण्डित थे। काशीनाथ शास्त्री इन्ही गोविन्दाचार्य के आत्मज थे। जन्मस्थान इनका वाई था। पिता से इन्होने विधिवत् अध्ययन किया था। व्याकरणशास्त्र मे विशेष योग्यता प्राप्त करने के लिए इनके पिता ने अपने पुत्र को सतारा के सुप्रसिद्ध विद्वान् **भास्कर शास्त्री अभ्यकर** के पास अध्ययन के लिए भेजा। काशीनाथ ने अभ्यकर शास्त्री से व्याकरण का विशिष्ट अध्ययन कर विशेष योग्यता प्राप्त की, परन्तु काशी के वैयाकरण विद्वानो के पास अध्ययन से अपनी योग्यता मे सातिशय प्रौढि प्राप्त करने के उद्देश्य से ये काशी आये। उस समय काशी मे व्याकरणशास्त्र की परिष्कार-पद्धति का उदय हो चुका था।

परिष्कार-पद्धति का उदय

नागेश भट्ट के निधन के अनन्तर काशी मे नव्यव्याकरण की परम्परा को प्रतिष्ठित एव पल्लवित करने का श्रेय **पण्डित गगाराम त्रिपाठी** को है। ये पर्वतीय ब्राह्मण थे—मूलतः कूर्माचल (अलमोडा) के निवासी। अलमोडा मण्डल के ज्योली गाँव के निवासी थे। पिता का नाम कमलापति। अनूप शहर मे दौलतराम सिन्धिया से भेट हुई जिन्होने इनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर उच्चशिक्षा के लिए काशी भेजा। यही इन्होने व्याकरण एव नव्यन्याय का विधिवत् अध्ययन किया और वैयाकरण सिद्धान्तो के अनुशीलन मे नव्यन्याय की शैली का प्रयोग कर व्याख्या की एक नवीन पद्धति को जन्म दिया जो **परिष्कार शैली** के नाम से प्रख्यात हुई। पण्डितो ने नागेश भट्ट के दोनो ग्रन्थ—लघुशब्देन्दुशेखर एव परिभाषेन्दुशेखर—का अध्ययन अध्यापन इस शैली से कराना आरम्भ किया। इस परिष्कार-शैली मे नये-नये परिष्कार की कोटियो पर आधारित शास्त्रार्थ की परम्परा चल निकली जिससे इस पद्धति के अभ्युदय

---

१ प्रकाशक—काशीनाथ नरसिह केलकर, द्वितीयावृत्ति, १९२८ ई०, पूना।

में विशेष बल प्राप्त होता गया। नव्यव्याकरण की इस परिष्कार-पद्धति के जन्मदाता के रूप में श्री गगाराम त्रिपाठी शास्त्री की कीर्ति अक्षुण्ण है।

त्रिपाठीजी के तीन प्रमुख शिष्य थे--

(१) पण्डित **रङ्गनाथजी** जो नेपाल के महाराजा के गुरु एव अमात्य थे।

(२) पण्डित **जगन्नाथ शास्त्री गाडगिल** जो अमृतराव पेशवा के गुरु थे।

(३) पण्डित **रघुनाथ शास्त्री**।

इन तीनो शिष्यों में आदिम दोनो शिष्य राजमान्य थे और अपने महनीय पदों का उपयोग कर इन दोनों ने अपने आश्रयदाता राजाओं के द्वारा पण्डित गङ्गाराम शास्त्रीजी को बहुत सी जमीन माफी रूप मे दिलवाई। गङ्गाराम शास्त्रीजी ने अपने शेखर की पोथियों को अपनी नवीन परिष्कारमयी व्याख्याओं से मण्डित किया है। ये पोथियाँ शास्त्रीजी के ही सम्बन्धी महामहोपाध्याय **नित्यानन्द पर्वतीयजी** के पास सुरक्षित है और इनके अध्ययन से त्रिपाठीजी की व्याख्या-शैली के स्वरूप का पूरा परिचय प्राप्त होता है। ये पोथियाँ पण्डित नित्यानन्दजी के ही दौहित्र पण्डित गोपालदत्त पाण्डेय के संग्रहालय में सुरक्षित है जहाँ जिज्ञासुजनों के अध्ययन के लिए वे आज भी सुलभ है।

काशीनाथ शास्त्री : काशी में

जब काशीनाथ शास्त्री अध्ययन के लिए काशी पधारे तब यही परिस्थिति थी। ये गगाराम त्रिपाठी के अन्तिम समय के छात्र थे तथा त्रिपाठीजी के विद्वान् शिष्य पण्डित जगन्नाथ शास्त्री गाडगिल के सम्पर्क में आने का भी सुयोग इन्हें प्राप्त हुआ। इन्होंने गुरुचरणों में बैठकर इसी परिष्कार-पद्धति से शेखरद्वय का गम्भीर अध्ययन किया। काशीनाथजी ने गुरु से प्राप्त विद्या को अपनी लोकातीत प्रतिभा के बल पर और भी आगे बढ़ाया और परिष्कार-पद्धति को अधिक प्रभावशाली बनाया। अध्ययन की समाप्ति के बाद ये काशिराजकीय पाठशाला में व्याकरणशास्त्र के अध्यापक नियुक्त किये गये।

इनका कार्यकाल अनुमानतः १८२० ई० से लेकर १८५० ई० तक माना जाना चाहिए। उस समय परीक्षोत्तीर्ण छात्रों को दिये गये प्रमाणपत्रों पर प्रथम पण्डित के रूप में इनके हस्ताक्षर विन्यस्त है। ७ मई १८४४ ई० में संस्कृत कॉलेज के द्वारा प्रकाशित सूचनापत्र पर काशीनाथ शास्त्री का सर्वप्रथम हस्ताक्षर उपलब्ध होता है। इस सूचनापत्र मे छात्रो के अध्ययन-क्रम तथा अध्येय विषयों का निर्धारण किया गया है कि किस विषय का अध्ययन किस अध्यापक के पास जाकर करना चाहिए। इस सूचनापत्र से पता चलता है कि महाभाष्य के अध्येता छात्रों को महाभाष्य के अध्ययन के लिए काशीनाथ शास्त्री के पास ही पढ़ने जाना चाहिए। सूचनापत्र का वह वाक्य इस प्रकार है—

काशीनाथशास्त्रिणश्च समीपेऽपि महाभाष्याध्ययनेच्छवो महाभाष्यं पठितुं शक्नुवन्ति।

इससे भी विद्यालय में इनकी प्रमुखता का पता चलता है।

काशी में काशीनाथ शास्त्रीजी अद्वितीय विद्वान्—प्रथमगण्य पण्डित माने जाते थे। उस समय यह सर्वत्र प्रसिद्धि थी —**काश्यामेकः काशिनाथः।**

पण्डित अम्बिकादत व्यास संस्कृतकॉलेज के ही छात्र थे तथा उस युग के पण्डितों के

वैदुष्य से पूर्ण परिचय रखते थे। उन्होंने अपने एक निबन्ध में[1] काशीनाथ शास्त्री को उस युग में काशी में व्याकरण को राज्याभिषेक देने वाला लिखा है अर्थात् वे व्याकरण के सर्वमान्य सम्राट् ही थे जिनके आधिपत्य में यह शास्त्र काशी में खूब पनपा और विकसित हुआ।

काशीनाथ शास्त्री के पट्टशिष्य **पण्डित राजाराम शास्त्री** ने अपने विश्रुत धार्मिक निबन्ध 'विधवोद्वाह-शङ्कासमाधिः' के एक पद्य में 'गुरुवर पण्डित काशीनाथ शास्त्री' की चरण सेवा से अपने मे प्रखर बुद्धि के उत्पन्न होने की बात लिखी है--

गुरुवर-बुध-काशीनाथ-शास्त्र्यङ्घ्रिसेवा-प्रबलधिषण-राजारामशास्त्री करोति ।
मुनिवचन-सुदृष्ट्या लब्धवर्ण्येति विद्वदभिनव -विधवीयोद्वाहशङ्का-समाधिम् ॥[2]

--पद्य ६

काशीनाथजी के ही अन्यतम शिष्य **पण्डित यागेश्वर ओझा** ने परिभाषेन्दुशेखर की अपनी **हैमवती टीका** में इन्हें 'समस्तविदुषा धुर्यम्' तथा 'सुधीना वरम्' कहकर इनके प्रकृष्ट पाण्डित्य का सकेत किया है। ओझाजी के शब्द है --

श्रीविष्णुं विधि-नारद-प्रभृतिभिः संसेविताङ्घ्रिद्वयं
काशीनाथ-गुरुं समस्तविदुषां धुर्यं सुधीनां वरम् ।

ये समस्त प्रशस्तियाँ शास्त्रीजी की अलौकिक प्रतिभा एव पाण्डित्य की सूचिकाएँ है।

काशीनाथ शास्त्री के तीन प्रमुख शिष्य थे--

(१) पण्डित राजाराम शास्त्री (कार्लेकर)।

(२) पण्डित बालशास्त्री (रानाडे)।

(३) पण्डित यागेश्वर शास्त्री (ओझा)।

इन्ही पण्डितो की शिष्य परम्परा काशी मे सातिशय पल्लवित एव पुष्पित हुई जिसके प्रयास से पाणिनि-व्याकरण की परिष्कार-पद्धति ग्रन्थों की रचना से एवं शास्त्रार्थ के मौखिक प्रवचनों से और भी आगे पल्लवित एवं विकसित होती गई। इसी विकास की कथा आगे दी गई है।



१. द्रष्टव्य, साहित्य-नवनीत (काशी, १९३९ ई०), पृ० ७८

२. इस पद्य के भावानुसार ही बालशास्त्रीजी ने भी इस ग्रन्थ की टीका मे अपने गुरुवर्य पं० राजाराम शास्त्रीजी की चरणसेवा से विरोधियो के मत के खण्डन की बात लिखी है—

गुरुवर-बुध राजाराम-शास्त्र्यङ्घ्रिसेवाप्रबल-सुमतिशाली बालशास्त्री करोति ।
मुनिवचनसुदृष्ट्या मुंबयीयाख्यपूःस्थाबुधजन-विधवीयोद्वाहकामस्य दाहम् ॥



श्री राजाराम शास्त्री

३

श्री राजाराम शास्त्री

(आस्पद — कार्लेकर : उपाधि — योगिसम्राट्)

पण्डित राजाराम शास्त्री सस्कृत भाषा के नाना शास्त्रो के प्रौढ विद्वान् होने के अतिरिक्त व्यावहारिक योगविद्या के भी निष्णात मनीषी थे। पाणिनीय व्याकरण मे तो वे महाभाष्यकर्ता पतञ्जलि के नूतन अवतार ही माने जाते थे। बुद्धि के निर्मल विलास, प्रतिभा के उदात्त चमत्कार तथा अध्यात्मज्ञान की अन्तर्मर्मज्ञता के कारण वे अपने काल की काशीस्थ विद्वन्मण्डली मे शीर्षस्थानापन्न माने जाते थे। सौभाग्य से उन्हींके प्रिय शिष्य महामहोपाध्याय पण्डित गङ्गाधर शास्त्री ने अपने गुरु के जीवन चरित्र का वर्णन काशी से ही प्रकाशित होनेवाले सुविख्यात 'पण्डित पत्र' (काशी विद्यासुधानिधि) की जिल्द १० मे सक्षेप मे किया है। उसीके आधार पर श्रीराजाराम शास्त्री की जीवनी का सक्षिप्त परिचय यहाँ उपन्यस्त किया जाता है।

जन्म एवं अध्ययन

काशी मे श्रौतविद्याधुरन्धर, तपस्वी, दाक्षिणात्य, चित्तपावन जातीय, गोविन्द शर्मा नामक ब्राह्मण निवास करते थे। इन्हीके तीन पुत्रो मे कनिष्ठ पुत्र राजाराम शास्त्रीजी थे। जब इनका वय दस वर्ष का था, तभी इनके पिता कैलासवासी हो गये। पिताजी के और्ध्वदैहिक सस्कारो का विधिवत् सम्पादन कर पण्डित राजारामजी ने सस्कृत के अध्ययन की ओर अपनी चित्तवृत्ति लगायी। फलतः काशी मे त्रिलोचनघाट के निवासी तपोमूर्ति **पण्डित हरि शास्त्री रानाडे** के पास अपना अध्ययन आरम्भ किया और थोडे ही समय मे इन्होने कौमुदी तथा सकल काव्य आदि मे व्युत्पत्ति प्राप्त कर ली। अनन्तर उस युग के महनीय विद्वान् नैयायिक **पण्डित दामोदर शास्त्री** से इन्होने तर्कशास्त्र का भी सुनिष्ठित अध्ययन किया। उस समय दामोदर शास्त्री वृद्ध हो गये थे। अतएव प्रतिभासम्पन्न राजाराम शास्त्री जैसे प्रतिभाशाली, व्युत्पन्न छात्र के अध्यापन मे अपने विशेष कष्ट की आशका से, इन्होने सस्कृतकॉलेज के व्याकरणागम के प्रधान पण्डित काशीनाथ शास्त्री अष्टपुत्रे के ऊपर अपने छात्र के अध्यापन का भार सौपकर, अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह किया। राजाराम शास्त्री ने गुरुवर्य काशीनाथ शास्त्रीजी के चरणो मे बैठकर व्याकरण के प्रौढ ग्रन्थो का तलस्पर्शी आलोडन किया और गुरु के नैसर्गिक अनुग्रह से उस विषय के पारगामी विद्वान् बन गये। इस घटना का उल्लेख म० म० प० गगाधर शास्त्री ने अपने गुरु के 'जीवनचरित' मे निम्नाकित श्लोक मे किया है--

यः सिक्त्वा श्रमवारिभिः कुसुमयन् नानाविधैर्हेतुभिः,
सिद्धान्तैः फलितं विधाय, बहुलैर्विद्वद्द्विजानन्ददम्।
विद्याकल्पतरुं चिरं स्थिरतरं कुर्याद् भवन्मूलकं,
रत्नं नूत्नमिदं ददामि भवते यत्नादयं पाल्यताम्॥

विद्या का सम्मान

उन्हीं दिनों विनायकराव पेशवा चित्रकूट मे निवास कर अपना सात्त्विक जीवन-यापन कर रहे थे। उनके यहाँ प्रतिवर्ष नाना देशो से समागत माननीय विद्वानो का शास्त्रार्थ-चर्चा के निमित्त समागम होता था तथा विशिष्ट विद्वानो को समधिक सत्कार तथा पारितोषिक दिया जाता था। उस वर्ष की 'वार्षिकी' सभा मे राजाराम शास्त्री भी सम्मिलित हुए और अपने प्रमेयबहुल शास्त्रार्थ चिन्तन के प्रदर्शन से उन्होने पेशवा को प्रभावित किया जिन्होने इन्हे सम्मान तथा पारितोषिक देकर अपना हार्दिक भाव प्रकट किया। उपस्थित समस्त पण्डितो को अपने वाग्वैभव तथा तर्कविन्यास से राजाराम शास्त्री ने परास्त कर दिया। इस तथ्य का उल्लेख कर पण्डित गङ्गाधर शास्त्री ने चित्रकूट मे प्रवास करनेवाले भगवान् रामचन्द्र से भी इन्हे समधिक विशिष्टता से सम्पन्न व्यक्ति सिद्ध किया है –

प्रागाश्रीयत रामेण चित्रकूटगिरिस्थितिः। खण्डिता वादिनां तेन चित्रकूटगिरिस्थितिः॥

काशी आकर इन्होने गुरुवर काशीनाथ शास्त्री से अवशिष्ट ग्रन्थरत्नो का अध्ययन समाप्त किया। उसी समय काशिराजकीय पाठशाला के अध्यक्ष जान म्यूर साहब ऐसे विद्वान् की खोज मे थे जो धर्मशास्त्र आदि सस्कृत शास्त्रो का प्रौढ़ विद्वान् तथा अग्रेजी कचहरी मे न्यायाधीश (जज) का गौरवपूर्ण कार्य करने की प्रभूत दक्षता रखता हो। राजाराम शास्त्री मे अपेक्षित सभी गुण प्रचुर मात्रा मे विद्यमान थे। वे धर्मशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् होने के साथ ही साथ व्यवहार-कार्य मे भी कुशल थे। फलतः म्यूर साहब ने इन्हे आजमगढ़ जिले की कचहरी मे जज के महत्त्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित किया। वहाँ शास्त्रीजी ने लगभग पाँच वर्षों तक अपने नूतन कार्य का विधिवत्, सुचारुरूपेण सम्पादन किया। उस समय अग्रेजी सरकार यह चाहती थी कि दीवानी कचहरियो मे न्यायाधीश के पद पर सस्कृत के ऐसे विद्वानो की नियुक्ति की जाय जो धर्मशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित हो और हिन्दू-स्मृतियो के अनुसार व्यवहार (मुकदमो) का निर्णय कर सके। चूँकि शास्त्रीजी उस समय काशी के सबसे बडे विद्वान् थे, अतः सरकार ने बडे सम्मान के साथ इनकी नियुक्ति आजमगढ़ जिले की कचहरी मे न्यायाधीश के पद पर की। इससे स्पष्ट ही अनुमान किया जा सकता है कि शास्त्रीजी का राजकीय क्षेत्र में भी कितना आदर था तथा धर्मशास्त्र के ये कितने बड़े विद्वान् थे। इसी कारण काशी से बाहर के विद्वान् भी धर्मशास्त्र के सम्बन्ध मे इनकी व्यवस्था लेने के लिए इनके पास आया करते थे और अपनी शकाओं का समाधान कराया करते थे। इस पद से निवृत्त होकर ये ग्वालियर गये और तत्कालीन महाराजा की सभा के पण्डितो को शास्त्रार्थ मे पराजित कर ग्वालियर-नरेश के द्वारा बहुमूल्य वस्त्र तथा द्रव्यराशि के द्वारा सम्मानित होकर वही कई महीनो तक ठहरे रहे।

ग्रन्थरचना

स० १९१२ विक्रमी (१८५५ ईस्वी) मे ग्वालियर से ये काशी लौट आये और अपने घर पर छात्रो को शास्त्रो का अध्यापन करते रहे। इसी समय अपने गुरुवर्य काशीनाथ शास्त्री के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अवलम्बन कर इन्होने **विधवोद्वाह-शङ्कासमाधिः** नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। उस युग मे विधवाओं के विवाह के विषय में बडा मतभेद था। नवीन सुधारक-गण उनके विवाह के पक्षपाती थे, परन्तु प्राचीन धार्मिक परम्परा के अनुयायी विद्वान् विधवा विवाह के नितान्त विरोधी थे। हिन्दू-समाज में उत्पन्न यह बहुचर्चित आन्दोलन पण्डितो के भी क्षोभ विक्षोभ का कारण बना हुआ था जिसकी मीमासा वैदिक धर्म के विद्वानो के लिए

भी ज्वलन्त विषय था। इसीका विमर्श गुरु तथा शिष्य के बीच कोटि-प्रकोटि परिष्कार के रूप में इस ग्रन्थ में संगृहीत किया गया है।

पण्डित राजाराम शास्त्री ने ग्रन्थ का प्रणयन कर अपने गुरुवर के चरणों में इसे समर्पित कर दिया, परन्तु गुणैकपक्षपाती गुरु ने प्रसाद-रूप से शिष्य के नाम से ही इसके प्रकाशन का आदेश दिया। फलतः यह ग्रन्थ राजाराम शास्त्रीजी के कृतिरूप में प्रकाशित हुआ।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे प्रसन्न होकर काशिराजकीय पाठशाला के तत्कालीन अध्यक्ष वेलेन्टाइन साहब ने (जो १८४६ ई० से लेकर १८६१ ई० तक — पन्द्रह वर्षों तक अध्यक्ष रहे) शास्त्रीजी को १८५६ ई० में कॉलेज मे साख्यशास्त्र के अध्यापक के पद पर नियुक्त किया। इसके बाद १९२० विक्रमी स० (१८६३ ई०) में कॉलेज के नये अध्यक्ष ग्रिफिथ साहब ने शास्त्रीजी की पदोन्नति कर धर्मशास्त्र के प्रधान अध्यापक के पद पर नियुक्त किया। कई वर्षों तक अध्यापन-कार्य का निर्वाह इन्होंने किया। इसी काल में बालशास्त्री ने इनसे धर्मशास्त्र आदि शास्त्रों का अध्ययन किया। अनेक छात्रों को अपनी अध्यापन-कला के द्वारा शास्त्रीय पाण्डित्य से सम्पन्न कर वृद्धावस्था आने पर इन्होंने कॉलेज से स्वेच्छया अवकाश ले लिया। भगवती भागीरथी के तीर पर किसी मठ मे योगाभ्यास करते हुए ये अपना जीवन बिताने लगे।

पॉच-छह वर्षों तक इसी प्रकार योगाभ्यास करते हुए शास्त्रीजी निरन्तर अध्यात्म-चिन्तन में सलग्न रहे। १९३२ वि० स० (= १८७५ ई०) मे भाद्रकृष्ण तृतीया के दिन श्री राजाराम शास्त्री अपनी पाञ्चभौतिक देह का विसर्जन कर परमधाम मे लीन हो गये।

इस समय इनका वय यदि सत्तर वर्ष मान लिया जाय, तो इनका जन्म लगभग स० १८६२ वि० (= १८०५ ई०) मे हुआ होगा। सस्कृतकॉलेज मे अध्यापक के पद पर इन्होने केवल १३ वर्ष तक ही कार्य किया (१९१३–१९२६ वि० स० =१८५६–१८६९ ई०), परन्तु इनका अध्यापन का कार्य लगभग २० वर्ष तक चलता रहा। इससे पूर्व ये आजमगढ़ में जज के पद पर भी कार्य करते रहे। इस प्रकार पण्डित राजाराम शास्त्री ने नाना दिशाओं में अपनी अलौकिक शेमुषी का प्रकाश कर योग से अपने जीवन का साफल्य प्राप्त किया।

बलिष्ठ देहयष्टि

श्रीयुत राजाराम शास्त्रीजी के विषय में दो सस्मरण बड़े महत्त्व के हैं। एक तो है उनके वैदुष्य तथा दैहिक बल के विषय मे और दूसरा है उनके आध्यात्मिक शिक्षण के बारे में। इनके वैदुष्य के विषय मे विद्वन्मण्डली की मान्यता है कि इनके व्याकरण आगम के अलौकिक पाण्डित्य को देखकर प्रतीत होता था कि पाणिनीय तन्त्र के पुनर्जीवन के लिए नया अवतार धारण करनेवाले मानो ये पतञ्जलि हों। योग के सन्तत अभ्यास के कारण इनकी देहयष्टि इतने शौर्य तथा वीर्य से सम्पन्न प्रतीत होती थी, मानो इनकी दृढ़ भुजाएँ भीमसेन की बाहुओं का स्मरण दिलाती हो। ये अखाड़े में उतरकर पहलवानों से मल्लयुद्ध किया करते थे तथा अपने दाँव-पेंच का प्रदर्शन कर दर्शकों को मन्त्र-मुग्ध बना दिया करते थे। सुना जाता है कि शास्त्रार्थ के प्रसंग में ये एक बार नेपाल पधारे। वहाँ का राजकीय नियम था कि दरबार के बाहर रखे गये नगाड़े को उतनी बार बजाना पड़ता था जितने शास्त्रों में उस पण्डित को शास्त्रार्थ करना अभीष्ट होता था। शास्त्रीजी नगाड़े को बजाते ही रह गये। ऐसे विलक्षण व्यक्ति को आदर के साथ राजा के सामने दरबार में लाया गया और नगाड़े पर निरन्तर चोट करने का जब कारण पूछा गया, तब इन्होंने सीधे-सादे शब्दों में कहा कि मै समग्र शास्त्रों का वरेण्य पण्डित हूँ और उन सब शास्त्रों में यहाँ के पण्डितो से शास्त्रार्थ करने आया हूँ। शास्त्रार्थ

के अनन्तर मै अखाड़े में कुश्ती की भी अपनी कलाबाजी तथा दाँव पेंच दिखाऊँगा। इसी अभिप्राय से मैने नगाड़े को इतनी बार बजाया है। दरबार के पण्डितों के साथ राजाराम शास्त्रीजी का जमकर कई दिनों तक शास्त्रार्थ चलता रहा। अन्त में विजयश्री इन्हे ही प्राप्त हुई। तदनन्तर अखाड़े में उतरकर शास्त्रीजी ने नेपाल के पहलवानों को कुश्ती के लिए ललकारा। अनेक पहलवानों से जमकर कुश्ती हुई, परन्तु शास्त्रीजी ने सब पहलवानों को धूल चटा दी। इस प्रकार अखाड़े की लड़ाई में भी ये विजयी हुए। इनका फोटो देखकर इनके बलिष्ठ तथा पुष्ट शरीर का परिचय पाना असम्भव नही है। इस प्रकार मस्तिष्क के विकास और शरीर के उपचय दोनों के विषय में राजाराम शास्त्रीजी अपना प्रतिस्पर्धी नहीं रखते थे।

स्वप्न में अध्यापन-कार्य

दूसरी घटना नितान्त आश्चर्यजनक है। पण्डित गङ्गाधर शास्त्री, शास्त्रीजी के पट्टशिष्य थे, जिन्होंने समस्त शास्त्रो का अध्ययन इनसे कर अद्भुत वैदुषी की सम्पत्ति प्राप्त की थी। परन्तु शास्त्रीजी के निधन के कारण योगसूत्रों के प्रामाणिक व्याख्यान व्यासभाष्य के अध्ययन का कुछ अश अवशिष्ट रह गया। उन अशों के अध्ययन की विकट समस्या सामने आयी। कहा जा चुका है कि राजाराम शास्त्रीजी योगशास्त्र के केवल सिद्धान्तो के ही ज्ञाता नही थे, अपितु व्यावहारिक रूप के भी प्रवीण मर्मज्ञ थे। अतः ऐसे योगविद् गुरु से, योग के ग्रन्थों का विधिवत् अध्ययन करने की कामना किसी शिष्य मे होना स्वाभाविक ही है। कहा जाता है कि गङ्गाधर शास्त्रीजी अपने अध्ययन के योग्य विषम स्थलवाले व्यासभाष्य की पोथी खोलकर अपने टेबुल पर रखकर सो जाते थे। रात में स्वप्न में ही राजाराम शास्त्रीजी उन अशों को अपने प्रिय शिष्य को पढ़ा देते थे। फलतः जगने पर शिष्य को सब दुरूह अशों का तात्पर्य सुगम सुबोध हो जाता था। कोई भी स्थल अन्याख्यात तथा अज्ञात नहीं रहता था। इस प्रकार पण्डित राजाराम शास्त्री के स्वप्नलोकीय अध्यापन के प्रभाव मे गगाधर शास्त्री की सब शंकाएँ निरस्त हो जाती थीं और समग्र ग्रन्थ का तथ्य हस्तामलकवत् उन्हें प्राप्त हो जाता था।

स्वप्नलोक के अध्ययन-अध्यापन की सत्ता पर सन्देह करने का कोई कारण नही है। गुरु जिस प्रकार भौतिक शरीर से अपने शिष्य को उपदेश देता है, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर से भी वह कार्य निष्पन्न कर सकता है -- इस तथ्य मे लेशमात्र शंका करने का स्थान नही है। महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज ने भी अपने एक गुरु शिवराम किंकर (सान्याल महाशय) के विषय मे ऐसे ही तथ्यो का उद्‌घाटन किया है। सान्याल महाशय अपने समय के एक वरिष्ठ तपस्वी, साधक तथा नाना शास्त्रों के विचक्षण मनीषी थे। पतञ्जलि का महाभाष्य पढ़ने की उन्हें बड़ी अभिलाषा थी। कलकत्ते में बंगीय पण्डितों में पाणिनीय तन्त्र के विद्वान् व्यक्ति के अभाव के कारण उनकी अभिलाषा पूर्ण नहीं हो रही थी। उन्होंने कलकत्ता-प्रवासी किसी मराठी वैयाकरण के सामने अपनी जिज्ञासा प्रकट की, तो उन्होंने इन्हें बड़ी डाँट बताई तथा अपमान भी किया। इस पर सान्याल महाशय ने प्रतिज्ञा की कि अब मैं पतञ्जलि से ही महाभाष्य पढूँगा। थे वे बड़े नैष्ठिक साधक, तपोमूर्ति विद्वान्। उन्होंने बहुत ही दुखित होकर, रो-रोकर, अपने अपमान की बात अपने मित्रों से कह सुनाई। एक रात रोते हुए सोने पर स्वप्न में महर्षि पतञ्जलि ने दर्शन दिया और ग्रन्थ के विषम स्थलो की ग्रन्थियों के सुलझाने की स्वीकृति दी। फलतः रात को सोते समय सान्याल महाशय ग्रन्थ के अध्ययनवाले पृष्ठों को खोलकर टेबुल पर रख देते थे। दूसरे दिन उठने पर उन पृष्ठों का तात्पर्य स्वतः हृदयंगम हो जाता था। इस प्रकार उन्होंने समग्र महाभाष्य का महर्षि पतञ्जलि से ही विधिवत् अध्ययन किया।

सरल स्वभाव

पण्डित राजाराम शास्त्रीजी की सौम्यता तथा सरलता के विषय में एक घटना प्रसिद्ध है जिसका उल्लेख पण्डित लक्ष्मण शास्त्री द्रविड़ ने 'विचारत्रयी' की अपनी भूमिका में किया है। राजाराम शास्त्रीजी के एक शिष्य सन्यास धारण कर **कृष्णाश्रम स्वामी** के नाम से प्रसिद्ध हुए। वे बड़े ही वावदूक थे तथा बड़ी सुन्दर कथा कहा करते थे। एक बार जब शास्त्रीजी पंचगंगा घाट पर गंगास्नान कर सीढ़ियों से ऊपर चढ़कर आये तब किसी मन्दिर के प्राङ्गण में से किसी कथावाचक के मधुर शब्द इनके कानो में पड़े। ये गली में ही मन्दिर के सामने रुककर कथा सुनने लगे। कथावाचक विष्णुसहस्रनाम की कथा कह रहे थे और 'अमानी मानदो मान्यः' इन नामों की व्याख्या सुना रहे थे। उन्होंने कहा—भगवान् अमानी है—स्वयं मान नहीं करते, परन्तु 'मानद' हैं—दूसरों को मान (सम्मान, आदर) देते है। और इसीलिए वे मान्य है—सबके द्वारा माननीय तथा आदरणीय हैं। इस व्याख्या को सुनकर राजाराम शास्त्रीजी ठिठककर खड़े रह गये। किसी श्रोता ने कथावाचक से शास्त्रीजी की उपस्थिति की बात कही, तो वे कथा बन्द कर बाहर निकले। वे शास्त्रीजी के पुरातन शिष्य कृष्णानन्द स्वामीजी थे। बाहर आने पर राजाराम शास्त्री ने उन्हें प्रणाम कर कहा—"मै विष्णुसहस्रनाम का नित्य पाठ करता हूँ, परन्तु आपने इन तीन नामों में जो पारस्परिक सम्बन्ध तथा स्वारस्य दिखलाया, वह नितान्त अभिनन्दनीय है। इस उपदेश के लिए मै आपका कृतज्ञ हूँ और प्रणाम करता हूँ।"

कृष्णानन्द स्वामीजी ने स्वय गुरुजी को प्रणाम किया और कहा कि मै तो आपका ही शिष्य हूँ। आपने मुझे जो शास्त्र पढ़ाया है उसीके बल पर कथा कहता हूँ। आप मेरे प्रणम्य हैं। प्रणाम कर मुझे लज्जित न करें। राजाराम शास्त्रीजी ने उन्हें रोककर कहा—"आप जब मुझसे पढ़ते थे, तब मेरे शिष्य थे। इस वेश मे आप मेरे उपदेष्टा गुरु ही है। मैं निश्चय आपको प्रणाम करूँगा। आप मेरा प्रणाम स्वीकार करें।"

कैसा निश्छल हृदय था राजाराम शास्त्रीजी का और कितनी सरलता थी उनकी वाणी में और कितनी उदात्तता थी उनके चरित्र में। उनके प्रति किसका मस्तक आदर से नत न हो जायगा। वे 'गुरूणा गुरुः' थे— आदर्श चरित्र, उदात्त व्यवहार तथा नैसर्गिक सरलता की प्रतिमूर्ति !!!

नव्यन्यायपरिष्कृति-रीत्या शब्दानुशासनेऽनुपमः ।
श्रीबालशास्त्रिपूज्यः श्रीराजारामशास्त्रिवरः ॥

ग्रन्थ-परिचय

पण्डित राजाराम शास्त्रीजी की केवल एक ही रचना प्रकाशित है, परन्तु वह इतनी प्रौढ़, प्रमाण-पुरस्कृत तथा पण्डितजनानुमोदित है कि केवल उसी रचना के आधार पर उनके लोकातीत पाण्डित्य की एक भव्य झाँकी विद्वज्जनों के सामने उपस्थित हो जाती है। वह एक महत्त्वपूर्ण लघुकाय धर्मशास्त्रीय निबन्ध है जिसका नाम है **विधवोद्वाहशङ्का-समाधिः**। रचना-काल है १९१२ विक्रमी संवत् (१८५५ ईस्वी)। यह तो सर्वत्र विख्यात ही है कि विधवा-विवाह के औचित्य का प्रथम प्रतिपादन बंगाल के राजा राममोहन राय ने किया था तथा उसके प्रचार के लिए 'ब्रह्मसमाज' एक नवीन धार्मिक संस्थान की स्थापना की थी। फलतः सनातनी बंगदेशीय जनता में इस प्रचार के कारण बड़ा क्षोभ उत्पन्न हुआ। तदनुसार बंगाल के कतिपय मान्य पण्डितों ने काशी के उस समय के वरिष्ठ धर्मशास्त्री पण्डित राजाराम शास्त्रीजी से विधवा-विवाह के शास्त्रीयत्व तथा अशास्त्रीयत्व के विषय में शंका उपस्थित कर उसके

समाधान के निमित्त विशेष आग्रह किया था। उसी आग्रह की पूर्ति के लिए राजाराम शास्त्रीजी ने इस अनुपम ग्रन्थ का प्रणयन किया था। ये इस शका के समाधान के लिए सर्वोत्तम व्यक्ति थे। ये काशिराजकीय पाठशाला मे धर्मशास्त्र के प्रधान अध्यापक थे और इससे पूर्व ये कचहरी मे धर्मशास्त्र के नियमानुसार निर्णय के लिए जज के पद पर नियुक्त भी किये गये थे।

विधवा-विवाह की शास्त्रीय व्यवस्था देने के लिए इन्होने धर्मशास्त्र तथा मीमासा का गाढ़ अनुशीलन कर अपने निर्णय को प्रामाणिक बनाया है। इस शका के जितने पक्ष विपक्ष उपस्थित किये जा सकते है, सबका इन्होने समाधान बडी ही सुन्दर युक्तियो तथा प्रौढ़ तर्कों के आधार पर किया। आज से ठीक सवा सौ साल पहले यह ग्रन्थ रचा गया था। अपने निर्णय को सार्वभौम तथा परिष्कृत बनाने के लिए इन्होने उस समय के गण्यमान्य पण्डितो की भी सम्मति ले ली। सम्मति देनेवाले पण्डितो की नामावली नीचे दी जाती है जिससे उस समय के पण्डितो के नामो का भी पता चलता है –

१. बैजनाथ भट्ट	२. सखाराम भट्ट
३. जयरामशर्मा भट्ट	४. रामचन्द्रशर्मा धर्माधिकारी
५. वेणीराम शर्मा शेष	६. शम्भु शर्मा चतुर्धर
७. गगाधर शास्त्री	८. विश्वनाथ शर्मा हर्डीकर
९. रामशास्त्री भट्ट	१०. काशीनाथ शास्त्री
११. उमाराव शर्मा सुकुल	१२. राजगुरु जीवनाथ पण्डितराज
१३. हीरानन्द शर्मा	१४. प० गुलजार शर्मा
१५. ईश्वरीदत्त शर्मा पाण्डेय	१६. शालग्राम उपाध्याय
१७. लज्जाशङ्कर शर्मा	१८. मनोरथ शर्मा
१९. देवदत्त शर्मा	२०. नारायण शास्त्री कुण्टे
२१. विट्ठल पण्डित	२२. सिद्धेश्वर शर्मा
२३. शङ्कर शास्त्री	२४. बैजनाथ भट्ट विश्वरूप
२५. गिरजाशकर पाठक	२६. अग्निहोत्री वैद्यनाथ पाठक
२७. नारायण मेघकर	२८. काकाराम पण्डित
२९. गोपालकृष्ण शर्मा याज्ञिक	३०. गणेश श्रौती
३१. घनश्याम मिश्र	३२. पुरुषोत्तम शास्त्री जोग
३३. सुन्दर शर्मा	३४. लक्ष्मीकान्त पण्डित
३५. तुलसीदत्त ओझा	३६. हरिचरण पण्डित
३७. मथुरानाथ शुक्ल	३८. प्रयागदत्त शर्मा त्रिपाठी
३९. व्यास लक्ष्मीशकर शर्मा	४०. द्विवेद बस्तीराम शर्मा
४१. चन्द्रदेव शर्मा विद्यालकार	४२. न्यायपञ्चानन ठाकुरदास देवशर्मा
४३. कालीप्रसाद शर्मा	४४. भगवतीचरण देवशर्मा
४५. हरनारायण तर्कालङ्कार	४६. सार्वभौम कृष्णदेव देवशर्मा
४७. रामशरण तर्कपञ्चानन	४८. ओझा चन्द्रधर शर्मा मैथिल
४९. उपाध्याय भोलानाथ शर्मा	५०. ओझा श्रीझुमक शर्मा
५१. ज्योतिर्विद् सेवाराम शर्मा	५२. दुर्गादत्त शर्मा

इस सूची के अवलोकन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय के पडितो मे दाक्षिणात्यो की ही प्रधानता न थी जैसा सामान्यतः समझा जाता है, प्रत्युत मैथिल, बगीय, गुजराती तथा

कान्यकुब्ज-देशीय पण्डितों की भी अच्छी संख्या थी और वे गण्यमान्य विद्वानों में गिने जाते थे जिनकी सम्मति का महत्त्व था तथा जिनकी सम्मति की व्यवस्थापत्र पर अपेक्षा रहती थी।

इन ५२ पण्डितों की सम्मति का रूप यही था—

श्रुतिस्मृति-निर्णीते शास्त्रार्थेऽस्त्यत्र सम्मतिः।

इस प्रकार काशी की समग्र विद्वन्मण्डली की सम्मति से समन्वित यह व्यवस्था-पुस्तक एकदेशीय न होकर सार्वभौम ग्रन्थ था और पण्डित राजाराम शास्त्री ने इसे विचारपूर्वक यही स्वरूप प्रदान भी किया था।

बालशास्त्री की टीका

परन्तु कालान्तर में बम्बई के किसी दाक्षिणात्य पण्डित ने **विधवोद्वाहविवेक** नामक ग्रन्थ की रचना की और अपने को राजाराम शास्त्रीवाले ग्रन्थ का खण्डन करनेवाले व्यक्ति के रूप में उल्लिखित किया। शास्त्रीजी ने उसकी उपेक्षा की, परन्तु उन्हीके प्रख्यात-कीर्तिशाली शिष्य बालशास्त्री ने इस विवेक का अक्षरशः खण्डन अपनी तिलकनाम्नी टीका में किया जिसका नाम उन्होंने रखा—**दोषाभास-निरासः**। उन्होंने इसे स्वतन्त्र ग्रन्थ का रूप न देकर **विधवोद्वाहशङ्कासमाधिः** के ही तिलक (व्याख्या) के रूप में प्रकाशित किया। मूल ग्रन्थ के साथ यह बालशास्त्रीप्रणीत 'तिलक' स० १९२६ (सन् १८६६) में काशी के 'मेडिकल हाल' यन्त्रालय में मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ। विद्वान् गुरु तथा प्रतिभाशाली शिष्य की यह सम्मिलित रचना अपने वैदुष्य, प्रामाणिकता एवं उपादेयता के कारण निःसन्देह एक आदरणीय तथा प्रौढ़ निबन्ध है।

पण्डित राजाराम शास्त्री ने ग्रन्थ के आरम्भ में अपने गुरु काशीनाथ शास्त्रीजी का आदरपूर्वक स्मरण किया है तथा विषयानुमत होने से पतिव्रता-शिरोमणि दाक्षायणी, गौरी, अनुसूया तथा अरुन्धती की स्तुति की है। उन्हींमें से उदाहरण रूप से दो-तीन श्लोक यहाँ दिये जाते हैं—

कल्याणाचलकुञ्जगुञ्जदलिनी-सङ्गीतलोलापि या
कर्णौ काम्यपधर्मसूक्तिकलितौ नान्यत्र दत्ते मनाक्।
या माता महसस्त्रयीमयतनोर्मूर्तेव पातिव्रती
सा नो भद्रममुद्रमाकलयतां दाक्षायणी सन्ततम्॥

यह तो भगवती दाक्षायणी अदिति की प्रशस्ति है। अब वसिष्ठ-पत्नी अरुन्धती की स्तुति पढ़िए—

या यायावरमुख्यतापसगणैः स्तोष्टूय्यमानाऽनिशं
सद्धर्मं गृणती पुनाति भुवनं साध्वी न यस्याः समा।
सच्चारित्र-विभूषणा गुणनिधिः, शच्यादिसीमन्तिनी-
नित्याराधितपादपङ्कजयुगा साऽरुन्धती पातु नः॥

विधवा-विवाह के आकर्षण का भी वर्णन सुनिये—

विषयाभिलाषुकाणां नृपतीनामिव नृणां न केषां वा।
प्रीत्यै भवति पुनर्भूपरिग्रहो लोलबुद्धीनाम्॥

परन्तु विधवा-विवाहकर्ता सर्वदा निन्दनीय ही है—

तदपि सनातनधर्मं प्राप्यानुश्रविकमात्महितकामैः।
नादरणीयाः कुधियः सुकृतक्षतिहेतवो बुधैर्जातु॥

●

काकाराम पण्डित

जम्मू प्रान्त के अन्तर्गत तहसील रेयासी, ग्राम भम्भर मे आपका जन्म पण्डित दिलारामजी शास्त्री के पुत्ररूप मे हुआ स० १८१० मे (= १७५३ ई०)। राम की तीव्र उपासना से शास्त्रीजी को इस पुत्र की प्राप्ति हुई। पजाब मे बच्चो को 'काका' के नाम से पुकारते है। रामचन्द्र की कृपा से बच्चे का जन्म मानकर पिताजी ने यही प्रेममय अभिधान रखा। बडी तीव्र बुद्धि थी। १६ दिनो मे ही सुनते है कि पूरी लघुकौमुदी तैयार कर सस्कृत की विशिष्ट योग्यता प्राप्त कर ली। काशी मे पिताजी विद्यालाभ के लिए लाये।

काशी मे भी आपने वृद्धकाल के निवासी ब्रह्मलीन विश्वेश्वराश्रम स्वामीजी से (जिनके वशज पण्डित गोविन्दशास्त्री द्रविड वर्तमान है) कुछ काल तक अध्ययन किया था, इसका प्रमाण आपकी विरचित **आत्मपुराण की टीका** के अवलोकन से मिलता है। काशी मणिकर्णिका विष्णुपादुका के समीप ही आपने चैतन्यावस्था मे इस नश्वर देह को छोडा था। उस समय दैवी चमत्कार भी उपस्थित लोगो ने प्रत्यक्ष किया था कि गगाजी से सर्प के एक जोडे ने आकर शास्त्रीजी के शरीर की प्रदक्षिणा की थी और उसके बाद ही आप शिष्यो को उपयुक्त उपदेश देते हुए ब्रह्मलीन हो गये थे।[1]

काकाराम पण्डित अध्ययन के निमित्त काशी आनेवाली सारस्वत ब्राह्मणो की मण्डली के अग्रगण्य थे। पिताजी विद्या-अर्जन करने के लिए पूरे परिवार के साथ काशी मे आ गये। उस समय इनका वय १६ साल का था। फलतः यह घटना १८२६ विक्रमी की होनी चाहिए। जम्मू के अपने पूर्वोल्लिखित ग्राम से पैदल ही चलकर यह पूरा परिवार काशी आया। काशी मे दशाश्वमेध घाट पर अपना पडाव डाला। कपडे के ऊपर शास्त्रार्थ के लिए पण्डितो के आह्वान निमित्त सूचना लिखकर टाँग दी गयी थी। कई दिनो के बाद किसी सन्यासी के द्वारा प्रेरित विद्वान् शास्त्रार्थ के लिए पधारे। उस समय पिताश्री पूजा अर्चा मे सलग्न थे। काकाराम ने ही आने के कारण जानकर प्रश्नो को पूछा। वेदान्त शास्त्र के गम्भीर प्रश्न थे। बालक ने कहा – पिताश्री पूजा मे व्यस्त है। अतः मै ही उत्तर दे रहा हूँ। यदि सन्तोषजनक उत्तर न होगा, तो दूसरे समय आकर उनसे पूछ लीजियेगा। प्रश्नो का समुचित उत्तर सुनकर पण्डितजी बालक काकाराम के वैदुष्य से चमत्कृत हो उठे। इस प्रकार इनकी कीर्ति काशी के भीतर फैलने लगी। बाबू बुद्धसिह खत्री ने मणिकर्णिका घाट पर मणिकर्णिकेश्वर महादेव के सामने पूरा मकान ही डेढ हजार रुपयो के साथ भेट मे दे दिया और उनके शिष्य बन गये। कालान्तर मे काश्मीर नरेश गुलाब सिह ने इनकी कीर्ति से प्रभावित होकर जम्मू लौटने के लिए आग्रह किया। परन्तु काकारामजी ने काशी छोडना स्वीकार नही किया, तब एक लाख रुपया दक्षिणा मे दिया जिससे मकान तथा मन्दिर का निर्माण किया गया। वि० स० १८६७ (= १८१० ई०) को मन्दिर तैयार हो गया। वसन्तपचमी के ही दिन इसकी वास्तु प्रतिष्ठा हुई। आज भी वह

१ काशीस्थ सारस्वत-सभाज के द्वारा प्रकाशित श्री सारस्वत स्मारिका (प्रकाशन-काल २०४० वि० स०) ने काकारामजी का जीवनवृत सक्षेप मे दिया है। उसीके आधार पर यह विवरण प्रस्तुत है।

मन्दिर और मकान पण्डितजी के वशजों के पास है और २५ रु० महीना काश्मीर महाराज से आज भी प्राप्त हो रहा है। सं० १८४७ विक्रमी मे नेपाल के महाराजा शमसेर जंगबहादुर ने गुरु मानकर भूमि प्रदान की जिसका लिखा पट्टा आज भी विद्यमान है। इस प्रकार राजा महाराजाओं से सम्मानित होकर पण्डित काकारामजी ने काशी के मणिकर्णिका घाट पर ७५ वर्ष की आयु मे शिवसायुज्य प्राप्त किया।

आत्मपुराण का परिचय

काकाराम पण्डित की सर्वश्रेष्ठ प्रामाणिक रचना है- आत्मपुराण की सस्कृत टीका जिसका नाम है--'सत्प्रसवा'। आत्मपुराण उपनिषदों के गम्भीर विषयों की सरल-सुबोध शैली में निबद्ध अभिराम अनुष्टुप् मे निर्मित विवेचना प्रस्तुत करता है। इसके रचयिता परमहंस परिव्राजकाचार्य **आनन्दात्मा** पूज्यपाद के शिष्य **शंकरानन्द** भगवत्पाद है जो अपने युग के सम्माननीय विद्वान् संन्यासी थे। इनका सादर अभिनन्दन विद्यारण्य स्वामी अपनी प्रख्यात पञ्चदशी के आरम्भ मे गुरुरूप मे इस प्रकार करते है

नमः श्रीशंकरानन्दगुरुपादाम्बुजन्मने। सविलासमहामोहग्राहग्रासैककर्मणे॥

फलतः इनका आविर्भाव विद्यारण्य मे पूर्व चतुर्दश शताब्दी के प्रारम्भ में मानना समुचित है। आत्मपुराण के अन्तिम १८वे अध्याय में कावेरीतीरवासी गुरु द्वारा शिष्य के उपदेश का प्रसंग है जिससे इनका जन्मस्थान इसी नदी के तटस्थित किसी ग्राम में होना प्रतीत होता है -

इदं गुरुः स्वशिष्याय कावेरीतीरवासिने। उक्तवान् श्रद्दधानाय स्नेहादेव च केवलम्॥

ग्रन्थ की पुष्पिका में आत्मपुराण **उपनिषद्रत्न सारार्थ-विलास** अभिहित है जिसे उपनिषदों में वर्णित विषयो के सार अर्थ का प्रकाशक माना गया है। इसके १८ अध्याय है। श्लोको की सख्या आठ-दश सहस्र से न्यून नही है। उपनिषदों का विवृत विवरण इस प्रकार है—(१) अध्याय में ऐतरेय उपनिषद् का, (२) कौषीतकी उप०, (३) वही विषय, (४-७) चार अध्यायों में बृहदारण्यक उप०, (८) श्वेताश्वतर, (९) कठोपनिषद्, (१०) तैत्तिरीय उप०, (११) में एकादश उपनिषद् (– जाबाल, गर्भ, ब्रह्म, परमहंस, हंस, आरुणेय, क्षुरिका, अमृतनाद, महत्, आत्मप्रबोध, कैवल्य,, (१२ १४) तीन अध्यायों में छान्दोग्य, (१५) तलवकारोपनिषद्, (१६) मुण्डक, (१७) प्रश्न, (१८) नृसिंहतापनी— पूर्व तथा उत्तर, तथा ईशावास्य। यहाँ प्रत्येक पूर्ववर्णित उपनिषद् के सार-अर्थ का प्रकाशन है। फलतः प्रत्येक अध्याय 'उपनिषद् सारार्थ-प्रकाश' नाम्ना व्यवहृत होता है। ग्रन्थ में उपनिषदों की आख्यायिका के द्वारा प्रश्नोत्तर-शैली में तद्गत अध्यात्मतत्त्व का विस्तरशः निरूपण है। पुराण-शैली में होने पर भी श्लोक पुराणीय पद्यों के अनुसार उतने सरल-सुबोध नहीं हैं। श्लोक काव्य-शैली में निबद्ध हैं जिनके अध्ययन से ग्रन्थ का तात्त्विक मर्म पाठकों के सामने दर्पणवत् प्रतिबिम्बित होता है। पद्यों की सुषमा निरीक्षण करने योग्य है।

उपनिषद् तथा पुराण की वर्णन-शैली में अन्तर है। उपनिषद् समास-शैली में निबद्ध है, तो पुराण व्यास-शैली में विरचित है। प्रथम सूत्रात्मक है, तो दूसरा भाष्यात्मक है। आत्मपुराण का मुख्य तात्पर्य है उपनिषदों के गूढ़ आध्यात्मिक तत्त्वों का विशद शैली में आख्यान तथा दृष्टान्त के द्वारा परिबृंहण जिससे सामान्य श्रोताओं को भी गूढ़ विषय का ज्ञान सरलता से हृदयंगम हो जाय। परिबृंहण तथा विस्तृतीकरण नितान्त मंजुल तथा प्रशंसनीय है। उदाहरण के लिए याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का संवाद अवलोकनीय है। मूल बृहदारण्यक

उपनिषद् मे बीस–बाईस पद्यों मे समस्त उपदेश है, परन्तु आत्मपुराण के षष्ठ अध्याय मे पूरे साढ़े पॉच सौ पद्यो मे मौलिक उपदेश इतनी सुन्दरता से तथा उदाहरणो की प्रचुरता से दिया गया है कि पूरा विषय नेत्रो के सामने झलकने लगता है। लेखक के अनुसार इस पुराण का उपयोग श्रोताओं को सुनाने के लिए विशेष है। इस प्रकार आत्मपुराण को तत्तद् उपनिषदो के सारतत्त्व का श्लोकबद्ध विस्तृत विवरण मानना सर्वथा समुचित है। उपनिषदों मे सार वस्तु सूक्ष्म सूत्ररूप मे निर्दिष्ट है, तो आत्मपुराण मे हम उन्हीका विस्तृत तथा मञ्जुल विशदीकरण पाते है। इसी विस्तृतीकरण तथा विशदीकरण के कारण ही ग्रन्थ का 'पुराण' अभिधान सर्वथा अन्वर्थक प्रतीत होता है।

इसीकी व्याख्या काकाराम पण्डित ने अपनी 'सत्प्रसवा' नामक टीका द्वारा प्रस्तुत की है। टीका बडी प्राञ्जल, विशद तथा अर्थप्रतिपादक है। इसकी अन्तरङ्ग परीक्षा से काकारामजी के विषय मे प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्यो की उपलब्धि होती है। पुष्पिका से पता चलता है कि इनके सारस्वत ब्राह्मणकुल का नाम दत्त था, पितामह का नाम कृष्णचन्द्र, पिता का दिलाराम सूरि, अपना नाम रामकृष्ण था। 'काकाराम' इस प्रकार पिता माता के द्वारा रखा गया प्यार का नाम था जो मूलनाम की अपेक्षा लोक मे अधिक प्रसिद्ध हुआ। काशी मे इनके प्रधान गुरु विश्वेश्वराश्रमजी थे। जन्म पौष शुक्ल द्वादशी वि० स० १८४२ (१७८५ ई०) मे तथा निधन वि० स० १९१७ (१८६० ई०) मे हुआ। आत्मपुराण व्याख्या का रचना काल १८८५ वि० स० (१८२८ ई०)—

बाणेनगाहिविधुभिर्मिते वर्षेऽर्कविक्रमात्। नभसः सितपञ्चम्यां काश्यां पूर्तिमियं गता॥

मरण-सवत् से पॉच वर्ष पूर्व १८५५ ई० मे इनका हस्ताक्षर काकाराम पण्डित के नाम से मिलता है जो पण्डित राजाराम शास्त्री के 'विधवोद्वाहशङ्कासमाधिः' नामक सस्कृत ग्रन्थ को प्रामाणिकता से मण्डित करनेवाले काशीस्थ विद्वानो की सूची मे २८वे स्थान पर है। फलतः काकाराम पण्डित गत शताब्दी के मध्यकाल मे काशीस्थ विद्वानो मे मान्य एव गण्य सर्वथा स्वीकार किये जाते थे। इनकी टीका का नाम 'सत्प्रसवा' है जिसे ये सत्पुरुषो के द्वारा अनुज्ञा देने पर निर्मित होने से सर्वथा अन्वर्थक मानते है। टीका[१] निस्सन्देह पाण्डित्यपूर्ण है और उपनिषदो के विषम स्थलो की मर्मप्रकाशिनी है।

काकारामजी के पट्टशिष्य

स्वामी निश्चलदासजी

काकाराम पण्डितजी के ही ये प्रख्यात शिष्य थे जिन्होने काशी मे बीस साल तक निवास कर दर्शनशास्त्र का, विशेषतः अद्वैतवेदान्त के चूडान्त ग्रन्थो का अध्ययन किया था। हिन्दी के माध्यम से उन दुरूह तत्त्वो को सरल-सुबोध बनाने का प्रथम तथा सफल प्रयास निश्चलदासजी ने ही किया था। ये दादूपन्थ के एक परमाराध्य सन्त थे जिन्होने अपना पूरा जीवन ही पन्थ के प्रचार प्रसार मे लगा दिया। इनका जन्म सवत् १८४८ (= १७९१ ईस्वी) के आसपास हरियाणा के घनाणा नामक स्थान मे, जो हिसार जिले मे भिवानी से आठ कोस उत्तर की ओर है, हुआ था। माता का स्वर्गवास होने पर अकेले बाप बालक को लेकर दिल्ली चले आये (वि० स० १८६२ = १८०५ ई०) और दादूपन्थी महात्मा अलखरामजी के पास आये जिन्होने पिता-पुत्र दोनो को पन्थ की दीक्षा दी। आरम्भिक शिक्षा के अनन्तर स०

१ आत्मपुराण तथा टीका का प्रकाशन बम्बई की प्रसिद्ध गोपालनारायण कपनी ने किया है, १८२७ शाक स० (१९०५ ई०)।

१८६३-६४ में १५-१६ वर्ष के वय में ये काशी में और अस्सीघाट पर दादूमठ में ठहरे। काशी में उस समय सर्वाधिक ख्यातनामा काकाराम पण्डित से संस्कृत भाषा तथा दर्शन का विधिवत् अध्ययन बीस वर्षों में सम्पन्न कर प्रौढ़ पण्डित बन गये। ३५-३६ साल के वय में ये दिल्ली लौट आये और किडहौली नामक स्थान पर रहने लगे। यहीं पर रहकर ये अध्ययन-अध्यापन करते रहे।

राजपूताने के बून्दी रियासत के अध्यात्मप्रेमी राजा रामसिंह के विशेष आग्रह करने पर ये संवत् १६०० के आसपास बूँदी पधारे। राजासाहब ने निश्चलदासजी से वेदान्त के प्रधान ग्रन्थों का अध्ययन किया और सामान्य जनता के लिए हिन्दी में वेदान्त-विषयक ग्रन्थ लिखने के लिए विशेष आग्रह किया। स्वामीजी ने यह प्रस्ताव स्वीकृत किया और **वृत्तिप्रभाकर** की रचना हिन्दी में की तथा साथ में सेवा-शुश्रूषा में संलग्न साधुओं के सौकर्य के लिए **विचार-सागर** का निर्माण किया। दादूपन्थ के सिद्धान्त के प्रचारार्थ ये राजपूताने के कई स्थानों में गये। रामगढ़ नामक किसी गाँव में दादूपन्थी साधुओं की मान्यता को दृढ़ करने के लिए किसी मङ्गलदत्त पण्डित से शास्त्रार्थ करने के लिए जब ये पहुँचे, तब पण्डितजी कहीं भाग गये, ऐसा सुना जाता है। सं० १६२० विक्रमी की श्रावण कृष्णा चतुर्दशी को (= १८६३ ईस्वी) स्वामी निश्चलदासजी दिल्ली में ब्रह्मलीन हो गये।

स्वामी मङ्गलदासजी (राजस्थान का प्रधान शिक्षाकेन्द्र श्री दादूमहाविद्यालय रामपुर) के अनुसार ऊपर का विवरण दिया गया है। उनका कहना है कि स्वामीजी की दो ही रचनाएँ मुद्रित होकर प्रकाशित हैं—वृत्तिप्रभाकर तथा विचार-सागर, परन्तु मेरी दृष्टि में स्वामी निश्चलदास की तीसरी रचना भी प्रकाशित है जिसका नाम **युक्तिप्रकाश** है। इस ग्रन्थ में वेदान्त के ३६ सिद्धान्तों का बड़े ही सुन्दर ढग से सरल भाषा में विवरण दिया गया है। इसका मुद्रण-प्रकाशन गुजराती प्रिंटिंग प्रेस के द्वारा किया गया है।

निश्चलदासजी के विषय में एक जनश्रुति है। ये जाट थे। अतः काशी का ब्राह्मण पण्डित किसी जाट को वेदान्त का अध्यापन नहीं करायेगा, इस आशंका से उन्होंने गुरुजी के पूछने पर अपनी जात छिपा ली, अपने-आपको ब्राह्मण बताया। विद्याभ्यास के अनन्तर सुयोग्य छात्र के साथ गुरु ने अपनी पुत्री का विवाह करना चाहा, तब इन्होंने अपनी जात प्रकट की। काकारामजी इस घटना से बड़े ही सन्तप्त हुए और शिष्य को भी सन्तप्त अशान्त रहने का अभिशाप दिया। लोगों का कहना है कि निश्चलदासजी पर यह अभिशाप पूरा उतरा और वे प्रतिदिन यावज्जीवन दो घंटों के लिए ज्वराक्रान्त रहते थे। दिन ढलने पर ज्वर उतर जाता था। ज्ञानी गुरु का शाप जो ठहरा।

स्वामी निश्चलदासजी का **विचारसागर** वास्तव में वेदान्त-विषयक विचारों का सागर ही है जिसमें अनमोल मोती बिखरे पड़े हैं। ये हिन्दी के सर्वाधिक प्राचीन दर्शन-लेखक हैं। सिद्धान्त दोहों में और उनका भाष्य गद्य में है। शास्त्र तथा अनुभव—दोनों के आधार पर निर्मित यह ग्रन्थरत्न अपनी सुबोध शैली, उदात्त उदाहरण तथा रोचक विवेचन के कारण अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। इसका मूल गद्य सधुक्कड़ी भाषा में होने से उतना हृदयंगम नहीं था। इसका सुन्दर बोधगम्य हिन्दी में अनुवाद करने के लिए हम 'राष्ट्रभाषा-पतञ्जलि' निगमानन्द परमहंसजी के विशेष आभारी हैं।[1]



१ प्रकाशक—श्री साधुबेला स्वयंसेवक मण्डल, बम्बई, तृतीय संस्करण १९६७ ई०।

५

पण्डित श्रीरङ्गाचार्य

वृन्दावन में श्रीवैष्णवो का एक अत्यन्त प्रख्यात रामानुज-सस्थान है जिसे 'श्रीरगजी' के नाम से पुकारते है। इसी सस्थान के पीठाधीश्वर आचार्य पण्डित श्रीरङ्गाचार्य विद्या-वैभव से मण्डित श्रीवैष्णव सिद्धान्त के पारगामी, शास्त्रार्थ कला के अद्वितीय उत्कर्षसम्पन्न व्यक्ति होने के नाते उत्तरभारतीय पण्डितमण्डली में अपना प्रतिस्पर्धी नही रखते। वे आचार्य रामानुज के द्वारा प्रतिष्ठित तथा पल्लवित श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के महामहनीय आचार्य थे। इनका जन्म मद्रास प्रान्त के काञ्ची के पास पॉच कोस पूरब दिशा मे 'अहरन्' नामक गॉव मे विक्रमसवत् १८६४ (१८०७ ईस्वी) कार्तिक कृष्ण नवमी को हुआ था अपने मातामह के घर मे। पिता का नाम था पण्डित श्रीनिवासाचार्य। इनके तीन पुत्रों मे श्री रंगाचार्यजी कनिष्ठ पुत्र थे। आरम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। १६ वर्ष के वय तक इन्होंने सस्कृत के व्याकरण तथा साहित्य का अध्ययन सम्पन्न कर लिया। न्यायशास्त्र के इनके आदिगुरु थे पण्डित ऐया स्वामी ऐयगार। न्यायशास्त्र मे 'एकत्व' का अच्छा अनुगम कर इन्होंने अपने शास्त्रीय वैदुष्य का अच्छा परिचय दिया। इनकी शास्त्रीय प्रौढि का अवलोकन कर गुरुजी ने इन्हे पढ़ाना छोड दिया। बीस वर्ष के वय मे न्यायदर्शन मे समधिक प्रौढता प्राप्त करने के उद्देश्य से ये काञ्ची से काशी चले आये वि० स० १८८५ में (= १८२८ ई०) और यही पण्डित अभया भट्टाचार्य से न्याय के चूडान्त ग्रन्थों का अनुशीलन कर अपनी दार्शनिक उत्कृष्ट बुद्धि का परिचय दिया। इनके विद्या-वैभव से प्रसन्न होकर माडा के राजा ने इन्हे वार्षिक वृत्ति बॉध दी थी जिसे लेने के लिए ये माडा जाया करते थे।

काशी शास्त्रार्थकला की उत्पादन भूमि है। यही रहते हुए श्री रगाचार्यजी ने गादाधरी एव जागदीशी के अपने अद्भुत विवेचन से शास्त्रार्थ करने में पण्डितों से साधुवाद प्राप्त किया। एक रात को इन्होने स्वप्न देखा कि ये वरुणा नदी के तट पर सन्ध्यावदन कर रहे थे तभी किसी विकटाकार भैसे ने इन्हे दौड़ाया। गुरुजी से जब स्वप्न के तात्पर्य की जिज्ञासा की, तब उन्होंने काशी छोड़कर पश्चिम दिशा में जाने का इसे संकेत बतलाया। फलतः ये मथुरा चले आये। वही गोवर्धन पर रामानुजों की एक गद्दी थी जिस पर श्रीनिवासाचार्य विराजमान थे। उसी समय वि० स० १८९२ (= १८३५ ई०) में मथुरा के सेठ राधाकृष्ण इनके शरणागत हुए। वे जन्मतः तो जैनधर्मावलम्बी थे, परन्तु मथुरा के उपास्य भगवान् श्रीकृष्ण के परमभक्त बन गये थे। वे श्रीरगाचार्यजी के अनुमोदन पर वृन्दावन में एक अपूर्व विशाल मन्दिर बनाने लगे और इस पवित्र कार्य में उन्होने अपना सर्वस्व—पूरी सम्पत्ति—ही लगा दिया परन्तु मन्दिर अधूरा ही रह गया। तब सेठजी के जेठे भाई लक्ष्मीचन्द ने अपना धन लगा कर मन्दिर के निर्माण को पूरा किया। इनमें धार्मिक संकीर्णता का सर्वथा अभाव था। ये नितान्त उदार थे। फलतः इन्होंने अपने अनुज के कार्य को पूरा किया। यह मन्दिर इतना विशाल,

विस्तीर्ण तथा वैभवसम्पन्न है कि यह समस्त उत्तर भारत के प्रख्यात मन्दिरों की सूची में अग्रगण्य है। मूर्ति तथा मन्दिर के पूजा के उपकरण आदि सब वस्तुयें ठोस सोने की बनी हुई हैं। इस गद्दी पर पण्डित श्रीरगाचार्यजी विराजमान होकर अपनी विद्या को और भी प्राञ्जल तथा उदात्त बनाने से विरत नहीं हुये। वे विद्याभ्यास करते ही रहे।

नव्यन्याय में समधिक प्रौढता प्राप्त करने की इच्छा से नदिया (बगाल) के न्यायरत्न भट्टाचार्य के शिष्य पण्डित पार्वतीचरण भट्टाचार्य से इन्होंने विद्याभ्यास किया तथा टोंक के शास्त्रार्थविजयी प० श्रीकृष्णशास्त्रीजी से अपनी विद्या को चमत्कारी एवं आकर्षक बनाने में पूरी सहायता ली। इस नव्यन्याय के अध्ययन का सद्यः फल हुआ शास्त्रार्थ में उत्कर्ष तथा विजय। शास्त्रार्थ के सन्दर्भ में ये काशी आये और पण्डितों से शास्त्रार्थ में अपना चमत्कार दिखलाने लगे। काशी के तत्कालीन विद्वद्वरेण्य काशीनाथ शास्त्री को (जो सस्कृत कालेज के प्रथम पण्डित तथा व्याकरण के अध्यापक थे) इनका शास्त्रार्थ-कौशल देखकर चमत्कृत होना पड़ा था। दोनों पण्डित समकालीन थे।

श्रीरगाचार्य की शिष्यमण्डली बढ़ने लगी। इन्होने बूँदी के महाराज रामसिंह को श्रीवैष्णव धर्म की दीक्षा दी। जयपुर के नरेश महाराजाधिराज रामसिंह द्वितीय परमशैव थे। जयपुर को भूतभावन महादेव के मन्दिरों से इन्होने अलकृत एव भूषित कर दिया। १९२१ वि० स० (= १८६४ ई०) में जयपुरनरेश ने बूँदीनरेश से आठ प्रश्न किये जिसका उत्तर उन्होने अपने गुरु श्रीरगाचार्य मे लिखवा कर भेजा। बस क्या था ? घोर शास्त्रार्थ छिड़ गया। शास्त्रार्थ का विषय था वही गहन विषय, अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत के वेदानुमोदित होने की समस्या। शैवमत अद्वैत का अनुयायी है, तो श्रीवैष्णव मत विशिष्टाद्वैत का, दोनो में से प्रत्येक अपने ही को उपनिषदों के द्वारा व्याख्यात सिद्धान्त का अनुयायी मानता है और दूसरे को अवैदिक मानता है। फलतः लिखित शास्त्रार्थ दोनों पक्षों में छिड़ गया। श्रीरगाचार्य अपने पक्ष के समर्थन मे मीमासा के अधिकरणों से संपुटित अवच्छेदकावच्छिन्न की प्रौढ़ नैयायिक भाषा में प्रश्नों का उत्तर देने लगे तथा शिव की अपेक्षा विष्णु की मान्यता तथा अद्वैत की अपेक्षा विशिष्टाद्वैत की वैदिकता को सिद्ध करने में अपनी लेखनी का चमत्कार दिखाने लगे। सच तो यह है कि यह शास्त्रार्थ दक्षिणभारत की देन है। तमिलनाडू मे पास-पास दोनों ही रहते हैं ऐयर भी तथा ऐयगर भी। दोनों के मत भिन्न भिन्न है। शैवमतानुयायी ऐयर अद्वैतवादी हैं, तो वैष्णवमतानुयायी ऐयंगार विशिष्टाद्वैती है। दोनों आपस में झगड़ते रहते हैं। और यही झगड़ा उत्तर भारत में भी यहाँ के पण्डितो में भी चलाया जाता है। अस्तु प्रकृतमनुसरामः।

जयपुरनरेश के यहाँ मीमासामण्डित पण्डितों की पहले कमी थी। फलत. श्रीरंगाचार्य को मुँहतोड़ जवाब नहीं मिल रहा था। जब पण्डित मधुसूदन ओझा के पितृव्य राजीवलोचन ओझा घूमते-घामते जयपुर दरबार में पहुँचे, तब जयपुर का उत्तर भी मुँहतोड़ होने लगा। बहुत दिनों तक उत्तर-प्रत्युत्तर का यह गरम व्यवसाय चलता रहा। अन्त में श्रीरंगाचार्य ने 'दुर्जनमुखचपेटिका' नामक शैव सिद्धान्तों का खण्डन करने वाला ग्रन्थ निकाला जो साम्प्रदायिक भावनाओं से युक्त था। पण्डित राजीवलोचन ओझा तथा कथाभट्ट श्री छोटेलालजी नामावाल ने उसका खण्डन करते हुए 'सज्जनमनोऽनुरञ्जनम्' नामक ग्रन्थ प्रकाशित कराया। तब जाकर यह लिखित शास्त्रार्थ की चर्चा समाप्त हुई।

श्रीरंगाचार्यजी के एतद्विषयक ग्रन्थ हैं—'दुर्जनकरिपञ्चानन' तथा 'व्यामोह-विद्रावण'

जो शास्त्रार्थ की शैली में ही संस्कृत में निबद्ध हैं। इतना ही नहीं; वे भक्त भी प्रथम श्रेणी के थे। तमिळ भाषा में निबद्ध 'सहस्त्रगीति' का उन्होंने संस्कृत में अनुवाद किया था तथा उस पर मार्मिक भाष्य का भी प्रणयन किया था। वृन्दावन के दूसरी गद्दी के स्वामी शठकोप स्वामी का श्राद्ध भी उन्होंने अपने हाथों किया था तथा अपनी उदारता का परिचय दिया था।[१]

अन्ततः वि० स० १९३० (= १८७३ ईस्वी) में चैत्रशुक्ल नवमी को पण्डितप्रवर श्रीरंगाचार्य ने अपना पार्थिव शरीर छोड़ा और वे भगवान् पद्मनाभ के श्रीचरणों में समर्पित हो गये।



१. यह परिचय दिवंगत पण्डित माधवप्रसाद मिश्र के लेख के आधार पर है जो 'माधवप्रसाद मिश्र ग्रन्थावली' में प्रकाशित है। (इंडियन प्रेस, प्रयाग)

श्री बापूदेव शास्त्री

(आस्पद—'देव', उपाधि—महामहोपाध्याय तथा सी० आई० ई०)

गवर्नमेण्ट सस्कृतकॉलेज के इतिहास के प्रारम्भिक पचास वर्षों मे कॉलेज मे अनेक शास्त्रो का अध्यापन किया जाता था ओर अनेक शास्त्रो के अध्यापक नियुक्त किये गये थे परन्तु इन विद्वानो के विषय मे थोड़ा भी विवरण प्राप्त नही होता। इन पण्डितो का कुछ वर्णन 'स्केच आफ दि राइज एण्ड प्रोग्रेस आफ दि बनारस पाठशाला' नामक अप्रकाशित अग्रेजी ग्रन्थ मे पाया जाता है। इसी ग्रन्थ के आधार पर तथा तत्कालीन वृद्ध जनो से सुनी सुनायी जन श्रुतियो का अवलम्बन कर पण्डित सुधाकर द्विवेदी ने **गणक-तरगिणी** नामक अपनी खोजपूर्ण पुस्तक मे इस काल के केवल ज्योतिष शास्त्र के कतिपय अध्यापको का कुछ विवरण प्रस्तुत किया है। इसीके आधार पर इन आरम्भकालीन पण्डितो की सक्षिप्त चर्चा यहाँ की जाती है।

(क) प्राचीन ज्योतिषाध्यापक

(१) पण्डित लक्ष्मीपति— ये पर्वतीय ब्राह्मण थे। काशी मे ये सिद्धान्तज्योतिष के प्रचारक थे तथा पाटीगणित एव बीजगणित मे अत्यन्त प्रगल्भ थे। इनके समय से ही फलितज्योतिष का ह्रास और गणितज्योतिष की उन्नति प्रारम्भ हुई। काशिराजकीय पाठशाला मे ये गणितज्योतिष के प्रथम अध्यापक थे। इनका जन्म लगभग १७४८ ई० तथा मृत्यु १८२० ई० मे हुई थी। इन्होने अनेक छात्रा को तैयार किया जिनमे प० कृष्णदेव, प० शिवलाल और प० दुर्गाशकर पाठक आदि विख्यात हुए।

(२) पण्डित कृष्णदेव— ये लक्ष्मीपति के पुत्र तथा शिष्य दोनो थे। पिता की मृत्यु के बाद ये इसी सस्कृतकॉलेज मे ज्योतिष के प्रधानाध्यापक हुए। ये ज्योतिषशास्त्र की गोलविद्या मे अत्यन्त निपुण थे, परन्तु इन्होने किसी ग्रन्थ का निर्माण नही किया। इनका जीवनकाल सन् १७७५ ई० से लेकर १८३५ ई० समझना चाहिए। अपने पिता की मृत्यु के अनन्तर ये सन् १८२० ई० मे राजकीय पाठशाला मे ज्योतिषशास्त्र के अध्यापक नियुक्त हुए।

(३) पं० लज्जाशंकर शर्मा ये गुजराती मोढ ब्राह्मण थे। इन्होने लक्ष्मीपति तथा दुर्गाशकर पाठक से ज्योतिष शास्त्र का सम्यक् अध्ययन किया था। ये पण्डित कृष्णदेवजी के सहायक थे और उनकी मृत्यु के पश्चात् इन्होने इस पाठशाला मे ज्योतिष शास्त्र की गद्दी को सुशोभित किया। इनका जन्म सन् १८०४ ई० तथा मृत्यु सन् १८५९ ई० मे हुई थी। इस प्रकार इन्होने केवल ५५ वर्ष की आयु प्राप्त की थी।

(४) पं० लज्जाशंकर शर्मा --के गुरु **पण्डित दुर्गाशंकर पाठक** प्रकाण्ड विद्वान् थे। ये अपने घर पर ही शिष्यो को ज्योतिष तथा काव्यशास्त्र का अध्यापन किया करते थे। ये



श्री बापूदेव शास्त्री

औदीच्य ब्राह्मण थे और अपनी विद्वत्ता के कारण 'जगद्गुरु' कहलाते थे। यह प्रसिद्धि है कि पजाब के राजा रणजीत सिह के अनन्तर राजा खड्गसिह के गद्दी पर बैठने का शुभ मुहूर्त इन्ही पाठकजी ने दिया था। राजकुमार निहाल सिह के जन्म के अवसर पर इन्होने राजकुमार की जो जन्मकुण्डली बनायी थी वह बहुत ही चित्र विचित्र थी जिस पर प्रसन्न होकर महाराजा ने इनको एक लाख रुपया पुरस्कार के रूप मे प्रदान किया था। प० दुर्गाशकर पाठक के अनेक शिष्य थे जिनमे ज्योतिषशास्त्र के शिष्य प० लज्जाशकर की चर्चा की जा चुकी है। साहित्यशास्त्र मे इनके पट्टशिष्य **प० हीरानन्द चतुर्वेदी** थे जो इसी पाठशाला मे कालान्तर मे साहित्य-विभाग के प्रधानाध्यापक नियुक्त हुए। इस प्रकार प० दुर्गाशकर पाठक केवल ज्योतिष के ही विद्वान् नही थे, अपितु काव्यशास्त्र के भी ये प्रवीण पण्डित थे।

(५) पण्डित नन्दलाल शर्मा – इसी काल मे प० लज्जाशकर शर्मा के विभाग मे ये द्वितीय अध्यापक थे जो प० सुधाकर द्विवेदी के पिता प० कृपालुदत्त द्विवेदी के गुरु थे। ये इलाहाबाद जिले के कडामानिकपुर गॉव के निवासी सरयूपारीण ब्राह्मण थे। ये फलितज्योतिष के बहुत बडे विद्वान् थे और इस विद्या मे इन्होने प्रचुर धन का अर्जन किया था। इनकी जन्म तिथि १८०४ ई० तथा मृत्युतिथि १८६७ ई० थी।

(६) देवकृष्ण शर्मा— इनके पिता का नाम रामधन मिश्र था। इनका जन्म १८१८ ई० मे हुआ था। इन्होने लज्जाशकर शर्मा से सकल शास्त्रो का अध्ययन करके २०–२२ वर्ष की अवस्था मे ही अपने घर पर ही छात्रो को ज्योतिष का अध्यापन प्रारम्भ कर दिया था। उन दिनो कश्मीर मे राजा रणवीर सिह राज्य करते थे। इन्ही राजा के निमत्रण पर शर्माजी कश्मीर गये और राजज्योतिषी के पद पर प्रतिष्ठित होकर नौ वर्षों तक कश्मीर (जम्मू) मे निवास किया। जम्मू से लौटने के पश्चात् ये सन् १८६८ ई० मे गवर्नमेण्ट सस्कृत कॉलेज मे ज्योतिष के अध्यापक हो गये। इन्होने सन् १८८६ ई० मे कॉलेज से अवकाश ग्रहण किया। म० म० प० सुधाकर द्विवेदी इन्ही शर्माजी के पट्टशिष्य थे। प० देवकृष्ण शर्मा म० म० बापूदेव शास्त्री के समय मे ज्योतिष के सहायक अध्यापक थे। शर्माजी की नियुक्ति के पहले ही म० म० प० बापूदेव शास्त्री की नियुक्ति सन् १८४२ ई० मे हो गई थी जिसका विस्तृत विवरण दिया जा रहा है।

(ख) जीवनी

महामहोपाध्याय प० बापूदेव शास्त्री सी० आइ० ई० अपने युग के महान् विद्वान् और प्रतिभाशाली ज्योतिर्विद् थे। इनका प्रतिद्वन्द्वी शायद ही कोई व्यक्ति हो। उस युग मे पश्चिमी गणित का प्रचार अग्रेजी शिक्षा के साथ साथ देश मे होने लगा था परन्तु भारतीय परम्परागत गणितज्ञो का ध्यान इस शास्त्रीय विषय की ओर अभी तक आकृष्ट नही हुआ था। उभय प्रकार की गणित पद्धतियो का यह सम्मेलन केन्द्र था। पाश्चात्त्य गणित को आत्मसात् करने की आवश्यकता थी। उसके सिद्धान्तो को लेकर अपने प्राचीन भारतीय सिद्धान्तो के साथ उसके समन्वय की अत्यन्त अपेक्षा थी। परन्तु इस समन्वय के लिए एक ऐसे विचक्षण गणितज्ञ की आवश्यकता थी जो पाश्चात्त्य गणित के साथ भारतीय गणित का सामञ्जस्य स्थापित कर सके। इसी प्रकार की लोकातीत प्रतिभा के धनी तथा समन्वय कार्य मे पाटव सम्पन्न पण्डित थे म० म० बापूदेव शास्त्री। इन्होने अपनी प्रतिभा के बल से भारतीय ज्योतिष को एक नया मोड दिया। भारतीय ज्योतिष का क्षेत्र बडा सकीर्ण तथा सीमित हो गया था। उस सकीर्णता

से हटाकर, पाश्चात्त्य गणित के विशाल प्रागण मे इसे लाकर इन्होने खड़ा कर दिया। इस कार्य की परिणति तो प० सुधाकर द्विवेदी की अलौकिक विद्वत्ता का फल है परन्तु इसे आरम्भ करने का श्रेय प० बापूदेव शास्त्री को ही प्राप्त है। यह इनकी महनीयता है। यही इनकी महती उपलब्धि है।

पूर्वपुरुष तथा जन्म

महाराष्ट्र में पश्चिमी समुद्र के किनारे रत्नागिरि जनपद मे बेलणेश्वर महादेव के द्वारा अलकृत बेलणेश्वर नामक गॉव वर्तमान है जहॉ पर दाक्षिणात्य ब्राह्मणो के अन्तर्गत वेद-पाठ-परायण पराजपे नामक चित्तपावन ब्राह्मण निवास करते है। महादेव की सेवा में निरत होने के कारण वहॉ के निवासियो ने इन लोगो को 'देव-पराजपे' की उपाधि से मण्डित किया। कुछ दिनो के पश्चात् वही के निवासी चिन्तामणि पराजपे उस गॉव से हटकर अहमदनगर मण्डल के अन्तर्गत 'काय गॉव टोका' नामक गॉव मे आकर रहने लगे। इसी चिन्तामणि पराजपे के पुत्र का नाम सदाशिव था जिनके आत्मज सीताराम पराजपे हुए। यही सीताराम शास्त्री हमारे चरित नायक के पिता थे। इन्हीकी पत्नी सत्यभामा के गर्भ से बापूदेव शास्त्री का जन्म कार्तिक शुक्ल षष्ठी, रविवार, विक्रमी स० १८७६ (तदनुसार २४ अक्टूबर १८१६ ई०) को हुआ। इनके पिताजी ने इनका नाम 'नृसिह' रखा परन्तु घरवालो ने अत्यन्त प्रिय होने के कारण इस बालक का नाम 'बापू' रख दिया और इसी नाम से ये अपने जीवन में प्रसिद्ध हुए।

शिशु की रुग्णता के कारण इनकी माता सत्यभामाजी बडी खिन्न एव उदास रहती थी। एक तो उनकी अनेक सताने कालकवलित हो गयी थी तथा दूसरे नया दो साल का शिशु भी सर्वदा बीमार ही रहा करता था। फलतः माता ने अपने कुलदेवता नरसिहजी की कृपा पाने के लिए बड़ी प्रार्थना की। नरसिह ने १८७८ वि० स० कार्तिक शुक्ल षष्ठी को सत्यभामा को स्वप्न दिया कि चिन्ता मत कर। यह तेरा शिशु चिरजीवी तथा भाग्यशाली होगा और कुल की प्रतिष्ठा का मूल कारण होगा। माता नरसिहजी के इस आशीर्वाद से नितान्त प्रसन्न हुई और इसी तिथि को शिशु का जन्म-दिन मानने लगी, परन्तु यह माता की विशेष भावुकता ही थी अन्यथा बापूदेवजी का वास्तविक जन्म सवत् १८७६ ही है, १८७८ नही।

शिक्षा

प्राचीन दाक्षिणात्य परम्परा के अनुसार इन्होने आरम्भ मे अष्टाध्यायी, शिक्षा, पिगल-सूत्र, रूपावली, अमरकोष तथा आयुर्वेदीय 'माधव-निदान' आदि ग्रन्थो का अध्ययन किया। उपनयन-सस्कार के पश्चात् वेद तथा वेदाङ्गो का भी पारायण किया। परन्तु किसी दारुण रोग से आक्रान्त हो जाने के कारण इन अधीत ग्रन्थों की स्मृति इनके मस्तिष्क से जाती रही। अतएव इनके पिता इन्हें अपने साथ नागपुर ले गये जहॉं वे नौकरी करते थे। वहॉं फिर इन्होंने रघुवश तथा लघुकौमुदी आदि पढ़ना प्रारम्भ किया। इसके अनन्तर ये अपने पिता के साथ महाराष्ट्र की बौद्धिक राजधानी पूना गये। इसी नगर में पण्डित पाण्डुरग तात्या दिवेकर की पाठशाला में गणित शास्त्र का अध्ययन करने लगे। इस शास्त्र के अध्ययन में इनकी बुद्धि का विकास होने लगा। पूना में कुछ दिनों तक रहकर ये पिता के साथ पुनः नागपुर चले

आये। यहीं पर इन्होंने पं० ढुण्ढिराज मिश्र नामक एक कान्यकुब्ज ज्योतिर्विद् से लीलावती तथा बीजगणित आदि ज्योतिष के प्रसिद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया।

बापूदेव शास्त्री के द्वारा ज्योतिष शास्त्र के प्रौढ़ ग्रन्थों के अनुशीलन तथा पाश्चात्त्य गणित के अध्ययन की अपनी एक रोचक कहानी है। इनके पिता के मित्र मिस्टर लान्सिलाट विलकिन्सन नामक अंग्रेज विद्वान्, सिहोर के 'पोलिटिकल एजेन्ट' थे। वे पाश्चात्त्य गणित के विद्वान् थे। उन्होंने बापूदेव शास्त्री की ख्याति सुनकर इन्हें बुलाया तथा बीजगणित-सम्बन्धी कुछ प्रश्न पूछे जिनका सम्यक् उत्तर पाकर विलकिन्सन साहब बहुत ही प्रसन्न हुए। परन्तु सिद्धान्त गणित के प्रश्नों का उत्तर देने में ये असमर्थ रहे। अतः विलकिन्सन साहब सिद्धान्त गणित के गम्भीर अध्ययन के लिए इन्हें अपने साथ सिहोर लेते आये और सिहोर नगर के पं० सेवाराम के सान्निध्य में इनके अध्ययन करने का प्रबन्ध कर दिया। इन गुरु के चरणों में बैठकर ये 'सिद्धान्तशिरोमणि' ग्रन्थ का और विलकिन्सन साहब से बीजगणित और रेखागणित का अध्ययन करने लगे।

सिहोर नगर उस समय बड़ा प्रसिद्ध नगर माना जाता था। मध्यप्रदेश में स्थित सिहोर जिले का यह आज प्रशासनिक नगर है। ब्रिटिश शासनकाल में यह सैनिक छावनी था और इस कारण यहाँ पोलिटिकल एजेन्ट रखे जाते थे। १८३० ई० से १८४० ई० के बीच में मिस्टर लान्स.ला८ विलकिन्सन वहाँ के पोलिटिकल एजेन्ट और एक प्रकार से उस क्षेत्र के शासनाधिकारी थे। उन्हींकी विशेष कृपा से बापूदेवजी को गणित के अध्ययन का विशेष अवसर मिला और आगे चलकर काशी के संस्कृतकॉलेज में ज्योतिष-विभाग में नियुक्ति भी हुई। राजपूताने के सिरोहीराज के मुख्य नगर सिरोही से इसकी अभिन्नता मानना नितान्त अनुचित है।

इस प्रकार इन विषयों में इन्होंने प्रगाढ़ पाण्डित्य प्राप्त कर लिया। बापूदेव शास्त्री की यह बड़ी अभिलाषा थी कि गवर्नमेण्ट संस्कृत कॉलेज, काशी में स्थापित ज्योतिष-विभाग के अध्यापक-पद पर नियुक्त हो जायँ। परन्तु अपने आश्रयदाता विलकिन्सन साहब के दिवंगत हो जाने से इनकी अभिलाषा उस समय पूर्ण नहीं हो सकी।

काशिराजकीय पाठशाला की व्यवस्था एक कमेटी के हाथ में थी जिसमें काशीनरेश, काशी के कलक्टर तथा काशी के गण्यमान्य रईस सम्मिलित थे; कोई प्रिन्सिपल या अध्यक्ष नहीं था। केवल एक मुंशी पण्डितों की हाजिरी लेता, मासिक वेतन देता और कमेटी की आज्ञा सुनाता था। सन् १८४० के १६ दिसम्बर को कमेटी ने निश्चय किया कि फोर्ट विलियम कॉलेज (कलकत्ता) के सेक्रेटरी कप्तान जे० टी० मार्शल साहब कलकत्ते के प्रख्यात संस्कृत-विद्वान् **पण्डित जयनारायण तर्कपञ्चानन** के साथ इस विद्यालय का निरीक्षण करें और अध्यापन के विषय में सुझाव दें। उन्होंने विद्यालय का निरीक्षण किया और संस्तुति की कि नैचुरल फिलासफी तथा संस्कृत-गणित पढ़ाने के लिए एक नये अध्यापक की आवश्यकता है। इसकी खबर मेजर टी० विलकिन्सन साहब को [illegible]ी और उन्होंने बापूदेवजी को सर्वथा योग्य समझकर उनके लिए कलकत्ते में सिफारिश भेजी। सिफारिश सफल रही और बापूदेवजी की यहाँ नियुक्ति हो गई।

कहना न होगा कि विलकिन्सन साहब की कृपा का ही यह शुभ परिणाम था, परन्तु इस आश्रयदाता का ३५ साल की कच्ची उम्र में ही हठात् निधन हो गया। भाग्य की कृपा

समझिए कि उन्ही दिनो दिवगत साहब के भ्राता मेजर टी० विलकिन्सन नागपुर के रेजिडेन्ट नियुक्त हुए थे। बापूदेवजी ने एक प्राचीन शिलालेख की नकल इतनी सुन्दरता तथा शुद्धता से बनाकर साहब को दी कि वे अत्यन्त प्रसन्न हो गये। दो सौ रुपयो का पुरस्कार देकर इन्हे काशी भेज दिया। काशी मे ये बडे आनन्द तथा प्रसन्नता से आये। यहां आने पर ये अपना कार्य सॅभालने लगे।

अध्यापन कार्य

सन् १८४२ ई० मे १५ फरवरी को इनकी नियुक्ति गवर्नमेण्ट सस्कृतकॉलेज मे ज्योतिष-अध्यापक के पद पर हुई। उस समय छात्रो के लिए पाठ्य-पुस्तको का नितान्त अभाव था। अतः शास्त्रीजी ने छात्रो के कल्याण के लिए सिद्धान्त तथा गणितशास्त्र के नवीन ग्रन्थो का निर्माण तथा सम्पादन करके शिष्यो का बडा ही उपकार किया। इसी समय इन्होने अग्रेजी भाषा का भी अध्ययन किया। इनकी विद्वत्ता, ग्रन्थ लेखन एव सरल स्वभाव से इस कॉलेज के तत्कालीन प्रिन्सिपल बैलेण्टाइन साहब अत्यधिक प्रसन्न थे। आठ वर्षों तक अध्यापन करने के पश्चात् सन् १८५० ई० मे काशी के तत्कालीन जिलाधीश मेकलोड साहब ने इनसे गणितसम्बन्धी ग्रन्थो के निर्माण करने का आग्रह किया। फलस्वरूप इन्होने **बीजगणित** नामक ग्रन्थ को हिन्दी मे लिखकर सन् १८५० ई० मे बम्बई से प्रकाशित कराया। यह पुस्तक इतनी विद्वत्तापूर्ण थी कि पश्चिमोत्तर प्रान्त (आधुनिक उत्तरप्रदेश) के तत्कालीन लेफ्टिनेण्ट गवर्नर ने इन्हे दो हजार रुपयो के पुरस्कार से सम्मानित किया। 'इग्लिश जर्नल आफ एजुकेशन' नामक शोध-पत्रिका मे सिद्धान्त-ज्योतिष-विषयक एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसकी सूचना इन्हे अपने प्रिन्सिपल से मिली। बापूदेव शास्त्री ने उस लेख को पढ़कर उसमे अनेक अशुद्धियाँ निकाली जिन्हे उस लेख के प्रणेता ने स्वीकार भी कर लिया। सन् १८६१ ई० मे इन्होने लान मिलट विलकिन्सन महोदय द्वारा **सूर्यसिद्धान्त** ग्रन्थ के अग्रेजी अनुवाद को अपनी उपपत्ति तथा टिप्पणियो के साथ 'एशियाटिक सोसाइटी आफ बेङ्गाल' की सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थमाला 'बिब्लोथिका इण्डिका' मे प्रकाशित कराया। इसी ग्रन्थ के 'गोलाध्याय' का भी अग्रेजी अनुवाद १८६१ ई० मे इसी प्रकाशनसस्था के द्वारा प्रकाशित होकर विख्यात हुआ। प० बापूदेवजी की रचनाओं मे सस्कृत मे निबद्ध **सरलत्रिकोणमितिः**[1] पाश्चात्त्य गणित के तथ्यो को देववाणी के माध्यम से अभिव्यक्ति देने की प्रक्रिया मे एक सफल महनीय ग्रन्थ है जो सौ वर्षों से अधिक बीतने पर भी आज अपनी महत्ता से विरहित नही हो सका है। शास्त्रीजी की ही प्रेरणा से पौरस्त्य तथा पाश्चात्त्य गणित के महामनीषी पण्डित-प्रवर नीलाम्बर झा ने सस्कृत मे **गोलप्रकाश** नामक ग्रन्थ की रचना की जिसे शास्त्रीजी ने ही १७९३ शकाब्द (१८७१ ई०) मे अपने ही तत्त्वावधान मे काशी से प्रकाशित कराया था। आगे चलकर **चापीय त्रिकोणमिति** के नाम से इसीका एक भाग प्रकाशित हुआ। आज भी इसके समकक्ष ग्रन्थों के अभाव के कारण यही ग्रन्थ विश्वविद्यालयो मे विशिष्ट पाठ्यग्रन्थ है।

(ग) ग्रन्थ-रचना

प० बापूदेव शास्त्री ने सस्कृत तथा हिन्दी दोनो ही भाषाओं मे ग्रन्थ रचना की है जिनकी सूची प्रकाशन-काल के साथ यहाँ दी जाती है—

---

१ गोविन्द पाठक के सम्पादकत्व मे सस्कृत विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, काशी २०३४ वि० (१९७७ ई०)।

(क) संस्कृत के ग्रन्थ	प्रकाशन-काल
१. सूर्यसिद्धान्तः—सोपपत्तिकः	सन् १८६१ ई०
२. फलितविचारः	सन् १८६२ ई०
३. सायनवादः	सन् १८६२ ई०
४. मानमन्दिर-वर्णनम्	सन् १८६२ ई०
५. प्राचीन-ज्योतिषाचार्याशय-वर्णनम्	सन् १८६२ ई०
६. तत्त्वविवेक-परीक्षा	सन् १८६२ ई०
७. विचित्र-प्रश्नसंग्रहः, सोत्तरः	सन् १८६२ ई०
८. अतुलयन्त्रम्	सन् १८६५ ई०
९. पञ्चक्रोशीयात्रानिर्णयः	सन् १८७२ ई०
१०. नूतनपञ्चाङ्गनिर्माणम्	सन् १८७५ ई०
११. पञ्चाङ्गोपपादनम्	सन् १८७५ ई०
१२. सिद्धान्तशिरोमणिग्रन्थे चलगणितम्	सन् १८५८ ई०

(ख) हिन्दी भाषा में निर्मित ग्रन्थ	
१३. बीजगणितम्	सन् १८५६ ई०
१४. व्यक्तगणितम्	सन् १८५० ई०
१५. भूगोलवर्णनम्	सन् १८५० ई०
१६. खगोलसारः	सन् १८५० ई०

इस प्रकार बापूदेव शास्त्री ने अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों की रचना की। इन ग्रन्थों की सूची के निरीक्षणमात्र से ही इनकी गम्भीर विद्वत्ता का पता चलता है। म० म० बापूदेव शास्त्री संस्कृत के सबसे प्रथम पण्डित थे जिन्होंने हिन्दी भाषा में ज्योतिष के ग्रन्थों के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया था। पं० सुधाकर द्विवेदी ने इन्हींका पदानुसरण किया, यह कथन कुछ अनुचित न होगा।

बापूदेव शास्त्री ने अंग्रेजी भाषा में भी कम-से-कम अपने दो ग्रन्थों को प्रकाशित किया था जिनमें एक था अङ्कगणित का और दूसरा था बीजगणित का। पहले का नाम था एलिमेण्ट्स आफ अरिथमेटिक (दो भाग, प्रकाशन-समय १८७५ ई०) और दूसरे का नाम था एलिमेण्ट्स आफ अलजब्रा (भाग प्रथम, प्रकाशन-वर्ष १८७५ ई०)।

इससे स्पष्ट है कि शास्त्रीजी गणित की अभिवृद्धि के लिए सर्वतोभावेन समर्पित थे। इन्होंने केवल संस्कृत में ही रचना नहीं की, अपितु लोकप्रियता की दृष्टि से हिन्दी तथा अंग्रेजी में भी एतद्विषयक ग्रन्थों का निर्माण किया।

सम्मान की प्राप्ति

म० म० पं० बापूदेव शास्त्री को अपनी अलौकिक विद्वत्ता के कारण बहुशः सम्मान की प्राप्ति हुई। सन् १८६४ ई० में पाश्चात्त्य अंग्रेज विद्वानों ने इनके अलौकिक पाण्डित्य से प्रभावित होकर इन्हें लन्दन की रायल एशियाटिक सोसाइटी का आनरेरी मेम्बर (मानद सदस्य) बनाकर सम्मानित किया। डाक्टर बेलेण्टाइन के द्वारा सूर्यसिद्धान्त नामक ग्रन्थ पर इनके विद्वत्तापूर्ण कार्य से अवगत होने पर पंजाब के तत्कालीन गवर्नर मेकलोड साहब ने इनकी

भूरि भूरि प्रशसा की थी। अपने बीजगणित नामक ग्रन्थ की इन्होने अनेक परिष्कारो के साथ द्वितीयावृत्ति प्रकाशित की जिससे प्रसन्न होकर पश्चिमोत्तर प्रदेश (अब उत्तरप्रदेश) के लेफ्टि० गवर्नर सर विलियम म्योर ने इन्हे तीर्थराज प्रयाग मे बहुमूल्य रेशमी वस्त्र तथा एक सहस्र मुद्राएँ पुरस्कार के रूप मे प्रदान की थी। सन् १८७० ई० मे भारत के वाइसराय ने शास्त्री महोदय को कलकत्ता विश्वविद्यालय का फेलो (सम्मान्य सदस्य) नियुक्त कर इनकी विद्वत्ता का समादर किया। सन् १८७३ ई० मे इन्होने सूर्य और चन्द्र-ग्रहण लगने का जैसा समय निर्धारित किया था उस समय से यह ग्रहण एक क्षण भी इधर-उधर नही हुआ। इससे प्रसन्न होकर कश्मीर के महाराजा ने इन्हे पॉच सौ रुपये मूल्य का पश्मीने का दुशाला तथा एक सहस्र मुद्रा पारितोषिक के रूप मे प्रदान की। सन् १८७५ ई० मे काशीनरेश की आज्ञा से इन्होने नूतन पचाग का निर्माण किया जिसके लिए महाराजा ने दो सौ रुपये प्रतिवर्ष पेन्शन के रूप मे प्रदान किया।

इनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर भारत के वाइसराय ने इन्हे अनेक पदवियो से विभूषित किया। सन् १८७७ ई० मे महारानी विक्टोरिया क राजराजेश्वरी होने के सम्मान मे माननीय पचास भारतीय विद्वानो को पदक प्रदान कर सम्मानित किया गया था, उनमे प० बापूदेव शास्त्री अन्यतम थे। दूसरे वर्ष भी सन् १८७८ ई० की पहली जनवरी को विक्टोरिया के 'राजराजेश्वरी' पद प्राप्त करने के निमित्त जो विशेष समारोह हुआ था उसमे इन्हे सी० आई० ई० की महनीय उपाधि से विभूषित किया गया था। ये सस्कृत के सर्वप्रथम पण्डित थे जिन्हे यह उपाधि प्राप्त करने का गौरव प्राप्त है। सन् १८८७ ई० मे महारानी विक्टोरिया की जो गोल्डेन जुबिली (सुवर्णजयन्ती) मनायी गई थी उमी समय सस्कृतपण्डितो के सम्मान के लिए सर्वप्रथम 'महामहोपाध्याय' की पदवी का निर्माण किया गया था। उस समय बापूदेव शास्त्री इस 'महामहोपाध्याय' की पदवी से विभूषित किये गये। सन् १८८६ ई० मे ४७ वर्षों के सुदीर्घ काल तक राजकीय कॉलेज मे सेवा करके इन्होने अवकाश ग्रहण किया। इस प्रकार इन्होने ७० वर्ष के वय तक सरकारी नौकरी की। परन्तु इन्होने अगले वर्ष ही आषाढ कृष्ण चतुर्थी, शुक्रवार, वि० स० १९४७ (सन् १८९० ई० के ७ जून) को काशीधाम मे अपने पाञ्चभौतिक शरीर का परित्याग किया।

(घ) नवीन पञ्चाङ्ग का सूत्रपात

श्री बापूदेव शास्त्रीजी का भारतीय पञ्चाङ्ग निर्माण मे भी विशेष योगदान सर्वदा अविस्मरणीय रहेगा। इस पञ्चाङ्ग का नाम है— **दृक्-सिद्ध पञ्चाङ्ग**। इसका वैशिष्ट्य यह है कि यह आधुनिक यन्त्रो के द्वारा निर्मित ग्रहवेधो के ऊपर आश्रित है। फलतः इसके निर्माण मे भी पाश्चात्त्य ज्योतिष गणना का समुचित उपयोग किया गया है। लण्डन के ग्रीनविच राजकीय वेधशाला के द्वारा सम्पन्न तथा 'भारतीय नाटिकल अलमनक' को आधार मानकर ग्रहो का वेध स्वीकार किया जाता है। इस पञ्चाग के निर्माण का आरम्भ बापूदेव शास्त्रीजी ने काशिराज ईश्वरीप्रसादनारायण सिहजी की अनुमति से वि० स० १९३३ (=१८७६ ई०) मे किया। तब से वे प्रतिवर्ष इस दृक्-सिद्ध पञ्चाग का प्रकाशन करते रहे। उनके कैलासवासी होने पर उनके शिष्य ज्योतिःशास्त्र-मार्तण्ड श्री चन्द्रदेव शास्त्री, दैवज्ञवाचस्पति श्री विनायक शास्त्री वेताल तथा ज्योतिर्वेद-विशारद श्री महादेव शास्त्री घाटे आदि विद्वान् बापूदेव शास्त्री की पद्धति का अनुसरण कर १९८० विक्रमी (=१९२३ ई०) तक इस पञ्चाङ्ग को प्रकाशित

करते रहे। तदनन्तर शास्त्रीजी के सुयोग्य पुत्र दैवज्ञ पं० श्री गणपतिदेव शास्त्री इसका परिवर्धन कर स्वयं पञ्चांग प्रकाशित करते रहे। अपने वार्धक्य के कारण शास्त्रीजी ने म० म० नारायण शास्त्री खिस्ते के माध्यम से उत्तरप्रदेश के मुख्यमंत्री श्री सम्पूर्णानंदजी को इसे समर्पित कर दिया। तब से उत्तरप्रदेशीय सरकार ही इसे प्रकाशित करती रही। २१ मार्च १९५८ ई० में संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना होने पर इसके प्रकाशन का भार अब इस विश्वविद्यालय पर ही है। आज इस पञ्चांग के प्रकाशन का १०५वाँ वर्ष है और यह विश्वविद्यालय के अनुसन्धान-संस्थान द्वारा नियमित रूप से प्रकाशित होकर धार्मिक जनता की सेवा कर रहा है। वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय में तिथि तथा उत्सवादि की मान्यता इसी पञ्चांग द्वारा सम्पन्न की जाती है।

'दृक्-सिद्ध पञ्चांग' की विद्वन्मान्यता की कथा बड़ी रोचक एवं शिक्षाप्रद है। आज से १०५ वर्ष पहले १९३३ विक्रमी वर्ष के लिए पं० बापूदेव शास्त्री ने अपना प्रथम पञ्चांग बड़े परिश्रम तथा अध्यवसाय के साथ बनाया। यह काशीनरेश ईश्वरीप्रसादनारायण सिंहजी के आदेशानुसार निर्मित किया गया था। शास्त्रीजी ने इसके पण्डितों द्वारा मान्य तथा प्रामाणिक होने की अभिलाषा से काशी के ही विद्यानुरागी तथा विद्वज्जनानुरागी रईस बाबू गुरुदास मित्र से अपना अभिप्राय प्रकट किया। काशी के चौखम्भा मुहल्ले में आज भी एक बंगाली कोठी (हवेली) है जो एक छोर से दूसरे छोर तक फैली हुई है। इसके मालिक राजेन्द्र मित्र नामक एक सम्पन्न अधिकारी पुरुष थे जो बंगाल से आकर काशी में रहने लगे थे। मित्रपरिवार के ऊपर लक्ष्मी तथा सरस्वती दोनों की अकृत्रिम कृपा थी। इस परिवार के द्वारा प्रतिवर्ष दुर्गापूजा का समारोह बड़े उत्साह तथा वैभव के साथ मनाया जाता था जिसमें काशीनरेश स्वयं देवी के दर्शनार्थ पधारते थे। इस परिवार में आगे चलकर बाबू प्रमदादास मित्र नामक सज्जन हुए जो काशी में संस्कृतविद्या तथा सनातनधर्म के प्रचार-प्रसार में सक्रिय भाग लेते थे। वे संस्कृत के विशेष विद्वान् थे। संस्कृतकॉलेज के ऐंग्लो-विभाग में वे अध्यापक भी थे। उनके द्वारा प्रस्तुत 'साहित्यदर्पण' का अंग्रेजी अनुवाद आज भी उपादेय तथा संग्रहणीय है। वे निर्धन संस्कृत छात्रों को द्रव्य तथा पुस्तकों की भरपूर सहायता किया करते थे। फलतः यह बंगाली मित्र-परिवार काशी के जनकल्याणकारी आयोजनों में सदा अग्रगण्य माना जाता था और आज भी है।

इसी परिवार के उस समय के प्रधान पुरुष बाबू गुरुदास मित्र ने सं० १९३३ विक्रमी ज्येष्ठ शुक्ल नवमी बुधवार को पण्डितों की एक सभा का आयोजन अपनी ही हवेली में किया जिसमें उस युग के मान्य पण्डित सखाराम भट्ट, भवानीप्रसाद शर्मा, बस्तीराम द्विवेदी, बालशास्त्री आदि तथा मान्य ज्योतिर्विद् लक्ष्मण शास्त्री, विष्णुशंकर, रामशंकर जोशी, श्यामाचरण शर्मा आदि उपस्थित थे। सभा के पण्डितों ने बापूदेव शास्त्री से अपने पञ्चांग की शुद्धता तथा प्रामाणिकता के विषय में उपपादन करने का आदेश दिया। शास्त्रीजी ने पहले से तैयार किये गये लगभग १५-१६ पृष्ठों का अपना उपपादन पढ़कर सुनाया जिसमें उन्होंने वसिष्ठ तथा ब्रह्मसिद्धान्त के वचनों का उद्धरण देकर अपना मत स्पष्ट किया था। वसिष्ठ का वचन है—

यस्मिन् पक्षे यत्र काले येन दृग्गणितैक्यकम्।
दृश्यते येन पक्षेण कुर्यात् तिथ्यादिनिर्णयम्॥

जिस किसी के मत में, जिस काल में, जिस गणित से दृष्टि और गणित इनका ऐक्य

दीख पड़े, उसी मत से (तब हर एक कोई) तिथि आदि के काल का निर्णय करे अर्थात् तिथि आदि काल को ठहराये।

ब्रह्मसिद्धान्त में भी इसीकी पुष्टि की गई है—

संसाध्य स्पष्टतरं बीजं नलिकादियन्त्रेभ्यः। तत्-संस्कृतग्रहेभ्यः कर्तव्यौ निर्णयादेशौ॥

ज्योतिषी को चाहिए कि वह नलिका आदि यन्त्रों के द्वारा ग्रहों का वेध करके उसमें और गणित में जो बीज अर्थात् अन्तर हो, उसको स्पष्ट सिद्ध करके उसका ग्रहों में संस्कार करे और उन बीज-सस्कृत ग्रहों से तिथि आदि निर्णय और शुभाशुभ का कथन करे। इसी सिद्धान्त को आधार मानकर इस पचाग का निर्माण किया गया है। उपपादन का मुख्य शास्त्रीय सिद्धान्त यही है।

इस उपपादन[1] को सुनकर मित्र महाशय ने उपस्थित पण्डितो तथा ज्योतिषियों की सम्मति जाननी चाही। इतने में नीलाम्बर ओझा नामक प्रसिद्ध मैथिल ज्योतिषी ने बड़े आडम्बर के साथ इस मत का खण्डन किया और आग्रहपूर्वक कहा कि हम तो सूर्यसिद्धान्त के ही मत को माननेवाले है—यही हमारी परम्परा रही है। परम्परावादी पक्ष से और कोई ज्योतिर्विद् नहीं आया। नीलाम्बर ओझा से ही बहुत देर तक झकझक होती रही। रुष्ट होकर उनके चले जाने पर सभा समाप्त हो गई। जिन उपस्थित विद्वानों ने उस व्यवस्थापत्र पर अपनी सम्मति दी थी तथा हस्ताक्षर किये थे उनके नाम इस प्रकार हैं— भट्ट सखाराम, लक्ष्मण ज्योतिर्विद्, रामदीन शर्मा, भवानीप्रसाद शर्मा, सिद्धेश्वर शर्मा, रामशकरात्मज विष्णुशकर शर्मा ज्योतिषी, सुधाकर शर्मा, भवानीदत्त शर्मा, अनन्तराम शर्मा, द्विवेद पण्डित बस्तीराम शर्मा, श्यामाचरण शर्मा, राजाजी शर्मा, वेणीशंकर शर्मा, नारायणदेव शास्त्री, द्वारिकादत्त शर्मा, बालशास्त्री रानाडे तथा बापूदेव शास्त्री।

शिष्यमण्डली

शास्त्रीजी के शिष्यों में चन्द्रदेव पाण्ड्या तथा **पण्डित विनायक शास्त्री वेतालजी** की विशेष मान्यता थी। बापूदेव शास्त्री के शिष्यों में वेतालजी अग्रगण्य माने जाते थे। ये ज्योतिष विद्या के प्रवीण विद्वान् थे तथा गणित एव फलित उभय ज्योतिष-स्कन्धों के व्युत्पन्न पण्डित माने जाते थे। इनके गुणों से आकृष्ट होकर उदयपुर के महाराणा शम्भुसिंह ने इन्हें अपने यहाँ बुलाकर महाराणा स्कूल नामक विद्यालय में प्रधानाध्यापक पद पर नियुक्त किया। उनके अनन्तर होनेवाले महाराणा सज्जन सिह एवं महाराणा फतह सिंह के राज्यकाल में ये उसी स्थान पर १८ वर्ष तक विराजमान रहे। इनके जेठे पुत्र **श्रीनाथ शास्त्री वेताल** ने **उदयान्वय-वर्णन** नामक ऐतिहासिक काव्य का प्रणयन किया जिसमें राज्य के मूलपुरुष महाराणा उदय सिंह से लेकर फतह सिह तक के राजाओं का वर्णन किया गया है। अनन्तर भूपाल सिंह के शासन-काल में भी वे वहाँ विद्यमान थे। विनायक शास्त्री के कनिष्ठ पुत्र **अनन्तराम शास्त्री वेताल** से लेखक का पूरा परिचय था। वे संस्कृत के अच्छे कवि थे। उन्होंने अनेक प्राचीन ग्रन्थों का संशोधन तथा प्रकाशन किया है जिनमें **सज्जनेन्द्र-प्रयोग-कल्पद्रुम** अन्यतम

---

१. यह उपपादन तथा सभा का विवरण १९३३ वि० सं० में काशीनरेश की आज्ञा से छापा गया था। इसका पुनर्मुद्रण पण्डित गणपतिदेव शास्त्री ने २०२० वि० सं० में प्रकाशित किया था। उसीके आधार पर यह विवरण प्रस्तुत किया गया है।

है। यह व्याकरण-सम्बन्धी पद्यबद्ध ग्रन्थ है जिसकी सहायता से पाणिनीय व्याकरण में सुगमता से प्रवेश हो सकता है।

शास्त्रीजी के दो पुत्रों में से पं० गणपतिदेव शास्त्री जेठे थे। इन्होंने संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी के ज्योतिष-विभाग में अध्यापन-कार्य करते हुए अपने पिता के द्वारा संस्थापित तथा प्रतिष्ठित **दृक्-सिद्ध पञ्चाङ्ग** का अनेक वर्षों तक सम्पादन किया। ये भी गणित के पारगामी पण्डित थे। इनका जन्म अगहन शुक्ल चतुर्थी वि० स० १६४४ (१८८७ ई०) को हुआ था तथा निधन पौष शुक्ल ६ सं० २०३० (३१।१२।१६७३ ई०) को ८६ वर्ष की आयु में हुआ।

शास्त्रीजी तथा हिन्दी

पण्डित बापूदेव शास्त्री ने हिन्दी की भी बड़ी सेवा की। उस समय छात्रों के पढ़ाने के लिए गणित के ग्रन्थों का हिन्दी में नितान्त अभाव था। इस कमी को दूर करने के लिए इन्होंने हिन्दी में **व्यक्त गणित** के नाम से अङ्कगणित के विषय में ग्रन्थ का प्रणयन १८५० ई० में किया, जिसका प्रथम संस्करण बम्बई से प्रकाशित हुआ और द्वितीय परिवर्धित संस्करण १८७५ ई० में काशी से ही प्रकाशित हुआ। यह ग्रन्थ अनेक दृष्टियों मे विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण है। प्रथम विशिष्टता यह है कि यह सीधी-सादी बोलचाल की हिन्दी मे निबद्ध किया गया है। संस्कृत के विद्वान् होने से सम्भावना यह थी कि बापूदेवजी ने इसमें संस्कृत की शब्दावली का अधिकतर प्रयोग किया होगा, परन्तु तथ्य इसके विपरीत है। यह काशी में बोली जानेवाली हिन्दी ही है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने १८७३ ई० में नया परिधान देकर जिस हिन्दी का अभिराम रूप प्रस्तुत किया, उस भाषा का दर्शन हमें शास्त्रीजी की कृपा से उससे २५ वर्ष पूर्व ही इस ग्रन्थ में प्राप्त होता है। उसकी दूसरी विशिष्टता है व्यापार-सम्बन्धी। इस व्यक्त गणित में दिये गये प्रश्नों की समीक्षा करने से भलीभाँति पता चलता है कि उस युग में आज से सवा सौ साल पहले नाना वस्तुओं का, व्यवहार में आनेवाले पदार्थों का बाजार में क्या भाव था। मणि-माणिक्य, मोती आदि आजकल के मूल्यवान् पदार्थ उस युग में किस भाव से बिकते थे। आवश्यक भोज्यपदार्थों के दामों की परीक्षा बड़े सस्ते युग की स्मृति हमारे सामने प्रस्तुत करती है। इन उभय दृष्टियों से शास्त्रीजी के हिन्दी ग्रन्थ बड़े महत्त्व के हैं।

इस ग्रन्थ में दिये गये उदाहरणों के अध्ययन से उस युग में आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों का भी संकेत मिलता है। वह सस्ती का जमाना था। चीजें बड़ी सस्ती मिलती थीं। पान की खरीद के जो उदाहरण दिये गये हैं उनसे ज्ञात होता है कि १ पैसे में १०० पान, १ पैसे में २५ सुपारियाँ तथा १ पैसे में ५ इलायचियाँ मिलती थीं। अनाजों का भी भाव उस समय बहुत सस्ता था। गेहूँ की भिन्न-भिन्न किस्में थीं जिसमें अति उत्तम गेहूँ १ रुपया में १४ सेर, मध्यम कोटि का १ रु० में १६ सेर तथा निकृष्ट कोटि का गेहूँ १ रु० में १६ सेर प्राप्त होता था। कहना व्यर्थ है कि उस युग में शुद्ध घी का प्रयोग होता था जो सस्ता मिलता था। हीरे-जवाहरात भी उस युग में सस्ते थे। उस युग में मोती का दाम बीस रुपये, हीरे का ३० रु०, नीलम का ३५ रुपये और बढ़िया माणिक्य का दाम ४४ रु० था। जानवरों के विषय में जो उदाहरण हैं उनके देखने से प्रतीत होता है कि ६० रु० से लेकर ८० रु० तक में बढ़िया घोड़ा खरीदा जा सकता था। बढ़िया जीन १६० रु० में मिलता था। फलतः उस युग में इतने ही दामों में राजसी ठाट-बाट से जीवन बिताया जा सकता था। जिस प्रकार आजकल गाँवों में दूर यात्रा के लिए सत्तू का चूर्ण राहखर्च के लिए उपयोगी है, उसी प्रकार

उस युग की भी दशा थी। उस युग में भी सत्तू का खुलकर प्रयोग होता था और यात्रा में राह-खर्च के लिए उसीका प्रयोग ग्रामीण लोग किया करते थे।

ये कुछ ही उदाहरण हैं। अन्य उदाहरणों की परीक्षा करने पर उस युग की वाणिज्य-विषयक अनेक बातों का पता लगाया जा सकता है।

हिन्दी के प्रति सस्कृत-विद्वानों के दृष्टिकोण की भी आलोचना यहाँ अप्रासङ्गिक नहीं है। हिन्दी को संस्कृत के कुछ पण्डित हेयदृष्टि से भले ही देखते हों (आज के प्रबुद्ध राजनैतिक युग में भी इसकी कमी नही है) परन्तु हिन्दी की उन्नति के मार्ग मे उन्होंने अपनी ओर से किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित नहीं किया, बल्कि सस्कृत के गूढ़ आध्यात्मिक भावों को धार्मिक जनता के सामने रखने के लिए अनेक पण्डितों ने कठिन मूलग्रन्थ का अनुवाद सुबोध हिन्दी में करके जनता के सोचने-समझने के लिए मूल्यवान् सामग्री उपस्थित की। स्वर्गीय रायकृष्ण दासजी ने अपने एक सस्मरण मे लेखक के पूर्वोक्त कथन की सत्यता के अनेक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये है। भारतेन्दु-युग के विषय मे उनका कहना है—

"संस्कृत के पण्डितों की ओर से कोई सघर्ष हुआ हो। मान लीजिए उन्होंने हिन्दी के विपरीत कोई आन्दोलन किया हो, या इसलिए किया हो कि हिन्दी का प्रचार न हो पावे—इसका मुझे प्रमाण नही मिला। बल्कि तथ्य यह है कि सस्कृत के जो पण्डित थे, वे हिन्दी के गण्यमान्य लोगों से समादृत ही होते थे। हमने 'कविवचन-सुधा' में देखा है कि भारतेन्दुजी ने महामहोपाध्याय बापूदेव शास्त्री को, जो अपने समय के ज्योतिष के पण्डित थे, दुशाला भेंट दिया था, रुपया भेंट दिया था, उनका सम्मान किया था, तो हिन्दीवालों की तरफ से उनका सम्मान ही होता रहा, लेकिन उन लोगो की ओर से कोई विरोध हुआ-यह तो हमको ज्ञात नही।"[१]

इस उद्धरण से भारतेन्दु-युग में बहनेवाली हवा के रुख का साफ पता चलता है कि काशी के पण्डित लोग हिन्दी जनता के द्वारा समादृत होते थे, क्योकि वे हिन्दू-समाज से अपने को हटाकर अलग अपना अस्तित्व नही मानते थे। उस युग के सामाजिक कार्यों में भी अन्य पण्डितों के साथ बापूदेव शास्त्री आगे रहते थे और इसीलिए वे सम्मान के भाजन थे--श्रद्धा तथा समादर के पात्र थे।

पं० बापूदेव शास्त्री बड़े ही गुणग्राही विद्वान् थे। ये दूसरे विद्वानों के गुण को ग्रहण कर उन्हें सदा सहायता पहुँचाते रहे। पं० कैलासचन्द्र शिरोमणि न्याय के प्रकाण्ड विद्वान् थे। वे बंगाल से काशी आकर अपनी निजी पाठशाला में शिष्यों को पढ़ाया करते थे। उनकी विद्वत्ता तथा अध्यापन-कौशल की कीर्ति पं० बापूदेव शास्त्री के कानों में पड़ी। इन्होंने इतने बड़े नैयायिक का एक साधारण-सी पाठशाला में पढ़ाते रहना विद्वत्ता का अपमान समझा और शासक वर्ग में अपने निजी प्रभाव के कारण कैलासचन्द्र शिरोमणि की नियुक्ति गवर्नमेण्ट संस्कृत कॉलेज में न्याय के अध्यापक के पद पर करवा दी। इस प्रकार इन्होंने एक योग्य व्यक्ति को योग्य पद पर प्रतिष्ठापित करने का श्रेय प्राप्त किया। ये विशालहृदय तथा उदारचेता विद्वान् थे। 'बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम्' इस लोकोक्ति के चरितार्थ करनेवाले ये मनीषी थे। ऐसा कहा जाता है कि एक बार पं० सुधाकर द्विवेदी ने—जब वे उसी कॉलेज के छात्र थे

१. द्रष्टव्य—धर्मयुग १ मार्च, १९८१ (पृ० ३०-३१) राय कृष्णदास के सस्मरणों में 'भोलेनाथ की नगरी काशी और हिन्दी साहित्य' शीर्षक लेख—लेखक कृष्णनाथ।

जहाँ बापूदेव शास्त्री ज्योतिष विभाग के अध्यक्ष थे — शास्त्रीजी के बीजगणित मे कुछ अशुद्धियो का निर्देश किया। शास्त्रीजी ने अशुद्धियो की जॉच करने पर उन्हे सत्य तथा प्रामाणिक पाया। इस घटना से ये सुधाकरजी पर क्रुद्ध होने के स्थान पर उनकी प्रतिभा को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और तत्कालीन प्रिन्सिपल ग्रिफिथ साहब के पास उनके विषय मे सस्तुति लिखकर छात्रवृत्ति दिलवा दी। भला आजकल के कलुषित हृदयवृत्ति के युग मे क्या यह सम्भव है ? यह घटना शास्त्रीजी के हृदय की विशालता को स्वतः प्रकट करती है।

ज्योतिष शास्त्र मे प० बापूदेव शास्त्री का सबसे महान् योगदान आधुनिक पाश्चात्त्य गणित का ग्रहण करना है। ऊपर कहा ही गया है कि शास्त्रीजी ने महाराजा काशीनरेश के आदेश से 'दृक्सिद्ध पञ्चाङ्ग' का निर्माण किया था जिसमे ग्रहो तथा नक्षत्रो की चाल की गणना पाश्चात्त्य गणित के अनुसार की गई थी। शास्त्रीजी का यह नवीन पञ्चाङ्ग जब प्रथम बार प्रकाशित हुआ तब काशी के पण्डितो मे खलबली मच गई। इनकी गणना को लेकर पण्डितो मे अनेक वाद विवाद और शास्त्रार्थ हुए परन्तु अन्त मे शास्त्रीजी की ही विजय हुई। पाश्चात्त्य पद्धति की गणना पर आधारित इनका यह पञ्चाङ्ग आज भी सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित होता है।

म० म० प० बापूदेव शास्त्री ने सर्वप्रथम पाश्चात्त्य गणित का गम्भीर अध्ययन कर उसके अनेक • [illegible] सिद्धान्तो को ग्रहण कर, उसका समन्वय भारतीय ज्योतिष मे किया। इन्होने अपनी दिव्य दृष्टि से पाश्चात्त्य गणित की महत्ता का आकलन किया और भारतीय ज्योतिष के साथ उसकी इस प्रकार अन्विति बैठाई कि कही से भी यह मिश्रण मालूम नही पडता। प० बापूदेव शास्त्री की मृत्यु के बाद उनकी गद्दी को सुशोभित करनेवाले म० म० प० सुधाकर द्विवेदी ने इस प्रणाली का परिष्कार किया परन्तु इसमे सन्देह नही कि इस प्रणाली के प्रथम उद्भावक बापूदेव शास्त्री ही थे। अतः ज्योतिष शास्त्र के क्षेत्र मे भारतीय तथा पाश्चात्त्य गणित मे समन्वय स्थापित करने की यह पद्धति शास्त्रीजी का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान है। ये इस योगदान के लिए सदा अजर अमर रहेगे। इनके ग्रन्थो के विशिष्ट अध्ययन, आलोचना एव आलोडन की नितान्त आवश्यकता है। म० म० बापूदेव शास्त्री के विषय मे एक विस्तृत समीक्षात्मक महानिबन्ध (थीसिस) की उपादेयता अभी तक बनी है। पण्डित नारायण शास्त्री पटवर्धन द्वारा रचित 'जीवन वृत्तान्त'[१] एकदम लघुकाय एव अधूरा है। तब भी उनका काम श्लाघनीय ही है। तथास्तु –

श्रीमान् बापूदेवशास्त्री दैवज्ञकुलशेखरः। विनयातिशयो यस्य श्लाघ्योऽङ्गीकृतपालने ॥



१ प्रकाशक तथा मुद्रक राजराजेश्वर प्रेस, पञ्चगङ्गाघाट, वाराणसी।



श्री बालशास्त्री

७

श्री बालशास्त्री

(आस्पद — रानाडे; उपाधि — 'बालसरस्वती')

पण्डितप्रवर बालशास्त्री अपने युग के एक विचक्षण विद्वान् थे। ये अलौकिक प्रतिभा से सम्पन्न तथा लोकातीत शेमुषी से विभूषित थे। ये महानुभाव व्याकरणशास्त्र में नवीन परिष्कारों के आविष्कर्ता के रूप में अखिल भारत में प्रतिष्ठित माने जाते थे। ये थे वेदपाठियों में प्रवरतम वेदपाठी, कर्मकाण्डियों में श्रेष्ठ कर्मकाण्डी, धर्मशास्त्रनिष्णात विद्वानों में धर्मतत्त्व-प्रतिपादन-परायण मुनि, धर्माचारों के सम्पादकों में साक्षात् धर्म ही, व्याकरणज्ञाताओं में साक्षात् पाणिनि, सभा तथा वादकुशल सभ्यों में तत्तत् शास्त्रों में अचल के समान अडिग तथा प्रतिष्ठित एवं संस्कृतवाणी के प्रवक्ताओं में अपर बृहस्पति। ऐसे महनीय विद्वान्-महर्षि के जीवनचरित तथा उनके द्वारा सम्पादित कार्यों से परिचय पाकर कौन सचेता अपने को धन्य नहीं मानेगा ?

जन्म

ये चित्तपावन-जातीय महाराष्ट्रीय कोंकणस्थ ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए थे। ये कृष्णयजुर्वेद के अन्तर्गत हिरण्यकेशी शाखा के चित्तपावन ब्राह्मण थे जिनका गोत्र था भारद्वाज तथा उपनाम था 'रानाडे'। रानाडे उपनामवाले ब्राह्मण स्वभाव से आचारनिष्ठ तथा विद्यावरिष्ठ होते थे। इस वंश में सबसे प्रतिष्ठित तथा विद्वान् रावबहादुर महादेव गोविन्द रानाडे बम्बई हाईकोर्ट के जज थे तथा उस युग के भारतीय नेताओं में भी महनीय माने जाते थे। ये गोविन्द भट्टजी के बहुत पास के गोत्रज थे। बालशास्त्री के पिता गोविन्द भट्ट का मूल ग्राम कोंकण में अंजनवेली के पास 'भातगाँव' नाम से प्रसिद्ध है। ये ही कोंकण से काशी आये और अस्सी घाट पर ही दाक्षिणात्यों की उस समय विशेष बस्ती होने के कारण वहीं रहने लगे। गोविन्द भट्ट का विवाह दक्षिण के 'बाई' क्षेत्र के प्रसिद्ध रईस जनार्दन पन्त ओक' की पुत्री काशीबाई के साथ सं० १८८६ विक्रम (= १८२९ ईस्वी) में काशी में ही हुआ। उस समय वधू का वय केवल १० वर्ष था तथा वर का २८ वर्ष। काशीबाई से अनेक सन्तानें उत्पन्न हुई; परन्तु शैशवकाल में ही वे सभी मृत्यु को प्राप्त हो गयीं। इस पर परमशैव गोविन्द भट्ट ने शिव के उग्रावतार 'शरभ' का अनुष्ठान किया जिसका परिणत फल बालशास्त्री का जन्म माना जाता है। सं० १८८६ विक्रमी (= १८३९ ई०) में पौष कृष्ण दशमी, सोमवार को इस महापुरुष का जन्म काशी में ही हुआ था। इनके पिता ने इनका नाम 'विश्वनाथ' रखा। बाल्यकाल में सर्वप्रिय होने के कारण ये 'बाल' आख्या के द्वारा प्रसिद्ध हुए। बालक बड़ा ही अलौकिक तथा पूर्व संस्कारों का धनी-मानी व्यक्ति प्रतीत होता था, क्योंकि एक साल समाप्त होने के पूर्व ही उसने अपनी मातृभाषा-मराठी को ठीक-ठीक बोलने का अभ्यास कर लिया। तृतीय वर्ष में पिता गोविन्द भट्ट महती तपस्या के फलस्वरूप प्राप्त इस शिशु को अपने विद्वान् मित्र श्रौतविद्यानिपुण 'धारप' उपनामवाले श्री रामकृष्ण दीक्षित को समर्पित कर स्वयं

कालकवलित हो गये । दीक्षितजी इस शिशु का अपने पुत्र के समान ही लालन-पालन, पोषण-वर्धन करने लगे और पाँच वर्ष के वय मे इसका उपनयन सस्कार कर दिया । इस सस्कार के अनन्तर दीक्षितजी ने इस बालक को तैत्तिरीयशाखानुसारी कृष्णयजुर्वेद का अध्यापन आरम्भ किया । एक बार के पढ़ाने पर ही बालक को मन्त्रो की उपस्थिति होने लगी । जान पड़ता था कि पूर्वजन्म मे अर्जित विद्या के समान एक बार के श्रवणमात्र से मन्त्रराशि बालक के स्मृतिपटल पर सद्यः स्फुरित होने लगी । इस प्रकार बालक को समस्त कृष्णयजुर्वेद शिक्षा दीक्षा से अल्पकाल मे ही स्वायत्त हो गया ।

बालम्भट्ट और बाजीराव पेशवा

उस समय पेशवा बाजीराव द्वितीय, जो पूरे महाराष्ट्र के अधीश्वर थे, अपने परिवार तथा परिकर के साथ राज्यच्युत होकर ब्रह्मावर्त मे ही निवास कर रहे थे । यह ब्रह्मावर्त बिठूर के नाम से आज भी विख्यात है तथा कानपुर के समीप ही दर्शनीय स्थानो मे अन्यतम है । बिठूर धार्मिक तथा राजनीतिक उभय दृष्टियो से नितान्त महत्त्वशाली नगर है । यह कानपुर शहर से पश्चिम अठारह मील दूर गगाजी के किनारे एक परमपावन तीर्थस्थल है । मनुस्मृति आदि स्मृति-ग्रन्थो मे आर्यावर्त के अन्तर्गत जिस पवित्र देश—ब्रह्मावर्त का बहुशः उल्लेख पाया जाता है उसके केन्द्रस्थल ब्रह्मावर्त का परिचायक यही महत्त्वशाली नगर है । राजनीति की दृष्टि से भारतीय इतिहास के पृष्ठो मे यह नगर तब लोगो के सामने अपना महत्त्व प्रगट करने लगा, जब अन्तिम पेशवा बाजीराव द्वितीय (१७७५ ई० - १८५१ ई०) अग्रेजो के हाथो पराजित होकर यहाँ रहने के लिए विवश किये गये । अन्तिम मराठा युद्ध मे विजयी होकर अग्रेजो ने बाजीराव द्वितीय को सन्धि करने के लिए बाध्य किया (५ नवम्बर, १८१७ ई०) । सन्धि मे एक शर्त यह भी थी कि वे अपनी राजधानी पूना (पुणे) छोडकर बिठूर मे निवास करे । तदनुसार वे यहाँ आकर रहने लगे और मृत्युपर्यन्त यही रहे । उनकी मृत्यु (१८५१ ई०) के बाद उनके दत्तक पुत्र नानासाहब पेशवा (जो धुंधु पेशवा के नाम से प्रख्यात थे) यही बिठूर मे ही रहते थे । अग्रेजो के दुर्व्यवहार से नितान्त खिन्न होकर उनके मन मे देश को स्वाधीन एव स्वतन्त्र करने की भावना जाग उठी । उन्होने परामर्शदाता तात्या टोपे, महारानी झाँसी की रानी आदि अन्य अपने राजनीति-पटु समर्थको की सहायता मे भारत को अग्रेजो से स्वतन्त्र करने की महनीय योजना यही बनाई थी । वह योजना भले ही सफल नही हुई, तथापि उस योजना को ठोस रूप देने का कार्य यही सम्पन्न किया गया था । फलतः भारत के स्वतन्त्रता-सग्राम के इतिहास मे बिठूर राजनैतिक गौरव तथा महत्त्व रखता है ।

यही पर अपने हितचिन्तक गुरुजनो के साथ बालक बालभट्ट ने बाजीराव पेशवा का साक्षात्कार किया । दरबार के वृद्ध वेदवित् पण्डितो ने बालक की अलौकिक मेधाशक्ति का परिचय पाकर उसे वेद का साक्षात् अवतार माना । बाजीराव पेशवा की प्रेरणा से ही ये काशीस्थ वेदज्ञो के साथ चित्रकूट प्रवासी विनायकराव पेशवा से मिलने के लिए चित्रकूट गये। पेशवा के यहाँ मकर-सक्रान्ति के दिन बड़ा समारोह जुटता था जिसमे वैदिको तथा पण्डितो का विशेष सम्मान किया जाता था । इसी अवसर पर यह बाल-वैदिक विनायकराव पेशवा की सभा में उपस्थित हुआ । पेशवा स्वय विद्वान् थे, सस्कृत तथा वेद के ज्ञाता थे । उन्होने **बालखिल्य शस्त्र** पूछा । बालक बालम्भट्ट ने उस शस्त्र को इतनी सुन्दरता के साथ आमूल कह सुनाया कि उपस्थित वैदिकगण एक स्वर से उस बालक के वेदपारायण की प्रशस्त प्रशसा

करने लगे। **बालखिल्य शस्त्र**[1] का पाठ इतना कठिन तथा दुरूह माना जाता है कि अनेक वर्षों तक अनेक बार अभ्यास करनेवाले वैदिक भी उसमें दस-बारह अशुद्धि कर ही डालते हैं, परन्तु इस बालक के **शस्त्रपठन** में एक भी च्युति नहीं हुई। 'आश्चर्यं महद् आश्चर्यम्' उपस्थित वैदिकगण बोल उठे। पेशवा ने जब बालक का—जो उस समय केवल आठ वर्ष का ही था— यह चमत्कार देखा, तब वे बड़े प्रसन्न हुए और नाना प्रकार के आभूषणों के द्वारा बालक का सत्कार ही नहीं किया, अपितु उन्होने **बाल-सरस्वती** की महनीय उपाधि से भी उसे अलंकृत कर अपनी गुणग्राहिता का परिचय दिया। सभा के वृद्ध वैदिकों ने भी इस बालक का विद्यावृद्ध होने के नाते विशेष आदर तथा सत्कार किया। बालंभट्ट की यह प्राथमिक विजय-यात्रा थी। पेशवा के हाथों सम्मान पाना कोई साधारण घटना नहीं थी। परन्तु इस विचक्षण मेधावी बालक ने आठ वर्ष के अल्प वय में जो चमत्कार सिद्ध कर दिखाया, उसे उससे चौगुनी उम्रवाले भी वैदिक दिखा नहीं सकते। इसीलिए तो वह बालक सरस्वती का अवतार माना जाने लगा। 'बाल-सरस्वती' की उपाधि का यही तो मञ्जुल स्वारस्य है।

अध्ययन

बालशास्त्री की द्वितीय यात्रा ग्वालियर नगर की हुई। यह उनकी अध्ययन-यात्रा थी, क्योंकि उन्होंने ग्वालियर पहुँचकर तत्रत्य विद्वानो से नाना शास्त्रों का अध्ययन किया। उस समय ग्वालियर महाराजा के न्यायाधीश थे षट् शास्त्रों के पारगामी विद्वान् श्री कुप्पा शास्त्री। उन्होंने बालशास्त्री की परीक्षा ली, इन्हें सुयोग्य पाया और अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया। ग्वालियर-निवासी **बाबा शास्त्री बापट** महोदय से इन्होंने छह मास के भीतर ही समस्त सिद्धान्तकौमुदी का अध्ययन कर लिया। पश्चात् कुप्पा शास्त्री के अन्तेवासी बनकर समग्र पूर्वमीमासा की भी शिक्षा पूरी कर ली। सौभाग्यवश पुणे (पूना) के निवासी मोर शास्त्री किसी कार्यवश ग्वालियर में उन दिनो पधारे थे। उनसे इन्होने सम्पूर्ण न्यायशास्त्र का अध्ययन किया तथा तर्ककुशल पाण्डित्य का विधिवत् अर्जन कर लिया। सभा में बालशास्त्री का लोकातीत वैदुष्य, प्रकाण्ड पाण्डित्य तथा आवर्जक वाग्मिता का निरीक्षण कर तत्रत्य पण्डितों को महान् आश्चर्य होता था। इस प्रकार ग्वालियर का महत्त्व बालशास्त्री के जीवन में अध्ययनस्थली होने के कारण ही नही, अपितु श्वशुरालय होने के हेतु भी विशेष था, क्योंकि यहीं के पण्डित

---

१. ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के मध्य मे सूक्त ४६ से लेकर सूक्त ५६तक (११सूक्त) 'बालखिल्य' कहलाते है। इनमें मन्त्रों की सख्या असी (८०) है। सूक्त ४६ तथा सूक्त ५० के आदिम दो मन्त्र अथर्ववेद के २०वें काण्ड के ५१ सूक्त के आदिम चार मन्त्र है। इस प्रकार ऋग्वेद की चार ऋचाएँ अथर्ववेद में उपलब्ध होती हैं। ऋग्वेद के मन्त्रों के सस्वर पाठ को 'शंसन' अथवा 'शस्त्र' कहते हैं। यह वेद का पारिभाषिक शब्द है। बालखिल्य मन्त्रों के शसन की प्रक्रिया बड़ी कठिन है, क्योंकि उन मन्त्रो का क्रमशः पाठ यागविशेष में नही किया जाता बल्कि पाठ की एक विशिष्ट विधि है। पाठ के अनेक प्रकार है— सूक्त की प्रथम ऋचा के पाठ के अनन्तर अगले सूक्त की प्रथम ऋचा का पाठ किया जाता है। कभी प्रथम मन्त्र की आधी ऋचा के पाठ के बाद अगले सूक्त के प्रथम मन्त्र की आधी ऋचा का (अर्धर्चशः) पाठ किया जाता है। कभी-कभी प्रथम मन्त्र के प्रथम पाद के पाठ के बाद अगले सूक्त के प्रथम मन्त्र के प्रथम पाद का (पादशः) पाठ करना उचित होता है। जो पद्धति आरम्भ की जाती है, वह अन्त तक चलाई जाती है। बालखिल्य के प्रथम सूक्त (८ मण्डल ४६वें सूक्त) मे १० ऋचाएँ है और अगले सूक्त (५०वें सूक्त) में भी मन्त्रों की इतनी ही संख्या है। इन दोनों सूक्तों को आपस में मिलाकर स्वर में बिना कोई त्रुटि किये शंसन करना कितना कठिन है—यह बताने की आवश्यकता नही। श्रौतयाग में बालखिल्य शस्त्र का प्रयोग होता है। विषम सम्मेलन के कारण 'बालखिल्य शस्त्र' का विशुद्ध शस्त्र वैदिकों के वेदपाठ के ज्ञान का उदात्त प्रतीक माना जाता है।

बन्ना शास्त्री की कन्या से बालशास्त्री का विवाह वि० सं० १९१२ (=१८५५ ई०) में सम्पन्न हुआ, जब ये सोलह वर्ष के थे।

अध्यापन

बालशास्त्री ग्वालियर में प्राथमिकी विद्या तथा प्रथम पत्नी प्राप्त कर वाराणसी सकुशल लौट आये। अब काशीस्थ गुरुजनों के चरणों तले बैठने का इन्हें सुयोग प्राप्त हुआ। उस समय के लोकविश्रुत विद्वान् तथा काशिराजकीय पाठशाला में व्याकरण की गद्दी के अध्यक्ष पण्डित **काशीनाथ शास्त्री** अष्टपुत्रे से इन्होंने व्याकरण का कुछ अध्ययन किया। तदनन्तर उन्हींकी आज्ञा से पण्डित राजाराम शास्त्री के चरणों में बैठकर समग्र व्याकरण, महाभाष्य के गम्भीर तथ्यों का अध्ययन तथा अनुशीलन कर तात्त्विक ज्ञान प्राप्त किया। उस काल में काशीनाथ शास्त्री 'अपर पाणिनि' माने जाते थे, तो पण्डित राजाराम शास्त्री पतञ्जलि के ही अपर विग्रह स्वीकृत किये गये थे। इन दोनों महर्षियों के अध्यापन का परिणत फल यह हुआ कि बालशास्त्री का वैदुष्य व्याकरण में तथा योग, न्याय आदि दर्शनों में चमक उठा। इसी समय इनकी नियुक्ति काशिराजकीय पाठशाला में सं० १९२१ विक्रमी (सन् १८६४ ई०) में प्रिन्सिपल ग्रिफिथ महोदय के द्वारा सांख्य-शास्त्र के अध्यापक के पद पर बड़े सम्मान के साथ की गई। उस समय शास्त्रीजी का वय केवल २५ वर्ष था। यह समय शास्त्रीजी के जीवन का चरमोत्कर्ष-काल माना जाता है। इनके पाण्डित्य से आकृष्ट होकर अनेक प्रतिभासम्पन्न छात्र इनसे विद्याध्ययन के लिए पाठशाला में आने लगे।

मण्डी की यात्रा

काशी ही इनके कीर्तिकलाप को सीमित करनेवाली नगरी नही थी। इनका यश उत्तर भारत में सर्वत्र फैल गया। शिमला के समीप मण्डी के महाराज इनकी कीर्ति तथा वैदुषी से आकृष्ट होकर इनके शिष्य हो गये। शिष्य की निरन्तर प्रार्थना से आकृष्ट होकर बालशास्त्री ने अपने परिवार के साथ मण्डी नगरी की १८२४ वि० स० (= १८६७ ई०) में यात्रा की। इस यात्रा मे ये अपने अभिन्न-हृदय सुहृद् पण्डित यागेश्वर शास्त्री ओझा को भी अपने साथ ले गये थे। इन दोनों विद्वानों मे अपूर्व सौहार्द था। कुल के भेद से दोनों में कोई पार्थक्य लक्षित नही होता था। बालशास्त्री महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे और यागेश्वर पण्डित सरयूपारीण ब्राह्मण थे, परन्तु दोनों ही सतीर्थ्य थे—एक ही गुरु के अन्तेवासी थे। काशीनाथ शास्त्री के चरणों में बैठकर व्याकरण शास्त्र के अध्ययन का सौभाग्य दोनों को समानरूपेण प्राप्त हुआ था। दोनों काशी के एक ही मुहल्ले में निवास भी करते थे। फलतः दोनों की मित्रता सात्त्विक आधार पर अवलम्बित थी। बालशास्त्री ने आगे चलकर जब अपना विशाल यज्ञ सम्पन्न किया, तब यागेश्वर शास्त्रीजी को उसमें आचार्य पद पर अभिषिक्त किया था। पण्डितों में दुर्भाव का बाजार उस समय भी गरम था, परन्तु इन दोनों विचक्षणों की सार्वभौम मैत्री, दृढ़ सौहार्द तथा आवर्जक सख्यभाव विदग्धों के भी आश्चर्य का विषय था।

पंजाब में मण्डी के पूर्वोक्त राजा श्रीमान् विजयसेन सिंह वर्मा अपनी नाबालिगी में काशी आये थे और यहीं पर विद्वद्-गोष्ठियों में बालशास्त्री का भाषण सुनकर इनके परमभक्त बन गये थे। जब उन्हें मण्डी की राजगद्दी मिली, तब उन्होंने अपने राजपुरोहित पं० देवीरामजी को काशी भेजा और बालशास्त्री तथा उनके गुरु राजाराम शास्त्रीजी को अपनी राजधानी में बुलाया। अपने गुरु, मित्र यागेश्वर ओझा तथा अन्य शिष्यों (तात्या शास्त्री आदि) के साथ

बालशास्त्री ने मण्डी-नरेश की इच्छा पूर्ण की। नरेश ने शास्त्रीजी तथा काशी के विद्वानों का बड़ा आदर-सत्कार किया तथा बालशास्त्री से मन्त्र-दीक्षा देने का भी आग्रह किया। शास्त्रीजी इस प्रस्ताव से सहमत नहीं थे, परन्तु राजा की उत्कट गुरुभक्ति से प्रसन्न होकर उन्हें गणेश-मन्त्र का उपदेश दिया। मण्डी-नरेश ने अपने गुरु को नाना प्रकार के स्वर्णाभूषण तथा हीरे, मोती ही नहीं दिये, अपितु अनेक बीघे जमीन भी दी जिसका उपयोग शास्त्रीजी के दत्तक पुत्र विष्णु दीक्षित अपने जीवनभर करते रहे।

सम्मान

आज से सौ वर्ष पहले काशी में बालशास्त्रीजी सर्वसम्मति से सर्वश्रेष्ठ पण्डित माने जाते थे। उस युग में इनसे बढ़कर आचार-विचार, अध्ययन-अध्यापन के विषय में कोई भी विद्वान् न था। पण्डित-समाज के ऊपर इनकी प्रभुता सर्वतोभावेन मान्य थी। तत्कालीन काशीनरेश ईश्वरीप्रसादनारायण सिंहजी इनका बड़ा ही आदर एवं सम्मान करते थे और बिना इनकी सम्मति के किसी धार्मिक विषय में अपना निर्णय नहीं देते थे। इसका पता बालशास्त्रीजी को भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र द्वारा भेजे गये निम्नांकित पत्र से स्पष्टतः चलता है—

"अनेक कोटि साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणामानन्तर बस्तीराम, ताराचरणादिक लोग सब कल रामनगर गये थे पर इनको काशीराज ने फेर दिया और कहा कि जब तक बाबू हरिश्चन्द्र न कहेंगे, मैं कुछ न मानूँगा। और यह भी कहा कि यदि श्री बालशास्त्री का सम्मत नहीं है, तो मुझे आग्रह नहीं। आज से लेकर सात-आठ दिन तक नित्य धर्मसभा में बैठ के विचार करो। जो सिद्धान्त हो उस पर सम्मति करो। अब विचार करना चाहिए। हरिश्चन्द्र"

इस पत्र में निर्दिष्ट बस्तीराम तथा ताराचरण उस समय के बड़े ही मान्य पण्डित थे। बस्तीरामजी काशिराजकीय महाविद्यालय के अध्यापक थे तथा ताराचरणजी काशिराज के ही सभापण्डित थे जिन्होंने दयानन्द सरस्वतीवाली सभा में भी महत्त्वपूर्ण भाग लिया था।

बालशास्त्री वाद-विवाद के अवसर पर अपने वैदुष्य का चमत्कार भलीभाँति प्रदर्शित करते थे। संस्कृत पाठशाला में पारितोषिक-वितरण के समय अनेक बार इन्होंने सरस, सरल, मधु-मधुर तथा भावभूषित गीर्वाण वाणी के द्वारा अपनी वक्तृत्व-शक्ति का अच्छा परिचय दिया था। उस समय छात्रों को अध्यापनीय शास्त्रों में व्याकरण तथा वेदान्त की प्रमुखता थी, यद्यपि धर्मशास्त्रीय व्यवस्था-पत्र देने में भी इनकी बहुमुखी प्रतिभा पण्डितों को चमत्कृत कर देती थी। इनके शिष्यों की एक लम्बी परम्परा थी जिनमें महामहोपाध्याय पदवी से मण्डित चार शिष्यों की गणना प्रथम श्रेणी में सर्वसम्मति से की जाती थी। इनके नाम हैं— महामहोपाध्याय पं० शिवकुमार शास्त्री, म० म० गङ्गाधर शास्त्री, म० म० दामोदर शास्त्री तथा म० म० रामकृष्ण शास्त्री (प्रसिद्ध अभिधान तात्या शास्त्री)। अपनी गरिमा तथा विद्वत्ता के कारण इन चतुर्धुरीण शास्त्रियों के संस्मरण पृथक् रूप से आगे दिये गये हैं।

ग्रन्थ

शास्त्राध्यापन के साथ ही साथ प्रौढ़ ग्रन्थों का सम्पादन तथा नवीन ग्रन्थों का प्रणयन भी चलता रहा। बालशास्त्रीजी अध्यापन-कार्य का सम्पादन इतनी निष्ठा तथा नियम से करते थे कि वह सामान्य स्तर से उठकर उच्चस्तर पर पहुँच जाता था। वेदान्त में वेदान्तसूत्र के

शंकराचार्यप्रणीत शारीरकभाष्य की पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या भामती के ये सिद्धहस्त अध्यापक माने जाते थे। इसका अध्यापन धार्मिक कृत्य-सा पवित्र तथा पूर्ण समाधानपूर्वक होता था।

प्रातःकाल गगास्नान तथा धार्मिक कृत्यों के निर्वाहानन्तर शास्त्रीजी कुश के आसन पर स्वय बैठकर कुशासनासीन छात्रो को भामती पढ़ाया करते थे। इस अध्यापन की कीर्ति से आकृष्ट होकर कलकत्ते की एशियाटिक सोसाइटी नामक प्रख्यात प्रकाशन-सस्था ने भामती से संवलित शारीरक भाष्य का विमर्शात्मक सस्करण शास्त्रीजी से तैयार कराकर स्वय मुद्रित तथा प्रकाशित किया। भामती पर इन्होने विशिष्ट टिप्पणी की भी रचना की। विद्यालय के अध्यक्ष ग्रिफिथ साहब तथा स्थानापन्न अध्यक्ष गफ साहब की प्रेरणा से बालशास्त्री ने **काशी विद्यासुधानिधि** (प्रसिद्ध नाम **दी पण्डित** पत्र) मे भी अनेक प्राचीन तथा प्रौढ़ ग्रन्थों का संशोधन कर उन्हे प्रकाशित किया। इनके स्वरचित मौलिक ग्रन्थों मे **व्याकरण-महाभाष्य टिप्पण, परिभाषेन्दुशेखर** की **सारासार-विवेक** नामक टिप्पणी, **बृहज्ज्योतिष्टोम-पद्धति** आदि मुख्य है। अपने गुरु पं० राजाराम शास्त्री द्वारा निबद्ध 'विधवोद्वाहशङ्का-समाधि' नामक प्रख्यात ग्रन्थ पर इन्होने स० १९२६ विक्रमी में (= १८६९ ई०) 'दोषाभास-निरास' नामक तिलक लिखा। इस ग्रन्थ की रचना द्वारा धर्मशास्त्र के विषय में भी अपनी लोकातीत वैदुषी का इन्होंने प्रख्यापन किया। इस प्रकार पण्डित बालशास्त्रीजी ने शास्त्राध्यापन एव ग्रन्थ-प्रणयन दोनों प्रकारों से सुरभारती की अमूल्य सेवा की जिसके लिए पण्डित-समाज इनका सर्वदा ऋणी रहेगा।

बालशास्त्रीजी ने अपने गुरुवर राजाराम शास्त्रीजी के साथ १९१९ वि० स० (= १८७२ ई०) मे अनेक तीर्थों के दर्शन किये। इसके दो वर्ष के अनन्तर गुरुजी सन्यास लेकर जब कैलासवासी हो गये, तब काशिराजकीय पाठशाला के अध्यक्ष महोदय की प्रार्थना से उनके रिक्त धर्मशास्त्र का अध्यापक-पद इन्होंने स्वीकार किया (१८७५ ई०) परन्तु इस महनीय अध्यापक-पद को भी अध्यात्म-साधना में विघ्नरूप मानकर शास्त्रीजी ने कुछ ही वर्षों के अनन्तर त्याग दिया। अध्यक्ष ने आधे वेतन की पेन्शन देने का भी प्रस्ताव रखा, परन्तु शास्त्रीजी ने इसे भी अस्वीकार कर दिया।

ज्योतिष्टोम यज्ञ का सम्पादन

बालशास्त्रीजी के जीवन की सबसे महनीय आध्यात्मिक घटना है ज्योतिष्टोम याग का समारोहपूर्वक अनुष्ठान। कहा जाता है कि शास्त्रीजी वेद तथा शास्त्र दोनो के प्रकाण्ड पण्डित थे। यह एक अनहोनी विरल घटना मानी जानी चाहिए। वेद तथा वैदिक कर्मकाण्ड के विद्वान् को समय नहीं रहता कि वह शास्त्रो के पचड़े में अपने-आपको डाले। और उधर शास्त्र के अभ्यासी पण्डित को वेद के जटिल अध्ययन में अपने को डालने के लिए अवकाश नहीं मिलता। इसलिए दोनो को एकागी पण्डित कह सकते है। परन्तु बालशास्त्रीजी दोनों के प्रौढ़ तथा मार्मिक विद्वान् थे। इससे हमें शास्त्रीजी के असाधारण वैशिष्ट्य को मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है। शास्त्रीजी ऋग्वेदीय शास्त्रों के ही मार्मिक विद्वान् नही थे, अपितु औद्गात्र के लिए आवश्यक सामगायन के मधुर गायक भी थे। सुनते है कि काशी में विनायकशास्त्री ने जो आप्तोर्याम यज्ञ किया था, उसमें औद्गात्र ऋत्विक् का पद ग्रहण कर बालशास्त्री ने इतना सुन्दर, सरस तथा मधुर सामगायन किया था कि तत्कालीन वृद्धजन कहा करते थे कि ऐसा मधुर सामगायन उन्होंने कभी सुना ही नही। यज्ञ-कार्य के सुचारु निष्पादन के लिए ही शास्त्रीजी

ने ३३ वर्ष के वय मे अपनी वृद्धा माता तथा नितान्त वृद्ध गुरु रामकृष्ण दीक्षित के अत्याग्रह के कारण अपना तृतीय विवाह भी किया था।

१९३७ विक्रमी सवत् तदनुसार १८८० ई० का वर्ष बालशास्त्री के जीवन में एक अलौकिक सन्देश लेकर आया। वे ४१ साल के हो चले थे। ब्रह्माघाट के समीप ही इस अनुपम यज्ञ के लिए स्थान का चयन किया गया और बड़े समारोह के साथ यह यज्ञ शुभ मुहूर्त मे आरम्भ हुआ। उस युग के नितान्त वृद्ध वैदिक पण्डितो ने इसके सुचारु सम्पादन में अपना अनमोल सहयोग दिया। वह विलक्षण दृश्य देखने ही योग्य था। ८० वर्षों से भी अधिक वयवाले उन्हीके श्रौत गुरु प० रामकृष्ण दीक्षित अध्वर्यु थे। आपके व्याकरण-गुरु श्री राजाराम शास्त्री के ज्येष्ठ भ्राता, ८५ माल से अधिक वयवाले सखाराम भट्ट कार्लेकर ब्रह्मा थे। साक्षात् श्रद्धा के समान अल्पवयस्का यजमान-पत्नी अपने उपयोगी मन्त्रों का पाठ स्वय कर रही थी। समस्त वेदशास्त्रो के ज्ञाता, यागकर्म के परिनिष्ठित विद्वान्, धर्म की अपर मूर्ति के समान धर्मवित्ता श्री बालशास्त्री स्वय यजमान थे और शास्त्रीजी के अभिन्नहृदय मित्र, व्याकरणागम के मनीषी विद्वान्, पतञ्जलि के नवीन अवतार माने जाने वाले पण्डित यागेश्वर ओझाजी आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित होकर विराजमान थे। ऐसा था यह अपूर्व गरिमा-सम्पन्न श्रौतयाग। प्रत्येक ऋत्विक् अपने विषय का पारगामी पण्डित था। यजमान के वैदुष्य की तो बात ही निराली थी। बडे ही पावन वातावरण मे सम्पन्न हुआ यह यज्ञ। यज्ञीय धूम की सुगन्ध से पूरा वातावरण स्निग्ध एव सुरभित हो रहा था। यज्ञ के अवसान पर मणिकर्णिका घाट पर अवभृथ-स्नान के समय तो पूरी काशी नगरी ही भागीरथी के पावन तीर पर उपस्थित होकर यह स्वर्गीय दृश्य देखकर अपने नेत्रो को पवित्र करने लगी थी। इतना ही नही, इसे देखने के लिए ग्रामीणजनो का भी तॉता बॅधा था। जान पडता था कि किसी विशिष्ट सूर्यग्रहण का मेला लगा हो। जन-सबाध के कारण उस समय यही दृश्य उपस्थित हुआ था। यज्ञ की समाप्ति पर सपत्नीक बालशास्त्रीजी ने ऋत्विजो को प्रभूत दक्षिणा देकर उनके चरणो पर अपना मस्तक नवाकर अपने जीवन की अन्तिम अभिलाषा को सानन्द परिणति पर पहुँचा दिया। यह विख्यात ज्योतिष्टोम याग माघ शुक्ल पूर्णिमा (स० १९३७ विक्रमी) से आरम्भ हुआ था और पाँच दिनो तक लगातार चलता रहा। इसके अपूर्व समारोह का वर्णन कल्पनागम्य ही है।

शेष जीवन

१९३९ विक्रमी सवत् (= १८८२ ईस्वी) बालशास्त्रीजी के जीवन का अन्तिम वर्ष था। वे अर्श रोग से पीड़ित रहते थे और उनकी पत्नी भी रुग्ण ही होकर अपना जीवन बिता रही थी। सन्तान के अभाव मे ये दम्पति नितान्त खिन्न थे। फलतः इन्होंने ऐकमत्य से चार वर्ष के एक ब्राह्मण-बालक को अपना दत्तक पुत्र बनाया। दत्तक की शास्त्रीय विधि द्वारा इस कार्य पर शास्त्र की मुहर लगा दी गयी। इस बालक का नाम रखा गया विष्णु दीक्षित। १९३९ सं० की ज्येष्ठ शुक्ल द्वितीया को शास्त्रीजी की पत्नी का निधन हो गया। फलतः वह पतिव्रता अपने पति की विद्यमानता में ही मृत्यु को पाकर धन्य हो गयी। एक मास के बाद ही १९३९ स० आषाढ़ मास की दशमी को बालशास्त्रीजी ने भी उस यज्ञभूमि पर गणेश, रुद्र आदि देवों की स्थापना की। इसके अगले महीने श्रावण कृष्ण त्रयोदशी शिव-तिथि (१९३९ वि०) सन् १८८२ ई० को अपनी धवल यशोराशि का विस्तार कर इन्होंने अपने पाञ्चभौतिक शरीर का त्याग कर भगवान् विश्वनाथ के साथ सायुज्य प्राप्त कर लिया। शास्त्रीजी

के मूल नाम विश्वनाथ की तब निश्चयेन सार्थकता सिद्ध हो गयी। ४३ वर्ष के अल्प वय में ही यह शास्त्रीय विभूति लोकातीत कीर्ति का विस्तार कर सदा के लिए अस्तंगत हो गयी।

रचना-शैली

श्री बालशास्त्रीजी को अध्ययन-अध्यापन से कभी अवकाश नहीं मिलता था जिससे वे ग्रन्थों का प्रणयन करते। इसलिए उनकी रचनाओं का भी विशेष महत्त्व है। महत्त्व है, और सातिशय महत्त्व है उनके द्वारा तैयार की गई शिष्यमण्डली का। इस शिष्यमण्डली ने शास्त्रों का स्वय अनुशीलन एवं मनन कर ऐसी सुबुद्ध शिष्य-परम्परा स्थापित की जो आज भी किसी न किसी रूप में विराजमान है।

शास्त्रीजी की महत्त्वपूर्ण कतिपय रचनाएँ ही उपलब्ध हैं—

(१) कहा गया है कि कलकत्ते की एशियाटिक सोसाइटी के आग्रह पर शास्त्रीजी ने ब्रह्मसूत्रों के ऊपर शाङ्करभाष्य की टीका, भामती का एक बहुत ही विशुद्ध संस्करण तैयार कर प्रकाशित कराया था जो इस उदात्त ग्रन्थ का सर्वादिम सस्करण है। उन्होंने व्याकरण शास्त्र में दो ग्रन्थों का प्रणयन किया, जिनमें एक तो है—(२) महाभाष्य पर टिप्पणी[1] और दूसरा है—परिभाषेन्दुशेखर पर (३) 'सारासारविवेक' नामक व्याख्यान। श्रौतविषय में शास्त्रीजी का एक प्रामाणिक ग्रन्थ प्रकाशित है—बृहत् ज्योतिष्टोम-पद्धति, जिसके अनुशीलन से उनके श्रौतविषयक प्रगाढ़ पाण्डित्य का पूर्ण परिचय मिलता है।

सस्कृत में उनका लेख बड़ा ही गम्भीर एव पाण्डित्यपूर्ण होता था। उनके लेख अब तो अप्राप्य ही है। केवल दो लेख यहाँ उद्धृत किये जाते हैं, उनकी उदात्त लेखनशैली की अवगति के निमित्त।

विधवोद्वाहशङ्कासमाधिः नामक ग्रन्थ की अपनी टीका के आरम्भ मे बालशास्त्री ने पाँच पद्यों की रचना की है जिसमें आदिम दो पद्यों में आशीर्वाद के लिए इष्टदेवता की स्तुति की गई है।

शिव की स्तुति का यह पद्य कितना विषयोचित है—

शम्भुस्त्रयीनिहित-धर्मपथानुवर्ति- प्रोत्साहकाभयवराभिनयं दधानः।
शिष्टागृहीतपदवीं श्रयतां निहत्यै शूलं च मामवतु शाश्वतसार्वभौमः॥

पातिव्रत्य-रूपी कल्पवृक्ष का यह वर्णन बड़ा ही रोचक तथा आवर्जक है—

यं संश्रयन्त्यगसुता जनयाञ्चकार त्रैलोक्यभूपतिगिरीशमरुन्धती च।
आस्ते सुरेडितपदाभिमुखः स जीयान्निर्विघ्नमेकपतिकाव्रतकल्पवृक्षः॥

इस वृक्ष के उन्मूलन का प्रयत्नकर्ता व्यक्ति सर्वदा भर्त्सना के योग्य है—

तस्यास्य यो दुरितजालमहाग्रहेण ग्रस्तो वियुक्तपतिकोद्वहनाग्रहेण।
उन्मूलने प्रयतते स कथं न भर्त्स्यः पौलस्त्य एव परमत्र निदर्शनं यत्॥

बालशास्त्री ने राजाराम शास्त्री को अपने गुरु के रूप में उल्लिखित किया है (श्लोक ४)। अतएव गुरु तथा शिष्य—दोनों के सम्मिलित प्रयास का यह परिणाम है।

वेदार्थ-विचार

श्रीमत्सायणाचार्यकृतवेदभाष्यस्यास्वारसिकत्वं मन्यमानान् प्रति किञ्चिदुच्यते—

---

१. कैयट की टीका के साथ राजराजेश्वरी प्रेस (दुर्गाघाट, काशी) से प्रकाशित, १८९५ ई०।

अहह महानयं कतिपयभारतजनस्याविवेको यदहमेव परीक्षकोऽहमेव च प्रेक्षावान् । मया च यदुच्यते तदेव प्रमाणम् । सर्वोऽपि जनो न किमपि वस्तुतत्त्वं निश्चेतुं शक्नोति मदृते इति सुदृढ निश्चित्य नानाविधैर्दुर्भाषणैरपवादयति युगपत् सर्वान् आर्यावर्तीयान् ।

न ह्यस्माकं वेदः शाकुन्तलं नाम नाटकं, येन तस्य महाबुद्धिमता बलवत्-प्रयत्नशालिनाऽपि दिव्यविमानं विनैव क्रियमाणं व्याख्यान विश्वासार्हं स्यात् प्रवर्तयेन्निवर्तयेद् वा प्रेक्षावतः । धर्माधर्माद्यतीन्द्रियेषु वस्तुषु केवलमार्षं विज्ञानमेव व्याचक्षाणस्य प्रामाण्ये उपयुज्यते, न पुनर्बुद्धिपरिश्रममात्रम् । अस्माभिरपि किं तथाविधानि वेदव्याख्यानानि न निर्मातुं शक्यन्ते यादृशानि महाशयमोक्षमूलरप्रभृतिभिर्निर्मितानि, तादृशाना च लौकिकदृष्ट्या कुत्रचिदंशे भगवद्विद्यारण्यप्रणीतभाष्यसन्दर्भापेक्षया चारुतरत्वेन परिदृश्यमानानामपि किं धर्माधर्मयोः प्रामाण्यं स्यात्, किं द्वीपान्तरीयोऽपि महाजनो भगवन्त परमेश्वरमपि तदीयलोकोत्तरमहैश्वर्यदर्शन विनैव धर्माधर्मयोः प्रमाणीकुरुते स्म । अथ च निःशङ्क तदाज्ञावाक्यमनुप्रवर्तते स्म, भारता वा व्यासादिं, न वयं तथा श्रद्धाजडा यत् कोऽपि किमपि वदतु तत्प्रमाणत्वेनानुमन्तव्यमनुमन्तारं च वाग्वज्रेण प्रहर्तव्यम्, यथा श्रीमोक्षमूलरादि-व्याख्यानानुसारिणः कतिपये भारताः । परं वय द्वीपान्तरवासिनोऽपि भारतदेशीयशास्त्रेऽतिप्रवीणान् श्रीमन्मोक्षमूलरप्रभृतीन् समीक्ष्य तेषां परमोत्तमबुद्ध्यभ्यासोद्रेक शिरसा श्लाघामहे । अति-परिश्रमशालिप्रज्ञावद्गणगणनायां प्रथमं गणयामहे । [illegible] ते चोत्तमपण्डिता इति कृत्वा बलिष्ठेषु गायकेषु भटेष्वपि प्रथमं गणनीया, गणनेऽपि न काचित् तेषा प्रशसा स्यात् प्रत्युत गणयितुरनिवेक एव प्रकाशितः स्यात् । एवमेतत् कतिपयाना विद्यारण्य-व्याख्यानस्यास्वारसिकत्वाभिमानपुरस्सर नवीनव्याख्यानस्य प्रामाणिकत्वेनानुमन्तृणा व्याख्यातृणा प्रसादार्थ क्रियमाणं परं महाशयाना तेषामप्रसादमेव सम्पादयेदिति निश्चयः । नहि कोऽपि महात्मा मिथ्या प्रशसया तुष्यतीति प्रसिद्धावप्येषामस्मदीयभारतीयानामत्यन्तमाश्चर्यावहा तथा प्रवृत्तिः केवलमर्थी दोषान्न पश्यतीत्यस्य मुख्यमुदाहरणं भवितुमर्हति । अस्माकं तु द्वीपान्तरीयान् ईदृशविद्योद्रेकशालिनो दृष्ट्वाऽत्यर्थ मोदमानानामपि निष्पक्षपातधीरेव मिथ्याप्रशंसा-प्रवृत्ति कुण्ठयतीति कि कुर्महे ।

अत्रायमेव प्राचीन-नवीन-व्याख्याना परीक्षानिकषोपलो यो ऋग्वेदस्य प्रथमाष्टक-प्रथमाध्यायैकादशवर्गीयो मन्त्रः । अस्य चाधुनिकं व्याख्याचतुष्टयं श्रीमद्विलसन, बेन्फि, लाग्लूइस, मोक्षमूलराभिधैः प्रणीतं, तत्रायं सायणाचार्यानुसार्येव, पराणि त्रीणि तद्विरुद्धानि, तत्राप्यर्वाचीनतरैः कतिपयैर्विशेषतोऽरुषशब्दस्यार्थो विचारितः बहुमन्त्रासंवादप्रदर्शनपुरः-सरमुज्ज्वलपरतया व्यवस्थापितः । परंतु तान् सर्वान् प्रति वदामः तैत्तिरीय-ब्राह्मणस्य तृतीयकाण्डस्य-तुरीयानुवाकार्थानुसन्धानपुरःसरं सायणाचार्येणायमर्थो निरूपितस्ततः स्पष्टं तादृश एवार्थस्तस्य मन्त्रस्यावधार्यते इत्यलमर्थान्तरोपवर्णनार्थैः क्लेशैः । नहि श्रुत्यैव स्वार्थे बोधिते तत्र कुतर्काणामवकाशः । सिंहपरस्य हरिपदस्य सहस्रस्थलेषूपलम्भेऽपि वक्ता मण्डूके स्वतात्पर्यं यदि स्पष्टं बोधयेत् तर्हि तद्धरिपदस्य सिंहपरता शक्याऽवधारयितुम् । तथाऽवधारयिता च शुक्लाम्बरधरव्याख्यातेवोपेक्षणीयः स्यात् । तथा च लौकिकानां गाथा—शुक्लाम्बरधरं देवं शशिवर्णं चतुर्भुजं प्रसन्नवदनं ध्यायेदिति भगवद्गणेशध्यानस्य केनचिदित्थमर्थोपवर्णनमकारि—शुक्ला गौरी अम्बा यस्य स शुक्लाम्बो गणेशः, तं राति वहनीयत्वेनादत्ते इति शुक्लाम्बरो मूषिकः, तं भक्षणार्थं धरतीति शुक्लाम्बरधरो मार्जारः शशिवर्णः शुभ्रः, चतुर्भुजत्वं तु स्पष्टमेव, भक्ष्यलाभेन प्रसन्नवदनोऽपीति गौरमार्जारध्यानमनेन विधीयते इति ।

अन्येन चान्यथैव व्याख्यात रजकरासभपरोऽय श्लोक इति। भवति च स शुक्लाम्बरधरः पीतगौरत्वात् शशिवर्णः महामूढपशुत्वाच्चिन्तालेशराहित्येन प्रसन्नवदनोऽपीति।

इत्थ चात्र मात्सर्यमुत्सार्य निष्पक्षपातधिया विचार्य तारतम्य सुधीभिरिति शम् ॥

बालशास्त्री का यह सुन्दर साहित्यिक भाषा मे निबद्ध लेख उस युग की रामकहानी कहता है जब पाश्चात्त्य वेदज्ञ विद्वानो की वेद की मनमानी व्याख्या से भारतीय पण्डितसमाज क्षुब्ध और उन लोगो के कृत्यो से मर्माहत हो रहा था। शास्त्रीजी ने बडी ही सुन्दर शैली मे उस व्याख्या की खिल्ली उडाई है जो प्रसग एव सन्दर्भ का बिना ध्यान किये ही शब्दो से अर्थों को बलात् खीचकर प्रस्तुत की जाती है। उन्होने हँसी मे दिखलाया है कि ऐसी मनमानी करने पर तो 'शुक्लाम्बरधर देव' जैसा गणेशपरक श्लोक उजली बिल्ली के ध्यान का वर्णन करनेवाला सिद्ध किया जा सकता है। फलत॰ अर्थ करने मे परम्परा पर ध्यान देना नितान्त आवश्यक होता है।

विक्टोरियाकालीन भारत की दशा

रानी विक्टोरिया भारतवर्ष का शासनाधिकार अपने हाथो मे लेकर जब यहाँ की महारानी पदवी मे विभूषित की गई, तब बालशास्त्रीजी ने उनकी प्रशसा मे बडी ही अभिराम वचनावली कही थी। वही यहाँ उद्धृत की जाती है

भो सभ्या॰ किमपि भवतः प्रति निवेदयामि तत् स्वीया विचारपदवीमधिरोपयितु प्रसीदन्तु, अनुरूपोत्तरप्रदानेन च मामनुगृह्णन्तु। तथाहि सर्वद्वीपावतसभूतमपीद भारतवर्ष बहुभिर्नायकैराक्रान्तत्वेन परम्परनाशप्रेप्सुभिस्तै॰ सर्वदा क्रियमाणया सग्रामलुण्ठनादिचिन्तया क्षणमपि शर्माऽलभमानेष्वन्यत्येषु क्रमशः उपजायमाने विद्याशिल्पयोरपचये परस्परविरोधशालिभिस्तैः क्रियमाणे परस्परधर्माभिभवे च सति दुःखोद्वेगसागरेऽत्यन्त निमग्नमेतदुद्दिधीर्षुणेव सर्वजनदयावशवदेन श्रीमती सम्राड् लोकोत्तरवर्णनीय गुणगणशालिनी श्री ५विजयिनी देवी सर्वेषामस्माक सौभाग्यनिधिरिव मूर्तिमयीह जगन्नियमनशक्तिः स्वस्य सकललोकनायकेन परमेश्वरेणैतद्भारतवर्षाधिराज्ञी प्रादुरकारि। अथ तया प्रशमितोपद्रवा वय स्वस्ववर्णाश्रमोचितधर्मान् सुखेनाचरितु शक्नुमोऽपि च सर्वदा प्रजाहितचिन्तनैकदीक्षादीक्षितया तया साम्राज्ञ्या सम्स्थापितासु परस्सहस्रासु पाठशालास्वनायासेन शास्त्रेषु पूर्वपूर्वतरैरेतद्देशीयैः कदाप्यपरिदृष्टावितर्कितेषु शिल्पेषु वाष्पनौकारथादि निर्मितिशिल्पेषु तारायन्त्राद्युपयोगिविद्युदादि-विधासु च व्युत्पत्ति सम्पादयितु शक्नुमश्चेति क इत उत्तमोत्तमादस्मात् समयात् परः समयोऽस्माकमुन्नत्युद्रेकस्य सभाव्यताम्।

ऊपर बालशास्त्री के दो लेखो का कुछ अश उद्धृत किया गया है। उनके अनुशीलन से पता चलता है कि शास्त्रीजी की सस्कृत शैली बडी ही प्राञ्जल तथा प्रसन्न थी। इनकी पदशय्या बड़ी सुन्दर तथा शब्दो का चुनाव सार्थक होता था। प्रथम लेख मे इन्होने वैदिक मन्त्रो के अर्थ के विषय मे प्रचलित आधुनिक प्रणाली की निन्दा की है। द्वितीय लेख मे शास्त्रीजी ने महारानी विक्टोरिया की स्तुति करते हुए उनके राज्य भारत मे व्याप्त शान्ति, व्यवस्था और सुशासन की चर्चा की है। इसके साथ ही अग्रेजी राज्य मे होनेवाले नये नये आविष्कारो—जैसे रेल, तार, बिजली आदि की भूरिशः प्रशसा की है।

संस्मरण

श्री बालशास्त्रीजी संस्कृत भाषा, व्याकरण, दर्शन, वेद तथा कर्मकाण्ड आदि विषयों के उत्कृष्ट पारगामी विद्वान् थे। अपने जीवन के आरम्भिक काल में इन्होंने वेद तथा वैदिक कर्मकाण्ड का बड़ा ही प्रगाढ़ अनुशीलन तथा मनन किया था। इन्होंने अग्निनारायण की स्थापना अपने घर में की थी। ये आहिताग्नि अर्थात् अग्निहोत्री थे। एक बार इन्होंने अपने शिष्यों के संग अग्निनारायण की सेवा करते हुए पञ्चक्रोशी की यात्रा की थी। यह यात्रा भी एक अविस्मरणीय ऐतिहासिक घटना थी। इस यात्रा में पण्डितों तथा छात्रों का एक विशाल समूह ही सम्मिलित हुआ था। सबके आगे अग्निनारायण अपनी वेदी में बैठकर चल रहे थे। उस वेदी के चारों कोनों को शास्त्रीजी के लब्धवर्ण चारों शिष्य अपने कन्धों पर धारण कर चल रहे थे। ये चारों शिष्य अपने-अपने विषय के यशस्वी आचार्य थे जिनके नाम हैं—म० म० पण्डित शिवकुमार शास्त्री, म० म० पण्डित गङ्गाधर शास्त्री, म० म० पण्डित दामोदर शास्त्री तथा म० म० तात्याशास्त्री। इनके पीछे बालशास्त्री तथा उनके घनिष्ठ सुहृद्वर्य पण्डित यागेश्वर शास्त्रीजी एक साथ चल रहे थे और इन दोनों के पीछे-पीछे चल रही थी काशी की महनीय विद्वन्मण्डली। इस दृश्य को देखने के लिए काशीवासी जनता की अपार भीड़ सड़क के दोनों किनारे खड़ी होकर एकटक इस अनुपम शोभा का निरीक्षण कर रही थी।

बालशास्त्री किसी समस्या के समाधान के निमित्त स्वय एक प्रश्न की अवतारणा करते थे। चारों शिष्य क्रमशः उस प्रश्न का उत्तर देते तथा समस्या की ग्रन्थि सुलझाकर उसे बोधगम्य बनाते थे। चारों के मतों में बहुत कम ऐक्य होता था। तब बालशास्त्रीजी शिष्यों के उत्तरों में विद्यमान विसगति दिखलाकर उसका स्वयं समाधान करते थे। कभी तो शिष्यों के उत्तरों में दोष दिखाते और कभी उनके आशिक समाधान को लेकर शिष्यों के उत्तरों का सामञ्जस्य दिखलाते। रास्तेभर यही शास्त्रीय चर्चा चलती रहती। नयी टिकान आने पर मण्डली रुक जाती और शिष्यों का उत्तर-प्रत्युत्तर भी विराम तथा विश्राम पा लेता। पाँच दिनों की पञ्चक्रोशी-यात्रा में न जाने कितने प्रश्नों का उत्तर मिलता, विषम समस्याएँ अपना सुबोध समाधान पा जाती तथा यात्रार्थी विद्वानों के ज्ञान की वृद्धि होती। इस प्रकार यह ऐतिहासिक पञ्चक्रोशी-यात्रा समाप्त हुई। पाँच दिनों की यह शास्त्र-चर्चा सामान्य जन के लिए एक दर्शनीय घटना थी--अभूतपूर्व, नवीन तथा चमत्कारी। इसकी स्मृति आज भी वृद्धजनों के हृदयों पर अकित है।

बाल्येऽपि बालशास्त्री स्वात्सोर्यामर्त्विगखिलविच्छास्त्री।
नृपसेव्य-सोमयाजी बालसरस्वत्ययं विदितः॥

शास्त्रीजी के लेख

पण्डित बालशास्त्री के प्रौढ़-पाण्डित्य-सम्पन्न लेख 'काशी विद्यासुधानिधि' में प्रकाशित होते थे। लेख आकार में बड़े नहीं हैं, किन्तु विषय-प्रतिपादन में बड़े ही प्रौढ़ एवं मार्मिक हैं। कतिपय लेखों का नाम्ना निर्देश यहाँ किया जा रहा है—

१. परिभाषेन्दुशेखर-टिप्पणीपरीक्षाया भूमिका।

२. परिभाषेन्दुशेखर-टिप्पणी-सारासारविवेकः।

३. यथोद्देशकार्यकालपक्षोपपादक-परिभाषेन्दुशेखर-टिप्पणम्।

४ साख्यशास्त्राभ्युपगत-निरीश्वरवादोपपादनम् ।

५ उपदेशसाहस्रीप्रस्तावना ।

ये लेख पुस्तक रूप मे अन्यत्र प्राप्त नही होते । इस वर्ष सस्कृत विश्वविद्यालय द्वारा १९६१ ईस्वी मे प्रकाशित 'पण्डितपरिक्रमा' के प्रथम स्तबक मे उपलब्ध है और जिज्ञासु पाठक इन लेखो को यही देख सकते है ।

बालशास्त्री के सहयोगी विद्वान्

पं० बेचनराम शर्मा

पण्डितजी का जन्म काशी मे ही हुआ था । ये बालशास्त्री के समकालीन प्रौढ़ विद्वान् थे । काशी के गोवर्द्धन सराय मुहल्ले के निवासी थे । व्याकरण तथा दर्शन दोनो के अध्यापन मे इन्हे कीर्ति प्राप्त थी । ये काशी के ही सरयूपारीण ब्राह्मण वंश की निर्मल विभूति थे । सस्कृत-कालेज के अध्यापको मे इनका विशेष नाम था उस युग के छात्रो को दिये गये प्रमाणपत्रो मे इनका हस्ताक्षर बडे आदर से निर्दिष्ट है । ये व्याकरण, साहित्य तथा दर्शन के बडे ही प्रौढ़ तथा मर्मज्ञ विद्वान् माने जाते थे । ये साख्यशास्त्र के अध्यापक थे । 'काशी विद्यासुधानिधि पत्र' मे इनके अनेक गभीर लेख है । इन्होने नरेश्वरपरीक्षा नामक तन्त्रग्रथ का सपादन किया था और उसकी प्रौढ़ भूमिका इन्होने लिखी थी ।[1] व्याकरण शास्त्र के भी ये मर्मज्ञ विद्वान् थे । विद्यासुधानिधि मे ही इनका एक अन्य लेख 'युत् शब्द के स्वरूप के निर्णय मे विद्यमान है ।[2] इन्होने उसे अव्यय निरूपित किया है और इस कार्य मे इनकी अलौकिक विद्वत्ता दृष्टिगोचर होती है ।



१ देखिए पण्डितपरिक्रमा (प्रथम स्तबक, प्रकाशक सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय वाराणसी, पृष्ठ- ६६ ६७, १९६१) ।

२ वही ग्रन्थ, पृष्ठ—५२ से ५५ तक देखिए ।

श्री:

ओझोपाख्य: श्रीयुतठाकुरशर्मपण्डित.

काव्यानि रघुवंशमाघनैषधप्रभृतीनि ज्योतिषे प्रश्न-
मुहूर्तजातकादिसंबन्धिग्रन्थान् व्याकरणे सिद्धान्त-
कौमुदीं मनोरमाशब्दरत्नपरिभाषेन्दुशेखरादीन्
व्याख्याग्रन्थांश्च सम्यक् पठितवान् निरुक्तेष्वेषु
ग्रन्थेषु वर्णनीयतमोऽस्य व्युत्पत्तिर्यदेतत्साठनादिकं
साध्वयं कर्तुं प्रभवति शक्नोति चापठितानपि योज-
यितुं श्रीमद्भागवतादीनि कठिनतराण्यपि पुराणा-
न्यनायासेन व्याख्यातुं क्षमते सुशीलः कुलीनो
बुद्धिमान् प्रामाणिकोऽयमित्येतस्मिन्सर्वस्मिन्निरूपिते
विषये मम दृढो विश्वास इत्यत्यन्तसन्तोषपुरस्सरं
लिखति काशीस्थसंस्कृतपाठालये धर्मशास्त्राद्यध्यापको

भाद्रपदसुदि ६ बुधे सं. १९३४ बालशास्त्री

बालशास्त्री का हस्तलेख

श्री यागेश्वर ओझा

(आस्पद — ओझा; उपाधि — वैयाकरण-केसरी)

पण्डित यागेश्वर ओझाजी व्याकरणशास्त्र के अगाध पण्डित थे। गत शताब्दी मे इनका प्रादुर्भाव हुआ था। ये प्रसिद्ध विद्वान् बालशास्त्रीजी के सतीर्थ्य थे, परन्तु दोनो की अध्यापन-शैली में पर्याप्त पार्थक्य था। बालशास्त्रीजी ने अपने गुरुजन काशीनाथ शास्त्री एव राजाराम शास्त्री से शिक्षा पाकर व्याकरण शास्त्र मे परिष्कार-पद्धति को अग्रसर किया, परन्तु यागेश्वर ओझाजी प्रक्रिया-पद्धति को ही पाणिनीय व्याकरण के रहस्य-प्रकाशन के निमित्त उपयुक्त समझते थे। तथ्य तो यह है कि प्रक्रिया तथा परिष्कार दोनो शैलियाँ परस्पर विरुद्ध न होकर एक-दूसरे की पोषिका है। अलग-अलग शैली का उपयोग कर व्याकरण के मूल ग्रन्थ का अनुशीलन गम्भीरता से किया जा सकता है। प्रक्रिया-पद्धति महाभाष्यकार पतञ्जलि की व्याख्या का पूर्णतः अनुगमन करना अपना ध्येय रखती है। परिष्कार-पद्धति मे नव्यन्याय की सूक्ष्म सम्बन्ध-निरूपक रीति का उपयोग होता है। मूल ग्रन्थ के तथ्यो का अनुशीलन दोनो का ही लक्ष्य है।

अध्ययन

पण्डित यागेश्वर ओझा का जन्म उत्तरप्रदेश के बलिया जनपद वे चोल्हन चक (रुद्रपुर) गाँव मे लगभग १८२८ ई० मे हुआ था। इनके पिता का नाम श्री ओङ्कार ओझा था जो ब्राह्मण-वृत्ति से अपने परिवार का भरण-पोषण करते हुए जीवनयापन करते थे। उनके चार पुत्र थे जिनमे कनिष्ठ पुत्र हमारे चरितनायक यागेश्वर शास्त्री थे। ये अपनी बाल्यावस्था से ही प्रतिभासम्पन्न तथा स्वाध्यायप्रिय व्यक्ति थे। परन्तु अटूट गरीबी के कारण इनके पिताजी इन्हें काशी आदि विद्या के केन्द्र मे अध्ययन करने के लिए नही भेज सके। जीवन के प्रारम्भिक कुछ वर्षों तक ये ग्रामीण पाठशाला में ही शिक्षा प्राप्त करते रहे। परन्तु इस अध्ययन से इनके मन को शान्ति नही मिली।

इनके मन में स्वाध्याय की उत्कट अभिलाषा थी। अतः ये इस अभिलाषा की पूर्ति के लिए अपने पिता और माता से बिना पूछे ही, घर और कुटुम्बियो से नाता तोड़कर घर से भाग निकले। इनके गाँव के पास ही काशी में निवास करनेवाले महाराजा विजयानगरम् की लम्बी-चौड़ी जमीन्दारी थी। इसके प्रबन्धक उस समय एक बंगाली सज्जन थे जो बड़े ही सहृदय एव उदार थे। वे यागेश्वरजी को पढ़ने-लिखने के लिए विशेष प्रोत्साहन देते थे तथा समय-समय पर आर्थिक सहायता देकर अपनी उदारता का परिचय दिया करते थे। उन्हींके प्रोत्साहन से यागेश्वरजी को अपने अध्ययन को पूर्ण तथा सर्वाङ्गीण बनाने में सर्वथा अवलम्ब मिलता। वे इनके नैसर्गिक हितचिन्तक थे।

उन दिनों यातायात की कोई सुविधा नहीं थी। न तो रेलगाड़ी चलती थी और न

तो सड़कों के अभाव के कारण आजकल की तरह बसों और मोटर गाड़ियों से यात्रा का प्रबन्ध था। अतः बालक यागेश्वर पैदल ही गोरखपुर के लिए चल पड़ा। रास्ते में अनेक विघ्न-बाधाओं तथा संकटों को पार करते हुए ये गोरखपुर पहुँचे।

गोरखपुर जनपद में उन दिनों एक बहुत बड़े वैयाकरण रहते थे जो छात्रों को व्याकरण का अध्यापन कर किसी प्रकार अपनी जीविका चलाते थे। यागेश्वरजी ने उन्ही वैयाकरण का आश्रय ग्रहण किया और उन्हींसे इस शास्त्र का अध्ययन करने लगे। अनेक वर्षों तक गोरखपुर जिले में अध्ययन करने के पश्चात् विद्या की नगरी काशी में आकर इनकी पढ़ने की इच्छा हुई।

गोरखपुर से वाराणसी की दूरी कम न थी और उन दिनों यातायात की सुविधा न होने से पैदल ही यात्रा करनी पड़ती थी। यागेश्वरजी अपनी यात्रा की कठिनाइयों का वर्णन करते समय कहा करते थे कि पास में पैसा न होने से यात्रा बड़ी दुखद थी। प्यास लगने पर ये आम के गिरे हुए मीठे पत्तों को चाटकर अपनी प्यास शान्त किया करते। बहुत दिनों मे ये काशी पहुँचे। तब योग्य गुरु की खोज मे लग गये ऐसे योग्य गुरु की जो व्याकरण शास्त्र का पारगामी पण्डित हो और जो इनकी शकाओं का विधिवत् समाधान करने की योग्यता रखता हो।

उस समय के सबसे मूर्धन्य वैयाकरण थे काशीनाथ शास्त्री कार्लेकर जिनके पास व्याकरण के जिज्ञासु छात्रो की भीड़ लगी रहती थी। उन्हीके चरणों की छाया में रहकर यागेश्वरजी ने व्याकरण के अवशिष्ट ग्रन्थों का अध्ययन आरम्भ किया। एक दिन एक विलक्षण घटना घटी। काशीनाथ शास्त्रीजी बड़े आवेश में, पूरी तैयारी के साथ, व्याकरण पढ़ा रहे थे। यागेश्वरजी पाठ सुन रहे थे। इनकी व्याकरण सम्बन्धी व्युत्पत्ति मे कोई न्यूनता तो थी ही नही। सब कुछ पूर्व से ही तैयार था। फलतः इन्होने शास्त्रीजी के पढ़ाने में कोई शका उठाई। शास्त्रीजी ने उस शका को सुनकर तुरन्त उत्तर नही दिया, दूसरे दिन के लिए उसे टाल दिया। दूसरे दिन उस शका का समाधान विधिवत् किया गया, परन्तु प्रथम दिन शका के असमाधान से छात्रो का ध्यान यागेश्वरजी की ओर आकृष्ट हो गया और उनकी विचक्षण बुद्धि पर सबको आश्चर्य हुआ। काशीनाथ शास्त्रीजी का भी इस सुयोग्य शिष्य की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था। उस कक्षा में बालशास्त्रीजी भी अध्ययन कर रहे थे। उनकी दृष्टि में यागेश्वर पण्डितजी चढ़ गये और दोनों की मित्रता सम्पन्न हुई, जो जीवनभर अबाधित गति से निबह गई। काशीनाथ शास्त्री १८४४ ई० (= १९०१ विक्रमी स०) में सस्कृत महाविद्यालय में अध्यापन करते थे। उनके समय में ही उनके पट्टशिष्य पण्डित राजाराम शास्त्रीजी विद्यालय के अध्यापक नियुक्त हो गये थे। फलतः काशीनाथ शास्त्री के विद्यालय से अवकाश ग्रहण करने पर बालशास्त्री के साथ यागेश्वर पण्डित ने इन्ही राजाराम शास्त्रीजी के पास थोड़े दिनों तक अध्ययन किया और यहीं अपनी छात्रावस्था समाप्त की।

सम्मान

बालशास्त्री के साथ इनकी सतीर्थ्यता की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। शास्त्रीजी अपने मित्र यागेश्वरजी को इतना अधिक मानते थे और इनकी इतनी प्रतिष्ठा करते थे कि जब भी किसी राजा-महाराजा के यहाँ से दरबार में आने का उन्हें निमंत्रण मिलता तो वे सदा यागेश्वर शास्त्री को भी अपने साथ ले जाया करते थे। इतना ही नहीं, बालशास्त्रीजी ने काशी में एक अत्यन्त विशाल सोमयाग का अनुष्ठान किया था। उस महनीय यज्ञ में उन्होंने यागेश्वर शास्त्री

को आचार्य के पद पर प्रतिष्ठापित किया था। उन दिनो काशी मे दाक्षिणात्य पण्डितो का ही बोलबाला था। केवल यागेश्वर शास्त्री ही एकमात्र सरयूपारीण ब्राह्मण विद्वान् तथा प्रथम वैयाकरण थे जिन्होने इस पाणिनीयशास्त्र की कीर्तिपताका को सदा प्रतिष्ठापित रखा।

तपस्वी जीवन

पण्डित यागेश्वरजी का आचरण नितान्त पवित्र, विद्वत्ता के अनुकूल तथा अत्यन्त समुन्नत था। ये निःस्पृहता की मूर्ति तथा 'पाण्डित्य के जगम अवतार' थे। शास्त्रीजी वेतन को बिना स्वीकार किये ही, प्राचीन आदर्शों के अनुसार छात्रो को व्याकरण शास्त्र का अध्यापन करते थे। भृतिमूलक अध्यापन—वेतन लेकर अध्यापन करना—इन्हे कथमपि स्वीकार नही था। प० राजाराम शास्त्री सस्कृत कॉलेज के उस युग के मान्य अध्यापक थे। उनकी रुग्णावस्था मे यागेश्वर शास्त्री को कॉलेज मे अध्यापन-कार्य दिया गया था। परन्तु उस अध्यापन काल मे प्राप्त वेतन की समस्त धनराशि ये स्वय स्वीकार न कर प० राजाराम शास्त्री के पुत्रो को दे दिया करते थे। १८७५ ई० मे गुरु का देहावसान हो जाने पर, कॉलेज के तत्कालीन अध्यक्ष डॉ० ग्रिफिथ साहब ने इनके घर पर आकर अध्यापन कार्य करने की प्रार्थना की परन्तु इन्होने भृतिमूलक वृत्ति—वेतनवाली नौकरी—को कथमपि स्वीकार नही किया। सस्कृत तथा हिन्दी के प्रकाण्ड विद्वान् पडित अम्बिकादत्त व्यास ने इनके त्याग की प्रशसा करते हुए लिखा है- –

"इस समय (१८९९ ई०) भी विद्या की राजधानी काशी है। यहाँ के परम मान्य विद्वान् तपस्वी, महानुभाव पण्डित श्री यागेशजी (यागेश्वर शास्त्री) महाराज थे जो काशी मे व्याकरण को राज्याभिषेक देनेवाले पूज्यपाद पण्डित काशीनाथजी के शिष्य थे, जिनका गवर्नमेण्ट सस्कृतकॉलेज ने स्वय कई बार आवाहन किया, पर न गए और केवल भजन कर अपना शेष जीवन व्यतीत किया।"[१]

व्यासजी ने यागेश्वर शास्त्रीजी के तपस्वी जीवन का ऊपर जो उल्लेख किया है वह एक प्रसिद्ध घटना से भी स्पष्टतः प्रमाणित होता है। शास्त्रीजी का एक द्रविड शिष्य विजयानगरम् महाराज के राज्य मे मैनेजर के पद पर प्रतिष्ठित था। प्रत्युपकार-बुद्धि से प्रेरित होकर उसने अपने गुरुजी के गाँव के पास ही बहुत सी जमीन दानरूप मे देने के लिए महाराजा को प्रेरित किया। महाराज बहुत ही उदार थे। उन्होने शास्त्रीजी को जमीन देना स्वीकार किया परन्तु शास्त्रीजी ने अपनी त्यागबुद्धि के कारण उस जमीन को लेना अस्वीकार कर दिया क्योकि उसकी रजिस्ट्री के लिए इन्हे कचहरी की शरण लेनी पड़ती। यागेश्वरजी का यह निर्लोभ स्वभाव तथा भृतिहीन जीवन वृत्ति किसके लिए आश्चर्यजनक नही है ?

दिनचर्या

प० यागेश्वर शास्त्री की दिनचर्या मे स्नान-पूजन, अध्ययन-अध्यापन आदि की प्रधानता थी। प्रतिदिन प्रातःकाल तीन बजे ये पचगगा घाट पर गगा-स्नान करने के लिए जाते थे। वहाँ से आने के बाद घर पर शालग्राम का पूजन-अर्चन तथा पाठादि सावधान मन से एकनिष्ठ होकर किया करते थे। पचगगा घाट के पास ही 'दूधविनायक' नामक मुहल्ले मे मुँगेर के राजा का एक विशाल भवन था। वही पण्डितजी की पाठशाला तथा आवास-स्थान दोनो था।

---

१ प० अम्बिकादत्त व्यास द्वारा रचित एव सम्पादित 'साहित्य-नवनीत', पृ० ७८, काशी, १९१९ ई० का सस्करण।

ये परम वैष्णव थे। यावज्जीवन इन्होंने जिस शालग्राम-विग्रह की पूजा की वह भाग्यवशात् आज भी इस चरित-लेखक के पास है। पं० यागेश्वर शास्त्रीजी का जन्म स० १८८५ वि० (= १८२८ ई०) के आसपास हुआ तथा स० १९५६ वि० (= १८९९ ई०) में उन्होंने काशी में ही निर्वाण प्राप्त किया।

व्याकरण शास्त्र ही शास्त्रीजी के अध्यापन का विषय था और उसमें भी सिद्धान्तकौमुदी, परिभाषेन्दुशेखर तथा महाभाष्य इनके अध्यापन के प्रिय ग्रन्थ थे। प्रक्रिया-विधि के समर्थक होने के कारण शास्त्रीजी पाणिनीय व्याकरण में परिष्कार विधि को अनिवार्य नहीं मानते थे। इनका दृढ़ विश्वास था कि प्रक्रिया-विधि ही महर्षि पाणिनि के समस्त सिद्धान्तों को सहज रीति से प्रकट करने में समर्थ है। अएतव परिष्कार-विधि की अनिवार्यता को ये स्वीकार नही करते थे।

परिवार

पण्डित यागेश्वर शास्त्रीजी का परिवार बहुत ही छोटा था। पहली पत्नी से इन्हें एक पुत्र हुआ। नाम था पण्डित देवकृष्ण ओझा। पहली पत्नी की मृत्यु के अनन्तर इन्होंने विवाह किया। द्वितीय पत्नी से इन्हें एक कन्या उत्पन्न हुई— नाम था गौरी, जिसका विवाह देवरिया मण्डल के रुद्रपुर कसबा के एक प्रतिष्ठित धनाढ्य व्यक्ति से हुआ था। इस पुत्री को तो कोई सन्तान न थी, किन्तु देवकृष्णजी को दो सन्तानें हुईं--एक पुत्र तथा एक पुत्री। पुत्र प० रामनाथ ओझा काशी में ही रहते है और तपस्वी जीवन बिताते है। पुत्री शिवमुनी देवी ग्रन्थलेखक की धर्मपत्नी हैं। इस प्रकार यह लेखक यागेश्वर शास्त्रीजी के ही परिवार का एक अग है। शास्त्रीजी लेखक के 'अजिया ससुर' (श्वशुर के पिता) थे। शास्त्रीजी जिस शालग्राम-विग्रह का नित्य पूजन किया करते थे वह आजकल लेखक के द्वारा पूजित तथा अर्चित किये जाते है। शास्त्रीजी के अलौकिक जीवन की विलक्षण घटनाएँ लेखक ने अपनी सास से सुन रखी है जो उनकी सेवा में निरन्तर रहती थी और उन्हींके साथ प्रातःकाल चार बजे नित्य गंगा-स्नान करने को जाया करती थी।

पण्डित ठाकुरप्रसाद ओझा

पण्डित यागेश्वर शास्त्रीजी ने बडे प्रेम तथा परिश्रम से अपने भ्रातुष्पुत्र प० ठाकुरप्रसाद ओझा को व्याकरण शास्त्र के चूडान्त ग्रन्थो का अध्यापन कर एक परिनिष्ठित सुबुद्ध वैयाकरण बना दिया था। ठाकुरप्रसादजी की प्रतिभा बडी विलक्षण थी। व्याकरण के विद्वान् होने का गौरव तो उन्हें अपने पितृव्य-चरण के अध्यापन के फलरूप प्राप्त हुआ, परन्तु वे अपनी प्रखर बुद्धि से साहित्य एवं ज्योतिष जैसे शास्त्रों का अनुशीलन कर इन विषयों के उत्कृष्ट पण्डित हो गये थे। यागेश्वर पण्डित के भ्रातुष्पुत्र होने के नाते बालशास्त्रीजी की भी कृपादृष्टि इनके ऊपर सदय बनी रहती थी। एक समय की बात है, सस्कृतविद्यालय मे शलाका-परीक्षा चल रही थी। अनेक छात्र परीक्षा देने आये थे। उनमें ही ठाकुरप्रसाद को भी देखकर बालशास्त्री को आश्चर्य हुआ। पूछा कि तुम्हारी तो शलाका-परीक्षा हो चुकी है। आज तुम क्यों आये? ठाकुरप्रसादजी ने कहा—"चाचाजी ने आज मुझे एक विशेष कार्य के लिए भेजा है। उनका कहना है कि तुम उन प्रश्नों का उत्तर देना जिनका उत्तर अन्य छात्रों के द्वारा न हो सके। उसी कार्य के लिए मैं आपकी सेवा मे आया हूँ।" बालशास्त्री शलाका परीक्षा लेते जाते थे और छात्रों द्वारा अनुत्तरित प्रश्नों का उत्तर ठाकुरप्रसादजी से पूछते जाते थे। इनके उत्तर से वे बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे कि "इस समय मेरे पास तुम्हारे योग्य कोई वस्तु पारितोषिक

देने लायक नही है। यह सिद्धान्तकौमुदी मेरे ही हाथो लिखी है। इसी पर मैने अध्ययन किया था और आज भी इसीसे अध्यापन करता हूँ। इसे तुम्हे प्रसन्न होकर देता हूँ। इसे निधि समझकर अपने पास रखना।"

ठाकुरप्रसादजी सिद्धान्तकौमुदी की पोथी लेकर घर आये और यागेश्वर पण्डितजी से शलाका-परीक्षा की सब घटना कह सुनाई और उन अनुत्तरित प्रश्नो का भी उत्तर कह सुनाया जो बालशास्त्रीजी के उल्लास का कारण बना था। कहना व्यर्थ है कि उस युग के सबसे बड़े महारथी बालशास्त्रीजी के द्वारा प्रदत्त उस बहमूल्य पुरस्कार की घटना से यागेश्वर शास्त्रीजी को कितना आनन्द आया होगा। उन्होने अपने भतीजे को विशेष आशीर्वाद दिया। बालशास्त्रीजी ने पुरस्कार के साथ अपना प्रशसापत्र भी दिया था जो यही आगे दिया जा रहा है। दुःख की बात इतनी ही ठहरी कि यागेश्वर शास्त्रीजी के सामने ही यह होनहार विद्वान् अकाल मे ही कालकवलित हो गया। शास्त्रीजी इतने विक्षिप्त तथा अन्यमनस्क हो गये जिसका वर्णन शब्दो के द्वारा नही हो सकता। क्यो न हो ? शास्त्रीजी के द्वारा रोपा तथा सीचा गया अमृत-वृक्ष उनके जीवन-काल मे ही, अकाल मे ही सूख गया। भवितव्यता ही तो ऐमी थी। यह घटना शास्त्रीजी की विशेष विरक्ति का कारण बन गई। अब ये अपना समय भजन-पूजन मे ही अधिकाश मे लगाने लगे। विरक्त तो पहले से ही थे, यह घटना प्रबल विरक्ति का हेतु बनी।

अध्यापन-चातुरी

पण्डित यागेश्वर ओझाजी अध्यापन-कला मे बडे निपुण थे। प्रसिद्धि तो यह थी कि उनके समान कौमुदी का विज्ञ अध्यापक कोई दूसरा न था। इसीलिए टीका-ग्रन्थ के अध्यापन से प्रथम ही शास्त्री लोगो का आग्रह था कि सिद्धान्तकौमुदी का अध्यापन यागेश्वर शास्त्रीजी के द्वारा विधिवत् करने के अनन्तर ही टीका-ग्रन्थ पढ़ाये जायें। तथ्य तो यह है कि परिष्कार पढ़ने से पहले प्रक्रिया का ज्ञान तों सर्वाङ्गीण रूप से होना ही चाहिए और प्रक्रिया का अध्यापक ओझाजी से बढ़कर दूसरा था ही नही। इनके द्वारा कौमुदी का अध्यापन इतना सटीक तथा गम्भीर होता था कि उस सूत्र की व्याख्या के निमित्त महाभाष्यकार से लेकर नागेश तक जिन मार्मिक तथ्यो का उद्घाटन किया गया था वे सब एक साथ ही यहाँ उपलब्ध हो जाते थे। थोडे मे ही पूरी की पूरी व्याकरण-परम्परा छात्रो के मानमपटल पर अकित हो जाती थी। इसीलिए यागेश्वर पण्डितजी के पास छात्रो की सख्या बडी लम्बी होती थी।

ये बड़े अनुशासनप्रिय थे। विद्यार्थियो के ऊपर इनका अनुशासन बडी कडाई के साथ निबाहा जाता था। शास्त्रीजी दूधविनायक मुहल्ले मे रहते थे। उनका आवास-स्थान बड़े विशाल मकान मे था जिममे छात्रो के अध्ययन के साथ ही साथ निवास की भी व्यवस्था थी। बिहार के मुँगेर के राजा की ओर से यह व्यवस्था चालू की गई थी। मकान तीन मञ्जिला था। ऊपरवाले खण्ड मे शास्त्रीजी का आवास था। बीच मे छात्रो के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था थी और निचले खण्ड मे छात्रो के आवास का प्रबन्ध था। शास्त्रीजी ने नियम बना रखा था कि कोई भी छात्र रात मे नौ बजे के बाद प्रवेश नही कर सकता। यदि विशेष कार्य हो, तो पण्डितजी से लिखकर आज्ञा ले लेनी पड़ती थी। कभी-कभी छात्रो को देर हो जाती, तो बड़ी विषम समस्या उपस्थित होती थी। उस मकान का दरवाजा खोलते समय बड़ी आवाज करता था जिससे शास्त्रीजी की नीद खुल जाती थी और वह असमय मे दरवाजा खोलने का कारण पूछ बैठते थे। ऐसी विषम स्थिति मे देर करनेवालो को गड़ारी की मोटी रस्सी से गली

से खींचा जाता था और वे खिड़की के रास्ते निर्भय चले जाते थे। यागेश्वर शास्त्रीजी की आज्ञा इतनी कठोर थी कि देर करनेवाले छात्रों के प्राणों की रक्षा किसी प्रकार से की जाती थी !!!

शिष्यपरम्परा

पण्डित यागेश्वर ओझाजी 'पण्डित' शब्द से अभिहित किये जाते थे। इनके छात्रों में एतद्देशीय काशी मण्डल एव गोरखपुर मण्डल के छात्रों का बाहुल्य तो था ही, साथ ही साथ दाक्षिणात्य छात्रों—तमिल, तेलुगु तथा महाराष्ट्र प्रान्तीय छात्रों — की कमी नही थी। वे छात्र पढ़ते समय ही शास्त्रीजी की 'हैमवती' की प्रतिलिपि अपने हाथों से बनाकर अपने साथ देश ले जाते थे। यही कारण है कि शास्त्रीजी की टीका 'हैमवती' के हस्तलेख मद्रास के पुस्तकालय में विशेष रूप से प्राप्त होते है।

वीरेश्वर शास्त्री द्रविड़

(आस्पद -- द्रविड़, उपाधि — सर्वविद्यानिधान)

इनके प्रधान शिष्यों में **वीरेश्वर शास्त्री द्रविड़** का नाम अग्रगण्य है। द्रविड़जी यागेश्वर शास्त्रीजी के पट्टशिष्यों में अन्यतम थे। अध्ययन समाप्ति के अनन्तर वे जयपुर के महाराजा-कॉलेज में व्याकरण तथा दर्शन के अध्यापक नियुक्त किये गए थे। वर्ष में वे एक बार गुरुजी के दर्शनों के निमित्त काशी अवश्य आते थे और वह तिथि होती थी गुरुपूर्णिमा की। वे गुरुपूर्णिमा से दो-चार दिनों पूर्व ही आते, पूर्णिमा के दिन गुरुपूजा का आयोजन करते और चार-पाँच दिनों के बाद जयपुर लौट जाते थे। उनका यह नियम अटूट था। आने मे देर होती तो यागेश्वर पण्डितजी उनके घर बार बार जाते और पूछते—वीरेश्वर आया कि नही ? बिना शिष्य को देखे गुरु को शान्ति नही मिलती। गुरुजी जिस प्रकार शिष्यभक्त थे, शिष्य भी वैसा ही गुरुभक्त था। वीरेश्वरजी की गाडी में देर हो जाने पर यागेश्वरजी की व्याकुलता शब्दों के द्वारा प्रकट नही की जा सकती थी। इतनी उनकी उत्सुकता होती। इतना उन्हे अपने पट्टशिष्य से मिलने के लिए आतुरता होती।

गुरु की अलौकिक कृपा

एक समय की घटना वीरेश्वर शास्त्रीजी ने लेखक को स्वय सुनायी थी जो यागेश्वर शास्त्रीजी के आध्यात्मिक चमत्कार का एक महनीय निदर्शन था। एक बार वीरेश्वर शास्त्री गुरुपूजा समाप्त होने के बाद भी कई दिनो तक काशी मे ही रुके रहे। लौटने के दिन ही पूर्वाह्न में वे अपने गुरुजी को अन्तिम प्रणाम करने एव आशीर्वाद लेने के लिए उनके आवास पर पहुँचे। यागेश्वर शास्त्रीजी अपने आराधनाकक्ष से निकलकर कुछ क्षण पूर्व ही अपने अध्यापनकक्ष में आकर आसन पर विराजमान हुए थे। शिष्य ने गुरु से अपना मन्तव्य कह सुनाया, चरणों में प्रणाम निवेदन किया और आशीर्वाद के लिए प्रार्थना की। उस दिन एक अपूर्व घटना घटी। आशीर्वाद देने के अनन्तर यागेश्वर पण्डितजी ने शिष्य के मस्तक पर अपना करकमल रखकर आशीर्वाद दिया। साथ ही साथ इन्होंने अपने शिष्य के शरीर पर अपना हाथ कई बार फेर दिया। वीरेश्वर शास्त्रीजी का कहना था कि गुरुजी के इस स्पर्श से उनके शरीर में एक प्रकार की बिजली दौड़ गई। मालूम हुआ जैसे उनके शरीर का प्रत्येक कण उद्बुद्ध हो गया है। इस विलक्षण अनुभूति को लेकर वे अपने घर लौटे और जयपुर चले गये। विद्यालय में अध्यापन के समय किसी भी अपरिचित तथा अपठित शास्त्र का भी

कोई ग्रन्थ वे पढ़ते, उसकी प्रत्येक पंक्ति—कठिन-से-कठिन भी पंक्ति—अनायास लग जाती थी और ज्ञात होता था कि किसी अवसर पर वह आलोचित हो चुकी है। उसके समझने-बूझने में किसी प्रकार न क्लेश होता था; न कोई आयास। इस प्रकार मीमांसा तथा वेदान्त के चूडान्त ग्रन्थों के भी अभिप्राय और तात्पर्य पठनमात्र से उनके मानस-क्षितिज के ऊपर तैरने लगते थे। वीरेश्वर शास्त्री का गुरुजी से अधीत शास्त्र तो व्याकरण ही था, परन्तु गुरु की अलौकिक कृपा से वे सकल शास्त्र के पण्डित हो गये। हिन्दू विश्वविद्यालय में मीमांसा तथा वेदान्त की आचार्य परीक्षा में वाक्परीक्षा लेते मैंने स्वय उन्हें देखा है। गुरुकृपा की यह अनहोनी कहानी सुनाते वे कभी अघाते नहीं थे।

ग्रन्थ-रचना

श्री यागेश्वर पण्डितजी की एकमात्र रचना है—**हैमवती** जो परिभाषेन्दुशेखर की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या है। पण्डितजी ने इस ग्रन्थ की रचना में बड़ा परिश्रम एव प्रयास किया था। यह ग्रन्थ तो शास्त्रीजी के जीवन-काल में ही प्रकाशित हो गया होता, परन्तु दुर्दैव से ऐसा नहीं हो सका। इसकी पाण्डुलिपि पण्डित वीरेश्वर शास्त्रीजी ने अपने हाथ से बनाई थी। उसीके आधार पर लेखक के प्रयत्न से अब यह ग्रन्थ संस्कृत-विश्वविद्यालय की ग्रन्थमाला में मुद्रित तथा प्रकाशित हो गया है (१९७५ ई०)।

हैमवती के प्रारम्भ में ही यागेश्वर पण्डितजी ने अपने पूज्य गुरुदेव का स्मरण इस प्रकार किया है—

> **श्रीविष्णुं विधिनारदप्रभृतिभिः संसेविताङ्घ्रिद्वयं**
> **काशीनाथगुरुं समस्तविदुषां धुर्यं सुधीनां वरम् ।**
> **ध्यात्वा टिप्पणकृत्-प्रसारित-महामोहान्धकारं मया**
> **सद्यः तर्कमयूखराजिभिरपाकर्तुं पराक्रम्यते ॥**

इस पद्य की आलोचना करने से तीन तथ्यों का परिचय मिलता है—(क) ये भगवान् विष्णु के उपासक थे; (ख) इनके गुरु काशीनाथजी उस युग के समस्त विद्वानों मे मूर्धन्य थे; (ग) इस ग्रन्थ के निर्माण का उद्देश्य है—टिप्पण के द्वारा प्रसारित मोहान्धकार का तर्कों से निराकरण। परिभाषेन्दु के ऊपर इस **टिप्पण** का रचयिता कौन विद्वान् था, यह आज भी गवेषणीय है।

'परिभाषेन्दुशेखर' का अध्ययन-अध्यापन इसके रचना-काल से ही व्याकरण के छात्रों में आरम्भ हो गया। नागेश अपने विषय के प्रौढ़ विद्वान् थे। दार्शनिक विषयो में उनकी वैदुषी कम श्लाघनीय नहीं रही। इसीलिए 'परिभाषेन्दुशेखर' के ऊपर 'गदा' नाम्नी टीका के रचयिता वैद्यनाथ ने अनेक परिभाषाओं में पाठ का निर्देश किया है। यागेश्वर शास्त्री के द्वारा स्वीकृत पाठ उससे नितान्त भिन्न है। इतना ही नही, इन्होंने नागेश के ग्रन्थ के ऊपर अनेक स्थलों को अपनी प्रतिभा के द्वारा 'चिन्त्य' बतलाकर अपने उत्कृष्ट पाण्डित्य का परिचय दिया है। 'व्यपदेशिवदेकस्मिन्' (परिभाषा ३०) के ऊपर नागेश के कथन को यागेश्वर ने 'वस्तुतश्चिन्त्यमिदम्' लिखकर अपनी अरुचि दिखलाई है। इसी प्रकार 'अन्तरानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग् बाधते' (परिभाषा ५२) के व्याख्या-प्रसंग में हैमवतीकार ने नागेश के कथन को 'चिन्त्य' ही माना है। इस प्रकार के हैमवती में विपुल प्रसंग हैं जिनसे यागेश्वर शास्त्रीजी का व्याकरण आगम का विशिष्ट वैदुष्य उद्‌धाटित होता है।[1]

---

१. ऐसे स्थलों के लिए द्रष्टव्य हैमवती का 'प्रास्ताविकम्' (पृ० घ और ङ)। प्रकाशक—निदेशक, अनुसन्धान संस्थान, संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी १९७५ ई०।

हैमवती—स्वरूप तथा प्रभाव

महामहोपाध्याय तात्याशास्त्री ने परिभाषेन्दुशेखर की अपनी व्याख्या 'भूति' मे हैमवती का बहुत कुछ आश्रयण किया है, परन्तु दोनो मे अन्तर है। 'भूति' मे परिष्कार-शैली का प्राधान्य है और 'हैमवती' मे प्रक्रिया-शैली का, परन्तु इसका यह तात्पर्य नही है कि यागेश्वरजी 'परिष्कार-पद्धति' का सर्वथा तिरस्कार करते थे। 'अन्तरङ्गादप्यपवादो बलीयान्' (५७ परिभाषा) की व्याख्या के अवसर पर नव्य परिष्कार-पद्धति का अवलम्बन करनेवाली उनकी भाषाछटा देखने ही योग्य है (द्रष्टव्य २३३ से २३७ पृष्ठ पर्यन्त)। इसी प्रकार की लेखनछटा पृष्ठ २४० पर भी अवलोकनीय है। तात्पर्य यह है कि यागेश्वर शास्त्रीजी परिष्कार-पद्धति से पूर्ण परिचय रखते हुए भी अपनी व्याख्या मे उसे उपयोगी नही मानते थे। हैमवती की महती विशिष्टता तो यह है कि वह नागेश के कथन का प्रत्यक्षर व्याख्यान कर उसके भीतर विद्यमान तात्पर्य की भी विशद व्याख्या करती है जिससे परिभाषेन्दुशेखर का तात्पर्य पण्डितो के हृदय मे सद्यः स्फुरित हो। हैमवती सरल सुबोध शब्दो के द्वारा नागेश का आशय प्रकट कर जिज्ञासुजनो का महान् उपकार करती है यह वैशिष्ट्य निरन्तर अविस्मरणीय रहेगा।

हैमवती का प्रभाव पिछली कोटि के व्याख्याकारो पर देखा जा सकता है। भूतिकार तात्याशास्त्री ने 'असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे' परिभाषा के व्याख्यान के अवसर पर 'केचित्तु' शब्द द्वारा हैमवतीकार का स्मरण किया है। भूति के टीकाकार गणपति शास्त्री ने स्पष्ट ही लिखा है 'केचित्तु' इति 'हैमवतीकाराः' (भूति, पृ० १८०), कि यहाँ टीकाकार हैमवती के कर्ता के मत का उपन्यास कर रहा है।

फलतः 'परिभाषेन्दुशेखर' के व्याख्याकारो मे यागेश्वर शास्त्री का नाम नवीन कल्पना, मूल ग्रन्थ के रहस्यो के आविष्करण तथा प्रक्रिया शैली के ही द्वारा मूल ग्रन्थ की परिनिष्ठित व्याख्या करने के कारण सर्वदा अविस्मरणीय रहेगा अपने गुरु का मत इन्होने उद्धृत किया है (पृ० २६२, तदेव नेति गुरुचरणाः), परन्तु गुरु का व्याख्यान देखा नही गया, इनके सतीर्थ्य बालशास्त्रीजी की **सारासार-विवेक** नाम्नी परिभाषेन्दु की टिप्पणी अवश्य ही दृष्टिगोचर होती है। पण्डित यागेश्वरजी ने अपनी नम्रता कितने सुन्दर शब्दो मे अभिव्यक्त की है—

सभ्यान् प्रणम्य विहिताञ्जलिरस्मि भक्त्या
यागेश्वरोऽनधिगतार्थसुशब्दशास्त्रः ।
सत्य, तथापि पुरुषोत्तमपादपद्म-
ध्यानेन लब्धसुमतिर्वितनोमि किञ्चित् ॥

रामायण पर दृढ़ निष्ठा

श्री यागेश्वर शास्त्रीजी परम भागवत थे—नैष्ठिक वैष्णव। फलतः उनकी वाल्मीकीय रामायण के ऊपर अगाध श्रद्धा एव दृढ निष्ठा थी। इसके पाठ तथा उपासना द्वारा वे भौतिक आपदाओं के निरस्त करने का उपाय अपने छात्रो एव जिज्ञासुओं को बतलाया करते थे। एक प्रामाणिक घटना इस विषय की बताई जाती है। "शास्त्रीजी के काशिकेय छात्रो मे गोपीवल्लभ पन्त नामक एक परम भक्त छात्र था, परन्तु अनपत्यता—सन्तानहीनता—के कारण वह बडा दुखी रहा करता था। उसने अपनी विषम रामकहानी गुरुजी को सुनाई और उनसे इस सकट को दूर करने का उपाय पूछा। शास्त्रीजी ने उसे वाल्मीकीय रामायण का २१ नवाह पारायण करने का उपदेश दिया एव तत्सम्बद्ध विधि विधान भी बतला दिया।

पन्तजी श्रद्धालु शिष्य थे, गुरु के कथन पर उनकी अटूट श्रद्धा थी। उन्होने बड़े प्रेम और परिश्रम से वाल्मीकि-रामायण का नवाह पारायण आरम्भ किया। पारायण बिना किसी त्रुटि या व्याघात के विधिवत् चलता रहा। जब २०वाँ पारायण समाप्त हुआ और तज्जन्य आकाङ्क्षित फल की सिद्धि का आरम्भिक रूप भी दृष्टिगोचर नही हुआ, तब गोपीवल्लभजी ने हताश होकर गुरुजी के सामने अपने मनोरथ के वैफल्य की आशंका प्रकट की। शास्त्रीजी ने उनकी आशका सुनी और विश्वासपूर्ण शब्दों में कहा—घबड़ाने की बात ही क्या? अभी तो अन्तिम पारायण अवशेष ही है। २१वॉ नवाह विश्वासपूर्वक कर डालो। फल की सिद्धि निश्चित है। गुरुजी के इन वचनो ने शिष्य की डिगती हुई श्रद्धा को टिका दिया। २१वें पारायण के विधिवत् समाप्त होने की देर थी कि फल-सिद्धि के लक्षण सामने आ गये। अब क्या था? गोपीवल्लभजी की कामना-वेलि फलित हुई। उन्हें ठीक समय पर पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई जिसका शास्त्रीजी ने राम के प्रसादरूप होने से 'सीताराम' नाम रखा। वह पुत्र बड़ा ही तेजस्वी, विद्वान् तथा कर्मठ निकला और पुत्र-पौत्रो से सम्पन्न होकर उसने दीर्घ आयुष्य प्राप्त किया।"[1]

इस प्रकार के कल्याणकारी उपदेश श्री यागेश्वर शास्त्रीजी अपने शिष्यों को देकर उनका सार्वत्रिक मगल किया करते थे, उनकी 'वाक्सिद्धि' चमत्कारजननी थी इसमे सशय का लेश भी न था।

शास्त्रीजी का अध्यात्म-चिन्तन

पण्डित यागेश्वर शास्त्रीजी एक भजनानन्दी जीव थे। ये एक खूसट वैयाकरण न थे, प्रत्युत एक रसिक-हृदय भगवद्भक्त थे। जब ये अपनी पुत्रवधू की अनुपस्थिति में स्वयं भोजन बनाते, तब इनके मुख से विष्णुसहस्रनाम का अजस्र पाठ चलता रहता। ये अपना एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने देते थे। ये इस श्लोक को अपने जीवन का आदर्श वाक्य ही मानते थे। श्लोक इस प्रकार है—

> आयुषः क्षण एकोऽपि न लभ्यः शतकोटिभिः।
> स चेन्नु व्यर्थतां नीतः का नु हानिस्ततः परा॥

मनुष्य के आयुष्य का एक क्षण भी अरबों रुपयों से भी प्राप्त नही हो सकता। यदि वह व्यर्थ हो जाय, तो इससे बड़ी हानि क्या हो सकती है? फलतः ये अपने जीवन के प्रत्येक क्षण को भगवद्भजन में ही लगाते थे। अध्ययन-अध्यापन, पाठ-पूजा के अतिरिक्त इनके जीवन का कोई ध्येय ही न था। इसीलिए भोजन बनाते समय भी ये या तो अपने छात्रो की शंकाओं का समाधान किया करते अथवा विष्णुसहस्रनाम का निरन्तर पाठ ही किया करते थे। उनके प्रिय शिष्य पण्डित वीरेश्वर शास्त्री का यह प्रतिदिन का अनुभव था। ये नरहरिया नामक एक महाराष्ट्र सन्त के पास इस भजन-पूजन के प्रसग में जाया करते थे जो उनके प्रौढ़ छात्रों को अच्छा नहीं लगता था। छात्र नहीं चाहते थे कि उनके महनीय गुरुजी एक अल्पज्ञ सन्त के साथ बैठकर अपना समय भजन करते हुए भी बितायें। परन्तु यागेश्वर पण्डितजी की यह दृष्टि नहीं थी। ये तो साधु-सन्त को, चाहे वह कितना ही अल्पशिक्षित क्यों न हो, क्षुद्र दृष्टि से कभी नहीं देखते थे। काशी में महाराष्ट्र मण्डल के बीच निवास करने से ये मराठी के अच्छे जानकार थे। इसीलिए इनको मराठी सन्तों के पद बड़े ही अच्छे लगते थे जिन्हें गाकर ये उनका आनन्द लिया करते थे। इनके प्रिय भजनों में एक-दो उद्धृत किये जाते हैं।

---

१ यह दिव्य सस्मरण शास्त्रीजी के ही परिचारक तथा सेवक ज्योतिषाचार्य पण्डित रिसालदत्त पाण्डेय के अग्रज पण्डित रघुनन्दनजी ने लेखक को बताया था।

समर्थ स्वामी रामदास के भजन उन्हें बड़े प्रिय थे जिनका उपयोग वे अपने भजन-प्रसग में अवश्य करते थे। रामदास स्वामी के 'मनवाँचे श्लोक' को बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे।

१

सदा सर्वदा देव सन्नीध आहे कृपालूपणें अल्प धारिष्ट पाहे।
सुखानन्द आनन्द कैवल्यदानी नुपेक्षी कदा राम दासाभिमानी॥

२

मना पाहतां सत्य हे मृत्युभूमी जितां बोलती सर्व ही जीव मी मी।
चिरंजीव हे सर्वही मानिताती अकस्मात सांडूनियां सर्वजाती॥

३

सदा देवकाजी झिजे देह ज्वाला सदा रामनामें वदे नित्य वाचा।
स्वधर्मेचि चाले सदा उत्तमाचा जगीं धन्य तो दास सर्वोत्तमाचा॥

४

उभा कल्पवृक्षातलीं दुःख आहे तया अंतरी सर्वदा तेंचि आहे।
जनीं सज्जनीं वाद हा वाढवावा पुढें मागुता शोक जीवीं धरावा॥

अन्तिम छन्द का आशय है कि यदि कल्पवृक्ष के तले जाकर कोई दुःख की ही कामना करता है, तो कल्पवृक्ष दाता ठहरा, वही दुःख वह देगा। सज्जनो के साथ रहकर वाद विवाद करनेवाले जीव को शोक ही मिलेगा, आनन्द नही।

सस्कृत की यह भक्तिमयी अष्टपदी यागेश्वर पण्डितजी को अत्यन्त प्रिय थी। ये इसका भजन बड़े भक्ति-विह्वल कण्ठ से किया करते थे। अष्टपदी बड़ी ही सरस तथा मधुर है।

जय जय राम जयासुरसूदन जय माधव जय विष्णो।
जय लक्ष्मीमुख-कमल-मधुव्रत जय दशकन्धर-जिष्णो॥ १॥
हर मम नरकरिपो! मधुसूदन केशव कल्मषभारम्।
मामनुकम्पय दीनमनाथं कुरु भवसागर-पारम्॥ २॥
त्वं जननी जनकः प्रभुरच्युत त्वं च सुहृत् कुलमित्रम्।
त्वं शरणं शरणागत-वत्सल त्वं भव-जलधि-वहित्रम्॥ ३॥
अपराधं मुरहर परिहर मे कुरु ते चरणं शरणम्।
संसारार्णवतरणे करुणा- वरुणालय! भव शरणम्॥ ४॥
पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि गर्भनिवासम्।
सोढुमलं भवभीतिविभंजन! मामुद्धर निजदासम्॥ ५॥
पूर्वं सकलमहं नृहरे हे कलयामीदमतत्त्वम्।
सर्वं मुञ्चति मामिह सम्प्रति पुत्रकलत्रममत्वम्॥ ६॥
जय नारायण जय पुरुषोत्तम जय वामन कंसारे।
उद्धर मामसुरेशविनाशन! पतितं हतसंसारे॥ ७॥
जय दामोदर दुरितनिवारण अपनय भवभयमोहम्।
भक्तजनप्रिय पङ्कजलोचन नारायण! दासोऽहम्॥ ८॥
जनकसुता-पति-चरणपरायण- नारदकृतमिति गीतम्।
तारय नाथ! परमपुरुषोत्तम माधव! जन्म सुनीतम्॥ ९॥

●



श्री शिवकुमार शास्त्री

६

श्री शिवकुमार शास्त्री

(आस्पद—मिश्र; उपाधि—महामहोपाध्याय एवं 'अत्रैव विद्यारसः')

सन् १९१४ के अक्टूबर की सन्ध्या। उत्तरप्रदेश में बलिया का रेलवे स्टेशन। जनता की अपार भीड़। नगर के प्रमुख व्यक्ति, धनी-मानी जनों के बीच उपस्थित थे शिक्षा-सस्थाओं से सम्बद्ध अधिकारी, संस्कृत-पाठशालाओं के शिक्षक तथा शिक्षार्थी। पूछने पर पता चलता है कि काशी के किसी विद्वान् के अभिनन्दन के निमित्त यह समारोह जुटा है। इतने में ही रेलगाड़ी तेज सीटी के साथ स्टेशन के प्लेटफार्म पर आ पहुँचती है। स्वागत के लिए उपस्थित व्यक्तियों में पण्डित शिवानन्द मिश्रजी (जो आगे चलकर **महामहोपाध्याय** की महनीय पदवी से अलकृत किये गये) सबके आगे जा रहे है। गाड़ी का डब्बा खुलता है और उसमें से विशिष्ट अतिथि उतरते हैं। वेश देखने ही योग्य है—परम सुन्दर तथा आकर्षक। उनकी किञ्चित् स्थूल देहयष्टि पर विराजमान है मलमल की सफेद बगलबन्दी तथा धवल दुपट्टा और माथे पर एक लम्बी-चौड़ी पगड़ी, जो उनके व्यक्तित्व को आकर्षक बनाकर दर्शको के नेत्रों को अपनी ओर बलात् खींच रही है। ये ही महानुभाव है काशी की विद्वन्मण्डली के अलकारस्वरूप निखिलशास्त्रनिष्णात महामहोपाध्याय पण्डित शिवकुमार शास्त्री। यही है मेरा शास्त्रीजी का दिव्य दर्शन।

बलिया मे उस वर्ष सरयूपारीण ब्राह्मण-सभा का अधिवेशन हो रहा था और उसीमें अध्यक्ष के रूप में शास्त्रीजी का आगमन हुआ था। मुझे अच्छी तरह याद है—शास्त्रीजी ने अध्यक्षीय भाषण में छात्रो के लिए सन्ध्यावन्दन तथा वेदपाठ पर विशेष बल दिया था। उनका कहना था कि समग्र द्विजों—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों—के लिए त्रिकाल नहीं तो द्विकाल-सन्ध्या की उपासना करना नितान्त आवश्यक है। सन्ध्यावन्दन बुद्धि को सात्त्विक तथा सूक्ष्मग्राहिणी बनाकर अध्यात्मज्ञान का मार्ग उन्मुक्त करता है। सभा का अधिवेशन विशेष सफल रहा।

इस घटना से दो-तीन वर्ष पूर्व ही मुझे शास्त्रीजी के दर्शन करने का सुयोग काशी मे ही प्राप्त हुआ था। उस समय बाँस फाटक मुहल्ले में काशी की प्रमुख नाट्यशाला थी और इसीमें पण्डितसभा का आयोजन हुआ था पण्डित शिवकुमार शास्त्रीजी की अध्यक्षता में। सभा चल रही थी कि कहीं से महामना मालवीयजी भी आकर उपस्थित हो गये। मालवीयजी को बोलने के लिए आग्रह करते उन्होंने नैषध का यह सुन्दर श्लोक कह सुनाया—

कुलं च शीलं च बलं च यूनां जानासि नानाभुवनागतानाम्।
एषामतस्त्वं भव वावदूका मूकायितुं कः समयस्तवायम्॥

—नैषध १०।७०

दमयन्ती के स्वयंवर में भगवती सरस्वती के अकस्मात् उपस्थित होने पर विष्णु भगवान् ने इसी पद्य के द्वारा उनसे राजाओं के गुणों के वर्णन के लिए आग्रह किया कि तुम

नाना भुवनो से आनेवाले राजाओं के कुल, शील तथा बल को यथार्थतः जानती हो। अतः तुम उनका वर्णन करने के लिये अग्रसर बनो। तुम्हारे मूक होने का यह अवसर नही है। मै भी मालवीयजी से कहता हूँ—यह उनके मूक होने का अवसर नही, क्योकि वे नाना शास्त्रों के तथ्यों के ज्ञाता है और उनका यथार्थ वर्णन करने में वे पूर्ण अधिकारी है।

मालवीय महाराज ने अपनी अमृतवाणी से श्रोताओं को तृप्त कर दिया तथा भाषण के अनन्तर वे सभा से चले गये। पण्डितों को शास्त्रीजी के द्वारा नैषधीय श्लोक के उद्धरण देने पर महान् आश्चर्य हुआ। लेखक ने अपने पितृव्य पण्डित रामउदित उपाध्यायजी (प्रिन्सिपल, जुबिली सस्कृत-कॉलेज, बलिया) को इन शब्दों में अपनी भावना प्रकट करते हुए सुना—"हम लोग तो यही जानते थे कि शिवकुमार पण्डितजी व्याकरण तथा वेदान्त के ही मर्मज्ञ विद्वान् है, परन्तु आज नैषध के इस उद्धरण को सुनकर हमे साश्चर्य आनन्द हो रहा है कि पण्डितजी साहित्य के भी गम्भीर विद्वान् है। सच है, पूज्यपाद शिवकुमार पण्डितजी का चतुरस्र पाण्डित्य है—क्या साहित्य और क्या व्याकरण ? सर्वत्र उनकी अबाध गति है।"

तीसरा तथा अन्तिम दर्शन लेखक ने १९१७-१८ ई० में किया था जब वे सेन्ट्रल हिन्दू-कॉलेज के परिसर मे विद्यमान शर्गा हाल में विद्वत्परिषत् (हिन्दू विश्वविद्यालय की कोर्ट की मीटिग) मे विशिष्ट सभासद के रूप मे पधारे थे। पण्डितजी उस समय बहुत रुग्ण थे, परन्तु मालवीय महाराज का आग्रह था कि वे कोर्टमीटिग मे स्वय उपस्थित होकर हमे आशीर्वाद दें। महामना शास्त्रीजी पर अपार श्रद्धा रखते थे और शास्त्रीजी भी मालवीय के श्रद्धालु प्रशसक थे। फलतः रुग्णावस्था मे भी उन्हें मालवीयजी का आग्रह स्वीकारना पड़ा। उस समय शास्त्रीजी पालकी पर आये थे और उनकी अगवानी के लिए मालवीयजी स्वय पालकी के सग तेज कदमों से चल रहे थे। सभा में पहुँचने पर मालवीयजी ने विश्वविद्यालय के कल्याण के लिए आशीर्वाद के लिए शास्त्रीजी से प्रार्थना की और शास्त्रीजी ने बड़े ही मधुर तथा उदात्त वचनों से अपना आशीर्वाद कह सुनाया। उन्हें सुनकर पूरी सभा के साथ मालवीयजी ने अपने को धन्य तथा अहोभाग्य माना।

× × ×

(क) जीवनचरित

पण्डित शिवकुमार शास्त्री का जन्म वाराणसी जिले के उन्दी नामक ग्राम में हुआ। उस दिन विक्रमी सवत् १९०४ (=१८५७ ई०) की फाल्गुन मास की कृष्ण एकादशी की पवित्र तिथि थी। इनका जन्म मध्यम कोटि के एक सरयूपारीण ब्राह्मण-कुल में हुआ था। पिता का नाम था पण्डित रामसेवक मिश्र और माता का श्रीमती मतिरानी देवी। रामसेवकजी सामान्य कोटि के कुछ पढ़े-लिखे ब्राह्मण थे; परन्तु अपत्य-वैधुर्य के कारण नितान्त दुःख तथा क्लेश में अपने दिन बिताते थे। बात यह थी कि उन्हें जीवित पुत्र का मुख देखने का सौभाग्य प्राप्त न था। पुत्र होता था, परन्तु वह मरा ही पैदा होता था। इसी दुःख के निवारण के लिए उन्होंने अपने पूज्य कुलगुरु के उपदेश की कामना की।

गुरुजी ने प्रसन्न होकर उन्हें एक विशिष्ट व्रत का उपदेश दिया। वह व्रत इस प्रकार था—पहले किसी कपिला गाय को गेहूँ खिलाया जाय और जब वह गोबर करे, तब उसमें से गेहूँ निकालकर साफ कर दे और उसीके बने आटे का प्रयोग प्रत्येक प्रदोष-व्रत के दिन करे। इसीका विधान गुरुजी ने उन्हें बताया।

रामसेवक मिश्र ने अपने गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य कर स्वयं शिव की आराधना तथा पूजा प्रारम्भ कर दी एवं अपनी पत्नी को गो-सेवा-व्रत करने का आदेश दिया। पति-पत्नी की एकान्त साधना एवं आराधना से भगवान् आशुतोष ने अपने नाम को सार्थक किया और शिव की कृपा से मिश्रजी को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। भगवान् शिव की पूजा से ही यह पुत्र प्राप्त हुआ था। अतः पिता ने पुत्र का नाम **शिवकुमार** रख दिया जो उचित और सार्थक था।

जब यह पुत्र-रत्न पैदा हुआ तब उसके शरीर पर भगवान् शिव के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। उसके ललाट पर चन्द्रमा एव त्रिपुण्ड्र, जिह्वा पर त्रिशूल और ग्रीवा में शिव के नीलकण्ठत्व की कालिमा विराजमान थी। ऐसे विचित्र लक्षणों से युक्त पुत्र को देखकर घर तथा परिवार के लोग कुछ आश्चर्य में पड़ गये और उसे त्यागने का विचार करने लगे। परन्तु पिता के यह आश्वासन देने पर कि गुरु के आशीर्वाद के अनुरूप ही यह पुत्र शिव के अश से पैदा हुआ है, लोगों का कौतूहल शान्त हो गया और उन्होंने उसका यथाविधि स्वागत किया।

पण्डित रामसेवक मिश्र की यह बड़ी उत्कट अभिलाषा थी कि शिव की दीर्घ आराधना से प्राप्त यह पुत्र यशस्वी एव विद्वान् बने। वास्तव में उनकी यह कामना फलवती सिद्ध हुई परन्तु वे अपने पुत्र का यशोगान सुनने के लिए अधिक दिनों तक जीवित नही रह सके। जब बालक शिवकुमार केवल तीन वर्ष का था तभी उसके पिता का देहावसान हो गया। उसके सिर से पिता की छत्रच्छाया सदा के लिए उठ गयी।

परन्तु 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'। शिवकुमार ने पाँच वर्ष की अवस्था मे ही अपनी विलक्षणता का परिचय देना प्रारम्भ कर दिया। इस अल्प अवस्था में ही वह घर से बाहर जाकर बालू को इकट्ठा कर उसकी पिण्डी बनाता और पार्थिव-पूजा का प्रयास करता। इस प्रकार भगवान् शिव की पूजा के प्रति इसकी प्रवृत्ति बाल्यावस्था से ही दिखाई पड़ने लगी और यह बालक अपने बाल्यकालीन व्यवहारों तथा आचरणों से भी अपने 'शिवकुमार' नाम को सार्थक करने लगा।

अध्ययन

शिवकुमारजी के चाचाजी बिहार प्रदेश में स्थित भूतपूर्व बेतिया राज मे नौकरी करते थे। अतः ६ वर्ष की अवस्था में वे बालक शिवकुमार को अध्ययन के लिए अपने साथ बेतिया लिवा ले गये जहाँ ये पण्डित वाणीदत्त चतुर्वेदी नामक गुरु से विद्याध्ययन करने लगे। परन्तु अध्ययन का क्रम अधिक दिनों तक नही चल सका और किसी कारणवश शिवकुमार को पुनः अपने गाँव लौट आना पड़ा। ये घर लौट तो आये, परन्तु अपनी ज्ञान-पिपासा की तृप्ति के लिए इनका मन छटपटा रहा था। इधर इनके चाचा ने भैस चराने का काम इनके सुपुर्द कर दिया। उनकी आज्ञा थी कि ये प्रतिदिन मैदान में जाकर भैसों को चराया करें। इनका मन इस काम में लगता नहीं था। भैंसों को खेतों में चराने के लिए अवश्य ले जाते थे, परन्तु एकान्त में बैठकर स्वयं कुछ चिन्तन किया करते थे। इसी दुबिधा की स्थिति में इनके दिन बीतने लगे।

शिवकुमारजी पण्डितों के घराने में पैदा हुए थे। अतः इनके गृह में संस्कृत की पुस्तकों का भाण्डार भरा हुआ था। इन्होंने अपनी इसी पिपठिषा की शान्ति के लिए पुस्तकों का

अध्ययन शुरू कर दिया। इनका पठनशील मन दूसरे कामो मे नही लगता था। स्वाध्याय ही इनका एकमात्र व्यसन था।

शिवकुमारजी के जीवन के ग्यारहवे वर्ष मे एक ऐसी घटना घटी जिससे इनके जीवन की धारा ही बदल गयी। ये अपने चाचाजी की आज्ञा के विरुद्ध घर मे लुक-छिपकर अध्ययन किया करते थे। आखिर एक दिन इनके चाचा ने, जिन्होने इन्हे भैस चराने का काम दिया था, इन्हे पकड़ ही तो लिया और इस 'दुष्कर्म' के लिए इन्हे बहुत पीटा। चाचा ने व्यङ्ग्य करते हुए कहा कि क्या इन पुस्तको को पढ़कर तुम बृहस्पति बनोगे अथवा वाचस्पति ? क्या पाणिनि बनने की कामना है अथवा पतञ्जलि बनना है ? इस प्रकार उन्होने अपने वाग्बाणो से मर्मान्तक प्रहार करने के साथ ही शारीरिक पीड़ा भी प्रदान की। बेचारे उस चाचा को क्या पता था कि यह बालक अपनी प्रखर प्रतिभा और प्रकाण्ड पाण्डित्य से एक दिन भारतवर्ष मे अपनी कीर्ति-पताका को फहराएगा तथा अपने वश के यश को प्रसारित करेगा।

ऐसा कहा गया है कि बुराई मे ही भलाई के बीज निहित रहते है। नीले आकाश मे स्वच्छन्द विचरनेवाले जो बादल अपने गर्जन-तर्जन एव उपल की वृष्टि से घोर कष्ट प्रदान करते है, वे ही अपनी पीयूषधारा से पृथ्वी को सीचकर उसे शस्यश्यामला भी बना देते है। अभिभावको का जो ताडन छात्रो के लिए अध्ययन के प्रति विरक्ति का कारण बन जाता है वही शिवकुमारजी के लिए वरदान सिद्ध हो गया। इस ताडन से विद्याध्ययन से विरक्ति के स्थान पर इनकी अनुरक्ति और भी अधिक बढ़ गई और इन्होने यह भीष्मप्रतिज्ञा की कि जिस शुभ एव उचित कार्य के लिए इतनी ताड़ना प्राप्त की है उसे अवश्य ही सम्पादित करूँगा।

जिस प्रकार भगवान् तथागत ने ससार की पीडा से व्यथित होकर जनता के दुःखत्रयाभिघात के लिए तथा ज्ञान की प्राप्ति के हेतु महाभिनिष्क्रमण किया था, उसी प्रकार शिवकुमारजी ने अपने पितृव्य की ताड़ना के त्रास से त्राण पाने के लिए एव विद्या अर्जित करने के लिए अपने घर से अभिनिष्क्रमण किया। घर को छोड़ते समय इनकी वृद्धा तथा विधवा माता ने इन्हे बहुत समझाया कि मुझे छोड़कर काशी मत जाओ परन्तु अपने अभिलषित पदार्थ की प्राप्ति के लिए जिसने अपना मन स्थिर कर लिया है भला उसे कौन विचलित कर सकता है ? महाकवि कालिदासजी ने ठीक ही कहा है—

क ईप्सितार्थस्थिर-निश्चय मनः, पयश्च निम्नाभिमुख प्रतीपयेत् ॥

कठोर अनुशासनप्रिय पितृव्य तथा पुत्रवत्सला माता के घर न छोड़ने के आग्रह की अवज्ञा करते हुए, दृढ़निश्चयी शिवकुमारजी विद्याध्ययन के लिए घर से सदा के लिए निकल पडे और पुनः जीवनपर्यन्त घर लौटकर नही गये। सकल शास्त्रो का अध्ययन करने तथा अनन्त कीर्ति प्राप्त करने के पश्चात् भी ये पुनः अपने गाँव लौटकर कभी नही गये, यद्यपि बहुत से लोगो ने इसके लिए इनसे बार-बार आग्रह किया था।

पण्डित शिवकुमार मिश्रजी चौदह वर्ष के वय मे काशी पढ़ने के लिए चले आये और काशीस्थ राजकीय सस्कृत-महाविद्यालय मे प्रविष्ट होकर व्याकरणाध्यापक सुल्तानपुर के निवासी दुर्गादत्त पण्डित से लघुकौमुदी पढना आरम्भ किया। तिडन्तप्रकरण के 'एध वृद्धौ' धातु से ही पाठ आरम्भ हुआ। एध् धातु का अर्थ है वृद्धि। शिवकुमारजी का दृढ विश्वास था कि वृद्ध्यर्थक धातु से पाठारम्भ होने से उसी समय से आरम्भ कर उनकी वृद्धि का सूत्रपात हुआ।

उस समय काशी से तीन कोस की दूरी पर किसी गाँव मे ये रहते थे। वही से प्रतिदिन

आते थे और गंगास्नान करते तथा भगवान् विश्वनाथ का उसी गंगाजल से अभिषेक करते। विद्यालय में अध्ययन कर सायंकाल घर लौटते थे। इस दिनचर्या में उस समय भी व्याघात नहीं होता था। संस्कृत-कॉलेज के व्याकरणाध्यापक पं० दुर्गादत्त से लघुकौमुदी आरम्भ की। साढ़े चार साल के लघु समय में ही इन्होंने परिष्कारान्त व्याकरण का अध्ययन विधिवत् कर लिया। अनन्तर उसी विद्यालय के न्यायाध्यापक **श्रीकालीशंकर शिरोमणि** नामक वंगदेशीय नैयायिक से हेत्वाभासान्त न्याय का अनुशीलन कर नव्यन्याय में अलौकिक व्युत्पत्ति प्राप्त कर ली। पण्डित-समाज में लब्धकीर्ति दार्शनिकप्रवर पण्डित **गणेश श्रौती** से इन्होंने 'खण्डनखण्डखाद्य' का तथा विशुद्धानन्द सरस्वती से 'अद्वैतसिद्धि' तथा पूर्वमीमांसा दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया।

छात्रावस्था में ही इनकी शास्त्रव्युत्पत्तिजन्य प्रतिभा के प्रसाद की कीर्ति विद्यालय के अध्यापकगणों में व्याप्त हो गई थी। प्रसिद्ध बालशास्त्रीजी की दृष्टि को शिवकुमारजी ने अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। प्रसन्न होकर बालशास्त्री ने इनसे कहा—"वत्स शिवकुमार, मैं तुम्हारी विलक्षण प्रतिभा को एवं शास्त्रों में गाढ अनुराग को देख रहा हूँ। यदि हमारे गुरु पण्डित **राजाराम शास्त्रीजी** से भी तुम कुछ अध्ययन कर लेते, तो बड़ा कल्याण होता।" शिवकुमारजी ने तुरन्त उत्तर दिया—"गुरुजी तो बहुत वृद्ध हो चुके हैं। यदि आप ही मुझे अपने पास अध्ययन का सुअवसर देते, तो मैं अपने को धन्य समझता।" तदनन्तर बालशास्त्री ने इन्हें अपना अन्तेवासी बनाया। कुशाग्र बुद्धि से गम्य गम्भीर परिष्कारों का तथा शब्दखण्ड में व्युत्पत्तिवाद एवं शक्तिवाद विषयों का शिवकुमारजी ने बालशास्त्री से विधिवत् अध्ययन किया और इसके लिए वे उनका आभार सर्वदा मानते थे। शिवकुमार पण्डितजी की प्रतिभा इतनी अलौकिक थी एवं शास्त्रों के अन्तराल में प्रवेश करने की शेमुषी इतनी चमत्कारिणी थी कि गुरुमुख से अधीत पारम्परिक विद्या में इन्होंने एक नवीन उन्मेष उत्पन्न कर दिया। फलतः प्रतिभा तथा परिश्रम, त्याग तथा तपस्या के बल से इन्होंने चतुरस्र पाण्डित्य का अर्जन कर लिया।

अध्यापन

अध्ययन समाप्त होते ही शास्त्रीजी को अध्यापन का सुयोग प्राप्त हुआ। ये संस्कृत-कॉलेज में व्याकरण शास्त्र के अध्यापक-पद पर नियुक्त किये गये। ये केवल चार वर्षों तक इस पद पर विराजमान रहे (१८७५ ई० से लेकर १८७९ ई० तक)। इसी काल में इन्होंने सैकड़ों छात्रों को मुक्तहस्त से विद्यादान दिया और एतज्जन्य इनकी कीर्ति चारों ओर फैल गई। परन्तु सम्भवतः कतिपय विद्यालयीय अध्यापकों के कुचक्र से इन्हें अपनी नौकरी छोड़नी पड़ी। इन्हें आभास हो गया कि संस्कृत-कॉलेज में रहते हुए इनकी विद्या के विशेष प्रसार का अवसर नहीं मिलेगा और न तो इन्हें अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन का ही सुयोग प्राप्त होगा। उस समय पाठशाला के अध्यक्ष राइट नामक साहब थे। इन्हींके समय में इन्होंने अपने पद से सदा के लिए छुट्टी पा ली और स्वतन्त्र हो गये।

शास्त्रीजी को अपनी जीविका के लिए चिन्ता करना स्वाभाविक था। काशी के ही किसी धनाढ्य सेठ की बारात में वरपक्ष की ओर से ये दरभंगा गये और वहीं तत्कालीन दरभंगा-नरेश श्री लक्ष्मीश्वर सिंह के दरबार में उपस्थित होकर नाना रमणीय पद्यों से उनकी स्तुति की तथा पण्डितों से शास्त्रार्थ करने में भी इन्होंने अपने लोकातीत वैदुष्य का परिचय दिया। गुणग्राही राजा लक्ष्मीश्वर सिंह बड़े ही प्रसन्न हुए और उन्होंने शास्त्रीजी को अपने

राजकीय विद्यालय मे अध्यापक नियुक्त किया जहाँ पण्डितजी परिवार के साथ कुछ दिन रहे भी थे, परन्तु उनका चित्त काशी-विश्वनाथ के इस आकस्मिक वियोग से नितान्त दुखित रहता था। एक नवीन घटना से शास्त्रीजी का उद्वेग शान्त हो गया।

दरभंगा-पाठशाला की स्थापना

राजा लक्ष्मीश्वर सिहजी ने उस युग के प्रकृष्ट विद्वान् श्री विशुद्धानन्द सरस्वती को पाँच सौ रुपया प्रतिमास खर्च के लिए देने का प्रस्ताव किया, परन्तु विरक्तो के सम्राट् स्वामीजी ने प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया और आदेश दिया कि उस द्रव्य का उपयोग काशी मे ही सस्कृत-विद्यालय खोलने मे किया जाय जिससे अनेक पण्डितो को वृत्ति लाभ होगा और छात्रो को विद्यालाभ का अवसर मिलेगा। फलतः दरभगा नरेश ने काशी मे 'दरभगा पाठशाला' की स्थापना की और शिवकुमारजी की अभिलाषा को चरितार्थ करते हुए इन्हे ही इस पाठशाला का अध्यक्ष बनाया। शास्त्रीजी यावज्जीवन इसी पाठशाला मे पचास रुपये का वेतन लेकर सैकडो छात्रो को नाना शास्त्रो का अध्यापन करते थे। उस समय, गत शताब्दी के अन्तिम चरण मे यह विद्यालय काशी का गौरव था जहाँ महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी, म० म० तात्याशास्त्री तथा म० म० प्रमथनाथ तर्करत्न जैसे विद्वद्रत्न अध्यापन करते थे। यह पण्डितत्रयी तो आगे अन्यत्र भी चली गई, परन्तु **सीताराम शास्त्री** जैसे विचक्षण नैयायिक ने आजीवन इस पाठशाला की सेवा की। प० सीताराम शास्त्री बडे विद्वान् तार्किक एव प्रौढ नैयायिक थे। सुनते है कि वे शक्ति के महनीय उपासक परम शाक्त थे। ऐसे प्रख्यात अध्यापको के द्वारा अध्यापित छात्र वैदुषी-सम्पन्न होकर अपने प्रान्त मे लौटते थे और विद्यालय की कीर्ति का विस्तार करते थे। मिथिला के उत्साही पण्डितो को शिवकुमारजी से अध्ययन करने का अवसर यही प्राप्त हुआ और शास्त्रीजी को छोडकर मैथिल छात्रो ने न कही विद्या पढ़ी और न किसीको अपना गुरु माना। ऐसी निष्ठा थी मैथिल छात्रो की शिवकुमार पण्डितजी के प्रति।

लक्ष्मीश्वर सिह के निधन के उपरान्त उनके अनुज श्री रमेश्वर सिह दरभगा की राजगद्दी पर बैठे। उन्होने शास्त्रीजी का वेतन पचास से पचहत्तर रुपये कर दिया और सन्तुष्टचेता शिवकुमारजी इसी वृत्ति पर यावज्जीवन इस विद्यालय मे अध्यापन करते रहे। लार्ड कर्जन के स्वागत के निमित्त शास्त्रीजी कलकत्ते बुलाये गये, वहाँ इनका बडा सत्कार हुआ और कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रख्यातनामा कुलपति श्री आशुतोष मुकर्जी ने उसी समय प्रमथनाथ तर्करत्न के द्वारा सस्कृतकॉलेज मे पाँच सौ रुपया प्रतिमास वेतन पर अध्यापन करने का निमन्त्रण भी दिया, परन्तु त्यागवृत्ति शास्त्रीजी ने उसे अस्वीकार कर दिया। ऐसा था उनका त्याग और ऐसी थी उनकी काशी विश्वनाथ के चरणो मे गाढ अनुरक्ति !!!

दिनचर्या

पण्डित शिवकुमार शास्त्रीजी की दिनचर्या अध्ययन अध्यापन, जप पूजा के सम्पादन की ही एक मनोरम कहानी है। शास्त्रीजी प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्त मे उठ जाते थे और सूर्योदय के पहले ही भगवती गगा के किनारे पहुँच जाते थे। मणिकर्णिका घाट अथवा ललिता घाट मे से किसी एक घाट पर स्नान करते थे। स्नान सन्ध्या करने के अनन्तर ये सीधे अपने विद्यालय दरभगा-पाठशाला मे पहुँच जाते थे। दाहिने हाथ मे विराजता था गगाजमुनी कमण्डलु और बाये कन्धे पर रहता था गगाजल से पूर्ण बड़ा ताम्रकलश। इन दोनो का उपयोग बाबा विश्वनाथ के स्नान कराने मे किया जाता परन्तु अभी तो प्रातःकाल मे ही लगनेवाली अपनी

पाठशाला में इन दोनों को यथास्थान रखकर शास्त्रीजी छात्रों के अध्यापन में लग जाते थे। दस-साढ़े दस बजे पाठशाला बन्द हो जाती थी, तब शास्त्रीजी इन दोनों पात्रों को लेकर भूतभावन विश्वनाथजी के मन्दिर में जाकर मन्त्रोच्चारपूर्वक उन्हें स्नान कराते थे। तदनन्तर ये मध्याह्न-स्नान तथा सन्ध्या के लिए दशाश्वमेध घाट पर उतरते थे। स्नानादिकृत्य से निवृत्त होकर दोनों जलपात्रों को पूर्ववत् धारण कर अपने आवासस्थान रेशमकटरा में जाते थे। वहाँ अनेक विद्वान् शास्त्रचर्चा तथा विद्याभ्यास के निमित्त पहले से ही उपस्थित रहते। शास्त्रीजी उसी गंगाजल से नर्मदेश्वर का अभिषेक करते थे। सौभाग्यवश भगवान् नर्मदेश्वर की वह मूर्ति उनके पौत्र के पास है जिसकी पूजा परिवार में आज भी विधिवत् होती है।

अभिषेक के अनन्तर दो-ढाई बजे के लगभग शास्त्रीजी भोजन करते थे और थोड़ा आराम-विश्राम करने के बाद उपस्थित विद्वानों के साथ शास्त्रचर्चा का प्रवाह चल पड़ता था। किसीको वेदान्त पढ़ाते, तो किसीसे धर्मशास्त्र के गम्भीर विषयों का शास्त्रार्थ छिड़ जाता था। कहीं धार्मिक व्यवस्था देने का प्रसंग होता, तो वह भी इसी समय निपटाया जाता। शास्त्रीजी अपने हाथों व्यवस्था आदि कम लिखते थे। ये बोलकर ही बहुधा लिखवाया करते थे। सन्ध्या समय पूजन-पाठ, रात्रि में फिर शास्त्रचर्चा और अन्त में विश्राम और शयन। शिवकुमार पण्डितजी की यह दिनचर्या थी। इन नियमों में कभी परिवर्तन नहीं होता था। मुझे याद है, जब शास्त्रीजी शिवानन्द मिश्रजी के आग्रह पर बलिया पधारे थे, तब उन्हें भृगुजी के मन्दिर के पास ही टिकाया गया था और वहाँ भी उनका पूर्वोक्त अर्चन-पूजन का कार्यक्रम निर्बाध चलता था।

शास्त्रार्थपटुता

श्री शिवकुमार शास्त्रीजी दार्शनिक दृष्टि से अद्वैतवादी वेदान्ती थे। फलतः अपने पक्ष के मण्डन के निमित्त ये द्वैतवादियों पर गाढ़ प्रहार कर उन्हें परास्त करने की अद्भुत क्षमता रखते थे। म० म० कैलाशचन्द्र शिरोमणि की मध्यस्थता में इन्होंने पण्डित **रामधन पञ्चानन** के द्वैतमत का पुंखानुपुंख खण्डन कर उन्हें परास्त किया था। पैंतीस वर्ष के वय में काश्मीर-महाराज के आश्रित म० म० रासमोहन सार्वभौम को शास्त्रार्थ-विचार में इनसे पराजित होना पड़ा था। **श्रीनाथद्वारा**-पीठाधिपति श्री गोवर्धनलाल महाराज के सामने भारतमार्तण्ड श्री गट्टूलाल के साथ शास्त्रीजी का तुमुल शास्त्रार्थ हुआ जिसमें प्रतिपक्षी के विशिष्टाद्वैत-मत की इन्होंने धज्जियाँ उड़ाकर उन्हें परास्त किया था। शास्त्रार्थ में इनके वैदुष्य का चमत्कार देखकर पण्डित-मण्डली चमत्कृत हो जाती थी। **म० म० पण्डित राखालदास न्यायरत्न** पर पण्डितजी की बड़ी श्रद्धा थी और ये उन्हें गुरु के समान ही मानते थे। अद्वैतवादी वेदान्ती होने पर भी गंगेश के 'तत्त्वचिन्तामणि' के ऊपर शास्त्रीजी का बड़ा आदरभाव था।

सम्मान एवं सत्कार

कलकत्ता के प्रख्यात विद्वान् म० म० महेशचन्द्र न्यायरत्न ने म० म० यादवेश्वर तर्करत्न के साथ इनके आवास पर आकर शास्त्रीजी का दर्शन किया और इनकी विद्वत्ता से इतने प्रभावित हुए कि उनकी प्रकृष्ट संस्तुति पर शास्त्रीजी को 'महामहोपाध्याय' की पदवी अंग्रेजी सरकार से प्राप्त हुई। शृंगेरी मठ के शंकराचार्य ने 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र पण्डितराज' की पदवी तथा उससे अंकित सुवर्णपदक को बहुमान के साथ इन्हें अर्पित किया था। बामरा के राजा ने 'अत्रैव विद्यारसः' की उपाधि तथा तदङ्कित सुवर्णपदक देकर शास्त्रीजी के प्रति अपनी

श्रद्धा अभिव्यक्त की थी। कलकत्ता की कान्यकुब्ज सभा ने 'विद्यामार्तण्ड' की उपाधि सम्मानपुरःसर प्रदान की थी। चतुरस्र पाण्डित्य से मण्डित होने के कारण म० म० शिवकुमार शास्त्री काशी मे सबसे बड़े प्रकृष्टतम पण्डित माने जाते थे और इसलिए धर्म के विषय मे इनकी व्यवस्था का सर्वत्र आदर होता था और इनका निर्णय अकाट्य माना जाता था।

सन् १९१२ ई० मे दिल्ली मे सम्राट् पचम जार्ज के राज्याभिषेक के लिए जो दरबार आयोजित किया गया था उसमे महामहोपाध्याय पण्डित शिवकुमार शास्त्री भी सम्मिलित हुए थे। तत्कालीन काशीनरेश महाराजा प्रभुनारायण सिहजी इन्हे अपने साथ काशी के पण्डितो के प्रतिनिधि के रूप मे दिल्ली ले गये थे। इसीसे शास्त्रीजी का महत्त्व समझा जा सकता है।

सन् १९१३ ई० मे बलिया मे आयोजित सनातनधर्मसभा ने इन्हे अपना अध्यक्ष निर्वाचित कर स्वय अपने को ही गौरवान्वित किया था। शास्त्रीजी हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी की विद्वत्परिषत् (कोर्ट) के एक सम्माननीय सदस्य थे और महामना मालवीयजी महाराज इनका बडा ही सम्मान करते थे।

व्यवस्था का आदर

पण्डित शिवकुमार शास्त्री के प्रकाण्ड पाण्डित्य और विद्वत्ता की धाक काशी ही नही, बल्कि तत्कालीन सयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश) मे, किवा समस्त भारत मे बैठी हुई थी। सम्पूर्ण भारत के लोग इन्हे सम्मान तथा प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखते थे। केवल भारत मे ही नही, बल्कि विदेशो मे भी स्थित हिन्दू इनकी व्यवस्था का आदर करते और सम्मानपूर्वक उसका पालन करते थे। यह बात प्रसिद्ध है कि सन् १९१४ ई० मे १९१८ ई० तक होनेवाले प्रथम विश्वयुद्ध मे भारतीय सैनिक अग्रेजो की ओर से जर्मनी से लडने के लिए विदेश (सम्भवतः मेसोपोटामिया) मे गये हुए थे। वहाँ अन्न के अभाव के कारण तथा शीत की अधिकता से बचने के लिए अग्रेजी सेना के अधिकारियो ने इन हिन्दू सैनिको को माम खाने का आदेश दिया जिसे इन्होने स्पष्ट ही अस्वीकार कर दिया। अग्रेज सैनिक-अधिकारियो के बहुत दुराग्रह करने पर हिन्दू सैनिको ने कहा कि यदि काशी के विद्वान् तथा शास्त्र के ज्ञाता प० शिवकुमार शास्त्रीजी मास खाने की व्यवस्था देगे, तभी हम लोग उसे ग्रहण कर सकते है अन्यथा कदापि नही। अग्रेज अधिकारियो ने शास्त्रीजी के सामने इस समस्या को प्रस्तुत किया। शास्त्रीजी ने हिन्दू सैनिको की प्राणरक्षा के लिए, आपद्धर्म समझकर मास खाने की व्यवस्था दे दी। तभी सैनिको ने अपने आहार मे परिवर्तन स्वीकार किया। इस घटना से पता चलता है कि पण्डित शिवकुमारजी की शास्त्रीय व्यवस्था का क्या महत्त्व था ? और ये किस सम्मान और आदर की दृष्टि से भारतीय जनता के द्वारा देखे जाते थे।

१९११ साल की मनुष्य गणना के अवसर पर शास्त्रीजी ने हरिजनो को हिन्दुत्व से बहिष्कृत होने से बचाया था।

इस प्रकार अपनी विद्वत्ता से समग्र भारतवर्ष की पण्डितमण्डली को उपकृत तथा चमत्कृत कर महामहोपाध्याय पण्डित शिवकुमार शास्त्री ने १९७५ विक्रमी सवत् (=१९१८ ई०) सौर भाद्रमास के द्वितीय दिन शनिवार के पूर्वार्ध साढे नौ बजे के समय अपनी ऐहिकलीला का सवरण किया और भगवान् विश्वनाथ से सायुज्य प्राप्त किया। मृत्यु से पूर्व तीन मास पहले शास्त्रीजी को पक्षाघात हो गया था। केदारजी के मन्दिर के पास ही राजा ताहिरपुर की कोठी मे भागवत तथा गीता के श्लोको को पढते तथा भावावेश मे आँसुओं की

वर्षा करते हुए ये भूतभावन में लीन हो गये। उस समय इनका पूरा परिवार उपस्थित था। तृतीय धर्मपत्नी, एकमात्र पुत्र श्री वाचस्पति मिश्र, तीन पौत्र जगन्नाथ, रघुनाथ तथा श्रीनाथ, अनेक दुहिताएँ एवं दौहित्रों के सान्निध्य में शास्त्रीजी ने कैलासधाम में प्रवेश किया :

वैदुष्यं विलयं गतं बुधसभा शून्यां दशां लम्भिता
शास्त्रार्थो विरसोऽभवन्नवनवा लीनास्तु ताः कल्पनाः ।
शास्त्रं व्याकरणं तथाऽक्षचरणादिष्टं च सद्दर्शनं
यातं तत् सकलं गते शिवकुमाराख्ये बुधे तत्क्षणात् ॥

(ख) शास्त्रीजी के ग्रन्थ

महामहोपाध्याय शिवकुमार शास्त्रीजी की रचनाओं में (१) **यतीन्द्रजीवनचरितम्** अत्यन्त स्पृहणीय एव सग्रहणीय है। इसमें काशी में दुर्गाकुण्ड-समीपस्थ आनन्दबाग में निवास करनेवाले स्वामी भास्करानन्द सरस्वती का जीवनचरित वर्णित है। नाना छन्दों में निबद्ध १३१ पद्यों का यह मनोरम काव्य दार्शनिकता से ओतप्रोत है। स्वामीजी के जीवन की घटनाएँ तो निबद्ध हैं ही, साथ ही उनके वैराग्य, ज्ञाननिष्ठा, वेदान्तानुभूति आदि सद्‌गुणों का विशेष परिचय देकर पण्डित शिवकुमार शास्त्रीजी ने इस काव्य के कलेवर को परिपुष्ट किया है। इस ग्रन्थ के निर्माण के प्रेरक थे चौधरी महादेवप्रसादजी, जो बिहार के मुजफ्फरपुर जिले के नन्दपुर परगना के स्वामी तथा धनाढ्य व्यक्ति थे। इनके पिता का नाम था चौधरी रुद्रप्रसादजी। चौधरी महादेवप्रसादजी बड़े आस्तिक, सात्त्विक आचरणवाले व्यक्ति थे। वे स्वामीजी के श्रद्धालु शिष्यों में अन्यतम थे और उन्होंने अपनी विशाल भूसम्पत्ति का दान कायस्थ पाठशाला, इलाहाबाद को अन्त में कर दिया। इन्होंने **यतीन्द्रस्तोत्र** नामक स्वामीजी की स्तुतिमें एक स्तोत्र का भी प्रणयन किया है जिसमें १६ ललित पद्य है जो इसी ग्रन्थ के अन्त में प्रकाशित किया गया है।

'यतीन्द्रजीवनचरितम्' में लम्बे-लम्बे वृत्तों का आधिक्य है जिनमें (श्लोक १५ श्लोक ७५ तक) विभिन्न दर्शनों के सिद्धान्तों का वर्णन सुबोध शैली में किया गया है। यह भाषानुवाद से सवलित है जिसकी सहायता से मूलग्रन्थ के कठिन स्थलों को भलीभाँति समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए कुछ पद्य यहाँ दिये जाते हैं।

यतीन्द्रजी वैराग्य-साम्राज्य के सम्राट् है। इसका सुन्दर वर्णन देखिए—

पुण्या यस्य कुटुम्बिनी मतिरियं ध्यानं परं भोजनं,
भोगश्चापि तदेव यस्य विदितं यत्पट्टवस्त्रं दिशः ।
भूपालावलिभाललग्नमुकुट—प्रोद्यल्ललामार्चिषा
यन्नीराजनमस्ति रागरहितं साम्राज्यमाप्तोऽद्य यः ॥

—यतीन्द्रजीवनचरितम्, श्लोक ४

स्वामी भास्करानन्दजी की इतनी मान्यता थी कि बड़े-बड़े राजा-महाराजा उनके चरणों पर अपना शीश नवाते थे। शास्त्रीजी का कहना है कि ऐसा सौभाग्य प्राप्त करना पूर्वजन्म में परमेश्वर के चरणारविन्द की निहित सेवा का ही तो परिणत फल है :

चिरकालमुपासनां विना जगदीशस्य पदारविन्दयोः ।
घटते च न जात्वधिक्षिति क्षितिभृन्मण्डलमण्डिताङ्घ्रिता ॥

—वही, श्लोक २५

स्वामीजी के निर्मल सात्त्विक गुणों का यह बड़ा ही साहित्यिक चारुतापूर्ण वर्णन है—

शशिरुक् शशिरुक् कमलं कमलं कुमुदं कुमुदं वद कम्बुरयम् ।
कुरुतामतिवक्रचलो यतिनः स्थिरराजितसत्त्वगुणानुकृतिम् ॥

—वही, पद्य १०६

स्वामीजी के उज्ज्वल निर्मल सत्त्वगुण के समान कोई वस्तु नही है जिसकी उपमा दी जाय । चन्द्रमा की कान्ति उज्ज्वल तो है, परन्तु वह शशिरुक् है । अर्थात् शशी = मृगधारी = पशुवाले की कान्ति है । सफेद रग वाला कमल भी केवल कमल ही है (अर्थात् 'क' = जल का 'मल' = मैल है) । कुमुद को देखो वह कु (कुत्सित) मुद् (हर्ष) को देता है । तो क्या टेढ़ा-मेढ़ा चंचल यह शख यतीन्द्रजी के स्थिर विराजमान सत्त्वगुण के सदृश हो सकता है ? नही, कभी नही । फलतः ये चारो वस्तुएँ दोषयुक्त होने से सत्त्वगुणी यतीन्द्रजी के लिए कभी उपमान नही बन सकती । कारण ? उनका सत्त्वगुण उपमाविहीन जो ठहरा ।

पदशय्या के लिए इस पद्य को पढ़िए । कितनी सुन्दर शब्द-योजना है —

कलधौत-सुशोभित-सौधततिः कलहंसगतिः सुदती—सुततिः ।
कलनादि—रिरंसु—पतत्रिततिः कलयेन्न वशं प्रतिपक्षततिः ॥

—वही, पद्य ११०

इसी पदशैली मे आत्मचिन्तन मे निरत स्वामीजी का भी वर्णन पढ़िए--

वृतशास्त्रगतिः परमार्थमतिः पदकञ्ज- नमद्—वसुधाधिपतिः ।
स्मिततोषित—सर्वमनुष्यततिर्यतिरात्मनि रज्यति पुण्यकृतिः ॥

—वही, पद्य १०८

इस 'यतीन्द्रजीवनचरित' की रचना कर पण्डित शिवकुमार शास्त्रीजी ने न केवल एक महनीयकीर्ति पुण्यश्लोक यतीन्द्रजी के जीवनचरित को ही बोधगम्य बनाया, अपितु अपनी पद्य-रचना-चातुरी को भी प्रदर्शित कर अनुपम यश प्राप्त किया । तथास्तु ।

(२) **लक्ष्मीश्वर प्रताप**—शिवकुमार शास्त्रीजी की यह काव्यकृति इनके आश्रयदाता दरभगा नरेश महाराजा लक्ष्मीश्वर सिहजी की कीर्तिकौमुदी को चतुर्दिक् विस्तारित करनेवाली कमनीय रचना है । इसमे लक्ष्मीश्वर सिहजी के प्रताप का विस्तृत साहित्यिक चमत्कृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है । बहुत खोजने पर भी काव्य की कोई प्रति उपलब्ध न हो सकी । केवल नमूने के तौर पर पण्डित परम्परा से सुना गया यह उत्कृष्ट पद्य यहाँ दिया जाता है

पूर्णा चान्द्री कला वा, दिशि दिशि लहरी क्षीरसिन्धूत्थिता वा
कुन्दालीमालिका वा शिवनिलयगिरेः कान्तिरेवोद्गता वा ।
हंसानां संहतिर्वेत्यवनितलबुधैस्तर्क्यते यस्य कीर्तिः
सोऽयं लक्ष्मीश्वराख्यो जगति विजयते नायकस्तीरभुक्तेः[1] **॥**

आशय है कि तिरहुत के राजा लक्ष्मीश्वर सिह की विजयगाथा सर्वत्र प्रसिद्ध है । उनकी विमल कीर्ति को देखकर भूतल के विद्वान् लोग नाना प्रकार की कल्पना किया करते है--क्या वह चन्द्रमा की पूर्णकला है अथवा चारो दिशाओं मे विराजमान क्षीरसागर की दुग्धधवल लहरी है अथवा कुन्दपुष्पो की नितान्त उज्ज्वल माला है अथवा कैलास पर्वत से उत्पन्न होनेवाली कान्ति है अथवा हसो का समूह एकत्र होकर विद्यमान है ? पद्य सन्देहालकार का बहुत बड़ा ही अभिराम-मनोहर दृष्टान्त है । इस उदाहरण से ही हम इस काव्य की मधुरिमा,

---

१ यह पद्य शास्त्रीजी के ग्रन्थ 'यतीन्द्रजीवनचरितम्' मे भी उपलब्ध होता है । यह ग्रन्थ के प्रायः अन्त मे है तथा इसकी श्लोकसख्या १२९ है ।

प्रतिभा तथा वर्णनरीति का कुछ अनुमान कर सकते हैं। शास्त्रीजी की काव्यप्रतिभा के साक्षात्कार के लिए इस काव्य का गम्भीर अनुशीलन नितान्त आवश्यक है।

पण्डित शिवकुमारजी की अध्यक्षता में संचालित काशीस्थ दरभंगा संस्कृत पाठशाला के ही प्राचीन छात्र **पण्डित रघुवीर मिश्र** काव्यतीर्थ (उपनाम द्विरेफ) के द्वारा प्रणीत **लक्ष्मीश्वरोपायनम्**[१] नामक प्रशस्ति-काव्य से परिचय पाना अप्रासंगिक न होगा। रघुवीर मिश्र इसी पाठशाला के सुयोग्य छात्र थे। काशी में ही उन्होंने साहित्य का अध्ययन किया तथा पद्य-रचना में अद्भुत क्षमता प्राप्त की। इस प्रशस्ति-काव्य में नाना वृत्तों में १११ (एक सौ ग्यारह) पद्य गुम्फित हैं। श्लेष, यमक, उपमादि अलंकारों का सौन्दर्य भी अवलोकनीय है। इसकी रचना १९५२ विक्रमी सं० (१८९५ ई०) में की गई थी (पद्य १०८) जब महाराजा जीवित थे। तीन वर्षों के अनन्तर १९५५ वि० सं० (= १८९८ ई० में) उनके निधन पर लिखी गई 'शोकावली' नामक कविता इसमें सम्मिलित की गई है। पण्डित शिवकुमार शास्त्री के भी पाण्डित्य का संकेत इस पद्य में किया गया है—

भूमौ भारतमण्डलं प्रथमतो विद्यानिधानं मतं
तत्रापीयमनेकपण्डितवरैर्वाराणसी मण्डिता।
एतस्यामपि यः कुमारवपुषा ख्यातः शिवस्य स्वयं
सोऽपि त्वद्गुणगौरवेण परवान् पुष्णाति गोष्ठीश्रियम्॥

—पद्य ५२

काशीस्थ दरभंगा पाठशाला की प्रशस्ति भी यहाँ निबद्ध है—

संत्रस्तानां कलिमलभयात् सर्वविद्यावलीनां
प्राण-त्राण-प्रवण-मनसामेक-विश्राम-भूमिः।
अस्पृष्टायां कलियुगगुणैर्भूमिलोकेतरस्यां
वाराणस्यां जयति भवतः पाठशाला विशाला॥

—पद्य ३८

महाराजा की वाणी की प्रशंसात्मक मनोज्ञ रचना पर दृष्टिपात कीजिए—

कालिन्दीव समस्तगोपतिनुता गङ्गेव सर्वप्रिया
गूढा क्वापि सरस्वतीव न-जडा व्यक्तं रसोल्लासिनी।
तीर्थाधीश्वरतां गतस्य कृतिनोऽमुष्य प्रयागस्य ता-
मेकैव त्रिगुणात्मिका कलयते वाणी त्रिवेणीश्रियम्॥

—पद्य ३३

सरस प्रसन्न श्लेष की सुषमा इस प्रकृष्ट पद्य में देखिए। महाराजा तीर्थ (मन्त्र आदि राजनीति के १८ स्थान) के अधीश्वर होने से तथा प्रकृष्ट याग (यज्ञ) के सम्पादन के कारण 'तीर्थराज प्रयाग' की समता धारण करते हैं। उनकी त्रिगुणात्मिका वाणी त्रिवेणी की शोभा को प्राप्त कर रही है। वह वाणी समस्त गोपति (राजाओं के द्वारा, अन्यत्र गोपों) के द्वारा प्रशंसित होने से कालिन्दी (= यमुना) के समान प्रतीत होती है। गंगा के समान वह सबको प्यारी लगती है। सरस्वती के सदृश वह कहीं-कहीं गूढ़ है, जड़ नहीं है (अन्यत्र नजड़ा = जलविरहित) तथा रस (शृंगारादि साहित्य-प्रसिद्ध रसों, अन्यत्र जल) से उल्लसित आनन्दित

१. विद्याविलास प्रेस काशी में मुद्रित सं० १९८२ (=१९२५ ई०), तथा महाराजा की जेठी रानी की आज्ञा से पण्डितों में वितरणहेतु प्रकाशित।

होनेवाली है। फलतः राजा की ऐसी वाणी त्रिवेणी की शोभा को पूरी मात्रा में धारण करती है। श्लेष की सुषमा से चर्चित यह पद्य आवर्जक तथा आकर्षक है !!!

कवि के द्वारा भगवान् नारायण के चरणों में अपनी कृति का यह समर्पण सरस तथा आनन्ददायक है—

सर्वासां सरितां सरित्पतिरिव स्वैरोच्छलद्रंहसा-
मेकोऽनेकगिरां विरामविषयो नानाध्वगानामपि ।
योऽयं स्थावरजङ्गमाकृतिकृती विश्वात्मना भासते
तत्पादार्पणमेव मेऽस्तु शिशुता-संकल्पितं जल्पितम् ॥

—पद्य १११

(३) लिङ्गधारण-चन्द्रिका-व्याख्या

वीरशैव सम्प्रदाय मे भगवान् शिव के लिङ्ग को धारण करने का विधान है। उस सम्प्रदाय का प्रत्येक अनुयायी गले में चाँदी की पेटिका में सपुटित शिवलिङ्ग सर्वदा धारण करता है। इस प्रथा के वैदिकत्व के समर्थन में **लिङ्गधारणचन्द्रिका** नामक ग्रन्थ उपलब्ध होता है। इसका प्रणयन सम्प्रदाय के प्रवर्तक बसवेश्वर के पौत्र तथा महेशाचार्य के पुत्र नन्दीश्वर ने किया था। काशीस्थ विश्वाराध्य जंगममठ के अध्यक्ष राजेश्वर शिवयोगी के विशेष आग्रह से शिवकुमार शास्त्रीजी ने इसके ऊपर **शरत्** नाम्नी व्याख्या की रचना १९६० वि० सं० (= १९०३ ई०) में की। वेद तथा उपनिषद् से संगृहीत वैदिक उद्धरणों से संवलित होने से यह कठिन तथा दुरूह है। पण्डित शिवकुमारजी ने इस ग्रन्थ की अभिराम व्याख्या कर इन कठिन अंशों को सरल तथा सुबोध बनाया है। ग्रन्थ के आरम्भ में १६ पद्यों में आपने इसकी रचना का हेतु स्पष्ट शब्दों में निर्दिष्ट किया है। लोकैषणा सामान्यतः इस रचना की प्रवर्तिका अवश्य है, तथापि भगवान् शंकर की संतुष्टि तथा आराधना हो—इसी कारण इसका निर्माण किया गया है। शास्त्रीजी के शब्दों की सरलता ध्यातव्य है—

लोकैषणा भवत्येव यद्यप्यत्र प्रवर्तिका। तथापि किञ्चिद् गौरीशस्तुष्येदिति मनोगतम् ॥

ग्रन्थ के अन्त में पण्डितजी का कथन है—

अस्या विश्वेशपादाब्जपरत्वं वीक्ष्य हर्षतः ।
व्याख्यां शिवकुमारोऽहमकार्षं तच्छुभास्त्वियम् ॥

पण्डित शिवकुमार शास्त्रीजी भगवान् शंकर के अनन्य भक्त तथा उपासक थे। उसी उपासना की पोषिका होने से उन्होंने इस व्याख्या की रचना की है। उनकी नम्रता तथा सरलता नितरां दर्शनीय है। ग्रन्थ के अन्तिम पृष्ठ पर पण्डितजी का एक यौवनकालीन सुन्दर चित्र है जिसके परिचय में यह पद्य दिया गया है—

प्रस्तावे विदुषां यस्य प्रथमं नाम गृह्यते ।
सोऽयं शिवकुमाराख्यः पण्डितः पण्डिताग्रणीः ॥

इस प्रकार यह टीका शास्त्रीजी के वैदिक एवं दार्शनिक वैदुष्य की सद्यः प्रकाशिका है।[1] न्याय तथा मीमांसा का आश्रयण भी बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है।

शास्त्रीजी के पूर्वोक्त तीनों ग्रन्थ मुद्रित एवं प्रकाशित हैं, परन्तु परिभाषेन्दुशेखर पर शास्त्रीजी ने टिप्पणियाँ भी लिखी थी जो अभी तक अप्रकाशित ही हैं। सफल अध्यापक को

---

१. इसका मुद्रण काशी के विख्यात मेडिकल हाल नामक मुद्रणालय मे हुआ था। प्रकाशन संवत् १९०५ वि०। पृष्ठ-संख्या ३१३।

ग्रन्थ-रचना के लिए अवसर मिलना नितान्त कठिन है। शास्त्रीजी को ग्रन्थ लिखने का समय प्राप्त न हो सका। ये टिप्पणियाँ यदि प्रकाशित हो जायँ, तो व्याकरण के परिष्कारप्रेमी पण्डितो का महान् उपकार हो।

पण्डित पूर्णचन्द्र दे नामक प्रख्यात वगीय विद्वान् के विशेष आग्रह पर शास्त्रीजी ने 'शिवमहिम्नः स्तोत्र' के ऊपर भी एक विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी थी। पूरी टीका तो उपलब्ध नही होती, केवल कतिपय पद्यों की ही व्याख्या उपलब्ध होती है। पण्डित शिवकुमार शास्त्रीजी भूतभावन विश्वनाथ के नैष्ठिक उपासक थे। इसीलिए शिवोपासनापरक ग्रन्थो के ऊपर व्याख्या लिखने मे उनका नैसर्गिक अनुराग था, चाहे वह जगमसम्प्रदाय का हो या वैदिक सम्प्रदाय से सम्बद्ध हो।

शिष्यमण्डली

पण्डित शिवकुमार शास्त्री की शिष्य मण्डली बहुत विस्तृत थी। इनके पावन चरणो के निकट बैठकर शास्त्रो का अध्ययन करनेवाले छात्रो ने प्रचुर कीर्ति अर्जित की है, जिनमे प्रधान शिष्यो के नाम नीचे दिये गये है—

(१) म० म० डॉ० गगानाथ झा, (२) विद्यावाचस्पति पण्डित मधुसूदन ओझा, (३) शास्त्रार्थ-महारथी पण्डित हाराणचन्द्र भट्टाचार्य और (४) वैयाकरण-केसरी म० म० जयदेव मिश्र। इन चारो विद्वानो का विस्तृत वर्णन स्वतन्त्र रूप मे पृथक्-पृथक् इसी ग्रन्थ मे अन्यत्र दिया गया है। इनके अतिरिक्त इनके शिष्य थे—(५) शिवशकर झा (दरभगा के लोहना ग्राम मे स्थित सस्कृत विद्यालय के प्रधानाचार्य), (६) पण्डित दीनबन्धु झा (दरभगा के प्रसिद्ध सरिसव गॉव की महारानी सस्कृत-पाठशाला के अध्यापक), (७) पण्डित अच्युताश्रम मुनि (गौरीशकर गोयनका के गुरु प्रसिद्ध वेदान्ती विद्वान्), (८) राजाराम शास्त्री (लाहौर के डी० ए० वी० कॉलेज के सस्कृताध्यापक), (९) प० महादेव शास्त्री वाक्रे (अनेक ग्रन्थो के सम्पादक), (१०) प० रामावधि शर्मा, (११) प० अच्युतानन्द त्रिपाठी (न्यायवेदान्तनिष्णात, सन्यासी-पाठशाला, काशी के न्यायाध्यापक), (१२) प० निरीक्षणपति तिवारी, (१३) प० चुम्बे झा (मिथिला के लब्धकीर्ति वैयाकरण), (१४) यामिनीनाथ तर्कवागीश (गवर्नमेण्ट सस्कृत कॉलेज, कलकत्ता के अध्यापक), (१५) प० श्रीकर शास्त्री (उत्कल प्रदेश के प्रसिद्ध नैयायिक रणवीर-सस्कृत-पाठशाला मे अध्यापक)।

शास्त्रीजी का काशीस्थ स्मारक

श्री शिवकुमार शास्त्रीजी का काशी मे एक अभिराम स्मारक विद्यमान है जो काशी के नगवा मुहल्ले मे उन्हीके नाम पर 'शिवकुमार शास्त्री सागवेद विद्यालय' की आख्या से प्रसिद्ध है। यह विद्यालय स्मारक रूप मे आने से पहले **नगवा पाठशाला** के नाम से बडा ही भव्य तथा लोकप्रख्यात शैक्षणिक सस्थान था। इसके सस्थापन का श्रेय पण्डितप्रवर **गोविन्द पाण्डेय** को प्राप्त था। पाण्डेयजी काशी-निवासी सरयूपारीण ब्राह्मण थे। वे पाण्डित्य के साथ ही साथ सुचारु कार्यशीलता तथा अदम्य कर्मठता के जीते-जागते, चलते-फिरते प्रतीक थे। इस शताब्दी के आरम्भ मे ही इस पाठशाला की स्थापना की गई थी। इसमें तीन-चार सौ छात्रो के आवास तथा भोजन के साथ शिक्षण का सुचारु प्रबन्ध था। पण्डित गोविन्द पाण्डेय की कर्मठता तथा व्यवस्था से आकृष्ट होकर राजा-महाराजा तथा सेठ-साहूकार मुक्तहस्त से दान देते थे। विद्यालय के पास भूसम्पत्ति भी कम नही थी। पाण्डेयजी के पास घोडागाड़ी

थी। उस युग मे घोड़ागाड़ी का रखना लौकिक समृद्धि का एक उज्ज्वल प्रतीक था। काशी मे पाण्डित्य के द्वारा सम्पत्ति अर्जित करनेवाले तथा घोडागाड़ी रखने के सौख्य से मण्डित दो ही ब्राह्मण-परिवार थे। एक था पण्डित सुधाकर द्विवेदी का परिवार जो काशी की उत्तर दिशा मे खजुरी मुहल्ले मे विराजमान था और दूसरा था पण्डित गोविन्द पाण्डेय का परिवार जो काशी की दक्षिण दिशा मे नगवा मे अवस्थित था। दोनो ही परिवार समृद्ध माने जाते थे, जिन्होने सस्कृत-विद्या के बल पर ही इतनी भूसम्पत्ति अर्जित की थी।

आगे चलकर नगवा पाठशाला से—जिसका पूरा वास्तविक नाम साङ्गवेद विद्यालय था—फूटकर इसी मुहल्ले मे एक दूसरी पाठशाला स्थिति मे आई जो कलकत्ते के दानी मारवाडी रुइआ सेठ के नाम पर **रुइआ पाठशाला** की आख्या से प्रसिद्ध हुई। नगवा पाठशाला मे छात्रो मे भाषण की तथा लेखन की प्रतियोगिता कराई जाती थी और इसके लिए योग्य छात्रो को पुरस्कार भी दिय जाते थे। वसन्तपञ्चमी को विशाल आयोजन होता था—बड़ा ही भव्य तथा अभिराम, जिसमे पुरस्कार बॉटे जाते थे। इन समारोहो मे पाण्डेयजी उच्च स्वर से घोषणा करते थे कि जिस प्रकार एक चने की दो दाले होती है, उसी प्रकार एक ही सस्कृत-महाविद्यालय के ये दो अग है जो पारस्परिक सहयोग से फूलेगे फलेगे तथा सस्कृत विद्या प्रदान करने मे समान रूप से ख्याति-लाभ करेगे।

पण्डित गोविन्द पाण्डेयजी की यह घोषणा सार्थक रही। दोनो विद्यालय साथ ही साथ बढ़ते गये एव सस्कृत शिक्षा के क्षेत्र मे यशोभागी बनते गये। १९११ ई० के पहले ही, जब यह लेखक काशी मे सस्कृत पढ़ने के लिए आया था, रुइया पाठशाला स्वतन्त्र स्थिति प्राप्त कर चुकी थी। इस पाठशाला मे विशिष्ट विद्वान् अध्यापन-कार्य करते थे जिन्हे वेतन के साथ ही भोजन तथा आवास का भी सौख्य प्राप्त था। सच तो यह है कि यह पाठशाला नये पण्डितो के अध्यापनकला-शिक्षण के लिए शिक्षा-स्थली थी। पण्डित जयदेव मिश्र (जो आगे चलकर महामहोपाध्याय की पदवी से मण्डित किये गये तथा हिन्दू विश्वविद्यालय के व्याकरण विभाग के अध्यक्ष बने) आरम्भ मे इसी पाठशाला के अध्यापक थे। पण्डित रामप्रिय द्विवेदी यहॉ साहित्य पढ़ाते थे। अनेक मान्य पण्डितो की यह अध्यापन-स्थली है। रुइया पाठशाला की धीरे-धीरे अवननि हो गई, परन्तु आज भी वह विद्यमान है जहॉ विद्यार्थी निवास करते है, यद्यपि उन्हे अपने अध्ययन के लिए अन्यत्र जाना पडता है। कुछ दिनो पहले **पण्डित रामरूप पाठक** यहाँ अध्यापक थे जो चित्रकाव्य की रचना मे बडे ही समर्थ कवि थे। उनकी चित्रकाव्यमयी कविता का एक सग्रह **चित्रकाव्यकौतुकम्** नाम से प्रकाशित हुआ है, जिस पर केन्द्रीय 'साहित्य अकादमी' की ओर से पाँच सहस्र रुपयो का सस्कृत-सबन्धी पुरस्कार भी उन्हे मिला था।

यही प्राचीन नगवा पाठशाला पण्डित शिवकुमार शास्त्रीजी का स्मारक बन गयी है। पण्डित गोविन्द पाण्डेय ने अपनी पुत्री का विवाह शास्त्रीजी के पुत्र वाचस्पति मिश्र से किया था जिनके पुत्र श्रीनाथ मिश्र आज भी अपने पितामह शास्त्रीजी की अतुल कीर्ति को उजागर किये हुए है।

(ग) संस्मरण

(१) कर्त्तव्यनिष्ठा

पण्डित शिवकुमार शास्त्रीजी सनातन धर्म के प्रति इतने निष्ठावान् थे कि द्रव्य का लोभ इन्हे उस मार्ग से तनिक भी विचलित नही कर सकता था। चाहे कोई व्यक्ति कितना

भी द्रव्य देकर इन्हें धर्म के विरुद्ध व्यवस्था देने तथा कार्य करने का आग्रह करता, यह अपने स्वीकृत मार्ग से टस से मस नहीं होते थे। इस विषय में राय कृष्णदासजी ने मुझे दो संस्मरण सुनाये जो नितान्त उपदेशप्रद तथा रोचक हैं। एक घटना तो उनके ही परिवार से सम्बन्ध रखती है। कृष्णदासजी के पिता के देहावसान के अनन्तर उनकी माता ने अपनी दोनों कन्याओं के विवाह के लिए प्रयत्न किया। एक ही कन्या की शादी के विषय में वह उद्योग सफल हो सका और वह भी छोटी कन्या की ही शादी के विषय में। यह समाजविरुद्ध बात थी। माताजी ने पण्डित शिवकुमारजी को अपने घर बड़े आदर-सत्कार से बुलाया, सोने की एक गिन्नी की पूजा उन्हें दी और उस धर्मसंकट से उद्धारार्थ उन्होंने शास्त्रीजी से आग्रह किया कि वे छोटी कन्या के विवाह के विषय में अपनी सहमति दें जिससे नाना प्रयासों के फलरूप वह विवाह सिद्ध हो सके। शास्त्रीजी ने प्रस्ताव सुनते ही तत्काल वह गिन्नी लौटा दी और कहा कि जेठे सन्तान से पूर्व कनिष्ठ सन्तान का विवाह सर्वथा धर्मविरुद्ध है। मै इस विवाह के अनुष्ठान के लिए अपनी सम्मति नही दे सकता। रायसाहब की माता ने बहुत ही अनुनय-विनय की, परन्तु शास्त्रीजी अपने सिद्धान्त पर हिमालय के समान अडिग बने रहे। फलतः उस विवाह-सम्बन्ध को अस्वीकार कर दिया गया।

दूसरी घटना १६१३ ई० के आसपास की है। लक्ष्मीचन्द नामक एक अग्रवाल युवक को बाबू भगवानदास के परिवार ने इग्लैण्ड में जाकर रसायन-विद्या सीखने के लिए छात्रवृत्ति देकर भेजा। वह युवक लण्डन मे अनेक वर्षों तक रहकर तेल, साबुन आदि अपूर्व वस्तुओं के निर्माण की कला सीखकर बनारस लौटा। इन वस्तुओं का निर्माण भारत में कभी होता नहीं था। फलतः इन नई चीजों के उत्पादन का प्रदर्शन तथा प्रचार लक्ष्मीचन्दजी स्वय सभा-स्थलों में किया करते थे। इस प्रदर्शन को लेखक ने १६१८-१६ ई० के आसपास स्वयं देखा है। परन्तु १६१३ ई० के आसपास उनके विलायत से लौट आने पर 'काशी अग्रवाल समाज' में शास्त्रविरुद्ध समुद्र-यात्रा करने के कारण घनघोर सघर्ष मच गया। प्राचीन पंचायत के सरदार इसके विरोधी थे, उधर बाबू भगवानदासजी का परिवार तथा कतिपय नवीन सभ्यता में दीक्षित व्यक्ति समुद्र-यात्रा करने के पक्षधर थे। यह सामाजिक विवाद कचहरी में मुकद्दमे के रूप में अनेक महीनों तक चलता रहता। इसीके सिलसिले में बाबू भगवानदास के अग्रज बाबू गोविन्ददास ने अपनी दुर्गाकुण्डवाली कोठी में काशी के पण्डितों की सभा बुलाई जिसमें पण्डित शिवकुमार शास्त्रीजी को भी निमन्त्रण था। सभा का समय तो सायंकाल था, परन्तु शास्त्रीजी ने प्रातःकाल ही उपस्थित होकर बाबू गोविन्ददासजी से अपने असमंजस की बात कह सुनाई—"यह कैसे हो सकता है कि मै आपका निमन्त्रण स्वीकार नहीं करता, परन्तु काशी की समस्त पण्डितमण्डली आपके प्रस्ताव के विरुद्ध है। ऐसी दशा में मै सभा में उपस्थित होकर आपके प्रस्ताव के पक्ष में सम्मति नहीं दे सकता। फलतः आपके द्वारा भेजा गया यह दक्षिणा-द्रव्य आपको लौटा रहा हूँ और सभा में अपनी अनुपस्थिति के लिए क्षमा-याचना करता हूँ।" श्री शिवकुमार पण्डितजी का धार्मिक सिद्धान्तों के निर्वाह के लिए सातिशय आग्रह था, परन्तु अपने आचरण से अपने मित्रों का वैमनस्य भी उत्पन्न करना वे नहीं चाहते थे। उनका स्वभाव अत्यन्त कोमल एव सदय जो था।

(२) उदाराशयता

पण्डित शिवकुमारजी बड़े ही उदार तथा गम्भीर चिन्तन के व्यक्ति थे। उनसे कोई दुर्व्यवहार करता था, तो भी वे उसके गुणों की अवहेलना कर कभी बुरा नहीं मानते थे।

उनका स्वभाव क्षमाशील था। वे अपने प्रतिद्वन्द्वियों के द्वारा किये गये व्यवहारों के प्रति औदासीन्य ही रखते थे, क्षमा करते रहते थे, उनकी दुरभिसन्धियों पर कभी ध्यान नही देते थे, प्रत्युत उनमें विद्यमान गुणों का समादर कर अपनी गुणग्राहिता का ही परिचय देते थे। यही उनका स्वभाव था; यही उनका अभ्यास था।

विक्रम संवत् १६७० (१६१३ ई०) ज्येष्ठ शुक्ल प्रतिपद् को महामहोपाध्याय पण्डित गङ्गाधर शास्त्रीजी का निधन हुआ। उनके अन्त्येष्टि-संस्कार में काशी का प्रत्येक पण्डित तथा विद्यार्थी, गुरु तथा शिष्य सम्मिलित हुआ। पण्डित शिवकुमार शास्त्रीजी भी उसमें सम्मिलित हुए थे। मणिकर्णिकाघाट से जब वे अपने घर की ओर सायकाल लौट रहे थे, तब काशी के विख्यात ज्योतिषी पण्डित हृषीकेश उपाध्याय भी उनके साथ चल रहे थे। उपाध्यायजी को उन्हें देखकर आश्चर्य हुआ। शिवकुमार पण्डितजी वृद्ध तो हो ही गये थे, उस समय रुग्ण भी थे। ऐसी दशा में इतना प्रयास उनके लिए कष्टकारक होगा। यही विचार कर उन्होंने शास्त्रीजी से वार्तालाप के प्रसग में एक पुरानी बात छेड़ दी जब शिवकुमार पण्डितजी को काशिराजकीय पाठशाला में केवल पाँच वर्ष तक कार्य करने के अनन्तर वह पद छोड़ना पड़ा था। और उन्होंने पूछ ही डाला कि इस वार्धक्य में रोगाक्रान्त होने पर भी आपने इस अन्त्येटि-कार्य में सम्मिलित होने का प्रयास ही क्यों स्वीकारा ? शास्त्रीजी ने बड़े ही विनम्र शब्दों में अपना भाव प्रकट कर दिया कि इस समारोह में मै सम्मिलित नही होता, तो मेरा चित्त कचोटता रहता। गगाधर शास्त्रीजी से मेरा किसी प्रकार का वैमनस्य नहीं था। काशी मे ऐसा वेद-वेदांग का मर्मज्ञ, व्याकरण तथा दर्शन का पारगामी एव साहित्य और अलकार का सरस व्याख्याता न इस समय विद्यमान है, और न गत दो सौ वर्षों में इनकी योग्यता का कोई पण्डित ही उत्पन्न हुआ और मेरी तो स्पष्ट सम्मति है कि न आगे दो सौ वर्षों मे इनकी योग्यता का कोई पण्डित उत्पन्न ही होगा। जब देववाणी के उत्कर्ष के युग की यह दशा है, तब उसके अपकर्ष काल में जब ह्रास की परम्परा आरम्भ होगी, भला उस कोटि के विद्वान् के आविर्भाव की बात कभी सोची जा सकती है ?

यह उत्तर सुनकर ज्योतिषीजी चुप हो गये और मन ही मन शिवकुमार पण्डितजी की उदाराशयता की प्रशंसा करने लगे। क्योंकि उन्होने सुन रखा था कि इन दोनों महान् पण्डितों में किसी व्यवहार विषय को लेकर खींचातानी हुई थी और दोनों एक-दूसरे से खिंचे-खिंचे रहते थे। सचमुच पण्डित शिवकुमार शास्त्रीजी वैमनस्य की किसी घटना को अपने हृदय के कोने में सँजोये नहीं रखते थे। वे उसे दूर फेंककर अपने दिल को हल्का किये रहते थे। सच्चे सात्त्विक पुरुष का स्वभाव ही ऐसा होता है।

(३) समाजसेवा

श्री शिवकुमार शास्त्रीजी सामाजिक कार्यों में अभिरुचि ही नहीं रखते थे, बल्कि ये उनमें स्वयं सम्मिलित होते थे तथा उनकी सिद्धि में अपना पूरा सहयोग दिया करते थे। सुप्रसिद्ध समाजसेवी पण्डित रामनारायण मिश्र ने मुझसे यह बात कही थी कि १६११ ई० में मनुष्य-गणना के समय अंग्रेजी सरकार ने हरिजनों को हिन्दू-समाज से पृथक् कर एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में रखने का षड्यन्त्र रचा। जब काशी के गण्यमान्य हिन्दुओं को इस घटना का संकेत मिला, तब टाउनहाल के मैदान में एक बड़ी सभा आयोजित की गई और शास्त्रीजी से अध्यक्ष बनने के लिए प्रार्थना की गई। सभा के मन्त्री होने के नाते पण्डित रामनारायण मिश्र भी इस मण्डली के साथ शास्त्रीजी की सेवा में उपस्थित हुए और उन्होंने

इस आयोजन का अध्यक्ष बनने की उनसे प्रार्थना की। शास्त्रीजी बिना किसी आपत्ति के सभास्थल पर टाउनहाल में उपस्थित हुए और अपनी गौरवमयी वाणी में हरिजनों के प्रति रचे जानेवाले इस षड्यन्त्र की निन्दा की और उन्हें हिन्दू समाज का अविभाज्य अंग सिद्ध किया। सरकार शास्त्रीजी की इस शास्त्रीय व्यवस्था से झुकी और अपनी रिपोर्ट में उसने हरिजनों को हिन्दू-समाज के अन्तर्गत ही सन्निविष्ट रहने दिया। बहिष्कार की नीति समाप्त हो गई—यह शास्त्रीजी की व्यवस्था का सुभग परिणाम था।

इतना ही नहीं, शिवकुमार पण्डितजी सगीत में अभिरुचि रखते थे और संगीत-सम्मेलनों में वे साग्रह बुलाये जाते थे जहाँ संगीत-प्रतियोगिता में निर्णायक के पद पर प्रतिष्ठित किये जाते थे। इनके निर्णय सर्वदा निष्पक्ष होते थे और उनके गम्भीर सगीतालोचन के परिचायक होते थे। शास्त्रीजी के इन निर्णयो के समाचार उस समय काशी से निकलनेवाले सुप्रसिद्ध पत्र 'भारतजीवन' में बड़े सम्मान के साथ प्रकाशित होते थे और वे इस पत्र की पुरानी फाइलों में आज भी देखे जा सकते है। इस तथ्य की सूचना भारतजीवन की इन पुरानी फाइलों को देखकर काशी के विख्यात साहित्यिक पण्डित रुद्र काशिकेय ने लेखक को दी थी।

(४) साधना का चमत्कार

पण्डित शिवकुमार शास्त्रीजी जितने बड़े विद्वान् थे उतने ही बड़े साधक भी थे। भूतभावन विश्वनाथ एवं माता जगज्जननी अन्नपूर्णा उनके इष्टदेव थे। अध्यापन के अतिरिक्त इन देवों की पूजा-अर्चा उनकी दैनिकचर्या का प्रधान अग था। अध्ययन-अध्यापन एवं पूजन-अर्चन—ये ही शास्त्रीजी के उपास्य कर्म थे। साधना के फलस्वरूप उनके जीवन मे एक विचित्र चमत्कार देखने को मिलता था। जो कोई उनका अनिष्ट करना चाहता था उसे स्वय उसका उलटा फल भोगना पड़ता था। इस विषय की एक विचित्र घटना से काशी का पण्डित-समाज पूरी तरह परिचित है। श्री शिवकुमार शास्त्रीजी की लोकातीत वैदुषी से उत्पन्न लोकप्रियता तथा समादर-भावना अनेक विद्वानों के हृदय मे कॉटे की तरह चुभती थी। फलतः वे उनका अनिष्ट तथा अपमान करने के लिए सदैव उद्यत रहते थे, परन्तु शास्त्रीजी की सहनशीलता तथा उदारता के कारण उन लोगों के सब कुटिल कुचक्र सर्वदा विफल ही होते थे। एक बार उन लोगों ने दालमण्डी की एक वृद्ध गणिका को अपना माध्यम बनाकर शास्त्रीजी के घोर अपमान की योजना बनाई। उसने भरे चौक में पण्डितजी को कुशब्द कहा और अपनी युवती पुत्री के साथ उनके दुराचरण की उच्चैः घोषणा करती हुई रुपयों का तगादा करने लगी। शास्त्रीजी को इस पण्डिताऊ षड्यन्त्र के समझने में देर न लगी और अपने विद्यार्थी को, जो उनके ही साथ विद्यालय में जा रहा था, उतनी द्रव्यराशि घर से लाकर देने का आदेश देकर अविचलित भाव से अपने विद्यालय में अपने अध्यापनार्थ चले गये। बात यहीं समाप्त हो गई।

दूसरे दिन वही वृद्ध वेश्या पण्डितजी के आवास-स्थान पर रोती-धोती पहुँची और बिलखकर कहने लगी—"शास्त्रीजी, मेरा अपराध क्षमा करें। मुझे अमुक-अमुक पण्डितों ने एक लम्बी धनराशि देकर आपके अपमान के लिए प्रेरित किया था। मेरे अपराध का दुःखद परिणाम मेरी जवान बेटी भोग रही है। आधी रात से ही उसके पेट में विषम शूल उत्पन्न हो गया है जो किसी भी दवा की बात सुनता ही नहीं। बेटी ही मेरी जीविका का साधन है। उसके बिना मैं अनाथ हो जाऊँगी। वह मृत्युशय्या पर पड़ी है। भगवन्! उसे बचाइए।" शास्त्रीजी ने नम्रता से कहा कि मैंने तो तुम्हारे अनिष्ट के लिए कुछ भी नहीं किया। भगवान्

विश्वनाथ का स्मरण करो। यह जल उसे पिलाओ। सब कुशल होगा। इतना कहकर अभिमन्त्रित जल उसको दिया। उसके पीने से वह वेश्या-पुत्री रोग से मुक्त हो गई। उस युग के सामान्यजन भी इस विचित्र घटना से पूरे परिचित थे और इसकी चर्चा उन दिनों घर-घर होती रही। यह उनकी दिव्यसाधना का चमत्कार ही तो था।

एक अन्य चमत्कार की कथा कम विस्मयप्रद नहीं है। किसी शास्त्रार्थ में पण्डित शिवकुमारजी ने अपने पक्ष के मण्डन के लिए पातञ्जल महाभाष्य की कतिपय पंक्तियों को धड़ल्ले के साथ सुना दिया। प्रतिपक्षी के द्वारा उन पंक्तियों के महाभाष्य में न होने का आग्रह करने पर महाभाष्य की पोथी मँगाई गई और वहाँ उन पंक्तियों का सद्भाव देखकर विपक्षी पण्डित आश्चर्यचकित हो उठे। शास्त्रार्थ समाप्त हो गया। घर पर आकर उन्होंने महाभाष्य की अपनी पोथी देखी जिसमें वे पंक्तियाँ सचमुच नहीं थीं। शास्त्रीजी से जब इसका रहस्य पूछा गया, तब वे भी इस विषय में मौन ही रहे। पण्डितों का दृढ़ विश्वास था कि भूतभावन विश्वनाथ ने ही अपने भक्त की प्रतिष्ठा के रक्षणार्थ महाभाष्य में उन पंक्तियों को अंकित कर दिया था। प्राचीन पण्डितो के मुख से सुनी हुई यह तथ्यकथा व्याकरणाचार्य पण्डित निरीक्षणपति मिश्र ने इस लेखक को बतलाई थी और उसी आधार पर यह यहाँ उल्लिखित की गई है। यह भी गूढ़ साधना का ही परिणत फल नहीं तो और क्या है ?

(५) दरभंगा के राजदरबार में प्रवेश

सन् १८८० ई० के आसपास घटित यह ऐसी महनीय घटना है जिसको पंडित शिवकुमारजी के अलौकिक वैदुष्य, असाधारण शास्त्रानुशीलन तथा सात्त्विक साधना को उजागर करने के साथ ही साथ शास्त्रीजी की जीवनधारा में एक नया मोड़ उपस्थित करने का श्रेय प्राप्त है। यह घटना शास्त्रीजी के दरभंगा के महाराजा लक्ष्मीश्वर सिंह की सभा में प्रथम प्रवेश के साथ सम्बन्ध रखती है। इससे पूर्व वे काशिराजकीय विद्यालय के प्रख्यात अध्यापक थे; परन्तु विद्यालय के ही कुछ कुचक्री अध्यापकों की दुर्दान्त कुटिलता के कारण उन्हें बाध्य होकर वह अध्यापक-पद छोड़ देना पड़ा। उनके ऊपर किसी अध्यापक का ही ऋण था जिसे तुरन्त चुकाने की तीव्र इच्छा उनके मन में जागरित हुई। अपने भक्त शिष्यों के साथ राजदरबारों में जाकर अपने लोकातीत वैदुष्य का चमत्कार दिखलाकर प्राप्त दक्षिणा से उसे शीघ्र चुका देने का विचार उत्पन्न हुआ। इस विचार को कार्यान्वित करने के लिए वे महाराजा दरभंगा के दरबार में उपस्थित होने के लिए दरभंगा गये और महाराजा के विद्यालय में ही अपना डेरा डाला।

दरभंगा के तत्कालीन राजा लक्ष्मीश्वर सिंह बड़े ही गुणग्राही एवं विद्वानों के सत्कर्ता होने के अतिरिक्त स्वयं भी संस्कृत के विद्वान् थे। उनका नियम था कि उनके दरबारी पण्डितों के द्वारा विद्या-बुद्धि के क्षेत्र में सम्मानित होनेवाले स्थानीय तथा आगन्तुक विद्वानों को वे युगल धौतवस्त्र से सत्कृत करते थे और इसकी पात्रता के लिए परस्पर शास्त्रार्थ ही प्रबल माध्यम था।

पण्डित शिवकुमारजी इस विशिष्ट सत्कार के लिए उत्सुक थे ही। दरबार में शास्त्रार्थ का आयोजन किया गया। यह तथ्य है कि स्थानीय मैथिल पण्डित किसी आगन्तुक विद्वान् के सम्मान के लिए स्वभावतः अन्यमनस्क होते थे और उसे विजय से पराङ्मुख करने के लिए नये-नये उपायों—यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र—की रचना करते थे। इस शास्त्रार्थ में ऐसी ही घटना

घटी। प्रश्नकर्ता तो केवल मध्यमा परीक्षा देनेवाला एक नगण्य छात्र था परन्तु वह तन्त्रविद्या से पूर्णतः परिचित था। उसके प्रश्न का उत्तर देने के लिए ज्योंही शास्त्रीजी आगे बढ़े, उसने किसी मन्त्रोच्चार के साथ अपनी ताली पीटी। फिर क्या था? शास्त्रीजी को वाक्स्तम्भ हो गया—वाणी रुक गयी। जिह्वा से वे कुछ बोल ही न सके। शास्त्रार्थ समाप्त हो गया। शिवकुमारजी अप्रत्याशित ढंग से अपनी सम्भावित विजय से वञ्चित रह गये !!! परन्तु ये हिम्मत नहीं हारे। ये उसी स्थान पर रहकर अपने इष्टदेव भगवान् शंकर की पूजा-अर्चा में अपने दिन बिताने लगे।[1]

उस विद्यालय में छात्रों का अध्यापन भी नित्यप्रति होता ही था। शास्त्रीजी के निकट ही विद्यालय के प्रधान अध्यापक 'सामान्यनिरुक्ति' का पाठ पढ़ाया करते थे। कई दिनों से एक ही पंक्ति पर पाठ रुक गया था। अध्यापक पढ़ाते तो थे प्रेम से, परिश्रम से, परन्तु पंक्ति में ऐसी एक गुत्थी थी जो उनके अनवरत परिश्रम से भी खुलती नहीं थी। छात्रों को वह पंक्ति लगती न थी। वे उन्हें आगे बढ़ने ही नहीं देते थे। अध्यापक बड़े हैरान थे। करें तो क्या करें? उनकी परेशानी देखकर शिवकुमारजी ने वह ग्रन्थि सुलझाने के लिए अपना सहयोग देना चाहा। छात्र तो अन्यमनस्क थे कि मध्यमा कक्षावाले छात्र के प्रश्नों का उत्तर न देनेवाला व्यक्ति भला 'सामान्यनिरुक्ति' की पक्ति क्या लगा सकता है? परन्तु प्रधानाध्यापक ने शास्त्रीजी से पंक्ति लगाने का आग्रह किया। पण्डित शिवकुमारजी ने उस विषम पंक्ति की ग्रन्थि को इतनी मार्मिकता से, सहजभाव से सुलझा दिया कि आचार्यजी पानी-पानी हो गये। उन्होंने स्वयं राजा से जाकर कहा—"ये साधारण पण्डित नही है। ये सरस्वती के वरद पुत्र हैं। उस दिन इनकी छल से पराजय की गयी थी। ये साक्षात् शिवकुमार हैं—गणेश के अवतार है।"

राजा लक्ष्मीश्वर सिंह गुणग्राही तो प्रथम कोटि के थे। उन्होने वहीं से रुपया भेजकर शास्त्री का ऋण चुकता कर दिया और वही अपने विद्यालय में इन्हें अध्यापक नियुक्त कर दिया। कुछ दिनों के बाद शास्त्रीजी ने काशी में ही अध्यापकी के लिए सुविधा प्रदान करने की प्रार्थना की। महाराजा लक्ष्मीश्वर सिंह ने स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती के आदेश से काशी में एक 'संस्कृत पाठशाला' की स्थापना की। उसीमें प्रधान अध्यापक के पद पर नियुक्त होने पर पं० शिवकुमारजी काशी लौट आये और यावज्जीवन इसी विद्यालय 'दरभंगा सस्कृत पाठशाला' के माध्यम द्वारा उन्होंने अपनी अलौकिक विद्या का वितरण छात्रो में किया और अनेक छात्रों को सुयोग्य विद्वान् बनाकर अपने वैदुष्य की परम्परा को सुप्रतिष्ठित रखा। ऐसा था वैदुष्य शास्त्रीजी का!

(६) शास्त्रीजी का स्वाभिमान

पण्डित शिवकुमार शास्त्रीजी के स्वाभिमान एवं औदार्य से उस दिन पण्डित-समाज चकित हो गया था, जब उसने काश्मीर के ख्यातनामा महाराज श्री रणवीर सिंह को उनके आवासस्थल पर अपने दलबल के साथ पहुँचकर पण्डितजी का मनुहार करते देखा। इस घटना की अपनी एक रोचक रामकहानी है। काश्मीरनरेश रणवीर सिंहजी संस्कृत तथा अध्यात्म के बड़े ही निष्ठावान् प्रेमी थे। इन्होंने ही स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती के आदेश से काशी में संस्कृत की एक सुन्दर पाठशाला स्थापित की थी जो इन्हींके नाम पर 'रणवीर संस्कृत पाठशाला'

१. शास्त्रीजी की वाक् स्तम्भित होने की इस घटना का उल्लेख सुप्रसिद्ध मैथिल विद्वान् म० म० पं० बालकृष्ण मिश्र अपने छात्रों तथा सहयोगियों से बहुधा किया करते थे। उन्हींके मुँह से सुनकर व्याकरणाचार्य पं० निरीक्षणपति मिश्र ने लेखक को यह बात बतलाई थी। इसी आधार पर यह घटना लिखी गई है।

के नाम से आज भी प्रसिद्ध है और जो उन्नति करती हुई हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत 'सस्कृत महाविद्यालय' का एक अविभाज्य अग है। महाराजा प्रायः काशी आया करते थे तथा पण्डितों का समादर-सत्कार करने के लिए पण्डित-सभा का आयोजन किया करते थे। एक ऐसे ही प्रौढ़ आयोजन के अवसर पर पण्डित-सभा मे काशी के गण्यमान्य विद्वान् निमन्त्रित किये गये थे। श्री शिवकुमार शास्त्री उस सभा के लिए तामजान (पालकी) पर चढ़कर गये थे। पण्डितजी अभी उतर ही रहे थे कि काश्मीर-नरेश की दृष्टि उधर आकृष्ट हुई और उनके मुँह से यह वाक्य अनायास ही निकल गया—"मेरा यह सभा मण्डप तो कुछ दूर नहीं था। शास्त्रीजी पैदल भी आ सकते थे। तामजान तो राजा महाराजाओं को ही शोभा देता है जो उनकी सम्मानित अवसरो के लिए ही विशिष्ट सवारी है।" ये कटु शब्द शास्त्रीजी के कानों मे पडे और वे बिना उतरे ही तामजान से अपने आवास पर लौट आये। शास्त्रीजी को लौटते देखकर महाराजा को अपने चपल शब्दो के कहने का बडा दुःख हुआ। परन्तु करते ही क्या ? शिवकुमार पण्डितजी के जाते ही पण्डित मण्डली उठ खडी हुई और यह कहती चली गई कि शास्त्रीजी की अनुपस्थिति मे विद्वत्-सभा कैसी ? सभा भग हो गई। महाराजा इस अघटित घटना से बडे ही धर्मसकट मे पड गये।

दूसरे ही दिन प्रातःकाल वे अपने दलबल के साथ शास्त्रीजी के रेशमकटरावाले आवास पर पहुँचे और अपने कथन के लिए क्षमा माँगने लगे। परन्तु पण्डित शिवकुमारजी टस से मस नही हुए। बहुत आग्रह करने पर वे अन्त मे पसीजे और इस शर्त पर सभा मे जाना स्वीकार किया कि सभी पण्डितो को वही दक्षिणा दी जाय जो उन्हे देने के लिए महाराजा ने निश्चय किया हो। बात यह थी कि सभा मे शिवकुमारजी के लिए ही विशेष दक्षिणा का आयोजन किया गया था जिसे वे जानते थे और इसीलिए उनका आग्रह था कि सब निमन्त्रित पण्डितो को वही विशिष्ट दक्षिणा मिले, तभी वे जाने को तैयार होगे। महाराजा ने यह शर्त मान ली। दूसरे ही दिन वह सभा बडे ठाटबाट के साथ, उल्लासमय वातावरण मे सम्पन्न हुई। महाराजा ने विद्वानो का भरपूर सत्कार किया और शास्त्रीजी की कृपा से वह विशिष्ट दक्षिणा प्राप्त कर सभी विद्वान् उनका जयजयकार करते हुए अपने घर लौटे। काशी की विद्वन्मण्डली उनके इस स्वाभिमान तथा औदार्य की चर्चा सर्वदा करती रही।

(७) शास्त्रीजी की अखिलभारतीय कीर्ति

दक्षिणभारत मे कोचीन के महाराजा विद्वानो के बडे ही गुणग्राही, अध्यात्मपरायण तथा आस्तिक शिरोमणि थे। उन्हीके राज्य मे 'गुरुवायूर' का वह भारतविख्यात दिव्य मन्दिर है जहाँ साधना कर केरल के विश्रुत महाकवि नारायण भट्ट ने अपनी वातव्याधि से मुक्ति पाई थी। उस देवता की स्तुति मे उन्होने अपने अनुपम स्तोत्रकाव्य **नारायणीयम्** की रचना की थी (रचना काल १५९० ई०)। महाराजा प्रतिवर्ष समस्त भारतवर्ष से विद्वानों को निमन्त्रण देकर अपने वहाँ बुलाते थे, कई दिनो तक गम्भीर शास्त्र-चिन्तन चलता था, शास्त्रार्थ होता था और अन्त मे सर्वश्रेष्ठ विद्वान् को अग्रपूजा के रूप मे विशिष्ट द्रव्य तथा मुद्रा के द्वारा सत्कृत और सम्मानित किया जाता था। प्रतिवर्ष की यही प्रथा थी। काशी के मान्य विद्वान् बालशास्त्री रानाडे प्रतिवर्ष निमन्त्रित होकर वहाँ जाते थे और अखिलभारतीय कीर्ति अर्जित कर सम्मानित होकर लौटते थे। इसमे तनिक भी सन्देह नही कि वे लोकातीत वैदुष्य से सम्पन्न होने से 'बाल-सरस्वती' की उपाधि द्वारा पेशवा विनायक राव से मण्डित किये गये थे। प्रतिवर्ष उन्हे ही अग्रपूजा पाने का गौरव प्राप्त होता था।

शिवकुमार पण्डितजी उन्हींके शिष्यों में अन्यतम थे। एक बार बालशास्त्री ने शिवकुमारजी से वहाँ चलने के लिए आग्रह किया। 'गुरोराज्ञा गरीयसी'। गुरु-शिष्य दोनों ही साथ-साथ गये और कोचीन महाराजा के अतिथि बनकर सभा में उपस्थित हुए। नियम था कि दक्षिणभारत का कोई विद्वान् शास्त्रार्थ में पूर्वपक्ष उपस्थित करता और उत्तरभारत का विद्वान् उत्तरपक्ष ग्रहण करता। शिवकुमार पण्डित ने प्रथमतः शास्त्रार्थ आरम्भ किया। कोटि-प्रकोटि कई दिनों तक चलती रही। पण्डितजी ने समस्त पण्डित-मण्डली को परास्त होने के लिए बाध्य कर दिया। कोई भी इनके प्रश्नों का उत्तर देनेवाला नहीं ठहरा। तब कोचीन महाराजा के आदेश से बालशास्त्री को ही द्वितीय पक्ष लेना पड़ा। गुरु-शिष्य में जमकर शास्त्रार्थ हुआ। गुणग्राही विद्वान् राजा को यह जानने में विलम्ब नहीं हुआ कि शिवकुमार शास्त्रीजी का ही पक्ष प्रबल है। फलतः उस वर्ष यह अनहोनी घटना घटी। गुरु को नियमतः दिया जानेवाला वह विशिष्ट सत्कार उस वर्ष शिष्य को ही प्राप्त हुआ। विजयोपरान्त पण्डित शिवकुमारजी की कीर्ति दक्षिणभारत की पण्डित-मण्डली में व्याप्त हो गई और इन्हें अखिल भारत का सर्वश्रेष्ठ पण्डित होने का अभूतपूर्व गौरव प्राप्त हुआ।[१]

(८) आज तो यह बात एकदम नवीन और अपूर्व प्रतीत होती है, परन्तु है यह सोलहों आने सत्य। बात यह है कि शिवकुमार पण्डितजी अपने जीवितकाल में ही लोगों की दृष्टि में साक्षात् शिवस्वरूप माने जाने लगे थे। उनके रेशमकटरावाले मकान के चबूतरे पर फूलमाला की दूकान लगाये एक माली बैठा करता था। जो भी व्यक्ति पण्डितजी से भेंट करने के लिए उस मकान में प्रवेश करता था, वह खाली हाथ नहीं जाता था, शास्त्रीजी के पूजन के लिए उस माली से माला खरीदकर ही वह प्रविष्ट होता था, और शास्त्रीजी को प्रथमतः माला चढ़ाकर ही वह अपना मन्तव्य कहना आरम्भ करता था, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार भक्तगण बाबा विश्वनाथ के दर्शन के लिए फूलमाला से उनका पूजन-अर्चन करते है।

पण्डित शिवकुमारजी के प्रति जनता की इतनी अगाध श्रद्धा तथा आदर-भावना थी। शायद ही किसी विद्वान् के प्रति जनमानस में सम्मान तथा सत्कार का इतना अतिरेक दृष्टिगत होता होगा। जीवितकाल में ही इतनी श्रद्धा का भाजन बनना प्राक्तन पुण्यों का फल ही तो है। शास्त्रीजी के प्रति जनता के आदर-सत्कार का इससे बढ़कर कौन निदर्शन हो सकता है ?

विश्रुतनामा पण्डितकुलतिलकः शिवकुमारशास्त्रिवरः।
यद्दर्शनादमन्वत विश्वेश्वरदर्शनं लोकाः॥

(घ) शास्त्रीजी के प्रतिपक्षी

स्वामी मनीष्यानन्द

पण्डित शिवकुमार शास्त्री का यह संक्षिप्त विवरण उनके प्रचण्ड प्रतिपक्षी के परिचय बिना अधूरा ही रहेगा। ये प्रतिपक्षी और कोई न होकर उनके ही सजातीय **पण्डित द्विवेद हरिनाथ मनीषी** के नाम से प्रख्यात थे। उन्होंने व्याकरण, धर्मशास्त्र आदि का अध्ययन बालशास्त्री से किया था और इन विषयों के मर्मज्ञ विद्वान् के रूप में सर्वत्र विश्रुत थे। उनकी शिवकुमार पण्डित से लाग-डाँट बड़ी तीव्र थी। उनका यह दुराग्रह था कि शिवकुमार शास्त्री उनका अभिनन्दन और अभ्युत्थान करें। परन्तु शास्त्रीजी का कहना था कि आप पाण्डित्य में मुझसे बड़े नहीं हैं। अतः आप मेरे लिए प्रणम्य नहीं हैं। क्या ही थी यह विचित्र अनहोनी।

---

१. यह विवरण शास्त्रीजी के शिष्य महामहोपाध्याय जयदेव मिश्र के कथन पर आधारित है जिसे वे अपने शिष्यों को सुनाया करते थे।

दोनों थे काशीमण्डल के ही निवासी, सजातीय सरयूपारीण ब्राह्मण, काशीस्थ राजकीय पाठशाला के अध्यापक एवं शास्त्रों के मर्मज्ञ उच्चकोटि के समकक्ष विद्वान् । दोनों का विचित्र दुराग्रह अनर्थ का कारण बना । हरिनाथ पण्डित ने इस उद्देश्य से संन्यास ग्रहण कर लिया कि अब तो शिवकुमारजी को नीचा देखना ही पड़ेगा । संन्यासी के प्रणम्य होने से उन्हें अब तो मुझे प्रणाम करना ही पड़ेगा । भावानन्द सरस्वती नामक संन्यासी से दीक्षा लेकर हरिनाथ मनीषी अब मनीष्यानन्द के नाम से प्रसिद्ध हो गये । तब शिवकुमारजी ने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया । इस पर उल्लसित होकर मनीष्यानन्दजी ने उनसे कहा कि कहिए, मैंने आपसे प्रणाम करा ही तो लिया । आखिर मुझे आपने प्रणाम किया ही । इस पर शिवकुमारजी ने बड़ी सरलता से कहा—"मैं स्वामी मनीष्यानन्दजी को प्रणाम कर रहा हूँ । पं० हरिनाथजी तो भूत के गर्भ में कहीं विलीन हो गये । वे हमारे प्रणाम-योग्य नहीं थे । स्वामी मनीष्यानन्दजी तो साक्षात् नारायण-रूप हैं, सबके प्रणम्य तथा अभिनन्दनीय । उन्हें मैं सहर्ष प्रणाम क्यों नहीं करूँगा ।"

स्वामी मनीष्यानन्दजी बड़े पाण्डित्य से सम्पन्न व्यक्ति थे, सदाचार से मण्डित तथा ब्रह्मवर्चस् से समन्वित । अपने गृहस्थ-जीवन में वे संस्कृतकॉलेज में अध्यापक-पद पर प्रतिष्ठित थे । उस समय उन्होंने 'अशौचनिर्णय-त्रिंशतृश्लोकी' नामक प्राचीन ग्रन्थ का मिताक्षरा और निर्णयसिन्धु आदि धर्मशास्त्रीय निबन्ध-ग्रन्थों की सहायता से एक विस्तृत भाष्य संस्कृत में लिखा जो सर्वथा उपादेय एवं संग्रहणीय है ।[१] संन्यासी होकर उन्होंने अपने दीक्षागुरु का चरित भावानन्द-चरित महाकाव्य में लिखकर प्रकाशित कराया । इस महाकाव्य में १५ सर्ग हैं तथा नाना वृत्तों में निबद्ध यह ग्रन्थ काव्य की दृष्टि से बड़ा ही रोचक एवं सुबोध तथा आध्यात्मिक शिक्षण से समन्वित है । अपने आश्रम में ये प्रायः नग्न ही रहा करते थे । बाहर जाते समय वस्त्र धारण करते थे । व्याकरणसम्बन्धी शंकाओं के निरसन के लिए ये यागेश्वर शास्त्रीजी के पास बहुशः जाया करते थे, ऐसा वृद्धजनों का कहना है । १९५६ सं० में प्रकाशित वेदनिर्णय नामक ग्रन्थ की भूमिका में राजपूताने के शाहपुर के नरेश श्री नाहरसिंह वर्मा के राजगुरु षट्शास्त्री पण्डित यमुनादत्त शर्मा ने अपने गुरु रामनाथ द्विवेद का उल्लेख किया है जो अगस्त्यकुण्ड मुहल्ले में रहते थे तथा जो भावानन्द तीर्थ के सेवक बतलाये गये हैं । मनीष्यानन्द स्वामी का नाम गृहस्थाश्रम में हरनाथ द्विवेद था और ये भावानन्द तीर्थ के द्वारा संन्यास-आश्रम में दीक्षित किये गये थे । पण्डित द्विवेद रामनाथजी, द्विवेद हरिनाथजी के सम्बन्धी (सम्भवतः भाई) प्रतीत होते हैं । उन्होंने 'अशौचनिर्णय-त्रिंशतृश्लोकी' के द्विवेद हरिनाथजी द्वारा रचित भाष्य का हिन्दी अनुवाद स्वयं किया था तथा स्वयं प्रकाशित भी किया था[२] । द्विवेद रामनाथजी बड़े विचक्षण विद्वान् प्रतीत होते हैं । इनके शिष्य यमुनादत्त शर्मा ने, जो वेद के विशेष मार्मिक पण्डित थे, इनको इन शब्दों में प्रणाम किया है—

पुरुषाः प्रतिपद्यन्ते देवत्वं यदनुग्रहात् । काशीकुम्भजवीथीस्थद्विवेदकुलसंभवान् ॥
श्रीमद्—भावानन्दतीर्थ—श्रीपाद—परिचारकान् ।
विद्वच्छ्रीरामनाथाख्यान् तान् वन्देऽहं गुरून् सदा ॥

इन पद्यों से प्रतीत होता है कि द्विवेद रामनाथजी अगस्त्यकुण्ड मुहल्ले में रहते थे तथा स्वामी भावानन्द तीर्थ के शिष्य थे । ऊपर का अनुमान यदि ठीक हो कि दोनों द्विवेद पण्डित भ्राता थे, तो स्पष्ट है कि द्विवेद हरिनाथजी भी अगस्त्यकुण्ड मुहल्ले के ही निवासी थे ।

---

१. काशी के ही 'सिद्धविनायक' यन्त्रालय में मुद्रित तथा द्विवेद रामनाथ द्वारा प्रकाशित, १९७१ विक्रमी संवत् (= १९१४ ई०) ।

२. हितचिन्तक प्रेस (काशी) में मुद्रित तथा यमुनादत्त शर्मा द्वारा प्रकाशित । समय १९५६ विक्रमी ।

स्वामी भावानन्द तीर्थ के दोनों ही शिष्य थे। मनीष्यानन्दजी संन्यासी शिष्य थे तथा रामनाथजी गृहस्थ शिष्य थे। दोनों उस काल के विशिष्ट विद्वान् थे। हरिनाथ द्विवेद के समान रामनाथ द्विवेद ने भी बालशास्त्री से शास्त्रों का अध्ययन किया था तथा उनके शिष्य थे।

'वेदनिर्णय'[1] भी एक विलक्षण ही ग्रन्थ है। करोली के राजा तथा शाहपुरा के नरेश, राजपूताने के इन दोनों राजाओं के वेद के विषय में विभिन्न मत थे। इन्होंने अपने राजपण्डितों के द्वारा वेद के स्वरूप के निर्णय के लिए पत्रद्वारा शास्त्रार्थ कराया था। खण्डन-मण्डन संस्कृत में लिखित पत्रों द्वारा होता था। सामान्य विद्वानों की जानकारी के लिए ही इन पत्रों का संग्रह इस नाम से प्रकाशित कराया गया है।

द्विवेद रामनाथजी धर्मशास्त्र के परिनिष्ठित पण्डित प्रतीत होते हैं। उनके द्वारा अनूदित कर्मकाण्डीय ग्रन्थ का परिचय ऊपर दिया गया है। धर्मशास्त्रीय अनूदित ग्रन्थ **मिताक्षरा** के **दायभाग** का हिन्दी अनुवाद है। इसका प्रणयन सं० १९५० विक्रमी तथा प्रकाशन सं० १९६० विक्रमी में विक्टोरिया प्रेस, काशी में मुद्रित होकर लेखक के द्वारा ही किया गया है। इस ग्रन्थ की भूमिका में लेखक ने अपने गुरुओं का परिचय दिया है। इस अनुवाद का नाम **आनन्दी** दिया गया है।

स्वामी मनीष्यानन्दजी का स्वभाव बड़ा विलक्षण था। उनके अध्यापन की प्रणाली बड़ी विलक्षण थी : वे किसी सामान्य छात्र को कभी नहीं पढ़ाते थे। गुरु-सेवा के द्वारा अपनी शिष्यता का पूर्ण परिचय देने पर ही वे किसी शिष्य को विद्यादान किया करते थे। डॉ० गंगानाथ झा ने अपनी आत्मजीवनी (अंग्रेजी) में स्वामीजी के संन्यास ग्रहण करने एवं विचित्र अध्यापन-शैली का विवरण स्पष्ट शब्दों में दिया है। डॉ० भगवान्दासजी स्वामीजी के बड़े ही निष्ठावान् छात्र थे। फलतः वे स्वामीजी की विपुल प्रशंसा किया करते थे।



---

१. शाहपुराधीश नाहरसिंह वर्मा द्वारा प्रकाशित। हितचिन्तक प्रेस, काशी में मुद्रित, सं० १९५६ विक्रमी (=१८९९ ई०)।



पं० गङ्गाधर शास्त्री तैलङ्ग

पण्डित गङ्गाधर शास्त्री तैलङ्ग

(आस्पद—मानवल्ली; उपाधि—महामहोपाध्याय एवं सी० आई० ई०)

काशी के विख्यात गोपाल मन्दिर का विशाल प्राङ्गण। समय अपराह्न का सुहावना समय। जनसंमर्द इतना अधिक कि प्रतीत होता था जनता की उद्दाम सरिता प्राङ्गण को आप्लावित कर रही है। उस भीड़ में वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायियों के सग में विद्यार्थी और पण्डितों का, शिक्षित और अशिक्षितों का, युवक तथा वृद्धों का विशाल जमघट उत्सुकता से किसी विशिष्ट व्यक्ति के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा था। वे विशिष्ट व्यक्ति थे वल्लभ-सम्प्रदाय के भारतविश्रुत मनीषी, 'भारतभूषण' की महनीय उपाधि से विभूषित, सर्वत्र लब्धकीर्ति विद्वान् प्रज्ञाचक्षु **श्री गट्टूलालजी** जिन्होंने अपने शतावधान, शास्त्रार्थ तथा काव्य-निर्माण-कौतुक के द्वारा बम्बई तथा गुजरात प्रान्तों में अलौकिक यश का अर्जन किया था। वे ही आज विद्यानगरी काशी के पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिए चुनौती देकर स्वयं अखाड़े में उतर आये थे। उनकी विमल कीर्ति की कहानी लोगों के हृदय में आतंक फैला रही थी और सबकी जिह्वा पर एक ही बात मुखरित हो रही थी कि आज काशी का मान रहता है या वह अपमान के पक में लिप्त हो जाती है। भला ऐसे शतावधानी के सामने काशी के किसी विद्वान् को सामना करने का एवं वाद-विवाद करने का साहस हो सकता है क्या ? इतने में गट्टूलालजी अपने शिष्यों तथा स्तावकों के साथ सभा में पधारते हैं और अपने शतावधान के अपूर्व कौशल को प्रदर्शित कर जनता को चमत्कृत कर देते है। उपस्थित मण्डली ने आश्चर्य से देखा कि काशी का एक पण्डित उनसे सामना करने के लिए आगे बढ़ता है। इन पण्डितजी का शरीर दुबला-पतला है, रंग कुछ श्यामता लिए है, परन्तु मुखमण्डल प्रभापुञ्ज से प्रद्योतित हो रहा है। दोनों में दर्शन के किसी प्रौढ़ विषय पर शास्त्रार्थ छिड़ जाता है। दोनों ओर से उत्तर-प्रत्युत्तर होता है। गट्टूलालजी घोषणा करते हैं कि यदि कोई विद्वान् मेरी समस्या की वर्णक्रमानुसार पूर्ति कर देगा, तो मैं अपने को पराजित मान लूँगा। गट्टूलालजी आशुकवि थे। उनका नाम था **गोवर्धन शर्मा**, पिता का नाम घनश्याम भट्ट पव्वनदी, १६४० सं० =१८८३ ई० में प्रकाशित 'आह्निकसूत्रावली' में अपनी सम्मति लिखते समय अपने पिता का नामोल्लेख किया है।

चरितनिहतकंसं योगिहृद्ब्जहंसं यदुकुमुदसुचन्द्रं रक्षणे व्यक्ततन्द्रम् ।
श्रुतिजलनिधिसारं निर्गुणं निर्विकारं हृदय भज मुकुन्दं नित्यमानन्दकन्दम् ॥

यह रमणीय पद्य उनकी वैष्णव-भावना तथा साहित्यविद्वत्ता का सद्यः परिचायक है।

बात यह थी कि समस्या बड़ी ही कठिन थी और उसकी अक्षर के क्रम से पूर्ति करनी थी। अब तक किसीने इसकी पूर्ति नहीं की थी। इसलिए इस विषम समस्या की पूर्ति किसी से न हो पायेगी, शतावधानीजी को इसका पूरा विश्वास था और इसी विश्वास से अनुप्राणित होकर गट्टूलालजी अपनी आपाततः असमाधेय समस्या कह सुनाते हैं—

बभौ मयूरो लवशेषसिंहः ।



भारतमार्तण्ड पं० गट्टूलाल शास्त्री

काशी के पण्डितजी भारतमार्तण्ड के मुख से समस्या के निःसरण के उत्तर क्षण में इसकी पूर्ति कर डालते हैं—

अनेकवर्णक्रमरीतियुक्तः कखागघाङ्च्छजझो अटौठः ।
अडण्ढणस्तोऽथ दधौ न पम्फुल् बभौ मयूरो लवशेषसिंहः ॥[1]

विस्मित जनता के मुख से महान् साधुवाद सुनाई देने लगता है। गुणग्राही भारतमार्तण्ड भी अपने मुख से शास्त्रीजी की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगते हैं। लोग आनन्द से उछलने लगते हैं। काशी की मर्यादा रह जाती है। काशी का मान बच जाता है। विजयोन्मत्त गट्टूलालजी को भी शास्त्रीजी की हठात् प्रशंसा करनी पड़ती है।

इस ऐतिहासिक शास्त्रार्थ में जिस शास्त्रीजी ने अपने कविकौशल का चारु चमत्कार दिखलाकर पण्डितमण्डली को मन्त्रमुग्ध कर दिया वे ही हैं हमारे चरितनायक **महामहोपाध्याय गंगाधर शास्त्री सी० आई० ई०।**

पूर्वपुरुष

काशी की विद्वन्मण्डली में श्री गंगाधर शास्त्रीजी का स्थान बड़ा ही उदात्त, उन्नतम तथा उन्नतपदासीन माना जाता है। वे प्रतिभा के जितने मानी थे, लेखनी के उतने ही धनी थे और लोकव्यवहार के भी वे उतने ही कुशलवेत्ता थे। उनका जन्म तो काशी में हुआ था, परन्तु उनका मूल स्थान था मैसूर के प्रसिद्ध नगर बँगलोर का निकटस्थ 'यस्सरगट्टा' नामक गाँव। वहीं के अग्रहार में गौतमगोत्री श्रौतस्मार्तकर्मधुरन्धर सुब्रह्मण्य शास्त्री मानवल्ली नामक विज्ञ ब्राह्मण रहते थे। उन्हींके पुत्र नृसिंह शास्त्री बाल्यकाल में ही माता-पिता की मृत्यु के कारण, अनाथ अवस्था में, बँगलोर में अपने मामा के आश्रय में आकर रहने लगे। वहीं रहकर उन्होंने अपने परम्परागत कृष्णयजुर्वेद की आपस्तम्ब शाखा का विधिवत् अध्ययन कर साहित्यशास्त्र में अलौकिक पाण्डित्य सम्पादन किया। इसके पश्चात् वे पैदल ही काशी के लिए चल पड़े। वय उनका केवल अठारह वर्ष का था। न्याय, वेदान्त आदि शास्त्रों के गाढ़ अध्ययन की तीव्र लालसा उन्हें काशी खींच लाई थी। इन शास्त्रों का पाण्डित्य, पूर्वजन्म में अर्जित विद्या के समान प्राप्त कर, साहित्य में अलौकिक प्रतिभासम्पन्न विद्वान् के रूप में उनकी सर्वत्र प्रसिद्धि हो गई। काशी में ही उन्होंने विवाह किया और काशिराज ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह के सभा-पण्डित के पद पर प्रतिष्ठित हो गये। अपने प्रभुवर के आदेश से उन्होंने हिन्दी में

---

१. अन्वय—अथ अनेकवर्णक्रमरीतियुक्तः कखागघाङ् अच्छजझः अटौठः अडण्ढणः लवशेषसिंहः मयूरः बभौ।

संस्कृत में व्याख्या—अथ ग्रीष्मकालानन्तरं वर्षायां अनेकवर्णानां क्रमरीत्या युक्तः=विविधवर्णविभूषितः, कखागघाङ्=कखेन ह्रासेन अगां वक्रगामिनां सर्पाणां अघं भक्षणम् अञ्चति आद्रियते इति कखागघाङ्। अच्छजझः=अच्छं शोभनं जातः झः भूषणरूपो यस्य सः ञानां पक्षिणां गायकानां वा टं ध्वनिं औठति तिरस्करोति इति अटौठः। अडण्ढणः अचपलः लवौ न्यूनौ शेषसिंहौ यस्मात् स लवशेषसिंहः मयूरः तं खेदं न दधौ किन्तु पम्फुल्ल् सन् प्रसन्नो भूत्वा बभौ।

हिन्दी भावार्थ—वर्षा ऋतु के आने पर अनेक वर्णवाला, अनायास ही सर्पों को खा जानेवाला, सुशोभित एवं अपनी ध्वनि से अन्य ध्वनियों को तिरस्कृत करनेवाला तथा शेषनाग और सिंह को अपनी शोभा से अनादृत कर देनेवाला मयूर पक्षी खिन्न नहीं हुआ बल्कि प्रसन्न हुआ। अन्य पक्षियों और पशुओं को वर्षा में क्लेश होता है परन्तु मयूर हर्षित होता है।

इस कविता में क अक्षर से लेकर ह तक सभी अक्षर वर्णमाला के क्रम के अनुसार रखे गये हैं। इस समस्या की पूर्ति करना बड़ा ही कठिन है। परन्तु शास्त्रीजी ने अपनी लोकोत्तर प्रतिभा के बल से इस समस्या की पूर्ति बड़ी ही सुन्दर रीति से अनायास की है।

साहित्य-सागर की रचना की तथा संस्कृत में **काव्यात्म-संशोधन** का तथा स्कन्द-पुराण के अन्तर्गत किसी अंश पर **शिवभक्तिविलास** नामक टीका का प्रणयन किया।

श्री नृसिंह शास्त्री का कुटुम्ब 'लक्ष्मीनृसिह' के आराधक तैलग ब्राह्मणों के अन्तर्गत था। उनकी सस्कृत तथा हिन्दी में ग्रन्थ-रचना उपलब्ध होती है। हिन्दी में उन्होंने अष्टादशसहस्र छन्दोबद्ध **साहित्य-सागर** नामक लक्षणग्रन्थ का प्रणयन किया तथा सस्कृत में काव्यात्मसशोधनम्, 'दशाननचित्रकाव्यम्' तथा शिव-पुराण की शिवभक्तिविलास नामक व्याख्या का निर्माण किया।

जन्म

नृसिह शास्त्री के इस ज्येष्ठ पुत्र का जन्म स० १६१० विक्रमी (= १८५३ ई०) में गंगादशहरा के पवित्र अवसर पर हुआ था। अपनी कुल-परम्परा के अनुसार पिता ने पुत्र का जन्म-नाम 'सुब्रह्मण्य' रखा परन्तु नानी ने गगादशहरा के दिन जन्म लेने के कारण बालक का नाम **गंगाधर** रखा और यही नाम चारो ओर प्रसिद्ध हो गया। बालक इसी नाम से पुकारा जाने लगा। दैव का दुर्योग देखिए कि तीन साल के दुधमुँहे शिशु को छोड़कर माता कालकवलित हो गयी। पिता ने बालक के बाल्यसस्कार सम्पन्न कर स्वय ही आरम्भिक शिक्षा देना आरम्भ किया। बालक की बुद्धि इतनी प्रखर थी कि आठ वर्ष के वय मे उसे पञ्चकाव्यों में व्युत्पत्ति प्राप्त हो गई।

अध्ययन

उपनयन-सस्कार होने के बाद उस युग के सबसे बड़े वैदिक प० बालकृष्ण भट्ट की पाठशाला में प्रविष्ट होकर इन्होंने अपनी वैदिक शाखा—आपस्तम्ब शाखा—के कृष्णयजुर्वेद तथा उसके अगों का विधिवत् अध्ययन किया। इस प्रकार सोलह वर्षों तक वेद, वेदाङ्ग, कर्मकाण्ड तथा काव्यशास्त्र का अध्ययन कर प्रतिदिन वर्धिष्णु प्रतिभा के साथ इन्होने विद्या ग्रहण की। पिता की आज्ञा से 'बनारस-सस्कृतकॉलेज' मे अध्ययन के लिए इन्होने प्रवेश प्राप्त किया और दस वर्षों तक यही निरन्तर स्वाध्याय करते रहे। वहाँ इनके गुरु थे प० राजाराम शास्त्री जो व्याकरण शास्त्र में पतञ्जलि के नूतन अवतार माने जाते थे। शास्त्रीजी ने इस बालक में विशेष प्रतिभा का प्रकर्ष देखकर परिष्कार के साथ सम्पूर्ण व्याकरण, धर्मशास्त्र, सांख्ययोग और वेदान्तदर्शन की विधिवत् शिक्षा दी। संवत् १९३२ वि० (१८७५ ईस्वी) में संन्यास ग्रहण के कुछ वर्षों बाद राजाराम शास्त्री कैलासवासी हो गये, तब गगाधरशास्त्री को इस घटना से बड़ा धक्का लगा। बात यह थी कि ये उस समय पातञ्जलयोगसूत्र के 'व्यासभाष्य' का अध्ययन अपने गुरुजी से कर रहे थे। पण्डित राजाराम शास्त्री अलौकिक विद्वान् होने के अतिरिक्त एक महनीय योगी भी थे। इसलिए व्यासभाष्य के रहस्यों का उद्‌घाटन वे जितनी सुगमता तथा विद्वत्ता से करते थे, उतनी क्षमता किसी अन्य पण्डित में नही थी। गगाधर शास्त्री उतने योग्य अध्यापक के न मिलने से हताश हो गये थे। एक रात को वे रोते-राते सो गये, स्वप्न में अपनी दीनहीन दशा गुरुजी से कह सुनाई। गुरुजी ने स्वप्न में दर्शन देकर व्यासभाष्य के अवशिष्ट अंश का अध्यापन करना स्वीकार किया। फलतः अपने दिवंगत गुरुजी से इस ग्रन्थ का विधिवत् अध्ययन कर इन्होंने अपनी अभिलाषा पूरी की।

स्वप्न में गुरु से शिष्य का अध्ययन

शिष्य की प्रगाढ़ गुरुभक्ति एवं तीव्र जिज्ञासा के अतिरेक द्वारा दिवंगत गुरु तथा अलौकिक महापुरुष स्वप्न में अपना दर्शन देते हैं तथा शिष्य की शास्त्रविषयक जिज्ञासा का पूर्णतः समाधान कर अन्तर्हित हो जाते हैं। ऐसी ही अपूर्व घटना शिवराम किंकर योगत्रयानन्द स्वामी के जीवन में घटी थी जिसे पण्डित गोपीनाथ कविराज ने लेखक को बतलाया था और अब तो यह घटना उनके जीवन-चरित में भी उल्लिखित उपलब्ध होती है।[१] ये योगत्रयानन्दजी गृहस्थ सन्त थे और कविराजजी के गुरुस्थानीय थे। इनका पूर्व नाम था शशिभूषण सान्याल जो विशेषतः **सान्याल महाशय** के अभिधान से ही जनता में परिचित थे। उनकी तीव्र आकांक्षा थी पाणिनि-व्याकरण के सर्वोच्च ग्रन्थ, महर्षि पतञ्जलि-प्रणीत **महाभाष्य** के अध्ययन की। कलकत्ते में इस विषय के प्रख्यात विद्वान् थे महामहोपाध्याय पण्डित गोविन्द शास्त्रीजी जो वाराणसी संस्कृत कॉलेज में प्राध्यापक पण्डित दामोदर शास्त्रीजी के भाई थे। सान्याल महाशय ने शास्त्रीजी से पढ़ने की अपनी अभिलाषा प्रकट की। शास्त्रीजी टालते जाते थे—आज नही कल। कल नही परसों। एक दिन इन्होंने शास्त्रीजी का पैर पकड़कर अत्यन्त दीन भाव से निवेदन किया---"अवश्य थोड़ा भी समय दीजिए। कोई पढ़ानेवाला नहीं है।" शास्त्रीजी ने क्रुद्ध होकर पैर फटकारकर कहा-- "चले जाओ यहाँ से। मुझे फुरसत नहीं है।" शिवराम किंकरजी बड़े मर्माहत हुए। उस रात को उन्होंने भोजन भी नही किया और जिज्ञासा की पूर्ति की तो बात अलग रही, अपनी अवमानना से वे विशेष दुखित हुए। रात को नीद नही आई। बड़े ही दुःखातिरेक मे समय काटने लगे कि मेरे अज्ञान को दूर करनेवाला कोई व्यक्ति नही दीखता। हा हन्त ! इतने मे ऑख लग गई। दो बजे रात को उन्होंने एक विचित्र अनुभव किया। उन्हे झटका लगा। देखा कमरे में प्रकाश हो रहा है।

सामने शून्य मे एक महापुरुष खड़े दिखाई दिये—जटाधारी, वृद्ध शरीर, निलम्बित श्मश्रु, करुण नेत्र। महापुरुष ने पूछा—आज तुमने कुछ भी भोजन नही किया। सान्याल महाशय ने कहा—मुझे तीव्र वेदना हो रही है। महाभाष्य का कोई मुझे उपदेशक नही मिल रहा है जो उसकी पंक्तियों का रहस्य मुझे समझा दे। महापुरुष ने सान्त्वना देते हुए कहा—घबराओ नही। किसी ने तुमको महाभाष्य नहीं पढ़ाया, तो क्या हुआ। मै पढ़ाऊँगा। मैंने ही उसकी रचना की है, तो क्या उसे पढ़ा नही सकता ? यह सुनकर शिवराम किंकर महाशय गद्‌गद हो गये और महापुरुष से पढ़ने के लिए महाभाष्य की पोथी सामने रख दी। क्या पढ़ाया ? यह तो उन्हें याद नही, परन्तु पढ़ाने का आभास अवश्य रहा। जागने पर वे इस घटना का स्मरण कर आनन्द से विह्वल होकर रोने लगे। प्रातःकाल होने पर इस घटना का विचित्र प्रभाव पड़ा उनके ऊपर। महाभाष्य का जो भी स्थल वे निकालते थे, वह उनका पठित प्रतीत होता था। उसके समझने में किसी प्रकार का सन्देह उनके मन में होता ही न था। समग्र महाभाष्य एकभावेन ज्ञानगोचर हो गया। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'आर्य-शास्त्रप्रदीप' में उन्होंने पतञ्जलि के व्याख्यान का किसी-किसी स्थान पर उल्लेख किया है, विशेषकर पुंल्लिंग तथा स्त्रीलिंग का रहस्य समझाने के विषय में प्रवृत्ति-लक्षण और सस्थान-लक्षण का विश्लेषण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

इसी प्रकार योगत्रयानन्दजी ने कविराजजी से एक दूसरी घटना भी बताई थी जिसमें उन्होंने शिवरात्रि की रात्रि में गौतम ऋषि से न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था। इन दोनों

१ मनीषी की लोकयात्रा—लेखक भगवतीप्रसाद सिंह, द्वितीय स०, पृ० १०५-६ (वाराणसी १९८० ई०)।

घटनाओं के विषय में गोपीनाथ कविराजजी का कहना था कि अब यह सब विषय साधारण मनुष्य की धारणा के अयोग्य है अवश्य, परन्तु सर्वथा सत्य है। असत्य कुछ नहीं है।

फलतः योगिराज राजाराम शास्त्रीजी का अपने एकनिष्ठ शिष्य गंगाधर शास्त्रीजी के सामने स्वप्न में उपस्थित होकर व्यासभाष्य के तत्तत् अंशों के पढ़ाने की घटना भी यथार्थतः सत्य है, भले ही वह साधारण मानव-बुद्धि से अगम्य, अशक्य प्रतीत होती हो।

तदनन्तर इन्होंने बालशास्त्रीजी से शब्दखण्ड तथा अवशिष्ट प्रौढ़ विषयों का भी गम्भीर अध्ययन किया। छब्बीस वर्ष के वय में काशिराजकीय संस्कृत कॉलेज में अध्ययन की समाप्ति पर कॉलेज के पण्डितों ने इनकी प्रतिभा तथा तलस्पर्शी विद्वत्ता के संबन्ध में जो प्रमाण–पत्र दिया था उसके देखने से पता चलता है कि इन्होंने संस्कृत के प्रौढ़ दर्शनशास्त्र के ग्रन्थों का तथा साहित्यशास्त्र का गम्भीर अध्ययन कर उनमें प्रौढ़ता प्राप्त की थी। यह प्रमाणपत्र इसी ग्रन्थ में दिया गया है।

इनके गुरु पण्डित बालशास्त्री इनकी अद्भुत प्रतिभा तथा प्रकाण्ड पाण्डित्य से इतने प्रभावित थे कि वे कहा करते थे 'यह मेरी ही मूर्ति है।' धर्मशास्त्र मे व्यवस्था देने के अवसर पर वे अपने इस सुयोग्य शिष्य को ही यह व्यवस्था लिखकर देने के लिए कहते थे। इस प्रकार शिष्य के पाण्डित्य पर गुरु की दृढ़ आस्था थी।

सन् १८८७ ई० में महारानी विक्टोरिया के शासन-काल में जुबिली के अवसर पर काशी की विद्वन्मण्डली ने एक ऐसे ग्रन्थ के निर्माण का निर्णय किया जो सनातन धर्म के विशुद्ध स्वरूप का परिचायक हो और आजकल के ढुलमुल विश्वासवाले लोगों के सामने धर्म का सच्चा स्वरूप प्रतिष्ठापित करे। यह दुरूह कार्य पण्डित गंगाधार शास्त्रीजी को सौपा गया। शास्त्रीजी ने बड़े परिश्रम से महाभारत, रामायण तथा धर्मशास्त्र आदि ग्रन्थों का अनुशीलन कर **शाश्वतधर्मदीपिका** नामक ग्रन्थ का सकलन किया जो सभा की अनुमति से 'काशी विद्या सुधानिधि' (पण्डित पत्र) में प्रकाशित हुआ। इसी समय इन्होंने अपने गुरु पण्डित राजाराम शास्त्रीजी का जीवनचरित गद्य-पद्यमयी देववाणी में लिखा जो इसी पत्र के दशम भाग मे प्रकाशित हुआ था।

अध्यापन

संवत् १९३६ विक्रमी (सन् १८७९ ई०) में तत्कालीन सस्कृत कॉलेज के अध्यक्ष डॉ० थीबो ने साहित्य एवं दर्शन शास्त्र के अध्यापक के पद पर शास्त्रीजी की नियुक्ति की। इसी समय इनका शास्त्रार्थ प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित गट्टूलालजी से हुआ था जिसमें इनकी विजय हुई थी। इस विजय से इनकी प्रसिद्धि समस्त भारतवर्ष में हो गई। इनकी इस प्रतिभा तथा प्रसिद्धि से आकृष्ट होकर गवर्नमेण्ट संस्कृत कॉलेज, कलकत्ता के प्रिन्सिपल म० म० **महेशचन्द्र न्यायरत्न** सी० आई० ई० ने पं० गंगाधर शास्त्री के घर स्वयं पधारकर इनसे प्रार्थना की कि आप कलकत्ता मेरे कॉलेज में चलकर अध्यापन करने की कृपा करें। इसके लिए वे पाँच सौ मुद्राएँ देने के लिए उद्यत थे; परन्तु शास्त्रीजी ने प्रथमतः अपने पिता की आज्ञा से और द्वितीयतः काशीवास के लोभ से इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया। इस प्रकार चालीस रुपये की वृत्ति को स्वीकार कर उससे बारह गुने अधिक वेतन का इन्होंने परित्याग कर दिया जिससे शास्त्रीजी की त्यागवृत्ति का पता भलीभाँति चलता है—

चत्वारिंशन्मुद्रिकामात्रवृत्तिः, काले तस्मिन् शास्त्रिवर्यः कुटुम्बी।
काशीवासैकाग्रहस्त्यक्तवान् तां, वृत्तिं चान्यामर्धसाहस्रमुद्राम्॥

ग्रन्थ-रचना

संवत् १९३९ वि० (सन् १८८२ ई०) में बालशास्त्री के कैलासवासी हो जाने पर गगाधर शास्त्री ने अपने इस द्वितीय गुरु का भी जीवनचरित गद्यपद्यमयी संस्कृत वाणी में लिखकर 'पण्डित' मे प्रकाशित किया। इसके पश्चात् डॉ० थीबो के अनुरोध से इन्होंने (१) पदमञ्जरी, (२) रसगगाधर, (३) वाक्यपदीय, (४) तन्त्रवार्तिक आदि दुरूह ग्रन्थों को टिप्पणी तथा परिष्कार आदि से अलंकृत करके 'पण्डित-पत्र' में तथा 'विजयानगरम् संस्कृत सीरीज' में प्रकाशित कराया। १९४४ विक्रमी संवत् में (= १८८७ ई० में) महारानी विक्टोरिया के प्रथम जुबिली महोत्सव के अवसर पर दिल्ली के केन्द्रीय अंग्रेजी शासकों ने इन्हें 'महामहोपाध्याय' की पदवी से विभूषित किया। यह स्मरणीय है कि **महामहोपाध्याय** की महनीय उपाधि से इसी महोत्सव के स्मारक के रूप में संस्कृत के विद्वानों को प्रथम बार अलंकृत किया गया था। यह उपाधि शास्त्रीजी को केवल ३४ वर्ष के वय में ही प्राप्त हो गई थी। काशीनरेश ने भी अनेक क्षौम वस्त्र एवं परिधान प्रदान कर शास्त्रीजी का सम्मान एवं समादर किया था।

यज्ञ का अनुष्ठान

पं० गंगाधर शास्त्रीजी के जीवन-कार्य की एक अन्य दिशा है और वह है श्रौत यज्ञों का विधिवत् परम्परा सम्पादन। सं० १९५३ वि० (= १८८६ ई०) में काशीवासी अग्निहोत्री पं० सदाशिव दीक्षित को ज्योतिष्टोम यज्ञ करने की महती अभिलाषा थी। परन्तु अकिंचन होने के कारण वे सर्वथा असमर्थ थे। अतः शास्त्रीजी से उन्होंने अपनी मनोभिलाषा प्रकट की। शास्त्रीजी स्वय तो उनकी आर्थिक सहायता करने में समर्थ नहीं थे, परन्तु इस ब्राह्मण की यज्ञकर्म में दृढ़ निष्ठा को देखकर तथा इसी मार्ग से श्रौत विद्या की उन्नति की सम्भावना को परिलक्षित कर ये लुप्तप्राय इस यज्ञ के सम्पादन में जुट गये। इन्होंने केरल से सामवेदी विद्वानों को बुलाकर यज्ञ में प्रयुक्त होनेवाले यज्ञीय सामगायन को काशी के नवयुवक उदीयमान वैदिकों को सिखलाया। इस प्रकार इन्होंने इस यज्ञ का विधिवत् सम्पादन कर श्रौत यज्ञों के विधान का मार्ग प्रशस्त कर दिया। शास्त्रीजी के आचार्यत्व में यज्ञ के विधान, यज्ञसम्भार तथा समारोह को देखकर काशी की श्रद्धालु जनता पुलकित हो उठी। इस यज्ञ के सम्यक् सम्पादन से आकृष्ट होकर नेपाल के राजपण्डित आचार्य शिरोमणि शर्मा ने भी सोमाधानपुरस्सर त्रेताग्नि यज्ञ कराने के लिए शास्त्रीजी से प्रार्थना की। शास्त्रीजी ने इस यज्ञ को भी सम्पन्न कराया। इन्हीं राजपण्डित ने दूसरी बार 'अग्निष्टोम' तथा 'आप्तोर्याम यज्ञ' भी शास्त्रीजी के आचार्यत्व में सम्पादित किया। इस यज्ञ की परम्परा सैकड़ों वर्षों से लुप्तप्राय हो गई थी। अतः इस यज्ञ के सम्पादन में शास्त्रीजी को घोर परिश्रम करना पड़ा था। इस प्रकार शास्त्रीजी के द्वारा पुनः प्रवर्तित लुप्तप्राय श्रौतगगा का प्रवाह कालक्रम से सूखता हुआ आज भी कथमपि जीवित है।

सम्मान

राजकीय संस्कृतकॉलेज के प्रिंसिपल डॉ० वेनिस शास्त्रीजी को बड़े आदर एवं श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। वे प्रिंसिपल होते हुए भी शास्त्रीजी को अपना गुरु मानकर इनका चरण-स्पर्श कर प्रणाम करते थे। सन् १९०३ ई० में लार्ड कर्जन ने वाराणसी पधारने की कृपा की थी। लाट महोदय के सम्मानार्थ यहाँ जो आयोजन किया गया था उससे प्रसन्न होकर कर्जन ने शास्त्रीजी की बड़ी प्रशंसा की थी। इसी अवसर पर इनको सी० आई० ई० की

पदवी से सरकार ने विभूषित किया था। यह स्मरण रखना चाहिए कि सी० आई० ई० की यह विशेष सम्मानित उपाधि राजनेताओं, राजकर्मचारियो को ही दी जाती थी, सस्कृत के विद्वानो को नही। म० म० बापूदेव शास्त्री को छोड़कर शास्त्रीजी ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्हे ब्रिटिश सरकार ने यह उपाधि प्रदान की थी।

परिवार

श्री गगाधर शास्त्री के दो पुत्र थे -(१) प० ढुण्ढिराज शास्त्री और (२) प० भालचन्द्र शास्त्री। शास्त्रीजी ने अपने ज्येष्ठ पुत्र पण्डित ढुण्ढिराज शास्त्री को बड़े प्रेम से और परिश्रम से सकल शास्त्रो का अध्यापन किया था। ढुण्ढिराज शास्त्री ने अपने विद्वान् पिता के चरणो मे बैठकर व्याकरण, दर्शन, काव्य आदि शास्त्रो का विधिवत् अध्ययन कर प्रगाढ़ पाण्डित्य प्राप्त किया था। परन्तु दैव-दुर्विपाक से शास्त्रीजी के इस सुयोग्य ज्येष्ठ पुत्र का असामयिक निधन सन् १९०४ ई० मे हो गया जिससे शास्त्रीजी पर वज्रपात हो गया। ज्येष्ठ पुत्र की मृत्यु से इनका हृदय टूट गया। तब से ये बहुत उदास तथा खिन्न रहने लगे। इसी भीषण दुःख को विस्मृत करने के लिए शास्त्रीजी ने समस्त भारत की तीर्थयात्रा की थी। इस यात्रा से लौटने के बाद इन्होने **अलिविलासि-सलाप** जैसे महनीय दार्शनिक काव्य की रचना की थी।

इनके कनिष्ठ पुत्र पण्डित भालचन्द्र शास्त्री गवर्नमेण्ट सस्कृत कॉलेज, वाराणसी मे साहित्य-विभाग के प्रधान अध्यापक थे। इस प्रकार इन्होने अपने पिता की परम्परा को जीवित रखा। शास्त्रीजी प्रयाग विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी सभा के सदस्य चुने गये थे। इसी समय ये सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० गगानाथ झाजी की मीमासा शास्त्र पर लिखी गई डी० लिट्० की थीसिस के परीक्षक थे। सवत् १९७० विक्रमी (= १९१३ ई०) मे ज्येष्ठ शुक्ल प्रतिपद् को इन्होने अपने पाञ्चभौतिक शरीर को छोडकर शिवत्व को प्राप्त किया।

शिष्यमण्डली

प० गगाधर शास्त्री के शिष्य-वर्ग की परम्परा बडी लम्बी है जिसमे ये तीन विद्वान् अपने विषय के बड़े ही प्रतिभाशाली मनीषी थे- (१) म० म० पण्डित रामावतार शर्मा, (२) म० म० पण्डित नित्यानन्द पर्वतीय और (३) पण्डित दामोदरलाल गोस्वामी। इनमे से प्रथम दोनो विद्वानो का परिचय यथास्थान आगे दिया जायेगा। पण्डित **दामोदरलाल गोस्वामी** साहित्य और न्यायशास्त्र के विचक्षण विद्वान् थे। साहित्य शास्त्र का चूडान्त अध्ययन इन्होने गगाधर शास्त्रीजी के चरणो मे ही बैठकर किया था। परन्तु नव्य न्याय मे प्रौढ़ि प्राप्त करने की दृष्टि से इन्होने नदिया जाकर इस शास्त्र का विशेष अध्ययन किया। नव्य-न्याय के इस अध्ययन की छाया इनके साहित्य के अध्यापन पर भी पडी थी। ये वृन्दावन के किसी चैतन्यमठ के महन्त थे, अतएव चैतन्य-सम्प्रदाय के ग्रन्थो का अध्ययन-अध्यापन एव सम्पादन किया करते थे। इनका स्वच्छन्द जीवन काशी मे ही व्यतीत हुआ।

पं० दामोदरलाल गोस्वामी की विद्वत्ता की प्रशसा मे यह श्लोक ठीक ही चरितार्थ होता है—

नाना-कल्प-विकल्प-जाल-कलितां, प्रौढोक्तिगूढाशयां,
साहित्याध्व-विहारिणीमपिपुनस्तर्कैः सदैवोज्ज्वलाम्।
येषां वाचमकुण्ठितां प्रतिपद-प्राप्त-प्रकर्षां चिरं,
शृण्वन् गीष्पतिरात्तविस्मयभर-व्यात्ताननो जायते ॥

म० म० गगाधर शास्त्री के अन्य शिष्यो के नाम निम्नाकित है—

(१) **पं० हेमराज शर्मा** (नेपाल महाराज के राजगुरु)।

(२) **पं० बालबोध मिश्र**–(गवर्नमेण्ट सस्कृत कॉलेज, काशी के मीमासा तथा वेदान्त के प्राध्यापक)।

(३) **पं० दिवाकर भट्ट**—(काशीस्थ भट्टकुल के प्रतिष्ठित विद्वान्)।

(४) **पं० नागेश्वर धर्माधिकारी**–(काशीस्थ प्रसिद्ध धर्माधिकारी उपनामवाले महाराष्ट्र ब्राह्मण-कुल मे उत्पन्न सस्कृत कॉलेज के अध्यापक)।

(५) **पञ्चनदीय पण्डित सुदर्शनाचार्य** ये सगीत, साहित्य तथा दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। ये रामानुजी वैष्णव थे। सगीत शास्त्र के ऊपर भी इन्होने एक पुस्तक हिन्दी मे लिखी है जिसका प्रकाशन इण्डियन प्रेस, प्रयाग से हुआ है। ये वीणावादन मे अत्यन्त निपुण थे और वीणा को बहुत मधुर रूप मे बजाते थे। अपनी मृत्यु के पहले इन्होने अपनी इस वीणा को गवर्नमेण्ट सस्कृत कॉलेज को अपनी ओर से रिक्थ के रूप मे दे दिया।

सुदर्शनाचार्य ने वेदान्तविषयक दो ग्रन्थो का प्रणयन किया है -(१) **अद्वैतचन्द्रिका** – इस ग्रन्थ मे अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तो का बडी सुबोध भाषा मे विवरण प्रस्तुत किया गया है। प्रमाणो के रूप मे श्लोक उद्धृत किये गये है तथा उनका तात्पर्य भी समझाया गया है। (२) **विशिष्टाद्वैताधिकरणमाला** – इस प्रमेयबहुल ग्रन्थ मे विशिष्टाद्वैतमतानुसारी ब्रह्मसूत्रो के समग्र अधिकरणो का शास्त्रीय पद्धति से निरूपण किया गया है। श्रीभाष्य मे जिन तत्त्वो का विस्तृत विवेचन है उन्हीका यहाँ सरल भाषा मे सक्षेप मे परिचय दिया गया है। इन दोनो ग्रन्थो की प्रशसा मे उस युग के महनीय पण्डितो गगाधर शास्त्री, कैलासचन्द्र शिरोमणि, रामभिश्र शास्त्री आदि की प्रशस्ति दी गई है कि ये दोनो ग्रन्थ सिद्धान्तो का ठीक प्रतिपादन करते है।[1]

पण्डित सुदर्शनाचार्यजी पजाब के निवासी थे। काशी मे ब्रह्माघाट पर निवास करते थे। उदारचेता इतने थे कि श्रीवैष्णव होने पर भी भगवान् शकर की भव्य स्तुति की है अपनी **शिवाष्टपदी** मे। इससे इनकी काव्यरचना चातुरी का सद्यः परिचय मिलता है--

भज विषमविलोचनवेशम्।
चन्द्रकिरण-सम-शुभ्र-सुदर्शन-शैल-नितम्ब-निवेशम्॥
व्यालवलय-कमनीय- करम्बित-भूषितहस्तसरोजम्।
शैलसुता- वदनेन्दुविलोचन-चञ्चल-हृदय-मनोजम्॥

(६) **महाराजा प्रभुनारायण सिंह**—ये काशीनरेश थे तथा साहित्य के प्रेमी थे। बहुत सभव है कि महाराजा जो कविता लिखते थे उसकी प्रेरणा शास्त्रीजी से प्राप्त करते हो। महाराजा की कविता शास्त्रीजी द्वारा सम्पादित तथा प्रकाशित 'सूक्तिसुधा' नामक पत्रिका मे प्रकाशित भी होती थी।

(७) **पं० रामचन्द्र शास्त्री काले** –ये बाबा साहब के नाम से प्रसिद्ध थे। इनकी कोई गृहस्थी नही थी। अतः अपने शिष्यो को आश्रय तथा भोजन देने के अतिरिक्त प्रेम से उनका अध्यापन भी करते थे।

१ हरिदास गुप्त, चौखम्भा सस्कृत पुस्तकालय, काशी से प्रकाशित, सन् १९०२

श्रद्धाञ्जलि

अपने श्रद्धेय गुरु की स्तुति मे प० रामावतार शर्मा का यह श्लोक सदा श्लाघनीय रहेगा—

गतार्थोऽद्य जगन्नाथो, नापेक्ष्योऽप्ययदीक्षितः ।
कटुवाग् वेङ्कटार्योऽपि, सति गङ्गाधरे गुरौ ॥

इस प्रशस्ति की विशेषता यह है कि गगाधर शास्त्रीजी से तुलना के लिए उद्धृत तीनो ही विद्वान् द्रविड देश के निवासी थे। प्रशस्तिकार शर्माजी का आशय यह है कि दक्षिण देश के इन तीन प्रख्यात तथा वरिष्ठ कवियो की तुलना मे दक्षिणदेशीय तैलङ्ग गगाधर शास्त्रीजी अधिक प्रतिभाशाली थे।

प० नारायण शास्त्री खिस्ते ने अपने 'विद्वच्चरितपञ्चकम्' काव्य मे इनकी शिष्यमण्डली तथा परिवार के सदस्यो का उल्लेख एक ही श्लोक मे इस प्रकार किया है

नित्यानन्दवपुः निरन्तरगलद्वात्सल्यपूरोत्तरो,
नागेश- प्रणय- प्रसाधित-महाहारप्रकारोद्धरः ।
रामे लक्ष्मणसंयुते कृतमना यो भालचन्द्रात्मकः,
श्रीदामोदरपाणिसेवितपदः, पायात् स गङ्गाधरः ॥

शास्त्रीजी की प्रकाण्ड विद्वत्ता के सबन्ध मे खिस्तेजी ने कितना सुन्दर वर्णन किया है -

ग्रन्थग्रन्थिविभेदनेषु पटुता, व्याख्यानघाटी च सा;
मध्ये हास्यकथाप्रसङ्गकलनात् तच्छिष्यधीशोधनम् ।
शिष्येष्वात्मजनिर्विशेषमुदयत्स्नेहं च तद्वीक्षणं;
सर्व केवलमेकले गुरुवरे गङ्गाधरे वीक्षितम् ॥ १ ॥

सा लोकव्यवहारधीरतिशिता, सा वस्तुमर्मज्ञता,
लोकाकर्षणकर्मठा द्युतिमयी, दृष्टिश्च शम्पानिभा ।
काये सा लघुता निसर्गजनिता, सा वाचि गम्भीरता,
सर्वं पण्डितपुङ्गवे गुरुवरे गङ्गाधरे संस्थितम् ॥ २ ॥

कहने की आवश्यकता नही कि खिस्तेजी का यह वर्णन शास्त्रीजी के सबन्ध मे अक्षरशः सत्य है।

काव्यरचना की आलोचना

महामहोपाध्याय प० गगाधर शास्त्रीजी की अनुपम काव्यरचना **अलिविलासिसंलाप** नामक खण्डकाव्य के रूप मे अपनी विलक्षण काव्यप्रतिभा, पुङ्खानुपुङ्ख द्वादशदर्शनी-निपुणता तथा विविध-व्यवहारानुशीलन-क्षमता के प्रख्यापन मे अप्रतिम काव्यकृति है। इस काव्य के निर्माण की कथा ही व्यक्तिगत मानसिक क्लेश तथा विक्षेप की अनुपम कहानी है। लगभग १९०३ ई० मे शास्त्रीजी के ज्येष्ठ पुत्र ढुण्ढिराज शास्त्री, जो प्रतिभासम्पन्न छात्र थे और जिन्होंने स्वल्पकाल में ही सस्कृत-साहित्य तथा दर्शन का गम्भीर अनुशीलन कर शास्त्रचिन्तन में प्रौढ़ता प्राप्त कर ली थी, भरी जवानी में ही काल-कवलित हो गये। इस आकस्मिक वज्रपात से श्री गंगाधर शास्त्रीजी बड़े विचलित हो गये। १९०५ ई० में गुरुपूजा के अवसर पर इन्होंने स्वय शिष्यों के द्वारा दी गई पूजा को स्वीकार नही किया प्रत्युत उस वर्ष अपनी धर्मपत्नी की ही

पूजा करने का शिष्यो को आदेश दिया। इन्होने अपने विद्यालय से कई महीनो का अवकाश ले लिया और अपनी धर्मपत्नी के सग भारत के तीर्थाटन के लिए निकल पडे। उस समय इन्होने समस्त भारतवर्ष के तीर्थों का विधिवत् भ्रमण तथा पूजन कर अपने मानसिक क्लेश को कुछ शान्त किया, परन्तु उतने से जब चित्त मे शान्ति नही आई, तब इन्होने काव्यरचना द्वारा दुःखभार को ध्वस्त करने का विचार किया और उसी साहित्यिक सत्र की यह अनुपम परिणति है **अलिविलासिसंलाप** नामक काव्य।

यह खण्डकाव्य ६ सर्गों मे विभक्त है। ग्रन्थ के अन्त मे शास्त्रीजी ने इसके निर्माण का उद्देश्य कई श्लोको मे दिया है—

प्राज्ञैरिदं प्रतिपदध्वनिसावधानै-
रन्वीक्ष्यमाणमसकृन्नव-खण्डकाव्यम् ।
धर्मार्थकामपरमुक्ति-समीक्षणेषु
दाक्ष्यं फलिष्यति सभासु सदादरार्हम् ॥

—६।११८

पण्डितगण सावधानतापूर्वक प्रतिपद मे ध्वनि से मण्डित इस नूतन खण्डकाव्य का अवलोकन करे, तो उन्हे धर्म, अर्थ, काम तथा परामुक्ति की समीक्षा मे दक्षता प्राप्त होगी जिससे वे सभा मे आदर तथा सत्कार के निश्चयेन भाजन बनेगे।

शास्त्रीजी का आग्रह है कि जो विज्ञजन अलकारो के गभीर चित्र तथा मधुर उपन्यास के शुश्रूषु है, भारत के नाना विख्यात तीर्थस्थानो के दर्शन के इच्छुक है तथा 'द्वादशदर्शनी' (चार्वाक, जैन, चतुर्विध बौद्ध एव षट्दर्शन) के वर्णित विषयो की व्युत्पत्ति मे आदर रखते है, उन्हे इस 'अलिविलासिसलाप' नामक काव्य की आलोचना आस्थापूर्वक करनी चाहिए—

येऽलङ्कारगभीरचित्रमधुरोपन्यासशुश्रूषवो
ज्ञातु भारतविश्रुतामरपुरीतीर्थानि वाञ्छन्ति ये ।
ये च द्वादशदर्शनीस्थविषयव्युत्पत्तिजातादराः
सलापोऽलिविलासिनो मुहुरय तैरास्थयाऽऽलोच्यताम् ॥

—अलिविलासिसलाप ६।११६

इस ग्रन्थ की पूर्ति १६६४ वि० स० (– १६०७ ई०) मे सम्पन्न हुई[1] और उसी वर्ष की १ अक्टूबर, १६०७ ई० को प्रभाकरी कम्पनी (रामकटोरा, बनारस कैण्ट) से यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। इस काव्य के आदिम सर्ग तो शास्त्रीजी के द्वारा प्रवर्तित 'सूक्तिसुधा' नाम्नी सस्कृत पत्रिका मे क्रमशः प्रकाशित होते थे, परन्तु समग्र ग्रन्थ को पुस्तक रूप मे प्रकाशित होने का श्रेय काव्य की पूर्ति के साथ ही साथ प्राप्त हुआ। 'सूक्तिसुधा' नामक पत्रिका का प्रकाशन प० गगाधर शास्त्रीजी की तथा उनके अनुज रामशास्त्री तथा लक्ष्मणशास्त्री की रचनाओं के प्रकाशनार्थ ही किया गया था।

'अलिविलासिसलाप' नौ शतको मे विभक्त एक अभिनव खण्डकाव्य है। इन शतको मे वर्णित विषयो का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

प्रथम शतक मे विविध आवश्यक विषयो का उपक्रम है। द्वितीय शतक मे लोकायत

---

१ श्रीमत्तातनृसिंह-शास्त्रिचरण-स्वर्वृक्षससेविनो राजाराम-यतीन्द्र-सद्गुरुकृपा-पीयूषपूतात्मनः ।
काश्या वेदरसाङ्कभूमिशतके सपादिता वैक्रमे स्याद् गङ्गाधरशर्मणः कृतिरिय विद्वज्जनाना मुदे ॥

—वही ६।१२०

(चार्वाक) मत के सिद्धान्तो का निरूपण है। उनके ईश्वरविरोधी मत का वेदानुसार युक्तियो के द्वारा खण्डन कर कवि ने ईश्वरसिद्धि का प्रतिपादन किया है। तृतीय शतक मे बौद्ध मत के चारो विभिन्न सम्प्रदायो का सक्षेप मे विवरण है। तदनन्तर उनका खण्डन कर वैदिक सिद्धान्त का प्रतिष्ठापन है। जैन मत का प्रतिपादन तथा खण्डन चतुर्थ शतक का विषय है। पञ्चम शतक मे भारतवर्ष के पावन तीर्थों का मञ्जुल विवरण है जिनमे कुवलयानन्द स्थित अलकारो का क्रमश: उदाहरण दिया गया है। कहीं-कही अलकारो के तत्-तत् विशेष भी सगृहीत किये गये है। कहना पर्याप्त होगा कि इस शतक मे साहित्य का अभिनव चमत्कार प्रदर्शित किया गया है। षष्ठशतक के आरम्भ मे कवि ने अपने श्रौतयाग-सम्बन्धी प्रौढ़ अनुशीलन का परिचय देते हुए वाजपेय का विस्तृत विवरण दिया है। तदनन्तर कर्ममीमासा के सिद्धान्त प्रदशित किये गये है। सप्तम शतक मे तन्त्र आगम, स्मृतितत्त्व का सूक्ष्म वर्णन कर उपासना विषय मे विधि एव अर्थवाद का निरूपण है तथा मुक्तिप्राप्ति के औपनिषद मार्ग का स्पष्टरूपेण विवेचन है। अष्टम शतक मे न्यायमत के सिद्धान्तानुसार मोक्ष प्रक्रिया का प्रथमत. वर्णन है तदनन्तर उपनिषत् की दृष्टि से उसका बहुशः निरसन है। नवम शतक काव्य का अन्तिम शतक है। इसमे साख्य तथा योग की शास्त्रीय दृष्टि से क्लेश प्रहाण के उपाय मोक्षप्राप्ति के साधन आदि विषयो का प्रतिपादन कर वेदान्त दृष्टि से परब्रह्मतत्त्व का निरूपण किया गया है।

'आनन्दो ब्रह्म' जैसे सूक्ष्म तत्त्व के ज्ञान का प्रकार देखिए

आदावेव ह्यनिमूक्ष्मे प्रविशति न मतिर्ब्रह्मतत्त्वे, हि तस्माद्
अन्ने प्राणे मनस्यप्यवददुपनिषद् ब्रह्मता लोकदृष्ट्या।
विज्ञाने ता विचारक्षमपुरुषदृशा प्राप्य सिद्धान्तमाद्या-
ऽऽनन्दो ब्रह्मेति तस्मात् परिचितविमर्शोऽनौचित्यताऽऽनन्दतत्त्वाम् ॥

९।१४

जीवन्मुक्त के स्वरूप को देखिए

ब्रह्मैकार्था यस्य वृत्तिः समाधौ व्युत्थाने स्यान्नेह नानानिरूपा।
शुद्धा साऽऽस्ता मिश्रिता वाऽन्यवृत्त्या जीवन्मुक्तस्यैतदेव स्वरूपम् ॥

९।१०३

अलिविलासिसलाप सस्कृत भाषा का एक नितान्त अभिराम खण्डकाव्य है जिसमे ९ सर्ग है। नाना वृत्तो मे निबद्ध पूरे एक सहस्र पद्यो मे इस काव्य का निर्माण हुआ है। यह शास्त्रकाव्य है जिसमे दर्शन के नानाविध सम्प्रदायो के सिद्धान्तो का निरूपण तथा खण्डन कर उपनिषदो के प्रतिपाद्य अद्वैत तत्त्व के द्वारा परमामुक्ति की उपलब्धि का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। शास्त्रकाव्य की खण्डन मण्डन विधा होने पर भी इसमे रूक्षता नही है– सरस, कोमल पदो के द्वारा दृष्टान्तो के माध्यम से वस्तुतत्त्व का निरूपण किया गया है। गूढ़ सिद्धान्तो के प्रतिपादन के निमित्त यहाँ लौकिक उदाहरणो का प्रचुर उपयोग है जिससे वे खुलकर सामने आ जायँ तथा श्रोताओं के मन मे अनायास प्रवेश कर उसे वशीभूत कर ले।

श्री गगाधर शास्त्रीजी के दो रूप इस काव्य के अनुशीलन मे प्रकट होते है एक तो है दार्शनिक रूप तथा दूसरा है कविरूप दार्शनिक रूप मे ये नाना दर्शन के सिद्धान्तो का निरूपण कर अद्वैत दृष्टि से उन्हे निरस्त करते है। कविरूप मे ये प्रवीण अलकारशास्त्री है, अलकार मे नितान्त व्युत्पन्न तथा अलकार चमत्कार से युक्त काव्य के अनायास रचयिता। इस रूप का दर्शन हम पञ्चम सर्ग मे विशेष होता है। इस सर्ग मे भारतवर्ष के समस्त तीर्थों

का- -प्राची, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर दिशाओं मे विराजमान तीर्थस्थलो का बड़ा ही अभिराम, रसपेशल वर्णन है। साथ ही साथ यह सर्ग 'कुवलयानन्द' मे वर्णित अलकारो का क्रम से उदाहरण भी प्रस्तुत करता है। यह सर्ग शास्त्रीजी के आलकारिक वैदुष्य का अप्रतिम रूप निर्दिष्ट करता है। विज्ञ आलोचको से यह तिरोहित नही है कि ऐसी रचना का सम्पादन कितना दुष्कर कार्य होता है, परन्तु गगाधर शास्त्रीजी ने उस दुष्कर कार्य को किया है और बड़ी सफलता से किया है। शास्त्रीजी कारयित्री प्रतिभा के धनीमानी कवि थे—ऐसे कवि, जिसका अनुसरण भवभूति के समान वश्यानुगिणी सरस्वती सर्वदा करती थी।

इनकी कविता मे श्लेष का चमत्कार बडी मनोज्ञता से पिरोया गया है। आनन्द की बात इसमे यही है कि सभग श्लेषो मे किसी प्रकार की कर्कशता तथा दुरूहता नही जनमती। थोडे ही प्रयास मे श्लेष बुद्धिगम्य हो जाते है। न ऐसे कवि नही है जिनके विषय मे 'कोश पश्यन् पदे पदे' की दुरुक्ति चरितार्थ होती हो। उनके ही पट्टशिष्य महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा ने जो प्रशस्ति लिखी है, उससे इनके काव्योत्कर्ष का स्पष्टतः परिचय मिलना है। वह प्रशस्ति इस प्रकार है

गतार्थोऽद्य जगन्नाथः नापेक्ष्योऽप्पयदीक्षितः ।
कटुवाग् वेङ्कटार्योऽपि सति गङ्गाधरे गुरौ ॥

[illegible] पद्य [illegible] की आलोचना से शास्त्रीजी की कविता मे तीन तथ्या का गूढ मक [illegible] मिलता है (क) अर्थ का विस्तार तथा असमाप्ति, (ख) दार्शनिक तत्त्वो की कोमल विस्तृति तथा (ग) कोमल मनोरम पदशय्या कहना न होगा कि इस 'अलिविलासिसलाप' मे इन तीनो तत्त्वो की सत्ता पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध है। कतिपय दृष्टान्तो द्वारा इनका स्वरूप उपलब्ध किया जा सकता है।

शारदा-स्तुति

शारदाऽमृतकरावदातया हस्तिना पिदधती दृशा रदान् ।
भक्तपालनविधौ विशारदा शारदा स्फुरतु मानसे मम ॥

– ६।१

'शारदा' शब्द के यमक का सौन्दर्य नितान्त भव्य है इस पद्य मे।

काशी का प्रसादमय वर्णन

इयं शमनयातना- विघिशतापवादो ध्रुवं
सहर्षमिह जाह्नवी धुरि च नृत्यतीवोर्मिभिः ।
इहाश्रयति भारती विधिधियेव शिष्टान् द्विजान्
इह ध्वजविधूननैरिव निवार्यते संसृतिः ॥

-- ५।१०

इस पद्य मे उत्प्रेक्षा के नाना विशेषो का दृष्टान्त प्रस्तुत है।

पार्वती का भव्यरूप

कलिन्दतनयां शिरस्युरसि तुङ्गशैलद्वयं
वहन्त्युदरधारितोरगशिशुस्तपो दुश्चरम् ।

विधाय शरदम्बुदे स्थितिमनश्वरी बिभ्रती
बिभर्ति भजतो जनानिह हि कापि सौदामिनी ॥

—५।१२

श्लोक का आशय है कि कोई अपूर्व सौदामिनी (पार्वती) अपने सिर पर कालिन्दी (केशपाश) को, अपने वक्षःस्थल पर दो ऊँचे पर्वतो (दो कठोर कुचस्थल) को, अपने उदर पर सर्प शिशु (रोमावली) को धारण करती हुई, कठिन तपस्या के द्वारा शरत्कालीन मेघ मे (शिव मे) अनश्वर स्थिति को रखती हुई अपने भक्तजनो का निरन्तर पालन कर रही है। शिव के सग मे सर्वदा विहार करनेवाली दीप्तरूपा विद्युन्मयी भगवती पार्वती का कितना अभिराम वर्णन कवि ने यहाँ प्रस्तुत किया है। यह पद्य रूपकातिशयोक्ति का भव्य निदर्शन है, क्योकि यहाँ कालिन्दी, गिरि, सर्पशिशु, शरन्मेघ तथा विद्युत् के द्वारा उपमेयभूत केशपाश, कुचद्वयी, रोमावलि, शिव तथा पार्वती का क्रमशः निगरण किया गया है।

कावेरी नदी का श्लिष्ट वर्णन

इय कुटिलगामिनी लसदनेकधाविभ्रमा
रुचिं विदधती नृणा बहुलसञ्जवायौवने ।
निरुध्य रुचिर मनोभुवमुपेत्य रत्नाकर
रसादभिसरत्यहो रहसि सह्यशैलाङ्गजा ॥

५।२८

यहाँ कन्या तथा कावेरी की मञ्जुल सभङ्ग श्लेष की छटा विराजती है। सह्यपर्वत की पुत्री कावेरी नदी कुटिलगामिनी है तथा प्रकाशमान अनेक विलासो से मण्डित है (नदी पक्ष मे लसत् + अनेकधावि + भ्रमा = प्रकाशमान अनेक दौडनेवाले आवर्तों से युक्त)। बहुल शोभित वेगवाले यौवन मे कन्या मनुष्यो मे प्रीति धारण करती है। उधर नदी (बहुल + सञ्जवायौ + वने) बहुल सुन्दर वायुवाले वन मे रुचि धारण करनेवाली है। मनुष्यो के मन को चिरकाल तक रोककर अर्थात् उनके मन को काम द्वारा वश मे करके कन्या रत्नाकर (= रत्नो का खजाना रखनेवाले धनिक) के पास प्रेम मे अभिसरण करती है। नदी भी मनुष्यो के काम को वश मे कर रत्नाकर (– समुद्र) के पास धीरे धीरे जा रही है। यहाँ श्लिष्ट साधारणोभयविधविशेषणोत्थापित समासोक्ति अलकार है। कितनी सुन्दरता से कवि ने कावेरी नदी को कन्या के रूप मे समासोक्ति द्वारा चित्रित किया है।

मीनाक्षी-वर्णन

अहीन–वसनाऽऽकृतिर्वहति विग्रहे भूषणा–
न्यहर्निशमुपास्यते जगति योदयाकाङ्क्षिभिः ।
सदा नवविभूतिभासिततनुश्च मीनाक्ष्यसौ
स पाण्ड्यविषये मनो हरति सुन्दरेशश्च मे ॥

—५।३१

इस पद्य मे मीनाक्षी तथा सुन्दरेश शिव दोनो का वर्णन श्लेष द्वारा बड़ी सुगमता से किया गया है।

मीनाक्षी—अहीन (= सुन्दर) वसन तथा आकृतिवाली, शरीर मे भूषण धारण करती है। जो उदय चाहनेवालो से (या + उदयाकाङ्क्षिभिः) दिन रात उपासित होती है। मदा

नव = नूतन, विभूति – ऐश्वर्य से शोभित तनुवाली है। ऐसी भगवती मीनाक्षी मेरे मन को हरण करती है।

सुन्देरेश—(अहीन् = मर्पान्) अवसनाकृति = दिगबर शिव अपने शरीर पर सर्परूपी भूषणो को धारण करते है। (योदयाकाङ्क्षिभिः = यः + दया) जो शिव दया के इच्छुक भक्तो द्वारा सर्वदा उपासित होते है। 'स दानवाना विभूत्याभासिततनुः' दानवो की विभूति से भासित शरीरवाले वह शकर मेरे मन को हरण कर रहे है।

प्रकृतानेकविषयक श्लेष का चमत्कार यहाँ सुशोभित है।

पुरुषोत्तम-स्तुति

केरल देश के अनन्तशयन नामक स्थान मे विद्यमान पुरुषोत्तम की स्तुति प्रस्तुत है। शब्दो की महिमा से पुरुषो मे उत्तम व्यक्ति का भी यहाँ वर्णन अप्रस्तुत रूप से विद्यमान है। फलतः यह प्रकृताप्रकृतानेक विषयक श्लेष का सुन्दर उदाहरण है

अनन्तशय -नामितक्षितिधरोऽत्र पद्मार्पणैः
प्रमोदजनकैरलावनिशवृद्धये सोद्यमः ।
स्वविक्रमलवानमद्‌बलिशिरोनिविष्टाङ्घ्रिको
विभाति पुरुषोत्तमः सततमेष संसेव्यताम् ॥

५।३३

पुरुषोत्तम भगवान्

प्रकृत का वर्णन देखिए। वे अनन्तशयन नामक नगर मे विस्तृत (अमित) पृथ्वी को धारण करते है (क्योकि केरल की इस राजधानी मे उनका विशाल मन्दिर विद्यमान है)। लक्ष्मी के अर्पण करने से आनन्दित जनवाली केरल भूमि की कल्याणवृद्धि मे सदा उद्यमशील है। अपने विक्रम के लेश से नम्र होनेवाले राजा बलि के शिर के ऊपर उन्होने अपना पैर रखा है। ऐसे पुरुषोत्तम शोभित हो रहे है।

पुरुषों में उत्तम व्यक्ति

अप्रकृत का वर्णन। इस पुरुषोत्तम ने अपने हाथ (शय) मे अनन्त राजाओं को नम्र वर दिया है। (प्रमोदजनकै + अलौ + अनिशवृद्धये)– आनन्द देनेवाले कमलो के अर्पण मे भ्रमर की सन्तत वृद्धि के लिए यह भी प्रयत्नशील है। उसने अपने विक्रम के लेश से बलिष्ठ राजाओं के मस्तक को नम्र कर उस पर अपने पैर को रख दिया है। ऐसा सुशोभित हो रहा है यह पुरुषो मे उत्तम व्यक्ति। यह अप्रकृत अर्थ श्लेष के द्वारा निकल रहा है। फलतः यहाँ प्रकृत तथा अप्रकृत मे श्लेष का सचार है। इसके द्वितीय पाद मे सभगश्लेष कितना प्रसन्न है--

(१) प्रमोदजन + कैरलावनि + श + वृद्धये

(२) प्रमोदजनकैः + अलौ + अनिश + वृद्धये।

इस पद्य के चारो पादो मे अभिराम श्लेष विराजमान है। यह कहना पुनरुक्तिमात्र है कि गगाधर शास्त्रीजी श्लेष के सम्राट् थे जिनका शब्दो के ऊपर अनुपम साम्राज्य विराजमान था और जो अपनी काव्यकला के सेवन के लिए उन्हे उँगली के सकेतमात्र से बुला लेते थे।

इन श्लेषमयी कविताओं के साथ स्वभावोक्ति का भी आनन्द लीजिए। कवि वृन्दावन

में नलकूबर को उखाड़नेवाले बालकृष्ण का वर्णन प्रसादमयी वाणी में कर रहा है। अर्थ स्पष्ट है—

स्वजानुयुगरिङ्गणोच्चलदुलूखलैकाहति-
प्रभग्नयमलार्जुनोल्वणरवश्रुतिव्यग्रया ।
स्खलद्गतियशोदया सभयशङ्कमङ्के धृतो
हसन्मनसि मामके लसतु माथुरो बालकः ॥

—५।८३

तीर्थस्थानो के वर्णन में कवि स्वभावोक्ति का बहुशः प्रयोग करता है। उत्तरभारत के तीर्थों की अपेक्षा दक्षिणभारत के तीर्थों का अधिक वर्णन आन्ध्रकवि की परिचिति का विशेष द्योतक है।

गगाधर शास्त्रीजी शास्त्रो के समान वेद-वेदाङ्ग के भी परिनिष्ठित पण्डित थे, इसकी सूचना इस काव्य के वाजपेय वर्णन से सद्यः प्राप्त होती है। उपनिषदों के तो वे मर्मज्ञ विद्वान् थे ही, यही कारण है कि यह काव्य साहित्य की दृष्टि से जितना अभिराम एव मञ्जुल बन गया है, दर्शन की दृष्टि से भी उतना ही प्रौढ़ एवं प्रामाणिक, तर्क तथा युक्ति से सम्पन्न एव लोक-व्यवहार के उदाहरणों से विभूषित हो सका है। तथ्य तो यह है कि शास्त्रीजी ने अपनी अलोक-सामान्य प्रतिभा के बल पर ऐसे काव्यरत्न की रचना की है जिसकी अलौकिक प्रभा समय के प्रभाव से कथमपि न्यून न होकर दिन-प्रतिदिन प्रद्योतित होती ही जाती है। मै इस 'अलिविलासिसलाप' को इस शताब्दी मे काशी मे प्रणीत काव्यमाला का मुकुटमणि मानता हूँ।

मुक्ताभूषां भारभावं नयन्तीं भास्वद्देहोद्भूतशुभ्रप्रभाभिः ।
भूयाद् भूयो भाविताभक्तसङ्घैः सच्छास्त्रार्थस्फूर्तये भारती नः ॥

इस खण्डकाव्य के पूर्व ही श्री गगाधर शास्त्रीजी ने 'हसाष्टक' नामक एक अष्टक काव्य लिखा था जिसमें श्लेष की महिमा से हंसपक्षी तथा आत्मा का वर्णन बड़ी सुन्दरता के साथ वर्णित है। इसमें अनेक दर्शनों के तत्त्व बड़ी सुगमता से वर्णित है। इस स्तोत्रकाव्य पर कवि के अनुज महामहोपाध्याय रामशास्त्रीजी ने भावपूर्ण व्याख्या लिखी है। उदाहरण के लिए एक ही पद्य पर्याप्त होगा—

जातिं श्लाघ्यामनिच्छन् विगलितकुतुकः प्रांशुवंशेषु वस्तुं,
पुन्नागेभ्यो विरक्तः कुरवविरसधीर्निःस्पृहो बन्धुजीवे ।
रम्भायां वीतलोभः कुवलयमभजन् मुक्तपद्मानुरागो,
हंसः सम्प्रत्यशोके विरचयति पदं माधवस्य प्रसादात् ॥

इस पद्य में विरागपूर्वक परमसुख की प्राप्ति का तथ्य प्रतिपादित है।

हंसपक्ष—मृदुपरिमल से श्लाघनीय परन्तु इस समय कुसुमोदय से हीन होने के कारण जातिलता को न चाहता हुआ हस ऊँचे बाँसों के ऊपर बैठने में उत्सुकता नहीं रखता। पुन्नाग वृक्षों से विरक्त हंस कुरवक वृक्षों में निवृत्तकौतुक होकर बन्धुजीव वृक्षो में स्पृहा धारण नहीं करता। कदली में लोभहीन, कुवलय से विरक्त, कमल में अनुराग छोड़कर इस समय माधव वसन्त मास के आगमन से नये पुष्पों के उद्गमवाले अशोक के वृक्ष के ऊपर अब हंस निवास कर रहा है।

आत्मा-पक्ष

श्लाघनीय ब्राह्मण आदि जाति का अनिच्छुक, श्रेष्ठ कुलों में निवास करने से

विगतकौतुक, श्रेष्ठ पुरुषों से विरक्त होकर, कुरव (कुत्सित शब्दवाले असत् शास्त्रों में अथवा अपने प्रभाव का वर्णन करनेवाले दुष्टों) में अपनी बुद्धि को विरस बनाकर, बन्धुजीव में (बन्धुओं के जीव में भी) निःस्पृह होकर, रम्भानाम्नी प्रसिद्ध अप्सरा में भी निर्लोभ बनकर, वैराग्य की दृढ़ता के कारण समस्त पृथ्वीमण्डल (कुवलय) को भी नहीं चाहनेवाला, पद्मा (लक्ष्मी) में अनुराग न करते हुए आत्मा माधव लक्ष्मीपति नारायण के प्रसाद से अशोक में—निरतिशय सौख्यरूपी स्व-स्वरूप में—अपना पद (स्थिति) धारण कर रहा है। वैराग्य धारण करने से परमपद की प्राप्ति सुलभ होती है।

प्रसन्न श्लेष का चमत्कार देखने योग्य है। इसमें किसी प्रकार का मानसिक व्यायाम करने की आवश्यकता नहीं है। शब्द-योजना पर प्रभुत्व रखने वाले कवि की वाणी में ऐसा ही हृदयगम प्रभाव होता है। यह स्तोत्रकाव्य 'प्रभाकरी यन्त्रालय' में १९६१ वि० स० (= १९०४ ई०) में मुद्रित हुआ था।

संस्मरण

रचना-चातुरी

गंगाधर शास्त्रीजी शास्त्रार्थ के रसिक थे और सभा में पक्ष तथा विपक्ष की ओर से भाग लिया करते थे, परन्तु ये कभी उग्रता का प्रदर्शन नहीं करते थे। ये स्वभाव से मृदुल थे और इसलिए शास्त्रार्थ के प्रसंग में भी ये तर्क तथा युक्ति का प्रयोग बड़ी मृदुता के साथ किया करते थे। कभी-कभी किसी शास्त्रार्थी के निर्बल पक्ष को प्रबल बनाने के लिए तथा उसकी मान-मर्यादा की रक्षा के निमित्त एक विलक्षण चमत्कार करते थे जो सभासदों को आश्चर्यचकित कर देता था। व्याकरण के शास्त्रार्थ में अन्तिम प्रमाण महर्षि पतञ्जलि का प्रमेयबहुल ग्रन्थ 'महाभाष्य' ही तो है। फलतः गद्य-रचना में निष्णात शास्त्रीजी महाभाष्य की शैली में, पतञ्जलि से तुक में तुक मिलाकर कभी-कभी ऐसे वाक्यों की रचना सद्यःस्फूर्तिवशात् कर दिया करते थे कि जिनके 'अपतञ्जलीय' होने का किसीको आभास भी नहीं होता था। इस विषय में एक घटना प्रसिद्ध है। गोरखपुर जनपद का कोई वैयाकरण शास्त्रार्थ कर रहा था और प्रतिपक्षी थे उस युग के महान् शास्त्रार्थनिष्णात वैयाकरण-केसरी दामोदर शास्त्रीजी। श्री गंगाधर शास्त्रीजी भी सभा में उपस्थित थे। इन्होंने देखा कि गोरखपुरिया वैयाकरण का पक्ष कुछ दुर्बल हो रहा है। तब उनकी रक्षा के लिए ये स्वयं बोल उठे—"भवदुक्तं महाभाष्यविरुद्धं वर्तते" और महाभाष्य की अनेक पंक्तियाँ धड़ाधड़ बोलते चले गये। दामोदर शास्त्री इन पंक्तियों को सुनकर आश्चर्यचकित हो गये और अपने कथन को महाभाष्य-विरुद्ध जानकर वे आगे बोलने से रुक गये। शास्त्रार्थ तो वहीं समाप्त हो गया, परन्तु दामोदर शास्त्री मर्माहत होकर घर आये, अपनी महाभाष्य की पोथी के सम्भाव्य स्थलों का निरीक्षण किया परन्तु गंगाधर शास्त्री के द्वारा उद्धृत वचन कहीं भी उपलब्ध नहीं हुए। उसी आवेश में वे दौड़े-दौड़े गंगाधर शास्त्री के आवास पर पहुँचे और गली से ही पुकार उठे—शास्त्रीजी, आपने जिन महाभाष्य-वचनों को उद्धृत किया था, वे किस अध्याय के हैं और किस सूत्र की व्याख्या में हैं। इतने आवेश में वे थे कि उनकी वाणी लड़खड़ा रही थी।

गंगाधर शास्त्रीजी इस घटना की आशंका से पहले से ही सावधान होकर बैठे हुए थे। इन्होंने बड़ी मृदुता से कहा—"श्रीमान् शास्त्रीजी महाराज, मेरी वे पंक्तियाँ सभा के महाभाष्य की हैं, आपके ग्रन्थ की नहीं। आपको तो समग्र महाभाष्य कण्ठाग्र है, आप उसका नित्य

पारायण किया करते है। आपको तो मुझे सभा मे ही टोकना चाहिए था कि यह अपतञ्जलीय वाक्य आप कहाँ से बोल रहे है। बात यह है कि उस पण्डित के पक्ष की रक्षा करने के लिए ही मैने सद्यः उसी समय उन वाक्यो की रचना कर आपको सुनाया था। मुझे आशा नही थी कि मेरे ये वाक्य पतञ्जलि की शैली मे इतनी सुन्दरता से निबद्ध होगे कि आप जैसे महाभाष्यरसिक को भी धोखे मे डाल देगे। क्षमा करे मेरी इस धृष्टता को।''

इन स्वभाव कोमल वचनो के श्रवण मात्र से दामोदर शास्त्रीजी का क्रोध शान्त हो गया, आवेश दूर हो गया और वे गगाधर शास्त्री के अद्भुत रचना कौशल के साथ उनके मृदुल स्वभाव की प्रशसा करते हुए घर लौट आये।

लोक-चातुरी

गगाधर शास्त्रीजी लोक व्यवहार मे भी बड़े चतुर थे। कोई उन्हे ठग नही सकता था। भविष्य मे होनेवाली आशकित घटना के लिए भी वे सर्वथा जागरूक रहते थे। कचहरी मे कोई मुकदमा चल रहा था जिसमे इन्हे गवाही देने के लिए बुलाया गया था। शास्त्रीजी ने कचहरी मे जाना अस्वीकार कर दिया। तब इनके आवास पर ही इनकी गवाही लेने के लिए वकीलो का एक कमीशन आया। कमीशन के आने से पहले ही शास्त्रीजी ने सम्भाव्य प्रश्नो के उत्तर पहले से ही तैयार कर कागज पर लिखकर, अपने आसन के नीचे रख दिये थे। कमीशन के वकील लोग आये और वे प्रश्न करने लगे, और शास्त्रीजी उसी क्रम से रखे गये अपने लिखित उत्तरो को देने लगे। जिस क्रम से प्रश्न होता, लिखित उत्तर भी उसी क्रम से अपने आसन के नीचे से उठाकर शास्त्रीजी देते जाते थे। वकीलो ने बड़े आश्चर्य से पूछा शास्त्रीजी, आपने इन उत्तरो को कैसे तैयार कर लिया था ? हम लोगो ने तो आपसे अपने प्रश्नो की चर्चा भी नही की। आप सटीक उत्तर ही नही देते, प्रत्युत प्रश्नो के क्रमानुसार उत्तर भी पूर्व से ही लिपिबद्ध है। यह तो बडे ही आश्चर्य की बात प्रतीत होती है। शास्त्रीजी का एक ही उत्तर था कि इस विषय मे ये ही प्रश्न हो सकते है। मैने इसी क्रम से सब प्रश्नो के उत्तर पूर्वतः लिख रखे थे। वकील लोग पण्डितजी के इस उत्तर से बडे सन्तुष्ट हुए और उन्होने स्वीकारा कि यदि शास्त्रीजी वकालत पेशे मे आये होते, तो वे निःसन्देह ही एक सफल वकील सिद्ध हुए होते। ऐसी थी गगाधर शास्त्रीजी की लौकिक विषयो मे चातुरी।

अध्यापन-चातुरी

शास्त्रीजी के शिक्षण मे अध्यापन कला की अनेक विशिष्टताए विद्यमान थी। ये कोई भी पाठ्य पुस्तक देखकर नही पढ़ाते थे। इन्हे समग्र ग्रन्थ कण्ठाग्र थे। एक बार के ही अवलोकन तथा अध्ययन से समस्त ग्रन्थ इनकी स्मृति के पटल पर विराजमान हो जाते थे। उसे पढ़ाते समय देखने की आवश्यकता ही प्रतीत नही होती थी। इनके मेधावी पट्टशिष्य पण्डित रामावतार शर्मा की भी यही शैली थी। नया से-नया ग्रन्थ हो, वे बिना देखे ही छात्रो के द्वारा सुनाये गये अशो की व्याख्या धडल्ले के साथ करने लगते थे। यह कला उन्होने अपने पूज्य गुरुदेव से ही सीखी थी। एक समय की घटना है। पाठ्यग्रन्थो का चयन करना था। सन्ध्याकाल होने से पुस्तकालय भी बन्द हो गया, परन्तु चयन करना नितान्त आवश्यक था। रामावतारजी ने अपने सहयोगी आनन्दशकर ध्रुवजी से कहा कि बैठा जाय। अपनी स्मृति से ग्रन्थो के चयन करने का प्रयत्न करूँगा। ऐसा ही हुआ। रामावतारजी ने अपनी स्मृति के बल पर नाना विषयो के ग्रन्थो का खण्डशः यथातथ्य चयन कर डाला। उनकी विलक्षण

मेधाशक्ति को देखकर ध्रुवजी ने आश्चर्य प्रकट किया, तब पण्डितजी ने अपने गुरुजी की अलौकिक मेधाशक्ति का परिचय कराया था और कहा था —"बिना अनुभव किये यह अनुमान करना भी असम्भव है कि एक मानव मस्तिष्क कितने ग्रन्थो को धारण कर सकता है और समय आने पर वह यथातथ्य उनको अक्षरशः प्रकट भी कर सकता है। मेरे गुरुवर गगाधर शास्त्रीजी की यह अनुपम शक्ति थी।"

शास्त्रीजी व्याकरण ग्रन्थो का अध्यापन एक ही प्रकार से प्रतिवर्ष नही करते थे, प्रत्युत नवीन परिष्कारो की उद्भावना कर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया करते थे। एक बार जो परिष्कार करते थे, दूसरी बार उससे लघुतर परिष्कार की कल्पना कर अपने उर्वर मस्तिष्क का जौहर दिखाया करते थे। ये पिटी पिटाई लकीर पर चलनेवाले व्यक्ति नही थे, प्रत्युत नवीन से नवीनतम कल्पना करने मे सर्वदा जागरूक रहते थे। ऐमी सुबोध शैली की उद्भावना इनके गम्भीर अध्ययन की उज्ज्वल परिणति थी। यह बात मुझे बाबा साहेब काले नामक वृद्ध पण्डित से अवगत हुई थी जो शास्त्रीजी के शिष्य थे और प्रतिवर्ष व्याकरण शास्त्र के पाठ का श्रवण किया करते थे। उनका कहना था कि गुरुजी की प्रतिभा व्याकरण मे भी उतनी ही चमकती थी जितनी अन्य शास्त्रो मे।

उस दिन शास्त्रीजी के अधर पर स्मित माधुरी बिखर उठी जब इन्होने किसी नवागन्तुक छात्र को नागराक्षरो मे प्रथम बार मुद्रित दर्शन के किसी ग्रन्थ की दो प्रतियाँ बाजार से लाकर प्रस्तुत करते देखा— एक तो अपने पढ़ने के निमित्त और दूसरी शास्त्रीजी के लिए पढाने के निमित्त। शास्त्रीजी ने हँसते हुए कहा वत्स, तुम मेरी पाठशाला मे नये आये हो। अतः मेरी पाठन शैली से परिचित नही हो। मै कोई भी ग्रन्थ देखकर नही पढ़ाता वह तो मेरी स्मृति मे पहले से ही उपस्थित रहता है। इस ग्रन्थ को मै आन्ध्र लिपि मे पढ़ चुका हूँ। इतना कहकर वे ग्रन्थ को आरम्भ से ही सुनाने लगे। छात्र चमत्कृत हो उठा और अपनी अज्ञता के कारण लज्जित होकर गुरुचरणो पर नतमस्तक हो गया। शास्त्रीजी की धारणाशक्ति का उज्ज्वल प्रमाण जो सामने था। ऐसी शक्ति की जितनी प्रशसा की जाय कम ही है।

पण्डित रामावतार शर्मा हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत सस्कृत महाविद्यालय के अध्यक्ष-पद पर उस समय विराजते थे (१६२२ २३ ई० मे)। वे अवसर आने पर प्रौढ मनोरमा के लम्बे लम्बे अवतरण जब सुनाया करते, तब आश्चर्य से चकित होकर व्याकरण विभाग के अध्यक्ष म० म० पण्डित जयदेव मिश्रजी उनसे पूछ बैठते थे कि साहित्य के पण्डित होकर भी आप व्याकरण के इस प्रौढ़ ग्रन्थ से इतने उद्धरण कैसे दे रहे है, तब रामावतारजी गगाधर शास्त्रीजी की शिक्षण प्रणाली की विशिष्टता बतलाते थे। वे कहते थे कि गुरुजी के यहाँ छात्रो की इतनी मण्डली पढ़ने आती थी कि बैठने की जगह नही होती थी, बहुत से छात्र गली मे ही खडे रहते थे। शास्त्रीजी ने विषयो का भी क्रम बना रखा था— व्याकरण के अनन्तर साहित्य का पाठ चलता था और साहित्य के बाद वेदान्त का। उद्देश्य यह था कि छात्र केवल एक विषय का ज्ञाता न होकर समान तन्त्र का भी ज्ञाता बनकर बहुज्ञ बन सके, पाण्डित्य एकाङ्गी न होकर विविधाङ्गी बन जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति भी होती ही थी। साहित्य आरम्भ होने के पहले व्याकरण का पाठ चलता था। उसी पाठ के सुनने से व्याकरण के टीकाग्रन्थो मे भी छात्रो की अभिरुचि तथा प्रवृत्ति जागरित होती थी। प्रौढ़ मनोरमा के ये उद्धरण गुरुजी की इस शिक्षण-पद्धति के फल है, नही तो मुझे समग्र ग्रन्थ पढ़ने का अवसर ही कहाँ मिला ?

रसिकता की मूर्ति

श्री गगाधर शास्त्री रसिक व्यक्ति थे। सस्कृत मे पद्य रचना तो उनके बाये हाथ का खेल था, परन्तु हिन्दी मे भी चलते चलते वे पद्यो की रचना किया ही करते थे। उस दिन कालभैरव की चौमुहानी पर अद्भुत दृश्य था। सायकाल उत्सुक लोगो का जमघट जमा होकर हिन्दी कविता सुन रहा था। शास्त्रीजी प्रति सायकाल अपने एक मित्र के साथ टहलने के लिए उसी रास्ते से जाया करते थे। उस दिन भी उधर से निकले तो चने के सुशिक्षित लटको को अपनी सुरीली आवाज मे सुनाता हुआ एक चनावाला खडा होकर चना बेच रहा था। लटके उसके बडे ही टटके थे, बानी मे मिश्री घुली थी। गला बडा ही लोचदार था। फलतः शास्त्रीजी का रसिक मन उधर आकृष्ट हो गया। शास्त्रीजी उसी चौरस्ते पर खडे होकर उसके लटको के साथ अपना भी लटका सुनाने लगे। चनावाला पहला अद्धा सुनाता था। शास्त्रीजी दूसरा अद्धा पूरा कर देते थे। लोगो के लिए यह बडा ही सुहावना, रोचक तथा अचरजभरा दृश्य था। कहाँ वह सामान्य चनावाला और कहाँ यह विद्वान् शास्त्रीजी। परन्तु शास्त्रीजी के लिए यह नयी बात न थी। यह वाग्युद्ध पन्द्रह बीस मिनटो तक चलता रहा। चनावाला शास्त्रीजी के चरणो पर गिरकर कहने लगा- —"गुरुजी, हमसे आपका मुकाबला कैसा ? इन्ही मीठे लटको की बदौलत तो मेरी रोजी-रोटी चलती है। आप आशीर्वाद दे। मै अपने काम काज मे सफल होता रहूँ।' शास्त्रीजी हँसने लगे और उसके हाथ पर एक चवन्नी रखकर आशीर्वाद देकर आगे बढ गये। अपने सगी मित्र से मुसकुराकर कहने लगे—"यदि यह गगाधर सस्कृत का पण्डित नहीं होता, तो भी इस लटकेबाजी के सहारे ही चना बेचकर अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण कर लेता।" मित्र ने तुरन्त उत्तर दिया—"आपके लिए कुछ भी असम्भव नही है। आप माता शारदा के वरदपुत्र ठहरे। क्या सस्कृत और क्या हिन्दी, सर्वत्र आपकी अबाधित गति है !!!"

अध्ययन की कुशलता

सस्कृतकॉलेज से प्राप्त प्रमाण-पत्र की प्रतिलिपि आगे दी जाती है।

(१) उसके देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि गगाधर शास्त्री इसी कॉलेज के दस वर्षों तक छात्र रहे। यही पर नाना शास्त्रो मे प्रौढि प्राप्त कर १८७६ ई० मे आज से ठीक सौ वर्ष पूर्व विद्यालय की सर्वोत्तम परीक्षा उत्तीर्ण की थी और इसीलिए यह प्रमाण पत्र उन्हे दिया गया था। ये १६ वर्ष के वय मे १८६६ ई० मे विद्यालय मे प्रविष्ट हुए तथा दस वर्षों तक यहाँ अध्ययन किया। १८७६ ई० मे अपने २६वे वर्ष मे इन्हे साहित्याध्यापक के पद पर नियुक्त किया गया था। (२) इसके अतिरिक्त उस समय के अध्यक्ष तथा अध्यापको के नाम भी इस प्रमाण-पत्र मे दिये गये है। इस प्रशसा-पत्र के ऊपर हस्ताक्षर करनेवाले अध्यापको मे बालशास्त्री का नाम सबसे ऊपर है जिससे उनकी प्रसिद्धि तथा प्राथमिकता का परिचय मिलता है। शिवकुमार शर्मा नाम से पण्डित शिवकुमार शास्त्री का ही हस्ताक्षर है, क्योंकि विद्यालय मे १८७५ ई० मे नियुक्त होने से वे उस समय विद्यालय के अध्यापक थे। इस प्रमाण-पत्र के ऊपर हस्ताक्षर करने के कुछ ही महीनो बाद किसी कारणवश उन्हें इस विद्यालय की नौकरी छोड़नी पडी। कैलासचन्द्र शर्मा नाम से कैलासचन्द्र शिरोमणि का ही हस्ताक्षर है। उस समय जान नेसफील्ड साहब कॉलेज के अध्यक्ष (प्रिन्सिपल) थे। इन हस्ताक्षरो से विदित होता है कि उस समय एकादश (११) अध्यापक अध्यापन-कार्य में नियुक्त थे। उस समय

इसका नाम 'काशिराजकीय पाठशाला' था तथा अंग्रेजी मे 'बनारस संस्कृतकॉलेज' कहलाता था।

(३) तीसरी बात ध्यातव्य है कि परीक्षा पूर्व युग मे, जब आधुनिक शैली से परीक्षा का प्रचलन आरम्भ नहीं हुआ था, छात्रो की व्युत्पत्ति अनेक शास्त्रो मे होती थी, क्योकि अनेक शास्त्रो का शिक्षण उस समय उन्हे दिया जाता था और प्रत्येक शास्त्र मे उत्तीर्ण होना आवश्यक होता था। (४) चौथी बात ध्यान देने की यह है कि केवल २६ वर्ष के वय मे गगाधर शास्त्री ने व्याकरण, साहित्य, धर्मशास्त्र, न्याय, वेदान्त, शब्दखण्ड आदि शास्त्रो मे अलौकिक योग्यता सम्पादित कर ली थी तथा काव्यरचना मे लोकातीत योग्यता अर्जित की थी। यह प्रमाण पत्र श्री गगाधर शास्त्री की अलौकिक वैदुषी का स्पष्ट परिचायक है। इतनी कम उम्र मे इतने कठिन शास्त्रो मे पाण्डित्य प्राप्त करना तथा विद्वानो के द्वारा इसके लिए सुन्दर शब्दो मे प्रशंसित किया जाना शास्त्रीजी के लिए बडे ही गौरव की बात थी। पण्डित गगाधर शास्त्रीजी की विद्वत्ता का सूचक यह प्रमाण पत्र इस प्रकार है।

प्रमाण पत्र

गङ्गाधरशास्त्री मानवल्ल्युपनामक आन्ध्रः पण्डितवरनरसिंहशास्त्रिपुत्रो नगर एव रघुवंशप्रभृतीनि काव्यानि सिद्धान्तकौमुदी चाधीत्यैकोनसप्तत्यधिकाष्टादशशततमे ख्रीष्टवर्षे काशिकराजकीयपाठशालायां प्रविष्टो मनोरमाशेखरादिमहाभाष्यान्तान् व्याकरणग्रन्थान्, मनुस्मृति-मिताक्षरा-वीरमित्रोदयदायभागदत्तकमीमांसा धर्मशास्त्रे साहित्ये च कुवलयानन्दसाहित्यदर्पणकाव्यप्रकाशादीन्, न्यायप्रकरणग्रन्थान् मुक्तावल्यादीन्, व्युत्पत्तिवादशक्तिवादौ शब्दखण्डे, सांख्ये तत्त्वकौमुदी-सांख्यप्रवचनभाष्यादि, परिभाषापञ्चदश्यादीन् वेदान्तप्रकरणग्रन्थांश्चाधीत्याधीतशास्त्रेषु प्रतिवर्षं दत्तोत्तमपरीक्षो लब्धबहुमासिकविविधोत्तमपारितोषिकः साम्प्रतमधीतानाधीतग्रन्थाध्यापनाद्यशेषपाण्डित्यकार्यनिर्वाहक्षमः सम्पन्नो वर्णनीया चास्य काव्यादिनिबन्धरचनाप्रागल्भ्योद्रेकश्च व्याकरणधर्मशास्त्रशब्दखण्डेषु प्रशंसनीयतम इत्येतदर्थबोधकमिदं पत्रं मनीषिणे कुलीनाय मेधाविनेऽस्मै वितरन्ति।

बालशास्त्री	बापूदेव शास्त्री
पण्डित बस्तीराम शर्मा	वामनाचार्याः
वेङ्कटेश शर्मा	देवकृष्ण शर्मा
शीतलाप्रसाद शर्मा	शिवकुमार शर्मा
कालीप्रसाद शर्मा	कैलासचन्द्र शर्मा
राममिश्र शास्त्री	

John C Nesfield Principal
Benares College
The 15th January 1879

लार्ड कर्जन से शास्त्रीजी का चमत्कारी वार्तालाप

श्री गगाधर शास्त्री परपक्ष का खण्डन कर स्वमत के मण्डन व्यापार मे नितान्त दक्ष थे और इस विषय मे इनकी तर्कचातुरी विद्वानो के लिए भी चमत्कारिणी थी। इस तथ्य को सिद्ध करनेवाला प्रसङ्ग बडा ही रोचक तथा आवर्जक है। राजस्थान के शाहपुरा रियासत के राजा नाहरसिंहजी ने अपने राजपुरोहित को पण्डित गगाधर शास्त्रीजी के प्रौढ पाण्डित्य की

चर्चा सुनकर पढ़ने के लिए भेजा। उनकी हार्दिक अभिलाषा शास्त्रीजी से वेदो के अध्ययन की थी, परन्तु इसकी पूर्ति मे उनका आर्यसमाजी होना बाधक था। वे जानते थे कि शास्त्रीजी जैसा काशी का विद्वान् आर्यसमाजी को वेदो का शिक्षण देने के लिए कदापि उद्यत नही हो सकता। राजा साहब ने उनकी इच्छापूर्ति मे पूर्ण सहायता देने की बात कही। वे सामान्य राजा न होकर तत्कालीन वाइसराय लार्ड कर्जन के कृपापात्रो मे से थे। उन्होने राजपण्डित को अध्ययन के लिए काशी भेजा, परन्तु गगाधर शास्त्रीजी टस से मस नही हुए, आर्यसमाजी को वेदाध्ययन न कराने की अपनी प्रतिज्ञा पर हिमालय के समान अडिग बने रहे। पण्डित हतोत्साह होकर लौट गया और अपने आश्रयदाता नरेश से काशीयात्रा की निष्फलता की कथा कह सुनायी। नरेश ने लाटसाहब से राजकीय विद्यालय मे अपने पण्डित को न पढ़ाने की शिकायत की।

लार्ड कर्जन बडा ही तेजतर्रार वायसराय था। इस पाठशाला के नाम के साथ 'राजकीय' शब्द के प्रयोग से उसने समझ लिया कि यह पाठशाला ब्रिटिश शासन के आश्रित है और उसे अत्यधिक अचरज हुआ कि उसके अधीन किसी पाठशाला के अध्यापक ने किसी छात्र को (जो किसी माननीय, देशीराज के अधिपति द्वारा आग्रहपूर्वक भेजा गया हो) अध्यापन न कर अपने कर्तव्य के उल्लङ्घन करने का साहस किया है। फलतः उसने अपनी भावी काशीयात्रा के अवसर पर इस प्रसङ्ग का विश्लेषण एव निराकरण करने का आदेश समुचित अधिकारियो को दिया। तदनुसार उनके यात्राक्रम मे काशी के स्थानीय अधिकारियो को सूचना दी गई कि विद्यालय के अध्यापक पण्डित गगाधर शास्त्री से भेट करने का वायसराय का कार्यक्रम रखा जाय। कार्यक्रम नियत किया गया और प्रिसिपल डॉ० वेनिस द्वारा शास्त्रीजी को सूचना भी दिलाई गई। पहले तो पण्डितजी ने इसे अपने लिए कोई महत्त्व नही दिया और स्पष्ट शब्दो मे प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया —"विद्यार्थियो को विद्यादान देना ही मेरा ध्येय है। भारतवर्ष के सर्वोच्च शासनाधिकारी से भेट करने की मुझे आवश्यकता ही कौन सी है ?" डॉ० वेनिस साहब ने पण्डितजी को बहुत समझा-बुझाकर अनुकूल किया। तब शास्त्रीजी दो शर्तों पर वायसराय से भेट करने को राजी हुए। पहली शर्त थी कि वे अपनी स्वाभाविक वेशभूषा मे ही भेट करेगे तथा दूसरी शर्त यह थी कि काशिराज महाराज प्रभुनारायण सिह तथा कॉलेज के प्रथम अध्यापक महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदीजी के सान्निध्य मे ही वे वायसराय से साक्षात्कार करेगे। इसका भी समुचित प्रबन्ध कर दिया गया। कुशाग्रबुद्धि शास्त्रीजी को यह समझने मे देर न लगी कि यह सब वितण्डा उक्त शाहपुराधीश के पण्डितजी को न पढ़ाने का ही परिणाम है।

१९०३ ई० के किसी दिन अपराह्न का समय। साक्षात्कार का स्थान काशी नरेश की नदेसर कोठी जहाँ लार्ड कर्जन अपने दलबल के साथ ब्रिटिश शासन के परमोच्च पद पर विराजमान होकर अपनी राजकीय अभ्यर्थना का आनन्द उठा रहा था। वायसराय के सरक्षण के लिए उद्दण्ड गोरे 'सार्जेन्टो' का कडा पहरा पड़ रहा था। ऐसे समय पण्डित गगाधर शास्त्रीजी अपनी पण्डिताऊ वेशभूषा मे साक्षात्कार के लिए निर्णीत समय पर उपस्थित हुए। पण्डितजी का यह वेश अग्रेज सार्जेन्टो के लिए कौतूहल का विषय था। उन्होने पण्डितजी को प्रवेश करने से रोक दिया, तब शास्त्रीजी उलटे पॉव लौट ही पड़े। डॉ० वेनिस तो शास्त्रीजी के आने की प्रतीक्षा मे बरामदे मे घूम ही रहे थे। वे अनुनय-विनय कर इन्हे अपने साथ भीतर ले

गये। काशिराज की उपस्थिति मे वार्ता आरम्भ हुई। शास्त्रीजी सस्कृत मे उत्तर दे रहे थे और वेनिस साहब दुभाषिया का काम कर रहे थे।

लार्ड कर्जन उच्च आसन पर बैठा हुआ शास्त्रीजी से प्रश्न पूछ रहा था। उसने कहा कि शास्त्रीजी से पूछा जाय कि शाहपुरा के पण्डितजी को इस पाठशाला मे शिक्षा क्यो नही दी गई ? शास्त्रीजी भी तैयार थे माकूल जवाब के लिए। इन्होने तुरन्त उत्तर दिया- हम लोग वेदोक्त सनातनधर्मावलम्बी है और परमात्मा के सगुण अवतार को मानते है। तदनुसार हम शास्त्र और अवतारो का समर्थन और मण्डन करते है। इसके विपरीत आर्यसमाज वेदो का मनमानी अर्थ करता है और अवतारो को विशिष्ट मनुष्यमात्र ही मानता है। इस विषय को हम स्वय ही नही जानते, तब हम उक्त पण्डित को क्या पढ़ाते ?

हमारे शास्त्रो के अनुसार अधीति (गुरुमुख मे श्रवण), बोध (मनन द्वारा ज्ञान सम्पादन) तथा आचरण (स्वय उसके अनुसार व्यवहार) के अनन्तर विद्या का प्रचारण अर्थात् शिक्षण होता है। इसी नियम के अनुसार सस्कृत विद्या का शिक्षण किया जाता है। आर्यसमाजी पद्धति से वेद के अध्ययनशील गुरु से वेदो का अध्ययन करना परमावश्यक है, परन्तु मुझे तो आज तक ऐसा कोई भी गुरु ही नही प्राप्त हुआ जो मुझे आर्यसमाज की पद्धति से शास्त्र का अध्यापन करता। फलतः मै 'अधीति' नामक प्रथम साधन से ही वञ्चित हूँ। तब प्रचारण अर्थात् शिक्षण की बात ही नही उठती, ज्ञान होने पर ही विद्या का दान किया जाता है। मुझे तो इस शास्त्र का ज्ञान ही नही है, तब मै इसकी शिक्षा ही कैसे दे सकता हूँ ? इसलिए मेरे ऊपर यह आरोप सिद्ध नही होता।

लार्ड कर्जन इस उचित उत्तर को सुनकर चुप हो गया और पण्डितजी को अप्रतिभ करने के उद्देश्य से उसने प्रश्न के रूप मे एक दूसरा पासा फेका। वायसराय ने पूछा कि पण्डितजी से पूछा जाय कि वे सनातन धर्म के विरोधी अनार्य शासन से पारिश्रमिक क्यो ग्रहण करते है ? अग्रेजी शासन से अध्यापन-कार्य के लिए वेतन ग्रहण करना क्या सनातन धर्म से विरुद्ध नही है ?

इस प्रश्न का उत्तर भी शास्त्रीजी ने तुरन्त ही दे डाला। इनका उत्तर था—मेरे विद्यालय का नाम 'काशिराजकीय पाठशाला' है–'काशी मे राजकीय अर्थात् सरकारी पाठशाला' –यह इस नाम का अर्थ नही है, प्रत्युत काशिराजकीय अर्थात् 'काशिराज की पाठशाला' यही अर्थ है। क्या ब्रिटिश शासन इतना अनभिज्ञ है, नही जानता कि इस पाठशाला के लिए भारतीय हिन्दू अपितु ब्राह्मण राजा ही ने (महाराज प्रभुनारायण सिह की ओर सकेत करके) मिर्जापुर जिले मे स्थित अपने राज्य का एक विशिष्ट 'सतासी' परगना ही दान मे दे दिया और वह जमीन भी दे दी है जिस पर विद्यालय की इमारत खडी है। अग्रेजी शासन तो इसकी केवल व्यवस्था करता है। यह उसके अधिकार मे नही है। इसके स्वामी काशीनरेश है, न कि भारत सरकार। फलतः मै सनातनधर्मी महाराजा से वेतन लेता हूँ, किसी विधर्मी शासक से नही। डॉ० वेनिस ने भी शास्त्रीजी के कथन को समर्थित किया। उत्तर बडा ही सटीक था और शास्त्रीजी ने इसे इतनी पटुता से कहा कि लाड कर्जन हतप्रभ हो गया।

लार्ड कर्जन जल्दी हार माननेवाला व्यक्ति नही था। उसने तीसरा और आखिरी दॉव फिर फेका इस प्रश्न के रूप मे— पण्डितजी ने कौन-कौन-सी परीक्षाएँ उत्तीर्ण की है ? इस पर पण्डितजी ने तत्काल उत्तर दिया, "हम लार्ड महोदय के बडे ही अनुगृहीत होगे यदि वे हमारी परीक्षा लेने के लिए समस्त भूमण्डल मे से कोई भी परीक्षक नियत कर दे। मुझे तो

अपनी विद्या उपलब्धि की स्वय ही थाह नही लग रही है तब मै प्रश्न का क्या उत्तर दूँ ?" इसकी पुष्टि डॉ० वेनिस ने भी स्वय इन शब्दो मे की कि शास्त्रीजी सकल शास्त्रो के अगाध पण्डित है। सस्कृत का कोई भी विषय इनसे अछूता नही है। प्रश्न का समुचित उत्तर सुनते ही लार्ड कर्जन एकदम चुप हो गया। यह महत्त्वपूण वार्तालाप यही समाप्त हो गया। लार्ड कर्जन शास्त्रीजी के उत्तरो से प्रसन्न था। बडी प्रसन्नता के वातावरण मे यह ऐतिहासिक भेट समाप्त हो गई।[1]

शास्त्रीजी के इन उत्तरो से लार्ड कर्जन बडा प्रभावित हुआ। डॉ० वेनिस ने भी गगाधर शास्त्रीजी के उत्तर को उचित ठहराया और अपनी ओर से भी इन्हे निर्दोष बतलाया। शास्त्रीजी निर्दोष सिद्ध किये गये और ये प्रसन्नवदन सानन्द घर लौट आये। इष्टमित्रो को इस सुखद समाचार से बड़ी प्रसन्नता हुई। शास्त्रीजी की निर्भीकता तथा निर्दोषता का यह समाचार काशी की विद्वन्मण्डली मे सातिशय आश्चर्य तथा सतत चर्चा का विषय बना रहा।

अवसरज्ञ डॉ० वेनिस ने इसी उचित अवसर पर गगाधर शास्त्रीजी के अलौकिक पाण्डित्य तथा लोकातीत वैदुष्य की चर्चा लाटसाहब से की और उन्हे किसी उचित उपाधि से सम्मानित किये जाने की सस्तुति भी की। इसी सस्तुति का परिणाम था कि शास्त्रीजी को सी० आई० ई० की उपाधि मिली जो म० म० बापूदेव शास्त्री को छोडकर किसी सस्कृत के पण्डित को पहली बार प्रदान की गई थी। दिल्ली दरबार के अवसर पर रुग्ण होने के कारण शास्त्रीजी उपाधि लेने के लिए स्वय उपस्थित न हो सके। तब काशी मे ही जिलाधीश के द्वारा इन्हे यह उपाधि विशिष्ट समारोह मे दी गई।

शास्त्रीजी तथा डॉ० वेनिस

इसी प्रसग मे श्री गगाधर शास्त्रीजी के प्रति विद्यालय के अध्यक्षो (प्रिंसिपल्स) की आदरभावना तथा सत्कारनिष्ठा का परिचय देना अवसरप्राप्त है। शास्त्रीजी नाना शास्त्रो के विलक्षण विद्वान् थे। चाहे न्याय हो या योग, मीमासा हो या वेदान्त, व्याकरण हो या साहित्य, इन सबमे उनका वैदुष्य श्लाघनीय था और इसीलिए डॉ० थीबो को उनसे अनेक ग्रन्थो की रचना मे सहायता लेनी पडती थी। श्रीभाष्य का अनुवाद करने मे शास्त्रीजी ने डॉ० थीबो को पर्याप्त सहायता दी और अनेक विषम स्थलो पर उत्पन्न विप्रतिपत्तियो का निराकरण कर अनुवाद को सफल तथा विश्वसनीय बनाया। डॉ० वेनिस तो अपने को शास्त्रीजी का शिष्य उद्घोषित करने मे अपना गौरव मानते थे। वे 'गुरुजी' कहकर उनका सकेत करते थे तथा पण्डितो की भरी सभा मे उनका पैर छूकर प्रणाम करते थे।

ऐसे ही प्रसग का वर्णन मेरे ही ग्राम निवासी स्वर्गीय पण्डित हरनाथ द्विवेदी (टाउन हाईस्कूल, आरा के सस्कृताध्यापक) ने अपने गुरु प० रामावतार शर्मा के सस्मरण-वर्णन के अवसर पर किया है। द्विवेदीजी शर्माजी के छात्र थे और उन्ही के साथ सभा मे उपस्थित हुए थे। उन्हीके शब्दो मे यह पावन प्रसग यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

"अग्रेज होते हुए भी वेनिस साहब की गुरुभक्ति भारतीय सस्कृत छात्रो की-सी मैने

---

१ इस महत्त्वपूर्ण सस्मरण के ज्ञाता तथा इस घटना के दर्शक एव कॉलेज के अध्यापक पण्डित हरिनाथ शास्त्री (मनीष्यानन्दजी) थे जिनके अन्यतम शिष्य पण्डित देवकीनन्दन मिश्र से जमीदार होने के नाते श्री कुमुदचन्द्रजी (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पौत्र तथा भूतपूर्व एव वर्तमान महाराज के अवैतनिक अगरक्षक तथा प्रथम श्रेणी के सरदार) का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। मिश्रजी ने कुमुदचन्द्रजी से इस तथ्यपूर्ण घटना का वर्णन किया था। देखिए कुमुदचन्द्रजी का एतद्विषयक लेख 'विश्रामन्दिर पत्रिका' (रामनगर दुर्ग, १९७५ ई० का अक)।

अपनी आँखो देखी है। एक बार की घटना है। १६०५ ई० मे आस्ट्रेलिया के किसी सस्कृतानुरागी व्यक्ति ने बहुत-सा द्रव्य व्यय करके फोनोग्राफ (अनुस्वान-लेखनयन्त्र) के रेकार्ड के साथ कई अग्रेजो को भारत भेजा था। उन्होंने पहले-पहल काशी पहुँचकर वेनिस साहब के द्वारा मुशी माधोलाल की प्रख्यात कोठी मे काशी के प्रसिद्ध विद्वानो को आमन्त्रित किया। वहाँ कई बड़े-बड़े विद्वान् उपस्थित थे। महाराजजी (प० रामावतार शर्मा) भी वहाँ पहुँचे। महाराजजी और वेनिस साहब मे धाराप्रवाह सस्कृत मे कुछ शास्त्रीय विवाद छिड गया। बहुत देर के बाद म० म० गगाधर शास्त्रीजी पहुँचे। सब विद्वानो ने खड़े होकर शास्त्रीजी को प्रणाम किया, किन्तु वेनिस साहब और महाराजजी ने आगे बढ़कर पैर छूकर अभिवादन किया। एक अग्रेज का भारतीय विद्वान् को पैर छूकर प्रणाम करना, यह घटना मेरे लिए अपूर्व थी। भारतीय विद्वान् सस्कृत का उच्चारण कैसा करता है, यह जानने के लिए आस्ट्रेलियन अग्रेजो ने सभी पण्डितो के एक-एक श्लोक की ध्वनि रेकार्ड मे भरी। यहाँ से लौटकर महाराजजी ने पण्डित चन्द्रशेखर ओझा से कहा—"वेनिस साहब ने किसीसे कहा था कि रामावतार पाश्चात्त्य दर्शन नही जानते। आज मैने पाश्चात्त्यदर्शन की ही चर्चा छेडकर उन्हे दिखा दिया कि यह भी मै आपसे कम नही जानता।"

पूर्वोक्त उद्धरण सभा के प्रत्यक्षदर्शी विद्वान् का तथ्यपूर्ण विवरण है। इससे स्पष्ट है कि सस्कृत कॉलेज के प्रिंसिपल अग्रेज डॉ० वेनिस शास्त्रीजी के प्रति कितनी श्रद्धा तथा भक्ति रखते थे। भरी सभा मे अनेक पण्डितो के समक्ष शास्त्रीजी के चरण छूकर प्रणाम करने मे उन्हे तनिक भी सकोच नहीं हुआ। शास्त्रीजी का व्यक्तित्व ही इतना अलौकिक था कि उनके विद्यावैभव के समक्ष सब किसी को नतमस्तक होना ही पडता था।

प० रामावतारजी जब छपरा से काशी विद्याध्ययन के निमित्त आये, तब उन्होंने सस्कृत कॉलेज के प्रत्येक पण्डित की कक्षा मे नियमपूर्वक बैठकर तत्तत् ग्रन्थो का पाठ सुना, परन्तु उन्हे कोई भी पण्डित नही जँचा। शास्त्रीजी से पाठ सुनने पर ही उन्हे पूर्ण सन्तोष हुआ और उन्हीसे सब विद्या पढ़ने का उन्होने दृढ़ निश्चय कर लिया और सकल शास्त्र केवल उन्हीसे ही पढ़ा। इस प्रगाढ़ परिचय के आधार पर वे शास्त्रीजी के समान उद्भट पण्डित एव सकल शास्त्र निष्णात विद्वान् किसी को भी नही मानते थे। आपका कहना था—"मेरे गुरुजी के बराबर सस्कृत का विद्वान् ससार मे कोई है ही नही। आज यदि कोई राजसूय आदि यज्ञ कराना चाहे, तो गुरुजी के सिवा दूसरा कोई आचार्य होने का साहस नही कर सकता।" यह मन्तव्य यथार्थ है, क्योकि श्रौत यज्ञो की सम्पादन-कला के भी ये प्रकृष्ट प्रतिभाशाली मर्मज्ञ विद्वान् जो थे।[1]

श्रीगङ्गाधरशास्त्री कविरेकः सकलगुरुबुधेष्वभवत्।
कृतयो यस्याद्यापि प्रमोदयन्त्येव हृदयानि॥

●

---

१ यह सस्मरण बिहार सरकार द्वारा पटना से प्रकाशित मासिक पत्रिका के दो अको मे छपा था।



पं० दामोदर शास्त्री

११

पण्डित दामोदर शास्त्री

(आस्पद—भारद्वाज; उपाधि—महामहोपाध्याय)

स्थान—भगवती सकटा देवी का मन्दिर। समय प्रातःकाल आठ बजे। सकटा देवी के मन्दिर मे दर्शनार्थी भक्तजनो की भीड तो प्रायः नित्य ही रहती है, परन्तु आज देवी का विशिष्ट राजशृगार किया गया है। मन्दिर मे नाना प्रकार की देवता और देवियो की मूर्तियाँ सजाई गई है। भक्तजनो की अपार भीड है। पूछने पर पता चलता है कि आज एक विशिष्ट पूजा का समारोह उपस्थित है। पूजा करनेवाले सज्जन सात्त्विक वेष धारण कर भगवती सकटा की पूजा के लिए आते है। नाना विमल द्रव्यो से पूजा करके अन्त मे वे सुवर्ण निर्मित बिल्वपत्र से पूजा का समापन करते है। सोने का बिल्वपत्र ? हाँ, विशुद्ध चमकते हुए सुवर्ण का बिल्वपत्र। उसे चढ़ाकर वे अपनी भक्तिभावना के उद्रेक का सद्यः परिचय देते है। ये ही सज्जन है महामहोपाध्याय पण्डित दामोदर शास्त्री भारद्वाज। इन्होने मान्यता मानी थी कि प्रकाण्ड मैथिल विद्वान् बच्चा झा के साथ शास्त्रार्थ मे यदि विजयश्री इन्हे वरण करेगी, तो ये अपनी इष्टदेवी सकटा माता के ऊपर सोने का बिल्वपत्र चढ़ायेगे। आज इनकी मनोरथवल्ली पुष्पित हुई है। फलतः अपनी प्रतिश्रुत पूजा कर, माता के श्रीचरणो मे अपना मस्तक नवाकर अपनी भक्तिभावना प्रकट करके ये आनन्दविभोर हो रहे है।

शास्त्रार्थ के महारथी पण्डितो मे 'राजपुरुषः' के शाब्दबोध का विषय बडा ही महत्त्वपूर्ण, विचारोत्तेजक तथा वैदुष्यपरिचायक माना जाता है। इस शास्त्रार्थ मे साधारण पण्डितो की, नैयायिको तथा वैयाकरणो की, आरम्भ से ही अगति है। वे इस विशाल शास्त्रार्थदुर्ग के द्वार के भीतर प्रवेश के भी अधिकारी नही माने जाते। इसमे तो वादिपुगवो का ही साधिकार प्रवेश माना जाता है जो शास्त्रार्थ की कला से पूर्ण परिचय रखते है, स्थूल कोटियो से सूक्ष्म कोटियो मे तत्त्वो के आलोडन तथा मन्थन के वैदुष्य से सर्वथा मण्डित माने जाते है। शास्त्रार्थ जब विचार के सूक्ष्म स्तरो मे पहुँच जाता है, तब ऐसा भी अवसर उपस्थित होता है जब न्याय तथा व्याकरण के सिद्धान्त झिलमिलाने लगते है, लडखडाने लगते है और आपस मे टकराने लगते है। तब मध्यस्थ उस वाद को वही समाप्त कर देने का आग्रह कर देता है, क्योंकि वह जानता है कि यह प्रश्न ही ऐसा है जिसका उत्तर नही, समस्या ही ऐसी आती है जिसका समाधान नही। निम्न कोटियो के आगे बढ़ने का साहस करना स्वय पाण्डित्य के वैभव का द्योतक होता है। उदात्त कोटियो मे प्रवेश कर तर्कों का प्रस्तुतीकरण स्वय ही वैदुष्य का निकषग्रावा माना जाता है। वह विशिष्ट तार्किक शास्त्रार्थ शास्त्रार्थरसिको की ही क्रीड़ा-स्थली है। साधारण विद्वानों के लिए दुरूह, अगम्य तथा कल्पनातीत है। ऐसा ही है विज्ञ पण्डितो की दृष्टि मे यह प्रखर शास्त्रार्थ।

मिथिला के तार्किकशिरोमणि बच्चा झा और काशी के शास्त्रार्थ महारथी, वैयाकरण

केसरी, प० दामोदर शास्त्री भारद्वाज का एतद्विषयक शास्त्रार्थ ऐतिहासिक घटना थी जिसकी स्मृति आज भी पण्डितो के मानस को आन्दोलित करती है। जानकार पण्डितो का तो कहना है कि यह शास्त्रार्थ तो 'न भूतो न भविष्यति' की लोकोक्ति को चरितार्थ कर रहा है। मैथिल विद्वन्मण्डली के मुकुटमणि पण्डित बच्चा झा व्याकरण तथा न्याय के उच्चकोटि के जटिल शाब्दबोध के चिन्तन मे अपना प्रतिद्वन्द्वी नही रखते थे, ऐसी सार्वत्रिक ख्याति थी। वे जजाल से अलग हटकर शास्त्र के चिन्तन मे ही आसक्त रहते थे। अवधानयोग्य विषयो के भीतर नये-नये विचारस्तरो का आविष्कार करने मे उनकी शेमुषी नितान्त प्रखर थी। प० शिवकुमार शास्त्री मैथिल पण्डितमात्र के गुरुस्थानीय माने जाते थे। अतएव वे एक मध्यस्थ बने और दूसरे मध्यस्थ बने उस युग के प्रकाण्ड नैयायिक कैलासचन्द्र शिरोमणिजी। ये दोनो विद्वान् मध्यस्थ के उच्चासन पर आसीन किये गये। बच्चा झा के प्रश्नो का उत्तर देने का भार पूर्णतया पड़ा वैयाकरण-केसरी पण्डित दामोदर शास्त्री पर, जो काशीस्थ पण्डितो मे आदरणीय 'वादिवृषभ' की उपाधि से मण्डित किये जाते थे। यह ऐतिहासिक शास्त्रार्थ कई दिनो तक चलता रहा, इसे देखने-सुनने के लिए काशी के पण्डितो का जमघट लग गया। उत्तर प्रत्युत्तर मे कोई भी शास्त्रार्थी दूसरे से घटकर नही था। जब मध्यस्थो ने देखा कि शास्त्रार्थ की कोटि आगे नही बढ़ रही है तब उन लोगो ने वादी और प्रतिवादी, दोनो के स्वतन्त्र चिन्तन, प्रगाढ़ मनन तथा नूतन तर्कों के विशद आविष्करण की शतशः प्रशसा की और शास्त्रार्थ वही रोक दिया गया। शिरोमणिजी की दृष्टि मे वादी का पक्ष न्यायशास्त्र की दृष्टि से समुचित था, तो अन्य मध्यस्थ शिवकुमार पण्डितजी की सम्मति मे प्रतिवादी का पक्ष व्याकरण के मन्तव्यानुसार औचित्य-सम्पन्न था। फलतः दोनो पण्डितो की शास्त्रार्थ-कला की बहुशः सस्तुति की गई थी और दोनो को अपने सिद्धान्तो के उत्कृष्ट व्यवस्थापन के कारण विजयी माना गया था।

प० दामोदर शास्त्रीजी के लिए यह महती उपलब्धि थी उनके जीवन की। ऐसा प्रचण्ड शास्त्रार्थ तो उन्होने शायद ही अपने जीवन मे किया हो। यह काशी के लिए गौरव की बात थी कि यहाँ के एक मान्य पण्डित ने दिग्विजयी बच्चा झा के प्रश्नो का विधिवत् समाधान किया। दामोदर शास्त्रीजी ने इस विजय को अपनी इष्टदेवी भगवती सकटाजी का विशेष अनुग्रह माना और इसीलिए अपनी हार्दिक भावना प्रकट करने के हेतु उन्होने भगवती पर सुवर्ण-निर्मित बेलपत्र चढ़ाया था। विद्या-नगरी काशी का यह शास्त्रार्थ पण्डितो के अन्तःकरण को प्रफुल्लित करनेवाली एक अनहोनी कहानी है जो 'न भूतो न भविष्यति' की उक्ति को चरितार्थ करती है।

शास्त्रार्थ की ऐतिहासिकता

म० म० प० दामोदर शास्त्री तथा प० बच्चा झा के बीच के इस शास्त्रार्थ का वर्णन डॉ० गगानाथ झा ने अपनी आत्मकथा मे बड़े ही रोचक ढग से दिया है जो अत्यन्त प्रामाणिक है। झाजी उन दिनो क्वीन्स कॉलेज मे बी० ए० की कक्षा मे अध्ययन कर रहे थे और इस शास्त्रार्थ के प्रत्यक्षदर्शी थे।

उन्ही दिनो दरभगा के राजा रमेश्वर सिह, जो महाराजाधिराज लक्ष्मीश्वर सिह के छोटे भाई थे, अपनी पत्नी की चिकित्सा कराने के लिए काशी आये थे और दुर्गाकुण्ड के पास उस स्थान पर ठहरे हुए थे जिसे आजकल 'गुरुधाम कालोनी' कहा जाता है। यह शास्त्रार्थ इन्ही राजा के सान्निध्य मे, गुरुधाम मे ही हुआ था। प० बच्चा झा राजा रमेश्वर सिह के प्रधान पण्डित थे, अतः इसी स्थान पर इनका दामोदर शास्त्रीजी से वाद-विवाद हुआ। प०

बच्चा झा की अवस्था उस समय केवल २६ वर्ष की थी परन्तु उसी काल में उन्होंने न्याय शास्त्र में प्रकाण्ड पाण्डित्य प्राप्त कर लिया था। वे स्वभाव से कुछ उद्दण्ड और अभिमानी पुरुष थे। अतः वे प्रायः कहा करते थे कि काशी के वैयाकरणों को शब्दखण्ड का कुछ भी ज्ञान नही है। उनका यह आक्षेप उस समय के शास्त्रार्थ शूर महाराष्ट्र पण्डित म० म० दामोदर शास्त्री को लक्ष्य करके था। बात ऐसी थी कि सन् १८८६ ई० में किसी पुष्करिणी के उद्घाटन के उत्सव में दामोदर शास्त्रीजी मिथिला के राघोपुर ग्राम मे निमन्त्रित होकर गये हुए थे। वहाँ परम्परानुसार इनका शास्त्रार्थ बच्चा झा के विद्यागुरु पडित ऋद्धि झा से हुआ। उस शास्त्रार्थ मे प० ऋद्धि झा परास्त हो गये थे। अतः वावदूक बच्चा झा अपने गुरु के पराजय का प्रतिशोध लेने के लिए ही सन् १८८६ ई० मे काशी आये और उन्होने यहाँ समस्त पण्डितों को शास्त्रार्थ करने के लिए ललकारा। काशी मे उस समय वैयाकरण केसरी म० म० दामोदर शास्त्री की तूती बोलती थी। भला ये बच्चा झा की यह उद्दण्ड चुनौती कैसे न स्वीकारते? अतः इन दोनों उद्भट विद्वानो ने शास्त्रार्थ करने का निश्चय किया।

यह शास्त्रार्थ राजा रमेश्वर सिंह के सान्निध्य मे हुआ था जिसमें हथुआ के राजा भी उपस्थित थे। इस ऐतिहासिक शास्त्रार्थ को देखने के लिए सात सौ (७००) केवल मैथिल विद्वान् उपस्थित थे। स्थानीय पण्डितो की तो सख्या अनगिनत थी। इस शास्त्रार्थ मे मध्यस्थ थे प्रखर तर्कनिष्णात नैयायिक म० म० कैलासचन्द्र शिरोमणि तथा प्रकाण्ड वैयाकरण म० म० शिवकुमार शास्त्री। यह ऐतिहासिक शास्त्रार्थ लगातार तीन दिनो तक होता रहा। यह सन्ध्याकाल से प्रारम्भ होता था और मध्यरात्रि तक चलता रहता था। शास्त्रार्थ के तीसरे दिन अन्त मे शास्त्रार्थ की अन्तिम कोटि मे दामोदर शास्त्री ने तर्क करना बन्द कर दिया और केवल श्रोता के रूप में बच्चा झाजी के तर्कों को सुनते रहे।

कैलासचन्द्र शिरोमणि झाजी के गम्भीर तर्कों को बड़े ही ध्यान से सुन रहे थे जिससे ज्ञात होता था कि वे उनके तर्कों को ठीक तथा उचित मान रहे हैं। परन्तु अन्त मे किसी पक्ष की विजय या पराजय नही हुई और मध्यस्थो ने दोनो विद्वानों की गम्भीर विद्वत्ता की भूरि भूरि प्रशसा की। तीसरे दिन आधी रात होने पर यह महान् शास्त्रार्थ दोनों पक्षों को समान मानकर अपनी परिणति पर पहुँचा और बन्द कर दिया गया। आजकल के शब्दो में यह शास्त्रार्थ 'ड्रान मैच' के रूप मे परिणत हो गया जिसमें न किसी की हार होती है, न जीत। डॉ० गंगानाथ झा ने इस शास्त्रार्थ के विवरणोपरान्त इसके परिणाम के विषय में अपने विचारों को यथातथ्य रूप से प्रकट किया है।[1]

---

1 The discussion of the details was admitted But after a few steps it became so intricate that not only Pt Damodar Shastri but all others also failed to follow it, with the exception, of course, of the two umpires, who continued to listen to Pt Bachcha Jha and try to understand his point of view Bhattacharya (Pt Kailas Chandra Shiromani) appeared to us to be specially interested and appreciative of Bachcha Jha's point of view. Pt Damodar Shastri sat a silent listener This went on till midnight when by common consent the gathering was dissolved and the hours of the discussion remained uncertain The partisan of each disputant claimed the victory for his own champion, but to my mind the umpires appeared to be inclined to assign superiority to Bachcha Jha. I have given an ungarbled account of this, because attempts have been made by the partisans of both sides to misrepresent the facts

—Auto biographical Notes of M M Dr Sir Ganganath Jha (Published by Ganganath Jha, Kendriya Sanskrit Vidyapith, Allahabad Journal Vol XXX Parts 1-4, 1976, Page 57).

पूर्वपुरुष

लगभग तीन चार सौ वर्ष पूर्व ही भारद्वाजवशी महाराष्ट्र ब्राह्मणो का कुल काशी मे प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था। उसकी प्रतिष्ठा की परिचिति इसी घटना से की जा सकती है कि काशीस्थ महाराष्ट्रवशी ब्राह्मणों मे अग्रपूजा के अधिकारी विश्रुत 'भट्टभट्ट' कुल के साथ भारद्वाजों का वैवाहिक सम्बन्ध सम्पन्न हो चुका था। भट्टभट्ट वश के विख्यात वशज धर्मशास्त्र-प्रवीण 'मयूखकार' **नीलकण्ठ भट्ट** ने अपनी पुत्री का विवाह भरद्वाज कुल के महादेवभट्ट के साथ उस युग (१७ वी शताब्दी) मे किया था। नीलकण्ठ भट्ट धर्मशास्त्र के सर्वतोमान्य मनीषी माने जाते थे। उन्होने **मयूख** नामधारी १२ ग्रन्थो का निर्माण कर धर्मशास्त्र के इतिहास मे अपनी प्रखर प्रतिभा तथा अपने अनुपम वैदुष्य का परिचय दिया था जिनमे **व्यवहारमयूख** तथा **नीतिमयूख** अखिल भारतवर्ष मे मान्य ग्रन्थरत्न है। **महादेव भट्ट** के दो पुत्र हुए -(१) **दिनकर भट्ट** जिन्होने **न्यायमुक्तावली** की प्रमेयबहुला प्रौढ़ व्याख्या लिखकर (जो इन्हीके नाम पर **दिनकरी** की आख्या से प्रसिद्ध है) न्यायशास्त्र के इतिहास मे अपना नाम उजागर किया था। (२) द्वितीय पुत्र **दिवाकर भट्ट** की वशपरम्परा आज भी चल रही है जिसका क्रम इस प्रकार है दिवाकर -> वैद्यनाथ. ..-> सीताराम-> हरिराम-> बालकृष्ण भट्ट। इन्ही बालकृष्ण भट्ट के चार पुत्रो मे से दामोदर शास्त्री तृतीय पुत्र थे। भारद्वाज कुल भौतिक दृष्टि से भी सम्पन्न था, क्योंकि सीताराम भट्ट को किसी राजदरबार से 'जासी' नामक गॉव ग्वालियर रियासत मे मिला था जो आज भी इस वश के पास है। यह गॉव सीताराम भट्ट को १८२१ शक स० (— १७४३ ई०) मे उपहार मे मिला था।

जन्म तथा शिक्षा

दामोदर शास्त्री भारद्वाज का जन्म १६०४ विक्रमी (— १८४७ ई०) मे कार्तिक शुक्ल नवमी को हुआ था। पहले तो इनकी शिक्षा घर पर ही होती थी, परन्तु अनन्तर इनके अग्रज रामशास्त्री अपने भाइयो को विशेष विद्याध्ययन के लिए काशी ले आये और उन्होने दामोदरजी को १८ साल के वय मे बालशास्त्री की विख्यात पाठशाला मे प्रविष्ट करा दिया। यही पर इनकी प्रतिभा चमक उठी। बालशास्त्री जैसे प्रतिभाशाली गुरु से अध्ययन का परिणाम सुयोग्य शिष्य के ऊपर सद्यः प्रतिफलित होने लगा। इन्होने अनेक शास्त्रो का अध्यापन अपने शिष्य को कराया जिससे दामोदर शास्त्री नाना शास्त्रो मे निष्णात तथा वावदूक बन गये। दिन तो गरीबी मे ही बीत रहे थे, परन्तु इनके अग्रज रामशास्त्री ने किसी प्रकार से योगक्षेम की व्यवस्था करके इन्हे अध्ययन मे आर्थिक कठिनाई का अनुभव नही होने दिया। शास्त्रीजी चतुर तथा परिश्रमी इतने अधिक थे कि पूर्वाह्न मे तो बालशास्त्री से पाठ पढ़ते थे और अपराह्न मे अपने घर पर मैथिल छात्रो को विशेषकर पढ़ाते थे। फलतः अध्ययन काल मे ही इनकी विद्या चमक उठी और अध्यापन—कला मे इनकी कीर्ति प्रसृत होने लगी।

इधर आर्थिक सघर्ष तथा पारिवारिक सकट बढ़ता ही जा रहा था। पूज्य पिताजी, जो जासी गाँव में रहते थे, वृद्ध हो गये थे। उनकी रुग्णावस्था का समाचार जानकर रामशास्त्री अपने भाइयों के साथ उनका दर्शन तथा सेवा करने जासी गॉव चले गये। रास्ते मे ही ग्वालियर पड़ता था। यही पर महाराजा जयाजिराव के दरबार मे प० गोपालाचार्यजी से दामोदर शास्त्री का जमकर शास्त्रार्थ हुआ जिसमे विजयश्री ने दामोदरजी का ही वरण किया। इस प्रकार ये पण्डितो को अपने वैदुष्य के बल पर पराजित कर विजयी हुए। महाराजा ने

इनका प्रचुर सत्कार किया। इनको शिविका पर चढ़ाकर बहुमूल्य दुशाला तथा पाँच सौ रुपयो से सम्मानित कर इन्हे घर पर पहुँचाया। घर पर पहुँचने के बाद इनके पिताजी पुत्र के राजकीय सम्मान से बडे ही प्रसन्न हुए और कुछ ही दिनो मे ये काशी आये और यही उनका कैलासवास हुआ (१८७७ ईस्वी मे)।

अध्यापन

दामोदर शास्त्री की उन्नति का अब उत्कर्ष-काल आ पहुँचा। सन् १८७६ ई० मे गवर्नमेण्ट सस्कृत कॉलेज, बनारस के अध्यक्ष प्रिन्सिपल नेसफील्ड साहब ने इन्हे व्याकरण शास्त्र के अध्यापक-पद पर नियुक्त किया तब से ये जीवनपर्यन्त वही अध्यापन करते रहे और अपनी शिक्षण निपुणता के कारण इन्होने भारतभर मे विख्याति प्राप्त की। फलतः सन् १८९९ ई० मे ये 'महामहोपाध्याय' की विशिष्ट पदवी मे मण्डित किये गये। यह भूलना न चाहिए कि १९वी शती के उत्तरार्ध मे अग्रेज शासको द्वारा पण्डितो की यह महनीय उपाधि विद्वत्ता के उत्कर्ष, प्रतिभा की अलौकिकता तथा अध्यापन की चातुरी के कारण प्रदान की जानेवाली सबसे श्रेष्ठ उपाधि थी। इसकी प्राप्ति पाण्डित्य की चरम उपलब्धि मानी जाती थी। १९०६ ई० मे शृगेरीमठ के शकराचार्य ने इनके पाण्डित्य पर प्रसन्न होकर इन्हे सुवर्णपदक प्रदान किया तथा इनकी विद्वत्ता की द्योतिका **अशेष-वाङ्मय-पारग** और **वैयाकरण-केसरी** उपाधियो से भी मण्डित किया। इन्होने सभा मे शास्त्रार्थ की कला मे अद्भुत प्रवीणता दिखलाकर विद्वानो को चमत्कृत कर दिया था। राघोपुर मे प० ऋद्धि झा तथा काशी मे ही प्रसिद्ध मैथिल विद्वान् बच्चा झा के साथ शास्त्रार्थ किया जिसकी एक झलक आरम्भ मे ही ऊपर दी गई है। १९०९ ई० मे इनका कैलासवास ६२ वर्ष की आयु मे यही काशी मे सम्पन्न हुआ। १९०८ ई० मे इन्होने अध्यापन से विश्राम लिया था।

शास्त्रार्थ में निपुणता

श्री दामोदर शास्त्रीजी की सर्वमान्य विशिष्टता यह थी कि ये शास्त्रार्थ की कला के अनुपम कलावन्त थे। गहन से गहन विषय के भीतर प्रवेश करना तथा वादी की युक्तियो का सप्रमाण खण्डन करना इनके बाये हाथ का खेल था। अनेक शास्त्रो के पण्डित होने पर भी इनका सार्वभौम प्रभुत्व पाणिनीय व्याकरण पर ही था। महाभाष्य का अनुशीलन इनका अलौकिक था। महाभाष्य इनके लिए सर्वतः प्रामाण्य-सम्पन्न ग्रन्थरत्न था जिसका प्रतिदिन अनुशीलन इनके दैनिक जीवन का मुख्य अग था। महाभाष्य इन्हे आदि से अन्त तक कण्ठस्थ था तथा इनकी जिह्वा पर नाचता था। इसका प्रतिदिन पारायण इस निष्ठा तथा आदर के साथ ये करते थे जैसे कोई साधक श्रीमद्भागवत का तथा उपनिषदो का पारायण करता है। इसीका परिणत फल था कि शायद ही कोई पण्डित भाष्य-विरुद्ध सिद्धान्त का प्रतिपादन कर इनके हाथ से निकल जाय। ये सदा जागरूक रहते थे और शास्त्रार्थ के बीच मे जैसे ही कोई प्रतिपक्षी भाष्य का तनिक भी विरोध करता, वैसे ही ये उसे अपनी युक्तियो और तर्कों से दबोच देते थे। महाभाष्य का इतना पुङ्खानुपुङ्ख अध्येता तथा मननकर्ता उस समय के वैयाकरणो मे शायद ही कोई दूसरा हो। शास्त्रार्थ-कला के पारखी तथा परमप्रवीण होने के ही कारण ये 'वैयाकरण-केसरी' तथा 'वादिपुङ्गव' की उपाधियो से मण्डित किये गये थे।

स्वभाव की ऋजुता

इनका स्वभाव बडा कोमल तथा मृदुल था। अपने छात्रो पर इनकी करुणाधारा

अनवरत बरसती रहती थी। पढ़ाने की शैली बडी ही रोचक तथा आकर्षक थी। व्याकरण सामान्यतः रूक्ष विषय माना जाता है, परन्तु इनके मुख से व्याख्यात व्याकरण अपनी रूक्षता खो बैठता था। उसमे अपूर्व रोचकता तथा आवर्जकता विराजने लगती थी। ये साक्षात् ऋजुता की मूर्ति थे, व्यवहार मे नितान्त सीधे-सादे थे।

इस प्रसग मे उन्हीके अन्यतम शिष्य **पण्डित अम्बिकाप्रसाद उपाध्याय व्याकरणाचार्य** (प्राध्यापक सस्कृतमहाविद्यालय, हिन्दू विश्वविद्यालय) द्वारा कही गई एक घटना का उल्लेख यहाँ करना अनुचित न होगा। सस्कृतकॉलेज मे परीक्षाएँ चल रही थी। शास्त्रीजी निरीक्षण के निमित्त उसमे जाते थे। एक दिन परीक्षा की समाप्ति पर उन्होने उत्तरपुस्तको का एक बण्डल अम्बिकाप्रसादजी को दिया और कहा कि इसे मेरे घर पर पहुँचा देना। रात हो जाने से उस दिन उत्तरपुस्तको का बण्डल उनके घर नही पहुँचा, परन्तु इससे शास्त्रीजी को कोई उद्विग्नता नही हुई। सोचा छात्र दे ही जायगा, परन्तु छात्र दो दिनो बाद जब उस बण्डल को देने गया, तब उसे शास्त्रीजी से ही मालूम पडा कि मध्यमा परीक्षा के किसी विशेष खण्ड की वे उत्तरपुस्तिकाएँ थी, जिसमे वह छात्र भी सम्मिलित था। उस युग की विशेषता तो देखिए कि न तो छात्र के मन मे उस बण्डल के भीतर की वस्तुओ को जानने की कोई इच्छा हुई और न गुरु को ही उसके आवरण पर किसी प्रकार का सन्देह हुआ। यह शास्त्रीजी का आर्जव ही था कि परीक्षा की उत्तरपुस्तके परीक्ष्य छात्र के हाथो मे देना उन्हे किसी प्रकार नही अखरा।

भक्ति की भावना

दामोदर शास्त्रीजी भगवती सकटाजी के बडे ही भक्त थे। गगास्नान कर मन्दिर मे सकटाजी के सामने सप्तशती का पाठ करना उनकी दैनिक दिनचर्या का माङ्गलिक अग था। सकटाजी की आरती भी वह अपने हाथो करते थे। उनके देहावसान के बाद यह अधिकार उनके पुत्रो को प्राप्त हुआ और वे लोग यथाक्रम सकटाजी की सेवा-आराधना करते थे तथा भगवती की नित्य आरती उतारने का महनीय कार्य वे ही लोग सम्पादित करते थे।

दामोदर शास्त्रीजी की शास्त्रार्थ मे निपुणता की कहानी पण्डित-समाज मे खूब प्रसिद्ध रही। १८६५ ई० मे काशी के रईस बिसूजी के माधोजी के मन्दिर मे इनका शास्त्रार्थ पण्डितप्रवर शिवकुमारजी के साथ हुआ था जिसमे इन्होने महाभाष्य के चार पत्रो को प्रमाण देने के लिये कण्ठस्थ कह सुनाया था। दिन का शास्त्रार्थ रात मे भी चलता गया। समाप्त होने का नाम ही नहीं लेता था। तब यजमान बिसूजी के आग्रह पर आठ बजे रात को समाप्त हुआ था। ये शास्त्र मे अटूट श्रद्धासम्पन्न व्यक्ति थे, तभी तो रुपयो का लोभ दिलाने पर भी ये कथमपि स्वामीनारायण पन्थ को वैदिक मानने के लिए सहमत नही हुए। सकटादेवी पर इनकी अटूट निष्ठा थी। इन्होने लगातार चालीस वर्षों तक गगाजी का स्नान एव सकटाजी का प्रातःकालीन पूजन प्रेम से सम्पन्न किया। प० परमेश्वर मिश्र ने अपने गुरु म० म० दामोदर शास्त्रीजी का जीवनचरित प्रकाशित किया (१९२१ ई०) जो इनके वश तथा जीवनवृत्त का पूरा परिचायक है।

इनके तीनो भाई शास्त्रो के विद्वान् थे

(१) रामशास्त्री भारद्वाज इनके जेठे भाई थे। ये पूर्वजन्म की बाते बताते थे। इसी कारण ये अपने पिता को भैया तथा माता को बहिनी अर्थात् भौजाई कहते थे। ये

बालशास्त्री के विद्यार्थी थे। गोपालमन्दिर मे छात्रो का अध्यापन करते थे। ये पारिवारिक कार्यों मे बड़े दक्ष थे।

(२) लक्ष्मणशास्त्री भारद्वाज ज्योतिष तथा धर्मशास्त्र के महान् पण्डित थे। ये भी दामोदर शास्त्री के अग्रज थे।

(३) गोविन्दशास्त्री भारद्वाज बालशास्त्री के शिष्य व्याकरण के बडे प्रौढ़ विद्वान् थे। ये कलकत्ता के सस्कृत कॉलेज मे पाणिनीय व्याकरण का अध्यापन करते थे। इन्हे महामहोपाध्याय की उपाधि सरकार से प्राप्त थी। ये दामोदर शास्त्री के अनुज थे। इन्होने वीरमित्रोदय के दायभाग का सम्पादन किया (१७३६ वि०, १८८२ ई०, काशी से प्रकाशित)।

परिवार

सन्तान के विषय मे वे बडे भाग्यवान् थे। उनके तीन पुत्र थे और तीनो ही सस्कृत के विद्वान् थे। ज्येष्ठ पुत्र पण्डित गगाधर शास्त्री भारद्वाज सस्कृतकॉलेज के अनेक वर्षों (१६२२ ई०–१६४० ई०) तक प्राध्यापक रहे। वे पढ़ाने लिखाने मे दक्ष थे। वे अल्पायु हो गये। इनके तृतीय पुत्र जगन्नाथ शास्त्री भारद्वाज अच्छे चलते पुर्जे वकील थे, परन्तु वे भी अकाल मे ही कालकवलित हो गये। मध्यम पुत्र पण्डित विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत सस्कृतमहाविद्यालय म प्राध्यापक थे और ये अन्य भाइयो की अपेक्षा दीर्घजीवी है। 'विक्रमाङ्कदेवचरित' की सस्कृत व्याख्या और हिन्दी अनुवाद इनके बहुत ही उपयोगी ग्रन्थ है।

शिष्यो के विषय म शास्त्रीजी बडे भाग्यशाली थे। इनके द्वारा शिक्षित शिष्यो की सख्या पर्याप्तरूपेण बडी है। ये सब शिष्य व्याकरणशास्त्र के पारगामी पण्डित थे और इनकी शिष्य परम्परा आज भी चल रही है।

शिष्यमण्डली

(१) श्री रामभवन उपाध्याय

(आस्पद -उपाध्याय; उपाधि—वैयाकरण-मूर्धन्य)

श्री दामोदर शास्त्री की विशाल शिष्यमण्डली मे अग्रगण्य स्थान के अधिकारी पण्डित रामभवन उपाध्याय व्याकरणशास्त्र के अद्वितीय मर्मज्ञ विद्वान् थे। उत्तरप्रदेश के पूर्वी मण्डल मे बलिया जनपद के 'सुखपूरा' नामक गॉव मे इनका जन्म एक मध्यवर्गी सरयूपारीण ब्राह्मण परिवार मे आश्विन शुक्ल षष्ठी विक्रम सवत् १६२२ (= १८६५ ई०) में हुआ। उस गाँव मे इनके जन्म से पहले इनके अनेक भाइयो की मृत्यु हो चुकी थी। अतः पिता तथा पितामह ने इनको नाना के घर मे दे दिया। वही ये पले तथा बडे हुए। अपने विद्वान् पितामह से इन्होने सारस्वत-चन्द्रिका, अमरकोश आदि प्रारम्भिक सस्कृत-ग्रन्थो का अध्ययन किया। तदनन्तर वि० स० १६३६ (१८८२ ई०) मे सत्रह साल की उम्र में इन्होने सिद्धान्त-कौमुदी का अध्ययन आरम्भ किया और तीन सालो के बाद १६४२ वि० स० (= १८८५ ई०) मे व्याकरण की उच्च शिक्षा की प्राप्ति के निमित्त ये काशी चले आये। सस्कृत कॉलेज के तत्कालीन अध्यापक **पण्डित शीतलाप्रसाद त्रिपाठी** तथा **पण्डित बेचन शर्मा त्रिपाठी** से व्याकरण, साहित्य, न्याय आदि का अध्ययन किया। व्याकरण के 'शब्दखण्ड' का गम्भीर अनुशीलन

इन्होने दामोदर शास्त्रीजी के चरणो मे बैठकर किया। १९४५ वि० स० (१८८८ ई०) मे एक ही वर्ष मे सम्पन्न होनेवाली आचार्य परीक्षा व्याकरणशास्त्र मे उत्तीर्ण की। उस समय इनका वय केवल २३ वर्ष का था।

तदनन्तर पण्डित रामभवनजी बलिया की यमुना पाठशाला मे कुछ दिनो तक अध्यापक रहे। पीछे काशी मे रणवीर सस्कृतपाठशाला मे भी अध्यापन का कार्य किया। गुरुवर दामोदर शास्त्री के निधन के अनन्तर उनके रिक्त स्थान पर इनकी नियुक्ति सस्कृतकॉलेज मे १९०८ ई० मे हुई। तब से १९३३ ई० तक पचीस वर्षों तक इन्होने कॉलेज मे बडी निष्ठा एव अध्यवसाय के साथ अध्यापन का सम्पादन किया। अनन्तर कॉलेज से अवकाश होने पर सेवानिर्मुक्त होकर पण्डितजी अपने गॉव मे रहते थे और यथासाध्य शिष्यो को पढ़ाते थे। ये भगवती अपराजिता के दृढ़ निष्ठावान् अनुरागी उपासक थे। इनकी यह दैनिकचर्या थी कि सन्ध्याकाल मे भगवती अन्नपूर्णा के दर्शनार्थ जाते थे और बाजार से बढ़िया इत्र तथा बढ़िया माला खरीदकर बड़े प्रेम से अन्नपूर्णाजी को चढ़ाते थे। भगवती के चरणो मे इनका यह अनुराग अविच्छिन्न गति से चलता रहा जब तक ये काशी मे विराजमान थे। इनके सुयोग्य पुत्र पण्डित त्रिभुवनप्रसाद उपाध्याय एम० ए०, व्याकरणाचार्य उत्तरप्रदेशीय सस्कृतपाठशालाओं के अनेक वर्षों तक निरीक्षक रहे। पण्डितजी के अनेक शिष्यो मे से दो शिष्यो ने बड़ी कीर्ति अपने त्याग तथा विद्यादान से अर्जित की जिनमे से एक है पण्डित **कालीप्रसाद मिश्र** (अध्यक्ष, सस्कृतमहाविद्यालय, हिन्दू विश्वविद्यालय) तथा दूसरे है **स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज** जो शन्तनुविहारी द्विवेदी नाम से इनके बडे भक्त शिष्य थे और जिनके ऊपर पडितजी की उपासना तथा आराधना-कार्य का विशेष प्रभाव लक्षित होता है। पडित कालीप्रसाद मिश्रजी ने 'पाणिनि शिक्षा' की एक पाण्डित्यपूर्ण 'शिक्षाप्रकाशिका' व्याख्या लिखी है जो स० १९९० वि० (= १९३३ ई०) मे प्रकाशित हुई थी। इसकी प्रशसा गुरुवर रामभवनजी ने इस पद्य मे की है—

विद्वत्कृतसाहाय्यं वाञ्छन्ती खिद्यमानेयम्। सम्प्रति विद्व्याख्याता शिक्षा जातोपकाराय॥

(२) पं० चन्द्रधर शर्मा—शर्माजी न्याय, व्याकरण, साहित्य आदि शास्त्रो के बडे ही गम्भीर विद्वान् माने जाते थे। काशी मे दामोदर शास्त्री मे अध्ययन करने के पश्चात् ये अयोध्या मे 'राजगोपाल-पाठशाला' मे अध्यापक का कार्य करते थे। एक बार मालवीयजी महाराज रामनवमी के अवसर पर अयोध्या गये थे। वहॉ उन्होने पडितजी की अध्यापन पद्धति को निकट से देखा जिससे वे बहुत ही प्रभावित हुए और इन्हे अपने विश्वविद्यालय मे साहित्याध्यापक के पद पर नियुक्त कर दिया। ये पुष्टगात्र थे, प्रतिदिन व्यायाम करते थे और सितारवादन मे भी अत्यन्त कुशल थे। अतः मालवीयजी इन्हे बहुत मानते थे।

(३) पं० ठाकुरप्रसाद द्विवेदी—ये व्याकरण शास्त्र के अगाध विद्वान् थे। अध्ययन करने के पश्चात् ये गवर्नमेण्ट सस्कृत कॉलेज, कलकत्ता मे अध्यापन-कार्य करते थे। वहाँ से आने पर काशी मे बहुत दिनो तक सस्कृत पाठशालाओं के निरीक्षक (इन्सपेक्टर) रहे। डॉ० वेनिस के अवकाश प्राप्त करने पर इन्होने गवर्नमेण्ट सस्कृतकॉलेज, बनारस मे प्रिन्सिपल के पद पर भी कुछ दिनो तक काम किया था।

(४) पं० देवनारायण त्रिपाठी—ये तिवारीजी के नाम से अधिक प्रसिद्ध थे। इनका जीवन चरित इसी ग्रन्थ मे अन्यत्र विस्तार से दिया गया है।

(५) पं० गणपति शास्त्री मोकाटे—ये भी सस्कृतकॉलेज मे व्याकरणशास्त्र के

अनेक वर्षों तक प्रधान अध्यापक थे। अनेक छात्रो को सुबुद्ध वैयाकरण बनाया। तात्याशास्त्री की 'भूति' पर इन्होने सुबोध टीका लिखकर उसे छात्रोपयोगी बनाया।

(६) पं० पूर्णचन्द्राचार्य—ये बलिया जिला के निवासी और व्याकरण के गभीर विद्वान् थे। शास्त्रार्थ मे अत्यन्त कुशल तार्किक थे तथा काशी के टीकमणि कॉलेज के अध्यापक थे। राजा बलदेवदास के मान्य पडित थे। काशी मे इनकी प्रसिद्धि प्रचण्ड शास्त्रार्थी पडित के रूप मे लोक विस्तृत थी।

(७) पं० चन्द्रभूषणजी—ये व्याकरण और साहित्य के उत्कृष्ट विद्वान् थे तथा काशी की रणवीर सस्कृत पाठशाला के प्रधानाध्यापक थे।

(८) पं० गयादत्त पाण्डेय—ये छपरा (बिहार) मे स्थित मारवाडी सस्कृत महाविद्यालय के प्रधानाध्यापक थे। छपरा मे इनकी विद्वत्ता की बडी प्रशसा थी और इन्होने अनेक योग्य शिष्यो को उत्पन्न किया।

शास्त्रीजी के इन प्रधान शिष्यो के अतिरिक्त इनकी शिष्यमण्डली मे निम्नाकित विद्वानो की गणना की जाती है। **प० चिदानन्दघन स्वामी** ये एटा मण्डल के अन्तर्गत सोरो नगर मे स्थित वाराह मन्दिर के महन्त थे। ये वेदान्त और व्याकरण मे निष्णात विद्वान् सन्यासी थे। **प० गणेशदत्त झा** (बेतिया, बिहार राज्य के पुरोहित), **पं० भुवनेश्वरप्रसाद शर्मा** (नेपालराज के राजपुरोहित) **पं० सूर्यप्रसाद मिश्र, प० रामेश्वर शास्त्री, पं० परमेश्वर, प० रामदत्त पन्त** (बरेली के अगेजीकॉलेज मे सस्कृतविभाग के अध्यक्ष)।

प० दामोदर शास्त्री स्वय प्रकाण्ड विद्वान् तो थे ही, इसके अतिरिक्त इन्होने विद्वान् शिष्यो को पैदा किया था अत० इनके सम्बन्ध मे निम्नाकित प्रशसा अत्यन्त उपयुक्त तथा समीचीन ज्ञात होती है

विद्वत्ससदि वादिदन्तिनिवहे पारीन्द्रता साऽद्भुता,
प्रावृट्कालपयोदविस्मयकरी सा गर्जनाऽप्युच्चकै.।
उद्यद्-बालपतङ्गदीप्तिनिवहन्यक्कारि तेजोऽपि तत्;
श्रीदामोदरशास्त्रिणैव सह तत् यातं समस्त किल ॥

× × ×

विद्यातपस्तीव्रतेजोनामिताशेषपण्डितः। दामोदरो विजयते, हरिगम्भीरनिस्वनः॥





पं० बच्चा झा

१२

पण्डित बच्चा झा

(आस्पद—झा, उपाधि—सर्वतन्त्रस्वतन्त्र)

शास्त्रीजी के प्रतिस्पर्धी—शास्त्रीजी के प्रख्यात प्रतिद्वन्द्वी पण्डित धर्मदत्त झा थे जो अपने उपनाम **बच्चा झा** के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध थे। इन्हीं बच्चा झा से म० म० प० दामोदर शास्त्री का प्रसिद्ध तथा ऐतिहासिक शास्त्रार्थ हुआ था जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। यहाँ पर प० बच्चा झा का संक्षिप्त जीवन परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

प० बच्चा झा का जन्म मिथिला मे विक्रमी स० १९१७ (१८६० ई०) मे हुआ था तथा इनका निधन भी वही स० १९७८ वि० (१९२१ ई०) मे हुआ।

जन्म

नव्य न्यायशास्त्र का अध्ययनाध्यापन मिथिला मे विशेषज्ञता के रूप मे बहुत दिनो से होता आ रहा है। प्राचीन काल के ऋषिप्रवर गौतम, कणाद तो विश्वविश्रुत है ही, महामनीषी उदयनाचार्य, न्यायमार्तण्ड गङ्गेशोपाध्याय आदि के नाम भी अत्यन्त आदर से न्याय जगत् मे लिये जाते है। इसी परम्परा मे इस शताब्दी के प्रमुख नैयायिक है स्वनामधन्य चरितनायक पण्डितप्रवर धर्मदत्त झा। इन्हे मिथिला मे अपर गङ्गेश उपाध्याय कहते है। मिथिला-स्थित दरभगा जिले के 'नवानी' ग्राम मे महर्षिकल्प प० रत्नपाणि झा के एकमात्र पुत्र प० दुर्गादत्त झा हुए। इसी धर्म और विद्या के कुल मे सवत् १९१७ की चैत्रशुक्ल नवमी को धर्म विद्यावतार प० धर्मदत्त झा का जन्म हुआ। माता पिता के अत्यन्त स्नेह के कारण बाल्यावस्था मे 'बच्चा' नाम से सम्बोधित होने के कारण इनका अपर नाम ही 'बच्चा झा' हो गया।

अध्ययन-काल

चरितनायक का प्रारम्भिक अध्ययन घर पर ही सम्पन्न हुआ। पश्चात् ये पण्डितशिरोमणि विश्वनाथ झा से अध्ययन हेतु 'ठाढ़ी' ग्राम गये। पण्डित विश्वनाथ झा तत्कालीन मिथिला के पण्डितो मे अग्रगण्य विद्वान् थे। अतः बच्चा झा की उभय प्रतिभाएँ प्रस्फुटित होने मे देर नही लगी। इनमे शास्त्रो के सूक्ष्म विवेचन का यही सूत्रपात हुआ।

पश्चात् ये नैयायिकप्रवर प० बबुजन झा, पण्डितप्रवर ऋद्धि झा जो दर्शनशास्त्रो के अध्यापन मे ख्यातनामा थे, से न्यायदर्शन का विधिवत् अध्ययन किया। अनन्तर दर्शनशास्त्रो के विशेष अध्ययन के लिए ये काशी आये और यहाँ स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती से मीमासा, वेदान्त आदि दर्शनशास्त्रो का अध्ययन किया।

अध्ययन-समाप्ति के पश्चात् नैयायिकजी स्वदेश मिथिला आये और मैथिल परम्परा के अनुसार घर पर ही विद्यालय स्थापित कर छात्रो को विद्यादान देना प्रारम्भ किया। आपके तलस्पर्शी ज्ञान तथा अध्यापन-कौशल की प्रशसा पूरे भारतवर्ष मे व्याप्त हो गई। फलस्वरूप

विभिन्न प्रान्तो के मेधावी छात्र न्यायविद्या की शिक्षा ग्रहण करने आने लगे। सुदूर गुर्जर प्रान्त के भी शतशः छात्र मिथिला आये। वह 'नवानी' ग्राम धन्य हो गया मिथिला के अधिकाश ग्रामो मे 'अनुमानखण्ड' जन जन मे व्याप्त हो गया। न्याय प्रणेता गौतम ऋषि के आश्रम गौतमकुण्ड के सन्निधान मे स्थित नैयायिको तथा मीमासको से मण्डित चकौती ग्राम के प० दुलार झा (जो नवद्वीप से न्यायशास्त्र का गहन अध्ययन करके आये थे और टीकमगढ़ के राजपण्डित थे), प० गगाधर झा नैयायिक (नाथद्वारा के राजपण्डित) तथा अनुमानखण्ड के विशेषज्ञ प० सहदेव झा नैयायिक आदि नवानी गये तथा इनके सम्पर्क से क्रोडपत्र प्रस्तुत किया।

विशेष रूप से पण्डित सहदेव झा ने इनसे (प० बच्चा झाजी से) अनुमानखण्ड का गहन अध्ययन तथा मनन किया। पण्डित सहदेव झा इतने प्रखर निकले कि एक बार दरभगा-नरेश की पण्डित सभा मे समस्त दिग्गज विद्वानो को अनुमानखण्ड मे परास्त कर लब्धधौत प्रतिष्ठ हो गये।

इस विपुल ख्याति को सुनकर शारदापीठाधीश्वर (द्वारका) जगद्गुरु शङ्कराचार्य महाराज ने प० बच्चा झाजी को सादर आमन्त्रित किया और इनसे दर्शनशास्त्रो की शिक्षा ग्रहण की। इस प्रकार ये जगद्गुरु का भी गुरुत्व प्राप्त कर अत्यन्त गौरवान्वित हुए। सूरत मे सम्पन्न अखिलभारतीय पण्डित सभा के आप ही अध्यक्ष बनाये गये।

नौकरी

महाकवि कालिदास ने वृत्त्यर्थ अध्यापन-कार्य को गर्हित माना है और कहा है कि 'यस्यागमः केवलजीविकायै त ज्ञानपण्य वणिज वदन्ति' अर्थात् जिनका शास्त्रज्ञान केवल जीविका के लिए (वृत्त्यर्थ) होता है वे ज्ञान को बेचनेवाले 'वणिक्' की सज्ञा प्राप्त करते है। इसी नियमानुसार विवेकी पण्डित अपने घर पर ही पाठशाला स्थापित कर अध्यापन करते थे।

नैयायिक श्री झा भी यद्यपि वेतन लेकर अध्यापन नही करना चाहते थे तथापि महाराजाधिराज दरभगा-नरेश श्रीमान् रमेश्वर सिहजी के अकाट्य आग्रह से इन्होने कुछ दिनो के लिए मुजफ्फरपुरस्थ धर्मसमाज-सस्कृतकॉलेज के प्रधानाचार्य (प्रिसिपल) का पद स्वीकार किया। किन्तु अधिक दिनो तक ये वहॉ नही रह सके, एक वर्ष मे ही इन्होने अपने पाञ्चभौतिक शरीर को त्याग दिया।

अध्यापन तथा शास्त्रार्थ के साथ-साथ आप लिखने मे भी सिद्धहस्त थे। अनेक मौलिक ग्रन्थो की रचना की, दार्शनिक ग्रन्थो पर टिप्पणियाँ की, क्रोडपत्र लिखे जिनका अर्थ लगाना भी अब कठिन हो गया है। काव्यजगत् को चमत्कृत करनेवाला इनका चम्पूकाव्य 'सुलोचनामाधव चम्पू' बावन सर्गों मे निबद्ध २० वी शती का अलौकिक महाकाव्य माना जाता है। इनके चम्पूकाव्य का एक रूपक प्रस्तुत किया जाता है—

श्यामेयं सुषमेन्धनं सुरभिणा सन्धुक्षितं वायुना
कुर्वन्तं जगदुज्ज्वलं प्रसृतया सज्योत्स्नया धूम्यया।
सम्पाद्यातनुमग्निमुज्ज्वलविधुभ्राष्ट्राङ्कपालेऽम्बर-
प्राणान् भर्जत ऋक्षलाजनिकरो यद् दृश्यते खेऽङ्गने॥

ग्रन्थ-रचना

उपर्युक्त चम्पू के अतिरिक्त इनकी न्याय-वेदान्तशास्त्र सम्बन्धी अनेक रचनाएँ प्रख्यात है। जिनका मूल्यांकन करना कठिन है। ये रचनाएँ है--

(१) व्याप्तिपञ्चक की टीका (२) सिद्धान्तलक्षण विवेचन
(३) अवच्छेदकत्वनिरुक्ति विवेचन (४) व्याप्त्यनुगम विवेचन
(५) व्युत्पत्तिवाद गूढार्थतत्त्वालोक (६) शक्तिवाद टिप्पण
(७) सव्यभिचार टिप्पण (८) सत्प्रतिपक्ष सटिप्पण
(९) खण्डनखण्डखाद्य-टिप्पण (१०) कुसुमाञ्जलि वर्धमानटिप्पण
(११) न्यायभाष्यटीका (१२) अद्वैतसिद्धिचन्द्रिका-टिप्पण
(१३) सामान्यनिरुक्ति (१४) श्रीमद्भगवद्गीता की टीका

आपकी शिष्य-मण्डली

(१) महामहोपाध्याय प० बालकृष्ण मिश्र (प्रिंसिपल, संस्कृत महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)।
(२) पण्डित [illegible] झा (मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा)।
(३) प० लक्ष्मीनाथ झा (दर्शनविभागाध्यक्ष, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)।
(४) स्वामी पूर्णानन्द (५) स्वामी परमानन्द
(६) प० हरिनाथ शास्त्री (७) प० षष्टिनाथ मिश्र
(८) प० गोपृनाथ मिश्र आदि।

अगाध विद्वत्ता

प० बच्चा झा अलौकिक प्रतिभासम्पन्न विद्वान् थे। इनकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण और तर्कप्रणाली बडी पैनी थी। इनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य संस्कृत-साहित्य और भारतीय संस्कृति का प्रचार और प्रसार था। इसलिए इन्होने अपने जीवन को सुरभारती की सेवा मे अर्पित कर दिया था। जीवन मे भौतिक सुखो के प्रति ये बड़े उदासीन रहते थे। इन्होंने सुखपूर्वक जीवन-यापन के लिए कभी नौकरी नही की। मुजफ्फरपुर के संस्कृतकॉलेज में प्रिन्सिपल के पद को अवश्य सुशोभित किया, परन्तु एक वर्ष के बाद उसका भी परित्याग कर दिया।

इनका जीवन एक वीतराग महात्मा के समान था। पारिवारिक जंजाल में घिरे रहने पर भी इन्होंने कभी उससे प्रेम नहीं किया। उसके मोह में नहीं पड़े। ऐसा सुना जाता है कि इन्होंने अपने निवास में जमीन के भीतर एक कन्दरा बना रखी थी और वही ये एकान्त में बैठकर शास्त्रों का चिन्तन, मनन किया करते थे। इन्होंने स्वाध्याय, विद्वत्ता तथा काव्यप्रतिभा के द्वारा एक ऐसे महाकाव्य की रचना की है जो ५२ सर्गों में समाप्त हुआ है। अपनी युवावस्था में ही इन्होंने वैयाकरण-केसरी म० म० पं० दामोदर शास्त्री को शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दी थी। इससे इनके अलौकिक पाण्डित्य तथा तल-स्पर्शिनी विद्वत्ता का पता चलता है।

पं० बच्चा झा की विद्वत्ता तथा शोध का प्रधान क्षेत्र न्यायशास्त्र था। इन्होंने न्यायशास्त्र के तथ्यों की कोटि पर कोटि, परिष्कारों के नये-नये स्वरूप तथा आयामों का अपनी प्रखर

बुद्धि से आविष्कार किया। इन्होने न्यायशास्त्र के गभीर तथा अथाह समुद्र का इतना अधिक आलोडन कर लिया था कि इनको 'मननतरीतीर्णविद्यार्णवः' की उपाधि से विभूषित किया जाना चाहिए था। न्यायशास्त्र के विभिन्न चूडान्त ग्रन्थो पर इन्होने जो टीका तथा भाष्य लिखे है उनसे इनकी स्वतन्त्र कल्पना तथा मौलिकता का पता चलता है। इनके उर्वर मस्तिष्क से न्याय की नवीन कोटियाँ उत्पन्न होती थी। न्यायशास्त्र तथा वेदान्त के तो ये प्रकाण्ड विद्वान् थे, यह कहना केवल पिष्टपेषण मात्र होगा।

दुःख है कि ऐसे तेजस्वी, प्रतिभाशाली तथा प्रखर बुद्धिवाले विद्वान् की मृत्यु असमय मे ही हो गई।

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-श्रीधर्मदत्त-बुधाग्रणीः ।
यत्क्रोडपत्रिका न्याये, भान्ति सर्वबुधादृताः ॥



१३

श्री तात्या शास्त्री (रामकृष्ण शास्त्री)

(आस्पद—पटवर्धन; उपाधि—महामहोपाध्याय)

भारतवर्ष के मानचित्र मे कोकण प्रदेश अपनी भौगोलिक स्थिति के लिए विशेष महत्त्व रखता है। महाराष्ट्र स्टेट मे सह्याद्रि पर्वत (वेस्टर्न घाट्स) तथा समुद्र के मध्य मे जो भूमि है वही कोकण प्रदेश है। यह पुराणो मे 'परशुराम-क्षेत्र' के नाम से प्रसिद्ध है क्योकि परशुरामजी ने यह भूमि समुद्र से छीन ली थी। यहाँ के निवासी बडे ही व्यवहारकुशल, कूटनीतिज्ञ तथा चालाक होते है। यहाँ की भूमि जितनी पथरीली और अनुर्वरा है यहाँ के लोगो का मस्तिष्क उतना ही उर्वर और उपजाऊ है। महाराष्ट्र-साम्राज्य के सचालन का श्रेय जिन पेशवाओं को दिया जाता है वे यही ने [illegible] कोकणस्थ ब्राह्मण थे।

पूर्वपुरुष

प० रामकृष्ण शास्त्री, जो तात्या शास्त्री के नाम से प्रसिद्ध थे, महाराष्ट्रीय कोकणस्थ ब्राह्मण थे। इनके पूर्वजो का मूल स्थान यही कोकण प्रदेश था। कोकण के ही पटवर्धन वशावतस प० कृष्ण शास्त्री हमारे चरितनायक प० तात्या शास्त्री के पूर्वज थे जिन्होने अपने भाग्य की परीक्षा के लिए स्वदेश को त्यागकर सतारा (महाराष्ट्र) नगर को अपना कर्मक्षेत्र बनाया। वही पर उन्होने अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए स्थानीय पर्वत के शिखर पर विराजमान भगवती पार्वती की पूजा और आराधना प्रारम्भ की। कठिन तपस्या के अनन्तर भगवती इन पर प्रसन्न हो गई। उनकी कृपा से महाराष्ट्र साम्राज्य के सस्थापक शिवाजी के दरबार मे ये उनसे मिलने के लिए गये। शिवाजी ने इनकी विद्वत्ता और बुद्धि की तीक्ष्णता से प्रभावित होकर इन्हे अपने दरबार का राजपण्डित नियुक्त किया। उसी समय शिवाजी के सामन्त रघोजी भोसले नामक सरदार शिवाजी के पास उनके दर्शन के लिए आये थे। गुणग्राही शिवाजी ने कृष्ण शास्त्री को उनके साथ नागपुर जाकर राज-काज सँभालने का आदेश दिया। रघोजी भोसले ने उन्हे राजकीय कोश के अध्यक्ष-पद पर नियुक्त किया। यह घटना १७वी शताब्दी के उत्तरार्ध की है। प० कृष्ण शास्त्री ने राज्य के कार्यों मे समुचित योगदान किया। परन्तु कुछ ही दिनो मे इनकी मृत्यु हो गई। इसके पश्चात् इनकी विधवा पत्नी ने अपने पति के स्मारक रूप मे 'कृष्णेश्वर' नामक मदिर की स्थापना की जो आज भी नागपुर मे शास्त्रीजी की कीर्ति को अजर-अमर बनाये हुए स्थित है। शास्त्रीजी की मृत्यु के कुछ वर्षों के पश्चात् उनके भाई की पुत्रवधू (पतोहू) जिनका नाम 'बहिणा बाई' था, अपनी वृद्धावस्था मे काशीवास की इच्छा से अपनी अपार सम्पत्ति को साथ लेकर काशी चली आयी। उन्होने दुर्गाघाट पर गगा के किनारे एक विशाल भवन का निर्माण किया जो आज भी वहाँ स्थित है। इसी भवन मे उन्होने बालकृष्णेश्वर की मूर्ति की स्थापना भी की। इस प्रकार इनके पूर्वज नागपुर से काशी चले आये।



श्री तात्या शास्त्री (रामकृष्ण शास्त्री)

इस बहिणा बाई के देवर का नाम प० बालकृष्ण भट्ट था जो प० तात्या शास्त्री के प्रपितामह थे। इनके पुत्र प० भट्ट नारायण शास्त्रीजी के पितामह थे। प० भट्ट नारायण के दो पुत्र हुए—(१) प० महादेव भट्ट, अपर नाम बालभट्ट और (२) प० नागेश्वर भट्ट। इनमे प० महादेव भट्ट तात्या शास्त्री के पिता थे। परन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् इनके पितृव्य प० नागेश्वर भट्ट ने ही इनका लालन-पालन किया। प० महादेव भट्ट नागपुर मे ही रहते थे और अपने पूर्वजो के द्वारा उपभुक्त राजकीय कोषागार के अध्यक्ष के पद पर काम करते रहे। प० तात्या शास्त्री का जन्म वही नागपुर नगर मे हुआ। इस परिवार की उपाधि 'पटवर्धन' थी परन्तु तात्या शास्त्री कभी इसका उपयोग नही करते थे।

जन्म तथा शिक्षा

तात्या शास्त्री अपने पिता के दूसरे पुत्र थे। स० १६०२ वि० (१८४५ ई०) मे आषाढ़ शुक्ल त्रयोदशी को नागपुर मे तात्या शास्त्री का जन्म हुआ था। परन्तु दैव दुर्विपाक से इनके केवल ढाई वर्ष के वय मे ही इनके माता और पिता अकाल मे ही काल कवलित हो गये। ये पॉच वर्ष के वय तक नागपुर मे ही अपनी मातृभाषा मराठी का अध्ययन करते रहे। इसके पश्चात् इनके चावा नागेश्वर भट्ट इन्हे अपने परिवार के साथ काशी ले आये और इनका पालन पोषण करने लगे। आठ वर्ष के वय मे इनका यज्ञोपवीत सस्कार सम्पन्न किया गया। किसी कार्यवश इनके चाचा नागपुर गये तो पुन इन्हे अपने साथ वहॉ लेने गये। इसके बाद छह वर्षों तक इन्होने 'खरे' उपनामक किसी विद्वान् से काव्य कोशादि का विधिवत् अध्ययन किया। चौदह वर्ष की अवस्था मे ये पुनः काशी आ गये। यहाँ पर दो वर्षों तक इन्होने कर्मकाण्ड और वेदो का गहन अध्ययन किया। विभिन्न शास्त्रो के विशेष अध्ययन की इच्छा से इन्होने बालशास्त्री का शिष्यत्व स्वीकार किया। गुरु के आशीर्वाद तथा अपने बुद्धिवैभव से जिस शास्त्र का अध्ययन बारह वर्षों मे समाप्त होता था उसे इन्होने केवल छह वर्षों मे ही पूरा कर लिया। सम्पूर्ण परिष्कार के साथ व्याकरणशास्त्र का अध्ययन इतने स्वल्प काल मे परिपूर्ण करके इन्होने अपने गुरु को भी आश्चर्य मे डाल दिया। इसके बाद इन्ही गुरु ने इन्हे वेदान्त और धर्मशास्त्र की भी शिक्षा दी।

अध्यापन

सकल शास्त्रो के अध्ययन के पश्चात् इनकी नियुक्ति महाराजा दरभगा की पाठशाला वाराणसी मे हुई जहॉ रहकर इन्होने मैथिल छात्रो का अध्यापन कर अतुल कीर्ति प्राप्त की। इसके अनन्तर गवर्नमेण्ट सस्कृतकॉलेज के तत्कालीन प्रिसिपल डॉ० थीबो ने सन् १८८० ई० मे इन्हे अपने कॉलेज मे व्याकरण की गद्दी पर प्रतिष्ठापित किया। इस पद पर रहकर इन्होने अनेक छात्रो को व्याकरण शास्त्र मे दीक्षित कर उन्हे प्रकाण्ड वैयाकरण बनाया। सस्कृतकॉलेज मे इन्होने लगातार ३६ वर्षों तक (१८८० ई० से लेकर १६१६ ई० तक) अध्यापन-कार्य किया। ये यावज्जीवन शिक्षा के दान मे निरत रहे। अपनी वृद्धावस्था मे चलने फिरने मे असमर्थ होने के कारण ये पालकी पर चढ़कर सस्कृतकॉलेज मे अध्यापन करने के लिए जाया करते थे। सवत् १६७६ वि० (१६१६ ई०) मे फाल्गुन शुक्ल तृतीया के दिन प्रातःकाल इन्होने अपने पाञ्चभौतिक शरीर का परित्याग किया। उस समय इनकी आयु ७४ वर्ष की थी।

उभय चातुरी

तात्या शास्त्रीजी शास्त्र और लोक दोनो मे अत्यन्त निष्णात थे। म० म० प० बाल-

शास्त्रीजी इनके व्याकरणशास्त्र के गुरु थे। उनसे इन्होने व्याकरणशास्त्र का तो विधिवत् अध्ययन किया ही, साथ ही साथ वेदान्त, धर्मशास्त्र, साख्य तथा योग का भी इन्होने समधिक गम्भीर अध्ययन कर अलौकिक पाण्डित्य प्राप्त किया था। शास्त्रीय ज्ञान के अतिरिक्त व्यवहार मे भी ये बड़े ही कुशल थे। उस युग मे जब प्रेस का अभाव था, सस्कृत साहित्य के प्रचार और प्रसार के लिए इन्होने अपने ही घर मे 'राजराजेश्वरी' नामक प्रेस की स्थापना की। इस प्रेस से सस्कृत के अनेक ग्रन्थो का प्रकाशन हुआ था। प० बालशास्त्री के द्वारा रचित व्याकरण सम्बन्धी टीका ग्रन्थो के अतिरिक्त इन्होने स्वरचित ग्रन्थो का भी प्रकाशन किया।

ग्रन्थ—प० तात्या शास्त्री की रचनाओं मे सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ **भूति** है जो नागेश-भट्ट-निर्मित **परिभाषेन्दुशेखर** की टीका है। इसमे मूल ग्रन्थ के भावो का विवेचन बडी ही मार्मिक रीति से, सरल शब्दो मे किया गया है जिससे परिष्कार पद्धति का स्वरूप भी उजागर होता है। यह ग्रन्थ अध्यापको तथा छात्रो, दोनो के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इसलिए 'भूति' के सम्बन्ध मे निम्नाकित सस्तुति उचित ही जान पडती है

शम्भोनगेशनाम्नो गहनतरगिरा मर्म सम्यक् प्रकाश्य,
प्रौढ्या सत्सम्प्रदायागतमखिलमलं व्यापयत्यर्थजातम्।
विद्यार्थिव्रातमाता कठिनतमपरीक्षाऽब्धिपोतायमाना,
तात्याशास्त्रीन्द्रकीर्तिर्जगति विजयता भासते यावदर्कः॥

नागेश भट्ट के दूसरे महनीय ग्रन्थ **शब्देन्दुशेखर** की भी टीका इन्होने लिखी थी, ऐसा सुना जाता है। परन्तु अभी तक यह मुद्रित नही हो सका है। अत इसके विषय मे कुछ विशेष ज्ञात नही है। इन ग्रन्थो की रचना से इनकी विद्वत्ता की प्रसिद्धि इतनी हुई कि गवर्नमेण्ट सस्कृतकॉलेज, बनारस के प्रिंसिपल की सस्तुति पर ब्रिटिश सरकार ने सन् १९०९ ई० मे महामहोपाध्याय की महनीय उपाधि से इन्हे अलकृत किया। इस उपाधि की प्राप्ति का उल्लेख इस श्लोक मे किया गया है -

सम्राट्प्रदत्तदुरवाप-महामहोपाध्यायेति मान्यपदवी समवाप्य धीमान्।
विद्योतते स्म विदुषां सदसि प्रसिद्धस्तात्यापराख्यपटवर्धनरामकृष्णः॥

परिवार—प० तात्या शास्त्रीजी के परिवार मे लक्ष्मी और सरस्वती दोनो का निवास था। इनके चार पुत्र थे। इनके ज्येष्ठ पुत्र प० नारायण शास्त्री पटवर्धन ने व्याकरण, साहित्य और वेदान्त शास्त्रो का गम्भीर अध्ययन कर वैदुष्य प्राप्त किया था। व्याकरण शास्त्र मे तो वे अपने पिता के समान ही विद्वान् थे। उन्होने गवर्नमेण्ट सस्कृतकॉलेज मे अनेक वर्षों तक अध्यापन भी किया था। पटवर्धनजी ने 'बालशास्त्री का जीवन-वृत्तान्त' नामक ग्रन्थ भी लिखा था जिसमे शास्त्रीजी का अत्यन्त प्रामाणिक जीवनचरित उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त उनके द्वारा रचित ग्रन्थो की सूची इस प्रकार है[१]—(१) इग्लिश गाइड (दो खण्डो मे), (२) सस्कृत-सोपान, (३) भाषा-चन्द्रिका—यह हिन्दी भाषा का अत्युत्तम तथा सरल व्याकरण है। (४) ऋजु व्याकरण-दीपिका (तीन भागो मे)। अकस्मात् इनका देहावसान सन् १९०३ ई० मे हो गया। शास्त्रीजी के दूसरे पुत्र प० **बालशास्त्री पटवर्धन** अपने राजराजेश्वरी प्रेस के मैनेजर थे। इनकी मृत्यु सन् १९१६ ई० मे हो गई। इस प्रकार प० तात्या शास्त्रीजी के प्रथम दोनो पुत्र इनकी जीवितावस्था मे ही परलोक सिधार गये।

इनके तीसरे और चौथे पुत्र के नाम क्रमशः ढुण्ढिराज शास्त्री और वीरेश्वर शास्त्री

---

१ ये सभी ग्रन्थ मैनेजर, राजराजेश्वरी प्रेस, दुर्गाघाट, काशी से प्रकाशित हुए है (सन् १८९८ ई०)।

थे। इन दोनो की मृत्यु शास्त्रीजी के निधन के बाद हुई। शास्त्रीजी के अनेक पौत्र विद्यमान है जो उनकी कीर्ति को उजागर किये हुए है। ये लोग सरकारी नौकरी में अनेक ऊँचे पदो पर प्रनिष्ठित है।

प० तात्या शास्त्री ने प्रेस की स्थापना के अतिरिक्त, दुर्गाघाट पर काशी में गगा के किनारे एक विशाल भवन का निर्माण किया था। यह भवन इतना ऊँचा और विशाल था कि लोग इसे 'पटवर्धन-दुर्ग' कहा करते थे। यह भवन आज भी उसी दशा मे अवस्थित है।

शास्त्रीजी अपने प्रथम दोनो पुत्रो के निधन मे अत्यन्त दुखी तथा शोकाक्रान्त थे। परन्तु कर्तव्यनिष्ठा की भावना से ये अपने जीवन के अन्तिम दिनो तक सस्कृतकॉलेज की सेवा करते रहे। पहले ये पैदल ही कॉलेज जाया करते थे परन्तु जीवन की गोधूलि मे अत्यन्त शिथिलकाय होने के कारण ये पालकी मे बैठकर कॉलेज जाने लगे थे। इस प्रकार ७५ वर्ष की परिपक्व आयु मे फाल्गुन शुक्ल तृतीया स० १९७६ वि० (सन् १९१९ ई०) को इन्होने शिव सायूज्य प्राप्त किया।

विद्वासो निरुपाश्रयाः समभवन् तेषा धुरीणे गते,
विद्या शोकमलीमसा न रुरुचे प्रावृट्शशाङ्को यथा।
छात्रौघो विललाप, दीनवदना काशी चकाशे न सा,
तात्याशास्त्र्यपराभिधे बुधवरे श्रीरामकृष्णे गते॥

शिष्यमण्डली

शास्त्रीजी के अनेक सुयोग्य शिष्य थे। इन शिष्यो को तीन वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है—(१) मैथिल, (२) महाराष्ट्रीय तथा (३) एतद्देशीय छात्र।

शास्त्रीजी ने काशी मे दरभगा सस्कृतविद्यालय मे अध्यापन का कार्य करते समय मिथिला से आये हुए अनेक छात्रो को अपना शिष्य बनाया। इनके मैथिल छात्रो मे सर्वप्रधान शिष्य थे महामहोपाध्याय प० शशिनाथ झा जो बाद मे मुजफ्फरपुर (बिहार) के राजकीय सस्कृतमहाविद्यालय के प्रधानाध्यापक हुए। वे व्याकरणशास्त्र सम्बन्धी अपनी विद्वत्ता के कारण मिथिलाभर के पण्डित समाज मे प्रसिद्ध थे। उनकी सस्तुति मे निम्नाकित श्लोक कहा गया है जो नितान्त समुचित प्रतीत होता है

विद्वत्संसदि वागधीशसदृशाः प्रौढप्रतिष्ठाजुषो;
नानाशास्त्रविचारकर्मकुशला अध्यापकेषूत्तमाः।
शास्त्रे व्याकरणे परिष्कृतियुते, लोकोत्तरश्रीयुताः;
श्रीमन्तः शशिनाथझाऽऽख्यविबुधा राजन्ति विद्वद्गणे॥

इनके अतिरिक्त शास्त्रीजी के अन्य मैथिल शिष्यो के नाम है—प० द्रव्येश झा, श्रीधर झा, महावीर झा, कालिका झा, नन्दन झा, किशोरी झा, जयकिशोर झा, गुनोर झा आदि-आदि।

महाराष्ट्रीय शिष्यो मे प० रामशास्त्री पराजपे, दामोदर शास्त्री सहस्रबुद्धे, रामशास्त्री कोटिभास्कर आदि प्रसिद्ध थे। एतद्देशीय शिष्यो मे इनके सबसे प्रधान छात्र थे पं० रामयश त्रिपाठी जो 'महाशय' जी के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध थे। इनका विस्तृत वर्णन इसी पुस्तक मे अन्यत्र दिया गया है। इनके अतिरिक्त—

प० विद्याविलास शुक्ल (काशीस्थ कान्यकुब्जपाठशाला के प्रधानाध्यापक), प० रामदेव द्विवेदी (काशीस्थ रणवीर-सस्कृतपाठशाला के अध्यापक), पं० राजनीति पाण्डेय (रायपुर,

मध्यप्रदेश के चर्चमिशन स्कूल के सस्कृताध्यापक), प० मोतीराम पाण्डेय (काशीस्थ लन्दन मिशन इण्टर कॉलेज के सस्कृताध्यापक), प० रामउदित उपाध्याय (प्रिन्सिपल, जुबिली सस्कृत-कॉलेज, बलिया) आदि-आदि थे। इस प्रकार तात्या शास्त्रीजी पुत्रो तथा छात्रो दोनो के विषय मे बड़े ही भाग्यवान् थे।

शास्त्रीजी का संपादन-कार्य

(१) श्री तात्या शास्त्रीजी व्याकरण शास्त्र के पारगामी विद्वान् तो थे ही, साथ ही वे दर्शन के, विशेषतः साख्य-योग के भी बडे प्रौढ विद्वान् थे। सस्कृतकॉलेज मे इनकी नियुक्ति साख्य-योग की गद्दी पर हुई और ये इन दर्शनो का विधिवत् अध्यापन करते थे। इस समय तक भर्तृहरि के **वाक्यपदीय** के हस्तलेख तो प्राप्त हो गये थे परन्तु उसका सशोधन तथा मुद्रण नही हुआ था। बनारस सस्कृत सीरीज मे इसका प्रथम प्रकाशन तात्या शास्त्रीजी के ही सम्पादकत्व मे आरम्भ हुआ। इसके प्रथम तथा द्वितीय काण्ड का सम्पादन आपने ही किया (१८८४ ई० मे), परन्तु किसी कारणवश इसके तृतीय काण्ड के सशोधन का कार्य आपने छोड दिया। तब म० म० प० गगाधर शास्त्रीजी की ही देखरख मे इसके अवशिष्ट भागो का प्रकाशन साध्य हो सका। इस घटना का उल्लेख शास्त्रीजी ने ग्रन्थ के तृतीय काण्ड की भूमिका मे स्वय किया है। इसका प्रकाशन बनारस सस्कृत सीरीज मे ही १८८७ ई० मे हुआ था।

(२) तात्या शास्त्री द्वारा सपादित अन्य ग्रन्थ विज्ञानभिक्षु रचित **योगवार्तिक** है यह योगसूत्र के ऊपर व्यास द्वारा निर्मित सुप्रसिद्ध व्यास भाष्य का व्याख्यानरूप है। इस ग्रन्थ के सपादन मे तात्या शास्त्री को अपने ही विद्यालय के वरिष्ठ अध्यापक महामहोपाध्याय केशव शास्त्री मराठे का बहुमूल्य सहयोग प्राप्त था। दोनो विद्वानो ने मिलकर अनेक हस्तलेखो के आधार पर इसका प्रथम प्रकाशन सस्कृतकॉलेज से प्रकाश्यमान 'पण्डित' पत्र मे किया था। तदनन्तर छात्रो के उपयोगी होने के कारण इसका एक सस्ता सस्करण भी प्रकाशित किया गया जिसे डॉ० लाजरस साहब ने अपने प्रसिद्ध मेडिकल हाल नामक यत्रालय मे मुद्रित किया (१८८४ ई०, वाराणमी)। इसकी भूमिका मे तात्या शास्त्रीजी ने लिखा है कि यह ग्रन्थ काशिराजकीय प्रधान पाठशाला के अध्यक्ष डॉ० थीबो साहब के द्वारा साख्याचार्य परीक्षा मे पाठ्यग्रन्थ निर्धारित किया गया था। छात्रो के लिए पुस्तक सुलभ हो सके, इसके लिए यह सस्करण निकाला गया। ग्रन्थ पहली बार निकाला गया था। यह पर्याप्त रूप से दुरूह है तथापि शास्त्रीजी ने बडे परिश्रम से इसका सपादन कर इसे सुलभ बनाया। इससे इनकी दार्शनिक विद्वत्ता तथा व्यावहारिक कर्मठता का पूरा परिचय मिलता है।

संस्मरण

श्री तात्या शास्त्री की शिष्यपरम्परा पर्याप्तरूपेण दीर्घ थी जिसमे विभिन्न प्रान्तो के छात्र सम्मिलित थे। लेखक के पूज्य पितृव्य **पण्डित रामउदित उपाध्याय** (वि० स० १९३९-२०१० जो आगे चलकर जुबिली सस्कृतकॉलेज, बलिया के प्रिन्सिपल नियुक्त किये गये) शास्त्रीजी के प्रतिष्ठित शिष्यो मे अन्यतम थे। उनके ऊपर गुरु की शास्त्र-निपुणता तथा लोक-कुशलता दोनो का गम्भीर प्रभाव पड़ा था। व्याकरण तथा साहित्य के अध्यापन मे वे नितान्त कुशल तथा सफल अध्यापक थे। लोक-व्यवहार मे भी वे अत्यन्त निपुण तथा समर्थ व्यवस्थापक थे। अपनी कार्यकारिणी बुद्धि के बल पर ही उन्होने एक सामान्य पाठशाला को उन्नत बनाकर एक महाविद्यालय के रूप मे परिणत कर दिया और बिना किसी सहायता के उन्होने अपनी

सूझ-बूझ के कारण विद्यालय के लिए एक भव्य भवन का निर्माण किया जो बलिया के लिए एक गौरव की वस्तु है।

काशी मे भारतधर्ममहामण्डल के द्वारा स्थापित ब्रह्मचर्याश्रम के वे सफल अध्यक्ष थे। उसी समय एक दिन सन् १९१२ ई० के आसपास अपने ब्रह्मचारियो को लेकर वे गुरुजी की सेवा मे उपस्थित हुए। उस छात्रमण्डली मे लेखक भी उपस्थित था और उसी समय तात्या शास्त्रीजी के दिव्य दर्शन करने मे कृतकार्य हुआ था। शास्त्रीजी ब्रह्मचारियो को देखकर बडे प्रसन्न हुए और सन्ध्या की नियमतः उपासना तथा सस्कृत का निष्ठापूर्वक अध्ययन करने के लिए उन्होने बडा आग्रह किया। मेरे पितृव्य ने उसी समय कहा था कि शास्त्रीजी केवल व्याकरण के ही पण्डित नही है, अपितु व्यवहार मे भी पूरे निष्णात है। इनका आवास दुर्गाघाट के ऊपर ही गगातट पर था। आवास से सटी हुई भूमि के लिए औध के राजा के साथ कुछ झगडा न्यायालय मे चल रहा था। शास्त्रीजी स्वय अपने मुकदमे मे वकील का काम देखते थे। मराठी मे निबद्ध कानून की पुस्तक मगाकर इन्होने उसका विधिवत् अध्ययन किया, तगडी पैरवी की और कानूनी दावपेच से पूर्ण परिचित होने के कारण ये मुकदमा जीत गये। ऐसी थी गुरुजी की कर्मठता जिसका प्रभाव शिष्य पर विशेष रूप से पडा।

तात्याशास्त्री का लेख भी बडा समर्थ तथा पाण्डित्य मण्डित होता था। व्याकरण पढाने मे इनकी बडी ख्याति थी। इन्होने नागेशभट्ट के **परिभाषेन्दुशेखर** जैसे प्रमेयबहुल ग्रन्थ पर **भूति** नामक पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या लिखी थी। पण्डित यागेश्वर शास्त्री की 'हैमवती' से बहुशः प्रभावित होने पर भी यह व्याख्या मौलिक है तथा ग्रन्थ की गुत्थियो को सुलझाने मे सर्वथा समर्थ है। इसकी लोकप्रियता का यही कारण है। आप अन्त समय तक सस्कृत कॉलेज मे अध्यापन करने जाते थे जहाँ इनकी निर्युक्ति वर्षों पूर्व हुई थी। शरीर रुग्ण था, तथापि अपने कार्य भार को पूरा करने के लिए ये पालकी मे चढकर जाया करते थे। इनके कई पुत्र है। कुछ पौत्र तो पूना मे ही रहते है तथा ऊँचे पदो पर काम करते है और कुछ यही काशी मे अपने पैतृक गृह मे निवास कर सात्त्विक वृत्ति से जीवनयापन करते है। महामहोपाध्याय तात्या शास्त्रीजी की कीर्ति 'भूति' के द्वारा अमर है, इसमे तनिक भी सन्देह नही। तथास्तु इनकी प्रशसा मे प० नारायण शास्त्री ने जो यह प्रशस्ति लिखी है वह सर्वथा उचित ही है—

विद्वत्कुलस्यालकारो, वैयाकरणधूर्धरः।
तात्याशास्त्री विजयते, रामकृष्णापराभिधः॥





श्री केशव शास्त्री मराठे

१४

श्री केशव शास्त्री मराठे

शास्त्रीजी के सहयोगी

(आस्पद--मराठे, उपाधि--महामहोपाध्याय)

प० केशव शास्त्री के नाम के साथ जो 'मराठे' उपाधि लगी हुई है वह अपनी व्याख्या चाहती है। महाराष्ट्र में ब्राह्मण से इतर जातियों की 'मराठा' एक सामान्य उपाधि है। परन्तु इस 'मराठे' शब्द का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ मराठे शब्द का अर्थ है वह व्यक्ति जो मर्त्यलोक में देवता के समान स्थित रहनेवाला हो (मरेऽपि = मृत्युलोकेऽपि देववत् स्थिता ये ते मराठे इति)। इस प्रकार यह उपाधि ब्राह्मण के लिए है। ये मराठे ब्राह्मण कोंकणस्थ ब्राह्मण माने जाते हैं। कोंकण में कपिगोत्री तपस्वी चितपावन ब्राह्मण मराठे उपाधि से युक्त थे। वही के मूल निवासी होने के कारण केशव शास्त्री भी इसी उपाधि को धारण करते थे।

वहीं से कुछ कोंकणस्थ मराठे ब्राह्मण महाराष्ट्र से काशी आये और यहाँ स्थायी रूप से निवास करने लगे। इसी कुल में सकल वेदवेदाङ्ग के ज्ञाता, अत्यन्त प्रतिभाशाली पं० बालंभट्ट नामक ब्राह्मण उत्पन्न हुए जो हमारे चरितनायक के पिता थे। इन्हींके घर पं० केशव शास्त्री का जन्म स० १९०२ वि० (सन् १८४५ ई०) में हुआ। पिता ने ही बालक को वेद और काव्य आदि की प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही दी। इसके अनन्तर इतर शास्त्रों में विशेष व्युत्पत्ति प्राप्त करने के लिये बालंभट्ट ने अपने पुत्र को गवर्नमेण्ट संस्कृत कॉलेज में उस युग के प्रधान विद्वान् म० म० पं० राजाराम शास्त्री के चरणों में बैठकर अध्ययन के लिए भेजा। वहीं पर इन्होंने व्याकरण आदि अशेष शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन किया। जब इनके गुरु पं० राजाराम शास्त्री ने संन्यास ग्रहण कर परलोक प्राप्त कर लिया तब इन्होंने पं० बालशास्त्री के पास जाकर व्याकरण के उच्चकोटि के अवशिष्ट ग्रन्थों का अध्ययन करना प्रारम्भ किया। वेदान्त, न्याय आदि दर्शनशास्त्रों का भी इन्होने विधिवत् अध्ययन कर दुरूह दार्शनिक समस्याओं के सुलझाने में प्रवीणता प्राप्त की। वेदान्तशास्त्र में इनकी प्रौढ़ि तथा निष्ठा इतनी अधिक थी कि उस युग के काशी के पण्डितों ने इन्हें 'शान्त ब्रह्म' की उपाधि प्रदान कर गौरवान्वित किया।

इन्होंने अंग्रेजी साहित्य का भी सम्यक् अध्ययन कर इंग्लैण्ड के चोटी के दार्शनिक बर्कले आदि के दार्शनिक सिद्धान्तों का मन्थन किया। इसके फलस्वरूप पाश्चात्त्य दर्शन में इनको इतनी प्रौढ़ि प्राप्त हो गई थी कि इन्होंने बर्कले के दुरूह अंग्रेजी दार्शनिक ग्रन्थ का संस्कृत भाषा में अनुवाद किया।

इनकी नियुक्ति सर्वप्रथम संस्कृतकॉलेज एंग्लो-संस्कृत-विभाग में छात्रों को अग्रेजी पढ़ाने के लिए सं० १९३२ वि० (१८७५ ई०) में तीस वर्ष के वय में हुई थी। इसके अनन्तर

इनकी बदली सम्कृतकॉलेज में दर्शन के अध्यापक के रूप मे हो गई। इन्होने आजीवन इसी कॉलेज मे अध्यापन करते हुए अवकाश प्राप्त किया।

उस समय इस कॉलेज के तत्कालीन प्रिंसिपल डॉ० थीबो (कार्यकाल १८७६ ई० से ८८ ई०) थे। उस समय इग्लैड मे प्रोफेसर मैक्सम्यूलर ऋग्वेद का प्रथम सस्करण निकाल रहे थे। उन्होने डॉ० थीबो को इस विषय मे कुछ कार्य सौपा था जिसे थीबो ने प० केशव शास्त्री की सक्रिय सहायता से ही सम्पादित किया था। इतना ही नही, डॉ० थीबो ने भारत मे रहते हुए **शुल्वसूत्र**, वेदान्तसूत्र पर रामानुजप्रणीत **श्रीभाष्य** तथा **पञ्चसिद्धान्तिका** आदि ग्रन्थो के सस्करण तथा अनुवाद का जो कार्य किया था उसमे भी केशव शास्त्री का सतत सहयोग उन्हे प्राप्त था डॉ० थीबो ने अपने सम्पादित ग्रन्थो की भूमिका मे इस सहायता कार्य के लिए केशव शास्त्री के आभार को स्पष्टतः स्वीकार किया है।

इनकी अगाध विद्वत्ता से प्रसन्न होकर अग्रेजी सरकार ने सन् १६१२ ई० मे इन्हे 'महामहोपाध्याय' की पदवी से विभूषित किया। इस उपाधि के प्राप्त होने से ही यह समझा जा सकता है कि अधिकारियो मे इनकी कितनी प्रतिष्ठा थी। स० १६६२ वि० (१६०५ ई०) मे इन्होने साठ वर्ष के वय मे कॉलेज की नौकरी से अवकाश ग्रहण किया। इसके पश्चात् अपने घर पर ही रहकर ये शिष्यो को पढ़ाया करते थे। अन्त मे वि० स० १६७७ (१६२० ई०) मे इन्होने कैलासलोक प्राप्त किया। उस समय इनकी आयु ७५ वर्ष की थी।

ग्रन्थ-रचना

प० केशव शास्त्री लेखनी के धनी थे, अतः ये ग्रन्थो की रचना करने मे अत्यन्त निष्णात थे। अध्यापन-कार्य करने के साथ ही साथ इनका लेखन-कार्य अबाधगति से चलता रहा। फलतः अवकाश ग्रहण करने के पूर्व ही इन्होने अनेक ग्रन्थो की रचना की थी जिनमे से प्रकाशित ग्रन्थ निम्नांकित है--

(१) आत्मसोपान—वेदान्तविषयक यह ग्रन्थ केशव शास्त्री के अध्यात्मशास्त्रीय चिन्तन की महती उपलब्धि है। यह इनका मौलिक ग्रन्थ है जिसमे इन्होंने आत्मतत्त्व की उपलब्धि के साधनो का विशद एव गम्भीर वर्णन किया है।

(२) स्नेहपूर्ति-परीक्षा—इस ग्रन्थ के नाम से ही प्रतीत हो रहा है कि यह महामहोपाध्याय प० राममिश्र शास्त्री के मौलिक ग्रन्थ 'स्नेहपूर्ति' के सिद्धान्तो की आलोचना मे लिखा गया है। राममिश्र शास्त्री विशिष्टाद्वैतमतानुयायी मान्य विद्वान् थे। उन्होने अपने ग्रन्थ मे विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के सिद्धान्तो का प्रतिपादन नयी युक्तियो तथा नवीन तर्कों के सहारे किया। इसी ग्रन्थ की आलोचना म० म० केशव शास्त्री ने अद्वैतवेदान्त की दृष्टि से की है।

(३) ज्ञान-सिद्धान्त-चन्द्रिका—केशवशास्त्री ने अग्रेजी का कम उम्र मे ही प्रौढ़ ज्ञान प्राप्त कर अग्रेज दार्शनिक बर्कले की प्रख्यात रचना A Treatise concerning the Principles of Human Knowledge का अनुवाद सस्कृत मे किया, यह कम आश्चर्य का विषय नही है। अनुवाद सरल सस्कृत मे सस्कृत की दार्शनिक पद्धति का अनुसरण कर किया गया है। वह मूल सस्कृत ग्रन्थ प्रतीत होता है। उस पर अनुवाद की कोई छाया दीख नही पड़ती। इस ग्रन्थ का एक उद्धरण शास्त्रीजी की अनुवाद-क्षमता तथा सुबोध रचना के प्रदर्शन के निमित्त यहाँ दिया जा रहा है—

अध्यात्मशास्त्रस्य विज्ञानफलकत्वादिद तावत् सयुक्तिकमाशास्यते यदेतच्चिराभ्यासिनो जना जनान्तरमपेक्ष्याधिकसुखमनुभवेयुः। तेषा मनश्च सर्वथा शान्तं सन्देहाद्यदूषित च स्यात्। अनधीताध्यात्मशास्त्रकास्तु पुनः स्वापरिष्कृतानुभवमेव बहु मन्यमाना निजनैसर्गिक बुद्धिवशगताः सर्वत्र निःशङ्का विचारशून्या यथाश्रुतग्राहिणश्च भवन्ति।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालय ने किया है। इस ग्रन्थ के सम्पादक प० राधेश्यामधर द्विवेदी ने बर्कले के दार्शनिक सिद्धान्तो का प्रस्तावना रूप से सस्कृत तथा हिन्दी मे सक्षेप मे वर्णन किया है जिसकी सहायता से मूल ग्रन्थ के तथ्यो को समझने मे सहायता मिलती है। इस प्राचीन ग्रन्थ के उद्धार के लिए वे सस्कृत-प्रेमियो के प्रभूत प्रशसा के पात्र है।

(४) शनि-माहात्म्य—सस्कृत मे निबद्ध यह छोटा सा ग्रन्थ है जिसमे शनि के माहात्म्य का प्रतिपादन किया गया है।

इन्होने अनेक अन्य ग्रन्थो की रचना की है जो अभी तक प्रकाशित नही हो सके। ये काशी मे ब्रह्माघाट मुहल्ले म रहा करते थे जो पञ्चगगा घाट के पूरब मे स्थित है।

(५) योगवार्तिक[१]—केशव शास्त्री ने तात्या शास्त्री के साथ मिलकर सम्मिलित रूप से 'योगवार्तिक' का सम्पादन किया इसके आरम्भ मे इन्होने 'योगवार्तिकोपसहार' नामक प्रस्तावना मे पूरे ग्रन्थ की सुबोध सस्कृत मे गम्भीर आलोचना की है वार्तिक के लेखक विज्ञानभिक्षु ने इस ग्रन्थ मे स्थान स्थान पर शकराचार्य के मत का खण्डन किया है। केशव शास्त्री अद्वैत वेदान्ती थे शकराचार्य व दृढ़ अनुयायी थे इन्होने विज्ञानभिक्षु के मत का खण्डन बड़े ऊहापोह के साथ किया है। फलतः योगवार्तिक का सस्करण निकालने मे इनका वैदुष्य भलीभाँति प्रकट होता है तथा शकर के सिद्धान्तो के मण्डन मे भी इनकी बुद्धि का वैभव दृष्टिगोचर होता है।

इसमे कोई सन्देह नही कि केशव शास्त्री भी अपने समय के एक उद्भट दार्शनिक विद्वान् थे, जो भारतीय दर्शन से पूर्ण परिचित होने के साथ ही साथ पाश्चात्त्य दर्शन से भी गाढ़ परिचय रखते थे। पाश्चात्त्य दर्शन के दुरूह अग्रेजी मे निबद्ध ग्रन्थो का सुबोध सस्कृत मे अनुवाद करना इनके प्रकृष्ट पाण्डित्य तथा सस्कृत और अग्रेजी उभय भाषाओं के गम्भीर ज्ञान का निःसन्देह परिचायक है।



१ प्रकाशन मेडिकल हाल, काशी से ही हुआ है आज से लगभग एक सौ वर्ष पूर्व १८८४ ई० मे



पं० सुधाकर द्विवेदी

१५

पण्डित सुधाकर द्विवेदी

(आस्पद—द्विवेदी; उपाधि—महामहोपाध्याय)

आधुनिक ज्योतिष शास्त्र के इतिहास मे महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी का नाम सिद्धान्त ज्योतिष के उन्नायक के रूप मे सदा अमर रहेगा। इन्होने ज्योतिष शास्त्र के लुप्तप्राय प्राचीन ग्रन्थो को प्रकाश मे लाने मे तथा अपनी व्याख्या, भाष्य एव उपपत्तियो से सुबोध बनाने मे अपनी प्रतिभा का जो चमत्कार दिखलाया है वह विद्वानो को आश्चर्य मे डाल देता है। हिन्दी साहित्य के उदय एव अभ्युदय के लिए भी जो कार्य इन्होने किया वह नितान्त आदरणीय एव उपादेय है।

(क) जीवनी

जन्म

पण्डित सुधाकर द्विवेदी का जन्म वाराणसी के खजुरी नामक गॉव मे हुआ था। यह गाव आजकल उपरागसा कचहरी के पूर्व मे स्थित एक मुहल्ला है। इनका जन्म स० १९१७ वि० (सन् १८६० ई०) मे हुआ था। इनके पूर्वजो का मूल निवास गोरखपुर जनपद मे था। इनके वृद्ध प्रपितामह काशी मे आकर अपने नाना के यहा दत्तक के रूप मे रहने लगे थे। इनके नाना के पास स्थायी प्रचुर भूसम्पत्ति थी। काशी मे कलक्टरी के लिए तथा कचहरी के भवन के निर्माण के लिए सरकार ने इनके नाना की जमीन का अधिग्रहण किया था। आजकल जहाँ काशी मे रिजर्व पुलिस लाइन स्थित है वह जमीन भी इनके नाना की सम्पत्ति थी।

इनके नामकरण के सम्बन्ध मे यह बात प्रसिद्ध है। उन दिनो काशी मे 'सुधाकर' नामक पत्र प्रकाशित होता था। जिस समय इनका जन्म हुआ उस समय इनके पिताजी अनुपस्थित थे। इनके जेठे नाना श्री रामेश्वरदत्त को डाकिये ने 'सुधाकर' पत्र की प्रति ज्यो ही दी, त्यो ही घर की नौकरानी ने इनके जन्म की प्रथम सूचना चाचाजी को दी। इस शुभ समाचार से अत्यन्त आह्लादित होकर इनके चाचा ने इसी समय कहा—"सुधाकर पत्र की प्रति मिलने के साथ ही मुझे शिशु के जन्म की शुभ सूचना मिली है। अतएव इस बालक का नाम 'सुधाकर' होगा और यह हमारे वश को सुधाकर के समान उजागर करेगा।" भविष्य की घटनाओ ने यह प्रमाणित कर दिया कि इनके चाचा की भविष्यवाणी इनके सम्बन्ध मे अक्षरशः चरितार्थ हुई। सुधाकरजी का परिवार भरा-पूरा था। पिता तथा पितामह के साथ ही चार चाचा भी जीवित थे। इतने समृद्ध परिवार मे जन्म लेने पर भी दुर्भाग्यवश इन्हे मातृसुख नही मिल सका, क्योकि नौ मास की अवस्था मे ही इनकी माता का स्वर्गवास हो गया। अतः इनके पालन पोषण का भार इनके दादा-दादी पर आ पडा। घर का लाडला पुत्र होने के कारण इनका अक्षरारम्भ सात वर्षों तक नही हो सका था। अतः जन्म के आठवे

वर्ष में इनका अक्षरारम्भ संस्कार फाल्गुन शुक्ल पनमी संवत् १९२५ वि० (१८६८ ई०) को हुआ।

शिक्षा

इनके पिता का जीविका यजमानी वृत्ति से चलती थी। अतः इनके पिताजी का उद्देश्य केवल यही था कि उनका पुत्र कुछ ज्योतिष और व्याकरण का अध्ययन कर अपनी यजमानी वृत्ति को ठीक-ठीक चालू रखे और जन्मकुण्डली बनाकर तथा लग्न-मुहूर्त देखकर अपनी जीविका चलाता रहे। अतः तत्कालीन सस्कृत कॉलेज में नाम लिखाकर ये **दुर्गादत्त शास्त्री** से व्याकरण शास्त्र का अध्ययन करने लगे। एक दिन इनके पिताजी इन्हें अध्ययन करने के लिए अपने साथ संस्कृत कॉलेज ले गये और उस कक्ष मे जाकर अध्ययन करने का सकेत किया जिस कक्ष में म० म० बापूदेव शास्त्री तथा उनके सहायक **पं० देवकृष्ण मिश्र** दोनों ज्योतिर्विद् एक साथ आमने-सामने बैठकर ज्योतिष का अध्यापन करते थे। सुधाकरजी ने गलती से अथवा अनजान में प० बापूदेव शास्त्री के पास न जाकर उनके सहायक पण्डित देवकृष्ण मिश्र के यहाँ अध्ययन करना प्रारम्भ किया। पिता के पूछने पर इन्होंने अपने गुरु का नाम बतलाया। इस पर इनके पिताजी इन्हे डॉटने लगे और उन्होंने बापूदेव शास्त्री से अध्ययन करने का आग्रह किया। परन्तु इन्होंने कहा कि मैने अब जिस गुरु के सामने पोथी खोल दी उसीको गुरु मानूँगा। इस प्रकार इन्होने समस्त ज्योतिष का अध्ययन देवकृष्ण पंडित से ही किया।

एक अविस्मरणीय घटना

उस समय की एक घटना नितान्त प्रसिद्ध है जिससे बालक सुधाकरजी की गणितीय प्रतिभा का पूर्ण परिचय मिलता है। म० म० बापूदेव शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'बीजगणित प्रथम भाग' की एक प्रति अपने सहायक प० देवकृष्ण मिश्र को भेंट मे दी थी। सुधाकरजी ने ग्रन्थ की अपूर्वता का विचार कर उसे अध्ययन के लिए गुरु से माँगा और अपने घर ले आये। रातों-रात ही उन्होंने उस समस्त ग्रन्थ का नितान्त मनोयोग से अध्ययन कर लिया और उसमें गणितसबन्धी अनेक अशुद्धियाँ निकाली। दूसरे दिन उस ग्रन्थ का सम्पूर्ण सशोधन लाल स्याही से कर उसे गुरुजी को ले जाकर दिखलाया और सरल भाव से कहा—"गुरुजी! इस ग्रन्थ में तो बहुत सी अशुद्धियाँ है।" अपने छात्र से 'छोटे मुँह बड़ी बात' सुनकर गुरु काँपने लगे और अपने छात्र को सकेत से तथा मौखिक रूप से कहा कि "चुप रहो, चुप रहो। शास्त्रीजी के विषय में ऐसी अपमानजनक बातें मत कहो।"

उसी कमरे के एक दूसरे छोर पर बैठे हुए बापूदेव शास्त्रीजी के कानों में इस फुसफुसाहट की आवाज सुनाई पड़ी और उन्होंने अपने सहायक पण्डितजी से पूछा कि क्या बात है? पण्डित देवकृष्ण मिश्र ने अपने छात्र की 'प्रातिभ उद्दण्डता' की कथा उन्हें कह सुनाई। शास्त्रीजी ने जब उस संशोधन को देखा, तब उसे नितान्त सत्य पाया और अप्रसन्न होने के स्थान पर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने उस कॉलेज के तत्कालीन प्रिन्सिपल ग्रिफिथ साहब के पास सुधाकरजी की प्रशंसा करते हुए लिखा कि **अयं सुधाकरशर्मा गणिते बृहस्पतिसमः** अर्थात् यह सुधाकर गणित में बृहस्पति के समान है। इतना ही नहीं, उन्होंने सुधाकरजी को पुरस्कार देने के लिए अपनी सस्तुति भी लिख भेजी। सुधाकरजी ने इस संस्तुति के फलस्वरूप अनेक पारितोषिक प्राप्त किये।

सुधाकर द्विवेदीजी अपनी छात्रावस्था की इस महनीय घटना की चर्चा जब अपने छात्रो की मण्डली मे करते थे, तब प्रायः यह कहा करते थे कि कॉलेज के प्रिन्सिपल के हाथो से जिस समय मुझे यह पुरस्कार प्राप्त हुआ था, वह समय मेरे जीवन का सबसे अमूल्य और अविस्मरणीय क्षण था। जब मै ग्रिफिथ साहब तथा ज्योतिष-विभागाध्यक्ष के कर-कमलो से प्राप्त पुरस्कार लेकर अपने गुरुजी के पास आ रहा था तब आनन्दातिरेक के कारण मुझे यह ज्ञात नही हो रहा था कि मेरे चरण इस ठोस पृथ्वी पर पड रहे है अथवा आकाश मे। आनन्दातिरेक का ऐसा अनुभव होना स्वाभाविक क्यो न हो, सुधाकरजी उस समय केवल सोलह वर्ष के बालक थे। उनकी विलक्षण मेधा की तथा उस युग के सर्वश्रेष्ठ ज्योतिषी एव सस्कृत कॉलेज के सबसे बडे अग्रेज अधिकारी ग्रिफिथ साहब के द्वारा दी गई इनकी अलौकिक प्रतिभा की प्रथम मान्यता (रिकाग्निशन) जो थी।

अध्यापन

विद्याध्ययन के पश्चात् सुधाकरजी को जीविका की चिन्ता हुई, परन्तु यह समस्या भी सरलता से सुलझ गई। अपनी छात्रावस्था मे ही ये कुछ मैथिल छात्रो का अध्यापन किया करते थे। इन्ही गुरुभक्त शिष्यो ने मिथिलाधिपति महाराजाधिराज दरभगा-नरेश से सुधाकरजी के अलौकिक पाण्डित्य की कथा कह सुनाई। इनकी विद्वत्ता से प्रसन्न होकर महाराजा ने काशी मे स्थापित अपने 'दरभगा सस्कृतविद्यालय' मे इन्हे ज्योतिष शास्त्र का प्रधानाध्यापक नियुक्त किया। वहाँ द्विवेदीजी ने केवल दो-तीन वर्ष ही अध्यापन कार्य किया। इसी बीच मे गवर्नमेण्ट सस्कृत कॉलेज के प्रिन्सिपल के पद से डॉ० ग्रिफिथ के अवकाश लेने पर **डॉ० थीबो** की नियुक्ति हो गई। डॉ० थीबो गणित के स्वय प्रकाण्ड विद्वान् थे। अतः उन्होने पण्डित सुधाकरजी की कीर्ति सुनकर इन्हे 'सरस्वती भवन' पुस्तकालय का अध्यक्ष नियुक्त कर समुचित पद पर प्रतिष्ठापित कर दिया। इस पद पर इन्होने लगातार छह वर्षों तक कार्य किया। इस काल मे इन्होने सरस्वती भवन की हस्तलिखित पुस्तको का गम्भीर अध्ययन किया जिसका फल इन्हे अपनी **गणक-तरगिणी** आदि अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थो के लिखने मे मिला।

सन् १८८६ ई० मे म० म० बापूदेव शास्त्री ने कॉलेज की नौकरी से अवकाश ग्रहण किया। इसी रिक्त स्थान पर डॉ० थीबो ने इनकी नियुक्ति कर दी। इस प्रकार केवल उन्तीस वर्ष के वय मे द्विवेदीजी राजकीय सस्कृतकॉलेज के ज्योतिष विभाग के प्रधानाध्यापक के आदरणीय पद पर प्रतिष्ठित हो गये। इस पद को द्विवेदीजी ने लगातार इक्कीस वर्षों तक सुशोभित किया। सच तो यह है कि यही काल द्विवेदीजी के जीवन मे चरमोत्कर्ष होने के कारण स्वर्णिमकाल माना जाता है।

इस नियुक्ति के पहले ही सुधाकर द्विवेदी की यशश्चन्द्रिका पूर्ण रूप से प्रकाशित हो गई थी और भारत सरकार ने सन् १८८७ ई० मे महारानी विक्टोरिया के जुबिली उत्सव के अवसर पर इन्हे 'महामहोपाध्याय' की महनीय उपाधि से विभूषित किया था। उस समय इनकी अवस्था केवल सत्ताईस वर्ष की थी।

(ख) ग्रन्थ-रचना

म० म० सुधाकर द्विवेदी ने सस्कृत तथा हिन्दी मे अनेक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थो की रचना की है। इन्होने सिद्धान्तज्योतिष के सम्बन्ध मे अनेक मौलिक ग्रन्थो का निर्माण किया है, जो अपनी दुरूहता और अबोधगम्यता के लिए प्रख्यात है। इसके पश्चात् इन्होने ज्योतिषशास्त्र

के अनेक प्रख्यात प्राचीन ग्रन्थो की व्याख्या लिखी तथा उनका सशोधन कर प्रकाशित किया। इनके द्वारा रचित टीकाएँ केवल व्याख्या न होकर मौलिक ग्रन्थ के समान है जिनमे इन्होने अपने नवीन मत का प्रतिपादन भी किया है। इनके मौलिक ग्रन्थो का विवरण प्रस्तुत किया जाता है—

(क) मौलिक ग्रन्थ

(१) **दीर्घवृत्तलक्षणम्**—केवल २१वर्ष की अवस्था मे प्रणीत यह ग्रन्थ एक अत्यन्त दुरूह विषय का प्रतिपादन करनेवाला है। यह प्रथम रचना ही इनके गभीर अध्ययन तथा सुबोध व्याख्या-प्रणाली का विशद निर्देशक है। (२) **वास्तवचन्द्रशृङ्गोन्नतिसाधनम्**, (३) **भूभ्रमरेखानिरूपणम्**, (४) **ग्रहणे छादकनिर्णयः**, (५) **यन्त्रराजः**, (६) **प्रतिमाबोधकः**, (७) **धराभ्रमे प्राचीननवीनयोर्विचारः**, (८) **पिण्डप्रभाकरः**, (९) **गणकतरंगिणी**—इस ग्रन्थ मे ज्योतिष शास्त्र का कालक्रम के अनुसार विशिष्ट इतिहास प्रस्तुत किया गया है। इसमे अनेक लुप्तप्राय ज्योतिष के पण्डितो का प्रथम बार परिचय देकर इन्होने अपनी शोध-प्रवृत्ति को प्रदर्शित किया है। यह ग्रन्थ इनके अनुशीलन के गाम्भीर्य का द्योतक है। इसमे ५०० ई० से लेकर १८०० ई० तक होनेवाले ज्योतिषिया का जीवनचरित, उनके ग्रन्थ एव सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है। (१०) **द्युचरचारः**, (११) **समीकरणमीमासा** और (१२) **दिङ्मीमांसा**।

इन ग्रन्थो मे प्रथम ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन सन् १८८१ ई० मे ठीक आज से सौ वर्ष पूर्व द्विवेदीजी ने बनारस चौक मे स्थित ब्रजभूषणदास एण्ड कम्पनी के द्वारा कराया था। इसका द्वितीय सस्करण सरस्वतीभवन पुस्तकालय से सम्बद्ध पण्डित बलदेव मिश्र ने टिप्पणी आदि के द्वारा भूषित कर १९४३ ई० मे मास्टर खेलाडीलाल एण्ड सन्स (वाराणसी) द्वारा प्रकाशित किया था। छात्रो तथा अध्यापको के लिए अत्यन्त उपयोगी तथा नाना परीक्षाओं मे निर्धारित पाठ्य होने से इस ग्रन्थ की अनुपलब्धि अत्यन्त कष्टकारिणी थी। फलतः इसका तृतीय सस्करण अत्यन्त सुन्दर रूप मे १९८१ ई० मे सस्कृतविश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हुआ है।[१]

(ख) सम्पादित ग्रन्थ

द्विवेदीजी के द्वारा सम्पादित ग्रन्थो की विशेषता यह है कि इन्होने प्राचीन ग्रन्थो की अनेक हस्तलिखित प्रतियो को एकत्र कर, उनके पाठो का मिलान कर उन्हे वैज्ञानिक पद्धति से सम्पादित किया है। इसके अतिरिक्त इन्होने उन ग्रन्थो पर अपनी टीका, व्याख्या अथवा उपपत्ति लिखकर उन्हे सरल, सुबोध तथा बोधगम्य बनाने का प्रयास किया है जिससे उन दुरूह ग्रन्थो का मर्म साधारण पाठक भी आसानी से समझ सके। इनके द्वारा सुसम्पादित ग्रन्थो का वर्णन नीचे दिया जाता है –

(१) **पञ्चसिद्धान्तिका**, (२) **सिद्धान्ततत्त्वविवेक.**, (३) **शिष्यधीवृद्धितन्त्रम्**, (४) **करणकुतूहलवासना**, (५) **लीलावती**- इस ग्रन्थ पर सुधाकरजी ने अपनी टीका लिखी है। (६) **बृहत्संहिता**-- भट्टोत्पलभाष्य के साथ। बारह सौ (१२००) पृष्ठो के इस महनीय ग्रन्थ का सम्पादन सात विभिन्न हस्तलिखित प्रतियो के आधार पर बड़े परिश्रम से किया गया है।

---

१ द्रष्टव्य : 'सारस्वती सुषमा' (वर्ष ३४, अक १ २, १९७९ ई०) की लघुग्रन्थमाला मे ३३वे ग्रन्थरूप मे प्रकाशित।

भट्टोत्पल की टीका इतनी अस्तव्यस्त तथा अशुद्ध थी कि द्विवेदीजी ने अपनी भूमिका में लिखा है कि "इस ग्रन्थ के सम्पादन में जितना परिश्रम मुझे करना पडा उसके दशमाश परिश्रम से एक नयी नूतन टीका का मै प्रणयन कर सकता था।" इस कथन से ही सम्पादक की लगन, अध्यवसाय तथा कठोर परिश्रम का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।[१] (७) **ब्राह्म स्फुट सिद्धान्त**—इस ग्रन्थ का सम्पादन द्विवेदीजी ने इण्डिया आफिस लाइब्रेरी से इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ मँगाकर किया था। **चतुर्वेदाचार्य** नामक किसी प्राचीन दैवज्ञ के भाष्य पर आधारित। द्विवेदीजी ने अपनी 'तिलक' नामक व्याख्या से इस ग्रन्थ को विभूषित किया। (८) **ग्रहलाघव**—इस ग्रन्थ पर द्विवेदीजी ने एक नवीन टीका लिखी है। इसके साथ ही इन्होंने दो प्राचीन टीकाओं को भी प्रकाशित किया है जिसके कारण पाठको को इसे समझने में बड़ी सुविधा होती है। (९) **त्रिंशिका**—स्वरचित नयी टीका के साथ प्रकाशित, (१०) **करण-प्रकाश**--स्वकीय उपपत्ति के साथ। (११) **बीजगणित** –इस पर भी इन्होने टिप्पणी लिखी है। (१२) **सिद्धान्त-शिरोमणि**--भास्कराचार्य के इस सुप्रसिद्ध ग्रन्थ पर इन्होने विशद व्याख्या लिखी है। (१३) **सूर्यसिद्धान्त**— इस ग्रन्थ पर द्विवेदीजी ने **सुधावर्षिणी** नामक नवीन टीका का निर्माण किया था जो इनका सम्भवतः अन्तिम ग्रन्थ है। इसमे इन्होंने कमलाकर भट्ट की 'सौरवासना' टीका की तथा उन्हीके पिता नृसिंह भट्ट के 'सौरभाष्य' की स्थान-स्थान पर आलोचना की है। सुधाकरजी की यह टीका बडी ही मार्मिक तथा तलस्पर्शिनी मानी जाती है। पाश्चात्त्य गणित में डिफरेन्शियल कैलकुलस[२] एव इन्टेग्रल कैलकुलस[३] नामक सिद्धान्त अत्यन्त गहन तथा दुर्बोध माने जाते है। द्विवेदीजी ने इन सिद्धान्तो की हिन्दी-भाषाभाषियो को जानकारी के लिए दो स्वतन्त्र तथा मौलिक ग्रन्थो की रचना की जिनमे प्रथम का नाम (१४) **चलन-कलन** तथा द्वितीय का (१५) **चलराशि कलन** है। (१६) अकगणित का इतिहास--इस ग्रन्थ मे पाश्चात्त्य तथा पौरस्त्य देशो मे अक. लिपि, दशमलव, गुणा, भाग, वर्गमूल, घनमूल की उत्पत्ति तथा विकास का इतिहास बडी ही प्रामाणिक पद्धति से प्रस्तुत किया गया है।

(१७) 'वेदाङ्ग ज्योतिष' पर भाष्य

वेदाङ्ग ज्योतिष दो वाचनाओं (रिशेन्शन्स) मे उपलब्ध होता है एक है यजुर्वेदीय और दूसरा है ऋग्वेदीय। इन दोनो वाचनाओं के पाठो और सख्या मे बहुत भेद है। फलतः वे पृथक्-पृथक् दो ग्रन्थ माने जाते है। यजुर्वेदीय याजुष ज्योतिष पर सोमाकर शेष का लिखा भाष्य पहले से ही विद्यमान था। इस भाष्य की आलोचना करते हुए श्री छोटेलाल नामक संस्कृतज्ञ इजीनियर ने 'बृहस्पति' के उपनाम से 'हिन्दुस्तान रिव्यु' मे सन् १९०६ में अनेक लेखों का प्रकाशन किया। परन्तु छोटेलाल के इन लेखों में अनेक अशुद्धियाँ भरी पड़ी थी। इन्हीं अशुद्धियों के निराकरण के लिए प० सुधाकर द्विवेदी ने याजुष ज्योतिष पर भाष्य की रचना की। आर्य ज्योतिष पर अब तक कोई टीका नही थी। इस अभाव की पूर्ति के लिए इन्होंने इसका नवीन भाष्य लिखा। सुधाकरजी के इस भाष्य को अधिक स्पष्ट करने के लिए,

१ इस ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से आचार्य बलदेव उपाध्याय के सम्पादन में सन् १९६८ ई० में दो भागो मे प्रकाशित हुआ है।

२. Differential Calculus.

३. Integral Calculus

उनके प्रसिद्ध शिष्य ज्योतिष के विद्वान् प० मुरलीधर झा ने 'लघु विवरण' नामक अपनी टीका की रचना की। इस टीका का अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।[१]

हिन्दी में ग्रन्थरचना

प० सुधाकर द्विवेदी ने हिन्दी-साहित्य की भी प्रचुर सेवा की है। इन्होने जायसीकृत पद्मावत महाकाव्य का सर्वप्रथम उद्धार किया। इन्होने अनेक हस्तलिखित प्रतियो के आधार पर इस महाकाव्य का सशोधित सस्करण डॉ० ग्रियर्सन के साथ मे अपनी 'सुधाकर-चन्द्रिका' नामक टीका के साथ सम्पादित किया जो बिब्लोथिका इण्डिका, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। इनका दूसरा ग्रन्थ **तुलसी सुधाकर** है जिसमे **तुलसी सतसई** पर सुधाकरजी द्वारा निर्मित कुण्डलियाँ लगाई गई है। इन्होने गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित मानस के बालकाण्ड का सस्कृत मे अनुवाद भी किया था। इसके साथ ही विनय पत्रिका का भी अशतः सस्कृत मे अनुवाद प्रकाशित कर सस्कृत प्रेमियो का बडा उपकार किया है।

इतने विविध ग्रन्थो के प्रणेता होने मे द्विवेदीजी के अध्यवसाय, मनन, अनुशीलन तथा विद्वत्ता का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

ऊपर निर्दिष्ट ग्रन्थो के अनुशीलन मे यह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि द्विवेदीजी की दृष्टि मे सिद्धान्त ज्योतिष ही ज्योतिष शास्त्र का शीर्षस्थानीय है। इस ज्योतिष की गरिमा तथा प्रतिष्ठा की स्थापना के लिए ही इन्होने इन सिद्धान्त ग्रन्थो का सम्पादन किया तथा स्वय उनकी टीका एव भाष्य लिखकर इन्हे महिमा के सिहासन पर प्रतिष्ठापित किया। इसके अतिरिक्त इन्होने अपने शिष्यो के ऊपर भी इस तथ्य की छाप दृढ़ता से डाली। फलित ज्योतिष के ऊपर द्विवेदीजी की आस्था नही थी और ये उसे जीवनयापन का केवल साधन समझते थे। अपने इस सिद्धान्त का प्रकाशन इन्होने अपनी एक हिन्दी कविता मे भी किया है जिसकी अन्तिम पक्ति निम्नाकित है -

छायो है कराल कलिकाल जगती पै आज।
तीमी के ही भाव सारे ज्योतिषी बिकायेगे॥

परिवार

प० सुधाकर द्विवेदी का परिवार भरा पूरा था। ईश्वर की कृपा से इन्हे तीन पुत्ररत्न प्राप्त हुए-(१) अच्युताकर द्विवेदी, (२) कमलाकर द्विवेदी और (३) पद्माकर द्विवेदी। इनमे से ज्येष्ठ पुत्र अच्युताकर द्विवेदी तहसीलदार थे। कमलाकर द्विवेदी डिप्टी कलक्टर के पद को अनेक वर्षों तक सुशोभित करते रहे। अन्त मे बलिया जिले के कलक्टर के पद से इन्होने अवकाश ग्रहण किया। कनिष्ठ पुत्र पद्माकरजी गवर्नमेण्ट सस्कृतकॉलेज, वाराणसी मे ज्योतिष विभाग के अध्यक्ष थे। इस प्रकार इन्होने 'योग्य पिता का योग्य पुत्र' इस लोकोक्ति को चरितार्थ करते हुए अपने पिताजी की गद्दी को अलकृत किया।

शिष्यमण्डली

म० म० प० सुधाकर द्विवेदीजी बड़े ही सफल अध्यापक थे। गवर्नमेण्ट सस्कृत कॉलेज, बनारस मे ज्योतिष के अध्यापक नियुक्त होने के पूर्व ये सरस्वतीभवन-पुस्तकालय के पुस्तकालयाध्यक्ष नियुक्त किये गये थे। उस समय से ही इन्होने अध्यापनकार्य करना प्रारम्भ

---

१ ये तीनो ग्रन्थ काशी के मेडिकल हाल प्रेस से सन् १९०८ ई० मे प्रकाशित हुए थे।

कर दिया था। अतः इनकी शिष्य-मण्डली अत्यधिक है। इनके शिष्य प्रधान रूप से मिथिला और काशी मण्डल में पाये जाते हैं। वैसे तो इनके शिष्यों की संख्या विशाल है परन्तु इनके प्रधान चार शिष्यों का वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। ये शिष्य हैं—

(१) म० म० पं० मुरलीधर झा।

(२) पं० बलदेव मिश्र।

(३) पं० रामयत्न ओझा।

(४) पं० बलदेवदत्त पाठक।

इन शिष्यों में से प्रथम दो मैथिल और अन्तिम दो सरयूपारीण ब्राह्मण थे। (१) म० म० पं० मुरलीधर झा तथा (२) श्री बलदेव मिश्र का विस्तृत वर्णन अन्यत्र उपस्थित किया गया है।

(३) पण्डित रामयत्न ओझा

(आस्पद—ओझा; उपाधि—ज्योतिषमहार्णव)

पण्डित रामयत्न ओझा अपने समय के ज्योतिषियों में प्रखर शास्त्रीय ज्ञान तथा व्यापक व्यवहार-परिचय के कारण महनीय स्थान धारण करते थे। इनका जन्म बिहार प्रान्त के छपरा जनपद के अन्तर्गत 'माझी गाँव' में हुआ था। स्थानीय पाठशाला में संस्कृत के व्याकरण, साहित्य शास्त्रों का परिचय प्राप्त करने के अनन्तर ये काशी में ज्योतिष विद्या पढ़ने आये। सुधाकर द्विवेदी से इन्होंने ज्योतिष के सिद्धान्त और गणित का विधिवत् अध्ययन किया तथा फलित ज्योतिष का अध्ययन इन्होंने काशी के नईबस्ती-निवासी प्रख्यात ज्योतिषी प० अयोध्यानाथ शर्मा से किया। इन सुयोग्य गुरुओं के द्वारा सुशिक्षित किये जाने पर इनकी गणितीय प्रतिभा चमक उठी। महामना मालवीयजी की दृष्टि इनके ऊपर पड़ी। उन्होंने इन्हें बुलाकर विश्वविद्यालय के अन्तर्गत सस्कृत महाविद्यालय के ज्योतिष-विभाग का अध्यक्ष बनाया। ये सिद्धान्त गणित तथा फलित ज्योतिष दोनों के असाधारण विद्वान् थे। अध्यापन में भी बहुत कुशल तथा निष्णात थे। यहाँ रहकर इन्होंने अनेक छात्रों को ज्योतिष का व्युत्पन्न विद्वान् बनाया, जिनमें ज्योतिषमार्तण्ड **पं० रामव्यास पाण्डेय** मुख्य थे। इन्होंने पहली बार मालवीयजी की सम्मति से 'पंचाग' का निर्माण किया, जो 'विश्वपञ्चाङ्ग' के नाम से प्रसिद्ध है। अन्य पचांगों से इसमें अनेक विशिष्टताएँ हैं। इसमें धर्मशास्त्र-विषय के ज्ञातव्य सिद्धान्त तथा पौराणिक कथाएँ समुचित स्थानों पर दी गयी है। इस विश्वपञ्चाङ्ग के आद्य संपादक ये ही दो व्यक्ति थे—महामना मालवीयजी तथा रामयत्न ओझाजी।

फलित ज्योतिष मे भी गणित के समान ही इनकी प्रतिभा का प्रसार विशेष लक्षित होता है। इनके द्वारा विरचित फलित के दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं—(१) **जैमिनि सूत्र की टीका**—इसमें फलित ज्योतिष की अनेक उपयोगी गवेषणाएँ उपस्थित की गई हैं। (२) **फलित-विकास**—यह बड़ा ही उपादेय मौलिक ग्रन्थ है। इसमें फलादेश के नियमों के लिए सम्यग् आधार प्रस्तुत किये गये हैं। इसमें अनेक महापुरुषों तथा प्रसिद्ध व्यक्तियों की कुण्डलियों के अध्ययन तथा उनके ज्ञात चरित्र के साथ उनका सम्यक् संतुलन निर्धारित किया गया है। इसमें इनकी प्रतिभात नई-नई सूझें भी हैं। इन्हीं गुणों के कारण मालवीयजी इनका विशेष आदर करते थे। १९३८ ई० में इनका निधन काशी में ही हुआ।

(४) श्री बलदेवदत्त पाठक

(आस्पद—पाठक, उपाधि—ज्योतिषरत्न)

द्विवेदीजी के चतुर्थ शिष्य पं० बलदेवदत्त पाठक थे। इनके पूर्वपुरुष गोरखपुर जनपद के निवासी थे जहाँ से आकर इनके पितामह काशी मे बस गये थे। इनके पिता का नाम प० रामदीहल पाठक था। प० बलदेव पाठक का जन्म स० १६३० विक्रमी (सन् १८७३ ई०) मे गोरखपुर जनपद के देवापार नामक गाँव मे हुआ था। केवल आठ वर्ष के वय मे ये काशी आये और अपने पिता की छत्रच्छाया मे अध्ययन करने लगे। इनके पिता भी अच्छे ज्योतिषी थे और सुधाकर द्विवेदी के मित्र थे। अतः इन्होने अपने पुत्र को पढ़ाने के लिए द्विवेदीजी से प्रार्थना की और इस प्रकार पाठकजी द्विवेदीजी से अध्ययन करने लगे तथा ज्योतिषाचार्य की उपाधि प्राप्त की।

खगोल विद्या के विशेष ज्ञान के लिए ज्योतिष शास्त्र मे उल्लिखित यत्रो के निर्माण मे इनकी बड़ी रुचि थी। इन्होने ही **नाड़ी वलय यत्र** का निर्माण किया था जो हिन्दू विश्वविद्यालय मे ज्योतिष शास्त्र की जानकारी के लिए प्रयोग मे लाया जाता है। इन्होने धूप घड़ी (सन डायल) के निर्माण के लिए एक सस्था भी स्थापित की थी जिसके द्वारा निर्मित धूपघडियाँ काशी तथा इस नगर के बाहर भी स्थापित की गई है। इन्होने अनेक ग्रन्थो की रचना की है। परन्तु इनका केवल एक ही ग्रन्थ **मण्डप कुण्ड सिद्धि** आजकल प्रकाशित हो सका है। इनके सुयोग्य पुत्र **पण्डित गणेशदत्त** पाठक उभयविध ज्योतिष के मर्मज्ञ विद्वान् है। उन्होने 'गोयनका सस्कृतमहाविद्यालय' मे ज्योतिष विभाग के अध्यक्ष-पद पर प्रतिष्ठित होकर अनेक सुयोग्य छात्रो को तैयार किया है। प० बलदेव पाठकजी के ही अन्यतम शिष्य है—पण्डित केदारदत्त जोशी जिन्होने मुनीश्वर द्वारा प्रणीत भास्कराचार्य के 'सिद्धान्तशिरोमणि' की 'मरीचि' व्याख्या का सुसम्पादित सस्करण दो खण्डो मे प्रकाशित किया है (हिन्दू विश्वविद्यालय काशी, १६६४ ई०)।

द्विवेदीजी की काव्य-रचना

प० सुधाकर द्विवेदी शुष्क गणितज्ञ नही थे, अपितु अत्यन्त सरस साहित्यिक भी थे। इस दिशा मे ये भास्कराचार्य के प्रतिनिधि-स्वरूप थे। जिस प्रकार भास्कराचार्य ने एक ओर ज्योतिष शास्त्र के कठिन तथा सूक्ष्म तत्त्वो का प्रतिपादन किया है और दूसरी ओर अपने ग्रन्थों मे सरस काव्य की सरस्वती बहाई है, उसी प्रकार द्विवेदीजी ने भी सिद्धान्त ज्योतिष के ग्रन्थो की व्याख्या तथा भाष्य लिखकर उन्हे सुलभ एव सुबोध बनाया एव दूसरी ओर अपनी रसमयी कविता के द्वारा पाठको का मनोरजन भी किया है। भास्कराचार्य ही इनके आदर्श थे। अतः उनकी कृतियों का इन पर प्रचुर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

हिन्दी कविता

द्विवेदीजी का हिन्दी तथा सस्कृत दोनो ही भाषाओं पर समान अधिकार था। अतः दोनों में ही इन्होंने काव्य-रचना की है। एक बार ये भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के साथ राजघाट का पुल, जो उन दिनो निर्माणाधीन था, देखने के लिए गये। लौटते समय भारतेन्दु ने इस

पुल का वर्णन करने के लिए द्विवेदीजी से कहा। तब द्विवेदीजी ने झट से यह दोहा तत्काल सुना दिया—

राजघाट पर बनत पुल, जँह कुलीन की ढेरि।
आज गये कल देखिके, आजहि लौटे फेरि॥

कहने की आवश्यकता नही कि इस छोटे से दोहे मे श्लेष और विरोधाभास अलकारो की छटा दर्शनीय है। भारतेन्दु ने इस कविता से प्रसन्न होकर द्विवेदीजी को प्रचुर पुरस्कार दिया।

द्विवेदीजी ज्योतिष शास्त्र के प्रावीन आचार्यों की भाँति इस शास्त्र के कठिन सिद्धान्तो को भी हिन्दी काव्य के माध्यम से अभिव्यक्त करने मे पटु थे। सम्भवतः समीकरण के सम्बन्ध मे उनका यह दोहा आज भी एक समस्या बना हुआ है—

जर जोरत जरिगे चतुर, डार पात छितिराय।
राय निकारत हारगे, पार न भे छितिराय॥

प० सुधाकर द्विवेदी बड़े सरसहृदय तथा भक्त व्यक्ति थे। इनके उपास्यदेव भगवान् राम थे। ये रामचरित मानस का नित्य पारायण किया करते थे जिसे पढ़ते-पढ़ते इनकी आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती थी। इन्होने अपने ग्रन्थो के आदि और अन्त मे भगवान् राम की ही स्तुति की है। यथा 'चलराशिकलन' के प्रारम्भ मे ये रामचन्द्र की स्तुति में लिखते है

यल्लीला विमला विलोक्य विपुलप्रालेयबालालये,
भूपालेन्द्रललाट - लालनकलालेपाङ्कितक्ष्मातले।
उल्लङ्घ्य स्वकुलालिकूलकलितां लज्जानदीं मैथिली,
यल्लोकाऽऽकुलिता चचाल चलवद्रामाय तस्मै नमः॥

सूर्यसिद्धान्त के अन्त मे इन्होंने लिखा है—

सरलया किल देवगिरा मया, विलिखितां निखिलार्क-कलाकृतिम्।
बहुविधां परिचिन्त्य मतान्तरैर्निजकृतिर्गतिविद्भिरिहादृता॥

ग्रहलाघव के अन्त का यह श्लोक सुनिए—

इति सुधाकरनिर्मितवासना, सकलया कलया कलयासना।
चचरमध्यगतौ परया गता, भवलयाऽऽवलया वलयाऽऽसना॥

बृहत्सहिता की स्वकीय टीका के प्रारम्भ मे भगवान् राम की यह स्तुति कितनी भव्य है।

जयति सहितशेषोऽशेषलीला-विशेषो, जनक-वचन-धीरः सत्य-संकल्प-वीरः।
सकल-निज-जनानां शर्मदः सज्जनानां, दशरथनृपबालः कोशलेन्द्रो नृपालः॥

इन कतिपय श्लोको की आलोचना से द्विवेदीजी की काव्य-प्रतिभा का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

उपसंहार

पं० सुधाकर द्विवेदी की प्रतिभा, पाण्डित्य एव ज्योतिषशास्त्र के सम्बन्ध में आजकल के एक महान् ज्योतिर्विद् पद्मभूषण प० सूर्यनारायण व्यास ने जो लिखा है वह अक्षरशः सत्य है—

"अवश्य ही ज्योतिर्विज्ञान के सम्बन्ध में सुधाकरजी ने जो कार्य किया है वह असाधारण

है। गणेश दैवज्ञ के पश्चात् सम्भवतः ३०० वर्षों मे सुधाकरजी को छोड़कर ऐसा कोई कृती-शूर-मनीषी नही पैदा हुआ जिसने इस शास्त्र को सुधाकरजी की तरह देन दी हो। सुधाकरजी ने उपेक्षित ज्योतिर्विज्ञान को सप्राण और सुसमृद्ध बनाया। यद्यपि म० म० बापूदेव शास्त्री ने इस दिशा मे मोड दिया था और जीवन की प्रेरणा दी थी, परन्तु सुधाकरजी ने इसे पल्लवित, प्रथित और सुरक्षित बनाया। सुधाकरजी इस देश की विद्वद् विभूति थे। ये बहुमुखी प्रतिभा और पाण्डित्य के धनी थे। इन्होने ज्योतिषशास्त्र के प्रति पण्डितो की प्रज्ञा को प्रेरित और प्रभावित भी किया। इनके पश्चात् अभी तक ऐसा प्रवीण पुरुष उत्पन्न नही हुआ। निःसन्देह यह भारत का सौभाग्य है कि उसमे ऐसे महापुरुष जन्म लेते रहे है।"[1]

विज्ञानवीथीपथिकैरुपास्यः, सिद्धान्तसिहासनसार्वभौमः ।
प्राचीप्रतीचीगणितज्ञवन्द्यः, सुधाकरोऽय महनीयकीर्तिः ॥

(ग) संस्मरण

(१) प० सुधाकर द्विवेदी बडे ही कर्मठ व्यक्ति थे। अपने समय का एक भी क्षण यह व्यर्थ जाने नही देते थे। ग्रन्थो का अवलोकन, नये ग्रन्थ का प्रणयन, अध्ययन और अध्यापन, यही इनकी दैनिक दिनचर्या थी। इनका लक्ष्य था जीवितकाल मे ही अपनी लोकप्रसिद्धि की प्राप्ति और यह लक्ष्य पूर्ण रूप मे इन्हे सिद्ध हुआ। इनके इस परिश्रम तथा अध्यवसाय के प्रत्यक्षदर्शी थे बाबू कृष्णदासजी जो 'बनारस सस्कृत सीरीज' नामक ग्रन्थमाला के मालिक थे। वह कहते थे कि "द्विवेदीजी की पुस्तके इसी सीरीज मे प्रकाशित होती थी। प्रूफ लेकर मै उनके घर जब जाता था, तब एक अपूर्व दृश्य नेत्रो के सामने झलक उठता था। द्विवेदीजी चटाई पर बैठकर छोटी चौकी पर कुछ लिखते थे अथवा प्रूफ देखते थे। चारो ओर से उनके छोटे-छोटे पोता तथा नाती उन्हे घेरे रहते थे। कोई पीठ पर चढ़ता था, तो कोई पैर पर। नाना प्रकार के उत्पात मचाते थे ये बच्चे, परन्तु द्विवेदीजी को इससे तनिक भी व्याघात नही होता था। वे दत्तचित्त होकर अपने कार्य मे मनोयोगपूर्वक जुटे रहते थे और कृष्णदासजी को सम्बोधन कर कहने लगते कि अधिकाश बडे लोगो की प्रसिद्धि मरणोपरान्त होती है जिसे वे अपनी आँखो देख नही सकते। परन्तु मै तो अपने जीवितकाल मे ही अपनी प्रसिद्धि देखने मे समर्थ होऊँगा। मेरे समग्र व्यापार इसी प्रयोजन को लक्ष्य कर अग्रसर होते है।" द्विवेदीजी का यह कथन सोलहो आने सच्चा निकला और उन्होने जीते ही जीते अपनी अलोक-सामान्य प्रसिद्धि देखी और अपनी अभिलाषा की पूर्ति मे वे सर्वथा कृतकार्य रहे।

(२) अपने कथ्य को आग्रहपूर्वक युक्तियुक्त रूप से रखने और बड़े-से-बड़े व्यक्ति को अपने कथनो से प्रभावित कर अपना कार्य सिद्ध करने की कला मे ये अपना प्रतिद्वन्द्वी नही रखते थे। गणितज्ञ होने से इनकी युक्तियो के प्रतिपादन की शैली अनुपम थी। वाक्चातुरी इतनी अलौकिक थी कि ये शासन के उच्चाधिकारी को सद्यः प्रभावित कर देते थे। इस विषय की एक घटना बड़ी मार्मिक है। विद्यालय मे प्रथम प्राध्यापक (फर्स्ट प्रोफेसर) का पद रिक्त हुआ। उसके लिए किसी सीनियर पण्डित की नियुक्ति की जाती थी, जो विद्यालय की सेवा मे वरिष्ठ, प्रसिद्ध तथा वावदूक होता था। डॉ० वेनिस साहब म० म० गगाधर शास्त्री को स्वीय गुरु होने के नाते विशेष मानते थे और उन्होने उनके नाम की सस्तुति कर शिक्षा-विभाग के निदेशक (डाइरेक्टर) को अपना शासकीय पत्र भेज दिया। इस बात की खबर मिलते ही

---

१ प० केदारदत्त जोशी प्रणीत 'प० सुधाकर द्विवेदी का जीवन एव कृतियाँ' नामक ग्रन्थ की प्रस्तावना से।

सुधाकरजी यू० पी० के सर्वोच्च शासक (जो उस समय छोटा लाट कहलाता था) से मिलने के लिए नैनीताल चले गये। गरमी की छुट्टियो मे छोटे लाट नैनीताल मे ही विराजते थे। वहाँ पहुँचकर पण्डितजी ने अपनी वरिष्ठता युक्तियो से सिद्ध कर दी। बात यह थी कि ज्योतिष के प्राध्यापक पद पर नियुक्ति होने से पूर्व द्विवेदीजी कई वर्षों तक सरस्वती भवन के पुस्तकालयाध्यक्ष थे। दोनो पदो पर इनके कार्यकाल को मिला देने पर इनकी वरिष्ठता गगाधर शास्त्रीजी से सिद्ध हो जाती थी। अधिकारी के मन मे इनकी बात जम गई और नये गजट मे इनका नाम वरिष्ठ प्राध्यापक के रूप मे प्रकाशित हो गया। इस अनहोनी अप्रत्याशित घटना से वेनिस साहब आश्चर्यचकित हो गये। उनको विश्वास ही नही होता था कि शिक्षा विभाग का डाइरेक्टर उनकी सस्तुति की अवहेलना कर किसी दूसरे की नियुक्ति उस उच्च पद पर कर देगा। प्रिंसिपल महोदय के साथ पूरी अध्यापक मण्डली सुधाकरजी के इस अध्यवसाय तथा कार्य से नितान्त चमत्कृत हो गई। घटना का पूरा विवरण उनके लिए चमत्कार का विशिष्ट विषय ही बन गया। सुधाकरजी की कार्यक्षमता की द्योतिका यह घटना सचमुच आश्चर्यजनक है॥' बडे-से बडे अधिकारी पर अपना प्रभाव जमा डालना उनके बाये हाथ का खेल जो था।[1]

(३) पण्डित सुधाकर द्विवेदी गणित विद्या के जितने प्रौढ विद्वान् थे, उतने ही ये उसके सफल अध्यापक भी थे। गणित ज्योतिष तथा सिद्धान्त ज्योतिष मे इनकी अध्यापन-कला बडी ही तलस्पर्शिनी थी। इनके समझाने का ढग, कठिन से कठिन समस्याओं के समाधान करने की इनकी अलौकिक क्षमता अपूर्व थी। भारतीय गणित के सग उन्होने पाश्चात्त्य गणित का भी अध्ययन, बिना किसी गुरु के शिक्षण के, स्वय ही नैसर्गिक प्रतिभा के बल पर किया था। सिद्धान्त ज्योतिष के अध्यापन द्वारा उन्होने पचीसो मान्य तथा लोकपूजित ज्योतिषियो को तैयार किया जिनकी शिष्य-परम्परा आज भी चलती है। इस तथ्य मे किसी आश्चर्य का लेशमात्र भी स्थान नही है, क्योंकि यह तो उनकी परम्परागत पाण्डित्य की एक सर्वमान्य दिशा थी। आश्चर्य तो होता है आलोचको को उनके पाश्चात्त्य गणित के अध्यापन का कौशल देखकर।

अग्रेजी तथा सस्कृतकॉलेज की कक्षाएँ उस समय एक ही विद्यालय मे चलाई जाती थी। अतएव बी० एस सी० कक्षा के छात्रो को गणित पढाने का अवसर उन्हे प्रायः मिला ही करता था, जब उनके अध्यापक अवकाश पर रहते थे। दोनो कॉलेजो के अध्यक्ष (प्रिंसिपल) भी एक ही व्यक्ति डॉक्टर वेनिस ही थे। अतएव अग्रेजी कक्षाओं के अध्यापको के अवकाश ग्रहण के अवसर पर वे पण्डित सुधाकरजी को गणित पढाने का कार्य दिया करते थे। पण्डितजी कुछ कामचलाऊ अग्रेजी जानते थे। गणित के विषय मे उन्हीके छात्र कालीप्रसन्न चक्रवर्तीजी (जो गणित के साथ सस्कृत के भी परिनिष्ठित विद्वान् थे तथा हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल के हेडमास्टर थे) अपना अनुभव कहा करते थे कि सुधाकरजी कक्षा मे आकर जब ट्रिग्नोमेट्री के प्रमेयो को पढकर सुनाते थे, तब मालूम पडता था कि कोई थर्ड क्लास का छात्र अग्रेजी शब्दो को टो-टो कर पढ रहा है। परन्तु जब वे श्यामपट्ट पर सवाल समझाने लगते तब जान पडता कि भास्कराचार्य स्वय आकर प्रश्नो को समझा रहे है। विषम समस्याओं का समाधान वे इतनी सरलता, सहज भाव से करते थे कि साधारण-से-साधारण छात्र के लिए वह आसान बन जाता था। अग्रेजी अध्यापको के द्वारा अव्याख्यात प्रश्न का

१ इस घटना के प्रत्यक्षदर्शी व्याकरणाचार्य प० अम्बिकाप्रसाद उपाध्यायजी, जो उस समय उस कॉलेज मे आचार्य के विद्यार्थी थे, ने इस घटना का लेखक से वर्णन किया था।

रहस्य छात्रो के सामने स्वतः उद्घाटित हो जाता था। विलक्षण थी उस विचक्षण गणितज्ञ की अध्यापन-शैली।

(४) पण्डित सुधाकरजी ने अपने ज्येष्ठ आत्मज कमलाकर द्विवेदी को प्रयाग के म्योर सेन्ट्रल कॉलेज मे गणित मे एम० ए० कक्षा मे भर्ती किया था। वहाँ के गणित के विभागाध्यक्ष प्रो० नाक्स अपने विषय के जाने माने प्राध्यापक थे। पण्डितजी का उद्देश्य यही था कि उनके द्वारा पढ़ाये गये पाश्चात्त्य गणित मे उनका आत्मज परिनिष्ठित विद्वान् बन जाय। प्रो० नाक्स के अध्यापन का बडा ही सुखद प्रभाव कमलाकरजी के ऊपर पडा और अपने अग्रेज गुरु के सुयोग्य भारतीय शिष्य के रूप मे वे प्रतिष्ठित हुए। उन्हीके द्वारा नाक्स साहब सुधाकर द्विवेदी से परिचित हुए। उनकी विशद कीर्ति से परिचित होने के कारण वे असमाधेय तथा विषम गणितीय प्रश्न तथा समस्या सुधाकरजी के पास समाधानार्थ भेजा करते थे। कमलाकरजी के लौटने की नाक्स साहब बडी उत्सुकता से प्रतीक्षा किया करते थे और छुट्टी के बाद लौटने पर पिताजी के द्वारा व्याख्यात प्रश्नो का उत्तर अपने गुरु को सुनाकर शिष्य अपने कर्तव्य भार से मुक्त हो जाता था। नाक्स साहब अभिलषित उत्तर तथा समस्याओं का उचित समाधान सुधाकरजी मे पाकर बडे आनन्दित होते थे और सुधाकरजी की भूरि भूरि प्रशसा किया करते थे। पाश्चात्त्य गणित का मार्मिक ज्ञान सुधाकर द्विवेदीजी की गणितीय प्रतिभा की एक विस्मयकारी दिशा थी, ज्योतिषियो को आश्चर्य मे डालनेवाली परन्तु पूर्णतया यथार्थ और आकर्षक दिशा। वेत्ता प्रत्येक विद्वान् सुधाकर द्विवेदीजी के गणित ज्ञान के चमत्कार पर बिना मुग्ध हुए नही रहता था। सम्पूर्णानन्दजी ने अपने आत्मजीवनविषयक ग्रन्थ मे लिखा है कि १६१० ई० मे सुधाकरजी के निधन का प्रथम समाचार जब उन्होने अपने भारतप्रसिद्ध गुरु डॉ० गणेशप्रसादजी मे कह सुनाया तब उन्होने तुरन्त अपनी प्रतिक्रिया स्पष्टतः अभिव्यक्त करते हुए कहा कि "पण्डित सुधाकरजी मुझसे भी कही बडे गणितज्ञ थे। वैसा गणितज्ञ मिलना बड़ा ही दुर्लभ है।" डॉ० गणेशप्रसादजी बडे ही स्पष्टवादी थे। उनकी जो भी सम्मति किसी विषय मे बन जाती थी, उसे कहने मे उन्हे तनिक भी सकोच नही होता था। पाश्चात्त्य गणित के तो वे महामान्य धुरन्धर विद्वान् थे ही। उनकी सम्मति का बड़ा ही मूल्य है। उनकी सम्मति से स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि पाश्चात्त्य गणित के पारगत विद्वान् भी प्राचीन परम्परा मे सिद्धान्त गणित के अनुशीलनकर्ता सुधाकर द्विवेदी के वैदुष्य पर कितनी आस्था तथा कितना आदर रखते थे।

(५) आजकल तो यह भ्रान्त धारणा सर्वत्र व्याप्त हो गई है कि सस्कृत का पण्डित भारतीय समाज मे बिल्कुल अलग हटा हुआ एक विचित्र जीव होता है जो शास्त्रीय चिन्तन की कारा मे अपने आपको बन्द किये रहता है। न सामान्य जनजीवन मे उसकी आस्था और न नागरिक जीवन के साथ उसका कोई सम्पर्क। परन्तु यह विचारधारा मान्य नही है। आज की तो बात जाने दीजिए जब राजनीति सबके सिर पर चढ़कर बोलती है, चाहे वह अग्रेजी का विद्वान् हो चाहे सस्कृत का पण्डित, आज से पचास वर्ष पूर्व भी सस्कृत का पण्डित भारतीय समाज के साथ घुल-मिलकर ही अपना जीवन बिताता था, वह नागरिक जीवन के उत्थान और पतन में विशेष रूप से साझीदार होता था। वह समाज का एक अविभाज्य अग होता था। समाज के दुःख में दुखी और सुख में सुखी होता था। समाज में एक प्रतिष्ठित व्यक्ति होने के नाते वह अपना उत्तरदायित्व भलीभाँति समझता था और उसके निर्वाह के लिए वह सदा सचेष्ट रहा करता था। पण्डित सुधाकर द्विवेदी इस तथ्य के एक प्रोज्ज्वल प्रतीक थे।

१६०३ ई० मे भारतवर्ष के अग्रेजी शासन का सर्वातिशायी उच्चाधिकारी वाइसराय लार्ड कर्जन काशी मे आनेवाला था। जिले के अधिकारियो ने इस शुभ अवसर पर जनता की ओर से प्रतिनिधि के रूप मे दो व्यक्तियो को चुनने की राय दी। एक तो हो हिन्दुओं का प्रतिनिधि और दूसरा हो मुसलमानो का प्रतिनिधि। लार्ड कर्जन बडा ही सुयोग्य अधिकारी माना जाता था, परन्तु वह था बडा तेज-तर्रार वाइसराय। मुसलमानो की ओर से कोई खॉ साहब चुने गये, परन्तु हिन्दुओं की ओर से किसे प्रतिनिधि चुना जाय यही विषम समस्या थी। वकीलो, अग्रेजीदॉ व्यक्तियो, राजमान्य नेताओं की हिन्दुओं मे कमी नही थी, परन्तु इन सबको एक ओर छोडकर सर्वसम्मति से महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी को जनता ने अपना प्रतिनिधि चुना। सुधाकरजी की वक्तृत्वशक्ति पर, हिन्दुओं की अभिलाषाओं को पूर्णरूपेण अधिकारी के सामने अभिव्यक्त करने की क्षमता पर तथा उसे प्रभावित करने की योग्यता पर जनता का दृढ विश्वास था। तभी तो उसने बहस मुबाहसा करनेवाले सुयोग्य राजनीति निपुण वकीलो को छोडकर एक पण्डित को और तिस पर भी एक ज्योतिषी को सर्वसम्मति मे अपना प्रतिनिधि चुना।

लार्ड कर्जन वाराणसी आया। बडा ही विशाल समारोह उसकी अभ्यर्थना मे उस समय मनाया गया। एक दिन निर्धारित समय पर जिलाधीश ने हिन्दुओं की ओर से सुधाकर द्विवेदी को और मुसलमानो की ओर से एक विशिष्ट पदवीधारी मुस्लिम व्यक्ति को वाइसराय से भेट करने के लिए प्रस्तुत किया। दोनो सज्जन बारी-बारी से गये और अपनी जमात के दुख-दर्द की कहानी उच्चाधिकारी मे कह सुनायी। उन्होने क्या कहा? इसका तो ब्योरा बाहरी जनता को नही मिल सका, परन्तु लाट साहब ने दूसरे दिन यू० पी० के उच्च शासक लेफ्टिनेन्ट गवर्नर (अर्थात् छोटे लाट) लाटूश साहब से जो अपनी सम्मति कह सुनाई, उससे प्रतिनिधियो के कार्यकलाप का पता लोगो को चल ही गया। कर्जन ने लाटूश साहब से हँसते हुए कहा — Your Hindu Representative put his case very brilliantly, but the Moslem Representative only fumbled अर्थात् तुम्हारे हिन्दू प्रतिनिधि ने अपने केस की पैरवी बडे ही सुयोग्य शब्दो मे की, परन्तु मुसलमान प्रतिनिधि तो केवल टटोलता ही रह गया। लार्ड कर्जन की यह सम्मति सुधाकर द्विवेदी की उच्च व्यवहार कुशलता तथा प्रतिपादन योग्यता का समुज्ज्वल प्रमाण है। यह मार्मिक सस्मरण रायकृष्णदासजी ने लेखक को सुनाया था जो इस घटना के प्रत्यक्ष साक्षी थे। इस घटना की सूचना लेखक को डॉ० रायकृष्णदास ने दी थी। अतः इसमे किसी प्रकार का सन्देह नही किया जा सकता।

(६) श्री सुधाकरजी ने हिन्दी की अमूल्य सेवा की है, अप्रत्याशित तथा अनुपम। इन्होने हिन्दी के प्राचीन अप्रकाशित ग्रन्थो का विमर्शात्मक सस्करण प्राचीन हस्तलेखो के आधार पर स्वय प्रकाशित किया। ये काशी नागरी प्रचारिणी सभा के उन्नायको मे अन्यतम थे। अपनी विद्या, बुद्धि तथा व्यावहारिक ज्ञान के बल पर सभा के प्रारम्भिक काल मे उन्होने उसके विकास तथा परिवर्धन मे जो कार्य किया वह अत्यन्त महनीय तथा माननीय था। वे सभा के सभापति पद पर भी प्रतिष्ठित किये गये थे (सन् १६०१-१६०२)। सभा की ग्रन्थावली-माला मे उनके द्वारा सम्पादित 'दादूदयाल की बानी' आदरणीय ग्रन्थ माना जाता है। उन्होने भाषाविज्ञान के माननीय विद्वान् डॉ० ग्रियर्सन को हिन्दी-साहित्य की सवर्धना मे महत्त्वपूर्ण सहायता दी थी। ग्रियर्सन तो ब्रिटिशराज के उच्च शासनाधिकारी होने के साथ ही साथ भोजपुरी, मैथिली तथा हिन्दी भाषा के प्रवीण विद्वान् माने जाते थे। उन्होने जायसी

तथा बिहारी के ग्रन्थों का प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित कर वैज्ञानिक रीति से सम्पादन कला को अग्रसर किया। जायसी के 'पद्मावत' का सस्करण उनके अनुवाद तथा सुधाकरजी की 'सुधाकर-चन्द्रिका' नाम्नी टीका मे विभूषित होकर (१८९०–१९०० ई०) कलकत्ते के एशियाटिक सोसाइटी के द्वारा प्रकाशित हुआ था। बिहारीसतसई की विख्यात टीका 'लालचन्द्रिका' (लल्लूलालजी द्वारा प्रणीत) का भी सम्पादन डॉ० ग्रियर्सन ने १८९६ ई० में किया। इन दोनों प्रकाशनों में सुधाकरजी का विद्वत्तापूर्ण सहयोग था। डॉ० ग्रियर्सन का प्रख्यात मौलिक निबन्ध Notes on Tulasidasa अपने विषय का गम्भीर विवेचक निबन्ध माना जाता है। यह लेख प्रसिद्ध शोधपत्रिका 'इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' (१८९३ ई०) में क्रमशः प्रकाशित हुआ था और विदेशों में तुलसीदास की ख्याति तथा परिचिति का यह प्रथम महत्त्वशाली निबन्ध माना जाता है (इन अनुवादों के कतिपय अश प्रकाशित भी हुए है)। इसके लिए प्रचुर सामग्री एकत्र करने का उत्तरदायित्व सुधाकर द्विवेदी के ऊपर था। द्विवेदीजी तुलसीदास के अनन्य भक्त तथा विज्ञ समालोचक थे। इन्होंने मानस के बालकाण्ड का तथा विनयपत्रिका के कतिपय अशों का बड़ा ही मधुर, आवर्जक तथा रुचिर अनुवाद संस्कृत में प्रस्तुत कर उभय भाषाओं के परिज्ञान में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया था। गोस्वामीजी के चरित, ग्रन्थ तथा साहित्यिक वैशिष्ट्य से डॉ० ग्रियर्सन को परिचय देकर इन्होने उनके कार्य पर प्रामाणिकता की छाप लगा दी जिसके लिए ग्रियर्सन ने भी सुधाकर द्विवेदी के सहयोग तथा वैदुष्य की प्रचुर प्रशसा की है।

(७) बहुमुखी प्रतिभा के धनी द्विवेदीजी की शास्त्रीय चक्षुष्मत्ता विलक्षण थी। ज्योतिष के समान हिन्दी मे भी उनकी अनोखी सूझ थी। सस्कृत के महान् पण्डित होते हुए भी वे हिन्दी मे सस्कृत शब्दो के, विशुद्ध तत्सम शब्दो के प्रयोग के पक्षधर नही थे। आज से बहुत पहले, लगभग पचास साठ साल पूर्व ही, उन्होंने बोलचाल की मुहावरेदार हिन्दी के लिए बड़ा प्रबल अभियान चलाया था। हिन्दी की चलती शैली में सस्कृत के बोझिल शब्दों का छौंक लगाना उन्हे बिल्कुल पसन्द न था। उन्होने इस शैली में, जनता की बोली मे, 'रामकहानी' लिखकर अपने सिद्धान्त का व्यवहार-पक्ष भी प्रस्तुत किया, परन्तु वह युग इस शैली के ग्रहण करने के लिए उपयुक्त नही था। फलतः यह आन्दोलन आगे विकसित न हो सका। 'रामकहानी' की भूमिका में सुधाकरजी ने हिन्दी के दावे को ऊँचा उठाते हुए लिखा था कि "न जाने क्यों कलम पकडते ही हमारे ऊपर सस्कृत का नशा छा जाता है।" यह कथन अक्षरशः सही है और आज के युग मे भी यह अधिकाश में सच्चा है। बोलचाल की हिन्दी के हिमायती के रूप मे द्विवेदीजी का नाम बहुत दिनो तक लिया जाता रहेगा। यह उनकी सूझ-बूझ का एक उजागर पहलू है।

(८) द्विवेदीजी ने हिन्दी के प्रचार मे एक और बड़ी सेवा की है जो चिरस्मरणीय रहेगी। गत शताब्दी के अन्तिम वर्षों मे १८९८-९९ के आसपास कचहरी मे नागरी लिपि के प्रचलन को लेकर एक बड़ा ही जोशीला आन्दोलन शुरू हुआ था। इसके प्रधान व्यक्ति तो पण्डित मदनमोहन मालवीयजी थे, परन्तु सुधाकरजी का भी योगदान नगण्य नही था।

उर्दूवालों का यह दावा था, और जबरदस्त दावा था, कि हिन्दी में कचहरी का मजमून न तो उतना शीघ्र लिखा जा सकता है और न उतना शुद्ध ही लिखा जा सकता है जितना वह उर्दू में लिखा जा सकता है। इस चुनौती को हिन्दीवालों की ओर से सुधाकर द्विवेदी ने स्वीकारा और अपनी लौहलेखनी के द्वारा सिद्ध कर दिखाया कि उर्दूवालों के ये दोनों दावे

एकदम झूठे है। इस चुनौती को सिद्ध करने के दिन चौक मे स्थित कारमाइकेल लाइब्रेरी मे काशी के शिक्षित नागरिको का बड़ा जमाव था। जिलाधिकारी ने यह निश्चित किया कि नागरी तथा उर्दू दोनो लिपियो मे दो व्यक्तियो से अदालती मजमून के एक अश का शीघ्र लेखन (डिक्टेशन) लिखाया जाय जिसे वे दोनो व्यक्ति डिक्टेशन के खतम होने पर तुरन्त पढ़कर सुनाये। जिस व्यक्ति का लेखन तथा पठन शुद्ध होगा, वह विजयी माना जाएगा।

उर्दू के लिए एक खा साहिब हाजिर हुए और नागरी के लिए सुधाकरजी उपस्थित हुए। दोनो ने वह डिक्टेशन जिलाधिकारी की उपस्थिति मे लिखा जो उनकी सम्मति से चुनकर लिखाया गया था। डिक्टेशन समाप्त होते ही द्विवेदीजी ने उस मजमून को पढ़कर सुनाया जो बिल्कुल शुद्ध था और जिसमे लेखन की या वर्तनी की एक भी अशुद्धि नही थी। उर्दूवाले मज्जन ने भी अपना लेख पढ़ सुनाया। एक तो उसमे अनेक स्थानो पर छूट थी। दूसरे उसमे अनेक अशुद्धियाँ थी वर्तनी की तथा शब्दरूपो की। फलत· जिलाधिकारी ने उपस्थित शिक्षित मण्डली के सामने यह घोषित किया कि सुधाकर द्विवेदीजी का डिक्टेशन नियमित समय के भीतर समाप्त हुआ है तथा वह सर्वथा शुद्ध है। बनारस के जिलाधीश ने इस प्रतियोगिता की सूचना प्रदेश के सर्वोच्च अधिकारी के पास भेजी और उसी समय मे शासन की ओर से यह घोषणा प्रचारित की गई कि नागरी लिपि मे भी अदालती मजमून शीघ्रता तथा शुद्धता के साथ उर्दू के समान ही लिखे जा सकते है। शासनाधिकारियो के हृदय मे नागरी के शीघ्र लेखन के विषय मे छिपा हुआ सन्देह सदा सर्वदा के लिए निरस्त हो गया और इस प्रदेश के शासक सर एण्टनी मैकडानेल के समय मे नागरी का प्रवेश अदालती लिपि के रूप मे सन् १६०० ई० मे सर्वत्र मान्य हो गया।

नागरी के इस विजय का श्रेय पण्डित सुधाकर द्विवेदीजी को है। वे शीघ्र लेखन तथा सुडौल लेखन दोनो के लिए नितान्त प्रख्यात थे।

(६) लार्ड कर्जन मे हजार दोष हो, परन्तु उनमे दो गुण बडे ही मार्के के थे एक तो वे विद्वानो का आदर-सत्कार करते थे, उनसे मिलना पसन्द करते थे तथा उनके मनोगत भावो को जानने की चेष्टा किया करते थे। दूसरा गुण था प्राचीन वस्तुओं के प्रति उनका अत्यधिक आदर तथा उनके सरक्षण के प्रति सातिशय प्रयास। महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी से प्रथम साक्षात्कार मे ही लार्ड कर्जन इनसे इतना प्रसन्न हो गया कि उसने बड़े प्रेम मे पूछा—Panditji, What are your ambitions (पण्डितजी, आपकी महत्त्वाकाक्षाएँ कौन-सी है)? सुधाकरजी कामचलाऊ अग्रेजी जानते ही नही थे बल्कि प्रौढ़ता से बोल भी लेते थे। उन्होने तपाक से कहा—"लाट साहब, मै ग्रेनिच जाना चाहता हूँ और वहाँ होनेवाले गणित की अशुद्धियो को बतलाकर उन्हे दूर करना चाहता हूँ। यही मेरी अभिलाषा है।" लार्ड कर्जन इस उत्तर से बहुत प्रसन्न हुआ और उसने आने जाने के पूरे खर्च को सरकार की ओर से देने का भी वचन दिया, परन्तु १६०५ ई० मे भारतीय समाज के सुदृढ़ बन्धन को तोडकर समुद्रयात्रा करने का साहस कौन कर सकता था? सुधाकरजी इस विदेश-यात्रा पर न जा सके और पश्चिमी गणितज्ञो को इस भारतीय गणितज्ञ की अलौकिक प्रतिभा से परिचय पाने का दुर्लभ अवसर मिल न सका। हा हन्त !!!

(१०) सस्कृत विद्वानो मे ज्योतिषी लोगो की व्यवहार निपुणता नितान्त विश्रुत है। पण्डित सुधाकर द्विवेदीजी ठहरे ज्योतिषियो के सरदार। फलतः उनका लोकनैपुण्य यदि उत्कट कोटि मे पहुँचा हुआ था, तो इसमे आश्चर्य करने की लेशमात्र भी गुञ्जाइश नही है। उनकी

लोकचातुरी की अनेक कहानियों में से एक यहाँ दी जाती है। वे कहीं से रेलगाड़ी से घर लौट रहे थे। गाड़ी मे ही एक सज्जन से उनकी भेंट हुई। पूछने पर पता चला कि वे गणित के अच्छे विद्वान् है, परन्तु तीन ऐसे गणितीय विषम प्रश्न उपस्थित हो गये है जिनका समाधान नही हो रहा है। सुधाकरजी की गणितविषयिकी ख्याति सुनकर वे उन्हीसे भेंट कर प्रश्नों के उत्तर के निमित्त काशी जा रहे थे। सुधाकरजी ने अपना बिना परिचय दिये ही उनसे उन प्रश्नों को पूछा। उस व्यक्ति ने कहा—महाशय, उन प्रश्नो को सुनकर आप क्या करेंगे ? वे विषम है तथा वस्तुतः असमाधेय है। सुधाकरजी के विशेष आग्रह करने पर उन्होंने तीनो प्रश्नों को एक-एक करके सुना दिया। द्विवेदीजी ने दो प्रश्नों को तो वही तुरन्त हल कर दिया और तीसरे के लिए सुधाकरजी से पूछने के लिए कहकर वे स्टेशन आने पर उतरकर घर चले गये। दूसरे दिन जिज्ञासु व्यक्ति सुधाकरजी को खोजते हुए जब उनके घर पहुँचे और कलवाले व्यक्ति को ही गद्दी पर बैठे देखा तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उन्होने तीसरा सवाल द्विवेदीजी से पूछा जिसे उन्होने तुरन्त हल कर दिया। आगन्तुक व्यक्ति बड़े प्रसन्न हुए, प्रश्नो के उत्तर के निमित्त उन्होने द्विवेदीजी को दक्षिणा भी भेट की, परन्तु बडे आग्रह से पूछा कि आप ही तो कल रेल के डिब्बे मे मिलनेवाले व्यक्ति है ? आपने कल दो ही सवालो के उत्तर मुझे बताये। तीसरे सवाल का उत्तर तो आप दे ही सकते थे। उसका उत्तर आपने कल ही क्यों नही बता दिया ? प्रश्न को सुनकर सुधाकरजी हँसने लगे और उन्होने बडे तपाक से जवाब दिया—आप तो सुधाकर द्विवेदी से ही प्रश्नो का हल चाहते थे। यदि मै अपने स्वरूप को प्रकट भी करता, तो भी आपको अनजाने व्यक्ति के सुधाकर द्विवेदी होने में सन्देह बना ही रहता। इसीलिए मैने केवल दो ही प्रश्नो का हल बतलाकर अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति किञ्चित् मात्र तो की, परन्तु आपके सन्देह को पूरी तौर पर हटाने के लिए मेरे पास कोई साधन न था। इसीलिए तीसरे सवाल के हल के लिए मैने आपको सुधाकर द्विवेदी से भेट करने के लिए उनके आवास पर भेजा। यहाँ आकर गद्दी पर आसीन उनका साक्षात्कार करने तथा प्रश्न के समुचित उत्तर पाने से आपको जो मानसिक सन्तोष हुआ, वह क्या रेल के डिब्बे मे हो सकता ? नही, कभी नही।

आगन्तुक सज्जन ने इस पर द्विवेदीजी के गणित के ज्ञान की ही प्रशसा नही की, अपितु उनके लोक-व्यवहार की चातुरी की भी भूरि-भूरि प्रशसा कर अपने आपको कृतार्थ माना। सद्यः स्फुरणशील चतुरता का द्योतक यह प्रसग सुधाकरजी की व्यवहार-निपुणता का परम रोचक निदर्शन है।

(११) सुधाकर द्विवेदी हिन्दी के विशुद्ध रूप के प्रचारार्थ कृतसकल्प थे। उन्हे राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द की उर्दूमिश्रित हिन्दी से विशेष घृणा थी। द्विवेदीजी ने राजा साहब की खिल्ली उडाने के लिए इन दोहों की रचना की थी—

भारत गारत ह्वै गयो, सब रस गारत हाय
एक धर्म, हित मीत क्यों, ताहू देत बहाय ॥
देश, देशभाषा सरस, सरबस अब नहि लेश
केश शेष हूँ नाश करि भये शेष भूपेश ॥
पतरा के तारे गये भये 'सितारे हिन्द'
तारे ह्वै भूपर फिरैं, कैसे हो जनु जिन्द ॥
व्यक्त बीज को बीज नहिं, गणित न गोलाध्याय
दृग्गणितैक्य पुकारि भे महामहोपाध्याय ॥

इस कविता में राजा शिवप्रसाद *'सितारेहिन्द'* का प्रथमतः उपहास है और अन्तिम दोहे में महामहोपाध्याय पं० बापूदेव शास्त्री के मत की द्विवेदीजी ने खिल्ली उड़ाई है।

महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी के सब कार्य अनुपम तथा अद्भुत थे। वे अल्पायु में ही कालकवलित हो गये। उनका जन्म विक्रम संवत् १९१७ चैत्र शुक्ल चतुर्थी (= १८६० ईस्वी) को हुआ था। उनकी मृत्यु की तिथि है—वि० सं० १९६७ मार्गशीर्ष कृष्ण द्वादशी, सोमवार (२८ नवम्बर १९१० ईस्वी)। पचास वर्षों की अल्पायु में द्विवेदीजी ने ज्योतिषशास्त्र को अपनी प्राच्य-प्रतीच्य-ज्योतिर्विज्ञान-सम्बन्धी रचनायें समर्पित कर लोकातीत कार्य का सम्पादन किया ! आश्चर्यम्-महदाश्चर्यम् !



१६

पण्डित दुर्गाप्रसाद द्विवेदी

(आस्पद– द्विवेदी, उपाधि –महामहोपाध्याय)

बापूदेव शास्त्रीजी की शिष्यमण्डली मे काशीस्थ वेताल शास्त्री आदि के अतिरिक्त बाहरी कीर्तिशाली शिष्यो मे महामहोपाध्याय **प० दुर्गाप्रसाद द्विवेदी** का नाम नितान्त प्रसिद्ध था। ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे। अयोध्या के समीपस्थ पण्डितपुरी मे इनका जन्म १९२० वि० स० (= १८६३ ई०) मे हुआ। अपने आगमपारगामी विद्वान् पिता पण्डित **सरयूप्रसाद द्विवेदी** से आरम्भिक शिक्षा प्राप्त की। काशी मे ज्योतिर्विद्या मे विशेष विद्यासम्पन्न होकर जयपुर के महाराजा कॉलेज मे प्राध्यापक तथा प्राचार्य-पद पर रहकर विपुल कीर्ति प्राप्त की। अनेक ज्योतिष ग्रन्थो का प्रणयन किया जिनमे लीलावती तथा बीजगणित पर भाषाभाष्य एव उपपत्ति प्रधान है। सस्कृत मे रेखागणित की तथा 'जैमिनिपद्यामृत' की भी रचना की। म० म० गगाधर शास्त्री से साहित्य का अतुल ज्ञान प्राप्त किया था जिसका परिचय 'दशकण्ठवध' महाकाव्य तथा साहित्यदर्पण की 'छायाविवृति' (निर्णयसागर से प्रकाशित) मे स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। फलतः ये केवल ज्योतिर्विद् ही नही थे, अपितु साहित्यमर्मज्ञ भी थे। १९९४ स० (= १९३७ ई०) मे आपका निधन ७४ वर्ष की आयु मे हुआ। इन्हे 'महामहोपाध्याय' की उपाधि भी प्राप्त थी।

इस प्रसग मे इनके पूज्य पिता **पण्डित सरयूप्रसाद द्विवेदी** का सक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है। आप काश्यपगोत्री सरयूपारीण ब्राह्मण थे—शुक्लयजुर्वेद के अनुयायी। पूज्य पिता प० राधाकृष्ण शर्मा से व्याकरण, ज्योतिष आदि शास्त्रो का अध्ययन किया। पिता की मृत्यु के अनन्तर वि० स० १९११ (= १८५४ ई०) मे ये पजाब की ओर यात्रा मे निकले। आपने स्वामी दुर्गानन्द नाथ से मन्त्र दीक्षा ग्रहण की। आप शिव तथा शक्ति के दृढ अनुरागी साधक थे। इनके असाधारण वैदुष्य का परिचय पाकर लखनऊ के प्रसिद्ध नवल किशोर प्रेस के मालिक मुशी नवल किशोर इन्हे लखनऊ ले गये और यही इन्होने **सग्रहशिरोमणि** नामक ज्योतिष ग्रन्थ तथा **सदाचारप्रकाश** नामक धर्मशास्त्रीय निबन्ध की रचना की। मुन्शी नवलकिशोर के द्वारा आपकी विद्वत्ता तथा तान्त्रिक साधना की कीर्ति सुनकर जयपुर के गुणग्राही महाराजा सवाई रामसिह ने आपको जयपुर बुलाया और वहाँ राजगुरु के रूप मे प्रतिष्ठित किया। दरभगा नरेश लक्ष्मीश्वर सिह के द्वारा भी ये समादृत तथा अभ्यर्चित थे। वृद्धावस्था मे ये अपने जन्मग्राम मे ही आकर रहते थे। यही इन्होने देवमन्दिर बनवाया और भगवती महिषमर्दिनी कालिका तथा शिव की मूर्ति की स्थापना की। आपका निधन १९६३ वि० स० (१९०६ ई०) कार्तिक मास मे हुआ। तन्त्रशास्त्र के ये प्रकाण्ड विद्वान् थे। तन्त्रशास्त्र विषयक ग्रन्थो से इनके उत्कृष्ट तन्त्रज्ञान का परिचय प्राप्त होता है। इनका महत्त्वपूर्ण **आगमरहस्य** ग्रन्थ इनकी तान्त्रिक प्रतिभा का पूर्ण परिचायक है जिसका दो खण्डो मे प्रकाशन पुरातत्त्व मन्दिर (जोधपुर) से हुआ है। **सप्तशतीसर्वस्व** दुर्गासप्तशती की सस्कृत व्याख्या है

(नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित)। अन्य प्रकाशित ग्रन्थ हैं—वर्णबीजप्रकाशः, मातृकास्तुतिः तथा पादुकापंचकम्। अनेक ग्रन्थ अभी अप्रकाशित हैं।[1]

नवलकिशोर प्रेस

इस विख्यात छापाखाना के मालिक तथा संस्थापक मुन्शी नवलकिशोर भार्गव ब्राह्मण थे जो अलीगढ़ (उत्तरप्रदेश) के जमीन्दार मुन्शी यमुनाप्रसाद के पुत्र थे। इसी जिले के बस्तोई नामक गाँव मे इनका जन्म १८३६ ईस्वी में हुआ। वे आगरा कॉलेज में शिक्षित हुए और अपने समय के संस्कृत, हिन्दी तथा उर्दू ग्रन्थों के अपने उत्साह तथा गाढ़ परिश्रम से सर्वश्रेष्ठ प्रकाशक बननेवाले महापुरुष थे। पंजाब के सर्वप्रथम 'कोहिनूर' पत्र के वे प्रथम सम्पादक तथा मैनेजर थे। लखनऊ आने पर सरकारी पृष्ठपोषकता से वे भारतवर्ष के सबसे बडे मुद्रणयन्त्र के स्वामी बने जिसमें लगभग एक हजार व्यक्ति काम करते थे और जिसकी शाखायें कानपुर तथा लाहौर में खोली गईं। जनता में शिक्षा का प्रसार ही उनका प्रधान लक्ष्य था। उन्होंने 'अवध अखबार' नामक उर्दू पत्र प्रकाशित किया। फारसी, संस्कृत तथा अंग्रेजी से अनेक उर्दू अनुवाद प्रकाशित कराये। चार हजार के लगभग ग्रन्थों के प्रकाशन का श्रेय उन्हें प्राप्त था। संस्कृत मूल ग्रन्थ तथा उनके हिन्दी अनुवाद दोनों के प्रकाशन का कार्य किया। जनता मे शिक्षा के प्रसार प्रचार के लिए आगरा में भार्गववंशीय छात्रों के लिए छात्रावास का निर्माण कराया, छात्रवृत्तियाँ निश्चित की तथा अन्य धार्मिक कार्यों में उन्होंने पक्षपातरहित उदारता मे भरपूर सहायता दी। लखनऊ का नवलकिशोर प्रेस आज भी उनके औदार्य, साहाय्य तथा देश-प्रेम का ज्वलन्त उदाहरण है। संस्कृत पण्डितों के आश्रयदाता तथा संस्कृत ग्रन्थो के प्रकाशक रूप में उनकी ख्याति आज भी अक्षुण्ण है। १९ फरवरी १८९५ में निधन।

म० म० दुर्गाप्रसाद द्विवेदी के पुत्र पण्डित गिरिजाप्रसाद द्विवेदी अपने पिता के समान ही ज्योतिर्विद्या के मर्मज्ञ विद्वान् थे। आपकी शिक्षा-दीक्षा जयपुर के संस्कृत कॉलेज में ही हुई और यही इन्होने अध्यापन-कार्य गौरव तथा निष्ठा के साथ सम्पन्न किया। इस कॉलेज में इन्होंने अध्यापन-कार्य समग्ररूपेण किया। अपने पिता के अवकाश ग्रहण करने के अनन्तर ये यही ज्योतिःशास्त्र के अध्यापक बने १९२९ ई० में और १९४३ ई० तक अपना यह कार्य निरन्तर करते रहे। ज्योतिःशास्त्र के प्रधान ग्रन्थो पर संस्कृत में भाष्य एव हिन्दी में व्याख्या लिखी है जो विद्वत्तापूर्ण, प्रामाणिक तथा समादृत है। सिद्धान्तशिरोमणि (गणिताध्याय तथा गोलाध्याय), लीलावती, बीजगणित पर लिखी इनकी टीकायें नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित है। जन्म १८८३ ई० मे तथा निधन ८४ साल के वय में अपने ही ग्राम पण्डितपुरी में हुआ।

पण्डित गिरिजाप्रसाद द्विवेदी के पुत्र पं० गगाधर द्विवेदी व्याकरण तथा साहित्य के विद्वान् है। इन्होने काशी के पण्डित वीरेश्वर शास्त्री द्राविड़ से व्याकरणशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया है। जयपुर के संस्कृतकॉलेज में इन्हीं विषयों के अध्यापक है।

इस प्रकार इस गौरवशाली द्विवेदी परिवार के पण्डितो ने संस्कृत भाषा तथा साहित्य की निष्ठापूर्वक आराधना की है, ग्रन्थों का प्रणयन किया है तथा सदाचार का एक आदरणीय दृष्टान्त प्रस्तुत किया है।

●

१. इनके नामो के लिए द्रष्टव्य—'जयपुर की संस्कृत-साहित्य को देन' (पृ० ३४७) जयपुर से प्रकाशित।



पं० कैलासचन्द्र शिरोमणि

१७

पण्डित कैलासचन्द्र शिरोमणि

(आस्पद- -भट्टाचार्य, उपाधि- महामहोपाध्याय)

म० म० प० कैलासचन्द्र शिरोमणि गत शताब्दी के उत्तरार्ध मे वर्तमान, काशीस्थ विद्वानो मे अपनी तर्क निपुणता, नव्यन्याय मे अलौकिक नैदुष्य के कारण तथा अपने निर्मल सदाचारी जीवन के हेतु अत्यन्त प्रसिद्ध थे। **शिरोमणि** शब्द इनके नाम का अश न होकर नवद्वीप के तार्किक विद्वानो के द्वारा प्रदत्त एक महनीय उपाधि थी जो इनके लोकातीत गुण तथा प्रसिद्धि की द्योतिका मानी जा सकती है। इनका जन्म तो हुआ बगाल मे, नव्यन्याय की शिक्षा दीक्षा हुई नवद्वीप मे, परन्तु इनकी विद्वत्ता के प्रसार तथा प्रचार का क्षेत्र मिला काशी मे। काशिराजकीय सस्कृतमहाविद्यालय मे अनिर्विच्छिन्न रूप से ये चालीस वर्षों तक अध्यापन का कार्य करते रहे। वार्धक्य के कारण अवकाश लेने के लिए ये सतत प्रयत्नशील थे परन्तु उच्चतम अधिकारियो ने इनकी स्थिति मे कॉलेज को गौरवान्वित मानकर इन्हे अवकाश ग्रहण करने का कभी अवसर नही प्रदान किया। सस्कृतकॉलेज मे नव्यन्याय की महनीय गद्दी को सुशोभित करनेवाले ये ऐसे विद्वान् थे जिनकी गणना नवद्वीप के नैयायिको मे भी श्रेष्ठ मानी जाती थी।

पूर्वपुरुष तथा जन्म

सस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् प० कैलासचन्द्र शिरोमणि का जन्म बगाल राज्य के वर्धमान जिले के धात्री नामक गॉव मे स० १७५२ शकाब्द (तदनुसार सन् १८३० ई०) मे हुआ था। आपके पितामह का नाम भतनाथ तर्कपचानन था। इनके पुत्र घनश्याम सार्वभौम सस्कृत-साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् थे। यही हमारे चरित-नायक **कैलासचन्द्र शिरोमणि** के पिता थे। इनकी माता का नाम आदरमणि देवी था जो सती, साध्वी तथा पतिपरायणा स्त्री थी। **घनश्याम सार्वभौम** भगवान् शिव के परम उपासक थे। उन्हीकी कृपा से उन्हे कैलासचन्द्र शिरोमणि जैसे पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई।

शिक्षा

जब कैलासचन्द्रजी पॉच वर्ष के थे तब ये अपने गॉव की पाठशाला मे पढ़ने के लिए बैठाये गये। थोडे ही समय मे ये अपनी मातृभाषा बॅगला की शिक्षा पाकर व्युत्पन्न हो गये। आठवे वर्ष मे इनके पिता ने इनका यज्ञोपवीत-सस्कार किया और ब्रह्मचारी के लिए शास्त्र मे विहित समस्त क्रिया-कलापो की शिक्षा दी। इन क्रियाओं के आचरण से इनमे अलौकिक प्रतिभा का स्फुरण हुआ। इन्होंने अपने पितृव्य प० जनार्दन तर्कवागीश के पास रहकर सस्कृत व्याकरण, कोश तथा काव्य मे गम्भीर व्युत्पत्ति प्राप्त की। जब कैलासचन्द्रजी ने अठारहवे वर्ष में पदार्पण किया तब इनका ध्यान न्यायशास्त्र के अध्ययन की ओर आकृष्ट हुआ। इसके लिए इन्होंने अपना घर छोड़कर देवीपुर गाँव में रहना प्रारम्भ किया।

उस गाँव में एक अत्यन्त प्रसिद्ध विद्वान् पं० **हरचन्द्र न्यायवागीश** नामक पण्डित रहते थे जो न्यायविषयक अच्छे वैदुष्य के कारण कणाद के ही नवीन अवतार माने जाते थे। उस समय वे अत्यन्त वृद्ध हो गये थे और उनका वय ८० वर्ष के लगभग था। उन्हीं गुरुवर के चरणों में बैठकर इन्होंने न्यायशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया। न्यायशास्त्र की 'सामान्य निरुक्ति' तक अध्ययन कर ये अपने गाँव लौट आये।

पिता ने अब इनका विवाह करने का निश्चय किया और श्रीमती तरंगिणी देवी के साथ इनका विवाह कर दिया। अब ये सुखपूर्वक गार्हस्थ्य जीवन बिताने लगे। पिताजी की आज्ञा से इन्होंने अपनी गृहस्थी तो बसा ली परन्तु न्यायशास्त्र के गम्भीर अध्ययन के प्रति इनकी ललक समाप्त नहीं हुई। इस पिपासा की शान्ति के लिए इन्होंने न्यायशास्त्र की शिक्षा के केन्द्र नवद्वीप की या।' की। बंगाल में नवद्वीप को ही न्यायशास्त्र का केन्द्र होने का गौरव प्राप्त है। यह वही नवद्वीप है जहाँ महाप्रभु चैतन्य ने न्यायशास्त्र की दीक्षा प्राप्त की थी और यहीं पर इन्होंने अपने 'टोल' की स्थापना कर अध्यापन का कार्य प्रारम्भ किया था। यह वही विद्या की स्थली है जहाँ प० रघुनाथ शिरोमणि ने मिथिला में न्यायशास्त्र का अध्ययन कर लौटने के पश्चात् यहाँ संस्कृतपाठशाला (टोल) की स्थापना की तथा नवद्वीप को नव्यन्याय का विद्यापीठ बनाया।

प० रघुनाथ शिरोमणि के विषय में ऐसी प्रसिद्धि है कि ये एकाक्ष (काना) थे। जब ये मिथिला में पक्षधर मिश्र के पास न्याय का अध्ययन करने के लिए गये तब वहाँ पण्डितों ने इनकी खिल्ली उड़ाते हुए यह श्लोक कहा—

आखण्डलः सहस्राक्षो, विरूपाक्षस्त्रिलोचनः ।
अन्ये द्विलोचनाः सर्वे, को भवानेकलोचनः ॥

इस उपहास का उत्तर उन्होंने अपने अदम्य उत्साह से न्यायशास्त्र की लोकातीत वैदुषी के सम्पादन द्वारा दिया था।

रघुनाथ शिरोमणि महाप्रभु चैतन्य के समकालीन थे। इसलिए इनका काल १५वी शताब्दी का उत्तरार्ध तथा १६वी शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानना उचित है। शिरोमणिजी ने गगेश उपाध्याय के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' पर 'दीधिति' नामक पाण्डित्यपूर्ण टीका का निर्माण किया था जो बगीय विद्वानों के द्वारा निर्मित तत्त्वचिन्तामणि की सर्दप्रथम विद्वत्तापूर्ण टीका मानी जाती है। इसके अतिरिक्त इन्होंने निम्नांकित ग्रन्थों की भी रचना की थी—

(१) पदार्थ-तत्त्वनिरूपण, (२) बौद्धधिक्कार-शिरोमणि, (३) खण्डनखण्डखाद्य-दीधिति, (४) आख्यातवाद, (५) किरणावलीप्रकाश-दीधिति।

इनके अगाध वैदुष्य के कारण इनको 'शिरोमणि' की उपाधि प्राप्त हुई थी और इन्होंने स्वयं 'तत्त्वचिन्तामणि' की दीधिति नामक टीका में अपने को 'तार्किकशिरोमणि' कहा है। **यशोविजय** नामक जैनाचार्य ने इनकी तार्किक प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

न्यायाम्बुधिर्दीधितिकारयुक्ति - कल्लोल-कोलाहल-दुर्विगाहः ।
तस्यापि पातुं न पयः समर्थः किं नाम धीमत्प्रतिभाम्बुवाहैः ॥

—अष्टसाहस्री-विवरण

श्लोक का आशय यह है कि दीधिति टीका के लेखक (रघुनाथ शिरोमणि) की युक्तियों के कल्लोल (भयकर लहरियों) से उत्थित कोलाहल के कारण न्याय-समुद्र में अवगाहन करना बड़ा ही कठिन है, तथापि विद्वानों के प्रतिभारूपी मेघों के द्वारा ऊपर ही ऊपर उस न्याय-समुद्र

के जल का क्या आस्वादन नहीं किया जा सकता ? खण्डनखण्डखाद्यकार महाकवि श्रीहर्ष के समान रघुनाथ शिरोमणि तार्किक होने के साथ ही एक सहृदय कवि भी थे। इनकी साहित्यिक कृति तो अभी प्रकाश में नहीं आई है परन्तु इनकी ये दो गर्वोक्तियाँ विद्वानों में सुप्रसिद्ध हैं। इनमें पहली इनकी तर्क-निपुणता के विषय में है और दूसरी इनकी अलौकिक काव्य-प्रतिभा से सम्बन्धित है। ये गर्वोक्तियाँ इस प्रकार हैं—

विदुषां निवहैरिहैकमत्याद् यदुदुष्टं निरटंकि यच्च दुष्टम् ।
मयि जल्पति कल्पनाधिनाथे, रघुनाथे मनुतां तदन्यथैव ॥

× × ×

अनासाद्य गौडीमनाराध्य गौरीं, विना तन्त्रमन्त्रैर्विना शब्दचौर्यात् ।
प्रसिद्धप्रवृद्धप्रबन्धप्रवक्ता, मदन्यः कविः को विरिञ्चिप्रपञ्चे ॥

अन्तिम श्लोक का भाव यह है कि कवियों की प्रायः चार श्रेणियाँ दिखाई पड़ती हैं। कुछ कवि तो मद्यपान करके, मन्दबुद्धि होने पर भी उन्माद के आवेश में कविता करते हैं, दूसरे कवि त्रिपुरसुन्दरी की उपासना से काव्य-प्रतिभा के अभाव में भी काव्य की रचना करते हैं, तंत्र-मंत्र की सहायता से कविता का प्रणयन करनेवाले कवियों की संख्या भी कुछ कम नहीं है और कम नहीं उनकी संख्या भी जो शब्द की चोरी करके काव्य को लिखने में दक्ष होते हैं। परन्तु ईश्वर ने मुझे छोड़कर क्या किसी ऐसे व्यक्ति को उत्पन्न किया है जो इन चारों प्रकार की सहायता के बिना ही प्रसिद्ध प्रौढ़ काव्य-प्रबन्धों का प्रणेता हो ? नहीं। कभी नहीं।

जिस नवद्वीप में रघुनाथ शिरोमणि नव्यन्याय का अध्यापन करते थे उसी शिक्षा-केन्द्र में पण्डित कैलासचन्द्रजी ने न्यायशास्त्र का चूड़ान्त अध्ययन कर 'शिरोमणि' की उपाधि प्राप्त की थी। ये दोनों ही 'शिरोमणि' उसी प्रसिद्ध विद्यापीठ के प्रकाण्ड विद्वान् थे। केवल अन्तर यही था कि प्रथम ने १६वीं शताब्दी में वहाँ अध्ययन किया था और दूसरे ने १९वीं शताब्दी में। दोनों ही नव्य न्याय के अलौकिक प्रतिभासम्पन्न, तलस्पर्शी विद्वान् थे।

शिक्षा

न्यायशास्त्र में प्रगाढ़ पाण्डित्य प्राप्त करने के उद्देश्य से जब पं० कैलासचन्द्रजी नवद्वीप पहुँचे तब वहाँ प्रधान नैयायिक पं० **गोलोकनाथ न्यायरत्न** महाशय की तूती बोलती थी। न्यायशास्त्र में उनकी विद्वत्ता विश्वविख्यात थी। अनेक ग्रन्थों का निर्माण करने के कारण उनके यश का सौरभ समस्त भारतवर्ष में व्याप्त हो रहा था। उस समय गोलोकनाथ न्यायरत्न नितान्त वृद्ध थे। अतः उनके चरणों में बैठकर शिरोमणिजी ने अभी केवल चार महीने तक ही अध्ययन किया था कि उनका गोलोकवास हो गया। गुरु की मृत्यु के पश्चात् उदास तथा खिन्न होकर शिरोमणिजी घर लौट आये परन्तु न्यायशास्त्र के समधिक अध्ययन की लालसा इनकी अभी पूरी नहीं हुई थी। अतः अपनी अधूरी विद्या को पूर्ण करने के लिए ये पुनः नवद्वीप गये और अब **पण्डित प्रसन्नचन्द्र** तर्करत्न से अवशिष्ट न्यायशास्त्र के चूडान्त ग्रन्थों का अध्ययन किया। पण्डितों ने वहाँ इनकी परीक्षा ली और इनकी विद्वत्ता से प्रसन्न होकर इन्हें 'शिरोमणि' की उपाधि से विभूषित किया।

नवद्वीप में अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् ये अपने गाँव पुनः लौट गये और वहाँ अपनी ओर से एक पाठशाला खोलकर न्याय का अध्यापन करने लगे। परन्तु अपने गाँव में केवल तीन वर्षों तक इन्होंने अध्यापन किया था कि इनके जीवन में दोहरी दुर्घटना घटित हो

गई। इनके बड़े भाई—जो अंग्रेजी और फारसी के विद्वान् थे और जो मुन्सिफ की परीक्षा उत्तीर्ण कर अपने पद का कार्य भार ग्रहण करने ही वाले थे—का आकस्मिक तथा असामयिक निधन हो गया। इस भीषण वज्रपात से मर्माहत होकर इनकी माताजी ने गगा नदी मे डूबकर अपने प्राणो का अन्त कर दिया। इस दोहरी दुर्घटना के कारण शिरोमणिजी का मन ससार से उचट गया। ये अत्यन्त उदासीन तथा खिन्न होकर अपने दो शिष्यो के साथ घर से निकल पड़े। ये अपने गॉव के पास ही के गॉव देवीपुर के निवासी राजकृष्ण सिह, जो अत्यन्त सम्पन्न व्यक्ति थे और पटना मे रहते थे, के पास पटना आये परन्तु उनको वहाँ न पाकर उन्हीकी खोज मे मुँगेर चले गये। परन्तु वहॉ भी उनसे भेट न होने पर ये अत्यन्त खिन्न और दुखी हो गये और अन्त मे कही ठिकाना न मिलने पर काशी के लिए चल पडे। जिन अपने दो शिष्यो के साथ शिरोमणिजी काशी पहुँचे उनके नाम थे (१) तारणीचरण न्यायरत्न और (२) वरदाकान्त न्यायरत्न। मुँगेर से काशी तक की यात्रा बडी ही कष्टदायक थी। कुछ दूर तक इन्होने रेल से यात्रा की, फिर नाव से और फिर बाद मे बहुत दूर तक तो पैदल ही यात्रा करनी पडी। इस प्रकार मार्ग मे अनेक कष्टो को झेलते हुए ये अनेक महीनो के पश्चात् काशी पहुँचे।

परन्तु काशी मे भी शिरोमणिजी का कोई परिचित व्यक्ति नही था। स्थान नया और आदमी सब अपरिचित। जायँ तो कहॉ जायॅ ? और क्या करे ? यही समस्या थी। उसी समय काशी मे दशाश्वमेध घाट के पास स्थित चौसट्ठीघाट पर स्वामी विशुद्धानन्दजी रहा करते थे जिनका काशी मे बडा नाम था। शिरोमणिजी ने अपने शिष्यो के साथ सबसे पहले उन्हीके आश्रम मे अपना डेरा डाला। किसी आवश्यक सामान को खरीदने के हेतु जब उनके दोनो शिष्य बाजार की ओर निकले तब उनकी भेट प० **वैकुण्ठनाथ न्यायरत्न** से हुई। उन लोगो के काशी-आगमन का कारण जानने पर वैकुण्ठनाथजी—जो शिरोमणिजी के सतीर्थ्य थे—आश्रम मे गये और उन्होने शिरोमणिजी से प० रामदास भट्टाचार्य—जो अगस्तकुण्ड मे रहते थे—के घर चलने का आग्रह किया जो उनके पिता के विद्यार्थी थे। कैलासचन्द्रजी ने वहाँ कुछ दिनो तक निवास किया। परन्तु दूसरे के घर मे अधिक समय तक रहना उचित न समझकर उन्होने एक किराये का मकान ले लिया और उसी घर मे एक पाठशाला खोलकर विद्यार्थियो को न्यायशास्त्र का अध्यापन करने लगे। इनके अध्यापन की शैली बड़ी सुन्दर थी। ये शुष्क विषय को भी अत्यन्त सरस बनाकर पढ़ाते थे। अतः धीरे-धीरे इनकी कीर्ति फैलने लगी और कुछ ही वर्षों मे विद्वान् के रूप मे इनकी कीर्तिपताका फहराने लगी।

अध्यापन-कार्य करते समय इनका परिचय प० अच्युतानन्द परिव्राजक से हुआ जो वेदान्तशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। इन वेदान्तीजी ने शिरोमणिजी से न्यायशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ किया और वे इनसे वेदान्त पढ़ने लगे। इस प्रकार शिरोमणिजी ने न्यायशास्त्र के अतिरिक्त वेदान्त मे भी अलौकिक विद्वत्ता प्राप्त की।

इस पाठशाला मे पढ़ाते समय ही इनकी विद्वत्ता की कीर्ति चतुर्दिक् फैलने लगी थी। उस समय गवर्नमेण्ट सस्कृत कॉलेज, बनारस मे म० म० प० बापूदेव शास्त्री ज्योतिष-विभाग के अध्यक्ष थे। परन्तु इसके अतिरिक्त वे बहुत बड़े गुणग्राही विद्वान् भी थे। कॉलेज के प्रिंसिपल भी उनका बड़ा आदर-सम्मान करते थे। अतः प० बापूदेव शास्त्री ने शिरोमणिजी की अगाध विद्वत्ता से प्रभावित होकर तत्कालीन प्रिंसिपल से इनकी प्रशसा कर शिरोमणिजी को गवर्नमेण्ट सस्कृतकॉलेज में न्यायशास्त्र के एक रिक्त पद पर प्रतिष्ठापित करा दिया। इस पद पर स्थित

पूर्व अध्यापक को केवल पैंतीस रुपये (रु० ३५.००) वेतन के रूप में मिलते थे। परन्तु शिरोमणिजी की विद्वत्ता के कारण कॉलेज के तत्कालीन प्रिंसिपल डॉ० ग्रिफिथ ने (सन् १८६८ ई० में) चालीस रुपये (४० रु०) मासिक वेतन पर इनकी नियुक्ति कर दी। पहले तो ये केवल तीन महीनों के लिए ही नियुक्त किये गये थे परन्तु इनकी अध्यापन-शैली से प्रसन्न होकर इन्हें उस पद पर स्थायी कर दिया गया।

अध्यापन-कार्य

इस कॉलेज में कैलासचन्द्र शिरोमणिजी ने लगातार ३९ वर्षों (सन् १८६८ ई० से लेकर १९०७ ई०) तक अध्यापन-कार्य किया। यही समय इनके जीवन का सुवर्णकाल माना जा सकता है। इस कॉलेज में अध्यापन करते समय इन्होने अनन्त कीर्ति प्राप्त की। आपकी यशःसुगन्धि चारो ओर पुष्प की भाँति फैल गयी। आपकी विद्वत्ता के फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने सन् १८९९ ई० मे आपको 'महामहोपाध्याय' की उपाधि से विभूषित किया।

साधारणतया सरकारी कर्मचारी उन दिनो ५५ वर्ष की आयु में अवकाश प्राप्त किया करते थे परन्तु डॉ० वेनिस ने जो इनके विद्यार्थी भी थे--इन्हें अवकाश ग्रहण करने की अवधि बीत जाने पर भी अवकाश प्रदान नही किया। अतः ये ७७ वर्ष के वय तक कॉलेज मे अध्यापन का कार्य करते रहे। जब ये कॉलेज तक पैदल चलकर जाने मे असमर्थ हो गये, तब इन्होने पालकी में बैठकर कॉलेज जाना प्रारम्भ किया था! सच तो यह है कि डॉ० वेनिस शिरोमणिजी की विद्वत्ता से अत्यन्त प्रभावित थे। अतः वे किसी भी शर्त पर संस्कृतकॉलेज से इन्हें मुक्त करना नही चाहते थे। वे यह जानते थे कि शिरोमणिजी के कारण ही इस कॉलेज का इतना गौरव है! अतः इनके बार-बार निवेदन करने पर भी इन्होने इन्हें अवकाश ग्रहण नही करने दिया।

सन् १९०४ ई० की घटना है जब शिरोमणिजी की आयु उस समय ७५ वर्ष की थी और ये उस समय भी इस कॉलेज में अध्यापक थे। इन्हीं दिनों भारत का सुप्रसिद्ध वाइसराय लार्ड कर्जन काशी आया था और उसने गवर्नमेण्ट संस्कृतकॉलेज मे भी पधारने की कृपा की थी। कॉलेज में शिरोमणिजी जैसे वृद्ध शिरोमणि अध्यापक को देखकर उसे बड़ा ही आश्चर्य हुआ और उसने तत्कालीन लेफ्टिनेण्ट गवर्नर लाटूश साहब से पूछा कि यह पण्डित अभी तक 'रिटायर' क्यों नही हुआ। लाटूश साहब ने तत्कालीन प्रिन्सिपल डॉ० वेनिस से इस विषय मे जानकारी चाही। डॉ० वेनिस—जो संस्कृत के विद्वानों का बड़ा सम्मान करते थे—ने उन्हें बतलाया कि "ये पण्डितजी अगाध विद्वान् हैं। इनसे हमारे कॉलेज की शोभा है। इसीलिए मेरी प्रार्थना करने पर ही ये आज तक अध्यापन-कार्य कर रहे है।" लाटूश साहब इस उत्तर से अत्यन्त प्रसन्न हुए और समुचित उत्तर देकर इन्होंने लार्ड कर्जन को संतुष्ट किया।

इस प्रकार लगभग ४० वर्षों तक अध्यापन करते हुए शिरोमणिजी ने अनेक सुयोग्य शिष्यों को पैदा किया। अन्त में सन् १९०७ ई० में इन्होंने ७७ वर्ष के वय में अवकाश प्राप्त किया और इसके एक ही वर्ष बाद सन् १९०८ ई० में ७८ वर्ष की परिपक्व अवस्था में इनका काशीवास हो गया।

परिवार—पं० कैलासचन्द्र शिरोमणि परिवार के विषय में बड़े सुखी थे। इनके पाँच पुत्र तथा एक लड़की थी। पुत्रों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) पं० राजवल्लभ भट्टाचार्य, (२) मुकुन्दवल्लभ भट्टाचार्य, (३) आशुतोष भट्टाचार्य,

(४) सदानन्द भट्टाचार्य और (५) नित्यानन्द भट्टाचार्य। इनमें से प्रथम पुत्र—राजवल्लभ भट्टाचार्य तो शिरोमणिजी के जीवनकाल मे ही काल-कवलित हो गये थे परन्तु शेष चार पुत्र इनकी मृत्यु के समय विराजमान थे। आजकल इनके तीन पौत्र जीवित है। इन लोगो ने काशी में जंगमबाड़ी मुहल्ले में 'जागेश्वर' नामक प्रेस खोल रखा है। ये लोग इसी प्रेस का संचालन कर अपनी जीविका का अर्जन तथा विद्या का प्रचार-प्रसार करते है।

शिष्यमण्डली

शिरोमणिजी के शिष्यों में चार प्रमुख शिष्य हुए जिनके नाम ये है--(१) म० म० प्रमथनाथ तर्कभूषण, (२) म० म० आदित्यराम भट्टाचार्य, (३) म० म० पण्डित वामाचरण भट्टाचार्य और (४) म० म० लक्ष्मणशास्त्री द्राविड। इनमे प्रथम दो विद्वानो का कार्यक्षेत्र काशी से बाहर रहा। म० म० प्रमथनाथ तर्कभूषणजी कलकत्ता सस्कृत कॉलेज के प्रतिष्ठित अध्यापक रहे और म० म० आदित्यराम भट्टाचार्य इलाहाबाद के म्योर सेण्ट्रल कॉलेज में सस्कृत के प्रोफेसर थे। परन्तु अन्तिम दोनो विद्वानो का कार्यक्षेत्र काशी ही था। इन चारो विद्वानो का विस्तृत विवरण अन्यत्र दिया जायेगा।

इन चार प्रधान शिष्यो के अतिरिक्त शिरोमणिजी के अन्य निम्नाकित शिष्य थे—(१) स्वामी मनीष्यानन्द, (२) म० म० गुरुचरण तर्कदर्शन तीर्थ, (३) वीर शैवमठ के अधिपति प० शिवलिङ्ग स्वामी, (४) यादवेश्वर तर्करत्न, (५) सुरेन्द्रलाल गोस्वामी, (६) म० म० विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी, (७) प० रामशास्त्री भागवताचार्य और (८) म० म० डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण, जो आगे चलकर सस्कृत कॉलेज, कलकत्ता के प्रिसिपल हुए और जिनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक' अपनी विद्वत्ता मे अद्वितीय माना जाता है।

ग्रन्थरचना—प० कैलासचन्द्र शिरोमणि के द्वारा ग्रन्थरचना का कुछ विशेष पता नही चलता। ऐसा सुना जाता है कि इन्होने न्यायभाष्य पर एक टीका लिखी थी जो दुर्भाग्यवश आज अप्राप्त है। इन्होने देवी और देवताओं के विषय मे कुछ स्तोत्र भी लिखे थे। डॉ० वेनिस जब इनसे न्यायशास्त्र का अध्ययन कर रहे थे तब उनकी सुविधा के लिए इन्होने न्यायशास्त्र के जटिल विषयों को सरल सस्कृत वाणी मे प्रकाशित करनेवाले एक प्रबन्ध की भी रचना की थी जिससे इनके वैदुष्य का पता चलता है। किसी कठिन विषय को सरल रीति से प्रतिपादित करने में इन्हे पटुता प्राप्त थी। यह भी इस निबन्ध का अवलोकन करने से ज्ञात होता है। आलोचकों की दृष्टि में यह प्रबन्ध शिरोमणिजी की सफल रचना मानी जाती है। इसके विषय में यह प्रशसा उचित ही है—

> दुर्बोधान्बहुलप्रकारजटिलान् नैयायिकानां वचो-
> विन्यासान् गमयत्यलं झटिति तद्बोधं च सम्पादयन्।
> प्रौढिं कामपि दर्शयत्यनुपमां शास्त्रे श्रमं निस्तुले,
> श्रीमत्तार्किकपुङ्गवस्य सततं कैलासचन्द्रात्मनः॥

संस्मरण—पं० कैलासचन्द्र शिरोमणि बड़े ही आस्तिक तथा धर्मभीरु पुरुष थे। ऐसा सुना जाता है कि एक बार डॉ० एनीबेसेण्ट ने अपने पति के श्राद्ध-दिवस पर शिरोमणिजी को कुछ अन्न तथा द्रव्य दानरूप मे भेजा था। परन्तु शिरोमणिजी इतने धर्मभीरु थे कि इन्होंने उस सामग्री का स्पर्श तक नहीं किया और इस बात की तनिक भी चिन्ता न करके—कि इस कार्य से डॉ० बेसेण्ट क्रुद्ध होंगी—इन्होंने उसे वापस लौटा दिया। परन्तु एक अग्रेज महिला ने मुझे दान देने का संकल्प किया था इस बात की कल्पना कर संकल्प-दोष से बचने के लिए

इन्होंने गंगा-स्नान, जप आदि अनेक प्रायश्चित्त किये। इसके पश्चात् ही इन्होंने अपने को पाप या दोष से मुक्त समझा। ऐसी थी उनकी विकट धार्मिकता तथा धर्मभीरुता।

विद्वत्ता– प० कैलासचन्द्र अलौकिक प्रतिभासम्पन्न विद्वान् थे। इनके वैदुष्य की ख्याति इतनी अधिक थी कि काशी में जहाँ भी शास्त्रार्थ होता था उसमे ये मध्यस्थ के आसन को सुशोभित करते थे। काशी मे म० म० प० दामोदर शास्त्री का मैथिल विद्वान् प० बच्चा झा से जो अलौकिक तथा ऐतिहासिक शास्त्रार्थ हुआ उसमे प० शिवकुमार शास्त्री के साथ शिरोमणिजी भी मध्यस्थ थे। जब यह शास्त्रार्थ अन्तिम तथा उच्चकोटि मे पहुँच गया था तब भी शिरोमणिजी अन्त तक बच्चा झा के तर्कों को बडी शान्तिपूर्वक सुनते रहे। व्याकरण और न्यायशास्त्र यही शास्त्रार्थ के दो प्रधान विषय है। अतः तर्कशास्त्र मे जहाँ भी काशी मे शास्त्रार्थ होता था वहाँ ये मध्यस्थता के लिए बडे आदर से आमन्त्रित किये जाते थे। काशी मे इनके द्वारा न्याय के अध्ययन-अध्यापन का बडा प्रचार किया गया। सच तो यह है कि इस नगरी में न्याय की प्रतिष्ठा का श्रेय शिरोमणिजी को प्राप्त है। इन्होने लगभग ४० वर्षों तक न्यायशास्त्र का अध्यापन किया और इन दीर्घ वर्षों मे सैकडो सुयोग्य शिष्यो को पैदा किया जिनकी चर्चा पिछले पृष्ठो मे की जा चुकी है। शिरोमणिजी अपने समय के अलौकिक विद्वान् थे।

इनकी मृत्यु के बाद काशी की जो दशा हुई उसका वर्णन सुनिये -

विद्वल्लोककुलं सशोकमभवद्; दुःखान्धकारोच्चयः
सर्वत्रैव कृतास्पदः, परपदं कैलासचन्द्रे गते।
तर्कव्याकृतिकौशलं निरुपम तत् प्रातिभोट्टङ्कन
धर्मे सा दृढता च सर्वमगमत्, तेनैव साकं किमु॥

शिरोमणिजी के अनेक शिष्य हुए जिन्होने इनसे न्यायशास्त्र का गम्भीर अध्ययन कर विशेष पाण्डित्य प्राप्त किया। पण्डित वामाचरणजी तो प्रसिद्ध ही थे जो सस्कृतकॉलेज मे न्यायशास्त्र के प्रख्यात अध्यापक हुए। **पण्डित सुरेन्द्रलाल गोस्वामी** भी शिरोमणिजी के लब्धकीर्ति शिष्य थे। ये तर्कतीर्थ थे तथा सस्कृतकॉलेज मे न्यायशास्त्र के प्राध्यापक थे। इन्होने **तर्कभाषा** की **न्यायप्रदीप** नाम्नी व्याख्या का सम्पादन किया था जिसकी भूमिका मे इन्होने न्याय के विषय में अनेक ऐतिहासिक तथ्यो का विवरण दिया है। द्रष्टव्य --इस ग्रन्थ के लाजरस प्रेस से प्रकाशित १६२२ ई० के द्वितीय सस्करण की पाण्डित्यपूर्ण भूमिका।

उनके व्यक्तित्व का परिचायक यह श्लोक प्रस्तुत किया जाता है —

वङ्गेषु लब्धजन्मा:शिवपुरि सम्प्राप्तभूरितरशर्मा।
कैलासचन्द्रशर्मा; जयति शिवात्मा स सत्कर्मा॥





पं० राखालदास न्यायरत्न

पण्डित राखालदास न्यायरत्न

(आस्पद—भट्टाचार्य; उपाधि—महामहोपाध्याय)

शिरोमणिजी के सहयोगी

पण्डित राखालदास न्यायरत्न गत शताब्दी के बगाली नैयायिको मे अग्रगण्य स्थान रखते थे। विद्यादान की दृष्टि स तथा तार्किक ग्रन्थो के निर्माण के कारण इनकी विपुल कीर्ति बगाल की चहारदीवारी को पार करके समस्त उत्तरी भारत को अपने मे समेटे हुए थी। अधिकाश जीवन इन्होने अपने ही नगर मे स्थापित अपनी चतुष्पाठी मे ही अध्ययन-अध्यापन मे बिताया। परन्तु अपने जीवन के अन्तिम चरण मे ये भूतभावन विश्वनाथ की नगरी काशी मे ही अध्ययन अध्याप॰ कर काशी के छात्रो को भी न्यायशास्त्र के उच्चस्तरीय ग्रन्थो का अध्यापन कर अपनी निर्मल कीर्ति को और भी विस्तारित किया। फलतः अध्ययन-काल मे राखालदासजी का काशी से सम्पर्क नही था परन्तु अध्यापन काल के अन्तिम चरण मे यह सम्पर्क हुआ और धीरे धीरे गाढ़तर होता गया। इसीलिये हम इनको काशी की पाण्डित्य परम्परा का प्रसारक तथा प्रचारक विद्वान् मानते है और इसीलिये उनका सक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

बगाल के चौबीस परगना जिला के अन्तर्गत प्रसिद्ध नगर भट्टपल्ली मे १२३६ बगाब्द (– १८२९ ई०) के भाद्रपद मे राखालदास महाशय ने जन्म ग्रहण किया था। ये पाश्चात्य वैदिक श्रेणी के ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम प० सीतानाथ विद्याभूषण तथा माता का नाम 'निर्मल' देवी था। इनके पिता स्मृतिशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे और इस शास्त्र का विधिवत् अध्यापन करते थे। इनका कुटुम्ब विद्या के लिये जितना प्रसिद्ध था, उतना ही प्रसिद्ध आध्यात्मिक साधना के लिये भी था। इनके नवम पूर्वपुरुष **नारायण ठाकुर** नाम से प्रसिद्ध साधक थे। इस प्रकार साधना और विद्या दोनो का मणिकाचन योग राखालदास के जीवन मे भी परिस्फुरित हुआ। विद्या उपार्जन कर जितनी कीर्ति इन्होने प्राप्त की, उतनी ही इन्होने साधना के क्षेत्र मे भी उपलब्ध की।

पाँच वर्ष के वय मे इनका अक्षरारम्भ कराया गया। अक्षरारम्भ इन्होने श्री दुर्गा के नाम से किया तथा जीवनपर्यन्त इस नाम को भूल नही सके। उस समय भट्टपल्ली मे सबसे प्रधान वैयाकरण तथा आलकारिक थे –**जयराम सार्वभौम** नामक पण्डित। उन्हीके निकट इन्होने सुपद्म व्याकरण, काव्य तथा अलकार ग्रन्थ का विधिवत् अध्ययन आरम्भ किया। उन्नीस वर्ष मे इन्होने न्यायशास्त्र का अध्ययन आरम्भ किया। इनके गुरु थे भट्टपल्ली के ही प्रसिद्ध नैयायिक **पं० यदुनाथ सार्वभौम** महाशय। थोडे ही दिनो मे इनकी प्रतिभा न्यायशास्त्र के अध्ययन मे चमक उठी और सुयोग्य नैयायिक छात्र होने की कीर्ति उसी समय भट्टपल्ली मे चारो तरफ फैल गई। उस समय भट्टपल्ली मे सर्वश्रेष्ठ नैयायिक थे—**पं० हलधर तर्क-**

चूडामणि । वे वृद्ध हो चले थे और उनके अनन्तर भट्टपल्ली में सबसे श्रेष्ठ नैयायिक कौन होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने राखालदास का ही नाम लिया, यद्यपि उस समय ये विशेष 'व्याप्ति' का ही अध्ययन कर रहे थे । वे छात्र ही थे । उसी अवस्था में उन्होंने अपनी नैयायिक पटुता का ऐसा उज्ज्वल दृष्टान्त प्रस्तुत किया कि तर्कचूडामणिजी को हठात् कहना पड़ा कि मेरे अनन्तर यदि कोई पल्ली की कीर्ति को स्थायी बनायेगा, तो यह छात्र ही बनायेगा ।

न्याय के अध्ययन में इनकी प्रवृत्ति, अनुरक्ति इतनी गाढ़ थी कि चतुष्पाठी में ये दस-ग्यारह बजे रात तक अध्ययन करके अपने निवासस्थान पर लौटते थे । इतना था इनका अनुराग, इतनी थी इनकी निष्ठा न्यायशास्त्र के पढ़ने मे । छात्रावस्था में ही न्यायशास्त्र के अध्यापकों के साथ न्याय के गम्भीर तत्त्वों के ऊपर ये विमर्श तथा विचार किया करते थे । नवद्वीप के **गोकुलनाथ न्यायरत्न** के साथ 'पक्षता' के विषय मे विचार करके इन्होने प्रचुर प्रशसा प्राप्त की थी । उसी समय इन्होंने अपने पिता से स्मृतिशास्त्र का अध्ययन किया । उन्तीस वर्ष के वय में उन्होंने न्यायशास्त्र का अध्ययन समाप्त किया और अध्यापक से 'न्यायरत्न' की उपाधि प्राप्त की जो इनके वैदुष्य के कारण गुरुजी ने इन्हें प्रसन्न होकर दिया ।

अध्यापन

अध्यापन के लिये इन्हे बाहर नही जाना पड़ा । इन्होने घर पर ही स्वतन्त्र रूप से एक चतुष्पाठी (पाठशाला) की स्थापना की । इनकी कीर्ति सुनकर दूर-दूर के छात्र न्यायशास्त्र पढ़ने के लिये आने लगे । न्यायरत्न महाशय की कीर्ति इस विषय मे इतनी बढ़ी कि नदिया (नवद्वीप) के यदुनाथ सार्वभौम महाशय के अनेक छात्र समय-समय पर आकर इनसे शिक्षा ग्रहण करने लगे । इस ख्याति का फल था कि उस युग के अद्वितीय नैयायिक, कलकत्ता सस्कृत कॉलेज के अध्यापक जयनारायण तर्कपंचानन तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे उत्कृष्ट विद्वान् इनके चतुष्पाठी के पोषक बन गये जिससे छात्रों की सख्या विशेष बढ़ी और न्यायरत्न महाशय की कीर्ति उत्तरप्रदेश में भी विशेष फैल गई ।

काशी-आगमन

बिहार मे हथुवा के महाराजा कृष्णप्रताप साही पण्डितों के बडे अनुरागी तथा प्रशसक थे । वे लक्ष्मीपति होने के साथ ही साथ सरस्वती के सेवको के विशेष भक्त भी थे । काशी के अनेक मान्य विद्वानो को वह मासिक वृत्ति देकर अपनी गुणग्राहिता का परिचय देते थे । उन्होंने ही राखालदासजी को निमन्त्रण देकर बुलाया, उनके वैदुष्य का अभिनन्दन किया और उनसे पूछा—क्या आपको काशी में रहने की अभिलाषा है ? न्यायरत्नजी ने उत्तर दिया—अभिलाषा तो बड़ी है, काशी में आने की मेरी प्रबल इच्छा है परन्तु आर्थिक संकट के कारण यह इच्छा अब तक पूर्ण नही हुई है । महाराजा ने उत्तर सुनते ही कहा कि मै आपकी आर्थिक समस्या का समाधान कर दूँगा । आप प्रेम से आइये, काशीवास कीजिये । न्यायरत्नजी ने इसे स्वीकार किया । वृद्ध हो गये थे । उस समय उनका वय चौंसठ वर्ष हो गया था । तो भी उन्होंने काशीवास स्वीकार किया । ये १३६० बगाब्द (१८६३ ई०) के फाल्गुन मास में काशी आये और जीवन के अन्तिम २१ वर्षों को काशी में ही अध्ययन, अध्यापन, पूजन, अर्चन, मनन तथा निदिध्यासन में व्यतीत किया । काशी में इनके अनेक शिष्य हुएं जिन्होंने न्यायशास्त्र में प्रौढि प्राप्त कर विशेष ख्याति उपलब्ध की । ऐसे शिष्यों में अग्रगण्य थे—**पण्डित दामोदरलाल गोस्वामी** जो उत्कृष्ट साहित्यिक होने के साथ प्रकृष्ट नैयायिक भी थे । साहित्य का अध्ययन

उन्होंने महामहोपाध्याय गगाधर शास्त्री से किया और न्यायशास्त्र का अध्ययन इन्हीं न्यायरत्नजी से किया। उन्होंने स्वयं लिखा है कि अभी 'अनुमानखण्ड' का कुछ अंश शेष ही था कि एक दुर्घटना ने अध्ययन की समाप्ति ही कर दी। न्यायरत्नजी का सुयोग्य पुत्र उसी समय दिवंगत हो गया। इस घटना से राखालदासजी इतने दुखी हुए, इतने मर्माहत हुए कि वे कुछ दिनों के लिए काशी छोड़कर घर लौट गये। फिर वे लौटकर आये और काशी में रहकर भजन-पूजन में समय बिताने लगे। १३३१ बगाब्द (= १६१४ ई०) के अगहन मास में काशी में ही इन्होने परलोक-गमन किया था। उस समय वे काफी वृद्ध थे और आयु थी ८५ वर्ष की।

ग्रन्थरचना

१८८७ ई० मे राखालदास न्यायरत्न को महामहोपाध्याय की उपाधि प्राप्त हुई थी। ये धुरन्धर पण्डित होने के साथ ही साथ सुकवि थे। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों के नाम इस प्रकार है—

(१) तत्त्वसार, (२) अद्वैतवाद-खण्डन, (३) गदाधर न्यूनतावाद, (४) शक्तिवादरहस्य, (५) दीधितिकृत-न्यूनतावाद, (६) मायावाद-निरास, (७) विविध विचार, (८) कवितावली और (६) विधवोद्वाह-खण्डनम्।

इन ग्रन्थो के अनुशीलन से लेखक की न्यायशास्त्र में चातुरी तथा वैदुषी का पर्याप्त परिचय मिलता है। न्यायरत्नजी बड़े ही प्रौढ़ तार्किक तथा काल्पनिक थे। वे शास्त्रार्थ में कल्पना करने मे अपना प्रतिद्वन्द्वी नही रखते थे। 'कल्पना' से तात्पर्य है प्रतिभा के बल पर नई युक्तियों की अवतारणा करना। इस विषय मे उनकी प्रतिभा बड़ी ही विलक्षण मानी जाती थी। इसीके बल पर उन्होने गदाधर तथा रघुनाथ शिरोमणि के सिद्धान्तो में न्यूनता तथा त्रुटि दिखलाने का साहसिक प्रयास किया है। शिरोमणि तथा गदाधर दोनो ही नव्यन्याय के उज्ज्वल प्रतिभासम्पन्न विद्वान् ठहरे। उनके ग्रन्थों का अनुशीलन कर, उनके मर्म का समझना ही टेढ़ी खीर है परन्तु राखालदासजी ने अपनी तार्किक बुद्धि से ऐसा ही चमत्कार इन ग्रन्थो द्वारा दिखलाया है। फलतः इन ग्रन्थो में इनकी विलक्षण कल्पना-शक्ति का, विशाल युक्तियो के विन्यास का तथा प्रखर तर्क का साक्षात्कार पदे-पदे प्राप्त होता है। ग्रन्थो में मौलिकता का साम्राज्य विद्यमान है और इनमे प्राचीन आचार्यों के उक्तिविन्यास का परिचय पूर्ण रूप से प्राप्त होता है।

एक विमल संस्मरण

राखालदासजी का परिवार बड़ा ही विद्वत्ता-सम्पन्न परिवार था। इनके अनुज प० ताराचरण तर्करत्न काशिराज ईश्वरीप्रसादनारायण सिह के प्रधान पण्डित थे। उन्होंने दयानन्द सरस्वती से भी वेद विषय में शास्त्रार्थ किया था। उनके द्वारा निर्मित ग्रन्थों का परिचय पहले ही दिया जा चुका है। महामहोपाध्याय पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण ताराचरणजी के पुत्र होने के कारण इनके छात्र भी थे। दोनों भ्राताओं में खूब पटती थी और वे आपस में शास्त्रविषयक हास-परिहास करने में भी कभी नहीं चूकते थे। सुना जाता है कि ताराचरणजी अपने अग्रज से कहा करते थे—"दादा, आपने अपनी प्रज्ञाभूमि को तर्क की कुदाल से परिष्कृत कर खूब उर्वरा बना दिया है, परन्तु आपने उसमें वेदान्तरूपी बीज को अभी तक नहीं डाला। इसलिए वह भूमि आज भी वन्ध्या पड़ी हुई है।" राखालदासजी अपने अनुज के इन वचनों को सुनकर बुरा नहीं मानते थे प्रत्युत मुस्कराकर कहा करते थे—"भैया, वह दिन भी आनेवाला है जब

इस प्रज्ञाभूमि मे बीजारोपण का महोत्सव होगा। परन्तु मेरी दृष्टि मे वह दिन अभी कुछ दूर है।"

आखिर वह दिन आ ही गया जब न्यायरत्नजी के शास्त्रीय जीवन ने एक विशेष मोड ले लिया। यह घटना इस प्रकार बतलाई जाती है—

प० राखालदासजी केदारघाट के पास ही निवास करते थे और उसी मुहल्ले के पास ही एक दूसरे विद्वान् **पं० सुब्रह्मण्य शास्त्री** भी रहते थे। न्यायरत्नजी ठनाठन नैयायिक थे। उधर शास्त्रीजी प्रगाढ़ अद्वैत वेदान्ती थे। दोनो की एक शास्त्रार्थ मे ठन गई। सुब्रह्मण्य शास्त्री ने (जो काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान् प० राजेश्वर शास्त्री द्रविड के मातामह थे) अद्वैत विषय पर अपना पूर्वपक्ष बडे ऊहापोह के साथ रखा। राखालदासजी अलौकिक 'कल्पक' तो थे ही। उन्होने उसके खण्डन मे नवीन युक्तियो का व्यूह ही खड़ा कर दिया। शास्त्रार्थ बहुत देर तक चलता रहा। बहुत देर के बाद सुब्रह्मण्य शास्त्री निरुत्तर होकर चुप हो गये। इनके फीके चेहरे को ही देखकर किसीको समझने मे देर नही लगी कि शास्त्रीजी इस घटना से मर्माहत है और हृदय मे बड़े ही पीडित है। सभा का विसर्जन हुआ। दोनो पण्डित अपने-अपने घर चले। रास्ते मे राखालदासजी ने सुब्रह्मण्य शास्त्री से कहा—"शास्त्रीजी, मै आपसे क्षमा माँगता हूँ। मुझे इस बात का बडा दुःख है कि मैने आपको इस सभा मे अपमानित किया। आप इसे क्षमा करे।" सुब्रह्मण्य शास्त्री ने उत्तर दिया –"आपने मेरा क्या अपमान किया। मै तो कोई चीज नही हूँ। आपने तो उन आचार्यों का तथा शास्त्रो का अपमान किया जिनके सिद्धान्त का मै प्रतिपादन कर रहा था। आपने वेद का, उपनिषदो का तथा शकराचार्य का अपमान किया जिनके प्रबल मत का प्रतिपादन मै अपनी फीकी वाणी से कर रहा था। मुझे इस बात का सचमुच कष्ट है कि आपने इन शास्त्रो का विधिवत् अध्ययन नही किया है। यदि किया होता एव उनका मर्म समझने का प्रयास करते तो यह प्रसग ही न आता। आप अधिक नही केवल वेदान्त के चतुःसूत्री का अध्ययन करके देखे कि आपका कथन कितना निःसार तथा प्रमाणहीन है।"

प० राखालदासजी ने बात स्वीकार कर ली। शास्त्रीजी ने शाकरभाष्य की पोथी उन्हे स्वय लाकर दी और उनसे आग्रह किया कि आप इसका अध्ययन कुछ अवश्य करे तथा इसकी प्रतिक्रिया बताये। न्यायरत्नजी रातभर ब्रह्मसूत्र का अध्ययन करते रहे। प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान् तो वे थे ही। कल्पना के आलोक मे विचरण करनेवाले वे जीव तो थे ही। शाकरभाष्य का अध्ययन करने से उनमे बडा परिवर्तन हुआ। प्रातःकाल होते ही वे सुब्रह्मण्य शास्त्री की यज्ञशाला मे पहुँचे जहाँ वे अग्निहोत्र कर रहे थे। उन्होने शास्त्रीजी को साष्टाग प्रणाम किया। वेदान्त की पुस्तक लौटा दी और विनीत भावो से अपनी प्रतिक्रिया प्रकट की –"सचमुच मै गलती पर था। उपनिषद् तथा वेदान्त का परिनिष्ठित मत अद्वैतवाद ही है। आज से मै इसी सिद्धान्त का समर्थक हुआ।" राखालदासजी और अधिक दिन तक नही जिए, परन्तु जितने दिनो तक जीते रहे अद्वैत तत्त्व का चिन्तन तथा मनन किया करते थे।

सचमुच राखालदासजी ने अपनी उर्वर प्रज्ञा-भूमि मे वेदान्त के बीज का वपन किया और अद्वैत तत्त्व का मनन करते हुए उन्होने काशी मे ही शिव सायुज्य प्राप्त किया।[१]

कैलासचन्द्र शिरोमणिजी तथा राखालदासजी काशी मे दोनो समसामयिक अध्यापक

१ यह सस्मरण लेखक को हिन्दू विश्वविद्यालय मे मीमासा के अध्यापक पण्डित सुब्रह्मण्य शास्त्री से प्राप्त हुआ जिसके लिए वह उनका विशेष आभारी है।

थे। दोनों घनिष्ठ मित्र थे। क्यों न हो ? दोनों ही तो नवद्वीप विद्यापीठ के विद्यागरिष्ठ स्नातक थे—नव्यन्याय के पारगामी पण्डित तथा शास्त्रार्थ में वावदूक विद्वान्। काशीनरेश ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह की सभा में कभी-कभी दोनों एक साथ उपस्थित होते थे तो काशीनरेश के लिए प्रथम माल्यार्पण किसे करे ? यह समस्या का विषय बन जाता था। काशी में अनेक वर्षों तक अध्यापन करने की दृष्टि से वे शिरोमणिजी को जब माला पहनाते, तो वे इसका प्रतिवाद करते कि हमारे अग्रजतुल्य राखालदासजी प्रथम पूजनीय एव वन्दनीय है। परन्तु राखालदासजी इस सत्कार को स्वीकारने से पराङ्मुख होते। दोनों का शास्त्रीय हास परिहास देर तक चलता था। इन दोनो आचार्यों की महनीय विशिष्टता थी कि दोनो ने काशी मे नव्यन्याय की शिक्षा का प्रचुर प्रचार किया और गण्यमान्य शिष्यो को तैयार कर न्याय-विद्या की प्रगति मे योगदान दिया।





पं० राममिश्र शास्त्री

पण्डित राममिश्र शास्त्री

(आस्पद—मिश्र, उपाधि—महामहोपाध्याय)

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के प्रवीण पारखी, भारतीय दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् तथा संस्कृत-गद्यरचना के अलौकिक रचयिता महामहोपाध्याय पण्डित राममिश्र शास्त्री अपने युग के काशी के दार्शनिक विद्वानों में मूर्धन्य थे। ये राजपूताने के अन्तर्गत अलवर राज्य के निवासी थे। पण्डित अम्बिकादत्त व्यास ने अपने एक लेख में इनके लोकातीत वैदुष्य का निर्देश करते हुए इनके अलवर के दोसौत ग्राम में उत्पन्न होने का निर्देश किया है। इनका जन्म सन् १८५१ ई० में हुआ था। ये गौड़ ब्राह्मण थे। आपकी शिक्षा-दीक्षा का विशेष परिचय नहीं मिलता। न तो कोई स्थविर पण्डित ही मुझे मिल सका जो इनके आरम्भिक जीवन की घटनाओं का यथेष्ट जानकार हो, और न मुझे कोई लिखित प्रमाण ही मिल सका जिससे इनके भविष्य, व्यक्तित्व तथा वैदुष्य का कुछ आभास ही मिल जाता। अनुमान यही होता है कि अलवर राज्य के किसी विशिष्ट पण्डित से इन्होंने भारतीय दर्शन का विधिवत् अध्ययन किया था। इनके शिक्षण की परिणति काशी के पण्डितों से विद्याध्ययन करने के बाद उत्कृष्ट पाण्डित्य से मण्डित होने में हुई। ये संस्कृत के षड्दर्शनों के मर्मज्ञ विद्वान् थे, विशेषकर रामानुज-सम्प्रदाय के चूडान्त ग्रन्थों के ये परम मेधावी तथा तलस्पर्शी विचक्षण थे। संस्कृत के अतिरिक्त इन्होंने अंग्रेजी भाषा का भी अध्ययन किया और उसमें अच्छी प्रवीणता प्राप्त की थी। ये कहा करते थे कि मैंने केवल सत्तर दिनों में अंग्रेजी का पूरा ज्ञान प्राप्त कर लिया। इस विदेशी भाषा का ज्ञान इनके लिए विशेष लाभकारी सिद्ध हुआ—इसका वर्णन आगे किया जाएगा।

काशिराजकीय पाठशाला में नियुक्ति से पूर्व ये यहाँ किस पाठशाला में अध्यापन-कार्य करते थे—इस विषय का भी संकेत नहीं मिलता। गवर्नमेण्ट संस्कृतकॉलेज में इनकी नियुक्ति १८८० ई० में हुई जहाँ ये एक सामान्य अध्यापक से बढ़ते-बढ़ते उस महाविद्यालय के प्रथम अध्यापक (फर्स्ट प्रोफेसर) के पद पर प्रतिष्ठित हो गये। वहाँ अध्यापन-कार्य करते हुए इन्होंने पूरे २२ वर्ष का सुदीर्घ काल व्यतीत किया और सन् १८८० ई० से १६०२ ई० तक यावज्जीवन उसी पद पर बने रहे। इनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर केन्द्रीय सरकार ने इन्हें 'महामहोपाध्याय' की महनीय उपाधि से मण्डित किया। संस्कृतकॉलेज के अध्यापन-काल में ये कॉलेज के अध्यक्ष डॉ० थीबो साहब के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। उन दिनों थीबो साहब डॉ० मैक्सम्यूलर द्वारा सम्पादित प्रसिद्ध ग्रन्थमाला 'सैक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट' के लिए रामानुज द्वारा प्रणीत श्रीभाष्य का अंग्रेजी अनुवाद कर रहे थे। श्रीभाष्य सामान्य भाष्य न होकर विद्वानों द्वारा गम्य एक दुरूह भाष्य है—कठिन तथा दुर्बोध, जिसकी दुर्भेद्य ग्रन्थियों को सुलझाने के लिए उपनिषदों तथा तर्कशास्त्र के गम्भीर अध्ययन की अपेक्षा होती है। सुनते हैं डॉ० थीबो ने राममिश्र शास्त्री से इस भाष्य का पुङ्खानुपुङ्ख अध्ययन किया था और इसीलिए वे इस दुर्बोध्य भाष्य के

मर्म के उद्घाटन मे इतने कृतकार्य हुए। डॉ० थीबो का यह अग्रेजी अनुवाद आज भी सर्वत्र प्रशसित महनीय कृति माना जाता है।

पण्डित राममिश्रजी के अलौकिक पाण्डित्य तथा प्रत्युत्पन्नमतित्व के विषय मे एक मनोरजक सस्मरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। काशी मे वायसराय- बड़े लाट (सम्भवतः लाई रिपन) एक बार पधारे थे। उसी यात्रा मे सस्कृतकॉलेज के पण्डितो से उनकी भेट का भी कार्यक्रम नियत किया गया था। वे कॉलेज के प्रिन्सिपल डॉक्टर थीबो के साथ पण्डितो की कक्षा मे स्वय पधारे और उनसे बात चीत की। उस समय रामशास्त्रीजी कॉलेज के मूर्धन्य अध्यापक थे—प्रथमाध्यापक, फर्स्ट प्रोफेसर। लाई रिपन अन्य पण्डितो से भेट करता हुआ एकदम अन्त मे इनकी कक्षा मे जब पहुँचा तब वहाँ केवल एक ही छात्र को देखकर उसे बडा आश्चर्य हुआ और उसने शास्त्रीजी से इसका कारण पूछा। शास्त्रीजी ने तपाक से अग्रेजी मे उत्तर दिया- "मेरी कक्षा सबसे ऊँची कक्षा है, यहाँ आने से पूर्व नीचे की सब कक्षाओं मे उत्तीर्ण होना नितान्त आवश्यक होता है। जब छात्र उन सब कक्षाओं मे उत्तीर्ण होकर अपने वैदुष्य का परिचय देना है, तभी वह मेरी कक्षा मे आ सकता है। इसीलिए आप केवल एक ही छात्र को मेरी कक्षा मे देख रहे है यह इस पूरे कॉलेज मे सबसे श्रेष्ठ छात्र है।" लाट साहब को यह उत्तर बहुत पसन्द आया। उसने अपनी प्रसन्नता शब्दो मे प्रकट करने के अतिरिक्त कार्यतः भी प्रकट की। उसने पण्डितजी को काशीनरेश के नदेसर पैलेस मे बुलाया तथा उनसे भारतीय दर्शन की उपयोगिता के विषय मे प्रश्न किया। पण्डितजी का विवेचन उसे बहुत ही पसन्द आया और उसी दिन कलकत्ता लौटते समय इन्हे अपनी कार मे मुगलसराय तक लेता गया और गाडी आने पर उन्हे सम्मान के साथ बिदा किया। कलकत्ता जाकर उसने अपना आभार-प्रदर्शन करते हुए पण्डितजी को 'माई डीयर पण्डितजी' शब्द से सम्बोधित किया था। शास्त्रीजी ने इसे अपना बडा सम्मान माना और इस घटना के विषय मे अन्य पण्डितो से समय-समय पर ये जोर देकर कहा करते थे कि देखा आप लोगो ने, लाट साहब ने मुझे 'माई डीयर पण्डितजी' इस सम्मानसूचक सम्बोधन से सम्बोधित किया है। क्या यह कम गौरव की बात है कि देश का सबसे बडा सरकारी शासक कॉलेज के एक पण्डित के लिए इन महनीय शब्दो का प्रयोग करे। श्रीराम मिश्र शास्त्रीजी अपने अलौकिक वैदुष्य तथा असामान्य लोक चातुरी के कारण वास्तव मे एक महासम्माननीय व्यक्ति थे।[१]

प० राममिश्र के पुत्र प० केशव मिश्र भी पुराण, धर्मशास्त्र आदि विषयो के अच्छे ज्ञाता थे। रामपुर के नवाब ने जब अपने दरबार के लिए एक सुयोग्य पण्डित को कॉलेज के प्रिंसिपल से माँगा तब शास्त्रीजी ने अपने सुयोग्य पुत्र को इस पद के लिए उपयुक्त पात्र समझकर वहाँ भेज दिया। केशवजी काशी आने पर अपने दरबारी जीवन के प्रसग मे प्रायः कहा करते थे कि मेरे नवाब साहब का विचित्र हाल है। उनका दरबार रात के समय मे ही लगता है और सस्कृत ग्रन्थो मे लिखित किसी विषय की जानकारी पाने के लिए वे इनसे पूछते हैं। कभी रामायण का विषय सुनाना पड़ता है, तो कभी महाभारत का। कभी भारतीय अध्यात्मज्ञान के विषय मे जिज्ञासा होती है, तो कभी धर्मशास्त्र के विषयो की। तात्पर्य यह है कि नवाब साहब की जिस विषय मे अभिरुचि रहती, उसीका विवरण देना पड़ता, तत्तत् प्रश्न का समुचित उत्तर देकर उनकी जिज्ञासा शान्त करनी पड़ती। पण्डितजी से वह नवाब

---

१ यह संस्मरण मुझे राममिश्र शास्त्रीजी के प्रधान शिष्य श्रीरामशास्त्री भागवताचार्य के सुयोग्य पुत्र श्रीदेवाचार्य ने सुनाया था जिसे उन्होने अपने पूज्य पिताजी से सुन रखा था। इन प० देवाचार्य की आयु ८५ वर्ष की थी जो अभी गतवर्ष दिवगत हुए।

साहब बहुत प्रसन्न था और उनका विशेष आदर-सत्कार किया करता था। केशवजी अपने जीवनभर नवाब के दरबार के पण्डित बने रहे। उनकी मृत्यु के बाद ही इन्हें रामपुर दरबार से सदा के लिए बिदाई लेनी पड़ी। पिता की मृत्यु के अनन्तर केशवजी अपनी माता को कई बार अपने साथ ही रामपुर ले गये, परन्तु माता को वह स्थान बिल्कुल ही पसन्द न था। फलतः वे काशी में ही रहती थी अपने पतिदेव के पट्टशिष्य डॉ० बाबू भगवानदासजी के घर में। डॉक्टर साहब एक सुयोग्य शिष्य का कर्तव्य निभाते थे और अपने गुरु की सहधर्मिणी को बड़े आदर तथा सम्मान के साथ अपने घर में रखते तथा सेवा करते थे।

श्री राममिश्र शास्त्रीजी अगस्त्यकुण्ड नामक मुहल्ले में रहते थे जहाँ दशाश्वमेघघाट पर भगवती भागीरथी में प्रातःस्नान करने का इनका अभ्यास यावज्जीवन बना रहा। ये रामानुज-सम्प्रदाय के उच्चकोटि के मनीषी विद्वान् ही नही थे, अपितु अनेक सभाओं की स्थापना कर उसके सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में भी विशेष जागरूकता दिखलाते थे। सुना जाता है कि इन्होने 'ब्रह्मामृतवर्षिणी' नामक सभा स्थापित की थी जिसके द्वारा काशी के पण्डितों में दार्शनिक विचारधारा का प्रचुर प्रवर्तन होता था। षड्दर्शनों में पारगत होनेवाले शास्त्रीजी काशी के विशिष्ट दार्शनिक विद्वानों में अग्रगण्य गिने जाते थे। दर्शनों का अध्ययन-अध्यापन ही इनके जीवन का परम लक्ष्य था और उनमें भी विशिष्टाद्वैतदर्शन का अध्यापन तो इनका जीवातु ही था। इस दर्शन के उच्चकोटि के ग्रन्थो का इन्होने पहली बार सुसस्कृत संस्करण तैयार कर उन्हे मुद्रित एव प्रकाशित किया तथा उन्हे विषमपद टिप्पणियों से विभूषित कर गम्भीर अर्थ को सुबोध बनाने का पूरा प्रयत्न किया और इसमें ये सर्वथा सफल रहे।

ग्रन्थ

इनके द्वारा सम्पादित तथा निर्मित ग्रन्थों के नाम यहाँ दिये जाते हैं--

(१) **श्रीभाष्य** (टिप्पण के साथ)

(२) **आगम-प्रामाण्य** (टिप्पण के साथ)

(३) **वेदार्थ-संग्रह** (टिप्पण के साथ)

(४) **न्याय-सिद्धाञ्जन** (विशिष्ट भूमिका के साथ)

(५) **तत्त्वमुक्ताकलाप** (सटिप्पण)

(६) **स्नेहपूर्ति (प्रथम बिन्दु)**—यह नवीन ग्रन्थ पण्डितजी की मौलिक रचना है। इसकी भूमिका के अवलोकन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये राजपुरुषों—सरकारी शासकों—के विशेष विश्वासपात्र एव कृपाभाजन थे।

(७) **ब्रह्मसूत्रवृत्ति**—शास्त्रीजी की यह स्वतन्त्र रचना है जिसका उल्लेख 'वेदार्थसग्रह' की भूमिका में इन्होंने स्वयं किया है।

(८) **शुद्धिसर्वस्व**—'आशौच-व्यवस्था' के विषय में पं० राममिश्रजी का यह प्रमेयबहुल प्रमाण-परिपुष्ट विद्वत्तापूर्ण धर्मशास्त्रीय निबन्ध है। इस ग्रन्थ का ऐतिहासिक महत्त्व है। आज से लगभग एक सौ वर्ष पूर्व काशी की वैश्यमण्डली आशौच के विषय में विषम मतभेद के कारण उद्विग्न हो गई थी। इस मतभेद को दूर करने के लिए वैश्यसभा के वरिष्ठ अधिकारी बाबू कृष्णशरण गुप्त ने प्रख्यात पण्डित नित्यानन्द मीमांसक तथा वैश्यशिरोमणि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की सम्मति से ब्रह्मामृतवर्षिणी सभा के प्रधान अधिकारी पं० राममिश्र शास्त्री से 'सब वर्णों का आशौच समान रूप से दस दिनों तक ही रहता है' इस विषय की

मीमासा के लिए प्रार्थना की। यह कोई वैयक्तिक प्रार्थना न होकर काशी-निवासी अग्रवाल-समाज की सामूहिक प्रार्थना थी। प्रार्थनापत्र वैशाख शुक्ल प्रतिपदा शनिवार स० १९४१ (= १८८४ ई०) को दिया गया था और शास्त्रीजी ने एक सप्ताह के भीतर ही यह प्रामाणिक व्यवस्था लिख डाली जिससे उनके धर्मशास्त्रीय वैदुष्य का तथा रचनाकौशल का उज्ज्वल उदाहरण उपस्थित होता है। इस व्यवस्था के अन्त मे नागरिको का यह हृदयोद्गार है—"धन्य है श्री राममिश्र शास्त्रीजी, जिनका यह केवल सात ही दिन का अनायास सिद्ध कार्य है। यदि ये महाशय मास-दो मास लिखे, तो महाभारत से भी अधिक ग्रन्थ हो जाय।"[1] इससे शास्त्रीजी के प्रौढ़ पाण्डित्य का परिचय मिलता है। यह ग्रन्थ आज से सौ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था।

(९) जैमिनिसूत्र के **संकर्षण काण्ड** (अ० १३–१६) की भास्करराय विरचित भाट्टदीपिका का सम्पादन राममिश्र शास्त्री ने किया। यह ग्रन्थ कॉलेज से ही प्रकाशित काशी-विद्यासुधानिधि (या 'दी पडित') मे प्रकाशित है (न्यू सीरीज, खण्ड १४ १५)। भाट्टदीपिका खण्डदेव की रचना है १२ अध्यायो तक। इसे भास्करराय ने 'आद्यन्तविहीन' कहा है। क्यो ? किस कारण से ? आदि तो है ही। अन्त नहीं है, जिसकी पूर्ति भास्करराय ने की। मिश्रजी ने इसका कारण बतलाया है। अन्त की टीका कब नष्ट हो गई, इसका पता नही चलता। सम्भवतः रामानुजाचार्य उस अन्तिम टीका से परिचित थे। उनके बाद ही यह सकर्षण काण्ड की टीका नष्ट हो गई होगी। राममिश्र शास्त्रीजी का यह साहित्यिक उपक्रम श्लाघनीय है। 'दी पण्डित' से प्रतिलिपि कर इस ग्रन्थ का प्रकाशन सस्कृत विश्वविद्यालय के अनुसन्धान-विभाग द्वारा प्रकाशित करना नितान्त आवश्यक है।

इन ग्रन्थो की रचना तथा विमर्शात्मक सशोधन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि राम मिश्रजी दर्शनशास्त्र के शेमुषीसम्पन्न विचक्षण मूर्धन्य विद्वान् थे। श्रीवैष्णवदर्शन के अध्ययन का प्रवेश तो, ऐसा प्रतीत होता है कि, सस्कृत कॉलेज मे इन्हीके द्वारा हुआ। श्रीभाष्य का प्रथम विमर्शात्मक सस्करण इन्होने ही प्रस्तुत तथा प्रकाशित किया था जिसे पाण्डित्यपूर्ण टिप्पणियो तथा आलोचनात्मक भूमिका से विभूषित होने का गौरव प्राप्त है। काशी मे 'सस्कृत समाज' नामक एक विद्वत्सभा आयोजित की गई थी जिसमे पण्डितो मे वाद विवाद होता था। ईस्वी सन् १८७५ ७६ ई० के बीच यह सभा स्थापित हुई थी। इस सभा के विवरण भी प्रकाशित होते थे। इन विवरणो के पढ़ने से शास्त्रीजी के वाद विवाद की पटुता का सद्यः दर्शन होता है।

शास्त्रीजी स्वसम्पादित ग्रन्थो की भूमिका मे अपने को 'सत्सम्प्रदायाचार्य पण्डित स्वामी श्री राममिश्र शास्त्री' लिखते थे जिससे इनकी श्रीवैष्णवसम्प्रदाय के प्रति गम्भीर आस्था, प्रकृष्ट समादृति तथा गाढ़ परिचिति सद्यः प्रतीत होती है। इनको सस्कृत-लेखन मे बडी प्रौढ़ि प्राप्त थी। उपर्युक्त ग्रन्थो की भूमिका के अवलोकन से यह प्रौढ़ता सद्यः स्फुरित होती है।

'वेदार्थसग्रह' की भूमिका से एक अश यहाँ उद्धृत किया जाता है जिसमे श्री वैष्णव मत का तात्पर्य बडे ही सुन्दर शब्दो मे उपन्यस्त है[2]—**सगुणविद्यैव विद्या। देशविशेषावच्छिन्नः श्रीपतिरेव प्राप्यः प्रापकश्च। तत्प्रपत्तिरेव परमोपायः। सा च ज्ञानसाध्या। तच्च ज्ञानं भक्त्युपासनादिपदव्यपदेश्यं सगुणविद्यास्वरूपमेव। सर्वास्वप्युपनिषत्सु**

१ शुद्धिसर्वस्वम्—बुधवरश्रीनित्यानन्दमीमासकानामाज्ञया भारतेन्दुबाबूहरिश्चन्द्रश्रेष्ठिनामनुमत्या च राममिश्र-शास्त्रिणा प्रणीतम्। अमर प्रेस, काशी मे मुद्रित, ईस्वी १८८४, पृ० ८९।

२ यह भूमिका १९५० विक्रमी स० पौष शुक्ल एकादशी को लिखी गई थी। इसका प्रथम सस्करण इसी समय प्रकाशित हुआ था १८९३ ई० मे तथा दूसरा सस्करण १९२४ ई० मे (लाजरेस कम्पनी द्वारा)।

विदिनोपक्रम्योपासिनोपसंहारदर्शनादुपासिनोपक्रम्य विदिना चोपसंहरणात् । न च विध्यनुरोधादुपासिरेव विधर्य इति वाच्यम् उपासनाया विशेषज्ञानरूपतया तदनुरोधेन सामान्यार्थकस्य विदेरेव तदर्थकतायाः समुचितत्वात् ।

शिष्यमण्डली

पण्डित राममिश्र शास्त्रीजी की शिष्यमण्डली पर्याप्तरूपेण विस्तृत थी, परन्तु इतने दिनों के बाद जब इन्हें वैकुण्ठवासी हुए ८० वर्ष हो गये हैं, उनका परिचय पाना दुःसाध्य है। इनके शिष्यों में तीन विशिष्ट शिष्यों का संक्षिप्त परिचय देना ही यहाँ पर्याप्त होगा। ये शिष्य हैं—

(१) डॉक्टर बाबू भगवानदास

(२) महामहोपाध्याय हरिहरकृपालु द्विवेदी

(३) महामहोपाध्याय पण्डित रामशास्त्री भागवताचार्य

डॉक्टर भगवानदासजी अपने वैदुष्य तथा ग्रन्थ-निर्माण के कारण इन तीनों में नितान्त प्रख्यात हैं। वे संस्कृत भाषा तथा साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने राममिश्र शास्त्रीजी से भारतीय दर्शनों का विधिवत् अध्ययन किया था। उनका भारतीय दर्शनों का तथा पुराणों का अध्ययन बड़ा गम्भी... था। 'कर्मणा जातिः' के वे बड़े ही आस्थावान् प्रचारक थे। उनके समस्त मतों को भले ही हम न मानें परन्तु उनके संस्कृत के गाढ़ अनुशीलन के विषय में वैमत्य नहीं है। उन्होंने 'मानवधर्मसारः' नामक संस्कृत में पद्यबद्ध ग्रन्थ का प्रणयन किया था जिसमें प्राचीन भारतीय मानव-मूल्यों की इस परिवर्तित नवीन युग मे उपयोगिता का विशेष वर्णन किया गया है। अंग्रेजी तथा हिन्दी में उनकी रचनाओं का गाम्भीर्य तथा वैविध्य नितान्त प्रख्यात है--विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं। अन्य दोनों शिष्यों का परिचय आगे दिया जायेगा।

एक गर्वोक्ति

अपने मौलिक ग्रन्थ- स्नेहपूर्ति—के अन्त में शास्त्रीजी की यह गर्वोक्ति सर्वथा सच्ची प्रतीत होती है--

देवेश्वरे कुलिशमम्बुपतौ च पाशं भीमे गदां विशदवाजिनि गाण्डिवं च ।
चक्रं च बिभ्रति समित्यथ वासुदेवे युक्तिक्रमं मयि च कुत्र विपक्षशेषः ॥

इस श्लोक का आशय है---देवताओं के राजा इन्द्र जब अपने हाथ में वज्र धारण करते हैं, तब क्या कभी उनके शत्रुओं में कोई बच सकता है? इसी प्रकार वरुण के पाश, भीमसेन के गदा, सफेद घोड़ोंवाले रथ पर आरूढ़ अर्जुन के गाण्डीव तथा युद्ध-स्थल में श्रीकृष्ण के चक्र धारण करने पर क्या कोई विपक्ष में बच सकता है? नहीं, कभी नहीं। वैसी ही दशा मेरी भी है। जब मै वाग्युद्ध में युक्तियों के समूह को धारण कर शास्त्रार्थ के लिए अवतीर्ण होता हूँ, तब मेरे प्रतिपक्षियों में मेरे सामने क्या कोई टिक ·कता है? सबकी धज्जियाँ उड़ा देता हूँ। कोई भी प्रतिपक्षी बच ही नहीं जाता।

यह गर्वोक्ति पण्डित राममिश्र शास्त्रीजी का मिथ्याप्रलाप न होकर तथ्यकथन ही मानी जानी चाहिए। तथ्य तो यह है कि शास्त्रार्थ करने की कला में ये इतने निपुण थे, कर्कश तर्क युक्तियों के ऐसे प्रयोक्ता थे कि इनके सामने कोई प्रतिद्वन्द्वी टिक नहीं सकता था। इसीलिए काशी के पण्डित-समाज में इनकी विशेष ख्याति थी।

अम्बिकादत्त व्यासजी ने आपके विषय में लिखा है 'स्वामी राममिश्र शास्त्रीजी गवर्नमेण्ट कॉलेज के भूषण, स्नेहपूर्त्यादि नाना आकर-ग्रन्थों के रचयिता तथा श्रीसम्प्रदाय के प्रधान अवलम्ब थे।' इस कथन से उनके प्रति व्यासजी का आदर-भाव सद्यः स्फुटित होता है। स्वामीजी अपने युग में काशीस्थ विद्वन्मण्डली के शिरोमणि थे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

पं० रामशास्त्रीजी केवल शास्त्रों के ज्ञाता ही नही थे, बल्कि एक कर्मठ व्यक्ति थे। इन्होंने सस्कृतविद्या के प्रचार-प्रसार में अलौकिक योगदान दिया। सभा की स्थापना कर इन्होंने आपस में विद्या के आदान-प्रदान का सुअवसर उपस्थित किया तथा रामानुज-सम्प्रदाय के ग्रन्थों का संस्करण निकालकर इस धर्म की भी विपुल सेवा की।

शास्त्रीजी का व्यक्तित्व

स्वामी राममिश्र शास्त्रीजी का व्यक्तित्व बड़ा ही प्रभावशाली था। इनमे एक विचित्र आकर्षण था। जो कोई भी इन्हें देखता, वह आकृष्ट हुए बिना नही रह सकता था। ये बड़े ही दबंग पण्डित थे। अपने सामने किसीको भी नही समझते थे और इनकी यह वृत्ति सर्वत्र चरितार्थ होती थी—लेखन में तथा शास्त्रार्थ में, व्याख्यान मे तथा वार्त्तालाप मे। ऐसा विशिष्ट वैदुष्यसम्पन्न पण्डित होना नितान्त दुर्लभ है। इनके चित्र के अवलोकन से भी इनके आकर्षक व्यक्तित्व तथा परिपुष्ट देहयष्टि का किञ्चित् आभास दर्शकों को बलात् हो जाता है। ये विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदाय के धनी-मानी पण्डित थे। फलतः इनके कतिपय ग्रन्थ अद्वैतवेदान्त के खण्डन के निमित्त निर्मित है। इनका मौलिक प्रौढ़ दार्शनिक ग्रन्थ **स्नेहप्रपूर्ति** अद्वैतसिद्धि के खण्डनरूप में अपना वैशिष्ट्य जमाये हुए है।

धर्मशास्त्र में भी राममिश्रजी को गम्भीर प्रवीणता प्राप्त थी। इन्होने धर्मशास्त्रविषयक अनेक उपादेय निबन्धो का निर्माण कर एतद्विषयक अपने पाण्डित्य का स्पष्टतः परिचय दिया है। ये ग्रन्थ है—**व्रात्यसंस्कार-मीमांसा, उद्वाह-समय-मीमांसा, तुरीय-मीमांसा, मन्त्र-मीमांसा** एव **दत्तक विजय वैजयन्ती**। १९११ ईस्वी के आसपास उन्हें काशी में वैकुण्ठवास प्राप्त हुआ। उस समय इनकी आयु लगभग ६० साल की थी। फलतः इनका जन्म १८५१ ईस्वी में हुआ था। राजपूताने में अलवर रियासत के एक गाँव में जन्म लेनेवाले स्वामी राममिश्रजी इस विद्यानगरी काशी में निर्मल कीर्ति का विस्तार कर पद्मनाभ स्वामी के धाम के वासी बन गये—यह प्राक्तन पुण्य का ही तो परिणत फल है।

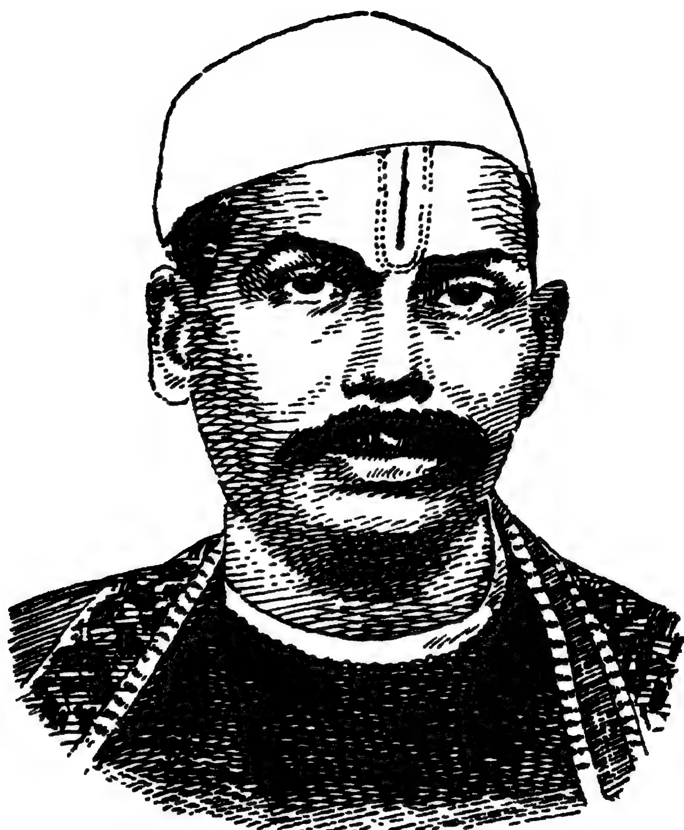
मिश्रजी के पट्टशिष्य

महामहोपाध्याय हरनारायण शास्त्री विद्यासागर

पण्डित राममिश्र शास्त्रीजी की शिष्यमण्डली में तीन छात्रों ने अपने अलौकिक पाण्डित्य तथा प्रशंसनीय वैदुष्य के कारण महामहोपाध्याय की गौरवमयी उपाधि प्राप्त की थी। ऐसे दो शिष्यों के नाम ऊपर दिये गये है तथा उनका जीवनवृत्त ग्रन्थ में अन्यत्र दिया गया है। तृतीय महामहोपाध्याय होने का गौरव प्राप्त किया था महामहोपाध्याय हरनारायण शास्त्री विद्यासागर ने। उत्तरप्रदेश की प्रसिद्ध नगरी बरेली में इनका जन्म १९२७ वि० सं० (= १८७० ई०) में हुआ था। इनके पूर्वज अंगिरस गोत्र, त्रिप्रवर और माध्यन्दिनी शाखा के सारस्वत ब्राह्मण थे। इनके पिता पण्डित रामदयालु गोस्वामी सात्त्विक प्रकृति के प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। काशी में आठ वर्षों तक पं० राममिश्र शास्त्री से व्याकरण, साहित्य, न्याय, वेदान्त आदि शास्त्रों का

यथाविधि अध्ययन कर उदात्त वैदुषी प्राप्त की थी। सन् १६०० ईस्वी में शास्त्रीजी ने दिल्ली को अपनी शिक्षा-दीक्षा, संस्कृत के प्रचार-प्रसार का महनीय केन्द्र बनाया। यहाँ प्रसिद्ध हिन्दू कॉलेज में संस्कृत के अध्यापक-पद को अनेक वर्षों तक सुशोभित किया। शास्त्रीजी ने शैक्षणिक कार्यों के अतिरिक्त धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों को अपने उद्योग तथा अध्यवसाय से समृद्ध तथा गतिशील बनाया। १६०० ई० में भारतधर्म महामण्डल के सभापति बने तथा सं० १६६६ में इन्द्रप्रस्थीय ब्राह्मणसभा की स्थापना की। दिल्ली में संस्कृत का उत्थान तथा संवर्धन करने में शास्त्रीजी सर्वमान्य तथा अग्रगण्य विद्वान् माने जाते थे। सनातनधर्म के महनीय व्याख्याता तथा सारस्वत-ब्राह्मण-सभा के सभापति होने का गौरव इन्हें प्राप्त था। शास्त्र-चिन्तन के संग में लोक-व्यवहार में भी निपुण होने से इनकी मर्वत्र ख्याति थी। सन् १६११ में 'महामहोपाध्याय' तथा १६१२ ई० में नवद्वीप से 'विद्यासागर' की पदवी से विभूषित किये गये। १३ मार्च सन् १६३८ में इनका निधन हो गया।





पं० अम्बिकादत्त व्यास

२०

पण्डित अम्बिकादत्त व्यास

(आस्पद—गौड़; उपाधि—सुकवि, व्यास)

साहित्याचार्य पं० अम्बिकादत्त व्यास संस्कृत तथा हिन्दी दोनो भाषाओं में ललित तथा रुचिर काव्य के स्रष्टा, सनातनधर्म के उत्कृष्ट वक्ता तथा व्याख्याता के रूप में नितान्त प्रसिद्ध थे। इतनी कम आयु में इतने विभिन्न विषयों पर उपादेय तथा आवर्जक ग्रन्थों के प्रणयन मे, ये सम्भवतः अपना प्रतिस्पर्धी नही रखते। अध्ययन करके इन्होने केवल 'साहित्याचार्य' की उपाधि प्राप्त की थी; परन्तु अपनी अलौकिक काव्य-रचना तथा पाण्डित्य के कारण इन्हे विहार-भूषण, भारतभूषण, भारत रत्न, घटिकाशतक, शतावधान तथा सुकवि जैसी महनीय उपाधियों से विभूषित होने का भी श्रेय प्राप्त था। इनकी शिक्षा-स्थली तो काशी थी परन्तु कर्मक्षेत्र बिहार प्रान्त था। इन दोनो प्रान्तों में इन्होने संस्कृत, हिन्दी, सनातनधर्म आदि के प्रचार एवं प्रसार में जो योगदान दिया, वह भारतीय साहित्य की एक अविस्मरणीय निधि है। हर्ष का विषय है कि इन्होंने अपने व्यक्तित्व तथा कृतित्व का वर्णन स्वय किया है। अतः अब व्यासजी की कहानी उन्हीकी जबानी सुनिये।

जीवनी

"जयपुर (राजस्थान) का धूला नामक ग्राम हमारे पूर्वजो का निवासस्थान था। प० राजारामजी, जिनका पराशर गोत्र, यजुर्वेद, तीन प्रवर और यहाँ का परम प्रतिष्ठित भीणा कुल था, धूला से सम्बन्ध छोड़कर सकुटुम्ब काशी मे आ बसे। इनकी अनेक सन्तानों में चिरजीवी दो ही पुत्र हुए। ज्येष्ठ पुत्र का नाम दुर्गादत्त और कनिष्ठ पुत्र का नाम देवीदत्त था। प० दुर्गादत्त के ही द्वितीय पुत्र का जन्म जयपुर में ही सिलावटों के मुहल्ले में संवत् १९१५ वि० (सन् १८५८ ई०) चैत्र शुक्ल अष्टमी को हुआ। वही मै (अम्बिकादत्त) हूँ। स० १९१६ वि० में मेरे पिता जयपुर से सकुटुम्ब काशी आये। पंचम वर्ष में मेरा अक्षरारम्भ हुआ। अमरकोष और रूपावली घुखाना भी साथ ही आरम्भ किया गया। मेरी माता, दादी और बहनें सभी पढ़ी-लिखी थी और मेरे पिता भी संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् थे। अतः मेरी शिक्षा चतुरस्र होने लगी। अर्थात् संस्कृत में कुछ-कुछ काव्य, कोष और भाषा में अनेक कवित्त, सवैये कण्ठस्थ हो गये। पिताजी ने व्यावहारिक पदार्थों का नाम मुझे सिखला दिया। मैं संस्कृत की बातचीत समझने लगा। मेरा खेल यही था कि पिताजी के साथ मेला-तमाशा देख लेना अथवा पिताजी के साथ ही शतरञ्ज खेलना अथवा भाँति-भाँति के इन्द्रजाल के तमाशे करके अपनी माता आदि को प्रसन्न करना। मेरे पिताजी ने स्वाभाविक प्रवृत्ति रोककर मुझे बुद्धिमत्ता के खेल में लगाया। इन्होंने मुझे कौतुक और शतरञ्ज आदि भी सिखलाये।

पं० घनश्यामजी गौड़ ने मेरा उपनयन कराया। दस वर्ष की वय में की गई मेरी

कविता को सुनकर लोग पिताजी से बनवायी गई का सन्देह करते थे। इस सन्देह पर जब मैं उदास होता था तब पिताजी कहते थे—

कमलिनि ! मलिनीकरोषि चेतः,
किमिति बकैरवहेलिताऽनभिज्ञैः ।
परिणतमकरन्द-मार्मिकास्ते,
जगति जयन्तु चिरायुषो मिलिन्दाः ॥

इन दिनों **हनुमान कवि, द्विजकवि मन्नालाल, गोस्वामी दम्पतिकिशोर**, पञ्जाब के **बाबा निहाल सिंह** आदि मेरे पिताजी से काव्य पढ़ते थे। मैं भी उन लोगों का पाठ सुनता था और कविता करता था, जिसको सुनकर सब मेरा उत्साह बढ़ाते थे। इसी दस वर्ष की वय में मैं प्रस्तार, नष्टोद्दिष्ट आदि में कुशल हो गया था।

संवत् १९२६ वि० (सन् १८६९ ई०) में जोधपुर के राजगुरु ओझा तुलसीदत्तजी काशी आये। इन दिनों इनके यहाँ यह समस्या उठ रही थी। वही मुझे भी दी गई। समस्या थी—

जनि तोड़हु नेह को काच तगा ।

इस पर मैं यह पूर्ति कर लाया—

मति जोरहु प्रीति चहूँ दिसि में,
तुम कोऊ दिना लला खैहौ दगा ।
कवि अम्बिकादत्त परै बलके,
परिहै पुनि पेचहु कोऊ जगा ॥
सुरझावहु गाँठ हिये की हहा,
मन के सब भर्मन देहु भगा ।
जिय की अरुझावनि ऐंचनि सों,
जनि तोरहु नेह को काँच तगा ॥

इन्होंने भी मेरी कविता सुनकर यही आशंका की। सन्देह-निवृत्ति के लिए इन्होंने दूसरी समस्या दी—

मूँदि गईं आँखें; तब लाखैं कौन काम की ।

सेवक कवि, नारायण कवि, हनुमान कवि, द्विजकवि मन्नालाल तथा अपने पिताजी की उपस्थिति में मैंने तत्क्षण यह कवित्त बनाया—

चमकि चमाचम रहे हैं मनिगन चारु,
सोहत चहूँघाँ धूम-धाम, धन, धाम की ।
फूल फुलवारी फल फैलि के फबै हैं तऊ;
छबि चटकीली यह नाहिन अराम की ॥
काया हाड़-चाम की लै, राम की बिसारि सुधि;
जाम की को जानै, बात करत हराम की ।
अम्बादत्त भाखैं अभिलाषैं क्यों करत झूठ;
मूँदि गईं आँखें, तब लाखैं कौन काम की ॥

सभा में यह मेरी प्रथम कविता हुई। ओझाजी ने पारितोषिक तथा प्रशंसापत्र देकर गुणग्राहिता प्रकट की। इसी समय से मेरा नाम फैल गया।

एगारह वर्ष की वय मे मैं अमरकोष, रूपावली और कुछ काव्य समाप्त कर पण्डित कृष्णदत्तजी से लघुकौमुदी और पिताजी से श्रीमद्भागवत पढ़ने लगा। स० १६२६ वि० (सन् १८६६ ई०) में खड्ग कवि काशी आये। अनेक कविजनो के सामने भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने यह समस्या दी—'सूरज देखि सकै नहि घुग्घू।' भारतेन्दुजी ने कहा कि उत्तम कविता इस पर नही बन सकती। इस पर खड्ग कवि कुछ मुसकुराये। तब मेरे पिताजी ने कहा कि यदि आपको इसी समस्या से आग्रह हो तो यह इस लड़के को दीजिये। तब पिताजी ने मेरी ओर सकेत किया। मैने तत्क्षण कविता रची जो यह है—

गोद लिये हरि को नँदराय जू,
सुग्गा कहायो कह्यो उन सुग्घू।
तोतरे बैन सुनो चित चैन भो;
काग कहायो कह्यो तब कुग्घू॥
अम्बिकादत्त अनन्दित ह्वै पुनि;
बाघ कहायो कह्यो उन बुग्घू;
देखि सकैं नहि पातकी सों;
जिमि सूरज देखि सकै नहिं घुग्घू॥

इस सुन्दर तरुण मधुर पद्य रचना को सुनकर साधुवाद से मदिर गूँज उठा और बाबू हरिश्चन्द्र का स्नेह उसी क्षण से मेरे ऊपर बढ़ने लगा और घर आने पर पिताजी ने बहुत आशीर्वाद दिया। स० १६२७ वि० (सन् १८७० ई०) मे बाबू हरिश्चन्द्रजी ने 'कवितावर्धिनी सभा' का स्थापन किया। प्रथम बार यही समस्या थी- 'चिरजीवी रहो विकटोरिया रानी।' यह भी आज्ञा थी कि इसकी पूर्ति मे प्रातःकाल का वर्णन हो। इस पर मैने भी विलक्षण पूर्ति की—

आनँद से परजा विकसी, सब कौल से कोससिरी हरषानी;
सेवकिनी चिरियाँ सम चारहुँ, ओर ते बोल रहीं मृदु बानी।
भोर प्रताप सो जाको प्रताप, लखे इमि अम्बिकादत्त बखानी;
पूरी अमी की कटोरिया सी, चिरजीवी रहो विकटोरिया रानी॥

कविवचनसुधा मे जब यह समस्या-पूर्ति प्रकाशित हुई थी तब बाबू हरिश्चन्द्रजी ने यो लिखा था

'इस विलक्षण बालक कवि की बुद्धि भी विलक्षण ही है और अवस्था इसकी केवल बारह वर्ष की है। हम इसके और समाचार भी लिखेगे।'

ईश्वर की कृपा से कविता की तरह क्रमशः कथा कहने मे भी मेरी प्रसिद्धि हो चली। मेरी सितार की ओर भी रुचि इसी समय हुई और सितारी आ गई।"

अपनी आशुकवित्व-शक्ति के सबन्ध मे व्यासजी ने स्वय लिखा है—

"काशिराज की धर्मसभा मे मैने साहित्य मे परीक्षा दी। पारितोषिक के दिन महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिह बहादुर ने मुझे अल्प वय में पारितोषिकाधिकारी देख मुझसे कुछ पूछा जिसका श्लोकबद्ध उत्तर सुनकर महाराजा बहुत ही प्रसन्न हुए। पं० ताराचरण 'तर्करत्न' भट्टाचार्य के प्रश्न का उत्तर भी मैने श्लोक ही मे दिया। महाराजा ने भट्टाचार्य से प्रसन्न होकर कहा कि आप भी इन्हें पढ़ाया कीजिए और यहाँ भी लाया कीजिए। इसी समय काशी में तैलग वृद्ध अष्टावधान ने आकर अष्टावधान कौशल सिखलाया। इसके अनन्तर बाबू

हरिश्चन्द्रजी ने कहा कि इस समय काशीवासी भी कोई चमत्कार दिखलाते तो काशी का नाम रह जाता। यह सुन मेरे पिता ने कहा कि इस बालक की एक सरस्वती यंत्र कविता देखिए। मैने एक पत्र (कागज) पर आठ-आठ कोष्ठ की चार पक्तिवाला आयत यन्त्र बनाकर पूछा कि किस पदार्थ का वर्णन हो। तब बाबू गोकुलचन्द ने कौतुकपूर्वक कहा कि इस घड़ी का वर्णन कीजिये। वे जिस कोष्ठ मे बताते जाते वहाँ-वहाँ मै अक्षर लिखता गया। अन्त मे यह श्लोक प्रस्तुत हुआ—

घटी सुवृत्ता, सुगतिर्द्वादशाङ्कसमन्विता।
उन्निद्रा सततं भाति, वैष्णवीव विचक्षणा॥

साधुवाद-ध्वनि के बाद शतावधान के अनुरोध से दूसरा श्लोक यह बनाया—

घटी खटखटाशब्द-व्याजेन कथयत्युत।
रामं रट, रट, प्राज्ञ ! किमन्यैर्विफलैः श्रमैः॥

फिर मैने स्वरचित काव्य पढ़े और कई एक का तात्पर्य उन शतावधान से कहा गया। उसने कहा 'सुकविरेषः'। बाबू हरिश्चन्द्र ने 'इससे बढ़कर हम आपको क्या दे' कहकर एक प्रशसापत्र लिख दिया और उसमे 'काशीकवितावर्धिनी सभा' से 'सुकवि' की उपाधि मिली, इसकी भी सूचना दी।"

अध्ययन

सवत् १९३१ वि० से १९३४ वि० (सन् १८७४ ई० से १८७७ ई०) तक एग्लो सस्कृत विभाग मे व्यासजी ने अग्रेजी का अध्ययन किया। इसके पश्चात् कश्मीरनरेश द्वारा काशी मे स्थापित सस्कृत विद्यालय मे अध्ययन कर व्यासजी ने परीक्षा दी। इसी अवसर पर जगत्प्रसिद्ध विशुद्धानन्द सरस्वती ने इन्हे 'व्यास' की महनीय पदवी से विभूषित किया। स० १९३७ वि० (सन् १८८० ई०) मे गवर्नमेण्ट सस्कृतकॉलेज काशी मे सस्कृत की परीक्षा देकर इन्होने 'साहित्याचार्य' की उपाधि प्राप्त की। दुःख की बात यह थी कि इसी वर्ष इनके पिताजी का देहावसान हो गया। इनकी माताजी का देहान्त तो छह वर्ष पहले ही हो गया था। अतः गृहस्थी का सारा बोझ इनके दुर्बल कन्धो पर आ पड़ा।

अध्यापन

अब जीविका की चिन्ता से व्यासजी दुखी रहने लगे। अतः स० १९४० वि० (सन् १८८३ ई०) मे बिहार प्रान्त के मधुबनी नामक स्थान मे एक स्कूल मे ये सस्कृत मे अध्यापन का कार्य करने लगे। सरकारी नौकरी मे होने के कारण इनका स्थानान्तरण भागलपुर और छपरा मे हो गया जहाँ कई वर्षों तक ये अध्यापन करते रहे। छपरा से पटना-कॉलेज मे इनकी नियुक्ति हो गई, जहाँ ये सस्कृत के प्रवक्ता रहे। वहाँ केवल दो वर्षों तक कॉलेज में अध्यापन करने के पश्चात् ये रोगाक्रान्त हो गये। वहाँ से अपनी चिकित्सा कराने ये काशी आये जहाँ इनका देहावसान स० १९५७ वि० (सन् १९०० ई०) मार्गशीर्ष कृष्ण त्रयोदशी को हो गया। इनकी मृत्यु के साथ ही सस्कृत-विद्या के आकाश का एक जाज्वल्यमान नक्षत्र सदा के लिए अस्त हो गया

संस्कृत में ग्रन्थरचना

व्यासजी के द्वारा सस्कृत मे रचित प्रधान ग्रन्थो की सख्या १४ है जो निम्नलिखित हैं -(१) अवतार-मीमासा-कारिका, (२) कथाकुसुम, (३) गुप्त-अशुद्धि-प्रदर्शनम्, (४)

दुःखद्रुमकुठार, (५) धर्माधर्मकलकलम्, (६) पातजल-प्रतिबिम्ब, (७) प्राकृत-विचित्र शब्दार्थकोष, (८) बालव्याकरण, (९) मित्रालाप, (१०) शिवराज विजय, (११) सस्कृत-अभ्यास-पुस्तकम्, (१२) सहस्रनाम रामायणम्, (१३) साख्य-सागर सुधा, (१४) सामवतम्।

इन ग्रन्थो मे तीन ग्रन्थ प्रमुख है—

(१) दुःखद्रुमकुठार— इस ग्रन्थ मे ससार के विविध दुःखो के निवारणार्थ उसके उच्छेद के साधनरूप ज्ञानकाण्ड एव भक्तिकाण्ड का निरूपण किया गया है। नाम सुनने से तो यह वेदान्तपरक ग्रन्थ प्रतीत होता है परन्तु गद्यशैली की मधुरता तथा शान्तरस के प्रचुर आधिक्य के कारण नितान्त सरस, हृदयावर्जक तथा चेतश्चमत्कृतिजनक है। फलतः यह सरस काव्यात्मक है, शुष्कवेदान्तपरक नही। यह पटना के खड्गविलास प्रेस के द्वारा विक्रमी स० १९४४ (१८८७ ई०) मे प्रकाशित हुआ था। (२) सामवत—एक रमणीय नाटक है तथा **(३) शिवराज-विजय**—ऐतिहासिक उपन्यास है जिसका विशिष्ट विवरण आगे दिया जायेगा—

हिन्दी ग्रन्थ-रचना

व्यासजी ने हिन्दी मे भी अनेक ग्रन्थो की रचना की है। बिहारी के दोहो पर इन्होने कुण्डलियाँ लिखी है जो 'बिहारी विहार' के नाम से प्रसिद्ध है। हिन्दी मे इनकी छोटी तथा बड़ी रचनाएँ सब मिलाकर सख्या मे ६४ (चौसठ) है जिनमे प्रधान रचनाओं के नाम नीचे दिये जा रहे है—

(१) अबोध-निवारण, (२) अवतार मीमासा (३) आश्चर्य-वृत्तान्त, (४) ईश्वरेच्छा, (५) कथाकुसुम-कलिका, (६) कलियुग और घी, (७) क्षेत्रकौशल (८) गद्य काव्य मीमासा, (९) गोसकट नाटक, (१०) बिहारी विहार, (११) भारतसौभाग्य, (१२) मूर्ति पूजा, (१३) ललिता नाटिका, (१४) सस्कृतसजीवन, (१५) साहित्य नवनीत (१६) सुकविसतसई, (१७) स्वर्ग-सभा, (१८) निज वृत्तान्त, (१९) तासकौतुक पचासा, (२०) विभक्ति विलास।

संस्कृत के प्रचारक रूप में योगदान

प० अम्बिकादत्त व्यास सस्कृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् ही नही, बल्कि प्रचारक भी थे। व्यासजी ने इस सम्बन्ध मे स्वय लिखा है कि "सवत् १९४० वि० मे मै मधुबनी सस्कृत स्कूल का अध्यक्ष बनाया गया। थोडे समय मे ही यहाँ मैने अनेक सभाओं का स्थापन किया और तिरहुत भाषा का अभ्यास किया तथा सस्कृत शिक्षा की व्युत्पादक अभिनव प्रणाली निकाली। आज उसी उद्योग के फलस्वरूप **बिहार सस्कृत-सजीवन समाज** स्थापित है जिसके द्वारा बिहार मे सस्कृत का प्रचार हो रहा है "

व्यासजी ने इन दिनो सभाओं मे अनेक व्याख्यान दिये थे। इन व्याख्यानो का सग्रह 'सस्कृत-सजीवन-समाज' नाम से प्रकाशित हुआ है। इसी काल मे सस्कृत के छात्रो को शुद्धि तथा अशुद्धि का सम्यक् ज्ञान कराने के लिए व्यासजी ने **गुप्त-अशुद्धि-प्रदर्शनम्** नामक एक पुस्तक लिखी थी जो **पण्डित-पछाड़** के नाम से भी प्रसिद्ध है। सस्कृतव्याकरण के ज्ञाता, पण्डित तथा छात्र भी अष्टाध्यायी के सूत्रो के ऊपर घण्टो शास्त्रार्थ करने की क्षमता रखते है परन्तु उन्ही सूत्रो से निष्पन्न शब्दो का प्रयोग करने मे वे असफल हो जाते है। ऐसी ही अशुद्धियो को बतलाने के लिए इस पुस्तक की रचना की गई है। इन अशुद्धियो का एक ही उदाहरण यहाँ पर्याप्त होगा—

श्रुतिः माता समा पूज्या तथा प्राणादपि प्रिया ।
एकादेव गुरोरत्र षड्भिश्छात्रैरधीयते ॥

इस श्लोक मे तीन अशुद्धियाँ है जो प्रत्यक्ष रूप से तो नही दिखाई पड़ती परन्तु ध्यानपूर्वक देखने से ज्ञात हो जाती है। यहाँ 'माता समा' के स्थान मे 'मातृसमा', 'प्राणादपि' के स्थान पर 'प्राणेभ्योऽपि' तथा 'एकादेव' की जगह 'एकस्मादेव' होना चाहिए।

धर्मप्रचारक के रूप में योगदान

प० अम्बिकादत्त व्यास के पिता पं० **दुर्गादत्त गौड़** सस्कृत के बहुत बड़े विद्वान् थे। वे भागवत के मर्मज्ञ होने के साथ ही एक सुन्दर कथावाचक भी थे। पिताजी का यह गुण बाल्यावस्था मे ही अम्बिकादत्तजी मे सक्रमित हो गया था। कविता की रचना के साथ ही साथ इन्होने कथा बॉचना भी प्रारम्भ कर दिया था। इसके लिए इन्होने अपने पिताजी से श्रीमद्भागवत का विधिवत् अध्ययन किया। इन्हे सनातनधर्म की सभाओं मे भाषण देने का बड़ा अभ्यास था जिसे इन्होने धीरे-धीरे और अधिक बढ़ाया। इनकी 'व्यास' पदवी का कारण भी यही था। वल्लभाचार्य सम्प्रदाय के किसी धर्माचार्य ने इनकी कथा को सुनकर इन्हे 'व्यास' की पदवी प्रदान की थी।

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के सस्थापक प० रामनारायण मिश्र[१] ने व्यासजी के विषय मे जो लिखा है वह अक्षरश॰ मत्य है। वे लिखते है कि –"व्यासजी जैसे अच्छे वक्ता थे वैसे ही अच्छे लेखक भी थे। जैसे कवि थे वैसे ही गद्य-लेखक भी थे। नित्यक्रिया के अतिरिक्त प्रायः उनका सभी समय साहित्य चर्चा मे ही जाता था। कभी पुस्तकावलोकन करते, कभी कोई नयी पुस्तक लिखते, कभी समस्यापूर्ति करते, कभी व्याख्यान देते, कभी शास्त्रार्थ करते और कभी शतावधान दिखलाकर अपनी अद्भुत स्मृतिशक्ति का परिचय देते थे।"

शिवराज-विजय

'शिवराज-विजय' प० अम्बिकादत्त व्यास की सर्वश्रेष्ठ तथा अत्यन्त प्रौढ़ रचना है। महाराष्ट्र-साम्राज्य के सस्थापक छत्रपति शिवाजी के जीवनचरित को लेकर रचा गया यह ग्रन्थ सस्कृत का अभिनव उपन्यास है। इस ग्रन्थ मे कवि की राष्ट्रीय भावना, देशभक्ति, प्राचीन आचार-विचार के प्रति समादर, प्राचीन भारतीय सस्कृति मे गाढ़निष्ठा, सनातनधर्म के सिद्धान्तो मे प्रगाढ़ अनुराग—इन गुणो का परिचय पद-पद पर मिलता है। यह ग्रन्थ ऐतिहासिक दृष्टि से भी अत्यन्त प्रामाणिक है। कही-कही पर इन्होने मुसलमानो के नाम का सस्कृतीकरण कर दिया है। इस ग्रन्थ मे शाइस्ता खाँ के स्थान पर 'शास्तिखानः' लिखा है।

इस ग्रन्थ का निर्माण व्यासजी ने केवल पैतीस वर्ष के वय मे किया था। यह इनके द्वारा रचित ग्रन्थो मे शीर्षस्थान का अधिकारी है। विषय के अनुरूप व्यासजी ने इसमे शैली का निरूपण किया है। शृगार और करुण रस के विन्यास मे वैदर्भीरीति का सौन्दर्य दिखाई पड़ता है, तो वीररस तथा रौद्ररस के वर्णन मे गौड़ी रीति का उत्कृष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। सूर्य के वर्णन मे रूपकालकार की निराली छटा देखते ही बनती है।[२]

अरुण एष प्रकाशः पूर्वस्यां भगवतो मरीचिमालिनः। एष भगवान् मणिराकाशमण्डलस्य, चक्रवर्ती खेचरचक्रस्य, कुण्डलमाखण्डलदिशः, दीपको

---

१ साहित्य-नवनीत की भूमिका, पृ० १२।

२ शिवराज-विजय, पृष्ठ २ ३।

ब्रह्माण्डभाण्डस्य, प्रेयान् पुण्डरीकपटलस्य, शोकविमोकः कोकलोकस्य, अवलम्बो रोलम्बकदम्बस्य, सूत्रधारः सर्वव्यवहारस्य इनस्य दिनस्य ।

सस्कृत भाषा के ऊपर व्यासजी का पूर्ण अधिकार था । एक ही वस्तु के वर्णन मे इन्होने भिन्न भिन्न शब्दावली का प्रयोग किया है तथा उसमे कही भी पुनरुक्ति नही आने पाई है । करुण रस का यह वर्णन देखिये जिसमे भारतवर्ष और हिन्दू जाति की दुर्दशा का बडा ही सजीव चित्रण किया गया है[1]—

वीरविक्रमस्य तु भारतभुवं विरहय्य गतस्य वर्षाणा सप्तदशशतकानि व्यतीतानि । क्वाधुना मन्दिरे मन्दिरे जयजयध्वनिः । क्व सम्प्रति तीर्थे घण्टानादः । क्वाद्यापि मठे मठे वेदघोषः । अद्य हि वेदा विच्छिद्य वीथिषु विक्षिप्यन्ते, पुराणानि पिष्ट्वा पानीयेषु पात्यन्ते । भाष्याणि प्रशयित्वा भाष्ट्रेषु भर्ज्ज्यन्ते । क्वचित् तुलसीवनानि छिद्यन्ते । क्वचिद् दारा अपह्रियन्ते । क्वचिद् धनानि लुण्ठ्यन्ते । क्वचिद् रुधिरधाराः, क्वचिद् अग्निदाहः, क्वचिद् गृहनिपातः, इत्येव श्रूयतेऽवलोक्यते च परितः ।

व्यासजी की गौड़ी शैली तथा सश्लिष्ट पदावली का यह सुन्दर उदाहरण देखिये जिसमे राजस्थान के वर्णन मे वीररस की अभिव्यक्ति कितनी प्रभावोत्पादक शैली मे हुई है[2]—

अस्ति कश्चन धैर्यधारिधुरन्धरैः धर्मोद्धारधौरेयैः, सोत्साहसाहसचञ्चच्चन्द्रहासैः, सुशक्तिसुशक्तिभिः, सदार [illegible]परिगन्थिगलगलच्छोणितच्छुरितच्छन्नच्छुरिकैः, घनविधूनन-विघट्टकघर्घराघोषघोर-शतघ्नीकैः, प्रत्यर्थिशुण्डिशुण्डाखणुनोदण्डभुशुण्डीकैः, प्रचण्डदोर्दण्ड-वैदग्ध्यभाण्डप्रकाण्डकाण्डैः क्षत्रियवर्यैरार्यवर्यैश्च व्याप्तो राजपुत्रदेश. ।

सामवत नाटक

प० अम्बिकादत्त व्यास ने सामवत नाटक की रचना केवल बाईस वर्ष के वय मे की थी । इस नाटक की कथावस्तु का स्रोत स्कन्दपुराण के ब्रह्मोत्तरखण्ड की एक कथा है । इस पुराण मे सोमवारव्रत के वर्णन मे सीमन्तिनीकथा का वर्णन किया गया है । उसीके आधार पर यह नाटक लिखा गया है । यह नाटक अभिनेय है और दरभगानरेश महाराजा लक्ष्मीश्वरनारायण सिह की आज्ञा से इसका मञ्चन भी किया गया था । यह नाटक छह अको मे विभक्त है । इस नाटक की रचना मञ्चन की दृष्टि से की गई है । इसलिए इसमे सर्वत्र वैदर्भी शैली का प्रयोग पाया जाता है । अभिलाषा की अभिव्यक्ति नीचे लिखे पद्य मे कितनी सुन्दर हुई है[3]—

कदाहं कान्तायाः नलिननयनायाः करतलं,
गृहीत्वा सानन्दं निजकरतलेनातिरुचिरम् ।
सुधापारावाराप्लुतमिव मनः स्व विरचयन्,
शचीयुक्तं जिष्णुं चिरमुपहसिष्यामि मुदितः ॥

इस नाटक मे अलकारो की भी छटा देखने योग्य है । यमकालकार का यह उदाहरण देखिए[4]—

विकसित विमला कमला, कमलावलिकलितललिततटा ।
कमलेव द्रवरूपा, विलोडयन्ती यदीयरेणुकान् ॥

१ शिवराजविजय, पृ० १३ १४ ।
२ शिवराजविजय, पृ० ८२ ८३ ।
३ सामवत नाटक, अक ६, श्लोक ७ ।
४ सामवत नाटक, अक १, श्लोक १० ।

रचना-चातुरी

प० अम्बिकादत्त व्यास जन्मसिद्ध कवि थे। बाह्य उपकरणो से इनकी कविता का उद्भव नही हुआ था। इसीलिए तो केवल आठ वर्ष के अल्प वय मे इनके मुख से रुचिर कविता आविर्भूत हुई थी और अपनी नैसर्गिक प्रतिभा के बल पर ये दुरूह प्रतीत होनेवाली तथा सामान्यतः विरोधाभासमयी समस्याओं की पूर्ति देखते ही देखते कर डालते थे। जिस प्रकार वसन्त के आगमन पर मलयानिल स्वतः प्रवाहित होने लगता है तथा वर्षा मे जल की कोमल बूँदे अपने-आप मेघ से झरने लगती है, उसी प्रकार व्यासजी की बाललेखनी से भी मधुरिमापगी कोमल कविता स्वय उद्भूत होती थी। तभी तो 'सूरज देखि सकै नहि घुग्घू' वाली दुरूह समस्या– जो भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की दृष्टि मे भी सरलतया अपना समाधान नही पा रही थी –व्यासजी के द्वारा बडे ही सुन्दर ढग से तथा समय के व्याघात के बिना पूर्ण कर दी गई थी। सस्कृत कविता की रचना मे भी व्यासजी नितान्त दक्ष थे। ये एक घटिका अर्थात् २४ मिनट के भीतर ही एक सौ श्लोको की रचना अनायास कर डालते थे। इसी विलक्षण शक्ति के बल पर ये 'घटिकाशतक' की महनीय पदवी से विभूषित किये गये थे। श्लोको मे ही उत्तर देने की कला मे भी ये निष्णात थे। तभी तो काशीनरेश महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिह को इन्होने उनके प्रश्नो का उत्तर श्लोको मे देकर चमत्कृत कर दिया था। इन्हे कविता रचने मे आयास नही करना पडता था, बल्कि नैसर्गिक रूप मे ही कविता का उदय बिना प्रयास के सम्पन्न हो जाता था। ये हिन्दी के अपने छन्दो जैसे दोहा, सवैया, घनाक्षरी तथा रोला मे सस्कृतमयी पद्यरचना के यशस्वी अभ्यासी थे। निम्नलिखित कमनीय दोहा इनके इस वैशिष्ट्य के परिचायक रूप से उपस्थित किया जा सकता है—

गर्जित-बधिरीकृतजगता किमपि कृतं न घनेन।
इयती चातकचञ्चुपुटी साऽपि भृता न जलेन॥

गद्यकाव्य के तो ये सम्राट् ही थे। इनकी गद्यरचना को पढ़कर बाणभट्ट की कमनीय गद्य की स्मृति आलोचको के हृदय मे स्वय आविर्भूत हो उठती है। नये-नये पदो का विन्यास, जोड़तोड के पदो की रसमयी रचना, वाक्यो का रसानुकूल गुम्फन, अलकारो का हृदयावर्जक प्रदर्शन—ये गुण व्यासजी के गद्य को गद्यकाव्य के इतिहास मे महती प्रतिष्ठा देने के लिए पर्याप्त माने जा सकते है। आधुनिक शैली मे नवीन पद्धति से सस्कृत मे उपन्यास की सफल रचना पण्डित अम्बिकादत्त व्यास की लेखनी का चारु चमत्कार है। उनका 'शिवराज-विजय' शिवाजी के उदात्त वीर चरित्र के ऐतिहासिक वर्णन से सर्वथा मण्डित है। भाषा सरल-सुबोध है। ओजस्विनी, अर्थपूर्ण तथा सुबोध होने के अतिरिक्त यह यथावसर उद्दाम भी है एव कोमल भी।

हिन्दी काव्य

पण्डित अम्बिकादत्त व्यास छन्दःशास्त्र के विशेष पण्डित थे। इन्होने अपने जीवनचरित मे इस बात का उल्लेख किया है कि आठ-दस साल की अवस्था मे ही प्रस्तार, नष्टोद्दिष्टादि छन्दःशास्त्रीय सूक्ष्म विषयो से इनको पूर्ण परिचय प्राप्त हो गया था। ये हिन्दी छन्दो मे सस्कृत कविता की तथा सस्कृत छन्दो मे हिन्दी कविता की रचना बिना परिश्रम के कर लिया करते थे। हिन्दी-छन्दो के प्रयोग के कुछ नमूने ऊपर दिये गये है। अब सस्कृत छन्दो मे हिन्दी कविता के कुछ नमूने नीचे दिये जाते है—

(क) अनुष्टुप् छन्द में ग्रीष्म-वर्णन—

घाम मानों अग्नि वर्षा करती है भयावनी ।
कच्चे-पक्के घर सभी भाड़ से हैं भभक रहे ॥
पेड़ छोटे सूख गये बचे जो हैं कहीं खड़े ।
उपट रही है वहाँ भी लूह की वह लपट कड़ी ॥

(ख) आर्या छन्द मे सन्ध्या-वर्णन –

किरणें सभी समेटीं वरुण दिशा ओर सूर्य हैं आये ।
अरुण प्रभा है छाई रंग-बिरगे भए हैं घन नभ में ॥
कुहुक मचातीं चिड़ियाँ अपने-अपने चली हैं खोंते में ।
खेल छोड़ के बच्चे सभी मचलने लगे हैं सोने को ॥

(ग) उपजाति छन्द मे 'कमल' का वर्णन -

सरोज कैसा जल मे खिला है पराग से पीत हुआ है देखो ।
लगे हैं झटके ज्यों-ज्यों हवा के, मरन्द बिन्दू बरसे हैं त्यों-त्यों ॥
लिया है कोई दृढ़ नेम इस्ने, कड़ी तपस्या हठ से है ठानी ।
एकी चरन से जल में खड़ा है, पराग टीका सिर में लगाये ॥

(घ) भुजगप्रयात छन्द मे 'कमल' का वर्णन–

ले हाथों में इस्को कोई सूँघता है
कोई रख के कानों पै चलता अकड़ के ।
लगा आँखों पै सिर पै रखता है कोई
कोई गूँथ करके बनाता है माला ॥

व्यासजी ने हिन्दी पद्यों की रचना अनेक विषयो पर की है और सीधी-सादी भाषा होने मे वह श्रोताओं के हृदय में बरबस प्रवेश कर जाती है। इनकी उपदेशमयी कविता सामान्यजन पर भी अपना प्रभाव डाले बिना नही रहती। एक उदाहरण देखिए—

ऐंठ-ऐंठ बाँहें बड़ा ऐंठा-ऐंठा चलता है,
चार ही दिनों का यह जोर है जवानी का ।
करके कुलेल क्या फुलेल मलता है मूढ,
मालिक से करता है काम बेईमानी का ॥
'सुकवि' अचेत अब भी तो कुछ चेत यार,
राम को सुमिर जो है प्रान मुनि ज्ञानी का ।
लगेगा न पता कुछ, कहाँ से किधर गया,
जायगा बिलाय हाय बुल्ला जैसे पानी का ॥

सकीर्ण विषयों पर—जैसे मोर, कोकिल, शुक, मैना, कबूतर, मत्स्य आदि पर—भी इनकी कविता बड़ी ही रुचिर तथा आवर्जक है। छोटी होने पर भी ये बड़ी ही सुभग, सुन्दर है। उर्दू शैली के ढंग पर भी ये पद्य-रचना बड़ी अच्छी करते थे। इस तर्ज की कृष्णविषयक यह कविता पढ़िए। कितनी रसभरी तथा सहज-सरस है—

जुलुफ समेटे और टेढ़ी सी लपेटे पाग,
छोटे गोप बेटे संग लिए गीत गायेगा ।
करके रहम हम 'सुकवि' सुजानों पर,
टेढ़ी सूधी तान कुछ बंसी में बजायेगा ॥

रोली-सी लगाये सिर मीठी-मीठी बोली बोल,
मन्द-मन्द भोली-भोली सूरत दिखायेगा ।
हाय वो मरद दिलदारो में फरद,
कब जरद दुपट्टावाला दरद मिटायेगा ॥

व्यासजी ने काशी का वर्णन ३४ रोला पद्यो मे बडे सौष्ठव के साथ किया है। इसमे गगा का पावन रूप, मन्दिर मे दिव्य पूजा, यात्रियो का जमघट, सुहावने प्रातःकाल की छटा आदि का वर्णन पढ़कर किस व्यक्ति के हृदय मे भक्ति रस का उद्रेक नही हो जायेगा—

धीमी-धीमी धार सुरधुनी ता ढिग सोहत,
पुलकि पसीजत मुनिजन हूँ जाकी छबि जोहत ।
जाकी सोभा देखि चिदानँद हिय आरोहत,
देव-देव के सहस नयन हूँ इहि लखि मोहत ॥

बिहारीसतसई के सरस तथा गूढ़ दोहो पर कुण्डलियाँ बनाने की अभिलाषा बहुत से हिन्दी के कवियो मे रही। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी बिहारी के दोहो पर कुण्डलियाँ बनाने का प्रयास किया था। परन्तु उनका यह कार्य अधूरा ही रह गया। सरदार कवि रचित इन दोहो पर कुण्डलियाँ सुनी जाती है। परन्तु सुकवि व्यासजी के द्वारा रचित कुण्डलियाँ इनके जीवनकाल मे ही प्रकाशित होकर प्रसिद्ध हो गई थी। व्यासजी ने बिहारी के दोहो पर जो कुण्डलियाँ बनाई है वे 'बिहारी-विहार' के नाम से प्रसिद्ध है। दोहो के सकुचित तथा सकीर्ण क्षेत्र मे उनमे निहित भावो को विस्तार पाने का अवकाश नही है। अतः यह भावराशि सिमटकर रह जाती है। परन्तु कुण्डलियो मे इन भावो को विस्तृत करने का अवकाश मिलता है। व्यासजी ने कही-कही पर बिहारी के एक दोहे पर ही दो-दो कुण्डलियो की रचना की है। इस प्रकार इन्होने उनके भावो को प्रकाशित करने मे सफलता प्राप्त की है। बिहारी के इस नीतिपरक दोहे पर व्यासजी की यह कुण्डलिया कितनी सुन्दर तथा सटीक बन पड़ी है। बिहारी का दोहा है—

मीत न नीत गलीत है, जो धन धरिये जोरि ।
खाये खरचे जो बचै, तौ जोरिये करोरि ॥
ये करोरि धिक्कार ताहि, जो धन धरि गाड़ै ।
फूटी हाँडिहि राँधि, आपु नित पीवत माँड़ै ॥
बालन भूखन हनै, फटे पट राखै ती तन ।
सुकवि देव करि दूरि नाँहि समुझावै मीतन ॥

पण्डित व्यासजी सस्कृत के प्राचीन ग्रन्थो के सम्पादक रूप मे विख्यात थे। इनके द्वारा सस्कृत देववाणी का **शृंगारविलासिनी** नामक एक रसमय अलकारग्रन्थ खड्गविलास प्रेस, पटना से १९४४ वि० स० (१८८७ ई०) मे प्रकाशित हुआ था। इसके रचयिता 'इष्टिकापुर' निवासी **देवदत्त कवि** है। विषय है—नायिका-नायक-भेद। इसमे हिन्दी के दो लोकप्रिय छन्दों—दोहा तथा सवैया—का प्रयोग सस्कृत-कविता मे बड़ी मधुरता से किया गया है। लक्षण दोहे मे दिये गये है और उदाहरण सवैया छन्द मे। देवदत्त कवि ने इतनी सुन्दरता से उदाहरणो का विन्यास किया है कि उनमे किसी प्रकार की कृत्रिमता का सकेत नही मिलता। प्रसादमयी शैली मे अविराम प्रवाह है, सुन्दर पदशय्या है, भावों का मधुमय विन्यास है। एक-दो सस्कृत मे निबद्ध सवैयो का रसास्वादन कीजिये—

स्वीया नायिका का यह रूपविन्यास कितना मनोरम है।

शोभितशीलगुणाचरणाचलसाधुतया न तया सममन्या
कोमलवागतिमन्दतरा गतिरालपितस्मितसाधुशरण्या ।
नाथ ! कथं कथयामि तपस्तव यस्य गृहेऽस्ति पतिव्रतगण्या
योषिदियं परमा परमावधि-पुण्यलता धरणीतलधन्या ॥

—श्लोक ९

खण्डिता नायिका का वर्णन कवि इस प्रकार करता है –

कृतजागर एव वने न्यवसः प्रजपन् निशि कामदमन्त्रमलम् ।
सतत समता मदनेन तथा समपादि मनोभवदेवबलम् ॥
जननाथ ! जनश्रवणे श्रवणेन पुनानि तवाद्य यशो विमलम् ।
कृतमद्य विभो भवताऽखिलसिद्धसमृद्धि-सुखैकगण सुफलम् ॥

पद्य ७३

कृष्णाभिसारिका का यह वर्णन भी अत्यन्त सुन्दर पदावली में निबद्ध तथा नितान्त मनोरंजक है –

सायमसौ रतिकुञ्जगृहे सखि गच्छति शभुरिपोरबलेव
नीलरुचाम्बरकेण वृता कलधौत-कलद्युतिरिन्दुकलेव ।
कीदृगशोभि तमालतलोपविशन्त्युपमा तु तदा सकलेव
श्यामघनैः सुघनैर्मिलिता तमसा गिलिता चलिता चपलेव ॥

–पद्य ७७

इस सुन्दर सवैये में उपमा की निराली योजना नितान्त दर्शनीय है। ग्रन्थ छोटा ही है, परन्तु अपने में पूरा है और हिन्दी छन्दों का देववाणी में प्रयोग करने का एक सफल अभिराम प्रयास है। व्यासजी ने इसकी भूमिका में लिखा है कि इस ग्रन्थ के संग्राहक है उन्हीके पितृव्य श्री राधावल्लभ पण्डित जो महाराजा डुमराव (जिला भोजपुर, बिहार) के आश्रित रसिक कवि थे। व्यासजी भी हिन्दी वृत्तों के संस्कृत में प्रयोग के प्रबल समर्थक थे और इसीलिए उनकी दृष्टि ऐसे सुन्दर अभिनव प्रयास की ओर स्वतः आकृष्ट हुई





पं० रमानाथ व्यास

२१

पण्डित रमानाथ व्यास

(आस्पद—व्यास, उपाधि—भारताचार्य)

काशी की व्यास-परम्परा के सुमेरु

काशी की पौराणिक परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है। इसी परम्परा के अन्तर्गत गत शताब्दी मे जन्म लेनेवाले प० रमानाथजी व्यास अपनी अलौकिक भाषण-शक्ति के कारण काशीस्थ पौराणिको मे अग्रगण्य माने जाते है।

जिन राजाओं ने काशी मे शिवालयो तथा मन्दिरों की स्थापना की उन्होंने उनमे पुराण के प्रवचन की भी सुन्दर व्यवस्था की है। प्रत्येक प्रतिष्ठित मन्दिर मे इस कार्य के लिए विद्वान् पौराणिक की नियुक्ति की जाती है। पौराणिकजी पूर्वाह्ण या अपराह्ण मे किसी विशिष्ट पुराण का प्रवचन नियमित रूप से करते है। इसके लिए उनको नियमित वृत्ति राजा की ओर से दी जाती है। यह व्यवस्था पहले थी और आज भी किसी न किसी रूप मे यह परम्परा चल रही है। कुछ पौराणिक काशी मे ऐसे है जो अपने घर पर मन्दिर की स्थापना कर पुराण का प्रवचन नियमित रूप से करते है। प० रमानाथ व्यास भी ऐसे ही पौराणिको मे अग्रगण्य थे।

प० रमानाथ व्यास का जन्म गत शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ था। ये गुजरातियों में प्रसिद्ध मोढ़ ब्राह्मण जाति के उच्चकुल मे पैदा हुए थे। मोढ़ जाति के विषय में पुराणो में ऐसा वर्णन पाया जाता है कि भगवान् रामचन्द्र ने इन्हे धर्मारण्य मे आश्रय दिया था। धर्मारण्य मे यह परम्परा आज भी चली आती है। काशी के विद्वानो से इन्होने शास्त्रों का अध्ययन किया था। महाभारत, रामायण तथा पुराणो का अनुशीलन इन्होंने स्वय अपनी प्रतिभा तथा परिश्रम से किया था। भागवत तथा रामायण का प्रवचन करनेवाले व्यासों का टोटा नही है। परन्तु महाभारत का व्याख्याता पौराणिक तो नितान्त दुर्लभ ही है। व्यासजी की यही विशिष्टता रही कि ये महाभारत की कथा बड़े नियम, प्रेम तथा निष्ठा के साथ प्रतिदिन कहते थे। इनका आवास-स्थान काशी में भगवती सकटाजी के मन्दिर के पास ही था जिसमें इन्होंने भगवती पीताम्बराजी (बगलामुखी) की स्वर्णमूर्ति की स्थापना की थी। इसी मन्दिर में ये महाभारत की कथा बड़े उत्साह तथा निष्ठा के साथ कहते थे। सैकड़ों गवृत्ति हो जाने के कारण जान पड़ता था कि महाभारत इनके सामने मानों नृत्य कर रहा हो। महाभारत जैसे लक्षश्लोकात्मक विशाल ग्रन्थ का अनुशीलन करना तथा उसका मर्मज्ञ होना अपने में ही एक विशेष उपलब्धि है और यह पण्डित रमानाथजी व्यास में अपनी पूर्ण मात्रा में थी—इस कथन में किसी प्रकार की अत्युक्ति नहीं है।

कथाशैली

पं० रमानाथ व्यासजी की कथाशैली पण्डितों के निमित्त जितनी पाण्डित्यपूर्ण होती थी, साधारण जनों के लिए वह उतनी ही व्यावहारिक एवं आवर्जक होती थी। व्यासगद्दी पर बैठकर जब आप मनोयोगपूर्वक कथा कहने लगते थे उस समय मालूम पड़ता था कि कोई सिंह गर्जन कर रहा है। आपकी बातचीत प्रतिपद में चमत्कारी श्लेषो से भरी हुई होती थी। ये व्यक्तिवाचक नामों का भी पदच्छेद कर विशेष चमत्कार दिखलाते थे। 'श्यामलाल' नामक सेठ से कोई अप्रिय घटना सुनाने से पहले पूछ लेते थे कि कहिए 'श्याम' जी, यदि आप 'लाल' (क्रुद्ध) न हों तो कुछ बातें आपको सुनाऊँ। व्यासजी के इस आलकारिक चमत्कार से श्रोतागण विशेष परिचित थे। फलतः कोई कटुवचन सुनकर भी अप्रसन्न नही होता था। इनकी वाग्धारा गंगाजल के समान निर्मल एवं पवित्र होती थी। सचमुच ऐसा अध्यात्मतत्त्व का वेत्ता, व्यवहार का सर्वांगीण ज्ञाता, शाब्दिक चमत्कारों से श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर देनेवाला व्यास मिलना काशी में भी दुर्लभ था, अन्यत्र की बात ही क्या कही जाय ?

आपका केवल महाभारत ही में इतना प्रचण्ड पाण्डित्य था सो नही, व्याकरण, साहित्य आदि विषयों में भी ये अच्छे व्युत्पन्न थे। आपकी कथा सुनने के लिए काशी के पण्डित तथा छात्र जाकर बैठते थे। कथा के बीच बीच में ही ये किसी किसी पद की साधनिका पण्डितो से पूछ बैठते थे, तब उसका उत्तर देना कठिन हो जाता था। ये अपने स्थान को छोड़कर किसी के मकान में कथा कहने के लिए कभी नही जाते थे। निःस्पृहता के साथ अपना सात्त्विक जीवन बिताते थे। भगवती पीताम्बरा की इनके ऊपर अकृत्रिम अनुकम्पा जो थी। ये मन्त्रशास्त्र में भी विशेष दक्षता रखते थे। अपने ही आवास पर भगवती पीताम्बरा की सुवर्णमयी मूर्ति इन्होंने स्थापित की थी जिसकी पूजा-अर्चा ये बड़ी तल्लीनता से करते थे। पुराण विद्या एवं तन्त्र-विद्या—इन दोनों विद्याओं के परिनिष्ठित ज्ञाता एव मार्मिक अनुसन्धाता थे। तभी तो घर बैठे इन पर महालक्ष्मी की कृपाधारा की सन्तत वर्षा होती थी।

पण्डित रमानाथजी चित्रकला के विशेष प्रेमी तथा पारखी थे। काशी के ही प्रसिद्ध चित्रकार रामप्रसाद से इन्होंने श्रीमद्भागवत में वर्णित कृष्णलीलाओं के तथा दुर्गासप्तशती में उल्लिखित भगवती दुर्गा की चरितसम्बन्धी लीलाओं के बड़े ही मनोरम, आवर्जक तथा प्रभावशाली चित्र तैयार कराये थे। इस कार्य में इन्होंने धन और मन, दिल और दिमाग दोनों को लगाकर जो चित्रावली तैयार कराई थी वह काशी की सांस्कृतिक विभूति है। उसका प्रदर्शन उत्सव के अवसरों पर व्यासजी के वंशजों द्वारा आज भी पीताम्बराजी के मन्दिर में किया जाता है। यह चित्रावली नितान्त सुन्दर, आवर्जक तथा मूलानुसारी है। प्रत्येक चित्र के नीचे भागवत तथा दुर्गासप्तशती का वह विशिष्ट श्लोक उद्धृत किया गया है जिसके आधार पर उस चित्र की रचना की गई है। यह पूरी चित्रावली पण्डित रमानाथ व्यासजी की सहृदयता तथा इनके कलाप्रेम की सद्यः परिचायिका है।

एक विशिष्ट संस्मरण

महामना पं० मदनमोहन मालवीयजी भी श्रीमद्भागवत के रसिक श्रोता तथा विद्वान् प्रवक्ता थे। एक बार उन्होंने पण्डित रमानाथजी व्यास को विश्वविद्यालय में पधारकर अपनी मनोरम दिव्य कथा सुनाने के लिए विशेष आग्रह से बुलाया। व्यासजी अपने दलबल के साथ उस दिन पधारे। कथा का स्थान था आर्ट्स कॉलेज का विशाल 'हाल' जहाँ एकादशी को

महामनाजी स्वय कथा बाँचकर छात्रो तथा अध्यापको को अपनी मधुर वाणी में उपदेश दिया करते थे। भागवत की रासपञ्चाध्यायी के प्रथम श्लोक की ही विशद व्याख्या व्यासजी ने कह सुनाई। इनकी दृष्टि जब श्रोताओं पर पड़ी तब उसमे महिलाओं के जमघट को लक्ष्य कर कथा के प्रारम्भ में ही इन्होने कहा—श्रोतागण, काशी की जनता मुझे 'साहबानवाले' व्यासजी के नाम से पुकारती है। मेरे नाम से पहले दिये गये इस विशेषण के दो अर्थ है--एक अर्थ तो यह है कि मेरे घर के ऊपर 'साहबान' है जहाँ श्रोता लोग बैठकर मेरी कथा सुनते है। इसका एक दूसरा अर्थ भी है कि मै साहबो' का (बाबू लोगो का) व्यास हूँ, मेमो का (औरतो का) नही। कथा प्रसग मे मै नाना प्रकार की छीटाकशी किया करता हूँ पुरुषों के चरित्र पर तथा स्त्रियों के चरित्र पर भी। काशीवासी इसे अच्छी तरह जानते है और वे सह लेते है। परन्तु यह ठहरा नया स्थान, मेरी कथा शैली मे अपरिचित प्रदेश। फलतः यदि कथा के बीच मे मेरे मुँह से स्त्रियो के लिए कोई सच्ची, परन्तु कड़वी बात निकल पडे, तो आप उद्विग्न न हो। मुझे क्षमा कर दे।

"यह विश्वविद्यालय सर्वथा धन्य तथा श्लाघनीय है जहाँ के अध्यक्ष ही 'मदनमोहन' है, जिनमे मद नही है, मोह नही है, परन्तु जो अपनी वेशभूषा से, अपनी मजुल-मधुर वाणी से मदन का भी मोहन कर देते है। यहाँ की प्रशसा क्या की जाय ? जहाँ का सचालन स्वय 'आनन्दशकर ध्रुव' करते है जहाँ चारो ओर से 'गोविन्द-गोविन्द' (महामना के कनिष्ठ आत्मज गोविन्द मालवीय) के नाम उच्चरित हो रहे है। यहाँ के प्रतिष्ठा देनेवाले है—'श्यामाचरण' (प्रो० श्यामाचरण डे साहब) जो भगवती श्यामा के चरणसेवक है।" ऐसी ही सुन्दर पदावली मे व्यासजी ने अपनी कथा का आरम्भ किया। श्रीमद्भागवत की बडी रसभरी पाण्डित्यमण्डित कथा कह सुनाई। रासपञ्चाध्यायी के तृतीय श्लोक मे ही 'जगौ कल वामदृशा मनोहरम्' की व्याख्या मे 'कल' पद से कामबीज 'क्ली' की ध्वनि की ओर उन्होने सकेत किया।

घण्टो कथा चली। श्रोतागण मन्त्रमुग्ध के समान कथा सुनते रहे। क्यों न हो ? महामना जैसा श्रोता तथा व्यासजी ऐसा कथावाचक। यह जोड़ी भी अद्भुत जो ठहरी। लेखक इस विशिष्ट कथा के अवसर पर स्वय उपस्थित था।

व्यासजी के अनुज

पण्डित विद्यानाथ व्यास

(आस्पद—व्यास; उपाधि—पौराणिक-वाचस्पति)

पण्डित विद्यानाथजी रमानाथजी के अनुज थे। इनका जन्म विक्रमी संवत् १९१२ (= १८५५ ई०) मे हुआ था। इनकी शिक्षा-दीक्षा अपने अग्रज की देखरेख में हुई थी। ये वाल्मीकिरामायण के मर्मज्ञ कथावाचक व्यास थे। भगवान् रामचन्द्र के प्रति इनकी अविरल भक्ति थी। इन्होंने काशी में 'रतनफाटक' नामक मुहल्ले के अपने विशाल भवन में रामचन्द्र की प्रतिष्ठा की थी। ये जितने बड़े पौराणिक थे, उतने ही बड़े साधक भी थे। फलतः इनके तपस्याप्रसूत अनेक चमत्कारों की प्रसिद्धि काशी की जनता में आज भी विद्यमान है।

कहा जाता है कि सिद्धमाता की गली मे बच्चा साव नामक एक साहूकार रहते थे जो श्वेत कुष्ठ से पीड़ित थे। उन्होंने इस रोग की बहुत सी दवा कराई, परन्तु रोग ज्यों का त्यों बना ही हुआ था—छूटने का नाम भी नही लेता था। साहु ने व्यासजी से प्रार्थना की। इन्होंने

दयार्द्र होकर अपनी तपस्या के बल से उसे नीरोग कर दिया। वह भला-चगा होकर जीवन बिताने लगा।

एक दूसरी आश्चर्यभरी घटना का भी बहुशः उल्लेख आस्तिक जनता करती है। विद्यानाथजी व्यास सागवेद विद्यालय (रामघाट, काशी) मे कथावाचन के लिए प्रतिदिन आया करते थे। एक दिन एक विचित्र घटना घटी। जब विद्यालय मे कथावाचन के लिए व्यासजी सायंकाल जा रहे थे, तब रास्ते में पड़नेवाले 'आनन्द भैरव' के मन्दिर के सामने ही इन्होने खराबदास नामक दर्जी को रावण की प्रशसा करते सुना। साथ मे वह भगवान् रामचन्द्र के जीवन की कटु आलोचना करता हुआ घनघोर निन्दा भी कर रहा था। व्यासजी के कानो मे निन्दा के ये कठोर शब्द ज्योही घुसे, ये उद्विग्न हो गए और उस दर्जी को मरण का अभिशाप दे दिया। दर्जी अपने घर लौटकर ज्योही आया, त्योही वह मकान शोर करता हुआ घडाम से बैठ गया। विद्यालय के लोग चकित होकर उस आवाज का कारण खोज ही रहे थे कि व्यासजी ने झट से कह दिया कि यह और कुछ नही है, उस निन्दक दर्जी के घर गिर जाने की आवाज है। दर्जी ने भगवान् रामचन्द्र की जो निन्दा की, उसीका यह बुरा परिणाम है। यह उसीके घर गिरने की आवाज है। लोगो ने जाकर देखा तो बात सच्ची निकली। उनका दिया हुआ शाप तुरन्त फलीभूत हो गया। यह उनकी निग्रह शक्ति का सद्यः प्रभाव था।

ऐसे ही चमत्कारी रामायण-कथा के मर्मज्ञ व्याख्याता, तपस्वी विद्यानाथजी व्यास महाराज थे। अन्त मे आपने सन्यास ग्रहण कर लिया। १६८८ विक्रमी स० (= १६३१ ई०) में इनका निर्वाण सम्पन्न हो गया। फलतः प० रमानाथजी तथा प० विद्यानाथजी दोनो ही काशी की पौराणिक परम्परा को अग्रसर करनेवाले माननीय विद्वान् थे।



२२

पण्डित सरयूप्रसाद मिश्र

काशी के एक प्रतिष्ठित सरयूपारीण ब्राह्मण परिवार मे मिश्रजी का जन्म हुआ था। इनके पूज्य पिता का नाम पण्डित मातादयालु मिश्र था। वे बड़े कर्मठ एव धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे। इन्हीकी द्वितीय पत्नी से इनका जन्म कार्तिक कृष्ण एकादशी को वि० स० १९०९ (१८५२ ई०) मे हुआ। पिता ने निकट अतीत मे अयोध्या की यात्रा की थी। अतएव उसी तीर्थ की स्मृति को जागरूक रखने के लिए पिताजी ने इनका नाम 'सरयूप्रसाद' रखा। पिता ज्योतिष शास्त्र के प्रवीण विद्वान् तथा फलित के मार्मिक रहस्यवेत्ता थे। वही उनकी जीविका का साधन था। किसी धनाढ्य व्यक्ति का कचहरी के लिए अत्यन्त आवश्यक दस्तावेज कही गायब हो गया था। बहुत ढूँढ़ने पर भी वह मिला नही तब ज्योतिषी मातादयालुजी की कृपा से वह मिल गया। उस व्यक्ति ने इस अद्भुत गणना के निमित्त इन्हे पुरस्कार रूप में ५०० रुपये नकद दिये जिससे इन्होने काशी के विश्वनाथ गली के पास हौजकटोरा मुहल्ले मे रहने के लिए एक मकान खरीदा। दो रुपैया रोज की इनकी वृत्ति थी।

प० सरयूप्रसादजी जयनारायण कॉलेज के सस्कृत के अध्यापक **पण्डित गोपाल उपासनी** से सस्कृत बडी लगन से पढ़ते थे। गुरु की बडी सेवा करते थे। सेवा के साथ ही साथ १ बजे रात तक पढ़ते रहते थे। सस्कृत साहित्य मे प्रवीणता प्राप्त की।

प० गोपाल भट्ट उपासनी काशी के ही महाराष्ट्र पण्डित थे। सस्कृत के रसिक कवि थे। इन्होने हिन्दी मे व्यवहृत छन्दो मे सस्कृत के लिए नये छन्दो मे बडी कमनीय कविता की रचना की है। ये जयनारायण-कॉलेज मे सस्कृत के अध्यापक थे। इनकी कविताएँ स्फुट रूप से ही यत्रतत्र उपलब्ध होती है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'नित्यकुसुमाकरोद्यान' नामक काव्य सग्रह मे अपनी सगृहीत गजलो मे इनकी यह सस्कृत गजल उद्धृत की है जो बडी ही सरस तथा मनोहारिणी है।

गोपालभट्ट उपासनी की सस्कृत गजल -

समंजु दर्शयाशु सखे सुन्दराननम्
भ्रमाम ईश त्वदृते विभीषिकावनम्।
अनेकभीतितस्त्वया सुरक्षिता वयम्
अनौचितीदृशे क्षणे कृपावसाननम्।
न किं स्मरस्युपेन्द्र तन्तु नः कृते तदा
धृतो गिरिः कृतं च वासवावमाननम्।
त्वदीयदर्शनं विना क्षणं युगायते
त्वमेव नो धनं सखे त्वमेव प्राणनम्॥
न चास्ति सुरतनाथ गोपिकात्मजो भवान्
अजोऽसि धर्मगोपिता यशोवितानवम्॥

जगद्भयापहारि नाम कीर्तनं नु ते
कृते न ईश जन्म यच्छ्रुतिप्रमाणनम् ॥
शरत्सुजात - पङ्कजाभ-चक्षुषेक्षणात्
स्वदासिकाः स्म निघ्नतो न किं कृपापणम् ॥
उपासनीरिमाः स्म नः कृतार्थयाधिहन्
कुचेषु धेहि नः पदं मनोज्ञमाननम् ॥

अध्यापन कुशलता का परिचय उक्त कॉलेज के प्रख्यात प्रिन्सिपल डॉ० रुडाल्फ हार्नली साहब के प्रशसा पत्र से सद्यः मिलता है। हार्नली साहब उस युग के भाषा शास्त्र के प्रवीण विद्वान् के रूप मे सर्वत्र विख्यात थे। उन्होने **ग्रामर आफ गौडीयन लैंगुएज** नामक भाषाशास्त्रीय तथ्यो से सम्पन्न पोथी लिखी थी जिसके कारण विद्वन्मण्डली मे उनकी विशेष ख्याति थी। ऐसे भाषाविद् गुणज्ञ विद्वान् का प्रमाणपत्र अपना विशेष महत्त्व रखता है और सरयूप्रसादजी के भाषाज्ञान की गरिमा का सद्यः द्योतक सिद्ध होता है। १८ वर्ष के वय तक ये काशी के वातावरण मे सस्कृतशिक्षा ग्रहण करते रहे। अगले वर्ष ये जबलपुर चले गये जहाँ सस्कृताध्यापक प० कैलासचन्द्र दत्त से परिचय पाकर अपनी विद्या को आगे बढ़ाया। मराठी तथा बँगला भाषा का भी ज्ञान प्राप्त किया। १८८४ ई० मे इलाहाबाद के डिविनिटी स्कूल (पादरियो का स्कूल) के अध्यक्ष डॉ० हूपर ने आपकी सस्कृत तथा हिन्दी पढ़ाने के लिए नियुक्ति की। मिश्रजी ने यहाँ २० साल तक नौकरी की। इन दिनो मे इन्होने अनेक ग्रन्थो का प्रणयन किया। पटना के खड्गविलास प्रेस के मालिक बाबू रामदीन सिंह सरयूप्रसाद के गुणो के मर्मज्ञ ग्राहक थे जिन्होने प्रेरणा देकर अनेक ग्रन्थो का प्रणयन इनसे कराया। रामदीन सिंह हैहयवशी क्षत्रिय थे। फलतः इन्होने पण्डितजी से अपने हैहय वश की पुराणानुसारी वशावली तैयार कराई। पुस्तक ने प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ० ग्रियरसन साहब की विपुल प्रशसा अर्जित की। नौकरी छूटने पर ये प्रयाग के राय ईश्वरीप्रसाद के आश्रय मे रहे।

म्योर सेन्ट्रल कॉलेज के सस्कृत के वरिष्ठ अध्यापक म० म० आदित्यराम भट्टाचार्यजी इनकी विद्वत्ता, धर्मनिष्ठा एव सच्चरित्रता से अत्यन्त प्रभावित थे और इन्होने ही मिश्रजी को काशी मे जीविका का साधन देकर काशीवास का अवसर प्रदान किया। भट्टाचार्यजी की कृपा से इन्हे जीविका का साधन प्राप्त हुआ। सेन्ट्रल हिन्दूकॉलेज मे धर्मोपदेशक एव रणवीर सस्कृत पाठशाला मे अध्यापक का पद एक साथ ही इन्हे प्राप्त हुआ। यह १६०५ ईस्वी की घटना है। काशी मे आकर ये बडे प्रेम से अपने कार्य का सम्पादन करने लगे। धर्म की शिक्षा बालको को देना एव सस्कृत का अध्यापन छात्रो को कराना -ये दोनो ही कार्य इनके मनोऽनुकूल थे, परन्तु दुःख की बात है कि ये इन स्थानो पर अधिक दिन तक टिक न सके। तीन वर्ष के भीतर ही अगहन सुदी चतुर्थी सोमवार ४ अप्रैल १६०७ ई० मे काशी मे ही इनका निधन हो गया। इनकी आयु ५६ साल की ही थी।

पण्डित सरयूप्रसादजी नितान्त धार्मिक निष्ठावान् सत्पुरुष थे। ईसाइयो की नौकरी करने पर भी उनका सम्पर्क नही रखा। उनके मत का खण्डन बडे आग्रह, तर्क तथा युक्तियो से सर्वदा करते थे। बाल विवाह के पक्के विरोधी थे। अपने पुत्रो की शादी वयस्क होने पर ही की। ऐसा उदारचेता, सात्त्विकभावापन्न तथा सदाचारसम्पन्न सत्पुरुष होना सचमुच दुर्लभ है।

ग्रन्थ

मिश्रजी ने अन्य विद्वानो को ग्रन्थनिर्माण मे सहायता ही नही दी, अपितु स्वय शोधप्रधान ग्रन्थ की रचना की। उस समय अग्रेजी स्कूलो के छात्रो को सस्कृत सिखाने के लिए प० आदित्यराम भट्टाचार्यजी ने **ऋजुव्याकरण** नामक सस्कृत का व्याकरण तथा **गद्यपद्यसग्रह** नामक सस्कृत पाठो से युक्त ग्रन्थ का निर्माण किया। इस कार्य मे मिश्रजी ने बडी सहायता की थी जिसका आभार उन्होने स्वय स्वीकार किया था। सरयूप्रसादजी सस्कृत तथा हिन्दी के साथ मराठी तथा बॅगला भी अच्छी तरह जानते थे। इनके ग्रन्था के नाम इस प्रकार है--(१) हेरम्बचरित सस्कृत काव्य, (२) रघुवश का पद्यात्मक अनुवाद, (३) हैहयवश विस्तार, (४) भक्ति सग्रह, (५) जयदेवचरित। ये सब ग्रन्थ उपादेय एव ज्ञानवर्धक थे। 'हैहयवश-विस्तार' मे पण्डितजी ने पुराणो मे हैहयवशी क्षत्रियो की उत्पत्ति, अभ्युदय एव राजाओं की पूरी वशावली प्रस्तुत कर अपनी शोध-बुद्धि का पर्याप्त परिचय दिया है। इस खोजपूर्ण ग्रन्थ की ग्रियर्सन ने बडी प्रशसा की थी। इसमे कार्तवीर्य के वश का वृत्तान्त पुराण, इतिहास, काव्य एव शिलालेखो के आधार पर सगृहीत किया गया है, परन्तु दुर्दैव से यह ग्रन्थ प्रकाशित न हो सका। ५ ५ १९१२ ईस्वी के पत्र मे डॉ० ग्रियर्सन साहब ने पण्डितजी के जेठे पुत्र मधुमगल मिश्र को लिखा था कि सरयूप्रसादजी ने 'बिहारी सतसई' के प्रकाशन मे उन्हे बडी सहायता दी थी और इसके लिए आभार माना था। रघुवश महाकाव्य का हिन्दी मे प्रथम पद्यानुवाद प्रस्तुत कर मिश्रजी ने अपनी अपूर्व रचना शैली का परिचय दिया है। इस अनुवाद का विवरण यहाँ नीचे प्रस्तुत है।

रघुवंश का पद्यानुवाद

सरयूप्रसाद मिश्रजी छात्रावस्था से ही काव्य रचना के रसिक थे। जयनारायण कॉलेज के सस्कृत के प्रोफेसर डॉ० हार्नली ने आपकी विद्वत्ता तथा काव्यरचनाचातुरी की अपने प्रशसा पत्र मे भूरिशः प्रशसा की है।

समस्या की सुन्दर पूर्ति देखिये

विपदा की बयारि जु भारत मे चहुँ ओर ते आनि झकौरै लगी
'बिकटोरि' सु पुण्यन ते समयानि अनन्द भई सब ठौरै लगी।
हरिचद उदो भयौ त्यौ सरजू द्विज चन्द्रिका चारु अँजौरै लगी
'कबि बैन सुधा' वसुधा सुखदा दिन द्वै ते पीयूष निचौरै लगी॥

भजनो की भी रचना करते थे–

भजु मन रामचरन दिन राती
जाकी कृपा सुमति चित उपजत
कुमति निशा बिलगाती।
काके भाग जासु चित भगवत
चरण रेख लिख जाती।
अशरण शरण चरण सुमिरन धन
सरजू द्विज की थाती॥

'रघुवश' का अनुवाद समश्लोकी है तथा उसमे शब्दो की नोक-झोक, अनुप्रास का लालित्य, भाव का पूरा निर्वाह आदि विशेष गुण देखने ही योग्य है। ऐसा अनुवाद पहले नही

हुआ था और पीछे भी देखने को नही मिलता। ऐसे वैशिष्ट्य को निभाने के लिए शब्दों में तोड़-मरोड़ तथा घरेलू शब्दों का प्रयोग यत्र तत्र कवि को करना ही पड़ा है। सुन्दर शब्दावली का उदाहरण देखिये—

जो री विधाता छबिसे रिझोरी जोरी उन्हींकी नहिं देत जोरी।
तौ दोउ की सुन्दरता बनौती विरञ्चि की सेंतिहि मेंत होती॥

– रघु० ७। १४

अलकार की सुषमा बनाये रखने के लिए उर्दू के शब्द भी यत्र-तत्र प्रयुक्त किये गये है—

भूपाल पीलू पलुये पलाये (५/४८)
सुनृप-नाह पनाह जहान की (६/१)
वाहियात आफत न कर खुराफ़ात खुरचालि

कही-कही सस्कृत के ही तत्सम शब्द अनुवाद मे अनुप्रास की शोभा बढ़ा रहे है—

व्यवहार समाधि के लिए न युवा पूत कुशासनी भयो।
व्यवहार समाधि के लिए न युवापूत कुशासनी भयो॥ (८। १८)

नाना प्रकार के अलकारों का विन्यास पण्डितजी की काव्यकला के सहज उपकरण हैं। पण्डित सरयूप्रसादजी ने अपने गुरु गोपाल उपासनी से सस्कृतव्याकरण एव साहित्य का ही मुख्यतया अध्ययन किया था, परन्तु उनके हिन्दी भाषा के गम्भीर ज्ञान का परिचय पाकर आलोचक को चकित होना पडता है। हिन्दी ज्ञान का वैभव उनकी स्वतः उपार्जित प्रतिभा का प्रसाद ही प्रतीत होता है। सचमुच उनका हिन्दी भाषा के व्याकरण का ज्ञान इतना तलस्पर्शी तथा विशाल था कि खड्गविलास के स्वामी बाबू रामदीन सिह को हिन्दी की समुन्नति के लिए सरयूप्रसादजी से व्याकरण-ग्रन्थ लिखने के लिए विशेष आग्रह करना पडा था, परन्तु पण्डितजी केवल ५५ वर्ष के अल्प वय में दिवगत हो गये और उनका यह कार्य पूरा नही हो सका। सवत् १९६८ में ओंकार प्रेस, प्रयाग से रघुवश का पद्यानुवाद पण्डितजी के निधन के ११ वर्षों के बाद उनके जेठे पुत्र प० मधुमगल मिश्रजी के प्रयत्न से प्रकाशित हो सका।

पण्डितजी के पुत्र

भगवान् की दया से पण्डितजी के चार पुत्र चिरजीवी बने और इन चारों का सम्बन्ध शैक्षणिक संसार से ही आद्योपान्त बना रहा। **पं० मधुमंगल मिश्रजी** पण्डितजी के जीवित पुत्रों में सबसे बड़े थे। उन्होने अपने अनुजो की शिक्षा-दीक्षा पर विशेष अनुराग रखा और उन्हें सुशिक्षित बनाने में पूरा योगदान दिया। ये मध्यप्रदेश में स्कूल के इन्सपेक्टर थे। इनके पुत्र पं० विद्याभूषणजी हिन्दी के वरिष्ठ अध्यापक थे तथा हिन्दी पढ़ाने के लिए मेक्सिको में भारत सरकार के द्वारा भेजे गए थे। इसी वर्ष १९६१ ई० मे इनका निधन हुआ है।

पण्डितजी के द्वितीय पुत्र **पं० हरिमंगल मिश्र** का जन्म काशी के समीपस्थ छोटा मिर्जापुर नामक ग्राम में पौष कृष्ण प्रतिपदा वि० स० १९३३ (२ दिसम्बर १८७६ ई०) में हुआ। इनकी आरम्भिक शिक्षा जबलपुर में 'जनाना मिशन स्कूल' तथा तत्पश्चात् 'हितकारिणी पाठशाला' में हुई। पिताजी के प्रयाग चले जाने पर संस्कृत का अध्ययन 'धर्मज्ञानोपदेश पाठशाला' में तथा अंग्रेजी का अध्ययन 'म्यूर सेन्ट्रल कॉलेज' में हुआ जहाँ से इन्होंने १९५८ सं० (१९०१ ई०) में बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की तथा संस्कृत में प्रथम स्थान पाने के कारण

प्रमाण पत्र

Benares
7th March 1873

I have great pleasure in certifying that I have known the bearer of this, [illegible], for three years, while I had charge of the Sanskrit Depart. of Jay Narain College. During that time he was a pupil of the 1st Class and held a scholarship for part of the time. He always gave me great satisfaction by his good behaviour, diligence and abilities. His knowledge of Sanskrit Grammar and of Mathematics is very considerable, and he possesses remarkable facility in writing Sanskrit verse. Besides the works read by him in College, he has studied privately several works on Jyotish & Nyaya Shastra. [I shall] be glad to hear that he has found employment in the Educational Depart. and have no hesitation in recommending him to the authorities.

A. F. Rudolf Hoernle
Prof. Sanskrit
Jay Narain College
Benares.

P.S. I think he is fully capable of teaching Sanskrit to candidates of [illegible]

जयनारायण कालेज के संस्कृत विभाग के विभागाध्यक्ष डॉ० रुडाल्फ हॉर्नली द्वारा पं० सरयूप्रसाद मिश्र को दिया गया संस्तुति पत्र।

इन्हे सुवर्ण पदक तथा २०० रुपये पुरस्कार मिला। सस्कृत एम० ए० के लिए इन्होने गगाधर शास्त्री से काव्यप्रकाश एव दामोदरलाल गोस्वामी से नैषध तथा वेदान्त का अध्ययन किया तथा प्रथम श्रेणी मे पास किया। पत्र-पत्रिकाओं मे सस्कृत भाषा तथा साहित्य के विषय मे पचासो लेख लिखे। प्रयाग के नार्मल स्कूल मे भूगोल तथा इतिहास के अध्यापक रहे। छात्रो को सदा सौहार्द तथा साहाय्य प्रदान किया। इनके पाण्डित्य के सूचक तीनो ग्रन्थ प्रकाशित है—(१) **प्राचीन भारत** (यह शोधपूर्ण इतिहास ग्रन्थ है जिसमे मुख्यतः पुराणो की ऐतिहासिक सामग्री का पहली बार उपयोग किया गया है), (२) भवभूतिविलास, (३) **काव्यप्रकाश का हिन्दी अनुवाद** (जो ग्रन्थ का प्रथम भाषानुवाद है)। ४ अप्रैल १६३१ ई० मे इनका निधन हुआ। मिश्रजी के अन्य दो पुत्र भी अग्रेजी स्कूलो मे शिक्षक का काम करते थे।



२३

पण्डित रामशास्त्री तैलंग

(आस्पद—मानवल्ली, उपाधि—महामहोपाध्याय)

पं० रामशास्त्री म० म० पं० गंगाधर शास्त्री के छोटे भाई थे। नृसिंह शास्त्री की प्रथम पत्नी से पं० गंगाधर शास्त्री का जन्म हुआ। परन्तु प्रथम पत्नी के देहावसन के पश्चात् नृसिंह शास्त्री ने दूसरा विवाह किया। इसी विवाह से रामशास्त्री तथा लक्ष्मण शास्त्री की उत्पत्ति हुई। रामशास्त्री बालकपन में ही प्रतिभा सम्पन्न थे। उपनयन संस्कार होने के बाद इन्होंने कृष्णयजुर्वेद का विधिवत् अध्ययन किया। अपने पिता से ही इन्होंने काव्य-शास्त्र का अनुशीलन किया। इसके पश्चात् उस युग के महावैयाकरण और 'परिभाषेन्दुशेखर' की हैमवती टीका के यशस्वी लेखक पं० यागेश्वर ओझा से व्याकरण में सिद्धान्तकौमुदी का अध्ययन किया। इसके अनन्तर पं० बालशास्त्री से व्याकरण के टीकाग्रन्थ, महाभाष्य, धर्मशास्त्र, मीमांसा तथा वेदान्त का सम्यक् अनुशीलन किया। अपने पिता की अनुकम्पा से इन्होंने साहित्य शास्त्र का गम्भीर तथा तलस्पर्शी स्वाध्याय किया।

साहित्य शास्त्र में आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण करके इन्होंने अंग्रेजी भाषा का भी सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया। अनेक वर्षों तक अपने घर पर ही ये छात्रों को पढ़ाया करते थे। प्राचीन ग्रन्थों के संशोधन एवं प्रकाशन के कार्य में ये बड़ी निपुणता के साथ व्यस्त रहते थे। सन् १८८८ ई० में काशिराजकीय संस्कृत महाविद्यालय में साहित्य तथा दर्शन के अध्यापक के रूप में इनकी नियुक्ति हुई। लगातार ३४ (चौंतीस) वर्षों तक इस पद को सुशोभित करते हुए इन्होंने सन् १९२२ ई० में स्वयं इस पद का परित्याग कर अवकाश ग्रहण कर लिया। इसके पश्चात् तीन वर्षों तक ये जीवित रहे। सन् १९२५ ई० में ६५ वर्ष की आयु में काशी में ही इनका देहावसान हुआ।

कालेज में ये विशेषतः साहित्य का अध्यापन करते थे। साहित्य शास्त्र की इनकी व्युत्पत्ति गम्भीर एवं बहुमुखी तो थी ही, अध्यापन की कला में भी ये सफल सिद्ध हुए। इनके द्वारा पढ़ाये गये छात्रों की संख्या काफी लम्बी है। ग्रन्थों के अध्यापन के साथ ही साथ ये काव्यरचना का भी विशेष शिक्षण दिया करते थे। ये स्वयं ही प्रतिभा-सम्पन्न, कमनीय काव्य कला के उपासक, सुकवि थे। फलतः इनकी शिक्षा का प्रभाव छात्रों के ऊपर विशेषरूप से पड़ता था। काव्यकला में निपुणता प्राप्त कर सुन्दर कविता के प्रणयन में चतुर इनके शिष्यों की संख्या अत्यधिक है।

ग्रन्थरचना

पं० रामशास्त्री ने अनेक काव्यग्रन्थों की रचना की है जिनसे इनकी वैदर्भी शैली का स्पष्ट पता चलता है। इन ग्रन्थों में से बहुत से स्तोत्र हैं जिनका प्रकाशन 'सूक्ति-सुधा' नामक संस्कृत पत्रिका में हुआ है। इनके प्रकाशित ग्रन्थों में 'षड्ऋतुविलास', 'शिवाश्वघाटी', 'श्रीगीतिरत्न' ये तीन काव्य अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन काव्यों की मधुर रचना, वैदर्भी रीति तथा



पं० रामशास्त्री तैलंग

कल्पना-पटुता को देखकर कौन ऐसा विद्वान् होगा जो रामशास्त्री को अपने समय का एक कमनीय महाकवि मानने के लिए उद्यत न होगा। इनके द्वारा सम्पादित तथा टिप्पणी एव भूमिका से विभूषित अनेक ग्रन्थ विजयनगर ग्रन्थमाला, 'चौखम्भा सस्कृत सीरीज' तथा 'बनारस सस्कृत सीरीज' ग्रन्थ-माला मे प्रकाशित हुए है। इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ लक्ष्मीसहस्र नामक काव्य की 'अवतरणिका' नि श्रेणिका टीका है जो चौखम्भा सस्कृत सीरीज में प्रकाशित हुई है (१९६३ विक्रमी = १९०६ ई०)। वेकटाध्वरि द्वारा रचित यह स्तोत्ररत्न श्लेष तथा यमक अलकारो से सवलित होने के कारण अत्यन्त कठिन माना जाता है। इसके भीतर प्राचीन टीका के सहारे भी छात्रो का प्रवेश पाना नितान्त दुष्कर था। अत इस दुर्बोध ग्रन्थ को सुबोध बनाने के लिए शास्त्रीजी की सुबोधिनी टीका नितान्त उपयोगी है। यही इनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्याख्या रचना है।

प० रामशास्त्री को सरकार ने 'महामहोपाध्याय' की पदवी से विभूषित किया था। काशी की भारतधर्ममहामडल सस्था ने इन्हे 'साहित्य सुधाकर' की पदवी प्रदान की थी।

चरित्र

युवावस्था मे ही अपनी धर्मपत्नी और पुत्र का देहावसान हो जाने के कारण ये ससार से विरक्त तथा उदासीन होकर ऋषियो के समान जीवन व्यतीत करने लगे थे। इनके जीवन मे कथनी करनी मे कोई अन्तर नही था। शास्त्रो मे तपस्वी लोगो के लिए जिन नियमो तथा आचरणो का विधान बतलाया गया है उनका ये बडी आस्था के साथ पालन करते थे। सदाचार के पालन मे इनकी निष्ठा, नियम के पालन मे दृढ़ता, तपस्वी जीवन का निर्वाह—ये ऐसे गुण है जो मनुष्यो मे दुर्लभ तथा विरल होते है। ये गुण इनमे युवावस्था से ही विद्यमान थे परन्तु धर्मपत्नी की मृत्यु के बाद इनकी निष्ठा और अधिक बढ़ गई। इनकी सबसे बडी विशिष्टता समय की पाबन्दी थी जो सस्कृत के पण्डितो मे बहुत कम पाई जाती है। इन्हे समाचारपत्र पढ़ने का बडा शौक था। अत ये नित्य प्रति अपने घर से पैदल ही कारमाइकेल लाइब्रेरी मे प्रतिदिन ठीक समय से जाया करते थे। इनकी समय की पाबन्दी देखकर लोग चकित हो जाते थे। प० रामशास्त्री को 'मर्यादापण्डित' कहना कुछ अनुचित नही होगा क्योकि इन्होने अपने जीवन-काल मे स्पष्टत दिखला दिया कि शास्त्रो की मर्यादा की रक्षा कैसे की जाती है।

काव्यरचना

प० रामशास्त्रीजी बडे ही सहृदय व्यक्ति थे तथा काव्य के निर्माण मे अलौकिक प्रतिभा के धनी थे। इनकी कविता मे सौन्दर्य तथा चारुता के साथ शब्द-सौष्ठव का अनुपम मेल है। दु ख के साथ कहना पडता है कि इनकी कविताओं के 'सूक्तिसुधा' के भीतर निबद्ध होने के कारण उनका उतना प्रचार नही है जितना होना चाहिए। 'सुक्तिसुधा' के अक भी आजकल दुष्प्राप्य है। अतएव रामशास्त्रीजी की कविता के उदाहरण प्रस्तुत करने मे लेखक को विशेष अन्वेषण करना पडा है।

सस्कृत के काव्योचित शब्दो के ऊपर इनका बड़ा महनीय प्रभुत्व था। उचित शब्दो का चयन ये बडी मार्मिकता से किया करते थे। ये काव्य कला के शिक्षणार्थी अपने छात्रो से कहा करते थे—"कविता करते समय एक भाव के प्रकट करने के लिए अनेक शब्द हाथ जोडकर सामने खड़े होते है। तब उनमे से समुचित शब्द का चयन कर अन्य शब्दो को हठात् आ जाने से हम लौटा दिया करते है। तुम लोगो को एक-दो शब्दो से सन्तोष न करना चाहिए, अपितु अनेक शब्दो को उपस्थित कर प्रसगानुसार उचित शब्द को ही ग्रहण करना चाहिए।

अन्य शब्दो को लौटाते समय उन्हे तिरस्कृत न कर आश्वासन देना चाहिए कि आप लोग धैर्य रखे। जब प्रसग अनुकूल होगा तब आप लोगो को बैठने के लिए स्थान मिलेगा।" इनके छात्र इन उपदेशो का कितना पालन करते थे, यह तो ठीक-ठीक नही कहा जा सकता, परन्तु शास्त्रीजी तो इसका सर्वाशत पालन करते थे और इसीलिए इनकी कविता में शाब्दी चारुता अपने पूर्ण वैभव के साथ विराजती है।

सूक्तिसुधा के विभिन्न अको मे इनकी कविता प्रकाशित होती रही है जिनमे अधिकाश का विषय ऋतुवर्णन है। वर्षाविलास (३६ पद्य), ग्रीष्मविलास (४६ पद्य), वसन्तविलास (५५ पद्य) तथा शरद्विलास (३६ पद्य)—ये विलासचतुष्टय महाकवि कालिदास के 'ऋतुसहार' की स्मृति बलात् दिलाते है। शब्द सौष्ठव के साथ अलकार की मनोरम योजना रसिकजनो का हृदय हठात् आकृष्ट करती है।

कतिपय दृष्टान्त प्रस्तुत किये जा रहे है—मेघ के गर्जन पर कवि की कल्पना है कि वह अपने गर्जन के द्वारा प्रभा से चमचमाती प्रियतमा विद्युत् को डॉट रहा है कि सुवर्ण कान्तिमयी ललना का अनुकरण कर अपने को उपहास का पात्र मत बनाओ

सौवर्ण-वर्णमद-चूर्णन-दक्ष-कान्ति
बाले ! मुधैव भवती प्रविडम्बयन्तीम् ।
शम्पां प्रकम्प्रवपुषं वनितां स्वकीया
गर्जन् नु तर्जयति वाग्धिरोऽयमद्य ॥

वर्षाकालीन भूमि वासकसज्जा नायिका के समान शोभनीय रम्यता धारण कर रही है। देखिए—

जाती-लता-गलित-पुष्पमयं सिताभ
तल्पं प्रसार्य, मणिकीटमयान् प्रदीपान् ।
सन्दीप्य, नीरद-समागम-काङ्क्षिणी भू-
राभाति रम्यतनु ! वासकसज्जितेव ॥

जेठ की चिलचिलाती दुपहरी मे छायादार पेडो के नीचे बैठकर, सातू पीने वाले सन्तुष्ट पान्थजन, कल्पवृक्ष के तले बैठकर अमृत पीने वाले देवताओं का अनुकरण नही कर रहे क्या ? अवश्य कर रहे है—

मूले तरोर्गलितभूमितले निविष्टा.
सक्तून् निपीय सरसांस्तरसा यथेच्छम् ।
सत्कल्पवृक्षतलगान् अमृतस्य तृप्तान्
पान्थाश्चिरं सुरवराश्नु विडम्बयन्ति ॥

वसन्त मे पचम मे कूकने वाली कोकिल को कवि वैदिक पुरोहित के रूप में देख रहा है जो मधु (चैत्र) तथा माधवी (लता) के स्वयवर के उत्सव मे सस्वर वैदिक मन्त्रो का पाठ कर रहा है। भाव बहुत ही सुन्दर तथा सामयिक है—

श्रेयान् वरो मधुरयं नवमाधवीयं
रम्या स्वयंवरवधूरनयोः किमद्य ।
मन्त्रान् पठन् स्वरमयांश्च पिकद्विजोऽसौ
वैवाहिकं विधिभरं कुरुते पुरोधाः ॥

वसन्त मे खिले हुए फूलो के द्वारा सम्पन्न रमणीय वेष को धारण करने वाली वनी (वनभूमि) वनिता के प्रभूत सौन्दर्य को धारण कर रही है। फूलों के रगो पर ध्यान दीजिए—

शाटी सुपाटलमयी परिधाय चारु-
माच्छाद्य किंशुकसुमप्रकर निचोलम् ।
चोलं तमालमतिनीलमियं दधाना
भूयो विराजति वनी वनिता नताङ्गी ॥

श्री रामशास्त्रीजी का कोमल हृदय देवी देवताओं की भव्य स्तुति के समय भक्ति से नितान्त आर्द्र हो जाता था और इनकी लेखनी कोमल-कान्त पदावली के सर्जन मे कथमपि हतप्रभ नही होती थी। 'सूक्तिसुधा' मे देवस्तुति के प्रसग मे इनकी तीन कविताएँ प्रकाशित है—(१) **सूर्ययाचना,** (२) **गौरीस्तव.** तथा (३) **शिवाश्वघाटी।** इन स्तुतियो के पठनमात्र से कवि की ललित लेखनी का लावण्यमय चमत्कार पाठकों के हृदय मे सद्य स्फुरित हो जाता है। सूर्य की स्तुति मे कवि कहता है-

संसार-घोरसागर-तरणि. कल्याणतेजसामरणि. ।
नि श्रेयसस्य सरणिर्वितरतु करुणामयी दृश तरणि ॥

शब्द शय्या की पेशलता तो यहाँ अकथनीय है। 'तरणि' शब्द का द्व्यर्थक प्रयोग तथा अरणि एव सरणि के मजुल सामरस्य का सयोग सच्चे कवि का सद्य परिचायक है।

'गौरीस्तव' का भगवती मीनाक्षी की प्रशसा मे उपन्यस्त यह पद्य कितना मधुर एव आवर्जक है-

नानादीनानाथजनाना दयमाना
दूनाना नो मानस-शान्ति विदधानाम् ।
कीनाशीय मानमनार्यं विधुनाना
मेनाकन्या मीनसमाक्षीमहमीड ॥

इसी स्तव के एक अन्य मञ्जुल पदावली से अन्वित पद्य की छटा देखिए –

कुन्दामन्दाऽहकृति - निन्दाकरदन्ती,
वन्दारुणान्दारुणामन्ध्यन्दमयन्तीम् ।
आनन्दान्दाम नितान्त प्रथयन्ती,
स्कन्दाऽम्बा तान्दारितपीडामहमीडे ॥

यहाँ रमणीय शब्दयोजना के सग मे प्रसाद गुण का विन्यास सातिशय मधुरिमा से सिक्त है।

श्री रामशास्त्री जी की **शिवाश्वघाटी** तो अपनी शैली मे निबद्ध स्तुतिकाव्य का नितान्त कोमल निदर्शन है। भगवान् शकर की यह श्रोतव्य स्तुति 'अश्वघाटी' मे है जिसके प्रत्येक चरण मे २२ वर्ण होते है और सात सात वर्णोंपर दो यतियाँ रहती है और अन्त मे आठ वर्ण होते है। आदि के तथा यति के अनन्तर वाले शब्दो के द्वितीय अक्षर पर नियमत अनुप्रास रहता है। इसी नियन्त्रण के कारण अश्वघाटी की रचना शब्दवैदुषी की प्रतिमा मानी जाती है। अब शास्त्री जी की इस विशिष्ट शब्दयोजना से समन्वित ३६ पद्यो वाली रचना का आनन्द लीजिए—

आरम्भिक पद्य शिवजी के स्वरूप का परिचायक है—

वन्दामहे कमपि वन्दारुलोकमनु मन्दारपादपवरं
वृन्दारकेन्द्रसुखकन्दायितं विनतनन्दात्मजस्तुतपदम् ।
कुन्दावदातमहिवृन्दाञ्चितं विमलमन्दाकिनीभृतजटं
तन्दारितान्धकमनिन्दास्पदं शिरसि सन्दानितेन्दुमनघम् ॥

इस पद्य के प्रत्येक चरण मे 'न्द' की आवृत्ति ऊपर लिखित नियम के अनुसार तीन-तीन बार है। इस प्रकार पूरे पद्य मे 'न्द' की आवृत्ति १२ बार हुई है।

त्वं जात भूरिगुणपुञ्जायितोऽपि
किमु गञ्जारतो भवसि भोः।
कञ्जाभिराममुख ! किं जायसे युवति-
शिञ्जारवेषु चपलः ?
गुञ्जारवानुगतकुञ्जासु भूमिषु च
किञ्जारतां चरसि वा ?
खञ्जायितस्य तव सञ्जायतामशुभ-
सञ्जारणाय स शिवः॥

इस रमणीय पद्य का आशय यही है कि तुम उत्पन्न होने वाले अनेक गुणो के पुञ्ज होने पर भी मदिरागृह (गञ्जा, शराबखाना) का सेवन क्यो करते हो ? कमल के समान सुन्दर मुख वाले सज्जन, युवतियो के नूपुर की झकार सुनकर चपल क्यो हो जाते हो ? गुञ्जारव से अनुगतकुञ्ज वाली भूमि पर तुम जार का आचरण क्यो कर रहे हो ? तुमने अपने आचरण से परलोक को खञ्ज बना दिया है—तुम्हारे लिए परलोक की गति कुण्ठित हो गई है। भगवान् शिव तुम्हारे अशुभ को दूर करने के लिए उद्यत हो जायँ। यही कवि की प्रार्थना है। इस पद्य मे 'ञ्जा' की प्रतिचरण तीन-तीन बार आवृत्ति है।

वाचाटमुख्यमतिनीचाशयं
व्रजसि काचाशया कुनृपति
मोचाभया सरसवाचा स्तुवन्
भवसि वाचाल ! तं लघुतमः।
आचारहीन ! किमनूचानता
भवति ते चाटुभिः फलवती ?
त्वं चापलं जहिहि याचाभयं
शिवमथाऽऽचान्तकामयशसम्॥

कवि किसी आचरणहीन व्यक्ति के आचरण की निन्दा करता हुआ शिव की उपासना करने के लिए उसे उपदेश दे रहा है—तुम्हारा आचरण कितना निन्दनीय है। तुम कॉच (तुच्छ वस्तु) के पाने की इच्छा से बकवादी, अत्यन्त नीच भावना वाले, बुरे राजा के पास जाते हो ? वाचाल ! अपनी केला के समान मधुर सरस वाणी से उस राजा की स्तुति करते हुए तुम क्या नीचतम नही बन जाते ? तुम्हारा शास्त्रों का अध्ययन क्या उस राजा की चाटुकारिता करने से फलवान् बनता है ? नही, कभी नही। तुम चपलता का परित्याग कर दो और कामदेव के यश को आचमन कर जाने वाले (काम को जला देने से), निर्भय विहार करने वाले, शिवजी की शरण मे शीघ्र ही चले जाओ, तभी तुम्हारा कल्याण है।

महामहोपाध्याय रामशास्त्रीजी इतने मितभाषी थे कि इनकी गम्भीर मुद्रा के दर्शक को ऐसी ललित कविता के स्रष्टा होने की बात कभी ध्यान में ही नही आ सकती थी। तथ्य तो यह है कि इनकी प्रतिभा दोनों प्रकार की थी—कारयित्री तथा भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा का उदाहरण पूर्वोक्त काव्यरचना है और भावयित्री प्रतिभा का दृष्टान्त 'लक्ष्मीसहस्र' की लघु व्याख्या है। काव्य की रचना में जैसे ये चतुर कवयिता थे, उसकी अध्यापना तथा आलोचना मे भी ये वैसे ही प्रवीण आलोचक थे।

पण्डित नारायण शास्त्री खिस्ते

(आस्पद—खिस्ते; उपाधि—महामहोपाध्याय)

पण्डित नारायण शास्त्री खिस्ते का जन्म काशी में ही एक प्रतिष्ठित महाराष्ट्रीय देशस्थ ब्राह्मण कुल में १८८३ ई० में हुआ था। इनके पिता का नाम श्रीभैरव नायक खिस्ते था। सम्भवत. पिता की छत्रच्छाया इनके ऊपर अधिक दिनों तक न रह सकी। काशी के ही एक महाराष्ट्र विद्वान् बाबा शास्त्री इन्हे अपनी छत्रच्छाया में रखकर आरम्भिक शास्त्रो का अध्ययन कराने लगे। बाबा शास्त्रीजी गगाधर शास्त्री के शिष्यों में अन्यतम थे। बड़े सुबुद्ध वैयाकरण थे। उनकी देखरेख में खिस्तेजी ने सस्कृतविद्या के अध्ययन मे विशेष उन्नति की।

सस्कृतकालेज में महामहोपाध्याय रामशास्त्रीजी तैलग उस समय साहित्यशास्त्र की गद्दी को सुशोभित कर रहे थे। श्रीखिस्तेजी ने उन्ही से साहित्यशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया था तथा काव्यरचना मे कुशलता उन्ही के प्रसाद से इन्हे प्राप्त हुई। रामशास्त्रीजी बड़े ही योग्य अध्यापक थे। साथ ही साथ काव्यरचना मे बड़े ही निष्णात थे। इन दोनों गुणों को खिस्तेजी ने उन्ही से प्राप्त किया। महामहोपाध्याय गगाधर शास्त्रीजी के सम्पर्क में आने का भी इन्हें अवसर प्राप्त हुआ था। इन गुरुजनों के प्रसाद से इनकी साहित्य विद्या चमक उठी। साहित्य के अध्यापन में ये जितने कुशल थे, उतने या उससे अधिक ये कुशल थे सस्कृत कविता की रचना में। इनका निधन काशी मे ही १३ अप्रैल १९६१ ई० में हुआ।

अध्ययन

पण्डित नारायण शास्त्री खिस्ते ने इस प्रकार महामहोपाध्याय रामशास्त्रीजी से साहित्यशास्त्र का विधिवत् अध्ययन कर सस्कृत कालेज से 'साहित्याचार्य' की पदवी प्राप्त की (१९१५ ई०)। नवीन विषयों की भी अभिज्ञता प्राप्त करने की स्पृहा से इन्होंने अनेक प्राचीन शास्त्रों एवं नवीन विषयों का भी अध्ययन गुरुपरम्परा से किया। युवक पण्डितों में प्राचीन शास्त्रीय प्रौढ़ि के सम्पादन की कामना से, सस्कृत कालेज के अध्यक्ष डॉ० वेनिस साहब अपनी ओर से एक विशेष कक्षा ही चलाया करते थे जिसमें आचार्य-परीक्षोत्तीर्ण जिज्ञासु छात्रों को वे प्राचीन शास्त्रो में न्याय-वैशेषिक की तथा नवीन विषयों में प्राचीन इतिहास की शिक्षा दिया करते थे। इस कक्षा में व्याकरणाचार्य पं० रामाज्ञा पाण्डेय तथा व्याकरणाचार्य पं० अम्बिकाप्रसाद उपाध्याय के साथ नारायण शास्त्री भी पढ़ते थे तथा शास्त्रीय चिन्तन एवं अनुशीलन किया करते थे। सस्कृत तथा अंग्रेजी कालेज के प्रिंसिपल होने के कारण वेनिस साहब पर कार्याधिक्य कम न था, परन्तु विद्या की अभिरुचि उन्हें इतनी तीव्र थी कि वे इन पण्डितों के शिक्षण पर विशेष आग्रह रखते थे और समय निकाल कर पढ़ाया भी करते थे। वे सिखाते थे कि प्राचीन शास्त्रों में वर्णित सिद्धान्तों को गम्भीरता से समझने की आवश्यकता है। यदि कोई तथ्य अपनी समझ में नहीं आ रहा है, तो उसे जानकार व्यक्तियों से जानने-समझने की जरूरत होती है।



पं० नारायण शास्त्री खिस्ते

यों ही उसे अनपेक्षित समझ कर उपेक्षित तथा तिरस्कृत करना सर्वथा अनुचित है—अन्याय है।

नारायण शास्त्री-सम्बन्धी एक समय की घटना का परिचय ही उनके सतीर्थ्य प० अम्बिकाप्रसाद उपाध्यायजी ने लेखक को इस प्रकार दिया था—कक्षा मे न्याय का प्रसग चल रहा था। डॉ० वेनिस साहब के तर्क का, उन्ही के ये विद्वान् शिष्य अपनी युक्तियो से, खण्डन कर रहे थे। उसी समय डॉ० वेनिस ने न्याय की गद्दी पर विराजमान महान् नैयायिक प० जीवनाथ मिश्र को इस कक्षा मे बुलाया और अपना सन्देह निराकरण के लिए उनके सामने रखा। मिश्रजी ने उत्तर दिया, शास्त्र की बात समझायी, परन्तु बात जमी नही, सन्देह का निवारण हो नही सका। उनके चले जाने पर डॉ० वेनिस ने कहा कि मिश्रजी की पद्धति से हम लोगो को विषय समझने का उद्योग करना चाहिए। समझने एव समझाने की अपनी पद्धति को कुछ समय के लिए दूर रखना चाहिए। तभी शका का निवारण हो सकता है, अन्यथा नही। दूसरे दिन भी नैयायिकजी बुलाये गये और पूर्वदिन के समान ही उनका प्रतिपादन तथा विषयविन्यास रहा, परन्तु आज उनका उत्तर हृदयगम हो सका और उत्थापित शका का समाधान बड़ी शीघ्रता से हो गया। कारण यह था कि पण्डित-छात्रो ने उनकी पद्धति से विषय को आज हृदयगम किया। इतना ही नही, डॉ० नार्मन साहब भी प्राकृत, पालि एव भाषाविज्ञान की कक्षा लिया करते थे। इन कक्षाओं के फल-स्वरूप इन आचार्यपरीक्षोत्तीर्ण छात्रो के मानस क्षितिज के विस्तार का ज्ञातव्य विषयो के क्षेत्र का एव पाश्चात्त्य दार्शनिको द्वारा निर्णीत तथ्यो का ज्ञान सरलता से सम्पन्न हो जाता था। इन कक्षाओं मे शिक्षा प्राप्त करने से नारायण शास्त्रीजी प्राचीन शास्त्री होने के अतिरिक्त एक सामयिक तथा व्यावहारकुशल पण्डित हो गये।

अध्यापन

अध्ययन समाप्त करने के बाद ये सरस्वती-भवन के हस्तलिखित विभाग के अध्यक्ष बनाये गये और उस पद पर इन्होने बडी योग्यता के साथ अनेक वर्षों तक कार्य किया। उस समय प० गोपीनाथ कविराज कालेज के प्रिंसिपल थे। उन्ही की देखरेख मे इन्होने प्राचीन दुर्लभ ग्रन्थो का सम्पादन कर उन्हे प्रकाशित किया। सन् १९४६ ई० मे महामहोपाध्याय की उपाधि से ये सम्मानित किये गये। तन्त्रशास्त्र के ये देश-प्रसिद्ध विशेषज्ञ माने जाते थे। ये भगवती त्रिपुरा सुन्दरी के गम्भीर आराधक तथा उपासक थे। सुनते है कि ताड़केश्वर मन्दिर के मुकदमे में तन्त्रसम्बन्धी मान्यता एव सम्मति के लिए जो न्यायिक आयोग कलकत्ता से काशी आया था उसमे इन्होने ४० दिनो तक अपनी साक्षी दी थी। आपका डॉ० वेनिस के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था ही। विदेश से जो पाश्चात्त्य विद्वान् सस्कृत के अध्ययन के लिए काशी आते थे उनमें से अनेक विद्वानो को इन्होने पढ़ाया था। विदेश मे आपके शिष्यों में अमेरिका के प्रोफेसर ब्राउन (पिनसेलवानिया विश्वविद्यालय) तथा भाषाशास्त्र के ज्ञाता डॉ० एकगरटन (येल विश्वविद्यालय) उल्लेख्य है। आपने सरल सस्कृत मे मार्मिक कहानियाँ भी लिखी है। सस्कृत में आप द्वारा लिखित अनेक ग्रन्थ है तथा कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल की नवीन टीका आपने लिखी है। काव्यमीमासा की भी आपने एक प्रामाणिक टीका लिखकर प्रकाशित करायी थी। हिन्दी मे भी आपके अनेक शोधमय लेख प्रकाशित है।

सरस्वती-भवन का संक्षिप्त परिचय

गत शताब्दी के अन्तिम चरण मे ही सस्कृत के दुर्लभ ग्रन्थो के हस्तलेखो की खोज का काम सरकार के आदेश से किया जाने लगा। काशिराजकीय विद्यालय (सस्कृतकालेज) मे अनेक दुर्लभ हस्तलेखो का सग्रह धीरे धीरे होने लगा। परन्तु उनके सग्रह की सुव्यवस्था का नितान्त अभाव था। १२ जनवरी १९०६ ई० को बनारस के कमिश्नर श्री डकन बेली के निवासस्थान पर आयोजित सभा मे निश्चय किया गया कि ऐसे पुस्तकालय का निर्माण किया जाय जिसमे राजकीय सस्कृतमहाविद्यालय द्वारा सगृहीत बहुमूल्य हस्तलिखित ग्रन्थो का सग्रह किया जाय और जहाँ इन ग्रन्थो को जिज्ञासु जन सुगमतापूर्वक देख सके। इस ग्रन्थागार को प्रिन्स आफ वेल्स के काशी-आगमन का स्मारक बनाने का भी निश्चय किया गया। तदनुसार १६ नवम्बर १९०७ ई० को प्रान्त के सर्वोच्च अधिकारी सर जान हिबेट के द्वारा वर्तमान सरस्वती-भवन का शिलान्यास किया गया तथा निर्माण पूरा हो जाने पर डाक्टर वेनिस के शासनकाल मे ही ६ फरवरी १९१४ ई० को इसका विधिवत् उद्घाटन किया गया। उसके पूर्व ही प्रथम पुस्तकालयाध्यक्ष प० सुधाकर द्विवेदी के अध्यापक पद पर नियुक्त होने के बाद यह रिक्त पद प० विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी को दिया गया। सरस्वती भवन मे हस्तलेखो का विशाल सग्रह करने मे द्विवेदीजी का कार्य सदा आदर के साथ स्मरण किया जायेगा।

पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी का जन्म १८५० ई० के नवम्बर मास मे (मार्गशीर्ष कृष्ण त्रयोदशी) काशी के गोवर्द्धनसराय मुहल्ले मे हुआ था। पिता का नाम था श्री 'देवेन्द्रदत्त द्विवेदी'। द्विवेदीजी ने श्री कैलासचन्द्र शिरोमणि से न्यायशास्त्र का विधिवत् अध्ययन कर बडी दक्षता प्राप्त की। दुर्लभ हस्तलेखो के सग्रह करने मे इनकी बुद्धि बडी विलक्षण थी। डाक्टर वेनिस इनका बहुत आदर सत्कार करते थे और पुस्तक सग्रह करने का कार्य इनके अधीन कर दिया था। द्विवेदीजी ग्रन्थ का सग्रह ही नही करते थे अपितु प्रौढ ग्रन्थो का (जो सर्वथा अलभ्य थे), सुन्दर सस्करण भी काशी से ही प्रकाशित कराते थे। इनके परिश्रम का परिणाम था कि चौखम्भा सस्कृत सीरीज मे इनके द्वारा सम्पादित **तार्किक रक्षा (वरदराज); न्यायलीलावती (वल्लभ), प्रशस्तपादभाष्य (प्रशस्तपाद), ब्रह्ममीमासा-भाष्य (निम्बार्काचार्य), साख्य-सग्रह (क्षेमेन्द्र)**; आदि दुर्लभ ग्रन्थ बडी विशुद्धता के साथ पहली वार प्रकाशित हो सके थे। ये ताम्रपत्रो के लेख भी बडी सुगमता से पढ़ने मे चतुर थे। न्यायवार्तिक की विस्तृत भूमिका द्विवेदीजी के ऐतिहासिक अनुसधान तथा नैयायिक तर्क वितर्क की जानकारी देने मे सर्वथा समर्थ है। इसी विद्वत्ता के कारण सरकार ने आपको महामहोपाध्याय की उपाधि से सम्मानित किया था।

अनेक सस्थाओं के द्वारा आप सम्मानित किये गये थे। रायल एशिआटिक सोसाइटी ने इनको अपना फेलो बनाकर विशेष सम्मान दिया था। ७८ वर्ष की आयु मे २५ सितम्बर १९२१ ई० मे इन्होने इसी काशी नगरी मे महाप्रयाण किया। प० गोपीनाथ कविराजजी द्विवेदीजी के अवकाश ग्रहण करने पर सरस्वती-भवन के पूर्णरूपेण अध्यक्ष हुए और इनके अनन्तर प० नारायण शास्त्री खिस्ते ने यह पद ग्रहण किया।

ग्रन्थ—पण्डित नारायण शास्त्री खिस्ते ने सरस्वती-भवन पुस्तकालय मे हस्तलेख विभाग के अध्यक्ष पद को सुशोभित करते हुए अनेक नवीन ग्रन्थो को सम्पादित किया। ये ग्रन्थ शेषकर सस्कृत काव्य से सम्बन्धित है जो सरस्वती-भवन सीरीज तथा चौखम्भा विद्याभवन, राणसी से प्रकाशित है। परन्तु सम्पादक की अपेक्षा ये कवि ही अधिक थे। ये

कोमल कान्त-पदावली के रचयिता के रूप मे अधिक विख्यात है। वास्तव में ये कवि थे और अपने मन्तव्यो को पद्य के माध्यम से ढालने की कला में निपुण अभ्यासी थे। इनका सबसे उत्कृष्ट मौलिक काव्यग्रन्थ विद्वच्चरितपञ्चकम् है जो सरस्वती भवन टेक्स्ट सीरीज नं० २७ मे काशी से प्रकाशित हुआ है (१९२८ ई०)। यह काव्य चम्पूशैली मे लिखा गया है। इसमें सस्कृत के निम्नांकित पॉच विद्वानो के जीवनचरित अत्यन्त सरस तथा काव्यमय भाषा में विरचित है

(१) गगाधर शास्त्री, (२) कैलासचन्द्र शिरोमणि, (३) दामोदर शास्त्री, (४) शिवकुमार शास्त्री और (५) रामकृष्ण शास्त्री (तात्या शास्त्री)। इन्होंने इस ग्रन्थ मे इन पाँच विद्वानो के जीवनचरित लिखने के साथ ही साथ इनके द्वारा रचित ग्रन्थो का भी सक्षिप्त विवरण दिया है। इसके अतिरिक्त इन पण्डितो के प्रधान प्रधान शिष्यों का भी विवरण प्रस्तुत किया है। सस्कृत के विद्वानों के जीवनचरित के सम्बन्ध मे देववाणी में काव्य शैली में लिखित एव प्रकाशित सम्भवत यह प्रथम पुस्तक है।

प० नारायण शास्त्री भगवती त्रिपुरसुन्दरी के उपासक थे। देवी की इनकी उपासना बडी निष्ठापूर्ण होती थी। शारदा की कृपा से इनकी कविता मे चारुता, विचारो को विशद रूप मे प्रकट करने की क्षमता तथा नाना रसो से पेशल वाग्धारा की सम्पन्नता नितान्त आवर्जक है। इनकी शैली अधिकाशत वैदर्भी है परन्तु वर्ण्य विषय की विशिष्टता के कारण गौडी शैली के भी दर्शन होते है, जिसकी छटा निम्नांकित पद्य मे स्फुटित हो रही है---

भक्तौघप्रतिपालनाय कलिताकारा चिदेषा परा,
तारानायकशावकाङ्क-विलसद्-भाला विशालाकृतिः ।
काश्यां राजति काऽपि निस्तुलदयामूर्त्तेव शम्भोरियं,
चेतस्तुङ्गतुरङ्गबन्धनकुटी देवी परा सङ्कटा ॥

इस श्लोक मे सकटाजी की स्तुति की गई है, इसमे समस्त पदावली और गाढ़-बन्धता देखने योग्य है। एक और उदाहरण लीजिए

वर्षन्ती करुणारसं जलगताम्भोजोपमाभ्यां पुन-
र्नेत्राभ्यां प्रलयानलद्युतिमलीकस्थेन तेनोज्ज्वलाम् ।
सिन्दूर-प्रकरारुणीकृतशिरः-शीतांशु-पोतस्फुट-
ल्लक्ष्मीः काप्यधिकाशि राजति दयाम्भोधिः शिवा सङ्कटा ॥

परन्तु वास्तव मे शास्त्रीजी वैदर्भी रीति के ही प्रवीण कवि थे। इस शैली का जैसा निखार इनकी कविता मे पाया जाता है वैसा अन्य किसी शैली का नही। सरस्वती की सेवा मे परायण पण्डितो का यह वर्णन देखिए

गङ्गातीरतरङ्गसङ्गमवशात् पूतान्तरैर्गौरवं,
प्राप्तैः फुल्लसरोजसौरभवहैः वातैः सदा पावितम् ।
वैरिञ्चं भवनं विहाय सरसामत्रैव वाग्देवता-
मन्वग् यद्भिरिवर्षिभिर्बुधवरैरापूरित सर्वतः ॥

कविता के ऊपर लता का रूपक कितनी सुन्दरता तथा भव्यता के साथ यहाँ आरोपित किया गया है -

कामेशकल्पपादपमारूढा पुण्ड्रदण्डमवलम्ब्य ।
काचन कवितालतिका, ललिताकृतिरन्तरुल्लसतु ॥

अपने गुरु गगाधर शास्त्रीजी की गुण-गरिमा का वर्णन करते हुए खिस्तेजी ने लिखा है—

सा लोकव्यवहारधीरतिशेता, सा वस्तुमर्मज्ञता,
लोकाकर्षणकर्मठा द्युतिमयी दृष्टिश्च शम्पानिभा ।
काये सा लघुता निसर्गजनिता सा वाचि गम्भीरता,
सर्वं पण्डितपुङ्गवे गुरुवरे गङ्गाधरे संस्थितम् ॥

इनके अनुज प० **मुकुन्दशास्त्री खिस्ते** भी साहित्य के विशेष जानकार पण्डित थे। ये बड़े ही कुशल अध्यापक थे। अनेक वर्षों तक इन्होने स्याद्वाद विद्यालय (भदैनी, काशी) मे साहित्य का अध्यापन किया। तदनन्तर ये सस्कृतकालेज मे साहित्यशास्त्र के प्रधान पण्डित के रूप मे प्रतिष्ठित रहे। नारायण शास्त्रीजी के एकमात्र पुत्र श्री प० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते भी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् है। ये बहुत दिनो तक सस्कृतकालेज मे साहित्य की गद्दी पर विराजमान रहे। अभी हाल ही मे ये वहाँ से सेवा निवृत्त हुए है। इनकी भी काव्यरचना बड़ी प्रौढ, अभिराम तथा आवर्जक होती है। इन्होने भी कतिपय प्राचीन सस्कृतग्रन्थो का सुबोध सस्करण निकाला है। इनके मौलिक काव्यग्रन्थ पर हाल ही मे उत्तरप्रदेश शासन से पारितोषिक प्राप्त हूआ है।



२५

पण्डित उमापति द्विवेदी

(प्रसिद्ध नाम पं० नकछेदराम दूबे)

(आस्पद – द्विवेदी, उपाधि – विद्यामहार्णव)

पण्डितप्रवर उमापति द्विवेदी बालशास्त्री-युग के एक अलौकिक-शेमुषी-सम्पन्न विलक्षण विद्वान् थे। सस्कृत शास्त्रो के गम्भीर अनुशीलन मे तथा छात्रों मे अपनी विद्या के निरन्तर सक्रमण मे ये अपना प्रतिस्पर्धी नही रखते थे। भगवान् की दया से ये शारीरिक सम्पत्ति के भी धनी व्यक्ति थे जिनकी बलिष्ठ देहयष्टि देखकर पहलवानो को भी ईर्ष्या उत्पन्न होती थी। लोक व्यवहार में इनकी निपुणता दर्शकों को आश्चर्यचकित करने वाली थी। ऐसे चतुरस्र पाण्डित्य से मण्डित विचक्षण के जीवन की सक्षिप्त रूपरेखा पाठको के सामने रखने मे लेखक अपने को गौरवान्वित मानता है।

पूर्वपुरुष—पण्डित नकछेदराम द्विवेदीजी का आदिस्थान सरयूपार में गोरखपुर जिले के अन्तर्गत बॉसगॉव तहसील के 'सहुआपार' गॉव मे था। वहॉ से इनका परिवार गोरखपुर शहर के अलीनगर (आजकल के आर्यनगर) मुहल्ले मे चला आया था। इनका कुल गोरखपुर का प्रतिष्ठित परिवार गौतमगोत्री काचनी गुरुदुबान सरयूपारीण ब्राह्मण था। इस नामकरण का एक कारण बताया जाता है। सहुआपार गॉव के पास ही गोपालपुर स्टेट में राजा के गुरु एक द्विवेदीजी थे। गुरु 'दूबेजी' कहलाते थे। गुरु की मृत्यु के उपरान्त उनके वंशजों मे उस महनीय पद के लिए कोई योग्य व्यक्ति नही रहा। इस कारण इस वश के पूर्वज को राजा साहब ने अपना गुरु बनाया। तभी से पूर्व गुरु का उपनाम 'दूबेजी' भी इस परिवार के साथ जुड़ गया। अत मूलत 'मिश्र' होते हुए भी वश 'दूबे' के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

जन्म

गोरखपुर में ही उमापति द्विवेदीजी का जन्म चैत्र शुक्ल द्वितीया वि० स० १९१० (= १८५३ ई०) को हुआ था तथा इनके निर्वाण की तिथि आषाढ़ शुक्ल अष्टमी वि० स० १९६८ (= १९११ ई०) है। फलत ५८ वर्ष की आयु मे इन्होंने काशी में अपना भौतिक शरीर छोड़ा।

इनका कुल बहुत दिनो से अपने पाण्डित्य के लिए उस क्षेत्र में नितान्त विश्रुत था। इनके पूज्य पिता का नाम **हरिदत्त द्विवेदी** था जो व्याकरण, न्याय एव वेदान्त में उस युग के मूर्धाभिषिक्त विद्वान् माने जाते थे। उनके उत्कृष्ट पाण्डित्य की अनेक कहानियाँ आज भी उस क्षेत्र के वृद्धजनों मे प्रख्यात बताई जाती हैं। उनके प्रपौत्र ज्योतिषाचार्य पण्डित जगदीश द्विवेदी ने लेखक को उनके पाण्डित्य की महनीय कथा सुनाई थी जो नितान्त विस्मयकारिणी एवं रोचक है।



पं० उमापति द्विवेदी (नकछेदराम दूबे)

एक बार पण्डित हरिदत्त द्विवेदीजी दल-बल के साथ भगवती विन्ध्यवासिनी के दर्शन के निमित्त अपने गाँव से पैदल ही चल निकले। कई दिनो के बाद चुनार के आसपास के एक गाँव मे सन्ध्या समय टिकान ली। इसकी खबर पास के ही किसी प्रतिष्ठित जमीदार महाशय को मिली जिनके यहाँ कन्या की शादी मे एक बडी बारात आनेवाली थी। उन्होने द्विवेदीजी को तब तक रोक रखा और इनसे प्रार्थना की कि ये उनकी बारात मे अवश्य सम्मिलित हो। बारात काशी के पास से आ रही थी जिसमे काशी के विद्वानो के पधारने की आशा थी। उस युग में बारात में शास्त्रार्थ करने की विशेष चाल थी। बारात नियत दिन पर आई जिसमे काशी के अनेक गण्यमान्य विद्वान् वरपक्ष की ओर से पधारे थे। कन्यापक्ष की ओर से पण्डित हरिदत्त द्विवेदीजी थे। शास्त्रार्थ का प्रसग चला। काशी के वरपक्षीय पण्डितो का आग्रह था कि वे कभी प्रश्न नही करते, प्रत्युत उत्तर देने मे ही वे अपना गौरव समझते है। फलत हरिदत्तजी को पूर्वपक्ष प्रस्तुत करने का कार्य सौपा गया। इस कार्य का सम्पादन इन्होने इतने घटाटोप के साथ किया कि पण्डित लोग चकित हो गये। उन्होने आधे घटे तक नव्यन्याय की अवच्छेदकावच्छिन्न शैली का आश्रय लेकर पूर्वपक्ष का समापन किया, तब वरपक्षीय पण्डितो के मुखिया ने अपने साथियो से कहा कि देखा आप लोगो ने पूर्वपक्ष की बारीकियो को। इस प्रश्न मे कौन ऐसा महनीय शास्त्र है जिसका सम्यक् स्पर्श नही किया गया है और जिसकी गम्भीर शंकाओं के समाधान के लिए इसमे आग्रह नही है। इस पूर्वपक्ष से ही पण्डित लोग ऐसे प्रभावित हुए कि उन्होने बिना शास्त्रार्थ किये ही हरिदत्तजी का लोहा मान लिया और उन्हे विजयश्री प्रदान की। बारात के लौट जाने पर जमीदार ने पण्डितजी का विशेष आदर सत्कार किया। इन्हे राहखर्च के लिए पाँच सौ रुपयो की एक विशिष्ट राशि अर्पित की। पण्डितजी ने विन्ध्यवासिनी की विधिवत् पूजा की और उस द्रव्यराशि को वही दान-दक्षिणा मे खर्च कर दिया। लौटती बार पण्डितजी इस ग्राम मे पुन पधारे जहा उस प्रतिष्ठित रईस ने उतनी ही राशि इन्हे पुन अर्पित की और बडे सत्कार के साथ अपने सेवको की संरक्षकता मे इन्हे सकुशल इनके घर पहुँचा दिया।

शिक्षा

ऐसा था अलौकिक पाण्डित्य पण्डित हरिदत्त द्विवेदीजी का। ऐसे ही सुयोग्य पिता के सुयोग्य पुत्र थे उमापतिजी। उन्ही से इन्होने सकल शास्त्रो का अध्ययन कर उनका तलस्पर्शी वैदुष्य प्राप्त किया। आरम्भ मे इन्होने गोरखपुरी पाठशालाओं मे ही अध्यापन कार्य किया, परन्तु इनके वैदुष्य की कीर्ति तब फैली, जब ये अयोध्याजी की विशिष्ट पाठशाला मे अध्यापन कार्य मे नियुक्त होकर उच्च श्रेणी के छात्रो का अध्यापन करने लगे।

उमापति द्विवेदीजी की कीर्ति अखिलप्रान्तीय थी। इनके वैदुष्य की कीर्ति समस्त पूर्वाञ्चल मे व्याप्त थी। ये चतुरस्र पाण्डित्य के धनी मानी विद्वान् थे, परन्तु न्यायशास्त्र के उभय तन्त्रो मे - प्राचीन न्याय एव नव्य न्याय मे--इनका वैदुष्य अलौकिक था। इनके विलक्षण आचार विचार की गाथा कहानी की तरह विद्वानो के घरो मे सुनी जाती थी। मैने अपने पूज्य पितृचरण पण्डित रामसुचित उपाध्यायजी से (जो अयोध्याजी मे ही अधीतशास्त्र पण्डित थे) लडकपन मे ही इनकी कहानी सुन रखी थी कि ये अपने को मुनि वसिष्ठ का अवतार मानते थे, उसी वशिष्ठ का जिन्होने महाराजा दशरथ का पौरोहित्य किया था और पुत्रेष्टि यज्ञ कराकर राम, लक्ष्मण आदि चारो पुत्रो के जन्म के कारण बने थे। अत ये अपने को पुरोहित और

रामचन्द्र को अपना यजमान मानते थे। इनके प्रबुद्ध मानस में यही भावना सन्तत जागरूक रहती थी। दोपहर के समय अयोध्या के कनकभवन में जब ये राम-मन्दिर में पधारते थे, तब पुरोहित होने के नाते अपनी माला गले से निकाल कर श्रीराम के विग्रह को पहनाते थे और उन्हें दीर्घायु तथा मंगलसम्पन्न होने के लिए शुभ आशीर्वाद देते थे। इस भावना की इतनी प्रबलता थी कि इन्होंने राम के प्रति देवत्व-बुद्धि कभी रखी ही नही।

पण्डित नकछेदराम द्विवेदी के नाम से ही इनकी अधिक प्रख्याति थी। महामना पण्डित मदनमोहन मालवीयजी आपके सरल स्वभाव, निश्छल आचरण तथा उदात्त वैदुष्य के कारण आपके बड़े ही श्रद्धालु भक्त थे। पण्डित नकछेदरामजी ने 'सनातनधर्मोद्धार' नामक वेद-शास्त्र के स्वरूप तथा सनातन धर्म के मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादक प्रामाणिक ग्रन्थ लिखा था। इसे ये अपने जीवनकाल मे प्रकाशित नही करा सके। मालवीयजी ने अपने ऊपर इसके प्रकाशन का भार ले लिया और इसे चार खण्डो मे भाषानुवाद के द्वारा साधारण जन के लिए भी बोधगम्य बनाकर विश्वविद्यालय से प्रकाशित कराया है। इस महनीय ग्रन्थ का प्रकाशन मालवीयजी अपने जीवन की महती उपलब्धि बताते थे। ये केवल नैयायिक विद्वान् होने के अतिरिक्त बलिष्ठ, मल्लयुद्ध विद्या में निष्णात, एक मल्ल थे जिसका परिचय इन्होने महाराजा नेपाल के दरबार में दिया था। प्रथमतः तो इन्होने महाराजा के सभा-पण्डितो को परास्त किया। तदनन्तर ये खम ठोककर अखाड़े में आ डटे। इनकी भुजाओं मे भीम के समान बल था। फलत· इन्होंने नेपाल के समस्त पहलवानों को हराकर दोहरी ख्याति अर्जित की—सस्कृत-विद्या-विशारद की और मल्लविद्या-विचक्षण की। इनके वैदुष्य की यह प्रशस्ति यथार्थ ही है—

न्यायाम्भोरुह-मध्यगग्रहपतिर्योगे यतीनां पति-
र्वेदान्तार्णवकर्णधारनृपतिः साहित्यवाचस्पतिः।
चाणक्योऽखिलकूटनीतिनृपतिः साङ्ख्याम्बरार्हपतिः
शब्दे कश्चिदुमापतिर्विजयते मल्लेषु सेनापतिः॥

—हरिहरचरित २।३०

काशी में आगमन

द्विवेदीजी के जीवन ने एक नया मोड लिया जब ये अपने वृद्ध पिता पण्डित हरिदत्त द्विवेदीजी को काशीवास कराने के उद्देश्य से अपने पूरे परिवार के साथ आकर काशी मे रहने लगे। यह घटना १९५४ स० (= १८९७ ई०) की है। ये मिश्रपोखरा मुहल्ले में किराये पर मकान लेकर रहने लगे। इसी वर्ष इनके अनुज रुद्रदत्त द्विवेदी को प्रथम पुत्र उत्पन्न हुआ जो काशी में पैदा होने के कारण काशीनाथ के नाम से अभिहित किया गया। द्विवेदीजी का मन काशी के वैदुष्यपूर्ण आध्यात्मिक वातावरण में इतना रम गया कि इन्होने काशी को छोड़कर अन्यत्र जाने का विचार ही छोड़ दिया। ये भगवान् भूतभावन विश्वनाथ के अनन्य उपासक, एकनिष्ठ भक्त तथा ऐकान्तिक सेवक थे। फलतः ये काशी की पण्डित-मण्डली में घुलमिल गये। अध्ययन-अध्यापन, जप-तप, पूजा-पाठ ही इनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था। ये अपने घर पर ही छात्रों का अध्यापन करते तथा शेष समय शंकरजी की पूजा-अर्चा में लगाते। ये 'मिश्रपोखरा वाले पण्डितजी' की आख्या से काशीस्थ पण्डितों में नितान्त प्रख्यात हो गये। ये भारतीय दर्शन के उच्च ग्रन्थों का अध्यापन करते तथा छात्रों की शास्त्रीय प्रौढ़ि की समुन्नति

के लिए नाना तर्क-वितर्कों का शिक्षण दिया करते। इसी प्रकार इन्होंने अपना शेष जीवन अध्यापन तथा ग्रन्थलेखन में बड़ी लगन तथा अध्यवसाय के साथ व्यतीत किया।

एक घटना से इनकी वैदुषी की एक झाँकी हमें मिलती है। पण्डित शिवकुमार शास्त्रीजी के यहाँ नव्यन्याय के प्रख्यात ग्रन्थ गादाधरी का पाठ चल रहा था। शास्त्रीजी के छात्र कोई सामान्य कोटि के नहीं होते थे, अनेक शास्त्रों के ज्ञाता होकर वे ग्रन्थग्रन्थि के उन्मोचन के लिए ही उनकी सेवा मे उपस्थित होते थे तथा शास्त्रीजी के पाण्डित्यपूर्ण तर्कों का अनुशीलन कर ग्रन्थ की सन्दिग्ध पंक्तियों के रहस्य समझने में कृतकार्य होते थे। गादाधरी का ऐसा ही एक विषम सन्दर्भ उपस्थित था जिसकी व्याख्या शिवकुमार पण्डितजी नानाप्रकार से समझा रहे थे, परन्तु उस सुबुद्ध पण्डित छात्र के गले के नीचे वह उतर नहीं रहा था। वह सन्तुष्ट ही नही होता था और उस नव्यन्याय की पंक्ति के रहस्य को हृदयंगम नहीं कर पा रहा था। पाठ सुनने वालों में एक ऐसा भी छात्र था जो पण्डित उमापति द्विवेदीजी का प्रिय विद्यार्थी था। इस अवसर पर वह बोल उठा, मेरे गुरुजी ने इस विषय में मेरी पुस्तक में कुछ नोट करा दिया है। पूछने पर उसने अपने गुरु का नाम जब बतलाया, तब शास्त्रीजी बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने इनकी टिप्पणी देखने का आग्रह किया और कहा—देखें, भाई साहब ने इस विषय में क्या टिप्पणी करायी है। शिवकुमार पण्डितजी द्विवेदीजी का बड़ा आदर करते थे और इन्हें 'भाई साहब' के नाम से पुकारते थे। टिप्पणी को देखकर शास्त्रीजी कुछ देर तक सोचते रहे और तब सहसा बोल उठे—भाई साहब ने तो यहाँ बड़ा चमत्कार किया है। इन्होंने तो यहाँ नैयायिक गदाधर की गलती पकड़ी है और वह त्रुटि मार्जित की है जिसके कारण इस सन्दर्भ का ठीक-ठीक अर्थ नही लगता था। फलत: पण्डित उमापति द्विवेदीजी के द्वारा किये गये सशोधन के द्वारा ही इस कठिन तथा विषम प्रसग का पूरा पूरा रहस्य उद्घाटित हो सका।

व्यवहार-पटुता

शास्त्रीय पाण्डित्य के साथ व्यावहारिक पटुता का सगम मणि-काञ्चनयोग के समान ही आश्चर्यकारी तथा आवर्जक था। पण्डित नकछेदरामजी शास्त्र के जितने प्रतिभाशाली विद्वान् थे, उतने ही वे लोक-व्यवहार के भी चमत्कारी पण्डित थे। घर में विशाल भूसम्पत्ति होने से कचहरी में अनेक मुकदमे चला ही करते थे और सबका विधिवत् सचालन करना नकछेदरामजी का ही काम था। ये मुकदमेबाज थे—मुकदमों के बड़े ही जानकार थे और किसी मुकदमे में मसौदा बनाने में इनकी इतनी चतुराई थी जिसे देखकर बड़े-बड़े वकील भी दंग रह जाते और आश्चर्य करते कि किस प्रकार संस्कृत का यह कोरा पण्डित मुकदमों की पेचीदगी को समझने में इतना चतुर तथा बुद्धिमान् है।

दूसरे लोग भी अपने मुकदमों में इनकी राय लिया करते थे और इनकी सम्मति का विशेष आदर करते थे। इस विषय की द्विवेदीजी की चतुराई की यह कहानी नितान्त प्रसिद्ध है। इनके ही एक गोरखपुरिया मित्र ने अपने मुकदमे का एक मसौदा इन्हें दिखलाया जिसे एक अनुभवी वकील ने तैयार किया था। उसे पण्डितजी बहुत देर तक देखते रहे और अन्त में इन्होंने कहा कि इसमें कोई विशेष त्रुटि नहीं है, परन्तु यदि अमुक शब्द में 'की' शब्द जोड़ दिया जाय तो मुकदमे में सफलता पाने की निश्चय ही आशा होगी। मित्र के कहने पर इन्होंने उस वाक्य को ठीक कर दिया और वह मसौदा जब उसके बनाने वाले वकील को दिखाया

गया तो वे भी बहुत चमत्कृत हुए और उन्होने पण्डितजी के सशोधन को स्वीकार कर लिया। सुनते है कि द्विवेदीजी के इस सशोधन के कारण ही मुकदमे मे जीत हो गई। तथ्य तो यह है कि उमापति द्विवेदीजी शास्त्र और लोक दोनो के चमत्कारी विद्वान् थे। ये पूरे मुकदमेबाज थे और वकीलो को भी मुकदमे की बारीकियाँ समझाते थे तथा अपने निश्चित तथ्य पर बहस करने के लिए विशेष आग्रह करते थे। द्विवेदीजी ऐसे चतुरस्र पाण्डित्य के धनी थे और इसीलिए इनकी कीर्ति सर्वत्र व्याप्त रही।

ग्रन्थ-रचना

द्विवेदी उमापतिजी के अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते है। ये मुख्यतया व्याकरण के उत्कृष्ट विद्वान् थे। फलत इन्होने नागेशभट्ट के दोनो महनीय ग्रन्थ—शब्देन्दुशेखर एव परिभाषेन्दुशेखर के ऊपर जटा नामक टीका का प्रणयन किया। तीसरा ग्रन्थ **नारायण काव्य** है। इन ग्रन्थो का मुद्रित रूप अभी तक देखने मे नही आया है। इनका अन्तिम एव सर्वोत्तम ग्रन्थ है—**सनातन-धर्मोद्धार** जो इनकी कीर्ति को स्थायी रखने मे सर्वथा कृतकार्य है। चार खण्डो मे विभक्त यह एक विपुलकाय विशाल ग्रन्थ है। इसके दोनो अन्तिम खण्डो को महामना मालवीयजी ने हिन्दू विश्वविद्यालय से प्रकाशित किया है। सनातनधर्म के स्वरूप, सामान्य तथा विशिष्ट धर्मों का यहाँ बडा ही विशद विवेचन है। मूल ग्रन्थ सस्कृत मे है। उसे सुबोध बनाने के लिए द्विवेदीजी ने इसका सरल सुबोध अनुवाद स्वय किया है। यह ग्रन्थ इनकी विपुल ख्याति का मेरुदण्ड है। इस ग्रन्थ का विवरण पाठको के सुभीता के लिए यहाँ दिया जा रहा है।

पण्डित उमापति द्विवेदी की सर्वोत्तम रचना है—**सनातनधर्मोद्धार** जिसमे सनातन धर्म के स्वरूप का यथावत् निर्णय किया गया है। ग्रन्थ की भूमिका लिखी है स्वय महामना प० मदनमोहन मालवीयजी ने जिसमे इस ग्रन्थ के उद्भव की कथा विस्तार से दी गई है। जनवरी १९०६ मे त्रिवेणी के कुम्भ मेले मे सनातनधर्मियो के लिए ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता प्रतीत हुई जिसमे धर्म का रहस्य तथा स्वरूप सक्षेप मे अभिव्यक्त किया गया हो। मालवीयजी की सलाह पर पण्डित उमापति द्विवेदी ने इस ग्रन्थ के निर्माण का भार अपने ऊपर लिया और बडी योग्यता से इसका प्रणयन किया। पूरा ग्रन्थ प्रौढ सस्कृत भाषा मे लिखा गया है और ग्रन्थकार ने सम्पूर्ण ग्रन्थ का स्वय हिन्दी अनुवाद भी सरल और स्वच्छ भाषा मे कर दिया है। लेखन की शैली धार्मिक निबन्धग्रन्थो के समान है। इसमे पूर्वापर मे साक्षात् सम्बन्ध है तथा सनातन धर्म के जटिल प्रश्नो का समाधान किया गया है। प्रथमत सनातनधर्म के तत्त्वो की परिभाषा प्राचीन ग्रन्थो से दी गई है। तदनन्तर इसके कठिन शब्दो की व्याख्या है तथा श्रुति एव पुराणो के तत्पोषक वचनो का प्रमाण दिया गया है। तत्पश्चात् उस विषय मे कोई विस्तृत प्राचीन आख्यान कथानक, रामायण, महाभारत अथवा पुराणो से उद्धृत किया गया है। धर्म के जटिल प्रश्नो का समाधान ग्रन्थकार ने युक्ति तथा तर्क के द्वारा बड़े ऊहापोह के साथ किया है। देशी तथा विदेशी विद्वानो ने प्रचलित भाष्य और टीका से जहाँ अपना मतभेद प्रकट किया है तथा उस पर आरोप लगाया है, उसका बड़ा पाण्डित्यपूर्ण उत्तर दिया है। मालवीयजी ने ग्रन्थ के अध्ययन का फल भूमिका मे इन शब्दो मे दिया है—**महाभारत** मे कुण्डधार ने अपने भक्तो के लिए उपदेश दिया है कि रत्न से भरी पृथ्वी अथवा बडा रत्नो का ढेर मै अपने भक्त के लिए नही चाहता। मै यही चाहता हूँ कि वह धार्मिक हो—

पृथ्वीं रत्नपूर्णां वा महद् वा रत्नसंचयम्।
भक्ताय नाहमिच्छामि भवेदेष तु धार्मिकः॥

इस ग्रन्थ के अध्ययन से लोगो के हृदय में इस वचन की भी सत्यता का विश्वास जड पकड़ेगा

विद्या रूपं धनं शौर्यं कुलीनत्वमरोगता।
राज्यं स्वर्गश्च मोक्षश्च सर्वं धर्मादवाप्यते॥

धर्म के आचरण से विद्या, रूप, धन, शूरता, कुलीनता एव नीरोगता, राज्य, स्वर्ग तथा मोक्ष की सद्यः प्राप्ति होती है। इसीलिए महाभारत एव पुराण पुकार-पुकार कर कहते है - 'यतो धर्मस्ततो जय' जहाँ धर्म है, वहाँ जय है (मालवीयजी की भूमिका का अन्त)। यह भूमिका महामना ने १९४२ ई० मे लिखी थी। तभी इस ग्रन्थ के अन्तिम दो भाग हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रेस से मुद्रित हुए थे। इससे पहले इसके आरम्भिक दो भाग प्रकाश मे आ चुके थे।

सनातनधर्मोद्धार

चार खण्डो मे विभक्त है। पूर्वार्ध मे दो खण्ड है तथा उत्तरार्ध मे दो खण्ड। पूर्वार्ध के दोनो खण्डो मे धर्म के मूल पर विचार किया गया है तथा उत्तरार्ध मे सामान्य धर्म के स्वरूप तथा विभिन्न तथ्यो का ऊहापोह किया गया है।

प्रथम खण्ड के आरम्भ मे प्रथमत पूरे ग्रन्थ की योजना का रूप दिखाया गया है तथा ग्रन्थ की लेखनशैली तथा विषय विन्यास का सक्षिप्त विवेचन है। तदनन्तर 'धर्मराज सज्जन'(अर्थात् धर्मरूपी राजा की सजावट) नामक प्रथम प्रकरण मे धर्म और धर्म का स्वरूप तथा लक्षण, अपूर्व और अदृष्ट धर्म की महिमा आदि विषयो का विवेचन है। 'वेददुर्ग सज्जन' (धर्मराज के वेदरूपी किले की सजावट) नामक द्वितीय प्रकरण मे धर्म के प्रमाणरूप वेद के स्वरूप तथा माहात्म्य का विस्तार से प्रतिपादन है। वेद के अनादि और अनन्त होने के विषय मे द्विवेदीजी ने बडा ही युक्तियुक्त विवरण प्रस्तुत किया है (पृ० १२९ से १६७ तक)। वेद के विधिवाक्य और अर्थवाद दोनो के स्वरूप के निर्देशानन्तर धर्म मे इन दोनो की उपयोगिता मीमासको की शैली पर दिखलाई गई है (पृ० १८५-२५३)। पश्चात् मन्त्र तथा ब्राह्मण के स्वरूप तथा प्रकार की आलोचना के साथ यह खण्ड समाप्त होता है। द्वितीय खण्ड मे वेद की स्वत प्रमाणता के विषय मे विरोध करने वाले विद्वानो के मत की पूरी समालोचना है। इस प्रकरण का नाम 'क्षुद्रोपद्रवविद्रावण' ही विषय की ओर सकेत कर रहा है। प्रथमत जर्मनी के वैदिक विद्वान् वेबर तथा मैक्सम्यूलर के वेदविषयक सिद्धान्तो की बड़ी गम्भीर मीमासा द्विवेदीजी ने की है (पृष्ठ ४११-४८४) तदनन्तर स्वामी दयानन्द सरस्वती के मत--'ब्राह्मणमात्र वेद नही है'--का खण्डन विस्तार तथा विवेचन के साथ किया गया है। ब्राह्मण भाग वेद का अनिवार्य अग है, इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए सहस्र से ऊपर युक्तियाँ तथा तर्क उपस्थित किये गये है। इस प्रकरण की सिद्धि मे द्वितीय खण्ड का अधिकाश भाग निर्मित हुआ है (पृ० ४८५ ६११)। श्रुति के प्रामाण्य के अनन्तर स्मृतियो की, पुराण, इतिहास की तथा सदाचार एव आत्मतुष्टि की प्रमाणता दिखलाकर सनातनधर्म के आधारग्रन्थो की मीमासा का उपसहार किया गया है (पृ० ६१२-६७८)। धर्म के साक्षात् लक्षण के प्रसग मे यह पद्य प्रसिद्ध ही है—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥

इस पद्य के अनुसार धर्म के साक्षात् लक्षणात्मक चारों तथ्यों का विस्तृत निरूपण द्विवेदीजी के वैदिक तथा धर्मशास्त्रीय वैदुष्य का परिचायक है।

इस ग्रन्थ के उत्तरार्ध में दो खण्ड है—तृतीय तथा चतुर्थ खण्ड। तृतीय खण्ड में सामान्यधर्म का निरूपण है और चतुर्थ खण्ड मे विशेष धर्म का निरूपण। प्रथमत· ३७ सामान्यधर्मों के नाम दिये गये है, तत्पश्चात् उनका पूर्वनिर्दिष्ट शैली मे सोदाहरण विवेचन है। सामान्यधर्मों के अन्तर्गत सत्य, धृति, क्षमा, दम, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अलोभ, शौच, इन्द्रियनिग्रह, तपस्या, दया आदि का निरूपण ग्रन्थकार ने बड़ी सुन्दरता से किया है। ३२वे सामान्य धर्म **देवपूजन** का बडा ही विस्तृत, पाण्डित्यपूर्ण तथा प्रमेयबहुल निरूपण उमापतिजी ने किया है जो लगभग दो सौ पृष्ठो मे पूर्ण हुआ है (पृ० १००५ से लेकर ११९५ तक)। इसके भीतर पाँच विषयो का विवेचन है-- देवसख्या, देवविग्रह, देवावतार, देवप्रतिमा तथा कण्टकोद्धार। इनके विवेचन मे द्विवेदीजी की अपूर्व प्रतिभा, वैदिक वैदुष्य, तर्क कुशलता तथा युक्ति-सन्निवेश का नितान्त चमत्कारी निदर्शन पाठको के सामने सद्य उपस्थित हो जाता है। इन तथ्यों की सिद्धि मे इन्होने सहिता, शतपथब्राह्मण तथा कात्यायन श्रौतसूत्र से प्रचुर प्रमाण देकर अपने कथन की पुष्टि की है। 'कण्टकोद्धार' मे स्वामी दयानन्दजी के प्रतिमा-विषयक मत का बड़ा ही तर्कयुक्त खण्डन उपस्थित किया गया है। उपासना के विषयभूत देवता की संख्या का विवेचन उपनिषदो के आधार पर बड़ी मार्मिकता से किया गया है। देवविग्रह के विषय में जैमिनि तथा शबर स्वामी के मतो का उपन्यास ग्रन्थकार के मीमासाशास्त्र विषयक ज्ञान का पर्याप्त परिचायक है। देवावतार के विषय मे तत्तत् अवतारो के लिए वेदो का प्रचुर प्रमाण उपन्यस्त है। निष्कर्ष यह है कि देवपूजन वाला यह अश स्वत एक प्रमेयसम्पन्न निबन्ध का स्वरूप उपस्थित करता है। तृतीय खण्ड का यह अश मौलिक विवेचन से परिपूर्ण है। खण्डन के अवसर पर उमापतिजी ने **वेदवैनाशिक** की बडी मीठी चुटकी ली है। एक प्रसग देखिए—यजुर्वेद के मन्त्र का विश्रुत अश है—'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यश।' इस मन्त्र मे 'प्रतिमा' शब्द का अर्थ मूर्ति मानकर वेद मे मूर्तिपूजा का निषेध 'सत्यार्थप्रकाश' में बतलाया गया है। द्विवेदीजी ने अनेक युक्तियो से इसका खण्डन कर उसका वास्तविक तात्पर्य 'तुल्यता' या 'समता' बतलाया है। इस विषय मे उनकी यह युक्ति बड़ी चुटीली है–

पाणिनीयां नदीं श्रुत्वा श्रुत्वा न प्रतिमेति च।
मरुस्थलीं श्रुतिं चैनां फलैक्यमभिधावतोः॥

तात्पर्य है कि पाणिनि व्याकरण के अनुसार देवी, दासी आदि के समान 'मरुस्थली' शब्द नदीसज्ञक है। इस पारिभाषिक अर्थ से अपरिचित व्यक्ति 'मरुस्थली' को 'नदी' समझकर अपनी पिपासा की शान्ति के लिए यदि रेगिस्तान में दौड़ लगावेगा तो जो फल उसे मिलेगा, वही फल मिलेगा उस व्यक्ति को, जो 'न प्रतिमा' मन्त्राश मे 'प्रतिमा' के वास्तव अर्थ (समता) से अपरिचित 'पुरुषमूर्ति' अर्थ के लिए श्रुति की दौड़ लगादेगा। अर्थात् दोनों के उद्योग असफल रहेंगे (देखिये पृ० ११७८)। बड़ी सुन्दर उक्ति है पण्डित उमापतिजी की यह।

ग्रन्थ का चतुर्थ खण्ड उसका अन्तिम खण्ड है (पृष्ठ ११९५ से १५३० तक)। इसमें सामान्य धर्म के निरूपण का उत्तरार्द्ध है। इसमें सनातन धर्म की दृष्टि से महिमाशाली चार विषयों का विस्तार से निरूपण किया गया है—(१) **ब्राह्मणपूजन**—जिसमें ब्राह्मण वर्ण के महत्त्व के विषय में श्रुति तथा स्मृति के वचन प्रमाण रूप से उद्धृत है। इस विषय के पोषक

प्रमाण महाभारत तथा पुराणो से भी यहाँ निर्दिष्ट किये गये है। (२) **श्राद्ध** श्राद्ध के विषय मे वेद, मनुस्मृति, रामायण एव महाभारत के वचनो से मनुष्यमात्र के लिए यह कर्तव्य कर्म सिद्ध किया गया है। इसी प्रसग मे स्वामी दयानन्दजी के एतद्विषयक अनेक मन्तव्यो तथा तथ्यो का प्रमाण पुर सर खण्डन कर उन्हे वेदविरुद्ध घोषित किया गया है। (३) **तीर्थ का अनुसरण** (पृ० १२७८ १३८३) इस विस्तृत खण्ड म तीर्थों के स्वरूप महत्त्व तथा उपभोग के विषय मे पर्याप्त शास्त्रीय विवेचना है। काशी के तीर्थों का भी निरूपण द्विवेदीजी ने बड़ी गम्भीरता से किया है विशेषत काश्या मरणान्मुक्ति' पर शास्त्रीय चिन्तन का मर्म उद्घाटित किया गया है। (४) **भगवद्भक्ति**- (पृ० १४१० १५३०) के भीतर आने वाली विविध समस्याओं का यहा समाधान प्रस्तुत कर ग्रन्थकार ने अपने शास्त्रचिन्तन तर्कानुशीलन तथा विचारमीमासा का पर्याप्त परिचय दिया है। इसमे पूर्व धर्मयुद्ध मे प्राण त्यागने वाले वीर सैनिको की गतिविधि के ऊपर सुन्दर विवेचन है भक्ति का विवेचन शाण्डिल्यसूत्रो के आधार पर बडे वैशद्य से किया गया है तथा भक्ति के वैदिक मूल का भी निरूपण कर उसे वेदप्रतिपाद्य तत्त्व घोषित किया गया है।

द्विवेदीजी की लेखनशैली बड़ी प्रौढ उदात्त तथा विषयानुसारिणी है। गद्य रचना मे कही शैथिल्य दृष्टिगोचर नही होता। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा

रागस्तावदयमन्त कारणस्य वृत्तिविशेषो, भजामि रज्यामि प्रपद्य इत्याद्यनुव्यवसाय-साक्षिक आकीटपतङ्गमाहिरण्यगर्भञ्च यावत्स्वेव प्राणिषु ओतप्रोतायमानत्वान्नापह्नोतु शक्यते। अयमेवाऽऽसाद्याऽऽलम्बनविशेषास्तदनुसारेण विहितान् प्रतिषिद्धाननुभयविधाँश्च व्यवहारानविरतमाहरन् रत्यनुरक्तिमायामोहादिशब्दैरपि लोके व्यवह्रियमाणोऽर्थधर्मादीन् कामक्रोधादीन् सुखान् दु खाँश्च वर्गाननुबध्नन् विराजते। यथा च कुल्यादिसलिलप्रवाह केदारपट्टिकामाप्लाव्य तदायामविस्तर-त्रिचतुर-कोणत्वाद्याकारीभूयात्मान तामिव भावयति तथा रागोऽपि ॥ (पृ० १४१६ १७)

फलत ग्रन्थकार का अन्तिम सिद्धान्त इस पद्य मे सुस्पष्टरूपेण निर्दिष्ट है

कल्याणनगर मोक्षदेवस्य प्रविविक्षताम्।
अकपाटार्गलद्वा स्थ गोपुर भगवद्रति ॥

आशय है कि मोक्ष महाराज के कल्याणनगर मे प्रवेश करने वाले व्यक्ति के लिए भगवद्भक्ति ही ऐसा पुरद्वार है जिसमे न कोई किवाडा है न कोई अर्गला (सिटकिनी) है और न कोई द्वारपाल है जिससे वारण की कुछ शका हो सके। फलत मोक्षनगरी मे प्रवेश का राजमार्ग भगवान् की भक्ति ही विराजमान है जो कोई चाहे उस मार्ग से प्रवेश कर सकता है रुकावट का कही नामोनिशान नही है

सनातनधर्मोद्धार तो उमापति द्विवेदीजी का सर्वमान्य लोकातीत वैदुषी से मण्डित अन्तिम ग्रन्थ है जिसका आरम्भ स० १९६३ वि० (१९०६ ई०) मे तथा समाप्ति स० १९६९ वि० (१९१२ ई०) मे की गयी था। ग्रन्थ का प्रथम खण्ड १९१२ ई० मे ग्रन्थकार के जीवनकाल मे ही प्रकाशित हुआ था। प्रसिद्धि है कि वे प्रकाशित ग्रन्थ की एक प्रति काशीनरेश प्रभुनारायण सिंह को उपहार मे देने की तैयारी ही कर रहे थे कि उनकी हृदयगति अवरुद्ध हो गयी। ग्रन्थ के अन्तिम दोनो खण्ड मालवीयजी महाराज की कृपा से मुद्रित तथा प्रकाशित हो सके है। 'सनातनधर्मोद्धार' ही द्विवेदीजी की कीर्ति को स्थायी रखने मे सर्वथा समर्थ है। तथास्तु।





पं० काशीनाथ द्विवेदी

२६

पण्डित काशीनाथ द्विवेदी

पण्डित उमापति द्विवेदी का वश आज भी सस्कृत विद्या मे निष्णात विद्वानो की सत्ता से उद्भासित हो रहा है। द्विवेदीजी के पूज्य पिताजी सस्कृत के नाना शास्त्रो के दिग्गज विद्वानो मे थे जिनका आदर सत्कार सुधीसमाज मे विशेष रूप से होता था। उनका नाम हरिदत्त द्विवेदी था और उनके विषय मे आज भी अनेक चमत्कारपूर्ण कथाएँ सुनी जाती है। उनके दो पुत्र थे उमापतिजी तथा रुद्रदत्तजी। उमापतिजी का परिचय ऊपर दिया गया है। उनके वशजो मे सस्कृत विद्या का उतना प्रचार नही है, परन्तु उनके अनुज रुद्रदत्त द्विवेदीजी के वश मे तो देववाणी का विलास निश्चयेन परिलक्षित होता है।

पण्डित रुद्रदत्त द्विवेदीजी के आत्मज **पण्डित काशीनाथजी** का जन्म माघ की मौनी अमावस्या विक्रमी सवत् १९५४ (२१ जनवरी, १८९८ ईस्वी) को काशी मे हुआ था और इसीलिए इनका यह नामकरण किया गया। उस समय इनके चाचा उमापति द्विवेदी अपने पूज्य पिता हरिदत्त द्विवेदी के काशीलाभ के निमित्त काशी के मिसिरपोखरा मुहल्ले मे रहते थे। इनके पिता का नाम था रुद्रदत्त द्विवेदी तथा माता का कौशल्यादेवी। इनके जन्म के प्रात काल पूर्ण सूर्यग्रहण लगा था इतना पूर्ण कि आकाश मे तारे निकल आये थे। प्रतीत होता है कि यह दैवी घटना बालक के भविष्य मे होने वाले जीवनसघर्ष की पूर्णत परिचायिका थी। चाचा की देखरेख मे उनकी आरम्भिक शिक्षा दीक्षा हुई, परन्तु अकस्मात् १९१२ ई० मे इनके चौदह साल के वय मे ही चाचा का देहान्त होने से वह सुखद छत्रच्छाया सदा के लिए हट गयी। तदनन्तर **पण्डित रामभवन उपाध्याय** से इन्होने पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन किया। १९२१ ई० के असहयोग आन्दोलन मे व्याकरणाचार्य के अन्तिम खण्ड की परीक्षा ही नही छोडी, प्रत्युत सर्वदा के लिए परीक्षा व्यापार से ही विरत हो गये। इसके बाद स्वामी मनीष्यानन्दजी से दर्शन, उपनिषद् आदि उदात्त ग्रन्थो का विधिवत् अध्ययन किया। वि० स० १९८७ (= १९३० ई०) मे स्वामीजी ने इन्हे वैदुष्य का प्रमाण पत्र तथा 'साहित्य सुधानिधि' की विशिष्ट पदवी प्रदान की। गुरुमुख से अध्ययन की प्रक्रिया सदा के लिए समाप्त हो गयी।

अध्ययन

पण्डित काशीनाथ द्विवेदीजी को काशी से इतना प्रेम तथा अनुराग था कि अन्यत्र सादर आमन्त्रण तथा आह्वान को यह ठुकरा देते थे, परन्तु काशी का छोडना इनके लिए असह्य हो जाता था। काशी से प्रेम, अयाचितोपनत (बिना माँगी स्वय आई) वृत्ति अपनाने की तीव्र आकाक्षा, विद्या न बेचने का दृढ सकल्प, अपने आराध्यदेव भगवान् शकर की एकनिष्ठ आराधना के कारण समयाभाव, सारस्वत साधना की निरन्तर अभिरुचि—इन सबने मिलकर पण्डितजी को अनेक कष्टो को सहने के लिए विवश किया। अपनी जीविका तथा

जीवन से सघर्ष करते हुए भी ये अपने स्वीकृत निश्चय से तनिक भी विचलित नही हुए। साहित्य तथा अध्यात्म की सेवा मे द्विवेदीजी ने अपने को सर्वात्मना समर्पित कर दिया था। भगवान् शकर इनके उपास्यदेव थे। उनकी आराधना मे, सुनते है ये पन्द्रह सोलह घण्टे नित्य प्रति बिताया करते थे। इसके कारण इनके जीवन मे अनेक अलौकिक घटनाएँ घटी थी और शकर भगवान् ने अपना दुर्लभ दर्शन देकर इन्हे कृतकृत्य भी किया था। पण्डित नकछेदरामजी का प्रभाव काशीनाथजी के ऊपर इनके उभयविध विकास मे पूर्णत पडा था—मन के ऊपर तथा शरीर के ऊपर, मानसिक विकास की चर्चा ऊपर की गई है। शारीरिक विकास भी इनका अवलोकनीय था। एक हजार दण्ड और दो हजार बैठक करने के सग साथ मे ये तुलसीघाट पर महन्त स्वामीनाथजी के यहाँ जाकर कुश्ती लडते थे। फलत इनके स्वभाव मे फक्कडपन का प्रवेश जीवन के आरम्भ से हो गया था। तभी तो अपने हितेच्छु सुहृद् पण्डित उमापतिजी के पास अपनी मन स्थिति का परिचायक यह पद भेजने मे उन्हे तनिक भी सकोच नहीं हुआ

मैने पियो प्रेम को प्याला।
सब जगजाल काल सम तज कर, सेवो अफसर आला।
यह मद छकि जकि थकित भयो मन, धिक् पियूष धिक् हाला।
एकै सम सब रँगे एक रँग, क्या उज्ज्वल क्या काला।
अहंकार भरि अतुल मूढमति, बादि बजावत गाला।
यह अकुर गुनि उयो उचित थल, भरे हृदय के थाला।
को संन्यास लेइ को त्यागै राग बिराग कमाला।
पुहुप माल सम गले लिये हम, यह सब जग जजाला॥

न श्ववृत्ति. कदाचन के आदर्श पर गरीबी मे जीवन बिताया, परन्तु किसी विद्यालय मे या राजदरबार मे अनेक सुन्दर सुयोग मिलने पर भी नौकरी नही की। इनके जीवन का आदर्श इस प्रसिद्ध पद्य मे अकित किया गया है–

अनायासेन मरण, विना दैन्येन जीवनम्।
देहि मे कृपया शम्भो त्वयि भक्तिमचञ्चलाम्॥

लडकपन से ही इन्हे हिन्दी कविता से प्रेम था। इनके ऊपर बिहारी का विशेष प्रभाव पडा और उन्ही की शैली मे शृगार रस से पगे मनोरम दोहो की रचना कर इन्होने अपनी प्रतिभा की मद्य अभिव्यक्ति की।

साहित्य के प्रति इनका अनुराग गम्भीर एव नैसर्गिक था। ये स्वभाव से ही कोमल कान्त-पदावली से समन्वित ललित कविता के निर्माण के अभ्यासी कवि थे। साहित्य की उभयविध प्रतिभा इनमे विराजती थी। भावयित्री प्रतिभा के साथ ही साथ ये कारयित्री प्रतिभा से मण्डित अलौकिक कवि थे। स्वभाव से ये त्याग तथा तपस्या से मण्डित मनीषी थे। किसी के सामने दैन्य का प्रदर्शन करना तो इन्होने कभी जाना ही नही। भूखो मर जाना इन्हे मजूर था, परन्तु किसी के सामने, चाहे वह कितना भी बडा धनी-मानी क्यो न हो, इन्होने अपना हाथ फैलाना कभी उचित नही समझा। इसलिए निर्धनता मे इन्होने अपने दिन काट दिये, परन्तु स्वीकृत व्रत से कथमपि टस से मस नही हुए। ऐसा विलक्षण विद्वान् होना असाधारण तपस्या का ही परिणत फल था।

पण्डित काशीनाथजी के कमनीय दोहों को प्रथमत परखिये—

परत जितै तितही रहत, इक इक अंग अनूप ।
इन नैनन हरि को अजौं नख शिख लख्यो न रूप ॥

आशय श्रीकृष्ण चन्द्र का एक एक अग इतना अनुपम है कि जहाँ निगाह पड़ती है, वही धँसकर रह जाती है। इसी कारण इन नयनो मे आज तक श्रीकृष्ण का एक साथ नखशिख रूप नही देख सका।

बादिहि बिष बिरवा बढ्यौ, ए हो सोधि सयानु ।
लाइ सनेह मिलाइ मधु, अमिय बनायतु मानु ॥

कवि का कहना है कि जैसे कुचिला, संखिया आदि विष शोधन के उपरान्त घी और मधु मिलाने पर अमृत का काम देते है उसी प्रकार सखी सलाह दे रही है कि मान विष का काम कर रहा है, इसे चतुरतापूर्वक शोधन कर उसमे प्रेम और व्यवहार की मधुरता को मिलाकर अमृत क्यो नही बना देती ?

मान को लेकर द्विवेदी जी को अनोखी सूझ है। अधिकतर वे लोग मान छोडने का आग्रह करते है, परन्तु काशीनाथजी उसे बनाये रखने का आग्रह दिखाते है। सो क्यो ? सुनिये

अब अलि अलिनु बकी करै तू मति भानै मान ।
दबे नाह खिन देखिहौ, दबी ओठ मुसुकान ॥

हे सखि, तू मान मत छोड। एक तमाशा देखना जो चाहती हूँ। नायक को थोडा दबा देखना चाहती हू। फिर तुम्हारे ओठो मे दबी मुस्कान देखना चाहती हूँ। बहुत ठीक !

चन्द्रोपालम्भ के कतिपय प्रशसनीय पद्यो को देखिए

तवोदये सन्तपन तनूना मृगाङ्क ! मन्ये गरलस्य दोष. ।
स्वल्पं पपौ येन स नीलकण्ठो नीलोदर. सर्वमधः पुनस्त्वम् ॥

हे चन्द्रमा ! तुम्हारे विष का ही दोष है कि तुम्हारे उदय होने पर जीवो के शरीर मे जलन पैदा हो जाती है विष का थोडा ही भाग पीने पर शिव नीलकण्ठ हो गये। तुमने तो सबका सब पी लिया है जिससे तुम नीलोदर हो गये हो !

जनि. पयोधौ स्थितिरन्तरिक्षे पादा. समस्ता भुवने प्रवृत्ता. ।
भोगः सुरैः किं च कला कपर्दे वियोगिनीमर्मणि ते विपाकः ॥

द्विवेदीजी की सम्मति मे मुक्ति का स्वरूप देखिये –

ना गौतम. परममाह स दु.खहान
द्वैपायनोऽपि निजबोधमुदाजहार ।
स्पर्शात् प्रियस्य पदयो. सुखमात्मनोऽपि
या विस्मृतिर्मम तु सैव मता विमुक्तिः ॥

महर्षि गौतम ने मुक्ति को परम दु खहानि कहा है। व्यास ने उसे आत्मबोध कहा है। मेरे मत मे प्रिय के चरणो के स्पर्श से अपने आपको भूल जाना ही विमुक्ति है।

सुनते है कि जब महामना मालवीयजी अपने जेठे पुत्र प० रमाकान्त मालवीय की मृत्यु पर नितान्त शोकसन्तप्त हुए थे, तब द्विवेदीजी ने सान्त्वना का यह श्लोक भेजा था जिससे उनका उद्वेग न्यून हुआ था। श्लोक इस प्रकार है—

अतीताः स्वप्नाभा यदि किमु विशेष. स्थितिजुषां
निसर्गादेवैते प्रलयपरिणामा हि विषयाः ।

ह्रसिष्ठो द्राघीयानिति भवतु कामं विषमता
मृषात्वे भोगानां विदुषि न विषादा न च मुदः ॥

आशय है कि ससार के भोग सर्वदा मृषा है—उनका अन्त नाश मे ही होता है। तब विद्वानो को न विषाद करना चाहिए और न हर्ष। चित्त मे समता रखनी चाहिए।

खडी बोली की उनकी अनेक रचनाएँ बची है परन्तु उर्दू का केवल यह एक ही शेर सहृदयो के मनोरजन के लिए पर्याप्त होगा—

दिल के पर्दे मे छिपा मजनूँ मेरा ।
आँखे रहते भी मुकद्दम सूर हूँ ॥

काव्यसमीक्षा

श्री काशीनाथ द्विवेदीजी वस्तुत प्रतिभासम्पन्न कोमल कान्त पदावली के निर्माता महाकवि थे। उनका हृदय बडा ही सरस था। फलत उनकी कविता बडी ही रसमयी, कोमल पदशय्यामयी तथा उल्लासमयी है। बडी विचित्रता तो यह लक्षित होती है कि कविता के सर्जन के लिए जिस समृद्ध वातावरण की आवश्यकता होती है उसका उनके पास सर्वथा अभाव था, तथापि बाहरी शुष्क वातावरण मे अपने को नितान्त अस्पृष्ट रखकर इस महाकवि ने जिस रसपेशल काव्य की रचना की है, वह आलोचना की दृष्टि से इन्हे **सुधीसुधानिधि** की उपाधि से मण्डित करने मे सर्वथा समर्थ है। लेखक इस अभिराम काव्य के प्रचुर प्रचार की कामना रखता है। तथास्तु।

प० काशीनाथ द्विवेदी का **रुक्मिणीहरण** महाकाव्य सस्कृत के महनीय काव्यो की परम्परा मे उन्नत स्थान पाने का अधिकारी है। पूरा महाकाव्य २१ लम्बे लम्बे सर्गों मे समाप्त हुआ है। कथानक तो वही भागवत मे वर्णित तथा पुराणो मे बहुश वर्णित रुक्मिणी का श्रीकृष्ण के द्वारा हरण तथा अपनी पट्टमहिषी बनाना है। परन्तु कवि ने उसे आवश्यक साज सज्जा से भरपूर सुसज्जित कर एक महनीय महाकाव्य का रूप दिया है। इसका प्रारम्भ १६५१ मे हुआ और प्रकाशन १६६६ ई० मे। षड्ऋतुओं का वर्णन चतुर्थ सर्ग मे, रजनी वर्णन एव चन्द्रोपालम्भ पञ्चम सर्ग मे तथा कामोपालम्भ का वर्णन षष्ठ सर्ग मे किया गया है। प्रभात के वर्णन मे एक पूरा सर्ग ही (सर्ग १३) एक सौ एक सुन्दर पद्यो म समाप्त किया गया है। श्रीकृष्णचन्द्र की आह्निकचर्या के अनन्तर भगवान् भूतभावन शिवजी की पूजा तथा स्तुति का बडा सुन्दर आयोजन १४वे सर्ग मे किया गया है। शकर की स्तुतियो मे कवि ने अपने दार्शनिक विषयो के ज्ञान की छटा का अनुपम रूप प्रदर्शित किया है। इस शकर स्तुति से सादृश्य धारण कर रही है २०वे सर्ग की पार्वती स्तुति जो अपनी उदात्तता एव मधुरता मे पूर्वस्तुति मे कथमपि घट कर नही है। यह पार्वती स्तुति लगभग तीस पद्यो मे निबद्ध है (२०वे सर्ग, पद्य ५५ से लेकर ८४ पद्य तक)। अन्य प्रसिद्ध वस्तुओं के वर्णन मे भी विशेष चमत्कार है।

कवि की शैली वैदर्भी है। प्रसाद गुण का विशेष चमत्कार दृष्टिगोचर होता है। पद्यो की रचना मे स्वाभाविक सरसता है, काव्य निर्माण मे कवि का विशेष परिश्रम परिलक्षित नही होता। इस प्रकार यह मनोरम काव्य साहित्य की दृष्टि से कारयित्री प्रतिभा का एक मञ्जुल रूप प्रस्तुत करता है। यह अनेक वर्षों के प्रयास का मधुर फल है। काशी मे इधर निर्मित काव्यो मे यह महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है। इसकी रचना २०२२ विक्रम सवत् (= १६६५ ई०)

में सम्पन्न हुई और प्रकाशन अगले वर्ष २०२६ वि० (= २४ दिस० १६६६ में) हुआ था। प्रकाशन के चार वर्षों बाद अगहन पूर्णिमा को काशीनाथजी का वाराणसी में ही स्वर्गवास हो गया।

कतिपय पद्यों की सुषमा देखिए -

उचितैव बभूव सुभ्रुवः कलकण्ठे किल कम्बुराजता।
यदिमं कचगुच्छकच्छलान् मुहुरभ्यर्चयतः स्म चामरे॥

—रु० ह० १।६६

आशय है कि रुक्मिणीजी का कलकण्ठ शखराजता धारण कर रहा था यह तो सर्वथा उचित ही था। इसीलिए बालों के गुच्छक के व्याज से दो चामर उनकी अभ्यर्चना कर रहे है। राजा की ही तो चाकरों के द्वारा अभ्यर्चना की जाती है।

द्विवेदीजी के सामने नैषधचरित आदर्श के रूप मे विद्यमान था। फलतः अपनी उक्तियों से उसके भी आगे बढ़ जाने का श्लाघासमन्वित प्रयास कवि में दृष्टिगोचर होता है। प्रथम सर्ग मे रुक्मिणीजी के रूपसौन्दर्य का वर्णन बडा ही अभिराम तथा आवर्जक बन पाया है। ऊपर उद्धृत पद्य इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

प्रभात वेला की गन्ध वायु चन्द्रमा से गिरे हुए अमृत के कणों को अपने मे धारण कर मनुष्यो के अगो मे जीवन को विकसित करती हुई प्रतीत हो रही है[1] -

तारावलीतनुरयं गलितः सुधांशो-
र्वाष्पीभवन्नमृतबिन्दुचयो निलीनः।
अङ्गेषु जीवनविकासमिवाऽऽतनोति
सङ्गेन तन्मयतयैव विभातवायुः॥

—रु० ह० १३।१३

भगवान् शकर के स्तुतिपरक अनेक दार्शनिक पद्यो मे से एक पद्य देखिए -

इयमपि ! गुणसङ्गस्वीकृतिर्निर्गुणस्य
प्रभुवर करुणैवानादिबद्धेषु ते यत्।
तदुदितपरिभोगक्षीणकर्माशयाना-
मविकलनिजबोधात् प्राणिनां स्याद् विमुक्तिः॥

—रु० ह० १४।४३

इस पद्य में भगवान् भूतभावन की करुणा से प्रारब्ध कर्म के भोगों के क्षीण होने पर पूर्ण आत्मज्ञान द्वारा विमुक्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन है।

एकादश सर्ग में रुक्मिणी द्वारा भेजा गया ब्राह्मण बड़े ही कोमल शब्दों में भगवान् श्रीकृष्ण से प्रार्थना स्वीकारने की बात कह रहा है। इस प्रसग के दो पद्य देखिए—

अलब्धपुष्पप्रसवा दवानलादकालदग्धेव लता विपद्य सा।
अपारकारुण्यपयोद ! निष्ठुरे त्वयि प्रपद्येत न शोचनीयताम्॥

—रु० ह० ११।३७

हे अपार करुणा के मेघ कृष्ण ! वह रुक्मिणी अभी पुष्प के उद्गम से वञ्चित लता है जो अकाल में ही दावानल के द्वारा दग्ध हो गई है। प्रार्थना है कि ऐसा न हो कि आपके

१. रुक्मिणीहरण महाकाव्यम् श्रीकाशीनाथशर्मणा द्विवेदिना विरचितम्। संशोधक. पं० जगदीश शर्मा द्विवेदी, प्रकाशक. श्रीकण्ठ द्विवेदी। प्राप्तिस्थान बी० १/२२ अस्सी, वाराणसी—५।

निष्ठुर हो जाने से वह शोचनीयता को प्राप्त हो। आप करुणा के मेघ ठहरे। करुणा की वृष्टि से उस अकालदग्ध लता को जीवित कर दे।

दयस्व मा माधव तां विमानयेरधः पतन्तीमपरा विधोः कलाम् ।
कपालिनो या प्रथमेव निर्मलाऽखिलस्य चूडानिलयत्वमर्हति ॥

वही ११।३८

हे माधव, उस पर दया कीजिए। चन्द्रलोक से नीचे गिरने वाली वह चन्द्रमा की अपरा कला है। उसका तिरस्कार न करे। जिस प्रकार निर्मल प्रथम कला शिवजी के मस्तक पर विराजमान है, उसी प्रकार वह समस्त जगत् की चूडामणि होने की योग्यता रखती है।

काशीनाथ द्विवेदीजी के पुत्र पण्डित जगदीश शर्मा द्विवेदी ज्योतिष विद्या के महान् पण्डित है, वे ज्योतिष के सिद्धान्त, गणित एव फलित तीन विषयो के आचार्य है जिन्हे प्रथम श्रेणी मे प्रथम होने के कारण सुवर्णपदक के द्वारा समादृत किया गया है। इन्ही के सहयोग से इनके पिताजी का ग्रन्थ प्रकाशित होने का गौरव प्राप्त कर सका है।

पण्डित रामबालक शास्त्री

श्री काशीनाथजी नियमित रूप से छात्रो के अध्यापन के प्रेमी नही थे, स्वास्थ्य ठीक न रहने से यह कार्य ठीक ढग से चलना सम्भव भी नही था, तथापि 'गाण्डीवम्' जैसे साप्ताहिक सस्कृत पत्र के सम्पादक **पण्डित रामबालक शास्त्री** आपके ही सुयोग्य शिष्य थे। बडी ही निष्ठा से रामबालकजी ने द्विवेदीजी से साहित्य विद्या का अनुशीलन कर सस्कृत के प्रचार प्रसार मे अपना जीवन ही लगा दिया था। अपने गुरु के समान ये भी बडे ही तपस्वी, त्यागी एव मनस्वी पण्डित थे। ये बलिया मण्डल के ही श्रीनगर नामक गॉव के निवासी थे। आरम्भ मे बलिया जुबिली सस्कृत महाविद्यालय के आचार्य प० रामउदित उपाध्यायजी से इन्होने सस्कृत भाषा की आरम्भिक शिक्षा पायी थी। काशी मे आकर इन्होने एक सच्चे त्यागी, मानी ब्राह्मण के रूप मे अपना जीवन बिताया और स्वसम्पादित सस्कृत **गाण्डीवम्** के द्वारा सस्कृत के विपुल प्रचार मे अपने शरीर तथा धन का व्यय कर देववाणी की भूयसी सेवा की।

उमापति शर्मा द्विवेद

प० काशीनाथ शर्मा द्विवेदी के एक विशिष्ट सम्बन्धी के परिचय के बिना यह वर्णन अधूरा ही रह जायगा। ये सम्बन्धी थे उन्ही के आत्मज जगदीश शर्मा द्विवेदी के श्वशुर कविपति **पण्डित उमापति शर्मा द्विवेद** पण्डित उमापति शर्मा का जन्म वि० स० १९५५ (= १८९८ ई०) मे देवरिया मण्डलान्तर्गत पकडी ग्राम मे हुआ था। पिता का नाम था पण्डित कान्ताराम शर्मा द्विवेद और माता का मर्यादादेवी। उमापतिजी काशीनाथजी के सतीर्थ्य थे। प्रथमत प्रसिद्ध विद्वान् प० नकछेदराम शर्मा (प० उमापति शर्मा द्विवेदी) के दोनो जन शिष्य थे। काशी मे आकर इन्होने प० रामभवन उपाध्याय की अन्तेवासिता स्वीकार की। १९२१ ई० के असहयोग आन्दोलन के युग मे परीक्षा का दोनो जनो ने साथ ही बहिष्कार किया। कई विद्यालयो मे अध्यापन का कार्य किया। कविता-रचना की ओर स्वाभाविक रुचि थी। फलत अनेक वर्षों की साहित्यिक साधना के फलस्वरूप इन्होने 'पारिजातहरण नामक महाकाव्य का प्रणयन किया जिसका प्रकाशन वि० स० २०१४ (= १९५७ ई०) मे देवरिया से किया गया है।[1] अन्त मे काशी आकर गगा और विश्वनाथ के अर्चन पूजन मे पण्डितजी अपना दिन

---

१ प्रकाशक—व्यवस्थापक, गोस्वामी तुलसीदास विद्यालय, पडरौना (देवरिया) वि० स० २०१४।

बिताते थे। इस महाकाव्य की प्रस्तावना स्वय काशीनाथ शर्मा द्विवेदीजी ने लिखी है जिसमें उमापति शर्माजी की काव्य रचना के गुणों का सक्षेप में वर्णन किया है। कतिपय उपदेशमयी सूक्तियो का निरीक्षण कीजिए--

यत्तु सन्तोऽनुगृह्णन्ति यत्र गृह्णाति सत्तमान्।
तद् गृहं तद् गृहं मेऽद्य न गृहं स्वाश्रयास्पदम्॥
भिक्षूणां कोषमक्षीणमाश्रमं रक्षतां हि न.।
महात्मनां शुभा दृष्टिर्दैवदत्ता पुरस्क्रिया॥

४।११२, ११३

कविता की यह स्तुति कितनी अभिराम एव मञ्जुल है—

आमोदिनी मरसभावविकासरम्या
सन्दर्भशुद्धिपरिपुष्ट गुण-प्रसादा।
संभूषिता स्रगिव मंस्कृतिशालिनी गी-
र्हृद्याधिता श्रियमियं न कमानयेत॥- १०।५७

नैवौचिती परिहृताऽस्त्यनया कदाचिन्-
निर्व्याजभाव-रमणीय-पदक्रमा च।
आरोग्य... गम्साभिहिति. समर्था
मान्या न कस्य तव वाक् कुलजाङ्गनेव॥ १०।५८

शुद्धाभिधेयनिरता विरतप्रपञ्चा
सञ्चारिताऽमलतरान्तरबोधभूतिः।
नि.सशयाधिगत-सिद्धिशुभग्रहा ते
वाक् तापसीव सुकृतादनुकम्पते नः॥ - १०।५६





श्री रामशास्त्री भागवताचार्य

श्री रामशास्त्री भागवताचार्य

(आस्पद अवस्थी; उपाधि महामहोपाध्याय)

पण्डित रामशास्त्री काशी की विद्वन्मण्डली मे अपने वाग्वैदुष्य, वादविवादपाटव तथा कोमल काव्य विलास के कारण अद्वितीय प्रतिष्ठा से विभूषित एक महनीय मनीषी थे। श्रीवैष्णवी दीक्षा से दीक्षित होने के हेतु ये 'भागवताचार्य' उपाधि धारण करते थे। इनका पाण्डित्य चतुरस्त्र था। क्या साहित्य, क्या व्याकरण, क्या न्याय और क्या वेदान्त, सर्वत्र इनकी अप्रतिहत गति थी। काशी गवर्नमेण्ट सस्कृत कालेज की लिखित वार्षिक सर्वश्रेष्ठ आचार्य परीक्षा को उत्तीर्ण करना वैदुष्य का प्रतिमान है, परन्तु चार विषयो मे आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण करना और वह भी अव्यवधानेन प्रतिवर्ष उत्तीर्ण करना अपने आप मे स्वत एक रेकार्ड है जिसको किसी पण्डित ने अभी तक नही तोडा है। पण्डित भागवताचार्यजी ऐसे ही वावदूक, मेधावी विद्वान् थे जिन्होने साहित्य, साङ्ख्ययोग, न्यायवैशेषिक तथा वेदान्त म एक ही वर्ष मे क्रमश आचार्य परीक्षा मे उत्तीण होकर विपुल कीर्ति अर्जित की है। इन्ही अलौकिक प्रतिभासम्पन्न, अनेक शास्त्र विशारद प्रकाण्ड विद्वान् के बहुमुखी व्यक्तित्व की एक झाकी यहाँ प्रस्तुत की जाती है।

पूर्वपुरुष

पण्डित भागवताचार्यजी कान्यकुब्ज मण्डल के निवासी थे यह मण्डल प्राचीनकाल से आचारवान् सच्चरित्र ब्राह्मणो का निवास स्थल होने से नितान्त प्रख्यात था यहाँ बहुत प्राचीनकाल से तिर्वा ठठिया विष्णुगढ आदि सामन्तनरेशो के द्वारा समादृत, कश्यपगोत्री, सिउर उपाधिसम्पन्न, अवस्थी कुलोत्पन्न कान्यकुब्ज ब्राह्मण रहते थे। इन्ही ब्राह्मणो मे अन्यतम भगवन्त नामक पण्डित को ठठिया के बघेलवशोत्पन्न राजा ने अत्यन्त सम्मान के साथ इक्षुमती नदी के दक्षिण तट पर विद्यमान भदौरी' ग्राम मे जीविका देकर बसाया था। इसी वश मे श्रीवन्द्य नामक पण्डितप्रवर का जन्म हुआ। ये ही भागवताचार्यजी के पूज्य पितामह थे। ये विद्वान् होने के साथ ही साथ प्रख्यातनामा बडे साधक भी थे। इनके हृदय मे वैराग्य उत्पन्न हुआ और इन्होने अपने गाँव से करीब एक योजन (चार कोस) दूर पर स्थित आकिन गाँव के समीप भगवती भागीरथी के दक्षिण तीर पर आमार्य स्वामी नामक गुफा मे भगवान् के ध्यान मे अपने दिन बिताये। ऐसे नैष्ठिक साधक थे ये महापुरुष।

शिक्षा

इनके चार पुत्रो मे ज्येष्ठ पुत्र का नाम था बालकृष्ण अवस्थी। ये भागवताचार्यजी के पूज्य पिता थे। बालककृष्णजी विद्याध्ययन मे विशेष व्यसन रखते थे। प्रथमत इन्होने अपने पिताजी से ही आरम्भिक शिक्षा प्राप्त की। अनन्तर ठठिया निवासी श्रीसहाय चतुर्वेदी के पास बैठकर व्याकरण शास्त्र का पूरा अध्ययन किया। इतने से इनका चित्त सतुष्ट नही हुआ। इनका मन दर्शनशास्त्र के ज्ञान के लिए तीव्र लालसा लिये हुए था। फलत फतेहपुर के चौरासी

ग्राम के निवासी पण्डित जनार्दनाचार्य के अन्तेवासी (शिष्य) बनकर इन्होने दर्शन का, विशेषत न्यायशास्त्र का, तलस्पर्शी अध्ययन किया। पण्डित जनार्दनाचार्यजी ने नवद्वीप मे दर्शनो का गम्भीर अनुशीलन किया था। अपने शिष्य की गुरुसेवा से वे इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने शिष्य के समक्ष दर्शनशास्त्र के रहस्यो का उद्घाटन ही नही किया, अपितु वैष्णवी दीक्षा से मण्डित कर श्रीनारायण के चरणारविन्द का मधुप भी इन्हे बना डाला। अपने पाण्डित्य के अनुरूप इन्हे अध्यापक का पद भी मिल गया और आगरा मे किसी धनाढ्य चतुर्वेदी के द्वारा स्थापित किसी सस्कृत विद्यालय मे ये अध्यापन करने लगे। अपने पिता से इन्होने आयुर्वेद का भी विशेष अध्ययन किया था और इसी वैद्यक वृत्ति से घर पर ही रहकर इन्होने चिकित्सा द्वारा जीविका और ख्याति दोनो ही प्राप्त की।

जन्म

इन्ही बालकृष्णाचार्य के मध्यम पुत्र थे श्रीराम शास्त्री भागवताचार्यजी। इनका जन्म फर्रुखाबाद मण्डल के भदौसी ग्राम मे ज्येष्ठ शुक्ल तृतीया को वि० स० १९१६ (= १८५६ ई०) में हुआ था। बालपन से ही इनकी प्रतिभा के शुभ लक्षण दीखने लगे थे। पिता से ही इन्होने विद्या का प्रारम्भिक अध्ययन किया। पण्डित बालकृष्णाचार्य रीवॉनरेश प्रसिद्ध कवि महाराजा रघुराजसिहजी के द्वारा समादर तथा सम्मान प्राप्त कर रीवॉ मे ही निवास करते थे। पिताजी के साथ ये वहा कुछ दिनो तक रहे। रीवानरेश की राजकीय पाठशाला मे उन दिनो एक दाक्षिणात्य पण्डित महादेवशास्त्रीजी प्रधान अध्यापक थे। उन्होने बालक की प्रतिभा तथा सेवा से प्रसन्न होकर इन्हे समस्त शास्त्रो का मर्मज्ञ बना दिया। ये केवल सात वर्ष के वय मे रीवा आये थे और १३ वर्षों तक निरन्तर अध्ययन कर व्याकरण तथा दर्शन शास्त्रो मे अलौकिक पाण्डित्य अर्जित कर लिया। १६ वर्ष के वय मे पिताजी ने इनका विवाह भी कर दिया जिससे ये पूरे गृहस्थ बन गये

काशी में अध्ययन

१८७६ ई० मे बीस वर्ष के वय मे ये अपनी शास्त्रीय विद्या को परिमार्जित तथा परिष्कृत करने के लिए काशी आये। अब तक ये श्री रगाचार्य के द्वारा श्रीवैष्णवी दीक्षा से दीक्षित होकर प० भगवानदीन अवस्थी से श्रीराम भागवताचार्य के रूप मे परिनिष्ठित हो चुके थे। काशी मे आते ही इनका ध्यान सस्कृत विद्यालय के दर्शनाध्यापक, वैष्णवाग्रणी विद्वान्, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र, **पण्डित राममिश्र शास्त्री** की ओर उनके वैदुष्य की कीर्ति से स्वत आकृष्ट हो गया और उनके चरणो का सान्निध्य इन्हे अनायास ही प्राप्त हो गया। सस्कृतकालेज की परीक्षा देने की ओर इनकी प्रवृत्ति हुई। नाना विद्याओं तथा शास्त्रो के ज्ञान के ऊपर प्रामाणिक पाण्डित्य की मुहर की आवश्यकता उस युग के गवर्नमेण्ट सस्कृतकालेज मे हो गई थी और मौखिक के स्थान पर लिखित परीक्षा का प्रचलन तब आरम्भ हो चुका था। राममिश्रजी की दृष्टि शास्त्रीय अध्ययन के कारण गुरु की ओर आकृष्ट हुई फलत गुरुजी ने एक ही वर्ष मे आचार्य परीक्षा देने के लिए इन्हे उद्बुद्ध किया। फलस्वरूप भागवताचार्य ने वर्षपञ्चक के चार विषयो मे आचार्य की परीक्षा प्रतिवर्ष सम्मान के साथ उत्तीर्ण की और सर्वाधिक अक प्राप्त करने के लिए दीयमान पदको की द्रव्यराशि को ही अपने पारिवारिक व्यय के लिए स्वीकृत किया। इन्होने १८८२ ई० मे साहित्य शास्त्र मे, १८८३ ई० मे साख्ययोग शास्त्र मे, १८८५ ई० मे वेदान्तशास्त्र मे तथा १८८६ ई० मे धर्मशास्त्र मे परीक्षा दी तथा प्रथम श्रेणी

में उत्तीर्ण होने के कारण 'आचार्य' पदवी से मण्डित किये गये। अगले वर्ष १८८७ ई० में इनकी प्रतिभा के मत्सरी अधिकारियो ने एक वर्ष के स्थान पर छह खण्डो में विभक्त कर छह वर्षों में आचार्य परीक्षा देने का नियम बना दिया। फलत इस नियम के अनुसार अधिक काल व्यतीत होने की आशका से इन्होंने अभिलषित व्याकरणाचार्य की परीक्षा देने की अभिलाषा को सदा के लिए ही त्याग दिया। भागवताचार्यजी ने अपने बुद्धि वैभव, अपूर्व योग्यता तथा विशिष्ट परीक्षा चातुर्य का जो प्रतिमान उपस्थित किया, वह सस्कृतकालेज के इतिहास मे एक महनीय घटना बन गई और किसी छात्र ने उसका अतिक्रमण करने की क्षमता आज तक नही दिखलाई। परिश्रम तथा प्रतिभा, शास्त्रीय ज्ञान तथा लेखनचातुरी के ये सचमुच एक प्रतीक रूप मे समादृत हुए।

नौकरी

काशी आने पर जीविका का इन्हे बडा सुयोग प्राप्त हो गया। इगलैण्ड मे उत्पन्न मिस्टर जानसन नामक पादरी उस समय काशी के ख्रिष्टीय (ईसाइ) गिरिजाघरो के धार्मिक अधिकारी थे। उन्हे सस्कृत सीखने की तीव्र लालसा थी। भागवताचार्यजी के पाण्डित्य से आकृष्ट होकर उन्होने इन्हे ही अपना शिक्षक (ट्यूटर) नियुक्त किया और दस रुपया मासिक वेतन लेकर पण्डितजी उन्हे पढाने लगे। [illegible] वर्षों तक यह प्रशिक्षण चलता रहा। परन्तु रामशास्त्री ने सस्कृत कालेज काशी मे अपनी नियुक्ति होने पर इसे बन्द कर दिया। इसी बीच इस अग्रेज पादरी ने पण्डितजी के द्वारा विधिवत् शिक्षित होकर सस्कृत भाषा मे अच्छी व्युत्पत्ति प्राप्त कर ली। वह काशी के विद्वत्समाज मे 'पण्डित जानसन' के नाम से यथार्थत प्रख्यात हो गया। उसने बाईबिल का सस्कृत मे प्रथम बार अनुवाद किया। इससे पूर्व बाइबिल का देववाणी मे अनुवाद करने की किसी पादरी मे क्षमता नही थी। इस अपूर्व महनीय कार्य को उसने भागवताचार्य की सहायता से सम्पन्न कर अपने धार्मिक जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि प्राप्त की। श्रीभाष्य आदि वैष्णव ग्रन्थो का भी उसने अध्ययन किया था तथा उनमे अच्छी योग्यता प्राप्त की थी।

ग्रन्थरचना

सस्कृतकालेज के दर्शनाध्यापक पण्डित चेवनराम त्रिपाठी का स्वर्गवास हो जाने पर उनके रिक्त स्थान पर भागवताचार्य की नियुक्ति सन् १८८९ ई० मे हुई और ये बडे प्रेम तथा परिश्रम से छात्रो का अध्यापन करने लगे। ग्रन्थलेखन की ओर इनकी प्रवृत्ति छात्रावस्था से ही थी और अनेक ग्रन्थो का सशोधन तथा प्रणयन ये करते रहे। इन्होने 'खण्डनखण्डखाद्य' का सम्पादन अपने सतीर्थ्य कुलय शास्त्री के नाम से कर उसकी भूमिका अपने नाम से प्रकाशित की थी। अपने दूसरे मित्र तथा सहाध्यायी पण्डित मोहनराम उदासीन का जीवनचरित्र तथा अन्य ग्रन्थो का प्रणयन किया (नामावली आगे दी गई है)। इन्होंने श्रीभाष्य का विशिष्ट सस्करण प्रस्तुत किया था और वह काशी के ही सस्कृत ग्रन्थों के प्रख्यात मुद्रणालय लाजरस कम्पनी द्वारा प्रचारित 'मेडिकल हाल' प्रेस मे मुद्रित हो ही रहा था कि ये १७०० विक्रमी स० (= १९१३ ई०) में केवल ५४ वर्ष की आयु मे वैकुण्ठवासी हो गये। इनके अग्रेज शिष्य जानसन ने गुरु के अपूर्ण कार्य को पूरा किया और अपने ही नाम से श्रीभाष्य के उस सस्करण को प्रकाशित कराया। गुरु-शिष्य का यह समवेत प्रयास देखने ही योग्य है। अपनी मृत्यु से पाँच वर्ष पूर्व ही इन्हें १९०८ ई० में महामहोपाध्याय की महनीय उपाधि प्राप्त हो चुकी थी।

दिनचर्या

भागवताचार्यजी अपने गुरु के समान ही लेखन कला मे नितान्त निष्णात थे। इनकी दिनचर्या देखकर इनकी अध्यापन पटुता तथा अध्यापन व्यसनिता का पूरा परिचय मिलता है। उन दिनो सस्कृत कालेज मे अध्यापन प्रात काल ही होता था—६ बजे से १० बजे तक। फलत ये प्रात काल स्नानादि कार्य निष्पन्न कर कालेज चले जाते थे। घर लौटने पर उपासना पूजा के अवशिष्ट अशो का सम्पादन कर भोजन करते। कुछ विश्राम के अनन्तर छात्रो को पढ़ाते। सन्ध्या होने से पूर्व ही ये छोटी गैबी तक भ्रमण के लिए निकल जाते। रात मे सन्ध्या वन्दन के बाद १० बजे तक छात्रो का अध्यापन करते। इस प्रकार रात्रिदिव अध्ययन-अध्यापन के अतिरिक्त इन्हे कोई दूसरा कार्य नही था। यदि कही से सभा का निमन्त्रण होता, तो ये वहाँ शास्त्रार्थ चर्चा के लिए अवश्य जाते। शास्त्रार्थ करने मे ये बडे पटु थे। न्यायशास्त्र मे प्रवीणता प्राप्त करने के कारण ये बडे तार्किक थे। शास्त्रार्थ मे ये युक्तियो का व्यूह खडा कर देते थे। अधिकाश सभाएँ पण्डित शिवकुमार शास्त्री के द्वारा ही आयोजित होती थी। फलत वे उनमे नियम से उपस्थित रहते थे और उनका सचालन करते थे। ये कोतवाल (सभा का निमन्त्रण देने वाला व्यक्ति) से शिवकुमार शास्त्रीजी की उपस्थिति के बारे मे सर्वदा पूछ लिया करते थे। यदि उनकी उपस्थिति सभावित होती, तो ये निश्चयेन सभा मे पधारते। यदि वह कहता कि आज शास्त्रीजी के आने की सम्भावना नही है, तब ये इतना कहकर जाने की अनिच्छा प्रकट कर देते कि यदि शास्त्रीजी ही उपस्थित नही रहेगे, तो मेरी सरस्वती की तीक्ष्ण धारा कौन सह सकेगा ? ऐसा था इनका स्वाभिमान और आत्मविश्वास।

व्यक्तित्व

पण्डित भागवताचार्यजी का व्यक्तित्व बडा ही आकर्षक था। माथे पर सफेद बडी पगडी, शरीर पर बगलबन्दी, गले मे उज्ज्वल दुपट्टा, स्वच्छ सुन्दर धोती तथा ललाट पर रामानुजी तिलक--ऐसे सुन्दर वेष में शास्त्रीजी का व्यक्तित्व इतना रोचक तथा आवर्जक था कि जो कोई भी इन्हे देखता, बलात् आकृष्ट हुए बिना नही रहता था। अवकाश मे भी अध्यापनशील, रात के दस वादन तक विद्यार्थी समूह के पाठन मे सलग्न, समस्त शास्त्रो के पाठन मे दक्ष, शास्त्रार्थ के समय साधुवाद के सत्कार से मण्डित, आचार्यजी स्वभाव से निर्मत्सर, सदाचारनिरत, सत्यवादी तथा न्यायप्रिय थे। **श्रीवैष्णव** सदाचार के जीवन्त प्रतीक शास्त्रीजी के आचार तथा व्यवहार मे तनिक भी अन्तर न था। तेईस वर्षों के सुदीर्घकाल मे इन्होने काशिराजकीय विद्यालय मे विद्यादान मुक्तहस्त मे दिया, अपनी सचित तथा उपार्जित विद्या को दोनो हाथो से लुटाया। रास्ते मे दर्शको के मुख से अनायास ही निकल पडता -'पद्भ्या व्रजति पाण्डित्यम्'—यह देखो, पाण्डित्य की प्रतिमा पैदल चल रही है। शास्त्रीजी थे ही एक असामान्य विचक्षण।

ग्रन्थों की रचना

भागवताचार्यजी प्रामाणिक और मौलिक ग्रन्थो तथा व्याख्या ग्रन्थो का निर्माण कर अपने जीवनकाल मे ही लब्धकीर्ति थे। परन्तु दुःख इसी घटना पर है कि केवल दो सामान्य काव्यग्रन्थो (सख्या ११ तथा १२) के अतिरिक्त इनके अन्य ग्रन्थ आज भी हस्तलेख के रूप मे ही अपनी सत्ता बनाये हुए है—अभी तक प्रकाश मे नही आये। इनके प्रणीत ग्रन्थो की सूची इस प्रकार है—

(१) **नयकमलाकरः** (तेरह सौ श्लोको मे निबद्ध नीतिग्रन्थ)

(२) **कादम्बरीवरीयस्ता** (उत्तरार्ध कादम्बरी की विशद व्याख्या, पूर्वार्ध के विषम स्थलो पर विस्तृत टिप्पणी से मण्डित)

(३) **हरविजयकाव्य-टिप्पणी** (सुविस्तृत टिप्पणी)

(४) **कुमारचरित-चारुता** (दशकुमारचरित की टीका)

(५) **काव्यप्रकाशस्य दोषोद्धारः**

(६) **भारत-चम्पू-टिप्पणी**

(७) **सुवृत्तरत्नावली** (प्राचीन सस्कृतकवियो के स्वरूपवर्णन से सबद्ध काव्य)

(८) **श्रीतातचरणालोकः** (स्व-कौटुम्बिक जीवन–वृत्तान्तमय काव्य)

(९) **भवभेषजम्** (वेदान्त विषयक श्लोकमय ग्रन्थ)

(१०) **हिन्दी कविकीर्ति-कौमुदी** (हिन्दी के दोहा नामक छन्द मे निबद्ध)

(११) **समस्या-समज्या** (समस्यापूर्ति का नवीन मौलिक ग्रन्थ, प्रकाशित)

(१२) **अन्योक्तिमुक्तावली** (अन्योक्ति विषयक काव्य, प्रकाशित)

काव्य-प्रतिभा

अन्तिम दोनो काव्यग्रन्थ है। इनके अनुशीलन से भागवताचार्यजी की काव्य रचना-चातुरी का पदे-पदे साक्षात्कार होता है। **समस्या-समज्या** १७२ समस्याओं का मजुल सग्रह है। कवि का उद्देश्य है नवीन छात्रो को समस्यापूर्ति की शिक्षा देना। सस्कृतकालेज के साहित्याचार्य के अन्तिम पत्र मे समस्यापूर्ति का प्रश्न आता है उसी का समाधान करने के लिए इस ग्रन्थ का प्रणयन हुआ है। किन्ही किन्ही समस्याओं की तो दस-बारह प्रकार से पूर्ति की गई है। एक दो उदाहरण पर्याप्त होगे—

(१) **मशकगलकरन्ध्रे हस्तियूथं प्रविष्टम्** ॥

सुतनुनिटिलमध्ये घर्मजं स्वेदबिन्दुं
गजनिकर-सुबिम्बैः पूरित वीक्ष्य कान्त. ।
तृषित-मशक-पीतं सस्मितं संबभाषे
मशक-गलक-रन्ध्रे हस्तियूथं प्रविष्टम् ॥[1]

आशय—सुन्दरी के ललाट के बीच धूप के कारण पसीने की बूँदो मे हाथियो के झुण्ड का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर हुआ। उसे प्यासा मशक पी गया। इस घटना को देखकर प्रियतम मुस्कुराते हुए कहने लगा 'मशक (मच्छड) के गले के छेद मे हाथियो का झुण्ड घुस गया है।'

इस समस्या की पूर्ति पाँच प्रकार से की गई है।

(२) **पिपीलिका चुम्बति चन्द्रबिम्बम्** ॥

अङ्कं च पङ्कं च कलङ्कमङ्के
चन्द्रस्य केचिद् ब्रुवते ब्रुवन्तु ।
ब्रूमः सुधास्वाद-परैकसक्ताः
पिपीलिका चुम्बति चन्द्रबिम्बम् ॥[2]

१ समस्या-समज्या, प्रकाशक श्रीदेवाचार्य, काशी, स० २०१०, पृ० ३४।
२ वही, पृ० २२।

चन्द्रमा के मध्य में विद्यमान काली वस्तु को कोई अक (चिह्न) कहता है, कोई पक मानता है, तो कोई कलक बतलाता है। वे लोग कहते रहे। परन्तु हम लोग कहते है—अमृत के स्वाद चखने मे आसक्त यह चीटी है जो चन्द्रबिम्ब का चुम्बन कर रही है। अच्छी कल्पना है।

इस समस्या की विभिन्न आठ प्रकारो से पूर्ति है।

(३) **श्यामलो जयति यामिनीपतिः ॥**

इन्द्रनील-घटितोपनेत्रतो वीक्ष्यमाणमखिलं तु नीलति ।
श्वेतमानमपि वस्तु तत्परं श्यामलो जयति यामिनीपतिः ॥[1]

इन्द्रनीलमणि के द्वारा बनाये गये चश्मे (उपनेत्र) से देखने पर सब वस्तुएँ नीले रग की ही दीखती है। उजली वस्तु भी नीले रग की मालूम पडती है। यही कारण है कि धवल चन्द्रमा काला दिखाई दे रहा है। जय हो काले चन्द्रमा की !

(४) **विप्रतिषेधे परं कार्यम् ॥**

गृह-जालमेतदास्ते वेणु- रवेणाथ शसति च कृष्ण. ।
भज सखि ! पाणिनिसूत्रं विप्रतिषेधे परं कार्यम् ॥

कर्तव्यविमूढ राधा से उसकी सखी ललिता कह रही है- यह घर का जजाल पहिले है और उधर कृष्ण अपनी वशी बजाकर बुला रहा है। तब इस धर्मसकट मे क्या करूँ ? क्यो पाणिनि महाराज का तो सूत्र है कि तुल्यबल विरोध होने पर परकार्य करना चाहिए। कृष्ण का अनुसरण करो। गृह कार्य छोडो इस समस्या की पूर्ति नौ प्रकार से की गई है (पृ० ४६ ५०)।

अन्योक्तिमुक्तावली—बडी अभिराम अन्योक्तियो का प्रणयन शास्त्रीजी की कमनीय काव्यरचना का चमत्कार है। कविता ऊँचे दर्जे की है तथा सूझबूझ भी निराली ही है। वृक्षो के सम्बन्ध की ३६ अन्योक्तियाँ है जिनमे कल्पवृक्ष, चन्दन, आम्र, अशोक, कदली आदि ३६ वृक्षो को लक्ष्य कर अन्योक्तिया निबद्ध की गई है। प्रतिभा का चमत्कार अवलोकनीय है—

(१) **यदपि न वनपाल एष रक्षामनुरूपां भवतश्चकार चारो ।**
सुरभयसि वनं तथापि यत् तद् बकुल ! कुलव्रतमेव पालनीयम् ॥

(२) काक पर अन्योक्ति देखिए। अनुप्रास का मनोरम साम्राज्य है

काकोल कोकिल कलां कलमाऽनुकालं
माकन्द-कुञ्ज-कुहरे विहर, प्रकामम् ।
काये च कञ्चन किलाऽऽवह कालिमानं
स्यात् काकली कलकृतौ कतमोऽभ्युपायः ॥

बगुले पर एक सुन्दर अन्योक्ति इस प्रकार है—

स्वच्छन्दं सरसीषु सञ्चरतरां स्वच्छश्च बोभूहि भो
मुक्ताशुक्तिषु च प्रपञ्चमतरां चञ्चूसमुच्चञ्चनाम् ।
एकं मा कुरु मा कुरु प्रिय सखे ! प्रह्वं तु कह्व ब्रुवे
नीरक्षीर-विवेचनैकचतुरैर्हंसैस्तु यत् स्पर्धसे ॥

हे बगुला (कह्व), तुमसे हमारी एक प्रार्थना है। तुम तालाबो मे स्वच्छन्द रूप से विचरण किया करो। मोतियो के चुनने मे अपनी चोच लगाकर अपनी कला प्रदर्शित करो।

---

१ वही, पृ० ३६।

तुम्हारे इस आचरण से मुझे कोई शिकायत नही है। परन्तु एक बात जिसके लिए मै आग्रह कर रहा हूँ वह यह है कि नीर क्षीर विवेक करने वाले हसो के साथ तुम स्पर्धा न किया करो। उनके साथ स्पर्धा करना तुम्हारे लिए बहुत ही अनुचित है।

कीदृशोऽस्त्युभयतो धृतपुच्छ. कस्य कर्षकपतेर्महिषोऽयम् ।
सोऽप कर्षति कथ च हलैवेत्यत्र का कथिसद प्रतिवाच ॥

गाँव का रहने वाला था अल्हड गँवार। उसने कभी हाथी नही देखा था। पहली बार उसने हाथी देखा तो वह उसके महावत से पूछने लगा। कहो भाई, दोनो ओर से पूँछ धारण करने वाला यह कौन जानवर है? मै तो इसे भैसा समझ रहा हूँ बताओ यह किस किसान का भैसा है? आखिर वह इसे कैसे जोतता होगा? इन प्रश्नो को सुनकर महावत चुप हो गया क्या जवाब दे गाँव के अल्हड गवई को। यह विवरण कितना स्वाभाविक तथा रोचक है ऐसी सुन्दर अन्योक्तियो की रचना मे भागवताचार्यजी अपना प्रतिस्पर्धी नही रखते थे।

विद्वत्ता

स्वामी भागवताचार्यजी साहित्य के साथ ही साथ दार्शनिक विषयो के विशेषत श्रीवैष्णव सिद्धान्तो के पारम्परिक विद्वान् थे दक्षिणभारत मे श्रीवैष्णव मतावलम्बी विद्वानो ने अपने मत के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का सस्करण प्रकाशित किया था परन्तु ग्रन्थ तमिल लिपि मे होने के कारण उत्तरभारतीय विद्वानो के लिए उनका अध्ययन असाध्य नही, तो दु साध्य अवश्य था इस त्रुटि को दूर करने के लिए स्वामी भागवताचार्यजी तथा उनके पूज्य गुरु स्वामी रामिमिश्र शास्त्रीजी ने सत्प्रभावेन इन ग्रन्थो का देवनागरी लिपि मे सस्करण प्रस्तुत किया और काशी के मेडिकल हाल प्रेस तथा चौखम्भा कार्यालय ने प्रकाशित कर बडा ही शोभन कार्य किया। गुरु शिष्य दोनो ही श्रीवैष्णव मतावलम्बी थे अतएव इसके सिद्धान्तो से पूर्ण परिचित होने के कारण उनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थ नितान्त प्रामाणिक तथा उपयोगी है। इन दोनो विद्वानो के सहयोग से श्रीवैष्णव ग्रन्थो का प्रथम प्रकाशन नागराक्षर मे सम्भव तथा सुलभ हो सका।

भागवताचार्यजी के द्वारा सम्पादित, सशोधित तथा चौखम्भा सस्कृत ग्रन्थमाला मे वि० स० १९५७ (= १९०० ई०) मे प्रकाशित लोकाचार्य द्वारा प्रणीत तत्त्वत्रय नामक ग्रन्थ (वरवर मुनि प्रातिभाष्य से उपबृहित) इसी कोटि मे आता है। मूल ग्रन्थ तथा भाष्य दोनो ही मूलत तमिल भाषा मे ही निबद्ध थे। इन्ही का सस्कृत मे अनुवाद किया वृन्दावनवासी श्री रङ्गाचार्य स्वामी ने और उन्हीकी कृपा से यह महनीय ग्रन्थ उत्तरभारतीय विद्वानो को अध्ययन मनन के लिए सुलभ हो सका। भागवताचार्यजी का यह सस्करण भाष्यसहित इस ग्रन्थ का नागराक्षरो मे आद्य सस्करण है। भागवताचार्यजी की काव्यकला का परिचय ऊपर दिया गया है। यहाँ उनके सस्कृत गद्य का नमूना इसी ग्रन्थ की भूमिका से दिया जा रहा है—

संस्कृत की गद्य शैली

विशिष्टाद्वैतराद्धान्ते श्रीभाष्यश्रुतप्रकाशिकाप्रभृतिषु महानिबन्धेषु निवेशमर्थयमानानां कृते पुरस्तात् तदीयपदार्थावबोधो भवति सर्वथा प्रार्थनीयः। तत्-सिद्धये च सन्त्येव वेदार्थसंग्रहाः तत्त्वमुक्ताकलापप्रमुखाः प्रबन्धा., तथापि न तेषु सर्वविद्वज्जनस्यापि सहसावबोधसम्भवे, दूरायेतः साधारणजनस्येति

प्रथमभूमिकायामभिनवाधिकारिणां कृते तत्त्वत्रयं भाष्यसनाथमुपयोगितां भजेत्, अधिकमनधिजिगांसूनां च पर्याप्नुयात् तावत् प्रबोधाय।

भागवताचार्यजी की लेखनशैली बडी सरस और सुबोध है। फलत संस्कृत पद्य के समान संस्कृत गद्य की रचना मे भी ये सर्वथा कृतकार्य एव श्लाघनीय थे। अपने जीवनकाल के अन्तिम समय मे ये अपने शिष्य जानसन साहब के सहयोग से श्रीभाष्य का भी एक विमर्शात्मक संस्करण मुद्रित करा रहे थे, परन्तु उसकी समाप्ति के पूर्व ही आपका स्वर्गवास हो गया। हा हन्त !!!

भागवताचार्यजी के एकमात्र पुत्र का नाम **देवाचार्य अवस्थी** था। पिताजी का अल्पायु मे निधन हो जाने के कारण ये उनकी छत्रच्छाया से सर्वदा के लिए वञ्चित हो गये। फलत संस्कृत का विशेष अध्ययन करने का अवसर तथा अवकाश इन्हे प्राप्त न हो सका। परन्तु भागवताचार्यजी का कवित्वमय हृदय इन्हे मानो रिक्थ मे मिला था। **ब्रजभाषा** मे बडी ही सुहावनी सरस कविता करते थे। हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् लाला भगवानदीन के सम्पर्क मे आने से इन्होने काव्यरचना मे अच्छी प्रौढि प्राप्त कर ली। लालाजी की इन पर बडी दया थी। कविसमाज मे कविता पढने के लिए साथ ले जाते तथा पढने के लिए प्रेरित करते। लालाजी के द्वारा स्थापित हिन्दी दीनविद्यालय मे आप अध्यापन का कार्य करते थे। विद्यालय की सम्पूर्ण व्यवस्था आपही के द्वारा होती थी। विद्यालय की उन्नति के लिए आपका प्रयास स्तुत्य है। हाल मे ८५ वर्षों की आयु मे आप दिवगत हुए है।



पण्डित मोहनलाल वेदान्ताचार्य
(उदासीन साधु)

पण्डित मोहनलाल उदासीन, वेदान्ताचार्य आदि उपाधियो से मण्डित विद्वान् काशी मे भागवताचार्य के सतीर्थ्य थे। उनका आविर्भाव गत शताब्दी के उत्तरार्ध मे हुआ। इन्होने पजाब के गुरुदासपुर जिले मे डेहरा नामक गॉव मे जन्म पाया था। ये सिक्खो के पचम गुरु नानक के वश की तेरहवी पीढ़ी मे पैदा हुए थे। ये जन्म से ही गायन आदि अनेक विद्याओं मे निपुण थे। परन्तु स्वभाव से ही विरक्त होने के कारण ये गाँव-गॉव मे भजन-कीर्तन करते हुए काशी आ पहुँचे। यही पर इन्होने शास्त्रो के अध्ययन का उचित अवसर पाकर अपने को विद्या के अध्ययन मे लगाया। उस समय के सस्कृत कालेज के दर्शनशास्त्र के सबसे प्रकाण्ड पण्डित महामहोपाध्याय पण्डित रामेमिश्र शास्त्री थे। उन्ही के चरणो मे बैठकर इन्होने वेदान्त आदि शास्त्रो का अध्ययन किया। इनकी बुद्धि इतनी निर्मल एव प्रखर थी कि थोडे ही दिनो मे इन्होने वेदान्त आदि के उच्चतम ग्रन्थो का अध्ययन कर गवर्नमेण्ट सस्कृत कालेज की 'वेदान्ताचार्य' परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके पश्चात् इन्होने अनेक शास्त्रो का मनन कर उनमे विद्वत्ता प्राप्त की। इसी कालेज के एग्लो सस्कृत विभाग मे इन्होने भौतिक शास्त्र का भी अध्ययन किया।

इन्होने जीविका के लिए कोई वृत्ति स्वीकार नही की। अपने गुरु पण्डित राममिश्र शास्त्री की प्रेरणा से इन्होने लेखन कार्य मे अपने चित्त को लगाया और इस प्रकार अनेक ग्रन्थो का प्रणयन किया जो अपने विषय की बहुत ही महत्त्वपूर्ण, प्रामाणिक रचनाएँ है। इन दार्शनिक ग्रन्थो का प्रणयन ही इनके जीवन की परम उपलब्धि है। इन्होने महर्षि दयानन्द स्वामी के साथ अनेक बार शास्त्रार्थ किया था। इनके ग्रन्थो के नाम निम्नांकित है —

(१) दोषदूषकतामूलनिर्णय ।

(२) महामोहविद्रावणम् ।

(३) वेदान्तसिद्धान्तादर्श ।

(४) खण्डनगर्तप्रवेशिनी ।

(५) वृत्तिप्रभाकर-अनुवाद (पद्यो मे) ।

(६) स्वानुभवोद्रेक ।

(७) शिल्पचमत्कारचिन्तामणि (हिन्दी) ।

(८) प्रतिबिम्बचित्रचिन्तामणि (हिन्दी) ।

इनमे से अन्तिम दो ग्रन्थ हिन्दी मे लिखे गये है। शेष सब सस्कृत मे निबद्ध है। इनके ग्रन्थो मे **खण्डनगर्तप्रवेशिनी** महाकवि श्रीहर्ष के **खण्डनखण्डखाद्य** ग्रन्थ की नूतन मौलिक

टीका है। इस टीका को लिखने के लिए कालेज के प्रिंसिपल डॉ० थीबो की प्रेरणा तथा महामहोपाध्याय पण्डित राममिश्र शास्त्री का आदेश इन्हे प्राप्त हुआ था। तभी उदासीनजी ने इसकी रचना की थी। इस ग्रन्थ के नाम से ही प्रतीत होता है कि इसमे श्रीहर्ष के प्रसिद्ध ग्रन्थ **खण्डनखण्डखाद्य** की आलोचनात्मक टीका की गयी है। यह ग्रन्थ मोहनलालजी के मौलिक चिन्तन का परिणाम ज्ञात होता है। **वृत्तिप्रभाकर** का संस्कृत पद्यानुवाद भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। स्वामी निश्चलदास उदासीन की हिन्दी रचना **वृत्तिप्रभाकर** हिन्दी मे निबद्ध वेदान्त ग्रन्थो मे अत्यन्त महनीय माना जाता है। इस ग्रन्थ मे लेखक की विद्वत्ता के साथ ही साथ इनकी स्वानुभूति भी प्रदर्शित है। इसीलिए इसका इतना महत्त्व है। स्वामी विवेकानन्द ने इस ग्रन्थ की भूरि भूरि प्रशंसा की है। संस्कृत से अनभिज्ञ व्यक्तियो के लिए, वेदान्त के सिद्धान्तो को समझने के लिए यह ग्रन्थ अचूक माध्यम है वेदान्त के सिद्धान्तो को संस्कृत मे पद्यबद्ध करके इन्होने पण्डितो के लिए भी इसे सुलभ बना दिया है। इस प्रकार इन्होने अनेक ग्रन्थो की रचना कर अनन्त कीर्ति प्राप्त की थी।

वेदान्ताचार्य मोहनलालजी उदासीन सम्प्रदाय के एक विरक्त साधु थे। इन्होने अपने जीवन को अध्यात्म विद्या के प्रचार प्रसार के लिए समर्पित कर दिया था। शास्त्रार्थ की कला मे ये नितान्त कुशल थे अपने वादियो का खण्डन करने मे ये शास्त्रप्रमाण के साथ ही साथ प्रौढ युक्तियो का भी पूर्णतया उपयोग करते थे।

महामोहविद्रावण की समीक्षा

वेदान्ताचार्य मोहनलाल के ग्रन्थो मे **महामोहविद्रावण** वैदिक धर्म तथा दर्शन के खण्डनकर्ताओं के सिद्धान्तो का खण्डन कर वैदिक धर्म के मन्तव्यो का शास्त्र तथा युक्तियो के द्वारा पूर्णतया मण्डन करता है। यह ग्रन्थ १९४० वि० स० (= १८८३ ई०) मे काशी से ही प्रकाशित हुआ था। इसके प्रथम प्रकाश (परिच्छेद) मे स्वामी दयानन्द के इस मत का प्रमाणपुरःसर खण्डन किया गया है कि 'ब्राह्मणग्रन्थ श्रुति के अन्तर्गत नही है, अतः मान्य नही है। जहाँ वेद संहिताएँ अपौरुषेय है, वही ब्राह्मणग्रन्थ पौरुषेय है' आदि। वेदान्ताचार्य ने व्याकरण के त्रिमुनि (पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि) तथा षड्दर्शनो के रचयिता कपिल, कणाद आदि महर्षियो के ग्रन्थो से प्रचुर प्रमाण इस मत के खण्डन मे उपन्यस्त किये है। इनकी भाषा बडी प्रौढ है तथा लेखनशैली पूर्णतया शास्त्रीय है स्वामी दयानन्दजी का काशीस्थ पण्डितो के साथ शास्त्रार्थ १९२६ वि० स० कार्तिक शुक्ल द्वादशी मगलवार को दुर्गाकुण्ड के समीपस्थ आनन्दबाग मे हुआ था। इस घटना के १६ वर्ष के भीतर ही इतने प्रमेयबहुल प्रौढ ग्रन्थ की रचना कर पण्डित मोहनलालजी ने अपने गम्भीर शास्त्रानुचिन्तन, प्रकृष्ट शास्त्रीय पाण्डित्य तथा उत्कृष्ट लेखनशैली का जो परिचय दिया है वह नितान्त श्लाघनीय है। इसके अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनका वेद तथा दर्शन का पाण्डित्य कितने ऊंचे स्तर का था। इनकी लेखनशैली की प्रगल्भता के दो नमूने यहाँ दिये जाते है

(क) प्रतारयत्वेष पाञ्चनदाननभिज्ञान् यवनविद्यामात्राभ्यासिनः कायस्थानपरान् वा तथाविधान्, परमस्य वेदप्रतारणं खेदयत्यस्मदीयं चेत इत्येतस्य कतिपयप्रधान-विडम्बना-निराकरणायायमुद्यमोऽस्मदीयो माऽभूद् गर्हणाविषयः। नहि पञ्चास्यो मशके महिषे शशकेऽवगत्य बलतारतम्यं प्रवर्तते, परन्तु तस्य सा निजा वृत्तिर्यदसावनधिगत-विपक्ष-बलतारतम्य एव न संसहते विपक्षमात्रम्।

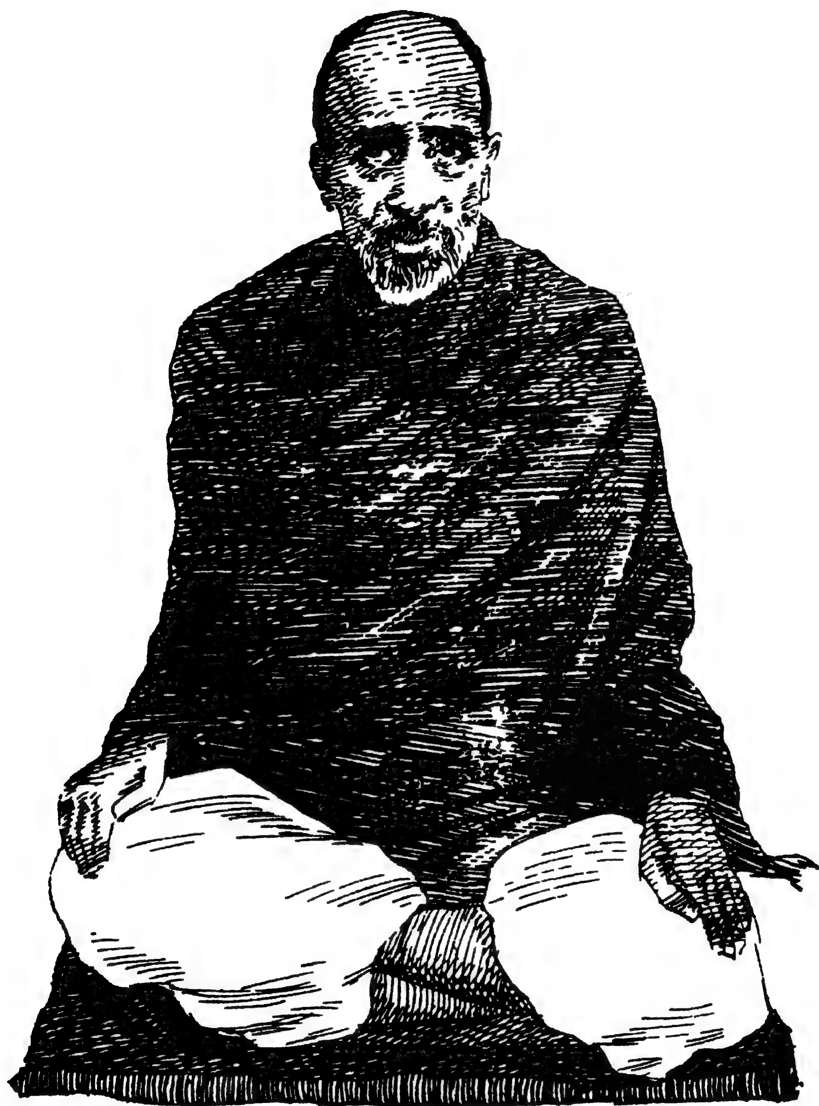
- ग्रन्थ की भूमिका से

(ख) ऋषिभिरुक्तत्वात् इति कपटभिक्षोस्तृतीयो महामोहः। अत्र ब्राह्मणानि न वेदा ऋषिभिरुक्तत्वादिति न्यायकारः । अत्रायममाधको हेतुः ऋष्युक्तत्वस्य ऋगादिसाधारणत्वात्। ऋचोऽप्यपाठिषुरेवर्षय न तावता तेषां वेदत्वव्याहतिः । यदि ऋष्युक्तत्वेन ऋषिप्रणीतत्वममिप्रैषि, तदा ब्राह्मणान्यपि न ऋषिप्रणीतानीति 'ऋषिप्रणीतत्वात्' इति स्वरूपासिद्धो हेतुः।

ग्रन्थ के प्रथम प्रबोध से उद्धृत

इससे स्पष्ट द्योतित होता है कि वेदान्ताचार्य मोहनलालजी काशी के प्रथम कोटि के पण्डितो मे अन्यतम थे। अध्यापन के साथ ही ग्रन्थो के निर्माण मे भी इनकी लोकातीत प्रतिभा विराजती थी।





श्री नित्यानन्द पन्त पर्वतीय

श्री नित्यानन्द पन्त पर्वतीय

(आस्पद—पन्त, उपाधि—महामहोपाध्याय)

महामहोपाध्याय पण्डित नित्यानन्द पर्वतीयजी का जन्म कूर्माचल के एक विशिष्ट ब्राह्मण कुल मे हुआ था। पण्डितजी के प्रपितामह श्री नीलाम्बर पन्त अलमोडा जिले के तिलाडी गॉव मे काशी मे त्याग तपस्यामय जीवन बिताने की इच्छा तथा भूतभावन विश्वनाथ के पादार्चन की अभिलाषा से आये। ये बडे तपस्वी, दार्शनिक एव योगी थे। गगा और वरुणा के सगम पर स्थित आदिकेशव के मन्दिर के समीप ही रहते थे। विद्वान् होने के साथ ये योगी भी थे तथा मार्कण्डेयेश्वर मे गगा गोमती के पावन सगम पर जाकर इन्होने योगबल से जल समाधि ग्रहण की।

इनके विषय मे यह जनश्रुति बहुत ही प्रख्यात है कि काशी का ही कोई ब्राह्मण गाय की हत्या करने के प्रायश्चित्त के निमित्त पन्तजी के पास आया। इसके पूर्व ही वह काशी के धर्मशास्त्रियो के द्वारा निर्दिष्ट प्रायश्चित्त का विधान कर चुका था और अपने को उस घोर पाप से मुक्त मान बैठा था। उसने पन्तजी से आग्रह किया कि आप भी मुझे गोहत्या के पाप से शुद्ध स्वीकार कर ले। पण्डित नीलाम्बर पन्त ने उसके आचार प्रकार को देखकर कहा कि अभी तक तुमने उचित प्रायश्चित्त नही किया है फलत तुम शुद्ध नही हुए हो। यदि तुम अपने हाथो गायो के सामने दूब रखो और वे उसे खाने लगे, तो मै तुमको शुद्ध मान लूगा। उस ब्राह्मण ने हरी हरी दूब की मुट्ठी गायो के सामने रख दी, परन्तु गायो ने उसे छुआ तक नही। ब्राह्मण के आग्रह से इन्होने गोवध का उचित प्रायश्चित्त बताया जिसके आचरण से वह उस घोर पाप से सर्वथा मुक्त हो गया। सुनते है कि अब उसके हाथ की दूब विश्वनाथ जी के नन्दी ने स्वय खा कर उसकी विशुद्धि पर मोहर लगा दी थी

जन्म

पर्वतीयजी के पिता एव पितामह का जन्म काशी मे हुआ था। इसी समय काशी मे एक दूसरा पर्वतीय ब्राह्मण परिवार भी अलमोडे जिले के ज्योली गॉव से आकर यहॉ निवास करने लगा था। यह परिवार **पण्डित गगाराम त्रिपाठी शास्त्री** का था। ऊपर कहा जा चुका है कि ये ही गगारामजी काशी की नव्य व्याकरण परम्परा के उद्भावक रहे है। नागेशभट्ट की शेखरद्वयी के अध्ययन अध्यापन की परिष्कार शैली का सर्जन कर आपने व्याकरण शास्त्र की एक नई परम्परा चलाई जो अबाध गति से आज भी चल रही है। पण्डित नित्यानन्दजी इन्ही पण्डित गगारामजी के दौहित्र-पुत्र थे। इस प्रकार पर्वतीयजी मे पितृपरम्परा से प्राप्त त्याग-तपस्या का एव मातृपरम्परा से प्राप्त पाण्डित्य-वैदुष्य का अपूर्व समन्वय था। ऐसे तपस्वी विद्वान् की धर्मशास्त्र के आचरण तथा व्यवस्थापन के प्रति अभिरुचि होना पैतृक रिक्थ माना जा सकता है।

पं० नित्यानन्द पर्वतीय के पिता का नाम नामदेव पन्त था। नित्यानन्दजी का जन्म काशी में सं० १९३४ वि० तदनुसार सन् १८६७ ई० में हुआ था।

अध्ययन

यज्ञोपवीत संस्कार हो जाने के पश्चात् इन्होंने अपने पिता से ही अपनी वाजसनेयी शाखा की संहिता का विधिवत अध्ययन किया। वेद, शास्त्रादि का अभ्यास होने के कारण कर्मकाण्ड और धर्मशास्त्र पर इनका सम्यक् अधिकार हो गया। इसके अनन्तर इन्होंने महामहोपाध्याय पण्डित गंगाधर शास्त्री के चरणों में बैठकर व्याकरण आदि अनेक शास्त्रों का अध्ययन, मनन और आलोडन कर प्रकृष्ट प्रौढ़ि प्राप्त की। इनका ज्ञान नाना शास्त्रों के विषय में गुरु की कृपा से अत्यन्त गम्भीर था। इन्होंने न्याय, मीमांसा, वेदान्त और धर्मशास्त्र का इतने मनोयोग से आलोडन तथा चिन्तन किया कि यावज्जीवन ये शास्त्र इनकी जिह्वा पर विराजमान रहे। जब ये केवल उन्नीस वर्ष के थे तभी (सं० १९४३ वि० – १८८६ ई० में) बड़े गौरव तथा सम्मान के साथ इन्होंने व्याकरणाचार्य की उपाधि प्राप्त की। गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, काशी में जब मौखिक के स्थान पर लिखित परीक्षा होने लगी तब ये सर्वप्रथम छात्र थे जिनको यह उपाधि मिली थी। उस समय परीक्षाओं में प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी का विभाजन प्रारम्भ नहीं हुआ था। जो छात्र प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होता था उसे आचार्य और द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण छात्र को उपाध्याय की पदवी दी जाती थी। पं० नित्यानन्दजी ने प्रथम श्रेणी में परीक्षा उत्तीर्ण कर व्याकरणाचार्य की उपाधि अर्जित की थी।

अध्यापन

सन् १८९८ ई० में सेन्ट्रल हिन्दूकालेज की स्थापना की गई थी जिसका प्रधान उद्देश्य हिन्दू धर्म तथा संस्कृति की प्रतिष्ठा तथा प्रचार करना था। पं० नित्यानन्दजी ने इसी सात्त्विक भावना से प्रेरित होकर इस कालेज की स्थापना में सक्रिय योगदान दिया। इन्होंने डा० भगवानदास तथा डा० एनी बेसेन्ट के साथ इस कालेज को मूर्तरूप प्रदान किया। इस कालेज की स्थापना करने के पश्चात् इन्होंने इस महाविद्यालय में अध्यापन का कार्य करना प्रारम्भ किया। ये लगातार यहाँ सन् १९०६ ई० तक प्राध्यापक पद पर प्रतिष्ठित रहे। इसी काल में देवदुर्विपाक से इनकी पत्नी का देहान्त हो गया। अभी इस विषम दुःख को शास्त्रीजी विस्मृत भी नहीं कर पाये थे कि कुछ दिनों के पश्चात् इनके एकमात्र पुत्र की मृत्यु के रूप में इनपर भीषण वज्रपात हुआ। इस वज्राघात से शास्त्रीजी का हृदय नितान्त भग्न हो गया और ये जीवन से उदास रहने लगे। फलस्वरूप इन्होंने सन् १९०६ ई० में कालेज की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। यद्यपि इन्होंने वैतनिक अध्यापन सेवा से निवृत्ति प्राप्त कर ली थी तथापि ये आजीवन अपने घर पर छात्रों को विद्यादान देते रहे। इनका समस्त जीवन इसी सात्त्विक विद्यादान के कार्य में व्यतीत हुआ। सन् १९२१ ई० में सरकार ने इन्हें महामहोपाध्याय की पदवी से विभूषित किया था। इसके पश्चात् इन्होंने अपना जीवन निःशुल्क अध्यापन में बिताया और सं० १९८८ वि० (१९३१ ई०) में आतुर सन्यास लेकर गोलोक प्राप्त किया।

स्वाभाविक विरक्ति

पण्डित नित्यानन्दजी स्वभाव से ही विरक्त थे। वेदान्त के अध्ययन से तथा धर्मशास्त्रों के चिन्तन से इनके हृदय में वैराग्य की भावना दृढ़ होती गयी। इनकी तीव्र अभिलाषा थी सन्यास की दीक्षा ले लेने की, क्योंकि गृहस्थाश्रम के दृढ़ बन्धनों से मुक्त होने का सौभाग्य

इन्हें प्राप्त था। संन्यास लेने का सुन्दर अवसर इनके सामने तब उपस्थित हुआ जब काशी के बाहर के किसी विरक्त तथा विद्वान् संन्यासी से इनका सम्पर्क हुआ। उस संन्यासी ने संन्यास की दीक्षा लेने का इनसे बड़ा आग्रह किया। अतः ये अपने गुरु महामहोपाध्याय पण्डित गंगाधर शास्त्री के पास गये और अपना धर्म-संकट उन्हें कह सुनाया। सासारिक कार्यों में चतुर शास्त्रीजी ने व्यग्यपूर्वक अपने शिष्य से कहा कि काशी में सभी गुरु होते हैं, चेला कोई नहीं बनता। अतः तुम्हारे जैसे विद्वान् व्यक्ति के लिए संन्यास में दीक्षित होने की कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु यदि तुम्हारी उत्कट अभिलाषा संन्यास ग्रहण करने की ही है तो तुम मेरे सामने ऐसे दो शिष्यों को उपस्थित करो जिन्हे शास्त्रों का सम्यक् अध्यापन कर तुमने वैदुष्य से सम्पन्न बनाया है। तुम्हें विद्वान् बनाने में मैने जो अश्रान्त परिश्रम किया है उसकी गुरुदक्षिणा मेरे लिए यही होगी। इन वचनो को सुनकर पन्तजी मौन हो गये और सन्यासी बनने का इनका हौसला सदा के लिए पस्त हो गया परन्तु अपने गुरु के आदेशानुसार सन्यासी बनने की जो शर्त थी उसे पूरा कर लेने के बाद ही सन्यास लेना इन्होंने उचित समझा। अनेक शिष्यों को इन्होने अपनी शिक्षा-दीक्षा से वैदुष्यसम्पन्न बनाया। इनके दो छात्र इनके समान ही 'महामहोपाध्याय' की पदवी पाने मे कृतकार्य हुए थे। तब जीवन के अन्तिम क्षणो में इन्होने आतुर सन्यास लिया और इस प्रकार अपने हृदय की इस गुप्त अभिलाषा की भी पूर्ति की थी।

काशी के कालभैरव मुहल्ले मे स्थित पर्वतीय धर्मशाला आपके ही उद्योग का परिणत फल है। यह नित्यानन्द धर्मशाला उन पर्वतीय तीर्थयात्रियो के लिए बड़ा ही सुखद तथा सुलभ विश्राम स्थान है जो काशी मे तीर्थयात्रा के निमित्त आकर धार्मिक अनुष्ठानों का विधिवत् निष्पादन करना चाहते है।

सात्त्विक स्वभाव

पण्डित नित्यानन्दजी शास्त्रो के मर्मज्ञ विद्वान् थे। गुरुमुख से पढ़ी हुई विद्या को इन्होंने अपने गम्भीर मनन के द्वारा उदात्त तथा विद्योतमान बनाया। व्याकरण के तो ये गम्भीर चिन्तक तथा मननशील विद्वान् थे। पण्डित गंगाराम त्रिपाठीजी की परम्परा में होने के कारण ये परिष्कार की उद्भावना मे बड़े ही जागरूक एवं कल्पक विद्वान् थे। धर्मशास्त्र के तत्त्वों को इन्होने अपने मनन के द्वारा अन्तःप्रविष्ट होकर ऐसा सुलझाया कि धार्मिक व्यवस्था के लिए भारत के दूर-दूर प्रान्तों के लोग आते थे और इनकी दी हुई व्यवस्था की प्रामाणिकता से अभिभूत हो जाते थे। वेद के प्रति आपकी अगाध श्रद्धा थी और काशी में अनेक वैदिक विद्वानो को आहिताग्नि (अग्निहोत्री) होने मे इन्होंने पूर्णतया सहयोग दिया—केवल शास्त्रीय ही नही, आर्थिक भी। इनकी एकान्त कामना थी कि अग्निहोत्र का प्रचार काशी की पवित्र नगरी में सदा जागरूक रहे और रामचन्द्र रटाटे वैदिक को आग्रहपूर्वक इन्होंने अग्निहोत्र दिलवाया और अपने एक नेपाली छात्र के द्वारा उनके आवास की भी व्यवस्था कर दी। ऐसी परोपकार वृत्ति का परिचय देना बिरले ही विद्वानों में दीख पड़ता है।

इनकी गुरुभक्ति अनुपम थी। इनकी गुरुभक्ति के उच्च आदर्श को देखकर आश्चर्य से चकित हो जाना पड़ता है। अपने गुरुवर गंगाधर शास्त्रीजी की आज्ञा के बिना ये किसी कार्य में अग्रसर नहीं होते थे। संस्कृतकालेज में उच्च अध्यापक पद पर नियुक्ति के अनेक अवसर इन्हें प्राप्त हुए, परन्तु गुरु का आदेश न होने से इन्होंने उसके लिए आवेदनपत्र नहीं दिया। अवैतनिक अध्यापक के व्रत का इन्होंने बड़ी निष्ठा, बड़े उत्साह एवं बड़े मनोयोग के साथ

पालन किया। अपने शिष्यो पर भी इनकी अनुकम्पा श्लाघनीय थी। इनकी हार्दिक अभिलाषा थी कि इनके छात्र सुयोग्य विद्वान् बने। यदि उनके अध्ययन मे किसी प्रकार की त्रुटि इन्हे लक्षित होती थी, तो ये उसका मार्जन शिष्य को पुन अध्यापन द्वारा करते थे। उनकी सासारिक उन्नति मे सहयोग देना तो इनके लिए साधारण बात थी। सत्यनिष्ठा, अयाचित सात्त्विक वृत्ति, निरन्तर शास्त्रीय चिन्तन मनन तथा शास्त्रोन्नति की ऐकान्तिक भावना इन महनीय गुणो के कारण पण्डित नित्यानन्दजी महाराज नि सन्देह एक महनीय महर्षि थे इस तथ्य के विषय मे लेशमात्र भी सन्देह नही है।

ग्रन्थरचना

मीमांसा-ग्रन्थ

१. जैमिनि-सूत्रवृत्ति प्रकृत ग्रन्थ का सम्पादन इन्होने सर्वप्रथम आरम्भ किया। १८९९ ई० (संवत् १९५६) मे यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। उस समय पर्वतीयजी 'सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल' मे अध्यापन कर रहे थे। राजकीय संस्कृत महाविद्यालय के प्रिन्सिपल डा० वेनिस ने इन्हे यह कार्य करने के लिए प्रेरित किया। यह मीमांसा का ग्रन्थ है। मूल सूत्र जैमिनि द्वारा रचित है तथा वृत्ति श्रीरामेश्वर सूरि की है। पन्तजी ने दुरूह स्थलो पर टिप्पणी लिख कर विषय का प्रतिपादन किया है इसके अतिरिक्त मीमांसा के अधिकरणो का सूत्रो के साथ सामञ्जस्य दिखाने के लिए उन उन सूत्रो के पहले अधिकरणो का निर्देश करते हुए पूर्वापर संगति का भी संकेत कर दिया है।

२. मीमांसा-परिभाषा (सम्पादित) १९१५ ई० मे इस लघु ग्रन्थ मे भी पन्तजी ने विषम स्थलो पर टिप्पणी लिखी है। मीमांसाशास्त्र मे प्रवेश होने वाले अध्येताओं के लिए यह छोटा सा ग्रन्थ बड़ा उपयोगी है। स्थान स्थान पर मीमांसाशास्त्र मे प्रतिपादित पारिभाषिक शब्दों की स्पष्टता को न्यायशास्त्र का अनुगमन करते हुए लक्षण समन्वय की पद्धति से प्रतिपादित किया गया है। जिन स्थलों पर शास्त्रान्तर के विवेचन के बिना स्पष्टीकरण सम्भव नहीं था, ऐसे ही स्थलो पर पर्वतीयजी ने टिप्पणी लिख कर उन स्थलो की दुरूहता दूर की है।

३. कात्यायन-श्रौतसूत्र कर्कभाष्यसहित, प्रथम ग्यारह अध्याय, सन् १९२८। याज्ञिक प्रक्रिया का प्रामाणिक ग्रन्थ होने के कारण मीमांसा शास्त्र की अपेक्षा रखता है। तदनुसार इसके सम्पादन मे पर्वतीयजी ने प्रत्येक सूत्र के सन्दर्भ मे मीमांसा सूत्रो के अधिकरणो के साथ सामञ्जस्य स्थापित करते हुए एकवाक्यतानिर्देशक वाक्ययोजना द्वारा विषय का स्पष्टीकरण सूत्रारम्भ होने के पहले ही अपेक्षित स्थलो पर कर दिया है। प्रस्तुत भाग मे दर्श, पूर्णमास, पिण्डपितृयाग, आग्रयणेष्टि, चातुर्मास्य, निरूढ पशु तथा सोमयाग वर्णित है।

कर्मकाण्डविषयक ग्रन्थ

१-२. संस्कारदीपक (दो भाग) **(सन् १९१७)** हिन्दू द्विजाति मे सोलह संस्कारो का बड़ा महत्त्व है। इनमे भी इस जीवन मे १० संस्कार प्रमुख है। इसी कारण प्राचीन पद्धतिकारो ने 'दशकर्मपद्धति' संकलित की थी। वे पद्धतियाँ प्रायोगिक दृष्टि से बड़ी उपयोगी रही और उनका प्रचलन अब भी है। उन पद्धतियो मे वर्णित विधान सम्बन्धी शास्त्रीय विवेचन का अभाव होने के कारण पन्तजी को कर्मकाण्ड के ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा हुई। तदनुसार इनके द्वारा विरचित कर्मकाण्डविषयक ग्रन्थो मे प्रत्येक ग्रन्थ के स्थूल रूप से दो भाग है- १ प्रारम्भिक भाग मे शास्त्रीय विवेचन तथा २ दूसरे मे विधान या विधि का यथावत् रूप।

प्रारम्भिक भाग पाठक को शास्त्रीय पक्ष का बोध कराता है तथा द्वितीय भाग कर्म की विधि का। इस दृष्टि से 'सस्कारदीपक' मे सर्वप्रथम प्रमुख सस्कारो का विवेचन पारस्करगृह्यसूत्र के अनुसार करते हुए अनन्तर विधान (पद्धति) का प्रायोगिक रूप दिखाया गया है। विधान के पूर्व आवश्यक अग (पञ्चाग) गणेशपूजादि ग्रहयागान्त प्रयोग वर्णित है। विधान मे उपयुक्त वैदिक मन्त्रो की व्याख्या करते हुए उस प्रसग मे प्रयुक्त ऋचाओं की उपयोगिता भी बतलाई गई है।

३. परिशिष्ट-दीपक (सन् १९२२) 'सस्कारदीपक' का तृतीय भाग इस नाम से विख्यात है। इस भाग मे दान एव प्रमुख शान्ति विधान वर्णित है। क्रम उसी प्रकार है, पहले दान एव शान्तियो के विषय मे प्रामाणिक विवेचन तथा उसके अनन्तर उनकी प्रयोगविधि दी गई है। दानो मे प्रमुख दश दान एव तुलादानादि है, शान्तियो मे प्रमुख मूल, आश्लेषा, त्रिकप्रसव आदि है। अन्त मे प्रसगवश जलाशयोत्सर्ग सदृश महत्त्वपूर्ण सामाजिक कार्यों का विधान भी वर्णित है।

४. कर्मकाण्ड ग्रन्थो मे **अन्त्यकर्म-दीपक (सन् १९२८)** की विशेषता उसके प्रतिपाद्य विषय से विदित होती है। इस ग्रन्थ मे मुमूर्षु के प्राणान्त होने के पहले अपेक्षित दश दानादि के वर्णन से आरम्भ होकर सपिण्डीकरणान्त विधान का शास्त्रीय विवेचन तथा प्रयोग सम्मिलित है। इसमे ... 'आशौचनिर्णय' भी सम्मिलित है। ... गृहस्थाश्रम तक ही इसकी उपयोगिता सीमित नही है अपितु सन्यासाश्रम ... (सन्यासी) के दिवगत होने के पश्चात् देहत्यागानन्तर कृत्य के भी सविस्तर विवेचन एव विधान की व्यवस्था की गई है।

५. वर्षकृत्य-दीपक मे वर्ष भर के व्रत पर्व अनुष्ठानो का मान तथा काल निर्णय आरम्भ मे देकर अनन्तर पूजा तथा उद्यापन की प्रयोग विधि प्रदर्शित की गई है। सन् १९३१ मे यह निर्मित हुआ। जीवन की अन्तिम सन्ध्या तक इसके प्रकाशन को देखते रहे। वर्ष मे होने वाले पर्व तथा व्रतो की उपयोगिता तथा उनके समुचित अनुष्ठान की दिशा को दृष्टिपथ मे रखते हुए गृहस्थधर्म के परिपालन मे उनके महत्त्व को सरलता से वर्णित कर जन साधारण को प्रबुद्ध किया है।

६. कातीयेष्टि-दीपक (१९२४ ई०) यह कात्यायनश्रौतसूत्र सम्मत इष्टि निरूपणात्मक ग्रन्थ है। 'इष्टि' शब्द से ऐसे यज्ञ का बोध होता है, जो यजमान (याज्ञिक) एव उसकी पत्नी द्वारा चार पुरोहितो की सहायता से किया जाय। आहिताग्नि ही इष्टि (दर्शपूर्णमास) सम्पादित कर सकता है। अग्न्याधेय मे दो दिन लगते है। प्रथम दिन को उपवसथ (याग से पहला दिन) कहा जाता है। अग्न्याधेय का तात्पर्य है गार्हपत्य एव अन्य अग्नियो को स्थापित करने के लिए प्रज्वलित अगारो को विशिष्ट मन्त्रो के साथ किसी विशिष्ट व्यक्ति द्वारा किसी विशिष्ट काल एव स्थल मे रखना। अरणियो (लकडी के दो कुन्दो) को लाने से लेकर पूर्णाहुति तक के अनेक कृत्य अग्न्याधेय मे सम्मिलित है। पूर्णाहुति के उपरान्त कृत्य करनेवाला व्यक्ति आहिताग्नि की कोटि मे आता है। इस प्रकार दर्शपौर्णमासेष्टि का उपक्रम है। आहिताग्नि आगे की प्रथम पूर्णमासी को 'दर्शपौर्णमास' का सम्पादन कर सकता है। पूर्णमासी के दिन की इष्टि दो दिन हो सकती है, किन्तु सब कृत्य सक्षिप्त कर एक दिन मे भी किये जा सकते है। यदि दो दिनोतक कृत्य किये जायँ, तो वे प्रथम दिन (पूर्णमासी के दिन) तथा प्रतिपदा (पूर्णमासी के दूसरे दिन = कृष्णपक्ष की प्रतिपदा) तक समाप्त हो जाते है। इस प्रकार दर्शपौर्णमासेष्टि

का माध्यन्दिन शाखा (शुक्ल यजुर्वेद) के अनुसार विधान वर्णित है। विधान मे आए हुए मन्त्रो की व्याख्या दी गई है, जिससे उसका महत्त्व विदित हो सके।

७. सापिण्ड्य-दीपक (१६१३ ई०)—विवाह मे सपिण्ड कन्या प्रतिबन्धक है। याज्ञवल्क्य ने इस सम्बन्ध मे एक सीमा का निर्धारण कर दिया है। वह यह कि पाँचवी पीढ़ी मे माता के कुल मे तथा सातवी पीढ़ी मे पिता के कुल मे सपिण्डता की अन्तिम सीमा मानी जानी चाहिए। इस आधार पर सापिण्ड्य पर आधारित प्रतिबन्धो के नियम बने है। इन नियमो के सम्बन्ध मे निर्णय करते हुए पन्तजी ने २८६ कन्याओं को इस सिद्धान्त के अनुसार 'वर्ज्य' सज्ञा दी है। इन 'वर्ज्य' कन्याओं का विस्तृत विवरण इस लघु पुस्तक के अन्त मे १४ पृष्ठो मे वर्गीकरण कर स्पष्ट कर दिया गया है, जिसकी सहायता से प्रतिषिद्ध कन्याओं (सपिण्ड कन्याओं) का बोध हो जाता है।

८. लघुशब्देन्दुशेखर (आरम्भ से अव्ययीभाव पर्यन्त) **(सन् १६१८ ई०)** - नव्यव्याकरण के सुप्रसिद्ध इस ग्रन्थ की 'दीपक' नामक टीका लिखी। इस टीका की दो प्रकार मे विशेषता है एक अर्थपरक और दूसरी परिष्कारपरक। प० गगाराम शास्त्री द्वारा प्रवर्तित परिष्कार शैली का परिवर्धन शिष्यप्रशिष्यपरम्परा मे चला आ रहा था। उसका निश्चित स्वरूप क्रोडपत्र के रूप मे निहित था। वे क्रोडपत्र व्यक्ति विशेष के पास अब तक रहस्यात्मक जाने जाते रहे है। इनके प्रकाशन से उनके समय तक की कोटि प्रकोटियो का परिष्कृत स्वरूप सामने आया। परिष्कारो के अलावा अनेक स्थलो पर विचारो की मूदमता के फलस्वरूप नागेश के मत की समीक्षा भी की गई है। नागेश ने अधिकतर कैयट के मत का खण्डन किया है। उस खण्डन की युक्तायुक्तता पर पारम्परिक विचार पद्धति का सैद्धान्तिक स्वरूप प्रकट करना इस टीका की प्रमुख विशेषता है। अध्येता और अध्यापको के लिए यह एकमात्र सर्वमान्य टीका सिद्ध हुई है।

९. परमलघुमञ्जूषा (टिप्पणी)**(सन् १६१८)** व्याकरण के शास्त्रीय पदार्थों के विवेचनार्थ नागेश ने इस सक्षिप्त ग्रन्थ की रचना की उन शास्त्रीय पदार्थों (वैयाकरण सिद्धान्तो) का नैयायिको तथा मीमासको के साथ मतभेद होने पर उसका स्वरूप तथा लक्षणसमन्वय आदि को टिप्पणी द्वारा पर्वतीयजी ने स्पष्ट कर दिया है। इसके अतिरिक्त सक्षिप्त होने के कारण जहाँ जहाँ नागेश ने अपने मत की पुष्टि महाभाष्य का नाम लेकर केवल सकेत मात्र देकर की है वहाँ पर पन्तजी ने भाष्यादि ग्रन्थो के उद्धरणो द्वारा ग्रन्थकार के आशय को स्पष्ट किया है। कही कही नागेश के द्वारा प्रयुक्त दीर्घ एव अस्पष्ट शब्दो का स्पष्टीकरण सरल शब्दो द्वारा किया है (अभिधानव्यापारपर्यवसानम् – अपूर्णतेत्यर्थ)

म० म० प० नित्यानन्द पन्त पर्वतीय की शिष्य परम्परा मे प्रमुख शिष्यो का परिचय अब आगे दिया जा रहा है।

●

पण्डित सीताराम शास्त्री शेंडे

(आस्पद—शेंडे; उपाधि—महामहोपाध्याय)

दक्षिण भारत के ब्रिटिश राज्यकालीन भोर (राज्य) के निवासी थे। अपने घर से समग्र ऋग्वेद संहिता एवं ऐतरेय ब्राह्मण कण्ठस्थ कर वाराणसी अध्ययनार्थ आये। पर्वतीयजी के चरणो मे बैठकर परिश्रमपूर्वक व्याकरणशास्त्र का अध्ययन कर व्याकरणाचार्य की उपाधि राजकीय संस्कृतमहाविद्यालय मे प्राप्त की। इसके अतिरिक्त कलकत्ता मे काव्यतीर्थ की परीक्षा उत्तीर्ण की। वेद मे निष्णात होने के कारण मीमांसा शास्त्र एवं धर्मशास्त्र के ग्रन्थो का अध्ययन भी पर्वतीयजी से किया। व्याकरण, वेद, मीमांसा एवं धर्मशास्त्र के अतिरिक्त 'खगोल' विज्ञान के आप बहुत अच्छे ज्ञाता थे। आकाशीय तारे एवं नक्षत्रो का आपको बडा अच्छा ज्ञान था।

आपकी विद्वत्ता मे परिचित होने के कारण बंगदेशीय विद्वानो ने बडे आग्रह से आपकी कलकत्ता विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग मे प्रवक्ता के पद पर सर्वप्रथम नियुक्ति की। अध्यापन के लिए आपको प्रमुख विषय 'वेद' दिया गया। सेवाकाल के अन्त मे 'रीडर' पद पर आप प्रोन्नत किए गए।

आपकी प्रसिद्ध कृति **वेदार्थविचार** है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे 'खगोल' की दृष्टि से ऋग्वेदीय ऋचाओं की व्याख्या की गई है। 'वसन्त सम्पात' के सिद्धान्त को अभिलक्षित कर तदुपयोगी मन्त्रो की व्याख्या द्वारा निर्वचन करने की मौलिकता (नक्षत्रविद्या) इस ग्रन्थ की विशेषता है। निर्वचन करने की शैली यास्क के निरुक्त का अनुगमन करती है। वैदिक शब्दो की निरुक्ति मे पाणिनि व्याकरण के अतिरिक्त यास्क के निरुक्त का आश्रय लेकर शेण्डेजी ने वसन्त सम्पात के सिद्धान्त को ऋग्वेदीय ऋचाओं मे अनुस्यूत किया है। प्रस्तुत पुस्तक की रचना शेण्डेजी ने कलकत्ता विश्वविद्यालय मे अवकाश ग्रहण करने के अनन्तर की और वह भी प० डॉ० गौरीनाथ शास्त्री (कुलपति संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी) के विशेष आग्रह से प्रेरित होकर ही। अवकाश ग्रहण करने के उपरान्त ये अपने पुत्र के पास पुणे (= पूना) रहने लगे थे। इनके पुत्र वहा के प्रसिद्ध डॉक्टर (चिकित्सक) है। डा० शास्त्री ने इन्हे वहाँ जाकर स्मरण दिलाया कि आपने अध्ययन करते समय जो ऋग्वेद का वैशिष्ट्य (नक्षत्रविद्यापरक) प्रतिपादन किया था, उसे आप संग्रथित कर भेज दे। इन्होने वैसा ही किया और इसका प्रकाशन भी कलकत्ता से ही हुआ। व्याकरण और वेद के विशिष्ट विद्वान् होने के कारण इनका 'वेदार्थविचार' ग्रन्थ व्याकरण और नैरुक्त प्रक्रिया की कमी को जोड़ने का कार्य करता है। शेण्डेजी बहुत सुबुद्ध थे। इनके गुरु पर्वतीयजी इनकी बुद्धि की प्रशंसा करते हुए प्रायः कहा करते थे कि "मेरे छात्रो मे यदि कोई मेरे पाठन करते समय विषय को ग्रहण करने मे समर्थ था तो वह शेण्डेजी रहे।"

नित्यानन्दजी के अन्य शिष्य

(१) म० म० पं० माधवशास्त्री भाण्डारी— आपका मूल निवास स्थान 'नेर' ग्राम था। यह स्थान तत्कालीन पश्चिम खानदेश जनपदस्थ तालुका धुलिया के अन्तर्गत रहा। वाराणसी आने के पूर्व आपने भी माध्यन्दिन शाखा की वाजसनेयि सहिता का अध्ययन अपने निवास-स्थान पर किया था। आपके पिता का नाम श्री हरिशास्त्री था। वाराणसी मे इनके साथ ही इनके छोटे भाई श्री श्रीराम भाण्डारी भी अध्ययनार्थ आए। दोनो मे से एक तो व्याकरण के अध्येता बने और दूसरे न्यायशास्त्र के। अत माधवशास्त्री ने पर्वतीयजी का आश्रय लिया तथा श्रीराम भाण्डागी ने म० म० प० वामाचरण भट्टाचार्य का शिष्यत्व स्वीकार किया। प० माधवशास्त्री भाण्डारी ने वाराणसी से व्याकरणाचार्य परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त साहित्य एव मीमासा मे कलकत्ता से 'तीर्थ' परीक्षा उत्तीर्ण की तथा बिहार से वेदान्ताचार्य की परीक्षा भी उत्तीर्ण की। ज्योतिष शास्त्र का भी गहन अध्ययन करने के फलस्वरूप आपकी गणित एव फलित दोनो मे ही समान गति थी। आपने सर्वप्रथम काशीस्थ 'मारवाडी सस्कृत महाविद्यालय' मे व्याकरण शास्त्र का अध्यापन कर अच्छी ख्याति प्राप्त की। शास्त्रार्थ करने मे भी आपने अपनी गुरु परम्परा का यश बढ़ाया। काशी मे रहकर अनेक ग्रन्थो का सम्पादन किया, जिनमे व्याकरण सिद्धान्त-सुधानिधि' (तीन अध्याय) और 'प्रौढ़ मनोरमा' (अव्ययीभावान्त) प्रमुख है। 'प्रौढ़मनोरमा' मे प्रभा' नामक टिप्पणी भी विषम स्थलो पर लिखी। प्रस्तुत टिप्पणी केवल परिष्कारो की दृष्टि से उपयोगी नही है अपितु प्राचीन वैयाकरण (कैयट) और नागेश के मतभेद होने पर वस्तुस्थिति की सक्षेप मे समीक्षा प्रस्तुत करने की दृष्टि से भी उपादेय है, जिसे प० गगाराम शास्त्री द्वारा प्रवर्तित वैयाकरण सिद्धान्तो के आधार पर गुरु परम्परा से प्राप्त अर्थोन्मेष का निदर्शन समझा जा सकता है।[१]

म० म० प० शिवदत्त दाधिमथ के अवकाश ग्रहण करने पर लाहौर के प्राच्य महाविद्यालय मे डॉ० ए० सी० वूल्सर ने आपके वैदुष्य का लाभ उठाने हेतु प्रधानाध्यापक के पद पर आपको नियुक्त किया। वहाँ रहते हुए आपने व्याकरण महाभाष्य के प्रारम्भिक दो आह्निको पर 'स्फोटविमर्शिनी व्याख्या' लिखी (१९२९ ई०)। इस व्याख्या मे व्याकरण सिद्धान्त के अनुसार स्फोट की आवश्यकता, स्फोटस्वरूप, अपभ्रशो मे शक्ति विचार, माहेश्वर सूत्रो की अद्वैतब्रह्मप्रतिपादकता आदि विषयो पर अच्छा विचार किया गया है। स्वय भाण्डारीजी ने टीका के अन्त मे पुष्पिका द्वारा इसकी अभिव्यञ्जना की है—

सच्चिन्नित्यानन्दरूप- नित्यानन्दाख्य-सद्गुरो ।
पर्वतीयस्य चरणद्वन्द्वासञ्जितचेतसा ॥
लवपुर्यां प्राच्य- महाविद्यालय-विराजितम् ।
प्रधानाध्यापकपदमध्यासीनेन धीमता ॥

---

१ 'अकथित चेति' सूत्रे अकथितशब्द असकीर्तितपर्याय, न अप्रधानपर्याय। एव च पूर्वविधिविषयप्रसक्तिपूर्वक तदविवक्षाया सर्वथा पूर्वविधे अप्रसक्तौ च एतत्प्रवृत्तिरिति सर्वसम्मतम्। तत्राद्योदाहरण गा दोग्धि पय इत्यादि। द्वितीयोदाहरण याचि-पृच्छि भिक्षियोगे बलि याचते वसुधामित्यादि। तत्र प्रथमस्योदाहरणेषु गोर्दोग्धि पय गा पयो दोग्धि इत्यादिप्रयोगद्वैविध्यसम्भवेऽपि द्वितीयप्रकारोदाहरणेषु बलि याचते वसुधाम् इत्यादिषु न तादृशप्रयोगद्वैविध्यमिति। अत एवात्र कैयटेनोक्तम्—"असकीर्तितपर्यायाकथितग्रहणे 'गा दोग्धि' 'गोर्दोग्धि' इति च। याचि-पृच्छि भिक्षियोगे कर्मसज्ञैव इत्येषा व्यवस्थेति।" प्रभा टिप्पणी—'अकथित च' (पा० सू० १ ४ ५७)।

मीमांसा-युगले शब्दशास्त्रे तर्केष्वधीतिना ।
भाण्डारिणा माधवेन शास्त्रिणाऽऽरचिता स्फुटा ॥
पातञ्जले महाभाष्ये व्याख्या स्फोटविमर्शिनी ।
भूरि भद्राय भवताच्छब्दब्रह्मविचारिणाम् ॥

भाण्डारीजी की ख्याति तत्कालीन पञ्जाब प्रदेश मे भी व्यापक रही। वही अध्यापन करते हुए आपको 'महामहोपाध्याय' की उपाधि से अलकृत किया गया। विद्यार्थी अवस्था से ही आप बहुत परिश्रमी रहे। शरीर दुर्बल था। अध्यापन मे भी बडा परिश्रम करते रहे। अवकाश ग्रहण करने के पूर्व ही आपका लाहौर मे देहान्त हुआ।

(२) पं० गोपाल शास्त्री नेने– १८९२ ई० मे जन्म। आपके पूर्वज अनेक वर्षों से वाराणसी मे निवास कर रहे थे। यह विदित हुआ है कि इनके पितामह अपनी इष्टदेवी योगेश्वरी की मूर्ति लेकर काशी आए। इनके पिता का नाम श्री बाबू भट्ट नेने था। ये वैदिक एव कर्मकाण्डी थे। कृष्णयजुर्वेदीय आपस्तम्ब शाखा के वैदिको मे आपकी गणना की जाती है। इनके पुत्र प० गोपाल शास्त्री नेने ने व्याकरण, धर्मशास्त्र तथा वेदान्तादि शास्त्रो का अध्ययन पर्वतीयजी के चरणो मे बैठकर किया। व्याकरणाचार्य परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त कुछ दिनो तक ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम हरिद्वार मे अध्यापन कार्य किया। तदनन्तर राजकीय सेवा मे चयन होने के फलस्वरूप राजकीय हाईस्कूल उरई (जालौन) मे सस्कृताध्यापक के रूप मे आपकी नियुक्ति हुई। इसके पश्चात् राजकीय सस्कृतमहाविद्यालय, काशी मे (सन् १९२८) आपको व्याकरण तथा धर्मशास्त्र का अध्यापक नियुक्त किया गया। सेवा-निवृत्त होने तक (१९५७ ई०) वही अध्यापन करते रहे। राजकीय सस्कृत महाविद्यालय से सम्बद्ध सरस्वती भवन पुस्तकालय से प्रकाशित होने वाली अनेक पुस्तको का आपने वहाँ अध्यापन करते हुए सम्पादन भी किया।

(१) वैयाकरण भूषणसार पर आपने 'सरला' नामक व्याख्या लिखी है। इस व्याख्या मे शाब्दबोध प्रक्रिया के स्वरूप को सरलता के साथ समझाया गया है। नैयायिको और वैयाकरणो के शाब्दबोध के स्वरूप का अन्तर एव उनकी सूक्ष्मता का विवेचन नेनेजी ने पारम्परिक रीति से किया है। यह व्याख्या लिखने के पूर्व (२) भैरवी टीका सहित **'लघुशब्देन्दुशेखर'** का 'तत्पुरुष समास' से आरम्भ कर 'स्वरप्रक्रियान्त' भाग का सम्पादन किया। (३) धर्मशास्त्र के सुप्रसिद्ध निबन्ध ग्रन्थ 'निर्णय-सिन्धु' (कृष्णम्भट्टी टीकासहित) का आद्योपान्त सम्पादन कर उसे चौखम्बा-सस्कृत सीरीज से प्रकाशित करवाया। यह महान् कार्य इन्होने अपने गुरु पर्वतीयजी के निर्देशन मे किया। (४) इन ग्रन्थो के अतिरिक्त नेनेजी ने मूल 'सिद्धान्तकौमुदी' पर टिप्पणी भी लिखी, जो खण्डश मुद्रित हुई। अन्तिम वर्षों मे आपको ज्योतिष से विशेष अनुराग हो गया था। विशेषतया पञ्चाग निर्माण प्रक्रिया की सूक्ष्मता तथा शुद्धता के सम्बन्ध मे प्रायोगिक सकलन करने मे आप बराबर तत्पर रहते थे। धर्मशास्त्र-सम्बन्धी निर्णय एव व्यवस्था देने मे आपकी तत्परता अपने गुरु पर्वतीयजी के सदृश देखी गयी है। ७५ वर्ष की आयु मे आपका निधन २ मार्च सन् १९६७ को काशी मे हुआ।

(३) पं० अनन्त शास्त्री फड़के—स्वय काशी मे अध्ययन हेतु आये। सर्वप्रथम व्याकरण का अध्ययन प० गणपति शास्त्री मोकाटे से किया। व्याकरणाचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके साथ ही शास्त्रान्तरो का अध्ययन करने के लिए पर्वतीयजी के चरणो मे बैठकर

मीमासा, वेदान्त तथा पुराणो का अध्ययन किया । कलकत्ता से मीमासा-तीर्थ परीक्षा उत्तीर्ण की । काशीस्थ विद्वानो की सस्तुति के आधार पर कुछ दिनो तक लाहौर के सुप्रसिद्ध डॉक्टर श्रीयुत बालकृष्ण कौल के पौत्रो का सस्कृत-अध्यापन किया । तदनन्तर काशीस्थ 'स्याद्वाद दिगम्बर जैन विद्यालय' मे व्याकरणाध्यापक के रूप मे आपकी नियुक्ति हुई । कुछ वर्षों बाद आपका अध्यापन-क्षेत्र बदल गया । काशीस्थ राजकीय सस्कृतमहाविद्यालय मे 'पुराणेतिहास' का अध्यापक पद सर्जित किया गया । उस समय पुराणेतिहास विषय के आचार्य उपलब्ध नही थे । योग्यता के आधार पर चयन होना था । अत म० म० प० नित्यानन्द पन्तजी ने आपके आवेदनपत्र पर सबल सस्तुति की, जिसके आधार पर म० म० प० गोपीनाथ कविराज ने शिक्षा विभाग द्वारा अनुमोदित करवा कर इन्हे 'पुराणेतिहास' का अध्यापक नियुक्त करवाया । बडी सलग्नता तथा योग्यता से आपने इस विषय का अध्यापन किया । वहाँ से सेवा निवृत्त होने पर "विश्व सस्कृत परिषद्' की ओर से सम्मानित 'आचार्य' के रूप मे अनेक स्थानो पर जाकर सस्कृत भाषा के प्रचार प्रसार मे योगदान दिया । लगभग ७५ वर्ष की अवस्था मे आपका काशी मे ही निधन हुआ ।

आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त आपने 'कारिका' तथा 'वैयाकरणभूषणसार' ('दर्पण' टीकासहित) ग्रन्थो का सम्पादन किया ।

(४) **गोपालदत्त पाण्डेय**—ये पर्वतीयजी के दौहित्र हैं पण्डित नित्यानन्दजी ने इन्हे सिद्धान्तकौमुदी एव कतिपय टीकाग्रन्थो का अध्यापन किया । अनन्तर इन्होने व्याकरणाचार्य तथा एम० ए० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण की । उत्तरप्रदेश के अनेक गवर्नमेन्ट कालेजो मे अनेक वर्षों तक प्रोफेसर के पद को योग्यतापूर्वक निभाया शिक्षा विभाग के डिप्टी डाइरेक्टर पद से सेवानिवृत्त हुए । काशी मे ही निवास करते है । सिद्धान्तकौमुदी के पूर्वार्द्ध पर बडी प्रासगिक हिन्दी व्याख्या लिखकर प्रकाशित की है जो तत्तत् सूत्रो की गम्भीर शास्त्रीय विवेचना को भी सरलतया प्रकट करती है (प्रकाशक चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९७८ ई०) । महामहोपाध्याय प० नित्यानन्द पर्वतीयजी की स्तुति मे प्रयुक्त यह श्लोक नितान्त तथ्यपूर्ण है-

श्रीराजारामशास्त्रिप्रभृतिगुरुवरैर्वैदुषी शब्दशास्त्रे,
याऽपूर्वाऽऽविष्कृताऽऽसीदथ च निपुणता धर्मशास्त्रे च यादृक् ।
सा नित्यानन्दविद्वन्निकषमुपगता सम्प्रदायक्रमेण,
सम्प्रत्यग्रे न पश्यत्यपरमभिमत संश्रय कञ्चिदेषा ॥

विद्वच्चरितपञ्चक ७९

३१

श्री मुरलीधर झा

(आस्पद—झा, उपाधि—महामहोपाध्याय)

प० मुरलीधर झा सिद्धान्तज्योतिष के बहुत बडे विद्वान् थे। सुप्रसिद्ध गणितज्ञ प० सुधाकर द्विवेदी के पश्चात् इन्होने ही उनकी गद्दी को सुशोभित किया। अनेक सिद्धान्तग्रन्थो की टीका लिखकर इन्होने उनके गूढ रहस्यो को समझाने का प्रयास किया है। झाजी ने अपने गुरु के ग्रन्थो पर टीका टिप्पणी लिखी है जिसका उल्लेख इनके गुरु ने आदरपूर्वक किया है।

जन्म—प० मुरलीधर झा के पिता का नाम चानन झा था जो दरभगा जिले के 'मराम' गॉव के निवासी थे। इनका विवाह मिथिला की एक सुप्रसिद्ध नगरी 'श्याम सिद्धव' मे हुआ था। चानन झा की आर्थिक स्थिति अच्छी नही थी। अत इनके सम्पन्न तथा धनी ससुर ने झाजी को प्रचुर सम्पत्ति देकर अपनी कन्या 'लीलादेवी' से इनका विवाह कर दिया तथा अपने गॉव मे ही इन्हे निवास करने के लिए बुला लिया। वही पर अपने मातृकुल (मामा के घर) मे मुरलीधरजी का जन्म सन् १८६६ ई० मे हुआ। इनके मातामह प० फकिरन झा एक योग्य मैथिल ब्राह्मण थे। इनका विवाह 'चपाही' राज्य के राजा रसिकनारायण सिह की कन्या से हुआ था। इस प्रकार मातृपक्ष की ओर से झाजी का सम्बन्ध राजकुल से था।

शिक्षा—प० मुरलीधर झा की प्रारम्भिक शिक्षा अपने मामा के घर हुई। ये अपने छोटे भाइयो और मामा के पुत्रो के साथ गॉव की पाठशाला मे पढ़ने लगे। वही पर सर्वप्रथम इन्होने देवनागरी, कैथी तथा मैथिली लिपिमाला से परिचय प्राप्त किया। इसके पश्चात् दशकर्म-पद्धति की इन्हे शिक्षा दी गई। प्रारम्भिक शिक्षा के पश्चात् अपने पैतृक गॉव 'मराम' के सुप्रसिद्ध ज्योतिषी प० विद्या झा से इन्होने ज्योतिषशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ किया। गुरु की इनके ऊपर अटूट कृपा थी। अत उन्होने इनके अध्ययन के लिए सम्पूर्ण सुविधा प्रदान की। झाजी ने अनेक ग्रन्थो का यहाँ अध्ययन किया।

ज्योतिषशास्त्र के सिद्धान्तग्रन्थो के अध्ययन की इच्छा से ये केवल सोलह वर्ष के वय मे ही सन् १८८५ ई० मे काशी चले आये। यहॉ आकर इन्होने उस काल के सुप्रसिद्ध ज्योतिषी स्वनामधन्य प० सुधाकर द्विवेदी से इस शास्त्र को पढ़ना प्रारम्भ किया। द्विवेदीजी के चरणो मे बैठकर अध्ययन करते हुए इन्होने गवर्नमेण्ट सस्कृतकालेज, बनारस से ज्योतिषाचार्य की परीक्षा प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण की। इस परीक्षा मे आपको सर्वप्रथम स्थान मिला था। ज्योतिषशास्त्र का अध्ययन करते समय ही आपने प० मधुसूदन झा से मुग्धबोध व्याकरण, न्यायशास्त्र तथा साहित्यशास्त्र मे अपूर्व विद्वत्ता प्राप्त की। ज्योतिषशास्त्र के तो अपार विद्वान् थे ही।

विद्वत्ता

पण्डित मुरलीधर झा ज्योतिषशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे। सिद्धान्तज्योतिष के कठिन

ग्रन्थो पर आपने जो टीका-टिप्पणी लिखी है उससे आपकी तल-स्पर्शिनी विद्वत्ता का पता चलता है। वराहमिहिर रचित बृहत्सहिता का सशोधन तथा सम्पादन कर आपने उसका सस्करण निकाला है, जिससे आपकी प्रतिभा का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। इस बृहत् ग्रन्थ की जो हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई थी वह अत्यन्त् जीर्ण-शीर्ण थी और कीट-दश के कारण उसके अक्षर नष्ट हो गये थे। परन्तु झाजी ने अपनी विद्वत्ता से उन नष्ट अक्षरो के मूल रूप का परिचय प्राप्त कर लिया और इस ग्रन्थ को सुसम्पादित किया। आपके इस विलक्षण वैदुष्य को देखकर पण्डित समाज आश्चर्यान्वित हो गया। इस ग्रन्थ के सम्पादन से आपको प्रचुर ख्याति प्राप्त हुई और आपकी विद्वत्ता की भूरिभूरि प्रशसा सर्वत्र होने लगी। आपकी अपूर्व योग्यता से प्रसन्न होकर गवर्नमेण्ट सस्कृतकालेज, बनारस के तत्कालीन प्रिन्सिपल डॉ० थीबो ने आपको सादर आमन्त्रित कर ज्योतिषशास्त्र की गद्दी पर प्रतिष्ठापित किया। इस प्रकार अपने योग्य गुरु पण्डित सुधाकर द्विवेदी के आप योग्य उत्तराधिकारी सिद्ध हुए। पण्डित दीनानाथ मिश्र के स्थान पर इस कालेज मे आपकी नियुक्ति सन् १९०६ ई० मे हुई। यहाँ अध्यापन करते हुए आपकी कीर्ति चारो ओर फैलने लगी। आपने अनेक योग्य शिष्यो को तैयार किया। ब्रिटिश सरकार ने आपकी विद्वत्ता के फलस्वरूप सन् १९२२ ई० मे आपको 'महामहोपाध्याय' की पदवी से विभूषित किया।

सन् १९०६ ई० से लेकर सन् १९२७ ई० तक, लगातार २१ वर्षों तक इन्होने इस कालेज मे ज्योतिषशास्त्र का अध्यापन किया। सन् १९२७ ई० मे आपने इस नौकरी से अवकाश ग्रहण किया परन्तु दैव दुर्विपाक से इसके केवल दो वर्ष पश्चात् ही सन् १९२९ ई० मे आपका निधन हो गया।

शिष्य-मण्डली

गवर्नमेण्ट सस्कृत कालेज मे लगातार इक्कीस वर्षों तक के अध्यापन-काल मे आपने सुयोग्य शिष्यो को उत्पन्न किया जिन्होने अपने जीवन मे अनेक उच्च पदो को सुशोभित किया। इन शिष्यो मे से कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियो के नाम नीचे दिये जाते है—

(१) पण्डित बबुआ मिश्र—ये कलकत्ता-विश्वविद्यालय मे मैथिली साहित्य के प्राध्यापक थे। इन्होने डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के साथ 'वर्णरत्नाकर' का सुप्रसिद्ध सस्करण प्रकाशित किया है।

(२) पण्डित चन्द्रशेखर झा—ये हिन्दू-विश्वविद्यालय, वाराणसी के ज्योतिष विभाग मे प्राध्यापक थे।

(३) पण्डित गंगाधर मिश्र—ज्योतिषाचार्य, काव्यतीर्थ। आप वैद्यनाथधाम (बिहार) मे ज्योतिष के अध्यापक थे।

(४) पण्डित मुरलीधर ठाकुर—ये भारतीय और पाश्चात्त्य गणितशास्त्र के अधिकारी है।

(५) पण्डित सीताराम झा—ज्योतिषाचार्य, आप काशी के सन्यासी-सस्कृत-कालेज में प्रधानाध्यापक थे।

(६) पण्डित मधुकान्त झा—श्री रानी चन्द्रावती श्यामा सस्कृतमहाविद्यालय, काशी में अनेक वर्षों तक ज्योतिष के अध्यापक थे।

(७) **पण्डित अजबलाल ठाकुर**—अध्यापक, सस्कृतविद्यालय, मटिहानी।

(८) **पण्डित अनूप मिश्र**—ये गवर्नमेण्ट सस्कृतकालेज, काशी मे ज्योतिष के प्राध्यापक थे।

(९) **पण्डित उमाकान्त झा**—आप ज्योतिष के अच्छे विद्वान् थे।

इसके अतिरिक्त इनकी शिष्यमण्डली मे पण्डित सुधाकर झा, पण्डित सरयूरमण झा, पण्डित पूर्णचन्द्र त्रिपाठी आदि विद्वानो की भी गणना की जाती है।

ग्रन्थ-रचना—प० मुरलीधर झा ने अनेक ग्रन्थो की रचना की है। इनके गुरु प० सुधाकर द्विवेदी ने **वेदाङ्गज्योतिष** के ऊपर **सुधाकर भाष्य** नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ के सबन्ध मे श्री छोटेलाल बार्हस्पत्य नामक किसी सज्जन ने अनेक आपत्तियाँ उठायी तथा अनेक आक्षेप किये। प० मुरलीधर झा ने अपने गुरु के भाष्य के सबन्ध मे किये गये इन आपेक्षो का बडी ही विद्वत्ता से विधिवत् निरास करके सुधाकरजी के मत का खण्डन किया। इतना ही नही, इन्होने 'सुधाकरभाष्य' के ऊपर 'लघु विवरण' नामक टीका भी लिखी जिसके आरम्भ मे इन्होने अपना परिचय इस प्रकार दिया

श्रीमद्द्विवेदि-गुरुवर्य-पदारविन्द-
सचिन्तन-स्फुरितबोधलव. करोति ।
झोपाख्यचाननसुनो मुरलीधरोऽस्य,
भाष्यस्य तद् विवरणं लघु संशयघ्नम् ॥

इस श्लोक से अपने गुरु के प्रति इनकी गुरु भक्ति तथा विनम्रता का पता चलता है।

(२) **सिद्धान्ततत्त्वविवेक** इस ग्रन्थ मे जो अशुद्धियाँ थी उनका सशोधन कर इसे सम्पादित किया है।

(३) **लीलावती तथा बीजगणित**—इन ग्रन्थो की उपपत्ति और टिप्पणी इन्होने लिखी है।

(४) **शिवस्वरोदय** इस ग्रन्थ की टीका इन्होने हिन्दी भाषा मे लिखी है।

(५) **त्रिकोणमिति**--म० म० प० बापूदेव शास्त्री विरचित त्रिकोणमिति नामक ग्रन्थ का अवतरण निर्माण कर आधुनिक गणित की युक्ति से इसका सम्पादन इन्होने किया है।

प० मुरलीधर झा यद्यपि ज्योतिषशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे तथापि मौलिक ग्रन्थो की रचना करने के लिए इन्हे अवकाश ही नही प्राप्त हो सका। अतः ज्योतिषशास्त्र के कठिन तथा दुरूह ग्रन्थो पर टीका टिप्पणी लिखकर उसे सरल तथा सुबोध बनाने से ही सन्तोषलाभ करना पड़ा।

इसमे सन्देह नही कि ये अपने समय के ज्योतिषशास्त्र के अद्वितीय विद्वान् थे। यदि इन्हे समय का अभाव न होता तो इनकी मौलिक प्रतिभा का प्रसाद हमे प्रचुर परिमाण मे प्राप्त होता। इनके उदात्त तथा गभीर व्यक्तित्व का परिचय निम्नलिखित श्लोक से प्रकाशित होता है—

विद्यया भास्करः साक्षात् क्षमया करुणाकरः ।
कलाधरः समुन्नत्या संज्ञया मुरलीधरः ॥



३२

पण्डित बलदेव मिश्र

(आस्पद- झा; उपाधि ज्योतिषरत्नाकर)

जन्म तथा शिक्षा—प० बलदेव मिश्र ज्योतिषाचार्य ज्योतिषशास्त्र के एक निष्णात विद्वान् थे। इनका जन्म १ नवम्बर सन् १८६१ मे बिहार राज्य के सहरसा जिले के वनगॉव नामक सुप्रसिद्ध ग्राम मे हुआ था। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा अपने गाव तथा मिथिला मे हुई। परन्तु बगाल के दिनाजपुर जिला के तत्कालीन मालदोआर रियासत के राजा श्री टकनाथ चौधरी ने इन्हे आर्थिक सहायता प्रदान की, जिसके फलस्वरूप ये काशी मे आकर विद्याध्ययन करने लगे। सन १६१० ई० मे इन्होने गवर्नमेण्ट सस्कृतकालेज, बनारस के ज्योतिष विभाग के अध्यक्ष सुप्रसिद्ध गणितज्ञ तथा प्रख्यात विद्वान् महामहोपाध्याय प० सुधाकर द्विवेदी के चरणो मे बैठकर ज्योतिष शास्त्र का सम्यक् अध्ययन किया। इन्होने सम्पूर्ण मध्यमा परीक्षा मे प्रथम स्थान प्राप्त किया था। सन् १६११ ई० मे कलकत्ता की ज्योतिष तीर्थ परीक्षा मे भी ये प्रथम स्थान के अधिकारी रहे। सन् १६२० ई० मे इन्होने बनारस से ज्योतिषाचार्य की उपाधि प्राप्त की।

ये अपने अध्ययन काल मे उपर्युक्त कालेज के छात्रावास मे ही निवास करते थे। इनके साथियो मे प० गोपीनाथ कविराज भी थे जो उसी छात्रावास मे आपके पास के कक्ष मे ही रहते थे। इन्होने 'कविराज अभिनन्दन ग्रन्थ' मे उनके छात्रजीवन के सबन्ध मे अपना बडा रोचक सस्मरण लिखा है।

अध्यापन कार्य—प० बलदेव मिश्र ने अनेक स्थानो पर अध्यापन तथा अनुसन्धान का कार्य किया। सन् १६२२ ई० से लेकर सन् १६३० ई० तक ये काशी विद्यापीठ मे गणित के अध्यापक रहे। सन् १६३६ ई० से १६३८ ई० तक इन्होने गया जिले के खुरसुरा सस्कृत महाविद्यालय मे अधीक्षक का कार्य किया। सन् १६४० ई० से १६५१ ई० तक सरस्वती भवन पुस्तकालय, वाराणसी मे 'हस्तलिखित' पुस्तको के सूची निर्माणकर्ता (कैटेलागर) थे। सन् १६५२ ई० से अनेक वर्षों सभवत अवकाश ग्रहण करने—तक ये पटना के काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट मे दुर्बोध हस्तलिखित ग्रन्थो के वाचन का काम किया करते थे।

ग्रन्थ—इन्होने अनेक ग्रन्थो की रचना की है। इन्होने सस्कृत मे त्रिकोणमिति लिखी और भास्करीय बीजगणित पर टिप्पणी की रचना की। इन्होने म० म० प० सुधाकर द्विवेदी लिखित अनेक ग्रन्थो का सम्पादन किया है—जैसे दीर्घवृत्त, चलन कलन, चलन राशि कलन इत्यादि। इन्होने आर्यभट की **आर्यभटीयम्** नामक ग्रन्थ की सस्कृत मे टीका लिखकर हिन्दी मे अनुवाद भी किया है।

आर्यभटीय पाटलिपुत्र के प्राचीन ज्योतिषी आर्यभट के द्वारा प्रणीत ज्योतिर्विज्ञान का एक प्रमेयबहुल महनीय ग्रन्थ है। आर्यभट का जन्म कुसुमपुर (पटना) मे ४७६ ई० मे हुआ

था और इन्होने २३ वर्ष के वय मे ४९९ ई० मे अपना यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा जो उन्ही के नाम पर 'आर्यभटीय' कहलाता है। आर्यभट बडे ही प्रतिभाशाली दैवज्ञ थे जिनमे विचार स्वातन्त्र्य की प्रमुखता थी। उनका मान्य सिद्धान्त था कि पृथ्वी दर्पण की तरह चपटी नही है (जैसा अन्य दैवज्ञ मानते है) परन्तु गोल है। पुराण पृथ्वी को दर्पण के उदर के समान चपटी मानता है--

आदर्शोदरसन्निभा भगवती विश्वम्भरा कीर्त्यते ।

परन्तु आर्यभट उसे कदम्ब पुष्प के समान गोल मानते है--

यद्‌वत् कदम्बपुष्पग्रन्थिः प्रचित. समन्ततः कुसुमैः ।
तद्‌वद्धि सर्वसत्त्वैर्जलजै स्थलजैश्च भूगोलः ॥

- आर्यभटीय

आर्यभट का मूल सिद्धान्त पृथ्वी के दैनिक भ्रमण के विषय मे है अर्थात् नाव के चलने के समान पृथ्वी भी सदा चला करती है तथा सूर्य स्वय स्थिर है (गोलपाद, ६ श्लो०)। इन्ही सिद्धान्तो के कारण वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त आदि ज्योतिषियो ने इनकी निन्दा की है, परन्तु इनके ये स्वतन्त्र विचार आधुनिक पाश्चात्त्य ज्योतिष के परिप्रेक्ष्य मे नितान्त उपादेय तथा आवर्जक है।

ऐसे ही अन्य नवीन तथा स्वतन्त्र विचारो से सम्पन्न आर्यभटीय ग्रन्थ कठिन है और उसकी टीका करना बुद्धिसाध्य है पण्डित बलदेव मिश्रजी ने इस दुरूह कार्य को अपनी विद्वत्तापूर्ण टीका के द्वारा सरल सुबोध बनाया है। इन्होने अपनी संस्कृत टीका मे मूल के गूढ भावो को बडे विस्तार से प्रकट किया है और हिन्दी अनुवाद मे अपेक्षाकृत सरलता से हिन्दी मे भावो की अभिव्यक्ति की है। विद्वानो की दृष्टि मे इस कठिन कार्य मे ये सर्वथा सफल हुए है। इसका प्रकाशन बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना के द्वारा १९६६ ई० मे किया गया है।

सम्मान--सन् १९३३ ई० मे इन्दौर के ज्योतिष सम्मेलन मे सिद्धान्त पक्ष का आपने प्रतिनिधित्व किया था। सन् १९४८ ई० मे विजयवाडा (मद्रास) मे, पञ्चाग सम्मेलन मे तथा सन् १९५० के दरभगा के प्राच्य विद्या सम्मेलन के ज्योतिषविभाग के आप अध्यक्ष रहे। सन् १९५१ ई० मे जगन्नाथपुरी मे पञ्चाग सम्मेलन तथा सन् १९६० ई० मे उज्जैन के कालिदास-सम्मेलन मे आपने भाग लिया तथा एक दिन सभापतित्व भी किया।





पं० तारानाथ तर्कवाचस्पति

पण्डित तारानाथ तर्कवाचस्पति

गतशताब्दी मे सस्कृतभाषा के कोषनिर्माताओं मे पण्डित तारानाथ तर्कवाचस्पति का नाम अग्रगण्य है। इनका 'वाचसपत्यम्' नामक कोष सस्कृतभाषा का बहुआयामी विशाल कोष है। पण्डित तारानाथजी का जन्म बगाल के बर्दवान मण्डल के कालना ग्राम मे १८१२ ईस्वी मे हुआ था। पिता का नाम था कालिदास सार्वभौम तथा माता का माहेश्वरी देवी। आरम्भिक शिक्षा पिताजी के पास घर मे ही हुई। १८ वर्ष के वय मे १८३० ई० मे इन्होने कलकत्ता के सस्कृत कालेज मे प्रवेश किया जहाँ अलकार शास्त्र तथा ज्यौतिष के अध्ययन के पश्चात् चार वर्षों तक न्यायशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया। उस समय कलकत्ते की एशियाटिक सोसाइटी नामक प्रसिद्ध सस्था के द्वारा महाभारत का प्रथम मुद्रण किया जा रहा था। इस कार्य के प्रधान सम्पादक **पण्डित निमाइ चाँद शिरोमणि** थे जो तारानाथजी के न्यायशास्त्र के अध्यापक थे। इस दुरूह कार्य की सिद्धि मे शिष्य ने अपने गुरु को प्रभूत सहायता दी जिससे वह कार्य सुचारुरूपेण सम्पन्न हुआ। सस्कृतकालेज मे ख्यातनामा अध्यक्ष ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तारानाथ के सहपाठी थे और दोनो की मैत्री जीवनपर्यन्त बनी रही। १८३५ ईस्वी मे इन्होने सस्कृतकालेज मे अपनी शिक्षा समाप्त की। पण्डित तारानाथ जी कलकत्ता के सरकारी सस्कृतकालेज के छात्र अवश्य थे तथा वहाँ की पूरी शिक्षा इन्होने बडे परिश्रम से सम्पादित की थी, परन्तु इनकी ज्ञानार्जन की अभिलाषा इतनी प्रबल थी कि काशी मे अनेक बार आकर तथा यहाँ के विद्वज्जनो से अध्ययन कर इन्होने अपने पाण्डित्य के क्षेत्र को विस्तृत तथा विशाल बनाया। इस विषय मे मार्शल नामक फोर्ट विलियम कालेज (कलकत्ता) के प्रबन्धक का प्रशसा पत्र नीचे दिया जा रहा है।[१]

शास्त्रो मे विशेष प्रौढ़ि प्राप्त करने की इच्छा से ये काशी आये और यहाँ किसी परमहस से खण्डनखण्ड खाद्य जैसे गम्भीर प्रौढ़ वेदान्त ग्रन्थ का अध्ययन किया। काशी के अन्य पण्डितो से भी इन्होने वेदादि शास्त्रो का अध्ययन किया। पाणिनि व्याकरण मे इनकी प्रौढता काशीस्थ वैयाकरणो की देन है। तदनन्तर ये अध्यापन करने के लिए बगाल लौट आये और घर पर ही चतुष्पाठी की स्थापना की। शास्त्रीय दृष्टि के साथ ही साथ लौकिक दृष्टि के प्रभाव से इन्होने वाणिज्य कार्य मे मन लगाया। कपडा तथा लकडी के व्यापार से इनकी खासी आमदनी होने लगी। फलत इन्होने अपने छात्रो के भोजन छाजन की व्यवस्था स्वय अपने घर पर सम्पन्न कर दी। परन्तु इनके अभिन्नहृदय मित्र विद्यासागर को इनका यह वाणिज्य कर्म नितान्त

---

१ I know from report and also personal conviction that he has kept up and added to the stores of Hindoo Literature and science which he acquired at college In fact his zeal for learning has led him to visit Banaras two or three times on each of which occasions he resided at that city for a considerable period In several branches of science I doubt if any Pandit of Bengal can compete with him, namely in the Upanishads, in Vedant, Sankhya, Mimansa, Jyotisha and Patanjala
—कालिकाता सस्कृत कालेजेर इतिहास, प्रथम खण्ड (बँगला) (प्रकाशक सस्कृत कालेज कलकत्ता) पृष्ठ ६।

गर्हित प्रतीत हुआ और उन्ही की प्रेरणा से इन्होने सस्कृत कालेज मे शास्त्रो का अध्यापन आरम्भ किया। प० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर (१८२० ई०–१८६१ ई०) सस्कृतकालेज के अध्यक्ष होने के साथ ही साथ समाजसुधारक भी थे। धर्मशास्त्रो की गहरी छानबीन करने के अनन्तर उन्होने विधवाविवाह को सनातन-धर्माभिमत सिद्ध किया तथा तदनुसार विधवाविवाह के कट्टर समर्थक एव कर्मठ प्रचारक बन गये। समुद्रयात्रा के भी वे समर्थक रहे। पण्डित विद्यासागर कथनी एव करनी के ऐक्य के अनुष्ठाता थे। जो कहते थे, सद्य कर दिखाते थे। विधवाविवाह के मण्डन से पूर्व इन्होने धर्मशास्त्रो का विधिवत् गम्भीर अध्ययन किया और शास्त्रो के वास्तव अर्थ पर निर्णय करने के पश्चात् ही वे विधवाविवाह के मण्डन मे सर्वात्मना जुट गये। अपने पुत्र का विधवा से विवाह सम्पन्न कर इन्होने अपने धार्मिक निर्णय को व्यावहारिक रूप दिया। इस कार्य से बगाल के पण्डितसमाज मे इनकी भूयसी ख्याति हुई। बॅगला भाषा के गद्य को सस्कार कर प्रौढ़ बनाने वाले साहित्यमनीषियो मे विद्यासागर अग्रगण्य थे। सस्कृत के ग्रन्थो का प्रकाशन तथा समीक्षण इनके पाण्डित्य के द्योतक कार्य थे। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का विमर्शात्मक सस्करण प्रकाशित कर इसे उपयोगी बनाया। 'सीतार वनवास' इनका बॅगला ग्रन्थ नितान्त प्रसिद्ध हुआ। ये विद्या के सागर होने के अतिरिक्त दया के भी सागर थे। निर्धन पण्डितो की ये सर्वात्मना सहायता करते थे। 'मेघनादवध' बॅगला के प्रथम प्रौढ़ महाकाव्य के प्रख्यात रचयिता मधुसूदन दत्त इग्लैण्ड गये थे। वे अग्रेजी भाषा के प्रौढ़ विद्वान् थे। और इसी आशा से वे लन्दन धनार्जन की दृष्टि से गये थे, परन्तु वहॉ के अग्रेज साहित्यिको के पक्षपात से उनकी आशा अपूर्ण ही बनी रही और उन्हे कलकत्ता लौटने की तो बात दूर रही, वहॉ भोजन का भी कष्ट होने लगा। उन्होने अपनी दीन दशा का परिचय विद्यासागर के पास भेजा। पण्डितजी ने अनेक स्थलो से पैसा इकट्ठा कर मधुसूदन दत्त के पास भेजा, तब वे कही भारत लौटने मे समर्थ हुये। उन्ही का यह हृदयोद्गार था कि पण्डित ईश्वरचन्द्रजी विद्यासागर ही नही है, वे दयासागर भी है। समाज तथा साहित्य दोनो की अकृत्रिम सेवा मे उनका नाम अमर रहेगा।

विद्यासागरजी के समस्त कार्यों मे तारानाथजी उनके समर्थक एव सहायक बने रहे। **वाचस्पत्यम्** के अन्त मे आत्मपरिचय से ज्ञात होता है कि उन्होने सस्कृतकालेज मे प्रथमत पाणिनि-व्याकरण का अध्यापन किया। तदनन्तर दर्शन का भी अध्यापन स्वीकारा। इस प्रकार तीस वर्षों तक बडी निष्ठा तथा सन्तत परिश्रम के साथ उन्होने अपना यह कार्य सम्पन्न किया। अध्यापन के साथ ही साथ ग्रन्थलेखन का भी कार्य करते रहे। इस युग के उनके ग्रन्थ इस प्रकार है—

(१) सिद्धान्तकौमुदी की सरल टीका, (२) तत्त्वकौमुदी की व्याख्या, (३) शब्दस्तोम महानिधि (सस्कृत का कोषग्रन्थ), (४) शब्दार्थरत्न (आशुबोध व्याकरण नामक ग्रन्थ), (५) वेणीसहार नाटक की विवृतिनाम्नी टीका। १८७४ ई० मे वे इस अध्यापन से मुक्त हुये। करीब दस वर्ष के अनन्तर वे काशी चले आये। १८८५ ई० से काशी मे ही जीवन-पर्यन्त अध्यापन करते हुये अन्त मे १८९२ ई० मे ८० साल की आयु मे उन्होने भगवान् विश्वनाथ की नगरी काशी मे शिवसायुज्य प्राप्त किया।

प० तारानाथ तर्कवाचस्पति के अद्भुत वैदुष्य, दीर्घ अध्यवसाय एव शब्द-पाण्डित्य का द्योतक ग्रन्थ 'वाचस्पत्यम्' शब्दकोष है जो आज भी अपनी उपयोगिता तथा महनीयता के कारण विद्वत्समाज मे आदरणीय है। इनकी रचना के विषय मे उन्होने स्वय लिखा है कि

अध्यापन कार्य से अवकाश ग्रहण करनें पर शासन की ओर से इन्हें आधा वेतन पेन्शन के रूप मे प्रदान किया गया और ये इस कार्य में तन-मन-धन से लग गये। १८ वर्षों मे यह परिश्रमसाध्य कार्य सिद्ध हुआ। ८ वर्ष इसके मुद्रण तथा प्रकाशन में लगे। पाँच भागो मे विभक्त, लम्बे पृष्ठो के डबल कालम में पाँच सहस्र चार सौ बेआलीस (५४४२) पृष्ठों मे यह प्रकाशित है। इसके प्रकाशन मुद्रण का काल १८०५ शक, १६४० विक्रम सवत्, तथा १८८४ खीष्टाब्द तथा स्थान कलिकाता नगर (के सरस्वती प्रेस मे) अकित किया गया है। प्रकाशक का नाम है पण्डित जीवानन्द विद्यासागर बी ए सुपरिन्टेन्डेन्ट, फ्री सस्कृत कालेज, न० २ रामनाथ मजुमदार स्ट्रीट, कलकत्ता। पूरे ग्रन्थ का पेशगी दाम उस समय ११२० रुपये दिया गया है। पूरा ग्रन्थ २२ भागो मे क्रमश प्रकाशित हुआ था। यह सूचना ग्रन्थ के विभिन्न भागो के मुखपृष्ठ पर अकित है।

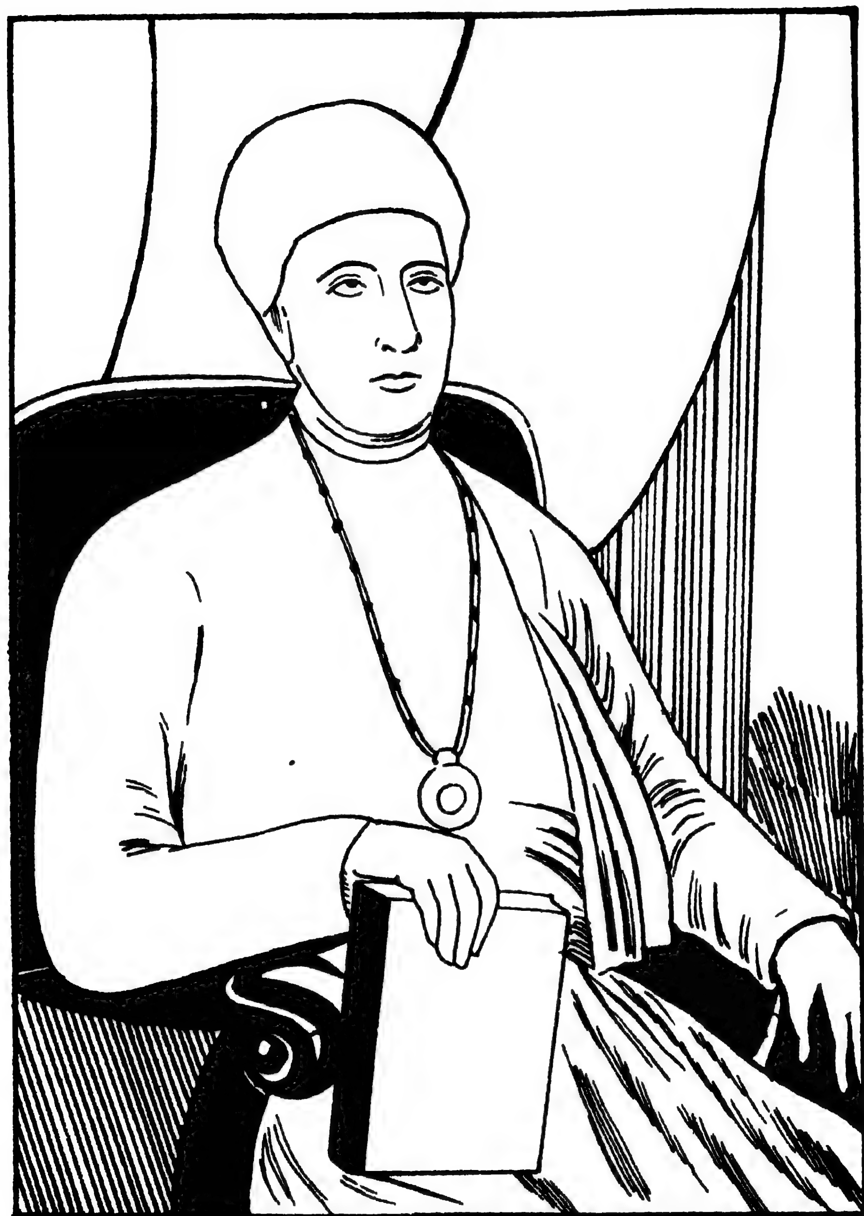
वाचस्पत्यम्—इस कोश की महनीयता तथा प्रामाणिकता, उपादेयता तथा महत्ता आज भी अक्षुण्ण है। यह एक ही व्यक्ति के व्यापक परिश्रम का परिणत फल है। शब्दो का अर्थ बतलाने वाला यह कोश शब्दो की, पाणिनीय व्याकरण के नियमानुसार व्युत्पत्ति का प्रदर्शन करता है तथा नाना शास्त्रो से सम्बद्ध विषयो का विशद विवरण प्रस्तुत करता है।

ग्रन्थकर्ता ने ग्रन्थनिर्माण के लक्ष्य का प्रतिपादन ग्रन्थ के अन्त मे एक रमणीय पद्य के द्वारा इस प्रकार किया है

ये शब्दाम्बुधिपारमापुरमलप्रज्ञातरीवैभवात्
तानुद्दिश्य नमस्क्रियैव सततं तेभ्यो न चैषा क्रिया।
ये शास्त्रेऽकृतबुद्धयो निजधिया व्युत्पित्सवो मानवा
नानाकोषनिरीक्षणे श्रमभियस्तेभ्यो ममैषा क्रिया॥

मेरी रचना का उद्देश्य क्या है? इसके उत्तर मे प० ताराचन्द्रजी का कथन है कि अपनी निर्मल प्रज्ञारूपी नौका के वैभव से शब्दार्णव के पार जाने वाले जो विद्वान् है, उनको मै नमस्कार करता हूँ। यह रचना उनके निमित्त नही है। परन्तु जो पुरुष शास्त्ररहित है, अपनी बुद्धि से व्युत्पत्ति के इच्छुक है तथा नाना कोषो के अवलोकन के परिश्रम से डरने वाले है, उन्ही सामान्य मानवो के लिए मेरी यह रचना है। यह कथन पाण्डित्य-गरिमा से मण्डित पण्डित के सरल हृदय का कोमल उद्गार है।

प० तारानाथजी के सहपाठी प० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के गुरु ने भी काशी में अध्यापन कार्य किया। इन महाशय का नाम था **पण्डित जयनारायण तर्कपञ्चानन**। चौबीस परगना जिला में इनका जन्म १८०६ ई० मे हुआ। इन्होंने दर्शन, विशेषकर न्यायशास्त्र का अध्ययन किया। १८४० ई० मे कलकत्ता के सस्कृतकालेज में अध्यापक नियुक्त हुये जहाँ इन्होंने विद्यासागरजी का अध्यापन किया। अवकाश ग्रहण करने के बाद ये काशीवास करने काशी पधारे जहाँ १८७२ ईस्वी मे इन्हें काशीलाभ हुआ। इनके द्वारा संस्कृत में प्रणीत अनेक ग्रन्थ सुने जाते है। 'सर्वदर्शनसग्रह' का बँगला मे अनुवाद प्रसिद्ध बतलाया जाता है। यह प्रकाशित भी हुआ था। तारानाथ तर्कवाचस्पति एव जयनारायण तर्कपंचानन—इन दोनो बगाल के गण्यमान्य पण्डितों के गुरु थे **नाथूरामशास्त्री** जो बनारस-सस्कृतकालेज के आरम्भिक काल के शिक्षक थे, जिनका नाम भी आज के काशीस्थ पण्डितो ने न सुना होगा।



राजा राधाकान्त देव बहादुर

नाथूराम शास्त्री

ये सस्कृतकालेज के प्रथमत अध्यापक थे १८२० ई० से पूर्व मे। ये सुप्रसिद्ध नैयायिक थे। तारानाथ तर्कवाचस्पति तथा जयनारायण तर्कपञ्चानन इनके शिष्य थे। शरीर के अस्वास्थ्य के कारण सस्कृत कालेज ने इन्हे अध्यापन कार्य से विश्राम दे दिया। तव कलकत्ता के सस्कृत कालेज मे इन्हे अलकारशास्त्र का अध्यापक नियुक्त किया गया। बगदेश मे मल्लिनाथ की टीका के साथ 'रघुवश' का प्रथम सस्करण प्रकाशित हुआ, तब सम्पादकत्रयी मे नाथूराम शास्त्रीजी अन्यतम थे। कलकत्ता सस्कृतकालेज के अधिकारियो के आदेश से इन्होने साहित्यदर्पण तथा काव्यप्रकाश का सम्पादन कर प्रकाशित किया (१८२८-२६ ई०)। १८३२ ईस्वी के फरवरी मास मे इनकी मृत्यु हुई। उस समय इनकी आयु साठ वर्ष की मान ले, तो इनका जन्म १७७० ई० के आसपास मानना उचित होगा।[१]

जयनारायण तर्कपञ्चानन ने तीस वर्षों तक कलकत्ता के सस्कृतकालेज मे न्यायदर्शन का अध्यापन किया। सरकार से पेन्शन लेकर काशी मे वास करने के लिए १८६६ ईस्वी मे आये। अवकाश ग्रहण करने के तीन वर्ष बाद १२ नवम्बर १८७२ ईस्वी मे इन्हे काशीलाभ हुआ। उस समय इनकी आयु ६७ वर्ष की थी।

वाचस्पत्य का प्रेरणास्रोत

शब्दकल्पद्रुम

भारतवर्ष मे सस्कृत भाषा मे निबद्ध कोषो की एक लम्बी परम्परा है। इसमे दो प्रकार के ग्रन्थो का सद्भाव है पर्यायवाची तथा नानार्थक। पर्यायवाची कोषो मे समानार्थक शब्दो का समुच्चय है, तो नानार्थक कोषो मे एक ही शब्द के अनेक अर्थों का सकलन है। यूरोप मे १८वी शती मे ऐसे कोष का निर्माण होने लगा जिसमे विषयविशेष के समस्त ज्ञान तथ्यो का एकत्र सकलन अनेक विद्वानो तथा जानकारो की सहायता से होता था। ऐसा कोष 'इन्साइक्लोपिडिया' कहलाता था जिसका प्रथम सकलन तथा सचयन फ्रेंच भाषा मे १७५१ ई० १७६५ ई० मे किया गया। उसके आदर्श पर अन्य यूरोपीय भाषाओं मे कोष का निर्माण हुआ जो वर्ण्य विषय की समग्रता, विविधता तथा विशालता के कारण 'विश्वकोष' नाम्ना प्रसिद्ध हुआ। १६वीं शती के आरम्भ मे इस विधा का प्रचार भारतवर्ष मे भी होने लगा। सस्कृत भाषा मे ऐसे प्रथम कोष **शब्दकल्पद्रुम** का निर्माण किया **राजा राधाकान्त देव** ने।

इसमे सस्कृत के समस्त शास्त्रो मे प्रयुक्त शब्दो का सकलन, मूल ग्रन्थ के तत्तत् उद्धरणो के साथ, अनेक विद्वानो की सहायता से पहिली बार कलकत्ते मे किया गया। इसमे विशिष्ट विषयो मे आचार्यों के विभिन्न मतो का, शब्दो की व्युत्पत्ति का, प्रमाणपुरःसर विवरण प्रस्तुत किया गया है। यथा ज्योतिषशास्त्रानुसार ग्रहादिको के विषय मे आर्यभट का मत, सौरागम प्रतिभाषित शब्दो का अर्थ, भूगोल खगोल सख्या प्रमाणादि, बृहत्सहिता प्रतिपाद्य विषय और शब्दो के अर्थ, शकुनशास्त्र प्रसिद्ध तथा ताजिक परिभाषित शब्दो के अर्थ, वास्तुशास्त्रादि प्रसिद्ध गृहकुण्डादि तथा सब देवमूर्तियो के लक्षण, तन्त्रशास्त्र परिभाषित शब्दो के अर्थ, तन्त्रोक्त षट्चक्रो के स्वरूप, नीतिशास्त्र-अश्वशास्त्र धनुर्वेद गान्धर्ववेद वेदाङ्ग परिभाषित शब्दो के अर्थ, अलकारशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र सम्बद्ध शब्दो के तात्पर्य, छन्द शास्त्रोक्त शब्दो

१ द्रष्टव्य—कलकत्ता सस्कृत कालेजेर इतिहास।

के अर्थ, सैन्यव्यूहादि-लक्षण, सैन्य-परिमाण-भेद, पाकशास्त्र-परिभाषित शब्दों के अर्थ आदि दिये गये है। प्रत्येक शब्द की पाणिनीय व्याकरणानुसार व्युत्पत्ति भी दी गई है तथा समस्त धातुओं का भी निर्देश किया गया है। यह सस्कृत का विश्वकोष सर्वथा अद्भुत है, अपूर्व है तथा आदरणीय है। रायल आकार में इस शब्दकल्पद्रुम में लगभग साढे तीन हजार पृष्ठ है।

प्रभूत आर्थिक सहायता से इसे मुद्रित तथा प्रकाशित करने का श्रेय इस महनीय ग्रन्थरत्न के सम्पादक तथा सग्रहकर्ता बगाल के **राजा राधाकान्त देव** को ही है। ये राजा गोपीमोहन देव के पुत्र थे। ये अनेक भाषाओं के ज्ञाता होने की गरिमा से सम्पन्न थे। ये बँगला, हिन्दी, अरबी, फारसी, अग्रेजी तथा सस्कृत भाषा के अधीती विद्वान् थे। १८३५ ई० में ये बगाल के गवर्नर की इच्छा से आनरेरी मजिस्ट्रेट बनाये गये तथा उनकी सभा के सभासद् भी थे। यूरोप के नाना देशों के विश्वविद्यालयो में सस्कृत का अध्ययन आरम्भ हो गया था। फलत इस कोशग्रन्थ का विश्वव्यापी अभिनन्दन हुआ। राजासाहब की प्रस्तुति फ्रान्स, जर्मनी, डेनमार्क, इगलैण्ड, रूस आदि देशों के मान्य विश्वविद्यालयो तथा मान्य मनीषियो के द्वारा उदारभाव से की गई तथा वे सम्मान्य सदस्य बनाये गये थे।

शब्दकल्पद्रुम प्रथमत बगाक्षरो मे मुद्रित हुआ तथा मुग्धबोध व्याकरण के द्वारा शब्दो की व्युत्पति दी गई थी। ग्रन्थ का मुद्रण १८१६ ई० के आसपास आरम्भ हो गया था। डॉ० विल्सन ने अपने सस्कृत अग्रेजी कोष की भूमिका (१८१६ ई०) मे लिखा है कि यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है। १८२२ ई० में ग्रन्थ का प्रणयन हो रहा था। उस समय सम्पादक के पिता गोपीमोहनदेव भी जीवित थे। १६३५ ई० तक पूरे ग्रन्थ का प्रकाशन हो गया था। फ्रास के सस्कृत विद्वान् बरनूफ ने इस ग्रन्थ को 'ए रीयल फाइलोलाजिकल एण्ड रिलिजस ट्रेजर आफ इण्डिया' (= भारतवर्ष का यथार्थ भाषा तथा धर्मविषयक ज्ञान का भण्डार) कहा था तथा उन्होने राधाकान्त देव को फ्रान्स की एशियाटिक सोसाइटी का सम्मान्य सदस्य मनोनीत किया। इन्होंने फारसी से वृक्षायुर्वेदविषयक ग्रन्थ का अनुवाद अग्रेजी मे किया था। शब्दकल्पद्रुम द्वितीय सस्करण मे नागराक्षरो मे प्रकाशित किया गया तथा पाणिनि-व्याकरणानुसार व्युत्पत्ति दी गई। इसके सम्पादक प० वरदाप्रसाद वसु तथा उनके अनुज हरिचरण वसु थे। कलकत्ता से १८८६ ई० मे प्रकाशित ग्रन्थ पाँच खण्डो मे विभक्त है तथा लम्बे आकार के लगभग अढाई हजार पृष्ठो मे है। ग्रन्थ की सफलता के लिए सुन्दर प्रार्थना की गई है—

करुणाकणया यस्य नरस्तरति दुस्तरम् ।
सिद्धिदाता स भगवान् नः पूरयतु काङ्क्षितम् ॥



पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी

पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी गत शताब्दी के मध्य मे बगाल मे वेद तथा व्याकरण के प्रौढ पाण्डित्य तथा वैदिक अध्यवसाय के कारण नितान्त लब्धकीर्ति विद्वान् थे। इनके पिता पटना मे नौकरी के सिलसिले मे रहते थे। नाम था प० रामदास चट्टोपाध्याय। इनका मूल स्थान बगाल के बर्दवान जिले का धात्री ग्राम था। ये पक्के सनातनी विचार के सदाचारनिष्ठ ब्राह्मण थे। इन्ही के पुत्ररूप मे सामश्रमीजी का जन्म पटने मे ही १८४६ ईस्वी २८ मई गुरुवार को हुआ था। इनका मूलनाम कालिदास चट्टोपाध्याय था, परन्तु अपनी सचाई से पिता को इतना प्रभावित किया कि उन्होने प्रसन्न होकर इनका अन्वर्थक नाम सत्यव्रत रख दिया। बगाल मे अपने पुत्रो के द्वारा व्याकरण तथा वेद के प्रचार की गाढ लालसा पिता के हृदय मे सन्तत जाग्रत रही। फलत वृद्धावस्था मे ये काशीवास करने काशी चले आये। पिता की दूसरी शादी से दो बच्चे हुये थे जिनमे सत्यव्रतजी जेठे थे। काशी मे उस युग के प्रख्यात विद्वान् सन्यासी गौड स्वामी की कीर्ति सर्वोपरि विराजमान थी। उन्ही के सरस्वती मठ मे ये नैष्ठिक ब्रह्मचारी के रूप मे विद्याध्ययन के लिए रहने लगे। स्वामी के साथ ये भी द्वारे द्वारे भिक्षा मॉगकर स्वाध्याय करने लगे। सुनते है कि गौड स्वामी के साथ भिक्षाटन के अवसर पर सैकडो छात्रो के कारण गली का आवागमन रुक जाता रहा। श्री स्वामीजी के प्रौढ-शेमुषीसम्पन्न विरक्त छात्र **विश्वरूप स्वामी** से इन्होने भाष्यान्त पाणिनि-व्याकरण का अध्ययन किया। **पण्डित नन्दरामजी त्रिवेदी** गुजराती से इन्होने सामगायन के साथ समस्त सामवेद का गम्भीर अध्ययन किया। नैष्ठिक ब्रह्मचारी के रूप मे गुरुगृह मे इन्होने बारह वर्षों तक वेद तथा व्याकरण को हृदयगम किया। काशी मे रहकर इन्होने अनेक छात्रो को तैयार किया। कालान्तर मे चौदह-पन्द्रह छात्रो को अपने ही आवास पर रखकर भोजन-व्यवस्था के साथ अध्यापन करते थे।

अपने छात्रो के साथ भारतभ्रमण के लिए निकल पडे। राजपूताने की ओर गये। वहॉ दर्शन तथा अध्यात्म के प्रेमी बूँदीनरेश रामसिह के दरबार मे पण्डितो को पराजित किया। बगाल मे नवद्वीप मे अपने उत्कृष्ट शास्त्रार्थ करने के हेतु इन्हे विशेष कीर्ति तथा ख्याति मिली। ये सर्वसम्मति से पण्डित तारानाथ तर्कवाचस्पति के बाद बगाल के उत्कृष्ट वैयाकरण एव वैदिक स्वीकृत किये गये। ये अर्थज्ञ वैदिक थे—वेदो के तात्पर्य तथा रहस्य के ज्ञाता विद्वान् के रूप मे इनको नवद्वीप मे खूब प्रतिष्ठा मिली। वही पतिवरा कन्याओं से दोनो बन्धुओं की—इनकी तथा इनके अनुज की—शादी हुई। काशी मे लौटकर रहते थे तथा घर पर अध्यापन करते थे। इनके अनेक वैदिक शिष्यो ने ख्याति प्राप्त की जिनमे प्रधान थे—

(१) **पण्डित जगन्नाथ निरुक्तरत्न** (लाहौर)

(२) **पण्डित राम शास्त्री** (लाहौर के एग्लो वैदिक कालेज के प्राध्यापक)

(३) **पण्डित नरदेव शास्त्री** (जालन्धर, आर्यसमाज के प्रख्यात उपदेशक वैदिक विद्वान्)

(४) **पण्डित सन्तराम वेदरत्न** (लाहौर की 'आर्यप्रभा' पत्रिका के सम्पादक)

पिताजी का काशीवास हो जाने पर सामश्रमी १८७५ ई० मे सपरिवार कलकत्ता चले आये और इसे ही इन्होने अपने अध्ययन-अध्यापन का केन्द्र बनाया। कुछ वर्षों तक ये कलकत्ता विश्वविद्यालय मे वेद के अध्यापक भी रहे। १८६३ ई० मे ये कलकत्ता के प्रख्यात एशियाटिक सोसाइटी के मेम्बर बनाये गये।

प्रत्नकम्रनन्दिनी

"काशी मे रहकर सामश्रमीजी ने इस नाम का एक सस्कृत पत्र निकाला जिसने उनकी निर्मल गवेषणा और प्रौढ़ प्रज्ञा को भारतवर्ष और यूरोप मे प्रसिद्ध कर दिया। उन दिनो बालयेन्टाइन की जगह बनारस सस्कृत कालेज के प्रिन्सिपल होकर आने वाले ग्रिफिथ ने 'काशी विद्यासुधानिधि' पत्र निकाला जिसका प्रसिद्ध नाम 'पण्डित' है। इसमे सस्कृत तथा अग्रेजी मे प्राचीन अलभ्य ग्रन्थो के मूल अनुवाद, टीका, टिप्पणी, खण्डन, मण्डन छपते थे। जब निकला था तब बड़ी धूमधाम से निकला था, राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' तक ने उसमे सस्कृत मे लेख लिखे। परन्तु काशी की प्राचीनता से, अथवा पण्डितो की सहज शकित चित्तता से उसमे वह हिम्मतवर गवेषणा नही चली जो 'इडियन अन्टिक्वेरी' या जर्मनी मे 'इडिश स्टडियन' मे थी। इस अभाव को सत्यव्रतजी की 'प्रत्नकम्रनन्दिनी' ने अर्थात् पुरानी बातो के शौकीनो को आनन्द देने वाली पत्रिका ने पूरा किया। अन्नपूर्णा मन्दिर के पिछवाडे एक अँधियारे मकान मे पडितजी रहा करते थे और स्वय इस पत्र के लेखक, सम्पादक, प्रूफ सशोधक, दफ्तरी और डाक मे छोड आने वाले मजदूर थे ' एक ओर तो श्रीसमृद्ध 'पडित' और दूसरी ओर नवीन दीन ब्राह्मण की नन्दिनी—परन्तु अर्थगौरव नन्दिनी मे ही था। आजकल भी जिन हिन्दी मासिक पत्रो के सपादको को वर्ष-के वर्ष घाटा उठाना पडता है वे समझ सकते है कि प० सत्यव्रत को सस्कृत मे शोध का पत्र निकालने मे कितना लाभ हुआ होगा। परन्तु इससे सामश्रमीजी को यश मिल गया—क्या विरोधी और क्या पक्षपाती सभी की जिह्वा पर उनके पाण्डित्य का साधुवाद चढ़ गया।"

यह उद्गार है पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का जिन्होने आज से लगभग ७० ८० वर्ष पूर्व 'मर्यादा' पत्रिका मे इसे लिखा था।

यह वैदिक पत्रिका आठ वर्षों तक चलती रही (सन् १८६७–१८७४ ईस्वी)। १८६६ ई० मे, काशी के पण्डितो के साथ दयानन्दजी के शास्त्रार्थ करने के अवसर पर प० सामश्रमी जी उभयपक्ष के प्रश्न तथा उत्तर लिखने के लिए नियुक्त किये गये थे और इस ऐतिहासिक शास्त्रार्थ का विवरण इन्होने अपनी पत्रिका मे प्रकाशित किया था। पत्रिका के उस अक मे इस महत्त्वपूर्ण शास्त्रार्थ का यथार्थ विवरण प्रस्तुत किया गया था। कलकत्ता चले जाने पर इन्होने 'उषा' नामक सस्कृत-पत्रिका का प्रकाशन किया जो सात वर्षों तक लगातार चलती रही (सन् १८८८–१६०५ ई०) और अपने ग्रन्थो के प्रकाशन के लिए इन्होने वहाँ एक छापाखाना भी शुरू किया। 'उषा' अतुलनीय वैदुष्य से पूर्ण पत्रिका मानी जाती थी और पण्डितसमाज मे इसकी भूयसी प्रतिष्ठा थी। कलकत्ते की एशियाटिक सोसाइटी के द्वारा सत्यव्रतजी ने वैदिक ग्रन्थो के बड़े परिश्रम से आलोचनात्मक सस्करण प्रकाशित कराये थे।

सम्पादित वैदिक ग्रन्थो के अतिरिक्त इन्होने अनेक वैदिक ग्रन्थों के विषयों तथा तथ्यो के अनुसन्धानपूर्ण ग्रन्थो की रचना मे अपने गम्भीर वैदुष्य एव गाढ अनुशीलन-प्रवृत्ति का उत्कृष्ट परिचय दिया। इन ग्रन्थो मे अनुशीलन एव अनुसन्धान का गाम्भीर्य पदे-पदे दृष्टिगोचर होता है—

(१) सामवेद (५ खण्डो मे, गायन के साथ),

(२) ऐतरेय ब्राह्मण सभाष्य (४ खण्डो मे),

(३) शतपथब्राह्मण (२ खण्ड),

(४) यास्क-निरुक्त (४ खण्ड),

(५) उपलेख सूत्र,

(६) देवतातत्त्व (बँगला),

(७) त्रयीचतुष्टय (बँगला मे चारो वेदो का सक्षिप्त परिचय)।

समग्र सस्कृत ग्रन्थो का प्रकाशन एशियाटिक सोसाइटी (कलकत्ता) द्वारा है। इन ग्रन्थो मे सामवेद सभाष्य सस्करण समग्र गायनो के साथ अपनी समग्रता, प्रामाणिकता तथा गुरुता के कारण सत्यव्रतजी के ग्रन्थो मे शिरोमणि ग्रन्थ है। ऐतरेयालोचन तथा निरुक्तालोचन— ये दोनो ही ऐतरेय तथा निरुक्त की प्रस्तावना न होकर स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ है जिनमे ग्रन्थकार ने स्वसम्मत तथा चिरविचारित तथ्यो तथा सिद्धान्तो का सुबोध देववाणी मे प्रकाशन किया है।

वैदिक दृष्टि

पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी ने वेदो के समझने-बूझने मे अपनी पैनी दृष्टि का उपयोग किया। स्वामी दयानन्दजी के विचारो की छाप इन पर दीखती है, परन्तु ये वेद को अपौरुषेय न मानकर ऋषिप्रणीत ही मानते थे। वेद मे इतिहास मानने के सिद्धान्त के ये परम आग्रही रहे। ऐतरेयालोचन मे उस युग की रीति-नीति, आचार विचार का वर्णन करने मे इनकी यह भावना स्पष्टत दृष्टिगोचर होती है। पाणिनीय व्याकरण के साथ वेदार्थ का इतना प्रौढ ज्ञान रखनेवाला ऐसा विद्वान् भारतवर्ष मे विरला ही होगा। सामश्रमी ने अपना सम्पूर्ण जीवन ही वेद को समर्पित कर दिया था। उनके आलोचना-ग्रन्थो का शाश्वत मूल्य है जो आज भी अपनी मौलिकता के कारण वेदज्ञो का ध्यान अपनी ओर बलात् आकृष्ट करते है। ६५ वर्ष की आयु मे सन् १९११ ई० के १ जून को पण्डित सत्यव्रतजी का कलकत्ते के अपने भवन मे निधन हो गया।

"ऐसे उद्भट विद्वान् के विषय मे यदि यह कहा जाय कि वे पुरानी लकीर के फकीर नही थे, तो पाठको को आश्चर्य नही होना चाहिये। जहाँ पर मूर्खों का नाम 'देवाना प्रिय' आता है, वहाँ उसका यही अर्थ है कि देवताओं मे अधिक भक्ति साधारण बुद्धिवालो की ही होती है। लोकोत्तर प्रतिभावाले स्वय ही 'विद्वासो हि देवा' बन जाते है। नाना शास्त्रो का आलोडन करने वाला सौ डाड वाली नाव की तरह रूढि के लगर से जकड़ा नही रहता। वह भृग की तरह रूढि और लोकमत की बाँस की नली को फाड़कर निकल जाता है। लोग कहते है कि सामश्रमी नास्तिक (= निरीश्वरवादी) वेदान्ती थे। वेद को अनन्त विज्ञान का भडार मानकर भी वे उसे अपौरुषेय नही किन्तु ऋषिप्रणीत मानते थे। एक समय पुरुषो के बहुपत्नी-

विवाह का मडन वे वेद की महिषी, पालागला, बवाता तथा इतर रानियो के प्रमाण से करके उस पर इतने दृढ़ हो गये कि उन्होने अपने भाई की पत्नी के लिए सपत्नी ला दी। परन्तु पाणिनीय व्याकरण के साथ वेदार्थ के अध्यापन मे उनकी समता बगाल ने कोई नही कर सकता था, कदाचित् यह भी कह सकते है कि भारतवर्ष मे भी बिरला ही कोई होगा।"[१]

आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी के वैदिक ज्ञान तथा पाणिनीय व्याकरण के अद्भुत पाण्डित्य के मजुल समन्वय का सस्कृत के महापण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी द्वारा किया गया यह मूल्याकन अक्षरश सत्य है—इसमे तनिक भी सन्देह नही। धन्य सामश्रमी बुध।



१ द्रष्टव्य—'गुलेरीगरिमा' ग्रन्थ, पृष्ठ २७४ (प्रकाशक—नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी)

पण्डित वामाचरण भट्टाचार्य

(आस्पद—भट्टाचार्य, उपाधि—महामहोपाध्याय)

महामहोपाध्याय प० वामाचरण भट्टाचार्य अद्वितीय तर्ककुशल नैयायिक थे। जो स्थान नैयायिक विद्वानो मे कैलासचन्द्र शिरोमणि को प्राप्त था उनके निधन के बाद वही स्थान इनको प्राप्त हुआ। तथ्य यह है कि वामाचरण भट्टाचार्य शिरोमणिजी के मूर्धन्य शिष्यो मे से थे। नव्यन्याय का वैदुष्य वामाचरणजी मे इतना था कि इनकी समता करने वाला विद्वान् नव्यन्याय केन्द्र माने जाने वाले नवद्वीप मे भी नही था।

इनका व्यक्तित्व अत्यन्त भव्य था उन्नत ललाट अष्टमी के चन्द्रमा के समान शोभायमान था। ये केवल 'अधोवस्त्र तथा ऊर्ध्ववस्त्र (चादर)' ही धारण करते थे और इसी तपस्वी वेश मे गवर्नमेण्ट संस्कृतकालेज मे अध्यापन करने के लिए जाया करते थे। इन्होने अपने जीवन मे कभी सिला हुआ वस्त्र धारण नही किया। इनका बाहरी व्यक्तित्व जितना सीधा सादा था भीतरी व्यक्तित्व भी उतना ही सरल एव ऋजु था।

इन्होने सच्चे त्यागी की भाँति कभी द्रव्य को अपने हाथो से स्पर्श नही किया। यह नियम इनका इतना दृढ था कि कालेज मे अपने वेतन के रुपये भी ये अपने हाथो से नही छूते थे, बल्कि इस कार्य के लिए मध्यम भ्राता पण्डित ताराचरण भट्टाचार्य को अपने साथ ले जाया करते थे। अध्ययन तथा अध्यापन के अतिरिक्त इनकी कोई अन्य वृत्ति नही थी। घर के प्रबन्ध की सारी झझट ये अपने अनुज को सौपकर सदा स्वाध्याय मे निरत रहते थे।

प्राचीन ग्रन्थो मे विद्वानो का निम्नलिखित लक्षण दिया गया है

नानाशास्त्रार्थनिष्पन्ना, मतिः स्यात् श्रुतधारिणी ।
संशयोच्छेदनै शिष्यहिताधानार्थदर्शनै. ।
वर्ण्यते चित्तसन्तोषाद् विदग्धव्यवहारत. ॥

पण्डितो के उपर्युक्त समस्त लक्षण वामाचरणजी के जीवन मे घटित होते थे। सागवेद विद्यालय, रामघाट मे गणेशोत्सव के अवसर पर शास्त्रार्थ के लिए जो सभा होती थी, उस सभा मे ये उपस्थित होकर न्यायशास्त्र सबन्धी समस्याएँ तथा प्रश्न उपस्थित करते थे जिनका उत्तर देना किसी विद्वान् के वश की बात नही थी। विद्वानो से उत्तर न प्राप्त होने पर ये स्वय उस समस्या का समाधान करते थे। इस प्रकार तर्क-शास्त्र की गम्भीर समस्याओं तथा ग्रन्थियो को सुलझाकर ये न्यायशास्त्र के अध्ययन को प्रगति देते थे। महाकवि भारवि ने अपने महाकाव्य किरातार्जुनीय मे व्यासजी का निम्नाकित शब्दो मे वर्णन किया है—

मधुरैरवशानि लम्भयन्, अपि तिर्यञ्चि शमं निरीक्षितैः ।
परितः पटु बिभ्रदेनसां, दहनं धाम विलोकनक्षमम् ॥

इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि व्यासजी अपने मधुर निरीक्षण से मनुष्य को कौन



पं० वामाचरण भट्टाचार्य

कहे चंचल पशु-पक्षियों को भी शान्ति प्रदान करते थे। अपने चारों ओर प्रभामण्डल को धारण कर रहे थे, जो पापों के लिए ज्वलनशील होते हुए भी नेत्रों के लिए नितान्त अभिराम था। म० म० वामाचरण भट्टाचार्य के विषय में यह श्लोक नितान्त चरितार्थ होता था।

ये अत्यन्त शान्त स्वभाव के व्यक्ति थे। क्रोध तथा लोभ तो इन्हें छू तक नहीं गया था। इनके प्रिय शिष्यों का यह कहना नितान्त सत्य है कि "हम लोगों ने गुरुजी के मुख को स्वप्न में भी कभी क्रोध से लाल नही देखा था।" इनका जीवन ऋषि-महर्षियों के समान त्यागमय एव तपस्यामय था। ये अजातशत्रु थे। शास्त्रार्थ के अवसर पर भी ये पक्ष एव विपक्ष के सिद्धान्तों का न्याय के साथ निर्णय करते थे।

वामाचरणजी अग्निहोत्री थे और इस कारण नित्यप्रति अग्नि की परिचर्या करते थे। योगाभ्यास के भी ये प्रेमी थे। भक्तिरस से इनका हृदय आप्लावित रहता था। इसलिए बँगला और हिन्दी भाषा के सन्त कवियो के प्रति इनके हृदय में सम्मान तथा आदर का भाव था। देश-हित के कार्यों में भी ये सलग्न रहते थे। इसीलिए 'वर्णाश्रम स्वराज्य सघ' के प्रायः प्रत्येक अधिवेशन में ये सम्मिलित हुआ करते थे। 'सघ' के सिद्धान्तो मे इनकी आस्था थी और ये 'संघ' के कार्यों में सक्रिय योगदान दिया करते थे। देश, समाज तथा धर्म के कार्यों में पण्डितों की प्राय. उपेक्षाबुद्धि रहती है, ऐसा कुछ लोगो का कहना है। परन्तु वामाचरणजी के विषय में यह आरोप नही लगाया जा सकता।

यदि सक्षेप में कहना चाहे तो कह सकते है कि शुभ्रवस्त्रावृत इनका व्यक्तित्व साधारणजन से अत्यन्त ऊँचे स्तर का था और ये ऋषि मुनियो की साक्षात् प्रतिमूर्ति ज्ञात होते थे।

जन्म तथा शिक्षा

प० वामाचरण भट्टाचार्यजी का जन्म पवित्र नगरी काशी मे आश्विन शुक्ल चतुर्दशी शकाब्द १८०१ (सन् १८८० ई०) मे हुआ था। इनके पूज्य पिता का नाम प० काशीप्रसाद भट्टाचार्य था और माता शारदा सुन्दरी देवी के नाम से प्रसिद्ध थी। ये अपने माता-पिता के ज्येष्ठ पुत्र थे। इनके तीन भाई और दो बहिने थी। इनका विवाह बगाब्द १३०२ (सन् १८९५ ई०) सौर फाल्गुन २३ बृहस्पतिवार को हुआ था।

भट्टाचार्यजी तीन बगीय गुरुओं से शिक्षा प्राप्त कर सुयोग्य नैयायिक के रूप में पण्डित-समाज में प्रतिष्ठित हुए। इन्होने स्वर्गीय प० गदाधर शिरोमणि से व्याकरणादि शास्त्रों की प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की। इसी प्रकार न्यायशास्त्र का प्रारम्भिक अध्ययन इन्होंने अपने द्वितीय गुरु पं० सुरेन्द्रमोहन तर्कतीर्थ से किया। ये तर्कतीर्थ महाशय गवर्नमेण्ट संस्कृतकालेज, बनारस में न्यायशास्त्र के अध्यापक थे तथा कैलासचन्द्र शिरोमणि के शिष्य थे। इन्होंने 'तर्कभाषा' का सम्पादन विद्वत्तापूर्ण भूमिका के साथ किया था जो काशी के 'मेडिकल हाल' नामक प्रेस से प्रकाशित हुई थी। प० वामाचरणजी ने न्यायशास्त्र की उच्चतम शिक्षा, सस्कृत कालेज में न्यायशास्त्र की उच्चतम शिक्षा, सस्कृतकालेज में न्यायशास्त्र के तत्कालीन विभागाध्यक्ष कैलासचन्द्र शिरोमणि से प्राप्त की। शिरोमणिजी ने स्वयं न्यायशास्त्र का अध्ययन नवद्वीप के प्रधान विद्वान् न्यायाचार्य पं० गोलोकनाथ शिरोमणि से किया था। पं० वामाचरणजी प० कैलासचन्द्र शिरोमणि के प्रधान शिष्य थे और उन्हीं की कृपा से इन्होंने न्यायशास्त्र के चूडान्त ग्रन्थों का सम्यक् अनुशीलन किया था। इन्होंने गवर्नमेण्ट संस्कृतकालेज से 'न्यायवैशेषिकाचार्य' की उपाधि प्राप्त की थी।

अध्ययन के पश्चात् प० वामाचरणजी की नियुक्ति काशी के नगवा मुहल्ले मे स्थित रुइया पाठशाला मे हुई। वहाँ अनेक वर्षों तक इन्होने अध्यापन किया। इसके बाद सन् १९०५ ई० मे प० कैलासचन्द्र शिरोमणि के अध्यक्षता काल मे ही ये सस्कृतकालेज मे न्यायशास्त्र के अध्यापक पद पर नियुक्त हुए। वही पर सन् १९०७ ई० मे शिरोमणिजी के अवकाश ग्रहण करने पर इन्होने न्यायशास्त्र के अध्यक्ष पद को सुशोभित किया। इस पद को अलकृत करते समय इनकी अवस्था केवल २७ (सत्ताईस) वर्ष की थी। अध्यक्ष पद पर इन्होने लगातार २४ (चौबीस) वर्षों तक सफलतापूर्वक कार्य किया।

इन्ही दिनो इस कालेज मे प० जीवनाथ मिश्र न्यायशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे। तत्कालीन प्रिन्सिपल वेनिस साहब उनका बडा आदर करते थे और न्यायशास्त्र के किसी विषम स्थल की दुरूहता के विषय मे उनकी व्याख्या को ही स्वीकार करते थे।

अद्वितीय शास्त्रार्थकर्ता प० वामाचरण भट्टाचार्यजी की शास्त्रार्थ की शैली अपूर्व थी। बगदेश की शास्त्रार्थ पद्धति मे पूर्वपक्ष की स्थापना मे ही किसी दोष की उद्भावना करके पूर्वपक्ष के वर्ता को निरुत्तर करने की प्रणाली प्रचलित है परन्तु प० वामाचरणजी इस प्रणाली का आश्रय नही लेते थे। बल्कि पूर्वपक्ष के स्थापक के प्रश्न का प्रत्यक्ष उत्तर देकर उसे निरुत्तर करने का सफल प्रयास करते थे इसी प्रणाली के द्वारा इन्होने अनेक शास्त्रार्थी पण्डितो के गर्वाभिमान को चूर्ण किया था आपने सत्रह या अठारह वर्ष के वय मे पूर्वबग के प्रसिद्ध नैयायिक महामहोपाध्याय प० राममोहन सार्वभौम को शास्त्रार्थ मे पराजित कर दिया था। तत्कालीन समाचारपत्रो ने इस घटना को लक्षित कर यह मार्मिक टिप्पणी की थी

"एक दुग्धपोष्य (दुधमुहे) शिशु के साथ शास्त्रार्थ मे म० म० राममोहन सार्वभौम निरुत्तर हो गये।"

भट्टाचार्यजी का दूसरा शास्त्रार्थ प० बच्चा झा के साथ दरभगा में हुआ था। झा ने लगातार तीस मिनटो तक अपने पूर्वपक्ष की स्थापना की थी। किन्तु प० वामाचरणजी ने केवल पाँच मिनटो मे उनके प्रश्न का सटीक उत्तर देकर उन्हे निरस्त कर दिया था। प० बच्चा झा मैथिल पण्डितो के सम्राट माने जाते थे। ऐसे महान् तथा प्रकाण्ड विद्वान को निरुत्तर करना कोई साधारण बात नही थी। परन्तु वामाचरणजी ने अपनी अलौकिक प्रतिभा तथा तर्क चातुरी के बल से प० बच्चा झा को भी निरुत्तर कर दिया था उनकी इसी तलस्पर्शी विद्वत्ता तथा शास्त्रार्थ पटुता से प्रभावित होकर ब्रिटिश सरकार ने इन्हे सन १९२५ ई० मे 'महामहोपाध्याय' की सम्माननीय उपाधि से अलकृत किया।

परिवार—प० वामाचरणजी के दो पुत्र थे उनके ज्येष्ठ पुत्र का नाम गोपालचन्द्र न्यायाचार्य था जो अब दिवगत हो गये है ये काशी मे ही किसी पाठशाला मे अध्यापन करते थे। इनके दूसरे पुत्र का नाम प० शिवचन्द्र न्यायाचार्य है जो राची (बिहार) के गवर्नमेण्ट सस्कृत कालेज मे दर्शनशास्त्र के अध्यापक है।

शिष्य-मण्डली—प० वामाचरण भट्टाचार्यजी की शिष्य मण्डली प्रचुर है। इन्होने ऐसे विद्वान् शिष्यो को उत्पन्न किया जिन्होने अपने जीवन मे बडी ख्याति प्राप्त की और अपने गुरु की परम्परा को प्रगति प्रदान की। इन शिष्यो मे प्रधान रूप से निम्नाकिन है- (१) पण्डितराज राजेश्वर शास्त्री द्रविड (इनका परिचय इसी ग्रन्थ मे अन्यत्र दिया गया है)। (२) प० शिवदत्त मिश्र। (३) प० वामाचरण तर्कतीर्थ जो छोटे वामाचरण के नाम से प्रसिद्ध थे। (४) प० सूर्यनारायण शुक्ल (जो गवर्नमेण्ट सस्कृतकालेज मे व्याकरण के अध्यापक थे)। (५) नेपाल

के राजगुरु खगेन्द्रनाथ पाण्डेय । (६) महामहोपाध्याय कुञ्जविहारी तर्कतीर्थ । (७) महामहोपाध्याय डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण (इन्होने 'हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक' नामक एक महाग्रन्थ की रचना की है) । (८) महामहोपाध्याय प० रमेशचन्द्र तर्कतीर्थ आदि । इन शिष्यो की नामावली से इनके गुरु की विद्वत्ता का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है ।

ग्रन्थरचना

म० म० प० वामाचरण भट्टाचार्य को अध्ययन तथा अध्यापन से तनिक भी अवकाश नही मिलता था । इन्होने अपना समस्त जीवन योग्य शिष्यो के अध्यापन मे ही व्यतीत किया । अत स्वय ग्रन्थरचना के लिए इन्हे समय नही मिला । अवच्छेदकत्व निरुक्ति जागदीशी जगदीश तर्कालकार विरचित इस ग्रन्थ पर प० वामाचरणजी रचित **मनोरमा** टीका का उल्लेख मिलता है । इनकी एकमात्र कृति तत्कालीन काशीनरेश महाराजा प्रभुनारायण सिह द्वारा रचित 'पार्थपाथेयम्' नामक उल्लाप्य की भूमिका है जिसे वामाचरणजी ने लिखा था । काशीनरेश भट्टाचार्यजी को बहुत मानते थे और इनकी विद्वत्ता का बडा आदर करते थे । अत उन्होने अपनी कृति पार्थपाथेयम् की भूमिका लिखने के लिए इनसे निवेदन किया था । इस भूमिका मे वामाचरणजी ने ग्रन्थ के गुण दोषो का सम्यक् विवेचन किया है । महाराजा की स्तुति मे विरचित इनके दो श्लोक यहा उद्धृत किये जाते है जिनसे इनकी साहित्य शास्त्र सम्बन्धी विद्वत्ता का पता चलता है

य साहित्यकलाविलास-विपिने मञ्जुध्वनि कोकिलो,
वेदान्तादिगभीरतत्त्वजलधौ मग्नो महाग्राहक ।
विद्वद्भिर्विविधागमाटविमुहु सञ्चार-पञ्चाननै-
र्यत्समद् गुरुभूषणामपि सुधर्माण हमत्यन्तरा ॥

× × ×

योऽसौ सत्तपसा निधि प्रतिनिधिर्विष्णोर्धरारक्षणे,
श्रौताचारपथप्रचारण-विधावुद्यद्विवस्वानिव ।
यत्कारुण्य-कणा-विलास-सुभगा पुष्टि दधाना चिर,
विद्या-कल्पलता सता नयनयोरानन्दमासिञ्चति ॥

इस प्रकार न्यायशास्त्र मे लोकातीत वदुष्य तथा विशाल कीर्ति अर्जित कर म० म० वामाचरण भट्टाचार्य ने बङ्गाब्द १३३७ सौर चैत्र ७, शनिवार तदनुसार चैत्र शुक्ल तृतीया (मार्च २१ सन् १६३१ ई०) को शिवत्व प्राप्त किया ।

निम्नाकित श्लोक मे इनके व्यक्तित्व की सच्ची झाँकी प्रस्तुत की गई है —

विद्वन्मान्यवरा गृहीतवपुषो नूनं कणादर्षय.,
शान्तस्वान्तजुष स्मिताञ्चितमुखाम्भोजाः प्रसादोत्तरा. ।
शिष्यौघै. परिवारिताः शिवपुरी-भूषायमाणा. सदा,
श्रीवामाचरणाख्यया सुविदिता राजन्ति विद्वत्तमा. ॥

●

३६

पण्डित ताराचरण भट्टाचार्य

(आस्पद—भट्टाचार्य; उपाधि—साहित्यवाचस्पति)

जन्म तथा शिक्षा

प० ताराचरण भट्टाचार्यजी म० म० प० वामाचरण भट्टाचार्य के मध्यम भ्राता थे। इनका जन्म काशी मे ही सन् १८८५ ई० मे हुआ था। इन्होने प्रारम्भिक शिक्षा स्वर्गीय प० गदाधर शिरोमणि से प्राप्त की। इसके पश्चात् न्यायशास्त्र का अध्ययन इन्होने प० सुरेन्द्रमोहन तर्कतीर्थ तथा अपने अग्रज प० वामाचरण भट्टाचार्यजी से किया। ये साहित्य के ही प्रधान विद्वान् थे। इस श ़ का अध्ययन इन्होने उस युग के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् म० म० गगाधर शास्त्री के चरणो मे बैठकर किया था। ये अग्रेजी तथा नवीन विषयो के भी ज्ञाता थे जिनका अध्ययन इन्होने डॉ० वेनिस तथा नार्मन साहब से किया था। इस प्रकार ताराचरणजी ने न्यायशास्त्र, साहित्यशास्त्र तथा अग्रेजी मे भी दक्षता प्राप्त की थी। इन्होने गवर्नमेण्ट सस्कृतकालेज, बनारस से साहित्योपाध्याय तथा बगाल से काव्यतीर्थ की परीक्षा उत्तीर्ण की थी।

अध्यापन

प० ताराचरण भट्टाचार्य ने साहित्यशास्त्र मे सर्वोच्च उपाधि प्राप्त कर सर्वप्रथम बगाली टोला हाईस्कूल मे अध्यापन का कार्य प्रारम्भ किया। ये कुछ वर्षों तक वहाँ छात्रो को सस्कृत पढ़ाते रहे। परन्तु वहाँ का कार्य इनकी योग्यता के अनुकूल नही था। अत उसे छोडकर इन्होने काशी के **टीकमणि कालेज** मे अध्यापक के रूप मे पढ़ाना प्रारम्भ किया। इसके कुछ वर्षों के पश्चात् इनकी नियुक्ति काशी के ही गोयनका सस्कृतकालेज मे हो गई। उस कालेज मे इन्होने अनेक वर्षों तक साहित्यशास्त्र का अध्यापन किया। यही इनके जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण काल था। ये अपने जीवन के अन्तिम दिनो तक साहित्य की सेवा मे तल्लीन रहे।

परिवार

प० ताराचरण भट्टाचार्य ने दो विवाह किये थे। इनका पहला विवाह बगाब्द १३०६ मे हुआ था तथा दूसरा विवाह बगाब्द १३२१ सन् मे सम्पन्न हुआ। इनकी प्रथम पत्नी से दो पुत्र और एक कन्या उत्पन्न हुई। इनके प्रथम पुत्र का नाम हेमेन्द्रनाथ भट्टाचार्य था तथा दूसरे का नाम **विभूतिभूषण न्यायाचार्य** था। इनके दूसरे पुत्र ने न्यायशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया था और वे सस्कृतविश्वविद्यालय वाराणसी मे सरस्वती भवन पुस्तकालय के पुस्तकालयाध्यक्ष थे। इस पद से अवकाश प्राप्त कर वे काशी मे ही अपना शेष समय आजकल बिता रहे है।

भट्टाचार्यजी के दूसरे विवाह से एक पुत्र और चार कन्याएँ हुईं। इनकी द्वितीय पत्नी

से उत्पन्न पुत्र डॉ० विश्वनाथ भट्टाचार्य आजकल हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी मे सस्कृतविभाग के अध्यक्ष पद से इसी वर्ष सेवा-मुक्त हुए है।

इनके अग्रज **पण्डित विभूतिभूषण भट्टाचार्य** न्यायशास्त्र के प्रौढ़ विद्वान् है। इनकी प्रतिभा बड़ी विलक्षण है। आधुनिक विज्ञान की तुलना मे नैयायिक सिद्धान्तो का वैशिष्ट्य एव गाम्भीर्य दिखलाने मे इनकी शेमुषी विशेष समर्थ है। ज्योतिष तथा गणित मे भी इन्हे प्रौढ़ता प्राप्त है। इन्होने **हयत** तथा **उकरा** नामक अरबी ज्योतिष के प्रतिपादक सस्कृत-ग्रन्थो का सम्पादन बडी अभिज्ञता तथा विशदता से किया है। इन अल्पज्ञात विषयो का प्रतिपादन करने वाले सस्कृत ग्रन्थो का यह सम्पादन सम्पादक के विशद पाण्डित्य एव अश्रान्त परिश्रम का द्योतक है। ये दोनो ग्रन्थ सस्कृतविश्वविद्यालय वाराणसी के अनुसन्धान-विभाग द्वारा प्रकाशित है (१९६७, १९६८ ई०)। **पारसीकप्रकाश** फारसी शब्दो का सस्कृतकोश है। इसका भी सम्पादन विभूति बाबू ने बडे वैशद्य से किया है। इन तीनो ही ग्रन्थो के आधार सरस्वती भवन मे सुरक्षित प्राचीन हस्तलेख है (१९६५ ई०, काशी)।

ग्रन्थरचना

प० ताराचरण भट्टाचार्य ने अनेक ग्रन्थो की रचना की है जिनका विवरण नीचे दिया जाता है–

(१) दशकुमारचरित की सस्कृत टीका, जिसका प्रकाशन चौखम्भा विद्याभवन काशी से हुआ है।

(२) भारतगीतिका--इस ग्रन्थ मे भारतवर्ष का राजनैतिक इतिहास सस्कृत के गीतो मे लिखा गया है।

(३) सस्कृत नाटको मे स्वरचित गीतिका –सस्कृत नाटको का अभिनय करते हुए ये गाने के लिए कुछ गीतो का भी निर्माण करते थे।

प० ताराचरण भट्टाचार्य के जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि ये सफल अध्यापक होने के साथ ही सफल अभिनेता भी थे। इन्होने सस्कृत के अनेक नाटको मे सफलतापूर्वक अभिनय किया था। इन्होने अभिज्ञानशाकुन्तल मे दुष्यन्त की, वेणीसहार नाटक मे भीम और दुर्योधन की और चण्डकौशिक मे राजा हरिश्चन्द्र की भूमिका का बडी ही सफलता के साथ सम्पादन किया था। इनकी अभिनेयता बडी सफल होती थी जिसकी प्रशसा दर्शकगण मुक्तकण्ठ से किया करते थे। इन्होने सस्कृत-नाटको के अभिनय के लिए 'भारती-समिति' नामक एक सस्था की स्थापना की थी जिसका सचालन ये स्वय करते थे। इन्होने **मित्रगोष्ठी** नामक पत्रिका की व्यवस्था मे भी योग दिया था। इस पत्रिका के सम्पादक प० विधुशेखर भट्टाचार्य थे जो अपनी छात्रावस्था मे काशी मे अध्ययन करते थे और बाद मे शान्तिनिकेतन, विश्वभारती के प्राचार्य पद को उन्होने सुशोभित किया। इस पत्रिका मे म० म० प० रामावतार शर्मा भी लेख लिखा करते थे। इस प्रकार 'मित्रगोष्ठी' उस समय की प्रसिद्ध पत्रिका थी जिसके सम्पादन तथा व्यवस्थापन मे भट्टाचार्यजी का प्रमुख हाथ था।

विद्वत्ता तथा साहित्यिक कार्यों के अतिरिक्त इन्होने अनेक सामाजिक कार्य भी किये, जिससे इनकी बड़ी प्रतिष्ठा हुई। लार्ड कर्जन द्वारा बगभग के समय सन् १९०५ ई० मे इन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन में भी भाग लिया था। 'सेवक-समिति' नाम से एक सस्था की इन्होने स्थापना

की थी जो विदेशी वस्त्रों के बायकाट को सफल बनाने के लिए स्वदेशी वस्त्रो को बेचने का कार्य करती थी। इस 'सेवक-समिति' के कुछ सदस्यो ने 'बनारस षड्यन्त्र केस' मे भी भाग लिया था।

इस प्रकार ताराचरण भट्टाचार्यजी न्यायशास्त्र तथा साहित्यशास्त्र के विद्वान् होने के अतिरिक्त सफल अभिनेता भी थे। इन्होंने बगभग आन्दोलन मे भाग लेकर राष्ट्र की सेवा भी की थी, जिसमे साधारणतया सस्कृत के विद्वानों ने बहुत कम योगदान किया है।



पण्डित चण्डीप्रसाद शुक्ल

(आस्पद –शुक्ल; उपाधि –वेदान्तसार्वभौम)

पण्डित उमापति द्विवेदीजी के अन्यतम शिष्यो मे पण्डित चण्डीप्रसाद शुक्ल अग्रगण्य थे। महामहोपाध्याय हरिहरकृपालुजी तथा पण्डित चण्डीप्रसादजी द्विवेदीजी के समकालीन शिष्य होने के कारण सतीर्थ्य थे। इनका कार्यकाल भी प्राय समसामयिक था। गोयनका संस्कृतमहाविद्यालय की उन्नति करने मे इन दोनो विद्वानो का हाथ था। चण्डीप्रसादजी विद्यालय के प्रथम अध्यक्ष थे। इनके अवकाश ग्रहण करने अनन्तर हरिहरकृपालुजी उस स्थान पर अध्यक्ष बनाये गये।

गोयनका विद्यालय का स्थापना

खुरजा के उद्योगपति सेठ गौरीशंकर गोयनका बड़े ही विद्याप्रेमी तथा संस्कृत भाषा का प्रचार एवं प्रसार कर कीर्ति अर्जित करने वाले व्यक्ति थे। वे संस्कृत का विधिवत् अध्ययन संस्कृत के मान्य पण्डितो से किया करते थे। पण्डित चण्डीप्रसाद शुक्लजी उनके गुरु स्थानीय थे जिनसे वे उपनिषद् तथा वेदान्त का अध्ययन किया करते थे। इन्ही के उपदेश तथा आग्रह से सेठजी ने अपने पितामह तथा पिता के नाम से संचालित विद्यालय की स्थापना १९२६ ई० के जून मास मे की। इस विद्यालय का पूरा नाम 'जोखीराम मंगलचन्द गोयनका विद्यालय' है। यह विद्यालय काशी मे एक महनीय तथा माननीय विद्यालय के रूप मे प्रतिष्ठित है। इसका अपना भवन है विशाल पुस्तकालय है तथा संस्कृतविद्या के प्रमुख विभागो के लिए नियुक्त सुयोग्य अध्यापक है। पण्डित चण्डीप्रसाद शुक्लजी ही इसकी प्रेरणा के स्रोत थे। फलत विद्यालय की स्थापना होने पर वे ही इसके प्रथम अध्यक्ष– प्राचार्य– प्रिन्सिपल बनाये गये। इनके अवकाश ग्रहण करने पर महामहोपाध्याय हरिहरकृपालु द्विवेदी अध्यक्ष-पद पर नियुक्त हुए। उनके अवकाश ग्रहण करने पर पण्डित कमलाकान्त मिश्रजी भी यहाँ के अध्यक्ष नियुक्त हुए जिन्होने इस पद पर २२ वर्ष तक कार्य किया।

अच्युत मुनि

गोयनका संस्कृतविद्यालय के संस्थापक सेठ गौरीशंकर गोयनका ने 'अच्युत-ग्रन्थमाला' नामक एक नवीन ग्रन्थमाला का प्रकाशन अपने विद्यालय के द्वारा ही किया। इस ग्रन्थमाला मे वेदान्त के प्रसिद्ध तथा दुरूह ग्रन्थो का सरल सुबोध हिन्दी मे अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। कुछ नवीन अप्रकाशित ग्रन्थो (जैसे प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि कात्यायनश्रौतसूत्र—सरला वृत्ति, शुल्वसूत्रवृत्ति आदि) का भी प्रकाशन इस माला मे किया गया है। बृहदारण्यक-वार्तिकसार (दो खण्ड), ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य (तीन खण्ड), योगवासिष्ठ जैसे वेदान्त के उच्चस्तरीय तथा दुरूह ग्रन्थो का सुबोध अनुवाद हिन्दी मे प्रकाशित कर इस विद्यालय ने हिन्दी मे दार्शनिक साहित्य की विशेष उपलब्धि की है।



पं० चण्डीप्रसाद शुक्ल

अच्युत-ग्रन्थमाला के प्रेरणा-स्रोत थे अच्युत मुनि, जो वेदान्त के बड़े ही मर्मज्ञ विद्वान् तथा अध्यात्म के गम्भीर चिन्तक थे। ये सेठजी के गुरु थे। इन्ही से उन्होने वेदान्त की शिक्षा तथा उपदेश ग्रहण किया था। इसीलिए सेठजी ने अपने गुरु 'अच्युत मुनि' के नाम पर इस ग्रन्थमाला का नाम रखा। स्वामी अच्युत मुनि के पूर्व आश्रम का नाम पण्डित दौलतराम शास्त्री था। इन्होने काशी मे ही महामहोपाध्याय श्रीशिवकुमार शास्त्रीजी से व्याकरण तथा वेदान्त का गम्भीर अध्ययन किया था। लाहौर मे ये डी० ए० वी० कालेज मे सस्कृत के अध्यापक थे। उसी समय से इनका मन गृहस्थी से हटकर निवृत्ति मार्ग मे रमता था। सेवा निवृत्त होने के अनन्तर तो ये बिलकुल विरक्त होकर गढ़मुक्तेश्वर से लेकर फतेहगढ़ तक पैदल ही विचरण किया करते थे। एक बार बहुत अधिक बीमार पड जाने पर इन्होने आतुर सन्यास ले लिया, तब नाम पड़ा 'अच्युत मुनि'। अनूप शहर मे सेठ गौरीशकर गोयनकाजी जो सस्कृतसेवी तथा सन्त महापुरुषो के सेवक थे, स्वामीजी की सात्त्विक वृत्ति से बडे ही आकृष्ट हुए और इनसे वेदान्त के ग्रन्थो का अध्ययन करने लगे। इसी समय पण्डित रामशकर मेहता और पण्डित गगाप्रसाद मेहता (तत्कालीन काशी हिन्दूविश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार) भी उस अध्ययन मे सम्मिलित हुए। सेठजी ने इनके लिए नाव पर जीवन बिताने की व्यवस्था कर दी थी और साथ मे [illegible] और पाचक का भी प्रबन्ध कर दिया था।

अन्त समय मे ये काशी आये। यहाँ पर भी सेठजी ही इनके प्रधान सेवक थे। काशी मे रहते हुए इनका हिन्दूविश्वविद्यालय के कतिपय विद्वानो एव छात्रो के साथ सम्पर्क हो गया। अध्यापन-अध्ययन के अतिरिक्त ये वेदान्त एव **भागवत** के मर्मज्ञ व्याख्याता भी थे। अन्त समय ज्ञानवापी के पास गोयनकाजी की कोठी मे रहते हुए आपने योगियो की भाँति १२ दिसम्बर १९३५ को अपनी इहलोक लीला का सवरण किया। अच्युत-ग्रन्थमाला के नाम से प्रकाशित शास्त्रो का भण्डार मुनिजी के पूर्व जीवनवृत्त का मूक साक्ष्य देता हुआ प्रतीत होता है। भगवान् और भगवत्तत्व ऐसे ही पवित्रचेता मनीषियो के हृदय-देश मे आविर्भूत हुआ करते है।

श्री शुक्लजी का जन्म छपरा जिले के 'एकमा' स्टेशन के समीपस्थ 'पण्डितपुर' नामक ग्राम मे हुआ था। उस गाँव के प्रतिष्ठित एव सम्पन्न पण्डित श्रीकान्त पाण्डेय और यमुनाकान्त पाण्डेय के दरवाजे पर ही एक सस्कृत पाठशाला चलती थी जिसमे मिथिला के पण्डित दुलार झा नैयायिक (जो लेखक के छात्र, श्यामा सस्कृतविद्यालय, काशी के प्राचार्य डॉ० नरेश झा के पूज्य पितामह थे) सस्कृत पढ़ाया करते थे। इन्ही से चण्डीप्रसादजी ने सस्कृत की आरम्भिक शिक्षा ग्रहण की थी। सिद्धान्त कौमुदी एव तर्कसग्रह आदि ग्रन्थो मे व्युत्पत्ति प्राप्त करने के अनन्तर ये टीकाग्रन्थो के अध्ययन के निमित्त अयोध्याजी गये। इनकी शिक्षा-दीक्षा, अध्ययन-अध्यापन का कार्य उत्तरप्रदेश मे ही सम्पन्न हुआ था। ये अयोध्या मे पण्डितप्रवर नकछेदराम (उमापति) द्विवेदीजी के अन्तेवासी बने और इस प्रकार ये पण्डित हरिहरकृपालुजी के सतीर्थ्य थे। दोनो अपने विषयो के दिग्गज विद्वान् थे और दोनो ने ही इस गोयनका महाविद्यालय के अध्यक्ष पद को सुशोभित कर सन्यासियो तथा इतर छात्रो को व्याकरण, न्याय तथा वेदान्त जैसे गम्भीर शास्त्रो का विधिवत् शिक्षण दिया। पण्डित चण्डीप्रसादजी इस सस्कृतमहाविद्यालय के प्रथम अध्यक्ष (प्रिन्सिपल) थे और इनके अवकाश ग्रहण करने पर महामहोपाध्याय पण्डित हरिहरकृपालु द्विवेदी उसी पद पर १९४३-४४ ई० मे नियुक्त किये गये।

शुक्लजी द्विवेदीजी के साथ अयोध्या मे पण्डित उमापति द्विवेदीजी के पास न्याय, वेदान्त आदि दर्शनो का अध्ययन करते थे, परन्तु अध्ययन की समाप्ति पर दोनो का कार्यक्षेत्र भिन्न हो गया। पण्डित चण्डीप्रसादजी प्रथमत खुर्जा की पाठशाला मे अध्यापन करते थे। तदनन्तर काशी मे सेठ गौरीशकर गोयनका ने जब अपने पूर्वजो की समृति मे 'जोखीराम मटरूमल गोयनका सस्कृत महाविद्यालय' की स्थापना की तब इन्हे अध्यक्ष पद पर प्रनिष्ठापित करके खुर्जा से काशी बुला लिया। इस पद पर रहते हुए शुक्लजी ने विद्यालय की शासन-व्यवस्था अत्यन्त सुन्दर रीति से की। इसके साथ ही इन्होने विद्यालय मे पठन पाठन की सम्यक् परिपाटी प्रवर्तित की।

ग्रन्थरचना

पण्डित चण्डीप्रसाद शुक्लजी ने सेठ गौरीशकर गोयनका के गुरु श्री अच्युतमुनि की प्रेरणा से महादार्शनिक श्रीहर्ष के 'खण्डनखण्डखाद्य' का राष्ट्रभाषा हिन्दी मे अनुवाद १९१४ ई० मे किया था, परन्तु इसे प्रकाशित होने का सुअवसर १९८५ वि० स० अर्थात् १९२८ ई० मे 'अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय' काशी से हुआ। शुक्लजी ने इस तर्कबहुल दुरूह ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद करने मे बडा परिश्रम किया है। इस ग्रन्थ के नाम का अर्थ है खण्डनरूपी खॉड (चीनी) से बनी हुई मिठाई। परन्तु इस मिठाई के आस्वादन का अवसर केवल न्याय वेदान्त के तत्त्वो के ज्ञाता विद्वानो को ही उपलब्ध होता है। यह ग्रन्थ अद्वैतवेदान्त के गूढान्त ग्रन्थो मे शीर्षस्थानीय माना जाता है। वेदान्तशास्त्र कहता है कि प्रमाण प्रमेय आदि निखिल पदार्थ अनिर्वचनीय है अर्थात उनका निर्वचन लक्षण न होने से वे स्वप्नवत् मिथ्या है इसी से वेदान्त को 'अनिर्वचनीयतावाद' भी कहते है परन्तु प्रमाण, प्रमेय आदि के लक्षणो का खण्डन प्राधान्येन किसी वेदान्तग्रन्थ मे नही किया गया है। यह 'खण्डनखण्डखाद्य' ही ऐसा पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ है जिसमे एक एक कर सब लक्षणो का अकाट्य युक्तियो से खण्डन कर 'अनिर्वचनीयतावाद' नाम की रक्षा की गई है। इसीलिए इस ग्रन्थ का अपर नाम 'अनिर्वचनीयता-सर्वस्व' भी है।

इस ग्रन्थ मे न्याय के तथा बौद्धो के सिद्धान्तो का खण्डन पुङ्खानुपुङ्ख रूप से किया गया है। यह 'खण्डन' एक प्रकार से दार्शनिक ज्ञान का निकषग्रावा माना जाता है, जिसे भलीभाँति समझना तथा छात्रो को समझाना पाण्डित्य का चरम उत्कर्ष समझा जाता है। इस ग्रन्थ मे चार परिच्छेद है—प्रथम परिच्छेद समग्र ग्रन्थ के आधे से भी ऊपर है। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण परिच्छेद है। नाम है प्रमाण तदाभासखण्डन। द्वितीय परिच्छेद का नाम है निग्रह निरुक्ति (निग्रहस्थानो का खण्डन)। तृतीय परिच्छेद बहुत ही छोटा है जिसका नाम है—सर्वनामार्थ निरुक्ति। चतुर्थ परिच्छेद विषय का समापन करने वाला है जिसमे विषयो के वेदान्तसम्मत अनिर्वचनीय स्वरूप का प्रतिपादन है। पण्डित चण्डीप्रसादजी ने प्रश्न और उत्तर रूप से विभाजन कर सिद्धान्तो की सुबोध व्याख्या करने का प्रयास किया है। भारतीय दर्शन के सिद्धान्तो से परिचित व्यक्ति इस अनुवाद की सहायता से अद्वैत के सिद्धान्तो को समझने मे सामान्यत कृतकार्य हो सकता है। विशेष जानकारी के लिए गुरुमुख से ग्रन्थ का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। शुक्लजी का यह प्रयास नितान्त श्लाघनीय है और हिन्दी के माध्यम से दर्शन के ज्ञान के इच्छुक व्यक्तियो के लिए यह सर्वथा उपयोगी ग्रन्थ है।

पण्डित चण्डीप्रसादजी ने अपने भाषानुवाद के आरम्भ मे मगलाचरण के अनन्तर अपने पूज्य गुरु उमापति द्विवेदी को इन शब्दो मे नमस्कार किया है—

अनुमापतये तस्मायप्युमापतये सदा । नमोऽस्तु गुरवे सर्ववेदिनेऽपि द्विवेदिने ॥

जिससे इनके गुरु के सर्वशास्त्र मर्मज्ञ होने का पता चलता है। ऊपर कहा गया है कि शुक्लजी के साथ प० हरिहरकृपालुजी भी इन्ही गुरु के यहाँ अध्ययन करते थे। फलतः दोनो सतीर्थ्य थे।

मूल लेखक श्रीहर्ष मिश्र के अलौकिक दार्शनिक पाण्डित्य की चर्चा करना यहाँ अनुपयुक्त नही है। खण्डनखण्ड के आरम्भ मे ही उन्होने अपने ग्रन्थ के माहात्म्य के विषय मे जो गर्वोक्ति लिखी है, उसे तथ्योक्ति ही समझना चाहिए। उनका कथन है

शब्दार्थ-निर्वचन-खण्डनया नयन्त.
सर्वत्र निर्वचनभावमखर्वगर्वान् ।
धीरा यथोक्तमपि कीरवदेतदुक्त्वा
लोकेषु दिग्विजयकौतुकमातनुध्वम् ॥

आशय है कि विना विशेष ऊहापोह किये ही पण्डित जन शुक की तरह भी यदि इस शास्त्र को तैयार करे तो वे शब्द तथा अर्थ के निर्वचन मे अखर्व गर्व से मण्डित पण्डितो को मौन बना डाले और लोक मे दिग्विजयरूपी क्रीडा का विस्तार करे। श्रीहर्ष का यह उपदेश आज भी मानने योग्य है।

खण्डनकार ने अपने ग्रन्थ (पृ० ६०) मे अद्वैत भावना की बडी प्रशसा की है

ईश्वरानुग्रहादेषा पुसामद्वैतवासना । महाभयकृतत्राणा द्वित्राणा यदि जायते ॥

यहाँ पर इन्होने साहित्यिक भाषा मे अपने ग्रन्थ का सक्षिप्त निरूपण किया है कि किस प्रकार उपनिषदो के अद्वैतपरक सिद्धान्तो के परिशीलन से साधक को अद्वैतरूप परमार्थ का स्वय साक्षात्कार हो जाता है। इसी प्रसग मे श्रीहर्ष ने इन शब्दो मे अपने 'नैषधचरित' का स्मरण किया है

'यथा च परिहृतचापरम् आत्मतत्त्वामृतसरसि निमज्य रज्यति निरायासमेव मानस, तथाऽहम् अकथय नैषधचरितस्य परमपुरुषस्तुतौ सर्गे इत्येषा दिक्' (नैषधचरित के २१वे सर्ग का यहाँ स्पष्ट निर्देश है)। इस वाक्य का अकथयम् (मैने कहा है) सूचित करता है कि खण्डन से पहले ही नैषधचरित की रचना हो चुकी थी। उधर नैषधचरित के षष्ठ सर्ग के अन्तिम पद्य (६।११३) मे खण्डनखण्ड का नामनिर्देश किया गया है इस विरोध का समाधान किया जा सकता है। नैषधचरित की रचना के समय खण्डन का निर्देश बुद्धिस्थ ग्रन्थ का ही सूचक है अर्थात भविष्य मे निर्मीयमाण ग्रन्थ की ओर ही ग्रन्थकार का निर्देश है। खण्डन के अनुवाद पृ० ३०६ पर **ईश्वराभिसन्धि** नामक ग्रन्थ का स्पष्ट निर्देश है। उधर नैषधचरित मे इसका सकेत नही मिलता फलत यह श्रीहर्ष मिश्र की नूतन रचना है जो अभी तक प्रकाश मे नही आयी है। खण्डनकार ने अनौचित्य के विषय मे 'महिमा' (महिमभट्ट) का मत उद्धृत किया है कि इन्होने 'व्यक्तिविवेक' नामक अपने ग्रन्थ मे इस दोष को आदरपूर्वक स्वीकार किया है

दोष व्यक्तिविवेकेऽमु कविलोकविलोचने । काव्यमीमासिषु प्राप्तमहिमा महिमाऽऽदृत ॥

—खण्डन, पृ० ४१४

इस पद्य मे श्रीहर्ष ने 'महिमा' (महिमभट्ट) को काव्य की मीमासा करने वाले आचार्यों मे महिमा प्राप्त करने वाला तथा उनके ग्रन्थ व्यक्तिविवेक को 'कविलोक विलोचन' बतलाकर उनके प्रति अपनी सातिशय आदरभावना का प्रदर्शन किया है। 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ भी वास्तव

में साहित्य-मीमासा का उदात्त एव पाण्डित्यपूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थ जो ठहरा। यह निर्देश नैषधचरितकार की भावयित्री प्रतिभा का स्पष्ट सकेत दे रहा है।[1]

शुक्लजी के सतीर्थ्य

पण्डित रामेश्वरदत्त शुक्ल

(आस्पद—शुक्ल, उपाधि—ज्योतिषरत्नाकर)

ये भी उमापति द्विवेदीजी के अन्यतम शिष्यो मे थे। पण्डित रामेश्वरदत्त शुक्ल का जन्म फैजाबाद जिले की अकबरपुर तहसील के निकट सुकुलपट्टी गाँव मे १८५६ ई० मे हुआ था। अयोध्या मे विद्याध्ययन करने से पूर्व इन्होने काशी मे आकर उस युग के प्रसिद्ध ज्योतिषी प० गणेशदत्त ज्योतिषी से ज्योतिषशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया था। ज्योतिष मे ये बडे ही निपुण विद्वान् माने जाते थे। इसके अनन्तर अयोध्या मे जाकर इन्होने उमापति द्विवेदीजी से व्याकरण तथा दर्शन की उच्च शिक्षा प्राप्त की। शुक्लजी बडे ही आचारवान् तथा सन्त-प्रकृति के व्यक्ति थे। फलित ज्योतिष की इनकी गणना बडी सटीक तथा मार्मिक होती थी। इनकी कृपा से राजा रुद्रप्रसाद शाही को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई थी। राजा ने भूसम्पत्ति देकर अपने राज्य मे ही इन्हे बडे आदर तथा सत्कार के साथ रखा था। ये विद्वान् होने के अतिरिक्त बडे ही आचारवान् व्यक्ति थे। इनके आचार विचार से प्रभावित होकर स्थानीय जनता इन्हे 'बड़का पडित' के नाम से पुकारती थी। अपने वैदुष्य तथा सदाचार के कारण प० रामेश्वरदत्त शुक्लजी अयोध्या-मण्डल मे विशेष रूप से प्रतिष्ठित तथा समादृत किये जाते थे।

इनके एकमात्र पुत्र प० सूर्यनारायण शुक्ल अपनी प्रखर विद्वत्ता, शास्त्रीय अनुशीलन तथा प्राचीन ग्रन्थो के विमर्शात्मक सस्करणो के द्वारा काशी के विद्वत्समाज मे आदर के पात्र थे। इनका जन्म सवत् १९५२ (१८९५ ई०) मे हुआ था। अपने पिताजी से ही इन्होने आरम्भिक शिक्षा प्राप्त की तथा सिद्धान्तकौमुदी का अध्ययन किया। अनन्तर अयोध्याजी मे 'राजगोपाल पाठशाला' मे प० चन्द्रधर पाण्डेय से व्याकरण तथा साहित्य का तथा श्री श्रीदत्तजी से दर्शन का विशेष अध्ययन किया। हिन्दूविश्वविद्यालय के सस्कृतमहाविद्यालय मे श्री चन्द्रधरजी की नियुक्ति हो जाने से उनके रिक्त स्थान पर ये नियुक्त किये गये। तदनन्तर काशी के प्रसिद्ध 'गोयनका-सस्कृतमहाविद्यालय' मे व्याकरण के अध्यापक नियुक्त हुए। काशी मे ही वामाचरण भट्टाचार्य से इन्होने न्याय का विशिष्ट अध्ययन किया। १९२९ ई० मे भट्टाचार्यजी के निधन के अनन्तर उन्ही के रिक्त स्थान पर १९३० दिसम्बर मे इनकी नियुक्ति सस्कृतकालेज मे हुई, जहाँ ये १४ वर्षों तक अध्यापन करते रहे। सन् १९४४ अप्रैल मे ४८ वर्ष की आयु मे इनका काशीवास हुआ।

श्रीसूर्यनारायणजी जितने सफल अध्यापक थे, उतने ही बड़े प्राचीन ग्रन्थों के सशोधक, व्याख्याकार तथा सम्पादक थे। इन्होने बड़े सुयोग्य शिष्यों को तैयार किया जिनमें निम्नलिखित विद्वान् उल्लेखनीय है—

---

१. डॉ० गंगानाथ झा और लक्ष्मण शास्त्री द्राविड ने खण्डनखण्डखाद्य का एक विशिष्ट सस्करण चौखम्भा सस्कृत सीरीज मे प्रकाशित किया है (१९१४ ई० मे) जिसमे आनन्दपूर्ण की खण्डन फक्किका विभजन नाम्नी (विद्यासागरी) व्याख्या के साथ चित्सुख, शकर मिश्र एव रघुनाथ की टीकाओं से भी उद्धरण दिये गये है। खण्डन का अंग्रेजी मे डॉ० गंगानाथ झा तथा डॉ० थीबो ने मिलकर अनुवाद किया है जो 'इण्डियन थाट' नामक पत्रिका के विभिन्न अंकों मे प्रकाशित है (१९०७–१९१४)।

सर्वश्री पण्डित रुद्रप्रसाद अवस्थी, राहुल साकृत्यायन, चन्द्रशेखर शास्त्री (अब स्वामी निरजनदेव तीर्थ, शकराचार्य—पुरी), महामण्डलेश्वर रामेश्वरानन्दजी, काशी, रामानुज ओझा (प्रधानाचार्य बिरला सस्कृत महाविद्यालय) तथा स्वामी शकरचैतन्य भारती।

इनके द्वारा रचित तथा सम्पादित ग्रन्थो के नाम इस प्रकार है—

रचना

१ **वादरत्नम्** २ भाग व्याकरण मे न्यास और परिष्कार भाग शास्त्रार्थ ग्रन्थ

२ **माध्वभ्रान्तिनिरास.**	न० २ तथा ३ लघुकाय ग्रन्थो मे सत्यधाम तीर्थ द्वारा प्रदर्शित अद्वैतविषयक भ्रान्तियो का निराकरण तथा माध्वमत के भेदवाद की तीव्र आलोचना तथा अवैदिकत्व का प्रदर्शन है। युक्ति तथा तर्क सवलित शास्त्रार्थ ग्रन्थ।
३. **माध्वमुखभङ्ग.**	
४. **निर्विकल्पतावाद.**	
५. **आशौचशङ्करव्यवस्था**	
६. **वसन्तोत्सवनिर्णय.**	

टीकाएँ

१. **मुक्तावलीमयूख,** २. **तत्त्वचिन्तामणिमिताक्षरा,**

३. **तर्कसंग्रहदीपिकामयूख,** ४. **न्यायमतरक्षणम्,**

५ **वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड,** ६. **लघुमञ्जूषा आकाशादि प्रकरण,**

७. **भाट्टचिन्तामणिमयूख,** ८. **खण्डनरत्नमालिका।**

इनके ज्येष्ठ पुत्र व्याकरणाचार्य पण्डित रामगोविन्द शुक्ल सस्कृतविश्वविद्यालय के अनुसन्धान विभाग मे अध्यापक के पद पर नियुक्त थे। हाल मे ही इनका निधन हो गया है।





पं० लक्ष्मण शास्त्री तैलंग

३८

पण्डित लक्ष्मण शास्त्री तैलङ्ग

(आस्पद—मानवल्ली, उपाधि—महामहोपाध्याय)

पण्डित लक्ष्मण शास्त्री तैलग काशी के कवियो मे महनीय स्थान धारण करते थे। ये काशी के एक प्रतिष्ठित तैलग कविकुल मे उत्पन्न हुए थे। कवितार्किक नरसिंह शास्त्री तैलग के ये कनिष्ठ पुत्र थे। इनका जन्म विक्रम सवत् १९३७ (१८८० ई०) मार्गशीर्ष कृष्ण चतुर्थी को काशी मे हुआ। इनके अग्रज महामहोपाध्याय प० गगाधर शास्त्री तथा महामहोपाध्याय रामशास्त्री तैलग थे। यह विद्वानो का कुल था जहा शारदा देवी के मधुर गायन की झकार प्रतिदिन सुनाई पडती थी। इनके अग्रज, जिनका विवरण पहले दिया जा चुका है, काशी के मूर्धन्य कवियो मे परिगणित किये जाते थे। छात्रावस्था मे इन्होने काशी के व्याकरणकेशरी पण्डित योगेश्वर शास्त्रीजी से वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी का विधिवत् अध्ययन किया। साहित्य का अध्ययन इन्होने घर पर ही अपने पिता नरसिंह शास्त्री से तथा अग्रज प० गगाधर शास्त्रीजी से किया। परिणामस्वरूप ये काव्यतत्त्व के मर्मज्ञ विद्वान् बन गये। साथ ही साथ इनमे कारयित्री प्रतिभा का निर्मल विलास भी स्वत उद्बुद्ध हो गया। इनके घर से ही 'सूक्तिसुधा' नाम्नी कविता पत्रिका प्रकाशित होती थी जिसमे इनकी रचित कमनीय कविताएँ समय-समय पर प्रकाशित होती रही।

इनका अध्ययन सस्कृत भाषा तक ही सीमित नही रहा अपितु अग्रेजी, इतिहास, पश्चिमी दर्शन आदि नवीन विषयो का भी ज्ञान इन्होने विधिवत् प्राप्त किया। ये काशी के गवर्नमेन्ट सस्कृतकालेज के 'ऐंग्लो विभाग' मे भी अध्ययन करते थे जहाँ इन्होने डॉ० वेनिस से पुरातत्त्व, इतिहास, शिलालेख शास्त्र आदि विषयो का भी गम्भीर ज्ञान प्राप्त किया।

अध्यापन

सस्कृतकालेज के अग्रेजीविभाग मे सस्कृत के प्राध्यापक के पद पर इनकी नियुक्ति हुई, यावज्जीवन ये इसी कालेज मे सस्कृत का अध्यापन करते रहे। काशी से इनका इतना प्रेम था कि सरकारी सेवक होने पर भी ये अन्य स्थानो पर कभी नही गये। अग्रेजीकालेज अवनति पाकर जब इन्टर कालेज के रूप मे रह गया तब भी इन्होने उसी कालेज मे पढ़ाना स्वीकार किया, परन्तु अन्यत्र किसी डिग्री कालेज या यूनिवर्सिटी मे जाना इन्होने सर्वथा अस्वीकार कर दिया। काशी का प्रेम इतना अधिक पण्डितजी को था।

कालेज के अध्यापन के अतिरिक्त लक्ष्मण शास्त्रीजी अपने घर पर भी साहित्य के आचार्य के छात्रो को साहित्यशास्त्र का अध्यापन करते थे। इनके अध्यापन का प्रिय ग्रन्थ श्रीहर्ष का नैषधचरित ही था। नैषध पढ़ाने मे इनकी रुचि बड़ी बलवती थी। ये प्रतिदिन एक घण्टा नियमित रूप से नैषध पढ़ाया करते थे। नैषध पढ़ाने की इनकी विशेषता यह थी कि ये एक मिनट मे एक श्लोक विधिवत् पढ़ा देते थे जिसमे श्लोक का अर्थ, उसकी विशद

व्याख्या तथा उसकी काव्यगत विशिष्टता का विवेचन बड़े ही सुन्दर ढग से किया जाता था। इस प्रकार एक घटे मे ६० श्लोको का अध्यापन करना कोई हँसी-खेल की बात नही होती।

इनका व्यक्तित्व बडा ही भव्य तथा आकर्षक था। सिर पर लाल मराठी पगड़ी, शरीर पर लम्बा पारसी कोट, श्वेत रेशमी दुपट्टा, ललाट पर लाल तिलक और धवल धोती इस विशिष्ट वेश में शास्त्रीजी को देखकर दर्शक आकृष्ट हुए बिना नही रहता था। दर्शनमात्र से इनके गम्भीर वैदुष्य तथा प्रतिभा की एक विशिष्ट आभा दर्शको के नेत्रो मे छा जाती थी।

म० म० लक्ष्मण शास्त्री सुन्दर तथा ललित कविता की रचना मे निपुण थे। विशेषतया शेक्सपियर के नाटको के आधार पर सस्कृत पद्यो मे इन्होने स्वतत्र कमनीय रचना की है। इसका उद्देश्य था कि सस्कृत के छात्रो तथा पण्डितो का ज्ञान एकाङ्गी न हो। सस्कृत के साथ ही साथ वे विदेशी कवियो की रचनाओं से भी परिचित हो।

डॉ० वेनिस के सम्पर्क मे आने से शास्त्रीजी की अभिरुचि पालि भाषा के अध्ययन के प्रति विशेष थी। उस समय सस्कृत कालेज के विख्यात भाषाविद् अध्यापक डॉ० नार्मन साहब लन्दन की पालि टेक्स्ट्स सोसाइटी के लिए **धम्मपद की अट्ठकथा** का एक विशिष्ट सस्करण सिहली हस्तलेखो के आधार पर बडे परिश्रम से तैयार कर रहे थे। पण्डित लक्ष्मण शास्त्री के वैदुष्य से आकृष्ट होकर नार्मन साहब ने इन्हे अपना सहायक नियुक्त कर रखा था। एक दुर्घटना मे नार्मन साहब की अकाल मे ही मृत्यु हो जाने के कारण ग्रन्थ के अवशिष्ट अन्तिम खण्ड का सम्पादन लक्ष्मण शास्त्रीजी ने स्वय विना किसी सहायक के ही किया। एक बार लेखक को शास्त्रीजी ने अपने सिहली लिपि के ज्ञान के विषय मे पूछने पर बतलाया था, "नार्मन साहब स्वय सिहली लिपि को पढ नही सकते थे। वे मेरे ही ऊपर इसके लिए निर्भर रहते थे। सिहली लिपि मेरी मातृलिपि तेलुगु से विशेष मिलती-जुलती है। इसीलिए उसका पढ़ना मेरे लिए विशेष कष्टप्रद नही था। इस रहस्य को वे जानते नही थे। फलत वह पूरी अट्ठकथा मेरे ही द्वारा निर्धारित पाठ से सवलित होकर मुद्रित हुई थी।"

इस उत्तर से पण्डितजी के लिपि ज्ञान एव पालिभाषा के गाढ़ परिचय के रहस्य का उद्घाटन भलीभाँति हो जाता है।

पण्डित लक्ष्मण शास्त्री का अध्ययन-अध्यापन काशी मे ही हुआ। फलत ये हिन्दी से ही पूरे परिचित नही थे, काशी की ठेठ बोली बनारसी का भी इन्हे परिज्ञान था। इनका परिवार मराठीभाषी परिवारो से गाढ़रूप से सपृक्त था। इसलिए ये मराठी की अच्छी जानकारी रखते थे। अग्रेजी पढ़ने लिखने का भी इन्हे पूरा अभ्यास था। अग्रेजी अखबार तथा ग्रन्थो के पढ़ने का इन्हे विशेष शौक था। इन्हे ये अपने सुयोग्य छात्र पण्डित बटुकनाथ शर्मा से मँगाकर पढ़ा करते थे।

सद्गुणों की सत्ता

पण्डित लक्ष्मण शास्त्रीजी बडे ही अनुशासनप्रिय थे। ठीक समय पर पढ़ाना आरम्भ करते थे और ठीक समय से ही उसे समाप्त करते थे। गुरु के इस गुण के कारण शास्त्रीजी के छात्रो मे भी अनुशासनप्रियता विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती थी। ये भगवती शारदा के उपासक थे और पूजन-अर्चन में बड़ी नैतिकता का पालन करते थे। उस समय 'कल्याण' का **शक्ति विशेषांक** प्रकाशित हो गया था। उस पर अपनी स्पष्ट सम्मति देते हुए इन्होने लेखक से कहा था—"इस अक के प्रकाशन से लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक दीखती है। शक्ति

की पूजा-अर्चा का सफल विधान गुरुमुखैकगम्य है—गुरु की व्याख्या के द्वारा ही उसके रहस्य का ज्ञान योग्य शिष्य को हो सकता है। केवल लेख पढ़कर तत्प्रतिपादित क्रियाओं का अनुष्ठान करना नितान्त हानिकारक ही सिद्ध होगा।" उनका यह कथन बड़ा ही सटीक तथा उपयुक्त था।

शास्त्रीजी स्वाभिमानी तथा स्वतंत्र विचार के व्यक्ति थे। किसी बड़े से बड़े व्यक्ति के अनुचित दबाव को मानकर कार्य करना इनके स्वभाव के नितान्त विरुद्ध था। तभी तो कालेज का अंग्रेज प्रिन्सिपल भी इनसे सदा सशंक रहता था, और इनसे किसी अनुचित कार्य करने के लिए कभी आग्रह नहीं करता था। उस समय क्वीन्स कालेज के अध्यक्ष श्री संजीवा राव थे जो शिक्षाक्षेत्र में ख्यातनामा थे, परन्तु वे भी शास्त्रीजी के व्यक्तित्व का आदर करते थे और इन्हें बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते थे।

कारयित्री प्रतिभा

पण्डित लक्ष्मण शास्त्रीजी की बुद्धि बड़ी तीव्र थी। ये केवल संस्कृत के पण्डित न होकर अग्रेजी में निबद्ध आधुनिक विषयों के भी ज्ञाता थे। इनका व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था। जो कोई इन्हें देखता वह इनके व्यक्तित्व से अभिभूत हुए बिना नहीं रहता था। ये नियम के बड़े पक्के थे। सबसे विशेष बात यह थी कि ये सरस सुबोध कविता के प्रणेता के रूप में सर्वत्र लब्धकीर्ति थे। इनका कवि-हृदय अग्रेजी साहित्य के नवीन सुन्दर नाटकों तथा काव्यों से प्रभावित होकर उन्हें सस्कृत के मनोरम विग्रह मे निबद्ध करने का अभ्यासी था। इन्हें शेक्सपीयर के नाटको में बड़ी अभिरुचि थी। इसलिए उनके नाटकों की कथाओं का रोचक वर्णन इन्होने अपनी प्रसादमयी शैली मे किया है। ये नाट्यकथाएँ रोचक होने के अतिरिक्त छात्रों के लिए भी विशेष उपयोगी है—संस्कृत भाषा में सुचारु प्रवेश करने के लिए। इन कथाओं का सग्रह पुस्तक के रूप मे यदि उपलब्ध हो, तो काव्यरसिकों का तथा छात्रों का विशेष उपकार होगा। 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' (वेनिस का सौदागर) नामक प्रख्यात शेक्सपीयर की नाट्यकथा शास्त्रीजी द्वारा 'वेतस्वती-सार्थवाह:'[1] के नाम से प्रकाशित हुई है।

इसी प्रकार 'हेमन्तकुमार:' नाम से शेक्सपीयर के दूसरे प्रख्यात रूपक 'हैमलेट' का कथासागर बड़ी रोचक भाषा में शास्त्रीजी ने प्रस्तुत किया है जो संस्कृत की प्रख्यात पत्रिका 'अमरभारती' में प्रकाशित हुआ था। इन दोनों कथासारों के लिए लक्ष्मण शास्त्रीजी ने जयन्तभट्ट के 'कादम्बरी-कथासार' को अपना आदर्श माना है। 'कादम्बरी-कथासार' अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध है जिसके सौन्दर्य तथा रुचिरता की प्रशंसा क्षेमेन्द्र ने अपने विश्रुत छन्दोग्रन्थ 'सुवृत्ततिलकम्' में की है। एक-दो उदाहरणो के द्वारा कथानक की स्पष्टता तथा प्रवाहशीलता का परिचय प्राप्त किया जा सकता है—

अगलद्बिन्दुमात्रासृगर्धशाटकमात्रकम् ।
अन्यूनानतिरिक्तं भोस्त्वया मांसं विकृत्यताम् ॥१३५॥
प्रमाणपत्र एतस्मिन्नुपन्यस्तं न लोहितम् ।
मांसस्य केवलमतोऽधिकारस्तेऽवकर्तने ॥१३६॥
असृजो बिन्दुमात्रं चेत् पातयिष्यसि, तत् स्मर ।
सकला तव सम्पत्तिः सद्यो राजस्वतामियात् ॥१३७॥

—वेतस्वतीसार्थवाहः

१. वल्लरी पत्रिका के प्रथम वर्ष की चतुर्थ तथा पंचम संख्या में प्रकाशित हुआ है (१९९२ वि० सं० में)

मद्बन्धुरेव पापात्मा मां राज्येन प्रियासुभिः ।
भार्यया, प्रीतिपात्रेण त्वया चासौ व्ययोजयत् ॥४०॥
यदि हेमन्त ! सत्यं त्वमात्मजोऽसि ममाश्रव. ।
वैरनिर्यातनविधौ मा स्म भूः शिथिलोद्यमः ॥४१॥
धिक् तां त्वन्मातरं या हि विस्मृत्य प्रणय मम ।
पापात्मनि पितृव्ये ते समासक्ता न लज्जते ॥४२॥

-हेमन्तकुमार

प्रकृति के दृश्यो के निरीक्षण मे शास्त्रीजी की दृष्टि बडी पैनी है। **उपशल्यशंसनम्** नामक १५ पद्यात्मक कविता मे नगर के परिसर मे विद्यमान ग्रामीण जनो का जीवन बडी स्वाभाविकता तथा सरसता से चित्रित किया गया है। इनकी महानुभूति उन निर्धन किसानो के साथ उमड पडती है जब वे दीन हीन दशा मे, बिना आवरण तथा वसन के, रात मे ठिठुरते हुए तथा ग्रीष्म ऋतु की धूप मे जलते हुए अपना जीवन बिताते है

दिनेषु तरुणारुणानणुमयूखपातस्रव-
जलाविलकलेवरान् कृषिकरान् विलीनानिव ।
विलोक्य निशि शैशिरानिलहतीद्धकम्पाकुलान्
न कस्य खलु मानस भुवि सचेतसो दूयते ? ॥

किसानो के लगुडधारी, भेड बकरी चराने वाले बालको के स्वभाव का यह चित्रण कितना भावावर्जक है—

इमे कृषकदारकाः परिगृहीतपाथेयका.
करात्तलगुडा मुहुर्मधुरगीतगाने रता. ।
अजाविपरिचारणे प्रतिदिन समायोजिता.
कमप्यतिशय मुदामनुभवन्त्यचिन्तालवम् ॥

पानी मे धान की रोपनी करने वाली किसान की स्त्रियो का यह वर्णन कितना मनोहारी है—

अमूः कृषकयोषित. कलमरोपणाऽनारत-
प्रसङ्ग सलिलान्तरस्थितिविकारि-पादद्वया. ।
स्तनन्धयशिशून् क्वचित् परिनिपीतनेमस्तनान्
विधाय निजकर्मणि प्रसितविग्रहा लोकय ॥

गरीबी मिटाने के लिए भगवान् से प्रार्थना करने वाले कवि के हृदय मे सहानुभूति का कितना पीयूष प्रवाहित हो रहा है, यह देखने ही योग्य है

कियच्चिरमियं प्रभो ! भुवि कृषीवलाना दशा
दयामय ! भयाविला वद मुकुन्द ! सह्या त्वया ।
इमाननितराश्रितान् सकलकामसपूरणै-
र्विलोकय कृतेक्षणैरकृपणैर्दृशां वीक्षणै. ॥

मर्त्येषु भेदः कियान्[1] ? शीर्षक कविता मे यमराज के द्वारा उच्च धनाढ्य तथा नीच निर्धन जनो की अन्तकाल मे समता कर दिये जाने पर मानवो मे कितना भेद माना जाय।

१ ये दोनो कविताएँ काशी से प्रकाशित होने वाली मासिक पत्रिका वल्लरी के प्रथम गुच्छक (१९९२ वि० स०) के प्रसून षष्ठ तथा तृतीय मे क्रमशः प्रकाशित हुई है।

इस विषय के पोषक दश पद्यो की रचना नितान्त आवर्जक है। एक-दो पद्यो की भावना देखिए –

केचित् काव्यकलाविलासविलसत्-सद्गद्यपद्यावली-
सारोल्लासि-रसप्रसारविलसत्-स्वात्मैकरामान्तरा. ।
जानन्तीह परान् हि नीरसतया काष्ठाश्मकुड्यायतान्
नीतेष्वन्तकसात्कृतेषु समता मर्त्येषु भेद. कियान् ॥

अतएव मानवो का यह कर्तव्य होता है कि वे पारस्परिक राग विद्वेष को भुला कर तथा अभिमान से शून्य होकर भगवान् श्रीपति के चरणो मे अपने जीवन को समर्पित कर दे –

सम्पच्छक्ति-मनोज्ञताऽऽगमकला-स्वास्थ्याधिकारोन्नति-
प्राग्भारायितविक्रमादि-सुलभ हित्वाऽवलेप जनाः ।
श्रीमच्छ्रीपतिपादपङ्कजयुग सश्रीयता श्रेयसे
नीतेष्वन्तकसात्कृतेषु समता मर्त्येषु भेदः कियान् ॥

पण्डित लक्ष्मण शास्त्रीजी सरस गद्य की रचना मे भी नितान्त चतुर थे। इनका प्रतिभा सम्पन्न कविहृदय गद्य पद्य उभय विधाओं की रचना मे समभावेन अभिरुचि रखता था और दोनो मे चमत्कार [illegible] क्षमता उनमे आलोचको को आकृष्ट करती थी। इन्होने सपरिवार जगन्नाथपुरी की यात्रा की थी। उसका सरस वर्णन इन्होने 'श्रीजगदीशयात्रा'[1] मे किया है यह वर्णन भी नितान्त रुचिर, आह्लादक तथा प्रतिभामण्डित है। इस विवरण के अन्त मे इन्होने जगदीश मे जो गीतिमयी प्रार्थना की है उसकी रुचिरता सहृदय सवेद्य है —

जगदीश ! विगतसारे ससारेऽस्मिन्नसीमविस्तारे ।
सारो निस्तारसृतिस्तव पदमहिमा गिरा पारे ॥
अयि देव ! दीनबन्धो ! करुणासिन्धो ! शरण्य जगदीश ।
शरणीकरोमि मसृणौ तव चरणौ दुरित-राशि-नाशचणौ ॥
अनुदिनमवनीतलगत-मानस-शरीर-कष्टतति-जुष्टम् ।
ससारसागरतरे ! तारय मा तावकाङ्घ्रिशरणमितम् ॥

इस प्रकार अपने पूज्य पितृचरण नरसिंह शास्त्रीजी तथा भ्रातृचरण गगाधर शास्त्रीजी के द्वारा प्रवर्तित सूक्तिमार्ग का अनुसरण कर महामहोपाध्याय लक्ष्मण शास्त्रीजी ने जिस काव्यामृत को प्रवाहित किया, वह रसिकजनो के चित्त का सद्य आवर्जक तथा जीवन रसदायक है।

इस प्रकार अध्ययन और अध्यापन, पठन और पाठन, पूजा तथा अर्चा मे अपने दिन बिताते हुए महामहोपाध्याय लक्ष्मण शास्त्री तैलगजी विक्रम स० २००६ (१९४९ ई०) मे चैत्र शुक्ल प्रतिपदा के दिन (अर्थात् वर्ष के आरम्भ के दिन ही) दिवगत हुए। उस समय इनकी आयु ६९ वर्ष की थी। इन्होने अनेक शिष्यो को तैयार किया था। अध्यापन मे कोई भेदभाव नहीं रखते थे, विद्यार्थी के लिए विद्याभ्यास की निष्ठा ही इनके शिष्य होने की योग्यता थी। महाराष्ट्र तथा सरयूपारीण ब्राह्मण कुल के विद्यार्थी इनके छात्र है। इन छात्रो मे जगन्नाथ शास्त्री होशिंग, अनन्तराम शास्त्री वेताल आदि महाराष्ट्रीय शिष्यो के सग सरयूपारीण पण्डित बटुकनाथ शर्मा भी समभावेन इनके अनन्य भक्त शिष्य थे। इनके निधन के अनन्तर अनन्तराम

---

१ 'अमरभारती' कार्यालय से पुस्तिका रूप मे प्रकाशित, १९३५ ई०।

शास्त्री की लिखी कविता में इनके प्रति महती श्रद्धा प्रदर्शित की गई है। इस पुष्पाञ्जलि के कुछ पद्य इस प्रकार हैं–

यदुपघ्नतरोर्विनाशतो दुरदृष्टेन पुनः प्रकल्पितात् ।
कवितालतिका निराश्रया कमुपेयादधुना समाश्रयम् ॥
सदुपाधि 'महामहादिताभृदुपाध्याय' पदं प्रपेदिवान् ।
अहहाऽऽन्ध्रकवीन्द्रपुङ्गवः क्व गतो हन्त ! हता कवीन्द्रता ॥
कलिकाल ! खलोऽसि दुष्टधीर्यदिदानीं मृदुमिष्टभाषिणम् ।
कवितार्किकचक्रवर्तिनं कवलीकृत्य न नाम लज्जसे ॥
गुरुदैवतजीवितान्तकृत् 'शुभकृद्'वर्षगमादिमं दिनम् ।
बत जातमहो ! 'विधिर्बली'त्यवशत्वादिह जोषमास्यते ॥



पण्डित बटुकनाथ शर्मा

तैलंगजी के पट्ट शिष्य

(आस्पद--मिश्र; उपाधि--रसिकसुधानिधि)

प० बटुकनाथ शर्मा संस्कृतसाहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनका समस्त जीवन ही साहित्यमय था। उठते-बैठते, सोते-जागते आपका जीवन साहित्य के चिन्तन में ही सदा व्यतीत होता था। सन्ध्या के समय आपके 'कालभैरव' के पास वाले निवास स्थान पर सहृदय रसिको की जो मधुर गोष्ठी जुटती थी, उसके सम्बन्ध मे कुछ लिखना व्यर्थ है। इस गोष्ठी में साहित्य के विभिन्न रसों -विशेषकर शृगार और हास्य- के जो फौवारे छूटते थे उनसे सभी श्रोतागण रससिक्त हो जाते थे। यह सुहृद्गोष्ठी वास्तव मे साहित्यगोष्ठी होती थी जिसमें संस्कृत तथा हिन्दी के मर्मज्ञ कवियों के सरस काव्यों का पाठ होता तथा अन्तरग विवेचन किया जाता था। शर्माजी एकान्त सरस जीव थे जिनका समस्त जीवन संस्कृतसाहित्य की सेवा तथा सुरभारती की साधना में समर्पित था।

प० बटुकनाथ शर्माजी का जन्म काशी में सन् १८६५ ई० में हुआ और इनका निधन काशी में ही सन् १९४४ ई० में हुआ। इस प्रकार इन्होंने केवल ४६ वर्ष की अल्प आयु में ही अपनी ऐहिक लीला समाप्त कर दी। इनकी इस अल्पकालिक तथा असामयिक मृत्यु से संस्कृतसाहित्य की जो अपूरणीय क्षति हुई उसका वर्णन करना कठिन है।

शर्माजी के पूर्वपुरुष गोरखपुर मण्डल से कभी मध्यप्रदेश के नागोद रियासत में गये और अपनी आध्यात्मिक साधना तथा पाण्डित्य के बल पर रियासत के राजासाहब के गुरु हो गये। देवता तथा राजा की स्तुति मे कविता की सद्य: रचना कर देना इनके बायें हाथ का खेल था। इनके पितामह काशी आये और यही निवास करने लगे। उनके चार पुत्रों में से ज्येष्ठ पुत्र का नाम था **ईश्वरीप्रसाद** मिश्र जो बटुकनाथजी के पूज्य पिता थे। ईश्वरीप्रसादजी विद्वान् होने की अपेक्षा साधक अधिक थे। वे भगवती त्रिपुरासुन्दरी के उपासक थे। अपने बगाली गुरु से उन्होंने तान्त्रिक दीक्षा ली थी और उनके ही साथ भगवती कामाख्या की पूजा-अर्चा के लिए कामरूप आसाम में भी अनेक वर्षों तक निवास किया था। इनके पिता के अनेक तान्त्रिक चमत्कारों की कहानी सुनी जाती है। वे काशी से नागोद रियासत के राजा के पास अपने पूर्वजों की भू-सम्पत्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से गये। राजासाहब तो अनुकूल थे, परन्तु उनके दीवान साहब (जो सम्बन्ध मे उन्ही के चाचा लगते थे) ने अपनी प्रतिकूल सम्मति देकर वह भू-सम्पत्ति देने से इनकार कर दिया। सुनते है, उसी रात में उन्हें अकस्मात् हैजे का प्रकोप हुआ और सुबह होते-होते वे परलोक सिधार गये। तदनन्तर राजा ने इनकी सद्य:फलदायिका साधना के आतंक से आतङ्कित होकर पुरानी सम्पत्ति लौटा दी और इन्हें अपना राजगुरु बना लिया। फलतः इनके पिताजी नागोद (मध्यप्रदेश) में रहते थे। परन्तु



पं० बटुकनाथ शर्मा

बटुकनाथजी की विदुषी माता अपने बालक की शिक्षा-दीक्षा के लिए उस जगली रियासत का वातावरण नितान्त प्रतिकूल जानकर काशी छोडकर कभी वहाँ गयी ही नहीं।

पण्डित बटुकनाथ शर्मा का अध्ययन-अध्यापन काशी मे ही हुआ। हिन्दूस्कूल के ये पुराने छात्र थे और हिन्दूविश्वविद्यालय के सस्कृत एम० ए० के प्रथम स्नातक थे। हिन्दू कालेज मे सस्कृतमहाविद्यालय के तत्कालीन प्राचार्य महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्माजी के ये अनन्य भक्त तथा निश्छल छात्र थे जिसके ऊपर गुरु की नैसर्गिक कृपा की वर्षा सदा होती रही। इसी से वे पहिले सस्कृतमहाविद्यालय के और अनन्तर आर्ट्स कालेज के सस्कृतविभाग के अध्यापक बन गये। उन्नति के अनेक अवसर आये, परन्तु अध्यापनशील बटुकनाथजी ने कभी भी प्रशासनिक प्रिंसिपल के पद को नही स्वीकारा। ये सस्कृतविभाग के अध्यक्ष का कार्य भी करते रहे, परन्तु इनके मनस्वी जीवन का सर्वोदात्त कार्य था—सस्कृत साहित्य का अध्यापन।

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था, संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता ।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां, धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ॥

– मालवि०, अ० १।१६

कालिदास के इस पद्य मे चित्रित सफल अध्यापक की ये जीवन्त मूर्ति थे, क्योकि इनमे दोनो बाते थी—आत्मनिष्ठ वैदुष्य एव छात्रो मे विशिष्ट ज्ञान की सक्रान्ति।

महाकवि भवभूत ५० बटुकनाथजी के परमप्रिय कवि थे। ये प्रतिवर्ष बी० ए० अथवा एम० ए० की कक्षाओं मे भवभूति के उत्तररामचरित को ही पढ़ाया करते थे। ये कहा करते थे कि जितनी बार मै इसे पढ़ाता हूँ उतनी ही बार मुझे इसमे नवीन अर्थ की स्फूर्ति होती है। ये भवभूति के निम्नलिखित श्लोक की व्याख्या बडे ही प्रेम तथा तन्मयता से किया करते थे —

अकिंचिदपि कुर्वाणः, सौख्यैर्दु.खान्यपोहति ।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं, यो हि यस्य प्रियो जन. ॥

इस श्लोक मे 'किमपि द्रव्य' शब्दो की ये विशेष रूप से व्याख्या करते थे। इसी प्रकार राम की इस उक्ति की भी –

स्नेह, दया च, सौख्यं च, यदि वा जानकीमपि ।
आराधनाय लोकस्य, मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ॥

उक्त श्लोक मे 'जानकीमपि' मे 'अपि' शब्द पर कवि का जो बल है, जो अभिप्राय है, उसे वह बहुत मार्मिक रीति से स्पष्ट करते थे। ये सस्कृतज्ञो के विषय मे यह कहा करते थे कि सस्कृत तो बहुतो ने पढ़ी होगी परन्तु उसके मर्म को कोई-कोई ही जान सकता है। इस सम्बन्ध मे ये महाकवि मुरारि का यह श्लोक उद्धृत किया करते थे कि राम की वानरी सेना ने नल नील के द्वारा बाँधे गये पुल से समुद्र को तो अवश्य पार कर लिया, परन्तु उस सागर की गहराई को वही मन्दराचल जानता है जो उसमे 'आपातालनिमग्न' है। मुरारि का प्रसिद्ध श्लोक है—

अब्धिर्लङ्घित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गम्भीरताम्,
आपातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः ॥

निष्कर्ष यह है कि सस्कृत पढ़ना तो आसान है परन्तु साहित्य के मर्म को जानना अत्यन्त कठिन तथा दुष्कर व्यापार है। पण्डित बटुकनाथ शर्मा साहित्य के ऐसे ही गम्भीर मर्मज्ञ थे।

ग्रन्थरचना

पण्डित बटुकनाथ शर्मा अपने जीवन के अन्तिम अनेक वर्षों मे साहित्य-साधना की अपेक्षा यौगिक क्रियाओं की सिद्धि के सम्पादन मे अधिक तल्लीन हो गये थे। प्रतिदिन घटों पूजा-पाठ तथा यौगिक साधना—ध्यान, धारणा और समाधि—मे निरत रहना इनकी दैनिक चर्या का एक अग हो गया था। इसी कारण सस्कृत के गम्भीर तथा तलस्पर्शी विद्वान् होते हुए भी इन्होने ग्रन्थरचना की ओर विशेष ध्यान नही दिया। यदि ये चाहते तो अनेक मौलिक ग्रन्थो का निर्माण कर सकते थे लेकिन आध्यात्मिक साधना मे निमग्न होने के कारण ये सदा उसकी उपेक्षा करते रहे। अतएव किसी मौलिक ग्रन्थ के रूप मे हमे इनकी प्रतिभा का प्रसाद प्राप्त नही है। इन्होने जिन ग्रन्थो का सम्पादन किया है उनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है—

(१) पालि-जातकावलि—इसमे कतिपय प्रसिद्ध जातको का सग्रह कर उनका सस्कृत तथा हिन्दी मे अनुवाद भी किया गया है।

(२) भामह-काव्यालंकार—(इस ग्रन्थ के लेखक के साथ अग्रेजी भूमिका सहित सम्पादित)।

(३) वररुचिकृत प्राकृतप्रकाश—इस ग्रन्थ के लेखक के साथ दो अलभ्य तथा अप्रकाशित टीकाओं के साथ सम्पादित।

(४) रसिक गोविन्द और उनकी कविता—इस ग्रन्थ के लेखक के साथ सम्पादित।

(५) भरतनाट्यशास्त्र—विमर्शात्मक सुलभ सस्करण।

पण्डित बटुकनाथ शर्मा बालब्रह्मचारी थे। बाल्यकाल मे अत्यन्त निर्धनता तथा घोर अभाव मे अपने दिनो को बिताने वाले शर्माजी विवाह की बात सोच ही नही सकते थे। आगे चलकर हिन्दूविश्वविद्यालय मे प्राध्यापक पद पर नियुक्त होने पर इनकी आर्थिक दशा सुधर गई, परन्तु इन्होने एक बार अविवाहित रहने का जो निर्णय कर लिया था, उमसे ये टस से मस नही हुए। अपनी पूजनीया माताजी को इन्होने अपने जीवन के लक्ष्य तथा उद्देश्य की बात विधिवत् समझाई, तब उन्होने भी कोई आग्रह नही किया और ये अपने अध्ययन-अध्यापन मे, पूजा पाठ मे, अध्यात्म के चिन्तन तथा परिशीलन मे बडी निष्ठा से लगे रहे। ये साहित्यशास्त्र के आचार्य ही न थे, अपितु सरस गुणेशल कविता के रचयिता प्रतिभाशाली कवि भी थे ये अपने को द्विकर्मा ब्राह्मण मानते थे जिसका पूरा कार्य अध्ययन और अध्यापन मे ही सीमित रहता है। काव्यकला की उपासना को ये आध्यात्मिक दृष्टि से देखते थे। ये उसे साधना की सिद्धि के लिए एक समुचित माध्यम मानते थे जिससे साधक का चित्त इधर-उधर के जटिल प्रपचो तथा सघर्षों से हटकर अपने इष्टदेवता के चिन्तन मे अनायास ही एकाग्र हो जाता है तथा अलौकिक आनन्द की सद्य अनुभूति करने लगता है। ये काव्यसाधना को भौतिक जगत् से ऊपर उठाकर आध्यात्मिक जगत् मे प्रतिष्ठित करने के पक्षधर थे। इसीलिए ये प्रतिदिन कार्यारम्भ करने से पहले आठ-दस सुन्दर स्तुतिमय पद्यो की रचना अवश्य कर लेते थे। यह इनका दैनिक नियम था। सगीत के ये बड़े प्रेमी थे। सितार बजाने की कला स्वय अपने अभ्यास से ही बिना किसी गुरु के इन्होने अर्जित की थी। भगवान् को रिझाने के लिए तथा अपने मनोविनोद के लिए ये सितार बजाया करते थे। गीतिकाव्य के प्रणयन मे इनकी स्वाभाविक रुचि थी। रूपक, विशेषकर प्रहसन तथा व्यङ्ग्य, की रचना मे इनकी अभिरुचि

नैसर्गिक थी। इन्होने अनेक लघु काव्यों की रचना की है जो समय-समय पर संस्कृत की मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते थे।

'वल्लरी' नामक संस्कृत मासिक पत्रिका मे इनका 'पाण्डित्यताण्डवितम्' नामक तीन अंकों मे समाप्त प्रहसन प्रकाशित हुआ था। उसी से इनकी कविता के कतिपय पद्य तथा गायन यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे है[१]—

कविर्नाहं कश्चित् परिचितचिदानन्दनिचयो
न चाहं वा वाचां पतिरमृतभाजां रसमुचाम्।
तथापि स्वान्तं मे प्रभवति न हातुं पदयुगं
सरस्वत्याः स्वैरोल्लसदमलचन्द्रद्युतिभृत॥

दम्भ की साक्षात् मूर्ति दण्डधर नामक पण्डित का यह स्वरूप-वर्णन कितना सुन्दर तथा आकर्षक है—

धूमोद्गारोदरदरलसज्ज्वालनीलानलाभं
रक्तोष्णीषं दधदतिबृहल्लोललम्बाम्बरोऽयम्।
हस्तन्यस्तं पृथुललगुडं चालयन्नैति दर्पाद्
दम्भारम्भः सकपटबटुः कूटकोटौ पटीयान्॥

वैरागी वैष्णवो का यह सामूहिक गायन कितना सरल सरस है

याति याति याति रे वृथैव जीवनम्। (ध्रुवपद)
रामयाऽभिरामया निकाम-काम कामथा
विपोषितं विशोषित विनाशि यौवनम्॥
गनिर्गता मतिर्गताऽऽगता न ... विरागिता
जनेन येन वञ्चितोऽसि यासि तं जनम्॥
मनोऽपि नो तनोति ते प्रशान्ति-शान्तरागिते
तथापि मूढ! मोहतो न यासि निर्जनं वनम्॥
हरे! हरे! हरे! हरे! हरिर्न चेन्मुखेऽपि ते
किमर्थमागतोऽसि रे जगद्वनं सुभीषणम्॥ याति याति.....

वर्तमान दशा का निदर्शन छात्रों के इस समवेत गायन मे कितनी सुन्दरता से किया गया है—

सन्तीह नाथ! के ते ये ते पदं विशन्ति
सर्वे तमोविमोहात् तामिन्दिरामुशन्ति॥ १॥
वेदान्ततत्त्वमुख्यैः केचिद् वदन्ति ये ते
तेऽपि स्मरन्ति न त्वा तामिन्दिरामुशन्ति॥ २॥
युञ्जन्ति येऽपि योगं भोगं च भुञ्जते ये
भेदः क एषु सर्वे तामिन्दिरामुशन्ति॥ ३॥
हे नाथ! हे दयालो! रक्षाधुना तथा नः
हृद्वृत्तयो यथा नो तामिन्दिरामुशन्ति॥ ४॥

'साहित्यसैरिभ' नामक पात्र एक विशुद्ध वैयाकरण का उपहास कितने व्यंग्यपूर्ण शब्दों

---

१ काशी से प्रकाशित संस्कृत मासिक पत्रिका, सं० १९९२, प्रथम गुच्छक, तृतीय प्रसून, पृ० ६।

से कर रहा है। वह उस 'कैयट कैरव' नामक वैयाकरण को उलूक पक्षी की समता देकर कितनी कटु आलोचना कर रहा है—

सखे अपूर्वोऽयं पक्षी।
काकैर्मा कलहायतामिति स्वान्तं न तान्तं भवेत्
सत्साहित्यजुषां खरैः कटुरवैरस्येति तूर्णं सखे।
गेहं स्वं नय तत्र पञ्जरगतस्त्वद्गेहिनी-स्नेहभाक्
सौख्यं तण्डुलचूर्णभक्षणकृतं दीर्घायुरभ्यस्यतु॥

धन के लोभी पण्डितो को यह उपदेश कितना समयोचित है

अयि पण्डित ! कुरु शान्तं स्वं स्वान्तम् । (ध्रु०)
उपदिशसि परं दिशि दिशि
शेषे स्वयमपि निशि निशि
लभसे किमपि न कान्तम्।
कोलाहलमपि कुरुषे
वितरसि निजमतिममितरुषे
भजसे किमपि न शान्तम्।
अयि पण्डित कुरु शान्तं स्वं स्वान्तम्॥

समीक्षक रूप

यह तो है पण्डित बटुकनाथजी की कारयित्री प्रतिभा के कतिपय निदर्शन। अब उनकी भावयित्री प्रतिभा के भव्य रूप का दर्शन करे। ये बडे ही सफल अध्यापक थे। अपनी स्वाभाविक सरसता के कारण ये किसी भी कवि के अन्तस्तल तक पहुँच कर उसकी भावभगी समझने मे जितने दक्ष थे, उतने ही दक्ष थे उसके गुणो का विश्लेषण कर छात्रो तक अपनी भावना को सक्रान्त करने मे। वैसे तो सस्कृत साहित्य के मान्य कवियो की कविता से इन्हे प्रेम था ही, परन्तु महाकवि भवभूति की काव्यमाला पर तो ये अपने आपको न्यौछावर कर बैठे थे- विशेषकर उनकी नाट्यकृति 'उत्तररामचरित' पर। ये कहा करते थे कि जितनी बार मै उत्तररामचरित पढ़ता पढ़ाता हूँ, उतनी ही बार मुझे उसमे नवीन अर्थ की स्फूर्ति होती है, नये-नये भावो का स्फुरण होता है और नूतन चमत्कार की झलक दीख पडती है। उत्तररामचरित बी ए के सस्कृत का पाठ्यग्रन्थ था और प्रतिवर्ष ये ही उसे पढ़ाते थे। इस पर इनका इतना आग्रह था कि ये एम ए कक्षा का अध्यापन बन्द कर देने के लिए राजी थे, परन्तु 'उत्तररामचरित' छोडने के लिए कथमपि तैयार न थे। ये इतनी तन्मयता से इसका अध्यापन करते थे कि पढ़ाते पढ़ाते अपने को ही भूल जाया करते थे, घडी घण्टा भूलने की तो बात ही न्यारी है।

प० बटुकनाथजी भवभूति को एक ऐसा अलौकिक दार्शनिक कवि मानते थे जो विषम परिस्थिति के आघात से प्रताड़ित होने पर भी अपने आध्यात्मिक उद्देश्य की ओर से कथमपि विचलित नही हुए, जिसकी प्रेमकल्पना भौतिकता की चाहरदीवारी से बाहर निकलकर आध्यात्मिकता के स्वर्ग तक पहुँच गई थी और जो अपने समसामयिक दरबारी कवियो तथा विलासी नरपतियो के द्वारा तिरस्कृत होने पर भी अपनी कविता की गम्भीरता के परीक्षण के लिए किसी 'समानधर्मा' कवि के उत्पन्न होने की बाट जोहता था—

उत्पत्स्यतेऽपि मम कोऽपि समानधर्मा,
कालो ह्यय निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥

शर्माजी अग्रेजी भाषा तथा साहित्य के भी विशेष ज्ञाता तथा गाढ अनुरागी थे। वड्र्सवर्थ तथा शेली की अपेक्षा ये टेनिमन की आध्यात्मिक कविता के बडे ही पारखी तथा प्रशसक थे। 'इन मेमोरियम' को ये टेनिसन की सुन्दरतम काव्यकृति मानते थे और बडे ही मधुर स्वर मे ये इसके पद्य का पाठ करते थे -

Our little systems have their day
They have their day and cease to be
They are but broken lights of Thee
And Thou, O Lord, art more than they

रसिक रूप

ब्रजभाषा तथा उर्दू कविता के भी ये रसिक थे और नाना भाषाओं के महनीय काव्य एव दार्शनिक ग्रन्थो से परिपूर्ण इनका निजी पुस्तकालय भी नितान्त दर्शनीय था भारतेन्दु जी की कविता के ये मार्मिक पाठक थे। रसा' उपनाम से रचित हरिश्चन्द्र की उर्दू कविता की ओर इस साहित्यिक व्यक्ति का रुझान होना स्वाभाविक ही था

न होते जल्वागर तुम तो य गिरिजा कब का गिर जाता।
नसारा को भी तो आखिर तुम्हारा ही सहारा है ॥

बगला कविता के भी ये मञ्जुल प्रेमी थे। बॅगला भाषा से इनका परिचय बाल्यकाल से ही था क्योकि इनके तान्त्रिक पिता के दीक्षा गुरु एक बगीय कामाख्या निवासी तान्त्रिक ही थे और इस प्रकार इनके घर मे बॅगला का प्रवेश इनके बाल्यकाल से ही था। रवीन्द्र तथा डी एल राय इनकी रुचि के बॅगला कवि थे। रवि बाबू की 'गीताञ्जलि' को ये स्तोत्रग्रन्थ की श्रेणी मे मानते थे।

बगभाषा के लोकप्रिय नाटककार डी० एल० राय (द्विजेन्द्रलाल राय) अपने देश प्रेम से स्निग्ध नाटको के लिए नितान्त प्रख्यात है, परन्तु व्यग्य कविता लिखने मे भी वे समर्थ तथा सफल कवि थे। शर्माजी इनकी व्यग्य कविता के बडे रसिक प्रशसक थे। डी० एल० राय स्वय विलायत पढ़ने गये थे, परन्तु वहॉ से लौटने पर देशसेवा या समाजसेवा के लिए केवल बकवास करने वाले अर्ध नास्तिक बगाली विद्वानो की वे खिल्ली खूब उडाया करते थे। उनकी एक विख्यात कविता है—'बिलात फेरता भाई' (बिलायत से फिरने वाला भाई)। इन बगाली भाइयो की 'खिचडी सस्कृति', आधा हिन्दुस्तानी और आधा विलायती आचार विचार, का बडा ही सुन्दर चित्रण इस कविता मे किया गया है जिसमे बॅगला तथा अँग्रेजी का विचित्र मिश्रण है। शर्माजी इस कविता के बडे ही प्रेमी थे। इसके दो पद्यो को बानगी के तौर पर प्रस्तुत किया जा रहा है—

एबाउट फीमेल एजूकेशन ऐण्ड वीमेन्स इमैनसिपेशन
आमादेर खूब इनलाइटेन्ड व्यूज़।
किन्तु व्यूज़ मते काज करि इफ यू थिंक
तो होलो तुमि ऐन आफुल गूज़ ॥

आशय है—स्त्रीशिक्षा तथा महिलास्वतत्रता के विषय मे है हमारे खूब नई रोशनी से

उजागर विचार। किन्तु विचारों के समान हम लोग काज करते हैं, अगर तुम ऐसा सोचते हो, तो तुम एक डरावने उल्लू के पट्ठे हो !!!

दूसरा पद्य देखिए, विलायत फिरता भाई अपनी विद्या का परिचय दे रहा है—

मोटा तकिया दिया ठेस, आमरा स्वाधीन करी देश।
आमरा ए क्यूरियस एमलगम, आफ शशधर हक्स्ले ऐण्ड गूज़ ॥[१]

भाई हो हमारा परिचय सुनिए। मोटे तकिया का सहारा लेकर हम आराम कुर्सी पर बैठते हैं तथा स्वदेश स्वाधीन बनाते है (केवल लम्बी-चौड़ी बातचीत करना ही हमारा धर्म है; हम कुछ करते नही सिवाय बकवास के)। हम लोग है एक विलक्षण मिश्रण शशधर के (शशधर तर्कचूडामणि नामक प्रख्यात बंगाली पण्डित के जो सनातन धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या किया करते थे और जिन्हे नये बगाली बाबू बड़े प्रेम से सुनते थे); हक्सले (प्रसिद्ध विलायती नास्तिक) के तथा उल्लू के पट्ठे के।

कैसा सुन्दर चित्रण है भव्य नव्य बंगाली बाबुओं का। ऐसी मनोरम व्यंग्यात्मक कविता के रसिक पण्डित बटुकनाथजी रविबाबू के भी निष्ठावान् उपासक थे। गीताञ्जलि के पद्यों को ये गंगाजी की धारा में बहने वाली नाव पर बैठकर सुन्दर स्वर में गाते नहीं अघाते थे। उन्ही में यह स्फूर्तिदायिनी अभिराम कविता भी है जो इस प्रकार है—

जीवन जखन सुखाये जाय
करुणा धाराय एशो।
सकल माधुरी हाराये जाय
गीत सुधा रसे एशो।
आपनारे जब करिया कृपण
कोने पड़े थाके दीन-हीन मन।
दुआर खुलिया हे उदार नाथ
राज समारोहे एशो।
ओहे अनिद्र ओहे पवित्र
रुद्र आलोके एशो।

ऐसे उदारचेता साहित्यिक के अन्तस्तल में प्रेम और करुणा की, शान्ति तथा दया की कितनी मधुर धारा बहती थी—इसका अनुमान ही लगाया जा सकता है। ऐसा ही मधुर स्निग्ध जीवन था गीतगोविन्द के रसिक, बालब्रह्मचारी पण्डित बटुकनाथ शर्माजी का। निष्कर्ष यह है कि प० बटुकनाथ शर्मा साहित्य-रस में आकण्ठ-मग्न रसिक साहित्यिक थे। ये प० रामावतारजी के प्रतिनिधि शिष्य थे जिनमें सरसता के साथ निर्भीकता, सुजनता के साथ आडम्बरहीनता तथा उदात्तता के साथ दम्भराहित्य अपने पूर्ण वैभव के साथ विराजमान थे।

●

---

१ प्रथम कविता का अग्रेजी रूप—

About female education and women's emancipation
आमादेर खूब enlightened views;
किन्तु views मते काज करी if you think
ता होलो तुमी an awful goose.

द्वितीय कविता का अंग्रेजी रूप अन्तिम दो चरणो का—

आमरा a curious amalgam
of शशधर, Huxley and Goose.

पण्डित दामोदरलाल गोस्वामी

(आस्पद—गोस्वामी, उपाधि—न्यायरत्न)

प० दामोदर लाल गोस्वामी काशी की विद्वन्मण्डली मे नितान्त लब्धवर्ण व्यक्ति थे। इनका व्यक्तित्व इतना मोहक था कि जो इन्हे देखता था वह इनके प्रति आकृष्ट हुए बिना नही रह सकता था। इनका शरीर बहुत ही भव्य, पुष्ट था तथा दर्शक के नेत्रो को बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेता था। रेशमी धोती, शरीर पर चमचमाता रेशमी कुर्ता, उसके ऊपर रेशमी दुपट्टा, ललाट पर माध्व सम्प्रदायानुसार केसर का काला तिलक—इन उपकरणो से सम्पन्न गौरवर्णाकृति गोस्वामीजी के भव्य व्यक्तित्व की सद्य परिचायिका थी। इनके दर्शनमात्र से दर्शको का सद्य आकर्षण होता था। मुख से निकलने वाली कोमल-कान्त-पदावली के श्रवणमात्र से श्रोताओं का हृदय आप्यायित हो जाता था। गोस्वामीजी के व्यक्तित्व मे एक विचित्र मोहकता थी—एक विचित्र आकर्षण शक्ति थी, इस विषय मे दर्शको के दो मत हो ही नही सकते।

ये वृन्दावन के निवासी थे। इनका कुटुम्ब अपनी अलौकिक विद्वत्ता तथा नैष्ठिक भक्तिमय आचरण के लिये नितान्त प्रख्यात था। इन्होने स्वय लिखा है कि इनके पूर्वपुरुष **गोपालभट्ट गोस्वामी** थे जिन्होने भागवतसन्दर्भ जैसे विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ की रचना कर वृन्दावन की साधक मण्डली मे अपने गम्भीर वैदुष्य को प्रकटित किया था। गत शताब्दी मे भी वह पाण्डित्य परम्परा इनके कुल मे विद्यमान थी। इनके पारिवारिक पुस्तकालय का नाम 'मदनगोपाल पुस्तकालय' है जिसमे सस्कृतसाहित्य के नाना विषयो के प्राचीन हस्तलेखो का अपूर्व सग्रह है। यह गोस्वामी वश वृन्दावन मे विद्वत्ता और साधना के बल पर बडी प्रतिष्ठा का अधिकारी है। उसी गोस्वामी वश मे इनका जन्म वृन्दावन मे हुआ। पिता का नाम था **गोस्वामी गोपीलाल महाराज** तथा पितृव्य का नाम था 'विद्याभूषण वनमाली लाल महाराज' जो माध्व सम्प्रदाय के विद्वान् आचार्य थे तथा सगीत विद्या के भी बडे मर्मज्ञ तथा पारगामी माने जाते थे। वृन्दावन मे ही रहकर दामोदरलालजी ने अपने पिता तथा चाचा से व्याकरण, साहित्य, सगीत तथा साम्प्रदायिक वैष्णव ग्रन्थो का विशेषकर अध्ययन किया तथा सुबुद्ध विद्वान् हो गये। गोस्वामीजी का जीवनकाल १८७५ ई० से १९४८ ई० तक था।

सस्कृतशास्त्रो की उच्च शिक्षा प्राप्त करने की अभिलाषा इन्हे काशीपुरी मे खीच लाई। विद्वान् तो थे ही। इन्होने अपने गुरु होने योग्य विद्वान् को खोजना प्रारम्भ किया। ये उस युग के प्रत्येक लब्धकीर्ति विद्वान् के पास जाकर उनकी अध्यापन-शैली का निरीक्षण करते, उनके शिष्यो की योग्यता को परखते और उनकी शास्त्रीय गम्भीरता तथा शास्त्रानुशीलन का समीक्षण करते। इस समीक्षण-परीक्षण के अनन्तर इन्होने महामहोपाध्याय प० गगाधर शास्त्री का अपने गुरु के रूप मे वरण किया तथा उन्ही से साहित्य तथा दर्शन के उच्चकोटि के ग्रन्थो का अध्ययन किया। उन्हे छोडकर इन्हे किसी दूसरे गुरु के पास जाने की आवश्यकता नही



पं० दामोदरलाल गोस्वामी

पढ़ने इनकी तीव्र अभिलाषा थी कि किसी नैयायिक गुरु से नव्यन्याय के अनुमानखण्ड का गम्भीर अध्ययन करूँ।

संयोगवश उन्हीं दिनों नवद्वीप के प्रसिद्ध नैयायिक राखालदास न्यायरत्न काशी में पधारे और उन्होंने सुयोग्य छात्रों को अनुमानखण्ड की शिक्षा देना आरम्भ किया। काशी आने के पूर्व ही वे नव्यन्याय के पूर्ण विद्वान् के रूप में अखिलभारतीय कीर्ति अर्जित कर चुके थे। उन्हें काशी में ही प्राप्त कर गोस्वामीजी ने उनसे अनुमानखण्ड का विधिवत् अध्ययन प्रारम्भ किया। राखालदास की शिक्षा से गोस्वामीजी पूर्णतया सन्तुष्ट तथा आप्यायित थे। परन्तु एक दुर्दैव के कारण इनका अध्ययन कार्य बन्द हो गया। इसी समय राखालदासजी का सुयोग्य ज्येष्ठ पुत्र अकस्मात् मर गया, जिससे वे इतने खिन्न हुए कि काशी से अध्यापन छोड़कर वे स्वदेश लौट गये। इस विघ्न से दुखित होने पर भी गोस्वामीजी ने अपनी अभिलाषा नही छोड़ी। ये अनुमानखण्ड के अवशिष्ट अशो को पढ़ने के लिए नवद्वीप पहुँचे। उस समय वहाँ के सबसे बड़े नैयायिक थे—**यदुनाथ न्याय-सार्वभौम**, उन्ही से इन्होंने अनुमान खण्ड का गम्भीर अध्ययन किया तथा सफलतापूर्वक अध्ययन किया। ये ६ वर्षों तक लगातार अध्ययन करते ही रहे। नव्यन्याय मे अलौकिक पाण्डित्य का सम्पादन कर ये काशी लौट आये। काशी के पण्डितों ने इनका बड़ा स्वागत किया। इस अध्ययन से नव्यन्याय गोस्वामीजी पर इतना छा गया कि ये साहित्यिक होने की अपेक्षा विद्वानो की दृष्टि मे नैयायिक होने की प्रतिष्ठा से मण्डित हो गये। काशी में ही उस समय पण्डित उदितनारायण मिश्र नामक एक बड़े विद्वान् ज्योतिषी रहते थे। ज्योतिष मे इतनी उनकी पैठ थी और फलित तथा गणित दोनो में उनका पाण्डित्य इतना अधिक था कि वे ज्योतिष के प्राचीन आचार्यों के समकक्ष माने जाते थे। उन्हीं से इन्होने ज्योतिषशास्त्र का अध्ययन किया और गम्भीर विद्वत्ता प्राप्त की। इस प्रकार दामोदरलालजी व्याकरण तथा साहित्य, ज्योतिष तथा नव्यन्याय, दर्शन तथा वैष्णव भक्तिशास्त्र में अपूर्व पाण्डित्य प्राप्त कर काशी की विद्वन्मण्डली मे चमत्कारिणी प्रतिभा के धनी होने के कारण सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र माने जाने लगे।

अध्यापन

घर के धनी होने के कारण गोस्वामीजी को किसी भी विद्यालय मे नौकरी करने की कोई आवश्यकता ही नही रही। ये अपने निवासस्थान पर ही नाना विषयों के छात्रों को विद्यादान करते थे और उनके भरण-पोषण के लिए भी अपनी ओर से उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता किया करते थे। अध्यापन के ये रसिक थे। नये-नये शास्त्रों के पढ़ने तथा पढ़ाने में इनकी अभिरुचि प्रशसनीय थी। यह अध्यापन कार्य ये अपनी विद्यार्थी अवस्था से ही करते थे। इनके छात्रो मे सबसे प्रसिद्ध व्यक्ति महामहोपाध्याय प० देवीप्रसाद शुक्लजी थे जो १२ वर्षों तक इनके चरणों में बैठकर सस्कृत के साहित्य तथा दर्शन का गम्भीर ज्ञान प्राप्त कर काशी के पण्डितो में 'कविचक्रवर्ती' के नाम से प्रख्यात हुए।

ग्रन्थरचना

गोस्वामीजी ने संस्कृत के अनेक प्राचीन ग्रन्थों का विमर्शात्मक संस्करण तथा सपादन किया है। अधिकांश ग्रन्थ भक्तिशास्त्र से सम्बन्ध रखते हैं। ये माध्व सम्प्रदाय के अन्तर्गत चैतन्य मत के प्रतिष्ठित विद्वान् थे और इसलिए भक्तिशास्त्रीय गम्भीर ग्रन्थों का सम्पादन कर इन्होंने साहित्य के इस विभाग को अपने ग्रन्थों द्वारा सुसम्पन्न बनाया। प्रत्येक ग्रन्थ की प्रस्तावना

प्रमेयबहुल है। उस विषय से सम्बन्ध रखने वाले सिद्धान्तो का अनुशीलन तथा आलोडन नितान्त प्रशसनीय है। इनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थो का सक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

(१) भगवन्नामकौमुदी—पण्डित लक्ष्मीधर के द्वारा निर्मित यह ग्रन्थ भगवान् के नाम की महिमा का परम प्रशसक है। इसके तीन परिच्छेद है जिनमे अन्तिम परिच्छेद नाम-कीर्तन से ही परम पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिए लिखा गया है। आपदेव के पुत्र अनन्तदेव ने प्रकाश नाम से इसकी व्याख्या लिखी है। यह ग्रन्थ अच्युत ग्रन्थमाला मे प्रकाशित है (१९८३ वि०)।

(२) भक्तिरसायन— मधुसूदन सरस्वती का यह प्रख्यात ग्रन्थ भक्ति रस का सर्वश्रेष्ठ रस सिद्ध करने वाला प्रमेयबहुल शास्त्रीय ग्रन्थ माना जाता है। सरस्वतीजी ने केवल प्रथम परिच्छेद के ऊपर ही टीका लिखी थी और गोस्वामीजी ने अन्य दो परिच्छेदो पर लघु व्याख्या लिखकर अपना सस्करण निकाला।

(३) हरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु—श्रीरूप गोस्वामी का यह ग्रन्थ भक्तिशास्त्र का बड़ा ही उदात्त ग्रन्थ माना जाता है। इसके ऊपर श्रीजीव गोस्वामी की 'दुर्गमसगमनी' नामक टीका उपलब्ध होती है। गोस्वामीजी ने इन दोनो को एक साथ प्रकाशित कर भक्तिरस के जिज्ञासुजनो के लिए अमूल्य निधि ही प्रस्तुत कर दी है (अच्युत ग्रन्थमाला, काशी मे प्रकाशित, १९८८ विक्रमी)।

(४) वाक्यपदीय—इस बृहत् ग्रन्थ के अन्तिम खण्डो को गोस्वामीजी ने सम्पादित किया है जिसका प्रकाशन बनारस-सस्कृत-सीरीज मे हुआ है।

(५) षड्दर्शनसमुच्चय—प्रख्यात 'जैन ग्रन्थ' का सम्पादन श्रीगोस्वामीजी ने बहुत पहले किया जो चौखम्भा सस्कृत माला मे १९०६ ई० मे छपा है।

(६) वाग्वल्लभ की भूमिका—वाग्वल्लभ छन्द शास्त्र का बडा ही विस्तृत तथा विशाल ग्रन्थ है जिसकी रचना दु खभजन कवि ने की और टीका लिखी उन्ही के सुपुत्र श्री देवीप्रसाद कविचक्रवर्ती ने। परन्तु टीकाकार की मृत्यु हो जाने के कारण गोस्वामीजी ने इसकी बडी ही पाण्डित्यपूर्ण भूमिका लिखकर इसे प्रकाशित कराया। इस भूमिका के देखने से उनके छन्दोविषयक ज्ञान का पूरा परिचय मिलता है।

गोस्वामी दामोदरलालजी व्रजनन्दन कृष्णचन्द्र के नैष्ठिक उपासक थे। विद्या के धनी होने के साथ ही साथ ये भक्तिरस से स्निग्ध सरस हृदय से मण्डित भक्त भी थे। अनेक बातो मे इनकी विलक्षणता दृष्टिगोचर होती है। ये बड़ी उदार प्रकृति के थे। माध्व सप्रदाय के व्यक्तियो का अद्वैत सप्रदाय के साथ विरोध कुछ स्वाभाविक-सा है। परन्तु गोस्वामीजी मे इस विरोध का तनिक भी दर्शन नही होता था। लेखक को १९२२ ई० की एक घटना इस प्रसग मे स्मृतिपथ पर आ रही है। उसी वर्ष काशी में ब्राह्मण-महासम्मेलन का आयोजन बड़े उत्साह तथा समारोह के साथ सम्पन्न हुआ था। उसमे अनेक शकराचार्य भी उपस्थित थे। उसी सभा मे आये हुए सकेश्वर मठ के शकराचार्य का अभिनन्दन काशी में प्रतिष्ठित पण्डितो के द्वारा हुआ था। गोस्वामीजी ने अपने आवास पर बड़ा ही भव्य आयोजन कर उनका विधिवत् पूजन तथा अर्चन किया था। उसमे किसी प्रकार दम्भ तथा दिखावटीपन नही था। ऐसा था उनका निर्मल स्वभाव तथा भक्तिपूर्ण हृदय।

एक विलक्षण घटना उनके बारे मे सुनी जाती है। काशीनरेश प्रभुनारायण सिह के पास दक्षिणभारत का कोई विद्वान् काशी के पण्डितो से शास्त्रार्थ करने के लिए आया। परन्तु

उसकी एक शर्त थी कि शास्त्रार्थ पद्यबद्ध ही होगा। महाराजा से उसने अपनी अभिलाषा कह सुनाई। प्रभुनारायण सिह ने पण्डित गगाधर शास्त्री को इसके लिए बुलाया और उनसे प्रार्थना की कि वे इस चुनौती को स्वीकार करे तथा पद्यबद्ध शास्त्रार्थ करने के लिए तत्पर हो जायँ। शास्त्रीजी उन दिनो रुग्ण थे। अतएव उन्होंने इस प्रस्ताव को स्वीकार तो नही किया परन्तु इसके लिए व्यवस्था करने के लिए वचन दिया। शास्त्रीजी अपने सुयोग्य शिष्य दामोदरलाल जी की दार्शनिक विद्वत्ता तथा आशु काव्यरचना से पूर्ण परिचित थे। गोस्वामीजी उन दिनो नवद्वीप मे न्यायशास्त्र पढ़ रहे थे। गुरुजी ने अपने सुयोग्य शिष्य को बुलाया और उन्ही के आदेश पर गोस्वामीजी आये। महाराजा रामनगर की सभा मे ये पद्यबद्ध शास्त्रार्थ करने के लिए जुट गये और उस दक्षिण के विद्वान् को इन्होने निरुत्तर कर दिया। महाराजा ने काशी की इस प्रतिष्ठा को रखने के लिए गोस्वामीजी को बहुत-सा सोना-चाँदी, आभूषण दिये, गोस्वामीजी ने स्वय नही लिया और उसे लाकर गुरु के चरणो पर रख दिया और विनम्र शब्दो मे कहा कि गुरुजी महाराज, आप ही की शिक्षा का यह अमृतमय फल है। मेरी क्या हस्ती कि मै ऐसी विकट परिस्थिति मे विजय प्राप्त करता। आप ही के अनुग्रह का यह फल है। आप ही इसे स्वीकार करे। यह कहकर इन्होने गुरु के चरणो पर सब सम्पत्ति रख दी। ऐसी थी वावदूकता और गुरु-भक्ति गोस्वामीजी की।

एक दूसरी घटना इनकी भी विलक्षण है। नवद्वीप मे ये ६ वर्ष तक अध्ययन करते रहे। उन्ही दिनो की यह घटना है। ये रात के समय बाहर से घूम कर आने के बाद मलाई-मिश्रित दुग्ध का पान कर सो जाते थे। एक दिन जब ये आये तो देखा कि दूध की थाली के ऊपर कुछ सफेद चूर्ण का अश दिखाई पड रहा है। समझा सफेद राख होगी, उसे झाडकर ठीक कर ही रहे थे कि मकान के कोने से आवाज आई—"पण्डित! सावधान हो जाओ। मै भी तुम्हारे समान ही व्युत्पन्न छात्र था। नवद्वीप मे नव्यन्याय पढ़ने आया था। परन्तु ईर्ष्यावश, मेरी विद्वत्ता से डाह करने वाले यहाँ के पण्डितो ने मुझे विष देकर मार डाला। मै आज भी पिशाच योनि से मुक्त नही हुआ हूँ। दूध के ऊपर जो सफेद देख रहे हो वह विष है जो तुम्हे मारने के लिए दूध मे डाला गया है। तुम्हे देखकर मुझे दया आई। होशियार होकर ही इस दूध का पान करो और आगे के लिए भी सावधान हो जाओ।" गोस्वामीजी ने तुरन्त अपने हाथ से दूध का प्याला नीचे रख दिया और पण्डित पिशाच को नमस्कार किया और उन्हे धन्यवाद दिया कि उन्होने इन्हे बचा लिया। भगवान् की दया से ये बाल-बाल बच गये। ठीक ही कहा है—

जाको राखे साइयाँ मारि न सकै कोय।
बाल न बाँका करि सकै जो जग बैरी होय॥

चैतन्य महाप्रभु की रमणीय स्तुति किस सहृदय को आनन्दित नही करती—

सौन्दर्ये कामकोटिः सकलजनसमाह्लादने चन्द्रकोटि-
र्वात्सल्ये मातृकोटिस्त्रिदशविटपितोऽप्यद्भुतौदार्यकोटिः।
गाम्भीर्येऽम्भोधिकोटिर्मधुरिमणि माध्वीककोटिः
गौरो देवः स जीयात् प्रणयरसपदे दर्शिताश्चर्यकोटिः॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु

श्री हरिभक्तिरसामृतसिन्धु की विस्तृत प्रस्तावना मे भक्तिरस का बड़ा विस्तृत विश्लेषण किया गया है।

गोस्वामी दामोदरलालजी का गुणौघ-प्रकाशक यह पद्य बड़ा ही ललित एवं सटीक है—

नाना-कल्पविकल्पजालकलितां प्रौढोक्तिगूढाशयां
साहित्याध्वविहारिणीमपि पुनस्तर्कैः सदैवोज्ज्वलाम् ।
येषां वाचमकुण्ठितां प्रतिपदप्रासप्रकर्षां चिरं
शृण्वन् गीष्पतिरात्तविस्मयभरव्यात्ताननो जायते ॥

—नारायण शास्त्री खिस्ते

काव्यरचना

किसी विशिष्ट काव्यग्रन्थ का इन्होंने निर्माण किया था—इसका तो परिचय नहीं मिलता, सम्पादित ग्रन्थों की प्रमेयबहुल भूमिकाएँ गोस्वामीजी के पाण्डित्य की सूचिका हैं। गद्य में गाढबन्धता विराजमान है जिसमें विषय का सुचारु पल्लवन किया गया है। आरम्भ में मंगलश्लोक हैं। उन्हीं में से दो-तीन पद्य नमूने के तौर पर यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। वाग्वल्लभ की भूमिका का मगलश्लोक मुद्रालंकार से मण्डित होकर छन्द-शास्त्रीय ग्रन्थ के नितान्त अनुरूप है—

आर्या पथ्या स्वराट् श्री कमलपटुधरा स्रग्विणी पुष्पिताग्रा
दोलाक्रीडाकलान्दरघुपरवनिता शालिनी मौलिमाला ।
मत्ताली भारतीला प्रमुदितवदना भासिनी फल्गुमध्या
लीलाचित्रा विचित्रा शशधरसुमुखी राधिका कीर्तिगारी ॥

पद्य में राधाजी की स्तुति है। प्रयुक्त विशेषण राधा के सौन्दर्य एव गुणगण के प्रकाशक हैं। साथ ही मुद्रालकार के द्वारा वे छन्दों के विभिन्न नाम भी है। यही इसकी विशिष्टता है।

भगवान् के हरिनाम की स्तुति देखिए—

निखिल-श्रुतिमौलि-रत्नमाला-द्युति-नीराजित-पादपङ्कजान्तम् ।
अपि मुक्तकुलैरुपास्यमानं परितस्त्वां हरिनाम संश्रयामि ॥



पण्डित विभवराम शर्मा

(आस्पद—सारस्वत, उपाधि—भाष्यमार्तण्ड)

पण्डित विभवराम शर्मा वाराणसी के गत शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान विद्वानों में प्रमुख माने जाते थे। इनका जन्म सीमाप्रान्तीय झेलम जिला के एक गाँव में हुआ था। अनुमान से इनका जन्म १८१० ईस्वी में हुआ था। शरीर से बलिष्ठ तथा नितान्त भव्य देहयष्टि से सम्पन्न विभवरामजी आरम्भ से सेना की नौकरी में थे, परन्तु शास्त्र-ज्ञान की उत्कट लालसा से प्रेरित होकर इन्होंने सेना की नौकरी छोड़ दी और ये अध्ययन के लिए काशी चले आये। उस समय गौड स्वामी जैसे उत्कृष्ट विद्वान् सन्यासी की तूती बोलती थी। वे उस युग में ख्याति के प्रखर शिखर पर विराजमान थे जिनके पास नाना शास्त्रों के, विशेषकर व्याकरण तथा वेदान्त के जिज्ञासु छात्रों का जमघट लगा रहता था। सुनते हैं कि जब स्वामीजी एक हाथ में दण्ड और दूसरे में पुस्तक के पत्र हाथ में लेकर निकलते थे, तब सात-आठ सौ पण्डित उनका अनुगमन करते हुये साथ चलते थे। जिधर से निकलते, उधर सँकरी गलियों में रास्ता जाम हो जाता था। इन्ही गौड स्वामीजी से विभवराम ने भाष्यान्त व्याकरण का गम्भीर अध्ययन किया। साधन तथा विद्या का इतना मञ्जुल सामञ्जस्य था कि ये 'भाष्यवाले ब्रह्मचारी' के नाम से सर्वत्र प्रख्यात हो गये। स्वामीजी के निधन के अनन्तर स्वामी विश्वरूपजी तथा गोस्वामी विशुद्धानन्दजी उनकी गद्दी पर क्रमशः बैठे। उस समय काशी की विद्वन्मण्डली में जम्मू के प० गोकुलचन्दजी, विभवरामजी, इनके पुत्र रामभजनजी तथा शिष्य शिवरामजी, पं० श्रीधरजी, पं० हरजस रायजी, पं० शिवकृष्ण वेदान्त सरस्वती समकालीन विद्यमान थे। सुनते हैं गौडस्वामी ने परिभाषेन्दु पर **चिदस्थिमाला** तथा शब्देन्दु पर **चित्कला** का प्रणयन किया था, परन्तु ये ग्रन्थ प्रकाशित न हो सके।

काश्मीरनरेश द्वारा स्थापित टेढ़ीनीम मुहल्ले में स्थित **रणवीर-संस्कृत-पाठशाला** के ये आजीवन प्रधानाध्यापक बने रहे। पण्डितसमाज में वैदुष्य के कारण इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी।

पण्डित विभवराम शर्मा की सम्मति उस युग के व्यवस्थापत्रों पर उपलब्ध होती है। **सिंहस्थ-गुरुनिर्णय** नामक ग्रन्थ के ऊपर इनकी सम्मति मिलती हैं। यह ज्योतिष-शास्त्र-सम्बन्धी पुस्तिका काशीनरेश महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह की आज्ञा से पं० सिद्धेश्वर शर्मा ने रची जिसका प्रकाशन काशी के ही अमरयन्त्रालय में अम्बिकाचरण चट्टोपाध्याय ने वि० सं० १९४१ (= १८८४ ई०) में किया था (द्वितीयावृत्ति)। आठ पृष्ठों की यह पुस्तिका इतिहास-दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें तत्कालीन ९५ विद्वानों के हस्ताक्षर उपलब्ध होते हैं। इस पुस्तिका में विभवरामजी के भी हस्ताक्षर हैं। इस प्रकार गत शताब्दी के अन्तिम चरण में विभवरामजी का काशी में अस्तित्व प्रमाणसिद्ध है।

पण्डितजी के विद्वान् पुत्र का नाम था—पं० रामभजन (रामभज) सारस्वत तथा पट्टशिष्य का नाम था शिवराम शर्मा गुलेरी। दोनों मित्र थे, एक ही गुरु के समसामयिक अन्तेवासी थे तथा व्याकरण तथा वेदान्त आदि शास्त्रों के गम्भीर शास्त्रार्थ में बड़े ही वावदूक तथा लब्धकीर्ति थे। काशी में ही जयपुर महाराजा रामसिह के सामने विद्वान् सन्यासियों के साथ शास्त्रार्थ में इन दोनो विद्वानो ने अपनी वैदुषी का जौहर इतनी योग्यता से प्रकट किया तथा प्रकर्ष और विजय प्राप्त की कि इस घटना से महाराजा मुग्ध हो गये तथा इन दोनो विद्वानों को अपने साथ जयपुर ले आये (१८६८ ईस्वी मे)। पण्डित रामभजजी को विद्यालय का अध्यक्ष बनाया जहाँ ये लगातार २४ वर्षों तक अध्यक्ष का कार्य सम्पादन करते रहे। शिवराम शर्मा गुलेरी भी इसी विद्यालय मे व्याकरण तथा वेदान्त के अध्यापक थे तथा अध्यक्षीय कार्यों मे भी रामभजजी की सहायता करते थे। दोनो की घनिष्ठ मित्रता यावज्जीवन रही। पण्डित कृष्णराम भट्ट ने इन दोनों विद्वानो का अभिनन्दन एक ही पद्य में किया है--

आस्ते महाभाष्यमहाचमत्कृतिः स्फुरन्महा-व्याकृति-पाठिनां गुरुः।
सारस्वतो रामभजः स यस्य सखा सतीर्थ्यः शिवरामपण्डितः॥

प्रख्यात वेदमर्मज्ञ पण्डित मधुसूदन ओझा को आपने सिद्धान्तकौमुदी पढ़ाई थी। इनका अध्यक्षकाल जनवरी १८६६ से लेकर ३० अप्रैल १८८३ तक (२४ वष) वर्तमान था। इनका उल्लेख जयपुर सस्कृत पाठशाला के उल्लेखनीय प्राचार्य के रूप मे किया जाता है। इन्होने भाष्यान्त व्याकरण का अध्यापन कर अलौकिक कीर्ति अर्जित की। १८६३ ई० मे सेवामुक्त होने के समय ६० साल का वय रहा हो, तो इनका जन्म १८३३ ई० मे माना जा सकता है।

पण्डित शिवराम शर्मा गुलेरी

पण्डित विभवरामजी के पट्टशिष्य पण्डित शिवराम शर्माजी पर्वतीय सारस्वत ब्राह्मण थे। ये कागड़ा-प्रान्तीय गुलेर के राजा के राजपुरोहित थे। यह गुलेर ग्राम आजकल हिमाचल प्रदेश मे है और प्राचीन चित्रकला की एक नवीन शैली (कॉगडा कलम) का जन्मस्थान होने के कारण आज भी कलाजगत् मे प्रख्यात है। यहाँ के राजा बड़े गुणग्राही तथा कलाविद् हुआ करते थे। इन्ही के पुरोहितकुल मे शिवरामजी का जन्म हुआ था। फलत आपके वशज अपने नाम के साथ गुलेरी शब्द सम्मान तथा प्राचीन गौरव की स्मृति मे आज भी जोड़ते है। अध्ययन के लिए काशी गये और १६ वर्षों तक व्याकरण, वेदान्त, न्याय आदि का विधिवत् अध्ययन विभवरामजी से किया। ऊपर निर्दिष्ट जयपुर के महाराजा द्वारा काशी से जयपुर लाने के वृत्तान्त से इनके विद्यावैभव तथा शास्त्रार्थ वैदुष्य का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। विद्यालय मे व्याकरण की गद्दी पर विराजमान थे, परन्तु अपने सुहृद्वर रामभजजी का सकल प्रशासनिक कार्य स्वय निपटाया करते थे। १८६६ ई० से लेकर १६०३ ई० तक वेदान्त का अध्ययन कराया। गुणवन्त तथा शास्त्रपारगत होने के कारण जयपुर के शासक महाराजा रामसिह और माधवसिह द्वितीय आपका विशेष आदर-सत्कार करते थे तथा तत्कालीन प्रधानामात्य कान्तिचन्द्र मुकर्जी भी परम आदर की दृष्टि से देखते थे। राज्य में विपुल प्रतिष्ठा, लक्ष्मी की पूर्ण कृपा, आज्ञाकारी विद्वान् पुत्र, नीरोग स्वस्थ शरीर, पूर्ण आयु—इन सर्वविध सुखों से युक्त गुलेरीजी अपने समय के निःसन्दिग्ध विशिष्ट विद्वान् थे। रामसिंह द्वारा स्थापित 'मोदमन्दिर' नामक धर्मसभा के सम्मानित सदस्य भी थे। जन्म १८६२ वि० स० (=१८३५ ई०)

मे, १८६७ ई० मे जयपुर के सस्कृतकालेज मे नियुक्ति तथा १ दिसम्बर १६१० ई० को मृत्यु--यह उनके जीवन की लघु समयसारणी है।

भट्ट मथुरानाथजी ने आपका स्मरण इन शब्दों मे किया है[1]--

येषां शब्दशास्त्रे प्रौढपाण्डित्यं प्रसिद्धमभूद् वेदान्ते मार्मिका न केन स्माभिनन्द्यन्ते,
राजमोदमन्दिरेऽपि मान्या यद्व्यवस्थाऽभवद् विद्यायै वदान्या येऽद्य विद्वद्भिर्मुहुरिन्द्यन्ते।
अध्यापनसिद्धाः शान्तिधैर्यार्जवमुख्यैर्गुणैः सर्वविधसौख्यैर्जीवने ये स्माऽतिचन्द्यन्ते,
आदर्शायितोच्चसदाचाराञ्चितचर्याः सदा श्रीश्रीशिवरामसूरिवर्याः प्रणिवन्द्यन्ते॥

इनके तीन पुत्रो मे से ज्येष्ठ पुत्र पण्डित चन्द्रधरशर्मा गुलेरी सस्कृत तथा हिन्दी के उत्कृष्ट विद्वान् थे, परन्तु असमय मे ही उनकी मृत्यु मे उनका साहित्यिक जीवन समाप्त हो गया। उनका जन्म हुआ था ७ जुलाई १८८४ ई० में और निधन हुआ ११ सितम्बर १६२२ ई० को। केवल ३८ वर्षों के स्वल्प वय मे ही उनकी ऐहिक लीला समाप्त हो गई। उनके व्यक्तित्व के लिए देखिये इस ग्रन्थ का अन्तिम अध्याय।



---

१. 'जयपुरवैभवम्' नामक देववाणीमय काव्य मे।

पण्डित देवीप्रसाद कविचक्रवर्ती

(आस्पद—सुकुल, उपाधि—महामहोपाध्याय)

महामहोपाध्याय श्री देवीप्रसाद कविचक्रवर्ती काशी के मान्य कवियों में अपनी कारयित्री प्रतिभा, चमत्कारी काव्यरचना एवं प्रौढ़ शास्त्रीय वैदुषी के कारण नितांत प्रख्यात थे। अल्पायु होने के कारण संस्कृत-समाज उनकी ललित तथा परिनिष्ठित काव्यरचना से अवश्य ही वंचित रह गया, परन्तु इन्होंने अपने जीवन में प्रतिभा का जो अद्भुत प्रसाद विद्वानों के आस्वादन के लिए प्रस्तुत किया, वह नितान्त कमनीय, रमणीय एवं अभिनन्दनीय था।

ये काशी के एक वैदुष्यसम्पन्न कान्यकुब्ज ब्राह्मण वंश मे पैदा हुए थे। यह वंश सरस्वती की नानाविध सेवा एवं आराधना के कारण काशी के विद्वत्समाज मे महनीय आदर का भाजन था। इनके प्रपितामह का नाम था प्रताप सुकुल, पितामह का चूड़ामणि शर्मा तथा पिता का प० दुःखभजन कवीन्द्र। कवीन्द्रजी ने वाग्वल्लभ नामक स्वीय ग्रथ के अत मे अपने वंश का वर्णन पाँच पद्यों मे दिया है। श्री प्रताप सुकुलजी के विषय मे वे कहते हैं—

आसीत् सूरितरः स्वभूरिजन-निर्वाराय वाराणसी-
वास्तव्यो वरवस्तुनः स्तुततरस्य स्मर्तुमर्तिच्छिदः।
सारोद्धारपरायणातुरमना मान्यामनाङ्मानितो
निर्णीताशयनीतिरीतिरमणीरामः प्रतापाभिधः॥

पितामह पण्डित चूडामणि सुकुल ज्योतिःशास्त्र के अगाध विद्वान् थे, जिनकी प्रतिष्ठा उस युग के काशीस्थ विद्वत्समाज में बड़ी महनीय तथा माननीय थी। दुःखभंजनजी ने इनके विषय में लिखा है—

आसीत् काशीनिवासी दलितकलिमलालीकविद्याविलासी
स्वाशीराशिप्रकाशीकृतपरविभवस्तत्सुतः सावकाशी।
आसीदद्दीननाशीकृतदुरितचयः कर्मणः सत्फलाशी
दासीभूतः सुनासीरसहजचरणाब्जस्य पुण्याभिलाषी॥

इस पद्य की ललित रचना से दुःखभंजनजी की काव्यकला का भी परिचय हमें प्राप्त होता है।

दुःखभंजन कवीन्द्र

पण्डित दुःखभजनजी साहित्य, संगीत, ज्योतिष, निगमागम के महान् ज्ञाता तथा जगदम्बा के अनन्य आराधक एव सिद्ध कवि थे। ये दर्शनशास्त्र के भी प्रवीण पण्डित थे। व्याकरणशास्त्र का आपका पाण्डित्य अगाध एव अद्भुत था और इसी के बल पर ये एक श्लोक के अनेक अर्थ पर श्रोताओं को मुग्ध एवं चमत्कृत कर देते थे। ये त्रिपुरा के परम भक्त एवं एकनिष्ठ उपासक थे। उनकी साधना के अलौकिक चमत्कार की कहानियाँ आज भी पण्डितों

के मुँह से सुनी जा सकती हैं। ये श्लेष के बड़े भारी चमत्कारी कवि माने जाते थे। इनका कहना था कि रघुवश काव्य तो राजा रघु की कथा न होकर किसी चोर का ही वर्णनपरक काव्य है। रघुवंश के द्वितीय सर्ग के कतिपय पद्यों का चौरपरक अर्थ काशी के 'सुप्रभातम्' संस्कृत पत्र में कभी प्रकाशित भी हुआ था। सुनते हैं ये नैषधचरित महाकाव्य के बड़े प्रशंसक थे। इनकी दृष्टि में यहाँ चार विशिष्ट चरितों का समभावेन श्लिष्ट पदों के द्वारा निरूपण किया गया है। नैषध के चरित के अतिरिक्त ये इस महाकाव्य में रामायण, महाभारत तथा भागवत की कथा का वर्णन मानते थे और प्रसंग आने पर ये नैषध के पद्यों का चार प्रकार का अर्थ भी किया करते थे।

सुनते है कि ये एक बार मकरस्नान के अवसर पर प्रयाग गये। वहाँ पण्डितों के समाज में किसी ने इनसे पूछा कि 'मुहूर्तचिन्तामणि' (ज्योतिष ग्रन्थ) से त्रिवेणी-माहात्म्य सुनाइए। कविजी बिना किसी ननुनच के उस ज्योतिष ग्रन्थ के पद्यों से त्रिवेणी का माहात्म्य सुनाने लगे। कुछ विशेष चमत्कार था उनमें जो अनायास, बिना किसी परिश्रम के शब्दों के नये-नये अर्थों की सूझ देता था उन्हें और जिसके बल पर उनका पाण्डित्य सर्वत्र जम जाता था। काशी की विद्वन्मण्डली उनके इस चमत्कारी वैदुष्य को भगवती जगदम्बा की आराधना का परिणत प्रसाद मानती थी। उनकी कीर्ति काशी में आज भी अक्षुण्ण है।

चमत्कारो की कहानि. आज भी साधक-मण्डली में प्रसिद्ध है। श्लेषकवि के रूप में उनकी बड़ी प्रख्याति थी। व्रजभाषा में भी इनकी मुग्धकारिणी कविता रसिकों का आवर्जन करती थी। इन्होने राजा चन्द्रशेखर त्रिपाठी के विषय में एक प्रशस्तिकाव्य—**चन्द्रशेखरचरित महाकाव्यम्** का प्रणयन सस्कृत में किया जिसमें अलकारों की छटा तथा शाब्दिक चमत्कारों की सुषमा नितरा श्लाघनीय है। लेखक ने अपने विद्यागुरु पण्डित रामावतार शर्माजी से पण्डित दु.खभजनजी के काव्य-चमत्कार एव विलक्षण शब्द-योजना के विषय में अनेक प्रशसापरक बातें सुनी हैं।

इनका वाग्वल्लभ[1] नामक प्रकाशित ग्रन्थ छन्दःशास्त्र के गम्भीर तलस्पर्शी ज्ञान का सद्यः परिचायक एवं प्रबोधक है। इस ग्रन्थ की प्रबोधकारिणी टीका इन्हीं के सुपुत्र पण्डित देवीप्रसाद कविचक्रवर्ती ने **वरवर्णिनी** नाम से प्रकाशित की है। पिता तथा पुत्र के पाण्डित्य का यह सम्मिलित परिणत प्रयास नितान्त उपादेय एव आदरणीय है। पिता तथा पुत्र दोनों ही व्रजभाषा के भी बड़े ही आदरणीय कवि थे। इनकी हिन्दी कविता के कतिपय नमूने स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती की प्रशस्ति के रूप मे आगे दिये जाएँगे जिनमें इनकी कमनीय प्रतिभा, सुभग पदशय्या तथा मनोरम भाव की छटा देखते ही बनती है।

जन्म तथा अध्यापन

ऐसे ही शाक्त उपासना के द्वारा परिपूत ब्राह्मणवंश में पण्डित दुःखभजन कवीन्द्र के पुत्र रूप में देवीप्रसादजी का जन्म काशी में ही १९४० विक्रम सवत् (१८८३ ई०) में हुआ। सुनते हैं कि शिशु के उत्पन्न होते ही शाक्त पिता ने भगवती शारदा के दिव्य बीजमन्त्र को उसकी जिह्वा पर स्वय लिख दिया। प्रारम्भिक अध्ययन का कार्य बालक ने अपने पूज्य पिता के सम्पर्क से ही किया। आठ वर्ष का होने पर पिता ने पुत्र का उपनयन सस्कार किया तथा 'सिद्धान्तकौमुदी' का विधिवत् अध्यापन किया जिससे बालक की अभिरुचि सस्कृत विद्या के

---

१. काशी संस्कृत सीरीज के चौखम्भा कार्यालय द्वारा टीका के साथ प्रकाशित, काशी, १९३३ ई०।

अध्ययन की ओर स्वतः उत्पन्न हुई। परन्तु दुर्भाग्यवशात् पिता की छत्रच्छाया बालक के सिर से सदा के लिए तिरोहित हो गई क्योंकि दुःखभंजनजी साधारण ज्वर से आक्रान्त होकर पञ्चत्व को प्राप्त हो गये। उसी रोगावस्था मे उन्होंने बालक को बुलाकर अपनी मनोभावना का परिचय इन शब्दो मे[1] दिया

"वत्स, मेरा जीवन अब दो-तीन दिनो के भीतर ही समाप्त होनेवाला है। मुझे इस बात का बडा ही क्लेश है कि मै तुम्हे कुछ पढ़ा नही सका। मेरा आदेश है कि यदि अन्यत्र गुरु न मिले, तो तुम मूर्ख बनकर निरक्षर भट्टाचार्य बने रहो, परन्तु काशी के किसी भी विद्वान् से एक अक्षर भी नही पढ़ना। यदि तुम मेरी आज्ञा का पालन न करोगे, तो कर्मवशात् मै किसी भी योनि मे जाऊँगा, मुझे अपार कष्ट होगा। फलतः मेरे आदेश का पालन तुम स्वस्थ मन से तथा एकनिष्ठ श्रद्धा के साथ अवश्य करना।" इतना ही नही कवीन्द्रजी ने अपनी धर्मपत्नी को भी आदेश दिया कि ध्यान रखना, बालक मेरे आदेश का सावधानी से पालन करे।

देवीप्रसादजी ने पिता की अन्तिम आज्ञा का यथावत पालन किया। पिता की मृत्यु के अनन्तर दो वर्ष बीत गये। बालक मे पढ़ने की तीव्र लालसा थी। उधर माता की प्रेरणा कम नही थी। फलतः वह अपने पिता के समान ही किसी व्यक्ति को अपना विद्यागुरु बनाने के लिए उपयुक्त गुरु की खोज मे इधर उधर भटकता फिरता था।

आखिर उसकी खोज ने जीवन मे एक नया मोड उपस्थित कर दिया। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ' की उक्ति उसके जीवन मे सद्यः चरितार्थ हो गई। उन्ही दिनो पण्डित दामोदरलाल गोस्वामी वृन्दावन मे काव्य, व्याकरण का अध्ययन कर संस्कृतविद्या की सामान्य अवगति प्राप्त होने के अनन्तर काशी मे आये और पण्डित गगाधर शास्त्रीजी के चरणो मे बैठकर साहित्य एव दर्शन का गम्भीर अध्ययन करने लगे। इसी समय देवीप्रसादजी दामोदरलाल गोस्वामी के सम्पर्क मे आकर विद्याभ्यास करने लगे। सिद्धान्तकौमुदी का विधिवत् अध्ययन किया और अधीत विषयो मे संस्कृतकालेज की परीक्षा दी जिससे उनके जीवन मे प्रतिभा का विशिष्ट विकास हुआ।

पण्डित दामोदरलाल गोस्वामीजी का पाण्डित्य अपूर्व था। वे नाना शास्त्रो के—विशेषतः साहित्य तथा नव्यन्याय के—उत्कृष्ट पाण्डित्य से मण्डित विद्वान् थे। उनके चरणो मे ग्यारह वर्षों तक अनवरत अध्ययन कर देवीप्रसादजी ने व्याकरण, प्राचीन न्याय, साख्ययोग, मीमासा, वेदान्त, धर्मशास्त्र तथा साहित्यशास्त्र मे प्रकृष्ट पाण्डित्य प्राप्त कर लिया तथा काशी की विद्वन्मण्डली मे इनकी विमल कीर्ति चारो ओर व्याप्त हो गई। गुरु और शिष्य दोनो ही अपूर्व मेधावी थे। फलतः देवीप्रसादजी की विमल प्रतिभा का प्रसाद पण्डितमण्डली मे मधुर काव्य रचना के रूप मे सद्यः परिस्फुटित होने लगा। यह नितान्त सत्य है कि इन्होंने गोस्वामीजी को छोड़कर किसी अन्य विद्वान् से एक अक्षर भी नही पढ़ा। गोस्वामीजी इस तथ्य को सर्वदा दोहराया करते थे। उन्होने इन्हे नव्यन्याय एव ज्योतिष का भी अध्यापन करना चाहा, परन्तु इनकी अभिरुचि इन विषयो की ओर न होने से यह अध्यापन न हो सका। इस प्रकार वृन्दावन के पण्डित गोस्वामीजी से सकल शास्त्रो का अध्ययन कर प० देवीप्रसादजी ने काशीस्थ पण्डित

[1] द्रष्टव्य, श्री दामोदरलाल गोस्वामी रचित 'वाग्वल्लभ' की भूमिका, पृ० १०-११ (काशी)।

से अध्ययन-निषेध की अपने पिताजी की वाणी को पूर्णतः चरितार्थ कर दिखाया। पिता की आज्ञा का उल्लंघन नही किया।

अध्यापन

ये अध्यापन कला में अत्यन्त निपुण थे। आरम्भिक जीवन मे इन्होंने काशी की अनेक पाठशालाओं में अध्यापन का कार्य किया। अनेक शास्त्रो की वैदुषी से सम्पन्न होने पर भी ये साहित्यशास्त्र का ही अध्यापन करते थे। इनकी काव्यनिपुणता तथा साहित्यानुशीलन से प्रसन्न होकर काशी की विद्वत्सभा ने इन्हे 'कविचक्रवर्ती' की उपाधि से विभूषित किया। लेखक ने कविजी को दशाश्वमेघघाट पर स्थित 'कान्यकुब्ज पाठशाला' मे अध्यापन करते देखा है। ये उस समय नैषध पढ़ा रहे थे। इतने आत्मविश्वास से पढ़ाते थे कि जान पडता था पूरे का पूरा नैषध इन्हे कण्ठस्थ है। ये श्लोक पढ़ने की भी आवश्यकता नही समझते थे। श्लोक सामने आया नही कि ये उसका अर्थ बतलाने मे लग जाते थे तथा उसकी बारीकियो को समझाने लगते। धीरे धीरे इनकी कीर्ति इतनी बढ़ी कि महामना मालवीयजी ने इन्हे संस्कृतमहाविद्यालय मे साहित्य के प्राध्यापक पद पर नियुक्त किया। हिन्दूविश्वविद्यालय मे नियुक्त होने पर इनके जीवन मे विशेष सुव्यवस्था का उद्गम हुआ, परन्तु दु ख इतना ही है कि ये इस शान्त जीवन का विशेष लाभ उठा नही सके। अल्पायु मे ही ये १९८८ वि० स० (= १९३१ ईस्वी) मे फाल्गुन शुक्ल एकादशी को अतीसार रोग से पीडित होकर परलोकगमन कर गये उस समय इनकी आयु केवल ४८ वर्ष की थी।

श्री देवीप्रसाद कविजी विश्वविद्यालय म आने से पूर्व ही महामहोपाध्याय की पदवी से विभूषित किये जा चुके थे। ये काशिकेय पण्डितो के सर्वतोभावेन प्रतिनिधि थे। ये मस्तमौला थे—हास्य रस के जीते-जागते प्रतीक थे। चेहरा इनका हर्षोल्लास से सर्वदा खिला दृष्टिगोचर होता था। उदासीनता इनके मुखमण्डल पर कभी भूलकर भी नही आती थी। काशी के बाँसफाटक मुहल्ले मे इनके अभिन्नहृदय सुहृद् पण्डित रघुवीर वैद्य की सडक के ऊपर ही दूकान थी। वही इनके जमने का, बैठने का, चुहलबाजी करने का अखाडा था जहाँ ये अपने दूसरे मित्र ज्योतिषाचार्य पण्डित हृषीकेश उपाध्याय के साथ बैठकर आनन्द से सन्ध्या बिताया करते थे। इन तीनों मित्रों को जमकर हँसी मजाक करते हुए लेखक काशी विश्वविद्यालय से अध्यापन कर लौटते समय सायङ्काल प्राय प्रतिदिन देखा करता था। संस्कृत शब्दो के अर्थ-परमार्थ करने में इतनी अलौकिक क्षमता थी कविचक्रवर्तीजी मे कि ये हिन्दी की फूहड़ गालियो को संस्कृतमयी बतला कर विलक्षण अर्थ मे श्रोताओं को चमत्कृत कर दिया करते थे। तभी तो बनारसी की 'धीचोद' गाली इनके हाथो (धिय चोदयतीति धीचोदः बुद्धिमानित्यर्थ इस व्युत्पत्ति से) बुद्धिमान् पण्डित का अर्थ देने लगती थी। फलत इनके मुँह से जो भी अनाप शनाप हँसी मे निकल जाता, उसे ये देववाणी का शुद्ध शब्द मान उसका उदात्त अर्थ बतला कर अपनी प्रतिभा की छाप लगा देते थे।

कविचक्रवर्तीजी की कविता सरल, सुषमामयी तथा शास्त्रीय चमत्कृति से मण्डित होती थी। ये अपनी कविता उच्च स्वर मे पढ़ते भी थे। लेखक को हिन्दू विश्वविद्यालय के आर्ट्स कालेज के केन्द्रीय हाल मे विलायत जाने के समय महामना मालवीयजी का वह अभिनन्दन अच्छी तरह आज भी याद है जिसमे पण्डित देवीप्रसादजी ने गम्भीर स्वर मे स्वनिर्मित पद्यो का पाठ कर उपस्थित श्रोतामण्डली को चमत्कृत कर दिया था। उन पद्यो म भगवती जगदम्बा

से मालवीयजी की विदेश में सुरक्षा करने की प्रार्थना की गई थी। उसमें इन्होंने बड़े तपाक से अपना वह पद्य पढ़ा था जिसमें 'भगवती कौक्षेयकं बिभ्रती' का समुचित प्रयोग किया था। इन्होंने स्फुट कविताएँ बहुत सी लिखी हैं जो काशी के प्रसिद्ध पत्र 'सुप्रभातम्' में प्रकाशित होती थीं। दुःख है कि आज तक उनका एकत्र संकलन प्रकाशित नहीं हो सका। ये व्रजभाषा की भी बड़ी सरस कविता लिखते थे। ऐसे पद्यों के संग्रह शारदापचीसी (कवित्त) तथा कवितासुधानिधि (संस्कृत-हिन्दी छन्द में) नाम से प्रकाशित भी हुए हैं। संस्कृत में इनके तथा दुःखभंजन कवीन्द्रजी के एक-दो पद्यों की चाशनी चखिए—

कवीन्द्रजी ने अपने ग्रन्थ 'वाग्वल्लभ' का मंगलाचरण इस मनोरम पद्य से किया है—

सर्वत्रप्रीतिपात्रं प्रणयपरिणतप्राणिविश्राणितश्रि,
स्वात्मारामाभिरामं किल निखिलजगन्मोहनं मोहनीयम् ।
चञ्चच्चैतन्य-चिद्रूपमनुपममुपज्ञापरिज्ञाततत्त्वं,
नित्यं निश्छद्म हृत्सद्मनि किमपि महो मेचकं मे चकास्ति ॥

चक्रवर्तीजी की कविता का आस्वाद लीजिए। ये अधोलिखित दोनों पद्य उनकी 'वरवर्णिनी' टीका के आरम्भ में मंगलश्लोक हैं—

या जननी विबुधानां गिरीशनारायणादीनाम् ।
मञ्जुल-मंगल-मूले तस्या देव्याः प्रसादोऽस्तु ॥
चञ्चच्चञ्चल-रश्मिकाञ्चनमहामञ्चस्थितामञ्चितां
काञ्चीकञ्चुकरोचितामतिलसन्नेत्राञ्चलां चिन्मयीम् ।
देवीं वञ्चनजाऽघसञ्चयहरां पञ्चद्विपञ्चीधरां
पञ्चास्यप्रणुतामकिञ्चनधनं काञ्चित्परां चिन्तये ॥

यहाँ पिता तथा पुत्र दोनों की कविता नितान्त अभिराम, सद्यः आकर्षक एवं रमणीय पदशय्या से सम्पन्न है। अनुप्रास की अद्भुत छटा निराली ही है।

पण्डित केदारनाथ सारस्वत

पण्डित देवीप्रसादजी ने संस्कृत समाज का संघटन करने तथा संस्कृत साहित्य के उन्नयन की प्रेरणा दी। वे काशी के नवयुवक विद्वानों एवं कविजनों को अग्रसर होकर संस्कृत साहित्य की उन्नति करने के प्रेरक अग्रदूत थे। उन्हीं के आदेश से 'सुप्रभातम्' नामक बड़ा ही रोचक एवं आकर्षक संस्कृत पत्र काशी से प्रकाशित होता था। इसके सम्पादक थे पण्डित केदारनाथ सारस्वतजी। ये कविचक्रवर्तीजी के बड़े ही निष्ठावान् अनुयायी पण्डित थे। सारस्वतजी का परिवार काशी में अपनी विद्वत्ता के लिए बहुत दिनों से प्रतिष्ठित एवं समादृत माना जाता था। इनके पितामह पण्डित नित्यानन्द मीमांसक भारतेन्दु के समकालीन एक प्रौढ़ धर्मशास्त्री के रूप में लोकविश्रुत थे। हिन्दू समाज की नये युग में उत्पन्न होने वाली धार्मिक समस्याओं का समाधान वे अपनी शास्त्रीय बुद्धि से झटपट कर दिया करते थे। केदारनाथजी के पिता पण्डित पद्मनाभ शास्त्री भी धर्मशास्त्र एवं मीमांसा के प्रौढ़ विद्वान् माने जाते थे। हिन्दू-विश्वविद्यालय के अन्तर्गत 'संस्कृत महाविद्यालय' के वे लोकप्रिय प्राध्यापक थे। पण्डित केदारनाथजी भी अच्छे साहित्यिक थे। ये काशी के रंगीन वातावरण में इतनी तन्मयता से घुलमिल गये थे कि दर्शकों को इन्हें देखकर चकित हो जाना पड़ता था। इनके ऊपर पण्डित रामावतार शर्माजी की प्रतिभा का प्रभाव भरपूर पड़ा था। ये हिन्दी से भी भलीभाँति परिचित थे। 'सुप्रभातम्' के अस्तंगत हो जाने के बाद ये दिल्ली गये और वहीं से

संस्कृतरत्नाकर का सम्पादन करते थे। इनके द्वारा हिन्दी में अनूदित दो महनीय एवं उपयोगी ग्रन्थ बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् (पटना) के द्वारा प्रकाशित किये गये हैं, जिनमें एक है—काव्यमीमांसा तथा दूसरा है—कथासरित्सागर (तीन खण्डों में प्रकाशित)। कविचक्रवर्ती तथा सारस्वतजी के अस्तंगत हो जाने से संस्कृत-संघटन का यह कार्य कुछ धीमा एवं फीका पड़ गया है।

अनेक संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं के संचालक एवं सम्पादक, संस्कृत-साहित्यगगन के प्रसिद्ध विद्वान् केदारनाथ सारस्वत का जन्म १२ मार्च सन् १९०३ ई० को होली के दिन काशी में हुआ। हिन्दूविश्वविद्यालय की रणवीर-संस्कृत-पाठशाला से अपने पिताजी के अवकाश ग्रहण करने पर १९२३ ईस्वी में उन्हीं के रिक्त स्थान पर बीस वर्ष के वय में ये अध्यापक हो गये। सन् १९५३ में 'सस्कृत साहित्य समाज' की स्थापना की और सुप्रसिद्ध संस्कृत-मासिकपत्र 'सुप्रभातम्' का प्रकाशन आरम्भ किया। सस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार एवं सस्कृत-समाज को सुधार कार्यों के लिए प्रेरित करना इसका प्रमुख उद्देश्य था। इस उद्देश्य में इसे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। लगभग १३ वर्षों तक यह निरन्तर चलता रहा। इसमें उच्चकोटि के शोधपरक संस्कृत-लेख एवं संस्कृत-कविता के प्रकाशन से सुप्रभातम् की कीर्ति संस्कृतजगत् में खूब फैली। महामना के हरिजन-मन्त्रदीक्षा के कार्य में इन्होंने 'क्रोडपत्र' नामक हिन्दी दैनिक पत्र सम्पादित कर सुधार के विरोधी विद्वानो के मत का खण्डन विधिवत् किया।

सन् १९४८ ई० में काशी में मुमूर्षु सस्कृतसाहित्यसम्मेलन को म० म० गिरिधर शर्मा के आग्रह तथा उत्साह देने पर दिल्ली ले गये और इसको अखिलभारतीय स्तर पर खड़ा कर दिया और अपनी कर्तव्यनिष्ठा के द्वारा सम्मेलन की 'सस्कृत-रत्नाकर' मासिक पत्रिका का सम्पादन किया तथा सस्कृत का प्रचुर प्रचार किया। ५ दिसम्बर १९५९ ई० में दिल्ली में आपका देहान्त हुआ। अपने धार्मिक औदार्य, सुधारवादी चिन्तन तथा सस्कृत-प्रचार के लिये पण्डित केदारनाथ सारस्वत काशी के नव्य विचारशील विद्वानों में सर्वदा स्मरणीय रहेंगे।

पण्डित मथुराप्रसाद दीक्षित

पण्डितजी के आरम्भिक जीवन का पर्याप्त परिचय नहीं मिलता। प्रायः ९० वर्ष की आयु में भाद्रपद शुक्ल एकादशी रविवार २०२३ वि० सं० (२५ सितम्बर १९६६ ई०) को इनका निधन हुआ। इन्हें महामहोपाध्याय की पदवी भारत सरकार से प्राप्त थी। सम्पादित तथा प्रणीत मौलिक ग्रन्थों का प्रकाशन कर इन्होंने अपने साहित्यिक वैदुष्य का परिचय दिया। इन्होंने 'अभिधानराजेन्द्र' का प्रथम संकलन किया। प्राचीन हिन्दी के ज्ञाता भी थे। 'पृथ्वीराज रासो' जैसे अपभ्रंश हिन्दी काव्य के सम्पादक तथा समीक्षक थे। 'संस्कृत-विश्वकोश' का आरम्भ इनके प्रयास से हुआ जिसकी परिणति 'अत्रिनिर्वचन' नामक ग्रन्थ के रूप में हुई। यह नमूने के तौर पर काशी-संस्कृतविश्वविद्यालय के द्वारा प्रकाशित किया गया था। यह कार्य पण्डितजी के निधन के कारण आगे नहीं बढ़ सका।

दीक्षितजी देशभक्ति तथा राष्ट्रीयता से परिपूर्ण अनेक संस्कृत-नाटकों के रचयिता थे जिनमें वीर पृथ्वीराज नाटक, भारतविजय, शंकरविजय तथा वीरप्रतापविजय प्रमुख थे। इनमें भी राणाप्रताप की वीरता तथा राष्ट्रभक्ति का प्रचारक होने से अन्तिम नाटक विशेष प्रसिद्ध था तथा संस्कृत की परीक्षाओं में भी पाठ्यरूपेण निर्दिष्ट था। 'केलिकुतूहल' कामशास्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थ है। पालि-प्राकृत-व्याकरण का प्रणयन पण्डितजी के अनेक-भाषाज्ञान का

परिचायक है। 'मृत्युविज्ञान' नामक विचारप्रधान ग्रन्थ के रचयिता होने का इन्हें गौरव प्राप्त है। इस प्रकार पण्डितजी की साहित्यसेवा श्लाघनीय तथा उल्लेखनीय है।

पण्डित मथुराप्रसादजी का जन्म उत्तरप्रदेश के हरदोई मण्डल के भगवन्तनगर गाँव में १८७८ ईस्वी मे हुआ। इनकी शिक्षा-दीक्षा का विशेष परिचय नही मिलता, परन्तु इनके जीवन की विशिष्ट घटना है हिमाचल प्रदेश के सोलन के राजा का आश्रयण। ये राजदरबार के कवि थे और इसीलिए इनके अनेक नाटको का प्रणयन एव मञ्चन राजासाहब तथा दरबारी लोगो के मनोरजन के लिए किया गया था। राजा उदार तथा भारतीय सस्कृति और भारतस्वातन्त्र्य के उपासक थे। उस युग मे गान्धीजी की अध्यक्षता मे स्वतन्त्रता-सग्राम अपनी चरम परिणति पर पहुँच रहा था और इसीलिए दीक्षितजी के नाटको मे यह राष्ट्रीय भावधारा की तेजस्विता दृष्टिगोचर होती है।

पण्डितजी की कविता मे प्रसगानुकूल ओज का तथा राष्ट्रभावना का प्रस्फुटित रूप दृष्टिगोचर होता है। राणाप्रताप अपने देशद्रोही भ्राता शक्तिसिह की भर्त्सना इन शब्दो मे कर रहे है—

रे रे निर्घृण देशपातक कुलाङ्गार क्षमाभारक
त्वं सज्जीकुरु कुन्तमाशु निपतत्यूर्ध्वं तवैष क्षणात्।
हत्वा त्वामवनेर्निरस्य कलुषं त्वत्पापशुद्धिं चर-
न्नात्मज्ञाति-विपक्षपक्षचरणे गर्वं च ते चूर्णये॥

—वीर प्रताप विजय ४।३६

गीतियो की रचना से भी ये नाटक मञ्जुल एव मनोहारी है।



पण्डित लक्ष्मण शास्त्री द्रविड

(आस्पद—द्रविड; उपाधि—महामहोपाध्याय)

महामहोपाध्याय प० लक्ष्मण शास्त्री द्रविड एक अलौकिक विद्वान्, कर्मठ पण्डित और गतिशील व्यक्तित्व के पुरुष थे। सस्कृत के पण्डितों मे विद्वत्ता तो अवश्य उपलब्ध होती हैं परन्तु उनमे प्राय कर्मठता का नितान्त अभाव पाया जाता है। पं० लक्ष्मण शास्त्री द्रविड के व्यक्तित्व की विशेषता यह थी कि यह एक कर्मठ व्यक्ति थे। भारतीय धर्म एव सस्कृति को अपने पूर्ण वैभव के साथ, विशुद्ध रूप में प्रतिष्ठापित करने के लिए, इनका विशेष आग्रह था। सामान्य रूप से इन्हें अपरिवर्तनवादी पक्ष का पक्षधर मान सकते है। ये प्राचीन शास्त्रीय अतएव उपादेय पद्धति से रच मात्र भी हटकर आगे चलने के लिए तैयार नही थे। इसीलिए इन्होने शारदा ऐक्ट का अपने प्राणपण से विरोध किया था। यह विरोध केवल शब्दत ही नही था, बल्कि अपनी 'महामहोपाध्याय' की पदवी का परित्याग कर इन्होंने व्यवहारत भी विरोध-प्रदर्शन किया था। यह तो हुआ इनके जीवन का नकारात्मक पक्ष। परन्तु इसका सकारात्मक पक्ष तो और भी प्रबल था। मनु के द्वारा प्रतिपादित धर्म वर्णाश्रमधर्म पर आश्रित है। इसी वर्णाश्रमधर्म का प्रचार करने के लिए इन्होंने एक नवीन संस्था की स्थापना की थी जिसका नाम 'वर्णाश्रम-स्वराज्यसंघ' रखा था। इसके प्रचार के लिए इन्होंने हिन्दी तथा सस्कृत दोनो भाषाओं में पत्रों का प्रकाशन कर अपने मन्तव्य का प्रचार किया। वर्णाश्रमधर्म के पालन के द्वारा ही भारतवर्ष में स्वराज्य की प्राप्ति हो सकती है—इस मौलिक सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए इन्होंने 'वर्णाश्रम स्वराज्य संघ' की स्थापना की थी। इस संघ का कार्यक्षेत्र केवल उत्तरभारत तक ही सीमित नही था, अपितु दक्षिणभारत मे भी इसका प्रचार था। सघ ने वर्णाश्रम की रक्षा के लिए बड़ा ही महनीय कार्य किया जो सदा के लिए स्मरणीय रहेगा।

जन्म

प० लक्ष्मण शास्त्री द्रविड का जन्म तो इसी काशी नगरी मे हुआ था परन्तु इनके पूर्वजो का मूल स्थान मद्रास प्रान्त (आजकल तमिलनाडु) के प्रसिद्ध नगर कुम्भकोणम् के समीप ही 'त्रिसिनील्लुर' नामक गॉव था जहाँ वे निवास करते थे। वहाँ पर इनके पूर्वज 'घनपाठी' नाम से प्रसिद्ध थे क्योकि उन्होने कृष्णयजुर्वेद के कठिनतम विकृति घन का पाठ करने मे अत्यन्त ख्याति प्राप्त की थी। इनके पिता अपनी समस्त सम्पत्ति छोडकर काशीवास की तीव्र अभिलाषा के कारण यहाँ आये और अयाचित वृत्ति से अपना निर्वाह करते थे। ऐसे परम भक्त पिता के ये पुत्र-रूप में उत्पन्न हुए। इनका जन्म स० १९३१ वि० (१८७४ ईस्वी) में हुआ था।



पं० लक्ष्मण शास्त्री द्रविड

शिक्षा

चौदह वर्षों तक लक्ष्मण शास्त्री ने अपने पिता से कृष्णयजुर्वेद तथा गुरुनाथ भट्ट नामक विद्वान् से ऋग्वेद का अध्ययन कर प० कृष्ण शास्त्री से साहित्यशास्त्र का विधिवत् अध्ययन किया। इसके अनन्तर दरभगा नरेश के गुरु महामहोपाध्याय प० सुब्रह्मण्य शास्त्री की कन्या से इनका विवाह हुआ। अपने श्वशुर की कृपा से इन्होने वेदान्त, साख्य आदि शास्त्रों का अध्ययन किया। उस समय गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, काशी मे न्यायशास्त्र की गद्दी पर म० म० प० कैलासचन्द्र शिरोमणि विद्यमान थे। इन्ही उद्भट विद्वान् से इन्होंने न्यायशास्त्र का पाठ पढ़ा। काशी के सस्कृतकालेज तथा कलकत्ता के भी सम्कृतकालेज की सर्वश्रेष्ठ परीक्षाएँ इन्होने उत्तीर्ण की। उस समय श्रीमान् काशीनरेश प्रतिभावान् सस्कृत के छात्रों को एक छात्रवृत्ति दिया करते थे जिसकी कल्पना भी इस युग मे नही की जा सकती। यह छात्रवृत्ति एक रुपया से प्रारम्भ होती थी और एक साल के बाद एक रुपये की इसमे वृद्धि होती थी। इस वृत्ति की अधिकतम सीमा ग्यारह रुपये थी। इसी अल्पवृत्ति को प्राप्त कर लक्ष्मण शास्त्री अपना तथा अपने कुटुम्ब का पालन-पोषण करते हुए सस्कृत का अध्ययन करने लगे। बीस वर्ष के वय तक ये दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् हो गये थे।

अध्यापन

सन् १६०२ ई० मे अपने जीवन के अट्ठाइसवे वर्ष मे इनकी नियुक्ति काशी की रणवीर सस्कृत पाठशाला मे एक साधारण सस्कृत अध्यापक के रूप मे हुई, जहाँ ये लगातार ग्यारह वर्षों तक अध्यापन कार्य करते रहे। इसके पश्चात् कलकत्ता विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध वाइसचान्सलर, विख्यात गुणग्राही, सर आशुतोष मुकर्जी ने इनकी विद्वत्ता से प्रसन्न होकर इन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय मे सस्कृत के प्राध्यापक के पद पर नियुक्त किया। वही रहकर लगातार चौदह वर्षों तक इन्होने दर्शनशास्त्र का अध्यापन किया। सन् १६२६ ई० मे इन्होने इस पद से अवकाश प्राप्त कर लिया, यद्यपि अधिकारी इनसे और अधिक समय तक कार्य करने का आग्रह कर रहे थे। इसी काल मे सरकार ने इन्हे महामहोपाध्याय की उपाधि प्रदान की थी। अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् ये काशी चले आये। यहाँ आकर इन्होने सस्कृत-विद्या के अध्ययन-अध्यापन का प्रचार तथा प्रसार करना प्रारम्भ कर दिया।

सनातनधर्म के सरक्षण का इनका कार्य भी बडा ही महत्त्वपूर्ण था। सन् १६२७-२८ के आस पास शारदा ऐक्ट के पास होने पर इन्होने उसे धर्मविरोधी ऐक्ट या कानून उद्घोषित किया और इस कानून के प्रति अपना विरोध प्रदर्शन करने के लिए अपनी महामहोपाध्याय की पदवी का भी परित्याग कर दिया। स० १६८७ वि० (१६३० ई०) मे काशी में ही इन्हें कैलासवास की प्राप्ति हुई।

महत्त्वपूर्ण कार्य

प० लक्ष्मण शास्त्री बड़े ही कर्मठ और क्रियाशील विद्वान् थे। इन्होने सनातन धर्म तथा संस्कृतविद्या के प्रचार और प्रसार में अपना समस्त जीवन ही खपा दिया था। इनके द्वारा स्थापित की गई सस्थाओं तथा परिषदों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है—

(१) शिवकुमार-भवन की स्थापना—कलकत्ता मे शास्त्रीजी ने म० म० प० शिवकुमार शास्त्री की स्मृति में 'शिवकुमार-भवन' की स्थापना की थी। पचासों हजार रुपये

जनता से एकत्रित कर इस भवन का निर्माण इन्होने किया था। यहाँ प्रतिदिन (१५०) डेढ़ सौ छात्रो के निवास, भोजन तथा अध्ययन की सम्यक् व्यवस्था की गई थी। यह भवन आज भी अवस्थित है तथा सस्कृत भाषा के प्रचार का अद्वितीय साधन तथा माध्यम है।

(२) साङ्गवेद-विद्यालय यह काशी के रामघाट पर स्थित प्रसिद्ध विद्यालय है। इसका प्रधान उद्देश्य प्राचीन पद्धति से वेद और वेदागो का अध्यापन करना है। इसकी स्थापना कलकत्ता के श्रेष्ठिपवर पण्डित श्री वल्लभरामजी मेहता के उदार दान के फल स्वरूप हुई है। इस विद्यालय मे परीक्षित विशिष्ट विद्वानो को यावज्जीवन एक सौ रुपया प्रतिवर्ष दक्षिणा के रूप मे दिया जाता है। यह इनका वेतन नही है, बल्कि आदरपूर्वक प्रदान की गई दक्षिणा मात्र है।

इस विद्यालय मे छात्रो की योग्यता का मापदण्ड लिखित परीक्षा न होकर मौखिक शास्त्रार्थ है। शास्त्रार्थ के लिए प्रशिक्षण देने के हेतु मासिक शास्त्रार्थ का आयोजन किया जाता है। परन्तु वर्ष मे एक बार विशिष्ट शास्त्रार्थ प्रतियोगिता के द्वारा ही कक्षा मे उन्नति प्रदान की जाती है। इस विद्यालय के स्थायी सभापति महाराजाधिराज काशीनरेश डॉ० विभूतिनारायण सिंह है। इस विद्यालय मे प्राचीन सस्कृत विद्वानो के बृहदाकार तैलचित्र स्थापित किये गये है। इसके साथ ही प्राचीन ग्रन्थो के आधार पर विभिन्न शास्त्रो मे वेदो तथा वेदागो के जो स्वरूप वर्णित किये गए है उनके भी तैलचित्र वहाँ प्रतिष्ठित है। विभिन्न शास्त्रो की मूर्ति के तैलचित्र का निर्माण इस विद्यालय की एक विशिष्ट वस्तु है जो सभवत अन्यत्र दिखलाई नही पडती। इसका विस्तृत परिचय आगे दिया गया है।

ब्राह्मण-महासम्मेलन

आजकल प्राचीन धर्म का जो ह्रास हो रहा है तथा अपने धर्म एव सस्कृति के प्रति जो अश्रद्धा बढ़ती जा रही है उसके निराकरण के लिए शास्त्रीजी ने काशी मे एक महान् सम्मेलन का आयोजन सन् १९२५ ई० के आसपास किया था जिसमे चारो पीठो के चारो शकराचार्य, रामानुज तथा वल्लभ सम्प्रदाय के पीठाध्यक्ष, अनेक विद्वान् तथा पण्डित आमत्रित किये गये थे। यह महान् सम्मेलन **ब्राह्मण-सम्मेलन** के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस सम्मेलन मे आधुनिक सुधारवादी विषयो—जैसे विधवाविवाह, अछूतोद्धार, रजस्वला कन्याओं का विवाह, स्पर्शास्पर्श आदि विषयो पर धर्मशास्त्रो की क्या व्यवस्था है, इसके पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष दोनो का शास्त्रीय विधान खोजकर निकाला गया था। यह सम्मेलन अनेक अशो मे सफल भी हुआ। कम से कम इतना तो शास्त्रीजी ने अवश्य ही किया कि चारो शकराचार्यों, रामानुज, वल्लभ, माध्व और निम्बार्क सम्प्रदाय के पीठाधीश्वरो को एक मच पर ले आकर एकत्रित कर दिया और सामान्य जनता को धर्म के क्षेत्र मे इन आचार्यों से प्रकाश तथा पथ-प्रदर्शन प्राप्त करने का एक शुभ अवसर प्रदान किया।[१]

इस 'ब्राह्मण महासम्मेलन' के फलस्वरूप शास्त्रीजी ने सनातनधर्म के प्रचार के लिए हिन्दी मे 'ब्राह्मण महासम्मेलन' नामक साप्ताहिक पत्र तथा सस्कृत मे एक मासिक पत्रिका का भी प्रकाशन प्रारम्भ किया था। कुछ दिनो के पश्चात् 'ब्राह्मण-महासम्मेलन' पत्र का नाम बदल कर 'पण्डितपत्र' रख दिया गया। परन्तु राष्ट्रविरोधी नीति के कारण यह पत्र अकाल मे ही काल-कवलित हो गया।

---

१ इस सम्मेलन का विस्तृत वर्णन अगले पृष्ठो मे देखिए।

वर्णाश्रम-स्वराज्य-संघ

सनातनधर्म के प्रचार तथा सस्कृतविद्या के प्रसार के लिए प० लक्ष्मणशास्त्री ने 'वर्णाश्रम-स्वराज्य-संघ' नामक एक सस्था भी स्थापित की थी जिसका उद्देश्य वर्णाश्रम-धर्म की रक्षा करते हुए स्वराज्य की प्राप्ति करना था। सन् १९२९ ई० में लाहौर में होने वाले काँग्रेस अधिवेशन के अवसर पर, इस सघ के तत्त्वावधान में, शास्त्री महोदय ने लाहौर में अपने विरोध का प्रदर्शन भी किया था। परन्तु दु.ख के साथ लिखना पड़ता है कि सन् १९३० ई० में शास्त्रीजी के निधन के कारण इनके द्वारा स्थापित 'वर्णाश्रम-स्वराज्य सघ' तथा 'पण्डितपत्र' दोनों ही कराल काल के गाल में विलीन हो गये।

अखिलभारतीय ब्राह्मण-महासम्मेलन

यह ब्राह्मण-महासम्मेलन म० म० प० लक्ष्मणशास्त्री द्रविड़ के कर्मठ जीवन की महनीय उपलब्धि है। इसकी स्थापना करके इन्होने सनातनधर्म के प्रति अपनी गाढ़ अनुरक्ति का, आधुनिक युग मे उत्पन्न होनेवाली नाना प्रकार की धार्मिक विसगतियो के प्रति अपनी विरक्ति का, तथा नवीन-युगोपयोगी धार्मिक प्रचार एव प्रसार के प्रति अपनी आसक्ति का जो उदात्त परिचय दिया है वह पण्डित समाज के लिए— काशी की विद्वन्मण्डली के लिए भी—एक सुखद और चिरस्मरणीय घटना है। यह प० लक्ष्मण शास्त्रीजी का ही काम था कि काशी के धार्मिक मच के ऊपर इन्होने समग्र भारतवर्ष के आचार्यों—आद्य शकराचार्य के द्वारा प्रतिष्ठापित विभिन्न शकराचार्यों का, रामानुजाचार्य के द्वारा स्थापित मठो के अध्यक्ष विशिष्टाद्वैती आचार्यों का और वल्लभाचार्यजी के द्वारा प्रतिष्ठित प्रख्यात गद्दियो के अधिपति वल्लभसम्प्रदायीय आचार्यों का जैसा उल्लासमय जमघट जमा दिया था वैसा फिर देखने को प्राप्त नही हो सका। वह दृश्य आज भी हमारे नेत्रो के सामने नाच रहा है जब वल्लभाचार्य की पालकी को अपने कन्धों पर ढोने के लिए काशी से सेठो मे होड लग गयी थी। इसी प्रकार से चारों पीठों के शकराचार्य अपने पूर्ण वैभव और साज सज्जा के साथ उपस्थित थे। सोने के सिहासन पर शकराचार्यजी विराजमान थे। उनकी स्वर्णजटित पालकी के दोनों ओर मशाल लिये हुए दो मशालची चल रहे थे। सुवर्ण और रजत से मण्डित गगा-जमुनी राजच्छत्र उनके सिर पर विराजमान थे। अनेक चमरग्राही पुरुष उन्हे चँवर डुलाते हुए चल रहे थे। सचमुच ही वह दृश्य अलौकिक और देवताओं के लिए भी ईर्ष्या का विषय था।

यह ब्राह्मण-महासम्मेलन काशी के मिसिरपोखरा नामक स्थान में स० १९८५ वि० तदनुसार सन् १९२८ ई० की ५ नवम्बर से ७ नवम्बर तक हुआ था। महाराजाधिराज तत्कालीन दरभगानरेश श्री रमेश्वर सिहजी इस सम्मेलन के सभापति थे। सम्मेलन की प्रबन्ध-समिति में म० म० प० पचानन तर्करत्न, वामाचरण भट्टाचार्य तथा म० म० लक्ष्मण शास्त्री द्रविड़ थे। पण्डितराज राजेश्वर शास्त्री द्रविड़, म० म० अनन्तकृष्ण शास्त्री, म० म० हाराणचन्द्र भट्टाचार्य आदि इसके प्रमुख कार्यकर्ता थे। महाराजाधिराज काशीनरेश श्री प्रभुनारायण सिंहजी ने स्वागतसमिति के अध्यक्ष पद से जो सारगर्भित भाषण दिया था वह आज भी—अर्धशताब्दी के व्यतीत हो जाने पर भी—उतना ही रोचक, संग्रहणीय तथा उपादेय है। उन्होंने अपने भाषण में कहा था[1] कि "भारतीय समाज का नेतृत्व ब्राह्मणों के ही अधिकार में है। ब्राह्मण ही इस देश का स्वभावसिद्ध नेता है। उसी के जागरूक रहने पर ही देश में शिक्षा की उन्नति,

---

१. द्रष्टव्य—विद्यामन्दिर पत्रिका—वर्ष १३ अक ११ (१९७९ ई०), पृ० १०–१९, रामनगर (वाराणसी)।

राष्ट्र का सरक्षण, नाना व्यवसायो की उन्नति तथा सामाजिक न्याय हो सकता है। साधारण जनता मे दीख पडने वाला यह धार्मिक ह्रास ब्राह्मणो के द्वारा की गई उपेक्षा का फल है। इसलिए जब तक ब्राह्मण सघटित होकर अपने दायित्व का वहन नही करेगे तब तक देश का कल्याण नही हो सकता। आजकल धार्मिक जगत् मे जो विच्छृखलता दिखलाई पड रही है उसका निवारण किया जा सकता है। परन्तु जनता मे शुद्ध सनातनधर्म के प्रचार तथा प्रसार का उत्तरदायित्व ब्राह्मणो के ही ऊपर है। यही ब्राह्मण महासम्मेलन का प्रधान उद्देश्य है।" आपने अपने भाषण की समाप्ति धर्म तथा ब्राह्मण के महत्त्व के प्रतिपादक निम्नाकित श्लोको से की है—

सत्य. सनातनो यश्च, धर्मो देवर्षिसत्कृत ।
स कथ विप्लवेभ्यश्च नात्मानमुद्धरिष्यति ॥
यत्पादपद्ममधरत् पद्मनाभो हृदा स्वयम् ।
तेभ्यो जगत्पुनीतेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो नुम सदा ॥

इस सम्मेलन के उद्देश्यो की पूर्ति के लिए प० लक्ष्मण शास्त्री द्रविड ने काशी मे 'वर्णाश्रम स्वराज्य सघ' नामक एक सस्था की स्थापना की थी। यह सस्था अनेक वर्षों तक जीवित रही। सघ के अनेक अधिवेशन भारत के विभिन्न प्रदेशो मे प्रतिवर्ष होते थे। सनातन धर्म के प्रचार मे इस सघ का बडा ही अधिक योगदान रहा अनेक वर्षों तक धर्म की रक्षा तथा प्रचार का इस सघ ने अच्छा कार्य किया था। परन्तु काल की गति के साथ ही इस सघ का ह्रास होने लगा और धीरे धीरे यह काल के विकराल गाल मे चला गया परन्तु इस सघ ने अल्पावधि मे ही धर्म प्रचार का जो उपयोगी कार्य किया था उसे अस्वीकार नही किया जा सकता। इस ब्राह्मण महासम्मेलन तथा वर्णाश्रम स्वराज्य सघ की स्थापना शास्त्रीजी के कर्मठ जीवन तथा अध्यवसाय का ही फल था।

शास्त्रीजी के शिष्य
पण्डित भाऊ शास्त्री बझे

वेदान्तवाचस्पति पण्डित भाऊ शास्त्री वझे का जन्म काशी के एक मध्यमवर्गीय महाराष्ट्र ब्राह्मण वश मे १८ सितम्बर १८८८ ईस्वी मे हुआ उनका अध्ययन काशी मे ही हुआ। उस युग के महनीय वेदान्तशास्त्र के अध्यापक पण्डित लक्ष्मण शास्त्री द्रविड मे उन्होने वेदान्त का गम्भीर अध्ययन किया। वेदान्त का प्रवचन करने मे उन्हे विशेष योग्यता तथा क्षमता प्राप्त थी और इसीलिए वे 'प्रवचनकेसरी' की उपाधि से मण्डित किये गये। नागपुर तथा पुणे उनके शास्त्रीय प्रवचन के मुख्य केन्द्र थे। सुना है कि उनके अध्यात्मविषयक प्रवचनो मे श्रोताओं की इतनी अधिक भीड होती थी कि सडक बन्द हो जाती थी। इन श्रोताओं मे साधारण जनता न होकर नगर के प्रमुख विद्वान् तथा चिन्तक जुटते थे। भाऊ शास्त्रीजी की वक्तृत्व शक्ति अद्भुत थी तथा हृदयावर्जक थी। इसी सन्दर्भ मे नागपुर के एक वरिष्ठ शासक के आग्रह पर सरकार ने उन्हे 'महामहोपाध्याय' की पदवी से अलकृत किया। हिन्दू-विवाह विषयक **शारदाबिल** को शास्त्रविरुद्ध होने पर भी सरकार के द्वारा कानून बनाने के विरोध मे इन्होने अपने गुरु लक्ष्मण शास्त्री के सग मे सामूहिक रूप से 'महामहोपाध्याय' की पदवी छोड दी।

भाऊ शास्त्रीजी इतिहास विषय के जागरूक अध्येता थे। भारतीय इतिहास, विशेषकर

काशी का इतिहास जानने तथा अनुसन्धान करने मे वे बडी रुचि रखते थे। **काशीतिहासः** नामक उनका ग्रन्थ देववाणी मे काशी का सक्षिप्त ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करता है। इस ग्रन्थ के पूर्व ही उन्होने मराठी मे 'माझा चित्रपट आणि काशी चा सम्पूर्ण इतिहास' तथा हिन्दी मे 'काशीयात्रा प्रकाश' नामक ग्रन्थो का प्रणयन किया। ये तीनो ग्रन्थ छोटे होने पर भी नितान्त तथ्यपूर्ण है।

इनके पुत्र पण्डित रामचन्द्र शास्त्री बड़े वेदान्ताचार्य थे तथा पिता के अनन्य सेवक तथा कार्य को अग्रसर करने वाले थे। **काशीतिहास** का प्रकाशन इन्ही के परिश्रम का फल है। भाऊ शास्त्रीजी का निधन २४ मई १९५२ ईस्वी मे हुआ।





पं० राजेश्वर शास्त्री द्रविड

पण्डित राजेश्वर शास्त्री द्रविड

(आस्पद—द्रविड, उपाधि—पण्डितराज)

प० लक्ष्मण शास्त्री द्रविड के द्वारा प्रवर्तित साङ्गवेद विद्यालय तथा वर्णाश्रम स्वराज्य सघ आदि कार्यों मे शास्त्रीजी के असामयिक निधन के कारण जो रिक्तता आ गई थी उसकी पर्याप्त पूर्ति उनके सुयोग्य पुत्र प० राजेश्वर शास्त्री द्रविड के द्वारा की गई। राजेश्वर शास्त्री जी के अध्ययन तथा अध्यापन का प्रधान विषय नव्यन्याय था। इस विषय का सम्यक् परिशीलन इन्होने अपने गुरुवर म० म० वामाचरण भट्टाचार्य के चरणो मे बैठकर किया था। इस विषय के ये निष्णात प्रतिभाशाली तथा तर्ककुशल विद्वान् माने जाते थे। फलत शास्त्र के गहन विषयो के विश्लेषण के अवसर पर प० राजेश्वर शास्त्री अपनी सूक्ष्म विषयग्राहिणी बुद्धि का परिचय देते हुए विद्वानो को चमत्कृत कर देते थे। आरम्भ से ही इन्होने वेतनभोगी बनकर नौकरी करने अथवा अध्यापकी जीवन बिताने का विचार छोड दिया था। फलत अपने पिता प० लक्ष्मण शास्त्री के द्वारा स्थापित साङ्गवेदविद्यालय की व्यवस्था करने तथा उसके अध्यक्ष पद को स्वीकार करने के लिये आग्रह करने पर ही इन्होने इस पद को सुशोभित किया। यही पर रहकर ये भारतीय दर्शन की विभिन्न शाखाओं के मूर्धन्य ग्रन्थो का अध्यापन करते रहे। इस विद्यालय मे अध्यापक का कार्य करते समय इन्होने न्यायशास्त्र के अनेक ग्रन्थो की टीका टिप्पणी लिखी और उन्हे प्रकाशित किया।

सन् १९४० ई० म इनके जीवन मे एक नया मोड आया। इसी वर्ष बिहार के राज्यपाल लोकनायक एम० एस० अणे इस विद्यालय की अध्यक्षता करने के लिए काशी आये हुए थे। उन्होने अपने भाषण मे प्राचीन राजनीति के अध्ययन अध्यापन पर विशेष बल दिया और इस विद्यालय मे राजनीतिविभाग का उद्घाटन भी किया। तभी से राजेश्वर शास्त्री ने न्यायशास्त्र का अध्यापन छोडकर प्राचीन राजनीति के अध्ययन-अध्यापन मे अपना जीवन लगा दिया। वाराणसेय सस्कृत-विश्वविद्यालय की स्थापना होने पर राज्यपालजी की प्रेरणा से जब प्राचीन राजनीति शास्त्र का विभाग प्रारम्भ हुआ तब विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति प० सुरतिनारायणमणि त्रिपाठी ने इन्हे राजनीतिशास्त्र विभाग के अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित किया। यहाँ रहकर शास्त्रीजी ने प्राचीन राजनीति का गम्भीर अध्ययन किया, जिसके फलस्वरूप इन्होने अनेक ग्रन्थो की रचना कर अपनी प्रतिभा का प्रसाद सस्कृत के पण्डितो को दिया। साथ ही ये वर्तमान महाराजा काशीनरेश डॉ० विभूतिनारायण सिह के राजगुरु भी रहे। महाराजा के द्वारा स्थापित 'काशीराज न्यास' के ये एक प्रधान सदस्य थे। इस ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित 'पुराण' नामक अर्धवार्षिक पत्रिका के सम्पादकीय मण्डल मे भी रहे और विभिन्न अवसरो पर इन्होने इस पत्रिका मे प्राचीन राजनीति के सम्बन्ध मे अनेक विद्वत्तापूर्ण निबन्धो का प्रकाशन भी किया।

शास्त्रीजी महाराजा काशीनरेश के धार्मिक कार्यों के परामर्शदाता ते। महाराजा जिन धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान किया करते थे उनमें शास्त्रीजी का सहयोग तथा परामर्श रहता था। ये काशीनरेश के महाराज कुमार के 'ट्यूटर' भी थे। इन्होने तर्कशास्त्र के साथ ही राजकुमार को वेद और वेदाङ्गों की विधिवत् शिक्षा दी थी।

शास्त्रीजी समय-समय पर विचारगोष्ठी (सेमिनार) का भी आयोजन काशीनरेश की अध्यक्षता में किया करते थे जिसमे ये प्राचीन राजनीति शास्त्र के पण्डितो तथा आधुनिक राजनीति के विद्वानों को आमन्त्रित कर विचार-विनिमय करते थे। इसके साथ ही ये आधुनिक राजनीति के पण्डितों को प्राचीन भारतीय राजनीति के तत्त्वो से परिचित कराने का भी प्रयास करते थे।

यह अत्यन्त दु ख का विषय है कि अभी हाल ही मे (सन् १६७६ ई० मे) इनका असामयिक देहावसान हो गया है।

वेद का महत्त्व

धर्म की महत्ता, उसके प्रतिपादक वेद का महत्त्व तथा उसके प्रकाशन की क्षमता रखने वाले ब्राह्मणो की उपादेयता के विषय में यह प्राचीन श्लोक तीनो मे परस्पर सामञ्जस्य स्थापित करते हुए एक बडे महत्त्व की बात कह रहा है—

उच्चैर्गतिर्जगति सिद्ध्यति धर्मतश्चेत्
तस्य प्रमा च वचनैः कृतकेतरैश्चेत्।
तेषां प्रकाशनदशा च महीसुरैश्चेत्
तानन्तरेण निपतेत् क नु मत्प्रणामः॥

श्लोक का आशय है कि धर्म के ही द्वारा ससार मे मानवों की उच्चतम गति अर्थात् मुक्ति सिद्ध होती है और उस धर्म का ज्ञान अकृत्रिम, अपौरुषेय तथा नित्य विचारो के द्वारा अर्थात् वेदो के द्वारा सम्पन्न होता है और उन अकृत्रिम वचनों—वेदो—का प्रकाशन तपस्वी ब्राह्मणों के ही द्वारा सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में ऐसे ब्राह्मणो को छोड़कर प्रणाम कहाँ गिरे? अर्थात् तद्व्यतिरिक्त किनके सम्मुख अपना मस्तक झुकाया जाय? इन तीनों की उच्चगति—धर्म-वेद-ब्राह्मण का मञ्जुल समन्वय—ही जगत् के प्राणियो का उद्धार करने का एकमात्र साधन है। फलत· वेद के द्वारा व्यवस्थित समाज ही विश्व के कल्याण का सर्वोपरि साधन है—इस विषय में भारतीय विद्वानों में ऐकमत्य है। देखिए, अर्थशास्त्र के प्रणेता कौटिल्य त्रयी द्वारा व्यवस्थित समाज की महिमा के विषय में उद्घोष कर रहे है—

व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति॥

वेद ही आर्यों के आचरण की मर्यादा को व्यवस्थित करता है, चार वर्ण तथा चार आश्रमों की स्थिति निर्धारित करता है। फलत· वेदत्रयी के द्वारा लोक की—ससार की; रक्षा होती है। वेद के द्वारा रक्षित लोक ही प्रसन्न रहता है—उन्नति प्राप्त करता है। वह कभी विपन्न नहीं होता—कष्ट नही पाता। इसी तथ्य के आधार पर ही तो धर्मशास्त्रों की रचना हुई है। श्रुति ने जो संक्षिप्त शब्दों में कहा है, स्मृति उन्हीं का अनुवर्तन करती है। इसीलिए महाकवि कालिदास ने रघुवंश में कहा है—"श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्" अर्थात् श्रुति का अनुगमन स्मृतियाँ करती हैं। स्मृतियों की वेदानुगामिता सुप्रसिद्ध है। मनुस्मृति ने स्पष्ट शब्दों में कहा

है कि जो कुछ यहाँ धर्मचर्चा की गई है वह सब वेदानुगामी है। वह धर्म वेद में कहा गया है, क्योंकि वेद ही सब ज्ञानों का आगार है—

यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥

—मनुस्मृति २।७

यही वैदिक दृष्टि है राजेश्वर शास्त्रीजी की भारतीय राजनीति के विषय में।

ग्रन्थ

पण्डितराज राजेश्वर शास्त्री द्रविड़ ने हिन्दी में दो नवीन ग्रन्थो का प्रणयन कर प्राचीन भारतीय राजनीति के स्वरूप का स्पष्ट परिचय दिया है। प्रथम ग्रन्थ का नाम है—(१) **शान्ति का अग्रदूत** तथा दूसरे का नाम है **वेदों का अपौरुषेयत्व**—जो प्रथम ग्रन्थ का ही द्वितीय भाग बतलाया गया है। 'शान्ति का अग्रदूत' नामक ग्रन्थ भारतीय राजनीति के नाना विषयों से सम्बन्ध रखता है, यथा— भारतीय राजनीति तथा धर्म का सम्बन्ध, पश्चिमी तथा पूर्वी नीति की तुलना के अनन्तर सन्धि का स्वरूप तथा भेद दिखलाया गया है। वर्णाश्रमधर्म के अन्तर्गत क्षात्रधर्म का रूप-विवेचन किया गया है। भारतवर्ष मे निर्वाचन की शैली दिखाई गई है। उम्मीदवारो के गुणो की परीक्षा दिखलाकर वास्तविक जनमत के रूप का निरूपण है। नीति तथा धर्म का सामञ्जस्य दिखलाकर सत्त्वगुण को राजनीति का प्राणरूप बताया गया है। तदनन्तर साम, दाम, दण्ड, भेद के स्वरूप का विवेचन किया गया है तथा इनके प्रयोग के काल का सकेत दिया गया है। दान के विषय मे राजनीति की दृष्टि क्या होनी चाहिए—आदि विषयो के शास्त्रप्रमाण से सवलित सारगर्भित विवेचन के साथ प्राचीन भारत की राजनीति के सिद्धान्त व्याख्यात है।

भारतीय राजनीति के विवेचन के अनन्तर उसकी आधारशिला की विवेचना आवश्यक है। वह आधारशिला वेद ही है। नीति का लक्षण शास्त्रीजी ने इस प्रकार किया है—**प्रत्यक्ष-परोक्ष-अनुमानलक्षणप्रमाणत्रयनिर्णीतायां फलसिद्धौ देशकालानुकूल्ये सति यथासाध्यं उपायानुष्ठानलक्षणा क्रिया नीतिः नयः।**

अर्थात् प्रत्यक्ष, परोक्ष, अनुमान आदि तीनो प्रमाणो की कसौटी पर कसकर फलनिष्पत्ति के लिए जिन उपायों का निर्णय किया जाता है, उनका देश, काल और सामर्थ्य की सगति में प्रयोग करने की विधि नीति अथवा नय है।

(२) इस नीति के परिज्ञान के लिए वेद का ज्ञान आवश्यक है। राजेश्वर शास्त्री ने **वेदों का[१] अपौरुषेयत्व** नामक अपने लघुकाय, परन्तु महत्त्वशाली ग्रन्थ में वेद के स्वरूप का, नित्यत्व का एवं अपौरुषेयत्व का विमर्श बड़े तर्क तथा युक्ति के सहारे किया है। वेद को स्थायी संघटन का मुख्य आधार बताकर संघटन और सुमति, स्थायी संघटन के स्वरूप एव साधन का निरूपण प्रमाणों द्वारा किया गया है। वैदिक मन्त्र शब्दमय नही है जिससे इनकी रचना का प्रसग उपस्थित होता हो। वे तो परमात्मा के निःश्वासरूप अलौकिक शब्दराशि हैं जिनका दर्शन ऋषियों ने अपने प्रातिभ चक्षु के द्वारा किया—इतना ही कहा जा सकता है। वेद के कालनिर्णय के प्रयास को ग्रन्थकार पल्लवग्राही मानता है। वेद सर्वथा अपौरुषेय है—इसका

१. प्रकाशक—सांगवेदविद्यालय-स्थित गीर्वाणवाग्वर्धिनी सभा, रामघाट, वाराणसी, सं० २०२८ विक्रमी।

प्रतिष्ठापन राजेश्वर शास्त्रीजी ने बड़े ही मार्मिक तर्कों के द्वारा किया है। ग्रन्थ के अन्त मे वे वेदो के महत्त्व का प्रतिपादन बडे ही स्पष्ट शब्दो मे करते है—

वेदो की विचारधारा अविच्छिन्न गति से भारतीय जन-जीवन को प्रभावित करती रही है। इतिहास इसका साक्षी है कि विषम परिस्थितियो मे वेदो का आश्रय लेने से भारतीय सस्कृति का अस्तित्व बना रहा। वेदो की ओजस्विनी शक्ति हमे प्रभावित करती रही है। वेद ही भारतीय सस्कृति का एकमात्र माध्यम एव प्रतीक है। वेद ही भारतीय राष्ट्र की आत्मा है और इसीलिए वेदो को धर्म का मूल बताया जाता रहा है

वेदोऽखिलो धर्ममूलं सर्वज्ञानमयो हि सः।

इस प्रकार वेद सब के हितकारक मार्ग का उपदेशक तथा परम सुहृद् होने से भारतीयो द्वारा परम आदरपूर्वक सेवनीय है।[१]

(३) प० राजेश्वर शास्त्रीजी की सबसे महत्त्वपूर्ण कृति कौटिलीय अर्थशास्त्र की **वैदिक-सिद्धान्तरक्षिणी** नामक टीका है। यह टीका कामन्दकीय नीतिसार तथा अर्थशास्त्र की जयमगला टीका को आधार मानकर लिखी गयी है। इन्होने सागवेद विद्यालय की राजनीति कक्षा मे समय समय पर कौटिलीय अर्थशास्त्र के सम्बन्ध मे जो भाषण दिया था उन्ही व्याख्यानो को सकलित कर इस ग्रन्थ का प्रकाशन किया गया है। इन्होने अर्थशास्त्र के १५ अधिकरणो मे से प्रथम अधिकरण के समग्र १७ अध्यायो पर अपनी मौलिक टीका लिखी है। परन्तु यहाँ आदि के केवल पहले और दूसरे अध्याय की ही टीका प्रकाशित है। इसके साथ ही साथ इन्होने अर्थशास्त्र की प्राचीन जयमगला नामक टीका की भी विस्तृत टीका की है जिसका नाम इन्होने 'क्रोडपत्र' रखा है।[२]

इस टीका का अनुशीलन करने से पता चलता है कि राजनीति तथा तत्सम्बद्ध विषयो के रहस्य समझने और समझाने मे उसके तथ्यो के उद्घाटन मे इनकी प्रतिभा कितनी अन्तर्निविष्ट थी। इस ग्रन्थ मे इतने प्रमेयो का अन्तर्निवेश किया गया है कि यह सामान्य टीकाग्रन्थ न होकर पाण्डित्यपूर्ण भाष्य हो गया है।

इस मौलिक व्याख्या मे नाना प्रकार के शास्त्रीय विषयो की अवतारणा की गई है तथा विरोधो का परिहार भी दिखाया गया है। राजा की देवत्वभावना की बडी सुन्दर व्याख्या शास्त्रीजी ने की है। उसका साराश इस प्रकार है—मनु ने राजा को नररूपेण देवता माना है (महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति)। उधर शाण्डिल्यसूत्र राजा मे देवत्व का प्रतिषेध करता है। इस वैषम्य की सगति कैसे बैठेगी ? जब तक राजा ईश्वर की आज्ञा का अनुसरण करता है, मर्यादा से विचलित नही होता, तब तक मानव होने पर भी सात्त्विक होने के कारण वह ईश्वरत्वेन उपास्य ही माना गया है। मर्यादा से विचलित होने पर उसकी सात्त्विकता नष्ट हो जाती है और जीवभाव ही रह जाता है। ऐसी स्थिति मे वह उपास्य नही रह जाता (पृ० ३२)।

शक्ति का निर्वचन बडे पाण्डित्यपूर्ण प्रकार से किया गया है (पृ० १०८ ११६)। भावप्रकाशन के द्वारा शक्ति का लक्षण है- 'सर्वान्तर्यामि परमात्मसमवेतज्ञानानन्द क्रियाप्रमात्रयमिश्रणस्य शक्तिरूपत्वम्' अर्थात् परमात्म समवेत ज्ञान, आनन्द तथा क्रिया की

---

१ वेदो का अपौरुषेयत्व, पृ० ७२।

२ कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् (अध्यायद्वयात्मकम्) वैदिकसिद्धान्तरक्षिणीटीकया पत्रिकया च सहितम्। — हनुमान मदिर न्यास (हनुमानजी लेन, कलकत्ता ७) तथा गीर्वाणवाग्वर्धिनी सभा रामघाट, वाराणसी के द्वारा प्रकाशित, वि० स० २०३१।

तीनो प्रमाओं का जीव मे सम्मिश्रण होना शक्ति पदार्थ है। नाना ग्रन्थकारो के मतो का उल्लेख कर इस शब्द की विस्तृत व्याख्या शास्त्रीजी ने की है। विविध विद्याओं की निन्दा तथा स्तुतिबोधक वाक्य शास्त्रो मे उपलब्ध होते है। इसका समन्वय बडी सुन्दर रीति से दिखाया गया है (पृ० १४३–१४६)।

श्री राजेश्वर शास्त्रीजी का नव्यन्याय के अध्ययन पर विशेष आग्रह था। बिना इसकी सहायता के विद्या आदि के यथार्थ स्वरूप का बोध नही होता। इसीलिए पृ० १४७ पर उन्होने आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति के लक्षण का रूप नव्य न्याय की शैली मे किया है। इसी प्रकार शास्त्रकारो के विभिन्न मतो के समन्वय मे भी शास्त्रीजी की बुद्धि बडा चमत्कार दिखलाती है। विद्याओं के प्रधानाप्रधानत्व के विषय मे चाणक्य और मनु मे पार्थक्य है। इस पार्थक्य का निवारण कर दोनो का मत समन्वय बडे कौशल से दिखाया गया है (पृ० १६३)। इसी प्रकार राजनीति के विषय मे बृहस्पति के अपूर्व मत की बडे विस्तार से मीमासा की गई है (पृ० १६४ १६७)।

इसी प्रकार पण्डितराज राजेश्वर शास्त्री ने राजनीति के व्यावहारिक शास्त्र होने पर भी उसके अन्तरग मे विद्यमान वेदानुप्राणित आध्यात्मिकता की सत्ता मान कर उसका ऊहापोह करने मे अपने अलौकिक पाण्डित्य का उत्कर्ष दिखलाया है। फलत 'कौटिलीयमर्थशास्त्रम्' की शास्त्रीजी की 'वैदिकाभिमतनरक्षिणी' टीका नितान्त प्रौढ, प्रामाणिक तथा प्रमेयबहुल है इसमे किसी प्रकार भी दो मत नही हो सकते। यही अच्छा होता कि शास्त्रीजी के द्वारा प्रणीत शेष टीका भी प्रकाशित हो जाती और प्राचीन राजनीति के स्वरूप का विवेचन कर अनेक भ्रान्तियो को दूर करने मे समर्थ होती। ऐसी आशा रखना समुचित ही है।

शिष्यमण्डली

प० श्री राजेश्वर शास्त्रीजी के शिष्यो की एक लम्बी परम्परा है। उन्हे प्राचीन राजनीति और नव्यन्याय इन दोनो शास्त्रो के अध्यापन के ऊपर विशेष आग्रह था। नव्यन्याय तो उनका गुरु के चरणो मे बैठकर परिश्रमपूर्वक अभ्यस्त शास्त्र है। अत इसके प्रति उनका आग्रह रखना सर्वथा स्वाभाविक है। प्राचीन राजनीति के प्रति उनका अनुराग उनके जीवन मे कुछ विलम्ब से उत्पन्न हुआ। इसका अनुशीलन उन्होने स्वत अपनी प्रतिभा के बल पर किया। फलत नव्यन्याय तथा प्राचीन राजनीति मे उनसे शिक्षा प्राप्त करने वाले अनेक सुयोग्य विद्वान् तैयार हुए जिनमे **प० हरिराम शुक्ल** तथा **प० रामचन्द्र खनग** नितान्त प्रसिद्ध है। इन दोनो विद्वानो की गति नव्यन्याय मे बहुत ही गम्भीर थी। शास्त्रार्थ करने मे ये दोनो पण्डित बडे ही प्रतिभाशाली तथा ओजस्वी थे। खनगजी ने तो कुछ दिन तक हिन्दू विश्वविद्यालय मे दर्शन का अध्यापन किया था। इसके अनन्तर सस्कृतविश्वविद्यालय मे उनकी नियुक्ति हो गई थी। श्री हरिराम शुक्ल तर्कशास्त्र के बडे ही निपुण तथा मर्मज्ञ विद्वान् माने जाते थे। राजनीति तथा धर्मशास्त्र विषयो मे भी इनकी गति बडी सूक्ष्म तथा प्रशसनीय थी। वे अनेक वर्षों तक सस्कृत विश्वविद्यालय मे न्यायशास्त्र का अध्यापन करते थे। कुछ दिन पूर्व इन दोनो विद्वानो का देहान्त हो गया।

वल्लभराम शालिगराम साङ्गवेद विद्यालय

यह प्रसिद्ध महाविद्यालय काशी मे गगा के तट पर रामघाट मुहल्ले मे स्थित है। इसकी स्थापना तथा उन्नति मे प० लक्ष्मण शास्त्री द्रविड तथा नागरवशोद्भव वल्लभराम मेहता

के सुशिक्षित परिवार का मणिकाचन-योग है । काशी का यह मेहता-परिवार धर्मनिष्ठा, वेद-सरक्षण, सनातन धर्म की सतत उन्नति तथा संस्कृत-विद्या के प्रचार एव प्रसार के लिए हृदय से कृतसंकल्प है। इस परिवार का विस्तृत व्यापार कलकत्ता मे स्थित है। लक्ष्मण शास्त्री उन दिनों कलकत्ता विश्वविद्यालय मे सस्कृत के प्राध्यापक थे । वेद-सरक्षण के निमित्त उन्होंने इस वश के धुरन्धर कार्यकर्ता मेहता प० बिहारीलालजी को प्रेरित किया । ये वल्लभरामजी के भागिनेय तथा सस्थान के कार्यसचालक नितान्त धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे । इस विद्यालय की स्थापना १९७७ स० (१९२० ई०) मे माघ शुक्ल १३ रविवार के दिन काशी मे काशीनरेश महाराजा प्रभुनारायण सिह के द्वारा की गई । उसी समय से काशीनरेश इसके स्थायी सभापति है । आज भी इस विद्यालय के सभापति होने का गौरव काशिराज डॉ० विभूतिनारायण सिह को प्राप्त है ।

विद्यालय का उद्देश्य केवल छात्रो को परीक्षा मे उत्तीर्ण कर नौकरी दिलाना ही नही है, बल्कि शास्त्रोक्त विधान के अनुसार वेदरक्षा, धर्मरक्षा और देशरक्षा के उद्देश्य से यहॉ अध्ययन तथा अध्यापन होता है । विद्यालय मे वैदिक सस्कृति को हर प्रकार से प्रोत्साहन देने का विधान यथासम्भव रखा गया है । इतना ही नही, धर्म की विषम समस्याओं का, जो काशी मे तथा बाहर समय-समय पर उत्पन्न हुआ करती है, समाधान शास्त्ररीति से देना भी लक्ष्यो में अन्यतम है । विद्यालय मे प्राचीन आदर्शों पर पूर्ण ध्यान रखा जाता है । विशेषत न्याय की ओर छात्रो की अभिरुचि विशेष रूप से यहॉ जागरित की जाती है । साधारण पण्डित भी न्याय को केवल वाग्विलास ही मानते है परन्तु यह बात तथ्य नही है । तथ्य तो यह है कि तर्कविद्या मे किया गया परिश्रम मोह को दूर करता है, बुद्धि को विमल बनाता है सस्कृत के प्रयोग मे व्यवहार शक्ति को उत्पन्न करता है तथा अन्य शास्त्रो के अभ्यास की योग्यता छात्रो में पैदा करता है । फलतः यह बड़ा उपकारी शास्त्र है । इसका वर्णन इस प्राचीन श्लोक मे किया गया है -

मोहं रुणद्धि विमलीकुरुते च बुद्धिं
सूते च संस्कृतपदव्यवहारशक्तिम् ।
शास्त्रान्तराभ्यसन-योग्यतया युनक्ति
तर्कश्रमो न कुरुते कमिहोपकारम् ॥

विद्यालय को आरम्भ काल से ११ वर्ष तक पण्डित लक्ष्मण शास्त्रीजी की कर्मठता तथा विद्यावैभव के द्वारा लाभान्वित होने का गौरव प्राप्त है । १९८८ वि० (१९३१ ई०) मे शास्त्रीजी का देहावसान होने के अनन्तर इस विद्यालय के शिक्षण सचालन का सूत्र उनके ही सुयोग्य पुत्र प० राजेश्वर शास्त्री द्रविड के हाथो मे आया और उनके प्रयत्न से इस विद्यालय की शिक्षा-दीक्षा मे सर्वत्र उन्नति हुई । इसी वर्ष के आसपास प० बिहारीलाल मेहता का देहावसान होने पर विद्यालय के सचालन का भार वर्तमान सचालक मेहता प० मुरारीलालजी को सौपा गया । वे और उनके चारो अनुज बडी निष्ठा तथा लगन से विद्यालय के आर्थिक पक्ष की वृद्धि मे सलग्न रहे । फल यह है कि सुव्यवस्था, सुन्दर सचालन, निष्ठापूर्वक अध्ययन एव अध्यापन की दृष्टि से यह सागवेद-विद्यालय वाराणसी के मूर्धन्य विद्यालयो मे अन्यतम है ।

इस विद्यालय में नाम के अनुसार ही चारों वेदो तथा ६ अगो की पढ़ाई विधिवत् होती है । वेद की उपलब्ध शाखाओं के अध्यापन की यहाँ सुन्दर व्यवस्था है । गगातट पर

विद्यालय का भव्य भवन है जिसके साथ छात्रो के निवास की व्यवस्था है। १६२८ ई० मे सम्पन्न पण्डित महासम्मेलन मे विशुद्ध सस्कृतविश्वविद्यालय की स्थापना का जो प्रस्ताव पास किया गया था उसका यह विद्यालय पूर्णतया अनुगमन करता है। सर्व सम्मति से इस वेदवेदाग विद्यालय को विशुद्ध सस्कृतविश्वविद्यालय का रूप प्रदान किया गया है। इसकी अलग परीक्षाएँ १६४० ई० मे हुआ करती है। इनमे उत्तीर्ण होने वाले छात्रो का विशेष पुरस्कार दिया जाता है यहाँ वर्ष के प्रधान उत्सव तथा धर्माचार्यों की जयन्तियाँ भी बडे नियम से मनाई जाती है। शकराचार्य जयन्ती प्रतिवर्ष वैशाख शुक्ल पचमी को समारोह के साथ सम्पन्न की जाती है। प्रतिवर्ष भाद्रपद शुक्लपक्ष मे गणेश उत्सव महाराष्ट्र पद्धति से मनाया जाता है। यह आयोजन कई दिनो तक चलता है जिसमे विद्वानो के भाषण नाना शास्त्रीय विषयो पर किये जाते है। प्राचीन राजनीति की शिक्षा यहाँ बडे उत्साह के साथ छात्रो को दी जाती है विद्यालय के अन्तर्गत ही गीर्वाणवाग्वर्धिनी सभा स्थापित है जिसमे धर्मशास्त्र के जटिल प्रश्नो के उत्पन्न होने पर उनका उत्तर शास्त्र के अनुशीलन मे विधिवत् दिया जाता है। नि स्वार्थ भाव से यह सभा धर्मशास्त्रीय प्रश्नो पर अपने शास्त्रीय मत का अविच्छिन्न दान करती है। इसका सम्मान पूरे भारतवर्ष मे है। छात्रो के भोजन छाजन का प्रबन्ध यहाँ समुचित रीति से किया जाता है इस विद्यालय मे विक्रम वर्षासन की भी व्यवस्था है जिसके अनुसार उत्तम कक्षा की वार्षिक परीक्षा मे उत्तीर्ण होने वाले विद्यालय के प्रत्येक छात्र को १०० रुपये और मध्यम कक्षा मे पचास रुपये प्राप्त होते है विद्यालय के अन्तर्गत एक सुसम्पन्न पुस्तकालय भी है जो लक्ष्मण शास्त्री के नाम पर 'लक्ष्मण-पुस्तकालय' कहलाता है। इसमे बहुत से दुष्प्राप्य हस्तलेखो का सग्रह है। उत्सवो के अवसर पर वेदान्त मीमासा और ईश्वरभक्ति के सम्बन्ध मे छात्रो की सस्कृत तथा हिन्दी मे वाद प्रतियोगिता भी होती है। इतना ही नही इसका एक प्रकाशन विभाग भी है जिसके द्वारा सस्कृत के ग्रन्थो का प्रकाशन किया जाता है।

इस विद्यालय की स्थापना मेहता पण्डित बिहारीलाल ने की और इसका नामकरण अपने मामा वल्लभराम तथा शालिग्राम के नाम पर किया। वल्लभरामजी इस मेहता परिवार के आरम्भ पुरुष थे जिन्होने अन्त मे सन्यास लेकर अपना जीवनयापन किया था। उनका जन्म १८६३ वि० स० (१८३६ ई०) मे तथा निधन १६७५ वि० स० (१६१८ ई०) मे हुआ था।

इस सक्षिप्त विवरण से इस विद्यालय की विशेषता का परिचय पाठको को भली भाँति मिल सकता है। ६० वर्षों से यह विद्यालय अपने पूर्वोक्त लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए अश्रान्त परिश्रम कर रहा है और उसमे इसको पूरी सफलता प्राप्त हो रही है। काशी का यह एकमात्र विद्यालय है जिसमे विस्तृत हाल भी प्राचीन पण्डितो के अभिराम चित्रो से सुसज्जित किया गया है। इसे देखकर महनीय पाण्डित्य की स्मृति जागृत हो जाती है और दर्शको के हृदय मे विद्या तथा धर्म के प्रति अनुराग की भावना सद्य प्रस्फुटित हो जाती है

प्राची सन्ध्या काचिदन्तर्निशाया, प्रज्ञादृष्टेरञ्जनश्रीरपूर्वा।
वक्त्री वेदान् पातु वो वाञ्जिवक्त्रा वागीशाख्या वासुदेवस्य मूर्ति ॥



पं० पञ्चानन तर्करत्न

पण्डित पञ्चानन तर्करत्न

(आस्पद—भट्टाचार्य, उपाधि—महामहोपाध्याय)

पञ्चानन तर्करत्न भारतीय दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् थे। सस्कृत के पण्डित अध्यापन प्रतिभा के धनी होते हुए भी लेखनी के विषय मे प्राय बद्धमुष्टिता का आश्रय करते है। परन्तु तर्करत्नजी इन दोनो के धनी थे। यद्यपि ये शास्त्रार्थी विद्वान् नही थे, तथापि इनकी वाणी मे ओज था तथा लेखनी मे शक्ति विराजमान थी। इन्होने सस्कृत और बॅगला दोनो भाषाओ को अपनी प्रतिभा का प्रसाद प्रदान किया है। ये सिद्धान्तवादी मनीषी थे। अपने सिद्धान्तो से समझौता करना ये कथमपि नही जानते थे। इसके लिए बडा से बडा त्याग करने के लिए ये सदा तैयार रहते थे। इन्होने सन् १६२६ ई० मे शारदा एक्ट के पास होने के विरोध मे 'महामहोपाध्याय' की अपनी महनीय उपाधि का परित्याग देखते-देखते कर दिया था। इसी घटना से इनकी सिद्धान्तवादिता का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

जन्म की घटना

प० पञ्चानन तर्करत्न का जन्म बाबा तारकेश्वर—जो बगाल के प्रसिद्ध जाग्रत देवता माने जाते है—के प्रसाद से हुआ था। इनके जन्म की कथा तर्करत्नजी के ही शब्दो मे इस प्रकार है[1] – "मेरे पूज्यपाद पितृदेव स्वर्गीय नन्दलाल विद्यारत्न भट्टाचार्य महाशय परम धार्मिक, सुकवि और पण्डित थे। मेरी पूज्यचरणा जननी उनकी अत्यन्त अनुगता, आदर्श सती सहधर्मिणी थी। हमारा वश पाण्डित्य मे उज्ज्वल था। हमारे वृद्ध प्रपितामह का बहुपण्डित-मण्डित विशाल वश क्रमश क्षय को प्राप्त हो गया। केवल एकमात्र मेरे पितृदेव ही बचे थे। परन्तु पितृदेव नि सन्तान थे। माताजी की अवस्था २४ वर्ष की थी। किन्तु इसी उम्र मे उनका मासिक स्त्रीधर्म बन्द हो गया। वशलोप की आशका प्रबल हो उठी। तब बन्धु-बान्धवो ने पिताजी से दूसरा विवाह करने के लिए आग्रह किया किन्तु पितृदेव ने दैवकृत्य मे मन लगा दिया, उनकी बात नही मानी।

"उस समय बाबा तारकेश्वर के मन्दिर तक पहुँचना अत्यन्त दुर्गम था। रेल का रास्ता नही था। मार्ग मे लुटेरो का डर था। इसी अवस्था मे मेरी परमाराध्या जननी कुछ रक्षको को साथ लेकर बाबा के चरणो मे शरणागत होने के लिए चली और वहाँ पहुँचकर पाँच दिनो तक केवल चरणामृत-पान कर मन्दिर के सामने मण्डप मे पडी रही। इसके बाद उन्हे स्वप्नादेश हुआ और उसके अनुरूप आचरण करने पर मासिक धर्म पुन होने लगा। एक ही वर्ष के अन्दर जननी के गर्भ से मेरे ज्येष्ठ भ्राता ने जन्म लिया। जननी का वन्ध्यादोष दूर हो गया।

---

१ पण्डित पञ्चाननजी भट्टाचार्य तर्करत्न—तारकेश्वर के शिव—प्रत्यक्ष घटना 'कल्याण'—शिवाङ्क विशेषाक, वर्ष ८, अक १, पूर्ण सख्या ८५, अगस्त, सन् १६६६ ई०, पृष्ठ ४५०-५१।

"माताजी के मन मे यह भाव छिपा हुआ था कि किसी तरह मेरा वन्ध्या नाम दूर हो जाय, इसका कारण वही पिताजी के दूसरा विवाह करने की चर्चा थी। परन्तु दो वर्ष छह महीने के बाद ही मेरे भाई की मृत्यु हो गयी। दीर्घजीवी पुत्र की कामना से आशा लगाकर मेरी पूजनीया जननी पुन बाबा तारकेश्वर के शरणापन्न हुई। इस बार भी स्वप्नादेश प्राप्त हुआ और उसके अनुरूप कार्य करने कुछ समय बीता। पश्चात् तीसवे वर्ष की उम्र मे मै माता के गर्भ मे आया।"

इस प्रकार प० पञ्चानन तर्करत्न का जन्म कलकत्ता के समीप भाटपाडा नामक स्थान मे स० १९२६ वि० (सन् १८६६ ई०) मे हुआ था। इनके पिता का नाम प० नन्दलाल विद्यारत्न था जो बहुत बडे विद्वान् तथा कवि थे।

शिक्षा

बाल्यकाल मे पञ्चाननजी ने अपने पिता से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था। इनका घोर दुर्भाग्य ही था जब नौ वर्ष के वय मे इनके माता और पिता एक दिन के व्यवधान से कालकवलित हो गये। पिता की छाया इनके सिर से सदा के लिए हट गयी। इन्होने रघुमणि विद्याभूषण एव जयराम न्यायभूषण महाशयो के निकट व्याकरण एव काव्यशास्त्र का अध्ययन किया। इस समय कविता लिखने की प्रतिभा जाग उठी। १३ वर्ष के वय मे काव्य की उपाधि परीक्षा प्राप्त कर ली। इसके अनन्तर इन्होने साख्य, स्मृति एव वेदान्त का अध्ययन किया। तत्पश्चात् इन्होने भट्टपल्ली के प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय **शिवचन्द्र सार्वभौम** महाशय से न्यायशास्त्र का अध्ययन कर तर्करत्न की उपाधि प्राप्त की।

उन्नीस वर्ष के वय मे ये इन्दौर राजा के दरबार मे गये और समस्यापूर्ति तथा द्रुत कविता की रचना कर प्रशसा तथा पुरस्कार दोनो प्राप्त किये। १२७३ बगाब्द मे बगवासी पत्रिका के प्रतिष्ठाता योगेन्द्रचन्द्र वसु ने शास्त्र प्रकाश विभाग की प्रतिष्ठा की। उसमे इन्होने अनेक सस्कृत-ग्रन्थो का सम्पादन तथा बँगला मे अनुवाद प्रकाशित किया। इतना ही नही, ये उन दिनो बगवासी कालेज मे अवैतनिक रूप मे सस्कृत का अध्यापन भी करते थे।

तर्करत्नजी जब तीस वर्ष के वय के थे तभी इनकी धर्मपत्नी का असामयिक देहान्त हो गया। अत इसके बाद इन्होने वैद्यनाथधाम मे निवास करने वाले ब्रह्मचारी बालानन्दजी से योग की शिक्षा ग्रहण की और योग सम्बन्धी क्रियाओं की साधना मे अपना जीवन बिताने लगे। तर्करत्नजी का कर्मक्षेत्र प्राय बगाल ही रहा परन्तु ये पचास वर्ष के वय मे काशीवास करने के लिए बनारस आये थे। यहाँ निवास करते समय इन्होने सहस्रो छात्रो को न्याय और वेदान्तशास्त्रो का अध्यापन किया। इससे काशी मे इनकी बडी ख्याति हुई। इनकी असामान्य विद्वत्ता, असाधारण धर्मनिष्ठा, आदर्श चरित्रपालन और सिद्धान्तवादिता के कारण काशी के विद्वत्समाज मे इनका बड़ा आदर और सम्मान था। इनके त्याग और तपस्या की सभी लोग मुक्तकण्ठ से प्रशसा करते थे। इन्होने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे लगभग दस वर्षों तक अवैतनिक रूप मे अध्यापन का कार्य किया। इससे इनके आर्थिक त्याग का पता चलता है। ये उपाधि की व्याधि से सर्वथा मुक्त थे और उसका तृणवत् परित्याग करने मे तनिक भी सकोच नही करते थे। सन् १९२९ ई० मे ब्रिटिश सरकार ने एक बाल-विवाह-निरोधक बिल को कानून का रूप प्रदान किया जो 'शारदाएक्ट' के नाम से प्रसिद्ध है। इस बिल के अनुसार १४ वर्ष से कम वय वाली बालिकाओं तथा १८ वर्ष से कम अवस्था वाले बालको के विवाह

को कानून के द्वारा दण्डनीय अपराध घोषित किया गया था। काशी के कट्टर तथा पुराणपन्थी पण्डितों ने इस कानून को अशास्त्रीय तथा धर्मविरोधी कहकर इसका घोर विरोध किया था। परन्तु इन पण्डितों के विरोध के बावजूद भी यह बिल पास हो गया। अतः सनातनी पण्डितों ने इस कानून के प्रति अपनी असहमति और विरोध प्रकट करने के लिए ब्रिटिश सरकार के द्वारा प्रदत्त अपनी 'महामहोपाध्याय' की पदवी का परित्याग कर दिया। पण्डित पञ्चानन तर्करत्न भी प्राचीन परम्परा के विद्वान् थे। अतः इन्होने भी इस कानून को धर्मविरोधी समझ कर इसके विरोध में महामहोपाध्याय की अपनी उपाधि को ब्रिटिश सरकार को लौटा दिया। इस उपाधि को धारण करने वाले व्यक्ति को सरकार से कुछ आर्थिक सहायता भी मिलती थी, परन्तु अपनी आर्थिक स्थिति अच्छी न होने पर भी जीवन मे अर्थ को विशेष महत्त्व न देने वाले पञ्चरत्नजी ने अपनी इस पदवी को तिलाञ्जलि दे दी।

ये बड़े ही कट्टर सिद्धान्तवादी पुरुष थे। अपने सिद्धान्तो का परित्याग इन्हे कथमपि सह्य नही था। इसके लिए व्यक्तिगत पारिवारिक सम्बन्धो का परित्याग करने में भी तनिक नही हिचकते थे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के सस्कृत-महाविद्यालय के भूतपूर्व अध्यक्ष (प्रिंसिपल) महामहोपाध्याय प० प्रमथनाथ तर्कभूषण तर्करत्नजी के बहनोई लगते थे। इनकी छोटी बहिन का विवाह तर्कभूषणजी के साथ हुआ था। अत ये दोनो विद्वान् आपस में घनिष्ठ सम्बन्धी थे। पण्डित तर्कभूषणजी समाज और समय के अनुसार चलने वाले सुधारवादी विद्वान् थे। अत शारदा ऐक्ट के सम्बन्ध मे कट्टर सनातनी तर्करत्नजी से इनका विरोध हो गया। बाल्यावस्था से ये दोनो व्यक्ति परस्पर सम्बन्धी होने के साथ ही मित्र भी थे। परस्पर दोनो मे बड़ा सौहार्द था। परन्तु शारदा ऐक्ट को लेकर, सिद्धान्तो की बलिवेदी पर इनका पारस्परिक सौहार्द सदा के लिए नष्ट हो गया। सन् १९२८ ई० मे जब महामना मदनमोहन मालवीय ने शूद्रो को भी मन्त्रदीक्षा देना प्रारम्भ किया तब प्रमथनाथजी ने अनेक शास्त्रीय प्रमाणो के आधार पर मालवीयजी के इस कार्य का समर्थन किया परन्तु पञ्चरत्नजी ने इसका घोर विरोध किया। इस प्रकार पुनः दोनो मे सैद्धान्तिक मतभेद होने के कारण पारस्परिक विरोध बढ़ता गया। यह विरोध इतने उग्र रूप मे परिणत हो गया कि ऐसा सुनने मे आता है कि इन दोनों सम्बन्धियो ने—विशेषकर तर्करत्नजी ने प्रमथनाथजी से भाषण करना भी बन्द कर दिया। इस प्रकार इस सैद्धान्तिक मतभेद ने पारिवारिक औदासीन्य का रूप धारण कर लिया। परन्तु इस उदासीनता मे मनोमालिन्य का अश रचमात्र भी नही था। अपने जीवन की गोधूलि में, अपना अन्तिम समय निकट जानकर प० तर्करत्नजी ने अपने बहनोई प्रमथनाथजी को उनके ज्येष्ठ पुत्र के द्वारा बुलवाया और उनसे स्पष्ट निवेदन किया कि "तर्कभूषणजी, आप ऋषिकल्प और आदर्श ब्राह्मण है। मै आपको प्रणाम करता हूँ। आपने अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए नही, किन्तु जन-हित का ध्यान रखकर जो सैद्धान्तिक दृढ़ता और तत्परता प्रदर्शित की वह सचमुच ही प्रशसनीय है। आप पारस्परिक मतभेद के लिए मुझे क्षमा करेंगे।" इस प्रकार जीवन के अन्तिम दिन में प्रमथनाथजी से क्षमा की याचना कर इन्होंने मानो अपने मतभेद के लिए प्रायश्चित्त कर लिया।

आचार-विचार

पण्डित पञ्चानन तर्करत्न आचार-विचार का पालन करने में बड़े ही कट्टर तथा कष्ट-सहिष्णु व्यक्ति थे। ये अपने परिवार से भिन्न व्यक्तियों के हाथ से बनाया गया भोजन नहीं करते थे। जीवन के मध्याह्न में ही पत्नी की असामयिक मृत्यु हो जाने के कारण ये

केवल अपने पुत्रो के द्वारा ही पकाया गया भोजन ग्रहण करते थे। ये स्वयपाकी थे। अत परिवार के घनिष्ठ सदस्यो को छोडकर अन्य के द्वारा पाचित अन्न का ग्रहण इनके द्वारा परित्याज्य ही था। रेलगाडी मे यात्रा करते समय ये कई दिनो तक निराहार ही रह जाते थे। सन् १६०७ ई० के बगभग आन्दोलन के समय तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने केवल झूठे सन्देह के कारण इन्हे बन्दी बनाकर तीन दिनो तक बन्दीगृह (जेल) मे रखा था। उसी जेल मे श्रीअरविन्द और उनके अनुज वारीन्द्रनाथ घोष आदि उनके अनेक अनुयायी भी राज्यद्रोह के अभियोग मे जेल जीवन बिता रहे थे। परन्तु किसी प्रमाण के अभाव मे इन्हे जेल से मुक्त कर दिया गया। बन्दीगृह मे निवास के इन तीन दिनो मे इन्होने अन्न जल कुछ भी ग्रहण नही किया। इस प्रकार इतने घोर कष्ट को सहकर इन्होने अपनी धर्मप्राणता का परिचय दिया था। एक बार ये पशुपतिनाथजी का दर्शन करने के लिए नेपाल गए हुए थे। वहाँ भयकर शीत पड रहा था। परन्तु इस कठोर शीत का तनिक भी ध्यान न देकर ये स्नानादिक कृत्य से कभी विरत नही हुए। कुछ दिनो तक इन्होने अग्निहोत्र का व्रत भी ले रखा था और प्रतिदिन प्रात एव सायकाल नियमित रूप से अग्निहोत्र किया करते थे। इस प्रकार प्राचीन पद्धति के प्रति घोर निष्ठा तथा धर्मप्राणता ही इनके जीवन की विशेषताये थी।

परम्परावादी स्वरूप

पडित पचानन तर्करत्न ने शारदा ऐक्ट का घोर विरोध किया था जिसकी चर्चा पहिले की जा चुकी है। हरिजनो के मन्दिर-प्रवेश के भी ये प्रबल विरोधी थे। मालवीयजी द्वारा शूद्रो को मन्त्रदीक्षा देने के आन्दोलन का भी इन्होने कदापि समर्थन नही किया। इन कारणो से कोई इन्हे प्रतिगामी ((रिऐक्शनरी) व्यक्ति भले ही कहे परन्तु ये प्रतिगामी नही, बल्कि परम्परावादी पुरुष थे। ये जिस वातावरण मे उत्पन्न हुए थे, जिन परिस्थितियो मे इनका पालन पोषण तथा शिक्षा दीक्षा हुई थी वे सभी प्राचीन परम्परा-पद्धति की पोषक थी। ऐसी परिस्थिति मे इनका परम्परावादी होना स्वाभाविक ही था। प्राचीन सस्कृति की रक्षा करना ही इनके परम्परावादी होने का एकमात्र कारण था।

कर्मठ जीवन

प० पचानन तर्करत्न बडे ही कर्मठ व्यक्ति थे। यद्यपि ये प्राचीन परम्परा के पक्षपाती थे तथापि समाज मे वर्तमान किसी अन्याय अथवा सामाजिक बुराई को सहन नही कर सकते थे। इनके कर्मठ जीवन एक उदाहरण बाबा तारकेश्वर मदिर के महन्त का निष्कासन है। बगाल के इस प्रसिद्ध तीर्थस्थान मे एक ऐसा व्यक्ति तारकेश्वर का महन्त बन गया था जो चरित्र से नितान्त हीन था। वह मदिर मे पूजा करने के लिए आई हुई महिलाओं के साथ अनाचार करता था। इस प्रसिद्ध मदिर के महन्त के ऐसे अपवित्र आचरण को पंचानन तर्करत्नजी सहन नही कर सकते थे। इन्होने उस चरित्रभ्रष्ट महन्त को निकालने के लिये बड़ा भारी आन्दोलन खडा किया। कलकत्ता की पण्डितसभा—जिसके ये स्वय अध्यक्ष थे—के द्वारा प्रस्ताव पारित कर इन्होने महन्त के विरुद्ध भ्रष्टाचार तथा दुराचार का मुकदमा चलाया। इसके साथ ही महन्त के विरुद्ध प्रचण्ड आन्दोलन प्रारम्भ कर जनमत को अपने पक्ष मे किया। ये इस आन्दोलन के स्वय प्रवर्तक तथा नेता थे। अन्त में कोर्ट से महन्त की हार हो गई। वह महन्ती की गद्दी से बुरी तरह से निकाला गया। इस प्रकार पचाननजी का प्रयास सफलीभूत

हो गया। जनता के कार्य को लेकर आन्दोलन करने, मुकदमा लड़ने तथा उसमें विजय प्राप्त करने के कारण बंगाल में इनका बड़ा नाम हुआ और इनकी कीर्ति चारों ओर फैल गयी।

इन्होंने काशी के वर्णाश्रम-स्वराज्य-संघ की स्थापना तथा उसकी प्रगति में भी विशेष योगदान किया था। इस संघ की स्थापना वर्णाश्रम के आधार पर स्वराज्य की प्राप्ति करना था। परन्तु इसका प्रधान लक्ष्य शारदा ऐक्ट का विरोध करना ही था। प्राचीन परम्परा का पक्षपाती होने के कारण इन्होंने भी इस ऐक्ट का विरोध किया। परन्तु इनका यह विरोध केवल मौखिक ही नहीं था बल्कि इन्होंने अपनी 'महामहोपाध्याय' की महनीय पदवी का भी परित्याग कर दिया था जो इन्हें १६२८ ई० में अंग्रेजी सरकार द्वारा सम्मान के रूप में दी गई थी। इस घटना से इनकी परम्परा-प्रियता तथा त्याग का पता चलता है।

ग्रन्थरचना

पं० तर्करत्नजी ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है जिन्हें दो भागों में विभक्त किया जा सकता है

(क) सस्कृत में ग्रन्थरचना।

(ख) बँगला में ग्रन्थरचना।

विषय की दृष्टि से विचार करने पर इन्हे अनुवादित तथा टीकाग्रन्थ एवं मौलिक ग्रन्थों की कोटि में रखा जा सकता है। तर्करत्नजी ने तर्कशास्त्र में तो प्रगल्भता प्राप्त की ही थी, काव्यरचना में भी इनकी कवित्वशक्ति अद्भुत थी। इन्होंने अनेक काव्यो की रचना करके इसे प्रमाणित कर दिखाया है।

(क) संस्कृत में रचना (काव्यसबन्धी)

(१) तर्करत्नजी ने **प्राणदूत** तथा **इन्द्रियानुशासन** नामक दो खण्डकाव्यों की रचना की है। इनका प्राणदूत हंसदूत की ही भाँति खण्डकाव्य ज्ञात होता है जिसमें इनके दार्शनिक विचारों का काव्यमयी भाषा में प्रकाशन हुआ है।

(२) **सर्वमङ्गलोदय**—यह इनका श्लिष्ट काव्य है जिसमे श्लेष का चमत्कार दिखा कर इन्होंने अपनी काव्यचातुरी का परिचय दिया है।

(३) **पार्थाश्वमेघ**—तर्करत्नजी के द्वारा रचित यह एक महाकाव्य है जो अर्जुन को लेकर लिखा गया है।

(४) **अमरमङ्गल**—यह एक सुन्दर नाटक है जो काव्य की उपाधिपरीक्षा में पाठ्य-ग्रन्थ के रूप में निर्धारित किया गया था।

(५) **द्वैतोक्तिरत्नमाला**—(दार्शनिक)

(६) **शोकम्** (काव्य-ग्रन्थ)

(७) **विशुद्ध नित्यकर्म**

(८) **प्रायश्चित्तविधिः**

(९) **ग्रहणकृत्य-व्यवस्था**

तर्करत्नजी सनातनधर्म के नैष्ठिक आचरणकर्ता ही न थे, अपितु उनका यह महान् उद्देश्य था कि भारत की हिन्दी जनता वैदिक धर्म के रहस्य को समझे और उसे अपने जीवन

में ठीक-ठीक उतार कर पूर्ण रूप से धार्मिक बने। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हें उचित अवसर भी प्राप्त हो गया। बगवासी नामक प्रसिद्ध पत्रिका के प्रतिष्ठाता योगेशचन्द्र वसु का भी इन्हें पूर्ण सहयोग प्राप्त हो गया। वसुजी ने 'शास्त्र प्रकाश-विभाग' नामक जो शास्त्रीय ग्रन्थमाला का प्रवर्तन किया, उसके अध्यक्ष पद पर पचाननजी को प्रतिष्ठित किया। फलस्वरूप इन्होने पुराण, स्मृति, धर्मशास्त्र आदि विषयो के प्रौढ़ तथा लोकप्रिय ग्रन्थो का बँगला मे अनुवाद कर बगाल के घर-घर मे पहुँचा दिया। इससे इनकी कीर्ति तथा धार्मिक निष्ठा समस्त बगाल मे फैल गई। सस्कृत मे इन्होने दर्शनशास्त्रसबन्धी अनेक ग्रन्थो की विद्वत्तापूर्ण टीका और विवृति लिखी है। ये टीकाएँ इनके दर्शन-सबन्धी पाण्डित्य का पूर्णतया परिचय देती है।

साख्यदर्शन पर इन्होने पूर्णिमा नामक टीका लिखी है जो अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण है। वैशेषिक दर्शन पर परिष्कार नामक टीका की रचना इन्होने की है। न्यायशास्त्र के अनुमानखण्ड पर 'अनुमिति विवृति' नामक बडी ही गभीर टीका की रचना इन्होने की है। इस प्रकार पचरत्नजी ने न्याय, वैशेषिक तथा साख्य शास्त्रो पर अपनी शोधपरक एव सरल टीकाएँ लिखकर अपनी गभीर और अलौकिक विद्वत्ता को प्रकाशित किया है। भारतीय दर्शनशास्त्र के क्षेत्र मे इनकी ये अमूल्य कृतियाँ अनुपम देन है।

(ख) बँगला के रचित ग्रन्थ

सस्कृत के अतिरिक्त इन्होने अपनी मातृभाषा की भी अलौकिक सेवा की है। इन्होने (१) श्रीमद्भागवत और (२) अध्यात्मरामायण का सरल बँगला मे अनुवाद किया है। इसके अतिरिक्त इन्होने (३) महाकवि भवभूतिविरचित मालतीमाधव नाटक, (४) श्रीहर्षवर्धन द्वारा रचित रत्नावली नाटिका तथा (५) दण्डी के दशकुमारचरित का बँगला भाषा मे अनुवाद प्रस्तुत कर सस्कृत के नाटको की माधुरी का आनन्द अपने बगीय बन्धुओ को प्रदान किया है। इन्होने शकराचार्य के भक्तिमूलक ग्रन्थो का भी दो खण्डो मे प्रकाशन किया है। इस प्रकार तर्करत्नजी काव्यरचना मे जितने निपुण थे, उतने ही कुशल दर्शनशास्त्र के ग्रन्थो की टीका लिखने मे थे। साहित्य तथा दर्शन दोनो शास्त्रो मे इनकी प्रतिभा समानरूप से प्रकाशित हुई है। 'हिन्दू रमणी' बगभाषा मे लिखा रोचक उपन्यास है जिसमे भारतीय ललना का उज्ज्वल चरित्रचित्रण किया गया है

देवी-भाष्य

प० तर्करत्न ने ब्रह्मसूत्र के ऊपर 'देवीभाष्य' की सस्कृत मे रचना की है जो प्राचीन आचार्यों के भाष्यो मे टक्कर लेता है। यह ग्रन्थ इनके वेद तथा तन्त्र के प्रकाण्ड पाण्डित्य का सूचक है। इससे इनकी गहन शाक्त दृष्टि का तथा शाक्त धर्म के प्रति अभिनिवेश का पता चलता है। इनका कहना है कि वेदान्ती लोग जिसे 'ब्रह्मतत्त्व' के नाम से अभिहित करते है, वही 'ब्रह्म' शक्तिपद वाच्य है ब्रह्म शक्ति से भिन्न कोई पदार्थ नही है। अपने इसी सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए इन्होने सम्पूर्ण 'ब्रह्मसूत्र' के ऊपर नाना तर्कों तथा युक्तियो से सवलित, वैदिक तथा तान्त्रिक प्रमाणो से परिपुष्ट महनीय भाष्य का निर्माण किया है जो इनके जीवन की महती उपलब्धि है।

'ब्रह्मसूत्र' के द्वितीय सूत्र की इन्होने जो शक्तिपरक व्याख्या की है वह इस प्रकार है –

'जन्माद्यस्य यत ' (ब्रह्मसूत्र १।१।२) इस सूत्र के प्रथम पद का पदच्छेद समस्त आचार्यों

के अनुसार यह है—जन्मादि अस्य यत । अर्थात् इस जगत् का जन्म, स्थिति तथा लय जिसके द्वारा सम्पन्न होता है वही ब्रह्म है। परन्तु प० पञ्चानन तर्करत्न ने इस सूत्र का पदच्छेद इस प्रकार किया है—जन्म आद्यस्य यत । अर्थात् जिनसे आद्य अर्थात् प्रथम उत्पन्न होने वाले ब्रह्माजी का जन्म हुआ वही ब्रह्म है। अब प्रश्न यह है कि ब्रह्मा का जन्म किससे हुआ ? इस प्रश्न के उत्तर मे पञ्चरत्नजी ने ऋग्वेद के देवीसूक्त (१० १२५।५) का यह प्रमाण दिया है—

'य कामये त तमुग्र कृणोमि त ब्रह्माणम्' अर्थात् मै (देवी) जैसा चाहती हूँ वैसा ही रुद्र तथा ब्रह्माजी की सृष्टि करती हूँ। इतना ही नही, दुर्गासप्तशती मे ब्रह्माजी के द्वारा आद्या शक्ति की स्तुति मे भी यही बात कही गई है

"विष्णु शरीरग्रहणमहमीशान एव च । कारितास्ते ॥" अर्थात् हे देवि ! विष्णुजी, मेरा (ब्रह्माजी) तथा शिवजी का शरीरग्रहण आपके ही द्वारा हुआ है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के आरम्भ और मध्य मे भी शक्तिरूप से ब्रह्म का निर्देश किया गया है। इस उपनिषद् के अन्त मे शक्ति शब्द का स्पष्ट निर्देश न होने पर भी शक्ति के स्वरूप का सकेत प्राप्त होता है। यथा

> यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
> त ह देवमात्मबुद्धिप्रकाश मुमुक्षुर्वै शरणमह प्रपद्ये ॥

श्वे० उ० ६ ।१८

इस मन्त्र का तात्पर्य यह है कि जगत् के मूल कारण का निश्चय करने के लिए ऋषिगण समाधि मे लीन हो गये उन्हे योगदृष्टि मे यह प्रत्यक्ष हुआ कि काल, स्वभाव, अदृष्ट आदि अनेक कारणो का मूल कारण स्वगुणो से निगूढा एक देवात्मशक्ति है। देव शब्द का अर्थ है द्योतमान, जिसका तात्पर्य है स्वप्रकाश। आत्मशक्ति का अर्थ है चित् शक्ति, जो स्वगुणो से अर्थात् अपने से सबन्धित होने वाले सत्त्व, रज और तमोगुण से (अचित् शक्ति से) छिपी हुई रहती है। अत चित् शक्ति अकेले न होकर अचित् शक्ति से सवलित है। इस प्रकार चित् और अचित् शक्ति के सम्मिलन का ही नाम ब्रह्म है।

इसी प्रकार तर्करत्नजी ने ब्रह्मसूत्र के सभी सूत्रो की शक्तिपरक व्याख्या बडी योग्यता से की है। इन्होने अर्थों की पुष्टि मे वेद शास्त्रो से समुचित प्रमाण भी दिये है। इस प्रकार इनकी अलौकिक विद्वत्ता तथा अगाध पाण्डित्य का पता चलता है। आजतक किसी भी आचार्य ने ब्रह्मसूत्र का शक्तिपरक अर्थ नही किया है। सर्वप्रथम तर्करत्नजी ने ही इस महाकठिन ग्रन्थ की शक्तिपरक मौलिक व्याख्या की है। अत इनका शक्तिभाष्य अनेक दृष्टियो से नितान्त मौलिक रचना है जो इनकी अलौकिक प्रतिभा तथा प्रकाण्ड वैदुष्य का प्रतिपादक है। इनके अन्य ग्रन्थो के नाम भले नष्ट हो जायँ, परन्तु केवल इस शक्तिभाष्य के कारण इनकी कीर्ति सदा अजर अमर रहेगी और ब्रह्मसूत्र के व्याख्याकार महान् आचार्यों में इनकी गणना सदा होती रहेगी।[१]

न्यायशास्त्र तो तर्करत्नजी का अपना विषय ही ठहरा। इस विषय में इनकी विद्वत्ता का क्या कहना है। यहाँ इनके दो लेखो की ही चर्चा की जायेगी जिनसे इनके न्यायशास्त्र के अतिरिक्त अन्य शास्त्रो मे भी प्रकाण्ड पाण्डित्य का पता चलता है। 'कल्याण' पत्रिका के

१ कल्याण— शक्ति अक, सन्१९३४, गीताप्रेस, गोरखपुर।

'ईश्वराक' मे तर्करत्नजी ने 'न्यायदर्शन मे ईश्वर' शीर्षक एक लेख लिखा था।[1] इस लेख मे न्यायदर्शन के सूत्रो का विशिष्ट तथा मौलिक अर्थ करके इन्होने ईश्वर की सिद्धि की है। न्यायसूत्रो के कुछ सूत्रो का अर्थ इतना नवीन तथा मौलिक है कि वह विद्वानो को भी आश्चर्य मे डाल देता है। इनका दूसरा लेख 'कल्याण' के 'कृष्णाक' मे कृष्णतत्त्व के नाम से प्रकाशित हुआ था।[2] पुराणो, महाभारत और भागवत मे कृष्ण का तीन रूपो मे वर्णन उपलब्ध होता है—(१) योगसिद्ध पुरुष के रूप मे, (२) अशावतार और (३) पूर्णावतार के रूप मे। इन तीनो रूपो मे सामञ्जस्य कैसे स्थापित किया जाय यह एक महान् समस्या है। तर्करत्नजी ने अपने उपर्युक्त लेख मे न्याय, साख्य, वेदान्त आदि दर्शनो का प्रमाण देकर वैष्णव मत की दृष्टि से इन तीनो मे अविरोध दिखलाने का सफल प्रयास किया है। इस समन्वय को स्थापित करने मे युक्ति, तर्क तथा शास्त्रवचनो का बडा सुन्दर ऊहापोह किया गया है। इससे लेखक के विस्तृत ज्ञान, अगाध पाण्डित्य तथा विवेचनाशक्ति का पूर्ण परिचय मिलता है।

तर्करत्नजी मे काव्यप्रतिभा भी विशेष चमत्कारिणी थी। जीवन के आरम्भकाल मे, अपनी छात्रावस्था मे ही ये कविता तथा कहानी लिखा करते थे। इन्होने आगे चलकर बगाल की प्रसिद्ध पत्र पत्रिकाओं मे, जिनमे वगवासी, विद्योदय, नवजीवन, प्रतिभा तथा जन्मभूमि मुख्य है, अनेक शास्त्रीय प्रबन्धो तथा साहित्यिक कथा कहानियो को भी प्रकाशित कराया था। ऐसे धुरन्धर विद्वान् का निधन काशीधाम मे ही १३४६ बगाब्द के आश्विन मास मे हुआ।

तर्करत्नजी के सुयोग्य पुत्र श्रीजीव भट्टाचार्य अपने पिता के समान ही सस्कृत के प्रख्यात कवि है। उनका सक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है–

श्री श्रीजीव भट्टाचार्य का जन्म पश्चिम बगाल के जिला चौबीस परगना मे भाटपाडा मे सन् १८९३ मे हुआ। बगाल सस्कृत समिति के काव्यतीर्थ, व्याकरणतीर्थ तथा न्यायतीर्थ की प्राच्य उपाधि प्राप्त करने के उपरान्त आपने कलकत्ताविश्वविद्यालय मे सस्कृत मे एम० ए० परीक्षा विशिष्टता के साथ पास की। बगाल सरकार द्वारा आपको अनुसन्धान छात्रवृत्ति भी प्रदान की गई, तत्पश्चात् आप कलकत्ता व जादवपुर विश्वविद्यालयो मे २५ वर्ष से अधिक समय तक सस्कृत के प्राध्यापक रहे। इस समय (१९६९ ई०) आप भाटपाडा सस्कृतकालेज के अवैतनिक प्रधानाचार्य है।

श्री श्रीजीव भट्टाचार्य सस्कृत के एक विशिष्ट विद्वान् है और आपने लगभग २५ सस्कृत नाटको तथा कुछ कविताओं की रचना की है। आपका प्रथम सुखान्त नाटक 'भट्टसकटम्' सन् १९२५ मे प्रकाशित हुआ। इसके उपरान्त इस क्षेत्र मे आपने अनेको रचनाएँ की, जैसे सात अको का एक नाटक 'निगमानन्दचरितम्' (१९५२), तीन अको का नाटक 'विवेकानन्दचरितम्' (१९६२), पाँच अको का एक नाटक 'महाकविकालिदासम्' (१९६२), तथा 'कुमारसम्भवम्' का भी सन् १९६५ मे नाटकीकरण किया गया। अग्रेजी, बँगला व सस्कृत मे आपके भाष्य व प्रस्तावना के साथ एक सौ कविताओं का एक सग्रह 'सारस्वतशतकम्' सन् १९६५ मे कलकत्ता-विश्वविद्यालय ने प्रकाशित किया। 'गाण्डवविक्रमम्' नामक एक दरबारी महाकाव्य सन् १९६७ मे जादवपुर-विश्वविद्यालय की सस्कृत-पत्रिका मे प्रकाशित किया गया।

---

१ कल्याण—ईश्वराक—१९३० ई०, गीताप्रेस, गोरखपुर।

२ 'कल्याण'—कृष्णाक-वर्ष ६, अक १, अगस्त १९३१ ई०, गोरखपुर।

विशिष्ट अध्यापक तथा लेखक के रूप मे श्री श्रीजीव भट्टाचार्य ने सस्कृत-पाण्डित्य के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

श्रीजीव मे प्रहसन रचना की विशिष्ट प्रतिभा है। वर्तमान समय की सामाजिक कुरीतियो को अपने प्रहसनो के द्वारा मिटाना इनका प्रधान लक्ष्य है। **साम्यसागरकल्लोल** मे साम्यवादियो की तीव्र आलोचना है, तो **विवाहविडम्बन** मे वैवाहिक वैषम्य की कटु समीक्षा है। रास पर आधारित कर इन्होने गीति रूपको का भी निर्माण किया है जिनमे **गिरिसवर्धन** एव **श्रीकृष्ण-कौतुक** प्रमुख है। इनके नाटको मे अको की भी भिन्नता है। बडे नाटक तो पॉच अको मे है, छोटे नाटक दो अको मे है तथा एकाकी नाटको की प्रचुरता है। कलकत्ताविश्वविद्यालय की शताब्दी के अवसर पर **शतवार्षिकम्** नामक रूपक का अभिनय किया गया था जो सर्वत्र प्रशसनीय माना गया था। इसी प्रकार उज्जयिनी के कालिदासजयन्ती समारोह मे इनका पाँच अको मे विभक्त **महाकविकालिदासम्** नामक नाटक का अभिनय नितान्त लोकप्रिय तथा आवर्जक था।

पण्डित श्रीजीव भट्टाचार्य को सस्कृत गीतियो के प्रणयन मे अपूर्व सफलता प्राप्त है जो नितान्त आकर्षक, मधुर मजुल है। दो गायनो के उदाहरण यहाँ दिये जाते है। **विप्लवगान** की एक कड़ी देखिए—

जय जय विप्लव जय विद्रोह
लुट्यतु भारतजनगणमोह
श्रमिकजनाना कुरु सघटनम्।
कर्षक - हर्षक - परभूहरण
मारय धनिन करधृतलोह ॥

रामगीति का नमूना पढ़िए –

भज रामचन्द्रमविरामम्
मधुरमुग्धतनुधरमभिरामम्।
सीता-करतल-शतदल-लालित-
भरत-नयन-जलधारा-क्षालित
नम्रहनूमदग्रस्तकपालित-
पदयुगमात्मारामम् ॥

शिवगीति का अश देखिए –

जय देव दिगम्बर शुभ्रकलेवर
भूधरपीवर देहि दयाम्।
एहि ममान्तरमभ्रमन्त्रधर
चिन्मय भास्वर तारय माम् ॥

इन कतिपय उद्धरणो से पाठको को इनकी गीतिमयी प्रतिभा तथा रूपकमय विन्यास का सद्य परिचय प्राप्त हो जाता है, सुयोग्य दार्शनिक पिता की सुयोग्य साहित्यिक सन्तान होने का यह अनुपम सामञ्जस्य विद्वानो के परमाह्लाद का कारण है। २७ रूपको की विशुद्ध सस्कृत मे रचना नितान्त श्लाघ्य है।

पं० देवनारायण त्रिपाठी



पं० रामाज्ञा पाण्डेय

४६

पण्डित देवनारायण त्रिपाठी (तिवारीजी)

(आस्पद—तिवारी, उपाधि—व्याकरणसार्वभौम)

पंडित देवनारायण त्रिपाठी पण्डितमण्डली मे 'तिवारीजी' के नाम से विख्यात थे। ये भाष्यान्त व्याकरण के प्रौढ तथा प्रवीण पण्डित थे। अध्यापक रूप मे इनकी ख्याति इतनी विपुल तथा विस्तृत थी कि इनके यहाँ पढ़ने वाले विद्यार्थियो का ताँता लगा रहता था। इनके अध्यापन की शैली बडी ही विचित्र थी। इन्होने व्याकरणशास्त्र के मूर्धन्य ग्रन्थो का इतना गम्भीर मनन किया था कि समस्त शास्त्र इनकी जिह्वा पर विद्यमान थे। इनकी अध्यापनपद्धति की विशेषता यह थी कि पाणिनि के किसी सूत्र की व्याख्या करते समय उस सूत्र के सम्बन्ध मे जो कुछ व्याख्यान अनेक ग्रन्थो मे यहाँ तक कि महाभाष्य मे भी किया गया है, उसे ये एक साथ छात्रो को पढ़ा दिया करते थे। इससे इनके शिष्यो को विभिन्न टीकाग्रन्थो मे लिखित विवेचन का साराश एक साथ ही सुगमता से प्राप्त हो जाता था

तिवारीजी का आचरण बडा ही सात्त्विक था। अध्ययन तथा अध्यापन, पूजन और पाठ छोडकर इनके जीवन मे दूसरा कोई स्थान नही था। सन्तति के अभाव के कारण ये एक विरक्त पुरुष का जीवन व्यतीत करते थे काशी की पण्डितमण्डली मे एव शिष्यो मे तिवारी जी अपने सरल स्वभाव, साधु जीवन एव निर्मल आचरण के लिए प्रसिद्ध थे।

जन्म एवं अध्ययन

बिहार मे श्राद्ध के लिए प्रधान तीर्थस्थान होने के कारण गया की प्रसिद्धि चिरकाल से चली आ रही है। इसलिए धर्मशास्त्र का कहना है कि मनुष्य को अनेक पुत्रो की कामना करनी चाहिए क्योकि उनमे से कोई एक भी सुयोग्य निकल जाय तो गया मे जाकर अपने पितरो का श्राद्ध तो करेगा जिससे सब पितृगण तर जायेगे गया क्षेत्र के समीपस्थ पुनपुन नदी के किनारे स्थित एक गाँव मे तिवारीजी का जन्म वि० स० १९२३ (१८६६ ई०) मे हुआ था। इनके पिता का नाम रामचरण त्रिपाठी था। ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे। पिता ने नियमत जन्म के बारहवे दिन इनका नाम 'देवनारायण' रखा। कुछ लोग इनको हरिनारायण के नाम से भी जानते है। ये बालकपन से ही बडे प्रतिभासम्पन्न तथा विनयी थे। अपने सच्चरित्र के कारण ही इस बालक ने शाकद्वीपी विद्वान् पं० **विश्वेश्वर दत्तजी** का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। विश्वेश्वर दत्तजी एक साधारण विद्वान् न होकर टिकारी मे राजगुरु थे। इन्ही विद्वान् से तिवारीजी ने व्याकरण शास्त्र का विधिवत् अध्ययन किया। यहाँ ही इन्होने भाष्यान्त व्याकरण मे व्युत्पत्ति प्राप्त की। इसके पश्चात् इनका ध्यान काशी चलकर अपनी विद्या मे पूर्णता प्राप्त करने की हुई। अतएव इन्होने काशी आकर म० म० प० शिवकुमार शास्त्री और प० दामोदर शास्त्री के चरणो मे बैठकर व्याकरण का प्रगाढ़ अध्ययन किया। इन दोनो दिग्गज वैयाकरणो के सम्पर्क मे आकर इन्होने अपनी विमल प्रतिभा के द्वारा नये नये परिष्कारो का

आविष्कार करके काशी की विद्वन्मण्डली को आश्चर्यचकित कर दिया। इन्होंने अनेक पण्डितों के आग्रह करने पर **व्याकरणाचार्य** की परीक्षा **पण्डित भवानीदत्त दीक्षित** के नाम से दी और उपाधि प्राप्त की। और व्याकरण शास्त्र में सर्वश्रेष्ठ उपाधि आचार्य प्राप्त की। ये उस वर्ष के उत्तीर्ण वैयाकरण छात्रों में सर्वप्रथम हुए थे। तिवारीजी का अध्यापन कार्य इसी काशी में प्रारम्भ हुआ।

श्रीचन्द्र-पाठशाला की स्थापना

श्रीचन्द्रजी गुरु नानक के ही पुत्र थे। गुरु नानक ने अपना एक अलग ही सिख सम्प्रदाय स्थापित किया। श्रीचन्द्रजी ने उससे हट कर एक अलग ही सप्रदाय चलाया जो **उदासीन संप्रदाय** के नाम से प्रसिद्ध है। इस सप्रदाय मे वेदान्त तथा मीमासा, न्याय आदि शास्त्रों में निपुण अनेक विद्वान् उत्पन्न हुए। काशी में उनके अनेक मठ है जो **उदासीन मठ** के नाम से प्रसिद्ध है। सिन्ध मे कभी नितान्त प्रसिद्धि पाने वाला 'साधुबेला मठ' भी काशी में विराजमान है और उदासी सप्रदाय में विद्वानो को तैयार करने के लिए अपना अलग महाविद्यालय स्थापित कर शिक्षादान मे प्रवृत्त है। श्रीचन्द्र-पाठशाला के सस्थापक **स्वामी गोविन्दानन्दजी महाराज** थे। कालान्तर में उन्ही के शिष्य और बडे ही कर्मठ साधु, वेदान्तकेशरी **स्वामी दर्शनानन्दजी** ने अपनी व्यवहार-निपुणता से इस कालेज की विशेष उन्नति की। वे इस कालेज के प्रिन्सिपल थे और इस कालेज के अभ्युदय के लिये सदा प्रयत्नशील थे। इस पाठशाला के स्थापन का उद्देश्य यही था कि उदासीन सप्रदाय मे दीक्षित नवीन साधुओं को वेदान्त तथा भारतीय दर्शन की विधिवत् शिक्षा दी जाय जिसमे वे समाज तथा सम्प्रदाय की उन्नति में महत्त्वशाली कार्य करने के सुयोग्य अधिकारी बने।

प० देवनारायण त्रिपाठी ने इसी श्रीचन्द्र पाठशाला मे आरम्भ मे अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया। अध्ययन मे ये जितने विद्वान् थे, उतने ही कुशल ये अध्यापन मे भी सिद्ध हुए। इनके अध्यापन की कीर्ति काशी मे खूब प्रसिद्ध हुई, नये पण्डितो मे ये इस विषय मे प्रथम कोटि के गिने जाते थे। हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत सस्कृत महाविद्यालय की स्थापना के अनन्तर व्याकरण के पद के लिए एक सुबोध तथा लब्धकीर्ति विद्वान् की आवश्यकता प्रतीत हुई। महामना प० मालवीयजी की दृष्टि इन पर पडी और उन्होने अपने महाविद्यालय मे व्याकरण के पद पर इनकी नियुक्ति १६१६ ई० में कर दी। ६ महीना नही बीतने पाये कि सस्कृतकालेज के अध्यक्ष डॉ० गगानाथ झा ने इन्हे अपने कालेज मे व्याकरण के पद पर नियुक्त किया। अपनी मातृसस्था के प्रति गाढ अनुराग होने के कारण इन्होने विश्वविद्यालय कालेज की नौकरी छोड़ दी तथा सस्कृतकालेज की नियुक्ति को ग्रहण कर लिया। इन्होने १६२० ई० से लेकर १६३८ ई० तक लगातार १८ वर्षों तक इस कालेज की सेवा की। यहाँ अध्यापन कार्य मे उनकी अनिन्दित कीर्ति का और भी प्रसार हुआ और ये व्याकरण शास्त्र के मूर्धन्य अध्यापक होने की सार्वभौम कीर्ति से मण्डित हो गये। इनका काशीवास सन् १६४१ मे हुआ।

सात्त्विक व्यक्तित्व

तिवारीजी का सात्त्विक जीवन पण्डितों के लिए भी अनुकरणीय एवं समादरणीय था। ये अत्यन्त दयालु, धर्मानुष्ठान में तत्पर तथा अत्यन्त संयमी थे। आप परोपकारी, उदाराशय तथा दीन-दुखियों के सच्चे सहायक थे। इस विषय में इनका चरित्र बडा ही निर्मल तथा उदात्त

था। एक निर्धन ब्राह्मण को कन्या के विवाह आदि मागलिक कार्यों मे इन्होने स्वार्जित द्रव्य मे से सात सौ रुपयो की सहायता दी थी। इनकी दयालुता की वह कहानी नितान्त प्रसिद्ध है जिसमे कहा जाता है कि इनसे उधार लेने वाले व्यक्ति की आकस्मिक मृत्यु हो जाने पर इन्होने उसकी पत्नी को गहना बेच कर रुपया चुकाने से ही नही रोका, अपितु एक सौ रुपया अलग से देकर उमके और्ध्वदैहिक कार्य मे सहायता पहुँचाई। कर्जे का रुपया बिल्कुल छोड दिया। ऐसे उदारचेता भगवत्परायण तथा छात्रो को विद्या वितरणशील पण्डितजी की जितनी प्रशसा की जाय, वह सब थोडो ही है।

तिवारीजी आचारवान् पुरुष थे। इनका नित्य का नियम था ब्राह्ममुहूर्त मे उठकर गगास्नान करना और विश्वनाथ तथा अन्नपूर्णा का दर्शन करना। एक दिन ये मणिकर्णिका घाट पर स्नान करने के लिए गये। वहाँ स्नान करके किसी काष्ठफलक पर बैठकर ये पूजा कर ही रहे थे कि अचानक गगा मे गिर गये और नही इन्होने गगामाता की गोद मे ही पञ्चत्व को प्राप्त कर लिया। इनको कोई सन्तान नही थी जो इनकी अन्त्येष्टि क्रिया सम्पादित करती। अत इनके प्रिय शिष्य पण्डित सभापति उपाध्याय ने इनका दाहसस्कार तथा श्राद्ध आदि सस्कारो को बडे अनुराग तथा निष्ठा से सम्पन्न किया।

"तिवारीजी बडे उदारचेता व्यक्ति थे। उन्हे प्राय सभी ग्रन्थ कण्ठस्थ थे। वे कभी भी पुस्तक हाथ मे लेकर नहीं पढ़ाते थे। वे प्रातकाल सस्कृतकालेज मे पढ़ाते थे और मध्याह्नोत्तर उदासी सम्प्रदाय के सगत मे, जो कचौड़ीगली के समीप था, पढ़ाते थे। पण्डितो के सकुचित होने से आर्यसमाजी छात्रो को प्राय प्रच्छन्न रूप मे पढ़ना पडता था। इसके विपरीत तिवारीजी थे, जिनके मन मे किसी प्रकार का भेदभाव नही था। कोई भी व्यक्ति चाहे वह किसी सम्प्रदाय या वर्ण का हो, सबको अत्यन्त प्रेम से पढ़ाते थ।" इनके उदारचेता होने का निर्देश तिवारीजी के ही एक आर्यसमाजी शिष्य महामहोपाध्याय प० युधिष्ठिर मीमासक ने अपने आत्मपरिचय[१] ग्रन्थ मे ऊपर के वाक्यो मे किया है।

तिवारीजी की शिष्यपरम्परा बड़ी लम्बी है। इनके पढ़ाये हुए अनेक विद्वान् शिष्य है जिन्होने तिवारीजी की गुरु शिष्य परम्परा को आज भी अक्षुण्ण बनाये रखा है। इनमे से प्रसिद्ध तथा प्रधान केवल तीन शिष्यो का वर्णन यहा दिया जाता है।

(१) पण्डित रामाज्ञा पाण्डेय
(आस्पद—पाण्डेय, उपाधि—वैयाकरण-विचक्षण)

पण्डित रामाज्ञा पाण्डेय तिवारीजी की शिष्यमण्डली मे लब्धकीर्ति विद्वान् थे। उत्तर प्रदेश के सबसे पूर्वी मण्डल बलिया जनपद के 'रतसड़' गॉव मे इनका जन्म एक सदाचारी श्रीवैष्णव मतानुयायी ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। आज से अस्सी पचासी वर्ष पूर्व तिवारी जी से व्याकरण अध्ययन करने के अतिरिक्त इन्होने पण्डित दामोदर शास्त्री, गगाधर शास्त्री तथा शिवकुमार शास्त्री से भी शब्दखण्ड के उच्चस्तरीय ग्रन्थो का विधिवत् अध्ययन किया। आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण होने के बाद अनेक वर्षों तक 'साधोलाल स्कालर' के रूप मे इन्होने डॉ० वेनिस से भी उपयोगी अनेक नवीन विषयो का श्रवण तथा मनन किया जिससे इनकी प्रतिभा का विमल प्रसार तथा परिष्कार सम्पन्न हुआ। व्याकरण शास्त्र मे दार्शनिक तत्त्वो का

---

१ युधिष्ठिर मीमासक आत्मपरिचय (प्रकाशक वे स्वय, बहालगढ़, पानीपत, हरियाणा। १९८८ ई०), पृ० १५०-५१।

अन्वेषण तथा शोध करने की इनकी प्रवृत्ति का उदय तभी से हुआ। इस विषय की मीमासा मे ये जीवन भर लगे रहे और सुदीर्घचिन्तन के परिणामस्वरूप इन्होने व्याकरण दर्शन के तत्त्वो का विस्तृत विवेचन तीन भागों मे किया, जिनमे तीसरा भाग (प्रतिमा) उनके निधन के अनन्तर अभी (१९७८ ई० मे) प्रकाशित हुआ है। इनके जीवनकाल मे ग्रन्थ के दो भाग (भूमिका तथा पीठिका) सस्कृत विश्वविद्यालय से क्रमश १९५४ ई० तथा १९६५ ई० मे प्रकाशित हो चुके थे और अन्तिम खण्ड भी वही से प्रकाशित हुआ है।

पण्डितजी ने अध्ययन तो काशी मे ही जमकर किया, परन्तु इनकी प्रतिभा का प्रसाद काशीस्थ छात्रो को न मिलकर उत्कल के सस्कृत-छात्रो को प्राप्त हुआ और बहुत दिनो तक प्राप्त हुआ। काशी मे इन्होने अध्यापन भी किया था, परन्तु लगभग १९२१ २२ ई० मे इनकी नियुक्ति पुरी (जगन्नाथपुरी) के सरकारी सस्कृतकालेज मे व्याकरण की गद्दी पर हो गई। यहाँ रहकर इन्होने अनेक उत्कलीय छाओं को पाणिनि-व्याकरण की शिक्षा देकर सुबोध वैयाकरण बनाया। तथ्य तो यह है कि उत्कल देश मे पाणिनीय व्याकरण के प्रथम प्रचारक के रूप मे रामाज्ञा पाण्डेय को प्रत्येक उत्कलीय विद्वान् अवश्य सम्मान देगा और याद करेगा, क्योंकि इनसे पूर्व वहाँ पाणिनि व्याकरण की शिक्षा का नितान्त अभाव था। इन्होने ही वहाँ के छात्रो मे इस दार्शनिक व्याकरण की ओर अभिरुचि जाग्रत की। पुरी के अध्यापन-काल मे इनके अनेक सुयोग्य शिष्य तैयार हुये जिनमे प्रमुख हैं डॉ० प्रह्लाद प्रधान, सदाशिव मिश्र, चिन्तामणि मिश्र तथा लिङ्गराज मिश्र। उत्कल के अलग हो जाने पर ये राँची जिलास्कूल के १९३४ ई० मे पण्डित नियुक्त किये गये। चरित्र तथा विद्वत्ता के कारण स्कूल मे इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी प० हरिशकर पाण्डेय के सेवानिवृत्त होने पर पटनाकालेज मे सहायक प्रोफेसर के पद पर नियुक्ति हुई (१९४० ४१ ई०)। वहीं व १९४५ ई० तक अध्यापन करते रहे और वही से अवकाश ग्रहण किया। राँची मे स्कूल जब इण्टर कालेज हो गया तब स्कूलमास्टर के रूप मे पदोन्नति हुई थी। ये बडे आचारनिष्ठ व्यक्ति थे सदाचारी इतने कि मुसलमान की दूकान से नमक भी नही खरीदा, न कभी साथ बैठे।

राँची स्कूल मे ही सुभद्र झा इनके प्रिय छात्र थे जो इनकी ही प्रेरणा से काशी मे आये। झाजी इन्हे बडे आदर तथा सत्कार मे मानते थे। **डॉ० सुभद्र झा** बडे सुयोग्य विद्वान् थे। भाषाशास्त्र मे उनकी बडी प्रौढ़ता थी। वे विशेष अध्ययन के लिए यूरोप भी गये थे। जर्मन भाषा का ज्ञान नितान्त प्रशसनीय था। इन्होने जर्मन भाषा से डॉ० विन्टरनित्स के सस्कृत लिटरेचर के अन्तिम भाग का तथा डॉ० पिशल के प्राकृत व्याकरण विषयक प्रौढ़ ग्रन्थ का अँग्रेजी मे अनुवाद किया जो नितान्त उपादेय एव श्लाघनीय साहित्यिक कार्य है। इसे वे गुरु की कृपा का परिणत फल मानते थे। तदनन्तर सस्कृतकालेज काशी मे इन्ही के प्रशसक सहृदय सुहृद् बाबू सम्पूर्णानन्दजी ने इन्हे व्याकरण-सम्बन्धी शोधकार्य को पूर्ण करने के लिए छात्रवृत्ति नियत कर दी जिससे इन्होने अपने चिर अभिलषित तथा परिश्रम साध्य शोधग्रन्थ को पूर्णता पर पहुँचा दिया। हाल ही मे इनका निधन अपने ही गाँव मे हुआ। नारायण की कृपा से इनका भरा-पूरा परिवार है जिसमे इनके आधे दर्जन पुत्र सुशिक्षित होकर विशिष्ट पदो पर कार्य करते हैं।

व्याकरणदर्शन

इन्होने व्याकरण के दार्शनिक रूप को परिष्कृत करने मे अपना पूरा समय लगाया। व्याकरण एक प्रौढ़ दर्शन है जिसमे दार्शनिक सम्प्रदाय होने की पूर्ण क्षमता है। प्रातिशाख्य

(समस्त वैदिक संहिताओं से सबद्ध अनेक ग्रन्थ), निरुक्त, पातञ्जल महाभाष्य, भर्तृहरि के वाक्यपदीय तथा नागेशभट्ट की सिद्धान्तमञ्जूषा में व्याकरण का दार्शनिक रूप, उसके वर्ण-सिद्धान्त, पदार्थ-चिन्तन आदि विषयों का गम्भीर विवेचन किया ही गया है। पण्डित रामाज्ञाजी ने अपनी प्रखर बुद्धि से इनका ऊहापोह बड़ी गम्भीरता तथा छानबीन के साथ किया है। फलत इनका **व्याकरण-दर्शन** नामक ग्रन्थ तीन खण्डो मे विभक्त है—(१) भूमिका, (२) पीठिका तथा (३) प्रतिमा। और इनमें विषय के विवेचन मे उनकी गम्भीर गवेषणाबुद्धि का पदे पदे परिचय पण्डितो को मिलता है। प्रथम खण्ड की प्रस्तावना मे पाण्डेयजी ने अपनी गुरुचतुष्टयी का उल्लेख किया है और लिखा है कि अन्तिम गुरु पण्डित शिवकुमार शास्त्रीजी उनका विवेचन सुनकर नितान्त प्रफुल्लित तथा आनन्द-गद्गद हो जाते थे। इनकी विलक्षण बुद्धि के विषय मे इनके सहयोगी सतीर्थ्य नारायणशास्त्रीजी ने इनका मूल्याकन इन शब्दो मे ठीक ही अंकित किया है

नास्त्येकोऽपि तथाविधोऽत्र विषयो यस्मिन्न तेषां मति-
र्व्यापारं विदधाति सर्वविषयोदर्व्वाद्धियो ये सदा।
पाश्चात्त्येषु गवेषणादिविषयेष्वप्युच्छलत्कौशला
रामाज्ञेति यथार्थ-नामकलिता राजन्त्यमी पण्डिताः॥

(२) पण्डित नृसिंह त्रिपाठी
(आस्पद त्रिपाठी; उपाधि - व्याकरणवाचस्पति)

इनका प्रसिद्ध नाम नृसिंह त्रिपाठी था। ये गाजीपुर मडल के अन्तर्गत 'खड़िया' गाव के निवासी थे। बाल्यकाल से ही बडे प्रतिभा-सम्पन्न छात्र थे। आरम्भिक अध्ययन अपने गाँव की पाठशाला मे किया। तदनन्तर विशेष योग्यता प्राप्त करने के लिए ये काशी आये और यहाँ पर तिवारीजी के चरणो मे बैठकर व्याकरणशास्त्र के दुरूह ग्रन्थो का विधिवत् अध्ययन किया। ये तिवारीजी के नितान्त अनुगत छात्र थे। यदि इन्हे उनका पट्टशिष्य कहा जाय जिसने व्याकरणशास्त्र के अध्ययन के लिए किसी दूसरे गुरु का मुँह नही देखा, तो यह कथन कथमपि अत्युक्ति नही कहा जायेगा। व्याकरणशास्त्र की आचार्य परीक्षा म सर्वश्रेष्ठ होने के कारण इनको विशेष पारितोषिक मिला था, कई वर्षों तक पोस्ट आचार्य कक्षा मे इतर शास्त्रो के भी पढ़ने का इन्हे सुयोग प्राप्त हुआ था। न्यायशास्त्र म भी इनका अच्छा प्रवेश था। साहित्य मे भी इनकी व्युत्पत्ति बहुत अच्छी थी। यही काशी मे ही रहकर इन्होने अध्यापन कार्य आरम्भ किया।

अध्यापन

ये पहले श्रीचन्द्र-महाविद्यालय (कालेज) मे व्याकरणशास्त्र का अध्यापन तिवारीजी के साथ करते थे। तिवारीजी की सस्कृतकालेज मे नियुक्ति हो जाने पर उस कालेज के प्रधानाध्यापक पद पर ये प्रतिष्ठित हुए। आगे चलकर मारवाडीकालेज मे भी इनकी नियुक्ति प्रधानाध्यापक के पद पर हुई।

व्याकरण-ग्रन्थो के पढ़ाने मे इनकी कीर्ति अपने गुरु के समान ही सातिशय थी। अध्यापन के साथ साथ इन्होने ग्रन्थलेखन का भी कार्य किया। इनके दो ग्रन्थ प्रसिद्ध है—(१) **मुक्तावली-प्रकाश** (२) **वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड-टीका**। मुक्तावलीप्रकाश[१] लघुरूप ग्रन्थ है।

१ प्रकाशक—गिरिजाप्रसाद शर्मा, गाजीपुर, स० १६८६।

इसमे न्यायमुक्तावली के शब्दखण्ड का व्याख्यान प्रश्नोत्तर रूप मे किया गया है। इस ग्रन्थ की प्रशसा काशीनाथ पण्डितजी ने बडे ही उदार शब्दो मे की है। ग्रन्थकार का लक्ष्य न्याय के कठिन तत्त्वो को छात्रो के लिए सरल सुबोध बनाना है और इस लक्ष्य मे वे सर्वथा सफल है।

वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड टीका[१]—इस टीका का नाम 'प्रकाश' टीका है। यह वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड के ऊपर बडी ही प्रामाणिक व्याख्या है। इस टीका के विषय मे प० काशीनाथ शर्मा का यह मत श्लाघनीय है कि इस टीका मे व्याख्यात शास्त्र के सब पदार्थ नितान्त स्फुट तथा उसी प्रकार अभिव्यक्त हैं जिस प्रकार सूर्य के आलोक मे जगत् के पदार्थ नितान्त प्रकट होते है। यह टीका बड़े ही महत्त्व की है। इसमे नरसिह त्रिपाठीजी का वैदुष्य तथा रचनाकौशल नितान्त प्रामाणिक ठहरता है।

(३) पण्डित रामप्रसाद त्रिपाठी

पण्डित रामप्रसाद त्रिपाठीजी तिवारीजी के अन्तिम दिनो मे व्याकरणागम मे सुशिक्षित होने वाले प्रतिभाशाली विद्वान् है। व्याकरण के दोनो अशो—प्रक्रिया तथा परिष्कार—मे इनका वैदुष्य प्रशसनीय है। अनेक शास्त्रार्थों मे विजय पाकर अपनी वैजयन्ती फहराने का गौरव इन्हे प्राप्त है। कुछ वर्षों तक ये हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत सस्कृत-महाविद्यालय मे व्याकरण के प्राध्यापक थे। तदनन्तर वाराणसेय सस्कृतविश्वविद्यालय मे प्राचीन व्याकरण के अध्यक्ष पद पर नियुक्त होकर इन्होने प्रौढ़ अध्यापन तथा सुव्यवस्थित ग्रन्थलेखन द्वारा विशेष कीर्ति अर्जित की है। ये जैसे प्रकृष्ट विद्वान् है, वैसे ही सफल अध्यापक भी है। ये जौनपुर मण्डल के सरयूपारीण ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न सच्चरित्र, साधु-स्वभाव तथा निश्छल व्यँवहार-सम्पन्न विद्वान् है। इनका मौलिक गवेषणामूलक शोधप्रबन्ध है—**पाणिनीयव्याकरणे प्रमाण-समीक्षा** जिसके कारण इन्हे सस्कृतविश्वविद्यालय से 'वाचस्पति' की श्रेष्ठ उपाधि प्राप्त हुई है।

व्याकरण शास्त्र एक परिपूर्ण दर्शन है। फलत उसमे प्रमेय तथा प्रमाण दोनो का विवेचन पुङ्खानुपुङ्ख किया गया है। महर्षि पतञ्जलि से लेकर महावैयाकरण नागेशभट्ट तक आचार्यों ने अपने मौलिक ग्रन्थो मे इन दोनो की विवेचना स्थान-स्थान पर अवश्यमेव की है, परन्तु उन सिद्धान्तो को एकत्र सुसम्बद्ध तथा व्यवस्थित स्वरूप देने का प्रयास बहुत कम किया गया था। इस अभाव की पूर्ति इस शोध-प्रबन्ध के द्वारा बड़ी योग्यता के साथ की गई है। अध्ययन एकागी न होकर तुलनात्मक है। तत्तत् प्रमाणो के व्याकरणदिशा स्वरूप तथा वैशिष्ट्य-निरूपण करने के पूर्व ही न्यायादि दर्शनो मे उनके बहुश विवेचित रूप का प्रमाणपुरःसर स्पष्ट प्रतिपादन कर ग्रन्थकार ने अपने विवेचन को तुलनात्मक तथा व्यापक बनाने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है।[२]



१ प्रकाशक—वेदान्त-केसरी स्वामी दर्शनानन्द, प्रिंसिपल श्रीचन्द्र-कालेज, काशी, सं० १९६४।
२ वाराणसेय सस्कृतविश्वविद्यालय, काशी के अनुसन्धानविभाग द्वारा प्रकाशित, १९७२ ई०।

पण्डित काशीनाथ शास्त्री

(आस्पद—पाण्डेय, उपाधि—वैयाकरणवाचस्पति)

पण्डित काशीनाथ शास्त्री त्याग और तपस्या की मूर्ति थे। ये अन्तर्मुख सन्त और बहिर्मुख पण्डित थे। इनका जन्म बलिया जिला के छाता नामक गाँव में हुआ था। वहीं पर पाराशर-गोत्री ब्राह्मणों के वश में चित्रधर नामक एक विद्वान् हुए। इनके छह पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र का नाम था रामटहल पण्डित, जो व्याकरणशास्त्र मे अत्यन्त निपुण थे। वृद्धावस्था में रामटहलजी को एक ही सन्तान हुई जिसका नाम काशीनाथ रखा गया।

बालकपन में ही पिता की मृत्यु हो जाने पर घर-गृहस्थी का भार इनकी माता पर पड़ा जिन्होंने इन्हे पाल-पोसकर बड़ा किया। आठ वर्ष के वय में यज्ञोपवीत संस्कार-सम्पन्न होने के पश्चात् ये अपने गाँव से थोड़ी दूरी पर स्थित सँहतवार नामक गाँव की पाठशाला में जाकर एक गुरु से सारस्वत व्याकरण पढ़ने लगे। छाता गाँव से पश्चिम की ओर दो कोस की दूरी पर सुरहा नामक ताल है। वहीं पर एक मन्दिर में रहने वाले **परमेश्वरदत्त मिश्र** नामक विद्वान् से इन्होंने सिद्धान्तकौमुदी, मनोरमा और परिभाषेन्दुशेखर का अध्ययन किया। इसके पश्चात् गुरु के आदेश से उच्च ग्रन्थों की शिक्षा प्राप्त करने के लिए ये काशी आये और अस्सी मुहल्ले में गूदड़दास के अखाड़ा में रहने लगे। इसी अस्सीघाट पर द्वारिकाधीश मदिर के निवासी प० माधवाचार्य से व्याकरण के समस्त ग्रन्थो का अध्ययन किया। काशी के ही हनुमानघाट पर रहने वाले प० सीताराम शास्त्री द्रविड़ से नव्यन्याय का तथा ब्रह्मानन्द स्वामी से वेदान्त शास्त्र का एवं प० नित्यानन्द शास्त्री से पूर्वमीमासा का विधिवत् अध्ययन किया। इस प्रकार व्याकरण तृथा दर्शन शास्त्र में इन्होंने उत्कृष्ट कोटि का ज्ञान प्राप्त किया।

काशी के ही जगतगंज नामक मुहल्ले में स्थित दर्शनानन्द स्वामी के द्वारा स्थापित एक पाठशाला में इन्होंने अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया। इसके अनन्तर दुर्गाकुण्ड के पास ही स्थित एक विद्यालय में इन्होंने कुछ दिनों तक पढ़ाया। काशीनाथजी के छात्रों में एक बहुत ही योग्य विद्यार्थी थे जिनका नाम था गंगादत्त उपाध्याय। इसी शिष्य के विशेष आग्रह पर हरिद्वार के पास स्थित गुरुकुल कांगड़ी विद्यालय में ये संस्कृत पढ़ाने के लिए गये। वहाँ पर ये लगभग बारह वर्षों तक आर्यसमाजी छात्रों का अध्यापन करते रहे। एक बार जब ये कांगड़ी से रुड़की जा रहे थे तब रास्ते में पं० नरदेव शास्त्री मिले और उन्होंने इनसे ज्वालापुर महाविद्यालय में अध्यापन करने की प्रार्थना की। शास्त्रीजी ने इनकी प्रार्थना स्वीकार कर लगातार दस वर्षों तक उस महाविद्यालय में भी विद्यादान किया। इसके पश्चात् पं० कृष्णानन्द स्वामी के आग्रह पर ये काशी आये और 'उदासीनविद्यालय' में पढ़ाने लगे। यहाँ पर दो-तीन वर्षों तक अध्यापन करने के पश्चात् इन्होंने नौकरी से अवकाश ले लिया और काशी में ही निवास कर भगवान् के भजन में दिन बिताने लगे।



पं० काशीनाथ शास्त्री

काशी मे ही भगवानदास सेठ ने इनको यावज्जीवन मासिक वृत्ति देना प्रारम्भ किया और विश्वनाथमदिर के पास ही कालिकागली के मकान में इनके निवास और भोजन की व्यवस्था कर दी। महामना मालवीय महाराज इन्हे बडे ही आदर तथा सम्मान की दृष्टि से देखते थे। उन्होने अपने विश्वविद्यालय के सस्कृतमहाविद्यालय में अध्यक्ष पद स्वीकार करने की प्रार्थना की परन्तु शास्त्रीजी ने वृद्धावस्था के कारण इस सम्मान को स्वीकार नहीं किया। मालवीयजी महाराज की इन पर इतनी आस्था थी कि सन् १९३१ ई० में गोलमेज सम्मेलन के लिए इगलैण्ड जाते समय, उन्होने शास्त्रीजी से परामर्श किया था और इनका आशीर्वाद भी प्राप्त करने के पश्चात् ही वे विदेश के लिए प्रस्थान कर सके। विलायत से लौटने के पश्चात् मालवीयजी ने विदेशयात्रा के लिए शास्त्रीजी की आज्ञा से प्रायश्चित्त भी किया।

शास्त्रीजी की सबसे बडी विशेषता यह थी कि इन्हे अपनी मातृभाषा भोजपुरी से अटूट अनुराग था। ये आपस के वार्तालाप मे तो भोजपुरी भाषा का व्यवहार करते ही थे, अपने छात्रो को भी दर्शन तथा व्याकरण की शिक्षा भोजपुरी के माध्यम से ही दिया करते थे। दर्शन शास्त्र के सूक्ष्म तत्त्वो का भोजपुरी भाषा मे उद्घाटन करना कितना कठिन है, यह तो भुक्तभोगी ही समझ सकते है। इस प्रकार पचासी वर्ष की आयु मे १९३८ ई० मे काशीनाथ जी ने काशीनाथ की सन्निधि मे ही काशीवास प्राप्त किया।

शास्त्रीजी की शिष्य परम्परा बहुत ही लम्बी है। इनके शिष्य काशी, कागडी (हरिद्वार), और ज्वालापुर महाविद्यालय मे सर्वत्र व्याप्त है। काशी मे इनके प्रधान शिष्यो मे है—प० श्यामप्रसाद शास्त्री (हिन्दूविश्वविद्यालय मे धर्मशास्त्र के अध्यापक) प० रमापति मिश्र (बम्बई के प्रधान विद्यालय के प्रिंसिपल), वामदेव पण्डित (हिन्दूविश्वविद्यालय मे साहित्य के अध्यापक), प० नरसिह त्रिपाठी (मारवाडी सस्कृतमहाविद्यालय मे प्रिंसिपल) आदि। गुरुकुल कागडी के छात्रो मे प्रधान निम्नलिखित थे प० शालिग्राम शास्त्री साहित्याचार्य। उन्होने साहित्यदर्पण की 'विमला' नामक टीका का हिन्दी मे निर्माण किया है। हरिश्चन्द्र, इन्द्रचन्द्र तथा जयचन्द्र (चन्द्रत्रयी) ये भी शास्त्रीजी के प्रधान शिष्य थे। ज्वालापुर महाविद्यालय मे रहते समय इन्होने अनेक शिष्यो को तैयार किया जिन्होने बडी विद्वत्ता प्राप्त की। इनमे कुछ के नाम ये है पं० नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ— इन्होने वेद के ऊपर अनेक ग्रन्थो का प्रणयन किया है। प० पद्मसिह शर्मा ये हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा बिहारीसतसई के व्याख्याकार है। इन्होने 'सतसई-सहार' नामक एक विश्रुत ग्रन्थ लिखा है। बाबा राघवदास इनका पूर्व नाम प० राघवेन्द्र था परन्तु बाद मे ये बाबा राघवदास के नाम से प्रसिद्ध हुए। ये सन्त होने के साथ ही एक राजनैतिक कार्यकर्त्ता भी थे। इन्होने देवरिया जिले के बरहज नामक स्थान मे अपने गुरु के नाम पर परहसआश्रम की स्थापना की। गोरखपुर तथा देवरिया जिलो मे अनेक हाईस्कूल तथा विद्यालयो की स्थापना कर इन्होने इस जनपद मे शिक्षा का प्रचुर प्रचार किया। डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री --ये भी शास्त्रीजी के शिष्य थे जो आगे चलकर हिन्दू विश्वविद्यालय मे सस्कृत विभाग के अध्यक्ष हुए।

इन विद्वान् शिष्यो की मण्डली को देखकर ही शास्त्रीजी की विद्वत्ता तथा इनके अध्यापन की प्रणाली का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। शास्त्रीजी केवल अध्यापन ही नही करते थे, बल्कि इसके साथ ग्रन्थ-रचना मे सदा निरत रहते थे। इनके द्वारा विरचित ग्रन्थो के नाम निम्नाकित है—

(१) **अनुभूतिप्रकाशव्याख्या**— विद्यारण्य स्वामी के द्वारा उपनिषदो के सारभूत सिद्धान्तो का संग्रह अद्वैतवेदान्त के विद्वानो मे अत्यन्त माननीय माना जाता है। 'अनुभूतिप्रकाश' की व्याख्या शास्त्रीजी ने इस ग्रन्थ मे की है।

(२) **महावाक्य-रत्नावली-व्याख्या**—तैलङ्ग स्वामी द्वारा रचित मूलग्रन्थ की यह व्याख्या है।

(३) **चित्सुखी**— इस वेदान्तग्रन्थ का इन्होने सपादन कर सुन्दर सस्करण निकाला है जिसमें विषम स्थलो पर टिप्पणी भी दी है।

(४) **पञ्चदशी-व्याख्या**—यह ग्रन्थ पञ्चदशी की व्याख्या है जो अभी तक अप्रकाशित है। इसकी हस्तलिखित पाण्डुलिपि काशी की सरस्वतीभवन लाइब्रेरी मे सुरक्षित रूप से रखी हुई है।

प० काशीनाथ शास्त्री के दो पुत्र हुए (१) प० हरिनाथ शर्मा और (२) प० रघुनाथ शर्मा। पण्डित हरिनाथ शर्मा दर्शन और व्याकरण के विद्वान् थे तथा काशी के एक विद्यालय मे व्याकरण का अध्यापन करते थ। ये हिन्दी के भी अच्छे ज्ञाता थे। अभी कुछ वर्ष हुए इनका देहान्त हो गया। शास्त्रीजी के दूसरे पुत्र प० रघुनाथ शर्मा है जो गवर्नमेण्ट सस्कृत कालेज मे प्राध्यापक थे और वहाँ से सेवानिवृत्त होकर अब अपने गाँव छाता (बलिया मण्डल) मे ही स्थायी रूप से रहते है।

काशीनाथ शास्त्रीजी का चरित्र बहुत ही निर्मल था। त्याग और तपस्या की ये मूर्ति थे। गृहस्थ होते हुए भी ये एषणा के पाश से मुक्त थे। अत्यन्त मेधावी मे जिन चार दोषो की सत्ता पाई जाती है उनका इनमे अभाव था—

नरो ह्यत्यन्तमेधावी चतुर्णामिह भाजनम्।
अल्पायुरनपत्यो वा, दरिद्रो वा रुजान्वित॥

ससार मे यह बहुश अनुभूत तथ्य है कि अत्यन्त मेधावी व्यक्ति मे चार दोषो का गर्हणीय अस्तित्व उसके व्यक्तित्व को कलुषित बनाने के लिए सर्वथा उद्यत रहता है। वे है—अल्पायुता, अनपत्यता (सन्तान राहित्य), दरिद्रता तथा रुग्णता। परन्तु पचासी वर्षों की दीर्घ आयु से मण्डित, विद्वान् पुत्रद्वयी से सम्पन्न, सौख्य तथा वैभव से समादृत तथा नीरोग देहयष्टि से विभूषित पण्डित काशीनाथ शास्त्रीजी अत्यन्त मेधावी होते हुए भी इन दोषो से सर्वथा मुक्त थे जो मेधावी जनो मे ऊपर बतलाये गये है। क्यो न हो ? भूतभावन बाबा विश्वनाथजी की अगाध अनुकम्पा जो उन पर विराजमान थी।



पण्डित रघुनाथ शर्मा

व्याकरण तथा वेदान्त के विशिष्ट विद्वान् होने के अतिरिक्त विलक्षण बुद्धि से सम्पन्न एक नितान्त मेधावी शास्त्रज्ञ एव व्यावहारिक बुद्धि से मण्डित ये अत्यन्त लोकव्यवहारकुशल व्यक्ति है। व्याकरण के प्रक्रिया तथा परिष्कार उभय अशो मे इनकी प्रचुर प्रतिभा का विलास दृष्टिगत होता है। भर्तृहरि के **वाक्यपदीय** जैसे दुरूह तथा दार्शनिक ग्रन्थ की विशद तथा विशाल व्याख्या का प्रणयन कर इन्होने अपने गम्भीर वैदुष्य का प्रसाद व्याकरणतत्त्व के जिज्ञासुजनो मे मुक्तहस्त से वितरित किया है यह निःसकोच कहा जा सकता है। इस व्याख्या का नाम है **अम्बाकर्त्री व्याख्या**। वाक्यपदीय की प्राचीन व्याख्याओं का निर्माण काश्मीर के ही प्रत्यभिज्ञादर्शन के प [illegible] विद्वानो ने किया है। शर्माजी ने अपनी व्याख्या मे उन टीकाओं मे अव्याख्यात अथवा अल्पव्याख्यात अशो की भी व्याख्या कर मूल ग्रन्थ को सुबोध, सरल तथा बोधगम्य बनाया है। यह व्याख्या पॉच खण्डो मे प्रकाशित है तथा वाक्यपदीय के पाठभेदो की भी मीमासा विस्तार से दो खण्डो मे की गई है।[1] इस टीका के निर्माण के लिए पण्डितसमाज प० रघुनाथ शर्माजी का चिरऋणी रहेगा। आजकल आर्यसमाज मे जो सस्कृत के तलस्पर्शी विद्वान् पाये जाते है उनमे से अधिकाश शास्त्रीजी के शिष्य रह चुके है तथा उन्ही की शिक्षा दीक्षा से मण्डित होने से इतने मान्य पद पर प्रतिष्ठित है।

इस टीका के अतिरिक्त इनकी अन्य रचनाये है–चित्रनिबन्धावली, महाभाष्य की टिप्पणी, चित्सुखी का टिप्पणीयुक्त सम्पादन, काव्यात्मक वार्तिकप्रत्याख्यान। व्याकरण तथा दर्शन विषय मे इनके अनेक निबन्ध तथा विमर्शात्मक कृतियॉ है जो हस्तलेख रूप मे विद्यमान है। वाग्देवी की आराधना मे इनकी विशेष अभिरुचि थी और इसी इष्टसिद्धि के माध्यम से इन्होने साहित्यिक रचनाये सम्पन्न की है।

पिताजी के अतिरिक्त इनके शिक्षागुरु है **पण्डित अच्युतजी त्रिपाठी** (जो काशी-हिन्दूविश्वविद्यालय मे वेदान्त तथा न्याय के अध्यापक थे), **श्रीशंकरभट्टाचार्य** (न्यायशास्त्र के प्रख्यात विद्वान् तथा सस्कृत-महाविद्यालय के प्रौढ़ नैयायिक अध्यापक) तथा स्वकीय अग्रज **पण्डित हरिनाथ शर्मा**। इनके द्वारा शिक्षित अनेक विद्वानो की गणना है जिनमे प० रामप्रसाद त्रिपाठी, डॉ० देवस्वरूप मिश्र, जगन्नाथ उपाध्याय (बौद्धदर्शन के मान्य विद्वान्) तथा प० व्रजवल्लभ द्विवेदी (तन्त्रशास्त्र के विद्वान् तथा तन्त्रग्रन्थो के सपादक) मुख्य है। इनका जन्म विक्रम स० १९५६ आषाढ़ कृष्ण एकादशी को बलिया जनपद के 'छाता' नामक ग्राम मे हुआ और इसी तिथि को वि० स० २०४६ मे ये दिवगत हुये। 'पद्मश्री' तथा लक्षरूप्यात्मक विश्वभारती पुरस्कार से ये अलकृत तथा समादृत थे।



१ इन खण्डो का प्रकाशन वाराणसेय सस्कृतविश्वविद्यालय काशी के द्वारा सम्पन्न हुआ है (१९६२–८० ई०)।



पं० सभापति उपाध्याय

पण्डित सभापति उपाध्याय

(आस्पद—उपाध्याय; उपाधि—व्याकरणबृहस्पति)

प० सभापति उपाध्याय अपनी नैष्ठिक साहित्यसेवा, त्याग-तपस्यामय जीवन तथा सात्त्विक प्रवृत्ति के कारण आधुनिक युग के पण्डितो मे विशेष सम्मान तथा आदर के पात्र थे। इन्होने इसी विद्यानगरी काशी मे अपना अध्ययन पूरा किया और यही रहकर इन्होने अपने अध्यापन-कौशल से अपनी प्रतिभा का प्रसाद विद्या के जिज्ञासुओं मे पूर्णतया बाँटा। इस प्रकार इन्होने काशी के पण्डितसमाज मे ६० वर्ष से ऊपर घुल मिलकर विद्या के वितरण मे ऐसा आदर्श उपस्थित किया जो नितान्त श्लाघनीय तथा सर्वथा अनुकरणीय है।

इनका जन्म बलिया मण्डल के पूर्वीय भाग के गगातीरवर्ती 'उदयी छपरा' गॉव मे हुआ था। इनकी जन्मतिथि है सवत् १९३७ विक्रमी भाद्रपद शुक्ल द्वितीया (१८८२ ई०)। इनके पिताजी का नाम था प० रामपलट उपाध्याय तथा माता का नाम सखीदेवी। पिता के तीन पुत्रो मे ये कनिष्ठ थे। अपने गॉव के ही प० बाबूराम उपाध्याय से इन्होने किसी साधु के द्वारा बताये गये मुहूर्त मे सारस्वत व्याकरण पढ़ना प्रारम्भ किया। अनन्तर बडकी सेरिया ग्राम के पडित राम इयादी पाठक से ज्योतिष शास्त्र पढ़ा। तत्पश्चात् ये काशी आये और यही पर व्याकरण पढ़ना प्रारम्भ किया। प० देवनारायण तिवारी (तिवारीजी) काशी मे इनके आदिम गुरु रहे। तिवारीजी की विद्या, बुद्धि, त्याग, तपस्या तथा अध्यापन-कला की कीर्ति सुनकर प्रान्त के दूर-दूर के छात्र उनके पास आते थे और अपनी अभिलाषा की विधिवत् पूर्ति कर घर लौट जाते थे। सभापतिजी ऐसे छात्रो मे अन्यतम थे। उन्ही के नाम से ये परीक्षा भी देते थे। कुछ दिनो तक ये दामोदरशास्त्री के भी बडे अनुगत छात्र थे और इन्ही की देख रेख मे इन्होने सस्कृतकालेज से व्याकरण शास्त्र की आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की। अनन्तर ये प० शिवकुमार शास्त्री से भी 'शब्दखण्ड' तथा वेदान्त का अध्ययन करते थे। इन गुरुओं की इनके ऊपर असीम कृपा थी। इसका परिणाम यह हुआ कि इनकी विद्या चमक उठी और अपने सहयोगी पण्डितो मे इन्होने विशेष कीर्ति अर्जित की।

अध्यापन

आरम्भ मे सभापतिजी ने अग्रेजी स्कूलो मे सस्कृत के अध्यापन का कार्य किया। ये कुछ दिनो तक सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल वाराणसी के सस्कृताध्यापक थे। अनन्तर काशी मिशन स्कूल—लण्डन मिशन हाई स्कूल—मे भी ये छात्रो को सस्कृत पढ़ाते थे। यह इनके अध्यापन का आरम्भिक काल था। लालघाट पर स्थित 'राजा बलदेवदास बिरला सस्कृत पाठशाला' मे इन्होने प्रधान पण्डित के रूप मे प्रतिष्ठित होकर सस्कृत-छात्रो का अध्यापन कार्य आरम्भ किया। यह सन् १९१४ की घटना है। इसके बाद जीवन भर ये इस विद्यालय की सेवा करते रहे। इस विद्यालय की उन्नति मे सभापतिजी की कार्यनिष्ठा नितान्त जागरूक रही।

बिरला-संस्कृतमहाविद्यालय का परिचय

आजकल लालघाट वाराणसी पर स्थित बिरला-संस्कृतमहाविद्यालय अपनी योग्यता, छात्र-सम्पत्ति तथा शैक्षणिक सुव्यवस्था के कारण अपने उत्कर्ष पर है। इसकी स्थापना १९१३ ई० में हुई जब यह अपने संस्थापक राजा बलदेवदास बिरला के नाम पर 'बलदेवदास संस्कृत पाठशाला' के नाम से विख्यात था। उस समय बिरला परिवार का विशेष नाम नहीं था। उद्योगपति राजा बलदेवदास बिरला और उनके ज्येष्ठ पुत्र जुगुलकिशोर बिरला ही उस समय व्यापार की देख-रेख करते थे। प्रथम विश्वयुद्ध बिरलापरिवार के अभ्युदय का सूत्रपात है। उस लड़ाई में बिरला परिवार का व्यापार से विशेष अभ्युदय हुआ। और इसी अभ्युदय के साथ इस सस्कृतपाठशाला की भी दिनदूनी रातचौगुनी उन्नति होने लगी। इसकी उन्नति मे बिरला-बन्धुओं की अर्थशक्ति तथा अध्यक्ष पण्डित सभापतिजी की विद्याशक्ति दोनो का मजुल समन्वय प्रधान कारण रहा। राजा बलदेवदास बिरला जितने धर्मात्मा, सस्कृतप्रेमी तथा भारतीय संस्कृति के उपासक थे, उतनी ही अनुरक्ति सस्कृत भाषा के प्रचार एव प्रसार में तथा भारतीय सस्कृति के उन्नयन में उनके सुयोग्य पुत्रो की भी थी। सभापतिजी का कर्मठ व्यक्तित्व, छात्रों के ऊपर नैसर्गिक दया-भाव तथा अध्यापन की कुशलता, इस विद्यालय की उन्नति में जितना कारण थी, उतना ही राजा बलदेवदासजी की उदारता तथा सस्कृतशिक्षा के प्रसार की अभिरुचि भी थी। इस मणि-काचन-योग के फलस्वरूप इस पाठशाला की उन्नति होती गई और आज तो यह महाविद्यालय अपनी शिक्षा, दीक्षा, आर्थिक सुव्यवस्था, छात्रो की अनुशासनशीलता के विषय मे अपना प्रतिद्वन्द्वी नही रखता। प० सभापतिजी ने इस विद्यालय के लिए अपना जीवन ही लगा दिया। दोनो के साथ इतना साम्य हो गया था कि बिरला-विद्यालय तथा सभापति उपाध्याय दोनो एक दूसरे के साथ अन्योन्याश्रित हो गए। आजकल जो इसका स्वरूप है उसमे बिरला-बन्धुओं का जितना योगदान है, प० सभापतिजी का भी योगदान उससे कम नही माना जा सकता है। इसी विद्यालय के अध्यक्ष पद पर जीवन बिताते हुए सभापतिजी का निधन विक्रमी स० २०२१ आषाढ कृष्ण ४ सोमवार को हुआ। इन्होने चौरासी वर्ष की लम्बी आयु पाई थी और इसका अधिकाश समय इन्होने इस महाविद्यालय की सेवा में ही बिताया।

ग्रन्थ

उपाध्यायजी वडे विद्याव्यसनी थे। व्याकरण-शास्त्र के उच्चतम परिष्कारो की जानकारी के लिए इन्होने न्यायशास्त्र का भी गभीर अध्ययन किया। इम विषय मे उनके सहायक थे—प० राधाकृष्ण झा नैयायिक, जो गोयनका महाविद्यालय मे न्यायशास्त्र के प्रधानाध्यापक थे। अपने अनुशीलन की प्रवृत्ति के कारण ही सभापतिजी ने न्याय तथा वेदान्त का भी गम्भीर ज्ञान अर्जित कर लिया था। अध्यापन कार्य से समय बचाकर ये व्याकरण-ग्रन्थो के ऊपर व्याख्या लिखने मे भी प्रवीण तथा कुशल थे। उनके द्वारा रचित चार ग्रन्थो का परिचय प्राप्त होता है—

१. लघुमञ्जूषा की रत्नप्रभा टीका—नागेश भट्ट का यह अनुपम ग्रन्थ वैयाकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषा के नाम से प्रख्यात है, जो अपनी दुरूहता, तुलनात्मक अध्ययन तथा शास्त्रीय गंभीरता में अपना प्रतिद्वन्द्वी नही रखता। इसके ऊपर अनेक टीकाएँ हो चुकी है परन्तु उनके अध्ययन से भी ग्रन्थ की गुत्थी नही खुलती। सभापतिजी ने अपनी व्याख्या में उन गुत्थियों

के खोलने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। इनकी कृपा से छात्रगण मजूषा के तत्त्व को समझने मे सर्वथा कृतकार्य तथा सफलमनोरथ होते है। यह व्याख्या पूरे ग्रन्थ के ऊपर न होकर केवल परीक्षा मे निर्धारित कतिपय अशो के ऊपर ही है। यह पाण्डित्यपूर्ण है तथा छात्रो के लिए उपयोगी है।

२. शब्दरत्नसहित प्रौढ़मनोरमा की प्रभा टीका—व्याकरण शास्त्र के इस दार्शनिक ग्रन्थ के ऊपर भी प० सभापतिजी ने बड़ी सुबोध टीका का प्रणयन किया है जिसकी सहायता से मूल ग्रन्थ के दुरूह तथा विषम स्थलो के समझने मे सरलता होती है।

३. सिद्धान्तकौमुदी पर लक्ष्मी व्याख्या—सिद्धान्तकौमुदी के कतिपय आरम्भिक अशो पर सभापतिजी ने बडी ही अच्छी तथा उपयोगी टीका का निर्माण किया। इसमे व्याकरणशास्त्र के भिन्न भिन्न ग्रन्थो मे उस सूत्र के विषय मे जो सिद्धान्त स्थापित किये गये है उन सबके एकत्र अनुशीलन ने इस ग्रन्थ को महत्त्वपूर्ण बना दिया है

४. वैदिकधर्मरहस्य—जिसमे सनातन धर्म के विरोधी आक्षेपो का निराकरण है। शिष्यो के ऊपर उनकी इतनी उदारता एव कृपादृष्टि थी कि उन्होने अपने प्रमुख छात्र प० बालकृष्ण पचोली के नाम से दूसरे एव तीसरे ग्रन्थ को प्रकाशित कराया। अधिकाश तो इन्ही का लिखा हुआ है, परन्तु इ... ...अपने शिष्य को ही लेखक होने का गौरव प्रदान किया।

स्वभाव

प० सभापतिजी का स्वभाव बडा ही सात्त्विक तथा सहानुभूति से युक्त था। ये दयालु तथा परोपकारी थे। राजा साहब से पैरवी कर अनेक गरीब छात्रो को आर्थिक सहायता दिलाया करते थे। राजा साहब भी इनके उपकारी स्वभाव से इन्हे बहुत ही आदर तथा सत्कार देते थे। इन्हे अधिक वृत्ति पर सस्कृतकालेज मे भी जाने का अवसर आया परन्तु बलदेव दास बिरलाजी ने इन्हे अन्यत्र जाने नही दिया। वेतनवृद्धि के साथ ही साथ उन्हे विद्यालय का अध्यक्ष बनाये ही रखा। सभापतिजी के द्वारा विद्वानो का आदर सर्वदा हुआ करता था और राजा साहब के द्वारा इन्ही की देख रेख मे समय समय पर अनेक धार्मिक कृत्यो का भी अनुष्ठान होता रहा। इन्ही के उपदेश से बिरलाजी ने विद्यालय का क्षेत्र भी बढ़ा दिया। यह केवल अध्यापन का ही सस्थान न रहा, अपितु उसके द्वारा भारतीय धर्म तथा भारतीय सस्कृति के अनुष्ठान के निमित्त भी अनेक योजनाएँ कार्यान्वित की जाती थी। फलत इस विद्यालय का क्षेत्र बडा ही विशाल तथा बहुमुखी है। और इसके लिए प० सभापतिजी का उपदेश सर्वथा जागरूक रहता था। इसमे कोई दो मत नही हो सकता।

सभापतिजी की गुरुभक्ति भी आदर्श उपस्थित करती थी। अपने गुरुजनो के प्रति इनका सत्कार भाव सदा रहता था। एक विचित्र घटना मे इस तथ्य की पर्याप्तरूपेण पुष्टि होती है। १६४१ ई० की यह घटना है कि तिवारीजी मणिकर्णिका घाट के ऊपर तख्ता पर बैठकर सध्योपासन कर रहे थे कि अकस्मात् उनके हृदय की गति रुक गई और वे गगाजी मे गिर गए। उन्हे बाहर निकाला गया। उनके दाह सस्कार की विकट समस्या थी। उन्हें कोई सन्तान न थी। फलत उनका दाह सस्कार कौन करे ? यह सकट उपस्थित हुआ। सर्वसम्मति से प्रधान शिष्य होने के नाते सभापतिजी के ऊपर ही इस कार्य का भार सौपा गया और इन्होने बडे ही प्रेम तथा लगन के साथ अपने गुरुजी की अन्त्येष्टि तथा श्राद्ध आदि

संस्कारों का शास्त्रीय रीति से विधिवत् अनुष्ठान किया । ऐसी थी उनकी आदर्श गुरुभक्ति । इन्ही गुणो के कारण वे काशी के पण्डितो मे चिरस्मरणीय बने रहेगे ।

शिष्यमण्डली

पण्डित सभापतिजी की शिष्यमण्डली पर्याप्त रूप से बडी थी जिसमे उत्तरप्रदेशीय छात्रो के अतिरिक्त गुर्जर तथा महाराष्ट्रीय छात्रो का भी समावेश था । विभिन्न प्रान्तो मे अध्यापन करने वाले विद्वान् शिष्यो का नामाङ्कन न कर केवल दो ही शिष्यो का यहाँ निर्देश किया जाता है । ये शिष्य वाराणसेय सस्कृतविश्वविद्यालय के व्याकरण विभाग से सम्बन्ध रखते है । व्याकरण के पारगामी अध्यापको से मण्डित होने के कारण यह व्याकरण विभाग विशेष विश्रुत तथा सम्मानित था । इधर के अध्यापको मे **पण्डित गणपति शास्त्री मोकाटेजी** का नाम विशेषरूपेण उल्लेखनीय है । उन्होने अपने गुरुवर्य श्री तात्याशास्त्रीजी की भूति पर नवीन व्याख्या का प्रणयन कर उसे छात्रो के लिए सरल सुबोध बनाने का प्रशसनीय कार्य किया । इन्ही के शिष्य **पण्डित मुरलीधर मिश्र** ने (जो इस विभाग के अध्यक्ष पद पर अनेक वर्षो तक विराजमान थे) रामचन्द्राचार्य रचित प्रक्रियाकौमुदी की शेष श्रीकृष्णप्रणीत **प्रकाश** नामी टीका का सम्पादन बडी योग्यता मे किया है ।[1] इन्होने स्वय **रश्मि** नामक टिप्पणी से भी इसे विभूषित कर गूढ स्थलो को सुबोध बनाने का श्लाघ्य प्रयास किया है । इसी तरह व्याकरण विभाग मे पण्डित सभापति उपाध्यायजी के दो शिष्यो ने बडी योग्यता से अध्यापन का कार्य सम्पन्न किया है (१) **पण्डित बालकृष्ण पचोली** तथा (२) **पण्डित कालिकाप्रसाद शुक्ल** ने । पण्डित बालकृष्ण पचोली गुजराती ब्राह्मण है । शास्त्र मे जितने चतुर है, उससे कही अधिक चतुर है लोक व्यवहार मे । उनकी गुरुभक्ति विशेष रूप से प्रशसनीय है । फलत गुरु की कृपा से दो ग्रन्थो का प्रणयन भी उन्होने किया है । पण्डित कालिकाप्रसादजी गोरखपुर मण्डल के ही सरयूपारीण ब्राह्मणोत्तम है । शास्त्र तथा लोक दोनो मे उनकी चातुरी प्रशसनीय है । व्याकरणशास्त्र की सूक्ष्म विवेचना मे कृतकार्य होने के कारण इनके द्वारा सम्पादित पण्डित नागेश शास्त्री रचित लघुशब्देन्दुशेखर[2] तथा नागेशरचित **वैयाकरण-सिद्धान्त-मंजूषा**[3] इनकी ही नितान्त उपादेय तथा प्रामाणिक प्रस्तावना से मण्डित है जिसमे इनका शास्त्रीय वैदुष्य स्पष्टत दृष्टिगोचर होता है । आजकल ये ही विभागाध्यक्ष है ।

पण्डित सभापतिजी को राज्य मान्यता तथा विद्वन्मान्यता दोनो ही प्रचुर मात्रा मे प्राप्त थी । उत्तरप्रदेश के शासन ने अपनी विधानपरिषद् के लिए किसी सस्कृत विद्वान् को मनोनीत करने का निर्णय किया था । उस समय श्री सम्पूर्णानन्दजी उत्तरप्रदेश के मुख्यमन्त्री के रूप मे प्रतिष्ठित थे । उन्ही के प्रयत्न से प० सभापति उपाध्याय उत्तरप्रदेश की विधान परिषद् मे विशिष्ट विद्वान् के रूप मे मनोनीत किए गये और यह सदस्यता उन्होने ६ वर्षो तक बडी योग्यता के साथ निबाही । उस समय इन्होने वाराणसेय सस्कृतविश्वविद्यालय के सम्बन्ध मे अनेक प्रस्तावो के द्वारा सस्कृतविद्या की उन्नति तथा प्रचार मे योगदान दिया । काशी के घाटो के जीर्णोद्धार करने के प्रस्ताव का भी आपने समर्थन किया । प० जी के द्वारा रखे गये प्रस्तावो को श्री सम्पूर्णानन्दजी ने स्वीकार कर सफल बनाया । यह पहला ही अवसर था कि स्वतन्त्र

---

१ [illegible] के दो खण्डो का प्रकाशन हो चुका है काशीस्थ सपूर्णानन्द सस्कृतविश्वविद्यालय के अनुसन्धान सस्थान के द्वारा १९७८ ई० मे ।

२ सस्कृतविश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, १९७५ ई० ।

३ सस्कृतविश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, १९७७ ई० ।

भारत मे सस्कृत के एक विद्वान् को प्रान्त की महनीय सभा मे मनोनीत कर सस्कृतविद्या का गौरव बढ़ाया गया था।

विभिन्न प्रान्तो के विद्वानो के द्वारा पडितजी का विशेष सम्मान तथा आदर किया गया था। इन्होने चारो धामो की विधिवत् यात्रा सम्पन्न की थी। इस अवसर पर गुजरात प्रान्त के जिन बडे-बडे नगरो मे तीर्थयात्रा के अवसर पर सभापतिजी गये थे वहाँ सर्वत्र इनका अभिनन्दन बड़े समारोह के साथ सम्पन्न किया गया था। इस कार्य मे इनके पट्टशिष्य व्याकरणाचार्य प० बालकृष्ण पचोलीजी का भी विशेष हाथ था। इस यात्रा से लौटने के बाद पडितजी ने बड़े समारोह के साथ भागवत के सप्ताह का श्रवण किया तथा काशी के मान्य विद्वानो की महती सभा करके उनकी पूजा-अर्चा आदरभाव के साथ सम्पन्न की। इस प्रकार इनका सपूर्ण जीवन ही सस्कृतविद्या के प्रचार प्रसार मे, निर्धन छात्रो को आर्थिक सहायता देकर अध्यापन करने मे तथा आस्थापूर्वक भगवान् की पूजा अर्चा मे व्यतीत हुआ। भगवान् की कृपा से इन्हे लम्बी ८४ वर्ष की आयु प्राप्त थी जिसको उन्होने पूर्ण रूप से धर्म तथा सस्कृत के उत्थान एव अभ्युदय मे लगाया। इन्हे अनेक सस्थाओं से सम्मान प्राप्त था। इन्होने वाराणसेय सस्कृतविद्यालय मे सम्मानित अध्यापक पद को अलकृत किया था। भारतधर्म महामण्डल ने **महामहाध्यापक** पदवी से तथा साङ्गवेदविद्यालय ने **शाब्दिकरत्न** पदवी प्रदान कर आपको सम्मानित तथा समादृत किया था।

पण्डित अम्बिकाप्रसाद उपाध्याय

(आस्पद उपाध्याय, उपाधि व्याकरणशिरोमणि)

प० अम्बिकाप्रसाद उपाध्याय सभापतिजी के ज्येष्ठ भाई के पुत्र थे। फलत उनके भतीजा थे। इनका अध्ययन सभापतिजी के साथ ही रहकर हुआ। ये भी तिवारीजी के तथा दामोदर शास्त्री के अनुगत शिष्य थे। इन गुरुओं की कृपा से इन्होने व्याकरणशास्त्र मे अभिनन्दनीय प्रवीणता प्राप्त की थी। ये हिन्दूविश्वविद्यालय मे सस्कृतमहाविद्यालय के व्याकरणविभाग के प्राध्यापक थे। पाण्डित्य के साथ स्वभाव मे बडी ही कोमलता तथा नम्रता थी। इन्ही गुणो के कारण महामना मालवीयजी इन्हे विशेष मानते थे। आधुनिक व्याकरण के साथ न्यायशास्त्र का भी इन्होने खूब जमकर अध्ययन किया था। ये बडे सफल अध्यापक थे। हिन्दूविश्वविद्यालय की सेवा से मुक्त होने के बाद भी इनका अध्यापन कार्य चलता रहा। ये डॉ० वेनिस के विशेष सम्पर्क मे आये थे और उनसे पाश्चात्त्य विद्या की अनेक बाते सीखी थी। इनके द्वारा तैयार किये गये अनेक छात्र पाठशालाओं मे अध्यापन कार्य करते हुए इनकी पाण्डित्य की परम्परा को आज भी अग्रसर कर रहे है। महाभाष्य की तैयारी इन्होने बडे प्रेम और परिश्रम मे की थी। इन्हे पूरा महाभाष्य आदि से अन्त तक कठस्थ था। इनका निधन तीन चार वर्ष पूर्व ८० वर्ष की आयु मे काशी ही मे हुआ।

उपाध्यायजी बडे ही सात्त्विक प्रवृत्ति के विद्वान् थे। वागीश्वरीजी के ये निष्ठावान् श्रद्धालु उपासक थे। प्रति शुक्रवार को ये वागीश्वरीजी (जैतपुरा मे स्थित) के मन्दिर मे दर्शनार्थ जाते और जप उपासना करते थे। इनका यह अटूट नियम तभी टूटा जब ये अशक्त हो गये। प्रात सप्तशती का जप पाठ इनकी दिनचर्या का अभिन्न अङ्ग था। फलत इन्होने बडी शान्ति और सन्तोष से जीवन बिताकर एक आदर्श उपस्थित किया।

●



पं० रामयश त्रिपाठी 'महाशयजी'

पण्डित रामयश त्रिपाठी (महाशयजी)

(आस्पद—त्रिपाठी, उपाधि—व्याकरणरत्नाकर)

त्याग और तपस्या की मूर्ति निस्पृहता के साकार विग्रह, अध्यात्म मार्ग के नैष्ठिक उपासक तथा पाणिनीय व्याकरण के पारगामी पण्डित रामयश त्रिपाठी की प्रतिष्ठा तथा प्रसिद्धि काशीस्थ विद्वन्मण्डली मे आधुनिक पण्डितो मे सबसे अधिक थी। ये प्रत्येक व्यक्ति को 'महाशय जी' के आदरणीय सम्बोधन से सम्बोधित करते थे अतः इस प्रवृत्ति के कारण ही ये पण्डित मण्डलो मे 'महाशयजी' के नाम से विख्यात थे।

श्री त्रिपाठीजी का जन्मस्थान वाराणसी से ५६ मील वायव्य कोण मे वर्तमान ग्राम सिमैचा है। यह वर्तमान हवाई अड्डा बाबतपुर के भी निकट है। आपके पूर्वज सिद्ध महात्मा श्री कपिलेश्वर बाबा एक बार सरयूपार के प्रख्यात अगने धनरा नामक ग्राम से चलकर तीर्थाटन करते हुए इसी सिमैचा ग्राम मे आये थे। इसी ग्राम मे एक एरण्ड (रेंड) वृक्ष की छाया मे बैठ कर भगवत्स्मरण करने लगे। ग्रामवासियो ने सघन वृक्ष की छाया मे चलने के लिए उनसे विशेष आग्रह किया किन्तु आपने ग्रामवासियो को यह कहकर लौटा दिया कि आप लोग थोड़ा देर बाद पुनः आवे। जब गाँव के लोग कुछ देर बाद पुनः वहाँ आये तो वहाँ पर वह एरण्ड वृक्ष था ही नहीं बल्कि उसकी जगह एक विशाल छायादार नीम का वृक्ष लहलहा रहा था। इस चमत्कार से वहाँ के निवासी आश्चर्यचकित होकर आपसे उसी ग्राम मे रहने की प्रार्थना करने लगे। आपने उनकी प्रार्थना स्वीकार करके उस स्थान को अपना निवास स्थान बनाया। ऐसी किंवदन्ती है कि इसी नीम वृक्ष के नाम पर उस ग्राम का नाम भी सिमैचा पड़ा। इसी कुल मे कालक्रमवशात् सरयूपारीण ब्राह्मणावतंस विद्वत्कुलभूषण श्री प० रामयश त्रिपाठी का जन्म हुआ। यह घटना सं० १९४१ अर्थात् १८८४ ई० की है।

आपके पूर्वज **श्री कपिलेश्वर बाबा** के वंश मे आपके पितामह श्री प० शिवजगत त्रिपाठी के तीन पुत्र उत्पन्न हुए थे १. श्री बालमुकुन्द त्रिपाठी, २. श्री बलभद्र त्रिपाठी और ३. श्री कामताप्रसाद त्रिपाठी। श्री बालमुकुन्दजी (मुकुन्दी तिवारी) के एकमात्र पुत्र श्री रामयश त्रिपाठी तथा ४ कन्याएँ थी। श्री मुकुन्दी तिवारी अपने समय के समृद्ध सद्गृहस्थ थे। उनकी साधु प्रकृति के कारण उन्हे लोग साधु कहते थे। श्री रामयश त्रिपाठीजी की माता का नाम अन्नपूर्णा देवी था। इनका विवाह बाल्यकाल मे ही पास के ग्राम अनेई के प्रसिद्ध शुक्ल श्री प० कालेश्वरजी की पुत्री के साथ हुआ था। वह देवी साक्षात् लक्ष्मीस्वरूपा सती साध्वी पतिधर्मपरायणा थी। आजीवन पति की सेवा मे रत थी। विधि विधान से कोई सन्तान नही हुई। श्री त्रिपाठीजी के सामने ही काशी मे पार्थिव शरीर छोड़कर शिवसायुज्य को प्राप्त कर लिया।

श्री त्रिपाठीजी बच्चे से लेकर वृद्ध तक सभी लोगो को महाशयजी कहा करते थे।

फलत उन्हे भी लोग महाशयजी के नाम से जानने लगे । इनका यह नाम 'महाशयजी' वास्तविक नाम की अपेक्षा अधिक प्रचलित हो गया ।

अध्ययन

श्री महाशयजी के पिताजी की हार्दिक इच्छा थी कि मेरा एकमात्र पुत्र श्री महाशयजी साधारण ज्योतिष, कर्मकाण्ड का अध्ययन करके घर पर ही रहकर गृहस्थी का कार्य करे। पिता के आदेशवश श्री महाशयजी ने ग्रामीण, स्थानीय पण्डितो से ज्योतिष का अध्ययन प्रारम्भ किया । किन्तु मुहूर्त चिन्तामणि के पढ़ने के बाद अन्तर्निहित सरस्वती ने व्याकरणादि शास्त्रो के अध्ययन के लिए भी इन्हे विशेष रूप से उत्कण्ठित किया । फल यह हुआ कि एक दिन रात्रि मे घर छोडकर काशी पहुँचे । कुछ ही दिनो के बाद जगज्जननी अन्नपूर्णा की अनुकम्पा से काशी के रईस जगतगज निवासी श्री बाबू कवीन्द्र नारायण सिहजी ने अपने शिवालय मे आपको रहने के लिए निवास स्थान दिया और हर प्रकार का सहयोग प्रदान करके आपको अध्ययन के लिए विशेष सहायता दी । शिवालय मे निवास करते हुए महाशयजी ने गवर्नमेण्ट सस्कृतकालेज से सन् १९१४ मे व्याकरण विषय मे आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की । इनके प्रधान रूप से गुरुजन वैयाकरणकेशरी पूज्य श्री दामोदर शास्त्री तथा भूतिपार श्री तात्या शास्त्रीजी थे । उन्ही गुरुजनो की कृपा से श्री महाशयजी को अभूतपूर्व व्याकरण विषयक प्रौढ़ि प्राप्त हुई । यह लिखना अप्रासगिक न होगा कि अध्ययन-काल मे ही प्रतिदिन शिवालय मे छात्रो को आप पढ़ाते भी रहते थे । इनकी पाठन प्रणाली अनुपम थी व्याकरण शास्त्र के निगूढ़ तत्त्वो का विवेचन आप इस प्रकार करते थे कि बडे बडे प्रतिभाशाली छात्र ही उनसे अध्ययन करके सन्तुष्ट नही हो जाते थे बल्कि बडे-बडे विद्वान् भी उनकी शैक्षणिक शैली के मुक्तकण्ठ से प्रशसक थे ।

अध्यापन

जुलाई सन् १९१८ ई० मे उस समय के अतीव विख्यात **मारवाड़ी-सस्कृतकालेज**, मीरघाट, वाराणसी नामक विद्यालय के प्रधानाचार्य पद पर आप नियुक्त हुए । सन् १९२६ के जून मास तक उस विद्यालय मे अध्यापन करते हुए सर्वाधिक छात्रो को सुयोग्य एव प्रतिभाशाली बनाकर व्याकरणाचार्य परीक्षोत्तीर्ण कराया । उसके पश्चात् जुलाई सन् १९२६ ई० मे श्री गौरीशकर गोयनका द्वारा सस्थापित ललिताघाट पर स्थित **गोयनका-संस्कृत-महाविद्यालय** मे विद्वज्जनानुरोधवश आप अध्यापन कार्य करने लगे इस महाविद्यालय मे सन् १९४१ तक आप विद्यादान देते रहे । इस महाविद्यालय से कितने छात्र सुयोग्य होकर आचार्य परीक्षोत्तीर्ण हुए, उनकी गणना करना सम्भव नही है ।

यह उल्लेखनीय है कि उस समय प्राय काशी के सभी सस्कृत विद्यालय प्रात काल लगते थे । इसी कारण विद्यालयीय कार्य के पश्चात् श्री महाशयजी के मुख्य दो दैनिक कार्य थे । पहला कार्य यह था कि अपराह्न मे विशिष्ट पाठो को पढ़ाना और दूसरा कार्य था कि व्याकरण शास्त्र से अतिरिक्त शास्त्रो मे भी प्रौढ़ि प्राप्त करने के लिए उन विषयो का विशेष मर्मज्ञ एव सुप्रसिद्ध विद्वानो से नियमत अध्ययन करना । सर्वप्रथम इन्होने महामहोपाध्याय पूज्य श्री वामाचरण भट्टाचार्य से नव्यन्याय का अध्ययन ११ वर्षों तक किया था । श्री भट्टाचार्यजी न्यायविषयक श्री महाशयजी की प्रौढ़ि से विशेष रूप से प्रभावित हुए थे । तदुपरान्त इन्होने काशी के सुप्रसिद्ध विद्वन्मूर्धन्य महामहोपाध्याय श्री लक्ष्मण शास्त्रीजी से शाकर वेदान्त

का अध्ययन लगभग ८ वर्षों तक किया था तथा मीमासाशास्त्र का अध्ययन प्रसिद्ध मीमासक महामहोपाध्याय श्री चिन्न स्वामीजी से ६ वर्षों तक किया। सक्षेप मे श्री महाशयजी ने सभी विषयो का अध्ययन गुरुपरम्परा से किया। यह भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि अध्ययन काल मे श्री महाशयजी की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति थी कि ये अधीत विषयो को अपनी भाषा मे लिपिबद्ध कर दिया करते थे। किन्तु इन्होने अपने जीवनकाल मे स्वहस्तलिखित लेखो को महत्त्व नही दिया जिससे आज के विद्वज्जन उनसे लाभान्वित नही हो रहे है। यह निश्चय है कि महाशयजी के व्याकरण, न्याय, वेदान्त तथा मीमासाविषयक लेखो से उनका विशिष्ट वैदुष्य तो व्यक्त होता ही है, सस्कृत समाज का भी अत्युपकार होगा।

गोयनका सस्कृत महाविद्यालय छोडने के पश्चात् महाशयजी ने मीरघाट पर स्थित **धर्मसघविद्यालय** मे नि शुल्क विद्यादान देने की स्वीकृति दे दी। यह क्रम कतिपय वर्षों तक चलता रहा। इसी बीच तपस्विनी पतिसेवारत धर्मपत्नी का सन् १९५८ ई० मे शिवालय जगतगज मे देहावसान हो गया। इससे महाशयजी मे विरक्ति का सचार सब लोगो को भी दिखाई देने लगा। उस समय तक अनन्तश्रीविभूषित धर्मप्राण श्री स्वामी करपात्रीजी महाराज के असाधारण वैदुष्य एव सर्वतोमुखी प्रतिभा से श्री महाशयजी विशेष प्रभावित हो चुके थे। श्रीस्वामीजी के निरन्तर सन्निधान के इच्छुक श्री महाशयजी शिवालय जगतगज को (जहाँ पचास वर्षों तक निवास कर चुके थे) सहसा छोडकर दुर्गाकुण्ड पर स्थित धर्मसघ मे आ गए और आजीवन धर्मसघ शिक्षा मण्डल के उपाध्यक्ष बने रहे।

महाशयजी का संन्यासग्रहण

श्री महाशयजी वातरोग से पीडित रहते थे और यह सबको ज्ञात है कि वे तैलमर्दन प्रतिदिन कराते थे। उनके नियमित सयम से वह रोग दबा सा रहा। अवस्थाकृत शैथिल्य के कारण ये पुन उस रोग से विशेष ग्रस्त हो गये। यहाँ तक कि चलने फिरने मे भी असमर्थ हो गये। एकबार विशेष ज्वर से आक्रान्त होने पर इन्होने तुरन्त आतुरसन्यास ग्रहण करने के लिए पूज्य स्वामी श्री करपात्रीजी से निवेदन किया और श्री स्वामीजी से सन्यासाश्रम मे दीक्षित हो गये। इस आश्रम मे इनका नाम **श्री स्वामी राघवानन्द सरस्वती** हुआ।

महाशयजी अपने प्राक्तन सिद्धान्त एव नियमवश सन्यासाश्रम मे भी विहित भिक्षावृत्ति का परित्याग करते हुए केवल फलाहार तथा दुग्धपान पर आश्रित रहकर दिनाक २३ जनवरी सन् १९६६ को ब्रह्मलीन हो गए।

अध्यापन-वैशिष्ट्य

जगतगज शिवालय प्राचीन आश्रमो का द्योतक था। योग्यतम शास्त्री तथा आचार्य के सैकडो छात्र शिवालय मे निवास करते थे। ब्राह्ममुहूर्त मे जब पण्डितजी के साथ छात्र 'हरहरमहादेव शम्भो काशी विश्वनाथ गगे' कहते हुए गगास्नान के लिए पैदल जाते थे, उस समय शिवालय की अपूर्व ही छटा होती थी। मध्याह्नोत्तर विशिष्ट पाठो मे छात्रो की इतनी अधिक सख्या हो जाती थी कि अग्रिम पक्ति मे स्थान-प्राप्ति के लिए छात्रो मे होड-सी लग जाती थी। इसी शिवालय मे रहकर जगद्गुरु रामानुजाचार्य स्वर्गीय श्री देवनायकाचार्य प्रभृति अनेक प्रतिभासम्पन्न छात्र शास्त्रीजी से शिक्षा प्राप्त कर चुके है। पुरी के पीठाधीश्वर वर्तमान जगद्गुरु शकराचार्य श्री निरजनदेव तीर्थजी महाराज (उस समय के चन्द्रशेखर शास्त्री) गुरुजी के प्रमुख शिष्यो मे थे। शास्त्रीजी की अध्यापन-शैली अनुपम थी। अति निगूढ शास्त्रीय तत्त्वो

का प्रतिपादन गुरुजी के द्वारा किस प्रकार किया जाता था यह तो उनके सम्पर्क मे आगत व्यक्ति ही समझ सकता है। अधीत विषयो पर छात्रो को गर्व होता था और आज भी वे ही उनके छात्र भारतवर्ष के कोने कोने मे महाशयजी की विभूति का विस्तार करते हुए प्रख्यात विद्वानो के रूप मे विद्यमान है।

महाशयजी का आचरण

प्रतिदिन छात्रो के साथ मणिकर्णिका कुण्ड तथा गगाजी मे स्नान करके बाबा विश्वनाथ जी का दर्शन करना गुरुजी का नित्य का कार्य था। ये कट्टर शैव एव शकर भगवान् के परमभक्त थे। विभूतिधारण के लिए, विश्वनाथजी की उपासना के लिए तथा प्राचीन भारतीय सभ्यता मे रहने के लिए इनका सदा उपदेश होता था। इनकी सनातनधर्म मे सच्ची निष्ठा थी। सनातनधर्मानुसार ही सदाचरण करना, शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार ही सामाजिक विषयो पर व्यवस्था देना, विशिष्ट पुरुषो के प्रबल आग्रह पर भी स्वसिद्धान्त के अनुसार ही कार्य करना, विद्यादान को सर्वोत्कृष्ट मानना, धर्मपत्नी के निधन के बाद अपने ही हाथो से भोजन बनाना, बाजार की घी चीनी आदि अविश्वसनीय वस्तुओं का परित्याग करना उनका प्रावृतिक सिद्धान्त था। सक्षेप मे ये सनातनधर्म के मूर्तिमान् स्वरूप थे। यह विशेषत उल्लेख्य है कि इन्होने युवावस्था मे ही अपने शिष्य श्री देवनायकाचार्यजी के साथ चारो धाम की सस्त्रीक तीर्थयात्रा विधिविधानपूर्वक सम्पन्न की थी।

अद्वितीय त्याग

विरले ही महात्माओं मे ऐसी त्याग भावना देखने मे आएगी जैसी गुरुजी मे थी। इन्हे गोयनका विद्यालय से १०० रु० (सौ रुपये) मासिक मिलता था। इन्होने यही निश्चय किया कि दुग्ध के लिए ३० ०० तीस रुपया पर्याप्त होगा। अवशिष्ट ७० ०० सत्तर रुपये के सदुपयोग के लिए वे अपने ग्राम निमैचा मे एक सस्कृतपाठशाला स्थापित करके सस्था को प्रतिमास ७० ०० रुपया देते रहे। आज भी वही विद्यालय श्री कपिलेश्वर-सस्कृतमहाविद्यालय के नाम से प्रचलित है जो आचार्य-पर्यन्त मान्यताप्राप्त तथा राज्य सहायता प्राप्त है। उनकी पैतृक सम्पत्ति मे से लगभग आठ बीघा भूमि उन्हे मिली थी, जिसका आधा भाग उन्होने सस्कृतपाठशाला को और आधा भाग अपने वशज को दे दिया।

महाशयजी की मनस्विता

ये घर पर अपने छात्रो का अध्यापन किया करते थे जिससे काशीस्थ विद्वानो मे धीरे-धीरे इनकी ख्याति होने लगी। कुछ दिनो के पश्चात् इनकी नियुक्ति मारवाडी-सस्कृतकालेज, काशी मे व्याकरण की गद्दी पर हुई। इस विद्यालय के प्रधानाध्यापक का यह आदेश था कि जो कोई भी अध्यापक विलम्ब करके पाठशाला मे आवे उसे नौकर द्वारा घडी दिखला दी जाय जिससे उसे अपने विलम्ब से आने का पता लग जाय। महाशयजी को यह आदेश बडा खलता था। ये बड़े ही मनस्वी और स्वाभिमानी पुरुष थे। एक दिन ऐसी ही घटना घटी। ज्योही महाशयजी गगास्नान तथा विश्वनाथजी का दर्शन कर, अपना कमण्डलु लेकर विद्यालय पहुँचे वैसे ही विद्यालय के भृत्य ने विलम्ब से आने के कारण नियमानुसार इन्हे घड़ी दिखला दी। इससे इनके मानी मन को बडी ठेस लगी। अत इन्होने तुरन्त अपना कमण्डलु उठाकर पाठशाला से बाहर आकर अपने घर का रास्ता लिया। इस घटना से क्षुब्ध होकर विद्यालय

के अधिकारियो ने इन्हे बहुत समझाया-बुझाया परन्तु इन्होने यावज्जीवन उस विद्यालय मे पैर नही रखा। मनस्विता की मूर्ति जो थे।

त्याग तथा सारल्य

महाशयजी इतने त्यागी पुरुष थे कि ये समय-समय पर अपने विद्यार्थियो के भोजनादिक का खर्च भी स्वय उठाते थे। जब ये मारवाडी सस्कृतकालेज का अध्यापन कार्य छोडकर घर लौट आये, तब इनके प्रिय तथा विशिष्ट शिष्यो ने भी उस विद्यालय का परित्याग कर दिया। फलस्वरूप विद्यालय के अधिकारियो ने इन विद्यार्थियो की तीन मास की छात्रवृत्ति रोक दी जिससे छात्रो को अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडा। परन्तु त्यागी महाशयजी अपने शिष्यो के कष्ट को देख नही सकते थे। इन्होने कवीन्द्रनारायण सिंह से आर्थिक सहायता दिलवा कर तथा स्वय देकर इन छात्रो की आर्थिक क्षति की पूर्ति की।

महाशयजी व्याकरण शास्त्र के अध्यापन मे प्रवीण थे। परिभाषेन्दुशेखर आदि ग्रन्थो का अध्यापन करते समय ये व्याकरण के विषम स्थलो को बडी ही सुस्पष्टता से समझाते थे। जहाँ विषम 'पक्तिया' थी उनको सुलझाने मे ये बडे ही दक्ष थे। ये अपने अध्यापन कार्य मे बडे ही सच्चे थे व्याकरण मे जब ऐसे अनेक कठिन स्थल आते जिनका अर्थ इन्हे स्पष्ट नही होता तब ये छात्रो को सहज भाव से कह दिया करते थे कि यह स्थल मुझे स्वय स्पष्ट नही है। मै इस पर विचार कर इसे भविष्य मे पढ़ाऊँगा। आजकल के स्वयभू एव तथाकथित विद्वान् अध्यापको की भाँति ये अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन नही करते थे, बल्कि अपनी त्रुटियो के प्रकाशन मे कभी सकोच का अनुभव नही करते थे।

एक विशिष्ट घटना

महाशयजी की अध्यापन शैली की अत्यन्त ख्याति थी। काशी मे सर्वत्र इनकी अध्यापन कला की प्रशसा मुक्तकण्ठ से सुनाई पडती। एक बार की घटना है कि केन्द्रीय सरकार के द्वारा नियुक्त 'सस्कृत कमीशन' सस्कृत के अध्ययनाध्यापन मे सुधार के लिए अपनी सस्तुति प्रस्तुत करने के निमित्त काशी आया हुआ था। कमीशन के सदस्यो ने विशुद्ध प्राचीन परिपाटी के अनुसार सस्कृत की अध्यापन शैली को देखने की इच्छा प्रकट की। उस समय रात्रि के आठ बजे थे और कमीशन को दूसरे ही दिन प्रात काशी से प्रस्थान करना था। अत समस्या यह थी कि रात्रि की इस अतिवेला मे कौन ऐसा अध्यापक होगा जो अध्यापन का कार्य करता होगा। तब कुछ लोगो ने बतलाया कि महाशयजी अपने छात्रो को अधिक रात्रि तक पढ़ाते रहते है। अत कमीशन के सदस्य सस्कृतविश्वविद्यालय के तत्कालीन रजिस्ट्रार प० रामनरेश मिश्र के साथ बिना कोई सूचना दिये ही महाशयजी के घर जा पहुँचे। यह देखकर उनके आश्चर्य का ठिकाना नही था कि कुश के आसन पर आसीन महाशयजी जाड़े की उस रात मे छात्रो को बडे मनोयोग से अपने घर पर पढ़ा रहे है। कमीशन के सदस्य कुशासन पर वही थोडी देर तक बैठकर इनके अध्यापन की परम्परागत पद्धति का निरीक्षण करते रहे। अन्त मे वे अत्यन्त प्रसन्न होकर वापस आये और महाशयजी के पाठन तथा आचार की भूरि-भूरि प्रशसा करने लगे।

सत्यनिष्ठा

महाशयजी बडे ही धर्मभीरु व्यक्ति थे। ये अपने सभी कार्यों को धर्म की तुला पर तौलकर ही किया करते थे। एक बार की घटना है कि महाशयजी किसी परीक्षा मे परीक्षक

थे जिसमे भगिनीपति (बहनोई) ने भी परीक्षा दी थी। वह व्यक्ति लगातार चार वर्षों तक परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो रहा था। उसने प्रतिज्ञा की थी कि इस बार अनुत्तीर्ण होने पर गगा मे डूबकर अपना प्राण-त्याग कर दूँगा। सयोग ऐसा हुआ कि जिस प्रश्न-पत्र मे महाशयजी परीक्षक थे उसमे वह आठ अङ्को से अनुत्तीर्ण हो रहा था। अत अबकी बार की अनुत्तीर्णता से उत्पन्न होने वाली भयानक परिस्थिति की आशका कर इनके प्रिय शिष्यो तथा सम्बन्धियो ने उस छात्र को साग्रह उत्तीर्णाङ्क प्रदान करने की महाशयजी से प्रार्थना की। परन्तु धर्मभीरु महाशयजी अपने सिद्धान्त से टस से मस नही हुए। परन्तु जब इन लोगो ने इनकी इस धर्मभीरुता से अपने ही बहनोई की ब्रह्महत्या का कलक लगने का एव पापभागी होने का इन्हे भय दिखलाया तब इन्होने ८ अक कृपाक देकर उसे उत्तीर्ण करना स्वीकार किया। परन्तु इस कृपाक का उपयोग इन्होने अपने सम्बन्धी ही के लिए नही किया, बल्कि समस्त छात्रो के अको मे ८ अक की वृद्धि कर दी जिससे बहुत से छात्र उस वर्ष प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण हो गये। यह थी महाशयजी की सत्यनिष्ठा।

'महाशयजी' पण्डित होने के साथ ही साथ तपस्वी भी थे। इन्होने केवल अध्ययन और अध्यापन द्वारा ही सस्कृतपाठशाला की स्थापना भी कर रखी थी, जिसके सचालन का समस्त व्यय ये अपने अल्प वेतन से कुछ धनराशि बचाकर दिया करते थे। जीवन के अन्तिम दिनो मे इन्होने सन्यास ग्रहण कर लिया था। उन दिनो भी इन्होने एक विद्वान् पण्डित को पुराण सुनाने के लिए नियुक्त कर रखा था। ये सदाचार के ऊपर विशेष बल देते थे। स्वय इसका पालन करते हुए ये अपने छात्रो को भी आचार विचार की रक्षा करने पर बड़ा जोर देते थे। यदि कोई छात्र आचार का भग करता था तो उसे कठोर दण्ड भी देते थे। महाशयजी की विद्वत्ता तथा सदाचार के सबन्ध मे जो सस्तुति की गई है वह अत्यन्त उचित प्रतीत होती है—

विख्याता विदुषां गणे सुयशसश्छात्रैरनन्तैर्वृता.,
शान्ताः सत्यसमेधमानसुषमाः स्वाचारधूर्धारका. ।
विद्यागौरववैदुषीसुविनयै. लोकातिगाः पण्डिताः,
श्रीमद्रामयशस्त्रिपाठिपदभृद्वर्या जयन्ति ध्रुवम् ॥

शिष्यमण्डली

महाशयजी के ऐसे छात्रो की सख्या बहुत ही अधिक है जिन्होने इनके सम्पर्क मे आकर सस्कृत व्याकरण के प्रौढ ग्रन्थो का गुरुमुख से श्रद्धापूर्वक अध्ययन कर अपनी प्रतिभा को प्रखर बनाया है। कतिपय शिष्यो का सक्षिप्त परिचय ही पर्याप्त होगा--

(१) पुरीपीठस्थ शकराचार्य **श्री निरंजनदेव तीर्थजी**। आप राजपूताने के निवासी है। पूर्वाश्रम मे चन्द्रशेखरशास्त्री के नाम से प्रख्यात थे। अनेक वर्षों तक महाराजा-सस्कृत कालेज, जयपुर के अध्यक्ष थे। शास्त्रो के चिन्तन मे जैसी आपकी वैदुषी है, वैसी ही अध्यात्म-साधना मे आपकी शेमुषी है। सनातनधर्म के गम्भीर रहस्यो के उपदेष्टा के रूप मे आपकी प्रचुर ख्याति है।

(२) काशीस्थ रामानुजाचार्य **श्री देवनायकाचार्य** महाशयजी के पट्टशिष्यो मे अन्यतम थे। इनका जीवन-विवरण आगे दिया गया है।

(३) **श्री दण्डी स्वामी रामानन्द सरस्वती** -पूर्वाश्रम का नाम था प० रामनाथ शुक्ल।

श्री पण्डित पत्रिका (वर्ष १, सख्या ९) मे आपने महाशयजी की श्लोकबद्ध जीवनी प्रस्तुत की है।

(४) **मुरलीधर उपाध्याय** जो व्याकरणाचार्य होने के अतिरिक्त सस्कृत मे एम० ए० भी थे। इन्होने सस्कृतपाठशाला (उत्तरप्रदेश) के निरीक्षक का कार्य अनेक वर्षों तक किया। आजकल सेवानिवृत्त है।

(५) **डॉ० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी**—व्याकरण के अतिरिक्त साख्ययोग एव पुराण का आपने विशेष मनन कर गम्भीर पाण्डित्य अर्जित किया है। सस्कृत विश्वविद्यालय (काशी) के पुराण विभाग के अध्यक्ष थे। पुराणविषयक अनेक ग्रन्थो का सस्कृत मे प्रणयन किया है जिनमे मुख्य है—(१) पुराणेतिहासयो साख्ययोग दर्शनविमर्श (२) पुराणपर्यालोचनम् (दो खण्ड)।

(६) **पण्डित चण्डीप्रसाद पाठक**- आजमगढ़ मण्डल के जिन्दोपुर ग्राम के निवासी। जन्म स० १९६० एव निधन श्रावण कृष्ण त्रयोदशी स० २०३७। व्याकरण के प्रौढ़ पण्डित होने के अतिरिक्त पुष्ट शरीर से मण्डित मल्ल भी थे। अश्वारोहण की कला मे नितान्त निपुण थे। अपने घर पर ही 'श्री गिरीश धर्मसघ सस्कृत महाविद्यालय' के यावज्जीवन ४२ साल तक अध्यापक थे। आदर्श शिक्षक एव धर्मोपदेष्टा के रूप मे आप सदा स्मरण किये जायेगे।

(७) **श्री लालबिहारी मिश्र**- व्याकरण के अध्ययन के अतिरिक्त इन्होने आयुर्वेद का भी विशेष अनुशीलन किया है। इन्होने आजकल चिकित्सा करने मे विशेष ख्याति प्राप्त की है। ये सुबुद्ध लेखक है। इनका **वैदिकी** नामक ग्रन्थ, जो सम्पूर्णानन्दजी के **ब्राह्मण सावधान** के खण्डन के रूप मे लिखा गया था, पाण्डित्यपूर्ण तथा लोकप्रिय है।

(८) **पण्डित शुकदेव झा**—महाशयजी के शिष्यो मे अग्रगण्य स्थान के अधिकारी सुयोग्य वैयाकरण थे। नित्यानन्द-सस्कृतमहाविद्यालय मे यावज्जीवन व्याकरणशास्त्र का अध्यापन करते रहे। पूरा महाभाष्य तथा वाक्यपदीय इन्हे कण्ठाग्र थे, ऐसी प्रसिद्धि है। महाभाष्य का मर्मज्ञ होना बडी प्रशसा अवश्य है, परन्तु उससे भी अधिक है वाक्यपदीय के रहस्यो का ज्ञाता होना। और इन दोनो की सत्ता पण्डित शुकदेव झा के व्याकरण-पाण्डित्य का मेरुदण्ड है। इनके अनेक विद्वान् शिष्य है।

पण्डित शुकदेव झा ने व्याकरणशास्त्र मे अनेक छात्रो को निष्णात वैयाकरण तैयार किया है। इन सुयोग्य छात्रो की श्रेणी मे डॉ० सत्यव्रत शास्त्री तथा डॉ० भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री' विख्यात है। सत्यव्रत शास्त्री दिल्लीविश्वविद्यालय के सस्कृतविभाग के प्राध्यापक है। इन्होने व्याकरणसम्बन्धी महानिबन्ध (थीसिस) के अतिरिक्त 'गोविन्दसिंह-चरितम्' तथा 'इन्दिरागान्धीचरितम्' नामक महनीय काव्यग्रन्थो की रचना की है।

पण्डित भागीरथप्रसाद त्रिपाठी (वागीश शास्त्री)

पण्डित भागीरथ त्रिपाठी प्राच्य एव प्रतीच्य उभयविध अनुसन्धान-विधाओं के मर्मज्ञ तथा नव्यमार्गदर्शक विद्वान् है।

इनका जन्म मध्यप्रदेश के सागर-मण्डलान्तर्गत विलइया नामक ग्राम में सवत् १९९१ आषाढ़ शुक्ल त्रयोदशी को हुआ। पितृचरण कान्यकुब्जवशावतंस पण्डित यमुनाप्रसाद तिवारी की तन्त्र, ज्योतिष एवम् आयुर्वेद के वैदुष्य के लिए प्रसिद्धि थी। माता पार्वती देवी अत्यन्त

धर्मपरायण महिला थी। सस्कृत की प्रारम्भिक शिक्षा घर तथा सागर नगर मे सम्पन्न करके माध्यमिक शिक्षा वृन्दावन मे प्राप्त की। वहाँ पाँच वर्ष आचार्य सीताराम शास्त्री शर्मा से न्याय, व्याकरण, साहित्य, श्रीमद्भागवत पुराण, वेदान्त तथा योगसाधना का अभ्यास किया। वाराणसी में पण्डित शुकदेव झा से नव्य एव प्राच्य व्याकरण के सम्पूर्ण ग्रन्थों का अनुशीलन किया। पण्डित रघुनाथ शर्मा से शास्त्रपरामर्श तथा ढुण्ढिराज शास्त्री एवम् उग्रानन्द झा से नव्यन्याय का अनुशीलन किया। इसके अतिरिक्त वेद, दर्शन, आयुर्वेद, ज्योतिष, पुराण, धर्मशास्त्र, साहित्य, सगीत इत्यादि विविध शास्त्रो का परिशीलन किया। पण्डित क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय के सम्पर्क मे आकर आपने नवीन एव पारम्परिक शास्त्रीय अनुसन्धान की शिक्षा प्राप्त की। आप बहुभाषाविद् विद्वान् है।

काशी के टीकमणी सस्कृतकालेज मे पाँच वर्षों तक व्याकरणाध्यापन के पश्चात् आप सम्पूर्णानन्द-सस्कृत-विश्वविद्यालय मे सीनियर रिसर्च फेलो, प्रकाशनाधिकारी, अनुसन्धान-सहायक तथा १६७० ई० से निदेशक अनुसन्धान सस्थान पद पर नियुक्त हुए। आप १६७० से अनुसन्धानप्रधान त्रैमासिक सस्कृत पत्रिका 'सारस्वती सुषमा' के सम्पादक है। वागीशजी मूलत वैयाकरण है। वे पाणिनीय धातुओं के स्वरूप, अर्थविकास तथा लोकप्रसार के विषय मे गम्भीर चिन्तक वैयाकरण विद्वान् है। उनके **धात्वर्थविज्ञानम्** तथा **पाणिनीय-धातुपाठ-समीक्षा** ग्रन्थ इस विषय के विवेचन के कारण नितान्त प्रसिद्ध है। आज से सौ वर्ष पूर्व अमेरिका के प्रथम प्रौढ सस्कृतज्ञ डॉ० ह्विटनी ने भी पाणिनीय व्याकरण के तथ्यो का विवेचन किया था। परन्तु धातुओं के विषय मे उनकी धारणा थी कि इतने धातुओं की कल्पना नि सार तथा प्रमाणहीन है। विएना के जर्मन सस्कृतज्ञ डॉ० ब्यूलर ने इसका खण्डन उसी समय किया था और दिखलाया था कि आपातत· अप्रचलित होने वाले अनेक धातुओं का प्रयोग पालि तथा प्राकृत भाषा में उपलब्ध है। वागीश शास्त्री ने इस अनुसन्धान कार्य को आगे बढ़ाया और दिखलाया है कि भारत की प्रान्तीय भाषाओं मे इनका प्रचलन पाणिनीय धातुओं की काल्पनिकता पर सद्य. लगुडप्रहार है। **तद्धितान्ताः केचन शब्दाः** लघुकाय ग्रन्थ तुलनात्मक व्याकरण की दिशा का प्रकाशक है। **जिप्सी भाषा** में इन्होने दिखलाया है कि भारतवर्ष से ही प्राचीनकाल मे भटक कर यूरोप के देशों मे फैलने वाले बजारों (जिप्सी) की भाषा में सस्कृतमूलक शब्द विद्यमान है। हिन्दी के ही नही, भोजपुरी के भी शब्द उनकी भाषा में, उनके गीतों में पाये जाते है। जिप्सी लोगों के गीतों का संग्रह राहुलजी ने रूस मे रहकर किया और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की पत्रिका में उन्हें प्रकाशित किया है।

पण्डित भागीरथ प्रसादजी ने संस्कृत भाषा के शिक्षण की एक नई विधि का विवरण अपने हिन्दी ग्रन्थ 'सस्कृत सीखने की वैज्ञानिक एवम् सरल विधि' में दिया है जिसके द्वारा अनेक विदेशी छात्र सुगमता से सस्कृत सीखने तथा बोलने में समर्थ हो गये है। यह कार्य नितान्त श्लाघनीय है।

पण्डित ढुण्ढिराज शास्त्री टोपले

इसी नित्यानन्द-वेद-विद्यालय के अध्यक्ष रूप में अध्यापन कर कीर्तिलाभ करने वाले विद्वानों में विशेष प्रख्यात थे पण्डित **ढुण्ढिराज शास्त्री टोपले** (जन्म १८६० ई०, निधन सन् १६६७ ई०)। इनके प्रपितामह श्री बालकृष्ण शास्त्री पुराण के, पितामह श्री गदाधर शास्त्री साहित्य के एवं पिता श्री बटुकनाथ शास्त्री न्याय के प्रकाण्ड विद्वान् थे। दस वर्ष के वय में

माता की और ग्यारहवे वर्ष मे पिता की मृत्यु होने से बाल्यकाल मे अत्यन्त कष्ट सहना पड़ा। इन्होने वामाचरणजी तथा म० म० **श्री अम्बादत्त शास्त्री** से न्यायशास्त्र का गहन अध्ययन किया। सन् १९१२ मे **काव्यतीर्थ** तथा १९१५ मे न्यायाचार्य की उपाधि अर्जित की। सन् १९१६ से लेकर १९५८ तक ४२ वर्ष तक नित्यानन्द वेद विद्यालय मे प्रधान अध्यापक पद को अलकृत करते हुए इन्होने अध्यापन कार्य किया। न्याय तथा वेदान्त के प्रौढ़ तथा दुरूह ग्रन्थो का विमर्शात्मक सस्करण सपादित कर इन्होने बडी कीर्ति अर्जित की। युक्तिवाद, वैशेषिक दर्शन एव भामती की टीका, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, आत्मतत्त्वविवेक, शब्दशक्तिप्रकाशिका तथा श्रीसूत्रभाष्य ग्रन्थो पर विस्तृत टिप्पणी, साख्यकारिका, श्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थो का अनुवाद एव तर्कभाषा रहस्य ग्रन्थ की रचना भी की है। इसके अतिरिक्त गादाधरी, क्रोडपत्रसग्रह, न्यायलीलावती, न्यायमञ्जरी आदि ३८ ग्रन्थो की विषयानुक्रमणिका एव भूमिका आपने लिखी तथा सम्पादित की है। अधिकाश ग्रन्थ चौखम्भाकार्यालय वाराणसी से प्रकाशित है। काशी के नैयायिको मे शीर्षस्थ स्थान पर ढुर्णढेराजजी सर्वदा विराजमान थे।



५१

गोयनका-विद्यालय के अध्यापक

गोयनका विद्यालय अपने आरम्भकाल मे काशी का एक महनीय विद्यालय था। अनेक विद्वानो ने यहाँ अध्यापन किया जिनके नाम इस ग्रन्थ मे यत्र तत्र वर्णित है। दो विद्वानो का सक्षिप्त परिचय यहाँ उपन्यस्त है -

पं० शुकदेव चतुर्वेदी
(प्रसिद्ध नाम—मुनिजी)

प्रत्येक विद्यार्थी चाहता है कि वह अपने गुरुदेव की विद्या को अपने मे पूर्णतया सक्रान्त कर ले। वह चाहता है कि विद्या का समग्र रहस्य ज्ञात हो जाय और उसके प्रतिपादन मे उसके मुख से वे ही शालीन शब्द निकले, जो उसके गुरुश्री के मुख से निकला करते है। किन्तु कितने छात्रो की यह चाह पूरी हो पाती है ?

प० शुकदेव चतुर्वेदी ने घोर अध्यवसाय से इस चाह को पूर्णतया सफल बना लिया था। व्याकरण, न्याय आदि शास्त्रो को उन्होने अपने मे ज्यो का त्यो सक्रान्त कर लिया था। अर्थाश मे वे निर्भ्रान्त तो थे ही, प्रतिपादन मे जो भी शब्द उनके मुख से निकलते थे, प्राय वे उनके गुरुदेव के ही होते थे। उनकी इस विशेषता से काशी के सभी छात्र परिचित थे। प्राय छात्र कुतूहलवश इनके गुरुश्री से पढ़कर वही पाठ इनसे भी सुना करते थे। तब वे विस्मय से विमुग्ध हो जाते थे, जब देखते थे कि वह पाठ हूबहू वैसा ही यहाँ भी पढ़ाया जा रहा है। इससे उन्हे प्रेरणा मिलती थी और वे भी पढ़ने मे जी जान से जुट जाया करते थे, ताकि उनमे भी यह विद्या उसी तरह सक्रान्त हो जाय।

इसी विशेषता से प्रभावित होकर 'जो० म० गौरीशकर गोयनका महाविद्यालय' ने अपने यहाँ व्याकरण के सहायक अध्यापक पद पर इन्हे नियुक्त कर लिया था। उस समय प्रधानपद पर स्वय इनके गुरुदेव प० रामयश त्रिपाठी (महाशयजी) थे। गुरुश्री की तरह इनकी भी कक्षा छात्रो से ठसाठस भरी रहती थी क्योकि सभी विद्यालयो के छात्र इनके यहाँ पाठ सुनने आया करते थे। आचार्य-परीक्षोत्तीर्ण भी अथ से इति तक इनके पाठ मे जुटे रहते थे। अध्यापन की इतनी सुहावनी शैली और कही उपलब्ध न थी।

पीछे प० शुकदेव चतुर्वेदी इस महाविद्यालय मे प्रधान और उपाचार्य पद पर भी नियुक्त किये गये। प्रिंसिपल का पद न तो इनके गुरुश्री को अभीष्ट था और न तो इन्ही को, दोनो ने इसे अस्वीकार कर दिया था। दोनो ही पठन पाठन को ही महत्त्व देते थे। प्राचार्य पद स्वीकार करने पर इसमे अन्तराय आता और यह इन्हे अभीष्ट न था।

प० शुकदेव चतुर्वेदी अपने गुरु को साक्षात् परब्रह्म समझते थे। जीवन के अन्तिम क्षण तक वे अपने को शिष्य ही समझते रहे। वे अध्यापक भी है, यह बात उनकी बुद्धि मे

उतरती नही थी । अत्यत निरभिमानी, निश्छल और विनम्र थे । ईश्वर, गुरु और शास्त्र के अतिरिक्त और किसी बात का उन्हे ध्यान ही नही आता था । इनके सहाध्यायी भी इन्हे श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे और 'मुनिजी' कहा करते थे । अन्त मे इसी नाम से ये अधिक प्रख्यात हो गये ।

प्रयाग के हडिया तहसील के हरीपुर नामक गाँव मे इनका जन्म हुआ था । रेलवे स्टेशन का नाम सैदाबाद है । इनकी प्रारंभिक शिक्षा धर्मज्ञानोपदेश पाठशाला प्रयाग मे हुई थी । उस समय इनके गुरुदेव प० कालीप्रसाद मिश्र थे और इनके सहाध्यायियो मे प० कमलाकान्त मिश्र का नाम उल्लेखनीय है ।

यह आशा बँध चुकी थी कि महाशयजी के बाद उनके अध्यापन का वह सुहावना सिलसिला प० शुकदेव के द्वारा बहुत दिनो तक जारी रहेगा । किन्तु इनकी असामयिक मृत्यु मे वह उच्छिन्न हो गयी ।

पं० शिवबालक शुक्ल

गोयनका सस्कृत विद्यालय के प० शिवबालक शुक्ल व्याकरण प्रक्रिया के प्रौढ पण्डित थे । यो तो वे मनोरमा, महाभाष्य आदि टीकाग्रथ भी पढ़ाते थे, परन्तु उन्हे छात्र 'मध्यमा के गुरुजी' कहते थे । बात यह है कि मध्यमा कक्षा मे ही मूलग्रथ 'सिद्धान्तकौमुदी' पढ़ाया जाता है, पण्डितजी को 'सिद्धान्तकौमुदी' कण्ठ थी । उनके समान मूलग्रथ पढ़ाने की क्षमता कम लोगो मे थी, इसलिए 'मध्यमा के गुरुजी' के नाम से उनकी प्रसिद्धि थी । प्राय परिष्कारी पण्डित मूलग्रथ की उपेक्षा कर देते है । उन्हे तो सभा मे शास्त्रार्थ कर दूसरो को पराजित करने की धुन सवार रहती थी, इसलिए स्थानिवत्, अर्थवत्, प्रातिपदिकार्थ आदि के परिष्कार मे वे उलझ जाते थे, जिसमे मूलग्रथ विस्मृत हो जाता था । लक्षण को परिष्कृत करने मे ही उनका पूरा समय लगता था । इसीलिए लक्षणसूत्र के लक्ष्य का अनुसन्धान कमजोर पड जाता है ।

एक बार पण्डितो मे प्रश्न उठा कि 'अल्लोपोऽन' (६।४।१३४) यह सूत्र भ सज्ञा को निमित्त मानकर अन् के अकार का लोप करता है, जिसके उदाहरण है —राज्ञ, राज्ञा, राज्ञे आदि । किन्तु ये उदाहरण तो जहाँ अजादि प्रत्यय को भ सज्ञा होती है उसके है, यकार प्रत्यय को मानकर होनेवाली भ सज्ञा के विषय मे 'अल्लोपोऽन' का उदाहरण क्या होगा ? स्थानीय पण्डितो से पूछा पाछी हुई, पर समाधान नही हुआ । शिवबालकजी की 'कौमुदी' मे प्रसिद्धि थी, इसलिए कुछ लोग उनके पास इस प्रश्न को लेकर गये, उन्होने झट कह दिया—इसका लक्ष्य तो 'आह्नयम्' है । 'अह्न कर्म भावो वा' इस विग्रह मे अहन् शब्द से ष्यञ् प्रत्यय होने पर य को मानकर भ सज्ञा होगी जिससे 'अल्लोपोऽन' सूत्र लगता है ।

पण्डितजी की इस प्रत्युत्पन्नमति को देखकर सब पण्डितो ने लोहा मान लिया कि मूल ग्रथ के मर्मज्ञ पण्डितो मे प० शिवबालकजी का विशेष महत्त्व है । ये गोरखपुर मण्डल के बाँसगाँव तहसील के हरिहरपुर गाँव के मूल निवासी थे । ये गर्गगोत्रीय मझगाँव के शुक्ल थे । काशी मे आकर इन्होने म० म० पण्डित शिवकुमार शास्त्री तथा पण्डित शशिनाथ झा से प्राचीन एव नव्यव्याकरण का अध्ययन किया था । गोयनका-सस्कृतविद्यालय मे अध्यापन करते थे । जन्म इनका १८७४ ईस्वी मे तथा निधन १९५६ ईस्वी मे ८२ वर्ष की आयु मे हुआ ।

शुक्लजी के प्रधान शिष्य

पं० चन्द्रधर उपाध्याय

बिहार के रोहतास जिला के सोनडीहरा गॉव मे पण्डित चन्द्रधर उपाध्याय का १८६७ ई० मे जन्म हुआ था। इनकी प्रौढ़ शिक्षा प० शिवबालक शुक्ल से हुई। व्याकरण के साथ साथ ज्योतिष और कर्मकाण्ड की भी शिक्षा प्राप्त की। धर्मनिष्ठा इन्हे विरासत रूप मे मिली थी। धर्म के नियमो को बहुत ही तत्परता से पालन करते थे। घर का नन्हा बच्चा भी तब तक भोजन नही पाता था, जब तक कि भगवान् का विधिवत् भोग न लग जाय।

काशी और विश्वनाथ मे इनका प्रगाढ़ अनुराग था। प्रह्लादघाट पर स्थायी निवास बना रखा था। काशी से बाहर जाने मे इन्हे कष्ट का अनुभव होता था।

प० चन्द्रधर उपाध्याय कर्मनिष्ठ पण्डित थे। सम्पूर्ण धर्म इनके जीवन मे उतर आया था। तीनो समय सन्ध्या करते और उसके बाद पूजा करते। प्राय दिन भर पूजा चलती रहती थी। इनके इस नियमित धर्माचरण ने बहुत लोगो को धर्म के पथ पर आरूढ़ कर दिया था। इन्ही की तरह बहुत लोगो ने धर्म का आचरण करना प्रारभ कर दिया था। सैकडो ने चान्द्रायण जैसे कठोर व्रत का समापन किया था। इन कृत्यो के निर्देशन के लिए प्राय काशी से बाहर जाना पडता था।

ज्योतिष की अद्भुत जानकारी थी। गणना मे अपनी मृत्यु के ठीक समय को ऑक लिया था। दस बारह दिन पहले ये प्रह्लादघाट वाले निवास मे लौट आये थे, एक दो दिनो के बाद ज्वर से ये सज्ञाशून्य हो गये। चार पॉच दिनो तक इनकी यही स्थिति बनी रही। किन्तु मृत्यु काशीलाभ के ठीक एक घटा पहले ये पूरी तरह होश मे आ गये। उठकर गगाजल से स्नान किया, भस्म लगाया और जपमाला लेकर आसन पर बैठ गये। सब जगह गगाजल छिडकवा दिया था। ठीक उसी तरह जप करने लगे, जैसे स्वस्थावस्था मे करते रहे। इसी बीच मौत का आक्रमण हुआ। किन्तु वे तो जप मे लगे थे। ध्यान कही और केन्द्रित था। मौत का अनुभव उन्हे न हुआ। इतना वरणीय मरण कितने लोगो का होता है? १९७० ईस्वी मे उन्हे शिवसायुज्य प्राप्त हुआ।

धर्मशास्त्र का अध्ययन उपाध्यायजी ने बडे प्रेम और परिश्रम से किया था। धर्मशास्त्रीय विषयो का वर्णन करने वाले ग्रन्थो का अध्ययन ही नही किया था, अपितु उपयोगी परन्तु अलभ्य ग्रन्थो का सग्रह भी बडी निष्ठा से किया था। इनके ज्येष्ठ पुत्र प० परशुराम उपाध्याय अपने पूज्य पिता के समान ही सरलस्वभाव तथा पूर्ण आस्तिक है। अपने ग्राम के पास के कुदरा गॉव के अग्रेजी स्कूल के सस्कृताध्यापक है। उन्होने अपने पिता के द्वारा सगृहीत अलभ्य धर्मग्रन्थ 'जयसिंह कल्पद्रुम' का मुझे दर्शन कराया था जिसमे पूरे वर्ष के व्रतो का अनुक्रम से विस्तृत वर्णन किया गया है। तिथियो के निर्णय मे वे इसका आश्रय लेते थे और उचित तिथि पर ही अनुष्ठान का विधान करते थे। ऐसा अनुष्ठान आजकल सर्वथा दुर्लभ है।

पण्डित प्रमथनाथ तर्कभूषण

(आस्पद—भट्टाचार्य, उपाधि—महामहोपाध्याय)

महामहोपाध्याय प० प्रमथनाथ तर्कभूषण भारतीय दर्शन —विशेषकर न्यायशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इन्होने अपने गम्भीर पाण्डित्य से अमर कीर्ति प्राप्त की थी। व्याकरण, साहित्य तथा न्याय आदि अनेक शास्त्रो का इन्होने विधिवत् अध्ययन किया था परन्तु इनकी सर्वाधिक ख्याति वेदान्तशास्त्र मे प्रचुर पाण्डित्य प्राप्त करने के लिए ही थी। इनके नाम के साथ जुडी हुई तर्कभूषण की पदवी से स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि ये वास्तव मे तर्कशास्त्र के भूषण थे। हिन्दू विश्वविद्यालय मे सस्कृत महाविद्यालय के अध्यक्ष पद को बीस वर्षों तक अलकृत कर इन्होने अपार ख्याति अर्जित की।

प्रमथनाथ तर्कभूषण की सबसे बडी विशेषता यह थी कि ये प्रतिगामी पण्डित न होकर एक प्रगतिशील विद्वान् थे। ये समाज और समय की गति को पहचानने वाले मनीषी थे। प्राचीन शास्त्रो के नियमो तथा विसगतियो मे सुधार करके उन शास्त्रीय वचनो को आधुनिक काल के अनुकूल तथा उपयोगी बनाने के ये परम पक्षपाती थे। मालवीयजी महाराज ने जब हरिजनो को मत्रदीक्षा देने का आन्दोलन प्रारम्भ किया था तब उसका इन्होने शास्त्रो का प्रमाण देकर समर्थन किया था। मालवीयजी के समस्त सुधारवादी कार्यों को इन्होने शास्त्रानुमोदित बतलाकर उनका पक्ष लिया था। इस प्रकार कट्टर तथा पुराणपन्थी पण्डितो से इनकी श्रेणी सर्वथा पृथक् थी। ये प्रगतिशील, सुधारवादी विद्वानो की श्रेणी मे प्रथम पक्ति के अधिकारी थे।

वंशपरिचय—प० प्रमथनाथ भट्टाचार्य के पिता का नाम प० ताराचरण भट्टाचार्य था। ये अपने समय के बहुत बडे विद्वान् तथा वावदूक पण्डित माने जाते थे। इनके अगाध पाण्डित्य से प्रभावित होकर काशी नरेश महाराज ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह ने इन्हे अपने दरबार का राजपडित नियुक्त किया था और धर्म के कार्यों मे इनकी सम्मति को सर्वाधिक प्रामाणिक मानकर वे उसी के अनुसार कार्य करते थे। प० ताराचरण भट्टाचार्य के जीवन की सबसे प्रधान घटना स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी से शास्त्रार्थ करना था। सन् १८६९ ई० मे स्वामी दयानन्दजी से काशी के पण्डितो का जो ऐतिहासिक शास्त्रार्थ हुआ था, उसमे ताराचरणजी भी विद्यमान थे। ये अपने आश्रयदाता महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिंहजी के साथ—जो उस सभा के अध्यक्ष नियुक्त किये गये थे—इस शास्त्रार्थ मे सम्मिलित हुए थे। सच तो यह है स्वामीजी से सबसे पहली भिडन्त ताराचरण भट्टाचार्यजी की हुई थी। काशीनरेश की आज्ञा से इन्होने ही स्वामीजी से सबसे पहले प्रश्न किया था।

भट्टाचार्यजी नैयायिक होने के अतिरिक्त काव्यशास्त्र के भी अद्भुत विद्वान् थे। इन्होने अलकारशास्त्र के विषय मे एक ग्रन्थ की रचना सस्कृत मे की थी जिसमे रसो का भी विवेचन



पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण

किया गया था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र महाराजा के दरबार मे आते जाते थे। अत इनसे ताराचरणजी का पूरा परिचय था। भट्टाचार्यजी ने अपने इस ग्रन्थ मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के द्वारा उद्भावित चार नवीन रसो का उल्लेख 'हरिश्चन्द्रास्तु एव वदन्ति' कहकर किया है। इन्होने इन नवीन रसो का हिन्दी मे उदाहरण देकर उसका सस्कृत मे अनुवाद भी किया है। यह ग्रन्थ आज से ६० वर्ष पहले लीथो मे छपा था। परन्तु आजकल इसका नवीन सस्करण देखने मे नही आता।

जन्म तथा शिक्षा—प० प्रमथनाथ तर्कभूषण का जन्म बङ्ग देश के भट्टपल्ली नामक स्थान मे हुआ था जिसे सस्कृतविद्या की केन्द्रस्थली और अनेक विद्वानो की जन्मस्थली होने का गौरव प्राप्त है। ये इसी गाँव के एक कुलीन ब्राह्मण वश मे १९२३ वि० स० (=सन् १८६५ ई०) मे पैदा हुए थे। इनके पूर्वज प्राय अपने जीवन के अन्तिम काल मे प्रमथनाथ शकर की नगरी काशी मे आकर अपना शेष जीवन बिताया करते थे। इसी कारण इनके अभिभावको ने इनका नामकरण 'प्रमथनाथ' कर दिया

इनके पिता का नाम प० ताराचरण भट्टाचार्य था इनके पितृव्य प० राखालदास न्यायरत्न अपने समय के प्रकाण्ड विद्वानो मे गिने जाते थे। वे न्यायशास्त्र के प्रसिद्ध पण्डित थे। अत अपने घर मे ही इन्हे विद्या प्राप्त करने का अपूर्व सयोग प्राप्त हो गया। इनके पिता तथा पितृव्य दोनो ने ही बडे प्रेम से इन्हे शास्त्रो का अध्यापन किया। इस प्रकार घर पर ही इन्होने व्याकरण, साहित्य और न्यायशास्त्र का अध्ययन कर पाण्डित्य प्राप्त किया। प्रमथनाथ जी की बुद्धि बडी प्रखर और तत्त्वग्राहिणी थी। अत विभिन्न शास्त्रो मे समधिक विद्वत्ता प्राप्त करने की अभिलाषा से ये काशी आये। इन्होने यहाँ परिव्राजकाचार्य परमहस स्वामी विशुद्धानन्दजी से पूर्वमीमासा और उत्तरमीमासा (वेदान्त) का सम्यक् अध्ययन किया। इसके फलस्वरूप थोडी अवस्था मे ही इन्होने प्रकृष्ट पाण्डित्य प्राप्त कर लिया। इनकी ख्याति सर्वत्र फैलने लगी।

इन्होने पण्डित वीरेश्वर स्मृतितीर्थ महाशय के निकट स्मृतिशास्त्र का अध्ययन किया। तदनन्तर महामहोपाध्याय शिवचन्द्र सार्वभौम महाशय के चरणो मे बैठकर नव्यन्याय का अध्ययन किया। इसके बाद इन्होने प० हृषीकेश शास्त्री से साख्यशास्त्र का अध्ययन किया। नाना कारणो से पढ़ने लिखने मे विघ्न उत्पन्न होने के कारण ये प्रसिद्ध बगवासी के प्रतिष्ठाता श्री योगीन्द्रनाथ वसु महाशय के अनुरोध से उनके द्वारा आरम्भ किए गये शास्त्रो के बगीय अनुवाद के कार्य मे पण्डित पचानन तर्करत्नजी के सहयोगी हुए। किन्तु इस कार्य मे इनका मन नही लगा। इसलिए अपनी स्त्री और पुत्र के साथ काशी मे अध्यापन कार्य के लिए चले आये।

उस समय दरभगानरेश महाराजा लक्ष्मीश्वर सिह ने स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती के आदेश तथा उपदेश से काशी मे दरभगा पाठशाला की स्थापना कर दी थी। इस विद्यालय मे साहित्य के अध्यापक का पद रिक्त था। स्वामीजी के आदेश से इन्होने इस पद को ग्रहण किया और दरभगा पाठशाला मे विधिवत् अध्यापन करने लगे। साथ ही साथ स्वामीजी के निकट रहकर मीमासा तथा वेदान्तशास्त्र का भी अध्ययन बडे प्रेम और परिश्रम से करते रहे। प्रमथनाथजी विशुद्धानन्दजी के बडे ही भक्त छात्र थे। काश्मीर महाराज के निमन्त्रण पर जब स्वामीजी काश्मीरयात्रा पर गये थे, तब प्रमथनाथजी भी उनके सेवक के रूप मे स्वामीजी के

साथ गये थे। वहाँ से लौटने के बाद, इस यात्रा का विवरण 'जन्मभूमि' नामक बँगला पत्रिका मे इन्होने प्रकाशित किया था।

१८९८ ई० मे महामहोपाध्याय ने कलकत्ता के सस्कृत-कालेज से अवकाश ग्रहण किया। उस विद्यालय मे वे स्मृतिशास्त्र के अध्यापक थे। उन्ही के स्थान पर प्रमथनाथजी की नियुक्ति कलकत्ता-सस्कृतकालेज मे हुई। उस समय ये उस कालेज मे स्मृतिशास्त्र के अतिरिक्त अलकार और मीमासा का भी अध्यापन करते थे कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति आशुतोष मुखर्जी ने १९०६ ई० मे सस्कृतकालेज का बडा विस्तार किया और विश्वविद्यालय के सस्कृतविभाग का भी विशेष परिवर्धन किया। उनकी दृष्टि प्रमथनाथजी पर पडी और उन्होने इन्हे कलकत्ता विश्वविद्यालय के अन्तर्गत सस्कृतविभाग मे प्राध्यापक नियुक्त कर दिया। इस पद पर इन्होने सोलह वर्ष तक निरन्तर कार्य करते हुए विशेष कीर्ति का अर्जन किया। १९२२ ई० मे ये इस पद से सेवा निवृत्त हुए। अगले वर्ष महामना प० मदनमोहन मालवीयजी ने हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत सस्कृतमहाविद्यालय के अध्यक्ष पद पर इन्हे प्रतिष्ठित किया। इस पद पर नियुक्त होकर प्रमथनाथजी काशी आये और अपना शेष जीवन यही अध्ययन एव अध्यापन मे व्यतीत किया।

उपाधियाँ तथा सम्मान

प्रमथनाथजी बडे ही सभाचतुर तथा व्यवहारकुशल पण्डित थे। ये सस्कृत के अतिरिक्त बँगला भाषा के अभ्युत्थान मे भी विशेष योगदान करते रहे। वसुमती, उद्बोधन, बगवासी आदि बगाल की प्रसिद्ध मासिक पत्रिकाओं मे इन्होने साहित्य तथा धर्मशास्त्र विषय मे अनेक सुचिन्तित प्रबन्ध लिखे तथा प्रकाशित किये है। अनेक सभा समितियो के सदस्य, प्रबन्धक तथा सभापति होने का भी गौरव इन्हे प्राप्त होता रहा है। १३२३ बगाब्द मे तर्कभूषणजी बगाल के यशोहर जिला मे सम्पन्न बगीय साहित्यसम्मेलन के नवम अधिवेशन मे दर्शन विभाग के सभापति निर्वाचित किये गये थे। ये १३३१ से लेकर १३३३ बगाब्द तक कलकत्ता की सस्कृत साहित्य परिषद् के सभापति थे। १३३५ बगाब्द मे बगाल के मैमनसिंह जिला के हिन्दूमहासभा के अन्तर्गत जो हिन्दूसम्मेलन हुआ था, उसमे ये सभापति थे। इतना ही नही, इनकी कीर्ति बगाल के बाहर भी फैली हुई थी १९४० ई० मे भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन का जो अधिवेशन मद्रास के प्रसिद्ध नगर तिरुपति मे हुआ था उसमे वैदिक शाखा के सभापति निर्वाचित किये गये थे। इनकी वक्तृत्व शक्ति बहुत ही अद्भुत थी। जिस विषय का ये विवेचन करते थे उसका स्वरूप ही अपने भाषणो द्वारा श्रोताओं का प्रत्यक्ष कर देते थे। यही कारण था कि अनेक सस्थाओं की सभाओं मे व्याख्यान देने का गौरव इनको प्राप्त था। ऐसे प्रसिद्ध सस्थानो मे डान सोसाइटी, महाबोधि सोसाइटी, थियोसोफिकल सोसाइटी तथा गीतासभा का नाम उल्लेखनीय है जहाँ नियमित रूप से ये भाषण किया करते थे।

१९११ ई० मे प्रमथनाथजी को अग्रेजी सरकार से 'महामहोपाध्याय' की उपाधि प्राप्त हुई थी। १९४२ ई० मे काशी के हिन्दूविश्वविद्यालय ने इन्हे डी० लिट्० की मानद उपाधि से अलकृत कर इनका गौरववर्धन किया था। ये जनता तथा सरकार दोनो की दृष्टियो मे प्रतिष्ठित तथा उत्कृष्ट विद्वान् के रूप मे समादृत किये गये थे।

ग्रन्थरचना

प्रमथनाथजी लेखनी के भी धनी थे। इन्होने सस्कृत के प्राचीन ग्रन्थो का प्रकाशन

बडे परिश्रम के साथ किया। अनेक ग्रन्थो का अनुवाद बग भाषा मे करके उसे समृद्ध किया है। इनके द्वारा रचित तथा सपादित ग्रन्थो के नाम इस प्रकार है--

(१) कोकिलदूतम्, (२) रासरसोदयम् (१८९१ ई०), (३) विजयप्रकाशम् (१९४६ वि० स०), (४) व्याप्तिपचक माथुरी-रहस्य विवृति (१९५४ वि० स०), (५) पूर्व-मीमासा अर्थसग्रहटीका (१८९९ ई०), (६) भगवद्गीताटीका (१९०२ ई०), (७) अद्वैतसिद्धि (१९१६ ई०), (८) सिद्धान्तलेश (१९१९ ई०), (९) शाकर भाष्य--भामती रत्नप्रभासहित ब्रह्मसूत्र (१९१७ ई०), (१०) कर्मयोग, (११) मायावाद, (१२) सनातन हिन्दू, (१३) बाँगलार वैष्णव धर्म, (१४) शाक्यसिंह, (१५) मणिभद्र (१६) काशीखण्ड का बँगलानुवाद, (१७) श्रीचण्डी का बँगला अनुवाद, (१८) मनुस्मृति का बगलानुवाद, (१९) रत्नमाला, (२०) बौद्ध धर्म और दर्शन, (२१) विशुद्धानन्दचरित्र।

इन ग्रन्थो के नाम से ही प्रमथनाथजी की नाना शास्त्रो की प्रगाढ पाण्डिताई सद्य परिस्फुरित होती है

१९४१ ई मे २२ मई को सोमवार के दिन ऐसे धुरन्धर पण्डित का काशी मे स्वर्गवास हुआ। इस समय इनकी आयु ७५ वर्ष थी। इनके भरा पूरा परिवार एव सुयोग्य पुत्र थे। विद्वान् छात्रो को तैयार करने का श्रेय प्रमथनाथजी को देना सर्वथा उचित है।

महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का परिचय

(१) विजयप्रकाश—यह बहुविश्रुत स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती का पद्यबद्ध जीवनचरित है। तर्करत्नजी स्वामीजी के प्रिय शिष्य थे। अनेक वर्षो तक आपने उनसे उपनिषद् तथा अद्वैतसिद्धि का विधिवत् अध्ययन कर अद्वैत वेदान्त का प्रकृष्ट पाण्डित्य प्राप्त किया था। शिष्य के द्वारा गुरु के चरित्र का यह चारु चित्रण तर्करत्नजी की पद्यरचना चातुरी का भी पर्याप्त सूचक है। काशी मे दरभगा पाटशाला मे अध्यापन करते समय इन्होने इसकी रचना की थी।

(२) कोकिलदूतम् इस दूतकाव्य मे कलकत्ते की कोई वगीय महिला काश्मीर मे कार्यवश रहने वाले अपने प्रियतम के पास कोकिल को दूत बनाकर अपनी दयनीय दशा सुनाने के लिए भेज रही है। दूतकाव्य के समस्त गुणो मे युक्त यह रचना प्रसादमयी देववाणी मे निबद्ध की गई है और श्रोताओं के अन्तरतल को अपनी मधुरता तथा प्रसन्नता के द्वारा हठात् आवर्जित करने मे समर्थ है, यह काव्य १०५ पद्यो मे निबद्ध है।[1] काशीश (सम्भवत प्रभुनारायण सिंह) को यह कृति समर्पित की गई है एक दो उदाहरण देखिए

हिमालय के वर्णन मे कवि कहता है

कुत्राप्युच्चै. सरलशिखरात् सान्द्रनीहारशुभ्राद्
वेगाधिक्यात् पतितमसम वेष्टितप्रान्तभागम्।
गर्जद्रोगिध्वनितहरिति शूलिन पाणिलक्ष्म्या
नृत्यारम्भेऽनुकृतिकुशल निर्झर धारयन्तम्॥

कोकिल विरहिणी की दयनीय दशा का सुन्दर वर्णन करता है

ताम्बूलोत्थो रदवसनयोर्दृश्यते नैव रागो
नो वा तुल्या वत चरणयोर्लक्ष्यतेऽलक्तकश्री।

१ काशी के अमर यन्त्रालय द्वारा प्रकाशित।

सूक्ष्मस्पर्शा कठिन-कठिना स्नेहसम्पर्कहीना
गाढोत्कण्ठां दिशति सुहृदामेकवेणी च तस्याः ॥
—कोकिलदूत, श्लोक ७६

विरहिणी का कुसुमसदृश चित्त काम के बाणों से विद्ध होने से धैर्यहीन हो गया है। वह धैर्य के वृन्त (डंठल) से शिथिल हो रहा है। उसकी दीन दशा पर दृष्टिपात तो करो—

चेतोऽस्माकं कुसुमसदृशं कौसुमेषोर्निपातात्
तीव्रादेतत् प्रिय ! तदधुना भिन्नधैर्यैकवृन्तम् ।
हन्तेदानीं हृदयवसते ! त्वद्वियोगोष्णरश्मि-
र्गच्छेदेवं दृढमुपचयं चिन्तयाऽस्मद्गतिः का ॥
—तत्रैव, पद्य ६५

कोकिलदूत प्रमथनाथजी के कविहृदय का पर्याप्त सूचक है—इसमे तनिक भी सदेह नही।

(३) **वैष्णवधर्म**—बँगला मे कलकत्ताविश्वविद्यालय मे दिए गए इनके भाषणो का संग्रह है जिसे विश्वविद्यालय ने ही प्रकाशित किया है। प्रमथनाथजी परमवैष्णव थे, राधामाधव की ललित लीलाओं के स्वय आस्वादवेत्ता तथा श्रोताओं को आस्वादयिता। इसीलिए इनके गीताप्रवचन बड़े ही मधुर, आवर्जक तथा मर्मस्पर्शी होते थे। ये प्रधानतया वैष्णव कवि है, इसका परिचय इस ग्रन्थ से भली-भाँति लगता है।

(४) तर्करत्नजी धर्मशास्त्र तथा वेदान्त के भी पण्डित एव व्याख्याता थे। इनके दो धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों के सम्पादन तथा बँगला मे अनुवाद उपलब्ध होते है। **कालविवेक**—इन्होने जीमूतवाहन के **कालविवेक** का विमर्शात्मक सस्करण निकाला जो कलकत्ता की एशियाटिक सोसाइटी की 'बिब्लिओथिका इडिका' नामक प्रख्यात ग्रन्थमाला मे प्रकाशित हुआ है (१८६७ ई० से १६०५ ई० तक ७ छोटे छोटे खण्डों में)।

(५) **मनुस्मृति**—मेधातिथि तथा कुल्लूक भट्ट के क्रमश. भाष्य तथा व्याख्या के साथ बँगला में अनूदित होकर कलकत्ते के बगवासी प्रेस से प्रकाशित हुई है। इस ग्रन्थ की विस्तृत तथा विशद भूमिका मे तर्करत्नजी ने धर्मशास्त्रीय विषयो का तथा मनु के मन्तव्यो का विशेष अनुसन्धानपूर्वक निबन्ध प्रकाशित किया है जिससे इनके एतद्विषयक वैदुष्य का पर्याप्त परिचय आलोचको को प्राप्त होता है।

(६) **मायावाद**—तर्करत्नजी की व्याख्यान शैली बहुत ही सरल-सरस थी। ये कठिन विषयों को बड़े ही सरल शब्दों में उदाहरण के साथ प्रस्तुत करने मे प्रवीण थे। इसीलिए हिन्दूविश्वविद्यालय मे इनके गीताप्रवचन बडे ही लोकप्रिय, आवर्जक तथा आकर्षक होते थे। मायावाद का यह बड़ा ही अभिराम वर्णन बँगला में निबद्ध है। इसकी उपादेयता के ही कारण विश्वभारती ने इसे अपनी आर्यग्रन्थावली के अन्तर्गत पुन. प्रकाशित किया है। ये हिन्दी मे भी लिखते थे। 'कल्याण' के विशेषाकों मे इनके अनेक शास्त्रीय निबन्ध प्रकाशित हुए है जो ज्ञानवर्धक होने के साथ ही साथ नितान्त रोचक भी है।

महामहोपाध्याय प्रमथनाथजी बडे ही सभाचतुर थे। भाषण करने की कला के पारगामी पण्डित थे। श्रोताओं के हृदय को आकृष्ट करने की इनकी क्षमता अद्भुत थी। इस विषय में

इनका एक सस्मरण लेखक के हृदय मे सदा के लिए अकित है। घटना का क्रम इस प्रकार हुआ।

डॉ० आनन्दशकर ध्रुवजी बडे ही कुशल शासक तथा समन्वयवादी विद्वान् थे। वे एक साथ ही विश्वविद्यालय के अनेक पदो पर प्रतिष्ठित थे और उनका यथावत् निर्वाह करते थे। उनके शासनकाल मे सर्वत्र शान्ति विराजती थी। वातावरण कभी क्षुब्ध नही होता था। अध्यापको के पारस्परिक कलह को शान्तभाव से निपटा देना ध्रुवजी के बाये हाथ का खेल था। वे बडे ही लोकप्रिय थे—अध्यापको मे जितने, उससे अधिक छात्रो मे। उस समय वैमनस्य का कही नाम निशान न था। उनकी लोकप्रियता अपने चरम बिन्दु पर थी कि एक विचित्र घटना घटी। उनका कार्यकाल समाप्तप्राय था। पूरे विश्वविद्यालय को आशा थी कि उनका कार्यकाल आगे बढ़ेगा और उनका सहयोग पूरी मात्रा मे प्राप्त होगा। परन्तु सब किसी की आशा एव आकाक्षा के विरुद्ध उनका कार्यकाल नही बढ़ा और सेशन के बीच मे उन्हे अपने उत्तरदायी पद को छोडना पड़ा। इसी अवसर पर उनकी बिदाई के लिए समारोह हुआ।

आर्ट्सकालेज का केन्द्रीय विशाल हाल। छात्रो एव अध्यापको की खचाखच भीड। तिल रखने की जगह नही। मालवीयजी महाराज के साथ ध्रुवजी सभा मे पधारे। महामना सभापति पद को सुशोभित करने लगे और प्रधान वक्ता का भार महामहोपाध्याय प्रमथनाथजी के कन्धो पर आ पड़ा। लेखक उस विशाल समारोह मे सस्कृतविभाग का वरिष्ठ अध्यापक होने के नाते उपस्थित था और उस सभा की कार्यावली को बडी निकटता से देख रहा था। अन्य वक्ताओं के अनन्तर प्रमथनाथजी की जब बारी आई तब सन्नाटा छा गया। बात यह थी कि ध्रुवजी तर्करत्नजी के घनिष्ठ सहयोगी थे। सस्कृत के विद्वान् होने के नाते आत्मीयता से दृढ़ता से निबद्ध थे तथा हिन्दूविश्वविद्यालय के प्रो वाइसचासलर होने की दृष्टि से उनके अधिकारी कोटि मे भी आते थे। फलत समग्र दर्शको की दृष्टि इस वृद्ध पण्डित की ओर स्वत खिच गई। सब लोग लालायित हो उठे कि प्रमथनाथजी अपने विकल चित्त की कथा आज किन शब्दो मे सुनाएँगे।

तर्करत्नजी मितभाषी व्यक्ति थे। ये सार बातो को ही अपने भाषण मे स्थान देते थे। इन्होने पण्डितराज जगन्नाथ के एक मार्मिक पद्य को उद्धृत कर उसकी व्याख्या मे अपने कातर हृदय के दुर्दमनीय भावो की विह्वलधारा को उडेल ही तो दिया भामिनीविलास का वह प्रशसनीय पद्य इस प्रकार है

तृष्णालोलविलोचने कलयति प्राची चकोरीगणे
मौन मुञ्चति किञ्च कैरवकुले, कामे धनुर्धुन्वति ।
माने मानवती जनस्य सपदि प्रस्थातुकामेऽधुना
धात. किन्नु विधौ विधातुमुचितो धाराधराडम्बर ॥

विधाता से एक शिकायत है और जबरदस्त शिकायत है—एक अभियोग है और प्रबलतर अभियोग है। सन्ध्या वेला मे पूर्ण चन्द्रमा का उदय आसन्न है। तृष्णा से चचल विलोचन वाली चकोरियो का झुण्ड पूरब दिशा की ओर टकटकी बॉधे हुए ताक रहा है। कोई फूलो की पॉत अपनी चुप्पी तोड़ने के लिए तैयार बैठी है—दिन भर मौन मुद्रा धारण करने वाली कुमुदो की पक्तियाँ उसे तोडने के लिए उत्सुकता मचा रही है। कामदेव अपने धनुष को हिला रहा है। कब दर्शन होवे चन्द्रमा का और कब वे कामिनीजनो पर अपने बाण छोडकर उन्हे उत्सुकता की मूर्ति बना डाले। मानिनी ललनाओं का मान तुरन्त भाग जाने के

लिए तैयार हो गया है—ऐमे समय हे विधाता, आपने यह क्या किया ? चन्द्रमा के ऊपर मेघो का यह आडम्बर लगा देना क्या आपके लिए उचित है। यदि एक मेघ या मेघखण्ड होता, तो उसके झीने आवरण से चन्द्रमा का कुछ तो दर्शन उत्सुक व्यक्तियो को मिल ही जाता, परन्तु आपने तो काले-काले मेघो की यह ठोस दीवार ही खड़ी कर दी। भला सुधाकर के बिम्ब के किसी भी अश का अब दर्शन मिल सकता है ? इतने दर्शनार्थियो की आशा पर आपने पानी फेर दिया। विधुमण्डल को देखने के लिए विचार नही किया। हा ! हन्त !!!

तर्करत्नजी ने अपनी थर्राती वाणी मे इतनी कोमलता से इन भावो को प्रकट किया कि श्रोताओं की आँखे आँसुओं से छलछला उठी। ऐसा मुग्धकारी भाषण सुनकर स्वय महामना के भी लोचन अश्रुसिक्त हो गए। पूरी सभा मे करुणा का वातावरण छा गया। ऐसी थी मुग्धकारिणी भाषा शैली महामहोपाध्याय प्रमथनाथ तर्करत्नजी की।



५३

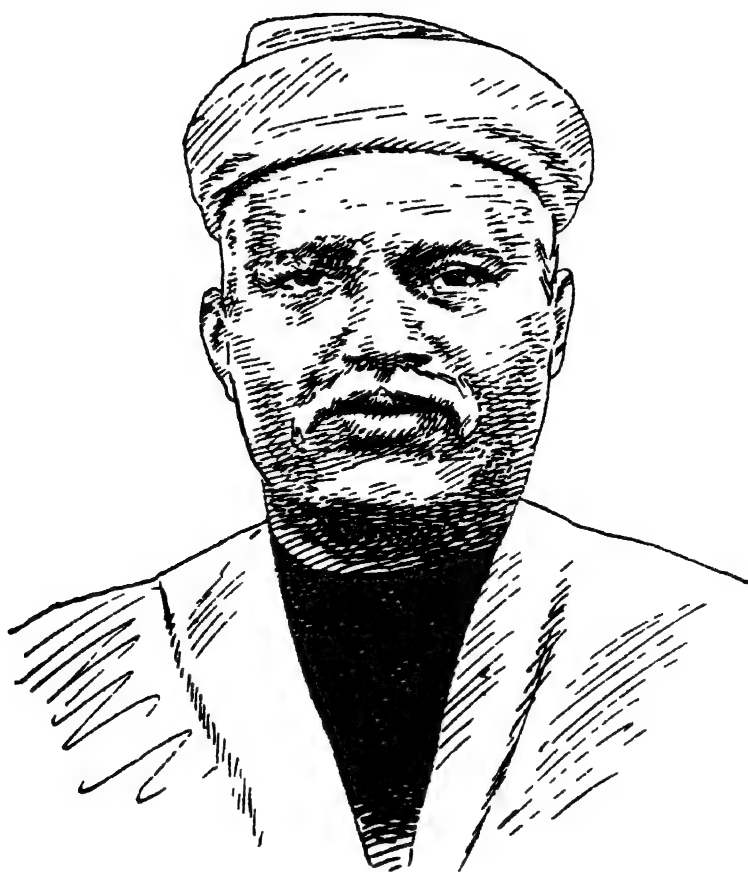
पण्डित हरिहरकृपालु द्विवेदी

(आस्पद—द्विवेदी; उपाधि—महामहोपाध्याय)

महामहोपाध्याय पण्डित हरिहरकृपालु द्विवेदी व्याकरण, न्याय, मीमासा शास्त्रो के प्रतिभासम्पन्न, सस्कृत भाषा की विचित्रतर प्रयोगरचना मे चतुर तथा तर्कविद्या के स्वाद रसिक विद्वान् थे। ये महाभाग गुरु की शिक्षा से उपलब्ध शास्त्रीय विद्या को अपने मनन के द्वारा तीक्ष्णतर बनाते हुए स्वतत्र वृत्ति वाले अपूर्व विनय तथा औदार्य गुणो से सम्पन्न मनीषी थे। इन्होने ग्रन्थरचना के द्वारा केवल देववाणी के ही साहित्य की समृद्धि नहा की, अपितु सस्कृत की गम्भीर आध्यात्मिक रचनाओं का सरल सुबोध अनुवाद प्रस्तुत कर राष्ट्रभाषा हिन्दी के दार्शनिक साहित्य की अभिवृद्धि मे विशेष योग दिया। इस विषय मे कोई दो मत नही हो सकते। इनके द्वारा हिन्दी मे अनूदित ग्रन्थ विषय की दृष्टि से ही सारगर्भित नही है, बल्कि परिमाण की दृष्टि से भी विशाल तथा विपुलकाय है। ऐसे अनुवाद-ग्रन्थो का प्रणयन इनकी तार्किक बुद्धि का ही परिचायक नही है अपितु इनके विपुल अध्यवसाय का भी पर्याप्तरूपेण सूचक है।

पण्डित हरिहरकृपालुजी ने गीता की मधुसूदनी व्याख्या के अनुवाद की समाप्ति पर अपने जीवनचरित का बहुत ही संक्षेप में परिचय दिया है। ये त्रिवेणी मण्डल के एक मध्यवर्गीय सरयूपारीण ब्राह्मणकुल मे उत्पन्न हुए थे। इनके प्रपितामह का नाम था धाराधर द्विवेदी। उन्होने त्रिवेणी सगम से चार कोस दक्षिण में अपनी अर्जित भूमि पर 'पण्डितपुर' नामक ग्राम बसाया था। इनके पूर्वज इसी गाँव में रहते आये और पण्डित हरिहरकृपालुजी का जन्म इसी पण्डितपुर गाँव मे हुआ था। इनके पूज्य पितामह पण्डित विश्वम्भरदत्त द्विवेदी ने शुभ मुहूर्त मे अपने पौत्र का विद्यारम्भ सस्कार कराया। इनके पूज्य पिता पण्डित बलभद्र द्विवेदी बराँव राज्य के प्रधान राजपण्डित थे। उन्ही से इन्होंने आरम्भिक व्याकरणशास्त्र की शिक्षा पाई थी, परन्तु घर पर रहकर पढ़ने में नाना प्रकार के विघ्न उपस्थित हो गये जिनके कारण अध्ययन के कार्य में बाधाएँ उपस्थित होने लगी। इसलिए इन्होंने प्रयाग जनपद के अपने घर को छोड़ कर काशी मे विद्याध्ययन का विचार किया। परन्तु काशी मे इनका मन नहीं लगा। तब ये अयोध्याजी अध्ययनार्थ चले गये।

अयोध्या उस समय अपने विद्यालयों के द्वारा छात्रों के आकर्षण का केन्द्र थी। वही हरिहरकृपालुजी अपने विद्याभ्यास के लिए पहुँचे। अयोध्या में दो विशिष्ट विद्वानों के सम्पर्क में आने का इन्हें सुयोग प्राप्त हुआ। उनमे से एक वैयाकरणकेसरी पं० रामाज्ञाजी थे और दूसरे थे सर्वतन्त्रस्वतन्त्र पण्डित उमापति द्विवेदी। पण्डित रामाज्ञाजी से कृपालुजी ने व्याकरण आगम का विधिवत् अध्ययन कर इसी शास्त्र में प्रौढ़ि प्राप्त की। दूसरे पण्डित थे वैदुष्यसम्पन्न चतुरस्र-पाण्डित्य-मण्डित उमापतिजी। जब ये वहाँ अध्ययन के लिए पहुँचे, तब 'व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव' विषयक प्रसग का अध्ययन चल रहा था। एक स्थान पर बैठकर



पं० हरिहरकृपालु द्विवेदी

इन्होने पाठ का श्रवण कर बुद्धिसात् कर लिया । पाठ समाप्त होने पर गुरुजी ने शिष्यो से पूछा कि विषय का यथार्थ बोध कितना हुआ ? प्राचीन छात्र एकान्तत मौन थे, परन्तु हरिहरकृपालुजी ने अपनी मेधाशक्ति से समग्र विषय को यथावत् कह सुनाया । पण्डित उमापति द्विवेदी के हृदय मे इस नवीन छात्र के आने से महान् हर्ष हुआ और उन्होने इसे अपने शिष्यो मे प्रमुख स्थान दिया ।

इसी काल मे सरस्वती के द्वारा स्वप्न मे 'चिन्तामणि' मन्त्र के सानुष्ठान उपदेश की प्रामाणिक घटना बतायी जाती है । एक रात इन्होने स्वप्न मे देखा कि कोई बालिका इन्हे चिन्तामणि मन्त्र देकर उसकी उपासना करने का उपदेश देती है । प्रात इन्हे बड़ा विस्मय हुआ । ये कार्यवश अपने गुरुजी के पुत्र के सग गोरखपुर गये और रास्ते मे पडे कागज के एक पन्ने को पाया जिसमे चिन्तामणि मन्त्र तथा उसके अनुष्ठान का विधान दिया गया था । गुरुजी की कृपा से इस मन्त्र के स्वरूप तथा अनुष्ठान की विधि का पूर्ण परिचय इन्हे मिल गया । इस मन्त्र का इन्होने जप किया जिससे इनकी विद्या अत्यधिक द्युतिमती होकर फलवती हुई । पॉच छह वर्षों के भीतर ही इन्होने प्राचीन तथा नव्यन्याय का यथाविधि अध्ययन समाप्त किया । उस समय अयोध्या मे पण्डित चण्डीप्रसाद शुक्ल (काशीस्थ गोयनका-महाविद्यालय के भूतपूर्व अध्यक्ष), प० रामेश्वर दत्त सुकुल तथा प० रुद्रदत्त शास्त्री इनके सहपाठी थे । प० उमापतिजी से न्यायशास्त्र का अध्ययन कर शास्त्रज्ञान मे पूर्णता प्राप्त की ।

अनन्तर वेदान्त और मीमासा के अध्ययनार्थ ये काशी आये । काशी मे उस समय स्वामी राममिश्र शास्त्रीजी की तूती बोलती थी । वेदान्तादि शास्त्रो के वे मार्मिक वेत्ता के रूप मे सर्वत्र विश्रुत थे । हरिहरकृपालुजी ने इनसे वेदान्त, मीमासा आदि दर्शनो का पुङ्खानुपुङ्ख अध्ययन किया और अपने इन गुरुजी को उन्होने 'नि शेषागम मन्थ मन्दरनि' कहा है अर्थात् समग्र शास्त्ररूपी सागर के मन्थन मे उन्हे मन्दराचल के समान अडिग एव निश्चल मतिवाला मनीषी बतलाया है । वे थे भी ऐसे ही महापुरुष जिनका सक्षिप्त परिचय ऊपर दिया गया है । इस प्रकार अयोध्या तथा काशी मे निवास कर हरिहरकृपालुजी ने समस्त व्याकरण एव द्वादशविध दर्शनो मे नितान्त गाढ़ पाण्डित्य प्राप्त कर लिया और विद्याध्ययन कराने की योग्यता से सर्वथा सम्पन्न बन गये । पहले तो स्वामी राममिश्रजी के विद्यालय मे इनके मलिन वस्त्रादिको के कारण कुछ उपेक्षा हुई, परन्तु इनके गुणो से परिचित होने पर स्वामीजी ने अपने ही 'रामानुज कोट' मे इन्हे आवास देकर खुलकर वेदान्त का शिक्षण कराया । उस समय वही विद्यालय मे प्रसिद्ध नैयायिक वामाचरण भट्टाचार्य तथा वेदान्तशिरोमणि लक्ष्मण शास्त्री द्रविड़ इनके सहपाठी छात्र तथा मित्र थे ।

पण्डित हरिहरकृपालुजी के लिए विद्याध्ययन का काल समाप्त हो गया । अब इन्होने व्याकरण की विषम फक्किका के निराकरण मे एव न्याय वेदान्त के गम्भीर रहस्यो के उद्घाटन मे अलौकिक शेमुषी-सम्पन्न विद्वान् के रूप मे लौकिक ख्याति के युग मे पदार्पण किया । रीवॉ के महाराजा वेकटेश नारायण सिह के राज्याभिषेक के अवसर पर पण्डितो की महती सभा मे द्विवेदीजी ने अपने वैदुष्य का परिचय दिया और उपस्थित विद्वानो को शास्त्रार्थ मे पराजित कर विजयश्री का वरण किया । रीवॉं मे अपने पिताजी की आज्ञा से आप गये थे और प्रसगवशात् उस शास्त्रार्थ मे उपस्थित हुए थे । वहाँ से ये बिहार की राजधानी पटना चले गये । नितान्त अपरिचित स्थान होने के कारण इन्होने पटना सिटी के जालानभवन धर्मशाला मे ही अपना डेरा डाला और वही रहने लगे । समीप मे रहने वाले पण्डित बिहारीदास नामक

ब्राह्मणदेवता के पुत्र का उपनयन होने वाला था जिसमे नगर के प्रमुख विद्वान् निमन्त्रित थे। वे आपस मे किसी विषय पर शास्त्रार्थ कर रहे थे। उसी समय किसी ने धर्मशाला मे टिकने वाले इस नये विद्वान् के आने की सूचना दी और इन्हे भी शास्त्रार्थपरिषद् मे निमन्त्रित करने की सलाह दी। निमन्त्रण पाकर द्विवेदीजी सभा मे पधारे और शास्त्रार्थ मे भाग लेने के लिए प्रस्तुत हुए। स्थानीय पण्डितो मे मुरारका विद्यालय के प्रधान आचार्य पण्डित रामसुरेश मिश्र प्रमुख तथा सर्वश्रेष्ठ थे। उन्होने ही पाणिनि के 'प्रातिपदिकार्थ' सूत्र पर द्विवेदीजी से प्रश्न किया। प्रश्न का उत्तर हरिहरकृपालुजी बडी प्रौढ़ता के साथ इतनी मार्मिकता से देने लगे कि उपस्थित विद्वन्मण्डली चकित हो उठी। अनेक कोटियाँ चली। अन्त मे पण्डित रामसुरेश मिश्र ने इनकी उत्कृष्ट विद्वत्ता के सामने अपनी पराजय स्वीकार की एव उन्होने अपने ही मुख से द्विवेदीजी के उत्कृष्ट पाण्डित्य की भूरि भूरि प्रशसा की। पटना का यह शास्त्रार्थ पण्डित हरिहरकृपालुजी के जीवन मे एक नवीन मोड लाने वाला ऐतिहासिक शास्त्रार्थ सिद्ध हुआ। 'पटनहिया' पण्डितो की पूर्ण पराजय की यह कहानी पटना ही की नही, बल्कि पूरे बिहार प्रान्त की पण्डित मण्डली मे आख मीचते मीचते फैल गई और पण्डित हरिहरकृपालुजी का नाम लोकातीत वैदुषी से मण्डित तार्किक के रूप मे सर्वत्र व्याप्त हो गया।

मुरारका-संस्कृत-विद्यालय

पटना मे 'मुरारका सस्कृत विद्यालय' एक गौरवशाली शिक्षासस्थान है जिसकी स्थापना १ मार्च १८७६ ईस्वी मे राजस्थान के 'नवलगढ़' के निवासी सेठ श्रीप्रसादीराम के ज्येष्ठ पौत्र मनसुखराम मुरारका के द्वारा की गई थी और जिसकी शताब्दी अभी हाल मे ही मनाई गई है। आरम्भ मे सेठजी के व्यापार का केन्द्र पटना ही था, परन्तु व्यापार मे अपूर्व उन्नति होने से इसका केन्द्र कलकत्ता हो गया। जिस समय पूर्वोल्लिखित घटना घटी थी, इस विद्यालय का नाम सेठ शिवरामदासजी के ज्येष्ठ पुत्र के नाम पर 'मनसुखराम विद्यालय' था, क्योकि मनसुखराम ही इनके कर्त्ता धर्त्ता एव व्यवस्थापक थे। इस शास्त्रार्थ के कुछ ही दिनो के अनन्तर प० रामसुरेश मिश्र ने विद्यालय छोड दिया और उनके रिक्त अध्यक्ष पद पर मनसुखराम ने आग्रहपूर्वक द्विवेदीजी को उनके गाँव से बुलाकर प्रतिष्ठित कर दिया। द्विवेदीजी मे अध्यापन के साथ ही स्थान व्यवस्था करने की भी सुन्दर क्षमता थी। फलत इनकी देख रेख मे विद्यालय की विशेष उन्नति होने लगी, दूर दूर से छात्र पण्डितजी की अध्यापनख्याति से आकृष्ट होकर आने लगे और यह साधारण सा विद्यालय एक महनीय 'महाविद्यालय' के रूप मे सस्कृतविद्या के प्रचार प्रसार का तथा अध्ययन-अध्यापन का महिमामय केन्द्र बन गया। इस परिवर्तन परिवर्धन मे द्विवेदीजी के साथ ही साथ नये व्यवस्थापक सेठ रामनिरजन दास जी का भी विशेष योगदान था जिन्होने अपने अग्रज मनसुखराम की मृत्यु के अनन्तर विद्यालय का सारा भार अपने ऊपर ले लिया और इसी कारण यह सस्थान अब 'सेठ रामनिरजन दास मुरारका सस्कृतमहाविद्यालय' के नाम से ख्यात हुआ।

मुरारका-महाविद्यालय के अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित होने के कुछ ही समय बाद ऐसी घटनाएँ घटने लगी जिनसे हरिहरकृपालुजी का नाम बिहार की पण्डित-मण्डली मे विशेष पाण्डित्य तथा तार्किक मनीषा का प्रतीक बन गया। बिहारोत्कल-सस्कृत-समाज का प्रथम उपाधि-वितरणोत्सव मुजफ्फरपुर मे १९१५ ई० मे मनाया गया जिसमे द्विवेदीजी आमन्त्रित किये गये थे। १९१६ मे भी वही कानवोकेशन के समय पण्डितो की एक विशाल सभा जुटी थी जिसमे हरिहरकृपालुजी को 'वेदान्तप्रबन्ध' शीर्षक वेदान्त के प्रमेयप्रतिपादक महानिबन्ध

की रचना के लिए प्रथम पुरस्कार की घोषणा की गई। यह प्रबन्ध सरल गद्य में निबद्ध न होकर स्रग्धरा जैसे दीर्घवृत्त में निबद्ध है। दार्शनिक विषयों के लिए तो गद्य का माध्यम ही पण्डितों के द्वारा समादृत किया जाता है, परन्तु यदि पद्य में लिखना हो तो अनुष्टुप् छन्द का प्रायः प्रयोग होता है। किन्तु इन दोनो माध्यमों को छोड़कर हरिहरकृपालुजी ने वेदान्त जैसे दुरूह विषय के प्रतिपादन के लिए स्रग्धरा जैसे लम्बे छन्द का अवलम्बन किया। यह घटना इनकी अद्भुत कवित्वशक्ति की पर्याप्त परिचायक है।

जब पण्डितजी को प्रथम पुरस्कार की घोषणा की गई तब ईर्ष्यालु मैथिल पडितों ने कहना प्रारम्भ कर दिया कि ग्रन्थ रचना से क्या होता है, यह काम तो कोई भी कर सकता है। यदि मौखिक शास्त्रार्थ मे पण्डितजी हम लोगो के सामने टिक सके तब इन्हें जानें-मानें। तब दरभगानरेश, जो उस सभा के सभापति थे, के आदेश से शास्त्रार्थ भी होना प्रारम्भ हो गया। पहले मैथिल पण्डितो ने कृपालुजी से व्याकरणशास्त्र मे शास्त्रार्थ किया परन्तु जब इसमें वे पराजित हो गये तब न्यायशास्त्र, जिसे वे अपनी बपौती समझते थे- -मे शास्त्रार्थ होने लगा। परन्तु इस शास्त्र मे भी शास्त्रीजी ने उनके छक्के छुडा दिये। तब कही जाकर मैथिल पण्डितों के ऊपर इनके पाण्डित्य का सिक्का जम सका। व्याकरण के शास्त्रार्थ का विषय था 'शक्तिः समासे पृथगस्ति नो वा' अर्थात् समास मे अलग शक्ति है या नही। इस शास्त्रार्थ मे पूर्वपक्ष मे वैयाकरण-केशरी - ग० प० लालजी झा थे और उत्तरपक्ष मे द्विवेदीजी थे। इसी प्रकार न्याय के शास्त्रार्थ का विषय था—सामान्यनिरुक्ति। प्रश्नकर्त्ता थे नैयायिक पण्डित उमेश मिश्र। इन दोनो शास्त्रो में शास्त्रार्थ होने के पश्चात् द्विवेदीजी ने साख्य, योग, मीमासा तथा वेदान्त आदि शास्त्रो मे भी शास्त्रार्थ करने के लिए मैथिल विद्वानो को ललकारा। परन्तु उन्होंने पहले ही इनकी विद्वत्ता का लोहा मान लिया था अत अब वे पुन· शास्त्रार्थ करने के लिए उद्यत नही हुए। इस घटना के पश्चात् द्विवेदीजी को महाराजा दरभगा ने दुशाला, धौत वस्त्र आदि अनेक वस्तुओं से पुरस्कृत किया। इस प्रकार द्विवेदीजी की कीर्ति-कौमुदी समस्त बिहार प्रान्त मे प्रकाशित होने लगी।

इसके पश्चात् द्विवेदीजी की विद्वत्ता की तूती बोलने लगी। अनेक छात्र, पण्डित किवा सन्यासी इनसे विद्याध्ययन करने के लिए इनके पास आने लगे। द्विवेदीजी के कारण मुरारका-पाठशाला सस्कृत-महाविद्यालय के रूप मे चमक उठी। फिर तो द्विवेदीजी और मुरारका-महाविद्यालय में अटूट सबन्ध स्थापित हो गया। गुणग्राही सेठ रामनिरजनदास मुरारका अपने विद्यालय की उन्नति करने वाले द्विवेदीजी के परम प्रशसक तथा भक्त हो गये।

द्विवेदी की विद्वत्ता तथा ख्याति सुनकर महामना मालवीयजी ने इन्हे हिन्दूविश्वविद्यालय के सस्कृत-महाविद्यालय के प्रिन्सिपल के पद को सुशोभित करने के लिए आमन्त्रित किया था। परन्तु सेठ मुरारका ने द्विवेदीजी को अपने विद्यालय की सेवा से मुक्त नही किया। अतः ये विश्वविद्यालय में नही आ सके। द्विवेदीजी मुरारका विद्यालय में १९५४ वि० स० (१८९७ ई०) में नियुक्त किए गए और इनका निवर्तमान काल १९३५ ई० था। फलतः इन्होंने इस महाविद्यालय की सेवा ३८ वर्षों तक एक निष्ठा से की। जब इनकी अवस्था सन् १९३४ ई० में ६४ वर्ष की हो गई तब इनके हृदय के कोने में सुषुप्त काशी-वास की लालसा जाग्रत हुई और ये सेठ मुरारका की अनुमति से अपने सुपुत्र आचार्य ब्रह्मदत्त द्विवेदी को विद्यालय के अध्यापन तथा व्यवस्थापन दोनों का भार सौपकर काशी आ गये। काशी में अविरत निवास करने के पूर्व द्विवेदीजी ने समस्त भारतवर्ष की तीर्थयात्रा की थी। इन्होंने २९-१०-३४ ई०

को अपनी तीर्थयात्रा[1] प्रारम्भ की थी और समस्त तीर्थों का भ्रमण करके १८-१-३५ ई० को पटना लौट आये। इस प्रकार ढाई महीनो तक इन्होने समस्त भारत का भ्रमण किया।

द्विवेदीजी केवल काशीवास करने के लिए ही वाराणसी आये थे परन्तु सेठ गौरीशकर गोयनका ने इनकी विद्वत्ता का लाभ उठाने के लिए इन्हे अपने 'गोयनका महाविद्यालय' का आग्रहपूर्वक अध्यक्ष पद प्रदान किया। इस पद पर रहते हुए जो द्रव्य इन्होने प्राप्त किया उसे शिवनिर्माल्य समझ कर कभी अपने स्वार्थ के लिए ग्रहण नही किया और दशसहस्र मुद्रा खर्च करके इन्होने अपनी जन्मभूमि इलाहाबाद जिले के पण्डितपुर गाँव मे शिवजी का मन्दिर बनवाया। इससे पण्डितजी की महनीय निर्लोभता सिद्ध होती है। गोयनका महाविद्यालय मे द्विवेदीजी ने १४ वर्षों तक अध्यक्ष पद पर कार्य किया। द्विवेदीजी स्वतन्त्र विचार के व्यक्ति थे। उसमे कही से क्षुत्क्षेम होने पर वे,पद पर बने रहना पसन्द नही करते थे। इसी कारण अपनी मृत्यु से कुछ समय पूर्व ही इन्होने विद्यालय से त्यागपत्र दे दिया था और स्वतन्त्र जीवन बिताते थे।

अन्त मे चैत्रकृष्ण नवमी वि० स० २००६ (तदनुसार २२ मार्च सन् ४६ ई०) मे इन्होने काशी के मणिकर्णिका घाट के पास राधाकृष्ण के मन्दिर मे कैलासवास प्राप्त किया।

शास्त्रार्थ-पटुता- द्विवेदीजी अध्यापन कला मे जितने पटु थे शास्त्रार्थ की पद्धति मे भी उतने ही प्रवीण थे। शास्त्रार्थ मे जब शास्त्र के तत्त्वो के गूढ़ रहस्यो का प्रतिपादन करते थे तब पण्डित-मण्डली इनकी विद्वत्ता देखकर चकित रह जाती थी। मुजफ्फरपुर के ऐतिहासिक शास्त्रार्थ का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसी प्रकार इनके शास्त्रार्थ के अनेक स्मरणीय प्रसग है परन्तु यहाँ केवल एक दो प्रसग देना ही पर्याप्त होगा।

दरभगा मे एक बार द्विवेदीजी को शास्त्रार्थ के लिए आमन्त्रित किया गया था। वहाँ मैथिल विद्वानो ने इतना कोलाहल मचाया कि शास्त्रार्थ करना असभव हो गया। द्विवेदीजी ने उसी समय एक श्लोक बनाकर उन विद्वानो को चकित कर दिया। यह श्लोक इस प्रकार है-

अयं मदीयो न परो मदीयो, नाय विवेको निपुण प्रभूणाम्।
अथापि भेदो यदि मादृशेषु, वामो विधिः, कि करवै रवैर्न. ॥

इतना ही नही, इन्होने अपने मन की भावना को एक दूसरे पद्य के द्वारा अभिव्यक्त किया है। यह श्लोक भी काव्य की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर तथा भावपूर्ण है

नाऽयं कामयतेऽन्यतोऽर्थकणिका, न क्लीबकल्पां कृपा
नापि क्वापि पदोन्नतिं न विजयख्याति, न चान्यत् परम्।
कामं कामयते परस्परसमप्रेमोपचाराञ्चितं
वाचां चारुपरिश्रमैः सुचरितैः प्राचां प्रचारं चिरम् ॥

इस कमनीय पद्य से पण्डित हरिहर कृपालुजी की सात्त्विक वृत्ति का पूर्ण परिचय मिलता है। ये कहते है कि "मै किसी से एक छटाक की भीख नही चाहता और न उस दया का ही भिखारी हूँ जो सामर्थ्यहीन व्यक्तियो के ऊपर समर्थ प्रभुओं के द्वारा प्रदर्शित की जाती है। न मै अपने पद की उन्नति चाहता हूँ और न शास्त्रार्थ मे विजय पाकर ख्याति अर्जित करने का अभिलाषुक हूँ। मै केवल यही चाहता हूँ कि परस्पर प्रेम तथा सौहार्द के द्वारा अपने सुचरितो तथा चारु परिश्रमो से प्राचीनो के द्वारा निर्मित ग्रन्थो का प्रचुर प्रचार करूँ।" इस कथन को उन्होने अपने जीवन मे यथार्थ करके दिखला दिया। चाहे वह पटने का मुरारका-

---

१ इनकी तीर्थयात्रा का वर्णन इनके शिष्य प० रघुनन्दन त्रिपाठी ने विस्तार के साथ 'हरिहरचरितम्' नामक अपने सस्कृत चम्पूकाव्यग्रन्थ मे पृष्ठ २१५ से २८५ तक किया है।

विद्यालय हो चाहे काशी-गोयनका महाविद्यालय—दोनो सस्थानो मे द्विवेदीजी ने अपने सुचरित तथा अध्यवसाय के द्वारा प्राचीन परम्परा की लीक को ही अग्रसर करने मे योगदान दिया।

प० हरिहरकृपालुजी अत्यन्त उदार व्यक्ति थे। धनिको के प्रति तो सभी अपनी उदारता दिखलाते है परन्तु निर्धन छात्रो के प्रति उदारता प्रदर्शित करना कृपालुजी का ही कार्य था। ये अपने नाम के अनुकूल ही अपने शिष्यो पर सदा कृपालु रहते थे। प० रामबालक शास्त्री ने इनके सम्बन्ध मे एक सस्मरण मुझे सुनाया था जिससे इनकी उदारता तथा शिष्यो के प्रति प्रेम का पता चलता है।

बलिया जिले के 'रेवती' गाँव के दो छात्र द्विवेदीजी के पास पढ़ते थे जो अत्यन्त निर्धन होते हुए भी अध्ययन मे अत्यन्त तीव्र थे। उनकी अध्ययन निष्ठा से प्रसन्न होने वाले द्विवेदीजी की कृपादृष्टि उन छात्रो पर बनी रहती थी। एक बार इसमे से एक छात्र के राजयक्ष्मा रोग से पीडित होने का समाचार पाकर द्विवेदीजी स्टेशन से पैदल ही उसके गाँव तक गये और उसकी औषधि का प्रबन्ध कर उसे आर्थिक सहायता भी प्रदान की। आधुनिक युग मे ऐसे गुरुओं का दर्शन भी दुर्लभ है जो छात्रो की बीमारी का हाल चाल जानने के लिए उसके घर तक की यात्रा पैदल करे और उसे अर्थसकट से मुक्त करे।

द्विवेदीजी एक कुशल अध्यापक थे। इनके अनेक शिष्यो ने इनकी पाठनविधि की भूरि भूरि प्रशसा की है। मीमासा रत्न प० सुब्रह्मण्य शास्त्री ने अपने सस्मरण मे लिखा है कि द्विवेदीजी की अध्यापन की विशेषता तुलनात्मक थी। एक ही शास्त्र के तत्त्व का विवेचन करके उनका अध्यापन समाप्त नही हो जाता था, बल्कि अन्य शास्त्र मे उस विषय का जो प्रतिपादन किया गया है उसके स्वरूप का भी वे प्रतिपादन करते थे जिससे कि दोनो शास्त्रो के तुलनात्मक विवेचन मे छात्रो को वह विषय हृदयगम हो जाता था।

पटना के मुरारका विद्यालय मे जब द्विवेदीजी अध्यापन कर रहे थे तब इनकी कीर्ति चारो ओर फैलने लगी और अनेक सस्थाओं ने उपाधि प्रदान कर अपने को गौरवान्वित किया। सन् १६१४ ई० मे बिहार विद्वत्परिषद् ने इन्हे 'तर्कालकार' की पदवी से विभूषित किया। सन् १६१४ ई० मे भारत धर्ममहामण्डल, काशी ने 'विद्यारत्नाकर' तथा १६१६ ई० मे 'विद्यानिधि' की पदवी प्रदान की। भारतसरकार ने इनकी विद्वत्ता से प्रसन्न होकर सन् १६२२ ई० मे महामहोपाध्याय की महनीय उपाधि से इन्हे अलकृत किया। इस प्रकार विद्या सम्पन्न पण्डितो की अखिलभारतीय कीर्ति का सम्पादन करने वाली विविध उपाधियो से मण्डित होने का गौरव द्विवेदीजी को सद्य प्राप्त था। ये १६५४ वि० स० (=१८६७ ई०) से कुछ वर्ष पूर्व ही मुरारकाविद्यालय के अध्यक्ष पद पर नियुक्त किये गये और कम से कम ३८ वर्षों तक इस पद की प्रतिष्ठा बढ़ाते अध्यक्ष बने रहे। १६३५ ई० मे इन्होने स्वेच्छा से इस पद से अवकाश ग्रहण किया और काशीवास करना आरम्भ किया था।

(२) ग्रन्थरचना—द्विवेदीजी ने सस्कृत और हिन्दी दोनो भाषाओं मे ग्रन्थो की रचना की है। सस्कृत मे इन्होने तीन ग्रन्थो का निर्माण किया है—(१) कल्पकलिका, (२) न्यायकुसुमाञ्जलि-टीका और (३) रमेश्वरकीर्तिकौमुदी। पहला ग्रन्थ मीमासाशास्त्र से सबद्ध है और शाबरभाष्य के तर्कपादान्त की टीका है। शाबरभाष्य तो स्वय कठिन तथा दुरूह ग्रन्थ है। अत द्विवेदीजी ने उस पर टीका लिखकर उसे अत्यन्त सरल बना दिया है। दूसरा ग्रन्थ उदयनाचार्य के प्रख्यात न्यायग्रन्थ 'कुसुमाञ्जलि' की टीका है। द्विवेदीजी की प्रकाशित टीका पूर्ण नही है। सभवत उन्होने कठिन स्थलो की टीका लिखी हो। तृतीय ग्रन्थ

'रमेश्वरकीर्तिकौमुदी' एक खण्डकाव्य है जिसमे दरभगा के तत्कालीन महाराजा रमेश्वर सिह के जीवन-चरित का काव्यात्मक वर्णन किया गया है।

कल्पकलिका—भारतीय दर्शनो मे जैमिनि द्वारा विरचित मीमासासूत्रो की सख्या सबसे अधिक है। वैदिक धर्म की मीमासा शास्त्र का परम ध्येय है। इन सूत्रो पर शाबरप्रणीत भाष्य प्रसिद्ध भाष्य है जो प्रौढ़ता तथा विषय विवेचन की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है। उसके प्रथम अध्याय के प्रथम पाद तक शाबरभाष्य की यह टीका गम्भीर अर्थों के विवरण प्रस्तुत करने मे नितान्त उपयोगी है। इस ग्रन्थ को लिखकर द्विवेदीजी ने न्याय और मीमासा इन दोनो शास्त्रो मे अपने प्रगाढ़ पाण्डित्य का परिचय दिया है।

यह मीमासा के प्रमेयो का विस्तार से वर्णन करने वाली तथा बौद्धो के विज्ञानवाद, क्षणिकवाद आदि के मन्तव्यो का वैशद्य से खण्डन करने वाली एक प्रौढ़ रचना है। शाबर भाष्य की पक्तियाँ स्वभाव से कठिन एव दुरूह मानी जाती है। उनकी बडे विस्तार एव वैशद्य से द्विवेदीजी ने व्याख्या लिखकर अपने प्रौढ़ पाण्डित्य का प्रभूत परिचय दिया है। इसमे द्विवेदीजी ने अपनी उपाधियो मे 'महामहोपाध्याय', 'पण्डितपञ्चानन' एव 'न्यायाचार्य' का उल्लेख किया है। प्रतीत होता है कि हरिहरकृपालुजी न्यायाचार्य पदवी को विशेष महत्त्व देते थे, क्योकि यह पदवी न्याय विषय मे आचार्य परीक्षा के उत्तीर्ण होने की द्योतिका जो ठहरी। यह सात सौ पृष्ठो से मण्डित एक विशाल ग्रन्थ है। 'कल्पकलिका' प० हरिहरकृपालुजी के मीमासा शास्त्रीय प्रौढ़ अध्ययन का तथा कुसुमाञ्जलिटीका न्याय के गम्भीर अनुशीलन एव यथार्थोद्घाटन की विचित्र क्षमता का परिचय देती है। 'रमेश्वरकीर्ति-कौमुदी'[१] रचना सिद्ध कर रही है कि द्विवेदीजी कोरे तार्किक न होकर काव्यरस से आप्लुत हृदय वाले नितान्त सहृदय व्यक्ति थे। इस प्रकार उनका तर्कपक्ष एव काव्यपक्ष दोनो ही उज्ज्वल तथा उदात्त थे।

द्विवेदीजी के द्वारा हिन्दी भाषा मे प्रणीत दो ग्रन्थ है—(१) विद्यारण्यस्वामी विरचित बृहदारण्यक-वार्तिकसार नामक ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद और (२) मधुसूदनसरस्वती विरचित गीता की 'गूढ़ार्थदीपिका' नामक व्याख्या का हिन्दी अनुवाद।

(१) बृहदारण्यक-वार्तिकसार

उपनिषदो मे बृहदारण्यक उपनिषद् सबसे बड़ी है। वह परिमाण मे ही नही, अपितु विषय की दृष्टि से भी बृहत् है। इसके ऊपर शकराचार्य का भाष्य भी परिमाण तथा महत्त्व दोनो मे महनीय है। इसी महत्ता को दृष्टि मे रखकर शकराचार्य के साक्षात् शिष्य सुरेश्वराचार्य ने इस भाष्य के ऊपर अपना वार्तिक लिखा। यह भी परिमाण मे बृहत् है। अत विद्यारण्य स्वामी ने उस वार्तिक के सार अश को लेकर एक पृथक् ग्रन्थ की रचना की जिसका नाम **बृहदारण्यकवार्तिकसार** है। इसी महत्त्वपूर्ण सस्कृत के वेदान्तग्रन्थ का हिन्दी मे अनुवाद द्विवेदीजी ने दो विशालकाय भागो मे प्रस्तुत किया है। यह विशाल ग्रन्थ लम्बे-लम्बे ढाई हजार पृष्ठो (२४४० पृ०) मे समाप्त हुआ है।[२] द्वितेदीजी ने इस अनुवाद को अत्यन्त सरल भाषा मे लिखा है जिससे वेदान्त का जिज्ञासु व्यक्ति इसे अच्छी तरह से समझ सकता है। अनेक

---

१ विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय के प्राध्यापक प० पलटू शर्मा द्वारा प्रकाशित (कलकत्ता)। ग्रन्थ मे प्रकाशन की तिथि के निर्देश का अभाव है।

२ अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय, काशी से सन् १९४० ई० मे प्रथम खण्ड तथा सन् १९४२ ई० मे द्वितीय खण्ड प्रकाशित हुआ है।

स्थलो पर इन्होने शका और उसका समाधान अलग-अलग करके प्रतिपादित किया है जिससे इस दुरूह विषय को समझने मे सरलता होती है। यह बृहद् ग्रन्थ द्विवेदीजी की विद्वत्ता तथा अध्यवसाय का पूर्णत परिचायक है।

(२) गीताभाष्य का हिन्दी अनुवाद

मधुसूदन सरस्वती अद्वैतवेदान्त की लोकातीत वैदुषी से मण्डित आचार्य थे। फलत वे ज्ञानमार्ग के यशस्वी साधक थे। इसके अतिरिक्त वे परमश्रद्धासम्पन्न भक्त भी थे। 'भक्ति-रसायन' मे उन्होने भक्तिरस के शास्त्रीय स्वरूप की जो मीमासा की है वह अपूर्व है। श्रीमद्भागवत के भी वे परम रसिक व्याख्याता थे। इसलिए उनकी भगवद्गीता की 'गूढार्थदीपिका' व्याख्या अद्वैतरस के साथ भक्तिरस का भी मञ्जुल समन्वय प्रस्तुत करती है। इस पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या का भाषान्तर करना टेढी खीर है। गीता मे स्वय समस्त प्राचीन औपनिषदिक दर्शनो का साराश समाविष्ट है। उसकी मधुसूदनी टीका भी तदनुरूप ही समस्त शास्त्रो के रहस्यो का उद्भेदन करने वाली पाण्डित्यप्रकर्षमयी व्याख्या है। ऐसी टीका का अनुवाद वही महापण्डित महापुरुष ठीक-ठीक कर सकता है जो सर्वशास्त्रनिष्णात हो, सर्वदर्शन-नदीष्ण हो। महामहोपाध्याय द्विवेदीजी एक ही महापण्डित तथा नानादर्शन-तत्त्वज्ञाता पुरुष थे। उनके द्वारा रचित यह अनुवाद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। जहाँ-जहाँ इनके मत से गूढार्थदीपिका की व्याख्या लोक और शास्त्रो से विरुद्ध है, वहाँ द्विवेदीजी ने बिना किसी सकोच के मधुसूदनी व्याख्या के दुर्बल पक्ष का उद्घाटन किया है। यह ग्रन्थ वस्तुत अनुवादमात्र नही है, अपितु इस टीका की विवेचना, व्याख्या, भाष्य और पर्यालोचन भी किया गया है। इस अनुवाद मे गूढार्थदीपिका की व्याख्या करते हुए उसका मूल्याकन भी किया गया है।

इस कार्य मे अनुवादकर्ता ने विविध शास्त्रीय सिद्धान्तो का भी उपयोग किया है। मधुसूदन सरस्वती ने अपनी व्याख्या को सर्वागीण बनाने की दृष्टि से दर्शन के मूलतत्त्वो का उन्मीलन बडे विस्तार के साथ स्थान-स्थान पर किया है। उदाहरणार्थ गीता के षष्ठ अध्याय की व्याख्या मे योगसूत्र तथा योगभाष्य का पर्याप्त उपयोग किया गया है। उन स्थलो की विस्तृत व्याख्या कर द्विवेदीजी ने हिन्दी के पाठको का बडा उपकार किया है। क्यो न हो ? महामहोपाध्याय हरिहरकृपालुजी थे ही भारतीय सस्कृति एव सस्कृतसाहित्य के मूर्तिमान् स्वरूप, शास्त्रो के महान् निधि तथा त्याग-तपस्या के मञ्जुल समन्वयरूप महनीय विद्वान्। ऐसे प्रमेयबहुल ग्रन्थ का विशुद्ध अनुवाद करना उनके प्रगाढ वैदुष्य का पर्याप्त परिचायक है। इस अनुवाद कार्य मे ये सर्वथा कृतकार्य तथा सफलमनोरथ हुए है- यह बिना सकोच कहा जा सकता है। इस अनुवाद[१] की समाप्ति पौष के शुक्लपक्ष मे मकरसक्रान्ति गुरुवार वि० स० २००५ मे (१९४८ ई० मे) हुई। अनुवाद का लक्ष्य आत्मबोध की प्राप्ति था।

द्विवेदीजी लम्बे-लम्बे वृत्तो मे किसी वस्तु का वर्णन विशेष रूप से किया करते थे। लक्ष्मी और सरस्वती के एकत्र निवासभूत किसी सेठ का यह वर्णन कितना अच्छा है—

अस्मिन् श्रीश्च सरस्वती च वसति, प्रेम्णाऽऽश्रयोत्कर्षत-
स्त्यक्त्वा शाश्वतिक विरोधमभितः स्वाचारधर्मैः समम्।
दानौदार्यदयादरैक - शरण - व्यापार - पारीणधीः,
सोऽयं केन कथं गुणैकजलधिः कैरक्षरैः स्तूयताम्॥

---

१ गीता की मधुसूदनी 'गूढार्थदीपिका' का पण्डित हरिहरकृपालुजी द्वारा भाषानुवाद दो विपुल खण्डो मे प्रकाशित हुआ है। प्रकाशक—सेठ श्री विनोदकुमार मुरारका, कलकत्ता, द्वितीय स०, १९७५ ई०।

स्रग्धरा वृत्त में काव्यरचना करने में द्विवेदीजी ने प्रौढ़ि प्राप्त की थी। ये गौड़ी शैली में बड़ी ही सुन्दर कविता किया करते थे। गाढबन्धयुक्त यह वर्णन देखिए—

पूर्वापूर्वप्रभावाद्भवसुखविमुख-स्वान्तगानन्तशान्त्यै,
काश्यामस्यां मुमुक्षोर्भवनभुवि मनोहारिनिर्माणशोभम्।
स्निग्धग्रावोपक्लृप्तं कनकजकलशीस्संदधन्दीप्रवप्रं,
यस्याऽऽस्ते मेरुशृङ्गद्युतिहरशिखरं मन्दिरं चन्द्रमौलेः॥

जो वेदान्त जैसे प्रमेयबहुल दर्शन के तथ्यो का सम्यक् उद्घाटन स्रग्धरा वृत्त मे करने का अभ्यासी है, उसके लिए लौकिक विषयों का उसी वृत्त मे वर्णन करना क्या कभी आयासदायक हो सकता है ? नही, कभी नही। उनके लिए तो ऐसे विषयो की काव्यात्मक प्रस्तुति एक अनायाससाध्य लघु व्यापार ही है। कृपालुजी के विषय मे किसी विवेचक विद्वान् का यह स्तुतिपद्य अर्थवाद न होकर यथार्थवाद है। वह पद्य इस प्रकार है—

कुमारो वादिविजयी, रामस्तीक्ष्णमतिस्तथा।
वाग्मी गङ्गाधरः ख्यातः कृपालौ तु त्रयो गुणाः॥

आशय है कि शिवकुमार शास्त्रीजी की वादियो को पराजित करने की कला, रामावतार शर्माजी की बुद्धि की तीक्ष्णता तथा गङ्गाधरशास्त्रीजी की प्रखर वाग्मिता ये तीनो गुण महामहोपाध्याय कृपालुजी मे एक साथ ही विराजमान थे। ऐसा गुणी होना सचमुच सरस्वती की महती अनुकम्पा का निःसशय परिणत फल है। तथास्तु।

शिष्यमण्डली

द्विवेदीजी के प्रधान शिष्यो मे दो प्रकार के विद्वान् पाये जाते है (क) गृहस्थ और (ख) सन्यासी। गृहस्थ शिष्यो मे (१) प० कमलाकान्त मिश्र, (२) प० रामानुज ओझा, (३) प० रघुनन्दन त्रिपाठी और (४) प० ब्रह्मदत्त द्विवेदी प्रधान है। इनके सन्यासी शिष्यो मे है –(१) स्वामी कृष्णवोधाश्रम, (२) शकरानन्द सरस्वती और (३) हनुमानदास।

इनके सन्यासी शिष्यों मे सबसे प्रसिद्ध स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी थे जो ज्योतिर्मठ के शकराचार्य की गद्दी को सुशोभित करके अभी कुछ वर्ष पूर्व दिवगत हुए है। ये विद्वान् तो थे ही परन्तु इसके अतिरिक्त अत्यन्त सरल हृदय और सहज स्वभाव के व्यक्ति थे। इनके जीवन मे आडम्बर का नाम नही था। ये अपने शिष्यो को जो उपदेश देते थे वह अत्यन्त सरल भाषा में होने के कारण शिष्यों के हृदय को अत्यधिक प्रभावित करते थे।

प० शकरानन्द ब्रह्मचारी पहले हिन्दू विश्वविद्यालय मे वेदान्त के 'रीडर' पद को सुशोभित करते थे। काशी में शकराचार्य की गद्दी जब रिक्त हुई तब ये शकरानन्द सरस्वती के नाम से शकराचार्य के रूप में इस गद्दी पर अभिषिक्त किये गये। ये आज भी (१९८० ई० में) इस गद्दी को सुशोभित कर रहे है। आजकल काशी मे इनका निवास धर्मसघ के प्रागण में दुर्गाकुण्ड के पास है।

द्विवेदीजी के तीसरे विरक्त शिष्य हनुमानदासजी है जो कबीरपन्थी साधु है। ये कबीरचौरा, काशी मे स्थित कबीरमठ के महन्त है। इन्होंने द्विवेदीजी से अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया और विद्वत्ता प्राप्त की। कबीरपन्थी साधुओं में ऐसे विशिष्ट विद्वान् व्यक्ति विरले ही हैं।

द्विवेदीजी के गृहस्थ शिष्यो में सबसे प्रधान (१) प० कमलाकान्त मिश्र थे। पहले ये

इलाहाबाद (प्रयाग) में स्थित निरजनी अखाडा द्वारा स्थापित सस्कृत पाठशाला के प्रधान अध्यापक थे। इसके पश्चात् द्विवेदीजी के अवकाश ग्रहण करने के बाद इन्होंने गोयनका महाविद्यालय के अध्यक्ष पद को सुशोभित किया। ये व्याकरण, न्याय और वेदान्त के प्रकाण्ड पण्डित थे। इनका स्वभाव पण्डितोचित था। अध्ययन और अध्यापन के अतिरिक्त इनका दूसरा कोई काम नही था। अभी दो-तीन वर्ष पूर्व इनका काशी मे ही ८० वर्ष की आयु मे देहान्त हुआ है।

(२) प० रामानुज ओझा भी द्विवेदीजी के प्रिय शिष्यो मे से थे। ये व्याकरण के अद्वितीय पण्डित थे। बिरला सस्कृत-महाविद्यालय मे इन्होने अध्यापक का कार्य प्रारम्भ किया था और प० सभापति उपाध्याय के अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् उस विद्यालय के अध्यक्ष पद को भी अलकृत किया।

(३) प० रघुनन्दन त्रिपाठी गया जनपद के निवासी थे। ये साहित्य और व्याकरण के उत्कृष्ट विद्वान् थे। काव्यरचना मे इन्होने अद्भुत दक्षता प्राप्त की थी। ये आशुकवि भी थे। इन्होने 'हरिहरचरित चम्पू' नामक चम्पू काव्य की रचना कर म० म० हरिहरकृपालुजी की बहुमुखी प्रतिभा का प्रकाशन अपने काव्य मे किया है। गया मण्डल के कल्याणपुर के वास्तव्य सरयूपारीण त्रिपाठीजी के ग्रन्थ का समाप्तिकाल १९९८ वि० स० (१९४१ ई०) है। आधुनिक किसी सस्कृत विद्वान् का इतना बडा जीवनाबद्ध यह सम्भवत प्रथम 'चरित काव्य' है। इस काव्य की भाषा बडी सरस है। त्रिपाठीजी ने सरस पद्य तथा गद्य मे इसकी रचना कर सस्कृत मे चरित काव्य की परम्परा का आधुनिक काल मे प्रवर्तन किया है।

(४) म० म० हरिहरकृपालु द्विवेदीजी के एकमात्र पुत्र विद्या वाचस्पति प० ब्रह्मदत्त द्विवेदी है। जब द्विवेदीजी पटना के मुरारका सस्कृत विद्यालय से अवकाश ग्रहण करने लगे तब विद्यालय के सस्थापक सेठजी ने आग्रह से इनके अपने सुयोग्य पुत्र प० ब्रह्मदत्त द्विवेदी को अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। तब से ब्रह्मदत्तजी अध्यक्ष पद को सुशोभित कर रहे है। अभी कुछ वर्ष हुए इन्होने उस पद से अवकाश ग्रहण किया है। ये अध्ययन अध्यापन के साथ ही उस विद्यालय की सम्यक् व्यवस्था मे भी सदा सलग्न रहे और उसकी सर्वाङ्गीण उन्नति की। अवकाश ग्रहण के पश्चात् दरभगा कामेश्वर सस्कृत विश्वविद्यालय ने इन्हे 'विद्यावाचस्पति' की महनीय मानद उपाधि से भी सुशोभित किया। ये काशी के सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालय मे विजिटिंग प्रोफेसर के पद को भी अलकृत करते रहे है। ये वेदान्त, न्याय, व्याकरण तथा साहित्य आदि विषय के प्रकाण्ड पण्डित है। इस प्रकार ये 'योग्य पिता के योग्य पुत्र' की सूक्ति को चरितार्थ कर रहे है।

श्री हरिहरकृपालुजी ने व्याख्यान एव वक्तृत्व दोनो विषयो की एक अमिट छाप अपनी पूरी दृढता के साथ वर्तमान लेखक के हृदय पर छोडी है जो कथमपि हटाई नही जा सकती, जो कथमपि भुलाई नही जा सकती। अपराह्न की वह सुहावनी बेला। बिरला-महाविद्यालय वाराणसी के अध्यक्ष पण्डित सभापति उपाध्यायजी के नवनिर्मित प्रासाद का वह मुख्य 'हाल'। निमन्त्रित काशीस्थ विद्वानो का वह सुसज्जित जमघट। अवसर था प० सभापति उपाध्याय की तीर्थयात्रा की सानन्द पूर्ति पर विद्वन्मण्डली का पूजन एव सम्मान प्रदर्शन। पहले तो व्याकरण-विषयक किसी सिद्धान्त के ऊहापोह मे विद्वान् लोग जुट गए, तर्कवितर्क होने लगा। उभयपक्ष के पण्डितो ने तर्कों युक्तियो का एक व्यूह ही खड़ा कर दिया। शास्त्रार्थ के सुखद विराम के अनन्तर यजमान को आशीर्वाद देने का सुन्दर सुयोग उपस्थित हुआ। इसी समय

पण्डित हरिहरकृपालुजी ने अपनी अमृतवाणी से यजमान की शुभाशसा करते हुए अपनी तीर्थयात्रा के महनीय प्रसगो का भी वर्णन किया। उनके वेष तथा वाणी मे अभूतपूर्व सामञ्जस्य झलक रहा था। मस्तक पर शोभायमान श्री महामहोपाध्याय की रेशमी, जरी किनारेवाली पगड़ी, शरीर पर लम्बा लटकता हुआ सफेद अचकन, शरीर का अँगरखा मालूम पड़ता था कि किसी बाक्स मे करीने के साथ तह पर तह करके (तहिया कर) सँजोया हुआ था और आज बहुत दिनो के बाद बाक्स से निकल कर शरीर को भूषित कर रहा था। उसकी नाना तहों की सूचना देखने से दर्शको को सद्य मिल जाती थी। द्विवेदीजी की देववाणी की भी यही दशा थी। न जाने कहाँ से पाणिनीय व्याकरण के द्वारा निष्पन्न, परन्तु अप्रचलित अथवा अल्पप्रचलित, यडन्त तथा यड्लुगन्त प्रयोगो की बौछार विद्वान् श्रोताओं के ऊपर बिखेरी जा रही थी। प्रतीत होता था कि ये सस्कृत शब्द भी किसी स्थान पर 'तहिया' कर इसी शुभ अवसर के लिए रखे गये थे और आज बाहर निकाल कर उत्सुक श्रोताओं के कर्ण कुहरो मे बडी सजगता मे उपस्थित किये जा रहे है। पुराना होने पर भी उनमे ताजगी थी। अपरिचित होने पर भी कानो के लिए चिक्कन तथा पेशल थे। श्रोता लोग द्विवेदीजी के इस विचित्र सस्कृत भाषण को सुनकर आनन्द से उल्लसित हो रहे थे। आज उन्हे मालूम हो रहा था कि धरोहर रखी हुई सुन्दर वस्तु किस प्रकार अवसर पर योग्य पात्रो मे बाँट दी जाती है, जिसे पाकर वे अपने-आपको सर्वथा कृतार्थ मानने लगते है। महामहोपाध्याय हरिहरकृपालुजी का यह विचित्र प्रयोगो से सम्पन्न एव प्रबल वाग्धारा से मण्डित भाषण मेरे लिए अन्तिम था। उसकी मधुर स्मृति मेरे मानस पटल पर उसी अभिरामता के साथ आज भी वैसी ही छाई हुई है, जैसी वह उस समय थी। ठीक ही कहा है—जादू वह जो सिर पर चढ़कर बोले और व्याख्यान वह जो सालो बाद भी उसी आनन्दमय उल्लासमय सुर मे कानो मे गूँजता रहे। तथास्तु।



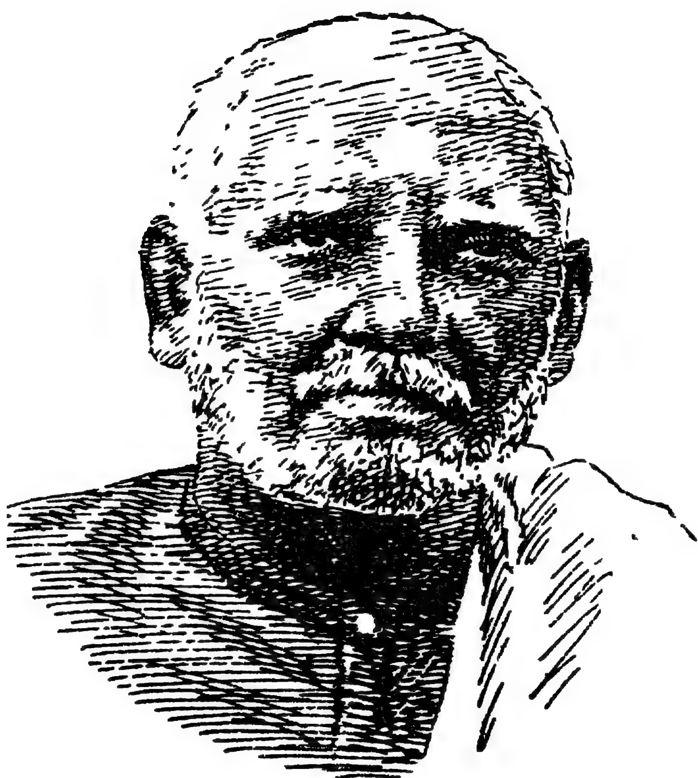
५४

पण्डित कमलाकान्त मिश्र

(आस्पद—मिश्र, उपाधि—वैयाकरणसार्वभौम)

पण्डित हरिहरकृपालु द्विवेदीजी की शिष्यमण्डली मे पण्डितप्रवर कमलाकान्त मिश्र का स्थान नितान्त महनीय था। ये अपने गुरु के समान ही व्याकरण तथा वेदान्त की प्रातिभ उपलब्धि मे अप्रतिद्वन्द्वी विद्वान् थे। स्वभाव मे नितान्त मधुर, विचार मे एकान्त उदात्त तथा वाणी मे प्रचुर धुरन्धर—ऐसा आवर्जक व्यक्तित्व था पण्डित कमलाकान्तजी का। इनका जन्म १९४९ विक्रमी सवत् (१८९२ ई०) मे पुण्यमयी जन्माष्टमी को हुआ था। इलाहाबाद जिले के 'कोटवा' ग्राम मे इनकी शिक्षा राजकीय सस्कृतकालेज मे ही प्रमुख रूप से सम्पन्न हुई जहाँ से इन्होने व्याकरण तथा वेदान्त दोनो विषयो मे आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की। अध्यापन के लिए इन्हे कही दूर जाने की आवश्यकता नही हुई। प्रयाग के दारागज मे अवस्थित तथा विख्यात 'निर्वाण-वेद विद्यालय' मे आपने अध्यापन कार्य आरम्भ किया और वही विद्यालय के अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित हो गये तथा छब्बीस वर्षों तक लगातार व्याकरण एव वेदान्त का अध्यापन करते रहे (१९१७- १९४४ ई०)। तदनन्तर काशीस्थ जो० म० गोयनका सस्कृत-महाविद्यालय मे अपने ही विद्यागुरु के रिक्त प्राचार्यपद पर नियुक्त होकर बाईस वर्षों तक विद्यालय की सेवा की (१९४४—१९६६ ई०)। अन्त मे ये सस्कृत-विश्वविद्यालय (वाराणसी) मे सम्मानित प्राध्यापक के पद को भी सुशोभित करते रहे। काशी मे ही इनका निधन १० अक्टूबर १९७४ ई० मे ८२ वर्ष की आयु मे हुआ। इस सुदीर्घ काल मे मिश्रजी के लिए अध्ययन एव अध्यापन के अतिरिक्त और कोई कार्य न था। सस्कृत-विद्या के प्रचार प्रसार मे ही इनका जीवन समर्पित था।

इनकी शिष्यमण्डली पर्याप्तरूपेण विद्या से समृद्ध रही। व्याकरण तथा वेदान्त दोनो विषयो मे परिनिष्ठित अनेक छात्रो ने पण्डितजी की कीर्ति पताका को अनेकत्र फैलाया जिनमे **रामचन्द्र शास्त्री खनग, रामनिवास गर्ग, शिवदत्त पाण्डेय, यमुनाप्रसाद शुक्ल, महानन्द द्विवेदी एवं कालिका त्रिपाठी** (रीवॉ) के नाम विशेष उल्लेखनीय है—ये तो है पण्डितजी के स्वदेशी शिष्य। पण्डित कमलाकान्तजी को दो जर्मनदेशीय छात्रो को पढ़ाकर प्रौढ़ विद्वान् बनाने का महनीय गौरव उपलब्ध है। इन दोनो विदेशी शिष्यो के नाम है—**डॉ० पाल थीमे** तथा **डॉ० लुड्विग आल्सडोर्फ** जो जर्मनी के विख्यात विश्वविद्यालय ट्यूबिगेन एव हेम्बर्ग में क्रमश संस्कृत के माननीय प्रोफेसर थे। डॉ० पाल थीमे वेद तथा व्याकरण के यूरोप भर में मूर्धन्य विद्वान् माने जाते है जिन्हे पञ्चम विश्व सस्कृतसम्मेलन के अवसर पर हाल मे (१९८१ ई०) हिन्दू-विश्वविद्यालय ने डाक्टर की सम्माननीय उपाधि प्रदान की है। डॉ० आल्सडोर्फ सस्कृत-व्याकरण एव साहित्य के अतिरिक्त प्राकृत-भाषा तथा साहित्य के मूर्धन्य पाश्चात्य विद्वान् थे। इनका निधन दो वर्ष पूर्व १९७८ ई० मे हो गया। दोनों जर्मन शिष्यो

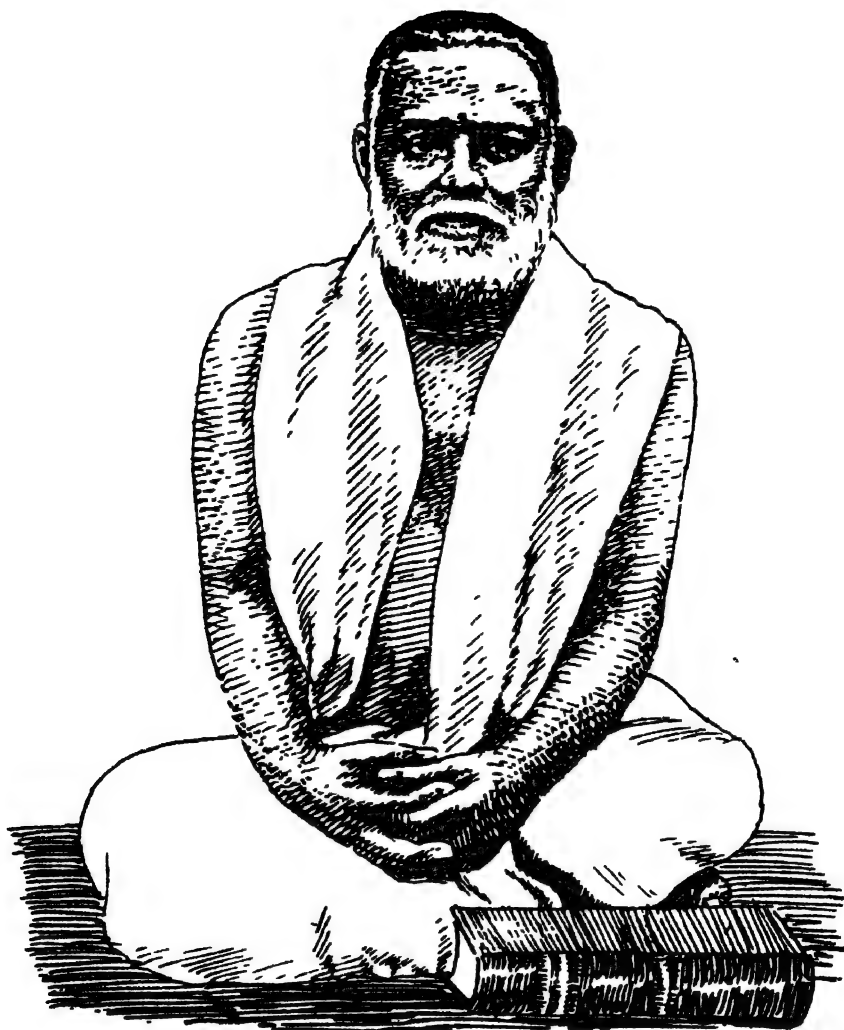


पं० कमलाकान्त मिश्र

ने प्रयाग मे पण्डितजी से १६३३ ई० मे क्रमश दो दो वर्षों तक व्याकरण तथा वेदान्त के ग्रन्थो का अध्ययन किया था। इस प्रकार काशी की पाण्डित्य परम्परा भारतवर्ष मे ही नही, विदेशो मे भी विकसित तथा प्रसृत हुई।

पण्डित कमलाकान्तजो को अनेक सम्मान प्राप्त थे महामहाध्यापक (भारतधर्म महामण्डल, वाराणसी से २००६ वि० स० मे), विद्वच्छिरोमणि (गीर्वाणवाग्वर्धिनी सभा, रामघाट, काशी), महामहिमोपाध्याय (भारतीयपरिषद्, प्रयाग)। पण्डितजी हिन्दी जगत् मे भी लब्धप्रतिष्ठ दार्शनिक माने जाते थे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, हैदराबाद की दर्शनपरिषद के सभापति मनोनीत थे।





पं० जयदेव मिश्र

५५

पण्डित जयदेव मिश्र

(आस्पद—मिश्र, उपाधि—महामहोपाध्याय)

प्राचीन काल मे विद्याव्यसनी विद्वान् शास्त्रार्थकला मे निपुण होते थे। वैदिक एव पौराणिक युग की विद्वत्समितियो मे पण्डित-मण्डली शास्त्रार्थ करती हुई देखी जाती थी। इधर १९वी तथा २०वी शती मे शास्त्रार्थ का विशेष जोर रहा। उसे यदि वादयुग कहा जाय तो अतिशयोक्ति नही होगी। ऐसे ही समय मे अन्वर्थनामा चरितनायक प० जयदेव मिश्र का मध्य मिथिला के अङ्क मे स्थित 'गजहड़ा' नामक ग्राम मे वि० स० १९११ (१८४४ ई०) मे पवित्र 'सोदरपुर' विद्वत्कुल मे जन्म हुआ।

मिथिला की परम्परा के अनुसार मुण्डन (चूडाकर्म) तथा व्रतबन्ध (उपनयन) आदि सस्कार होने के पश्चात् ये वेद-वेदाङ्ग पढ़ने के अधिकारी हुए। फलस्वरूप तत्कालीन प्रतिष्ठित वैयाकरण पण्डितप्रवर हल्ली झा (हरिनगर निवासी) के सान्निध्य मे पहुँच कर उनसे व्याकरण शास्त्र के प्रारम्भिक ग्रन्थो का विधिवत् अध्ययन किया। लगभग दो वर्षों तक उनके अन्तेवासित्व में रहकर आर्थिक परिस्थितिवश आप गन्धवारि ग्राम मे अध्ययनार्थ चले आये।

वहाँ आपने महामहोपाध्याय पण्डित रज्जोमिश्र से व्याकरणशास्त्र के प्रसिद्ध टीकाग्रन्थो शब्देन्दुशेखर आदि का गहन अध्ययन किया। यही आपकी ख्याति पण्डित-मण्डली में पूर्ण रूप से हो गयी। शास्त्रार्थ मे आपकी रुचि प्रारम्भ से ही रही।

इस प्रकार प्राचीन पद्धति के अनुसार व्याकरण के मौलिक ग्रन्थो का अध्ययन समाप्त कर विशेष अध्ययन के लिए विद्याराजधानी काशी चले आये। काशी सस्कृतविद्या की खान ठहरी। यहाँ आपने वाग्देवावतार महामहोपाध्याय पण्डित श्री शिवकुमार शास्त्रीजी को अपना गुरु मनोनीत किया। विद्वच्चक्र-चूड़ामणि श्री शास्त्रीजी के सान्निध्य मे रहकर स्वल्प समय मे ही ये अनेक शास्त्रो के मर्मज्ञ विद्वान् हो गये। विद्वान् होने के पश्चात् भी यदि कोई पण्डितो मे पण्डित होता है तभी उसकी गणना होती है—केचित् पण्डितपण्डिता । आचार्य मिश्रजी की प्रतिभा तथा शास्त्रार्थ-कला में निपुणता के कारण इनकी गणना गण्यमान्य पण्डितो मे होने लगी।

यह ख्याति दरभङ्गानरेश महाराजाधिराज श्रीमान् लक्ष्मीश्वरसिंह बहादुर के कानों तक पहुँची। गुणग्राही महाराज ने इनके गुणों से प्रभावित होकर इन्हें काशीस्थ दरभङ्गा-पाठशाला में अध्यापनार्थ नियुक्त किया। उन दिनो दरभङ्गा-पाठशाला गव्यविद्या के लिए लब्धप्रतिष्ठ प्रतिष्ठान (सस्थान) था । महामहोपाध्याय पण्डित शिवकुमार शास्त्रीजी के अतिरिक्त महामहोपाध्याय पण्डित श्री तात्या शास्त्री, महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी आदि चूड़ान्त मनीषी उक्त पाठशाला मे अध्यापन करते थे।

श्री मिश्रजी की अध्यापनशैली बड़ी ही विलक्षण थी। आपका पाण्डित्य इतना उत्कृष्ट

था कि अल्प समय में ही आपके सहस्रशः छात्र निष्णात विद्वान् हो गये। आप जब दरभङ्गा-पाठशाला में अध्यापन कर रहे थे, महामना मालवीयजी की दृष्टि आप पर पड़ी। संवत् १९७४ वि० के पश्चात् आपने महामना मालवीयजी के आग्रह पर काशी हिन्दूविश्वविद्यालय के प्राच्यविद्याविभागाध्यक्ष पद को सुशोभित किया। तत्पश्चात् आपकी ख्याति बढ़ती ही गयी और आप भारतप्रसिद्ध विद्वान् हो गये। अध्यापन में आपका यश तो सुरभित था ही, शास्त्रार्थ में भी आपकी गणना ख्यातनामा विद्वानों में की जाती थी। कि बहुना, शास्त्रार्थ की तो आप मूर्ति ही थे, तभी तो महामहोपाध्याय डॉ० गङ्गानाथ झाजी ने ठीक ही कहा है—

जयः कुले जयोऽभ्यासे जयः पण्डितमण्डले।
जयो मृत्यौ जयो मोक्षे जयदेवे सदा जयः॥

पाण्डित्य किसी का छिपा नहीं रहता। इनकी ख्याति भारतसरकार के प्रतिनिधिभूत वायसराय के पास तक पहुँच गयी, तब सन् १९१९ मे इन्हे 'महामहोपाध्याय' के सर्वोच्च सम्मान से सम्मानित किया गया।

सदाचार-सम्पन्नता

आचार्य मिश्रजी भारतीय सस्कृति की प्रतिमूर्ति ही थे। जिस प्रकार विद्याव्यसनी थे उसी प्रकार आप धार्मिक कृत्यो के सविधान-सम्पादक थे। जीवन के दीर्घकाल तक नित्य ब्राह्ममुहूर्त में उठकर अपने नित्यकृत्य समाप्त कर मणिकर्णिकाघाट पर गगा-स्नान कर विश्वनाथ अन्नपूर्णाजी का दर्शन पूजन करते थे। ये प्रतिदिन सहस्रगायत्री षडङ्गशतरुद्री द्वारा शिवस्नपन, शालग्राम की पूजा, त्रिकालसन्ध्या किया करते थे। इन सत्क्रियाओं के अतिरिक्त जो समय बचता वह विद्या के अध्ययन अध्यापन मे ही लगता।

सनातनधर्म की सुरक्षा में भी इनका प्रमुख योगदान रहा। कठिन से कठिन समय में भी आप विचलित नहीं होते थे। महामना मालवीयजी ने एक बार 'अस्पृश्यता-निवारण' के पक्ष में समर्थन के लिए विद्वानो की एक सभा बुलायी। उसमे मिश्रजी ने यह जानते हुए भी कि प्रस्ताव के पक्ष में समर्थन न देने से विश्वविद्यालय की क्षति होगी—निर्भीकतापूर्वक सनातनधर्मिता के विरुद्ध आये हुए प्रस्ताव का डटकर विरोध ही किया, समर्थन नही। मालवीय जी सनातनधर्म के प्रति इनकी दृढ़ आस्था को देखकर प्रसन्न ही हुए। उन्होंने अपने को गौरवान्वित माना कि ऐसा दृढ़निश्चयी विद्वान हमारे विश्वविद्यालय मे अध्यापक है।

परोपकार-परायणता

श्री मिश्रजी की केवल विद्याप्रचार एवं रचना के क्षेत्र में ही विजय नही थी, अपितु सामाजिक लोकोपकार में भी ये तत्पर रहते थे। निजी ग्राम 'गजहड़ा' के वासियों के लाभ के लिए इन्होंने एक पुष्करिणी (जलाशय) खुदवाकर शाके १८४६ में महामहोपाध्याय पण्डित परमेश्वर झाजी के कर्मकाण्ड-निरीक्षण में महायाग सम्पन्न कराया।

कृतियाँ

(१) परिभाषेन्दुशेखर की 'विजया' टीका--

(२) शास्त्रार्थरत्नावली (शास्त्रार्थ-कला का मननीय ग्रन्थ)

(३) व्युत्पत्तिवाद की 'जया' टीका

(४) महाविनायकस्थापनपद्धति (कर्मकाण्ड)

(५) वास्तु पद्धति

(६) शतचण्डीपद्धति

(७) कुलदेवतास्थापनपद्धति

(८) नीलवृषोत्सर्गपद्धति

(९) तुलादानपद्धति

(१०) अन्य अनेक निबन्ध

शिष्य-परम्परा

यह पूर्वप्रतिपादित विषय है कि आचार्य मिश्रजी के हजारों प्रबुद्ध शिष्य भारत में व्याप्त हैं। सबका परिचय देना यहाँ सम्भव नहीं है, कुछ थोड़े में उनके प्रमुख शिष्यों का दिङ्निर्देश किया जाता है

(१) महामहोपाध्याय डा० गङ्गानाथ झा (प्रयाग विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति तथा विश्वविख्यात विद्वान्)।

(२) पण्डितराज राजनारायण शास्त्री (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के व्याकरणशास्त्र के प्रमुख वक्ता विद्वान्)।

(३) पण्डित मार्कण्डेय मिश्र (दार्शनिक, वैयाकरण, भू० पू० प्रिंसिपल महाराणा सरकतकालेज, उदयपुर)।

(४) पण्डित दामोदर मिश्र (अनेक विषयों के मर्मज्ञ विद्वान्)

इतना ही नहीं, विद्यावंश के साथ साथ जन्मवंश भी बड़ा प्रखर है पूरे परिवार पर सरस्वती की असीम कृपा है। आपके अनुज पण्डित मधुसूदन मिश्र तथा पुत्र महामहोपाध्याय पण्डित उमेश मिश्र युग युगान्तर तक चिरस्मरणीय रहेंगे

अधिक क्या कहा जाय, विद्वद्विरतपञ्चकम के रचयिता महामहोपाध्याय पण्डित श्री नारायण शास्त्रीजी ने महामहोपाध्याय पण्डितप्रवर शिवकुमार मिश्रजी के संस्मरण में आचार्य मिश्रजी के लिए संक्षेप में ठीक ही कहा है

नानाग्रन्थविधानजेन यशसा व्याप्याखिल भारत-
मध्याप्य प्रचुर विधाय बहुलान् विद्यार्थिन. पण्डितान् ।
विद्वत्ससदि गीष्पतिप्रतिमता सम्पाद्य लोकोत्तरा
सायुज्यं जयदेवमिश्रविबुधा विश्वेश्वरेणाप्नुवन् ॥

इस प्रकार लोकद्वयसाधनीभूत अध्ययन-अध्यापन, लेखन सम्पादन, शास्त्रार्थ आदि विविध उल्लेखनीय कार्यों मे उत्कृष्ट ख्याति अर्जित कर वै० स० १९८२ (१९२५ ई०) मे फाल्गुन शुक्ल सप्तमी को भगवती जाह्नवी- गगा के मुक्तिदायक मणिकर्णिका घाट पर आपने पाञ्चभौतिक शरीर का परित्याग कर शिवसायुज्य प्राप्त किया।

मिश्रजी का वैदुष्य—प० जयदेव मिश्र व्याकरणशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। इन्होने नव्यन्याय का भी विशेष परिश्रम से अध्ययन किया था। न्याय के वैदुष्य से मण्डित होने से इनकी बुद्धि व्याकरण आगम के दुरूह विषयो के उन्मीलन मे बडी सफल थी। परिष्कार-पद्धति के जाने-माने शीर्षस्थ विद्वान् थे। शास्त्रार्थ मे इनकी विद्वत्ता तथा तर्क-कुशलता की सर्वत्र प्रशसा की जाती थी। इनकी विद्वत्ता का परिचय इनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थो के अनुशीलन से भली-भाँति होता है।

विजया टीका—परिभाषेन्दुशेखर के ऊपर 'विजया' नामक टीका का प्रणयन कर मिश्रजी ने नागेश भट्ट के मर्मों को समझाने मे अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। प० तात्या शास्त्री द्वारा रचित इसी ग्रन्थ की 'भूति' नामक टीका के रहते हुए 'विजया' को जो प्रसिद्धि और लोकप्रियता प्राप्त हुई यह इस बात का प्रमाण है कि मिश्रजी की टीका सरल, सुबोध तथा बोधगम्य है। इस टीका मे मिश्रजी ने 'भूति' का नामोल्लेखपूर्वक खण्डन भी किया है। इस टीका से मिश्रजी की अगाध विद्वत्ता का परिचय प्राप्त होता है।

शास्त्रार्थरत्नावली—जैसा कि इसके नाम से ही परिलक्षित होता है, यह शास्त्रार्थ कला का माननीय ग्रन्थ है जिसको पढ़कर छात्रगण सभा मे शास्त्रार्थ करने की पद्धति को भलीभाँति सीख सकते है। इन्होने पाणिनि के सूत्रो को लेकर जो शास्त्रार्थकोटियाँ है उन सभी को लिपिबद्ध कर दिया है। इस प्रकार शास्त्रार्थ सीखने वाले विद्यार्थियो के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है।

व्युत्पत्तिवाद की टीका

व्याकरणशास्त्र के प्रख्यात ग्रन्थ व्युत्पत्तिवाद पर भी मिश्रजी ने 'जया' नामक टीका लिखी है। मूलत यह ग्रन्थ अत्यन्त कठिन है। अत इस ग्रन्थ के कठिन स्थलो को सरल तथा सुबोध बनाने मे यह टीका अत्यन्त सफल हुई है।

प० जयदेव मिश्र धर्मशास्त्र तथा कर्मकाण्ड के भी विद्वान् थे। अत इन्होने अनेक पद्धतियो का भी निर्माण किया है जिनमे तत्तद् विषयो का वर्णन सरलता से किया गया है।



५६

श्री हाराणचन्द्र भट्टाचार्य

(आस्पद—भट्टाचार्य, उपाधि—महामहोपाध्याय)

पण्डित हाराणचन्द्रजी पण्डित जयदेव मिश्र के समान ही एक ही गुरु म० म० पण्डित शिवकुमार शास्त्रीजी के शिष्य थे। दोनो मे अनेक गुणो मे समानता थी। दोनों शास्त्रार्थ की कला मे नितान्त निपुण थे। दोनो ने व्याकरण-विषयक ग्रन्थो का निर्माण कर गौरव प्राप्त किया। दोनो ही भारतसरकार के द्वारा प्रदत्त महामहोपाध्याय की पदवी से मण्डित थे। इस दृष्टि से इन दोनो महनीय पण्डितो का एक साथ विवरण तुलनात्मक अध्ययन के लिए अत्यन्त उपयोगी होगा। अत प० जयदेव मिश्रजी के अनन्तर श्री हाराणचन्द्र भट्टाचार्य का जीवनवृत्त प्रस्तुत किया जाता है।

काशी के वैयाकरणो मे प० हाराणचन्द्र भट्टाचार्य का नाम बडे आदर तथा सम्मान के साथ लिया जाता है। बगाल मे व्याकरण का अध्ययन-अध्यापन होता चला आ रहा है। परन्तु वहाँ के विद्वान् पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन न करके वोपदेव के द्वारा निर्मित कातन्त्र व्याकरण का ही अध्ययन किया करते है। पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन तथा अध्यापन की परम्परा बगाल मे नही है। परन्तु प० हाराणचन्द्र भट्टाचार्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये पाणिनीय व्याकरण के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इन्होने काशी आकर व्याकरणशास्त्र का गभीर अध्ययन किया, पाणिनीय व्याकरण का अध्यापन किया और जीवन की गोधूलि मे बगाल (कलकत्ता) जाकर इन्होने पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा प्रतिष्ठापित की। यही इनके जीवन की सबसे बड़ी विशेषता तथा उपलब्धि थी।

प० हाराणचन्द्र भट्टाचार्य काशी के अद्वितीय वैयाकरण थे। इस क्षेत्र में उस समय इनका कोई सानी नही था। वैयाकरण-केसरी के रूप में काशी के कानन में स्वच्छन्द विचरा करते थे। अपने काल के अप्रितम विद्वान् थे। इन्होने शास्त्रार्थ में अनेक पण्डितमानी विद्वानों को परास्त कर अपनी कीर्तिपताका को ऊँचा फहराया था।

बगाल के राजशाही जिला के अन्तर्गत बालूभरा नामक ग्राम मे १२६६ बगाब्द की मार्गशीर्ष अमावस्या को (तदनुसार १५ दिसम्बर १८८६ ई० मे) हाराणचन्द्र भट्टाचार्य का जन्म हुआ था। इनके पिता का नाम था प्रसन्नकुमार चक्रवर्ती। अपने पिता के ये तृतीय पुत्र थे। इनका एक अनुज भी था जिसकी शिक्षा-दीक्षा इन्हीं के पास हुई थी। ये वारेन्द्र श्रेणी के ब्राह्मण थे।

बाल्यकाल से ही इनकी बुद्धि प्रखर थी। आठ वर्ष के वय में इनका उपनयन यथाविधि संपन्न किया गया। जब ये उन्नतर शिक्षा प्राप्त करने के लिए उत्साही थे, तभी इनके कुटुम्ब के ऊपर एक बड़ी भारी अप्रत्याशित आपत्ति आ गई। वह आपत्ति थी भीषण अग्निकाण्ड। दश वर्ष के वय में ही घर में आग लग गई। इतनी बड़ी आग कि इनकी माता, पिता, भाई एवं बहन सब भस्म हो गये। केवल दो आदमी ही इस संकट से बच गये—एक तो स्वय



श्री हाराणचन्द्र भट्टाचार्य

हाराणचन्द्रजी तथा इनके अनुज कालीकिंकर। ये ही दो व्यक्ति किसी प्रकार उस भयकर आग से भगवान् की कृपा से बच निकले। ग्रामवासियो की सहायता से माता-पिता आदि मृत व्यक्तियों की अन्त्य विधि तो कर दी गई परन्तु इनके पोषण की समस्या सामने आई। उस समय इनका वय दश वर्ष था तथा छोटा भाई आठ वर्ष का था।

इस घटना के अनन्तर ये अपने अनुज के साथ अपने मामा के घर चले आये। परन्तु वहाँ का व्यवहार इन्हे अच्छा नही लगा। अनेक असुविधाएँ उत्पन्न हुई। एक दिन इन्होने अपने मामा के घर को छोडने का निश्चय कर लिया। बिना किसी से कहे-सुने ये अपने भाई के साथ कुछ रात्रि शेष रहने पर चल पडे और बडी कठिनता से ३०-३२ कोस का रास्ता पार करके ये अपने पैतृक यजमान 'शरतचन्द्र खा' के निवासस्थान पर पहुँच गये। यजमान ने इनकी बडी सेवा की और ये वहाँ आराम से रहे। वही किसी व्यक्ति के घर पर श्राद्ध मे निमन्त्रित होकर ये भी गये। अन्य ब्राह्मणो से इन्हे कम दक्षिणा मिली। इसका कारण पूछने पर उस व्यक्ति ने बतलाया - आप सस्कृत के विद्वान् नही है इसलिए आपको कम दक्षिणा मिली है। सस्कृतविद्या का अर्जन कर जब आप पण्डित हो जाएँगे तो आपको भी पूरी दक्षिणा मिलने लगेगी। इस उत्तर से हाराणचन्द्रजी बहुत दुखी हुए और अपने यजमान से आग्रह किया कि वे इन्हे सस्कृत की विशिष्ट शिक्षा देने की व्यवस्था करे। इनके यजमान साधारण व्यक्ति न होकर [illegible] धीश थे। उन्होने ही उस युग के तर्कश्रेष्ठ विद्वान् प० शिवकुमार शास्त्री से सपर्क करके उन्हे ही इन दोनो बालको को शिक्षा देने के लिए अध्यापक नियुक्त कर दिया। इस प्रकार हाराणचन्द्रजी काशी मे आये और शिवकुमार शास्त्रीजी के चरणो मे बैठकर व्याकरण का अध्ययन करने लगे। छात्र के अदम्य उत्साह तथा अध्ययन की निष्ठा देखकर गुरुजी नितान्त प्रसन्न हुए और इनको पाणिनि व्याकरण का अध्यापन बडे ही प्रेम तथा परिश्रम से कराया। फलत इनका वैदुष्य चमक उठा। इसका फल यह हुआ कि बग देश के पण्डितो मे ये ही पाणिनि व्याकरण के अद्वितीय विद्वान् माने जाने लगे।

पण्डित शिवकुमारजी की इन पर विशेष अनुकम्पा रही। शास्त्रार्थ मे शास्त्रीजी इन्हे अपने सग ले जाते थे और पूर्व पक्ष करने के लिए इन्हे उत्साहित करते थे। इस प्रेरणा का फल यह हुआ कि ये शास्त्रार्थ करने मे बडे ही निपुण, तीव्रबुद्धि तथा नवीन परिष्कारो के प्रतिपादन मे नितान्त दक्ष हो गए। ये असाधारण कल्पक थे। इनकी नवीन कल्पनाएँ तथा विद्वत्तापूर्ण पूर्वोत्तरपक्ष को देखकर बडे-बडे विद्वान् मुग्ध हो जाते थे। ये अपने गुरु के विशेष भक्त थे। क्यो न हो, गुरुजी ने केवल विद्यादान ही नही दिया अपितु अपने आवास मे रखकर इन्हे दिन प्रतिदिन की व्यावहारिक चिन्ताओं से भी मुक्त कर दिया। छात्रावस्था मे इनको एक बार शीतला का प्रकोप हुआ जिससे ये बडे पीडित हुए। उस समय शरत्कामिनी देवी नामक एक वृद्धा ने, जो काशीवास कर रही थी, इनकी पुत्रवत् शुश्रूषा कर स्वास्थ्य दिलाया। उसी को माता मानकर ये काशी मे उसी के साथ रहते थे। शिवकुमार शास्त्रीजी के चरणों मे बैठकर ही इन्होने सस्कृतकालेज की व्याकरणाचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की थी। इसके अनन्तर इन्होने न्याय, वेदान्त तथा धर्मशास्त्र का भी बडी तत्परता के साथ अध्ययन किया और इन विषयो मे भी पारगत होकर कीर्तिलाभ करने मे समर्थ हुए।

अध्यापन

हाराणचन्द्रजी ने काशी की ही नगवा-पाठशाला मे लगभग ६ मास तक अध्यापन किया। तदनन्तर कलकत्ता के सस्कृतकालेज मे प० लक्ष्मणशास्त्री द्रविड के रिक्त स्थान पर

वेदान्त के अध्यापक रहे। अनन्तर काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय मे दो साल अध्यापन कर जयपुर के अन्तर्गत फतेहपुर मे स्थित शेखावटी-सस्कृत-महाविद्यालय मे अध्यक्ष पद पर नियुक्त किये गए। वहाँ से १६२५ ई० मे काशी के मारवाड़ी-सस्कृतमहाविद्यालय के प्रधानाध्यापक नियुक्त होकर यहाँ आये। इस महाविद्यालय मे ये साहित्य तथा व्याकरण का अध्यापन करते थे। लगभग नव वर्षों तक इस विद्यालय की इन्होने सेवा की। तदनन्तर १६३४ ई० के जुलाई मास मे इनकी नियुक्ति काशी-राजकीय सस्कृतकालेज मे प्राध्यापक के पद पर हो गई। वहाँ केवल दो-तीन वर्ष ही अध्यापन कार्य किया कि १६३७ ई० मे कलकत्ता के सस्कृतकालेज मे प्राध्यापक के पद पर नियुक्त होकर ये कलकत्ता चले गए। वहाँ ये वेदान्त, व्याकरण, धर्मशास्त्र आदि विषयो के उच्च ग्रन्थो का अध्यापन करते रहे। इमी कालेज मे रहते हुए १६४२ ई० मे भारतसम्राट् द्वारा इन्हे महामहोपाध्याय की पदवी से सम्मानित किया गया।

कलकत्ता मे ही इनका निधन बगाब्द १३५० आषाढ कृष्ण दशमी तदनुसार १६३४ ई० के २७ जून को हो गया। इनके अनेक शिष्य विभिन्न स्थानो पर कार्य कर रहे है।

शास्त्रार्थ-प्रवीणता

हाराणचन्द्रजी जब काशी मे ही सस्कृतकालेज मे अध्यापन कर रहे थे तो एक विशिष्ट घटना घटी थी जिसमे इन्होने प्रमुख भाग लिया था। सन् १६३२ ई० की यह घटना है। माध्वसप्रदाय के आचार्य श्री १०८ सत्यध्यान तीर्थस्वामी काशी पधारे। वे द्वैतवादी सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य थे। फलत उन्होने 'अद्वैतमतविमर्श' नामक पुस्तक काशी के जनसमाज मे तथा पण्डितो मे वितरित की। इस ग्रन्थ मे भस्म तथा रुद्राक्ष आदि के धारण को अवैध बतलाया गया था तथा शकराचार्य के अद्वैतमत को बौद्धमत की एक शाखा बतला कर अद्वैतमत की घोर निन्दा की गई थी। स्वामीजी का उद्देश्य था कि काशी की शिवभक्त जनता शिव की उपासना से विरत हो तथा शकराचार्य के अद्वैतसिद्धान्त मे श्रद्धा न रखते हुए द्वैतवादी विष्णुभक्ति का अवलम्बन करे। इस ग्रन्थ के अपसिद्धान्तो का खण्डन प० हाराणचन्द्र भट्टाचार्य ने 'अद्वैतसिद्धान्त विमर्श-खण्डन' नामक पुस्तक दो भागो मे प्रकाशित कर लोगो मे बिना मूल्य वितरित कर किया और गम्भीर घोषणा की कि यदि स्वामीजी अपने कथन को प्रमाणित कर दे तो उन्हे मै एक सहस्र मुद्रा दूँगा और मै भी माध्वसम्प्रदाय स्वीकार कर लूँगा। इस घोषणा से स्वामीजी तथा उनके मतानुयायी शिष्यो मे बडा तहलका मच गया, बडी खलबली मच गई और किसी की इतनी हिम्मत नही हुई कि वह हाराणचन्द्रजी के ग्रन्थ का खण्डन करे तथा उनसे इस विषय मे शास्त्रार्थ करे। इस घटना से काशी के पण्डितो मे इनकी दर्शनविषयक प्रतिभा की बड़ी धाक जम गई और ये एक स्वर से बडे ही प्रौढ शास्त्रार्थी पण्डित के रूप मे अभिनन्दित किये गये।

रचना

प० हाराणचन्द्रजी बँगला, सस्कृत तथा हिन्दी भाषा के अच्छे जानकार थे और इन्होने इन तीनो भाषाओं मे दर्शन विषयक लेखो तथा ग्रन्थो का प्रकाशन किया। कल्याण के शिव-विशेषाक में भस्मधारण एव निर्माल्यभक्षण के विषय मे इनका एक अनुसधानात्मक लेख है जिसमें पुराण तथा धर्मशास्त्र से इन विषयो की उपादेयता सिद्ध की गई है। यह गम्भीर लेख है जिसमे शिव-सम्बन्धी सिद्धान्तो का वर्णन बडी गम्भीरता से किया गया है। बँगला की पत्र-पत्रिकाओं में भी ये सनातनधर्म के सम्बन्ध मे अनेक लेख लिखा करते थे। अध्यापन

कार्य से इन्हे बहुत ही कम अवकाश मिलता था। इसलिए इनकी ग्रन्थ-रचना बहुत ही स्वल्प है। ऊपर उल्लिखित 'अद्वैतमत विमर्श खण्डन' नामक ग्रन्थ हिन्दी मे निबद्ध किया गया है। इसमे अद्वैतमत की प्रामाणिकता वेद तथा शास्त्रो से बड़ी कुशलता से सिद्ध की गई है। बौद्धमत से अद्वैतमत की पृथक्ता तथा भिन्नता शास्त्रीजी ने बडे प्रमाणो से दिखलायी है। सत्यज्ञान तीर्थस्वामी के मूलग्रन्थ का खण्डन होने पर भी शास्त्रीजी ने इसमे बडी ही सयत भाषा का प्रयोग किया है। कलकत्ता के सस्कृतकालेज मे अध्यापन करते हुए शास्त्रीजी ने **कालसिद्धान्तदर्शिनी** नामक ग्रन्थ का प्रणयन सस्कृत मे किया तथा वही से प्रकाशित भी किया। यह ग्रन्थ नितान्त प्रौढ़ तथा प्रमेयबहुल है। भारतीय दर्शन के प्रत्येक विभाग मे काल तत्त्व के विषय मे गम्भीरता से विचार किया गया है। शास्त्रीजी ने उन समस्त मतो का सकलन, समीक्षण तथा परीक्षण बड़े पाण्डित्य के साथ किया है। इसकी भूमिका प० गोपीनाथ कविराज ने लिखी है तथा इनके परीक्षण की बडी प्रशसा की है।

पण्डित हाराणचन्द्र शास्त्री अपने पूज्य गुरु श्री शिवकुमार शास्त्री के बडे ही भक्त थे। गुरुकृपा से ही व्याकरणशास्त्र मे अलौकिक पाण्डित्य प्राप्त हुआ। अपने समय के वगीय पण्डितो मे पाणिनीय व्याकरण का इतना मर्मज्ञ, प्रौढ़ पाण्डित्य से सम्पन्न तथा परिष्कारो के विशेष परिज्ञान से विभूषित कोई दूसरा विद्वान् नही था। इनकी गुरुभक्ति की अनेक विलक्षण घटनाएँ सुनी जाती है। इनके छात्रो के मुख से सुना है कि जब वे लोग इनसे पढ़ने जाते थे उस समय यदि कोई विलक्षण गम्भीर शका कर बैठता था तो ये पाठ बन्द कर देते थे और 'मुझे थोडा विश्राम करने की आवश्यकता है' यह कहकर उसी गद्दी पर लेट जाते थे। और इतने मौन पड जाते थे कि मालूम होता था कि इन्हे गहरी नीद आ गई है। आठ दस मिनट मे ही उठ जाते थे और उस शका का विधिवत् समाधान कर देते थे। अनेक बार शिष्यो ने इस विचित्र व्यवहार के विषय मे पूछा कि 'गुरुजी इसका रहस्य क्या है ?' तब इन्होने बतलाया कि जब किसी विकट समस्या के समाधान की मुझे आवश्यकता प्रतीत होती है तो मै अपने गुरुजी का स्मरण कर ध्यानस्थ हो जाता हूँ। मुझे गाढ़ निद्रा आ जाती है और तब मुझे मालूम पडता है कि गुरुजी स्वय उपस्थित होकर उस शका का समाधान कर रहे है। थोडी देर के बाद स्वय मै जाग्रत हो जाता हूँ और उस गम्भीर समस्या का पूरा समाधान मिल जाता है। जीवित अवस्था मे गुरुजी की ऐसी कृपा थी और आज उनके अभाव मे भी उनका वरद हस्त मेरे मस्तक पर आशीर्वाद देते हुए तथा गम्भीर समस्या का समाधान करते हुए सद्य अनुभूत होता है।

इसी गुरु भक्ति के कारण पण्डित शिवकुमार शास्त्रीजी की शिष्यपरम्परा मे पण्डित हाराणचन्द्र भट्टाचार्य का नाम बडे आदर तथा सत्कार का भाजन माना जाता है। म० म० पण्डित जयदेव मिश्रजी भी अपने समय मे शास्त्रीजी के बडे विनम्र, निष्ठावान् एव शास्त्रसम्पन्न छात्र माने जाते थे। दोनो की विद्या, बुद्धि एव प्रतिभाविलास मे पर्याप्त साम्य है। इसका परिचय दोनो के तुलनात्मक अध्ययन से भली भाँति मिल सकता है। शास्त्रार्थ की कला मे दोनो की वैदुषी, कल्पनाशक्ति एव प्रत्युत्पन्नमतिता विद्वानो के लिए नितान्त चमत्कारिणी थी।

काशीस्थ-नव्यबुधमुख्यपदाधिरूढा
वादाहव-प्रथित-धीविभवा बुधेन्द्राः ।
नानाविधागम-विचारविधि-प्रसिद्धा
हाराणचन्द्र इति नामजुषो लसन्ति ॥

●

५७

पण्डित यादवेश्वर तर्करत्न

(आस्पद—भट्टाचार्य, उपाधि—महामहोपाध्याय)

सम्कृत के विद्वान् अपने विद्याभ्याम मे इतनी निष्ठा से सलग्न रहते है कि वे अपने क्षेत्र से बाहर न तो कभी जाते है और न कभी उन क्षेत्रो की घटनाओ को जानने की इच्छा ही रखते है। आजकल तो राजनीति का युग है। इस युग के पण्डितो को अगत्या राजनीति के विषय की जानकारी करनी ही पडती है। किन्तु आज से ५० ६० वर्ष पूर्व पण्डितगण राजनीति के क्षेत्र से सर्वदा अपने को बहिर्मुख ही रखते थे। परन्तु उस युग मे भी महामहोपाध्याय यादवेश्वर तर्करत्न ऐसे कर्मठ पण्डित थे कि ये उस युग की राजनीति मे अपने को आग्रहपूर्वक लगाने से विरत नही हुए। ऐसे कर्मठ तथा सस्कृत शास्त्रवेत्ता पण्डितजी की जीवनकथा बडी ही रोचक तथा बहिर्मुखी है।

उत्तरी बगाल के रगपुर जिले के अन्तर्गत 'इटाकुमारी' गाव मे पण्डित रुद्रमगल न्यायालकार महाशय के वश मे १२५७ बगाब्द मे यादवेश्वर तर्करत्नजी का जन्म हुआ। इनके पिता का नाम आनन्देश्वर भट्टाचार्य था। ये राढी श्रेणी के ब्राह्मण थे। दुर्दैव के प्रभाव से इनके पूज्य पिता का निधन इनके पाचवे वर्ष मे ही हो गया। उस समय इन्होने बॅगला शिक्षा अपने ग्राम मे ही किसी पण्डित से ग्रहण की थी। उसके अनन्तर ये सस्कृत शिक्षा के ग्रहण करने मे लग गये। उस प्रान्त के सुप्रसिद्ध वैयाकरण पण्डित हरगोविन्द सिद्धान्त से कलाप व्याकरण तथा ईश्वर विद्यालकार से काव्यप्रकाश तथा अन्य काव्यग्रन्थो का विधिवत् अध्ययन किया। इनके सिर से पिता की छत्रच्छाया सदा के लिए हट गई थी, परन्तु इनके पिता के शिष्यो ने कभी इनको अनाथ तथा निराश्रित नही होने दिया। उन लोगो ने ही इनकी काशी आकर विद्याध्ययन करने की पूरी व्यवस्था कर दी। उन्ही लोगो की सुन्दर व्यवस्था तथा प्रेरणा के बल पर यादवेश्वरजी इस काशी विद्यानगरी मे पढने के लिए आये। उस समय सस्कृतकालेज मे महामहोपाध्याय प० कैलासचन्द्र शिरोमणि न्यायशास्त्र की गद्दी पर विराजमान थे। उनकी विमल कीर्ति से आकृष्ट होकर यादवेश्वर भी उन्ही से न्यायशास्त्र पढने लगे। कुछ ही वर्षों मे न्यायशास्त्र तथा न्याय का तलस्पर्शी अध्ययन कर इन्होने तर्करत्न की उपाधि प्राप्त की। उस समय स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती के निकट जाकर इन्होने वेदान्त तथा योगदर्शन का भी गम्भीर अध्ययन किया। प्राच्यदर्शन मे इनकी असाधारण प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति से परिचित होकर सस्कृतकालेज के तत्कालीन प्रिंसिपल ग्रिफिथ साहब ने इन्हे पश्चिमी दर्शन के रहस्य को जानने के लिए अपने पास बुलाया और अपनी देख रेख मे पाश्चात्त्य दर्शन की शिक्षा दी। इस प्रकार इनको प्राच्य तथा प्रतीच्य दोनो दर्शनो की तुलनात्मक समालोचना करने का अवसर मिला और इससे इनके दार्शनिक ज्ञान मे विशेष वृद्धि हुई।

अध्यापन

काशी मे रहकर इस प्रकार सस्कृतविद्या से अलकृत होकर ये अपने घर लौट गये। रगपुर मे ही उस समय हाईस्कूल चलता था। उसी अग्रेजी स्कूल मे ये सस्कृतशिक्षक के रूप मे नियुक्त हुए। इसके अनन्तर स्थानीय जमीदारो ने एक कालेज की स्थापना की। अब ये इसी कालेज मे सस्कृतविभाग मे अध्यापक के पद पर नियुक्त हो गये। परन्तु यह कालेज बहुत दिन तक नही चला। किन्तु यादवेश्वर तर्करत्न ने अन्य किसी स्थान पर जाकर नौकरी नही की और ये वही अपने घर पर छात्रो का अध्यापन करते थे। रगपुर मे ही सुप्रसिद्ध अरविन्द के पिता अ० कृष्णघन घोष उस समय सिविलसर्जन थे। उनकी प्रेरणा तथा अन्य जमीदारो की सहायता से रगपुर मे ही एक चतुष्पाठी (सस्कृत विद्यालय) की स्थापना हुई और इसी पाठशाला मे यादवेश्वर तर्करत्नजी की नियुक्ति हो गई। इसी विद्यालय मे ये प्रधानतया काव्य, व्याकरण आदि शास्त्रो का अध्यापन करते थे इनकी पढ़ाने की शैली इतनी अधिक अच्छी और आकर्षक थी कि बगाल प्रान्त के दूर के छात्र इनके यहाँ विद्याध्ययन के लिए आने लगे जिससे इनकी चतुष्पाठी की कीर्ति चारो ओर फैल गई।

सम्मान

पण्डित यादवेश्वरजी केवल अध्यापन कार्य ही नही करते थे अपितु अपने नगर रगपुर के जनहितकारी कार्यों मे भी अपना पूरा सहयोग देते थे। रगपुर कारमाइकल कालेज की कार्य निर्वाहक समिति के ये आजीवन सदस्य बने रहे नवद्वीप की पण्डितसभा की ओर से इन्होने 'पण्डितराज' की उपाधि प्राप्त की। काशी के भारतधर्ममहामण्डल ने इन्हे 'पण्डितकेशरी' की उपाधि से विभूषित किया। काशी की ही पण्डितमण्डली ने इनकी कमनीय पद्यरचना से प्रसन्न होकर इन्हे 'कविसम्राट' की उपाधि से मण्डित किया और इनके सम्मान की परिणति उस समय हुई जब १६०५ ई० मे अग्रेजी सरकार से महामहोपाध्याय की महनीय उपाधि प्राप्त हुई।

ये बड़े कर्मठ पण्डित थे। सस्कृत के साथ बॅगला भाषा की भी बडी सेवा की। इन्ही के उद्योग से रगपुर मे बगीय साहित्य परिषद् की एक शाखा स्थापित हुई जिसके सभापति ये अनेक वर्षों तक थे। 'प्रवासी बग साहित्य सम्मेलन बगाल के बाहर उत्तरप्रदेश, बिहार आदि प्रान्तो मे हुआ करता था जिसका उद्देश्य बगाल के साहित्यिको का सम्मेलन तथा गाढ़ परिचय प्राप्त करना था। इस सम्मेलन की दर्शनशाखा के सभापति के पद पर तर्करत्नजी नियुक्त किये गये थे।

पण्डित यादवेश्वर तर्करत्नजी अपने जिला की राजनीति मे प्रविष्ट थे। ये राजनीति मे सक्रिय भाग लिया करते थे। ये रगपुर मे आनरेरी मजिस्ट्रेट भी थे। १३०५ बगाब्द मे बगभग के प्रतिवाद के रूप मे रगपुर जिलासमिति का जो अधिवेशन हुआ था उसके ये ही सभापति थे। इन्होने बगभग के कार्य का कडा प्रतिवाद किया। इतना ही नही, इन्होने अपने आनरेरी मजिस्ट्रेट के पद का भी त्याग कर दिया। इस प्रकार इन्होने भारतीयता के प्रति गाढ़ प्रेम दिखाकर अनाचारी अग्रेजो के कार्यों की बडी ही कडी आलोचना की थी। एक सस्कृत पण्डित के लिए ऐसा उग्र व्यवहार करना उस युग के लिए एक नितान्त अनहोनी घटना थी।

रचना

इन्होने सस्कृत तथा बॅगला दोनो भाषाओं मे काव्य, उपन्यास आदि का प्रणयन किया है। सस्कृत भाषा मे निबद्ध ग्रन्थो के नाम इस प्रकार है-

१ **शोकतरंगिणी** (१३ वर्ष के वय मे रची गई यह कविता इनकी काव्यप्रतिभा को उजागर करती है), २ वाणीविजयम्, ३ सुभद्राहरणम्, ४ चन्द्रदूतम्, ५ प्रशान्तकुसुमम्, ६ अश्रुबिन्दुम्, ७ अश्रुविसर्जनम्, ८ गङ्गाभिषेककाव्यम्, ९ रत्नाकोषकाव्यम्, १० अन्नपूर्णास्तोत्रम् ११ शिवस्तोत्रम्, १२ गङ्गादर्शनकाव्यम्, १३ भारतगाथा।

बँगला में लिखित ग्रन्थ

१ द्रौपदी काव्य, २ अशोक (उपन्यास), ३ सशयनिरसन (प्रथम, द्वितीय भाग), ४ एकादशीतत्त्व, ५ त्रिसन्ध्यातत्त्व, ६ विलायती विचार, ७ आमी ऐकटी अवतार (मै एक अवतार हूँ)। अन्तिम दोनो ग्रन्थ नये नये विचारो के प्रकटन के माध्यम है। इनमे पश्चिमी जगत् के विचारो की खिल्ली उडाई गई है। इन ग्रन्थो के प्रणयन से इनकी साहित्यिक प्रतिभा का परिचय किसी भी आलोचक को मिल सकता है।

१३३१ बगाब्द मे महामहोपाध्याय यादवेश्वर तर्करत्न का निधन हुआ। इस प्रकार तर्करत्नजी ने इस विद्यानगरी काशी मे इन शास्त्रो का गम्भीर अध्ययन कर अलौकिक वैदुष्य प्राप्त किया था। उसका मुक्तहस्त से वितरण कर इन्होने समग्र बगाल को, विशेषत उत्तरी बगाल को अपनी प्रतिभा के प्रसाद मे समृद्ध बनाया।

यादवेश्वर तर्करत्नजी के एकमात्र पुत्र प० वृन्दावन भट्टाचार्यजी सस्कृत, भारतीय इतिहास, पुरातत्त्व तथा मूर्तिकला के विशेष विद्वान् थे। उन्होने जैन इमेजेज (Jain Images) का प्रणयन अग्रेजी मे किया है जिसमे जैनधर्म के देवी देवताओं की मूर्तियो का बडा ही साङ्गोपाङ्ग विवेचन है। बॅगला मे इन्होने **सारनाथ का इतिहास** नामक ग्रन्थ की रचना की थी जिसमे सारनाथ के प्राचीन इतिहास का बडा ही प्रामाणिक विवरण है। ये हिन्दूविश्वविद्यालय मे प्राचीन इतिहास विभाग के अध्यापक थे। इस प्रकार लेखक को इन सहयोगी प्राध्यापक से परिचय पाने का अवसर प्राप्त हुआ था।

इन्ही की शैली का आचरण कर एक अन्य बगीय विद्वान् ने भी काशी मे अधीत विद्या के द्वारा विश्वभारती तथा कलकत्ते को समृद्ध बनाया था। उनका परिचय आगे दिया जा रहा है।



५८

पण्डित विधुशेखर शास्त्री

(आस्पद—भट्टाचार्य, उपाधि—महामहोपाध्याय)

महामहोपाध्याय पण्डित विधुशेखर शास्त्री केवल भारतवर्ष मे ही नही, अपितु समस्त बौद्धजगत् मे अपने बौद्धधर्म विषयक प्रमेयबहुल तथा प्रामाणिक ग्रन्थो के द्वारा लब्धकीर्ति विशिष्ट विद्वान् थे। काशी मे इन्होने सस्कृत भाषा के शास्त्रो मे गम्भीर वैदुष्य प्राप्त किया, परन्तु अपने परिश्रम तथा उदात्त प्रतिभा के बल पर इन्होने बौद्धशास्त्रो मे भी तलस्पर्शी ज्ञान उपलब्ध किया। तिब्बती भाषा का विशेष अनुशीलन कर इन्होने उस भाषा के प्रामाणिक व्याकरण की ही रचना नही की, अपितु उस भाषा मे निबद्ध परन्तु भारत मे विस्मृतप्राय, बौद्धधर्म के सिद्धान्तो का भी मार्मिक अनुसन्धान कर अनेक नवीन तथ्यो का विश्लेषण बडी पण्डिताई के साथ किया। भाषाविज्ञान मे इनका प्रवेश कम नही था। ऐसा वैदुष्यसम्पन्न विद्वान् काशी की ही पाण्डित्य परम्परा को अग्रसर करने वाला एक महनीय मनीषी था इनके व्यक्तित्व एव कृतित्व का यह सक्षिप्त परिचय जिज्ञासुजनो को नितान्त उपादेय सिद्ध होगा इसी आशा से उनके विषय मे यह विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

पण्डित विधुशेखर भट्टाचार्य का जन्म बगाल के मालदह जिला के हरिश्चन्द्रपुर ग्राम मे १२८५ बगाब्द मे (तदनुसार १८७८ ई० के १० अक्टूबर को) हुआ था। इनके पिता का नाम त्रैलोक्यनाथ भट्टाचार्य था। ये राढी श्रेणी के ब्राह्मण थे। अपने जीवन के अन्तिम चरण मे ये कलकत्ता विश्वविद्यालय मे सस्कृत का अध्यापन कर रहे थे। तब गडिया हाटा रोड पर स्थित ब्रह्मविहार नामक भवन मे रहते थे।

अध्ययन

विधुशेखरजी ने आरम्भ मे अपने ग्राम मे ही स्थित अग्रेजी विद्यालय मे प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण की। फलत इन्होने अग्रेजी ही पहले प्रारम्भ किया। परन्तु पिताजी की इच्छा से इन्होने चतुष्पाठी मे जाकर गुरु के चरणो मे बैठकर सस्कृत पढना आरम्भ किया। १७ वर्ष के वय मे विधुशेखरजी ने उस चतुष्पाठी से काव्य की सर्वोच्च उपाधि परीक्षा उत्तीर्ण की। उपाधि प्राप्त करने के बाद इन्होने उसी वय मे दो छोटे छोटे काव्यग्रन्थो की भी रचना की। इससे स्पष्ट है कि काव्यरचना मे इनकी प्रतिभा पूर्णरूप से विकसित होती गई। उतने से ही इन्हे सतोष नही हुआ। अन्य शास्त्रो मे पाण्डित्य प्राप्त करने की दृष्टि से ये बगाल छोडकर काशी पधारे और यहाँ जम कर सुयोग्य गुरुओं से शास्त्रो का विधिवत् अध्ययन किया।

१८९५ ९६ ई० के लगभग की घटना है। उस समय काशी मे नानाशास्त्रो के मूर्धन्य विद्वानो का जमघट था। उस समय सात पण्डित महामहोपाध्याय की महनीय उपाधि से विभूषित थे। जब वे किसी सभा मे एक साथ बैठते थे, सभा चमक उठती थी। उस समय नाटको का अभिनय भी विशेष हुआ करता था। ये सातो महामहोपाध्याय दर्शक बनकर जब



पं० विधुशेखर शास्त्री

बैठते थे तब रगमच पर अभिनय करने वाले बड़े-बड़े विद्वानो के छक्के छूट जाते थे। पण्डित उमाचरण भट्टाचार्य के अनुज पण्डित ताराचरण भट्टाचार्य ने उस युग का अपना सस्मरण सुनाते हुए लेखक से कहा था कि अभिज्ञान-शाकुन्तल के मचन के समय दुष्यन्त की भूमिका में जब मै रगमच पर अवतीर्ण हुआ तब अपने सामने सात महामहोपाध्यायो को दर्शकमण्डली में बैठा हुआ देखकर भय से मेरी सस्कृत वाणी लडखडाने लगी। धीरे-धीरे मैने धीरतापूर्वक अपने को सँभाला और तब कही जाकर आश्वस्त हुआ और अभिनय कार्य सुव्यवस्थित रूप से चलने लगा। ऐसे ही वातावरण मे विधुशेखर भट्टाचार्य काशी मे विद्याध्ययन करने के लिए आये। उस वातावरण में ये इतने घुल-मिल गये कि इनके भीतर सोने वाली प्रतिभा जाग उठी और इन्होने भी अपने मित्रो के साथ विशेषकर रामावतार शर्माजी के साथ मिलकर **मित्रगोष्ठी** पत्रिका का सपादन तथा प्रकाशन आरम्भ किया जिससे इनकी कीर्ति काशी के पण्डितो मे बडी जल्दी फैल गई।

मित्रगोष्ठी पत्रिका का आरम्भ १८२६ शकसवत् (१६०४ ई०) के वैशाखमास से हुआ था। इस पत्रिका का उद्देश्य प्राचीन कवि तथा काव्यो के परिचय के साथ ही साथ नवीन विषयो के विवरण को भी प्रकाशित करना था। इस प्रकाशन के मन्त्री थे पण्डित नीलकमल भट्टाचार्य (लेक्चरर सेन्ट्रल हिन्दूस्कूल, काशी) और सम्पादक थे- पण्डित रामावतार शर्मा और विधुशेखर शास्त्री। इसके लेख बडी योग्यता एव अनुसन्धान से लिखे जाते थे। पण्डित रामावतारजी के नवीन-पाश्चात्य विज्ञान विषयक लेख नूतनता सवलित होते थे। विधुशेखर जी की कविताएँ भी इसमे प्रकाशित होती रही। सस्कृत की यह प्रख्यात मासिक पत्रिका काशी से ही प्रकाशित होती थी। यह तीन वर्षों तक (१६०४ ई०–१६०६ ई०) बडे नियम से प्रकाशित होती रही, परन्तु विधुशेखरजी के शान्तिनिकेतन और रामावतारजी के पटना चले जाने पर यह पत्रिका अस्तगत हो गई।

विधुशेखर भट्टाचार्य काशी आने से पूर्व ही कलकत्ते से काव्यतीर्थ परीक्षा पास कर चुके थे। अतएव साहित्य तथा अलकारशास्त्र का ज्ञान इन्हे पर्याप्त मात्रा मे था। काशी आने पर इन्होने दर्शनशास्त्र का अभ्यास करना अपना उद्देश्य रखा। सस्कृतकालेज के प्रख्यात विद्वान्, न्यायविभाग के अध्यक्ष महामहोपाध्याय कैलाशचन्द्र शिरोमणि से इन्होने न्यायशास्त्र का गभीर अध्ययन किया। उस युग के प्रख्यात वेदान्तशास्त्र के मनीषी विद्वान् महामहोपाध्याय सुब्रह्मण्य शास्त्री से इन्होने वेदान्त का अध्ययन कर उसमे तलस्पर्शी पाण्डित्य प्राप्त किया।

अध्यापन कार्य

इनके जीवन मे इस समय एक नवीन मोड आया जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने शान्तिनिकेतन की स्थापना कर नवीन ब्रह्मचारियो के अध्यापन के लिए पण्डित विधुशेखर शास्त्री को अध्यापक पद पर प्रतिष्ठित किया। बगाब्द १३०१ के माघ मास की यह विशिष्ट घटना है। विधुशेखर शास्त्री काशी की विद्याओं की परम्परा मे परिनिष्ठित होकर तेजस्वी पण्डित के रूप मे उभर रहे थे। इनका वय उस समय लगभग २६ वर्ष का था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने पुत्र रथीन्द्रनाथ को शान्तिनिकेतन का प्रथम ब्रह्मचारी बनाकर उन्हे प्राचीन पद्धति से सस्कृत-भाषा तथा धर्म की शिक्षा देने के लिए शास्त्रीजी को शान्तिनिकेतन मे आमन्त्रित किया। शास्त्रीजी पूरे सनातनी ब्राह्मण थे। उधर रवीन्द्रनाथ—ब्रह्मसमाज के प्रतिष्ठापक महर्षि देवेन्द्रनाथ के विख्यात पुत्र—ब्रह्मसमाज-सम्मत धर्म के प्रचारक थे। पहले तो शास्त्रीजी ने निमन्त्रण स्वीकार करने में बड़ी आनाकानी की परन्तु संस्कृत भाषा के प्रचार और प्रसार के

उद्देश्य से इन्होंने निमंत्रण स्वीकार किया और इनकी यह स्वीकृति शान्तिनिकेतन के लिए वरदान सिद्ध हो गई। रवीन्द्रनाथ के परामर्श से शास्त्रीजी ने ब्रह्मचारियो को प्राचीन शिक्षा-दीक्षा से मण्डित करना शुरू किया और स्वयं भी नये-नये शास्त्रों के अध्ययन में जुट गये। रवीन्द्रनाथ के परामर्श से विधुशेखरजी ने पालिभाषा तथा बौद्धधर्म का गभीर अध्ययन करना प्रारम्भ किया। ये विद्यालय में पाली भाषा पढ़ाने लगे। उस समय कोई ग्रन्थ पालि-व्याकरण पर नहीं था। शास्त्रीजी ने **पालिप्रकाश** नाम से पालिभाषा के एक सर्वांगपूर्ण उपादेय व्याकरणग्रन्थ का निर्माण किया। इसकी भूमिका में इन्होंने पालिभाषा की उत्पत्ति तथा विकास का बहुत ही अनुसंधानपूर्ण विवेचन किया है। धीरे-धीरे ये इस विषय में बड़े पारगामी पडित हो गये और इनकी कीर्ति चारों ओर फैलने लगी।

कविवर रवीन्द्रनाथ की एक बड़ी उपादेय योजना थी कि यूरोप के सस्कृत के प्रख्यात विद्वान् विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में शान्तिनिकेतन मे बुलाये जायँ। यहाँ कुछ दिन तक अध्यापन कार्य करें और उनसे लाभ उठाने के लिए भारतवर्ष के विभिन्न विश्वविद्यालयों के संस्कृताध्यापक शान्तिनिकेतन में आकर किसी विशिष्ट शास्त्र का अध्यापन करें तथा उस विषय में शोधकार्य करें। यह योजना खूब सफल रही। इसी योजना के अन्तर्गत फ्रास के वरिष्ठ संस्कृत-अध्यापक डॉ० सिलवा लेवी तथा जर्मनी के प्रख्यात सस्कृतज्ञ डॉ० विटरनिट्स शान्तिनिकेतन मे भिन्न-भिन्न वर्षों मे अध्यापन कार्य के लिए आये। इन विदेशी संस्कृत-पण्डितों के संपर्क में आने से विधुशेखरजी का ध्यान मूल बौद्धधर्म के स्वरूप को जानने के लिए आतुर हो गया। इन्होने तिब्बती भाषा का इसी कार्य के लिए विशेष अध्ययन किया। इन्होंने तिब्बती भाषा का व्याकरण तथा प्रवेशिका की रचना कर तिब्बती भाषा को सरल सुबोध बनाया। यह तो प्रसिद्ध ही है कि बहुत से बौद्धग्रन्थ जो मूल संस्कृत रूप मे उपलब्ध नही होते, अपने तिब्बती अनुवाद में आज भी विद्यमान है। विधुशेखरजी ने स्वय तथा अपने शिष्यो को मूल संस्कृत बौद्धग्रन्थों के पुनरुद्धार के लिए प्रेरित किया और उन्ही के प्रयास से शान्तिनिकेतन में अनेक लुप्तप्राय बौद्धग्रन्थों का तिब्बती भाषा से मूल संस्कृत रूप प्रकाशित हुआ है। इस प्रकार पं० विधुशेखर शास्त्री के अश्रान्त परिश्रम, गंभीर अनुशीलन तथा दृढ़ प्रेरणा से अनेक महायानी बौद्धग्रन्थो का उद्धार हो सका है, जिनके अध्ययन से बौद्धधर्म के अनेक अज्ञात अथवा अल्पज्ञात तथ्य विशद रूप से प्रकाश में आये।

ग्रन्थ

शास्त्रीजी ने बॅगला, सस्कृत तथा अग्रेजी में जिन ग्रन्थों का प्रणयन किया है उनमें से उनकी रचित तथा सपादित ग्रन्थावली का निर्देश इस प्रकार है—

१. **चन्द्रप्रभा**। २. **हरिश्चन्द्रचरित्र**। ३. **न्यायप्रवेश**।

४. **भोटप्रकाश**—यह तिब्वती भाषा का व्याकरण है जिसमें अग्रेजी के द्वारा तिब्वती भाषा के नियमों का विश्लेषण तथा शिक्षण दिया गया है। साथ ही साथ मूल तिब्वती के कुछ उद्धरण तथा कथानक भी दिये गए है जिनके अनुशीलन से छात्रों का तिब्बती भाषा का ज्ञान परिनिष्ठित हो जाता है।

५. **शतपथ-ब्राह्मण**—माध्यन्दिन शाखा के अनुसार प्रथम दो खण्डों का यह बँगला अनुवाद है। उस युग में पण्डित कामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी के प्रोत्साहन से शास्त्रीजी ने शतपथब्राह्मण का बँगला अनुवाद करना स्वीकार किया था। इस अनुवाद का केवल प्रथम खण्ड ही प्रकाशित

हो सका है। यह ग्रन्थ बहुत ही उपादेय है और विधुशेखरजी के वैदिक ज्ञान का प्रकृष्ट परिचायक है।

६. आगम-शास्त्र—गौडपादाचार्य का यह वेदान्त का बडा ही दुरूह, उच्च ग्रन्थ है। इसका लोकप्रिय नाम माण्डूक्यकारिका है। इसका अग्रेजी मे अनुवाद करके शास्त्रीजी ने अपने गभीर अध्ययन का परिचय दिया है।

७. पालिप्रकाश—पालि भाषा का बॅगला मे व्याकरण है। यह पालि सीखने के लिए बहुत उपयोगी तथा उपादेय सिद्ध हुआ है।

८ मिलिन्दप्रश्न, ९ प्रातिमोक्ष, १० महायान विवेक, ११ चतु शतक, १२ मध्यान्त विभाग सूत्रभाष्यटीका (प्रथम खण्ड), १३ योगाचारभूमि--ये ग्रन्थ हीनयान एव महायान बौद्धधर्म के बडे ही प्रामाणिक तथा दुरूह ग्रन्थ है। इन ग्रन्थो का सुन्दर सस्करण प्रकाशित कर शास्त्रीजी ने भारतवर्ष मे बौद्ध धर्म और दर्शन के जिज्ञासुओं के लिए बड़ी ही उपादेय सामग्री प्रस्तुत की है।

अग्रेजी भाषा के द्वारा शास्त्रीजी ने बौद्धधर्म तथा उनके सिद्धान्तो का बडा ही प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया है। इन ग्रन्थो के नाम इस प्रकार है--

(a) The Historical Introduction to the Indian Schools of Buddhism (b) History of Philosophy (c) The Basic Conception of Buddhism

इन ग्रन्थो के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि विधुशेखर भट्टाचार्य ने अपना समग्र जीवन ही बौद्ध धर्म और दर्शन के अध्ययन, विश्लेषण तथा मीमासा के लिए समर्पित कर दिया था।

शान्तिनिकेतन की इन्होने तीस बरस के ऊपर एकनिष्ठ सेवा की। तदनन्तर वही से अवकाश ग्रहण किया। तब इन्होने कलकत्ता विश्वविद्यालय के उच्च अध्यापक के रूप मे अनेक वर्षों तक कार्य किया। कलकत्ता मे ही इनका निधन हुआ।

विधुशेखर शास्त्री को अनेक विश्वविद्यालयो से मानद उपाधियॉ प्राप्त थी। १९३६ ई० मे इन्हे भारतसरकार द्वारा महामहोपाध्याय की उपाधि प्राप्त हुई थी। १९५७ ई० मे विश्वभारती विश्वविद्यालय ने इनको डी० लिट्० की मानद उपाधि से विभूषित किया था।

इस प्रकार काशी मे अर्जित सस्कृत भाषा के अपने प्रौढ अध्ययन को शास्त्रीजी ने विश्वभारती तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय मे विशद अध्यापन के द्वारा चरितार्थ किया।

श्री क्षितिमोहन सेन

शान्तिनिकेतन के शैक्षणिक विस्तार, शास्त्रीय अनुसधान एव विपुल साहित्यिक समृद्धि मे महनीय योगदान देने के लिए काशी के ही एक वरिष्ठ सरस्वती-पुत्र का साहाय्य नितान्त उल्लेखनीय है। इनका नाम था —**क्षितिमोहन सेन**। क्षिति बाबू के पिता काशी मे लब्धकीर्ति डॉक्टर (अग्रेजी चिकित्सक) थे। इसलिए इनकी शिक्षा-दीक्षा काशी मे ही हुई थी। इन्होने काशी के तत्कालीन प्रख्यात पण्डितो के चरणतले बैठकर सस्कृत-शास्त्रो का गम्भीर अध्ययन किया था। इनके चिकित्सक पिता से अनेक पण्डितो का सम्पर्क था। फलत क्षिति बाबू ने काशी के इन पण्डितो के आचार-विचार, रहन-सहन को बड़ी निकटता से देखा था। उनके बड़े विलक्षण, रोचक एव सरस सस्मरण वे अपने परिचितो को सुनाया करते थे। पण्डित



श्री क्षितिमोहन सेन

हजारीप्रसाद द्विवेदी उन्ही परिचितो एव सहाध्यापको मे अन्यतम थे। द्विवेदीजी का कहना था कि क्षिति बाबू के पास काशी के पण्डितो के पावन सस्मरणो का एक विशाल खजाना ही था। काशी मे ही क्षिति बाबू हिन्दी मे निबद्ध सन्तसाहित्य से भली-भाँति परिचित हो गये। आध्यात्मिक प्रवृत्ति के धनी होने के कारण इनकी दृष्टि मे सन्तसाहित्य के गुह्य रहस्यो का समधिक महत्त्व था। कबीरविषयक बँगला मे रचित उनके अनेक ग्रन्थ उनकी अनुसन्धानात्मक प्रवृत्ति के सद्य निदर्शन है। विधुशेखर शास्त्रीजी तथा क्षितिमोहनसेनजी का शान्तिनिकेतन मे आगमन लगभग एक ही काल मे हुआ था। कबीर की आध्यात्मिक आलोचना एव उनकी हिन्दी बानियो के अपने बँगला अनुवाद से क्षिति बाबू ने गुरुदेव रवि बाबू को अत्यन्त मुग्ध कर लिया। फलस्वरूप रवि बाबू ने क्षिति बाबू के बँगला अनुवाद के आधार पर कबीर विषयक अपना अनुपम ग्रन्थ अग्रेजी मे लिखा और मध्ययुग के एक गम्भीर मर्मी सन्त की बानी का आस्वादन वे पाश्चात्त्य साहित्यिको को पूरे वैभव के साथ इस प्रकार कराने मे समर्थ हुए। फलत कबीर तथा अन्य मध्ययुगीन सन्तो को हिन्दी की सकीर्ण चहारदीवारी से निकाल कर विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय विशाल क्षितिज पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय काशी के इस सरस्वतीपुत्र को निश्चयेन प्राप्त है—इस विषय मे आलोचको के दो मत नही हो सकते। इन दोनो विद्वानो के माध्यम से शान्तिनिकेतन की साहित्यिक सवर्धना मे काशी का यह योगदान कभी भुलाया नही जा सकता। नम् हु।

आचार्य क्षितिमोहन सेन का जन्म १८८० ई० मे तथा निधन १९६० ई० मे हुआ। आपकी शिक्षा काशी के क्वीन्स कालेज मे हुई। वही से आपने 'शास्त्री' एव एम० ए० उपाधियाँ प्राप्त की। ये विश्वभारती के अन्तर्गत 'विद्याभवन' के अध्यक्ष थे। मध्यकालीन सन्तसाहित्य के महान् समीक्षक, मर्मज्ञ, विवेचक और प्रौढ व्याख्याता थे। हिन्दी, बँगला तथा अग्रेजी इन तीनो भाषाओं के ज्ञाता तथा विद्वान् होने के नाते इनकी रचनाए इन तीनो भाषाओं मे उपलब्ध होती है। बँगला मे भारतीय मध्ययुगेर साधनार धारा (१९३०), दादू (१९३८), बागलार बाउल (१९५४), साहित्यालोचना ग्रन्थ (१९५२)। हिन्दी मे भारत मे जातिभेद (समाजशास्त्र)। अग्रेजी मे-- मिडीवल मिस्टिसिज्म (१९३५)। इन समग्र ग्रन्थो का आधारपीठ है– मध्ययुगीन सन्तसाहित्य, जिसके अध्ययन की योग्यता इन्हे काशी मे प्राप्त हुई।





पं० बालकृष्ण मिश्र

पण्डित बालकृष्ण मिश्र

(आस्पद—मिश्र, उपाधि—महामहोपाध्याय)

प० बालकृष्ण मिश्र सस्कृतसाहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् थे। यो तो इन्होने सकल शास्त्रो का विधिवत् अध्ययन किया था परन्तु इनकी प्रतिभा का प्रकर्ष साहित्य तथा दर्शन के क्षेत्र मे ही उपलब्ध होता है। जिस प्रकार साहित्य जैसे कोमल शास्त्र मे इनका पाण्डित्यपूर्ण प्रवेश था उसी प्रकार न्याय जैसे कर्कश शास्त्र मे भी इनकी प्रतिभा प्रखर रूप मे दिखाई पडती थी। साहित्य और दर्शन का मणिकाचन सयोग मिश्रजी के व्यक्तित्व की प्रधान विशेषता है।

ये कारयित्री तथा भावयित्री दोनो प्रकार की प्रतिभा के धनी थे। कारयित्री प्रतिभा इनके काव्य **लक्ष्मीश्वरीचरित** मे दृष्टिगोचर होती है। इस ग्रन्थ मे अलकारो तथा रसो का सरस उपन्यास ".. . ज़्ता है। ये शब्दकवि ही नही थे, बल्कि नवीन कल्पना से सवलित नूतन अर्थ के अभिव्यञ्जक रसिक कवि थे। न्यायशास्त्र के विचक्षण विद्वान् थे। परन्तु यह तो इनका निजी विषय था। इनके अतिरिक्त वेदान्तशास्त्र का भी इन्होने गहन अध्ययन किया था। इनकी शिष्यमण्डली अत्यन्त विस्तृत थी। बिहार तथा उत्तरप्रदेश के अनेक विद्वानो ने इनके चरणो मे बैठकर न्याय तथा वेदान्तशास्त्रो का पाठ पढ़ा था। परन्तु दु ख का विषय यह है कि अल्पायु होने के कारण इनके वैदुष्य तथा प्रतिभा का प्रसाद सस्कृत-ससार को अधिक वर्षों तक नही मिल सका।

प० बालकृष्ण का जन्म मिथिला के प्राचीन प्रतिष्ठित विद्वानो के कुल मे हुआ था। आपके पूर्वजो मे सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा मनीषी **शकर मिश्र** तथा उनके पिता **भवदेव मिश्र** थे जिन्होने मिथिला मे अपनी लोकातीन विद्वत्ता का सिक्का जमा रखा था। इन्ही विद्वान् पण्डितो की कुल-परम्परा मे प० बालकृष्ण का जन्म सन् १८८८ ई० मे हुआ था। आपकी जन्मभूमि दरभगा जिले का 'सरिस्व' गॉव है। आपके पिता अत्यन्त धार्मिक और उदात्त भावना वाले श्रोत्रिय ब्राह्मण थे।

मिश्रजी के मामा प० नीलाम्बर झा उच्चकोटि के नैयायिक थे। उन्ही के यहॉ रहते हुए इन्होने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की। परन्तु मामा की छत्रच्छाया आपके ऊपर अधिक दिनो तक नही रह सकी। आपके पिताजी का देहान्त असमय मे ही हो गया। अत आप गृहस्थी का भीषण भार सँभालने के लिए घर लौट आये। स्वाध्यायी मिश्रजी ने घर पर आकर अपना स्वाध्याय पुन प्रारम्भ किया और अपने गॉव के समीप मे ही रहने वाले **पं० लोकनाथ झा** से नव्य-व्याकरण का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन किया।

अध्यापन

सकल शास्त्रो का अध्ययन करने के पश्चात् आप अध्यापन कार्य मे प्रवृत्त हुए। आपकी प्रतिभा के पारखी मिथिला के महाराजाधिराज रमेश्वर सिह ने अपने विद्यालय मे

आपको अध्यापक का पद प्रदान किया। आप दरभंगा-सस्कृत-विद्यालय मे केवल २० वर्ष की अवस्था मे अध्यापक नियुक्त हुए थे। उस समय आपसे अधिक वय के विद्यार्थी आपके चरणों मे बैठ कर विद्या ग्रहण करते थे। परन्तु आपकी अध्यापनशैली इतनी वैज्ञानिक थी कि सभी छात्र उस पर मुग्ध हो जाते थे। आपको अपने विषय पर पूर्ण अधिकार था। समस्त ग्रन्थ ही कण्ठस्थ था। अत दूसरे विद्वानों की भाँति आपने ग्रन्थ को देखकर नही पढ़ाया। दरभगा में रहते हुए आपने महामहोपाध्याय प० चित्रधर मिश्र से न्याय तथा मीमासाशास्त्र का विधिवत् अध्ययन किया तथा इनमे प्रौढ़ता प्राप्त की।

लगभग आठ वर्षों तक दरभगा मे अध्यापन करने के पश्चात् जब मुजफ्फरपुर मे धर्मसमाज-सस्कृत-महाविद्यालय की स्थापना हुई, तब आपने अधिकारियो के निमत्रण को स्वीकार कर लिया। यहाँ पर अध्यापन का कार्य करते हुए आपको अनेक विद्वानो का सान्निध्य प्राप्त हुआ। यही पर आपने सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० **शशिनाथ झा** से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया और दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित **पं० बबा झा** से वेदान्त का पाठ पढ़ा। यहाँ अध्यापन करते हुए आपकी कीर्ति चारो ओर फैलने लगी और दूर दूर के प्रदेशो के छात्र आपके चरणो मे बैठकर अनेक शास्त्रो का अध्ययन करने लगे।

मुजफ्फरपुर मे अध्यापन कार्य करने के काल मे ही मुँगेर जिले के 'खगड़िया' नामक स्थान मे एक 'बृहत् विष्णुयाग' का आयोजन हुआ था जिसमे भारत के सुदूर स्थानो के वैदिक भी निमन्त्रित किये गये थे। इस यज्ञ मे पण्डित बालकृष्ण मिश्र ने भी भाग लिया। यज्ञ के अन्त मे विद्वानो मे शास्त्रार्थ हुआ और इस शास्त्रार्थ मे मिश्रजी ने अपनी अलौकिक विद्वत्ता तथा भाषण-शक्ति एव तार्किक युक्तियो से समस्त विद्वन्मण्डली को मुग्ध कर दिया। इसी यज्ञ में पण्डित विद्याधरजी गौड से आपका परिचय हुआ जो वहाँ यज्ञ मे 'आचार्य' के पद को सुशोभित करने के लिए गये थे। उन दिनो गौडजी हिन्दू-विश्वविद्यालय मे वेद-विभाग के अध्यक्ष पद को सुशोभित कर रहे थे और मालवीयजी महाराज के कृपापात्रो मे से अन्यतम थे। पण्डित बालकृष्ण मिश्र की गम्भीर विद्वत्ता और मधुर शास्त्रार्थपद्धति का प्रभाव गौडजी के हृदय पर बहुत अधिक पडा। उन्होने काशी लौटकर गुणग्राही मालवीयजी से मिश्रजी के अप्रतिम पाण्डित्य की मुक्तकण्ठ से प्रशसा की। मालवीयजी सदा उत्कृष्ट विद्वानो की खोज मे रहा करते थे और चुनचुन कर वैदुष्यसम्पन्न मनीषियो को अपने विश्वविद्यालय मे अध्यापन के लिए आदरपूर्वक बुलाया करते थे। अत मालवीयजी ने मिश्रजी को अपने विश्वविद्यालय मे अध्यापन के लिए सादर तथा साग्रह निमन्त्रण दिया और ये मालवीयजी का सन्देश पाकर शीघ्र ही काशी चले आये।

मालवीयजी ने इन्हें सस्कृत-महाविद्यालय मे वेदान्तशास्त्र का प्राध्यापक नियुक्त किया। आपकी विद्वत्ता तथा वाग्मिता से प्रभावित होकर मालवीयजी ने कुछ ही वर्षों के पश्चात् आपको सस्कृत-महाविद्यालय के प्राचार्य का सम्मानित पद प्रदान किया। मिश्रजी बड़ी लगन तथा परिश्रम के साथ इस महान् पद के भार को सँभालते रहे और जीवन के अन्तिम दिनों तक प्रिन्सिपल के पद को सुशोभित करते रहे।

वास्तव मे पण्डित बालकृष्ण मिश्रजी के जीवन का सुवर्णकाल इनका हिन्दू-विश्वविद्यालय में प्रिन्सिपल के पद पर कार्य करने का काल ही कहा जा सकता है। इस पद को अलकृत करते हुए आपने सहस्रो छात्रो को विद्यादान दिया। इन छात्रों ने अपने जीवन में अनेक महत्त्वपूर्ण पदो को सुशोभित किया। इसी काल मे ब्रिटिश सरकार ने इनकी अलौकिक

विद्वत्ता के फलस्वरूप इन्हे 'महामहोपाध्याय' की महनीय उपाधि से अलकृत किया था। इसी समय एक 'अखिलभारतीय महामहोपाध्याय-सम्मेलन' हुआ था जिसमे सम्पूर्ण देश के महामहोपाध्यायों ने एकत्र होकर मिश्रजी के वैदुष्य और शास्त्रार्थ-प्रणाली की भूरि-भूरि प्रशसा की थी। राँची (बिहार) में सम्पन्न विद्वत्सम्मेलन में बिहार के राज्यपाल ने आपकी मुक्तकण्ठ से प्रशसा की थी और आपको विशिष्ट पुरस्कार से सम्मानित किया था।

भाषण-शैली

पण्डित बालकृष्ण मिश्र की भाषण शैली बहुत ही सुन्दर तथा मधुर थी। उसकी जितनी प्रशसा की जाय थोडी है। न्याय जैसे कर्कश शास्त्र के विषय मे शास्त्रार्थ करते समय जब आप दुरूह से दुरूह विषयो का साहित्यिक माधुरी के साथ विवेचन करते थे, तब सामान्य व्यक्ति भी आपकी भाषा के माधुर्य से आकृष्ट होकर आपके शास्त्रार्थ को सुनने मे आनन्द का अनुभव करता था। न्याय के शास्त्रार्थ की शैली तर्क कर्कश होती है परन्तु आप इसे इतना सरम बना देते थे कि विद्वान् श्रोतागण आश्वर्य से चकित हो जाते थे। आपके भाषणों में सुन्दर शब्द विन्यास और भावभगिमा का मधुर सामञ्जस्य रहता था। आप चाहे सस्कृत मे भाषण करे अथवा हिन्दी या मैथिली मे, भाषा का माधुर्य आपकी वक्तृता मे सर्वदा विराजमान रहता था। वाणी आपकी वश्या जो थी।

आपका स्वभाव बडा ही सीधा था। आप सबसे समान रूप से मिलते थे। आपका व्यवहार मृदु और आदर्शस्वरूप था। आप धर्म की साक्षात् मूर्ति थे। आपका व्यक्तित्व बड़ा ही सुन्दर तथा भव्य था। आपके मुखमण्डल पर अद्भुत दैवी तेज परिलक्षित होता था।

मिश्रजी के जीवन का अन्तिम समय बडे ही कष्ट मे बीता। आपके होनहार सुयोग्य पुत्र पण्डित लेखदत्त मिश्र राजयक्ष्मा से ग्रस्त हो गये और इसी रोग से युवावस्था में ही उनका देहान्त हो गया। पिता की वृद्धावस्था मे युवक पुत्र की मृत्यु बडी ही कष्टकारक होती है। अत पुत्रशोक के इस दु ख को मिश्रजी सहन नही कर सके और सन् १९४६ ई० मे काशी मे ही इनकी ऐहिक लीला समाप्त हो गयी।

शिष्यमण्डली—प० बालकृष्ण मिश्र ने अनेक योग्य शिष्य तैयार किये थे जिन्होंने अपने जीवन मे अत्यधिक कीर्ति प्राप्त की। आपके प्रधान शिष्यो के नाम नीचे दिये जाते है—

(१) पं० बदरीनाथ शुक्ल—श्री शुक्लजी भारतीय दर्शनो के, विशेषकर न्याय तथा वेदान्त के बडे ही मर्मज्ञ विद्वान् थे। इनकी भाषणशक्ति बहुत ही आकर्षक तथा प्रभावशाली थी। ये सस्कृतविश्वविद्यालय मे न्याय-शास्त्र के अध्यक्ष थे। आगे चलकर ये सस्कृतविश्वविद्यालय के कुलपति पद पर प्रतिष्ठित हुए। ये जितने सफल अध्यापक थे उतने ही बड़े प्रशासक भी थे। इन दोनो ही योग्यताओं का सपादनकर्त्ता बिरला ही दिखाई पडता है। श्री शुक्लजी ने **तत्त्वचिन्तामणि** के 'मगलवाद' अश का मथुरानाथकृत व्याख्या के साथ सुन्दर सस्करण संस्कृतविश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित किया है। इन्होने तर्कभाषा का हिन्दी अनुवाद बड़े विस्तार के साथ किया है। यह केवल अनुवाद नही है, अपितु पाण्डित्यपूर्ण भाष्य है जिसमें न्याय के सिद्धान्तों की तुलना अन्य दर्शनो के तत्तत् सिद्धान्तों के साथ की गई है। लोकातीत वैदुष्य तथा पाण्डित्य से मण्डित श्री बदरीनाथ शुक्ल से पण्डित-समाज को अभी विशेष अपेक्षा थी।

(२) श्री केदारनाथ ओझा—श्री ओझाजी न्याय तथा वेदान्त आदि दर्शन शास्त्रों के प्रौढ विद्वान् होने के साथ ही माथ शास्त्रार्थमहारथी थे। ये शास्त्रार्थ करने में बड़े ही पटु,

प्रवीण तथा प्रभावक थे। जयपुर, लखनऊ, पटना के विविध महनीय विद्यालयो मे सफल अध्यापक होने की कीर्ति से ये सर्वथा मण्डित थे। न्याय मे गम्भीर चिन्तन तथा मनन करने में इनकी अलौकिक प्रतिभा का विलास पदे पदे दृष्टिगोचर होता है। इनकी प्रकाशित दोनो पुस्तके विषय विवेचन की दृष्टि से नितान्त प्रौढ, प्रामाणिक तथा विचारोत्तेजक है। पहला ग्रन्थ है—**रसगंगाधर की नवीन व्याख्या** (प्रकाशक संस्कृतविश्वविद्यालय, काशी १९७८)। **रस-चन्द्रिका** मे पण्डितराज जगन्नाथ के मतो का विवेचन बडी ही गम्भीरता के साथ किया गया है। दूसरा है **विद्यावैजयन्ती निबन्धमाला** (प्रथम भाग[1])। इस विशालकाय ग्रन्थ मे श्री ओझाजी ने दर्शन के महनीय तत्त्वो का बडे ही विस्तार के साथ विवेचन तथा प्रतिपादन किया है। संस्कृत लेखो का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत कर आपने पाठको का बडा उपकार किया है। विवेचन गम्भीर तथा तुलनात्मक है। भाषा प्रौढ तथा प्राञ्जल है। आपके विचार बडे ही उत्तेजक तथा प्रभावकारी है। इसमे श्री केदारनाथजी की वैदुषी, चिन्तन शक्ति तथा प्रतिपादनशैली बडी ही अपूर्व तथा आकर्षक है।

(३) डॉ० वीरमणिप्रसाद उपाध्याय—एम० ए०, साहित्याचार्य। इन्होने गोरखपुर विश्वविद्यालय के संस्कृतविभाग के अध्यक्षपद से अवकाश प्राप्त किया।

(४) पं० ईश्वरनाथ झा—प्रधानाचार्य (भू० पू०) संस्कृतविद्यालय, नरगौना, दरभंगा।

(५) गोमृनाथ मिश्र—मुजफ्फरपुर के धर्मसमाज संस्कृतविद्यालय मे न्याय और दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक रहे।

(६) पं० उमानन्द झा—आप न्याय और वेदान्त के प्रकाण्ड विद्वान् थे तथा 'रानी चन्द्रावती श्यामा विद्यालय काशी' के प्रधानाध्यापक थे।

(७) महामहोपाध्याय पं० रघुवराचार्य वेदान्तकेशरी—मठाधीश, झींगडा मठ (सौराष्ट्र)।

(८) पं० राधाकृष्ण झा—न्याय व्याकरणाचार्य, भू० पू० प्रधानाध्यापक, संस्कृत विद्यालय नागरही, मुजफ्फरपुर (बिहार)।

(९) पं० सदानन्द झा—भू० पू० प्रधानाध्यापक संस्कृतविद्यालय वैद्यनाथ धाम, देवघर।

(१०) पं० वासुदेवाचार्य महाराज— अयोध्या।

मिश्रजी के शिष्यो की इस तालिका से पता चलता है कि इनके शिष्यो ने कितनी विद्वत्ता प्राप्त की थी। इन लोगो ने मिश्रजी से अनेक शास्त्रो का अध्ययन किया था। इससे मिश्रजी की बहुमुखी प्रतिभा तथा तलस्पर्शी विद्वत्ता का सहज मे ही अनुमान लगाया जा सकता है।

ग्रन्थरचना—पहले लिखा जा चुका है कि मिश्रजी साहित्य तथा दर्शन दोनो शास्त्रो के प्रकाण्ड विद्वान् थे। अत इन्होने जहाँ सरस काव्य की रचना की है वही तर्कशास्त्र के अनेक ग्रन्थो की विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी है।

(१) लक्ष्मीश्वरीचरित—यह काव्य महाराजाधिराज दरभङ्गानरेश लक्ष्मीश्वर सिंह

---

१ प्रकाशक - केदारनाथ ओझा, मुमुक्षुभवन, काशी, १९७८ ई०।

जी की धर्मपत्नी लक्ष्मीश्वरी का जीवनचरित है। इस ग्रन्थ से आपकी काव्यात्मक प्रतिभा का पूर्ण पता चलता है।

(२) गौतमसूत्रवृत्ति के ऊपर तात्पर्यविवृति नामक टिप्पणी।

(३) उभयाभावादिवारक परिष्कार की 'प्रकाश' नामक टीका।

(४) विद्यापति पदावली के ऊपर टिप्पणी।

(५) राधानयर्नाद्रिशती की सस्कृत टीका।

संस्मरण

पण्डित बालकृष्ण मिश्र तर्कनिष्णात खूसट नैयायिक नही थे, अपितु स्निग्धहृदय रसिक साहित्यिक भी थे। इनकी रसिकता रसपेशल पद्यो की रचना मे ही नही झलकती, अपितु उनके प्रत्येक साहित्यिक कार्य मे उसकी छटा दिखलाई पडती है।

भारतेन्दुबाबू हरिश्चन्द के सम्बन्ध मे सुना जाता है कि सप्ताह के प्रत्येक दिन भिन्न-भिन्न प्रकार के कागजो पर पत्र लिखा करते थे। उनकी दृष्टि मे उन उन देवताओं के रगो के साथ उस दिन के प्रयुक्त पत्र । न कागजो का सबन्ध था। अत वे गुरुवार को पीला और शनिवार को नीला, सोम को श्वेत तो मगल को लाल कागज का प्रयोग करते थे। उसी प्रकार प० बालकृष्ण मिश्रजी अपने भिन्न भिन्न शास्त्रो की पुस्तको का वेष्टन विभिन्न रगो का रखते थे। इसका कारण पूछने पर उत्तर मे उन्होने यह बतलाया कि व्याकरणशास्त्र के लिए श्वेत, काव्यशास्त्र के लिए गुलाबी, मीमासा कर्मकाण्ड के लिए पीला, वेदान्त के लिए गेरुआ और न्यायशास्त्र के लिए लाल रग के वेष्टनो का मै उपयोग किया करता हूँ। इसका अभिप्राय पूछने पर वे यह कहा करते थे कि व्याकरण-अध्येता बालको का हृदय बाल्यावस्था मे स्वच्छ होता है। अत उसका वेष्टन सफेद होना चाहिए। शृङ्गार रस का रग गुलाबी होता है अत इसके लिए इसी रग का प्रयोग समुचित है। तर्कशास्त्र लडाकू (खूनी) शास्त्र है अत इसका रग लाल होना ही चाहिए मीमासा मे यज्ञ की प्रधानता होती है, अग्नि का रग पीला है। वेदान्त सन्यास का उपदेशक है। अत वेदान्त की पुस्तको का गेरुआ और मीमासा का पीला रग समीचीन है। इस व्यवस्था से इनकी साहित्य रसिकता का पता चलता है। पुस्तकालय मे पुस्तको के खोजने मे इससे सरल उपाय और क्या हो सकता है?

विनोदी स्वभाव

प० बालकृष्ण मिश्र प्राचीन विद्वान् पण्डितो के सबन्ध मे प्रचलित अनेक किवदन्तियो से परिचित थे जिसे वे अपने छात्रो को सुनाया करते थे। प० मथुरानाथ तर्कवागीश बगाल के प्रकाण्ड नैयायिक थे। उनको स्वाध्याय का कितना व्यसन था इसके विषय मे वे अनेक कथाएँ कहते थे। एक घटना का उल्लेख उन्होने इस प्रकार किया था—

एक दिन मथुरानाथजी के यहाँ कोई मित्र अतिथि के रूप मे दिन के मध्याह्न समय मे आये। उन्होने उनकी धर्मपत्नी से पूछा कि शास्त्रीजी कहाँ है। उनकी पत्नी ने कहा—क्या बतलाऊँ? अपराह्न हो गया। अभी तक उन्होने भोजन भी नही किया है। जाइए न, उस कमरे मे बैठे हुए न मालूम क्या कर रहे है। मित्र जब शास्त्रीजी के कक्ष में गये तब शास्त्री जी स्वाध्याय मे निमग्न थे। मित्र ने मनोविनोद करते हुए पूछा—

तर्ककर्कश - विचार - चातुरी,
का तुरीयवयसा विभाव्यते ।
आतुरीभवति यत्र मानसं—

इस पर शास्त्रीजी ने झट उत्तर दिया—

धातुरीप्सितमपाकरोति कः ॥

मित्र के प्रश्न का भाव यह था कि इस वृद्धावस्था मे तर्क से कर्कश तुम कौन-सी विचारधारा मे उद्विग्न हो ? वृद्धावस्था ऐसी बुरी अवस्था है जिसमे चित्त व्याकुल रहता है। न खाना, न पीना। तुम किस चिन्ता मे पड़े हो ? इस पर शास्त्रीजी ने उत्तर दिया कि क्या करूँ! विधाता ने मेरे भाग्य मे यही लिखा है।

दाक्षिणात्य तथा मैथिल पण्डितो के आपस मे चारित्रिक दोषो पर तीव्र कटाक्ष करने की परम्परा बड़ी प्राचीन है। इसी प्रसग मे मिश्रजी ने एक दन्तकथा अपने शिष्यो को इस प्रकार सुनायी थी। किसी दाक्षिणात्य पण्डित ने किसी मैथिल विद्वान् पर आक्षेप करते हुए यह श्लोक कहा—

असुव्ययो वाऽस्तु वसुव्ययो वा, अमी न मीनव्यसनं त्यजन्ति ।
अस्वामिनीभिर्वरकामिनीभिर्मिश्रास्तमिस्रा अतिवाहयन्ति ॥

तात्पर्य यह है कि प्राण भले ही जायँ, घर मे दरिद्रता का अकाण्ड ताण्डव भले ही हो परन्तु मैथिल पण्डित मिश्रजी मछली खाने का व्यसन नही छोड सकते और वे पतिविहीन विधवा सुन्दरियो के साथ कामकेलि मे राते बिताया करते है।

इसको सुनकर मिश्रजी ने भट्टजी के ऊपर यह फवती कसी

मन्देषु कन्देषु रतिं दधानो,
धत्ते पिधत्ते पथि चर्वणानि ।
भट्टोऽयमट्टोपरि वारवध्वा,
निपीय मध्वारभते विहारम् ॥

श्लोक का आशय है कि भट्टजी के चरित के बारे मे क्या कहा जाय। ये सडे गले प्याज (कन्द) को बडी रुचि से खाते है। ये रास्ते मे चलते समय भी चबेना चबाते चलते है। धन्य है ये भट्टजी जो शराब पीकर और ऊँची अटारी पर चढ़कर वाराङ्गना से विहार किया करते है।

मैथिल पण्डित का यह आक्षेप बडा ही कड़ुवा था। शब्दो की चोट से भट्टजी तिलमिला उठे और वे फिर मुँहतोड़ जवाब देते हुए बोले -

शतशः कवयन्तु तैरभुक्ता रसरीतिः पुनरेव तैरभुक्ता ।

तीरभुक्ति अर्थात् मिथिला के निवासी मैथिल पण्डित लोग सैकडो कविताओं को भले ही लिख डाले परन्तु साहित्यिक रस की प्रौढि को भला क्या जान सकते है ? उनके पास तो यह फटक भी नही सकती। इस पद्य मे 'तैरभुक्ता' शब्द मे भगश्लेष है। इसका पहला अर्थ है तैरभुक्ता अर्थात् तीरभुक्ति (तिरहुत मिथिला) के निवासी और तैरभुक्ता का दूसरा अर्थ है तै· अभुक्ता अर्थात् उनके द्वारा नही खाया गया या रसपान नही किया गया।

मैथिल पण्डितो की काव्यसम्बन्धी अरसिकता के सम्बन्ध मे जो आक्षेप किया गया इसपर मैथिल विद्वान् ने बडा कटु तथा कर्कश उत्तर दिया जिसमे दाक्षिणात्यो की एक प्रथा के ऊपर आक्रमण किया गया है—

सहजा रसरीतिरतिशयं, मिथिलाभूमिभुवां मनीषिणाम् ।
सहजामुपभुञ्जते न तेऽतो, दक्षिणदिक्प्रभवा बुधा इव ॥

श्लोक का तात्पर्य यह है कि मैथिलो के काव्यो मे रस-रीति की स्थिति स्वाभाविक है। परन्तु वे लोग अपनी सहजा अर्थात् मामा की बेटी का उपभोग नही करते जैसा कि दाक्षिणात्य पण्डित किया करते है। दाक्षिणात्य लोगो मे यह परम्परा है कि वे अपने मामा की पुत्री से (जो बहन लगती है) विवाह कर लेते है। इस 'मातुलकन्योद्वाह' का उल्लेख आपस्तम्ब धर्मसूत्र मे भी पाया जाता है। दाक्षिणात्यो की इसी कुप्रथा की ओर सकेत किया गया है। यहाँ 'सहजा' शब्द मे श्लेष है, जिसका पहला अर्थ 'स्वाभाविक' है और दूसरा अर्थ मामा की पुत्री है।

इन दोनो उल्लेखो से प० बालकृष्ण मिश्रजी की रसिकता तथा उनके विनोदी स्वभाव का पता लगता है। इससे उनकी मेधा तथा स्मरण शक्ति का भी स्पष्ट ही अनुमान लगाया जा सकता है।

सम्मान के प्रति उपेक्षा

हिन्दूविश्वविद्यालय के सस्कृतमहाविद्यालय के अध्यक्ष पद पर जब मिश्रजी विराजमान थे तब भारतसरकार ने उनके शास्त्रीय वैदुष्य से प्रभावित होकर इन्हे महामहोपाध्याय की पदवी से अलकृत किया। इस अवसर पर काशी के विद्वान् इनका अभिनन्दन करने के लिए इनके आवासस्थान पर पहुचे और उन लोगो ने इनसे कहा कि पण्डितसमाज की सर्वश्रेष्ठ उपाधि से सुशोभित होने के उपलक्ष्य मे हम लोग आपका अभिनन्दन करने के लिए आये है। इस पर मिश्रजी ने विरक्त भाव से कहा कि ब्रिटिश सरकार हमारी विद्वत्ता को क्या समझ सकती है ? अत उसके द्वारा प्रदत्त उपाधि का मेरे लिए कोई महत्त्व नही है। परन्तु आप जैसे लोग मेरे विषय मे जो इतनी आदर तथा सम्मान की बुद्धि रखते है, मेरे ऊपर आप लोगो की जो श्रद्धा है वही मेरे जीवन का सबसे बडा अलकरण है। अपनी भावना की अभिव्यक्ति मिश्रजी ने इस सरस पद्य के द्वारा की

पित्तलाभरण वित्तलाभतो, मानमावहति पामरी नरी ।
हारमारकतसारसम्भव, भारमेव मनुते वराङ्गना ॥

श्लोक का भाव यह है कि कोई गवारिन पीतल के बने हुए गहनो को पाकर गर्व का अनुभव करती है, घमड करती है। परन्तु उच्च कुल की स्त्री मरकतर्माण से बने हुए हार को भी भार ही समझती है। इनने कीमती गहने उसकी दृष्टि मे केवल बोझा ही लगते है, किसी प्रकार का आनन्द नही देते। उपाधि तथा सम्मान के प्रति मिश्रजी सदा उपेक्षा रखते थे। इन्होने किसी उपाधि को प्राप्त करने की कोई चेष्टा नही की, बल्कि उपाधियाँ स्वय इनके पास आती थी।

बाह्य उपकरणो के प्रति मिश्रजी की उपेक्षा केवल उपाधि तक ही सीमित नही थी, बल्कि वेशभूषा के प्रति भी सर्वदा उदासीन रहते थे। एक बार कोचीन (वर्तमान केरल) के तत्कालीन महाराजा काशी हिन्दूविश्वविद्यालय को देखने के लिए आए और उन्होने मालवीय जी से निवेदन किया कि मै आपके विश्वविद्यालय के सबसे विद्वान् पण्डित का दर्शन करना चाहता हूँ। मालवीयजी महाराज ने प० बालकृष्णजी मिश्र को बुलाकर महाराजा को इनका दर्शन कराया। उस समय मिश्रजी अधोवस्त्र के साथ एक उत्तरीय (चादर) ओढ़े हुए थे। सयोगवश इस चादर मे अनेक छिद्र थे जो स्पष्टतया दिखाई पड रहे थे। महाराजा की दृष्टि

इस जीर्ण शीर्ण चादर के छिद्रो पर पड़ी। मालवीयजी की तीक्ष्ण दृष्टि ने भी इस बात को भॉप लिया। तब उन्होने महाराजा कोचीन से जो स्वय भी सस्कृत के बहुत बडे विद्वान् थे, कहा कि –

अक्षराणि परीक्ष्यन्तामम्बराडम्बरेण किम्।
शम्भुरम्बरहीनोऽपि, सर्वज्ञत्वमुपेयिवान्॥

इस श्लोक का भाव यह है कि किसी व्यक्ति की विद्वत्ता की परीक्षा करनी चाहिए। उसके अम्बर (वस्त्र) के आडम्बर (पाखण्ड) से क्या लेना उसके वेश के चाकचिक्य से क्या प्रयोजन ? शिवजी सदा नग्न रहते है तथापि वे सर्वज्ञ की पदवी से विभूषित है।

कार्यकुशलता

प० बालकृष्ण मिश्र बहुत बडे व्यावहारिक व्यक्ति थे। वे अपने छात्रो के गुण दोष जानते थे। अत उचित व्यक्ति को ही उसके उपयुक्त काम करने के लिए आदेश देते थे। किसी छात्र को कोई आज्ञा प्रदान करते समय वे कहा करते थे कि भाई, तुम्ही इस काम को अच्छी तरह से कर सकते हो इसलिए तुम्हे यह कार्य करने के लिए कह रहा हूँ। यह सुनकर छात्र प्रसन्न हो जाता था और बहुत मनोयोग से आनन्दपूर्वक उनकी आज्ञा का पालन करता था। इस प्रसग मे वे यह श्लोक प्राय कहते थे

अखिलेषु विहङ्गेषु, हन्त स्वच्छन्दचारिषु।
शुक! पञ्जरबन्धस्ते, मधुराणा गिरा फलम्॥

श्लोक का भाव है जगल मे सब पक्षीगण स्वच्छन्दचारी होते है जहॉ इच्छा होती है वहॉ उड कर चले जाते है। परन्तु हे प्यारे सुग्गे, जानते हो तुमको पिजडे का यह कैदखाना क्योकर मिला ? यह तो तुम्हारी मीठी बोली का ही फल है। इस अन्योक्ति से कार्यकुशल छात्रो की प्रशसा भी होती थी। फलत वे अपने कार्य सम्पादन मे विशेष दक्षता दिखलाने मे नही चूकते थे।

गम्भीर आलोचना

सन् १९३१ ई० के वर्ष मे मालवीयजी द्वितीय 'राउण्ड टेबुल कानफेरेन्स' मे लदन जा रहे थे। उसी समारोह मे प० बालकृष्ण मिश्र भी आये हुए थे। वही पर इनका प्रथम दर्शन करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ सन् १९३० ई० मे मेरे द्वारा सम्पादित भरत का नाट्यशास्त्र प्रकाशित हो चुका था और मिश्रजी ने उसे देखा था। अत मिलते ही उन्होने मेरी प्रशसा करते हुए कहा कि आपके द्वारा सम्पादित नाट्यशास्त्र सुसम्पादित है। आपने उसकी जो विस्तृत विषय सूची दी है वह दर्पण के समान उसके विषयो को प्रकाशित करती है। इसकी सहायता से नाट्यशास्त्र के जगजाल मे किसी को भटकने का भय डर नही रहा।

मिश्रजी मे कारयित्री तथा भावयित्री दोनो प्रकार की प्रतिभाओं का मजुल सामजस्य था। कविता के अन्तस्तल मे प्रवेश करके कवि के गम्भीर भावो को स्पष्ट करने का उन्हे अपूर्व कौशल प्राप्त था। इस भावयित्री प्रतिभा के प्रकाशन के लिए केवल एक ही श्लोक की मीमासा देना पर्याप्त होगा।

'मुजफ्फरपुर धर्मसमाज सस्कृतविद्यालय' मे प० बबा झा अध्यक्ष के पद को सुशोभित कर रहे थे। प० बालकृष्ण मिश्र वहाँ प्राध्यापक का कार्य करते थे। उन्ही दिनो काशी के

पण्डित-पत्र मे प० गगाधर शास्त्री द्वारा निर्मित एक श्लोक प्रकाशित हुआ था जो इस प्रकार है-

मृदुमृदङ्गनिनादमनोहरे, ध्वनति वारिधरे चपला नटी ।
वियति नृत्यति रङ्ग इवाम्बुदे, जवनिकामनुकुर्वति सम्प्रति ॥

इस श्लोक की आलोचना करते हुए बच्चा झा ने मिश्रजी से कहा –"इस श्लोक मे एक ही पदार्थ वारिधर एक बार मृदग बजाने वाले चेतन व्यक्ति के रूप मे और दूसरी बार वही अम्बुद– जवनिकारूपी अचेतन के रूप मे वर्णित है। अत यहा पर पदार्थाशुद्धि है।" इस पर मिश्रजी ने तुरन्त उन्हे टोक कर कहा– "गुरुजी इसमे कोई दोष नही दिखाई पडता, क्योकि वारि को धारण करने वाले मेघ (वारिधर) की स्थिति आकाश मे ऊपर होती है और अम्बु (जल) को देने वाले मेघ (अम्बुद) की स्थिति नीचे होती है। अत दोनो मे स्थान की भिन्नता है। इसके अतिरिक्त साहित्यशास्त्र की दृष्टि से शब्द और अर्थ मे तादात्म्य सबन्ध होता है। अत 'वारिधर' शब्द तथा 'अम्बुद' शब्द के द्वारा द्योतित मेघ दो भिन्न भिन्न है। वे एक ही अर्थ को द्योतित नही करते। अत यहाँ पदार्थ की अशुद्धि नही है।

इस आलोचना की तारतम्य विवेचना मे लेखक की दृष्टि मे पण्डित बालकृष्ण मिश्र जी का ही पक्ष विशेष [illegible] प्रतीत होता है। इस विषय मे यह प्राचीन पद्य उद्धृत करना समीचीन होगा

गर्जित-बधिरीकृतजगता किमपि कृत न घनेन ।
इयती चातक-चञ्चुपुटी साऽपि भृता न जलेन ॥

आशय है कि अपने गर्जन मे ससार को बहिरा बनाने वाले मेघ ने भला कुछ किया ? नही, कुछ नही किया। चातक की चोच के भीतर का छेद कितना छोटा होता है, परन्तु उस छोटे स्थान को भी मेघ ने जल से नही भर दिया। थोडा पानी बरसाकर कम से कम उसे तो भर दिया होता, परन्तु गर्जन तर्जनकारी मेघ मे इतना भी नही हो सका। यह भी कैसे हो सके ? भला गर्जन तर्जन करने वाला मेघ कभी बरसता भी है ? नही, कभी नही हिन्दी की इस कहावत जो गरजता, सो बरसता नही का यही तो गूढ तात्पर्य है, गरजने वाला मेघ क्या कभी बरसता है ? गरजने वाला मेघ बरसने वाले मेघ से भिन्न होता है। इस सूक्ति परम्परा पर दृष्टिपात करने से पण्डित बालकृष्णजी की आलोचना ही युक्ततर प्रतीत होती है।

प० बालकृष्ण मिश्र एक तर्ककर्कश शुष्क नैयायिक नही थे, प्रत्युत सरस तथा कोमलकान्त पदावली के रसिक सहृदय कवि थे। मिश्रजी का यह कृष्णस्तुत्यात्मक श्लोक कितना सरस तथा रसपेशल है। पढते ही पदशय्या का चमत्कार प्रकट होने लगता है

गुजन्मिलिन्दमुदित, चपलाश्लेषातिमजुल किमपि ।
अधिकालिन्दीकुञ्ज, मरकतपुंजं चिर जयति ॥

वेदान्तदर्शनपरक यह गीति कितनी सुन्दर तथा सरस है

यदि भववारिधिपारमुपैतु वाञ्छसि तर्हि विचारय कोऽहम् ।
अविचारितरमणीयतया वसुसुतवनितादिषु सन्त्यज मोहम् ।

---

१ प० बालकृष्ण मिश्र का यह सस्मरण उनके सुयोग्य शिष्य प० बदरीनाथ शुक्ल के एक लेख के आधार पर लिखा गया है जिसके लिए लेखक उनका कृतज्ञ है। द्रष्टव्य 'सारस्वती सुषमा' वर्ष ३३ अक ३ ४, सन् १९७८ ई० मे प्रकाशित लेख।

उपनिषदनुसारेण समातनु सन्ततमात्मगतोहापोहम् ।
यो जनयति, पालयति, हरति, परमात्माकाशप्रभृतिसन्दोहम् ।
बालकृष्णकविकथितमुरीकुरु, गुरुवचनेन विभावय सोऽहम् ॥

आदर्श-रानी-चन्द्रावती-श्यामा-महाविद्यालय

विद्या की राजधानी काशी में कचौड़ीगली-स्थित आदर्श-रानी-चन्द्रावती-श्यामा-महाविद्यालय दार्शनिक शिक्षा के लिए सुप्रसिद्ध है।

क्लिष्ट न्याय एव वेदान्त के चूडान्त ग्रन्थो का यहाँ अध्ययनाध्यापन होता आ रहा है।

यह महाविद्यालय श्यामा मन्दिर ट्रस्ट की ओर से सचालित है। सन् १९२४ ई० में बिहारप्रदेश के अन्तर्गत विख्यात गढ़बनैली राज की यशस्विनी रानी श्रीमती चन्द्रावती साहिबा ने उक्त ट्रस्ट की स्थापना की।

इस ट्रस्ट के अन्तर्गत भगवती श्यामा एव अन्य देवविग्रहो के सस्थापन, उनके पूजनादि की व्यवस्था, श्यामा महाविद्यालय, श्यामा पुस्तकालय, श्यामा-दातव्य औषधालय, श्यामा छात्रावास, छात्रभोजन, दीन-अनाथ विधवाओं का सरक्षण आदि अनेक लोकोपकारी कार्य सचालित होते है।

रानी साहिबा ने सकल शास्त्रो, विशेषत दर्शनशास्त्र, को जीवित रखने के उद्देश्य से २२ अगस्त सन् १९२६ ई० को महाविद्यालय की स्थापना की।

स्थापना के समय कुछ दिनो तक नैयायिक प्रवर कारणत्वविवेक के रचयिता प० श्री श्रीनन्दन झाजी ही एक मात्र अध्यापक थे। पश्चात् नैयायिकचक्रचूडामणि पण्डितप्रवर उग्रानन्द झाजी प्रधानाध्यापक हुए।

अनेक दशक तक इन्होने न्याय, वेदान्त, मीमासा तथा साख्ययोग आदि दार्शनिक ग्रन्थो का अध्यापन किया।

सन् १९३२ से १९३४ तक की अवधि मे इस महाविद्यालय ने अपनी अध्यापन ख्याति के आधार पर व्याकरण, न्याय, मीमासा, साख्य योग, ज्यौतिष, वेद तथा वेदान्त आदि विषयो की राजकीय सस्कृत महाविद्यालय, काशी (सम्प्रति सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालय) से आचार्यान्त मान्यता प्राप्त की।

विगत ५० वर्षों मे सैकडो उदीयमान छात्र तत्तद् विषयो की शिक्षा प्राप्त कर सुदूर प्रदेशो मे उच्च पद पर आसीन है, जिनमे डॉ० जयमन्त मिश्रजी (कुलपति- दरभगा सस्कृत विश्वविद्यालय), पण्डितप्रवर श्री महानन्द ठाकुर (भू० पू० प्राध्यापक, स० कॉलेज, कलकत्ता), प० श्री विष्णुदेव झा (प्राचार्य स० विद्यापीठ, वाँसी), प० श्री शोभित मिश्रजी (बरौदा), प० श्री वेदानन्द झा (प्राचार्य), प० श्री रामचन्द्र झा (स० निरीक्षक स० पाठशालाएँ) आदि उल्लेखनीय है।

एवमेव उदासीन सस्कृत महाविद्यालय के प्राचार्य प० श्री पुरुषोत्तम त्रिपाठीजी, वेद वेदाङ्ग-महाविद्यालय मुमुक्षुभवन, अस्सी के प्राचार्य प० श्री राधेश्याम मिश्रजी, काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के प्राध्यापक प० श्री शिवदत्त चतुर्वेदी प्रभृति यही के छात्र रहे है।

इनके अतिरिक्त अनेक साधु सन्यासी, महात्मागण वेदान्त की शिक्षा प्राप्त कर मठो का सञ्चालन करते हुए ब्रह्मविद्या के प्रचार मे सलग्न है।

किम्बहुना—शिवावतार षट्शास्त्री दार्शनिकसार्वभौम पण्डितप्रवर बालबोध मिश्रजी, अपर बाणभट्ट सस्कृतव्याख्यानदिवाकर पञ्चाचार्य प० श्री भूपनारायण झा, ज्यौतिष-मार्तण्ड प० श्री मधुकान्त झा, राष्ट्रपतिपुरस्कृत पण्डित गनेश झा, योगिराज साधकप्रवर प० श्री गनेशदत्त झा, प० श्री रामकृष्ण झा, प० श्री रामसेवक झा (सम्प्रति दर्शन विभागाध्यक्ष, का० सि० दरभगा म० वि० वि०), डॉ० नन्दकिशोर पाण्डेय (सम्प्रति वेद व्याख्याता दरभगा स० वि० वि०), आदि गण्यमान्य विद्वान् तत्तद् विषयो का अध्यापन कर यशस्वी हुए है।

इस महाविद्यालय का सञ्चालन १९३४ ई० मे रानीसाहिबा के द्वारा स्थापित ट्रस्टडीड के अनुसार प्रान्तीय शासन के पूर्ण सहयोग से हो रहा है।

ट्रस्टी है—प० श्री सतीशचन्द्र मिश्र (भू० पू० चीफ जस्टिस पटना हाईकोर्ट), प० श्री रावणेश्वर मिश्र विधिवेत्ता (भू० पू० अध्यक्ष विधानपरिषद् बिहार, पटना), प० श्री जगदीश ठाकुर (सम्मानित जमीन्दार), प० श्री वीरेन्द्रनाथ झा (शिक्षाविद्) एव प० श्री सच्चिदानन्द झा (सेक्रेटरी, सचिवालय पटना, भू० पू० अति० जिला जज)।

इस महाविद्यालय मे अनेक वर्षों तक वार्षिकोत्सव के अवसर पर शास्त्रार्थ एव सभा के आयोजन हुए जिनमे म० म० प० गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी, पण्डितप्रवर देवनायकाचार्य, कविराज प० सत्यनारायण शास्त्री, प० श्री क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय (भू० पू० डाइरेक्टर स० वि० वि०), पण्डित गौरीनाथ शास्त्री (कुलपति सम्पूर्णानन्द स० वि० वि०), पण्डितराज राजेश्वर शास्त्री द्रविड, डॉ० श्री आदित्यनाथ झा (कुलपति स० वि० वि०), पण्डितप्रवर दिवगत कालीप्रसाद मिश्रजी (भू० पू० आचार्य स० म० वि०, का० हि० वि० वि०), पण्डितप्रवर राजनारायण शास्त्री (भू० पू० प्राचार्य शास्त्रार्थ महाविद्यालय) आदि मूर्द्धन्य विद्वान् अध्यक्षता कर चुके है। सम्प्रति छात्रो की सख्या शताधिक है।

प्रधानाचार्य डॉ० नगेश झा के निर्देशन मे वेदाध्यापक प० श्री अभयचन्द्र झा, आधुनिक विषयाध्यापक श्री सत्यनारायण झा, व्याकरणाध्यापक प० श्री बौआनन्द झा, ज्यौतिषाध्यापक प० श्री उपेन्द्र झा तथा साहित्याध्यापक प० श्री जीवनन्दन झा अध्यापन कार्य मे दत्तचित्त होकर सलग्न है।

भगवती जगज्जननी श्यामा की कृपा से उत्तरोत्तर विकासोन्मुख इस महाविद्यालय का कार्य सुचारुरूप से चल रहा है।

मिश्रजी के सहयोगी

पण्डित बालबोध मिश्र

(आस्पद—मिश्र, उपाधि—वैयाकरण-शिरोमणि)

प० बालबोध मिश्र का जन्म मुजफ्फरपुर (बिहार) जिले के कोकन नामक गाँव मे स० १९३४ वि० (सन् १८७७ ई०) मे हुआ था। आपके पिता का नाम मुकुन्द मिश्र था। जब मिश्रजी केवल १२ वर्ष के थे तभी इनके पिता का देहावसान हो गया। अत इनका लालन पालन आपके चाचा ईश्वरीदत्त मिश्र ने किया। गाँव की पाठशाला मे प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् आपने प० सिहेश्वर झा से व्याकरण शास्त्र का विधिवत् अध्ययन किया। परन्तु इस शास्त्र मे प्रौढ़ पाण्डित्य प्राप्त करने के लिए आप काशी आये और प० गगाधर शास्त्री के चरणो मे बैठकर विभिन्न शास्त्रो का अध्ययन प्रारम्भ किया। आपने शास्त्रीजी से

व्याकरण, साहित्य और दर्शनशास्त्र का गम्भीर अध्ययन कर पाण्डित्य प्राप्त किया तथा गवर्नमेण्ट सस्कृतकालेज, वाराणसी से व्याकरणाचार्य की उपाधि प्राप्त की। आपने म० म० प० शिवकुमार शास्त्री के भी चरणो में बैठकर व्याकरण का पाठ पढ़ा। सुप्रसिद्ध नैयायिक प० जीवनाथ मिश्र से न्यायशास्त्र का अध्ययन कर आपने इसी कालेज से न्यायाचार्य की सर्वप्रथम उपाधि प्राप्त की।

काशी मे अपना अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् आप जैन साधुओं का अध्यापन करने लगे। आपकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर इन लोगो ने आपको 'पाटन' (जैनियों का एक प्रसिद्ध विद्याकेन्द्र) आने को निमंत्रित किया। वहाँ कुछ दिनो तक अध्यापन करने के पश्चात् आप अलवर राज्य के तत्कालीन शिक्षाध्यक्ष प० रामचन्द्र झा के विशेष आग्रह पर अलवर चले गये। पटना (बिहार) के सुप्रसिद्ध वैद्य प० ब्रजविहारी चतुर्वेदी ने जब हाजीपुर (बिहार) मे 'रत्नाकर-विद्यालय' की स्थापना की तब इनके विशेष आग्रह पर आपने उस विद्यालय के प्रधानाध्यापक के पद को स्वीकार कर लिया। कुछ दिनो तक यहाँ प्रधानाध्यापक के पद पर कार्य करने के पश्चात् जब मुजफ्फरपुर मे धर्मसमाज सस्कृत-पाठशाला की स्थापना हुई तब आपकी वहाँ साख्ययोग के अध्यापकपद पर नियुक्ति हुई। आपने दो वर्षों तक इस स्थान पर अध्यापन कार्य किया। सन् १९१९ ई० मे आप गवर्नमेण्ट सस्कृतकालेज बनारस मे मीमासा वेदान्त की गद्दी पर आसीन हुए। यहाँ पर आपने मीमासा और वेदान्तशास्त्र का विधिवत् अध्यापन किया। आपकी पाठन-पद्धति से आपके छात्र सर्वथा सतुष्ट थे। इस कालेज मे लगातार २४ वर्षों तक अध्यापन करने के पश्चात् आपने सन् १९४६ ई० मे अवकाश ग्रहण किया। सन् १९४८ ई० मे काशी मे ही आपका देहावसान हो गया।

प० बालबोध मिश्र गभीर विद्वान् होने के अतिरिक्त एक सफल अध्यापक भी थे। आपकी अध्यापनशैली निराली थी। आप मनोवैज्ञानिक पद्धति से छात्रो को पढ़ाया करते थे। आप इतने बडे विद्या-व्यसनी थे कि रुग्णावस्था मे भी आप स्वाध्याय से विरत नही हुए। आपकी शिष्य-परम्परा बहुत लम्बी है। आपके प्रधान शिष्यो के नाम निम्नलिखित है—

(१) प० रामचन्द्र झा एम० ए०, जो बाद मे अलवर के शिक्षाध्यक्ष के पद पर प्रतिष्ठित हुए।

(२) प० भूपनारायण झा—इन्होने गवर्नमेण्ट सस्कृतकालेज, बनारस मे अनेक वर्षों तक अध्यापन का कार्य किया।

(३) प० ढुढिराज शास्त्री, काशी।

(४) मुरलीधर झा—प्राध्यापक, वाराणसेय सस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी।

(५) प० रामचन्द्र झा—प्रधानाध्यापक, राजकीय सस्कृत उच्च विद्यालय, गया (बिहार)। इन्होने 'विद्वद्विभूति' नामक एक ग्रन्थ लिखा है जिसमे सस्कृत के विद्वानों का वर्णन किया गया है।

(६) प० कृष्णेश्वर झा—मीमासाशास्त्र के प्राध्यापक, धर्मसमाजसस्कृत-महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर।

झाजी सस्कृत में पद्य-रचना भी किया करते थे। सभवत इन्होने कोई काव्य नही लिखा है परन्तु पटना के वैद्यरत्न प० ब्रजविहारी चतुर्वेदी के वश और चरित के सबन्ध मे जो सुललित पद्य लिखा है उसको यहाँ देने का लोभ मै सवरण नही कर सकता—

अयं तेजोव्यूहः किमधिकसमूहः सुयशसां;
किमाधारः कान्तेः सहजनिजशान्तेरुत परः ।
विचारस्यागारः किमुत भुवि सारः सुतपसां,
गुणानामाधारः किमु चिरमपारः सुखकरः ॥

इस प्रकार प० बालबोध मिश्र व्याकरण, न्याय, मीमासा आदि शास्त्रों के ज्ञाता होते हुए भी एक अच्छे कवि थे ।

काशी मे दोनो विद्वानो का बहुत दिनो तक सम्पर्क बना रहा । पण्डित बालकृष्ण मिश्र हिन्दूविश्वविद्यालय के अन्तर्गत सस्कृत-महाविद्यालय के अध्यक्ष थे । उधर पण्डित बालबोध जी सस्कृतकालेज के प्राध्यापक थे । दोनो का स्वभाव बड़ा ही मधुर तथा सात्त्विक था । दोनों ही मिथिलाभिजन विद्वान् थे । तुलनात्मक अध्ययन से निश्चितरूपेण दोनो के वैशिष्ट्य का पूरा परिचय मिलता है ।[1]



१. इस जीवनचरित को लिखने मे लेखक को प० रामचन्द्र झा लिखित 'विद्वद्विभूति' से बडी सहायता मिली है । अत लेखक उनका बड़ा आभारी है ।

६०

पण्डित श्री दुलार झा

प्राचीन वैदिक काल से ही मिथिला न्याय और धर्नशास्त्रीय विद्याकेन्द्र के रूप मे विख्यात रही है। मैथिलो का काशी और नवद्वीप (नदिया शान्तिपुर बगाल) से विद्या के क्षेत्र मे अटूट सम्बन्ध रहा। उनके यहाँ यज्ञोपवीत के अवसर पर उपनीत वटु को आचार्य द्वारा प्रथम शिक्षा मिलती थी कि 'काशी गच्छ अध्ययनाय'। इसी मिथिला मही के अन्तर्गत प्राचीनन्याय प्रणेता महर्षि गौतम के आश्रम के निकट चनौती (सीतामढ़ी) ग्राम मे आज से लगभग १५० वर्ष पूर्व 'यजुआरे भरगाम' श्रोत्रियमूलक शाण्डिल्यगोत्रीय विमल वश मे नैयायिकशिरोमणि पण्डित श्री दुलार झा का जन्म हुआ था। इनके पिता का नाम योग्य पजी विभूषित प० फकिरन झा तथा माता का नाम मन्धानि देवी था। बाल्यकाल से ही ये विलक्षण प्रतिभाशाली थे, फलत १६ वर्ष की अवस्था तक ये अपने ग्राम मे ही, जो उस समय मीमासको एव नैयायिको से मण्डित था, प्रारम्भिक व्याकरण तथा न्यायशास्त्र के मूल ग्रन्थो की शिक्षा ग्रहण कर 'नव्यन्याय' की प्राचीन शास्त्रार्थप्रणाली मे विशिष्ट ज्ञान के लिये न्याय विद्याकेन्द्र नवद्वीप गये। इनकी उत्कट इच्छा थी कि न्यायशास्त्र (प्राचीन तथा नव्य) मे निष्णात हो जायँ। उन दिनो रेलगाडी तथा अन्य त्वरित साधनो का अभाव था, फिर भी ये येन केन प्रकारेण, पदयात्रा करते हुए नवद्वीप पहुँचे। वहाँ १८ वर्षों तक रहकर सर्वतन्त्रस्वतन्त्र **प० सार्वभौम भट्टाचार्य** एव अन्यान्य विद्वानो के सम्पर्क मे नव्यन्यायशास्त्र तथा 'मुग्धबोध' व्याकरण मे भी निष्णात हो गये। पश्चात् ये स्वदेश मिथिला लौट आये और इनकी गणना अग्रगण्य नैयायिको मे होने लगी। सर्वतन्त्र स्वतन्त्र म० म० पण्डितप्रवर धर्मदत्त झा (बच्चा झा नाम्ना ख्यात) आदि विद्वान् इनके प्रशसक हुए। उसी समय इनका प्रथम विवाह हुआ, कालान्तर मे प्रथम पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, जिनका नाम 'अनन्त झा' रक्खा गया। आगे चलकर ये भी अच्छे प्रवीण नैयायिक हुए। न्यायशास्त्र मे नदीष्ण विद्वान् होकर प० दुलार झा सर्वप्रथम छपरा (सारन) जिलान्तर्गत पण्डितपुर मे प० श्रीकान्त पाण्डेयजी की पाठशाला मे प्रधान पण्डित हुए। यही पर जो० म० गोयनका सस्कृतमहाविद्यालय के प्रथम (आद्य) प्रधानाचार्य वेदान्तभास्कर प० चण्डीप्रसाद शुक्लजी ने इनसे प्राथमिक शिक्षा ग्रहण की थी। उसके पश्चात् नैयायिकजी ग्वालियर स्टेट चले गये। वहाँ भी कई वर्षों तक अध्यापन किया।

तदनन्तर अन्तिम ४० ४५ वर्षों तक ये टीकमगढ़ (मध्यभारत) राजा के प्रधान राजपण्डित रहे। वहाँ इन्होने अपने पाण्डित्य प्रकर्ष से उन्नत स्थान को प्राप्त कर अनेक विद्वानो को शास्त्रार्थ मे परास्त कर शाक्तधर्म की प्रतिष्ठा की। इस अवधि मे काशी से निरन्तर सम्पर्क बना रहा, इस मध्य उनका द्वितीय विवाह भी हुआ जिससे प० सन्तलाल झा (नैयायिक) और श्री बुच्चन झा दो पुत्र हुए। योग्य पिता के योग्य पुत्र इस नियम से प० सन्तलाल झा भी न्यायशास्त्र मे पारगत हुए।

पण्डित दुलार झा जीवन के अन्तिम समय तक शास्त्रो के आलोडन मे लगे रहे तथा अनेकत्र शास्त्रार्थों मे विजयी हुए। टीकमगढ़ के महामहिम राजा प्रतापसिहजी ने उनकी विद्वत्ता के विषय मे कहा था कि – आजकल वैसा चमत्कारी उद्भट विद्वान् मिलना असभव है, उनका कहना था कि "पण्डितजी मेरे यहाँ ४० वर्षों तक रहे किन्तु इस अवधि मे कोई विद्वान् उन्हे परास्त न कर सका। काशी मे इन्होने भले ही अध्यापन कार्य न किया हो किन्तु समय समय पर आवागमन रहने के कारण तथा प० जीवनाथ मिश्रजी जैसे प्रखर नैयायिको से सम्पर्क—शास्त्रार्थविचार होने से यहाँ (काशी मे) भी उनकी पूर्ण प्रतिष्ठा थी।"

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के सस्कृतविभाग के अध्यक्ष महामहोपाध्याय **पं० अम्बादास शास्त्री** महोदय कहा करते थे कि—प० दुलार झा जैसे प्रत्युत्पन्नमति प्रगाढ़ विद्वान् को विशेषत न्यायशास्त्र के 'व्यधिकरण' मे भारत मे यदि कोई विद्वान् दो मिनट के लिये भी मौन कर दे तो उसे हम नैयायिक समझेगे, आदि।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालयस्थ सस्कृतमहाविद्यालय के पूर्व प्राचार्य एव प्रमुख नैयायिक **म० म० पं० बालकृष्ण मिश्रजी** तथा अनुमानखण्ड के विशेषज्ञ, राज दरभगा के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् **पं० सहदेव झाजी** कहा करते थे कि 'व्यधिकरण' पर 'दुलारी विवेचना' सुप्रसिद्ध है किन्तु अभी तक वह अप्रकाशित है। इसी प्रतिष्ठा के कारण स्याद्वाद महाविद्यालय काशी के सस्थापक सत गणेशप्रसाद वर्णीजी काशी से 'चकौती' गये और उन्होने वहाँ प० दुलार झा, प० सहदेव झा, प० गगाधर झा आदि नैयायिको से समग्र न्यायशास्त्र का विवेचन ग्रहण किया। यह वर्णीजी की आत्मकथा मे वर्णित है।

पुराण शास्त्रो मे कहा गया है कि—'त्रैपुरुषी विद्या एव त्रैपुरुष धन' नही रहता किन्तु नैयायिकजी के परिवार मे यह विधान नही रहा। उनके दोनो पुत्र क्रमश अनन्तलाल झा एव प० सन्तलाल झा उत्कृष्ट नैयायिक थे। पौत्र प० रामेश्वर झा न्याय, तत्र तथा कर्मकाण्ड के अच्छे ज्ञाता थे। और प्रपौत्रो—प० धनुर्धर झा, प० गणेश झा—ने यही काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय स्थापना के प्रारम्भिक दिनो मे –पण्डितप्रवर वैयाकरणकेशरी कालीप्रसाद मिश्रजी, म० म० जयदेव मिश्रजी, प० अम्बिकाप्रसाद उपाध्याय एव श्री प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरीजी प्रभृति विद्वानो से आचार्यान्त अध्ययन कर—'भाष्यकारसमये भारतवर्षस्यैतिहासिकी भौगोलिकी च अवस्था कीदृशी' विषय पर अनुसन्धान करने के पश्चात् सुदीर्घकाल तक व्याकरण-साहित्य का अध्यापन कार्य किया।

नैयायिकजी के ही प्रपौत्र और मेरे सुयोग्य शिष्य डॉ० नरेश झा विगत ५० वर्षों से अध्ययन, अध्यापन, सम्पादन, अनुसन्धान आदि कार्यों को करते 'आदर्श रानी चन्द्रावती श्यामा महाविद्यालय काशी' के प्रधानाचार्य पद पर कार्यरत है। इस प्रकार इस सारस्वत परिवार का काशी की सारस्वत साधना मे अविच्छिन्न योगदान है।



पं० मधुसूदन ओझा

पण्डित मधुसूदन ओझा

(आस्पद—ओझा, उपाधि—विद्यावाचस्पति)

भारतीय सस्कृति की मूलभित्ति है वेद विज्ञान। प्राचीन काल के ऋषि महर्षियो ने दिव्य ज्ञान मे जिसे आलोकित किया था वह सुदीर्घ काल के गर्त मे पडकर दब गया था, विदेशीय समालोचकगण अज्ञानतावश वैदिक सस्कृति की विचिकित्सा करने लगे थे। ऐसे समय मे एक ऐसे विद्वान की आवश्यकता थी जो वैदिक साहित्य का विज्ञानपरक अर्थ कर सके। उस आवश्यकता की पूर्ति समीक्षाचक्रवर्ती पण्डितवरेण्य श्री मधुसूदन ओझा विद्यावाचस्पति ने की। जिस प्रकार विद्यापतिरिव विद्यापति कहे जाते है वैसे ही प० झा वस्तुत विद्यावाचस्पति थे

मुजफ्फरपुर (सीतामढ़ी) जिले मे गाढ़ा नामक ग्राम मिथिला मे सुप्रसिद्ध है। जहा सत्कुलीन प० वैद्यनाथ झा नामक ... सुप्रतिष्ठित ... रहते थे। इन्हे वैक्रम स० १९२३ (१८६६ ई०) की जन्माष्टमी तिथि को ... की प्राप्ति हुई। यही बालक ... मे विद्यावाचस्पति हुआ उन्ही के शब्दो मे उनका परिचय प्रस्तुत करे

श्रीक्षेत्रादपि दक्षिणोऽर्धामिथिल यो भैरवादुत्तर
पूर्वो य खलु लक्ष्मणाख्यसरितो यो गौतमात् पश्चिम ।
तस्मिन् सवसथेऽग्रहीद् बहुविधे गाढाभिधे जन्म य
सोऽय श्रीमधुसूदनो व्यतनुताऽशोचे समीक्षामिमाम् ॥

आपके पितृव्य पण्डित राजीवलोचन झा जयपुरनरेश स्व० रामसिहजी के दरबार के आदरणीय सदस्य थे दैवयोग से उनके कोई सन्तान नही थी उन्होने अपने भ्रातृव्य मधुसूदन को ही दत्तक पुत्र के रूप मे स्वीकार किया उपनयन आदि सस्कार कराने के पश्चात बालक मधुसूदन को प० राजीवलोचनजी अपने साथ जयपुर ले गये तथा तत्रत्य विद्वानो की देखरेख मे पढ़ने की इनकी सारी व्यवस्था कर दी कुशाग्रबुद्धि होने के कारण बालक मधुसूदन की प्रतिभा चमक उठी। ये अत्यन्त उत्साह के साथ विद्याध्ययन करने लगे। कभी कभी जयपुरनरेन्द्र उस प्रतिभाशाली छात्र की परीक्षा भी लेते थे। महाराज उस छात्र से सर्वथा सन्तुष्ट थे। अध्ययन का क्रम अभी जारी ही था कि प० राजीवलोचनजी का अकस्मात् देहान्त हो गया। अब तो बालक घबराया। किन्तु धैर्य धारण करके अपनी चाची के साथ १९३९ वि० स० (१८८२ ई०) मे स्वमातृभूमि 'गाढ़ा' वापस आ गया। वहॉ पर अध्ययन का कोई विशेष साधन न होने के कारण ये विद्याकेन्द्र काशी की ओर चल पडे।

काशी पहुँचकर आप दरभङ्गा सस्कृतविद्यालय मे (जो उन दिनो प्रतिष्ठित विद्वानो से मण्डित था) महामहोपाध्याय शिवकुमार शास्त्रीजी के निर्देशन मे अध्ययन करने लगे। अनवरत परिश्रम तथा तीव्र ज्ञानपिपासा के कारण केवल आठ वर्षों के अध्ययनकाल मे ही न्याय, वेदान्त, मीमासा आदि शास्त्रो के ऊपर असाधारण अधिकार कर लिया।

आपकी कीर्तिकला सर्वत्र प्रसृत होने लगी। आशुतोष भगवान् विश्वनाथ का भी इनके ऊपर वरदहस्त था, अत इन्हे बढ़ते देर न लगी।

अध्ययनसम्पन्न होने के पश्चात् आप फिर अपनी जन्मभूमि मिथिला आये। सयोगवश १७ वर्ष की अल्प वय मे ही १६४० वि० (१८८३ ई०) मे आपका विवाह अलवर के तत्कालीन राजगुरु प० चञ्वल झा की स्वस्तिमती कन्या से हो गया।

अब तक इनकी ख्याति बहुत फैल चुकी थी। जयपुरनरेश ने आपकी विद्वत्ता का परिचय प्राप्त कर आपको आग्रहपूर्वक जयपुर बुलवाया और ख्यातिप्राप्त अपने 'महाराजा कालेज' मे १६५१ स० (१८६४ ई०) मे प्राध्यापक नियुक्त किया। पश्चात् ये जयपुर के राजकीय पुस्तकालय (मौजमन्दिर के नाम से प्रख्यात) के प्रमुख प्रबन्धक तथा धर्मसभा के प्रधान अधिकारी भी हुए। पूरे राज्य मे इनका अत्यधिक प्रभाव था। राजा प्रजा दोनो से ये समान रूप से समादृत थे। अब तक इनकी ख्याति समग्र भारतवर्ष मे फैल चुकी थी। जयपुरनरेन्द्र प्रमुख राजकीय कार्यों मे, चाहे वह धार्मिक हो अथवा राजनैतिक, इनकी राय अवश्य लिया करते थे सारा राज काज इनके ही परामर्श से चलता था।

विदेशयात्रा—सन् १६०२ ई० मे ब्रिटेन के राजा सप्तम एडवर्ड के राज्याभिषेक के अवसर पर भारतीय नरेशो को भी उसमे सम्मिलित होने के लिए निमन्त्रण दिया गया था। इस उत्सव मे जयपुर के महाराजा माधव सिह भी सम्मिलित हुए थे। परन्तु राजा साहब इतने कट्टर धर्मभीरु तथा सनातनी थे कि स्पर्शास्पर्श के विचार के कारण लन्दन मे किसी होटल मे ठहरना उनके लिए सम्भव नही था। अत उन्होने अपनी इस ब्रिटेन यात्रा के लिए एक पूरा निजी जहाज ही किराये पर ले लिया। इस जहाज मे काशी से गगाजल और गगा की मिट्टी भी पवित्रता के लिए ले जायी गयी। इस यात्रा मे इन्होने अपने राजपण्डित प० मधुसूदन झा को भी साथ ले लिया था। यह जहाज डोभर के बन्दरगाह मे न ठहर कर समुद्र के तट से कुछ दूर जलमध्य मे ही रुका था।

इस अवसर पर पण्डित मधुसूदन झा ने पाश्चात्त्य विद्वानो के समक्ष बडा ही सारगर्भित भाषण दिया था। उन दिनो आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय मे डॉ० मैकडानल, केम्ब्रिज विश्वविद्यालय मे डॉ० वैण्डल सस्कृत के प्रोफेसर थे। डॉ० टामस उन दिनो 'इण्डिया आफिस लाइब्रेरी' के डाइरेक्टर थे। इन प्रकाण्ड पाश्चात्त्य पण्डितो के समक्ष प० मधुसूदनजी ने सस्कृत मे जो भाषण दिया उसका शीर्षक था 'अतिमूल नहि नहि अतिप्रत्न रहस्यम्'।[1] इस व्याख्यान से वे विद्वान् अत्यन्त प्रभावित हुए थे। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय मे पश्चिमी विद्वानो द्वारा झाजी का जो सम्मान किया गया था इसका समाचार इग्लैण्ड के 'वेस्टर्न गजट' के २६ जुलाई सन् १६०२ ई० मे तथा 'दि सन' (The Sun) नामक पत्र के २३ जुलाई १६०२ ई० के अक मे प्रकाशित हुआ था।

प० मधुसूदन झा ने राज्याभिषेक के इस महोत्सव मे सम्राट सप्तम एडवर्ड की सस्तुति श्लोकबद्ध पद्यो मे की थी जिससे प्रसन्न होकर सम्राट ने एक स्वर्णपदक तथा प्रशस्ति (सर्टिफिकेट ऑफ ऑनर) प्रदान की थी।

इस प्रकार समग्र जीवन आप वेद विज्ञान की व्याख्या करने मे ही लगे रहे। आपने वेद के मन्त्रो द्वारा आधुनिक विज्ञान पद्धति को प्रमाणित करके प्रयोग किया जो कि खरा उतरा। लगभग पॉच दशक तक अनवरत अनुसन्धान कार्य के फलस्वरूप सैकडो ग्रन्थो की

१ यह व्याख्यान बाद मे जयपुर की प्रसिद्ध पत्रिका 'सस्कृतरत्नाकर' मे पूर्ण रूप से प्रकाशित हुआ था।

रचना इन्होने की। अनेक विद्वत्सभाओं मे आपने वैदिक मन्त्रो की विज्ञानपरक व्याख्या कर विद्वानो को चमत्कृत कर दिया।

श्री भारतधर्ममहामण्डल के समस्त प्रमुख आयोजनो मे इनका योगदान रहता था। इनके विद्वत्तापूर्ण भाषण को सुनकर पण्डित भी विस्मित हो जाया करते थे। 'केचन पण्डितपण्डिता'। सम्माननीय इन विद्वद्वर को श्रीभारतधर्ममहामण्डल ने 'विद्यावाचस्पति' तथा 'महामहोपदेशक' की उपाधियाँ प्रदान की। इनकी वक्तृत्वशैली तथा भाषणपटुता अत्यन्त श्लाघनीय थी। किसी विषय की मीमासा करने मे ये सदा अग्रणी रहते थे। ओजस्विता क्षीण नही होनी थी। वेद विज्ञान एव धर्मशास्त्र के तो ये विश्वकोश ही थे। आज भी इनके ग्रन्थ नित नूतन तथ्य प्रस्तुत कर रहे है। इनकी कृतियाँ ही विद्वत्ता की साक्षी दे रही है।

दुर्दैवयोगात् स० १९९६ वै० (१९३९ ई०) की भाद्रपद पूर्णिमा को आपने अपने पाञ्चभौतिक शरीर का परित्याग कर इस धरातल को सूना कर दिया।

तेजस्वी शिष्यमण्डली

(१) महामहोपाध्याय प० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, प्राप्तावकाश डायरेक्टर, सस्कृत स्टडीज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, एव सस्कृतकालेज, जयपुर के मान्य अध्यापकगण, (२) राजगुरु पण्डित चन्द्रदत्त चौधरी, व्याकरणाचार्य, (३) पण्डित सूर्यनारायणजी आचार्य, (४) पण्डित कन्हैया[illegible] न्यायाचार्य, (५) पण्डित मदनलालजी व्याकरणाचार्य, (६) पण्डित जयचन्द्र झा वेदतीर्थ, (७) पण्डित मोतीलाल शास्त्री -(शतपथ-सम्पादक तथा गीताविज्ञानभाष्य के कर्ता), (८) पण्डित आद्यादत्त ठाकुर एम ए (प्राप्तावकाश, लखनऊ विश्वविद्यालय)।

कृतियाँ

ऊपर निर्दिष्ट है कि आपने शताधिक मूल्यवान् ग्रन्थो की रचना, सम्पादन, परिष्करण, विवेचन, व्याख्यान किये है, उन सबका विवरण देना सभव नही है, फिर भी उनकी जो रचनाएँ अत्यन्त विख्यात है उनकी नामावलि मात्र प्रस्तुत की जा रही है—

(१) जगद्गुरुवैभव, (२) इन्द्रविजय, (३) सदसद्वाद, (४) व्योमवाद, (५) अपरवाद, (६) आवरणवाद, (७) अम्भोवाद, (८) अहोरात्रवाद, (९) सशयतदुच्छेदवाद, (१०) दशवादरहस्य, (११) गीताविज्ञान, (१२) शारीरकविमर्श, (१३) विज्ञान विद्युत्, (१४) ब्रह्मविज्ञानप्रवेशिका, (१५) ब्रह्मविज्ञान, (१६) ब्रह्मचतुष्पदी, (१७) ब्रह्मसमन्वय, (१८) देवतानिवित्। इनके अतिरिक्त १२ ग्रन्थ मुख्य रूप से और प्रकाशित है। अमुद्रित ग्रन्थो की सूची ४७ है, अनेक ग्रन्थ अब प्रकाशित हुए होगे। कुछ अप्राप्त ग्रन्थो का अनुसन्धानक्रम चल रहा है।

विद्यावाचस्पतिजी की धर्मशास्त्रीय रचना आशौचपञ्जिका से उनके जीवन से सम्बन्धित दो श्लोको को यहाँ उद्धृत किया जाता है जिनमे उनके जीवन की महनीय घटनाओं का उल्लेख है।

तद्यथा—

(१)

आद्या दक्षिणकालिका भगवती श्यामा कुले देवता
स्वाम्नायोऽपि च दक्षिणः शिवपथः स्मार्तोऽस्ति यस्यान्वये।

दीक्षा यस्य शिवागमे शिवतमे धर्म्मे च निष्ठाधिका
सोऽयं श्रीमधुसूदनो व्यतनुताशौचे समीक्षामिमाम् ॥

(२)

राजद्वारमुपागतो जयपुरे वर्षे चतुर्विंशके
यः संमानमवाप्य राजभवने मत्स्यप्रदेशप्रभोः ।
श्रीमन्माधवसिंहभूपतिमणेर्धर्मोपदेष्टाऽभवत्
सोऽयं श्रीमधुसूदनो व्यतनुताशौचे समीक्षामिमाम् ॥

छन्दोनिरुक्ति—कतिपय ग्रन्थो का सक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत है। मधुसूदन झाजी ने छन्द शास्त्र के विज्ञान के ऊपर बड़ा ही मार्मिक विवेचन किया है। **छन्दोनिरुक्ति** अथवा **छन्द.समीक्षा** के नाम से यह विवेचन निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित 'पिङ्गलच्छन्द शास्त्र' नामक ग्रन्थ की भूमिका के रूप मे प्रकाशित किया गया है (१६३८ ई० बम्बई)। झाजी ने ब्राह्मण ग्रन्थो मे छन्द के स्वरूप, प्रकार, प्रतिष्ठा आदि का बड़े विस्तार से उदाहरणप्रचुर निरूपण किया है। छन्दोवाद, छन्दोविभक्तिवाद, वैदिकान्यत्ववाद, छन्दोलक्षणवाद, समासवाद, छन्द पदवाद, छन्द पदमहितावाद, यतिदोषवाद, पञ्चाङ्गतावाद, छन्दो विज्ञानसार्थकतावाद आदि इस विवेचन के अवान्तर प्रकरण है जिनके नाम से विषय का किञ्चित् सकेत प्राप्त किया जा सकता है। पण्डित मधुसूदनजी ने छन्द का सामान्य शास्त्रीय विवेचन न करके उसे वैदिक अध्यात्मशास्त्र के रूप मे प्रतिष्ठित कर अपनी वैदिक विद्वत्ता तथा अध्यात्म रहस्यवादिता का पूर्ण सकेत इस ग्रन्थ मे किया है, तथ्य तो यह है कि झाजी की प्रतिभा विषय के बाह्य की ओर अग्रसर न होकर उसके अन्तराल मे प्रवेश करती है और ब्राह्मणग्रन्थो की सहायता तथा प्रामाण्य पर नये-नये तत्त्वो का उन्मीलन करती है। **छन्दोनिरुक्ति** इस कथन का प्रारम्भ प्रकट करती है। इसके कई स्थानो पर इन्होने **वेदसमीक्षा** तथा **धर्मसमीक्षा** नामक अपनी रचनाओ का सकेत किया है जिनमे वेदसमीक्षा का निर्माण ईस्वीपूर्व हो चुका था और धर्मसमीक्षा का प्रणयन भविष्य मे किये जाने का सकेत है। इन दोनो ग्रन्थो मे तत्तद् विषयो का वैशद्येन निरूपण करने की बात कही गई है।

महर्षिकुलवैभव—वेद मे ऋषितत्त्व तथा सृष्टितत्त्व की विवेचना के निमित्त झाजी का यह ग्रन्थ विषय की दृष्टि से नितान्त अपूर्व एव श्लाघनीय है। इसके दो खण्ड है जिनमे प्रथम खण्ड की सस्कृत व्याख्या तथा सुबोध हिन्दी अनुवाद म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने किया है।[1] व्याख्या के आरम्भ मे चतुर्वेदीजी ने एक प्रमेयबहुल लम्बी प्रस्तावना लिखी है जिसमे अपने गुरु मधुसूदन झाजी द्वारा उद्घाटित 'वेदविज्ञान' के तथ्यो का दृष्टान्तपुरःसर एक विशिष्ट विश्लेषण किया है इसके अनुशीलन से वेदविज्ञान के नवीन स्वरूप का यथार्थ परिचय सरल सुबोध शैली में पाठको को मिल जाता है। मूल ग्रन्थ सूत्रशैली मे निबद्ध होने से व्याख्या सापेक्ष है और चतुर्वेदीजी की यह व्याख्या बड़ी ही परिष्कारक, मूलार्थ की प्रतिपादिका तथा दृष्टान्तसमन्वित होने से आवर्जिका है।

'ऋषि' के विषय मे झाजी का मत है—वे प्राणरूप है तथा आकाश मे रोचमान नक्षत्र रूप है। इसीलिए ये नक्षत्र सप्तर्षि कहलाते है। 'ऋषि' को वे मन्त्रों का द्रष्टा तथा कर्ता दोनो मानते है। ईश्वरीय अनुग्रह के रूप मे दिव्यज्योतिर्मय वेद का ज्ञान ऋषियो को ईश्वर द्वारा ही प्राप्त अवश्य होता है, वही ऋषियो द्वारा उन ऋषियो के शब्दो मे प्रकाशित होकर हम लोगो

१ प्रकाशक—राजस्थान-पुरातत्त्वान्वेषणमन्दिर, जयपुर, १६५६ ई०।

को प्राप्त होता है। अत इस दृष्टि से वेद पौरुषेय ही सिद्ध होता है। ऋषि लोग मन्त्रो के द्रष्टा भी है तथा कर्ता भी।

द्वादश ग्रन्थ—झाजी ने ऋग्वेद के प्रसिद्ध 'नासदीय सूक्त' का गम्भीर अनुशीलन कर उसमे प्रतिपादित दश वादो की सत्ता को स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप मे ग्रहण किया है और प्रत्येक के ऊपर इन स्वतन्त्र ग्रन्थो का प्रणयन किया है (१) सदसद्वाद[1], (२) रजोवाद, (३) व्योमवाद, (४) अपरवाद, (५) आवरणवाद, (६) अम्भोवाद, (७) अमृतमृत्युवाद, (८) अहोरात्रवाद, (९) दैववाद तथा (१०) सशयोच्छेदवाद। प्राचीनकाल मे जगत् के मूलतत्त्व के सम्बन्ध मे ये दश मत प्रचलित थे। देववर्ग मे कोई 'सत्' को जगत् का मूल तत्त्व मानता था, तो कोई 'असत्' को। कोई रज (अर्थात् सूक्ष्म कणो) को ही जगत् का मूल तत्त्व मानते थे, तो कोई 'व्योम' अर्थात् आकाश को ही। झाजी ने इन दश मतो के प्रतिपादन के लिए दस स्वतन्त्र छोटे मोटे ग्रन्थो का निमाण किया था। विषय के विस्तृत तथा प्रकीर्ण हो जाने के कारण इन्होने **दशवादरहस्य** नामक एक अन्य ग्रन्थ ही बनाया जिसमे पूर्वोक्त दसो मतो का साराश सक्षेप मे एकत्र प्रस्तुत किया गया है। पूर्वोक्त दस ग्रन्थो के आरम्भ मे **विज्ञानेतिवृत्तवाद** ग्रन्थ की तथा अन्त मे **सिद्धान्तवाद** नामक मूल प्रमेयो के एकत्र सग्रहात्मक ग्रन्थ की रचना द्वादश ग्रन्थो के समुच्चय को पूर्ण करती है। सक्षेप मे विद्यावाचस्पतिजी के विकीर्ण सिद्धान्तो को एकत्र प्रस्तुत करने के कारण आलोचको की दृष्टि मे 'सिद्धान्तवाद' उनका एक मौलिक [illegible] गिग ग्रन्थरत्न है।

'ब्रह्मसिद्धान्त' नाम से इसी ग्रन्थ का प्रकाशन गिरिधर शर्मा चतुर्वेदीजी की 'सिद्धान्त-प्रकाशिका' व्याख्या के साथ डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के सम्पादकत्व मे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने १९६१ ई० मे 'नेपाल राज्य सस्कृत ग्रन्थमाला' मे किया है। ग्रन्थ पर्याप्तरूपेण विस्तृत है और झाजी के वेदविज्ञान विषयक सब मन्तव्यो का एकत्र निचोड है—साराश है। ग्रन्थकार ने आरम्भ मे ही प्रतिज्ञा की है

वैदिकविचारकानन-कान्तारेऽस्मिन् प्रवेष्टुकामानाम्।
सुखत. प्रवेशिकेय पद्या विरच्यते श्रमत ॥

वैदिक विचाररूपी कण्टकाकीर्ण कान्तार मे प्रवेश करने वाले व्यक्तियो के लिए यह सुगम मार्ग है सरल सुखद मार्ग है और सचमुच यह ग्रन्थ ऐसी ही सरल पद्या का निदर्शक है।

ओझाजी का वैदिक विज्ञान

जब पण्डित मधुसूदन झा काशी मे अध्ययन कर रहे थे तभी इनकी रुचि वेदार्थ के रहस्य को जानने की हुई। इनके गुरु पण्डित शिवकुमार शास्त्री ने अपने शिष्य की प्रतिभा को पहचान कर इन्हे शतपथब्राह्मण की प्रथम कण्डिका का अध्यापन किया और आशीर्वाद दिया कि "चूँकि तुमने गुरुमुख से वेद के थोडे अश को पढ लिया है अत अब तुम्हारी साम्प्रदायिक विद्या फलवती होगी। अब तुम जाकर वैदिक विज्ञान मे अनुसन्धान का कार्य करो।" इस प्रकार अपने गुरु का आशीर्वाद प्राप्त कर झाजी वैदिक विज्ञान के रहस्यो का उद्घाटन करने मे जुट गये और लगातार चालीस वर्षों तक इस शोध को करते रहे।

ज्ञान और विज्ञान के स्वरूप के विषय मे विद्वानो मे बडा मतभेद है। झाजी की

---

१ इसका प्रकाशन पण्डित आद्यादत्त ठक्कुर ने लखनऊ से किया है, १९२९ ई०, लखनऊ।

मान्यता इन दोनो के स्वरूप के विषय मे इस प्रकार है—दृष्टि के सामने वाले विशिष्ट पदार्थों के समान रूप से मूलत वर्तमान रहने वाले किसी एक तत्त्व का अनुभव ज्ञान कहलाता है। दूसरी ओर मूल मे एक स्थायी नित्य तत्त्व मानकर उसी की अनन्त पदार्थों के रूप मे परिणति का वर्णन विज्ञान कहा जाता है। वेद ज्ञान-विज्ञान दोनो का आधारभूत कोष है। वेद मे ज्ञान की चर्चा बहुत है। परन्तु उसके भीतर विद्यमान विज्ञान की ओर प्राचीन विद्वानो की दृष्टि बहुत कम गयी है। वैदिक विज्ञान के जानने की कुञ्जी मीमासको के द्वारा उपेक्षित उपपत्ति या अर्थवाद है जो ब्राह्मणग्रन्थो, आरण्यको तथा उपनिषदो मे उपलब्ध होती है। शतपथब्राह्मण का अधिकाश भाग इन्ही उपपत्तियो से परिपूर्ण है। झाजी ने इन्ही उपपत्तियो के रहस्यो के समझने का स्तुत्य प्रयास किया है। इन्ही उपपत्तियो का अनुशीलन करने से इनको वैदिक परिभाषाएँ प्राप्त हुईं जिनकी सहायता से वैदिक विज्ञान के रहस्य का उद्घाटन करने मे ये समर्थ हो सके। झाजी ने अपने वैदिक विज्ञान के सिद्धान्त का अधोलिखित श्लोक मे वर्णन किया है—

यत्र प्रदर्श्या विषया· पुरातना यत्र प्रकारोऽभिनव· प्रदर्शने ।
यत्र प्रमाणं श्रुतय· सयुक्तयस्तद् ब्रह्मविज्ञानमिद विमृश्यताम् ॥

अर्थात् वेद मे निर्दिष्ट पुराने विषयो का यहाँ निदर्शन किया गया है। परन्तु इस प्रदर्शन का प्रकार नया है —शैली नूतन है। यहाँ श्रुति एव युक्ति दोनो को प्रमाण माना गया है। 'ब्रह्मविज्ञान' का यही स्वरूप है। यही इसका वैशिष्ट्य है।

झाजी बडी विनम्रता से वैदिक विज्ञान के विषय मे कहा करते थे कि —"मै जो कुछ कह रहा हूँ वह नवीन नही है। वेदो मे विज्ञान के सभी रहस्य निहित है। मैने तो केवल इन रहस्यो का उद्घाटन मात्र किया है।" यदि कोई इनकी प्रशसा मे इन्हे 'वैदिक विज्ञान का नया सम्प्रदाय प्रवर्तित करनेवाला' कहता था तो ये बहुत क्रुद्ध होते थे और अपनी प्रशसा सुनना नही चाहते थे।

झाजी का सिद्धान्त-विवेचन

श्री झाजी ने अपने **ब्रह्मसिद्धान्त** नामक प्रमेयबहुल ग्रन्थ मे अपने दार्शनिक विचारो का एक महत्त्वपूर्ण समन्वित विवेचन प्रस्तुत किया है। इन्होने जगत् का मूलतत्त्व ब्रह्म को माना है और एक त्रिगुणात्मिका शक्ति भी मानी है, किन्तु शक्ति की स्वतन्त्र सत्ता नही मानी गयी है। यह अनिर्वचनीय है—न सत् है और न असत्। इसलिए 'ब्रह्माद्वैतवाद' इन्होने प्रतिष्ठित किया। झाजी ने 'रसो वै स' इस श्रुति के आधार पर ब्रह्म का नाम 'रस' और उसकी शक्ति का 'बल' रखा है। बल, शक्ति और क्रिया – ये तीनो ही शब्द अवस्थाभेद से एक ही तत्त्व के वाचक है। प्रसुप्त दशा मे उसका नाम होता है 'बल', कार्योन्मुख होने पर 'शक्ति' और कार्यरूप मे परिणत होने पर वह 'क्रिया' कहलाता है। इन विभिन्न नामो का स्वारस्य उनकी व्युत्पत्ति द्वारा दिखलाया गया है। जगत् के समस्त पदार्थों मे स्थिरता और गति दोनो प्रतीत होती है। फलत जगत् के मूलभूत तत्त्व को स्थिर और गतिमान् दोनो ही होना चाहिए। रस सदा एकरस होने से स्थिर है और बल प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। फलत· इन दोनो की समष्टि को जगत् का मूलतत्त्व मानना युक्तिसगत प्रतीत होता है। रस तथा बल में पाँच प्रकार का सम्बन्ध माना गया है।

बल प्रकट होकर अपरिच्छिन्न रस को परिच्छिन्न बना देता है। परिच्छेद या सीमाबन्ध दिखा देने के कारण ही प्रधान बल का नाम 'माया' है। परिच्छिन्न रूप मे दिखाई पडने पर

भी एक-एक पृथक्-पृथक् रूप बन जाता है जिसे सस्था या छन्द नाम से भी वैदिक परिभाषा में कहा गया है। बलरूपा यह माया स्वतन्त्र नही है, प्रत्युत रस के आधार पर ही रहकर वह सब कुछ करती है। ऐश्वर्य, धर्म, यश, ज्ञान, वैराग्य तथा श्री—इस षट्क का नाम 'भग' है। ये सब धर्म निर्धर्मक रस मे मायारूप बल के कारण उत्पन्न होते है। इसलिए वह रस 'भगवान्' शब्द के द्वारा वाच्य होता है। माया के द्वारा परिच्छिन्न होने के कारण रस का नाम पुरुष हो जाता है। इसके ही क्षर, अक्षर, अव्यय नाम से भिन्न-भिन्न रूप होते है। अक्षरपुरुष तक ही मानवबुद्धि का कुछ व्यापार होता है। इसके आगे अव्यय, परात्पर या निर्विशेष पुरुष का स्पर्श बुद्धि नही कर सकती। उनका तो सकेत मात्र ही बुद्धि मे आता है —"अस्तीत्येवोपलब्धव्य·" (श्रुति)। 'वह है'—इतना ही शब्दप्रमाण या अनुमान के द्वारा बुद्धि जान सकती है। वहाँ बुद्धि द्वारा कोई विशेष विवेचन सम्भव नही है। इसीलिए **अक्षर पुरुष** को 'सेतु' कहा गया है जिस पर आरूढ होकर हम आगे के अज्ञेय तत्त्वो का आभास पाते है और इस निश्चय पर पहुँचते है कि सबका मूलतत्त्व एक है और वह निर्धर्मक निर्विशेष है- -

रहस्यमक्षरज्ञानं स्याद्य यस्मात् प्रतिष्ठितम् ।
तस्मात् तत्परविज्ञानमिहोपनिषदुच्यते ॥
सेयमुक्ता परा विद्या तया विज्ञायतेऽक्षरम् ।
निष्णातः परविद्यायामक्षरं ज्ञातुमर्हति ॥

पण्डित मधमदन झा की अगाध विद्वत्ता की प्रशमा मे श्री खिस्तेजी ने निम्नाकित श्लोक लिखा है जो यथार्थ ज्ञात होता है—

विख्याता बुधमण्डले सुरगुरुप्रख्यप्रतिष्ठाजुषः,
प्रौढाऽनेकनिबन्धनिर्मितिभवत्कीर्तिप्रकर्षोज्ज्वलाः ।
वेदज्ञप्रवरा नृपाश्रयलसत्सौभाग्यसन्दीपिता,
ओझाश्रीमधुसूदनाख्यविबुधा राजन्ति विद्वद्वराः ॥



पण्डित परमेश्वर झा

(आस्पद—झा, उपाधि—महामहोपाध्याय)

कारयित्री और भावयित्री उभय प्रतिभाओं के धनी वैयाकरणकेशरी महामहोपाध्याय पं० परमेश्वर झा का जन्म मिथिला-मही-मण्डल के दरभंगा जिले के तरुवनी (तरौनी) ग्राम में तलियासय सकुरीमूलक काश्यपगोत्रीय वैयाकरण पं० पूर्णनाथ झा के घर वै० स० १९१३ पौष शुक्ल प्रतिपद् (सन् १८५३ ई०) में हुआ था। इनके पितामह वैयाकरण पण्डित भोलानाथ झा तत्कालीन महाराज छत्रसिंह (दरभगा) के सभापण्डित थे।

महर्षि पाणिनि के समान ये व्याकरण और काव्य के उभयविद्य थे। ये 'काव्यं विना व्याकरण न राजते न काव्यमव्याकरणं विराजते' इसको भलीभाँति जानते थे। अतः ठीक ही कहा गया है कि--

आदौ व्याकरणं काव्यमनुयक्षसमागमम्।

श्री झा का अक्षरारम्भ संस्कार 'ब्रह्मवर्चसकामस्य कुर्याद्विप्रस्य पञ्चमे' इस लोकाचार और कुलाचार के अनुसार पाँच वर्ष में ही किया गया था। बाल्यावस्था से ही ये कुशाग्रबुद्धि थे। इन्होंने विद्यार्थीजीवन के उषःकाल में पं० चिरञ्जीव मिश्र से व्याकरण का अध्ययन किया था। आर्थिक दुःस्थिति के कारण आपकी प्रतिभा मन्द न पड़ जाय अतः छात्रवृत्ति की व्यवस्था हो गयी थी। फलस्वरूप अल्पकाल में ही आपने व्याकरण और काव्य का विधिवत् अध्ययन कर लिया था। इतने से ही ये सन्तुष्ट नहीं हुए, क्योंकि 'श्रेयसि केन तृप्यते' यह स्वाभाविक नियम है। उच्च अध्ययन के लिए मिथिला के निवासियों का प्राचीन काल से ही काशी के प्रति अतिशय अनुराग है। अतः श्री झा भी ज्ञानगगा में अवगाहन करने के लिये काशी आये और काशीतलवाहिनी गगा का समाश्रय लिया।

उन दिनों काशिकराजकीय संस्कृतपाठशाला (गवर्नमेन्ट संस्कृतकालेज) में विश्वविश्रुत विद्वान् प० राजाराम शास्त्री तथा प० बालशास्त्री अध्यापक थे। उन्ही गण्यमान्य विद्वानों से आपने धर्मशास्त्र, मीमांसा, साख्य, वेदान्त तथा व्याकरण के परिष्कार का विधिवत् अध्ययन किया। साथ ही विख्यात नैयायिक प० ताराचरण भट्टाचार्य एव पं० विश्वनाथ झा से समग्र न्याय, विशेषतः अनुमानखण्ड का स्वाध्याय किया।

पण्डित श्री झा उन्नीस वर्ष की अवस्था में ही अव्याहत गति से संस्कृत-भाषण करते थे जिसकी प्रशंसा सस्कृतविद्या के अनुरागी सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० बूलर भी करते थे। आपने अपनी मेधाशक्ति के कारण राजकीय संस्कृत-पाठशाला की कठिन परीक्षा में उच्चतम स्थान प्राप्त कर तत्कालीन वाइसराय लार्ड बुक द्वारा सम्मान प्राप्त किया। अनन्तर इनका यश चतुर्दिक् प्रसृत हो गया।

अध्ययन पूर्ण करने के पश्चात् आपने अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया। उस समय

राजस्थान तथा गुजरात की देशी रियासते मुख्य रूप मे मैथिल पण्डितो के अध्यापन का केन्द्रविन्दु थी।

देशी राज्यो के राजपण्डित मुख्यतया मैथिल पण्डित होते थे। इसी क्रम मे श्री झा झालरापाटन राज्य के संस्कृतशिक्षण के अध्यक्ष मनोनीत हुए। राज्य के समस्त अधिकारी और विद्वान् इनकी अप्रतिम विद्वत्ता से सन्तुष्ट थे। चार वर्षों तक सफलता के साथ उक्त कार्यभार सभालकर सन् १८८० मे बिहारस्थ साहित्यप्रेमी बनैली राज्य के अधिपति राजा पद्मानन्द सिंह बहादुर के आग्रह पर राजपण्डित पद को स्वीकार कर वे बनैली राज्य चले आये। वहा का जलवायु उन्हे अनुकूल नही पडा अत वे उस स्थान को शीघ्र ही छोडकर अपनी जन्मभूमि वापस आ गये।

तत्पश्चात् आप मिथिला मे ही गन्धवारि ड्यौढ़ी की महारानी चन्द्रावती द्वारा सस्थापित सस्कृत पाठशाला के प्रधानाध्यापक नियुक्त हुए, यहाँ आपने बारह वर्षों तक सफलतापूर्वक अध्यापन कार्य किया। इनकी विद्वत्ता की ख्याति दिनानुदिन बढ़ती ही गयी। विद्वत्प्रेमी दरभगा नरेश महाराजाधिराज श्री रमेश्वरसिंह बहादुर ने अपनी राज्यसभा का प्रधान पण्डित नियुक्त किया। इसी बीच कुछ दिनो के लिए काशिक राजकीय सस्कृत महाविद्यालय के अध्यापक रहकर पुन दरभगा चले गये। मीमासकशिरोमणि प० चित्रधर मिश्रजी के दिवङ्गत होने पर श्री झा श्री रमेश्वरलता सस्कृत महाविद्यालय के प्रधानाचार्य पद पर आसीन हुए इस प्रकार २५ वर्षों तक विभिन्न पदो पर कार्य करते हुए दरभगा वास किया।

अनेक वर्षों की तपपूत साधनाओं से परिपक्व पण्डित झा को विभिन्न सस्थाओं ने अभिनन्दन सम्मान प्रदान किया। काशीस्थ भारतधर्ममहामण्डल ने 'वैयाकरणकेशरी', बिहार पण्डितसभा ने 'विद्यानिधि' और भारतसरकार ने (सन् १९१४ ई० मे) 'महामहोपाध्याय' की सर्वोच्च उपाधि से अलंकृत किया।

आप संस्कृतशिक्षा तथा परीक्षा से सम्बन्ध रखने वाली अनेक सस्थाओं, समितियो 'सस्कृत काउन्सिल', 'सस्कृत कन्वोकेशन' (बिहार संस्कृतसमिति), पटना विश्वविद्यालय सस्कृत शिक्षासमिति, मुजफ्फरपुर सस्कृत कालेज प्रबन्धसमिति आदि के सम्मानित सदस्य थे।

विद्वत्शिरोमणि प० झा की काव्यप्रतिभा भी विलक्षण ही थी। उनकी रचनाओं मे से एक नमूना यक्षसमागमकाव्य का प्रस्तुत कर रहा हू

विश्वासस्याप्यधिकखरता योऽधरस्तेन सेहे
धीरो दध्यात् कथमिव तुला पल्लवस्तस्य बाल ।
बिम्ब निम्बोपममथ रसे का सुधापातपीता
कान्ते स्वान्ते बहु कलयता तुल्यता क्वापि नाऽऽपि ॥

कवियो की कसौटी गद्यकाव्य मानी जाती है 'गद्य कवीना निकष वदन्ति'। पण्डित झा पद्य की भाँति गद्य मे भी प्राञ्जल रीतियो का समावेश करते थे। प्रस्तुत है गद्यकाव्य की एक शैली--

वाद्यन्ते चाव्यक्तमधुराणि पदानि बालका इवाङ्कका· कोमलाङ्गा· मृदङ्गा, आलाप्यते चालिङ्ग्य नवोढा कृशाङ्गी तन्त्री शयनीय-शयनेशयेन सारङ्गी, –

विशेष क्या कहा जाय, इनकी कविताओं तथा गद्यो से प्रभावित होकर महामहोपाध्याय विद्यावाचस्पति प० मधुसूदन झाजी ने उचित ही कहा था कि--

अमृतं मृतकेन लभ्यते मधुनोऽप्येकरसत्वदूषणम् ।
अधरं मधुरन्न कर्णयोरतुलन्ते रचनं विभावये ॥

इसी प्रकार स्वरचित काव्य मे जो सूक्तियाँ इन्होने प्रयुक्त की है, वे भी सहृदय साहित्यिको के लिए मननीय है। रसास्वाद करे--

(१) स्वस्याचाराद् भजति हि जनो गर्हणामर्हणा वा।

(२) मध्यस्थानां लघु समुचितं सन्धिकृत्यं हि तत्र।

(३) अल्पादल्पो भवति विषमः कल्पकल्पो हि काल.।

(४) संकल्पाप्त. समयसमयो ह्रस्यते द्राघितोऽपि।

कृतियाँ

(१) सस्कारदशकर्मपद्धति टीका, (२) छन्दोगवृषोत्सर्ग

(३) श्राद्धरत्न सटिप्पण, (४) आह्निकपद्धति सटीक

(५) सदाचारदर्पण, (६) नक्षत्रनिर्णय

(७) तडाग-गया पद्धति (८) परमेश्वरकोष

(९) महिषासुरवध नाटक (१०) मिथिलेशप्रशस्ति

(११) मिथिलातत्त्वविमर्श (१२) ऋतुवर्णन

(१३) यक्षसमागम आदि।

इन ग्रन्थो के अतिरिक्त अनेक ग्रन्थ तथा निबन्ध प्रकाशित है। उनका अनुसन्धान करने पर ही ठीक-ठीक सख्या कही जा सकती है। प्राप्त ग्रन्थो मे 'मिथिलातत्त्वविमर्श' अत्यधिक उपादेय ग्रन्थ है। इसमे मिथिला का इतिहास सभी दृष्टियो से पूर्ण है। इसका भरपूर उपयोग सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने अपने 'तिरहुत का इतिहास' मे किया है।

प्रमुख शिष्यगण

(१) प० मार्कण्डेय मिश्र--भूतपूर्व प्रधानाचार्य, महाराणाकालेज, उदयपुर।

(२) प० त्रिलोकनाथ मिश्र--मिथिलाविद्यापीठ के प्राध्यापक।

(३) श्री शिवनन्दन ठाकुर--एम० ए०, व्याकरणतीर्थ।

इनका निधन वि० स० १९८१ सवत् (१८२४ ई०) मे हुआ। श्री मधुसूदन झा के ये समकालीन मैथिल विद्वान् थे। दोनो विद्वानो ने मिथिला से बाहर राजपूताने मे विशद कीर्ति प्राप्त की थी तथा अनेक छात्रो को तैयार कर विशिष्ट विद्वान् बनाया था। सस्कृतविद्या के प्रचार-प्रसार मे दोनो का सहयोग प्राप्त था।

●

पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

(आस्पद—चतुर्वेदी, उपाधि—महामहोपाध्याय)

सस्कृत के विद्वान् प्राय वाणी के धनी होते है परन्तु लेखनी के प्रयोग मे वे बद्धमुष्टिता का आचरण करते पाये जाते है। परन्तु महामहोपाध्याय प० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी सस्कृत के उन बिरले विद्वानो मे से थे जिनकी वाणी का प्रवाह और लेखनी की गति अबाध रूप से चलती थी। शर्माजी सस्कृत तथा हिन्दी भाषण मे जितने पटु थे, उतने ही लेखन-कर्म मे भी प्रवीण थे। वाणी और लेखनी मे पटुता का यह मणि-काञ्चन सयोग अत्यन्त दुलभ है। ससार मे बहुत ही कम ऐसे लोग पाये जाते है जो लेखनी के धनी होने के साथ ही वाग्मिता से भी विभूषित हो। सस्कृत के विद्वानो मे तो यह गुण बहुत ही कम उपलब्ध होता है।

प० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी वक्ता ही नही, वाग्मी भी थे। इनकी वाणी मे वह जादू था जिसका जनता पर अद्भुत प्रभाव पडता था। इसके साथ ही ये उच्चकोटि के विद्वान् भी थे। लेखनी का धनी होने के कारण इन्होने अनेक ग्रन्थो का निर्माण भी किया है। इसीलिए विद्वत्समाज ने 'व्याख्यानवाचस्पति' के साथ ही इन्हे 'विद्यावाचस्पति' की पदवी से भी विभूषित किया। चतुर्वेदीजी का यही गुण अन्य सस्कृत पण्डितो से पृथक् कर इन्हे उच्चासन पर प्रतिष्ठित करता है।

जन्म

चतुर्वेदीजी मूलत माथुर चौबे थे। कई कारणो से इनके पूर्वज मथुरा छोडकर जयपुर मे जा बसे थे जहाँ इन लोगो को राजाश्रय प्राप्त था। इनके पूर्वजो मे रामलालजी थे जिनके पुत्र गोपालजी और पौत्र जीवनलालजी थे। यही जीवनलालजी चतुर्वेदीजी के पितामह थे। जीवनलालजी को कोई सन्तति नही थी। अत इन्होने अपने भागिनेय श्रीगोकुलचन्द्रजी को अपने दत्तक पुत्र के रूप मे स्वीकार किया। यही गोकुलचन्द्रजी गिरिधर शर्माजी के पिता थे। इनकी माता का नाम लवङ्गी देवी था। गोकुलचन्द्रजी के सात पुत्र बाल्यावस्था मे ही काल कवलित हो गये थे। अत इनके पितामह जीवनलालजी ने अनेक देवताओं की आराधना की जिसके फलस्वरूप इन्हे पौत्ररत्न की प्राप्ति हुई।

अध्ययन

गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का जन्म स० १९३८ वि० तदनुसार १८८१ ई० मे पौष शुक्ल दशमी को जयपुर मे हुआ था। ये अपने माता पिता की इकलौती सन्तान थे। अत इनका पालन पोषण बडे लाड प्यार के साथ किया गया था। तत्कालीन समाज मे प्रचलित बाल विवाह की प्रथा के कारण इनका विवाह केवल आठ वर्ष की अवस्था मे जयपुरनिवासी श्री छविनाथजी की कन्या विद्यादेवी के साथ सम्पन्न हुआ। इनकी शिक्षा-दीक्षा जयपुर की ही



पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

एक सस्कृत पाठशाला मे हुई जिसकी स्थापना जयपुर के महाराजा श्रीरामसिंह ने स० १६२२ वि० मे की थी।

चतुर्वेदीजी की बुद्धि बडी प्रखर थी अत जो भी पाठ पढ़ाया जाता था, उसे ये शीघ्र ही कण्ठस्थ कर लिया करते थे। इसी पाठशाला मे अध्ययन करते हुए सवत् १६५२ वि० मे इन्होने प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण की। स० १६५५ वि० मे मध्यमा परीक्षा मे सफलता प्राप्त की। यह परीक्षा 'उपाध्याय' के नाम से प्रसिद्ध थी। इसके तीन वर्ष के अनन्तर स० १६५८ वि० मे इन्होने शास्त्री की उपाधि प्राप्त की। कुशाग्रबुद्धि चतुर्वेदीजी ने सभी परीक्षाएं प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण की तथा अपने वर्ग मे सदा प्रथम स्थान प्राप्त किया। इनके परीक्षको मे काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान् म० म० प० शिवकुमार शास्त्री, दामोदर शास्त्री तथा गगाधर शास्त्री हुआ करते थे। इन लोगो ने परीक्षा मे इनके शास्त्र ज्ञान की भूरिभूरि प्रशसा की थी। जयपुर राज्य की स्थानीय परीक्षाओं को उत्तीर्ण करने के पश्चात् चतुर्वेदीजी ने पजाब विश्वविद्यालय की शास्त्री परीक्षा भी स० १६६६ वि० मे उत्तीर्ण की थी।

अपनी छात्रावस्था मे ही चतुर्वेदीजी ने भाषण करने का अभ्यास किया। अनेक सभाओं मे जाकर सनातनधर्म के सिद्धान्तो पर भाषण करने मे और आर्यसमाजियो से शास्त्रार्थ कर उनके मत के खण्डन तथा स्वमत के मण्डन मे दक्षता प्राप्त कर ली थी। इन्ही दिनो ये **संस्कृतरत्नाकर** नामक मासिक पत्रिका भी निकालते थे जिसमे सम्पादक रूप मे इन्हे लेख लिखने का सदा अवसर मिलता रहता था। इस प्रकार भाषण देने तथा लेख लिखने का पूर्ण अभ्यास इन्होने अपनी छात्रावस्था मे ही कर लिया था।

अध्यापन

शास्त्री की उपाधि प्राप्त करने के पश्चात् घर की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण चतुर्वेदीजी को 'लवण, तैल, तन्दुल' की चिन्ता ने आ घेरा। अत जीविकोपार्जन के लिए इन्होने सहारनपुर के अखिलभारतीय दिगम्बर जैनमहाविद्यालय मे प्रधानाध्यापक के पद को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार स० १६६६ वि० (१६०७ ई०) मे २५ वर्ष की अवस्था मे इन्होने अध्यापन का कार्य प्रारम्भ कर दिया। परन्तु जैनियो का विद्यालय होने के कारण इनका मन वहाँ नही रम सका। अत सन् १६०८ ई० मे सहारनपुर की नौकरी छोडकर इन्होने हरिद्वार के **ऋषिकुल-ब्रह्मचर्याश्रम** मे प्रधानाध्यापक के पद को सुशोभित किया।

ये ऋषिकुल के जीवन के प्रारम्भिक वर्ष थे। अत चतुर्वेदीजी ने इस सस्था के लिए धन सग्रह कर इसे पूर्णतया प्रतिष्ठित करने मे अनन्त प्रयास किये। इसके साथ ही इस सस्था मे अध्यापन की सम्यक् व्यवस्था भी की। यही रहकर इन्होने हरिद्वार मे ही स्थित आर्यसमाजियो की प्रसिद्ध सस्था **गुरुकुल कांगड़ी** मे जाकर अनेक बार वहाँ के विद्वानो को शास्त्रार्थ मे पराजित किया जिससे इनकी विद्वत्ता तथा वक्तृता की धाक सर्वत्र स्थापित हो गई। इसी समय इन्होंने सस्कृत के प्रचार के लिए **संस्कृत-साहित्य-सम्मेलन** की भी स्थापना की। इस सम्मेलन के अधिवेशन के सबन्ध मे इन्हे भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तो की यात्रा करनी पड़ी जिससे इनका परिचय भारत के प्रसिद्ध विद्वानो से हो गया।

हरिद्वार के ऋषिकुल से त्यागपत्र देने के पश्चात् चतुर्वेदीजी ने कुछ दिनो तक लाहौर में भी अध्यापन का कार्य किया। वहाँ रहते हुए ये डॉ० वुलनर, डॉ० लक्ष्मणस्वरूप तथा म० म० शिवदत्त शास्त्री जैसे विद्वानो के सम्पर्क में आये। लाहौर मे चतुर्वेदीजी का अधिकाश

समय सनातनधर्मसभा एव सस्कृत-साहित्यसम्मेलन के आयोजन मे ही व्यतीत होता रहा। परन्तु चतुर्वेदीजी के जीवन का स्वर्णिम काल जयपुर की नौकरी थी जहाँ इन्होने लगातार बीस वर्षों (१६२४ ई० से १६४४ ई०) तक अध्यापन का कार्य किया। जयपुर के सस्कृत-महाविद्यालय (महाराजा सस्कृतकालेज) मे एक सामान्य प्राध्यापक के पद पर इनकी नियुक्ति हुई थी परन्तु अपनी अगाध विद्वत्ता और अलौकिक प्रतिभा के बल से इन्होने इस महाविद्यालय के अध्यक्ष पद को अनेक वर्षों तक विभूषित किया। इस पद पर रहते हुए चतुर्वेदीजी ने इस महाविद्यालय की प्रचुर उन्नति की। आयुर्वेद के लिए नवीन विद्यालय स्थापित किया। वेद, पुराण एव धर्मशास्त्र के अध्यापन के लिए समुचित व्यवस्था की। सस्कृत के पाठ्यक्रम मे इतिहास, भूगोल आदि नवीन विषयो को प्रवेश मिला। स्थान की कमी के कारण नवीन भवनो का निर्माण कराया। इसके साथ ही सस्कृत-छात्रो के लिए व्यायाम, खेल-कूद के लिए प्रशस्त मैदान की व्यवस्था की। इसके साथ ही छात्रसमिति, प्राध्यापकसमिति, बालचरसघ (स्काउटिंग) आदि की स्थापना की गई। इस प्रकार चतुर्वेदीजी के अध्यक्षकाल मे इस महाविद्यालय की सर्वाङ्गीण उन्नति हुई।

सन् १६४५ ई० मे जयपुरकालेज की अध्यक्षता से अवकाश ग्रहण कर चतुर्वेदीजी ने अब अपना समय सनातनधर्म के प्रचार तथा सस्कृतभाषा की उन्नति मे लगाना प्रारम्भ कर दिया। एक न एक दिन इन्हे किसी न किसी स्थान से व्याख्यान देने के लिए निमत्रण आता ही रहता था। इस प्रकार इन्होने पजाब, काश्मीर, सिन्ध, बलूचिस्तान आदि प्रान्तो मे भ्रमण कर अमरवाणी का तथा सनातनधर्म का सन्देश सबको सुनाया। इसी बीच इन्होने अलवर राज्य मे सस्कृत महाविद्यालय के अध्यक्ष पद को स्वीकार कर लिया जहाँ ये दो वर्षों तक कार्य करते रहे। सन् १६४७ ई० मे देश मे अशान्ति के कारण चतुर्वेदीजी का मन वहाँ से उचट गया। सन् १६५० ई० मे इन्होने तत्कालीन कुलपति पण्डित गोविन्द मालवीय के आग्रह पर हिन्दू विश्वविद्यालय मे 'सस्कृत शिक्षा सचालक' के पद को सुशोभित किया तथा आजीवन इस स्थान को अलकृत करते रहे। विश्वविद्यालय मे कार्य करते समय चतुर्वेदीजी का प्रधान कर्तव्य प्रति रविवार को गीता पर व्याख्यान देना भी था जो कई भागो मे बाद मे प्रकाशित हुआ। इन्होने इसके साथ अनेक शोधछात्रो के अनुसन्धान मे निर्देशक का कार्य किया। इस प्रकार काशीनिवास करते हुए तथा जीवन के अन्त तक पठन पाठन मे अपना समय व्यतीत करते हुए चतुर्वेदीजी ने सन् १६६७ ई० मे ८६ वर्ष की आयु मे पञ्चत्व को प्राप्त किया। इन्होने अपने जीवन मे प्रचुर यश तथा कीर्ति का अर्जन किया।

चतुर्वेदीजी के ग्रन्थ

पहले लिखा जा चुका है कि प० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी सस्कृत के उन बिरले विद्वानो मे से एक थे जो वाग्मिता से विभूषित होते हुए भी लेखनी के धनी थे। अत इनकी लेखनी से अनेक ग्रन्थ प्रसूत हुए। इन्होने देवभाषा सस्कृत तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी, दोनो मे ग्रन्थो की रचना की है जिनका सक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

(क) संस्कृतग्रन्थ

(१) पुराणपारिजात[१]—चतुर्वेदीजी पुराणो के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इस ग्रन्थ मे

१ अखिलभारतीय सस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली से प्रकाशित।

इन्होने पुराणो की सम्यक् मीमासा प्रस्तुत की है। पुराणो मे वर्णित धर्म और दर्शन की विस्तृत विवेचना इस ग्रन्थ मे की गई है।

(२) प्रमेयपारिजात[१]—यह ग्रन्थ लेखक की गभीर विद्वत्ता को प्रकाशित करता है।

(३) चतुर्वेदिसंस्कृत-निबन्धावली[२]—इस ग्रन्थ मे चतुर्वेदीजी द्वारा विभिन्न अवसरो पर पत्र पत्रिकाओं मे लिखे गये लेखो का सग्रह किया गया है। विभिन्न विषयो पर लिखे गये इन लेखो से लेखक की तलस्पर्शिनी विद्वत्ता का परिचय प्राप्त होता है।

(४) चतुर्वेदीजी ने कुमारसम्भव, किरातार्जुनीय तथा शिशुपालवध आदि सस्कृत के महाकाव्यो के कतिपय सर्गों की व्याख्या लिखी है जो कतिपय कारणो मे प्रकाशित नही हो सकी है।

(ख) सम्पादित ग्रन्थ

चतुर्वेदीजी ने **सिद्धान्तकौमुदी की बालमनोरमा** तथा **तत्त्वबोधिनी** टीकाओं का सम्पादन किया है।[३] इसके अतिरिक्त इन्होने डॉ० लक्ष्मणस्वरूप द्वारा प्राप्त **वरदाम्बिका-परिणय चम्पू** का हिन्दी भाषा मे अनुवाद प्रस्तुत किया है।

(ग) हिन्दी-ग्रन्थ

(१) वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति[४]—यह विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ चतुर्वेदीजी की गहन अध्ययनशीलता तथा प्रचुर पाण्डित्य का परिचायक है। इस ग्रन्थ के नाम से ही विदित होता है कि इसमे लेखक ने वेदो मे उपलब्ध विज्ञान का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है। भारतीय सस्कृति मे वेदो का क्या स्थान है ? इस विषय का भी विशद विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ चतुर्वेदीजी की प्रधान रचनाओं मे से है जिससे इनकी वैदुषी परिलक्षित होती है।

(२) दर्शन-अनुचिन्तन[५]—इस ग्रन्थ म भारतीय दर्शन की मीमासा प्रस्तुत की गई है। यह लेखक के दर्शनसबन्धी अनुशीलन का फल है।

(३) गीता-प्रवचन-व्याख्यानमाला[६]—महामहोपाध्याय गिरिधर शर्माजी की रचनाओं मे इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे प्रति रविवार को शर्माजी को भगवद्गीता के ऊपर व्याख्यान देने का महत्त्वपूर्ण कार्य सौपा गया। इसका इन्होने बड़ी योग्यता एव परिश्रम से सम्पादन किया। यह व्याख्यान गीता के प्रति-श्लोक एव प्रति-प्रकरण के ऊपर नियमित रूप से कई वर्षों तक चलता रहा। और अब तीन बड़े-बडे खण्डो मे प्रकाशित हुआ है। इसके लिए चतुर्वेदीजी ने बडा परिश्रम एव अध्ययन किया जिसके फलस्वरूप ये तीनो खण्ड उनकी उत्कृष्ट रचना के रूप मे गृहीत किये जाते है।

व्याख्यान होने के कारण ग्रन्थ मे पुनरुक्तियाँ बहुत है, परन्तु उसके द्वारा ग्रन्थ की उपादेयता मे कमी नही आती। इसमे महाभारत तथा पुराण की अनेक घटनाओं तथा तथ्यो

१ प्रकाशक—वही।
२ चौखम्भा सस्कृत सीरीज, वाराणसी से प्रकाशित।
३ मोतीलाल बनारसीदास द्वारा चार भागो मे प्रकाशित।
४ बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना।
५ भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता।
६ हिन्दूविश्वविद्यालय, नेपालराज्य-ग्रन्थमाला (स० ४) मे तीन खण्डो मे प्रकाशित, १९६२ ई०।

का सकलन विषय के वैशद्य के लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। गीता के ऊपर धार्मिक सम्प्रदायो के विभिन्न आचार्यों की टीकाएँ तथा व्याख्याएँ उपलब्ध है तथा प्रकाशित है—शकर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ आदि आचार्यों की स्वय तथा उनके अनुयायियो की टीका से विभूषित भगवद्गीता के अनेक उपयोगी सस्करण मुद्रित एव प्रकाशित है। चतुर्वेदीजी ने इन सब व्याख्याओं का अनुशीलन कर उनके अर्थों का उल्लेख तत्तत् श्लोको की विवेचना मे किया है। इतना ही नही, गीता के नवीन टीकाकारो के मतो का भी उल्लेख इन्होने बडे वैशद्य के साथ किया है। जैसे लोकमान्य तिलक के गीतारहस्य तथा अरविन्द के गीताभाष्य का तो उपयोग किया ही गया है, शर्माजी ने अपने गुरु पण्डित मधुसूदन ओझा के मतो का भी निर्देश स्थान-स्थान पर बडी मार्मिकता से किया है। इसका परिणाम है कि चतुर्वेदीजी का यह गीताभाष्य गीता के तुलनात्मक अध्ययन के लिए बडा ही उपादेय एव उपयोगी है। पण्डित मधुसूदन ओझा के विचित्र सिद्धान्तो को समझने के लिए भी यह ग्रन्थ बडे काम तथा महत्त्व का है। इस प्रकार भगवद्गीता के अन्तरग अनुशीलन के लिए नितान्त उपयोगी इस गीताभाष्य के प्रणयन के लिए जिज्ञासुजन गिरिधर शर्मा चतुर्वेदीजी के चिरऋणी रहेगे। यह मतो का सकलन मात्र नही है, अपितु उनके तारतम्य का बोध कराने वाली एक मौलिक रचना है।

(४) साहित्यिक निबन्ध[१]—इस ग्रन्थ मे चतुर्वेदीजी के साहित्यिक निबन्धो का सकलन किया गया है। लेखक ने सस्कृत के कवियो के सम्बन्ध मे जो निबन्ध पत्रिकाओं मे समय-समय पर लिखे थे उन्ही का यह सग्रह है।

(५) पुराण-परिशीलन[२]—इसमे पुराणो मे उपलब्ध धर्म और दर्शन की सम्यक् मीमासा की गई है। ग्रन्थ पाण्डित्यपूर्ण है एव चतुर्वेदीजी की बहुज्ञता का विशद परिचायक है।

(६) उपनिषत्-प्रवचन[३]—चतुर्वेदीजी ने विभिन्न अवसरो पर उपनिषद् के तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध मे जो प्रवचन किया था उसी का सारभूत यह ग्रन्थ है।

(७) पुराणपारिजात[४]—इसमे भी पुराणो का सर्वाङ्गीण विवेचन किया गया है।

(८) आत्मकथा और संस्मरण[५]—सभवत यह चतुर्वेदीजी का अन्तिम ग्रथ है। सस्कृत के पण्डित अपनी जीवनी नही लिखा करते परन्तु यह चतुर्वेदीजी की विशेषता है कि इन्होने अपना चरित स्वय लिखा है। जब ये अपने जीवन की गोधूलि मे पक्षाघात से पीड़ित थे तब इन्होने अपनी जीवनी को बोल कर दूसरो से लिखवाया था। इस ग्रन्थ से चतुर्वेदीजी के कर्मठ जीवन पर तथा सनातनधर्म-सम्बन्धी सेवाओं पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है।

अप्रकाशित ग्रन्थ

चतुर्वेदीजी ने अनेक ग्रन्थो की रचना की थी जो अभी तक प्रकाशित नही हो सके है। इस वर्ष (१९८१ ई०) चतुर्वेदीजी की जन्मशती समारोह के साथ मनाई गई है और इस अवसर पर कुछ ग्रन्थ प्रकाशित भी किये गये है। उनके सुपुत्र प० शिवदत्त चतुर्वेदीजी का

---

१ मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।

२ बिहार-राष्ट्रभाषापरिषद्, पटना।

३ काशी-हिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी।

४ अखिलभारतीय काशिराजट्रस्ट, वाराणसी से प्रकाश्यमान।

५ शरद प्रकाशन, अस्सी, वाराणसी, १९६७ ई०।

यह पुण्य कार्य नितान्त श्लाघनीय एवं अभिनन्दनीय है। इनके अप्रकाशित ग्रन्थों की सूची निम्नांकित है—

(१) डायरी, पत्र और कविताएँ।
(२) उपनिषत्परिशीलन—भाग २।
(३) दार्शनिक निबन्ध।
(४) धार्मिक निबन्ध।
(५) वैदिक निबन्ध।
(६) शास्त्रार्थ और समालोचनाएँ।
(७) ऋषि-विवेचन।
(८) विद्यावाचस्पतिजी का जीवन तथा कृतियाँ।

चतुर्वेदीजी की प्रकाशित तथा अप्रकाशित रचनाओं से यह पता चलता है कि इन्होंने आत्मकथा, सस्मरण, डायरी और पत्र आदि हिन्दी की अभिनव विधाओं पर भी अपनी लेखनी चलायी है। सस्कृत का शायद ही ऐसा कोई पण्डित हो जिसने आत्मकथा और अपने सस्मरणों को लिपिबद्ध किया हो। परन्तु यह चतुर्वेदीजी जैसे उत्कृष्ट विद्वान् का ही कार्य था कि इन्होने हिन्दी की इन नूतन विधाओं को भी अपनी लेखनी का प्रसाद प्रदान किया।

चतुर्वेदीजी का व्यक्तित्व

चतुर्वेदी का व्यक्तित्व महान् था। उनकी वेषभूषा से भारतीय सस्कृति के उनके प्रेम का परिचय मिलता था। गौर वर्ण, उन्नत ललाट, लम्बा चौडा शरीर, विशाल भुजाएँ इनके महान् व्यक्तित्व को प्रकाशित करती थी। इसके साथ ही इनका परिधान भी नेत्राकर्षक होता था। स्वच्छ अधोवस्त्र (धोती) के ऊपर पण्डिताऊ अगरक्षा (अँगरखा), गले में लम्बा लटकता हुआ उत्तरीय (चादर या दुपट्टा) और सिर पर राजस्थानी उष्णीष (पगड़ी) इनके व्यक्तित्व में चार चाँद लगा देते थे। इनको देखते ही ज्ञात होता था कि यह कोई असाधारण प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति है। नैषधकार श्रीहर्ष ने नल के विषय मे कहा है—

त्वदुदाहरणाकृतौ गुणाः इति सा मुद्रक-सार-मुद्रणा।

यह कथन चतुर्वेदी के विषय मे अक्षरश चरितार्थ होता है। व्यक्तित्व की विवेचना करने वाले विद्वानो ने इसका विश्लेषण करते हुए इसमे पाँच वकारो का होना आवश्यक बतलाया है

विद्यया, वपुषा, वाचा, वस्त्रेण विभवेन च।
वकारैः पञ्चभिर्युक्तो, नरः प्राप्नोति गौरवम्॥

व्यक्तित्व की इस निकषग्रावा पर कसने पर चतुर्वेदीजी का व्यक्तित्व अत्यन्त खरा उतरता है। **विद्यया**—वेद, पुराण, व्याकरण, साहित्य और दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् होने के नाते ये विद्या के भण्डार थे। **वपुषा**—इनके गौर वर्ण और सुन्दर काञ्चन-यष्टि की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। **वाचा**—वाणी के सम्बन्ध मे यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि चतुर्वेदीजी वक्ता ही नही, वाग्मी थे। इनकी वक्तृत्वशक्ति की चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है। किसी भी विशाल सभा मे भाषण करते समय अपने श्रोताओं को प्रभावित करना इनके बाये हाथ का खेल था। **वस्त्रेण**—चतुर्वेदीजी सदा स्वच्छ तथा श्वेत वस्त्र धारण करते थे। मँहगे न होने पर भी ये वस्त्र नेत्रावर्जक होते थे। **विभवेन**—उनके विभव की चर्चा साधिकार

नही की जा सकती। परन्तु जयपुर-सस्कृतकालेज के प्रिन्सिपल तथा अलवर-सस्कृतमहाविद्यालय के अध्यक्ष के पद को अलकृत करते समय इन्हे जीवन मे वैभव का भी अभाव नही रहा होगा। अत व्यक्तित्वनिर्माण के जो पॉच अवयव-वकार कहे गये है वे पाँचो ही चतुर्वेदीजी के व्यक्तित्व मे एकत्र समाहित हो गये थे। इस प्रकार इनका व्यक्तित्व बडा ही दिव्य तथा भव्य था।

चतुर्वेदीजी एक असाधारण व्यक्तित्वसम्पन्न विद्वान् थे। सस्कृत के पण्डित प्राय भ्रमणशील नही होते। परन्तु चतुर्वेदीजी की आत्मकथा से पता चलता है कि इन्होने भारत के अनेक प्रान्तो का अनेक बार भ्रमण किया था। भाषण करने के प्रसग मे इन्होने सुदूर दक्षिण के प्रान्तो मे भी परिभ्रमण किया था जिसका सुन्दर विवरण इन्होने अपनी आत्मकथा मे दिया है। इस प्रकार विस्तृत भ्रमण करने से चतुर्वेदीजी को विभिन्न प्रकार के व्यक्तियो तथा प्रदेशो मे प्रचलित आचार विचार का अनुभव था। इस कारण इनके व्यक्तित्व मे विद्वत्ता, वावदूकता और अनुभव का अद्भुत सामञ्जस्य प्राप्त होना स्वाभाविक है।

धर्मोपदेशक

गत शताब्दी के मध्यभाग मे महर्षि दयानन्द सरस्वती के द्वारा आर्यसमाज नामक नयी धार्मिक सस्था की स्थापना इतने उत्साह के साथ की गई कि अग्रेजी शिक्षा मे दीक्षित कुछ व्यक्ति इधर विशेष रूप से आकृष्ट हुए। वैदिक धर्म का मूल बडा गहन तथा गम्भीर है। उसे यथार्थ रूप मे जानने के लिए मूल धार्मिक सस्कृत ग्रन्थो का अध्ययन आवश्यक होता है। इन ग्रन्थो की जानकारी के अभाव मे साधारण शिक्षित व्यक्ति की धार्मिक धारणा नितान्त भ्रान्त तथा अधूरी रहती है। ऐसे लोगो की शकाओ का बोधपूर्वक निराकरण करने के लिए शास्त्र तथा युक्ति दोनो की उपदेशक मे नितान्त आवश्यकता होती है।

प० गिरिधर शर्मा ने अपने को उपयुक्त उपदेशक बनाने के लिए अपना प्रशिक्षण स्वय किया। इन्होने प्राचीन शास्त्रो का अध्ययन किया। नवीन युक्तियो का ऊहापोह किया। गम्भीर अध्ययन तथा गहन तपस्या के बल पर चतुर्वेदीजी ने वैदिक धर्म के रहस्य का उद्घाटन करने मे दक्षता प्राप्त की। इनके बहुश्रुत होने का रहस्य इनकी इसी साधना पर आधारित है। ये सनातनधर्म के सफल उपदेशक नही थे। इनके पहले व्याख्यानवाचस्पति प० दीनदयालु शर्मा तथा प० ज्वालाप्रसाद मिश्र इस कला के निष्णात विद्वान् तथा पारखी माने जाते थे।

इन दोनो विद्वानो का प्रभाव चतुर्वेदीजी पर प्रचुर परिमाण मे पडा था। इस तथ्य को इन्होने स्वय अपनी 'आत्मकथा' मे स्वीकार किया है। सनातनधर्म के उपदेशक के रूप मे इनको इतनी ख्याति प्राप्त हो गई कि आर्यसमाजियो तथा सनातनधर्मियो मे जहॉ भी कही शास्त्रार्थ होता था वहॉ सनातनधर्म के पक्षपाती अपनी ओर से अपना केवल एक ही प्रतिनिधि - प० गिरिधर शर्मा के रूप मे शास्त्रार्थ के लिए भेजते थे। प० दीनदयालु शर्मा का चतुर्वेदीजी की विद्वत्ता तथा व्याख्यान कुशलता एव युक्तियो के प्रतिपादन पर इतना विश्वास था कि वे भरी सभा मे यह घोषणा कर दिया करते थे कि "प्रतिपक्ष की ओर से शास्त्रार्थ करने के लिए कितने भी अधिक व्यक्ति आवे, परन्तु सनातनधर्म की ओर से केवल एक ही व्यक्ति शास्त्रार्थ करेगा और उसके हारने या जीतने पर सनातनधर्म का जय-पराजय स्वीकार किया जायेगा। और वह हमारे एकमात्र प्रतिनिधि व्यक्ति गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी होगे।" शर्माजी की इस घोषणा से ही पता चलता है कि चतुर्वेदीजी की योग्यता पर उन्हे कितना विश्वास था और गिरिधर शर्माजी के शास्त्रार्थ मे जीतने की कितनी दृढ आस्था थी।

हरिद्वार ऋषिकुल सनातनधर्मियो के द्वारा स्थापित शिक्षणसस्था थी। उसका मुख्य उद्देश्य बालको को सस्कृत शिक्षा प्रदान करना था। परन्तु उस शिक्षा मे सनातनधर्म का ज्ञान आवश्यक अग माना जाता था इसी कार्य की सिद्धि के लिए चतुर्वेदीजी ने विद्यालय के अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित होते ही ब्रह्मचारी नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया जिसमे इस धर्म के सिद्धान्तो की विशद चर्चा की जाती थी। इस पत्रिका मे सम्पादक के रूप मे ये स्वय लेख लिखते थे तथा सनातनधर्म के सिद्धान्तो की विस्तृत समीक्षा प्रकाशित करते थे। इसके साथ ही आर्यसमाजियो के आक्षेप का ये उत्तर भी दिया करते थे।

चतुर्वेदीजी की एक बडी भारी विशेषता यह थी कि ये सनातनी मर्यादा के पोषक होते हुए भी अपने विचारो मे स्वभावत प्रगतिशील थे। इनकी अभिलाषा थी कि किसी प्रकार सस्कृत के छात्रो और विद्वानो मे प्रगतिशीलता का उदय हो। इससे उनको राष्ट्र के पुनर्निर्माण मे सदा की तरह पुनरपि नेतृत्व का पद प्राप्त हो सके। इस अभिप्राय की सिद्धि के लिए ये दूसरे समसामयिक सगठनो मे भी सक्रिय सहयोग दिया करते थे। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए काशी गवर्नमेण्ट सस्कृतकालेज के पाठ्यक्रम मे जो सुधार (१९३७ से १९३९ और १९४८ से १९५० ई०) प्रान्तीय शासन ने किया था उसका काशी के ही पण्डितो ने प्रबल विरोध किया परन्तु चतुर्वेदीजी ने इसका पूर्णरूप से समर्थन किया था। इसी प्रकार महामना मालवीयजी द्वारा प्रवर्तित अछूतोद्धार तथा अछूत मन्त्रदीक्षा-आन्दोलन को भी इन्होने अपना प्रबल समर्थन दिया था। इन दोनो उदाहरणो से इनकी प्रगतिशीलता का पता चलता है

पुरस्कार तथा सम्मानप्राप्ति

गिरिधर शर्मा को इनकी अगाध विद्वत्ता के कारण विद्वत्समाज तथा सरकार दोनो ने अनेक उपाधियो से विभूषित किया था। ब्रिटिश सरकार ने इनकी अलौकिक विद्वत्ता से प्रसन्न होकर इन्हे महामहोपाध्याय की महनीय पदवी से अलकृत किया था। इसके पश्चात् स्वतत्र भारत की राष्ट्रीय सरकार ने इन्हे 'विशिष्ट पण्डित' की उपाधि प्रदान की और इन्हे सम्मानित पेन्शन दी। साहित्य अकादमी, दिल्ली ने इनके वैदिक विज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थ पर विशिष्ट 'अकादमी पुरस्कार' प्रदान किया था।

ये उपाधियाँ तथा सम्मान इनके वैदुष्य के सद्य परिचायक है जिससे पण्डितसमाज मे इनके समादर की भावना विशदरूप मे परिस्फुरित होती है। इसके अतिरिक्त विद्वत्समाज ने इनकी योग्यता के कारण इन्हे विद्यावाचस्पति तथा व्याख्यानवाचस्पति की पदवी प्रदान की थी। सम्पूर्णानन्द सस्कृतविश्वविद्यालय ने इन्हे विद्यावाचस्पति (डी० लिट्०) की उपाधि दी थी।

आपका शास्त्रज्ञान असीमित तथा अनुपम था और सबसे बडी विशेषता थी—आपकी शास्त्रवचनो पर निष्ठा। आप उस वृद्धावस्था मे भी मगलवार को सकटमोचन, बुधवार को गणेशजी तथा दुर्गाजी का दर्शन अवश्य करते थे। पर्वतिथियो पर गगास्नान आपका नित्य कर्त्तव्य था। अन्त तक मध्यनिशा मे महाविद्या की उपासना अनवरत करते थे और इन्द्रियो के शिथिल हो जाने पर भी दूसरे विद्वानो की सहायता से सर्वदा शास्त्रचिन्तन ही करते रहते थे।

संस्मरण

महामहोपाध्याय पडित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदीजी की ख्याति तो मैने बहुत दिनो से

सुन रखी थी, परन्तु इनके साक्षात्कार का अवसर मुझे तब मिला, जब ये गोविन्द मालवीय के आग्रह पर काशी विश्वविद्यालय मे स्थायी निवास बनाकर सस्कृतमहाविद्यालय मे सस्कृत शिक्षा-सचालक के पद पर नियुक्त किये गये। बात बडी पुरानी है। महामना मालवीयजी इन्हे हिन्दू-विश्वविद्यालय मे अध्यक्ष पद पर नियुक्त करना चाहते थे, परन्तु चतुर्वेदीजी अवकाश न होने के कारण इस पद को सुशोभित नही कर सके थे। इस बार गोविन्द मालवीयजी के दृढ आग्रह को टाल तो न सके, परन्तु किसी विशेष उत्तरदायी पद पर वार्धक्य के कारण आने से हिचकते थे। अन्तत 'सस्कृत शिक्षा सचालक' के रिक्त पद पर प्रतिष्ठित होकर ये हिन्दू-विश्वविद्यालय मे आये। यह १९५० ई० के मध्य की घटना है। उसी समय चतुर्वेदीजी से विशेष परिचित होने का सुयोग मुझे मिला। आपसे मिलकर बडी प्रसन्नता हुई। श्री गिरिधर शर्माजी की दृढ आस्तिक्यबुद्धि, सनातनधर्म के सिद्धान्तो पर अश्रान्त निष्ठा तथा उनके प्रचार प्रसार मे अक्लान्त परिश्रम, सस्कृत भाषा मे प्रौढ शास्त्रीय विषयो पर अबाधित गति से भाषण, विषय के प्रतिपादन मे विशिष्ट क्षमता आदि गुणो को अत्यन्त समीप से अवलोकन करने पर इनके प्रति मेरे हृदय मे स्वाभाविक आदर तथा सत्कार का भाव जागरित हुआ।

ये सनातनधर्म के वावदूक वक्ता एव मार्मिक व्याख्याता थे। इस विषय मे इनका नाम व्याख्यानवाचस्पति पण्डित दीनदयालु शर्मा तथा पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र के साथ श्रद्धा के साथ लिया जा सकता है। सत्य तो यह है कि ये तीनो मनीषी सनातनधर्म के सस्थापक, प्रचारक तथा प्रसारक के रूप मे जनता के हृदय मन्दिर मे देवता के रूप मे विराजमान थे। सनातनी जनता हृदय से इनकी पूजा करती थी और इनके द्वारा व्याख्यात धार्मिक तत्त्वो के ग्रहण करने मे अपना अहोभाग्य मानती थी। वह युग आर्यसमाज के अभ्युदय का था जब आर्यसमाजी विद्वान् सनातनधर्म के ऊपर बडा कठोर प्रहार किया करते थे, बडी उद्दण्ड तथा उद्धत भाषा मे बिना समझे हुए ही, सनाननधर्म के तत्त्व से अपरिचित होते हुए भी, उसके विरोध मे अपनी आवाज बुलन्द किया करते थे। सनातनी जनता अपने धर्म के सिद्धान्तो के रहस्य समझाने के लिए जिन वरेण्य विद्वानो के भाषणो तथा वचनो मे सातिशय श्रद्धा तथा विश्वास रखती थी, उनमे पण्डित गिरिधर शर्माजी का नाम अग्रगण्य था। मेरा तो विश्वास है कि आर्यसमाजी पण्डितो के अटपटे तथा अनगढ प्रश्नो का उत्तर देने के लिए चतुर्वेदीजी ने आर्षशास्त्रो का जितना मन्थन तथा आलोडन किया उससे इनकी विद्या मे परिष्कार आया, वाणी मे स्फूर्ति आई तथा भाषण मे प्रभावशालिता जनमी। ऐसे सैकडो धार्मिक शास्त्रार्थों के प्रधान सूत्रधार चतुर्वेदीजी ही थे। तभी तो इन एक विद्वान् के ऊपर ही जनता जय पराजय का पूरा उत्तरदायित्व सौपने के लिए उद्यत थी। आर्यसमाज के साथ शास्त्रार्थ मे जनता इनके जय को अपना विजय तथा इनके पराजय को अपना पराजय मानती थी। गुरुकुल के पण्डितो के साथ इनका जो ऐतिहासिक शास्त्रार्थ हुआ था,[1] वह इस तथ्य का सूचक है कि सनातनी जनता के हृदय मे चतुर्वेदीजी की धार्मिक वैदुषी पर कितना विश्वास था, कितनी आस्था थी।

सस्कृत के प्रचार प्रसार के लिए चतुर्वेदीजी अपनी छात्रावस्था से ही उद्योगशील थे। उसी समय इन्होने सस्कृतरत्नाकर नामक पत्र को जन्म दिया जो आगे चलकर उन्नति करता गया और सस्कृत भाषा के एक महनीय पत्र के रूप मे प्रतिष्ठित हुआ। इसके अनेक विशेषाक प्रकाशित हुए है जिनमे पण्डितो के लिए ज्ञातव्य अनेक विषयो का विवरण बडी योग्यता से दिया गया है। इस पत्र के आविर्भाव के अनन्तर अन्य प्रान्तो मे सस्कृत के पत्रो तथा पत्रिकाओं

---

१ इस शास्त्रार्थ के लिए द्रष्टव्य पण्डित गिरिधर शर्मा रचित 'आत्मकथा और सस्मरण' पृ० ७३-८२।

का जन्म हुआ जिसका श्रेय इस रत्नाकर को देना चाहिए। चतुर्वेदीजी इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुए, वरन् इन्होंने **संस्कृत-साहित्य-सम्मेलन** नामक एक विशिष्ट संस्था को ही जन्म दिया। इस सम्मेलन की स्थापना १९७० विक्रमी स० (= १९१३ ई०) मे की गई। प्रथम अधिवेशन हरिद्वार में महामहोपाध्याय पण्डित शिवकुमार शास्त्रीजी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ था। इस सम्मेलन मे दूर-दूर के विद्वानों ने सम्मिलित होकर इसे सम्पन्न तथा सफल बनाया। महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्माजी भी इसमें सम्मिलित हुए थे तथा अपना ललित निबन्ध पढ़कर तथा प्रस्तावो पर ललित भाषा में भाषण कर श्रोताओं का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया था।

पण्डित गिरिधर शर्माजी को **मधुर दार्शनिक** कहना नितान्त समुचित प्रतीत होता है। इनके दार्शनिक एव धार्मिक भाषण करने की क्षमता से तो लेखक पूर्व से ही परिचित था, परन्तु इनकी मधुरता तथा रसिकता से परिचय पाने का अवसर उसे माघस्नान के समय एक यात्रा में साथ जाने के समय हुआ था। वर्तमान महाराजा काशीनरेश के निमन्त्रण पर उनके साथ ही हम कई व्यक्ति एक अलग मोटर कार में काशी से प्रयाग गये थे। उसी समय मुझे उनकी भावयित्री प्रतिभा के दर्शन का सुन्दर सुयोग मिला था। साहित्य की चर्चा छिड़ी थी और उस समय हम लोग प्राचीन सस्कृत तथा ब्रजभाषा के कवियों के काव्यसौन्दर्य की खुलकर मुक्तकण्ठ से प्रशसा कर रहे थे। चतुर्वेदीजी ने बिहारी तथा देव, तुलसी तथा सूरदास के पद्यों को सुनाकर तथा उनकी साहित्यिक बारीकियो का बड़ा ही सुन्दर विवेचन कर हम सबों को मुग्ध कर दिया। क्यों न हो ? माथुर चौबे होने के नाते चतुर्वेदीजी का ब्रजमण्डल के साहित्यिक वातावरण से प्रभावित होना तथा कृष्णकाव्यो की ओर उनका नैसर्गिक आकर्षण होना सर्वथा बोधगम्य है। परन्तु वे अनुचित साहित्यिक पक्षपात को सहन नही करते थे। तभी तो 'ब्रह्मचारी' के अनेक लेखो मे उन्होने पण्डित पद्मसिंह शर्मा के द्वारा महाकवि बिहारी के काव्यगुणो को उछालने के लिए सस्कृत कवियो की अशोभन आलोचना की भरपूर निन्दा की है।

शिष्य-मण्डली

पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदीजी की शिष्य-परम्परा पर्याप्तरूपेण लम्बी है। सहारनपुर के जैन-विद्यालय, हरिद्वार के ऋषिकुल, जयपुर के महाराजा-सस्कृतकालेज तथा काशी के हिन्दू-विश्वविद्यालय के सस्कृतमहाविद्यालय में अध्यापन करने के कारण इन्हें अनेक प्रवीण विद्वानों को तैयार करने का गौरव प्राप्त है। इनमें से कतिपय विद्वानों का ही परिचय दिया जाता है—

(१) पं० परमेश्वरानन्द शास्त्री—ये चतुर्वेदीजी के प्रधान शिष्य है जिन्हें गुरु के जीवन-काल मे ही महामहोपाध्याय की महनीय पदवी से सत्कृत होने का गौरव प्राप्त है। ये अनेक वर्षों तक लाहौर के सनातनधर्म-सस्कृतकालेज के प्रधानाध्यापक रह कर अध्यापन करते थे। ये श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय विद्यापीठ दिल्ली के अनेक वर्षों तक प्राचार्य थे। इनके द्वारा अनूदित तैत्तिरीयसंहिता का प्रथम भाग (प्रथम काण्ड के प्रथम प्रपाठक के पञ्चम अनुवाक का परिष्कृत हिन्दी अनुवाद) तथा इनका अभिनन्दनग्रन्थ (परमेश्वरानन्द ग्रन्थ) विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित हैं।

(२) पं० लीलाधर शास्त्री—सनातनधर्म के प्रौढ़ व्याख्याता होने के कारण ये 'व्याख्यानभास्कर' की उपाधि से मण्डित थे। चूरू (बीकानेर) के ब्रह्मचर्याश्रम तथा लायलपुर

(पजाब) के ऋषिकुल-ब्रह्मचर्याश्रम के अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित होकर इन्होने सस्कृत तथा सनातनधर्म की महती सेवा की।

(३) पं० श्री कृष्णानन्द पन्त—(साहित्याचार्य, एम० ए०) मेरठ-कालेज मे सस्कृत तथा हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रहकर सस्कृत की विधिवत् उपासना अनेक वर्षों तक की।

(४) पं० विद्याधर शर्मा—(एम० ए०, एम० ओ० एल०) बीकानेर राज्य के डूँगर कालेज मे प्रधान सस्कृत प्रोफेसर, दार्शनिकमूर्धन्य तथा काव्यकलाकुशल विद्वान् थे।

(५) पं० तारादत्त पन्त—(एम० ए०, साहित्याचार्य) जोधपुर राजकीय सस्कृत कालेज के प्रधानाध्यापक थे।

(६) पं० मणिशंकर शर्मा विद्याभास्कर—(बडौदा) चतुर्वेदीजी के मान्य शिष्य थे।

(७) चतुर्वेदीजी के ज्येष्ठ पुत्र **पं० देवीदत्त शर्मा, तथा**

(८) कनिष्ठ पुत्र **पं० शिवदत्त चतुर्वेदी** दोनो ही सस्कृत साहित्य के अच्छे विद्वान् है। कनिष्ठ पुत्र यही हिन्दू विश्वविद्यालय के सस्कृतमहाविद्यालय मे साहित्यशास्त्र के सफल अध्यापक है। कविता भी अच्छी करते है तथा नाटको के अभिनय-व्यापार मे भी वे बडे सफल तथा ओजस्वी अभिनेता है।

(९) पण्डितचक्रवर्ती रामाधीन चतुर्वेदी—ये गिरिधर शर्माजी के अन्तिम कोटि के शिष्य है। व्याकरणशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् है तथा इसके अध्यापन मे भी लब्धवर्ण है। इनका शोधनिबन्ध सस्कृतग्रन्थो मे भाषाविज्ञान के रहस्यो का उद्घाटन करने वाला महनीय ग्रन्थ है। हिन्दूविश्वविद्यालय मे व्याकरण विभाग के रीडर पद से हाल मे ही ये सेवामुक्त हुए हैं।[1]



१. चतुर्वेदीजी के शिष्यो के विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य 'सस्कृतरत्नाकर' का चतुर्वेदी विशेषाक (पृ० ६२-६६)।

पण्डित देवनायकाचार्य

(आस्पद—उपाध्याय; उपाधि—व्याख्यानरत्नाकर)

पण्डित देवनायकाचार्य सस्कृत के गम्भीर विद्वान् थे। इनकी सबसे बडी विशेषता यह थी कि इनके जीवन मे विद्वत्ता के साथ कर्मठता भी विद्यमान थी। ये सस्कृत के केवल तलस्पर्शी विद्वान् ही नही थे, बल्कि भारतीय सस्कृति तथा सनातनधर्म के प्रभावशाली व्याख्याता भी थे। इनका व्यक्तित्व बड़ा ही भव्य तथा दिव्य था। गौर वर्ण, उन्नत ललाट, आजानु बाहु, मासल शरीर तथा सुन्दर मुखाकृति ने इनके व्यक्तित्व को दिव्यता प्रदान की थी। इसके साथ ही श्वेत धौत वस्त्र, चीनाशुक से निर्मित अगरक्षा तथा उत्तरीय समधिक शोभा प्रदान करते थे। आप रामानुजी सम्प्रदाय के अनुयायी वैष्णव थे। अत आपके गौर तथा उन्नत ललाट प॰ ॰॥ युक्त रामानुजी तिलक अत्यधिक शोभायमान होता था।

अध्यापन

प० देवनायकाचार्य ने काशी के प्रसिद्ध वैयाकरण महाशयजी से व्याकरण तथा दर्शन शास्त्रो का समधिक अध्ययन किया था। इसके पश्चात् ये काशी की ही एक प्रसिद्ध पाठशाला मे अनेक वर्षों तक अध्यापन का कार्य करते रहे। ये एक सफल अध्यापक थे। आपकी अध्यापन-कला की सफलता की चर्चा अल्पकाल मे ही सर्वत्र होने लगी थी। इस प्रकार अध्यापक रूप मे आपका यश सब जगह फैल गया। अन्त मे इन्होने साङ्गवेद विद्यालय मे अवैतनिक अध्यापक के रूप मे कार्य किया।

कर्मठता

प० देवनायकाचार्य जैसे कर्मठ विद्वान् की प्रतिभा के विकास के लिए सस्कृतपाठशाला का क्षेत्र अत्यन्त सकुचित था। अत आपने इस पद का परित्याग कर दिया। महामहोपाध्याय प० लक्ष्मणशास्त्री द्रविड ने जब काशी मे **वर्णाश्रम-स्वराज्यसंघ** की सन् १९२७ ई० के आसपास स्थापना की तब प० देवनायकाचार्यजी इसके प्रधान मत्री नियुक्त किये गये। इस पद को इन्होने अनेक वर्षों तक सुशोभित किया और बडी योग्यता तथा तत्परता के साथ अपने उत्तरदायी पद का भार वहन किया। सन् १९२९ ई० मे जब कॉग्रेस का अधिवेशन लाहौर मे हुआ था, तब सनातनियो ने इसी सस्था के तत्त्वावधान मे 'शारदा एक्ट' के विरोध मे कॉग्रेस अधिवेशन मे अपना उत्कट विरोध प्रदर्शित किया था। इस विरोधी प्रदर्शन के नेता देवनायकाचार्यजी ही थे। अनेक वर्षों तक न सनातनियो ने इनके नेतृत्व मे अपना विरोध उग्र रीति से किया था। परन्तु अन्त मे शान्त हो गये।

प्रधानमन्त्री के रूप मे वर्णाश्रमसघ के सिद्धान्तो का समस्त देश मे घूम-घूम कर प्रचार करना इन्ही का कार्य था जिसे इन्होने समुचित रीति से सम्पन्न किया। देश के विभिन्न भागो मे इस सघ के जो विभिन्न अधिवेशन हुए उन सबको सघटित तथा सयोजित करना भी इन्ही



पं० देवनायकाचार्य

का कार्य था। आप भाषण की कला मे अत्यन्त पटु थे। अत आपने समस्त भारत मे घूम-घूमकर सनातनधर्म का प्रचार किया। इस सस्था ने अपने सिद्धान्तो के प्रचार के लिए 'ब्राह्मणमहासम्मेलन' नामक एक पत्र- जिसका नाम बाद मे परिवर्तित होकर **पण्डितपत्र** हो गया था—भी प्रकाशित किया था। इसके सम्पादन तथा प्रकाशन मे भी आपका सक्रिय सहयोग था। इस प्रकार आपने अनेक वर्षों तक वर्णाश्रम-स्वराज्यसघ के सिद्धान्तो का प्रचार तथा प्रसार किया। कुछ वर्षों के पश्चात् जब इस सस्था के कार्यों मे शिथिलता आने लगी तथा इसमे ह्रास के लक्षण दिखाई पडने लगे तब आपने इससे अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया।

अपने जीवन की गोधूलि मे आपने काशीस्थ रामानुजी सम्प्रदाय की गद्दी की महन्ती स्वीकार कर ली थी और अपने जीवन के अन्तिम काल तक इस गद्दी को सुशोभित करते रहे। इस प्रकार आपने अपने कर्मठ जीवन की समाप्ति शान्तिपूर्वक की।

एक संस्मरण

प० देवनायकाचार्य को भाषण की अद्भुत शक्ति प्राप्त थी। आप वावदूक ही नही, वाग्मी भी थे। आप जब जोश मे आकर भाषण देने लगते थे, तब आपकी वाणी मे अद्भुत बल और तेज परिलक्षित होता था। आपके भाषण का प्रभाव श्रोता पर पडे बिना नहीं रह ग। ग। ऐसे ही एक पुरजोश भाषण की चर्चा यहाँ करना अप्रासगिक न होगा।

सभवत सन् १९३४ ई० की बात है। महात्मा गाँधी जेल से छूट कर बाहर आ गये थे। उन्होने एक वर्ष तक राजनीति को 'तिलाञ्जलि' देकर केवल हरिजनोद्धार का कार्य करने का सकल्प ले लिया था। इसी सिलसिले मे वे देश के विभिन्न नगरो का तूफानी दौरा करते हुए काशी भी पधारे थे। काशी मे उनकी सभा का आयोजन सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल, **कमच्छा** के विशाल प्रागण मे किया गया था। इस सभा के सयोजक थे श्री श्रीप्रकाशजी। उस दिन **कमच्छा** की इस विशाल सभा मे लाखो लोगो की भीड थी। सारा मैदान खचाखच भरा हुआ था। महात्मा गाँधी उचित समय से सभा म पधारे और उन्होने धीर, गम्भीर तथा मन्द स्वर मे मानवता के आधार पर हरिजनो को भी मदिरप्रवेश का अधिकार देने पर बल दिया। इसके पश्चात् श्रीप्रकाशजी ने यह घोषणा की कि यदि कोई विरोधी मत वाला अपना विचार प्रकट करना चाहे, तो वह मच पर आ सकता है। इस घोषणा के शीघ्र ही बाद एक भव्य व्यक्तित्व वाला विद्वान् मच की सीढियो पर जल्दी से चढता हुआ दिखाई पडा। ये देवनायकाचार्य जी थे जो विरोधियो द्वारा आयोजित इस महती सभा मे अपना मत उपस्थित करने के लिए आये थे। आपको केवल १० मिनट का ही समय दिया गया। परन्तु इस अल्प काल मे आपने अपनी प्रगल्भ वाणी तथा अद्भुत वक्तृताशक्ति के द्वारा जो भाषण दिया वह अत्यन्त प्रभावोत्पादक था। आपकी वाणी मे बल था, जोश था और भाषणप्रणाली मे तेजी थी। आपने अनेक शास्त्रीय मतो का उद्धरण देकर हरिजनो को मदिरप्रवेश का अधिकार न देने के पक्ष मे अभिमत व्यक्त किया। लाखो से भरी उस सभा ने इस विपक्षी विद्वान् के भाषण को, जिसमे जोश के साथ होश भी था तथा शास्त्रवचन के सन्निकट लौकिक तर्क भी मौजूद था, बडी शान्ति के साथ सुना। उस दिन इनके तर्कों मे भले ही कोई सहमत न हुआ हो परन्तु इनकी भाषणकला से, वाग्मिताशक्ति से प्रभावित हुए बिना कदाचित् ही कोई व्यक्ति रहा हो। सभवत उस दिन प० देवनायकाचार्यजी ने अपने जीवन का सर्वोत्तम तथा सुन्दरतम भाषण दिया था। इस भाषण को सुनने से ऐसा ज्ञात हुआ कि इनकी वाणी मे कितनी शक्ति है। उस ऐतिहासिक सभा का दृश्य आज भी मेरे मानसपटल पर सजीव रूप से अकित है।

दर्शन के तत्त्वो को सुचारु रूप से समझाने तथा प्रकट करने की उनकी शक्ति प्रशसनीय तथा अद्भुत थी। १६४२ ई० मे नागपुर विश्वविद्यालय के अन्तर्गत 'राव बहादुर बापूराव दादा साहेब किनखोडे व्याख्यान माला' के अन्तर्गत इन्होने भारतीय न्यायशास्त्र के ऊपर अनेक व्याख्यान दिये थे जिनमे न्याय के स्वरूप, न्याय का वैशिष्ट्य, पश्चिमी न्याय के साथ भारतीय न्यायशास्त्र की तुलना आदि विषयो पर अनेक प्रवचन देने का सुयोग इन्हे प्राप्त हुआ था। यह व्याख्यानमाला बडी ही सफल थी तथा सर्वत्र समादृत हुई थी। व्याख्यान के अन्त मे नागपुर के तत्कालीन हाईकोर्ट के जज न्यायमूर्ति श्री भवानीशकर नियोगी ने इनके विषय मे जो उद्गार प्रकट किया था वह नितान्त चमत्कारी तथा आकर्षक है। उनके शब्द इस प्रकार है --"न्यायशास्त्र जैसे विशाल तथा दुरूह सिद्धान्तो का अत्यन्त सूक्ष्म विचार उपस्थित कर व्याख्याता देवनायकाचार्यजी ने विद्वानो को आज स्तब्ध तथा चकित कर दिया है। इस विषय मे पण्डितजी की बडी चातुरी है। विद्या एव भारतीय ज्ञानभाण्डार का रूप देखना हो तो सच्ची बात यह है कि इन विद्वानो को ही देखना चाहिए, भारतीय शास्त्रो की महत्ता देखकर चित्त मुग्ध हो जाता है।"[१]

पण्डितजी का जन्म उत्तरप्रदेश के जौनपुर मण्डल मे हुआ था। ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे। कलकत्ता मे कारदुर्घटना मे इनकी असामयिक मृत्यु हो गई थी।

इस प्रकार महामहोपाध्याय प० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी तथा रामानुजाचार्य श्री देवनायकाचार्य -दोनो ही सस्कृतविद्या तथा भारतीय सस्कृति के स्वय नैष्ठिक उपासक थे तथा अपने गम्भीर चिन्तन तथा मनन का परिणत फल इन दोनो ने अपने भाषणो के माध्यम से भारतीय जनता तक पहुँचाया और इस कार्य मे ये दोनो विद्वान् पूर्णतया सफल रहे। सनातन धर्म के प्रचार तथा प्रसार मे इन दोनो की तार्किक बुद्धि तथा शास्त्रीय मेधा की जितनी प्रशसा की जाय, स्वल्प ही होगी।



१ इस व्याख्यानमाला के वर्णन के लिए देखिये—साङ्गवेदविद्यालय रामघाट, काशी का २४वाँ कार्य-विवरण, (पृष्ठ २६–३८)।

पण्डित अयोध्यानाथ शर्मा

(आस्पद—त्रिपाठी, उपाधि—ज्योतिषसम्राट्)

पण्डित सुधाकर द्विवेदीजी के ही समय मे काशी के ईसरगगी मुहल्ले मे सरयूपारीण ब्राह्मणो का एक प्रतिष्ठित कुल निवास कर रहा था जिसमे फलित ज्योतिष विद्या का अनुशीलन बडे आग्रह से किया जा रहा था। इस कुल मे फलित ज्योतिष की गद्दी चलती थी जो आज भी विद्यमान है और अच्छे ढग से अपनी स्थिति बनाये हुए है। इस गद्दी के लोकविश्रुत विद्वान थे पण्डित अयोध्यानाथजी जो बडे ही सदाचारी, धर्मनिष्ठ एव फलित ज्योतिष के मर्मज्ञ मनीषी माने जाते थे। इनके यहाँ कुण्डली एव विवाहादि कृत्यो के परामर्श के निमित्त जिज्ञासु लोगो का ताता लगा रहता था जिसमे दूर-दराज के धनीमानी लोग एव राजा महाराजा भी उपस्थित होते थे। प० अयोध्यानाथजी फलित के मार्मिक विद्वान् तो थे ही, फलत सदाचारी ब्राह्मण होने के कारण भी इनका फलादेश बडा ही सटीक जमता था और इनकी भविष्यवाणी अधिकाश मे सफल होती थी

इस विषय का एक ही प्रसग यहा उपस्थित किया जा रहा है। प्रथम यूरोपीय महायुद्ध का भयकर रूप लोगो के सामने आ गया था अग्रेजी शासन को सहायता देना भारतीय राजा महाराजाओं का परम पवित्र कर्तव्य माना जाता था वे धन से, जन से तथा मन से अग्रेजो की सहायता करने के लिए वचनबद्ध थे। इतना ही नही, वे स्वय अपने को अग्रेजी शासन को समर्पित कर देते थे और यूरोप के युद्ध के मोर्चे पर स्वय उपस्थित होकर युद्ध के सचालन मे भरपूर सहायता देते थे। ऐसे ही अवसर पर जोधपुर के महाराजा को फ्रास के युद्धमैदान मे जाने का अवसर उपस्थित हुआ, तब उन्होने पण्डित अयोध्यानाथजी से जाने का मुहूर्त पुछवाया। पण्डितजी ने बहुत ही छान बीन कर उन्हे एक शुभ मुहूर्त प्रस्थान का बतलाया जिस अवसर पर वे स्वय फ्रास पहुँचे। जर्मन सैनिको के तीव्र आक्रमण से अग्रेजो तथा मित्रराष्ट्रो की सेना विचलित हो उठी थी। नये नये आग्नेय अस्त्रो का प्रथम बार प्रयोग सैनिको मे भय तथा आतङ्क पैदा करने मे नितान्त कृतकार्य था। ऐसे ही एक भयानक मोर्चे पर जोधपुरनरेश की ड्यूटी थी। वे अपना कर्तव्य भली भाँति निभा रहे थे कि जर्मनो द्वारा फेका गया एक भयानक बम महाराजा की ओर आया, परन्तु भगवान् की दया से वह उनसे कुछ दूर फूट कर स्वय नष्ट हो गया। महाराजा इस प्रहार से बाल-बाल बच गये। युद्ध समाप्त होने पर वे कुशलपूर्वक अपनी राजधानी जोधपुर लौट आये और युद्धसेवा के निमित्त तत्कालीन वाइसराय के द्वारा अनेक प्रकार से सत्कृत तथा समादृत किये गये। उनका बडा नाम हुआ। अग्रेजो मे उनकी वीरता तथा प्रताप की तूती बोलने लगी।

जोधपुरनरेश ने सानन्द भारत आने पर पण्डित अयोध्यानाथजी को अपनी राजधानी मे बुलाया और अपनी युद्ध-यात्रा से सकुशल लौट आने की तथा बमप्रहार से बाल बाल बचने

की घटना कह सुनाई। ज्योतिषीजी के शुभ प्रयाण-मुहूर्त की प्रशंसा करते हुए उन्होने इस अवसर पर कुछ माँगने का इनसे आग्रह किया। पण्डितजी ने इसे यों ही टाल दिया, परन्तु जब महाराजा ने विशेष रूप से आग्रह किया, तब पण्डित अयोध्यानाथजी ने जोर देकर कहा--"महाराज, आपका आग्रह उपेक्षणीय नहीं है। मेरी अभिलाषा अवश्य पूरी करें। मैं यही चाहता हूँ कि जिस बम के प्रहार से आप बचे है, उसी की आकृति का एक पार्थिव शिवलिंग बनाकर आप नित्य प्रेमपूर्वक पूजन किया करें---बस यही मेरी माँग है, यही मेरी याचना है!" महाराजा ज्योतिषीजी की इस अभिलाषा को सुनकर गद्गद हो गये। उनकी निःस्पृहता पर वे रीझ उठे। पण्डित अयोध्यानाथजी की बात उन्होने मान ली, उनका विधिवत् सत्कार किया तथा उसी दिन से वे पार्थिवपूजन करने लगे।

फलित ज्योतिष के चमत्कार की यह कहानी घर-घर प्रसिद्ध हो गई। ऐसे विज्ञ ज्योतिषी थे प० अयोध्यानाथजी।

पण्डित अयोध्यानाथजी एक रसिक कवि भी थे। ये सस्कृत एव हिन्दी मे बड़ी ही सरस कविता किया करते थे। वह समस्यापूर्ति का युग था। ये नाना प्रकार की समस्याओ की पूर्ति अनोखे ढग से किया करते थे। उर्दू मे भी ये कविता करते थे और अच्छी कविता करते थे। उस दिन राय कृष्णदासजी ने उनकी एक बड़ी ही चमत्कार भरी सूक्ति कह सुनाई। इस मकते को पूरा करना था--

हैं वही काफिर कि जो
बन्दे नहीं 'इसलाम' के।

इसका अर्थ है कि जो व्यक्ति इसलाम अर्थात् मुसलमानी धर्म के सेवक नही है वे काफिर है---बेधर्मी है। यह पक्ति तो हिन्दू-धर्मानुयायियो के ऊपर एक गहरा प्रहार ही है। पण्डितजी ने इसकी पूर्ति इतनी कुशलता और मनोज्ञता से की कि वह पढ़ने ही लायक है--

लाम के मानिन्द हैं
गेसू मेरे घनश्याम के,
हैं वही काफिर कि जो
बन्दे नहीं इस 'लाम' के ॥

आशय है---मेरे घनश्याम कृष्णचन्द्र के गेसू---घुँघराले बाल---उर्दू अक्षर 'लाम' के समान है। उर्दू का लाम अक्षर ऊपर से नीचे आकर मुड़ जाता है। हमारे कृष्णचन्द्र के बाल भी उसी प्रकार सिर से नीचे आकर गरदन के पास मुड गये है। जो व्यक्ति इस 'लाम' के बन्दे नही है वे ही यथार्थ मे बेधर्मी है ---काफिर है।

पूर्ति का चमत्कार देखने ही योग्य है। मूल में 'इसलाम' एक ही शब्द था, परन्तु पण्डित अयोध्यानाथजी ने इस शब्द को दो शब्दो में तोड़कर एक बडा ही सुभग चमत्कार उत्पन्न कर दिया है तथा हिन्दू-धर्मावलम्बियो को इसलाम के कठोर प्रहार से बड़ी खूबसूरती से बचा लिया है !!!

पं० अयोध्यानाथजी का फलित ज्योतिष का ज्ञान बड़ा ही अपूर्व तथा विस्मयजनक था। कुण्डली के आधार पर किया गया इनका फलादेश बड़ा ही सटीक उतरता था। इसीलिए इनके यहाँ जिज्ञासुजनों की बडी भीड़ लगा करती थी। इसके साथ ही साथ ये एक बड़े साधक भी थे। ये गोमाता के बड़े निष्ठावान् भक्त थे। दैनिक कार्य आरम्भ करने के पूर्व ये गोमाता

की षोडशोपचार पूजा करने के पश्चात् ही अपनी गद्दी पर बैठते थे और ज्योतिष के कार्य का श्रीगणेश करते थे। इन्होने सस्कृत की एक पाठशाला भी खोल रखी थी जिसमे पढ़ने वाले छात्रो के भोजन-छाजन का प्रबन्ध ये स्वय करते थे। इस प्रकार ये जो धन कमाते थे उसका सदुपयोग भी किया करते थे।

प० अयोध्यानाथजी के विद्यावैभव से प्रभावित होकर ब्रिटिशसरकार ने इनको महामहोपाध्याय की उपाधि से अलकृत किया था। ये सस्कृत की सुन्दर कविता भी करते थे। इन्होने भगवान् राम और जानकी की स्तुति मे एक 'षट्पदी' की भी रचना की थी। महामहोपाध्याय पण्डित अयोध्यानाथ त्रिपाठी ज्योतिष के विशिष्ट विद्वान् होने के अतिरिक्त सस्कृत की प्रौढ़ काव्यरचना करने मे भी पूर्णतया निष्णात थे। वे बडे रसिक थे तथा साथ ही साथ भगवान् रामचन्द्र के श्रद्धालु भक्त थे। उनकी रसिकता की प्रकाशक रचना ऊपर दी गई है। रामचन्द्रविषयक कमनीय षट्पदी यहा दी जा रही है जो कला की दृष्टि से नितान्त ललित, हृदयावर्जक तथा अभिनन्दनीय है।

श्रीराम-षट्पदी

नाथ महीजाजाने जाने भक्तिं नुतिं परां नो वा।
नो वार्तापि कृता ते ताते त्वयि मे नतिर्भूय.॥
करुणामृतजलपूर्णं स्वाश्रितजनचातकेष्टदं तूर्णम्।
समहेशबर्हिनृत्यं रामघनं नौम्यहं नित्यम्॥
निर्धनसुतोपि नून लभतेऽभीष्टान्मनोरथान् स्वपितुः।
त्व जगदीश पिता मे यच्छसि किन्नो मनोभीष्टान्॥
शम्भुर्ध्याननिमग्नो ब्रह्मा व्यग्रो हरी रमासक्तः।
राघव सम्प्रति शरणं कम्प्रति यामीति मां ब्रूहि॥
दशरथनन्दन राघव दशरश्मिशतान्वयावतंसमणे।
दशदिङ्नायक पालय दशमौलेर्दशनगभिभञ्जन॥
दशकण्ठकण्ठकदलीकान्तारकान्तिच्छिदावेतौ द्वौ।
लोकावनैकहेतुं देयास्तां ते भुजौ श्रेयः॥
त्वत्पदजलजरसज्ञा सज्ञाना भवति सन्मतिश्च यया।
अवधेश षट्पदीयं हरतु मदीयं मनोदु.खम्॥

शर्माजी से प्राचीन

गुजराती ज्योतिषी

काशी मे गुजराती ज्योतिषियो की प्रकृष्ट प्रभुता विराजती रही है। ज्योतिषशास्त्र-मार्तण्ड **पण्डित दुर्गाशकरजी पाठक** का सक्षिप्त प...चय पहले दिया जा चुका है। उन्ही के प्रधान शिष्य गणकाग्रणी **पण्डित रामनाथजी ज्योतिषी** का जीवनवृत्त सक्षेप मे यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

विक्रम सवत् १८५९ (१८०२ ई०) की रामनवमी तिथि को **भट्ट श्री रामनाथ ज्योतिषी** का जन्म काशी नगरी मे हुआ। इनके पिता का नाम भट्ट श्री रघुनाथजी था।

इनके पूर्वपुरुष **भट्ट श्री पुरुषोत्तमजी** विक्रम सवत् १७२७ (१६७० ई०) मे गुजरात से काशी में निवास करने की इच्छा से आये और यही वे जमकर रहने लगे। वे बडे ही विज्ञ पौराणिक थे। श्रीमद्भागवत के मर्मज्ञ विद्वान् तथा भागवती कथा के अलौकिक व्याख्याता व्यास। इनका वश आज भी काशी मे विद्यमान है। भट्ट श्री रामनाथजी गुर्जरब्राह्मणान्तर्गत श्री गौड जाति के थे और स्वजातीय महनीय दैवज्ञ पण्डित दुर्गाशकरजी पाठक के पट्टशिष्य थे। त्रिस्कन्ध ज्योति.शास्त्र के पारगत विद्वान् होने के अतिरिक्त ये श्रौत अनुष्ठानो मे सदा तत्पर रहते थे। कोटा, झालरापाटन आदि रियासतो के राजा और स्थानीय गोपालमन्दिर के तत्कालीन अधिष्ठाता **गोस्वामी श्री गिरिधरजी महाराज** आपके प्रति अत्यन्त पूज्यभाव रखते थे। ये ज्योतिषशास्त्र में उल्लिखित विभिन्न यन्त्रो के निर्माण मे अत्यन्त कुशल थे। सिद्धान्त ज्योतिष के अनुसार 'खगोल'-सम्बन्धी अनेक अनुपलब्ध यन्त्रो का निर्माण इन्होने स्वय अपनी बुद्धि से किया था, जिनमे **ध्रुवभ्रमण** नामक यन्त्र मुख्य है। सुनते है कि आकाशचक्र मे भ्रमण करने वाली द्वादश राशियों के अद्भुत एव अद्यावधि अप्रकाशित चित्र आपके पौत्र पण्डित श्री गौतमजी ज्योतिषी के पास विद्यमान है। आपने ज्योतिषशास्त्र के अनेक विद्वानो को तैयार किया था जिनमे **श्री अनन्तरामजी ज्योतिषी, श्री नारायणदेव दैवज्ञ** आदि मुख्य थे।

इनका निधन विक्रम सवत् १९२५ (१८६८ ई०) मे काशी मे हुआ। इनका चित्र सागवेद विद्यालय (रामघाट, काशी) मे स्थापित किया गया है।[1]

शर्माजी के पट्ट शिष्य

पण्डित हृषीकेश उपाध्याय

(आस्पद—उपाध्याय, उपाधि—ज्योतिषरत्नाकर)

काशी मे आधुनिककाल के ज्योतिर्विदो मे सुव्यवस्थित 'पञ्चाङ्ग' के प्रणेता के रूप मे पण्डित हृषीकेश उपाध्याय का नाम निश्चयेन शीर्षस्थान पर विराजमान है। इनका जन्म काशी के ही भदैनी मुहल्ले मे हुआ। आपके पिता का नाम **पण्डित रामेश्वरदत्त उपाध्याय** था जो अपने समय के महनीय ज्योतिषियो मे गिने जाते थे। ये साधारण कोटि के व्यक्ति न होकर बड़े कर्मठ, धार्मिक एव समाजसेवी पुरुष थे। काशी नगरी के इतिहास मे गत शताब्दी के तृतीय चरण के आसपास सम्पन्न होने वाला धार्मिक सघर्ष 'रामहल्ला' के नाम से आज भी वृद्धजनो के स्मृतिपथ मे विराजमान है। बात यह हुई कि भदैनी मुहल्ले मे भगवान् रामचन्द्रजी का एक बड़ा ही प्राचीन मन्दिर है जो काशीवासियो के द्वारा समादृत एव पूजित है। भदैनी मे गगाजी से पानी खीचकर नगरवासियो को पानी पहुँचाने के लिए पानी की मशीन बैठाई जाने लगी। स्थान सकीर्ण था। उसे विस्तृत बनाने के उद्देश्य से इस प्राचीन राममन्दिर को एकदम ध्वस्त करने की योजना अग्रेजी सरकार ने बना रखी थी। जब यह कार्यरूप मे परिणत किया जाने लगा, तब काशी की धार्मिक जनता ने इसका कड़ा प्रतिवाद किया। पुलिस के साथ उसका बड़ा सघर्ष हुआ। विद्रोह की आग पूरे शहर में फैल गई। इसका नेतृत्व पण्डित रामेश्वरदत्त उपाध्याय ने बड़े उत्साह एव ओजस्विता के साथ किया। इसके लिए वे पकड़े गए। जेल में भी उन्हे जाना पडा, परन्तु अपने निश्चय से वे बिल्कुल

---

१ यह विवरण 'साङ्गवेद-विद्यालय' के दशम वार्षिक विवरण (पृ० ७, संवत् १९८७ विक्रमी) के आधार पर तैयार किया गया है। इसके लिए लेखक विद्यालय का आभार मानता है।

नही हटे । काशी के विद्वानो से इस मन्दिर को अन्यत्र ले जाने के लिए व्यवस्था माँगी गई । पण्डितो ने एक स्वर से इसे धार्मिकदृष्ट्या नितान्त अनुचित, अव्यावहारिक एव अशास्त्रीय बतलाया । शिक्षित जनमत के सामने सरकार को झुकना पडा था । राममन्दिर वहाँ से नही हटा और इस सघर्ष मे जेल मे जाने वाले सब व्यक्तियो की रिहाई कर दी गई । पण्डित रामेश्वरदत्तजी ने इस सघर्ष मे अपने को डाल कर बडा कष्ट उठाया । अन्त मे उनके सिद्धान्त की विजय हो गई । यही सघर्ष 'रामहल्ला' के नाम से प्रसिद्ध है ।

पण्डित रामेश्वरदत्तजी बडे ही विज्ञ दैवज्ञ थे । ये अपने ही बल बूते पर उस समय एक लघुकाय पचाग निकाला करते थे जो छोटे आकार मे बीस पचीस पृष्ठो का हुआ करता था और दो चार आने मे बिका करता था । उन्होने अपने ज्येष्ठ पुत्र हृषीकेशजी से आग्रहपूर्वक कहा था "इस छोटे पचाग की अवहेलना नही करना । यही पचाग तुमको और तुम्हारे परिवार को कीर्तिशाली बनायेगा । इसे आस्थापूर्वक विशुद्ध रीति से निकालते जाना । यह तुम्हारी विद्या एव लक्ष्मी दोनो का प्रसार करने वाला सिद्ध होगा ।" उनकी वाणी अक्षरश सिद्ध हुई । हृषीकेशजी ने अपने पूज्य पिताजी की आज्ञा का अक्षरश पालन किया । आज यह आकार प्रकार मे विशाल तथा सुव्यवस्थित बन कर 'हृषीकेश पचाग' के नाम से भारत मे विश्रुत है । ज्योतिष का मर्मज्ञ विद्वान् होने के कारण हृषीकेशजी ने अपनी व्यावहारिक बुद्धि से इसके आकार को ही बृहद रूप नही दिया, अपितु इसे आवश्यक धार्मिक तथा ज्योतिष सम्बन्धी सामग्री से भी सम्पन्न कर इसका कायाकल्प ही कर दिया । पण्डित हृषीकेश उपाध्याय के जीवन की यह महती उपलब्धि है । यह बडे ही हर्ष का विषय है कि उनके सुयोग्य पौत्रो ने अपने प्रपितामह तथा पितामह की कीर्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने मे अपना पूरा सहयोग तथा अध्यवसाय लगा रखा है । ज्योतिष परम्परा का यही पूरा निर्वाह है आदरणीय तथा माननीय ।

पण्डित हृषीकेशजी ने गणित ज्योतिष का अध्ययन म० म० सुधाकर द्विवेदीजी से तथा फलित का अनुशीलन पण्डित अयोध्यानाथ शर्मा से किया शर्माजी की फलित विद्या की जानकारी बडी ही गम्भीर थी । हम ऊपर देख चुके है कि उन्होने अपनी ज्योतिषीय गणना से अलौकिक कीर्ति अर्जित की थी । इन दोनो गुरुओं के चरणो मे बैठकर पण्डित हृषीकेशजी त्रिस्कन्धज्योतिष का गम्भीर अनुशीलन कर प्रथम श्रेणी के ज्योतिषियो मे गिने जाने लगे । इन्होने ज्योतिष विषय मे 'आचार्य परीक्षा' सस्कृतकालेज से उत्तीर्ण की । ज्योतिष के सूक्ष्म रहस्यो के उद्घाटन मे ये सर्वथा कृतकार्य थे । आचार्य परीक्षा पास करने के अनन्तर ये प्रतापगढ के स्कूल मे सस्कृत पढाने लगे । उसी समय किसी महाराष्ट्री ज्योतिषी ने सुधाकर द्विवेदी की पचाग सम्बन्धी मान्यताओं मे अनेक त्रुटियाँ दिखला कर उनकी विमल कीर्ति को धूमिल करने की दुष्ट चेष्टा की । इस पर हृषीकेशजी ने उस ज्योतिषी के लेख का खण्डन युक्तियो तथा तर्कों की सहायता से इतनी विद्वत्ता से किया कि इनके तर्कों के खण्डन करने का साहस उसे नही हुआ । इस लेख मे इन्होने अपना नाम नही दिया था, परन्तु सुधाकरजी को समझते देर न लगी कि ऐसा युक्तिपूर्ण लेख लिखने की क्षमता हृषीकेशजी को छोडकर उनके किसी अन्य छात्र मे नही है । गुरुजी ने अपनी प्रसन्नता का परिचय शिष्य को सस्कृतकालेज मे समुचित पद पर नियुक्त करा कर ही दिया । तब से पण्डित हृषीकेशजी ने स्कूल की वह नौकरी छोड दी और सस्कृतकालेज मे ज्योतिष के प्राध्यापक पद पर नियुक्त होकर काशी मे रहने लगे ।

कालक्रम से उन्नति कर ये ज्योतिषविभाग के अध्यक्ष पद पर विराजमान रहे। अनेक सुयोग्य शिष्यो को तैयार करने का गौरव इन्हे प्राप्त है।

स्वभाव से ये बडे ही हँसमुख, प्रसन्नवदन तथा निश्छल व्यक्ति थे। अपने अभिन्नहृदय मित्र म० म० देवीप्रसाद कविचक्रवर्तीजी के साथ हास्य तथा विनोद करते हुए लेखक ने इन्हे अनेक बार देखा है। चौक के पास सत्यनारायण मन्दिर के सामने ही वैद्यराज रघुवीरजी के औषधालय मे काशी के इन तीनो मस्त पण्डितो को हास्य विनोद से लोट पोट होकर अपनी सन्ध्या बिताते हुए देख कर कौन व्यक्ति इनके जीवन्त व्यक्तित्व से प्रभावित नही होता था? सरस्वती के साथ ही साथ भगवती लक्ष्मी की इनके ऊपर अटूट अनुकम्पा थी जिसे विशेष पुण्य का ही फल मानना चाहिए। इनके पुण्य तथा सुकृत का ही यह परिणाम है कि इनका परिवार लक्ष्मी और सरस्वती का कृपाभाजन बना हुआ पाण्डित्य की मर्यादा को आज भी बनाये हुए है। तथास्तु।



पण्डित सीताराम झा

(आस्पद—झा; उपाधि—ज्योतिषरत्नाकर)

पण्डित सीताराम झा त्रिस्कन्ध ज्योतिष (गणित फलित तथा रमल) के आदरणीय आचार्य एव श्रद्धेय विद्वान् थे। इनका जन्म मिथिला क्षेत्र के दरभङ्गा जिले के 'चौगमा' नामक ग्राम मे विक्रम सवत् १९४७ (१८९० ई०) मे हुआ था। काशी मे आकर इन्होने तत्कालीन माननीय ज्योतिर्विदो से ज्योतिषशास्त्र का विधिवत् अध्ययन कर इस शास्त्र मे अद्भुत प्रवीणता अर्जित की। कलकत्ते से ज्योतिषतीर्थ एव राजकीय सस्कृतकालेज से ज्योतिषाचार्य की पदवी प्राप्त की। विलक्षण प्रतिभा से सम्पन्न होने के कारण विभिन्न शास्त्रो मे भी इनकी गति थी, परन्तु ज्योतिषशास्त्र मे तो इनकी वैदुषी सर्वतोभावेन आकर्षक तथा विशाल थी। १९२१ ई० मे ये 'सन्यासी पाठशाला' मे ज्योतिष के अध्यापक नियुक्त हुए और ४१ वर्षों तक लगातार अध्यापन करते हुए १९६२ ई० मे विद्यालय के अध्यक्ष पद से अवकाश ग्रहण किया। अन्यत्र जाने के प्रलोभन आये परन्तु इन्होने इस विद्यालय को छोडने का स्वप्न मे भी विचार नही किया। पण्डित सीतारामजी कहा करते थे विद्यालय के सस्थापक **स्वामी गोविन्दानन्दजी** ने मेरा हाथ पकडकर अध्यापक की गद्दी पर बैठाया था और कहा था कि इसे छोडकर तुम अन्यत्र नही जाना यही से तुम फूलोगे फलोगे मैने उनकी आज्ञा का अक्षरश अनुसरण किया। उनकी वाणी निस्सदेह सत्य हुई। इस विद्यालय मे अध्यापन करना मैने अपना नैष्ठिक कर्तव्य समझा और बाबा विश्वनाथ की दया से ऐसा फूला फला कि समस्त भारत मे प्रसिद्ध विद्वान हो गया।" फलत पण्डित सीताराम झा का सन्यासी कालेज से अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित हो गया। सेवानिवृत्त होने के बाद भी ये अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक इसकी सेवा मे जुटे रहे। इनके लिए विद्यालय मे एक स्वतन्त्र कमरा दे दिया गया था। वहाँ ये आते जाते तथा लेखन कार्य करते थे भोजन तथा शयन अन्यत्र करते थे। इस प्रकार सुरभारती की निश्छल सेवा करते हुए ये पन्द्रह जून, १९७५ ई० को काशी मे ब्रह्मलीन हो गये। समस्त दीर्घ जीवन अध्ययन अध्यापन एव लेखन कार्य मे बिताकर इन्होने विशद कीर्ति अर्जित की।

सम्मान

दरभङ्गानरेश सर रमेश्वर सिह ने धौत वस्त्र के साथ प्रतिष्ठापत्र देकर आपको सम्मानित किया। उनके उत्तराधिकारी सर कामेश्वर सिह ने भी इनके वैदुष्य एव काव्यचातुरी से चमत्कृत होकर इन्हे सुवर्णपदक देकर इनका सम्मान किया। सन् १९५९ ई० मे वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय द्वारा दो सौ रुपयो की मासिक वृत्ति के साथ आपको सम्मानित प्राध्यापक के पद पर नियुक्त किया गया। सन् १९६१ ई० मे बिहार राष्ट्रभाषापरिषद् ने डेढ़ हजार रुपयो का वयोवृद्ध-साहित्यिक-पुरस्कार प्रदान कर आपका गौरव बढ़ाया। गीर्वाणवाग्वर्धिनी सभा

(वाराणसी) ने 'ज्योतिषरत्नाकर' सम्मानोपाधि से तथा काशीस्थ सन्यासी सस्कृतकालेज ने 'ज्योतिषसम्राट्' की उपाधि से आपकी प्रौढ़ प्रतिभा एव विलक्षण विद्वत्ता को सम्मानित किया।

आप मैथिली भाषा के वर्तमान कवियो मे मूर्धन्य माने जाते थे। आपकी मैथिली कविता बडी सुन्दर, हृदयावर्जक एव प्रभावशाली होती है। इन्होने **अम्बचरित** नामक महाकाव्य का निर्माण कर मैथिली के साहित्य को समृद्ध बनाया है।

ग्रन्थरचना

अध्यापन कार्य करते हुए भी ये ग्रन्थरचना मे अपने को लगाये रहते थे। ज्योतिष के दर्जनो प्राचीन ग्रन्थो की व्याख्या तथा उपपत्ति लिखने के अतिरिक्त इन्होने अनेक मौलिक ग्रन्थो का भी निर्माण किया। ये शुष्क गणित के अध्ययन-अध्यापन मे अपना मनन लगाने वाले केवल दैवज्ञ नही थे, अपितु अपनी मातृभाषा मैथिली मे कोमलकान्तपदावली से सम्पन्न ललित महाकाव्य का प्रणयन करने मे भी लब्धकीर्ति आशुकवि थे। इनके मैथिली मे निबद्ध काव्य बिहार के विश्वविद्यालयो मे बी० ए० तथा एम० ए० कक्षाओं मे पाठयग्रन्थ के रूप मे पढ़ाये जाते है। इनके कतिपय सस्कृत ग्रन्थो के नाम है **अहिबलचक्र अबकहडा, ताजिक नीलकण्ठी व्याख्या, बृहज्जातक की टीका, सूर्यसिद्धान्त की व्याख्या, मुहूर्तमार्तण्ड, मानसागरी, जातकाभरण, बृहज्जातक तीनो की भाषा टीका** (प्रकाशक ठाकुरप्रसाद एण्ड सन्स, वाराणसी)। आपने मौलिक ज्योतिषग्रन्थो के निर्माण से ज्योतिर्षीय साहित्य की निश्चयेन समृद्धि की है। ऐसे ग्रन्थो मे कतिपय ग्रन्थो के नाम ये है गणितसोपान, गणितचन्द्रिका, गोलपरिभाषा, गोलबोध, जन्मपत्रविधान, ज्योतिषशास्त्रप्रयोजन आदि।

इनका सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है **बृहत्-पाराशर-होराशास्त्र**। इसकी हस्तलिखित प्रतियो को बडे परिश्रम से एकत्र कर आपने इस ग्रन्थरत्न का एक विमर्शात्मक सस्करण सम्पादित किया है। इम ग्रन्थ के अनुशीलन मे इनकी विस्तृत वैदुषी के आयाम से विद्वानो को सद्य परिचय मिलता है।

इनकी रचित मैथिली कविता सुन लीजिए

जौ नहिं विद्यापति लितथि
मिथिला मे अवतार।
तौ की होइत कतहु पुनि
भाषा कवित प्रचार॥

मैथिली भाषा की पुस्तके –अम्बचरित (महाकाव्य), भूकम्पवर्णन, अलकारदर्पण तथा भगवद्गीता का पद्यात्मक अनुवाद, मैथिलीकाव्योपवन आदि। वर्णव्यवस्था का इतिहास तथा कालपञ्चाङ्गविवेक की रचना हिन्दी मे कर झाजी ने राष्ट्रभाषा के प्रति भी अपनी आदरभावना प्रदर्शित की है। इनके मुद्रित ग्रन्थो की सख्या ६७ बतलाई जाती है।

स्वभाव

अपनी विलक्षण प्रतिभा के कारण ये मिथिला के सूर्य कहे जाते थे। दरभङ्गानरेश की सभा में आपको राजकीय सम्मान प्राप्त हुआ था और ज्योतिष-सिद्धान्तो की मीमासा के प्रसग में इन्हें अनेक सम्मेलनो मे सम्मानित किया गया था। इनका स्वभाव बड़ा ही सौम्य, निश्छल तथा आवर्जक था। विचार इनके प्रगतिवादी थे, स्वभाव उदार था। छात्रों को विद्या-वितरण करने में ये कभी भी कार्पण्य तथा सकुचित मनोवृत्ति का परिचय नही देते थे।

इनका हृदय महान् था। जो भी व्यक्ति इनसे जिज्ञासु बनकर किसी विकट समस्या के समाधान के लिए आता, ये प्रसन्नतापूर्वक उसका समाधान करते थे। शास्त्र के तत्त्वो को अपनी मुट्ठी मे दबाकर छात्रो को गुमराह करने वाली आधुनिक प्रवृत्ति से कोसो दूर थे। फलत अपने मुख से एव लेखन मे विद्या को मुक्तहस्त होकर इन्होने लुटाया और अलोकिक कीर्ति प्राप्त की।

यत् पुण्य ज्योतिष शास्त्रमनभिज्ञै. प्रदूषितम् ।
सशोध्य सुधिया येन, तत् पवित्रीकृत पुन ॥
त्रिस्कन्धज्योतिषाचार्यो मैथिलीकाव्य-कोकिल. ।
श्रीसीतारामझा विद्वद्-विदितोऽसौ विराजते ॥

संन्यासी-संस्कृतकालेज का संक्षिप्त परिचय

इनके विद्यालय का भी संक्षिप्त परिचय देना यहाँ अप्रासंगिक नही होगा-

सन्यासी पाठशाला के नाम से आज से ७५ वर्ष पूर्व विक्रमसवत् १९६२ वैशाख कृष्ण सप्तमी (२१ अप्रैल, १९०६ ई०) को एक सस्कृतविद्यालय की स्थापना काशी की इस पवित्र नगरी मे सन्यासियो मे गुरुस्थानीय विद्वद्वरेण्य **स्वामी गोविन्दानन्दजी** ने बडे उत्साह तथा महनीय उपकार की दृष्टि से की। उनका उद्देश्य बडा ही पवित्र तथा महत्त्वपूर्ण था — साधु सन्यासियो को शिक्षा देना, जिससे वे अपना व्यक्तिगत कल्याण तथा देश का सार्वजनिक मगल सिद्ध कर सके। उन्हे शिक्षित करने की उस युग मे कोई व्यवस्था नही थी। एक भी सस्कृत पाठशाला इस कार्य की सिद्धि के लिए स्थापित नही थी। सन्यासियो के प्रति विद्वान् गृहस्थ पण्डितो की दृष्टि कालुष्यपूर्ण थी। फलत बडे ही शुभ मुहूर्त मे इस पाठशाला की स्थापना **अपारनाथ मठ** मे (जो ढुण्ढिराज गणेश के समीप ही अवस्थित है) की गई। स्वामी गोविन्दानन्दजी ब्रह्मनिष्ठ महात्मा थे। वे साधक एव विद्वान् दोनो थे। उन्होने ब्रह्मसूत्र-शारीरकभाष्य के प्रथम अध्याय का हिन्दी अनुवाद बडी ही सुबोध भाषा मे किया था। इसका प्रकाशन सन्यासीपाठशाला के प्राध्यापक की ओर से ही किया गया है। उनके अलौकिक पाण्डत्य से प्रभावित होकर सन्यासीपाठशाला के प्रधानाध्यापक महाकवि देवीप्रसाद शुक्ल कविचक्रवर्ती ने सस्कृत पद्यो मे **चित्रोपहार.** नामक अद्भुत खण्डकाव्य की रचना की थी जिसमे स्वामीजी के वैदुष्य तथा लोकचातुर्य का बडा ही आकर्षक वर्णन किया गया है। इन्होने अपनी विद्या तथा बुद्धि के बल पर बहुत सम्पत्ति अर्जित की। २७ मई, सन् १९२३ ई० मे स्वामीजी काशी मे ब्रह्मलीन हुए थे। शारीरकभाष्य की विस्तृत हिन्दी व्याख्या का नाम **भाष्यार्थदीपिका** है। प्रथम अध्याय लिखने के अनन्तर स्वामीजी का निर्वाण हो गया। बडे आकार के छ सौ पृष्ठो का यह विशाल ग्रन्थ १९३१ ई० मे वाराणसी से प्रकाशित है।

चिद्घनानन्द गिरि ऊपर निर्दिष्ट गोविन्दानन्द गिरि के गुरु थे। इन्होने तीन ग्रन्थो की रचना की है जिनके नाम है —

(१) भगवद्गीतागूढार्थप्रकाशिका, (२) तत्त्वसन्धान तथा (३) आत्मपुराण। तीनो ही हिन्दी मे बताये जाते है।

तदनन्तर उन्ही के साधक शिष्य **स्वामी जयेन्द्रपुरी महाराज** सन्यासी पाठशाला के अध्यक्ष मनोनीत किये गये एव गोविन्दमठ के (जिसके ट्रस्ट के अन्तर्गत सन्यासीपाठशाला का सुव्यवस्थित प्रचलन होता था) मण्डलेश्वर निर्वाचित किये गये। वे अलमोडा जिले के एक

पर्वतीय ब्राह्मणकुल मे उत्पन्न हुए थे। वेदान्त से मण्डित होने पर उनका वैदुष्य चमक उठा था। वे वेदान्त के बडे विद्वान्, त्यागी महात्मा एव प्रभावशाली वक्ता थे। वे विपुल लोकचातुरी के धनी व्यक्ति थे। उन्ही के कार्यकाल मे पाठशाला के जीवन मे एक नया मोड आया। पाठशाला की सुव्यवस्था तथा शिक्षा के नियन्त्रित प्रसार के लिए उन्होने १६३६ ई० मे 'सन्यासी सस्कृतकालेज एसोसिएशन' की स्थापना की तथा वे उसके आजीवन अध्यक्ष मनोनीत हुए। उनका कार्यक्षेत्र सीमित नही था। इन्होने गुजरात मे सस्कृतप्रचार एव अध्यात्म के प्रसार के लिए नितान्त दत्तचित्त होकर अहमदाबाद मे साबरमती नदी के तट पर विशाल सन्यास-आश्रम की स्थापना कर तदङ्गभूत 'काशीविश्वनाथ सस्कृत महाविद्यालय' एव पञ्चदेवो के भव्य मन्दिर का निर्माण कर अपनी उभयलोकचातुरी का अद्भुत परिचय दिया। सन् १६४१ ई० मे जयेन्द्रपुरी महाराज अहमदाबाद मे ब्रह्मलीन हुए। वे कहा करते थे

अहन्ताममतात्यागः कर्तुं यदि न शक्यते।
अहन्ताममताभावः सर्वत्रैव विधीयताम् ॥

इनके बाद सन्यासी सस्कृत कालेज (सन्यासीपाठशाला का नया परिवर्तित अभिधान) की व्यवस्था का भार एसोसियेशन के नवीन सभापति कृष्णानन्दजी महाराज के ऊपर आ पडा जिसका निर्वाह उन्होने अपनी व्यावहारिक बुद्धि के द्वारा बडी योग्यता से सम्पन्न किया। वे व्यावहारिक चातुरी के धनी सन्त थे। वे गोविन्दमठ के मण्डलेश्वर निर्वाचित किये गये। फलत मठ के सब ट्रस्टो को, विशेष कर इस सन्यासीकालेज को, पूरी आर्थिक सहायता देकर इसके सुचारु सम्पादन तथा परिवर्धन मे विशेष योगदान दिया। ये अद्भुत वक्ता थे जिनके भाषण को सुनने के लिए काशी एव गुजरात का बुद्धिजीवी वर्ग सदा लालायित रहता था। उत्तरप्रदेश के सहारनपुर के आस पास सारस्वत ब्राह्मणकुल मे उत्पन्न स्वामीजी जयेन्द्रपुरीजी के साधक शिष्य थे। उन्होने गुरु के कार्य को अबाधित गति से आगे बढाया। गुरुजी के समान ही इनका निधन १६७८ ई० मे अहमदाबाद नगर मे हुआ और भरोच नगर के पास नर्मदाजी मे इन्हे जलसमाधि दी इन्ही के उत्तराधिकारी स्वामी अतुलानन्द पुरीजी ने, जो उक्त एसोसिएशन के वर्तमान आजीवन सभापति है।

यह तो सन्यासीकालेज की सुव्यवस्थित परिबृहण की रामकहानी है। इसके विद्यादान की कथा भी अद्भुत है। यह नये पण्डितो की शिक्षणस्थली रही है जहाँ से वे अध्यापन कला मे सुशिक्षित होकर भविष्य मे उन्नति कर बडे विद्यालयो एव सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालय मे अध्यापक की कीर्ति अर्जित कर रहे है। इस कालेज के अध्यक्षो मे दो-तीन व्यक्ति बडे आकर्षक अध्यापक रहे है

(१) महामहोपाध्याय देवीप्रसाद शुक्ल १६ सालो तक यहाँ प्रिन्सिपल रहे (सन् १६१०–१६२६ ई०)।

(२) पण्डित शुभकरण मिश्र नौ वर्षों तक प्राचार्य थ (१६३२ १६४१ ई०)।

(३) म० म० पण्डित हरिहरकृपालु द्विवेदी चार वर्षों तक प्राचार्य थे (१६४३ ई० से १६४७ ई० तक)।

(४) पण्डित सीताराम झा दो वर्षों तक प्राचार्य थे (१६६० ई० से १६६२ ई० तक)।

सन्यासी-सस्कृतकालेज ने अपनी सस्था से सम्बद्ध विद्वज्जनो एव सन्यासियो के रचित नवीन ग्रन्थों का प्रकाशन भी किया है। इनमे स्वामी **शंकरचैतन्य भारतीजी** द्वारा प्रणीत **'खण्डनखण्डखाद्य'** की शारदा नामक टीका, इस टीका की व्याख्या तथा टिप्पणी एव **दर्शन-**

सर्वस्वम् (पूरे ग्रन्थ की प्रमेयबहुल भूमिका स्वतन्त्र रूप से अलग प्रकाशित की गई) मुख्य है। इस विद्यालय से सम्बद्ध दो अध्यापको की भी रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय है—

(१) वेदाध्यापक **प० दौलतराम** के ग्रन्थ रुद्राष्टाध्यायी भाषा टीका, श्रीमद्भागवत की सरस्वती (हिन्दी) टीका, गरुडपुराण निर्णयसिन्धु की भाषा टीका, सर्वदेव प्रतिष्ठामयूख, ग्रहशान्ति आदि।

(२) न्यायाध्यापक **प० ज्वालाप्रसाद गौड** के ग्रन्थ सत्प्रतिपक्षप्रकरणम्, सव्यभिचार-प्रकरणम् तथा अवयवप्रकरणम् की सस्कृत टीका, न्यायमुक्तावली सस्कृत तथा हिन्दी टीका टिप्पणी (५ भाग), मायावाद (हिन्दी मे मौलिक ग्रन्थ आठ सौ पृष्ठो का), साख्यतत्त्व कौमुदी (सस्कृत एव हिन्दी टीका)।

इस प्रकाशन कार्य के द्वारा भी सन्यासीकालेज ने विद्या की अभिवृद्धि तथा सस्कृत का प्रसार किया है। ७५ वर्षों से अविच्छिन्न चलने वाला यह विद्यालय सस्थान सर्वथा स्तुत्य तथा श्लाघनीय है।[1]

शङ्करचैतन्य भारती

काशी के विद्वान् सन्यासियो मे भारतीजी बडी विमल एव विपुल कीर्ति के भाजन माने जाते थे ये काशी मे ललिताघाट पर स्थित राजराजेश्वरीमठ मे रहते थे तथा काशी के प्रमुख विद्या सस्थान सन्यासिसस्कृतकालेज के सचालक स्वामी जयेन्द्रपुरीजी महाराज मण्डलेश्वर के प्रिय स्नेहपात्र सन्यासियो मे प्रमुख थे। जयेन्द्रपुरीजी ने ही भारतीजी के ग्रन्थ – **खण्डनखण्डखाद्य की शारदा व्याख्या** का प्रकाशन इसी सस्था की ओर से किया है। प्रथम खण्ड का प्रकाशन १६३८ ई० मे तथा द्वितीय खण्ड का प्रकाशन १६४० ई० मे सन्यासिसस्कृतकालेज की ओर से श्री बालानन्द स्वामीजी ने किया है।

भारतीजी वेदान्त तथा नव्यन्याय के उद्भट विद्वान् थे। श्रीहर्ष का 'खण्डनखण्डखाद्य' अद्वैतवेदान्त का मण्डन एव द्वैतमत का खण्डन प्रस्तुत करने वाला नितान्त दुरूह ग्रन्थ माना जाता है। श्रीशकर चैतन्यजी ने इसी दुरूह ग्रन्थ की दुर्घट ग्रन्थियो को सुलझाने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है और इस प्रयत्न मे ये सर्वथा कृतकार्य हुए है —यही सम्मति काशी के दार्शनिक विद्वानो की है। भारतीजी ने द्वितीय भाग के आरम्भ मे एक महनीय भूमिका का भी निबन्धन किया है जिसका नाम है—**दर्शनसर्वस्वम्**, इसमे विज्ञानवाद, शून्यवाद, स्वातन्त्र्यवाद की दार्शनिक त्रुटियो को तर्क एव युक्ति के सहारे दिखला कर **अनिर्वचनीयता** के अद्वैत-सिद्धान्त की पूर्ण प्रतिष्ठा की गई है। यह भूमिका समग्र ग्रन्थ का सार प्रस्तुत करती है। भारतीजी का यह प्रमेयप्रचुर ग्रन्थ इनके पाण्डित्य का नि सन्देह निकषग्रावा है।



१ विशेष द्रष्टव्य —अपारनाथ मठ और सन्यासीविद्यालय, लेखक केशवपुरी, काशी, १९७९ ई०।



पं० फणिभूषण तर्कवागीश

पण्डित फणिभूषण तर्कवागीश

(आस्पद—भट्टाचार्य, उपाधि—महामहोपाध्याय)

महामहोपाध्याय प० फणिभूषण तर्कवागीश न्यायशास्त्र के गम्भीर विद्वान् थे। इन्होने तर्कविद्या का तलस्पर्शी अध्ययन किया था और अनेक ग्रन्थो की रचना कर इस शास्त्र के प्रचार तथा प्रसार मे प्रचुर योगदान किया था।

फणिभूषणजी के पिता का नाम प० सृष्टिधर भट्टाचार्य था। वे अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् तथा आदर्श चरित्र वाले व्यक्ति थे। पिता के उदात्त गुण, निर्मल चरित्र तथा धर्मनिष्ठा का प्रखर प्रभाव फणिभूषण के चरित्र पर पड़ा था। पिता के ये गुण इन्हे रिक्थ रूप मे प्राप्त हुए थे।

जन्म तथा शिक्षा

प० फणिभूषण तर्कवागीश का जन्म बगाल के यशोहर जिलान्तर्गत तालखडी नामक गॉव मे माघ शुक्ला चतुर्दशी को सन् १८७६ ई० मे हुआ था। बाल्यकाल मे ही आप एक परिश्रमी तथा मेधावी छात्र थे। आपने प० जानकीनाथ तर्करत्न से न्यायशास्त्र का तथा वेदान्तवागीशजी से काव्य, व्याकरण तथा वेदान्त आदि शास्त्रो का अध्ययन किया। अपनी तत्त्वभेदिनी प्रज्ञा से आपने शीघ्र ही व्याकरण, काव्य, वेदान्त तथा न्यायशास्त्र मे प्रौढि प्राप्त कर ली। वृद्धावस्था के कारण जब इनके गुरुजी छात्रो के अध्यापन मे अपने को असमर्थ पाने लगे तब इन्ही को उन्हे पढ़ाने का आदेश दे दिया करते थे। तर्कवागीशजी ने काव्यतीर्थ तथा साख्यतीर्थ परीक्षाओं को प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण किया था।

अध्यापन

अनेक वर्षों तक बगाल मे अध्यापन के पश्चात् आप महामहोपाध्याय प० लक्ष्मण शास्त्री द्राविड तथा महामहोपाध्याय प० वामाचरण भट्टाचार्य के विशेष आग्रह करने पर काशी पधारे। यहाँ आपने टीकमणी सस्कृतकालेज, काशी मे न्याय के अध्यापक के पद को स्वीकार कर लिया। आपने इस पद पर अनेक वर्षों तक कार्य किया। इसके पश्चात् सन् १९२६ ई० मे सस्कृतकालेज, कलकत्ता के तत्कालीन प्रिन्सिपल महामहोपाध्याय डॉ० हरप्रसाद शास्त्री ने अपने कालेज मे न्याय के प्रधानाध्यापक के पद को स्वीकार करने के लिए आग्रहपूर्वक निवेदन किया। तर्कवागीशजी आग्रह को स्वीकार कर कलकत्ता चले गये। इस पद पर इन्होने सन् १९२६ ई० से लेकर सन् १९३१ ई० तक लगातार पाँच वर्षों तक सफलतापूर्वक अध्यापन कार्य किया। परन्तु सन् १९३१ ई० मे इन्होने त्यागपत्र दे दिया और पुन काशी वापस लौट आये। कुछ दिनो तक काशी मे निवास करने के अनन्तर सुप्रसिद्ध गुणग्राही राजनेता डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जी जो उन दिनो कलकत्ता विश्वविद्यालय के वाइसचासलर थे—ने इनकी

अलौकिक विद्वत्ता ने आकृष्ट होकर इन्हें अपने विश्वविद्यालय मे न्यायविभाग में प्राध्यापक के पद पर नियुक्त कर दिया। इस प्रकार इन्हे पुन कलकत्ता लौट जाना पड़ा। इस सम्मानित तथा प्रतिष्ठित पद पर इन्होने अनेक वर्षों तक बडी कुशलता से छात्रो को पढ़ाया।

विद्वत्ता

तर्कवागीशजी ने सस्कृत वाङ्मय के विभिन्न शास्त्रो मे वैदुष्य प्राप्त किया था। न्यायशास्त्र के आप प्रकाण्ड विद्वान् तो थे ही, इसके अतिरिक्त आपने व्याकरण, काव्य तथा वेदान्त मे भी पाण्डित्य प्राप्त किया था। आपकी लोकोत्तर विद्वत्ता के फलस्वरूप तत्कालीन सरकार ने सन् १९२६ ई० मे आपको 'महामहोपाध्याय' की उपाधि से विभूषित किया था।

अनेक सस्थाओं ने आपको अपना सम्मानित सदस्य चुनकर आपकी विद्वत्ता का सम्मान किया था। आप हरिनामप्रदायिनी सभा, वगीय साहित्यपरिषद् तथा सस्कृत साहित्य परिषद्, कलकत्ता के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के पद पर कार्य करते रहे। आप 'शास्त्ररक्षासमिति' के सस्थापक प० लक्ष्मण शास्त्री द्रविड तथा प० वामाचरण भट्टाचार्य के अन्यतम सहयोगियो मे से थे। विद्वन्मण्डली मे आपकी प्रसिद्धि न्याय, वेदान्त और साहित्य के प्रधान विद्वान् के रूप मे थी। तत्कालीन विद्वानो ने आपका जो अभिनन्दन किया उसका एक श्लोक निम्नांकित है -

साहित्याम्भोधि- मन्थोत्थितरसरसनैगात्तगीर्वाणगर्वो
नास्तिक्येभेन्द्र-कुम्भोद्दलनकृतमतिः दृप्तपञ्चाननस्त्वम्।
भाष्ये वात्स्यायनीये भृशमतिगहने व्याकृतिर्या त्वदीया,
सैवाकल्प समन्ताद् बुधवर भवत कीर्तिगीति विधात्री॥

काशीनरेश महाराजा प्रभुनारायण सिंह ने आपकी निम्न पद्य मे प्रशसा की है

न्याये वैशेषिके च स्फुरति मतिरिति श्रेयसी तावकीना,
व्याख्यान न्यायभाष्ये किमपि रचितवान् वङ्गभाषामय च।
जानीषे जैनशास्त्र मतमपि सुमते सौगतं वैष्णव च,
प्रौढिं धत्से च मन्वादिभिरपि लपिते धर्मशास्त्रेऽपि बाढम्॥

ऐसी थी तर्कवागीशजी की अलौकिक विद्वत्ता जिसकी विद्वानो ने मुक्तकण्ठ से प्रशसा की है।

शिष्यमण्डली—प० फणिभूषण तर्कवागीश ने काशी और कलकत्ता मे अनेक वर्षों तक बडी विद्वत्ता के साथ शतश छात्रो का अध्यापन किया तथा अनेक विद्वानो को पैदा किया। इनके शिष्यो की सूची से ही इनके वैदुष्य का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। इनके कुछ प्रधान शिष्यो के नाम तथा पद नीचे दिये जाते है

(१) प्रोफेसर गोपीनाथ भट्टाचार्य-- अध्यक्ष, दर्शनविभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय।

(२) डॉ० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य--भूतपूर्व अध्यक्ष, सस्कृतविभाग, हिन्दूविश्वविद्यालय, काशी।

(३) डॉ० दिनेशचन्द्र गुह--प्राध्यापक, सस्कृतविभाग, हिन्दूविश्वविद्यालय, काशी।

(४) प० पञ्चानन भट्टाचार्य—प्राध्यापक, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता।

(५) म० म० प० उमेश मिश्र भूतपूर्व उपकुलपति, संस्कृतविश्वविद्यालय, मिथिला, दरभगा ।

(६) प० बदरीनाथ शुक्ल- भूतपूर्व कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी ।

(७) डॉ० गौरीनाथ शास्त्री कुलपति सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय वाराणसी ।

(८) डॉ० गोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय —अध्यक्ष संस्कृतविभाग, वर्धमान-विश्वविद्यालय (बगाल) ।

(९) प० आनन्द झा लखनऊ विश्वविद्यालय ।

(१०) प्रोफेसर अनन्तलाल ठाकुर मिथिलाविद्यापीठ, दरभगा ।

(११) डॉ० नथमल टॉटिया भूतपूर्व डाइरेक्टर, जैन प्राकृत रिसर्च इन्स्टीट्यूट, वैशाली (बिहार) ।

(१२) पण्डित दुर्गाधर झा—दरभङ्गा जिले मे आपका जन्म हुआ । शैशव अवस्था मे ही माता का स्वर्गवास हो जाने से पिता की ही देखरेख मे बढ़ तथा आरम्भिक विद्या प्राप्त की । काशी मे आकर म० म० फणिभूषण तर्कवागीश तथा म० म० वामाचरण भट्टाचार्य के चरणो मे बैठकर न्यायशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया । अनेक वर्षों तक सम्पूर्णानन्द संस्कृत-विश्वविद्यालय के अनुसन्धान सहायक थे । भारतीयदर्शन के तीन दुरूह ग्रन्थो के सुबुद्ध हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत कर आपने बडा यश प्राप्त किया है । ये ग्रन्थ है—(१) प्रशस्तपादभाष्य की **न्यायकन्दली** (वैशेषिक), (२) उदयनाचार्यरचित **न्यायकुसुमाञ्जलि** (गद्यपद्यात्मक प्रख्यात न्यायग्रन्थ), (३) कुमारिल भट्टकृत **श्लोकवार्तिक** (मीमासा) । तीनो ही नितान्त दुरूह, तर्कयुक्तिसवलित, खण्डन मण्डनात्मक बृहत्काय ग्रन्थ है । प्रथम तथा तृतीय का अग्रेजी अनुवाद प्रकाशित है, परन्तु द्वितीय ग्रन्थ का तो यही एकमात्र अनुवाद है । पण्डित दुर्गाधर झाजी ने इनकी प्रामाणिक संस्कृत टीकाओं के कतिपय अशो का भी अनुवाद कर उसे सरल, सुबोध तथा आवर्जक बनाया है । इस परिश्रमसाध्य महनीय कार्य के लिए वे विद्वज्जनो के श्लाघा-पात्र है ।

परिवार—प० तर्कवागीशजी को पारिवारिक सुख प्राप्त था । इनके दो सुयोग्य तथा विद्वान् पुत्र है

(१) अहिभूषण भट्टाचार्य इन्होने इतिहास तथा अग्रेजी मे एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की है । इसके साथ ही ये साहित्यशास्त्री भी है । इन्होने 'चिन्तामणि घोष एग्लो बगाली कालेज, काशी' मे जो कमच्छा मे स्थित है अनेक वर्षों तक प्रिंसिपल के पद को योग्यतापूर्वक सुशोभित किया था ।

(२) श्रीमूर्धाभूषण भट्टाचार्य एम० ए०- आप एक भाषातत्त्ववेत्ता है । आप गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया के नेतृत्वविभाग (एन्थ्रोपोलाजी डिपार्टमेण्ट) मे उच्च अधिकारी के पद पर कार्य कर रहे है । आप दोनो ही भाई अपने पिता की तरह आस्तिक, विनम्र तथा संस्कृतप्रेमी है तथा अपने पिता की कीर्ति को अक्षुण्ण बनाये हुए है । इस प्रकार प० तर्कवागीशजी ने अपने भरे पूरे परिवार के बीच माघ शुक्ल एकादशी के दिन सन् १९४२ ई० मे काशी मे ही शिवसायुज्य प्राप्त किया । सागवेद विद्यालय, वाराणसी के अधिकारियो ने आपकी स्मृति मे आपका अभिराम तैलचित्र अपने विद्यालय मे स्थापित किया है जिसका अनावरण काशिराज

डॉ० विभूतिनारायण सिह ने सन् १९६४ मे किया। उसके देखने से आपके सात्त्विक स्वरूप का भव्य परिचय दर्शको को सद्य प्राप्त हो जाता है।

ग्रन्थरचना—म० म० प० फणिभूषण तर्कवागीश ने अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थो की रचना की है। इन्होने अपनी मातृभाषा बॅगला और देवभाषा सस्कृत इन दोनो की समान रूप से सेवा की है।

(१) तर्कवागीशजी की सर्वश्रेष्ठ रचना न्यायभाष्य का विस्तृत तथा विशाल बॅगला भाषा मे अनुवाद है जो वगीय साहित्यपरिषद्, कलकत्ता से पाच विशाल भागो मे प्रकाशित हुआ है। इस ग्रथ की विशेषता यह है कि गौतम के न्यायसूत्रो के ऊपर विरचित महर्षि वात्स्यायन के भाष्य का पुखानुपुख, तलस्पर्शी पाण्डित्यपूर्ण अनुवाद बॅगला भाषा मे किया गया है **न्यायभाष्य** के ऊपर उद्द्योतकर का **वार्तिक**, वाचस्पति मिश्र की **तात्पर्यटीका** तथा उदयनाचार्य की **तात्पर्यपरिशुद्धि**, इन सभी ग्रन्थो के तात्पर्य को लेकर इन आचार्यों के तत् तत् मतो की विधिवत् मीमासा यहाँ की गई है। इतना ही नही, न्याय के विभिन्न मतो का मीमासा, साख्य आदि वैदिक ग्रन्थो मे तथा जैन एव बौद्ध जैसे अवैदिक दर्शनो मे जो खण्डन किया गया है उसकी भी समीक्षा तथा आलोचना करके इन्होने न्याय के मत की परिपुष्टि की है। सच पूछा जाय तो यह ग्रन्थ न्यायदर्शन के सिद्धान्तो के लिए एक बृहद् विश्वकोश है। इस ग्रन्थ की प्रशसा डॉ० वेनिस, इटालिएन विद्वान् डॉ० तुची (रोम), प्रोफेसर एच० एच० इन्गल्स (हार्वर्ड विश्वविद्यालय), म० म० प० गोपीनाथ कविराज, म० म० पञ्चानन तर्करत्न, प० सुखलाल आदि देशी तथा विदेशी विद्वानो ने मुक्तकण्ठ मे की है इसमे सन्देह नही कि यह ग्रन्थ तर्कवागीशजी के वैदिक, जैन तथा बौद्धदर्शनो क गाढ़ अनुशीलन, गम्भीर मनन और मार्मिक समीक्षण का उज्ज्वल प्रतीक है।

(२) **न्यायपरिचय**[1]—प० तर्कवागीशजी का यह दूसरा ग्रन्थ न्यायदर्शन के सिद्धान्तो का सरल, सुबोध भाषा मे व्याख्या करने वाला मौलिक ग्रन्थ है। तर्कवागीशजी ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के निमन्त्रण पर जो 'अधरमुखर्जी लेक्चर्स' दिया था उसी का सग्रह इस ग्रन्थ मे किया गया है। इसमे आत्मा, उसका स्वरूप तथा उसकी उपलब्धि के सिद्धान्तो का वर्णन न्यायशास्त्र की दृष्टि से किया गया है। इसके साथ ही अन्य दर्शनो मे न्याय की जो चर्चा की गई है उस पर तर्कवागीशजी ने विचार किया है। न्यायशास्त्र का प्रयोजन, अपवर्ग (मोक्ष का स्वरूप तथा उसके विषय मे मतभेद), मुक्ति का उपाय, जीवात्मा के श्रवण तथा मनन का प्रयोजन, जीवात्मा की नित्यता तथा युक्तियाँ आदि विषयो का इसमे तुलनात्मक विवेचन किया गया है। प्राचीन न्याय की विवेचना करने वाला यह ग्रन्थ अपने विषय का मार्मिक तथा गभीर प्रतिपादक है।

इस ग्रन्थ की भूमिका मे तर्कवागीशजी ने बगदेशीय नैयायिको के जीवनचरित, काल निर्णय, दार्शनिक विचार तथा उनके महत्त्व का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किया है जो प्रमाणपुरस्सर होने के कारण नितान्त प्रामाणिक तथा उपादेय है। यह भूमिका पचास (५०) पृष्ठो मे मुद्रित है। इस भूमिका का नाम ही 'न्यायशास्त्र मे बगालियो की विजय' है। इसीसे लेखक की प्रवृत्ति का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

विशेषताएँ—प० फणिभूषण तर्कवागीश की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इन्हें

---

१ यह ग्रन्थ मूलरूप से बॅगला मे था परन्तु इसका हिन्दी अनुवाद डॉ० किशोरनाथ झा ने चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी मे १९६८ ई० मे किया है।

अपनी मातृ-भाषा बॅंगला से प्रगाढ़ प्रेम था। सस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् होते हुए भी इन्होने अपने दोनो ग्रथो की रचना सस्कृत मे न करके बॅंगला भाषा मे की है। यदि इन्होने ये ग्रन्थ सस्कृत मे निर्मित किये होते, तो निश्चय ही ये विद्वत्तापूर्ण ग्रथ क्लासिकल या क्लासिक्स की उपाधि से अलकृत किये जाते। परन्तु इस बात की तनिक भी चिन्ता न करके इन्होने अपनी कृतियो को अपनी मातृभाषा मे ही निबद्ध किया है। सस्कृत के अद्भुत विद्वान् होने पर भी इनका मातृभाषा प्रेम कुछ विचित्र सा ज्ञात होता है। परन्तु बॅंगला भाषा मे लिखे जाने के कारण उन ग्रन्थो का महत्त्व कुछ कम नही है

सस्कृत के विद्वान अपने जीवनवृत्तान्त की सूचना नही देते है। वे अपने रचित ग्रन्थो मे भी अपने कुल, पूर्वज आदि की कोई चर्चा नही करते है। परन्तु तर्कवागीशजी की दूसरी विशेषता यह थी कि इन्होने अपने ग्रन्थ न्यायपरिचय के अन्त मे अपनी जन्मतिथि, माता, पिता, स्त्री, काशी तथा कलकत्ता आदि मे निवास तथा वहाँ विश्वविद्यालय मे न्यायदर्शन पढ़ाने का उल्लेख स्वत किया है। पाठको की जानकारी के लिए ये श्लोक यहाँ उद्धृत किये जाते है

युग्माष्टद्व्येकबगाब्दे, माघस्यैकादशे दिने ।
सोमवारे चतुर्दश्या लग्ने च मिथुने शुभे ॥
यशोहरप्रदेशे यो विद्वद्विप्रकुलान्विते ।
ग्रामे 'तालखड़ी'नाम्नि भट्टाचार्यकुलेऽभवत् ॥
पिता मृष्टिधरो नाम,यस्य विद्वान् महातपा. ।
माता च मोक्षदा देवी, देवीव भुवि या स्थिता ॥
सरोजवासिनी पत्नी, निजमुक्त्यर्थमेव हि ।
य काशीमनयद् बद्ध्वा, पूर्वं पूर्वतपोगुणैः ॥
सोऽधुना कालिकातास्थो, बद्ध. कर्मवशादहम् ।
विश्वविद्यालये वृद्धः पाठयामीश्वरेच्छया ॥
अशक्तेनापि तेनाऽत्र, नियुक्तेन यथामति ।
न्याय-दर्शनसिद्धान्त-व्याख्या संक्षेपत कृता ॥

फणिभूषणजी स्वभाव मे बडे ही सात्त्विक व्यक्ति थे। अध्ययन और अध्यापन इनके जीवन के सर्वस्व थे। काशी मे इन्हे बडा प्रेम था। बाबा विश्वनाथ मे इनकी अगाध भक्ति थी। फलत कलकत्ते मे अध्यापनवृत्ति के समाप्त हो जाने पर ये वहाँ तनिक भी टिके नही, काशी मे जीवनयापन करने की दृष्टि से यहाँ लौट आये। ये अप्रतिग्रही पण्डित थे। प्रतिग्रह लेकर जीविका चलाने के ये नितान्त विरोधी थे। इसीलिए ये प्राचीन आदर्श का पालन करते हुए जीवनयापन करते थे।

सायकाल दशाश्वमेध घाट पर श्री गोपीनाथ कविराजजी के सग मे लेखक ने इनका अनेक बार दर्शन किया है। इनका शरीर स्वभावत दुबला-पतला था और वृद्धावस्था मे तो ये और दुर्बल प्रतीत होते थे। परन्तु इनकी वाणी बडा तेज था। कविराजजी उस समय क्वीन्स कालेज मे सरस्वतीभवन के अध्यक्ष थे और तर्कवागीशजी उस समय अपने वात्स्यायन-भाष्य के बँगला अनुवाद मे सलग्न थे। कविराजजी से उनकी बातचीत न्यायशास्त्र के ऐतिहासिक पक्ष एव शास्त्रीय पक्ष के ऊपर विशेष रूप से होती थी। उस वार्तालाप के सुनने से उनके न्यायशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन के विषय मे गम्भीर अनुशीलन का पता चलता था। जैनियो

ने तथा बौद्धो ने न्यायशास्त्र के जिन सिद्धान्तो का अपने ग्रन्थों मे खण्डन किया है उनके प्रति उनकी जागरूकता बहुत ही अधिक थी। कविराजजी का भी ज्ञान इस विषय मे पर्याप्त रूप से विस्तृत तथा विशाल था। वे बौद्ध आचार्यों के द्वारा किये गये न्यायशास्त्रीय खण्डन की विशेष चर्चा करते थे। इस चर्चा को फणिभूषणजी बड़े ही मनोयोग से सुनते थे और प्रसगवश किसी नवीन ग्रन्थ का निर्देश मिलने पर ये कविराजजी से उसे तुरन्त भेज देने के लिए आग्रह करते थे। यह जिज्ञासा देखने लायक ही होती थी।

तर्कवागीशजी न्यायशास्त्र के सिद्धान्तो के ही गम्भीर अध्येता तथा विमर्शकर्ता नही थे, अपितु न्याय के आचार्यों के जीवन चरित एव इतिहास के प्रति भी इनकी बडी ही जागरूकता थी। सस्कृत के पण्डितो मे ऐतिहासिक तथ्यो की अवगति के लिए विशेष अभिरुचि नही दृष्टिगोचर होती। परन्तु फणिभूषणजी इसके अपवाद थे। 'न्यायपरिचय' ग्रन्थ के आरम्भ मे इन्होने पचास पृष्ठो की ऐतिहासिक भूमिका निबद्ध की है, वह इनके गम्भीर अध्ययन, शास्त्रीय निष्ठा तथा ऐतिहासिक दृष्टि को उजागर करने मे नितान्त समर्थ है। इनमे ऐतिहासिक तथ्यो की छानबीन करने मे अच्छी क्षमता दिखाई पडती थी। नवद्वीप के प्रख्यात नैयायिको के जीवन-चरित, काल निर्णय, ग्रन्थ निर्माता तथा उनकी आलोचना प्रस्तुत कर तर्कवागीशजी ने जिज्ञासुओं का बडा ही उपकार किया। ये प्राचीन मत को बिना किसी ननुनच के मानने वाले पण्डित नही थे। ये इतिहास सम्बन्धी सिद्धान्तो की परीक्षा बडी सजगता के साथ करने मे प्रवीण थे। इनका यह गुण वास्तव मे इनकी प्रतिभा को और भी अग्रसर करने मे समर्थ है।

श्री अन्यदाचरणजी तर्कचूडामणि
(आस्पद—ठाकुर, उपाधि—महामहोपाध्याय)

प० अन्यदाचरणजी उन बगीय पण्डितो मे मुख्य थे जिन्होने अध्ययन तो बगाल मे ही किया परन्तु काशी ही जिनके अध्यापन का क्षेत्र बनी। इस प्रकार ये महामहोपाध्याय फणिभूषण तर्कवागीशजी से अनेक तथ्यो मे समानता रखते है। तर्कवागीशजी का भी अध्ययन बगाल के नवद्वीप मे हुआ परन्तु उनके समृद्ध अध्यापन का प्रसाद काशी के सस्कृत छात्रो को प्राप्त हुआ। इसलिए इन दोनो महनीय पण्डितो का विवरण एक ही साथ समवेत रूप मे दिया जाता है।

प० अन्यदाचरणजी का जन्म पूर्वीय बगाल के सुदूर पूर्वीय जिले मे हुआ था। नोवाखाली जिले के अन्तर्गत 'सोमपाडा' ग्राम मे १२६८ बगाब्द मे इनका विख्यात ब्राह्मण वश मे जन्म हुआ था। इनके पिताजी का नाम कालीकिकर ठाकुर तथा माता का नाम आनन्दमयी देवी था। ये राढ़ी श्रेणी के ब्राह्मण थे।

इन्होने अपने ग्राम के निकटस्थ किसी अध्यापक से कलाप व्याकरण का विधिवत् अध्ययन कर सस्कृत भाषा मे विशेष व्युत्पत्ति प्राप्त की। इसके बाद विभिन्न विद्याकेन्द्रो मे जाकर इन्होने सस्कृत के पुराण, धर्मशास्त्र और न्याय मे अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। तर्क में विशेष कुशल होने के कारण ही इन्हे अपने नैयायिक गुरु से 'तर्कचूडामणि' की उपाधि प्राप्त हुई।

अध्यापन

अध्ययन के द्वारा व्याकरण तथा काव्यशास्त्र में विशेष व्युत्पत्ति प्राप्त करने के अनन्तर

इनकी प्रथम नियुक्ति अपने ही नगर के नोवाखाली जिला स्कूल मे हेडपण्डित के पद पर हुई। इसी पद पर रहकर इन्होने अनेक छात्रो को तैयार किया। अनन्तर ये उस विद्यालय को छोडकर काशीधाम चले आये। यही पर केदारघाट के समीप स्थित 'इश्वरपाठशाला' मे अध्यापन कार्य मे इनकी नियुक्ति हुई। इनकी अध्यापन कुशलता की ख्याति धीरे धीरे चारो ओर बढ़ने लगी। भारतधर्ममहामण्डल के सस्थापक स्वामी ज्ञानानन्दजी ने इनकी विद्वत्ता से मुग्ध होकर अपने 'उपदेशक महाविद्यालय' मे इन्हे अध्यापक नियुक्त किया। इस विद्यालय मे सनातनधर्म के व्याख्याता छात्र तैयार किये जाते थ जिन्हे वेद, वेदाङ्ग, पुराण तथा धर्मशास्त्र की अनिवार्य शिक्षा दी जाती थी। मुख्य अध्यापक तो थे स्वामी दयानन्दजी, जो ज्ञानानन्दजी के पट्टशिष्य थे और अग्रेजी भाषा, पश्चिमी दर्शन, विज्ञान तथा इतिहास से पूरा परिचय रखते थे। इसी विद्यालय मे अन्यदाचरणजी ने पुराण आदि की शिक्षा देकर सनातनधर्म की विशिष्ट व्याख्यान कला मे निपुण विद्वानो के तैयार करने मे अपना महनीय योगदान दिया। इतना ही नही, महामण्डल से जो धार्मिक साहित्य प्रस्तुत किया जाता था, उसकी रचना मे भी तर्कचूडामणिजी सक्रिय योगदान देते थे।

पुराणरहस्यम्

[illegible] अन्यदाचरण तर्कचूडामणि द्वारा विरचित सस्कृत ग्रन्थो मे **पुराणरहस्यम्** विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से एक अनुपम ग्रन्थ है। सामान्य जन के हृदय मे पुराणो के प्रति बडी अनास्था फैली हुई है। इसका कारण यह है कि पुराणो की रचनाशैली एक विशिष्ट प्रकार की है। उससे बिना अवगत हुए पुराणो के गम्भीर सिद्धान्तो का परिचय प्राप्त नही हो सकता है। ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ के भीतर इस शैली का विवेचन तथा पुराणो मे वर्णित विषयो की सुसगति का निदर्शन बडे ही सरल सस्कृत शब्दो मे किया है। एक प्रकार से यह ग्रन्थ पुराणो के प्रमेयो को जानने के लिए बहुमूल्य कुञ्जी है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन काशी के भारत धर्म महामण्डल द्वारा १९९० वि० स० (१९३३ ई०) मे किया गया था।

काशी मे ही रहकर अन्यदाचरणजी ने रायबहादुर मुकुन्दलाल मुखोपाध्याय के उत्साह से **धर्मशास्त्रकोष** नामक एक विराट् ग्रन्थ के सम्पादन का भी कार्य किया। एजूकेशन गजेट (Education Gazette) नामक पत्रिका के बीच बीच मे इस ग्रन्थ का विवरण प्रकाशित होता रहा है। अन्यदाचरण तर्कचूडामणि तथा रायबहादुर यतीन्द्रमोहन सिह की सम्मिलित चेष्टा से काशी मे स्त्रियो की शिक्षा के लिए 'आर्यमहिला महाविद्यालय' नामक एक सुन्दर विद्यालय की स्थापना की गई थी। इन साहित्यिक तथा शैक्षणिक प्रयासो के फलस्वरूप अन्यदाचरणजी की गणना काशी के विद्वान् पण्डितो मे बडी श्रद्धा से की जाती थी। फलस्वरूप १९२२ ई० मे अग्रेजी सरकार ने इन्हे महामहोपाध्याय की पदवी से विभूषित किया।

इनकी सनातन हिन्दू धर्म मे प्रगाढ आस्था थी। ये अग्निहोत्री थे और प्रतिदिन प्रात एव साय अग्निनारायण की उपासना मे दत्तचित्त होकर जप पूजा किया करते थे। स्वभाव बडा कोमल था। अपने छात्रो पर इनकी अगाध कृपा रहती थी और उन्हे ये सब प्रकार से आर्थिक सहायता दिलवाने मे सचेष्ट रहते थे। इनके पढ़ाये हुए अनेक छात्र काशी तथा काशी के बाहर भी अध्यापन कार्य मे निरत है।

ग्रन्थरचना

इन्होने अनेक काव्यग्रन्थो की रचना की है, सस्कृत मे तथा बॅगला मे भी। सस्कृत रचनाओं के नाम इस प्रकार है—

१ **रामाभ्युदयम्** (महाकाव्य), २ **महाप्रस्थानम्** (महाकाव्य), ३ सुमनोञ्जलि, ४ धातुचित्रम्, ५ नमस्कार-विवेक, ६ षट्कार्य विवेक, ७ न्यायरहस्यम्, ८ कृद्विमला।

बँगला की रचनाएँ ये हैं—१ षडदर्शनेर रहस्य, २ षडदर्शनेर चित्र, ३ अलकार, ४ काव्यचन्द्रिका की सरल टीका, ५ शब्दखण्ड, ६ नाम प्रत्यय विवेक।

इन्होने कलाप-व्याकरण के अन्तर्गत कातन्त्रपरिशिष्ट नामक ग्रन्थ के कठिन अशो के ऊपर कौमुदी नामक टीका की स्वय रचना की है। यह उस समय प्रकाशित थी तथा लोकप्रिय थी। इनसे भिन्न इन्होने अनेक मासिक पत्रिकाओं मे सारगर्भित प्रबन्धो का प्रकाशन किया है।

महामहोपाध्याय अन्यदाचरण तर्कचूडामणि का काशी मे ही परलोकगमन हुआ।



६८

पण्डित अनन्तराम शास्त्री

आज से पचास वर्ष पूर्व शास्त्रीजी अपने अलौकिक त्याग और तपस्या, अध्ययन एवं अध्यापन, तथा संस्कृत-विद्या के प्रसार-प्रचार के कारण काशी की पण्डितमण्डली में सभाओं में अग्रपूजा के माननीय अधिकारी के रूप में प्रतिष्ठित थे तथा सर्वत्र समादृत थे। इनका जन्म भारत के सीमाप्रान्तीय झेलम-मण्डलान्तर्गत 'काला गुजरान' नामक गाँव में १९०८ वि० सं० (= १८५१ ईस्वी) में हुआ था। पिता का नाम था वजीरचन्द शर्मा। उस क्षेत्र में 'महापुरुषों का डेरा' नामक शिक्षा-संस्थान का विशेष नाम था और वहीं अनन्तरामजी ने आरम्भिक शिक्षा पाई। उस समय उर्दू और फारसी का बोलबाला था, तो भी इन्होंने उस विद्यालय में हिन्दी पढ़ने में अपनी अभिरुचि दिखलाई और पूरी पढ़ाई खत्म की। उसी समय काशी में संस्कृताध्यापक इनके पितृव्य पण्डित विभवराम शर्मा ने इन्हें काशी बुला लिया और संस्कृत की पूरी शिक्षा दी। पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुये अनन्तरामजी ने २५ वर्ष के वय तक काशी में ही निवास किया। अनन्तर ये अपने गाँव लौट आये। विवाह किया और थोड़े ही दिनों के बाद काशी लौटकर विद्याध्ययन में आ जुटे।

चाचा विभवरामजी टेढ़ीनीम-स्थित रणवीर-संस्कृत-पाठशाला के अध्यक्ष थे ही। उसी पाठशाला में इन्होंने सुयोग्य भ्रातुष्पुत्र को मीमांसाशास्त्र के अध्यापक रूप में नियुक्त कर दिया। पण्डित अनन्तरामजी इस पाठशाला में ऐसे जमे कि अन्यत्र कहीं नहीं गये, यद्यपि वेतन तो उस समय केवल ८) आठ रुपया ही था। कालान्तर में पण्डित मदनमोहन मालवीयजी ने रणवीर- संस्कृत-पाठशाला को हिन्दू-विश्वविद्यालय में अन्तर्मुक्त कर उसे कमच्छा ले आये। अनन्तरामजी पाठशाला के अध्यक्ष बनाये गये और अपना सम्पूर्ण जीवन ही इस पाठशाला के अभ्युदय तथा उत्थान में लगा दिया। फलतः उनके समय में काशी के मूर्धन्य शास्त्रवेत्ता अध्यापन का कार्य करते थे। सब शास्त्रों का यहाँ अध्यापन होता था। यहाँ के शैक्षणिक अनुभव से मण्डित ये विद्वान् काशी के संस्कृतकालेज तथा कलकत्ता के विश्वविद्यालय में नियुक्त होकर विशेष कीर्ति अर्जित करने में समर्थ हुये।

पण्डित रामकृष्ण शास्त्री (प्रसिद्ध नाम तात्या शास्त्री) संस्कृतकालेज में अध्यापक होने से पूर्व इसी पाठशाला में अध्यापक थे। आगे चलकर इन्होंने परिभाषेन्दुशेखर की भूति टीका की रचना कर पण्डितसमाज में विशेष स्थान प्राप्त किया तथा महामहोपाध्याय पदवी से भी विभूषित किये गये। यही दशा पण्डित लक्ष्मण शास्त्री द्रविड़जी की हुई। वे इस पाठशाला में वेदान्त के अध्यापक थे, तभी कलकत्ता-विश्वविद्यालय के प्रख्यात कुलपति आशुतोष मुकर्जी ने अपने संस्कृतविद्यालय के दर्शनशास्त्र की गद्दी पर इन्हें अध्यापक बनाकर बैठाया। सच तो यह है कि यह रणवीर-संस्कृत-पाठशाला काशीस्थ विद्वानों के लिए अध्यापनशैली सीखने के लिए शिक्षा-प्रतिष्ठान का कार्य करती थी जहाँ अध्यापन की कला उन्होंने सीखी और विस्तृत अनुभव प्राप्त करने के अनन्तर वे संस्कृतकालेज में पदोन्नति प्राप्त कर सके। इस प्रकार इस

पाठशाला का इतिहास गौरवपूर्ण है और इस गौरव के शिखर पर इसे पहुँचाने का श्रेय हमारे मान्यवर पण्डित अनन्तराम शास्त्री को ही मिलना चाहिये।

अनन्तराम शास्त्रीजी को मालवीय महाराज गुरुवत् मानते थे। जो नवीन काम करते, उसके लिए शास्त्रीजी का आशीर्वाद जरूर प्राप्त कर लेते थे। हरिजनो को मन्त्रदीक्षा देने से पहिले मालवीयजी ने शास्त्रीजी का आशीर्वाद ले लिया। विलायत मे गोलमेज-सभा के निमित्त जाने लगे, तब भी उन्होंने पण्डितजी के घर आकर दर्शन किया। पहले काशी-विश्वनाथ का दर्शन करने के अनन्तर पण्डितजी का दर्शन किया और आशीर्वाद लिया। वे कहने लगे कि पण्डित अनन्तराम शास्त्रीजी के दर्शन के बिना मेरा विश्वनाथदर्शन पूरा नहीं होगा। इनका आशीर्वाद पाकर वे आश्वस्त हुये। शास्त्रीजी शक्ति के निष्ठावान् आराधक थे। इसलिए प्रतिदिन गंगास्नान के अनन्तर घर आते समय, रणवीरपाठशाला पैदल आते-जाते, रात को सोने से पूर्व पण्डितजी दुर्गासप्तशती का नियमित मौखिक पाठ करते थे। ऐसी निष्ठा नितान्त दुर्लभ है। शक्ति की तीव्र उपासना के बल पर ही तो वे वर देने तथा शाप देने में सर्वथा सफल-मनोरथ होते थे। इसीलिए वे गुरुजी के नाम से विख्यात थे। उनकी शिष्य-परम्परा है, परन्तु दो विशेष उल्लेखनीय हैं—संस्कृत-पाठशालाओं के निरीक्षक पं० काशीरामजी तथा वैदिक कर्मकाण्ड के प्रख्यात विद्वान् म० म० प्रभुदत्तजी। इन दोनों का जीवनवृत्त ग्रन्थ में अन्यत्र दिया गया है। वि० सं० १९९० (= सन् १९३४ ई० ११ जुलाई को) ८३ वर्ष की आयु में पण्डितजी ने शिव-सायुज्य प्राप्त किया।[1]

अनन्तरामजी के पट्ट शिष्य

पण्डित काशीराम शर्मा

सारस्वतकुलमूर्धन्य, भारतीय संस्कृति तथा मर्यादा की प्रतिमूर्ति, स्कूल एवं संस्कृत-पाठशालाओं के अवकाशप्राप्त निरीक्षक पण्डित श्री काशीराम शर्मा एम० ए० ने 'जीवेम शरदः शतम्' की वैदिक भावना साकार करके पूरी सौ वर्ष की आयु में वि० सं० २०१६ श्रावण सोमप्रदोष के दिन मीरघाट पर स्थित अपने निवासस्थान पर अपनी ऐहिक जीवन-लीला समाप्त की। जीवन के अन्तिम क्षण तक वे गंगास्नान, सन्ध्यावन्दन, पूजन-अर्चन का विधिवत् सेवन करते रहे। आज से सवा सौ वर्ष पूर्व सन् १८६१ ईस्वी में आपका जन्म अखण्ड भारत के सीमाप्रान्तीय झेलम जिले के चकवाल ग्राम में हुआ था। दो वर्ष की अवस्था में पिता का तथा पाँच वर्ष की अवस्था में माता का निधन हो जाने से ये अबोध शैशव में ही निराश्रित तथा निरवलम्ब हो गये। भगवान् की अघटितघटनापटीयसी लीला का यह चमत्कार ही था कि इस प्रकार यह अनाथ बालक संस्कृतविद्या के अर्जन, प्रचार-प्रसार एवं तपःसाधना में निरत होकर काशी की विद्वन्मण्डली में यशस्वी जीवन का भागी बना।

पेशावर में काशीरामजी के मामा रहते थे। उन्हीं के आश्रम में विद्याध्ययन आरम्भ किया। उर्दू, फ़ारसी तथा अंग्रेजी की ही पढ़ाई विद्यालयों में होती थी। इन्हें भी फ़ारसी तथा अंग्रेजी के माध्यम से विद्या का अर्जन करना पड़ा और बीस वर्ष के वय में इन्होंने इन्ट्रेन्स पास किया। आगे पढ़ने की अभिलाषा हृदय में जाग रही थी। इसी अवसर पर किसी शुभचिन्तक द्वारा प्रेरणा मिलने पर इस हार्दिक अभिलाषा की पूर्ति के लिए ये विश्वनाथ की नगरी काशी में आ पहुँचे। सर्वप्रथम आपका साक्षात्कार पण्डित अनन्तराम शास्त्री से हुआ।

---

१. विशेष द्रष्टव्य—सारस्वत-स्मारिका, सारस्वत-समाज काशी द्वारा प्रकाशित।

वे भी पंजाब प्रान्त के ही थे। इनकी निराश्रितता की दशा से वे परिचित हुये और इन्हें दशाश्वमेध मुहल्ले के किसी सत्र पर भोजनपदार्थ पाने की लालसा से भेजा। परन्तु काशीरामजी को यह पसन्द नहीं पड़ा। अतः अनन्तरामजी इन्हें वाराहीघाट पर स्थित काशीमठ के महन्त श्री काशीगिरि के पास ले गये जिन्होंने अपने उत्तराधिकारी शिष्य के अध्यापन के निमित्त इन्हें आश्रय प्रदान किया। संस्कृत के अध्ययन के लिए पण्डित अनन्तरामजी को अपना गुरु बनाया। १८६३ ईस्वी में क्वीन्स कालेज से संस्कृत की प्रथमा परीक्षा, १८६५ ई० में इन्टर परीक्षा तथा १८६७ ई० में बी० ए० परीक्षा पास की। प्रशिक्षण प्राप्त कर ई० सन् १६०० में लखनऊ में ट्रेनिंगकालेज के प्राध्यापक नियुक्त हुये। इसी बीच १६०४ ई० में संस्कृत एम० ए० में आप प्रथम आये और अगले वर्ष १६०५ ई० में स्कूलों के विशेष निरीक्षक पद पर नियुक्त हुये।

सन् १६०० ई० में लगभग चालीस वर्ष की अवस्था में इनका विवाह पंजाब प्रान्त में एक कुलीन ब्राह्मण परिवार में सम्पन्न हुआ। निर्धारित वय से भी अधिक अवस्था तक विद्याध्ययन और ब्रह्मचर्यव्रत-धारण आपकी अध्ययन-अभिरुचि एवं तपःसाधना का सुदृढ प्रमाण है। इस उद्देश्य का उद्‌घोष आपने सन् १६३० ईस्वी में लाहौर में अखिलभारतीय सारस्वत-ब्राह्मणसभा के अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण करते हुये किया था—

'ब्राह्मणस्य शरीरोऽयं नेष्टकामार्थमिष्यते'—ब्राह्मण का शरीर भौतिक सुखसाधन के लिए नहीं होता। बाल्य ब्रह्मचर्य तथा अध्ययन के लिए, यौवन विवाह तथा सन्तान के लिए और वार्धक्य जीवन तप के लिए होता है। यह उपदेश उनके जीवन में चरितार्थ हुआ। दस-पाँच वर्ष ही आप गृहस्थ-जीवन में रह सके। दो पुत्र और एक कन्या को छोड़कर इनकी पत्नी ने देहान्त किया। तब से ये 'मातृवत् परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्टवत्' सिद्धान्त का पालन करते हुये आजीवन तपःसाधना में निमग्न रहे।

इनके जीवन के अनेक मनोरजक सस्मरण हैं जिनमें दो ही यहाँ दिये जाते है—(१) ग्रामवासियों ने इनसे पाठशाला के अध्यापक की शिकायत की कि वे पाठशाला में बैठकर नहीं पढ़ाते, प्रत्युत अपने खलिहान में बैठकर उसकी देखभाल करते हुये छात्रों को पढ़ाते हैं। फलतः पढ़ाई नहीं होती। काशीरामजी ने निरीक्षण किया और पण्डितजी को ध्यानपूर्वक खलिहान में बैठकर पढ़ाते देखकर बड़े प्रसन्न हुये और शिकायत करने वालों से कहा कि ऊँचे मकानों तथा इमारतों का नाम ही विद्यालय नही है, अपितु सच्ची मान्यता है कि गुरु जहाँ बैठ जाय वहीं विद्यालय है। (२) देहात में पाठशाला के निरीक्षण के लिए टाँगा पर गये थे। गरमी का दिन था। प्यास लगी थी किन्तु इन्होंने किसी से जलपान की वस्तु नहीं माँगी। स्वभाव ही ऐसा था। लौटने पर रास्ते में कुआँ मिला, परन्तु न लोटा था, न डोरी। पानी कैसे निकालें। एक उपाय सूझा। आठ-दस गज की पगड़ी बाँधते थे। उसे ही कुएँ में ढील दिया और छोर भिंगोकर प्यास बुझाई।

उनके जीवन की कतिपय असाधारण विशेषतायें ये थीं—कठोर सत्यव्रत, स्पष्टवादिता, तपश्चर्या, उदारता तथा संयम-नियम। स्वयं संयमित और नियमित जीवन व्यतीत करते और दूसरों को भी इसके लिए उत्साहित करते थे। जीवन में सादगी तो आपादमस्तक थी। शुद्ध वस्त्र, सिर पर पगड़ी, गले में दुपट्टा और हाथ में छड़ी, यही थी उनकी नियमित वेशभूषा। आपका नियम था कि पाँच बजे घर से चलकर अपने उद्यान 'काशीनिवास' (जो कचहरी के

पास आयकर विभाग का कार्यालय है) जाते। उद्यान मे कुछ देर टहलते और घर लौट आते। अन्तिम दिनों तक नित्य दस मील प्रतिदिन पैदल चलते थे। उनके शतायु जीवन का रहस्य इसकी दैनिक दिनचर्या तथा तपश्चर्या पर आश्रित है। अध्यापकों के लिए उन्होंने २७ वस्तुओं के आचरण की शिक्षा दे रखी थी। वैदिक मर्यादा तथा उपदेश के मानने वाले ऐसे विद्वान् धन्य है। उत्तरप्रदेश की संस्कृतपाठशालाओं के विस्तृतीकरण, नियमन तथा व्यवस्थापन के प्रसग में पण्डित काशीरामजी का नाम सर्वदा स्मरणीय होता रहेगा।

व्याख्यान-शिरोमणि पण्डित मदनमोहन शास्त्री

धार्मिक सभाओं में अपनी वाणी की मधुरता एव तर्क की अपूर्वता से श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध बनाने वाले पण्डित मदनमोहन शास्त्री का मूलस्थान भारतवर्ष का पश्चिमोत्तर मीमाप्रान्त था जो आजकल पाकिस्तान के अन्तर्गत है। वही इनका जन्म प० श्री लक्ष्मी नारायणजी के घर वि० सं० मार्गशीर्ष १९३१ (= १८७४ ईस्वी) मे हुआ था। य सारस्वत ब्राह्मण थे। आरम्भिक शिक्षा देश में ही समाप्त कर उच्च सस्कृतशिक्षा के निमित्त काशी आये और यहीं पर जीवनपर्यन्त रहे। शास्त्रीजी ने महामहोपाध्याय पण्डित गङ्गाधर शास्त्रीजी से विद्याध्ययन किया। अधीत शास्त्रों में व्याकरण एव साहित्य के अतिरिक्त वेद तथा धर्मशास्त्र भी थे। सस्कृत का अध्ययन-अध्यापन, शास्त्र का पठन-पाठन, आचार का पालन तथा उपदेश इनके जीवन का प्रधान लक्ष्य था। शास्त्र में निर्दिष्ट सदाचार का पालन ये बड़ी निष्ठा तथा श्रद्धा के साथ करते थे। इनकी कथनी और करनी मे अशमात्र भी अन्तर नही था। इस आचारनिष्ठा के कारण ही मारवाड़ीसमाज में इनका प्रभूत समादर था। ये बडे कर्मठ पण्डित थे। धर्मनिष्ठा तथा कर्मनिष्ठा का ही प्रोज्ज्वल उदाहरण है काशी का सनातनधर्म-स्कूल, जो आजकल यहॉ का एक प्रभावशाली शैक्षणिक सस्थान है और जहॉ विद्यालयीय शिक्षण के साथ ही साथ धर्मशिक्षा देने का भी सुप्रबन्ध है। शास्त्रीजी के जीवनकाल मे इस आदर्श का पालन बड़ी निष्ठा से होता था। इस विद्यालय के प्रथम हेडमास्टर पण्डित केदारनाथ पण्डितजी थे जो धर्म के मान्य सिद्धान्तों के अनुरागी होने से शास्त्रीजी के पक्के अनुयायी थे। इन दोनों विद्वानों के पारस्परिक सहयोग के कारण इस विद्यालय की विशेष उन्नति हुई और आज भी उस परम्परा का पालन, आशिक रूप से ही सही, होता ही है।

पण्डित मदनमोहन शास्त्रीजी पर महामना मालवीयजी महाराज की छाया दृष्टिगोचर होती थी। दोनों महानुभावों में केवल नाम का ही साम्य नही था, अपितु चरित में, आचार-विचार में, आचार-पालन तथा आचारोपदेश में भी समानता विवेचको को आकृष्ट करती थी। दोनों पुरुषों के वेश में भी सादृश्य मिलता था। माथे पर पगड़ी, गले में शुभ्र चादर, शरीर का उज्ज्वल आवरण—शास्त्रीजी के व्यक्तित्व को दर्शकों के लिए नितान्त आकर्षक बनाते थे। भाषण में वक्तृत्वशैली निराली ही थी। वाणी में माधुर्य टपकता था, हिन्दी अथवा संस्कृत—दोनों भाषाओं में उनका भाषण श्रोताओं को बरबस आकृष्ट करता था।

पण्डित मदनमोहन शास्त्रीजी का प्रथम दर्शन मुझे बलिया में १९१४ ईस्वी के आसपास हुआ जब किसी धार्मिक समारोह में भाषण करने के लिए पण्डित रामाज्ञा पाण्डेयजी उन्हें आग्रहपूर्वक वहाँ ले गये थे। वहाँ उन्होंने ब्राह्मण पण्डितों तथा बालकों के लिए सन्ध्यावन्दन निष्ठापूर्वक करने का उपदेश दिया था। उस समय के पण्डितों की श्रद्धाहीनता की उन्होंने कड़े शब्दों में निन्दा की थी। पण्डितों के आचरण की दिल्लगी उड़ाते हुये उन्होंने उनके

सन्ध्यावन्दन का मखौल इस प्रकार उडाया। उन्होने कहा कि आजकल पण्डित जन गंगास्नान करके सन्ध्यावन्दन करते है, तो अपने किसी साथी को लौटते देखकर वे दाहिने हाथ से तो प्राणायाम करने का ढोंग करते है और बायॉ हाथ ऊपर उठाकर जोर से बोलते है—अस्माभिरपि गन्तव्यम्, तिष्ठतु तावद् भवान् (भाई, मुझे भी जाना है, जरा खड़े तो रहो)। उनका मन पूजा में थोड़े ही लगता है। इस तथ्य को उन्होंने स्टेज के ऊपर इतने नाटकीय ढग से प्रकट किया कि पूरी सभा हास्य से गूँजने लगी और श्रोता लोग हॅसी मे लोटपोट होने लगे। मै उस समय आठवीं या नौवीं कक्षा का अग्रेजी का छात्र था, परन्तु उनके इस नाटकीय दृश्य को देखकर तथा उनके विचार को जानकर आह्लादित हुये बिना नही रहा। क्यों न हो, शास्त्रीजी के भाषण में अपूर्व आकर्षण की शक्ति जो थी।

वे सस्था के सचालन के भी अच्छे नियामक एव व्यवस्थापक थे। तभी तो वे मारवाड़ी संस्कृतकालेज के अध्यक्ष बनाये गये थे और उनकी अध्यक्षता के समय विद्यालय की व्यवस्था बड़ी सुन्दर थी तथा पठन पाठन का क्रम बडा ही सुव्यवस्थित था। उनका निधन काशी में ही सवत् २००५ चैत्र कृष्ण पक्ष (१९४८ ईस्वी) मे हुआ।

उनके अभिनन्दन का यह प्रशसनीय पद्य सर्वथा श्लाघनीय तथा चरित्र विश्लेषक है—

आचारैकरतः सनातनमहाविद्यालयस्थापकः
काशीवास-शिवैकचिन्तनमतिर्गङ्गाम्बुपानादृतिः ।
धर्मप्राणपरायणः श्रुतिपथ-प्राणैकनिष्ठः सदा
सोऽभूत् श्रीमदनादिमोहनसुधीर्नूनं सतामग्रणीः ॥



पण्डित चित्रधर मिश्र

(आस्पद—मिश्र, उपाधि—महामहोपाध्याय)

प्राचीन काल से ज्ञानमयी मिथिला दर्शनशास्त्रो की उद्गमभूमि रही है। साख्ययोग के अतिरिक्त मीमासा तथा प्राचीन एव नव्यन्याय का प्रमुख केन्द्र रही है। बीसवी शती के प्रारम्भ मे मीमासको के विचारो से मिथिला सम्पूर्ण देश मे सम्मानित थी।

ऐसे ही अवसर पर मीमासकशिरोमणि प० चित्रधर मिश्र का जन्म माघ कृष्ण चतुर्दशी बुधवार, सवत् १९०१ वै० (१८४४ ई०) को दरभगा जिले (अब समस्तीपुर) मे पूर्वोत्तर रेलवे के दलसिगसराय स्टेशन के पूर्ववर्ती 'टमका' ग्राम मे हुआ था। सत्कुलीन मैथिल ब्राह्मणो के निवास के लिए यह ग्राम अब भी प्रसिद्ध है। पवित्र 'सोदरपुरिये' मूलक प्रख्यात वश मे उत्पन्न आपके पिता प० बुचाई मिश्र परमधार्मिक, सदाचारसम्पन्न, उदारप्रकृति के सरल ब्राह्मण थे। अत मीमासक श्री मिश्रजी मे ये सारे गुण स्वयमेव सक्रान्त हो गये थे।

बाल्यावस्था मे श्री मिश्रजी आखेटप्रिय थे, माता पिता के द्वारा निषेध करने पर भी बाल-चपलतावश शिकार खेलने मे अत्यन्त सिद्धहस्त थे। महाकवि बाणभट्ट के समान तरुणावस्था मे ये भी भ्रमण-विचरण मे सलग्न रहते थे। इस अवस्था का सजीव चित्रण इन्होने स्वयमेव प्रस्तुत किया है—

माता कुप्यति तर्जति प्रतिदिन भ्रातेति किं मे भय
ग्रामे मान्यजनोऽपि निन्दतितरामेतावता का क्षति।
शास्त्र दैवतमुग्रकर्म सवया बन्धुश्च मे प्रीयता-
मित्येव कलयन्नपेत-सकलत्रासोऽहमास तदा॥

मनुष्य के जीवन मे कभी-कभी एकाएक परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन अच्छा भी होता है और बुरा भी। गोस्वामी सन्त तुलसीदास एव सन्तशिरोमणि सूरदास का उदाहरण सर्वविदित है। इसी प्रकार मिश्रजी के जीवन मे भी एक परिवर्तन आया और वे विलक्षण प्रतिभासम्पन्न विद्वान् हो गये।

किसी भी शास्त्र के अध्ययन मे व्याकरण का ज्ञान अपेक्षित होता है, अत इन्होने प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर मिथिला मे ही व्याकरण का अध्ययन किया। आप ककरौड़ (मध्यमिथिला मे न्याय का केन्द्र) के महापण्डित झिगुर झा—गोपाल झा के शिष्य थे। तदनन्तर उच्च एव गम्भीर शिक्षा के लिए काशी आये, क्योकि काशी की शैक्षणिक गरिमा मिथिला मे भी प्रसिद्ध थी। प्राच्यविद्या की सर्वोच्च सस्था (तदानीन्तन) राजकीय सस्कृत महाविद्यालय (अब सम्पूर्णानन्द-सस्कृत-विश्वविद्यालय) मे नामाकन कराया। ये क्रमश व्याकरण, धर्मशास्त्र तथा दर्शन की परीक्षाओं मे समुत्तीर्ण हुए। तत्पश्चात् नेपाल के राजगुरु प० नीलदेव पन्त से शिथिलता को प्राप्त मीमासाशास्त्र का इन्होने गहन अध्यनन किया। मिथिला के मीमासको की पूर्ण प्रतिष्ठा इस शताब्दी मे इन्होने ही कायम की। कुछ ही दिनो मे इनकी ख्याति इने-गिने

मीमांसकों में होने लगी। मीमांसा के तो आप अवतार ही कहे जाते थे। काशीस्थ श्री भारतधर्म-महामण्डल ने आपको 'मीमांसक-शिरोमणि' की उपाधि से अलंकृत किया था।

अध्ययन के पश्चात् श्री मिश्रजी अध्यापन कार्य में भी यशस्वी हुए। सर्वप्रथम इन्होंने काशीस्थ जम्बू-पाठशाला में ही अध्यापन कार्य प्रारंभ किया। किन्तु स्वास्थ्य अनुकूल न रहने के कारण अधिक दिनों तक यहाँ रह न सके और घर लौट गये।

अब तक इनकी ख्याति इतनी बढ़ चुकी थी कि अनेक राजे-महाराजे इन्हें अपनी राजधानी में आमन्त्रित करने लगे। इसी क्रम मे ये दरभगानरेश महाराजा मिथिलेश लक्ष्मीश्वरसिंह तथा महाराजाधिराज रमेश्वर सिह के राजपण्डित एव दानाध्यक्ष नियुक्त हुए। गुणग्राही महाराज ने राज्यारोहण के अवसर पर इन्हें धौतवस्त्र देकर पूर्ण सम्मानित किया। अनन्तर आपने श्री रमेश्वरलता-संस्कृत-महाविद्यालय के अध्यक्ष पद को सुशोभित किया। दर्शनशास्त्रों के तलस्पर्शी अध्यापन के कारण इनकी ख्याति सुदूर विद्या-केन्द्रो—काशी, नदिया आदि स्थानों तक पहुँच गयी। विद्याव्यसनी छात्र अपनी ज्ञानपिपासा को शान्त करने के लिए दरभंगाविद्यापीठ आने लगे। इनकी प्रखर योग्यता सम्पूर्ण देश में फैल गयी। विद्वानों की तेजस्विता और पाण्डित्य उनकी शिष्य-परम्परा से ही ज्ञात होता है। सुप्रसिद्ध न्यायवेत्ता महामहोपाध्याय पं० सतीशचन्द्र विद्याभूषण, महामहोपाध्याय प० मुकुन्द झा बक्शी, पं० बाल ेग मिश्र, पं० जटेश्वर झा आदि आपके प्रमुख शिष्य हुए है।

इनके वैदुष्य से प्रभावित होकर गुणग्राही महामना मालवीयजी ने इनसे काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय में अध्यापन के लिए आग्रह किया था किन्तु वार्धक्यजन्य असमर्थता के कारण उनकी अभिलाषा ये पूर्ण नही कर सके।

अनेक निबन्धों के रचयिता श्री मिश्रजो की तीन रचनाएँ सुप्रसिद्ध है—

(१) **मीमांसासारसंग्रह**, (२) **मैथिल संस्कृतकविनामावली**, (३) **उपलक्षण-संग्रह**।

इस प्रकार 'अधीतमध्यापितमर्जित यशो न शोचनीयं किमपीह भूतले' को चरितार्थ करते हुए वि० सं० १९७७ (१९२० ई०) में इन्होंने अपने नश्वर पाञ्चभौतिक शरीर का त्याग किया। इनके दिवङ्गत हो जाने पर इनके शिष्य दीवान बाबू श्री कामेश्वर सिंहजी ने शास्त्रीय परम्परा से शिवमन्दिर की स्थापना की। आपके ग्राम मे स्मारकस्वरूप 'चित्रधर-पुस्तकालय' द्वारा आज भी इनकी कीर्तिपताका फहरा रही है।

सक्षेप में इनके जीवन का रहस्य निम्नाकित पद्य से ही स्फुटित होता है—

मैत्री सार्धमकारि सद्भिरफलं वैरं न केनापि च
च्छिद्रं कस्यचिदप्यसूचि नृपतौ नो किन्तु मिथ्यागुणाः।
एवं नीतिपुरस्सरं बहुतरं नीत्वोन्नतं स्वं वयो
वार्धक्ये शिवसेवनात् परतरं कार्यं न विज्ञायते॥

म० म० पं० चित्रधर झा दरभगा-महाराज के दरबार के विशिष्ट विद्वान् थे। इनका वहाँ पर अत्यधिक सम्मान था। इनके अव 'श ग्रहण करने पर महाराजा ने इस अवसर पर अपनी जो भावना प्रकट की थी, उससे पता चलता है कि राजा इन्हें कितना मानते थे और इनका कितना सम्मान करते थे।

पं० चित्रधर मिश्र अजातशत्रु थे। इन्होंने किसी भी व्यक्ति की राजा से बुराई नहीं की बल्कि अन्य लोगों के झूठे-झूठे गुणों का राजा के सामने वर्णन किया। इतने सज्जन स्वभाव

के उदारचेता व्यक्ति होने पर भी दरभंगानरेश के दरबार में इनका अत्यधिक सम्मान होने के कारण कुछ पण्डित इनसे द्वेष तथा डाह करने लगे थे। ऐसा सुना जाता है कि मिथिला के प्रसिद्ध नैयायिक पं० विश्वनाथ झा ने दरभंगानरेश के दरबार में अपनी घोर उपेक्षा तथा मिश्रजी का अत्यधिक सम्मान देखकर एक दिन मिश्रजी के प्रधान द्वार पर यह श्लोक लिख दिया था—

अशनमाचर काञ्चनभाजने; त्वमपि कुक्कुर ! मा कुरु विस्मयम् ।
इह हि पामरनायकमन्दिरे; न हि सतामसतां हि विवेचनम् ॥

परन्तु चित्रधर झा के चित्त पर इस श्लोक की कुछ प्रतिक्रिया नहीं हुई और वह पूर्ववत् राजदरबार में सम्मान पाते रहे। प्राचीन काल के पण्डित लोग अन्योक्ति के द्वारा ही अपनी मनोवेदना प्रकट किया करते थे। यह श्लोक उसी का एक नमूना है।

चित्रधर मिश्रजी सदाचारी, सात्त्विक तथा शान्तिप्रिय ब्राह्मण थे। भगवान् शंकर के बड़े ही भक्त थे। गोमाता की पूजा को अपना नित्यकर्म मानते थे। छात्रों को अध्यापन कराने में तथा पण्डितों को सम्मान एवं राजकीय सहायता दिलाने में सर्वदा अग्रसर रहते थे। इनके नाम तथा यश को फैलाने वाले छात्रों में डॉ० गङ्गानाथ झा अग्रणी थे। जब वे दरभंगा में राजकीय पुस्तकालय के अध्यक्षपद पर प्रतिष्ठित थे तब वे मीमांसा पढ़ने के निमित्त दत्तचित्त होकर पण्डितजी के आवास पर जाते थे। मिश्रजी इनकी गुरुभक्ति से इतने प्रसन्न हुए कि वे स्वयं इनके आवास पर पहुँचकर विद्यादान करते थे। यह उनके सौजन्य तथा नैसर्गिक आर्जव का सद्यः परिचायक है।

दरभंगानरेश राजा रमेश्वरसिंहजी आपके बड़े ही गुणग्राही नरेश थे। इन्होंने ही पण्डितजी को अपनी राजसभा का प्रधान पण्डित बनाया था। यह सुन्दर प्रशस्ति भी रमेश्वर सिंह की ही बतलाई जाती है—

निश्चिन्वन् परशब्दतत्त्वमखिलं साहित्यपाथोनिधिं
निर्मथ्नन् स्मृतिनीतितर्कमधियन् वेदान्तविद्यां विदन् ।
मीमांसामनुशिष्य शिष्यनिवहं लुप्तप्रचारां चिरात्
कीर्त्याऽमण्डयदेष मण्डन इवाखण्डं महीमण्डलम् ॥

श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय विद्यापीठ (दिल्ली) ने इधर महामहोपाध्याय चित्रधर मिश्र के 'प्रमाणप्रमोदः' नामक न्यायशास्त्रीय ग्रन्थ का प्रकाशन किया है। इसमें उदयनाचार्य की 'न्यायकुसुमाञ्जलि' की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए नव्यन्याय की शैली में ईश्वरसिद्धि की विवेचना की गई है। म० स० श्री दुःखमोचन झा की महत्त्वपूर्ण व्याख्या भी मूल ग्रन्थ के साथ प्रकाशित की गई है। ग्रन्थ के लेखक चित्रधर शर्मा प्रख्यात मीमांसक पण्डित चित्रधर झा से भिन्न है या अभिन्न, इसका समाधान ग्रन्थ की परीक्षा से किया जा सकता है।

●

७०

पण्डित पद्मप्रसाद भट्टराई

समस्त विश्व मे नेपाल ही स्वतत्र हिन्दू राज्य है, जहाँ किसी विदेशी शत्रु की दाल नही गली और जहाँ अत्यन्त प्राचीन काल से आज भी हिन्दू नरेश का ही साम्राज्य विराजता है। वहाँ के ब्राह्मण सस्कृत भाषा के विद्वान् होते है तथा सनातन वैदिक धर्म मे उनकी पूर्ण निष्ठा है। वहाँ के ब्राह्मण काशी मे आकर अपनी विद्या के अर्जन मे पूर्णता प्राप्त करते थे और आज भी करते है। ऐसे ही नेपाली विद्वान् ब्राह्मण का सक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

इन विद्वान् का नाम था प० पद्मप्रसाद भट्टराई। इनका जन्म नेपाल के मुख्य नगर काठमाण्डू से पूर्व दिशा मे 'रामेछाप' नामक प्रसिद्ध जनपद के 'शालुसामलि' नामक ग्राम मे १९'_२ ।त् (१८६६ ई०) मे हुआ था। उनके पूज्य पिताजी का नाम प० दीनानाथ भट्टराई था। पिता स्वय पडित थे अतएव पुत्र की आरम्भिक शिक्षा पिताजी के पास ही हुई। पुत्र को सस्कृतविद्या का प्रकाण्ड पडित बनाने की इच्छा से प्रेरित होकर दीनानाथजी ने काशी भेजा। काशी मे यह रामघाट मे ही गगा के किनारे निवास करते थे और अपने शास्त्रो का अध्ययन उस युग के महनीय पण्डितो के पास जाकर करते थे। इन्होने सस्कृतविद्या के व्याकरण तथा साहित्य आदि विषयो का अध्ययन कर तीन विषयो मे विशेष प्रौढि प्राप्त की थी। पद्मप्रसादजी ने महामहोपाध्याय लक्ष्मण शास्त्री द्रविड से वेदान्त का, प० नित्यानद पर्वतीय से धर्मशास्त्र का तथा महामहोपाध्याय वृद्ध वामाचरण से न्यायशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया। इन सब विषयो मे न्यायशास्त्र का पाण्डित्य उनमे अत्यन्त प्रौढ तथा आदरणीय था। प० वामाचरणजी उस युग के न्यायशास्त्र के पण्डितो मे अग्रणी माने जाते थे। उस युग मे इनके यहाँ न्यायशास्त्र के गम्भीर अध्ययन करनेवाले छात्रो की दीर्घ परम्परा विद्यमान थी। भट्टराईजी के सहपाठियो मे तीन विद्वानो के नाम विशेष उल्लेखनीय है। पडितराज राजेश्वर शास्त्री द्रविड, नवीन वामाचरण भट्टाचार्य तथा प० शिवदत्त मिश्र—ये तीनो विद्वान् इनके सहपाठी थे। सस्कृतकालेज से इन्होने न्यायाचार्य की पदवी प्राप्त की तदनन्तर विशेष अध्ययन के लिए पोष्टाचार्य की छात्रवृत्ति भी प्राप्त हुई। इनके निदेशक महामहोपाध्याय प० गोपीनाथ कविराजजी थे, जिनकी कृपा से इन्होने अपना विशिष्ट दार्शनिक निबन्ध प्रस्तुत किया था।

इस प्रकार सस्कृत शास्त्र मे, विशेषकर न्यायशास्त्र मे, प्रौढ पाण्डित्य से मण्डित होने पर इन्होने काशी के विद्यालयो मे ही इस शास्त्र का अध्यापन प्रारम्भ किया। १९८६ विक्रम सवत् मे इन्होने मारवाडी सस्कृतविद्यालय मे न्यायशास्त्र का अध्यापन करना आरम्भ किया। कुछ वर्षो के अनन्तर उस युग मे प्रसिद्ध होने वाले गोयनका महाविद्यालय मे न्याय की गद्दी पर ये प्रतिष्ठित किए गए। अध्यापन के अतिरिक्त ये शास्त्रार्थ मे भी बड़े प्रौढ पण्डित माने जाने लगे। काशी की पण्डितो की मण्डली ने इन्हे 'न्यायरत्न' की उपाधि से मण्डित किया। गोयनका-विद्यालय के अनन्तर ये काशी के ही प्रख्यात विद्यालय सन्यासीपाठशाला मे न्याय



पं० पद्मप्रसाद भट्टराई

के प्रधान अध्यापक नियुक्त किए गए। इस प्रकार भट्टराईजी अपने विशिष्ट अध्यापन, प्रौढ़ शास्त्रार्थ तथा प्रगाढ़ धर्माचरण के कारण उस युग के पण्डितो में विशेष महनीय माने जाते थे। काशी में इनकी प्रसिद्धि से आकृष्ट होकर नेपाल के महाराजा ने इन्हें अपने त्रिभुवन-विश्वविद्यालय के अन्तर्गत स्थापित वाल्मीकि-विद्यापीठ नाम के एक संस्कृत-संस्थान में बुला लिया और इसके ये ही मुख्य अध्यापक नियुक्त किए गए। नेपाल मे इनके अध्यापन की इतनी प्रसिद्धि थी कि दूर-दूर से आकर विद्वान् लोग इनसे विद्या का अध्ययन करते थे। नव्यन्याय के अध्यापन के प्रवर्तक के रूप मे आपका स्मरण नेपालराज्य में सदा होता रहा और आज भी होता है।

पण्डित पद्मप्रसादजी ने अध्यापन के साथ-साथ अनेक प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थों का कुशलतापूर्वक सम्पादन भी किया। न्यायशास्त्र के **वात्स्यायनभाष्य** का इन्होंने विधिवत् सम्पादन किया और विषमस्थलों मे अपनी टिप्पणी भी जोड़ी। इस ग्रथ का प्रकाशन चौखम्भा से वि० सं० १९९९ (ई० सन् १९४२) में हुआ है। द्वितीय सम्पादित ग्रन्थ उदयनाचार्य की **न्यायकुसुमाञ्जलि** है। इस ग्रथ के सम्पादन में दो टीकायें तथा बच्चा झा के द्वारा रचित गूढार्थतत्त्वालोक नामक टिप्पणी भी सम्मिलित है। इनका तृतीय सम्पादित ग्रन्थ है—**वीरमित्रोदय**। इस महान् ग्रथ के कतिपय खण्डों का इन्होंने विधिवत् सम्पादन किया है।

स्कन्दपुराण के अन्तर्गत हिमवत्खण्ड के नवम अध्याय से लेकर एकादश अध्याय तक के अंश का नेपाली भाषा में आपने अनुवाद भी किया है।

आपके द्वारा शिक्षित छात्रों की एक लम्बी परम्परा है। पं० पद्मप्रसादजी के जीवन-चरित तथा लेखों का प्रकाशक अभिनन्दनग्रथ पद्मस्मृतिग्रन्थ के नाम से वाराणसी से १९८४ ई० में प्रकाशित हुआ है जिसमें इनके लिखित मूल लेख तथा इनकी प्रतिष्ठा के सूचक लेख एक साथ दिए गए हैं। इस ग्रथ के ६७ से लेकर ७६ पृष्ठ तक इनके शिष्यो के नाम दिए गए है। इनके शिष्य दोनों प्रकार के थे—विरक्त शिष्य तथा गृहस्थ शिष्य। ऐसे पचासों विद्वानो के नाम है जिन्होंने इनसे न्याय तथा वेदान्त का अध्ययन कर इनकी परम्परा को अग्रसर किया हैं। इनके विरक्त शिष्यों में काशी-सुमेरुपीठाधीश्वर **शंकरानन्द सरस्वती**, हरिद्वार के भीमगोड़ा स्थान मे निर्मित चेतनज्योति-संस्कृत-महाविद्यालय के संस्थापक **चेतनानन्द स्वामी**, **शिवचैतन्य भारती** (पूर्वाश्रम का नाम शिवप्रसाद गौड़) तथा **योगीन्द्रानंद स्वामी**—अग्रगण्य है। इनके गृहस्थ शिष्यों की संख्या बहुत ही अधिक है। गृहस्थ शिष्यों में न्याय-व्याकरण-वेदान्त के प्रौढ़ पण्डित केदारनाथ ओझा, संस्कृतकालेज के न्यायविभागाध्यक्ष पंडित सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी, जनकपुर राममन्दिर में प्रतिष्ठित पण्डित **काशीनाथ झा**, दरभगा कामेश्वरसिंह संस्कृत-विश्वविद्यालय के पंडित कीर्त्यानन्द झा, हिन्दू-विश्वविद्यालय के प० रुद्रधर झा, बड़ौदा-विश्वविद्यालय के संस्कृताध्यापक पं० शोभित मिश्र, मध्यप्रदेश रायपुर के संस्कृताध्यापक राजेन्द्र चौधरी आदि-आदि पचासों पंडितों के नाम इस प्रसग में गिनाए जा सकते है। इस प्रकार पंडित पद्मप्रसाद भट्टराई की शिष्य-परम्परा नेपाल तथा समग्र उत्तरभारत मे पर्याप्त रूप से प्रसिद्ध है।

भट्टाराईजी की दो समस्यापूर्तियाँ यहाँ दी जा रही है[1]—

---

१. द्रष्टव्य—पद्मस्मृतिग्रन्थः, पृष्ठ ६९-७०।

सुवर्णालङ्कारप्रवणपदविन्याससुरभि-
निर्यत्यास्पृष्टापि प्रथितगुणरीतिप्रणयिनी ।
दिशन्ती संवित्तिं भवजलनिधेः पारगतरी-
मियं शर्वाणीव स्फुरतु सुरवाणी मनसि मे ॥ १ ॥

विप्रा वेदविवर्जिता नृपतयो म्लेच्छाश्रिताः प्रायशो
वैश्याः कूटकुपण्यविक्रयपराः, शूद्रा द्विजाक्रामिणः ।
स्वच्छन्दाः सुकुलस्त्रियस्तदितरे प्राणिव्रजे का कथा
पूतं कृष्ण ! कलौ त्वदर्पणविधौ नान्नं धरित्रीतले ॥ २ ॥

नेपाल के महाराजा के द्वारा इनकी बड़ी प्रतिष्ठा की गई थी। महाराजा महेन्द्र ने इन्हीं के आचार्यत्व मे रुद्रयाग का सम्पादन किया था। काठमाण्डू मे ही विक्रमसवत् २०३० (१९७३ ई०) मे माघकृष्ण प्रतिपद् के दिन रामनाम का उच्चारण करते हुए पण्डितजी ने पशुपति महादेव के समीप ही आर्यघाट पर अपने प्राणों को छोडकर शिवसायुज्य प्राप्त किया।

इनकी अध्यापनशैली की काशी मे बडी प्रख्याति थी। प्रसन्नचित्त होकर ये छात्रों को विद्यादान करते थे। प्रसिद्धि थी कि इनकी शिक्षा का आश्रय लेकर नितान्त मूर्ख छात्र भी प्रौढ़ विद्वान् बन जाता था। नेपाल में इनके समान प्रौढ़ न्यायशास्त्र का वेत्ता विद्वान् दूसरा व्यक्ति हुआ ही नही। धन्य है हमारे चरितनायक पण्डित पद्मप्रसाद भट्टराईजी। इनकी स्तुति मे रचित यह पद्य सर्वथा यथार्थ तथा अन्वर्थक है—

सूक्ष्मार्थप्रविभेदने प्रतिपदव्याख्यानकौतूहले
शास्त्रार्थेष्वनुवासरं विशदता यस्योदिता सन्ततम् ।
काशीवासपरायणो नवनवन्यायार्थचर्चापटुः
शान्तस्वान्ततया सतामभिमतः पद्मप्रसादः सुधीः ॥



७१

पण्डित चिन्नस्वामी शास्त्री

मूलनाम वेङ्कट सुब्रह्मण्य शास्त्री

(आस्पद—द्रविड़, उपाधि—महामहोपाध्याय)

प० चिन्नस्वामी शास्त्री मीमासाशास्त्र के मूर्धन्य विद्वान् थे। आपने इस शास्त्र का गहन अध्ययन किया था और विद्याक्षेत्र काशी, कलकत्ता और तिरुपति आदि विश्वविद्यालयो मे इस शास्त्र का आजीवन अध्यापन करके इस शास्त्र के प्रचार तथा प्रसार मे प्रचुर परिमाण मे योगदान दिया था। काशी मे व्याकरण, न्याय और वेदान्त शास्त्रो के अध्ययन-अध्यापन की ही विशेष प्रधानता रही है। मीमासाशास्त्र प्राय उपेक्षित-सा ही रहा है। परन्तु प० चिन्नस्वामी शास्त्री की सबसे बडी विशेषता यह थी कि इन्होने काशी तथा उत्तरी भारत मे मीमासाशास्त्र के अध्ययन का प्रतिस्थापित किया। इस शास्त्र की प्रतिष्ठा ही आपके जीवन का सबसे बडा योगदान समझना चाहिए। काशी तथा अन्य स्थानो मे मीमासाशास्त्र का जो अब अध्ययन-अध्यापन दिखाई पडता है उसका अधिकाश श्रेय शास्त्रीजी को प्राप्त है। आपने स्वय तो आजीवन इस शास्त्र का प्रचार किया ही, इसके अतिरिक्त आपने ऐसे सुयोग्य शिष्यो को तैयार किया जिन्होने इस शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन को प्रगति प्रदान की। इस प्रकार मीमासा के इतिहास मे शास्त्रीजी का नाम सदा सादर लिया जाएगा।

जन्म तथा शिक्षा

प० चिन्नस्वामी शास्त्री का जन्म मद्रास प्रान्त (आधुनिक तमिलनाडु) के उत्तरी आरकाट जिले के 'मण्डकोन्नत्तूर' नामक स्थान मे मई, सन् १८८६ ई० मे हुआ था। आपके पिता का नाम श्री अप्पा स्वामी शास्त्री और माता का नाम भागीरथी था। आपके पिताजी बहुत बड़े विद्वान् थे तथा वेद-विद्या मे प्रमाण माने जाते थे।

चिन्नस्वामी की प्रारम्भिक शिक्षा अपने गाँव मे ही हुई। तत्पश्चात् आपने अपने पिताजी से कृष्णयजुर्वेद का अध्ययन किया। स्वर्गीय प० वेङ्कटरमण शास्त्रीजी के चरणो मे बैठकर आपने गुरुकुलप्रणाली से व्याकरणशास्त्र, काव्यशास्त्र, नाटक, अलङ्कार आदि का विधिवत् पाठ पढ़ा। इसके बाद मद्रास (मैलापुर मे स्थित) के सस्कृतकालेज के प्रकाण्ड विद्वान् महामहोपाध्याय प० कुप्पू स्वामी शास्त्री—जिन्होने बाद मे मद्रास विश्वविद्यालय मे सस्कृतविभाग में अध्यक्ष पद को अनेक वर्षो तक सुशोभित किया था—से साहित्यशास्त्र का, महामहोपाध्याय प० चन्द्रशेखर शास्त्री तथा महामहोपाध्याय प० वेङ्कट सुब्बा शास्त्री से मीमासाशास्त्र का सम्यक् अध्ययन किया।

दक्षिणभारत के महान् परोपकारी श्रीकृष्णस्वामी अय्यर द्वारा सचालित मद्रास (मैलापुर) सस्कृतकालेज के चिन्नस्वामीजी प्रथम 'बैच' के छात्रो मे से थे। इस कालेज मे अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् आपने अपने गुरु म० म० प० वेङ्कट सुब्बा शास्त्री से मीमासाशास्त्र के प्रधान



पं० चिन्नस्वामी शास्त्री

तथा कठिन ग्रन्थो का उच्चस्तरीय अध्ययन किया। मीमासाशास्त्र के गहन तथा गम्भीर अध्ययन के पश्चात् आपने वेद (कृष्णयजुर्वेद), श्रौतग्रन्थ तथा धर्मशास्त्र का भी सम्यक् अनुशीलन किया। वेदमन्त्रो के शुद्ध तथा स्वरयुक्त उच्चारण मे आपने निपुणता प्राप्त की थी। प० वेङ्कट सुब्बा शास्त्री के अन्तेवासी होने के समय आपके एकमात्र सहपाठी काञ्ची के कामकोटिपीठाधीश्वर जगद्गुरु शकराचार्य थे जिन्होने अपनी विद्वत्ता से बाद मे बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की।

अध्यापन कार्य

प० चिन्नस्वामी शास्त्री ने अनेक महाविद्यालयो तथा विश्वविद्यालयो मे अध्यापन का कार्य बड़ी सफलता से किया। यद्यपि शास्त्रीजी की जन्मभूमि मद्रास प्रान्त थी परन्तु आपकी कर्मभूमि काशी नगरी ही थी। आपने हिन्दू विश्वविद्यालय काशी मे अनेक पदो पर लगभग तीस वर्षो तक अध्यापन का कार्य किया जो स्वय मे एक बहुत बडा योगदान है। आपने अध्यापकी जीवन का प्रारम्भ अपने प्रान्त से ही प्रारम्भ किया था। महाराजा-सस्कृत-कालेज, तिरुवयार मे आपने सन् १९१४ ई० से लेकर सन् १९१८ ई० तक मीमासा के प्राध्यापक पद पर कार्य किया। सन् १९१६ ई० मे हिन्दू-विश्वविद्यालय की स्थापना होने के पश्चात् महामना मालवीयजी महाराज ने सस्कृत-महाविद्यालय को स्थापित कर सस्कृत के सकल शास्त्रो के अध्यापन की व्यवस्था की। प० चिन्नस्वामी शास्त्री की हिन्दू-विश्वविद्यालय मे नियुक्ति प्रथमत मीमासाशास्त्र के प्राध्यापक के पद पर हुई। कालान्तर मे ये इस विभाग के अध्यक्ष नियुक्त किये गये। इन दोनो पदो पर इन्होने सन् १९१८ ई० से १९३६ ई० तक बडी योग्यता से अध्यापन तथा विभाग के सञ्चालन का कार्य किया। इसके बाद आप मीमासा तथा धर्मशास्त्र दोनो विभागो के अध्यक्ष हो गये। इन पदो को आपने सन् १९३६ से १९३८ ई० तक सुशोभित किया।

हिन्दूविश्वविद्यालय के धर्म विज्ञान महाविद्यालय (कालेज आफ थिआलोजी) मे आपने दो वर्षों—सन् १९३७ ई० से १९३९ ई०—तक वाइसप्रिन्सिपल के पद को भी अलकृत किया था। इसके पश्चात् शास्त्रीजी तिरुपति (आन्ध्रप्रदेश) चले गये जहाँ बालाजी का भारत-प्रसिद्ध मन्दिर अवस्थित है। वहाँ श्री वेङ्कटेश्वर ओरियण्टल सस्कृतकालेज मे आप वेदान्त तथा मीमासाविभाग के प्रोफेसर नियुक्त हुए। इसके साथ ही आप इस कालेज के प्रिन्सिपल के पद पर भी प्रतिष्ठित रहे। परन्तु वहाँ केवल दो वर्षों—सन् १९३९-'४० ई०—तक कार्य करने के पश्चात् बाबा विश्वनाथ के मोह को ये सवरण नही कर सके और पुन काशी (हिन्दू विश्वविद्यालय) चले आये। यहाँ पर आप वेद, मीमासा, धर्मशास्त्र (कर्मकाण्ड, पौरोहित्य) आदि विभागो के प्रधानाध्यापक थे। परन्तु इसके अतिरिक्त आप धर्मविज्ञान महाविद्यालय के प्रिन्सिपल के पद को लगातार सात वर्षो—सन् १९४० ई० से '४७—तक सुशोभित करते रहे। चार वर्षों तक (१९४७ ई० से '५१ ई०) शास्त्रीजी ने कलकत्ता-विश्वविद्यालय मे सस्कृतविभाग मे अध्यापन किया था। इसके पश्चात् सन् १९५१ से १९५४ ई० तक आप गवर्नमेण्ट सस्कृतकालेज कलकत्ता मे ही स्मृति तथा पुराण आदि विषयो पर शोधकार्य भी करते रहे। इस प्रकार अनेक पदो को विभूषित करते हुए सन् १९५६ ई० मे कलकत्ता मे ही आपका निधन हो गया।

अन्य विविध कार्य—मीमासाशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् होने के कारण शास्त्रीजी को अनेक यज्ञो मे अध्यक्षता करने के लिए बुलाया जाता था। भारत के अनेक राजा-महाराजा

यज्ञों के सम्यक् सम्पादन के लिए शास्त्रीजी को अपने यहाँ आमन्त्रित किया करते थे। यज्ञों में अध्यक्षता करने के अतिरिक्त आप लखनऊ तथा आन्ध्र-विश्वविद्यालय के शिक्षा-बोर्ड के सदस्य थे। गवर्नमेण्ट संस्कृतकालेज, काशी के पाठ्यक्रम के संशोधन के लिए उत्तरप्रदेश-सरकार ने सन् १९३८ ई० में जो समिति बनाई थी उसके आप मनोनीत सदस्य थे। बंगाल-सरकार के द्वारा जिस संस्कृत-शिक्षाबोर्ड का गठन किया गया था उसके भी आप सदस्य थे। आप देवभाषापरिषद् के सन् १९३९ से लेकर सन् ४८ ई० तक अध्यक्ष रहे। सन् १९४५ ई० में जो संस्कृत-साहित्यसम्मेलन हुआ था उसके सभापति पद को आपने सुशोभित किया था। सन् १९४८ ई० में आयोजित 'आल इण्डिया ओरियण्टल कानफरेन्स' के मीमांसाविभाग के आप सभापति नियुक्त किये गये थे। इस प्रकार अनेक सभा सम्मेलनो मे आपने अध्यक्ष पद को अलकृत किया था।

सम्मान

आपकी प्रकाण्ड विद्वत्ता की मान्यता के रूप मे तत्कालीन ब्रिटिशसरकार ने आपको 'महामहोपाध्याय' की पदवी से अलकृत किया था। काञ्चीकामकोटि के पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य ने सन् १९४२ ई० में आपको 'शास्त्ररत्नाकर' की उपाधि प्रदान की थी। आप भारत के उन उच्च कोटि के विद्वानों में से थे जिन्हें संस्कृत ऐसोसियेशन, बिहार की ओर से 'मिथिलेश महेश लेक्चर्स' देने के लिए निमन्त्रित किया गया था। मीमासाशास्त्र में गभीर वैदुष्य के फलस्वरूप सस्कृत के विद्वानो ने आपको 'मीमांसा-केसरी' की महनीय पदवी प्रदान की थी।

ग्रन्थरचना—प० चिन्नस्वामी शास्त्री ने अनेक ग्रन्थो की रचना की है। आपने (१) **न्यायप्रकाश की सारविवेचनी** नामक टीका लिखकर मीमासाशास्त्र की कठोरता को दूर कर इसे सरल बनाने का प्रयास किया है। आपका दूसरा ग्रन्थ तन्त्रसिद्धान्त-रत्नावलि है जो मीमासा का अध्ययन करने वाले छात्रों के लिए अत्यन्त सरल तथा उपयोगी है। यह मीमांसा-शास्त्र का प्रकरणग्रन्थ है। इसमें मीमासा के गम्भीर सिद्धान्तों का सरल-सुबोध भाषा में नाना उदाहरणों से संवलित विवेचन किया गया है। यह एक मौलिक ग्रन्थ है और शास्त्रीजी के गम्भीर अध्ययन का सद्यःपरिचायक है। यह काशी से ही संवत् २००१ में प्रकाशित हुआ था।

पण्डित चिन्नस्वामीजी वैदिक कर्मकाण्ड तथा यज्ञविधान के भी मार्मिक ज्ञाता थे। दक्षिणभारत में सम्पन्न अनेक यज्ञों का इन्होंने सूक्ष्मतया निरीक्षण किया तथा स्वयं उनमें योगदान दिया था। इसके परिणामस्वरूप ये श्रौतयाग के बड़े ही अच्छे जानकार थे। इस दृष्टि से इनके एतद्विषयक दोनों ग्रन्थ (३) **वैदिकयज्ञमीमांसा** तथा (४) **यज्ञतत्त्व-प्रकाश** बड़ी ही मूल्यवान् तथा उपादेय कृतियाँ हैं, क्योंकि यज्ञ का पूरा रहस्य इनमें सुबोध रीति से समझाया गया है।

स्वामीजी ब्राह्मणों तथा कल्पसूत्रों के भी सुबोध अध्येता तथा प्रौढ़ विवेचक थे। काशी में रहते समय इन्होने **ताण्ड्यब्राह्मण** जैसे विशालकाय सामवेदीय ब्राह्मण का बड़ा ही विमर्शात्मक संस्करण चौखम्भा ग्रन्थमाला में प्रकाशित किया। आपस्तम्बगृह्यसूत्र का उनका संस्करण दो टीकाओं के साथ चौखम्भा से ही प्रकाशित है। उसकी भूमिका बड़ी उपादेय है, क्योंकि उसमें विषय के विस्तृत विवेचन के साथ ही ग्रन्थकार के देशकाल का भी निर्णय बड़ी छानबीन के साथ किया गया है। फलतः ये सम्पादित वैदिक तथा मीमांसा ग्रन्थ इनकी विस्तृत

जानकारी, विषय में गाढ़ अनुप्रवेश तथा विस्तृत दृष्टिकोण का सद्यः परिचय देने वाले हैं। इनके द्वारा सम्पादित मुख्य ग्रन्थ निम्नलिखित है—

(१) मीमांसाकौस्तुभ, (२) बृहती, (३) ताण्ड्यब्राह्मण, (४) आपस्तम्बगृह्यसूत्र, (५) आपस्तम्बश्रौत्रसूत्र, (६) बौधायनधर्मसूत्र, (७) विधितत्त्वसंग्रह, (८) तौतातितमततिलकम्।

इसके अतिरिक्त आपने अनेक सम्कृत-पत्र पत्रिकाओं—यथा 'पीयूष पत्रिका', 'संस्कृत-रत्नाकर' और 'सूर्योदय' आदि में अनेक शोधपूर्ण निबन्धों को लिखकर अपनी अगाध विद्वत्ता का परिचय दिया है।

सन्तान—शास्त्रीजी का परिवार सुखी तथा समृद्ध था। आपके पाँच पुत्र तथा चार कन्याएँ थीं। ये सभी पुत्र सुखपूर्वक अपना जीवन-यापन कर रहे हैं। आपके ज्येष्ठ पुत्र का नाम पं० रघुनाथ शास्त्री है जो काशी मे ही हनुमानघाट पर निवास करते है। आप भी अपने पिताजी के ही समान संस्कृतविद्या के प्रचार तथा प्रसार में सदा संलग्न रहते है।

शिष्यमण्डली—म० म० प० चिन्नस्वामी शास्त्री ने काशी, कलकत्ता और तिरुपति में अनेक छात्रों को मीमासा और धर्मशास्त्र का अध्यापन किया। इस प्रकार आपके सैकड़ों सुयोग्य शिष्य भारतवर्ष के विभिन्न भागों में फैले हुए है। ये शिष्यगण आज उच्च पदों को सुशोभित कर रहे है। इनमें से कुछ प्रधान शिष्यो के नामों का निर्देश यहाँ किया जा रहा है—

(१) स्वामी गङ्गेश्वरानन्दजी—महामण्डलेश्वर, अहमदाबाद (गुजरात)।

(२) स्वामी भागवतानन्दजी, अहमदाबाद।

(३) पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, मोतीझील, काशी।

(४) पं० पट्टाभिराम शास्त्री शास्त्ररत्नाकर, काशी।

(५) पण्डित सुब्रह्मण्य शास्त्री।

(६) पण्डित रामनाथ दीक्षित।

(७) पण्डित युधिष्ठिर मीमासक।

व्यक्तित्व—महामहोपाध्याय पण्डित चिन्नस्वामी शास्त्री का व्यक्तित्व बड़ा ही आकर्षक तथा प्रभावशाली था। अधोवस्त्र तथा ऊर्ध्ववस्त्र धारण करने के पश्चात् जब आप अपने सिर पर मद्रासी पगड़ी बाँधते थे तब आपका व्यक्तित्व चमक उठता था। आप संस्कृत में धारा-प्रवाह भाषण करने की अद्‌भुत क्षमता रखते थे। लेखक को आपके भाषणों को सुनने का अवसर अनेक बार प्राप्त हुआ है और वह अपने अनुभव से कह सकता है कि आपकी वाणी में प्रवाह था और भाषा में ओजस्विता थी। तमिलभाषा-भाषी होते हुए भी आप हिन्दी में अच्छा भाषण देते थे।

शास्त्रीजी आधुनिक शब्दों में बड़े ही 'चलते-पुर्जे' विद्वान् थे। संस्कृत के पण्डितों में प्रायः कर्मठता का अभाव पाया जाता है। परन्तु शास्त्रीजी बड़े ही कर्मठ व्यक्ति थे। हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में इन्होंने लगभग तीस वर्षों में प्राध्यापक से लेकर प्रिन्सिपल तक के पदों को सुशोभित किया। जीवन की गोधूलि में कलकत्ता-विश्वविद्यालय तथा वहाँ के गवर्नमेण्ट संस्कृतकालेज में इन्होंने क्रमशः अध्यापन तथा अनुसन्धान का कार्य किया। इन्होंने संस्कृत-

साहित्य-सम्मेलन की अध्यक्षता की, ओरियण्टल कान्फेरेन्स के एक विभाग के सभापति थे। इसके अतिरिक्त अनेक सभा सोसाइटियो के ये अध्यक्ष थे। किसी सस्कृत के विद्वान् में इससे अधिक कर्मठता क्या हो सकती है ? परन्तु उत्तरी भारत मे मीमासाशास्त्र की प्रतिष्ठा करना इनका सबसे बडा योगदान है जिसके लिए सस्कृत जगत् इनका सर्वदा ऋणी रहेगा।

प्रधान शिष्य

(१) पण्डित पट्टाभिराम शास्त्री

जन्म ३० ११ १९०८ ई०। जन्म स्थान नार्थ आर्काड जिला, मद्रास प्रान्त। पिता का नाम श्रीकृष्ण राव।

अध्ययन-समय—६ वर्ष मे उपनयन कराकर तैत्तिरीयशाखा का २ वर्ष जन्म स्थान 'पैलासूर' मे वेदाध्ययन हुआ। तदनन्तर तिरुवन्नामलय तेजोलिङ्ग क्षेत्र मे ब्रह्मश्री गणपति शास्त्रीजी के अन्तेवासी रहकर काव्याध्ययन का समय २ वर्ष। तदनन्तर तिरुपति (बालाजी) क्षेत्र के वेङ्कटेश्वर सस्कृतमहाविद्यालय मे काव्य, नाटक, व्याकरण, अलङ्कार का ५ वर्षो मे अध्ययन। तदनन्तर १९२४ मे बनारस आकर ब्रह्मश्री गुरुचरण श्री चिन्नस्वामी शास्त्रीजी के अन्तेवासी रहकर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से मध्यमा, शास्त्री, आचार्य की परीक्षाएँ क्रमश दी गयी। सभी परीक्षाओं मे प्रथम श्रेणी के नम्बर मिले। इसके साथ साथ प० अम्बादास शास्त्रीजी तथा श्री शकर तर्करत्नजी के पास न्याय का अध्ययन किया और प० महादेव शास्त्रीजी से साहित्य के सभी अलकार ग्रन्थो का यथावत् अध्ययन कर क्रमश, न्याय मध्यमा, न्यायशास्त्री, न्यायाचार्य तथा साहित्यशास्त्री, साहित्याचार्य परीक्षाओं मे प्रविष्ट होकर साफल्य प्राप्त किया।

पूज्य चिन्नस्वामी शास्त्रीजी के अन्तेवासी रहकर मीमासाशास्त्री के बाद उनके द्वारा सम्पादित 'ताण्ड्यमहाब्राह्मण', 'मीमासाकौस्तुभ', 'बृहती' आदि उत्कृष्ट ग्रन्थो का सम्पादन करने की शिक्षा प्राप्त की और गुरुजी के निर्देश से तेलुगु, मलयालम, कन्नड आदि लिपियो को सीखकर तत्तद् लिपियो की मातृकाओं को पढ़ने की शिक्षा प्राप्त की और उनकी प्रतिलिपि करने के आदेश को प्राप्त कर प्रतिलिपि की।

म० १९२४ मे महामहोपाध्याय प्रमथनाथ तर्कभूषण तथा मदनमोहन मालवीयजी के अनुग्रह से का० हि० वि० विद्यालय मे मीमासाध्यापक रूप से कार्य करने लगे और १९३९ में गुरुजी के तिरुपति जाने पर पूज्य मालवीयजी ने इन्हे मीमासा-विभागाध्यक्ष बनाया। इसी सन्दर्भ मे इन्होने प्रथम पुस्तक **वेदप्रकाश** का सम्पादन किया और डा० मङ्गलदेव शास्त्रीजी की प्रेरणा से **तौतातिकमतप्रकरणम्** नाम का अत्युत्तम ग्रन्थ सम्पादित किया। स० १९९५ में पूज्य मालवीयजी की अनुकम्पा से जयपुरमहाराज सस्कृतकालेज का अध्यक्ष पद प्राप्त हुआ। वहाँ रहते हुए **जयवंशमहाकाव्य** एव **प्रमाणमञ्जरी** का सम्पादन कार्य किया। १९४८ ई० में जयपुरमहाराज के द्वारा 'विद्यासागर' की उपाधि प्राप्त हुई। तदनन्तर १९५२ के फरवरी मास की ६ तारीख को कलकत्ता-विश्वविद्यालय के अधिकारियो के द्वारा बुलाने पर वहाँ अध्यापक का स्थान ग्रहण किया। वहाँ ग्रन्थसम्पादन का विशेष कार्य न होने पर भी अध्यापन कार्य का सुचारु रूप से सचालन करते हुए अनेक योग्य विद्यार्थियों को तैयार किया।

१९६७ के दिसम्बर मास में सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय के अधिकारियों द्वारा

साहित्यविभागाध्यक्ष के रूप में आह्वान करने पर यहाँ का पद ग्रहण किया। इस अवसर पर **अध्वरमीमांसाकुतूहलवृत्ति** नाम के बृहद् ग्रन्थ का सम्पादन किया, जिसका प्रकाशन श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय विद्यापीठ के द्वारा हुआ। यहाँ के पद से विश्रान्त होकर १६७३ ई० मे प्रभासहित **शास्त्रदीपिका** तथा **व्यासशिक्षा** का सम्पादन किया। इस समय कर्कभाष्य-सहित कात्यायनश्रौतसूत्र का सम्पादन चल रहा है। कलकत्ते मे रहते हुए श्री कामकाञ्चीकोटीश्वर के अधिपति शङ्कराचार्यजी ने 'शास्त्ररत्नाकर' पदवी दी। काशी की विद्वत्परिषद् द्वारा 'पण्डितराज' पदवी प्राप्त हुई और १६७३ मे राष्ट्रपतिपुरस्कार से सम्मानित हुए तथा उत्तरप्रदेश साहित्यअकादमी के द्वारा पुरस्कार और प्रमाणपत्र प्राप्त हुआ। इस प्रकार अध्ययन-अध्यापन तथा प्राचीन ग्रन्थो के सम्पादन के द्वारा शास्त्रीजी ने सस्कृतविद्या के प्रसार-प्रचार मे विशेष योगदान दिया।

(२) पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक

पं० युधिष्ठिर मीमासक सस्कृत के गम्भीर विद्वान् है। आपने व्याकरणशास्त्र तथा मीमासाशास्त्रो का गुरुमुख से विधिवत् अध्ययन कर पाण्डित्य प्राप्त किया है। मीमासाशास्त्र का प्रकाण्ड पण्डित होने के कारण ही सम्भवत ये अपने नाम के साथ 'मीमासक' की उपाधि धारण करते है।

पूर्वपुरुष

प० युधिष्ठिर मीमासक के पूर्वपुरुष राजस्थान राज्य के पुष्करक्षेत्र के अन्तर्गत अजमेर मण्डल के विरकच्यावास मे रहने वाले भारद्वाजगोत्रीय, यजुर्वेदीय माध्यन्दिन शाखा के अध्येता सारस्वत ब्राह्मण थे। आपके पितामह का नाम रघुनाथजी, पिता का नाम प० गौरीलाल आचार्य और माता का नाम यमुनाबाई था।

जन्म

आपके पिताजी ने तत्कालीन बीकानेर तथा किशन राज्यों मे अध्यापन कार्य किया था परन्तु सन् १६०८ ई० मे वे इन्दौर राज्य में जीविका के लिए चले गये थे। अत मीमासकजी का जन्म इन्दौर राज्य के नीमाड जिले के मुहम्मदपर गाँव में भाद्र सुदी नवमी सं० १६६६ वि० तदनुसार २२ सितम्बर सन् १६०६ ई० को हुआ।

शिक्षा

प० युधिष्ठिर मीमासक के पिता आर्यसमाज के अनुयायी थे। अत उन्होने अपने पुत्र को स्वामी दयानन्दजी द्वारा प्रदर्शित शिक्षण-पद्धति से शिक्षा देने का निश्चय किया। इसी हेतु उन्होंने अपने पुत्र को प्रथम गुरुकुलकागडी हरिद्वार और बम्बई में स्थापित गुरुकुलों में पढ़ने के लिए भेजा परन्तु किन्ही कारणो से इन दोनों स्थानों में इन्हें प्रवेश प्राप्त नही हो सका। तदनन्तर आप स्वामी सर्वदानन्दजी द्वारा स्थापित साधु-आश्रम, अलीगढ मे जाकर स्वाध्याय में निरत हो गये। वहाँ प० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, पं० बुद्धदेव आदि विद्वानों से आपको अध्ययन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। कुछ वर्षों के पश्चात् आप अपने गुरु ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के साथ काशी अध्ययन करने के लिए चले आये। यहाँ पर मीमांसकजी ने म० म० प० चिन्नस्वामी शास्त्री तथा पं० पट्टाभिराम शास्त्री से मीमासाशास्त्र का, प० ढुण्ढिराज शास्त्री से न्याय-वैशेषिक का तथा पं० भगवतप्रसाद मिश्र से कर्मकाण्ड, विशेषकर कात्यायनश्रौतसूत्र,

का प्राचीन प्रणाली के अनुसार गुरुमुख से विधिवत् अध्ययन किया। सन् १६२१ ई० से १६३५ ई० तक आपको प० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जैसे विद्वान् का सतत शिष्यत्व प्राप्त करने का अवसर मिला। अत वेदो का भी आपने सम्यक् अनुशीलन किया। इस प्रकार आपने व्याकरण, मीमासा, कर्मकाण्ड, वेद आदि विषयो मे गम्भीर पाण्डित्य अर्जित किया।

अध्यापन कार्य

मीमासकजी ने यद्यपि अनेक शास्त्रो का सम्यक् अध्ययन किया परन्तु कोई परीक्षा-सम्बन्धी डिग्री या उपाधि प्राप्त नही की। अत जीविका के लिए इन्हे यत्र-तत्र भटकना पडा। इन्होने सन् १६३६ ई० से ४२ ई० तक विरजानन्द-साङ्गवेद विद्यालय, लाहौर मे व्याकरण का अध्यापन किया। सन् १६४३ ई० से ४७ तक अजमेर मे, इसके बाद सन् १६५० ई० से ५५ ई० तक पाणिनीय महाविद्यालय, मोतीझील, वाराणसी मे छात्रो को पढ़ाते रहे। फिर स्वतन्त्र रूप से ये दिल्ली तथा अजमेर मे सन् १६५५ ई० से ६६ ई० तक अध्यापन का कार्य करते रहे। सन् १६६७ ई० मे भुवनेश्वर (उडीसा) मे सान्ध्य सस्कृतमहाविद्यालय के अध्यक्ष पद को सुशोभित किया। सन् १६६७ ई० से ही आप बहालगढ़, सोनीपत, हरियाणा मे 'पाणिनीय विद्यालय' मे विद्यार्थियो को विद्या-दान कर रहे है।

शोधकार्य

प० युधिष्ठिर मीमासक की प्रवृत्ति अपनी छात्रावस्था से ही शोधकार्य की ओर रही है। फलस्वरूप आपने गत ४५ वर्षो (सन् १६३६ ई० से लेकर १६८१ ई०) मे जो शोध कार्य किया उसका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है। आपने सस्कृत मे ११ और हिन्दी मे १६ शोधपूर्ण निबन्ध लिखे है। शिक्षा, निरुक्त, व्याकरण और वेद आदि विषयो से सम्बन्धित २० दुर्लभ तथा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का सम्पादन किया है। प्राचीन प्रौढ शास्त्रीय ग्रन्थो के हिन्दी मे अनुवाद के साथ व्याख्या भी की है जिनमे महाभाष्य के प्रथम दो अध्यायो तथा मीमासासूत्रो पर शबरस्वामी के भाष्य की हिन्दी व्याख्या प्रकाशित है। आपकी लेखन प्रवृत्ति शोधपरक है। अत आपने जिन ग्रन्थो की रचना की है उनमे अनुसन्धान की प्रवृत्ति विशेषरूपेण परिलक्षित होती है।

ग्रन्थरचना

मीमासकजी ने अनेक मौलिक तथा शोधपरक ग्रन्थो की रचना की है जिनकी सूची निम्नाकित है—

१ सस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास (भाग १, २, ३)।

२ वैदिकस्वरमीमासा।

३ वैदिकछन्दोमीमासा।

४ काशकृत्स्न धातु-व्याख्यानम्।

५ माध्यन्दिन-पद-पाठ।

६ महाभाष्य की हिन्दी व्याख्या (तीन भागो मे)।

७ ऋग्वेदभाष्य (स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत दो भागो मे)।

८ ऋग्वेद की ऋक्सख्या।

९ निरुक्तसमुच्चय ।

१० मीमासा शाबरभाष्य (हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या सहित) ।

यो तो मीमासकजी का प्रत्येक ग्रन्थ शोधपूर्ण है परन्तु उनमे तीन ग्रन्थो का उल्लेख अत्यन्त आवश्यक है —(१) **संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास**– यह ग्रन्थ तीन बृहद् भागो मे प्रकाशित हुआ है। प्रथम भाग मे २३ प्राचीन वैयाकरणो का इतिहास, पाणिनि के उत्तरवर्ती १५ प्रमुख व्याकरण के प्रवक्ताओं और ८० व्याख्याताओं का इतिवृत्त बड़ी विद्वत्ता के साथ निबद्ध किया गया है। इसी प्रकार द्वितीय तथा तृतीय भाग मे भी व्याकरण सम्बन्धी अनेक उपयोगी विवरण दिये गये है। इस ग्रन्थ के अनेक सस्करण हो चुके है आपका (२) दूसरा ग्रन्थ भगवान् पतञ्जलि के व्याकरण **महाभाष्य** के कुछ अशो का **हिन्दी मे अनुवाद** है महाभाष्य पाणिनिव्याकरण का चूडान्त ग्रन्थ माना जाता है जिसका हिन्दी मे अनुवाद करना तो दूर की बात रही उसके अर्थ को हृदयगम करना भी दुष्कर कार्य है। परन्तु मीमासक जी ने इसका हिन्दी मे अनुवाद दो भागो मे प्रस्तुत कर अपनी प्रकाण्ड विद्वत्ता का परिचय दिया है। आपका तीसरा ग्रन्थ (३) मीमासा शाबर भाष्य के प्रथम अध्याय के चारो पादो का हिन्दी मे अनुवाद तथा विस्तृत व्याख्या है। शाबर भाष्य मीमासाशास्त्र का अत्यन्त कठिन, दुरूह तथा प्रसिद्ध चूडान्त ग्रन्थ है जिसको समझना लोहे के चने चबाने के समान है। इस अत्यन्त कठिन ग्रन्थ के [illegible] की हिन्दी मे अनुवाद के साथ ही व्याख्या करना अत्यन्त दुरूह व्यापार है। हिन्दी मे तो क्या अग्रेजी मे भी डा० गगानाथ झा को छोडकर, इस कार्य को अभी तक किसी ने नही किया है। इस व्याख्या से अनुवादक की गम्भीर विद्वत्ता का पता चलता है जिसके लिए यह विद्वान सस्कृत साहित्य ससार की बधाई का पात्र है।

सम्मान तथा उपाधि

प० युधिष्ठिर मीमासक को इनकी गम्भीर विद्वत्ता के लिए अनेक सम्मान तथा उपाधियाँ प्राप्त हुई है। भारतसरकार ने सन् १९७७ ई० मे इन्हे राष्ट्रपतिपुरस्कार से सम्मानित किया था जिससे सस्कृत के महान् विद्वानो को ही पुरस्कृत किया जाता है। राजस्थान राज्य के सस्कृत शिक्षाविभाग द्वारा वेद तथा सस्कृतव्याकरण सम्बन्धी शोधकार्य के लिए आपको तीन सहस्र मुद्रा का अनुदान सन् १९६३ ई० मे प्राप्त हुआ था। उत्तरप्रदेश की राज्यसरकार ने मीमासकजी को प्राय इनके प्रत्येक ग्रन्थ पर हजारो रुपयो का पुरस्कार प्रदान किया है। इस प्रकार अनेक सरकारो तथा सस्थाओं द्वारा आप अपनी विद्वत्ता के लिए पुरस्कृत किये जा चुके है। इसे सस्कृतसाहित्य ससार का सौभाग्य ही समझना चाहिए कि यह मनीषी अपना त्यागमय जीवन व्यतीत करता हुआ आज भी सस्कृतवाङ्मय की सेवा मे कर्मणा, मनसा और वाचा सतत सलग्न है।

श्री चिन्नस्वामीजी के दो शिष्य हिन्दू विश्वविद्यालय के सस्कृत-महाविद्यालय से कई वर्ष पूर्व सेवा-निर्मुक्त हुए है—(३) पण्डित सुब्रह्मण्य शास्त्री मीमासाशास्त्र के विभागाध्यक्ष थे। ये मीमासा, वेदान्त तथा वेद के उत्कृष्ट विद्वान् है। **जैमिनि-गान** (सस्कृत विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित) की भूमिका मे इन्होने सामवेद-सम्बन्धी अनेक रहस्यो का उद्घाटन किया है। दोनो विद्वान् काशी मे ही रहकर सस्कृतशास्त्रो का प्रचार कर रहे है।

●



पं० सत्यनारायण शास्त्री

पण्डित सत्यनारायण शास्त्री

(आस्पद—पाण्डेय, उपाधि—पद्मभूषण)

आयुर्वेद के प्रकृष्ट पाण्डित्य, सिद्धान्त ग्रन्थो की तलस्पर्शी विद्वत्ता तथा चिकित्सा विज्ञान के अलौकिक चमत्कार के कारण कविराज सत्यनारायण शास्त्रीजी ने आधुनिक वैद्यो मे मूर्धन्य स्थान प्राप्त किया था। इन्होने महामहोपाध्याय प० शिवकुमार शास्त्री से भाष्यान्त व्याकरण शास्त्र का विधिवत् अध्ययन किया था तथा म० म० गगाधर शास्त्री से साहित्य और न्यायशास्त्र की शिक्षा ग्रहण की थी। इतनी उत्कृष्ट शास्त्रीय विद्वत्ता के साथ ये आयुर्वेद के मूर्धन्य एव प्रौढ ग्रन्थो का उसी निष्ठा तथा आग्रह के साथ अध्ययन कर आयुर्वेदशास्त्र के मर्मज्ञ और तत्त्ववेत्ता मनीषी के रूप मे प्रसिद्ध थे। यही कारण था कि भारत के प्रथम राष्ट्रपति भारतरत्न डा० राजेन्द्रप्रसाद ने इन्ही को अपना सरकारी चिकित्सक नियुक्त किया था। इन्होने भी राष्ट्रपति के द्वारा अपने मे स्थापित आस्था को अपने आयुर्वेदिक चमत्कारो के द्वारा सत्य प्रमाणित कर दिया था। इन्ही महनीय आयुर्वेद के पारगत विद्वान् का सक्षिप्त जीवनपरिचय यहाँ दिया जाता है। परिचय देने के पूर्व काशी मे विद्यमान आयुर्वेदीय परम्परा का अत्यन्त सक्षिप्त परिचय उपस्थित किया जा रहा है

(१) मध्ययुग में आयुर्वेद-परम्परा

काशी बहुत प्राचीन काल मे आयुर्वेद की शिक्षा का गढ रही है। काशिराज धन्वन्तरि शल्यचिकित्सा के प्रथम तथा महान् चिकित्सक थे। इस तथ्य का निर्देश पीछे किया गया है। मध्ययुग मे भी काशी के आयुर्वेद के पण्डितो की परम्परा पूरी तरह से सक्रिय रही। काशी उसी प्रकार आयुर्वेदीय पण्डितो के लिए आकर्षण स्थली रही, जिस प्रकार यह अन्य शास्त्रो के पण्डितो के लिए आकर्षण की केन्द्रस्थली थी। भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तो मे चिकित्सक लोग काशी आते थे तथा रोगियो की दवा किया करते थे। यहाँ आयुर्वेद की शिक्षा का भी प्रबन्ध था।

मध्ययुग मे एक विशिष्ट परिवार ही काशी मे आयुर्वेद के ग्रन्थो की रचना के कारण नितान्त प्रख्यात है। इस वश का नाम **कर्पूरीय सारस्वत ब्राह्मण** वश था। इस कुल के प्रधान प० शिवदत्त मिश्र थे। इनके पिता का नाम चतुर्भुज मिश्र था जो स्वय आयुर्वेद तथा अन्य शास्त्रो के पारगत पण्डित थे। शिवदत्त मिश्र ने अपने पिता से ही आयुर्वेद की शिक्षा ग्रहण की थी। इस तथ्य का उल्लेख इन्होने ग्रन्थो मे किया है। इनकी तीन रचनाओं का पता चलता है—(१) **संज्ञासमुच्चय**—यह निदान, चिकित्सा तथा द्रव्यगुण सम्बन्धी विषम स्थलो के स्पष्टीकरण के लिए लिखा गया है। (२) **शिवकोष**—यह आयुर्वेद का निघण्टुग्रन्थ है जिसमे ५४० श्लोक मिलते है। इसमे औषध द्रव्यो के नामो का अक्षरानुक्रम से निर्देश है। उस युग के पूर्व लिखे गये अनेक प्रामाणिक कोशो के आधार पर इस ग्रन्थ का निर्माण शिवदत्त मिश्र



पं० त्र्यम्बक शास्त्री

ने किया था। इसका रचनाकाल १५९९ शक (१६७७ ई०) है। (३) **शिवप्रकाश**—यह शिवकोष की व्याख्या है। इसमें सैकड़ों कोषों, टीकाओं तथा ग्रन्थों से उदाहरण दिये गये है, जिससे लेखक के व्यापक पाण्डित्य का परिचय मिलता है। यह व्याख्या मूलग्रन्थ में दिये गये द्रव्यों का विशेष परिचय देती है। कहीं-कहीं उस युग में प्रचलित होने वाले हिन्दी नामों का भी निर्देश दिया गया है।

इनके पुत्र का नाम **कृष्णदत्त मिश्र** था। इन्होंने त्रिमल्ल भट्ट रचित **द्रव्यगुण-शतश्लोकी या द्रव्यगुण-शतक** पर द्रव्यदीपिका नामक टीका लिखी है। ये त्रिमल्ल भट्ट काशी के निवासी तैलंग ब्राह्मण थे। अतएव काशीवासी वैद्य के द्वारा उसके ऊपर टीका लिखा जाना स्वाभाविक है। इनका समय १७वी सदी प्रतीत होता है। कृष्णदत्त की इस व्याख्या मे द्रव्यगुण के सम्बन्ध में सिद्धान्तपक्ष तथा व्यवहारपक्ष दोनो का प्रकटन विशेष रूप से किया गया है। अनेक प्राचीन ग्रन्थो के उद्धरण दिये गये है। द्रव्यों का वर्णन बड़ी सूक्ष्मता से किया गया है। यह कपूरिया वश सारस्वत ब्राह्मणो का ही है जो मूलत पजाब के निवासी है। इस वश के द्वारा ऊपर निर्दिष्ट आयुर्वेद की सेवा बडे महत्त्व की सूचना दे रही है।

(२) अर्वाचीन आयुर्वेद-परम्परा

मध्ययुग की आयुर्वेदपरम्परा काशी मे किसी न किसी रूप मे चलती ही रही। और इस परम्परा को पुष्ट करने वाले वैद्यो ने भारत के विभिन्न प्रान्तो से आकर काशी को अपना आवासस्थल बनाया, आयुर्वेद की शिक्षा छात्रो को दे तथा आयुर्वेद-चिकित्सा के द्वारा रोगियो के रोगो को दूर किया। स्थानाभाव के कारण गतशताब्दी के ही काशीस्थ वैद्यो का सक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

(१) महाराष्ट्र से आये हुए वैद्यो के प्रतिनिधि रूप मे हम श्री **त्र्यम्बक शास्त्री** को ग्रहण कर सकते है। महाराष्ट्र प्रान्त के वैद्यो की बडी आस्था अष्टाग-हृदय पर रही। इस ग्रन्थ को वे अपनी चिकित्सा का मूलग्रन्थ मानकर इसके अक्षर-अक्षर का अभ्यास करते थे। महाराष्ट्रीय वैद्य आयुर्वेद के आठो अगो के विशेष जानकार तथा उनके विषय में अनुसधान करने वाले होते थे। इस विषय मे वे बगाल के वैद्यो से भिन्न होते थे। बगाल मे चरक का अध्ययन आयुर्वेद का मेरुदण्ड माना जाता था। बगीय चिकित्सक चरकसंहिता को वेदवत् प्रामाणिक तथा प्रमेयबहुल मानता था। उसके अध्ययन मे वह अपना जीवन खपा देता था। ऐसे अनेक बगाली कविराज मिलेगे जिनकी चरक की चिकित्सा में इतनी आस्था थी कि प्रत्येक रोग की चिकित्सा के लिए वे 'चरकसहिता' का ही आश्रय लेते थे। यही कारण है कि बंगाल में **आयुर्वेद-चिकित्सा** के अनेक गभीर ज्ञाता तथा प्रौढ़ व्यावहारिक चिकित्सक गत शताब्दी में परम्परा रूप से उपलब्ध होते है। इस परम्परा को आरम्भ करने का श्रेय श्री **गङ्गाधर कविराज** को प्राप्त है जिन्होंने चरकसहिता के ऊपर अपनी विद्वत्तापूर्ण प्रकाण्ड व्याख्या 'जल्पकल्प-तरु' की रचना कर आयुर्वेद-ससार मे अच्युत कीर्ति का अर्जन किया है। इस प्रकार महाराष्ट्रीय परम्परा तथा बगीय परम्परा में स्पष्ट अन्तर दीख पडता है।

पं० त्र्यम्बक शास्त्री महाराष्ट्रीय परम्परा के निर्वाहक प्रतिनिधि चिकित्सक थे। उन्होने संस्कृत के इतर शास्त्रों का अध्ययन गुरुमुख से किया था। उन्होंने बालशास्त्री के चरणों में बैठकर कुछ शास्त्रों का अध्ययन किया था। चिकित्साजगत् में वे बड़े ही कीर्तिसम्पन्न तथा प्रभावशाली चिकित्सक माने जाते थे। उनके पिता का नाम था **अमृत शास्त्री**। श्रीशास्त्री का

जन्म काशी मे ही वि० स० १९१८ (१८६१ ई०) तथा निधन स० १९९९ (१९४२ ई०) मे हुआ था।

उनके पूर्वजो का मूल निवासस्थान नासिक क्षेत्र के प्रदेश मे चान्दोर (चान्दोक) नामक ग्राम मे था। उनके पूज्य पिता प० अमृत शास्त्रीजी ने काशी मे आकर निवास किया। वे आयुर्वेद के असाधारण विद्वान् एव विख्यात यशस्वी वैद्य थे। चिकित्सा के कारण काशी मे इनकी इतनी प्रतिष्ठा हुई कि सुदूर काश्मीर के महाराजा रणवीरसिंह ने अपनी चिकित्सा शास्त्रीजी के द्वारा ही करायी। चमत्कार की बात तो यह है कि महाराजा के चित्र को देखकर ही अमृत शास्त्रीजी ने उनके रोगो का स्वरूप एव निदान यथावत् बता दिया और चिकित्सा करके उन्हे सर्वथा नीरोग बना दिया। ऐसे सुयोग्य विद्वान् चिकित्सक के पुत्र होने का गौरव त्र्यम्बक शास्त्रीजी को प्राप्त था। इस प्रकार इनकी असाधारण योग्यता आनुवंशिक विशुद्ध सस्कार से प्राप्त थी।

श्री त्र्यम्बक शास्त्रीजी केवल आयुर्वेद के ही मर्मज्ञ विद्वान् नही थे अपितु व्याकरण, न्याय आदि शास्त्रो मे भी इन्हे प्रवीणता प्राप्त थी। इन्होने व्याकरण का अध्ययन विख्यात बालशास्त्रीजी से, न्याय का अध्ययन दण्डी भट्ट प० विश्वनाथ शास्त्री से तथा साहित्य का अध्ययन स्वामी पूर्णानन्दजी के पास रहकर किया था। इनमे पितृभक्ति तथा गुरुभक्ति असाधारण रूप से विद्यमान थी। फलत इन्होने अपने पिताजी की स्मृति मे अपने विशाल भवन का नाम 'अमृतभवन' रखा तथा यज्ञशाला एव छात्रावास की स्थापना कर इन्होने अपने गुरु बालशास्त्रीजी की यज्ञशाला की स्मृति स्थायी बना दी। आपकी शिष्यपरम्परा पर्याप्त रूप से विस्तृत है। बम्बई के सुप्रसिद्ध वैद्य अप्पा शास्त्री साठे, पञ्जाब के मोतीलाल शास्त्री, उज्जैन के प० विनायक शास्त्री आपके ही सुप्रसिद्ध शिष्य है। काशी के लिए कहना ही क्या है ? वैद्य प० श्रीनिवास शास्त्री, प० रमाशकर वैद्य, प० शिवदत्त वैद्य, रस विशारद श्री दुर्गादत्त प्रभृति आपके विद्यावश के रत्न है।

श्री त्र्यम्बक शास्त्री नाडी के विज्ञ परीक्षक माने जाते थे यह नाडी देखकर ही रोगी के पूर्व की घटनाओं का विवरण देते थे जो अक्षरश सत्य निकलता था। ये बडा युक्ति और सूझबूझ के व्यक्ति थे। इस विषय का इनका कौशल सुनकर आश्चर्यचकित होना पडता है। लेखक को उन्ही के शिष्य **चुन्नीलाल वैद्यजी** ने बताया था कि हीरा भस्म तयार करने के लिए मेढक के मूत्र की आवश्यकता पडी। सब लोग चकित थे। यह कैसे प्राप्त होगा ? शास्त्रीजी से कहा गया। शास्त्रीजी ने बडे-बडे मेढको को मगाकर एक थाल मे रखा तथा दूसरे थाल से उसे ढक दिया और स्वय छडी से ऊपर से पीटना शुरू किया। डर के मारे मेढको की बुरी हालत थी। भीतर उन्होने पेशाब करना प्रारम्भ किया जिसमे थाली पूरी भर गयी। यह युक्ति देखकर सब लोग चकित हो गये। वे औषधो का निर्माण स्वय करते थे और इसीलिए उनके औषधो का चमत्कारी गुण रोगियो को मुग्ध तथा आश्चर्यचकित कर देता था।

श्रीमांस्त्र्यम्बकशास्त्री भुव्यायुर्वेदमूर्तिधृक् साक्षात्।
तद् वैद्यरत्नपदमपि यस्मिन्नस्तीह मुख्यार्थम् ॥

(२) अर्जुन मिश्र—काशी के दूसरे प्रख्यात चिकित्सक थे। इनका जन्म होशियारपुर, पञ्जाब मे सवत् १९१० (१८५३ ई०) वैशाख शुक्ल पञ्चमी को हुआ था। काशी मे ही इन्होने चिकित्सा आरम्भ की और अपनी योग्यता के कारण ही शीघ्र प्रसिद्ध हो गये। आरम्भ से ही अध्यापन करते थे। १९१७ ई० मे 'आयुर्वेदविद्या-प्रमोदिनी पाठशाला' की स्थापना की

जिसके अभिवर्धन मे ये यावज्जीवन लगे रहे। इनका स्वर्गवास स० १९७९ (१९२१ ई०) मे हुआ। आपने अपनी सारी सम्पत्ति इस विद्यालय को दे दी जो आप ही के स्मारक रूप मे 'अर्जुन-आयुर्वेद-विद्यालय' के नाम से प्रसिद्ध है। इनके शिष्यो मे **श्यामसुन्दराचार्य**, प० नानकचन्द्र शर्मा लाहौर, प० लालचन्द्र वैद्य (प्रधानाचार्य, अर्जुन आयुर्वेद विद्यालय, काशी) आदि प्रमुख है।

(३) उमाचरण कविराज—ये गत शताब्दी मे काशी के प्रमुख बगीय कविराज थे। गगाधर कविराज के द्वारा प्रवर्तित कविराजीय परम्परा के पल्लवन तथा सवर्द्धन के लिए काशी प्रमुख स्थान रहा। काशी के कविराज गगाधर कविराज की परम्परा मे अन्तर्भुक्त है। उमाचरण कविराज वैद्य होने के साथ ही साथ बडे भारी साधक थे। सुना जाता है कि वे दिनपर्यन्त पूजा-अर्चा मे ही लगे रहते थे। रात्रि के समय ही रोगियो को देखते थे और अपनी चिकित्सा की सफलता के कारण ही लोगो मे नितान्त विख्यात थे। अपनी सारी सम्पत्ति इन्होने भगवान् शिव की सेवा मे लगा दी है। अपने विशाल मकान के ऊपर इन्होने यह श्लोक लिख रखा है –

उमाचरणचित्तेन ह्युमाचरणशर्मणा ।
यदुमाचरणात् प्राप्त तदुमाचरणेऽर्पितम् ॥

(४) कविराज धर्मदास—उनका जन्म बगाल के नवद्वीप के पास १८६२ ई० मे 'चुपी' गाव मे हुआ था। पिता का नाम था **कविराज काशीप्रसन्न सेन**। व्याकरण, साहित्य, दर्शन आदि का अध्ययन बगाल मे ही समाप्त कर ये काशी आये। इनके मामा कविवर **परेशनाथ सेन** काशी मे आयुर्वेद का अध्यापन करते थे। यही आकर इन्होने उनसे आयुर्वेद की शिक्षा ली। दर्शन के विद्वान् तो थे ही फलत चरकसहिता मे इन्होने विशिष्ट वैदुष्य प्राप्त किया। ये इसी कारण 'चरकाचार्य' कहे जाने लगे। आयुर्वेद का अध्यापन ये अपने घर पर ही करते थे। १९२० ई० मे महामना मालवीयजी के अनुरोध पर प्राच्यविद्याविभाग के अन्तर्गत ये आयुर्वेदविभाग के अध्यक्ष हुए धर्मदासजी की विद्या बुद्धि पर मालवीयजी की बड़ी आस्था थी। फलत आयुर्वेदिक कालेज के स्वतन्त्र होने पर ये उसके प्राचार्य बनाये गये। इनके द्वारा शिक्षित सुयोग्य छात्रो की बहुत लम्बी परम्परा है। आपके शिष्यो मे प्रमुख है प० सत्यनारायण शास्त्री, प० राजेश्वरदत्त शर्मा, प० दुर्गादत्त शास्त्री, कविराज ब्रजमोहन दीक्षित आदि। श्री धर्मदासजी का स्वर्गवास काशी मे ही १९३५ ई० मे हुआ। आयुर्वेद के अध्यापन की कला मे इतना निपुण तथा विद्वान् वैद्य मिलना कठिन है।

कविराज धर्मदासजी बगीय चिकित्सापद्धति के मूर्तिमान् प्रतीक रहे। इन्ही से प० सत्यनारायण शास्त्री आयुर्वेद का विधिवत् अध्ययन कर सुयोग्य चिकित्सक की ख्याति से मण्डित हुए। विश्वविद्यालय मे इन्होने इसी पद्धति का प्रचार किया। फलत काशीविश्वविद्यालय से उत्तीर्ण छात्र इसी कविराजी परम्परा को अग्रसर करने वाले विद्वान् चिकित्सक है।

प० सत्यनारायण शास्त्री का जन्म काशी नगरी के समीपस्थ किसी गाँव मे वि० स० १९४४ माघ कृष्ण चतुर्थी को (१८८७ ई० मे) हुआ था। इनकी शिक्षा-दीक्षा काशी मे ही हुई। तत्कालीन शिक्षा पद्धति के अनुसार इन्होने व्याकरण शास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ किया और उस काल के व्याकरणकेशरी म० म० प० शिवकुमार शास्त्री से व्याकरण का विधिवत् अध्ययन किया। भाष्यान्त व्याकरण पढने के पश्चात् इन्होने म० म० गगाधर शास्त्री से साहित्य

के उत्कृष्ट ग्रन्थो का मनन किया। इस प्रकार व्याकरण तथा साहित्य इन दोनो शास्त्रो मे इन्होने प्रकाण्ड पाण्डित्य प्राप्त किया।

उसी समय मे इन्हे सागर जिले (मध्यप्रदेश) से किसी नौकरी का आमन्त्रण अपने गुरु के द्वारा प्राप्त हुआ। परन्तु इन्होने उस नौकरी के लिए सागर जैसे सुदूर स्थान मे जाना स्वीकार नही किया। काशी विश्वनाथ और माता अन्नपूर्णा की पूजा से वचित होने के कारण इस जीविका—जो इनके लिए अत्यन्त आवश्यक थी—को अगीकार नही किया। परन्तु तत्कालीन पाठशालाओं मे अध्यापको के स्वल्प वेतन से भी य बड़े चिन्तित थे। इसी समय इनके जीवन मे एक नया मोड आया। इन्ही का एक पुराना परिचित साथी व्याकरण के ही साथ-साथ आयुर्वेद का भी अध्ययन कर रहा था। उमी की सलाह से इन्होने आयुर्वेद पढ़ने की ओर अपनी रुचि दिखलाई। इसके पश्चात् उस युग के प्रख्यात आयुर्वेदशास्त्र के विद्वान् धर्मदासजी के यहाँ आयुर्वेद का अध्ययन करने के लिए जाने लगे।

जब धर्मदासजी ने इनके पाण्डित्य का परिचय प्राप्त किया, तब उन्होने शास्त्रीजी को आयुर्वेद का अध्ययन करने से मना किया। परन्तु ये अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। तब धर्मदास जी ने आयुर्वेद का चूडान्त ग्रन्थ चरक पढ़ाना प्रारम्भ किया। कुछ ही दिनो मे शास्त्रीजी ने इस शास्त्र मे प्रकाण्ड पाण्डित्य प्राप्त कर लिया। इस प्रकार शास्त्रीजी ने धर्मदासजी से इस शास्त्र के सिद्धान्तपक्ष का अध्ययन कर विद्वत्ता प्राप्त की। परन्तु इसके व्यवहारपक्ष को इन्होने धर्मदासजी के चाचा प० अन्नदाचरण कविराज मे सीखा और आयुर्वेद की औषधो के निर्माण मे भी इन्होने सिद्धहस्तता प्राप्त कर ली। इस प्रकार शास्त्रीजी ने आयुर्वेद के सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनो पक्षो मे सिद्धि उपलब्ध की।

आचार्य सुश्रुत ने आदर्श वैद्य के लिए लिखा है कि उसे अनेक शास्त्रो का विद्वान् होना चाहिए। उसे बहुश्रुत होना अत्यन्त आवश्यक है

एकं शास्त्रमधीयानो, न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम्।
तस्माद् बहुश्रुत शास्त्र, विजानीयाच्चिकित्सक ॥

सुश्रुत की उपर्युक्त उक्ति शास्त्रीजी के ऊपर अक्षरश चरितार्थ होती है। इन्होने व्याकरण के साथ ही साहित्य के पाथोधि का भी मथन किया था। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद के कठिन ग्रन्थो का भी विधिवत् अध्ययन किया था। इस प्रकार ये शुष्क वैद्य नही थे बल्कि रसिक विद्वान् भी थे।

जीवनी

प० सत्यनारायण शास्त्री के पितामह का नाम प० शिवनन्दन पाण्डेय था तथा पिता का प० बलभद्र पाण्डेय। इनके नाना वैद्यराज प० शिवलोक शर्मा काशी के ही अगस्तकुण्ड मुहल्ले मे रहते थे। उनके पुत्र के अल्पायु हो जाने से शास्त्रीजी के पिता बलभद्र पाण्डेय उनके उत्तराधिकारी बनकर वही रहने लगे। बालक सत्यनारायण ने अल्पकाल मे ही अनेक शास्त्रो का ज्ञान प्राप्त कर लिया। यथा ऊपर कहा गया है, इन्होने उस युग के प्रख्यात विद्वानो—प० शिवकुमार शास्त्री और प० गगाधर शास्त्री—से क्रमश व्याकरण तथा साहित्यशास्त्र का अध्ययन किया। आयुर्वेद के गुरुओं का भी उल्लेख ऊपर किया गया है।

सन् १९०९ ई० से ही ये चिकित्सक का कार्य बड़े प्रेम और दृढ़ निष्ठा से करने लगे। महामना मालवीयजी ने अपने विश्वविद्यालय के अन्तर्गत आयुर्वेदविभाग मे इनको २० अगस्त

१६३५ में प्राध्यापक नियुक्त किया। दो वर्ष के बाद आप अपने विभाग के प्रधान हुए, और १६३८ ई० में आयुर्वेद कालेज के प्रिन्सिपल (प्राचार्य) हो गये। १६५० ई० में इन्होंने विश्राम ग्रहण किया। उसी वर्ष, जैसा उल्लिखित है, ये डॉ० राजेन्द्रप्रसाद के वैयक्तिक चिकित्सक नियुक्त किये गये। १६५५ ई० में आप 'पद्मभूषण' की उपाधि से सम्मानित हुए। शास्त्रीजी इतने आत्मसम्मानी थे कि जब केन्द्रीय सरकार ने हिन्दी की उपेक्षा की तो इस अपमान से दुखित होकर इन्होंने वह पदवी सरकार को लौटा दी। इनका देहावसान काशी में ही २३ सितम्बर १६६६ ई० को हुआ। उस समय इनकी आयु ८२ वर्ष की थी।

चरक आयुर्वेदशास्त्र का दार्शनिक ग्रन्थ है। 'चरकस्तु चिकित्सिते' इस लोकोक्ति के अनुसार चरक की प्रौढ़ता तथा मुख्यता चिकित्सा के विषय में स्वीकार की गई है। यह यथार्थ है। परन्तु 'चरकसंहिता' का क्षेत्र सीमित नहीं है। इस ग्रन्थ में, आयुर्वेद की प्राचीन पुस्तकों में जो इस शास्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, उनके रहस्य का उद्घाटन पाया जाता है। अतः इस पुस्तक में आयुर्वेद के बहिरंग तथा अन्तरङ्ग दोनों भागों का सामंजस्य प्राप्त होता है। पं० सत्यनारायण शास्त्री जीवन भर इसी ग्रंथ का अध्यापन करते रहे। इस शास्त्र में इन्होंने अनेक शिष्यों को पैदा किया।

आचार्य चरक ने अपने ग्रन्थ चरकसंहिता में लिखा है—

'यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्' अर्थात् जो विषय चरकसंहिता में वर्णित हैं वे अन्यत्र उपलब्ध हो सकते है परन्तु जो इस ग्रन्थ में प्राप्त नहीं है वह आयुर्वेद के किसी भी ग्रन्थ में प्राप्त नहीं हो सकता। चरक के इस वचन पर आयुर्वेद के चरक के आधुनिक प्रतिनिधि शास्त्रीजी की दृढ़ आस्था थी। ये डंके की चोट कहा करते थे कि पाश्चात्त्य-चिकित्सा-पद्धति मे ऐसा कोई नया रोग नहीं है जिसका आयुर्वेदशास्त्र में नाम न हो, जिसका निदान न हो और जिसकी चिकित्सा न हो। शास्त्रीजी के इस आग्रह को बहुत से लोग केवल दुराग्रह मानते है परन्तु इन्होने अपनी औषधि से यह प्रमाणित कर दिया था कि ये पाश्चात्त्य डाक्टरों द्वारा अचिकित्सनीय (अर्थात् जिनकी कोई दवा न हो सके) रोगों को भी दूर या नष्ट कर सकते हैं।

शास्त्रीजी की निर्भीकता

एक बार की अविस्मरणीय घटना यहाँ दी जा रही है। विगत १६ नवम्बर सन् १६५२ ई० को भारत के प्रथम राष्ट्रपति भारतरत्न डॉ० राजेन्द्रप्रसाद काशी आये हुए थे। उसी समय उन्होंने पं० सत्यनारायण शास्त्री के निवासस्थान पर भी पधारने की कृपा की थी। उस समय शास्त्रीजी के घर पर एक छोटी-सी सभा भी आयोजित की गयी थी जिसमें उत्तरप्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल डॉ० के० एम० मुन्शी तथा मुख्यमंत्री डॉ० सम्पूर्णानन्द भी उपस्थित थे। उस सभा में डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने यह विचार प्रकट किया था कि आधुनिक वैद्यों को अपने दिमाग की खिड़की खुली रखनी चाहिए जिससे उसमें बाहर की हवा आती रहे। इस पर शास्त्रीजी ने अपने विशिष्ट अतिथि का सम्मान करते हुए सबके सम्मुख ही उनके कथन का खण्डन करते हुए कहा कि आयुर्वेद स्वयं पूर्ण शास्त्र है। उसमें किसी वस्तु की त्रुटि नहीं है। उसे किसी नवीन उपकरण की आवश्यकता नहीं है। संसार में ऐसा कोई रोग नहीं है जिसकी आयुर्वेद की पद्धति से चिकित्सा न की जा सके। शास्त्रीजी ने बड़ी निर्भीकता से अपने मत का प्रतिपादन किया और अपनी स्पष्टवादिता तथा निर्भीकता से उपस्थित महान् श्रोताओं को आश्चर्यचकित कर दिया। शास्त्रीजी की इस अपूर्व निर्भीकता को क्या कहा जाय?

नाड़ीविज्ञान—पं० सत्यनारायण शास्त्री नाड़ीविज्ञान में अत्यन्त निष्णात थे। नाड़ी की परीक्षा के द्वारा ही रोगी की सारी परिस्थिति अपने व्यवस्था-पत्र (रिपोर्ट) में अंकित कर देते थे और बाद में रोगी से रोग के विषय में प्रश्न करके उन तथ्यों की स्वीकृति भी करा लेते थे। इस प्रकार निदानसरणि के ये युग-प्रवर्तक वैद्य माने जाते थे। आपकी यह अद्भुत शक्ति, उत्कृष्ट शास्त्रीय विवेचन तथा सद्यः लाभकारी औषध-परिकल्पना ही आयुर्वेद की धारा के अप्रतिहत गति से प्रवाहित होने में सहायक है। शास्त्रीजी ने अपने नाड़ी-परीक्षण-ज्ञान के द्वारा उस जर्मन डाक्टर को भी आश्चर्यचकित कर दिया था जो हिन्दू-विश्वविद्यालय के तत्कालीन वाइसचांसलर गोविन्द मालवीय के साथ आपके नाड़ीविज्ञान के कौशल को देखने के लिए आया था।

अपने इन्हीं आयुर्वेदिक गुणों के कारण इन्होंने राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद को इतना प्रभावित कर लिया था कि उन्होंने इन्हें अपने सरकारी वैद्य के महनीय पद पर प्रतिष्ठित किया। इनके गुणों से मुग्ध होकर राष्ट्रपति ने इन्हे 'पद्मभूषण' की उपाधि से भी अलकृत किया था।

दवा का चमत्कार

प० सत्यनारायण शास्त्री की औषध के चमत्कार की यह घटना देना कुछ अप्रासगिक न होना। सन् १९५१ ई० की २६ जनवरी को राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू को दिल्ली में सैनिक सलामी (सेलूट) लेनी थी। परन्तु इसके कुछ दिन पहले वे बीमार पड़ गये और उन्हें सन्देह होने लगा कि मैं २६ जनवरी तक पूर्ण स्वस्थ नही हो पाऊँगा। अतः सलामी लेने के लिए उपस्थित नही रह सकूँगा। अतः अपनी दवा के लिए दिल्ली में सरकारी डाक्टरों के रहते हुए भी उन्होंने शास्त्रीजी को दिल्ली बुलाया। शास्त्रीजी जब काशी से राष्ट्रपतिभवन दिल्ली पहुँचे तब राष्ट्रपतिजी की बड़ी बहिन ने शास्त्रीजी से कहा कि "इनका कवनो उप्पर के हवा लागि गइल बाटे एह से मंत्र से इनकराके झारीं।" शास्त्रीजी ने चटपट बुआजी की आज्ञा मानकर राष्ट्रपतिजी को मोरपख से मंत्रों के द्वारा 'झारना' शुरू किया। यह दृश्य देखने ही योग्य था। फिर इन्होंने राष्ट्रपतिजी को दो खुराक दवा दी। इम दवा ने अपना अलौकिक प्रभाव दिखलाया। प्रातःकाल राष्ट्रपतिजी उठकर स्वयं शास्त्रीजी के कमरे में गये और कहा कि "राउर दवा गजब के चमत्कार देखवलसि। अब हम बहुत अच्छा बानी अवरू सलामी लेवे लायक शक्ति आगइल बा।" बाद में राष्ट्रपति ने सलामी ली और पूर्णतः नीरोग हो गये। यह शास्त्रीजी की दवा का ही जादू था।

काव्य-कला

पं० सत्यनारायण शास्त्री एक अलौकिक कविराज (वैद्य) और नाड़ीविज्ञान के अद्भुत वेत्ता ही नही थे बल्कि संस्कृतसाहित्य के भी उद्भट विद्वान् थे। पं० विद्याधर गौड़ की प्रशंसा में इन्होंने जो 'हृद्यपद्याञ्जलिः' लिखी थी उसकी भाषा बड़ी सशक्त, मधुर तथा हृदयावर्जक है। गौड़जी के पिता के पाण्डित्य की स्तुति करते हुए शास्त्रीजी लिखते हैं—

मीमांसाधर्मशास्त्राद्यधिगतसुबुधैर्याज्ञिकैर्वन्दिताङ्घ्रि-
र्दृप्यत्सद्वैदिकानामवजयजनितोत्कृष्टचेतोपलब्धिः ।
सम्राट्-संलब्धमानः क्षितितलमहितानेकग्रन्थप्रणेता,
तत्सूनुश्चक्रवर्ती, धवलतरयशाः श्रीलविद्याधराख्यः ॥

विद्याधर गौड़ के विषय में शास्त्रीजी की मधुर वाणी का पान कीजिए—

आसीच्छ्रौताहिताग्निः शतपथगमकः पञ्चकुण्डस्य होता,
श्रौतज्ञेष्वद्वितीयोऽनुदिनमुभयोः सन्ध्ययोर्होमकर्ता ।
गेहेऽर्भाध्यापनाद्यैः सुपथगतिविधौ दत्तचेताः समन्ता-
दारम्भाच्चाप्यकार्षीदमलतरधियाऽध्यापकाध्यक्षतां यः ॥

इस कविता मे समस्त पदावली की मनोहरता, गौडी रीति के गाढ़बन्ध की कमनीयता देखते ही बनती है। शास्त्रीजी ने थोडी गद्य रचना भी की है जिसको पढ़कर बाणभट्ट की कादम्बरी का अनायास ही स्मरण हो जाता है। एक ही उदाहरण पर्याप्त है—

यथा हि शरीरमलापनयनाय चरकादयः आयुर्वेदग्रन्थाः, तथा वाङ्मलापहृतये शब्दशास्त्रीयमहाभाष्यादिग्रन्थाः, बौद्धमानसादिरजस्तमोरूपादिदोषापहरणाय सर्वाण्येव दर्शनानि इति दिशा यच्च किञ्चित् क्वचिदपि शास्त्राणि पुराणानि वा वर्तन्ते, प्रयोजनत्रैविध्यमुज्झित्य कानिचिदपि तन्त्राणि नोपलभ्यन्ते। यथाह भगवान् पतञ्जलिः 'तिस्र. एषणा पर्येष्टव्या भवन्ति प्राणैषणा, धनैषणा, परलोकैषणा च' इति ॥

शिष्यमण्डली

कविराज सत्यनारायण शास्त्रीजी की शिष्य परम्परा काफी विस्तृत है। इनसे आयुर्वेद पढ़ने [illegible] चिकित्सा के मर्मज्ञ छात्रो मे से कतिपय शिष्यो का यहाँ सक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

(१) पं० विश्वनाथ द्विवेदी

बलिया जनपद के ओझवलिया ग्राम मे १९१० ई० मे जनमे द्विवेदीजी की शिक्षा का प्रधान केन्द्र काशी हिन्दू विश्वविद्यालय रहा है, जहाँ इन्होने आयुर्वेदशास्त्राचार्य की उपाधि प्राप्त की। उत्तरप्रदेश के पीलीभीत नगर मे स्थित ललितहरि आयुर्वेद-महाविद्यालय मे बीस वर्ष तक ये प्रधानाचार्य के पद पर रहे। लखनऊ विश्वविद्यालय के अन्तर्गत आयुर्वेदकालेज बनने पर इन्होने उपप्राचार्य तथा कायचिकित्सा के प्राध्यापक पद पर कार्य किया। ये जामनगर गुजरात के आयुर्वेदशिक्षण केन्द्र मे अनेक वर्षो तक द्रव्य गुण के प्राध्यापक पद पर नियुक्त रहे। बाद मे ये निदेशक भी रहे। १९६८ ई० मे वाराणसेय सस्कृतविश्वविद्यालय मे आयुर्वेद-विभाग के अध्यक्ष बने। इन्होने अनेक आयुर्वेदीय ग्रन्थो की रचना की है जिनसे इनकी सूक्ष्म प्रतिभा का परिचय मिलता है। कुछ ग्रन्थो के नाम ये है—

त्रिदोषालोक, तैलसग्रह, अभिनव नेत्ररोगविज्ञान, नाडीविज्ञान, प्रत्यक्ष-औषधि-निर्माण, आयुर्वेद की औषधियाँ और उनका वर्गीकरण, औषधिविज्ञानशास्त्र, रसायनशास्त्र।

इनके ये ग्रन्थ आयुर्वेद की विविध परीक्षाओं मे पाठ्यग्रन्थ मनोनीत किये गये है।

(२) पं० रमानाथ द्विवेदी

इनका भी जन्म बलिया मण्डल के ओझवलिया ग्राम मे हुआ था। इन्होने काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय मे आयुर्वेद का अध्ययन बडे परिश्रम तथा मनोयोग के साथ किया। अग्रेजी की भी जानकारी इनकी अच्छी है। इसलिए इनकी दृष्टि रोग-परीक्षण तथा चिकित्सा के सम्बन्ध मे पर्याप्त रूप से विस्तृत तथा गम्भीर है। आयुर्वेदशास्त्राचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण कर काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के अन्तर्गत आयुर्वेदसस्थान मे आयुर्वेद की शिक्षा देते रहे। गतवर्ष ही वहाँ से सेवानिवृत्त हुए है। इन्होने आयुर्वेद के आठों अगो के ऊपर प्रामाणिक

ग्रन्थों का निर्माण कर आयुर्वेदीय साहित्य को समृद्ध तथा सम्पन्न बनाया है। इनके कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के नाम इस प्रकार है—

रोगिरोगविमर्श, सौश्रुती (सश्रुतसंहिता का विवेचनात्मक ग्रन्थ), अगदतन्त्र (चौखम्भा १९५३), भिषक्-कर्म-सिद्धि, प्रसूतिविज्ञान, (प्रसूतितन्त्र पर स्वतन्त्र ग्रन्थ), शालाक्यतन्त्र (चौखम्भा, तृतीय सस्करण १९७१)।

श्री रमानाथ द्विवेदी ने प्राचीन सिद्धान्तो का नवीन दृष्टि से अनुशीलन कर उनके महत्त्व को प्रदर्शित करने में अपने वैदुष्य का अच्छा परिचय दिया है।

(३) श्री गंगासहाय पाण्डेय

इनकी भी शिक्षा-दीक्षा का केन्द्र हिन्दू-विश्वविद्यालय का आयुर्वेदकालेज ही रहा है। यही से आयुर्वेदशास्त्राचार्य परीक्षा उत्तीर्ण कर इन्होने चिकित्सा करना आरम्भ कर दिया। चिकित्सा करने मे इनकी लोकप्रियता पर्याप्त है। परन्तु पाण्डेयजी अग्रेजी दवाइयो का प्रयोग रोगियों की रोग-निवृत्ति के लिए खुलकर करते है। इन्होने **कायचिकित्सा** नामक एक विशद ग्रन्थ का प्रणयन किया है जिसमें चिकित्सा के विविध प्रकार तथा उसकी विविधता का विवरण बड़े प्रामाणिक रूप से दिया गया है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन **चौखम्भा संस्कृत सीरीज** द्वारा किया गया है (वर्ष १९६३)। यह ग्रन्थ प्रमेयबहुल तथा पर्याप्तरूपेण प्रामाणिक है।

(४) आचार्य प्रियव्रत शर्मा

इनका जन्म पटना मण्डल के एक गॉव मे १९२० ई० मे हुआ। आयुर्वेद का अध्ययन हिन्दू-विश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक कालेज मे अनेक वर्षो तक बडे मनोयोग से किया। इन्होने वही से स्नातक उपाधि (ए० एम० एस०) प्राप्त की। पटना के राजकीय आयुर्वेदकालेज मे प्राचार्य तथा बिहार प्रान्त के देशी चिकित्सा के अधीक्षक पदो पर कार्य किया (१९५९ ई०- १९६२ ई०)। हिन्दू विश्वविद्यालय मे द्रव्यगुणविभाग के अध्यक्ष तथा तदनन्तर सस्थान के अध्यक्ष तथा निदेशक के पदों पर कार्य किया। द्रव्यगुणविभाग के अध्यक्ष पद से अभी सेवा-निर्मुक्त हुए है।

आयुर्वेद के विशाल साहित्य के गम्भीर अध्येता तथा द्रव्यगुणविज्ञान के मार्मिक अनुशीलनकर्त्ता विद्वान् के रूप में आपकी पर्याप्त ख्याति है। आपने अनेक प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रन्थो का विमर्शात्मक सस्करण प्रकाशित किया है। इनके शताधिक शोध प्रबन्धो ने आयुर्वेद के अनेक तथ्यो को उजागर किया है। इनके ग्रन्थो मे प्रधान है—द्रव्यगुणविज्ञान (४ भाग), अभिनव शरीरक्रियाविज्ञान, वाग्भटविवेचन, चरकचिन्तन, आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास (आयुर्वेद के विशाल साहित्य का महत्त्वपूर्ण विमर्शात्मक बृहद् ग्रन्थ, १९७५ ई०)। सम्पादित ग्रन्थों मे मुख्य है—बोपदेव का हृदयदीपक, आचार्य वाहट का अष्टाङ्गनिघण्टु, माधव का द्रव्यगुण, कैयदेव निघण्टु। चरकसहिता का अग्रेजी अनुवाद भी आपने प्रस्तुत किया है।

कविराजजी के शिष्यो मे प० काशीनाथजी तथा प० गोमतीप्रसाद मिश्र संस्कृत-विश्वविद्यालय के आयुर्वेदविभाग से सम्बन्ध रखते है। पहले सज्जन तो सेवामुक्त हो चुके थे। दूसरे सज्जन अध्यापन कार्य से सेवामुक्त होकर काशीवास करते हैं।

●

पण्डित यदुनन्दन उपाध्याय

(आस्पद—उपाध्याय, उपाधि—वैद्यचक्रचूड़ामणि)

पण्डित यदुनन्दन उपाध्याय आयुर्वेद के परिनिष्ठित विद्वान् तथा चिकित्सक शिरोमणि है। आजकल काशी मे पण्डित सत्यनारायण कविराज के निधन के अनन्तर उनका प्रतिनिधित्व करनेवाला कोई भी अन्य वैद्य नही है। प्रयाग नगर से लगभग २५ कि० मी० दक्षिण कुल्हडिया ग्राम मे एक सम्भ्रान्त विद्याव्यसनी और कर्मनिष्ठ सरयूपारीण ब्राह्मणपरिवार मे इनका जन्म कार्तिक शुक्ल तृतीया १९६९ स० (२ अक्टूबर १९१२ ई०) को हुआ था। आपके पितामह स्व० प० **रामाधीन उपाध्याय** मिर्जापुर के सरकारी हाईस्कूल मे सस्कृत अध्यापक थे। सुनते है कि ये उपाध्यायजी तथा म० म० हरिहरकृपालु द्विवेदी जब आरम्भ मे एक ही गुरु के पास सस्कृत पढ़ते थे, तब गुरुजी ने इन दोनो को अपनी घोडी के लिए घास छील ले आने के लिए कहा। दोनो बन्धुओं ने विचारा कि गुरु के पास हम विद्याध्ययन करने आये है, परन्तु पढ़ाई लिखाई तो होती नही। घोडी के लिए घास छीलना ही प्रतिदिन हमारा काम रहता है। बस, एक दिन दोनो घर छोडकर गुरु की खोज मे निकल पडे। हरिहरकृपालुजी तो अयोध्या चले गये और रामाधीनजी मिर्जापुर मे ही एक विज्ञ गुरु से सस्कृत पढ़ने लगे और यही रह गये। ज्योतिष के वे बडे प्रसिद्ध विद्वान् थे। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल जो मिर्जापुर के ही निवासी थे और पण्डितजी के सुयोग्य शिष्य थे, स्पष्ट रूप से कहा करते थे कि सस्कृतसाहित्य एव पुरातत्त्व के ज्ञान मे मुझे प्रवृत्त करने का श्रेय मेरे गुरुजी—श्री रामाधीन उपाध्यायजी को है। मिर्जापुर मे इनके समान प्रौढ़ ज्ञान से सम्पन्न कोई ज्योतिषी नही था। ये छात्रो के अनुशासन के लिए विख्यात थे और छात्र की शिथिलता से इतने क्रुद्ध होते थे कि उसे तीव्र दण्ड देने से नही चूकते थे।

पण्डित केशवप्रसाद उपाध्याय

आपके पिता स्व० प० केशवप्रसाद उपाध्याय शास्त्री बी० ए०, एल० एल० बी० देश के मूर्धन्य विद्वानो—स्व० डॉ० रामावतार पाण्डेय, डॉ० आदित्यराम भट्टाचार्य, डॉ० गगानाथ झा, चौधरी बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन' प्रभृति विद्वानो—के प्रिय शिष्य थे। स्व० शिवप्रसाद गुप्त, महन्त परमानन्द गिरि, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदास हालना आदि के सहपाठी एव मित्र थे। सस्कृत, हिन्दी और अग्रेजी तीनो भाषाओं मे अच्छी कविता करते थे। परन्तु उन्हे पत्र-पत्रिकाओं मे प्राय नही भेजते थे। सन् १९०७ मे बी० ए० उत्तीर्ण कर कुछ काल तक अध्यापन का कार्य कर १९१२ मे एल० एल० बी० पास कर मिर्जापुर मे वकालत करने लगे और शीघ्र ही प्रतिष्ठित वकीलो मे उनकी गणना होने लगी। सन् १९२०-२१ मे असहयोग-आन्दोलन मे सम्मिलित होकर वकालत छोड दी और सन् १९३५

मे मृत्युपर्यन्त देश एव समाजसेवा विशेषत अध्यापनकार्य और भजन-पूजन मे लगे रहे। निम्नतम कक्षा से उच्चतम कक्षा तक के विद्यार्थी इनके घर पर नि शुल्क अध्ययन करते थे।

वैद्यजी के पूज्य पिता का नाम था **पण्डित केशव प्रसाद उपाध्याय**। इनका जन्म श्रावण शु० सप्तमी स० १९३३ (१८७६ ई०) मे हुआ। सस्कृतभाषा का अध्ययन तो आपने पिताजी से किया जो छात्रो के अनुशासन के विषय मे बडे जागरूक थे। जैसा ऊपर कहा गया है, अनुशासनरहित छात्रो के ऊपर उनकी बडी कड़ी दृष्टि रहती थी और 'लालने बहवो दोषा, ताडने बहवो गुणा' इस प्राचीन उपदेशवाक्य की शिक्षा पाने वाले पुत्र मे शिक्षा के प्रति गम्भीर निष्ठा होना सर्वथा नैसर्गिक था। केशवप्रसादजी बडे प्रतिभाशाली छात्र थे। सस्कृत, हिन्दी तथा अग्रेजी इन तीनो भाषाओं मे उनकी अव्याहत गति थी। उच्च शिक्षा के लिए जब वे सेन्ट्रल हिन्दूकालेज मे प्रविष्ट हुये, तब महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा के सान्निध्य मे आये और उनकी कृपा से काव्यशक्ति जाग्रत हो उठी। अग्रेजी पद्यो का मस्कृत पद्यो मे अनुवाद करना इनके लिए अनायास-सिद्ध व्यापार हो गया जिसने प्रबुद्ध सस्कृतज्ञो को भी चकित कर दिया।

प्रयाग मे बी० ए० की परीक्षा दे रहे थे। सम्कृत के एक पर्चे मे अग्रेजी पद्यो का सस्कृत मे अनुवाद करने का प्रश्न था। परीक्षक का तात्पर्य गद्य के माध्यम से अनुवाद करने का साधारण सकेत था, परन्तु पण्डित केशवप्रसादजी ने उसका अनुवाद सस्कृत पद्यो मे निष्पन्न कर परीक्षा 'हाल' मे निरीक्षण करने वाले डॉ० गगानाथ झा को आश्चर्यचकित कर दिया। झा साहब ने देखा कि परीक्षार्थी ने विशुद्ध सस्कृत पद्य मे रुचिर अनुवाद किया है, तब उन्होने इनकी उत्तरपुस्तिका को उठाकर पूछा कि इस अनुवाद का रफ कहाँ है? केशव प्रसादजी ने अपना हाथ दिमाग के ऊपर रखा और कह सुनाया कि यह मेरे मस्तिष्क की सद्य नैसर्गिक उपज है, उसके लिए कागज पर रफ करने की कोई आवश्यकता नही। यह आश्चर्यजनक उत्तर सुनकर गगानाथ झाजी चमत्कृत हो उठे और उन्होने परीक्षा के बाद अपने कमरे मे बुलाया और अन्य अग्रेजी पद्यो को सस्कृत पद्यानुवाद के लिए परीक्षणार्थ दिया। केशवजी ने उनके सामने बैठकर सद्य निष्पन्न सस्कृत पद्यानुवाद कह सुनाया। झाजी यह चमत्कार देखकर गद्गद हो गये और इन शब्दो से आशीर्वाद दिया Well done You are a wonderful boy indeed. ऐसी काव्यनिपुणता थी पण्डित केशवप्रसाद उपाध्यायजी मे जब वे बी० ए० कक्षा के ही होनहार छात्र थे। केशवप्रसादजी सस्कृतपद्यो का हिन्दीपद्यो मे इतनी सहृदयता से अनुवाद प्रस्तुत करते थे, कि इसे देखकर किसी भी रसिक का चित्त गद्गद हो उठता था। एक ही दृष्टान्त पर्याप्त होगा। भर्तृहरि के नीतिशतक का यह पद्य सुप्रसिद्ध है जिसमे चातक से प्रार्थना की गई है कि वह ऐरे-गैरे केवल गभीर शोर करने वाले जिस किसी मेघ से जल की प्रार्थना न किया करे, बल्कि पात्रापात्र का विचार कर ही भिक्षा माँगने के लिए प्रस्तुत होवे—

रे रे चातक सावधान-मनसा मित्र क्षणं श्रूयताम्
अम्भोदा बहवो वसन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः।
केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद् वृथा
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः॥

इसके हिन्दी पद्यानुवाद का अब आनन्द लीजिये—

चातक चहूँधा चौकि घन को घमड देखि
पेखि मन लेहु नाँहि सब ही समान है ।
गडबड़ हिये मे राखि गडगड़ ररे है कोऊ
बूँद हू दिखात नाहि कैसे किमिवान है ।
केहू हरसि बरसि मन मे उलसाहि,
पुहुमी पै पसारै धारै, बारि को बितान है ।
जगनि के उदारचित्त दीनता दिखाई जात
माँग मक्खीचूसन तै महान अपमान है ॥

ऐसे सुन्दर अनुवाद के लिए पण्डित केशवप्रसादजी की रसिकता की जितनी प्रशसा की जाय उतनी थोडी ही है ।

ऐसे सुयोग्य पिता की छाया इन्होने बहुत दिनो तक प्राप्त की । उन्ही की देख रेख मे यदुनन्दनजी ने विद्या का अर्जन किया । आरम्भिक अध्ययनकाल मे इन्होने अपने पितामह से सस्कृत का अध्ययन किया, परन्तु मातृसुख इन्हे प्राप्त नही हो सका । वैद्यजी छ वर्ष की आयु मे ही मातृ सुख से वंचित हुए । पिताजी मे अन्य विद्यार्थियो के साथ शिक्षा प्राप्त करते हुए गवर्नमेन्ट हाईस्कूल मिर्जापुर मे अध्ययन करते थे । घर के वातावरण के अनुसार राष्ट्रीयता और समाजसेवा की ओर झुकाव होना स्वाभाविक था । परिवार के लोगो ने सक्रिय राजनीति एव समाजसेवा-कार्य से विमुख करने के लिए व बन्धन डालने के ध्येय मे विवाह कर दिया । फिर भी वे अपने मार्ग पर चलते रहे और सक्रिय राजनीति मे सम्मिलित होने के कारण स्कूल से निष्कासित कर दिए गये और सक्रिय राजनीति मे भाग लेते हुए सन् १९३१ मे गवर्नमेन्ट सस्कृतकालेज बनारस से मध्यमापरीक्षा उत्तीर्ण कर जनसेवा की भावना से ही हिन्दू विश्वविद्यालय मे आयुर्वेद का अध्ययन करने लगे ।

सन् १९३५ मे पिताजी का स्वर्गवास हो जाने के कारण सक्रिय राजनीति से पृथक् होने के लिए बाध्य हो गए । सन् १९३[illegible] मे ए०एम०एस० की उपाधि प्रथम श्रेणी मे सर्वप्रथम स्थान एव स्वर्णपदक प्राप्त करते हुए अर्जित किया । स्वर्गीय कविराज धर्मराजजी स्व० प० सत्यनारायण शास्त्री, स्व० कविराज प्रतापसिंह, स्व० प० जगन्नाथप्रसाद वाजपेयी एव डा० घाणेकर आदि गुरुओं के प्रिय शिष्य रहे । महामना मालवीयजी के भी स्नेहभाजन थे । उत्तीर्ण होने के बाद ही सर सुन्दरलाल अस्पताल' मे हाउस फिजीशियन नियुक्त हुए और उत्तरोत्तर मेडिकल आफिसर, लेक्चरर, रीडर एव प्रोफेसर पदो पर उन्नीत होते गये । समय समय पर स्वस्थवृत्त, रसशास्त्र, भैषज्यकल्पना, द्रव्यगुण, चरकसहिता आदि विषयो के अध्यापन के साथ निदान चिकित्सा आपका मुख्य विषय रहा है । अपने सेवाकाल मे ही क्रमश हाईस्कूल, इण्टरमीडिएट उत्तीर्ण होते हुए सन् १९४९ मे बी० ए० की उपाधि प्राप्त की । सन् १९७४ मे स्नातकोत्तर आयुर्वेद सस्थान के कायचिकित्सा विभाग मे विभागाध्यक्ष के रूप मे सेवानिवृत्त हुए ।

सन् १९४५ मे इनकी नियुक्ति लाहौर आयुर्वैदिक कालेज मे प्रोफेसर के पद पर हो गयी थी किन्तु महामना मालवीयजी के आदेश से काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय की ही सेवा निरतर करने का व्रत लिया । जामनगर स्नातकोत्तर-सस्थान आदि अनेक महत्त्वपूर्ण सस्थाओं मे नियुक्ति का अवसर आने पर भी उन्होने अस्वीकार कर दिया । स्व० महामहोपाध्याय गणनाथ सेन, स्व० आचार्य यादवजी त्रिकमजी, स्व० वेदख्याली रामजी, स्व० आयुर्वेदपचानन

पडित जगन्नाथप्रसाद शुक्ल आदि का स्नेह इनको प्राप्त था। देश के प्रमुख विश्वविद्यालयो मे आयुर्वेद फैकल्टी, उत्तरप्रदेश भारतीय चिकित्सापरिषद्, प्रान्तीय एव अखिलभारतीय वैद्य-सम्मेलन की कार्यकारिणी समिति के अतिरिक्त अनेक सरकारी एव गैरसरकारी समितियो के सदस्य मनोनीत होते रहे है।

चतुर्थ अखिलभारतीय आयुर्वेद शास्त्रचर्चापरिषद् ऋषिकेश (लक्ष्मणझूला) के अध्यक्ष थे। उत्तरप्रदेश के राज्यपाल द्वारा आयुर्वेदीय शिक्षा की प्रगति के लिए उच्चस्तरीय समिति मे सक्रिय सदस्य के रूप मे मनोनीत किए गये। आपके द्वारा माधवनिदान, चरक सहिता और अष्टागहृदय आदि ग्रन्थो का हिन्दी भाषा मे तुलनात्मक विमर्शसहित टीकाओं का सम्पादन किया गया। इनके द्वारा सम्पादित माधवनिदान देश के सभी आयुर्वेदविद्यालयो मे आदर्श पाठ्यपुस्तक रूप मे सम्मानित है। अनेक पत्र पत्रिकाओं मे समय समय पर विभिन्न विषयो पर सैकडो निबन्ध लिखे। आपके निर्देशन मे लगभग पचास डी० ए० वाई० एम० और लगभग दस छात्रो ने पी० एच० डी० शोधप्रबन्ध लिखा। आपके शिष्य देश की माननीय सस्थाओं मे प्राध्यापक एव अधिकारी के रूप मे कार्यरत है।

आप सक्रिय राजनीति से पृथक् होते हुए भी अन्त तक स्व० डॉ० सम्पूर्णानन्द, प्रो० मुकुटबिहारी लाल आदि राष्ट्रसेवको के सम्पर्क मे रहे और समय समय पर उन्हे सहयोग देते रहे। सन् १९४२ के आन्दोलन मे अनेक भूमिगत देशभक्तो को आश्रय एव परामर्श देते रहे है और सन १९२१ से आज तक केवल खादी के वस्त्रो का ही उपयोग करते आ रहे है।

आपकी सबसे बडी विशेषता यह है कि आपकी आयुर्वेद मे अत्यन्त श्रद्धा एव आस्था रही है और आपने प्रारम्भ से आज तक अपने को वैद्य ही कहा है और शुद्ध आयुर्वेदपद्धति मे ही निदान एव चिकित्साकार्य करते रहे है, यद्यपि अर्वाचीन चिकित्सापद्धति को भी समुचित आदर एव स्थान देते है। दूसरी विशेषता यह है कि आरम्भ से आज तक स्वतन्त्र व्यवसाय आपने कभी नही किया बल्कि केवल परामर्शदाता के रूप मे कार्य करते रहे है। सेवानिवृत्त हो जाने के बाद आज भी लोगो को नि शुल्क परामर्श देते है, यद्यपि स्वेच्छा से दी हुई सहायता का निरादर भी नही करते। गरीब से गरीब एव धनी से धनी व्यक्ति सभी को समान दृष्टि से देखते है। देश के सुदूर प्रान्तो से रुग्ण व्यक्ति आपसे परामर्श के लिए आते रहते है। माननीय काशीनरेश के आप पारिवारिक चिकित्सक है। कु० गिरटड कीम (इटली) आदि अनेक विदेशी चिकित्सको ने आपसे आयुर्वेद का अध्ययन किया और आपका भक्तिपूर्वक स्मरण करते है। देश की अनेक आयुर्वेदीय सस्थाओं द्वारा आपका अभिनन्दन किया गया है। वर्ष ८६ ८७ मे विद्वद्वैद्यपरिषद् की स्वर्णजयन्ती के अवसर पर आपका राष्ट्रपति द्वारा सम्मान किया गया।



पण्डित श्रीनिवास पाण्डेय

काशी के दक्षिणाञ्चल मे किसी समय अहरौरा एक प्रमुख व प्रसिद्ध व्यापारकेन्द्र था। यहाँ सम्राट् अशोक के दो शिलालेख तो है ही, यह भी किंवदन्ती है कि जिस समय चुनार का किला बन रहा था, अहरौरा के पास मगन दीवाना पहाडी पर भी एक वैसा ही दुर्ग बन रहा था, परतु चुनार का किला बन जाने पर यहाँ का क़िला न बन सका। इसके अतिरिक्त लिखनिया दरी व भलदरिया के भित्तिचित्र प्रमाणित करते है कि प्राचीन काल से ही गड़ई नदी की यह घाटी अति महत्त्वपूर्ण रही है। १६वी से १६वी शती तक यह महत्त्वपूर्ण व्यावसायिक कस्बा रहा है। यहाँ अवध के नवाबो के किले के अवशेष उसके साक्षी है। नवाबी शासन के पतन के बाद यह क्षेत्र काशी राज्य का अग बन गया। इसी समय जनता [illegible] और सभवत महाराज मनसाराम के सकेत पर गोरखपुर जनपद के मचियॉव ग्राम के भारद्वाज गोत्रीय पाण्डेय चिन्तामणि अहरौरा आये। अपने पाण्डित्य व कर्मकाण्ड के कारण शीघ्र जनता मे पूजित होने लगे और एक समय ऐसा आया कि इनके वशज क्षेत्रीय पुरोहित के रूप मे मान्य हो गये। इन्ही की एक शाखा अहरौरा बाजार मे बस गयी जो निरतर समृद्ध व प्रभावशाली होती गयी। भगवती लक्ष्मी तथा सरस्वती से सम्पन्न इसी ब्राह्मण वश मे उत्पन्न पण्डित रामवदन पाण्डेय प० श्रीनिवास पाण्डेय के पूज्य पिता थे।

श्रीनिवास का जन्म सन् १८७१ की श्रावण पूर्णिमा को हुआ था। इनकी सस्कृत, उर्दू, फारसी की शिक्षा घर पर ही हुई। पडोस के पदरिया (मिशन) स्कूल के पादरियो के सम्पर्क मे आकर उनसे अग्रेजी सीखी और इतनी अच्छी अग्रेजी लिखते और बोलते कि उनके व्यक्तित्व के सबन्ध मे सर वी० एन० मेहता, आइ० सी एस० ने लिखा है कि मुझे यह पूछने मे सकोच होता था कि इतनी अच्छी अग्रेजी किससे सीखी ? और लिखा कि "ही वॉज लाइक अ लुसिफर" अर्थात् वह शुक्र की भाँति सुन्दर एव तेजस्वी थे। मेहताजी के 'लीडर' मे प्रकाशित शोकसदेश का कुछ अश उद्धृत किया जायगा। आरभ से ही वे सुव्यवस्था और सौन्दर्य के प्रेमी थे। उन्होने समाज के अभिजात्यवर्ग मे सम्मान और मैत्री पायी। महामहोपाध्याय शिवकुमार शास्त्री, प० सुधाकर द्विवेदी, प० जयदेव मिश्र, डॉ० गङ्गानाथ झा और डॉ० भगवानदास जैसे मनीषी इनके घनिष्ठ मित्र थे और महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा इनके साढ़ू थे। काशी के प्रसिद्ध दैवज्ञ पं० नन्दराम की ज्येष्ठ पुत्री इन्द्रमती से इनका विवाह हुआ। उनकी अनुजा शर्माजी की भार्या थी। अल्प वैवाहिक जीवन के बाद स्वर्गगामिनी हो गईं।

प० श्रीनिवास नैष्ठिक ब्राह्मण थ। नित्य त्रिकाल सध्योपासना करते। समय की पाबदी के साथ ही साथ रियासत का प्रबध और गोला का काम देखते। पितामह द्वारा स्थापित सस्कृत-पाठशाला को नियमित कर छात्रो के आवास, भोजन-वृत्तादि की व्यवस्था भी करते। छात्रो को व्याकरण, ज्योतिष, साहित्य व कर्मकाण्ड की शिक्षा दी जाती। 'सध्याप्रचारिणी सभा' के माध्यम से ब्राह्मणो मे सध्याप्रचार होता, नियमित परीक्षा लेते और पुरस्कार देते।

नित्य प्रातःकाल वेद का सस्वर पारायण करते जिसके लिए काशी के एक दो वैदिक सदा 'श्रीभवन' अहरौरा मे रहते। अपने सस्वर पाठ से प्राय वैदिको को चकित कर देते। उनका शास्त्रीय ज्ञान अतिगहन था व हिन्दीज्ञान एव अलङ्कार का ज्ञान त्रुटिहीन था। उन्होने अनेक कलाओं मे निपुणता प्राप्त की यथा फोटोग्राफी, होमियोपैथी, बागवानी, सगीत, पाककला आदि। प्रशासनिक कार्यों मे दक्ष होने के कारण फर्स्टक्लास स्पेशल मजिस्ट्रेट और जनगणना तथा अकाल मे जनसेवा से प्रभावित होकर सरकार द्वारा 'रायसाहब' की उपाधि से विभूषित किये गये। अग्रेज शासकवर्ग मे इनके वैदुष्य, निपुणता, चरित्र और सदाशयता के कारण बडा सम्मान था। महाराज बनारस ने इन्हे अपना मैनेजर नियुक्त करना चाहा पर विनम्रता से उन्होने अस्वीकार कर दिया। क्षेत्रीय जनता के आदर्श तथा प्रकाशस्तम्भ के समान पूजित थे। निशानेबाजी मे इतने दक्ष थे कि निशाना कभी न चूकता। मदापुर कोठी से दो मील दूर दादो की पहाडी के नीचे हिरनझुण्ड मे जिसे चाहते उसे निशाने से गिरा देते। उनकी निशानेबाजी से महाराज प्रभुनारायण सिंह इतने प्रभावित और आश्वस्त थे कि जब वाइसराय लॉर्ड कर्जन चकिया जगल मे शिकार के लिये आमत्रित थे, तो लेडी कर्जन के साथ शिकार पर इन्हे ही बैठाया गया। हॉके मे शेर की दहाड मे लेडी साहिबा कॉप उठी और बदूक हाथ से छूटने ही वाली थी कि रायसाहब को समझते देर न लगी। लेडी साहिबा को सँभालते हुए इन्होने अपने पैराडॉक्स गन से शेर को ढेर कर दिया इधर शोर हुआ कि लेडी साहिबा ने शेर मारा। लेडी को चैतन्य कर मचान से नीचे उतारा गया और पैसा लुटाया गया। उस समय लोग शेर मारकर इनाम बख्शीश देते, पैसे लुटाते। महाराज इस कौशल से बहुत प्रसन्न हुए तथा वाइसराय ने अनेक धन्यवाद दिया। प्रशासनिक दक्षता के इन्हे अनेक प्रमाणपत्र मिले थे। इतने स्वाभिमानी कि अफसरो के पीछे कभी नहीं रहे। उनकी तजबीजो और फैसलो को देखकर बडे बडे कानूनदा और अफसर प्रशसा किये बिना न रहते। सर मेहता के अनुसार उनके फैसले बतौर अच्छी नजीर माने जाते।

संगीतशास्त्र की रुचि इन्हे कब हुई और किससे सीखा इसकी पूरी जानकारी नही किन्तु इन्होने इतनी दक्षता प्राप्त की कि इनकी अखिलभारतीय स्तर के कलाकारो मे गणना होने लगी थी। दिल्लीदरबार मे इन्होने वीणावादन किया। प० भातखण्डे व विष्णुदिगबर इनके निकट मित्र थे। भातखण्डेजी इनकी रेकर्डिंग कराने दिल्ली ले जाना चाहते थे। सारी तैयारी हो चुकी थी पर इसी बीच २७ अप्रैल १९१६ को काशी मे ब्राह्ममुहूर्त मे ब्रह्मलीन हो गये। इनके दरबार मे सदैव सगीत कलाकारो का जमघट लगा रहता। उस्ताद इमदाद खाँ (सम्प्रति सितारवादक उस्ताद विलायत खा के पितामह), उस्ताद करामतउल्ला खा, हाफिज अली खाँ, दिलावर खॉ, आशिक अली प्रभृति सदा टिके रहते। इनके नियमित कार्यक्रम होते और पाण्डेयजी से अभ्यास कराते। वे प्रसिद्ध वीणावादक तो थे ही, साथ साथ सितार, सरोद, सुरबहार, दिलरुबा भी बजाकर उस्तादो को चकित कर देते। बढ़ईखाने मे दो चार कारीगर वाद्ययत्र और फर्नीचर बनाया करते। उस्ताद आशिक अली स्थायी वेतनभोगी कर्मचारी थे।

उनकी सस्कृत और सस्कृतशिक्षा के प्रति बडी निष्ठा थी। जब उनकी बुआ श्रीमती भागीरथी मिश्रा ने अपनी सम्पत्ति देनी चाही तो उन्होने नम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया। जिलाधिकारी व उनके मित्र पी० विढम साहब ने भी सम्पत्ति लेने का दबाव डाला पर उन्होने अस्वीकार कर दिया और एक न्यास द्वारा अपनी बुआ के नाम पर **श्रीमती भागीरथी-संस्कृत-महाविद्यालय** की चुनार मे टेकौर नामक स्थान पर स्थापना की जो आज विख्यात

'क' वर्गीय विद्यालय है। इस प्रकार त्याग कर इन्होने सस्कृत प्रचार-प्रसार मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। यह विद्यालय अपनी शैक्षणिक दक्षता के लिए प्रसिद्ध है। इसके प्राचार्य प० हरिवश चतुर्वेदी का इसकी प्रगति मे विशेष योगदान है।

इसी प्रकार इन्होने लोककल्याण के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये जिनमे दातव्य होमियोपैथी चिकित्सालय की स्थापना थी। इन्होने अहरौरा कस्बे की नागरिक व्यवस्था के लिए शासन को प्रेरित कर नोटीफाइड एरिया की स्थापना कराई जिसके वे आजीवन अध्यक्ष रहे। इनके उन्नतिशील कृषि के ग्राम मदापुर मे मॉडल कृषिफार्म था जहा वैज्ञानिक आधार पर पूसा गेहूँ, काबुली चना, सटन्स की विलायती मटर, टमाटर, आलू का उत्पादन और उन्नतिशील बीजो का वितरण किया जाता था। सारी जानकारी कृषको को उपलब्ध थी। समाजसुधारक के रूप मे इन्होने दहेजविरोधी अभियान चलाकर मात्र एक रुपये का प्रतीकात्मक दहेज लेकर एक कुलशीलहीन अज्ञात गरीब घर की कन्या को बहू के रूप मे स्वीकार किया था। यह आजीवन सरयूपारीण ब्राह्मणसभा के अध्यक्ष पद पर बने रहे। इनका एक व्यसन साधु सन्तो का सत्सग और सेवा भी था। उस युग के प्रसिद्ध तपस्वी सत और योगी **स्वामी आनदमुनि** (हडिया बाबा), बालानन्द स्वामी और हरिहरानन्द का विशेष प्रभाव पडा। हडिया बाबा निष्णात वेदान्ती एव हठयोग की क्रियाओं मे निपुण थे। इनसे पाण्डेयजी ने अनेक योग क्रियाएं सीखी जिससे उनकी गौरवर्ण शरीरयष्टि तप्त काचन की भाँति देदीप्यमान हो उठी थी। शरीर इतना बलिष्ठ था कि युवावस्था मे भरी मोट घडे की भाँति खीच लेते थे। नियमित रूप से कसरत करते, मुगदर फेरते। इसके बावजूद उन्हे मधुमेह हो गया और अकाल (३६ वर्ष की आयु) मे ही कालग्रस्त हो गये।

इनके तीन पुत्र और तीन कन्याएँ थी। ज्येष्ठ पुत्र **श्री सदायतन पाण्डेय** की शिक्षा अपूर्ण रही पर वे धाराप्रवाह सस्कृत व अग्रेजी बोलने मे समर्थ थे। युवावस्था मे ही वे चेयरमैन, नोटीफाइड एरिया, जिलापरिषद् और प्रान्तीय लेजिसलेटिव काउसिल एव अनेक कमेटियो के सदस्य के रूप मे कार्यरत रहे, यथा राजकीय सस्कृत कार्उसिल बनारस, इलाहाबाद और आगरा विश्वविद्यालय कोर्ट और सीनेट के सदस्य, बोर्ड ऑफ इरीगेशन, शिक्षा, यातायात आदि के सदस्य भी रहे। १९३३ मे अखिलभारतीय वर्णाश्रम-स्वराज सघ के बम्बई-अधिवेशन के अध्यक्ष थे जहाँ इनका सस्कृत मे धारावाही अध्यक्षीय भाषण विशेष प्रभावकारी रहा। आचार विचार से कट्टर सनातनी होने के कारण नियमपूर्वक सध्या, आह्निक तथा दोनो नवरात्रो मे शतचण्डी का अनुष्ठान करते तथा पार्थिवपूजन करते। स्वामी करपात्रीजी से मित्रता के कारण रामराज्यपरिषद् के सक्रिय कार्यकर्ता थे। इनका ८७ वर्ष की आयु मे १९८६ मे शरीरात हो गया।

द्वितीय पुत्र श्रीशचन्द्र ने अपनी शिक्षा का प्रारभ घर की सस्कृतपाठशाला से किया किन्तु बाद मे सबके सुझाव पर अग्रेजी पढ़ने लगे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से १९३३ मे बी० ए० और १९३५ मे इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम० ए० की डिग्री प्राप्त की। स्वतत्रता-आन्दोलन मे १९४३ मे जेल से मुक्त हो कर १९४६ मे एल० एल० बी० की परीक्षा पास की परतु वकालत के छलपूर्ण पेशे मे अधिक दिन न टिके और अपनी जायदाद सँभालने मे लग गये। महामना मालवीयजी के सम्पर्क व प्रभाव के कारण निष्ठापूर्वक पारिवारिक आचार और सस्कार का पालन करते है। इनके व्यसनो मे अध्ययन, लेखन, पुस्तकसग्रह, गृहनिर्माण, धार्मिक अनुष्ठान, अध्यात्म, शास्त्रीय सगीत व फोटोग्राफी आदि है। ये स्वामी करपात्रीजी से

दीक्षित होकर श्रीविद्या की आराधना में उन्मुख और साधनारत है। यह पाण्डेय-सस्कृत-महाविद्यालय का सचालन तथा पैतृक मदिरो देवस्थानो का प्रबध करते है। ब्राह्मणो के सगठन और उत्थान के आयोजनो मे सक्रिय भाग लेते है। काशी के विद्वानो का इन्हें आशीर्वाद प्राप्त है। प्रचार से दूर मौन साधक जैसा जीवन व्यतीत करते है। इनकी पत्नी श्रीमती सावित्री देवी महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी की दौहित्री थी। १९८१ में उनको काशीलाभ हो गया। पत्नी ने अपनी स्मृति में विपन्नो के चिकित्सार्थ दातव्य औषधालय बनवाने का आग्रह किया था जिसका अहरौरा मे निर्माण हो रहा है। उन्हे हिन्दी, अग्रेजी, सस्कृत और बॅगला का ज्ञान है तथा कलम के सिपाही के रूप में लेखनी द्वारा समाज को योगदान करते है।

धन्य है स्वर्गीय रायसाहब पडित श्रीनिवास पाण्डेय जिनके यश कार्य से आज भी ब्राह्मणसमाज को प्रेरणा मिलती है।



७५

पण्डित प्रभुदत्त अग्निहोत्री

(आस्पद—मिश्र, उपाधि—महामहोपाध्याय)

जन्म तथा शिक्षा

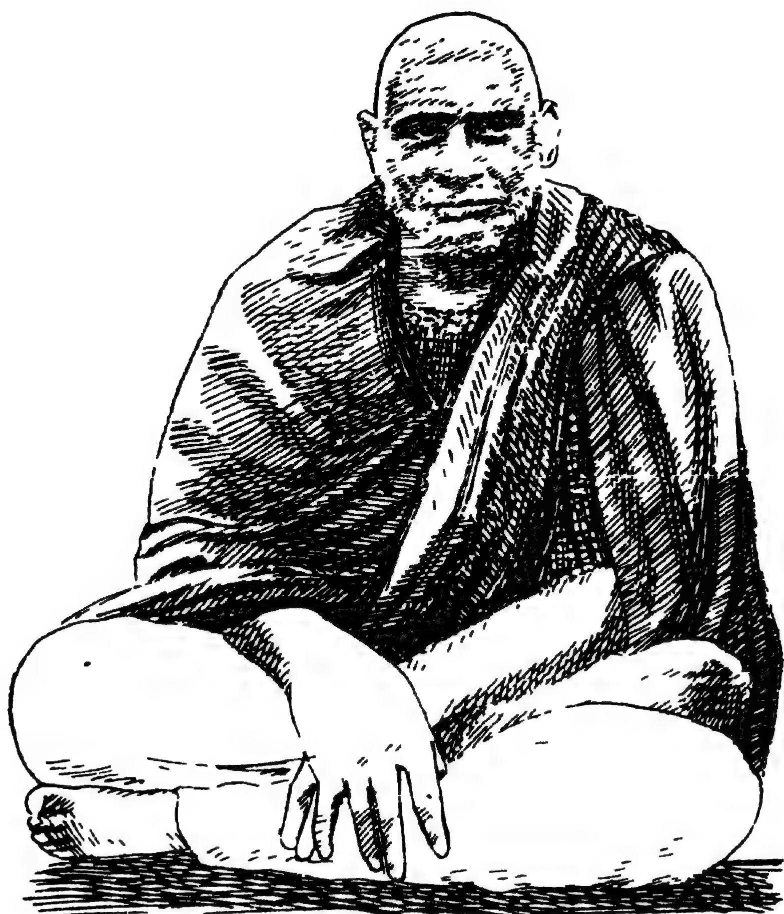
प० प्रभुदत्त गौड का जन्म हरियाणा प्रदेश के भूतपूर्व जिन्द रियासत के अन्तर्गत सिरसा खेडी गॉव मे स० १६८१ वि० (सन् १८६४ ई०) मे हुआ था। तत्कालीन बालविवाह की प्रथा के अनुसार इनका यज्ञोपवीत सस्कार तथा विवाह केवल सात वर्ष की अवस्था मे श्रीमती नान्ही देवी से हुआ था। अपने ज्येष्ठ भ्राता प० हरिद्वारी मिश्रजी के साथ ये सन् १८७२ ई० के आस पास विद्याध्ययन के लिए काशी आये।

ः होने काशी के तत्कालीन प्रसिद्ध वैदिक प० चिन्तामणि गुर्जर से सागोपाग शुक्ल यजुर्वेद का अध्ययन किया। इसके अनन्तर प० मूलचन्द गुर्जर तथा प० जगन्नाथ शर्मा से आपने शतपथब्राह्मण का पाठ पढ़ा। सुप्रसिद्ध वैयाकरण प० अनन्तराम शास्त्री से व्याकरण तथा साख्ययोग का अध्ययन किया एव प्रसिद्ध कर्मकाण्डी प० युगलकिशोर व्यास से कर्मकाण्ड की विधिपूर्वक दीक्षा ग्रहण की।

अध्यापन कार्य

प० प्रभुदत्त अग्निहोत्री ने अनेक महाविद्यालयो तथा काशी-विश्वविद्यालय मे भी अध्यापन कार्य किया। सर्वप्रथम स० १६४६ वि० (सन् १८८६ ई०) मे काशी मे सरस्वती फाटक के पास स्थित सत्यनारायण मदिर की पाठशाला मे प० प्रभुदत्तजी वेद के अध्यापक नियुक्त हुए। ये वहाँ लगातार छ वर्षो तक अत्यन्त निष्ठा के साथ अध्यापन कार्य करते रहे। तदनन्तर स० १६५२ वि० (सन् १८६५ ई०) मे काशी के दक्षिण नगवा मे स्थित रुइया-सस्कृत-पाठशाला मे अध्यापन करने लगे जहॉ इन्होने सन् १८६५ ई० से लेकर १८६८ ई० तक कार्य किया। इसके बाद सन् १८६८ ई० मे काशी की भास्करपाठशाला मे कार्य करने के लिए निमन्त्रित किये गये। इसी समय 'रणवीर सस्कृत पाठशाला' मे वेद तथा कर्मकाण्ड के प्राध्यापक के पद पर प्रतिष्ठित किये गये परन्तु सैद्धान्तिक मतभेद होने के कारण इन्होने त्यागपत्र दे दिया।

सन् १६१६ ई० मे जब मालवीयजी ने हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की तब प्रभुदत्त गौड़ की विद्वत्ता से प्रभावित होकर उन्होने इन्हे धर्मविज्ञानविभाग (थियोलाजी) का अध्यक्ष नियुक्त किया। इतना ही नही, ये अनेक वर्षो तक अवैतनिक आचार्य पद को भी सुशोभित करते रहे। ये सन् १६१६ से १६२८ ई० तक धर्म-विज्ञान सकाय (फेकल्टी) के अध्यक्ष (डीन) भी रहे। इसके पश्चात् ये विश्वविद्यालय की कौसिल तथा सिनेट के मनोनीत सदस्य भी रहे। इनकी अगाध विद्वत्ता से प्रभावित होकर ब्रिटिश सरकार ने स० १६८१ वि० (सन् १६२४ ई०) मे इन्हे महामहोपाध्याय की पदवी से अलकृत किया।



पं० प्रभुदत्त अग्निहोत्री

सम्मान

मालवीयजी महाराज तो इनका आदर करते ही थे। इसके साथ भारतवर्ष के अनेक राजा, महाराजा, सेठ और साहूकार इन्हे बडे सम्मान की दृष्टि से देखते थे। इस देश मे ऐसा कोई विशाल यज्ञ नही होता था जिसके आचार्य पद को ये सुशोभित न करते हो। म० म० प० शिवकुमार शास्त्री इनके अनन्य मित्र थे। शास्त्रीजी से जब कोई यज्ञ यागादि के विषय मे जानकारी प्राप्त करना चाहता था, तब वे प्रभुदत्तजी के पास उसे जाने की सलाह देते थे। तत्कालीन काशी के विद्वान् इनके मित्रो मे से थे। सेठ लोग भी इन्हे सम्मान प्रदान करते थे।

काशी के दानी सेठ राजा बलदेवदास बिडला ने एक बार महारुद्रयज्ञ किया था जिसमे प्रभुदत्त गौड को ही आचार्य के पद पर प्रतिष्ठापित किया गया था। इतना ही नही, बिडलाजी ने अपन पौत्रो का यज्ञोपवीत सस्कार भी इन्ही से करवाया था। इस प्रकार ये बिडलापरिवार के 'कुलगुरु' माने जाते थे। मुरारका और खेतान आदि सेठो के परिवार से भी इनका बडा घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस प्रकार सेठो के गुरु होने के कारण इन्होने प्रचुर धन अर्जित किया।

ग्रन्थरचना

योग्य वैदिको के द्वारा शिक्षित होने के कारण पण्डित प्रभुदत्त गौड बड़े ही सुबुद्ध वैदिक थे जिन्होने अपने गुरु की परम्परा का निर्वाह बडी योग्यता से किया। उनके द्वारा सम्पादित प्रथम ग्रन्थ है— कृष्णमिश्ररचित कात्यायनश्राद्धसूत्र की 'श्राद्धप्रकाशिका' नामक वृत्ति। इस वृत्ति का रचनाकाल १५०५ वि० स० अर्थात् १४४८ ई० है। इस वृत्ति के आरम्भ के द्वितीय पद्य मे इत प्राचीन कर्काचार्य तथा हलायुध की वृत्ति का उल्लेख है। 'श्राद्ध-प्रकाशिका' मे स्थान स्थान पर पण्डित प्रभुदत्तजी ने टिप्पणियाँ लिखकर मूल के अर्थ को समझाने का प्रयत्न किया है। इसकी रचना के समय ये काशी मे सत्यनारायणमन्दिर मे स्थापित वैदिकपाठशाला म वेद के अध्यापक थे। इसके आरम्भ मे इन्होने अपने पिता का नाम घनश्याम शर्मा तथा अपने ग्राम का नाम 'लिजवाड़ा' दिया है। इनका दूसरा सम्पादित ग्रन्थ **ऋक्प्रातिशाख्य** है। सम्पादन तो इनके गुरु युगलकिशोर पाठक ने ही किया था, परन्तु उनके निधन के अनन्तर प्रभुदत्तजी ने इसे मुद्रित कराकर प्रकाशित किया था (१९०३ ई० मे, वाराणसी से)। इस समय ये हिन्दूकालेज के अन्तर्गत रणवीर सस्कृतपाठशाला के वेदाध्यापक थे। इसकी भूमिका मे इन्होने अपने विद्यागुरु अनन्तराम शास्त्री का उल्लेख किया है जो उस समय उसी पाठशाला के व्याकरणाध्यापक थे और जो आगे चलकर इसके अध्यक्ष पद पर भी प्रतिष्ठित हुए थे।

प्रभुदत्तजी के अन्य ग्रन्थो के नाम इस प्रकार है—'श्रौतपदार्थविवेचन', यज्ञ यागादि के समस्त पारिभाषिक शब्दो का यह अत्यन्त उपादेय कोश है। इनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थो मे खण्डदीक्षित कृत 'महारुद्रपद्धति' तथा 'मीमासापरिभाषा' की बडी प्रसिद्धि है। स्वरचित ग्रन्थो मे जीवितश्राद्धपद्धति, वृषोत्सर्गनिर्णय, सापिण्ड्य निर्णय एव कुशकण्डिकाभाष्य उल्लेखनीय है।

इनके अनुशीलन से पता चलता है कि ये कर्मकाण्ड के गम्भीर विद्वान् होने के साथ ही साथ प्रातिशाख्य आदि वेद के शास्त्रीय विषयो के भी ज्ञाता थे।

प० प्रभुदत्त गौड़ स्वय आहिताग्नि थे अर्थात् बडी निष्ठा के साथ अग्निहोत्र और दर्शपौर्णमासेष्टि आदि वैदिक क्रियाओं को किया करते थे। देश-विदेश के अनेक विद्वान् इनके

यहाँ यज्ञभगवान् और अग्निनारायण के दर्शन के निमित्त आया करते थे। काशी के अनेक कर्मकाण्डी और गृहस्थ इनके यहाँ से यज्ञ की भस्म लगाने के लिए ले जाया करते थे। आजकल के युग मे अग्निहोत्र कर्म का व्रत लेना बहुत ही कठिन है परन्तु प्रभुदत्तजी ने इस दुष्कर कर्म का यावज्जीवन निर्वाह किया। इसीलिए ये प० प्रभुदत्त अग्निहोत्री के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध थे।

प्रभुदत्तजी अपने माता-पिता तथा ज्येष्ठ भ्राता के बडे ही भक्त थे और बड़े भाई को पितृतुल्य समझते थे। यह कहा करते थे कि 'नास्ति मातृसम तीर्थम्' अर्थात् माता के समान कोई दूसरा तीर्थ नही है। ये अपनी माताजी को अपने साथ ही काशी मे रखते और उनकी सेवा किया करते थे। अपने परिवार के अतिरिक्त इन्हे अपनी जन्मभूमि 'सिरसाखेडी' से भी भगाध प्रेम था। ग्रामीण लोगो के आग्रह पर उनके जल के कष्टनिवारण के लिए इन्होने अपने गॉव मे एक अच्छे सरोवर का भी निर्माण कराया था जिससे इनकी उदारहृदयता तथा पर-दु ख कातरता का पता चलता है।

प० प्रभुदत्त गौड ने अपने परिश्रम तथा विद्वत्ता से कीर्ति और सम्पत्ति दोनो का ही प्रचुर परिमाण मे अर्जन किया। आपका धैर्य अतुलनीय था। परिवार का समस्त भार आपके ही ऊपर था। फिर भी आपने कभी धैर्य का परित्याग नही किया।

आपने अनेक योग्य शिष्य उत्पन्न किये जिनमे प० भीमसेन चतुर्वेदी, प० विजयचन्द्र चतुर्वेदी वेदाचार्य, प० धर्मदत्त वेदशास्त्री आदि प्रसिद्ध है। प० प्रभुदत्त गौड बडे ही भाग्यशाली पुरुष थे। आपके सबन्ध मे निम्नाकित श्लोक पूर्णतया चरितार्थ होता है

यदि रामा, यदि च रमा, यदि तनयो विनयधीगुणोपेत. ।
तनयात् तनयोत्पत्ति., सुरवरनगरे किमाधिक्यम् ॥

रामा और रमा का तो इन्हे सान्निध्य प्राप्त ही था परन्तु महामहोपाध्याय प० विद्याधर गौड़ के रूप मे आपको अत्यन्त विद्वान्, विनयी और प्रतिभावान् पुत्र पाने का भी सौभाग्य प्राप्त था। पं० वेणीराम गौड वेदाचार्य के रूप मे ये सुयोग्य पौत्र के अधिकारी थे। ऐसी किवदन्ती है कि व्यासजी के शाप से काशी मे त्रिपुरुषी विद्या नही होती अर्थात् तीन पीढ़ियो तक विद्वानो की परम्परा नही चलती। परन्तु प्रभुदत्तजी के विषय मे यह नियम न होकर अपवादरूप ही समझना चाहिए। सन् १६२६ ई० मे इन्होने इस पाचभौतिक शरीर का त्याग किया। इस प्रकार इन्होने ६५ वर्ष का दीर्घ आयुष्य तथा दीर्घतर कीर्ति प्राप्त की थी।

पण्डित युगलकिशोर पाठक

पण्डित प्रभुदत्त अग्निहोत्री के गुरु पण्डित युगलकिशोर पाठक अपने युग के काशी के मूर्धन्य विद्वानो मे अग्रगण्य थे। गतशताब्दी मे १८८४ ई० मे आज से सौ वर्ष पहले प्रकाशित 'सिहस्थगुरुनिर्णय' नामक ग्रन्थ मे इनकी सम्मति बडे आदर से उद्धृत की गई है। प्रभुदत्त जी ने इनके निधन का वर्ष १६०० ई० बताया है। यदि उस समय इनकी आयु ६० वर्ष मान ली जाय, तो इनका जन्म १८४० ई० के आसपास मानना समुचित होगा। ये काशी के ही सरयूपारीण ब्राह्मणकुल मे उत्पन्न एक सुयोग्य वैदिक थे।

पण्डित युगलकिशोर पाठक उस युग के बड़े ही प्रवीण तथा वेदशास्त्र-सम्पन्न वैदिक थे। उनकी विशिष्ट तथा आदरणीय कृति है—**शुक्लयजुःप्रातिशाख्य** का उव्वटभाष्य के साथ विमर्शात्मक सस्करण। इस ग्रन्थ की भूमिका मे उन्होने अपना सक्षिप्त परिचय दिया है। वे

काशी के छोटी पियरी नामक मुहल्ले मे रहते थे। वे सरयूपारी ब्राह्मण थे। इनके प्रपितामह का नाम प० नाथूराम पाठक था जो काशी मे ही वेदवेदाग के अध्यापक थे। उनके पितामह प० रामफल पाठक ज्योतिषशास्त्र के अध्यापक थे। इनके पिता विश्वेश्वर पाठक व्यास वाल्मीकि-रामायण के विशेष मर्मज्ञ कथावाचक थे। इनके गुरु कोई रामानन्दजी थे। कृष्णानन्द स्वामी के द्वारा स्थापित धर्मनिकेतन के वेद विद्यालय मे ये पाठकजी वेद और स्मृति ग्रन्थो का अध्यापन करते थे। शुक्लयजुर्वेद के पण्डित सारस्वत ब्राह्मणकुल मे उत्पन्न बालब्रह्मचारी श्री रामानन्द स्वामी इनके गुरु थे। पुराणवाचन भी इनकी वृत्ति थी। ये काशी मे बालूजी के फर्श नामक स्थान पर पुराणो का प्रवचन किया करते थे और इसीलिए ये व्यास उपाधि धारण करते थे। काशी की राजकीय पाठशाला मे इन्होने वेदशास्त्रो का अध्ययन किया था। अपनी विद्याबुद्धि के लिए महाराजा दरभगा के पास इनकी विशेष प्रतिष्ठा की गई थी। शिक्षा सग्रह नामक ग्रन्थ की भूमिका मे पूर्वोक्त तथ्य इनके जीवनचरित के विषय मे दिये गये है। इससे स्पष्ट है कि इनका वश विद्या तथा आचार के लिए विशेष प्रसिद्ध रहा।

पॉच हस्तलेखो के आधार पर इस सस्करण का शोधन एव प्रकाशन किया गया था। इन्होने शुष्क वैदिको को स्वरप्रक्रिया का ज्ञान कराने के उद्देश्य मे इसका प्रकाशन सम्पन्न किया। **प्रातिशाख्यकीर्तिप्रकाश** नामक स्वीय विद्वत्तापूर्ण टिप्पण भी देकर मूल ग्रन्थ के भावो की अभिव्यक्ति की थी। इस सस्करण मे 'प्रतिज्ञापरिशिष्ट' (सभाष्य), भाषिकपरिशिष्ट सूत्र (सभाष्य), जटादिविकृतिलक्षण, अनुवाकाध्याय परिशिष्ट, तथा चरणव्यूह परिशिष्ट को सवलित कर अधिक उपयोगी बनाया गया है। बनारस सस्कृत सीरीज मे १९४५ वि० स० (१८८८ ई०) मे प्रकाशित हुआ था। इसके अनुशीलन से पाठकजी की वेदविषयक उत्कृष्ट विद्वत्ता, गम्भीर अध्ययन एव गम्भीर आलोचना का पूरा परिचय मिलता है।

पाठकजी के द्वारा सम्पादित दूसरा ग्रन्थ है— **शिक्षासग्रह**[1] जिसका प्रकाशन 'बनारस सस्कृत सीरीज' नामक ग्रन्थमाला मे १८९६ ई० मे किया गया था। इसमे भिन्न भिन्न वेदो से सम्बद्ध ३२ बत्तीस शिक्षाओं का सग्रह मिलता है जिनमे कुछ शिक्षाएँ छोटी है, परन्तु अन्य परिमाण मे पर्याप्तरूपेण बडी है, यथा **प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षा**। इसके लेखक कोई सदाशिव के पुत्र बालकृष्ण नामक विद्वान् है। इस 'शिक्षासग्रह' के सस्कर्ता होने से पण्डित युगलकिशोर पाठक की वैदिकी वैदुषी का पर्याप्त परिचय मिलता है। पाठकजी के द्वारा सम्पादित तीसरा वैदिक ग्रन्थ है -महर्षि शौनक प्रणीत **ऋक्-प्रातिशाख्य** जिसमे उव्वटभाष्य भी सवलित है। इसका प्रकाशन बनारस सस्कृत सीरीज मे १९६० वि० (१९०३ ई०) मे हुआ था। इसका सम्पादन पाठकजी ने अनेक दुर्लभ पाण्डुलिपियो के सहारे अनेक वर्षो के परिश्रम से किया था, परन्तु मुद्रण आरम्भ होते ही उनका निधन हो गया (सम्भवत १९०० ई० के आस पास)। फलत इसे उन्ही के शिष्य प्रभुदत्तजी गौड ने अपने नाम से प्रकाशित किया। इस तथ्य का परिचय ग्रन्थ की भूमिका से चलता है।

इन सम्पादित ग्रन्थो का उत्कृष्ट रूप देखकर आलोचक को यह कहने मे तनिक भी सकोच नही है कि युगलकिशोर पाठक गत शताब्दी के उत्तरार्ध मे काशी के पचगौड वैदिको मे मूर्धन्य स्थान पर विराजमान थे।

●

---

१ इसके परिचय के लिए द्रष्टव्य —बलदेव उपाध्याय रचित 'वैदिक साहित्य और सस्कृति' (पृष्ठ ३१०-३१३), प्रकाशक शारदासस्थान, सन् १९८१, वाराणसी।



पं० विद्याधर गौड

७६

पण्डित विद्याधर गौड़

(आस्पद—मिश्र, उपाधि—महामहोपाध्याय)

महामहोपाध्याय प० विद्याधरजी गौड विद्वान् पिता के विद्वान् पुत्र थे। इनके विषय मे यह लोकोक्ति— 'योग्य पिता का योग्य पुत्र' पूर्णत चरितार्थ होती है। सस्कृत के किसी कवि ने ठीक ही कहा है कि कोई विद्वान् पुत्र अपने अच्छे कर्मो तथा प्रकाण्ड पाण्डित्य से अपने पिता को भी अतिक्रमण कर जाता है—

कुम्भ. परिमितमम्भ पिबति, पपौ कुम्भसम्भवोऽम्भोधिम् ।
अतिरिच्यते सुजन्मा, कश्चिज्जनकं निजेन चरितेन ॥

इस सूक्ति के ज्वलन्त उदाहरण पण्डित विद्याधरजी गौड थे। इनके पिता प० प्रभुदत्त जी वेद तथा कर्मकाण्ड के तलस्पर्शी विद्वान् थे। उन्होने राजसम्मान, यश, कीर्ति तथा धन भी प्रचुर मात्रा मे अर्जित किया था परन्तु उनके सुयोग्य पुत्र विद्याधरजी सभी क्षेत्रो मे अपने पिता से आगे बढ गये। महाकवि कालिदास ने महाराजा रघु के विषय मे लिखा है कि 'मन्दोत्कण्ठा कृतास्तेन गुणाधिकतया गुरौ' अर्थात् रघु ने अपने गुणोत्कर्ष से अपने पिता राजा दिलीप के सम्बन्ध मे प्रजा की उत्कण्ठा मन्द कर दी। विद्याधरजी के सम्बन्ध मे भी कुछ ऐसी ही बात कही जा सकती है। कहने का आशय यह है कि इन्होने अपने पिता से भी अधिक यश, कीर्ति और राजसम्मान प्राप्त किया तथा प्रचुर परिमाण मे धन का भी उपार्जन किया।

जन्म तथा शिक्षा

प० विद्याधरजी गौड का जन्म अपने नाना के घर तत्कालीन पञ्जाब (आधुनिक हरियाणा) प्रान्त के रोहतक जिले के 'पूठी' नामक गॉव मे स० १९४३ वि० (सन् १८८६ ई०) मे हुआ था। इनके पिता का नाम प० प्रभुदत्त गौड था जिनकी चर्चा ऊपर इसी प्रसङ्ग मे की गयी है। ये अपने पिता के ज्येष्ठ पुत्र थे। यज्ञोपवीत सस्कार होने के पश्चात् इन्होने वेदाध्ययन प्रारम्भ किया।

प० विद्याधर गौड की विद्या पूर्वजन्मार्जित थी। इनमे अद्भुत मेधा और अपार विद्वत्ता थी। इसी कारण आपने थोडी अवस्था मे ही अतिशय तीव्र कुशाग्रबुद्धि के कारण वेद आदि शास्त्रो पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया। इन्होने अपने विद्वान् पिता से वेदविद्या और कर्मकाण्ड का अध्ययन किया था और कुछ ही वर्षो मे प्रकाण्ड पाण्डित्य प्राप्त कर लिया।

गौड़जी की स्मरणशक्ति अद्भुत थी। ये जिस विषय को एक बार पढ लेते थे वह इन्हें कण्ठस्थ हो जाता था। इसीलिए कण्ठस्थ विद्या पर इन्हे बड़ी आस्था थी। ये पुस्तक की सहायता के बिना कण्ठस्थ रूप से कर्मकाण्ड कराते थे। वेद की सहिता अष्टविकृतियो के साथ इन्हें पूर्णतः कण्ठस्थ थी। वेदो के इनके घनपाठ को सुनकर बड़े-बड़े वेदपाठी आश्चर्य मे ।

जाते थे। वेद के साथ ही साथ वेदाङ्गो पर भी इनका पूर्ण प्रभुत्व था। धर्मशास्त्र का इन्होने गम्भीर अध्ययन किया था। इसलिए जब कभी किसी सामाजिक समस्या पर इनकी व्यवस्था माँगी जाती थी जब ये जो व्यवस्था देते थे वह प्रामाणिक और अकाट्य होती थी। इतना ही नही, इन्होने मीमासा, साहित्य और व्याकरण का भी गम्भीर अध्ययन किया था। इन्होने कर्मकाण्ड का शास्त्रीय अध्ययन तो किया ही था परन्तु उसके व्यावहारिक पक्ष का ज्ञान कराने के लिए इनके पिताजी १३ वर्ष की अवस्था से ही इन्हे अपने साथ यज्ञ यागादि का परिचय देने के लिए भारत के विभिन्न नगरो मे ले जाया करते थे। इस प्रकार कर्मकाण्ड के सिद्धान्त और व्यावहारिक पक्ष के भी ये पूर्ण ज्ञाता थे।

अध्यापन कार्य

प० विद्याधरजी गौड ने सर्वप्रथम कलकत्ता के 'विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय' मे अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया था। परन्तु उस व्यवसायी नगर मे इनका मन नही लगा और ये काशी लौट आये। कलकत्ता से लौटने के पश्चात् आपने काशी मे ज्ञानवापी के निकट श्रीसत्यनारायण-वेद विद्यालय मे तथा सरस्वतीफाटक के समीप स्थित एक वेद विद्यालय मे अनेक वर्षो तक वेद का अध्यापन किया। बाद मे त्रिपुराभैरवी (मीरघाट) मुहल्ले मे स्थित 'श्रीरामदयाल चुन्नीलाल काजडिया सस्कृत पाठशाला' म अष्ट विकृतियो के साथ वेद का अध्यापन किया करते थे। काशी मे उस समय यही एकमात्र वेद का विद्यालय था जहाँ बिना वृत्ति के छात्र नियमित रूप से वेदाध्ययन किया करते थे।

प० विद्याधर गौड ने अनेक वर्षो तक सेठ गौरीशवरजी गोयनका द्वारा स्थापित 'श्रीजोखीराम मटरूमल गोयनका सस्कृत महाविद्यालय' मे सर्वप्रथम वेद के 'प्रधानाध्यापक' के रूप मे अध्यापन कार्य किया। वहा आप वाचस्पति, आचार्य, शास्त्री आदि उच्च श्रेणी के छात्रो को वेद का पाठ पढ़ाते थे। सन् १९३६ ई० मे इन्होने इस पद से त्यागपत्र दे दिया। परन्तु सेठ गोयनका गौडजी का सम्बन्ध इस विद्यालय से सदा बनाये रखना चाहते थे। अत उन्होने वेदाध्यापन के कार्य से इन्हे मुक्त कर इसी विद्यालय के वेद विभाग के 'निरीक्षक' के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया।

महामना मालवीयजी ने गौडजी की प्रकाण्ड विद्वत्ता से प्रभावित होकर आपको हिन्दू विश्वविद्यालय के अग रणवीर सस्कृत पाठशाला मे वेदविभाग के प्रधानाध्यापक के पद पर नियुक्त किया। इसके पश्चात् सन् १९१९ ई० मे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे धर्मविज्ञान-सकाय (थियोलोजी फैकल्टी) मे सर्वप्रथम 'प्रधानाध्यापक' के पद पर प्रतिष्ठित किया। इसके बाद सन् १९२७ ई० मे आपने धर्मविज्ञानविभाग के अध्यक्ष पद को अलकृत किया। सन् १९३५ ई० मे आपने धर्मविज्ञानसकाय के अध्यक्ष (डीन) के पद को सुशोभित किया। सन् १९४० ई० मे आपने इस पद से त्यागपत्र दे दिया। इस प्रकार हिन्दू-विश्वविद्यालय के स्थापनाकाल से लेकर सन् १९४० ई० तक आप इस विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रहे और इस बीच आपने अध्यापक, प्रधानाध्यापक और सकाय-अध्यक्ष (डीन) आदि महत्त्वपूर्ण पदो को सुशोभित किया। यह कुछ कम महनीय तथा उल्लेखनीय बात नही है कि इनके पूज्य पिता—प० प्रभुदत्त गौडजी ने तथा आपने—दोनो पिता-पुत्र ने—हिन्दू-विश्वविद्यालय के धर्म-विज्ञानविभाग की अनेक वर्षों तक सेवा की। पिता और पुत्र दोनो एक ही महत्त्वपूर्ण पद को क्रमश सुशोभित करे—ऐसा बहुत कम देखने मे आता है।

प० विद्याधर गौड का समस्त जीवन ही अध्ययन और अध्यापन मे व्यतीत हुआ। अध्यापक के रूप मे इनकी बडी ख्याति थी। ये बडे सिद्ध अध्यापक थे। महाकवि कालिदास ने लिखा है कि—

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसस्था, सक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता ।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणा, धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ॥

अर्थात् कुछ विद्वान् तो ऐसे होते है जो स्वय तो प्रकाण्ड पण्डित है परन्तु दूसरो को उस ज्ञान का दान नही देना जानते। कुछ ऐसे है जो स्वय तो विशेष विद्वान् नही है परन्तु अध्यापन करने मे दक्ष है। किन्तु श्रेष्ठ शिक्षक वही है जिसमे ये दोनो गुण पाये जाते हो। कहने की आवश्यकता नही कि गौडजी मे ये दोनो ही गुण प्रचुर परिमाण मे उपलब्ध थे।

शिष्यगण

प० विद्याधरजी गौड की शिष्यपरम्परा बडी लम्बी है। इन्होने अनेक– शतश शिष्यो को विद्यादान दिया जिन्होने आगे चलकर विद्या के क्षेत्र मे बहुत अधिक नाम और दाम कमाया। आपके प्रमुख शिष्यो मे कुछ के नाम इस प्रकार है—प० विजयचन्द्र चतुर्वेदी, रामजीव द्विवेदी, मार्तण्ड शास्त्री। ये तीनो ही हिन्दूविश्वविद्यालय मे वेदविभाग मे प्राध्यापक थे। इसके अतिरिक्त प० विश्वनाथ पाण्डेय, प० भगवतप्रसाद मिश्र, प० गोपालचन्द्र मिश्र, प० मङ्गलदत्त त्रिपाठी --आदि सभी वेदाचार्य थे तथा इन्होने भी विश्वविद्यालय के वेदविभाग मे अध्यापन किया। इनके शिष्यो मे अनेक व्याकरण शास्त्र के विद्वान् हो गये है जिनमे प० गिरिजाप्रसाद पाण्डेय, श्यामसुन्दर द्विवेदी आदि प्रमुख है। प० सीताराम चतुर्वेदी ने 'महामहोपाध्याय स्मारक-ग्रन्थ' मे इनके ७६ प्रधान शिष्यो के नामो का पता के साथ उल्लेख किया है। परन्तु यह सख्या इससे भी कही अधिक थी।

परिवार

प० विद्याधर गौड़ का विवाह बीस वर्ष की अवस्था मे रोहतक जिले के 'माना' नामक गॉव के निवासी प० गोकुलचन्द्रजी की कन्या वासन्तीदेवी से हुआ था। आपकी धर्मपत्नी वासन्तीदेवी बहुत ही सौभाग्यशालिनी, सुशील, मृदुभाषिणी, उदार तथा चतुर गृहिणी थी। इस प्रकार 'प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च' ऐसे गुण वाली पत्नी को प्राप्त कर गौडजी अपने को सौभाग्यशाली समझते थे। इनके पाँच पुत्र और दो कन्याएँ उत्पन्न हुईं। विद्याधरजी के ज्येष्ठ पुत्र प० बलदेवप्रसाद मिश्र बड़े प्रतिभाशाली विद्वान् और लेखक थे। इनके द्वितीय पुत्र प० दौलतराम गौड ने वेदाचार्य की उपाधि प्राप्त कर सन्यासि सस्कृतकालेज मे प्राध्यापक के पद को सुशोभित किया। तृतीय पुत्र श्रीवेणीराम गौड ने सन् १६३६ ई० से अनेक वर्षों तक गोयनका-सस्कृत महाविद्यालय मे वेदाध्यापन का कार्य किया। चौथे पुत्र माधवप्रसाद मिश्र पत्रकार तथा लेखक है। पॉचवे पुत्र भी अनेक पत्रो के सवाददाता तथा लेखक है।

निधन

सन् १६३७ ई० मे इनकी पत्नी श्रीमती वासन्तीदेवी का स्वर्गवास हो गया। इसके पश्चात् गौड़जी बहुत उदासीन रहने लगे। सन् १६४१ ई० मे केवल ५५ वर्ष की अल्प आयु मे गौड़जी भी परमधाम को सिधार गये। इस प्रकार वेदो का प्रकाण्ड विद्वान्, कर्मकाण्ड का व्यावहारिक ज्ञाता और धर्मशास्त्र की व्यवस्था देने वाला तेजस्वी, अलौकिक विद्वान् इस धराधाम से सदा के लिए अस्त हो गया।

प० विद्याधर गौड के निधन से उनके परिवार के लोग, उनकी शिष्यमण्डली तथा काशी का विद्वत्समाज अत्यन्त शोकाकुल हो उठा था। म० म० प्रमथनाथ तर्कभूषण, म० म० प० बालकृष्ण मिश्र तथा म० म० हरिहरकृपालु द्विवेदी आदि विद्वानो ने अपने शोकाकुल हृदय के उद्गार को सस्कृत गद्य और श्लोकबद्ध पद्य मे मर्मस्पर्शी रूप मे प्रकट किया था। प० हरिहरकृपालुजी ने लिखा था कि—

वेदवल्ली विलूना सा, गता सौहार्दमाधुरी ।
विधवा भारती भूता, गते विद्याधरे दिवम् ॥

गोस्वामी श्री दामोदरलाल ने तो विद्याधरजी की मृत्यु से विद्या का सिहासन ही लुप्त हो जाने की चर्चा की थी

यस्मिन् प्रशस्तमति-शालिनि गौडधुर्ये, विद्याधरे सुफलिताऽखिलवेदविद्या ।
तस्मिन् सुरेश्वरपदङ्गमितेऽत्र तस्या, सिहासन मुषितरत्नमिवाद्य जातम् ॥

इन शोकोद्गारो से पता चलता है कि गौडजी कितने बडे विद्वान्, लोकप्रिय कर्मकाण्डी तथा वेद के ज्ञाता थे।

सम्मान

प० विद्याधरजी गौड के प्रकाण्ड पाण्डित्य और अलौकिक विद्वत्ता से प्रभावित होकर ब्रिटिशसरकार ने सन् १९४० ई० मे इन्हे महामहोपाध्याय की उपाधि से विभूषित किया था। आपकी विशिष्ट विद्वत्ता, तलस्पर्शी पाण्डित्य और प्रखर मेधा के कारण अनेक शिक्षा-सस्थाओं ने आपका सम्मान किया तथा आपको अभिनन्दन पत्र प्रदान कर वैदिकसम्राट्, याज्ञिकसम्राट्, वैदिकचक्रवर्ती, विद्यावाचस्पति, विद्याभूषण, धर्मालकार, महापण्डित आदि अनेक उपाधियो से अलकृत किया था।

गौडजी का सम्बन्ध अनेक शिक्षासस्थाओं से था। आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, गवर्नमेण्ट सस्कृतकालेज (अब सस्कृत विश्वविद्यालय) बनारस, बिहार सस्कृत एसोसियेशन, पटना की पाठ्य निर्धारिणी समिति तथा परीक्षाबोर्ड के माननीय सदस्य रहा करते थे। कलकत्ता, जयपुर, लाहौर, नागपुर आदि विश्वविद्यालयो मे भी आप किसी न किसी रूप मे सम्बद्ध थे। आपकी विद्वत्ता की धाक सुदूर विदेशो मे भी फैल गयी थी। आपकी 'कात्यायन श्रौत्र सूत्र' की टीका से प्रभावित होकर लन्दन और जर्मनी की विद्वत्परिषदो ने आपको अपने यहाँ आने का निमन्त्रण दिया था। परन्तु कट्टर सनातनी होने के कारण आप वहाँ नही गये। भारत के किसी भी प्रदेश मे जहाँ यज्ञ यागादि का विधान होता था वहाँ विद्याधरजी आचार्य के रूप मे अवश्य ही निमन्त्रित किये जाते थे। वैदिक विद्वान् के रूप मे इनकी कीर्ति सर्वत्र फैली हुई थी।

प० विद्याधर गौड कर्मकाण्ड के याज्ञिक विधान मे जितने प्रवीण तथा चतुर थे उतने ही निपुण वे वेद सम्बन्धी ग्रन्थो के प्रणयन मे भी थे। उनके द्वारा रचित ग्रन्थो को दो विभागो मे विभक्त किया जा सकता है। कुछ ग्रन्थ तो यज्ञ-यागादि के अनुष्ठान की पद्धतियो से सम्बन्ध रखते है और कुछ प्राचीन ग्रन्थो की व्याख्याएँ है। प्रथम कोटि मे आने वाले ग्रन्थो के नाम निम्नाकित है—

(१) स्मार्तप्रभु, (२) प्रतिष्ठाप्रभु, (३) विवाहपद्धति, (४) उपनयनपद्धति, (५)

वास्तुशान्तिपद्धति, (६) शिलान्यासपद्धति तथा (७) चूडाकरणपद्धति । ये तो सामान्य कोटि के ग्रन्थ है परन्तु इनके वैदिक पाण्डित्य का मेरुदण्ड-स्वरूप सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है—

कात्यायनश्रौतसूत्र की 'सरला' टीका[1]

कात्यायनश्रौतसूत्र के ऊपर कर्काचार्य का भाष्य नितान्त प्रसिद्ध है । परन्तु अत्यन्त कठिन तथा विस्तृत होने के कारण वह सामान्य छात्रो के लिए उपयोगी नही था । इसीलिए गौडजी ने इस पर 'सरला' नाम की टीका लिखकर इस ग्रन्थ को सरल और सुबोध बना दिया है । इस ग्रन्थ के आरम्भ मे गौड़जी ने जो ७५ पृष्ठो की भूमिका लिखी है वह अत्यन्त प्रामाणिक तथा विद्वत्तापूर्ण है । इस भूमिका मे इन्होने यज्ञ-यागादि की प्रक्रिया, उसकी सामग्री तथा प्रकार आदि विषयो को बडी ही सरल भाषा मे समझाया है । यज्ञ की पद्धति बडी ही कठिन तथा विषम होती है । उसे ठीक तरह से समझने के अतिरिक्त दूसरो को समझाना टेढ़ी खीर है । परन्तु गौडजी स्वय कर्मकाण्डी तथा अग्निहोत्री थे । अत उन्होने इस विषय को अपनी टीका मे बडी ही सुगम रीति से प्रतिपादित किया है ।

कात्यायन ने वेदि निर्माण के विषय मे जिस 'शुल्वसूत्र' की रचना की है उसके ऊपर भी गौड़जी ने अपनी टीका लिखी है । इन ग्रन्थो के निर्माण से पता चलता है कि प० विद्याधरजी गौड कर्मकाण्ड के सिद्धान्तपक्ष (थ्यौरी) और व्यवहारपक्ष (प्रैक्टिकल) दोनो के प्रकाण्ड पण्डित थे

वेदोच्चारण तथा वेदो के अर्थ को सर्वसाधारण के सामने प्रतिपादित करने के विषय मे उनका अपना विशेष मत था । वे सामान्य लोगो के बीच वेदार्थ का प्रतिपादन उचित नही समझते थे । उन्होने अपने एक सुयोग्य शिष्य से इसका रहस्य बतलाते हुए एक बार कहा था कि

"अपनी कर्मकाण्डपरक व्याख्या को सबके सामने सुनाने से लाभ नही बल्कि हानि होती है । उसका उद्देश्य वेदपरम्परा की रक्षा, कर्मकाण्ड का विकास और श्रद्धा का सचार मात्र है । उसका वातावरण ही दूसरा है । अनुचित वातावरण मे रखकर व्याख्या करने से ही कर्मकाण्डियो ने असफल वैद्यो के समान अपनी हँसी उडाई है और वेद की हानि की है । अत साधारण जनता के समक्ष वेदमत्रो का उच्चारण अथवा वेदार्थ करना मुझे नापसन्द है ।"[2]

पुराण-न्याय-मीमांसा — धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिता ।
वेदा. स्थानानि विद्याना, धर्मस्य च चतुर्दश ॥

इस श्लोक के गौडजी मूर्तिमान स्वरूप थे ।

गौडजी अत्यन्त विनयी व्यक्ति थे । ये विद्याव्यसनी विद्वान् थे । अलौकिक पाण्डित्य से पूर्ण होने पर भी इन्हे अभिमान छू तक नही गया था । इस प्रकार ये 'विद्या ददाति विनयम्' की साक्षात् प्रतिमा थे । महाकवि कालिदास ने किसी अगदेशी राजा का वर्णन करते हुए लिखा है—

नितान्तभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन् द्वयं श्रीश्च सरस्वती च ॥

—रघु० ६।२९

विद्याधरजी गौड़ के विषय मे यह उक्ति अक्षरश चरितार्थ होती है । इन्होने अपने

---

१ अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, सन् १९३० ई० ।

२ वेणीराम गौड़ द्वारा सम्पादित 'महामहोपाध्याय-स्मारक ग्रन्थ' पृ० १३५, सन् १९६३ ।

पूज्य पिताजी की भाँति सरस्वती और लक्ष्मी को प्रचुर मात्रा मे अर्जित किया था। अन्त मे इनके विषय मे यही कहना उचित प्रतीत होता है--

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ।
स जातो येन जातेन, यान्ति वेदाः समुन्नतिम् ॥

पण्डित शिवदत्त मिश्र गौड

आप प्रख्यात प० प्रभुदत्तजी अग्निहोत्री के द्वितीय पुत्र थे। काशी मे ही १९४३ वि० स० (= १८८६ ईस्वी) मे जन्म हुआ। ये न्यायशास्त्र के गम्भीर तलस्पर्शी विद्वान् थे। इनका अध्ययन प० वामाचरणजी से किया था। न्याय के साथ ये कर्मकाण्ड के भी ज्ञाता थे। अट्ठाइस वर्षो तक सस्कृतकालेज (काशी) मे न्याय का अध्यापन किया, पहिले प्राध्यापक रूप मे और अन्त मे विभाग के अध्यक्ष रूप मे। वेदान्तसार, जागदीशी तथा गादाधरी पर टीका लिखी। फाल्गुन शुक्ल चतुर्थी वि० स० २०२७ (१८ फरवरी १९७१ ई०) मे ८५ साल की आयु मे काशी मे निधन हो गया।



पण्डित स्नेहिराम शास्त्री

सस्कृत-शास्त्रो के अगाध पाण्डित्य से मण्डित राजस्थान प्रान्त झुझनू जनपद के चिडावा-नगरमहोदधि के दिव्य रत्न आचार्यवर्य श्री स्नेहिराम शास्त्रीजी का जन्म माघी अमावस्या तिथि बुधवार को विक्रमसवत् १६०५ (ईस्वी सन् १८४८ ई०) मे झुझनू जनपद के चिडावा ग्राम मे हुआ। पिता का नाम था प० नेतराम शास्त्री तथा माता का मायावती देवी। पिताजी ज्योतिष के प्रख्यात विद्वान् थे। पुत्र ने सस्कृत के आरम्भिक ग्रन्थ पिता से ही पढ़ कर तैयार किया परन्तु पिता-माता की आनन्ददायिनी छाया स्नेहिरामजी के ऊपर अधिक दिनो तक नही रही। १८६१ ई० मे पिताजी का और तीन साल के बाद १८६४ ई० मे माताजी का निधन हो गया। अध्ययन की लालसा से ये घर से पैदल ही निकल पडे (१९२३ वि० = १८६६ ई०) और हरिद्वार पहुँच गये। वहाँ से मथुरा होते हुये २१ साल के वय मे (वि० स० १९२६ = १८६६ ई०) ये बाबा विश्वनाथ की विद्यानगरी काशी मे आ गये। यहाँ उन्होने पाणिनीय व्याकरण का जमकर मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया। न्यायशास्त्र के अध्ययन की कामना इन्हे नदिया (बगाल) ले गई जहाँ इन्होने श्रीप्रसन्न तर्करत्न से दर्शनो का, विशेषकर न्यायशास्त्र का, प्रगाढ़ अध्ययन किया और नदिया मे पॉच वर्षो के अध्ययनस्वरूप विशिष्ट दार्शनिक वैदुष्य का अर्जन किया। वि० स० १९३१ (१८७४ ई०) मे कलकत्ता चले गये जहाँ इनके जनपद के सेठ सूरजमल झुझुनवाला ने इनका विशेष सत्कार तथा अभिनन्दन किया। धार्मिक विषयो पर व्याख्यान दिया। बगाली पण्डितो से दर्शन विषय मे शास्त्रार्थ कर अनुपम कीर्ति अर्जित की। अब ये पूर्व से पश्चिम की ओर अपने जन्मस्थान की ओर लौटे।

काशी मे आकर इन्होने व्याकरणविषयक ज्ञान को और भी पुष्ट तथा अपने को समधिक व्युत्पन्न बनाने की दृष्टि से महामहोपाध्याय बालशास्त्रीजी का शिष्यत्व स्वीकार किया और उनसे महाभाष्य एव परिष्कार पद्धति का विशिष्ट अनुगम कर महावैयाकरण की पदवी से मण्डित हुये। पण्डित स्नेहिरामजी का पूरा अध्ययन दश वर्षो तक निष्ठा तथा परिश्रम से निरन्तर चलता रहा। राजपूताने के अलौकिक विद्वद्वरेण्य होने के नाते काशी के पण्डितो ने 'मरुमण्डलमार्तण्ड' की माननीय उपाधि से सम्मानित किया। घर लौटने पर स्थानीय जनता ने इनका विशेष अभिनन्दन किया। पण्डितजी जैसे सुयोग्य अध्यापक को पाकर स्थानीय सेठ हरसुखराय ने सस्कृतविद्यालय खोलने का निश्चय किया। सूर्यगढ़ के समीपस्थ ग्राम के निवासी एक कुलीन ब्राह्मण की कन्या से पण्डितजी का विवाह हुआ। खतडी के नरेश महाराजा अजीतसिह धर्मभीरु, विद्याव्यसनी तथा विद्वज्जनानुरागी राजा थे। उन्होने पण्डितजी को कही अन्यत्र जाने से रोका और परिवार के लोगो के द्वारा अन्याय से आत्मसात् की गई भूमि को इन्हे दिलवाकर वही इनसे रहने के लिए आग्रह किया। राजासाहब ने पैतृक सम्पत्ति दिलवा दी जिससे निश्चिन्त होकर शास्त्रीजी चिडावा मे ही सेठजी के सस्कृतमहाविद्यालय मे प्रधानपण्डित के पद पर विराजमान हो गये। राजपूताने मे सस्कृतपाठशालाओं को अनेक स्थानों मे अपने



पं० स्नेहिराम शास्त्री



पं० शिवनारायण शास्त्री



पं० श्री गुरुप्रसाद शास्त्री

अदम्य उत्साह एव उत्कट विद्याप्रेम के कारण स्थापित कराया और सस्कृत के अध्ययन-अध्यापन का प्रचार प्रसार किया। यही पण्डितजी का परिवार जमकर रहने लगा। उनके दो पुत्र उत्पन्न हुये—शिवनारायण शास्त्री तथा परमेश्वरदत्त शास्त्री। इनको उच्चशिक्षा दिलाने के लिए पण्डित स्नेहिरामजी सपरिवार काशीजी चले आये (सवत् १६४६ ईस्वी सन् १८६२)। यही रहते हुये भी ये कभी कभी अपने ग्राम पिडाना मे जाया करते थे और अपने खर्चे से स्थानीय ब्राह्मण बालको के उपनयन सस्कार कन्याओं के विवाह सस्कार तथा यज्ञ यागादि सम्पन्न करवाते रहे। इस प्रकार पण्डित स्नेहिरामजी का समस्त जीवन सस्कृतविद्या के प्रसार प्रचार मे, धार्मिक कृत्यो के प्रति जनता मे जागरूकता उत्पन्न करने मे तथा भगवान् के निस्पृह चिन्तन मे व्यतीत हुआ। काशी मे ही मणिकर्णिकाघाट पर भगवान् भूतभावन का चिन्तन करते हुये आश्विन शुक्ला एकादशी सवत् १९८० वि० (= १९२३ ई०) को उन्होने शिवसायुज्य प्राप्त कर लिया।

मेरी दृष्टि म पण्डितप्रवर स्नेहिरामजी को 'मरुमण्डलवृक्ष' की उपाधि से मण्डित करना सर्वथा औचित्यपूर्ण है। मरुभूमि म, राजस्थान के रेगिस्तान मे समस्त जनता का जीवनदाता, विशालकाय, निर्मलजल मे परिपूर्ण कूप ही सर्वातिशायी उपयोगी वस्तु होता है जहाँ सब दिशाओं से आकर शीतल जल पाकर पिपासुजन अपने आपको तथा परिवार को सुखी बनाते है। पण्डितजी की विद्वत्ता इसी कोटि की थी वह ज्ञानामृत मे परिपूर्ण थी, शिष्यो तथा जिज्ञासुओं की ज्ञानतृष्णा का प्रशमन करती थी, समस्त राजपूताने मे सस्कृतविद्यालयो की स्थापना कर जनता की धार्मिक जिज्ञासाओं की पूर्ति करती थी। धन्य है ऐसा आदर्श जीवन और धन्य है सुरभारती की ऐसी एकनिष्ठ सेवा!

पण्डित स्नेहिराम के ज्येष्ठ पुत्र **पण्डित शिवनारायण शास्त्रीजी** भी पिता के समान ही व्याकरण तथा दर्शन, विशेषत न्याय के, अलौकिक विद्वान् थे। उनका जन्म वि० स० १९३५ (१८७८ ई०) मे हुआ। शास्त्रो का तलस्पर्शी पाण्डित्य अर्जित कर ये वाराणसी के प्रौढ पण्डितो की श्रेणी मे प्रतिष्ठित हो गये। शास्त्रार्थ मे उनकी प्रतिभा चमक उठती थी। मध्वसम्प्रदाय के आचार्य को काशी आने पर शास्त्रार्थ म पराजित किया था और इसीलिए 'प्रतिवादिभयकर' की पदवी मे वे सम्मानित किये गये थे, शास्त्रीजी कट्टर शैव, पहुँचे हुये साधक तन्त्र मन्त्रशास्त्र तथा योगशास्त्र के क्रियावान् विद्वान् बताये जाते है। पारिवारिक जीवन भी सुखी था। सुयोग्य चार पुत्रो के पिता होने का गौरव उन्हे प्राप्त था। योगक्रिया के द्वारा प्राणविसर्जन की घटना बताई जाती है। उनका निधन १९९२ वि० स० (१९३५ ईस्वी मे) काशी मे ही हुआ।

पण्डित श्री गुरुप्रसाद शास्त्री

श्री शिवनारायण शास्त्री के ज्येष्ठ तनय आचार्य श्री गुरुप्रसाद शास्त्री का जन्म विक्रमसवत् १९५७=१९०० ई० के ज्येष्ठमास की शुक्लपचमी को हुआ था। आपकी माताजी का नाम राजलक्ष्मी देवी था। यथासमय प्रारम्भिक अध्ययन अपने पूज्य पितामहचरण एव पूज्य पितृचरण से करने के पश्चात् वाराणसी निवास-काल मे वैयाकरणकेसरी श्री हरिनारायण त्रिपाठी, न्यायमार्तण्ड महामहोपाध्याय स्व० श्रीवामाचरण भट्टाचार्य से क्रमश व्याकरण एव न्यायशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया। पिताजी के ससर्ग-प्रभाव से शीघ्र ही आप शास्त्रो के मर्मज्ञ प्रौढ विद्वान् हो गए। आपने गवर्नमेण्ट-सस्कृत-कालेज, वाराणसी की व्याकरणाचार्य

परीक्षा बीस वर्ष के वय मे ही सर्वाधिक अक प्राप्त कर प्रथम-श्रेणी से उत्तीर्ण की थी। तदनन्तर न्यायाचार्य, दर्शनाचार्य, आयुर्वेदाचार्य आदि परीक्षाएँ भी प्रथमश्रेणी से उत्तीर्ण कर विशिष्ट कीर्तिमान स्थापित किया था।

भृतकाध्यापन के आप सर्वथा विरोधी थे। आपने नौकरी न करने का निश्चय कर बिना कही से वेतन लिए विद्यादान हेतु श्री राजस्थान-सस्कृत-कालेज नामक सस्था की स्थापना की जहाँ आप प्रधानाचार्य के रूप मे सस्कृत सेवा करते रहे।

श्री शास्त्रीजी गौर वर्ण, उन्नत ललाट, गठित शरीर एव प्रभावोत्पादक आकर्षक व्यक्तित्व से सम्पन्न उदारप्रकृति, दयालु, परदु खेन दुखित होनेवाले धर्मानुरागी दृढ़सकल्प विद्वान् थे। निर्धन छात्रो को अपने पास से छात्र-वृत्ति देना, विद्वत्सत्कार करना, पर्व व विशेष अवसर पर सद्गृहस्थो को अन्न व धनराशि आदि देना आपका स्वाभाविक कार्य था।

श्री शास्त्रीजी अध्ययनाध्यापन, ग्रन्थ-लेखन-प्रकाशन, विमलयशोऽर्जन आदि लौकिक-व्यवसाय मे अपने जीवन के अमूल्य चालीस वर्षो के समय को निरर्थक व्यय मानते हुए अकस्मात् अन्तर्मुख हो गए। ससार से 'कूर्मोऽङ्गानीव सर्वश ' इस सिद्धान्तानुसार अपना सम्बन्ध छोडने लग गए। गगा-स्नान, भजन पूजन, पुराण धर्मशास्त्रानुशीलन, विष्णुसहस्र नाम-पाठ यही उनकी दिनचर्या जीवन के उत्तरार्द्ध काल मे रही। किसी से मिलना-जुलना आदि सब त्याग चुके थे। वि० सवत् २०२६ (– १९७२ ई०) श्रावण-कृष्ण-चतुर्दशी को प्रात गगास्नान कर देहत्याग किया। 'अनायासेन मरण बिना दैन्येन जीवनम्' यह वचन यहाँ चरितार्थ है। गुरुप्रसाद शास्त्री के पुत्र पण्डित सीताराम शास्त्री भी व्याकरण तथा साहित्य मे आचार्योत्तीर्ण विद्वान् है। आपने हिन्दूविश्वविद्यालय के सस्कृतमहाविद्यालय के व्याकरणविभाग के अध्यापक के रूप मे अधिक समय बिताया है और इसी वर्ष (१९८८ ई०) उस विभाग के अध्यक्ष पद से सेवामुक्त हुये है। ये पण्डित स्नेहिरामजी के सुयोग्य प्रपौत्र है।

पण्डित स्नेहिराम के सरस्वतीसेवक परिवार का यह सक्षिप्त वैयक्तिक परिचय है। इस परिवार ने तो 'काश्या त्रैपुरुषी विद्या' इस प्रसिद्ध लोकोक्ति को भी असत्य सिद्ध कर दिया है जो काशी मे विद्वत्ता की परिधि को केवल तीन पुरुषो (पुश्तो) तक ही सीमित बतलाती है। मै तो इसे इस परिवार के वृद्ध पुरुषो के त्याग तथा तपस्या का परिणत फल मानता हूँ।

सारस्वत परिचय

ऊपर निर्दिष्ट विद्वानो ने ग्रन्थो का प्रणयन कर अपनी विद्या के बहुमुखी प्रचार मे विपुल प्रयास किया। पण्डित स्नेहिराम शास्त्री के दो ग्रन्थो का पता चलता है जिनमे एक है न्यायशास्त्र से सम्बद्ध **सामान्यनिरुक्तिग्रन्थविवृति** और दूसरा है व्याकरणशास्त्र-सम्बद्ध शब्देन्दुशेखरव्याख्या **त्रिपुरसुन्दरी**। इनका परिचय अप्राप्त है। आश्चर्य तो इस घटना से है कि ग्रन्थकार के सुयोग्य पौत्र गुरुप्रसाद शास्त्री ने स्वसम्पादित षट्टीकासमन्वित लघु-शब्देन्दुशेखर में अपनी बृहदाकार टिप्पणी 'वरवर्णिनी' को तथा अपने पिता श्री शिवनारायण शास्त्री की व्याख्या 'विजया' को समग्र रूप मे प्रकाशित किया है, परन्तु पितामहजी की 'त्रिपुरसुन्दरी' के आशिक प्रकाशन की कथा तो दूर रहे, उसके सामान्य परिचय से भी जिज्ञासुओं को वञ्चित रखा है। आश्चर्यम् ! महदाश्चर्यम् !!

प० शिवनारायणजी की **विजया** लघुशब्देन्दुशेखर के केवल दो प्रकरणो पर अर्थात् कारक प्रकरण एव अव्ययीभाव प्रकरण के ही ऊपर है। ग्रन्थकार न्याय के मार्मिक विद्वान् थे

तथा शास्त्रार्थ के उत्कृष्ट पण्डित थे। फलत यह टीका न्याय की शास्त्रीय भाषा मे निबद्ध है तथा ग्रन्थकार के ही शब्द मे 'अभिनवपरिष्कारमञ्जुला' है। वे अपने पिताश्री को न्यायपञ्चानन, पूर्वोत्तरमीमासासार्वभौम, वैयाकरणकेसरी तथा मरुमण्डलमार्तण्ड उपाधियो से युक्त बतलाते है (ग्रन्थ की पुष्पिका मे)।

इनके पुत्र प० गुरुप्रसाद शास्त्री का सारस्वत वैभव नितान्त श्लाघनीय है। व्याकरण के तीन ग्रन्थ उनके वैदुष्य तथा सम्पादन कला के मद्य परिचायक है तथा उनकी स्मृति को पण्डितसमाज मे सर्वदा जागरूक रखेगे— (१) सप्तटीकाविभूषित लघुशब्देन्दुशेखर, (२) राजलक्ष्मीसवलित सम्पूर्ण महाभाष्य तथा (३) लघुशब्देन्दुशेखर सहिता सिद्धान्तकौमुदी। अलभ्य ग्रन्थ को सुलभ बनाना, दुर्लभ टीकाओं का प्रकाशन करना तथा टीकाग्रन्थो की रचना से दुर्गम ग्रन्थ को बोधगम्य बनाना— पण्डित गुरुप्रसाद शास्त्रीजी के ये तीनो कार्य व्याकरणशास्त्र के प्रचार-प्रसार मे उनका नाम सर्वथा उजागर करते रहेगे, इसमे सन्देह नही है। लघुशब्देन्दुशेखर का १२७० पृष्ठो का यह सस्करण शास्त्रीजी के विशेष परिश्रम तथा दीर्घ अध्यवसाय का विशद प्रतिपादक है। इसमे अनेक दुर्लभ टीकाये प्रथमवार मुद्रित होकर प्रकाश मे आई है। अन्यथा उनका नाम ही सुना जाता था। देखने तथा परिशीलन का सुयोग इसी सस्करण मे उपलब्ध होता है। उनकी व्याख्या **वरवर्णिनी** गुरुप्रसादजी के व्याकरण तथा न्यायशास्त्र के गभीर अध्ययन, मनन तथा निदिध्यासन की मद्य द्योतिका सिद्ध होती है। विज्ञ आलोचको ने एक स्वर से इसकी प्रामाणिकता, विद्वत्ता तथा उपादेयता की प्रशसा की है। परिष्कार, प्रक्रिया तथा न्यास इन तीनो का समुच्चय होने मे यह वरवर्णिनी व्याख्या त्रिवेणी के समान रमणीय एव आवर्जक है। वैयाकरणसम्राट् पण्डित सभापति उपाध्याय का कथन है कि इसमे शिवकुमार शास्त्री, तात्याशास्त्री, दामोदर शास्त्री तथा देवनारायण त्रिपाठी (तिवारीजी) जैसे महाविद्वानो के साधारणजनदुर्लभ व्याख्यानप्रकार तथा परिष्कार विशदरूप से एकत्र दिखलाये गये है जो इत पूर्व सम्भव नही था। इतना ही नही, सभापतिजी ने सूत्रो के विशिष्ट परिष्कारो का भी पूर्ण सकेत किया है। इस टीका के प्रणयन से तथा ग्रन्थ के प्रकाशन से प० गुरुप्रसाद शास्त्रीजी के अलौकिक अनुशीलन तथा विमर्शशक्ति का परिचय मिलता है।[1]



---

१ प्रकाशक—भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, काशी, ईस्वी सन् १९३६। कैयट के प्रदीप, नागेश के उद्द्योत, भट्टोजिदीक्षित के शब्दकौस्तुभ तथा निजी राजलक्ष्मी टिप्पणी के साथ महाभाष्य का प्रकाशन उन्होने स्वय अपने काशीस्थ राजस्थान-सस्कृतकालेज से किया है, १९३८ ईस्वी मे।

७८

काशी की वैदिक परम्परा

काशी की वैदिक परम्परा[1]

काशी मे महाराष्ट्रीय वैदिको की एक लम्बी परम्परा है महाराष्ट्र देश मे ब्राह्मणो मे वेद की सहिता, ब्राह्मण एव उपनिषद् तथा दशग्रन्थी का अध्ययन करने के प्रति गहरी निष्ठा थी। वे अपनी शाखा से सम्बद्ध समग्र ग्रन्थो का अध्ययन विधिवत् करना अपना परम पवित्र कर्तव्य मानते थे। वहाँ बाल्यकाल मे ही स्वशाखीय वैदिक सहिता के कण्ठाग्र करने की बहुश परिपाटी रही है। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि पेशवा शाही खजाने से प्रतिवर्ष तीन लाख रुपया वैदिक ब्राह्मणो मे दक्षिणा के निमित्त बॉटते थे। काशी मे लगभग चार सौ वर्षो से महाराष्ट्रीय ब्राह्मण निवास कर रहे है, परन्तु पेशवाओं के समय मे वैदिको का चरमोत्कर्ष हुआ। काशी मे वसन्तपूजा (विशिष्ट अवसर पर अनेक वैदिको का समवेत वेदपारायण) की परम्परा पेशवाओं ने ही आरम्भ की तथा वेदाध्ययन के उत्कर्ष तथा अभ्युत्थान के लिए उन्होने अनेक प्रकार के दान, वर्षाशन तथा जागीरे भी दी थी। सुना जाता है कि काशी के मूर्धन्य वैदिको को पेशवा ने पृथक् पृथक् सोलह सहस्र स्वर्णमुद्राओं से सम्मानित किया था। शत वर्ष पूर्व काशी मे पाँच सौ वैदिको का जमघट था। ब्रह्मावर्त (बिठूर कानपुर) तथा चित्रकूट मे रहनेवाले अन्तिम पेशवा के यहा इन काशीस्थ वैदिको के विशिष्ट समारोहो मे विशेष सम्मान तथा सत्कार पाने की घटना का उल्लेख पूर्व ही किया गया है। पेशवाओं के प्रश्रय के कारण काशी मे अनेक **वेदपाठशालाएँ** नियमित रूप से प्रचलित थी जिनमे से प्रधान पाठशालाओं का सक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है।

ऋग्वेदीय पाठशाला

ऋग्वेद की ६ वैदिक पाठशालाओं का पता है जिनमे मुख्य ये है—(१) वेदमूर्ति मामा पेण्डशे की पाठशाला (रतनफाटक), इस पाठशाला मे शिक्षित प्रमुख वैदिक गोपीनाथ भट आठवले थे जो घनान्त दशग्रन्थी वैदिक थे।

(२) **वे० मू० दिनकर अण्णा जोशी पाठशाला** (भटकचेरी)—यह पाठशाला अपनी शिष्यसम्पत्ति के कारण प्रमुख स्थान रखती थी। इसके सस्थापक **दिनकर बालकृष्ण जोशी** (१८१० ई० स १८७० ई०) अपने युग के ऋग्वेदीय वैदिको मे शीर्षस्थान के अधिकारी माने जाते थे। आपकी स्थापित यह पाठशाला चार पीढ़ियो तक लगातार अबाध गति से चलती रही। यहाँ के अधीती वैदिको मे **बालदीक्षित काले** प्रामुख्य धारण करते है। इनका जन्म हुआ ब्रह्मावर्त (बिठूर) मे १८३८ ई० मे, जहाँ इन्होने ब्रह्मावर्त के ही धूपकर गुरुजी से पदान्त

---

१ रामचन्द्र शास्त्री रटाटे के अभिनन्दन मे प्रकाशित स्मृतिग्रन्थ मे श्री कालविन्टजी एम० ए० ने **काशी की वैदिक एवं श्रौत्रिय परम्परा** शीर्षक (पृ० १४१ से १६०) बड़ा ही शोधपूर्ण एवं प्रामाणिक लेख लिखा है। उसी के आधार पर यह विवरण प्रस्तुत किया गया है। लेखक प० कालविन्टजी का इसके लिए बहुत आभार मानता है।

सदृश ग्रन्थो का अध्ययन किया। क्रम का अध्ययन इस पाठशाला मे जोशीजी से किया। इनके अनेक शिष्य हुए जिनमे **रामशास्त्री रटाटे** प्रधान थे। इस विद्यालय मे तैयार वैदिको के नाम इस प्रकार है- -**विनायक नारायण दीक्षित** (१८८६ ई० से १६४६ ई०), **रामकृष्ण दीक्षित फड़के** (बालदीक्षित के जामाता, पूना तथा ग्वालियर मे जटापारायण से लब्धकीर्ति सम्मानित वैदिक), **कृष्णभट्ट पुराणिक** (क्रम के विशेष ज्ञाता) **सोभनाथजी सोलापुरकर** (दशग्रन्थी वैदिक, तैलगस्वामी के मठ मे उनकी पुण्यतिथि के अवसर पर एक बैठक मे २१ घण्टो मे सम्पूर्ण संहिता का पारायण किया था), **वामन गङ्गाधर देव** (१८८८ ई० से १६३८ ई०) दशग्रन्थी अच्छे वैदिक थ। इनके दो पुत्र वेदशास्त्रनिष्णात है (१) डॉ० **श्रीकृष्णदेव** (प्राध्यापक, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी) तथा (२) डॉ० **विश्वनाथदेव** (प्राध्यापक, संस्कृत महाविद्यालय, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी)। ये दोनो सज्जन ऋग्वेद की विकृतियो से पूर्ण परिचय रखते है और इनका पारायण कर काशी तथा बाहर भी सम्मान पा चुके है।

(३) **डोगरे** जी की पाठशाला (ब्रह्माघाट स्थित शेगाबाई मठ) इस पाठशाला के संस्थापक वेदमूर्ति **विनायकभट्ट डोगरे** (१८३० ई० से १९०४ ई०) ने ऋग्वेद का अध्ययन ब्रह्मावर्त मे तात्या गुरुजी के पास किया जिनकी आज्ञा से काशी मे यह पाठशाला इनके द्वारा स्थापित की गई। वेद के अध्यापक रूप मे इनकी बड़ी ख्याति थी। अत ये 'गुरुजी' के सम्मानित नाम से सम्बोधित किये जाते थे। इस पाठशाला के शिष्यो की एक लम्बी परम्परा है जिसमे वे० मू० **भिकभट्ट पटवर्धन**, घनसम्राट् **काशीनाथभट्ट हर्डीकर**, **बालकृष्ण महादेव सप्रे** तथा **गणपति रामकृष्ण हेब्बार** प्रमुख है। अन्तिम दोनो वैदिक भिकभट्ट के ही शिष्य थे जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है इनका पूरा नाम **व्यंकटेश बलवन्त पटवर्धन** था (१८५५ ई० से १६२८ ई०) परन्तु भिकभट्ट के लोकप्रिय नाम से प्रख्यात थे। इनके पिताजी महाराष्ट्र के 'पनवेल' ग्राम से काशीवास की इच्छा से आये थे। भिकभट्ट का जन्म काशी मे ही हुआ। विनायकभट्ट ने डोगरेजी से समग्र ऋग्वेद का अध्ययन यथाविधि सम्पन्न किया। स्वतन्त्र रूप से अपने घर पर अध्यापन करते थे। म० म० लक्ष्मण शास्त्री द्रविड के आग्रह पर आप सागवेद-विद्यालय, रामघाट मे पढ़ाने लगे, जहाँ ७ वर्ष तक परिश्रमपूर्वक अध्यापन कार्य किया। तदनन्तर इनके ही सुयोग्य पुत्र **अनन्तराम पटवर्धन** ने पिता की गद्दी सँभाली और उनके रिक्त स्थान पर अध्यापन करते रहे।

(४) **विनायकभट काले की पाठशाला** (भैरवनाथ स्थित चमरिया गली)। पाठशाला जल्दी ही बन्द हो गई। यहाँ से तैयार वैदिको मे **बाबू दीक्षित जड़े** प्रसिद्ध है। आपका घराना वेद, श्रौतस्मार्त तथा तन्त्र के लिए विशेष प्रख्यात था। इनके पूज्य पिता **पण्डित रामचन्द्र दीक्षित जड़े** ही वेद शास्त्र-ज्ञाता माने जाते थे। इनके यहाँ वेद तथा तन्त्र विषय के हस्तलेखो का अपूर्व संग्रह था जो अब 'सरस्वतीभवन' की शोभा बढ़ा रहा है। आप दरभगा पाठशाला के अध्यापक थे।

यजुर्वेद

यजुर्वेद की दोनो शाखाओं के अध्यापनार्थ काशी में पाठशालाएँ चलती थी। कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध लगभग १० पाठशालाएँ विभिन्न स्थानो पर विशिष्ट वैदिको की संरक्षकता मे चलती रही जहाँ अनेक वैदिक तैयार होकर देश के विभिन्न स्थानो मे यज्ञ-यागादि के सम्पादनार्थ जाते रहे।



पं० कृपाकृष्ण जानी

(१) पण्डित राजाराम शास्त्री कार्लेकर (सवत् १८३३- १६१७) की वैदिक पाठशाला 'घासीटोला' मुहल्ले मे थी। शास्त्रीजी का परिचय पहिले ही दिया गया है।

(२) वे० मू० भिक दीक्षित लेले की पाठशाला विशेष उल्लेखनीय है अपनी शिष्य सम्पत्ति के कारण। लेलेजी का पूरा नाम था--**बेनीमाधव विद्याधर लेले** (शाके १७६० १८४० शाके)। अपने समय के सुयोग्य श्रौतमर्मज्ञ वैदिक थे। कृष्णयजुर्वेद का क्रमान्त अध्ययन किया था। स्वय अग्निहोत्री थे। इनके द्वारा शिक्षित शिष्यो की सख्या बहुत अधिक है।

(३) **सोमनाथ भट वापट की पाठशाला** (कान भट की खोली)। यह पाठशाला आज भी वर्तमान है। सोमनाथ भट श्रौतस्मार्त परम्परा के अच्छे विद्वान् वैदिक है। सामगायन से भी परिचय रखते है। इनके अनेक शिष्य विद्यमान है।

शुक्ल यजुर्वेद की दोनो माध्यन्दिनी तथा काण्व शाखाओं मे सम्बद्ध पाठशालाएँ आज भी काशी मे चलती है और प्राचीन काल मे भी चलती थी। माध्यन्दिन शाखा का बडे परिमाण पर प्रचार इस प्रदेश मे है। फलत इस शाखा के अध्यापन की व्यवस्था बडे विस्तार से महाराष्ट्रीय पण्डितो तथा एतद्देशीय वैदिको के द्वारा की गी है। इस शाखा के अध्येता वैदिको मे **कृपाकृष्ण जानी, नरहरि भट सप्तर्षि, गणेश शास्त्री गोडसे** अच्छे विद्वान तथा श्रौत के ज्ञाता हुए।

शुक्ल यजुर्वेद के अध्येता तथा अध्यापक वैदिको मे **पण्डित कृपाकृष्ण जानी** का नाम नितान्त प्रसिद्ध है। ये 'कात्यायन श्रौतसूत्र' के विशेष मर्मज्ञ होने के कारण वैदिको मे अत्यन्त आदर एव सम्मान के भाजन थे। इनकी शिष्य-परम्परा आज भी चल रही है। इनके शिष्य प्रशिष्यो की परम्परा इस प्रकार है। कृपाकृष्ण जानी -सखाराम पाठक धर्माधिकारी—चिन्तामणि दीक्षित नमस्कारे—नानाजी मेहेरकर- -जगन्नाथ पाठक सप्तर्षि –गौरीनाथ दीक्षित –गणेश दीक्षित गौडजी भट्ट। इस उज्ज्वल शिष्य परम्परा से ही आपके वैदुष्य का पता चलता है। वृद्धो से सुना गया है कि आप कर्मकाण्ड कराते समय जहाँ बैठते थे, उस समय आस-पास के २५ हाथ दूरी तक के मकानो मे आपका शब्द गूँजता था। अपने निवासस्थान के पास ही श्रीगणेश भगवान् का मन्दिर आपने स्थापित किया था (१६१६ वै० स० – १८६२ ई०)। इस स्थापना वर्ष का वहाँ उल्लेख है। इनके पिता का नाम था—**पण्डित सूर्यकृष्ण**। पण्डित कृपाकृष्णजी को बेतिया के महाराजा ने अपने यहाँ आचार्य बनाया था। श्रौतयाग के अनुष्ठान के मार्मिक ज्ञाता थे। ऐसे वैदिक विद्वान् सचमुच दुर्लभ है जो याग के सिद्धान्त ज्ञान के साथ उसके व्यवहार के भी ज्ञाता हो।[१] इनका निधन वि० स० १६२० (=१८६३ ई०) मे हुआ। जन्मसमय अनुमानत १८०३ ई०।

श्री नरहरि भट सप्तर्षि (पाठक) के विषय मे कहा जाता है कि वे 'कात्यायन श्रौतसूत्र' के महान् ज्ञाता वैदिक तथा श्रौत यागो के विशिष्ट निष्णात कर्मकाण्डी थे। 'श्रौत नारसिह' तथा 'सस्कार भास्कर' आपके द्वारा प्रणीत श्रौत ग्रन्थ है। एतद्देशीय वैदिको का वर्णन आगे किया जायगा।

काण्व शाखा का प्रचार महाराष्ट्रीय ब्राह्मणो मे है। फलत तदनुसारी शुक्ल यजुर्वेद के अध्यापन की अनेक पाठशालाएँ काशी मे चलती रही। महादेव भट पेठकर (घनपाठी) की

---

१ इनका चित्र साङ्गवेद विद्यालय (रामघाट) मे स्थापित है। विद्यालय के २४वे वार्षिक विवरण (स० २००१) के आधार पर यह विवरण प्रस्तुत किया गया है।

पाठशाला में शिक्षित अनेक वैदिक वर्तमान हैं। नारायण भट उत्तरेश्वरी शतपथ के पारायण के लिए प्रसिद्ध हैं। इन्होंने तिरुपति तथा पण्ढरपुर में शतपथ का पारायण कर कीर्ति अर्जित की।

सामवेद

सामवेद की तीन प्रमुख शाखायें हैं जिनमें कौथुमीशाखा का अध्ययन-अध्यापन नागर ब्राह्मणों में विशेषरूपेण प्रचलित है। काशी मे रामघाट मुहल्ले के निवासी नागर ब्राह्मणों ने बड़े परिश्रम एवं निष्ठा से इस शाखा को जीवित रखा है। इस वंश में दो प्रसिद्ध सामवेदी हुए—**गणेशराम तथा जनार्दनजी**। ये दोनो ही भ्राता सामवेद तथा तन्त्र के विशिष्ट विद्वान् थे। इनमें **गणेशराम सामवेदी** (१६०४ सं०=१६८८ सं० तदनुसार १८४७ ई० में जन्म, १६३१ ई० में निधन) अपनी विद्वत्ता तथा आचरण के कारण 'गुरु' के नाम से सम्बोधित किये जाते थे। सामसहिता तथा सामगायन के धुरन्धर विद्वान् थे। वे० मू० जनार्दनजी का भी सामवेद में वैदुष्य प्रशंसनीय था। पण्डित गणेशराम गुरु के पुत्र पण्डित रणवीरदत्त त्रिपाठीजी अपने पूज्य पिता से सामवेद का विधिवत् अध्ययन कर एक विशिष्ट सामवेदी की ख्याति से मण्डित थे। आभ्यन्तर बडनगरा नागर ब्राह्मण ज्ञाति के ये महनीय वैदिक थे। इनके पूर्वज डूँगरपुर (राजपूताना) से आकर सात-आठ पीढ़ी पहले काशी में बसे थे। पूर्वजों में सभी सामवेद के परम विद्वान् थे। काश्मीरनरेश महाराजा रणवीर सिहजी द्वारा प्रदत्त एक विशिष्ट सुपारी के सेवन से गणेशरामजी की धर्मपत्नी के गर्भ से इनका जन्म हुआ था और इसी विलक्षण घटना की स्मृति में इनका नाम रणवीरदत्त त्रिपाठी रखा गया। ये स्वभाव से बड़े ही निर्भीक तथा सत्यवादी थे। ये श्रौतयज्ञों के विशेष ज्ञाता थे। चातुर्मास्य, नक्षत्र-याग आदि यज्ञों में आपने होत्र कर्म का सम्पादन किया। आपने सागवेद विद्यालय में सामवेद का अध्यापन एवं विभागीय अध्यक्ष का कार्य-सम्पादन अनेक वर्षों तक किया। अन्त मे इन्होंने सन्यास की दीक्षा ली। इनका जन्म विक्रम संवत् १६२७ (=१८७० ई०) में तथा निधन १६६५ वि० सं० (=१६३८ ई०) में हुआ। इनके ही ज्येष्ठ पुत्र थे—**दुर्गादत्तजी सामवेदी** जो 'सन्मार्ग' के सम्पादक तथा स्थानीय गोयनका-संस्कृत विद्यालय के प्राध्यापक भी थे। ये शास्त्रों के भी विशेष प्रवीण विद्वान् थे। करपात्रीजी के विशेष भक्त तथा शास्त्रमर्मज्ञ होने के नाते वे 'सिद्धान्त' पत्र में वैदिक विषयों पर बड़े ही गम्भीर तथा प्रामाणिक लेख लिखा करते थे। लेखक से उनका विशेष परिचय था। सामवेद—संहिता तथा गायन—दोनो के विषय में उनका ज्ञान बड़ा ही परिनिष्ठित तथा गम्भीर था। उनके दोनों अनुज गौरीदत्त एव शिवदत्त योग्य सामवेदी है।

इनके अतिरिक्त आदित्यराम त्रिपाठी तथा सूर्यरामजी सामवेदी ने सामवेद की अच्छी सेवा की और आज भी अपने पुत्रों तथा पौत्रों द्वारा सामवेद की अनमोल सेवा कर रहे हैं। आदित्यराम त्रिपाठी के दोनों ही पुत्र—विनायक राम एवं सूरजराम—अपने वेद के मर्मज्ञ विद्वान् है जिन्होंने स्थानीय दरभंगापाठशाला तथा गोयनकासस्कृतमहाविद्यालय में क्रमशः अध्यापन का कार्य किया। स्वर्गीय सूर्यरामजी एक सुयोग्य विद्वान् थे जिनके दोनों पौत्र देवशंकर तथा हरिशंकर (पण्डित दलपतराम के पुत्र) सामवेद के अच्छे ज्ञाता थे और उसका अध्यापन भी करते थे। हरिशंकरजी के पुत्रों—लक्ष्मीशंकर तथा ऋषिशंकर में—अन्तिम व्यक्ति ने अनेक श्रौतयागों का अनुष्ठान किया है तथा सम्प्रति गोयनका-संस्कृत-महाविद्यालय में सामवेद के अध्यापक हैं।

सामवेद की राणायनीय शाखा के अध्यापन के लिए वे० मू० **बालशास्त्री वापट** की पाठशाला कभी बहुत ही जागरूक रही और उसने सैकड़ो शिष्यो को तैयार किया। वापटजी स्वय बड़े सुयोग्य सामवेत्ता तथा गायन निष्णात वैदिक थे। काशी के वर्तमान सामग इन्ही की परम्परा के है।

अथर्ववेद की परम्परा

काशी मे अथर्ववेद का भी अध्ययन अध्यापन नागर ब्राह्मणो मे विशेष रूप से प्रचलित रहा। पण्डित **जयदेवजी पचोली** वैदिको की दृष्टि मे इस शताब्दी के सर्वश्रेष्ठ अथर्ववेदी माने जाते थे। ये सागवेदविद्यालय के सस्थापक मेहतापरिवार क पूजनीय पुरोहित थे और परिवार के द्वारा आदरपूर्वक सम्पादित यज्ञ-यागो के सम्पादन मे आपका ही योगदान प्रशसनीय था। अन्त मे सन्यास लेकर काशी मे ही निवास करते थे। नाम पडा **जयदेवाश्रम स्वामी**। आपका जन्म वि० स० १९१४ (=१८५७ ई०) मे तथा निधन वि० स० १९९२ (=१९३५ ई०) मे हुआ। इनका चित्र सागवेदविद्यालय मे स्थापित है।

पण्डित भगवानलाल अग्निहोत्री (नागर) अथर्ववेद के बडे ही मर्मज्ञ वैदिक विद्वान् माने जाते थे। इनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

श्री वै० प्र० **पण्डित भगवानलाल अग्निहोत्री** का जन्म वैक्रम सवत् १९३० (१८७ ई०) की कार्तिक शुक्ल पञ्चमी को हुआ था। आप प्रसिद्ध नागर-ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए थे। आपके पिताजी का नाम प० हिम्मतलाल द्विवेदी एव माता का नाम श्रीमती फूल कुँअर था। आपके पूर्वज बाँसवाडा स्टेट (राजस्थान) के रहने वाले थे। सात वर्ष की अवस्था मे यज्ञोपवीत सस्कार होने के पश्चात् आपने अपने पूर्वजो की परम्परा के अनुसार वेदाध्ययन प्रारम्भ किया। आपके विद्यागुरु प्रसिद्ध अथर्ववेदी और प्रसिद्ध मल्लशास्त्री प० लक्ष्मीशकर द्विवेदी थे। अग्निहोत्रीजी की ऋग्वेदान्तर्गत शाखायन शाखा थी अत प्रारम्भ मे आपने सम्पूर्ण ऋग्वेद का अध्ययन किया और तत्पश्चात् अथर्ववेद का अध्ययन प्रारम्भ किया था। आपके गुरुजी आपके घर के निकट ही रहते थे।

गुरुजी की कृपा तथा अनुशासन से इनकी प्रवृत्ति अथर्व के अध्ययन मे बडी नैष्ठिक थी। गुरुजी मन्त्रशास्त्र के पण्डित थे। उनकी दया से ये आभिचारिक प्रयोग से भी बच गये थे। जीवन के अन्तिम चरण मे इनके गुरुजी काशी आये। उन्ही के साथ ये भी काशी आये। उस समय इनका वय केवल १४ वर्ष का था। काशी आने के कुछ ही समय पश्चात् वैदिक जगत् मे आपकी अच्छी ख्याति हो गयी। भारत के अनेक स्थानो से अथर्ववेद के पारायण के निमित्त और यागो मे आपके पास निमन्त्रण आने लगे। काशीनिवासी प० राजेश्वर द्विवेदी की पुत्री से आपका विवाह सस्कार सुसम्पन्न हुआ। आपकी धर्मपत्नी का नाम सौभाग्यवती जीवन कुँवर था। तत्पश्चात् आपने श्रौतस्मार्त्त अग्निहोत्र का परिग्रहण किया। वैक्रम सवत् १९७६ मे श्री वल्लभराम शालिग्राम-सागवेदविद्यालय की स्थापना हुई। इस विद्यालय ने आपको आमन्त्रित किया और अथर्ववेदाध्यापक पद पर आपकी सम्मानित नियुक्ति हुई।

गुरुजी की सेवा, अग्निनारायण की उपासना और विद्यालय मे वेदाध्ययन कराना ये ही इनके तीन मुख्य कार्य थे। आपके पढाये छात्र आज भी भारत मे अनेक स्थानो पर विद्यमान है जिनमे से कुछ प्रसिद्ध छात्रो के नाम इस प्रकार है—श्री गङ्गाधर तङ्गिराल (आन्ध्र प्रदेश), स्व० नाथूलाल पचोली (बाँसवाडा), स्व० भगवानीलाल पचोली (बाँसवाड़ा), नर्मदाशकर

पचोली (बॉसवाड़ा), श्री स्व० नारायण धुले (काशी), स्व० परशुराम रामडोहकर (काशी), स्व० जगन्नाथ धुले (काशी), श्री रामचन्द्र आठवले (काशी) | डॉ० मनोहरलाल द्विवेदी (काशी) आपके ज्येष्ठ पुत्र है | आपने अथर्ववेद का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन किया है | साथ ही साहित्याचार्य, अथर्ववेदाचार्य, एम० ए० तथा विद्यावारिधि की उपाधि प्राप्त की है | सम्पूर्णानन्द सस्कृत-विश्वविद्यालय मे अथर्ववेदाध्यापक पद से अवकाश ग्रहण कर काशी मे ही रहते है |

कुछ समय बीतने पर गुरुजी ने सन्यास ग्रहण किया और कैलासवासी हो गये | तदनन्तर अग्निनारायण की उपासना और वेदाध्ययन कराते हुए अग्निहोत्रीजी काशी मे पवित्रतम जीवनयापन करने लगे | वैक्रम सवत् २०१६ (१६५६ ई०) माघ कृष्ण अष्टमी को काशी मे ही पण्डित भगवानलालजी को शिवसायुज्य की प्राप्ति हुई | आपका आस्पद द्विवेदी था, परन्तु अग्निहोत्रधारण के कारण 'अग्निहोत्री' नाम ही प्रसिद्ध था |

प० मनोहरलाल द्विवेदी ने एक गम्भीर शोधप्रधान वैदिक ग्रन्थ अभी प्रकाशित किया है जिसका नाम है—**कात्यायन-यज्ञपद्धति-विमर्श** | १५ अध्यायो मे विभक्त ग्रन्थ मे यज्ञ के समग्र भेद प्रभेदो का अनुष्ठानविधि के साथ विधिवत् विवरण प्रस्तुत किया गया है | यह ग्रन्थ नितान्त उपादेय है और इसलिए राजस्थान सस्कृत अकादमी, गङ्गेश्वरानन्द सस्थान, हनुमानमन्दिर ट्रस्ट के द्वारा पुरस्कृत किया गया है | ग्रन्थ का प्रकाशन राष्ट्रिय सस्कृतसस्थान, दिल्लीद्वारा १६८८ ई० मे किया गया है |

अथर्ववेद की परम्परा के विषय मे एक तथ्य ध्यातव्य है | मूलत यह परम्परा नागर ब्राह्मणो की है और इसके प्रतिनिधि थे प० भगवानलाल अग्निहोत्री | प० रामचन्द्रशास्त्री रटाटे दूसरी परम्परा के प्रवर्तक है | दोनो वैदिको मे पारस्परिक सौहार्द एव सौमनस्य था | यही कारण है कि रटाटेजी के द्वारा शिक्षित वैदिको को भगवानलालजी अपनी परम्परा के अन्तर्भुक्त ही मानते थे | इसीलिए ऊपर दिये गये छात्र दोनो अथर्ववेदीय महाविद्वानो को अपना गुरु मानते थे और गुरुओं मे भेदभाव नही रखते थे |



७६

पं० रामचन्द्र शास्त्री रटाटे

श्री रामचन्द्रशास्त्री रटाटे काशीस्थ विद्वानो मे अपनी विद्वत्ता, यज्ञीय अनुष्ठानविधि की प्रवीणता एव आचरण की सात्त्विकता के कारण मूर्धन्य स्थान पर विराजमान थे। ये चारो वेदो के अनुशीलन मे दक्षता रखते थे। कर्मकाण्ड के भी वे मर्मज्ञ विद्वान् थे। सामगायन के वे मधुर गायक थे। सबसे विलक्षण बात यह थी कि वे अथर्ववेद के विशिष्ट विद्वान् ही न थे, बल्कि काशी की अथर्ववेदीय परम्परा के जनको मे अन्यतम थे। ऋग्वेद तो उनका अपना वेद ही था। फलत वे चारो वेदो से परिचय रखते थे और यागविधान मे आवश्यकतानुसार चारो वेदो का प्रातिनिध्य करते थे। काशी मे सोमयाग के अवसर पर सामवेदीय गुजराती ब्राह्मणो ने सहयोग देना अस्वीकार कर दिया था, तब महामहोपाध्याय गङ्गाधर शास्त्री तैलग ने केरल से सामवेदीय ब्राह्मणो को बुलाकर काशीस्थ युवक वैदिको को सामगायन की शिक्षा दिलाई थी। उनमे हमारे रटाटेजी अन्यतम थे।

रटाटेजी के पितामह का नाम विनायकनारायण रटाटे था। अपनी वृद्धावस्था मे काशीवास के उद्देश्य से परिवार के साथ मूल स्थान कायगाँव (महाराष्ट्र) मे बिठूर (कानपुर) के रास्ते काशी आये। पुराणवाचन मे ये बडे प्रवीण थे। फलत उच्च कोटि के पौराणिक पण्डित भी थे। ये पौराणिक एव पक्के सिद्धान्तवादी थे। काशी आने से पहिले काशीवास के लिए उन्होने कतिपय नियम बना लिये थे जिससे वहाँ पूर्ण सात्त्विक जीवन बिताने का सुयोग प्राप्त हो। अयाचित वृत्ति बिना किसी से याचना किये अनायास प्राप्त वस्तु से जीवननिर्वाह का नियम उनमे मुख्य था। वे इन नियमो का विधिवत् पालन करके विश्वनाथ की अर्चा पूजा मे अपना दिन बिताने लगे।

पण्डित विनायक रटाटे के कनिष्ठ पुत्र श्रीकृष्ण विनायक रटाटे का जन्म १८५४ ई० मे हुआ। इनका अध्ययन गगाधर शास्त्री तैलग के यहा हुआ था। पौराणिक वृत्ति से काशी मे अपना जीवनयापन करते थे। इनका निधन १९१८ ई० मे ६४ साल की अवस्था मे हुआ।

श्रीकृष्ण रटाटे के चार पुत्रो मे रामचन्द्र रटाटे ज्येष्ठ थे। इनका जन्म यही काशी मे १८७४ ई० मे माता आनन्दी बाई की कोख से हुआ। पॉच वर्ष के वय तक पितामह इन्हे पढाया करते तथा श्लोको को याद कराते। उनके निधन के पश्चात् ये अपने ताऊ गोपाल शास्त्री के सरक्षण मे आये। आठवे वर्ष उपनयन सस्कार के बाद इन्होने वेदाध्ययन आरम्भ किया। मेधाशक्ति विलक्षण थी, पढे हुए मन्त्रो का पारायण करते ही करते वे याद हो जाते। वेदमूर्ति बालशास्त्री काले से इन्होने अपनी शाखा की सहिता, ऋक्सहिता विधिवत् तैयार कर ली। गुरुजी बडे कड़े मिजाज के थे। वे असत्य बोलना सह नही सकते थे। एक बार इन्होने कोई झूठ बात बोल दी थी जिसके कारण इन्हे कठोर शारीरिक दण्ड भोगना पडा था। इतनी कठोरता का फल यह हुआ कि ये ऋग्वेद का पारायण बिना किसी हिचक घटो तक करते जाते थे और कोई त्रुटि कही भी लक्षित नही होती थी। ऋग्वेद के मार्मिक अध्ययन के बाद आपने



पं० रामचन्द्र शास्त्री रटाटे

बालशास्त्री बापटजी से उनकी वैदिक पाठशाला में सामवेद का अध्ययन किया और उन्हीं से शाक्त दीक्षा भी ली।

दीक्षा से पूर्व ही आपका प्रथम विवाह भिक्कू दीक्षित लेले की भतीजी से हुआ था। इनका श्यालक अयोध्यानरेश के यहाँ अथर्ववेद का अध्यापक था। उसकी अकस्मात् मृत्यु होने पर पत्नी के कहने पर इन्होंने अवशिष्ट अथर्ववेद को **गणेशभट्ट मार्तण्डजी** से ६ महीनों के भीतर ही तैयार कर अयोध्या जाकर उस पद को सँभाला और चार वर्ष तक अयोध्या में अध्यापन कार्य किया। प्रथम पत्नी के निधन के अनन्तर द्वितीय विवाह किया और गुरुवर्य पण्डित नित्यानन्द पर्वतीयजी के आदेश से अग्निहोत्र ले लिया तथा विधिवत् अग्निनारायण के सेवक बनकर पूरे आहिताग्नि हो गये।

अध्यापन

सर्वप्रथम काशी में साङ्गवेद-विद्यालय (रामघाट) में अथर्ववेद का अध्यापन किया। तदनन्तर काशी की दरभगापाठशाला मे ३२ वर्षो तक लगातार अध्यापन कार्य किया अथर्ववेद का। इसी अवधि के बीच में सात वर्षो तक ऋग्वेद का भी अध्यापन किया। यहाँ रहकर इन्होंने अनेक शिष्यो को अथर्व पढ़ाया। सच तो यह है कि इन्होंने काशी में अथर्वाध्यापन की एक स्वस्थ परम्परा ही चला दी। अथर्व में सर्वश्रेष्ठ अधिकारी विद्वान् होने के नाते इनकी पूछ समग्र भारत मे थी। जहाँ कही चतुर्वेदपारायण होता, अथर्व के प्रतिनिधि वैदिक होने के कारण इनको सर्वत्र निमन्त्रण मिलता, प्रतिष्ठा होती तथा सम्मान मिलता। रटाटेजी बराबर कहा करते थे कि "अथर्ववेद की मुझ पर बडी कृपा है। वैसे तो इसके पढ़ने-पढ़ाने वाले कुछ एक हुए परन्तु वास्तविक फल मुझे ही मिला। इस वेद ने मुझे भारत के कोने-कोने के विद्वान् एवं धनीमानी राजा-महाराजाओं से मिलाया है।" रटाटेजी ने बड़ी निष्ठा तथा लगन के साथ अथर्ववेद का अध्यापन कर वैदिको मे अपनी अक्षुण्ण कीर्ति का उपार्जन किया।

ऋग्वेद-सम्पादन में साहाय्य

ऋग्वेद का अध्ययन तो इन्होने सबसे पहिले ही किया था। पूरा ऋग्वेद इन्हें कण्ठाग्र था। प्रसिद्ध वैदिक पण्डित 'श्रीपाद दामोदर सातवलेकर' ने ऋग्वेद के सम्पादन में इनका बहुमूल्य साहाय्य लिया था। काशी से इन्हे अपने पास औंध में बुलाया और अपनी संस्था 'स्वाध्याय मण्डल' से प्रकाश्यमान ऋग्वेद के सशोधन में वह साहाय्य नितान्त उपयोगी सिद्ध हुआ। ऋग्वेद का हर एक मन्त्र मानो रटाटेजी के सामने साक्षात् विग्रह धारण कर उपस्थित हो जाता था। इनकी प्रतिभा से सातवलेकरजी उस समय विशेषरूपेण चमत्कृत हो गए जब इन्होंने मैक्समूलर के द्वारा सशोधित अथ च नितान्त विशुद्ध माने गये ऋग्वेद में छः स्थानों पर अशुद्धियों का निर्देश किया। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में विशुद्ध पद हैं—स्पन्द्र जिसे मैक्समूलर ने 'स्यन्द्र' के रूप में स्वीकारा है। ऋग्० १।१८०।६ में 'प्र स्यन्द्रा माथो मनुषो न होता' पाठ अशुद्ध है (मैक्समूलर का), शुद्ध पाठ है 'प्र स्पन्द्रा माथो' (सातवलेकर का)। इसी तरह ऋग्० १।१८१।५ में मैक्समूलर का पाठ है—'मथ्ना रजांसि' जबकि शुद्ध वैदिक पाठ है—'मथ्रा रजांसि'। रामचन्द्र रटाटेजी की कृपा से ही ये विशुद्ध पाठ सातवलेकरजी के ऋग्वेदीय संस्करण में अपनी उपस्थिति से शोभा बढ़ा रहे हैं। वेदमूर्ति रटाटेजी का जीवन वस्तुतः वेदमय जीवन था। वेद ही उनके एकमात्र उपास्य थे तथा उनके ही संरक्षण एवं प्रचारण में उन्होंने अपना सुदीर्घ जीवन बिता दिया।

रटाटेजी की वैदिक वैदुषी का साक्षात् परिचय लेखक को उस समय मिला जब उन्हें अपने मित्र प० बटुकनाथ शर्मा के निवासस्थान पर वसन्तपूजा का सचालन करते हुए देखा। प० बटुकनाथजी प्रतिवर्ष अपने निवासस्थान (कालभैरव) पर वसन्तपूजा की व्यवस्था करते थे। यह वसन्तपूजा नियमित रूप से समग्र वेदो का पारायण सम्पादन करती हुई अनेक दिनो तक चलती थी। इसका सचालन रटाटेजी के ही हाथ मे था। रटाटेजी ने अपनी शाखा ऋग्वेद के पारायण मे स्वय उपस्थित होकर सबको चमत्कृत कर दिया था। सामगायन के भी वे मधुर गायक थे। पूछने पर उन्होने लेखक को बतलाया था कि उन्होने यह गायन केरल के सामवेदीय वैदिको की कृपा से प्राप्त की है। घटना इस प्रकार वे बतलाते थे। प० गङ्गाधर शास्त्री तैलग ने जब श्रौतयाग कराने का उपक्रम किया, तब काशी के गुजराती सामवेदियो ने उसमे सहयोग देने से अस्वीकार कर दिया। फलत उन्होने दक्षिण भारत से सुयोग्य सामवेदी बुलाकर काशी के नवयुवक वैदिको को सामगायन की शिक्षा दिलाई। यज्ञ मे प्रयुक्त होने वाले जितने साममन्त्र थे उन्ही की शिक्षा अत्यावश्यक होने के कारण उस समय दिलाई गई थी। उस व्यवस्था का फल यह हुआ कि महाराष्ट्रीय वैदिको मे सामगायन का प्रचलन हो गया। रटाटेजी अपने सहयोगी महाराष्ट्रीय वैदिको के साथ जब सामगायन करते थे तब वह इतना व्यवस्थित तथा मधुर होता था कि श्रोताओं के हृदय गद्गद हो जाते थे। लेखक ने उससे अधिक मधुर सामगायन कही नही सुना। इस प्रकार ऋक्, साम तथा अथर्व इन तीनो का विधिवत् ज्ञान सम्पादन करने वाले रामचन्द्र शास्त्री रटाटे की विद्या बुद्धि की तथा अद्भुत स्मरण-शक्ति की जितनी प्रशसा की जाय वह न्याय्य ही प्रतीत होगी। यही कारण था कि सस्कृत विश्वविद्यालय के प्रथम कुलपति डॉ० आदित्यनाथ झा ने इनको अपने विश्वविद्यालय का सम्मानित प्राध्यापक बनाकर इन्हे यावज्जीवन २००) दो सौ रुपयो की मासिक वृत्ति प्रदान की थी।

रटाटेजी के पुत्रो ने भी अथर्ववेद की परम्परा को चालू रखा है। जेठे पुत्र नारायण शास्त्री रटाटे काशी के ही दरभगाविद्यालय मे अथर्ववेद के अध्यापक थे। हाल मे ही इनका देहान्त हुआ है। द्वितीय पुत्र डॉ० विनायक रामचन्द्र रटाटे पुराणेतिहास के आचार्य, पण्डित उपाधि से मडित है। इनका अथर्ववेदे राजनीति. शोधप्रबन्ध प्रकाशित है। तृतीय पुत्र श्रीकृष्ण रटाटे चित्रकार तथा वैदिक दोनो है।

जगन्नाथ शास्त्री फटक

ऋग्वेद, व्याकरण, न्याय के साथ वृद्धावस्था ने नागरपरम्परा के अयोध्यावासी लेलेजी से अथर्व की सम्पूर्ण शाखा का अध्ययन किया। इस प्रकार रटाटेजी के पुत्र भी पिता की वैदिक सम्पत्ति के अर्जन मे दत्तचित्त है।



पण्डित भगवत्प्रसाद मिश्र

आचार्य प० श्री भगवत्प्रसाद मिश्रजी का जन्म राजस्थान के जयपुर नगर मे १८।६।१६०६ ई० को हुआ। आपके पूज्य पिताजी प० श्री श्यामलाल मिश्रजी पुराणो के मर्मज्ञ विद्वान् थे, जिसके कारण उन्हे जयपुर राज्य का विशेष आश्रय भी प्राप्त था। इन्होने प्रारम्भिक शिक्षा जयपुर मे ही लेकर वेदशास्त्री तक अध्ययन किया। श्री मिश्रजी की ज्ञानपिपासा तीव्र थी इसलिये वाराणसी आकर नियमपरायणता के कारण सम्पूर्ण वेदमध्यमा मे सन् १६२४ में प्रवेश लिया। गवर्नमेन्ट सस्कृतकालेज की वेदपरीक्षा चालू करने का तथा सर्वप्रथम विद्यार्थी होने का गौरव इन्ही को प्राप्त हुआ। क्रमश परीक्षाये उत्तीर्ण करते हुये सन् १६२६ म वेदाचार्य द्वितीय खण्ड उत्तीर्ण हुये। उसी वर्ष इनके पूज्य गुरुवर प० श्री विजयचन्द्र चतुर्वेदीजी स्वामी विशुद्धानन्दजी (म० म० श्रीगोपीनाथ कविराजजी के योगदीक्षागुरु) के द्वारा प्राप्त योगाभ्यास की प्रक्रिया मे व्यतिक्रम होने के कारण अत्यन्त अस्वस्थ हो गये तथा महाशिवरात्रि के दिन काशी मे ही शिवसायुज्य प्राप्त कर गये। अत पूर्णतया आचार्य उत्तीर्ण न होने पर भी गवर्नमेण्ट सस्कृतकालेज के रिक्त वेदाध्यापक पद पर इन्हे ही अध्यापन कार्य के लिये चुना गया। फलस्वरूप सन् १६२६ मे गवर्नमेण्ट सस्कृतकालेज ने वेदाध्यापक पद पर इनकी नियुक्ति हो गई। फिर भी आपने भारतप्रसिद्ध प० दामोदरलालजी गोस्वामी आदि विद्वानो से अध्ययन करके आचार्य पूर्ण किया तथा मीमासा एव धर्मशास्त्र का भी गभीर अनुशीलन किया। सन् १६२६ से १६६७ तक ३८ वर्ष सेवाकार्य किया। वाराणसेय-सस्कृत-विश्वविद्यालय के रूप में कालेज के परिणत होने पर प्रथम वेदविभागाध्यक्ष के रूप मे कार्य करते हुए आपने चारों वेदो के अध्यापक एव सभी वेदो की परीक्षाओं का पाठ्यक्रम चालू कराया। सस्कृतविश्वविद्यालय मे अग्निहोत्रविभाग की व्यवस्था चालू होने पर इन्हे ही अग्निहोत्री बनाकर अधिकारियों द्वारा सम्मानित किया गया। तब से आपने दर्शपौर्णमासेष्टि एव अन्य सामयिक इष्टि आदि श्रौतयागों को सम्पन्न करते हुये प्रायोगिक शिक्षण भी अपने छात्रो को प्रदान किया।

पुस्तकों का सम्पादन

क--**स्मार्तोल्लास**। सस्कृतग्रन्थ। लेखक--श्री शिवप्रसाद (गवर्नमेंट स० कालेज, वाराणसी से प्रकाशित), यह ग्रन्थ तीन भागो में प्रकाशित है। इसके महत्त्वपूर्ण तथा सन्दिग्ध स्थलों पर विस्तृत भाष्यात्मक आख्या टिप्पणी का निर्माण किया गया है।

ख—अग्निष्टोमपद्धति। सस्कृतग्रन्थ। लेखक—विद्वत्त्रयी (चौखम्भा सं० सीरीज से प्रकाशित)—इसमें सोमयाग के तीन प्रमुख ऋत्विजों की कार्यपद्धति का पूरा विधान है जिनको क्रमशः १ वामनाचार्य २ रघुनाथ ३ नानाभाई इन तीन विद्वानों ने लिखा है। इस विलुप्त अप्रचलित पद्धति के उद्धार, सन्देहनिवारण एव विशेष ज्ञान के लिये विस्तृत मीमांसापूर्ण आख्या टिप्पणी का निर्माण कर इसे प्रकाशित किया गया है।

सारस्वती सुषमा के विभिन्न अंकों में वैदिक विषयों पर लेख प्रकाशित हैं जिनमें श्रौत-स्मार्त-पौराण-देवता-विमर्शः, वेदसरक्षणम्, श्रौतदेवताविज्ञानम्; श्रौतदेवता तद्ब्रवीषि च—प्रमुख है। आपको अनेक सम्मानित उपाधियाँ प्राप्त थी जिनमें श्रौतस्मार्तमार्तण्ड (काशी-पण्डितसभा), महामहिमोपाध्याय (भारतीपरिषद्, प्रयाग) मुख्य है। उत्तरप्रदेश सस्कृतअकादमी से वेदपण्डित पुरस्कार भी आपको प्राप्त था। आपके अनेक शिष्य थे जिन्होने वेदविषयक ज्ञान का प्रचार-प्रसार किया जिनमें मुख्य है—(१) गोपालचन्द्र मिश्र, (२) युधिष्ठिर मीमांसक, (३) वासुदेव द्विवेदी (सार्वभौम संस्कृतप्रचारकार्यालय, काशी), (४) नन्दकिशोर पाण्डेय (श्यामाविद्यालय, काशी), (५) विनायक त्रिपाठी (रीवाँ)।

इस प्रकार पण्डित भगवत्प्रसादजी ने अपने छात्रो तथा ग्रन्थो द्वारा वेद के ज्ञान का प्रचुर प्रचार किया।

पं० गोपाल चन्द्र मिश्र

काशी की वैदिक परम्परा मे आचार्य गोपालचन्द्र मिश्रजी का विशिष्ट स्थान है। प्राचीन परम्परागत वेदभाष्य एव वेदार्थ की अध्ययनाध्यापन-पद्धति को सम्पूर्ण भारत में अपने शिष्य-प्रशिष्यो की परम्परा के द्वारा प्रतिष्ठित करने का श्रेय स्व० प० गोपालचन्द्र मिश्रजी को है।

शिक्षा

वेद का अध्ययन आचार्य मिश्रजी को आनुवशिक रूप से प्राप्त था। काशी के सुप्रसिद्ध वेदाचार्य प० भगवत्प्रसाद मिश्रजी के आत्मज गोपालचन्द्रजी का जन्म १५ मई १९२४ को हुआ। अपनी अत्यन्त आस्तिक माता लक्ष्मीदेवी के सुदृढ़ सरक्षण में आपका लालन-पालन हुआ। आठ वर्ष की अवस्था मे अपने पूज्य पिताजी से सावित्रीमन्त्रोपदेश प्राप्त कर उपनयन के अनन्तर ब्रह्मचर्याश्रम मे रहते हुए प्रारम्भिक शिक्षा पूज्य पिताजी से ही ग्रहण की। तदनन्तर काशिकराजकीय सस्कृतमहाविद्यालय के नियमित छात्र के रूप मे १९३३ मे प्रथमा, १९३७ में दर्शनमध्यमा, १९३८ में वेदमध्यमा, १९४२ में वेदशास्त्री, १९४६ में वेदाचार्य परीक्षाएँ उत्तीर्ण की। गवर्नमेंट-सस्कृतकालेज में वेद के प्रोफेसर के रूप मे प्रतिष्ठित अपने पिताजी से ही अध्ययन किया। परन्तु पिताजी के निर्देश पर महामहोपाध्याय पं० विद्याधर शर्मा गौडजी के सान्निध्य में व्यक्तिगतरूप से, वेद के मूल भाष्य का अध्ययन किया। धर्मशास्त्र तथा दर्शन विषयो में भी आपकी विशेष रुचि प्रारम्भ से ही रही। इसके फलस्वरूप आपने महाराजा-संस्कृतकालेज जयपुर से धर्मशास्त्रशास्त्री तथा धर्मशास्त्राचार्य परीक्षाएँ भी उत्तीर्ण की। इसी प्रकार पृथक् रूप से मीमांसाशास्त्री तथा मीमासादर्शनाचार्य परीक्षाएँ भी उत्तीर्ण की।

प्राच्य पद्धति के साथ पाश्चात्त्य तथा नव्य भारतीय वेदाध्ययन की दृष्टि से आपने आगरा विश्वविद्यालय से १९५४ में एम० ए० (संस्कृत) की उपाधि प्राप्त की। अपने अध्यवसाय की साधना में निरन्तर रत रहते हुए प्रो० टी० आर० वी० मूर्ति महोदय के निर्देशन में मीमांसादर्शन पर महत्त्वपूर्ण शोधप्रबन्ध प्रस्तुत करके 'डॉक्टर ऑफ फिलासफी' की उपाधि प्राप्त की।

अध्यापन

मिश्रजी ने रणवीर-संस्कृत-पाठशाला में प्रथमतः कई वर्षों तक अध्यापन किया।

तदनन्तर काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के अन्तर्गत सस्कृतमहाविद्यालय के वेदविभाग के अध्यक्ष रहे (१९५३ ई०–१९६७ ई०)। पश्चात् सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालय मे वेदविभाग के भी अध्यक्ष यावज्जीवन रहे। अनेक छात्रो को वेद पढ़ाकर उन्हे सुयोग्य वैदिक बनाया जिनमें वीरेन्द्रकुमार वर्मा, कमलाप्रसाद सिह (सस्कृतविभाग हिन्दू विश्वविद्यालय), प० राजपति शुक्ल (मुजफ्फरपुर, विहार), राजेन्द्रप्रसाद मिश्र (सस्कृतकालेज, जयपुर), नन्दकिशोर पाण्डेय (दरभगा) आदि प्रमुख है। आपकी अध्यापनशैली अत्यन्त सरस सरल थी, नव्यशैली के तलस्पर्शी ज्ञानोपदेश के साथ परम्परागत कण्ठस्थ वेदोच्चारण भी उपदिष्ट करते थे।

वेद एव सस्कृतशास्त्रो के प्रति प० मिश्रजी की अगाध निष्ठा का परिचय इससे मिलता है कि इन्होने अपने दोनो पुत्रो को ब्रह्मचर्याश्रमपूर्वक वेदाध्ययन कराया तथा गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण की परम्परा के साथ परीक्षाक्रम से वेदाचार्य की परीक्षा हेतु प्रवृत्त किया। आपके दोनो पुत्र सम्प्रति काशी के दो विश्वविद्यालयो मे वैदिकवाङ्मय का अध्यापन निष्ठापूर्वक कर रहे है।

ग्रन्थ तथा अन्य कृतित्व—सस्कृत के ललित लेखक आचार्य मिश्रजी ने वैदिक साहित्य से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थो की रचना की है। सूक्तरत्नसग्रह, पृथिवीसूक्त का सस्कृत भाष्य, सम्प्रदायप्रबोधिनी शिक्षा, याज्ञिकन्यायमाला आदि अनेक सस्कृत ग्रन्थ आपके है। आप हिन्दी के भी प्रौढ़ लेखक थे। भारतीय विवाह, हिन्दू सस्कृति का दृष्टिकोण, धर्म का स्वरूप, खाटू के श्री श्यामजी आदि आपके हिन्दी ग्रन्थ है। वेद के अर्थ की मीमासा मे पण्डित गोपालचन्द्र प्रौढ़ता रखते थे। वेदोच्चारण के लिए उपयोगी स्वरादि विषयो का ज्ञान इन्हे पूर्णरूप से था। काशीस्थ मानसमन्दिर द्वारा प्रकाशित 'नित्यकर्मविधि' नामक पुस्तक के परिशिष्ट रूप मे 'वेदपाठविधि' आपकी एक उपयोगी रचना है। 'भगवान् वेद ' नाम से प्रकाशित महनीय ग्रन्थ के सम्पादक-मण्डल मे आप मनोनीत किये गये थे। वैदिक स्वर, छन्द, ऋषि-देवादिविषयक सशयस्थलो का निर्णय देने मे भी आपका वैदिक ज्ञान सर्वतोभावेन प्रशसनीय है। अपने सेवाकाल की पूर्ति होने मे पहिले ही पण्डित गोपालचन्द्र मिश्रजी ६।६।१९८० ई० मे कालकवलित हो गये। अपने वैदिक पिता से प्राप्त वैदिक ज्ञान को अपने पुत्रो एव शिष्यो सक्रमित कर इस परम्परा को अग्रसर किया, इसके लिए ये सर्वथा स्तुत्य एव श्लाघनीय रहेगे।



पण्डित कालीप्रसाद मिश्र

(आस्पद—मिश्र, उपाधि—वैयाकरण-सार्वभौम)

पण्डित बालकृष्ण मिश्र के आकस्मिक निधन के अनन्तर सस्कृतमहाविद्यालय के रिक्त अध्यक्ष पद पर **पण्डित कालीप्रसाद मिश्र** की नियुक्ति की गई। ये पहले ही उपाध्यक्ष थे। फलत विद्यालय के आचार्य पद पर नियुक्ति मे कोई बाधा नही उठी। पण्डितजी का जन्म गोरखपुर के 'टिकरिया' नामक गाव मे १६४६ वि० स० (= १८८६ ईस्वी) मे एक विद्यावदात सरयूपारीण ब्राह्मणकुल मे हुआ था। पिता का नाम था प० जयजयराम मिश्र तथा माता का सुखदा देवी। १८ वर्ष की उम्र मे इन्होने अयोध्या की वैष्णव धर्म प्रवर्धिनी पाठशाला से १६०६ ई० मे व्याकरण की मध्यमा परीक्षा उत्तीर्ण की। काशी मे आकर इन्होने दामोदर शास्त्री से आचार्य के ग्रन्थो का अध्ययन आरम्भ किया, परन्तु उनके शीघ्र ही कैलासवासी हो जाने पर उन्ही के पद पर नियुक्त प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित रामभवन उपाध्याय का शिष्यत्व ग्रहण कर इन्होने छह वर्षो मे क्रमश व्याकरणाचार्य के छहो खण्डो की परीक्षा बडी योग्यता से उत्तीर्ण की। पण्डित जीवनाथ मिश्र से इन्होने न्यायदर्शन का सविधि अध्ययन किया। प्रयाग की धर्मज्ञानोपदेश सस्कृत पाठशाला मे व्याकरण के अध्यापक का काम कई वर्षों तक आपने बडे प्रेम और परिश्रम से सम्पन्न किया। प्रयाग मे रहते समय ये महामना मालवीय के सम्पर्क मे आये। मालवीयजी इनके सदाचार, सुशीलता तथा अध्यापन कुशलता से बड़े प्रभावित हुए और अपने परिवार के बालक बालिकाओ को सस्कृत पढ़ाने का कार्य भी इनके सुपुर्द किया।

काशी मे सस्कृतमहाविद्यालय की स्थापना हो चुकी थी। उसके अध्यक्ष पण्डित रामावतार शर्मा के अनुरोध से मालवीयजी ने १६१६ ई० मे प० देवनारायण त्रिपाठी (तिवारी जी) की राजकीय सस्कृतमहाविद्यालय मे नियुक्ति हो जाने पर उनके रिक्त स्थान पर इन्हे नियुक्त किया। व्याकरणविभाग के अध्यक्ष म० म० जयदेव मिश्रजी के देहावसान के अनन्तर १६२५ ई० मे ये उनके स्थान पर विभागाध्यक्ष बनाये गये। १६३७ ई० मे नवनिर्मित उपाध्यक्ष पद का भी कार्य देखने लगे। इनकी कार्यकुशलता तथा अनुशासन-परायणता से प्रसन्न होकर विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ० राधाकृष्णन् ने १६४३ ई० मे इन्हे विद्यालय के अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। १६५२ ई० मे बत्तीस वर्ष तक अनवच्छिन्न रूप से विश्वविद्यालय की सेवा करने के अनन्तर इन्होने अवकाश ग्रहण किया।

पण्डित कालीप्रसाद मिश्र दृढ अनुशासक तथा सफल अध्यापक थे। पढ़ाने की इनकी शैली बडी ही रोचक तथा हृदयावर्जक थी। महाभाष्य के ये बडे ही मर्मज्ञ विद्वान् माने जाते थे। महाभाष्य की ग्रन्थ ग्रन्थियो के सुलझाने मे इनकी बुद्धि इतनी प्रखर थी कि पतञ्जलि का व्याकरण-सिद्धान्त जिज्ञासु छात्रो के हृदय मे अनायास ही इनकी शिक्षा के अनन्तर उद्दीप्त हो उठता था। महाकवि कालिदास ने आदर्श शिक्षक के लिए जिन दो गुणो का—निर्मल बुद्धि

से आत्मस्थित ग्रन्थवैदुष्य का तथा छात्रों में तथ्यों की विशेष सक्रान्ति का—उल्लेख किया है, वे मिश्रजी में पूर्णरूप से विद्यमान थे।

३२ वर्षों की अनवरत सेवा के अनन्तर १९५२ ई० में इन्होने अवकाश ग्रहण किया और विश्वनाथजी के मन्दिर के समीप ही अपने आवासस्थान पर रहकर समागत पण्डितों के शास्त्रगत सशयों का निराकरण करते थे जहाँ ६ अगस्त १९७७ ई० मे ८८ वर्ष की आयु में आपका निधन हुआ। पण्डितजी अनेक आदर्श गुणो के पुञ्ज थे। निर्मल हृदय, विशुद्ध सात्त्विक आचरण, समीचीन व्यवहार-निपुणता, छात्रों पर अकृत्रिम स्नेह, सस्कृत ग्रन्थो का गम्भीर अनुशीलन आदि ऐसे गुण है जो इनकी विद्वत्ता की अमिट छाप छात्रो पर ही नही, परिचित व्यक्तियो पर भी छोड गये है। लेखक पण्डितजी को भारतीय परम्परा का आदर्श अध्यापक मानता है। निम्नलिखित पद्य आपके व्यक्तित्व का सद्य परिचायक है—

अतिशय-विमल-चरित्रं मधुरा मूर्तिर्मनोहरा वाणी।
सरसाऽध्यापनशैली विद्या विशदा यशो दिगन्तगतम्॥

बत्तीस साल के अपने सुदीर्घ कार्यकाल मे इन्होने अनेक सुयोग्य छात्रो को तैयार किया जो उत्तरभारत के विभिन्न स्थानो में सस्कृतविद्या की उन्नति मे सलग्न है। इनके पट्टशिष्य पण्डित निरीक्षणपति मिश्र ने अध्यापन के द्वारा विमल कीर्ति अर्जित कर कुछ साल पहिले हिन्दूविश्वविद्यालय के सस्कृतमहाविद्यालय के व्याकरणविभाग के अध्यक्ष पद से अवकाश ग्रहण किया है। भारतीय दर्शन के विद्वान् डॉ० वेंकटाचलमूर्ति ने मिश्रजी से व्याकरणशास्त्र की शिक्षा ग्रहण की है। पण्डित करुणापति त्रिपाठी (सस्कृत विश्वविद्यालय के निवर्तमान कुलपति) तथा पं० रामचन्द्र मालवीय (सस्कृतविश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार) मिश्रजी के ही शिष्यो में गणनीय विद्वान् है।

पण्डित निरीक्षणपति मिश्र

पण्डित कालीप्रसादजी के पट्टशिष्य पण्डित निरीक्षणपति मिश्र व्याकरण के अच्छे जानकार थे। इनकी अध्यापन शैली मे गुरु की अध्यापनशैली का प्रभाव था। सिद्धान्त-कौमुदी, परिभाषेन्दुशेखर आदि ग्रन्थो को ये विलम्बिता वृत्ति के माध्यम से इस प्रकार पढ़ाते थे कि नीरस पदार्थ भी सरस हो जाता था, इसीलिए इनके पाठनकक्ष मे छात्रो की सख्या सबसे अधिक रहती थी। मन्दबुद्धि वाला छात्र भी इनसे कुछ प्राप्त कर लेता था। उस समय के प्रिंसिपल प० बालकृष्ण मिश्र ने इन्हे सिद्धान्तमुक्तावली पढ़ाते हुए सुनकर मुक्तकण्ठ से इनकी प्रशसा की थी। प० निरीक्षणपति मिश्र ने लगभग ३५ वर्ष काशी-हिन्दूविश्वविद्यालय मे अध्यापन कार्य किया। ये व्यावहारिक पण्डित भी थे। अपरिचित व्यक्ति तथा प्रभावशाली पण्डित, महात्मा महापुरुषो के साथ सम्पर्क स्थापित करने की कुशलता इनकी अपनी विशेषता थी। इसीलिए धार्मिक राजनीति मे भी इनका बोलबाला था। धर्मसम्राट् स्वामी करपात्रीजी के ये अनन्य अनुयायी बनकर धर्मरक्षा के लिए सदा जाग्रत रहते थे। काशी-विद्वत्परिषद् के अध्यक्ष के रूप मे इन्होने बड़ी तत्परता से सनातनधर्म का कार्य किया।

इस प्रकार पण्डित निरीक्षणपति मिश्रजी वैयाकरण के साथ समाजसेवक के रूप में भी विख्यात रहे। इनका जन्म बिहार के गोपीगज मण्डल के ग्राम तारानहरवाँ मे वि० स० १९६४ के आश्विनकृष्ण ८ रविवार को हुआ था। इनका निधन काशी मे वि० स० २०४४ के भाद्रपद शुक्ल ६ बुधवार को हुआ। इस प्रकार इनकी पूरी आयु अस्सी वर्ष की थी।

८२

पण्डित महादेव पाण्डेय

(आस्पद—पाण्डेय; उपाधि—कवितार्किकचक्रवर्ती)

काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय में संस्कृतमहाविद्यालय के अध्यक्षपद को सुशोभित करने वाले पण्डित महादेव पाण्डेय कवितार्किक-चक्रवर्तीजी का जन्म बिहार प्रान्त के रोहतास जनपद के ऐलाय ग्राम में जो भभुआ के समीपवर्ती है १९५१ वि० सं० (=१८९४ ई०) में हुआ। इनके पिताजी का नाम था पण्डित अम्बिकादत्त पाण्डेय। सस्कृतविद्या के अध्ययन के निमित्त ये काशी चले आये और यही रहकर इन्होंने प्रथमा से लेकर आचार्य परीक्षा तक विद्याध्ययन किया। विश्वविद्यालय के सस्कृतमहाविद्यालय में म० म० पण्डित रामावतार शर्माजी अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित थे। पाण्डेयजी को आचार्य परीक्षा के लिए न्यायशास्त्र का अध्ययन अभीष्ट था, परन्तु रामावतारजी ने इनके अध्ययन-पाटव तथा बुद्धिवैभव से आकृष्ट होकर साहित्यशास्त्र के अध्ययन के निमित्त इन्हें प्रेरित किया। फलत· ये साहित्यशास्त्र की आचार्य कक्षा में प्रविष्ट हुये और उस विभाग के अध्यक्ष पण्डित चन्द्रधरजी से साहित्य का विधिवत् अध्ययन किया। चन्द्रधरजी अयोध्या के किसी संस्कृतमहाविद्यालय के अध्यापक थे जहाँ मालवीयजी महाराज से इनका साक्षात्कार हुआ। मालवीयजी इनके वैदुष्य तथा सदाचरण से इतने प्रसन्न हुये कि इन्हें अपने साथ ही विश्वविद्यालय में लाकर नियुक्त कर दिया। वे साहित्य के बड़े गम्भीर गवेषक मनीषी थे। ये काव्यप्रकाश के अध्यापनकाल में न्याय तथा मीमासा से सम्बद्ध समस्त गूढ़विषयों को इतनी प्रौढ़ता तथा अन्तरंगता से पढ़ाते थे कि साहित्य का अध्येता छात्र पूर्वोक्त दर्शनों के सिद्धान्तों को भी करामलकवत् ग्रहण कर लेता था। इनके सम्पर्क से महादेव पाण्डेयजी का साहित्य का ज्ञान परिनिष्ठित हो गया परन्तु इनकी इतने से ही तृप्ति नही हुई। विश्वविद्यालय के न्यायशास्त्र के प्रवीण पण्डित म० म० बालकृष्ण मिश्रजी से भी अनुमान-खण्ड तथा शब्दखण्ड मनोयोग से अध्ययन कर इन्होंने न्याय में भी प्रौढ़ि प्राप्त कर ली। इससे पूर्व ही वे गवर्नमेण्ट संस्कृतकालेज से व्याकरणशास्त्र में आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण कर चुके थे। अध्ययन के सर्वाङ्गीण विकास के कारण महादेव पाण्डेयजी व्याकरण, साहित्य तथा न्याय आदि शास्त्रों के प्रौढ़ पाण्डित्य के अधिकारी विद्वान् माने जाने लगे।

महामना के शैक्षणिक परामर्शदाता शास्त्र-कुशल आनन्दशंकर ध्रुवजी महादेव पांण्डेय के विद्यावैभव से बड़े आकृष्ट हुये और महाविद्यालय में साहित्यविभाग के अध्यक्ष पद पर इन्हें प्रतिष्ठित करा दिया। इसके पूर्व आरम्भिक अध्यापनकाल में ये कुछ वर्षों तक काशी के ही गोयनका-संस्कृत-महाविद्यालय में साहित्याध्यापक तथा संस्कृतमहाविद्यालय में ही जैनन्यायाध्यापक का कार्य करते थे। फलतः व्याकरण, साहित्य, न्याय तथा वेदान्त के अध्यापन में इनकी शेमुषी इतनी प्रतिष्ठित तथा समादृत हुई कि इनसे अध्ययन करने वाले छात्रों का इनकी कक्षा में जमघट लगा रहता था। अनुमानखण्ड के दार्शनिक तथ्यों का इनका विश्लेषण

इतना चमत्कारी होता था तथा इतनी मनोज्ञता से ये छात्रों के हृदय में विषय प्रविष्ट करा देते थे कि काशी में इनकी विपुल कीर्ति हो गई।

पाण्डेयजी मूलतः साहित्य के मर्मज्ञ थे। सस्कृतव्याकरण की सूक्ष्मता भलीभाँति हृदयगम थी। फलत. काशी के अनेक विज्ञ वैयाकरण किसी शाब्दिक विन्यास की विशुद्धता के निमित्त इनसे परामर्श लिया करते थे। पाण्डेयजी कोमल कविता-विन्यास करने वाली ललित लेखनी के धनी थे। इनकी कविता मे अलकारो की छटा रसिकों के हृदय को सद्य आकृष्ट करती है। श्लेष का मुन्दर विन्यास, उपमा की मनोहर छवि, सहृदयो के हृदयानुरजन मे सर्वथा समर्थ होती है। ध्वन्यालोक पर इनकी टिप्पणी इनके साहित्यिक वैदुष्य की परिचायिका है, तो **भारतशतकम्** इनकी काव्यकला तथा शब्दमाधुरी का प्रकाशक कमनीय मुक्तक है।

काशी हिन्दूविश्वविद्यालय के सस्कृतमहाविद्यालय के अध्यक्ष पद से सेवानिवृत्त होने पर पण्डित महादेव पाण्डेयजी की अभिलाषा सन्यास आश्रम मे दीक्षित होकर निवृत्तिप्रधान जीवन बिताने की हुई। उन्होने अपनी अभिलाषा स्वामी करपात्रीजी महाराज से प्रकट की। उन्हे काशी के ऊर्ध्वाम्नाय के अन्तर्गत काशीस्थ सुमेरुपीठ पर किसी सुयोग्य विद्वान् सन्यासी को पदासीन करने की तीव्र लालसा थी और वे किसी उपयुक्त पात्र की प्रतीक्षा मे थे। सुमेरुमठ की स्थिति के विषय में आद्य शङ्कराचार्य का कथन है—

पञ्चमस्तूर्ध्व आम्नायः सुमेरुमठ उच्यते।
सम्प्रदायोऽस्य काशी स्यात् सत्यज्ञानभिदे पदे॥

यहाँ शकराचार्य ने 'महेश्वर' नामक शिष्य को अध्यक्ष बनाया था। अभी भी बगाली टोला मे सुमेरुमठ का जीर्ण मन्दिर विद्यमान है जिसके लिए कुछ निर्धारित मात्रा मे मासिक व्यय काशिराज की ओर दिया जाता रहा है। इस विशिष्ट पीठ की सम्प्रदाय-परम्परा लुप्त हो गई थी। करपात्रीजी ने इसके उद्धार के निमित्त इस पीठ पर पाण्डेयजी को आसीन किया जिन्होंने श्री स्वामी करपात्रीजी महाराज से ही तीर्थराज प्रयाग मे वि० सवत् २०१४ (= १९५७ ई०) की माघ शुक्ल द्वितीया को सन्यासदीक्षा ली थी। काशी के पीठाधिपति के पद पर आपका अभिषेक तीर्थराज प्रयाग मे ही ज्योतिष्पीठाधीश्वर श्री स्वामी कृष्णबोधाश्रम जी महाराज के पावन करकमलो से सवत् २०१५ (१९५८ ई०) मे सम्पन्न हुआ और आप **स्वामी महेश्वरानन्द सरस्वती** के नाम से विख्यात हुये। इस महत्त्वपूर्ण पद पर आप अपने जीवनपर्यन्त विराजमान रहे। इस विरक्तावस्था मे स्वामी महेश्वरानन्दजी ने अध्यात्म-चिन्तन में निरन्तर सलग्न होने पर भी दो ग्रन्थों का प्रणयन किया जिनमे एक है—**पूर्णास्तवः** और दूसरा है **भजनावली** (हिन्दी भाषा में)। पूर्णास्तव राजराजेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी पराम्बा षोडशी श्री अन्नपूर्णा का सुन्दर स्तवन है। स्वामीजी श्री जगज्जननी भगवती के चरणारविन्द में आनन्द से विभोर होकर ध्यानस्थ हो जाते थे, उसी अवस्था में भगवती के स्तवन के क्रम में जो कुछ स्वभावतः आनन्दातिरेक से स्फुरण हुआ था, लिपिबद्ध कर लिया गया, वही है **पूर्णास्तव स्तोत्र** जो भगवती श्री जगदम्बिका की इच्छा से ही प्रादुर्भूत हो सका है। यह पूर्णास्तव भाव और कला, साहित्य और उपासना प्रत्येक दृष्टि से स्वयं में परिपूर्ण है। इसमें ५५ पद्यों में, विशेषतः शिखरिणी छन्द में, भगवती अन्नपूर्णा की बड़ी ही अभिराम भक्तिस्निग्ध स्तुति मञ्जुल पदों तथा रसमय शब्दों में की गई है। महेश्वरानन्दजी ने आद्यशङ्कराचार्य की प्रख्यात 'सौन्दर्यलहरी'

को अपना आदर्श मानकर कमनीय तथा श्लाघनीय प्रमेयबहुला स्तुति की रचना की है। उदाहरण के लिए दो-चार पद्य दिये जाते है--

परं वैणे क्वाणे स्वरमधुरिमा स्वादनिकषे
पिकालौ कूजन्त्यां मधुमधुरमाकन्दविपिने।
मनोज्ञा बालाली-मृदुलचलया किं कलगिरा
प्रसन्नान् कर्षन्ती जयति जनकादीन् न सहसा॥

श्लोक का भाव है—सृष्टि में स्वरमाधुर्यजनित आनन्द-सन्दोह की निकष वीणाझंकार तथा मकरन्दपूरित रसालवनी की टहनियो पर बैठी हुई कोकिला की कल काकली कानो को आकृष्ट करने वाली एक से एक श्लाघ्य वस्तुये है, फिर भी मातापिता को अपनी मृदुल तथा चपल वाणी से आकृष्ट करती हुई शिशुमण्डली क्या अपना महत्त्व नही रखती ? नही नही रखती है और अवश्य रखती है।

सरल स्नेहभाव को अभिव्यक्त करनेवाला यह पद्य कितना कमनीय है –

अहं हीनो दीनः कपटघटनाटोपनिपुणः
प्रमत्तश्चोन्मत्तो मम न तुलना जातु जगति।
उमे ! चेन्मे दघ्या मनसि चरणे हसरमणे
तदैव त्वं सत्यं भवसि करुणापूर्णहृदया॥

भजनावली—इस भजनावली की रचना वि० स० २०२१ मे की गई जिसमे भगवान् के सगुण, निर्गुण एव विविध रूपो का वर्णन स्तवन है। इसमे भक्त का आर्तक्रन्दन, शिवस्तवन, भक्तिपरक तथा वैराग्यपरक पदो का सन्निवेश किया गया है दार्शनिक दृष्टि से आचार्यजी का आग्रह अद्वैत पर है। सरल-सुबोध पदो मे रचित ये भजन नितान्त मर्मस्पर्शी है तथा पाठको के हृदय को अपनी कमनीयता से अभिभूत कर देते है। आचार्यजी के हृदय की दीनता देखिये –

उमावर अबकी बार हमार।
दुर्जन तर्जन गर्जन वर्जन, जनि जनि सहेउ हजार।
जाकर मुख चाहिय नहि देखन, ताकर सहि फटकार।
नाचन कूदन भृकुटि विलोकन झूठ प्रशंसन हार।
सकल जन वांछित फल दातार॥

इन्ही गुणो के कारण ये कवितार्किकचक्रवर्ती की श्लाघनीय उपाधि से मण्डित किये गये थे। पण्डितजी मे कविता एव तार्किकता दोनो का एकत्र मजुल समन्वय समुपस्थित था और इसलिए उनकी कविता मे काव्यकला का चमत्कार तथा दार्शनिक पाण्डित्य का विलास स्फुटित होता है। इस दृष्टि से इनकी अनेक रचनाओं मे भारतशतक एव पूर्णास्तव ये ही दोनो अपनी गम्भीरता एव आवर्जकता के निमित्त सन्तत स्मरणीय रहेगे। **भारतशतक** वर्णन प्रधान खण्डकाव्य है, तो पूर्णास्तव तात्त्विक गम्भीर स्तोत्र है। इस पारस्परिक भेद को दिखलाने के लिए कतिपय उदाहरणो का परीक्षण पर्याप्त होगा।

भारतशतक मे भारतवर्ष के नदी-पर्वत, तीर्थस्थल, विशिष्ट प्रान्तो के आकर्षक स्थल, ऐतिहासिक महापुरुष तथा भारत को स्वतन्त्र बनाने वाले राजनीतिक तथा धार्मिक नेताओं का चमत्कारी वर्णन विन्यस्त है।

पूर्णप्राचीप्रतीची-प्रचुरसुरुचिराशेषविद्यानिधानं
स्वातन्त्र्य-त्याग-दीक्षाविहितपरिकरो हिन्दुताप्राणभूतः।

आर्यावर्तप्रकाशो हिमकरधवला मालवीयस्य कीर्ति-
र्धर्मस्यैको निवासः स्मरहरनगरी-विश्वविद्यालयोऽयम् ॥

—भारतशतक, ३५ पद्य

श्लेष का चमत्कार देखना हो तो इस पद्य पर दृष्टिपात करे जिसमें 'मोहन' पद का भगवान् श्रीकृष्ण (मोहन), मालवीय मदनमोहन तथा गाँधी मोहनदास (महात्मा गान्धी) -इन तीनो महापुरुषो के लिए एकत्र सन्निवेश किया गया है—

सत्यासक्तः सितात्मा कविकृतिनिपुणो वृत्तगोवर्धनश्रीः
कृत्वा चक्रं कराग्रे गतिविगतिजुषां नेत्रदानैकसक्तः ।
एको यः कर्मयोगी निखिलहितविधौ बद्धकक्ष्यः श्रितेशः
सोऽव्यादव्याजभव्यः सकलनरवरो मोहनो देशमेनम् ॥

—भारतशतक, ५६ पद्य

इसके विपरीत, पूर्णास्तव मे त्रिपुरसुन्दरी के तन्त्रशास्त्रप्रतिपाद्य स्वरूप तथा कार्यकलाप का अभिराम वर्णन करने वाले पद्य पर ध्यान दीजिये—

चिदानन्दाम्भोधे. परशिवपरातीतवपुषो
विभागोऽभूदाद्य. स च खलु विमर्श. प्रथिमगात् ।
अपि स्यान्न स्पन्दा वा ननु भवतु सेच्छा नगसुते
त्वमेवैका सर्वं त्वयि सकलसृष्टि प्रणिहिता ॥

— पूर्णास्तव, ३१ पद्य

स्वामी महेश्वरानन्दजी आनन्दवन (काशी) मे गगा के प्रवाह मे अवगाहन कर किनारे एकान्त मे बैठकर भगवती का ध्यान चिन्तन मे पूरी रात आनन्दमग्न होकर एक क्षण मे बिताने की अभिलाषा कितने सुन्दर शब्दो मे इस कमनीय पद्य मे कर रहे है—

कदानन्दारण्ये त्रिदशझरिणीनीरनिकरेऽ-
वगाढस्तत्तीरे क्वचन विजने शैलनिलये ।
त्वदीये पादाब्जेऽमृतसरसि मग्नः परमुदा
त्रियामा सनेष्ये क्षणमिव नमस्ताः प्रियशिवे ॥

—पूर्णास्तव, ४७ पद्य

महेश्वरानन्दजी महाराज का निर्वाण कल्याणपुरी मे ही वि० स० हुआ। इनके अनेक शिष्य है जो सस्कृतविद्या के पठन पाठन मे निरत है, काव्यरचना मे निपुण है एव गुरु की निर्मल कीर्ति को सर्वत्र प्रसारित करते है। इनमे प्रधान शिष्यो के नाम यहाँ उल्लिखित है—

(१) **डॉ० त्रिनाथदास शर्मा** एव (२) **डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी**। विवरण सस्कृतमहाविद्यालय के वर्णनप्रसग मे आगे दिया गया है।

त्रिनाथदास शर्मा उत्कल देश के निवासी है। ये लडकपन मे ही सस्कृतशिक्षा प्राप्त करने के लिए काशी आये और पाण्डेयजी की सेवा करते हुये साहित्यशास्त्र का विशेषरूप से अध्ययन किया। गुरुजी की आज्ञा से ही इन्होने लघुत्रयी तथा बृहत्त्रयी (किरातार्जुनीय, शिशुपालवध एव नैषधचरित) का गभीर अध्ययन किया। इन काव्यो के श्लोक इनकी जिह्वा पर नाचते रहते है। सैकड़ो छात्रो का इन्होने सेठो से वृत्ति दिलवाकर पोषण किया तथा विद्यादान कर उन्हे पण्डित बनाया। आज भी ये इन कार्यों को प्रेम से करते है तथा सस्कृत का विपुल प्रचार करते है।

डॉक्टर जगन्नाथ पाठक भी पाण्डेयजी के प्रौढ़ पाण्डित्य से सम्पन्न छात्र हैं। बिहार के रोहतास मण्डल के सासाराम ग्राम में ४ अक्टूबर १६३४ ई० में जन्म हुआ। अपने गुरु प० रामरूप पाठक से, जो चित्रकाव्य के निर्माता के रूप में विख्यात थे, काव्यकला की शिक्षा प्राप्त की। कापिशायनी तथा मृद्वीका आदि काव्यों मे इन्होंने अभिनव विषय पर संस्कृत में मनोरम काव्य की रचना की है। काव्यों पर पुरस्कार प्राप्त किया है। आजकल रणवीर-संस्कृत-केन्द्रीय-विद्यापीठ के अध्यक्ष है। जानराजचम्पू और जहाँगीरविरुदावली का सम्पादन भी किया है। एम-ए० पी-एच० डी० की पदवी पाई है। इन्ही के मित्र पण्डित रतिनाथ झा साहित्य के अच्छे विद्वान् है तथा अभिनव एव अभिराम कविता के कमनीय स्रष्टा है। हिन्दूविश्वविद्यालय के संस्कृतमहाविद्यालय मे इन्होंने साहित्य का अध्यापन कर अच्छी कीर्ति अर्जित की है।

इनके सहयोगियों में **डा० रामजी उपाध्याय** का नाम अग्रगण्य है। उपाध्यायजी का जन्म बलिया मण्डल के अन्तर्गत सरयू नदी के समीपस्थ मलेजी गॉव मे हुआ। मण्डल विद्यालय में शिक्षित होकर काशी में म० म० प० लक्ष्मणशास्त्री तैलग से साहित्य का अध्ययन किया। प्रयाग विश्वविद्यालय में डॉ० बाबूराम सक्सेना की देखरेख मे सस्कृत मे एम० ए० तथा डी० फिल० की उपाधि प्राप्त की। भारतीय सस्कृति तथा सस्कृत नाटकों का इनका अध्ययन बड़ा ही आकर्षक तथा श्लाघनीय रहा है। अर्वाचीन युग से सस्कृत नाटको के विषय मे इनका ग्रन्थ (दो भाग) प्रामाणिक तथा शोधसम्पन्न है। सस्कृत तथा हिन्दी मे इनके ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण, उपादेय एव गम्भीर है। ग्रन्थो के नाम है—भारतस्य सास्कृतिको निधि, मध्यकालीन सस्कृत नाटक, आधुनिक संस्कृत नाटक (दो भाग), प्राचीन भारतीय साहित्य की सास्कृतिक भूमिका, नाट्यशास्त्रीयानुसन्धानम्, द्वा सुपर्णा (स० कथा), सस्कृत ऐण्ड प्राकृत महाकाव्याज़ (अ० थीसिस), सत्यहरिश्चन्द्रोदयम् (स०) उत्तरप्रदेश-सस्कृत-अकादमी के विशिष्ट पुरस्कार से सम्मानित।



पण्डित रामव्यास पाण्डेय

(आस्पद—पाण्डेय; उपाधि—दैवज्ञशिरोमणि)

काशीविश्वविद्यालय के अन्तर्गत सस्कृतमहाविद्यालय के ज्योतिषविभाग के अध्यक्ष ज्योतिषाचार्य पण्डित रामव्यास पाण्डेय अपने अलौकिक शास्त्रीय वैदुष्य एव प्रशासनिक नैपुण्य के कारण काशी के विद्वत्समाज मे नितान्त श्लाघनीय, आदरणीय तथा अभिनन्दनीय माने जाते थे। उनका जन्म बलिया मण्डल के 'डोकरी' गाँव मे १८९५ ईस्वी मे हुआ था। उनके पिताजी का नाम पण्डित महावीर पाण्डेय था। अध्ययन के निमित्त बलिया से सीधे काशी चले आये और नगवा के तत्कालीन प्रसिद्ध सेठ रुइया की सस्कृतपाठशाला मे ज्योतिष का अध्ययन करने लगे। वही बलिया मण्डल के ही प्रख्यात ज्योतिर्विद् प० रिसालदत्त मिश्र से इनका सम्पर्क हुआ। कालान्तर मे हिन्दू विश्वविद्यालय मे प्रसिद्ध ज्योतिषी पण्डित रामयत्न ओझा से ज्योतिष के मूर्धन्य ग्रन्थो का अध्ययन बडी निष्ठा तथा परिश्रम से करके इन्होने ज्योतिषाचार्य की उपाधि प्राप्त की। वही महामना मालवीयजी महाराज के साथ इनका गाढ सम्पर्क हुआ जिससे इनकी कर्मकुशलता, शास्त्र निपुणता तथा व्यवहारज्ञता के लिए विस्तृत क्षेत्र प्राप्त हो गया।

रामव्यासजी जन्मजात नेता थे। वे सफल नेतृत्व के उज्ज्वल प्रतीक थे। नेतृत्व के समस्त गुणो की विकाशविभूति उनके जीवन मे परिलक्षित होती है। न्याय का विरोध वे एक क्षण के लिए भी सहन नही कर सकते थे। अन्याय सहना उनके लिए असह्य होता था। वे न्याय के निमित्त तीव्र सघर्ष करते थे और इसलिए उनके चरित्र में निर्भीकता का सद्य: दर्शन होता था। विश्वविद्यालय के डॉक्टर राधाकृष्णन् जैसे महनीय कुलपति से भी निर्भीक ब्राह्मण कथमपि भय नही खाता था। विद्यालय की कार्यकारिणी सभा में उनके न्यायविरोधी असगत आचरण की वे कड़े शब्दो मे आलोचना करने से तनिक भी विचलित नही होते थे। इसके लिए उनकी आर्थिक हानि होने की भी आशका उठती थी, परन्तु उनकी निर्भीक आलोचना पर किसी प्रकार ऑच नही आती थी। ऐसे चरित्र-सम्पन्न न्यायप्रिय व्यक्ति के ऊपर मालवीयजी की कृपादृष्टि होनी स्वाभाविक थी।

महामना व्यक्तियो के चरित्र के महनीय पारखी थे। जब कोई व्यक्ति उनके पास जाता, तब वे चश्मे के भीतर से उसका वैशिष्ट्य देख लेते थे और तदनुसार उसके साथ व्यवहार करते थे। ऐसे महापुरुष का सर्वात्मना ध्यान आकृष्ट कर लेना तथा उनका कृपा-भाजन होना पण्डित रामव्यासजी के जीवन की महती उपलब्धि थी। महामना व्यासजी से इतने प्रभावित थे कि विश्वविद्यालय के महत्त्वपूर्ण विषयो मे उनसे परामर्श करते थे। विश्वविद्यालय मे नये निर्माण के लिए व्यासजी की सम्मति अवश्य लेते थे और तदनुसार तत्तद् भवनों का निर्माणकार्य निर्दिष्ट होता था। मालवीयजी राजामहाराजों के पास इन्हे अपना



पं० रामव्यास पाण्डेय



पं० रामव्यास पाण्डेय, पं० महादेव पाण्डेय तथा पं० राजनारायण पाण्डेय

विश्वसनीय दूत बनाकर भेजते थे और व्यासजी वह कार्य, कितना भी कठिन होता, निष्पन्न करके ही लौटते थे। इसका मूल कारण पण्डित रामव्यासजी का विश्वविद्यालय के प्रति अटूट प्रेम, उसके उत्थान के निमित्त अक्लान्त परिश्रम तथा निःस्पृह सेवाभाव था। इसी भावना से प्रेरित होकर रामव्यासजी ने विश्वविद्यालय के अभ्युदय के लिए ही पण्डित गोविन्द मालवीय के कुलपति पद पर प्रतिष्ठित होने मे बडा ही उद्योग किया, विरोधो को शान्त किया, ऊँचे अधिकारियो की भर्त्सना को नगण्य बनाया, परन्तु अपने निश्चय से टस से मस नही हुये। कार्य को सिद्ध कर दिखाया।

पण्डित व्यासजी सस्कृतविद्या के प्रचुर प्रचार तथा समुत्थान के लिए सन्तत जागरूक रहे। सस्कृतमहाविद्यालय के अध्यापक पण्डितो के मासिक वेतन को अग्रेजीकालेज के अध्यापको के वेतन के साथ सतुलित करने के लिए उन्होने बडी लडाई लडी थी। इससे पण्डित लोग इनका कोई निगूढ स्वार्थ मानते थे। व्यासजी ने मुझसे स्पष्ट शब्दो मे कहा था- -"विद्यालय के पण्डित लोग समझते है कि मै अपना वेतन बढ़ाने के उद्योग मे हूँ। वे नही जानते कि वेतन सतुलन की यह लडाई आज फल नही देगी, परन्तु आगे चलकर फलेगी। जो विद्वान् भविष्य मे यहाँ अध्यापक बनेगे, उन्हे अवश्य ही अग्रेजीकालेज के अध्यापको के समान ही हजारो रुपया मिलेगा।" बात बिलकुल सच्ची निकली। उनकी भविष्यवाणी सफल हुई। उसी कर्मठ ब्राह्मण के परिश्रम का सुफल आजकल के सस्कृत के अध्यापक भोग रहे है। वे पूरे सस्कृतपण्डितो के कल्याणार्थ अधिकारियो से यावज्जीवन सघर्षशील रहे। वे केवल अपने लिए उद्योग करने वाले स्वार्थी व्यक्ति नही थे, अपितु सामूहिक मगल की भावना उनके प्रत्येक कार्य के अन्तराल को उद्दीप्त करती थी।

पण्डित रामव्यासजी सच्चे मित्र थे और दृढ निश्चयी थे। एक बार सहायता देना स्वीकारा, तो जीवन भर सहायता देते ही रहे कृषिकालेज के तत्कालीन अध्यक्ष डॉ० सिह को डॉ० राधाकृष्णन् के विरोध मे उनका पूरा सहयोग यावज्जीवन बना रहा। इसी प्रकार गोविन्द मालवीय को कुलपति बनाना उनके जीवन का अविस्मरणीय कार्य था।

भारत के प्रथम राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसादजी के परिवार के साथ व्यासजी का घनिष्ठ सम्बन्ध था। राष्ट्रपति की धर्मपत्नी इनके स्नेही कायस्थ यजमान की आत्मजा थी जो इनके ही निकट 'बाजीतपुर' ग्राम के निवासी थे। मुन्शी वृजबिहारीलालजी इन्हे गुरुवत् मानते थे और धार्मिक कार्यो के साथ ही साथ व्यावहारिक कार्यो मे भी इनकी सलाह लिया करते थे। राजेन्द्रप्रसादजी ने अपने 'आत्मचरित' मे अपने इस विवाह का बडा ही रोचक वर्णन किया है—सुदूर जीरादेई गॉव से (छपरा जिला) बरात का बलिया के पूरबी भाग मे स्थित एक साधारण गॉव मे आना, बरात का टिकना, शादी की रस्मो का विवरण--सब कुछ बड़ी ही सादगी के साथ अपने शब्दो मे आकर्षक ढग से लिखा है। इसी सम्बन्ध के कारण प० रामव्यासजी के लिये दिल्ली के राष्ट्रपति के राष्ट्रीय आवास का द्वार सर्वदा उन्मुक्त रहता था। जब कभी वहाँ पधारते, तब राष्ट्रपति का पूरा परिवार इनके भव्य स्वागत के लिए सर्वदा सचेष्ट रहता था, विशेषकर उनकी धर्मपत्नी।

पं० रामव्यासजी के प्रति आकर्षण उनका ज्योतिःशास्त्रीय विद्या के बल पर किया गया फलादेश भी था। वे ज्योतिष के—गणित तथा फलित दोनों के उद्भट विद्वान् थे। गोलाध्याय के—खगोल के—वे प्रवीण मर्मज्ञ थे। नये गणित का भी ऊहापोह उन्होंने किया था। जानकार जनों का तो कहना है कि महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी के प्रौढ़

लोकातीत वैदुष्य की छाया उनके ऊपर पड़ी थी। ज्योतिष के गूढ़ रहस्यों के मर्म के उद्घाटन में उनकी प्रतिभा अपना अद्भुत चमत्कार दिखलाती थी। खगोल की कठिनतम समस्या का समाधान करना उनके बायें हाथ का खेल था। नयी-नयी शास्त्रीय कल्पना उनके उर्वर मस्तिष्क में सर्वदा अपना स्थान बनाये रहती थी, जिसे वे अपने सुविज्ञ छात्रों के सामने ही प्रकट किया करते थे। विश्वपञ्चाङ्ग व्यासजी के जीवन की अमर साधना है। सूर्यसिद्धान्त के सिद्धान्तों के आधार पर पंचाङ्ग का निर्माण करना परिश्रमसाध्य कार्य है, परन्तु व्यासजी ने इस कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न कर अपनी शास्त्रीय मेधा का प्रोज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत किया। रामव्यासजी को अध्यापन में व्यस्तता के कारण अपने उद्भावित मौलिक तथ्यों को लिपिबद्ध करने के लिए अवकाश प्राप्त न हो सका। ग्रन्थनिर्माण में बद्धमुष्टिता का यही मुख्य कारण है। पढ़ाने से फुरसत ही नहीं मिलती थी, तो नये ग्रन्थ का निर्माण कैसे हो ? उनके मौलिक सिद्धान्तों का ज्ञान उन्ही तक सीमित रह गया जिन्होंने उनसे परिश्रमपूर्वक ग्रहण किया। ऐसे बहुत से गण्यमान्य छात्र है जो आज काशी में तथा अन्यत्र ज्योतिषविद्या का विभिन्न विद्यालयों में अध्यापन करते हैं। अपनी विमल विद्या के प्रभाव से वे भारत के राजा-रजवाड़ों में ही प्रख्यात नहीं थे, अपितु उनकी कीर्ति भारत के बाहर भी, फीजी तथा मारीशस में भी, जहाँ हिन्दुओं की विपुल संख्या निवास करती है, फैल गई थी। वे वहाँ की आस्तिक जनता के विशेष आग्रह पर उनके लिए पंचांग बनाते थे तथा वहाँ भेजते थे। इसके लिए महामनाजी का विशेष आग्रह तथा प्रेरणाकार्य भी सर्वथा उत्प्रेरक था। बहुत वर्षों तक इन बाहरी हिन्दू प्रदेशों के लिये पञ्चाग का निर्माण किया जाता था तथा भारत में ही मुद्रित कर इन देशों में भेजा जाता था। इससे पूर्व वे सौरपञ्चाङ्ग बनाते थे जिसे काशी का 'ज्ञानमण्डल' सस्थान प्रकाशित करता था।

ऐसे महापुरुष का निधन अनेक वर्षों तक बीमार रहने के बाद निर्मला एकादशी वि० सं० २०३३ (८ जून १९७६ ईस्वी में) काशी में ही हुआ। उस समय इनकी आयु ८१ वर्ष की थी।

संस्मरण

पण्डित रामव्यासजी के विषय में एक सुभग संस्मरण का उल्लेख करना अप्रासङ्गिक नहीं होगा। राजस्थान के राजा-महाराजाओं के दरबार में व्यासजी महामना मालवीयजी के संग बहुधा जाया करते थे। उनकी ज्योतिर्विषयक शास्त्रीय मेधा का ज्ञान इन राजाओं को भी था। एक बार कोटानरेश का एक विशिष्ट अधिकारी व्यासजी के पास वैवाहिक सम्बन्ध के विषय में उनका मन्तव्य जानने के लिए काशी आया और उनके दालान में बड़ी प्रतीक्षा के बाद एकान्त होने में अपना प्रस्ताव कह सुनाया कि इस वैवाहिक व्यवस्था पर आप अपना हस्ताक्षर कर दें जिसके लिए राजा साहब ने सवा लाख रुपयों की राशि आपके लिए भेजी है। व्यासजी ने वर-वधू की कुण्डली का सूक्ष्म निरीक्षण किया और गणना की विषमता बताई। फलतः बड़ा आग्रह करने पर तथा दक्षिणा की राशि को दुगुनी कर देने पर भी वे टस से मस नहीं हुए और उस अधिकारी को निराश लौटना पड़ा। परन्तु कोटानरेश हताश नहीं हुए। वे प्रतिदिन अपनी अभिलाषा तार से भेजने लगे। इस प्रकार तेरह दिनों का बहुमूल्य समय बीत गया। व्यासजी तार का कोई उत्तर देते ही नहीं थे। अगत्या राजासाहब ने मालवीयजी को व्यासजी को उनके दरबार में भेजने के लिए तार भेजा। मालवीयजी के बुलाने पर इन्होंने कहा कि अब मैं जरूर जाऊँगा और महामना से पूरी कथा कह सुनाई कि अब यह प्रसंग

आपकी दृष्टि मे आ गया है। जाने से डरता था कि मुझे सत्य निर्णय देने पर कही कारागार की हवा न खानी पडे। अब मै निर्भीक होकर जाऊँगा। व्यासजी दूसरे दिन कोटा गये, दरबार मे उपस्थित हुए, उसी प्राचीन कुण्डली को देखकर अपनी असहमति प्रकट की। तब राजासाहब ने अपनी कनिष्ठा राजकुमारी की कुण्डली दिखलाई। गणना ठीक होने पर व्यासजी ने अनुकूल सम्मति दी। शादी तै हो गई। राजासाहब ने दक्षिणा के निमित्त सवा लाख रुपये अर्पित किये। पण्डित रामव्यासजी ने तब उसे ग्रहण किया। दूसरे दिन इन्होने वहाँ के ब्राह्मणो को निमन्त्रण दिया और केवल एक सौ एक रुपया अपनी दक्षिणा लेकर शेष द्रव्य को उन पण्डितो मे बाँट दिया। पूरे नगर मे यह बात फैल गई और सर्वत्र काशीवाले इस ज्योतिषी की कीर्ति गुजित हो उठी। ऐसी थी पण्डित रामव्यास पाण्डेयजी की शास्त्रनिष्ठा। सत्य के प्रति दृढ़ आग्रह तथा निष्कपट उदारता का उदाहरण देखकर कौन व्यक्ति उनके स्वाभाविक सद्‌गुणो के प्रति आकृष्ट नही होगा ?

शिष्यमण्डली

रामव्यासजी के छात्रो की एक लम्बी परम्परा है। हिन्दीजगत् के गण्यमान्य विद्वान् डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी व्यासजी के शिष्य थे और हिन्दूविश्वविद्यालय से ही उन्होने ज्योतिषशास्त्राचार्य की उपाधि प्राप्त की। प० अवधविहारी त्रिपाठी (अध्यक्ष, ज्यौ० विभाग, संस्कृतविश्वविद्यालय, काशी) प० शारदाप्रसाद मिश्र प० कलाधरप्रसाद त्रिपाठी, प० जीवनाथ ओझा (जो स्वय स्वतन्त्र रूप से काशी से पञ्चाङ्ग का निर्माण कर प्रकाशित करते थे), सत्यनारायण त्रिपाठी, घनश्याम मिश्र, भवभूति मिश्र (रॉची), छबिनाथ त्रिपाठी (देहरादून) व्यासजी के ही छात्र है। इनमे से अनेक अभी जीवित है और बहुतो ने तो विश्वपञ्चाङ्ग के सम्पादन मे भी योगदान किया है और उसे प्रतिष्ठित तथा सुव्यवस्थित बनाया है।

रामव्यासजी के सहयोगियो मे पण्डित **विन्ध्येश्वरीप्रसादजी** का नाम अग्रगण्य है। ये बिहार के रोहतास मण्डल के किसी ग्राम के निवासी थे। गणित एव फलित दोनो मे इनका ज्ञान श्लाघनीय था। विश्वपञ्चाङ्ग के निर्माण मे भी ये सहायक थे। इन्ही के प्रमुख शिष्य दैवज्ञचूडामणि **पण्डित राजमोहन उपाध्याय** है जिनका फलित ज्योतिष का ज्ञान श्लघनीय है। इन्ही की अध्यक्षता मे सम्पूर्णानन्दसंस्कृतमहाविद्यालय के ज्योतिषविभाग एव विश्वपञ्चाङ्ग ने विशेष उन्नति की है। हाल मे ये अपने अध्यक्ष पद से सेवामुक्त हुए है। इन्होने इस विषय मे चक्रवर्ती पदवी भी प्राप्त की है। इनके द्वारा शिक्षित अनेक छात्र ज्योतिर्विज्ञान का सर्वत्र प्रचार कर रहे है।



पण्डित श्रीचन्द्र पाण्डेय

पण्डित श्रीचन्द्र पाण्डेय पण्डित रामव्यासजी के शिष्यो मे अग्रगण्य थे। गुरु से पारम्परिक ज्योतिषशास्त्र का अध्ययन कर इन्होने अपनी प्रतिभा तथा अनुशीलन के द्वारा उसे खूब चमकाया। सिद्धान्त गणित तथा आधुनिक गणित मे ये अपने गुरु से भी उच्चस्तर के विद्वान् थे, परन्तु धन तथा यश कमाने मे ये उतने भाग्यशाली नही थे। इनका जन्म बलिया जनपद के गँडउर ग्राम के समीपस्थ 'जनउपुर' गॉव मे १९०८ ईस्वी मे हुआ। 'ड्यौढी' पाठशाला मे आरम्भिक शिक्षा प्राप्त कर हिन्दूविश्वविद्यालय मे ज्योतिषशास्त्राचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की और छात्रो मे प्रथम स्थान प्राप्त किया। यही पर पचागविभाग के कार्यसम्पादन के सग मे अध्यापन भी करते थे।

प० श्रीचन्द्रजी फलित तथा गणित ज्योतिष के आचार्य होने के साथ मे साहित्य के आचार्य तथा व्याकरण के शास्त्री थे। वे गणित ज्योतिष—प्राचीन तथा अर्वाचीन दोनो के प्रकाण्ड विद्वान् थे। जब प्रो० अवधेश नारायण सिह और डॉ० विभूतिभूषण दत्त ने भारतीय गणित के इतिहास का प्रणयन किया, उस समय उनमे भारतीय ज्योतिष के पुनरुद्धार की सदिच्छा जगी और डॉ० सिह ने (जो लखनऊ विश्वविद्यालय मे गणितविभाग के अध्यक्ष थे) गणितविभाग के अन्तर्गत प्राच्यज्योतिष का एक उपविभाग खोला और प० रामव्यासजी की सस्तुति पर श्रीचन्द्रजी इस विभाग मे नियुक्त किये गये। वही इन्होने अर्वाचीन खगोल की समुचित जानकारी के लिए आधुनिक गणित को स्वाध्याय से अर्जित किया। जितना पढ़ा था सब कुछ कण्ठस्थ था। जब वे लखनऊ से हिन्दूविश्वविद्यालय मे लौटे, तब ज्योतिष के विषयो के साथ ही साथ आधुनिक गणित का भी समावेश कगया और उसे वे स्वय पढ़ाते रहे। कुछ दिनो के बाद अवकाश ग्रहण कर लिया। वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय मे भी कुछ दिनो तक अध्यापक रहे। हृषीकेश-पञ्चाङ्ग का भी सम्पादन किया। जम्मू मे सस्कृतविद्यापीठ मे चूडामणि-अध्यापक रहे, परन्तु जलवायु की प्रतिकूलता के कारण बीमार पड गये। काशी लौटकर आये और २३ अप्रैल १९८३ ईस्वी मे ७५ साल की आयु मे दिवगत हो गये।

दिवगत होने से पहिले आधुनिक एस्ट्रोनामी (खगोल) पर सस्कृत मे पद्यबद्ध ग्रन्थ-रत्न का प्रणयन किया। ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नही है, परन्तु यह ग्रन्थरत्न उनकी कीर्ति को अमर कर देगा, क्योकि यह अकेला ग्रन्थ अर्वाचीन खगोलज्ञान को उद्भासित करता रहेगा। हिन्दी मे निबद्ध (१) **ज्योतिर्निबन्धावली** गम्भीर ज्योतिषशास्त्रीय विषयो का सरल भाषा मे प्रतिपादन करता है (प्रकाशक— विक्रम-प्रकाशन, काशी, स० २०२३)।

प० सुधाकर जी द्विवेदी के ग्रन्थो मे जहॉ कही अनुवाद की भी सुगध आती है पर प० श्रीचन्द्रजी की पुस्तक सस्कृत मे अद्वितीय है। प० जी कभी भी बड़ी कुर्सी नही पा पाये पर ज्योतिष के अध्यापको मे सदा सर्वोच्च स्थान पर रहे। भारतीय ज्योतिष के समकालीन काशीस्थ विद्वान् उनके सामने ठिगने लगते थे। अधिकाश शोधछात्र उनको कुछ मुद्रा देकर

या कुछ प्रलोभन देकर उनसे अपने शोधप्रबध मे सहायता लेकर Ph D होते रहे। उनकी सक्रिय सहायता के बिना ज्योतिष मे Ph D होना काशीक्षेत्र मे कल्पनातीत था उस समय। उनके आधुनिक ज्ञान के कारण गद्दीनशीन लोग उनसे ईर्ष्या करते थे पर प० जी मानदण्ड हिमालय की तरह अडिग रहे और विद्वानो को अपने दुहरे ज्ञान के बल पर सदा चित करते रहे। ऐसे वे बड़े मृदुल थे, सरल थे, विद्वानो का आदर करते थे पर दम्भियो का मानमर्दन भी कर देते थे। 'ज्योतिर्निबन्धावली' मे १२ स्वतन्त्र लेखो का सग्रह है। इस ग्रन्थ के प्रणयन मे ग्रन्थकार की ज्योतिर्विषयक गम्भीर शोधप्रवृत्ति का परिचय पदे-पदे प्राप्त होता है। प्रत्येक लेख मे नवीनता, अपूर्वता तथा प्रामाणिकता का दर्शन होता है। आश्चर्य मे डालने वाली घटनाओं का सकेत मिलता है। 'मकरसक्रान्ति' शीर्षक लेख मे पण्डितजी का कथन है कि वर्षारम्भ होने के कारण मकरसक्रान्ति का इतना महत्त्व है। लगभग ३३०० वर्ष पुराने वेदाग-ज्योतिष का यह कथन प्रमाणरूपेण उपन्यस्त है—

स्वराक्रमेते सोमार्कौ यदा साकं सवासवौ ।
स्यात् तदादियुग माघस्तप शुक्लोऽयन ह्युदक् ॥

चन्द्रमा और सूर्य आकाश मे एक साथ धनिष्ठा नक्षत्र पर जब होते है तब युग (= सवत्सर) का आदि और माघ तथा उत्तरायण का आरम्भ होता है। इसकी व्याख्या मे विशेष बाते कही गई है (द्रष्टव्य— ज्योतिर्निबन्धावली पृ० २३)।

श्रीचन्द्रजी वेद की सहिताओं और ब्राह्मणो मे उपन्यस्त ज्योतिषसम्बन्धी तथ्यो से पूर्णत परिचय रखते है और इसलिए वे पौराणिक तथ्यो की सत्यता की पुष्टि मे वैदिक मन्त्रो का उल्लेख करते है। चन्द्रमा अत्रि ऋषि की आख से उत्पन्न माना जाता है—

अथ नयनसमुत्थ ज्योतिरत्रेरिव द्यौ ।

—रघुवश २।७५

चन्द्रमा इस पद्य मे 'नयनसमुत्थ ज्योति' (= आँख से निकलने वाली ज्योति) कहे गये है। इसका तात्पर्य है कि अत्रि के नेत्र के समान प्रिय थे। इस पौराणिक रूपक का तात्पर्य है कि अत्रि चन्द्रमा की गतिविधि को बडे ध्यानपूर्वक देखा करते थे। उस समय मे अत्रि गोत्र के लोग ही चन्द्रमा के ग्रहणो के आरम्भ तथा अवसान के काल को जानते थे। इस तथ्य को ऋग्वेद के मन्त्रो मे स्पष्टत कहा गया है।

इस तथ्य की पुष्टि मे पाण्डेयजी ने ऋग्वेद का यह मन्त्र उद्धृत किया है जो बताता है कि राहु ने सूर्य को जिस अन्धकार से आच्छादित किया था उसे अत्रिलोग ही जान पाये, दूसरे उसे जान नही सके।

य वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाऽविध्यदासुर. ।
अत्रयस्तमन्वविन्दन् न ह्यन्ये अशक्नुवन् ॥

—ऋग्वेद ५।४०।९

विद्वान् ग्रन्थकार की मान्यता है कि इस मन्त्र मे ग्रहण-गणित की भविष्यवाणी की गई है जिसे अत्रिलोग जानते थे और यह पौराणिक तथ्य का समर्थक है (द्रष्टव्य—'तारामण्डल' शीर्षक लेख, पृ० १२१–१४६)।

श्रीचन्द्रजी ने आधुनिक खगोल की मान्यता के अनुसार तारो का श्रेणीविभाजन, ताराकिरणो का स्पन्दन, ताराओं की निज गति, आकाशगगा का परिभ्रमण, तारापिण्डो की अवयव-सघटना—आदि आवश्यक विषयो का विवरण बड़े ही सरस-सुबोध शब्दो मे दिया है।

ग्रहगति के विकास के विषय मे पाण्डेयजी ने दो भागो मे एतन्नामक ग्रन्थ का ही प्रणयन किया जिसका प्रथम खण्ड पूर्वतः प्रकाशित हो चुका है। ग्रन्थ का नाम है—(२) **ग्रहगति का क्रमिक विकास**। ग्रन्थ मे पॉच उद्द्योत है जिनमे विषय की अवतरणिका, प्राचीन रीति से चन्द्रमा और सूर्य का स्पष्ट स्थान, तारा-ग्रहो की गतिविधि, ग्रहगति का वैज्ञानिक विवेचन, आकर्षण-सिद्धान्त तथा आविष्कार का क्रमश विवरण प्रस्तुत किया गया है। यह ग्रन्थ श्रीचन्द्रजी की मौलिक खोजो पर आधारित है। इसमे प्राचीन भारतीय ज्योतिष के सग नवीन पाश्चात्त्य खगोलविद्या का सामञ्जस्य एव वैशिष्ट्य बडी विवेचना के साथ उपन्यस्त है। प्राचीन तथ्यो की नये वैज्ञानिक अन्वेषणो के द्वारा पुष्टि कर उनका गौरव दिखलाना लेखक को सर्वथा अभीष्ट है। प्राचीन तथ्यो की त्रुटि को भी ये दिखलाते है। ग्रन्थ के पृ० १७६ पर वे भास्कराचार्य का 'आकृष्टशक्तिश्च मही यथा मत्' वाक्य उद्धृत कर उन्हे आकर्षणशक्ति से परिचित बतलाते अवश्य है, परन्तु आकर्षण के गणितीय स्वरूप के परिचायक न होने की त्रुटि का भी स्पष्ट उल्लेख करते है। टालोमी, कोपरनिकस, केपलर के द्वारा उद्घाटित ज्योतिर्विज्ञानसम्बन्धी तथ्यो का पूर्ण परिचय देकर वे हमारे ज्ञान की सर्वथा वृद्धि करते है। नवीन खगोलीय गणित के आधार पर ग्रहो की गति के विकास का प्रकाशन हिन्दी के माध्यम से पहिली बार यहॉ किया गया है। इन अनमोल वैज्ञानिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन सस्कृत पद्यो मे करने वाले वे प्रथम व्यक्ति है, परन्तु यह हमारा दुर्भाग्य है कि यह पद्यबद्ध सस्कृत ग्रन्थ उनके जीवनकाल मे प्रकाशित न हो सका और भारतीय ज्योतिर्विद् उनके गणितीय वैदुष्य तथा खगोलीय ज्ञान से सर्वदा के लिए वञ्चित हो गये। महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी के महनीय वैदुष्यपूर्ण मार्ग पर चलने वाला तथा उनके उद्भासित तथ्यो को उजागर करने वाला दैवज्ञ अपनी अद्भुत प्रतिभा को प्रकाश मे ला न सका। हा हन्त !!![1]

पण्डित केदारदत्त जोशी

जोशीजी का जन्म अलमोडा जिले के एक प्रख्यात गॉव मे चैत्र शुक्ल अष्टमी स० १९६६ (=१९१० ई०) को हुआ। इनके पूर्वज बडे ही तपोनिष्ठ ब्राह्मण थे जिन्हे स्थानीय राजा का विशेष आदर प्राप्त था। आरम्भिक शिक्षा अपने पूज्य पिता **हरिदत्त जोशी** से प्राप्त हुई। पिताजी ने इन्हे काशी मे ज्योतिषविद्या मे प्रौढ़ता प्राप्त करने के लिए यहॉ भेजा। हिन्दूविश्वविद्यालय मे पण्डित बलदेव पाठक से इन्होने ज्योतिष के प्रौढ़ ग्रन्थो का अध्ययन कर १९३६ ई० मे ज्योतिषाचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की और विश्वविद्यालय के ही अन्तर्गत संस्कृतमहाविद्यालय मे इनकी अध्यापक के पद पर नियुक्ति हुई। खगोलविद्या मे इनकी विशेष रुचि है। इन्होने भास्कराचार्य (द्वितीय) के ग्रन्थ सिद्धान्तशिरोमणि की उपपत्ति के साथ हिन्दी व्याख्या का प्रणयन किया।

केदारदत्तजी ने 'सिद्धान्तशिरोमणि' के उत्तरार्द्ध खण्ड 'ग्रहगणिताध्याय' और गोलाध्याय की हिन्दी टीका, वासना भाष्य (भास्कराचार्य), मरीचिभाष्य (मुनीश्वर) तथा अपनी उपपत्ति सहित दीपिका टीका के साथ प्रस्तुत किया।

(१) 'ग्रहगणिताध्याय' को तीन खण्डो मे बाँटा गया। पहला खण्ड १९६१ ई० मे का० हि० वि० द्वारा प्रकाशित हुआ। विद्वानो द्वारा समादृत होने पर विश्वविद्यालय अनुदान-

---

१ 'ग्रहगति का क्रमिक विकास' (प्रथम भाग) का प्रकाशन कृष्णदास अकादमी के द्वारा, गोपालमन्दिर लेन (वाराणसी) से १९८२ ई० मे हुआ है।

आयोग ने केदारदत्तजी को आर्थिक अनुदान दिया। अनन्तर 'ग्रहगणिताध्याय' के शेष दोनों खण्ड १९९४ में का० हि० वि० ने प्रकाशित किये। इन पर कठोर श्रम करना पड़ा।

भास्कराचार्य के सिद्धान्तशिरोमणि की टीका के बाद इसी विधा के दूसरे करणग्रन्थ 'ग्रहलाघव' की उपपत्तिसहित मल्लारि एवं विश्वनाथ की टीकाओं के साथ हिन्दी में अपनी टीका प्रकाशित कराई। फलितज्योतिष के आदिग्रन्थ बृहज्जातक ग्रन्थ की टीका लिखते समय भूमिका में फलितज्योतिष का इतिहास लिखा है और यह दिखलाया है कि फलित ज्योतिष से यवन ज्योतिषियों के सिद्धान्तों का ग्रहण किस प्रकार किया गया है।

(४) श्रीरामाचार्य के ग्रन्थ 'मुहूर्तचिन्तामणि' की हिन्दी में उपपत्तिसहित टीका ज्योतिषक्षेत्र में उनका एक अमूल्य योगदान है। इसमें गोविन्द की पीयूषधारा संस्कृत टीका भी दे दी है तथा इस टीका में की गई खगोलसम्बन्धी त्रुटियों को भी स्पष्ट किया गया है। (५) नीलकण्ठ दैवज्ञरचित 'ताजिकनीलकण्ठी' में विश्वनाथ की सस्कृत टीका के साथ सोदाहरण हरिनेत्रवल्लभा अपनी हिन्दीटीका देकर होरास्कन्ध के एक उपखण्ड ताजिक को उन्होंने साधारण-जनसुलभ करा दिया। सच पूछा जाय तो फलित का यह सामान्य कोश है। (६) लघुपाराशरी पर श्री केदारदत्तजी की हिन्दी में टीका प्रकाशित है। (७) 'दैवज्ञाभरण' लिखकर सर्वसाधारण को ज्योतिष का सामान्य ज्ञान प्रदान करने का जोशीजी ने उत्तम प्रयास किया है। इसी क्रम में बृहदवकहड़ाचक्र की भी उन्होंने हिन्दी टीका की।

सम्भवतः केदारदत्तजी ने ज्योतिष के क्षेत्र मे अपने कार्यो को अन्तिम परिणति भास्कराचार्य के ग्रन्थ सिद्धान्तशिरोमणि के उत्तरार्द्ध (११) 'गोलाध्याय' की सोपपत्ति हिन्दी व्याख्या लिखकर दी। इस ग्रन्थ मे दी गई ९६ पृष्ठ की भूमिका सिद्धान्तस्कन्ध का एक इतिहास है। इस टीका पर प्रख्यात आधुनिक खगोलविद् जयत विष्णु नार्लीकर ने प्राक्कथन लिखते हुए लिखा है—"जोशीजी द्वारा हिन्दी में की गई इस ग्रन्थ की पहली टीका उपपत्ति के कारण लाभदायी है। इसके लिए मैं पण्डितजी को बधाई देता हूँ।"—इसमें 'वासना' भाष्य के साथ मरीचिभाष्य भी दिया गया है। हिन्दी में इतने ग्रन्थों की टीका लिख कर पण्डित केदारदत्तजी ने राष्ट्रभाषा की जो सेवा की है इससे हिन्दी जगत् उपकृत है।

पण्डित केदारदत्त जोशी के द्वारा प्रणीत इन ग्रन्थों के अवलोकन से उनके गोलशास्त्रीय वैदुष्य का सद्यः परिचय प्राप्त हो जाता है। ग्रहगणित में उनकी अनुपम आस्था है। पण्डित सुधाकर द्विवेदी के द्वारा उद्भावित गणित के नवीन तथ्यो के प्रति इनकी पूर्ण आस्था है। फलितज्योतिष के प्रति इनके अनुराग में बड़ी न्यूनता है। गणितज्ञान की कमी को ये पञ्चाङ्गों की विसगतियो का कारण मानते हैं। इनके पूर्वोक्त ग्रन्थों में ग्रहगणित तथा गोलाध्याय उपपत्तियों के सद्भाव के कारण विशेष महत्त्व रखते है तथा सर्वत्र समादृत होते हैं।

जोशीजी कर्मकाण्ड के क्षेत्र में भी कौशल रखते है। अतिलक्ष्मीनारायणयाग, श्रीविष्णुयागमाहात्म्य, गायत्रीयागमाहात्म्य, अतिरुद्रयागमाहात्म्य, श्रीसूर्ययागमाहात्म्य, श्रीगणेशयागमाहात्म्य, श्रीरामयागमाहात्म्य—इन ग्रन्थों में विधि-विधानों को साङ्गोपाङ्ग देकर सहस्रनामावली भी प्रस्तुत की है। वे इन यागो के सम्पादन का विशेष ज्ञान रखते हैं और अपने धनसम्पन्न परिचित व्यक्तियों के द्वारा इनका अनुष्ठान भी कराया करते हैं। इसके अतिरिक्त ज्योतिष के विषय में रोचक तथा ज्ञानवर्धक लेख हिन्दी में प्रकाशित कर ये जिज्ञासुजनों का महान् उपकार करते हैं। इन्हीं रचनाओं के कारण अनेक ज्योतिर्विद् इन्हें भारतीय परम्परा का अन्तिम खगोलज्ञ मानते हैं।

●

८५

पण्डित जयमन्त मिश्र

आचार्य डॉ० जयमन्त मिश्र का जन्म शाण्डिल्यगोत्रीय महामहोपाध्याय भवनाथ मिश्र (प्रसिद्ध अयाची मिश्र) के सुपुत्र सर्वतन्त्रस्वतत्र म० म० शकर मिश्र के अवदात वश मे ढङ्गा—हरिपुर—मजरही, पो० कलुआही, जि० मधुबनी (बिहार) मे १५ अक्टूबर १६२५ ई० को हुआ। इनके पिता प० सर्वनारायण मिश्र पूर्व मे काशी मे ही रहा करते थे। फलत इनकी शिक्षा दीक्षा काशी मे ही हुई। काशी के ही रानीचन्द्रावती श्यामामहाविद्यालय से सपूर्ण मध्यमा व्याकरणशास्त्र से प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण की। यही रहकर इन्होने पण्डित उग्रानन्द झा, प० भूपनारायण झा, प० सूर्यनारायण शुक्ल, प० नारायणदत्त त्रिपाठी तथा प० बालबोध मिश्र के श्रीचरणो मे बैठकर व्याकरण विषयक शास्त्रीय तथा आचार्य के सभी ग्रन्थो का अध्ययन और परिशीलन किया। साहित्य शास्त्र के ग्रन्थो का अध्ययन प० आनन्द झाजी मे कर बिहारसस्कृतसमिति, पटना की साहित्याचार्य परीक्षा मे प्रविष्ट होकर प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्णता प्राप्त की। अग्रेजी का अध्ययन इन्होने यही किया और १६५० ई० मे पटनाकालेज से बी० ए० की परीक्षा दी जिसमे प्रथम श्रेणी मे प्रथम स्थान प्राप्त किया। विशिष्ट योग्यता के कारण इन्हे स्वर्णपदक प्राप्त हुआ। १६६१ ई० मे इन्होने बिहारविश्वविद्यालय से पी एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

अध्यापन कार्य

बिहारविश्वविद्यालय के अन्तर्गत मुजफ्फरपुर मे सस्कृतविभाग के उपाचार्य, आचार्य, वरीय आचार्य के रूप मे विभागाध्यक्ष के पद पर कार्यरत रहे। केन्द्रीय सरकार के द्वारा नियुक्त होकर ये नेपाल मे त्रिभुवनविश्वविद्यालय के सस्कृतविभाग मे प्रोफेसर के पद पर कार्यरत रहे (१६६३ से १६६६ तक तथा १६७२ से ७५ तक)। जुलाई १६८० से नवम्बर तक रामेश्वरसिह दरभगा सस्कृत विश्वविद्यालय, दरभगा मे कुलपति पद पर रहकर इन्होने सस्कृत की पूर्ण सेवा की। फलस्वरूप १६८६ ई० मे ये राष्ट्रपतिपुरस्कार मे सम्मानित किये गये।

ग्रन्थ

काव्यात्ममीमासा तथा अलकारप्रकाश ग्रन्थो का प्रणयन कर इन्होने कीर्ति प्राप्त की। 'सस्कृतव्याकरणोदय' इनका ग्रन्थ एम० ए० कक्षा के विद्यार्थियो के लिये विशेष उपयोगी है। नैपाल मे रहते हुए इन्होने 'पुण्यचिन्तामणि', शैवसर्वस्वसार, मुद्रित कुवलयाश्व नाटक, अभिलेखगीतमाला आदि पुस्तको का सपादन किया।

प्राच्यविद्यासम्मेलन के अनेक महाधिवेशनो मे आचार्य मिश्र ने दर्शन तथा धर्म, क्लासिकल सस्कृत आदि अनुभागो मे अध्यक्षता की है। विश्व-सस्कृत-सम्मेलन के वाइमर (पूर्व जर्मनी) अधिवेशन मे आचार्य मिश्र का विशिष्ट योगदान रहा तथा इसके फिलेडेल्फिया

(अमेरिका) के षष्ठाधिवेशन मे डॉ० मिश्र सस्कृतसाहित्यानुभाग के अध्यक्ष रहे। पचम विश्व-सस्कृत सम्मेलन के काशी हिन्दू विश्वविद्यालय-अधिवेशन मे भी इनका विशिष्ट योगदान था।

पण्डित जयमन्त मिश्र सरस्वती के एकनिष्ठ सेवक है। ये सस्कृत लिखने तथा भाषण करने मे समर्थ है। अनेक पत्र पत्रिकाओं मे इनके प्रौढ़ लेख प्रकाशित होते रहते है।

पण्डित मधुसूदन शास्त्री

हिन्दूविश्वविद्यालय के अन्तर्गत सस्कृत महाविद्यालय का साहित्यविभाग अध्यापको के वैदुष्य तथा साहित्यिक गरिमा से सर्वथा सम्पन्न एव समादृत था। सबसे पहिले प० चन्द्रधर जी इस विभाग को अलकृत करते थे तथा अपनी सुबोध अध्यापनशैली के कारण पण्डितो मे समादरभाजन थे। उनके अनन्तर प० महादेव पाण्डेयजी अध्यक्ष पद पर आसीन हुये, परन्तु उनके शीघ्र ही विद्यालय के प्रिन्सिपल के पद पर प्रतिष्ठित होने से वह पद पुन रिक्त हो गया और तब पण्डित मधुसूदन शास्त्री इस पद पर नियुक्त किये गये।

शास्त्रीजी की जन्मस्थली राजस्थान का गिरावा ग्राम है जहाँ इनका जन्म वि० स० १९६० (=१९०३ ई०) मे हुआ। इनके पिता पण्डित रामजी लाल शर्मा राजस्थान मे 'वेदवेदाङ्ग सस्कृत महाविद्यालय' के प्रधानाचार्य थे। अपने विद्वद्वरेण्य पिता से साहित्यशास्त्र का अध्ययन कर ये काशी आये और इस महाविद्यालय मे अध्यापक नियुक्त हुये १९३६ ईस्वी मे, जहा जुलाई १९६८ ईस्वी तक ३२ साल की लम्बी अवधि तक अध्यापन कार्य किया। अध्यापन के सग मे ग्रन्थलेखन की बड़ी अभिरुचि थी जिसके कारण इन्होने हिन्दी मे अनेक प्रौढ़ सस्कृत ग्रन्थो का अनुवाद किया जिनमे मुख्य है—

(१) काव्यमीमासा सस्कृत मधुसूदनी टीका तथा हिन्दी व्याख्या बालक्रीडा सहित।

(२) व्यक्तिविवेक मधुसूदनी विवृति सहित

(३) रसगगाधर हिन्दी अनुवादसहित।

(४) नाट्यशास्त्र अभिनवभारती के साथ पूरा ग्रन्थ चार भागो मे। इसका वैशिष्ट्य है मूल ग्रन्थ तथा उसकी प्रख्यात टीका अभिनवभारती दोनो का विवेचनासहित हिन्दी अनुवाद। यह ग्रन्थ अपनी प्रौढ़ता तथा विवेचना के कारण शास्त्री के समग्र ग्रन्थो मे श्रेष्ठ है। हिन्दूविश्वविद्यालय के द्वारा प्रकाशित।

(५) सानुशीलन काव्यप्रकाश (सस्कृत तथा हिन्दी व्याख्या)।

ये ग्रन्थ पाण्डित्यपूर्ण है। टीका लिखने मे आपकी लेखनी खूब चलती रही। उत्तर प्रदेशशासन के द्वारा आपके अनेक ग्रन्थ पुरस्कारो से सम्मानित है। मालवीयजी के सामाजिक कार्यो मे ये सर्वदा सहायता करते थे, विशेषकर हरिजनो की मन्त्रदीक्षा के अवसर पर। आपने 'भारतीय पण्डित महापरिषद्' की स्थापना की है जिसके द्वारा सस्कृत के प्राचीन १५ कवियो के रुचिर चित्रो का निर्माण किया गया है तथा उनकी जयन्तियाँ मनाई जाती है। लखनऊ की सस्कृतअकादमी ने आपको पन्द्रह हजार रुपयो के एक विशिष्ट पुरस्कार से भी सम्मानित किया है।

शास्त्रीजी की मौलिक सस्कृतरचना भी लेखो के रूप मे विभिन्न पत्रिकाओं के कलेवर को अलकृत करती है। 'श्रीपण्डित' नामक सस्कृत मासिक पत्रिका के सस्थापक-सम्पादक होने

का भी गौरव इन्हें प्राप्त है। पहिले तो यह पत्रिका मासिक थी, आजकल त्रैमासिक हो गई है। यह पण्डितपरिषद् का पत्र है।

काशी में ही पौषकृष्ण सप्तमी वि० सं० २०४४ (२३ दिसम्बर १९८६ ई०) को ८३ वर्ष की आयु में आपका निधन हुआ।

पण्डित रामकुबेर मालवीय साहित्य विभाग के ही अध्यक्ष थे। हिन्दूविश्वविद्यालय से ही साहित्य तथा व्याकरण के आचार्य, आयुर्वेदरत्न तथा संस्कृत में एम० ए० थे। अध्यापन कार्य में ये संस्कृतमहाविद्यालय में १९५८ ई० से १९६२ ई० तक तथा सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय में १९६२ से १९६८ तक दोनों स्थानों पर विभागाध्यक्ष रहे। संस्कृत में काव्यरचना में नितान्त प्रवीण थे। मालवीयमहाकाव्यम्—१६ सर्गों में महामना का विस्तृत जीवनचरित है। 'विक्रमांकदेवचरित' महाकाव्य की संस्कृत व्याख्या तथा ध्वन्यालोक पर अञ्जन नामक संस्कृत टिप्पण की रचना कर इन्होंने ख्याति प्राप्त की। 'राघवनैषधीय' नामक कठिन काव्य का हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित किया। सदाचारी, धर्मनिष्ठ, विद्याव्यसनी के रूप में इनकी कीर्ति सर्वदा उज्ज्वल रहेगी। जन्म—१९०६ ई० तथा निधन—१९७३ ई०।

पण्डित जगदीशचन्द्र शास्त्री भी इसी विभाग से सम्बद्ध थे। इनका जन्म हरियाणा प्रान्त के अन्तर्गत कुरुक्षेत्र मण्डलस्थ पिलनी ग्राम में १९२४ ईस्वी में हुआ था। इनके पूज्य पिता का नाम प० रामदत्त शास्त्री था जो काशी में ही व्याकरण तथा न्याय का गम्भीर अध्यापन कर पाण्डित्य के वैभवसम्पन्न मनीषी थे। जगदीशचन्द्रजी ने पिता से आरम्भिक संस्कृतशिक्षा प्राप्त की। काशी मे तिवारीजी से व्याकरण का, प० पद्मप्रसाद भट्टराई से न्यायशास्त्र का तथा प० ताराचरण भट्टाचार्य से साहित्यशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया। काशी में ही टीकमणि संस्कृत-कालेज के प्रधानाचार्य पद पर बहुत दिनो तक प्रतिष्ठित रहे। तदनन्तर हिन्दूविश्वविद्यालय के संस्कृतमहाविद्यालय मे साहित्य के रीडर पद पर कार्य करते रहे। सन् १९८४ में सेवानिर्मुक्त हुये और अपने आवास पर ही छात्रों का आज अध्यापन करते है। संस्कृत की अभिराम कविता का निर्माण करते है। आपने **ध्वनिप्रस्थान में आचार्य मम्मट का अवदान** की रचना की है जिससे इनके साहित्य के प्रौढ़ पाण्डित्य का परिचय मिलता है। व्याकरण मे सिद्धान्तकौमुदी के 'विमलालोक-व्याख्यान' का प्रणयन किया है। दोनो ही ग्रन्थ प्रकाशित है। 'संस्कृतरत्नाकर' के सम्पादन मे भी इनका योग रहता था। इनके शिष्यो में डॉ० रामरंग शर्मा (काशी) तथा डॉ० गोपराजूराम (प्रयाग) मुख्य है जिन्होने 'हरविजय' (पचास सर्ग) महाकाव्य का प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित किया है।



८६

पण्डित रामशरण त्रिपाठी

आचार्यों ने श्रवण, मनन के द्वारा शास्त्र के गम्भीर अर्थ का स्वत ज्ञान तथा आचरण के द्वारा उसे हृदयगम करने के अनन्तर ही उपदेश द्वारा उसके प्रचारण का आदेश दिया है, परन्तु वर्तमान काल मे ऐसे विद्वानो का सर्वथा अभाव होता जा रहा है जो इन चारो विधाओं का आश्रयण कर विद्या के प्रचारण मे सलग्न रहते है। अन्वेषण करने पर ही ऐसे विद्वान् उपलब्ध होते है जिनके जीवन का आधार इन चारो के ऊपर अन्तत आश्रित रहता है। ऐसे ही सुयोग्य विद्वानो मे पण्डित रामशरण त्रिपाठी शास्त्री की गणना की जा सकती है।

शास्त्रीजी के लिए सस्कृतविद्या का अधिगमन अपने पूर्वजो के द्वारा प्रदर्शित पाण्डित्य परम्परा के सर्वथा अनुगमन का ही एक अग था। इनके पूज्य पितामह ज्योतिष विद्या के प्रवीण पण्डित थे और विशेष रूप से जमीन मे गड हुए धन का पूरा पता लगाना उनके बाये हाथ का खेल था। शास्त्रीजी के पिता पण्डित गिरिधारी प्रसाद त्रिपाठी भी सस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। उन्होने अपने पाँचो पुत्रो को विद्या के अर्जन मे लगाया तथा सस्कृत का सुयोग्य विद्वान् बनाया। इन्ही के द्वितीय पुत्र मुक्तादत्त त्रिपाठी रायपुर मण्डल (म० प्र०) के ऐतिहासिक तीर्थस्थल राजिम मे सस्कृतपाठशाला के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित थे। इसी ब्राह्मणवश मे प० रामशरण त्रिपाठीजी का जन्म बादा मण्डल के यमुनाकूलवर्ती 'मरका' ग्राम मे ३० दिसम्बर १९०८ ईस्वी को हुआ। अध्ययन के प्रति बाल्यकाल से इन्हे रुचि थी, परन्तु आरम्भ मे पूरा सुयोग नही मिल सका। त्रिपाठीजी ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा मरका से १४ मील की दूरी पर स्थित बबेरु नामक तहसील मुख्यालय के विद्यालय मे प्राप्त की और वही से हिन्दी मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण की। शिक्षा के प्रलोभन मे ही इन्हे एक धूर्त से ठगे जाने का भी अवसर मिला, परन्तु अपनी आकाक्षा की पूर्ति के लिए ये उससे बचकर निकल गये और अपने ज्येष्ठ भ्राता के विद्यालय मे राजिम जा पहुँचे और इनसे ही काव्य तथा ज्योतिष का विधिवत् अध्ययन आरम्भ किया। काव्यो मे रघुवश, भट्टिकाव्य तथा दशकुमारचरित का एव ज्योतिष के मुहूर्त चिन्तामणि तथा बृहज्जातक आदि फलित के ग्रन्थो का परिश्रमपूर्वक अध्ययन करने से इनकी बुद्धि को स्फूर्ति मिली तदनन्तर जौनपुर जिला के उकनी ग्राम मे स्थित उस युग के प्रख्यात विद्यासस्थान 'भोलानाथ सस्कृत विद्यालय' मे सस्कृतविद्या मे प्रौढि प्राप्त करने की लालसा से आ पहुँचे। विद्यालय के आचार्य जयदेव मणि त्रिपाठी ने काशी मे रहकर व्याकरण का अभ्यास किया था जहाँ वे सस्कृतकालेज के प्रख्यात अध्यापक महामहोपाध्याय तात्या शास्त्रीजी के अन्तरग शिष्यो मे परिगणित थे।

जयदेवजी के उत्कृष्ट वैयाकरणत्व की ख्याति ने ही रामशरणजी को उकनी आने के लिए आकृष्ट किया था। यहाँ पॉच वर्षो (१९२४ ई० २९ ई०) तक निरन्तर विद्या का अभ्यास कर व्याकरण के प्रौढ ग्रन्थो - कौमुदी, शेखर तथा महाभाष्य के गम्भीर आलोडन के द्वारा व्याकरणशास्त्र का प्रौढ पाण्डित्य प्राप्त किया जो विद्या के प्रचारण मे सर्वथा समर्थ था।

शिक्षा की पूर्ति के निमित्त ये काशी में भी आये, परन्तु यहाँ आवास की व्यवस्था न होने के कारण इन्हें सीलनभरे मकान में रहना पड़ा जिससे इनके स्वास्थ्य को गहरा धक्का लगा और इस कारण इन्हें इस विद्यानगरी की शिक्षा-दीक्षा का सुयोग्य अवसर प्राप्त न हो सका।

अध्यापन

ऊपर कहा गया है कि इन्होंने अपने ज्येष्ठभ्राता की पाठशाला में ही प्रथमतः अध्यापन कार्य किया और शिक्षण के कार्य में उन्हें पर्याप्त सहायता दी। उकनी में शिक्षाग्रहण के अनन्तर ये चित्रकूट में अध्यापक हो गये। चित्रकूट के 'श्री रामनाम संस्कृत विद्यालय' में तीन वर्षों तक छात्रों को संस्कृत की शिक्षा दी तथा स्वयं ग्रन्थों का प्रणयन करना आरम्भ किया और इन्हें पूर्ण करने में लगे रहे। उस समय आरम्भ या परिसमाप्त की गई बड़ी कृतियों में उल्लेखनीय हैं—

(१) **सिद्धान्तादर्श**—लेखक ने कौमुदी के दुरूह सूत्रों पर पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष-समन्वित शास्त्रार्थप्रक्रिया समझाते हुये संस्कृतव्याख्या लिखी है (अप्रकाशित)।

(२) सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या जो पूर्ण न हुई अतएव प्रकाशित न हो सकी।

(३) **सरल ज्योतिर्विज्ञान**—फलितज्योतिषविषयक हिन्दी में पद्यबद्ध रचना जिसमें जन्मकुण्डली बनाने की विधि आदि अनेक विषयों का हिन्दी के कवित्त, सवैया, दोहा आदि छन्दों में तथा संस्कृत के वसन्ततिलका, भुजंगप्रयात आदि वृत्तों में सुन्दर विन्यास है। १९३९ ई० में आगरा से प्रकाशित इसके आठ संस्करण ग्रन्थ की लोकप्रियता के सद्यः प्रमाण है।

पण्डित रामशरणजी को विद्याध्ययन से कभी सन्तोष नहीं होता था। चित्रकूट में रहते हुये भी इन्होंने कलकत्ते की 'काव्यतीर्थ' परीक्षा उत्तीर्ण की तथा ज्ञानपिपासा की शान्ति के निमित्त ये लाहौर चले आये और यहीं के ओरियन्टल कालेज से शास्त्री की परीक्षा पास की। लाहौर की इस परीक्षा को उस समय बड़ा आदर तथा सम्मान प्राप्त था। क्यों न हो ? इस समय यहाँ के प्रिन्सिपल डॉ० ऊलनर साहब थे जो अपने विद्याप्रेम तथा संस्कृतशिक्षण की सुन्दर व्यवस्था के लिए उत्तरभारत में नितान्त प्रख्यात थे। लाहौर में रहते इनका परिचय आगरा के दयालबाग के राधास्वामी सम्प्रदाय के संस्थापक साहबजी महाराज से हुआ। साहब जी महाराज स्वयं अध्यात्मविद्या में निष्णात चिन्तक थे और विद्वानों की गुणग्राहकता के लिए प्रसिद्ध थे। उन्होंने पण्डित रामशरणजी के सात्त्विक स्वरूप, गम्भीर शास्त्राध्ययन एवं शास्त्रीय वैदुष्य से प्रभावित होकर इन्हें अपने संस्थान में आगरा बुला लिया। यहीं पण्डितजी अध्यापन कार्य के लिए चले आये और १९ वर्षों (१९३४ ई०–१९५३ ई०) तक जमकर विद्यादान करते रहे। यहीं संस्था के कालेज में संस्कृत तथा हिन्दी के अध्यापक का पद प्राप्त हुआ। यहीं रहकर पण्डितजी ने अपनी पारिवारिक विषम स्थिति का प्रशमन करते हुये दिन बिताये। विवाह किया तथा तीन सन्तानों को जन्म देकर जब वह भाग्यशालिनी दिवंगत हो गई, तब इन्होंने अपनी सन्तान के लिए माता तथा पिता दोनों का पवित्र उत्तरदायित्व सँभाला। साथ ही साथ आगरा से हिन्दी तथा संस्कृत में एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की। १९५३ ई० में ये मुरादाबाद चले आये। वहाँ के के० जी० के० स्नातकोत्तर महाविद्यालय में संस्कृतविभाग के मुख्य अध्यापक के रूप में अध्यापन तथा शोधकार्य दोनों साथ-साथ करने लगे।

ग्रन्थ-प्रणयन

इस कालेज मे रहते हुये पण्डितजी ने अनेक ग्रन्थो का प्रणयन किया । एम० ए० सस्कृत की शिक्षा हिन्दी मे होने लगी । अध्यापन तथा परीक्षण दोनो हिन्दी मे होने लगा । फलत त्रिपाठीजी का ध्यान इधर आकृष्ट हुआ और एम० ए० परीक्षा मे निर्दिष्ट वेदान्तसार की **भावबोधिनी** सस्कृत तथा हिन्दी व्याख्या का निर्माण किया जो १९५४ ईस्वी मे वाराणसी के चौखम्भा विद्याभवन से प्रकाशित हुआ तथा अनेक सस्करण कालान्तर मे यही से प्रकाशित होते रहे ।

रचनात्मक साहित्य मे इन्होने **कौमुदी कथा कल्लोलिनी** का निर्माण किया जो सस्कृत के गद्यसाहित्य मे अपना वैशिष्ट्य धारण करता है । इस ग्रन्थ मे कथासरित्सागर मे उल्लिखित नरवाहनदत्त का वृत्तान्त अभिराम सस्कृत गद्य मे सुभग शैली मे वर्णित है । गद्यकाव्य मे एकादश कल्लोल है जिनमे क्रमश सन्धि, कारक, स्त्रीप्रत्यय, समास, तद्धित आदि विषयो का विवेचन किया गया है । यह गद्यकाव्य सिद्धान्तकौमुदी के दृष्टान्त तथा प्रयोगो से सर्वथा अनुस्यूत है । कल्लोल मे व्याकरण के दुर्लभ प्रयोगो के साथ ही साथ विरोध, यथासख्य, उत्प्रेक्षा आदि अलकारो की भी छटा मिलती है । १९६१ ई० मे चौखम्भाविद्याभवन से प्रकाशित हुआ था । आजकल यह दुर्लभ हो गया है । इसके रचना वैशिष्ट्य का सकेत पण्डित श्रीनिवास शास्त्री ने अपने सूर्यप्रभा किवा वैभवपिशाच ' नामक सस्कृत उपन्यास मे इस प्रकार किया है—

दीक्षितपदानुयाता व्याकरणक्षीरपूरिता वितता ।
कल्लोलिनी सुललिता जैर्ग्राह्या रामशरणस्य ॥

त्रिपाठीजी को डाक्टरेट उपाधि पाने की तीव्र अभिलाषा थी और इसके लिए इन्होने वेदान्तविषयक निबन्ध प्रस्तुत किया । ये वेदान्तसूत्र के मनन एव निदिध्यासन मे सदा सलग्न रहते थे । फलत इन सूत्रो के ऊपर रचित प्रमुख भाष्यपञ्चक के गम्भीर अन्वेषण के आधार पर सस्कृत मे थीसिस लिखी जिसका नाम था—**ब्रह्मसूत्र-प्रमुख-भाष्यपञ्चक-समीक्षणम्** । इन्हे इसके आधार पर आगराविश्वविद्यालय से १९६३ ई० मे 'डाक्टरेट' की उपाधि प्राप्त हुई । इस भाष्यपञ्चक मे शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्क, मध्व एव वल्लभाचार्य के प्रख्यात भाष्यो का गम्भीर आलोडन तथा मनन किया गया है । यह ग्रन्थ भी चौखम्भाविद्याभवन से १९७१ ई० मे प्रकाशित हुआ और इस प्रकार त्रिपाठीजी को चिराभिलषित पदवी प्राप्त हो गई ।

पण्डित रामशरण शास्त्री प्राधान्यत व्याकरण के गम्भीर वेत्ता थे । शास्त्रीजी पदशास्त्र-पारावारीण थे । उनकी शब्दसम्पदा असीम थी । व्याकरण पर उनका असाधारण अधिकार था और नये-नये शब्द गढ़ने की उनमे अद्वितीय क्षमता थी । ऐसा व्यक्ति यदि काव्यनिर्माण करेगा तो उसमे शब्दालकार का ही प्राचुर्य होगा इसीलिए अनुप्रास, यमक, श्लेष, विरोध और परिसख्या इनके प्रिय अलङ्कार है । शास्त्रीजी की कविता मे इन अलकारो की योजना सर्वथा दर्शनीय है । बाँदा जनपद के खत्री पहाड पर अवस्थित विन्ध्यवासिनी के मन्दिर के मुख्यद्वार पर उनके द्वारा निर्मित यह श्लोक लगा हुआ है जिसके उनके अनुसार ३५ अर्थ है । इस श्लोक की व्याख्या मे इन्होने एक छोटी पुस्तिका ही छपाई थी । श्लोक यह है—

शिवदास्यपि या कमला विभ्व्यपि खात्र्यद्रिविन्ध्यनगनिष्ठा ।
अवतु सदा वसुहस्ता साऽपर्णा नोऽन्नपूर्णापि ॥

पण्डित रामशरण त्रिपाठीजी उच्चकोटि के भावुक कवि थे । उनकी बहुत-सी स्फुट

कवितायें प्रसिद्ध हैं। जब इनका ज्येष्ठ पुत्र डॉ० गयाचरण त्रिपाठी जर्मनी में विद्या-अर्जन के लिए गया था समुद्रमार्ग से जहाज के द्वारा, तब पण्डितजी उसे पहुँचाने बम्बई गये थे। उस समय **पितुः परिदेवनम्** नामक कविता पण्डितजी ने लिखी घर लौटने पर। पुत्र को विदा कर जब ये घर लौटे, तो उसके वियोग में पितृसुलभ स्नेहातिरेक के कारण जो ऊर्मियाँ इनके हृदयोदधि में उमड़ीं, उन्हें बड़ी मार्मिकता से इन्होने पूर्वोक्त कविता में अंकित किया है। भुवनेश्वर तथा प्रयाग में सेवानिवृत्त होने पर पण्डितजी अपने पुत्रों के साथ लगभग साढ़े पाँच वर्षों तक रहे। प्रेम से अपने पुत्र-पौत्रों के साथ कालयापन करते थे। प्रयाग में ४ दिसम्बर १९७७ ई० के एक अल्पकालिक साघातिक रोग के कारण शास्त्रीजी का स्वर्गवास हो गया। शास्त्रीजी स्वभाव से अत्यधिक सौम्य, अतिशय शान्त, अतीव विनम्र और परमकारुणिक थे। किसी का इन्होंने कभी अनिष्ट नहीं सोचा और सदा मानवमात्र के कल्याण की कामना किया करते थे।

पण्डित रामशरणजी की लेखनी कविता की धनी थी। स्फुट कविता लिखने में वे बड़े दक्ष थे। पत्राचार पण्डितों से संस्कृत पद्यों के माध्यम से ही किया करते थे। उनके दो पद्य यहाँ प्रस्तुत किये जाते है—

साहित्यिक मित्र शारदाचरण दीक्षित को भेजा गया पद्य--

श्रीशारदाचरणदीक्षितसुध्युपास्याः
वाङ्मध्वरिन्दमसुवक्त्रुपमेयवाचः ।
विद्वत्-प्रकाण्ड- हरयोऽर्चितसाधवो मे
प्रोन्नायका सुरगिरां नतिभावकाः स्युः ॥

पद्यगत बहुत से पद सिद्धान्तकौमुदी मे दृष्टान्तरूप मे उपन्यस्त है।

मुरादाबाद नगर में ज्योतिष्पीठाधीश्वर श्री १०८ कृष्णबोधाश्रमजी का स्वागतपद्य --

पापान् कर्षति वर्षति प्रियवचः कीलालकल्पं च यो
बुद्धिं बोधयते यतेः पथि हृषीकाणीह नेनीयते ।
ओङ्कारीयति शङ्करेण वपुषा सत्यं निषेसिक्लृतं
लब्ध्वा स्वागतिका वयं सुकृतिनस्तं कृष्णबोधाश्रमम् ॥

प्रयाग के गगानाथ झा (केन्द्रीय सस्कृतविद्यापीठ) ने शास्त्रीजी की पुण्यस्मृति में 'पण्डित-रामशरणशास्त्रिस्मृतिविशेषाङ्कः' नामक स्मृतिग्रन्थ का १९८५ ई० में प्रकाशन कर उनकी स्मृति को अक्षुण्ण बनाये रखने का श्लाघनीय उपक्रम किया है। इसी ग्रन्थ के आधार पर शास्त्रीजी का संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया गया है।

डॉक्टर गयाचरण त्रिपाठी

पण्डित रामशरण त्रिपाठी के ज्येष्ठ पुत्र डॉ० गयाचरण त्रिपाठी अपने पूज्य पितृचरण के समान ही संस्कृतभाषा तथा साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। किसी जर्मन शैक्षणिक संस्था के द्वारा विशिष्ट छात्रवृत्ति से पुरस्कृत होकर इन्होंने जर्मनी में पुराण तथा वेद के ऊपर विशेष शोध किया है। जर्मनभाषा में विशिष्ट योग्यता प्राप्त कर इन्होंने जर्मनभाषा में ही अपना शोध-निबन्ध प्रस्तुत किया है जो एक महनीय एवं श्लाघनीय कार्य है। जर्मन संस्थान के द्वारा जगन्नाथपुरी की दिव्यविभूति पुरुषोत्तम भगवान् की पूजापद्धति एवं ऐतिहासिक स्वरूप के शोध के लिए भेजे जाने पर इन्होंने भुवनेश्वर आकर अनेक वर्षों के प्रयास से इस कार्य की सुचार

रूप से गवेषणा की है जो दार्शनिक एव धार्मिक दृष्टि से बड़ी ही उपयोगी, उपादेय तथा प्रामाणिक स्वीकृत की गयी है।

गयाचरणजी मे विद्वानों तथा गुणीजनों के परखने की योग्यता कूट-कूट कर भरी है। ये विद्वानों के आदर-सत्कार करने मे किसी से पीछे नही रहते। सस्कृत तथा अग्रेजी दोनो भाषाओं मे इनके लेख मार्मिक एव तलस्पर्शी होते है। 'गगानाथ झा सस्कृतविद्यापीठ' के ये आचार्य है तथा उसके द्वारा प्रकाशित शोधपत्रिका के सम्पादक भी है।

प० गयाचरणजी ने वैदिक देवता के उद्भव-विकास के विषय मे एक महत्त्वपूर्ण ग्रथ की रचना की है। इसका नाम है **वैदिक देवता : उद्भव और विकास**। यह दो खण्डो मे विभक्त सात सौ पचास पृष्ठो का उपादेय ग्रन्थ है। लेखक ने इसे प्रमेयबहुल तथा प्रमाणपुरस्कृत करने मे कोई भी साधन छोड़ नही रखा है। विकास की धारा ब्राह्मणग्रथ तथा कल्पसूत्र से होकर पुराण तथा इतिहास तक बडी ही विशद रीति से प्रवाहित होती दिखलाई गई है। इस कार्य के लिए लेखक के समीक्षण एव अनुशीलन की जितनी प्रशसा की जाए, थोडी ही है। अपने सिद्धान्तो की पुष्टि के लिए दुर्लभ ग्रथो से पुष्कल उद्धरण देकर तथा उनका सागोपाग विश्लेषण कर लेखक ने विज्ञ पाठको के सामने सोचने-विचारने, समझने बूझने के लिए पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की है जो उपादेय, आवर्जक तथा आकर्षक है। पारसी देवताओं के साथ वैदिक देवताओं की तुलना कर लेखक ने बहुत ही उपयोगी तथा मननशील कार्य सम्पादित किया है। इसी ग्रथ के ऊपर त्रिपाठीजी को डॉ० की उपाधि मिली थी तथा यह साहित्यिक सस्थाओं द्वारा पुरस्कृत भी किया गया है।

इस प्रकार पण्डित रामशरण त्रिपाठी तथा डॉक्टर गयाचरण त्रिपाठी—पिता-पुत्र ने मिलकर समभावेन सस्कृतभाषा की पर्याप्त सेवा की है। इनके ऊपर भगवती शारदा की अपार कृपा बरसती रहे—यही प्रार्थना है।



काशीस्थ आर्यसमाजी विद्वान्

काशी आर्यसमाज के विद्वानो की उपदेशस्थली अनेक वर्षो मे रही है। स्वामी दयानन्दजी का आगमन धर्मप्रचार की दृष्टि से विभिन्न समयो मे यहाँ होता रहा है। उनसे पूर्व उनके गुरुवर्य स्वामी विरजानन्दजी ने भी काशी मे लगभग बीस वर्षो का सुदीर्घ काल अध्ययन मे बिताया और उनके अनन्तर विद्वानो ने अपनी शिक्षा-दीक्षा के लिए काशी के विद्वानो का आश्रय लिया। काशी के विद्वान् पहिले तो पढ़ाने मे सकोच करते थे, परन्तु धीरे-धीरे उनकी कल्पना बदली और वे उदार भाव से अपनी विद्या का दान जिज्ञासुजनो को नि सकोच भाव से देने लगे। ऐसे विद्वानो मे अग्रणी पण्डित देवनारायण तिवारी (तिवारीजी) व्याकरणकेसरी का व्यवहार बडा ही उदार, हृदयावर्जक तथा आदरणीय था। पण्डित काशीनाथ शास्त्रीजी सन्त पुरुष थे जो विद्यादान मे बद्धमुष्टि नही थे। तथ्य तो यह है कि इन दोनो विद्वानो के द्वारा शिक्षित व्यक्ति आर्यसमाजी विद्वानो की अग्रपंक्ति मे स्थान रखते है। मीमासा के अध्यापन मे म० म० प० चिन्नस्वामी भी इस प्रसग मे सर्वदा स्मरणीय रहेगे। प्रधान पण्डितो का सक्षिप्त परिचय यहाँ उपन्यस्त है।

भारत के अन्य धर्माचार्यो की ही भाँति आर्यसमाज के सस्थापक तथा विगत शताब्दी में वैदिक चर्चा के पुनरुद्धारक स्वामी दयानन्द भी अनेक बार काशी आये और यहाँ रहकर उन्होंने विभिन्न शास्त्र-चर्चाओं तथा धर्मविषयक सवादो मे भाग लिया। स्वामीजी का काशी आगमन सात बार हुआ था। प्रथम बार तो १८५६ ई० मे उस समय काशी आये जब विद्याध्ययन, योगि-गवेषणा तथा स्वय की साधना का उनका मार्ग बहुत प्रशस्त नही हुआ था। इस बार वे केवल १२ दिन ही यहाँ रहे तथा काशी के प्रख्यात पण्डितद्वय काकाराम तथा राजाराम शास्त्री से भेट की।

दूसरी बार काशी मे वे १८६६ ई० मे आये और इसी बार उनका काशी के पण्डितो से शास्त्रार्थ हुआ जिसका विवरण आगे स्वामी विशुद्धानन्दजी के प्रसग मे दिया गया है।

स्वामी दयानन्द का तृतीय बार का काशीआगमन १८७० ई० मे हुआ। इस बार लगभग अढ़ाई मास तक वे यहाँ रहे और शाकरवेदान्त के निराकरण मे अद्वैतमतखण्डन शीर्षक एक लघु पुस्तिका लिखी। प्रख्यात साहित्यकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सस्कृत मे लिखित इस पुस्तक को स्वसम्पादित 'कविवचनसुधा' मे धारावाही प्रकाशित किया था। उनका चतुर्थ काशी आगमन १८७२ ई० मे हुआ। इस समय तक स्वामीजी के प्रवचन सस्कृतभाषा मे ही होते थे, क्योकि अभी तक हिन्दी पर उनका अधिकार नही हो सका था। मई १८७३ मे वे पुन काशी आये और मुस्लिम नवजागरण के सूत्रधार सर सैयद अहमद खाँ से मिले। उनके निवास पर स्वामीजी के दो-तीन व्याख्यान भी हुए। काशीनरेश ने उन्हे सादर राजप्रासाद मे आमत्रित किया और ससम्मान विदाई दी। १८७६ मे तो उन्होने काशी मे चातुर्मास्य ही किया। इस बार वे उत्तमगिरि के बगीचे मे ठहरे थे।

स्वामी दयानन्द का अन्तिम बार का काशी-आगमन नवम्बर १८७६ में हुआ। इस बार उनका निवास महाराजा विजयनगर के बाग में हुआ। उन्होंने सस्कृत में विज्ञापन प्रकाशित कर स्वमन्तव्यों से लोगों को अवगत कराया तथा धर्म-विषयक अनेक व्याख्यान भी दिये। काशी में ही उन्होंने शास्त्रग्रन्थों का प्रकाशन करने तथा स्वरचित वेदभाष्य तथा अन्य ग्रन्थों के मुद्रण की सुविधा की दृष्टि से **वैदिक यंत्रालय** नामक प्रेस की स्थापना की। थियोसोफिकल सोसाइटी के संस्थापक कर्नल ऑल्काट तथा मेडल ब्लैवेट्स्की ने भी काशी आकर स्वामी दयानन्द से धर्मविषयक वार्तालाप किया। हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक राजा शिवप्रसाद सितारे-हिंद से स्वामीजी की **वेद-संज्ञा-विचार** विषय पर लिखित चर्चा हुई। स्वामीजी मंत्रसहिता को ही वेद संज्ञा प्रदान करते थे जब कि राजासाहब की सम्मति में ब्राह्मणग्रन्थों की भी वेद संज्ञा थी। स्वामी दयानन्द ने काशी में एक 'सस्कृत शास्त्र पाठशाला' भी स्थापित की।

डी० ए० वी० कालेज लाहौर मे सस्कृत और दर्शन के प्रवक्ता **(१) म० म० पण्डित आर्यमुनि** का जन्म यद्यपि भूतपूर्व पटियाला राज्य के एक ग्राम मे एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ था, किन्तु अपने विद्यार्थीकाल मे वे पर्याप्त समय तक विद्योपार्जन के लिए काशी रहे थे। यहाँ रहकर उन्होंने विभिन्न शास्त्रो का अध्ययन किया। सन् १८७६ में उनकी भेट स्वामी दयानन्द से भी हुई थी और वे स्वामीजी की वैदिक शिक्षाओं से अत्यधिक प्रभावित हुए थे। पं० आर्यमुनि ने स्वामी दयानन्द द्वारा किये गये ऋग्वेदभाष्य के आगे का भाष्य नैरुक्तपद्धति का आश्रय लेकर किया। उनका यह भाष्य सस्कृत तथा हिन्दी में सप्तम मण्डल के ६१वें सूक्त के तीसरे मत्र से आरम्भ होकर नवम मण्डल पर्यन्त है। इसके अतिरिक्त आर्यमुनि ने दशोपनिषद्भाष्य लिखा। उनकी दृष्टि द्वैतवाद को पुष्ट करने की रही है। इसी प्रकार उन्होंने मीमासासहित (षष्ठ अध्याय पर्यन्त) सभी वैदिक दर्शनों पर भाष्य लिखे। रामायण, महाभारत तथा गीता पर भी उनके सुन्दर और विस्तृत आर्यभाष्य उपलब्ध होते है। मनुस्मृति पर उनका मानवार्यभाष्य प्रसिद्ध है। **षड्दर्शनादर्श** तथा **वेदान्ततत्त्वकौमुदी** आदि उनके दर्शनविषयक अन्य ग्रन्थ है। उनके अधिकाश ग्रन्थ काशी से ही छपे थे।

स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती

(२) पजाब में जगरॉव कस्बे मे १८६१ ई० मे जन्मे पं० कृपाराम (जो कालान्तर में स्वामी दर्शनानन्द के नाम से विख्यात हुए) आर्यसमाज के उन विद्वानों में परिगणित होते हैं जिनकी अध्ययनस्थली और पर्याप्त समय तक कार्यस्थली भी काशी ही रही। पं० कृपाराम जन्मना सारस्वत ब्राह्मण थे। उनका परिवार व्यापार-व्यवसाय के कारण प्रचुर द्रव्योपार्जन कर चुका था। वे अपनी युवावस्था में ही इतस्तत. भ्रमण करते हुए काशी आ गये और प्रसिद्ध विद्वान् पं० **हरिनाथजी (स्वामी मनीष्यानन्द)** के अन्तेवासी बनकर शास्त्राध्ययन किया। अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् भी वे काशी में ही रहने लगे और संस्कृत-छात्र-समुदाय को दुर्लभ शास्त्रग्रन्थ सुलभता से मिलें, इस प्रयोजन से उन्होंने काशी में **तिमिरनाशक प्रेस** की स्थापना की। यहाँ से उन्होने सामवेद मूल, अष्टाध्यायी, काशिका, महाभाष्य, विभिन्न दर्शन, उपनिषद् आदि पचासों ग्रन्थ मूल रूप में छाप कर सस्ते मूल्य में छात्रों को उपलब्ध कराये। उन दिनों शास्त्रग्रन्थों के एकमात्र प्रकाशक लाजरस कम्पनी के मालिक लोग थे जो काशिका को १५ रुपये में तथा महाभाष्य को ३० रुपये में बेचते थे। उस जमाने में इतने रुपये व्यय कर इन ग्रन्थों को खरीदना सामान्य छात्रों के लिये कठिन होता था। पं० कृपाराम ने अपने प्रेस में छाप कर काशिका ३ रुपये तथा महाभाष्य १० रुपये में उपलब्ध कराया।

कालान्तर मे सन्यास लेकर स्वामी दर्शनानन्द के नाम से सनातन वैदिक धर्म का प्रचार करने वाले इस महामनीषी ने न्याय, वैशेषिक, साख्य और वेदान्तदर्शन की उर्दू मे टीकाएँ लिखी तथा ईश से माण्डूक्य पर्यन्त छ उपनिषदो का उर्दू मे भाष्य लिखा। उन्होने सिकन्दराबाद, बदायूँ, ज्वालापुर तथा रावलपिण्डी के निकट गुरुकुल खोले और सस्कृतविद्या का प्रचार किया। ११ मई १९१३ को उनका निधन हुआ।

स्वामी आत्मानन्द सरस्वती

(३) उच्च कोटि के दार्शनिक तथा सर्वशास्त्रनिष्णात स्वामी आत्मानन्द सरस्वती (पूर्वाश्रम मे प० मुक्तिराम उपाध्याय) का जन्म १८७९ ई० मे मेरठ जिले के एक ग्राम मे समृद्ध गौड ब्राह्मणपरिवार मे हुआ। कुछ काल तक अपने ग्राम तथा समीपवर्ती स्थानो पर पढ़ कर वे काशी चले आये और व्याकरण, साहित्य और वेदान्त के अध्ययन मे सलग्न हुए। पर्याप्त समय तक काशी मे अध्ययन करने के अनन्तर उनका झुकाव स्वामी दयानन्द की विचारधारा की ओर हुआ। फलत उन्होने प्रसिद्ध मैथिल विद्वान् **पं० शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ** के ओंकारनिर्णय त्रिदेवनिर्णय, **वैदिक-इतिहासार्थनिर्णय** आदि ग्रन्थो को पढ़ा तथा दयानन्दकृत सत्यार्थप्रकाश एव ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का भी विशद अनुशीलन किया। काशी मे अध्ययन समाप्त करने के उपरान्त वे अध्यापन के क्षेत्र मे आये। रावलपिण्डी के निकट 'चोहाभक्ता' गुरुकुल मे आचार्य पद पर उन्हे नियुक्त किया गया जहाँ वे देश-विभाजन पर्यन्त रहे। १९४३ ई० मे सन्यास लेने के पश्चात् प० मुक्तिराम स्वामी आत्मानन्द के नाम से विख्यात हुए। **सध्या, अष्टागयोग, वैदिक गीता, मनोविज्ञान** तथा **शिवसकल्प** (यजुर्वेद के शिवसकल्पात्मक मत्रो की व्याख्या) आदि उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ है। १९६० मे आपका निधन हो गया।

पण्डित गंगादत्त शास्त्री

(४) सर्वशास्त्रनिष्णात, लोकोत्तर धिषणा विभूषित प० गगादत्त का जन्म बुलन्दशहर जिले के बेलोन नामक कस्बे मे १९२३ वि० मे एक सनाढ्य ब्राह्मणपरिवार मे हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा खुर्जा मे हुई जहां रहकर इन्होने व्याकरण और ज्योतिष का अध्ययन किया। १९४४ वि० से १९४५ वि० पर्यन्त मथुरा मे रहकर दण्डी विरजानन्द के विख्यात शिष्य प० उदयप्रकाश से अष्टाध्यायी पढ़ी। पुन १९४६ वि० स० मे काशी आये और १९५१ वि० स० पर्यन्त रहे। इस अवधि मे उन्होने विख्यात विद्वान् प० काशीनाथ शास्त्री से नव्यव्याकरण तथा दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया। प० हरनामदत्त भाष्याचार्य से महाभाष्य भी पढ़ा। काशी मे इनका सम्पर्क प० कृपाराम (दर्शनानन्द), प० भीमसेन शर्मा (स्वामी दयानन्द के आद्य शिष्य) तथा प० आर्यमुनि से हुआ। इन्ही के ससर्ग से आप आर्यसमाज मे दीक्षित हुए।

कालान्तर मे प० गगादत्त ने वैदिक पाठशाला जालधर मे अध्यापन कार्य किया और गुरुकुल गुजरावाला की स्थापना के अनन्तर उसी गुरुकुल मे मुख्याधिष्ठाता पद पर कार्यरत रहे। १९०२ मे गुरुकुल कागड़ी की स्थापना होने पर गुरुकुल के सस्थापक महात्मा मुन्शीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) के आग्रह से वे कागडी आ गये और आचार्य के पद पर रहकर उच्च श्रेणियो को व्याकरण, वेद, दर्शन आदि पढ़ाते रहे। कालान्तर में कतिपय मतभेद हो जाने के कारण आचार्य गगादत्त गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर आ गये और मृत्युपर्यन्त यही रहे। १९७२ वि० में उन्होने ब्रह्मचर्य से सीधे सन्यास की दीक्षा ली और **शुद्धबोधतीर्थ** के नाम स विख्यात हुए। सस्कृत के सफल अध्यापक के रूप में उन्हे प्रचुर ख्याति मिली। १९९० वि० में उनका गुरुकुल ज्वालापुर में ही निधन हुआ। अष्टाध्यायी की तत्त्वप्रकाशिका-नाम्नी

परम उपयोगी व्याख्या आपने लिखी है जिसे गुरुकुल कागडी ने १९९२ वि० मे प्रकाशित किया था।

स्वामी वेदानन्द तीर्थ

(५) वेदो तथा दर्शनो के धुरन्धर विद्वान् स्वामी वेदानन्द तीर्थ (पूर्व नाम दयानन्द तीर्थ) का जन्म उज्जैन के एक चतुर्वेदी ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। उनका जन्मनाम कृष्णमोहन था। ब्रह्मचारी वेश मे 'यशवन्त' नाम धारण कर वे काशी आये और एक आर्य सन्यासी से सन्यास की दीक्षा लेकर दयानन्द तीर्थ का नाम ग्रहण किया। जब वे आर्यसमाज मे अधिक सक्रिय होकर कार्य करने लगे तो उन्हे अपने धर्मगुरु स्वामी दयानन्द के ही अनुरूप नाम धारण करना उपयुक्त नही लगा। अत उन्होने अपना नाम वेदानन्द तीर्थ रख लिया। स्वामी श्रद्धानन्द के अनुरोध पर काशी मे स्वामी वेदानन्द के अध्ययन की सुचारु व्यवस्था प्रसिद्ध राष्ट्रभक्त सेठ शिवप्रसाद गुप्त ने की थी।

स्वामी वेदानन्द ने आगे जाकर लाहौर को अपना कार्यक्षेत्र बनाया, जहाँ वे दयानन्द उपदेशक विद्यालय के आचार्य रहे। उनके द्वारा लिखे गये शताधिक ग्रन्थो मे अनेक तो वेद व्याख्यापरक [illegible] है। **स्वाध्याय-सुमन, स्वाध्याय-सदोह** आदि ग्रन्थ वेदाध्ययन मे प्रवृत्त होने वाले जिज्ञासुओं के लिये अत्यन्त उपयोगी है। उन्होने योगदर्शन पर एक व्यवस्थित भाष्य लिखा है तथा स्वामी दयानन्द के प्रख्यात ग्रन्थ **सत्यार्थप्रकाश** पर **विशद टिप्पणी** लिखकर उसे सुबोध बना दिया है। १९५६ ई० मे स्वामी वेदानन्द का दिल्ली मे निधन हो गया।

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक

(६) वैश्यकुल मे जन्म लेकर स्वाध्याय के बल पर उत्कृष्ट शास्त्रीय पाण्डित्य अर्जित करने वाले स्वामी ब्रह्ममुनि पूर्व आश्रम मे प० प्रियरत्न आर्ष के नाम से जाने जाते थे। इनका जन्म सहारनपुर जिले के ग्राम लखनोती मे १९५० वि० मे एक अग्रवाल परिवार मे हुआ। आर्यसमाज के सस्कार इन्हे अपने माता से मिले और अष्टाध्यायी आदि ग्रन्थो के पढने की उत्कट इच्छा लेकर ये गृहत्याग कर दिये। मथुरा मे उन्होने स्वामी दयानन्द के सहपाठी और स्वामी विरजानन्द के शिष्य **प० वनमालीदत्त चौबे** से अष्टाध्यायी पढी। एक अन्य वैयाकरण स्वामी पूर्णानन्द से भी उन्होने कुछ काल तक अध्ययन किया था।

व्याकरणमहाभाष्य अध्ययनार्थ प० प्रियरत्न काशी आये और सुप्रसिद्ध वैयाकरण प० देवनारायण तिवारी से महाभाष्य पढ़ा। प्रियरत्न के आर्यसमाजी होने का ज्ञान था तथापि अत्यन्त उदार विचारो के होने के कारण वे उन्हे प्रसन्नतापूर्वक पढाते रहे। काशी मे रहकर प० प्रियरत्न ने ढुण्डिराज शास्त्री से न्यायदर्शन पर वात्स्यायनभाष्य तथा पिंगल शास्त्र भी पढा। ५१ वर्ष की आयु मे प० प्रियरत्न सन्यासी बने और ब्रह्ममुनि के नाम से विख्यात हुए। उपनिषद्, साख्य, वैशेषिक और वेदान्त दर्शन तथा निरुक्त की सस्कृतटीका आदि उनके विख्यात ग्रन्थ है।

पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

(७) वेदो के तलस्पर्शी विद्वान् तथा पाणिनीय पद्धति से सरल सस्कृतशिक्षण के आविष्कर्ता प० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु का जन्म १८९२ ई० को जालधर जिले के एक गॉव के एक सारस्वत-ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। पिता के घर से निकल कर **श्री स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती से अष्टाध्यायी-क्रम से** पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन किया।

सन् १६२० में श्री स्वामी सर्वदानन्दजी के साधु आश्रम (पुलकाली नदी, अलीगढ़) में अष्टाध्यायी के क्रम से पाणिनीय व्याकरण का अध्यापन आरम्भ किया। सन् १६२१ के अन्त में 'गण्डासिंहवाला' अमृतसर के विरजानन्दाश्रम में पढ़ाते रहे।

सन् १६२६ में कुछ छात्रों को साथ लेकर जिज्ञासुजी काशी आये। यहाँ प्रसिद्ध वैयाकरण देवनारायणजी तिवारी से समग्र महाभाष्य का अध्ययन किया। १६२६ के अन्त में स्वामी श्रद्धानन्दजी की एक आततायी मुसलमान द्वारा हत्या हो जाने पर श्री तिवारीजी के आदेश से काशी के पड़ोस के जिलों मे शुद्धि का कार्य किया। पुनः १६२८ के मध्य में अमृतसर आ गये। वहाँ व्याकरण, निरुक्त आदि पढ़ाते रहे। १६३२ में पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु मीमासादर्शन का विस्तृत अध्ययन करने के लिये अपने कतिपय शिष्यों सहित काशी आये और म० म० पं० चिन्नस्वामी शास्त्री के अन्तेवासी बने। यहाँ रहकर उन्होंने पूर्वमीमासा का गम्भीर अध्ययन किया और १६३५ मे पुन· लाहौर चले गये। १६४७ तक वे लाहौर में रहकर सस्कृत-शास्त्रो के पठन-पाठन मे लगे रहे।

देशविभाजन के पश्चात् वे काशी आये और 'मोतीझील' पर पाणिनि-महाविद्यालय की स्थापना कर छात्रों को आर्ष परिपाटी से सस्कृत की शिक्षा देते रहे। भारतसरकार ने सस्कृत के विद्वान् के रूप मे उन्हे पुरस्कृत और सम्मानित किया। जिज्ञासुजी के शिष्यों की एक दीर्घ परम्परा है। २१ दिसम्बर १६६४ को काशी मे ही उनका निधन हुआ। प० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने पाँच अध्याय पर्यन्त अष्टाध्यायीभाष्य (प्रथमावृत्ति) लिखा। उन्होने स्वामी दयानन्द के यजुर्वेदभाष्य के १५ अध्यायों पर विस्तृत विवरण लिखा है जिसमे विभिन्न टिप्पणियाँ देकर स्वामीजी की व्याकरणप्रक्रिया को पुष्ट किया है। साथ ही वेदविषयक दयानन्दीय मत की पुष्टि करते हुए एक विस्तृत विद्वत्तापूर्ण भूमिका भी लिखी है। काशी के विद्वानों मे पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु का सदा आदर रहा और आर्ष पठन-पाठन प्रणाली के आविष्कारक और प्रयोगकर्ता के रूप मे वे प्रख्यात रहे। उनकी सहृदयता और सौजन्य को काशी की पण्डितमण्डली मे सदा ही सराहा जाता रहा।

पण्डित शंकरदेव

(८) प० शकरदेवजी का जन्म उत्तरप्रदेश के मैनपुरी जनपद के अन्तर्गत 'नौनेर' ग्राम के एक सनढ्य-ब्राह्मण-कुल में हुआ था। आरम्भिक सस्कृताध्ययन मैनपुरी में करने के पश्चात् वे सन् १६१४-१५ में काशी आये। यहाँ श्री प० देवनारायणजी तिवारी से व्याकरण के सभी प्राचीन-नवीन ग्रन्थो का अध्ययन किया। धीरे-धीरे इनका आर्यसमाज की ओर झुकाव हो गया। आप आजन्म ब्रह्मचारी रहे। सन् १६२० में जब श्री प० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु ने श्री स्वामी सर्वदानन्दजी के साधु-आश्रम (पुलकाली नदी, अलीगढ़) में आर्ष पाठविधि से अध्यापन आरम्भ करने का निश्चय किया तो आपने उनके साथ पूरा सहयोग किया। सन् १६२७ तक उनके साथ कार्य करते रहे। अनन्तर स्वास्थ्य ठीक न रहने पर अन्यत्र चले गये। पुन. सन् १६३२ मे श्री जिज्ञासुजी के मीमासाध्ययन के लिये काशी आने पर पुनः २ वर्ष उनके साथ रहे। तदनन्तर गुरुकुल चित्तौड़गढ़ चले गये। अन्त में अपने ग्राम नौनेर में ही आर्ष पाठविधि से अध्यापन के लिये गुरुकुल खोला। आपके पश्चात् आपके कनिष्ठ भ्राता पं० वाचस्पति वहाँ अध्यापन कार्य करते रहे। अब उनके पुत्र गुरुकुल का कार्य चला रहे हैं।

पण्डित देवदत्त शर्मोपाध्याय

(६) सस्कृत के उद्भट विद्वान् तथा मीमासादर्शन के भाष्यकार प० देवदत्त शर्मा का जन्म अलीगढ़ जिले के एक ग्राम में हुआ था। वे भारद्वाजगोत्रीय माध्यन्दिन शाखा को मानने वाले यजुर्वेदी ब्राह्मण थे। आपका अध्ययन गुरुकुल-महाविद्यालय ज्वालापुर मे स्वामी शुद्धबोध तीर्थ के सान्निध्य मे हुआ। गुरुकुल की विद्याभास्कर उपाधि प्राप्त कर लेने के पश्चात् आपने आचार्य, तीर्थ तथा एम० ए० आदि उपाधियाँ भी प्राप्त की। १९३९ मे आप काशी आये और डॉ० मगलदेवजी शास्त्री के साथ लगकर काशीराजकीय सस्कृतकालेज के सरस्वती-भडार मे विद्यमान ३ हजार पाण्डुलिपियो की सूची तैयार की। १९४३ मे वे इसी कालेज मे वेदान्त के अध्यापक पद पर नियुक्त हुए। १९४९ मे वे दर्शनविभाग के अध्यक्ष पद पर आसीन हुए तथा १९५८ ई० पर्यन्त इस पद पर कार्यरत रहे। जब सस्कृतकालेज का वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय मे विलय हो गया तो सस्कृत-सकाय के अधिष्ठाता भी रहे। **तत्त्वपरिशुद्धि** नामक ग्रन्थ का सम्पादन करने पर आपको काशी हिन्दूविश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई। आपने मीमासा जैसे गूढ एव जटिल दर्शन का सरल हिन्दी मे भाष्य लिखा है। तीन अध्याय पर्यन्त यह भाष्य १९५७ मे प्रकाशित हुआ था।

(१०) **प० युधिष्ठिर मीमासक** का परिचय पीछे दिया गया है।

स्वामी ब्रह्मानन्द दण्डी

(११) १८९४ ई० मे एटा जिले के शाहपुर नामक ग्राम मे उत्पन्न दण्डी ब्रह्मानन्द जी का पूर्वनाम मदनमोहन शर्मा था। मथुरा मे दण्डी विरजानन्द के शिष्य **प० बनमाली चौबे** से कुछ काल अध्ययन कर काशी आ गये तथा प० ढुण्ढिराम शास्त्री, प० गोपाल शास्त्री तथा ब्रह्मचारी विमलचन्द्र से दार्शनिक ग्रन्थो का अध्ययन किया। इन्हे षड्दर्शन कण्ठस्थ थे। स्वामी सर्वदानन्दजी से दीक्षा लेकर सन्यासी बने और दण्डी ब्रह्मानन्द के नाम से जाने गये। एटा मे गुरुकुल की स्थापना की जहाँ आर्ष परिपाटी से शास्त्रशिक्षण कराया जाता है। ४ अगस्त १९७७ को इनका निधन हो गया।

(१२) जिज्ञासुजी के शिष्यो मे **डॉ० विजयपाल** वैदिक विषयो के प्रवीण विद्वान् है जिन्होने अनेक वैदिक ग्रन्थो का प्रामाणिक सम्पादन किया है जिनमे **गोपथब्राह्मण, निरुक्तश्लोकवार्तिक** तथा पिङ्गलसूत्र (यादवप्रकाशभाष्य) मुख्य है। 'अष्टाध्यायी-शुक्लयजुर्वेदीय-प्रातिशाख्ययो मतविमर्श' शीर्षक शोधप्रबन्ध पर विद्यावारिधि की उपाधि प्राप्त की है। 'पाणिनिमहाविद्यालय' के वर्तमान आचार्य है।

(१३) आर्यसमाज के अन्य विद्वानो मे **डॉ० सूर्यकान्त** तथा **पण्डित उदयवीर शास्त्री** प्रमुख है। गुरुकुल-ज्वालापुर से शिक्षा प्राप्त की जहाँ ये काशीनाथ शास्त्री के शिष्य थे। काशीविश्वविद्यालय मे सस्कृतविभाग के अध्यक्ष अनेक वर्षो तक रहे। इन्होने सामवेद के प्रातिशाख्य 'ऋक्तन्त्र' पर शोधकार्य के लिए पजाब विश्वविद्यालय से डॉक्टर की उपाधि प्राप्त की। सम्पादित ग्रन्थो मे सामवेदसर्वानुक्रमणी, काठक ब्राह्मण सकलन, काठक-श्रौतसूत्र-सकलन, अथर्वप्रातिशाख्य आदि उल्लेखनीय है।

(१४) दर्शनशास्त्र के सुयोग्य विद्वान् **पण्डित उदयवीर** ने काशी में पण्डित काशीनाथ शास्त्री से दर्शनो का अध्ययन किया। 'साख्यशास्त्र का इतिहास' विषयक हिन्दी ग्रन्थ इनकी प्रौढ रचना है।

●

हिन्दी के संस्कृतज्ञ विद्वान्

(१)

पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

पण्डित रामावतार शर्माजी के अनन्तर पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी संस्कृतमहाविद्यालय के प्राचार्य पद पर बडे सम्मान तथा सातिशय सत्कार के साथ नियुक्त किये गये, परन्तु उनका कार्यकाल इतना स्वल्प था कि महाविद्यालय को उनके गौरवशाली वैदुष्य से समुचित लाभ उठाने का सुयोग प्राप्त नही हो सका। उनकी प्रतिष्ठा १६२३ ईस्वी मे, विशेषकर राजस्थान मे, फैल चुकी थी। उनके प्रतिष्ठा प्राप्त करने की गाथा बडी ही रोचक है।

उनका जन्म आजकल के हिमाचल प्रदेश के सास्कृतिक दृष्टि से नितान्त प्रख्यात नगर 'गुलेर' मे हुआ था और इसीलिए वे अपने नाम से साथ अपने आभिजात्यसूचक 'गुलेरी' शब्द का प्रयोग करते थे। पर्वतीय सारस्वत ब्राह्मण परिवार मे लब्धजन्मा उनके पूज्य पिता पण्डित शिवरामजी गुलेरी कॉगडाप्रान्तीय 'गुलेर' ग्राम के राजपुरोहित थे। उनका अध्ययन काशी मे सम्पन्न हुआ था।

इनका जन्म सन् १८८३ ई० (१६४० वि० स०) मे हुआ था। नौ दस वर्ष के वय मे ये प्रयाग विश्वविद्यालय की एन्ट्रेस परीक्षा मे सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुए। सन् १६०२ ई० मे, १६ वर्ष के वय मे ही मानमन्दिर के जीर्णोद्धार के कार्य मे दो विदेशी विशेषज्ञो को सहायता प्रदान की। **सम्राट्सिद्धान्त** जैसे ज्योतिष ग्रन्थ का अनुवाद किया तथा 'जयपुर की वेधशाला तथा उसके निर्माता' नामक अग्रेजी ग्रन्थ का एक विशेषज्ञ के साथ प्रणयन किया। सन् १६०३ ई० मे प्रयाग विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा मे सर्वप्रथम पास हुए। सन् १६०४ ई० मे जयपुर दरबार के आदेश पर खेतडी के राजा जयसिंह के अभिभावक तथा शिक्षक होकर इन्हे 'मेयो कालेज' अजमेर जाना पडा। भाषाविज्ञान, साहित्य, दर्शन तथा प्राचीन भारतीय इतिहास का गम्भीर अध्ययन किया और भारत के धुरीणो मे मान्य हुए। १६२० ई० मे महामना ने इन्हे विश्वविद्यालय मे 'भारतीय इतिहास' विभाग का अध्यक्ष तथा सस्कृत महाविद्यालय के प्रधान के पद पर प्रतिष्ठित किया। सन् १६२२ ई० मे केवल ३६ साल की अल्प आयु मे ही ये दिवगत हो गये। जयपुर से प्रकाशित होने वाले 'समालोचक' पत्र का तथा काशी की 'नागरीप्रचारणी पत्रिका' का कई वर्षों तक इन्होने सम्पादन कार्य किया। ये प्राचीन भारतीय इतिहास के परिनिष्ठित तथा लब्धकीर्ति विद्वान् थे। सस्कृत मे बडी ही अभिराम तथा आवर्जक पद्य रचना करने मे गुलेरीजी बडे अभ्यस्त थे। जयपुर से प्रकाशित 'सस्कृत रत्नाकर' के आरम्भिक अङ्को मे आपकी ललितपद्यावली के मनोरम दर्शन होते है। एक दो पद्य नमूने के तौर पर यहाँ दिये जाते है

लार्ड हार्डिंज के बमदुर्घटना से बाल-बाल बचने तथा आरोग्यलाभ करने के अवसर पर आपने यह पद्य सुनाया था –

उज्झितगदशयनफणस्तीर्णायूदधिः सकान्तिरमणीक. ।
विधिनियम-सभाद्युमणिर्दिस्याद्य चकास्ति हार्डिंजः ॥

'पञ्चनदस्तव' नामक पद्यसग्रह मे गुलेरीजी ने पजाब के प्राचीनकालीन दिव्य गौरव की गाथा का वर्णन बडे ही मार्मिक पद्यो मे किया है। एक उदाहरण देखिये—

तत्र स्रोतस्विनी पुण्या या वसिष्ठं व्यपाशत ।
यदैश्वर्येर्ष्यया ज्येष्ठा सपत्नी शतधाऽद्रवत् ॥
भूदेवदुर्लभा रम्या तामुदग् भाति पार्वती
कूपान् सुधोदकान् यत्स्थान् चिर सस्मार पाणिनिः ॥

इन पद्यो मे क्रमश निरुक्त ६।२६ तथा अष्टाध्यायी ४।१।७४ की ओर गुलेरीजी ने मार्मिकता के साथ सकेत किया है।

हिन्दी कहानी साहित्य के इतिहास मे तो उनका नाम 'उसने कहा था' नामक प्रख्यात कहानी के कारण अमर हो गया है। शोधपूर्ण ऐतिहासिक तथा सास्कृतिक सैकडो लेखो तथा निबन्धो का निर्माण कर गुलेरीजी ने एक नवीन शैली की छटा दिखलाई है। प्राकृतिक तथा अपभ्रश भाषाओं के भी ये अद्वितीय विद्वान् थे। इनके भाषा शास्त्रीय लेखो का कमनीय सग्रह 'पुरानी हिन्दी' के नाम मे प्रकाशित है (नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा) जो अपने विषय का नितान्त ज्ञानवर्धक तथा प्रमेयबहुल ग्रन्थ है। ऐसे विद्वान् के अकाल मे ही काल-कवलित हो जाने मे सस्कृत तथा हिन्दी, प्राकृत तथा अपभ्रश, पुरातत्त्व तथा प्राचीन इतिहास की अपूरणीय क्षति हुई।

सन् १९२१ २२ मे काशी मे इनके सम्पर्क मे आने का सुयोग लेखक को प्राप्त हुआ था। इनका व्यक्तित्व बड़ा ही गम्भीर तथा आकर्षक था। स्वच्छ धोती, लम्बा अँगरखा, माथेपर राजस्थानी लाल पगडी, ललाट पर त्रिपुण्ड्र, गले मे बडे-बडे रुद्राक्षो की माला, पण्डित चन्द्रधर शर्माजी की यह अभिराम वेषभूषा इनके ब्राह्मणत्व, प्राचीन आदर्शानुगामित्व तथा अगाध शैवनिष्ठा की सद्य अभिव्यञ्जिका थी। ये बडे निर्भीक थे। किसी की कटु आलोचना से ये अपने निर्दिष्ट मार्ग से तनिक भी नही डिगते थे। पण्डित अम्बिकाप्रसाद उपाध्यायजी ने (जो सस्कृतमहाविद्यालय मे व्याकरण के अध्यापक थे) उनसे एक बार पूछा था कि बडे रुद्राक्षो की माला आप अपने अचकन के ऊपर क्यो पहनते है ? अनेक लोग इस पर आक्षेप करते है। तब गुलेरीजी ने तुरन्त उत्तर दिया था—उपाध्यायजी, मै किसी की कडवी आलोचना को सहने के लिए तैयार हूँ। धर्म का चिह्न क्या कोई छिपाने की वस्तु है कि उसे कपडे के भीतर छिपा कर रखा जाय। रुद्राक्षमाला भगवान् भूत भावन को प्रिय है। इसे देखने वाला भी पुण्य का भाजन होगा, पहनने वाला तो होता ही है।

ऐसी थी इनकी भावना। हिन्दी मे इनके निबन्ध इनकी धार्मिक उदारता तथा विशाल दृष्टि के सद्य परिचायक है। इनके शोध निबन्ध आज भी उपादेय तथा तथ्यपूर्ण है। ऐसे सुयोग्य, धर्मनिष्ठ विद्वान् का अकाल मे ही तिरोधान नितान्त शोचनीय है।

(२)

पण्डित माधवप्रसाद मिश्र

सस्कृत के साहित्य एव दर्शन का गम्भीर अध्ययन कर हिन्दीसाहित्य को समृद्ध तथा शक्तिशाली बनाने मे, दार्शनिक विषयो को सरल सुबोध भाषा के माध्यम से जन-जन तक पहुँचने वाले विद्वानो में पण्डित माधवप्रसाद मिश्र का नाम बड़े ही आदर से लिया जाता है।

इनका जन्म भिवानी के समीप कूँगड़ ग्राम (हरियाणा) में विक्रम संवत् १६२८= (१८७१ ई०) में हुआ। इनके पितामह पण्डित जयरामदासजी कूँगड़ से भिवानी आये। पिता का नाम था पण्डित रामजीदास। पिता-पुत्र दोनों ही अपने समय के नामी संस्कृतज्ञ पण्डित थे। माधवप्रसादजी ने इन्हीं से आरम्भिक शिक्षा पाई। अनन्तर बुलन्दशहर जिले के डासना के छत्रपति पण्डित श्रीधरजी से इन्होंने सस्कृतभाषा सीखी। शिक्षा में प्रौढ़ता प्राप्त करने के उद्देश्य से ये काशी आये और यहाँ दो प्रख्यात पण्डितों से इन्होंने संस्कृत-शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन किया। पण्डित राममिश्र शास्त्री से इन्होंने भारतीय दर्शन के नाना ग्रन्थों का अध्ययन किया और पण्डित उमापति द्विवेदी (प्रसिद्ध नाम पं० नकछेदराम दूबे) से साहित्य का अध्ययन किया। अलंकारशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र के ज्ञान से सम्पन्न होकर इन्होंने धर्मशास्त्र में विशेष योग्यता प्राप्त की। इन्होंने अपने जीवन का उद्देश्य तीन विषयों के प्रचार-प्रसार को बनाया। धर्म का प्रचार, साहित्यिक परिशीलन तथा देश की सेवा--इन्हीं तीनों लक्ष्यों सम्पूर्ति में इन्होंने जीवन लगाने का निश्चय किया। बड़े दृढ़निश्चयी थे। एकबार जो निश्चय कर लिया, उससे हटना ये जानते ही न थे। भारत की अनेक प्रान्तीय भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर पत्रकारिता के द्वारा देशसेवाव्रत लिया। सनातनधर्म का प्रचार करने में इनकी कर्मठता के कारण अद्भुत लाभ हुआ।

भारतधर्म-महामण्डल के सस्थापक स्वामी ज्ञानानन्दजी से इनका बड़ा प्रेम था। स्वामी जी इनसे खूब स्नेह करते थे। परन्तु मिश्रजी की निष्ठा धर्मप्रचार में इतनी थी कि जब इन्हें स्वामीजी के कार्यों में नीति-विरोध का पता चला, तो उसे छोड़ने में इन्होने तनिक भी विलम्ब नहीं किया। मिश्रजी संस्कृत के जैसे मार्मिक विद्वान् थे, वैसे ही हिन्दी के सर्वोत्कृष्ट चिन्ताशील लेखक एवं प्रतिभासम्पन्न कवि थे। मिश्रजी के मौलिकतापूर्ण लेखों और मर्मस्पर्शी भावपूर्ण कविताओं में सजीवता रहती थी। इन्होंने काशी के लहरी प्रेस के मालिक चन्द्रकान्ता के लेखक बाबू देवकीनन्दन खत्री की सहायता से अपनी सम्पादकता में सन् १६०० ई० में 'सुदर्शन' नामक मासिक पत्र निकाला था जो प्रयाग के इण्डियन प्रेस से प्रकाशित होने वाले 'सरस्वती' पत्र से लेखों की गम्भीरता तथा विविधता में टक्कर लेता था। कलकत्ते से ये 'वैश्योपकारक' पत्र निकालते थे। ये दोनों ही इनकी पत्रकारिता के उज्ज्वल निदर्शन थे।

मिश्रजी ने हिन्दी के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान किया था। प्रयाग के तत्सामयिक पत्र 'राघवेन्द्र', प्रयाग-समाचार, बम्बई के श्री वेंकटेश्वर-समाचार, कलकत्ते के भारत-मित्र और हिन्दी बगवासी प्रभृति पत्रों में मिश्रजी के लेख एव कविताये छपती रहती थी। कलकत्ते में आपके ही प्रयत्न से एक हिन्दीसाहित्यसभा की स्थापना हुई थी जिसके प्रभाव-विस्तार का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि पण्डितप्रवर गोविन्दनारायण मिश्र जैसे हिन्दीसाहित्य के महारथी विद्वान् उसके अधिवेशनों में विविध विषयों पर गम्भीर-गवेषणापूर्ण-निबन्धपाठ करते थे। मिश्रजी के लेखों का संग्रह प्रयाग के इण्डियनप्रेस के द्वारा 'माधव मिश्र निबन्ध माला' नाम से (प्रथम भाग) १६३५ ई० में प्रकाशित किया गया था जिसमें विशुद्धचरितावली, गौड़स्वामीचरित, सम्राट् विक्रमादित्य, सप्तपुरी आदि अनेक ज्ञानवर्धक निबन्धों का संकलन अपनी अपूर्वता के लिए अभिनन्दनीय है। १६वीं शती के उत्तरार्ध में काशी में विद्यमान विद्वान् पण्डितों तथा मूर्धन्य संन्यासियों का जीवनवृत्त प्रस्तुत कर मिश्रजी ने इतिहास के जिज्ञासुजनों का बड़ा उपकार किया है। माधवमिश्रजी के अनुज पण्डित राधाकृष्ण मिश्र ने उनके भारतीय दर्शन शास्त्र के उपक्रमणिका खण्ड का प्रकाशन ग्रन्थरूप में वि० सं० १६७६ (१६२० ई०) में किया जिसे अपनी सुन्दर भूमिका से अलंकृत किया है। मूल ग्रन्थ हिन्दी में

सम्भवतः प्रथम ग्रन्थ है जिसमें भारतीय दर्शनशास्त्र के आरम्भिक ज्ञातव्य विषयों का अभिराम वर्णन रोचक भाषा में प्रस्तुत किया गया है।

हिन्दी में इनकी कविता बड़ी सरस होती थी। ये पंजाब के स्वामी रामतीर्थ के मित्र तथा प्रशंसक थे। स्वामीजी के संन्यासग्रहण के अवसर पर रचित माधवप्रसादजी की कविता इतनी हृदयावर्जक है कि उसके पढ़ते समय पाठकों के नेत्र में आँसू छलकने लगते हैं। गद्यरचना की शैली संस्कृतगठित तथा धारा प्रवाहमयी है। इनकी ओजमयी भाषा में जो सौन्दर्य एवं आकर्षण है वह संस्कृतभाषा के ज्ञान का परिणत फल है। इनकी असामयिक मृत्यु प्लेग के कारण वि० सं० १९६४ चैत्रवदी चतुर्थी को (१९०७ ई० में) ३६ वर्ष की आयु में हो गई। इतनी कम उम्र में माधवप्रसाद मिश्रजी की धर्मसेवा, देशसेवा तथा साहित्यसेवा का निरीक्षण कर पण्डितराज के शब्दों में कहना पड़ता है—

गाहितमखिलं गहनं परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे ।
सहकार न प्रपेदे मधुपेन तवोपमा जगति ॥

(३)

पण्डित केशवप्रसाद मिश्र

काशी के भदैनी मुहल्ले में इनका जन्म मध्यमवर्गीय सरयूपारीण ब्राह्मणवंश में वि० सं० १९४२ (१८८५ ई०) में हुआ। इनके पिता सुयोग्य वैद्य थे और वैद्यक विद्या इन्हें पैतृक रिक्थरूप में प्राप्त थी। संस्कृतकालेज के प्रख्यात अध्यापक पण्डित गंगाधर शास्त्रीजी से इन्होंने व्याकरण तथा साहित्य का विशद ज्ञान प्राप्त किया। ये विद्यालय के ही 'एग्लो संस्कृत' विभाग में अंग्रेजी भी पढ़ते थे तथा कालेज के ही पुरातत्त्व तथा प्राचीन इतिहास के विख्यात प्रोफेसर नार्मन साहब से प्राचीन शिलालेखों का पढ़ना भी सीखते थे। लेखक से केशवजी कहा करते थे कि इस नवीन शिक्षण से गुरुवर शास्त्रीजी अप्रसन्न रहते थे और विनोद में ही 'लिख लोढ़ा पढ़ पत्थर' कहकर इसका मज़ाक किया करते थे। केशवजी बड़ी तीव्र बुद्धि के पण्डित थे। प्राचीन शास्त्रों की पारम्परिक शिक्षा के साथ ही साथ नवीन अंग्रेजीशिक्षण का सामञ्जस्य सम्पन्न कर वे अपने को भाषाशास्त्र, प्राचीन इतिहास, व्याकरण तथा साहित्य का परिनिष्ठित विद्वान् बनाने में सर्वथा कृतकार्य हो गये। 'सरस्वती' के सम्पादक महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से हिन्दी भाषा तथा साहित्य की सेवा का व्रत लेने वाले विद्वानों की मण्डली में केशवजी का नाम उल्लेखनीय है।

पहिले ये सेन्ट्रल हिन्दूस्कूल में संस्कृत के प्रधानाध्यापक थे और डाइरेक्ट मेथड (सहज प्रणाली) के द्वारा शिक्षा दिया करते थे जिससे छात्रों को संस्कृत का व्यावहारिक ज्ञान अनायास हो जाता था। उस स्कूल के हेडमास्टर डॉ० तारापुरवाला भाषाविज्ञान के अद्वितीय मर्मज्ञ थे और यूरोप के वरेण्य विद्वानों से उन्होंने भाषाविज्ञान का अध्ययन किया था। इनके सम्पर्क में आने से भाष्यान्त व्याकरण के अध्येता केशवजी को भाषाविज्ञान में विशेष रुचि बढ़ी और वे इसके मर्मवेत्ता विद्वान् बन गये। इस विषय में उन्होंने गम्भीर गवेषणा की और वैदिक भाषा के विषय में नवीन मान्यताओं का विधिवत् खण्डन कर इन्होंने भारतीय दृष्टि से भाषाशास्त्र का परिष्कार किया। इस विषय में अंग्रेजी में लेख भी लिखते थे।

बाबू श्यामसुन्दर दास की दृष्टि को केशवजी के भाषाशास्त्रीय वैदुष्य ने अपनी ओर हठात् आकृष्ट किया और इन्हें वे अपने विभाग की उच्चस्तरीय कक्षाओं में पालि, प्राकृत तथा भाषाविज्ञान के अध्यापन के लिए विश्वविद्यालय में ले गये। इन विषयों के अतिरिक्त दार्शनिक

दृष्टि से मण्डित पण्डितजी 'कामायनी' का शिक्षण तथा आलोचन, विश्लेषण तथा मर्मप्रकाशन इतनी सुन्दरता से करते थे कि शायद ही कोई हिन्दी विद्वान् उतना कर सकता। उनके प्रकाशित पाण्डित्यपूर्ण लेखो की सख्या न्यून नही है, परन्तु ग्रन्थ मे गूँथे न जाने के कारण विखरे ही पड़े है और अध्यताओं की दृष्टि से ओझल ही है। उनमे पाण्डित्य की गम्भीरता है। भाषा-शैली बडी प्राञ्जल तथा परिमार्जित है। वे सस्कृत के सुन्दर मुहावरो को हिन्दी मे उतारने मे बडे ही दक्ष थे। उनकी एक ही कृति प्रकाशित है--**मेघदूत का अनुवाद** खड़ी बोली मे, जो शब्दो की मधुरता तथा भावो की प्रवणता के कारण हृदयावर्जक रचना है।

१९५१ ई० मे ही उनका निधन हुआ। उस दु खद घटना से पूर्व भेट करने पर उन्होने आलमारी मे रखी विद्वत्तापूर्ण अन्वेषणो से पूरित अनेक कापियो की ओर दृष्टि डालते हुये यही कहा था— मुझे मरने का तनिक भी क्लेश नही है, परन्तु मुझे मर्मान्तिक क्लेश इस घटना से है कि जीवनभर परिश्रमपूर्वक एकत्र किये गये भाषाशास्त्रीय नूतन तथ्यो को मै विद्वानो के सामने नही रख सका। कापियो का वह पुलिन्दा आज भी उनके आवास मे उदास पडा हो होगा। पण्डित केशवप्रसाद मिश्रजी विद्या के जितने धनी थे, लेखनी के उतने ही कजूस थे। हा हन्त !!!

(४)

पण्डित करुणापति त्रिपाठी

पण्डित करुणापति का जन्म काशी के एक प्रतिष्ठित धनी मानी ब्राह्मणकुल मे आज से ७८ वर्ष पूर्व हुआ था। यह सरयूपारीण ब्राह्मणकुल अपने अवदात चरित्र, उदात्त वैदुष्य एव शीर्षस्थ सामाजिक प्रतिष्ठा के कारण काशी के प्रतिष्ठित ब्राह्मणो का शिरोमणि माना जाता है। आपके पूर्वज पण्डित रामानन्दपति त्रिपाठी को मुगल बादशाह शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह के सस्कृतभाषा तथा उपनिषदो के शिक्षक होने का गौरव प्राप्त है। आपके मातामह महामहोपाध्याय पण्डित शिवकुमार शास्त्री अपने समय के काशीस्थ विद्वानो के शिरोमणि माने जाते है। त्रिपाठीजी ने पारम्परिक सस्कृतशिक्षा के साथ अर्वाचीन पद्धति से अग्रेजी का भी अध्ययन किया हिन्दी एम० ए० के शिक्षणकाल मे करुणापतिजी ने पण्डित केशवप्रसाद मिश्र के चरणो मे बैठकर भाषा विज्ञान तथा साहित्यशास्त्र का गम्भीर अनुशीलन किया। इनकी वे भूरिभूरि प्रशसा करते है।

हिन्दूविश्वविद्यालय मे हिन्दी अध्यापक के रूप मे इन्होने अध्यापन कार्य आरम्भ किया। तदनन्तर वाराणसेय सस्कृतविश्वविद्यालय के शिक्षा महाविद्यालय के अध्यक्ष पद पर अनेक वर्षो तक कार्य किया। पश्चात् उस विश्वविद्यालय के कुलपति पद का भार बडी प्रतिष्ठा के साथ निभाया। वे उत्तरप्रदेश सस्कृतअकादमी के माननीय सभापति पद पर प्रतिष्ठित थे। अब वे सस्कृत के प्रचार प्रसार मे निरन्तर सलग्न रहते है। काशी नागरीप्रचारिणी सभा के साहित्यिक कार्यो हिन्दीशब्दकोश, हिन्दीविश्वकोश, हिन्दीसाहित्य का विशाल इतिहास--का निरीक्षण तथा परीक्षण इनकी अध्यक्षता मे सुचारु रूप से सम्पन्न हुआ है। सस्कृत के प्रौढ़ ग्रन्थो का विमर्शात्मक सम्पादन करने मे त्रिपाठीजी ने बडी कीर्ति अर्जित की है। अपने पूर्वजों के द्वारा प्रणीत ग्रन्थो का विस्तृत भूमिका से सवलित सस्करण प्रकाशित किया है। पण्डित रामानन्दपति त्रिपाठीजी के लुप्तप्राय ग्रन्थो को ऐतिहासिक भूमिका से सवलित कर उनका उद्धार करके करुणापतिजी ने सस्कृतभाषा की श्लाघनीय सेवा की है। पिताजी का व्याख्यापञ्चक-सम्पन्न 'महिम्नस्तव' का सुबोध सस्करण नितान्त उपादेय है। हाल मे ही पण्डित त्रिपाठीजी ने वेदान्त

के प्रख्यात ग्रन्थ **पञ्चदशी** का दो प्राचीन व्याख्याओं[1] से युक्त संस्करण संस्कृत-अकादमी के द्वारा प्रकाशित कराया है (१९६० ई०) इस प्रकार संस्कृतभाषा के उत्थान एवं व्यापक प्रचार प्रसार के इतिहास मे पण्डित करुणापति त्रिपाठी का नाम संस्कृत के हितैषियों द्वारा आदर के साथ स्मरण किया जायेगा।

(५)
पण्डित चन्द्रबली पाण्डेय

चन्द्रबली पाण्डेय का नाम हिन्दी को विपुल प्रचार प्रसार के द्वारा राष्ट्रभाषा पद पर अभिषिक्त करने के इतिहास मे सुवर्णाक्षरो से लिखने लायक है। हिन्दीजगत् मे यह तपपूत ब्राह्मण अपनी गम्भीर शोधप्रवृत्ति के कारण सर्वदा अभिनन्दनीय बना रहेगा। ये संस्कृत-साहित्य, प्राचीन इतिहास तथा तुलनात्मक धार्मिक अनुसन्धान के प्रौढ विद्वान् थे तथा संस्कृत के अतिरिक्त उर्दू, फारसी तथा अरबी भाषा तथा साहित्य मे अच्छी तरह से परिचित थे। संस्कृत के साथ इन भाषाओं का ज्ञान इनकी गवेषणाओं का मूल आधार है। कालिदास तथा शूद्रक के समयनिर्णय तथा रचनाविश्लेषण मे उनका बुद्धि चमत्कार दर्शनीय है। एतद्-विषयक विस्तृत गवेषणा 'कालिदास' एवं 'शूद्रक' नामक ग्रन्थों में पाठको को बलात् अपनी ओर आकृष्ट करती है। इन दोनो ग्रन्थो मे साहित्यिक समीक्षा के साथ ऐतिहासिक खोज भी समालोचको के आकर्षण का विषय है। चन्द्रबलीजी ने **कालिदास का दूतकर्म** शीर्षक बृहत्काय निबन्ध[2] में अपने ऐतिहासिक अनुसन्धान की प्रवृत्ति का दर्शन कराया है। इसमे गुप्तवंश के प्रमुख शासक चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा दक्षिणभारत के नरेश कुन्तलेश के दरबार मे कालिदास को दूत बनाकर भेजे जाने तथा कालिदास के कुन्तलेश होने का परिचय कराया गया है। संस्कृत के अलकारग्रन्थो मे कालिदास के दूतकर्म के निदेशक अनेक पद्य यत्र तत्र बिखरे पाये जाते है। इन सबका क्रमबद्ध संग्रह कर इनका ऐतिहासिक महत्त्व दिखलाना पाण्डेयजी का महनीय कार्य है।

पण्डित चन्द्रबली पाण्डेय ने हिन्दी तथा उर्दू के पारस्परिक सम्बन्धो को लेकर बडा गभीर विचार किया है। उर्दू की उत्पत्ति के विषय मे इन्होने सप्रमाण सिद्ध किया है कि इसका उदय तथा आरम्भ मुगल बादशाह शाहजहाँ के दरबार के आभिजात्य के गौरव को अक्षुण्ण बनाये रखने वाले ईरानी तथा तूरानी मुसलमान अधिकारियों ने किया तथा इसने किले के भीतर तथा आसपास ही अपने अस्तित्व को बनाये रखा था। मुगल बादशाहो ने हिन्दी का विशेष आदर तथा सत्कार किया। **पाण्डेयजी ने मुगल बादशाहो की हिन्दी**[3] मे मुगल बादशाहो के द्वारा हिन्दी के समादृत होने की घटना का सप्रमाण विवरण दिया है। इन्होने गान्धीजी द्वारा बनाई गई हिन्दुस्तानी के विषय मे बहुत कुछ लिखा है। **नागरी का अभिशाप**[4] नामक ग्रन्थ नागरी लिपि के इतिहास तथा दुर्दशा का वर्णन करता है। पाण्डेयजी का यह कार्य ऐतिहासिक प्रमाणो से परिपुष्ट है। हिन्दी के राष्ट्रभाषा बनाने के चर्चाप्रसगो मे पण्डित चन्द्रबली पाण्डेय के अश्रान्त कार्य की प्रशंसा सुवर्णाक्षरो मे अंकित करने योग्य है- यह तथ्य सर्वपरिचित है।

---

१ इन टीकाओं के नाम है-(क) रामकृष्ण की तत्त्वप्रदीपिका तथा (ख) अच्युतराम मोडक रचित 'पूर्णानन्देन्दुकौमुदी'। यह टीका अलभ्य रही है।

२ यह निबन्ध 'विक्रमस्मृतिग्रन्थ' (संवत् २००१) मे प्रकाशित हुआ है।

३ प्रकाशक—काशी नागरी प्रचारिणी सभा।

४ प्र० विद्यामंदिर प्रकाशन, मुरार (ग्वालियर) सं० २००२।

पाण्डेयजी के एक विशिष्ट कार्य की ओर समालोचकों की दृष्टि अभी तक आकृष्ट नहीं हुई है। और वह है कुरान तथा मुसलिम धर्म पर संस्कृतभाषा तथा वैदिक सिद्धान्तों का प्रभाव-निरूपण करने वाला उनका महनीय प्रयास। वे उर्दू तथा फारसी के स्वयं निष्णात ज्ञाता थे तथा हिन्दूविश्वविद्यालय के अरबी भाषा के शिक्षक, आलिमफाजिल मुन्शी महेशप्रसादजी के सन्तत सम्पर्क में आने से वे कुरान से भली-भाँति परिचय रखते थे। उनकी महत्त्वपूर्ण रचना **कुरान और हिन्दी** (काशी से प्रकाशित) इस विषय का प्रमाण है। उन्होंने कुरान के अनेक शब्दों का संस्कृतभाषा से सम्बन्ध दिखलाया है। कुरान में निर्दिष्ट उपदेशों पर उपनिषदों के आध्यात्मिक चिन्तन का प्रभूत प्रभाव पड़ा है। दाराशिकोह ने उपनिषदों के फारसी अनुवाद में जिन तथ्यों की केवल सूचना दी थी, उनका प्रमाणों से युक्त निरूपण पाण्डेयजी ने बड़ी योग्यता तथा दृढ़ता से अपने लेख में किया है। एक बात और, मुसलमानी लेखकों ने भारतीय संस्कृति के ऊपर मुसलमानों के प्रभाव का जो कच्चा प्रदर्शन किया है उसका पाण्डेयजी ने बड़ी योग्यता से खण्डन किया है। 'मुसलमानों की देन (?)' शीर्षक लेखमाला में, जो 'सिद्धान्त' साप्ताहिक पत्र के अनेक अकों में प्रकाशित है, उन्होंने विस्तार से संस्कृतग्रन्थों के प्रचुर उद्धरण देते हुए सिद्ध किया है कि हिन्दुओं के रहन-सहन की वस्तुयें, भोजन के रईसी पदार्थ, प्रसाधन की सामग्री आदि भारत की अपनी उत्पादित वस्तुयें है, इनके लिए भारत कभी भी मुसलमानों का ऋणी नहीं है। अपने सिद्धान्तों की प्रबल पुष्टि में पण्डित चन्द्रबलीजी ने संस्कृतसाहित्य के अज्ञात तथा अल्पज्ञात ग्रन्थों की खोज की है, तथा उनके उद्धरण देकर उनकी सर्वथा पुष्टि की है। संस्कृतसाहित्य में इनकी गहरी पैठ थी, मौलिक तथ्यों की खोज-बीन करना इनकी शोधप्रवृत्ति की एक आवर्जक दिशा थी। फलतः काशी के इस सस्कृत-विद्वान् ने भारतीय संस्कृति के स्वरूपनिर्देश में जो अद्भुत कार्य किया है, वह सर्वथा श्लाघनीय तथा आदरणीय है।

पाण्डेयजी ने सप्रमाण दिखलाया है कि हदीस हिन्दुस्तान से परिचय रखता है। फारस की सेना में जाटों की भरती सैनिक रूप में की जाती थी तथा ये लोग अरव में हकीम के रूप में भी विख्यात थे। तभी तो मुहम्मद साहब की बेटी के असाध्य रोग का निवारण करने के लिए हिन्दुस्तानी हकीम बुलाये गये थे। जाट स्वदेश भारत से भिंडी तथा तरबूज ले गये थे। तरबूजे का 'हिन्दवाना' नाम इसका मूल स्पष्टतः बतलाता है। भिंडी को अरबी में बिंदी कहते हैं। फलतः इन दोनों भोज्य पदार्थों का प्रवेश तथा प्रचलन हिन्दुस्तान से ही अरब देशों में किया गया था। फलतः अरबी तथा कुरान के ऊपर सस्कृत के उपनिषदों के प्रभाव को कथमपि अनङ्गीकार नही किया जा सकता।

चन्द्रबलीजी का जन्म आजमगढ़ जिले में हुआ था। शिक्षा-दीक्षा हिन्दूविश्वविद्यालय में हुई। बी० ए० कक्षा में वे संस्कृत के मेरे छात्र थे। हिन्दी में एम० ए० किया था जहाँ पण्डित रामचन्द्र शुक्लजी के वे प्रौढ़ तथा सर्वश्रेष्ठ छात्र थे। गुरु की वैदुषी की छाया शिष्य के ऊपर सर्वतोभावेन पड़ी थी। वे गृहस्थी के पचड़े में कभी नहीं पड़े। वे द्विकर्मा ब्राह्मण थे जिनका अध्ययन एव लेखन मे ही जीवन व्यतीत हुआ।

(६)

पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी

द्विवेदीजी का जन्म बलिया मण्डल के एक ब्राह्मणपरिवार में १९०७ ई० में हुआ। संस्कृत की शिक्षा हिन्दूविश्वविद्यालय में हुई। अध्यापन कार्य इन्होंने शान्तिनिकेतन में आरम्भ किया (१९३० ई०)।

शान्ति-निकेतन मे बीस वर्षो का निवासकाल ही द्विवेदीजी की साहित्यिक साधना का समय कहा जा सकता है। यही पर रहते हुए इन्होने हिन्दीसाहित्य का गभीर अध्ययन तथा मनन किया। यहाँ विश्वकवि डॉ० रवीन्द्रनाथ टैगोर की छत्रछाया मे रहते हुए इनका सम्पर्क श्री क्षितिमोहन सेन, प० विधुशेखर भट्टाचार्य जैसे उत्कृष्ट विद्वानो से हुआ जिनका प्रभाव इनकी कृतियो मे परिलक्षित होता है।

सन् १६५० ई० मे द्विवेदीजी की नियुक्ति काशी-हिन्दूविश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पद पर हो गई। अत ये शान्ति-निकेतन छोडकर काशी चले आये। इसके एक वर्ष पूर्व सन् १६४६ ई० मे लखनऊ-विश्वविद्यालय ने इन्हे डी० लिट्० की सम्मानित उपाधि (आनाटिस काजा) प्रदान की थी। सन् १६५७ ई० मे भारतसरकार ने इनकी साहित्यिक सेवाओं को ध्यान मे रखते हुए इन्हे 'पद्मभूषण' की उपाधि से अलकृत किया। सन् १६५८ ई० मे ये नेशनल बुकट्रस्ट तथा साहित्यअकादमी, दिल्ली के सदस्य रहे। हिन्दू-विश्वविद्यालय मे दस वर्षो तक अध्यक्ष पद को सुशोभित करने के पश्चात् सन् १६६० ई० मे ये पजाब विश्वविद्यालय के कुलपति के निमन्त्रण पर हिन्दी विभाग के अध्यक्ष तथा प्रोफेसर के पद पर चण्डीगढ़ चले गये। वहाँ से अवकाश प्राप्त करने के पश्चात् ये काशी चले आये और स्थायी रूप से यही रहने लगे। सन् १६७८ ई० मे दिल्ली मे इनका देहावसान हो गया। इस प्रकार हिन्दीसाहित्याकाश का एक प्रकाशमय तारा अस्त हो गया।

ग्रन्थ

द्विवेदीजी ने अपने साहित्यिक जीवन मे अनेक ग्रन्थो की रचना की है जिनमे से कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थ निम्नाकित है—(१) हिन्दीसाहित्य की भूमिका (१६४० ई०), (२) प्राचीन भारत मे कला विलास (१६४० ई०), (३) कबीर (१६४२ ई०), (४) बाणभट्ट की आत्मकथा (उपन्यास, १६४७ ई०), (५) अशोक के फूल (१६४८ ई०), (६) नाथ सम्प्रदाय (१६५० ई०), (७) हिन्दी साहित्य, (८) मेघदूत—एक पुरानी कहानी (१६५७ ई०), (६) सन्देश-रासक तथा (१०) कालिदास की लालित्य योजना। इसके अतिरिक्त इन्होने 'अनामदास का पोथा' तथा 'चारुचन्द्रदेव' नामक उपन्यास भी लिखा है। इनकी शोधपरक कृतियो मे 'हिन्दी का आदिसाहित्य' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके प्रारम्भिक ग्रन्थो मे 'कबीर' के द्वारा इन्हे विशेष ख्याति मिली। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' द्विवेदीजी का अपने ढग का अनूठा उपन्यास है जिसका कोई सानी नही है। यह अपने कथ्य और शैली के कारण विद्वानो तथा सहृदयों मे समधिक समादृत हुआ है।

हिन्दी साहित्य के उत्कृष्ट ग्रन्थो की रचना के अतिरिक्त द्विवेदीजी मे सबसे बडा गुण उनके स्वभाव की सरलता थी। वे अपने जीवन मे जितने सादे थे, स्वभाव मे भी उतने ही सरल थे। अपनी विद्वत्ता का उनमे तनिक भी गर्व नही था। शोधी छात्रो के लिए उनके आवास का द्वार सदा खुला रहता था।

सस्कृत तथा हिन्दी के प्रकाण्ड विद्वान् होते हुए भी वे सदा भोजपुरी लोगो से अपनी मातृभाषा (भोजपुरी) मे ही बोला करते थे। उनका मुक्त हास प्रसिद्ध था जिससे उनके हृदय की विशालता तथा सरलता का पता चलता है। इस प्रकार द्विवेदीजी 'विद्या ददाति विनयम्' की प्रतिमूर्ति थे।

हजारीप्रसादजी के साहित्यिक तथ्यो की गम्भीर विवेचना के ऊपर उनके सस्कृत-साहित्य के अध्ययन का स्पष्ट प्रभाव है। कालिदास की मौलिक आलोचना, विशेषकर मेघदूत

की ललित समीक्षा का मूल स्रोत सस्कृत-कलाशास्त्र के परिचय का परिणत फल है। द्विवेदीजी का सस्कृतभाषा तथा साहित्य का विशद अध्ययन इनकी अभिराम लेखनकला का मुख्य कारण है।

(७)

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र हिन्दीसाहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् आलोचक तथा रीतिकालीन काव्य के मर्मज्ञ थे। आपका जन्म सन् १९०६ ई० मे काशी मे हुआ था। तीन वर्ष की अवस्था मे ही आपके पिता का देहान्त हो गया। आपने काशी हिन्दूविश्वविद्यालय मे अध्ययन कर सस्कृत तथा हिन्दी मे एम० ए० की उपाधि धारण की। इसके बाद आप यहा हिन्दी विभाग मे प्राध्यापक के पद पर नियुक्त हो गये। अनेक वर्षो तक यहाँ अध्यापन करने के पश्चात् आप सन् १९६२ मे मगध विश्वविद्यालय, गया मे हिन्दीविभाग के अध्यक्ष तथा प्राचार्य के पद पर चले गये। वहाँ से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् आपने अनेक वर्षो तक विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन मे 'विजिटिग प्रोफेसर' के पद को भी सुशोभित किया था। वहाँ से आप पुन हिन्दू-विश्वविद्यालय मे सम्मानित प्रोफेसर के रूप मे नियुक्त होकर चले आये थे और कुछ वर्षो के बाद यही पर आपका निधन हो गया।

ग्रन्थ

प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र लेखनी के धनी थे अत इन्होने अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थो की रचना की है। इसके साथ ही इन्होने रीतिकालीन कवियो को प्रकाश मे लाने के लिए उनकी ग्रन्थावलियो का भी सम्पादन किया है। इनके मौलिक तथा सम्पादित ग्रन्थो की सूची नीचे दी जाती है।

(क) मौलिक ग्रन्थ—(१) हिन्दीसाहित्य का अतीत, (२) हिन्दी का सामयिक साहित्य, (३) वाङ्मयविमर्श, (४) बिहारी की वाग्विभूति, (५) हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास, (६) काव्याग-कौमुदी।

(ख) सम्पादित ग्रन्थ—(१) घनानन्द ग्रन्थावली, (२) घनानन्द-कवित्त, (३) पद्माकर ग्रन्थावली, (४) केशवदास-ग्रन्थावली, (५) भिखारीदास ग्रन्थावली, (६) भूषण ग्रन्थावली, (७) पद्माभरण, (८) सुदामा चरित आदि।

मिश्रजी के मौलिक ग्रन्थो मे 'हिन्दीसाहित्य का अतीत' तथा 'बिहारी की वाग्विभूति' अत्यन्त प्रसिद्ध है। ये रीतिकाल मे होने वाले रीतिमुक्त कवियो के विशेष ज्ञाता थे। अत इनके द्वारा सम्पादित घनानन्द ग्रन्थावली समधिक विख्यात है। रीतिकाल के मर्मज्ञ विद्वान् होने के कारण इन्होने 'घनानन्द-कवित्त' की जो व्याख्या प्रस्तुत की है वह इनकी विद्वत्ता को प्रकाशित करती है। इनकी टक्कर का रीतिकाल का पारगत पण्डित दूसरा कोई नही था। अत केशवदास, घनानन्द, पद्माकर, भूषण आदि के विषय मे, उनकी कविता के रहस्योद्घाटन के सबन्ध मे आपने जो कुछ भी लिखा है उस पर आपकी विद्वत्ता की छाप दिखाई पडती है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास मे रीतिमुक्त कवियो की प्रतिष्ठा करने का श्रेय आपको प्राप्त है। पहिले घनानन्द और बोधा को छोडकर दूसरे कवियो को कोई नही जानता था परन्तु आपने शोध कर अनेक कवियो को ढूँढ निकाला और 'रीतिमुक्त कवियो' के सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की। हिन्दी साहित्य के इतिहास में यही आपका विशेष योगदान है।

आपने 'रामचरितमानस' का एक अत्यन्त प्रामाणिक सस्करण प्रकाशित किया है जो

काशिराज-सस्करण के नाम से प्रसिद्ध है। यह संस्करण 'मानस' की समस्त प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर तैयार किया गया है। इस प्रकार मिश्रजी एक मौलिक विद्वान् होने के अतिरिक्त एक सुयोग्य सम्पादक भी थे।

मिश्रजी की प्रसिद्धि एक आदर्श अध्यापक के रूप में भी कुछ कम नही थी। आपके शिष्य आपकी अध्यापनकला की मुक्तकण्ठ से प्रशसा करते है। आपमें अध्यापन के क्षेत्र में सम्प्रेषणीयता का गुण समधिक मात्रा में विद्यमान था। इस प्रकार आप रीतिकाल के मर्मज्ञ विद्वान् होने के अतिरिक्त एक सुयोग्य टीकाकार, शोधी सम्पादक तथा कुशल अध्यापक भी थे। हिन्दी मे साहित्य-समीक्षा की प्रामाणिकता तथा गरिमा के ऊपर विश्वनाथ प्रमादजी के सस्कृतशास्त्रो के गम्भीर ज्ञान का प्रकृष्ट प्रभाव सद्य प्रस्फुटित होता है।

(८)

पण्डित सीताराम चतुर्वेदी

प० सीताराम चतुर्वेदी की लेखनी अविरल गति से चला करती है। अतः इन्होने अनेक नाटको --- विशेषकर एकाङ्कियों— की रचना की है। इनकी प्रतिभा का विकास नाटको के क्षेत्र में अधिक दिखलाई पड़ता है। यही कारण है कि अपनी लेखनी से अनेक नाटकों की रचना के अतिरिक्त इसके सिद्धान्तपक्ष को भी इन्होने अछूता नही छोड़ा है। नाटककार प्राय विद्वान् नही होते परन्तु चतुर्वेदीजी मे साहित्यसर्जना तथा विद्वत्ता का अद्भुत सामजस्य पाया जाता है।

इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ **अभिनव नाट्यशास्त्र** है जिसकी रचना प्राचीन ढग की सूत्र-शैली मे की गयी है। इसमे चतुर्वेदीजी ने नाट्यशास्त्र के सबन्ध में अपने मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन "इति अभिनवभरत" लिखकर किया है। 'अभिनवभरत' इनकी उपाधि थी। इसमें सदेह नही कि नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने वाला यह विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ 'अभिनव भरत' की अभिनव कृति है। इसके प्रत्येक पृष्ठ पर इनकी विद्वत्ता की छाप दिखाई पड़ती है। इनका दूसरा ग्रन्थ समालोचना शास्त्र से सबन्ध रखता है। इसमें इन्होंने पौर्वात्य समालोचना के साथ पाश्चात्त्य समालोचना शास्त्र का गभीरता के साथ विवेचन प्रस्तुत किया है। 'समीक्षाशास्त्र' के नाम से इस ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १९५४ ई० में हुआ था।

चतुर्वेदीजी सन्तसाहित्य के भी विशिष्ट जानकार है। उदासीन सम्प्रदाय का, उसके विभिन्न मठों, उसके अन्तर्भुक्त साधु सन्तों तथा मनीषी विद्वानों का परिचय **भारत के उदासीन सन्त** नामक ग्रन्थ में आपने विस्तार तथा अनुसन्धान के साथ दिया है। ग्रन्थ का प्रथम खण्ड ही प्रकाश में आया है, परन्तु इसमें उनकी शोधविषयक प्रवृत्ति का पूर्णतः परिचय प्राप्त होता है। गुरु नानकजी के पुत्र श्रीचन्द्राचार्य के द्वारा यह 'उदासीन' सम्प्रदाय स्थापित है। अनेक दार्शनिकों ने अपनी संस्कृत की मान्य रचनाओं के द्वारा इसे अलंकृत किया है। इसके द्वारा वैदिक धर्म तथा सस्कृति का प्रचुर प्रचार भारतवर्ष में, विशेषतः उत्तरी भारत में सम्पन्न हुआ है। इसका विस्तृत इतिहास इस ग्रन्थ में है। प्रकाशक 'अखिलभारतीय विक्रमपरिषद्', काशी (वि० सं० २०२४)।

इन्होंने महामना पं० मदनमोहन मालवीय का जीवनचरित भी लिखा है जो मालवीयजी के जीवन से संबन्धित पहला ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त इनके अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित हैं जो अध्यापकों की शिक्षा-दीक्षा (ट्रेनिंग) से सबन्धित है जैसे—'अध्यापन कला' तथा 'भाषा की शिक्षा' आदि।

परन्तु चतुर्वेदीजी के जीवन का सबसे बड़ा कार्य 'विक्रमपरिषद्' की स्थापना मे सक्रिय सहयोग देकर उसके कार्य को सचालित करना है। स० २००० विक्रमी मे महामना मालवीयजी की छत्रछाया मे विक्रम-परिषद् की स्थापना हुई थी। इस परिषद् के द्वारा चतुर्वेदीजी के सम्पादन मे **कालिदास-ग्रन्थावली** का प्रकाशन हुआ है जिसमे मूल ग्रन्थो के माथ उनका प्रामाणिक अनुवाद भी प्रस्तुत किया गया है। इस परिषद् के द्वारा अन्य अनेक ग्रन्थ भी इनके सम्पादन मे प्रकाशित हुए है।

चतुर्वेदीजी नाटककार के अतिरिक्त एक कुशल अभिनेता भी है। इन्होने स० २००० वि० मे विक्रमपरिषद् की स्थापना के अवसर पर 'कालिदास' नामक नाटक लिखकर इसका अभिनय भी 'चित्रा' सिनेमा मे किया था। इस नाटक मे मूर्ख कालिदास का पार्ट इन्होने स्वय बड़ी सफलता के साथ किया था जिसकी प्रशसा समस्त दर्शको ने मुक्त कण्ठ से की थी।

प० सीताराम चतुर्वेदी का जन्म सन् १९०७ ई० मे काशी मे हुआ था। इनके पिता का नाम भीमसेन चतुर्वेदी था जो हिन्दू विश्वविद्यालय मे धर्मशास्त्रविभाग मे प्राध्यापक थे। चतुर्वेदीजी ने इसी विश्वविद्यालय से हिन्दी तथा सस्कृत मे एम० ए० की उपाधि प्राप्त की। इसके अतिरिक्त इन्होने पालि तथा 'प्राचीन भारतीय इतिहास तथा सस्कृति' मे भी सर्वोच्च परीक्षा उत्तीर्ण की है। ये कुछ वर्षो तक सेन्ट्रल हिन्दूस्कूल तथा ट्रेनिगकालेज मे प्राध्यापक थे। तदनन्तर ये डॉ० के० एम० मुन्शी के सुप्रसिद्ध 'विद्याभवन' मे अध्यक्ष होकर बम्बई चले गये। परन्तु उस महानगरी मे मन न लगने के कारण ये बलिया (उत्तरप्रदेश) के सतीश-चन्द्र-डिग्रीकालेज मे प्रिन्सिपल के पद पर चले आये। कुछ दिनो तक इन्होने वही के मुरली मनोहर कालेज मे भी प्राचार्य के पद पर कार्य किया। अपने जीवन की गोधूलि मे इन्होने 'सन्त कबीर' की भॉति काशी को त्याग दिया और अब मुजफ्फरनगर मे निवास कर रहे है। आजकल इनकी अवस्था ८२ वर्ष की है फिर भी साहित्यसाधना मे सक्रिय है।

'कालिदास-ग्रन्थावली' के द्वारा चतुर्वेदीजी ने महाकवि कालिदास को हिन्दी जगत् मे घर-घर पहुँचा दिया है। नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ इनकी मौलिक कल्पनाओं के सद्य प्रतिष्ठापक है। भारतीय नाट्य के साथ पाश्चात्य नाट्यशाला का एक साथ समन्वित परिचय देकर इन्होने इस शास्त्र का समग्र रूप पाठको के सामने प्रस्तुत किया है।

(९)

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वविद्, इतिहासवेत्ता तथा सस्कृत के विद्वान् थे। ये बहुमुखी प्रतिभा के धनी व्यक्ति थे। इन्होने अग्रेजी तथा हिन्दी मे अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थो की रचना की है।

डॉ० अग्रवाल का जन्म उत्तरप्रदेश के मेरठ शहर मे हुआ। अपनी प्रारम्भिक तथा माध्यमिक शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् ये उच्चशिक्षा प्राप्त करने के लिये काशी चले आये और हिन्दूविश्वविद्यालय से बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। इन्होने लखनऊ-विश्वविद्यालय से प्राचीन भारतीय इतिहास विषय मे एम० ए० की उपाधि प्राप्त की। पाणिनि की अष्टाध्यायी पर शोधकार्य करके इन्होने पी-एच० डी० तथा डी० लिट्० की डिग्री को धारण किया।

इन्होने अनेक वर्षो तक मथुरा के कर्ज़न म्युजियम मे अध्यक्ष (क्युरेटर) पद पर कार्य किया। बाद मे पदोन्नति प्राप्त कर दिल्ली मे 'सेन्ट्रल एशियन एन्टीक्विटीज म्युजियम' के

डाइरेक्टर नियुक्त हुए । अपने जीवन की गोधूलि मे इन्होने काशी हिन्दूविश्वविद्यालय के भारती महाविद्यालय मे प्रथमत कला विभागाध्यक्ष तथा बाद मे प्राचार्य के पद पर भी अनेक वर्षों तक कार्य किया । इनका निधन काशी मे ही हुआ ।

डॉ० अग्रवाल का व्यक्तित्व बहु आयामी था । इन्होने हिन्दी तथा अग्रेजी मे अनेक ग्रन्थो का प्रणयन किया है जिनमे प्रधान ग्रन्थ निम्नलिखित है ।

(१) पाणिनिकालीन भारतवर्ष—यह अग्रवालजी के अग्रेजी मे लिखे गये शोध प्रबन्ध का हिन्दी रूपान्तर है । मूलग्रन्थ India as known to Panini के नाम से प्रकाशित है । इस पुस्तक मे डॉ० अग्रवाल ने महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी का गभीर अध्ययन कर उसमे निहित भारतीय सस्कृति को प्रकाशित करने का स्तुत्य प्रयास किया है । इस ग्रन्थ की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसकी रचना के द्वारा इन्होने किसी पुस्तक के 'सास्कृतिक अध्ययन' की परम्परा स्थापित की ।

(२) इसी सन्दर्भ मे इनका दूसरा ग्रन्थ जायसी के पदमावत' की व्याख्या है । इस 'सजीवनी' व्याख्या मे डॉ० अग्रवाल ने 'पदमावत' के तात्त्विक अर्थ को उजागर करने का प्रयत्न किया है । अनेक दृष्टियो से यह टीका बडी ही प्रामाणिक तथा उपादेय है ।

(३) अग्रवालजी ने लोकसाहित्य के प्रेमियो तथा विद्वानो को भी प्रोत्साहित किया है । इस सबध मे इनका 'पृथिवी पुत्र' नामक ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध है । इन्होने जनपद' नामक लोकसाहित्य की एक शोधपत्रिका का सम्पादन किया था ।

अग्रवालजी भारतीय कला तथा इतिहास के गभीर विद्वान् थे । इन्होने इस सबन्ध मे अनेक ग्रन्थो का निर्माण अग्रेजी मे किया है जिनमे गुप्त आर्ट' प्रसिद्ध है । 'भारतीय कला का क्रमिक विकास पुस्तक मे कला का इतिहास प्रस्तुत किया गया है । 'चिप्स फ्राम दि वैदिक फायर' मे वेदो के सबन्ध मे इनके विचारो का सकलन पाया जाता है । 'गीता नवनीत' इनके निबन्धो का सग्रह है जिसमे गीता-दर्शन का विशद विवेचन किया है । इन्होने कालिदास के मेघदूत का हिन्दी मे अनुवाद किया है जो अनेक दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है । इसके अतिरिक्त इन्होने अग्रेजी तथा हिन्दी मे अन्य अनेक ग्रन्थो की रचना की है जिनका वर्णन स्थानाभाव के कारण नही किया जा सकता ।

डॉ० अग्रवाल का व्यक्तित्व बडा सरल तथा स्वभाव मिलनसार था । अनेक शोधी छात्र इनसे निर्देशन प्राप्त करने के लिए इनके पास जाते थे और ये बिना सकोच के यथेष्ट रूप से उनके कार्य मे सहायता प्रदान करते थे । विद्यार्थियो तथा अनुसन्धान-कर्ताओं को ये सदा उत्साहित तथा प्रेरित करते रहते थे । इतना ही नही, अनेक ग्रन्थो की भूमिका लिखकर इन्होने उनके लेखको को प्रोत्साहन प्रदान किया था । इस प्रकार ये प्रेरणा के स्रोत थे ।

प्राचीन भारतीय इतिहास तथा पुरातत्त्व इनके शोध का प्रधान विषय था । परन्तु इन्होने वैदिक साहित्य तथा गीता दर्शन के अतिरिक्त हिन्दी तथा लोकसाहित्य मे अधिकारपूर्वक ग्रन्थो का प्रणयन किया है । विद्वान् होते हुए भी अभिमान इन्हे छू तक नही गया था ।

ये बडे ही स्वाध्यायी व्यक्ति थे । 'यावज्जीवमधीते विप्र' यह सूक्ति ही इनके जीवन का आदर्श था । यही कारण है कि ये अपने जीवन मे अनेक गभीर ग्रन्थो की रचना करने मे समर्थ हो सके । सस्कृत, हिन्दी तथा लोकसाहित्य के विद्वान् प्रेरणास्रोत के रूप मे इन्हे सदा स्मरण करते रहेगे ।



पण्डित श्रीकान्तमणि त्रिपाठी

पण्डित श्रीकान्तमणि त्रिपाठी काशी की ही पाण्डित्य-परम्परा के एक अल्पज्ञात कवि हैं जिनकी रसमयी स्निग्ध कविता का अनुशीलन कर आलोचकों का मन सद्यः उल्लसित हो उठता है। वे गोरखपुर मण्डल के भितहाँ ग्राम में (जो गोरखपुर महानगर से ग्यारह मील दक्षिण गोरखपुर-वाराणसी राजमार्ग से सटा हुआ अवस्थित है) सन् १८९२ ई० चैत्र कृष्ण पञ्चमी को पैदा हुये थे। उनके पिता शाण्डिल्यगोत्रीय त्रिपाठी-आस्पदधारी प० शिवशंकरपति त्रिपाठी थे जिन्होंने वैदिक मन्त्रों के आधार पर मूर्तिपूजा का प्रतिपादन करने वाले सनातनधर्म-कल्पद्रुम नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया था। भगवती लक्ष्मी तथा सरस्वती दोनों देवियों की उनके ऊपर असीम कृपा थी। उनका घर धनधान्य से भरा-पूरा था। पूरी जमींदारी थी जिसके समुचित प्रबन्ध, गरीबो की सहायता और सस्कृत विद्या के पढ़ाने में उनका समय व्यतीत होता था। उस युग के प्रख्यात विद्वद्वरेण्य 'सनातनधर्मोद्धार' नामक अलौकिक धर्मग्रन्थ के प्रणेता पण्डित उमापति द्विवेदी (प्रसिद्ध नाम पं० नकछेदराम द्विवेदी) आपके सहृदय बन्धु तथा विख्यात परिवार के ही मान्य व्यक्ति थे। पण्डित शिवशङ्करजी अपने प्रखर पाण्डित्य और धवल चरित्र के कारण स्थानीय चौरासी गाँवों के मण्डल में अत्यन्त श्रद्धा और पूज्य बुद्धि से देखे जाते थे। घर पर ही संस्कृत के विद्यार्थियों को स्वय पढ़ाते थे तथा उनके भोजन-छाजन की व्यवस्था भी आप अपने ही द्रव्य से करते थे।

पण्डित शिवशङ्करजी के दो पुत्र हुये। ज्येष्ठ आत्मज तो पण्डित कविवर्य श्रीकान्तमणि त्रिपाठी है जिनका परिचय आगे दिया जायेगा। कनिष्ठ पुत्र न्यायमूर्ति श्री हरिश्चन्द्रपति त्रिपाठी है जो प्रयाग के उच्च न्यायालय में अनेक वर्षो तक बड़ी निष्ठा तथा अध्यवसाय से न्यायमूर्ति के उत्तरदायी कार्य का सम्पादन कर अब सेवानिर्मुक्त है। पण्डित हरिश्चन्द्रपति त्रिपाठीजी ग्रन्थलेखक के प्राचीन छात्र हैं। सस्कृतसाहित्य के अच्छे ज्ञाता तथा श्रद्धालु अध्येता हैं। संस्कृतसाहित्य के प्रति इनकी स्वाभाविक अभिरुचि थी जिसे इन्होंने अपने विस्तृत अध्ययन तथा गाढ़ अनुशीलन से और आगे बढ़ाया है। आपके श्वशुर पण्डित कालीप्रसाद मिश्रजी महामना मालवीयजी के द्वारा समादृत मान्य मनीषी, हिन्दूविश्वविद्यालय के अन्तर्गत संस्कृतमहाविद्यालय के प्रख्यात प्राचार्य तथा व्याकरणशास्त्र के गम्भीर विद्वान् तथा संस्कृत के प्रचारक-प्रसारक लब्धवर्ण विचक्षण थे। इनकी स्निग्ध छाया न्यायमूर्ति हरिश्चन्द्रपति त्रिपाठी के विनम्र चरित्र पर अतिशय मात्रा में पड़ी है—यह कथन सर्वथा यथार्थ है।

हमारे चरितनायक श्रीकान्तमणिजी इन्हीं शिवशंकरजी के ज्येष्ठ आत्मज थे। संस्कृत की प्रौढ़ शिक्षा के निमित्त ये काशी आये और गवर्नमेण्ट संस्कृतकालेज में व्याकरण एवं साहित्य का विधिवत् अध्ययन करने लगे। यहीं से इन्होंने व्याकरणाचार्य और साहित्याचार्य की उपाधियाँ प्राप्त कीं। महामहोपाध्याय पण्डित दामोदर शास्त्री भारद्वाज और व्याकरण-केसरी पण्डित रामभवन उपाध्याय श्रीकान्तजी के गुरु थे। परन्तु संस्कृत में काव्यरचना की प्रेरणा

तत्कालीन कविचक्रवर्ती पण्डित देवीप्रसाद शुक्ल से प्राप्त हुई। कविता की ओर श्रीकान्तजी का रुझान छात्रजीवन मे ही दृष्टिगोचर है जब इन्होने 'बालगीतम्' नामक काव्यग्रन्थ का प्रणयन तथा प्रकाशन किया था। कालेज के अध्यक्ष डॉ० आर्थर वेनिस के ये प्रिय छात्र थे और उन्ही की प्रेरणा से इन्होने अग्रेजी का भी सम्यक् ज्ञान अर्जित किया था। श्रीकान्तजी ने अपनी छात्रकालीन रचना 'बालगीत' का उल्लेख इस ग्रन्थ मे भी किया है। फलत छात्रजीवन मे ही इनकी काव्यप्रतिभा का जन्म हुआ जिसका विशेष दर्शन आलोचको को इस 'कविताकलाप' मे हो रहा है। ग्रन्थ का प्रकाशन 'श्री गगानाथ झा केन्द्रीय सस्कृत विद्यापीठ' (प्रयाग) से दो वर्ष पूर्व हुआ है। श्रीकान्तमणिजी का निधन सन् १९४९ ई० मे ५६ साल की आयु मे हुआ।

पण्डित श्रीकान्त त्रिपाठी ने अपनी समस्त रचनाओं के सग्रह को **श्रीकान्त-कविताकलापः** नाम दिया है। ग्रन्थ की भूमिका मे इस सकलन का समय १९८५ वि० स० (=१९२८ ई०) दिया गया है जिस समय उनका वय केवल ३६ साल का था। फलत इनकी समस्त कविता का रचनाकाल युवावस्था ही है। ये ५६ वर्ष तक जीवित रहे, परन्तु जीवन के अन्तिम २० वर्षों की काव्य रचनाओं से हम अपरिचित ही है। इस सग्रह मे डेढ़ हजार पद्यो की सत्ता है। वर्ण्य विषयो की अनेकता है। 'वशगाथा' (पृ० ६०) मे कवि ने अपने वश का परिचय दिया है। उन्होने अपने त्रिपाठी कुल को महर्षि शाण्डिल्य गोत्र का बतलाया है। अपने गुरु उमापति शर्मा द्विवेदी के गुणो का वर्णन कतिपय पद्यो मे किया है। 'परिदेवना' के अन्तर्गत कविजी ने म० म० पण्डित शिवकुमार शास्त्रीजी के निधन पर अपना शोक प्रकट किया है—

हतजीव कथ नु जीवसि प्रतिलभ्य किमु चेतने त्वया।
ननु वज्रमयोऽसि दारुणो हृदय त्व न परिस्फुटस्यद. ॥

कवि शिवशक्ति का उपासक है। इन दोनो के विषय मे अनेक मञ्जुल भक्तिरसाप्लावित कविताएँ उपलब्ध होती है।'कालिकास्तुति' (पृ० ४०) मे विषय के अनुरूप ही लम्बे २३ पद्यो मे शाक्तपद्धति के अनुसार घटाटोप पदावली से सम्पन्न कविता की रचना बडी ही कमनीय शब्दो मे की गई है। उदाहरण के लिए ककार की बहुलता से सम्पन्न यह पद्य देखिये—

कालिन्दीकालकान्ति कमलकुलसखी किन्नरी कम्रकण्ठी
कन्दर्पप्रीतिदा कुञ्जरवरगमना कामिनीमौलिरत्नम्।
कर्णान्तभ्रान्तनेत्रा करपदवलयन्यस्तकुम्भीनसालि.
कृष्णा कृष्णस्वसा क कलयतु कुशल कालिका कीर्णकेशी ॥

—पृ० ७१, श्लोक ७

'सिंहोन्नताशतकम्' भगवती की प्रशस्त स्तुति से सम्पन्न कविवर की मृदुल कमनीय रचना है। हृदय के कोमल भावो की व्यञ्जना से सम्पन्न यह शतक कवि की उत्कृष्ट काव्यकला का सुन्दर उदाहरण है। इस शतक मे कवि ने भगवती शारदा को समग्र दर्शनो के मूलतत्त्व के रूप मे चित्रित किया है जिसमे उन दर्शनो के तत्त्वो का भी सारअश सकलित किया गया है। 'पातञ्जली' मति के समान भगवती का यह वर्णन देखिये—

ज्योतिष्मतीं प्रणिहित प्रणवे विषक्तां
कैवल्य- कन्दलित- भव्यविभूतिभूषाम्।
शुद्धाम्बिदीश्वरसुखी तु ऋतम्भरेद्धां
पातञ्जलीमिव मतिं भवतीं समीहे ॥

अद्वैतवेदान्त से भगवती की समता देखिये—

अद्वैतिनं विभवनीमिषतं परन्तु
संबघ्नतीमधिसतीं सदभिंष्टुतां च ।
चिच्छक्तिशक्तिपरमां च सुदुर्वचां च
त्वां शाङ्करीं स्मृतिमनन्तसुखामुपासे ॥

—पृ० १४६, श्लोक ३२

इस शतक के अन्त में कवि ने अपने पिता शिवशङ्करजी के नाम का तथा लड़कपन में रचित अपने 'बालगीतस्तव' का भी उल्लेख किया है (पृ० १५७, श्लोक १०१)।

प्रकृति के चित्रण की ओर भी कवि की रुचि का पता 'अरुणोदय' के द्वारा मिलता है जिसमें लम्बे छन्दों में निर्मित १४ श्लोक है। **चित्रकाव्य** की रचना के प्रति भी कवि का आदर है। उन्होंने चक्रबन्ध (पृ० ७५), गोमूत्रिका, यमक गोमूत्रिका दोनों की एकत्र रचना कर इस कला को भी प्रदर्शित किया है (पृ० ७६)। 'दिव्या आत्मविभूतयः' शीर्षक कविता में श्रीकान्तजी ने २५ आध्यात्मिक विभूतियो को आत्मकथा के समान अपने ही मुख से अपना प्रभाव वर्णित करते दिखलाया है जो काव्य की दृष्टि से बड़ा ही मनोरम तथा आनन्द-परिचायक है। इसमे ब्रह्मा, कृष्ण, रुद्र, सूर्य, शक्ति, स्कन्द, चन्द्र, मत्स्य कूर्मादि अवतार अपना स्वरूप चित्रित करते है—

राम (परशुराम) का आत्मकथन—

रामोऽहं रैणुकेयो नरहरिनिहितैर्दैत्यवर्गैः पृथिव्याम्
उत्पन्नैर्बाधितानां प्रबलभयजुषां प्रीतिकृत् सुप्रजानाम् ।
क्रौञ्चं शैलं विभिन्दन्नवनिपमुकुटोन्माथमेकः प्रकुर्वन्
मोहं याम्येकदन्तोद्धृतरदनविधौ कोऽयमासीत् स विघ्नः ॥

आद्याशक्ति का आत्मपरिचय—

'आर्याऽहं शक्तिराद्याऽपरिमितविभवा ब्रह्मणोऽचिन्त्यतत्त्वा
मायाविद्या पराख्या त्रिगुणविगुणितामण्डकोटिं वहन्ती ।
पार्श्वान्मे पृष्ठतो मे पुरत इव हसन्नग्रगोऽप्यङ्कसंस्थो
हेरम्बोऽम्बेति वाणीमनुवदति दधद् विश्वतो मङ्गलानि ॥

दिव्यालोक (८३ पद्य) एव आत्मप्रतुष्टिः (१७२ पद्य) कविवर के आध्यात्मिक विचारों से विभूषित मनोहर कविता है जिसमें उन्होंने आत्मचिन्तन से समृद्ध पद्यों की रचना की है। 'रामस्यापूर्तयः' (पृ० ९८) में बड़ी सुन्दर समस्याओं की पूर्ति दृष्टिगोचर होती है। सीताजी के कटाक्ष के वर्णन में कविवर ने एक पूरे शतक का ही प्रणयन किया है (पृ० २११–२२७)। 'प्रकीर्णक' श्लोकों की महती संख्या नाना विषयों से सम्बन्ध रखती है। भाषा सरल, भाव उदार तथा हृदयग्राही हैं। गंगा तथा सरयू की स्तुति भी भावपूर्ण है।

बिना मात्रा की यह गणेशजी की स्तुति पढ़िए—

सकलकमलदलनयन गणपवर
वदनमदनहरतनय भवनकर ।
जगदघमपहर समलसरल नर
भवभयहरण सहजबलसहचर ॥

—पृ० १२६, श्लोक २७

पण्डित जनार्दन शास्त्री खुण्टे

ज्योतिष-जगत् के जाज्वल्यमान नक्षत्र आचार्य खुण्टेजी का देहावसान हाल में १३ सितम्बर १९९० ई० को काशी में हो गया। लगभग पाँच दशक तक ज्योतिष-जगत् की सेवा करते हुये उन्होंने राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जो ख्याति अर्जित की थी वह बिरले ही को प्राप्त होती है। उनका जन्म महाराष्ट्र के धुले मण्डल के 'तोरखेड़' ग्राम में १९१६ ई० में हुआ। बारह वर्ष की अवस्था में वे काशी आये। यहीं सांगवेदविद्यालय में गणेश दीक्षित जावजी भट्ट के सान्निध्य में यजुर्वेद तथा कर्मकाण्ड का, नीलकण्ठ जोशी, गणपतिदेव शास्त्री तथा हृषीकेश उपाध्याय के सान्निध्य में ज्योतिषशास्त्र का गहन अध्ययन किया। ज्योतिष के अतिरिक्त ये धर्म, न्याय एव राजनीति के अच्छे व्याख्याता थे जिनका अध्ययन इन्होंने राजेश्वर शास्त्री से किया था। भारतधर्ममहामण्डल आदि अनेक संस्थाओं ने इन्हें 'पण्डितभूषण', 'न्यायरत्न' आदि उपाधियों से भूषित किया था। अमेरिका के 'फेडरेशन आव एस्ट्रोलाजर्स' के सभासद होने का भी गौरव इन्हे प्राप्त था जो इनके फलित ज्योतिष के वैदुष्य का द्योतक है। ज्योतिष सम्बन्धी अनेक क्लिष्ट धारणाओं की विशद व्याख्या, सटीक राशिफल तथा अचूक भविष्यवाणी के कारण शास्त्रीजी ने विशेष कीर्ति अर्जित की। 'जयहिन्द पचाग' का प्रकाशन खुण्टेजी के विशिष्ट पाण्डित्य का द्योतक था। सन् १९५३ में इन्होंने 'लोकबन्धु' नामक ज्योतिषशास्त्रीय पाक्षिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया जिसमें ज्योतिषसम्बन्धी विकट समस्याओं का समाधान बड़े तर्क तथा युक्तियो के सहारे किया जाता था। ये अनेक भारतीय भाषाओं के ज्ञाता थे। इनके शिष्यों की एक लम्बी परम्परा है जो इनके कार्य को अग्रसर करती रहेगी।

पण्डित जयपुर गणपति विश्वनाथ शास्त्री

विश्वनाथ शास्त्री (पूर्वजों की छठी पीढ़ी) तमिलनाडु से पूना आकर १७७५ ई० में पेशवा के 'राजविद्वान्' पद पर आसीन हुये। इनके पुत्र नारायण शास्त्री एव पौत्र विश्वनाथ शास्त्री वेदपाठी अपने पाण्डित्य के कारण इस पद पर बने रहे। विश्वनाथ शास्त्री का देहान्त पूने में ही हुआ। इनके दो पुत्र थे जिनमें एक त्र्यम्बक शास्त्री माता के साथ दक्षिण चले गये, परन्तु द्वितीय पुत्र श्रीकृष्ण शास्त्री लगभग १८५० ई० में राजा जयपुर के 'दरबार-पण्डित' बन गये। दस वर्ष के अनन्तर ये काशीधाम चले आये और यही केदारघाट पर १८६७ ई० मे गंगातट पर एक भव्य मकान बनवाया। लगभग १८८० ई० में स्वनिवास काशी में ही निधन हो गया। ज्येष्ठ भ्राता के पुत्र गणपति शास्त्री दक्षिण से आकर काशी में रहने लगे। राजगोपाल शर्मा के पिता विश्वनाथ शास्त्री का जन्म काशी मे ही १८८२ ई० में हुआ। काशी के विद्वान् प० सीताराम शास्त्री के यहाँ व्याकरण एव तर्क का अध्ययन किया और साथ ही आंग्लभाषा का भी अध्ययन विद्यालय में किया। पूर्ण वेदाध्ययन भी किया। पिता के मरणोपरान्त १९१४ ई० में काशीधाम पहुँचे। इसी समय प० प० श्री रामानन्द तीर्थ यतिवर ('श्रौताऽखण्डार्थ-सिद्धिः' ग्रन्थ के रचयिता) के शिष्य बने और आपसे 'श्रीविद्या' (माहात्म्यखण्ड, चर्याखण्ड, ज्ञानखण्ड) का अध्ययन किया। पश्चात् इन्हीं के पास 'प्रस्थानत्रयभाष्य' का अध्ययन किया। पं० प० श्री भारती कृष्ण तीर्थ का नाम तुरीयाश्रम १९१९ ई० में काशीधाम में ग्रहण किया। १९२१ ई० में द्वारकामठ के अध्यक्ष शंकराचार्य बने। चार वर्ष के उपरान्त आप ही पुरीगोवर्धन मठ की शंकराचार्य पदवी पर भूषित हुए। उन दिनों पं० प० भारतीकृष्ण तीर्थ

ने काशीधाम के स्वगृह में ही वेदान्त का पाठ पढ़ा। भारतधर्ममहामण्डल के पं० प० श्री ब्रह्मानन्द सरस्वतीजी के पास अद्वैतवेदान्त की पुनः आवृत्ति की। पं० हाराणचन्द्र भट्टाचार्य, पं० नारायण शास्त्री खिस्ते, डॉ० मंगलदेव शास्त्री, डॉ० गोपीनाथ कविराज, पं० रुद्रम् भट्ट, पं० लक्ष्मण शास्त्री, पं० वीरमणि प्रसाद उपाध्याय (रणवीर पाठशाला), पं० रामशास्त्री रटाटे (दरभंगा विद्यालय), पं० विजयानन्द तिवारी, पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद शास्त्री (सुप्रभात-सम्पादक), पं० गौरीनाथ पाठक (विशुद्धानन्द-विद्यालय) आदि अनेक विद्वानों की पं० विश्वनाथ शास्त्री के निवासस्थल पर शास्त्रीय चर्चा बराबर होती थी। १९३४-३५ ई० में काशी में आद्यशंकराचार्य द्वारा प्रतिष्ठित मठों के बारे में चर्चा उठी—यही समय था जब कांची कामकोटि मठ के शंकराचार्य काशीधाम पधारे थे। इस विवाद में पूर्णतया भाग लिया और विद्वत्सभा भी करायी। 'व्यवस्था' भी प्रकाशित की ('श्रीमज्जगद्गुरु शांकरमठविमर्श' नामक पुस्तक)। आद्यशंकराचार्य के जीवन, क्रियाकलापों, कृतियों आदि पर अन्वेषण-कार्य प्रारम्भ किया। उस समय आपने अनेक लेख, समालोचना, समीक्षा भी लिखा जो अब १९९० ई० में 'कामकोटिशतकोटि' नामक पुस्तक में प्रकाशित किया गया।

पण्डित राजगोपाल शर्मा

पं० गणपति-विश्वनाथ शास्त्रीजी के द्वितीय पुत्र वि० राजगोपाल शर्मा का जन्म काशीधाम के स्वगृह में १९१३ ई० में हुआ। आग्लभाषा के स्कूल व कालेज में पाश्चात्त्य विद्या प्राप्त की। साथ ही कृष्णयजुर्वेद का अध्ययन भी किया (पदपाठ एव क्रमपाठ तक)। १९३४-३५ ई० में जब शांकरमठों के विषय में विवाद छिड़ा, उस समय पुन· शकराचार्य-कृतियों का पाठ प्रारम्भ किया। पं० सीताराम शास्त्री (न्यायाचार्य) के यहाँ अध्ययन किया। पश्चात् डॉ० अलटेकर (हि० वि० वि०) के यहाँ भी पढ़ा। पिता ने भी प्रकरणग्रन्थों का पाठ पढ़ाया। पिता के अनुसन्धान कार्य (शोध, अन्वेषण, सकलन) में भाग लिया। पिता के मरणोपरान्त (१९५९ ई०), १९६३ ई० में 'श्रीमज्जगद्गुरु शांकरमठ विमर्श' नामक (हिन्दी, ७०० पृष्ठ) पुस्तक प्रकाशित की, जिसकी प्रस्तावना डॉ० राजेन्द्रप्रसाद तथा डॉ० सम्पूर्णानन्द ने लिखकर इसकी महत्ता बढ़ाई। वि० राजगोपाल शर्मा का अन्य प्रकाशन, यथा—'काशी में कुम्भकोणमठविषयक विवाद' (३०० पृष्ठ), 'सत्यान्वेषण', 'दक्षिणाम्नाय-धर्मपीठ', 'कांचीकामकोटिमठ—ए मिथ', 'आद्यशंकराचार्य-प्रादुर्भाव-काल', 'आचार्य शंकर भारती' आदि हैं।

रामजी शास्त्री द्रविड़

इन्हीं के सम्बन्धी थे पण्डित रामजी शास्त्री द्रविड़ जिनके पिता पं० व्यंकटेश शास्त्री जी रामनगरस्थित मेस्टन स्कूल (आजकल प्रभुनारायण राजकीय इण्टर कालेज) के प्राचार्य थे। रामजी शास्त्री ने अपने चाचा लक्ष्मण शास्त्री द्रविड़ से वेदान्त तथा सांगवेदविद्यालय में कृष्णयजुर्वेद का अध्ययन किया। वेदाचार्य तथा साहित्याचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। गोयनका-संस्कृत-महाविद्यालय के ये वेदाध्यापक थे। जन्म सन् १९१७ में तथा निधन १९७७ ई० में हुआ।

●

संस्कृत-प्रचारक विद्वान्

भारतीय संस्कृति के यथार्थ ज्ञान के लिये संस्कृतभाषा का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। पहले हमारे गाँवों में भी संस्कृत के पढ़ने वाले छात्रों तथा पढ़ाने वाले गुरुओं की कमी नहीं थी। आजकल इन दोनों का ह्रास हो रहा है। इसलिये संस्कृत का ज्ञान सुलभ रीति से जिज्ञासुओं को प्राप्त हो, इसके लिये आजकल संस्कृतप्रचार की विशेष आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये काशी के अनेक विद्वान् जागरूक हैं। इन्हीं विद्वानों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

पण्डित रामबालक शास्त्री

पण्डित रामबालक शास्त्री बलिया जनपद के एक मध्यमवर्गीय ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए थे। आरम्भिक शिक्षा को इन्होंने अपने गाँव की पाठशाला में ही प्राप्त किया था। संस्कृत की शिक्षा इन्होंने बलिया नगर में स्थित 'जुबली संस्कृत कालेज' में प्राप्त की थी। इस कालेज के प्राचार्य पं० रामउदित उपाध्यायजी ने बड़े परिश्रम से इन्हें संस्कृत की शिक्षा-दीक्षा देकर संस्कृत का प्रौढ़ विद्वान् बनाया। ये काशी के जयनारायण इण्टर कालेज में संस्कृत के प्रधान अध्यापक थे। काशी में आने पर संस्कृतभाषा के प्रचार को अपने जीवन का मुख्य लक्ष्य बनाया। ये बोलने-चालने में बड़े चतुर, भाषण देने में निर्भीक तथा अपने सिद्धान्त का प्रचार करने में नितान्त दृढ़निश्चयी थे। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के इन्दौर-अधिवेशन के सभापति महात्मा गाँधी थे। उनका यह प्रस्ताव था कि पूजा, अनुष्ठान आदि के मंत्र संस्कृत से हिन्दी में अनुवाद करके व्यवहार में लाए जायँ। उन्होंने खुले अधिवेशन में यह प्रस्ताव रखा और सूचना दी कि यदि कोई भी व्यक्ति इसका विरोध करेगा, तो वह प्रस्ताव हटा लिया जायेगा। पूरी सभा मौन थी। किसी ने इस अनुचित प्रस्ताव का विरोध नहीं किया। किन्तु पं० रामबालकजी ने इसका डटकर विरोध किया। इनका भाषण तथा तर्क इतना सजीव था कि महात्मा गाँधी ने उसे स्वीकार किया और अपना प्रस्ताव वापस ले लिया। उसी दिन से रामबालकजी का नाम कांग्रेसी राजनीतिज्ञों के सामने निर्भीक पण्डित के रूप में प्रकट हुआ।

इन्हीं के उद्योग से उत्तरप्रदेश के शिक्षामंत्री श्री सम्पूर्णानन्द ने संस्कृत-अध्यापकों के वेतन का ग्रेड निश्चित कर दिया। उन्हीं के कहने से इन्होंने 'गाण्डीवम्' नामक साप्ताहिक संस्कृत पत्र निकाला। उस पत्र के प्रकाशन तथा विवरण का सपूर्ण कार्य ये अकेले दम से स्वयं करते थे।

संस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार के कार्य को अदम्य निष्ठा, अक्लान्त परिश्रम एवं अप्रमेय उत्साह से सम्पादित करनेवाले सुधीजनों में पण्डित रामबालक शास्त्री का नाम सर्वदा अग्रगण्य रहेगा। उनके पास साधनों की कमी थी, अर्थ का संकट था। वे जयनारायण स्कूल के अल्पवेतनभोगी संस्कृताध्यापक मात्र थे। परन्तु इस कार्य में अपना समग्र वेतन-द्रव्य व्यय कर

देते थे और सामान्य जीवन बिताते थे। वे अपने सामने कम्पोज कराते थे, स्वयं प्रूफ देखते थे, ठीक समय पर साप्ताहिक 'गाण्डीवम्' का प्रकाशन करते थे। यदि मुद्रण में विलम्ब हो जाता और निकट के डाकखाना बन्द हो जाते, तो स्वयं रिक्शा पर पत्र का बंडल लादकर मुख्य डाकखाने में दौड़ जाते थे, टिकट स्वयं चिपकाते, परन्तु ग्राहक के पास नियमित समय से पहुँचाने के अपने व्रत में कभी चूक नही होने देते थे। उनका उत्साह किसी प्रकार की यत्रणा स्वीकार नही करता था। इस युग में ऐसा लगनवाला व्यक्ति मिलना अलभ्य नही, तो दुर्लभ्य अवश्य है। उनका प्राण 'गाण्डीवम्' के सम्पादन-प्रकाशन में बसता था। उन्होंने मुझसे अनेक बार कहा था कि प्रति सप्ताह के अक के प्रकाशन पर मुझे पुत्रोत्सव होने जैसा आनन्द मिलता है। आज सामग्री तथा उपकरणों की कमी न होने पर भी 'गाण्डीवम्' के नियमित प्रकाशन का अभाव सस्कृतप्रेमियों के हृदय में अवश्यमेव चुभता है।

'गाण्डीवम्' के समग्र लेख वे ही स्वय ही लिखा करते थे। इस प्रकार सस्कृतभाषा के प्रचार-प्रसार में उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन ही समर्पित कर दिया था। 'गाण्डीवम्' के विभिन्न लेख उन्हीं की रचना होते थे जिनमे राजनीति, लोकव्यवहार तथा नीतिशास्त्र से सम्बद्ध विषयो की चर्चा सरल-सुबोध सस्कृतभाषा में की जाती थी। उन्होंने सस्कृत मे अनेक नाटको की भी रचना की है। थोड़े दिन हुये इनका निधन काशी मे ही हुआ।

'गाण्डीवम्' वर्तमानकाल में सम्पूर्णानन्द-सस्कृत-विश्वविद्यालय के द्वारा प्रकाशित होता है। उसका स्वरूप इस पद्य के द्वारा प्रकाशित किया गया है--

समप्रदेशेषु गतं विदेशभू-प्रसारितं भारतशासनादृतम्।
विशिष्टसाप्ताहिकपत्रसंस्कृत-प्रशस्तगाण्डीवमिदं विजृम्भते॥

पण्डित वासुदेव द्विवेदी शास्त्री

श्री वासुदेव द्विवेदी का जन्म देवरिया जिले के भवानी छापर गाँव मे वि० स० १९७०, फाल्गुन शुक्ल एकादशी, रविवार को हुआ। इन्होने नाना स्थानों की पाठशालाओं मे जाकर विद्याध्ययन किया। ऐसे स्थानो मे चित्रकूट, जबलपुर, जयपुर, इन्दौर तथा ब्यावर का नाम लिया जा सकता है। इनके पिताजी सस्कृत के अच्छे विद्वान् थे और अनेक विद्यालयों में पढ़ाने का उन्हे सुयोग्य मिला था। श्री वासुदेवजी को भी पिताजी के साथ इन स्थानों पर जाने एव पढ़ने का अवसर मिला। सस्कृत की प्रौढ़ शिक्षा इन्होंने सस्कृतमहाविद्यालय मे पढ़कर प्राप्त की। व्याकरण तथा साहित्य के अतिरिक्त वेद का इन्होंने विशेष अध्ययन किया। जैन तथा बौद्ध साहित्य के अध्ययन के साथ ही साथ भारत की अनेक प्रान्तीय भाषाओं की जानकारी उन्होने प्राप्त की है।

ये यायावर वृत्ति वाले सस्कृत विद्वान् है जिन्होने देववाणी के प्रचार तथा प्रसार में अपना पूरा जीवन ही समर्पित कर दिया है। इस पवित्र कार्य के सम्पादन के निमित्त इन्होंने पूरे भारतवर्ष का अनेक बार भ्रमण किया है।

श्री वासुदेव द्विवेदी की कार्यस्थली वाराणसी है। यहीं पर इन्होंने 'सार्वभौम सस्कृत प्रचार संस्थानम्' नामक सस्था की स्थापना (१५ अगस्त १९४७ में) की है। इस सस्थान में संस्कृत के प्रचार के निमित्त कक्षाये चलती हैं जिनमें दूर-दूर से विद्यार्थी आकर संस्कृतशिक्षा ग्रहण करते है। इस कार्य के लिये इन्होंने विभिन्न स्थानों पर जाकर संस्कृत शिविर चलाने का भी नियम किया है। ये शिविर प्रायः एक पक्ष तक चलते हैं जिनमें जिज्ञासु जन आकर

सस्कृतशिक्षा के पठन-पाठन तथा भाषण का शिक्षण प्राप्त करते है। ऐसे शिविर उत्तरभारत के अनेक स्थानो पर प्रतिवर्ष चलाये जाते है। इनकी शिक्षा से आकृष्ट होकर विदेशी छात्र भी पढ़ने आते है। बौद्ध भिक्षुओं को भी मस्कृतशिक्षा देकर उन्हे पालि की पूर्ण शिक्षा मे सहायता पहुँचाते है।

अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये इन्होने अनेक उपयोगी ग्रन्थो का निर्माण किया है। ये ग्रन्थ दो प्रकार के है। अधिक ग्रन्थ तो सस्कृत के प्रचार एव प्रसार से ही सम्बद्ध है। कुछ ग्रन्थ बालको के अभिभावको के तथा आचार व्यवहार के जिज्ञासु जनो के कल्याणार्थ है। पहली श्रेणी मे आने वाले ग्रन्थ है--दीपमालिका, कौत्सस्य गुरुदक्षिणा, सस्कृत-गान-माला, सस्कृत कवि सम्मेलनम्, भोजराज्ये सस्कृत साम्राज्यम, बाल निबन्धमाला, सस्कृत-गौरव गानम्, पत्र मञ्जूषा, बालकवितावलि सस्कृत प्रहसनम्। दूसरी श्रेणी मे आने वाले ग्रन्थ है—

१. सुरभारती-संदेश· (सस्कृत) इस [illegible] ग्रन्थ मे सस्कृतविद्या के प्रचारक पण्डितो के ग्रन्थ तथा विचारो का सकलन है।

२. भारतीय आचार-व्यवहार—इस ग्रन्थ मे आचार व्यवहार सम्बन्धी शास्त्रीय शिक्षाओं का सर्व-साधारणोपयोगी सकलन है। वेद दर्शन, कल्पसूत्र, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र विषयो के ग्रन्थो से सर्वसाधारण के लिये नितान्त उपयोगी उपदेशो का यह हिन्दी अनुवाद के साथ बडा उपयोगी सग्रह है।

३. संस्कृत-सूक्ति-रत्नाकर— सस्कृतसाहित्य के विभिन्न ग्रन्थो से सकलित गद्यपद्यमय सूक्ति सुभाषितो का विषयानुसार सानुवाद सग्रह है

सरल रीति से छात्रो को सस्कृत मे भाषण की शिक्षा देने पर आपका विशेष आग्रह है और इस कार्य मे ये सर्वथा सफल है।

डॉ० भीखनलाल आत्रेय

आत्रेयजी हिन्दूविश्वविद्यालय के दर्शनविभाग के अध्यक्ष थे। भारतीय धर्म और दर्शन के मर्मज्ञ वक्ता तथा प्रचारक थे। उनकी वक्तृत्वशक्ति से प्रभावित होकर हिन्दूधर्म के उद्धारक सेठ जुगलकिशोर बिड़ला ने उन्हे कई बार जापान, अमेरिका तथा यूरोप के देशो मे भेजा था और आत्रेयजी को इस प्रचारकार्य मे पर्याप्त सफलता मिली थी। ये उत्तरप्रदेश के सहारनपुर मण्डल के अन्तर्गत रुड़की के निकटवर्ती किसी ग्राम मे जनमे थे। ये गौड ब्राह्मण थे। व्यवहार मे विशेष उदार चरित्र से निर्मल एव स्वभाव से नितान्त सात्त्विक भीखनलाल जी देश तथा विदेश मे अपनी विद्या, बुद्धि तथा व्याख्यान निपुणता के कारण विशेष विख्यात थे।

उनकी उच्च शिक्षा हिन्दू विश्वविद्यालय मे ही हुई दर्शनशास्त्र मे एम० ए० उत्तीर्ण होकर उन्होने विभाग के अध्यक्ष फणिभूषण अधिकारी की देखरेख मे अनुसन्धान का कार्य किया। अनुसन्धान का विषय था—योगवासिष्ठ के दार्शनिक तत्त्वो की मीमासा। योगवासिष्ठ बडा विशाल ग्रन्थ है जिसमे आकार मे ही विपुलता नही है बल्कि आध्यात्मिक सिद्धान्तो की दुरूहता के कारण भी वह प्रख्यात है। इसके तथ्यो का ऊहापोह करना, उसके भीतर प्रवेश कर तथ्यो का प्रकाशन करना किसी निष्ठावान् दार्शनिक विद्वान् के गम्भीर अनुसन्धान एव अध्यवसाय की अपेक्षा करता है। भीखनलालजी मे इन गुणो की कमी नही थी। फलत उनका अनुसन्धान कार्य सर्वत्र प्रशसित, समादृत तथा पुरस्कृत किया गया।

योगवासिष्ठ में आध्यात्मिक तथ्यों का विस्तृत रूप से वैविध्य के साथ विचार किया गया है। ये विचार ग्रन्थ में यत्रतत्र बिखरे पड़े हैं। उन सबको एकत्र कर, तर्कदृष्टि से सजाकर प्रस्तुत करना कठिन कार्य था। परन्तु इस कार्य को डॉ० भीखनलालजी ने बड़ी योग्यता तथा विपुल परिश्रम कर सम्पन्न किया। इस ग्रन्थ के दर्शन के विषय में इनके छोटे-मोटे अनेक ग्रन्थ अंग्रेजी तथा हिन्दी के माध्यम से प्रस्तुत किये गये हैं। विषयक्रम से सम्पन्न ग्रन्थ का नाम है **वासिष्ठदर्शनम्** जो ग्रन्थ के समानार्थी श्लोकों का समुच्चय है। अंग्रेजी 'योग-वासिष्ठ एण्ड इट्स फिलासोफी' तथा हिन्दी में 'योगवासिष्ठ के अध्यात्मरहस्य' बड़े गम्भीर तथा विषयों के सुन्दर रीति से प्रकाशक हैं। ये लेखक होने के अतिरिक्त अच्छे वक्ता भी थे।

हिन्दूविश्वविद्यालय की इन्होंने बड़ी सेवा की। अध्ययन और अध्यापन दोनों का सम्पादन योग्यता के साथ वहीं किया। छात्रावासों के ये सर्वश्रेष्ठ संरक्षक थे। इनकी शिष्य-मण्डली पर्याप्तरूपेण बड़ी है। थोड़े ही दिन पूर्व इनका काशी में ही निधन हुआ। इनके दो पुत्र हैं और दोनों ही दर्शन के अध्यापन का कार्य सिद्ध कर कीर्ति से सम्पन्न हैं। कनिष्ठ पुत्र जे० पी० आत्रेय मुरादाबाद के डिग्री कालेज के दर्शनविभाग के अध्यक्ष हैं। ये तीन शोधपत्रिकाओं का सम्पादन भी करते है—(१) दर्शन इण्टरनैशनल (अंग्रेजी), (२) साइकिक्स इण्टरनैशनल (अंग्रेजी), (३) गवेषणा (हिन्दी)।

डॉ० बी० एल० आत्रेय द्वारा रचित ग्रन्थ—(1) The Philosophy of the Yogavasistha., (2) Yogavashishta and Modern Thought., (3) The Elements of Indian Logic., (4) An Introduction to Parapsychology., (५) योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, (६) शंकराचार्य का मायावाद, (७) योगवासिष्ठसारः (संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी), (८) वासिष्ठदर्शनम् (अंग्रेजी भूमिका से युक्त), (९) योगवासिष्ठ की कहानियाँ और उपदेश।

डॉ० राजबली पाण्डेय

डॉ० राजबली पाण्डेय प्राचीन भारत के गम्भीर इतिहासवेत्ता होने के अतिरिक्त हिन्दू धर्म के मर्मज्ञ विद्वान् माने जाते थे। देवरिया जनपद के रुद्रपुर कस्बे के समीपस्थ करौनी गाँव के निवासी थे। उनका जन्म मध्यमवर्गीय सरयूपारीण ब्राह्मणकुल में १९०७ ई० में हुआ। ये बाल्यकाल से मेधावी छात्र थे जिसकी निष्ठा समाज तथा धर्म के रहस्यों के ज्ञान के प्रति सदा समर्पित थी। बाल्यकाल में इनके ऊपर प्रसिद्ध सन्त बाबा राघवदास का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा था। बाबा उन दिनों इनके गाँव करौनी के पास ही जमिरा गाँव के एक विशिष्ट व्यक्ति के आग्रह पर वहीं रहकर धर्म के विषय में उपदेश देते थे। राजबलीजी नियमतः उन गीता-प्रवचनों को सुनने जाया करते थे। तभी से गीता, गोसेवा तथा गोदुग्धपान के प्रति इनकी निष्ठा जम गई जो इनके जीवन को सात्त्विक तथा सर्वप्रिय बनाने में सहायक हुई। इनकी शिक्षा कुछ तो गाँव पर और कुछ कानपुर के डी० ए० वी० कालेज में हुई। तदनन्तर ये काशी में हिन्दूविश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा के लिए आये और यहीं से बी० ए० एवं प्राचीन इतिहास में एम० ए० (प्रथम श्रेणी में) उत्तीर्ण किया। बी० ए० कक्षा में ये मेरे संस्कृत के छात्र थे। स्वभाव से गम्भीर, सात्त्विक भावना से पूर्ण, प्राचीन भारत की गवेषणा के जागरूक प्रहरी के रूप में ये उस समय से ही प्रसिद्ध हो गये। महामना मालवीयजी महाराज के सम्पर्क में आने से इनके इन गुणों में विशेष वृद्धि हुई। मालवीयजी की इन पर नैसर्गिक अनुकम्पा थी।

उस युग मे डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त करना बडा ही कठिन था। डी० लिट्० की ही एक मात्र उपाधि स्वीकृत थी। अभी तक पी-एच० डी० डिग्री की उपाधि का आरम्भ ही नही हुआ था। राजबलीजी ने प्रथम श्रेणी मे एम० ए० प्राप्त करने के अनन्तर डी० लिट्० उपाधि के लिए तीन वर्षो तक लगातार परिश्रम कर अपने शोधकार्य का विधिवत् सम्पादन किया। थीसिस का विषय था—हिन्दू सस्कार—सामाजिक तथा धार्मिक अध्ययन। इनके परीक्षक थे—लण्डन विश्वविद्यालय के प्रख्यात सस्कृतज्ञ डॉ० बेरिडेल कीथ, प्रयाग-विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ० गगानाथ झा और बम्बई के धर्मशास्त्र के लब्धकीर्ति मर्मज्ञ काणे। ये तीनो विद्वान् इस विषय के प्रतिष्ठित अध्येता तथा शोधकर्ता माने जाते थे और तीनो ने एक स्वर से इस शोधप्रबन्ध की विपुल प्रशसा की। फलत १९३६ ई० मे पाण्डेयजी इस शोधकार्य के आधार पर डॉक्टर परीक्षा मे उत्तीर्ण हो गये। इस मूल थीसिस का अग्रेजी मे प्रकाशन १९४९ ई० मे वाराणसी से हुआ और इसका हिन्दी रूपान्तर चौखम्भा विद्याभवन से १९५७ ई० मे प्रकाशित हुआ।

हिन्दूविश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग मे इन्हे प्राध्यापक का पद प्राप्त हुआ जहाँ ये विभागाध्यक्ष के महनीय पद पर नियुक्त हुए। विश्वविद्यालय मे कुछ दिनो मे एतद्देशीय शिक्षको के प्रति भेदभावना के कारण स्थिति विकट हो गई। राजबलीजी को भी अपना पद छोडना पडा। अनन्तर इनकी नियुक्ति जबलपुर मे विश्वविद्यालय मे प्राचीन इतिहास के अध्यक्ष पद पर हुई। ये वहाँ के कुलपति बने और इसी पद पर रहते इनका निधन ६ जून १९७१ ई० को हो गया।

डॉक्टर राजबली पाण्डेय भारत के प्राचीन इतिहास के नितान्त प्रबुद्ध तथा गम्भीर शोधकार्य करनेवाले मर्मज्ञ विद्वान् माने जाते है। पाण्डेयजी के स्वभाव मे ही प्रत्येक बात को गभीर रूप से ग्रहण करना, उसकी छानबीन करना और अन्त मे अपने स्वतन्त्र मत पर पहुँचना आदि गुण विद्यमान थे। वे किसी बात पर तत्काल निर्णय न देकर उसे गहराई से सोचने के लिए टाल देते थे। कभी भी वे बड़े-बडे नामो से अभिभूत होते हुये नही देखे गये। उनके स्वभाव मे हठनामक चीज नही थी, क्योकि वे सदा अपने मत का सशोधन करने के लिये तत्पर रहते थे। वे आर्यसमाज के ऊपर विशेष पक्षपात रखते थे, परन्तु वे उदार आर्यसमाजी थे, क्योकि इतिहास के प्रति आग्रहशील विद्वान् प्राचीन भारत के इतिहास का अनुश्रुतिमूलक इतिहास प्रस्तुत करने वाले पुराणो की कभी उपेक्षा नही कर सकता। उनकी दृष्टि सदा ऐतिहासिक हुआ करती थी।

प्रकाशित ग्रन्थ

ए सोशियो-रेलिजस स्टडी आव हिन्दू सेक्रामेण्ट्स, विक्रमादित्य आव उज्ज्ञयिनी, फाउण्डर आव द विक्रम ऐरा, इडियन पेलियोग्राफी, हिस्टारिकल एण्ड लिटरेरी इन्सक्रिप्शन्स, सबजेक्ट इनडेक्स आफ पुराणाज् (प्रथम भाग), भारतीय लिपिशास्त्र, अशोक के शिलालेख, भारतीय नीति का विकास, भारतीय इतिहास का परिचय, प्राचीन भारत, भारतीय इतिहास की भूमिका, हिन्दू सस्कार, विक्रमादित्य सवत् प्रवर्तक, गोरखपुर जनपद का इतिहास, विश्व का प्रारम्भिक इतिहास, हिन्दू धर्मकोश।

श्री राजबलीजी को अनेक इतिहासविषयक महनीय तथ्यो को प्रमाण से पुष्ट तथा तर्क एव युक्तियो से सम्पन्न करने का गौरव प्राप्त हुआ जिनमे मेरी दृष्टि मे विक्रमादित्य का कालनिर्णय सर्वाधिक महत्त्वशाली है। इतिहासवेत्ता 'विक्रमादित्य' को गुप्तवशी चन्द्रगुप्त द्वितीय

की उपाधि मानते आये हैं, परन्तु राजबलीजी ने सिद्ध किया कि शुंगकाल में अर्थात् ईसापूर्व प्रथम शती में शकों को परास्त करने वाला विक्रमादित्य-उपाधिधारी मालवगणसंघ का गणमुख्य था जिसने अपनी विजय के फलरूप नये सवत् 'विक्रमसंवत्' का प्रवर्तन किया था तथा इसी की सभा को महाकवि कालिदास ने अपनी उपस्थिति से सुशोभित किया था। इसका विवरण 'विक्रमादित्य : संवत्-प्रवर्तक' ग्रन्थ में विस्तार से दिया गया है। पाण्डेयजी के अभिमत का समर्थक एक पुरातात्त्विक प्रमाण भी उपलब्ध हुआ है। अँगईखेड़ा, शाहाबाद (हरदोई) से प्राप्त इस बहुचर्चित मृत्पदक (Terracotta Meddllion) में अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक (७।१४-१५) के अनुरूप सिंह के दाँत गिनते भरत का अकन सुस्पष्ट है। फलत. कालिदास की स्थिति विक्रमसंवत् के आरम्भकाल मे ही शकारि राजा विक्रमादित्य की सभा मे सिद्ध होती है। विक्रमादित्य-उपाधिधारी गुप्तवशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में उनकी स्थिति मानना कथमपि उपयुक्त नही है।

विद्या के क्षेत्र में भी आधुनिक विद्वानो के निष्कर्षो को वे बहुधा 'स्पेकुलेशन' या अटकल कहा करते थे। वे चिरकाल से परम्परा प्राप्त धारणाओं और विश्वासो को बहुत महत्त्व देते थे। एक विशेष बात यह थी कि उनकी युक्तियों, तर्कों तथा प्रमाणों में उष्णता की मात्रा कम और प्रकाश की मात्रा अधिक होती थी। उनकी यह स्पष्ट मान्यता थी कि युगो से चली आती हुई परम्पराओं के विरोध मे जब तक स्थूल और निर्विवाद तथ्य नही प्राप्त होते, तब तक उनका परित्याग तर्क के विरुद्ध होता है और इतिहास को विकृत करता है। प्राचीन लिपिशास्त्र के भी वे मर्मज्ञ थे। अशोक के शिलालेखों का सम्पादन तथा विवरण उन्होने हिन्दी में प्रस्तुत किया था, वह अग्रेजी मे भी दुर्लभ है। भारतीय सस्कृति का मन्थन कर उन्होने अनेक अज्ञात तथ्यों का प्रथमबार प्रकाशन किया। प्रमाणो के आधार पर वे गगाघाटी और मध्यदेश को ही भारतीय सस्कृति का मूल स्थान मानते थे। यही से इसका प्रचार सिन्धुघाटी, ब्रह्मपुत्रघाटी और दक्षिण प्रान्तों में हुआ।

हिन्दी के तो वे प्रबल समर्थक थे। उन्होने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हिन्दी में दिये और नागरीप्रचारिणी सभा तथा विश्वविद्यालय के माध्यम से हिन्दी के प्रचार और प्रसार का कार्य किया। वस्तुत· वे भारतीय सस्कृति के उपासक भी थे और उन्नायक भी। काशी की नागरीप्रचारिणी सभा के प्रधानमन्त्री का पद प्राप्त कर उन्होने सभा के कार्य को अनेक दिशाओं में बढ़ाया। उन्ही के कार्यकाल मे सभा की हीरकजयन्ती मनाई गई थी जिसमें राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसादजी तथा पण्डित गोविन्द वल्लभ पन्त जैसे राजनीति के कर्णधार उपस्थित हुये थे। उन्ही लोगो के परामर्श तथा सरकार की आर्थिक सहायता से 'हिन्दी विश्वकोश' तथा 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' के प्रकाशन की योजना बनाई गई थी। इस योजना को कार्यरूप देने मे पण्डित राजबलीजी का विशेष हाथ था। सभा के दोनो ही गौरवग्रन्थ हैं और इनके सयोजन, चयन तथा प्रकाशन का श्रेय पाण्डेयजी को सर्वात्मना है। फलत हिन्दी साहित्य के संवर्धन के निमित्त पण्डित राजबली पाण्डेय सर्वदा सस्मरणीय रहेंगे। वे गभीर विद्वान्, महान् विचारक और कभी न थकने वाले कर्मयोगी थे। 'काशी की पाण्डित्य-परम्परा' के सवर्धन में इनका नाम तथा काम सर्वदा आदरणीय रहेगा।

●

६१

डॉ० विद्यानिवास मिश्र

पण्डित क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय की शिष्यमण्डली मे डॉ० विद्यानिवास मिश्र का नाम अवश्यमेव अग्रगण्य है। ये भाषा विज्ञान के बडे ही प्रवीण मर्मज्ञ है। पाणिनीय व्याकरण तथा सस्कृतसाहित्य का इनका अध्ययन नितान्त गम्भीर तथा तलस्पर्शी है। अष्टाध्यायी का भाषाशास्त्रीय विश्लेषण सम्पादित कर इन्होने अपने वैदुष्य का बडा मनोरम निदर्शन प्रस्तुत किया है। ये साहित्य के मर्मज्ञ आलोचक, हिन्दीगद्य के अद्भुत शैलीकार लेखक तथा भारतीय सस्कृति के परम उन्नायक है। इनकी गुरुभक्ति नितान्त श्लाघनीय तथा प्रशसनीय है। चट्टोपाध्याय जी के शोधपत्रिकाओं मे बिखरे गम्भीर शोधलेखो को सम्पादित कर चार खण्डो मे प्रकाशित करने की इनकी योजना बडी उपादेय है जिसके अनुसार दो खण्ड प्रकाशित हो चुके है, शेष प्रकाशनाधीन है। इस प्रकार अपने आराध्य गुरुदेव की कीर्ति को स्थायी एव प्रोज्ज्वल बनाने मे डॉ० विद्यानिवासजी का प्रयास सर्वथा श्लाघनीय एव अनुकरणीय है।

इनका जन्म मकरसक्रान्ति, स० १९८२, ग्राम पकडडीहा, जिला गोरखपुर। माता श्रीमती गौरी देवी और पिता स्व० प० प्रसिद्धनारायण मिश्र। प्रारम्भिक शिक्षा गॉव मे। माध्यमिक शिक्षा गोरखपुर मे। सस्कृत की पारम्परिक शिक्षा घर पर और वाराणसी मे। १९४५ ई० मे प्रयाग-विश्वविद्यालय मे सस्कृत मे एम० ए०। जीवन क्षेत्र बदलता रहा। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन मे स्व० राहुलजी की छाया मे कोशकार्य फिर प० श्रीनारायण चतुर्वेदी की प्रेरणा से आकाशवाणी मे कार्य, विन्ध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश के सूचनाविभागो मे सेवा, गोरखपुर-विश्वविद्यालय और आगरा विश्वविद्यालय मे क्रमश अध्यापन सस्कृत और भाषाविज्ञान का। कैलीफोर्निया और वाशिगटन विश्वविद्यालयो मे अतिथि-अध्यापक १९६०-६१ और १९६७-६८ मे। काशीविद्यापीठ के कुलपति रहे १९८६-८९। सम्प्रति सम्पूर्णानन्द-सस्कृत-विश्वविद्यालय के कुलपति है। भारत सरकार द्वारा 'पद्मश्री' से सम्मानित।

पण्डित विद्यानिवास मिश्रजी की लेखनशैली का अपना वैशिष्ट्य है। वे हिन्दीजगत् मे ललित लेखनकला के लिए नितान्त प्रसिद्ध है। शैली इतनी आकर्षक एव आवर्जक है कि विज्ञ पाठक का हृदय बलात् अपनी ओर खीच लेती है। अध्यात्मज्ञान के प्रति आपकी निष्ठा तथा तलस्पर्शी प्रज्ञा के कारण आपकी रचनाओं मे लालित्य के साथ पाण्डित्य, विस्तार के साथ गाम्भीर्य नितान्त श्लाघनीय है। इसी के कारण आपके लेखो मे विविधता है, ग्राम्य जीवन के दृश्यो के अवलोकन की विचित्र पटुता है, उन्हे शब्द का विग्रह देने मे आकर्षक आग्रह है। उनकी रचनाओं मे व्यक्तिव्यञ्जक निबन्धो का आधिक्य है, आलोचनात्मक तथा विवेचनात्मक लेखो का बाहुल्य है तथा रसात्मक परिवेश का सर्वत्र सन्निवेश है। इनकी रचनाओं का परिचय इस प्रकार है—

मौलिक ग्रन्थ

व्यक्तिव्यंजक-निबन्धसंग्रह—१. अंगद की नियति, २. अग्निरथ, ३. छितवन की छाँह, ४. तुम चंदन हम पानी, ५. कदम की फूली डाल, ६. मैंने सिल पहुँचायी, ७. आँगन का पंछी और बनजारा मन, ८. वसन्त आ गया पर कोई उत्कंठा नहीं, ९. कंटीले तारों के आर-पार, १०. मेरे राम का मुकुट भींग रहा है, ११. कौन तू फुलवा बीननिहारी, १२. तमाम के झरोखे से, १३. गाने का मन, १४. शेफाली झर रही है।

आलोचनात्मक और विवेचनात्मक निबन्ध-संग्रह—१ लागौ रंग हरी, २. साहित्य की चेतना, ३. परम्परा बन्धन नहीं, ४. अस्मिता के लिए, ५. निज मुखमुकुर, ६. साहित्य का प्रयोजन, ७ महाभारत का काव्यार्थ, ८. संचारिणी, ९. भारतीयता की पहचान, १०. भावपुरुष श्रीकृष्ण।

व्यंग्य-हास्य—भ्रमरानन्द के पत्र।

कवितासंग्रह—पानी की पुकार।

अनुवाद—१. असमशतक, २ माडर्न हिन्दी पोयट्री (अंग्रेजी में), ३ दि इंडियन पोयटिक ट्रेडिशन (अग्रेजी में)।

भाषा-चिन्तन—१. दि डिस्क्रिप्टिव टक्नीक आफ पाणिनि, २ भारतीय भाषादर्शन की पीठिका, ३. हिन्दी की शब्दसम्पदा, ४. भाषा और संप्रेषण।

संपादित—१. तुलसीमंजरी, २ शासन-शब्द कोश, ३ भारतेन्दु-मुकुट, ४. हिन्दीसेवा की संकल्पना, ५. रहीम-रचनावली, ६ रसखान-ग्रंथावली, ७ प्रौढ़ों का शब्दसंसार, ८. श्यामसुन्दरदास-निबन्धावली, ९. साहित्यिक व्रजभाषाकोश, १०. सत्यनारायण-कविरत्न-ग्रन्थावली, ११. चंदन-चौक (लोकगीतों का सग्रह), १२. सूर-वाङ्मयसूची, १३. सस्कृतसाधना (इस ग्रन्थ में लेंखक के व्यक्तित्व, कृतित्व एवं चिन्तन के विषय में मान्य विद्वानों के प्रमेय-बहुल लेख संगृहीत किये गये है। इसका लोकार्पण इसी वर्ष ३० जनवरी को लालबहादुर शास्त्री संस्कृत-विश्वविद्यालय के कुलाधिपति पण्डित त्रिलोकी नाथ चतुर्वेदी द्वारा सम्पन्न किया गया)।

पण्डित विद्यानिवासजी ने रामायण-सम्मेलनों तथा अनेक साहित्यिक सभाओं में व्याख्यान देने के लिए अनेक बार विदेशों की—अमेरिका, यूरोप, मारिशस आदि देशों की—यात्रायें की हैं। फलतः उनका कार्यक्षेत्र भारत के अतिरिक्त पाश्चात्त्य देश भी हैं। 'महाभारत का काव्यार्थ' नामक गवेषणापूर्ण ग्रन्थ के लिए भारतीय ज्ञानपीठ ने मूर्तिदेवी पुरस्कार (पचास हजार रुपये) से आपको सम्मानित किया है।

सस्कृत के प्रचार में इनका महनीय उद्योग सर्वथा श्लाघनीय है। भारत की नवीन शिक्षापद्धति में संस्कृत का महत्त्वपूर्ण स्थान अक्षुण्ण बना रहे—इसके लिए विद्यानिवासजी का प्रयास नितान्त जागरूक है। इस कार्य में इन्हे प्रभूत सफलता प्राप्त हुई है। स्कूल की माध्यमिक कक्षाओं के लिए इन्होंने 'क्लासिक्स' का विषय निर्धारित कराया है जिसमें संस्कृत, फारसी तथा लैटिन की शिक्षा क्रमशः हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाईधर्मावलम्बी छात्रों को दी जाने की व्यवस्था है। संस्कृत के शिक्षण के लिए यह महनीय साधन है।

डॉ० भोलाशंकर व्यास

बूँदी (राजस्थान) के प्रसिद्ध राजगुरु घराने में दाधीचि ब्राह्मण परिवार में फाल्गुन कृ० १२ सं० १६८१ को जन्म। आपका परिवार बूँदी-कोटा के हाड़ा राजाओं का गुरु रहा है तथा पिछले सात सौ वर्षों से हाड़ा चौहानों से इस परिवार का संबन्ध रहा है। पिछली कई शतियों से यह परिवार राजस्थान में संस्कृत-पाण्डित्य के लिये प्रसिद्ध है। इनके पूर्वज पं० गोपालजी व्यास तथा उनके पुत्र पं० चक्रधरजी व्यास रणथम्भौर के प्रसिद्ध शासक राव सुरजन के राजगुरु रहे तथा राव सुरजन के बनारस के सूबेदार नियुक्त किये जाने पर वे भी राव सुरजन के साथ वाराणसी आ बसे थे। इसका जिक्र चन्द्रशेखर कवि ने अपने प्रसिद्ध ऐतिहासिक महाकाव्य सुरजन-चरितम् में किया है। तभी से इस परिवार का वाराणसी से निरतर संबन्ध रहा है। डॉ० व्यास के वृद्ध प्रपितामह पं० भवानीशंकरजी व्यास अपने समय के प्रसिद्ध पडित, कवि तथा तांत्रिक थे। इन्हें जयपुर के राजा ने ससम्मान दो गाँव प्रदान किये थे, राजस्थान प्रदेश बनने पर भारत की स्वतन्त्रताप्राप्ति के बाद जमींदारी-उन्मूलन-अधिनियम के अन्तर्गत सरकार ने इनका अधिग्रहण कर लिया। भवानीशकरजी ने रामविलास-महाकाव्यम् की रचना की है, जिसमें बूंदी राज्य की स्थापना से लेकर संवत् १८६८ तक की ऐतिहासिक घटनाओं का काव्यबद्ध वर्णन है।

डॉ० व्यास ने अपने पितामह पं० गोवर्धन व्यास व अपने पिता पं० शिवदत्त व्यास से संस्कृत के अनेक शास्त्रीय ग्रन्थों का प्राच्यपद्धति से अध्ययन किया। उन्होंने आरम्भ में पाश्चात्त्य पद्धति से ही संस्कृत-परीक्षायें उत्तीर्ण कीं और सन् १६४७ में आगरा-विश्वविद्यालय में सम्पूर्ण छात्रों में प्रथम स्थान प्राप्त कर प्रथम श्रेणी में संस्कृत में एम० ए० उपाधि प्राप्त की। सन् १६४८ में इन्होंने काशीस्थ गवर्नमेंट संस्कृतकालेज से साहित्य में शास्त्री परीक्षा भी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। इसके अतिरिक्त इन्होंने हिन्दी विषय की परीक्षा में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करते हुए प्रथम श्रेणी में एम० ए० परीक्षा तथा प्रथम श्रेणी में एल० एल० बी० परीक्षा भी उत्तीर्ण की। बाद में राजस्थान-विश्वविद्यालय से सन् १६५२ में पी-एच० डी० तथा सन् १६६२ में डी० लिट्० उपाधियाँ भी प्राप्त कीं। इन्होंने सन् १६५१ में एक वर्ष विदेश में रहकर लन्दन-विश्वविद्यालय के स्कूल आफ ओरियन्टल स्टडीज में भाषा-विज्ञान का आधुनिक पद्धति से विशेष अध्ययन किया है।

सन् १६५३ में काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के हिन्दीविभाग में प्राध्यापक के रूप में इनकी नियुक्ति हुई और यहीं से लगभग ३१ वर्षों के अध्यापन के बाद आप हिन्दीविभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष के रूप में सेवानिवृत्त हुए। अभी भी वाराणसी में रहते हुए हिन्दी तथा संस्कृत के छात्रों का मार्गदर्शन करते रहते हैं और निरन्तर लेखन, सम्पादन-कार्य आदि में प्रवृत्त हैं। प्रमुख ग्रन्थ—१. दशरूपक की हिन्दी व्याख्या, २. अप्पय दीक्षित के कुवलयानन्द की हिन्दी व्याख्या, ३. संस्कृत-कवि-दर्शन, ४. ध्वनिसम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त (शब्दशक्ति-विवेचन), ५. संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन, ६. संस्कृतभाषा (टी० बरो की प्रसिद्ध पुस्तक संस्कृत लैंग्वेज का हिन्दी अनुवाद), ७. भारतीय साहित्यशास्त्र और काव्यालंकार, ८. भारतीय साहित्य की रूपरेखा, ६. प्राकृतपैंगलम् का सम्पादन तथा आलोचनात्मक अध्ययन (२ भाग), १०. समुद्रसंगम (पण्डितराज जगन्नाथ के जीवन पर आत्मचरितात्मक उपन्यास) आदि ग्रन्थ।

डॉ० व्यास संस्कृत में काव्यरचना भी करते हैं। इन्होंने षोडशसर्गात्मक महाकाव्य 'शक्तिजयम्' की रचना की है, जिसके पाँच सर्ग राजस्थान संस्कृत अकादमी की पत्रिका 'स्वरमंगला' में प्रकाशित हो चुके हैं।

डॉ० व्रजमोहन चतुर्वेदी

डॉ० चतुर्वेदीजी का जन्म गाजीपुर जिला के देवरिया गॉव के एक विद्वान् ब्राह्मण कुल में हुआ। इनके पितृव्य प० परशुराम चतुर्वेदी सरगुजा गज्य के राज-पण्डित थे। वे ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान् थे। व्रजमोहनजी ने काशी मे सस्कृत भाषा तथा साहित्य का प्रौढ पाण्डित्य प्राप्त किया है। इन्होने काशी के ही प्रसिद्ध वैयाकरण 'महाशयजी' से व्याकरण का तथा सस्कृत-विश्वविद्यालय के प० मुकुन्द शास्त्री खिस्ते से साहित्य-शास्त्र का विधिवत् अध्ययन किया। कुछ दिन तक आगरा कालेज मे अध्यापक थे। आजकल दिल्ली विश्वविद्यालय के सस्कृत विभाग मे प्राचार्य है। इनके दो ग्रन्थ बडे ही उच्चकोटि के है। इनके ये प्रौढ ग्रन्थ महिम भट्ट तथा रससिद्धान्त के अनालोचित पक्ष नामक है।

महिम भट्ट सस्कृत साहित्य शास्त्र मे अनुमिति के प्रवर्तक ध्वनिविरोधी आचार्य महिम भट्ट की कृति एव काव्य सिद्धान्तो का गवेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है। महिम भट्ट साहित्य जगत् मे अनुमितिवादी आचार्य थे। उनकी दृष्टि मे शब्द एव अर्थ मे से किसी एक को निमित्त बनाकर अन्य अर्थ की प्रतीति रूप चमत्कार की अनुभूति अनुमिति की प्रक्रिया का ही फल है। इस तथ्य का प्रतिपादन उन्होने **व्यक्तिविवेक** नामक ग्रन्थ मे किया है। व्रजमोहन चतुर्वेदी ने इसी व्यक्तिविवेक का गम्भीर अध्ययन कर यह शोधग्रन्थ तैयार किया है। दूसरे **रससिद्धान्त के अनालोचित पक्ष** नामक ग्रन्थ मे रससिद्धान्त का बडा ही गम्भीर तथा प्रौढ प्रतिपादन किया गया है। इसमे रस के मनोविज्ञान, रसो की सख्या, रसराज का निर्णय तथा काव्यरस की अलौकिकता – इन विषयो का बडी गम्भीरता से विश्लेषण किया गया है। इन ग्रन्थो मे इनकी विवेचनशक्ति का पूरा परिचय मिलता है। इन ग्रन्थो ने व्रजमोहन चतुर्वेदी को हिन्दी माध्यम द्वारा साहित्यजगत् मे प्रसिद्धि प्राप्त करने वाले विद्वानो की अग्रिम पक्ति मे गौरवमय स्थान प्राप्त करा दिया है।

डॉ० संगमलाल पाण्डेय

इलाहाबाद मण्डल के एक ग्राम मे १२ जुलाई १९२९ ई० मे लब्धजन्मा सगमलाल की शिक्षा का केन्द्र इलाहाबाद विश्वविद्यालय रहा है। यही से इन्होने दर्शन विषय मे एम० ए० तथा डी० लिट्० उपाधियाँ प्राप्त की है। प्रसिद्ध विद्वान् प० कमलाकान्त मिश्रजी से आपने सस्कृत साहित्य तथा भारतीय दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया है। इनकी अग्रेजी तथा हिन्दी मे अनेक कृतियाँ है जिनमे ये मुख्य है—प्रि० शकर अद्वैत फिलासफी, फिलासफी आफ रविदास, वेदान्तिक सोशल फिलासफी, भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, देशभक्तिचतुष्टयम्। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के अध्यक्ष पद से हाल मे ही निवृत्त हुए है। इन ग्रन्थो मे इनकी दार्शनिक विद्वत्ता तथा गम्भीर चिन्तन का परिचय पदे पदे प्राप्त होता है।

६२

पण्डित गणपति शास्त्री हेब्बार

काशी के तन्त्र तथा आगम के गम्भीर विद्वान् हेब्बार शास्त्री भारतीय लिपियो की उत्पत्ति तथा अभ्युन्नति को तन्त्र तथा युक्तियो के सहारे प्रदर्शित करने वाले माननीय विद्वान् के रूप मे पण्डितसमाज मे सर्वदा समादृत रहेगे। 'वर्णोद्धारतन्त्र' मे वर्णो के आकार प्रकार तथा रेखाओं का प्रदर्शन किया गया है। प्रत्येक वर्ण के उद्गमसूचक इस तन्त्र के वाक्य 'शब्द-कल्पद्रुम' मे विस्तार से दिये गये है। इस तन्त्र का गम्भीरार्थक सिद्धान्त है—'बिन्दुस्फोटन मात्रेण वर्णाना व समुद्भव'। इस सिद्धान्त को हेब्बार शास्त्री ने परिष्कृत कर 'भारतीय लिपी चे मौलिक एक रूप' नामक पुस्तक का प्रणयन मराठी भाषा मे किया है जिसका प्रकाशन श्रीनिवास जनार्दन मोडक के सम्पादकत्व मे 'महाराष्ट्र राज्य साहित्य आणि सस्कृति मण्डल' (ब ३३, ८९' किया गया है (१६८८ ई०)। इस ग्रन्थ के दो खण्ड है—२८० पृष्ठो मे वस्तु-वर्णन है तथा एक सौ पृष्ठो के आटपेपर पर मुद्रित चित्रविभाग दूसरा खण्ड है। 'देवनागरी-लिपिमूलम्' नामक सस्कृतग्रन्थ लेखक के जीवनकाल मे ही प्रकाशित हो चुका है।

मराठी ग्रन्थ के प्रथम अध्याय मे ही लेखक का कथन है वर्णलिपिमाला का आदिम अक्षर 'अकार' तथा अन्तिम अक्षर 'हकार' है। बिन्दु (समष्टिबिन्दु अथवा कामेश्वर बिन्दु) शिव एव शक्ति का सयुक्त रूप है। शिव और शक्ति को जब जगत् की सृष्टि की इच्छा होती है, तब उसके सयुक्त रूप मे दो अश बिन्दु प्रकट होते है, जिन्हे 'व्यष्टिबिन्दु' अथवा 'विसर्ग' भी कहते है। पुन ये व्यष्टिबिन्दु परस्पर सश्लिष्ट होते है और उनका लम्बवत् विभाजन होता है। इन्ही को बिन्दुस्फोटन अथवा 'हार्दकला' कहते है। बिन्दुस्फोटनरेखा मे वर्णोद्धारतन्त्रोक्त रेखाविन्यास से लिपिलेखनप्रक्रिया ज्ञात होती है। देवनागरी की उत्पत्ति इसी प्रकार की बिन्दुस्फोटनप्रक्रिया से हुई। भारतवर्ष की समस्त लिपियॉ – मलयालम, तमिल, कन्नड, आन्ध्र आदि देवनागरी लिपि से ही निष्पन्न होती है और इस तथ्य का प्रकाशन हेब्बार शास्त्री ने अपने ग्रन्थ मे चित्रो की आकृति की सहायता से पूर्णतया दिखलाया है।

लिपि के उदय तथा अभ्युदय के विषय मे इस खोज के निष्पादक विद्वान् गणपति शास्त्रीजी का जन्म कर्नाटक प्रान्त के मगलूर मण्डल के एक साधारण ग्राम मे हुआ विक्रम स० १६५८ (१६०१ ई०) मे। पिताजी वेदशास्त्र मे निष्णात श्रद्धालु ब्राह्मण थे। पिताजी ही इनके आदिगुरु थे, परन्तु सस्कृत की प्रौढ शिक्षा प्राप्त करने की लालसा से ये काशी आये और महामहोपाध्याय लक्ष्मण शास्त्री द्रविड़ का शिष्यत्व स्वीकारा। रामघाट पर स्थित सागवेद विद्यालय में पण्डित भीकम भट्ट पटवर्धन से ऋग्वेद का विधिवत् अध्ययन किया। तदनन्तर पण्डितराज राजेश्वर शास्त्री से इन्होने न्याय, वेदान्त तथा राजनीतिशास्त्र का जमकर अध्ययन किया। शास्त्रीजी द्वारा भारतीय समाज के उत्थान तथा सुधार के लिए स्थापित अखिलभारतीय वर्णाश्रम-स्वराज-सघ के कार्यकलापो में इन्होने सक्रिय भाग लिया तथा 'शारदाबिल' तथा 'अस्पृश्यों का मन्दिरप्रवेश' आदि के विरोध में किये गये धार्मिक आन्दोलन में भी आप

विशेषरूप से सम्मिलित रहे। नागपुर मे आयोजित विज्ञान-अधिवेशन में पण्डित देवनायकाचार्य के साथ 'न्यायशास्त्रीय पदार्थों का स्वरूप' विषय पर व्याख्यान योजन मे ये बहुश सम्मिलित रहे तथा अपनी विद्वत्ता के कारण अनेक सस्थाओं द्वारा 'सर्वतन्त्र स्वतन्त्र', विद्याभूषण आदि उपाधियो से समादृत थे। इन्होने **गणेशमीमांसा** नामक ग्रन्थ का प्रणयन कर गणेश को अनार्य देवता मानने वाले व्यक्तियो के कुतर्को का यथाविधि खण्डन किया। काशी मे ही अन्त ममय मे इन्होने सन्यास ग्रहण किया तथा **कृष्णाश्रम स्वामी** के नाम से विख्यात हुए। स्वामीजी ने वि० स० २०४३ मे आज मे चार वर्ष पूर्व ८५ वर्ष की आयु मे निर्वाण प्राप्त किया। देवनागरी लिपि से ही विश्व की समस्त लिपियो की उत्पत्ति हुई— इस सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए हेब्बारजी का यह प्रयास नितान्त अभिनत्र तथा प्रशसनीय है।

पण्डित रामचन्द्र शास्त्री होसमने

आपका जन्म १९२० ईस्वी मे कर्नाटक के सुप्रसिद्ध गौकर्ण क्षेत्र मे हुआ। आपके पिता प० गणेश शास्त्री ऋग्वेद, न्याय आदि षट्दर्शन, धर्मशास्त्र एव ज्योतिष के मान्य विद्वान् थे। इन्ही से इन्होने इन शास्त्रो का आरम्भिक अध्ययन किया। बीम वर्ष के वय मे ये काशी आये और सागवेदविद्यालय मे शास्त्रो का अध्ययन आरम्भ किया। पण्डितराज श्री राजेश्वर शास्त्री तथा न्यायाचार्य पण्डितप्रवर श्री हरिराम शास्त्री शुक्लजी से न्याय, साख्य, योग तथा धर्मशास्त्र का विधिवत् अध्ययन कर इन शास्त्रो मे प्रभूत योग्यता प्राप्त कर ली। सन् १९६१ ई० मे इस विद्यालय के सहायक उपाध्यक्ष और राजेश्वर शास्त्री के कैलासवास के अनन्तर सन् १९७७ ई० मे अध्यक्ष पद पर नियुक्त किये गये। अध्यापक के साथ ही साथ सुयोग्य शासक एव प्रबन्धक होने का सुयश इन्हे प्राप्त हुआ। आपकी विद्वत्ता मे प्रभावित होकर भारत सरकार ने 'राष्ट्रपतिपुरस्कार' प्रदान कर आपको विशेष रूप से सम्मानित किया। शास्त्रीजी त्यागी, तपस्वी, सन्तोषवृत्तिसम्पन्न एव धर्मपरायण व्यक्ति थे। आजीवन विद्या की सेवा करते हुए होसमनेजी का निधन ६६ वर्ष की आयु मे स० २०४३ की ज्येष्ठ पूर्णिमा को हो गया।

पं० जयराम शास्त्री शुक्ल

आपका जन्म २ जुलाई १९१३ ई० को वाराणसी मे हुआ। आपकी वेद की शिक्षा बनारस के सुप्रसिद्ध वेदमूर्ति विद्वान् भीकम भट्ट पटवर्धन के सरक्षण मे हुई। तदनन्तर वाराणसी के ही सुप्रसिद्ध विद्वान् पद्मभूषण पडितराज श्री राजेश्वर शास्त्री द्रविडजी के सरक्षण मे न्यायादि शास्त्रो का अध्ययन किया। आपने प्राचीन परम्परा द्वारा वेदान्त, न्याय, मीमासा और अन्य दर्शनो का भी गहन अध्ययन किया। आपने कई वर्षो तक विभिन्न विद्यालयो और सस्थाओं तथा गृहपाठशाला मे स्नातकोत्तर तथा अन्य छात्रो को नि शुल्क शिक्षा प्रदान की। आपके सरक्षण मे अनेक लोगो ने शोधकार्य किया व कर रहे है। वल्लभराम शालिग्राम साङ्गवेदविद्यालय वाराणसी मे भी शिक्षण का कार्य किया। आपने अनेको आचार्यो को भी शिक्षा प्रदान की। वर्तमान मे काशीराज की पाठशाला मे शास्त्रचूडामणि योजना के अन्तर्गत शिक्षक है। आपको दक्षिणभारत तथा उत्तरभारत मे होने वाली विद्वत्सभाओं मे उच्चकोटि का पाण्डित्य प्रदर्शित करने के कारण विभिन्न सस्थाओं ने शास्त्ररत्नाकर, न्यायरत्न, विद्याभूषण, विद्वद्रत्न, न्यायालङ्कार आदि कई उपाधियो से सम्मानित किया। आपको १९८८ ई० मे भारतसरकार ने राष्ट्रपतिपुरस्कार से सम्मानित किया।

श्री आनन्दस्वरूप गुप्त

इनका जन्म तथा शिक्षा दीक्षा मेरठ मे हुई। प्रारम्भ के कुछ वर्षो तक मेरठकालेज मे सस्कृत के प्राध्यापक थे। बाद मे इन्होने सर्वभारतीय काशिराजन्यास की पुराणप्रकाशन-योजना मे सहायक सपादक के रूप मे कार्य प्रारम्भ किया और बाद मे सपादक बने। इन्होने 'पुराणम्' पत्रिका का लगभग बीस वर्षो तक सपादन किया और अनेको शोधनिबन्ध लिखे। इन्होने **वामन, कूर्म** तथा **वाराह** पुराणो का न्यास के लिये सपादन किया जिनकी देश विदेश मे बडी प्रतिष्ठा हुई। इनका देहावसान अक्टूबर १९८१ ई० मे हुआ। इनकी उत्तररामचरित की विस्तृत सस्कृत तथा हिन्दी टीका मोतीलाल बनारसीदास ने प्रकाशित की है। ये मृदु स्वभाव के मृदुभाषी व्यक्ति थे।

पण्डित रामशंकर भट्टाचार्य

प्राच्य तथा प्रतीच्य उभय प्रकार से सस्कृत का अनुशीलन करने वाले विद्वानो मे डाक्टर रामशकर भट्टाचार्य का नाम बडे आदर से लिया जाता है। इनका जन्म पश्चिमबगाल मे आज से लगभग ६० वर्ष पूर्व हुआ। पिता का नाम पण्डित पशुपति भट्टाचार्य शास्त्री तथा माता नाम वीणापाणि देवी था। आरम्भिक सस्कृतशिक्षा इन्होने अपने पिता से प्राप्त की। लखनऊ से शिवप्रसाद सस्कृत विद्यालय से प्रथमा तथा मध्यमा उत्तीर्ण कर काशी के विद्वान् पण्डित रघुनाथ शर्मा से इन्होने सपूर्ण महाभाष्य तथा वाक्यपदीय का अध्ययन शास्त्री एव आचार्य परीक्षा के लिए किया। शर्माजी के सपर्क से इन्होने व्याकरणशास्त्र मे विशेष व्युत्पत्ति प्राप्त की। बगाल के प्रसिद्ध योगशास्त्र के मर्मज्ञ स्वामी हरिहरानन्द आरण्य से साख्य योग का गम्भीर उपदेश प्राप्त किया। प्राचीन व्याकरण की आचार्य परीक्षा मे प्रथम स्थान प्राप्त किया तथा आगरा विश्वविद्यालय से सस्कृत मे एम० ए० (प्रथम श्रेणी) तथा पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। ये व्याकरण, साख्य, योग तथा इतिहास पुराण मे विशेष वैदुष्य रखते है।

प्रकाशित ग्रन्थ

योगसूत्र की भूमिका (अग्रेजी मे), पाणिनीय व्याकरण का अनुशीलन, पुराणगत वेदविषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन, इतिहास पुराण का अनुशीलन, निद्रा या सुषुप्ति, तन्मात्र तथा विश्व का मनोमय मूल, आदि।

सम्पादित ग्रन्थ

पण्डित रामशकरजी ने अनेक सस्कृत ग्रन्थो का सस्करण निकाला है। इनमे मुख्य ये है—(१) साख्यतत्त्वकौमुदी, (२) क्षीरतरङ्गिणी, (३) पातञ्जलयोगदर्शनम्, (४) पातञ्जलयोगदर्शन (हरिहरानन्द साख्य की व्याख्या), (५) गरुडपुराण, (६) योगसूत्र की राजमार्तण्ड वृत्ति, (७) साख्यसूत्र— विज्ञानभिक्षुभाष्य, (८) साख्यसार, (९) अग्निपुराण, (१०) योगतारावली (हिन्दी अनुवाद), (११) वामनपुराण, (१२) कूर्मपुराण।

प० रामशकर भट्टाचार्य की उपर्युक्त रचनाओं के अनुशीलन से उनके योगशास्त्र तथा पुराण विषय का पाण्डित्य विशेष दृष्टिगोचर होता है। काशीराजन्यास के द्वारा प्रचारित पुराण पत्रिका के ये प्रधान सपादक है। पुराणविषयक लेखो मे पुराणो मे वर्णित गभीर तथ्यो का बडा ही सुन्दर तथा प्रामाणिक विवेचन किया गया है जो सर्वथा अभिनन्दनीय है।

अमेरिका के डॉक्टर पाटर के द्वारा सपादित 'भारतीय दर्शन' का विश्वकोष अग्रेजी में मोतीलाल बनारसीदास के द्वारा प्रकाशित हो रहा है। इसमे साख्य, योग, भेदाभेद वेदान्त-विषयक खण्डो के लेखक तथा सहसपादक के रूप मे इनका कार्य विशेष महत्त्व रखता है। साख्य-खण्ड प्रकाशित हो गया है। अन्य खण्डों का प्रकाशन होने जा रहा है।

पं० अहिभूषण भट्टाचार्य

काशी के प्राचीन तथा नव्यन्यायशास्त्र के विशिष्ट विद्वान् महामहोपाध्याय पण्डित फणिभूषण तर्कवागीश के द्वितीय पुत्र थे। सस्कृत एव अग्रेजी भाषा के विशेष मर्मज्ञ थे। काशिराजन्यास के द्वारा प्रकाशित तीनो पुराण कूर्म, वामन तथा वाराह पुराण का इन्होने बडा ही प्रामाणिक अग्रेजी अनुवाद किया है जो अग्रेजी के विद्वानो के द्वारा सम्मानित किया गया है। गतवर्ष इनका निधन हो गया।

डॉ० गङ्गासागर राय

इनका जन्म १९४० ई० मे ग्राम शेरपुर कलाँ (गाजीपुर जनपद) मे हुआ। ग्राम की प्रारम्भिक पाठशाला मे प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त कर समीप के कस्बे मुहम्मदाबाद से इन्होने हाईस्कूल परीक्षा गणित तथा सस्कृत मे विशेष योग्यता के साथ उत्तीर्ण की। १९६० ई० मे इन्होने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से वेद विषय के साथ सस्कृत मे प्रथम श्रेणी मे एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की और १९६२ ई० मे 'वैदिक शाखाओं का अनुशीलन' विषय पर पी एच० डी० उपाधि अर्जित की। डाक्टरेट करने के बाद ये सर्वभारतीय काशिराज न्यास के पुराणविभाग मे सहायक सपादक (१९६३ ई०) नियुक्त हुये और तभी से वहीं कार्यरत है। काशिराज न्यास मे इन्होने वामन, कूर्म और वाराह पुराणो के अनुवाद तथा सपादन मे सहायता की और इनके प्रकाशन का दायित्व भी इन्ही पर रहा। न्यास तथा काशिराज के अन्य प्रकाशन भी इन्ही के निर्देश और सपादकत्व मे होते है। विश्व हिन्दू धर्म सम्मेलन की अग्रेजी मासिक पत्रिका 'हिन्दुत्व' तथा 'विद्यालय पत्रिका' के सपादन का दायित्व भी इन्ही पर है।

न्यास के पौराणिक साहित्य के सपादन और प्रकाशन के अतिरिक्त वेद और साहित्य के अध्ययन के क्रम को भी इन्होने चालू रखा है। वैदिक शाखाओं पर इनके अग्रेजी ग्रन्थ का प्रकाशन **वैदिक शाखाज** नाम मे हुआ है और **शाखायनब्राह्मण** का इन्होने प्रथम बार हिन्दी अनुवाद और भूमिका के साथ प्रकाशन किया। शाखायनगृह्यसूत्र का इन्होने सस्कृत भाष्य तथा हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशन प्रारम्भ किया है।

वेणीसहार, मृच्छकटिक तथा मुद्राराक्षस की सस्कृत हिन्दी टीकाये भी इनकी चौखम्भा से प्रकाशित हुई है। इन्होने सस्कृत तथा हिन्दी टीका के साथ ही अनेक ग्रन्थो का हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशन कराया। ऐसे ग्रन्थो मे राजशेखर का बालरामायण तथा काव्यमीमासा मुख्य है। वेद साहित्य तथा पुराण के क्षेत्र मे ये सतत क्रियाशील है।

जोर्जो बोनाजुली

ये इटली देश के विद्वान् है जहाँ के मिलान नगर मे इनका (सन् १९३४ ई०) जन्म हुआ। मिलान नगर के विश्वविद्यालय से इन्होने ग्रीक, लैटिन तथा थियालाजी मे मास्टर उपाधि प्राप्त की। धर्म तथा सस्कृत के प्रति इनकी स्वाभाविक निष्ठा है। इन्होने सस्कृत-

विश्वविद्यालय से भी डिप्लोमा प्राप्त किया और सन् १९७५ ई० मे काशिराज के पुराणविभाग मे सहायक सपादक के रूप मे कार्य प्रारम्भ किया। पुराण पत्रिका मे इन्होने अनेको शोध-निबन्ध लिखे है। सप्रति 'शिवधर्म' तथा 'शिवधर्मोत्तर' पुराणो का सपादन कर रहे है।

पं० पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी

ये माथुर चतुर्वेदी थे। प्रारम्भ मे इन्होने अनेक वर्षों तक अजमेर के मेयो कालेज मे भारतीय राजकुमारो को सस्कृत तथा धर्म की शिक्षा प्रदान की। अन्तिम समय मे काशिराज के सरक्षण मे रामनगर आ गये जहाँ उन्होने 'रसगङ्गाधर' की प्रामाणिक हिन्दी टीका नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित करायी। ये साहित्यशास्त्र के परिनिष्ठित विद्वान् थे।

लोकातीत साधक
पण्डित सुधीर रंजन भादुडी

सुधी बाबू तन्त्र तथा फलित ज्योतिष के विशेष मर्मज्ञ बगीय विद्वान् थे। जीवन के अन्तिम दिनो मे ये बाबा विश्वनाथ तथा अन्नपूर्णा की आराधना मे ही अपना जीवन बिताने के उद्देश्य से काशीवास करते थे। ये अज्ञात जीवन बिताते रहते, यदि काशी के अध्यात्मवेत्ता साधु सन्यासियो की खोज करने वाले अग्रेजी सज्जन 'पाल ब्रन्टन' इनका परिचय अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'सर्च आफ सीक्रेट इडिया' (हिन्दी अनुवाद 'गुप्त भारत की खोज'[1]) मे विस्तार से तथा श्रद्धा से नही करते। ब्रन्टन साहब का एक भारतीय सज्जन की कृपा से सुधी बाबू से परिचय हुआ और वे इनके अलौकिक गुणो से परिचित हुए। ज्योतिषविद्या के द्वारा उद्भावित चमत्कारो ने उन्हे अभिभूत कर दिया और वे भारतीय विद्वानो की गूढ़ शक्तियो के निश्छल प्रशसक बन गये जिनका वर्णन उन्होने ग्रन्थ के १२वे परिच्छेद मे २२९–२५५ पृ० पर विस्तार से किया है। सुधी बाबू ने अपने एतद्विषयक आराध्यग्रन्थ का नाम **ब्रह्मचिन्ता** बताया। इस ग्रन्थ मे हजारो पन्ने है जो भारत मे अनेक स्थानो पर अपने आदमी भेजकर सग्रह कराया गया है। इस कार्य मे उन्हे बीस वर्ष लगे। इसका विषय बारह मुख्य विभागो और अनेक उपविभागो मे बँटा हुआ है। दर्शन, ज्योतिष, योग, मरने के बाद जीवन—आदि गहरे विषय इसमे बताये गये है। पहले पहले यह ग्रन्थ तिब्बत मे मिला जहाँ यह बडा पवित्र माना जाता है और तिब्बत मे भी इने गिने-लोग ही इसका अध्ययन करते है। हजारो वर्ष पूर्व भृगु महाराज ने इसकी रचना की। आजकल भारत मे जो योगमार्ग प्रचलित है, उन सबसे विलक्षण एक नवीन प्रकार के योग का यह प्रतिपादन करता है। हिन्दी अनुवाद के पृष्ठ २४० २४१ मे ये सूचनाये दी गई है, परन्तु लेखक को इस ग्रन्थ का पता नही। प्राचीन हस्तलेखो मे इसे खोजना चाहिए। इस अद्भुत ग्रन्थ की सूचना अन्यत्र नही मिलती। काशी मे ज्योतिषशास्त्र के वेत्ता, प्रख्यात भविष्यवक्ता दैवज्ञो का सदा से निवास रहा है। इस विद्या के विद्वानो की गणना मे अधोनिर्दिष्ट ज्योतिर्विदो का भी विशेष महत्त्व है। सुधी बाबू का पूरा नाम पण्डित सुधीररजन भादुडी था।

आपका जन्म बगाल के प्रसिद्ध नदिया जिलान्तर्गत नदिया नगर मे एक राजपरिवार मे हुआ था। इनका पैतृक आवास हरीसभापाड़ा-स्थित भादुड़ीबाडी था। भादुड़ीजी उदयनाचार्यजी के वशज थे—ऐसा वगीय पण्डितो का विश्वास है। इनके पिता का नाम

---

१ प्रकाशक—भारतीभडार, इलाहाबाद, चतुर्थ सस्करण, सन् १९८७ ई०।

ईश्वर राजेश्वर भादुडी था। सुधीर बाबू का जन्म सन् १८८५ ई० के मई या जून महीने मे हुआ था। टोल मे सस्कृत पढते थे। उच्च शिक्षा के लिए कलकत्ता के प्रख्यात प्रेसिडेन्सी कालेज में अध्ययनार्थ आये, परन्तु क्रान्तिकारी विचारधारा के कारण कालेज छोडना पडा। पुलिस के डर से पलायित होकर साधु के वेष मे काशी आये। यहाँ इनके गुरु पूज्यपाद श्री श्यामाचरण लाहिडी महाशय थे। ज्योतिष मे पूर्ण सिद्धि के हेतु इन्होने गणपति का आराधन किया जिनकी कृपा से इन्हे स्वप्नावस्था मे भृगुसूत्र तथा महर्षि भृगु-रचित ग्रन्थो का ज्ञान मिला। तान्त्रिक विद्या के प्रयोग द्वारा इन्होने भूगर्भस्थित विशाल निधि प्राप्त की जिसके द्वारा इन्होने करीब १६३०० पाण्डुलिपियो तथा ३२०० मुद्रित पुस्तको का अपूर्व विशाल भडार एकत्र किया जो इनकी मृत्यु के अनन्तर सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालय मे आज सुरक्षित है। इस ग्रन्थ सग्रह के लिए इन्होने सुदूरवर्ती देशो की यात्रा की। इन्हे १४ भाषाओ का ज्ञान था। चिकित्सा, दर्शन, तन्त्र, योग, आयुर्वेद तथा सगीत मे विशेष अभिज्ञता प्राप्त थी। समाधिस्थ अवस्था मे इन्हे भगवान् बुद्ध का दर्शन प्राप्त हुआ जिनकी कृपा से इन्हे अलौकिक चमत्कारो की प्राप्ति हुई। कहते है कि इसी क्रम मे इन्हे गुप्तक्षेत्र ज्ञानगज, राजराजेश्वरी मठ की सूक्ष्म सत्ता मे भी प्रवेशाधिकार मिला। इनका निधन १३ जून सन् १९५५ ई० मे हुआ।[१]

पण्डित गणेशदत्त ज्योतिषी

इनका मूलस्थान अलवर रियासत का ङ्योठाना ग्राम है जहाँ इनका जन्म लगभग डेढ सौ वर्ष पूर्व हुआ था। इनके पिताजी का नाम पण्डित बलदेव मिश्र ज्योतिषी था। ये अपने जन्मस्थान से आकर यहाँ काशी के अस्सी घाट पर रहते थे। गणेशदत्तजी ने पिताजी से ही विद्या का अध्ययन किया। गणितज्योतिष मे इन्हे अपूर्व कुशलता प्राप्त हुई। पिताजी के समान ये भी काशीराज के राजज्योतिषी थे। काशीराज ईश्वरीप्रसादनारायण सिह की अनुमति से प० बलदेव मिश्रजी ने पञ्चाग का प्रकाशन आरम्भ किया था जिसे सुयोग्य पुत्र गणेशदत्तजी ने अपने विद्यावैभव से आगे बढाया और अपनी गणना के द्वारा दैवज्ञमण्डली मे अपूर्व ख्याति अर्जित की। गणेशदत्तजी के दो प्रधान शिष्यो ने इस कार्य को उनके निधन के अनन्तर आगे बढाया। आपके शिष्य आपाजी म्हसकर महाराष्ट्र ब्राह्मण थे जिनका पचाग आजकल उनके पुत्र प्रकाशित करते है जो गणेश आपाजी पचाग नाम्ना विख्यात है। दूसरे शिष्यकल्प जैतपुरा, काशीवासी प० शिवशकर पाण्डेय भी मकरन्दीय पचाग निकालते थे जिसका प्रकाशन आजकल पण्डित इन्दुशेखर पाण्डेय करते है। दोनो पञ्चागो का गणनाप्रकार एक समान है तथा दोनो के तिथि, व्रत तथा ग्रहण आदि के निर्णय मे बहुश समानता है। दोनो पचाग साथ-साथ चलते है। द्वितीय पचाग काशीनरेश डॉ० विभूतिनारायण सिह द्वारा सम्मानित तथा सर्वथा स्वीकृत है।

पण्डित माधव बाल शास्त्री दातार

पण्डित माधवशास्त्रीजी पुराणो के बडे गम्भीर गवेषक थे। पुराणो के अध्ययन-अध्यापन तथा पुराणवाचन मे आपने अपना सम्पूर्ण जीवन ही बिताया। वे श्रीमद्भागवत के नैष्ठिक प्रवचनकर्त्ता थे और अपनी विद्वत्ता तथा प्रवचनपटुता के कारण वे 'श्रीमद्भागवतमार्तण्ड' की

---

१ यह परिचय सुधीर बाबू के पुत्र डॉ० ब्रह्मगोपाल भादुड़ी (फलितज्योतिषाचार्य) की कृपा मे प्राप्त हुआ है जिनका 'भृगुकार्यालय' रामापुरा मुहल्ला, वाराणसी मे स्थित है। ये भी १४ विषयो के एम० ए० तथा अनेक विषयो मे पी-एच० डी० है।

उपाधि से विभूषित किये गये थे। काशी की महिमा के प्रशसक **काशीरहस्य** नामक अपूर्व ग्रन्थ का भी वे प्रवचन करते थे और उन्ही के कारण इसका मुद्रण तथा प्रचार भी हुआ है। इन्ही के पुत्र **प० विश्वनाथ शास्त्री दातार** भी न्याय के तथा विशेषत प्राचीन राजनीतिशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् है। अपनी विद्वत्ता के कारण वे राष्ट्रपति द्वारा पुरस्कृत किये गये है।

संस्कृतविभागीय विद्वान्
(१६१३-१६२० ई०)

हिन्दूविश्वविद्यालयीय सस्कृतविभाग के अध्यापक पण्डितो का सक्षिप्त परिचय विषय की पूर्ति के लिए आवश्यक है। १६१६ ई० के जुलाइ मास मे कालेज मे दो ही पण्डित सस्कृत का अध्यापन करते थे (क) प० नीलकमल भट्टाचार्य एव (ख) प० गुरुप्रसन्न भट्टाचार्य। नीलकमल बाबू वैयाकरण थे, गुरुप्रसन्न बाबू साहित्यमर्मज्ञ थे। इण्टर कक्षा मे रघुवश का चतुर्थ सर्ग मल्लिनाथी टीका पाठ्यक्रम मे निर्दिष्ट था। इसके अध्यापक नीलकमल बाबू बडे मनोयोग से टीका मे निर्दिष्ट व्याकरण के सूक्ष्म तथ्यो को समझाते थे पहले श्लोक का और पीछे टीका का अर्थ अग्रेजी माध्यम से बतलाते थे। व्याकरण पर विशेष आग्रह के कारण छात्रो को सस्कृत-व्याकरण का गम्भीर ज्ञान हो जाता था अवश्य परन्तु वे विशेष रुचि नही लेते थे। गुरुप्रसन्न बाबू कलकत्ते मे उस युग के लब्धकीर्ति सस्कृतज्ञ प० हरप्रसाद शास्त्री के प्रिय छात्र थे। श्लोको के अन्तरग अभिप्राय तथा साहित्यिक वैशिष्ट्य बतलाने मे वे विशेष अभिरुचि रखते थे। फलत उनकी पाठनशैली बडी आकर्षक थी और उनकी कक्षा मे चहल पहल सदा होती थी। पण्डित नीलकमलजी ने 'अष्टपुष्पिका' नामक सस्कृत गद्यसकलन टिप्पणियो के साथ प्रकाशित किया था जो किसी परीक्षा का पाठ्यग्रन्थ था। गुरुप्रसन्नजी की धर्मपत्नी का निधन हो जाने पर वे कलकत्ते चले गये और अध्यापन करने लगे। अब हिन्दू विश्वविद्यालय से उनका सम्बन्ध टूट गया। प० सीताराम जयराम जोशी हैदराबाद के निवासी महाराष्ट्र ब्राह्मण थे। वे भी अध्यापक नियुक्त किये गये थे। वे वेद के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होने सा द्विवेद के द्वारा प्रणीत **नीतिमञ्जरी** का विमर्शात्मक सस्करण प्रस्तुत किया था जिसे मेरे मित्र प० बटुकनाथ शर्मा ने स्वय प्रकाशित किया था। ये अध्यात्मरसिक विद्वान् थे जो सेवामुक्त होने पर प्रयाग विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ० रानाडे के द्वारा प्रतिष्ठित अध्यात्मपरिषद् के प्रबन्धक के रूप मे प्रयाग मे निवास करने लगे थे। इस अध्यापकमण्डली के शीर्षस्थान पर विराजमान पण्डित बटुकनाथ शर्मा मेरे अन्तरग सुहृद् थे। उनका परिचय पहले दिया गया है। वे सस्कृत साहित्य के गम्भीर विद्वान् तथा प्रौढ कवि होने के अतिरिक्त ललिता के नैष्ठिक उपासक थे। कान्तानाथ शास्त्री तैलग काशी विश्वविद्यालय मे शिक्षा प्राप्त कर सस्कृत मे एम० ए० उत्तीर्ण थे। सस्कृतविभाग मे ही अध्यापन का कार्य करते थे। अध्यापन बड़ी निष्ठा तथा अध्यवसाय से सम्पन्न करते थे। सामान्य छात्र भी विषय से अवगत हो जाय, इस लक्ष्य को दृष्टि मे रखकर वे बडी तैयारी से पढ़ाते थे। वेद, न्याय तथा अलकार शास्त्र—इन तीनो शास्त्रो मे उनकी विद्वत्ता श्लाघनीय थी। शाकुन्तल तथा उत्तररामचरित पर उनकी विमर्शात्मक टिप्पणियाँ बडी पाण्डित्यपूर्ण तथा छात्रोपयोगी है। **वैदिक सेलेक्शन** भी विशेषरूप से बडा ही उपादेय तथा सग्रहणीय है।

काशी की पाण्डित्य-परम्परा

द्वितीय भाग

(क)

अध्यात्मवेत्ता विद्वान् संन्यासी

(ख)

अंग्रेजीवेत्ता संस्कृत-विद्वान्

आत्मपरिचय

परिशिष्ट

सहायक-ग्रन्थ-सूची

अध्यात्मवेत्ता विद्वान् संन्यासी

६३

श्री गौड़ स्वामी

आज से लगभग डेढ़ सौ साल पूर्व विद्यानगरी काशी मे **भाष्यान्त व्याकरण** के अध्यापक वैयाकरण, न्याय के तर्ककर्कश तार्किक, मीमासा के मासल मर्मज्ञ तथा वेदान्त के विचक्षण आलोचक लोकातीत वैदुष्य के धनी एक सन्यासी महाराज विराजते थे जिनका नाम था- परमहस परिव्राजकाचार्य श्री गौड स्वामी। गुरु द्वारा दीक्षाकाल मे दिया गया नाम तो था—**तारक ब्रह्मानन्द सरस्वती** परन्तु जनसाधारण मे ये **गौड़ स्वामी** के नाम से ही नितान्त विश्रुत थे। इस नाम का मुख्य हेतु भी था। काशी मे दाक्षिणात्य सन्यासियो का ही उस युग मे बाहुल्य था। एतद्देशीय गौड ब्राह्मण को चतुर्थाश्रम मे दीक्षित करने वाले सन्यासियो का नितान्त अभाव था। परन्तु इनकी विद्याबुद्धि एव तपोनिष्ठा मे प्रसन्न होकर गुरुजी ने इन्हे सन्यासाश्रम मे दीक्षित किया था। ये गौड ब्राह्मणो मे सन्यास से दीक्षित किये जाने वाले व्यक्तियो मे एक प्रकार से प्रथम थे। इसी हेतु ये इस नाम से विभूषित किये गये थे। इनके गृहस्थ एव सन्यासी प्रौढ शिष्यो का एक विशाल समूह ही था जो इनके आश्रम पर निवास करता था तथा भिक्षाटन के समय भी इनसे अध्ययन करता रहता था। सुना है कि जब गौड स्वामीजी दाहिने हाथ मे भिक्षापात्र तथा बाये हाथ मे पाठ्यग्रन्थ के पत्रो को लेकर पढ़ाते हुए भिक्षाटन के लिए दलबल के साथ निकलते थे, तो काशी की सकरी गलियो मे पण्डितो का जमावडा हो जाता और उधर से आवागमन ही रुक जाता था। जो देखता, वह इस भव्य दृश्य को देखकर अचभित हो जाता। ऐसे थे हमारे चरितनायक काशी नगरी के मूर्धन्य विद्वान् गौड स्वामीजी। गौड स्वामीजी की जीवनगाथा की खोज मे जब सुदर्शन-सम्पादक पण्डित माधवप्रसाद मिश्र ने काशी के व्याकरण-धुरन्धर पण्डित विभवरामजी सारस्वत से जिज्ञासा की, तो उनकी दशा का वर्णन उन्होने इन शब्दो मे किया है - "पण्डितजी का गला भर आया। कुछ कहना चाहा, पर कह न सके। अन्त मे हिचकियो को थमा, आँखो को पोछ, जी को कडा कर कहा भी तो वाष्पावरुद्ध कण्ठ से इतना ही कि गुरुजी के गुण वर्णनातीत है। कौन कह सकता है ? नि सन्देह जब वयोवृद्ध, तपोवृद्ध एव विद्यावृद्ध पण्डित विभवराम नही कह सकते, तो और की क्या सामर्थ्य है ? पण्डित विभवराम वे है—जो महाविद्वान् वार्धक्य के एक मात्र अवलम्बन पुत्ररत्न का स्वर्गवास होने पर भी विचलित नही हुए। परन्तु गुरुवियोग का गुरुतर दुःख उन्हे भी दुःख दे रहा था।"

इन्ही महामहिमाशाली परिव्राजकाचार्य गौड स्वामीजी की जीवनगाथा यहाँ सक्षेप में दी जा रही है विद्वानों के मनन तथा अनुसन्धान के लिए।[1]

---

१ द्रष्टव्य विशुद्धचरितावली पृ० ८-९, माधवमिश्र निबन्धमाला, प्रथम भाग, प्रकाशक—इडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, १९९२ वि० (१९३५ ई०)।

गौड स्वामीजी का जन्म पजाब के पटियाला रियासत के 'शनोवर' नामक गाँव मे एक मध्यमवर्गीय गौड ब्राह्मण के घर मे हुआ। इनके पिता का नाम था— जयगोपाल मिश्र। बालक का नाम था भगवानदत्त। बड़े होने पर पढ़ने मै इनकी अभिरुचि रही। पिताजी से ही आरम्भिक शिक्षा ग्रहण की। माता-पिता ने इन्हे बड़े लाड-प्यार से पाला-पोसा। १२ साल की उम्र मे ही इनका विवाह कर दिया। पिताजी को बिना सूचित किये ही ये पढ़ने के लिए घर से निकल पड़े और होशियारपुर जिले के 'मदूद' गॉव के निवासी **पण्डित केशवराम सारस्वत** से तीन-चार वर्षो तक पढ़ते रहे। केशवरामजी ने काशी मे विद्याभ्यास किया था और प्रसिद्ध वैयाकरण **भैरव मिश्र** (परिभाषेन्दुशेखर की भैरवी व्याख्या के कर्त्ता) से व्याकरण का अध्ययन किया था। यहॉ आकर काव्य, नाटक, पुराण आदि के समझने की योग्यता इन्होने प्राप्त कर ली। 'विचारसागर' रचयिता **निश्चलदासजी** ने भी आरम्भ मे इन्ही से सस्कृत का अध्ययन किया था। भगवानदत्त अब प्रौढ़ शिक्षा के निमित्त काशी आये और यहॉ के वरिष्ठ पण्डितो से नानाशास्त्रो का अध्ययन अनेक वर्षो तक करते रहे। उस युग के प्रख्यात वैयाकरण **प० काकाराम पण्डित** से व्याकरण, **सखाराम भट्ट** से वेदान्त तथा **पण्डित चन्द्रनारायण भट्टाचार्य** से न्याय का विधिवत् अध्ययन किया और इन शास्त्रो मे अभिनन्दनीय प्रौढ़ि प्राप्त कर ली। बीस साल मे इन विद्याओं के अध्ययन तथा मनन से शास्त्रीय तत्त्वचिन्तन मे गम्भीर वैदुष्य प्राप्त कर घर लौटे। पिता माता की प्रसन्नता की सीमा न रही और सबसे अधिक प्रसन्नता की लहर उस युवती के जीवन मे उठने लगी जिससे इनका बालकपन मे ही विवाह हुआ था।

पण्डित जयगोपाल मिश्र अपने पण्डित पुत्र को पटियाले के बडे-बडे सरदारो के पास ले गये, परन्तु उन लोगो ने उनका सत्कार नही किया। उनकी अवहेलना से भगवानदत्त का चित्त अत्यन्त विरक्त हो गया और वे सन्यास लेने के निमित्त घर से निकल पडे अपनी पत्नी को एक विशेष कार्य के निमित्त जाने की सूचना देकर ही। साथ मे तीन ग्रन्थो को भी ले लिया—अद्वैतसिद्धि, गौडब्रह्मानन्दी तथा शास्त्रदीपिका। इन ग्रन्थो के प्रति आग्रह होने से भगवानदत्तजी की दार्शनिक अभिरुचि तथा आध्यात्मिक सस्कार का सद्य परिचय प्राप्त होता है। ये तीनो ही ग्रन्थ वेदान्त तथा मीमासा के मूर्धान्त ग्रन्थ होने का गौरव रखते है। **अद्वैतसिद्धि** प्रख्यात अद्वैतवेदान्ती स्वामी मधुसूदन सरस्वती (१६ शती) की सर्वाधिक महनीय दार्शनिक कृति है। **गौड़ब्रह्मानन्दी** भी इसी प्रकार ब्रह्मानन्द सरस्वती (१७ शती) की अद्वैततत्त्व प्रतिपादिका पाण्डित्यपूर्ण रचना है। शास्त्रदीपिका मीमासकमूर्धन्य मैथिल विद्वान् पार्थसारथि मिश्र (१०५० ई०–११२० ई०) की प्रौढ़ तत्त्वबोधिनी रचना है जो भाट्टसम्प्रदाय के इतिहास मे अद्वितीय मानी जाती है। भगवान्दत्तजी ने अपनी धर्मपत्नी को आश्वासन देते हुए कहा कि मेरे माता-पिता की सेवा प्रेम तथा सत्कार के साथ करना और मै अपने विशेष स्वार्थ की सिद्धि के लिए बाहर जा रहा हूँ। मेरे लिए किञ्चिन्मात्र भी चिन्तित न होना।

अपने गन्तव्य स्थान का वे निर्णय पहिले ही कर चुके थे। सन्यासाश्रम मे दीक्षित होना उनका चरम लक्ष्य था। काशी की दशा वे देख ही चुके थे। दाक्षिणात्य सन्यासी गौड ब्राह्मणो को सन्यास दीक्षा देने से सर्वथा विरत रहते थे। जातीय विद्वेष ही इसका कारण माना जाता था। फलत उन्होने काशी की ओर न जाकर दक्षिण की ओर ही प्रस्थान किया इस लालसा से कि उधर ही कही सुयोग्य वीतराग सन्यासी से सन्यास की दीक्षा ले लेगे। उन्होंने नासिक जाने का निर्णय किया। गोदावरी के पावन तट पर विराजमान नासिक केवल

धार्मिक तीर्थ ही न था, अपितु संस्कृत के विद्वानों एवं साधु-सन्तों के समागम से पवित्र होने वाला पावन स्थल भी था। यहीं रहकर वे छात्रों तथा सुबुद्ध विद्वानों को भी संस्कृत के शास्त्रों का अध्यापन करने लगे। उनकी कीर्ति पूरे मण्डल में व्याप्त हो गई और सुदूर स्थानों से भी जिज्ञासु छात्रों की टोली जुटने लगी। नासिक में ही एक सुबुद्ध विरक्त संन्यासी रहते थे। उनके सामने पण्डितजी ने अपनी अभिलाषा प्रकट की। संन्यासी महोदय ने इनकी विद्या-बुद्धि तथा सात्त्विक आचार-विचार से प्रभावित होकर बिना 'ननु-नच' किये ही इन्हें संन्यास की दीक्षा दी। अब इनका नाम भगवानदत्त मिश्र से बदल कर स्वामी-प्रदत्त **तारक ब्रह्मानन्द सरस्वती** हो गया। साधारण जनता इन्हें 'पण्डित स्वामी' के अभिधान से संबोधित करने लगी। 'पण्डित स्वामी' जी ने नासिक में बीस वर्षो तक अध्यापन किया। यही पर इनकी अध्यापन कला की कीर्ति से आकृष्ट होकर दूर-दूर से छात्र आने लगे। यहीं पर पहले-पहल पं० वंशीधर शुक्ल, जो आगे विशुद्धानन्द सरस्वती के नाम से प्रसिद्ध हुये, स्वामीजी से मिले और तीन वर्षों तक निष्ठापूर्वक अध्ययन के द्वारा वेदो का गम्भीर वैदुष्य प्राप्त कर लिया। इस समय के शिष्यों में प्रमुख थे—धारा के **गणेश शास्त्री**, इन्दौर के **गणू शास्त्री**, **अच्युतानन्द**, **सच्चिदानन्द** तथा **नृसिंह स्वामी** जो स्वामीजी के काशी आगमन पर उनके साथ यहाँ आये और अपनी अवशिष्ट शिक्षा का समापन काशी में किया। यहाँ आने पर गौड़ स्वामी को एक और भी विद्वान् शिष्य मिला जिसके दर्शन मात्र से चित्त को शान्ति मिलती थी, मन में वैराग्य उपजता था, हृदय भक्तिभाव से पूर्ण होता था और अन्तःकरण की दुर्वासना दूर होती थी। इस दयासागर शान्तमूर्ति शिष्य का नाम **स्वामी विश्वरूपानन्द** था। अहिल्याबाई की धर्मशाला में गौडस्वामी ने अपना डेरा डाला। राजाओं की ओर से एक विशिष्ट मठ के स्थापन का प्रस्ताव इन्होंने ठुकरा दिया। धर्मशाला को स्वामीजी ने अपना आवास तथा पाठशाला दोनों ही बनाया। धर्मशाला की पहिली मंजिल विद्यार्थियों के वेदाध्ययन, व्याकरण, न्याय, वेदान्त आदि के प्रारम्भिक अध्ययन के कारण गूँजने लगी तथा दूसरी मजिल में संन्यासियों की मण्डली विराजमान रहती थी तथा वेदान्त का अनुशीलन करती थी।

पण्डित वंशीधर शुक्ल ने इस पाठशाला का स्वयं निरीक्षण किया। तब देखा कि वेदान्त के आलोचक संन्यासियों के बीच गौड़ स्वामीजी सुशोभित है। वे वृद्ध हो गये थे, परन्तु उनके हृष्ट-पुष्ट और मांसल शरीर को देखकर यही प्रतीत होता था कि उनका वय तीस-चालीस वर्ष से अधिक न होगा। उनकी उज्ज्वल दृष्टि, उन्नत ललाट, विशाल वक्षःस्थल, प्रलम्ब भुजायें और गम्भीर वाणी उनके पूर्वाचरित ब्रह्मचर्य की ज्ञापक थी। उनके दोनों कान श्वेत रोमावली से आच्छादित थे जिन्हें देखने से यही बोध होता था मानो जरा देवी बलीयान् तपस्वी शिष्यों के भय से अब इन्हें अन्तिम गुप्त संवाद सुना रही हों। स्वामीजी की प्रशान्त गम्भीर आकृति मात्र के देखने से यही जान पड़ता था कि ये शान्ति के आधार, क्षमा तथा सन्तोष के आगार, सत्त्वभाव के आश्रय, धर्म के प्रवर्तक एवं सन्मार्ग के दर्शक हैं। ऐसे स्वामी जी के सामने नतमस्तक होकर वशीधरजी ने साष्टांग प्रणाम किया। पूछने पर अपना परिचय दिया तथा संन्यास आश्रम में स्वामीजी से दीक्षा लेने के लिए अपने मनोगत भाव को प्रकट किया। गौड़ स्वामीजी ने कलिकाल में संन्यास धर्म के यथावत् परिपालन में साधकों की असमर्थता की बात कह सुनाई। वंशीधर ने अपने चरित्र की स्वच्छता तथा मन की विमलता का अपने शब्दों से परिचय दिया। बहुत दिनों तक कठिन परीक्षा लेने पर शिष्य की योग्यता से प्रभावित होकर स्वामीजी ने उन्हें संन्यास में दीक्षित किया और उनका नाम **विशुद्धानन्द** रख दिया।

स्वामी विश्वरूप और स्वामी विशुद्धानन्द के अतिरिक्त गौड स्वामीजी के दो और भी सन्यासी शिष्य थे—एक थे **विश्वेश्वरानन्द** तथा दूसरे **शङ्करानन्द**। विश्वेश्वरानन्द का पूर्व आश्रम का नाम कन्हैयालाल था। वे सारस्वत और गयावाल ब्राह्मण थे। उस समय सुवर्ण-सिद्धि के लिए वे नाना जडी बूटियो को बटोर लाते, उनका रस निकालते तथा ताँबा पर रगडने का अभ्यास करते, परन्तु अभीप्सित परिणाम कभी सिद्ध नही हुआ। सुनते है—गौड़ स्वामीजी शिष्यो के साथ एक बार रामनगर गये, साथ मे कन्हैयालाल भी थे। रास्ते मे उगी एक जडी की ओर उन्होने उखाड लेने का सकेत किया। कन्हैयालाल उसे उखाड लाये, और स्वामीजी ने उन्हे पूछने पर बताया कि यही उनके आर्थिक लोभ रूपी व्याधि की रामबाण दवा है। उन्होने जडी का रस निकाला, ताँबे पर उसे मला। आश्चर्यचकित नेत्रो से उन्होने देखा कि वह चमचमाता सोना हो गया—पक्का सोना। कन्हैयालाल का चित्त इस घटना से नितान्त बदल गया। अपनी सारी सम्पत्ति छात्रो मे बाँटकर वे स्वामीजी के अनन्य भक्त बन गये। सन्यास दीक्षा लेकर वे 'विश्वेश्वरानन्द' नाम से प्रसिद्ध हुये। शङ्करानन्दजी भी स्वामीजी के अन्तिम शिष्य थे। ये उत्तरप्रदेश के मुजफ्फरनगर के निकट 'मीरना' गाँव के निवासी एक धनाढ्य गौड ब्राह्मण के पुत्र थे और शास्त्रो के अच्छे मर्मज्ञ थे। सब प्रकार की अनुकूलता इन्हे प्राप्त थी, परन्तु विरक्ति के कारण सन्यासी हुये। इन चारो शिष्यो की शास्त्राध्यापन मे जितनी निष्ठा थी, उतनी ही निष्ठा अध्यात्मचिन्तन एव मनन निदिध्यासन मे भी थी।

गौड स्वामीजी की पाठशाला शिष्यसम्पत्ति से सर्वथा परिपूर्ण थी। दूर-दूर से विद्वान् शिष्य वेदान्त तथा मीमासा के प्रौढ ग्रन्थो के अध्ययन के निमित्त यहाँ आते थे और शास्त्र की गहन ग्रन्थियो के सुलझाने मे कृतकृत्य होकर लौटते थे। स्वामीजी अद्वैतसिद्धि जैसे दुरूह वेदान्तग्रन्थ के रहस्यो को बतलाते, शाबरभाष्य तथा श्लोकवार्तिक जैसे प्रौढ मीमासाग्रन्थो का अध्यापन करते, परन्तु व्याकरण के प्रति भी उनका आग्रह न्यून न था। परिभाषेन्दुशेखर तथा शब्देन्दुशेखर की कठिनता को व्याख्या लिखकर दूर करने के शिष्यो के आग्रह को वे टाल नही सके और इसीलिए इन दोनो ग्रन्थो पर **चिदस्थिमाला** एव **चित्कला** व्याख्याओं की उन्होने रचना की। योगी तो स्वय थे। फलत पातञ्जल योग तथा व्यासभाष्य का भी पाठ वे पढ़ाया करते थे। पूर्वनिर्दिष्ट सन्यासी शिष्यो के अतिरिक्त गृहस्थ शिष्यो का भी पाठशाला मे निरन्तर वेदाध्ययन चलता रहता था। ऐसे शिष्यो मे से दो विद्वान् शिष्यो का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। एक थे वैयाकरण धुरन्धर **प० विभवराम सारस्वत** जो मूलत पजाब के निवासी थे और विद्यार्जन कर यही महाराजा काश्मीर के द्वारा स्थापित 'रणवीर सस्कृत पाठशाला' के प्राचार्य थे। और दूसरे शिष्य बगाल के ख्यातनामा वैदिक **पं० सत्यव्रत सामश्रमी** थे जिन्होने वेद के, विशेषत सामवेद के अध्ययन अध्यापन, लेखन सशोधन मे अपना जीवन समर्पित कर दिया था। इनकी चर्चा अन्यत्र की गई है।

अन्तिम उपदेश

गौड स्वामीजी धीरे-धीरे वार्धक्य की ओर बढ़ने लगे। अध्यापन का कार्य अपने शिष्यो को देकर वे नितान्त निष्ठा से अध्यात्म-चिन्तन एव मनन मे दिन बिताने लगे। शरीर अशक्त होने लगा तब इन्होने उचित समझा कि शिष्यो को बुलाकर जीवन का अन्तिम रहस्य उन्हे सिखा दिया जाय। विशेषत सन्यासी शिष्यो को एक दिन बुलाकर उन्होने सन्यास धर्म के गम्भीर रहस्य का बडे ही मार्मिक शब्दो मे उद्घाटन किया। एषणात्रय से विमुक्ति पाना सन्यासी का परम धर्म है। इन तीन एषणाओं मे से प्रथम दो का— पुत्रैषणा तथा वित्तैषणा का—परित्याग

सामान्यतः विशेष दुष्कर नहीं है, परन्तु लोकैषणा का परित्याग करना एक टेढ़ी-खीर है। ससार में कीर्ति कमाना, लोगों के द्वारा पूजित, अभ्यर्हित एवं अभ्यर्थित होना, यश की कामना का हृदय से सर्वथा उन्मूलन कर देना– ये तीनों बातें लोकैषणा के अन्तर्गत आती है। इनका सम्पादन बडा ही कठिन व्यापार है। अत संन्यासी को इधर समुचित ध्यान देना प्रथम आवश्यकता है। केवल दण्डधारण सन्यासी का सद्य. सूचक चिह्न नही है। शास्त्र का कथन है-—

सर्वकामान् परित्यज्य अद्वैते परमे स्थितिः ।
ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते ॥

सन्यासी का दण्ड काष्ठनिर्मित भले हो, परन्तु वह ज्ञानदण्ड का सूचक है। सब कामों का परित्याग कर परम अद्वैतभाव में स्थित रहना ही ज्ञानदण्ड है और इसीलिए सन्यासी को तितिक्षा, ज्ञान, शम, दम आदि को धारण करने वाला ही यथार्थत होना चाहिए। कर्म के त्याग से कोई व्यक्ति सन्यासी नही होता, बल्कि कर्मफल के त्याग से ही वह सन्यासी होता है। गीता का यह विश्रुत वचन ध्यान देने योग्य है-–

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी, स त्यागीत्यभिधीयते ॥

भगवद्गीता १८।११

विशाल शास्त्र के तथ्यो का साराश दो ही श्लोको मे आचार्यो ने दिया है। वे श्लोक इस प्रकार है—

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत् त्यक्तुं न शक्यते ।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम् ॥
कामः सर्वात्मना हेयो हातुं चेत् शक्यते न सः ।
मुमुक्षां प्रति सः कार्यः सैव तस्यापि भेषजम् ॥

निष्कर्ष यह है कि सग और काम तो सर्वथा त्याज्य नही है। अतएव सग सज्जनो का करना चाहिए और कामना मुक्ति की करनी चाहिए। शास्त्रो का आप लोगो ने बडे प्रेम और परिश्रम से अध्ययन किया है। उनका लोगो मे प्रचार करते रहना, यही मेरा आदेश है। आचार्य-परम्परा का निर्वाह सर्वथा करना। मेरा यह शरीर वृद्ध हो गया है। इसके चले जाने मे अब अधिक विलम्ब नही है। मेरे लिए कोई शोक न करें। जो दिन अवशेष है उनमें अध्यात्मचिन्तन करते रहना चाहिये।

स्वामीजी रोगग्रस्त होने लगे। वैद्यो की बहुमूल्य औषधि उन्हे दी गई, परन्तु किसी प्रकार का लाभ न हुआ। अन्ततो गत्वा १९१६ विक्रमी संवत् (=१८५९ ई०) की पौष शुक्ल प्रतिपदा को स्वामीजी की व्याधि बढ़ी और धीरे-धीरे उनकी वाणी अवरुद्ध होने लगी। शिष्यों ने पूछा —किसी बात की अभिलाषा हो, तो कहा जाय। उन्होंने कहा-—मेरी कोई इच्छा नही है। मै पूर्णकाम हूँ। 'ओं तत् सत्' यही उनके पिछले शब्द थे। उन्होंने इसके पश्चात् 'ऊँकार' के अतिरिक्त किसी शब्द का उच्चारण नही किया और स्वामीजी परब्रह्म में लीन हो गये।

पौषसुदी द्वितीया को यह दु खद समाचार चारों ओर पहुँच गया कि आज दिनदहाड़े काशी की सम्पत्ति लुट गई, शान्ति का सागर शुष्क हो गया, सद्गुणों के मार्ग भस्म हो गये, विद्यार्थियों का कल्पतरु छिन्न हो गया, परित्याग की कथा पूरी हो गई, संन्यास की शोभा दूर गई, ब्रह्मविद्या लुप्त हो गयी, मीमासा सुप्त हो गई। हा हन्त !!!

स्वामीजी मधुरभाषी थे। साधु सन्तो का सर्वदा आदर करते थे। दादूपन्थी साधु निश्चलदासजी शूद्र थे, परन्तु वेदान्त के गम्भीर ज्ञाता थे और हिन्दी मे वेदान्त के उदात्त तत्त्वो का वर्णन करने वाले थे। स्वामीजी इनका सर्वदा आदर करते।

गौड स्वामी की गुणावली क्या कही जाय ? सन्यासी होने के बाद कभी घर की ओर देखा तक नही। वे अद्वैतवेदान्त तथा मीमासा के मूर्धन्य विद्वान् थे। उनकी धर्मपत्नी अपने सन्यासी पतिदेव के दर्शनो के लिए आई थी। एक ही बार लुक छिपकर उनके सामने जाकर दर्शन किया। फिर काशी मे ही रहती थी और दूर से उनका दर्शन कर तृप्तिलाभ करती थी। काशी मे ही उनका निधन हो गया

गौडस्वामीन्द्रपादाना चरित्रं चारु चर्चितम् ।
सुधियां श्रेयसे शश्वदानन्दाय च जायताम् ॥





बाबा तैलंग स्वामी तथा रामकृष्ण परमहंस

६४

श्री तैलंग स्वामी

स्वामीजी गत शताब्दी मे काशी को विभूषित करनेवाले विद्वान् सन्यासियो मे अग्रगण्य माने जाते है। उनके जीवन का यथार्थ वृत्त अन्धकार के भीतर ही आच्छन्न है। केवल प्रधान घटनाओं का ही पता चलता है। दक्षिण देश के विजना प्रान्त मे हुलिया नगर मे भारद्वाजगोत्री मध्यम श्रेणी के नृसिहधर नामक ब्राह्मण के पुत्ररूप मे इनका जन्म हुआ था। इनकी दो पत्नियाँ बताई जाती है। पहिली से त्रैलिगधर का और दूसरी से श्रीधर का जन्म हुआ था। प्रथम पुत्र ही हमारे तैलग स्वामी के नाम से आगे चलकर प्रख्यात हुये। पजाब की पटियाला रियासत के बासगॉव के निवासी योगिराज **भागीरथ स्वामी** इनके गुरु थे जो दक्षिणयात्रा मे इनसे मिले थे तथा इन्हे दीक्षित कर उत्तरभारत के पुष्कर तीर्थ मे अपने साथ लाये। गुरुजी का यही स्वर्गवास हो गया। अनन्तर तैलग स्वामी समग्र भारत की तीर्थयात्रा पर निकले। दक्षिणयात्रा रामेश्वरधाम तक की। उत्तरभारत मे नेपाल, तिब्बत, मानसरोवर से लौटकर नर्मदातीर पर तपस्या करते रहे। वहॉ से प्रयाग होकर ये काशी आये और यहॉ भिन्न भिन्न स्थानो पर रहते थे। अन्त मे पचगगा घाट पर ही निवास करते थे और यही पर इनका निधन आज से सौ वर्ष पूर्व १६४४ वि० स० (= १८८७ ईस्वी) मे पौष मास की एकादशी को हुआ। इनके जन्म की तिथि का ठीक पता नही चलता। लोग इन्हे दीर्घ आयुवाला बतलाते थे, परन्तु यथार्थत इनके जन्मसवत् का हमे ज्ञान नही है। इन्होने **महावाक्यरत्नावली** नामक दार्शनिक ग्रन्थ की रचना सस्कृत मे की।

तैलग स्वामी के जीवन की ये ही घटनाये प्रसिद्ध है जो कुछ विस्तार के साथ, विशेषत विलक्षण चमत्कारो के सग, नीचे दी जा रही है। मृत्यु के समय लोग कहते है कि इनकी आयु ६० वर्ष की प्रतीत होती थी। फलत इनका जन्म अनुमानेन आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व मानना सर्वथा समुचित है। इनके बाल्यकाल का नाम 'शिवराम' था। योग से इन्होने अपना शरीर त्यागा।

बचपन से ही आप प्रखर बुद्धिवाले, शान्त और पर-दुख से कातर होने वाले प्राणी थे। किशोरावस्था को धीरे धीरे पार कर आपने युवावस्था मे पदार्पण किया लेकिन यौवन-सुलभ उत्साह एव खुशी की जगह आप अन्य-मनस्क रहने लगे। इनकी इस अवस्था को देखकर इनके पिता नृसिहधर को बहुत दुख हुआ और पुत्र के मन मे परिवर्तन करने के लिये वे उनके विवाह के बारे मे सोचने लगे। लेकिन आपने विवाह नही किया और कहा कि इस क्षणभगुर और नश्वर जीवन मे जब कोई स्थिर नही है तब इसे मायाजाल मे फँसाने का क्या प्रयोजन है ?

पिता

पुत्र शिवराम को तैलगधर भी पुकारा जाता था। माता विद्यावती प्रतिदिन भगवान्

शिव की पूजा और स्तोत्रपाठ भक्ति से करती थी। जब वे ध्यान में मग्न रहती थीं तो उनके मुखमडल से ज्योति निकलती थी। ऐसी ध्यानमग्न स्थिति में सिवाय तैलंगधर के कोई उनके समुख आने की हिम्मत नही करता था। विद्यावती प्रारम्भ से अपने पुत्र तैलगधर के मानसिक भाव पर दृष्टि रखती थी। उनके कार्य-कलापों को देखकर वह अनुभव करने लगी थी कि वह अनित्य ससार के माया मोह में फँसना नही चाहता। इस विचारमात्र से उनका दुखी होना तो दूर रहा, वे और भी अधिक आनन्दित होती थी। इसीलिये तैलंगधर की विवाह करने की अनिच्छा पर इन्होने किसी प्रकार का दु ख अथवा आश्चर्य नही प्रकट किया।

तैलगधर को उनकी माता विद्यावती शुरू-शुरू मे उपदेश दिया करती थी। माता के उपदेश को सुनकर तैलगधर अनिर्वचनीय आनन्द मे लीन हो जाया करते थे, हृदय मे धर्म की आकाक्षा क्रमश बलवती होती गई तथा हृदय-पटल मे अपूर्व रस का भाव प्रस्फुटित होने लगा। इसी बीच तैलगधर के पिता का स्वर्गवास हो गया।

माता

पिता की मृत्यु के शोक मे विह्वल उनकी माता भगवत् चिन्तन मे लीन रहकर ससार के प्रति उदासीन रहने लगी। तैलगधर भी माता के साथ भगवत्-चिन्तन में रत हो गये। बारह वर्ष पश्चात् उनकी देवीतुल्य माँ भी शाश्वत धाम को सिधारी। माता की मृत्यु के बाद संसार के प्रति उनकी उदासीनता का भाव बढ़ता ही गया। जिस स्थान पर माता का अन्तिम सस्कार हुआ था वह स्थान उन्हें अतिविचित्र एवं मनोरम लगने लगा और माता की चिताभस्म को मस्तक पर धारण कर वह श्मशान पर ही रहने लगे। कुटुम्बी जनों का प्रेम और ससार का प्रलोभन उन्हे आकर्षित करने में असमर्थ रहा और स्वामीजी ने कहा कि इस क्षणभगुर शरीर को लेकर अनित्य ससार सुख मे डूबने से क्या होगा, जो नित्य और अनश्वर है। जिसके सुख का आदि और अन्त नही, जिसको पाने पर और कुछ पाने की आकाक्षा नही रहती, अशान्ति जिंससे दूर भाग जाती है, हमने उन्ही की शरण ली। हमसे अब घर लौटने का अनुरोध मत करो।

तीर्थ-यात्रा

वहाँ २० वर्ष व्यतीत करने के बाद स्वामीजी तैलगधर भगीरथ स्वामी के साथ पुष्कर तीर्थ गये और वही पर स्वामीजी से दीक्षा ग्रहण की। अब आप गणपति स्वामी के नाम से पुकारे जाने लगे। भगीरथ स्वामी के शरीर-त्याग करने के पश्चात् आप पुष्करावती (पुष्कर तीर्थ) से तीर्थयात्रा करने निकले। तीर्थयात्रा पूरी करने के बाद आप नेपाल गये और वहाँ पर निर्जन वन में योगाभ्यास करने लगे।

एक दिन नेपाल के राजा सेना के साथ मृगया के लिए वन मे विचरण करने गये। उनके सेनापति ने एक शेर को लक्ष्य करके गोली चलायी। शेर प्राणभय से भयभीत होकर आर्तनाद करता हुआ वेग से भागने लगा और जहाँ पर स्वामी ध्यानमग्न बैठे थे वही पर बिल्ली की भाँति उनके पैरों पर लेट गया। स्वामीजी का ध्यान भंग हो गया। आँखें खोलते ही वे सब विषय समझ गये तथा उन्होंने बाघ के शरीर पर हाथ फेरकर उसे आश्वस्त किया। शेर का पीछा करने वाले सैनिक उस दृश्य को देखकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये और जड़वत् उस दृश्य को देखने लगे और अतिभयभीत अवस्था में धीरे-धीरे स्वामीजी के पास आये और उन्हें प्रणाम किया। तब स्वामीजी मुस्कराकर बोले—आश्चर्य में होने की कोई बात नहीं।

यदि तुम हिसा की प्रवृत्ति छोड़ दो, तो कोई भी हिसक पशु तुम्हारे प्रति हिंसा का भाव नहीं रखेगा। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह देखो कि शेर कैसा शान्त होकर लेटा है। तुम अब भी उससे भयभीत हो रहे हो। इस ससार मे सभी प्राणी समान है। किसी को किसी की हिंसा करना या उसे पीड़ित करना उचित नही है।

सैनिको ने अविलम्ब सम्पूर्ण घटना विस्तारपूर्वक महाराज (नेपालनरेश) को बतायी। राजा अपने पार्षदो और सैनिको को साथ लेकर स्वामीजी की सेवा मे उपस्थित हुए और बहुमूल्य रत्न भेटकर स्वामीजी के चरणो को स्पर्श किया। स्वामीजी ने राजा तथा सैनिको को देखा तथा मुस्कराये और राजा की दी हुई वस्तु को स्पर्श भी नही किया। विश्वम्भर के रत्न भण्डार का अमूल्यरत्न उपभोग करके जो तृप्त हो उसके लिए इन नश्वर पार्थिव पदार्थों का क्या आकर्षण ? स्वामीजी ने राजा को उचित सम्मान सहित नाना प्रकार के सदुपदेश देकर बिदा किया। स्वामीजी के इस प्रकार के कार्य-कलाप का राज्य मे प्रचार होने लगा जिससे उनके पारमार्थिक कार्य मे विघ्न पडने लगा। इसलिए वे नेपाल राज्य को छोडकर तिब्बत चले गये और वहाँ पर कुछ दिन रहने के बाद मानसरोवर चले आये। वही पर बहुत दिनो तक योगसाधन किया।

अलौकिक शक्ति

मानसरोवर के बाद स्वामीजी नर्मदातट पर मार्कण्डेय आश्रम मे रहे। फिर प्रयाग धाम गये। एक दिन स्वामीजी घाट पर बैठे थे। उसी समय एक नाव यात्रियो से भरी हुई उस पार से आ रही थी। नाव बीच धार मे पहुँची ही थी कि अकस्मात् आकाश मे बादल छा गये और मूसलधार वर्षा होने लगी। प्राणभय से प्राय सभी व्यक्ति घाट छोडकर जाने लगे लेकिन स्वामीजी घाट पर ही बैठे रहे। रामतारण भट्टाचार्य नामक एक ब्राह्मण, जो स्वामीजी को पहचानता था उनको इस तरह से तूफान और वर्षा मे बैठे देखकर आश्चर्य और कौतूहल से भर गया तथा स्वामीजी के पास आकर उसने उनसे विनयपूर्वक अपने साथ चलने को कहा। स्वामीजी ने कहा कि बाबा, तुम मेरे लिए नाहक परेशान हो रहे हो। मुझे किसी भी तरह कष्ट का अनुभव नही हो रहा है। हम अभी यहाँ से नही जा सकते। जो नाव तुम यात्रियो से भरी देख रहे हो, डूब जायगी। उसके यात्रियो को बचाना है। इतना कहने भर की देर थी कि वह नाव एकाएक डूब गई और साथ ही स्वामीजी भी अदृश्य हो गये। यह सब देखकर वह ब्राह्मण जड़वत् वही खडा हो गया और आगे के परिणाम की प्रतीक्षा करने लगा। कुछ ही क्षण के पश्चात् ब्राह्मण ने देखा कि नाव पानी पर तैरती आकर किनारे लग गयी। यात्रियो के साथ स्वामीजी को भी साथ उतरते देखा तथा यात्री भी एक निर्वस्त्र व्यक्ति को अपने साथ देखकर बहुत चकित हुए। ब्राह्मण भी चकित होकर स्वामीजी के चरणो पर गिर पडा और कौतूहलवश जानने की इच्छा कर रहा था कि स्वामीजी उसके मनोभाव को समझकर स्वय ही बोले कि इस घटना को देखकर इतने चकित क्यो हो रहे हो ? आश्चर्य करने की बात नही है। मनुष्य इस ससार के अनित्य सुख मात्र में डूबा रहता है, अपनी क्षमता की ओर ध्यान नही देता। भगवान् इस शरीर का सृजन कर स्वय इसमे विराजते है। प्रत्येक मनुष्य मे ईश्वरीय शक्ति विद्यमान है। इस अनित्य ससार के सुख के लिए मनुष्य जितना परिश्रम करता है, यदि उस परिश्रम के एक अश से भी प्रयत्न करे तो भगवान् को प्राप्त कर सकता है और ससार मे उसके लिए कोई भी वस्तु असाध्य नही रहेगी।

तुम आश्चर्य मत करो और व्यर्थ मे ही वर्षा मे भीगकर कष्ट मत उठाओ, घर जाओ। ऐसा कहकर स्वामीजी वहाँ से अदृश्य हो गये।

अनन्तर स्वामीजी माघ के महीने मे प्रयागघाट को छोडकर काशी आये और अस्सीघाट पर तुलसीदासजी के बगीचे मे रहने लगे। वहाँ रहते समय कभी-कभी लोलार्ककुण्ड पर जाया करते थे। वहाँ पर उन्होने कुष्ठ रोग से ग्रसित ब्रह्मसिह नामक एक बधिर को अपने स्पर्शमात्र से ही ठीक किया।

बाद मे बाबा वेदव्यासजी के आश्रम मे रहने लगे। उन्होने एक बगाली ब्राह्मण को, जो यक्ष्मा के रोग से पीडित होकर अपने जीवन से हताश हो चुका था, स्वस्थ किया। वह बाबा के दर्शन एव मिट्टी (गगा नदी की) के देने मात्र से पूर्ण स्वस्थ हो गया। कुछ दिनों बाद बाबा वेदव्यास आश्रम छोडकर हनुमानघाट पर रहने लगे।

स्वामीजी के इस तरह के कार्यो का अत्यधिक प्रचार होने से उन्हे लोग अपने मनोरथो के लिए परेशान करने लगे। इसलिए स्वामीजी ने मौन धारण कर लिया। कोई भी जो कुछ देता था आप उसे ग्रहण कर लेते थे, किसी भी प्रकार का विचार नही करते थे। काशीवासी और यात्रीगण आपका दर्शन करके अपने को धन्य तथा जीवन को कृतार्थ समझते थे। उसी समय से काशीवासी तेलग देश का होने के कारण उनका गुरुदत्त या पितृदत्त नाम **गणपति स्वामी** और **तैलंगधर** न जानने के कारण, उन्हे **तैलंग स्वामी** के नाम से पुकारने लगे।

खाने-पीने मे कुछ विचार न करने के कारण एक दिन किसी दुष्ट व्यक्ति ने उन्हे चूना घोलकर पिला दिया और स्वामीजी ने निर्विकार भाव से उसे पीकर उसके सामने ही लघुशका करके पानी और चूना अलग-अलग निकाल दिया। एक दिन एक धनीमानी व्यक्ति ने २० भर सोने के दो कगन स्वामीजी के हाथो मे पहना दिये। पुन कुछ दुष्ट व्यक्तियो ने काफी मात्रा मे मद्यपान कराकर उनको बेहोश कर उनका ककण लेना चाहा। मद्यपान से न तो स्वामीजी बेहोश हुए और न क्रुद्ध ही, बल्कि उन व्यक्तियो का अभिप्राय समझकर उसी समय दोनो कगन उन व्यक्तियो को दे दिये।

तैलग स्वामी निर्वस्त्र रहते थे। इसलिए एक दिन कई पुलिस कर्मचारी उनको पकडकर जिले के अधिकारी के पास ले गये। अधिकारी ने उन्हे वस्त्र पहनने का आदेश दिया। उसने उन्हे झूठा सन्यासी समझकर जेल मे बन्द कर दिया। दूसरे दिन सुबह लोग देखते है कि जेल की कोठरी पानी से भरी है और स्वामीजी मुस्कराते हुए बाहर घूम रहे है। अधिकारी ने पूछा, तुम कैसे बाहर निकल आये और कोठरी मे इतना पानी कैसे भरा पड़ा है ? स्वामीजी ने कहा कि रात्रि को जोर से लघुशका लगी हुई थी और कमरे मे ताला बन्द था। इसीलिए लघुशका कर दिया और कमरे से बाहर निकल आया। कोई किसी का जीवन ताला मे बन्द करके नही रख सकता है। अगर ऐसा होता तो जेल मे बन्द कर देने से मृत्युकाल मे मनुष्य मरता नही। इस आश्चर्यजनक घटना को देखकर अधिकारी अवाक् रह गये तथा उन्हे यथेच्छ घूमने की अनुमति दे दी।

स्वामीजी कुछ दिनो तक दशाश्वमेध घाट पर रहते थे और बाद मे पचगगा घाट पर स्थित विन्दुमाधव के मन्दिर के निकट एक दक्षिणी ब्राह्मण मगल भट्ट के मकान मे आकर रहने लगे। उस समय वे किसी से बात नही करते थे।

एक बार उज्जैन के राजा काशी आये। अपने बन्धु-बान्धवो के साथ नौका से मणिकर्णिका घाट आ रहे थे। कुछ दूर आने के बाद उन्होने तैलग स्वामी को जल के ऊपर

बैठे हुए देखा और आश्चर्यान्वित हो उठे। किसी से स्वामीजी का परिचय पूछा तो एक भक्त ने बताया कि आप प्रसिद्ध योगी है, जल, थल और वायु पर आपका समान अधिकार है। इस बात को सुनकर महाराज कौतूहलवश बोले, जो मनुष्य अपने शरीर-स्थित शत्रुओं का दमन कर चुका है उसका बाहरी शत्रु क्या बिगाड सकता है ? और उनको नौका पर लाने की इच्छा व्यक्त की। महाराज का अभिप्राय व्यक्त करने के पूर्व ही स्वामीजी नौका पर चढ गये। महाराज इससे बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्हे ऐसा देखकर विस्मय हुआ। महाराज के हाथ मे अग्रेज सरकार के द्वारा उनकी किसी वीरता के कार्य के उपलक्ष्य मे दी हुई एक तलवार थी। स्वामीजी उस तलवार को देखने के इच्छुक हुए। महाराज भी उस तलवार को स्वामीजी के हाथो मे देकर अपने को बहुत सौभाग्यवान् समझने लगे। स्वामीजी ने उस तलवार को अच्छी तरह से देखकर गगा मे फेक दिया। महाराज अत्यन्त क्रोधित होकर कहने लगे, यह कैसा कपटी साधु है जो दूसरो के द्रव्य को लेकर उसका गुण न जानकर नष्ट कर दे। इनकी साधुता पर दुख है। न जाने इनके किस गुण को देखकर आपलोग इनकी प्रशसा कर रहे थे। महाराज का ऐसा वचन सुनकर लोग मर्माहत हो उठे। स्वामीजी का एक भक्त विनीत भाव से महाराज से बोला कि आप क्रोध न करे। हम आपकी तलवार निकलवा देते है।

इस तरह बात करते करते नाव घाट के पास आ गयी और स्वामीजी ने नौका पर से उतरना चाहा। लेकिन महाराज ने उन्हे उतरने नही दिया और उन्हे विशेष दण्ड देने का सकल्प किया। महाराज क्रोध और क्षोभ से पीडित होकर जल रहे थे। ऐसा समझकर स्वामीजी ने गगा मे हाथ डाला और तुरन्त वैसी ही दो तलवारे उठाकर महाराज के हाथ मे दे दी और बोले कि जो तुम्हारी हो उसे ले लो। दोनो तलवारे बिलकुल एक-सी होने के कारण महाराज उसे पहचान नही सके। इस पर बाबा ने कहा कि जब तुम अपनी वस्तु नही पहचान सकते तो उस पर तुम्हारा स्वामित्व कैसा या वह तुम्हारी कैसे ? यदि यह तुम्हारी होती तो तुम अवश्य पहचानते। जो वस्तु तुम्हारी नही उसके लिए इतना क्रोध क्यो ? तुम्हारे जैसा मूर्ख दुनियाँ मे कोई नही। एक तलवार स्वामीजी ने उन्हे देकर, दूसरी पानी मे फेक दी।

तैलग स्वामी कभी असहनीय शीत के समय पानी मे अवस्थान करते, कभी प्रचण्ड ग्रीष्म के उत्ताप से जब कोई बाहर जाने का साहस नही करता, वे अनायास ही उत्तप्त बालुका पर आराम से शयन करते। कभी-कभी तीन चार घण्टे पानी मे डूबे रहते तो कभी स्थिर भाव से पानी के ऊपर बहते हुए बहाव के विपरीत जाते।

उपदेश

जगत मे जो जैसा अधिकारी है उसको वैसी प्रणाली से तत्त्वज्ञान की शिक्षा देने के लिए स्वामीजी ने स्वय देव-देवियो की मूर्ति की प्रतिष्ठा की है। मन की धारणा शक्ति के अनुसार जीव ईश्वर की सत्ता का अनुभव करता है। स्वामीजी हिन्दू ब्राह्मण थे और हिन्दू रीति से ही पवित्र जीवन गठन कर उन्होने हिन्दू धर्म का चरम उत्कर्ष दिखलाया। उन्होने दूसरे धर्म का दोष गुण नही विचारा तथा उन्हे द्वेष की दृष्टि से न देखकर शान्त भाव से हिन्दू धर्म की सेवा की। असीम शक्ति के रहने पर भी वह सब विषयों से उदासीन रहते थे। मान, अपमान, यश और अपयश सभी उनके लिए समान थे। इसलिए उनके अन्दर हिंसा-द्वेष का कोई भाव न था। सभी के उपास्य देवता और परब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। सहजज्ञान और सन्तुष्ट चित्त से जो भी जिसकी उपासना करे, वही दिव्य ज्ञान-लाभ प्राप्त करने मे समर्थ होता है।

किसी के धर्म के प्रति अश्रद्धा करना या उसका निरादर करना कदापि उचित नही है। वे सम्पूर्ण जगत् के अणु एव परमाणु को ब्रह्ममय समझते थे।

स्वामीजी कहते थे कि मन के स्थूलभाव से ईश्वर का स्थूलभाव, मन के सूक्ष्मभाव से ईश्वर का सूक्ष्मभाव और मन के विलय से ईश्वर का स्वरूप उपलब्ध होता है। मन के रहते हुए कोई भी निराकार या निर्गुण पदार्थ की धारणा नही कर सकता है। भावविकाम के साथ भावमय भगवान् की मूर्ति का विकास होता है। भाव की घनीभूत अवस्था से मूर्ति प्रकाशित होती है। जो व्यक्ति मन की विशुद्धता और सरल भाव के अधिकारी है, वे ही प्रेम और भक्ति के आवेग से ईश्वर का दर्शन पाकर कृतार्थ हो सकते है या होते है।

'महावाक्यरत्नावली' मे आपका अपरिमेय शास्त्रज्ञान और भगवद्भक्ति स्थान स्थान पर प्रतिविम्बित हो रही है। इस वेदान्तग्रन्थ के विषय इस प्रकार है– बन्धन मोक्ष वाक्य, विद्वन्निन्दा वाक्य, उपदेश वाक्य, जीव-ब्रह्मैक्य वाक्य, मनन वाक्य, जीवन्मुक्त वाक्य स्वानुभूति वाक्य, समाधि वाक्य, अष्ट स्वरूप वाक्य, पुल्लिग स्वरूप वाक्य, स्त्रीलिग स्वरूप वाक्य, नपुसकलिग स्वरूप वाक्य, आत्मस्वरूप वाक्य, ब्रह्मस्वरूप वाक्य, अवशिष्ट वाक्य, फलवाक्य और विदेह वाक्य।



श्री देवतीर्थ स्वामी

(प्रसिद्ध नाम—काष्ठजिह्व स्वामी)

गत शताब्दी के उत्तरार्ध मे काशी के सन्यासियो मे काष्ठजिह्व स्वामी का शीर्षस्थ स्थान था। ये जितने बडे विद्वान् थे उतने ही बडे साधक थे। शास्त्रीय विषयो के साथ तान्त्रिक विषयो का भी इन्होने सम्यक् अनुशीलन किया था। तत्कालीन काशीनरेश महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह के आराध्य गुरु होने के कारण भी इनकी ख्याति कुछ कम नही थी। काशीनरेश जैसे विद्वान् तथा विद्याव्यसनी पुरुष थे, स्वामीजी भी उनके अनुरूप ही गुरु मिल गये थे दोनो का मिलन मणिकाञ्चन योग ही समझना चाहिए। विद्या की वृद्धि मे, आध्यात्मिकता की समृद्धि मे इन दोनो विद्वानो का सान्निध्य सोने मे सुगन्ध के समान था। रामचरित मानस के टीकाग्रन्थो के इतिहास मे काष्ठजिह्व स्वामी की टिप्पणी और महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह की व्याख्या इस अनुपम सयोग का परिणाम है।

स्वामीजी बडे ही विनम्र व्यक्ति थे। इनकी विनम्रता का सूचक तो इनका नाम ही है। इनके विषय मे कहा जाता है कि एक बार इन्होने अपने किसी गुरुतुल्य व्यक्ति के लिए अपशब्द का प्रयोग कर दिया था। इसके कारण इनको घोर दु ख और आत्मग्लानि हुई। फलस्वरूप इन्होने अपनी जीभ मे काठ की बनी खोल चढ़ा ली जिससे ये फिर कभी अपशब्द न कह सके। इनका गुरुप्रदत्त नाम **देव स्वामी** था परन्तु काठ की जीभ लगा लेने के कारण इनका नाम काष्ठजिह्व स्वामी पड गया।

जीवनचरित

स्वामीजी ने अपने जीवन के सम्बन्ध मे अपने ग्रन्थो मे कही कुछ भी निर्देश नही किया है जिससे इनके जीवनचरित को समग्र रूप से जिज्ञासु के सामने प्रकट नही किया जा सकता। उनके एक ग्रन्थ के अध्ययन से प्रतीत होता है कि स्वामीजी का जन्म-स्थान हिन्दी कवियो के लिये प्रसिद्ध 'असनी' ग्राम है। इस विषय मे प्रमाण रूप उनका एकमात्र **अश्विनीकुमार बिन्दु** नामक ग्रन्थ ही है जिसमे ३१ पद तथा कवित्त है। स्वामीजी 'असनी' को अश्विनीकुमार से सम्बद्ध बताते है। इस नगर की प्रशसा मे इन्होने बहुत कुछ लिखा है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि ये असनी के ही निवासी थे और स्वय कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। असनी की प्रशसा मे इनके एक-दो पद्य इस प्रकार है -

असनी के कवि समान आन कोऊ कबि नहीं ।
काऊ मान्य सभा चतुर बातन में दबि नहीं ॥
चँवर ढरन कविता असजलधि उमे फबि नहीं ।
सुधा आदि मधुर वस्तु उनमा अस चबि नहीं ॥



श्री काष्ठजिह्व स्वामी

इनकी गति अगम तल पहुँच सकत रबि नहीं ।
देवन को भाग आन पाय सकत हबि नहीं ॥

—अश्विनीकुमार विन्दु, पृष्ठ ४-५

इसी तरह के बडे प्रशसात्मक पद स्वामीजी ने इस नगर के विषय मे लिखे है। इससे ज्ञात होता है कि काष्ठजिह्व स्वामी का इस नगर के प्रति इतना आग्रह, इतनी प्रशसा, भौगोलिक विविध स्थानो का इतना परिचय, असनी के प्रति इनके गाढ़ अनुराग का पूर्ण परिचायक है। असनी के आसपास के भौगोलिक स्थानो की उनकी जानकारी इतनी विस्तृत है कि यह अनुमान लगाना अनुचित नही है कि इनका इस नगर से गाढ़ परिचय था तथा यह इनका जन्मस्थान था।

स्वामीजी की शिक्षा दीक्षा का कुछ भी परिचय प्राप्त नही होता है। हस्तलेखो मे इनके गृहस्थाश्रम का नाम मिलता है और वह है **विश्वेश्वर दत्त मिश्र**। इनके गुरु का नाम **विद्यारण्य तीर्थ** था जिनसे इन्होने सन्यासदीक्षा ग्रहण की थी। अनुमान है कि इनके गुरु काशी मे ही रहते थे और काष्ठजिह्व स्वामीजी की साधनास्थली गुरु के सम्पर्क मे आने पर यह काशी नगरी ही बनी। इनके गुरु के नाम मे दो ग्रन्थ उपलब्ध है– (१) **विष्णुसहस्रनाम-परिचर्या**[१] (२) **श्यामसुधा**[२]। प्रथम ग्रन्थ १८५२ ई० मे लिथो मे प्रकाशित हुआ था। यह विष्णुसहस्रनाम की टीका है। परन्तु प्रत्येक नाम की टीका न होकर स्थान स्थान पर कुछ प्रख्यात नामो के ही ऊपर टिप्पणी है। इन टिप्पणियो से विद्यारण्य तीर्थ के वैदुष्य का पता चलता है। अपने अर्थ के लिए स्वामीजी ने वेद मत्रो को उद्धृत किया है और इनका अर्थ भी किया है। फलत इनकी वेद तथा शास्त्र मे गहरी पैठ रही, यह भलीभाँति कहा जा सकता है। द्वितीय पुस्तक हिन्दी भाषा मे है जिसमे नाना देवताओं के विषय मे भक्तिभाव से पूरित बडे ही कमनीय पद है। इसमे ३०२ पद है। अन्तिम पद के अध्ययन से इसका रचनाकाल रामनवमी सवत् १८९८ (१८४१ ई०) प्रतीत होता है। ग्रन्थ के मुखपृष्ठ पर जो सूचना दी गई है उससे प्रतीत होता है कि काष्ठजिह्व स्वामी ने ही अपने गुरुजी के नाम पर इसे बनाया।

यह **श्यामसुधा** भगवान् कृष्णचन्द्र की ललित लीलाओं के वर्णन मे लिखी गई है। कविता बहुत ही सुन्दर है। भाव बडे कोमल तथा हृदय को बलात् आकृष्ट करने वाले है। एक पद्य यहाँ दिया जाता है –

छवि छलकि रही है लालन की ।
चदा के चहुदिसि तारा जस तैसी भीर गोपालन की ॥
सुन्दर भौह नयन नासा पुट का बरनौं दुति गालन की ।
मधुर हसनि अनियारी चितवनि दमकनि कुण्डल हालन की ।
काँस फूल के चँवर बनाये ग्वालन छाँह रसालन की ।
धूप महक दीपन की जगमग बरसनि सुमनसमालन की ॥
तरवा चाटति है श्रुति गैया जहाँ बिभूति निहालन की ।
देव रूप रसिकन को कबहूँ चाहत औरी चालन की ॥

इन्ही विद्यारण्य तीर्थजी के द्वारा सन्यास आश्रम मे दीक्षित होने पर विश्वेश्वर दत्त मिश्र **देवतीर्थ स्वामी** के नाम से प्रसिद्ध हुए। ये काशीनरेश महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण

१ शिवालाघाट हनुमानजी के पास आनन्दवन यत्र मे लिथो मे मुद्रित, काशी, सवत् १९०९ (१८५२ ई०)।
२ भारतजीवन यन्त्रालय काशी मे मुद्रित तथा १९४५ सवत् (१८८८ ई०) मे प्रकाशित।



श्री काष्ठजिह्व स्वामी उपदेश देते हुए और श्रोता के रूप में तत्कालीन काशीनरेश महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह अपने प्रधान सभासदों के साथ।

सिंह के गुरु रूप मे प्रतिष्ठित हुए। गुरु और शिष्य दोनो का जीवन रामनगर में बडी शान्ति और सरलता से साथ साथ व्यतीत हुआ। महाराजा की उनके ऊपर अटूट श्रद्धा थी और स्वामीजी की भी इस सुयोग्य शिष्य पर अपार अनुकम्पा थी। उस समय के चित्र में (जो यहाँ दिया गया है) स्वामीजी उपदेश मुद्रा मे चित्रित किये गये है। उनके सामने महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह अपने प्रधान सभासदो के साथ बैठे है और स्वामीजी के उपदेशों को श्रद्धा से सुन रहे है।

ग्रन्थरचना

काष्ठजिह्व स्वामी के दो रूप आलोचको के सामने दृष्टिगत होते है। एक तो इनका साधक रूप और दूसरा इनका कवि रूप। कवि रूप मे इनका साधक रूप इस प्रकार घुल-मिल गया है कि एक को दूसरे से पृथक् करना बडा कठिन है। स्वामीजी जितने बड़े साधक थे उतने ही बडे कवि भी थे। इनके साधक जीवन की कहानी अभी तक अन्तराल मे ही छिपी है। परन्तु इनकी काव्यकला की कथा मुद्रित होकर रसिको के हृदय को उल्लसित तथा आनन्दित करती है। स्वामीजी का सस्कृत और हिन्दी दोनो भाषाओं पर समान अधिकार था। कहा जा चुका है, काष्ठजिह्व स्वामी स्वर्गीय काशीनरेश महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह के गुरु थे। उन्ही के आग्रह तथा अनुरोध मे स्वामीजी ने अनेक ग्रन्थो की रचना की। ये अलौकिक महात्मा थे। इसके साथ महान् विद्वान् भी थे। शास्त्र, सगीत एव साहित्य के क्षेत्र मे इनकी अद्भुत प्रतिभा थी। इनकी सभी रचनाएँ **काशिराज-सागर** नामक ग्रन्थ के अन्तर्गत है। इसीलिए किसी ग्रन्थ का नाम तरग है तो किसी का नाम बिन्दु है, तो कोई सुधा के नाम से प्रसिद्ध है। तात्पर्य यह है कि स्वामीजी के 'काशिराज सागर' के छोटे बडे अग होने के कारण ये ग्रन्थ तत् तत् अन्वर्थक नामो से प्रसिद्ध है।

संस्कृत-ग्रन्थ[1]

इन्होने अनेक सस्कृत ग्रन्थो का प्रणयन किया था जो अभी तक प्रकाशित नही हो सके है, परन्तु इनकी हस्तलिखित प्रतियाँ काशीनरेश के रामनगर दुर्ग के पुस्तकालय मे आज भी सुरक्षित है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थो की सख्या तथा उनके नाम निम्नाकित हैं –(१) **शिवचरण-परिचर्या** (२) **रामचरण-परिचर्या** तथा **विवृति** (३) **कृष्णचरण-परिचर्या** तथा **विवृति** (रामायण व्याख्यान परिशिष्ट तथा श्रीमद्भागवत व्याख्यानसहित) (४) **महाभाष्य-परिचर्या** (५) **रामानुज-परिचर्या** (६) **सहस्रनाम-परिचर्या** (७) **रामरक्षा-परिचर्या** (८) **पद्धति परिचर्या**। इन पुस्तको के अतिरिक्त इन्होने निम्नलिखित ग्रन्थो का भी प्रणयन किया था –(९) **नीति-तरंग** (१०) **धर्म-तरंग** (११) **योग-तरंग** (१२) **सांख्य-तरंग** (१३) **कला-तरंग** (१४) **छन्द-तरंग** (१५) **शब्दशक्ति-तरंग** (१६) **उपपत्ति-तरंग** (१७) **उपनिषद-तरंग** (१८) **शिक्षाव्याख्या** (१९) **शांडिल्यसूत्र-व्याख्या** (२०) **गायत्री-व्याख्या** तथा (२१) **उदासीन-साधु-स्तोत्र**।[2]

इन उपर्युक्त पुस्तको में डॉ० आउफ्रेट ने अपनी बृहत् ग्रन्थ-सूची (कैतलोगुस कैतलोगारुम) में केवल निम्नाकित ग्रन्थों का ही उल्लेख किया है—(१) **योग-तरंग** (२)

---

१ काष्ठजिह्व स्वामी के इन ग्रन्थो की सूची इनकी पुस्तक 'रामसुधा' (प्रकाशक सर्वभारतीय काशिराज न्यास, वाराणसी) मे प्रकाशित ग्रन्थसूची से ली गई है (१९६८ ई०)।

२ प्रकाशक श्री साधुवेला आश्रम, २५९, भदैनी, बनारस —१। प्रथम आवृत्ति सन् १९५२ ई०।

सांख्य-तरंग (३) **उदासीन-साधु-स्तोत्र** तथा (४) **भास्करस्तोत्र**। अतएव इन ग्रन्थो की प्रामाणिकता मे किसी प्रकार का सदेह करने का लेशमात्र भी स्थान नही है।

उदासीन-साधु-स्तोत्र—काष्ठजिह्व स्वामीजी का यह स्तोत्रग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय है। यह आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व ब्रह्मानन्दजी की टीका के साथ अमृतसर (पजाब) से प्रकाशित हुआ था। ब्रिटिश म्युजियम की प्रकाशित ग्रन्थसूची (सन् १८६२ ई०) मे इस ग्रन्थ का प्रथम उल्लेख पाया जाता है। परन्तु आजकल इस स्तोत्र का जो सस्करण उपलब्ध होता है वह साधुवेला आश्रम, वाराणसी से छपा हुआ है।[१]

इस स्तोत्रग्रन्थ से ज्ञात होता है कि काष्ठजिह्व स्वामी का दूसरा नाम **देवतीर्थ स्वामी** था। इस स्तोत्र मे २२ पद्य है जिनमे १६ श्लोको के अन्त मे निम्नाकित पदो की बार-बार आवृत्ति की गई है– उदासीन साधून् नमस्ये नमस्ये।

इस स्तोत्र मे उदासीन सम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त साधुपद वाच्य विरक्त पुरुषो के नाना गुणो का वर्णन बडे सरल तथा सुबोध शब्दो मे किया गया है। किन्ही किन्ही पद्यो मे अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन बडी ही ललित भाषा मे उपलब्ध होता है। एक दो उदाहरण ही यहाँ पर्याप्त होगे।

जितद्वन्द्वदोषान् विरक्तानसक्तान्, महाधारणाध्यानयोगाधिरूढान्।
गुरुं ब्रह्म जानन्ति ये तान् प्रशस्तान्, उदासीनसाधून् नमस्ये नमस्ये॥

निम्नलिखित पद्य मे 'तत्त्वमसि' महासिद्धान्तवाक्य का अर्थ बडी ही सुन्दर तथा सरल रीति से अभिव्यक्त किया गया है। 'तत' अर्थात् ब्रह्म 'त्वम्' अर्थात् जीव, इन दोनो का 'असि' (हो) पद के द्वारा किस प्रकार की लक्षणा से ऐक्य सिद्ध किया जाता है, इसका सक्षेप मे वर्णन इस पद्य मे प्रस्तुत किया गया है

असीति क्रियेय त्वमो नो नदोऽपि, तदा तत्त्वमोर्नित्यमङ्गाङ्गिभाव.।
तदैक्ये द्वयो. सिद्धमाहुश्च ये तान्, उदासीनसाधून् नमस्ये नमस्ये॥

उदासीन साधुओं का सामान्य आचरण परक यह पद्य नितान्त सरल तथा प्रसाद गुण से युक्त है—

अरण्ये नदीसैकते वा वसन्तस्तथा पर्वताना दरीमाश्रयन्त.।
विदेहा. प्रविष्टा. परे धाम्नि ये तान्,उदासीनसाधून् नमस्ये नमस्ये॥

उदासीन साधु स्तोत्र की रचना के विषय मे निम्नांकित किंवदन्ती साधुसमाज मे प्रचलित है। एक बार काष्ठजिह्व स्वामी श्वित्र (सफेद वस्त्र) रोग से पीडित हो गये थे। इसके निराकरण के लिए इन्होने किसी साधु से उपाय पूछा, उसने बतलाया कि आज कल अनेक उदासीन महात्मा काशी म निवास कर रहे है। अत यदि आप उनकी स्तुति मे किसी स्तोत्र की रचना करे तो इस रोग से मुक्ति मिल सकती है। अत स्वामीजी ने उस साधु के कथनानुसार इस स्तोत्र की रचना की और ये इस रोग से मुक्त हो गये। इस स्तोत्र की टीका (मजुलानाम्नी) सस्कृत मे तथा अनुवाद हिन्दी मे प० महादेव पाण्डेय ने किया है। मूल स्तोत्र के साथ यह टीका भी साधुबेला आश्रम (काशी) से प्रकाशित है।

श्री काष्ठजिह्व स्वामी के सस्कृत ग्रन्थो का नामनिर्देश ऊपर किया गया है। इन ग्रन्थो

१ "इति श्रीमत्परमहसपरिव्राजकाचार्य-काशिराजगुरुश्रीकाष्ठजिह्व-अपरनामधेयश्रीमद्देवतीर्थस्वामिविरचित उदासीनसाधुस्तोत्र सम्पूर्णम्॥ पृ० ५०॥"

मे अधिकाश ग्रन्थ अभी तक हस्तलेख के रूप मे उपलब्ध है तथा महाराजा काशीनरेश के पुस्तकालय मे सुरक्षित है । लीथो मे मुद्रित **शिवचरणपरिचर्या** के अनुशीलन का अवसर लेखक को प्राप्त हुआ । उसके आधार पर स्वामीजी की तान्त्रिकता तथा निगमागम प्रवीणता का सद्य सकेत प्राप्त होता है । 'शिवचरण परिचर्या' मे स्वामीजी ने भगवान् शङ्कर के निर्गुणरूप, सगुणरूप, परिवार का स्वरूप, भूषण, वाहन आदि सब के तात्त्विक आध्यात्मिक रूप की बड़ी ही सुन्दर, प्रामाणिक तथा शास्त्रसम्मत व्याख्या श्लोको मे की है । इसी के साथ देवीस्तुति, गणेशस्तुति तथा काशीस्तुति आदि कई स्तोत्र भी दिये गये है । इन समस्त पदार्थो के अन्तराल मे विद्यमान जो इनका आध्यात्मिक रूप है उसका सकेत स्वामीजी ने पदे पदे किया है । एक-दो दृष्टान्त ही नमूने के तौर पर दिये जाते है ।

शिवरूप का रहस्य

योऽखण्डमण्डलनिभ प्रणवस्य मूर्धा यस्माद् भवन्ति विरमन्ति च यत्र सर्वे ।
बिन्दु स एव परमार्थवपु. शिवोऽय य त चतुर्थमिति वेदविदो वदन्ति ॥

— शिवचरणपरिचर्या, श्लोक ३

शिवजी के पञ्चतत्त्वो के प्रतीक रूप मे विद्यमान भूषणो का रूप देखिये—

भूरेव भूति. सलिल च गङ्गा जल तृतीय नयन च तेज. ।
व्याल समीरो डमरुर्नभो मह- श्चिन्त्यानि चैवं शिवभूषणानि ॥

—वही, श्लोक ८

काष्ठजिह्व स्वामी द्वारा रचित दो परिचर्याये निर्दिष्ट है—**रामचरण-परिचर्या** तथा **शिवचरण-परिचर्या** । प्रथम ग्रन्थ के अन्त मे लिखा है कि वह काशीराज को देवार्चन का तत्त्व बतलाने के लिए विरचित है । शिवचरण परिचर्या का विवरण ऊपर दिया गया है । तृतीय ग्रन्थ श्रीकृष्ण चरण परिचर्या नामक है जिसके प्रणेता **विद्यारण्य तीर्थ** बताये गये है । इन तीनो का एक जिल्द मे प्रकाशन **देवचरण-परिचर्यात्रयी** के नाम से एव स्वामी महादेवाश्रम के आदेश से 'लाइट यन्त्रालय' काशी मे १५ मई सन् १८७६ ईस्वी को मुद्रित किया गया है ।

एक पद्य मे स्वामीजी ने देवताओं की उपासना के प्रसग मे वेद, स्मृति आदि का तुलनात्मक विचार प्रकट किया है—

उत्तमो वैदिको मन्त्र. स्मार्त आचार उत्तम. ।
आगमोऽस्योत्तमो भाव. पौराणी स्तुतिरुत्तमा ॥

इस सक्षिप्त विवरण से स्वामीजी की व्याख्या-पद्धति का किञ्चित् रूप उद्भासित होता है । हिन्दी के पदो मे भी इस पद्धति का प्रयोग उपलब्ध होता है । तात्पर्य यह है कि श्री काष्ठजिह्व स्वामीजी की साधना बडी ही उच्चकोटि की थी । ये एक सिद्ध पुरुष थे—इसमे सन्देह नही । इसी साधना का परिणत फल है—हिन्दी मे पदावली की रचना । इसमे भी आध्यात्मिकता का साम्राज्य विराजमान है । तन्त्रविद्या मे विपुल-वैदुष्य सम्पन्न होने के कारण स्वामीजी की रचना **काशिराज-सागर** तन्त्र, मन्त्र, यन्त्र आदि के प्रभूत सकेतो से युक्त होने के कारण सस्कृत विद्वानो के लिए अगम्य है, साधारण व्यक्ति की तो कथा निराली है ।

हिन्दी-ग्रन्थ

काष्ठजिह्व स्वामी ने अनेक ग्रन्थो की हिन्दी मे रचना की है । साधु होते हुए भी ये

स्वभाव से कवि थे। अतः इन्होने गीतो मे अपनी काव्यरचना की है। भोजपुरी क्षेत्र के निवासी होने के कारण इन्होने भोजपुरी लोकसाहित्य में उपलब्ध होने वाले जो छन्द है—जैसे कजली, होरी, घाटो, चैता आदि - उनमें अपनी काव्यरचना की है। प्रधानतया इन्ही छन्दो मे इनकी कविता निबद्ध है। इनकी कविता में भोजपुरी भाषा की माधुरी और सरसता पायी जाती है। ऐसा कहा जाता है कि इन्होंने लगभग (२००८) दो हजार गेय पदो की रचना की है। इनके बिखरे हुए गेय पदो को काशीनरेश महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह की आज्ञा से सग्रह कर प्रकाशित किया गया है। स्वय महाराजा ने कई ग्रन्थो पर टीका लिखी है। हिन्दी में स्वामीजी ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है जिनकी सूची निम्नाकित है–

(क) देवसुधा (पदावली)

इसके अन्तर्गत निम्नलिखित पुस्तके है—

(१) गणेशबिन्दु, (२) रामसुधा, (३) श्यामसुधा, (४) पचकोशसुधा आदि।

(ख) देवबिन्दु (पदावली)

इसके अन्तर्गत ये ग्रन्थ आते है—

(५) जानकीबिन्दु, (६) अयोध्याबिन्दु (७) मथुराबिन्दु, (८) काशीबिन्दु, (९) कान्तिबिन्दु, (१०) बैजनाथबिन्दु, (११) गयाबिन्दु, (१२) प्रयागबिन्दु. (१३) अश्विनीकुमार-बिन्दु, (१४) गैनाबिन्दु और (१५) हनुमद्‌बिन्दु।

(ग) देवसर्वस्व (पदावली)

इस सग्रह मे नीचे लिखे ग्रन्थ है

(१६) उपासनासर्वस्व, (१७) विनयामृत, (१८) रामलगन, (१९) श्यामलगन, (२०) रामरग, (२१) श्यामरग, (२२) भूषणरहस्य, (२३) आनापुर के पद (बनौधा), (२४) बुन्देलखण्ड के पद और (२५) बन्दिन के जगावै के पद।

इन उपर्युक्त ग्रन्थो मे से आजकल मुद्रित और प्रकाशित इनकी पुस्तको का यहाँ सक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

देवरत्न

(१) देवरत्न—यह ग्रन्थ स्वामीजी के सुन्दर पदो का सग्रह है। इसमे ३१३ पद है। इसके दो खण्ड है—पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। इनके पदो में शब्दों की मधुरता, अर्थ की गम्भीरता तथा कल्पना की नवीनता रसिक आलोचको को अपने पूर्ण वैभव से मुग्ध कर देती है। तद्भव शब्दो तथा स्थानीय पदों का प्रयोग अधिकता से किया गया है जिससे इनकी कविता बडी मनोहारिणी हो गई है। साहित्यिक शैली तथा रसो की दृष्टि से स्वामीजी की कविता की विविधता देखकर आश्चर्यचकित होना पड़ता है। सगीतक्षेत्र मे भी इनके गीति-पदों का विस्तार लोकगीतों से लेकर ख्याल और ध्रुपद पर्यन्त है; रागो की विविधता भी अपूर्व है। ऐसे विशाल साहित्य का यह सग्रह सच्चा प्रतिनिधि है। इस सकलन के कुछ सरस पदो को देखिए—

सिय जू के अरुनारे दोउ तरवा,
अनुरागन के घरवा ॥ टेक ॥
का गुलाब का कमल कँटीलो; का बड़ लाल अनरवा।
का कुसुंभ जल बुन्द परत ही, बिगरत रंग निचोरवा ॥ १ ॥

का मखमल का सरसो कलँगी; का मालती पतरवा ।
इनकी कोमलता के आगे; का कपोल बट परवा ॥ २ ॥
ऊरध पदुम कलपतरु अकुस; रेखन को उजियरवा ।
एक-एक रेखन पर वारो, त्रिभुवन को सिंगरवा ॥ ३ ॥
जिनके धोवत डरत देवता, जिनि छुइ परइ अतरवा ।
इनसे लगन नही तौ बिरथा, दण्ड, कमण्डल करवा ॥ ४ ॥

स्वामीजी ने लोक साहित्य मे प्रचलित अनेक छन्दो का भी प्रयोग किया है। यह नीचे का पद कितना सुन्दर है—

बावरे कहै जमुना तट मे,
वह तो श्याम बसै याही घट मे ॥ टेक ॥
जैसे खेलारी पुतरी नचावै, रहिकै अन्तरपट मे ।
तैसे नचावत मन इन्द्रिन को, अलख जगत झझट मे ॥
सपने मे सब साज पसारै, ज्यो बनिया चौहट मे ॥
जागत साज समाज कहाँ वह; नट को सो चटपट मे ॥
सब सोवहु पर जागि रह्यो जो,दीपक सो बडि ठट मे ।
जागे पर आनन्द बखानत, छपि माया को बट मे ॥
बन-बन मे क्या ढूँढौ वाकौ, क्या ग्रन्थन के गठ मे ।
कहुँ एकन्त मे देव मिलौगो, मति राधा के सट मे ॥

इस कविता मे स्वामीजी ने कृष्ण को यमुना के घाट पर खोजने की अपेक्षा अपने घट (शरीर) मे खोजने का उपदेश दिया है। इनका कहना है कि वह श्यामसुन्दर बाह्यजगत् मे बन-बन मे ढूँढने से नही मिलता और न ग्रन्थो के पृष्ठो के भीतर ही वह छिपा हुआ है। वह तो शान्त भाव से एकान्त मे चिन्तन करने वाले साधक के चित्त मे निवास करता है। वह घाट पर नही, बल्कि घट मे निवास करता है।

(२) रामसुधा—स्वामीजी की दूसरी पुस्तक **रामसुधा** है। इसमे ११३ पद है। इसमे कुछ मे तो रामचन्द्र के चरित का वर्णन है और कुछ मे उनके जीवन के आदर्शो को लेकर उपदेश तथा शिक्षा दी गई है। रामायण के आधार पर इस 'रामसुधा' की रचना की गई है। परन्तु पुनरुक्ति रूप मे नही बल्कि निरुक्ति रूप मे। विभिन्न रामायणो के विरोधो का समन्वय, अपेक्षित शकाओं का समाधान एव अद्भुत अर्थो का प्रतिपादन इस ग्रन्थ की महती विशेषता है। इस ग्रन्थ का उत्तरकाण्ड महत्त्व तथा विस्तार की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके अन्तर्गत 'रामसेवा' नामक खण्ड का उपासना की दृष्टि से, 'सीता हनुमत सवाद' खण्ड का सैद्धान्तिक दृष्टि से एव षड्ऋतु-वर्णन का साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्त्व है। यह पूर्ण ग्रन्थ ही राग रागिनियो मे निबद्ध है। इस ग्रन्थलेखक के गूढ़ अर्थो को अभिव्यक्त करने के लिए काशीनरेश ईश्वरीप्रसादनारायण सिह ने इसकी सारगर्भित टीका लिखी है। इस प्रकार ग्रन्थ गुरु और शिष्य दोनो के सम्मिलित प्रयत्न का सुन्दर परिणाम है। गीति छन्द मे लिखा गया यह प्रभातवर्णन कितना सरस और सुन्दर है—

मंगल ऊषा समय दिन मुख है ।
जहँ तहँ लोग जागे, गौवा दुहन लागे,
लोहिया लगन को रुख है ।

नखत झलमलाये चंदहु लटकि आये,
रजनी होहे रही पुख है ॥

इस ग्रन्थ में स्वामीजी ने राम के वनवास में छहों ऋतुओं के निवास का वर्णन किया है। वसन्त का यह वर्णन कितना सरस तथा मधुर है—

महँकै सिय अंग बसन्त सोई, कर पल्लव कोमल लाल लसे ।
मुख चंद चुवै रस बोल सदा; पद पंकज मानस में बिकसे ॥

इसके अतिरिक्त स्वामीजी ने निम्नाकित ग्रन्थों की भी हिन्दी में रचना की है जिनमें से कुछ प्रकाशित तथा कुछ अप्रकाशित हैं—

(१) **देवरामायण**, (२) **कृष्णसुधा**, (३) **पंचक्रोशीसुधा**, (४) **मथुराबिन्दु**, (५) **गयाबिन्दु**[१] आदि। 'गयाबिन्दु' काव्यग्रन्थ में गया के तीर्थस्थानों के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। इसमें केवल ३५ गेय पद हैं। भाषा सरल तथा सरस है। 'मथुराबिन्दु'[२] काव्य में ८५ पद है जिसमें राधाकृष्ण की लीलाओं का वर्णन राग-रागिनियों में किया गया है। **कृष्णसुधा**[३] में कृष्णचरित के अनेक मार्मिक रहस्यो, षड्ऋतुचर्या, लोकजीवनोपयोगी विविध विषयों का संकलन तथा आध्यात्मिक तत्त्वों का विश्लेषण है। यह ग्रन्थ काशीराज की टीका से संवलित है।

रामायण-परिचर्या

यह काष्ठजिह्व स्वामी का सबसे बड़ा तथा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। रामायण के गभीर तात्पर्य को प्रकट करने में यह ग्रन्थ नितान्त समर्थ है। स्वामीजी ने इस रामायण की जो टीका लिखी है वह वास्तव में टीका नही बल्कि टिप्पणी है। वह सारगर्भित होने के कारण अत्यन्त कठिन तथा दुरूह है। इस टिप्पणी का नाम 'परिचर्या' था। इसके अर्थ को स्पष्ट करने के लिए महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह ने इसका उपबृंहण (विस्तार) करते हुए जो टीका लिखी उसका नाम 'परिशिष्ट' है। इतने पर भी यह टीका साधारण जनता के लिए बोधगम्य नहीं हो सकी। तब तीसरे व्यक्ति श्री हरिहरप्रसादजी—जो महाराजा के फुफेरे भाई लगते थे और कमच्छा में बटुकभैरव-मदिर के पास एक मकान में रहते थे—ने इसके अर्थ को अधिक सरल तथा जनसामान्य को समझने के लिए सहज बनाते हुए अपनी टीका लिखी जिसका नाम **प्रकाश** है। इसलिए इन तीनों ग्रन्थकर्ताओं की टीका के साथ यह ग्रन्थ 'रामायण परिचर्या-परिशिष्ट-प्रकाश' नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन महाराजा प्रभुनारायण सिंह के आदेश से खड्गविलास प्रेस, पटना से बालकाण्ड तथा अयोध्याकाण्ड का प्रकाशन सन् १८९८ ई० में तथा अरण्यकाण्ड से उत्तरकाण्ड तक का प्रकाशन सन् १८९९ ई० में हुआ।

रामायण-परिचर्या की रचना की कथा

काष्ठजिह्व स्वामी ने 'रामायण-परिचर्या' की रचना कैसे की ? इसकी भी एक अपनी रामकहानी है। ऐसा कहा जाता है कि महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह के राजवैद्य पं० बिहारीलाल वैद्यराज ने विजयादशमी के दिन स्वामीजी से यह प्रार्थना की कि महाराजा की बहुत इच्छा है कि आप रामायण की एक टीका लिखें जिससे सर्वसाधारण उसका अर्थ सरलता

---

१ वाराणसी संस्कृत प्रेस में छपा। सन् १८६७ ई०।
२ बनारस लाइट छापाखाना में गोपीनाथ पाठक द्वारा मुद्रित। संवत् १९२६ वि० (१८६९ ई०)।
३. रामनगर, वाराणसी से प्रकाशित।

से समझ सके। स्वामीजी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। ये इसके बीस-पचीस दिन बाद काशी आये और कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी सवत् १८९४ वि० (सन् १८३७ ई०) हनुमत् जयन्ती के दिन अस्सीघाट पर स्थित हनुमानजी की मन्दिर में जाकर पूजा की और उस मदिर में स्थापित श्रीरामयत्रराज की विधियत् अर्चना की। इसके पश्चात् इन्होने उस मदिर के पुजारी श्री लक्ष्मणदास (लछुमनदास) से अनुमति लेकर रामायण की उस हस्तलिखित प्रति को प्राप्त किया जो स० १७०० वि० (१६४३ ई०) मे लिपिवद्ध की गई थी। इस विषय मे 'रामायण-परिचर्या परिशिष्ट प्रकाश' की भूमिका मे जो विवरण दिया गया है वह इस प्रकार है—

हनुमन्त जन्म दिन गोसाई जी के मंदिर जाय,
पूजा करी जाग्रत श्रीरामयंत्रराज की।
तहाँ मारुतनन्दन की अर्चा किई तैसी
श्री महाराज लछमनदास साधु सिरताज की॥
मुदित मन आज्ञा भई, सुद्ध खास पोथी मिली;
सत्रह सौ साल की।
साधु चरन कमल धूरि सीसै धरि तिलक करौ
सम्बत, जुग, अंक, आठ, एक मिली आज की॥

इस प्रकार सन् १८३७ ई० मे काष्ठजिह्व स्वामी ने 'रामायणपरिचर्या' का लिखना प्रारम्भ किया। श्री हरिहरप्रसादजी ने 'रामायणप्रकाश' नामक अपनी टीका का स० १९१२ वि० (सन् १८५५ ई०) मे निर्माण करना आरम्भ किया और इस टीका की समाप्ति १९२८ वि० (१८७१) मे हुई। इन दोनो के आधार पर यह निश्चित रूप मे कहा जा सकता है कि महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिह ने 'रामायणपरिचर्या' पर अपनी 'परिशिष्ट' नामक टीका का निर्माण सन् १८३७ ई० और सन् १८५५ ई० के बीच मे किया होगा। परन्तु किस सवत् मे उन्होने इस टीका का प्रारम्भ किया था? यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। सन् १८३५ ई० मे महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिह राजगद्दी पर बैठे। परन्तु रामायण के प्रति उनका इतना प्रगाढ़ अनुराग था कि राजगद्दी पर बैठने के केवल दो वर्ष बाद ही सन् १८३७ ई० मे उन्होने अपने राजवैद्य को स्वामीजी से रामायण की टीका लिखवाने के लिए प्रेरित किया।[१]

रामायण-परिचर्या की रचना का उद्देश्य

काष्ठजिह्व स्वामी ने अपनी टीका की रचना का उद्देश्य बतलाते हुए लिखा कि मैने महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिह के 'नितनव आनन्द' हेतु इसका निर्माण किया। इस टीका की रचना मे स्वामीजी को एक वर्ष से भी कम समय लगा था क्योकि सन् १८३७ ई० की हनुमत् जयन्ती से प्रारम्भ करके इन्होंने इसे सन् १८३८ ई० की रामनवमी को ही समाप्त कर दिया था। इसका निर्देश स्वामीजी की इस पक्ति मे पाया जाता है—

बान, अंक, आठ, एक सम्बत में जौन दिन।
जनक उछाह रामदेव सिरताज के॥

'परिचर्या' के अन्त मे स्वामीजी ने जीवन के उद्देश्य के सम्बन्ध में यह पद्य लिखा है जिससे इनके जीवन-दर्शन का पता चलता है—

१. 'रामायण-परिचर्या' की रचना का यह प्रामाणिक विवरण 'रामायण-परिचर्या-परिशिष्ट-प्रकाश' की भूमिका से लिया गया है।

एहि नामहिं की सुचिता कन ते, सुचिता भई तीरथ लाखन में ।
अमरत्व मिठास दोऊ जु नये; इनहीं के सुधा रस चाखन में ।
बल, तेज बढ़ावन नामहूं को गुन, कामदुघां वर माखन में ।
भल राम-सिया पद-मूल गह्यौ, अब को उरझै तरु-साखन में ॥

महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिह ने अपनी 'परिशिष्ट' नामक टीका के अन्त मे भगवान् के प्रति प्रार्थना और अपनी चेष्टा की लघुता के विषय मे यह सुन्दर श्लोक लिखा है—

हित्वाऽवलम्बमखिलं शरणं प्रपन्नो, याचे पुनः पुनरिद रचिताञ्जलिस्त्वाम् ।
सद्यः प्रसीदसि यया करुणैकसिन्धो, सा दीनता वसतु मे हृदि दीनबन्धो ॥
मम कपि-चेष्टितमेतद्, दृष्ट्वा सन्त. प्रसीदन्तु ।
ऋक्षवनौकश्चरित दृष्ट्वा श्रीरामचन्द्र इव ॥

इसी प्रकार 'प्रकाश' नामक टीका के रचयिता श्री हरिहरप्रसादजी की टीका के अन्त के ये दो श्लोक द्रष्टव्य है—

पुनन्तु साधुचरणाः साङ्गा वेदा. पुनन्तु च ।
रामप्रिया भगवती सरयूश्च पुनातु माम् ॥
जित-नूतन-वारिद-द्युतिर्जयति श्रीरघुनन्दनच्छवि. ।
जित-चम्पक-काञ्चन-द्युतिर्जयति श्रीधरणीसुताछवि. ॥

टीका के अन्त की तिथि इस प्रकार है—

माघ कृष्ण एकादशी सिद्धि, परव ।
निधि, ब्रह्म अब्द शुभ मेदन सो सरसै ॥

इस उल्लेख के अनुसार प्रकाश की रचना स० १६२८ वि० अर्थात् सन् १८७१ ई० में समाप्त हो गई थी।

मानस परिचर्या का अनुशीलन करने से काष्ठजिह्व स्वामी के गभीर शास्त्रीय चिन्तन, तान्त्रिक वैदुष्य तथा लोकातीत व्यक्तित्व का पूरा परिचय मिलता है। ये सस्कृतव्याकरण के भी ज्ञाता थे। फलत रामचरितमानस मे आये हुए अपाणिनीय प्रयोगो को भी शुद्ध रूप सिद्ध करने के लिए इन्होने अनेक स्थलो पर सूत्रो का उल्लेख किया है। परिचर्या का सम्पूर्ण विवेचन तो उस ग्रन्थ का सम्पूर्ण रूप से अध्ययन करने पर ही हो सकता है। परन्तु यहाँ पर स्थालीपुलाक-न्याय से उनके द्वारा प्रतिपादित मानस के एक-दो स्थलो की विशेषता का ही उल्लेख किया जा सकता है।

(क) रामचरितमानस के पाँचवे काण्ड का 'सुन्दर' नामकरण गोस्वामीजी ने क्यो किया ? इसकी सुन्दर विवेचना स्वामीजी ने की है। उत्तर तथा दक्षिण दोनों दिशाओं मे ध्रुव नामक तारा है। उत्तर मे सुमेरु पर्वत है। उसका प्रतिरूप दक्षिण मे लका विराजमान है। सुमेरु के तीन शिखरो के समान लका मे भी त्रिकूट (तीन शिखर) है जिनके नाम है (१) नील, (२) सुन्दर तथा (३) सुबेल। नीलकूट पर लका बसी है। सुन्दरकूट पर अशोकवाटिका की स्थिति है और सुबेलकूट के ऊपर लका की रणभूमि अवस्थित थी, जहाँ राम और रावण का युद्ध हुआ था। सुन्दरकूट पर विराजमान अशोकवाटिका की कथा का ही वर्णन इसमें मुख्यत हुआ है। अत इस काण्ड का नाम सुन्दरकाण्ड रखा गया है। इस सूचना का आधार

उपमेरुतंत्र नामक तत्रशास्त्र का एक ग्रन्थ है जिसमे ये बाते लिखी हुई है। ऐसा स्वामीजी का कहना है। नीचे के दोहे मे सुन्दरकाण्ड की कथा का सक्षिप्त उल्लेख पाया जाता है- —

रघुवर ससि, सीता प्रभा, हनुमत उदय हुलास ।
सुन्दर सुन्दर काण्ड यह, सुन्दर लह्यौ प्रकास ॥

(ख) मानस के षष्ठ काण्ड का नाम गोस्वामीजी ने लका काण्ड' रखा है जब कि वाल्मीकि ने इसका नाम युद्धकाण्ड लिखा है। अत विचारणीय प्रश्न यह है कि गोस्वामीजी ने इसका नामकरण लका क्यो किया ? इस प्रश्न के उत्तर मे स्वामीजी ने कई कारण दिये है

(१) ल-लक्ष्मी, अक—चिह्न (लक्ष्मी के चिह्नभूत सोना, चाँदी, हीरा आदि से सम्पन्न होने के कारण)।

(२) ल—पृथ्वी, अक-गोदी (पृथ्वी की कन्या सीता को अपनी गोद मे धारण करने के कारण लका' नाम पडा)।

(३) ल—हनुमान्, अक—दाह, जलाना (अर्थात् हनुमान के द्वारा जलाए जाने के कारण 'लका' नाम पडा)।

(४) ल लवणसमुद्र, अक—परिखा, घेरा (लवणसमुद्र से घिरे रहने के कारण लका नाम)। स्वामीजी ने अपने तर्कों के प्रमाण मे एकाक्षरी कोश तथा मेदिनी कोश का प्रमाण भी दिया है। अत इन्होने लका नामकरण के जो कारण दिये है वे प्रमाण पुरस्सर है।

सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्य-विहारिणौ ।
वन्दे विशुद्धविज्ञानौ, कवीश्वरकपीश्वरौ ॥

इस श्लोक पर टिप्पणी करते हुए स्वामीजी ने लिखा है कि कवीश्वर वाल्मीकि कपीश्वर हनुमान् "दूनौ जनो रामचरित के विहारी। एक दक्षिणचारी एक उत्तरचारी।" स्वामीजी की इस सक्षिप्त टिप्पणी की व्याख्या करते हुए महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिह ने परिशिष्ट मे लिखा है कि **वाल्मीकिजी चित्रकूट रामसा मिलन मानस मे लिखा। अतएव वे हुए दक्षिणचारी। हनुमान उत्तरचारी। कदली बिपिन विहाराथ भीम से मिलन। वनपर्व अध्याय १४५ महाभारत मे।** राजा साहब की इस टीका पर हरिहर प्रसादजी ने अपने 'प्रकाश' मे यह लिखा है "दोनो को प्रणाम। वाल्मीकिजी वक्ताशिरोमणि, हनुमान श्रोता शिरोमणि। पुण्यारण्यविहारिणौ -दोनो वनवासी है एक दक्षिण, एक उत्तरवासी होने से दोनो तुल्य है।"

ऊपर के उद्धरण मे तीनो ग्रन्थकारो की गद्य शैली का नमूना प्रस्तुत करने के लिए ही उनकी वाणी अक्षरश उद्धृत की गयी है। इस गद्यशैली के विषय मे यह ध्यान रखना चाहिए कि यह 'हरिश्चन्द्री हिन्दी' के उदय के पहले की हिन्दी है। 'हरिश्चन्द्री हिन्दी' का उदय सन् १८७६ ई० मे हुआ। परन्तु जिस हिन्दी का उद्धरण ऊपर दिया गया है उसका जन्म सन् १८३७ ई० मे हुआ। इस प्रकार यह हरिश्चन्द्र से लगभग ४० चालीस वर्ष पहले की हिन्दी का नमूना है। हिन्दीसाहित्य के इतिहासकारो को शैली की दृष्टि से स्वामीजी की हिन्दी का अध्ययन करना चाहिए।

(ग) गोस्वामीजी ने अयोध्याकाण्ड मे यह प्रसिद्ध चौपाई लिखी है—

लिखत सुधाकर गा लिखि राहू। बिधि गति बाम सदा सब काहू ॥

इस चौपाई का सीधा अर्थ यह है कि भाग्य के उल्टा होने के कारण सुधाकर अर्थात् चन्द्रमा को लिखते समय गलती से राहु लिख गया। परन्तु सुधाकर लिखते समय राहु कैसे लिखा जा सकता है ? इस समस्या का समाधान काष्ठजिह्व स्वामी ने अपनी अलौकिक प्रतिभा के बल से पहली बार किया है। स्वामीजी ने इस पर केवल इतनी ही सक्षिप्त टिप्पणी जडी है कि – **एक ओर अधिक मसी गिर जाने से**। इस सक्षिप्त तथा गूढ़ टिप्पणी का भाव राजा साहब की व्याख्या से ही स्पष्ट होता है। उन्होने लिखा है कि 'लिखना' शब्द का अर्थ 'चित्र बनाना' है, लेखनकर्म करना नही है। 'राहो शिर' इस उक्ति के अनुसार राहु के चित्र मे केवल उसका सिर ही बनाया जाता है। चन्द्रमा का चित्रण केवल 'सिर' मात्र से किया जाता है। इसी 'सिर' के चित्र मे अधिक स्याही के गिर जाने से सिर की मोटी आकृति बन जाने से वह राहु का प्रतीक हो जाता है। अत इस प्रकार सुधाकर अर्थात् चन्द्रमा का सिर चित्रित करते समय राहु का चित्र बन जाना स्वाभाविक है। ऐसे विचित्र अर्थ की ओर स्वामीजी का सकेत है।

(च) गोस्वामीजी ने मानस मे सस्कृत के कुछ श्लोक भी लिखे है। उन श्लोको मे सस्कृत के कुछ विद्वान् अपाणिनीय प्रयोग करने का आक्षेप गोस्वामीजी पर लगाते है। परन्तु स्वामीजी ने अपने प्रकाण्ड व्याकरण ज्ञान के द्वारा गोस्वामीजी के सस्कृत के प्रयोगो को शुद्ध तथा पाणिनीय सिद्ध किया है। उदाहरण के लिए तुलसीदासजी के द्वारा किये गये रामवर्णन 'केकीकण्ठाभनील सुरतरुविलसद्विप्रपादाब्जचिह्नम् ।" (रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, मगलश्लोक) मे 'केकीकण्ठाभनील' के प्रथम पद मे 'केकि' ह्रस्व इकार होना चाहिए। केका (वाणी मयूरस्य) से सम्पन्न होने के कारण मयूर को 'केकी' (केकिन्) कहते है। फलत किसी पद के साथ समास होने पर ह्रस्व इकार होना ही उचित है। अत तुलसीदासजी का 'केकीकण्ठ' पद अपाणिनीय है। इसी प्रकार उत्तरकाण्ड के द्वितीय श्लोक के उत्तरार्ध 'जानकी-कर-सरोज लालितौ चिन्तकम्य मनभृगसगिनौ' मे विद्यमान 'मनभृग' पद अपाणिनीय है, क्योकि 'मनस्' शब्द के सकारान्त होने के कारण 'मनोभृग' होना ही समुचित है। इन दोनो आक्षेपो के उत्तर मे स्वामीजी का कहना है कि व्याकरण के अनुसार ये दोनो पद बनते है। 'मनस्' शब्द सकारान्त होने के साथ ही साथ अकारान्त (मन) भी है। मयूरवाची शब्द दोनो प्रकार का है केकिन् (इन्नन्त) तथा केकी (दीर्घ ईकारान्त)। इसी प्रकार तुलसीदास के अपाणिनीय प्रयोगो को श्री काष्ठजिह्व स्वामी सस्कृतव्याकरण की रीति से अशुद्ध नही मानते। वे अन्य व्याकरण सम्प्रदायो की ओर सकेत करते है। उनकी आस्था प्रतीत होती है कि तुलसीदास के अनेक सस्कृत पद पाणिनीय व्याकरण से सगत न होने पर भी अशुद्ध नही है। अन्य व्याकरण सम्प्रदायो से उनकी शुद्धता प्रमाणित की जा सकती है। इस विषय की विशेष मीमासा के लिए स्वामीजी की 'रामायण-परिचर्या' के तत्तत् स्थल देखना चाहिए।

इस प्रकार **रामायण-परिचर्या** को श्री काष्ठजिह्व स्वामी की हिन्दी रचनाओं मे सर्वश्रेष्ठ माना जाना चाहिए।

काशिराज-सागर

स्वामीजी ने सस्कृत मे छोटे-छोटे अनेक ग्रन्थो का प्रणयन किया है जिनमे दार्शनिक स्तोत्रो का प्राचुर्य है। यह 'काशिराज-सागर' उनकी सस्कृत रचनाओं मे निगूढार्थ-सम्पन्न सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। श्रीकाष्ठजिह्व स्वामीजी तान्त्रिक साधना के महनीय उपासक, तन्त्रसिद्धान्तो के गम्भीर मनीषी तथा तन्त्रो के अन्तरग रहस्यो के पुखानुपुख ज्ञाता विद्वान् थे और उन्होने

इस संस्कृत ग्रन्थ मे देववाणी के माध्यम से अपनी चिर चिन्तना से परिनिष्ठित तत्त्वो का विवरण प्रस्तुत किया है, परन्तु ग्रन्थ इतना गूढ़ तथा दुरूह है कि उसके तात्पर्य को समझना आज के पाण्डित्य के लिए एक दुर्धर्ष चुनौती बना हुआ है। उनके संस्कृत स्तोत्रो पर टीकाएँ सुनी जाती है। उनके **शिवचरण-परिचर्या** को काशी के एक उत्कृष्ट विद्वान् पण्डित चन्द्रशेखर त्रिपाठी ने अपनी अभिराम व्याख्या के द्वारा सरल सुबोध बनाने का प्रयास किया है – ऐसा सुना जाता है। इनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थ है (१) शारीरक सूत्रवृत्ति, (२) परिभाषेन्दुशेखर-विचार, (३) श्लोकबद्ध अष्टाध्यायी, (४) पूजापुष्करिणी, (५) रामकथा तथा (६) मत्स्यपुराण-टीका। ये त्रिपाठीजी पण्डित कमलापति त्रिपाठी के पूज्यपिता के ज्येष्ठ पितृव्य थे। शास्त्रीय वैदुष्य से मण्डित होने के साथ ही साथ उत्कृष्ट साधक थे। इनके विद्या-वैभव की इतनी कीर्ति थी कि तत्कालीन काशीनरेश महाराज ईश्वरीप्रसादनारायण सिंहजी उनका दर्शन करने तथा आशीर्वाद लेने के लिए उनके घर स्वयं आते थे। इस कोटि के किसी विद्वान् ने यदि व्याख्या लिखने की कृपा की होती, तो 'काशिराज सागर' पाठको के लिए सरल सुबोध बन गया होता। परन्तु ऐसा न हो सका। काशीनरेश के पुस्तकालय मे सुरक्षित हस्तलेख के रूप मे वर्तमान यह ग्रन्थ आज भी किसी उत्कृष्ट तन्त्र रहस्यवेत्ता विद्वान् की व्याख्या की अपेक्षा कर रहा है। व्याख्या के अभाव मे इसे समझ पाना विद्वानो के लिए एक दुरूह व्यापार है। श्री काष्ठजिह्व स्वामीजी के तान्त्रिक वैदुष्य का यह ग्रन्थ सचमुच मेरुदण्ड है।

सामान्य जनता मे स्वामीजी एक ललित गीतिकार के रूप मे चिरस्मरणीय रहेगे। उनके हिन्दी मे निबद्ध पदो की संख्या बडी विशाल है। जिनमे से थोडे ही पद मुद्रित होकर रसिको के सामने प्रस्तुत है। ऊपर निर्दिष्ट ग्रन्थो मे पद ही पद तो है। स्वामीजी राम तथा श्याम दोनो के ही भक्त थे। फलत दोनो की ललित लीलाओं के वर्णनपरक पदो का प्राचुर्य है। इन पदो का अनुशीलन करने से लेखक की यह दृढ धारणा बन गई है कि वेदान्त के मर्मज्ञ स्वामीजी किशोरी जानकीजी के चरणो के दिव्य उपासक थे। भक्तिरस से स्निग्ध, आनन्दसागर मे डुबकी लगाने वाले स्वामीजी सियाजू के चरणो पर अपने आपको निछावर करने वाले साधक थे। 'जानकीबिन्दु' मे मनोरम पदो का संग्रह स्वामीजी के हृदयंगम भावो का तथा मधुरिम काव्यकला का स्पष्ट निदर्शन है।

जानकीजी के नाम की महिमा देखिए

जानकी नाम मनोहर मीठ ॥
जापक जन सुषदायक सीधो जनु सिद्धिन को पीठ ॥ १ ॥
महावर हूं को करत रँगीलो जैसे रस मंजीठ ।
रसना पर आवत जनु आयो सिय दरसन को चीठ ॥ २ ॥
जाके मनन गुनन ते झलकत अंदर निरमल डीठ ।
बरबस काल फाँसते छोरत बड़े जबर बड़ ढीठ ॥ ३ ॥
अंदर बाहर को मल सोधत जस अंबर को रीठ ।
जाके रस के आगे लागत देवसुधा हूँ सीठ ॥ ४ ॥

—जानकीबिन्दु

जानकीजी के कँगना की शोभा निरखिए—

मोरे मन बसल सियाजू कै कंगना ॥
कंचन को पँचरंग जडित मनि अभरन माँह कइउ रँग रँगना ।
लाल पीत सित नील विचित्रित बरषा में जनु साँझि पतँगना ॥ १ ॥

गोल गोल कोरन में मोती कमल निकट जनु बाल बिहँगना ।
कील जड़े कंचन के जेहि ते परि न सकै भागन मे भँगना ॥ २ ॥
खेलत दुइ रवि मडल मानहुँ नरम कलैया लहि कै गँगना ।
कर पदुमन को नित विकसावन कारन धरे मनहुँ भल ढँगना ॥ ३ ॥
देवराज पद को को चाहत को चाहत तरिवर से टँगना ।
श्री जानकी चरन-पंकज कै मन रगो एतनै बर मँगना ॥ ४ ॥

—देवरत्न,[१] पदसख्या १६५

निम्नलिखित पद मे सीताजी को 'इष्टदेवता' के रूप मे उल्लिखित किया गया है। स्वामीजी का कहना है कि मानव मन तृन घास का (सूखे विषयो का) भूखा है। उसे रामरस कैसे चिखाया जाय ? राम रसायन को घोल कर पीने से ही जानकीजी प्रसन्न होकर तुम्हारे पास स्वत आ जावेगी—

मै कैसे कै चिषावो राम रसवा ।
मन चाहै तृन घसवा ॥ १ ॥
इरषा जर से इहि जिभिया के मीठौ दूध तिताय ।
खुलत न मुख कै पाप जन्त्रिका हारेउँ करि करि कसवा ॥ २ ॥
सतसगति कै रग न लागे जदपि करै सतसग ।
शून्य हृदै बँमवा के जैसे मलया गिरि कै बँसवा ॥ ३ ॥
हरिअर तरु पर पछी सुख से बोलत अमृत बानी ।
अवघट लागल दोउ पखन मे लाग लगी कै लसवा ॥ ४ ॥
जे मन चाहै तेही मे जौ रामरसायन घोरौ ।
इष्ट देवता सिय करुणा से सुढर ढरै तौ पसवा ॥ ५ ॥

—जियामृत[२], पदसख्या ९

स्वामीजी महाराज के इन भक्तिरस से स्निग्ध पदो मे जितना अवगाहन किया जायगा, उतना ही साधको का मन भगवान् के चरणारविन्द मे आसक्त होगा और इस प्रपच से छूट कर वह इस धराधाम पर ही जीवन्मुक्त हो जायेगा ।

श्रीकाशिराजोज्ज्वलगौरवेश्वरी- प्रसादभूभृद्गुरुवर्यसत्कथ. ।
श्रीकाष्ठजिह्वापर-नाम-विश्रुत. श्रीदेवतीर्थो यतिराड् विराजते ॥



१ प्रकाशक श्री काशिराज सरस्वती भण्डार, दुर्ग रामनगर, वाराणसी, १९६२ ई० ।

२ २९ पदो का यह लघुकाव्य श्रील श्रीयुत महाराज ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह काशीनरेश बहादुर की आज्ञा से अम्बिकाचरण चट्टोपाध्याय के द्वारा 'अमर यन्त्रालय' मे मुद्रित हुआ था (वाराणसी, संवत् १९४१=१८८४ ई०) ।

श्री स्वामी महादेवाश्रम

(प्रसिद्ध नाम—श्रीरामनिरञ्जन स्वामी)

गत शताब्दी के उत्तरार्ध मे स्वामी महादेवाश्रमजी अपने अलौकिक वैदुष्य, असाधारण आचरण तथा उदात्त आध्यात्मिकता के कारण काशीस्थ सन्यासियो मे अग्रणी माने जाते थे। ये **रामनिरञ्जन स्वामी** के नाम से विशेषकर प्रख्यात थे। यह नाम उनके गृहस्थाश्रम के नाम के कारण ही प्रसिद्ध हो गया था। ये काशी मे गऊघाट (या गायघाट) पर निवास करते थे। इसलिए 'गऊघाट के स्वामीजी' के नाम से काशीस्थ जनता मे लोकप्रिय थे। ये काष्ठजिह्व स्वामी के समसामयिक ही नही, अपितु अन्तरग सुहृद् थे। दोनो स्वामीजी जब आपस मे मिलते थे, तब कौन प्रणम्य है ? इस विषय को लेकर दोनो मे खूब नोकझोक होती थी। महादेवाश्रमजी काष्ठजिह्व स्वामी से कहते थे, "भाई, आप ही मेरे लिए प्रणम्य है। आप मेरी अपेक्षा साधुता तथा शास्त्रीय ज्ञान दोनो मे विशेष योग्यता रखते है। अतएव मुझे आपके आगमन पर अभ्युत्थान करना चाहिए।" उधर काष्ठजिह्व स्वामी कहा करते थे, "मै केवल साधक हूँ, शास्त्र के गम्भीर ज्ञान के आश्रय तो आप ही है। मुझमे इतनी योग्यता नही कि प्रथमत मै ही प्रणम्य होऊँ। फलत मै आपका अभ्युत्थान करने का अधिकारी हूँ। आप मेरा अभ्युत्थान नही किया करे।" दोनो स्वामीजी विद्वत्ता तथा आध्यात्मिकता मे बढे-चढे थे। 'को बड छोट कहत अपराधू।' परन्तु ये दोनो जन आपस मे इस प्रकार का हास्य विनोद किया करते थे। दोनो ही सन्यासियो की मण्डली मे शीर्ष स्थान के अधिकारी माने जाते थे।

अध्ययन-अध्यापन

श्रीरामनिरञ्जन स्वामीजी हथुआ के समीपस्थ किसी ग्राम के निवासी थे। उनका जन्म एक मध्यमवर्गीय सरयूपारीण ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। उनका पूर्वाश्रम का नाम था—**पण्डित रामनिरञ्जन मिश्र** और यह नाम इतना लोकप्रिय था कि दीक्षानाम **महादेवाश्रम** की अपेक्षा कही अधिक व्याप्त तथा विश्रुत रहा। इन्होने हथुआ के राजा के आश्रय मे ही अपना गृहस्थाश्रम बिताया। उनके अध्ययन की तो विशेष जानकारी हमको नही मिल सकी, परन्तु अनुमान है कि ये हथुआराज की राजकीय पाठशाला के पण्डितजी से व्याकरण तथा दर्शन आदि शास्त्रो का विधिवत् अध्ययन कर एक सुबुद्ध प्रतिभाशाली विद्वान् की ख्याति से तुरन्त मण्डित हो गये। छात्र होने के नाते उसी पाठशाला मे अध्यापक के पद पर शीघ्र ही नियुक्त किये गये। इन्होने गृहस्थाश्रम मे प्रवेश किया और बड़े मनोयोग से उस विद्यालय मे छात्रो का अध्यापन करने लगे। उस समय हथुआ के राजा तिलकधारी शाही थे और उनकी दृष्टि मे पण्डित रामनिरञ्जन मिश्र की विद्या के क्षेत्र मे बड़ी प्रतिष्ठा थी।

इसी काल मे एक ऐसी घटना घटी जिसने मिश्रजी के जीवन को एक नूतन मोड दिया। **पण्डित सीताराम शास्त्री** नामक एक विद्वान् राजदरबार मे आये और मिश्रजी से



श्री स्वामी महादेवाश्रमजी
(श्री रामनिरंजन स्वामी)

शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रकट की। मिश्रजी वादविवाद मे, शास्त्रार्थ मे अखाडे के एक महारथी थे। इन्होने सीताराम शास्त्री की चुनौती स्वीकार कर ली और दोनो मे शास्त्र की किसी गम्भीर समस्या के सुलझाने के लिए शास्त्रार्थ होने लगा। सुनते है यह शास्त्रार्थ तीन दिन और तीन रात तक लगातार चलता रहा। कोई भी वादी अपना पक्ष दुर्बल मानने के लिए तैयार न था। राजा तिलकधारी शाही शास्त्रार्थ के अध्यक्ष थे। उन्होने आगन्तुक पण्डित की प्रतिष्ठा-रक्षा के लिए अपने ही दरबारी पण्डित रामनिरञ्जनजी के पक्ष को दुर्बल बताया और शास्त्रार्थ को समाप्त करने की सम्मति दी। शास्त्रार्थ तो समाप्त हो गया, परन्तु रामनिरञ्जनजी को राजा का यह निर्णय पक्षपातपूर्ण प्रतीत हुआ। फलत उनके हृदय मे तीव्र वैराग्य की भावना जागरित हो उठी। उन्होने राजकीय पाठशाला की सम्मान सम्पन्न अध्यापकी ही नही छोडी, बल्कि घर गृहस्थी को भी सदा के लिए तिलाञ्जलि दे डाली और काशी मे सन्यास दीक्षा लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

स्वामीजी : काशी में

कुछ दिनो मे पैदल चलकर मिश्रजी काशी आये। कोई जाना पहिचाना व्यक्ति तो था ही नही जिसके यहा अपना डेरा डण्डा डालकर विश्राम करते। राजघाट के पास ही एक शिवाले मे विश्राम कर थकान मिटाने के लिए सो गये। उसी समय गायघाट के ही एक ब्राह्मण देवता **त्रिलोचन पाण्डेय** वहा पहुचे मिश्रजी को जगाया और उनका सब वृत्तान्त सुनकर अपने घर चलने की प्रार्थना की। मिश्रजी का गृहस्थ के घर मे टिकने का तथा आराम करने का प्रलोभन शान्त हो गया था। उन्होने त्रिलोचन पाण्डेय से उनके पुत्र जगन्नाथ पाण्डेय को माग कर अपना सेवक तो बनाया, परन्तु उनके घर नही गये और पञ्चगङ्गाघाट के किसी मठ मे विरक्त जीवन बिताने लगे। यही पर किसी विरक्त सन्यासी से मिश्रजी ने सन्यास की दीक्षा ली। दीक्षित होने पर इनका गुरप्रदत्त नाम हुआ **महादेवाश्रम**। यह घटना अनुमानत १८२४ २५ ई० के आसपास की प्रतीत होती है। उस समय सन्यासीजी अपने जीवन की प्रौढ़ावस्था मे विद्यमान थे। उस समय उनका वय ४० ४२ से कम नही था। कुछ दिनो तक वे पञ्चगङ्गाघाट पर ही विराजमान रहे। अनन्तर एकान्त स्थान खोजकर सेवक जगन्नाथ पाण्डेय स्वामीजी को गायघाट के ऊपर किराये की किसी कोठरी मे ले आये।

स्वामीजी की ख्याति

एक विचित्र घटना ने रामनिरञ्जन स्वामी को रातोरात काशी की जनता मे प्रसिद्ध बना डाला। बात यो हुई, काशीनाथ खत्री नामक किसी धनाढ्य व्यक्ति का पुत्र मर गया। उसका शव गऊघाट पर गङ्गा मे उतारा गया। खत्रियो की यह चाल है कि पूरे परिवार तथा सम्बन्धीजनो की स्त्रियाँ मातमपुरसी के लिए शव के साथ गङ्गा पर उतरती है और अपनी छाती पीट-पीट कर रोती धोती है। बडा कोहराम मचता है उस समय। ऐसी ही घटना उस समय घटी। रोने धोने का हल्ला स्वामीजी की कोठरी मे पहुंचा जिससे उनकी ध्यान पूजा मे बड़ा विघ्न उपस्थित हुआ। उन्होने अपने सेवक जगन्नाथ पाण्डेय से सब बाते जानी। विघ्न के निवारण का सद्य कारगर उपाय न देखकर स्वामीजी ने सेवक पाण्डेय से कहा—'जाकर कह दो, हल्लागुल्ला ज्यादा मत मचावे। कमण्डलु का यह थोडा जल ले जाओ। मृत बालक के मुँह मे डाल दो और कहो कि सब भाग जायँ।' जगन्नाथ पाण्डेय ने तदनुसार कमण्डलु का वह जल मृतक के मुँह मे डाला। थोडी देर मे उसमे चेतना आ गई। स्वामीजी महाराज का

यशोगान करते हुए शोककर्ताओं का वह दल आनन्द से जीवित बालक के साथ घर लौट आया। इस घटना के अनन्तर काशी की जनता स्वामीजी के अलौकिक चमत्कार से परिचित हो गई। स्वामीजी के पास दीन-दुखियो का ही नही, राजा महाराजाओं का जमघट सदा लगने लगा। इस घटना की सूचना लेखक को स्वामीजी के निरन्तर सेवक पण्डित जगन्नाथ पाण्डेय के पौत्र पण्डित लक्ष्मीनारायण पाण्डेय से मिली जिन्होने अपने पितामह से इस विचित्र घटना को सुन रखा था।

अब श्रीरामनिरञ्जन स्वामी की कीर्ति दिगन्तव्यापिनी हो गई। हथुआ के राजा तो स्वामीजी के पास भोजन तथा वस्त्र की पूरी व्यवस्था कर किसी नौकर के हाथ प्रतिवर्ष भेजते ही थे। उनकी व्यवस्था मे किसी प्रकार की कमी या त्रुटि नही होती थी। बहुत-सी सनदे तथा पत्र लक्ष्मीनारायण पाण्डेय ने लेखक को दिखलाये जिनमे हथुआ के राजा बडे आदर तथा सम्मान के साथ स्वामीजी के लिए वस्त्र आदि उपकरणो के साथ नगद रुपया भी जगन्नाथ पाण्डेय के द्वारा भेजवाते थे। बॉसी के राजा महेन्द्रसिह द्वारा भेजे गये सामान तथा ५०) रुपया की सनद देखने को मिली जिसके लिखने का समय १६२० विक्रमी सवत् है (१८६३ ई०)। धनाढ्य राजाओं और जमीदारो का स्वामीजी के प्रति इतना आकर्षण हुआ कि बिहार के समग भूमिहार राजा स्वामीजी के शिष्य हो गये। उत्तरप्रदेश के राजा महाराजाओं की भी इसी प्रकार पूज्यबुद्धि स्वामीजी की ओर बनी रही। इस कार्य के लिए उन्होने स्थान स्थान पर भूमि भी सेवाकार्य के लिए प्रदान की। अयोध्या के राजा ददुआजी स्वामीजी के सेवानुरक्त प्रशसक तथा दीक्षासम्पन्न शिष्य थे। हथुआनरेश की तो कथा ही न्यारी है। स्वामीजी तो कभी उनके दरबार के राजपण्डित ही थे। फलत स्वामीजी के सेवाकार्य के लिए वे सबसे अधिक जागरूक शिष्य थे। उनके द्वारा भेजे गये सस्कृत मे लिखित पत्रो को लेखक ने देखा है। उनसे उनकी रामनिरञ्जन स्वामी के प्रति अगाध भक्ति तथा प्रगाढ़ अनुराग पदे पदे अभिव्यक्त होता है। इसके प्रमाण मे केवल एक ही पत्र नीचे दिया जा रहा है। इन पत्रो मे एक ही त्रुटि लक्षित होती है कि इसके लिखने का सवत् नही दिया गया है जिसके अभाव मे इनका पौर्वापर्य निश्चित नही किया जा सकता। पत्र इस प्रकार है –

श्रीपरब्रह्मणे नमः

श्री श्री श्री श्री श्री परमेश्वर भक्तजन समुद्धरण-हेतु धृतमाया-विग्रह निजानन्दानुभव-तिरस्कृत-जगत्प्रपञ्च श्रीनारायणस्वामि श्रीचरणकमलयुगल-परागपीठेषु श्रीमहाराजकुमार युवराज श्रीतिलक शाहि शर्म श्री वीर प्रतापशर्मणोः प्रणति कोटय. संयन्तुतरामहार्छव सम्प्रति कुशल शरीरमावयो श्री महागुरूणां पितृणां श्री साम्बशिवं स्मरन् मनसा वचसा च जल्पन् त्रिभिरेवरश्रमेण विमुक्ति ससार सागराघाता युक्तयोगिनामिव तेनातीवाकुलमनसोरावयोर्व्यावहारिक सुखं महामोहविलसित स्याच्छ्रीचरण भक्ताः पितर इति मत्वा हार्दया वचो विधातुमुचितमेव गुणारणाननुध्यानेनावयोरिति प्रार्थना श्रीचरण सविधे लेखोय कार्तिक सप्तम्यां मङ्गले शुभम्।

विलक्षण भविष्यवाणी

काशीनरेश महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिह आरम्भ से ही स्वामीजी के भक्त थे तथा उन्हे गुरुकल्प मानते थे। एक विशिष्ट घटना ने इन्हे स्वामीजी का बहुत समीपी तथा

अन्तरग बना दिया। इस घटना की चमत्कारमयी भविष्यवाणी ने स्वामी रामनिरजनजी की आध्यात्मिक प्रतिभा को सदा सर्वदा के लिए चारो ओर बिखेर दिया एव उनके व्यक्तित्व की अलौकिकता को सद्य परिस्फुरित कर दिया। घटना आश्चर्यमयी तथा ऐतिहासिक है।

महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिह को रामनगर के राज-सिहासन पर बैठे अनेक वर्ष बीत गये थे, परन्तु उत्तराधिकारी राजकुमार का अभाव उन्हे सातिशय पीडा पहुँचा रहा था। न उन्हे कोई पुत्र था, न उनके अनुज नरनारायण बाबू को। फलत आपस में परामर्श तथा विचार कर इस अभाव की पूर्ति के लिए बाबू नरनारायण सिह ने गोद लेने का विचार किया। उचित पात्र भी चुन लिया गया। केवल स्वामीजी के आदेश की प्रतीक्षा थी। सो एक बार वे गऊघाट पर स्वामी रामनिरजनजी के पास गये और बडे ही विनीत शब्दो मे गुरुजी के सामने अपना विचार प्रकट किया और उनके चरणो मे नतमस्तक होकर उनका दिव्य आशीर्वाद मॉगा। प्रस्ताव सुनते ही स्वामीजी ने तुरन्त उत्तर दिया—"दत्तक लेने की आवश्यकता ही नही। तुम्हारे यहाँ तो एक दिव्य राजपुरुष आ रहा है जो गोब्राह्मण का सेवक, सनातन धर्म का रक्षक तथा तुम्हारे वश को उजागर करने वाला होगा। विश्वास रखो, उसके आने मे विशेष विलम्ब नही है।" इस दिव्यवाणी को सुनकर नरनारायण बाबू तो आनन्द से गद्‌गद हो गये। स्वामीजी का आशीर्वाद लेकर वह सानन्द रामनगर लौटे। थोडे ही दिनो बाद १८५५ ई० मे श्रीप्रभुनारायण सिहजी का जन्म हुआ। रामनिरजन स्वामीजी ने उनका जो भविष्य बतलाया था वह अक्षरश सिद्ध हुआ। वे सचमुच ही बडे धर्मात्मा, सनातनधर्म के उन्नायक, सस्कृत शास्त्रो के पण्डित तथा कमनीय कविता के स्रष्टा सिद्ध हुए। महाराजा प्रभुनारायण सिह को महाकवि कालिदास का 'अभिज्ञानशाकुन्तल' इतना प्रिय था कि उन्होने उस नाटक के रमणीय दृश्यो के भित्तिचित्र अपने महल के एक स्वतन्त्र कमरे मे बनवाये। वे सचमुच ही वश को उजागर करने वाले सिद्ध हुए, क्योकि उनके ही शासनकाल मे रामनगर को एक स्वतन्त्र रियासत का दर्जा मिला था। महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिहजी ने उन्हे समय आने पर अपने उत्तराधिकारी युवराज के पद पर अभिषिक्त किया। पिता बाबू नरनारायण सिह ने स्वामीजी से उन्हे दीक्षा दिलवा दी तथा उनके जीवन को आध्यात्मिक दिशा की ओर अग्रसर कर अपने शेष जीवन को सन्तोष एव आनन्द से बिताया। ऐसी थी चमत्कारिणी भविष्यवाणी श्री रामनिरजन स्वामीजी की। इसके अनन्तर स्वामीजी के साथ काशीनरेश के वश का अच्छेद्य सम्बन्ध स्थापित हो गया। इस ऐतिहासिक घटना का विवरण लेखक को वर्तमान काशीनरेश डॉ० विभूतिनारायण सिहजी ने दिया जो अपने वश के प्राचीन पारम्परिक इतिवृत्त से पूर्ण परिचय रखते है तथा जो महाराजा प्रभुनारायण सिह के योग्य पौत्र होने का गौरव धारण करते है।

यह विवरण विश्रुत अनुश्रुति के आधार पर सकलित किया गया है। इधर स्वामीजी के द्वारा प्रणीत **पञ्चाक्षरी-भाष्य-व्याख्या** नामक अपूर्व वेदान्तग्रन्थ की उपलब्धि लेखक को हुई है। इस ग्रन्थ के आरम्भ मे हथुआनरेश राजा कृष्णप्रताप साही के सभापण्डित **रघुवीर कवि** ने ११५ श्लोको मे स्वामीजी का तथा हथुआनरेश के पूर्वपुरुषो का क्रमिक वर्णन कर तत्कालीन नवीन ऐतिहासिक तथ्यो का महनीय विवरण प्रस्तुत किया है। उसी के आधार पर श्री रामनिरजन स्वामी के जीवनवृत्त की कतिपय घटनाएँ दी जाती है। यह नूतन वृत्त इस प्रकार है।

नवीन वृत्त

हथुआ नगर के समीपस्थ किमी ग्राम मे घृतकौशिकवशीय पण्डित **रामधन मिश्र** रहते थे जो बड़े तपस्वी, शान्त-दान्त तथा अनेक शास्त्रो में निष्णात व्यक्ति थे। उनके पुत्र सामान्य विद्वान् थे। फलत रामधनजी ने भगवद्भक्त एव विद्वान् पौत्र की कामना से घोर तपस्या की जिसके फलस्वरूप स्वामीजी का जन्म हुआ। पितामह ने ही इनका नाम **रामनिरञ्जन** रखा। इनके दो ही गुरु हुए। घर पर पितामह मे आरम्भिक सस्कृत शिक्षा ग्रहण कर वे काशी पधारे जहाँ **पण्डित प्राणनाथजी** से दर्शन के विविध अगो का ज्ञान बडी निष्ठा तथा अश्रान्त परिश्रम के बल पर प्राप्त कर वे वैदुष्यमण्डित दार्शनिक पण्डित बन गए। लगभग बीस वर्ष के वय मे वे घर लौटे जहाँ अपने ही घर पर सस्कृत-अध्यापन का कार्य करने लगे। एक विचित्र घटना ने उनके जीवन की दिशा मे एक नवीन तथा सुखकर मोड उत्पन्न कर दिया। वह घटना थी अपने ही ग्राम के किसी सम्पन्न व्यक्ति के कन्या विवाह मे समागत वरपक्षीय विद्वान् का इनके द्वारा शास्त्रार्थ मे पराजय। वरपक्षीय विद्वान् को इस घटना से बडी चोट पहुँची तथा वे नितान्त खिन्न तथा म्लानमुख होकर बारात मे बैरग लौट गये। प० रामनिरञ्जन मिश्र को भी इस घटना ने उद्वेलित कर दिया और वे भी आधी धोती ओढे हुए घर छोडकर एकान्त विरक्त होकर हथुआ चले आये। हथुआराज के तत्कालीन शासक राजा छत्रधारी शाही ने मिश्रजी को अपने राजमहल मे आश्रय दिया और उनसे भारतीय धर्म तथा वेदान्त की शिक्षा ग्रहण करना आरम्भ किया। राजमाता काञ्चनकुमारी पुत्र के इस मद्व्यवहार मे अधिक प्रसन्न हुई और वह भी मिश्रजी को अपना गुरु बनाकर अध्यात्म तथा पुराण की शिक्षा विधिवत् लेने लगी। सस्कृत विद्यालय मे भी पण्डितजी को अध्यापक बना दिया गया जहाँ उनकी कीर्ति सुनकर दूर दूर से छात्रगण विद्याध्ययन के लिए आने लगे। इस प्रकार छात्रो को विद्यादान देते हुए पण्डितजी ने लगभग बीस साल हथुआ मे बिताये। राजा साहब बडे ही शास्त्ररसिक थे। पण्डितजी से वे नियमित रूप से वेदान्त का श्रवण तथा मनन करते थे। परन्तु रामनिरजनजी का विरक्त मन इस अध्यापन की वृत्ति से ऊब गया और अपने वैराग्य की पूर्णता के लिए काशी के लिए मचलने लगा। हथुआनरेश ने वेदान्तशिक्षण के लिए मिश्रजी से दक्षिणा माँगने को कहा। इस पर उन्होने काशीवास करने की तथा सन्यास लेने की राजा से दक्षिणा माँगी। राजासाहब ने मिश्रजी की बात तो मान ली, परन्तु एक ही शर्त पर, कि वे यावज्जीवन उन्ही की भिक्षा ग्रहण करेगे। पण्डितजी ने इसे स्वीकारा और काशी आकर सन्यासी बन गये। तब उनका दीक्षा-नाम तो पडा **महादेवाश्रम**, परन्तु लोकप्रिय गृहस्थ नाम की इतनी ख्याति थी कि सब लोग इन्हे **रामनिरंजन स्वामी** के नाम से ही पुकारते रहे। काशी मे रहकर ये हथुआनरेश की ही प्रधानतया भिक्षा ग्रहण करते थे। उन्ही की ओर से इनके जीवनयापन की सम्पूर्ण सुखद व्यवस्था की गई थी। काशी मे स्वामीजी ४८ वर्षो तक दण्ड धारण करते रहे। राजा-महाराजाओं के द्वारा सत्कृत तथा पूजित होते रहे, विशेषत काशीनरेश ईश्वरीप्रसादनारायण सिह तथा उनके अनुज नरनारायण बाबू के द्वारा। स्वामीजी को वि० स० १९२७ (=१८७० ई०) के मार्गशीर्ष अमावस्या के दिन शिवसायुज्य प्राप्त हुआ। उस समय उनकी आयु ८५ साल की थी। फलत उनका जन्म वि० स० १८४२ (१७८५ ईस्वी) मानना उचित प्रतीत होता है।

इस विषय मे रघुवीर पण्डितजी का कहना है (श्लोक ६५)—

नागद्व्यङ्कमहीमिते क्षितिपतेः श्रीविक्रमस्याब्दके
मार्गे दर्शतिथौ शिवत्वमगमत् सच्चिन्मुदात्मप्रभुः।

स्वामीजी की निर्वाणतिथि (अगहन की अमावस्या) को अनेक वर्षों तक महाराजा-रामनगर प्रतिवर्ष अपने किला मे सन्यासियो का भण्डारा किया करते थे। स्वामीजी की पावन स्मृति मे ऊपर तत्कालीन पत्रो की सहायता से दिखलाया गया है कि स्वामीजी छत्रधारी शाही की ही प्रधानतया भिक्षा ग्रहण करते थे। काशी की दिव्य विभूति थे श्री रामनिरजन स्वामीजी जिनकी यह प्रशस्ति यथार्थ है

अभूदभूतप्रतिमस्तपस्वी स्वधर्मकर्माभिरतो यशस्वी ।
काशीनरेशादि-महीप-पूज्यो यतीश्वरो रामनिरञ्जनाख्य. ॥

स्वामीजी का ग्रन्थ

स्वामीजी के मुद्रित ग्रन्थ का नाम है – **पञ्चाक्षरीभाष्यप्रकाशिका**। यह पद्मपादाचार्य-रचित **पञ्चाक्षरीभाष्य** का विशदार्थप्रतिपादक एव अद्वैतवेदान्त के गूढ सिद्धान्तो का रोचक विवेचक व्याख्याग्रथ है। मूल मे तो केवल २३ ही अनुष्टुप् है, परन्तु इसकी व्याख्या के प्रसग मे स्वामीजी ने अद्वैत के खण्डनकर्ताओं के मतो का निरसन बडे कौशल एव युक्तियो के सहारे किया है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से अद्वैत वेदान्त के समस्त तत्त्वो का ज्ञान भली भाँति हो जाता है। सस्कृतभाषा मे निबद्ध ग्रन्थ की शैली बडी ही आवर्जक एव आकर्षक है। लब्धकीर्ति अद्वैताचार्यो की प्रख्यात रचनाओं मे यह अपनी प्रौढता तथा प्रामाणिकता के कारण स्थान पाने की क्षमता रखता है। इसके अनुशीलन से रामनिरजन स्वामी के उत्कट वैदुष्य का परिचय पदे पदे मिलता है। हथुआनरेश कृष्णप्रताप शाही ने स्वामीजी के निर्वाण के अनन्तर बडे परिश्रम से इसे प्राप्त किया, और इसे मुद्रित कर जिज्ञासु पण्डितो मे इसका वितरण किया। इसका मुद्रण अम्बिकाचरण चट्टोपाध्याय ने अपने अमर यन्त्रणालय मे १८८७ ई० मे काशी मे किया। राजा कृष्णप्रतापजी सस्कृत के प्रेमी, यज्ञानुष्ठानो के कर्ता तथा विद्यारसिक नरेश थे। १८८५ ई० मे उन्होने काशी मे बडा ही विशाल यज्ञ किया था जिसका वर्णन रघुवीर पण्डित ने इस ग्रन्थ के आरम्भ मे किया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ का प्रकाशन स्वामीजी की मृत्यु के १७ साल पीछे हुआ। इस ग्रन्थ के पुनर्मुद्रण की आवश्यकता है।

स्वामीजी के सेवक

स्वामीजी का यह विवरण उनके पट्टशिष्य एव नैष्ठिक सेवक **पण्डित जगन्नाथ पाण्डेय** के परिचय के बिना अधूरा ही रह जायगा। फलत पाण्डेयजी का भी सक्षिप्त परिचय दिया जाता है। उनकी सेवा की चर्चा तो ऊपर की जा चुकी है। वे स्वामीजी के एकान्त भक्त थे और उन्होने उन्ही के चरणो मे समर्पित जीवन बिताया। वे सस्कृत के अच्छे पण्डित थे। स्वामीजी के कैलासवासी हो जाने के तीस वर्ष बाद उन्होने १६०१ ई० मे गायघाट पर अग्निष्टोम यज्ञ किया। यह यज्ञ १६ जून से आरम्भ होकर २३ जून को समाप्त हुआ। इसके मुद्रित निमन्त्रण पत्र को लेखक ने देखा है। इसके आरम्भ मे स्वामीजी की इन शब्दो मे स्तुति है—

श्रीमत्परमहंसार्य-परिव्राजक-पूजितः ।
जयति स्म पुरा रामनिरञ्जनयतीश्वरः ॥

अपने विषय मे पाण्डेयजी का कथन है—

शिष्यस्तदीयो गुरुपादभक्तः पाण्डे जगन्नाथ इति प्रतीतः ।
धृताग्निहोत्रः पुरि काशिकायां गोघट्टवासी विनयाऽवनम्रः ॥

यह यज्ञ बड़े समारोह के साथ सम्पन्न हुआ था। इसमे समग्र वैदिक विधानो का यथावत् अनुष्ठान किया गया था। पाण्डेयजी ने इसे स्वामीजी की सेवा का परिणत फल माना है। वे स्वय अग्निहोत्री थे। फलत अग्निष्टोम के पूरे अधिकारी थे। उनके कुल मे इस यज्ञ के चार वर्षो के बाद एक दूसरा भी **अग्निष्टोम यज्ञ** हुआ १९०५ ई० मे, जिसका सम्पादन **जगन्नाथ पाण्डेय** के जेठे पुत्र अग्निहोत्री शीतलाप्रसादजी ने किया था। यह यज्ञ १९६३ विक्रमी स० चैत्र शुक्ल द्वितीया से आरम्भ होकर चैत्र शुक्ल सप्तमी तक (तदनुसार ६ अप्रैल १९०५ ई० से लेकर ११ अप्रैल तक) निर्विघ्न चल कर समाप्त हुआ था। इस प्रकार स्वामीजी के सेवक ही स्वय अग्निहोत्री न थे, अपितु उनके पुत्र भी अग्निहोत्री थे। दोनो ने इस महनीय यज्ञ का सम्पादन कर वैदिक कर्म का यथेष्ट निष्ठापूर्वक विधान किया था। यह वश आज भी है और उसमे ब्राह्मण-आचार-विचार का निष्ठापूर्वक पालन होता है। इस वश मे स्वामीजी का हाथ से बना एक प्राचीन चित्र भी है जिसकी नित्य पूजा होती है।

पण्डित विश्वेश्वरदत्त पाण्डेय

स्वामी महादेवाश्रम के शिष्य थे जिसका उल्लेख इन्होने अपने ग्रन्थ मे किया है। 'हरसूब्रह्म' बिहार प्रान्त के रोहतास मण्डल के चैनपुर गाँव के निवासी ब्राह्मण थे जिन्होने वहाँ के शासक राजा के अत्याचारो से पीडित होकर अपने जीवन का बलिदान कर दिया। अत वे ब्रह्मरूप मे माने जाते है और दूर-दूर के लोग पुत्र कामना, रोगनिवृत्ति, दारिद्र्यनिवारण आदि भौतिक दु खो की निवृत्ति के लिये पूजन के निमित्त आते है और मनोरथ पूर्ण होने पर विशेष अर्चना करते है। इसी ब्राह्मण के वशज रघुवर पण्डित के पुत्र प० रामहर्ष पाण्डेय इनके पिता थे। ये काशी मे ही रहते थे तथा स्वामी महादेवाश्रमजी के विशेष कृपापात्र थे। इनकी दो स्तुतिपरक सस्कृत रचनाये है—(१) **रामनाममाहात्म्य** तथा (२) **पतितपावन-स्तोत्र**। काशी के करनघटा मुहल्ले मे स्थित 'आर्ययन्त्रालय' मे ये ग्रन्थ विक्रम स० १९३८=१८८१ ईस्वी मे मुद्रित हुये थे। इन्होने ग्रन्थ मे अपने को भागवताध्यापक लिखा है जिससे इनका कथावाचक व्यास होना सिद्ध होता है। स्तोत्रो के श्लोक सुन्दर एव भक्तिपूरित है। प्रथम स्तोत्र मे 'कलौ केवल राजते रामनाम' यही प्रत्येक पद्य का सर्वत्र चतुर्थ चरण है। यथा—

हनूमान् स्वरोमावलीकोटिभिर्यज्जपन् यद्यश.स्तोमपीयूषपानम् ।
पिबत्यात्मकर्णेन सर्वं विहाय कलौ केवल राजते रामनाम ॥

अन्तिम पद्य मे अपने गुरुजी का नाम्ना उल्लेख किया है—

काश्या सदैव गोघट्टतटे स्फुटमकण्टकम् ।
महादेवाश्रम-स्वामिश्रीगुरोश्चरणाम्बुजम् ॥ १४१ ॥

इधर स्वामीजी के विषय मे नवीन वृत्त प्राप्त हुआ है जिससे अनेक नूतन तथ्य प्रकाश मे आये हैं। स्वामीजी उत्तर प्रदेश के ही आजमगढ मण्डल के सिकन्दरपुर परगना के अन्तर्गत तुरकी ग्राम के निवासी घृतकौशिक गोत्री यजुर्वेदी पण्डित रामधन मिश्र के पौत्र तथा हरिनारायण दत्त मिश्र के पुत्र थे, जन्म सवत् १८३३ विक्रमी। बाल्यावस्था मे ही इनका विवाह हुआ, परन्तु पत्नी का शीघ्र ही निधन हो गया। १६ वर्ष के वय तक अपने पितामह से ही सस्कृत का अध्ययन किया। काशी आने पर इनके ज्ञान मे प्रौढता आयी जब इन्होने **बालं भट्ट** के पास **प्राणनाथ आचार्य** से सपरिष्कार व्याकरण का तथा अहोबल शास्त्री से दर्शनो का, विशेषकर अद्वैत वेदान्त का अध्ययन किया। छेदू मिश्र नामक एक वादीन्द्र पण्डित को शास्त्रार्थ

में जीत कर विपुल कीर्ति अर्जित की। महाराजा हथुआ के आग्रह पर इन्होंने उनके विद्यालय में बारह वर्ष तक अध्यापन किया तथा उमादत्त त्रिपाठी और सीताराम द्विवेदी जैसे विद्वानों को तैयार किया। राजा के किसी विवाह में अपने गुरुवर्य प्राणनाथ आचार्य से भेंट करने आये और वहीं 'ब्राह्मण-प्रशंसा' के विषय में चार घंटों तक विशुद्ध संस्कृत में भाषण करके इन्होंने विद्वनमण्डली को चमत्कृत कर दिया। मझौली के राजा अजित मल्ल सिंह ने इन्हें दक्षिणा के रूप में दो गाँव दिये। पिता की मृत्यु के अनन्तर ये उनका गयाश्राद्ध निष्पन्न कर नितान्त विरक्त हो गये और काशी में ही **पूर्णानन्द स्वामी** से संन्यास दीक्षा ली। स्वामीजी के विषय में पण्डित बेचनराम त्रिपाठी तथा पण्डित शीतल प्रसाद त्रिपाठी ने लेख लिखा था जो काशी विद्या सुधानिधि के १८७३ ई० के जनवरी अक में प्रकाशित हुआ था। इसी के आधार पर यह नवीन वृत्त वर्चित किया गया है।

श्री रामनिरञ्जन स्वामीजी का १९२९ विक्रमी (१८७२ ई०) में काशीवास हो गया। शास्त्रीय पाण्डित्य तथा आध्यात्मिक साधना में ये अपने युग के अलौकिक मनीषी विद्वान् थे।





श्री स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती

६७

श्री स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती

श्री स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती गत शताब्दी मे काशीस्थ सन्यासियो मे अपनी अलौकिक वैदुषी, नूतन कल्पनामयी शमुषी तथा लोकातीत योगविद्या के प्रभाव से शीर्षस्थान पर विराजमान थे। उन्होने बडी दीर्घ आयु पाई थी। जन्म तो उनका हुआ था गत शताब्दी के प्रथम चरण के अन्तिम वर्षो मे, और उनका कैलासवास हुआ था शताब्दी के अन्तिम वर्ष। इस सुदीर्घकाल मे उन्होने अनेक प्रौढ शिष्यो को तैयार किया जिन्होने भारतीय दर्शन की विभिन्न शाखाओं मे—विशेषकर अद्वैतवेदान्त एव मीमासा मे—विशेष प्रौढि प्राप्त कर उन शास्त्रो के परिवर्धन तथा विकास मे विशेष योगदान दिया। उनके जीवन की महनीय उपलब्धि थी आर्यसमाज के विख्यात सस्थापक **स्वामी दयानन्द सरस्वती** के ऊपर अपनी विद्वत्ता की धाक [illegible]कर उस ऐतिहासिक शास्त्रार्थ मे विजयश्री का वरण। इस एक ही घटना ने स्वामी विशुद्धानन्दजी का नाम भारतीय धार्मिक जनता के हृदय मे सदा-सर्वदा के लिए अकित कर दिया। इन्ही स्वामीजी के जीवन की एक दिव्य झाँकी हम विज्ञ पाठको के सामने प्रस्तुत कर रहे है।

वंश तथा जन्म

उत्तरप्रदेश के सीतापुर मण्डल के वीड़ी नामक ग्रामवासी स्वामीजी का जन्म एक मध्यमवर्गीय सनातनधर्मी कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। पिता का नाम था सगमलाल शुक्ल। वे स्वभाव से भगवान् सदाशिव महादेव के अनन्य उपासक थे। उन्ही की धर्मपत्नी की कोख से १७४२ शाके (१८२० ई०) मे स्वामीजी का आविर्भाव हुआ था। बाल्यकाल का इनका नाम था **वंशीधर**। ये बाल्यकाल मे बड़े ही हृष्ट-पुष्ट शरीर के चपल शिशु थे। इनका जन्म इनके ननिहाल में हुआ था। इनके नाना लक्ष्मी के कृपापात्र थे। इनके मामा पण्डित लक्ष्मीधर शर्मा हैदराबाद के निजाम की सेना मे एक वरिष्ठ अधिकारी थे। बालक की तीव्र बुद्धि तथा अलौकिक व्यवहार को प्रत्यक्ष करने वाले स्थानीय लोग इन्हें योगभ्रष्ट व्यक्ति मानने लगे थे।

दक्षिण हैदराबाद से पश्चिम तथा गुलवर्गा से उत्तर दिशा में अनुमानतः बीस कोस की दूरी पर कल्याणी नामक प्रख्यात नगर है। वहाँ के शासक हैदराबाद के नवाब के अधीन थे तथा ओहदा में न्यून होने पर भी वे भी नवाब ही कहलाते थे। उन्हीं के सैनिक रूप में अवध के कान्यकुब्ज ब्राह्मण वही नौकरी करते थे। ये चार भाई थे जिनमें द्वितीय भ्राता सबसुखराम बड़े बुद्धिमान् तथा चतुर व्यक्ति थे। स्वामीजी के पिता संगमलाल शुक्ल नौकरी की तलाश मे घर से निकले और वही कल्याणी में पहुँच गये। वहीं नवाब के पास ही सेना के सिपाही के यहाँ नौकरी उन्हें मिल गई परन्तु वे पूर्वनिर्दिष्ट कान्यकुब्ज परिवार के साथ ही रहते थे। उस परिवार की एकमात्र कन्या थी जिसका नाम यमुना था। भाइयों ने इन्हीं यमुना देवी से संगमलालजी का विवाह कर दिया और ये दम्पती सुख से वही रहने लगे। इनको दो

सन्तानें हुईं परन्तु बाल्यकाल मे दिवगत हो गईं। वशीधरजी भगवान् शकर की आराधना के फलरूप उत्पन्न हुये, परन्तु आरम्भ मे शरीर से दुर्बल थे। जब ये तीन साल के थे, तभी एक विचित्र घटना घटी। नवाब का कोई राजपूत सैनिक सग्राम मे कही मर गया था। उसकी पतिव्रता पत्नी वही सती होने जा रही थी। अपनी भावजो के कहने पर यमुना ने भी वशीधर को चिता की परिक्रमा कराने तथा सती का आशीर्वाद लेने को भेजा। सती होनेवाली पतिव्रता ने बालक को गोद मे उठा लिया और आशीर्वाद दिया जिससे इनकी व्याधि दूर हो गई। इनका जन्म १८२० ईस्वी मे कृष्ण जन्माष्टमी की ठीक अर्धरात्रि मे कल्याणी मे हुआ। ये १८३६ ई० मे कल्याणी से तीर्थाटन के लिए उत्तराखण्ड गये। यात्रा मे दस वर्ष व्यतीत किया। अनन्तर १८५० ई० मे काशीधाम मे विद्या तथा सन्यास की प्राप्ति के लिए आ गये।

बाल्यकाल मे एक ऐसी घटना घटी जिससे इनकी योगभ्रष्टता का प्रमाण लोगो को मिलने लगा। जब ये तीन चार साल के ही थे, तब इन्हे अपस्मार रोग हो गया। इस आकस्मिक रोग के निवारण के लिए माता-पिता तथा बन्धुजनो ने बडा उद्योग किया, बडे कुशल चिकित्सको से चिकित्सा कराई, परन्तु रोग मे ह्रास नही हुआ। तब इन्होने अपने पिता से कहा—"पिताजी, मेरे रोग का निवारण किसी औषध से नही होगा, कुटिया के ऊपरी खण्ड मे रखी हुई पुस्तक को देखने से मेरा यह रोग निवृत्त हो सकेगा।" पिताजी ने खोज की परन्तु पुस्तक मिली नही। तब उन्होने इसे प्रलाप मानकर उसकी अवहेलना की और किसी प्रकार बालक के रुग्णावस्था मे ही दिन बीतने लगे। कुछ समय बाद एक विचित्र घटना हुई। कल्याणी से दस कोस उत्तर दिशा मे 'औरात' नामक ग्राम है। गॉव के पास कीर्णा तथा मञ्जीरी नामक नदियो के सगम पर वसन्तकाल मे मेला लगता था। उस साल भी वह मेला वहाँ लगा। उसमे जाने के लिए बालक ने बडा हठ किया। फलत इनके मामा इन्हे उस पवित्र सगमस्थल पर ले गये तथा स्नानादि करने के बाद तीर पर ही एक कुटिया मे रहने वाले योगीश्वर के आश्रम मे जब जाने लगे, तब यह बालक वहाँ स्वय भी जाने के लिए आग्रह करने लगा। मामा बालक को लेकर उस आश्रम मे गये, बालक ने उस आश्रम के सन्यासीजी को प्रणाम किया और कहने लगा—"इस कुटिया के ऊपर मेरी पुस्तक रखी हुई है। उसे मँगवाइये, तब मेरा रोग हट जाएगा।" आदमी उसे खोजकर ले आया। वह पोथी जो कपडे के बेठन मे बँधी थी, बालक को दी गई। बालक उसे अपने हाथ मे लेकर बोल उठा—'बस अब मेरा रोग हट गया। अब मै भला-चगा हो गया।' मठ के स्वामीजी इस घटना को देखकर अचभित हुए और विश्वास-भरे शब्दो मे कहा कि "यह बालक हो न हो इस मठ का अधिपति मेरा गुरु है। तीन साल पूर्व मेरे गुरुजी का यही स्वर्गवास हुआ था। मृत्यु के कुछ दिन पूर्व ही वह कहा करते थे —'कुटिया के ऊपर गीता की मेरी पोथी रखी हुई है। उसे ले आओ। उसके दर्शन से ही मै रोगमुक्त हो जाऊँगा।' पुस्तक बहुत परिश्रम से खोजने पर भी न मिल सकी। आश्चर्य है कि वही पुस्तक आज मिल गई। इस बालक को इस तथ्य की स्मृति आज भी जागरूक रही। फलत यह मेरे गुरुजी का अवतार है। गृहस्थी मे तो यह रहेगा ही नही। यह कोई विशिष्ट मनीषी महात्मा होगा। आप लोग इसकी विधिवत् सेवा करे।"

सैनिक-वृत्ति

माता-पिता बालक को लेकर घर लौटे, परन्तु उनके भाग्य मे इस बालक के अलौकिक चरित्र देखने का सुयोग नही था। सातवे साल मे पिता तथा ११वे साल मे माता—वे दोनो अपने भविष्णु आत्मज को मातुल के सरक्षण मे देकर स्वय स्वर्गवासी हो गये।

बालक के मामा स्वय सेना के वरिष्ठ अधिकारी थे। उन्होंने अपने भांजे को उसी सैनिक-सेवा के लिए तैयार करने की अभिलाषा से उसकी शारीरिक शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया। अश्वारोहण, खड्ग-सञ्चालन आदि के शिक्षण के साथ ही व्यायाम पर अत्यधिक बल देने पर बालक का शरीर बड़ा ही हृष्ट-पुष्ट हो गया। १८ वर्ष के वय में मामा वंशीधर को अपने साथ हैदराबाद ले गये और वही निजाम की सेना में इन्हें किसी सैनिक पद पर नियुक्त करा दिया।

वशीधर को भौतिक सौख्य की सब सामग्री उपलब्ध थी। मामा ऊँचे पदाधिकारी थे। कमी ही क्या हो सकती थी ? परन्तु इनका मन उस कार्य से उचट गया। ये जगलों में प्राय: जाकर एकान्त-चिन्तन किया करते थे। फलत जन्मान्तर की सुप्त विरक्त भावना अवसर पाकर प्रबुद्ध हो उठी। नवाब की नौकरी छोड़ कर ये तीर्थों में विद्वानों तथा विरक्त महात्माओं के दर्शन के लिए हैदराबाद से उत्तर की ओर चल निकले।

स्वामीजी की उत्तराखण्ड की यात्रा

पण्डित वशीधर शुक्ल माता-पिता की मृत्यु के अनन्तर नवाब की सेना से अपने को मुक्त कर विरक्त भाव से एकदिन अपने घर से निकल पडे। ये प्रसिद्ध तीर्थ तथा विद्यानगरी, गोदावरी के तटपर स्थित नासिक पहुँच गये। उस समय उनकी उम्र १७ वर्ष की थी। तेरह वर्ष तक यहाँ वेदो का गभीर अध्ययन किया। अनन्तर ये उत्तराखण्ड की यात्रा के लिए आगे बढ़े। उस युग मे यह स्थान डाकू तथा ठगो से भरा हुआ था। रास्ते में इनको एक ठग ने जहर खिला दिया। मरने की नौबत आई परन्तु उसी जगह एक पटेल के उद्योग से बच गये। नर्मदा के प्रसिद्ध तीर्थ 'ॐकारनाथ' पहुँचे। यही किसी ब्राह्मण ने अपनी चार पुत्रियों की शादी के लिये प्रार्थना की। इनके मित्र गंगाधर राव नामक आर्थिक धनाढ्य व्यक्ति थे। उनकी सहायता से उस ब्राह्मण के मनोरथ की सिद्धि की। पश्चात् ये उज्जैन गये। वहाँ से ग्वालियर होते हुए ये बिठूर पहुँचे जहाँ उस समय अन्तिम पेशवा निवास करते थे। इन्हीं दिनों अन्तिम पेशवा पूना के अनेक पण्डित जनो तथा सभासदो, वरिष्ठ मन्त्रियों के संग में बिठूर में ही रहते थे। यही रहकर वशीधरजी ने श्रीराघवेन्द्राचार्य नामक पण्डित से व्याकरण का अध्ययन शुरू किया और तीन वर्षों में ही इन्होंने पाणिनीय व्याकरण के भाष्यान्त ग्रन्थों का विधिवत् अध्ययन तथा मनन किया। बिठूर से चलकर ये हरिद्वार के मार्ग से बदरिकाश्रम गये। भगवान् बदरीनाथ का दर्शन कर ये उसी रास्ते से लौट आये और तीन वर्ष हरिद्वार में निवास कर कठिन तपस्या द्वारा अपने को सन्यासी-जीवन के लिए तैयार कर लिया। १८३६ ई० में ये कल्याणी से चले थे और ११ वर्ष में उत्तराखण्ड की यात्रा पूरी कर १८५० ई० मे काशी आ गये।

स्वामी जी : काशी में

काशी प्राचीनकाल से विद्या का केन्द्र रही है और अध्यात्मविद्या के शिक्षण तथा अनुसन्धान के लिए इससे बढ़कर भारतवर्ष मे कोई भी विद्यापीठ नही है। मध्ययुग में काशी के संन्यासियों ने अपने विमल चरित्र एवं प्रामाणिक रचना के द्वारा समस्त भारतवर्ष के संन्यासियों के लिए एक अनुपम आदर्श प्रस्तुत किया जो नितान्त अनुकरणीय तथा श्लाघनीय है। ब्रह्मचारी वंशीधर शुक्ल ने इसीलिए संन्यास आश्रम में दीक्षा लेने के लिए काशी के निमित्त हरिद्वार से प्रस्थान किया और चार महीनों में पैदल यात्रा कर काशी आये। उन्होंने सुन रखा था कि काशी में दशाश्वमेधघाट के समीप ही अहिल्याबाई घाट पर इस युग के

नितान्त विश्रुत तथा मनीषी विद्वान् सन्यासी श्री गौड स्वामी निवास करते हैं। वे उस समय के काशीस्थ सन्यासियों में शीर्षस्थान पर विराजमान माने जाते थे। उनकी विद्या-बुद्धि उन्हें लोकातीत वैदुष्य से मण्डित करती हुई विद्वज्जनों के हृदय में दृढ भक्ति तथा गाढ अनुराग उत्पन्न करती थी—

शास्त्रेषु प्रतिबुद्धधीर-धिषणः सिद्धान्तदीक्षागुरु-
वैराग्योज्ज्वलदीप-दीप्तमहसा रागं तमो ध्वंसयन् ।
आत्मन्यात्मसमीक्षणव्यसनिना योगेन भास्वद्वपुः
साक्षादिन्दुललाटमूर्तिरनिशं भस्माङ्कभालस्थलः ॥

यह पद्य उनके विशाल व्यक्तित्व तथा अद्भुत अध्यात्म-ज्ञान के सामान्य आभास का द्योतन कर रहा है। वे योगिराज भगवान् शङ्कर के ही भास्वान् विग्रह थे।

वशीधरजी को देखकर तथा उनका परीक्षण कर गौड स्वामी ने उन्हे खरा सोना पाया और सन्यासाश्रम मे दीक्षित होने की उनकी अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए वे उद्यत हुए। शुभमुहूर्त मे दीक्षा का यह पुण्यमय कार्य सम्पन्न हुआ। ब्रह्मचारी वशीधर अब दीक्षित होने पर विशुद्धानन्द सरस्वती के नूतन अभिधान से प्रसिद्ध हुए। दर्शन के मार्मिक विद्वान् गौड स्वामी ने विशुद्धानन्दजी को दर्शन के नाना सम्प्रदायो का विधिवत् अध्ययन कराया। योगमार्ग के पथिक विशुद्धानन्दजी की बुद्धि बड़ी तीव्र तथा तलस्पर्शिनी थी। कुछ समय के अध्ययन से वे नाना शास्त्रो मे—विशेषत मीमासा तथा अद्वैतवेदान्त मे—नितान्त निष्णात हो गये। इन शास्त्रो के चूडान्त ग्रन्थो का उन्होने आलोडन तथा अनुशीलन किया और गुरुजी के आदेश से वे श्रद्धालु छात्रो को इन गम्भीर शास्त्रो का अध्यापन भी करने लगे। इनकी विपुल कीर्ति से आकृष्ट होकर अन्य प्रान्तो से भी छात्र यहाँ आने लगे और स्वामीजी के उपदेश तथा शिक्षण से प्रौढ विद्वत्ता के अधिकारी बन गये। समय बीतते देर नहीं लगती। गौड स्वामीजी नितान्त वृद्ध थे ही। १९१६ विक्रमी (१८५९ ई०) मे वे कैलासवासी हो गये। उस समय विशुद्धानन्दजी अपने वैदुष्य, तपस्या तथा प्रभाव के चरम उत्कर्ष पर पहुँचे थे। गुरुजी की रिक्त गद्दी पर अभिषिक्त होकर ये विराजने लगे। गुरु के स्थान पर मठ का अधीश्वर बन कर गुरुजी की विद्या-परम्परा को आगे बढ़ाने का सुयोग्य प्राप्त कर लेना विशुद्धानन्दजी के जीवन के पूर्वार्ध की चरम परिणति थी।

स्वामीजी का सार्वभौम प्रभाव

विशुद्धानन्द स्वामी अलौकिक विद्वान् होने के अतिरिक्त सिद्ध महायोगी थे। उनके यहाँ सरस्वती तथा लक्ष्मी का नैसर्गिक विरोध शान्त हो गया था। जितने बड़े ये विद्वान् थे उतने बड़े लक्ष्मी के कृपापात्र भी थे। चञ्चला लक्ष्मी प्रतीत होता था इनके यहाँ अपनी चपलता को त्याग कर स्थिरता धारण कर बैठी हुई है। यह वैभव अयाचित था, अप्रत्याशित था। उत्तरभारत के राजा-महाराजा उनके चरणों की सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त कर अपने को धन्य मानते थे, अपने जीवन को कृतार्थ समझते थे और उनसे मन्त्रदीक्षा लेकर शिष्य बनने में अपना गौरव-बोध करते थे। उत्तरभारत के समग्र प्रख्यात नरेश उनके मठ मे समय-समय पर सेवाकार्य के लिए आते थे। स्वामीजी का सचमुच दरबार लगा करता था। द्वार पर चोबदार अपनी ड्यूटी बजाता था। कोई भी आगन्तुक तथा दर्शनार्थी—चाहे वह सामान्यजन हो या धनकुबेर नरेश हो—बिना उनकी आज्ञा के प्रवेश नही पा सकता था। स्वामीजी स्वयं राजसी ठाट-बाट से घिरे रहते थे, परन्तु इनके हृदय में विषयों के प्रति तनिक

भी आकर्षण नही था। ये परम वैराग्य के अधिकारी पुरुष थे—विषयानुरक्ति से कोसों दूर, लौकैषणा के स्पर्श से वर्जित, परन्तु थे वे धनाढ्य भक्तजनों के आग्रह से साजसज्जा के आवरण को आपातत स्वीकार करने वाले महनीय सन्त पुरुष।

स्वामीजी की बिरक्ति

एक विचित्र घटना का उल्लेख उनकी मनोवृत्ति का साक्षात् परिचायक माना जा सकता है। एक बार हथुआ के महाराजा कृष्णप्रताप शाही स्वामी विशुद्धानन्दजी के स्थान पर दर्शनार्थ आये। परन्तु इन्हे बेशकीमत शय्या पर बैठे, सोने-चाँदी के बरतनो से घिरा हुआ देखकर उनके मन मे बडा ही कौतूहल जागा। ऐं, स्वामी होकर इतना ठाट-बाट !!! उन्होने अपने राजसी अभिमान के वशीभूत होकर पूछ ही तो डाला, "स्वामीजी महाराज, स्वामियो का धर्म तथा कर्तव्य क्या है ?" विशुद्धानन्दजी का इस बेहूदे सवाल पर रज होना स्वाभाविक था। इन्होने चोपदार को जोरो से पुकारा और कहा कि इस राजा को कान पकड़ कर हमारे मठ से बाहर निकालो। हथुआ महाराज इस आदेश को सुनते ही स्वामीजी को प्रणाम कर उलटे पाँव तुरन्त लौट आये। वे काशीनरेश प्रभुनारायण सिह के पास गये और अपनी गलती कह सुनाई और स्वामीजी को मनाने की बात उनसे पूछी। काशीनरेश (जो हथुआ महाराज के सजातीय ही नही, अपितु सम्बन्धी भी थे) ने उन्हे बताया कि स्वामीजी बड़े दयालु हैं। ऐसा उ... ेंग सवाल तो उनसे पूछना नही चाहिए था आपको। आप स्वय आदेश लेकर जाइए और उनसे क्षमा माँगिये। वे अवश्य क्षमा कर देगे।

दूसरे दिन हथुआनरेश स्वामीजी का आदेश लेकर उनके पास गये और अपने दुर्व्यवहार के लिए क्षमा माँगी। विशुद्धानन्दजी ने बड़े सरलभाव से कहा—"राजा साहब, मेरे भक्त लोग ये उपहार मुझे दे जाते है और उनकी इच्छा रखने के लिए ही मुझे इन्हे व्यवहार मे लाना पड़ता है। यदि ऐसा न करूँ, तो उन्हे क्लेश होता है, परन्तु मेरा मन इसमे तनिक भी नही रमता। मेरे लिए तो हाथ की हथेली ही पात्र है और बिस्तर से विहीन भूमि ही मेरे लिए सेज है। आपका पूछना उचित ही था। मै आपसे अप्रसन्न नही हूँ।"

हथुआनरेश इस समुचित उत्तर से बड़े ही प्रभावित हुए और उन्होने स्वामीजी की मनोवृत्ति के सच्चे रूप का परिचय पाया। वे स्वामीजी के केवल प्रशसक ही नही बने, अपितु उन्होने उनका आज्ञाकारी शिष्य बनने मे अपना अहोभाग्य माना।

स्वामीजी की शिष्यमण्डली

स्वामीजी महाराज की शिष्यकोटि मे अन्तर्भुक्त होने वाले राजाओं मे काश्मीर, ग्वालियर, इन्दौर, बूँदी, मिथिला तथा जयपुर के नरेशो के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सब शासक लोग विशुद्धानन्दजी को अपना दीक्षागुरु ही नही मानते थे, अपितु व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक उभय प्रकार की समस्याओं के समाधान के लिए भी इनके उपदेश तथा परामर्श को अपना मार्गदर्शक स्वीकारते थे। जम्बू-कश्मीर के महाराज प्रतापसिंह तथा मिथिलानरेश लक्ष्मीश्वर सिंह ने स्वामीजी से इनके मठ के खर्च के लिए विशेष द्रव्य लेने के लिए आग्रह किया, परन्तु इन्होंने वह द्रव्य लेना अस्वीकार कर दिया और काशी में सस्कृत-विद्यालय की स्थापना के लिए उस द्रव्य के उपयोग का आदेश दिया। दोनो राजाओं ने अपने अलग-अलग विद्यालयों की स्थापना स्वामीजी की आज्ञा से कर दी। काश्मीरनरेश ने रणवीर-संस्कृत-पाठशाला की स्थापना की जो आज हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत स्थित होकर विशेष उन्नति कर रहा है। दरभंगानरेश ने दरभंगा-संस्कृत-पाठशाला नामक एक बड़े ही सुव्यवस्थित विद्यालय की

स्थापना की जिसमें महामहोपाध्याय पण्डित शिवकुमार शास्त्रीजी आजीवन अध्यापक रहे तथा म० म० दामोदर शास्त्रीजी एवं म० म० तात्या शास्त्रीजी भी गवर्नमेण्ट संस्कृतकालेज में नियुक्ति के पूर्व तक अनेक वर्षों तक छात्रों का अध्यापन करते थे। किसी समय में प्रथम श्रेणी का यह विद्यालय आज उपेक्षित दशा में अपने दिन काट रहा है।

काशीनरेश प्रभुनारायण सिंह भी विशुद्धानन्दजी के अनन्य सेवक थे तथा इनके धार्मिक आदेशों का विधिवत् पालन करते थे। वे संस्कृत भाषा तथा साहित्य के भी बहुत ही अच्छे जानकार थे। उनकी सुन्दर समस्यापूर्तियाँ भी संस्कृत की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती थीं। उनकी रूपकमयी रचना 'पार्थपाथेय' के नाम से प्रकाशित है तथा विद्वानों में समादृत है। अवध-मण्डलान्तर्गत 'सिसेंडी' राज्याधिपति योगीन्द्र त्रिपाठिवंशावतंस राजा चन्द्रशेखर त्रिपाठी स्वामीजी के द्वारा योगविद्या में दीक्षित होकर उच्चकोटि के योगाभ्यासी हो गए थे। वे हिन्दी में कविता भी करते थे। स्कन्दपुराण के उत्तरखण्ड में उमा-महेश्वर-संवाद रूप में २७३ पद्योंवाली गुरुगीता पर्याप्त प्रसिद्ध है जिसमें गुरु की अलौकिक महिमा का प्रतिपादन किया गया है। राजा चन्द्रशेखर ने इसीका हिन्दी दोहा-चौपाइयों में बड़ा ही सुबोध अनुवाद किया जो काशी के ही 'काशी यन्त्रालय' में १९६९ विक्रमी (= १९१२ ई०) में मुद्रित होकर प्रकाशित है।

यह तो है स्वामीजी के भूमिपति शिष्यों का संक्षिप्त परिचय। अब मध्यमवर्गीय शिष्यों का उल्लेख किया जाता है। इस कोटि के उनके शिष्यों की एक लम्बी परम्परा है। कतिपय प्रख्यात शिष्यों का उल्लेख पर्याप्त होगा। पण्डितप्रवर दुःखभंजन कवीन्द्र आपके गण्य-मान्य शिष्य थे। ये उस युग के काशीस्थ कविजनों में शीर्षस्थान के अधिकारी माने जाते थे। ये शाक्त तान्त्रिक थे जिनकी अलौकिक प्रतिभा की कथा काशी के विद्वत्समाज में पर्याप्तरूपेण विस्तृत तथा व्याप्त थी।

व्याख्यान-वाचस्पति दीनदयालु शर्मा जो सनातनधर्म के उपदेशकों में लब्धवर्ण विद्वान् थे, स्वामीजी के ही शिष्य थे। शर्माजी अपने समय के सनातनधर्म के महनीय उपदेशकों में शीर्षस्थानीय, बड़े ही प्रौढ़ व्याख्याता थे। आर्यसमाज के विद्वानों से शास्त्रार्थ करने तथा सनातनधर्मी पक्ष के उन्नयन में पं० दीनदयालुजी का नाम सदा स्मरणीय रहेगा।[1] श्री बालशास्त्री को काशीलाभ हो जाने पर म० म० शिवकुमार पण्डितजी ने स्वामीजी से 'अद्वैतसिद्धि' का अध्ययन किया तथा 'खण्डनखण्डखाद्य' में प्रौढ़ता प्राप्त की। वैद्यराज उमाचरण कविराज ने दर्शन के ग्रन्थों का अध्ययन विशुद्धानन्दजी से किया। अन्तिम कोटि के शिष्यों में महामहोपाध्याय पण्डित प्रमथनाथ भट्टाचार्य का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने विजयप्रकाश[2] नामक काव्य में विशुद्धानन्दजी का जीवन-चरित बड़े ही ललित छन्दों में लिखा है। इस काव्य में लम्बे-लम्बे वृत्तों में निबद्ध २०८ पद्य हैं। भाषा सुबोध तथा शैली प्रसादमयी है। ग्रन्थ के अन्त में इन्होंने अपने पिता का नाम ताराचरण भट्टाचार्य लिखा है (२०७ पद्य) जो काशीनरेश ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह के सभा-पण्डित थे। प्रमथनाथजी आगे चलकर हिन्दू विश्वविद्यालय के 'संस्कृत-महाविद्यालय' के अध्यक्ष बने थे। उस समय (१८९१ ई०) में ये दरभंगा-संस्कृत-पाठशाला में अलंकार तथा न्यायशास्त्र के अध्यापक थे। काशीनरेश प्रभुनारायण सिंह की आज्ञा से संस्कृत में प्रणीत यह काव्य स्वामीजी की जीवन-घटनाओं की जानकारी के लिए सर्वथा प्रामाणिक एकमात्र ग्रन्थ है। यह स्वामीजी के जीवित काल में प्रकाशित हुआ था।

१. द्रष्टव्य—म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी : आत्मकथा।
२. वाराणसी के 'अमर यन्त्र' नामक प्रेस में मुद्रित, १९४८ विक्रमी (= १८९१ ई०)।

एक बार स्वामीजी अपनी शिष्यमण्डली के साथ हरिद्वार-यात्रा पर गये थे गंगास्नान के निमित्त। अपनी पूर्वपरिचित तप.स्थली हरिद्वार का पुनः दर्शन कर ये अत्यन्त प्रसन्न हुए। सम्भवत· इसी यात्रा के अवसर पर काश्मीरनरेश रणवीर सिंह इन्हें बड़े आदर-सत्कार के साथ अपनी राजधानी श्रीनगर ले गये थे। कुछ दिनों तक स्वामीजी ने वहीं निवास किया। अनन्तर ये काशी लौट आये। लौट आने पर दरभगानरेश लक्ष्मीश्वर सिंह ने प्रवास की बातें पूछीं और किसी विचित्र वस्तु का निर्देश करने के लिए सकेत किया। स्वामीजी ने कहा—"वहाँ मैने बड़ी सुन्दर बावडी देखी जिसमें नहाने-धोने का उत्तम प्रबन्ध था। इसी प्रकार की बावडी काशी मे बन जाय, तो जनता का बड़ा हित हो।" स्वामीजी का सकेत ही पर्याप्त था। लक्ष्मीश्वर सिंह ने रोहनिया थाने के पास, काशी से आठ-दस मील की दूरी पर, स्वामीजी के मठ के पास ही एक बड़ी विशाल बावडी बनवा दी जो आज भी जनता का कल्याण कर रही है। उसी के किनारे गणेश तथा मारुतनन्दन हनुमानूजी की विशाल मूर्ति की स्थापना की गई है। स्वामीजी प्रतिवर्ष गणेशजी का विधिवत् पूजन किया करते थे और उस माध्यम से अपने शिष्यो को कर्मकाण्ड की मानो शिक्षा दिया करते थे। यह गणेश की स्वच्छ सगमर्मर की बड़ी ही भव्य तथा सुन्दर प्रतिमा है। हनुमानूजी की मूर्ति काले पत्थर से निर्मित है। आज भी ये दोनों मूर्तियाँ उसी स्थान पर विराजमान है तथा सर्वथा दर्शनीय है।

स्वामी विशुद्धानन्दजी उपनिषदो के विलक्षण विद्वान् थे। उनमें बहुत-सी विद्याएँ उल्लिखित है जिनका गूढ़ रहस्य समझना आजकल नितान्त दुर्लभ है। तथ्य यह है कि ये विद्याएँ उदात्त योग के सहारे ही गम्य है और नितान्त व्यावहारिक है। इसके लिए आवश्यकता है योगी गुरु की, जो उनका अभ्यास स्वय व्यवहारत करता हो और तद्रूप ही शिक्षा प्रदान करता हो। इन औपनिषद विद्याओं के ज्ञाता की कमी अवश्य है। विशुद्धानन्दजी योगविद्या के पारगत विद्वान् थे। फलत उन विद्याओं के रहस्य को समझने-समझाने में उनकी अद्भुत क्षमता थी। मृत्यु समीप आने पर प्राणोत्सर्ग विद्या के द्वारा उपनिषद् प्राणों के विसर्जन की शिक्षा देता है। स्वामीजी इस विद्या को पूर्णत जानते थे। अध्यापन के समय वे इसका रहस्य शिष्यो को बताते भी थे। अन्तकाल मे उन्होने इसी विद्या का आश्रयण कर अपने प्राणों का विसर्जन किया था। अपने शिष्यों से कह दिया कि अब मेरे जाने का समय है। मुझे एकान्त में रहने दो और कोई मुझसे बातचीत न करे। वे आसन मार कर बैठ गये और इस औपनिषद विद्या की पद्धति से अपने प्राणों के उत्क्रमण को सिद्ध किया। तीन दिनों तक वे लगातार बैठे रहे और अन्त मे उनका कैलासवास हो गया। इसके प्रत्यक्षदर्शी म० म० प्रमथनाथजी ने इसका विधिवत् वर्णन किया है। यह घटना १९५६ वि० स० की है जब स्वामीजी ८० वर्ष की आयु के थे।

स्वामीजी के ग्रन्थ

स्वामी विशुद्धानन्दजी की कृतियों से हमें परिचय नहीं है, परन्तु बहुत खोज करने पर उनकी हिन्दी में कपिलगीता की व्याख्या उपलब्ध हुई है। इस ग्रन्थ की रचना स्वामीजी ने अपने प्रिय शिष्य अवधमण्डल के अन्तर्गत सिसेण्डीपुर के अधिपति राजा चन्द्रशेखर शर्मा त्रिपाठी की प्रार्थना से की थी और इसका प्रकाशन उन्हीं के दूसरे शिष्य पण्डित वासुदेव त्रिपाठी ने सं० १९४६ विक्रमी (फाल्गुन कृष्ण द्वादशी, रविवार) को किया था (१८८९ ई०)। काशी के ही 'अमर यन्त्रणालय' में ग्रन्थ का मुद्रण हुआ था। ग्रन्थ के अन्त में स्वामीजी ने अपने अधीत ग्रन्थों की एक लम्बी सूची दी है जिसमें न्याय, वेदान्त तथा योग के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का नाम उल्लिखित है। लिखा है कि "इन ग्रन्थों का गुरुमुख से अध्ययन करके अध्यापन

भी किया। तदनन्तर अर्थवश से कालवचन का अनादर करके मनुष्य मात्र के उपकारार्थ योग को अत्यन्त उपकारी जान के इस कपिलगीता की व्याख्या करके निजछात्र पण्डित वासुदेव त्रिपाठी से लिखवाया।" इसमें विशुद्धानन्दजी ने अपने गुरु का नाम उल्लिखित किया है—तारक ब्रह्मानन्द सरस्वती। ग्रन्थ के समापन का काल निर्दिष्ट है—संवत् १९४६ (१८८९ ई०) फाल्गुन कृष्ण पञ्चमी सोमवार।

'कपिलगीता' के प्रवक्ता योगीश्वर कपिल ऋषि हैं। यह पद्मपुराण के अन्तर्गत बतलाया गया है। इसमें पाँच अध्याय हैं। कपिलगीता आदि से अन्त तक योगशास्त्र के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक उभयपक्षों से सम्बद्ध तत्त्वों का विस्तार से विवेचन प्रस्तुत करती है। समस्त ग्रन्थ योग के पारिभाषिक शब्दों का भण्डार प्रतीत होता है। इसकी व्याख्या करने में योगशास्त्र के सिद्धान्त तथा व्यवहार उभयपक्ष का ज्ञाता व्यक्ति ही समर्थ हो सकता है और स्वामी विशुद्धानन्दजी में यह योग्यता प्रभूत मात्रा में थी। इसीलिए उनकी व्याख्या नितान्त सरल एवं प्रामाणिक है। स्वामीजी बड़े भारी योगी थे और कहा गया ही है कि देह त्यागने के समय जो प्रकार उपनिषदों में वर्णित है, उसी का अनुगमन कर उन्होंने अपना यह पाञ्चभौतिक शरीर छोड़ा था। फलत. वे इस गीता की व्याख्या करने के सर्वथा अधिकारी थे। एक ही उदाहरण यहाँ नमूने के तौर पर प्रस्तुत किया जाता है।

प्रथम अध्याय का २३वाँ श्लोक है—

पिपीलिका विहङ्गश्च कपिमार्गो हि मीनकः।
शेषमार्गो हि संख्यायां पञ्चमार्गाः पुरातनाः॥

इसकी व्याख्या स्वामीजी के शब्दों में इस प्रकार है—"ये जो पञ्च मार्ग है उनमें पिपीलिका मार्ग यह है कि—वृक्ष के अग्र में जाय के भी पिपीलिका दो पाँव को उठावता है अवलम्ब मिले तो और बड़े शनैः-शनैः पूर्व भूमी का अवलम्बन करके उत्तर भूमी को अवलम्वन करता है ऐसे योगी अध ऊर्ध्व शून्य को अवलम्बन करके निःशून्य में जाता है। विहगम मार्ग यह कहावे जो कि षट चक्रादिकों से अनपेक्ष योगी सप्तम चक्र जो पुण्यादि्र वहाँ मन को ले जाता है। कपि मार्ग वह कहावे जिस भूमि को जय कर्ता है योगी उसको नही छोड़ता जैसा कि कपि मुट्ठी में जो धरता उसको नहीं छोड़ता। मीन मार्ग वह कहावे जैसा की मीन उलटी धारा पर चलता है तैसा योगी मणिवल से अधो भाग से ऊर्ध्व भाग ब्रह्मरध्र तक जाता है। शेष मार्ग वह कहावे जैसा कि सर्प बिल में जाय के निष्क्रिय होयके वायु पीता है ऐसे ही योगी औट पीट अथवा पुण्यादि्र पर जाय के निष्क्रिय होता है।"—(कपिलगीता पृष्ठ १५-१६)

स्वामीजी की व्याख्या जैसी मुद्रित है वैसी ही ऊपर लिखित है। इसके पढ़ने से योग के इन सुप्रसिद्ध मार्गो का परिचय पूर्णतया मिलता है। साथ ही साथ हिन्दी के वाक्यों का प्रयोग तथा शब्दों की वर्तनी जिस प्रकार आज से नब्बे वर्ष पहले काशी के संन्यासियों द्वारा प्रयुक्त होती थी, उसकी भी एक झलक ऊपर के सन्दर्भ के अनुशीलन से मिल जाती है। इस भाषादृष्टि से भी इस पूरे ग्रन्थ का महत्त्व है।

स्वामी दयानन्द के साथ शास्त्रार्थ

स्वामी विशुद्धानन्दजी के जीवन की महती उपलब्धि थी स्वामी दयानन्दजी के साथ शास्त्रार्थ-विचार में विजयश्री का वरण। यह महत्त्वशाली ऐतिहासिक शास्त्रार्थ काशी में दुर्गाकुण्ड के समीपस्थ राजा अमेठी के 'आनन्दबाग' में सम्पन्न हुआ था। दयानन्द स्वामीजी का आवास इसी स्थान पर था। फलतः शास्त्रार्थ का यही स्थल था। समय था १९२६ वि० सं० की

कार्तिक शुक्ला द्वादशी मंगलवार, तदनुसार १८६६ ई० १६ नवम्बर। ४८ वर्षीय काशीनरेश महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह अध्यक्ष के स्थान पर अपने १४ वर्षीय राजकुमार प्रभुनारायण सिंह के साथ विराजमान थे। उनके प्रधान सभापण्डित ताराचरण तर्करत्न भट्टाचार्य महाराज के साथ उपस्थित थे। ये तर्करत्नजी साहित्य तथा न्याय के विशेष विद्वान् थे, अनेक ग्रन्थों के प्रणेता थे तथा महाराजा के धार्मिक कृत्यों के विमर्शदाता महनीय विद्वान् थे। काशी की विद्वन्मण्डली की ओर से दो ही प्रतिनिधि शास्त्रार्थ के लिए चुने गये थे—मनीषी योगिराज विशुद्धानन्द सरस्वती और पण्डिताग्रणी बालशास्त्री। ४५ वर्षीय स्वामी दयानन्द वेद-विरुद्ध तथा वेदों में अनिर्दिष्ट किसी भी धार्मिक सिद्धान्त को मानने के लिए तैयार नहीं थे। उनका आग्रह था कि आजकल हिन्दू धर्म में मूर्तिपूजा, श्राद्ध आदि धार्मिक मान्यताएँ वेदविरुद्ध हैं। अतएव वे नितान्त अग्राह्य हैं।

काशी के पण्डितों के साथ इस शास्त्रार्थ का विषय था- मूर्तिपूजा। उस सभा में काशी के मान्य पण्डितों के सग में काशी की धार्मिक जनता प्रभूत सख्या में उपस्थित थी। इस शास्त्रार्थ मे सम्मिलित होने वाले चालीस विद्वानों के नाम वेदवाणी पत्रिका के प्रथम वर्ष (नवम्बर १६७०, पृ० १५) के अङ्क में दिये गये है वे यथार्थ हैं। ये पण्डित उस समय काशी में निवास कर रहे थे। पण्डितों के अतिरिक्त काशी के प्रख्यात रईस तथा कवि भारतेन्दु बाबू हरिश्च०, अपने अनुज गोकुलचन्द्रजी के साथ सभा में उपस्थित थे। काशी के बाहर के कुछ मान्य सज्जन थे। यह तो सब ठीक है, परन्तु जनता की उपस्थिति ६० हजार लिखी गई है—यह कुछ अत्युक्ति-सी प्रतीत हो रही है। काशीवासियों में इस शास्त्रार्थ की विशेष चर्चा थी ही। इसके दो प्रकार के विवरण उपलब्ध होते है—आर्यसमाज का तथा सनातनधर्म का। उस समय की मान्य प्रत्नकम्रनन्दिनी नामक संग्कृत मासिक पत्रिका में संस्कृत में एक विवरण निकला था जिसके आधार पर पण्डित मथुराप्रसाद दीक्षित (आगे चलकर वे महामहोपाध्याय हुए) ने सच्चा काशी शास्त्रार्थ[1] नामक हिन्दी पुस्तक १६१६ ईस्वी में प्रकाशित की थी। उसका पुनर्मुद्रण द्वितीय तथा तृतीय संस्करण के रूप में दो बार हुआ है (सन् १६६६ में तथा सन् १६७२ में) उसी के आधार पर यहाँ प्रस्तुत है —

शास्त्रार्थ का संक्षिप्त विवरण

समय— अपराह्न कार्तिक सुदी १२, स० १६२६।

स्थान— आनन्द बाग, दुर्गामन्दिर के समीप (वाराणसी)।

काशीनरेश—ने अपने सभापण्डित ताराचरण तर्करत्न को आदेश दिया कि शास्त्रार्थ आरम्भ कीजिए। मैं भी वादी तथा प्रतिवादी के कथनों का सारांश समझ कर पक्षपातशून्य होकर विचार को सुनने के लिए सावधान बैठा हूँ।

ताराचरण—(बोलने के लिए उद्यत होते है)।

दयानन्द— प्रतिमापूजन वेद में कहाँ लिखा हुआ है ? उत्तर एक ही व्यक्ति एक बार दे।

ताराचरण—केवल वेद ही प्रमाण हैं और कुछ (स्मृति, इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थ) प्रमाण नहीं हैं। इसमें क्या प्रमाण है ?

---

१. सम्पादक स्वामी केशवपुरीजी तथा प्रकाशक शक्तिप्रकाशन, संन्यासी संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी। प्रकाशन के लिए दोनों सज्जन धन्यवाद के पात्र हैं।

दयानन्द— वेद में जो नहीं मिलता है, वह अप्रमाण ही है, वह कथमपि प्रमाण नहीं है।

ताराचारण—क्यों ? अर्थात् जो वेद में न मिले, परन्तु स्मृति, पुराण आदि में उपलब्ध हो, वह प्रमाण क्यों न माना जाय ? इसमें प्रमाण क्या ?

दयानन्द— वेदविरुद्ध वस्तुओं का प्रमाण नहीं है।

ताराचरण—आपके इस कथन में क्या प्रमाण है ?

दयानन्द— इसमें प्रमाण है श्रुति एव मनुस्मृति।

ताराचरण—उसी को बताइए। जो वेदमन्त्र वेदातिरिक्त स्मृति, पुराण, इतिहास, सदाचार के प्रामाण्य का निषेधक है, उसे कहिए। अथवा मनुस्मृति का वह श्लोक ही बतलाइए जिसमें यह तथ्य प्रतिपादित है।

दयानन्द— प्रामाण्य विचार आगे होगा। इस समय प्रस्तुत वेदविचार कीजिए।

ताराचरण—कैसा वेदविचार करना चाहते हो ? वेद के नित्यत्व-अनित्यत्व का विचार अथवा वेद की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का विचार ?

दयानन्द— पत्थर की प्रतिमा का पूजन वेद मे है या नही ? यही विचार करना चाहिए।

ताराचरण—वेद के समान स्मृति आदि का भी प्रामाण्य हमें स्वीकृत है। पुराणादिकों में प्रतिमापूजन का विधान है। तब प्रतिमा का पूजन शास्त्र से सम्मत सिद्ध हो ही जाता है।

दयानन्द— वेद से अतिरिक्त प्रमाण नही होते। हम स्मृति तथा पुराण का प्रमाण नही मानते।

ताराचरण—आपके कथन का प्रमाण क्या है ? वेदविरुद्ध का प्रामाण्य क्यों नहीं स्वीकृत होता ?

दयानन्द— वेदविरुद्ध का प्रामाण्य नही होता।

ताराचरण—वेदविरुद्ध क्या है ? स्मृति, इतिहास आदि तो वेदविरुद्ध नही है। तब 'वेदविरुद्ध' किसे कहते है ?

दयानन्द— जो वेद में नही है, वह वेदविरुद्ध है।

ताराचरण—यह वेद का कथन है अथवा श्रीमान्‌जी का कथन है ?

दयानन्द— आपके प्रश्न का उत्तर मै पीछे दूँगा। प्रस्तुत बात यही है कि वेद में प्रतिमापूजन है या नही।

बालशास्त्री—वेद में अनुक्त वस्तु (जिसका कथन नही किया गया है) अप्रमाण है इस कथन में क्या हेतु है। इसका विचार आरम्भ में करना चाहिए।

दयानन्द— श्रुति, स्मृति आदि का मूल वेद है। मनु, कात्यायन, महाभारत आदि इसके प्रमाण हैं। जिस प्रकार मन्त्रादिकों का तथा वेदान्तमीमांसा के सूत्रों का मूल वेद है, उसी प्रकार प्रतिमापूजन का वेद में मूल दिखलाइए।

विशुद्धानन्द स्वामी—क्या बारम्बार आप कहते हैं कि वेदान्तसूत्रों का मूल वेद है।

यदि यह बात है तो बताओ 'रचनानुपपत्तेश्च नानुमानं प्रमाणम्' इस ब्रह्मसूत्र (२।२।१) का मूलभूत वेद कहाँ है ?

इसका उत्तर दयानन्द स्वामी से नहीं हो सका, उन्होंने स्वीकारा कि मुझे सब वेद कण्ठस्थ नही है। मै इसका उत्तर नही दे सकता। विशुद्धानन्दजी को लक्ष्य कर उन्होंने पूछा कि यदि आपको सब उपस्थित है, तो धर्म का लक्षण बताइये। इसके उत्तर में विशुद्धानन्दजी ने मीमांसासम्मत धर्म का लक्षण झट से कह दिया—**चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः**। जब उन्होंने धर्म के एक ही लक्षण होने की बात कही, तो दयानन्दजी बोल उठे—धर्म के दस लक्षण हैं। मनु ने लिखा है—**धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयः** आदि। इस पर ताराचरणजी ने कहा—ये दसों धर्म के लक्षण थोड़े ही है, ये तो अनुमापक हेतु है।

दयानन्दजी ने इस पर क्रुद्ध होकर विशुद्धानन्दजी की ओर झुक कर पूछा—तुम बोलो स्वामी, धर्म में कौन श्रुति है अर्थात् धर्म के मानने में कौन वेद का आधार है। विशुद्धानन्दजी झट बोल उठे—अग्निहोत्र जुहोति आदि। दयानन्द स्वामी ने देखा कि शास्त्रार्थ बढ़ता चला जाता है। अत: उसे समाप्त करने की दृष्टि से उन्होंने अपने प्रश्न का उत्तर स्वयं दिया कि वेद में प्रतिमापूजन का कही विधान नही है। सामवेद में केवल एक बार प्रतिमा का निर्देश है, परन्तु वह इस भूलोक की बात न होकर ब्रह्मलोक की बात है।

[यह निर्देश सामवेद के षड्विंश ब्राह्मण के पञ्चम प्रपाठक के दशम खण्ड में उपलब्ध है 'यदाऽस्यामुक्तानि यानानि वर्तन्ते' आदि। इसका अर्थ है कि बैलों के बिना गाड़ी अपने आप चलने लगे अथवा देवता की प्रतिमा हँसती हो, रोती हो, गाने लगे, नाचने लगे, आँख निकाल कर देखने लगे या आँखें मीचने लगे, तब 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' मन्त्र से खीर की आहुति देनी चाहिए। इसके स्वामीजी ब्रह्मलोकपरक होने में प्रसंग तथा सन्दर्भ को कारण मानते है। यह 'अद्भुत शान्ति' का प्रकरण षडविंशब्रा० में है। ऊपर निर्दिष्ट अद्भुत अर्थात् उत्पात (असाधारण घटना) घटित होने पर लोगों को शान्ति करनी चाहिए।]

ब्रह्मलोकपरक होने की बात कहने पर बालशास्त्री ने आपत्ति उठाई। आप जैसा तात्पर्य समझ रहे है, वैसा तात्पर्य नही निकलता। आपके दिये उद्धरण में अन्वावर्तन शब्द आया है। इसका अर्थ है—'अनु=अनुलक्ष्यीकृत्य आवर्तनम्' अर्थात् ब्रह्मलोक में जब उपद्रव हो, तब उसके लिए शान्ति करनी चाहिए। कहाँ ? इस मर्त्यलोक में ही तो। जब उनसे पूछा गया कि ब्रह्मलोक में कौन करेगा ? तब उन्होंने बताया—स्वर्ग आदि लोक में इन्द्रादिक देवता हैं या नहीं ? इस पर विशुद्धानन्दजी ने कहा कि मन्त्रमयी देवता अर्थात् देवता मन्त्रात्मक होते है। इन्द्र आदि देवता के तत्तत् वैदिक मन्त्र ही स्वरूप हैं, उनकी देह होती ही नही, तब शान्ति करेगा ही कौन ? इस पर दयानन्दजी ने उपासना की बात उठाई। उपासना ऐसे देवता की कैसे होती है ? विशुद्धानन्द—प्रतीकोपासना ही होती है। वेद की सहस्र से ऊपर शाखाएँ हैं। उन्हीं किसी में यह रहस्य उद्घाटित है।

दयानन्दजी ने कहा—प्रतिवेद की केवल एक ही शाखा है। विशुद्धानन्दजी के द्वारा कृष्णयजुर्वेद की कठशाखा की बात पूछने पर स्वामीजी ने कहा कि मार्गप्रवर्तक होने से ऐसी शाखा हुई। इस पर काशीनरेश ने अपने अमात्यमण्डल की ओर लक्ष्य कर कहा—ऐसा भी क्या कभी होता है कि मार्ग के प्रवर्तक के नाम पर वेद की शाखा हो ?

विशुद्धानन्दजी—वेद अपौरुषेय हैं, तब इनका प्रवर्तक कौन है ? इसके उत्तर में दयानन्दजी ने कहा—वेदों का प्रवर्तक ईश्वर ही है। इस उत्तर पर विशुद्धानन्दजी ने पूछा—किस

प्रकार के ईश्वर में वेद रहते हैं—नित्य-ज्ञान-विशिष्ट ईश्वर में ? (न्याय) अथवा योगसिद्ध क्लेशादिशून्य ईश्वर में ? अथवा वेदान्तमतानुसारी सच्चिदानन्द ईश्वर में ? दयानन्दजी ने कुछ रोष में आकर अपनी पीठ से विशुद्धानन्दजी का हाथ हटाकर कहा कि तब आपने सब पढ़ लिया है। इसका स्वीकारात्मक उत्तर देने पर विशुद्धानन्दजी से आँखें लाल करके गरजकर पूछा—तब तो आपने व्याकरण भी पढ़ लिया है। बताइये—'कल्म' संज्ञा किसी की होती है ? इसके उत्तर में महावैयाकरण बालशास्त्री तुरन्त बोल उठे—"पतञ्जलि के महाभाष्य में एक स्थान पर परिहास में ही कल्म संज्ञा कही गई है, परन्तु यह प्रकृत संज्ञा नहीं है (आशय यह है कि पाणिनीय व्याकरण की संज्ञाओं का वास्तव उपयोग होता है। वे पद की साधुता में उपकारक होती हैं। 'कल्म संज्ञा' इस प्रकार की नहीं है। अतएव उसकी चर्चा करना अनावश्यक और असामयिक है)। प्रकृत विचार में संलग्न होकर आप अप्रकृत की चर्चा क्यों करते हैं ? प्रकृत विचार है पुराणों की वेद-विरुद्धता। तो इसी को सिद्ध कीजिए। अन्य चर्चा की क्या जरूरत ? इस पर दयानन्दजी (सम्हल कर बैठ) पूछने लगे—पुराणों में ही म्लेच्छ भाषा के अध्ययन का निषेध है। वेद में कहाँ है ? बतलाइये। बालशास्त्री ने झट से उत्तर दिया—न म्लेच्छितवै नापभाषितवै अर्थात् म्लेच्छ भाषा न बोले और अपशब्द नहीं कहे—यही वैदिक वाक्य का प्रमाण है। इसका अर्थ विशुद्धानन्दजी ने किया कि शूद्र श्मशान के तुल्य होता है। अतः शूद्र के समीप वेद न पढ़ना चाहिए। दयानन्दजी ने आरोप लगाया—यह संहिता है या ब्राह्मण ? पुस्तक मँगाइये तो निर्णय हो (यह ब्राह्मण का वाक्य है। दयानन्दजी प्राचीन परम्परा का उल्लंघन कर इसे वेद नहीं मानते थे)।

जब दयानन्दजी ने वेदान्ताभिमत ईश्वर में वेद का निवास बताया, तब विशुद्धानन्दजी ने कहा कि सच्चिदानन्द तो निराकार ब्रह्म है, उसमें वेदों का रहना कैसे सम्भव हो सकता है ? इस पर कुछ वाद-विवाद चला।

किसी विषय का प्रमाण खोजने के लिए दयानन्द स्वामी ने काशीनरेश से वेद की पुस्तक लाने को कहा, तो महाराज ने सिर नीचा कर कहा—पण्डितों को तो सब कण्ठस्थ ही है, पोथी की क्या जरूरत ? आगे चलकर पुराणों की वैदिकता का प्रसंग उपस्थित हो गया। दयानन्दजी का कहना था कि जहाँ वेदों में 'पुराण' शब्द आया है, वहाँ वह विशेषण है। पुराण का प्रामाण्य है ही नहीं। इस पर माधवाचारी ने तैत्तिरीय श्रुति का प्रमाण उद्धृत किया—

यदा गच्छन् पथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्ते कृणुतादाविरस्मै ।

यहाँ 'पूर्त' शब्द पौराणिक विधि-विधान को संकेत करता है। वापी-तडाग आदि की पूर्त संज्ञा है। बताइए वापी आदि की उत्सर्गविधि कहाँ है ? पुराण में या वेद में ? पुराण में ही तो इस विधि का वर्णन है। फलतः श्रुति पुराण का सद्यः संकेत करती है।

दयानन्दजी ने पूर्त का यह अर्थ नहीं स्वीकारा। तब माधवाचारी ने कहा—वेद में साक्षात् रूप से भी पुराण शब्द प्रयुक्त है—

अजाह्वे ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पं गाथा नाराशंसीमेवाहुः ।

दयानन्दजी ने यहाँ 'पुराणानि' को 'ब्राह्मणानि' का विशेषण ही माना, स्वतन्त्र विशेष्यपद नहीं। इस पर विशुद्धानन्दजी का कहना था कि बीच में व्यवधान होने से यह दूरान्वय है। अतएव यह पद विशेषण नहीं हो सकता। दयानन्दजी ने उत्तर में कहा कि व्यवधान कोई हानि नही करता—अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे यहाँ दूरान्वय तथा व्यवधान होने पर कोई क्षति नहीं है। इस पर विशुद्धानन्दजी का उत्तर

था कि इस वाक्य में सब शब्द विशेषण पद हैं, विशेष्य पद के अभाव में वहाँ व्यवधान नहीं है। अब दयानन्दजी ने छान्दोग्य का यह वचन दिखा कर ऋग्वेदं विजानाति……… इतिहासपुराणं, पुराण को विशेषण ही माना तो इस पर सब सभासद सिर हिलाकर कहने लगे—यह ठीक पाठ नही है, पाठ है इतिहासः पुराणम्। 'पुराणं' इतिहास का विशेषण हो नहीं सकता। क्योंकि यदि यह विशेषण होता, तो विशेष्य का समानलिंगी होता। पुंलिंग 'इतिहास' शब्द का विशेषण होने पर 'पुराण' को भी (पुराणः) पुँलिंग ही होना चाहिए, पुराण नहीं। इस कथन पर दयानन्दजी आत्मविश्वास से गर्जते हुए बोल उठे—

इतिहासपुराणः इत्येवमेव पाठः इति। नोचेत् मत्पराजयः, अन्यथा युष्माकं पराजय इति लिख्यताम्।

अर्थात् 'इतिहासपुराण·' यही पाठ है। यदि 'इतिहासः पुराण' निकल आवे, तो मेरी पराजय। यदि ऐसा न निकले तो आप लोगो की पराजय—इसे लिख लो। आत्मविश्वास से उद्भावित उनकी यह अन्तिम घोषणा थी। इस पर माधवाचारीजी ने शतपथब्राह्मण के अश्वमेध के प्रकरण का वह अश दिखला दिया जिसका अन्तिम अश है—**तानुपदिशति पुराणं वेदः सोऽयमिति। किञ्चित् पुराणमाचक्षीत। एवमेवाध्वर्युः संप्रेषयति। न प्रक्रमान् जुहोति।**

'पुराणं वेद' इस पाठ को देखकर दयानन्दजी ग्रन्थ का पन्ना अपने हाथ में लेकर उलट-पुलट कर बहुत देर तक देखते रहे और उसे लौटा कर चुप बैठ गये।

यह ऐतिहासिक शास्त्रार्थ यहीं समाप्त हो गया। इस शास्त्रार्थ में बीच-बीच में इतने विषय उठते गये कि उन्ही के विमर्श में समय बीत गया। मूल प्रश्न के समाधान के प्रति विद्वानों का ध्यान ही नही गया। शास्त्रार्थ करने वाले पण्डितों के साथ श्रीदयानन्दजी का सौहार्द सदा बना रहा।

एक दिव्य संस्मरण

स्वामीजी का महाप्रयाण[1]

वाराणसी धाम के सुप्रसिद्ध दण्डी स्वामी परमहस परिव्राजकाचार्य श्रीमत् स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती ने सन् १८९८ ई० के वैशाख मास में अहल्याबाई घाट पर अपने आश्रम में ८० वर्ष की वयस् में भौतिक देह का परित्याग कर निर्वाण प्राप्त किया था। उनके वेदान्त शास्त्र के अगाध पाण्डित्य की प्रशसा आज भी समस्त भारत के विद्वान् करते है, उनकी सर्वतोमुखी असाधारण प्रतिभा की बातें वृद्ध विद्वानों से सुनकर शिक्षित युवक विस्मित हो जाते है, परन्तु आज इस लेख में उन सब बातों की आलोचना नहीं की जाती। उनके आध्यात्मिक जीवन में ऐसी अनेकों आश्चर्यमयी घटनाएँ हैं, जिनकी आलोचना करने से हिन्दू मात्र के आध्यात्मिक जीवन मे नवीन प्रकाश की किरणें प्रसारित होंगी और भारतीय साधु-महात्माओं के प्रति श्रद्धा-भक्ति बढ़ेगी।

प्राक्तन पुण्यबल से मुझे लगातार दस वर्ष तक उनके चरणों में बैठकर पूर्व और उत्तरमीमांसा पढ़ने का दुर्लभ सुयोग प्राप्त हुआ था। अध्ययन आरम्भ करने के समय मेरी उम्र बीस वर्ष की थी। स्वाध्याय तिथियों में प्रतिदिन दो-से तीन-साढ़े तीन बजे तक मेरा पाठ चलता। एक दिन वर्षाकाल में श्रावण के अन्त में लगभग तीन बजे मैं अध्ययन कर रहा

१. श्री प्रमथनाथ तर्कभूषणजी का यह लेख 'चिन्तामणि' के किसी पुराने अंक में प्रकाशित हुआ था। इस महत्त्वपूर्ण लेख को प्रकाशनार्थ सुलभ करने के लिए स्वामी अखण्डानन्दजी धार्मिक जनता के धन्यवाद के पात्र है। इसके लिए मैं उनका आभार मानता हूँ।

था, उस समय बड़े जोरों से वर्षा हो रही थी। अहल्याबाई घाट पर स्वामीजी का आश्रम था, उसमें ऊपर के तल्ले में एक छोटे घर में स्वामीजी उत्तराभिमुख अपने आसन पर विराजमान थे। मैं पूर्व की ओर मुँह करके बैठा था। सामने श्रावण की पूर्णावयवा उत्तरवाहिनी भागीरथी अपनी कलकल ध्वनि से अविश्रान्त वर्षाध्वनि से मुखरित दिशाओं को प्रतिध्वनित करती हुई प्रवाहित हो रही थीं। स्वामीजी पद्मासन से बैठे थे, उनके विशाल प्रशान्त नेत्रों से हृदयस्थित ज्योत्स्ना द्वारा स्नात एक अननुभूतपूर्व समुज्ज्वल अध्यात्मज्योति विकसित हो रही थी, सामने द्रवब्रह्ममयी भागीरथीजी थीं। मेरे हाथ में छान्दोग्योपनिषद् की पुस्तक थी, स्वामीजी महाराज उसकी व्याख्या कर रहे थे। वह अपूर्व मनोहर दृश्य आज भी मेरे स्मृतिपट पर गाढ़ रूप से अंकित है। छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में प्रयाण के समय दक्षिण मार्ग की गति उस दिन का पाठ्य-विषय था—**पुरुषं सोम्योतोपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते जानासि मां जानासि मामिति तस्य यावन्न वाङ् मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां तावज्जानाति। अथ यदास्य वाङ् मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति।'** (छान्दोग्य० ६।१५)।

अर्थात् मनुष्य जब मृत्युशय्या पर पड़ा हुआ सन्ताप को प्राप्त होता है, तब उसके घर के लोग उसके समीप आकर व्याकुलता से पूछते हैं—'मुझको पहचानते हो क्या? मुझे पहचान गये हो?' इत्यादि। उसकी बहिरिन्द्रिय जब तक मन में नहीं मिल जाती, मन प्राण में विलीन नहीं हो जाता, प्राण तेजोधातु में परिणत नहीं हो जाते और तेज भी परदेवता में प्रवेश नहीं कर जाता, तभी तक वह उन लोगों को पहचान सकता है। जब बहिरिन्द्रिय मन में मिल जाती है, मन प्राणों में विलीन हो जाता है, प्राण तेजोधातु में परिणत हो जाते हैं और अन्त में जब तेज भी पर-देवता में प्रविष्ट हो जाता है, तब वह किसी को भी नहीं पहचान सकता, उसका ज्ञान विलुप्त हो जाता है, यही उसका मरण है।

इस प्रसग में स्वामीजी उस दिन देवयान या उत्तरमार्ग की बात चलाकर कहने लगे 'जो योगी है, उसका प्रयाण इस तरह नहीं होता। प्रत्येक मनुष्य के हृदयकमल के ऊपर कुछ सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं, इन नाड़ियों को सिता कहते है, इनमें किसी का वर्ण लाल है, किसी का पीला आदि है। ये नाड़ियाँ अत्यन्त सूक्ष्म हैं, यहाँ तक कि केश के सौवें भाग के समान इनकी सूक्ष्मता है। इन सूक्ष्म नाड़ियों में एक का नाम है सुषुम्णा। यह सुषुम्णा ऊर्ध्व मे ब्रह्मरन्ध्र तक गयी है। इस सुषुम्णा में योगबल से अपना प्राण प्रवेश कराकर जो योगी प्रयाण करता है, वह फिर लौटकर इस संसार में नहीं आता। ब्रह्मलोक में उसकी गति होती है और कल्पान्त के समय ब्रह्मलोक के अधिष्ठाता सगुण ब्रह्म के साथ वह निर्वाण को प्राप्त होता है।' सनातन धर्म की इन आध्यात्मिक बातों को पूज्यपाद स्वामीजी महाराज उस दिन बड़ी ही स्फूर्ति के साथ—बड़े ही अभिनिवेश और उत्साह के साथ—कह रहे थे। किन्तु न मालूम क्यों, मेरे मन में वे बातें मानो उस दिन गम्भीरता के साथ प्रवेश नहीं कर रही थीं। मेरी बेजानकारी में शायद गुरुदेव स्वामीजी महाराज ने मेरे चेहरे को या मेरी अन्य किसी शारीरिक चेष्टा को देखकर मेरी अन्यमनस्कता की बात को जान लिया और बड़ी रुखाई के साथ जरा उत्तेजित से होकर मेरी ओर देखकर कम्पित स्वर से बोले—'प्रमथनाथ! आज यहीं पाठ बन्द करो, तुम्हारा चेहरा देखकर मालूम होता है कि मैं तुम्हें जो कुछ कह रहा हूँ वे सब बातें सत्य पर प्रतिष्ठित हैं या नहीं, तुम्हारे मन के इस सन्देह ने तुम्हारे चित्त को श्रद्धाहीन कर दिया है। जिसके मन में श्रद्धा नहीं है, उसके लिए इन बातों का न सुनना ही अच्छा है और कहने वाले के लिए भी यह विडम्बनामात्र है।'

पूज्य स्वामीजी के मुख से ऐसी कड़ी बातें मैंने इससे पहले कभी नहीं सुनी थीं। इन बातों को सुनकर मुझे बड़ा दुःख हुआ, मैंने जल्दी से उठकर उनके चरणों पर गिर कर भक्तिभाव से अश्रुसिक्त नेत्रों से प्रणाम किया और कहा—'गुरुदेव ! मैं अज्ञ हूँ, मेरे इस अज्ञानकृत प्रथम अपराध को आप यदि क्षमा नहीं करेंगे तो मेरा जीवित रहना भी विडम्बनामात्र है !' मेरे इन शब्दों को सुनकर स्वामीजी बहुत देरतक गम्भीरता से चुपचाप बैठे रहे, फिर बहुत धीरे से मेरी ओर देखकर कहने लगे—'अच्छी बात है, मैंने क्षमा किया। इस प्रसंग में मैं तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ, खूब ध्यान देकर सुनो।' स्वामीजी के इन शब्दों से आश्वस्त होकर मै अपनी जगह हाथ जोड़े बैठा हुआ उनके चेहरे की ओर देखने लगा और बड़े आग्रह के साथ उनकी बातें सुनने के लिए उत्सुकता से बाट जोहने लगा। कुछ देर बाद स्वामीजी कहने लगे—

'आजकल ज्यों-ज्यों पाश्चात्त्य शिक्षा का प्रभाव बढ़ रहा है, त्यों-ही-त्यों सस्कृत-शिक्षा-पद्धति का प्रचुर रूप में ह्रास हो रहा है। अध्यात्मशास्त्र के प्रति लोगों की अश्रद्धा होना इसी का परिणाम है। परन्तु यह अश्रद्धा ही हिन्दू-समाज का सर्वनाश कर रही है, इस बात को याद रखना। मै जो तुम्हें सुषुम्णा नाड़ी द्वारा उत्क्रमण की बात कह रहा था, यह कोई कवि-कल्पना या धर्मोन्माद नही है, ध्रुव सत्य है। इसकी ध्रुवसत्यता का मैने निज में अनुभव किया है, और स्वयं जाना है तथा विश्वास किया है, इसीसे तुमसे कह रहा था। तुम देखते हो मै प्रतिदिन प्रातःकाल स्नान के बाद आठ बजे के समय इस घर में प्रवेश करके सब दरवाजों को बन्द करके दोपहर तक बैठता हूँ। इन चार घण्टों में मुझसे कोई भी मिल नही सकता, यहाँ तक कि इस घर की तरफ किसी को आने का भी अधिकार नहीं है, जानते हो इस समय मै रोज क्या करता हूँ। आज बीस वर्ष से भी अधिक काल हो गया, मैं योग-प्रक्रिया के अनुसार सुषुम्णा के द्वारा उत्क्रान्ति के मार्ग का अनुसन्धान कर रहा हूँ। सुनो प्रमथनाथ ! इतने परिश्रम का मेरा यह अनुसन्धान व्यर्थ नहीं गया। मैंने इस पथ को पा लिया है। कल्पना की दृष्टि से नही, सचमुच यह मेरे हस्तगत हो गया है। याद रखना, कुछ समय बाद उत्तरायण के वैशाख शुक्ल पक्ष मे मै इसी तरह सदा की भाँति बद्धपद्मासन लगाये द्रवब्रह्ममयी भगवती भागीरथी को देखते-देखते, हँसते-हँसते, प्रशान्त चित्त से भौतिक देह को त्याग कर अमृतधाम को चला जाऊँगा।'

इतना कहकर स्वामीजी चुप हो गये। कुछ देर बाद फिर बोले—'आज पढ़ाई नहीं होगी, अब तुम घर जाओ। तुम्हारा उपनिषद्-पाठ कुछ समय के लिए बन्द रहेगा। कल से मैं तुम्हें वेदान्तशास्त्र के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ 'अद्वैतसिद्धि' को पढ़ाऊँगा।' इसके बाद मैं विस्मयाविष्ट चित्त से काँपते हुए भक्तिभाव से श्रीस्वामीजी के चरण-कमलों से सिर नवाकर प्रणाम करके घर चला आया।

इस उत्तर मार्ग से प्रयाण के सम्बन्ध में स्वामीजी ने और कभी कोई संकेत नहीं किया। दूसरे दिन से मै 'अद्वैत-सिद्धि' पढ़ने लगा। इस घटना के पाँच वर्ष बाद मेरी कलकत्ते के गवर्नमेण्ट संस्कृतकॉलेज में धर्मशास्त्र के अध्यापक पद पर नियुक्ति हो गयी। इससे बाध्य होकर मुझे काशीधाम छोड़ना पड़ा। स्वामीजी से अध्ययन करना भी समाप्त हो गया। सन् १८९७ ई० के नवम्बर महीने से मैं संस्कृत कॉलेज में अध्यापन कार्य करने लगा। सन् १८९८ ई० के वैशाख महीने में स्वामीजी ने भौतिक देह का त्याग कर दिया। देहत्याग के दिन से तीन दिन पहले सन्ध्या को घूमकर आश्रम में आने पर आपने कहा—'देवाप्रसाद ! (ये स्वामीजी के सवपिक्षा घनिष्ठ सेवक एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे) मेरा शरीर आज कुछ

शिथिल-सा मालूम होता है। तुम लोग घबराना नहीं। परसों मेरे महाप्रस्थान का दिन है; व्यर्थ हो-हल्ला न करना, मुझको तंग न करना, किसी वैद्य को न बुलाना, मुझे स्थिर रूप से बैठे रहने देना, मैं कुछ कहूँ तो वही करना, अपनी इच्छा से कुछ भी करके मेरे चित्त में विक्षेप न करना।' इतना कहकर स्वामीजी बद्धपद्मासन लगाकर बैठ गये और ध्यानस्थ हो गये। दूसरा दिन भी इसी तरह बीत गया। तीसरे दिन ठीक मध्याह्न काल में उसी तरह बद्धपद्मासन में बैठे-बैठे, हँसते-हँसते उत्तरवाहिनी त्रिलोकपावनी भगवती भागीरथी को देखते-देखते सुषुम्णारन्ध्र को भेदकर परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामी श्रीविशुद्धानन्द सरस्वती द्वारा उत्तरपथ से पुनरावृत्तिहीन महाप्रयाण की बात तुरन्त सारी काशी में फैल गयी। हजारों नर-नारी आबाल-वृद्ध स्वामीजी के गतप्राण पुण्यदेह का दर्शन करके जीवन धन्य करने के लिए दौड़ आये। सबने देखा, बद्धपद्मासन से विराजमान वर्तमान युग के सर्वश्रेष्ठ संन्यासी परम ज्ञानी, परम विरक्त स्वामीजी का वही ललाई लिए सुन्दर गौर विग्रह है, मुख पर वही स्मित-ज्योत्स्ना खेल रही है, और नेत्र अर्ध-निमीलित है। प्राण निकल गये है परन्तु दैवी सुषमा अब भी उस सर्वाङ्गसुन्दर देह को त्याग करने में मानो सकोच कर रही है। वर्तमान काशिराज के पिता महाराज प्रभुनारायण सिंहजी उस समय जीवित थे, वे स्वामीजी के परम भक्त थे। समाचार सुनते ही वे दौड़ आये थे और उन्होंने उस समय का एक छायाचित्र लिया था।

मैने अपनी आँखों से जो कुछ देखा है और उनके मुँह से सुना है, उसी को यहाँ लिखा है। उन्होंने मुझे दीर्घकाल तक चरणसेवा करने का अधिकार दया करके दिया था। मेरा विश्वास है कि जो इस पर ध्यान देंगे वे भारतीय अध्यात्मविज्ञान-सम्पन्न साधु-महात्माओं के पुण्य चरित्र के प्रति विशेष श्रद्धासम्पन्न हो सकेंगे और वैराग्य-प्रधान सनातनधर्म के प्रति उनकी गाढ़ अनुरक्ति होगी।

स्वामी विशुद्धानन्द की प्रशस्ति

स्वामीजी की प्रशस्ति संस्कृत तथा हिन्दी उभय भाषा के पद्यों में उपलब्ध होती है। दो-तीन दृष्टान्त ही पर्याप्त होंगे—

[१]

यतो विद्याकीर्तिः परमसुखदा, यस्य करुणा
प्रबोधस्योद्बोधो यदमलपदाराधनविधेः।
सदा शान्तः कान्तः परमतिमतामद्भुतगुणो
विशुद्धानन्दाख्यः परमपुरुषः कोऽपि जयति॥

—प्रमथनाथ तर्कभूषण

[२]

संसारार्णवलीन-दीनजनता-पीनाघभीनाशिनं
भक्ताधीनमहीनमानसमुपासीनं नवीनद्युतिम्।
धर्माधर्मविचारचारुचतुरं चञ्चच्चरित्रोच्चयं
सद्विद्यं निरवद्यकं गुरुविशुद्धानन्दमीशं भजे॥

—देवीप्रसाद कविचक्रवर्ती

| ३ |

सरस सुधा की माज जाकी मुसुकान बाँकी
विद्युत छटा की ज्योति जाहिर मुकामी की ।
भारी जमजातना विमोचन विरोचना की
छबि अति छीन छाकी बासना अकामी की ।
अवधि उदारता की खान मनकामना की
चिन्तामणि चिन्तना की आनि अन्तर्जामी की ।
ऐसी ऽम झाँकी तीन लोकहू न झाँकी जैसी
झाँकी अब झाँकी श्रीविशुद्धानन्द स्वामी की ॥

दु खभञ्जन कवीन्द्र

| ४ |

ललित ललाम लाल लालित सुलीलाऽऽलय
लेखा लखि लीन लोल लोचन सभी के हैं ।
चित चञ्चरीक चोर चञ्चल विचित्र चारु
चमक प्रचार त्यो मरीचि मञ्जरी के है ।
''गल अमोल मेल कोमल प्रवाल कल्प
कलिमल मूल मलि मङ्गल मही के है ।
भूप चन्द्रशेखर के शरण विराजमान
चरण सरोज श्री विशुद्धानन्द जी के है ॥

देवीप्रसाद कविचक्रवर्ती

| ५ |

सागर दया के नय आगर विभा के खान
गुन सो उजागर बिबेक धन धामी है ।
मूल मुद मगल समूह के मनोहर ये
मोहर मुनीशन के सोहत अरामी हैं ।
कल्पतरु कामधेनु मान के हरनहार
हर अवतार चारु सत्य के कलामी हैं ।
दीनजन बन्धु सिन्धु सुन्दरमती के खास
ज्योति.स्वरूप श्री विशुद्धानन्द स्वामी हैं ॥

—देवीप्रसाद कविचक्रवर्ती

| ६ |

दयानन्दमत्तद्विपोद्दामदर्पो गयावस्तमुच्चैः कटाक्षेण यस्य ।
स्फुरत्सर्वविद्या-लसत्सर्वभूतिः प्रसन्नोऽस्तु देवः स नः श्रीनृसिंहः ॥

—प्रमथनाथ तर्कभूषण

●



श्री स्वामी भास्करानन्द सरस्वती

श्री स्वामी भास्करानन्द सरस्वती

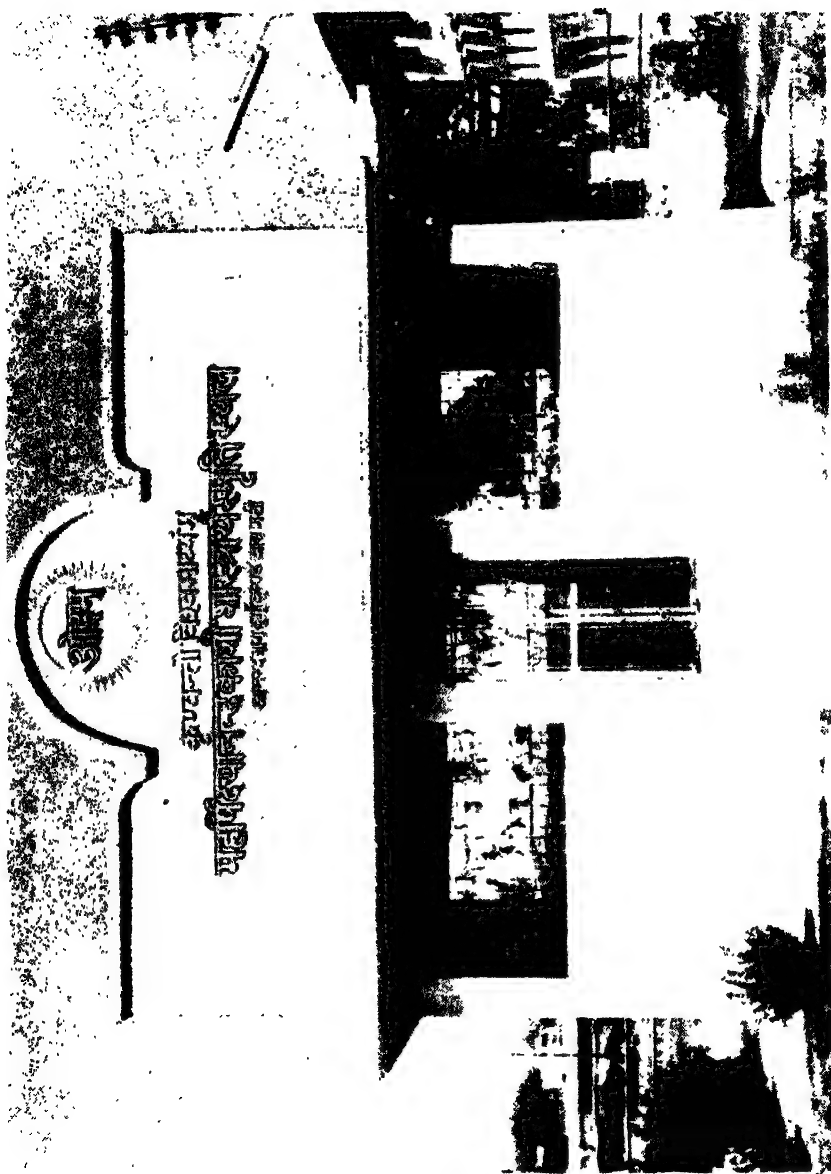
गत शताब्दी के उत्तरार्ध मे काशी को सुशोभित करने वाले विद्वान् सन्यासियो मे स्वामी भास्करानन्द सरस्वती का स्थान नि सन्देह महत्त्वपूर्ण है। उस युग मे इनकी बडी प्रतिष्ठा थी। भारतवर्ष के अनेक राजा महाराजा इनके दर्शन के लिए आते थे। इतना ही नही, विदेशी सस्कृत के विद्वान् जब काशी पधारते थे तब वे स्वामीजी के दर्शनो के लिए अवश्य ही आते थे। जर्मनी के सुप्रसिद्ध सस्कृतज्ञ तथा दार्शनिक विद्वान् पाल डायमन सन् १८९४ ई० के आसपास काशी आये थे और उन्होने स्वामी भास्करानन्द सरस्वती का दर्शन किया था। इस घटना का उल्लेख उन्होने अपने भारत यात्राविवरण[1] मे किया है। इनकी गणना उस युग के दर्शनीय विद्वानो मे की जाती थी। कदाचित् ही कोई विशिष्ट व्यक्ति हो जो इनके दर्शन के लिए न [illegible] जाय। साधुता तथा ज्ञानविज्ञान दोनो दृष्टियो से महनीय होने के कारण स्वामीजी परमपूज्य माने जाते थे।

स्वामीजी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १८९० (१८३३ ई०) आश्विन शुक्ल सप्तमी तिथि को कानपुर मण्डल के 'मैथेलाल' नामक गाँव मे हुआ था। कान्यकुब्ज ब्राह्मणो मे '[illegible]' के मिश्र अपने आभिजात्य के लिए नितान्त प्रसिद्ध है। इसी ब्राह्मण वश मे स्वामीजी का जन्म हुआ था। इनके पिता का नाम मिश्रीलाल मिश्र था। स्वामीजी का गृहस्थाश्रम का नाम मतिराम मिश्र था। ये मध्यम परिवार मे उत्पन्न हुए थे। साधारणतया खाने पीने की कोई कमी नही थी। आठवे वर्ष मे इनका उपनयन सस्कार हुआ और इसके बाद ये पाणिनि व्याकरण के अध्ययन मे मग्न हो गये। इन्होने लगातार बारह वर्षो तक व्याकरण आदि शास्त्रो का अध्ययन कर इनमे व्युत्पत्ति प्राप्त की।

तत्कालीन प्रथा के अनुसार इनका विवाह केवल १२ वर्ष की उम्र मे हो गया था। १८ वर्ष के वय मे इनको एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो कुछ दिनो के बाद परलोक सिधार गया। इस दुर्घटना से इनका चित्त विचलित हो गया। ये घर से नितान्त उदासीन हो गये और गृह का परित्याग कर जहाँ-तहाँ विचरने लगे। ये कभी हरिद्वार, कभी प्रयाग, कभी अयोध्या और कभी उज्जैन मे घूमते रहे। स्वामीजी दो बार घर छोडकर भागे। परन्तु घरवाले इन्हे पकड कर घर लौटा लाये और वही पर रहने का आग्रह किया। परन्तु तीसरी बार ये ऐसे घर से भागे कि किसी को पता नही चला और सुदूर उज्जैन मे जाकर रहने लगे। वही पर अनेक वर्षो तक रहकर इन्होने वेद, शास्त्र, दर्शन आदि का अध्ययन किया। वहाँ से लौटकर ये फतेहपुर जिला मे स्थित असनी नामक नगर मे आये जो हिन्दी के अनेक कवियो की जन्मभूमि

---

१ यह यात्रा-विवरण 'माई ट्रैवेल्स इन इण्डिया' नाम से अंग्रेजी मे मद्रास की नटेसन एण्ड कम्पनी ने प्रकाशित किया है। छोटा होने पर भी यह उस युग की अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन करता है। रोचक एवं उपादेय है।



आनन्दबाग

स्वामी दयानंद सरस्वती ने इसी स्थल पर काशी के पंडितों से शास्त्रार्थ किया था।

रही है। यही पर इन्होने स्वामी **पूर्णानन्दजी** से २७ वर्ष के वय मे सन्यास दीक्षा ली और तब से ये **भास्करानन्द सरस्वती** के नाम से प्रसिद्ध हो गये।

तपश्चर्या

सन्यास ग्रहण करने के अनन्तर स्वामीजी भारत के तीर्थाटन के लिए निकल पड़े। वे पैदल ही यात्रा करते थे। किसी को अपने सग मे नही लेते थे। उज्जैन से चलकर ये नर्मदा के किनारे कुछ दिनो तक वास कर अपनी तपस्या मे लीन रहे। कुछ दिनो तक इन्होने शृंगीरामपुर नामक स्थान मे वास किया। वही पर इन्हे इनके एकादशवर्षीय इकलौते पुत्र के निधन का समाचार मिला, परन्तु ये तनिक भी विचलित नही हुए, और अपनी यात्रा के क्रम को शिथिल नही होने दिया। वहा से घूमते हुए ये काशी आये, परन्तु कुछ ही दिनो तक निवास कर ये फतहपुर जिले के अन्तर्गत नगर असनी चले गये। यही पर इन्होने दण्ड का त्याग कर दिया। वहाँ से कानपुर आदि और भक्तो के विशेष आग्रह पर अपने तीन भक्तजनो- रामचरण, गयादत्त एव रामनारायण द्विवेदी के सग मे अपने जन्मस्थान मैथेलाल गये। पिता, माता तथा धर्मपत्नी से भेट किया, परन्तु आसक्तिहीन स्वामीजी की वीतरागिता पर इस भेट का कोई भी प्रभाव नही पड़ा। उन्होने अपने शरीर के सकल आवरणो को सर्वदा के लिए परित्याग कर दिया। केवल कौपीन (लगोटी) ही उनका एकमात्र सगी रह गया। अब वृक्षो के नीचे विश्राम, गगा के पवित्र तीर पर आवास, पचाग्नि साधन एव शीत ऋतु मे जलशयन आदि कठोर तपस्या की साधना ने उनके चित्त को नितान्त आकृष्ट कर लिया।

नीर्थाटन

असनी से ये सीधे हरिद्वार पैदल ही यात्रा कर पहुँचे। वहाँ से उत्तराखण्ड के समस्त प्रख्यात तीर्थो की - गगोत्री, बदरी, केदार तथा मानसरोवर की— इन्होने सविधि यात्रा सम्पन्न की। लौटने पर ज्वालामुखी (कागडा), नैमिषारण्य, मिसरिख (जहाँ दधीचि ने अपना देहत्याग किया था), अयोध्या, काशी, प्रयाग, वृन्दावन, पुष्कर, द्वारिका, रामेश्वर अर्थात् उत्तरभारत से लेकर दक्षिणभारत के समस्त तीर्थो की मनोरम यात्रा सम्पन्न कर हरिद्वार मे जम गये लगातार १३ वर्षो तक। उद्देश्य था न केवल कठोर तपस्या, अपितु शास्त्रो का गम्भीर स्वाध्याय। हरिद्वार मे उन्हे एक नितान्त वैदुष्यसम्पन्न विद्वान् से साक्षात्कार हुआ। इनका नाम था -**पण्डित अनन्तराम शास्त्री**। ये पण्डितजी पटना के समीपस्थ राघवपुर ग्राम के निवासी शाकद्वीपीय ब्राह्मण थे। इनसे स्वामीजी ने अद्वैतवेदान्त के चूडान्त ग्रन्थो तथा प्रस्थानत्रयी का विधिवत् अनुशीलन एव आलोडन किया। गुरु की अगाधभक्ति से प्रेरित होकर भास्करानन्दजी ने उनकी दया का स्मरण अपने प्रत्येक ग्रन्थ के अन्त मे किया है। अपने गुरु अनन्तरामजी का ये बड़ा गुण मानते थे, क्योकि उनकी ही कृपा से भास्करानन्दजी को शास्त्रो मे अनुपम विद्वत्ता प्राप्त हुई थी। अपने ग्रन्थो के अन्त मे उन्होने यह श्लोकार्ध सर्वत्र निविष्ट किया है--

दययाऽनन्तरामस्य मृदुर्ग्रन्थोऽयमुम्भित ।

(अनन्तराम की दया से यह मधुर ग्रन्थ की रचना की गई है)। इससे उनकी विशिष्ट गुरुभक्ति का परिचय हमे प्राप्त होता है।

अपरिग्रही स्वामीजी कोई भी वस्तु अपने पास नही रखते थे। वस्त्र के नाम पर ये केवल एक लॅगोटी धारण करते थे, परन्तु बाद मे इन्होने उसका भी परित्याग कर दिया। हरिद्वार से काशी आने के बाद ये पहले मडुआडीह के आस-पास किसी बगीचे मे रहा करते

थे। परन्तु अमेठी (सुलतानपुर) के राजा लालमाधव सिंह ने, जिन्होने इनसे दीक्षा ली थी, इनसे दुर्गाकुण्ड पर स्थित अपने उद्यान 'आनन्द बाग' मे चलने का आग्रह किया। स्वामीजी उनकी प्रार्थना स्वीकार कर आनन्द बाग चले आये और आजीवन इस बाग मे साधना और तपस्या करते रहे। इस स्थान को छोड़कर कही बाहर गये ही नही।

काशी का यह **आनन्द बाग** एक ऐतिहासिक स्थान है जिसका निर्माण पूना के अन्तिम पेशवा अमृत राव ने किया था। इस बाग को सिपाही विद्रोह के अवसर पर नीलाम किया गया। तब अमेठी के राजा ने खरीद लिया था। स्वामी विशुद्धानन्दजी के प्रसग मे ऊपर कहा ही गया है कि इसी आनन्द बाग मे स्वामी दयानन्द का काशी के पण्डितो से सन् १८६९ ई० मे शास्त्रार्थ हुआ था जिसमे दयानन्दजी को पराजित होना पडा था। यह बाग दुर्गामन्दिर के पूरब मे विद्यमान है। स्वामीजी इसी बाग के दक्षिण भाग मे एक भूगर्भगृह मे तपस्या करते थे तथा यही पर उन्होने कैवल्यधाम प्राप्त किया। आज उसी स्थान पर भास्करानन्दजी की सगमर्मर की भव्य समाधि बनी हुई है।

१९२५ वि० स० (= १८६८ ई०) मे स्वामीजी काशी मे आये। २७ वर्षो तक लगातार क्षेत्रसन्यास लेकर यही निवास किया १९५२ स० (= १८९५ ई०) तक। भक्त गयाप्रसाद के विशेष आग्रह पर इसके बाद एक बार वे अपने जन्मस्थान पर गये थे। प्रसग यह था कि कानपुर के इस धनसम्पन्न भक्त ने उस गाँव मे एक पोखरा खुदवाया था तथा स्वामीजी मूर्ति से सवलित एक मन्दिर भी बनवाया था। इन दोनो के उद्घाटन का प्रासगिक अवसर था। भक्त शिष्य के गम्भीर आग्रह को दयालु गुरु टाल नही सके और इच्छा न होने पर भी स्वामीजी वहाँ गये और कई दिनो मे ही लौट आये। यह उनकी अन्तिम यात्रा थी।

अब उनके देहत्याग का अवसर आ गया था। इसकी पूर्वसूचना स्वामीजी ने अपनी अन्तर्दृष्टि से मानो देख ली थी। इन्होने अपने एक नैतिक भक्त बाबू प्रसाद नारायण पाण्डेय (जो बलिया मण्डल के बैरिया ग्राम के निवासी तथा लेखक के जन्मस्थान के समीपस्थ उदार व्यक्ति थे) के द्वारा अपने अन्तिम विराग को प्रकाशित कराया था। स्वामीजी की इच्छा थी कि जैसे वे जीवन भर अपरिग्रही रहे, उसी प्रकार उनका अन्तिम समय भी अपरिग्रही होना चाहिए। न उनके नाम पर कोई सस्थान खोला जाय और न कोई मठ ही स्थापित किया जाय। न उनकी कोई गद्दी चलनी चाहिए और न उनके नाम पर कोई विद्यालय ही प्रतिष्ठित होवे।

सवत् १९५६ का आषाढ शुक्ल प्रतिपद् की वह मध्यरात्रि वेला थी। १८९९ ई० की ६ जुलाई की अर्धरात्रि १२ बजे परिव्राजकाचार्य महामान्य भास्करानन्द सरस्वती का महानिर्वाण सम्पन्न हो गया। "स्वामीजी ने पद्मासन पर, अपने नित्य के योगिप्रिय आसन पर, बैठे बैठे अपने नश्वर शरीर का परित्याग कर दिया। मुख सदा की भाँति प्रसन्न, नेत्रो से सर्वदा की भाँति ज्ञान सुधा की वृष्टि" (हिन्दी बगवासी, जुलाई १८९९)। अमृतबाजार पत्रिका ने (१८९९ ई० २६ जुलाई) इसकी सूचना देते हुए स्वामीजी के भव्य सात्त्विक गुणो का सकेत बडी ही सुन्दर भाषा मे, प्रौढ शब्दो मे दिया है।[1]

इस अग्रेजी वाक्य का तात्पर्य है—"वह व्यक्ति (स्वामीजी) तो चला गया, परन्तु वह

१ The man is gone but he has left behind him his own noble self, his stainless and immaculate life, his holy and saintly existence the pattern of purity— the paradigm of human perfection —A B Patrika, July 26, 1899

अपने पीछे छोड गया है अपने ही उदात्त व्यक्तित्व को और अपने निरजन एव पावनतम जीवन को, अपनी तपःपूत एव पवित्रतम सत्ता को, पवित्रता के आदर्श को और मानवीय पूर्णताओं के अनुपम उदाहरण को।' स्वामी भास्करानन्दजी के आध्यात्मिक जीवन की यह एक निष्कलक शाब्दिक झाँकी है।

त्याग की साधना

स्वामी भास्करानन्द त्याग के जीवन्त रूप थे। उनमे त्याग इतना अधिक था, अपरिग्रह की वृत्ति इतनी जागरूक थी कि अपने भक्त राजा और महाराजाओं के द्वारा सादर तथा साग्रह निमंत्रित किये जाने पर भी ये उनकी राजधानी मे न तो कभी गये और न इन्होंने उनके द्वारा प्रदत्त किसी प्रकार की आर्थिक सहायता ही स्वीकार की। काशी आने के पहले ये अपने अनावृत (नगे) शरीर पर केवल एक लँगोटी लगाये रहते थे परन्तु भूतभावन की इस भव्य नगरी मे आने पर तो इन्होंने उस नगण्य लँगोटी का भी परित्याग कर दिया और पूरे दिगम्बर वेश मे अपने आराध्यदेव शकर की प्रतिमूर्ति बनकर बैठ गये। ये अनिकेतन तो नही थे परन्तु अनावरण अवश्य थे। इनके शरीर पर झीनी चादर डाल दी जाती थी जब कोई विशिष्ट व्यक्ति विशेष कर विदेशी इनके दर्शन के लिए आता था। इनका जीवन तपःपूत था। इनके जीवन मे एक ही धारा प्रवाहित होती थी और वह थी अखण्ड तपस्या की। ये आनन्द बाग (दुर्गाकुण्ड) के एक भूभाग मे साधना और तपस्या किया करते थे। आनन्द बाग का वह स्थान आज भी सुरक्षित है जहाँ ये समाधि लगा कर बैठा करते थे। इन्होने क्षेत्र-सन्यास ले लिया था। अतः काशी से बाहर जाने की कथा तो दूर रही, ये अपनी साधना स्थली से भी कभी बाहर नही जाते थे।

आकर्षण के केन्द्र

ऐसी दिव्य विभूति के प्रति जनसाधारण का आकर्षित होना स्वाभाविक था। धनी मानी राजा महाराजा इनके अलौकिक व्यक्तित्व से प्रभावित होकर इनके उपदेश सुनने के लिए आया करते थे। अमेठी के **राजा लालमाधव सिंह** इनके परमनिष्ठ भक्त और शिष्य थे। उन्होंने ही भास्करानन्दजी को अपने आनन्द बाग मे तपस्या के लिए स्थान दिया था। बडहर रियासत की **रानी वेदशरण कुँअरि** स्वामीजी की अनन्य सेविका तथा शिष्या थी। अयोध्या के राजा ददुआजी ने स्वामीजी को अपनी राजधानी मे ले जाने के लिए बडी प्रार्थना की, बडा ही आग्रह किया परन्तु स्वामीजी ने इसे स्वीकार नही किया। नागोद (मध्यप्रदेश) के राजा **यादवेन्द्र सिंह** स्वामीजी के उतने ही बडे भक्त थे, जितने बडे श्रद्धालु थे काशीनरेश महाराजा प्रभुनारायण सिंह। चाँदपुर के राजा स्वामीजी के परम भक्त थे और वे इनकी प्रतिमा बनाकर घर पर ही इनकी पूजा करते थे।

चमत्कार

भास्करानन्दजी सिद्ध महात्मा थे। इनकी वाणी सिद्ध थी। अतः ये अपने पवित्र मुँह से जो भी आशीर्वाद देते थे उनका प्रत्यक्षफल दिखाई पडता था। इनके अनेक चमत्कारो की कथा प्रसिद्ध है जिनमे से दो-तीन का ही उल्लेख पर्याप्त होगा।

(१) एक बार काशी के ब्रह्मनाल मुहल्ले के निवासी प० सीतलप्रसादजी का नौजवान पुत्र मकान की ऊपरी छत से गिर गया था जिसके बचने की कोई आशा नही थी। वे घबरा कर स्वामीजी के पास पहुँचे और उनसे अपना दुखड़ा सुनाते हुए कहा कि पुत्र के बचने की

कोई आशा नही है । स्वामीजी ने उसे सान्त्वना देते हुए भगवान् का चरणामृत उसे देकर पुत्र को पिला देने के लिए कहा । सीतलप्रसादजी ने यह चरणामृत पुत्र को पिला दिया जिसके फलस्वरूप उनका एकलौता मरणासन्न पुत्र जीवित हो गया । इस घटना का उल्लेख श्रीशिवकुमार शास्त्री ने 'यतीन्द्रजीवनचरितम्' मे किया है ।

(२) एक बार प्रयाग की प्रसिद्ध वेश्या जानकी बाई—जो छप्पन छुरी के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध थी—स्वामीजी के पास आई और कण्ठ की रूक्षता की बात कह सुनाई । स्वामीजी ने उसे अपने समीप भक्ति-सगीत सुनाने का आदेश दिया और उसे आशीर्वाद दिया कि तुम्हारा गला ठीक हो जाएगा । अकस्मात् चोर एक दिन उसके घर में घुस आये और उसके गले पर चाकू से प्रहार किया । सयोगवश इसी प्रहार के फलस्वरूप उसका कण्ठावरोध नष्ट हो गया और वह मधुर गीत गाने लगी । फिर तो बाद मे इसने बडा धन तथा यश कमाया ।

(३) काशी के तत्कालीन अग्रेज कलक्टर की पत्नी लन्दन मे बीमार पडी हुई थी । उसका कुशल-समाचार न मिलने कारण कलक्टर साहब बहुत परेशान थे । उन्होने स्वामीजी के पास अपना कष्ट सुनाया । स्वामीजी ने कहा कि तुम्हारी पत्नी सकुशल है और शीघ्र उसकी कुशलता का समाचार तुम्हे मिल जाएगा । इसके एक सप्ताह बाद उसके पास पत्नी का पत्र आ गया । उसने स्वामीजी के पास आकर अपनी कृतज्ञता प्रकट की ।[१]

(४) एक नि सन्तान ब्राह्मण को स्वामीजी की अनुकम्पा से पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई थी । वह स्वामीजी से पुत्र की प्रार्थना किया करता था । स्वामीजी उसकी बाते सुनते और टाल देते थे । एक बार वह आया और अपनी पूर्व प्रार्थना को दुहराया । स्वामीजी प्रसन्न मुद्रा में थे । उन्होने कहा कि यदि वह इस समय अपनी सहधर्मिणी से समागम करे, तो उसे वाञ्छित फल की प्राप्ति होगी । ब्राह्मण ने तदनुसार ही आचरण किया और सफलमनोरथ हुआ ।[२]

(५) बाबू रमेशचन्द्र मजूमदार नामक सज्जन ने स्वामीजी की एक अलौकिक घटना का वर्णन किया है । वे फोटोग्राफर थे । एक दिन वे विशुद्धानन्द सरस्वती के यहाँ काश्मीरनरेश के फोटो खीचने के लिए गये थे, परन्तु सरस्वतीजी ने फोटो लेने की आज्ञा नही दी । हताश घर लौट आये । दूसरे दिन प्रात भास्करानन्दजी ने उन्हे बुला भेजा और पूछा -क्यो, कल विशुद्धानन्दजी ने तुम्हे फोटो नही लेने दिया । आज मेरे यहाँ ले सकते हो । काश्मीर के सेनाध्यक्ष, सर रामसिंह आने वाले है । रमेश बाबू ने स्वामीजी की आज्ञा से दोनो का एक ग्रुप फोटो लिया जो भास्करानन्दचरितामृत मे छपा है, परन्तु भास्करानन्दजी गत दिन की घटना क्योकर जान गये । रमेश बाबू ने किसी से इसे नही कहा था । 'अगमजानी' इसे ही तो कहते है जो अगम्य को जान जाय । स्वामीजी ऐसे ही तापस थे ।

स्वामीजी के ग्रन्थ

स्वामी भास्करानन्दजी ने साधना एव तपस्या से अपना कुछ समय निकाल कर सरस्वती की सेवा मे भी लगाया । अध्यात्मविषयक ग्रन्थो की सुलभ सुबोध व्याख्या लिखकर उन्होने अध्यात्मप्रेमियो का बड़ा उपकार किया । इसी प्रकार कठिन तथा दुरूह काव्य की सक्षिप्त

---

१ इन घटनाओं का उल्लेख लेखक से स्वामीजी के सेवक के पौत्र मणिराम मिश्र ने किया जो आज भी स्वामी जी की पूजा-अर्चा मे अपना दिन बिताते है तथा उनके समाधि-मन्दिर के नैष्ठिक व्यवस्थापक है ।

२ भास्करानन्द-चरितामृत (बँगला), पृ० २६६ ।

टिप्पणी का निर्माण कर उन्होने काव्यप्रेमियों का कम उपकार नही किया। स्वामीजी के द्वारा प्रणीत ग्रन्थो का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है -

(क) स्वराज्यसिद्धि की टीका—वेदान्त का यह कठिन ग्रन्थ व्याख्या की अपेक्षा रखता है। इस आवश्यकता की पूर्ति स्वामीजी की टीका से भली भाँति हो जाती है। इस ग्रन्थ मे विशुद्ध ज्ञान के समाश्रयण से मोक्षप्राप्ति के मार्ग का निश्चयरूपेण उपाय प्रदर्शित किया गया है। स्वामीजी की टीका सुबोध एव सरल है। रचनाकाल है १९४८ विक्रमी (= १८९१ ई०)। प्रकाशन काशी से १९५३ वि० स० मे (= १८९६ ई०)।

(ख) दशोपनिषद् की टीका - जिसका नाम प्रकाश है। स्वामीजी ने दशो उपनिषदों के ऊपर अपनी यह सुबोध व्याख्या प्रस्तुत की है। उपनिषदो के ऊपर व्याख्याओं की कमी नहीं है। स्वामी भास्करानन्दजी का लक्ष्य सामान्य अध्यात्म-तत्त्व जिज्ञासु जनो के लिए उपनिषदो के महनीय एव गूढ तत्त्वो का उद्घाटन करना है। शैली बड़ी ही सीधी सादी है। टीका के सहारे साधारण संस्कृतज्ञ भी उपनिषदो के दुर्ग मे प्रवेश कर सकता है—इसमें सन्देह करने के लिए स्थान नहीं है। रचनाकाल है १९५२ विक्रमी सवत् (= १८९५ ई०)। प्रकाशन काशी से १९५३ वि० स० (= १८९६ ई०)। इन दोनो ग्रन्थो का प्रकाशन तो स्वामीजी के जीवनकाल मे हुआ था परन्तु तीसरे ग्रन्थ का प्रकाशन स्वामीजी की निर्वाणप्राप्ति के अनन्तर ही हो सका।

(ग) नलोदय-काव्य की संक्षिप्त व्याख्या—नलोदय काव्य अपनी यमक सम्पत्ति के लिए नितान्त प्रसिद्ध है। कुछ विद्वान् इसे महाकवि कालिदास की ही रचना मानते है परन्तु नलोदय की यमकमयी रचनाशैली कालिदास की पद्धति से नितान्त भिन्न है। इसके वास्तविक रचयिता **रविदेव** हैं। रामर्षि (१६०० ई० लगभग) की प्राचीन टीका उपलब्ध है। स्वामीजी की टिप्पणी का प्रकाशन **'सुबोधिनी'** के साथ हुआ है जिसके रचयिता पण्डित **प्रज्ञाकर मिश्र** है जो **आनन्दकर मिश्र** के पौत्र तथा **विद्याकर मिश्र** के पुत्र है। सुबोधिनी के विवरण से ग्रन्थकार मैथिल पण्डित प्रतीत होता है। यह सुबोधिनी टीका विस्तृत तथा पाण्डित्यपूर्ण है जिसकी सहायता से ग्रन्थ का आशय भली भाँति समझा जा सकता है। स्वामी भास्करानन्द जी की टीका सुबोधिनी को सचमुच सुबोधिनी बना देती है। ग्रन्थ के अन्त मे स्वामीजी का यही कहना है—

सुबोधिनी सुबोधिनी यथा भवेन्नलोदये।
तथा श्रमोऽयमर्भकप्रमोदकृद् यतेरणुः ॥

स्वामीजी ने स्वल्पश्रम से साध्य अपनी टीका को जो 'अर्भक प्रमोदकृत्' अर्थात् बालको को आनन्द देने वाली लिखा है वह यथार्थ है। इसका प्रकाशन स्वामीजी के ही अनन्य शिष्य अयोध्यानरेश महाराज प्रतापनारायण सिंह के० सी० आई० ई० की आज्ञा से किया गया। ग्रन्थ काशी के ही तत्कालीन प्रसिद्ध यन्त्रालय 'भारतजीवन' मे मुद्रित किया गया था। प्रकाशन वर्ष १९५९ वि० स० अर्थात् १९०२ ई० है। स्वामीजी के निधन के दो वर्ष अनन्तर इसका प्रकाशन हुआ। सुबोधिनी के प्रणेता प० प्रज्ञाकर मिश्र मैथिल का परिचय ज्ञात नही है, अन्वेष्टव्य है।

स्वामी भास्करानन्दजी ने 'अनुभूति-विवरणादर्श' नामक संस्कृत ग्रन्थ का प्रणयन किया था। इसकी टीका पण्डित सरयूप्रसाद मिश्र ने की थी। स्वामीजी के नैष्ठिक भक्त प्रसिद्ध चौधरी महादेवप्रसादजी इस कार्य के लिए उक्त पण्डितजी को छ मास २०) मासिक वृत्ति देते थे।

देखिये मिश्रजी के रघुवंश पद्यानुवाद का आरम्भिक विवरण पृ० १३, जो १६११ ई० मे प्रकाशित हुआ।

स्वदेशी भक्त तथा दर्शकवृन्द

स्वामी भास्करानन्दजी के आवास का द्वार सब भक्तो के लिए खुला रहता था चाहे वह धनसम्पन्न सेठ हो, चाहे प्रभूत भूसम्पत्ति का स्वामी राजा महाराजा हो अथवा वह नितान्त अकिञ्चन सामान्यकोटि का व्यक्ति हो। इनके यहाँ भक्तो का ताँता लगा रहता था। स्वामीजी के केवल दिव्य दर्शन पाने के लिए अथवा अपनी किसी दुर्लभ अभिलाषा की सिद्धि के लिए दूर दूर से भक्तजन तथा दर्शक आया करते थे। राजा महाराजा लोग अपनी बढ़िया सवारी छोडकर अपने आवास स्थान से आनन्दबाग तक पैदल ही चलकर आने मे अपना अहोभाग्य मानते थे। काश्मीर के नरेश दलबल के साथ स्वामीजी के दर्शनार्थ नगर के अपने निवास स्थान से दुर्गाकुण्ड तक पैदल ही जाया करते थे। १८६६ ई० की १४ जनवरी को तत्कालीन काश्मीरनरेश महाराज सर प्रताप सिंह, अपने मध्यम भ्राता राज्य के सेनापति राजा रामसिंह तथा कनिष्ठ भ्राता राजा अमरसिंह के साथ आनन्दबाग मे स्वामीजी के दिव्यदर्शन की इच्छा से पैदल ही पधारे थे। इसका विवरण देते हुए काशी के प्रख्यात समाचारपत्र **भारतजीवन** ने १८ जुलाई १८६६ के अंक मे यह समाचार दिया था

"जिस समय श्रीमान् (काश्मीराधिपति) काशीजी मे स्वामीजी के दर्शन के लिए आए थे उस समय जिन लोगो ने देखा है, वे कह सकते है कि श्रीमान के रोम रोम मे स्वामीजी की भक्ति का उमंग टपका पडता था।"

स्वामीजी के प्रति दर्शको मे इतनी भक्ति तथा अनुरक्ति थी कि वे केवल दर्शन की लालसा से ही सैकडो मील की दूरी पार कर काशी आया करते थे। इस तथ्य का उल्लेख अमेरिकन साहित्यिक मार्क ट्वेन ने बडे ही उल्लास से किया है।[१]

अयोध्यानरेश सर प्रतापनारायण सिंह बहादुर स्वामीजी के बडे ही अनुरागी भक्तो मे अन्यतम थे। उनके दर्शन के निमित्त वे काशी अनेक बार आया करते थे। एक समय की घटना की सत्यता का प्रमाण उनके ही पत्र से मिलता है। उन्हे आये अनेक दिन हो गये थे। वे प्रतिदिन स्वामीजी का दर्शन करते एवं उपदेशामृत का पान कर अपने को कृतकृत्य करते थे। उसी समय अयोध्या से उनके लिए तुरन्त लौट जाने की अकस्मात् सूचना मिली। शासनिक कार्य था नितान्त आवश्यक। उन्होने स्वामीजी से लौटने के लिए आदेश पाने की प्रार्थना की, परन्तु स्वामीजी ने उन्हे कडे शब्दो मे रोक दिया। परन्तु कार्य की आवश्यकता की दृष्टि से वे प्रार्थना करते ही रहे। अन्त मे बाध्य होकर स्वामीजी ने कहा कि यदि इतना अधिक आवश्यक काम उपस्थित है, तो तुम जा सकते हो, परन्तु जिस गाड़ी से जाने के लिए उद्यत हो, उसे छोड दो। उसके बाद वाली ट्रेन से जा सकते हो। स्वामीजी का आदेश पाकर राजासाहब काशी स्टेशन पर पहुँचे दूसरी गाडी से जाने के लिए। स्टेशन पर पहुँचने पर उनके आश्चर्य की सीमा न रही जब स्टेशन मास्टर से पता चला कि इससे पहले चलने वाली ट्रेन आगे जाकर ज्ञानपुर के पास दुर्घटनाग्रस्त हो गयी थी। राजासाहब की जान मे जान आई

---

१ Suddenly a man came up who had travelled hundreds of miles, for this very object
—Mark Twain in the Englishman, Calcutta, 1896

और स्वामीजी का आदेश मानने से उन्हें एक महान् दुर्घटना से बच जाने का सौभाग्य प्राप्त हो सका।

आगामी घटना की जानकारी का यह अद्भुत उदाहरण स्वामीजी की अलौकिकता का स्पष्ट परिचायक है।

भिनगा के राजा उदयप्रताप सिंह स्वामीजी के दीक्षित शिष्य थे। अपनी राजधानी से आने में उन्हें अनेक अड़चनें होती थीं। फलतः उन्होंने काशी में ही अपना निजी मकान बनाने की योजना बनाई जिसमें वे सस्त्रीक काशीवास कर सकें। इसके लिए उन्होंने अपने गुरु के समीप ही स्थान चुना और अपना विशाल महल बनवाया। यह भवन दुर्गाजी के मन्दिर के पास 'आनन्दबाग' के समीप ही दक्षिण ओर है। यहीं वे रहते थे जहाँ से स्वामीजी के दर्शन तथा सत्संग का लाभ उन्हें अनायास ही प्राप्त होता था। राजा साहब बड़े विरक्त पुरुष थे। उन्होंने ही क्षत्रिय बालकों की शिक्षा दीक्षा के लिए काशी में एक विद्यालय की स्थापना की जो आज बढ़कर एक डिग्री कालेज के रूप में विराजमान है। 'उदयप्रताप कालेज' के संस्थापक राजासाहब ही तो थे।

इसी प्रकार दरभंगानरेश राजा लक्ष्मीश्वर सिंह स्वामीजी की बड़ी भक्ति करते थे। उन्होंने लिखा है "मैंने अपने जीवन में अनेक सुख समृद्धि की प्राप्ति की है, परन्तु उससे, इस विशाल भूसम्पत्ति से जो सुख मिलता था, वह केवल बाहरी था। स्वामी भास्करानन्दजी महाराज के प्रथम दिव्यदर्शन का सौभाग्य जिस दिन मुझे प्राप्त हुआ, उसे मैं अपने जीवन का परम सौभाग्य का दिन मानता हूँ और मेरे हृदय में जो प्रेमोल्लास उत्पन्न हुआ, वह मेरे जीवन की एक अविस्मरणीय अनुभूति है।" वे जीवनभर स्वामीजी के चरणसेवक बने रहे।

स्वामीजी के तीन शिष्यों ने उनकी कीर्ति को फैलाने तथा सुरक्षित रखने का महनीय कार्य किया है। इनमें प्रथम शिष्य **चौधुरी महादेवप्रसाद**—जिला मुजफ्फरपुर (बिहार) के नानपुर परगना के जमींदार चौधरी रुद्रप्रसादजी के पुत्र थे। इन्होंने ही कायस्थ पाठशाला की प्रयाग में स्थापना की। इन्होंने शिक्षा के प्रचार में अपनी समस्त सम्पत्ति का दान कर दिया था। इन्होंने काशी के पण्डित महामहोपाध्याय शिवकुमार शास्त्री को प्रेरित कर उनसे भास्करानन्दजी का जीवनचरित संस्कृत में लिखवाया जो **यतीन्द्रजीवनचरितम्** के नाम से प्रकाशित है। इस काव्य में स्वामीजी का जीवनचरित तथा उपदेश दोनों सम्मिलित हैं। इनके दूसरे शिष्य बलिया जिले के बैरिया गाँव के निवासी जमींदार **श्री पद्मदेव नारायण पाण्डेय** थे जिन्होंने स्वामीजी के जीवनकाल में ही उनकी प्रतिमा का निर्माण करा कर आनन्दबाग में ही एक छोटे से मंदिर में स्थापना की जो आज भी उपासना का केन्द्र है। इस प्रकार स्वामीजी अपने जीवनकाल में ही पूजे जाने लगे थे। इनके तीसरे शिष्य थे कानपुर के उद्योगपति गयाप्रसाद खत्री। इनको कोई सन्तान नहीं थी, अतः इन्होंने अपनी सम्पत्ति की व्यवस्था के लिए एक ट्रस्ट 'छोटेलाल-गयाप्रसाद' के नाम से स्थापित किया। इसी ट्रस्ट के द्वारा आनन्दबाग, वाराणसी में स्वामीजी की समाधि पर एक संगमरमर का बहुत ही सुन्दर मंदिर सन् १९१० ई० में बनाया गया जो आज ७० वर्ष बीत जाने के बाद भी वैसा ही सुन्दर है। इन्हीं तीनों शिष्यों ने इनकी कीर्ति को भारत में फैलाने का श्लाघनीय प्रयास किया। इसी ट्रस्ट (न्यास) के न्यासियों ने स्वामीजी के जन्मस्थान गाँव मैथेलाल में एक छोटा मन्दिर बनवाया है तथा वहाँ के लोगों की सुविधा के लिए एक तालाब भी खुदवा दिया है।

स्वामीजी के शिष्यों की संख्या बड़ी विस्तृत रही। ऊपर विवरण में उनके उत्तरप्रदेशीय

शिष्यो का ही परिचय दिया गया है। बगाली सज्जनो मे भी उनके शिष्यो तथा परिचितो की कमी नही थी। काशी के तथा बाहर के बगालियो मे गण्यमान्य व्यक्ति उनके प्रेमी एव प्रशसक रहे है। कतिपय प्रधान व्यक्तियो का ही निर्देश यहाँ किया जा रहा है -

विहार प्रान्त मे शिक्षा के प्रसार के विशेष उत्तरदायी विशिष्ट शिक्षाधिकारी **श्री भूदेव मुखोपाध्याय** स्वामीजी के भक्त शिष्यो मे अन्यतम थे। वे इनके दर्शनार्थ बहुश आया करते थे। आनन्दबाग मे स्थापित स्वामीजी की प्रस्तरमूर्ति के नीचे यह परिचयात्मक पद्य भूदेव बाबू की ही मनोज्ञ रचना है--

जातो ब्रह्मकुले स्वतो हि पवित., पूत. पुनर्विद्यया
ज्ञानेन ज्वलितस्तपोभिरुदितो ब्राह्म महो मूर्तिमत् ।
भित्त्वा सतमस प्रबोध्य जगतीमानन्दयन् प्राणिनो
ज्ञानप्रेममयोऽर्कचन्द्रमिलित श्रीभास्करानन्दक ॥

काशी के ही तत्कालीन प्रख्यात होमियोपैथ डॉ० ईश्वरचन्द्र चौधरी स्वामीजी के अन्यतम भक्त शिष्य थे। उनके पुत्र को स्वामीजी ने नीरोग किया था। वह अष्टादशवर्षीय बालक रोग से नितान्त आक्रान्त था। पिता ने स्वामीजी से उसकी दशा का वर्णन कर औषध के लिए प्रार्थना की। स्वामीजी ने प्रसादरूप मे एक फल खाने को दिया। उसी के सेवन से वह भलाचगा हो गया। इसी प्रकार १८६४ ई० मे चौधरीजी की भगिनी के ऊपर कालरा का भीषण आक्रमण हुआ, इतना अधिक कि हाथ पैर सब ठढे पड गये। जीवन की आशा क्षीण हो गई। स्वामीजी ने गुलाब का फूल सूँघने को दिया। रोगिणी ने सूँघा जिससे वह विकट सकट दूर हो गया। वह बच गई। फलत चौधरीजी स्वामीजी को देवस्वरूप मानते थे।

कलकत्ते मे बडे बडे वकील, जज, डाक्टर तथा शिक्षाविद् स्वामीजी के दर्शनार्थ आते थे और सफलमनोरथ होकर लौटते थे। ऐसे व्यक्तियो मे मुकुन्ददेव मुखोपाध्याय (डिप्टी मजिस्ट्रेट), तेजचन्द्र मुखर्जी (सेशन जज), महाराजा यतीन्द्रमोहन टैगोर (लक्षपति जमीन्दार), प्रतापचन्द्र मजूमदार (विख्यात होमियोपैथिक डाक्टर) आदि महानुभाव स्वामीजी के प्रशसक, आराधक एव उपासक भक्त थे। ऐसे ही भक्तजनो मे सुरेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय का नाम बडे आदर से लिया जा सकता है। वे स्वामीजी के अनन्य सेवक तथा नैष्ठिक भक्त थे। उन्होने बगला मे स्वामीजी की बडी ही प्रामाणिक अथच प्रमेयबहुल तथ्यपूर्ण जीवनी **भास्करानन्दचरितामृत** के नाम से लिख कर प्रकाशित की है। बडी छानबीन के साथ इसका प्रणयन हुआ है। चमत्कारी घटनाओं की सचाई पर विशेष अनुसन्धान किया गया है और सत्यापित होने पर ही उन्हे ग्रन्थ मे स्थान दिया गया है। स्वामीजी के कीर्तिप्रसार मे इससे अधिक सेवा हो ही क्या सकती है।[१] स्वामीजी ने कितने नास्तिको को अपने उपदेश से आस्तिक बनाया, इसकी गणना नही की जा सकती।

विदेशी भक्त और दर्शकवृन्द

स्वामी भास्करानन्दजी के त्याग एव तपस्या की, अलौकिक शक्ति एव आध्यात्मिक चमत्कार की कीर्ति उत्तरप्रदेश मे इतनी फैली कि काशी मे आने वाला प्रत्येक विदेशी अपनी

१ कलकत्ते से प्रकाशित प्रथम सस्करण १९०६ ई० तथा तृतीय परिवर्धित सस्करण १९२२ ई०। इस परिच्छेद मे वर्णित घटनाओं के लिए लेखक सुरेन्द्रबाबू का बडा आभार मानता है। इसके लिए उनका यही ग्रन्थ प्रधान आधार है।

भारतयात्रा को तब तक पूर्णतया सम्पन्न नही मानता था, जब तक वह स्वामीजी के चरणो का दर्शन नही कर लेता था। उनके विदेशी भक्तो की एक लम्बी परम्परा है जिसका पूरा परिचय दीर्घ स्थान की अपेक्षा रखता है। अनेक विदेशी भक्त स्वामीजी से मन्त्रदीक्षा देने के लिए विशेष आग्रह करते थे, परन्तु वे वैदिक धर्मावलम्बियो को छोड़कर किसी भी अन्य-धर्मावलंबियो को कभी दीक्षा नही देते थे। ईसाई धर्म के मुख्य तथ्यो से उनका परिचय प्रशसनीय था और वे उनको स्वधर्म की विधिवत् उपासना करने के लिए ही शिक्षा देते थे। वे विदेशी भक्त स्वामीजी के सामने नतजानु होकर इनके दक्षिण हाथ का चुम्बन करते थे। अपनी भक्ति एव आस्था दिखाने का यही पश्चिमी तरीका है। ऐसे भी भक्त होते थे साहब तथा मेम दोनों ही, जो केवल दर्शनमात्र के लिए सुदूर विदेश से आकर अपनी भक्ति दिखाते तथा स्वामीजी का दर्शन कर अपनी चिर अभिलाषा पूरी करते स्वामीजी के भक्तो एव दर्शको मे स्वदेशी एव विदेशी व्यक्तियो की गणना की सख्या अधिक है। यूरोप का कोई भी ऐसा देश नही था जहाँ का कोई निवासी भारतयात्रा के प्रसग मे श्री भास्करानन्दजी का दर्शन कर अपना अहोभाग्य न मानता हो। ऐसे भक्तो तथा दर्शको के नाम तथा परिचय के लिए सुरेन्द्र बाबू के बँगला ग्रन्थ का परिशिष्ट देखना नितान्त आवश्यक है।[१]

प्रयाग मे उस समय गत शताब्दी के उत्तरार्ध मे बेचलर एण्ड को० नामक एक प्रतिष्ठित सस्था थी जो जर्मनी से सगमरमर के छोटे टुकडो पर स्वामीजी की छोटी शुभ्र मूर्ति बनवाकर मँगाती थी और धड़ल्ले से दस रुपयो मे बेचती थी। ऐसी लोकप्रियता विराजती थी स्वामीजी की सुनते है कि जर्मन सम्राट विलहेल्म द्वितीय के हाथो कभी वह मूर्ति पडी। वह उससे इतना चमत्कृत हुआ कि उसने अपने विशेष अधिकारी को, जिसका नाम गफ कनिगम मार्क था, काशी स्वामीजी को जर्मनी लाने के लिए भेजा। वह काशी आया और जर्मन सम्राट् के विशेष आग्रह से स्वामीजी को जर्मनी चलने के लिए कहा, परन्तु स्वामीजी ने जाना अस्वीकार कर दिया, तथापि वे स्वामीजी से उनके स्वास्थ्य तथा उनके आशीर्वाद के लिए सर्वदा पत्राचार करते थे।[२]

काशी तथा उत्तरप्रदेश के अग्रेज अधिकारी इगलैण्ड मे स्थित अपने परिवार के कुशलक्षेम के लिए स्वामीजी की सेवा मे सर्वदा उपस्थित होते थे। वे पुत्र की कामना से तथा आर्थिक अभ्युदय के लिए प्रार्थी होकर काशी आते और स्वामीजी का आशीर्वाद लेकर अपने स्थानो पर चले जाते तथा कालान्तर मे सफल मनोरथ होते थे। अनेक विदेशी अपने कुतूहल की शान्ति के लिए भी आते, परन्तु विदेश के सस्कृत-प्राध्यापक दर्शन एव अध्यात्म-विषयक अपनी जिज्ञासा की शान्ति के लिए विशेषकर स्वामीजी की सेवा मे उपस्थित होते। जर्मनी

१ द्रष्टव्य—श्री सुरेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय प्रणीत 'भास्करानन्दचरितामृत' नामक बँगला ग्रन्थ, पृष्ठ २३७–७४।

२ इसी जर्मन अधिकारी ने जर्मनी से स्वामीजी के आशीर्वाद के लिए जर्मन साम्राज्य के सस्थापक बादशाह विलहेल्म प्रथम तथा उनके पौत्र तत्कालीन बादशाह का फोटो भेजा था। उसका पत्र इस प्रकार है—

5th February, 1895

Dear Sir,

I have a special pleasure in sending you the photos of the Emperor Wilhelm I, the founder of the German Empire and of his grandson, our present Emperor

I wish you health and long life

Your most obedient servant

Graf Konigs Mark

To, Swami Bhaskarananda (भास्करानन्दचरितामृत मे उद्धृत, पृ० २५८)।

के प्रख्यात दार्शनिक डॉ० पाल डायसन ने अपने यात्राविवरण मे स्वामीजी से अध्यात्मविषयक समस्याओं का सुन्दर तथा सन्तोषजनक समाधान पाकर अपने सतोष का विशेष विवरण दिया है। स्वामीजी के विदेशी भक्तो तथा दर्शको मे दो तीन व्यक्तियो का ही सक्षिप्त परिचय यहाँ देना सामयिक होगा।

उत्तरप्रदेश के तत्कालीन छोटे लाट लाटूश साहब समय समय पर अपनी धर्मपत्नी के साथ काशी के कलक्टर तथा कमिश्नर के सग बिना किसी सूचना के ही स्वामी भास्करानन्दजी के दर्शन के निमित्त पधारते थे जिससे उन्हे एकान्त मे निश्चिन्त वार्तालाप करने का अवसर मिलता था। पूर्वसूचना होने पर काशी के गण्यमान्य व्यक्तियो से सम्पर्क होने के कारण स्वामीजी के दर्शनो मे बाधा पडती थी। स्वामीजी के व्यक्तित्व के विषय मे उनका महत्त्वपूर्ण कथन नीचे दिया जा रहा है जो उनके पत्र से यहाँ उद्धृत है।[१]

स्वामीजी और मार्क ट्वेन

अमेरिका के प्रख्यात हास्यलेखक मार्क ट्वेन अपनी भारतयात्रा के प्रसग मे काशी आये थे और स्वामीजी का दर्शन कर उन्होने अपने को कृतज्ञ तथा सफलमनोरथ माना था। बात यह है कि कोई भी विदेशी स्वामी भास्करानन्दजी के दर्शन के बिना अपनी काशीयात्रा को पूरा सम्पन्न मानता ही न था। मार्क ट्वेन ने अपनी प्रतिक्रिया का विवरण विस्तार से अपने 'मोर ट्रैम्प्स अब्रोड' ग्रन्थ मे तथा कलकत्ते के टाउनहाल मे अपने अभिनन्दन के प्रसग मे दिया है। वे स्वामीजी को एक अद्भुत व्यक्ति मानते थे। उन्होने कहा कि "भारत के द्वारा किये गये भौतिक उन्नयनो की बात तो मै पहले से ही जानता हूँ, परन्तु स्वामीजी के दर्शन के समान अनुभव तो जीवनभर मे एक ही बार होता है।" इससे बढ़कर महत्त्वपूर्ण उद्गार और हो ही क्या सकता है ? "मै यह कहने मे बिन्दुमात्र भी सकुचित नही होता कि मैने अपने समस्त भ्रमणो मे इस सन्यासी के समान आश्चर्यजनक मनुष्य किसी को देखा ही नही। इनका दर्शन पूरे जीवन मे एक बार ही होता है, दुबारा नही होता।"[२]

मार्क ट्वेन ने अपनी यात्रा के विवरण मे स्वामीजी के निवास स्थान 'आनन्द बाग' मे पहुँचने का वर्णन किया है—"जब हम लोग वहाँ पहुँचे, तब हम लोगो को इधर उधर घूमकर प्रतीक्षा करनी पडी थी। भेट होने की आशा भी क्षीण थी, क्योंकि उस दिन स्वामीजी ने राजाओं और महाराजाओं से भेट करना अस्वीकार कर दिया था और केवल साधारणजनो से ही भेट करते थे। ऊँचा पद उनकी दृष्टि मे कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु नही है। वे कभी कभी राजा से ही भेट करते है और भिखमगो को बाहर निकाल देते है। वे ही दूसरे समय भिखमगो का ही स्वागत करते है और राजाओं को दूर हटा देते है।"[३] ऐसे विलक्षण थे स्वामीजी।

---

१ The manners of the Swami were those of a perfect gentleman, free from any embarassment or self assertion, anxious to give pleasure to his guest and to show that he was pleased and interested in the conversation

२ I have no hesitation in saying that in all my travels, I have never seen anybody so wonderful as that recluse These modern improvements have been familiar to me for years but such an experience as the other is only met with once in a life time

३ When we arrived, we also had to stand around in the garden (Ananda bag) a little while and wait and the outlook was not good, for he (Swamiji) had been turning away Rajas and Maharajas that day and receiving only the riffraff—Rank is nothing to him. To him all men are alike Sometimes he receives a prince and denies himself to a pauper, at other times he receives the pauper and turns the prince away

—More Tramps Abroad

कलकत्ते के टाउनहाल की सभा मे मार्क ट्वेन ने कहा था स्वामीजी ऐसे व्यक्ति है जो भारतवर्ष के एक छोर से दूसरे छोर तक अपनी तपस्या एव पवित्रता के लिए पूजे जाते है । सभा मे उन्होने निरावरण स्वामीजी के फोटो को सबसे दिखलाया, परन्तु उनमे न कोई हॅसी की बात थी और न किसी अपमान की छाया । वे अमेरिका के सबसे प्रख्यात हास्यलेखक है, जिनके स्वभाव मे हॅसोडपना कूट कूट कर भरा हुआ है, परन्तु जब वे गम्भीर होते है, तो नितान्त गम्भीर होते है । स्वामीजी के फोटो दिखलाते समय वे नितान्त गम्भीर भाव से बोलते थे । उस सभा मे उत्तेजित होकर मार्क ट्वेन ने कहा -"वे एक देवता है ।"[१] मार्क ट्वेन से स्वामीजी का यह साक्षात्कार ४ फरवरी, १८९६ ई० को आनन्द बाग मे हुआ था ।

मार्क ट्वेन ने अपनी 'मोर ट्रैम्प्स एब्रोड' नामक प्रसिद्ध पुस्तक मे स्वामी भास्करानन्दजी के अतुलनीय व्यक्तित्व का वर्णन बडे ही चमत्कारी शब्दो मे किया है ।[२]

उनका कहना है कि ताजमहल की बडी ख्याति है, नितान्त प्रसिद्ध है । परन्तु आश्चर्यजनक वस्तु की दृष्टि से वह क्या है ? एक तुच्छ सामान्य ही वस्तु है । उसकी स्वामीजी जैसे महापुरुष के साथ कथमपि तुलना हो ही नही सकती । वे एक महनीय रहस्यमय व्यक्तित्वसम्पन्न महापुरुष है जिन्हे करोडो मनुष्य श्रद्धापूर्वक, धार्मिक आवेग से एव बिना किसी सन्देहलेश के हृदय मे साक्षात् ईश्वर मानते है तथा नम्रता एव कृतज्ञतापूर्वक ईश्वर के रूप मे पूजन करते है । उनके शब्दो का चमत्कार दर्शनीय है ।

स्वामीजी और जंगी लाट

१८९८ ईस्वी के २० दिसम्बर को भारतसरकार के सेना के सर्वोच्च अधिकारी जगी लाट (कमान्डर इन चीफ) का आगमन स्वामीजी के दर्शन के निमित्त काशी के 'आनन्द बाग' मे हुआ । जगी लाट का नाम था सर विलियम लाकहर्ट, जिन्होने अफगान युद्ध मे बहादुर अफरीदियो को अपनी सैनिक योग्यता एव वीरता के कारण परास्त किया था और इसी कारण विश्वभर मे अग्रेजी शासन की प्रतिष्ठा के उन्नायको मे गिने जाने लगे थे । लाट साहब के साथ उनकी पत्नी, उनके सैनिक सचिव कर्नल वी० डफ०, काशी के कलक्टर तथा कमिश्नर सब दल-बल के साथ उपस्थित थे । जगी लाट के लिए स्वामीजी के आवास पर आना कोई नई बात न थी, क्योकि इससे पूर्व भी अनेक वाइसराय (बडा लाट) स्वामीजी के दर्शन के लिये आये थे और दर्शन कर अपनी अभिलाषा पूरी की थी । स्वामीजी ने उनका बडा स्वागत किया और अपने द्वारा उपहार मे दी गई मालाएँ लाटसाहब तथा उनके साथियो को पहना दी । वार्तालाप का क्रम आरम्भ हुआ । लाटसाहब अफरीदियो को परास्त करने मे अपनी बहादुरी की डीग हॉकते हुए अभिमान से फूल गये और उसका प्रदर्शन भी उन्होने अपने उच्च स्वर से बडी भावुकता से कर दिखलाया ।

स्वामीजी वृत्तान्त सुनकर मुस्कराते रहे । इस समय एक ऐसी घटना घटी जिसे सुनकर

---

१ "He is a man who is worshipped for his holiness from one end of India to the other "
He (Mark Twain) pointed to the photo graph but neither in mockery nor contempt It may surprise many readers but when Mark Twain is serious, he is very serious Mark Twain pursued with animation—"he is a divinity "

२ What is the Taj, as a marvel, a spectacle, and an uplifting and overpowering wonder, compared with a living, breathing, speaking personage, whom several millions of human beings devoutly, sincerely and unquestioningly believe to be a God and humbly and gratefully worship as a God
—More Tramps Abroad

तथा देखकर श्रोता आश्चर्यचकित हो उठे। उस समय वहाँ एक पेन्सिल पडी हुई थी। स्वामीजी ने लाटसाहब से उसे उठाकर उन्हे देने के लिए कहा। लाटसाहब उठकर उस पेन्सिल को उठाने लगे। परन्तु आश्चर्यम्, महदाश्चर्यम्! वह पेन्सिल टस से मस नही हुई। उतने बडे अभिमानी विजयी सेनापति के अनेक प्रयत्न करने पर भी अपने स्थान से टली नही। स्वामीजी ने तब इसका रहस्य बतलाना शुरू किया। उन्होने कहा —तुमने युद्ध मे जय लाभ किया है, इस प्रकार की भावना मत करो। जय पराजय का कर्ता तो केवल एक ईश्वर है। मैने जिस प्रकार तुम्हारी शक्ति का हरण कर लिया, वे भी उसी प्रकार तुम्हारी बुद्धि का हरण कर सकते थे। ऐसा होने पर जिस कौशल के बल पर तुमने अफगानिस्तान पर विजय किया है, वह बुद्धि युद्ध मे कथमपि उपस्थित ही नही हो सकती थी। फलत ईश्वर के ऊपर ही सबको निर्भर करना चाहिए। जय पराजय का, शक्ति के ह्रास तथा वृद्धि का वही एकमात्र स्वामी है। मनुष्य तो उसके हाथ का एक कठपुतला है ईश्वर के ऊपर भरोसा रखो अभिमान का कोई अवसर नही।

लाकहार्ट साहब स्वामीजी के इस उपदेश से बडे प्रभावित हुए। वे उनके आस्थावान् भक्त थे। अपनी पत्नी के साथ समय समय पर स्वामीजी का दर्शन करते थे।[१]

स्वामीजी की विलक्षण अध्यात्मशक्ति का परिचय देते हुए काशी के प्रख्यात पत्र 'भारत जीवन' ने (१७ जुलाई, १८९९ ई० के अक मे[२]) लिखा था

यह स्वामी महाराजजी का ही योगप्रसाद था कि केवल भारतीय राजा महाराजाओं के रत्नजटित मुकुट ही स्वामीजी की चरणद्युति से भास्वर नही होते थे, वरन् यूरोप और अमेरिका के बडे बडे विद्वान् और धनवान् जन बडी नम्रता और श्रद्धा भक्ति से परमपद प्राप्त स्वामीजी के चरणदर्शन से अपने को कृतकृत्य मानते थे। यह स्वामीजी महाराज के योगबल ही का प्रभाव था कि विदेशी, विजातीय, विधर्मी जन द्वेषरहित होकर नतग्रीव होते थे।[३]

भास्करानन्द-प्रशस्ति

स्वामी भास्करानन्द सरस्वती की ज्ञानगरिमा तथा विमल ज्ञान वैराग्य की भावना से समाकृष्ट भक्तजनो ने सस्कृत एव हिन्दी उभय भाषाओं मे सुललित पद्यो के द्वारा आपकी विमल प्रशस्ति का निर्माण किया है। उनमे से चुनकर कुछ प्रशस्ति पद्य यहाँ उद्धृत किये जाते है जिनके अध्ययन से स्वामीजी के विरक्त व्यक्तित्व का एक आभास पाठको को मिल सकेगा।

(१)

सदानन्ददेहं परानन्दकन्द यति भास्करानन्दमीश प्रसन्नम्।
भवेद् यस्य सान्निध्यमात्रेण जन्तुश्चिदानन्दरूपो गुरु तं नमामि ॥

—महादेवप्रसाद चौधरी (यतीन्द्रस्तोत्र)

---

१ इस घटना के प्रत्यक्षदर्शी श्री शैलेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के आधार पर यह घटना वर्णित है। द्रष्टव्य—भास्करानन्द चरितामृत (पृ० २७०–७७) मे उद्धृत उनका पत्र नम्बर १४।

२ यह अक स्वामीजी के निर्वाण के बाद प्रकाशित होने वाला प्रथम अक था।

३ स्वामी भास्करानन्द सरस्वती के जीवनचरित एव व्यक्तित्व के विषय मे द्रष्टव्य सन्दर्भ ग्रन्थ—
(१) पण्डित शिवकुमार शास्त्री यतीन्द्रजीवनचरितम् (सस्कृत, काशी)।
(२) श्रीसुरेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय भास्करानन्दचरितामृत, (बँगला, कलकत्ता, १९२२ ई०, तृतीय सस्करण)।
(३) मार्क ट्वेन मोर ट्रैम्प्स अब्रोड (५५वाँ परिच्छेद)
Mark Twain More Tramps Abroad (London)
(४) प्रोफेसर जान कैम्पबेल ओमन दि मिस्टिक्स, एसेटिक्स एण्ड दि सेण्ट्स आफ इण्डिया।
Prof John Campbel Oman The Mystics, Ascetics and the Saints of India

(२)

ज्ञात्वा वेदार्थसङ्घं मुनिवररचितं प्राप्तबोधः सविज्ञ-
मत्वा चालीकमेतत् सकलमिह जगत् योगमार्गैकलग्नः ।
ध्यायन् तं देवमाद्यं भवभयहरणं भास्करानन्दविद् यो
दुर्गायाः पूर्वभागे विलसति विपिने काशिकायां यतीन्द्रः ॥

गोस्वामी मोहनलाल शर्मा (यतीन्द्रस्तोत्र)

(३)

भवोद्भूतभागं सुरेशस्य लोकं त्रिवर्गं च तुच्छं सदा मन्यते यः ।
पिबन्तं रसं ब्रह्मचिद्रूपमग्र्यं भजे भास्करानन्दमीशं मुनीशम् ॥

[illegible] (भास्करानन्दाष्टक)

(४)

यस्त्यक्त्वमम्यादि [illegible] [illegible] श्रुतिमार्गगामी ।
सम सवर्णं सिकता च यस्य तं भास्करानन्द गुरुं नमामि ॥

[illegible] शर्मा (गुर्वष्टक)

(५)

विभुं विश्वनाथं सदोदारकीर्तिं [illegible] भोगद रागकाल विशालम् ।
प्रसन्नेन्द्रियं धर्ममूलं वरेण्यं सदा ध्यानगं भास्करानन्दमीडे ॥

[illegible] शुक्ल (यतीन्द्रस्तोत्र)

(६)

कलिकालकराल-मुखातिविभीतमुमुक्षुसुरक्षणदक्षदय ।
स च पुत्रकलत्रसुखैर्विजनार्थकृते ननु [illegible] करुणोदय ॥ १११ ॥

[illegible]कुमार शास्त्री (यतीन्द्रजीवन चरित)

(७)

जोग व्रत साधै कोऊ देव अवराधै कोऊ
इन्द्रियन बाँधै जपि बीज आखरन को ।
तीरथ अटन कोऊ राम को रटन पाप
ताप के कटन, शोधै अन्त.करन को ।
वेद मत धारै कोऊ करत अचारै कोऊ
जग व्यवहारै त्यागि, चाहत तरन को ।
मेटि सब दोसो देहु आपनो परोसो
'लछिमन' को भरोसो स्वामी रावरे चरन को ॥

- लाल लक्षिमन सिंह (गुरुपचरत्न)

(८)

ब्रह्म समान अमान सदा समता करै रंक करोरपती को ।
त्यागि बिषै विष से अवधूत पुनीत करै विषसो धरती को ।

भागि भरो जन जो जग मे ढिग जाय करै के लिए विनती को ।
लोचन-गोचर सोई करै भवमोचन भास्करानन्द यती को ॥

--अष्टक

(६)

अतिमति दायक सहायक सुयोगिन के
होत ही दरस पाप पुंज के हरन है ।
योगीजन धनिक धनेश धरामण्डल के
जासु रज नीको करै भाल आभरन है ।
ध्यान के धरत ज्ञान परम प्रकाश करै
वृन्दावन सद ब्रह्म पद वितरन है ।
बारिज बरन सुख सपनि करन स्वामी
भासकरानन्द महाराज के चरन है ॥

अज्ञात



श्री स्वामी ज्ञानानन्द

वर्तमान बीसवी शताब्दी के आरम्भ के वर्षो मे समस्त भारतवर्ष मे वैदिक सनातन धर्म का प्रचार प्रसार करने वाले भारतविख्यात धार्मिक सस्थान 'भारतधर्ममहामण्डल' ने जो अलौकिक कार्य का सम्पादन किया है, वह सुवर्णाक्षरो मे अकित करने योग्य है। इसके सस्थापक का नाम था – **स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज**। वे इस शिवपुरी मे निवास करते हुए इस विशाल सस्था का बडी योग्यता तथा निष्ठा से प्रबन्ध करते थे तथा समग्र भारत मे धर्म के अश्रान्त प्रचार मे समर्पित जीवन बिताते थे। इन्ही का सक्षिप्त परिचय यहाँ उपन्यस्त किया जा रहा है।

ज्ञानानन्दजी महाराज के पूज्य पिता प० मधुसूदन मुकर्जी का मूल स्थान बगाल के हुगली जिला के अन्तर्गत 'तेलिनपाडा' नामा ग्राम था। गाँव मे उनकी बडी जमीन्दारी थी। वे ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार के समय किसी बडे व्यापारी अग्रेज साहब के प्रधान अधिकारी थे। साहब उनके कार्य मे बडा प्रसन्न रहता था और इसलिए वह बगाल से लेकर उत्तरप्रदेश के पश्चिमी भागतक फैलने वाले अपने विशाल व्यापार की देखभाल का कार्य मधुसूदन बाबू को सौपकर निश्चिन्त होकर दिन बिताता था। साहब के व्यापार की अनेक कोठियाँ थी जिनका मुख्य स्थान उत्तरप्रदेश का प्रख्यात नगर मेरठ था और इसी मेरठ मे स्वामीजी महाराज का जन्म विक्रमसवत् १६०२ (१८४५ ईस्वी) की जन्माष्टमी की मध्यरात्रि मे हुआ। स्वामीजी पढने लिखने मे बडे योग्य थे। परन्तु अन्य विषयो के प्रति विशेष आग्रह नही था। वे सगीत से विशेष प्रेम करते थे। उद्यानविद्या मे निपुण थे तथा पशुपालन मे भी बडी निष्ठा रखते थे। पिता मधुसूदन मुकर्जी सनातनी, आस्तिक तथा सदाचारी थे। पुत्र की शिक्षा की व्यवस्था उन्होने घर पर ही कर दी। यहाँ की शिक्षा समाप्त कर वे कलकत्ता गये और वहाँ के प्रमुख प्रेसिडेन्सी कालेज मे अध्ययन करने लगे। एक दिन पिता का तार अकस्मात् हो मिला जिसमे उनकी गभीर बीमारी की सूचना थी। वे कालेज की पढाई छोडकर घर लौटे और अँग्रेजी शिक्षा से विरक्त होकर मेरठ लौट आये। पितृवियोग इनके जीवन के परिवर्तन का एक महनीय सोपान था। बहुत दिनो तक व्यापार सभाला। घर गृहस्थी की देखभाल की, परन्तु इनके मन मे अनित्य ससार से गाढ विरक्ति हुई जो दिन प्रतिदिन बढती ही गई।

पिता के जीवित काल मे ही ये घर की अपनी ठाकुरबाडी मे पूजा पाठ मे सलग्न रहते थे, पिताजी की मृत्यु के अनन्तर ये एकदम असहाय हो गये। धर्मप्राणा माताजी इनकी देखभाल करती थी। पिताजी ने इनका विवाह कर दिया जिसमे इन्हे एक कन्या का जन्म हुआ। गृहस्थी के काम को ये पूर्ण आस्था से देखते थे, परन्तु धीरे-धीरे इनके विशुद्ध हृदय मे वैराग्य का सचार हुआ। घर पर गुहा मे योगसाधना करते थे, परन्तु इनका मन किसी लौकिक कार्य मे तनिक भी नही लगता था। ये किसी सुयोग्य आध्यात्मिक गुरु के अनुसन्धान



श्री स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज

मे लग गये। भगवान् की अलौकिक कृपा का ही यह प्रभाव था कि इन्हे सुयोग्य गुरु की उपलब्धि मे विलम्ब नही हुआ।

स्वामी ज्ञानानन्दजी के गुरु का नाम **केशवानन्दजी** था जो बगाली ब्राह्मण थे। तान्त्रिक साधना मे नैष्ठिकभावापन्न साधक थे जो भुवनेश्वर, हरिद्वार, विन्ध्याचल आदि आश्रमो मे एकान्तवास कर अपनी शाक्त साधना की पूर्णता प्राप्त कर चुके थे। केशवानन्दजी का प्रधान आश्रम वृन्दावन के 'राधाबाग' मे था। ज्ञानानन्दजी पूरा परिचय मिलने पर केशवानन्दजी से मिलने के लिए चुपके से अपने घर से निकल पडे और अपनी एक बग्घी आठ सौ रुपयो मे बेचकर गुरु के दर्शनार्थ राधाबाग पहुँच गये। सन्यास की दीक्षा लेने पर गुरु के सग हो लिये, हरिद्वार मे कुछ दिनो तक निवास किया, पश्चात् भागीरथी तथा अलकनन्दा नदियो के बीच टापू पर निवास किया और तपश्चर्या की। तपस्या के निमित्त स्वामीजी आबू गये। रास्ते मे कुछ दिनो तक रुडकी मे निवास किया। अनन्तर आबू मे ही इन्हे सिद्धि प्राप्त हुई। लोककल्याण की भावना के प्रति तीव्र आग्रह रखते हुए ज्ञानानन्दजी ने आबू के वसिष्ठाश्रम मे रहकर कुछ दिन बिताये और यहीं पर इन्होने राजपूताने के अध्यात्मरसिक नरेशो को आध्यात्मिक योगसाधना की दीक्षा दी। ऐसे सुयोग्य नरेशो मे शाहपुरा नरेश, किशनगढ नरेश एव खेतडी के राजासाहब प्रमुख थे जिनके हृदय मे स्वामीजी के अध्यात्म ज्ञान एव योगसिद्धि के विषय मे बडी आस्था एव विश्वास था। आगे चलकर स्वामीजी का इन राजाओं से बहुमूल्य सम्पर्क बना रहा तथा ये लोग स्वामीजी के धर्मप्रचार के कार्य मे विशेष आर्थिक सहायता देते रहे। [illegible] राजासाहब के विशेष आग्रह पर ज्ञानानन्दजी ने विराट् यज्ञ भी कराया जिसकी ख्याति उस युग मे राजपूताने मे सर्वत्र फैल गई।

मथुरा में धर्ममहामण्डल की स्थापना

स्वामीजी के तान्त्रिक गुरु केशवानन्दजी महाराज ने वृन्दावन मे **कात्यायनी-पीठ** की स्थापना १९२३ ईस्वी मे की। इस पीठ की स्थापना मे स्वामीजी का विशेष सहयोग था। केशवानन्दजी मन्दिर की स्थापना वामाचार पद्धति से कराने के उत्सुक थे और उसकी सिद्धि के लिए कार्य भी करते थे, परन्तु स्वामी ज्ञानानन्दजी को स्वप्न मे देवी का आदेश प्राप्त हुआ कि स्थापना वैष्णवाचार पद्धति से होनी चाहिए। इस विचित्र स्वप्न के आदेशानुसार कात्यायनी पीठ की स्थापना मे इसी आचार के अनुसार देवी की स्थापना की गई।

केशवानन्दजी के सम्पर्क का सद् परिणाम हुआ। मथुरा को ज्ञानानन्दजी ने अपने सनातनधर्म प्रचार के लिए केन्द्र बनाया। मथुरा मे ही **भारतधर्म-महामण्डल** की स्थापना १९०२ ईस्वी मे की गई और यहीं पर २८ मार्च १९०२ ई० से ३० मार्च तक तीन दिनो तक धर्मप्रचार का यह प्रारम्भिक समुद्योग बडे समारोह एव उत्साह से सम्पन्न किया गया। उस युग के सनातन धर्मप्रचार के प्रमुख विद्वान् **पण्डित दीनदयालु शर्मा** का भी पूर्ण साहाय्य स्वामीजी को प्राप्त हुआ और दोनो मे धर्मप्रचार की दिशा मे पूर्ण ऐक्य रहा। इसी समय से वैदिक धर्म के प्रचार प्रसार के निमित्त **निगमागम-चन्द्रिका** नामक पत्रिका का प्रकाशन बडे उत्साह तथा लगन से होना आरम्भ हुआ। इसी काल मे ज्ञानानन्दजी महाराज ने सन्यास की समुचित वैदिक दीक्षा के निमित्त **संन्यासपद्धति** की रचना की। यह ग्रन्थ नारदपरिव्राजकोपनिषद् के आधार पर रचा गया है जिसमे सन्यासतत्त्व, सन्यासप्रकार तथा सन्यास के विधि-विधान का यथार्थ निरूपण किया गया है। **संन्यास-गीता** का प्रकाशन भी सन्यास-विज्ञान के यथार्थ निरूपण के निमित्त किया गया है।

स्वामीजी ने 'क्षत्रिय महासभा' की स्थापना भी इसी उद्देश्य से कराई कि क्षत्रिय राजाओं मे पारस्परिक प्रेम एव सौहार्द की वृद्धि हो। इस कार्य मे उन्हे सफलता प्राप्त हुई और इसीलिए राजाओं के द्वारा उनका आदर सत्कार विशेष रूप से होता था।

स्वामीजी के शरीर तथा मन पर उनकी तपस्या का फल सद्य प्रस्फुटित होता था। स्वामी ज्ञानानन्दजी का रूप बडा ही सुन्दर तथा कोमल था उनके सिर की जटाये साढे नौ फुट लम्बी थी। स्नान करने के बाद उनका भव्य रूप अपनी सुन्दरता मे प्रस्फुटित होता था। स्नान के बाद आधी खुली जटाओं को वे हाथ पर रखकर चलते थे, नही तो वे जमीन बहारती चलती। दाढी के केश आठ फुट लम्बे थे इन्हे गले से अपनी छाती पर लपेट देते थे। उनका मन नवनीत के समान कोमल था परन्तु सिद्धान्त के पालन मे वे वज्र से भी अधिक कठोर थे।

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि
लोकोत्तराणा चेतासि को नु विज्ञातुमर्हति ॥

इस श्लोक मे लोकोत्तर पुरुषो का चित्त वज्र से भी कठोर और फूल से भी कोमल बताया गया है और इस तथ्य का सत्य अनुभव स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज के लोकातीत चरित्र का परीक्षण करने वाले को अवश्यमेव होता है। भगवान् ने उन्हे लम्बी आयु दी थी वे १०५ वर्ष तक जीवित रहे और इस दीर्घ जीवन मे उन्हे सामाजिक मण्डल के उथल पुथल के कारण अनेक उत्थान तथा पतन का साक्षात्कार हुआ परन्तु स्वामीजी ने हिमालय के समान अटल, अडिग तथा अचल रहकर अविचल शान्ति से उसे बिताया। ऐसी दिव्यता का दर्शन भाग्यवानो के जीवन मे ही होता है।

धर्मप्रचार का कार्य

काशी मे भारतधर्ममहामण्डल का प्रधान स्थान गुरुधाम था जहा आज एक विस्तृत कालोनी ही बना दी गई है। विरोध भावना का उद्रेक कहाँ नही होता ? विरोधियो के षड्यन्त्र के कारण यह स्थान छोडना पडा तथा जगतगज का वर्तमान स्थान लेना पडा। यहा **उपदेशक महाविद्यालय** खोला गया जहा सनातनधर्म के व्याख्याता उपदेशक तैयार किये जाते थे। सनातन धर्म के विपुल प्रचार मे स्वामीजी के 'मिशनरी स्पिरिट' का प्रचुर प्रभाव प्रत्यक्ष दृष्टिगत होता है। उन्होने **धर्मालय सस्कार विभाग** भी खोल रखा था जिसमे मन्दिरो की सफाई तथा जीर्णोद्धार कराया जाता था। मन्दिर के विषय मे आपसी झगडो का निपटाया जाता था। पचक्रोशी मे रामेश्वर मन्दिर मे दो विरोधी पक्षो मे स्वामीजी ने ही सुलह कराई। दार्शनिक जगत् मे वे महान क्रान्ति के अग्रदूत थे जिसके अनेक कार्यो मे **जोशीमठ** का उद्धारकार्य स्वामीजी का महनीय व्यापार था। बदरीनाथ के पास आचार्य शकर के द्वारा स्थापित ज्योतिर्मठ उच्छिन्नप्राय हो गया था। इसका उद्धार कर स्वामीजी ने १६४१ ईस्वी मे **स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती** को यहाँ शकराचार्य पीठ पर स्थापित किया। यह कार्य अब यथाविधि सम्पन्न होता रहता है। फलत ज्योतिर्मठ (जोशीमठ) के पुनरुद्धार का महनीय कार्य स्वामीजी की कर्मठता का सद्य परिचायक है।

धार्मिक-ग्रन्थ-रचना

स्वामीजी को लेखनकार्य मे अद्भुत क्षमता प्राप्त थी। वे अपने हाथ से एक अक्षर भी नही लिखते थे, परन्तु अपनी वाणी द्वारा आदेश कर पॉच छ विद्वानो को बैठाकर अलग-

अलग ग्रन्थ लिखवाते थे। वे बीच मे आरामकुर्सी पर विराजमान होकर आगे आसनो पर आसीन विद्वानो को ग्रन्थ लिखवाते थे। वे क्रम से लिखते थे और विना पूछे ही आगे के वाक्य स्वत बोलते जाते थे। जो यह अनुपम दृश्य देखता, वह आश्चर्यचकित हो जाता था। इस प्रकार स्वामीजी ने विशाल आठ खण्डो मे **धर्मकल्पद्रुम** की रचना की है जो वैदिक धर्म का विश्वकोश ही है। उनके चार संहिताग्रन्थ है

(१) मन्त्रयोग सहिता, (२) हठयोग सहिता, (३) लययोग सहिता तथा (४) राजयोग-सहिता। ये चारो संहिताये योगशास्त्र से सम्बन्ध रखती है। उन्होने सात गीताओं का प्रणयन किया है। ज्ञानानन्दजी की मान्यता है कि ज्ञान की सात भूमिकाये है और तदनुसार सात दर्शन है। फलत प्रख्यात षड्दर्शनो मे इन्होने दर्शनविषयक दो ग्रन्थो का निर्माण किया। स्वामीजी का कहना है कि मन्दा भूमिका मे जैमिनिरचित कर्ममीमासा केवल उत्तरार्ध है। फलत भरद्वाज मुनि के सम्पर्क मे उन्होने कर्ममीमासा का पूर्वार्ध सकलित किया है। 'आनन्ददा' भूमिका को द्योतित करने वाला दर्शन **दैवी मीमासा दर्शन** है जिसे उन्होने अंगिरा ऋषि से प्राप्त किया इन दोनो ग्रन्थो की रचना कर स्वामी ज्ञानानन्दजी ने भारतीय दर्शन की परम्परा को पूर्ण करने का गौरव प्राप्त किया है। **धर्मकल्पद्रुम** आठ खण्डो मे विभक्त यह ग्रन्थ वस्तुत वैदिक धर्म का विश्वकोश ही है। इसमे सनातनधर्म के सकल ज्ञातव्य विषयो का विशद [illegible] विवरण है। इसमे साम्प्रदायिक पक्षपात का लेशमात्र भी नही है। हिन्दू शास्त्र के सभी विषय शास्त्रीय प्रमाण एव दार्शनिक युक्तियो के साथ यहा प्रतिपादित है। व्रत, अनुष्ठान, सस्कार तथा दर्शन आदि की पूर्ण समीक्षा है। ऊपर निर्दिष्ट सात गीताओं के नाम है—विष्णुगीता, सूर्यगीता, शक्तिगीता, गणेशगीता, शम्भुगीता सन्यासगीता एव गुरुगीता। ये समग्र गीताये प्रकाशित है। ज्ञानानन्दजी महाराज ने अपने धार्मिक उपदेशो तथा सिद्धान्तो के प्रचार के लिए अग्रेजी भाषा का भी आश्रय ग्रहण किया। लेखक के एक परिचित महाराष्ट्र विद्वान् इस कार्य के लिए नियुक्त किये गये थे जिनका नाम था **पण्डित परशुराम पाटणकर**। ये पूनानिवासी थे तथा लोकमान्य तिलकजी के सहयोगी थे। कालेज के सस्कृताध्यापक थे। वृद्धावस्था मे काशी मे निवासार्थ आये। इन्हे स्वामीजी प्रतिदिन निश्चित धार्मिक विषय पर व्याख्यान दिया करते और इसी का उपबृहण तर्क तथा युक्तियो से करके ये अग्रेजी मे लिखते थे। इस अग्रेजी ग्रन्थ का नाम है World's Eternal Religion अर्थात् विश्व का सनातन धर्म। यह २४ परिच्छेदो मे विभक्त अनुपम ग्रन्थरत्न है। इस अग्रेजी ग्रन्थ का अनुवाद जर्मन भाषा मे भी किया गया है। पाटणकरजी कहा करते थे कि ज्ञानानन्दजी मे शास्त्रीय योग्यता के साथ भौतिक ज्ञान की इतनी विपुलता है कि वे एक विशाल साम्राज्य का भी सचालन कर सकते है। इतनी योग्यता उनमे थी। नारीजगत् के कल्याणसाधन मे स्वामीजी सर्वदा रुचि रखते थे। इसकी पूर्ति के लिए उन्होने 'आर्यमहिला हितकारिणी परिषद्' की स्थापना की। महिलाओं के मगल एव चरित्रनिर्माण को लक्ष्य कर उन्होने **आर्यमहिला** पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया जो अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये अनेक वर्षो तक कार्य करती रही। इसी कार्य के सम्पादनार्थ श्री विद्यादेवी के प्रयत्न से आर्यमहिला विद्यालय' स्थापित किया गया जो आज काशी के गण्यमान्य अग्रेजी विद्यालयो मे गिना जाता है जिसमे बी० ए० कक्षातक शिक्षा बालिकाओं को दी जाती है। यह विद्यालय सर्वथा स्तुत्य एव श्लाघनीय उद्देश्य की पूर्ति करता है।

अन्तिम समय स्वामीजी का आपरेशन कराया गया था। उस समय इन्होने अद्भुत



श्री स्वामी दयानन्दजी महाराज

धैर्य तथा शान्ति का प्रदर्शन किया। नाड़ी बन्द हो जाने पर भी सावधानी से बातचीत करने के अलौकिक चमत्कार को देखकर डाक्टरों को भी आश्चर्य होता था। स्वामीजी का जन्म १८४६ ईस्वी में हुआ था। १८५७ ईस्वी के सिपाहीविद्रोह के समय की घटनाओं का वर्णन स्वामीजी बड़े चाव से करते थे। क्यों न हो ? ग्यारह वर्ष के वय की घटनायें पूर्णतया उनके स्मृतिपथ में जागरूक थीं। १०५ (एक सौ पाँच) वर्ष की आयु में स्वामी ज्ञानानन्दजी का तिरोधान काशी में ही माघकृष्ण पचमी, स० २००८ = १६५१ ईस्वी में हुआ।

महर्षिज्ञानानन्दचरितम् महाकाव्य के आदि श्लोक में स्वामीजी की विशिष्टता का वर्णन इस प्रकार किया गया है---

श्रीज्ञानानन्दनामा प्रशृमरविभवः प्रोल्लसत्कीर्तिधामा
योगीन्द्रो यो यतीन्द्रो निजशुचिमहसा शासिताशाक्षितीन्द्रः ।
वाराणस्यां शिवोऽन्योऽभवदिह भगवान् पूज्यपादो महर्षि-
र्बोभूयात्तच्चरित्रं भुवि पठितवतां भूयसे मङ्गलाय ॥

पण्डित विन्ध्येश्वरीप्रसाद शास्त्रीजी का यह पद्य स्वामीजी के विचित्र चरित्र की एक झाँकी प्रस्तुत करता है --

आदर्शो दर्शनानामपि मुकुटमणिर्योगपारङ्गमानां
सिद्धानां सुप्रसिद्धोऽमितमहिमखनिर्ज्ञानरत्नाकराणाम् ।
संशास्ता यो नृपाणां निधिरतिमहमाश्रयः सज्जनानां
ज्ञानानन्दो गुरूणामपि परमगुरुर्ब्रह्मधाम प्रतस्थे ॥

स्वामीजी के स्वरूप का यह वर्णन यथार्थ है - प्रशस्त भाल, विशाल लोचन, नुकीली नासिका, अदृष्टपूर्व जटामुकुटमण्डित मनोहर मुखमण्डल, चरणचुम्बित रजत धवल श्मश्रु से सुशोभित सर्वाङ्गसुन्दर साकार विग्रह के दर्शन से भगवान् जटाजूटमण्डित चन्द्रचूड के दर्शन का भान होता था। उनका मानसिक सन्तुलन तथा योगशक्ति की सत्ता उनकी मधुर देहयष्टि के समान ही लोकातीत चमत्कार का परिचय देती थी। ऐसे दिव्य चरित्र की गुणावली के विषय में विद्वानों की वाणी मौनावलम्बन करती थी।

नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ।

स्वामीजी के सहयोगी

स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज को अपने कार्य मे विशेष सहायता देने वाले विद्वानो में **स्वामी दयानन्दजी** का नाम अग्रगण्य है। दयानन्दजी अंग्रेजी भाषा के भी बहुज्ञ विद्वान् थे। धर्मोपदेशको की शिक्षा-दीक्षा वे ही देते थे। वे सनातनधर्म के प्रभावशाली वक्ता थे। भाषण में बड़ा लालित्य होता था तथा भाषण की शैली बड़ी आकर्षणशील होती थी। 'धर्म-कल्पद्रुम' के निर्माण में इनका सहयोग बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था। स्वामीजी ने **धर्मविज्ञान** नामक ग्रन्थ की तीन खण्डों में रचना की (पृष्ठ सख्या ६०५) और धर्म के प्रत्येक विधिविधान का वैज्ञानिक विश्लेषण बड़ी मार्मिकता से किया है। उनका मूल कथन है कि वर्तमान युग के पाश्चात्त्य वैज्ञानिकों ने जिन सिद्धान्तों का अन्वेषण एवं अनुसन्धान किया है वे वैदिक धर्म के तथ्यों के परम प्रकाशक है। **गीतार्थचन्द्रिका** स्वामीजी की गीता की तात्पर्यबोधिनी अपूर्व व्याख्या है।

ज्ञानानन्दजी के कार्य में सहायक संस्कृत विद्वानों का जमघट महामण्डल के कार्यालय में सदा अवलोकनीय था। ऐसे विद्वानों में कतिपय सज्जनों की ही चर्चा यहाँ सुलभ है—

(१) **पण्डित विन्ध्येश्वरीप्रसाद शास्त्री**—उनकी सेवा महामण्डल को समर्पित रही है।

स्वामीजी का जीवनचरित संस्कृत पद्यों में **महर्षिश्रीज्ञानानन्दचरितम्** नाम से प्रस्तुत किया जो आधुनिक संस्कृत-साहित्य में ज्ञान-विज्ञान संवलित अभिनव महाकाव्य है। २३ सर्गों में निबद्ध यह ग्रन्थ स्वामी ज्ञानानन्दजी के जीवनचरित, उपदेश, आध्यात्मिक कार्यकलाप का सांगोपांग वर्णन करता है (प्रकाशक भारतधर्ममहामण्डल का शास्त्रप्रकाश विभाग, वाराणसी, संवत् २०२५)।

(२) **पं० गोविन्द शास्त्री दुगवेकर** स्वामीजी को अपना गुरु मानते थे जिनकी कृपा से उन्होंने अपनी साहित्यसरणा में सातिशय उन्नति की। हिन्दी में इन्होंने अनेक नाटक ग्रन्थों का प्रणयन किया। इन्होंने **ज्ञानानन्द-जीवनवृत्त** की हिन्दी में रचना विस्तृत रूप से की है जिसमें स्वामीजी के जीवन के नाना पक्षों का गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यह विशाल ग्रन्थ ग्रन्थकार के वैदुष्य का सद्य परिचायक है।

(३) **पण्डित परमहंस मिश्र**- **सूर्योदय** मासिक संस्कृतपत्र के सम्पादन का गौरव इन्हें प्राप्त है। इन्होंने काश्मीर के अद्वैतवादी शैवदर्शन -प्रत्यभिज्ञा का गम्भीर अनुशीलन तथा अध्ययन कर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। संस्कृत तथा हिन्दी के ये लब्धप्रतिष्ठ कवि हैं। **प्रसाद और प्रत्यभिज्ञा दर्शन** में इन्होंने हिन्दी के प्रख्यात कवि प्रसादजी के ऊपर प्रत्यभिज्ञा दर्शन के प्रचुर प्रभाव की मीमांसा की है (सं० २०४३)। **तन्त्रसार** को 'नीरक्षीर-विवेक' हिन्दी भाष्य से संवलित कर दो खण्डों में प्रकाशित किया है (१९८५ ई०)। तन्त्रसार तो संस्कृत व्याख्या से भी विरहित विषम ग्रन्थ है। उसकी मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत कर परमहंसजी ने अपने अभिधान की सार्थकता दिखलाई है। भारतधर्ममहामण्डल के संयुक्त प्रधानमन्त्री के पद पर रहकर इन्होंने इस संस्था की भी श्लाघनीय सेवा की है। ये ग्रन्थ मिश्रजी के तान्त्रिक वैदुष्य को विशदता से प्रकाशित करते हैं।



श्री स्वामी करपात्रीजी

(स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती)

अनन्तश्रीविभूषित स्वामी करपात्रीजी महाराज आधुनिक युग मे काशीस्थ सन्यासियो के शिरोमणि रूप से विराजमान रहे है। उनकी वाणी और लेखनी दोनो मे धर्म के रहस्यो का उद्घाटन करने की अलौकिक क्षमता थी। वे हृदयावर्जिका विमला वाणी के जैसे प्रेरक मनीषी थे वैसे ही ललितललाम लेखनी के धनी थे। वाणी और लेखनी का यह मञ्जुल सामरस्य किस विद्वान् को अपनी ओर आकृष्ट करने मे समर्थ नही होता? वे वैदिक शास्त्र ... के सञ्चालन मे समर्थ वाग्मी थे जिनके विषय मे कहा गया है 'वाग्मी भवति वा न वा'। वे ऐसे नीरस वेदान्ती नही थे जो वेदान्त के शुष्क तर्कों के चिन्तन मे ही अपनी प्रतिभा का उपयोग करते हैं प्रत्युत वे सौन्दर्य सार सर्वस्व रसामृतमूर्ति निकुञ्जविहारी की परम पावन निकुञ्जलीला के भावुक रसाप्लुत सहृदय उपासक थे जिनकी कमनीय वाणी से भक्तिरस के मधुमय कण बिखरे पड़ते थे। उनकी लेखनी ने जो कुछ भी निबद्ध किया वह केवल मस्तिष्क की वस्तु नही है, वरन् उनके रस सान्द्र हृदय का आनन्दमय उल्लास है। ऐसे गम्भीर चिन्तक, नैष्ठिक उपासक तथा सहृदय लेखक के सात्त्विक जीवन की धारा से परिचित होकर अपने को सुधारने तथा सँवारने की अभिलाषा किस व्यक्ति मे न होगी? उसी जीवन की एक भव्य झाँकी यहाँ प्रस्तुत की जा रही है।

जन्म और शिक्षा

स्वामी करपात्रीजी का जन्म उत्तरप्रदेश मे प्रतापगढ़ जिले के भटनी नामक गाँव मे श्रावण शुक्ला द्वितीया को सं० १८५० वि० (सन् १९०७) मे हुआ। इनके पूर्वज गोरखपुर जिले के ओझौली गाव के निवासी थे। परन्तु कालान्तर मे कालाकाँकर के राजा स्वामीजी के पितामह को भटनी (प्रतापगढ़) ले गये जहाँ जाकर वे बस गये। स्वामीजी सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पण्डित रामनिधि ओझा था जो बड़े ही सात्त्विक तथा धार्मिक प्रकृति के व्यक्ति थे।

पण्डित रामनिधि ओझा के तीन पुत्र हुए जिनमे कनिष्ठ पुत्र का नाम हरनारायण था। यही हरनारायण कालान्तर मे स्वामी करपात्री के नाम से प्रसिद्ध हुए। ओझाजी का परिवार पुरातन सभ्यता तथा सस्कृति का बड़ा प्रेमी था। अत गाँव की प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् ओझाजी ने अपने इस पुत्र को सस्कृत पढ़ाने का निश्चय किया। अत उन्होने घर पर ही प्रथमा परीक्षा के पाठ्यग्रन्थो को पढ़ाना आरम्भ कर दिया। तीक्ष्णबुद्धि होने के कारण हरनारायण ने शीघ्र ही सस्कृत का साधारण ज्ञान प्राप्त कर लिया। परन्तु इन्होने किसी विद्यालय मे विधिवत् अध्ययन नही किया।



श्री स्वामी करपात्रीजी

विवाह तथा वैराग्य

बालक हरनारायण का स्वभाव जन्म से ही विरागी था। इसे सांसारिक कार्यों में कोई आनन्द नहीं आता था। केवल नौ वर्ष के वय में ही इसे जीवन से उचाट तथा उदासीनता हो गयी और यह बार-बार घर छोड़कर किसी अज्ञात वस्तु की खोज में भागने लगा। एक-दो बार इनके पिता और भाई इन्हें खोजकर घर ले आये परन्तु फिर भी इनका मन घर में नहीं लगता था। पिता ने यह समझकर कि सम्भवतः विवाह कर देने पर इसका मन संसार में लगने लगेगा, उन्होंने विवाह पास के ही खण्डवा नामक गाँव में कर दिया, परन्तु हरनारायण के विरागी मन में विवाह करने के पश्चात् भी राग उत्पन्न नहीं हो सका। घर छोड़कर भागने का इनका क्रम जारी रहा। अन्त में पिता ने देखा कि इनका मन जब घर में लगता ही नहीं तब इन्हें रोकना व्यर्थ है। अतः इनसे निवेदन किया कि सन्तानोत्पत्ति के बाद तुम घर छोड़कर जा सकते हो। सत्रह वर्ष के वय में सन् १९२८ ई० में इन्हें एक कन्या उत्पन्न हुई। इस प्रकार पिता के आदेश का पालन कर इन्होंने अन्तिम रूप से घर छोड़ने का निश्चय कर लिया। फलतः हरनारायण ने अपने बूढ़े पिता और बूढ़ी माता, युवती स्त्री और अबोध पुत्री को रोते और कलपते हुए छोड़कर संसार से सदा के लिए अपना नाता तोड़ लिया। यही हरनारायण के 'महाभिनिष्क्रमण' की संक्षिप्त कथा है।

गुरु की खोज में

केवल सत्रह वर्ष के वय में युवक हरनारायण घर छोड़कर वैरागी बन गये। ये घर से निकल तो पड़े परन्तु इन्हें कहाँ जाना है और क्या करना है, इसका इन्हें स्वयं पता नहीं था। अपने गाँव से पैदल ये अनेक नदी-नालों को पार करते हुए, बीहड़ मार्गों का अतिक्रमण करते हुए आगे बढ़ते चले जा रहे थे। अनेक दिनों की पैदल यात्रा करने के पश्चात् ये प्रयाग के समीप कुटेश्वर गाँव में पहुँचे। वहाँ एकाएक देखा कि एक महात्मा वटवृक्ष की छाया में बैठे हुए तपस्या कर रहे हैं। वे महात्मा टाट का कौपीन धारण किये हुए ध्यानमग्न थे। ध्यान भंग होने पर उन्होंने अपने सामने एक नवयुवक को खड़ा पाया। उससे प्रश्न करके उसका आशय जान लेने के पश्चात् उन्होंने हरनारायण से कहा कि "तुम नरवर जाकर अभी अध्ययन करो। तुम पर माँ सरस्वती की विशेष कृपा रहेगी।" इस महात्मा की आज्ञा मानकर हरनारायण नरवर के लिए चल पड़े। कहने की आवश्यकता नहीं कि वे महात्मा स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वतीजी महाराज थे जो आगे चलकर ज्योतिर्ष्पीठ के शंकराचार्य हुए। उनका प्रधान आश्रम प्रयाग के 'अलोपी बाग' में था जो आज भी वहीं विद्यमान है।

नरवर में अध्ययन

प्राचीन काल से ही नरवर शिक्षा का केन्द्र रहा है। वहाँ सांगवेद-विद्यालय स्थापित है। इसी विद्यालय में उन दिनों नैष्ठिक ब्रह्मचारी श्रीजीवनदत्तजी महाराज अध्यापन कार्य करते थे। उन्हीं के चरणों में बैठकर हरनारायण ने देववाणी संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ किया। यहीं पर उन दिनों स्वामी विश्वेश्वराश्रम महाराज भी विद्यमान थे जो षड्दर्शनाचार्य होने के अतिरिक्त प्रकाण्ड विद्वान् थे। हरनारायण ने इन्हीं विद्वान् से व्याकरण तथा दर्शनशास्त्र का अध्ययन अनेक वर्षों तक किया। कुछ दिनों ने पश्चात् स्वामी अच्युतमुनि के अनुरोध पर जब स्वामी विश्वेश्वराश्रमजी नरवर को त्याग कर वहाँ से लगभग ७-८ मील की दूरी पर स्थित 'भृगुक्षेत्र' चले गये, तब हरनारायण को भी उनका अनुगमन करना पड़ा। वहाँ भी

इन्होने अपने अध्ययन का क्रम चालू रखा और कुछ ही वर्षो मे अपने स्वाध्याय तथा गुरु की कृपा से प्रकाण्ड पाण्डित्य प्राप्त कर लिया।

घोर तपस्या

अध्ययन के पश्चात् हरनारायण ने तपस्या करने का निश्चय किया। अब इन्होने हरिहर चेतन (चैतन्य) नाम धारण कर लिया था। तपस्या के आकर्षण के कारण ये उत्तराखण्ड मे स्थित हिमालय की हिम से आच्छादित तलहटियो मे बैठकर तपस्या करने लगे। भूख और प्यास की यातना सहते हुए ये अपने शरीर की ममता का त्याग कर साधना मे निरत हो गये। इस प्रकार ये तीन वर्षो तक घनघोर तपस्या करते रहे। इसी बीच इन्हे आत्मज्ञान की प्राप्ति हुई और तपस्या सफलाभूत हो गयी। जब ये अपनी साधना समाप्त कर परमहंस के रूप मे आश्रम म लौटे तब इनके मुखमण्डल पर अलौकिक आभा दिखाई पड़ने लगी थी। इनके साथियो ने इनका स्वागत किया और बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। हरिहर चेतन ने सर्वप्रथम अपने गुरु के चरणो की वन्दना की और उनका आशीर्वाद प्राप्त किया।

अब हरिहर चेतन केवल एक कौपीन धारण करते थे। केवल पवित्र तथा सदाचारी ब्राह्मणो के घर मे ही भिक्षा करने के लिए जाते थे। ये अपने कर (हाथ) को ही पात्र बनाकर उसी मे भोजन किया करते थे। अपने वास्तविक नाम की अपेक्षा इसीलिए ये 'करपात्रीजी' के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध हुए।

एक बार करपात्रीजी नरवर आश्रम से प्रयाग आये। वहा इन्होने अपने गुरु स्वामी ब्रह्मानन्दजी सरस्वती का दर्शन किया। स्वामी विश्वेश्वराश्रमजी के अनुरोध से करपात्रीजी ने गुरु ब्रह्मानन्दजी से सन् १६३१ ई० मे सन्यास की दीक्षा ली और तभी से ये दण्ड धारण करने लगे। सन्यासाश्रम मे दीक्षित होने के पश्चात् स्वामीजी ने धर्म और संस्कृति का प्रचार करना प्रारम्भ किया। इन्होने भागवत की कथा सुनाकर जनता मे धर्म के प्रति आस्था उत्पन्न की। इनकी अनेक कथाओं मे इन पक्तियो के लेखक को भी उपस्थित होने का अवसर मिला है। इनकी प्रवचन की पद्धति समुचित तथा विद्वत्तापूर्ण होते हुए सस्कृत की कठिन तथा अप्रयुक्त शब्दावली से इतनी अधिक बोझिल थी कि साधारण श्रोता इसे समझने मे नितान्त असमर्थ होता था।

धर्मसंघ की स्थापना

भारत मे धर्म का प्रचार करने तथा भारतीय सस्कृति की रक्षा के लिए करपात्रीजी ने सन् १६४० ई० मे काशी मे धर्मसङ्घ की स्थापना की। इस सङ्घ का प्रधान कार्यालय दुर्गाकुण्ड रोड पर दुर्गाजी के मन्दिर के पास ही स्थित है। धर्मसङ्घ के दो विभाग है—(१) शैक्षणिक विभाग तथा (२) राजनैतिक विभाग। शैक्षणिक विभाग के अन्तर्गत धर्मसङ्घ के विस्तृत परिसर मे ही एक सस्कृतपाठशाला की स्थापना की गयी जिसमे पॉच-छह अध्यापक बड़े मनोयोग से सस्कृत का अध्यापन करते है। इस पाठशाला मे व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, वेद आदि अनेक शास्त्रो का अध्यापन आचार्य कक्षा तक होता है। करपात्रीजी ने इस पाठशाला के लिए सरकारी अनुदान (ग्राण्ट) स्वीकार नही किया और इसे धार्मिक जनता के दान से ही सञ्चालित करते थे। यह पाठशाला धर्मसङ्घ शिक्षा मण्डल के अन्तर्गत सञ्चालित होती है। आजकल इस मण्डल के द्वारा बीसियो सस्कृतपाठशालाएँ सञ्चालित हो रही है। करपात्रीजी के इस पवित्र कार्य मे स्वामी कृष्णबोधाश्रम जी, प० विजयानन्द त्रिपाठी तथा म० म० प०

गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने प्रचुर योगदान किया था। इन विद्वानो की सहायता से करपात्रीजी के द्वारा सस्थापित शिक्षा-मण्डल का कार्य सुचारु रूप से सञ्चालित हो रहा है। इन पाठशालाओं की स्थापना से सस्कृतविद्या का प्रचार देश मे हो रहा है।

राजनैतिक विभाग

धर्मसङ्घ का दूसरा अङ्ग राजनैतिक विभाग का कार्य है। प्राचीन शास्त्रो के अनुसार इस देश म राज्य सञ्चालन हो, इस उद्देश्य से स्वामी करपात्रीजी ने 'रामराज्य परिषद्' नामक सस्था की स्थापना सन् १९५२ ई० मे की थी। इस सस्था का एकमात्र लक्ष्य इस देश मे रामराज्य की स्थापना है। 'रामराज्य' से करपात्री का अभिप्राय है देश मे पक्षपातरहित, न्यायपरायण, धार्मिक शासन की स्थापना, जिसमे इस देश के सभी व्यक्तियो को वर्णाश्रम के आधार पर समान अधिकार प्राप्त हो और सभी लोग शास्त्रो मे वर्णित अपने कर्मो को करने मे सदा सलग्न रहे।

इसी अभिप्राय से करपात्रीजी ने धर्मसङ्घ की स्थापना की। रामराज्य परिषद् की ओर से सन् १९५२ ई० के प्रथम लोकसभा चुनाव के अवसर पर उम्मीदवार खडे किये गये थे जिनमे अनेक राजे महाराजे भी थे। इन उम्मीदवारो मे अनेक लोकसभा के सदस्य चुन लिये गये थे। बाद के चुनावो मे रामराज्य परिषद् को विशेष सफलता नही मिल सकी। इस प्रकार जिस उद्देश्य से रामराज्य परिषद् की स्थापना की गयी थी वह पूरा नही हो सका।

हिन्दू कोड बिल का विरोध

जब पण्डित जवाहरलाल नेहरू प्रधानमन्त्री थे तब उन्होने लोकसभा मे हिन्दू कोड बिल उपस्थित किया जिसके अनुसार हिन्दुओं के विवाह और दाय भाग के अधिकार मे महान परिवर्तन की व्यवस्था थी। करपात्रीजी ने इस कोड बिल को अशास्त्रीय बताकर इसका प्रबल विरोध किया। स्थान स्थान पर सभा का आयोजन कर इसके विरोध मे जनमत तैयार किया। इस कार्य मे झूँसी के सन्त श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी ने इनकी बड़ी सहायता की थी। धार्मिक जनता के प्रबल विरोध के कारण प० नेहरू को हिन्दू कोड बिल को स्थगित करना पडा।

पत्रों का प्रकाशन

स्वामी करपात्रीजी ने अपने धार्मिक तथा राजनैतिक विचारो के प्रचार के लिए 'सन्मार्ग' नामक दैनिक समाचारपत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इस पत्र के द्वारा स्वामीजी के विचारो का प्रचार देश मे किया जाता है। यह पत्र आजकल काशी और कलकत्ता दोनो स्थानो से प्रकाशित होता है। इन्होने कुछ दिनो तक 'सिद्धान्त' नामक साप्ताहिक पत्र का भी प्रकाशन किया था जो अनेक वर्षो तक चलता रहा।

गोहत्या-प्रतिरोध

भारत मे गोवश की क्या महत्ता है इसे बतलाने की आवश्यकता नही है। गो को माता कहा गया है। अत भारतवर्ष मे गोहत्या न हो और गोहत्या पर कानून के द्वारा प्रतिरोध लगा दिया जाय, इसके लिए करपात्रीजी ने बहुत बडा आन्दोलन खडा किया। इस कार्य मे श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी तथा पुरी के शङ्कराचार्य स्वामी निरजनदेव तीर्थ ने बडा सहयोग किया। इन दोनो सज्जनो ने अपने प्राणो की बाजी लगाकर गोहत्या पर प्रतिबन्ध लगाने पर आमरण अनशन तक प्रारम्भ कर दिया। स्वामी करपात्रीजी ने अपने भाषणो तथा लेखो द्वारा इस

आन्दोलन को और भी अधिक बलवान् बनाया। इसके लिए दिल्ली में प्रदर्शन करने के कारण इन्हें जेल की यातना भी भुगतनी पड़ी। अन्त में सरकार झुक गयी और उसने गोहत्या बन्द कर देने का पूर्ण आश्वासन दिया।

यज्ञों की धूम-शिखा

स्वामी करपात्रीजी का यह विश्वास था कि देश के कल्याण और मंगल के लिए यज्ञों का विधान अत्यन्त आवश्यक है। इसी सद्भावना से प्रेरित होकर इन्होंने स्थान-स्थान पर अनेक यज्ञों का विधान किया था। स० १९९९ वि० (१९४२ ई०) में दिल्ली में शतमुखकोटि-होम नामक यज्ञ का आयोजन इन्होने बड़ी धूम-धाम से किया था, जिसको देखने के लिए सहस्रों नर-नारी नित्यप्रति उपस्थित होते थे। इसके एक वर्ष पश्चात् स० २००० (१९४३ ई०) में कानपुर में गंगा के उस पार एक महान् यज्ञ का आयोजन किया गया। अनेक लोगों के प्रबल विरोध करने पर भी यह यज्ञ सकुशल समाप्त हो गया।

कानपुर के पश्चात् काशी में नगवा के समीप गंगा के तट पर पुनः एक महान् यज्ञ सम्पादित किया गया। इस यज्ञ के अवसर पर १०८ बार श्रीमद्भागवत का सप्ताह पाठ भी आयोजित किया गया था। इस यज्ञ में सम्मिलित होने का सौभाग्य इन पंक्तियों के लेखक को भी प्राप्त हुआ। यज्ञ के अन्त मे 'वसुधारा' का दृश्य दर्शनीय था जब सैकड़ों वैदिक विद्वान् अग्नि मे आज्य की धारा छोड़ रहे थे। काशी के बाद स्वामीजी ने लखनऊ में लक्षचण्डी-महायज्ञ का श्रीगणेश किया जो सकुशल समाप्त हुआ। उदयपुर के महाराणा के आग्रह पर स्वामीजी ने वहाँ चातुर्मास्य करना स्वीकार किया और वहाँ लक्षचण्डी यज्ञ का विशाल आयोजन कर उसे राजकीय वैभव के साथ सम्पन्न किया। इस प्रकार इन्होंने यज्ञमय वातावरण उपस्थित कर दिया था।

दैनिक चर्या

स्वामी करपात्रीजी का चरित्र अत्यन्त उदात्त तथा पवित्र था। केवल सत्रह वर्ष के वय में ही इन्होंने अपने घर का परित्याग कर सांसारिक मोह माया से नाता तोड़ भगवान् से नाता जोड़ लिया था। स्वामीजी की दिनचर्या सन्तुलित तथा नियमित थी। ये प्रतिदिन रात्रि में प्रायः २ बजे उठते थे तथा नित्यकर्म करके पूजा के आसन पर बैठ जाते थे। यह पूजन घण्टों प्रातःकाल तक चलता था। ये पूजन के त्रिकाल नियमों का पालन करते थे। दिन में घण्टों वेद-भाष्य की रचना के लिए लेखन का कार्य करते थे। सन्ध्या के समय प्रायः भागवत की कथा कहते थे अथवा आगत भक्तों को उपदेश देते थे। सन्ध्या को पाँच बजे केवल एक बार भोजन ग्रहण करते थे। रात्रि मे पुनः पूजा-पाठ का क्रम चलता था। इस चर्या का पालन करने में ये बड़े कठोर थे।

करपात्रीजी प्रायः पैदल ही चला करते थे। एक स्थान से सुदूर दूसरे स्थान तक जाने के लिए या तो यह नौका से यात्रा करते थे अथवा पैदल ही चलते थे। परन्तु धर्मसङ्घ की स्थापना होने पर अधिक भ्रमण की आवश्यकता को ध्यान में रखकर इधर ये मोटर कार का भी प्रयोग करने लगे थे। सम्भवतः वायुयान का प्रयोग भी यात्रा के लिए उत्तम समझते थे परन्तु रेलगाड़ी का प्रयोग सम्भवतः स्पर्शास्पर्श के कारण उचित नहीं मानते थे।

ग्रन्थरचना

स्वामी करपात्रीजी के लिखने की शक्ति भाषणो की अपेक्षा कम नही थी। ये लेखनी के धनी थे। सस्कृत एव हिन्दी उभय भाषाओं मे ग्रन्थो का प्रणयन कर इन्होने पण्डितो का तथा जिज्ञासु जनता का महान् उपकार किया। सस्कृत ग्रन्थ पण्डितो को लक्ष्य कर लिखे गये है और हिन्दी ग्रन्थ उस भाषा से अनभिज्ञ सामान्य जनता के लिए। सस्कृत-ग्रन्थो के विषय वेद, तन्त्र तथा भक्तिशास्त्र है। सस्कृत रचनाओं मे प्रमुख ग्रन्थ है

(क) वेदविषयक ग्रन्थ वेदार्थ पारिजात (बृहत् विशाल दो खण्डो मे विभक्त), वेदस्वरूपविमर्श वेदप्रामाण्यमीमासा।

(ख) तन्त्रविषयक ग्रन्थ श्रीविद्यारत्नाकर।

(ग) भक्तिविषयक ग्रन्थ भक्तिरसार्णव।

(१) वेदार्थपारिजात:- स्वामी करपात्रीजी नवीन शैली से वेदो की व्याख्या करने मे सलग्न थे। स्वामीजी ने 'आध्यात्मिव शैली' को महत्त्व प्रदान कर इसी का पूर्णत उपयोग अपने वेद के भाष्य मे किया है। शुक्लयजुर्वेद सहिता के चालीसो अध्याय का इन्होने विस्तृत भाष्य लिखा जो अभी यन्त्रस्थ है। वेदो के सम्बन्ध मे स्वामीजी की **वेदभाष्यभूमिका** दो विस्तृ खण्डो मे प्रकाशित हो चुकी है जिसमे हिन्दी पाठको को ध्यान मे रखकर सस्कृत के साथ ही उसका हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है। वेदार्थपारिजात[1] नामक यह ग्रन्थ दो हजार पृष्ठो मे है जो इनके वेद भाष्य की भूमिका मात्र है। सनातनी परम्परा के पोषक तथा प्रचारक होने के कारण स्वामीजी मन्त्र और ब्राह्मण दोनो को श्रुति मानते थे। वेद अपौरुषेय है। ऋषिगण मन्त्रो के द्रष्टा है, कर्त्ता नही। इसी प्रकार के अन्य सिद्धान्तो की पुष्टि तर्क तथा युक्ति के सहारे की गयी है और इन सिद्धान्तो का विरोध करने वाले व्यक्तियो के मतो का खण्डन इन्होने बडे विस्तार तथा वैशद्य से किया है।

(२) वेदस्वरूपविमर्श:[2]—स्वामी करपात्रीजी ने वेद के विशुद्ध स्वरूप का परिचय देने के लिए तथा परम्परागत वेद प्रामाण्य की मीमासा के लिए इस महनीय ग्रन्थ का निर्माण किया। तर्क वितर्क वाली शास्त्रीय पद्धति मे निबद्ध होने वाला यह ग्रन्थ बडे विस्तार के साथ वैदिक तत्त्वो का उन्मीलन करता है। इस ग्रन्थ मे चार अध्याय या विमर्श है—(१) वेदस्वरूप विमर्श, (२) वेदप्रामाण्यविमर्श, (३) वेदअपौरुषेयत्व विमर्श और (४) ब्राह्मणाना वेदत्वविमर्श। प्रथम विमर्श मे वेद शब्द की निर्युक्ति, वेद की अनन्तता, यज्ञमीमासा आदि विषयो का विवेचन कर वेद मे विज्ञान और इतिहास का अन्वेषण करने वाले विद्वानो के मत का खण्डन बडे विस्तार के साथ किया गया है। द्वितीय विमर्श मे वेद के नित्यत्व तथा स्वत प्रमाण होने के सिद्धान्त का निरूपण किया गया है। बुद्ध की सर्वज्ञता का खण्डन कर अन्त मे वेदाध्ययन के अधिकारी का निरूपण किया गया है। तृतीय विमर्श मे वेद के अपौरुषेयत्व के सम्बन्ध मे गम्भीर विचार किया गया है। इस अध्याय के अन्त मे वैयाकरणो के वेदविषयक सिद्धान्त का प्रतिपादन बडी विद्वत्ता के साथ सम्पन्न हुआ है। चतुर्थ विमर्श मे यह बड़े ऊहापोह के साथ दिखलाया गया है कि वेदो का ब्राह्मण (ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्) भाग भी श्रुति का अविभाज्य अङ्ग है। यह ग्रन्थ ४५० पृष्ठो मे निर्मित है। वेदो

१ यह ग्रन्थ राधाकृष्ण प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता से १९८० ई० में प्रकाशित है।

२ वेदस्वरूपविमर्श—करपात्रीजी, भक्तिसुधा साहित्य परिषद्, कलकत्ता, स० २०२६ वि० (१९६९ ई०)।

के सम्बन्ध मे यावद् ज्ञातव्य वस्तुएँ है उन सभी का एकत्र सङ्कलन इस ग्रन्थ मे मौलिक रूप मे पाया जाता है।

(३) वेद-प्रामाण्य-मीमांसा[1]—पूर्वग्रन्थ के द्वितीय विमर्श के वर्ण्य विषयो की सामग्री कुछ अधिक विस्तार के साथ वेद प्रामाण्य मीमासा नामक इस छोटी सी पुस्तिका मे वर्णित है। विषय की महत्ता तथा विपुल प्रचार की दृष्टि से इसे स्वतन्त्र रूप दिया गया है।

(४) श्रीविद्यारत्नाकर करपात्रीजी महाराज के तन्त्रशास्त्र विषयक प्रगाढ़ वैदुष्य का परिचायक यह 'श्रीविद्यारत्नाकर' सस्कृत ग्रन्थ अनेक दिशाओं मे अपना प्रामुख्य धारण करता है। इसके अनुशीलन से प्रतीत होता है कि वे तन्त्र की आनुष्ठानिक विधियो के, व्यावहारिक कार्यकलापो के तथा तान्त्रिक पूजा अर्चा के सूक्ष्मतत्त्वो के गम्भीर विद्वान् थे। यह ग्रन्थ तन्त्रशास्त्र के प्राचीन महनीय ग्रन्थो जैसे कुलार्णव, तन्त्रराज, कल्पसूत्र, श्रीविद्यार्णव, त्रिपुरारहस्य एव नित्योत्सव आदि को मुख्य आधार मान कर तत्तद् विषयो का पुखानुपख विवरण प्रस्तुत करता है आरम्भ मे दीक्षाक्रम का वर्णन है। तदनन्तर **महागणपतिक्रम** पुरश्चरण विधि, गणेशसहस्रनामावलि आदि के विवरण के साथ प्रतिपादित किया गया है। श्रीक्रम के विविध अनुष्ठान विस्तार से व्याख्यात है (पृ० ७५ २३४), तदनन्तर श्यामाक्रम (पृ० २३५ ६०), दण्डिनीक्रम, वाराहीक्रम (पृ० २६१ ७५) तथा परापद्धति का प्रतिपादन है। अन्त मे परिशिष्ट (पृ० २८२ ४७०) के भीतर श्रीविद्यामन्त्रभाष्य, वाञ्छाकल्पलता के पश्चात् पूर्णाभिषेक का वर्णन बड़े विस्तार तथा वैशद्य के साथ दिया गया है। श्रीविद्या के सर्वस्वभूत षड्आम्नायो से सम्बद्ध मन्त्रो का भी सुन्दर वर्णन है। ग्रन्थ के अन्त मे आदि शकराचार्य द्वारा प्रणीत प्रख्यात स्तोत्र सौन्दर्यलहरी, त्रिपुरसुन्दरी, मानसपूजा स्तोत्र, बालात्रिपुरासुन्दरी मानसपूजा स्तोत्र भी दिये गये है। अनन्तर महायागक्रम मे प्रयोगविधिसमेत भावनोपनिषद् दिया गया है। वर्ण्य विषयो की इस सक्षिप्त सूची से ही ग्रन्थ के विस्तार, गम्भीर तान्त्रिक विवेचन, तथा विशिष्ट विषय विन्यास का जिज्ञासु पाठको को सकेत मिल जाता है। ग्रन्थ की उपादेयता तथा अपूर्वता नितान्त स्पृहणीय है (प्र० भक्तिसुधा साहित्य परिषद्, कलकत्ता, २०२६ वि० स०)।

(५) भक्तिरसार्णव—इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य सस्कृत मे 'भक्तिरस' का विस्तृत तथा गम्भीर विवेचन प्रस्तुत करना है। इस ग्रन्थ रत्न मे भक्तिरस के स्वरूप का शास्त्रीय विवेचन किया गया है। यह मधुसूदन सरस्वती के भक्तिरसायन की शैली मे ही निबद्ध है परन्तु उससे अनेक बातो मे अपनी विलक्षणता रखता है। सस्कृत की शास्त्रीय पद्धति मे निबद्ध होने पर भी उदाहरण की प्रचुरता के कारण यह ग्रन्थ सरल और सुबोध है। इस ग्रन्थ मे वेद से सम्बद्ध भी अनेक लेखो तथा निबन्धो का सग्रह है। भक्तिरस का विस्तृत तथा विशाल विवेचन ग्रन्थ की महत्ता तथा उपादेयता का स्पष्ट प्रमाण है।

हिन्दी रचनाएँ

हिन्दी मे इनकी रचनाए बहुत है और प्रमेय बहुल है। उनके प्रधान ग्रन्थ इस प्रकार है—(१) विचारपीयूष, (२) रामायणमीमासा, (३) भक्तिसुधा, (४) श्रीभगवत् तत्त्व, (५) रामराज्य और मार्क्सवाद, (६) राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ और हिन्दू-धर्म। यहाँ इनका सक्षिप्त परिचय ही ग्रन्थ की उपादेयता तथा प्रामाणिकता को प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त होगा।

---

१ धर्मसघ शिक्षा-मण्डल, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी से प्रकाशित, स० २०१७ वि०।

(१) विचारपीयूष

यह ग्रन्थ करपात्रीजी द्वारा रचित पुस्तको मे विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ मे दो विभाग है (१) भारतीय राजनीति, और (२) आधुनिक वाद। प्रथम विभाग मे स्वामीजी ने वेद, शास्त्र, काव्य, इतिहास और पुराणो मे वर्णित राजनीति का सम्यक् विवेचन किया है। महाभारत इतिहास का ग्रन्थ होने के अतिरिक्त राजनीति का अगाध भाण्डार है। इसके शान्तिपर्व मे राजनीति का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है। स्वामीजी ने महाभारत मे उपलब्ध भारतीय राजनीति के विभिन्न तत्वो का उद्घाटन बडी ही विद्वत्ता से किया है। इसके साथ ही भारतीय नीतिकारो तथा सस्कृत के कवियो, विशेषकर भारवि और माघ - ने कूटनीति का जो विवरण अपने ग्रन्थो मे प्रस्तुत किया है उसका वर्णन स्वामीजी ने सरल रीति से हिन्दी पाठको के लिए किया है। इस विभाग मे इन्होने छह विषयो का मूल उद्धरणो के साथ विवेचन किया।

दूसरा विभाग 'आधुनिक वाद' है जिसमे विभिन्न प्रकार के ग्यारह विषयो (टापिक्स) पर विचार प्रकट किये गये है। स्वामीजी के द्वारा विचारणीय विषयो की सीमा बडी विस्तृत है। इन्होने भारतीय राष्ट्रीयता से लेकर वैयक्तिक सम्पत्ति, मार्क्सवाद, जनतत्र, धर्मसापेक्षता और वैकल्पिक अर्थशास्त्र तक को भी अपने विचारो का विषय बनाया। इन्होने गुरुजी गोलवलकर की पुस्तक 'विचार नवनीत' मे सकलित विचारो का खण्डन किया। स्वामी करपात्रीजी की धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक विचार धारा से भले ही कोई सहमत न हो, परन्तु इसमे सन्देह नही कि इस ग्रन्थ की रचना से इनकी राजनीतिक विद्वत्ता का पदे पदे पता चलता है

(२) रामायण-मीमांसा

स्वामी करपात्रीजी द्वारा रचित यह विशालकाय ग्रन्थ रायल साइज के १११४ पृष्ठो मे समाप्त हुआ है। इस ग्रन्थ मे करपात्रीजी ने कामिल बुल्के द्वारा लिखित 'रामकथा' के आक्षेपो का उत्तर दिया। इसके साथ ही रामवश मे सम्बन्धित जो उपलब्ध सामग्री है उसका एकत्र सकलन किया गया। इस मोटी सी पुस्तक मे कुल मिलाक २२ (बाईस) अध्याय है। स्वामीजी ने रामकथा की परम्परा तथा इस कथा के विभिन्न पात्रो के चरित्र के विकास का वर्णन बडी ही विद्वत्ता से किया रामायण के विभिन्न काण्डो की कथा का प्रामाणिक तथा शास्त्रीय विवरण स्वामीजी के द्वारा प्रस्तुत है। परन्तु सबसे अधिक आश्चर्यजनक विषय है स्वामीजी के द्वारा भारतीय भाषाओं मे रामकथा साहित्य का पाण्डित्यपूर्ण विवेचन। करपात्रीजी ने हिन्दी, बॅगला, उडिया, असमिया, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं मे उपलब्ध रामकथा-सम्बन्धी ग्रन्थो का विवरण प्रस्तुत करने के पश्चात् दक्षिणभारतीय भाषाओं —तमिल, तेलुगु, कन्नड तथा मलयालम मे उपलब्ध भगवान् राम के चरित सम्बन्धी काव्यो का सागोपाग विवेचन किया है। किम्बहुना, उर्दू साहित्य मे रामकथा को लेकर जो काव्य लिखे गये है उनका भी वर्णन यहाँ पाया जाता है। राम की कथा का प्रचार तथा प्रसार प्राचीन काल मे भारत के बाहर दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा तिब्बत, चीन और लका मे भी पाया जाता है। इस विषय के सम्बन्ध मे पुस्तको का अभाव है। परन्तु करपात्रीजी ने अपनी अलौकिक विद्वत्ता से तिब्बत, खोतान, हिन्देशिया, मलाया, जावा, हिन्दचीन, श्याम, बर्मा आदि देशो मे प्रचलित रामकथा का बडा ही प्रामाणिक तथा विशद वर्णन किया है। इससे स्वामीजी के अगाध पाण्डित्य का पता चलता है।

दूसरी बात जो भारतीय विद्वानो को स्वामीजी के गम्भीर अध्ययन की सूचना देती है वह है रामायण और महाभारत का काल-निर्णय। भारतीय इतिहास के इन महाकाव्य ग्रन्थो के समय-निर्धारण के सम्बन्ध मे यूरोपीय विद्वानो—जैसे मैक्समूलर, मैकडानल, कीथ, वेबर, ब्यूलर आदि—ने जो विवेचन किया है, उसे पूर्वपक्ष मान कर स्वामीजी ने अनेक मतो का बड़ी ही गम्भीरता के साथ खण्डन किया है। इतना ही नही, प्रिसेप, एलेन, मार्शल स्मिथ तथा कनिघम आदि विदेशी विद्वानो ने भारतीय इतिहास तथा अशोक के शिलालेखो के सम्बन्ध मे जो मत व्यक्त किया है, स्वामीजी ने उसकी भी खरी आलोचना की है। पश्चिमी तथा भारतीय विद्वानो के मत से रामायण तथा महाभारत की रचना बुद्ध के पश्चात् और ईसा के पहिले दूसरी या तीसरी शती मे हुई थी। परन्तु स्वामीजी ने इसकी रचना ईसा से हजारो वर्ष पूर्व मे सिद्ध करने का प्रयास किया। यह दूसरी बात है कि करपात्रीजी के तर्को तथा उनकी स्थापनाओं से भले ही कोई देशी या विदेशी विद्वान् सहमत न हो, परन्तु जिस विद्वत्ता के साथ स्वामीजी ने इन तर्को को प्रस्तुत किया है उसकी प्रशसा किये बिना कोई नही रह सकता। कहॉ वेदान्त का ज्ञान और कहॉ भारतीय पुरातत्त्व तथा अभिलेख शास्त्र का अध्ययन। परन्तु स्वामीजी के व्यक्तित्व मे इन दोनो ही प्राचीन तथा नवीन विद्याओं का मनोहर समन्वय पाया जाता था।

(३) भक्तिसुधा[१]

स्वामीजी के भागवत विषयक ग्रन्थो मे यह ग्रन्थ नि सन्देह मुकुटमणि है। इसका प्रथम सस्करण तीन खण्डो मे विभिन्न समयो मे प्रकाशित हुआ था। नवीन द्वितीय सस्करण उसी का एक ही खण्ड मे परिष्कृत एव परिंवृद्दित स्वरूप प्रस्तुत करता है। लगभग एक सहस्र पृष्ठो मे सवलित यह विपुलकाय ग्रन्थ परिमाणत ही विपुल एव अभिराम नही है, अपितु गुणत भी कमनीय एव रमणीय है। स्वामीजी का यह मौलिक ग्रन्थ नि सन्देह उनकी तप पूत लेखनी का अद्भुत चमत्कार है। इसके दो तिहाई भाग मे (लगभग सात सौ पृष्ठो मे) व्रजनन्दन की वृन्दावन-लीला के ही नानारूपो का सागोपाग विवेचन रसिको के लिए चिन्तन एव मनन की विपुल नूतन सामग्री प्रस्तुत करता है। वेणुगीत, चीरहरण, रासलीला एव रासपचाध्यायी का गम्भीर विवेचन रोचक शैली मे निबद्ध होकर अपने पूर्ण वैभव के साथ यहॉ प्रस्तुत किया गया है। श्रीमद्भागवत के प्रचुर श्लोको की गम्भीर एव नवीन व्याख्या स्वामीजी की अलौकिक प्रतिभा का प्रसाद उपस्थित करती है। केवल यह एक ही ग्रन्थ करपात्रीजी की अलौकिक कल्पना, विशद व्याख्यान शैली एव नवीन आध्यात्मिक तथ्यो की विवेचना का द्योतक ग्रन्थरत्न माना जा सकता है।

(४) भगवत्-तत्त्व[२]

यह भी करपात्रीजी के द्वारा लिखित, विशिष्ट महत्त्वपूर्ण निबन्धो का सग्रह है।

(५) मार्क्सवाद और रामराज्य[३]

इसमे पाश्चात्त्य राजनीति और भारतीय राजनीति का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत कर कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तो की अनुपयोगिता सिद्ध की गयी है।

स्वामीजी के इतर हिन्दी ग्रन्थ निम्नलिखित है—(१) वर्णाश्रमधर्म और सकीर्तन-

---

१ राधाकृष्ण-धानुका-प्रकाशन सस्थान, कलकत्ता द्वारा १६८० ई० मे प्रकाशित।

२ मूलचन्द चोपड़ा द्वारा बनारस से १६६७ वि० मे प्रकाशित।

३ गीताप्रेस, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित।

मीमासा, (२) वेद का स्वरूप और प्रामाण्य, (३) अहमर्थ और परमार्थता, (४) सघर्ष और शान्ति, (५) राष्ट्रीय स्वयसेवकसघ और हिन्दू धर्म, (६) विदेशयात्रा का शास्त्रीय पक्ष, (७) पूँजीवाद, समाजवाद एव रामराज्य ।

करपात्रीजी का व्यक्तित्व

स्वामी करपात्रीजी महाराज का व्यक्तित्व अलौकिक था जिसमे दृढ़ कर्मठता का, दीर्घ तपस्या के बल से उपार्जित विशुद्ध ज्ञान का तथा सात्त्विक हृदय मे उद्वेलित परमानन्द से आप्लुत भक्ति का मधुमय सामजस्य सदा प्रस्फुटित होता था । जिस किसी विषय के विश्लेषण मे उनकी शेमुषी सलग्न होती थी, वह विषय गम्भीरतम, कठिन से कठिन होने पर भी श्रोताओं तथा पाठको के हृदय मे अत्यन्त सरलता से उपस्थित हो जाता था । उनकी वाणी तथा लेखनी दोनो ही धार्मिक जनता को आकृष्ट करने की अद्भुत क्षमता रखती थी । उनकी मधुर वाणी का चमत्कार उनके अद्भुत भाषणो मे दृष्टिगोचर होता था तो उनकी प्रौढ लेखनी का प्रभाव उनके प्रमेयबहुल ग्रन्थो मे भूरिशः अनुभवगम्य बनता है । इस तथ्य को दृष्टान्तो के सहारे बतलाने की आवश्यकता नही है ।

स्वामीजी के भाषणो एव ग्रन्थो दोनो की एक मधुर दिशा है । इन्हे सुनकर तथा पढ़कर व्यक्ति के हृदय मे तत्तद् विषयो के प्रति किसी प्रकार के सशय का लेश भी विद्यमान नही रहता । शास्त्रीय तथ्यो के विश्लेषण के समय उनकी वाणी जितनी तर्कनिष्ठ एव युक्तिप्रवण होती थी भक्तिरस के वितरण मे वह उतनी ही मधुर, सरल सुबोध एव आनन्द प्रसविनी बनती थी । भागवत की 'रासपचाध्यायी' के रहस्यो का उद्घाटन उनकी भक्तिमयी वाणी इतनी सुन्दरता से करती थी कि उसमे नये नये भावो की व्यजना से, नवीन अर्थो की अभिव्यक्ति से एव भगवल्लीला के अविराम आयामो की स्फूर्ति से श्रोताओं का हृदय आनन्द से आप्लावित हो उठता था । राधा माधव की निकुज लीला मे प्रवेश कर वे अपनी विलक्षण अनुभूति का वर्णन सुना कर विज्ञ श्रोताओं को रसविभोर बना डालते थे । उनके व्यक्तित्व मे मस्तिष्क और हृदय दोनो की उदात्त वृत्तियो को जगाने की, उद्बुद्ध करने की तथा सचारित करने की विलक्षण प्रतिभा थी ।

करपात्रीजी के जीवन मे कर्म, ज्ञान तथा भक्ति की विमल त्रिवेणी प्रवाहित होती थी । रामराज्य परिषद् की स्थापना, राजनीतिक चुनावो मे भाग लेना, अपने विषय के प्रतिपादन के लिए सभामचो से भाषण देना, धर्मसघ की स्थापना तथा सस्कृत विद्या के प्रचार के लिए सस्कृत विद्यालय की स्थापना —ये उनके कर्मठ जीवन के उज्ज्वल प्रतीक है । अध्यात्मविषयक अनेक ग्रन्थो की सस्कृत तथा हिन्दी मे रचनाएँ इनके जीवन के ज्ञानपक्ष को उद्घोतित करती है । प्रारम्भिक भाषणो मे ज्ञानपरक विषयो के निरूपण मे ये सस्कृतमयी, लच्छेदार तथा कठिन भाषा का प्रयोग इतना अधिक करते थे कि श्रोताओं के समूह मे शायद ही दो-चार व्यक्ति इनके आशय को समझने मे समर्थ हो सकते थे । परन्तु धीरे-धीरे इन्होंने अपने भाषण के स्तर को सरल बनाया जिससे सभी लोग आसानी से समझ सकें ।

भक्तिरस के विवेचन मे करपात्रीजी वड़े ही अनुरागी व्याख्याता थे । श्रीमद्भागवत की व्याख्या की ओर इनका नैसर्गिक आकर्षण था । राधा-माधव की लीलाओं के रहस्य का उद्घाटन ये इतनी सुन्दरता से करते थे कि कथा सुनने वाले लोग मुग्ध हो जाते थे ।

भक्तिरस का उदय तथा अभ्युदय, विचार एव विश्लेषण—सब कुछ श्रीमद्भागवत के

ही अनुशीलन का व्यापक फल था और इस महनीय कार्य के सम्पादन का श्रेय मिलना चाहिए काशी के अद्वैतवेदान्त के मनीषी सन्यासियो को ही। इसी काशी नगरी के महनीय अद्वैती सन्यासी श्रीधर स्वामी ने अपनी 'भावार्थदीपिका' नामक भागवत की व्याख्या के द्वारा भागवत के गम्भीर अर्थ को सर्वसाधारण के लिए सरल तथा सुबोध बनाया। यह घटना १४वी शताब्दी की है। इसके तीन शताब्दी बाद मे विद्यमान गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन मधुसूदन सरस्वती शुष्क ज्ञानमार्ग के अनुयायी, अद्वैतवादी सन्यासी नही थे प्रत्युत भक्तिरस के व्याख्याता एव भक्तिस्निग्ध हृदय से सम्पन्न एक महामान्य साधक तथा भक्त भी थे। अद्वैतसिद्धि जैसे अद्वैत ज्ञान से मडित ग्रन्थ-रत्न के प्रणेता होने के साथ ही साथ ये 'भक्तिरसायन' जैसे भक्तिरस की व्याख्या करने वाले ग्रन्थ के रचयिता भी थे। चौसट्ठी घाट पर विद्यमान अपने मठ मे रहने वाले मधुसूदन सरस्वती काशी की ही प्रतिभाशाली विभूति थे। १८वी शती मे विराजमान स्वामी नारायणतीर्थ ने जहाँ वेदान्त के चूडान्त ग्रन्थो का प्रणयन किया, वही वे 'शाण्डिल्य भक्तिसूत्र' की भक्तिचन्द्रिका नामक व्याख्या लिखकर भक्ति के तत्त्व, प्रकार तथा साधना को वेदमन्त्रो के द्वारा प्रतिष्ठित करने वाले व्याख्याकार थे। ये भी वाराणसी के ही सन्यासी सम्प्रदाय के अलकार थे। स्वामी करपात्रीजी भी काशी की इसी भक्तिमार्गीय, भागवती अद्वैती सन्यासियो की परम्परा के मुकुटमणि के रूप मे विराजमान थे। बडे दुःख का विषय है कि ऐसे दिव्य मनीषी ७ फरवरी १९८२ को ब्रह्मलीन हो गये और उनके तिरोधान से सनातनधर्म की अपूरणीय क्षति हो गई।

स्वामीजी का व्यक्तित्व

श्री करपात्रीजी का व्यक्तित्व बडा ही विशाल था। वे अद्वैतवेदान्त के प्रतिभासम्पन्न उच्चकोटि के मर्मज्ञ विद्वान् थे। उनका शास्त्रीय वैदुष्य गुरुमत से अधिगत विद्या का प्रसाद नही था, प्रत्युत वह उनकी लोकातीत प्रतिभा की अन्त स्फूर्ति का दिव्य प्रतीक था। अद्वैत के सहायक तथा पोषक मीमासा, न्याय तथा साख्ययोग शास्त्रो का भी ज्ञान उनका उतना ही पूर्ण तथा प्रभावशाली था। शास्त्रार्थ मे उनकी वावदूकता तथा तर्कानुगामिता उतनी ही आवर्जक थी। सनातनधर्म के सिद्धान्तो के मण्डन करने मे तथा उनके प्रतिस्पर्धियो के तर्काभास से परिपुष्ट मतो को ध्वस्त करने मे उनकी तर्कचातुरी का चमत्कार प्रौढ विद्वानो को भी आश्चर्यचकित करने वाला था। उनके आरम्भिक कथा प्रवचनो मे वेदान्त के शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दो का बहुल प्रयोग उनके श्रोताओं के लिए एक विषम समस्या थी। परन्तु स्वामीजी ने धीरे धीरे अपने भाषणो को जनता के लिए बोधगम्य बनाने की दृष्टि से उनके स्तर को कुछ कोमल बनाया। कठिन विषय के समझाने की उनकी शैली बडी ही रोचक तथा आकर्षक थी। उपनिषद् तथा शास्त्रों के प्रमाणभूत वचन उनके मुख से अनायास ही स्थान-स्थान पर आते रहते थे। फलत स्वामीजी के समान अन्तराल मे पहुँच कर शास्त्र के गूढ मर्मो को सीधी-सादी भाषा मे जनता को समझाने वाला कोई दूसरा वक्ता नही था। वह सामान्य वक्ता न होकर शास्त्रार्थपटु अलौकिक वाग्मी थे जिसके विरल अस्तित्व के विषय मे शास्त्र की उक्ति है—'वाग्मी भवति वा न वा'।

स्वामी करपात्रीजी भारतीय राजनीति के एक कर्मठ उपासक एव दिव्य आदर्श के प्रतिष्ठाता थे। वे शास्त्रानुमोदित शासन को राजनीति का आधार मानते थे और इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होने 'रामराज्य-परिषद्' की स्थापना की थी। पाश्चात्त्य भौतिकतावादी राजनीति का कोई भी दृढ दार्शनिक आधार नही है। प्रथम बार कार्ल मार्क्स ने 'कैपिटल'

नामक मौलिक राजनीतिक ग्रन्थ मे साम्यवाद और सामाजिक भौतिकवाद की व्याख्या दार्शनिक आधार पर की। स्वामी करपात्रीजी ने मार्क्सवाद तथा तत्सम्बद्ध राजनीतिक समस्याओं का मूल्यांकन अपने सुचिन्तित ग्रन्थ 'मार्क्सवाद और रामराज्य' मे किया है। भौतिक विषयोपयोग, पूँजीवाद एव श्रमिकवाद के दलदल मे राजनीति को समुद्धृत कर स्वामीजी ने रामराज्य के मर्यादावाद एव अध्यात्मवाद पर केन्द्रित किया। उन्होने दिखलाया कि पूँजी तथा श्रम के परस्पर पोषक होने से स्वार्थान्धता एव वर्गविद्वेष तथा वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तारराष्ट्रिय संघर्षो को प्रश्रय मिलेगा जो मानवसमाज तथा विश्व के विनाश का कारण बनेगा। भारतीय राजनीति इस सिद्धान्त से कोसो दूर है। रामराज्यवाद ही आध्यात्मिकता पर आधारित, धर्मनियन्त्रित नीति मे प्राणिमात्र को 'अमृतस्य पुत्रा' परमेश्वर की सन्तान मानकर उनके प्रति सहज भ्रातृभाव का समर्थन करता है। इस प्रकार प्राय बारह सौ पृष्ठो के इस महनीय ग्रन्थरत्न मे राजनीतिक क्षेत्र मे विश्व को सुखशान्ति देने वाला रामराज्य ही विश्व का एकमात्र कल्याण साधन हो सकता है इस तथ्य का प्रतिपादन स्वामीजी ने बड़े तर्क तथा दृढ युक्तियो के सहारे सिद्ध किया। भारतीय राजनीति का ठोस दार्शनिक आधार प्रस्तुत करने वाला यह ग्रन्थ श्री करपात्रीजी के राजनीतिक चिन्तन तथा अनुशीलन का अनुपम प्रतीक है।

वर्तमान युग मे भौतिकवाद के झझावात से डॉवाडोल होने वाले वैदिक धर्म के सरक्षण, परिवृहण एव प्रस्थापन के निमित्त श्री स्वामीजी ने जो अश्रान्त अदम्य प्रयासो को सचारित किया उनका सुफल हमारे सामने विद्यमान है। उन्होने भौतिकवाद की प्रबल ऑधी से सनातन धर्म को मुक्त कर देश मे धार्मिक एव आध्यात्मिक वातावरण की सर्जना की, श्रौत स्मार्त पद्धतियो से परिपूर्ण यज्ञो के अनुष्ठान की परम्परा का श्रीगणेश किया और शास्त्र एव शास्त्रीयता की मर्यादा को उच्चतम शिखर पर पहुँचा दिया 'सर्ववेदशाखा सम्मेलनो' के माध्यम से उन्होने देश मे वैदिक धर्म की पुन स्थापना की। वेदो की अपौरुषेयता, उनका प्रामाण्य एव उनकी सनातन उपयोगिता को सिद्ध कर स्वामीजी ने वेदो के प्रति लोगो मे श्रद्धा उत्पन्न की, शास्त्रीय पद्धति को जीवनयापन का मार्ग बनाया तथा सनातनधर्म की ज्योति को सर्वदा के लिए आलोकित कर दिया। सचमुच उनका व्यक्तित्व बड़ा विशाल था वे लोककल्याण मे निरन्तर सलग्न महामनीषी थे। वे सचमुच ही धर्मसम्राट् थे अलौकिक महापुरुष थे, जिनके लोकातीत कार्यो का मूल्यांकन भविष्य की पीढियाँ बड़े आदर और सम्मान से आगे करती रहेगी।

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धा कवीश्वरा ।
नास्ति येषा यश.काये जरामरणज भयम् ॥

काशी में भागवत व्यासों की परम्परा

काशी मे श्रीमद्भागवत का प्रवचन करने वाले विद्वान् व्यासो की परम्परा रही है। इस परम्परा के अन्तर्गत गुजरात, महाराष्ट्र तथा उत्तरप्रदेश से सम्बद्ध ब्राह्मण-परिवारो का अन्तर्भाव होता है। वल्लभाचार्य के द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्गीय वैष्णवो की क्रीडास्थली होने के कारण भागवत के कथाकार व्यासो का प्राचुर्य काशी मे होना नितान्त स्वाभाविक है। महाराष्ट्रीय वैष्णव सन्त भी काशी मे आकर अनेक वर्षो तक यहाँ निवास करते थे तथा मराठी मे भागवत-विषयक ग्रन्थो का प्रणयन करते थे। प्रसिद्ध सन्त एकनाथ ने काशी मे ही अपने प्रख्यात आध्यात्मिक ग्रन्थ **एकनाथी भागवत** का प्रणयन किया था (समाप्तिकाल १५७३ ई०)। उत्तरप्रदेश के महनीय वैष्णव सन्त तथा पण्डित काशी मे निवास करते थे तथा भागवत की

मनोरम कथा का प्रचार अपने व्याख्यानों एवं भागवत प्रवचनों द्वारा किया करते थे। यह परम्परा आज भी जागरूक है तथा प्रगति पर है।

पण्डित भागवतीजी—ऐसे ही काशी मण्डल में जनमे एक भागवत-मर्मज्ञ व्यास का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है। इनका नाम तो था **श्री भूपनारायण मिश्र**, परन्तु वे अपनी 'भागवतीजी' की अन्वर्थक आख्या से ही विशेष प्रसिद्ध थे। इनका जन्म हुआ था वाराणसी मण्डल के 'महाइच' परगने में 'महेशी' नामक ग्राम में पण्डित परमेश्वरदत्त मिश्र के आत्मज-रूप में विक्रम-संवत् १९१६ (१८५९ ई०) में।

इनका घर का नाम भूपनारायण मिश्र था। पाँच भाइयों में ये तृतीय थे। कहा जाता है कि विद्याध्ययन के लिए वाराणसी आकर किसी कार्यवश शीघ्र ही घर लौट कर जाते समय मार्ग में ग्राम के एक ब्राह्मण ने उपहास में कहा कि 'ये देखो भूपन बनारस से भागवत पढ़ के आ गये।' इस बात की प्रतिक्रिया के रूप में पण्डितजी ने पुन· वाराणसी आकर उस समय के विभिन्न विषयों के प्रख्यात विद्वानों से व्याकरण, साहित्य, मीमासा, वेदान्त, धर्मशास्त्र, महाभारत एव श्रीमद्भागवत का गम्भीर प्रौढ़ अध्ययन किया और भागवत के पूर्ण विद्वान् के रूप में ही पुन घर लौटे। उन्होंने श्रीमद्भागवत का अध्ययन **पं० विश्वेश्वरदत्त ब्रह्मचारी भागवतीजी** से किया और उनके ही स्थान नीलकण्ठ मुहल्ला में राममन्दिर पर भागवत का अध्यापन नित्य पूर्वाह्न और अपराह्न दोनो समय निरन्तर यावज्जीवन करते रहे। यदाकदा वाल्मीकिरामायण और महाभारत का भी पाठ चलता रहा। श्रीधरी टीका अधिकतर इनको कण्ठस्थ थी। श्रीधरी के अनुसार ही ये व्याख्या करते थे।

इनकी अध्यापन शैली व्याकरण, साहित्य और दर्शन के प्रौढ़ विद्वानो को भी श्रद्धावनत और मुग्ध करती थी। अनेक विद्यालयों का मूर्धन्य विद्वद्वर्ग एवं साधुवर्ग इनसे निःसङ्कोच अध्ययन करता था। जब वे 'लोके व्यवायामिषमद्यसेवा' इत्यादि श्लोकों की व्याख्या करते थे तब लगता था कि ये कोई उद्भट मीमासक है। भागवत की 'वेदस्तुति' ऐसे स्थलों की व्याख्या के अवसर पर उनका दार्शनिक ज्ञान दर्शन के अच्छे विद्वानो को भी आश्चर्य-चकित कर देता था। मारवाड़ी-सस्कृत-महाविद्यालय के अध्यक्ष श्री मदनमोहन शास्त्री और सेठ गौरीशंकर गोयनका अपने-अपने महाविद्यालयो में उन्हे भागवत के अध्यापन के लिए ले जाना चाहते थे किन्तु इन्होंने वृत्तिकाध्यापन को अस्वीकार कर दिया। अन्तिम समय मे अनन्तश्री करपात्रीजी के धर्मसङ्घ-महाविद्यालय, वाराणसी में अध्यापन करते रहे। वाराणसी के प्रख्यात प्रतिष्ठित व्यक्ति कामेश्वरप्रसाद अग्रवाल के नीचीबाग के मन्दिर मे प्रतिदिन वर्षों तक उनका कथा-प्रवचन चलता रहा। उनके सहस्रों शिष्य भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त में बिखरे हुए है जिनमें कई धर्माचार्य संन्यासी महात्मा भी है। उन्ही में एक स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी भी हैं। उनके छोटे पुत्र राधाकान्त मिश्र महेशी में और दो पौत्र श्रीचन्द्रकान्त मिश्र और शशिकान्त मिश्र वाराणसी में रहते है। इनका निधन वाराणसी में राममन्दिर में ही संवत् २०१४ (१९५७ ई०), भाद्रपद शुक्ल तृतीया को ९८ वर्ष की आयु में हुआ। पण्डितवर्ग एवं सम्मानित जनवर्ग में पण्डितजी की उच्चकोटि की प्रतिष्ठा थी। उन्होंने भागवत के प्रचार-प्रसार का अनुपम कार्य किया और भागवत के कई उच्च विद्वान् देश को दिये।

●

१०१

श्री पीताम्बरापीठाधीश्वर वनखण्डेश्वर, दतिया के स्वामीजी

मध्यप्रदेश के प्रख्यात वनखण्डेश्वर महादेव की पुरातन तप.स्थली को निज तीव्र तपस्या की साधना से प्रोद्दीप्त तथा प्रोज्ज्वल बनाने वाले स्वामीजी महाराज के गुणों का वर्णन करना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। इन्होंने विस्तृत तीर्थ को जागरित किया तथा वहीं भगवती पीताम्बरा देवी का पीठ स्थापित कर सहस्रों भक्तो को साधना में दीक्षित किया, अपने भाषणों तथा उपदेशों से तान्त्रिक साधना के गूढ़ रहस्यो का उन्मीलन कर सुयोग्य शिष्यों को तैयार किया तथा स्वयं तन्त्रसाहित्य से सम्बद्ध ग्रन्थों का प्रणयन कर विद्वज्जनों का महान् उपकार किया ये तथ्य स्वामीजी महाराज के निर्मल आध्यात्मिक जीवन को कसौटी पर कसे गये सोने की तरह उद्दीप्त करने के लिए पर्याप्त माने जा सकते है।

स्वामीजी ने अपने जीवन की गाथा आग्रह करने पर भी प्रकटित नहीं की, परन्तु शास्त्रचर्चा के अवसर पर यथाकथञ्चित् सकेतो के द्वारा अभिव्यक्त घटनायें एकत्र कर उनका जीवनवृत्त उपन्यस्त किया जा सकता है।

उनका जन्म काशीमण्डल में हुआ था। काशीनरेश की चकिया तहसील के पास ही रामपुर नामक एक गॉव है काशी से पचास किलोमीटर की दूरी पर, और इसी गॉव में मध्यम कोटि के सरयूपारीण ब्राह्मण परिवार में स्वामीजी ने जन्म लिया था। पिता का नाम था—ज्योतिर्विद् हरिप्रसादजी, जो इनके जन्म के थोड़े ही दिन बाद दिवगत हो गये। स्वामीजी का नाम था महावीर प्रसाद। बाल्यावस्था में इनकी माता अपने कंधे पर चढ़ाकर इन्हें चकिया में काशीनरेश द्वारा स्थापित तथा अभ्यर्चित कालीजी का दर्शन कराने के लिए लाया करती थीं। उसी समय से स्वामीजी की अभिरुचि शक्ति की अर्चना की ओर स्वत. आकृष्ट हो गई। बड़े होने पर महावीरप्रसादजी काशीनरेश के रामनगर दुर्ग के भीतर प्रतिष्ठापित हनुमान्‌जी की पूजा-अर्चा के लिए नियमतः आया करते थे। हनुमान्‌जी की यह मूर्ति बड़ी विलक्षण तथा विचित्र है। मूर्ति इतनी सुन्दर बनी है कि पूरे विग्रह पर रोयें अलग-अलग दिखलाई पड़ते है। यही हनुमान्‌जी स्वामीजी के इष्ट थे। स्वामीजी नियमित रूप से व्यायाम करते तथा अखाड़ों में लड़ा करते थे। मल्लविद्या के इस अभ्यास से स्वामीजी का शरीर बड़ा पुष्ट, सुडौल तथा भव्य दृष्टिगोचर होता था।

स्वामीजी का जन्म वि० स० १६५५ की चैत्र शुक्ल पञ्चमी (तदनुसार २६ मार्च १८६८ ईस्वी) को हुआ था। पिता के दिवंगत हो जाने पर माता बालक को अपने मायके में ले गई जो बलिया मण्डल में पड़ता था। इसी मण्डल के 'छाता' नामक गाँव में स्वामीजी को स्कूली शिक्षा प्राप्त हुई और यहीं के मिडिल स्कूल से १६१२ ईस्वी में इन्होंने हिन्दी मिडिल पास किया। उर्दू उस युग में द्वितीय भाषा के रूप में नियमतः पढ़ाई जाती थी। स्वामीजी ने

उर्दू की शिक्षा यही प्राप्त की और तभी से इन्हे उर्दू की कविता पढ़ने का और स्वय बनाने का चस्का लग गया। आगे चलकर स्वामीजी को बँगला, मराठी, गुजराती, पजाबी आदि प्रान्तीय भाषाओं मे दक्षता प्राप्त करने का सुयोग मिलता गया और इन भाषाओं का ज्ञान उन्हें आसानी से प्राप्त हो गया।

१६१३ ईस्वी में स्वामीजी ने गृहत्याग कर दिया और काशी मे आकर संस्कृत भाषा के गम्भीर अध्ययन में ये सलग्न हो गये। काशी विद्यापीठ मे व्याकरण पढने लगे। इनके व्याकरणाध्यापक का नाम था मैथिल पण्डित ब्रह्मानन्द झा, जो पढाने लिखाने मे बडे ही अनुरागी तथा प्रौढ़िप्राप्त सुबुद्ध वैयाकरण थे। काशी मे ही 'भारत माता' के मन्दिर के पास ही एक छोटी कुटिया मे गिरनार स्वामी तारानन्दजी रहते थे। इनके सम्पर्क से महावीर प्रसाद के हृदय मे तीव्र वैराग्य की भावना जागी और इन्हे सुयोग्य विरक्त सन्यासी पाकर इन्ही मे उन्होने सन्यास की दीक्षा ग्रहण की। अब इनका नाम हो गया **देवानन्द स्वामी** और इसी नाम से ये अपने सहपाठियो मे प्रसिद्ध हुये। विद्यापीठ मे पढते समय इनकी माताजी प्राय. इनसे भेट करने के लिए आया करती थी और भेट कर अपने गॉव लौट जाती थी। काशी मे रहकर इन्होने नाना शास्त्रो का, वेद-वेदान्त का, व्याकरण साहित्य का विधिवत् अध्ययन किया। १६२६ ईस्वी मे स्वामीजी ने विद्या पूरी की और काशी छोडकर अध्यात्म की खोज के लिए तीर्थयात्रा पर निकल पडे। उत्तराखण्ड की ओर ये निकल गये। हरिद्वार मे कुछ दिन टिके। यहॉ सन्त समागन से अपने भीतर जागरूक आध्यात्मिक तत्त्व चिन्तन को और भी जागरित किया और तप साधना मे अपने दिन बिताये। २५ वर्ष की अवस्था तक इन्होने शास्त्रो का अच्छा अध्ययन कर लिया था। सन् १६२६ की ३१ जनवरी को इन्होने काशी छोडी और कॉगडा, बम्बई, बगाल, नैपाल, ज्वालामुखी, चामुण्डा आदि की यात्रा करते रहे। सन् १६२७ ई० मे जब ये पजाब के नगरोटा नामक स्थान मे थे, तब इनकी भेट अनन्तानन्दनाथ नामक गुजराती सन्यासी से हुई। इन्ही से स्वामीजी ने शान्तिमार्ग की तान्त्रिक दीक्षा प्राप्त की और गुरुदेव ने इनका नाम **अमृतानन्द नाथ** प्रदान किया और इस कारण ब्रह्मलीन होने के उपरान्त स्वामीजी की समाधि पर जिन शकरजी की स्थापना की गई है, उन्हे 'अमृतेश्वर' नाम से अभिहित किया गया है। गुरुजी के आदेश से ही दीक्षा लेने के उपरान्त इन्होने नर्मदा नदी के तट पर स्थित 'सिद्धनाथ' नामक स्थान पर एक वर्ष तक तपस्या की थी। फिर अमृतसर, तरनतारन आदि स्थानो मे भ्रमण करते हुए कुछ समय धौलपुर मे प्रवास किया। अनन्तर दतिया मे १६२६ ई० की ६ जुलाई को आकर जम गये और अर्धशताब्दी तक शक्तिसाधना मे लीन रहे।

पीताम्बरापीठ की स्थापना

स्वामीजी के आगमन के पूर्व दतिया मध्यप्रदेश का एक सामान्य कोटि का साधारण नगर था, परन्तु उन्होने अपनी घोर तपस्या तथा तान्त्रिक साधना के विपुल प्रचार-प्रसार के द्वारा इसे जाग्रत शक्तिपीठ के असाधारण रूप मे प्रतिष्ठित कर दिया। स्वामीजी ने सर्वप्रथम भगवती पीताम्बरा की स्थापना १६६२ वि० स० (१६३५ ईस्वी) मे की और तभी यह आश्रम पीताम्बरापीठ के नाम से समग्र भारतवर्ष मे प्रसिद्ध हो गया। **बगलामुखीरहस्यम्** नामक ग्रन्थ का प्रकाशन पूजा की समग्रता तथा शास्त्रीयता की दृष्टि से किया गया। अनन्तर श्री यन्त्र की स्थापना भी की गई। शाक्त धर्म के आचार्य एवं भगवती पीताम्बरा के साधको में अग्रगण्य होने वाले भगवान् परशुराम के मन्दिर की स्थापना २०२० सं० (१६३३ ई०) में स्वामीजी

ने बडी आस्था तथा निष्ठा से की। परशुराम का **कल्पसूत्र** नामक ग्रन्थ तान्त्रिक आचार्यों की दृष्टि मे आराधनीय एव पूजनीय माना जाता है। परशुराम की अर्चना महाराष्ट्र तथा केरल मे मुख्यतया है। फलत उत्तरभारत मे इस मन्दिर की स्थापना का विशेष महत्त्व है। काशी मे भी इनकी माता 'रेणुका' का मन्दिर तो है, परन्तु यहाँ भी परशुरामजी का मन्दिर स्थापित नही है। महाकालभैरव, धूमावती एव तारा की स्थापना विभिन्न समयो मे की गई। षडाम्नाय शिव की स्थापना भी देश मे कही दिखाई नहीं पडती। पूज्यपाद स्वामीजी ने वनखण्डेश्वर के प्राचीन मन्दिर मे इस शिव की स्थापना १९८० ई० मे कर इस अभाव की पूर्ति की है। इस मन्दिर मे सद्योजात, वामदेव, तत्पुरुष, अघोर, ईशान तथा नीलकण्ठ शिव (षडाम्नाय शिव) नामक तान्त्रिक पूजा के आधारभूत भगवान् शकर की छ मूर्तियो की स्थापना की गई है। स्वामीजी की विशेष अनुकम्पा से इतने मन्दिरो का निर्माण, मूर्तियो की स्थापना तथा उनका विधिवत अर्चन पूजन यहा के निवासियो के लिए सुलभ एव सुगम हो गया है।

यज्ञों का अनुष्ठान

पूज्यपाद स्वामीजी वैदिक तथा तान्त्रिक यज्ञो के अनुष्ठान के बडे ही प्रेमी एव प्रचारक थे। सामान्य यज्ञो का अनुष्ठान तो होता ही रहता था। परन्तु स्वामीजी ने ऐसे दो यज्ञो का अनुष्ठान करवाया तथा बडे ही विधि विधान से सम्पन्न किया जिनका फल सद्य देखने मे आया। पहिला यज्ञ था **राष्ट्ररक्षा-अनुष्ठान यज्ञ**। अवसर था चीन का भारतवर्ष पर आक्रमण (१९६२ ई०) स्वामीजी राष्ट्रगुरु है भारत राष्ट्र की स्वातन्त्र्यप्राप्ति के विशिष्ट प्रशसक। भक्तो ने इस देशव्यापी महान् सकट से उद्धार के लिए जब उनसे आग्रह किया, तब उन्होने धूमावती के प्रसादनार्थ विशिष्ट यज्ञ करवाया जिसके समाप्त होने से पूर्व ही चीन भारतवर्ष से हट गया और रूस से मैत्री भग हो जाने से वह अपने ही आप घोर सकट मे जा गिरा। दूसरा विशिष्ट विधान था **ब्रह्मयज्ञ का आयोजन**। इसमे समग्र वेदो का सस्वर पारायण अगो उपागो के साथ सम्पन्न हुआ था। प्रत्येक वेद के पारायण के लिए नव दिनो का समय नियत किया गया था। इस प्रकार यह ब्रह्मयज्ञ छत्तीस दिनो तक निर्विघ्न चलता रहा। प्रथम यज्ञानुष्ठान मे तान्त्रिक विद्वानो का जमघट था, तो इस द्वितीय यज्ञानुष्ठान मे वेदाध्यायी नाना शाखाओं से परिचित होने वाले वैदिको का समाज जुटा था। स्वामीजी का यज्ञ की शुद्धि तथा पूर्णता पर विशेष आग्रह था। फलत दूरस्थ विद्याकेन्द्रो से विद्वान् एकत्र किये गये थे। इस ब्रह्मयज्ञ के आचार्य काशी के वैदिक प० रामनाथ सारस्वतजी थे। पण्डितो का कहना है कि ऐसा वेदपारायण हजारो वर्षो के बाद सम्पन्न हुआ था। जो कुछ हो, स्वामीजी ने इन यज्ञो का अनुष्ठान विशुद्ध वैदिक पद्धति मे इतनी निष्ठा, श्रद्धा तथा विश्वास से कराया कि इसे देख दर्शको के नेत्रो के सामने प्राचीन भारत के वैदिक ऋषिकुलो का दृश्य सजीव हो उठा था। यज्ञो के अनुष्ठान मे स्वामीजी की अलौकिक शक्ति को देखकर विद्वानो को भी चमत्कृत होना पडा। नाना प्रकार के सकटो से पीडित जनता का उद्धार स्वामीजी के लिए अनायास साध्य था। मन्त्रशक्ति के लोकातीत चमत्कार का सद्य दर्शन स्वामीजी की कृपा से यज्ञो के फलरूपेण सर्वदा होता रहता था। फलरूप से असाध्य रोगियो को रोगमुक्त होते देखा है। फॉसी के झूले पर झूलने वाले को मुक्त होते देखा है। स्वामीजी ने घोर नास्तिको को आस्तिक बनाया। देवी-देवताओं मे अविश्वासियो को दृढ विश्वासी बनाया। उनके विचित्र चमत्कारो ने तान्त्रिक मन्त्रो की सत्यता को पदे पदे दर्शाया। यह तो हुआ स्वामीजी के तान्त्रिक जीवन का लोकपक्ष। अब उनके तान्त्रिक जीवन का वेदपक्ष देखिये।

साहित्य-सर्जना

पूज्यपाद स्वामीजी की साहित्यसर्जना नितान्त स्तुत्य तथा सर्वथा अभिनन्दनीय है। उनके ग्रन्थो का प्रकाशन 'पीतम्बरापीठ सस्कृत परिषद्' दतिया के द्वारा सम्पन्न हुआ है। ये ग्रन्थ तीन श्रेणी मे विभक्त किये जा सकते है –(१) दतिया मे स्थापित देवी देवताओं की अर्चना से सम्बद्ध, (२) प्राचीन तान्त्रिक ग्रन्थो के ऊपर स्वामीजी के द्वारा निर्मित टीका से सवलित, (३) नवीन शोध तथा अनुसन्धान से समन्वित। प्रधान ग्रन्थो का सक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है—

(१) श्रीबगलामुखीरहस्यम्—पीताम्बरा से सम्बद्ध अर्चाप्रधान विषयो का यहाँ प्रामाणिक एव विस्तृत विवरण दिया गया है। ग्रन्थ दो खण्डो मे विभक्त है। प्रथम खण्ड मे क्रमश न्यास तथा पीताम्बरा के क्रम का विधान, दीक्षाविधि एव बगलामुखी के आचार, बृहत् पूजा पद्धति, शान्तिस्तोत्र तथा सौभाग्यार्चन कवच है। पचम परिच्छेद वैदिक स्रोत का ऊहापोह करता है। इसमे यजुर्वेद एव अथर्ववेद के मन्त्रो मे बगलामुखी के स्वरूप का विवेचन दिखाया गया है। स्वामीजी का अनुसन्धान है कि 'बलगा' कृत्याविशेष है जिसके वर्णव्यत्यय से 'बगला' शब्द निष्पन्न हुआ है। बगलामुखी स्तम्भन की शक्ति है। अथर्व के पञ्चम काण्ड के ३१वे सूक्त मे बगलामुखी का ही वर्णन उपलब्ध है। देवी के स्वरूप का आध्यात्मिक रहस्य यहाँ उपन्यस्त है। द्वितीय खण्ड परिशिष्टरूप है जिसमे बगलामुखी के कवच, शतनाम, सहस्रनाम, अर्चापद्धति आदि आवश्यक विषयो की जानकारी दी गई है जिसमे इधर उधर विकीर्ण वस्तुये साधको के उपयोगार्थ एकत्र की गई है। यह सर्वांगपूर्ण अपूर्व विवेचन स्वामीजी के प्रौढ वैदुष्य तथा गम्भीर अनुसन्धान का समग्रतया प्रकाशक है।

(२) शरभतन्त्रम् –शरभतन्त्र अथवा पक्षिराज तन्त्र का सकलन 'आकाशभैरव कल्प' के आधार पर स्वामीजी की कृपा का परिणाम है। भगवान् शकर के दिव्य तेज से आविर्भूत श्री वीरभद्र ही भगवान् शरभ है। रुद्र का यह घोरतम रौद्र रूप है। विरोधियो का दमन करने मे इनसे बढ़कर और कोई देवता तन्त्रशास्त्र मे नहीं है। प्रारम्भ मे शरभमन्त्र की उद्धारविधि, उसका स्वरूपचित्र, शरभयन्त्र की पूजाविधि बताई गई है। गारुडमन्त्र का रहस्य बतलाया गया है और अन्त मे शरभोपासना से सम्बद्ध विषय जैसे शरभसहस्रनामस्तोत्र, शरभस्तोत्र (लिगपुराणोक्त) तथा शरभोपनिषद् यहा सकलित है। अपूर्व है यह तन्त्र का प्रकाशन।

(३) रेणुकातन्त्रम् स्वामीजी के द्वारा प्रणीत तथा सकलित यह तन्त्र परशुरामजी की माता की पूजा-अर्चा से सम्बन्ध रखता है। पिता जमदग्नि की आज्ञा से परशुराम ने अपनी माता रेणुका का मस्तक छिन्न कर दिया था। मस्तक के छिन्न होने पर प्रकट हुआ रेणुका का तेज ही **छिन्नमस्ता** के नाम से दश महाविद्याओं मे प्रसिद्ध हुआ। भगवती रेणुका की उपासना से सम्बद्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री—कवच, सहस्रनाम तथा नाना स्थलो से एकत्र स्तोत्र—यहाँ बड़े परिश्रम से सकलित की गई है। रेणुका की उपासना मे वीर, मेधावी तथा प्रियदर्शन पुत्र की प्राप्ति तन्त्रो मे बतलाई गई है।

(४) सप्तविंशतिरहस्यम्- आगमशास्त्र से सम्बद्ध २७ सताईस विषयो के तथ्यो का यहाँ अपूर्व वर्णन ग्रन्थ की उपादेयता का सद्य प्रमापक है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे कामराज क्रम से **श्रीविद्या** के समस्त उपास्य मन्त्रो का न्यास, ध्यान, विनियोग आदि का पाण्डित्यपूर्ण विवेचन है। ऐसे गोपनीय मन्त्रो के २७ समूह है। तत्सम्बद्ध होने से ग्रन्थ का अन्वर्थक अभिधान है।

(५) छिन्नमस्ता-नित्यार्चन –स्वामीजी द्वारा रचित एक सौ पृष्ठो का यह लघु ग्रन्थ (प्रकाशक कल्याणमन्दिर, अतोपीबाग, प्रयाग, २०३५ स०) छिन्नमस्ता देवी की दैनिक अर्चन विधि का प्रकाशक है। स्वामीजी ने छिन्नमस्ता के स्वरूप तथा अर्चनाविधान का आध्यात्मिक रहस्य भी बडे वैशद्य से समझाया है।

(६) तान्त्रिक पञ्चाङ्ग—विलक्षण ग्रन्थ है जिसमे स्वामीजी ने तन्त्र तथा ज्योतिष दोनो शास्त्रो के सिद्धान्त का सामञ्जस्य दिखलाया है। इस अपूर्व ग्रन्थ की रचना स्वामीजी के विलक्षण तान्त्रिक वैदुष्य का परिणत फल है।

(७) ईश्वरगीता—ईश्वरगीता कूर्मपुराण के उत्तरार्ध मे प्रथम एकादश अध्यायो मे वर्णित है। स्वामीजी ने इसके ऊपर 'भावार्थदीपिका' नामक हिन्दी व्याख्या लिखी है। वे इस ईश्वरगीता को भगवद्गीता से प्राचीनतर मानते है। भगवद्गीता मे श्रोता तथा उपदेश-स्थल के अनुरोध से कर्मयोग का उपदेश है, तो ईश्वरगीता मे ऋषिगण जैसे श्रोता तथा तपोवन जैसे उपदेशस्थल के स्वारस्य से ब्रह्मविद्या का उपदेश है। व्याख्या मे अनेक गम्भीर आध्यात्मिक रहस्यो का विशद प्रतिपादन है।

(८) पञ्चोपनिषद् भाष्य—आरम्भ के पाँचो उपनिषदो पर स्वामीजी का 'प्रकाश' नामक व्याख्यान बडा ही गम्भीर तथा गूढ वैदिक अध्यात्म का प्रतिपादक है। वेदो के मर्म का यहाँ उसी प्रकार प्रतिपादन है जिस प्रकार उनका सामञ्जस्य तान्त्रिक तत्त्वो के साथ स्पष्टत सिद्ध हो जाता है।

(९) लेखसंग्रह—स्वामीजी के हिन्दी मे लिखे गये पाण्डित्यपूर्ण ३० निबन्धो का यह सग्रह बडा ही गम्भीर शास्त्र वेद तथा तन्त्र के तथ्यो का विशद विवेचन प्रस्तुत करता है। लेख बडी ही सीधी सादी भाषा म गम्भीर तत्त्वो के प्रतिपादक है।

(१०) महाविद्याचतुष्टयम्—(तारा धूमावती भुवनेश्वरी मातङ्गीसहितम्) इस ग्रन्थ मे इन चारो महाविद्याओं के स्वरूप का यथावत वर्णन है और प्रत्येक महाविद्या से सम्बन्धित पटल, स्तोत्र, कवच, कल्प, शतनाम, सहस्रनामस्तोत्र, तारोपनिषद्, मन्त्रप्रयोग, उपासनाविधि, आवरणपूजा एव बलिदान आदि विषयो का एकत्र विशद वर्णन ग्रन्थ की उपादेयता का स्पष्ट प्रमाण है।

(११) तारा—कर्पूरराज-स्तोत्र—कालीकर्पूरस्तोत्र के समान ही तारा के साधकगण इस स्तोत्र का विशेष आदर तथा सम्मान करते है। यह स्तोत्र भी मानवो की भौतिक कामनाओं की पूर्ति के समान आध्यात्मिक फलो को भी प्रदान करता है। स्वामीजी ने इस स्तोत्र के महनीय व्याख्यान मे साकेतिक शब्द एव अक्षरो के अर्थ, ॐ शब्द की विशद व्याख्या, प्रमाण के मौलिक उद्धरण, पचमकार का रहस्योद्घाटन, अधिभूत का आध्यात्मिक अर्थ आदि तथ्यो का गम्भीर गवेषणामूलक विवेचन किया है। स्वामीजी की यह 'प्रकाशिका' नाम्नी व्याख्या यथार्थत ताराविद्या के तथ्यो का विवेचनपरक भाष्य ही है।

(१२) सिद्धान्तरहस्य तथा **(१३) वैदिक उपदेश** सरल हिन्दी भाषा मे कठिन विषयो का विवरण देते है।

इन ग्रन्थो के अतिरिक्त 'पीताम्बरापीठ सस्कृतपरिषद्' (दतिया) ने लगभग पचीस छोटी मोटी पुस्तके प्रकाशित की है जिनमे से कुछ तो प्राचीन तान्त्रिक आचार्यो की बहुचर्चित रचनाये है और अन्य स्वामीजी के ही पण्डित शिष्यो की नवीन कृतियाँ है। इन दोनो मे स्वामीजी

की कर्मठता द्योतित होती है। प्राचीन ग्रन्थो का स्वामीजी ने भाषानुवाद तथा व्याख्याये की है और नई रचनाओं मे उन्ही का उपदेश तथा प्रेरणाप्रद सुझाव जागरूक है। फलत पूज्यपाद स्वामीजी महाराज की यह साहित्यसर्जना वेद तथा तन्त्र के लिए नई दृष्टि तथा गम्भीर अन्वेषणा शैली प्रदान करने वाली है।

श्री स्वामीजी का वैदुष्य

स्वामीजी का व्यक्तित्व समन्वयवादी था। दण्डी स्वामी होते हुए भी वे आगम के समर्थक थे। शक्ति की साधना उनके आध्यात्मिक जीवन की केन्द्रबिन्दु थी। तन्त्रयोग का शास्त्रीय सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक पक्ष दोनो के बीच उनका समन्वय दृष्टिगोचर होता था। कुण्डलिनी उनकी पूर्णतया जाग्रत थी। वे शाङ्कर वेदान्त के पूर्ण समर्थक थे तथा आचार्य शकर द्वारा प्रतिष्ठित समयाचार के वे पक्षधर साधक थे। शकर के समान ही वे श्रीविद्या के गम्भीर उपासक थे। उनकी निष्ठा शाक्ताद्वैत के ऊपर समग्रतया प्रतिफलित होती थी। उन्होने वेद तथा तन्त्र, निगम तथा आगम के गम्भीर सिद्धान्तो का पूर्णतया परिशीलन किया था। प्राचीन ग्रन्थो की व्याख्या लिखकर तथा नये मौलिक ग्रन्थो का निर्माण कर उन्होने जो साहित्य प्रस्तुत किया था, उसके समीक्षण से मद्य प्रतीत होता है कि भारतीय विचार विभिन्नता के भीतर एकरसात्मक सामञ्जस्य को उनकी अनुभूति प्रबल तथा दृढ थी। दर्शन की विभिन्न शाखाओं का उन्होने आलोडन किया था और उनके विषय मे उनका परिज्ञान साधार तथा मूलानुगामी था। तन्त्रशास्त्र के, विशेषत शाक्त तन्त्रो के तत्त्वो का जो रहस्य उन्होने अपन सस्कृत ग्रन्थो मे एव मौखिक भाषणो मे अभिव्यक्त किये है, उनमे गम्भीरता के साथ साथ नवीनता, प्राचीन अनुशीलन के साथ नई सूझ बूझ का दर्शन पदे पदे आलोचक को होता है।

स्वामीजी निगम तथा आगम की समानरूपता पर विशेष आग्रह रखते थे। वे वैदिक मन्त्रो के भीतर आगमिक तत्त्वो का सकेत पाते थे तथा श्रीविद्या का निर्देश सौन्दर्यलहरी के विद्वान् व्याख्याकार लक्ष्मीधर के समान वे भी स्पष्टत वैदिक मन्त्रो मे पाते थे। उनकी दृष्टि से ऋग्वेद का यह प्रख्यात मन्त्र तन्त्र सिद्धान्तो की ओर सकेत करता हुआ मद्य प्रतीत होता है—

> **चत्वारि शृगास्त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।**
> **त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यान् आविवेश ॥**

—ऋग्वेद ४।५८।३

भावार्थ—एक विचित्र वृषभ सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाला होकर शब्द कर रहा है। उसके चार सीग, तीन पाद, दो सिर, सात हाथ है और वह तीन स्थानो से बँधा है। ऐसा महान् देव समग्र मनुष्यो मे प्रवेश कर गया है। स्वामीजी के अनुसार यह मन्त्र विशेष रूप से तन्त्रशास्त्र के तथ्यो का सकेतक है। उनकी दृष्टि मे इसका सकेत इन तत्त्वो से है। चार सीग—वैदिक, पौराणिक, तान्त्रिक एव शाबर मन्त्र है। तीन पाद—कादि, हादि, सादि— उपासना की ये तीन पद्धतियाँ तीन पाद है। 'सोऽहम्' एव 'हस' अथवा प्रकाश एव विमर्श ये दो सिर है। सूर्य, सोम, अग्नि —इन त्रिविध मण्डलो से यह बँधा है (त्रिधा बद्ध)।

'रोरवीति'—इस क्रियापद के द्वारा वृषभ को सम्पूर्ण कामनाओं की वर्षा करने वाला 'शब्दब्रह्म' तत्त्व कहा गया है। 'महो देव' पद के द्वारा मन्त्र एव देवता का तादात्म्य बतलाया गया है। ऐसा तत्त्व सभी जीवो मे परा, पश्यन्ती, मध्यमा एव वैखरी रूप से प्रविष्ट है। इसके पूर्ण विकास के लिए तत्त्वज्ञान-क्रम से गुरुकृपा के द्वारा साधक पूर्णता को प्राप्त कर सकता है।

इस वैदिक मन्त्र मे तन्त्रोक्त तत्त्वो के सकेत की असगति को दूर करते हुए स्वामीजी का कहना है 'भारतीय तत्त्वज्ञान मे कोई भी वस्तु नवीन नही है। अभाव से भाव की उत्पत्ति नही हो सकती। कारण से कार्य की पृथक् प्रतीति केवल सस्थानभेद मात्र है। मीमासा के सूत्र **आख्या प्रवचनात्** के अनुसार वेद या तन्त्र मे नूतन प्रतीति व्याख्यानकर्तृक है। बृहत् धर्मपुराण के अनुसार सदाशिव ने देवी की आज्ञा से तन्त्र (आगम) का प्राकट्य पहिले किया। तदनन्तर विष्णु ने वेद को प्रकट किया। देवी का कथन है कि आगम और निगम, तन्त्र तथा वेद मेरी दो भुजाये है जिनके द्वारा मैने सम्पूर्ण ससार को अपने वश मे कर रखा है।

स्वामीजी का कथन है कि **त्रिलिगता** शक्ति तथा शिव दोनो मे विद्यमान रहती है। शक्ति का निर्देश सामान्यत स्त्रीलिग शब्दो मे ही होता है, परन्तु यह कोई नियम नही है। पुल्लिग अथवा नपुसकलिग शब्द इसके लिए वर्जित नही है। इसकी पुष्टि मे वे तान्त्रिक शालिराम का यह वचन उद्धृत करते है

न त्वमम्ब पुरुषो न चाङ्गना चित्स्वरूपिणी न षण्डतापि ते ।
नापि भर्तर्यपि ते त्रिलिङ्गता त्वा विना न तदपि स्फुरेदयम् ॥

भावार्थ—हे जगज्जननी माता तुमम तीनो लिगा के सूचक शब्दो का प्रयोग न्याय्य है। तम न पुरुषरूप हो न स्त्रीरूप हो, न नपुसकरूप हो। शिव मे भी तीनो लिगो की सत्ता (त्रिलिगता) विद्यमान रहती है। फलत देवी का बोधक, उपनिषदो मे प्रतिपादित, नपुसकलिगी शब्द 'ब्रह्म' के साथ तुम्हारा सामरस्य सर्वदा वर्तमान रहता है।

इस प्रसग मे स्वामीजी 'ललितासहस्रनाम' के भाष्य मे शाक्तशिरोमणि **भास्कर राय** की यह उक्ति उद्धृत करते है

'शब्दानुसारीण्येव लिङ्गानि न तु वास्तविकम्। ब्रह्मण्येकमपि लिङ्ग न 'न स्त्री न षण्डो न पुमान्' इति विष्णुभागवतात्। अत एव देवताया ध्यानेऽपि ऐच्छिक एव विकल्प स्मर्यते। पुरूप वा स्मरेत् स्त्रीरूप वा विचिन्तयेत् अथवा निष्कल ध्यायेत सच्चिदानन्दलक्षणमिति ॥"

लिगता पदो मे रहती है, वस्तु मे नही। फलत आराध्या देवी के ध्यान के लिए तीनो लिगवाले शब्द प्रयुक्त होते है। उसे पुरुष भी ध्यान कर सकते है अथवा सच्चिदानन्दरूपी ब्रह्म भी।

वेद के मन्त्रो मे तन्त्रो के तत्त्वो का पूर्णतया सकेत स्वामीजी ने बडे परिश्रम तथा अध्यवसाय से खोज निकाला है। इस विषय मे उनके स्वतन्त्र लेख है। अथर्ववेद के प्रथम काण्ड के १३वे सूक्त के चारो मन्त्रो का उनकी व्याख्या से कुण्डलिनीयोग का तथ्य परिस्फुरित होता है। इसी प्रकार आकूतिसूक्त से इच्छाशक्ति की गरिमा का परिस्फुरण वे बतलाते है। इस विषय के विस्तार के लिए 'लेखसग्रह' नामक ग्रन्थ का प्रथम लेख 'वेदो मे शक्तितत्त्व' तथा चतुर्थ लेख 'वैदिक शाक्त यज्ञ' ध्यान से मनन चाहता है।

स्वामीजी **समयाचार** के नैष्ठिक आराधक है। फलत आचार्य शकर के द्वारा वर्णित एव सौन्दर्यलहरी मे प्रतिष्ठापित तान्त्रिक आचार विचारो के पूरे समर्थक है। कौल आचार बहिर्याग का उपासक है, तो समयाचार अन्तर्योग का। स्वामीजी की दृष्टि मे इन दोनो मे मूलत पार्थक्य नही है। उनका कथन है—वस्तुत बाह्य एव अन्त यागो का ध्येय मूलाधारगत कुण्डलिनी एव सहस्रारगत शिव का सामरस्य स्थापित करना ही है। भावनोपनिषद् के अनुसार ज्ञान ही अर्घ्य है, ज्ञेय हविष् है एव ज्ञाता होता है। अतएव ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान नामक त्रिपुटी की अभेद भावना करना ही श्रीचक्र का पूजन है—

ज्ञानमर्घ्यं ज्ञेयं हविः ज्ञाता होता। ज्ञातृज्ञानज्ञेयानामभेदभावन हि श्रीचक्रपूजनम्।

पञ्चमकार के विषय में उनकी मान्यता है कि समयपूजा हृदयाकाश एवं सहस्रार में ही होती है। ऐहिक तथा पारलौकिक फलसाधना के लिए हृदयकमल में ही होम, तर्पण आदि कर्तव्य हैं। इस मत में मानसिक 'मपञ्चक' का उपयोग होता है। सहस्रार से निश्च्यूत सुधा का पान मद्य है; काम, क्रोध आदि पशुओं को ज्ञानखड्ग से मारकर मन को परशक्ति में लय करना मांसभक्षण है। इन्द्रियों का संयम ही मीनसेवन है। आशा, तृष्णा, जुगुप्सा, लज्जा, घृणा, प्रकोप को ब्रह्मअग्नि में भस्म कर देना ही मुद्रा है। सूक्ष्मरूपा सुषुम्ना नाड़ी का सेवन ही **मैथुन** है। सूर्य एवं चन्द्र नाड़ियों के ऐक्य का ही नाम मैथुन है, योनि का सभोग नहीं। इस विषय के विस्तार के लिए द्रष्टव्य स्वामीजी की 'ताराकर्पूरराजस्तोत्र' की व्याख्या (श्लोक १४)।

पूज्यपाद स्वामीजी शास्त्रीय सगीत तथा साहित्य के गुणी रसज्ञ ही नही थे, अपितु पूर्ण मर्मज्ञ थे। वे कहा करते थे कि काशी-निवासकाल में मै काशी तथा उसके आसपास आने वाले कलावन्तों के सगीत को बड़े प्रेम तथा निष्ठा से सुना करता था। इसलिए शास्त्रीय संगीत का गम्भीर ज्ञान प्राप्त हो सका। दतिया मे आने पर वह सगीतानुराग और भी वृद्धिंगत हो गया। इसीलिए तो अखिलभारतीय कीर्ति वाले गायक उन्हे अपना गायन तथा वादन सुनाकर उनकी प्रशसा अर्जित करने से अपने आपको कृतकृत्य मानते थे। मगीत के विषय में स्वामीजी की मान्यता थी—

"भारतीय सगीत एक जिन्दा जादू है तथा परमात्मा की प्राप्ति का एक प्रमुख साधन है। सगीत यौगिक साधना है जिसका सम्बन्ध नादसाधना से है। संगीतशास्त्र अपार सागर की तरह है। माँ सरस्वती भी इसमें पूर्ण पारगत नही है।" इस सम्बन्ध में वे निम्नलिखित श्लोक सुनाया करते थे—

नादाम्बुधेः परं पारं नोपेयाय सरस्वती।
अतो निमज्जनभिया तुम्बीं वहति सर्वदा॥

अपार संगीतसागर में कही डूब न जायँ, इसलिए वे अपने हाथ में सर्वदा तुम्बी धारण करती है।

स्वामीजी का लगाव यो तो ध्रुपद-धमार से ही विशेष था, परन्तु ख्याल, ठुमरी और गज़ल भी वे बड़े रस से सुनते थे। वे कहा करते थे कि ध्रुपद-धमार का प्रचलन तो अब समाप्त ही समझो। यह तो रियाज़ की चीज है। जिसने जितना किया, उतना पाया।

इसी सन्दर्भ में उन्होंने **नारदीय शिक्षा** का सभाष्य प्रामाणिक प्रकाशन अपनी संस्था के द्वारा कराया था। सामवेदीय 'नारदीय शिक्षा' के उपदेष्टा देवर्षि नारद संगीतशास्त्र की प्रतीकभूत वीणा को धारण करते है जो सप्तस्वरों के वैशिष्ट्य, विभिन्न मूर्छनाओं और संगीतशास्त्र के सर्वाङ्गीण विचारों की उद्घाटिका है। नादब्रह्मस्वरूप सगीतविद्या के आदि अधिष्ठाता श्री महाकाल भैरवजी की स्थापना इसी संगीताराधना के लिए की गई। प्रत्येक रविवार को इस मन्दिर में संगीत का गायन नियमतः किया जाता है।

स्वामीजी भारत की नाना प्रान्तीय भाषाओं के ही ज्ञाता न थे, उनमें लिखित साहित्य के भी वे रसज्ञ थे तथा बड़े मनोयोग से उन्हें सुनते-सुनाते थे। वे सूफी सन्तों की आध्यात्मिक रहस्यवादी शायरी बहुत पसन्द करते थे और उन्होंने अनेक सुन्दर-सुन्दर गज़लें उर्दू भाषा की अपनी डायरी में अपने अध्ययन-काल में लिख रखी थीं जिन्हें वे संगीतज्ञों के द्वारा गवाकर सुना करते थे। स्वामीजी स्वभावतः मौन रहते थे। इसका कारण यही था कि वे गम्भीर थे

तथा अपने अन्त करण की गुहा मे पराशक्ति का सन्तत चिन्तन किया करते थे। उन्ही के एक सहृदय शिष्य ने उन्हे उर्दू का यह शेर सुनाकर उनके गाम्भीर्य का आभास देकर आशीर्वाद अर्जित किया था—

कह रहा है सूर दरिया से समुन्दर का सुकूत ।
जिसमे जितना ज़र्फ है वह उतना ही खामोश है ।

आशय है कि जिस व्यक्ति मे जितनी गम्भीरता (ज़र्फ) रहती है वह उतना ही खामोश रहता है—शान्तचित्त, मौन रहता है। स्वामीजी सच्चे प्रेमी की पहिचान के लिए यह शेर अकसर कहा करते थे—

जिन्हे है इश्क ए शादिक वो कब फर्याद करते हैं ।
लबो पर मुहरे खामोशी दिलो मे याद करते है ।

सच्चा प्रेमी हृदय मे याद करता है। उसके होठो पर खामोशी -चुप्पी की मुहर लगी रहती है। वह अपने प्रेमी की कभी शिकायत नही करता। परन्तु दिल मे वही विराजता रहता है।

इस प्रकार स्वामीजी ने अपने उपदेशो से तथा रचनाओं से जगत् का महान् उपकार करते हुए अपना नि स्वार्थ साधना का जीवन बिताया। सन् १९७९ ईस्वी मई के अन्त मे जब वे औषध के लिए बम्बई जाने लगे, तब उन्हे अपने लक्ष्य की समाप्ति का पूर्ण आभास हो गया था। तब उन्होने यह उपदेशप्रद विचार इस शेर के द्वारा सुनाया था—

बढ़ा है आगे का रोज रोशन हटी है पीछे की रात काली ।
बिछुड़ गया आसमा का मेला हुई सितारो से बज्म खाली ॥

प्रभात हो रहा है। पीछे की काली रात छट गई है। आगे प्रात काल का प्रकाश आकाश मे छिटकने लगा है। आसमान मे जो तारो का मेला लगा है वह छट चला है। सभा ताराओं से अब खाली हो गई है।

इस शेर के सुनाने के कुछ ही दिनो बाद २ जून १९७९ ई० को बम्बई की महनीय नगरी मे दतिया के पूज्यपाद स्वामीजी ने असप्रज्ञात समाधि ले ली। ३ जून को वे दतिया लौटकर आये और यही देहत्याग किया, ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा प्राण छोडा। ओं शान्ति।

स्वामीजी की परमाराध्या भगवती से लेखक की विनति है—

मायाहस्तेऽर्पयित्वा भरणकृतिकृते मोहमूलोद्भवं मां
मातः कृष्णाभिधाने चिरसमयमुदासीनभावं गतासि ।
कारुण्यैकाधिवासे सकृदपि वदनं नेक्षसे त्वं मदीयं
तत् सर्वज्ञे न कर्तुं प्रभवति भवती किं नु मूलस्य शान्तिम् ॥

हे माँ कृष्णे, मोहरूपी मूलनक्षत्र मे पैदा हुये मुझको पालन पोषण के लिए माया के हाथ मे सौप कर उदासीन क्यो हो गई हो ? तुम तो दयामयी हो। एक बार भी मेरा मुँह नही देखती। क्या तुम्हारे लिए यह समुचित है ? तुम तो सर्वज्ञ हो। क्या मूलनक्षत्र की शान्ति तुम नही कर सकती। तुम कर सकती हो। मेरा जगत् से मोह भग करो। यही प्रार्थना है।

स्वामीजी के व्यक्तित्व तथा कृतित्व के सक्षिप्त परिचय के लिए लेखक २०४० स० मे दतिया के पीताम्बरा पीठ द्वारा प्रकाशित 'श्रीस्वामी-स्मृति-ग्रन्थ' का चिरऋणी रहेगा।

दतियास्वामिपादानां चरितं परमाद्भुतम् ।
चिन्तितं चर्चितं प्रेम्णा, प्रेयसे श्रेयसेऽस्तु नः ॥



श्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

१०२

श्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

श्रीमद्भागवत, उपनिषद् तथा अनेक शास्त्रो के उद्भट विद्वान् एव प्रवचनकर्त्ता स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी का शास्त्रीय वैदुष्य जितना उच्च कोटि का है, उतनी ही उदात्त कोटि की है इनकी आध्यात्मिक साधना एव दीर्घ तपस्या। आरम्भ से ही उनके चित्त को ससार का वासनामय वातावरण आकृष्ट नही कर सका और निसर्गत· इनकी प्रवृत्ति अध्यात्म-चिन्तन एव विरक्ति की ओर उन्मुख रही। फलत ये अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपने जीवन की महनीय उपलब्धि —भगवद्वैकर्म—के लिए अनेक स्थानो मे निवास करते हुए अपने को तैयार कर रहे थे। गोरखपुर के प्रख्यात आध्यात्मिक पत्र 'कल्याण के द्वारा साहित्य-सेवा करते हुए भी इन्होंने अपने को परम उद्देश्य की प्रगति की ओर बढ़ाया। श्रीमद्भागवत की हिन्दी व्याख्या, भक्ति तथा ज्ञानप्रचुर लेखो, दार्शनिक गूढ विषयो के विवेचन-प्रवचन आदि के द्वारा शान्तनुविहारी द्विवेदीजी का एक मात्र लक्ष्य रहा—'भगवान् की पीयूषमयी कथा की ओर जनता-जनार्दन को उन्मुख करना तथा विद्वानो के हृदय मे तात्त्विक भक्तिभाव की सद्य स्फूर्ति करा देना।' आज भी स्वामीजी इसी कार्य मे लगे हुए है, सनातनधर्म का प्रचुर प्रचार कर जनता मे धार्मिक जागृति का समुज्ज्वल उदय कर रहे है।

जन्म

स्वामीजी का जन्म वाराणसी मण्डल के महाइच परगने के महराई गाँव में पडित हर्षेन्दु द्विवेदी के आत्मज-रूप मे स० १९६८ (१९११ ईस्वी) की श्रावण अमावस्या को हुआ। इनके पितामह श्री चन्द्रशेखर द्विवेदी धर्मशास्त्र एव ज्योतिष के प्रसिद्ध विद्वान् और विशाल प्रतिष्ठित जनवर्ग के कुलगुरु थे। इनके पिता की अनेक सन्ताने अल्पकाल मे ही कालकवलित हो गयी थी। फलत इनकी पितामही ने मथुरा मण्डल के प्रसिद्ध देव-विग्रह (सतोहा) सन्तानविहारीजी (श्रीकृष्णजी) की वशवर्धन सन्तान की कामना के लिए बड़ी आराधना की। उसके फलस्वरूप इनका जन्म हुआ और इसीलिए इनका नाम रखा गया—शान्तनुविहारी (सन्तानविहारी)। भाग्यवश पिताजी की छाया इनके सिर से वि० स० १९७५ (१९१८ ई०) में ही उठ गयी, जब ये केवल सात साल के बालक थे। अत इनके पालन-पोषण का भार इनके पितामह तथा पूजनीया माताजी पर पड़ा। इनके दो भाइयों की मृत्यु इनके जन्म के पहले ही हो चुकी थी। फलत· ये माता-पिता की इकलौती सन्तान थे। ध्यान देने की बात है कि जिस बालक का जन्म भगवान् श्रीकृष्ण की दीर्घ उपासना और विमल मान्यता के फलस्वरूप हुआ, उसके जीवन में उनकी सरस अनुकम्पा तथा विशद भक्तिभावना का प्रसाद यदि अबाध गति से प्रवाहित हो चला, तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

स्वामीजी की माताजी पतिपरायणा तथा सती-साध्वी स्त्री थीं। अपने पति के परलोक-गमन के पश्चात् अपने ससुर की आज्ञा लेकर चारों धाम की यात्रा करने के लिए गयी थीं। वे रामचरितमानस की बड़ी भक्त थी। जब वे रामायण का पाठ करने लगतीं तब उनकी

आँखो से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती थी। अपने छोटे बच्चे (अखण्डानन्दजी) के हृदय मे उन्होने ही प्रेम की भावना जाग्रत की। सच तो यह है कि अक्षरारम्भ का अभ्यास इन्होने रामायण पढ़कर ही किया था।

शिक्षा और गुरु

स्वामी अखण्डानन्दजी की पाठशालीय शिक्षा कुछ विशेष नही हुई। इन्होने केवल दूसरी कक्षा तक ही नियमित रूप से शिक्षा प्राप्त की थी। गाँव की पाठशाला मे कुछ दिनो तक पढ़ने के पश्चात् सस्कृत साहित्य, व्याकरण तथा दर्शन शास्त्रो का विशेष अध्ययन करने के लिए ये काशी चले आये। यहाँ इन्होने प० रामभवन उपाध्याय से व्याकरण का अध्ययन किया। इसके अतिरिक्त प० रामपरीक्षण शास्त्री से दर्शन शास्त्र का पाठ पढ़ा। स्वामी मनीष्यानन्दजी के साथ सत्सङ्ग करने से इन्हे मानसिक पवित्रता की प्राप्ति हुई। इस प्रकार लगभग छह सात वर्षो तक ये गवर्नमेण्ट सस्कृत कालेज बनारस मे विभिन्न गुरुओं मे व्याकरण, दर्शन, धर्मशास्त्र, ज्योतिष आदि शास्त्रो का अध्ययन करते रहे। ये नित्यप्रति भागवती कथा का श्रवण भी करते थे। कुल की गुरु परम्परा होने से बचपन से ही कथा सुनाने का अभ्यास था और इनके पितामह ही इसके प्रेरणा स्रोत थे। विद्यारम्भ के पूर्व ही उन्होने अनेक स्तोत्र, मन्त्र, ग्रन्थ इन्हे कण्ठस्थ करा दिये थे।

संन्यास

स्वामीजी के पितामह बहुत बडे ज्योतिषी थे। उन्होने अपने पौत्र की कुण्डली मे मारक योग देख कर इनका विवाह स० १६८० वि० (सन् १६२३ ई०) मे कर दिया। उस समय इनका वय केवल १२ वर्ष का था। सयोग से १६ वर्ष के वय के पहले इन्हे सन्तान की प्राप्ति भी हो गयी। इस उम्र मे इनके शरीर पर मारकेश ग्रह का तो कोई प्रभाव नही पडा, परन्तु इनके मन मे ससार से विरक्ति अवश्य हो गयी। जब स्वामीजी कल्याण के सम्पादनार्थ गोरखपुर मे निवास कर रहे थे, तब स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती की बडी ख्याति थी। कुछ वर्षों के पश्चात् ये ही ब्रह्मानन्दजी बदरिकाश्रम के ज्योतिष्पीठ के शकराचार्य के सिहासन पर आसीन हुए। १६४२ ई० मे इन्ही स्वामीजी से इन्होने सन्यास की दीक्षा ग्रहण की और प० शान्तनुविहारी द्विवेदी पूर्वाश्रम के नाम का परित्याग कर स्वामी 'अखण्डानन्द सरस्वती' नाम धारण कर लिया।

साधु-महात्माओं से सत्संग

स्वामीजी को अनेक प्रसिद्ध साधु-सन्तो से सत्सङ्ग करने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। सुप्रसिद्ध महात्मा श्री उडिया बाबाजी का सान्निध्य इन्हे प्राप्त था। सहेपुर के स्वामी योगानन्दजी, मोकलपुर के बाबा, मधईपुर के बाबा अविनाशचन्द्रजी, नेपाल के श्री परमहसजी, भिक्षु शकरानन्दजी, श्री गुलाबचन्दजी आनन्द आदि महात्माओं से सत्सङ्ग करने का इन्हे सुअवसर प्राप्त हुआ। अपनी तीर्थयात्राओं मे उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के अनेक साधु-महात्माओं के इन्होने दर्शन किये थे। साधु-सन्तो के अतिरिक्त इनका सम्पर्क भारत के चोटी के दार्शनिको तथा विद्वानो से भी था। स्वामीजी ने अपना पहला चातुर्मास्य कर्णवास क्षेत्र मे किया था। वहाँ ये उडिया बाबा के सान्निध्य मे माण्डूक्यकारिका का प्रवचन करते थे। वहाँ देश के प्रसिद्ध दार्शनिको का जमघट होता था। नरवर के ब्रह्मचारी प० जीवनदत्तजी, प० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, प० अखिलानन्दजी आदि विद्वान् सम्मिलित होते थे।

इनके सान्निध्य मे ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्री स्वरूपानन्दजी तथा स्वामी श्री शान्तानन्दजी वर्षों तक रहे। आज के भारतप्रसिद्ध रामचरितमानस के लोकप्रिय वक्ता श्रीरामकिंकर उपाध्याय इनसे ही दीक्षित हुए है।

तीर्थाटन

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती ने समस्त भारत का पर्यटन कर इस देश के विभिन्न भागो मे स्थित तीर्थो तथा धामो के दर्शन किये। ये बडे पर्यटकही प्रकृति के साधु है। अत इन्होने पैदल तथा रेल के द्वारा इस पवित्र देश की अनेक बार परिक्रमा की है। हिमालय से कन्याकुमारी तक और जगन्नाथपुरी से द्वारका तक यात्रा कर इन्होने शकराचार्य की प्राचीन परम्परा का अनुसरण किया। उत्तराखण्ड की यात्रा मे गगोत्तरी मे श्री कृष्णाश्रमजी महाराज तथा जोशीमठ मे अपने सन्यासगुरु शकराचार्य के पद पर प्रतिष्ठित स्वामी ब्रह्मानन्दजी के भी दर्शन किये। इसी प्रकार दक्षिण भारत की यात्रा इन्होने दो बार स्पेशल ट्रेन से की। दक्षिण की इस यात्रा मे इन्होने पाण्डेचेरी मे अरविन्द आश्रम देखा और तिरुवण्णमलै मे श्री रमण महर्षि का भी सत्सग प्राप्त किया। काची मे कामकोटिपीठाधिपति शकराचार्य के दर्शन किये। इस प्रकार इस तीर्थयात्रा मे इन्होने अनेक महात्माओं, साधुओं तथा सन्तो के दर्शन कर उनसे सत्सग का विशेष लाभ उठाया।

ट्रस्टों की स्थापना

स्वामीजी ने जनता के कल्याण के लिए अनेक ट्रस्टो की स्थापना की है जिनके द्वारा धर्म का प्रचार अनवरत गति से किया जा रहा है। स्वामीजी ने जिन ट्रस्टो की स्वय स्थापना की है अथवा जिनसे इनका सम्बन्ध है उनकी सूची निम्नांकित है—

१ श्री उडिया बाबा ट्रस्ट, अध्यक्ष
२ श्री कृष्ण-जन्मस्थान सेवा सस्थान, मथुरा, अध्यक्ष
३ स्वर्गाश्रम ट्रस्ट, ऋषीकेश, अध्यक्ष
४ आनन्द वृन्दावन चैरिटेबल ट्रस्ट, अध्यक्ष
५ जनता-जनार्दन सेवा ट्रस्ट, अध्यक्ष
६ प्रेमानन्द ट्रस्ट, औरैया, इटावा, अध्यक्ष
७ सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, बम्बई, सस्थापक अध्यक्ष
८ लोकहित प्रन्यास, अध्यक्ष
९ स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती सेवा सस्थान, अध्यक्ष
१० ब्रह्ममूर्ति श्री उडिया बाबा लोककल्याण ट्रस्ट, अध्यक्ष

इन ट्रस्टो से स्वामीजी के क्रिया-कलापो का कुछ परिचय प्राप्त होता है।

ग्रन्थ-रचना

स्वामी अखण्डानन्दजी ने अनेक ट्रस्टो की स्थापना कर देश मे धर्म, दर्शन तथा साहित्य के प्रचार मे प्रमुख योगदान दिया है। सत्साहित्य के निर्माण तथा प्रचार के लिए इन्होने बम्बई मे 'सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट' स्थापित किया है जहाँ से प्राय· स्वामीजी की पुस्तके प्रकाशित होती है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थो की सूची निम्नांकित है—

(१) माण्डूक्य-प्रवचन (आगम प्रकरण), (२) माण्डूक्यकारिका प्रवचन (वैतथ्य प्रकरण), (३) माण्डूक्यकारिका (भाग ३), (४) कठोपनिषद् (भाग १ तथा २), (५) श्रीमद्भागवत-रहस्य, (६) साख्ययोग, (७) ध्यानयोग, (८) कर्मयोग, (९) भक्तियोग, (१०) ज्ञानविज्ञान-योग, (११) विभूतियोग, (१२) भक्तिसर्वस्व, (१३) अपरोक्षानुभूति, (१४) साधना और ब्रह्मानुभूति, (१५) नारदभक्तिदर्शन, (१६) भक्तिरसायनम्, (१७) मानव जीवन और भागवत धर्म, (१८) व्यवहार और परमार्थ, (१९) मुण्डक प्रवचन, (२०) ईशावास्य प्रवचन, (२१) पुरुषोत्तम-योग, (२२) ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना, (२३) भागवतामृत, (२४) भागवत दर्शन, (२५) मानव जीवन और भागवत धर्म, (२६) गीता मे मानव धर्म भक्ति ज्ञान समन्वय, (२७) निगम-चिन्तन, (२८) चारु चिन्तन, (२९) गम्भीर चिन्तन, (३०) गीता दर्शन (१ ८)।

इन विभिन्न ग्रन्थो के नाम से ही इनके विषय वैविध्य का पता चलता है। वेद, दर्शन शास्त्र, भागवत आदि सभी विषयो मे आपका प्रकाण्ड पाण्डित्य परिलक्षित होता है। साधु-सन्त तथा महात्मा लोग मौखिक रूप से प्रवचन तो करते है परन्तु लेखन-कर्म से वे प्राय विरत रहते है। परन्तु स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती की विशेषता यह है कि ये उपनिषदो, वेदान्त ग्रन्थो एव भागवत के मधुर वाचक ही नही है, अपितु लेखनी के भी धनी है। इनकी वाणी और लेखनी दोनो ही अध्यात्म के उपदेश मे समभावेन गतिशील है।

श्रीमद्भागवत के उत्कृष्ट प्रवचनकर्त्ता

स्वामी अखण्डानन्दजी के जीवन का सर्वोत्कृष्ट वैशिष्ट्य है श्रीमद्भागवत का प्रवचन। स्वामीजी ने दिव्य शरीर के साथ ही दिव्य वाणी भी प्राप्त की है। इनकी सुमधुर वाणी से निकले हुए भागवत के मधुर श्लोक श्रोताओं के ऊपर अलौकिक प्रभाव उत्पन्न करते है। इनकी कथा शैली इतनी रोचक और प्रभावोत्पादक है कि स्वय महामना मालवीय महाराज ने इनसे भागवत की कथा सुनने की इच्छा प्रकट की और इनकी कथा सुनकर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। भारत के बड़े से बडे सेठ-साहूकार, धनी मानी व्यक्ति इनके शिष्य है और वे लोग अपने यहाँ भागवत की कथा सुनाने के लिए इन्हे बार बार आग्रहपूर्वक निमन्त्रण देकर बुलाते है। स्वामीजी की कथा कहने की विशेषता यह है कि अपने प्रवचन के बीच मे उपदेशात्मक रोचक कथाएँ भी सुनाते रहते है जिससे श्रोता का मन ऊबने नही पाता। भागवत के श्लोको का पाठ इनकी मधुर वाणी से सुनकर चित्त प्रसन्न हो जाता है। भागवत की कथा को लोकप्रिय बनाने मे स्वामीजी का योगदान प्रचुर परिमाण मे पाया जाता है। ये आज भी अपने प्रवचनो के द्वारा सर्वसाधारण जनता मे भक्ति का प्रचार करने मे सलग्न है और सपरिश्रम सलग्न है। इस पवित्र कार्य के लिए इन्होने अपना जीवन ही समर्पित कर दिया है। श्री वृन्दावन मे उडिया बाबा के आश्रम के अधिष्ठाता रूप मे और भी निजी आश्रम 'आनन्द-वृन्दावन' के सञ्चालक रूप मे आपका व्यवस्थापक रूप भी नितान्त स्पृहणीय एव आदरणीय है। आपके प्रवचनो मे जितनी मधुरता एव सरसता का सञ्चार पाया जाता है, आपके लेखो मे उतनी गम्भीरता एव तार्किकता का प्रसार उपलब्ध होता है। एक दो उदाहरण पढ़िए—

(क) लीला तथा चरित्र का सूक्ष्म अन्तर जान लेना आवश्यक है। चरित्र का एक उद्देश्य होता है। उसमे कर्तृत्व का भी कुछ न कुछ अश रहता ही है, चाहे वह बाधितानुवृत्ति से ही क्यो न हो। चरित्र मे चाहे कर्ता की भावना से, चाहे जनता की भावना से जगत् के हित का उद्देश्य समाविष्ट रहता है। परन्तु लीला भगवान् की मौज है। वह केवल लीला के लिए है। ऐसा कोई माई का लाल नही हुआ जो अन्तर्यामी के समान भगवान् के हृद्गत

सकल्प को जानकर कह दे कि इस प्रयोजन से उन्होने लीला की है। वह सप्रयोजन मानव का चरित्र थोडे ही है। भगवान् की लीला हो रही है, वह सहज है, स्वाभाविक है। उसमे न उद्देश्य है, न प्रेरणा है, उसमे काल का स्पर्श नही है। भगवान् की लीला अनादि है, अनन्त है, एकरस है, स्वरूप है। उसमे न क्रिया है, न सकल्प है, न स्पन्दन है। वह लीला है, ज्यो की त्यो लीला है। —श्रीमद्भागवतरहस्य, पृ० ३० ३१।

(ख) कृष्णलीला—श्रीकृष्णावतार के प्रसग मे देवकी वसुदेव रूप शुद्ध प्रज्ञा एव शुद्ध सत्त्व से आविर्भूत श्रीकृष्ण का गोकुल मे जाना और वहा यशोदा नन्द को माता पिता के रूप मे स्वीकृति देना इस बात का सूचक है कि भगवान् के माता पिता वास्तविक नही होते, भाग्य की गाढता एव दृढता के तारतम्य मे ही उनमे मातृत्व और पितृत्व का उपचार होता है। पूतना अविद्या है, शकटासुर जडवाद है, बकासुर दम्भ है, अघासुर पाप है, धेनुकासुर देहाध्यास है, कालियनाग भोगासक्ति रूप विषय है ये सब बाते ध्यान देने योग्य है। चीरहरण का अर्थ आवरण भग है और रासलीला का अर्थ अन्तःकरण की शान्त एव मुदित, लीन एव गतिशील सभी वृत्तियो मे भगवत् तत्त्व का अनुपम रूप मे स्फुरित होना है। यह हल्लीसक नृत्य भौतिक नही आध्यात्मिक है इसका अनुभवी साधक तत्त्वदर्शी हो जाता है और जीवन्मुक्ति के विलक्षण सुख का भाजन बनता है। वही, पृ० ८९।

इसीलिए भागवत धर्म के शास्त्र-सम्मत प्रवचनो से देश के अनुपम उपकारी स्वामीजी के लिए भक्तो का यह उद्गार मृषोद्य नही है, सत्यवाक है

प्रेम भरा है जीवन इनका, प्रेम भरे है मीठे बोल।
प्रेम भरे है नयन मनोहर, जीवन को करते अनमोल॥

श्री स्वामीजी द्वारा रचित कतिपय सस्कृत श्लोक जिनका प्रयोग ये कथा-आरम्भ के पूर्व करते है

(१)

श्री - पूर्णानन्दतीर्थस्फुरदमृतगवीविप्रुषाऽऽप्लाविताना
नास्माक मोक्षचिन्ता प्रविदिनमहसा ब्रह्मभाव गतानाम्।
किन्त्वेषा बोधधारा विघटितनिखिलाकारसस्कारकारा
स्वच्छन्द दन्ध्वनीति प्रतिपदमधुना तामनुव्यञ्जयाम॥

ये है श्री पूर्णानन्द तीर्थ! इस अद्भुत तीर्थ मे वचनसुधा लहराती है। हम उसके सीकरो मे स्नान कर चुके है। हमे अद्वितीय ज्योति का बोध हो गया है और ब्रह्मात्मभाव का अनुभव है, मोक्ष की कोई चिन्ता नही है। फिर भी उस कृपा सीकर से प्राप्त बोध की धारा प्रवाहित होकर समस्त आकार एव सस्कार के कारागार को छिन्न भिन्न कर रही है और स्वच्छन्द उपदेश ध्वनि से परिपूर्ण कर रही है।

(२)

शिक्षा सर्वागमानां निखिलजनमनःपावनी कापि दीक्षा
दीप्ता सर्वात्मदृष्टिर्निरवधिकरुणा किं नु वात्सल्यवृष्टिः।
निष्ठा ब्रह्मात्मविद्याद्युतिदलिततमस्तोम- विद्वन्मणीना
श्रीपूर्णानन्दतीर्थो जगति विजयते सत्प्रतिष्ठा यतीनाम्॥

श्री पूर्णानन्द तीर्थ की जय हो, जय हो! यह हमारे महाराजश्री सम्पूर्ण शास्त्रो की मूर्तिमती शिक्षा है। अथवा निखिल जनता के मानस को पावन करने वाली कोई दीक्षा। ये

प्रदीप्त सर्वात्मदृष्टि है। हो न हो, ब्रह्मात्मविद्या की द्युति से अज्ञानान्धकार को दूर—अपसारित करनेवाले ज्ञानी पुरुषो के मुकुटमणि है, ऐसा लगता है जैसे महात्माओं की शाश्वत प्रतिष्ठा ही इनके रूप मे प्रकट हो गयी।

(३)

सम्भोगे विप्रलम्भे निरुभयमभय भाति भूपो रसाना
विक्षेपे वा समाधौ विहरणनिपुणा ब्रह्मविद्यैव नूनम्।
इत्थं लोकैरशोकैरनुपदमधिक भाव्यमानोऽवधूतः
श्रीपूर्णानन्दतीर्थ. पथि पथि पथिकान् नन्दयन् बम्भ्रमीति॥

सयोग शृङ्गार और वियोग शृङ्गार दोनो से अलग और दोनो मे विद्यमान ये निर्भय रसरा न ही है क्या ? हो सकता है विक्षेप एव समाधि मे समान विहार करनेवाली ब्रह्मात्म विद्या ही इनके रूप मे प्रकट हुई हो। आनन्द मे भरपूर जनता सब ओर इनके बारे मे उद्भावना कर रही है। ये कौन है ? कोई अवधूत है। इनको लोग श्री पूर्णानन्द तीर्थ के नाम से जानते है। मार्गवासी लोगो को आनन्द देने के लिए ये पैदल ही पथ पथ पर विचरण करते है।

(४)

ब्रह्मानन्दाब्धिलीलाललितलहरिकाव्यञ्जितासख्यविन्दु -
ब्रह्माण्डव्रातरोमा विधुतविधिविधुत्र्यक्षविस्तारसीमा।
सविद्भूमाशुमालोज्ज्वल- विमल-रुचिध्वस्तमायाविलास.
श्रीपूर्णानन्दतीर्थो मम मनसि मनागात्मभाव बिभर्त्तु॥

ये है श्री पूर्णानन्द तीर्थ। ब्रह्मानन्दसागर की लीलाललित असख्य विन्दुओं से छलकते हुए राशि-राशि ब्रह्माण्ड इनके रोम रोम मे स्थित है। विष्णु, ब्रह्मा और शङ्कर के विस्तार की सीमा टूट चुकी है। अनन्त संवित् के राशि राशि चिदाभास रश्मि समूह की चमक से माया विलास का विध्वम हो रहा है। यही श्री महाराजजी कृपापूर्वक मन मे थोडा सा आत्मभाव भर दे।

(५)

तीर्थाना नास्ति सख्या विलसति पुरत. कापि तेषामभिख्या
येषा स्नानप्रदानप्रवचनपटिमा का कला नातिशेते।
तच्चित्र यस्य चित्र कलितमपि मनाक् छ्रेयसां प्रेयसा च
पारोक्ष्य सविधत्ते वितरति परमा पूर्णतामात्मरूपाम्॥

तीर्थो की सख्या नही है। गगा पुष्करादि, महात्मागण विद्वान् सभी तीर्थ है। उनकी अद्भुत शोभा प्रत्यक्ष रूप से अनुभव मे आती रहती है। उनमें स्नान करो, दान करो, प्रवचन करो। उनकी पटुता सभी कलाओं का अतिक्रमण कर जाती है। परन्तु श्री पूर्णानन्द तीर्थ मे एक विचित्रता है। यदि एक बार थोडी देर के लिए उनके चित्र का भी आकलन कर लिया जाय तो वह श्रेय एव प्रेय दोनो को प्रत्यक्ष कर देता है और आत्मस्वरूप सच्ची पूर्णता का दान कर देता है।

× × × ×

बडे दु ख की बात है कि स्वामीजी महाराज का निधन गत वर्ष मथुरा मे हो गया। वे कैन्सर से पीडित थे।

१०३

महामना पं० मदनमोहन मालवीय

(आस्पद—चतुर्वेदी; उपाधि—महामना)

महामना मालवीयजी सुप्रसिद्ध देशभक्त, राजनीतिज्ञ, वाग्मी, शिक्षाशास्त्री, पत्रकार, वकील, समाज-सुधारक तथा धर्मप्रचारक थे। इनके विशाल व्यक्तित्व में इन उपर्युक्त सभी धर्मों का समन्वय पाया जाता है। इनकी प्रतिभा बहुमुखी था। अतः जिस कार्य को ये अपने हाथों में लेते थे उसे सफलता की कोटि तक पहुँचा कर ही छोड़ते थे। सरकारी स्कूल में एक साधारण अध्यापक के रूप में इन्होंने अपने जीवन का श्रीगणेश किया था। परन्तु योग्यता, प्रतिभा, बुद्धिबल, आशावादिता और निर्मल चरित्र के द्वारा इनकी गणना देश की महान् विभूतियों में होने लगी थी। सच तो यह है कि महात्मा गाँधी को केवल एकमात्र अपवाद-स्वरूप छोड़कर देश में कोई भी ऐसा राष्ट्रीय नेता नहीं है जो लोकप्रियता, त्याग और तपस्या में मालवीयजी की तुलना कर सके। इन्होंने अपने जीवन में हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान इन तीनों की एकाग्र चित्त और एकान्त मन से अनवरत सेवा की। कचहरियों में हिन्दी को प्रवेश कराने का श्रेय मालवीयजी को ही प्राप्त है। हिन्दू समाज को संगठित बनाने तथा उसमें धैर्य एव सदाचार की भावना भरने का काम मालवीयजी ने ही सम्पादित किया। काँग्रेस के द्वारा देश की सेवा करने मे आज इनका कोई सानी नहीं है। परन्तु हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना इनके जीवन का सर्वोत्कृष्ट तथा सबसे महत्वपूर्ण कार्य है। इस विश्वविद्यालय ने शिक्षा के प्रसार के क्षेत्र मे जो अलौकिक कार्य किया है वह सर्वविदित है।

मालवीयजी अलौकिक वाग्मी थे। इनकी जिह्वा पर सरस्वती का निवास था। अतः ये अपनी ओजस्विनी वक्तृता के द्वारा जनसमूह को अनायास ही प्रभावित कर देते थे। इनकी वाणी में जादू था जिससे ये श्रोताओं के मन को मोह लेते थे। इसमें सन्देह नहीं कि मालवीय जी ने अपने जीवन में जो सफलता प्राप्त की उसमें उनकी अद्भुत वाणी का प्रचुर योगदान था।

वंश तथा जन्म

मालवीयजी एक मध्यमवर्गीय मालवीय ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे जो धार्मिक आस्था की दृष्टि से एकान्त वैष्णव था। इनक पितामह का नाम था प्रेमधर चतुर्वेदी तथा पिता का व्रजनाथ चतुर्वेदी। मूलतः महामना के वंश का आस्पद 'चतुर्वेदी' था, इन्होंने ही अपने को सर्वप्रथम 'मालवीय' कहना आरम्भ किया। तब से यह नाम प्रख्यात हो चला। प्रेमधरजी के विषय में विशेष परिचय नहीं मिलता, परन्तु थे वे परम भागवत। उनके कुल की उपास्य देवी थीं राधिकाजी, जिनका श्रीविग्रह कुल में बहुत दिनों से प्रतिष्ठित था। जन्माष्टमी का



महामना पं० मदनमोहन मालवीय

उत्सव बड़े समारोह से मनाया जाता था पूरी साज सज्जा तथा सङ्गीत के साथ। परम भागवत पिता के सुयोग्य पुत्र ब्रजनाथजी श्रीमद्भागवत के व्युत्पन्न तथा रसिक कथावाचक थे। व्यास-वृत्ति ही उनकी जीवनवृत्ति थी। भागवत की कथा सुनाने से जो चढ़ावा आता था, उस अयाचित वृत्ति से वे अपने कुटुम्ब का भरण पोषण किया करते थे और जीविका का अन्य कोई साधन न था। लेखक ने अपने गाँव के वयोवृद्ध मुन्शी रघुनाथ लाल मे सुन रखा है कि मालवीय के पिताजी गाँव के समीपस्थ बैरिया (जिला बलिया) के प्रधान रईस उदारचेता बाबू रघुनन्दन प्रसाद पाण्डेय की ड्यौढ़ी पर प्रयाग से आकर यदा कदा भागवत की कथा सुनाया करते थे। कथा कहने का ढङ्ग बडा ही आकर्षक था। स्थानीय श्रोताओं की भीड लगती थी। उस समय तक मालवीयजी बी० ए० पास कर चुके थे। जानकार लोग कहा करते थे कि व्यासजी साधारण व्यक्ति नही है, तभी तो उनका बेटा बी० ए० पास है। उस युग मे (सन् १८८० ८२ के आस पास) लोगो मे बी० ए० पास होने वाले व्यक्ति की बडी महिमा थी। प्रतीत होता था कि वह सर्वज्ञाता के उच्च पद पर आसीन हो गया है। महामना बलिया तथा छपरा के अपने व्याख्यानो मे बडे गर्व के साथ कहा करते थे कि उन नगरो के उस अन्न से ही मेरा यह शरीर पोषित और वृद्धिगत हुआ है जिसे मेरे पिताजी चढ़ावा के रूप मे यहाँ से ले जाते थे और इसलिए मुझे भी यहा के निवासी कहलाने का उतना ही अधिकार है जितना आप सज्जनो को।

श्री ब्रजनाथ मालवीय को अपने पुत्र मदनमोहन पर ममता का होना स्वाभाविक था। उनकी गृहिणी मूना देवी मालवीयजी की जननी आदर्श महिला थी जो गृहस्थी के सञ्चालन मे अपने पति का पूरा हाथ बटाया करती थी घर मे जब अन्न का अभाव हो जाता, तब मुहल्ले के बनिया के घर वे सौभाग्यचिह्न होने पर भी अपने हाथ का चाँदी का बना भूषण गिरो रख देती और उस द्रव्य मे गृहस्थी चलाती। कथा मे रुपया पैसा मिलने पर वह गहना छुडा लिया जाता। इस प्रकार न मालूम कितनी बार वह गिरो रखा जाता और छुडाया जाता था। ऐसी चुभने वाली गरीबी मे पले महामना गरीबो के दु ख को भली भाँति जानते थे और ऐसे गरीब छात्रो की शिक्षा दीक्षा के निमित्त ही एक भव्य विश्वविद्यालय की स्थापना की कामना उनके हृदय के कोने मे जागी।

पितृभक्ति

महामना की पितृभक्ति आदर्श थी। ये अपने माता पिता के अनन्य सेवक एव भक्त थे। मृत्युशय्या पर पडे पिता की, स्वरचित ग्रन्थ के प्रकाशन की अन्तिम इच्छा की पूर्ति इन्होने जिस लगन तथा परिश्रम से की वह एक रोचक कहानी है। ब्रजनाथ चतुर्वेदी सस्कृत के मर्मज्ञ विद्वान्, परम आस्तिक तथा भागवती कथा के रसिक जीव थे। उन्होने सस्कृत मे ही भगवद्भक्ति विषयक अध्यात्म प्रधान ग्रन्थ का प्रणयन तो कर दिया था, परन्तु उसके प्रकाशन का अवसर न आने से वे नितान्त खिन्न थे। उनकी रुग्णता बढ़ती जाती थी। महामना से उन्होने अपनी इच्छा प्रकट की कि क्या मेरे इतने दिनो के मनन चिन्तन का परिनिष्ठित फल यो ही पडा रह जाएगा। अथवा मै उसे प्रकाशित देख सकूँगा ? बस, क्या था ! पितृभक्त महामना को यह बात लग गई। इन्होने इस ग्रन्थ के मुद्रण मे रात-दिन एक कर दिया। प्रयाग के प्रसिद्ध शिवराम वैद्य ने, जिनके प्रेस मे वह ग्रन्थ छपता था, अपने सस्मरण मे लिखा है कि मदनमोहन बिना खाये-पीये आधी रात तक बैठकर प्रूफ देखा करते, ग्रन्थ को सँवारा करते और उसे प्रकाशित करने की लालसा मे लिपट गये थे। आखिर ४५० पृष्ठो वाली पोथी को

मुद्रित कर जब इन्होंने अपने पिताजी के हाथ मे रखा, तब वे आनन्द से विह्वल हो उठे और दीर्घ जीवन की साहित्यिक तपस्या के फलस्वरूप **सिद्धान्त-दर्पण** की उपलब्धि से अपने को कृतकार्य मानने लगे। उन्होने अपने सुयोग्य पुत्र की पितृभक्ति की भूरिश सराहना की। ऐसी थी महामना की स्वपितृ-चरणो की आराधना। इस ग्रन्थ के लेखन का समय १९५५ स० (१८९८ ई०) है तथा प्रकाशन का १९५३ स० (१९०६ ई०)। भक्ति के सिद्धान्तो का प्रमाणपुरस्सर निरूपण इस ग्रन्थ की महती विशिष्टता है। आज तो यह दुर्लभ है, परन्तु इसकी उपादेयता पहले से भी अधिक है। वैष्णवी साधना के रहस्य को ममझाने वाला यह 'सिद्धान्त-दर्पण' महामना की आध्यात्मिक जीवनधारा को अग्रसर करने वाला महनीय ग्रन्थ है — इस विषय मे दो मत नही हो सकते।

गुरुभक्ति

मालवीयजी की गुरुभक्ति आदर्श कोटि मे प्रतिष्ठित थी। 'आचार्यदेवो भव' का औपनिषद उपदेश इसके विषय मे अक्षरश चरितार्थ होता है। ये अपने विद्यागुरु महामहोपाध्याय पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य को देवतारूप मानते थे और देवसुलभ भक्तिभाव-सभृत हृदय से उनकी आराधना करते थे। गुरु आदित्यरामजी मदनमोहन मालवीय जैसा शिष्य पाकर अपने जीवन सन्देश को सफल एव सार्थक मानते थे। म्योर सेन्ट्रल कालेज मे सस्कृत के प्रोफेसर पदासीन भट्टाचार्यजी ने महामना को सस्कृत विद्या का दान कर उच्चकोटि का सस्कृत विद्वान् एव सस्कृत विद्या का प्रचारक प्रसारक ही नही बनाया, अपितु अपने व्यावहारिक उपदेशो से महामना के जीवन मे ऐसा महत्त्वपूर्ण मोड ला दिया जिससे ये देशसेवा के अभियान मे आगे बढ़ते बढ़ते भारत को स्वतन्त्र बनाने के अप्रतिम लक्ष्य पर पहुँच गये। १८८६ ई० मे घटी यह घटना ऐतिहासिक महत्त्व रखती है, न केवल महामना के जीवन मे अपितु भारतवर्ष के राजनीतिक इतिहास मे भी। इस वर्ष अखिलभारतीय काग्रेस का अधिवेशन कलकत्ते मे होने जा रहा था। राष्ट्रीयता के प्रेमी आदित्यरामजी उसमे सम्मिलित होने के लिए कलकत्ते जानें वाले थे। साथ मे अपने प्रिय प्रतिभाशाली होनहार शिष्य मदनमोहन को भी लेते गए। इनका राजनीतिक नेताओं से परिचय कराया तथा काग्रेस के खुले सेशन मे सम्मिलित होने के लिए इन्हे अग्रसर कर दिया। फिर क्या था ? २५ वर्ष के इस युवक मदनमोहन ने ऐसा सारगर्भित भाषण किया कि काग्रेस के महामन्त्री ने अपनी रिपोर्ट मे इनके भाषण की भूरि भूरि प्रशसा की। मालवीयजी ने अपने प्रथम राजनीतिक भाषण मे एक ऐसे महनीय सारगर्भित वाक्य का प्रयोग किया जो कॉग्रेस के इतिहास मे एक नये युग का सूत्रपात करने वाला सिद्ध हुआ। No taxation without representation is the first Commandment of the political Bilble of Englishmen अर्थात् बिना किमी प्रतिनिधित्व के कोई भी टैक्स नही लगाया जाता—यह अग्रेजो को राजनीतिक बाइबिल का प्रथम आदेश है। मालवीयजी का विशुद्ध अग्रेजी मे सारगर्भित भाषण सुनकर काग्रेसी नेता चमत्कृत हो उठे। मालवीयजी के जीवन-प्रवाह की दिशा राजनीति तथा देशकल्याण की ओर निश्चित हो गई जिसका अनुगमन कर ये महान् राष्ट्रीय नेता तथा स्वतन्त्रता सेनानी बन गये। इसके लिए महामना ही नही, समग्र भारतीय राष्ट्र आदित्यरामजी का सर्वदा के लिए ऋणी रहेगा।

यह तो हुई गुरु की कल्याणमयी कृपा। अब शिष्य की नैसर्गिक भक्ति की मधुर भावना देखिए। मालवीयजी की गुरुनिष्ठा की एक ही घटना का उल्लेख पर्याप्त होगा। सायं सन्ध्या की मधुरिम वेला। प्रयाग के दारागज मे भगवती भागीरथी का दिव्य तट। उस पार

उज्ज्वल बालुकाराशि का विशाल मैदान। उधर आदित्यरामजी झूंसी की ओर से घर को धीरे-धीरे लौट रहे थे और इधर मालवीयजी कार्यवश उधर ही जा रहे थे। उसी बालुकाराशि पर गुरु-शिष्य का हुआ आमना-सामना। फिर क्या था ? महामना अपने परिचित धवल परिधान से सुशोभित थे। गुरुजी के मुखमडल पर ज्योंही इनकी दृष्टि पड़ी, इन्होंने बिना किसी हिचक के, विना क्षणिक विलम्ब के, झट से गुरुचरणों पर साष्टांग प्रणाम निवेदन किया। इन्होंने एक क्षण के लिए भी विचार नही किया कि इस साष्टाग प्रणति की क्रिया में मेरे कपड़े गंदे हो जायेंगे अथवा कोई इसे अनौचित्य की पराकाष्ठा मानेगा। झट से अपने को गुरुचरणों पर डाल ही तो दिया। गुरुजी ने इनकी पीठ ठोंककर आर्शीर्वाद दिया और उठाकर अपने हृदय से लगा लिया। इस घटना के प्रत्यक्षदर्शी है दारागज के ही निवासी प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी जो इस आश्चर्यजनक गुरुभक्ति को देखकर विस्मय-स्तब्ध हो गये थे और जो इसे अपने जीवन की एक विशिष्ट उपलब्धि मानते है।

इतना ही नही, हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना में भी भट्टाचार्यजी की आशीर्वाद अनुकम्पा सर्वथा प्रेरणा देती रही। विश्वविद्यालय की स्थापना हो जाने पर महामना ने उन्हें रेक्टर बनाया, परन्तु आदित्यरामजी अस्वस्थता के कारण अधिक दिनों तक इस पद पर रह नही सके। वे प्रयाग लौट गये। परन्तु महामना ने उनकी पुण्य स्मृति को चिरस्थायी बनाने के उद्देश्य से मालवीयनगर के पास ही 'आदित्यनगर' की स्थापना कर दी जिससे आदित्यरामजी के सौजन्य तथा वैदुष्य की, अध्यात्मचिन्तन तथा देश-प्रेम की कहानी विश्वविद्यालय के छात्रों मे भव्य प्रेरणा तथा नूतन स्फूर्ति देती रहे।

अद्भुत वक्तृत्वशक्ति

महामना के स्कूल मे एक मास्टर साहब राय साहब सॉवलदासजी ने इनके विषय में अपना सस्मरण मालवीय-अभिनन्दन-ग्रन्थ (१६३२) में लिखा है। इससे पता चलता है कि मालवीयजी ने छात्रावस्था से ही अपने को सनातनधर्म के उपदेशक तथा प्रचारक के रूप में गढ़ने का श्लाघनीय प्रयास किया था। माघमेला के अवसर पर उन्हें लोगो को धर्म का उपदेश देने का सुयोग मिलता था। अभी तो इन्होने स्कूल की चहारदीवारी भी पार नहीं की थी। लोगों के कानों तक उनके शब्द पहुँच सकें, इसके लिए वे अपने साथ एक टिन का कनस्टर रखा करते थे। भीड़ जमी देखते, तब झट से कनस्टर को पीटकर लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करते और उसी कनस्टर पर खड़े होकर अपना धार्मिक उपदेश देने लगते। लोग प्रेम से कुछ देर तक सुनकर चले जाते। स्कूल के साथियो के लिए तो यह खालिस मजाक था। वे इनकी इस विचित्र करतूत पर हँसते, फबतियाँ कसते, मजाक उड़ाते, परन्तु साथियों के इस दुर्व्यवहार का तनिक भी प्रभाव महामना के अभीप्सित कार्य पर नही पड़ता। धुन के पक्के ये अपने कार्य में मस्त रहते। स्कूल की वाद-प्रतिवाद सभा (डिबेटिंग सोसाइटी) में भी ये भाग लेते थे तो इनके भाषण का प्रभाव छात्रों पर नही पड़ता था, परन्तु धीरे-धीरे ये वक्ता के निश्चित मार्ग पर दृढ़ता से आगे बढ़ते गये और वाग्मी होने के अपने अभीष्ट लक्ष्य पर पहुँच कर ही रुके।

मास्टर साहब ने लिखा है कि मदनमोहन में अपने वचनों द्वारा दूसरे को प्रभावित करने की अद्भुत क्षमता थी। महामना हिन्दू बोर्डिंग हाउस के लिए चन्दा उगाहने के लिए उनके पास गये और अपने पक्ष की सिद्धि के लिए इतने जोरदार प्रमाण देने लगे कि अनचाहते भी विना विचार किये ही, मास्टरजी ने एक हजार रुपयों का चेक दे ही तो डाला। पीछे वे

कहने लगे कि मैने बहुत ही जल्दबाजी की । देने से पहले खूब विचार कर लेना चाहिए था । परन्तु मालवीयजी की वाग्धारा के प्रभाव को रोक ही कौन सकता था ? किसी उर्दू शायर ने अनजाने ही इस शेर के द्वारा मानों मालवीयजी की ही जुबान में जादू होने की सुन्दर बात कही है—

असर लुभाने का प्यारे तेरे बयाँ में है ।
किसी की आँख में जादू, तेरी जुबाँ में है ॥

शास्त्रों ने 'वाग्मी भवति वा न वा' कह कर मानव-समाज में वाग्मी पुरुष को सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति बतलाया है परन्तु उसके अस्तित्व के विषय में उन्हें सन्देह ही है । परन्तु महामना मदनमोहन मालवीयजी की वाग्मिता में किसी प्रकार के सन्देह का लेश भी विद्यमान नहीं है । ऐसा वाग्मी होना सचमुच ही दुर्लभ है जो केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा से बिना किसी नोट या टिप्पणी का सहारा लिए पाँच घटो तक लगातार अबाधित गति से बोलता रहे और सभा पर हावी बना रहे ।

अध्यापन

महामना मालवीयजी राजनीति में प्रवेश करने के पहले एक स्कूल में अंग्रेजी के अध्यापक थे और सफल अध्यापक थे । यह इनके जीवनकाल की आदिम घटना है । १६१८ ई० में हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा स्थापित 'प्रशिक्षण महाविद्यालय' के वार्षिक समारोह के अवसर पर समापन-भाषण में महामना ने अपने अध्यापक-जीवन की मार्मिक कहानी सुनाई थी जिसके महत्त्वपूर्ण अंश इस प्रकार हैं । मालवीयजी ने कहा—"ग्रैजुएट होने के बाद वृत्ति की खोज करते हुए मुझे म्योर सेन्ट्रल कालेज के स्कूल में अध्यापकी मिल गई । मै बड़े प्रेम तथा परिश्रम से अंग्रेजी पढ़ाने लगा । मैं नियमत· घर पर तैयारी करते समय प्रत्येक महत्त्वपूर्ण अंग्रेजी शब्द के व्युत्पत्तिजन्य अर्थ की छानबीन करता । इस कार्य में मैं ट्रेञ्च के Biography of English words और English-Past and Present नामक ग्रन्थों का खूब अभ्यास करता था जिससे अग्रेजी शब्दों की व्युत्पत्ति का, उसके मूल अर्थ का तथा उसके इतिहास का पूरा परिचय मिल जाता था । इतने नये-नये तथ्य प्राप्त होते थे कि मैं कृतकृत्य हो जाता । ग्रन्थों से नये ज्ञान का अर्जन करता और उन्हें अपने छात्रों मे बाँट देता था । बड़ा सुखद था वह मेरा अध्यापकी जीवन । मुझे चालीस रुपये मासिक मिलता था । इनमें से बीस रुपये तो अपने पिताजी को घर खर्च के लिए दे दिया करता था, दस रुपया निजी खर्च के लिए रखता, आठ रुपयों को अन्य छोटे-मोटे कार्यो में लगाता और अन्तिम दो रुपयों को अपनी श्रीमतीजी को दे देता ।" इस अवसर पर मालवीयजी ने बड़े ही नाटकीय ढंग से आँखें मींच कर दो उँगलियों को ऊपर उठाकर ऐसा अभिनय किया कि श्रोतागण (जिनमें छात्रों की मण्डली में उनके वयस्क पुत्र भी बैठे थे) हँसते-हँसते लोटपोट हो गये । ऐसा बिशुद्ध हास्य था महामना का । उनकी उल्लासमयी मुखाकृति आज भी मेरे सामने झलक रही है ।

"मैं अपने जीवन से बड़ा ही सन्तुष्ट था । उन दिनों पढ़ने-पढ़ाने में ही मेरा जीवन बीतता था, परन्तु उस समय मेरे जीवन ने एक नया मोड़ लिया जब मेरे पूज्य गुरुजी आदित्य रामजी मुझे अपने साथ कलकत्ते ले गये और कांग्रेस के मंच पर राजनीतिक भाषण करने के लिए मुझे खड़ा कर दिया । यहीं से मेरी जीवन-दिशा बदली और सदा के लिए अध्यापक-जीवन की इतिश्री हो गई ।"

नैष्ठिक उपासक

मालवीयजी महाराज वैदिक धर्म की जीवन्त मूर्ति थे। उनके रोम-रोम मे धर्म रमता था और पद-पद पर धार्मिक आचार की निष्ठा अभिव्यक्त होती थी। रिक्थ रूप में प्राप्त धर्माचरण को इन्होने अपने गम्भीर शास्त्रचिन्तन के द्वारा प्रतिष्ठित एव परिष्कृत बनाया था। ये पञ्चायतन के उपासक धर्मप्राण हिन्दू गृहस्थ थे, परन्तु इन्हें किसी भी इतर-धर्मावलम्बी से कथमपि रागद्वेष नही था। ये अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक नारायण के जितने भावुक भक्त थे, उतने ही कैलासवासी भूतभावन विश्वनाथ के अखण्ड नैष्ठिक उपासक थे। उस दिन गङ्गाजी के पावन पुलिन पर सुसज्जित सभा के प्राङ्गण में अपने ऊपर दल बदलने का आरोप करने वाले व्यक्तियो के साथ समस्त सभ्यो को उन्होंने आश्चर्यचकित कर दिया, जब उन्होने मच पर खड़े होकर ऊँचे स्वर मे कहा था कि मेरा कोई भी दल नही है। मै दलदल में नहीं हूँ। मै तो किसी भी दल को नही जानता, सिवाय इस एक दल के, तुलसीदल के। इस कथन के साथ ही उन्होने अपने पाकेट से निकाल कर तुलसीदल दिखाते हुए सबको अवाक् कर दिया, अचरज से मूक बना डाला। इसी प्रकार बाबा विश्वनाथ मे भी उनकी अगाध भक्ति थी, अनुपमेय निष्ठा थी। महामना कहा करते थे कि मैने तीर्थराज प्रयाग को छोड़कर वाराणसी मे विश्वविद्यालय की स्थापना विश्वनाथजी की अहैतुकी अनुकम्पा के भरोसे ही तो की है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि विश्वविद्यालय के ऊपर मॅडराने वाली सकल आपदाएँ, डरावनी समग्र आर्थिक कठिनाइयाँ, विश्वनाथजी की कृपा से देखते ही देखते अन्तर्हित हो जाएँगी। महामना का यह दृढ निश्वास सर्वदा सफल होता रहा और विश्वेश्वर की महनीय कृपा के सबल को लेकर विश्वविद्यालय अपने कण्टकाकीर्ण पथ पर सानन्द अग्रसर होता रहा और अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच कर ही उसने विश्राम लिया।

इस प्रसग का एक श्लाघनीय सस्मरण सुनाया मालवीयजी के चिरसहचर एव परिकर ज्योतिषाचार्य पण्डित रामव्यासजी ने लेखक को। अग्रेजों का जमाना था। केन्द्रीय सरकार हिन्दूविश्वविद्यालय की गति-विधि पर सर्वदा क्रूरताभरी सन्देहदृष्टि रखती थी। सोलह लाख का कर्जा चढ़ गया विश्वविद्यालय पर जिसके सूद के रूप में तीस हजार रुपये देने पड़ते थे। मालवीयजी इस आर्थिक विपन्नता से गम्भीर रूप से चिन्तित थे। इन्होंने बड़े उद्योग किए परन्तु सरकार इस ऋण को चुकता करने के लिए तैयार नही हुई। बड़ी उदासीनता एव वैराग्य मे दिन बीत रहे थे परन्तु ये हताश होने वाले व्यक्ति थोड़े ही थे। इन्होने व्यासजी से कहा कि चलो, बाबा विश्वनाथ का दर्शन करने चले। प्रात· १० ११ बजे का समय हो रहा था। विश्वनाथजी के मन्दिर के एक कोने मे खड़े होकर पूजा के समाप्त होने पर मालवीयजी अपने चिरपरिचित स्तोत्रो से बाबा की स्तुति करने लगे—मुख से गद्गद वाणी निकल रही थी और नेत्र से ऑसू झरकर गिर रहे थे। महामना आँखें मूँद कर इस व्यापार में लगे थे। बहुत समय बीत गया, भक्तो की भीड़ छँट गयी, मध्याह्नवेला में भोग लगाने का समय आ गया। पडा लोग अधीर होने लगे, परन्तु मालवीयजी की मुद्रा में कोई अन्तर नहीं आया। अन्ततोगत्वा उन लोगो ने व्यासजी से सकेत करने के लिए कहा। उन्होंने शब्दों से कुछ इशारा किया। मालवीयजी का पाठ रुका। विश्वनाथ को प्रणाम कर ज्योंही ये मन्दिर से बाहर आये, इन्होंने तपाक से कहा—"व्यासजी, बाबा विश्वनाथ ने विश्वविद्यालय का ऋण चुका दिया। अब मुझे चिन्ता नहीं है।" विश्वविद्यालयीय आवास लौटने पर पता चला कि इनकी अनुपस्थिति में दिल्ली से सर गिरिजाशकर वाजपेयी का फोन आया था जो उस समय केन्द्रीय शासन के

शिक्षासचिव थे। मालवीयजी की आज्ञा से प० रामव्यासजी ने पुन फोन लगाया। वाजपेयीजी ने मालवीयजी को उसी फोन पर कहा कि सरकार ने तीन वर्षो मे उस सोलह लाख ऋण को चुकता कर देने की व्यवस्था कर दी। यह आपको आधिकारिक सूचना है। अब विश्वविद्यालय का यह आर्थिक सकट टल गया। महामना बड़े प्रसन्न हुए और प्रसन्न मुद्रा मे कहने लगे—बाबा विश्वनाथ की अनुकम्पा का ही तो यह परिणत फल है। मन्दिर मे ही बाबा ने अपना आदेश मुझे दे दिया था। ऐसी अटूट भक्ति थी महामना की बाबा विश्वनाथ के श्रीचरणो मे।

दिनचर्या

मालवीयजी का जीवन बड़ा सयत था और उनकी दिनचर्या बडी ही नपी-तुली थी। प्रात काल के चार बजे ही उठ जाया करते थे। इसी समय नित्यकर्म के अनन्तर ये कपडे से देह पोछ कर स्नान सन्ध्या कर लिया करते थे। पूजा पाठ का भी यही नित्य का समय था। इससे निवृत्त होकर ये विश्वविद्यालय का कार्य देखने लगते। उस दिन होने वाली मीटिग के लिए आवश्यक कागज पत्रो को देखते। मीटिग मे जाते। ग्यारह बजे लौटने पर ये नियम से चमेली के तेल से मालिश करवाते थे। उस समय कोई भेट करने के लिए आ जाना, तो उससे भेट भी करते जाते थे, परन्तु मालिश का काम रुकता नही, चलता ही रहता। इसके बाद स्नान के अनन्तर ये भोजन कर विश्राम करते थे। अपराह्न मे फिर मीटिग, विश्वविद्यालय के परिसर मे आवश्यक भ्रमण आदि कार्यो के अनन्तर रात मे दुबारा भोजन एव शयन —यही उनकी सामान्य दिनचर्या थी।

भोजन के विषय मे इनकी विवेकशीलता देखकर आश्चर्य होता है। एक बार का प्रसग है। पद्मकान्त मालवीय वही उन्ही के साथ कुलपतिनिवास मे रहकर हिन्दू स्कूल मे पढ़ने जाते थे। गोविन्द मालवीय (महामना के कनिष्ठ पुत्र) का भी परिवार वही उसी मकान मे रहता था। एक दिन स्कूल जाने का समय हो गया था परन्तु गोविन्दजी की रसोई तैयार नही थी। फलत पद्मकान्त मालवीय ने महामना के चौके मे जाकर रसोईदार से खाने की बात कही। महामना पास ही पूजा पर बैठे थे। इनके कानो मे यह भनक पडी। झट से इन्होने पद्मकान्त को अपने पास बुलाया और उनके हाथ पर एक रुपया रखकर इन्होने स्कूल के पास वाली दूकान से मिठाई खरीद कर खाने का आदेश दिया। पद्मकान्त आज्ञानुसार चले तो गये, परन्तु रास्ते भर महामना की कटु आलोचना से विरत नही हुए जिन्होने तैयार भोजन करने से उन्हे रोक दिया था। १ बजे लौटने पर रसोइया ने कहा कि क्यो देर लगायी ? महाराज तुम्हारे लिए बैठे है। अभी तक भोजन नही किया। बालक को आश्चर्य हुआ। महामना ने पास बुलाकर उससे कहा—"देखो, बुरा न मानना। भोजन मैने तुम्हे करने नही दिया, इसका एक गम्भीर कारण है। मेरे चौके का सब सामान शिवप्रसाद (बाबू शिवप्रसाद गुप्त) के घर से आता है। दिन रात मे कुछ देर ही सही मै देश के तथा राष्ट्र के हित का काम करता हूँ। अत मै तो उसे पचा लेता हूँ, परन्तु तुम लोग उसे पचा नही सकते। वह देशसेवक के ही पचाने योग्य अन्न है, विद्यासेवक के लिए नही, इसीलिए मेरा चौका अलग है जिसमे मै तथा मेरे देशसेवक अतिथि ही भोजन कर सकते है, दूसरा कोई नही।" मालवीयजी के इस कथन की टीका क्या की जाय ? ऐसी विवेकशक्ति को शतश प्रणाम।

महामना मालवीयजी छोटी से छोटी बात पर ध्यान दिया करते थे, दृष्टि जो पैनी थी उनकी। किसी बडे से मुलाकात करने के समय वे सुन्दर वेष तथा स्वच्छ वस्त्र धारण के विशेष

पक्षपाती थे। इस प्रसङ्ग में वे इस प्राचीन श्लोक को प्रायः सुनाया करते थे जिसमें पाँच वकारादि वस्तुओं के धारण करने पर ही गौरव मिलने की बात बताई गई है—

विद्यया वपुषा वाचा वस्त्रेण विभवेन च।
वकारैः पञ्चभिर्युक्तो नरः प्राप्नोति गौरवम्॥

किसी सभा में अभिनन्दनार्थ पहनाई गई माला को झट से उतार फेंकने के ये बड़े विरोधी थे। ये कहते थे कि ऐसा करना माला पहनाने वाले का ही घोर अपमान नहीं है, बल्कि उस पुष्पमाला का भी। इस प्रसङ्ग मे उर्दू का यह शेर भी सुनाया करते थे जिसमें वह फूलमाला अपनी घोर तपस्या के फलस्वरूप ऊँचे गले पर पहुँचने के अपने सौभाग्य पर प्रसन्नता अभिव्यक्त करती है —

हारों में गुँथे, जकड़े भी गये, गुलशन भी छुटा, सीना भी छिदा।
पहुँचे मगर उनकी गरदन तक, यह खुश इक़बाली फूलों की॥

माला उतारने से फूलों की खुश इक़बाली (भाग्यशीलता) भी हम नष्ट कर देते है। यह नितान्त निन्दनीय है। यह शेर कवि बिस्मिल इलाहाबादी के गुरु शायर नूर नारवी का है।

महामना के साहित्यिक संस्मरण

महामना मालवीयजी महाराज युगान्तरकारी पुरुष थे। ऐसे महामानव सर्वदा इस पृथ्वी पर नही पधारते। भगवान् की ऐसी दिव्य विभूति यदाकदा ही इस धराधाम पर अवतीर्ण होती है, स्वनिर्दिष्ट कार्य का विधिवत् सम्पादन कर भूतल के मानवों के शिक्षणार्थ अपना आदर्श चरित उपन्यस्त कर पुन विभूति के उस आधार में अपने जीवन को समर्पित कर देती है। महामना मालवीयजी ऐसे ही एक अलोकसामान्य प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे जिनकी प्रतिभा भारतीय समाज के प्रत्येक अङ्ग को आलोकित करती थी, जिनका स्पर्श सामान्य मनुष्य को भी सुवर्ण बना देता था और जिनकी पीयूषवाणी श्रोताओं के कर्णकुहरो में प्रवेश कर हृदय को आप्यायित, आवर्जित तथा अभ्युदित कर देती थी। इन्ही के विषय में ये कतिपय दिव्य सस्मरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते है। लिखने का उद्देश्य महाकवि श्री श्रीहर्ष के शब्दों में यही है—

पवित्रमत्रातनुते जगद् युगे स्मृता रसक्षालनयेव यत्कथा।
कथं न सा मद्-गिरमाविलामपि स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति॥

—नैषध १।३

महामना मालवीयजी भाषा के प्रयोग के प्रति बड़े ही जागरूक रहते थे। कोई भी भाषा हो संस्कृत, हिन्दी अथवा अंग्रेजी—वे तत्तत् शब्द के उच्चारण में, शब्दों के चयन में, वाक्यों के रुचिर विन्यास में वड़ी ही जागरूकता रखते थे। वे विवुधवन्दित वाग्मी थे, भाषण के अवसर पर उनकी मधुर वाणी अजस्र गति से प्रवाहित होती थी, वह कहीं अवरोध या रुकावट का नाम ही नही जानती थी। मानवें की गणना में शीर्षस्थान पर विराजमान वाग्मी के वे सद्यः प्रतीक थे, जिसके विषय में कहा गया है—'वाग्मी भवति वा न वा।' संस्कृत भाषा तथा साहित्य का अध्ययन उन्होंने उस युग के मूर्धन्य संस्कृतज्ञ महामहोपाध्याय पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य से किया था जिनके लिए महामना की श्रद्धा एवं पूज्य भावना सातिशय थी। महामना संस्कृत में धारा-प्रवाह भाषण करते थे, परन्तु कहीं भी व्याकरण-सम्बन्धी त्रुटि का दर्शन नहीं होता था। पण्डितों ने सावधानी से जागरूक होकर उनके संस्कृत भाषणों को

सुना, परन्तु त्रुटि लक्षित नही हुई । महामना के सामने कोई सस्कृत शब्दो का अशुद्ध उच्चारण कर दे और वह उनकी डॉट से बच जाय—ऐसा कभी नही देखा हमने । तुलसीजयन्ती के अवसर पर उन्हे निमन्त्रित करने वाले एक विज्ञ व्यक्ति के मुख से शकार-सवलित 'तुलशी' का उच्चारण कई बार सुनकर महामना से नही रहा गया और उन्होने उन्हे डाँट—मीठी डॉट बताई और उनका उच्चारण ठीक किया । अग्रेजी शब्दो के उच्चारण के प्रति भी उनका विशेष अवधान हमने देखा है । म्योर सेण्ट्रल कालेज के अग्रेज अध्यापको के सम्पर्क मे विशेष आने के कारण वे Student का उच्चारण सर्वदा यकार विशिष्ट किया करते थे—स्ट्यूडेण्ट । पूछने पर उन्होने बताया कि इसका यही विशुद्ध उच्चारण है । एक बार लेखक अपने मित्र पण्डित वटुकनाथजी के साथ पुस्तकालय मे पुस्तके देख रहा था । मालवीयजी अकस्मात् वहाँ आ गये और अग्रेजी मे बोल उठे What are you doing there ? जब उत्तर दिया—Looking for books on literature तव अन्तिम शब्द का 'लिटरेचर' उच्चारण सुनकर वे तपाक से बोल उठे -Don't say लिटरेचर but 'लिटरेट्योर' । उन्होने शुद्ध उच्चारण ही नही बतलाया, बल्कि कई बार उस विशुद्ध उच्चारण की आवृत्ति भी कराई । तब कही उन्होने हम लोगो को छोडा ।

मालवीयजी शब्द के विशुद्ध प्रयोग के प्रति दृढ आस्थावान् थे । वे खिचडी भाषा के प्रयोग की नितान्त अवहेलना करते थे । वे हिन्दी के तत्सम शब्दो की अपेक्षा तद्भव शब्दो के प्रयोग को सर्वजनहिताय विशेष महत्त्व देते थे । वे नही चाहते थे कि हिन्दी के भाषणो मे अग्रेजी शब्दो का प्रयोग किया जाय । तुलसीजयन्ती का सुखद अवसर था । विश्वविद्यालय के केन्द्रीय 'हाल' मे विशद समारोह बडे उमग से चल रहा था । प्रधान वक्ता थे लाला भगवानदीनजी । व्याख्यान बडा ही सुन्दर और सारगर्भित था, परन्तु लालाजी का स्वभाव था कि व्याख्यान को विशेष आकर्षक बनाने के लिए वे उर्दू तथा अग्रेजी शब्दो का प्रयोग खुलकर किया करते थे—कक्षा मे तथा व्याख्यानमञ्च पर भी । उस दिन भी ऐसा ही हुआ था । मालवीयजी जब व्याख्यान देने खडे हुए तब उन्होने एक ही वाक्य मे लालाजी के पूरे व्याख्यान की तीखी आलोचना कर डाली— 'भाई, हिन्दी व्याख्यान मे अग्रेजी शब्दो की छौक हमे अच्छी नही लगती ।' इस वाक्य मे समुचितरूपेण प्रयुक्त 'छौक' शब्द ने हम सब अध्यापको को चौका दिया । मालवीयजी ने नाक भौंह सिकोड कर ऐसे नाटकीय ढङ्ग से इस वाक्य को कहा कि सुनने वालो के कान मानो छौक उठे । इस शब्द के समुचित प्रयोग से श्रोतागण नितान्त आप्यायित हो उठे और महामना के शब्दचयन पर सब चमत्कृत हो गये ।

महामना स्वय महनीय वक्ता थे । चार चार घण्टो तक बिना किसी नोट के व्यवस्थापिका सभा मे व्याख्यान देने मे वे कथमपि श्रान्त नही होते थे, परन्तु वे अधिक बोलने को शक्तिक्षय करने वाला मानते थे और कुछ समय के लिए मौन धारण करने को श्रेयस्कर बतलाते थे । सस्कृत महाविद्यालय के अध्यक्ष पण्डित बालकृष्ण मिश्रजी राजयक्ष्मा की दवा करा कर राँची से नीरोग होकर लौटे थे । महामनाजी से भेट करने के लिए वे मालवीय-भवन मे आये थे । लेखक भी वहाँ उपस्थित था । मालवीयजी ने उनके नैरुज्य के विषय मे पूछा । मिश्रजी ने कहा कि आपकी कृपा से मै इस समय नीरोग हो गया हूँ, परन्तु आपके ही उपदेशो की अवहेलना का फल मुझे भुगतना पड रहा है । आपने मुझसे कहा था कि विद्यालय बन्द हो जाने के बाद भ्रमण किया करो, घर पर शाम को या रात को छात्रो को मत पढाया करो । **शुक्रक्षयाद् वाक्क्षयो बलीयान्** शुक्र के क्षय की अपेक्षा वाक् का क्षय बलवान् होता है । इसे भूलना मत । महामना का तात्पर्य था कि बोलने से अधिक शक्ति क्षीण होती है, शुक्र के क्षय

से बढ़ कर । इसीलिए तो मुनि लोग मौन धारण किया करते है । महामना का यह उपदेश हमारे लिए एक महनीय मन्त्र है जिसका अनुष्ठान हमे सतत करना चाहिए ।

मालवीयजी बडे रसिक थे । जहाँ वह पण्डितो को देखते, उनकी रसमयी वाणी सुनने के लिए आग्रह करते थे । वे स्वय कमनीय सरस-सुबोध सूक्तियाँ सुनाते तथा ऐसी ही सूक्तियाँ सुनने के लिए आतुर रहते थे । एक बार का प्रसङ्ग है जब वे बाबू शिवप्रसाद गुप्तजी की नगवा कोठी मे निवास करते थे । पूर्वाह्ण मे ही मेरे मित्र बटुकनाथ शर्मा उनके दर्शनो के लिए वहाँ पहुँच गये । वे कवि थे—साहित्य के रसिक मर्मज्ञ । नायिका-भेद का प्रसङ्ग उठ खड़ा हुआ । महामना 'नवोढा' की व्याख्या करने लगे । सहायक रजिस्ट्रार प० श्यामसुन्दर शर्मा से 'साहित्य-दर्पण' मे उद्धृत उदाहरण को पूरा करने के लिए कहा । जब बटुकनाथजी ने नवोढ़ा का उदाहरण पढ़ सुनाया, तब मालवीयजी गद्‌गद हो उठे । श्लोक विश्वनाथ कविराजरचित है और इस प्रकार है —

धत्ते सालसमन्थरं भुवि पदं निर्याति नान्तःपुरा-
न्नोद्दामं हसति, क्षणात् कलयते ह्रीयन्त्रणां कामपि ।
किञ्चिद् भावगभीर-वक्रिमलवस्पृष्टं मनाग् भाषते
सभ्रूभङ्गमुदीक्षते प्रियकथामुल्लापयन्तीं सखीम् ॥

रसिकगोविन्द रचित इस पद्य का अनुवाद जब सुनाया गया, तब तो आनन्द से वे विह्वल हो उठे और नवोढ़ा का अभिनय ही करने लगे

आलस सौं मन्द मन्द धरा पै धरति पाय,
भीतर से बाहिर न आवे चित चाय कै ।
रोकति दृगनि छिन-छिन प्रति लाज साज,
बहुत हँसी की दीनी बानि बिसराय कै ॥
बोलति बचन मृदु, मधुर बनाइ उर—
अन्तर के भाव की गभीरता जमाय कै ।
बात सखी सुन्दर गोविन्द की कहति तिन्है,
सुन्दरि बिलोकै बंक भृकुटी नचाय कै ॥

वे भगवान् को धर्मरूप मानते थे और इस प्रसङ्ग मे 'भीष्मस्तवराज' का यह प्रख्यात पद्य सुनाया करते थे—

य पृथग्धर्मचरणा. पृथग्धर्मफलैषिण. ।
पृथग्धर्मै. समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः ॥

वे धर्म की उपमा 'लालटेन' से दिया करते थे जिसका आधार सत्य है, तप तेल है, दया बत्ती है, क्षमा शिखा (लौ) है । यदि अन्धकार मे प्रवेश करने के इच्छुक हो, तो धर्म की इस लालटेन को लेकर आगे बढ़ो । तुम्हारा रास्ता प्रकाशमान होता जावेगा । लालटेन की यह उपमा महामना को बहुत ही प्रिय थी—

सत्याधारस्तपस्तैलं दया वर्तिः क्षमा शिखा ।
अन्धकारे प्रवेष्टव्ये दीपो यत्नेन धार्यताम् ॥

महामना के जीवन की सिद्धान्तचतुष्टयी

मालवीयजी के जीवन की चतु सूत्री इन प्रख्यात पद्यो के द्वारा निरूपित की जा सकती है—

(क) मृदुता की तीक्ष्णता—मालवीयजी महाराज के जीवनादर्श धर्मराज थे—पाण्डवों के अग्रज, सत्य के ऊपर एकान्त निष्ठावान् तथा अन्याय का स्वप्न में भी आचरण न करने वाले व्यक्ति। मालवीयजी भी मृदुता के अवतार थे, जीवन में कभी उग्रता को आश्रय नहीं दिया। परन्तु उनकी मृदुता दुर्बलता की प्रतीक न थी। वे मृदुता से कोई भी वस्तु असाध्य नहीं मानते थे—चाहे राजनीति का क्षेत्र हो, चाहे धर्म का क्षेत्र हो। इस प्रसङ्ग में वे वनपर्व में युधिष्ठिर के इस वचन को सातिशय महत्त्व देते थे तथा बारंवार इसकी चर्चा किया करते थे—

मृदुना सुमृदुं हन्ति मृदुना हन्ति दारुणम्।
नासाध्यं मृदुनः किञ्चित् तस्मात् तीक्ष्णतरं मृदु॥

(ख) धर्म की कसौटी—मालवीयजी के लिए तुलाधार प्रसङ्ग में दिया गया यह विश्रुत पद्य धर्म की सच्ची कसौटी को प्रकट करता है। यदि मनुष्य चाहता है कि कोई कर्म दूसरा व्यक्ति उसके साथ न करे, क्योंकि वह उसे नितान्त अप्रिय प्रतीत होता है, तो उसका भी यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह भी दूसरों के प्रति उसका व्यवहार न करे—

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः।
न तत् परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः॥

(ग) उद्योग की निरन्तर संवर्धना—मालवीयजी उत्साह तथा उद्योग के उज्ज्वल प्रतीक थे। वे जीवन में कभी भी निरुत्साहित तथा निराश नहीं होते थे। एक बार वे प्रयाग में बहुत बीमार पड़ गये। जीवन की आशा क्षीण होने लगी।। उनसे भेंट करने संस्कृत-महाविद्यालय के पंडितगण समवेत रूप से उनके आवास पर पहुँचे। महामना ने तब कहा था कि घनघोर विपत्ति या विषम सङ्कट में मैं कभी निरुत्साहित नही होता। जब मैं पतझड़ में पत्रहीन पीपल वृक्ष को वसन्त के आगमन पर नवीन सुकुमार पत्तों से हरा-भरा होकर लहलहाता देखता हूँ, तो मुझमें नया जोश उमड़ पड़ता है। मेरी दुर्बल देहयष्टि पुनः पुष्ट तथा सबल बन जाएगी, यही आशा मुझे जिलाती है।

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु।
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः॥

—उद्योगपर्व १३५।३०

(घ) सात्त्विक कर्त्ता की दृष्टि—एक बार मैंने महाराजजी से पूछा था कि इतने व्यस्त जीवन में आपने समत्व कैसे रखा, विकट परिस्थितियों में संकट के आक्रमण को श्रीमान् ने किस प्रकार प्रभावहीन किया ? तब मालवीयजी ने कहा था कि गीता के इस सात्त्विक कर्त्ता के आदर्श को अपने सामने रखा करो, जीवन कण्टक की क्यारी न होकर शिरीष की गद्दी बन जावेगा। सात्त्विक कर्त्ता का यह लक्षण गीता की महनीय देन है मानवसमाज के लिए—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥

—गीता १८।२६

गीता के इस पद्य में चार तथ्यों पर आग्रह किया गया है—आसक्तिहीन रहे (अनासक्तियोग), 'मैं' और 'मेरा' न कहे (अहन्ता तथा ममता से हीन रहे), सिद्धि तथा असिद्धि में विकार-रहित रहे और धैर्य-उत्साह के साथ कार्य का सम्पादन करे वही सात्त्विक कर्त्ता कहलाता है। महामना ऐसे ही सात्त्विक कर्त्ता महामानव तथा घनिष्ठ कर्मयोगी थे।

उनके श्रीमुख से भिन्न भिन्न अवसरो पर कहे इन चारो श्लोको को मै उनके जीवन की चतु सूत्री मानता हूँ। भारतीयो को इस चतु सूत्री को अपने जीवन मे सम्यग् रूप से उतारना चाहिए—तभी हमारा कल्याण होगा। भगवान् मनु का यह आदर्श महामना के जीवन से पूर्णरूपेण सगत बैठता है। यह कथन तथ्यवाद है, अर्थवाद नही—

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती। स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

महामना मालवीय का जीवन-दर्शन

मालवीयजी महाराज के जीवन दर्शन की रूपरेखा इतनी समुज्ज्वल तथा अभिव्यक्त है कि उसके समझने के लिए विशष आयास करने की आवश्यकता नही। उनके समीप मे आनेवाले व्यक्तियो के लिए उनका विश्लेषण करना विशेष प्रयाससाध्य नही है।

हम यहाँ महामना के 'जीवन-दर्शन' की चतु सूत्री सक्षेप मे उपस्थित कर रहे है। इस चतु सूत्री का प्रथम सूत्र है **आस्तिक्य**—शास्त्र तथा तत्प्रतिपाद्य ईश्वर मे अभ्रान्त श्रद्धा। मालवीयजी को ईश्वर की सत्ता तथा क्रियाशीलता मे अटूट विश्वास था और यह विश्वास ही उनके सात्त्विक जीवन के महनीय कार्यो की सिद्धि का मूलमन्त्र था। विश्वविद्यालय के ऊपर आर्थिक सकटो का व्यूह खडा हो जाता था, परन्तु क्या मजाल कि महामना को इनकी [illegible] भी चिन्ता हो। वे विचारत तथा कार्यत दोनो दृष्टियो से आस्तिक थे। वे हमेशा कहा करते थे कि विश्वविद्यालय की स्थापना काशी मे बाबा विश्वनाथजी की अनुकम्पा से ही की गई है, सहायता के समग्र स्रोत भले सूख जायँ, परन्तु भगवान् विश्वनाथ के अनुग्रह का स्रोत तो कभी सूख ही नही सकता। वह तो अजस्र प्रवाहित होता रहेगा। उसी के बल पर तो उनकी नगरी काशी मे ही इस शिक्षासस्थान की स्थापना की गई है। अनेक बार भारत के गण्यमान्य दार्शनिको को मालवीयजी ने अपनी दार्शनिक युक्ति तथा तर्क-प्रणाली से चमत्कृत कर दिया था। दर्शन उनका विषय नही था, परन्तु उन्होने विश्वविद्यालय मे समाहूत 'आल इण्डिया फिलासोफिकल काग्रेस' (द्वितीय अधिवेशन) के विशिष्ट दार्शनिको को 'ईश्वरसिद्धि' पर अपने दार्शनिक भाषण से इतना प्रभावित किया कि जीवन भर दर्शन का अध्ययन-अध्यापन करने वाले वे तत्त्ववेत्ता विद्वान् हतप्रभ से हो गये और महामना की अद्भुत दार्शनिक युक्तियो को सुनकर वे चमत्कृत हो उठे। मालवीयजी की दार्शनिक विचार धारा का अक्लान्त स्रोत श्रीमद्भागवत था। वे भागवत के मर्मज्ञ विद्वान् तथा सरस व्याख्याता थे। इस पुराण की कमनीय स्तुतियाँ उनकी जिह्वा पर नाचती थी। दर्शन के अध्यापकगण तो ईश्वर के अस्ति-नास्ति के विषय मे अनेक तर्क उपस्थित करने मे लगे थे, परन्तु मालवीयजी ने भागवत के आधार पर ईश्वर के विषय मे इतने अकाट्य प्रमाण, प्रबल युक्ति, बोधगम्य भाषा मे प्रस्तुत किया कि श्रोतागण अवाक् रह गये। मालवीयजी अपने जीवन के व्यवहारो मे भी पूर्ण आस्तिक थे। ईश्वर पर असीम श्रद्धा रखते थे।

कर्तव्यनिष्ठा—उनके जीवनदर्शन का दूसरा सूत्र था। जिस कार्य का सम्पादन उनके लिए अनिवार्य था उसमे मालवीयजी इतनी लगन से लग जाते थे कि सफलता दासी की तरह उनके पीछे लोटती थी। इस विषय मे वे भीष्मस्तवराज का यह प्रसिद्ध श्लोक अपना आदर्शवाक्य (मॉटो) मानते थे, जिसमे ब्रह्म को कार्यरूप बतलाया गया है—

अकुण्ठं सर्वकार्येषु धर्मकामार्थमुद्यतम्।
वैकुण्ठस्य च यद्रूपं तस्मै कार्यात्मने नम. ॥

चाहे किसी धार्मिक कृत्य का सम्पादन हो, चाहे किसी राजनैतिक कार्य का, वे समान

अभ्रान्तनिष्ठा से उन कार्यों का सम्पादन करते थे। विश्वविद्यालय की स्थापना का एक बार जब उन्होने त्रिवेणी के पावन तट पर सकल्प कर लिया, तब उनकी उपासना का, अनुष्ठान का बस वही एकमात्र विषय था। लोगो ने उनकी खिल्लियाँ उडायी, नाना प्रकार से उनकी योजना को 'खयाली पुलाव' नाम देकर तिरस्कृत वस्तु की कोटि मे परिगणित किया, परन्तु महामना के चित्त पर इन विरुद्ध आलोचको का तनिक भी प्रभाव नही पडा। वे अपने कार्य में अधिक निष्ठा से लग गये जिसका ज्वलन्त दृष्टान्त है यह विशाल हिन्दू विश्वविद्यालय। इस प्रसग मे एक रोचक बात लिखनी है। गर्मी के दिनो मे मालवीयजी नैनीताल अक्सर जाया करते थे। उस साल प्रयाग के गण्यमान वकीलो की मण्डली के साथ वे नैनीताल पहुँचे जिसमे सर सुन्दरलाल, मुशी ईश्वरशरण आदि प्रख्यात वकील सम्मिलित थे। विश्वविद्यालग की चर्चा उस समय जोरो पर थी, परन्तु प्राय लोग उसे कल्पना जगत् की वस्तु से अधिक महत्त्व नही देते थे। हँसी खेल मे ही एक शाम को सर सुन्दरलाल पूछ बैठे– Well, Malviyajee, when is your toy university coming into being? अर्थात् आपका गुड़िया विश्वविद्यालय कब जन्म ले रहा है? कर्तव्यनिष्ठ मालवीयजी ने तुरन्त उत्तर दिया—My university is bound to come into being in no distant future and you, Sir Sunderlaljee, will be its first Vice-chancellor, अर्थात्, मेरा विश्वविद्यालय नातिदूर भविष्य मे उत्पन्न होगा और सुन्दरलालजी, आप ही उसके प्रथम कुलपति होगे। मालवीयजी की इस कर्तव्यनिष्ठा पर, इस सहज-सलोने उत्तर पर, वह विद्वन्मण्डली चमत्कृत हो उठी और सचमुच महामना के वाक्य शीघ्र ही चरितार्थ हुए। इस योजना के विदूषक सर सुन्दरलाल इसके प्रशसक सूत्रधार बने तथा इसके प्रथम कुलपति भी। मालवीयजी की वाणी अमोघ सिद्ध हुई।

उत्साह—उनके जीवन-दर्शन का तीसरा सूत्र था। वे अदम्य उत्साह के सन्तत प्रगतिशील उत्स थे। उनकी वाणी मे, उनके कार्य मे तथा उनके मन मे—इन तीनो स्तरो पर उत्साह विलसित होता था। जान पडता था कि 'विषाद' शब्द उनके कोश मे कही भी विद्यमान नही है। वे कभी विषाद को जानते ही न थे। विषण्ण होना उनके स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल था। मालवीयजी के वे दिव्यवचन आज भी हमारे कर्णकुहरो मे गूँज रहे है जिन्हे दीर्घरोग से क्षीणकाय होने पर भी उन्होने पण्डितो से कहा था—आज मेरा शरीर इस रोग के कारण अवश्य ही क्षीण और निर्बल हो गया है, परन्तु मुझे पूर्ण विश्वास है कि मै पूर्ववत् स्वस्थ हो जाऊँगा। पतझड़ के दिनो मे पीपल का पत्ता झडने लगता है। वह केवल एक निष्पत्र स्थाणु (ठूँठ) रह जाता है। परन्तु शीघ्र ही उसमे नई-नई कोमल पत्तियाँ निकल आती है। उसे देखकर मै जीवन से कभी हताश नही होता। मेरी क्षीण काया पुन पूर्ववत् बल-सम्पन्न तथा पुष्ट हो जायगी। मुझे पूर्ण विश्वास है।

महामना के उन वचनो को याद करे। वे कहा करते थे कि जब तक असफलता मनुष्य की छाती पर बैठ कर उसका गला न घोंटे, जब तक आशा की एक फीकी किरण भी दूरस्थ क्षितिज पर दीख पड़े, तब तक मनुष्य को निराश न होना चाहिए, प्रत्युत पूर्ण उत्साह के साथ काम मे डट जाना चाहिए। विश्वास रखें वह काम सिद्ध होकर ही रहेगा। इस विषय में उनका प्रिय श्लोक था—

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु।
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः॥

'काम होकर ही रहेगा' यह मान करके सन्तत व्यथाहीन होकर मानवो को उठना चाहिए, जागना चाहिए तथा कल्याणप्रद कामो मे निरन्तर लगना चाहिए।

महामना इस श्लोक के समुज्ज्वल उदाहरण थे। निराशा वे कभी जानते ही न थे। कार्य के सम्पादन मे व्यथा उन्हे कभी पीडा नही पहुँचाती थी। वे सोच ही नही सकते थे कि यदि कार्य विधिवत् किया जाय, तो वह किस प्रकार सिद्ध नही हो सकता।

आत्मविश्वास—उनके जीवन दर्शन का चतुर्थ सूत्र है। अपने ऊपर, अपनी शक्तियो के ऊपर अटूट विश्वास उनमे कूट कूट कर भरा था। इसका उपदेश वे सदा दिया करते थे। गीता प्रवचन के अवसर पर इस विषय मे उनका प्रिय श्लोक था

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मान नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन ॥

'आत्मावसाद' बडी ही बुरी वस्तु है और आत्मविश्वास बडा ही महनीय पदार्थ है। आत्मा अनन्त शक्तियो का निकेतन है। विश्व की समस्त शक्तियॉ आत्मा मे अन्तर्हित रहती है। आवश्यकता है उनके उद्बोधन की, उन्हे जगाने की। महामना आत्मविश्वास की जाग्रत मूर्ति थे। विश्वविद्यालय की सिद्धि मे इस मन्त्र ने बडा ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया। मालवीय जी को अपने उद्देश्य की पवित्रता मे पूर्ण विश्वास था। इसी गुण के कारण उन्होने अनेक विषम विपत्तियो को दूर भगाया तथा जीवन मे अनेक विजये प्राप्त की। विश्वविद्यालय की स्थापना के अवसर पर गान्धीजी को महामना ने इसी सद्गुण के कारण लोगो की दृष्टि मे सम्मानित किया था लेखक ने एक बार साहस बटोर कर उनके जीवन दर्शन के विषय मे यह पूछा था महाराज, आपने स्वार्थ तथा परमार्थ का, सिद्धान्त तथा लोक व्यवहार का अपने जीवन मे अद्भुत सामञ्जस्य उपस्थित किया है। हम लोग एक ओर झुकते है तो दूसरा दृष्टि से ओझल हो जाता है इस विषय मे आपका उपदेश क्या है? महामना ने छूटते ही गीता के सात्त्विक कर्ता के विषय मे कथित इस श्लोक को अपने जीवन का आदर्श बतलाया –

मुक्तसङ्गोऽनहवादी धृत्युत्साहसमन्वित.।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकार कर्ता सात्त्विक उच्यत ॥

–गीता १८।२८

यह श्लोक मालवीयजी के जीवन दर्शन का सार अश प्रस्तुत करता है। वे यथार्थत सात्त्विक कर्त्ता थे। इतने बडे महत्त्वपूर्ण कार्य का सम्पादन किया, परन्तु उन्हे उसका न हर्ष था और न गर्व। वे देश तथा राष्ट्र के मगल के निमित्त इस कार्य मे अटूट श्रद्धा से, अदम्य उत्साह से, कर्तव्यबुद्धि से लगे रहे और जो किया वह सचमुच विलक्षण था।

मालवीयजी सच्चे अर्थ मे महात्मा थे। 'महात्मा' का लक्षण इस प्रसिद्ध श्लोक मे वर्णित है—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ प्रकृतिसिद्धमिद हि महात्मनाम् ॥

महात्मा के जो छह लक्षण यहाँ बतलाये गये है वे महामना मे पूर्ण वैभव के साथ प्रकट थे। विपत्तियो मे धीरता, अभ्युदय मे क्षमा, सभा मे वाक्-चातुरी, युद्ध मे विक्रम, यश मे अभिरुचि तथा शास्त्र-श्रवण मे अनुराग—इन छहो की सत्ता महामना में पूरे रूप में थी। 'महामना' यह उपाधि भी उनमे सर्वथा चरितार्थ होती थी। मालवीयजी मे हृदय ही हृदय था। विपन्न के साथ पूरी सहानुभूति तथा अनुराग उनके जीवन मे पग पग पर दृष्टिगोचर होते

है। ऊपर उनके बहुमुखी जीवन का विश्लेषण करने पर लेखक के हाथ जो चार सूत्र उपलब्ध हुए है वे इस अनुष्टुप् मे निबद्ध है—

आस्तिक्यं चात्मविश्वासो ह्युत्साहः कार्यनिष्ठता ।
चतुःसूत्री समाख्याता मालवीयमहात्मनः ॥

महामना की पवित्र स्मृति मे उनकी महती कृपा से आनम्र लेखक की ये पक्तियाँ श्रद्धाजलि के रूप मे यहाँ उपन्यस्त है। इन महापुरुष का जीवन-दर्शन हमारे जीवन मे प्रकाश-स्तम्भ का कार्य करे, भगवान् से यही प्रार्थना है।

देशी भाषा

महामनाजी हिन्दी के उन्नायको मे अन्यतम है। देशी भाषा के विषय मे उनके विचार पढ़िये—

साहित्य और देश की उन्नति अपने देश की भाषा ही के द्वारा हो सकती है। हाँ, यह सच है कि अग्रेजी का भाण्डार बहुत बडा है। उसमे राजनीतिक भाव बहुत अच्छे है। आधुनिक विज्ञान का परिचय भी हमको उसी भाषा के द्वारा हुआ है। अब यह लाभ देशव्यापी करना है। यह कार्य देशी भाषा के द्वारा हो सकता है। बिजली की रोशनी से रात्रि का अधकार दूर हो सकता है किन्तु सूर्य का काम बिजली नही कर सकती है। इसी भाँति विदेशी भाषा के द्वारा सूर्य का प्रकाश नही कर सकते। अग्रेजी के द्वारा जो बात जानी गई है उसे अब देशी भाषा के द्वारा सारे देश मे फैलाना चाहिए। सार्वजनिक रूप से यह कार्य हिन्दी ही के द्वारा हो सकता है। हम यह नही कहते कि देश भर मे एक ही भाषा रहे, नही, सब प्रान्तो मे अपने-अपने प्रान्त की भाषा की उन्नति हो। इन सबके रहते हुए हिन्दी भाषा राष्ट्रभाषा के तौर पर प्रयुक्त हो। अभी तक जो कार्य अग्रेजी के द्वारा होता आया है वह अब हिन्दी के द्वारा होना चाहिए।[१]

महामना की संस्कृत-सेवा

महामना मालवीयजी को काशी की पाण्डित्यपरम्परा का अनुयायी मानना सर्वथा उचित है। कारण यह है कि जिनमे इन्होने सस्कृत विद्या पढी, भारतीय सस्कृति के प्रति गाढ अनुरक्ति प्राप्त की तथा देववाणी के प्रचार प्रसार की प्रेरणा उपलब्ध की वे उनके गुरु महामहोपाध्याय आदित्यराम भट्टाचार्यजी कैलासचन्द्र शिरोमणि के शिष्य होने के नाते काशी की वैदुषी से मण्डित सस्कृतज्ञ विद्वान् थे। महामना सस्कृत के स्वय पण्डित थे ही, उन्होने सस्कृत-महाविद्यालय की हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत स्थापना कर उसे प्रामुख्य भी प्रदान किया। फलत देववाणी के प्रचार प्रसार मे उनका कार्य सुवर्णाक्षरो मे अकित किए जाने की योग्यता रखता है।

पण्डित अम्बिकाप्रसाद उपाध्याय सस्कृतमहाविद्यालय के व्याकरणविभाग के प्राध्यापक थे तथा मालवीयजी के साथ उनका लगभग पचीस वर्षो तक निकट का सम्पर्क था। उन्होने अपने एक अभिराम सस्मरण मे मालवीयजी के सस्कृत व्याख्यान की विशिष्टता, शुद्धता तथा धारावाहिकता की खूब प्रशसा की है—

"सस्कृत भाषा के ऊपर मालवीयजी महाराज का पूर्ण अधिकार था। पुराणो का पाठ वे प्राय सदा करते थे। महाभारत तथा श्रीमद्भागवत का तो पूरा अभ्यास था। भागवत का

१ सन् १९१९ ई० मे नवम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण से।

अनुशीलन तो उनकी पैतृक सम्पत्ति ही थी। काशी में हिन्दूमहासभा का एक अधिवेशन आयोजित किया गया था। उसी के साथ सस्कृत-साहित्य-सम्मेलन का भी अधिवेशन सम्पन्न होने वाला था। मालवीयजी उसके स्वागताध्यक्ष थे, परन्तु अस्वस्थ होने के कारण भाषण तैयार नही कर सके। म० म० पण्डित प्रमथनाथजी ने भाषण लिखकर मेरे पास भेज दिया। मालवीयजी को दिखाया, तो कहने लगे कि यह तो बँगला हो गया है। अच्छा, छपा दो। ऐसा बाँचना नही होगा। हम अपना बोल लेगे। समय पर बोलने के लिए उठकर खड़े हो गये और धीरे से बोले, अशुद्धियो को गिनकर कहना। मै ध्यान लगाये था, परन्तु कही भी कोई अशुद्धि नही हुई। व्याख्यान समाप्त होने पर अशुद्धियो के बारे मे पूछा। मैने कहा कि हनुमान्‌जी के व्याख्यान के बाद वाल्मीकिजी ने जो टिप्पणी लिखी है—बहु व्याहरताऽनेन न किञ्चिदपशब्दितम् -वही मेरी स्मृति मे आ गई है। वाल्मीकि की टिप्पणी आपके व्याख्यान के लिए भी उपयुक्त है। इस पर मालवीयजी हँसने लगे।"

मालवीयजी सुन्दर सस्कृत पद्यो की भी रचना करते थे। प्रयाग मे १९८४ वि० स० (१९२७ ई०) को माघकृष्ण एकादशी से प्रतिपद् तक होने वाली सनातन धर्म महासभा का पद्यबद्ध निमन्त्रणपत्र स्वय मालवीयजी ने तैयार किया था जो इस प्रकार है—

प्रार्थना-निवेदनम्

नमो धर्माय महते नम· कृष्णाय वेधसे।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य प्रार्थये धर्मवर्धनम् ॥१॥
श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त. वर्णाश्रमविभूषितः।
पुण्य. सत्यदमोपेतो धर्म. श्रेष्ठ. सनातनः ॥२॥
यस्य सस्थापनार्थाय काले काले जगद्गुरुः।
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा ह्यात्मानं सृजति स्वयम् ॥३॥
रक्षार्थ यस्य धर्मस्य ब्राह्मणाः क्षत्रियास्तथा।
वैश्या. शूद्रा महाभागा अर्थान् प्राणाँश्च तत्यजुः ॥४॥
कलिना पीडितः सोऽयं दुरवस्थामवापितः।
अज्ञानेन स्वकीयानामन्येषामाक्रमेण च ॥५॥
हे नाथ ! हे रमानाथ विश्वनाथार्तिनाशन।
सत्यां कुरु प्रतिज्ञां स्वा पातुं पुनरिहाव्रज ॥६॥
धर्मज्ञानप्रचारार्थ जातिरक्षार्थमेव च।
विश्वजन्यां मतिं यच्छ उद्धर्षय मनांसि नः ॥७॥
तीर्थराजे प्रयागे वै माघे मास्यसिते दले।
विदुषां धर्मकामाना भविष्यति महासभा ॥८॥
तत्रागत्य तु कर्तव्यो विचारः शास्त्रसम्मतः।
उपायाश्चिन्तनीयाश्च धर्मरक्षाप्रसाधकाः ॥९॥
इतीयं प्रार्थना हृद्या स्वीकर्त्तव्या मनीषिभि.।
धर्मरक्षाविवृद्ध्यर्थी ह्यनुग्राह्यो निवेदकः ॥१०॥

—मालवीयो मदनमोहन [१]

महामना की एक दूसरी रचना—जनता को उपदेश—विश्वपञ्चाग के मुखपृष्ठ पर

१ प्रज्ञा (मालवीय-जन्मशती विशेषाङ्क) भाग ६, १९६१, हिन्दूविश्वविद्यालय से प्रकाशित, पृ० १६१।

प्रतिवर्ष प्रकाशित होने से नितान्त प्रसिद्ध है। अतएव यहाँ देने की आवश्यकता नही है। अब उनके सस्कृत-प्रचारकरूप का अवलोकन करें।

संस्कृत-महाविद्यालय की स्थापना

महामना मालवीयजी का हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना में सबसे महनीय उद्देश्य था हिन्दू धर्म और सस्कृति की रक्षा एव सस्कृत विद्या का प्रचार-प्रसार। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होने सबसे पहले सस्कृत-महाविद्यालय की स्थापना की। हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना तो सन् १९१६ ई० मे हुई थी परन्तु सस्कृत महाविद्यालय—जो आजकल प्राच्यविद्या तथा धर्मविज्ञानसकाय नाम से प्रसिद्ध है— मे अध्ययन तथा अध्यापन का कार्य सन् १९१८ ई० से सुचारु रूप से प्रारम्भ हुआ। इस महाविद्यालय के सबसे प्रथम प्रिन्सिपल महामहोपाध्याय प० रामावतार शर्मा थे जो सस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उनकी अध्यक्षता मे इस महाविद्यालय मे सुचारु रूप से पठन पाठन होने लगा। स्वय मालवीयजी आर्यपरम्परा के अनन्य उपासक थे। अत सस्कृतमहाविद्यालय के प्रति उनका विशिष्ट प्रेम होना स्वाभाविक था। फलस्वरूप वे इसके सरक्षण एव सवर्धन मे सर्वथा सचेष्ट रहते थे। वे सस्कृत के प्रकाण्ड विद्वानो को भारतवर्ष के कोने-कोने से खोज कर ले आते थे और सस्कृत-महाविद्यालय मे उन्हे आदर तथा सम्मान के साथ स्थान देते थे। ऊपर इस महाविद्यालय के प्रथम प्रिन्सिपल प० रामावतार शर्मा का उल्लेख किया जा चुका है। शर्माजी के पटना चले जाने पर महाविद्यालय के अध्यक्ष **पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी** बने, परन्तु दो तीन वर्षों के अनन्तर उनका काशी मे ही निधन हो गया। तदनन्तर कुछ दिनो के पश्चात् **महामहोपाध्याय पण्डित प्रमथनाथ तर्कभूषण** को प्रिन्सिपल के पद पर प्रतिष्ठित किया गया। उन्होने बीसियो वर्षों तक इस पद को सुशोभित किया। उनकी अध्यक्षता के काल मे इस महाविद्यालय की सर्वाङ्गीण समुन्नति हुई। अनेक नये विभागो का सर्जन हुआ और सभी विषयो के अध्यापन की सम्यक् व्यवस्था की गई।

साङ्गवेदाध्यापन की व्यवस्था

महाविद्यालय मे वेदो के अध्यापन के साथ उसके छह अगो—(१) व्याकरण, (२) शिक्षा, (३) ज्योतिष, (४) निरुक्त, (५) कल्प और (६) छन्द—के भी पठन-पाठन की सम्यक् व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त इसमे निम्नलिखित शास्त्रो का सुचारु रूप से अध्यापन किया जाता है—(१) धर्मशास्त्र, (२) न्याय-वैशेषिक, (३) साख्य-योग, (४) पूर्वमीमासा-उत्तर मीमासा, (५) साहित्य, (६) कर्मकाण्ड, (७) पौरोहित्य आदि के साथ बौद्ध तथा जैन दर्शनो की भी शिक्षा दी जाती है। सच तो यह है कि सस्कृतविद्या की कोई भी शाखा या प्रशाखा ऐसी नही है जिसका अध्ययन-अध्यापन यहाँ न किया जाता हो। इस समय इस महाविद्यालय में लगभग पैतीस अध्यापक अध्यापन का कार्य कर रहे है और छात्रो की सख्या तीन सौ के आसपास है।

इस महाविद्यालय में पूर्वमध्यमा, उत्तरमध्यमा, शास्त्री और आचार्य की पढ़ाई होती है। यहाँ जो छात्र आचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण करते है उन्हें 'शास्त्राचार्य' की उपाधि प्रदान की जाती है—जैसे व्याकरणशास्त्राचार्य, साहित्यशास्त्राचार्य आदि। जो वेद में आचार्य होते हैं उन्हें 'वेदाचार्य' की उपाधि दी जाती है। इस महाविद्यालय में अध्ययन के लिए कोई फीस या शुल्क नही लिया जाता। अत. निर्धन से भी निर्धन छात्र यहाँ निःशुल्क विद्याध्ययन कर सकता है। यहाँ मेधावी विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति भी प्रदान की जाती है। छात्रों के आवास

के लिए छात्रावास का भी प्रबन्ध है जहाँ वे निःशुल्क निवास करते हैं। इस प्रकार इस महाविद्यालय में न तो अध्ययन करने के लिए शुल्क देना पड़ता है और न छात्रावास में रहने के लिए। इस प्रकार सहस्रों विद्यार्थियों ने इन सुविधाओं का लाभ उठाया है और उच्चतम परीक्षाओं को उत्तीर्ण कर यश और धन का अर्जन किया है तथा आज भी कर रहे हैं।

संस्कृत वाङ्मय के विभिन्न शास्त्रों में अनुसन्धान करने वाले अनुसन्धित्सुओं को 'चक्रवर्ती' और 'वाचस्पति' की उपाधि प्रदान की जाती है जो क्रमशः पी-एच० डी० और डी० लिट्० के स्तर की मानी जाती है।

प्राच्यविद्या तथा धर्मविज्ञान संकाय में छह विभाग है जिनका पूर्णरूपेण विकास हो चुका है—(१) वेदविभाग (२) मीमांसा-धर्मशास्त्रविभाग (३) व्याकरणविभाग (४) दर्शनविभाग (५) साहित्यविभाग और (६) ज्योतिषविभाग। इनके अतिरिक्त धर्म शिक्षा नामक एक सातवाँ विभाग भी है जिसका रूप सर्वथा विकसित हो गया है। ज्योतिषविभाग के अन्तर्गत एक पञ्चाङ्ग-उपविभाग भी है जिसके द्वारा **विश्वपञ्चाङ्ग** प्रकाशित किया जाता है। इस पञ्चाङ्ग के सर्वप्रथम सम्पादक महामना प० मदनमोहन मालवीय और पं० रामयत्न ओझा थे। इस महाविद्यालय के प्राध्यापक तथा प्रिन्सिपल के पद को अनेक महान् विद्वानों ने सुशोभित किया है जिनमें म० म० चिन्नस्वामी शास्त्री, म० म० विद्याधर गौड और म० म० जयदेव मिश्र प्रधान है। यह महाविद्यालय संस्कृतविद्या का प्रचार करते हुए दिन-दूनी रात-चौगुनी उन्नति कर रहा है—

संस्थापितः प्रथममेव महामहिम्ना विद्यालयः सुरगिरः सुधियामुपास्यः।
शश्वत् समुन्नतिगिरेः शिखराधिरूढो जीयाच्चिरं समुदयं विदधन्नराणाम् ॥

आयुर्वेद-महाविद्यालय

प्राचीन भारतीय चिकित्सा-प्रणाली की रक्षा करने तथा उसे समुचित प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए महामना मालवीयजी ने हिन्दूविश्वविद्यालय की स्थापना के पश्चात् आयुर्वेद-महाविद्यालय की स्थापना की। उस समय आयुर्वेद के केवल दो ही महाविद्यालय इस प्रान्त में थे। पहला ऋषिकुल, हरिद्वार का आयुर्वेदविद्यालय और दूसरा हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत यह महाविद्यालय। इस प्रकार इस आयुर्वेदमहाविद्यालय की स्थापना से महामना ने एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की। पहले यह विद्यालय हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या और धर्मसंकायविभाग का एक अंग था परन्तु सन् १९२४ २५ ई० से यह स्वतन्त्र रूप से कार्य करने लगा। इस महाविद्यालय के प्रथम प्रिन्सिपल महान् वैद्य **पण्डित धर्मदास कविराज** थे। पहले इस विद्यालय में शुद्ध आयुर्वेदिक पद्धति से चरक, सुश्रुत, वाग्भट के ग्रन्थों का अध्यापन होता था और इन पुस्तकों को पढ़कर जो विद्यार्थी निकलते थे वे शुद्ध आयुर्वेद की पद्धति से चिकित्सा करते थे। परन्तु चिकित्साप्रणाली को आधुनिक बनाने के विचार से सन् १९२८ ई० में इसमें मेडिसिन और सर्जरी (शल्यचिकित्सा) का अध्यापन भी होने लगा। इस प्रकार प्राचीन आयुर्वेद की प्रणाली का ज्ञान होने के साथ ही ये छात्र आधुनिक शल्यचिकित्सा की विधि से भी परिचित होने लगे। इस परिवर्तन के फलस्वरूप जहाँ पहिले इन विद्यार्थियों को आयुर्वेदाचार्य की उपाधि प्रदान की जाती थी उन्हें अब ए० बी० एम० एस० की डिग्री दी जाने लगी।

धर्मदासजी के सेवानिवृत्त होने पर गुजरात के प्रसिद्ध चिकित्सक डॉ० बालकृष्ण

अमरजी पाठक १६३६ ई० में आयुर्वेदकालेज के अध्यक्ष बनकर आये और लगभग एक दशक तक इस पद पर रहे। आपका स्वर्गवास यहीं काशी में हुआ।

आयुर्वेदमहाविद्यालय के प्रिन्सिपलों में **पं० सत्यनारायण शास्त्री कविराज** का नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध है। ये आयुर्वेद शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे जिनका परिचय इसी ग्रन्थ में अन्यत्र दिया गया है। इनकी अध्यक्षता में इस महाविद्यालय की सर्वाङ्गीण समुन्नति हुई। इस समय इस महाविद्यालय में कायचिकित्सा, प्रसूतितन्त्र, द्रव्यगुण और मौलिक सिद्धान्त इन विषयों का अध्यापन बड़ी ही सुन्दर रीति से होता था। यह विद्यालय दिन-प्रति-दिन उन्नति कर रहा था। इसने अनेक योग्य तथा विद्वान् वैद्यों को उत्पन्न किया था।

परन्तु दैवदुर्विपाक से सन् १६६० ई० में आयुर्वेद महाविद्यालय के स्नातक-पाठ्यक्रम को समाप्त कर दिया गया। दूसरे शब्दों में आयुर्वेदविद्यालय को तोड़ दिया गया और उसके स्थान पर कालेज ऑफ मेडिकल साइन्सेज की स्थापना की गई। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने जून सन् १६६० ई० में यहाँ मेडिकल कालेज की स्थापना की अनुमति प्रदान की और उसी वर्ष सितम्बर सन् १६६० ई० में ही चिकित्साविज्ञान कालेज (मेडिकल कालेज) की स्थापना हो गई। इसके तीन वर्षों के पश्चात् सन् १६६३ ई० में 'चिकित्साविज्ञान संस्थान' की स्थापना की गई। आयुर्वेद का अध्यापन बन्द करने के कारण जनता ने इसका बड़ा विरोध किया। इसके फलस्वरूप 'स्नातकोत्तर आयुर्वेदिक अनुसन्धान विभाग' खोला गया है जिसमें केवल शोधकार्य किया जाता है। यद्यपि आजकल हिन्दूविश्वविद्यालय में 'चिकित्सा विज्ञान संस्थान' की स्थापना से आधुनिक चिकित्साप्रणाली का बडा विस्तार हो गया है तथापि जिस उद्देश्य से मालवीयजी ने आयुर्वेदमहाविद्यालय की स्थापना की थी वह उद्देश्य पूरा नहीं हो सका।

संस्कृत-महाविद्यालय

इस विद्यालय के अध्यक्ष और अध्यापकों मे देश के बड़े ही गण्यमान्य विद्वानों की नियुक्ति की गई। सर्वप्रथम पण्डित रामावतार शर्मा अध्यक्ष थे जैसा ऊपर कहा गया है, उनके पटना चले जाने पर जयपुर के पुरातत्त्ववेत्ता विद्वान् पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी अध्यक्ष बने। अल्पायु में ही उनका शरीरपात हो गया। तब पण्डित प्रमथनाथजी १६२३ ई० में अध्यक्ष बने। बहुत वर्षो तक वे इस पद की गरिमा को सॅभालते हुए अध्यक्ष बने रहे। उनके अवकाशग्रहण के अनन्तर म० म० पण्डित बालकृष्ण मिश्रजी अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित हुए, परन्तु उनकी अकाल-मृत्यु हो जाने पर अध्यक्ष के पद पर पण्डित कालीप्रसाद मिश्र की नियुक्ति हुई।

मिश्रजी के शासनकाल में विद्यालय की विशेष उन्नति हुई। वे दृढ शासक, सफल व्यवस्थापक एव सुयोग्य अध्यापक थे। व्याकरणविभाग की उन्नति में उनका महनीय योगदान था। उन्होंने बत्तीस वर्षो तक कार्य किया, १६५२ ई० में अवकाश ग्रहण किया तथा १६७७ ई० में ८८ वर्ष की आयु में उनका निधन हुआ। मिश्रजी के सेवानिवृत्त होने पर पण्डित महादेव पाण्डेयजी महाविद्यालय के अध्यक्ष बने। ये साहित्य तथा दर्शन के अलौकिक विद्वान् थे। उनके कार्यकाल में साहित्यविभाग की बड़ी उन्नति हुई और उनके प्रौढ अध्यापन के फलस्वरूप साहित्य के अनेक विद्वान् इस विभाग के यश की वृद्धि करते हुए तैयार हुये।

संस्कृत-महाविद्यालय का दर्शनविभाग अनेक प्रतिष्ठित पण्डितों के अध्यापन के कारण नितान्त प्रख्यात तथा लोकप्रिय हो गया था जिसकी कीर्ति सुन कर अन्य प्रान्तों से भी छात्रगण

आकर तत्तद् दर्शन का विधिवत् अध्ययन करते थे। छहों दर्शनों के पृथक्-पृथक् विभाग चलते थे जिनमें न्याय, वेदान्त तथा मीमांसा की प्रधानता थी। इन विभागों के अध्यापक अखिल-भारतीय कीर्ति से मण्डित व्यक्ति होते थे। न्यायशास्त्र का अध्यापन पण्डित **श्रीशंकर भट्टाचार्य** तथा अध्यक्षप्रवर **बालकृष्ण मिश्रजी** करते थे। वेदान्त का अध्यापन म० म० **पण्डित प्रमथनाथ तर्करत्न** तथा **पण्डित लक्ष्मीकान्त झा** करते थे तथा मीमासादर्शन का शिक्षण म० म० पण्डित **चिन्न स्वामी** के हाथ में था। चिन्नस्वामी तो उनकी लोकप्रिय आख्या थी। वस्तुतः उनका नाम वेङ्कट सुब्रह्मण्य शास्त्री था। इन शास्त्रों के प्रौढ विद्वानो के कारण महाविद्यालय का दर्शन विभाग बड़ी ख्याति तथा कीर्ति से सम्पन्न था। विद्यालय के अनेक विद्वानों का परिचय ग्रन्थ में अन्यत्र दिया गया है। पण्डित लक्ष्मीकान्त झा का परिचय सक्षेप में यहाँ दिया जा रहा है।

पण्डित लक्ष्मीनाथ झा

पण्डित बच्चा झा वृद्धावस्था के शिष्य थे। इन्होने लिखा है कि बच्चा झा जी अत्यन्त वृद्ध हो गये थे, परन्तु इनकी गुरुभक्ति से इतने प्रसन्न थे कि दर्शनो का रहस्य बडी सरलता से इन्हें पढ़ाया। ये दरभगा मण्डल के अन्तर्गत मधुबनी के समीपस्थ सीमा ग्राम के निवासी थे। सस्कृतमहाविद्यालय मे दर्शनविभाग के अध्यक्ष थे। इनके दो ग्रन्थ प्रकाशित है—(१) व्युत्पत्तिवाद की प्रकाश व्याख्या, (२) भामती (चतु सूत्री) पर प्रकाश तथा विकाश नामक टीकाद्वयी। भामती जैसे कठिन ग्रन्थ को पण्डित लक्ष्मीकान्तजी ने अपनी दोनो टीकाओं के द्वारा सरल-सुबोध बनाने का श्लाघनीय उद्योग किया है। स्वामी करपात्रीजी ने इस पर अपनी लम्बी भूमिका लिखकर ग्रन्थ की प्रामाणिकता तथा ग्रन्थकार की वैदुषी पर अपनी मुहर लगा दी है। ग्रन्थ की रचना का काल १८७४ शक सवत् (= १९५२ ई०) है।[१] ग्रन्थ परिमाण में बहुत ही विस्तृत तथा विशाल है। वाचस्पति मिश्र ने भामती की चतु सूत्री मे जिन पदार्थों का विवरण सक्षेप में दिया है उनकी दुरूहता को दूर कर व्याख्याकार ने उसकी विस्तृत रूप से व्याख्या कर सरल तथा सुबोध बनाया। विवेचन बहुत ही सुन्दर तथा तलस्पर्शी है। वेदान्त के तत्त्व अपने पूर्ण वैभव के साथ यहाँ प्रकाशित हो रहे है। इस एक ही ग्रन्थ से पण्डित लक्ष्मीकान्तजी का दार्शनिक वैदुष्य सद्य प्रस्फुटित हो रहा है।

इस महाविद्यालय का ज्योतिष विभाग भी बड़ा ही समर्थ एव प्रतिष्ठित विभाग है। मालवीयजी की बड़ी कृपादृष्टि इस विभाग पर रहती थी। इसका परिणत फल हुआ एक नवीन पञ्चाङ्ग के प्रकाशन का सूत्रपात। पञ्चाङ्गविभाग के द्वारा प्रकाशित **विश्वपञ्चाङ्ग** अपनी नाना प्रकार की उपयोगिता में—विशेषकर धार्मिक विशिष्टता में—अन्य पञ्चांगों से अधिक महत्त्वशाली सिद्ध हुआ है। महामना ज्योतिषविभागाध्यक्ष पण्डित रामयत्न ओझा के साथ इसके आद्य सम्पादक रहे। ओझाजी तथा पण्डित बलदेव पाठक का चरित अन्यत्र वर्णित है। इनके शिष्यों में पण्डित रामव्यास पाण्डेय अपने ज्योतिष-विषयक वैदुष्य तथा व्यावहारिक नैपुण्य के कारण अग्रगण्य माने जाते थे। इनके अनेक सुयोग्य शिष्य है जो उनके द्वारा प्रचारित कार्य को अग्रसर कर रहे है।

महाविद्यालय का साहित्यविभाग भी प्रमुख विभागों में है। पण्डित चन्द्रधर शर्मा इसके सुयोग्य अध्यापक तथा अग्रणी साहित्यिक थे। पण्डित महादेव पाण्डेय का विवरण ऊपर दिया गया है। ये प्रथमतः इसी विभाग के अध्यक्ष थे। तदनन्तर पूरे महाविद्यालय के अध्यक्ष बने। पं० रामकुबेर मालवीय भी इसी विभाग के वर्षों तक अध्यक्ष रहे। उन्होंने **मालवीय-चरितम्**

---

१. ग्रन्थकार के ही द्वारा प्रकाशित, काशी २००६ वि० स०।

महाकाव्य की रचना से अपनी काव्यप्रतिभा का परिचय दिया है। इस प्रकार इस महाविद्यालय ने संस्कृत के अभ्युत्थान में विशेष योग दिया है। यह महामना की **संस्कृत-सेवा** का भव्य प्रतीक है।

पण्डित **मधुसूदन शास्त्री** साहित्यविभाग के अध्यक्ष पद को अनेक वर्षों तक सुशोभित करते थे। व्याकरण, साहित्य के सफल अध्यापक होने के अतिरिक्त इन्होंने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। काव्यमीमासा की तथा महिमभट्ट के दुरूह ग्रन्थ व्यक्तिविवेक की बड़ी ही विशद टीका आपने प्रस्तुत की है। नाट्यशास्त्र के कई अध्यायों पर भी आपकी उपादेय व्याख्या है।

पण्डित महादेव पाण्डेयजी के अनेक शिष्य अध्यापन कार्य करते है जिनमें दो विद्वानों के नाम उल्लेखनीय है—(१) डॉ० **त्रिनाथ शर्मा** तथा (२) डॉ० **राममूर्ति त्रिपाठी**। पण्डित त्रिनाथ शर्मा उत्कल (जगन्नाथपुरी) के निवासी है। नैषधचरित के ऊपर बड़ा ही प्रमेयबहुल निबन्ध लिखकर आपने अपने वैदुष्य का परिचय दिया है। साहित्य के रसिक एव वेदान्त के प्रौढ़ अध्यापक के रूप में हिन्दू विश्वविद्यालय में आपने अच्छी कीर्ति अर्जित की है। डॉ० **राममूर्ति त्रिपाठी** आजकल विक्रम विश्वविद्यालय के हिन्दीविभाग के अध्यक्ष है। साहित्य तथा तन्त्र के प्रौढ़ विद्वान् होने के कारण इनकी हिन्दी रचनाएँ प्रौढ़ता तथा प्रामाणिकता से सुतरा मण्डित है। इनका **लक्षणा तथा उसका हिन्दी काव्य में प्रसार**[१] नामक ग्रन्थ लक्षणा का बड़ा ही विशद एव विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करता है। सस्कृत-ग्रन्थों पर आधारित यह तुलनात्मक विवरण नितान्त उपादेय एव स्पृहणीय है। **तुलसी तथा तन्त्र** नामक ग्रन्थ रामचरितमानस में उपलब्ध तान्त्रिक तथ्यो की गम्भीर विवेचना कर एक नयी दिशा का सकेतक है।

सस्कृत महाविद्यालय ने दो ऐसे मूर्धन्य विद्वानों को सस्कृत जगत् को दिया है जिन्होंने अपने-अपने शास्त्रों के उत्कृष्ट पण्डित होने के अतिरिक्त प्रशासन के कार्य में भी अपनी योग्यता एवं व्यवहार-कुशलता का प्रचुर परिचय दिया है। इनमें से एक है—**पण्डित करुणापति त्रिपाठी** और दूसरे हैं **पण्डित बदरीनाथ शुक्ल**। दोनो ही व्यक्ति साहित्य एव न्याय के क्रमश· वैदुष्यमण्डित पण्डित है तथा सम्पूर्णानन्द-सस्कृतविश्वविद्यालय के कुलपति पद पर प्रतिष्ठित होकर दोनों ने संस्कृतसाहित्य के प्रसार-प्रचार, सस्कृत-परीक्षाओं के व्यवस्थापन एवं विश्वविद्यालय की सार्वत्रिक उन्नति में विशेष योग दिया है। शुक्लजी का परिचय पूर्व ही दिया गया है। पण्डित करुणापति त्रिपाठी काशी के ही सरस्वती तथा लक्ष्मी दोनों के पात्रभूत सरयूपारीण ब्राह्मण वश मे उत्पन्न है। उनकी शिक्षा इस महाविद्यालय में आरम्भ से अन्त तक हुई। व्याकरण तथा साहित्य दोनों शास्त्रों में उनकी व्युत्पत्ति प्रशंसनीय तथा आदरणीय है। अपने ही पूर्वपुरुष पण्डित रामानन्दपति त्रिपाठी की महनीय रचना 'रसिकजीवन' का इन्होने बड़ा ही विमर्शात्मक सस्करण निकाला है तथा भूमिका के अन्तर्गत मार्मिक समालोचना की है। हिन्दी में इनके अनेक प्रौढ़ ग्रन्थ तथा निबन्ध प्रकाशित है जो उच्चकोटि के होने से महत्त्वशाली हैं। ये संस्कृतकालेज के प्रथम अध्यापक है जिन्होंने कुलपति पद को सुशोभित किया। इनके अनन्तर ही पण्डित बदरीनाथ शुक्ल उस प्रतिष्ठित पद पर आसीन हुए थे जहाँ से ये अभी सेवाकार्य से निवृत्त हुए हैं। दोनों को सुयोग्य कुलपति बनाने का श्रेय इसी संस्कृत-महाविद्यालय को प्राप्त है।

---

१. प्रकाशक, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, स० वि० २०२३।

श्री बदरीनाथ शुक्ल द्वारा रचित ग्रन्थ

१. 'आरम्भवाद'—यह ग्रन्थ सस्कृत भाषा मे नव्यन्याय की शैली से लिखा गया है। इसमे असत्कार्यवाद की स्थापना की गई है। सत्कार्यवाद की गम्भीर आलोचना तथा परमाणु-कारणतावाद का युक्तिपूर्ण प्रतिपादन किया गया है। इस सन्दर्भ मे शकराचार्य, मधुसूदन सरस्वती तथा इसके नवीनतम आलोचक बच्चा झा के विचारो का पर्यालोचन करते हुए उनके तर्को का प्रतिवाद किया गया है। अन्त मे प्रकृति और विद्या की विश्वोपादानता का निराकरण किया गया है। इसका प्रकाशन शारदा प्रकाशन, अगस्त कुण्ड वाराणसी से हुआ है।

२. तत्त्वचिन्तामणि का मंगलवाद—नव्यन्याय के सर्वोच्च ग्रन्थ तत्त्वचिन्तामणि की रचना मिथिला के महान् नैयायिक गगेश्वर उपाध्याय ने की है। इसके आरम्भ मे मगलवाद पर विशेष विचार किया गया है और मगल की उपयोगिता के सम्बन्ध मे विविध मतो की समीक्षा की गयी है। इसके ऊपर मथुरानाथ तर्कवागीश की अत्यन्त विस्तृत और प्रौढ व्याख्या है जिसका सम्पादन करते हुए श्री शुक्लजी ने मूल और व्याख्या के महत्त्वपूर्ण स्थलो पर पाण्डित्यपूर्ण टिप्पणियाँ लिखी है। इसका प्रकाशन सम्पूर्णानन्द सस्कृतविश्वविद्यालय (वाराणसी) द्वारा किया गया है।

३. तर्कभाषा—यह आचार्य केशव मिश्र की महत्त्वपूर्ण रचना है। श्री शुक्लजी ने हिन्दी मे इस पर विस्तृत व्याख्या लिखी है। इस व्याख्या मे तर्कभाषा मे चर्चित न्यायशास्त्र के अनेक सिद्धान्तो पर मौलिक विचार प्रकट किये गये है। यह ग्रन्थ व्याख्यात्मक होते हुए भी मौलिक ग्रन्थ की प्रकृति से मण्डित है। व्याख्या की भाषा और शैली अत्यन्त प्राञ्जल और मनोरम है। इसका प्रकाशन मोतीलाल बनारसीदास (वाराणसी) द्वारा हुआ है।

४. वेदान्तसार—यह वेदान्त पर सदानन्द की प्रसिद्ध रचना है। श्री शुक्लजी ने इस पर हिन्दी भाषा मे विशद और विस्तृत व्याख्या लिखी है। इसमे विद्वन्मनोरञ्जनी के अनेक विचारो के औचित्य की वैदुष्यपूर्ण आलोचना की गयी है और उनका सटीक प्रतिवाद किया गया है। यह ग्रन्थ भी व्याख्यात्मक होते हुए भी मौलिक ग्रन्थ की विशेषताएँ रखता है। इसका प्रकाशन मोतीलाल बनारसीदास (वाराणसी) द्वारा हुआ है।

५. न्याय-खाद्य-खण्डन—यह जैनाचार्य हरिभद्र सूरि की महनीय कृति है। इसे 'महावीरस्तव' के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इस पर सस्कृत मे यशो-विजय सूरि की नव्यन्याय शैली मे लिखित व्याख्या बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। श्री शुक्लजी ने इस पद्यात्मक सस्कृतग्रन्थ पर हिन्दी भाषा मे एक विस्तृत व्याख्या लिखी है। उन्होने अपनी व्याख्या मे जैन दर्शन के अनेक सिद्धान्तो का, जो मूल ग्रन्थ मे चर्चित है, विशद निरूपण किया है। मूल ग्रन्थ मे आलोचित अन्य दार्शनिक मतो का भी व्याख्या मे बहुत सुन्दर ढग से विशदीकरण किया गया है। इसका प्रकाशन चौखम्भा वाराणसी मे हुआ है।

६. शास्त्रवार्ता-समुच्चय—यह जैन दर्शन का एक महान् ग्रन्थ है। आचार्य हरिभद्र सूरि ने इसकी श्लोकबद्ध रचना की है, इसमे वैदिक और बौद्ध सभी शास्त्रो के सिद्धान्तो को पूर्वपक्ष के रूप मे प्रस्तुत किया गया है, उनका पाण्डित्यपूर्ण प्रतिपादन करते हुए उन्हे गम्भीर तर्क शैली से त्याज्य बतलाया गया है और आलोचित सभी सिद्धान्तो के प्रतिपक्ष मे जैन सिद्धान्तो की युक्तिपूर्ण प्रतिष्ठा की गयी है। इस पर उपाध्याय यशोविजय सूरि की अत्यन्त विस्तृत व्याख्या नव्यन्याय शैली मे उपलब्ध है। आचार्य श्री शुक्लजी ने इस महान् ग्रन्थ पर

हिन्दी भाषा में एक महत्त्वपूर्ण व्याख्या ग्रन्थ की रचना की है। इस व्याख्या से मूल और व्याख्या ग्रन्थ की दुर्बोधता का पूर्णरूप से निराकरण हो गया है। हिन्दी व्याख्या को देखने से ऐसा लगता है कि यह एक मौलिक ग्रन्थ जैसा है और इसमें सभी शास्त्रों के विषयों का न्यायपूर्ण विवेचन किया गया है। जैनेतर शास्त्रों के विचारों की आलोचना और जैनशास्त्रीय मान्यताओं की प्रतिष्ठापना, दोनों में निष्पक्षता बरती गयी है। यह महान् व्याख्याग्रन्थ ६ खण्डों में पूरा हुआ है। इसके प्रथम खण्ड का प्रकाशन चौखम्भा वाराणसी में हुआ है तथा अन्य खण्डों का प्रकाशन अहमदाबाद से हो रहा है। यह ग्रन्थ श्री शुक्लजी के विद्या-शिष्य जैनाचार्य श्री विजयभानु सूरि की प्रेरणा से लिखा गया है।

७. व्याप्तिपञ्चक माथुरी—इस ग्रन्थ में तत्त्वचिन्तामणि के अनुमानखण्ड में उपलब्ध व्याप्ति के प्रथम पाँच लक्षणों का वर्णन है। 'पञ्चलक्षणी' नाम से भी इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि है। इस पर शशिधर मिश्र, वासुदेव सार्वभौम, जगदीश तर्कालङ्कार, मथुरानाथ तर्कवागीश आदि की विस्तृत व्याख्याएँ है जो सभी मूल ग्रन्थ की महिमा से मण्डित है। श्री शुक्लजी ने इसकी माथुरी टीका पर हिन्दी भाषा मे एक व्याख्या लिखी है। नव्यन्याय शैली के इस गम्भीर ग्रन्थ पर हिन्दी भाषा में एक सरल सुबोध व्याख्या लिखना अत्यन्त श्लाघनीय कार्य है जिसे श्री शुक्लजी ने बड़ी सफलता से सम्पन्न किया है। इसका प्रकाशन हिन्दी ग्रन्थ अकादमी राजस्थान की ओर से हुआ है (जयपुर, १९९२ ई०)।

८. नव्यन्याय-प्रवेश—यह हिन्दी भाषा मे पण्डित बदरीनाथजी का मौलिक ग्रन्थ है जिसमें नव्यन्याय के प्रमुख पारिभाषिक शब्दो का परिचय प्रस्तुत किया गया है। निश्चय ही इस ग्रन्थ के अध्ययन से नव्यन्याय में प्रविष्ट होने का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। ग्रन्थ की भाषा और विषय को सुबोध रूप से प्रस्तुत करने की शैली अत्यन्त समीचीन और मनोरम है।

९. मार्कण्डेय पुराण : एक अध्ययन—यह ग्रन्थ श्री शुक्ल द्वारा हिन्दी भाषा में लिखा गया है। इसकी भूमिका अत्यन्त उपादेय है। प्रत्येक अध्याय के विषयो का संक्षिप्त वर्णन और अध्यायों में आयी हुई सूक्तियो का सकलन अध्याय के अन्त में किया गया है। पूरे पुराण की कथाओं को प्राञ्जल और सुन्दर भाषा में दिया गया है। इसका प्रकाशन चौखम्भा वाराणसी से हुआ है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त श्री शुक्ल ने वेद, व्याकरण, साहित्य, न्याय, वेदान्त, सांख्य, योग, मीमांसा, जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन, आगम और भारतीय विधिशास्त्र पर निबन्ध लिखे हैं जिनका प्रकाशन विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में हुआ है।



१०४

पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य

(आस्पद—भट्टाचार्य, उपाधि—महामहोपाध्याय)

मानवजीवन की उदात्तता के लिए पवित्र चरित्र ही सर्वस्व है। यह ठीक ही है कि विद्या, वैभव तथा वश-गौरव के द्वारा मनुष्य महान् बनता है और जीवन मे सफलता प्राप्त करता है, परन्तु ये ही वस्तुएँ मनुष्य की उदात्तता की कसौटी नही है। केवल शुद्ध चरित्र के कारण ही मनुष्य मानव से परिपूजित और प्रशसित होता है। यदि अमल धवल चरित्र के साथ प्रशस्त विद्या और विमल वश का भी सयोग हो तो इसे मणि-कञ्चन-योग ही समझना चाहिए।

प्रयाग विश्वविद्यालय के अन्तर्गत म्योर सेन्ट्रल कालेज के सस्कृत के प्रोफेसर महामहोपाध्याय प० आदित्यराम भट्टाचार्य इसी कोटि के नरपुगव थे। ये अनेक वर्षों तक उत्तरप्रदेश के सबसे प्रसिद्ध अग्रेजी शिक्षा विद्यालय म्योर सेन्ट्रल कालेज, प्रयाग मे सस्कृत के प्राध्यापक रहे। इन्होने सस्कृतविद्या का स्वय अध्ययन तथा अध्यापन ही नही किया, बल्कि इसके प्रचार तथा प्रसार मे भी समधिक योगदान किया।

पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्यजी द्वारा प्रकाशित निज गुरु पण्डित शिवशर्मा की सस्कृत रचना **वासुदेव-रसानन्द** के आरम्भ मे महामना मालवीयजी ने अपने गुरु आदित्यरामजी की सक्षिप्त जीवनी निबद्ध की है। वही यहाँ उनके ही शब्दो मे दी जाती है। इसके द्वारा महामना की सरस-सुबोध शैली तथा अकृत्रिम गुरुभक्ति का स्पष्ट परिचय मिलता है।

गुरु-गौरव-गान : महामना की लेखनी से

"पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य के पूर्वज कलकत्ते के पास, जिला चौबीस परगना के अन्तर्गत, राजपुर नामक गॉव के निवासी थे। वगदेश के ब्राह्मणो मे कुछ लोग 'पाश्चात्त्य वैदिक' श्रेणी के ब्राह्मण कहलाते है। उसी श्रेणी के अन्तर्गत भट्टाचार्यजी का घराना है। इस श्रेणी के ब्राह्मण वगदेश मे सबसे अधिक मर्यादावान् माने जाते है। भट्टपल्ली तथा नवद्वीप आदि मे जो बडे बड़े नामी विद्वान् होते आये है, वे सब प्राय इसी श्रेणी के ब्राह्मण थे। राजा आदिशूर के द्वारा वैदिक धर्म के प्रचारार्थ बुलाये जाने वाले ये ब्राह्मण उत्तरप्रदेश के कान्यकुब्ज के निवासी थे और इसीलिए पश्चिम देश से आने के कारण ये **पाश्चात्त्य वैदिक** नाम से प्रख्यात है।

"पण्डित आदित्यरामजी का गोत्र घृतकौशिक है और इनकी शुक्लयजुर्वेद के अन्तर्गत काण्व शाखा है। स्मार्त रघुनन्दन के प्रसिद्ध टीकाकार पण्डित **काशीराम वाचस्पति** के पौत्र महाविद्वान् पण्डित **राजीवलोचन न्यायभूषण** इनके मातामह थे। प० राजीवलोचन वङ्ग देश के विष्णुपुर (बाँकुड़ा जिला) के निवासी थे। प्रतिभाशाली एकमात्र पुत्र की युवावस्था में मृत्यु के कारण विरक्त होकर काशी आये। काशी के पण्डित-समाज में अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त होने



पं० आदित्यराम भट्टाचार्य

के कारण राजकीय सस्कृतकालेज मे वेदान्त के अध्यापक पद पर नियुक्त हो गये थे। यह सन् १८२८ ईसवी की बात है।

पण्डित आदित्यरामजी के पिता का नाम रामकमल भट्टाचार्य था। बाल्यकाल मे माता पिता से हीन होकर ये नाना के यहाँ पले थे। बडा होने पर अपने मकान राजपुर चले गये थे। उस समय घर मे इनके एक पितृव्य थे जो विपत्नीक और सन्ततिहीन थे। उन्होने तीर्थ यात्रा के लिए काशी, प्रयाग तथा वृन्दावन जाने का निश्चय किया। युवक रामकमल ने भी उनके साथ चलने का विनयपूर्वक आग्रह किया। उस समय उन्हे रामकमल के उस विनयपूर्ण आग्रह को स्वीकार करना पडा और घूमते घामते वे दोनो प्रयाग आये तथा यहाँ अपने सजातीय प० राजीवलोचन से मिले। प० राजीवलोचनजी की एक कन्या थी जिसका नाम श्रीमती धन्यगोपी देवी था। 'कन्याप्येव पालनीया शिक्षणीया च यत्नत'— मनुजी के इस वचनानुसार पण्डितजी अपनी कन्या को सस्कृतादि की अच्छी शिक्षा दे रहे थे। परमसुन्दर युवक रामकमल को दूर देश मे अपने निकट पाकर उनको बडा हर्ष हुआ। उन्होने अपनी कन्या का विवाह रामकमल के साथ करने का प्रस्ताव किया और वृन्दावन से लौटकर रामकमल के पितृव्य ने इनका विवाह प० राजीवलोचन की सुन्दरी और सद्गुणसम्पन्ना कन्या के साथ काशीजी जाकर कर दिया। वङ्गदेश मे अपने घर मे किसी के न रहने के कारण और ससुराल का बधन अधिक होने से रामकमल वृद्ध सास ससुर को इस दूर देश मे छोडकर अपनी पत्नी को साथ लेकर स्वदेश न जा सके। उनको यही बस जाना पडा। उनकी जितनी सततियाँ हुई थी उनमे तीन पुत्र और तीन कन्याएँ जीवित रही। ज्येष्ठ पुत्र का नाम वेणीमाधव, मध्यम का घनश्याम और कनिष्ठ का आदित्यराम भट्टाचार्य था। इन लोगो का जन्म प्रयाग मे ही हुआ था। ज्येष्ठ और कनिष्ठ पुत्र प्रयाग मे ही घर बनाकर स्थायी हो गये और मध्यम पुत्र घनश्याम वङ्गदेश मे जाकर रहने लगे।

जन्म तथा अध्ययन

पण्डितजी की माता धन्यगोपी देवी, अपने पिता से पढकर, बडी विदुषी हो गयी थी। सूतिकागार मे ही उन्होने पण्डितजी की जन्मकुण्डली बना ली थी जो अभी तक सुरक्षित है। ये बडी धर्म परायणा थी। रसोई बनाते बनाते भी शास्त्रीय विषयो मे ही मग्न रहती थी। वे रात्रि को तीन बजे उठकर प्रतिदिन पडोस की दो चार स्त्रियो के साथ कीटगज से त्रिवेणी जाकर स्नान करती थी। वे बडी दानशीला थी। शरीर पर के सोने के गहने भी उतार कर दे देती थी। कहते है कि जब पण्डित आदित्यरामजी गर्भ मे थे तभी इनको स्वप्न हुआ था कि तुम्हारे गर्भ मे एक विशिष्ट पुरुष आया है। तभी से इन्होने निश्चय कर लिया था कि जन्म होने पर इस पुत्र का नाम आदित्यराम रखूँगी। इनका जन्म सवत् १९०४ की मार्गशीर्ष कृष्ण द्वितीया (तदनुसार २३ नवम्बर सन् १८४७ ई०) को हुआ। आदित्यराम ने अपनी बाल्यावस्था प्रयाग मे ही बितायी थी। दस वर्ष की अवस्था मे ये अपने कुटुम्बियो के साथ वङ्ग देश गये थे। वही भट्टपल्ली (भाटपाडा) मे गङ्गा-तट पर इनकी माता ने स्वर्ग-लाभ किया। इस दुर्घटना के बाद ये लोग प्रयाग लौट आये। यहाँ आदित्यराम की नानी जीवित थी। इस स्थान मे इनके विद्याभ्यास का प्रबन्ध ठीक ठीक नही हो रहा था। उन दिनो यहाँ कोई अग्रेजी विद्यालय न रहने के कारण कुछ बडे होते ही, तेरह वर्ष की अवस्था मे, इनके ज्येष्ठ भ्राता ने इनको काशी भेज दिया। वहाँ जाकर इनका पढ़ने मे बड़ा मन लगा।

काशी मे आदित्यरामजी सरकारी स्कूल मे अग्रेजी और घर पर सस्कृत पढ़ने लगे।

उनको इस बात की धुन थी कि इस समय काशी में जो बड़े-बड़े प्राचीन पण्डित हैं उन सबके पास जा-जाकर कुछ-न-कुछ पढ़ते रहें। लोग भी उनको स्नेहवश पढ़ाया करते थे। इस तरह से इन्होंने पण्डित कैलासचन्द्र शिरोमणि, पण्डित प्रेमचन्द्र तर्कवागीश, पण्डित बेचनराम त्रिपाठी और पण्डित जयनारायण तर्कालङ्कार के पास संस्कृत का अध्ययन किया। उधर अंग्रेजी पढ़ने में भी ध्यान रखते थे। सरकारी स्कूल में प्रवेशिका परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होकर कालेज में भरती हो गये। यह सन् १८६४ ई० की बात है।

कालेज में जाने के बाद कुछ ही दिनों में अपने प्रतिभा-बल से ये कालेज के अध्यक्ष स्वर्गवासी श्रीमान् ग्रिफिथ साहब की निगाह में पड़ गये। ग्रिफिथ साहब बड़े विद्वान् और संस्कृत के भी बड़े पण्डित थे। उन्होंने वेद, वाल्मीकीय रामायण तथा और भी अनेक संस्कृत काव्यों का अँग्रेजी के गद्य और पद्य में अनुवाद किया था। उस समय उनको दो छात्र बड़े प्रिय थे। एक तो थे पं० लक्ष्मीशङ्कर मिश्र और दूसरे पण्डित आदित्यरामजी। उनमें पण्डित लक्ष्मीशंकर आदित्यरामजी से उच्च कक्षा में पढ़ते थे। बी० ए० परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद जब सर्वोच्च कक्षा एम० ए० में पढ़ने का समय आया, तब आदित्यरामजी ने अंग्रेजी साहित्य में एम० ए० पास करने का निश्चय किया जिससे कि ग्रिफिथ साहब के अग्रेजी भाषा के पाण्डित्य से लाभ उठावे, परन्तु साहब ने कहा कि तुम पण्डित बनो। उनके आज्ञानुसार इन्होंने सस्कृत में ही एम० ए० पास करने का निश्चय किया।

उन दिनों इस प्रान्त में कोई विश्वविद्यालय नही था। आगरा तक के सब कालेज कलकत्ता-विश्वविद्यालय के अन्तर्गत थे। काशी के कालेज मे कुछ दिन एम० ए० में संस्कृत पढ़कर कलकत्ते के सरकारी संस्कृतकालेज में जाकर पढ़ने की आवश्यकता हुई। वहाँ स्वर्गवासी महामहोपाध्याय पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न की अधीनता में बहुत सी वृत्तियाँ, सुवर्णपदक और पारितोषिक प्राप्त किये थे। एक-एक साल में दो-तीन वृत्तियाँ तक पाते रहे। इस कारण इनको घर से खर्च लेने की आवश्यकता नही पड़ती थी। ये छात्रावस्था में प्रबन्ध आदि लिखकर पत्र-पत्रिकाओं में छपाया करते थे। अखबारों में प्रबन्ध आदि लिखने का शौक इनको उसी समय से हो गया था। इसी समय, बीस वर्ष की अवस्था मे इनका विवाह हुआ। कलकत्ता से कुछ दूर काँठालपाड़ा नामक एक प्रसिद्ध कसबा है। सुप्रसिद्ध औपन्यासिक बाबू बङ्किमचन्द्र का वहाँ मकान था। इसी स्थान के एक विद्वान्-कुल की कन्या श्रीमती श्यामाङ्गिनी देवी के साथ इनका विवाह हुआ।

अध्यापन

एम० ए० पास करने पर इन्हें बुलाकर ग्रिफिथ साहब ने शिक्षा-विभाग में एक सरकारी पद पर नियुक्त कर दिया। मध्यप्रदेश में सागर के विद्यालय में, सन् १८७२ ई० के प्रारम्भ में ये संस्कृताध्यापक के पद पर नियुक्त हुए। उसी समय ग्रिफिथ साहब भी इस प्रान्त के शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष पद पर नियुक्त होकर प्रयाग में आ गये। सागर में पण्डितजी का बहुत दिन तक रहना नहीं हुआ। उसी समय प्रयाग में म्योर सेन्ट्रल कालेज के नाम से सरकारी कालेज स्थापित किया गया। आजकल जिस कोठी का नाम 'दरभङ्गा कैसल' है उन दिनों उसका नाम 'लौदर कैसल' (लौदर साहब की कोठी) था। उसी कोठी में यह कालेज खोला गया। पण्डितजी सागर में तीन-चार महीने भी न रह पाये थे कि ग्रिफिथ साहब ने इनको प्रयाग बुला लिया और नये कालेज में इन्हें संस्कृताध्यापक के पद पर नियुक्त कर दिया। इस पद से ५५ वर्ष की अवस्था में पण्डितजी ने अवकाश ग्रहण किया। बीच-बीच में कई बार

आपको सस्कृत का पढ़ाना छोड़कर अग्रेजी साहित्य भी, थोडे-थोड़े दिनो के लिए, पढ़ाना पड़ा था। काशीस्थ सरकारी सस्कृतकालेज मे आप अग्रेजी भाषा के अध्यापक होकर करीब ढाई वर्ष तक रहे। यह पद उन दिनो अग्रेजो के लिए सुरक्षित था, परन्तु पण्डितजी ने कुछ दिनो के लिए इसको सुशोभित किया था। आप ही ऐसे भारतीय विद्वान् थे जो इस पद पर पहले पहल नियुक्त किये गये थे। पीछे जब टीबो साहब, जो जर्मन थे, उस पद के लिए स्थायी रूप से नियुक्त होकर आये तब ये प्रयाग कालेज के अपने पुराने पद पर फिर लौट आये।

पण्डितजी ने इलाहाबाद युनिवर्सिटी के शिक्षा-विभाग के कार्यो मे भी भाग लेकर अच्छी कीर्ति पायी थी। क्या देशी क्या अग्रेज, सभी इनको मानते थे। अवकाश ग्रहण करते समय सयुक्त प्रान्त के तत्कालीन गवर्नर साहब, शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर साहब और म्योर कालेज के प्रिंसिपल साहब तथा विश्वविद्यालय की अन्यान्य शिक्षा-समितियो ने इनको बहुत प्रशसा करके विदा किया था। विश्वविद्यालय के प्रबन्ध विषयो मे पण्डितजी ने बहुत स्वतन्त्रता और निर्भीकता से काम किया था, जिसके लिए इन्हे यश भी बहुत मिला था। ये प्रवेशिका से लेकर एम० ए० की परीक्षा तक के सस्कृत के परीक्षक होते थे। ये बड़े ही न्यायनिष्ठ थे और किसी के साथ तनिक भी पक्षपात नही करते थे। प्रयोजन पडने पर बड़े स्पष्टवक्ता थे। इस कारण कभी-कभी अफसर लोग उनसे चिढ जाते थे, तो भी इनकी न्याय-परायणता के कारण इनका सदा सम्मान करते थे।

हिन्दी के भी ये बडे ही प्रेमी थे और हिन्दी साहित्य की उन्नति के लिए सदा उत्साह दिखाते थे। उस समय हिन्दी भाषा मे कोई अच्छी मासिक पत्रिका नही थी। इस अभाव को दूर करने के लिए इन्होने बहुत चेष्टा की थी और जब प्रयाग के इण्डियन प्रेस ने सरस्वती नाम की पत्रिका निकाली तब इनको बडा सन्तोष हुआ। ये काशी नागरी प्रचारिणी सभा के सदस्य और शुभेच्छु थे।

छात्र-प्रेम

हिन्दू-छात्र मण्डली मे इनकी बडी प्रतिष्ठा थी। छात्रो का पक्ष लेकर समय-समय पर ये अधिकारियो से लड तक बैठते थे और इसका सदा ध्यान रखते थे कि कोई अन्याय न हो। ये सब बाते अब पुरानी और विस्तृत कहानी- भी इनको देवता और गुरु के समान मानते थे। ये सब प्रान्तो के आदर करते थे और जो छात्र अन्य प्रान्तो से पढ़ने के लिए आते अधिक कृपा करते थे। उनके कितने ही छात्र दूर-दूर स्थानो मे उच्च पदो पर पहुँचे है और आज भी उनकी प्रीति और उनके उच्च चरित्र की वार्ता प्राय करते रहते है। सरकारी नौकर होने के कारण ये सार्वजनिक कामो मे योगदान नही कर सकते थे, तथापि लोगों को यथोचित उत्साह बराबर देते रहते थे और देश के कामो मे सहानुभूति भी रखते थे। बीच-बीच मे अग्रेजी समाचार-पत्रो मे सामयिक विषयो पर अपने गम्भीर विचार के प्रबन्ध आदि भी छपवा दिया करते थे। वह समय आजकल के समान नही था, देश-हित की बाते कम लोग समझते थे और खड़े होकर बोलने-लिखने वाले तो इस प्रान्त मे बहुत ही कम थे। कुछ दिनो तक इन्होने 'इडियन यूनियन' नामक एक स्थानीय अग्रेजी समाचार-पत्र का अस्थायी रूप से और परोक्ष भाव से, प्रयोजनवश, सम्पादन भी किया था। ये देश की बनी हुई वस्तुओं के व्यवहार के विषय मे बड़े कट्टर थे। वङ्ग देश मे इस विषय का पहले पहल आन्दोलन होने के बहुत पहले से ही वे इस विषय पर ध्यान देकर इसके अनुरागी हो गये थे। प्रयाग में 'हिन्दू समाज'

इन्ही के उपदेश और प्रोत्साहन से स्थापित हुआ था। पण्डितजी की लिखी हुई अपील आज भी पढ़ने योग्य है। अग्रेजी राज्य के समय में हिन्दू-समाज के सङ्गठन का यह पहला प्रयत्न था। इससे हिन्दू सज्जनो का उत्साह बहुत बढ़ा था। हिन्दू समाज कई वर्ष तक हिन्दुओं के सगठन का कार्य करता रहा। पण्डितजी के उपदेश और प्रोत्साहन से मै भी उसका सदस्य हो गया था। मै उस समय म्योर सेट्रल कालेज का छात्र था। पण्डितजी मुझपर बहुत स्नेह रखते थे। उनके सम्पर्क से मुझमे देश भक्ति का भाव दृढ़ होता गया।

पण्डितजी 'थियोसोफिकल सोसायटी' मे शामिल हो गये थे, क्योकि उससे प्रारम्भ मे हिन्दू-धर्म को बहुत सहायता मिली थी। अच्छे अच्छे प्रतिभाशाली अग्रेज, ईसाई पादरियो का प्रतिवाद करके जब हिन्दू धर्म का समर्थन करने लगे तब हिन्दू धर्म को बहुत बल मिला और जिन अग्रेजी पढ़े देशी लोगो की श्रद्धा अपने धर्म पर शिथिल हो रही थी, उनकी बुद्धि लौटी और वे स्वधर्म के प्रेमी होने लगे। परन्तु पीछे जब थियोसोफिकल समाज मे अवान्तर की बहुतेरी बाते ग्रहण की जाने लगी, तब उससे पण्डितजी की श्रद्धा घट गयी, यहाँ तक कि उससे उनका सम्बन्ध भी शिथिल हो गया।

हिन्दू-विश्वविद्यालय की सेवा

हिन्दू लडको का स्वधर्म मे छात्रावस्था से ही प्रेम बना रहे और वे दूसरे के बहकाने से न बहके, इस अभिप्राय से जब १८९८ ई० मे काशी मे श्रीमती एनी बेसेट, बाबू गोविन्ददास, डाक्टर भगवानदास, बाबू उपेन्द्रनाथ वसु तथा अन्य सज्जनो ने 'सेन्ट्रल हिन्दू कालेज' खोला तब पण्डितजी ने उसके एक बडे समर्थक के रूप मे उत्साहपूर्वक उसमे सहयोग किया था और जब उसके सचालको की यह राय हुई कि कोई प्रतिष्ठित हिन्दू विद्वान् उस कालेज का प्रिंसिपल बनाया जाय तब उन्होने पण्डितजी को निमन्त्रित किया। उसकी अध्यक्षता ग्रहण कर उन्होने उन हिन्दू सज्जनो का, जो उसको सन्देह की दृष्टि से देखते थे, सन्देह दूर कर दिया। यह कार्य उन्होने सरकारी नौकरी से अलग होने के पीछे सन् १९०४ से १९०६ ई० तक किया था। फिर जब काशी-हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित करने की चर्चा उठी तब फिर पण्डितजी का उत्साह दूना हो गया। यद्यपि इस समय इनकी अवस्था अधिक हो गई थी तथापि उस कार्य मे इन्होने बहुत प्रोत्साहन दिया। विश्वविद्यालय के स्थापित हो जाने पर उसमे प्रो-वाइस चासलर का उच्च पद ग्रहण कर वे फिर काशी गये और सन् १९१६ से १९१९ ई० तक बडे परिश्रम और उत्साह से उस पद का काम करते रहे। एक नवीन आदर्श विश्वविद्यालय की सस्थापना और उसका सगठन करने के लिए वृद्धावस्था मे पण्डितजी को बहुत परिश्रम करना पडा। इसका यह परिणाम हुआ कि उनके नेत्रो की ज्योति जाती रही और शरीर भी टूट गया, अतएव ७१ वर्ष की अवस्था मे वे अपने प्रयाग के मकान मे लौट आये। फिर उनका स्वास्थ्य और दृष्टि-शक्ति नही सुधरी और तीन वर्ष बाद उनका शरीर भी छूट गया।

पारिवारिक शोक

पण्डितजी ने अपनी सस्कृत-पाठशाला के लिए अपने घर से लगा हुआ भवन बनवाया था, उसी मे आकर वे उन दिनो रहने लगे थे। गृहस्थाश्रम का मकान छोड़ दिया था। १८ अक्टूबर सन् १९२१ में (कार्तिक कृष्ण द्वितीया सवत् १९७८) को अरुणोदय के समय वे उसी भवन मे पर-ब्रह्म में लीन हुए। पण्डितजी को गवर्नमेण्ट ने सन् १८९७ ई० मे महामहोपाध्याय की पदवी देकर सम्मानित किया था। इस समय इनकी अवस्था ५० वर्ष की

थी। इसी समय इनको गार्हस्थ्य शोक भी पड़ा। इसके पूर्व वर्ष में उनके मध्यम भ्राता श्री घनश्याम भट्टाचार्यजी का देहान्त हो गया। पण्डितजी को भ्रातृ-वियोग का शोक अभी ताजा ही था कि इसी समय उन पर दूसरा वज्रपात हुआ। उनका सुयोग्य और अत्यन्त स्नेहभाजन ज्येष्ठ पुत्र सत्यवान भट्टाचार्य चौबीस वर्ष की अवस्था में माता-पिता तथा सब कुटुम्ब को गम्भीर शोक में डालकर परलोक को चला गया। इस दुर्घटना से पण्डितजी को प्राणान्तक पीड़ा पहुँची। उनका हृदय इस परम शोक से बहुत व्यथित हुआ, परन्तु उनके चरित्र की गम्भीरता का अद्भुत परिचय इसी समय मिला। इनको इस भारी शोक में भी अश्रुपात करते कभी किसी ने नही देखा। केवल निद्रा की अचेतनावस्था में शोक का गम्भीर उच्छ्वास सुनने में आता था। इस दुर्घटना के पूर्व तक इनके केश बिलकुल काले थे, किन्तु अब छः महीने के अन्दर आधे श्वेत हो गये। बाहर से ये पहले के समान ही अपनी दिनचर्या में लगे रहते थे, उसमें कोई त्रुटि नहीं होने पाती थी। इनकी पूजनीया पत्नी भी शोक से अभिभूत रहती थीं।

इस दुर्घटना के बाद पण्डितजी ने और पाँच वर्ष तक नौकरी की। ३० वर्ष की नौकरी पूरी करके, ५५ वर्ष की अवस्था में सन् १६०१ ई० में उन्होंने अपने काम से अवकाश ग्रहण किया। अधिकारी चाहते थे कि ये अभी और कुछ दिनों तक काम करें परन्तु इस बात को इन्होंने नहीं स्वीकार किया। कालेज के अध्यक्ष टीबो साहब और अन्य सब अध्यापकों तथा छात्र-मण्डली ने मिलकर सभा की और पण्डितजी की प्रशंसा करके, खेद के साथ इन्हें बिदा किया। इस अवसर पर, आपस में चन्दा करके, पण्डितजी का एक बड़ा चित्र कालेज के पुस्तकालय में लगा दिया गया। कदाचित् ही कभी किसी अध्यापक की इतने सम्मानपूर्वक समारोह से बिदाई हुई हो।

नौकरी से अवकाश ले लेने पर भी प्रयाग की युनिवर्सिटी के साथ पण्डितजी का सम्बन्ध बना रहा। अधिकारियों के आग्रह से उसकी समितियों में इनको और भी कुछ वर्षों तक काम करना पड़ा, पर जब उस युनिवर्सिटी का नवीन सङ्गठन होने लगा तब पण्डितजी अवसर पाकर हट आये, परन्तु हिन्दू विश्वविद्यालय के कार्य के लिये उन्हें कई बार काशी जाना पड़ा था। इस तरह शरीर के अस्वस्थ हो जाने पर जीवन के अन्तिम तीन वर्षों को छोड़कर वे अपनी आयु भर बराबर विद्यादान के पवित्र कार्य में ही लगे रहे।

पण्डितजी की आत्मानुभव-सम्बन्धी बातें

पण्डितजी बाल्यावस्था से ही बलिष्ठ, तेजस्वी और उद्यमशील थे। छात्रावस्था से प्रौढ़ावस्था तक बराबर व्यायाम करते रहे। बादाम का सेवन उन्होंने नियमपूर्वक आजन्म किया। गृहस्थी में रहकर भी वे ब्रह्मचर्य का पालन करते थे। उनके ओजपूर्ण नेत्र उनके नाम को सार्थक करते थे। वे सत्यभाषी और स्पष्टवक्ता थे। घुमा-फिराकर बातें करना नहीं जानते थे। परन्तु व्यक्तिगत भाव से न तो किसी का प्रतिवाद करते थे और न कटुवचन कहकर किसी को दुखी करते थे। वे परमार्थ-साधन में नियमपूर्वक लगे रहते थे। अपने जीवन की नित्यचर्या में वे यह बात दिखला गये हैं कि अपनी गृहस्थी का काम, जनता का काम और पारमार्थिक काम, इन सभी की तरफ ध्यान रखकर और इनका सामंजस्य कर मनुष्य को किस तरह कर्मशील होना चाहिये। वस्तुतः वे एक गृहस्थ योगी थे।

उनके धार्मिक जीवन पर सर्वप्रथम एक योगाभ्यासी साधु बाबा सुदर्शनदास का प्रभाव पड़ा। ये श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय के वैरागी साधु थे और प्रयाग के गङ्गापार पुरानी झूँसी के समुद्रकूप

नाम के प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान मे रहते थे। इनके सिवा एक और महात्मा थे जो प्रयाग के दारागज मुहल्ले में, उनके मकान के पास ही रहते थे। इनका नाम प० अम्बिकादत्तजी शास्त्री था। विशेष पढ़े-लिखे तो नही थे परन्तु दैवी विभूति के बल से बहुश्रुत एव सर्वशास्त्रो के पण्डित हो गये थे। बडे-बडे विद्वान् उनके पास जाकर उनसे भिन्न भिन्न शास्त्रो की कठिन कठिन समस्याओं का सामजस्य करवाते थे। इनकी और भी बहुत-सी अलौकिक बाते थी। ये शक्ति के सुसिद्ध उपासक थे। इन्होने ज्वालामुखी पर्वत पर बहुत दिनो तक कठोर तप किया था। पण्डितजी इनके भी बडे भक्त थे और इन्होने नौकरी करते समय इनसे भी कुछ विद्याभ्यास किया था। इनके सत्सङ्ग के कारण वे आजन्म साधु-सन्तो के प्रेमी हो गये थे। वे अच्छे महात्माओं की खोज मे सदा रहते थे और परिश्रम कर दौड दौडकर जङ्गलो पहाडो मे भी उनके पास जा जाकर उनका सत्सङ्ग किया करते थे। ऐसा करते करते उन्हे एक विलक्षण महापुरुष की कृपा प्राप्त हुई। सपत्नीक पण्डितजी उनके शिष्य हो गये।

पण्डितजी के शरीर मे जब तक बल रहा तब तक वे नित्य सायकाल त्रिवेणीघाट को जाते थे। सूर्य की उपासना भी विशेष रूप से करते थे। रात्रि मे तीन बजे उठकर, पूजन आदि करके, सूर्योदय के समय सूर्य के अष्टोत्तर शतनाम का पाठ कर उनको साष्टाग प्रणाम करते थे। जब तक शरीर मे बल बना रहा तब तक पण्डितजी बराबर ऐसा ही करते रहे। पीछे घटाते-घटाते बैठे ही बैठे अपनी साधना करने लगे और सायकाल को त्रिवेणीजी के भ्रमण समय मे गङ्गाजल घण्टी मे ले जाते थे। जहाँ सूर्यास्त होने लगता था वहाँ जूता उतार खडे होकर सूर्य को अर्घ्य देते थे। जब यूनिवर्सिटी की कमेटियो मे या और कही सायकाल आ जाता था तब भी पण्डितजी काम छोडकर उसी घण्टी मे रखे गङ्गाजल से अर्घ्य देते थे। वे दोनो समय अग्नि मे आहुति भी देते थे। जीवन के अन्तिम दिवस तक इन सब नियमो का कभी उल्लघन नही हुआ। उपासना के समय वे अपने पास एक इकतारा भी रखते थे। उसको लेकर नित्य दोनो वक्त पूजा के अन्त मे भजन गाया करते थे। वे बँगला, हिन्दी, पजाबी आदि सब तरह के भजन गाते थे। उनका क्या इष्ट था, कौन सम्प्रदाय था, यह उनके आचरण से कोई नही जान सकता था। सबके समान प्रेमी थे। साकार निराकार, वैष्णव शैव, आचारी-औघड और भिन्न भिन्न दूसरे धर्मो के अनुयायी सब उनसे समान आदर पाते थे। क्रिस्तान, सूफी, मुसलमान, पारमी, सिक्ख—वे सभी का सम्मान करते और सबसे आदरपूर्वक मिलते थे। सबकी खातिर करते हुए भी वे अपने सनातन हिन्दू धर्म मे पूर्ण श्रद्धा और अनुराग से लगे रहे।

पण्डितजी का वासस्थान भी बडा उत्तम था। इनका मकान प्रयाग के दारागज मुहल्ले मे, गगा-तट पर, प्राचीन दशाश्वमेधजी से लगा हुआ है। इसे इन्होने १८७९ ई० मे खरीदा था। जिस समय यहाँ पहले कोई मकान नही था उस समय वहाँ झोपड़ी बनाकर एक बडे विद्वान् महापुरुष रहते थे। उनका नाम शिवशर्मा था। वे बालब्रह्मचारी विरक्त महात्मा नेपाल देश के थे। उन्ही के नाम पर पण्डितजी ने अपने व्यय से एक सस्कृतपाठशाला स्थापित करायी है, जिसका प्रबन्ध काशी हिन्दू विश्वविद्यालय करता है। ये हिन्दुओं की प्राचीन सपत्ति और धर्म के प्राण स्वरूप शास्त्रो का सुरक्षण अत्यावश्यक समझते थे। इस काल मे इसका अनादर होने से इसके गलित हो जाने की भी बडी आशङ्का थी। अतएव ये सस्कृतविद्या द्वारा उपार्जित अपनी स्थावर जगम सब सम्पत्ति इसी के पोषण के लिए अर्पित कर गये है। वह काशी-हिन्दू विश्वविद्यालय के हाथ मे सुरक्षित है और वहाँ के प्रबन्ध से, उस धन के अधिकाश

द्वारा अपने गगातट के मकान मे पाठशाला के चलाने की व्यवस्था ये अपनी मृत्यु के पूर्व ही कर गये है।"[1]

संस्कृत का प्रचार-कार्य

प० आदित्यराम भट्टाचार्य ने सस्कृतविद्या के प्रसार तथा प्रचार मे प्रचुर परिमाण में योगदान दिया है। प्रयाग का म्योर सेन्ट्रल कालेज उस समय उत्तरप्रदेश मे प्रथम श्रेणी का गवर्नमेण्ट कालेज माना जाता था। सच तो यह है कि इतना बडा तथा प्रसिद्ध कालेज—क्वीन्स कालेज, काशी को छोडकर—उत्तरप्रदेश मे कोई दूसरा नही था। इस महान् कालेज मे सस्कृत-साहित्य का प्रधानाध्यापक होना कोई साधारण बात नही थी। सच तो यह है इस कालेज का सस्कृताध्यापक ही उत्तरप्रदेश मे सस्कृतशिक्षा के अध्ययन का नियमन करता था। म० म० आदित्यराम भट्टाचार्य इस महनीय पद को लगभग ३० वर्षो तक सुशोभित करते रहे। इस सुदीर्घकाल मे सस्कृतशिक्षण की व्यवस्था का पूर्ण अधिकार इनके हाथो मे था। सन् १८७५ ई० से लेकर १६२० ई० तक इस प्रान्त मे सस्कृतशिक्षा के प्रबन्ध का सारा भार आदित्यरामजी के ऊपर था। अपने अध्यापनकाल मे आपने सस्कृतशिक्षा का जो पाठ्य क्रम बनाया, वह लगभग चालीस वर्षो तक चलता रहा।

आपने सस्कृत सीखने वाले छात्रो की सुविधा के लिए **ऋजु व्याकरण** की रचना की थी। इस पुस्तक मे सस्कृत जैसी कठिन भाषा को सीखने वाले व्यक्तियो के लिए सस्कृत-व्याकरण के नियमो को बडी ही सरल तथा सुबोध भाषा मे लिखा गया था। सहस्रो छात्रो ने इस पुस्तक से लाभ उठाया। इस पुस्तक का प्रचार सन् १६२० ई० तक था। यह पुस्तक पॉच भागो मे लिखी गई थी जिसमे सस्कृतव्याकरण तथा सस्कृतरचना का विशद विवेचन किया गया था। लगभग ४० ४५ वर्षो तक यह पुस्तक सस्कृत के अध्ययन-कर्ताओं के लिए अत्यन्त आवश्यक साधन थी। सस्कृतविद्या के प्रचार मे इस ग्रन्थ का महत्त्व कदापि अस्वीकार नही किया जा सकता।

इतना ही नही, सस्कृत के सम्यक् प्रचार तथा पठन पाठन के लिए इन्होने अपने गुरु के नाम पर शिवशर्मा सस्कृत पाठशाला की स्थापना भी की थी। इस पाठशाला की स्थापना इन्होने अपने घर के पास ही प्रयाग के दारागज मुहल्ले मे की थी। इस विद्यालय का सारा खर्च ये अपने पाकेट से दिया करते थे। यहाँ सहस्रो छात्रा ने अध्ययन करके सस्कृत भाषा का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया था। यह पाठशाला आदित्यरामजी के लिए प्राणो से भी प्रिय थी। अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे ये अपने घर से विरक्त होकर इसी पाठशाला मे स्थायी रूप से निवास करते थे। इस प्रकार आदित्यरामजी ने आजीवन केवल अध्यापन कार्य से ही सस्कृतविद्या की सेवा नही की, बल्कि अपने द्रव्य से सस्कृतपाठशाला की स्थापना कर इसके प्रचार तथा प्रसार मे भी अपना अलौकिक योगदान दिया। ये दिनरात सस्कृत के प्रचार मे लगे रहते थे और इसी विद्यालय के प्रागण मे इन्होने अपनी ऐहिक लीला सन् १६२१ ई० मे समाप्त की।

धार्मिकता

प० आदित्यराम भट्टाचार्य अत्यन्त धार्मिक व्यक्ति थे। इनको धर्मप्राण विद्वान् कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति न होगी। ये रात्रि मे तीन बजे उठते थे। नित्यकर्म से निवृत्त होकर

१ यहीं महामना द्वारा लिखित जीवनी समाप्त होती है।

ये पूजा पाठ करने लगते थे। जब पूजा करते हुए सूर्योदय हो जाता था तब भगवान् भास्कर के अष्टोत्तरशत नाम का पाठ कर उनको साष्टाग प्रणाम करते थे। जब तक शरीर मे बल रहा पण्डितजी बराबर इस नियम का पालन करते रहे। कुछ दिनो के पश्चात्, शारीरिक बल के अभाव मे ये अपने आसन पर बैठे ही पूजा पाठ करते रहे। ये प्रतिदिन सायकाल त्रिवेणी के तट पर भ्रमण करने के लिए जाया करते थे। सदा गगाजल एक छोटी सी लुटिया मे अपने पास रखते थे। जहाँ सूर्यास्त होने लगता था वही पर जूता उतार कर, ध्यानस्थ हो भगवान् सूर्य को अर्घ देने लगते थे। यदि कभी कदाचित् इस कार्य के लिए जल उपलब्ध नही हुआ, तब गगा की स्वच्छ बालू से ही भगवान् भास्कर को अर्घ प्रदान करते थे। जब कभी ये यूनिवर्सिटी की किसी कमेटी की मीटिग मे बैठे रहते थे और कदाचित् सन्ध्या होने लगती, तब ये कार्यो को छोड उसी सतत साथ रहने वाली लुटिया मे रखे गगाजल से सविता को अर्घ प्रदान कर उनकी उपासना करने लगते थे। इनका यह नियम इतना पक्का था कि इसमे किसी भी प्रकार व्यवधान नही पड सकता था। ये ऐसी किसी भी बाधा को सहन नही कर सकते थे।

जीवन के अन्तिम दिनो तक इस नियम का कभी उल्लघन नही हुआ।

प० आदित्यरामजी को सगीत से भी प्रेम था। उपासना के समय ये अपने पास एकतारा नामक वाद्ययन्त्र रखते थे। पूजा के अन्त मे ये इस एकतारा को बजाते हुए भजन गाया करते थे। ये बॅगला, हिन्दी तथा पजाबी आदि अनेक भाषाओं मे भजन गाने मे प्रवीण थे। इनका इष्ट कौन-सा देवता था, इनका सम्प्रदाय क्या था, इसका पता इनके आचरण से कदापि नही लग सकता था। ये सभी सम्प्रदायो के लोगो का चाहे वह वैष्णव हो, शैव हो या शाक्त, सभी का समान रूप से आदर करते थे। ये सनातन वैदिक धर्म के पूर्ण अनुयायी थे परन्तु धार्मिक कट्टरता तथा अनुदारता इन्हे छू तक नही गई थी। ये हिन्दुओं की प्राचीन परम्परा, सस्कृति तथा शास्त्रो का सरक्षण अत्यन्त आवश्यक मानते थे।

भट्टाचार्यजी बडे ही उदार तथा नि स्पृह व्यक्ति थे। इन्होने जिस सस्कृतपाठशाला की स्थापना की थी उसका सचालन भविष्य मे भी सुचारु रूप से होता रहे इसके लिए इन्होने अपनी समस्त चल और अचल सम्पत्ति इसी पाठशाला को अर्पित कर दी। यह पाठशाला आज भी सुचारु रूप से काशी-हिन्दू विश्वविद्यालय के सरक्षण मे चल रही है। इस प्रकार आदित्यरामजी का समस्त जीवन सस्कृत विद्या के प्रचार तथा सनातनधर्म की सुरक्षा मे व्यतीत हुआ।

साधुओं का जीवन पर प्रभाव

पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य के जीवन पर एक योगाभ्यासी साधु का बडा ही प्रभाव था जिनका नाम सुदर्शनदास था। ये श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के वैरागी साधु थे। ये महात्मा गगा के उस पार झूसी मे समुद्रकूप के पास रहा करते थे। इनके अतिरिक्त एक दूसरे योगी ने भी इनके जीवन को बड़ा प्रभावित किया था। इनका नाम अम्बिकादत्त शास्त्री था। ये विशेष पढ़े-लिखे तो नही थे परन्तु दैवी विभूति के बल से अखिल शास्त्रो मे विद्वत्ता प्राप्त कर ली थी। बड़े-बड़े विद्वान् इनके पास आकर अपनी शास्त्रीय समस्याओं का इनसे समाधान पूछा करते थे। ये शक्ति के उपासक और बड़े भक्त थे। इन्होने ज्वालामुखी पर्वत पर अनेक वर्षों तक कठिन तपस्या की थी। प० आदित्यरामजी ने अपनी नौकरी के समय मे इनसे अनेक शास्त्रो का अध्ययन किया था। इन महात्मा के सत्सग का प्रभाव इन पर इतना अधिक पड़ा

कि ये साधु-सन्तों के श्रद्धालु बन गये। ये सच्चे साधुओं तथा महात्माओं की खोज में सदा रहते थे और अत्यन्त कष्ट उठाकर भी उनसे सत्सगलाभ के लिए दूर-दूर के स्थानों में भी जाया करते थे। ऐसे ही विलक्षण गुणो से सम्पन्न एक महात्मा को पाकर इन्होंने सपत्नीक उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया था।

राष्ट्रीयता तथा सुधारप्रियता

प्राचीन परम्परा के परम तथा कट्टर उपासक होते हुए भी प० आदित्यराम भट्टाचार्य दकियानूसी विचार वाले कूपमडूक सस्कृत के पण्डित नही थे। इनमे देश के प्रति प्रेम कूट-कूट कर भरा हुआ था। ब्रिटिश साम्राज्य के उस गौरवशाली युग मे जब भारत मे राष्ट्रीयता का नाम लेना भी दण्डनीय अपराध समझा जाता था, पण्डित आदित्यरामजी ने अपने प्रिय शिष्य मदनमोहन मालवीय के साथ सन् १८८६ मे कलकत्ता के काग्रेस के द्वितीय अधिवेशन मे प्रतिनिधि के रूप मे भाग लिया था। ये देशोन्नति की कामना करने वाले महापुरुष थे। अत इस देश को पराधीनता की बेडी से मुक्त करने के लिए ये चाहते थे कि हमारे देश के नवयुवक राष्ट्रीय आन्दोलन मे अधिक से अधिक सख्या मे भाग ले। काग्रेस के कलकत्ता के अधिवेशन में इनका स्वय सम्मिलित होना इसी बात का सूचक था।

ये सामाजिक सुधार के भी पक्षपाती थे। हिन्दू समाज मे जिन अनेक कुप्रथाओं का आगमन हो गया है उनके सुधार के अनन्य पक्षपाती थे। सन् १९२८-२९ ई० में मालवीयजी महाराज ने अछूतो को मन्त्रदीक्षा देने का जो आन्दोलन चलाया था उसका पूर्ण समर्थन प० भट्टाचार्यजी यदि जीवित रहते तो अवश्य ही करते। ये अन्य सस्कृत के पण्डितो की तरह सकीर्ण विचार धारा के व्यक्ति नही थे, प्रत्युत इनके ठीक विपरीत अत्यन्त उदारमना, त्यागी, तपस्वी और सदाचारी सत्पुरुष थे।

परिवार

पण्डितजी के अग्रज पण्डित वेणीमाधवजी बडे चरित्रवान् व्यक्ति थे। बाल्यकाल से ही ये सदाचारी एव नैष्ठिक हिन्दू थे। ये अपने मातामह कुल के शालग्राम नारायण को बगदेश मे प्रयाग लाकर उनकी विधिवत् अर्चना करते थे। अपने बाद भी सेवा-पूजा ठीक ढग से होती रहे, इसके लिए ये एक बाग और नगद रुपया रजिस्टरी करके देवसम्पत्ति बनाकर छोड़ गये। प्रयाग मे लाट साहब के दफ्तर मे नौकर थे। ५० वर्ष की अवस्था मे विपत्नीक हो गये, नौकरी से अवकाश ले लिया। ये बडे ही सात्त्विक स्वभाव के ईमानदार व्यक्ति थे। अवकाश लेने के बाद सामाजिक सेवा मे दत्तचित्त रहे और माघमेला मे साधुसन्तो की मुस्लिम पुलिस अफसरो से रक्षा के लिए बडा काम किया। हिन्दू जाति तथा हिन्दूधर्म के लिए सदैव कटिबद्ध रहे। ८० साल की आयु मे प्रयाग मे ही इनका देहावसान हुआ।

आदित्यरामजी को पारिवारिक विपदा तथा सकटो से भी सघर्ष करना पड़ा था। १८९६ ई० में इनके मध्यम भ्राता घनश्याम भट्टाचार्य का आकस्मिक निधन हो गया। इससे भी अधिक धक्का इन्हे लगा अपने सुयोग्य ज्येष्ठ पुत्र श्री सत्यवान् भट्टाचार्य की २४ साल की अल्पायु मे मृत्यु हो जाने से। इस भीषण शोक-घटना से इनका हृदय विदीर्ण हो जाना स्वाभाविक था, परन्तु आदित्यरामजी इतने दृढ़ तथा धैर्यवान् थे कि उनकी आँखो में आँसू भी नहीं आये। इनके कनिष्ठ पुत्र सत्यव्रत भट्टाचार्य एम० ए० अनेक वर्षो तक हिन्दू-विश्वविद्यालय मे अर्थशास्त्र के प्राध्यापक थे। ये अपने आदरणीय पिताजी के द्वारा आरम्भ

किये गये धार्मिक कृत्यों का तथा पाठशाला आदि का व्यवस्थापन यथावत् अपनी वृद्धावस्था में भी करते रहे। आदित्यरामजी ने अपने गुरुवर्य पण्डित शिवशर्मा के द्वारा प्रणीत **वासुदेवरसानन्द** नामक ग्रन्थ का प्रकाशन कर जिज्ञासु जनों में अमूल्य वितरित किया था। ग्रन्थ भक्तिरस से आप्लुत आध्यात्मिक रहस्यो का उद्घाटन करता है। प्रौढ़ संस्कृत में रचित होने के कारण सामान्य जनों के लिए यह कठिन तथा दुरूह था। इस त्रुटि को दूर करने के लिए इसके हिन्दी अनुवाद के साथ द्वितीय परिवर्धित सस्करण भी सत्यव्रत भट्टाचार्य ने १९३५ ई० में प्रकाशित किया और विद्वज्जनो मे इसका वितरण कर अपने आदरणीय पिता के आदर्श चरित्र का निष्ठापूर्वक पालन किया। इस ग्रन्थ के आरम्भ मे महामनाजी ने पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य की सक्षिप्त जीवनी स्वय लिखकर ग्रन्थ के महत्त्व को बढ़ाया। यही जीवनी ऊपर अक्षरश: उद्धृत की गयी है।

प० आदित्यरामजी स्वभाव से बडे ही कोमल तथा सज्जन व्यक्ति थे। परन्तु अपने सिद्धान्त की रक्षा तथा नियमो के पालन मे बड़े ही कठोर थे। ये नारिकेल के फल के समान ऊपर से कर्कश और कठोर होते हुए भी भीतर से—हृदय से—अत्यन्त सुकोमल तथा सहृदय थे। सहस्रों छात्रों को इन्होंने विद्या का दान मुक्तहस्त से दिया और अपनी अर्जित विद्या के वितरण में इन्होने किसी प्रकार का कार्पण्य नही दिखाया।

महामहोपाध्याय प० आदित्यराम भट्टाचार्य के जीवन मे अनेक विशेषताएँ थी। इनका सबसे बडा गुण निष्ठापूर्वक सस्कृत भाषा का प्रचार तथा प्रसार था। सस्कृतपाठशाला की स्थापना कर इन्होंने अपनी इस रुचि का प्रत्यक्ष प्रमाण दिया था। दूसरा गुण प्राचीन भारतीय धर्म, दर्शन तथा सस्कृति मे अटूट निष्ठा थी। इनका तीसरा गुण स्फटिक के समान उज्ज्वल चरित्र और गगा के समान पवित्र हृदय था। सस्कृत के ऐसे विद्वान् की कीर्ति अजर, अमर हो।

आदित्यरामजी के ज्येष्ठ सतीर्थ्य

बाबू प्रमदादास मित्र

गत शताब्दी के उत्तरार्ध मे बाबू प्रमदादास मित्र काशी की सस्कृतज्ञ-मण्डली में अपनी विद्यावैदुषी के कारण अग्रगण्य व्यक्तियो मे स्थान रखते थे। ये जात्या बगाली कायस्थ थे, परन्तु आचार की सात्त्विकता मे, विचार की उदात्तता मे एव भूतभावन बाबा विश्वनाथ की नैष्ठिकी उपासना मे किसी भी महनीय भूदेव से न्यून नही थे। ऊपर इस तथ्य की चर्चा की गयी है कि इनका कुटुम्ब लक्ष्मी एव सरस्वती दोनो का समभावेन उपासक था और इनके भव्य प्रासाद के प्रशस्त प्रागण मे किसी भी विशिष्ट सामाजिक तथा साहित्यिक समारोह मे काशिकेय विद्वानो का जमघट जुटता था और इस कुल के प्रतिष्ठित व्यक्ति की अध्यक्षता में सभा का विधिवत् सचालन होकर तत्कालीन समस्याओं का समाधान किया जाता था।

इसी बगाली मित्रवश के महिमामय व्यक्ति थे—श्री प्रमदादास मित्र। ये सस्कृत एव अंग्रेजी दोनो के प्रौढ़ विद्वान् थे। ये काशिकराजकीय पाठशाला के ही छात्र थे। सस्कृत-शास्त्रों का अध्ययन इन्होने पण्डितों के पास किया और अग्रेजी साहित्य में इनके गुरु थे तत्कालीन प्रिंसिपल डॉ० ग्रिफिथ, जिनकी कृपा तथा औदार्य की चर्चा इन्होंने अपने ग्रन्थ मे की है। जब संस्कृतकालेज मे एग्लोविभाग की स्थापना सस्कृत-छात्रो को अग्रेजी भाषा की शिक्षा देने के निमित्त हुई, तब ये इस विभाग के अध्यापक पद पर नियुक्त किये गये। पण्डित आदित्यराम

भट्टाचार्य भी डॉ० ग्रिफिथ के प्रिय छात्रों में से थे। इस प्रकार ये दोनों ही बंगाली संस्कृतज्ञ समसामयिक तथा सतीर्थ्य थे। ये संस्कृतविद्या के प्रचारक थे, संस्कृत के निर्धन छात्रों को अपनी ओर से पुस्तकें तथा द्रव्य की सहायता दिया करते थे। श्री नारायण शास्त्री खिस्ते ने अपने संस्मरण में इनकी आर्थिक सहायता तथा अकृत्रिम उदारता की बड़ी प्रशंसा की है। ये भगवान् शंकर के बड़े भक्त थे। पूजा के अवसर पर सस्कृत-छात्रों से देववाणी में ही संभाषण करते थे। पण्डित गोपीनाथ कविराज का कहना था कि उनके गुरुकल्प सान्याल महाशय—शिवराम किंकर को आर्थिक सहायता भेजने के लिए भगवान् शंकर ने स्वप्न में बाबू प्रमदादास मित्र को आदेश ही नही दिया, अपितु कलकत्ते में रहने वाले सान्याल महाशय का पूरा पता भी धनादेश भेजने के लिए दिया था। ऐसी विचित्र कृपा भगवान् शिवशंकर की अपने निष्ठावान् भक्त के लिए! इसकी चर्चा पीछे की गई है।

बाबू प्रमदादास मित्र संस्कृत एव अग्रेजी दोनों भाषाओं के प्रवीण पारखी थे। **साहित्य-दर्पण** का 'मिरर ऑफ कॉम्पोजिशन' के नाम से प्रकाशित अंग्रेजी अनुवाद इनके गम्भीर अध्ययन तथा साहित्य-मर्मज्ञता का प्रकृष्ट प्रमाण है। इस अनुवाद का केवल चतुर्थांश किया डॉ० बेलेन्टाइन ने, परन्तु कारणवश इसे अधूरा छोड रखा। प्रमदादास मित्र ने इस ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है कि गुरुवर ग्रिफिथ साहब की प्रेरणा से उद्युक्त होकर मैने इस अधूरे ग्रन्थ को पूर्णता पर पहुँचाया और इस श्रमसाध्य कार्य में उन्ही का उदाहरण जागरूक होकर मार्गदर्शन का काम करता था। अनुवाद की भूमिका बड़ी विद्वत्तापूर्ण है। बेलेन्टाइन साहब ने 'रस' के लिए फ्लेवर[१] शब्द का प्रयोग किया था जिसे उतना समुचित न मानकर प्रमदादासजी ने टेस्ट[२] अथवा रेलिश[३] शब्द का प्रयोग किया है। वड्सवर्थ तथा शेली के समुचित पद्यों को समुद्धृत कर उनमें भारतीय दृष्टि से रस की स्थिति का निरूपण किया है। आज से सौ वर्ष से भी पहले प्रकाशित यह अग्रेजी अनुवाद आज भी उपादेय तथा संग्रहणीय है। कलकत्ते की एशियाटिक सोसाइटी ने १८६५ ई० में अपनी ग्रन्थमाला में इसे प्रकाशित किया था। मोतीलाल बनारसीदास ने इसी का पुनर्मुद्रण १९५८ ई० में किया जो आज अप्राप्य हो गया है।

श्री प्रमदादासजी की अगाध शिवभक्ति का पता काश्मीर के माहेश्वराचार्य **श्री उत्पलाचार्य-रचित स्तोत्ररत्नावली** के प्रकाशन से चलता है। इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति बड़े परिश्रम तथा अनुसन्धान से उन्होंने काश्मीर में ढूँढ निकाली थी। इस कार्य में उन्हें काश्मीरनरेश के प्रधानमन्त्री पण्डित दयाकृष्ण कौल की सहायता से समुचित हस्तलेख प्राप्त हुआ था। इसका प्रकाशन चौखम्भा ग्रन्थमाला (ग्रन्थसंख्या १५) से १९०२ ई० में हुआ। मुद्रण आरम्भ होने के कुछ ही दिनों बाद लगभग १९०१ ई० में प्रमदादासजी दिवंगत हो गए। फलतः उन्हीं के सुयोग्य पुत्र बाबू कालीचरण मित्र ने पिता के द्वारा आरब्ध कार्य को सुचारु रूप से समाप्त किया। इस स्तोत्रावली में प्रत्यभिज्ञा शैवदर्शन के मन्तव्यों का सरस प्रकाशन है। मम्मट के द्वारा उदाहृत यह सुभग पद्य उत्पलाचार्य का ही है—

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ! ते कालकूटमपि मे महामृतम् ।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते ॥

प्रमदादासजी अपने समय में काशी के संस्कृत विद्वान् तथा विदेश से आने वाले गौरांग विद्वानों के बीच सेतु का कार्य करते थे। वे अपने घर पर गण्य-मान्य विद्वानों को बुलाते थे

१. Flavour.
२. Taste.
३. Relish.

तथा धार्मिक विषय के विदेशी जिज्ञासुओं से परामर्श करने की सुन्दर व्यवस्था करते थे। थियासोफिकल सोसाइटी के सस्थापक करनल आल्काट को काशी के पण्डितो के साथ परामर्श करने का अवसर दिया था। यह सभा १४ दिसम्बर १८८० ई० मे उन्ही के आवास पर हुई थी जिसमे डॉ० थीबो (सस्कृतकालेज के प्रधानाचार्य), बालू शास्त्री (कालेज के धर्मशास्त्र के अध्यापक), बापूदेव शास्त्री, यागेश्वर ओझा (हैमवती के रचयिता), दामोदर शास्त्री (व्याकरण-अध्यापक), दुण्ढिराज शास्त्री (विद्यालय के पुस्तकालयाध्यक्ष), रामकृष्ण शास्त्री, गगाधर शास्त्री उपस्थित थे। आल्काट साहब ने अग्रेजी मे पण्डितो की सोसाइटी के सिद्धान्तों के प्रचार तथा प्रसार मे सहायता मॉगी। इस व्याख्यान का सस्कृत मे अनुवाद प्रमदादास मित्र ने बडी सुन्दरता के साथ किया। इसे सुनकर आल्काट ने कहा था कि यूरोप के किसी सस्कृत विद्वान् को इतना सुन्दर अनुवाद करते हुए उन्होने कभी नही पाया। इस सभा मे निश्चय किया गया था कि यदि थियासोफिकल सोसाइटी सस्कृतसाहित्य तथा अध्यात्मविद्या के विकास की इच्छुक है, तो पण्डितसमाज द्वारा इसमे पूरा सहयोग दिया जायेगा। पण्डितो की उदारता थी कि आल्काट साहब के लका मे बौद्धधर्म मे दीक्षित हो जाने पर भी उन्होने बुरा नही माना और उनके प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया। इस प्रकार प्रमदादासजी सस्कृत विद्या के सर्वथा प्रचारक थे।[१]



१ द्रष्टव्य—करनल हेनरी आल्काट के सस्मरणात्मक ग्रन्थ (पाँच भाग) मे काशी के पण्डितो के विषय मे अनेक अल्प ज्ञात तथ्यो का वर्णन है। यह ग्रन्थ काशी के थियासोफिकल सोसाइटी के पुस्तकालय मे विद्यमान है। इसका अग्रेजी नाम है—Colonel Henry Steal Ollcote's 'Old Diary Leaves' published by Theosophical Society, Adyar, Madras

१०५

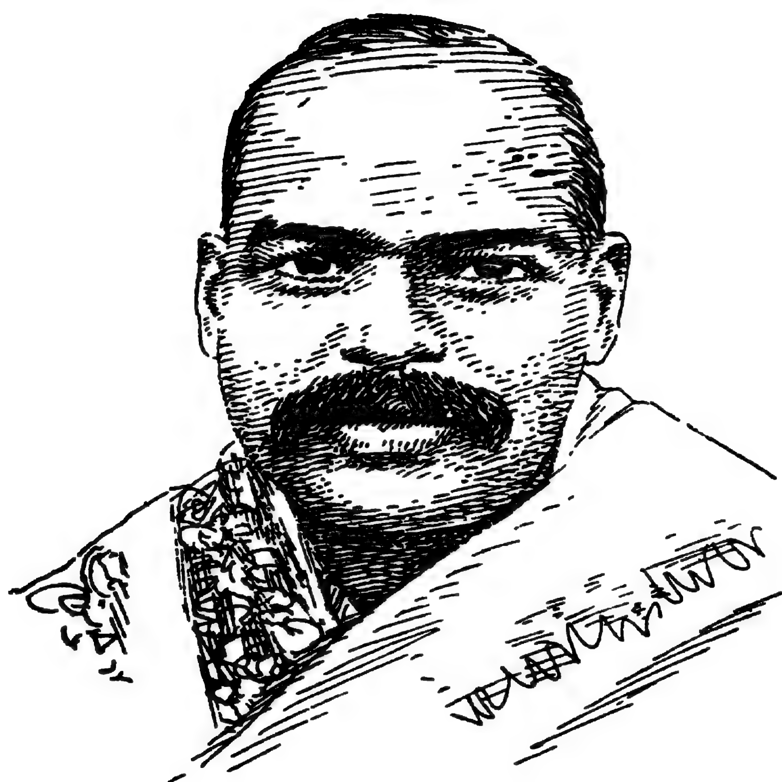
पण्डित रामावतार शर्मा

(आस्पद—पाण्डेय; उपाधि—महामहोपाध्याय)

महामहोपाध्याय विद्वत्तल्लज पण्डित रामावतार शर्मा अपनी लोकातीत वैदुषी, सुमधुर काव्य-प्रतिभा तथा स्वच्छन्द विचारणा के कारण काशी की विद्वन्मण्डली मे एक स्पृहणीय स्थान के अधिकारी थे। इनकी कीर्ति देश-देशान्तर मे व्याप्त थी, परन्तु इनकी जीवनलीला तीन स्थानों मे ही सिमट कर विद्यमान रही-- छपरा, काशी तथा पटना। छपरा इनका जन्मस्थान था, काशी इनकी अध्ययन स्थली थी और पटना इनका कार्यक्षेत्र था। सुयोग्य वशवद ब्राह्मण के समान अध्ययन-अध्यापन, मनन चिन्तन तथा लेखन-प्रकाशन इनके जीवन का मुख्य कार्य था। तथ्य तो यह है कि ये द्विकर्मा ब्राह्मण थे। अध्ययन तथा अध्यापन इन्ही दो कर्मो मे इनका षट्कर्म ब्राह्मणत्व सीमित था, परन्तु इन दो कर्मो की जितनी निष्ठापूर्वक उपासना इन्होने की, वह नितान्त श्लाघनीय तथा अनुकरणीय है।

जन्म

छपरा के ही नयीगज मुहल्ले मे (जिसका सस्कृत नाम उन्होने 'नवकुञ्ज' रखा था) १९३१ वि० फाल्गुन शुक्ल चतुर्थी (१८७७ ईस्वी के ६ मार्च) को उनका जन्म हुआ था। पिता का नाम था देवनारायण शर्मा जिनका सादर समुल्लेख इन्होने अपनी रचनाओं मे बहुश किया है। आरम्भिक शिक्षा छपरे मे ही हुई। छपरा जिला-स्कूल के सस्कृताध्यापक **पण्डित रामदवर ओझा** इनके प्रथम गुरु थे। ओझाजी प्रख्यात वैयाकरण थे। उनसे व्याकरण की शिक्षा प्राप्त कर शर्माजी ने काशी के विश्रुत विद्वान् म० म० प० गगाधर शास्त्रीजी के चरणों में बैठ कर अन्य शास्त्रो का, विशेषत साहित्यशास्त्र का, विधिवत् अध्ययन किया तथा गवर्नमेण्ट संस्कृतकालेज से साहित्याचार्य की उपाधि प्राप्त की। साथ ही साथ अग्रेजी का भी प्राइवेट रूप से अध्ययन करते रहे और हाईस्कूल से लेकर एम० ए० तक सब परीक्षाएँ प्राइवेट छात्र के रूप में ही इन्होंने उत्तीर्ण की। तीव्रबुद्धि होने से छात्रावस्था मे ही ललित कविता की आराधना सुचारु रूप से करते थे। अग्रेजी की सब परीक्षाओं को प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण करना इनके बायें हाथ का खेल था। एम० ए० होने के बाद छपरा के एक स्कूल में अध्यापक हो गए और वहीं उन्होंने भारत के भावी प्रथम राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसादजी को पढ़ाया था जिसका स्मरण वे बड़ी श्रद्धा से किया करते थे। सन् १९०२ ई० के आसपास ये काशी में नये स्थापित सेन्ट्रल हिन्दूकालेज मे सस्कृत के व्याख्याता नियुक्त हुए। कई वर्षों तक इस पद पर रहे। अनन्तर १९०७-८ ईस्वी मे ये कलकत्ता-विश्वविद्यालय में श्रीवसुगोपाल मल्लिक व्याख्याता के पद पर नियुक्त हुए और वेदान्त के ऊपर इनके व्याख्यान हुए जो वेदान्तिज्म के नाम से ग्रन्थरूप में प्रकाशित है (१९०९ ई०)। व्याख्याता का कार्यकाल समाप्त होने पर ये पटना विश्वविद्यालय में सस्कृत के अध्यापक नियुक्त हुए। वहीं पर रहकर इन्होंने अध्यापन



पं० रामावतार शर्मा

कार्य यावज्जीवन किया। केवल तीन वर्षो के लिए (१६१६–१६२२ ई०) महामना मालवीयजी ने सस्कृतमहाविद्यालय के सुचारु सचालन तथा व्यवस्थापन के लिए शर्माजी की सेवाएँ हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए बिहार सरकार से माँग ली थी। फलत शर्माजी इन वर्षो मे काशी में ही रहते थे। ये सस्कृतमहाविद्यालय के अध्यक्ष होने के साथ ही साथ आर्ट्स कालेज मे सस्कृतविभाग मे एम० ए० के छात्रो को भी वेद, दर्शन तथा साहित्य आदि विषयो को पढ़ाया करते थे। इसी समय लेखक को इनके शिष्य होने का सुयोग मिला था। १६२२ ई० मे ये पटना लौट गये और वही १६२६ ई० मे इनका देहावसान हो गया। उस समय इनकी आयु केवल ५२ वर्ष २७ दिन की थी। उन्ही दिनो इन्हे 'महामहोपाध्याय' का सम्मान भी प्राप्त हुआ था।

अद्भुत स्मरणशक्ति

प० रामावतारजी की स्मरण शक्ति अद्भुत तथा अलौकिक थी। एक बार जो वस्तु इन्होने सस्कृत अथवा अग्रेजी मे पढ़ ली वह इनके स्मृतिपटल पर इतनी दृढ़ता से अकित हो जाती थी कि बरसो बाद ये उसे झट से अक्षरश कह डालते थे। लेखक को इस तथ्य का अनुभव उनके साथ सम्पर्क मे आने पर अनेक बार हुआ था। 'हरविजय' सस्कृत का एक बड़ा प्रौढ़, प्राञ्जल तथा विशाल महाकाव्य है, परन्तु लोकप्रिय न होने से उससे परिचय पाना साधारण सस्कृतज्ञो के बूते की बात नही है। उसी काव्य का अत्यन्त रसपेशल अश पण्डितजी ने अपनी कापी मे एम० ए० की छात्रावस्था मे ही लिख डाला था। वह अश पण्डितजी ने मुझे पढ़ने को दिया। पण्डितजी फाउन्टेनपेन से लिखते थे और उनके अक्षर बड़े सुडौल परन्तु बहुत छोटे होते थे। पढ़ते समय मै स्थान-स्थान पर रुक जाता था, परन्तु पण्डितजी बिना रोक-टोक उसे कहते ही चले जाते थे। जब मैने चकित होकर पूछा कि कितनी बार के पढ़ने से ये श्लोक आपकी स्मृति मे अकित हुए है, तब शर्माजी ने कहा कि एम० ए० की तैयारी करते समय आज से बीसो साल पहले, अत्यन्त सुन्दर होने के कारण मैने इन्हे लिख रखा, पीछे इन्हे पढ़ने-पढ़ाने का अवसर ही नही मिला। परन्तु तभी से ये मुझे अक्षरश याद है। सस्कृत-काव्यो तक ही यह शक्ति सीमित नही थी, अग्रेजी के शब्दो की भी उनकी स्मृति विलक्षण थी। इन्हे चैम्बर्स अग्रेजी डिक्शनरी पूरी की पूरी कण्ठस्थ थी और इस अग्रेजी कोश की सहायता से इन्होने शेक्सपियर के समग्र नाटको का भी अध्ययन इन्ट्रेन्स पास होने के बाद ही ग्रीष्मावकाश मे कर डाला था। ये स्वय स्वीकार करते थे कि इस अध्ययन का तात्पर्य लगाना उचित न होगा कि इस महान् नाटककार के समग्र नाटको को मैने विधिवत् समझ लिया था, परन्तु मै शेक्सपियर के विषय मे अग्रेजी के अधिकाश अध्यापको से अधिक जानता था जो इनके नाटको के नाम तथा सख्या से भी पूर्णतया परिचय नही रखते थे।

आयुर्वेद की औषधियो से भी ये विशेष परिचय रखते थे। आयुर्वेद के निघण्टुओं का भी इन्होंने विशेष परिशीलन किया था, क्योकि इनकी जानकारी कोशकार्य के लिए अनिवार्य थी। विभिन्न औषधियों के गुणदोषो का परिशीलन कर ये चिकित्सको को अपने उत्तर से चमत्कृत किया करते थे। ये कहते थे कि खजुली की दवा चकवड़ का होना उसके नाम से ही सिद्ध होता है। खजुली को अग्रेजी मे 'रिंगवर्म' (अँगूठी की तरह होने वाला रोग) कहते है और चकवड़ (स०—चक्रमर्द) भी चक्राकार होता है। अत उसका खजुली की औषधि होना स्वभाव-सिद्ध है। औषधियो के नाम का अनुशीलन कर ये उनके द्वारा चिकित्स्य रोगों

का अनुमान स्वत लगा लेते थे। शर्माजी की यह विशिष्टता सचमुच चमत्कारजनक मानी जानी चाहिए।

प० रामावतारजी को सस्कृत के काव्य प्राय कण्ठस्थ थे। इनकी अद्भुत स्मरण-शक्ति का एक उदाहरण देना यहाँ अनुचित न होगा। एक बार हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रो-वाइसचान्सलर आचार्य ध्रुवजी ने— जो सस्कृतविभाग के अध्यक्ष भी थे –पडितजी को सस्कृत एम० ए० का पाठ्यक्रम बनाने के लिए बुलाया। परन्तु जब यह कार्य प्रारम्भ करना था उस समय केन्द्रीय पुस्तकालय बन्द हो चुका था। अत ध्रुवजी ने इस कार्य को कल के लिए स्थगित करने की इच्छा प्रकट की। परन्तु रामावतारजी ने कहा कि पुस्तकालय बन्द होने से कोई हानि नही होगी। इसके पश्चात् इन्होने अपनी स्मरणशक्ति से वैदिक तथा लौकिक सस्कृत के काव्य और नाटको के विभिन्न सर्गो तथा अको के महत्त्वपूर्ण अशो को उद्धृत करते हुए उसे पाठयक्रम के लिए निर्धारित कर लिया। आचार्य ध्रुव शर्माजी की अलौकिक स्मरणशक्ति को देखकर आश्चर्यचकित हो गये और कहा कि शर्माजी, आपकी स्मृति शक्ति विलक्षण है। इस पर शर्माजी ने मुस्कराते हुए कहा कि ध्रुवजी, आपने मेरे गुरुजी को नही देखा था, अन्यथा आप उनकी स्मरणशक्ति के सामने मेरी इतनी प्रशसा नही करते।

शर्मा जी श्रुतिधर थे। अर्थात् ये एक बार जिस श्लोक को सुन या पढ़ लेते थे वह इनकी स्मृति के कोष मे सदा के लिए सुरक्षित हो जाता था। क्या सस्कृत और क्या अग्रेजी भाषा, शर्माजी की स्मरणशक्ति का जादू सब पर समान रूप से चलता था। प० गौरीनन्दन उपाध्याय ने अपने एक सस्मरण मे लिखा है कि शर्माजी, जो उनके बहनोई लगते थे, एक दिन उनके घर आये और अग्रेजी 'लीडर' पत्र का सम्पादकीय पढ़ने लगे जो प्रसिद्ध अग्रेजी वेत्ता स्वर्गीय सी० वाई० चिन्तामणि का लिखा हुआ था। कुछ काल के पश्चात् उपाध्यायजी की बहिन ने शर्माजी से पूछा कि आज क्या समाचार है ? इस पर शर्माजी ने 'सम्पादकीय' भाग का अश शुरू से अग्रेजी मे सुनाना प्रारम्भ किया और लगभग आधा लेख अक्षरश सुना दिया। इनकी इस स्मरण शक्ति को देखकर सभी चकित हो गये। चिन्तामणि के कठिन सम्पादकीय अग्रेजी के लेख को केवल एक बार पढ़कर उसे पुन अक्षरश उद्धृत कर देना शर्माजी की अप्रतिम स्मृति का चमत्कार है।

शब्द-निर्माण-शक्ति

पण्डित रामावतार शर्मा मे शब्दसर्जन की अद्भुत शक्ति थी। वे अग्रेजी शब्दो का सस्कृतीकरण इतनी सुगमता से तथा शीघ्रता से करते थे कि सुनने वालो को आश्चर्यचकित हो जाना पडता था। सस्कृत शब्दो के अन्तरग से उनका परिचय बडा ही सागोपाग था। उस दिन उन्होने अपने ज्वराक्रान्त सेवक के होमियोपैथिक चिकित्सक को होमियो दवाओं का सस्कृत नाम सुनाकर अचभित कर दिया था। नौकर ज्वर से पीड़ित था। डाक्टर साहब ने 'एकोनाइट' नामक दवा उसे पीड़ानिवृत्ति के लिए दी। प्राचीन औषधियो की प्रसगत चर्चा छिड़ जाने पर शर्माजी ने तुरन्त कह डाला कि सस्कृतग्रन्थो मे आपकी दवा का उल्लेख मिलता है—**अकुनीतं ज्वरे दद्यान्नक्षं दद्याद् विरोचने**। होमियो डाक्टर ने जब यह वाक्य सुना जिसमें 'अकोनाइट' का उल्लेख 'अकुनीत' नाम्ना तथा 'नक्स' का 'नक्ष' रूप मे था, तब वे चकित हो गये और कह उठे कि पण्डितजी, जब आप वर्तमान है, तब सस्कृत मे सब कुछ है।

उनके प्रत्युत्पन्नमतित्व का दृष्टान्त उनके ही शिष्य ने एक सस्मरण में दिया है। पटना कालेज में पण्डितजी पढ़ा रहे थे। गरमी बड़ी तेज थी। उस समय बिजली का आगमन नही

हुआ था। गरमी के निवारण के लिए झालरीदार पखा ही झला जाता था और उसे बरामदे मे बैठकर नौकर खीचकर चलाया करता था। उस दिन नौकर पखा चला रहा था जरूर, परन्तु बीच-बीच मे निद्राभिभूत होने से वह ठीक-ठीक काम नही कर रहा था। गर्मी से तग आकर विद्यार्थी उसे डॉट-डपट रहे थे। शर्माजी ने देखा कि पढ़ाई मे व्याघात हो रहा है। झट से उन्होने कहा—जाने दो उसे। वह बडा स्टुपिड (मूर्ख) है। बरामदे से उसी समय कालेज के अग्रेज प्रिन्सिपल साहब जा रहे थे। उनके कानो मे जब ये शब्द पड़े, तब वे कक्षा मे चले आये, अभ्यर्थना मे छात्र लोग उठ खड़े हुए। वस्तुस्थिति से परिचय पाकर उन्होने छात्रो को शान्त किया और कमरे से बाहर जाते समय उन्होने विनोद मे पण्डितजी से पूछ दिया कि सस्कृत के पण्डित होकर आपने अग्रेजी के 'स्टुपिड' (Stupid) शब्द का कैसे प्रयोग कर दिया। पण्डितजी ने तत्काल उत्तर दिया कि प्रयुक्त शब्द सस्कृत का है, अग्रेजी का नही। शब्द है 'इष्टपिट' जिसका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है 'इष्ट पिनष्टीति' अर्थात् जो इष्ट को पीस दे, मनचाही बात को विनष्ट कर दे, अर्थात् जड, मूर्ख। प्रिन्सिपल महोदय जब इस अर्थ से अवगत हुए, तब पण्डितजी के इस असाधारण शब्द चमत्कार पर आष्चर्य-चकित होकर चले गये।

सस्कृत-शब्दो का उनका ज्ञान अगाध था, तलस्पर्शी था। अपने 'सस्कृतवाङ्मयार्णव' के निर्गाण के लिए उन्होने यावत् उपलब्ध कोशग्रन्थो का अध्ययन-अनुशीलन इतनी दक्षता से किया था कि समस्त शब्द उनके सामने नाचते रहते थे।

शर्माजी नये शब्दो का निर्माण करने मे—विशेषकर अग्रेजी के शब्दो का सस्कृत रूपान्तर गढ़ने मे—बडे ही सिद्धहस्त थे। 'स्टुपिड' शब्द की चर्चा पहले की जा चुकी है। वे व्यक्तिगत तथा भौगोलिक नामो के सस्कृतीकरण मे बडे ही दक्ष थे। झट से किसी भी व्यक्ति, नगर या देशपरक नाम का सस्कृत रूप दे देना उनके बाये हाथ का खेल था। अपने विस्तृत भाषाज्ञान के कारण वे इस काम को बडी आसानी से किया करते थे। नीचे कुछ भौगोलिक तथा व्यक्तिगत नाम दिये जाते है जिनका सस्कृतीकरण उन्होने कितना सटीक किया है—

आरब्य – अरेबिया	**सुक्रतु—साक्रेटीज (सुकरात)**
औष्ट्रालय—आस्ट्रेलिया	**अरिष्टोत्तर —अरिस्टाटल**
दानव —डेन्यूब	**नन्दन—लण्डन**
शर्मण्य—जर्मनी	**नवार्क—न्यूयार्क**
अलक्षेन्द्र—अलेकजेण्डर	**उरगजिह्व—औरंगजेब**

इससे शर्माजी की शब्द-निर्माण-शक्ति का सहज मे ही अनुमान किया जा सकता है। इस प्रसग मे एक विशिष्ट घटना लेखक के स्मृति के पटल पर आ रही है। शर्माजी हिन्दू विश्वविद्यालय मे वाक्परीक्षा लेने के लिए पधारे थे। लौटते समय मित्रवर पण्डित बटुकनाथ शर्माजी के कालभैरव वाले आवास पर अकस्मात् पहुँच गये। सस्कृतशिक्षा की अभिवृद्धि की चर्चा के अवसर पर लेखक ने शर्माजी से पूछा—पण्डितजी, सस्कृत की पटना मे आजकल क्या उन्नति हो रही है ? उन्होने तुरन्त उत्त、 दिया—उस प्रान्त मे सस्कृत की अभिवृद्धि की बात सोचना भी व्यर्थ है जहॉ का उच्चतम शासनाधिकारी 'गोबरनर' है। उत्तर सुनकर लेखक के अधरों पर हास्य बिखर उठा। पण्डितजी भाँप गये कि उनके 'गोबरनर' की समञ्जसता पर सन्देह किया जा रहा है। तपाक से उन्होने कहा—इस सस्कृतीकरण मे सन्देह का स्थान कहाँ ? अग्रेजी के गवर्नर (Govemor) शब्द मे व कार (v) की सत्ता अवश्य है, परन्तु मूलत· वह वकार न होकर बकार है। इसीलिए तो उनका विशेषण पद बनता है गुबरनटोरियल

(gubernatorial) जिसमें बकार की सत्ता नितान्त प्रत्यक्ष है। इस उत्तर से हमलोग आश्चर्य से अवाक् रह गये। पण्डितजी ने हँसी में ही ऐसा समुचित शब्द गढ़कर रख दिया, जिसका औचित्य व्यावहारिकरीत्या ही नहीं, भाषाशास्त्रीयदृष्ट्या भी यथार्थ है।

शर्माजी की अलौकिकता

शर्माजी अलौकिक व्यक्ति थे। अतः इनके कुछ कार्य सामान्य लोगों की पद्धति से हटकर हुआ करते थे। ऐसा कहा जा सकता है कि अलोकसामान्य कार्य करने में ही इन्हें आनन्द आता था। यहाँ केवल दो-तीन घटनाओं का ही उल्लेख पर्याप्त होगा।

(१) शर्माजी सन् १९२१ ई० में हिन्दू-विश्वविद्यालय के अन्तर्गत संस्कृतमहाविद्यालय के प्रधानाचार्य थे। इसके साथ ही साथ वे आर्ट्स कालेज के एम० ए० (संस्कृत) के छात्रों का भी अध्यापन किया करते थे। उन दिनों दोनों विद्यालयों में कक्षाएँ प्रातःकाल ही लगती थीं। अतः कोई असुविधा नही होती थी। शर्माजी घर से प्रातःभ्रमण के लिए निकलते थे और इसके पश्चात् सीधे कालेज चले आते थे। एक बार कालेज के समय में बाहर के मैदान में बैठकर वे अपनी हजामत भी बनवाते जाते थे और इसके साथ ही एम० ए० के छात्रों को **शारीरक भाष्य** जैसे उच्चकोटि के कठिन वेदान्त-ग्रन्थ का अध्यापन भी करते जाते थे। शर्माजी को इस प्रकार के विरुद्ध तथा विपरीत कार्यों को करने में न तो कोई संकोच मालूम होता था और कोई आयास। हिन्दू-विश्वविद्यालय के तत्कालीन प्रो-वाइसचान्सलर आचार्य ए० बी० ध्रुव—जो स्वयं संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे—ऊपरी मजिल से इस दृश्य को देख रहे थे। इस विसंगति को देखकर वे अवाक् रह गये और उनके मुँह से अनायास निकल पड़ा— Panditji can do anything (पण्डितजी कुछ भी कर सकते है)।

(२) शर्माजी की **वेश-भूषा** भी बड़ी विलक्षण थी; अग्रेजों का हैट उन्हें बड़ा प्रिय था। वे कहा करते थे कि हैट अत्यन्त उपयोगी वस्तु है। इसका उपयोग दो कार्यों को सिद्ध करता है—सिर का आवरण (टोपी का) तथा धूप से सिर की रक्षा (छाते का काम)। घुटनों तक मोटे खद्दर की धोती, कमर तक मोटे कपड़े का कुर्ता तथा छह फुट लम्बा मिर्जापुरी डंडा इनके हाथ को सुशोभित करता था। यह शर्माजी की विलक्षण वेशभूषा उनकी अलौकिक सूझबूझ की द्योतिका थी।

(३) शर्माजी की एक अन्य विलक्षणता की चर्चा करना उचित प्रतीत होता है।

सन् १९२२ ई० की बात होगी। शर्माजी उन दिनों काशी में संकटमोचन के पास रहा करते थे। उन्होंने अपने बबुआ (अपने पुत्र नलिनविलोचन शर्मा) के लिए एक टट्टू खरीद रखा था जिस पर उसे बैठाकर सायंकाल गंगा की ओर घुमाने ले जाया करते थे। उस दिन का एक अपूर्व दृश्य था। टट्टू के ऊपर काठी बाँधी गई थी जिसमें अपने बबुआ को बैठा रखा था। उन्होंने उस टट्टू की लगाम को अपनी कमर में बाँध लिया था और टट्टू अपनी चाल से धीमे-धीमे चल रहा था। शर्माजी ने घुटनों तक धोती के ऊपर नियमानुसार हैट लगा रखा था। वे बायें हाथ में कागज और दाहिने में फाउन्टेनपेन लेकर उससे कुछ लिखते हुए अपनी मस्ती में चले जा रहे थे। पण्डितजी लिखते हुए आगे-आगे और टट्टू 'बबुआ' को अपनी पीठ पर बैठाये पीछे-पीछे चल रहा था। यह एक गजब का दृश्य था। मैंने विस्मय-विस्फारित आँखों से इस अलौकिक दृश्य को देखा और देखकर अवाक् रह गया।

(४) शास्त्र के अनुयायी पण्डित लोग प्रायः शनिवार को क्षौर कर्म करना निषिद्ध

मानते है परन्तु शर्माजी क्षौर के सम्बन्ध में किसी भी विधि-निषेध को नहीं मानते थे। एक समय ठीक शनिवार के ही दिन उन्होंने अपने सिर के बालों का मुण्डन करवाया था जो प्रायः किसी व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् अशौच में करवाया जाता है। ठीक उसी दिन सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल शर्माजी घर उनसे मिलने के लिये आए। शर्माजी को शनिवार के दिन मुण्डितमुण्ड देखकर अनिष्ट की आशका मे घबरा कर उन्होंने मुण्डन का कारण पूछा। शर्माजी ने उन्हें बतलाया कि किसी के जन्म तथा मृत्यु के समय मुण्डन कराया जाता है। आज मेरे ज्ञान का जन्म और अज्ञान की मृत्यु हुई है। इसीलिए सिर का मुण्डन कराया है।

शर्माजी किसी अग्रेज अधिकारी अथवा व्यक्ति से हाथ मिलाने पर पवित्रता को ध्यान मे रखकर नियमत अपने हाथो को मिट्टी से मल कर धोया करते थे। यह भी उनकी विलक्षणता ही थी। शर्माजी लोकोत्तर पुरुष थे। अत उन्हे सामान्य जन के मार्ग पर चलना उचित नही प्रतीत होता था। कुछ अलौकिक कार्य करने की यह अन्तर्भावना ही उन्हें इन कार्यों मे नियुक्त करती थी। शर्माजी इस सिद्धान्त की नित्य ही अवहेलना किया करते थे —

यद्यपि सिद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नाचरणीयम् ॥

पण्डित रामावतारजी के विषय मे पण्तितराज जगन्नाथ की यह उक्ति सर्वात्मना चरित र्थ होती है—

सर्वं पण्डितराजराजितिलकेनाकारि लोकाद्भुतम् ।

राष्ट्रप्रेम

प० रामावतार शर्मा भारतीय वेश, भारतीय भाषा, भारतीय सस्कृति के साथ भारतीय राष्ट्र के भी परम पुजारी थे। उन्हे जिस प्रकार अपनी भाषा और सस्कृति से प्रेम था उसी प्रकार वे राष्ट्र के भी उपासक थे। वे भारत की परतन्त्रता को देखकर बहुत दुखी रहते थे और अपने देश को अग्रेजी शासन के बन्धन से मुक्त देखना चाहते थे। शर्माजी ने इसीलिए भारतीयो के यौवन को ललकारा है तथा उन्हे देश की स्वतन्त्रता के लिए मर-मिटने की चुनौती दी है। उनकी निम्नांकित कविता केवल उद्बोधन-गीत ही नही है बल्कि बलिदान चढ़ाने का मन्त्र भी है—

हे भाइयो! सोओ न अब, तैयार हो तैयार हो।
सोये बहुत जागो उठो, जिससे कि बेड़ा पार हो ॥

भारतीयो के हृदय मे अतीत के गौरव को जगाते हुए शर्माजी ने हमारा अपने महिमामय इतिहास की ओर ध्यान दिलाया है। शर्माजी की वाणी में नवजीवन का स्पन्दन, विरोध का गर्जन, तथा भावी युग का दर्शन पाया जाता है। उनका विश्वास था कि इसी भारत में सर्वप्रथम सभ्यता और सस्कृति का विकास हुआ था। कवीन्द्र रवीन्द्र की वाणी 'प्रथम प्रभात उदय तव गगने' की भाँति भारतीय राष्ट्रीयता का यह अग्रदूत गा उठता है—

प्रथम ज्ञान रवि उदित गगन तुव। प्रथम प्रकाशित दिव्य भवन तुव।
प्रथम जगे जग मौञ्ज सुवन तुव। जयति जगत मंगल करणी,
जय, जय, जय, जय, भारत जननी ॥

सामाजिक बिचार

पं० रामावतार शर्मा हिन्दू-समाज में प्रचलित बुराइयों के कट्टर विरोधी थे, विशेषकर

तिलक-दहेज की प्रथा, विवाह में अत्यधिक अपव्यय, बारातियों की अधिक संख्या, विवाह में गाना-बजाना आदि कुरीतियों के ये प्रबल शत्रु थे। इन्होंने केवल मनसा और वाचा ही नहीं बल्कि कर्मणा भी इनका प्रबल विरोध किया था। ये विवाह में बारातियों के अधिक संख्या में जाने के नितान्त विरुद्ध थे। इनकी एक पुत्री ने अपने संस्मरण में लिखा है कि पिताजी ने मेरे विवाह में केवल पाँच व्यक्तियो को ही बारात में आने के लिए कहा था। मेरे ससुर बहुत डरते-डरते केवल सात व्यक्तियों को बारात में ले आये थे। इसी प्रकार विवाह मे बाजा-गाजा तथा नाच-गाना में व्यर्थ का अपव्यय करना इन्हें बिलकुल ही पसन्द नही था। अतः इन्होंने जेठी पुत्री के विवाह में कोई बाजा न तो स्वयं किया था और न वरपक्ष वालों को बाजा लाने को कहा था। फिर भला किसकी हिम्मत जो बाजा ले आता ? परन्तु शर्माजी के शिष्यों ने देखा कि बिना बाजा के विवाह का उत्सव सूना लगेगा, अतः उन्होंने चुपके से एक बाजे का प्रबन्ध कर दिया। सामाजिक बुराइयों के शर्माजी भयंकर शत्रु थे। परन्तु उनका यह विरोध केवल वाचिक ही नही, व्यावहारिक भी होता था।

शर्माजी का साहित्य

प० रामावतार शर्मा राष्ट्रीय विचारधारा से पूर्णत· प्रभावित थे। अत· ये देव-भाषा तथा राष्ट्रभाषा के भाण्डार को भरना चाहते थे। इनका विचार था कि सस्कृत में जिन विषयों के ग्रन्थों का अभाव है उनकी पूर्ति अग्रेजी तथा अन्य भाषाओं के ग्रन्थो का अनुवाद करके करनी चाहिए। इसी राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर इन्होंने केवल सस्कृत तथा हिन्दी में ही अपने ग्रन्थों की रचना की, यद्यपि शर्माजी का अग्रेजी भाषा पर भी पूर्ण अधिकार था तथापि इन्होंने एक-दो ग्रन्थो को छोड़कर किसी भी महनीय ग्रन्थ की रचना अग्रेजी में नही की। नीचे शर्माजी के ग्रन्थों का सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

(क) संस्कृत-ग्रन्थ

(१) **वाङ्मयार्णव**[१]—यह शर्माजी का सबसे प्रसिद्ध विद्वत्तापूर्ण कोषग्रन्थ है। शर्माजी ने इसके प्रणयन में बीसियों वर्षों तक घनघोर परिश्रम किया था परन्तु यह उनके जीवनकाल में प्रकाशित नहीं हो सका। उनकी मृत्यु के लगभग ४० वर्षों के पश्चात् यह ग्रन्थ प्रकाश में आया।

यह सस्कृत का आधुनिकतम नवीन महाकोष है जो प्राचीन परम्परा के अनुसार अमरकोष की भाँति पद्यबद्ध है। परन्तु इसकी विशेषता यह है कि यह आधुनिक कोषों की भाँति अकारादि क्रम से लिखा गया है। शब्दों का अर्थ देने के अतिरिक्त शर्माजी ने विभिन्न शब्दों के अर्थों के सूक्ष्म पार्थक्य को भी स्पष्ट कर दिया है। इसके साथ ही प्रत्येक शब्द का लिंग भी दिया गया है। इसमें वैदिक तथा लौकिक संस्कृत—दोनों प्रकार के शब्दों का समावेश किया गया है। इस प्रकार अनेक दृष्टियों से यह कोष शब्दों का समुद्र ही नहीं, बल्कि महासमुद्र है।[२]

(२) **मारुतिशतक**—हनुमान् की स्तुति मे स्रग्धरा छन्द में लिखा गया यह काव्यरत्न एक स्तोत्रग्रन्थ है। शर्माजी ने अपनी छात्रावस्था में केवल १५ वर्ष के वय में इसका निर्माण

१. ज्ञानमण्डल लिमिटेड, कबीरचौरा, वाराणसी द्वारा सन् १९६७ ई० में प्रकाशित।

२. इस कोष के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए—आचार्य बलदेव उपाध्याय—'वाङ्मयार्णव एक अभिनव कोश', रामावतार-गाथा, पृ० १८६-१६४ (१९७८ ई०)।

किया था। अल्प वय मे ऐसे प्रौढ़ काव्य का निर्माण लेखक की अलौकिक काव्य-प्रतिभा का द्योतक है।

(३) **मुद्गरदूत**—यह कालिदास द्वारा प्रवर्तित दूतकाव्य परम्परा का अभिनव दूतकाव्य है। इसके तीन भाग है जिनमे पूर्वमुद्गर मे ६४, मध्यमुद्गर मे ३३ और उत्तर-मुद्गर मे ५१ श्लोक है। इस प्रकार इसमे कुल १४८ श्लोक है। यह मेघदूत के अनुसार मन्दाक्रान्ता वृत्त मे लिखा गया है। इस काव्य मे मूर्खदेव का बड़ा ही विचित्र वर्णन किया गया है। अत हास्य रस ही इस काव्य का प्रधान रस है। इसमे हिन्दू समाज की बुराइयो पर मार्मिक चोट दी गई है। यदि इसे दूतकाव्य की पैरोडी कहा जाय तो अधिक अच्छा होगा।[१]

(४) **धीरनैषध**—नैषधीयचरित की कथा को लेकर शर्माजी ने इस नाटक की रचना की है। यह छात्रो के द्वारा अभिनय के लिए लिखा गया था और अनेक बार अभिनीत भी हुआ। इसमे कुल सात अक है जिनमे नल तथा दमयन्ती की कथा बड़े ही सुन्दर रूप मे कही गई है। नायक तथा नायिका का चरित्र चित्रण बड़ा ही मार्मिक रीति से किया गया है।

(५) **प्रियदर्शिप्रशस्तयः**[२] – इसमे शर्माजी ने अशोक के, जो प्रियदर्शी के नाम से प्रसिद्ध था - शिलालेखो का बडी योग्यता से सम्पादन किया है। शिलालेखो को मूल पालिभाषा मे देने के पश्चात् उनका सस्कृत रूप तथा अग्रेजी मे अनुवाद भी कर दिया गया है जिससे सस्कृत तथा अग्रेजी दोनो प्रकार के विद्वान् इसे सरलता से समझ सके।

(६) **सदुक्तिकर्णामृतम्**[३]—श्रीधरदास द्वारा ११२७ शक स० (= १२०५ ई०) मे सकलित विशाल सूक्तिग्रन्थ है जिसमे बगाल के अनेक अज्ञात कवियो के मनोरम पद्यो का विधिवत् सकलन है। रामावतारजी ने इसका सस्करण एशिएटिक सोसाइटी की ग्रन्थमाला मे सम्पादित किया था।

(७) **कल्पद्रुकोश**[४] यह केशव द्वारा रचित एक प्राचीन कोशग्रन्थ है जिसका प्रकाशन तबतक नही हुआ था। प० रामावतार शर्मा ने इस कोश का बडी ही विद्वत्ता के साथ सम्पादन किया है। इसके साथ ही इन्होने इस ग्रन्थ की भूमिका मे कोशविद्या का एक प्रामाणिक तथा विस्तृत इतिहास भी प्रस्तुत किया है जो अनेक दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण तथा प्रामाणिक है।

(८) **परमार्थदर्शनम्**[५] यह शर्माजी का अत्यन्त मौलिक दर्शनग्रन्थ है जो प्राचीन ग्रन्थो के अनुकरण पर सूत्रशैली मे लिखा गया है। शर्माजी ने स्वय इस ग्रन्थ पर 'वार्तिक' और 'अधिकरण' भी लिखे है। इतना ही नही, अपने दार्शनिक सिद्धान्त को सरल रीति से समझाने के लिए शर्माजी ने इस पर स्वय भाष्य भी लिखा है। विद्वानो के मत से यह एक अपूर्व दार्शनिक ग्रन्थ है जिसे 'सप्तम दर्शन' की सज्ञा सामान्यत दी जा सकती है। इसमे शर्माजी के मौलिक दार्शनिक विचारो का विवेचन पाया जाता है। इनके तत्त्वज्ञान-सबन्धी विचारों से भले ही कोई सहमत न हो, परन्तु इस ग्रन्थ के निर्माण मे शर्माजी की अद्भुत पैनी बुद्धि, प्रकाण्ड पाण्डित्य तथा तत्त्वभेदिनी प्रज्ञा को अस्वीकार नही किया जा सकता।

१ खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर, पटना द्वारा सन् १९१४ ई० मे प्रकाशित।
२ भारत मिहिर प्रेस, २५ राय बगान स्ट्रीट, कलकत्ता से सन् १९१५ ई० मे मुद्रित।
३ बंगाल एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता के लिए सम्पादित अधूरा ही रह गया।
४ गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा से प्रकाशित।
५ महामण्डल शास्त्र प्रकाशक समिति, काशी द्वारा सन् १९१३ ई० मे प्रकाशित।

(६) **प्रकीर्णप्रबन्धाः**[1]—(क) साहित्यरत्नावली—शर्माजी ने अनेक निबन्धों की रचना संस्कृत में की है। उनके साहित्य-संबन्धी निबन्ध 'साहित्यरत्नावली' के नाम से प्रकाशित हो चुके हैं जिसमें संस्कृत के महान् कवियों का वर्णन किया गया है।

(ख) **कलाकौमुदी**[2]—यह शर्माजी के संस्कृत-निबन्धों का सग्रह है जिसमें उनके विज्ञानविषयक ज्ञान का स्पष्ट परिचय मिलता है ।

(ख) हिन्दी ग्रन्थ

(१) **पाश्चात्त्य दर्शन**[3]—पं० रामावतार शर्मा ने सबसे पहले हिन्दी भाषा में पाश्चात्त्य तत्त्वज्ञान के संबन्ध में 'पाश्चात्त्य दर्शन' नामक ग्रन्थ लिख कर हिन्दी के भाण्डार को भरा। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि हिन्दी में ही नहीं बल्कि किसी भी भारतीय भाषा में इसके पहले पश्चिमी दर्शन के सबन्ध में कोई पुस्तक नहीं लिखी गई थी। अतः इस ग्रन्थ को सर्वप्रथम दर्शनग्रन्थ होने का सौभाग्य प्राप्त है।

(२) **निबन्धावली**[4]—शर्माजी ने संस्कृत के अतिरिक्त हिन्दी भाषा में भी पचासों निबन्धों की रचना की है जिनका सग्रह बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना से प्रकाशित हो चुका है। इस निबन्धसंग्रह में विभिन्न विषयों का शर्माजी ने अधिकार के साथ पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया है। लेखों के निम्नाकित शीर्षकों से ही उनके विषयों की विभिन्नता का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। जैसे—ज्योतिर्विद्या, भूगोलविद्या, भूगर्भविद्या, नरशास्त्र, पुराणतत्त्व, काना-वर्करीय, पौरस्त्य और पाश्चात्त्य दर्शन। इस निबन्धावली मे शर्माजी के ३७ निबन्धों का सकलन पाया जाता है।

(ग) अंग्रेजी-ग्रन्थ

शर्माजी ने अग्रेजी मे बहुत कम लिखा है। कलकत्ता-विश्वविद्यालय में वेदान्त पर इन्होंने जो व्याख्यान दिये थे वे (१) 'श्री गोपाल वसु मल्लिक लेक्चर्स आन वेदान्तिज्म' के नाम से सन् १९०८ ई० में प्रकाशित हो चुके है। इस ग्रन्थ से शर्माजी के दार्शनिक चिन्तन तथा तत्त्वज्ञानसम्बन्धी गभीर विद्वत्ता का परिचय मिलता है। (२) इनका दूसरा अप्रकाशित ग्रन्थ 'फिलासफी आफ दि पुरानाज' है जिसमें पुराणो मे उपलब्ध दर्शन का विवेचन है। (३) **कालिदास : हिज माइण्ड एण्ड आर्ट**—इस निबन्ध का प्रकाशन सन् १९०८ ई० में कलकत्ता से हुआ था। इस शोधप्रबन्ध में शर्माजी ने महाकवि की कला पर पूर्णतया प्रकाश डाला है। (४) **ए थीसिस आन दि एज आफ कालिदास** नामक लेख में महाकवि कालिदास के समय-निरूपण का प्रयास किया गया है। (५) **संस्कृत लेक्सिकोग्राफी**—में सस्कृतसाहित्य में उपलब्ध कोषविद्या का विवेचन है। इसके अतिरिक्त शर्माजी ने म० म० डा० पी० वी० काणे द्वारा लिखित 'सस्कृत पोइटिक्स' की आलोचना (रिव्यू) लिखी है, तथा सस्कृत-सूक्तियो पर भी लिखा है जो अभी तक अप्रकाशित है।

इस प्रकार शर्माजी ने अपनी विद्वत्ता के द्वारा सस्कृत तथा हिन्दी भाषा के भाण्डार को भर कर उन्हें समृद्ध बनाया है। इसमें सन्देह नहीं कि शर्माजी की प्रखर प्रतिभा का जो

---

१. मिथिलाविद्यापीठ सस्कृतशोधसस्थान, दरभगा द्वारा सन् १९५६ ई० मे प्रकाशित।
२ प्रकाशक वही।
३. काशी नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी से प्रकाशित।
४. बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना से सन् १९५४ ई० मे प्रकाशित।

प्रसाद भारतवासियों को मिलना चाहिए था वह वह उनकी अल्पावस्था के कारण नही मिल सका; परन्तु जो कुछ भी मिल सका है वह किसी भी साहित्य के लिए गौरव की वस्तु है।

शर्माजी का तत्त्वज्ञान

पण्डित रामावातार शर्माजी के दो पृथक् रूप हमारे सामने अभिव्यक्त होते है। एक तो है उनका प्रचण्ड तार्किक रूप –ठनाठन तर्कों के ही आधार पर सिद्धान्त-निरूपण करनेवाले स्वतन्त्र चिन्तक का दिव्य रूप, तो दूसरा है उनका प्रातिभ कवि रूप—अलौकिक प्रतिभा के बल पर कविता की सद्य रचना मे निपुण काव्य-प्रणेता का भव्यरूप। दोनो रूपो के लिए दो प्रकारो की और प्राय विभिन्न प्रकारो की प्रज्ञा के उन्मीलन की आवश्यकता होती है। दर्शन-निर्माण के लिए अपेक्षित तीक्ष्ण बौद्धिक उन्मेष की तथा काव्य-प्रणयन के निमित्त अपेक्षित कोमल कल्पना एव सहृदयता की आवश्यक्ता अनुभूत की जाती है। यदि प्रथम मे बुद्धि तत्त्व का प्राबल्य रहता है, तो दूसरे मे हृदय तत्त्व का उन्मीलन विद्यमान रहता है। ये दोनो आपस मे विरोधी नही है, परन्तु इनका एकत्र मञ्जुल सामरस्य मिलना अपेक्षाकृत दुर्लभ होता है। शर्माजी मे इन दोनो तत्त्वो का बड़ा ही घनिष्ठ तथा शाश्वतिक सामञ्जस्य उपस्थित रहा और यह उनका आदरणीय वैशिष्ट्य था जो दोनो प्रकार के विद्वानो को अपनी ओर आकृष्ट करता था। शास्त्रार्थ मे अभिरुचि रखने वाले विद्वान् उनकी ओर स्वत आकृष्ट रहते थे और काव्य के रसिक व्यक्ति भी उनकी रसपीयूष बरसाने वाली माधुर्य से सान्द्र स्निग्ध सूक्तियो को सुनने के लालायित रहते थे और वे दोनो प्रकार के श्रोताओं का मनोरञ्जन ही नही, पर्याप्त मात्रा मे ज्ञानवर्धन भी किया करते थे।

शास्त्रार्थ-प्रवीणता

पण्डित रामावतारजी शास्त्रार्थ करने मे बडा रस लेते थे। उनके शास्त्रार्थ को सुनकर उनका स्वाभीष्ट मत जानने की अभिलाषा मृगमरीचिका के समान ही प्रतीत होती है। यदि विपक्षी आस्तिक पक्ष लेकर शास्त्रार्थ करता, तो वे उसके पक्ष का खण्डन करने से कभी नही चूकते। यदि विपक्षी नास्तिक पक्ष का आश्रय लेकर अपनी युक्तियो को देता, तो वे उससे द्विगुणित प्रभावशाली युक्तियो के द्वारा उसके तर्क की धज्जियाँ उडा देने मे कृतकार्य होते। ऐसी विषम स्थिति मे उनका अपना मत क्या है ? यह जानना टेढ़ी खीर ही समझिये। लेखक का अपना मत यह है कि इन खण्डनो के द्वारा शर्माजी के स्वाभिमत अभिप्राय का पता लगाया ही नही जा सकता। मै तो उन्हे 'खण्डनरसरसिक' कहना तथ्य के अधिक समीप मानने के लिए तैयार हूँ। सत्य तो यह है कि पण्डितजी को खण्डन मे रस आता था। प्रकृष्ट तार्किक बुद्धि से सम्पन्न शर्माजी विपक्षी के—चाहे वह नास्तिक हो अथवा आस्तिक—तर्को को अपनी प्रखर बुद्धि के द्वारा खण्ड-खण्ड कर देने मे ही वास्तविक अभिरुचि रखते थे। लेखक ने उन्हे दोनो अवस्थाओं मे तर्क-वितर्क करते स्वय देखा है।

उस समय आर्यसमाज के उत्कर्ष का युग था। लोक तथा वेद, आचार तथा विचार के विषय मे आये दिन स्थान-स्थान पर शास्त्रार्थ ठन जाया करते थे। इनमे पण्डित रामावतारजी प्रमुख भाग लिया करते थे। शास्त्रार्थ के पहले ही वे विपक्षी से पूछ लिया करते थे कि शास्त्रार्थ का आधार क्या होगा ? युक्ति अथवा शास्त्र ? तर्क अथवा आप्त वाक्य ? एक आधार पर प्रस्तुत शास्त्रार्थ को दूसरे आधार की ओर जाने पर तुरन्त प्रतिरोध करते थे। साधारणत होता है दोनों का मिश्रण, एक के अपर्याप्त होने पर दूसरे का आश्रयण। परन्तु वे इसके नितान्त

विरोधी थे। तर्क तथा वेद—दोनो के वे उत्कृष्ट पण्डित थे। तार्किक बुद्धि के प्रेरणादायक वे मनीषी तार्किक थे, तो वैदिक ऋचाओं को उद्धृत करने मे नितान्त निष्णात वैदिक थे। तभी तो एम० ए० परीक्षा के वैदिक प्रश्न के उत्तर में गिन कर इन्द्रविषयक एक सौ एक ऋचाओं को उद्धृत कर इन्होने परीक्षक डॉ० थीबो साहब को आश्चर्य-चकित कर दिया था। थीबो को विश्वास ही नही होता था कि कोई भी छात्र इतनी ऋचाएँ अपनी स्मरण-शक्ति के सहारे उद्धृत करने की क्षमता रखता है। कलकत्ता-विश्वविद्यालय के कुलपति द्वारा परीक्ष्य की लोकातीत मेधाशक्ति का परिचय देने पर ही उसे विश्वास जनमा और तब उसने लेख में पूरे सौ अक देकर परीक्ष्य रामावतारजी को प्रथम कोटि मे उत्तीर्ण कराया था। शर्माजी ने स्वयं यह घटना लेखक को बताई थी।

इतना ही नही, पण्डितजी वैदिक छन्दो मे ऋचाएँ भी लिखने में पर्याप्त दक्ष थे। इसलिए शास्त्रार्थ की समस्या और भी जटिल हो जाया करती थी। १९२०-२१ ई० की घटना है। आर्यसमाज के वरिष्ठ नेता स्वामी श्रद्धानन्दजी स्वय हिन्दू विश्वविद्यालय में शास्त्रार्थ के लिए पधारे थे। शास्त्रार्थ चलता था, परन्तु उनको मुँहतोड़ जवाब नही मिल पा रहा था। फलत शास्त्रार्थ का अन्त होने मे अनिवार्य विलम्ब लग रहा था। सभा के अध्यक्ष महाराजा दरभगा ने अपने लोगो से कहा था कि लट्ठवाले उन पण्डितजी को बुलाओ, तो फैसला जल्दी हो जाय। पण्डित रामावतारजी लट्ठ—मिर्जापुरी मोटा डडा- साथ लेकर चलते थे। अत. उन्ही की ओर सकेत था। पण्डितजी सकटमोचन के पास ही रहते थे। बुलाने के लिए कोई विद्वान् कार से भेजा गया। शास्त्रार्थ की बात सुनकर शर्माजी तुरन्त आये और रास्ते मे ही एक चिट पर अपना मन्तव्य लिख दिया—"आज मेरे मौन का दिन है। बोलकर शास्त्रार्थ नही करूँगा। इस मन्त्र का पूरा सकेत बताने की कृपा करे। सकेत ठीक बता देने पर मै पराजय मान लूँगा।" मन्त्र उस चिट पर लिख दिया। सभा मे पहुँच कर वह चिट श्रद्धानन्द जी के सामने रख दी गयी। पण्डितजी इतना करके लौट आये।

श्रद्धानन्दजी ने उस मन्त्र का निर्देश क्रमश सब वेदो मे बताया। वेदो की सूचियाँ मँगायी गई। तब कही भी वह ऋचा उपलब्ध नही हुई। उपलब्ध होती भी कैसे? वह वैदिक सहिताओं की ऋचा थोड़े ही थी। वह तो 'रामीया श्रुति' की ऋचा थी, पण्डित रामावतारजी के द्वारा सद्य प्रणीता ऋचा। अगत्या स्वामी को हार माननी पडी। शास्त्रार्थ का सुखद परिणाम देखकर विश्वविद्यालयीय श्रोताओं को भी कम हर्ष नही हुआ। अब आप ही बताइये ऐसे प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति से मन्त्रोद्धरणपूर्वक शास्त्रार्थ हो ही कैसे सकता था? ऐसी प्रतिभा थी पण्डितवरेण्य रामावतार शर्माजी की।

तर्क-कुशलता

तर्क का कौशल तथा स्वतन्त्र चिन्तनधारा की अभिव्यक्ति के लिए शर्माजी का **परमार्थदर्शन** नामक नूतन दर्शन ही पर्याप्त परिचायक माना जा सकता है। इसका प्रकाशन १९१३ ईस्वी मे **परमार्थाधिकरणरत्नमाला** नाम से किया गया। यह ग्रन्थ सस्कृतदर्शन की प्राचीन शैली का अक्षरश: आश्रय लेकर प्रणीत किया गया है। इसके मूल की रचना ४४६ सूत्रों में की गई है जो प्राचीन सूत्रकारो का स्मरण दिलाती है। इसके ऊपर शर्माजी ने भाष्य, वार्तिक तथा अधिकरणो का प्रणयन कर ग्रन्थ को सर्वाङ्गपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ का महनीय स्वरूप प्रदान किया है। परमार्थदर्शन में पद्यबद्ध ८२६ वार्तिकों की रचना रचयिता में कुमारिलभट्ट की श्लोकवार्तिक वाली शैली को प्रकाशित करती है। प्राचीन काल में सूत्र, वार्तिक तथा भाष्य

की रचना विभिन्न कालो मे भिन्न-भिन्न लेखको द्वारा की जाती थी परन्तु यहाँ तो एक ही अभिन्न व्यक्ति ने इन सबका प्रणयन एक ही काल मे समाग्र कर एक अभिनव रचनाकौशल का पर्याप्त निदर्शन किया है। फलत यह सर्वाङ्गपूर्ण दार्शनिक पद्धति का द्योतक बड़ा ही श्लाघनीय एव आदरणीय ग्रन्थ है।

इस ग्रन्थ से पूर्व ही १६०८ ई० मे पण्डित रामावतारजी कलकत्ता विश्वविद्यालय मे श्री गोपाल वसु मल्लिक व्याख्याता नियुक्त किये गये और इन व्याख्यानो का सग्रहग्रन्थ **वेदान्तिज्म** (Vedantism) के नाम से प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ मे परमार्थदर्शन के सिद्धान्तों की ओर रचयिता की अभिरुचि परिलक्षित होती है। १६०५ ई० मे काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने पण्डित रामावतारजी की दार्शनिक रचना **पाश्चात्त्य दर्शन** प्रकाशित कर हिन्दीभाषी दर्शनप्रेमी पाठको का बडा ही कल्याण किया। पण्डितजी की यह रचना पथप्रदर्शक का काम करती है। डॉ० मैत्रेय (अध्यक्ष, दर्शन-विभाग, हिन्दूविश्वविद्यालय) ने इस ग्रन्थ की सस्तुति मे लेखक मे कहा था कि रामावतारजी का यह ग्रन्थ भारतीय भाषाओं मे लिखी गई पाश्चात्त्य-दर्शन विषयक पुस्तको मे अग्रणी है। इससे पूर्व किसी भारतीय लेखक ने किसी भी प्रान्तीय भाषा मे पश्चिमी दर्शन का विवरण देने का प्रयास नही किया था। पारिभाषिक शब्दो की समस्या के अतिरिक्त यूरोपीय दार्शनिक तथ्यो को भारतीय जामा पहिनाकर प्रस्तुत करना उस युग न एक टेढ़ी खीर थी, परन्तु शर्माजी ने इन दोनो को नियन्त्रित कर जो रचना प्रस्तुत की वह सर्वथा स्तुत्य तथा बोधगम्य थी। पण्डितजी ने बी० ए० परीक्षा देने के लिए पश्चिमी दर्शन का स्वय बिना किसी गुरु की सहायता के जो अनुशीलन किया था उसी का यह परिणत फल था। यह रचना आज भी स्तुत्य, उपादेय तथा उपयोगी है।[1]

पण्डित रामावतारजी को दम्भ से बडी घृणा थी, चाहे वह धार्मिक या दार्शनिक अथवा व्यावहारिक जगत् से सम्बन्ध रखता हो। भारतीय समाज मे फैली हुई भ्रान्त रूढ़ियोको ध्वस्त करने के लिए वे सतत खड्गहस्त रहते थे। दार्शनिक जगत् मे व्याप्त दम्भो के निराकरण के लिए ही 'परमार्थदर्शन' का प्रणयन किया गया था। पण्डितजी तर्कबुद्धि की कसौटी पर कसे जाने पर ही किसी सिद्धान्त को प्रामाणिक मानते थे।

पण्डित रामावतार शर्मा हृदय से आस्तिक व्यक्ति थे। परन्तु कभी कभी अपनी तीव्र तर्क-बुद्धि के द्वारा ईश्वर तथा धर्म के सबन्ध मे ऐसी बाते कह देते थे जिनसे लोगो के हृदय में भ्रम उत्पन्न हो जाता था। अपनी तर्क-बुद्धि की कसौटी पर कसने पर जो आचार, विचार, आस्था, ईश्वर तथा धर्म सबन्धी विचार खरे उतरे उन्ही का सकलन इन्होने परमार्थदर्शन मे किया है। इनको चार्वाक की कोटि मे नही रखा जा सकता है क्योकि चार्वाक के सबन्ध से इनके विचार अत्यन्त उत्कट है। इन्होने चार्वाक की निन्दा करते हुए लिखा है कि—"परमार्थदर्शन की मान्यता है कि चार्वाक का प्रत्यक्ष प्रमाण उनकी स्वार्थैषणा का द्योतक है। उसकी अधमर्णता की प्रशसा ससार की उन्नति मे बाधक एव आलस्योत्पादक है। चार्वाक अर्थात् चार-वाक् चार भूतो से ससार की सृष्टि मानता है। वह न आकाश को मानता है और न ईश्वर की सत्ता को ही स्वीकार करता है। अत उसका मत कदापि समीचीन नही हो सकता।"

१. 'पाश्चात्यदर्शन' का नवीन परिवर्धित सस्करण बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् (पटना) ने प्रकाशित कर जिज्ञासुओं का बड़ा उपकार किया है।

इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि शर्माजी चार्वाक के मत को निन्दनीय समझते थे। अत. शर्माजी को नास्तिक मानना अत्यन्त भूल होगी।

अद्भुत कवित्व-शक्ति

प० रामावतारजी को अद्भुत कवित्व-शक्ति प्राप्त थी। सस्कृत की कविता लिखने मे ये अद्वितीय थे। छन्द, अलकार, रस और विषय आदि किसी भी वस्तु का प्रतिबन्ध लगा दिया जाता, फिर भी जब ये अपने हाथ मे लेखनी लेकर बैठते थे तब अनायास ही कविता की निर्झरिणी प्रवाहित होने लगती थी। ये घटिकाशतक थे अर्थात् एक घड़ी में—चौबीस मिनटो मे—एक सौ बडे-बडे पद्यो के निर्माण की अद्भुत क्षमता रखते थे। इस प्रसग मे शर्माजी कहा करते थे कि प० अम्बिकादत्त व्यास घटिकाशतक कहलाते थे, परन्तु उनकी शक्ति सीमित थी क्योंकि वे एक घटिका मे सौ अनुष्टुपो ही की रचना कर लिया करते थे, अन्य लोग (अपनी ओर सकेत करते हुए) तो एक घटिका के भीतर बड़े-बड़े (मालिनी, उपजाति आदि) छन्दों में भी एक सौ पद्यो की रचना कर सकते है। यह उक्ति शर्माजी के विषय मे दर्पोक्ति न होकर स्वभावोक्ति समझनी चाहिए। ये अपने शिष्यो से कहा करते थे कि प्रारम्भ मे बड़े-बडे वृत्तों मे शब्दाडम्बर-पूर्ण कविता करनी चाहिए जो ओजगुण से पूर्ण हो। बाद मे छोटे वृत्तो में प्रसादमयी कविता का उदय धीरे धीरे अभ्यास करने पर ही होता है।

शर्माजी के प्रिय कवि महाकवि कालिदास तथा नैषधकार श्रीहर्ष थे। नैषध के श्लोको को ये मन्त्र कहा करते थे। मैने अनेक बार इन्हे परीक्षा की उत्तर-पुस्तिकाओं का परीक्षण करते समय नैषध का पाठ करते हुए देखा है। उत्तरपुस्तको को देखकर अक जोडने के लिए ये मेरे मित्र बटुकनाथ शर्मा को दे दिया करते, और अकन के साथ ही साथ नैषध का प्रतिपद पाठ भी ये स्वय करते जाते थे। यह अद्भुत शक्ति देखकर कौन समीक्षक चमत्कृत न हो उठेगा। कालिदास शर्माजी के अत्यन्त प्रिय कवि थे। इनके उत्कट प्रेम का पता केवल इसी बात से चल सकता है कि इन्होंने अपनी पुत्रियो का नामकरण रघुवश के स्त्री-पात्रो के नाम पर किया है। अपनी पुत्रियो के इन्दुमती, सुनन्दा आदि अभिधान पण्डितजी के कालिदास के प्रति हार्दिक प्रेम के सूचक है।

हिन्दी तथा भोजपुरी प्रेम

आज से साठ सत्तर वर्ष पूर्व जब हिन्दी राष्ट्रभाषा तथा राजभाषा के पद पर आसीन नही हुई थी, प० रामावतारजी हिन्दी भाषा के परम प्रेमी थे और ये हिन्दी के प्रचार तथा प्रसार मे निरत रहते थे। इन्होने अपनी अनेक पुस्तको का निर्माण राष्ट्रभाषा हिन्दी मे ही किया। अग्रेजी भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् होते हुए भी ये अग्रेजी भाषा मे ग्रन्थरचना के विरोधी थे। ये अपना हस्ताक्षर सदैव नागरी लिपि मे किया करते थे। ये कहा करते थे कि यह हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य है कि हम देववाणी (सस्कृत) तथा राष्ट्रवाणी (हिन्दी) के साहित्य की श्रीवृद्धि करें और इन्होने अपनी रचनाओं से इन दोनो भाषाओं के साहित्य को भरा है। उनका **हिन्दी व्याकरण** लघुकाय होने पर भी विचार की गरिमा तथा भाषा-विश्लेषण की महिमा के कारण आज भी बहुमूल्य तथा उपादेय है।

गुरुजी कभी-कभी मस्ती मे आकर हिन्दी मे भी कविता किया करते थे; परन्तु यह प्रयास केवल मनोरजन के ही लिए हुआ करता था। पटना कालेज के अग्रेज अध्यापकों पर व्यङ्ग्य करते हुए इन्होने एक दोहे में तत्कालीन परिस्थिति पर अच्छी चोट की है—

स्वेत द्वार से तपसी आये; गंगा तीर बस छबि छाये ।
हमरन के अब मछुआ टोला, बास उहाँ कबिता कस होला ॥

इन दिनों गुरुजी पटना के मछुआटोली मुहल्ले में रहा करते थे जो बड़ा ही गन्दा था और पटना के अंग्रेज प्राध्यापक गंगा के किनारे स्वच्छ स्थान में बँगलों में निवास करते थे।

पटना में गंगा के घाटो की गन्दगी के सम्बन्ध मे उनका यह दोहा कितना व्यङ्ग्यपूर्ण है—

जहँ जहँ हिन्दूघाट हैं, मल मसान कर खान ।
भरा विगंध दिमाग में, रहा न कविता प्रान ॥

रामावतारजी अपनी मातृभाषा भोजपुरी के भी बड़े प्रेमी थे। आज से ८०-६० वर्ष पूर्व जब भोजपुरी का कोई नाम भी नही जानता था, आप सदा अपने घर में तथा बाहर भी अपने स्वजनो से भोजपुरी मे ही बातें किया करते थे। इनके अनेक शिष्यों तथा मित्रों ने अपने संस्मरणों में इनके भोजपुरी-प्रेम को प्रमाणित किया है। इतना ही नही, कभी मौज में आकर भोजपुरी मे तुकबन्दी भी लिख दिया करते थे। बाबू रघुवीर नारायण की सुप्रसिद्ध 'बटोहिया' नामक कविता की पैरोडी की दो-चार पंक्तियाँ देखिए जिनमें भारत की दुर्दशा का वर्णन किया गया है :

उल्लू, गीध बोले रामा, बोले टिटिहिरिया;
से सियरा के बोलिया डेरावे रे बटोहिया ।
गंगा रे जमुनवा में सब बहे नलवा,
से नलिया झमकि मँहकावे रे बटोहिया ।

शर्माजी की काव्यप्रतिभा

पण्डित रामावतारजी विद्वद्-गोष्ठी मे प्रातिभ मधुर कवि के रूप में चिरस्मरणीय रहेंगे। वैदर्भी रीति के सिद्धहस्त कवि होने के अतिरिक्त गौडी रीति के भी वे निष्णात कवयिता थे। लोकातीत कल्पना के सामञ्जस्य में, नूतन वर्णन के विशद विन्यास में तथा पाश्चात्त्य वैज्ञानिकों के द्वारा प्रस्तुत अभिनव पदार्थों के विवरण मे शर्माजी अपना प्रतिद्वन्द्वी नही रखते थे। वे कहा करते थे कि काव्यरचना के लिए नैसर्गिक प्रतिभा की अपेक्षा होती है, वर्ण्य विषयों की इयत्ता नहीं है। केवल अठारह दिनों तक चलने वाले महाभारतीय युद्ध के सम्यक् विवेचन के लिए जब वेदव्यासजी विशालकाय लक्षश्लोकात्मक 'महाभारत' का प्रणयन कर सकते हैं, तब अठारह महीनों से भी अधिक चलने वाले, नाना स्थलों में विभक्त यूरोपीय महायुद्ध के यथार्थ वर्णन के लिए तो अनेक वायुयान, तारपीडो आदि सामरिक उपकरणों से युक्त महाभारतों की रचना की जा सकती है। लेखनी के धनी रचयिता में केवल अलौकिक प्रतिभा की आवश्यकता है। पण्डित रामावतारजी मे यह प्रतिभा अपने पूर्ण वैभव के साथ विद्यमान थी, परन्तु बड़े ही दुःख की बात है कि अल्पवय में ही कालकवलित होने के कारण पण्डितजी 'वाङ्मयार्णव' के महाभारतीय काण्ड की रचना नहीं कर पाये। इसके इतिहास-काण्ड के अन्तर्गत 'भारतीयमितिवृत्तम्' तथा 'देशान्तरीयेतिवृत्तम्' का प्रणयन कर शर्माजी ने उस अभीष्ट ग्रन्थ की एक झाँकी अवश्य प्रस्तुत कर दी है जो भव्य, रोचक तथा ज्ञानवर्धक है।

अपनी छात्रावस्था में ही इनकी प्रतिभा कोमलकान्त-पदावली से समन्वित शब्द की रचना की ओर स्वतः आकृष्ट हुई। तभी तो केवल पन्द्रह वर्ष के वय में ही अपने साहित्यिक साथियों के आग्रह पर उन्होंने 'धीरनैषध' जैसे सप्ताङ्गी रूपक की रचना कर डाली थी जिसके

कारण अपने गुरुवर्य गङ्गाधर शास्त्रीजी के द्वारा इन्हें 'महाकवि' होने का गौरवमय शुभाशीर्वाद प्राप्त हो गया था। बात यों हुई। शर्माजी ने अपने अनुज और शिष्य श्रीकान्तजी को इस स्वनिर्मित नाटक का अध्ययन करा दिया था। एक दिन उन्हें अपने गुरु गङ्गाधर शास्त्रीजी के पास ले जाकर उनका परिचय दिया। शास्त्रीजी ने श्रीकान्तजी से कोई पद्य सुनाने का आदेश दिया, तब उन्होंने यह पद्य सुनाकर शास्त्रीजी को चमत्कृत कर दिया था—

श्रीकृष्णोरसि कौस्तुभच्छविरिव ध्वान्तावृते व्योमनि
प्रत्यग्रा शशिनः कलेव निकषे रेखेव जाम्बूनदी ।
प्रावृड्-वारिधरेऽचिरद्युतिरिव श्रीकण्ठकण्ठे भृशं
संसक्ता गिरिजाभुजव्रततिका दूरीक्रियाद् दुष्कृतम् ॥

श्लोक के रचयिता तथा ग्रन्थ का परिचय पूछने पर श्रीकान्तजी ने शर्माजी की ओर सकेत किया और इसे 'धीरनैषध' नाटक की नान्दी होने की बात बताई। इस पर शास्त्रीजी ने पूरे नाटक को पढ़कर दूसरे दिन अपनी सम्मति कह सुनाई **सत्यं महाकविरसि**। गुरु की यह सम्मति वरदान सिद्ध हुई। पण्डित रामावतारजी महाकवि रूप में सचमुच विख्यात हो गये।

शर्माजी की दूसरी काव्यात्मक कृति **मारुति-शतक** भी एक मीठी चुनौती स्वीकारने की ही सुखद परिणति है। सुनते है कि पण्डितजी के एक विद्वान् पितृव्य ने हँसी-खेल में ही कह डाला कि 'बबुआ, तू त काव्य रचना बड़ा अच्छा करैले। अगर कवि के 'सूर्यशतक' के समान कोई भव्य शतक बना डाल, त हम तोहार जोग्यता जानी।' बस क्या था ? पण्डितजी को बात लग गई। पन्द्रह-सोलह साल के वय मे ही इन्होने स्रग्धरा जैसे दीर्घवृत्त में हनुमानजी जैसे विकट-प्रचण्ड गर्जनशील देवता की स्तुति मे शतक काव्य की रचना कर ही डाली और वह भी ४८ घटों के भीतर ही। शर्माजी ने अपनी पत्नी को आदेश दिया कि मुझसे कोई बोले नही। थोड़े-थोड़े समय पर मुझे गगाजल पिला जाया करना। मै बिना इस काव्य को समाप्त किये नही उठूँगा। लगातार बैठकर इस भव्य शतक का निर्माण कर ही तो डाला। इस काव्य के अप्रसिद्ध शब्दों के विषय में जब मैने पण्डितजी से पूछा, तब उन्होने कहा "उस समय मै कोशों का अध्ययन कर रहा था। नाना प्रकार के अप्रसिद्ध तथा अल्प-प्रसिद्ध शब्दों की मुझे विशेष जानकारी थी। उन्ही का प्रयोग होने से सम्भव है काव्य में कुछ दुरूहता आ गई हो। परन्तु सब कुछ अयत्नपूर्वक था। उसके लिए कोई विशेष प्रयास मुझे नही करना पड़ा।"

स्रग्धरा छन्द मे देवस्तुति-प्रणयन की परम्परा आज से तेरह सौ वर्ष पूर्व इसी काशी-मण्डल के महाकवि मयूर कवि ने चलायी थी। 'सूर्यशतक' का निर्माण कर फलस्वरूप वे कुष्ठ जैसे दुष्ट रोग से मुक्त हो गये थे। 'मारुतिशतक'[1] भी उसी परम्परा का आधुनिक प्रतिनिधि गीति-काव्य है। इसमें हनुमानजी के विकट स्वरूप, गर्जन-तर्जन, विकटाकार लाङ्गूल, पत्थर पर पटकने पर लागूल से जायमान घोर प्रचण्ड निनाद, स्वर्णपुरी लंका के उदात्त प्रासादों का प्रज्वालन आदि विषयों का बड़ी प्रौढ़ि के साथ गौडी रीति में वर्णन अलौकिक कल्पना की सद्यःस्फूर्ति का जाज्वल्यमान दृष्टान्त है। पूरा काव्य उदात्त शैली में निबद्ध है, अलंकारों की सुषमा अवलोकनीय है, अनुप्रासों की विकट छटा नितान्त आकर्षक है। एक-दो उदाहरण पर्याप्त है।

हनुमान् के पुच्छविस्फोट के प्रचण्ड शब्द का विकट वर्णन—

---

१. खड्गविलास प्रेस, पटना से प्रथम प्रकाशित, १९१४ ई०। 'रामावतारगाथा' नामक अभिनन्दनग्रन्थ में अभी प्रकाशित पृ० ३५३—३६७ प्र० भारतीय शास्त्र समादर समिति, छपरा, १९७८ ई०।

मरुत्नन्दन हनुमानजी के प्रचण्ड व्यक्तित्व के परिचय के लिए शर्माजी का यह पद्य नितान्त उपयुक्त एवं ओजगुण से मण्डित है। पद्य की भाषा तथा भाव दोनों ही उदात्त तथा मनोरम हैं —

अव्यादव्याजभव्याकृतिरतनुरयव्यासनव्यानुभावः
सव्यासव्याद्रिदिव्यावनिरुह- कुसुमार्घाभृद-व्याकुलाङ्गः।
क्रव्यादौघाञ्छरव्याण्युपदधदनिशं साधुरव्यात्मजार्थं
हव्या हारव्रजव्याहृतिविनुतिरसौ सञ्जनानाञ्जनेयः॥

—मारुतिशतक, पद्य १

हनुमान्‌जी की एक अन्य प्रशस्ति का अवलोकन द्रष्टव्य है—

घोणाघोरान् घनाभान् घनकरटि-घटा-घस्मरान् घोटघोषान्
रक्षोव्याघ्रान् घृणार्द्रो घटितघुणनिभान् घूर्णयित्वैव शीघ्रम्।
जङ्घादघ्नासृगोघान् परिघसमभुजान् द्राग् जघन्याञ्जिघांसु-
र्द्राघिष्ठं विघ्ननिघ्नं लघयतु लघु वः साध्वसं गान्धवाहिः॥ ५३॥

हनुमान् के पुच्छविस्फोट के प्रचण्ड शब्द का विकट वर्णन—

लङ्कातङ्काय शङ्काकुलदनुजवधू-भ्रूणविभ्रंशनार्थं
दम्भारम्भाय जम्भार्यनुसरणकृतां पुच्छविस्फोटशब्दः।
हन्तानन्ताधिसन्तापितसकलजनानन्दनायोज्झिहानो
दद्यादद्यानवद्यान्युदयविलसितान्याञ्जनेयस्य तूर्णम्॥

—मारुतिशतक, पद्य ६६

इस पद्यों के पद्यकार का अनुप्रास-प्रेम नितान्त प्रशंसनीय है।

पण्डित रामावतारजी की तीसरी काव्यकृति तो इन दोनों से विलक्षण है। वह है मुद्गरदूत। पण्डितजी दम्भ के महान् शत्रु थे, चाहे वह दम्भ समाज में हो, साहित्य में हो अथवा धार्मिक जगत् में हो। उस युग में विहार में, विशेषतः पटना में, 'सखीसमाज' का विशेष जोर था। भक्त लोग अपने इष्टदेव—राम या कृष्ण—को रिझाने के लिए सखीभेष धारण कर नारी के व्यवहार में अपने को आसक्त रखते थे। पण्डितजी ने मुझसे स्वयं कहा था कि जब मैं पटनाकालेज के होस्टल का अध्यक्ष था, तब एक विचित्र घटना घटी थी। दस बजे रात को होस्टल के पास के ही एक कुएँ में कोई छात्र गिर गया था। जब वह छात्र अन्य छात्रों के प्रयत्नों से बाहर निकाला गया, तब उसके रूप को देख कर अचंभित होना पड़ा था। शरीर पर लाल साड़ी, माथे में सिन्दूर की चटकदार रेखा, हाथों में झनझनाती चूड़ियाँ—इनसे सुसज्जित उस छात्र को देख कर सब अचम्भे में पड़ गये थे। पूछने पर मालूम पड़ा कि वह सखी के वेष में पास के ही मन्दिर में भगवान् को रिझाने के लिए नृत्य कर रहा था। हॉस्टल लौटते समय अन्धकार के कारण वह कुएँ में गिर पड़ा था। इसी प्रकार की अन्य विसंगत घटनाओं को देखकर शर्माजी बड़े दुखित होते थे। तथाकथित योगियों की लीलाओं से भी वे घृणा करते थे। काशी के एक काने ब्रह्मचारीजी का विचित्र चरित्र भी उनकी आलोचना का विषय था। काशी में उस समय (२०वीं शती के आरम्भ में १८९८ ई०–१९१० ई०) थिआसोफी का बड़ा तुमुल प्रभाव था। श्रीमती एनी बेसेन्ट उस संस्था की संचालिका थीं। उन्हीं के द्वारा स्थापित सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में संस्कृताध्यापक होने के नाते पण्डितजी को उस समुदाय के लोगों के विचित्र चरित्र को निकट से देखने का अवसर मिला था। इसी प्रकार की अन्य दम्भवार्ता की तीव्र साहित्यिक आलोचना के लिए 'मुद्गरदूत' का अवतरण हुआ। इस आलोचना के माध्यम थे मुद्गरानन्द सरस्वती नामक एक कल्पित

पात्र । इन विचित्रताओं के कारण यह दूत-काव्य अपनी परम्परा मे एक अभिनव कला का प्रतिनिधि है । इसका नायक कोई 'मूर्खदेव' यूरोप तथा अमेरिका की यात्रा कर वहाँ की विलक्षण वस्तुओं से परिचित होकर अपने जीवन को धन्य मानता है । मुद्गरदूत नि सन्देह रामावतार शर्मा की लोकातीत कल्पना, अनुपम उपहासकथा (पैरोडी), नव्य शब्द-रचना-चातुरी एव विचित्र भौगोलिक विवरण के लिए जितना स्मरणीय रहेगा, उतना ही समाज की रूढ़ियो के ऊपर घोर निर्मम प्रहारो के लिए भी । सखीसमाज का यह दृश्य देखिए—

आनेष्येऽहं हिमगिरितटादौषधं वः क्षुधारिं
प्राणायामैर्वियति भवतां साधयिष्ये गतिं वा ।
कुञ्जे कुञ्जे सपदि भविता रामकृष्णावतारः
श्मश्रुच्छित्त्वा प्रकट-वनिता-भाव-भाजो रमध्वम् ॥ १६ ॥
जल्पन्नित्थं रसनगरलै रामकृष्णादिनामा-
न्युग्राचारः किल कलुषयन्नार्तवं बिभ्रदङ्के ।
सिन्दूराक्तो रणितवलयः शाटिकावेष्टिताङ्गः
सायं चैत्ये प्रतिदिनमसावञ्जिताक्षो ननर्त ॥ १७ ॥

अमेरिका अथवा इगलैण्ड की किसी श्वेताङ्गना का यह वर्णन कितना रोचक, नवीन तथा आवर्जक है । देखिए तो सही । कितना उपहास मे सान्द्र तथा रसाभावमय है यह विवरण—

स्थूला श्वेता परुषरसना शीर्णकन्दाधरोष्ठी
मध्ये स्फारा स्तिमितशुनकप्रेक्षणा तुङ्गनाभि· ।
श्रोणीकार्श्यात् प्रखरगमना दूरनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याच्नरविकसनात् पूर्वजा वानरीव ॥

इस श्लोक के पठनमात्र से पता चलता है कि यह मेघदूत के निम्नाकित सुन्दर श्लोक की पैरोडी है—

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणी-प्रेक्षणा निम्ननाभिः ।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥

—मेघदूत, उत्तर २२

इस श्लोक के अन्तिम चरण मे श्वेताङ्गी की जो वानरी से उपमा दी गई है वह नितान्त नवीन तथा अश्रुतपूर्ण है । इस ग्रन्थ—मुद्गरदूत—के अन्त मे उस मूर्खदेव के ब्लाकटानन्द देव की शरण में अमेरिका जाने की जो बात लिखी है वही इस ग्रन्थ को समझने की कुञ्जी है । यह उक्ति है—

वन्ध्या-पुत्रानुसरणसभां तां विहायातिरुष्टः
कल्याणार्थी शरणमगमत् ब्लाकटानन्द-देवम् ॥

इस पक्ति मे 'ब्लाकटानन्द देव' से तात्पर्य है 'कर्नल आल्काट' से, जो थियासोफिकल सोसाइटी के सस्थापक थे तथा अमेरिका के निवासी थे । इस प्रकार रामावतारजी ने इस ग्रन्थ के द्वारा थियासोफिकल सोसाइटी के सस्थापकों तथा विद्वानो के द्वारा हिन्दू धर्म के ऊपर जो आक्षेप किये जाते थे, तथा हिन्दू धर्म के प्रचार की आड़ मे जो अनाचार किया जाता था उन सबके ऊपर तीव्र कटाक्ष किया है ।

इस ग्रन्थ में अंग्रेजी शब्दों का संस्कृतीकरण करके प्रयोग किया गया है जैसे पावरोटी के लिए 'स्थूलाभ्यूष' तथा केबुल (तार) के लिए 'वार्तातन्त्री'। पाठको की सुविधा के लिए शर्माजी ने इन शब्दो का कृपा कर अर्थ भी अन्त मे दे दिया है, अन्यथा इस ग्रन्थ के तात्पर्य को समझना एक टेढ़ी खीर हो जाता।

शर्माजी ने आज से अस्सी वर्ष पहिले संस्कृत मे राष्ट्रीय तथा देशप्रेम से संवलित कविताओं की रचना की थी जो 'भारतगीतिका' के नाम से प्रसिद्ध है। इस कविता के पढ़ने से शर्माजी का राष्ट्रप्रेम प्रकट होता है। इस गीतिका की भाषा बडी सरल तथा सरस है जिसमें भारतीय लोगो का अपने भेद भावो को भुला कर संगठित होने का आह्वान किया है। उदाहरण के लिए दो चार पद्य देखिये -

अलं भारतीया मतानां विभेदैरलं देशभेदेन वैरेण चालम्।
अयं शाश्वतो धर्म एको धरायां, न सम्भाव्यते धर्मतत्त्वेषु भेदः ॥ १ ॥
दया भूतसंघे मतिर्देवदेवे, चतुर्वर्ग-चिन्ता-विरोधाद् विरामः।
मनः-काय-वाक्-शोधने चैव बुद्धि:, परं धर्मतत्त्वं विरोधोऽत्र केषाम्? ॥ २ ॥
गिरं संस्कृतां राजकीयां च वाणीं, समभ्यस्य लोकद्वयस्यापि सौख्यम्।
वशे स्थापयध्वं स्वधर्मं स्वदेशं, तथा प्रापयध्वं पुनर्गौरवं तत् ॥ ३ ॥

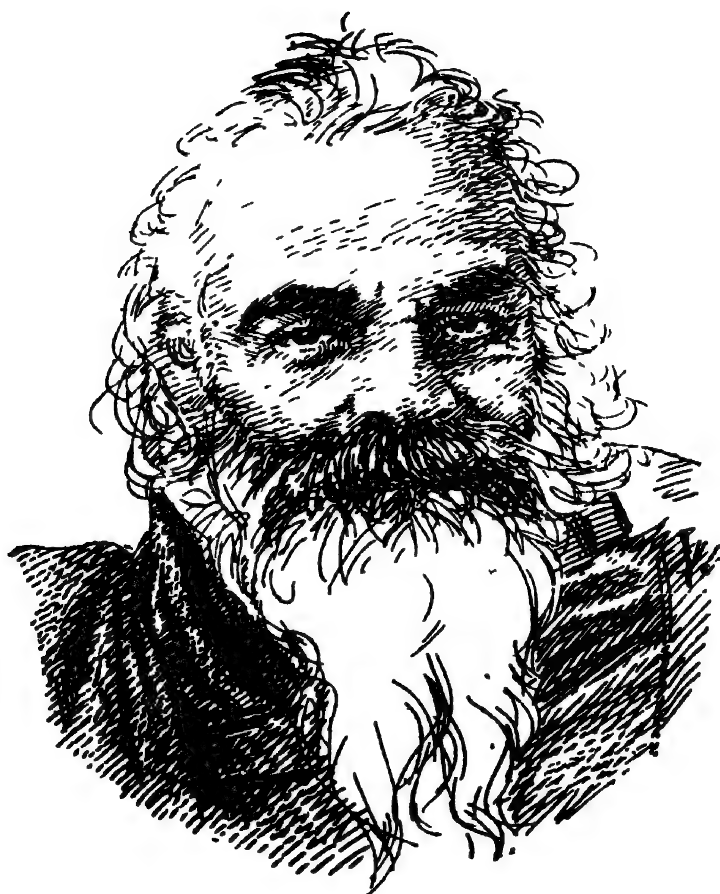
... कहने की आवश्यकता नही कि यह गीतिका राष्ट्रप्रेम की गीता है जिसे पढ़कर भारतीयो के हृदय मे अपने अतीत के प्रति गौरव की भावना उत्पन्न होती है। इस गीतिका मे राष्ट्रप्रेम कूट-कूट कर भरा हुआ है।

पाण्डेय रामावतार शर्माजी की प्रतिभा के द्योतक निम्नलिखित पद्य उनकी विद्वत्ता के विषय मे अर्थवाद न होकर तथ्यवाद है—

कवितावनितास्वयंवृता दयितास्ते महिता भुवस्तले।
बुधमण्डलसादरेक्षिता जनताविस्मयकारिकीर्तयः॥
प्रौढाः पण्डितमण्डले बहुविधे वादाहवे जित्वरा
विख्याता अपि वादिनः क्षणमलं स्थातुं न येषां पुरः।
वाग्देवी सततं यदीयरसनारङ्गस्थले नृत्यति
प्रीत्या यैर्विहिता जनोपकृतयेऽनेके निबन्धा वराः॥

शर्माजी के घनिष्ठ मित्र
पण्डित गोपाल शास्त्री
(आस्पद—त्रिपाठी, उपाधि—दर्शनकेशरी)

पण्डित गोपाल शास्त्रीजी संस्कृत-शास्त्रो के गम्भीर विद्वान् होने के अतिरिक्त पाणिनीय व्याकरण के प्रसार-प्रचार की नई दिशा के उद्भावक एक महनीय कर्मठ व्यक्ति है। बिहार प्रान्त के सिवान मण्डल के 'जगन्नाथपुर' गाँव में आपका जन्म १८९२ ईस्वी में हुआ। आप शाण्डिल्यगोत्रीय सरयूपारीण ब्राह्मण है। अपने मण्डल की पाठशाला मे आरम्भिक संस्कृत-शिक्षा प्राप्त कर आप काशी मे विद्याध्ययन के लिए आये और तत्कालीन महनीय पण्डितो से आपने व्याकरण तथा दर्शनशास्त्र का गम्भीर अध्ययन कर इन शास्त्रों में माननीय प्रवीणता उपलब्ध की। १९१५ ईस्वी में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से आपने व्याकरण से शास्त्राचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की। बिहार से इन्होंने काव्य तथा न्याय विषय में सर्वोच्च 'तीर्थ' परीक्षा में भी



पं० गोपाल शास्त्री 'दर्शनकेशरी'

सफलता प्राप्त की। अध्यापन समाप्त करने के समय मे ही इनका झुकाव काग्रेस की ओर हो गया और बाबू शिवप्रसाद गुप्तजी के विशेष आग्रह पर इन्होने काशीविद्यापीठ मे सस्कृत-अध्यापक का पद स्वीकारा जिस पर ये १६२१ ई० से लेकर १६४७ ईस्वी तक लगातार २६ वर्षो तक व्याकरण तथा दर्शनशास्त्र का अध्यापन करते रहे। यहाँ आपने अनेक शिष्यो को सस्कृत तथा दर्शन का गाढ अनुरागी बनाकर सुयोग्य बनाया जिनमे लालबहादुर शास्त्री तथा अलगू राय शास्त्री प्रभृति अनेक राजनीतिक पुरुषो का नाम अग्रगण्य है। वहाँ से अवकाश लेने के अनन्तर शास्त्रीजी ने ज्योतिर्मठ मे स्थित 'श्रीबदरीनाथ वेदवेदाग महाविद्यालय' के प्राचार्य पद का निर्वाह बारह वर्षो तक किया। आजकल आप काशी मे ही निवास कर रहे है तथा 'गाण्डीवम्' नामक सुप्रसिद्ध सस्कृत साप्ताहिक के प्रधान सम्पादक है।

ग्रन्थ—पण्डित गोपाल शास्त्रीजी ने सस्कृत भाषा मे छोटे-बडे २५ ग्रन्थो का निर्माण किया है जिनका नीचे परिचय दिया गया है। शास्त्रीजी सस्कृत भाषाप्रचार के अग्रदूत है। इसके निमित्त एक नवीन पद्धति का उन्होने आविष्कार किया है और इसी पद्धति से स्वस्थापित 'कन्या सस्कृत विद्यालय' मे सस्कृत भाषा की शिक्षा देकर थोड़े समय तथा अल्प प्रयास से सस्कृत भाषा के बोलने तथा समझने की योग्यता उत्पन्न कर देते है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए शास्त्रीजी ने अनेक ग्रन्थो का प्रणयन किया है जिनमे मुख्य है—(१) पाणिनीय प्रशस्ति, (२) पाणिनीयप्रदीप, (३) पाणिनीयप्रशस्तिनाटकम्, (४) पाणिनीयप्रबोधम् (नाटक), (५) ऋजुपाणिनीयम्, (६) सस्कृतशिक्षकम् (हिन्दी माध्यम से सस्कृत की शिक्षा), (७) ऋजुपाणिनीयम् (अत्यावश्यक सूत्रो का क्रमबद्ध सकलन), (८) बृहदृजुपाणिनीयम्, (६) सवृत्ति अष्टाध्यायी, (१०) पाणिनीयप्रवोधव्याकरणम्, (११) प्रशिक्षण सविधानम् (सस्कृत माध्यम से शिक्षण की विधि), (१२) भट्टिकाव्य ('काव्यमर्मप्रकाशिका' नामक टीका से सवलित), (१३) भट्टिकाव्य शास्त्रसार (सवादात्मक), (१४) सस्कृत सस्कृति शिक्षकम् (हिन्दी माध्यम से मनुस्मृति मे निर्दिष्ट आचारसहिता का वितरण), (१५) गीतामृत व्याकरणम् (गीता के प्रयोगो का ही उदाहरण)। इतर ग्रन्थो के द्वारा भारतीय नारियो की महिमा तथा गीता के कर्मयोग का विशद विवेचन किया गया है, (१६) वीरागनावैभवम् (महनीय नारियो के चरित्रचित्रण), (१७)-(१८) नारीजागरण नाटकम् (सस्कृत तथा हिन्दी उभय माध्यमो से विशिष्ट नारियो का परिचय), (१६) गोमहिमाऽभिनयनाटकम्, (२०) मीमासापरिभाषा (दीपिका व्याख्या), तथा (२१) श्रीगीताकर्मयोगशास्त्रम्- गीता का तात्पर्य कर्मयोग के प्रतिपादन मे है—इसका विस्तृत तथा गम्भीर विवेचन बडे ही पाण्डित्य के द्वारा तर्क तथा युक्तियो के सहारे किया गया है। दर्शनकेशरीजी का यह महिमा मण्डित ग्रन्थ उनके दार्शनिक पाण्डित्य का निकषग्रावा है।

दर्शनकेशरीजी का स्वभाव बडा ही मधुर एव सात्त्विक है। सस्कृत भाषा का प्रचार ही उनके सुदीर्घ जीवन का एकमात्र व्रत है और इसके सम्पादन मे इनको विपुल सफलता प्राप्त हुई है। ये सस्कृत भाषा के पत्रकार भी है। इनके द्वारा सम्पादित 'गाण्डीवम्' पर्याप्त रूपेण लोकप्रिय सस्कृत साप्ताहिक है। बहुत दिन पूर्व काशी से प्रकाशित होने वाले 'सुप्रभातम्' के भी आप सम्पादक थे। इसी वैदुष्य के कारण शारदापीठ के शकराचार्य ने 'दर्शनकेशरी', भारतधर्ममहामण्डल ने 'महामहाध्यापक' की उपाधि से इन्हे सम्मानित किया है। ये पण्डित रामावतार शर्माजी के अकृत्रिम सुहृत् तथा साहित्यिक बन्धु है। दोनो बिहार प्रान्त के 'सारन' के निवासी है—शर्माजी सारन (छपरा) नगर के वासी थे और दर्शन-केशरीजी सारन-मण्डल के निवासी है।

दर्शनकेशरीजी के घनिष्ठ मित्र
पण्डित रघुनाथ त्रिवेदी

आजकल काशी और कलकत्ता रेलवे मार्ग से जितने जुड़े हैं, आज से सौ-सवासौ वर्ष पूर्व ये दोनों सस्कृतविद्या के आदान-प्रदान की दिशा में भी इतने ही जुड़े हुए थे। इस तथ्य का पता उस युग के संस्कृत पण्डितों के जीवन-चरित की समीक्षा करने पर किसी भी आलोचक को प्रत्यक्ष हुए बिना न रहेगा। कतिपय पण्डितों के कार्यकलाप का समीक्षण हम इतः पूर्व कर चुके हैं। इसी परम्परा के अन्तर्गत पण्डित रघुनाथ त्रिवेदीजी को भी हम यथार्थतः रख सकते है। त्रिवेदीजी का जन्म बलिया जनपद के प्रसिद्ध ग्राम सीताकुण्ड परसिया में १८८२ ईस्वी में हुआ था। इनके पूज्य पिताजी संस्कृत के विद्वान् थे। रघुनाथजी ने अपनी आरम्भिक संस्कृतशिक्षा अपने पिताजी के चरणों में बैठकर प्राप्त की। व्याकरण की प्रौढ़ शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से ये वाराणसी आये और अपने उद्देश्य में इन्हें पूर्ण सफलता मिली। त्रिवेदीजी बड़े मधुरभाषी थे। इनकी आवाज सुरीली थी। सगीत के प्रति इनका अधिक प्रेम था। काशी में अध्ययन-काल में ही इनका परिचय हिन्दी के प्रख्यात कवि जयशंकर प्रसादजी के पिता से हो गया जो बड़े प्रेम तथा आदर से इनका सम्मान करते थे। त्रिवेदीजी जब उनके घर जाते थे, तभी उनसे वे भजन सुना करते थे। उसी समय ये प्रसादजी से भी परिचित हुए। प्रसाद उस समय विद्याध्ययन कर रहे थे। त्रिवेदीजी प्रसादजी की मेधा की प्रशंसा किया करते थे। काशी में व्याकरण में प्रौढता प्राप्त कर ये कलकत्ता गये तथा मारवाड़ी सेठों के सम्पर्क में आये।

सेठ मोहनलाल जालान ने पण्डित त्रिवेदीजी को अपनी संस्कृतपाठशाला में मुख्य अध्यापक पद पर प्रतिष्ठित किया। पण्डितजी विद्यार्थियों का केवल अध्यापन ही नही करते थे, उनके योगक्षेम की भी पूरा व्यवस्था कर देते थे। इनके निर्मल चरित्र, नैष्ठिक सदाचार तथा कुशल अध्यापन के कारण कलकत्ता के मारवाड़ी सेठ इनसे बहुत प्रसन्न रहते थे और विद्यार्थियों के योगक्षेम के कार्य में पण्डितजी की भरपूर सहायता करते थे। परिवार के मुखिया होने के कारण बलिया से अपने परिवार के अन्य व्यक्तियों को शिक्षित करने में तथा तदनन्तर उनके योगक्षेम की व्यवस्था करने में भी ये सर्वदा लगे रहते थे।

पण्डित रघुनाथ त्रिवेदीजी सगीत के मर्मज्ञ विद्वान् थे। इनके गले में लोच थी, वाणी में मिठास थी। इनके कारण कलकत्ते के बगीय संगीतज्ञों के लिए ये आदर एवं सम्मान के पात्र थे। पण्डितजी अपने घर पर संगीत का नित्य अभ्यास करते थे। इस कार्य में उनके परिवार के शिक्षित व्यक्ति संगत का कार्य करते थे। मृदंग उनका प्रिय वाद्य था और ध्रुपद उनका मनोहर गायन था। सन्ध्या समय वे प्रतिदिन मण्डली जुटाकर पूरे आवास को गीतिमय बना दिया करते थे। इस प्रकार संस्कृतविद्या एवं संगीत इन दोनों के प्रचार में ये दत्तचित्त रहा करते थे।

कलकत्ता में विद्याप्रचार के संग में अपने जन्मस्थान की उन्नति करने में ये पराङ्मुख नहीं रहे। अपने गाँव के निकट परसिया ग्राम में इन्होंने पराशर-ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना की और कलकत्ते से आर्थिक सहायता भेजकर इन्होंने उसे उन्नत स्तर पर पहुँचा दिया। उस समय की स्थापित संस्कृतपाठशाला आज भी विद्यमान है। साथ ही साथ अंग्रेजी का भी प्रचार किया और इण्टरकॉलेज की स्थापना की। 'हल्दी' बलिया जनपद का एक प्रसिद्ध ग्राम है। हैह्यवंशी राजपूतों का यह प्रमुख स्थान है। बलिया से जाने वाली मुख्य सड़क पर यह आश्रम

यही अवस्थित है जहाँ सुन्दर कूआँ, धर्मशाला तथा शिवालय विद्यमान है। त्रिवेदीजी राजनीतिक पुरुष थे। वे कांग्रेस के भक्त अनुयायी थे। फलत जो कोई राजनीति का नेता इधर आता, उसका अभिनन्दन यहाँ अवश्य किया जाता था। पण्डित जवाहरलाल नेहरू भी बलिया की यात्रा के अवसर पर यहाँ टिके थे भोजन कर रात को यही विश्राम किया और चलते समय उन्होने विद्यालय के रजिस्टर मे अपना हस्ताक्षर भी किया था जो आज भी वहाँ देखा जा सकता है। त्रिवेदीजी का निधन १६६८ ई० मे ८६ साल की आयु मे हुआ।

पण्डितजी के दो पुत्र थे—चन्द्रभूषण त्रिवेदी तथा देवव्रत त्रिवेदी। इन दोनो मे कनिष्ठ पुत्र आयुर्वेद के बड़े विशेषज्ञ, चिकित्सा मे परम प्रवीण तथा लोक-व्यवहार मे नितान्त कर्मठ व्यक्ति थे। चरकसहिता का उन्होने बडी निष्ठा तथा परिश्रम से अलौकिक ज्ञान प्राप्त किया था। कठिन से कठिन रोगो की दवा आयुर्वेद की पद्धति से ही वे किया करते थे तथा उन्हे इस कार्य मे पूर्ण सफलता प्राप्त थी। उनके गुरु धरणी बाबू कविराज तथा उनके भी गुरु हरानचन्द्र बाबू कलकत्ता के योग्यतम वैद्य माने जाते थे। ये दोनो बाल्यचिकित्सा भी करते थे। इन गुरुओं की अटूट कृपा उन पर थी अत उन्हे कठिन रोगियो को नीरोग करने मे दैवी सहायता मिलती थी। किसी कठिन रोग के निवारण मे सर्पदष्ट केला के फल को खिलाने से अपूर्व सफलता प्राप्त कर लोगो को चमत्कृत कर दिया था। ऐसे सुयोग्य वैद्य तथा सस्कृतज्ञ साहित्यकार व्यक्ति का निधन अल्प आयु मे १६७७ ईस्वी मे हो गया। इन्ही वैद्यराज की सुशिक्षित आत्मजा डॉ० गीता उपाध्याय लेखक की पुत्रवधू है जिस पर योग्य पिता की अभिराम छाया पड़ी है। इनकी थीसिस अग्रेजी मे है जिसमे प्राचीन सस्कृत-कवियो के राजनीति से सम्बद्ध विचारो की समीक्षा की गई हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय के द्वारा स्वीकृत यह थीसिस चौखम्भा कार्यालय वाराणसी से प्रकाशित है।





डा० गंगानाथ झा

डॉ० गंगानाथ झा

(आस्पद—झा, उपाधि—महामहोपाध्याय)

बीसवी शताब्दी के अग्रेजी भाषा वेत्ता सस्कृत विद्वानो मे जितनी ख्याति और यश का उपार्जन डॉ० गगानाथ झा ने किया, उतना सम्भवत डॉ० सर रामकृष्ण भाण्डारकर के एक अपवाद को छोडकर किसी ने नही किया सस्कृतविद्या का अध्ययन करके भी कोई भारतीय अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर सकता है यह बात उनके पहले केवल कल्पनामात्र थी। डॉ० झा ने अपने जीवन मे विपुल कीर्ति एव अक्षय यश के साथ ही प्रचुर धन का भी अर्जन किया। आप प्राचीन परम्परा के प्रकाण्ड पण्डित थे। आपने प्राचीन भारतीय पद्धति के अनुसार शास्त्रो का अध्ययन गुरुओं के चरणो मे बैठ कर किया था। प्राचीन पद्धति से सस्कृत का अध्ययन करने के साथ ही आपने नवीन पाश्चात्त्य आलोचनप्रणाली से भी सस्कृतसाहित्य का मन्थन किया था। इस प्रकार आपकी विद्वत्ता मे प्राचीन भारतीय पद्धति तथा नवीन पाश्चात्त्य शैली का मणि काचन सयोग उपलब्ध होता है। आपके सबन्ध मे **हेम्न परमामोद** (सोने मे सुगन्ध) की उक्ति अक्षरश चरितार्थ होती है।

यद्यपि आपने समस्त भारतीय दर्शनशास्त्रो का सम्यक् आलोडन किया था, तथापि मीमासाशास्त्र के प्रति आपकी विशेष अभिरुचि थी। आपने इस शास्त्र का, गुरु के चरणो मे उपस्थित होकर सम्यक् अध्ययन किया था अत यह विशेष फलदायी हुआ था। मीमासा शास्त्र के विषय मे नवीन पुस्तके लिखकर तथा प्राचीन ग्रन्थो का अनुवाद कर आपने इस कथन की पुष्टि की है। ये धर्मशास्त्र के भी प्रकाण्ड पण्डित थे **हिन्दू ला इन इट्स सोर्सेज** नामक पुस्तक मे इनकी विद्वत्ता का कुछ अनुमान किया जा सकता है। परन्तु दर्शन तथा धर्मशास्त्र के अतिरिक्त साहित्य शास्त्र के भी ये पारगत मनीषी थे। इन्होने अपनी छात्रावस्था मे ही **काव्य-प्रकाश** जैसे ठोस तथा कठिन सस्कृतग्रन्थ का अग्रेजी मे अनुवाद कर विद्वानो को चकित कर दिया था। आपने मनुस्मृति के ऊपर मेधातिथि के द्वारा लिखे गये बृहत् भाष्य का भी अग्रेजी मे अनुवाद प्रस्तुत किया है जिससे आपके कठोर परिश्रम तथा अद्भुत विद्वत्ता का पता चलता है। इस प्रकार दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र और काव्यशास्त्रसबन्धी विद्वत्ता का अद्भुत समिश्रण आपके व्यक्तित्व मे उपलब्ध होता है।

डॉ० गगानाथ अत्यन्त भाग्यशाली पुरुष थे। जो सबसे अधिक विशिष्ट वस्तु आपके जीवन मे परिलक्षित होती है वह है आपकी लोकोत्तर भाग्यशालिता। कोई व्यक्ति अपने जीवन मे सतत परिश्रम के द्वारा विद्वत्ता तो प्राप्त कर सकता है परन्तु भाग्य का उपार्जन करना भगवान् के अनुग्रह से ही होता है। ऐसा प्राय देखा जाता है, महान् व्यक्तियो की सन्ताने प्राय महान् नही होती और जीवन की गोधूलि मे उन्हे पारिवारिक सुख भी प्राप्त नही होता। परन्तु डॉ० गगानाथ झा इस नियम के सर्वथा अपवाद थे। डॉ० झा को पारिवारिक सुख भी पूर्णतया प्राप्त था। जीवन के अन्तिम दिनो मे ये पॉचो पाण्डवो की भॉति अपने सुयोग्य,

विद्वान्, यशस्वी तथा पितृभक्त पाँचों पुत्रों को देख सचमुच ही स्वर्ग के सुख का अनुभव करते होंगे। इसीलिए किसी सूक्तिकार ने बिल्कुल उचित ही कहा है—

यदि रामा, यदि च रमा, यदि तनयो विनयधी-गुणोपेतः ।
तनयात् तनयोत्पत्तिः सुरवरनगरे किमाधिक्यम् ॥

पूर्वपुरुष

डॉ० गंगानाथ झा के पूर्वज दरभंगा जिले के सरिसव गाँव के निवासी थे। इनके पूर्व-पुरुष श्रोत्रिय ब्राह्मण थे जो मैथिल ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं। इनके प्रपितामह का नाम **लक्ष्मीदेव झा** था जो अपने समय के बहुत बड़े वैयाकरण थे। मैथिल ब्राह्मणों के इतिहासग्रन्थ **पंजी पुस्तकों** मे उनका **वैयाकरण अमृतनाथ** के रूप में उल्लेख किया गया है। वे महाराजाधिराज दरभगा के द्वारा अपनी विद्वत्ता के लिए समादृत भी थे। उन्होंने प्रचुर सम्मान प्राप्त किया था। झाजी के पितामह अपने गाँव मे निवास करने वाले सन्तोषी तथा सात्त्विक ब्राह्मण थे। वे अत्यन्त धार्मिक तथा भक्त जीव थे।

डॉ० गगानाथ झा के पिता का नाम **तीर्थनाथ झा** था परन्तु ये धर्मनाथ झा के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध थे। इनकी माता का नाम रामकाशी देवी था। काशी मे उत्पन्न होने के कारण ही उनका ऐसा नामकरण हुआ था। झाजी के पिता का विवाह गगुली नामक गाँव में हुआ था। मातृपक्ष की ओर से गंगानाथ झा महाराजाधिराज दरभंगा से सम्बन्धित थे। दरभंगा राज्य के सस्थापक श्री महेश ठाकुर के वंश में उत्पन्न महाराजाधिराज वासुदेव सिंह ने अपनी पुत्री का विवाह झाजी के पिता तीर्थनाथ झा से किया था। अतः इनकी माता दरभंगा राज-कुल की पुत्री थीं। इस प्रकार दरभंगा के तत्कालीन राजा झाजी के मामा लगते थे। अपने पिता के पञ्चपुत्रों में ये तृतीय पुत्र थे। इनका जन्म २५ दिसम्बर १८७२ ईस्वी को अपने ही गाँव में हुआ।

इनके पिता बड़े ही धार्मिक पुरुष थे। वे नित्यप्रति गायत्री मन्त्र को जपते थे। उनका शरीर बलिष्ठ तथा स्वस्थ था। ६५ वर्ष के वय में वे प्रथम बार विषमज्वर से पीड़ित हुए थे, जिसके दो वर्षों के पश्चात् उनकी मृत्यु हो गई। दरभंगानरेश राजा लक्ष्मीश्वर सिंहजी इनका बड़ा आदर तथा सत्कार करते थे। सामान्य जनता तथा विद्वान् लोग सभी इनको सम्मान की दृष्टि से देखते थे।

पं० गंगानाथ झा के ज्येष्ठ भ्राता का नाम **विद्यानाथ झा** था। वे बड़े ही प्रगल्भ तथा उदात्त प्रकृति के व्यक्ति थे। केवल नौ (९) वर्ष के वय में ही उपनयन के पश्चात् इनका विवाह हो गया था। झा जी अपने ज्येष्ठ भ्राता के परम भक्त थे। दूर रहने पर दोनों भाई प्रतिदिन एक दूसरे को पत्र लिखा करते थे। इनके दूसरे भाई का नाम गणनाथ झा था जो इनसे केवल दो साल जेठे थे। झाजी इनके साथ प्रायः समान-वयस्क होने के कारण खेला करते थे।

शिक्षा

झाजी का अक्षरारम्भ संस्कार पाँच वर्ष के वय में सम्पन्न किया गया। उन दिनों स्लेट और पेन्सिल का अभाव होने के कारण ये जमीन पर ही खड़िया से अक्षरों को लिखा करते थे। अपनी दैनिक पढ़ाई समाप्त करने के पश्चात् ये अक्षरों को मिटा देते थे और खड़िया की धूल को संभवतः अपने गुरु की आज्ञा से अपने शरीर में मल लेते थे। उस समय ऐसा

लोकविश्वास था कि ऐसा करने से समस्त विद्या हृदयंगम हो जाती है। गंगानाथजी ने तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली के अनुसार कुछ दिनों तक फारसी पढ़ने का भी प्रयास किया। परन्तु उसकी उल्टी-सीधी लिपिमाला इनकी समझ में नही आती थी और केवल प्रथम दो अक्षरों—अलिफ तथा बे—को छोड़कर इनकी प्रगति आगे नहीं हो सकी।

सन् १८७८ ७९ ई० मे इनकी मातामही ने काशी आने का निश्चय किया। परन्तु वे धार्मिक भावनाओं के कारण रेलगाड़ी से यात्रा करना नही चाहती थी। अत. नावों का बेड़ा यात्रा के लिए ठीक किया गया। इस यात्रा में बीसियों व्यक्ति सम्मिलित थे जिनमें महामहोपाध्याय पं० **राजनाथ मिश्र** तथा महामहोपाध्याय पं० **जयदेव मिश्र** भी थे। झाजी के परिवार के सभी व्यक्ति काशी में एक वर्ष तक रहे। उस समय इनकी अवस्था छह या सात वर्ष की थी और ये सस्कृत व्याकरण का थोड़ा-थोड़ा अध्ययन कर रहे थे। इसी अवसर पर इनके निवास-स्थान पर काशी के पण्डितों की एक महती सभा का आयोजन किया गया था जिसमें ५०० विद्वान् सम्मिलित हुए थे और प्रत्येक पण्डित को दस रुपया दक्षिणा दी गई थी। इसी सभा में बालक गगानाथ ने काशी के भारत प्रसिद्ध विद्वान् बालशास्त्री के दर्शन किये जो इसमें अपने चार प्रकाण्ड प्रसिद्ध विद्वान् शिष्यों के साथ उपस्थित थे। इन प्रकाण्ड विद्वानों का प्रभाव गंगानाथ के जीवन पर बहुत अधिक पड़ा था। इस एक वर्ष के काशी-निवास में इनका सस्कृत के विद्वानों के प्रति आदर और श्रद्धा अधिक हो गई जिसका स्थायी प्रभाव इनके जीवन पर भूरिश· पड़ा।

सन् १८८० ई० मे काशी से दरभंगा लौट जाने पर दरभगा राज्य के इग्लिश मिडिल स्कूल में नाम लिखाकर ये पढ़ने लगे। इसी वर्ष इस स्कूल को हाईस्कूल तक की मान्यता मिल गई थी। बालक गंगानाथ इस स्कूल में मन लगाकर पढ़ने लगे। ये लगातार यहाँ सात वर्षो तक अध्ययन करते रहे और सन् १८८६ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय से एन्ट्रेन्स की परीक्षा तृतीय श्रेणी में उत्तीर्ण की।

सन् १८८६ ई० में गगानाथ झा ने क्वीन्स कालेज, बनारस में इन्टर की कक्षा में प्रवेश किया। उस समय इस कालेज के प्रिन्सिपल डॉ० थीबो थे। झाजी अपनी कुशाग्रबुद्धि तथा तीक्ष्णता के कारण थीबो साहब के शीघ्र ही प्रियपात्र बन गये। वाराणसी में अध्ययन करते समय इनके सहपाठी डॉ० भगवान् दास के ज्येष्ठ भ्राता **बाबू गोविन्ददासजी** थे। झा जी की उनसे बडी घनिष्ठता हो गई। वे बड़ी ही साहित्यिक रुचि के व्यक्ति थे। झाजी इनके घर प्रायः जाते और ये दोनों देर रात तक मेघदूत और नैषधीयचरित का पाठ करते थे। इसी समय इनका परिचय **पण्डित हरिनाथजी** से हुआ जो संन्यास लेने के पश्चात् स्वामी मनीष्यानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए। झाजी ने इनसे छान्दोग्य उपनिषद् तथा वेदान्त के अन्य ग्रन्थों का भी अध्ययन किया।

क्वीन्स कालेज में अध्ययन

बनारस का क्वीन्स कालेज उन दिनों समस्त उत्तरभारत में अंग्रेजी शिक्षा के लिए प्रसिद्ध था और यहाँ एम० ए० तक की शिक्षा दी जाती थी। गंगानाथ झा के अध्ययन-काल में यहाँ पर अंग्रेजी डॉ० वेनिस, गणित बाबू उमेशचन्द्र सान्याल, विज्ञान बाबू अभयचरण सान्याल जैसे धुरन्धर विद्वान् पढ़ाया करते थे। संस्कृत के प्राध्यापक पं० **विन्ध्येश्वरी प्रसाद दूबे** थे जो बड़े ही मनमौजी तथा विनोदी जीव थे। वे संगीत के भी प्रेमी थे। कभी-कभी आकाश को मेघों से आच्छन्न देखकर वह कक्षा में कहा करते थे कि "ठहर जावो, अभी थोड़ी

मलार की तान ले ले।" वे कक्षा मे सिपाही-विद्रोह के अपने सस्मरण भी बडे रोचक ढग से सुनाया करते थे। डॉ० वेनिस अग्रेजी का अध्यापन करने के साथ ही दर्शनशास्त्र भी छात्रो को पढ़ाया करते थे।

डॉ० झा इन सुयोग्य अध्यापको से विभिन्न शास्त्रो का अध्ययन बडे मनोयोग से करने लगे और शीघ्र ही अपनी तीक्ष्ण बुद्धि तथा प्रतिभा के कारण अपनी कक्षा मे तेज विद्यार्थी गिने जाने लगे। इन्होने शीघ्र अपनी कक्षा मे तथा कालेज मे—अनेक पारिवारिक आपदाओं के आने पर भी—प्रथम स्थान प्राप्त किया (१८६० ई०)। एम० ए० की कक्षाओं मे पढ़ते समय म० म० प० जयदेव मिश्र से इन्होने भारतीय दर्शन का अध्ययन किया। इस प्रकार सन् १८९२ ईस्वी मे झाजी ने एम० ए० की परीक्षा द्वितीय श्रेणी मे उत्तीर्ण की। एम० ए० की मौखिक परीक्षा के परीक्षक म० म० प० आदित्यराम भट्टाचार्य थे जिन्होने लगातार एक घण्टे तक केवल काव्य प्रकाश पर ही झाजी से प्रश्न किये। परन्तु इन्होने सतोषजनक उत्तर दिया और ७०% अक प्राप्त किये।

सन् १८९२ ई० मे एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् महाराजा दरभगा की प्रेरणा से झाजी ने एल० एल० बी० की पुस्तको का अध्ययन प्रारम्भ किया। परन्तु इस कक्षा मे अध्यापको का भाषण कुछ ही दिनो तक सुनने के पश्चात् इनकी चित्तवृत्ति इसमे नही रमी। अत काशी के तत्कालीन विद्वानो से प्रभावित होकर इन्होने अपना जीवन सस्कृत के अध्ययन अध्यापन मे व्यतीत करना ही उचित समझा। अत इन्होने काशी की 'दरभगा पाठशाला' के तत्कालीन प्रधानाध्यापक म० म० प० **शिवकुमार शास्त्री** से अध्ययन करना प्रारम्भ कर दिया। ये प्रतिदिन प्रात ७ बजे से ९ बजे तक शास्त्रीजी से अध्ययन करते थे और बाद मे अधीत ग्रन्थो का अग्रेजी मे अनुवाद प्रस्तुत करते थे। दिन मे ये महामहोपाध्याय **पं० जयदेव मिश्र** के चरणो मे बैठकर व्याकरण और न्यायशास्त्र का पाठ पढ़ते थे। इसके बाद ये म० म० **पं० कैलासचन्द्र शिरोमणि** के पास जाकर वेदान्त के ग्रन्थो का अध्ययन करते थे। कभी कभी ये म० म० प० गगाधर शास्त्री के यहाँ भी शास्त्रचिन्तन के लिए जाया करते थे। इस प्रकार प्रात काल मे लेकर रात्रि तक गगानाथ झा काशी के उपर्युक्त विद्वानो से विभिन्न शास्त्रो का अध्ययन करते तथा नवीन ग्रन्थो के अध्ययन से अपनी विद्या की वृद्धि करते थे।

इसी समय बाबू गोविन्ददासजी के कारण ये **थियोसोफिकल सोसाइटी** के सम्पर्क में आये। काशी मे ही इन्होने कालोनल आलकाट तथा डॉ० एनी बेसेन्ट से भेट की और उनसे बहुत प्रभावित हुए। यद्यपि अनेक वर्षो के पश्चात् इन्होने थियोसोफिकल सोसाइटी से साक्षात् सम्बन्ध तोड दिया तथापि ये जीवनपर्यन्त थियोसोफी के समर्थक बने रहे।

नौकरी

महाराजा दरभगा झाजी की साहित्यिक अभिरुचि से पूर्णतया परिचित थे। अत उन्होने अपने राज्य के पुस्तकालय के पुस्तकालयाध्यक्ष पद पर १००) मासिक वेतन पर इनकी नियुक्ति कर दी। इस समय इनका वय केवल २४ वर्षों का था। कहने की आवश्यकता नही कि गगानाथ झा के लिए यह कार्य इनकी प्रवृत्ति और इच्छा के सर्वथा अनुकूल था। इन्होंने इस पद पर पाँच वर्षो तक कार्य किया जो इनके जीवन के सर्वाधिक आनन्दप्रद दिन थे। यहाँ पुस्तकालय में प्रात केवल ७ बजे से १२ बजे तक काम करना पड़ता था। फिर शेष दिन में अवकाश ही रहता था। इन्होने सुप्रसिद्ध विद्वान् म० म० पं० **चित्रधर मिश्र** से

मीमासा पढ़ना प्रारम्भ कर दिया। मिश्रजी अलौकिक विद्वान् थे। वे महीनो झाजी के घर पर आकर लगभग तीन घटो तक इन्हे श्लोक वार्तिक का अध्यापन करते रहे। श्लोकवार्तिक का अध्ययन समाप्त करने के बाद इन्होने तन्त्र वार्तिक पढ़ना प्रारम्भ किया। अध्ययन का यह क्रम सन् १६०२ ई० तक चलता रहा, जब तक ये पुस्तकालयाध्यक्ष के पद पर दरभगा मे कार्य करते रहे।

अध्यापन

प्रयाग मे म्योर सेन्ट्रल कालेज मे सस्कृत के प्रोफेसर के पद को महामहोपाध्याय प० आदित्यराम भट्टाचार्य सुशोभित कर रहे थे। इस कालेज मे लगभग ३० वर्षो तक नौकरी करने के पश्चात् सन् १६०१ ई० मे उन्होने इस पद से अवकाश ग्रहण कर लिया। उन दिनो इस कालेज के प्रिन्सिपल डॉ० थीबो थे जो क्वीन्स कालेज बनारस से स्थानान्तरित होकर वहाँ गए थे। उन्होने बनारस मे गगानाथ झा को विद्यार्थी के रूप मे पढ़ाया था। अत प० आदित्यराम भट्टाचार्य के सेवानिर्मुक्त होने पर डॉ० थीबो ने डॉ० वेनिस की सस्तुति पर इन्हे सन् १६०२ ई० मे म्योर सेन्ट्रल कालेज मे सस्कृत का प्रोफेसर नियुक्त कर दिया। यद्यपि इस पद को ग्रहण करने मे कोई विशेष आर्थिक लाभ नही था तथापि स्वाध्याय करने चिन्तन मनन तथा ग्रन्थ लेखन की सुविधा यहाँ अवश्य थी। झाजी ने इसी पद पर रहते हुए डॉ० थीबो के मा द ा [illegible] लिखित **विवरण-प्रमेय-सग्रह** नामक प्रौढ़ वेदान्तग्रन्थ का अग्रेजी मे अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त इन्होने स्वय [illegible] **प्रशस्त-पाद-भाष्य** को अग्रेजी मे अनूदित करना प्रारम्भ किया था। म्योर सेन्ट्रल कालेज मे अध्यापन के समय मे ही १६०६ ईस्वी मे प्रोफेसर गङ्गानाथ झा ने 'प्रभाकर स्कूल आफ मीमासा' नामक निबन्ध प्रयाग विश्वविद्यालय मे प्रस्तुत किया और इसके फलस्वरूप इन्हे 'डाक्टर आफ फिलासफी' उपाधि प्राप्त हुई आगे चलकर सरकार के द्वारा ये महामहोपाध्याय की उपाधि से भी मण्डित किए गए थे

गवर्नमेण्ट संस्कृतकालेज, बनारस के प्रिन्सिपल

डॉ० गङ्गानाथ झा ने सन् १६०२ ई० से सन् १६१८ ई० तक म्योर सेन्ट्रल कालेज प्रयाग मे सस्कृत के प्रोफेसर के पद पर काम किया। तदनन्तर इनकी नियुक्ति सन् १६१८ ई० मे गवर्नमण्ट सस्कृतकालेज बनारस मे प्रिन्सिपल के पद पर हुई, जब डॉ० वेनिस सेवामुक्त हो गए। यह बात उल्लेखनीय है कि ये प्रथम भारतीय विद्वान् थे जिन्होने इस पद को सुशोभित किया। कालेज के स्थापनाकाल से लेकर झाजी के पहले तक इस कालेज के प्रिन्सिपल सदा विदेशी विद्वान् (अग्रेज तथा जर्मन) ही होते चले आए थे। ऐसी परिस्थिति मे डॉ० झा की नियुक्ति विशेष महत्त्वपूर्ण थी। कालेज के अध्यक्षकाल मे ही डॉ० झा को केन्द्रीय सरकार ने कौन्सिल आफ स्टेट (राज्यसभा) का सदस्य मनोनीत किया (१६२०–१६२३ ई०), जहाँ इन्होने बडे सम्मान के साथ अपनी सदस्यता निभाई।

प्रयाग विश्वविद्यालय में वाइसचान्सलर

डॉ० गङ्गानाथ झा जब सस्कृतकालेज मे प्रिन्सिपल थे उसी समय प्रयाग विश्वविद्यालय के तत्कालीन वाइसचान्सलर श्री डेला फास ने किन्ही कारणो से त्याग-पत्र दे दिया। अत उनके रिक्त स्थान पर तत्कालीन शिक्षा निदेशक (डी० पी० आई०) श्री मेकेञ्जी के आदेश से अपनी नियुक्ति स्थानापन्न कुलपति के रूप मे सन् १६२३ ई० मे होने के कारण इन्होने प्रिन्सिपल के पद से त्यागपत्र दे दिया। कुछ महीनो के पश्चात् वाइसचान्सलर के स्थायी पद

पर इनका चुनाव हो गया। डॉ० झा इस पद पर लगातार तीन बार चुने गए। इस प्रकार इन्होने नव (९) वर्षो तक प्रयाग विश्वविद्यालय के वाइसचान्सलर के पद को सुशोभित किया। यह बात उल्लेखनीय है कि इस पद के पूर्व अधिकारी डेला फास को जहाँ ३,०००) तीन हजार रुपया मासिक वेतन दिया जाता था वहाँ डॉ० झा को भारतीय होने के कारण केवल २,०००) रुपया ही वेतन दिया गया परन्तु इन्होंने इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं की। डॉ० के कुलपतित्व-काल की दो घटनाएँ उल्लेखयोग्य हैं जिनका सामना इन्हें करना पडा था—(१) असहयोग आन्दोलन में छात्रों का उपद्रव और (२) सहशिक्षा के विरोधियों से मुठभेड़। झा के कुलपतित्व-काल में असहयोग आन्दोलन अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ था। आन्दोलनकारी छात्र विश्वविद्यालय में आकर पिकेटिंग करते और अन्य छात्रों को पढ़ने से रोकते थे। डॉ० झा ने उन छात्रों को शान्तिपूर्वक समझाया कि वे अपने कार्य से विरत हो जायँ। इन्होंने इस कार्य का सम्पादन करने मे कभी पुलिस की सहायता नहीं ली जिसका प्रभाव छात्रों पर बड़ा ही अच्छा पड़ा और पिकेटिंग बन्द हो गई।

दूसरा कार्य सहशिक्षा के विरोधियों का सामना करना था। प्राचीन परम्परा के अनुयायी डॉ० झा चाहते थे कि लड़कियों के अध्यापन के लिए एक पृथक् कालेज की स्थापना की जाय। परन्तु नवीन शिक्षा-दीक्षित विद्वानों—जिनमें कुँजरूजी प्रधान थे—की सम्मति में यह कार्य उचित नही था। जब विश्वविद्यालय की कौन्सिल में डॉ० झा ने सहशिक्षा को विभक्त करने का प्रस्ताव रखा तो उन लोगों ने इनका घनघोर विरोध किया। परन्तु झाजी ने अपनी प्रखर वाणी से उनका मुँहतोड़ उत्तर दिया जिससे उन लोगो की बोलती बन्द हो गई और लड़कियो की शिक्षा के लिए एक पृथक् गर्ल्स कालेज की स्थापना विश्वविद्यालय के अन्तर्गत हो गई।

इनका तीसरा कार्य व्यक्तिगत था परन्तु इसमे भी इनको सफलता प्राप्त हो गई। प्रयाग विश्वविद्यालय में अंग्रेजीविभाग के अध्यक्ष प्रो० डन के अवकाश ग्रहण करने पर वह पद रिक्त हो गया। नियमानुसार वह पद डॉ० झा के सुपुत्र प्रो० अमरनाथ झा को मिलना चाहिए था परन्तु कुचक्रियों ने उस पद के लिए बड़ा षड्यन्त्र किया और आगरा से प्रिन्सिपल फील्डन को बुलाकर उम्मेदवार के रूप में खड़ा कर दिया। परन्तु चयन-समिति ने प्रोफेसर अमरनाथ झा को ही उस पद के लिए चुना। इस प्रकार व्यक्तिगत कार्य में भी डॉ० झा की विजय हो गई।

डॉ० गगानाथ झा ने लगातार नव (९) वर्षों (१९२३ ई० से १९३१ ई०) तक प्रयाग विश्वविद्यालय के कुलपति-पद को सुशोभित किया। लगातार तीन बार कुलपति के पद के लिए चुना जाना डॉ० झा की योग्यता और लोकप्रियता को प्रमाणित करता है।

सम्मान तथा उपाधियाँ

डॉ० गगानाथ झाजी ने अपने जीवन में अनेक सम्मान तथा उपाधियाँ प्राप्त कीं। सन् १९०० ई० में इन्हें अपनी थीसिस 'पूर्वमीमांसा में प्रभाकर का सम्प्रदाय' (Prabhakar School of Purva Mimansa) पर डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त हुई थी। सन् १९०१ ई० में भारतसरकार ने इनकी अलौकिक विद्वत्ता के फलस्वरूप. इन्हें 'महामहोपाध्याय' की उपाधि से विभूषित किया था। केन्द्रीय सरकार ने इन्हें 'कौन्सिल आफ स्टेट' का सदस्य मनोनीत कर इन्हें सम्मान प्रदान किया था, इसकी चर्चा पिछले पृष्ठों में की जा चुकी है। बम्बई की एशियाटिक सोसाइटी ने इन्हें 'कैम्पवेल मेडल' प्रदान कर मानो अपने को ही सम्मानित किया था। लन्दन की रायल एशियाटिक सोसाइटी ने इन्हें अपना 'आनरेरी मेम्बर' चुना था। यह

मम्मान ससार के बड़े-बडे विद्वानो को ही प्राय दिया जाता है। साठ वर्ष के वय को प्राप्त करने पर सन् १९३२ ई० मे इन छात्रो, मित्रो और प्रशसको ने इनके सम्मान मे एक **अभिनन्दनग्रन्थ** भी इन्हे अर्पित किया था। केन्द्रीय सरकार ने गगानाथ झा की मृत्यु के कुछ ही दिनो पूर्व इन्हे नाइटहुड (सर) की महनीय उपाधि से विभूषित किया था। डॉ० सर रामकृष्ण भाण्डारकर के केवल एकमात्र अपवाद को छोडकर सम्कृत के किसी भी विद्वान् को आज तक यह उपाधि प्राप्त नही हो सकी है। इसी एक घटना से डॉ० झा की महत्ता का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। सन् १९७२ ई० मे गगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट के अधिकारियों ने इनकी जन्मशती के अवसर पर एक ग्रन्थ का प्रकाशन भी किया था जो 'गगानाथ झा सेन्टेनरी वाल्यूम' नाम से विख्यात है। सन् १९७६ ई० मे इसी सस्था ने—जो अव गगानाथ झा केन्द्रीय सस्कृत विद्यापीठ के नाम से प्रसिद्ध है— झाजी का आत्मचरित 'आटोवाइग्राफिकल नोट्स आफ डॉ० गगानाथ झा' के नाम से प्रकाशित कर अपनी कृतज्ञता प्रकट की है।

ग्रन्थ

गगानाथ झा की प्रतिभा सस्कृत के दुरूह ग्रन्थो के मर्म के अनुशीलन तथा उद्धरण मे जितनी प्रखर थी, उनकी लेखनी उन तत्त्वो के प्रकाशन मे उसी सफलता के साथ समर्थ थी। नि सन्देह ये सरस्वती के वरद पुत्र थे तथा लेखनी के धनी थे। अग्रेजी भाषा ही इनके ग्रन्थो का माध्यम थी। मौलिक ग्रन्थ की रचना का विषय धर्मशास्त्र, मीमासा तथा वेदान्त था। इन ग्रन्थो मे इनकी विद्वत्ता का सद्य परिचय मिलता है परन्तु इससे भी अधिक परिचय प्राप्त होता है भारतीय दर्शन के दुरूह ग्रन्थो के उन अनुवादो मे जो गगानाथ झा की लेखनी से प्रस्तुत होकर अग्रेजीवेत्ता भारतीयो तथा विदेशी विद्वानो के कण्ठहार बने हुए है। मीमासा दर्शन मे शवर भाष्य, श्लोकवार्तिक तथा तन्त्रवार्तिक, वेदान्तदर्शन मे खण्डनखण्डखाद्य, तथा न्यायदर्शन मे न्याय भाष्य तथा न्यायवार्तिक ऐसे ही दुरूह ग्रन्थ है, जिनकी प्राचीन परम्परा से सुयोग्य गुरुओं के चरणो मे वैठकर विषम पक्तियो को समझना विद्वानो के लिए भी टेढ़ी खीर वना रहता है। डाक्टर झा ने इन ग्रन्थो का सर्वप्रथम अग्रेजी मे अनुवाद किया और सफल अनुवाद किया। ये ग्रन्थ अर्थत ही विषम नही है, अपितु परिमाणत भी विशाल है। इन समस्त ग्रन्थो के प्रथम अग्रेजी अनुवादक होने के नाते डॉ० झा की प्रतिभा अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे विख्यात हो गयी और ये सस्कृत विद्वानो मे अग्रगण्य गिने जाने लगे।

डॉ० झा वौद्धदर्शन के अच्छे ज्ञाता प्रतीत होते है। उस दर्शन मे भी इनकी दृष्टि बहुत पैनी थी। तभी तो **तत्त्वसंग्रह** जैसे विशालकाय प्रमेयवहुल बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थ का अनुवाद करने मे इनकी लेखनी का चमत्कार सर्वत्र प्रशसित हुआ है।

धर्मशास्त्र मे भी इनका पाण्डित्य वडा ही पुखानुपुख था। मनुस्मृति के सर्वश्रेष्ठ भाष्य (मेधातिथिभाष्य) के अनुवादक होने का गौरव इन्हे प्राप्त है। इसके अतिरिक्त इन्होने मनुस्मृति के प्रधान टीकाकारो का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। मनुस्मृति के ऊपर इनका तुलनात्मक अध्ययन अनेक भागो मे प्रकाशित है। इस प्रकार विभिन्न विषयो के प्रौढ़ ग्रन्थो के सस्कर्ता, व्याख्याता तथा अनुवादक होने का गौरव प्राप्त कर महामहोपाध्याय डॉ० गगानाथ झा ने अपनी विमल कीर्ति सदा के लिए पण्डित जगत् मे प्रसारित कर दी।[१]

---

१ डॉ० गगानाथ झा की समस्त रचनाओं—मौलिक तथा अनूदित ग्रन्थो—के लिए विशेष द्रष्टव्य—उनकी अग्रेजी मे निबद्ध आत्मकथा (प्रकाशक गगानाथ झा सस्कृतविद्यापीठ, इलाहाबाद)।

गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट

९ नवम्बर सन् १९४१ ई० में डॉ० गगानाथजी का देहावसान प्रयाग में हो गया। उस समय इनके पाँचों पुत्र जीवित थे और अनेक बडे-बडे उच्च पदो को सुशोभित कर रहे थे। डॉ० सर गोपालकृष्ण भण्डारकर ने अपनी मृत्यु से पहले ही 'भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट' की स्थापना की थी। सभवत उसी सस्था से प्रेरणा प्राप्त कर इनके सुयोग्य पुत्रो, छात्रो, मित्रो तथा प्रशसकों ने डॉ० झा जी की कीर्ति को अमर बनाने के लिए सन् १९४५ ई० में प्रयाग में **गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट** की स्थापना की। इसके भवन का शिलान्यास तत्कालीन गवर्नर सर मारिस हेलेट ने किया था। यह भवन आज प्रयाग के एलफ्रेड पार्क मे पब्लिक लाइब्रेरी के पास अवस्थित है। इस शोध सस्थान ने अनेक पुस्तको का प्रकाशन किया। इस सस्थान के तत्त्वावधान मे एक शोधपत्रिका भी प्रकाशित होती है जिसमे भारतीय धर्म, दर्शन और सस्कृति से सबन्धित विद्वत्तापूर्ण शोधनिबन्ध छपते है। इस सस्था के द्वारा डॉ० उमेश मिश्र, डॉ० बाबूराम सक्सेना तथा क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय की प्रशसा मे 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' भी प्रकाशित किए गये है। इधर अनेक वर्ष हुए केन्द्रीय सरकार ने इसका अधिग्रहण कर इसका नामकरण **गगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ** कर दिया है। अब सस्था मे शोधकार्य के अतिरिक्त सस्कृत की उच्च कक्षाओं मे अध्यापन का कार्य भी किया जाता है। इस प्रकार इस सस्थान के द्वारा सस्कृत के दुर्लभ ग्रन्थो का प्रकाशन, अध्ययन तथा अध्यापन किया जा रहा है।

सरलता

डॉ० गगानाथ झा सरलता और आस्तिकता की जीवन्त मूर्ति थे। इन्होने प्राचीन परम्परा से सस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थो का मर्मज्ञ गुरुओं के चरणो मे बैठकर विधिवत् अध्ययन किया था। ये पक्ति-पाण्डित्य के प्रेमी प्रवीण पण्डित थे। 'पाक्ति' का अर्थ है शास्त्रीय ग्रन्थो के कठिन तथा विषम स्थल जिनका अनुशीलन विशेष परिश्रम तथा अभ्यास से ही सभव होता है। प्राचीन पद्धति से इन पक्तियो मे पाण्डित्य प्राप्त करना ही विद्वत्ता की कसौटी थी। गगानाथ झाजी इसी पद्धति के प्रकाण्ड पण्डित थे। फलत इन्होने न्यायभाष्य, न्यायवार्तिक, खण्डनखण्डखाद्य, श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक और मेधातिथि का मनुस्मृति पर भाष्य जैसे कठिन तथा दुरूह ग्रन्थो का इतना प्रामाणिक तथा विद्वत्तापूर्ण अग्रेजी मे अनुवाद किया है कि उसको समझना भी कठिन है, उसमे कोई त्रुटि निकालने की कथा तो दूर रही। इन अग्रेजी अनुवादों को पढ़कर पाश्चात्त्य शिक्षा से मण्डित विद्वान् अपने ज्ञान के भाण्डार को भरते है। इन्ही अनुवादो के कारण सस्कृत जगत् मे डॉ० गगानाथ झा को अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हो गई थी।

इतनी अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि प्राप्त करने के पश्चात् भी डॉ० झा अत्यन्त विनम्र तथा सज्जन व्यक्ति थे। 'विद्या ददाति विनयम्' की यह प्रत्यक्ष मूर्ति थे। ये अपने ज्ञान की सीमा से पूर्णतया परिचित थे। यही इनकी सबमे बडी विनम्रता थी। श्लोकवार्तिक का अग्रेजी अनुवाद करने के पश्चात् इन्होने म० म० गोपीनाथ कविराज से उसकी इतिहास-सम्बन्धी भूमिका लिखने का निवेदन किया था। इस बात की चर्चा इन्होने अपने वक्तव्य में स्पष्ट रूप से की है।

इन्होंने अपनी जीवनी मे स्पष्टतया इस बात का उल्लेख किया है—"पं० रामावतार शर्मा मुझसे पाण्डित्य में सभी प्रकार से बड़े है। शर्माजी ने प्राचीन पद्धति से शास्त्र का

अनुशीलन तो किया ही है पाश्चात्य आलोचनात्मक शैली के भी वे प्रकाण्ड विद्वान् है। शर्माजी ने सस्कृत मे ग्रन्थो का निर्माण किया इससे उनका उतना नाम नही हो सका जितना होना चाहिए। परन्तु मैने अग्रेजी भाषा मे ग्रन्थो का प्रणयन किया है। अत अपेक्षाकृत मेरी प्रसिद्धि उनसे अधिक हुई।" आजकल के आत्मश्लाघी युग मे भला ऐसा कौन पण्डित होगा जो दूसरे विद्वान् को अपने से बडा बतलाएगा। यह स्पष्टोक्ति इनके हृदय की महत्ता और विशालता की परिचायिका है।

कक्षा मे जब कोई छात्र इनसे कोई प्रश्न करता था और वह प्रश्न अप्रासगिक होता था, तब ये उस छात्र को निरुत्साहित करने के स्थान पर प्रोत्साहित करते थे और दूसरे दिन उसका सम्यक् उत्तर देते थे। आजकल के गुरु छात्र को चकमा देकर अपनी विद्वत्ता की झूठी धाक जमाने का प्रयास करते है। परन्तु डॉ० झा इस मामले मे भी अत्यन्त स्पष्टभाषी थे।

आस्तिकता

डॉ० गगानाथ झा उच्चकोटि के आस्तिक थे। प्रात काल चार बजे नित्यप्रति ये उठ जाया करते और शौच आदि से निवृत्त होकर पूजा पर बैठ जाते थे। ये नित्यप्रति एक सहस्र गायत्री मन्त्र का जप करते थे। इस मन्त्र को बिना जपे ये अन्नग्रहण की बात तो दूर रही, जलग्रहण भी नही करते थे। यह गायत्री मन्त्र जाप ही इनके पूजा पाठ का विशिष्ट अग था।

डॉ० झा बडे ही सयमी पुरुष थे। ये सयम को जीवन के लिए आवश्यक समझते थे। भोजन छाजन, स्वप्न तथा अवबोध मे तो सयम का बर्ताव करते ही थे। ये अध्ययन तथा लेखनकार्य मे भी सयम का व्यवहार करते थे। नियमित रूप से नित्यप्रति सीमित मात्रा मे लेखनकार्य करना इनके दैनिक जीवन का अग बन गया था। ये कहा करते थे कि सयम का पालन करने से ही मै इतने अधिक ग्रन्थो के प्रणयन मे समर्थ हो सका हूँ। सयमी पुरुष ही कर्मकुशल या कर्मयोगी होता है। अत डॉ० झा सच्चे अर्थो मे कर्मयोगी थे। इनकी आस्तिकता और सयम का ही यह फल है कि इन्होने विद्वत्ता के जगत् मे इतनी कीर्ति अर्जित की।

संस्कृत के प्रचारक

डॉ० झा सस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् ही नही थे अपितु उसके प्रचारक भी थे। इन्होने सस्कृत के प्रचार के लिए नाटको के अभिनय की व्यवस्था की थी। माघ शुक्ला वसन्त-पचमी का उत्सव प्रतिवर्ष ये बडे ही उत्साह के साथ मनाते थे। इस दिन ये पण्डितो मे शास्त्रार्थ का भी आयोजन करते थे। दिन मे पण्डितो का अखण्ड शास्त्रार्थ होता था। काशी के दिग्गज विद्वान् इस दिन डॉ० झा के घर आते और शास्त्रार्थ किया करते थे। ऐसे ही एक शास्त्रार्थ के अवसर पर **पं० रामावतार शर्मा** और रुद्रभट्ट भी उपस्थित थे। अधिकाश पण्डित विशिष्टाद्वैत का पक्ष लेकर रुद्रभट्ट से शास्त्रार्थ करने लगे। रुद्रभट्ट अद्वैतवाद के पक्षपाती थे। पण्डितो के उस झुण्ड मे रुद्रभट्ट का पक्ष निर्बल होते देखकर स्वय रामावतारजी शास्त्रार्थ के अखाडे मे उतर आये और अपनी अद्वितीय विद्वत्ता और वाक्चातुरी से विशिष्टाद्वैतवादी उन पण्डितो की बोलती बन्द कर दी। इस प्रकार रुद्रभट्ट की जीत हो गई। शास्त्रार्थ के इस आयोजन से विद्वानो को शास्त्रार्थ करने का एक सुन्दर सुअवसर मिलता था जब वे अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया करते थे।

वसन्तपचमी के दिन सस्कृत के नाटको का अभिनय भी हुआ करता था। प्राय भट्ट नारायण के वेणीसहार नाटक को इस कार्य के लिए चुना जाता था। झाजी के पाँचो पुत्र इस

अभिनय मे भाग लिया करते थे। उनके अतिरिक्त झाजी के शिष्य इस अभिनय में हाथ बटाते थे। इस प्रकार बहुसख्यक दर्शक इस नाटक को देखने के लिए आते थे। इससे सस्कृत का प्रचार होता था और नाटको के प्रति अभिरुचि उत्पन्न होती थी।

सिद्धान्त की दृढ़ता

डॉ० गगानाथ झा अपने सिद्धान्तो का दृढ़ता से पालन करने वाले व्यक्ति थे। ये अपने सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे किसी से समझौता करने वाले व्यक्ति नही थे। प्राचीन परम्परा के अनुयायी तथा भक्त होने के कारण ये स्वभाव से ही सहशिक्षा के विरोधी थे। परन्तु अग्रेजी शिक्षा मे दीक्षित सिनेट के सदस्य इन्हे एक दकियानूसी पण्डित तथा प्रतिगामी पुरुष समझते थे। एक दिन सिनेट की मीटिग थी जिसमे इनके विरोधियो ने इनका प्रवल विरोध करने का निश्चय किया था। मीटिग का विचारणीय विषय था सहशिक्षा या को एजुकेशन। विरोधियो ने झाजी के तथाकथित दकियानूसी विवारो को तीक्ष्ण तर्क उपस्थित करके खण्डित करने का असफल प्रयास किया। डॉ० झा के व्यक्तित्व पर अनेक भीषण प्रहार भी किये गये। परन्तु इस ब्राह्मण का ब्रह्मवर्चस्व उस समय दिखाई पडा जव इन्होने धीर गम्भीर वाणी मे, सुविचारित तर्कों के द्वारा अपने प्रतिपक्षी कुँजरू आदि जैसे विशिष्ट व्यक्तियो को भी अपनी सटीक युक्तियो तथा सारगर्भित भाषण से पराजित तथा नितान्त ध्वस्त कर दिया। अपने भाषण के वीच मे ही इन्होने पत्रो का एक पुलिन्दा सिनेट के सदस्यो के मामने दृढ़ता से फेक कर कहा कि लीजिए और इसे पढ़िये। इस पुलिन्दा मे छात्राओं के वे पत्र थे जो उन्होने अपने प्रेमी छात्रो के पास भेजे थे तथा इसमे उन अभिभावको के भी पत्र थे जिन्होने डॉ० झा से छात्राओं को पृथक् शिक्षा देने की व्यवस्था के लिए प्रार्थना की थी। इन पत्रो को पढकर सिनेटर अवाक् हो गये और उन लोगो ने अन्त मे सह-शिक्षा को समाप्त करने का डॉ० झा का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। जो सिनेटर इनका कट्टर विरोध करने तथा इन्हे पदच्युत करने के लिए आये थे, वे इनके प्रशसक वनकर लौटे। सिनेट की इस ऐतिहासिक मीटिग मे डॉ० झा का ब्रह्मवर्चस्व, ब्राह्मण-तेज और भाषण पटुता देखते ही वनती थी।[१]

संस्मरण

(१) १६२२ ई० का २० अप्रैल। समय अपराह्न। हिन्दू विश्वविद्यालय के वर्तमान भूभाग का परिसर। उस दिन सस्कृत एम० ए० परीक्षा का अन्तिम दिन था और दो परीक्षाएँ होने वाली थी। पूर्वाह्न मे लेखपरीक्षा थी और अपराह्न मे मौखिक परीक्षा। मेरे छात्र-जीवन की वही अन्तिम परीक्षा थी। विश्वविद्यालय के नगवा क्षेत्र मे दूर शहर के भीतर रहने के कारण तथा यातायात के साधनो के तीव्र अभाव के कारण मैने लेख-परीक्षा की समाप्ति के अनन्तर मौखिक परीक्षा के लिए उसी परिसर मे आम्रवृक्ष के नीचे विश्राम किया और परीक्षाकाल से बहुत पहले ही आर्ट्स कालेज मे पहुँच गया। मेरी वाक्-परीक्षा के अन्तरग परीक्षक तो आचार्य आनन्दशकर ध्रुवजी थे और बहिरग परीक्षक थे डॉ० गगानाथ झा।

ठीक ३ वजे अपराह्न मे ध्रुवजी ने डॉ० झा को अपने साथ लेकर अपने कमरे मे, जहाँ मौखिक परीक्षा होने वाली थी, प्रवेश किया। हमलोग परीक्ष्य छात्र सख्या मे पाँच ही थे जिनमे उमेश मिश्र डॉ० झा के शिक्षा-गुरु महामहोपाध्याय प० जयदेव मिश्र के आत्मज

१ इस घटना का वर्णन प्रत्यक्षदर्शी प्रो० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने लेखक को सुनाया था जो स्वय उस सिनेट की सभा मे उपस्थित थे

होने के नाते उनके परिवार के ही सदस्यकल्प थे। मेरी बारी सबसे पहले ही आई। परीक्षा के कमरे मे प्रवेश करने पर ध्रुवजी ने डॉ० झा से मेरी पूर्वपीठिका कह सुनाई कि मैने गवर्नमेण्ट सस्कृतकालेज से (जिसमे डॉ० झा ही तत्कालीन प्रिन्सिपल थे) साहित्याचार्य के अनेक खण्डो की परीक्षा बडी योग्यता के साथ उत्तीर्ण की है और उनकी कक्षा का एक सुयोग्य छात्र हूँ। डॉ० गगानाथ झा ने मेरे परीक्ष्य ग्रन्थो मे से सबसे कठिन ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' से प्रश्न पूछना आरम्भ किया। डाक्टर साहब मीमासा के मूर्धन्य विद्वान् थे। फलत इन्होने काव्यप्रकाश के व्यञ्जना-साधक उल्लास (पचम उल्लास) से मीमासाशास्त्र से सवलित एक महनीय प्रश्न को उठाया और उस समस्या का समाधान माँगा। पूर्वपक्ष का प्रश्न है कि शब्दश्रवण के अनन्तर जितने अर्थ उपस्थित होते है, उनके उपस्थापन मे अभिधा का ही व्यापार जागरूक रहता है, तब व्यजना की आवश्यकता क्या है ? उत्तरपक्ष का समाधान है कि यदि यह तथ्य स्वीकारा जाय तो श्रुति, लिग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या के समवाय होने पर पूर्व पूर्व की बलवत्ता मीमासाशास्त्र मे क्यो मानी जाती है। डॉ० झा ने उत्तरपक्ष से इसी समाधान की बात पूछी और श्रुति, लिग आदि छहो प्रमाणो का उदाहरण पुरस्सर विवरण माँगा। साहित्य के छात्र के सामने मीमासा तथ्य का विवरण देना एक दुरूह समस्या ही उपस्थित हो जाती है। आचार्य ध्रुवजी ने इसका समाधान सक्षेप मे ही बतलाया था, परन्तु मीमासा-प्रवीण डॉ० झा ने इन छहो का दृष्टान्त अलग अलग माँगा जिसके लिए वैदिक यागविधि का परिनिष्ठित ज्ञान अपेक्षित था। भगवान् की कृपा ही समझिये कि मैने इनका उदाहरण टीकाग्रन्थो की सहायता से तैयार कर रखा था। अत डॉ० झा के प्रश्न का सम्यक् उत्तर दे सका। इसके अनन्तर ध्रुवजी ने काव्यलक्षण, लक्षणा आदि प्रश्नो को पूछ कर ठेठ साहित्य विषय की ओर प्रश्नो की दिशा बदल दी। पण्डित गगानाथ झा ने बडी कडाई से अपने प्रश्न का उत्तर माँगा और मेरे यथोचित उत्तर देने पर वे वस्तुत बडे प्रसन्न हुए। उनकी प्रसन्नता की सूचना मुझे घटे भर के भीतर ही विचित्र ढग से मिल गई।

घटना यो घटी। परीक्षा समाप्त होने पर मै दुर्गाजी के दर्शनो के लिए दुर्गाकुण्ड स्थित उनके मन्दिर मे गया। मै दर्शन कर सडक के किनारे खडा ही हुआ था कि पण्डित गगानाथ झा की मोटर सामने से निकल गई। उनकी दृष्टि मुझपर पड़ी और उन्होने उमेश मिश्र से (जो उनके साथ ही मोटर मे बैठे थे) मेरे विषय मे पूछ-ताछ की। इसका उल्लेख उमेशजी ने मुझसे भेट होने पर अगले दिन किया। उन्होने अपनी ओर से यह भी कहा—"झा साहब आपके उत्तर से अत्यन्त प्रसन्न हुए थे और आपके विषय मे अनेक प्रश्नो को पूछ कर उन्होने प्रकारान्तर से अपनी अनुकूल सम्मति आपके लिए दी थी।"

डॉ० गगानाथ से काशी मे प्रिंसिपल रहते समय मेरी यही पहली भेट थी। इससे मुझे तभी उनके स्वभाव का परिचय मिल गया कि वे 'व्याघ्रमुख गौ' थे—देखने मे बहिरग तो बड़ा ही रूखा और कठोर, परन्तु अन्तरग अत्यन्त कोमल तथा सहानुभूतिपूर्ण। मुझे हर्ष हुआ जब मेरे मित्रो ने भी इस सम्मति से अपनी सहमति प्रकट की।

(२) १९२२ ई० मे ही मुझे पण्डित गगानाथजी के दर्शन का दूसरा अवसर भी प्राप्त हुआ। जून १९२२ ई० की बात है। उस समय मैने एम० ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण की थी और अपनी कक्षा मे प्रथम स्थान भी प्राप्त किया था। सयोगवश इसी समय हिन्दूविश्वविद्यालय के सस्कृतविभाग मे एक असिस्टेण्ट प्रोफेसर का स्थान रिक्त हुआ जिसके लिए मैने प्रार्थनापत्र दिया था। इस सबन्ध मे मै सस्कृतविभाग के अध्यक्ष आचार्य ए० बी०

ध्रुव से जो विश्वविद्यालय के प्रो- वाइसचान्सलर भी थे—मिला और उनसे अपना प्रयोजन कह सुनाया। ध्रुव के प्रिय शिष्य होने के कारण वे मुझे अच्छी तरह से जानते थे। अतः उन्होंने मुझे यह सलाह दी कि तुम पं० गोपीनाथ कविराज और डॉ० झा से एक प्रशंसात्मक पत्र (टेस्टिमोनियल) ले आओ। इससे तुम्हारी नियुक्ति में सुविधा होगी।

इसी उद्देश्य से मै दूसरे दिन प्रातःकाल डॉ० झा के 'मिथिला' नामक निवासस्थान पर पहुँचा। उस समय डॉ० झा की बग्गी तैयार थी और वे कही जाने के लिए उद्यत थे। मैं जब उनके पास पहुँचा तब उन्होंने पूछा, क्या है ? इस पर मैने विनम्रता से अपने आने का उद्देश्य उन्हें बतलाया। इसपर छूटते ही उन्होंने कहा, "मै आपको नही जानता। अतः प्रशंसात्मक पत्र कैसे दे सकता हूँ ?" इस पर मैने पुन निवेदन किया कि आप एम० ए० की मेरी मौखिक परीक्षा के परीक्षक रह चुके है और आपने मुझे जो उच्च अक प्रदान किया था उससे ज्ञात होता है कि आप मेरे उत्तर से अत्यन्त सन्तुष्ट थे। इस आधार पर चाहें तो प्रशंसापत्र मुझे दे सकते है। इस पर डॉ० झा ने कहा "यह तो गोपनीय विषय है। इसके आधार पर कोई टेस्टिमोनियल नही दिया जा सकता है।" मै निराश होकर प० गोपीनाथ कविराज के यहाँ गया और उनसे सब घटना कह सुनाई। कविराजजी ने सलाह दी कि पहले मैं तुमको प्रशंसात्मक पत्र देता हूँ। इसे लेकर तुम डॉ० झा को दिखला देना। इस आधार पर वे निश्चय ही तुमको वह सर्टिफिकेट दे देंगे।

दूसरे दिन पुनः मै प्रात काल डॉ० झा के निवासस्थान पर पहुँचा। समय प्रात· ८ बजे के आसपास था। डॉ० झा अपने कमरे मे नगे बदन पूजा करके बैठे हुए थे एक काठ के बड़े तख्ते (चौकी) पर, ललाट पर त्रिपुण्ड्र सुशोभित था और गले मे रुद्राक्ष की मोटी माला पड़ी थी। वे कोई पुस्तक पढ़ रहे थे। मैने जाकर उन्हे कविराजजी का वह प्रशसा-पत्र दे दिया। उन्होंने उसे पढ़ा और मुझसे बिना कुछ कहे ही एक बहुत सुन्दर प्रशसापत्र लिखकर दे दिया जिसमें मेरी योग्यता की भूरि-भूरि प्रशसा की गई थी। इंससे इनके चरित्र की इस विशेषता का पता चलता है कि ये बिना व्यक्ति को अच्छी तरह जाने, बिना निश्चित आधार के प्रशस्तिपत्र नही दिया करते थे। इस प्रकार इनके चरित्र की ईमानदारी का पता चलता है।

(३) मै सन् १९६४-६५ मे सस्कृतविश्वविद्यालय में शोधसस्थान के निदेशक के पद पर नियुक्त था। उस समय डॉ० झाजी के ज्येष्ठ जामाता प० दुर्गाधर झा शोध-सहायक के पद पर कार्य कर रहे थे। उनसे यदा-कदा डॉ० झा के सबन्ध में वार्तालाप करने का अवसर मिल जाता था। एक दिन प० दुर्गाधर झा ने कहा कि डॉ० झा बड़े ही सयमी पुरुष थे। वे स्वाध्याय तथा दैनिक व्यवहार मे सदा सयम तथा नियम का पालन किया करते थे।

वे प्राय· एक ही बार—मास मे घर के व्यवहार में आने वाले समस्त खाद्य पदार्थों—दाल, चावल, गेहूँ, घी, तेल, नमक, मसाला आदि को किसी एक ही बनिये की दुकान से खरीद कर रख दिया करते थे। कुछ लोगों ने उनसे कहा, वह बनिया' आपको बहुत ठगता है। अतः आप उससे सामान न खरीदा करे। झाजी ने उत्तर दिया कि मेरे पास इतना समय नहीं है कि रोज-रोज मै बाजार जाकर सामान खरीदता फिरूँ। ये अपने रुपयों को सदा बकस में ताला-चाभी के भीतर रखा करते थे। अपने खर्च का सदा हिसाब रखते थे। इस प्रकार इन्हें अपने जीवन में कभी आर्थिक कष्ट का सामना नही करना पड़ा।

अध्ययन और लेखनकार्य के सबन्ध में भी ये सदा सयम बरतते थे। इनका नियम था, प्रतिदिन प्रातःकाल पूजा-पाठ के पश्चात् स्वाध्याय तथा लेखन का काम करना। इस नियम

में कभी व्याघात नही हो सकता था। बचपन से ही ये स्वाध्याय के व्यसनी थे। कालेज में गुरुमुख से ये जो कुछ पढ़ते थे उसका उसी दिन रात मे अग्रेजी भाषा मे अनुवाद कर लिया करते थे। इस सयमित लेखनकार्य के कारण ही डॉ० झा इतनी पुस्तको के लेखन, सम्पादन तथा अनुवाद मे सफलीभूत हो सके।

प० नारायण शास्त्री खिस्ते ने अपने ग्रन्थ 'विद्वच्चरितपञ्चकम्' मे डॉ० झा के चरित्र का जो विश्लेषण निम्नाकित शब्दो मे किया है वह अक्षरश सत्य है—

विद्यावंश-यशांसि सन्ति विमलान्युच्चैस्तमं वैभवं,
चेतः किञ्च दयाघनं विजयते येषां श्रियं पुष्णताम्।
वाग्देवी सतत स्थितिं वितनुते यद्-वक्त्र-पद्मासने,
पद्मा पाणिगतैव राजतितमां प्रीत्यैव यत्सन्निधौ॥

× × ×

सौभाग्य स्पृहणीयमेव सकलैर्वर्धिष्णु येषां सदा,
पुत्रा. किञ्च पवित्रचारु-चरिता विद्वद्गणे संस्तुताः।
नानाग्रन्थविधानजा निरुपमा कीर्तिश्च लोकोत्तरा,
गङ्गानाथपदाङ्कपण्डितवरा राजन्ति राजोपमाः॥

परिवार

डॉ० गगानाथ झा का पारिवारिक जीवन बडा सुखी था। भगवान् की कृपा से इन्हे पाँच पुत्र थे और पाँचो ही सुयोग्य, सुशील तथा उच्चपदाधिकारी थे—(१) डॉ० भवनाथ झा (दरभगाराज के मुख्य चिकित्साधिकारी), (२) डॉ० अमरनाथ झा (अग्रेजी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् तथा प्रयाग विश्वविद्यालय के दीर्घकालीन कुलपति), (३) प० शिवनाथ झा (उत्तर-प्रदेशसरकार के जिला विद्यालयनिरीक्षक), (४) प० विभूतिनाथ झा (बिहारसरकार के शासनाधिकारी), (५) प० आदित्यनाथ झा (उत्तरप्रदेश शासन के मुख्य सचिव, दिल्ली प्रदेश के उपराज्यपाल तथा सस्कृतविश्वविद्यालय वाराणसी के प्रथम कुलपति)। इन पाँचो सुयोग्य पुत्रो मे से अमरनाथ झा तथा आदित्यनाथ झा अपनी प्रतिभा, शासनयोग्यता तथा शैक्षणिक वैदुषी के कारण नितान्त विश्रुत एव लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् थे। इन दोनो के ऊपर डॉ० गगानाथ झा की सस्कृतविषयक विद्वत्ता की तथा शासन-सम्बन्धी कर्मठता की गहरी छाप पडी थी। परन्तु दुख से कहना पडता है कि ये पाँचो ही अल्पायु हुए और साठ बासठ वर्ष के वय तक पहुँचते-पहुँचते दिवगत हो गए। हा! हन्त!!

शिष्य-मण्डली

डॉ० गगानाथ झा की शिष्य मण्डली बडी विस्तृत थी। म्योर सेन्ट्रल कालेज, प्रयाग मे अध्यापन करते समय सहस्रो छात्रो को इन्होने विद्यादान दिया जिनमे तीन शिष्यो का वर्णन यहाँ दिया जा रहा है—(१) डॉ० बाबूराम सक्सेना, (२) डॉ० उमेश मिश्र तथा (३) प्रो० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय।

(१) डॉ० बाबूराम सक्सेना ने डॉ० झा से सस्कृतसाहित्य का गभीर अध्ययन किया। म्योर सेन्ट्रल कालेज प्रयाग मे इन्होने डॉ० झा के चरणो में बैठकर सस्कृत के साथ ही भाषाशास्त्र को भी अपने शोध का विषय बनाया। प्रयाग विश्वविद्यालय से एम० ए० की

परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् ये काशी चले आये और सुप्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक डॉ० टर्नर के निर्देशन मे शोधकार्य करने लगे। अनुसन्धान-कार्य समाप्त होने के पश्चात् इन्होने **इवोल्यूशन आफ अवधी** (अवधी भाषा का विकास) विषय पर डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। आपकी प्रयाग विश्वविद्यालय के सस्कृतविभाग मे प्राध्यापक पद पर नियुक्ति हो गई। डॉ० आचार्य के अवकाशग्रहण के पश्चात् इन्होने अध्यक्ष पद को अनेक वर्षों तक सुशोभित किया। सस्कृतविभाग के अध्यक्षपद से अवकाश लेने के बाद सागरविश्वविद्यालय (मध्यप्रदेश) मे भाषाशास्त्र विभाग के अध्यक्ष बने। तदनन्तर रायपुर मे रविशकर विश्वविद्यालय के कुलपति के पद पर नियुक्त होकर इन्होने उस विश्वविद्यालय की बडी सेवा की तथा उसे सुप्रतिष्ठित बनाने मे विशेष योगदान दिया। इसके अनन्तर केन्द्रीय हिन्दी सस्थान के उपाध्यक्ष पद का कार्य बडी योग्यता से सँभाला। अन्त मे कुछ दिनो तक प्रयाग विश्वविद्यालय के भी कुलपति रहे।

डॉ० बाबूराम सक्सेना बडे ही कार्य कुशल प्रशासक तथा नितान्त सफल प्राध्यापक है। जिस कार्य को इन्होने अपने हाथ मे लिया उसे बडे सफलतापूर्वक सम्पन्न किया। भाषाविज्ञान के विषय मे इनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थ अपने विषय के मान्य मानक ग्रन्थ है। हिन्दी की बोली पर भाषावैज्ञानिक अनुसधान करने का कार्य डॉ० सक्सेना ने ही सर्वप्रथम आरम्भ किया। इनका शोधप्रबन्ध **इवोल्यूशन आफ अवधी** इस विषय मे एक प्रामाणिक शोधप्रबन्ध है। इनका **सामान्य भाषाविज्ञान** नामक ग्रन्थ हिन्दी के विषय की विवेचना तथा भाषाशास्त्रीय सूक्ष्म दृष्टि के कारण नितान्त प्रसिद्ध है जिसके द्वारा हिन्दी के छात्र तथा जिज्ञासु जन भाषाशास्त्र मे प्रामाणिक परिचय सरलता से प्राप्त कर सकते है। इस प्रकार ये हिन्दीजगत् मे भाषाविज्ञान के प्रचारक तथा प्रसारक के रूप मे विशेष उल्लेखनीय है।

(२) डॉ० उमेश मिश्र —डॉ० गगानाथ झा के शिष्यो मे डॉ० उमेश मिश्र अन्यतम थे। डॉ० उमेश मिश्र के पिता म० म० प० जयदेव मिश्र डॉ० झा के गुरु थे। अत गुरु के पुत्र के ऊपर इनकी विशेष कृपादृष्टि का होना स्वाभाविक ही था। इनका जन्म मिथिला मे जनकपुर के पास ही किसी ग्राम मे १८९५ ई० मे हुआ था।

प० उमेश मिश्र ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से एम० ए० की परीक्षा सन् १९२२ ई० में उत्तीर्ण की थी। ये वर्तमान लेखक के सतीर्थ्य थे। एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् डॉ० गगानाथ झा ने —जो उस समय प्रयाग विश्वविद्यालय के कुलपति के पद को सुशोभित कर रहे थे—इन्हे प्रयाग मे सस्कृतविभाग के प्राध्यापक पद पर नियुक्त किया। जब डॉ० झा सस्कृतकालेज के प्रिंसिपल थे, तब उमेश मिश्र ने उनसे मीमासाशास्त्र का सम्यक् अध्ययन किया। अन्य दर्शनो मे भी इनकी पैनी पैठ थी। उमेश मिश्र ने डॉ० झा के ही निर्देशन मे प्रयाग विश्वविद्यालय से १९३१ ई० मे दर्शनशास्त्र मे डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। कुछ वर्षों के पश्चात् ये प्रयाग विश्वविद्यालय मे रीडर के पद पर नियुक्त हुए। डॉ० बाबूराम सक्सेना के अवकाश प्राप्त करने पर इन्होने कुछ वर्षों तक सस्कृत-विभाग के अध्यक्ष पद को सुशोभित किया था। इस पद से निवृत्त होने के पहले ही ये सस्कृतविश्वविद्यालय दरभगा के कुलपति के पद पर नियुक्त किये गये। अनेक वर्षों तक इन्होने इस पद को सुशोभित किया और वहाँ से सेवानिवृत्त होने पर ये प्रयाग के अपने आवास में ही रहते थे। 'महामहोपाध्याय' की उपाधि से ये पहले ही सत्कृत किये जा चुके थे। इनका देहावसान प्रयाग में ही १९६७ ई० में हुआ।

डॉ० उमेश मिश्र ने अनेक ग्रन्थो का प्रणयन अंग्रेजी, हिन्दी तथा मैथिली मे किया है। अंग्रेजी मे इनके मौलिक ग्रन्थ है—(१) **हिस्ट्री आफ इन्डियन फिलासफी** (३ भाग, जिनमे प्रथम दो भाग प्रकाशित हैं। १९५७), (२) **कन्सेप्शन आफ मैटर** एकारडिंग टु न्यायवैशेषिक (१९३६), (३) **मीमांसाकुसुमांजलि** (मीमासाग्रन्थो का विवेचनात्मक सूचीपत्र), (४) **ए क्रिटिकल स्टडी आफ भगवद्गीता** (१९६६), हिन्दी मे, (५) **सांख्ययोगदर्शन**, (१९५८), (६) **भारतीय तर्कशास्त्र की रूपरेखा** (१९५०), (७) **भारतीयदर्शन** (१९६० उत्तरप्रदेश सरकार की हिन्दीसमिति द्वारा प्रकाशित) और (८) **विद्यापति ठाकुर** (हिन्दुस्तानी एकेडमी)। मैथिली मे चार मौलिक ग्रन्थ (कथा, तथा साहित्य सम्बन्धी)।

इन्होने अनेक सस्कृतग्रन्थो का विमर्शात्मक सस्करण प्रकाशित किया है जिनमे मुख्य है—महादेवकृत **न्यायकौस्तुभ**, हलायुधकृत **मीमासा-सारसर्वस्व** (पटना १९३४), **विज्ञान-दीपिका** (विवृति के साथ, पद्मपादाचार्यकृत प्रयाग), **विद्याकरसहस्रकम्** (विद्याकर मिश्र द्वारा प्रणीत सूक्ति सग्रह), आलोक तथा दर्पण के साथ **तत्त्वचिन्तामणि** (दरभगा १९५७)। इनके अतिरिक्त अंग्रेजी, हिन्दी, सस्कृत तथा मैथिली की शोधपत्रिकाओं मे अनेक शोधलेख प्रकाशित किये गये है।

(३) प्रो० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय —क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय डॉ० झा के शिष्यो मे अग्रगण्य थे। ये सस्कृतसाहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इसके साथ ही इन्होने वेदों का गम्भीर अध्ययन किया था। वेदो के अनुशीलन के साथ साथ जरथुस्त्र-धर्म के आदिग्रन्थ जेन्दा अवेस्ता का भी इनका अध्ययन गम्भीर था। भारतीय इतिहास और सस्कृति विषयो को भी इन्होने अपने शोध का विषय बनाया था और प्राचीन भारतीय इतिहास के सम्बन्ध मे इनके अनेक सिद्धान्त प्रचलित थे। डॉ० झा से इन्होने मीमासाशास्त्र का विधिवत् अध्ययन किया था। अत प्राच्यशास्त्रो के सम्यक् अनुशीलन के साथ ही ये नवीन पाश्चात्त्य शोध-पद्धति के भी पूर्ण ज्ञाता थे।

जन्म तथा शिक्षा

क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय का जन्म बगाल मे २७ अक्टूबर सन् १८९६ ई० को हुआ था। बगाल के सुप्रसिद्ध चौबीस परगना नामक जिला मे निमता गॉव इनकी जन्मभूमि थी। ये उसी उच्चकुल मे पैदा हुए थे जिसको बगाल के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार और 'वन्देमातरम्' के जन्मदाता बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने अलकृत किया था। इनके पिता का नाम अतुलचन्द्र चट्टोपाध्याय और माता का नाम सुरसुन्दरी देवी था। इनकी माता बडी धार्मिक प्रवृत्ति की महिला थी जिनका प्रभाव चट्टोपाध्यायजी के जीवन पर प्रचुर मात्रा मे पड़ा। इनके पिता उत्तरप्रदेश (सचिवालय) मे डिपुटी सेक्रेटरी के पद को सुशोभित करते थे। ये अंग्रेजी के भी अच्छे विद्वान् थे।

क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने सन् १९१३ ई० मे मेट्रिकुलेशन परीक्षा कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में, सन् १९१५ ई० मे इण्टर परीक्षा भी प्रथम श्रेणी मे ही पास की। म्योर सेण्ट्रल कालेज, इलाहाबाद से सन् १९१७ ई० में बी० ए० की डिग्री प्राप्त की। परन्तु एम० ए० में अध्ययन करने के लिए ये काशी चले आये और क्वीन्स कालेज, बनारस से १९१९ ई० मे एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् १९२१ ई० मे वेद विषय लेकर तथा सन् १९२२ ई० में वेदान्त लेकर इन्होने पुनः एम० ए० की परीक्षा कलकत्ता विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण की।

काशी में अध्ययन करते समय भाषाविज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० तुकाराम कृष्ण लड्डू से भाषाशास्त्र का सम्यक् अध्ययन किया। इस प्रकार इन्होने वेद और जेन्दा अवेस्ता की भाषाओं का गुरुओं से गम्भीर अध्ययन किया। डॉ० गगानाथ झा के चरणो मे बैठकर इन्होने मीमासाशास्त्र को प्राचीन पद्धति से पढ़ा। अध्ययनसमाप्ति के साथ ही साथ इन्हे अध्यापक का पद प्राप्त हो गया। १९१९ ई० से लेकर १९२३ ई० तक ये बगाल के रगपुर मे स्थित कारमाइकेल कालेज मे सस्कृत के व्याख्याता पद पर बडी योग्यता से कार्य करते रहे। इन वर्षों मे इन्होने अध्यापकी के साथ कलकत्ता विश्वविद्यालय से वेद तथा वेदान्त विषय लेकर एम० ए० की परीक्षा बडी योग्यता के साथ उत्तीर्ण की। १९२४ ई० मे प्रयाग विश्वविद्यालय मे नियुक्त होकर प्रयाग आ गये। यही ३४ वर्षों तक आपने बडे उत्साह तथा लगन के साथ अध्यापन कार्य किया। १९५८ ई० मे सेवानिवृत्त हो गये। इनका वैदुष्य भारतीय दर्शन विशेष कर वेदान्त तथा मीमासा मे तथा वैदिक साहित्य के नाना विभागो मे विद्वानो के द्वारा प्रशसित एव सत्कृत था।

सस्कृतविश्वविद्यालय, बनारस मे सस्कृत शोधसस्थान मे निदेशक के पद पर नियुक्ति हो गई। वहाँ से पुन अवकाश ग्रहण करने के बाद ये रेडियो विभाग मे सस्कृत के सलाहकार के पद पर भी कार्य करते रहे। इन्होने सस्कृत विश्वविद्यालय मे कुलपति के पद को भी कुछ समय के लिए सुशोभित किया था।

भाषण तथा सम्मान

चट्टोपाध्यायजी की विद्वत्ता की धाक सभी जगह जमी हुई थी। अत अनेक विश्वविद्यालयो ने इन्हे अपने यहाँ व्याख्यान देने के लिए आमत्रित किया था। सन् १९६६ ई० में इन्होने तिरुपति विश्वविद्यालय मे वेद तथा अवेस्ता पर भाषण दिया था। लालबहादुर शास्त्री सस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली मे इन्होने कालिदास को अपने व्याख्यान का विषय बनाया था। सन् १९३७ ई० मे आल इण्डिया ओरिएन्टल कान्फरेन्स के एक अधिवेशन के वेद विभाग के आप अध्यक्ष चुने गये थे। सन् १९४६ ई० मे साहित्यसम्मेलन, प्रयाग के कराची अधिवेशन मे आपने दर्शनविभाग की अध्यक्षता की थी। भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति के अवसर पर सन् १९४७ ई० मे आपने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने मे सर्वाधिक योगदान दिया था। इसके फलस्वरूप हिन्दी साहित्यसम्मेलन, प्रयाग ने सन् १९४६ ई० मे 'साहित्यवाचस्पति' की उपाधि से आपको अलकृत किया।

चट्टोपाध्यायजी विद्या के धनी होते हुए भी लेखनी मे बद्धमुष्टि थे। अत इन्होने विशेष ग्रन्थो की रचना नही की है। कलकत्ता विश्वविद्यालय मे 'तुलनात्मक धर्म' पर तथा हिन्दू विश्वविद्यालय मे 'वैदिक धर्म' के ऊपर इन्होने अग्रेजी मे जो भाषण दिये थे वे ग्रन्थ के रूप मे प्रकाशित हो चुके है। ३ मार्च सन् १९७४ ई० मे काशी मे ही सस्कृत का यह विद्वान् परलोक को चला गया।

प० क्षेत्रेशचन्द्रजी का वैदुष्य सस्कृत भाषा तथा साहित्य मे बडा ही गम्भीर था। एक ही विषय के ऊपर नयी-नयी खोजो से सवलित इनके लेख इन बात के स्पष्ट सूचक है कि ये किसी तथ्य के मूल तक पहुँचने के लिए कितना परिश्रम करते थे और समस्या का यथार्थ समाधान करके ही वे सिद्धमनोरथ होते थे। वेद तो इनका अपना विषय ही था। अवेस्ता का अध्ययन इन्होने अपने ही परिश्रम एव प्रयत्न से किया था। फ्रेञ्च और जर्मन भाषा के मर्मज्ञ विद्वान् थे। तुलनात्मक अध्ययन करने मे इनकी प्रतिभा बहुत चमत्कृत होती थी।

प्राचीन भारत के इतिहास के विषय मे भी इनके अनुमधान बडे गम्भीर तथा तलस्पर्शी होते थे। इलाहाबाद विश्वविद्यालय मे प्राचीन इतिहास तथा पुरातत्त्व का नया विभाग इन्ही के प्रयास का फल है जिसके अध्यक्ष डॉ० गोवर्धनराय शर्मा इन्ही के पट्ट शिष्य है। प्रगाढ अनुशीलन मे व्यस्त रहने के कारण ही इनके द्वारा लिखित सामग्री मात्रा मे न्यून भले ही हो, परन्तु अपनी गम्भीरता मे तथा विविधता मे किसी प्रकार न्यून नही है। इन्ही के विद्वान् शिष्य डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने इनके शोध प्रबन्धो के चार भागो मे प्रकाशन की योजना तैयार की है जिसमे दो भाग मुद्रित तथा प्रकाशित हो गये है। विदेशो मे भी इनके वैदुष्य की ख्याति विशेष थी। इसीलिए इन्होने मास्को तथा अमेरिका मे होने वाली अन्तर्राष्ट्रीय सस्कृत काग्रेस के कई विभागो का अध्यक्षपद सुशोभित किया था।

चट्टोपाध्यायजी का समग्र सत्य पर विशेष आग्रह था। वे वैदिक तथ्यो का अनुसन्धान सदा किया करते थे। एक ही विषय पर उनके अनेक शोधप्रबन्ध मिलेगे, परन्तु प्रत्येक लेख तत्पूर्व लेख मे निर्दिष्ट विषय को अग्रसारित ही करता मिलेगा। एक दो उदाहरणो से इस विषय की सम्पुष्टि की जा सकती है। ऋग्वेद के इस मन्त्र (३।५३।१४) मे 'कीकट' शब्द प्रयुक्त मिलता है

कि ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिर दुह्रे न तपन्ति घर्मम्
आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाख मघवन् रन्धया न.॥

इसके यथार्थ तात्पर्य मे विद्वानो मे मतभेद है। यास्क ने इसका अर्थ 'अनार्य निवास' किया है तथा यह शब्द मगध देश के लिए पीछे प्रयुक्त होने लगा। इस शब्द का ठीक अर्थ चट्टोपाध्यायजी ने कुरुक्षेत्र सिद्ध किया है। मन्त्र का 'नैचा शाख' का अर्थ यास्क ने नीचाशाख किया है जिसका तात्पर्य वटवृक्ष है, क्योकि उसी की शाखाये सर्वदा नीचे की ओर झुकी रहती है अर्थात् न्यग्रोधवृक्ष। ऐतरेय ब्राह्मण (७।३०) का कथन है--

यतो वा अधिदेवा यज्ञेनेष्ट्वा स्वर्गं लोकमायस्तत्रैतान् चमसान् न्युब्जस्ते नग्रोधा अभवन्, न्युब्जा इति हाप्येनान् एतर्हि आचक्षते कुरुक्षेत्रे। ते ह प्रथमजा न्यग्रोधानां तेभ्यो हान्येऽधिजाता ॥

इसका तात्पर्य है कि कुरुक्षेत्र मे ये न्यग्रोध सबसे पहिले उत्पन्न हुए और उसी से अन्य वटवृक्षो की उत्पत्ति हुई। इस प्रमाण को उद्घाटित कर चट्टोपाध्यायजी ने कीकट को कुरुक्षेत्र का सकेत सिद्ध किया है। अर्थात् यही प्रथम स्थल है जहाँ आर्यो का अनार्यो से प्रथम सम्पर्क हुआ और यहाँ से हटकर जब आर्य लोग पूर्व की ओर बढ़कर 'मगध' मे आ गये, तब उन्होने उस अनार्य देश के लिए इसी अभिधान का प्रयोग किया और इस प्रकार यह शब्द अनार्यनिवास का वाचक बन गया जैसा यास्क ने निरुक्त मे निर्दिष्ट किया है। 'कीकट' का यह मूलभूत अर्थ का निर्देश क्षेत्रेश बाबू की विमर्शात्मिक बुद्धि का वैभव है।

इसी प्रकार दास तथा दस्यु शब्दो का मौलिक अर्थ बतलाया है। उनका कहना है कि इन शब्दो के द्वारा किसी जातिविशेष का तात्पर्य मानना नितान्त अनुचित है। इन शब्दो का प्रयोग आर्यो के प्रसग मे भी उपलब्ध होता है। फलत हीन आचार वाले व्यक्तियो का ही यह शब्द सकेत बतलाता है, किसी जाति-विशेष का नही।

जेन्दवस्ता का भी अध्ययन चट्टोपाध्यायजी ने स्वत अपने परिश्रम से किया है, किसी गुरु से नही। इस भाषा का उनका अध्ययन बहुत ही वैज्ञानिक था तथा अवेस्ता मे लिखित ग्रन्थो का उनका ज्ञान तथा परिश्रम नितान्त श्लाघनीय था। इस धर्म के विषय मे उनके शोधलेख बडी आदरदृष्टि से देखे जाते थे। वैदिक धर्म तथा पारसी धर्म मे पारस्परिक विरोध

की वे कल्पना भी नहीं कर सकते। वेद और अवेस्ता में बड़ी समता है भाषा की, पूजा-उपासना की तथा आचार-विचार की। अवेस्ता की गाथा बहुत ही प्राचीन तथा एकेश्वरवाद की प्रसारिका हैं। गाथा का धार्मिक मत उपनिषदों से विशेष मिलता है। वैदिक प्रजापति की कल्पना अवेस्ता के अहुरमज्द के साथ सर्वांशतः मिलती है। गाय के प्रति आदर की भावना वैदिक आर्यों के समान इन जरथुस्त्र धर्म के अनुयायियों में भी प्राप्त होती है। पशुओं के रक्षण के प्रति पारसियों का विशेष आग्रह था। वैदिक लोग भी गाय को 'अघ्न्या' (न मारने योग्य) मानते थे। दोनों धर्मों के ऋत्विजों में इस पवित्रता की कल्पना इतनी बद्धमूल थी कि दोनों धर्मों के पूजक गाय के मूत्र को शुद्धीकरण के लिए नितान्त आवश्यक मानते थे। असली सोमलता के उपलब्ध न होने पर पारसी लोग दूसरी लता का उपयोग अपने धर्मकार्यों में किया करते थे, जिस प्रकार वैदिक ऋत्विज् सोमलता के अभाव में 'पूतिका' या अन्य किसी लता का प्रयोग करता था। इस प्रकार दोनों धर्म के अनुयायियों में इतना साम्य तथा आदरभाव है कि वैदिक देवताओं को पारसी धर्म में दैत्य बना दिया गया है—यह सिद्धान्त मानना एकदम आधारहीन तथा अप्रामाणिक है।

चट्टोपाध्यायजी कालिदास के ग्रन्थों के बड़े गम्भीर अध्येता थे। वे इन ग्रन्थों में दिये गये विशिष्ट स्थानों के स्वरूपनिर्णय के लिए उन स्थानों पर जाकर स्वयं शोध किया करते थे। एक बार की घटना उन्होंने स्वयं सुनाई थी। मेघदूत के रामगिरि की स्थिति के विषय में विद्वानों में आज भी मतभेद है। प्राचीन पण्डित चित्रकूट को ही 'रामगिरि' मानते हैं, परन्तु नवीन शोधकर्ता 'रामटेक' को वह गौरव प्रदान करते हैं। इस तथ्य के निर्णय के लिए ये स्वयं नागपुर गए और अपने सुयोग्य शिष्य पण्डित सरस्वतीप्रसाद चतुर्वेदी को संग में लेकर रामटेक पहुँचे। वहाँ उस पर्वत के ऊपर गेरू की सत्ता देखकर मेघदूत का यह पद्य उन्हें सद्य स्फुरित हो उठा—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः॥

—उत्तरमेघ, पद्य ४७

विरहविदग्ध यक्ष अपनी दशा का वर्णन इस पद्य में कर रहा है—जब मैं पत्थर की पटिया पर गेरू से तुम्हारी रूठी हुई मूर्ति का चित्र खींचकर यह बनाना चाहता हूँ कि तुम्हें मनाने के लिए मै तुम्हारे पैरों पड़ा हूँ, उस समय आँसू इतने उमड़े पड़ते है कि भर-आँख देखने भी नहीं देते। निर्दयी काल को हमारा चित्र मे भी मिलना नही सुहाता।

इस पद्य में निर्दिष्ट गेरू से चित्र बनाने का समर्थन रामटेक की भौगोलिक स्थिति सर्वथा करती है। फलतः मेघदूत में निर्दिष्ट रामगिरि रामटेक ही हो सकता है, चित्रकूट नहीं, जहाँ गेरू का सर्वथा अभाव दृष्टिगोचर होता है। फलतः क्षेत्रेशचन्द्र की शोधदृष्टि यथार्थत. तात्त्विक थी।

ऋग्वेद में लिखने की कला की सत्ता के विषय में विद्वानों में मतभेद है। चट्टोपाध्याय जी उस प्राचीन काल में भी इस कला के अस्तित्व के पूर्णतः समर्थक थे। उनकी दृष्टि इस मन्त्र के ऊपर विशेषरूपेण आश्रित थी—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशतीः सुवासाः॥

—ऋग्वेद १०।७१।४

मन्त्र में यज्ञीय वाक् का वर्णन है—वाणी को देखता हुआ भी कोई नहीं देखता।

उसको सुनता हुआ भी कोई नही सुनता । दूसरे के लिए यह पति की कामना करने वाली सुन्दरवस्त्रधारिणी जाया की तरह अपने आपको समर्पित कर देती है ।

इस मन्त्र का प्रथम चरण ही सद्य लिखने की कला की सूचना देता है, क्योंकि वाणी का दर्शन तो लिखित रूप मे ही किया जा सकता है फलत वैदिककाल मे इसकी सत्ता प्रमाणित होती है ।

चट्टोपाध्यायजी ने किसी ग्रन्थ की रचना नही की, उन्होने वेदविषयक लेखो की ही रचना कर अपने सिद्धान्तो को प्रकट किया है ।[1] लेखो मे नये-नये तथ्यो का प्रकाशन विधिवत् किया जा सकता है, ग्रन्थस्थित होने पर तथ्यो को बदला नही जा सकता । फलत समग्र सत्य पर आग्रह रखने वाले इस विद्वान की जितनी प्रशसा की जाय, वह थोडी ही है ।

पण्डित सहदेव झा

पण्डित सहदेव झा डॉ० गगानाथ झाजी के प्रियपात्र थे । ये अपने युग के एक अलोकसामान्य नैयायिक थे । इनकी विशेषता थी कि इन्होने न्यायसम्बन्धी ग्रन्थो का अक्षरश पाठ तथा अभ्यास किये बिना ही गम्भीर दार्शनिक वैदुष्य अर्जित किया था । काशी के ही प्रख्यात गोयनका विद्यालय मे न्यायशास्त्र का अध्यापन करते थे, परन्तु अपने चार अक्षर का नाम लिखने मे भी वे पराङ्मुख रहते थे और परिश्रम से ये अपना हस्ताक्षर ग ह देव झा कर पाते थे । परन्तु न्यायशास्त्र के तत्त्व उनके लिए हस्तामलकवत् विद्योतित होते थे । प्रख्यात बच्चा झा आपके आदरणीय गुरु थे, परन्तु उनके लेख मे भी क्षुतृक्षेम करने से ये विरत नही होते थे । सुनते है कि एक बार गुरुजी कार्यवश बाहर गये और छात्रो से कह गये कि कोई भी उनके लेख मे, जो रखा हुआ था, कुछ छेड न करे । और छात्रो ने तो गुरुजी की आज्ञा का पालन किया, परन्तु सहदेव झा ने कौतूहलवश गुरुजी का लेख पढकर उसमे स्थान स्थान पर सम्भाव्यमान त्रुटियो को बना दिया । लौटकर जब गुरुजी ने अपना लेख देखा और बनाये गये स्थलो का निरीक्षण किया, तो उन्हे बडा आश्चर्य हुआ । गुरु और शिष्य मे वाग्विवाद छिड गया, सहदेव झा ने अपने लेख के औचित्य को सिद्ध कर बच्चा झा के हृदय मे अपने पाण्डित्य के लिए स्थान बनाने मे सर्वथा समर्थ हो गये ऐसी थी उनकी नैयायिक व्युत्पत्ति ।

पण्डित सहदेव झा और प० बालकृष्ण मिश्र दोनो काशी मे ही अध्यापक थे । मिश्र जी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृतमहाविद्यालय के अध्यक्ष थे तथा न्यायशास्त्र की अलौकिक मनीषा के धनी माने जाते थे । एक बार दोनो ही निमन्त्रण पर जाते समय रेल के एक ही डब्बे मे आसीन हुये । शास्त्रचर्चा छिड गई । चर्चा तो आरम्भ हुई काशी मे, रात भर चलती रही और समाप्त तब हुई जब अपने निर्दिष्ट स्टेशन पर पहुँच गये । सहदेव झाजी ने तब कहा कि बालकृष्णजी न्याय के ग्रन्थो के प्रवीण पारखी अब हो गये है । ग्रन्थ का अच्छा अभ्यास कर लिया है । यह उक्ति ही प० सहदेव झा के तलस्पर्शी पाण्डित्य का सद्य परिचायक कथन है । ऐसे विलक्षण नैयायिक थे सहदेव झा ।

●

---

१ चट्टोपाध्यायजी के लेखो के लिए द्रष्टव्य Studies in Vedic and Indo Iranian Religion and Literature २ भाग ।



पं० गोपीनाथ कविराज

पण्डित गोपीनाथ कविराज

(आस्पद—कविराज, उपाधि—महामहोपाध्याय, पद्मविभूषण)

महामहोपाध्याय प० गोपीनाथ कविराज सस्कृतसाहित्य के प्रकाण्ड पण्डित, भारतीय दर्शन के अद्भुत विद्वान् तथा तन्त्रशास्त्र के तलस्पर्शी ज्ञाता थे। यदि इन्हे 'भारतीय विद्या का चलता-फिरता विश्वकोश' कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति नही होगी। कविराजजी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। अत भारतीय विद्या का कोई भी ऐसा अग नही जो इनकी प्रतिभा से अछूता रह गया हो। इन्होने अपने विद्यार्थीजीवन मे साहित्य तथा दर्शन का ही अध्ययन नही किया था बल्कि भारतीय इतिहास तथा पुराशास्त्र एव अभिलेख भी इनके अनुसन्धान के विषय रहे। इस प्रकार प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी विषयों का इन्होने अध्ययन ही नही किया था, इन्हे हस्तामलक भी कर लिया था।

कविराजजी अभूतपूर्व बहुश्रुत विद्वान् थे। सस्कृतसाहित्य के अतिरिक्त इन्होने पाश्चात्त्य देशो के साहित्य—अग्रेजी, फ्रेच, जर्मन—का भी गम्भीर अध्ययन किया था। इस प्रकार प्राच्य और पाश्चात्त्य दोनो के साहित्य का इन्हे परिनिष्ठित ज्ञान ही नही था, बल्कि इनके ये पारगत पण्डित भी थे। दर्शन और तन्त्रशास्त्र इनके शोध के प्रधान विषय थे। दर्शनशास्त्र मे भी न्याय और वैशेषिक की इन्होने जो 'बिब्लियोग्राफी' लिखी है उससे इनकी तलस्पर्शी विद्वत्ता का पता चलता है। भारतीय दर्शन की किसी भी समस्या को ये अपने प्रातिभ ज्ञान से सरलतया सुलझा दिया करते थे। इसीलिए भारत के विभिन्न प्रान्तो के विद्वान् तथा शोधार्थी अपनी शकाओं के समाधान के लिए इनकी शरण मे आया करते थे।

कविराजजी विद्वान् होने के अतिरिक्त एक पहुँचे हुए साधक भी थे। इनका सारा समय साधना तथा योग क्रियाओ के अभ्यास मे व्यतीत होता था। तन्त्रशास्त्र के ये पारगामी मनीषी थे। साधक होने के कारण ये तन्त्रशास्त्र के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनो पक्षो के पूर्ण ज्ञाता थे। ये साधना की अतिभूमि मे पहुँचे हुए साधक थे। अत ये सासारिक विषय-वासनाओं, मान-अपमान की भावना से परे थे। कविराजजी पूर्णतया स्थितप्रज्ञ पुरुष थे। गीता के 'मानापमानयोस्तुल्य , तुल्यनिन्दात्मसस्तुति ' के ये मूर्तिमान् प्रतीक थे। ये जितने बड़े तलस्पर्शी विद्वान् थे उतने ही बडे साधक भी थे। अत विद्वत्ता, साधना और स्थितप्रज्ञता का मणिकाचनसयोग इनके व्यक्तित्व की प्रधान विशिष्टता है।

जन्म तथा शिक्षा

कविराजजी के पूर्वज बगाल (अब बॉगला देश) के मैमनसिह जिले के तगइल तहसील के दन्या नामक गॉव के निवासी थे। इनके प्रपितामह प० कमलाकान्त बड़े धनी व्यक्ति थे तथा वे सामन्ती वैभव के प्रतीक माने जाते थे। परन्तु अकस्मात् उनके पुत्र चन्द्रनाथजी की मृत्यु असमय में ही हो गयी। कविराजजी के पिता का नाम वैकुण्ठनाथ था जो अपने पिता

(चन्द्रनाथ) जी की मृत्यु के समय केवल छ या सात वर्षो के थे। इस प्रकार छोटी अवस्था मे ही वैकुण्ठनाथ सर्वथा निराश्रित हो गये। ऐसी विषम दशा मे इनके मामा प० कलाचन्द्र सान्याल इन्हे अपने कॉठालिया ग्राम मे ले गये। यह गॉव कविराजजी के पैतृक निवासस्थान दन्या से केवल अठारह मील दूर था।

प० कलाचन्द सान्याल धनी व्यक्ति थे। परन्तु उन्हे कोई सन्तान नही थी। इसीलिए उन्होने अपने भानजे (वैकुण्ठनाथ) का लालन पालन पुत्र की ही भाँति किया। उन्होने वैकुण्ठनाथ का विवाह धामराई गॉव के प्रसिद्ध मौलिक परिवार मे सन् १८७६ ई० मे कर दिया। वैकुण्ठनाथ ने गवर्नमेन्ट सस्कृतकालेज कलकत्ता के एम० ए० (सस्कृत) प्रथम वर्ष मे प्रवेश लिया था परन्तु वार्षिक परीक्षा के पूर्व ही ये बीमार पड गये और अकस्मात् ३० अप्रैल १८८७ ई० मे इनका देहावसान हो गया

कविराजजी का जन्म अपने पिता की मृत्यु के पॉच महीने पश्चात् ७ सितम्बर १८८७ ई० मे, धामराई मे अपनी नानी वामासुन्दरी के घर पर हुआ था। इनकी माता का नाम मुखदा सुन्दरी था जो अपनी असली माता की मृत्यु के पश्चात् अपनी कृतक जननी वामासुन्दरी के यहाँ रहा करती थी। इस अनाथ बालक गोपीनाथ के लिए अब केवल दो ही आश्रय के स्थान थे (१) अपने पिता के मामा प० कलाचन्द सान्याल के घर कॉठालिया मे तथा (२) धामराई मे अपनी नानी वामासुन्दरी का घर इनकी माता मुखदा सुन्दरी अपने दु ख के दिन इन्ही दोनो स्थानो मे घूम घूमकर काट करती थी।

शिक्षा

गोपीनाथजी की प्रारम्भिक शिक्षा अपने पिता की माता के गॉव कॉठालिया के प्राइमरी स्कूल मे हुई। यही ६ वर्ष के वय मे सन् १८९५ ई० मे इनका उपनयन सस्कार हुआ। सन् १८९६ ई० तक ये कॉठालिया मे ही बँगला, सस्कृत और अग्रेजी पढ़ते रहे। इसी समय धामराई मे एक नया अग्रेजी स्कूल खुला। अत इनकी माता इस अग्रेजी स्कूल मे इन्हे पढ़ाने के लिए काँठालिया से धामराई चली आई, जहॉ तीसरी कक्षा मे इनका प्रवेश हो गया। इस स्कूल के हेडमास्टर ने आठवी कक्षा तक यहाँ पढ़ने के लिए इनका प्रबन्ध कर दिया। इस विद्यालय के सस्कृत अध्यापको के अध्यापन के फलस्वरूप इनके हृदय मे सस्कृत भाषा और साहित्य के अध्ययन के प्रति रुचि और निष्ठा उत्पन्न हो गयी।

प० कलाचन्द ने १९०० ई० मे गोपीनाथजी का विवाह केवल तेरह वर्ष के वय मे कुसुम कामिनी देवी से कर दिया। धामराई मे रहते अभी तीन वर्ष भी नही व्यतीत हुए थे कि इनके अन्यतम अभिभावक प० कलाचन्द सान्याल की १९०१ ई० मे मृत्यु हो गई। इस प्रकार यह आश्रय स्थान भी नष्ट हो गया और इनकी माता पुन निराश्रित हो गयी। धामराई मे आठवी कक्षा की शिक्षा प्राप्त करके गोपीनाथजी अध्ययन के लिए ढाका चले गये और वहाँ जुबली स्कूल मे नाम लिखाकर पढ़ने लगे। इस विद्यालय मे इन्होने वामाचरण विद्यालकार से सस्कृत का अध्ययन किया। यहाँ गोपीनाथजी की अनेक व्यक्तियो से भेट हुई जिनसे इनको साहित्यिक प्रेरणा प्राप्त हुई।

सस्कृत पढ़ने की इनकी विशेष अभिरुचि अध्ययन-काल के प्रारम्भ से ही थी। कॉठालिया मे अपने पिता के द्वारा सगृहीत सस्कृतग्रन्थो का विशाल सग्रह इन्हे रिक्थ के रूप मे मिला था। सस्कृत अध्ययन का सस्कार इनके मन पर इन्ही पुस्तको से पड़ा था। धामराई मे रहते हुए इन्होने अनेक पण्डितो से सस्कृतव्याकरण का अध्ययन किया था। ढाका आने

पर इनको प० रजनीकान्त तथा प० विधुभूषण गोस्वामी से व्याकरण का गम्भीर अध्ययन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। अग्रेजी साहित्य के अध्ययन की रुचि भी यही ढाका मे ही जागृत हुई। ढाका के जगन्नाथकालेज के प्रिन्सिपल की प्रेरणा तथा प्रोत्साहन से इन्होने अग्रेजी के प्रधान कवियो शेक्सपियर, मिलटन, बायरन और वर्ड्सवर्थ की समस्त कृतियो को पढ डाला।

ढाका मे हाईस्कूल की परीक्षा समाप्त करने के पश्चात् अब उच्च शिक्षा प्राप्त करने की इन्हे चिन्ता हुई। उच्चशिक्षा प्राप्त करने के लिए न तो इनके पास धन था और न कोई अभिभावक ही था जो इनका पथ प्रदर्शन करता। उच्च शिक्षा के लिए जायें तो कहाँ जायँ और कैसे जायें। बडी विषम परिस्थिति थी। न तो इनके पास कोई साधन था और न कोई उपाय ही सूझता था। ऐसी ही स्थिति मे धर्मानन्द महाभारती नामक किसी सज्जन के 'बाधव' नामक पत्र मे 'जयपुर' के सबन्ध मे एक लेख प्रकाशित हुआ जिसमे इस बात का उल्लेख किया गया था कि जयपुर राज्य के प्रधानमन्त्री श्री ससार चन्द्र सेन है और वहाँ के नगर नियोजक विद्याधर चक्रवर्ती नामक बगाली सज्जन है इन दोनो प्रभावशाली बगाली अधिकारियो का नाम देखकर कविराजजी के मन मे यह आशा बधी कि जयपुर जाने पर सभवत इनकी पढाई लिखाई का कोई न कोई प्रबन्ध वहाँ हो जायेगा। यह सोचकर केवल १७ वर्ष के अल्प वय मे इस निराश्रित बालक ने जयपुर जाने का पूर्ण निश्चय कर लिया।

जुलाई सन् १९०६ ई० मे बालक गोपीनाथ अपने किसी मित्र से जयपुर यात्रा के लिए रुपया माँगकर अपने गन्तव्य स्थान के लिए निकल पडे। जयपुर मे न तो किसी से जान पहचान थी और न वहाँ निवास करने के लिए कोई स्थान ही मालूम था। जयपुर जाने के लिए न तो पर्याप्त धन ही पास मे था और न वहा जाने का मार्ग ही ज्ञात था। किम्बहुना, हिन्दी प्रदेशो मे बोली जाने वाली भाषा हिन्दी का भी इन्हे बिल्कुल ज्ञान नही था। इन सभी कठिनाइयो के होते हुए भी गोपीनाथजी जयपुर के लिए चल पडे। वहाँ जाने का रेलवे का रास्ता ज्ञात न होने के कारण इन्होने हावडा स्टेशन पर रेलवे टाइमटेबुल खरीदा और गाडी मे बैठ गये। सयोग से उसी डिब्बे मे एक ऐसे सज्जन बैठे थे जो जयपुर जा रहे थे। उन्ही के साथ ये किसी प्रकार जयपुर पहुँचे और उन्ही के साथ दो-तीन दिन तक रहे। बडी कठिनाई के साथ इन्होने प्रधानमत्री ससारचन्द्र सेन से भेट की जिन्होने अपनी स्वाभाविक उदारता से अपने पुत्र के विशाल भवन मे इनके आवास तथा भोजन का प्रबन्ध कर दिया। प्रधान मन्त्री के प्रभाव से इन्हे 'महाराजा कालेज' मे प्रवेश भी मिल गया। इस कालेज मे ट्यूशन फी (शिक्षा-शुल्क) नही लगती थी और एम० ए० तक नि शुल्क शिक्षा प्राप्त की जा सकती थी। सयोग से कालेज के प्रिन्सिपल भी एक बगाली सज्जन थे जिनका नाम सजीवन गागुली था। ये गोपीनाथजी की प्रतिभा को देखकर बडे प्रभावित हुए और अपने कालेज मे इनके अध्ययन के लिए समस्त सुविधाएँ उपस्थित कर दी। इस प्रकार सन् १९०६ ई० मे इण्टर मे नाम लिखाकर गोपीनाथजी वहाँ पढने लगे।

प्रिन्सिपल की कृपा से इन्हे १५) प्रतिमास की छात्रवृत्ति भी मिलने लगी। इससे आर्थिक चिन्ता से इन्हे पूर्णतया मुक्ति मिल गई। अत ये सावधान चित्त से अध्ययन करने लगे।

जयपुर मे कविराजजी ने अपनी पाठ्यपुस्तको के अतिरिक्त भारतीय धर्म और दर्शन, पुरातत्त्व, इतिहास और यूरोप के प्राचीन तथा मध्ययुगीन साहित्य का गभीर अध्ययन किया।

इसके अतिरिक्त फ्रेञ्च, इटालियन, जर्मन तथा रूसी साहित्य का अनुशीलन उनके अग्रेजी अनुवादों के माध्यम से किया। इनके प्रिय कवि थे वर्ड्सवर्थ, टेनिसन, ब्राउनिंग (अग्रेजी), गेटे और शिलर (जर्मन), ताल्स्ताय (रूसी) और मोलियर, वाल्टेयर और रूसो (फ्रेंच)। इसके साथ ही इन्होने बौद्ध धर्म तथा वेदान्त विषयक ग्रन्थो का भी अनुशीलन किया। इस प्रकार इन्होने जयपुर मे अध्ययन करते हुए पाश्चात्त्य साहित्य तथा भारतीय धर्म और दर्शन में प्रगाढ़ पाण्डित्य प्राप्त कर लिया।

इस प्रकार कविराजजी १६०६ से लेकर १६१० तक जयपुर मे रहकर अध्ययन में सलग्न रहे। सन् १६१० ई० मे इन्होने प्रयाग मे आकर बी० ए० की परीक्षा दी क्योकि उन दिनो प्रयाग विश्वविद्यालय का क्षेत्र राजस्थान तक फैला हुआ था। बी० ए० परीक्षा प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण कर ये पुन अपने गॉव लौट गये। सच तो यह है कि कविराजजी का जयपुर में निवास-काल इनकी तपस्या तथा अध्ययन का काल कहा जा सकता है। इनके पाण्डित्य की स्रोत-भूमि वही रही है।

काशी में अध्ययन

जयपुर से बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् कविराजजी ने काशी आकर एम० ए० मे पढ़ने का निश्चय किया इसके दो कारण थे (१) कलकत्ता की मलेरिया का रोग पैदा करने वाली जलवायु से मुक्ति और (२) गवर्नमेण्ट सस्कृतकालेज काशी के तत्कालीन प्रिन्सिपल डॉ० वेनिस की विद्वत्ता के प्रति असीम श्रद्धा तथा आस्था। कविराजजी ने जयपुर मे ही डॉ० वेनिस के द्वारा अग्रेजी मे अनूदित भारतीय दर्शन के अनेक ग्रन्थो को पढ़ रखा था। अत ये डॉ० वेनिस की विद्वत्ता से विशेष प्रभावित थे। अतएव सन् १६१० ई० मे कविराजजी काशी आये और डॉ० वेनिस से मिलकर अपने आने का प्रयोजन बतलाया। गुणग्राही डॉ० वेनिस ने कविराजजी की योग्यता को देखकर इन्हे एम० ए० मे पढ़ने की अनुमति दे दी तथा आर्थिक सहायता देने के लिए भी कहा।

डॉ० वेनिस अभिलेख शास्त्र (एपिग्राफी) तथा भारतीय दर्शन के विद्वान् थे। अत कविराजजी ने एम० ए० मे यही ग्रुप लेकर वेनिस से अध्ययन करना प्रारम्भ कर दिया। इन्होने इतिहास तथा अभिलेखो का अध्ययन करने के साथ ही म० म० प० वामाचरण भट्टाचार्य से न्यायशास्त्र पढ़ना प्रारम्भ किया। इस प्रकार डॉ० वेनिस के सरक्षण मे इनका अध्ययन सुचारु रूप से चलने लगा। डॉ० वेनिस ने इन्हे एक छात्रवृत्ति भी दिला दी थी, जो इनकी एक वर्ष की बीमारी मे भी मिलती रही। सन् १६१३ ई० मे कविराजजी ने एम० ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण की। इनके कालेज के सहपाठियो मे आचार्य नरेन्द्रदेव भी थे जो आगे चलकर लखनऊ तथा हिन्दूविश्वविद्यालय के वाइसचान्सलर हुए।

नौकरी

कविराजजी के एम० ए० परीक्षा मे प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण होने के पश्चात् डॉ० वेनिस के पास इनकी नियुक्ति के सबन्ध मे दो स्थानो से 'आफर' आये--(१) लाहौर कालेज के प्रिन्सिपल डॉ० उलनर का और (२) मेयो कालेज, अजमेर मे सस्कृत प्रोफेसर के स्थान के लिए महाराजाकालेज के प्रिन्सिपल सजीवन बाबू का, परन्तु डॉ० वेनिस के आदेशानुसार कविराजजी ने इन दोनो पदो को अस्वीकार कर दिया। सन् १६१४ ई० मे गवर्नमेण्ट सस्कृत कालेज के पुस्तकालय का नया भवन जो 'सरस्वतीभवन' के नाम से प्रसिद्ध है—बनकर तैयार

हो गया था। इसके लिए अधीक्षक के एक नये पद का निर्माण हुआ। डॉ० वेनिस ने इसी नये पद पर कविराजजी की नियुक्ति करा दी। यह कार्य करते हुए इन्हे अध्ययन तथा अनुसधान की भी सुविधा प्रदान कर दी। कविराजजी ने सन् १९१४ इ० मे इस पद का कार्यभार सँभाला। कुछ महीनो के अनन्तर ही डॉ० वेनिस ने अपने पद से अवकाश ग्रहण कर लिया और काशी मे ही रहने लगे। सन् १९१८ ई० म डॉ० वेनिस के दिवगत हो जाने पर डॉ० गगानाथ झा की प्रिंसिपल के पद पर नियुक्ति हुई। सन् १९२४ ई० मे डॉ० झा के इस पद से निवृत्त होने पर प० गोपीनाथ कविराज की विद्वत्ता से प्रभावित होकर सरकार ने इन्हे प्रिंसिपल के पद पर नियुक्त किया। इस पद को कविराजजी ने वडी निष्ठा के साथ १३ वर्षो तक सुशोभित किया। ये सन १९३७ ई० मे केवल ४७ वर्ष की अवस्था मे अपने सेवानिवृत्ति-काल से ८ वर्ष पहले ही अपने पद से निवृत्त हो गये। शिक्षाविभाग के डाइरेक्टर ने इनको सभी सुविधाए प्रदान करने का भी आश्वासन दिया परन्तु इन्होने उनकी प्रार्थना स्वीकार नही की।

इस प्रकार कविराजजी न सन् १९१४ ई० से लेकर सन् १९३७ ई० तक लगातार २३ वर्षो तक गवर्नमेण्ट सस्कृतकालेज की सेवा की। इनकी प्रिंसिपली के काल मे इस कालेज ने बडी उन्नति की। 'सरस्वती भवन टेक्स्ट्स' तथा 'सरस्वतीभवन स्टडीज' इन दोनो ही ग्रन्थ मा ''ओं मे अनेक विद्वत्तापूर्ण पुस्तको का प्रकाशन हुआ जो सर्वथा मौलिक तथा इसके पहले अप्रकाशित थी।

सन् १९३७ ई० मे सस्कृतकालेज से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् कविराजजी अपनी आध्यात्मिक साधना मे सलग्न हो गये। इन्होने एक प्रकार से क्षेत्रसन्यास ले लिया और काशी से बाहर कही नही आते जाते थे। सन् १९५८ ई० मे जब काशी मे सस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना हुई तब प्रान्तीय सरकार ने इसके प्रथम कुलपति (वाइसचान्सलर) के पद को सुशोभित करने के लिए इनसे प्रार्थना की परन्तु वीतराग कविराजजी ने इस प्रार्थना को ठुकरा दिया। सच है, आत्मवशमस्य का स्पृहा। परन्तु सन् १९६५ ई० मे उत्तरप्रदेश के योग्य गवर्नर श्री विश्वनाथदास के विशेष आग्रह से इन्होने इस विश्वविद्यालय मे नवनिर्मित तन्त्रयोग विभाग का अध्यक्ष बनना स्वीकार कर लिया। शोधी छात्र तथा अध्याप इन्ही के घर पर आकर इनका निर्देशन प्राप्त करते। कविराजजी अपने निवासस्थान से ही इस विभाग की अध्यक्षता किया करते थे। परन्तु सन् १९६६ ई० मे इन्होने इस पद का भी परित्याग कर दिया। इसके बाद ये एक स्वतन्त्र साधक रूप मे अपने दिन विताने लगे थे।

परिवार

कविराजजी को पारिवारिक सुख विशेष प्राप्त नही हो सका। अपने पिता की मृत्यु के पाँच महीने बाद ये पैदा हुए थे, अत ये पितृ सुख से सदा वचित रहे। इनकी माता सुखदा सुन्दरी का स्वर्गवास सन् १९२५ ई० मे हो गया था। कविराजजी की दो सन्ताने हुई एक पुत्री सुधारानी और एक पुत्र जितेन्द्रनाथ। इ दोनो का जन्म कविराजजी के पैतृक गॉव दन्या मे ही हुआ था। सन् १९२५ ई० मे सुधारानी का विवाह ढाका जिला (अब बॉगला देश) के निवासी श्री सुशीलनाथ के साथ सम्पन्न हुआ था। भारतविभाजन के पश्चात् ये दमदम (कलकत्ता) मे बस गये थे। सन् १९६६ ई० मे इनका देहान्त हो गया। अब सुधारानी अपने दो पुत्रो के साथ दमदम मे ही रहती है। आपके पुत्र जितेन्द्रनाथ ने बी-एस० सी०, एल एल० बी० की उपाधि प्राप्त की थी और भारत बैक मे कुछ दिनो तक सहायक मैनेजर

थे। इसके बाद इन्होने राशनिग विभाग मे नौकरी कर ली और सीनियर मार्केटिग इन्स्पेक्टर के पद पर काम करते रहे। इनको दो पुत्रियाँ और एक पुत्र हुआ। परन्तु कुछ ही वर्षों मे भरी जवानी मे इनका असामयिक निधन हो गया। इस वज्रपात से कविराजजी को मर्मान्तिक पीडा हुई परन्तु इनकी आँखो मे आँसू नही आये। इनकी नानी वामासुन्दरी का निधन सन् १९१२ ई० मे धामराई ने हो चुका था और इनके मौसे की मृत्यु सन् १९१८ ई० काशी मे हो गई। इस प्रकार कविराजजी के जीवनकाल मे ही इनकी माता, स्त्री, पुत्र, पुत्री सभी की दु खदायी मृत्यु हो गई थी। भर्तृहरि ने सचमुच ठीक ही कहा है 'सततदुर्गत सज्जन।'

सम्मान तथा उपाधियाँ—प० गोपीनाथ कविराज अत्यन्त वीतराग पुरुष थे। ये उस प्राचीन सिद्धान्त के अनुयायी थे जिसमे कहा गया है

> **प्रतिष्ठा शूकरीविष्ठा, गौरव घोररौरवम्।**
> **मान चैव सुरापान, त्रयं त्यक्त्वा सुखी भवेत्॥**

अतएव ये किसी मान या उपाधि को व्याधि समझते थे और उससे सदा दूर रहने की चेष्टा किया करते थे। इन्होने अपनी साधना के लिए गवर्नमेण्ट की 'क्लास वन' की सरविस से समय पूरने के सात वर्ष पहले ही अवकाश ग्रहण कर लिया था। उसके बाद काशी छोड़कर किसी सभासोसाइटी मे सम्मिलित होने के लिए कही बाहर नही गये। इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने इन्हे सन् १९४७ ई० मे डी० लिट्० की मानद उपाधि से अलकृत किया था, परन्तु ये उस गौरवपूर्ण उपाधि को प्राप्त करने के लिए प्रयाग नही गये। किम्बहुना, हिन्दू विश्वविद्यालय काशी ने जब सन १९५८ मे डी० लिट्० की मानद उपाधि प्रदान की तब भी इसी काशी मे निवास करते हुए भी ये उपाधि वितरणोत्सव मे उस डिग्री को लेने के लिए नही गये। भारतसरकार की साहित्यअकादमी ने जब इन्हे अपना फेलो मनोनीत किया उस समय भी कविराज ने दिल्ली जाना अस्वीकार कर दिया। तब अकादमी के अधिकारी स्वय वाराणसी आये और इन्हे आदरपूर्वक फेलोशिप का प्रमाण पत्र दिया। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने सन् १९६४ ई० मे इन्हे डी० लिट० की पदवी प्रदान की तथा वर्दवान विश्वविद्यालय ने सन् १९६४ ई० मे अपना फेलो चुना। इस प्रकार इन विश्वविद्यालयो ने कविराजजी को सम्मानित कर स्वय अपना ही सम्मान किया

ब्रिटिश सरकार ने कविराजजी की लोकोत्तर विद्वत्ता से प्रभावित होकर सन् १९३४ ई० मे महामहोपाध्याय की पदवी से विभूषित किया था। यह उपाधि सस्कृत के केवल मूर्धन्य विद्वानो को ही प्रदान की जाती है स्वतन्त्र भारत की राष्ट्रीय सरकार भी इनके सम्मान मे पीछे नही रही। सन् १९५६ ई० मे राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने इन्हे 'सर्टिफिकेट आफ आनर' से विभूषित किया। इस सर्टिफिकेट के साथ सरकार इसके प्राप्तकर्त्ता को तीन हजार मासिक की आजीवन पेन्शन भी दिया करती है जो कविराजजी को भी मृत्यु-पर्यन्त प्राप्त होती रही। इतना ही नही, भारतसरकार ने इन्हे सन् १९६४ ई० मे 'पद्मविभूषण' की विशिष्ट पदवी से भी अलकृत किया जो प्राय राजनीति के नेताओं को ही मिला करती है। सन् १९६४ ई० मे साहित्य-अकादमी ने इन्हे अपना साहित्यिक पुरस्कार दिया तथा इसी वर्ष गगानाथ रिसर्च इन्स्टीट्यूट प्रयाग ने इन्हे अपना अध्यक्ष मनोनीत किया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ने सन् १९६५ ई० मे साहित्य-वाचस्पति की पदवी प्रदान की। यह कुछ कम उल्लेखनीय नही है कि ये समस्त सम्मान तथा उपाधियाँ कविराज को सरकारी सेवा से निवृत्त होने के बाद ही मिली जब ये अपनी साधना मे सलग्न थे।

सादा जीवन, उच्च विचार

कविराजजी की वेशभूषा बहुत ही साधारण थी। ये प्राय धोती-कुर्ता पहना करते थे। घर मे, अपने कक्ष मे ये प्राय नगेबदन रहा करते थे। भारत के राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद की भाँति इन्होने वेशभूषा को प्रधानता नही दी। हॉ, गवर्नमेण्ट सस्कृतकालेज, काशी के प्रिन्सिपल के पद को सुशोभित करते हुए ये बन्द गले का कोट तथा पैण्ट अवश्य पहना करते थे। उस समय भी इनके गले मे उत्तरीय तथा सिर पर गोल टोपी विराजमान रहती थी। परन्तु यह केवल औपचारिक वेशभूषा थी। कालेज से लौट कर घर आने पर फिर वही धोती और चादर।

अपने अध्ययनकक्ष मे ये सदा किसी काठ के तख्त पर विराजमान रहते थे और कभी तो जमीन पर ही सीतलपाटी बिछा कर बैठते थे। ये आगन्तुक विद्वानो के प्रति किसी प्रकार की औपचारिकता का व्यवहार नही करते थे। जो भी विद्वान् आता वह जमीन पर अपना आसन ग्रहण करता था। इनके अध्ययनकक्ष मे पुस्तको का पहाड लगा रहता था। सारे कमरे में पुस्तके, पत्रिकाएँ तथा अखबार अस्त व्यस्त, बिना किसी व्यवस्था के बिखरे पडे रहते थे। कविराजजी इन्ही पुस्तको से चारो ओर मे घिरे हुए, इनके बीच मे बैठ कर अपना स्वाध्याय किया करते थे। सुप्रसिद्ध अग्रेजी लेखक पाल ब्रन्टन ने अपनी पुस्तक 'सर्च इन सिक्रेट इण्डिया' में—कविराजजी से अपनी भेट का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "He was buried among the hill of books." अर्थात् वे अपने चारो ओर पुस्तको के पहाड से दबे हुए थे। भगवान् कृष्ण ने अपने लिए कहा है कि 'गवा मध्ये वसाम्यहम्', इस उक्ति मे थोडा ही परिवर्तन करके कविराजजी भी कह सकते थे कि 'ग्रन्थमध्ये वसाम्यहम्'। वास्तव मे कविराजजी जैसे उच्चकोटि के विद्वान् के लिए पुस्तको के सान्निध्य को छोडकर अन्य समुचित स्थान कौन सा हो सकता था।

कविराजजी का यह अध्ययनकक्ष ही वह 'नर्सरी' (उद्यानशाला) थी जहाँ साधना, तपस्या और विद्वत्ता के पुष्प विकसित होकर अपने सौरभ से समस्त भारत को सुरभित कर देते थे। भारतवर्ष—प्राय उत्तरी भारत—के सभी प्रान्तो से विद्वान् व्यक्ति आकर अपनी शकाओं का समाधान पाकर सतुष्ट होकर घर लौट जाते थे। ये घटो बैठ कर साहित्य, दर्शन शास्त्र, धर्मशास्त्र और तन्त्रशास्त्र के ऊपर अपना प्रवचन किया करते थे जिसे सभी लोग बड़े ही ध्यान से सुनते थे। भारतीयविद्या का कोई भी ऐसा अग नही था जिस पर कविराजजी का पूर्ण अधिकार न हो। अत ये अबाध गति से घटों धर्म और दर्शन के गूढ़ तत्त्वों के संबन्ध में प्रवचन किया करते थे।

प० गोपीनाथ कविराजजी के साहित्यिक 'दरबार' मे केवल दो प्रकार के ही व्यक्ति उपस्थित होते थे—(१) शोधार्थी छात्र और (२) जिज्ञासु विद्वान्। विभिन्न विश्वविद्यालयों के विभिन्न विषयों के अनुसन्धान मे सलग्न शोधार्थी छात्र अपने विषय की रूप-रेखा (सिनाप्सिस) तथा उस विषय से सबन्धित साहित्य (बिब्लियाग्राफी) के सबन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए कविराज की शरण में आया करते थे। ये बड़े प्रेम से उनके शोध के विषय में आवश्यक ग्रन्थों के विषय में उन्हें बतलाते थे और अमुक पद्धति या प्रकार से शोध करने का आदेश देते थे। इन शोधार्थी छात्रों के अनुसन्धान के विषय भारतीय इतिहास, पुरातत्त्व और मुद्राशास्त्र से लेकर भारतीय धर्म, दर्शन, तान्त्रिक साधना जैसे गूढ़ विषय तक हुआ करते थे। परन्तु कविराजजी सभी छात्रो को शोध के लिए प्रभूत ज्ञान प्रदान कर उन्हें सन्तुष्ट कर देते थे।

दूसरे वर्ग के लोग जिज्ञासु विद्वान् थे जो अपनी जिज्ञासा की पूर्ति के लिए कविराजजी के पास आते थे। ये इन पण्डितो की शका का समाधान इस रीति से करते थे कि उन्हे पूर्ण सतोष प्राप्त होता था। अनेक विद्वानो ने अपने सस्मरणो मे कविराजजी सबन्धी इस विषय की चर्चा की है। कविराजजी के यहाँ जिस प्रकार सस्कृत की प्राचीन परम्परा के पण्डितो का जमघट लगा रहता था उससे कही अधिक अग्रेजी शिक्षा मे दीक्षित सस्कृत तथा दर्शनशास्त्र के प्रोफेसरो की भीड लगी रहती थी। सरस्वती का यह वरद पुत्र प्राचीन तथा नवीन सभी प्रकार के विद्वानो की जिज्ञासा को अपने विद्वत्तापूर्ण प्रवचन से शान्त करता था और उनकी शास्त्र-सबन्धी शकाओं का समाधान सतोषजनक रीति से सम्पादित करता था।

दैनिक कार्यक्रम

कविराजजी का दैनिक कार्यक्रम अत्यन्त सतुलित तथा नियमित था। गीता मे लिखा है—

युक्ताहारविहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य, योगो भवति दुःखहा॥

प० गोपीनाथजी का आहार, विहार, स्वप्न और जागरण सभी युक्त तथा नियमित था। ये सदा पाँच बजे प्रात काल उठते थे। नित्यकर्म से निवृत्त होकर पूजा पर बैठ जाते थे। इसमे एक घटा समय लगता था। फिर मिलने वालो का ताँता प्रात ६ बजे से लग जाता था। उनके साथ ग्यारह या बारह बजे तक सत्सग और उपदेश चलता था। इसी बीच यदि इन्हे समय मिल गया तो जलपान कर लेते थे। परन्तु कभी कभी ऐसा भी होता था कि ये प्रवचन मे इतने तल्लीन हो जाते थे कि जलपान की सुधि-बुधि भी नही रहती थी। ये अपराह्ण मे एक बजे के आस पास भोजन करते थे। ये दिन मे विश्राम नही करते थे। भोजन के शीघ्र ही पश्चात् ये अपने आसन पर पुन विराजमान हो जाते थे। जिज्ञासुओं का आगमन पुन होने लगता था। प्रवचन का कार्य पुन प्रारम्भ होकर सन्ध्या को पाँच बजे तक चलता था। एक घण्टे मे नित्यक्रिया समाप्त कर ८ बजे रात तक पूजा पाठ मे विताते थे। यदि इस समय घनिष्ठ व्यक्ति आता तो उससे बाते करते, अथवा उपदेश देते थे। १० बजे रात के आस-पास भोजन करते थे। इसके पश्चात् अपनी तान्त्रिक साधना मे प्रवृत्त हो जाते थे। यह साधना कब तक चलती थी इसका पता नही। ये कब सोते तथा कब जागते है इसका पता इनके आस-पास रहने वाले आश्रमवासियो को भी नही लगता था।

शिष्यमण्डली—कविराज ने औपचारिकरूप से उच्चकक्षाओं मे छात्रो का कभी अध्यापन नही किया। जब ये सस्कृतकालेज के प्रिन्सिपल थे तब भी इनका कार्य शासकीय अधिक था और अध्यापकीय बहुत कम। अतएव इन्होने नियमित रूप से छात्रो को कभी नही पढ़ाया। सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् भी ये नियमित रूप से किसी छात्र को कोई ग्रन्थ नही पढ़ाते थे क्योकि यह कार्य इनके लिए नीरस तथा शुष्क था। इनके अध्यापन का प्रकार प्रवचन-पद्धति के रूप मे था। जो भी विद्वान् अपनी शास्त्रीय शका अथवा समस्या इनके सामने उपस्थित करता था उस विषय को लेकर ये घटो प्रवचन किया करते थे। इस प्रवचन को वहाँ उपस्थित सभी विद्वान् बिना भेद-भाव के सुन सकते थे और उससे लाभ उठा सकते थे। बहुत से शोधार्थी छात्र इस प्रवचन को सुनकर नोट कर लिया करते थे और अपने अनुसन्धान मे उसका उपयोग करते थे। इस प्रकार सैकड़ों किंवा सहस्रों विद्वानों ने इन सारगर्भित प्रवचनों से अपने ज्ञान की राशि मे परिवर्धन किया। उत्तरीभारत

मे शायद ही कोई सस्कृतसाहित्य तथा भारतीय धर्म, दर्शन और तन्त्र का माननीय विद्वान् होगा जो कविराजजी के सम्पर्क मे न आया हो और जिसने इन प्रवचनो से लाभ न उठाया हो। इस प्रकार इनके मानसपुत्रो की सख्या हजारो मे गिनी जा सकती है। इन पक्तियो के लेखक को भी इनके प्रवचनो को सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। परन्तु कविराजजी के पट्ट शिष्य कौन विद्वान् थे यह कहना बडा ही कठिन है। सच तो यह है कि जिन सहस्रो विद्वानो ने इन प्रवचनो को सुनकर अपने ज्ञान की वृद्धि की है उन सभी की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूप से इनके शिष्यो मे गणना की जा सकती है।

गुण तथा स्वभाव—कविराजजी का स्वभाव उनकी वेशभूषा के ही समान बडा सीधा सादा था। इनके दरबार मे सभी प्रकार के लोगो का सदा स्वागत था। सस्कृत का एक तुच्छ विद्यार्थी हो अथवा प्रकाण्ड पण्डित, इनके पास सभी आसानी से पहुँच सकते थे। यद्यपि इनके यहाँ शोधार्थियो तथा जिज्ञासु लोगो की भीड सदा लगा करती थी जो इनका बहुत सा समय नष्ट करते थे, तथापि कविराजजी इस कारण कभी झुँझलाते नही थे और सभी लोगो के आगमन का स्वागत करते थे।

प० गोपीनाथ कविराज ने काम, क्रोध, लोभ और मद इन सभी आन्तरिक शत्रुओं को जीत लिया था। इन्हे कभी क्रोधित होते हुए किसी ने नही देखा होगा। यदि कभी किसी परिचारक या छात्र ने कोई गलती भी की तो क्रोधित होने के स्थान पर उसे शान्त भाव से समझा देते थे। लोभ इन्हे छू तक नही गया था। सरकारी नौकरी से समय से आठ वर्ष पहले अवकाश ग्रहण कर लेना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। रिटायर होने पर, जब सस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना हुई तब सरकार ने इनसे प्रथम कुलपति के पद को ग्रहण करने की प्रार्थना की परन्तु इन्होने इस प्रार्थना को भी ठुकरा दिया। नि स्पृहता का इससे बडा उदाहरण और क्या हो सकता है? 'विद्या ददाति विनयम्' के कविराजजी मूर्तिमान प्रतीक थे। प्रकाण्ड विद्वान् होने पर भी इन्हे अपनी विद्वत्ता का तनिक भी गर्व नही था। इन्होने अपनी योग्यता का 'परेड' कभी नही किया और सदा विनीत भाव से सभी से मिलते थे। ये वीतराग और अपरिग्रही थे। ये जीवनभर किराये के मकान मे रहे। हाँ, अवकाश ग्रहण कर एक गृह का निर्माण अवश्य किया, परन्तु जीवन के अन्तिम दिनो मे उसे भी अपने एक शिष्य को रहने के लिए दे दिया।

ग्रन्थरचना—कविराजजी अत्यन्त विद्या व्यसनी थे। ये 'वोरेशस रीडर' थे। इन्होने अपने जयपुर के प्रवास मे उस कालेज के पुस्तकालय के समस्त ग्रन्थो का पारायण कर डाला था। इसके बाद काशी मे सरस्वतीभवन पुस्तकालय के अध्यक्ष के पद पर नियुक्त होने के पश्चात् इनको स्वाध्याय करने का प्रचुर अवकाश मिला। अत यहाँ भी इन्होने धर्म, दर्शन, तन्त्र तथा धर्मशास्त्र के सहस्रो ग्रन्थो का गम्भीर अध्ययन किया। इस प्रकार इन्होने निखिल शास्त्रो मे अगाध ज्ञान का उपार्जन किया। जीवन के उत्तरार्ध में ये अपनी गुह्य साधना मे सदा सलग्न रहते थे। अत प्रवचन करने के पश्चात् इन्हे ग्रन्थरचना के लिए बहुत कम अवकाश प्राप्त होता था। यही कारण है कि जिस परिमाण में कविराजजी उच्चकोटि के गम्भीर विद्वान् थे, उस परिमाण मे इन्होने ग्रन्थो की रचना नही की। फिर भी, ऐसी स्थिति मे अनेक ग्रन्थों के रूप मे इनकी प्रतिभा का जो कुछ प्रसाद हमे मिल सका है, उसी से सन्तोष करना पड़ता है।

कविराजजी ने अग्रेजी, सस्कृत, हिन्दी और बँगला चार भाषाओं में ग्रन्थो की रचना

की है। इन ग्रन्थों में से कुछ मौलिक हैं और कुछ सम्पादित। संस्कृत के प्राचीन अनेक ग्रन्थों को इन्होंने विमर्शात्मक पद्धति से सम्पादित कर प्रकाशित किया है। सैकड़ों विद्वानों के ग्रन्थों की इन्होंने विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखी है। इसके अतिरिक्त इन्होंने सैकड़ों शोधपूर्ण निबन्ध अग्रेजी, हिन्दी और बँगला भाषा में लिखे है जो संख्या में ही अधिक नहीं हैं, बल्कि विद्वत्ता से भी परिपूर्ण है। इनके द्वारा विभिन्न भाषाओं में लिखे गये ग्रन्थों की सूची निम्नांकित है—

(क) हिन्दी

(१) **भारतीय संस्कृति और साधना** भाग १, २
(बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना १९६३)
(२) **तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि**
(बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना)
(३) **काशी की सारस्वत साधना**
(बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना १९६५)
(४) तान्त्रिक सस्कृति (वाराणसी, १९६५)
(५) साधुदर्शन और सत्प्रसग (प्रथम भाग)
(भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी)
(६) श्रीकृष्णप्रसंग (प्रकाशक वही)
(७) तान्त्रिक साहित्य
(उत्तरप्रदेश सरकार, लखनऊ)

(ख) अंग्रेजी

(1) A Catalogue of Sanskrit Manuscripts acquired for the Sanskrit College, Benares during 1918-1919 (Published by U.P. Government, Allahabad)
(2) A Descriptive Catalogue of Mimansa Manuscripts in the Sanskrit College, Benares with introduction, 1923 (U.P. Government, Allahabad).
(3) Bibliography of Nyaya-Vaisesika Literature 1961 (Shambhu Nath Street, Calcutta).
(4) Aspects of Indian Thought. 1966 (Burdwan University, Burdwan, West Bengal).

(ग) बाँगला

(१) श्री श्री विशुद्धानन्द प्रसग, खण्ड १, २, ३, ४
(विशुद्धानन्द कानन आश्रम, वाराणसी)
(२) अखण्ड महायोग (चटर्जी-चक्रवर्ती एण्ड को, १५ कालेज स्वायर, कलकत्ता)
(३) साधुदर्शन ओ सत्प्रसग, भाग १ तथा २
१९६२-६३ (प्राचीन पब्लिकेशन्स, कलकत्ता)
(४) तंत्र ओ आगम शास्त्रेर दिग्दर्शन।
(गवर्न० संस्कृतकालेज, कलकत्ता)

(५) विशुद्धानन्दवाक्यामृत, १९६४ ई०
(विशुद्धानन्द कानन आश्रम, वाराणसी)
(६) भारतीय साधनार धारा, १९६५ ई०
(गवर्न० सस्कृतकालेज, कलकत्ता)
(७) साहित्यचिन्ता, १९६६ ई०
(इण्डियन एसोशियेटेड पब्लिशिग हाउस, कलकत्ता)
(८) श्रीकृष्णप्रसग (श्रीकृष्ण सघ, कलकत्ता)
(९) विशुद्धवाणी, खण्ड १-८ (वि का आ काशी)
(१०) तान्त्रिक सिद्धान्त ओ साधना (बर्दवान वि वि)
(११) पूजा—स्वामी प्रेमानन्द तीर्थेर उपदेश
(प्रकाशक—गोपीनाथ कविराज, सिगरा, वाराणसी)

संस्मरण

कविराजजी का अग्रेजी साहित्य का ज्ञान बडा विशाल एव परिनिष्ठित था। जयपुर की महाराजा लाइब्रेरी तथा काशी के सस्कृतकालेज के पुस्तकालय मे उपलब्ध एतद्विषयक समग्र ग्रन्थो का अनुशीलन बडी निष्ठा तथा लगन के साथ इन्होने किया था। इस तथ्य का परिचय लेखक को तब मिला जब हिन्दू विश्वविद्यालय मे अग्रेजी विभाग के अध्यक्ष प्रोफेसर पी० शेषाद्रि को इनकी एक जानकारी ने आश्चर्य मे डाल दिया। वह घटना इस प्रकार घटी थी। कविराजजी ने जर्मन महाकवि गेटे के विषय मे अग्रेजी के प्रख्यात आलोचक कारलाइल के मत का निर्देश उनकी रचना 'हिस्ट्री आफ यूरोपियन लिटरेचर' (यूरोपी-साहित्य का इतिहास) से उद्धृत कर हमे बताया था और कहा कि कारलाइल ने इस ग्रन्थ मे यूरोपीय साहित्य के विषय मे अनेक गम्भीर ऐतिहासिक तथा विमर्शात्मक आलोचना का विस्तार से निरूपण किया है। मेरे मित्र पण्डित बटुकनाथ शर्मा शेषाद्रि साहब के बडे अनुरागी भक्त थे और उनके पास प्राय जाया करते थे। एक बार हम दोनो मित्रो ने प्रो० शेषाद्रि से साहित्यिक चर्चा के बीच मे कारलाइल के मत तथा ग्रन्थ का उल्लेख किया। इस पर शेषाद्रि साहब ने आश्चर्य प्रकट किया और वे झट से बोल उठे – Is there such a book by Carlyle ? In my studies I have not come across such a book of Carlyle 'क्या सचमुच कार्लाइल की लिखी ऐसी कोई पुस्तक है ? अपने अध्ययन मे तो मुझे ऐसे ग्रन्थ के देखने का अवसर नही मिला।' प्रोफेसर साहब अग्रेजी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे—उनका अध्ययन विशाल तथा विस्तृत था। उनके इस निषेध से हम लोगो को भी अचरज हुआ और इस ग्रन्थ के अस्तित्व के विषय मे हम लोगो के ज्ञान को भी हल्का झटका लगा। दूसरे दिन हम लोगों ने इस घटना का उल्लेख श्री कविराजजी से किया। उन्होने उसी समय सेवक को भेज कर सस्कृतकालेज के पुस्तकालय से पुस्तक को निकाल मँगाया और शेषाद्रि साहब को दिखाने के लिए दे दिया। हम लोगो ने प्रोफेसर शेषाद्रि साहब को जब यह पुरानी मुद्रित पुस्तक दिखलायी, तब वे अवाक् रह गये और उन्होने मुक्तकण्ठ से कविराजजी के ज्ञान की प्रशसा की—"एक सस्कृत का ज्ञाता होकर भी वे अग्रेजी का इतना सागोपाग परिचय रखते है। मै स्वय अग्रेजीदाँ हूँ। कार्लाइल के ग्रन्थो से पूर्ण परिचित होने का दावा रखता हूँ, परन्तु फिर भी यह पुस्तक मेरी दृष्टि से ओझल ही रही। आश्चर्य !!!"

प्राचीन इतिहास और भारतीय पुरातत्त्व विषय का कविराजजी ने डॉ० वेनिस से विधिवत् अध्ययन किया था और एम० ए० परीक्षा मे इसी विषय मे वे प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण हुए थे। डॉ० वेनिस ने अपने प्रिय शिष्य के द्वारा प्राप्त अको को देखकर कहा था कि इलाहाबाद विश्वविद्यालय के इतिहास मे यह एक अनहोनी घटना है। आजतक यहाँ के किसी परीक्षार्थी ने एम० ए० के किसी विषय मे इतने प्रतिशत अक प्राप्त नही किये थे। यह तथ्य कथन कविराजजी के इतिहास विषयक विपुल ज्ञान के ऊपर एक गभीर आलोचना है। भारतीय धर्म और दर्शन की विशेष अभिरुचि रखने तथा व्यापक अध्ययन करने के साथ ही साथ पुरातत्त्व का गम्भीर अनुशीलन ये किया करते थे। 'सरस्वतीभवन' पुस्तकालय के अध्यक्षपद पर प्रतिष्ठित होने पर तो इनके अध्ययन के निमित्त विशाल सामग्री ही उपस्थित थी। इनकी रुचि इसमे कम नही थी। ये अनुसन्धान पत्रिकाओं मे प्रकाशित पुरातत्त्वीय निबन्धो का विधिवत् अध्ययन करते रहते।

एक दिन प० गोपीनाथजी ने अपनी इस अलौकिक जागरूकता के कारण डॉ० डी० आर० भण्डारकर (डॉ० देवदत्तरामकृष्ण भण्डारकर) को उनकी अनेक अशुद्धियो को, शिलालेखो के पढ़ने मे तथा उनकी व्याख्या मे, बतलाकर सचमुच आश्चर्य मे ही डाल दिया। कलकत्ता विश्वविद्यालय मे प्रथम बार भारतीय प्राचीन इतिहास तथा पुरातत्त्व का विभाग खोला गया जिसके अध्यक्षपद पर कलकत्ता विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति सर आशुतोष मुखर्जी ने डी० आर० भडारकर को प्रतिष्ठित किया। भडारकर साहब सुयोग्य पिता के सुयोग्य पुत्र थे और प्राचीन इतिहास और पुरातत्त्व के उस समय के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् माने जाते थे। विद्वान् तो वे अवश्य थे, परन्तु उन्हे अपनी विद्वत्ता तथा इतिहास के वैदुष्य पर परिमाण से अधिक गर्व तथा अभिमान था। एक बार वे सरस्वतीभवन पुस्तकालय देखने आये। यह घटना १६२० ई० के आसपास की है। आते ही उन्होने सीधे सादे पुस्तकालयाध्यक्ष कविराजजी पर धौस जमाने के लिए कहा, 'यह पुस्तक दिखाओ। वह पुस्तक दिखाओ।' वे इन्हे केवल पुस्तको का निरीक्षण करने वाला ही व्यक्ति समझते थे जो पुस्तको का सग्रह करने, पुस्तको पर जमी धूल झाडने मे ही अपना समय व्यतीत करता है। जब यह व्यापार समाप्त हो गया, तब कविराजजी ने अपना असली स्वरूप दिखाना आरम्भ किया। "भडारकर साहब, आपके लेखो का मैने अध्ययन किया है, परन्तु उनके बहुत से अशो मे विसगतियाँ दृष्टिगोचर हो रही है। मेरी बहुत सी शकाएँ है। क्या आप उनका निराकरण करने की कृपा करेगे ?" स्वीकृति देने पर कविराजजी ने अपना रजिस्टर खोला और डॉ० भण्डारकर के लेखो की ऐतिहासिक भूलो की जब ये आलोचना करने लगे, तब तो वे आश्चर्यचकित हो उठे। सचमुच ये विसगतियाँ सही थी, अशुद्धियाँ वास्तविक थी। उनको अपनी आँखो पर विश्वास न हो रहा था कि जिसे वे एक सामान्य अर्धशिक्षित व्यक्ति समझ बैठे थे, वह इतना प्रवीण पुरातत्त्वज्ञ तथा इतिहासवेत्ता होगा। उनका गर्व अब रफूचक्कर हो गया। उनके मुख मण्डल पर नम्रता ने आसन जमाया और तब भण्डारकर साहब ने बडी नम्रता से कहा—" कविराज महाशय, मुझे तो इन लेखो पर अभिमान था कि ये तथ्यपूर्ण है। आज तक किसी ने भी इनमे अशुद्धि दिखलाने का साहस नही किया था। परन्तु मेरे लेखो मे अशुद्धियाँ तथा विसंगतियाँ वर्तमान है जैसी आपने मुझे दिखाई है। अपने अन्य लेखो मे मै इनका यथाशक्ति निवारण करूँगा।"

भण्डारकर साहब आलोचक बन कर आये थे और प्रशसक बन कर लौटे। कविराजजी की पुरातत्त्व-विषयक वैदुषी ही ऐसी थी जो बड़े से बड़े इतिहास-वेत्ताओं को इनके सामने झुका देती थी !!!

एक बार आशुतोष मुखर्जी ने काशी मे ही शारदीय नवरात्र का उत्सव बडे समारोह और उल्लास से मनाया था । उस समय काशी के बगीय विद्वानो से उनका समागम तथा सम्पर्क हुआ । पण्डित गोपीनाथ कविराज के असाधारण दार्शनिक, साहित्यिक तथा पुरातत्त्वीय पाण्डित्य को देखकर वे बडे ही आह्लादित हुए और उन्होने कलकत्ता विश्वविद्यालय के सस्कृत विभाग के अध्यक्ष पद पर इन्हे नियुक्त करने की अपनी तीव्र अभिलाषा प्रकट की । कविराजजी ने उसे धन्यवादपूर्वक अस्वीकार कर दिया और सक्षेप मे उनकी गुणग्राहिता की प्रशसा करते हुए इतना ही कहा काशी का परित्याग मेरे लिए असह्य है । डॉ० वेनिस द्वारा स्थापित परम्परा को अग्रसर करना ही मेरे जीवन का लक्ष्य है । अपने लेखो, भाषणो तथा ग्रन्थो से मै उसे यथासाध्य अग्रसर करता रहता हू । मै काशी छोड कर किसी भी मूल्य पर बाहर नही जा सकता ।' आशुबाबू इस उत्तर से निरुत्तर हो गये और कविराजजी को कलकत्ता ले जाने की योजना यही समाप्त हो गई ।

महापुरुषों की भेंट

डॉ० ब्रजेन्द्रनाथ शील से भेट करने पर कविराजजी ने अध्यात्म चिन्तन की नई दिशा का ज्ञान प्राप्त किया । डॉ० शील कविराजजी के पिता वैकुण्ठनाथ कविराज के सतीर्थ्य थे । भेट होने पर वे बडे प्रसन्न हुए । वे जानते भी न थे कि वैकुण्ठनाथ की कोई सन्तान भी है । परिचित होने पर कविराजजी ने उनसे अध्यात्म विषयक प्रश्न किया । उन्ही दिनो सजीवनी नामक पत्रिका मे अरविन्दघोष का कारा काहिनी नामक लेख निकला था, जिसमे उन्होने कारागार मे वासुदेवदर्शन तथा उनसे उपदेश पाने की घटना का उल्लेख किया था । कविराजजी ने इसके तथ्य पर प्रश्न किया कि जब आप श्रीकृष्ण को ऐतिहासिक व्यक्ति मानते है, तब उनका अरविन्द बाबू के सामने उपस्थित होना तथा उपदेश देने की घटना क्योकर सत्य हो सकती है ? प्रश्न पूछने मे एक गम्भीर उद्देश्य था । डॉ० शील ब्रह्मसमाजी थे जिनका ऐसी घटनाओं मे विश्वास रखना असम्भव ही था । इसलिए कविराजजी डॉ० शील के उत्तर से अधिक चमत्कृत हुए ।

शील महाशय ने गम्भीर होकर कहना आरम्भ किया कृष्ण पृथ्वी पर रहे हो या नही ? उससे कृष्ण दर्शन से क्या सम्बन्ध ? दोनो पृथक् वस्तुएँ है । क्राइस्ट (ईसामसीह) की ऐतिहासिकता पर भी लोगो का सन्देह है, किन्तु सेन्ट थेरेसा तथा विभिन्न काल के ईसाई सन्तो ने उनके दर्शन देने का उल्लेख किया है । पृथ्वी पर अवतरित होकर शरीर धारण न करते हुए भी उनकी आत्मा दर्शन दे सकती है । ऐतिहासिक कृष्ण एव तत्त्वरूपी कृष्ण का पृथक् अस्तित्व नितान्त सम्भव है । उनके प्रति जिनकी जैसी भावना होगी वे तदनुरूप प्राप्त हो जायेगे । सब सन्तो का कथन कथमपि झूठा नही हो सकता । ध्याता के भावानुसार परमशक्ति स्वय ही तदाकार होकर प्रत्यक्ष हो जाती है । यह तथ्य है, ऐतिहासिकता से इसका कोई सरोकार नही है ।"

उन्नीसवी शती के वैज्ञानिक युग मे ब्रह्मसमाजी विद्वान् का यह कथन नितान्त आश्चर्यजनक था और प्राचीन शास्त्रो के ही इस कथन का पूर्णतया समर्थक था—**यद् यद् धिया त उरुगाय ! विभावयन्ति तत् तद् वपु प्रणयसे सदनुग्रहाय ।**

परलोकगत आत्मा की स्थिति के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट करते हुए शील महाशय ने अपना व्यक्तिगत अनुभव कह सुनाया कि किस प्रकार उनकी दिवगता धर्मपत्नी

प्राचीन इतिहास और भारतीय पुरातत्त्व विषय का कविराजजी ने डॉ० वेनिस से विधिवत् अध्ययन किया था और एम० ए० परीक्षा मे इसी विषय मे वे प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण हुए थे। डॉ० वेनिस ने अपने प्रिय शिष्य के द्वारा प्राप्त अको को देखकर कहा था कि इलाहाबाद विश्वविद्यालय के इतिहास मे यह एक अनहोनी घटना है। आजतक यहाँ के किसी परीक्षार्थी ने एम० ए० के किसी विषय मे इतने प्रतिशत अक प्राप्त नही किये थे। यह तथ्य कथन कविराजजी के इतिहास विषयक विपुल ज्ञान के ऊपर एक गभीर आलोचना है। भारतीय धर्म और दर्शन की विशेष अभिरुचि रखने तथा व्यापक अध्ययन करने के साथ ही साथ पुरातत्त्व का गम्भीर अनुशीलन ये किया करते थे। 'सरस्वतीभवन' पुस्तकालय के अध्यक्षपद पर प्रतिष्ठित होने पर तो इनके अध्ययन के निमित्त विशाल सामग्री ही उपस्थित थी। इनकी रुचि इसमे कम नही थी। ये अनुसन्धान पत्रिकाओं मे प्रकाशित पुरातत्त्वीय निबन्धो का विधिवत् अध्ययन करते रहते।

एक दिन प० गोपीनाथजी ने अपनी इस अलौकिक जागरूकता के कारण डॉ० डी० आर० भण्डारकर (डॉ० देवदत्तरामकृष्ण भण्डारकर) को उनकी अनेक अशुद्धियो को, शिलालेखो के पढ़ने मे तथा उनकी व्याख्या मे, बतलाकर सचमुच आश्चर्य मे ही डाल दिया। कलकत्ता विश्वविद्यालय मे प्रथम बार भारतीय प्राचीन इतिहास तथा पुरातत्त्व का विभाग खोला गया जिसके अध्यक्षपद पर कलकत्ता विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति सर आशुतोष मुखर्जी ने डी० आर० भडारकर को प्रतिष्ठित किया। भडारकर साहब सुयोग्य पिता के सुयोग्य पुत्र थे और प्राचीन इतिहास और पुरातत्त्व के उस समय के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् माने जाते थे। विद्वान् तो वे अवश्य थे, परन्तु उन्हे अपनी विद्वत्ता तथा इतिहास के वैदुष्य पर परिमाण से अधिक गर्व तथा अभिमान था। एक बार वे सरस्वतीभवन पुस्तकालय देखने आये। यह घटना १९२० ई० के आसपास की है। आते ही उन्होने सीधे सादे पुस्तकालयाध्यक्ष कविराजजी पर धौस जमाने के लिए कहा, 'यह पुस्तक दिखाओ। वह पुस्तक दिखाओ।' वे इन्हे केवल पुस्तको का निरीक्षण करने वाला ही व्यक्ति समझते थे जो पुस्तको का सग्रह करने, पुस्तको पर जमी धूल झाडने मे ही अपना समय व्यतीत करता है। जब यह व्यापार समाप्त हो गया, तब कविराजजी ने अपना असली स्वरूप दिखाना आरम्भ किया। "भडारकर साहब, आपके लेखो का मैने अध्ययन किया है, परन्तु उनके बहुत से अशो मे विसगतियाँ दृष्टिगोचर हो रही है। मेरी बहुत सी शकाएं है। क्या आप उनका निराकरण करने की कृपा करेगे ?" स्वीकृति देने पर कविराजजी ने अपना रजिस्टर खोला और डॉ० भण्डारकर के लेखो की ऐतिहासिक भूलो की जब ये आलोचना करने लगे, तब तो वे आश्चर्यचकित हो उठे। सचमुच ये विसगतियाँ सही थी, अशुद्धियाँ वास्तविक थी। उनको अपनी आँखो पर विश्वास न हो रहा था कि जिसे वे एक सामान्य अर्धशिक्षित व्यक्ति समझ बैठे थे, वह इतना प्रवीण पुरातत्त्वज्ञ तथा इतिहासवेत्ता होगा। उनका गर्व अब रफूचक्कर हो गया। उनके मुख मण्डल पर नम्रता ने आसन जमाया और तब भण्डारकर साहब ने बडी नम्रता से कहा—" कविराज महाशय, मुझे तो इन लेखो पर अभिमान था कि ये तथ्यपूर्ण है। आज तक किसी ने भी इनमे अशुद्धि दिखलाने का साहस नही किया था। परन्तु मेरे लेखो मे अशुद्धियाँ तथा विसगतियाँ वर्तमान है जैसी आपने मुझे दिखाई है। अपने अन्य लेखो मे मै इनका यथाशक्ति निवारण करूँगा।"

भण्डारकर साहब आलोचक बन कर आये थे और प्रशसक बन कर लौटे। कविराजजी की पुरातत्त्व-विषयक वैदुषी ही ऐसी थी जो बडे से बड़े इतिहास-वेत्ताओं को इनके सामने झुका देती थी !!!

एक बार आशुतोष मुखर्जी ने काशी मे ही शारदीय नवरात्र का उत्सव बड़े समारोह और उल्लास से मनाया था। उस समय काशी के बगीय विद्वानो से उनका समागम तथा सम्पर्क हुआ। पण्डित गोपीनाथ कविराज के असाधारण दार्शनिक, साहित्यिक तथा पुरातत्त्वीय पाण्डित्य को देखकर वे बडे ही आह्लादित हुए और उन्होने कलकत्ता विश्वविद्यालय के सस्कृत विभाग के अध्यक्ष पद पर इन्हे नियुक्त करने की अपनी तीव्र अभिलाषा प्रकट की। कविराजजी ने उसे धन्यवादपूर्वक अस्वीकार कर दिया और सक्षेप मे उनकी गुणग्राहिता की प्रशसा करते हुए इतना ही कहा 'काशी का परित्याग मेरे लिए असह्य है। डॉ० वेनिस द्वारा स्थापित परम्परा को अग्रसर करना ही मेरे जीवन का लक्ष्य है। अपने लेखो, भाषणो तथा ग्रन्थो से मै उसे यथासाध्य अग्रसर करता रहता हू। मै काशी छोड कर किसी भी मूल्य पर बाहर नही जा सकता।' आशुबाबू इस उत्तर से निरुत्तर हो गये और कविराजजी को कलकत्ता ले जाने की योजना यही समाप्त हो गई।

महापुरुषों की भेंट

डॉ० ब्रजेन्द्रनाथ शील से भेट करने पर कविराजजी ने अध्यात्म चिन्तन की नई दिशा का ज्ञान प्राप्त किया। डॉ० शील कविराजजी के पिता वैकुण्ठनाथ कविराज के सतीर्थ्य थे। भेट होने पर वे बडे प्रसन्न हुए। वे जानते भी न थे कि वैकुण्ठनाथ की कोई सन्तान भी है। परिचित होने पर कविराजजी ने उनसे अध्यात्म विषयक प्रश्न किया। उन्ही दिनो सजीवनी नामक पत्रिका मे अरविन्दघोष का 'कारा काहिनी' नामक लेख निकला था, जिसमे उन्होने कारागार मे वासुदेवदर्शन तथा उनसे उपदेश पाने की घटना का उल्लेख किया था। कविराजजी ने इसके तथ्य पर प्रश्न किया कि जब आप श्रीकृष्ण को ऐतिहासिक व्यक्ति मानते है, तब उनका अरविन्द बाबू के सामने उपस्थित होना तथा उपदेश देने की घटना क्योकर सत्य हो सकती है ? प्रश्न पूछने मे एक गम्भीर उद्देश्य था। डॉ० शील ब्रह्मसमाजी थे जिनका ऐसी घटनाओं मे विश्वास रखना असम्भव ही था। इसलिए कविराजजी डॉ० शील के उत्तर से अधिक चमत्कृत हुए।

शील महाशय ने गम्भीर होकर कहना आरम्भ किया– "कृष्ण पृथ्वी पर रहे हो या नही ? उससे कृष्ण दर्शन से क्या सम्बन्ध ? दोनो पृथक् वस्तुएँ है। क्राइस्ट (ईसामसीह) की ऐतिहासिकता पर भी लोगो को सन्देह है, किन्तु सेन्ट थेरेसा तथा विभिन्न काल के ईसाई सन्तो ने उनके दर्शन देने का उल्लेख किया है। पृथ्वी पर अवतरित होकर शरीर धारण न करते हुए भी उनकी आत्मा दर्शन दे सकती है। ऐतिहासिक कृष्ण एव तत्त्वरूपी कृष्ण का पृथक् अस्तित्व नितान्त सम्भव है। उनके प्रति जिनकी जैसी भावना होगी वे तदनुरूप प्राप्त हो जायेगे। सब सन्तो का कथन कथमपि झूठा नही हो सकता। ध्याता के भावानुसार परमशक्ति स्वय ही तदाकार होकर प्रत्यक्ष हो जाती है। यह तथ्य है, ऐतिहासिकता से इसका कोई सरोकार नही है।"

उन्नीसवी शती के वैज्ञानिक युग मे ब्रह्मसमाजी विद्वान् का यह कथन नितान्त आश्चर्यजनक था और प्राचीन शास्त्रो के ही इस कथन का पूर्णतया समर्थक था—**यद् यद् धिया त उरुगाय ! विभावयन्ति तत् तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय।**

परलोकगत आत्मा की स्थिति के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट करते हुए शील महाशय ने अपना व्यक्तिगत अनुभव कह सुनाया कि किस प्रकार उनकी दिवगता धर्मपत्नी

ने स्वप्न में प्रकट होकर जमीन्दारी के किसी विशेष कागज के स्थान का ठीक-ठीक पता दिया, जिसकी नितान्त आवश्यकता होने पर भी उसका पता नहीं चलता था।

डॉ० शील के द्वारा इन उद्‌घाटनों को सुनकर कविराजजी को शास्त्र के प्राचीन वचनों में पूर्ण आस्था रखने में विशेष संबल प्राप्त हुआ और उनकी अकाट्य सत्यता पर स्वतः अप्रत्याशित निष्ठा जम गई।

आध्यात्मिक जीवन : दीक्षा तथा गुरु

कविराजजी को अपने जीवन के आरम्भकाल से ही अध्यात्म-चिन्तन की ओर स्वतः प्रवृत्ति जागरूक हो गई थी। उनके परिवार का वातावरण ही नितान्त धार्मिक था। तत्कालीन प्रख्यात धर्मोपदेशक पण्डित शशधर तर्कचूड़ामणि के 'धर्मव्याख्या' नामक ग्रन्थ के अध्ययन का भी इन पर प्रभाव पडा। ढाका में अध्ययन करते समय उस क्षेत्र के प्रसिद्ध धर्मोपदेशक श्री रामदयाल मजूमदार का इनकी धार्मिक प्रवृत्ति के अभ्युत्थान मे विशेष योगदान था। उनकी गीता पर लिखी व्याख्या को पढ़कर कविराजजी की जीवन की ओर दृष्टि ही बदल गई। इन सबसे बढ़कर भी शिवराम किंकर योगत्रयानन्दजी के सम्पर्क मे आने पर कविराजजी की धार्मिक साधना की ओर तात्त्विक प्रवृत्ति जागरूक हो गई। ये योगत्रयानन्दजी गृहस्थ सन्त थे—भगवान् के एकनिष्ठ भक्त तथा अध्यात्मशास्त्र के मर्मज्ञ मनीषी थे। इनके अनुपम ग्रन्थ 'आर्यशास्त्रप्रदीप' के अध्ययन ने शास्त्रों के गम्भीर रहस्यों का उद्‌घाटन कर इनकी दृष्टि ही बदल डाली। प्रथम सपर्क में ही श्री शिवराम किकर ने 'नैको मुनिर्यस्य मत न भिन्नम्' की विलक्षण व्याख्या कर कविराजजी के चित्त को बलात् आकृष्ट कर लिया। कविराजजी का प्रश्न था—तत्त्ववेत्ता मुनियो का मत भिन्न क्योंकर हो सकता है ? जब तत्त्व तो एक ही होता है। इस पर योगत्रयानन्दजी ने इसके विश्लेषण मे कहा था—

धर्म का तत्त्व एक अत्यन्त गम्भीर रहस्य है जो मन से अतीत है। मन का निरोध किये बिना इस गुहा मे प्रवेश असम्भव है। मुनिवर्ग मन को लेकर ही शास्त्र की व्याख्या करता है। जो मन से इसकी व्याख्या करेगा, उसको शास्त्र के तत्त्व अपनी प्रकृति के अनुसार ही दिखाई पड़ेगे। प्रत्येक मुनि की प्रकृति भिन्न होती है। अतः उनके मतों मे भिन्नता होना स्वाभाविक है। तत्त्व का साक्षात्कार मन को अतिक्रमण करके होता है। तत्त्व का साक्षात्कार वहीं होता है, जहाँ मन नही रहता। परन्तु तत्त्वो का साक्षात्कार कराया जाता है बीच में से, जहाँ मन की आवश्यकता होती है। यह ज्ञान विकल्प ज्ञान है, किन्तु साक्षात्कार विकल्पशून्य निर्विकल्प है। वेदस्मृति सब शब्दात्मक हैं। अतः परम प्रामागिक होने पर भी वे विकल्परहित नहीं है। मुनि भी मननशील है, वे विकल्प से रहित नही है। इसलिए धर्म का तत्त्वान्वेषण करना हो, तो हृदयगुहा मे प्रवेश करना पड़ता है, परन्तु जनसाधारण के लिए यह संभव नही है। उनके लिए एकमात्र उपाय है—महाजनो येन गत स पन्था.—महाजनों के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण।

कहना न होगा कि शिवराम किंकरजी के एतत्-सदृश व्याख्यानों तथा विश्लेषणों नें कविराजजी की आँखें खोल दीं। वे इन्हें अनेक कारणवश अपना गुरु न बना सके, परन्तु इनका कविराजजी के तत्त्वचिन्तन के ऊपर विशेष प्रभाव पड़ा—हम निःसन्देह कह सकते हैं। स्वामीजी ने अनेक धार्मिक ग्रन्थों का प्रणयन बँगला में किया है, जिनमें से महाशिवरात्रिविषयक पुस्तक का दो खण्डों में हिन्दी में वाराणसी से प्रकाशन हुआ है। इनकी दूसरी पुस्तक का नाम 'शिव और शिवार्चनतत्त्व' है जो दो भागों में छपी है।

परमहंस विशुद्धानन्दजी

कविराजजी को गुरु की खोज लगी हुई थी जो अपने 'शक्तिपात' से उनके शरीर में तथा मन में अलौकिक अध्यात्म की चेतना उत्पन्न कर सके। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ।' किसी आध्यात्मिक सुहृद् ने तिब्बत से योगविद्या का अध्ययन कर विशिष्ट-सिद्धि-लाभ करनेवाले किसी परमहंसजी का परिचय इन्हें दिया। उन्हीं के साथ उनका साक्षात्कार करने के लिए ये शिवाला मुहल्ले में स्थित उनके आवास पर गये। परमहसजी उस समय अपने सिद्धिक्षेत्र 'ज्ञानगंज' तथा अपने गुरुजी की अलौकिक सिद्धि की चर्चा कर रहे थे। कविराजजी उनके अध्यात्म-विषयक भाषणों तथा तत्त्वचिन्तन की चर्चाओं से नितान्त प्रभावित हुए और २१ जनवरी, १९१८ ई० को हनुमानघाट पर उनसे विधिवत् मन्त्रोपदेश सस्कार ग्रहण किया। उनके बताये हुए अध्यात्म-मार्ग पर चलकर कविराजजी ने भी विशेष आध्यात्मिक लाभ उठाया। परमहंसजी का लोकान्तरण ११ जुलाई, १९३७ ई० में कलकत्ते में हुआ। इन १८-१९ वर्षों तक कविराजजी का गुरुदेव विशुद्धानन्दजी के साथ घनिष्ठ सम्पर्क रहा। परमहंसजी के काशी के बाहर कलकत्ता, पुरी, बर्दवान आदि स्थानों में भी आश्रम थे जहाँ वे कुछ काल तक रहते थे, परन्तु काशी से उनकी विशेष ममता थी। यहाँ वे पाँच-छह महीनों तक लगातार रहते थे। इन दिनों कविराजजी उनका छायावत् अनुगमन किया करते थे।

विशुद्धानन्दजी का एक बढ़िया आश्रम वाराणसी के मलदहिया मुहल्ले में छावनी स्टेशन के रास्ते में लबे सड़क भक्तो के सहयोग से निर्मित किया गया था जहाँ कविराजजी के संग में लेखक तथा उसके घनिष्ठ मित्र पण्डित बटुकनाथ शर्मा भी प्रायः जाया करते थे। परमहंसजी के इस आश्रम मे शक्तिपीठ की स्थापना की गई थी जहाँ शारदीय नवरात्र के समय शक्तिपूजा बड़े समारोह से मनाई जाती, विशिष्ट गौरी-पूजन होता तथा कुमारी-भोजन बड़ी संख्या में सम्पन्न होता। विशुद्धानन्दजी के अनेक योग-सम्बन्धी चमत्कार देखने को मिलते थे। वे 'सूर्यविज्ञान' के चमत्कारी उपासक थे। उनकी मान्यता थी कि सूर्य में पदार्थों के परिवर्तन करने की विशिष्ट शक्ति वर्तमान है। वे स्वय नाना प्रकार की गन्धों को उत्पन्न करने की अलौकिक क्षमता रखते थे। सूर्य की किरणों का वे प्रथमतः पुष्पविशेष पर (फोकस) पुञ्जीकरण कर देते थे जिससे वह गन्धहीन हो जाता। तदनन्तर वे दर्शकों के द्वारा वाञ्छित विशिष्ट गन्ध को दूसरे प्रकार के लेन्स (शीशा) के द्वारा सूर्य-रश्मियो के फोकस से उत्पन्न कर देते थे। यह नवीन गन्ध कई दिनो तक रहती थी और हफ्तो के बाद वह स्वतः कम होती-होती विलीन हो जाती थी। गेंदा के फूल को गन्धहीन कर उसमे गुलाब की गन्ध उत्पन्न करने की प्रक्रिया को लेखक ने अनेक बार देखा है। इस प्रकार किसी दर्शक के रूमाल को खस की गन्ध से सुवासित करने की घटना को लेखक ने बहुशः प्रत्यक्षीकृत किया है। रूमाल की गन्ध उड़ती नहीं थी, अपितु अनेक दिनों तक उसमें बनी रहती थी। फलतः इसमें किसी जादूगर की कला का नितान्त अभाव मानना तथा योगसिद्धि का विशिष्ट चमत्कार समझना ही न्याय्य प्रतीत होता है।

स्वामी विशुद्धानन्दजी सूर्यविज्ञान की प्रयोगशाला (लेबोरेटरी) ही स्थापित करना चाहते थे। उसके लिए बड़े मोटे दल के शीशे की आवश्यकता उन्होंने बताई थी। सुना था कि ऐसा मोटा शीशा जर्मनी में ही तैयार होता है। जर्मनी के किसी वैज्ञानिक व्यवसायी से इसे प्राप्त करने का प्रयास तो उस समय जारी था, परन्तु स्वामीजी के आकस्मिक लोकान्तरण के कारण यह प्रयोगशाला स्थापित हो न सकी। योगियों के अन्वेषणकारी पाल ब्रन्टन ने अपनी बहुचर्चित

पुस्तक 'सर्च इन सिक्रेट इडिया'[१] मे स्वामीजी के द्वारा मृत पक्षी को जीवनदान की अलौकिक घटना का उल्लेख किया है जिसका विवरण वही से प्राप्त किया जा सकता है। कहना न होगा कि स्वामी विशुद्धानन्दजी के घनिष्ठ सम्पर्क मे आने से कविराजजी को अध्यात्मचिन्तन के सोपानो को पार करने मे विशेष लाभ हुआ जिसका उल्लेख कविराजजी ने स्वय किया है।

आनन्दमयी माँ

सन् १९३७ ई० मे अपने दीक्षागुरु स्वामी विशुद्धानन्द की मृत्यु के पश्चात्, प० गोपीनाथ कविराज, अपने जीवन के उत्तरार्ध मे, आनन्दमयी माँ के अलौकिक व्यक्तित्व और साधना से अत्यन्त प्रभावित हुए। ये उनके परमभक्त बन गये। यद्यपि माँ से इन्होने दीक्षा ग्रहण नही की, फिर भी ये उन्हे अपना आध्यात्मिक गुरु मानते थे। आनन्दमयी माँ के अभिनन्दन मे जो ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है उसमे कविराजजी ने माँ के सम्बन्ध मे अपना जो हार्दिक उद्गार प्रकट किया है उससे माँ के विषय मे इनकी पूर्णभक्ति का पता चलता है। माँ की साधना तथा उनकी विशेषताओं का इन्होने जैसा वर्णन किया है, उससे इनकी उत्कट भक्ति प्रकट होती है।

आनन्दमयी माँ इन्हे अपने पट्ट शिष्य तथा परम भक्त के रूप मे मानती थी। किम्बहुना, माँ ने इनकी भक्ति से प्रसन्न होकर इन्हे भदैनी घाट पर स्थित अपने आश्रम मे रहने का आग्रह किया था। अत कविराजजी अपने सिगरा मुहल्ले मे स्थित निजी मकान को छोडकर माँ के आश्रम मे ही रहने लगे। माँ अपने पुत्र की तरह ही इनकी देखभाल सदा करती थी। आश्रम की स्त्रियाँ इनकी परिचर्या मे सदा उपस्थित रहती थी।

एक बार कविराजजी बहुत बीमार पड गये। माँ दिल्ली के प्रसिद्ध डॉ० सेन के 'नर्सिंग होम' मे इन्हे 'मेडिकल चेक अप' के लिए ले गयी। डाक्टरी जाँच के पश्चात् डॉ० सेन ने कैन्सर होने की सम्भावना प्रकट की और उसके आपरेशन के लिए 'टाटा मेडिकल रिसर्च इन्स्टीट्यूट' बंम्बई जाने की सलाह दी। माताजी इन्हे अपने साथ लेकर बम्बई गई और आपरेशन के लिए वहाँ भर्ती करा दिया। जिस दिन कविराजजी का वहाँ आपरेशन हुआ उस दिन माँ के आदेश से उनके बम्बई, पूना और वाराणसी स्थित सभी आश्रमो मे अखण्ड कीर्तन हुआ। भगवान् की कृपा और माँ के शुभ आशीर्वाद से आपरेशन सफल हो गया। माँ ने पूर्ण विश्राम के लिए कविराजजी को अपने पूना वाले आश्रम मे रखा और इनको आवास और भोजन आदि की सभी सुविधाएँ प्रदान की। इस प्रकार माँ के आशीस से ये पूर्ण स्वस्थ होकर कुछ महीनो के बाद काशी लौट आये। अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे कविराजजी अनेक वर्षो से माँ के आश्रम मे ही रहा करते थे और यही सन् १९७६ ई० मे इन्होने कैवल्य धाम को प्राप्त किया।

ऊपर की इस घटना से ही कविराजजी के प्रति माँ के वात्सल्य स्नेह का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। साधक कविराजजी को माँ के इस साधनाक्षेत्र मे पूर्ण शान्ति मिलती थी और वे सुखपूर्वक अपने अन्तिम दिन यहाँ विता रहे थे। यद्यपि बीमारी के दिनो मे विशेष बोल नही सकते थे फिर भी दर्शनार्थियो की भीड लगी रहती थी और भक्तगण इनका दर्शन कर सन्तोष-लाभ कर चले जाते थे। माँ के आश्रम मे रहते हुए आने वाले भक्तों को आनन्दमयी माँ और साधक कविराज का दर्शन एक साथ ही प्राप्त करने का सुअवसर प्राप्त होता था।

---

१ यह पुस्तक विदेश मे छपी है परन्तु इसका हिन्दी अनुवाद 'गुप्त भारत की खोज' के नाम से लीडर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुआ है।

धन्य है यह सरस्वती का उपासक जिसने जीवन के अन्तिम क्षण तक सरस्वती की सेवा की और धन्य है यह साधक जिसकी साधना अन्त तक चलती रही । सच ही कहा गया है—**कीर्तिर्यस्य स जीवति ।**

कविराजजी के उपदेश

कविराजजी के उपदेश नाना प्रकार के गम्भीर तथ्यो का विवेचन करते है । उनको धारण कर तदनुसार जीवनयापन करने का प्रयास कर साधक निःसदेह लाभ उठा सकता है – इसमे तनिक भी सशय नही । कतिपय उपदेशप्रद वचन यहाँ निर्दिष्ट किये जाते है—

जीवन मे प्रतिकूलता होने पर उसे भी भगवत् कृपा मानना चाहिए । प्रत्येक स्थिति मे भगवान् की इच्छा को ही प्रधानता देनी चाहिए । वही कल्याणकर होती है । इस तथ्य के विरुद्ध तर्क करने पर वे आवेश मे आकर कहते थे 'तोमार इच्छेइ इच्छा भगवानेर इच्छा इच्छेइ नाइ' (तुम्हारी इच्छा ही इच्छा है, भगवान की इच्छा इच्छा ही नहीं है) । 'तुमी डिक्टेट करबो, तब से शुनबे' (तुम आदेश दोगे, तभी वह सुनेगा) । Proposal तोमार किन्तु Disposal तार' (प्रस्ताव तुम्हारा किन्तु निर्णय उसका) ।

अखण्ड महायोग के विषय मे उसके तत्त्व को इन शब्दो मे रखते थे—"समन्वय दृष्टि के बिना जगत का कल्याण नही । साम्प्रदायिक दृष्टि खण्डदृष्टि है । साधक के सस्कार अथवा रुचि के अनुसार साधना मे राम, कृष्ण, शिव तथा शक्ति की उपासना मे दृष्टिभेद होना स्वाभाविक है, किन्तु भावदृष्टि इन सारे दृष्टिभेदो को समाप्त कर देती है । वही पूर्ण या समष्टि दृष्टि है । अखण्ड महायोग का यही लक्ष्य है । समष्टि परिवर्तन इसी के द्वारा सम्भव है ।"

नाम-जप की प्रक्रिया

नाम का अर्थ है भीतरी स्वरूपशक्ति नाम लेने मे प्राण, इच्छा और वाक् तीनो की समष्टि होती है इनके ठीक मिलन का यदि प्रयास हो, तो भीतर से ही नाम ध्वनि निकलने लगती है –बिना जप किये ही जप होने लगता है, यही अजपाजप है । साधको को अधिक बोलना ठीक नही होता । बोलने से भीतरी शक्ति बाहर जाकर बिखर जाती है । उसे भीतर ही भीतर सचित रखने की आवश्यकता होती है । "सब भीतर राखते हय, किछू बोल्लई ओटा कालेर प्रवाहे पोडे जा" (सब कुछ भीतर रखना चाहिए । यदि कुछ कहो, तो वह काल के प्रवाह मे पड जाता है) ।

समग्र विश्व ही काल के अधीन है । **महाकाल** धीवर के समान है जिसने समग्र विश्व मे अपना जाल फेक रखा है । मछलियो का आश्रय अगाध जल है । उनमे से जिसको वह चाहता है खीच लेता है । महाशक्तिशाली काल के ऊपर किसी का वश नही—

अगाध जले मीनेर आश्रय जले जाल फेलेछे भुवनमय ।
से जखन जाके मने करे तखन तारे धोरे आने ॥

इसीलिए श्रीमद्भागवत मे प्राणियो के जीने की आशा को सद्य छिन्न-भिन्न करने वाले काल को भगवद्रूप मानकर स्तुति की गई है

यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां सद्यश्छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै ।

जपयोग—वाचिक जप से उपाशु जप श्रेष्ठ है और उपाशु जप से मानस जप श्रेष्ठ होता है—यह शास्त्र मे प्रसिद्ध है । वाचिक जप मे बाह्य वायु के साथ सम्बन्ध अधिक रहता है, परन्तु उपाशु जप में यह सम्बन्ध प्राय छिन्न हो जाता है, फिर भी कुछ रहता है । यथार्थ

मानस जप में बाह्य वायु का सम्बन्ध एक प्रकार से नही रहता। बाह्य वायु के प्रभाव से ही चित्त विक्षिप्त हो जाता है। वाचिक जप में श्वास प्रश्वास की क्रिया स्वाभाविक रूप से चलती है, परन्तु ठीक भाव से जप होने पर श्वास-प्रश्वास की क्रिया मन्द पड़ जाती है। श्वास का गतिह्रास होने के साथ ही साथ वाचिक जप उपाशु जप में परिणत हो जाता है। श्वास-प्रश्वास की गति एकान्तरूप से क्षीण होने पर बिना चेष्टा के ही उपाशु जप मानस जप में परिणत हो जाता है। यह मानस जप ही इसीलिए सर्वोत्तम माना गया है।

प्रेमसाधना—भाव परिपक्व होने पर प्रेम के रूप में परिणत हो जाता है। इसकी स्थिति पुष्प में सुगन्ध के समान है। वही गन्ध जब परिणत होकर रस का रूप धारण कर लेती है, मकरन्द मधु मे परिणत हो जाता है तब वह प्रेमपद-वाच्य होता है। पुष्प मे मधु या रस का उद्गम होने से भृग को आकृष्ट करना नही पड़ता, वह आप ही आप आता है। उसी प्रकार भाव के प्रेम मे परिणत होने पर भगवत्-स्वरूप स्वत आविर्भूत हो जाता है, उसे बुलाने की आवश्यकता नही होती। क्रियात्मिका भक्ति से भाव-भक्ति की यही विलक्षणता है।

योगियो की मृत्यु के विषय मे कविराजजी की धारणा थी कि उनकी मृत्यु न होकर उनका लोकान्तरण हो जाता है। उनका कहना था कि श्री अरविन्द का देहावसान वस्तुत हुआ नही है। देहत्याग तो औपचारिक भौतिक क्रिया है। वस्तुत जिस कार्य को एक देहबिन्दु की उपाधि से ग्रस्त होकर श्री अरविन्द कर रहे थे, उसी कार्य को निरुपाधिक धरातल से प्रशस्ततर रूप मे वे अब कर रहे है। रामकृष्ण परमहस तथा विवेकानन्द की मृत्यु के विषय में भी इनका कथन इसी प्रकार का था। ये मृत्यु को मायान्मिका ही मानते थे। ये भौतिक दृष्टि का उपहास करते थे और शुद्धदेह के पक्षपाती थे। इनका कहना था कि चिन्तनरत योगी इस भौतिक देह की पर्वाह नही करता। साधारण जन को जो अपार दुख मृत्यु के कारण होता है, शुद्धदेह विकसित होने के कारण वह सर्वथा उसका अतिक्रमण किये रहता है। इन कथनो से स्पष्ट है कि अपार ज्ञानराशि के साथ ही साधना के धरातल पर आरोहण कविराजजी का वैशिष्ट्य है।

कविराजजी का कहना था कि जिस वस्तु की एव पुस्तक की इन्हे उत्कट इच्छा होती थी, वह अनायास ही इन्हे प्राप्त हो जाती थी। भगवान् की कृपा से वह वाञ्छित वस्तु आपसे आप आ जाती थी। वराहमिहिर ने ऐसे कार्य वाले पुरुष को धन्य व्यक्तियो की कोटि मे रखा है। बृहत्-सहिता मे उनका कथन है--

श्रान्तस्य यानमशनं च बुभुक्षितस्य पानं तृषापरिगतस्य भयेषु रक्षा।
एतानि यस्य पुरुषस्य भवन्ति काले धन्य वदन्ति किल तं खलु लक्षणज्ञाः॥

कालिदास ने भी ऐसे व्यक्ति को पुण्यशाली बतलाया है—

सद्य एव सुकृतां हि पच्यते कल्पवृक्षफलधर्मि कांक्षितम्।

अर्थात् पुण्यवन्तो का मनोरथ कल्पवृक्ष के समान फल देने वाला होता है। कविराजजी इस दृष्टि से नितान्त पुण्यवन्त थे—इसमे तनिक भी सन्देह नहीं है।

व्यक्तित्व का मूल्यांकन

यदि अधार्मिकता के इस युग मे त्याग-तपस्या की सजीव मूर्ति का साक्षात्कार करना हो, यदि अविश्वास के इस कलुषित वातावरण में सौम्य विश्वास की प्रतिमा का निरीक्षण करना हो, तो मेरा पाठकों से विनम्र आग्रह है कि वे स्वनामधन्य पद्मविभूषण महामहोपाध्याय

डाक्टर पूज्यचरण श्री गोपीनाथ कविराज का दर्शन अवश्य करे। वे उनके दर्शन से ही कृतकार्य हो जावेगे तथा उनके बिना सरल सुबोध प्रवचनो के ही दर्शनमात्र से अपने भीतर एक पवित्र शान्ति का बोध करेगे। तथ्य यह है कि हम लोग कविराजजी का इसलिए आदर नही करते थे कि वे प्राच्य तथा प्रतीच्य विद्याओं के चलते फिरते विश्वकोश थे, बल्कि इसलिए कि इनका जीवन आध्यात्मिकता का उज्ज्वल दृष्टान्त था, निश्छल पवित्रता का पावन उत्स था, एव नैसर्गिक सरलता का मधुमय निकेतन था। अगाध पाण्डित्य तथा उन्नत आध्यात्मिकता इनके ऊपर अपना प्रज्ञाभार डालने मे कथमपि समर्थ नही हो सकी। ये बालक के समान सरल थे, सन्त के समान सर्वसुलभ थे, अध्यात्मवेत्ता के समान विश्वपारखी थे और कवि के समान प्रतिभा-सम्पन्न थे और सबसे बढ़कर थे महामानव के समान करुणा तथा मैत्री से परिपूर्ण हृदय के धनी व्यक्ति।

ये बचपन से ही गम्भीर प्रकृति के जीव थे। अल्पवयस् मे ही शास्त्रो के मर्मी पिता की छत्रच्छाया से वचित होने का दुर्भाग्य उन्हे प्राप्त था, परन्तु दयामयी माता के स्नेहसिक्त वातावरण मे लालित पालित होने से इनके हृदय मे पीडितो की वेदना समझने की नैसर्गिक योग्यता थी। जन्म तो हुआ इनका पूर्वी बगाल के मैमनसिह जिले के एक गाँव मे, परन्तु इनका समस्त जीवन—अध्ययन तथा अध्यापन—इस भूतभावन की विभूतियो की भव्य नगरी वाराणसी मे ही व्यतीत हुआ। इस प्रकार काशी से इनका अविच्छेद्य सम्बन्ध था।

इनका विद्यार्थीजीवन नाना विद्याओं तथा अनेक भाषाओं के अर्जन मे बीता। पुस्तको के ये इतने बडे अध्येता थे कि यह प्रसिद्धि यथार्थ है कि इन्होने अपनी बी० ए० कक्षाओं मे पढ़ते समय 'महाराज कालेज जयपुर' (जहाँ वे विद्याध्ययन के निमित्त बगाल से गये थे) के पुस्तकालय के साहित्य तथा दर्शन सम्बन्धी समस्त ग्रन्थो को विधिवत् पढ डाला था तथा क्वीन्स कालेज के पुस्तकालय के अग्रेजी तथा सस्कृत के समग्र ग्रन्थो को अपनी एम० ए० परीक्षा के काल मे पढ़कर समाप्त कर दिया था। फलत छात्रावस्था से ही इन्हे साहित्य (अग्रेजी, सस्कृत, बँगला) तथा दर्शन (यूनानी, यूरोपियन तथा भारतीय) मे दक्षता प्राप्त हो गयी थी। फलत अपनी विद्वत्ता से ये अपने विद्यागुरु, क्वीन्स कालेज के अध्यक्ष, डाक्टर आर्थर वेनिस को सदा आश्चर्यचकित किया करते थे।

कविराजजी की सबसे बडी विशिष्टता थी—तुलनात्मक अनुशीलन के द्वारा धर्म तथा दर्शन के निगूढ़ रहस्यो का सुबोध अभिव्यक्तीकरण। ये प्रत्येक धर्म के अन्तस्तल मे प्रवेश कर उसके मर्म समझने तथा समझाने की विलक्षण शक्ति रखते थे। जब ये ईसाई मत के गम्भीर तत्त्वों की वैदिक धर्म के तत्त्वो से सन्तुलित कर व्याख्या करने लगते थे, तब हमको पूरा विश्वास जागरित हो जाता था कि ऐसी व्याख्या शायद ही कोई पादरी कर सके। जैन तथा बौद्ध धर्म की व्याख्या के अवसर पर भी यही भावना जागरूक होती थी। तथ्य यह है कि कविराजजी की दृष्टि मे ये नाना धर्म देश तथा काल की परिधि द्वारा विभक्त तथा पृथक् होने पर भी एक ही मूल तथ्य से प्रत्यक्षीकृत एक ही धर्म है परन्तु उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार नाना है। सूक्ष्मता से विचार करने पर इनके बाह्य आवरण को हटाकर भीतर देखने वालो के लिए वही मूल तत्त्व प्रद्योतित होता है। कविराजजी की व्याख्याएँ गम्भीर अवश्य होती थी, परन्तु उनका प्रतिपादन ये इतनी सुबोध शैली मे करते थे कि सुनने वालों को वे तत्त्व अनायास हृदयंगम हो जाते थे। निगूढ़ रहस्य इनकी व्याख्या के अनन्तर अपनी गम्भीरता खो डालता था और वह एक परिचित तथ्य के समान विज्ञ श्रोताओं की दृष्टि मे आ जाता था।

कविराजजी की दृष्टि में धर्म तथा दर्शन की गुत्थी सुलझाने की कुंजी तन्त्रशास्त्र में थी। वेदान्त की दृष्टि से भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की संगति की व्याख्या हमारे मान्य दार्शनिक सर्वदा करते आये है। मधुसूदन सरस्वती ने अपने 'प्रस्थान-भेद' में इसी दृष्टि की मुख्यता मानकर सर्वदृष्टियो का समन्वय प्रस्तुत किया है, परन्तु कविराजजी तान्त्रिक दृष्टि को लक्ष्य कर दर्शन की नाना धाराओं मे सम्भाव्यमान विरोधों के परिहार-सम्पादन के पक्ष में थे। तथ्य तो यह है कि ये तन्त्रशास्त्र को भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन का परिनिष्ठित अमृतमय परिणाम स्वीकार करते थे। कविराजजी ने तन्त्रों का विधिवत् अध्ययन किया था, उनके गम्भीर तथा निगूढ़ रहस्यों को समझने की इनकी अपनी एक विशिष्ट शैली थी। साधक होने के कारण इनकी अन्तश्चेतना में ये तथ्य प्रतिफलित होते थे जिससे उनकी व्याख्या में मौलिकता प्रत्येक विज्ञ आलोचक को लक्षित होती थी। प्रातिभदृष्टि-सम्पन्न होने से कविराजजी को ऐसे तथ्य स्वतः सूझ जाते थे जो उस दृष्टि से विरहित केवल शब्द-अर्थ जोड़ने में व्यस्त पण्डित की दृष्टि में कभी नही आते। किसी सिद्ध पुरुष की उक्तियो, तर्कों तथा सिद्धान्तों को समझने के लिए साधक को उस कोटि में अपने को लाना ही पड़ता है। इस कार्य मे जो व्यक्ति जितना समर्थ होता है, वह तथ्यनिर्धारण मे उतना ही कृतकार्य होता है—यह मौलिक सिद्धान्त इस प्रसग में भुलाया नहीं जा सकता। तन्त्र के विषय मे कविराजजी की मान्यता इस प्रकार व्यक्त की जा सकती है—वेद और तन्त्र का निगूढ़ रूप एक ही प्रकार का है। दोनों ही अक्षरात्मक है अर्थात् शब्दात्मक ज्ञानविशेष है। ये शब्द लौकिक नही– दिव्य है और अपौरुषेय है। मन्त्रदर्शीगण इसे ही प्राप्त कर सर्वज्ञत्व-लाभ किया करते थे और वे अन्त मे आत्मसाक्षात्कार द्वारा अपना जीवन सफल करते थे। निरुक्त आदि ग्रन्थो की आलोचना से प्रतीत होता है कि ऋषिगण साक्षात्कृतधर्मा थे। वे उन सामान्य जनो को उपदेश द्वारा मन्त्र दिया करते थे जो असाक्षात्कृतधर्मा थे। ये ऋषि लोग इतने शक्तिशाली होते थे कि किसी से उपदेश ग्रहण किये बिना अपने प्रतिभान के बल से मन्त्रद्रष्टा होते थे। ऐसे प्रातिभ ज्ञान के आश्रय से ही मूल तथ्य का आविष्कार तथा प्रत्यक्ष किया जा सकता है। फलतः तन्त्रो के उपदेश से मूल तत्त्व का दर्शन पूर्णतः किया जा सकता है। तन्त्र केवल सिद्धान्त ही प्रतिपादन नही करते, उस कोटि पर पहुँचने के लिए तत्तत् आचार का भी उन्मीलन करते है। फलत उभयविध शिक्षण के कारण तन्त्रों का माहात्म्य आज के युग मे सर्वातिशायी है।

तन्त्र के रहस्यों के प्रतिपादन के लिए कविराजजी ने अनेक बृहत् लेख तथा ग्रन्थों का प्रणयन किया था। 'भारतीय सस्कृति और साधना' (२ भाग) तथा 'तान्त्रिक वाङ्मय में शास्त्रदृष्टि' ऐसे ही प्रमेयबहुल ग्रन्थ हिन्दी मे प्रकाशित है। अंग्रेजी में तथा बँगला में इनके तन्त्र-सम्बन्धी लेखों के संग्रह पुस्तक रूप में कलकत्ता विश्वविद्यालय तथा वर्दवान विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुए है तथा हो रहे है। इन रचनाओं के द्वारा भी कविराजजी ने तन्त्र के विभिन्न प्रकारों को जिज्ञासु जनों के सामने प्रस्तुत कर तन्त्र को नितान्त लोकप्रिय बनाया। हिन्दी जगत् में तन्त्रो के अध्ययन के प्रति जो अभिनव रुचि उत्पन्न हुई है, उसके लिए आपके लेख तथा ग्रन्थ बहुल अंशों में कारण हैं—यह मै मानता हूँ।

कविराजजी में विद्वत्ता तथा आध्यात्मिकता का मणिकांचन-योग था। यही कारण है कि इनकी रचनाएँ, इनके प्रवचन पाठक तथा श्रोताओं पर अपना पूरा प्रभाव पैदा करते थे। ये पण्डित ही नही थे, अपितु सन्त थे, योगी थे जिन्होंने शास्त्र-चिन्तन को अपने व्यावहारिक जीवन में उतारने का पूर्ण प्रयास किया था। इस कार्य में ये नितान्त सफल थे। वे जीवन्मुक्त थे। पार्थिव प्रलोभनों से दूर रहकर इन्होंने अपने जीवन के आदर्श को समुन्नत बनाया था।

इनके जीवन को समीप से देखने वाले भली भाँति जानते है कि इकलौते जवान पुत्र की आकस्मिक मृत्यु इन्हें तनिक भी विचलित नही कर सकी। इनके चित्त पर उस घटना का तनिक भी असर नही पडा, जब सामान्य कोटि का मानव अविश्वास तथा अन्धकार के गर्त मे गिर कर सदा के लिए नास्तिक रहता। अर्थ इनके चित्त को अपनी ओर नही खीच सका। तभी तो अपने समय से पहले ही इन्होने सरकारी नौकरी का परित्याग कर अपने समय को शान्ति से बिताने का व्रत ले लिया।

ब्राह्मण की कसौटी त्याग और तपस्या है। बिना त्याग और तपस्या की सिद्धि के ब्राह्मणत्व का आदर्श पूर्ण नही हो सकता। कविराजजी मे ये दोनो गुण विद्यमान थे, त्याग भी तथा तपस्या भी। ये ससारी गृहस्थ होकर भी विरागी थे। इनका एक ही व्यसन था—शास्त्र का चिन्तन, मनन, निदिध्यासन तथा उसका सुयोग्य व्यक्तियो मे वितरण। ये कभी कभी हमारी केवल व्यावहारिक दृष्टि पर उलाहना दिया करते थे जिसके कारण हम अपनी तात्त्विक दृष्टि को अग्रसर करने मे समर्थ नही होते। ये अन्तर्दृष्टि के जागरण पर विशेष बल देते थे और कहते थे कि बिना उसके खुले शास्त्रो का मर्म नही समझा जा सकता। ये आजकल के बाजारू अध्ययन की निन्दा किया करते थे और अपने छात्रो को इससे पराङ्मुख रहने का उपदेश देते थे। बाजारू अध्ययन से इनका अभिप्राय उस अध्ययन से है जो केवल आर्थिक लाभ की दृष्टि से किया जाता है, शास्त्र के अन्तस्तल मे पहुँचने से जो हमेशा हमे रोक देता है। इसीलिए ये शास्त्रीय अध्ययन के लिए निष्पक्ष दृष्टि की प्रशसा करते थे। इनके पास भारत के कोने-कोने से ही नही, अपितु विदेशो से भी जिज्ञासु जन आते थे तथा अपनी शकाओं का पूर्ण समाधान पाकर अपने को सिद्ध-मनोरथ बनाते थे। इनका द्वार प्रत्येक जिज्ञासु के लिए खुला था। एक बात हमारे ध्यान देने की यह है कि इनके ग्रन्थ-लेखन तथा प्रवचन की शैली मे अन्तर उपलब्ध होता था। जब ये लिखते थे तब इतना जमकर लिखते थे कि थोडे स्थान मे अधिक भावो की अभिव्यक्ति के कारण उनके कथन मे दुरूहता आ जाती थी। सामान्य पण्डितजन के लिए भी इनके कथन व्याख्या की अपेक्षा रखते थे, परन्तु इनके प्रवचन इतने सरल, सुबोध तथा उदाहरण-प्रचुर होते थे कि विषय की दुरूहता का पता नही चलता था, कठिन से कठिन विषय भी हृदयगम हो जाता था। परन्तु इसके लिए विषय मे श्रोताओ के प्रवेश की आवश्यकता नितान्त अपेक्षित होती थी। साधारण जानकारी वाला व्यक्ति उनके प्रवचनो से लाभ नही उठा सकता था।

निष्कर्ष यह है कि शास्त्र की प्राचीन परम्पराओं, साधना के कठिन मार्ग को, आध्यात्मिकता के समुन्नत स्तर को जागरूक रखने मे पण्डित गोपीनाथ कविराजजी एक दिव्य विभूति थे। प्राचीन महर्षियो के ज्ञान-वैराग्यमय जीवन की दिव्य झाँकी को कही देखना आज भी यदि किसी व्यक्ति को अभीष्ट होता तो वह कविराजजी के जीवन मे देख सकता था।





आचार्य आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव

१०८

आचार्य आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव

(आस्पद—ध्रुव, उपाधि—सर्वतन्त्रस्वतन्त्र)

आचार्य ध्रुव एक प्रतिभासम्पन्न दार्शनिक, प्रज्ञामण्डित लेखक तथा व्यवहार-कुशल शासक थे। महामना मालवीय महाराज को व्युत्पन्न सनातनधर्मानुयायी, आस्तिक विद्वान्, भारतीय संस्कृति के मूल्यो के प्रवीण पारखी तथा व्यवहार चतुर शासनदक्ष व्यक्ति की खोज थी जो हिन्दूविश्वविद्यालय के संवर्धन तथा प्रसारण मे उनकी पूर्णतया सहायता कर सके। वह विश्वविद्यालय का शैशवकाल था, उसके मार्गदर्शन के लिए नितान्त आवश्यकता थी ऐसे विज्ञ पुरुष की, जो शिक्षणसंस्थाओं का उत्थान करने मे सफलता प्राप्त कर चुका हो तथा नयी नयी प्रशासनिक समस्याओं के समाधान की पूरी क्षमता से मण्डित हो। मालवीयजी के पास व्यवहार निपुण सहयोगियो की कमी नही थी, परन्तु शैक्षणिक योग्यता से मण्डित, भारत की प्राचीन शिक्षा मे दीक्षित एवं उसका उन्नयन करने की व्यावहारिक प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्ति का तो अभाव ही था। फलत महामना ने महात्मा गान्धीजी से ऐसे व्यक्ति को चुन कर भेजने का आग्रह किया जो प्राचीनता का प्रेमी होते हुए भी अर्वाचीनता का विरोधी न हो, दोनो विरुद्ध दिशाओं के बीच जिसकी शेमुषी सुवर्णमय मध्यम मार्ग का संचरण कर सके तथा जो 'विद्या धर्मेण शोभते' इस विश्वविद्यालयीय आदर्श का जीवन्त प्रतीक हो। बापू ने आचार्य आनन्दभाई ध्रुव को मालवीय महाराज के द्वारा निर्धारित तुला पर तोल कर विज्ञ मनीषी तथा चतुर शासनकर्ता निश्चित कर ही हिन्दूविश्वविद्यालय के लिए वरिष्ठ अधिकारी के रूप मे भेजा। अपने प्रथम माङ्गलिक भाषण मे ही ध्रुवजी ने अपनी [illegible] श्रेष्ठता का परिचय देकर मालवीयजी को मुग्ध कर लिया, अपनी वाक् चातुरी से श्रोताओं के हृदय को हठात् आकृष्ट कर लिया। श्रोताओं तथा दर्शको को यह जानते देर नही लगी कि काशी हिन्दूविश्वविद्यालय के जीवन मे आज से एक नया मोड उत्पन्न हो गया है —ऐसा मोड, जो उसे उन्नति के मार्ग पर अग्रसर ही नही करेगा, अपितु सम्भावित खाइयो तथा संघर्षो से बचा कर उसे भौतिक उत्कर्ष का सुनहला भविष्य भी दिखलाएगा।

प्रथम परिचय

सन् १९२० ई० का उथल पुथल का युग। सेन्ट्रल हिन्दू कालेज का काशीनरेश हाल। अपराह्न की विमल वेला। 'हाल' छात्रो, अध्यापको तथा दर्शको से खचाखच भरा हुआ था। सभी लोग गान्धीजी के द्वारा मनोनीत गुजराती विद्वान् का दर्शन करने तथा भाषण सुनने के लिए उद्ग्रीव आसनो पर बैठे थे। छात्रो की तालियो की गडगडाहट के बीच महामना मालवीयजी अपने साथ एक भव्य व्यक्ति को साथ लेकर हाल मे उपस्थित हुए। दोनो ने अपना आसन ग्रहण किया। लेखक उस वर्ष बी० ए० की प्रारम्भिक कक्षा मे था और उस ऐतिहासिक व्याख्यान को सुनने के लिए उत्सुकता की मूर्ति बना बेच पर बैठा बडे मनोयोग

से आगन्तुक व्यक्ति का दर्शन कर रहा था। मालवीयजी ने अपने भाषण में ध्रुवजी का परिचय दिया, गुजरात के विद्वानों में उन्हें अत्यन्त प्रतिभाशाली विद्वान् होने की बात कही तथा आशा की कि ऐसे सुयोग्य व्यक्ति के शासनकाल में हिन्दूविश्वविद्यालय अपने निर्धारित लक्ष्य पर पहुँचने में विलम्ब नहीं लगाएगा।

आचार्य ध्रुवजी व्याख्यान देने के लिए उठे। श्रोताओं में नीरवता व्याप्त हो गई। इनका व्यक्तित्व बड़ा ही आकर्षक था। इनका परिधान पूर्णतया भारतीय था। सफेद धोती, लम्बा पारसी कोट, माथे पर रक्तवर्ण गुजराती पगड़ी, उन्नत ललाट पर विराजमान केसरिया टीका—इसी वेष में ध्रुवजी अपना रुचिर भाषण करने लगे। उनका अंग्रेजी-उच्चारण बड़ा ही स्पष्ट था, भाषण की शैली रोचक एवं आवर्जक थी। इन्होंने अपने कार्यकलाप का संक्षिप्त परिचय दिया। गान्धीजी के साथ सम्पर्क में आने का तथा उनके आश्रम की शिक्षापद्धति को सँवारने का तथा प्रिन्सिपल के रूप मे अहमदाबाद के गुजरातकालेज के विविध विस्तार का परिचय इन्होंने सक्षेप में दिया। भाषण के बीच इन्होने आत्मविश्वास से कहा कि महाशय, मै योग्यता पर विश्वास करता हूँ, सख्या पर नही। छात्रों की अधिक संख्या के ऊपर मेरा कोई आग्रह नही है। यदि आग्रह है, तो वह उनके गुणों के ऊपर है (Gentlemen, I am a firm believer in the dictum that quality is better than quantity.) सज्जनो, संख्या से बढ़ कर योग्यता होती है। मै इस सिद्धान्त का पूर्ण विश्वासी हूँ। इस प्रसंग में अपने कथ्य की प्रामाणिकता के ऊपर महाकवि कालिदास की मुहर लगाते हुए इन्होंने बड़ी ही मधुर वाणी में इन्दुमती-स्वयंवर वाला यह रघुवशीय श्लोक बडी सुन्दर भावभंगी के साथ कह सुनाया—

कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्।
नक्षत्र-तारा-ग्रह- संकुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः॥

—रघु० ६।२२

भले ही हजारों दूसरे राजा लोग हों, परन्तु भूमि राजन्वती है, शोभन राजा से सम्पन्न है यह कथन इसी राजा के कारण सम्भव हो सका है। आकाश में नक्षत्रों से, ताराओं से एवं ग्रहों से व्याप्त होने पर भी रात्रि के ज्योतिष्मती—ज्योति से युक्त—होने की सत्यता एक चन्द्रमा के कारण ही सिद्ध होती है। करोड़ों नक्षत्र-तारागण चमकते भले ही रहे, परन्तु उनके कारण रात्रि 'ज्योतिष्मती' नही होती, वह होती है केवल एक चन्द्रमा के कारण ही तो। फलतः गुणों का ही माहात्म्य होता है, सख्या का नही।

बड़े लोच से कालिदास के इस श्लोक को समुचित अवसर पर सुना कर आचार्य ध्रुव ने विज्ञ श्रोताओं के मन को बलात् मुग्ध कर लिया। सबके मन में यह बात इस प्रथम भाषण से ही बैठ गई कि इस महापुरुष के द्वारा विद्यालय का परम कल्याण होगा। अंग्रेजी की यह कहावत ठीक ही निकली—First impression is the best impression. (प्रथम छाप ही सर्वोत्तम छाप होती है)।

सफल अध्यापक

आचार्य ध्रुव एक सफल अध्यापक थे। नाना शास्त्रों की विवेचना में निष्णात, व्याख्यान की कला में लब्धकीर्ति, एवं विवेच्य तथा पाठ्य विषयों पर पूर्ण अधिकार से सम्पन्न होने के कारण ये एक आदर्श अध्यापक सिद्ध हुए। शिष्यों में विषय की संक्रान्ति भी विशेष श्लाघनीय थी। जिस विषय का अध्यापन करते थे, शिष्यगण उसे सद्यः हृदयंगम कर लेते थे।

शकुन्तला नाटक उनका प्रिय नाटक था जिसे वे बड़े ही प्रेम तथा भावुकता के साथ

पढ़ाया करते थे। इनकी कक्षा मे अध्ययन कर्ता छात्रो की भीड लग जाती थी। शिष्य ही नही, अपितु अध्यापक भी इनके विद्वत्तापूर्ण भाषणो को सुनने के लिए आया करते थे। इन पक्तियो के लेखक को ध्रुवजी के पूज्य चरणो मे बैठ कर अध्ययन करने का सुवर्ण-अवसर मिला था तथा दस बारह वर्षो तक उनके सहकर्मी होने का भी सौभाग्य प्राप्त था। अत वह निर्विवाद कह सकता है कि उनके समान आदर्श अध्यापक मिलना अत्यन्त दुष्कर है।

अध्यापन-शैली

ध्रुवजी का व्यक्तित्व बडा ही आकर्षक था। जो भी कोई उनके निकट सम्पर्क मे आता, वह उनके स्वभाव की कोमलता, दीनदुखियो के ऊपर स्वाभाविक सहानुभूति तथा शासन की समस्याओं को सुलझाने की व्यावहारिक बुद्धि को कभी भूल नही सकता। वे शिक्षण-कला के प्रवीण पारखी थे। उनकी अध्यापन शैली नवीनता से परिपूर्ण थी। अध्यापन मे उनका दृष्टिकोण एकाङ्गी न होकर सर्वाङ्गीण होता था। वह छात्रो को सर्वदा सिखाया करते थे कि तुम अपनी दृष्टि को उदार तथा विशाल बनाओ। तुम्हारे अध्ययन की सीमा केवल निर्धारित ग्रन्थ ही न हो, अपितु विषय से सम्बद्ध दूसरे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का भी परिशीलन तुम्हारे लिए नितान्त आवश्यक है। साहित्य तथा आलोचना के प्रसग मे वे तुलनात्मक पद्धति को उपयोग दिया करते थे। काव्यप्रकाश सस्कृत एम० ए० परीक्षा का पाठ्यनिर्दिष्ट ग्रन्थ तो था ही, साथ ही साथ बी० ए० आनर्स के लिए भी निर्धारित था। ध्रुवजी इस ग्रन्थ को बडे प्रेम तथा अतिशय अनुराग के साथ पढ़ाते थे। मम्मट के काव्यलक्षण की केवल पूरी व्याख्या करने से ही उन्हे सन्तोष नही होता था, बल्कि अरिस्टाटल के प्रख्यात आलोचना ग्रन्थ 'पोयटिक्स' की भी तुलना से उसे पुष्ट तथा परिबृहित किया करते थे। ये कक्षा मे समुचित अशो का भी उद्धरण पढ़कर सुनाया करते थे और पढ़ाने मे इतने मग्न हो जाते थे कि इस तथ्य का उन्हे ध्यान भी न होता था कि उसी कक्षा मे बी० ए० के प्रथम वर्ष का नौसिखुआ छात्र भी एक कोने मे बैठ कर उनके व्याख्यान के मर्म समझने से प्राय वचित हो रहा है। ये अध्यापन कला के पारगामी पण्डित थे। ये इतनी विशदता से मूल ग्रन्थ की ग्रन्थियो का स्फोटन किया करते—दुर्भेद्य ग्रन्थि को सुलझाया करते कि साधारण छात्र को भी विषय के अन्तरग मे प्रवेश करने मे विलम्ब नही होता था। सस्कृतसाहित्य के अतिरिक्त ये अग्रेजीसाहित्य के भी मर्मज्ञ विद्वान् थे और दोनो के पढ़ाने मे तुलनात्मक पद्धति का ही प्रचुर उपयोग किया करते थे। कुछ दिनो तक अग्रेजी के प्राध्यापक के अभाव मे ये स्वय बी० ए० कक्षा मे शेक्सपियर के नाटक तथा ब्राउनिंग की कविता को इतनी तन्मयता तथा अन्तरगता से पढ़ाते थे कि इन्हे सुनने के लिए अग्रेजी एम० ए० के छात्र ही नही, अग्रेजी के प्रबुद्ध अध्यापक भी इनकी कक्षा मे बैठकर इनका पढाना सुनते तथा चमत्कृत होते थे।

आचार्य ध्रुव पुराने उदाहरणो को नई व्याख्या के द्वारा परिष्कृत कर अपने कक्षा-भाषणो मे भी जान डाल दिया करते थे। मम्मट के काव्यलक्षण मे 'अनलकृती पुन क्वापि' अपना वैशिष्ट्य रखता है। इसका अर्थ है कि काव्य मे अलकारो का होना अनिवार्य नही है। ऐसे भी स्थल होते है जहाँ अलकार के अभाव मे भी रसादिको के द्वारा चमत्कार का आविर्भाव होता है और वे उत्तम काव्य माने जाते है। तथ्य को परिष्कृत करने के लिए ये यह पद्य उदाहरण रूप मे दिया करते थे—

हारो नारोपित. कण्ठे मया विश्लेषभीरुणा ।
इदानीमावयोर्मध्ये सरित्—सागर—भूधराः ॥

नायक का वचन प्रेमिका के प्रति। आश्लेष का रसिक मै तुम्हारे कण्ठ मे मोतियों का कीमती हार इसीलिए नही पहनाता था कि मेरा और तुम्हारा विश्लेष हो जायगा। यह तो सयोगकाल की बात थी, परन्तु वियोग मे दशा कितनी बदल गई है। इस समय हम दोनो के बीच अगम्य नदियाँ बह रही है, सागर लहरा रहे है तथा दुर्लङ्घ्य पर्वत खडे है। अलकार के अभाव मे भी रसजन्य चमत्कार से यह पद्य उत्तम काव्य का उदाहरण है। उत्तरार्ध को वे इतने विलम्बित स्वर मे पढ़ते थे कि दोनो के बीच व्यवधान का आतिशय्य प्रतीत होने लगता था। ये प्रत्येक वर्ण पर ठहर कर व्यवधान की अतिशयता की व्यञ्जना कर देते थे—इ=दानी—मावयोर्मध्ये सरि=त्—सा—ग—र—भू- ध—रा ॥ श्लोक तो है यह पुराना ही, परन्तु इसकी मार्मिक व्याख्या के द्वारा नवीनता का मचार हो जाता था।

ध्वनि के प्रसग मे अग्रेजी कवि ड्राइडेन की यह पक्ति उद्धृत कर ध्रुवजी उसकी अस्फुट कल्पना को स्फुट तथा विशद बना देते थे। पक्ति यह है

More is meant than meets the ear (मोर इज मेन्ट दैन मीट्स दी ईअर) अर्थात् व्यग्य काव्य मे जितना कानो को सुनाई पडता है—उतना ही उसका तात्पर्य नही होता, बल्कि कवि को उससे कही अधिक अर्थ अभिप्रेत तथा अभीष्ट होता है। यही तो ध्वन्यर्थ होता है। दशरूपक के अध्यापन के समय पञ्चसन्धि के तथ्य को पाश्चात्त्य आलोचना के द्वारा निर्णीत Dramatic lines (ड्रेमेटिक लाइन्स) के साथ तुलना कर उमे विशद तथा सद्य बोधगम्य बना देते थे। इस प्रकार पाश्चात्त्य आलोचना के साथ भारतीय आलोचना का तुलनात्मक सामञ्जस्य दिखा कर वे उसे सरल, सुबोध तथा हृदयगम बना डालते थे ध्रुवजी की यह महती विशेषता थी।

पैनी साहित्यिक दृष्टि

सस्कृतकविता का उनका अनुशीलन भी बडी सहृदयता तथा मार्मिकता से पूर्ण होता था। अन्तरग मे सहृदयता से प्रवेश करने के हेतु उनकी व्याख्या एव आलोचना बडी तलस्पर्शी होती थी। एक-दो उदाहरण पर्याप्त होगे। 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' के तृतीय अक मे दुष्यन्त की एक बड़ी सुन्दर उक्ति है कि सम दु ख सुख वाली अपनी मखी के द्वारा अन्तरग दशा पूछे जाने पर यह ऋषिबाला अपनी आधि का कारण नही बताए, ऐसा हो नही सकता। वह अवश्य बतावेगी। कालिदास के शब्द है—

पृष्टा जनेन समदुःखसुखेन बाला नेयं न वक्ष्यति मनोगतमाधिहेतुम् ।
दृष्टो विवृत्य बहुशोऽप्यनया सतृष्ण-मत्रान्तरे श्रवणकातरतां गतोऽस्मि ॥

—अभिज्ञान-शाकुन्तल, ३।६

अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के तृतीय अक का प्रसग है। तात्पर्य है अनुसूया और प्रियवदा शकुन्तला से उसकी बेचैनी का कारण पूछ रही है। राजा बडी उत्सुकता से उसका उत्तर सुनना चाहता है। वह कहता है—दु ख-सुख मे साथ देने वाली अपनी इन सखियो के पूछने पर यह बाला अवश्यमेव अपने मन की व्यथा बता देगी। यद्यपि शकुन्तला ने उस समय बडे प्यार से बार-बार मेरी ओर ललचाई आँखो से देखा था, तथापि इस समय वह क्या कारण बताती है—इसे सुनने के लिए मै कातर हो रहा हूँ।

यहाँ **समदुःखसुखेन** पद में सुख से पहले ही 'दु ख' शब्द का प्रयोग कर कवि एक महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक तथ्य का उद्घाटन कर रहा है। मानसिक समता या सहानुभूति सुख की अपेक्षा दु.ख के ममय में ही विशेष रूप से अभिव्यक्त की जाती है। सुख के समय

सहानुभूति के प्रदर्शन का कोई विशेष मूल्य नही होता, परन्तु दु ख के समय तो वह एक मूल्यवान् निधि होती है। फलत कालिदास ने 'समदु खसुखेन' मे 'सुख' शब्द से पूर्व 'दु ख' शब्द का विन्यास कर अपने कथन मे जान डाल दी है।

आचार्य ध्रुवजी की यह आलोचना यथार्थ तथा मर्मस्पर्शी है। वाल्मीकीय रामायण की एक उक्ति इसका पूर्ण समर्थन करती है। उत्तरकाण्ड मे भगवान् राम हनुमान्‌जी के उपकार के बदले मे प्रत्युपकार करने मे अपने को सर्वथा असमर्थ पाते है। क्यो ? इसका कारण सुनिये। भगवान् राम उपकारी हनुमान् से कह रहे है —

मय्येव जीर्णता यातु यत् त्वयोपकृतं कपे ।
नर. प्रत्युपकाराणा आपद्यायाति पात्रताम् ॥

पद्य का आशय है तुमने जो मेरे साथ उपकार किया है, वह मुझमे ही जीर्ण हो जाय, गल जाय, पच जाय। उसके बदले मे प्रत्युपकार करने का मुझे कोई अवसर ही न मिले। कारण यह है कि आपत्ति होने पर ही तो मनुष्य सहानुभूति द्वारा प्रत्युपकार का पात्र होता है। फलत मै चाहता हूँ कि तुम्हारे ऊपर कोई आपत्ति ही नही आवे जिससे मुझे सहानुभूति दिखलाने का तथा उपकार करने का कोई अवसर ही न आवे।' यह श्लोक ध्रुवजी की आलोचना का पूरा समर्थन कर रहा है।

मेघदूत के 'पृच्छन्ती वा मधुरवचना सारिका पञ्जरस्था कच्चिद् भर्तु स्मरसि रसिके त्व हि तस्य प्रियेति' इस विश्रुत पद्याश (उत्तरमेघ) मे रसिक शब्द के औचित्य की वे बडी मार्मिक व्याख्या करते थे। यक्षपत्नी पिजडे मे पली अपनी सारिका से पूछ रही है कि हे रसिके, तुम मेरे भर्ता के विषय मे व्याकुल होकर स्मरण किया करती हो क्या ?[1] 'भर्तु' की षष्ठी विभक्ति मे यही ध्वनि है। तो इस प्रश्न का वह उत्तर देती—नही, नही, मै उन्हे याद नही करती। इसी निषेधात्मक उत्तर की ओर ही 'रसिके' विशेषण का स्वारस्य है। यदि वह स्वीकारात्मक उत्तर देती, तो प्रश्नो का ताँता वही टूट जाता, बात वही खत्म हो जाती। सद्य रसभग हो जाता।

ऐसी मार्मिक आलोचना ध्रुवजी की सहृदयता के द्योतक सुखद प्रसग है।

आचार्यजी के जीवनकाल की चरम परिणति थी विश्वविद्यालय की प्राचार्यता। यहाँ तक पहुँचने के लिए उन्होने बडी साहित्यिक योग्यता प्राप्त की थी। इसे जानने के लिए उनके पूर्वपुरुषो का कार्यकलाप जानने की आवश्यकता है और अब वही प्रस्तुत किया जा रहा है।

पूर्वपुरुष

डॉ० आनन्दशकर बापूभाई ध्रुव के पूर्वपुरुष गुजरात प्रान्त के अहमदाबाद नगर के निवासी थे। ये लोग नागर ब्राह्मण थे जो गुजरात मे अपनी विद्वत्ता तथा उच्च सस्कृति के लिए प्रसिद्ध है। ध्रुवजी के पितामह का नाम दयाशकर ध्रुव था जो मध्यम श्रेणी के ब्राह्मण परिवार के सदस्य थे। धनवान् न होने पर भी वे अधिक उदार तथा सज्जन व्यक्ति थे।

---

१ 'अधीगर्थदयेशा कर्मणि' सूत्र के अनुसार स्मृ धातु के योग मे विशेषत प्रयोग किया जाता है—षष्ठी विभक्ति का। द्वितीया का प्रयोग तो साधारण स्मरण के अर्थ मे किया जाता है जैसे 'पाठ स्मरति'। परन्तु यदि स्मरण के साथ चिन्तन, उद्वेग या दु ख की कल्पना हो तब कर्म मे षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया जाता है। जैसे —मातु स्मरति कृष्ण मथुरायाम् अर्थात् कृष्ण गोकुल से आकर मथुरा मे निवास करते हुए अपनी माता यशोदा का दु ख के साथ स्मरण करते है। मेघदूत के इस श्लोक के 'भर्तु स्मरसि' मे 'भर्तु' शब्द मे प्रयुक्त षष्ठी विभक्ति इसी तथ्य की द्योतिका है कि यहाँ भर्ता का सामान्य स्मरण न होकर उद्वेग-सवलित स्मरण है।

दयाशंकर के पुत्र का नाम बापूभाई था। ये ही आनन्दशंकर ध्रुवजी के पिता थे। इन्होंने अधिक शिक्षा नहीं प्राप्त की थी। फिर भी अपने पिता तथा नागर ब्राह्मणों के गुणों से सम्पन्न थे। इन्होंने राजकोट के पोलिटिकल एजेण्ट के आफिस में एक साधारण क्लर्क की नौकरी स्वीकार कर ली थी। थोड़े ही दिनों में इनकी कार्य-कुशलता तथा ईमानदारी से प्रसन्न होकर इनके आफिसरों ने दफ्तरदार के पद पर इनकी उन्नति कर दी। सरकार ने इन्हें 'रावसाहिब' की पदवी भी प्रदान की थी। सरकारी नौकरी से अवकाश प्राप्त करने पर इन्होंने कुछ दिनों तक बड़ौदा स्टेट के नायब दीवान के पद पर भी काम किया। ये बड़े ही शिवभक्त थे। इन्होंने राजकोट में अपने कुलदेवता 'हाटकेश्वर' के मन्दिर का निर्माण भी किया था। इन्हीं पिताजी की सज्जनता, धार्मिकता तथा कर्तव्य-परायणता आदि गुणों का प्रभाव इनके पुत्र आनन्दशंकर पर प्रचुर परिमाण में पड़ा।

जन्म तथा शिक्षा

आनन्दशंकर ध्रुव का जन्म अहमदाबाद में २५ फरवरी सन् १८६६ ई० में हुआ था। यह संयोग की ही बात है कि इसी वर्ष पोरबन्दर में महात्मा गाँधी का भी जन्म हुआ जिनके जीवन से ध्रुवजी बहुत ही प्रभावित थे। ध्रुवजी का बाल्यकाल राजकोट और बड़ौदा में व्यतीत हुआ जहाँ इनके पिता सरकारी कर्मचारी थे। आनन्दशंकर अपने पिता के एकमात्र पुत्र थे। अतः इनका लालन-पालन बड़े ही प्रेम से हुआ।

लड़कपन में आनन्दशकर को घुड़सवारी का बड़ा शौक था। ये प्रतिदिन प्रातःकाल घोड़े पर चढ़कर घूमा करते थे। उसी समय इन्हें कण्ठ संगीत से भी प्रेम हो गया और इन्होंने संगीत का भी अभ्यास किया। इनकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण थी। ये एक प्रतिभा-सम्पन्न विद्यार्थी थे। हाईस्कूल परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् इन्होंने सन् १८९० ई० में बी० ए० तथा सन् १८९२ ई० में एम० ए० की परीक्षाओं में उच्च श्रेणी में सफलता प्राप्त की। इसके पश्चात् इन्होंने एल-एल० बी० की भी परीक्षा पास की।

कालेज में अध्ययन करते समय इनके गुरुओं में **श्री भास्कर शास्त्री** तथा **पं० रणछोड़ लाल शास्त्री** थे। इन्हीं दोनों गुरुओं ने इनके हृदय में संस्कृत-अध्ययन के प्रति प्रेम पैदा किया तथा संस्कृत का विद्वान् बनने की प्रेरणा दी। बाद में इन्होंने अहमदाबाद में ही प्रसिद्ध मैथिल विद्वान् पं० बच्चा झा से न्यायशास्त्र तथा वेदान्त का गहन अध्ययन किया तथा गुरु की कृपा से भारतीय दर्शन में गम्भीर वैदुष्य प्राप्त किया।

अध्यापन कार्य

सन् १८९२ ई० में एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् ध्रुवजी की नियुक्ति इसी वर्ष गवर्नमेण्ट कालेज अहमदाबाद में संस्कृत के प्राध्यापक के पद पर हो गयी। यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह सरकारी कालेज अत्यन्त विख्यात था और इसकी वही प्रतिष्ठा थी जो इलाहाबाद के म्योर सेण्ट्रल कालेज की उस समय में थी। यद्यपि इस कालेज में इनकी नियुक्ति मूलतः संस्कृत के प्राध्यापक के पद पर ही हुई थी, परन्तु ये दर्शनशास्त्र का भी अध्यापन किया करते थे। अतः सन् १९१६ में इनको वेदान्त के प्रोफेसर के सम्मानित पद पर प्रतिष्ठापित किया गया। ध्रुवजी अनेक वर्षों तक इस कालेज के प्रिन्सिपल के पद पर भी प्रतिष्ठित रहे और इस महान् उत्तरदायित्व के पद को इन्होंने बड़ी ही योग्यता से सँभाला। यह उल्लेखनीय है कि ब्रिटिशराज के उस उत्कर्षकाल में गवर्नमेण्ट कालेजों के प्रिन्सिपल सदा अंग्रेज ही लोग

हुआ करते थे । आनन्दशकर ध्रुव सर्वप्रथम भारतीय थे जिन्होने इस गवर्नमेण्ट कालेज के प्रिन्सिपल के पद को सुशोभित किया था । उन दिनो शिक्षाविभाग मे भी आई० सी० एस० के समान अखिलभारतीय शिक्षक पद होता था जिसे आई० ई० एस० (इडियन एजुकेशनल सर्विस) कहते थे । इस पद पर शिक्षाविभाग के उच्च अधिकारी ही नियुक्त किये जाते थे । अध्यक्ष पद पर काम करते समय ध्रुवजी की नियुक्ति इसी आई० ई० एस० ग्रेड मे हुई थी जो उन दिनो शिक्षाविभाग मे सर्वोच्च पद तथा ग्रेड समझा जाता था ।

ध्रुवजी ने गवर्नमेण्ट कालेज, अहमदाबाद मे सस्कृत के प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र (वेदान्त) के प्रोफेसर तथा प्रिन्सिपल के रूप मे सन् १८९२ ई० से लेकर सन् १९१९ ई० तक अर्थात् लगातार २७ (सत्ताईस) वर्षो तक अध्यापन तथा शासन का कार्य बडी योग्यता से सम्पन्न किया । ये सस्कृत तथा दर्शन के अतिरिक्त इस कालेज मे अग्रेजी साहित्य का भी अध्यापन कभी-कभी किया करते थे । काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे अग्रेजी विभाग के अध्यक्ष के अभाव मे इन्होने कुछ दिनो तक अग्रेजी साहित्य का भी अध्यापन किया था । टेनिसन और ब्राउनिग इनके प्रिय कवि थे । इन्होने इनके विषय मे अग्रेजी मे पुस्तके भी लिखी है जिससे इनके अग्रेजी साहित्य के प्रति गम्भीर अनुराग तथा विस्तृत अनुशीलन का पता चलता है । अग्रेजी साहित्य मे निष्णात होने के कारण ये अग्रेजी मे बहुत ही मधुर एव प्रभावशाली भाषण दिया करते थे । जिन लोगो को इनके भाषणो को सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है वे इनके अमिट प्रभाव को कभी भूल नही सकते ।

परिवार

ध्रुवजी का प्रथम विवाह तत्कालीन बाल विवाह प्रथा के अनुसार केवल १६ वर्ष की अवस्था मे हुआ था । प्रथम स्त्री से इन्हे एक पुत्री तथा पुत्र की उत्पत्ति हुई परन्तु ये दोनो ही अकाल मे ही काल-कवलित हो गये । कुछ दिनो के पश्चात् इन्होने दूसरा विवाह भी किया जिससे तीन पुत्रो तथा एक कन्या का जन्म हुआ । एक पुत्र एक वर्ष की आयु मे ही जाता रहा । इनके शेष दो पुत्रो के नाम ध्रुव भाई तथा प्रह्लाद भाई थे । ध्रुवजी के पुत्रो मे 'ध्रुव भाई' सबसे योग्य थे । इन्होने आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से अग्रेजी मे एम० ए० की उपाधि प्राप्त की थी । वहाँ से लौटने पर इनकी नियुक्ति गवर्नमेण्ट कालेज, अहमदाबाद मे ही अग्रेजी के प्रोफेसर के पद पर हुई । इस पद को इन्होने अनेक वर्षों तक सुशोभित किया । कुछ वर्षों के पश्चात् इन्होने अपने पिताजी की ही भाँति इस कालेज के प्रिन्सिपल के पद को भी अलकृत किया । इस प्रकार ये अपने योग्य पिता के सुयोग्य पुत्र सिद्ध हुए । आचार्य ध्रुवजी के पौत्र तथा ध्रुव भाई के पुत्र आजकल राजस्थान के एक विश्वविद्यालय मे प्रोफेसर के पद को सुशोभित कर रहे है । ध्रुवजी की पुत्री जुली बहिन का विवाह भूतपूर्व सौराष्ट्र स्टेट के तत्कालीन चीफ जस्टिस श्री एच० वी० दिवैतिया से हुआ था जो एक बहुत बड़े विधिवेत्ता तथा सुयोग्य न्यायाधीश थे ।

दार्शनिक व्युत्पत्ति

आचार्य आनन्दशकर ध्रुव भारतीय तथा पाश्चात्त्य दर्शन के प्रौढ़ विद्वान् थे । पाश्चात्त्य दर्शन का अध्ययन तो इन्होने अपने कालेज के गुरुजनो से किया परन्तु भारतीय दर्शन का अध्ययन प्राचीन परम्परा के द्वारा ही किया था । इस प्रसग मे ये मैथिल नैयायिक पण्डित बच्चा झा का नाम बड़े आदर तथा सत्कार के साथ लिया करते थे जिनसे उन्होने न्याय तथा वेदान्त

के चूडान्त ग्रन्थों का विधिवत् अध्ययन गुजरात में किया था। जैनदर्शन तथा बौद्धदर्शन के भी ये मर्मज्ञ विद्वान् थे। इन्होंने जैनदर्शन के विश्रुत ग्रन्थ **स्याद्वादमञ्जरी** का एक बड़ा ही विमर्शात्मक संस्करण 'बाम्बे संस्कृत सीरीज' में प्रकाशित किया था तथा विषम स्थलों पर अंग्रेजी में पाण्डित्यपूर्ण टिप्पणियाँ तथा मार्मिक आलोचना भी लिखी थी। हेमचन्द्र ने इस दार्शनिक ग्रन्थ में ब्राह्मण तथा बौद्धदर्शन का बड़ी दृढ़ता से खण्डन कर स्याद्वाद के जैन सिद्धान्त का मण्डन किया है। इस ग्रन्थ पर टिप्पणी लिखना टेढ़ी खीर है। भारतीय दर्शन के अन्तरंग से परिचित विद्वान् ही इन दार्शनिक टिप्पणियों के लिखने में न्याय कर सकता है और ध्रुवजी ने इसके सम्पादन तथा टिप्पणी-निर्माण में जैन दर्शन में अपने प्रौढ़ पाण्डित्य का प्रभूत परिचय दिया है।

इसी प्रकार आचार्य दिङ्नाग का **न्यायप्रवेश** बौद्ध न्याय का प्रमेयबहुल प्रमाण ग्रन्थ है। इसका तिब्बती अनुवाद तो उपलब्ध होता था, परन्तु सस्कृत मूल का पता नही था। संयोगवश जैन भंडारों से इसका हस्तलेख प्राप्त हुआ। ध्रुवजी ने उसी का भूमिका तथा टिप्पणियों से सवलित विमर्शात्मक सस्करण बडौदा के गायकवाड ओरियण्टल सीरीज में प्रकाशित कर, साधारणतया न्यायशास्त्र को, विशेषत बौद्धन्याय शास्त्र को, समझने में बड़ा लाभ पहुँचाया। ये दोनों ग्रन्थ इनके अवैदिक न्यायशास्त्र के पाण्डित्य के सूचक है। वैदिक न्याय के तो ये मूलतः पण्डित थे ही।

एम० ए० कक्षा मे ये हम लोगों को न्यायमुक्तावली बड़े ही अनुराग तथा परिश्रम से पढ़ाया करते थे। यहाँ भी ये तुलनात्मक पद्धति का उपयोग बड़ी मात्रा में किया करते थे। पाश्चात्त्य न्याय के तथ्यों से तुलना करने पर भारतीय न्याय के सिद्धान्तो का महत्त्व खिल उठता है और ध्रुवजी के अध्यापन की यही विशेषता रही। इनके अध्यापन का क्षितिज विस्तृत था। फलतः इनकी व्याख्या छात्रों के हृदय में सद्य प्रवेश कर जाती थी तथा उनकी दृष्टि विस्तृत, विशाल तथा पैनी हो जाती थी। न्याय जैसे नीरस विषय का इनका अध्यापन पर्याप्तरूपेण सरस तथा आकर्षक होता था।

विषय को रुचिकर तथा आकर्षक बनाने के लिए ये प्राचीन पद्यो का यत्र तत्र पुट देकर उसे सरल-सुबोध बना दिया करते थे। तम के द्रव्यत्व के विषय में नैयायिक तथा मीमांसक के विभिन्न मतों की सुबोध समीक्षा के अवसर पर यह समुचित पद्य सुनाकर ये छात्रों को प्रसन्न कर देते थे—

तमो द्रव्यं नैल्याद् घटवदिति माने समुदिते
यदीदं रूपि स्यात् कथमिह न भवेत् स्पार्शनगुणः।
इतीमं सत्तर्कं शिथिलयितुमन्तर्व्यवसिता
तमोवृन्दं धत्ते कचभरमिषादिन्दुवदना॥

'तम नीलरूप होने के कारण घट के समान द्रव्य है'—मीमांसक के इस तर्क पर नैयायिकों का आक्षेप है कि यदि तम रूपवान् होता, तो उसमें स्पर्श गुण का अस्तित्व अवश्यमेव रहता जैसे नीलघट मे वह रहता है। परन्तु तम का तो हम स्पर्श कर नही सकते। अतः उसे द्रव्य मानना नितान्त युक्तिहीन है (नैयायिक मत)। न्याय के इस शोभन तर्क को शिथिल बनाने के लिए ही प्रतीत होता है कि चन्द्रवदनी सुन्दरी आग्रहपूर्वक अपने सिर पर केशकलाप के व्याज से तम के समूह को ही धारण कर रही है। आशय है कि इन्दुवदनी के सिर पर

यह केशपाश नही है, तम का एक पुज ही है। यहाँ साहित्य के द्वारा दार्शनिक तथ्य की सपुष्टि बडी हृदयावर्जक है।

न्याय अनुमान के प्रसग मे **पञ्चावयव वाक्य** का प्रयोग करता है। यह वाक्य आज तो पाँच अवयवो मे विभक्त होकर विराजमान है, परन्तु प्राचीन काल मे इसके तीन ही अवयव होते थे। ऐसे ही अनुमानवाक्य का प्रयोग पाश्चात्त्य लाजिक मे भी किया जाता है जहाँ वह 'सिलाजिज्म' के नाम से प्रख्यात है। यूनानी तार्किक अरस्तू ने 'सिलाजिज्म' के रूप तथा प्रकार का बडा विशद निरूपण किया है। आचार्य ध्रुव गौतम के पञ्चावयव वाक्य की तुलना अरस्तू के सिलाजिज्म के साथ बडी मार्मिकता से कर दोना विचारधाराओं के पारस्परिक भेद का स्वरूप अभिव्यक्त करते थे। इससे छात्रा का बडा लाभ होता, उनकी सकुचित दृष्टि विस्तृत हो जाती तथा उनके ज्ञान मे एक नया मोड उपस्थित हो जाता। आचार्य ध्रुव की अध्यापन-शैली का मेरुदण्ड था यही तुलनात्मक विवेचन, भारतीय तथा पाश्चात्त्य दार्शनिक विचारो के साम्य वैषम्य का विश्लेषण। अखिलभारतीय दर्शनकाग्रेस के अध्यक्षीय भाषण मे ध्रुवजी ने कान्ताचार्य (कैन्ट) तथा शङ्कराचार्य के विचारो मे साम्य वाले अनेक मार्मिक स्थलो का निर्देश तथा दोनो के उदात्त तथ्यो का तौलनिक विश्लेषण किया था। **श्रीभाष्य** का उनका गुजराती अनुवाद आज भी प्रामाणिक एव उपादेय माना जाता है।

ध्रुवजी नाना विषयो के ज्ञाता विश्रुत विद्वान् थे। कला, विज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि विषयो की इन्हे अच्छी जानकारी थी और इन विविध विषयो मे इनकी पैनी दृष्टि तथा परिनिष्ठित ज्ञान का परिचय अध्यक्षीय भाषणो मे मिला करता था। विश्वविद्यालय का वरिष्ठ अधिकारी होने के नाते आगन्तुक विद्वानो के भाषणो के अवसर पर इन्ही को अध्यक्ष बनना पडता था तथा समापन-भाषण मे ये वक्ता के तथ्यो पर अपनी मार्मिक टिप्पणी (रिमार्क) बिना दिये न रहते थे। इससे प्राचीन शास्त्रो मे इनके व्यापक पाण्डित्य एव नाना आधुनिक शास्त्रो मे इनका अन्तरग प्रवेश श्रोताओं के चमत्कार एव आह्लाद का विषय बनता था। वक्ता के कथन की आलोचना मे भारतीय दृष्टिकोण से ध्रुवजी कुछ न कुछ नई बाते अवश्य कहते थे। यह इनका चमत्कारी गुण था जो श्रोताओं को आकृष्ट करता तथा विमुग्ध कर देता था। तथ्य तो यह है कि ये वक्ता न होकर वाग्मी थे। 'वक्ता' तथा 'वाग्मी' का अन्तर अग्रेजी के 'स्पीकर' तथा 'ओरेटर' के समान ही समझना चाहिए। वक्ता व्याख्यानों में अपने अभिप्रायमात्र का द्योतन कर देता है, परन्तु वाग्मी अपने भाषणो द्वारा श्रोताओं के ऊपर छा जाता है एव उन्हे अपने मत का पक्षधर बना डालता है। शास्त्रो ने तो **वाग्मी भवति वा न वा** कहकर विद्वत्समाज मे वाग्मी के अस्तित्व को विरल ही अगीकार किया है।

ध्रुवजी की वाग्मिता

आचार्य ध्रुवजी वाग्मी थे। सस्कृत, अग्रेजी, गुजराती, हिन्दी आदि भाषाओं के पण्डित होने से इनके व्याख्यान बडे ही रोचक एव प्रभावशाली होते थे। एक-दो प्रसगो की चर्चा करना ही पर्याप्त होगा। एक समय ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के इतिहास के प्रसिद्ध अध्यापक डॉ० इर्विन ने विश्वविद्यालय के केन्द्रीय हाल मे व्याख्यान दिया। व्याख्यान का विषय था 'विभिन्न सभ्यताओं की एकता'। इस विषय के वे विशेष अनुशीली विद्वान् थे और यूनिटी सीरीज नामक ग्रन्थमाला का प्रवर्तन कर अनेक मूल्यवान् ग्रन्थो के रचयिता एव सम्पादक भी थे। उन्होने अपना तैयार किया भाषण किया, परन्तु अपनी मातृभाषा अग्रेजी में बोलने पर भी वे अपने मन्तव्यों का स्पष्ट प्रतिपादन न कर सके और उत्सुक श्रोताओं के पल्ले उनके भाषण

का कोई भी हिस्सा न पडा। ध्रुवजी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में प्रथमतः तो अपने सुचिन्तित शब्दो में उनके कथन का स्वरूप श्रोताओं के सामने इतनी सुन्दरता से प्रकट कर दिया कि वे इर्विन साहब के मन्तव्यो को भली भाँति समझ गये। अनन्तर उन्होने भारतीय दृष्टिकोण से उसकी आलोचना भी की। उनके केवल एक ही भाषण से श्रोताओं को उनके सस्कृति-विषयक अनुशीलन तथा भारतीय शास्त्रो के मर्म समझने की कला से तुरन्त अवगति हो गई। अग्रेजी में इनका भाषण उतना मार्मिक एव विस्पष्ट था ही।

एक अन्य घटना का सस्मरण कम रोचक नही है। आचार्य ध्रुवजी के एक पुराने गुजराती छात्र मिस्टर देसाई विलायत से आई० सी० एस० की परीक्षा पास कर उत्तरप्रदेश के शासनाधिकारी नियुक्त थे। उस समय बाँदा मे कलक्टर थे और उनका बडा आग्रह था अपने पुराने गुरु को अपने यहाँ बुलाकर सम्मानित करने का। शिष्य के तीव्र आग्रह को गुरु टाल भी नही सका। ये वहाँ जाने के लिए राजी हो गये, परन्तु अकेले नही, अपितु अपने मित्र एव विश्वविद्यालय मे माइनिग कालेज के अध्यक्ष डॉ० गान्धी के साथ। जब ये दोनो सज्जन बाँदा स्टेशन पर पहुँचे, तब वहाँ एकत्र विशाल जनसमूह को देखकर अवाक् रह गये। बात यह हुई कि किसी तरह से महात्मा गान्धी के दर्शन के लिए लालायित स्थानीय जनता मे यह बात फैल गई कि गान्धीजी आज बाँदा आ रहे है। फिर क्या था? जनता की अपार भीड, तिल रखने की जगह नही। स्टेशन पर गाडी पहुँची। कलक्टर मिस्टर देसाई ने अपने विशिष्ट अतिथियो के कम्पार्टमेन्ट मे जाकर विषम स्थिति का परिचय दिया। जनता को महात्माजी के आगमन का निषेध कितना भी किया जाता, वह मानने के लिए तथा स्टेशन से हटने के लिए तैयार नही थी। हिन्दूविश्वविद्यालय के इजीनियर गान्धी तो कॉपने लगे कि इतनी जनता का मै सामना कैसे कर सकूँगा। आचार्य ध्रुवजी ने स्थिति सँभाली। स्टेशन के प्लेटफार्म पर ही एक बडे टेबुल पर खडे होकर भाषण करना शुरू किया—"सज्जनो, मै आप लोगो के महात्मा गान्धीजी के प्रति गाढ अनुराग और सादर भावना को देखकर नितान्त प्रसन्न हूँ। मेरे साथी गान्धी-इजीनियर गान्धी है, महात्मा गान्धी नही। ये गान्धी-वश से सम्बन्ध अवश्य रखते है परन्तु महात्माजी नही है।" इसके अनन्तर महात्माजी के उपदेशो को सरल सुबोध हिन्दी मे ध्रुवजी ने इतनी सुन्दरता से प्रकट किया कि जनता ने सन्तोष की सॉस ली। उसने एकाग्रचित्त से इनके भाषण को सुना और तृप्त होकर घर चली गई। आचार्य ध्रुव के भाषण का बडा ही सुखद परिणाम हुआ। ऐसी थी वाग्मिता आचार्य ध्रुव की। विशाल भीड़ को- विस्तृत जन समूह को—अपने मधुर भाषणो से तृप्त कर अपने वश मे कर लेना उनके बाये हाथ का खेल ही तो था।

हिन्दू विश्वविद्यालय में आचार्य ध्रुव

ऊपर कहा गया है कि आचार्य ध्रुवजी को महात्मा गान्धीजी की सस्तुति पर महामना मालवीयजी ने हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रिन्सिपल पद पर प्रतिष्ठित किया था (१९१९ ईस्वी) जहाँ ये अपनी कार्यकुशलता तथा अनुशासन-प्रियता के कारण विश्वविद्यालय के अनेक महत्त्वपूर्ण एव उत्तरदायित्व-सम्पन्न पदो पर रहते हुए उसकी अभिवृद्धि मे अपनी अविस्मरणीय छाप छोड गये है। सस्कृतविभाग के अध्यक्ष होने के अतिरिक्त ये आर्ट्स कालेज, साइन्स कालेज तथा ला कालेज के प्रिन्सिपल भी थे।

महामना मालवीयजी विश्वविद्यालय के कुलपति अवश्य थे, परन्तु देश के राजनीतिक एव सामाजिक कार्यों मे व्यस्तता के कारण उन्हें विश्वविद्यालय के दैनन्दिन शासन के संचालन

का अवकाश बहुत ही कम मिलता था। अत उन्होने प्रो-वाइस-चान्सलर के एक नये पद का निर्माण कर इस महान् शिक्षासस्था के सचालन तथा शासन का समस्त भार ध्रुवजी को ही प्रदान कर दिया। इस प्रकार ध्रुवजी प्रो वाइस-चान्सलर के पद पर कार्य करते हुए भी वास्तविक रूप मे वाइस चान्सलर थे। मालवीयजी ने जैसा गम्भीर विद्वान् तथा सुयोग्य शासक महात्मा गाँधी से माँगा था, ध्रुवजी ठीक उसी के अनुरूप योग्य तथा उपयुक्त सिद्ध हुए।

ध्रुवजी ने सन् १६१६ ई० से लेकर सन् १६३६ ई० तक अर्थात् लगातार १७ (सत्रह) वर्षो तक विश्वविद्यालय का सचालन सम्यक् रूप से योग्यतापूर्वक किया। इनके शासनकाल मे इन सुदीर्घ १७ सालो तक न तो छात्रो की कोई हडताल हुई और न छात्र-आन्दोलन का ही कही पता था। इन पक्तियो का लेखक— जिसे ध्रुवजी के साथ सस्कृत विभाग मे अध्यापन करने का भी सौभाग्य प्राप्त है दावे के साथ कह सकता है कि जो शान्ति, सुव्यवस्था तथा अनुशासन उस समय विद्यमान थे उनका दर्शन फिर कभी नही हुआ। सन् १६३६ ई० मे ध्रुवजी ने हिन्दू विश्वविद्यालय से अवकाश प्राप्त किया। उसके बाद कितने ही प्रिसिपल तथा सस्कृत विभागाध्यक्ष आये, परन्तु जो प्रशान्त शैक्षणिक वातावरण ध्रुवजी के समय मे था वह फिर कभी दिखाई नही पडा।

सफल शासक

अपने मधुर एव कोमल स्वभाव के कारण ही ध्रुवजी एक सफल शासक सिद्ध हुए। इनके मुखमण्डल पर सर्वदा शान्ति विराजती थी। अधरो पर स्मित की रेखा सदा उल्लास बिखेरती दीखती थी। कोप की लालिमा इनके चेहरे को विकृत करती हुई नही देखी गयी। फलत इनकी सौजन्य मुद्रा के सामने सेवको तथा अध्यापको के पारस्परिक कलह तथा वैमनस्य स्वत शान्त हो जाया करते थे। ये अकेले ही पाँच पदो को सुशोभित करते थे—सस्कृत विभाग का अध्यक्ष, आर्ट्स कालेज, साइन्स कालेज तथा ला कालेज— इन तीन महाविद्यालयो के प्रिन्सिपल, तथा उपकुलपति इन पाँचो पदो को ये एक साथ बडी मर्यादा तथा शालीनता के साथ सुशोभित किया करते थे। ये अजातशत्रु थे। युवावर्ग इनका उतना ही गुण ग्राहक था, जितना वृद्धवर्ग इनका प्रशसक था।

सम्मान तथा उपाधि

हिन्दू विश्वविद्यालय से अवकाश प्राप्त करने के पश्चात् ध्रुवजी अहमदाबाद जाकर सामाजिक कार्यो मे अपना समय लगाने लगे। सस्कृत का अध्यापन कार्य करते हुए इन्होने अपनी मातृभाषा गुजराती की भी प्रचुर सेवा की। सन् १६२० ई० मे 'गुजराती साहित्य परिषद्' के स्वागताध्यक्ष तथा सन् १६२८ ई० मे इसी सम्मेलन के नडियाद अधिवेशन के सभापति थे। सन् १६३० ई० मे इन्होने इण्टर यूनिवर्सिटी बोर्ड के चेयरमेन (अध्यक्ष) के पद को सुशोभित किया था। हिन्दू विश्वविद्यालय ने सुदीर्घ काल तक इनकी सेवाओं तथा अलौकिक विद्वत्ता के फलस्वरूप इन्हे डी० लिट्० की सनद उपाधि से सम्मानित किया था। डॉ० कन्हैयालाल मुन्शी ने अपनी सस्था भारतीय विद्याभवन, बम्बई से इनकी तलस्पर्शिनी वैदुषी के उपलक्ष्य मे इनके सम्मान मे 'अभिनन्दन ग्रन्थ' प्रकाशित किया था। बम्बई विश्वविद्यालय ने 'विलसन फाइलोलाजिकल लेक्चर्स' देने के लिए इन्हे आमन्त्रित कर इनको आदर प्रदान किया था। आपने 'इण्डियन फिलोसोफी काग्रेस' के अध्यक्ष पद को भी सुशोभित किया। आप 'गुजरात वर्नाक्युलर सोसाइटी' के अनेक वर्षो तक अध्यक्ष भी थे। इस प्रकार ध्रुवजी

ने अनेक विद्वत्-परिषदो की अध्यक्षता की। अनेक विश्वविद्यालयो ने इस 'पौरस्त्य तथा पाश्चात्त्य विद्या के अन्तिम सेतु' को उपाधियो से अलकृत कर अपने को ही गौरवान्वित करने का प्रयास किया।

ग्रन्थ-रचना

ध्रुवजी सस्कृतसाहित्य तथा दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे। वैदिक दर्शनो के साथ ही इन्होने अवैदिक दर्शनो का भी सम्यक् आलोडन किया था। इसके अतिरिक्त ये अग्रेजी साहित्य के भी गभीर मनीषी थे। इन्होने अग्रेजी साहित्य का तलस्पर्शी अध्ययन के साथ ही अध्यापन भी किया था। अत सस्कृत के ही समान इनका अग्रेजी भाषा पर भी समान अधिकार था। परन्तु ये जितने अधिक अगाध विद्वान् थे उतनी मात्रा मे इन्होने ग्रन्थो की रचना नही की। इसका कारण शासन कार्य मे निरत होने से समय का अभाव ही कहा जा सकता है। इनके ग्रन्थो की सूची नीचे दी जाती है—

(क) गुजराती ग्रन्थ : (१) आपणो धर्म, (२) हिन्दू वेद-धर्म, (३) धर्मवर्णन, (४) नीतिशिक्षण, (५) हिन्दू धर्मनी बालपोथी, (६) काव्यतत्त्वविचार, (७) साहित्य-विचार, (८) दिग्दर्शन और (९) विचारमाधुरी।

(ख) अंग्रेजी में लिखित ग्रन्थ : (१) टेनिसन एण्ड ब्राउनिंग, (२) काण्ट एण्ड टेनिसन।

(ग) सम्पादित ग्रन्थ : इन्होने सस्कृत के दो ग्रन्थो का सम्पादन बडी विद्वत्ता के साथ किया है

(१) स्याद्वादमंजरी—यह जैनदर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है।

(२) न्यायप्रवेश—दिङ्नाग का यह बौद्धदार्शनिक ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसका विद्वत्तापूर्ण प्रथम सम्पादन ध्रुवजी ने किया है जो 'ओरिएन्टल सस्कृत सीरीज', बडौदा से प्रकाशित हुआ है।

इन दोनो की लेखनशैली दुरूह तथा समझने मे कठिन है, सरलतया बोधगम्य नही है। आचार्य ध्रुव ने इनके ऊपर बडी विशद तथा प्रमेयबहुल टिप्पणियाँ लिखकर इन्हे बोधगम्य बनाया है। ध्रुवजी तुलनात्मक शैली से भारतीय दर्शन के अध्ययन अध्यापन के पक्षपाती थे। पूर्वी दर्शन के सिद्धान्तो का पश्चिमी दर्शन से तत्सम्बद्ध तथ्यो के साथ तुलना कर दोनो का तारतम्य बतलाना इनकी शैली की विशिष्टता थी। न्यायप्रवेश तिब्बती अनुवाद मे उपलब्ध होने पर भी मूल सस्कृत मे अनुपलब्ध था। इस दुरूह ग्रन्थ के एकमात्र प्राचीन उपलब्ध हस्तलेख से सुव्यवस्थित सस्करण निकालना ध्रुवजी के पाण्डित्य का प्रकर्ष है। टिप्पणियाँ सर्वत्र तात्त्विक वैशद्य तथा गाम्भीर्य से सवलित तथा तुलनात्मक है। स्याद्वादमजरी की टिप्पणियो का भी यही वैशिष्ट्य है।

हिन्दी-ग्रन्थों की रचना

आचार्य आनन्दशकर ध्रुवजी हिन्दूधर्म-शास्त्र के बड़े विज्ञ जानकार थे। सनातनधर्म एव नीति के तत्त्वो की व्याख्या ये इतने सरल-सुबोध ढग से करते थे कि श्रोताओं के हृदय मे वह गम्भीर विषय सद्य प्रद्योतित हो उठता था। इनकी धारणा थी कि भारतीय धर्म एव

नीति की शिक्षा बाल्यावस्था में ही देनी चाहिए। इस विषय में ये हितोपदेश के रचयिता के इस श्लोक की सराहना करते थे—

यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत् ।
कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते ॥

कच्चे घड़े में लगा हुआ संस्कार (रंग से रँगना आदि) अन्यथा नहीं होता, वह घड़े के जीवनभर उसके साथ बना ही रहता है। इसी प्रकार बालकों को कथा के व्याज से जो नीति उपदिष्ट होती है वह उनके हृदय में बैठ जाती है और यावज्जीवन उनके जीवन का अविभाज्य अंग बन जाती है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन्होंने बड़ौदा राज्य के स्कूली छात्रों के पाठ्यरूप में **नीतिरत्नमाला** तथा **हिन्दूधर्म की बालपोथी** नामक दो छोटी, परन्तु नितान्त रोचक एवं उपादेय पुस्तकों का प्रणयन बड़ौदानरेश सयाजीराव गायकवाड की आज्ञा से किया था। मूलतः ये ग्रन्थ गुजराती मे थे, परन्तु काशी हिन्दूविश्वविद्यालय में आने पर इन्होंने इनका सुबोध हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित किया। इन दोनो ग्रन्थो मे कथाशैली का उपयोग कर धर्म-शिक्षा दी गई है। यह शैली इतनी सुन्दर एवं रोचक है कि बालकों के साथ ही उनके अभिभावको—माता-पिताओं—को भी धर्म तथा नीति के तत्त्वो का सद्यः परिचय मिल जाता है। इस दृष्टि से ये दोनों ही ग्रन्थ अनमोल तथा अनूठे है। **नीतिरत्नमाला**[१] में कथाओं का विश्व के [illegible] धार्मिक ग्रन्थो से बड़े ऊहापोह के साथ चयन किया गया है। **हिन्दू धर्म की बालपोथी**[२] मे उपनिषद्, महाभारत, रामायण आदि मान्य ग्रन्थों से सगृहीत आख्यानों के द्वारा वैदिकधर्म के मूल सिद्धान्तों का सक्षिप्त, किन्तु प्रामाणिक विवेचन किया गया है। फलतः ये दोनो ग्रन्थ बालकों के संग वयस्कों के लिए एव युवकों के साथ वृद्धों के लिए भी उपादेय तथा सग्रहणीय है।

शिवपूजा : अग्निपूजा की परिणति

आचार्य ध्रुव का धार्मिक साहित्य का अनुशीलन बड़ा गम्भीर था। वैदिक धर्म के तो ये मार्मिक मीमासक थे। ये पौराणिक देवताओं को कही बाहर से आयातित न मानकर वैदिक देवों का ही विकसित स्वरूप मानते थे। विष्णु तो वेद में भी सौर देवों में अन्यतम है। फलतः पौराणिक विष्णु को सूर्य का प्रतिनिधि मानना कथमपि असगत नही है। परन्तु शिव के विषय में विभिन्न मान्यताएँ है। पाश्चात्त्य वैदिकों का तथा उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों का भी यही मत है कि शिव आर्यो के देवता न होकर द्रविड़ों के मूल देवता हैं और आर्यो ने उन्हें द्रविड़ों से ही लेकर पौराणिक देवमण्डल में सम्मिलित कर लिया। ध्रुवजी इस सिद्धान्त के कट्टर विरोधी थे। इनका मत है कि वेदों की अग्निपूजा ही पुराणों में शिवपूजा के रूप में विकसित होकर विराजमान है। इनका सक्षिप्त सूत्रात्मक कथन है[३]—"वेद के समय की अग्निपूजा आजकल शिवपूजा में परिणत हो गई है। अग्नि की वेदी जलाधारी है। अग्नि की ज्वाला शिवलिङ्ग है। ज्वाला के अन्तर्गत धुआँ शिव की जटा है। अग्नि में होम करने की घी की धार शिवलिङ्ग पर जल का अभिषेक है और अग्नि को ही 'महान् देव' कह कर वृषभ की

१. 'नीतिरत्नमाला' (२ भाग) का प्रकाशन लखनऊ से हुआ था।

२. इसका प्रकाशन ज्ञानमण्डल, वाराणसी से १६२२ ईस्वी में हुआ था। दोनों ग्रन्थों का गुजराती से हिन्दी में अनुवाद किया था प्रोफेसर गङ्गाप्रसाद मेहता ने जो हिन्दू विश्वविद्यालय के इतिहास के प्राध्यापक तथा अनन्तर वहीं रजिस्ट्रार पद पर नियुक्त थे।

३ द्रष्टव्य आचार्य ध्रुव—'हिन्दू धर्म की बालपोथी', पृष्ठ ६६-६७ (प्रकाशक—ज्ञान-मण्डल, वाराणसी, १६०६ वि० सं० =१६२२ ई०)।

उपमा दी गई है जिसके कारण महादेव के सामने वृषभ रूप मे नन्दी की स्थापना की जाती है। लोग शिवजी के प्रसादरूप भस्म को लगाते है जो अग्नि के द्वारा उत्पन्न द्रव्य है। इस प्रकार अग्नि की पूजा के स्थान पर शिवजी की पूजा का आरम्भ हुआ। शिवपूजा अग्निपूजा का ही रूपान्तर है।"

ध्रुवजी की इस मान्यता के पोषक वैदिक प्रमाणो की कमी नही है। शिव तथा रुद्र की एकता पूर्व सकेत के ऊपर ही आश्रित है। अग्नि के वस्तुत दो रूप होते है— घोरा तनु और अघोरा तनु। ससार का सहार करने वाला घोरतनु अग्नि तो 'रुद्र' का प्रतीक है और ससार के पालनकर्ता अग्नि का अघोर तनु कल्याणकारी शिव रूप है।

अग्नि को शतपथब्राह्मण अशनिरूप मानता है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्रलय मे ही सृष्टि के बीज निहित रहते है तथा सहार मे भी उत्पत्ति का निदान अन्तर्हित रहता है। फलत अग्नि की घोरा तनु का भी उपयोग है जगत् के मगल के लिए। इसीलिए कालिदास को अग्नि की सहारकारिणी शक्ति मे भी उपादेयता दीख पडती है। उनका स्पष्ट कथन है—

शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम्।
कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो बीजप्ररोह-जननी ज्वलन. करोति॥[1]

रघुवश का यह प्रसग राजा दशरथ को अन्ध मुनि के शाप का है। राजा का कहना है—हे मुनि, मुझे आज तक पुत्र के मुख कमल के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त नही है। आपने पुत्र के शोक मे मरने का जो शाप दिया, उसे मै वरदान ही मानता हूँ। जगल की लकडी की आग एक बार कृषियोग्य पृथ्वी को भले जला दे किन्तु वह पृथ्वी को इतनी उपजाऊ बना देती है कि आगे उसमे बडी अच्छी उपज होती है। फलत दाहिका आग भी पोषिका आग सिद्ध होती है।

इस प्रकार पौराणिक शिवपूजा को वैदिक अग्निपूजा की परिणति मानना सर्वथा समुचित है।[2]

ध्रुवजी का व्यक्तित्व

ध्रुवजी का व्यक्तित्व बडा ही भव्य तथा दिव्य था। बाल्यावस्था मे इन्हे घुडसवारी का शौक था और सगीत से प्रगाढ़ प्रेम था। इनके गौर वर्ण, उन्नत ललाट और स्मितपूर्वाभिभाषण का दर्शको पर बडा प्रभाव पडता था। श्वेत वस्त्र से इन्हे विशेष अनुराग था। खद्दर का लम्बा सफेद कोट, महीन श्वेत धोती, सिर पर लाल गुजराती पगडी और पैरो मे सुन्दर चप्पल, यही इनकी आकर्षक वेशभूषा थी। इनकी आँखे हीरे के समान चमकती थी और मुखाकृति अत्यन्त कान्तिमान् थी। ये बडे ही मधुरभाषी थे और शासक होते हुए भी किसी के दिल को दुखाना नही जानते थे।[3]

ध्रुवजी सस्कृतसाहित्य तथा दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनकी पैनी बुद्धि शास्त्र के तत्त्व के भेदन मे बडी कुशल थी। किसी शास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन तथा अध्यापन इनकी वैदुषी की विशेषता थी। इन्होने जैन तथा बौद्ध दर्शन के जिन चूडान्त ग्रन्थो का

१ रघुवश, नवम सर्ग, ८०वाँ श्लोक।

२ द्रष्टव्य, बलदेव उपाध्याय—भारतीय धर्म और दर्शन, (पृ० ५५-५८ चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, १९७८ ई०)।

३ डॉ० ध्रुव के आरम्भिक जीवनचरित को लिखने मे प्रो० पुष्कर चन्द्रावरकर के द्वारा प्रदत्त सामग्री से बड़ी सहायता ली गई है। अत लेखक प्रो० चन्द्रावरकर का इसके लिए अत्यन्त आभारी है।

सम्पादन किया है उससे इनके प्रकाण्ड पाण्डित्य का पता चलता है। संस्कृतसाहित्य तथा भारतीय दर्शनों के प्राचीन परम्परा के अनुसार स्वाध्याय के साथ ही ये पाश्चात्त्य दर्शन के भी गम्भीर विद्वान् थे। गुजरात में प्राचीन संस्कृत-पाण्डित्य तथा नवीन पाश्चात्त्य ऐतिहासिक गवेषणात्मक पद्धति से सम्पन्न विद्वानों की एक श्लाघनीय परम्परा रही है। आचार्य आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव इसी परम्परा की अन्तिम कड़ी थे। इसीलिए कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शीजी ने ध्रुवजी को 'प्राच्य विद्या तथा पाश्चात्त्य विद्या का सम्मेलन कराने वाले सेतु' की जो उपाधि प्रदान की है, वह सर्वथा यथार्थ तथा अभिनन्दनीय है। ये वास्तव में ऐसे थे ही। इसलिए इतने दिनों का अन्तराल होने पर भी इनके श्रद्धालु छात्रों के हृदय में इनकी सौम्यमूर्ति अपने पूर्ण वैभव के साथ आज भी विराजमान है।

आचार्य ध्रुव के शिष्यों की एक लम्बी परम्परा है। यहाँ केवल चार प्रधान शिष्यों का सक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

(१) **डॉ० हरदत्त शर्मा**—मेरठ शहर के निवासी हरदत्त शर्मा ने साहित्य विषय लेकर प्रथम श्रेणी में एम० ए० पास किया था। बड़ी ही तीक्ष्ण बुद्धि के चलतेपुर्जे व्यक्ति थे। 'चेकोस्लोवाकिया' के प्रांग विश्वविद्यालय से प्रख्यात जर्मन संस्कृतज्ञ डॉ० विन्टरनित्स की अध्यक्षता में डाक्टरेट की डिग्री प्राप्त की थी। रामजस कालेज (दिल्ली), सनातनधर्म कालेज (कानपुर) तथा हिन्दू कालेज (दिल्ली) में इन्होंने क्रमशः अध्यापन कार्य किया था। अनेक शोधनिबन्धों के द्वारा इन्होंने अपनी अध्ययनशीलता तथा विद्वत्ता का परिचय दिया था। 'कालिदास एण्ड पद्मपुराण' नामक शोधमूलक ग्रन्थ में इन्होंने कालिदास को पद्मपुराण के आधार पर अपने प्रख्यात नाटकों के निर्माण का हेतु प्रकट किया है। इनके सम्पादित ग्रन्थों में जयमगला टीका के साथ **सांख्यकारिका, कवीन्द्रचन्द्रोदय** (पूना) तथा **सदुक्तिकर्णामृत** (मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर) मुख्य हैं। अल्पायु में निधन हो गया। फलतः ये अपनी प्रतिभा का पूरा प्रकाश रचनाओं द्वारा नहीं कर सके।

(२) **पण्डित चिम्मनलाल गोस्वामी**—बीकानेर (राजपूताने) के निवासी पण्डित चिम्मनलालजी बड़े ही सुबुद्ध, आचार सम्पन्न विद्वान् थे जिन्होंने बीकानेर राज्य के समुन्नत शासनपद को छोड़कर सनातनधर्म की अकृत्रिम सेवा करना अपने जीवन का उदात्त लक्ष्य बनाया। विख्यात धार्मिक पत्र 'कल्याण' (गोरखपुर) को इन्होंने अपनी अमूल्य सेवाएँ समर्पित कर दीं। १९२२ ई० में न्यायदर्शन में विशेष योग्यता के साथ इन्होंने संस्कृत में एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की। वल्लभाचार्य के वंशज तथा श्रद्धालु अनुयायी होने से इनमें संगीत का मार्मिक ज्ञान, सनातनधर्म के प्रति अटूट श्रद्धा तथा धर्म-प्रचार का नैसर्गिक अनुराग कूट-कूट कर भरा था। 'कल्याण' के संस्थापक एव सम्पादक श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार के आग्रह पर बीकानेर दरबार का उन्नत पद छोड़कर 'कल्याण' की सेवा करने ये आ गये। 'कल्याणकल्पतरु' के सम्पादक के रूप में गोस्वामीजी ने वैदिक धर्म तथा संस्कृत साहित्य की चिरस्मरणीय सेवा की है। अंग्रेजी तथा सस्कृत दोनों के मर्मज्ञ विद्वान् होने से संस्कृतग्रन्थों का इनका अंग्रेजी अनुवाद बड़ा ही सुन्दर, प्रामाणिक तथा आवर्जक है। 'वाल्मीकीय रामायण', 'श्रीमद्भागवत' तथा 'रामचरितमानस' के गीताप्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित अंग्रेजी अनुवाद अपनी शुद्धता तथा प्रामाणिकता के लिए सन्तत स्मरणीय रहेंगे। ये इन ग्रन्थों के मानक अनुवाद हैं। चार-पाँच वर्ष पूर्व इनका निधन हो गया है।

(३) **पण्डित सत्यांशुमोहन मुखोपाध्याय**—वाराणसी के विंशशताब्दी के विद्वज्जनों

मे दिवगत श्री सत्याशुमोहन मुखोपाध्याय का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। वे सस्कृत के उच्चकोटि के विद्वान् होने के साथ-साथ पालि, प्राकृत, बगाली, हिन्दी, उर्दू, जर्मन इत्यादि भाषाओं तथा साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे। केवल यही नही, वे प्राच्य और पाश्चात्य दर्शन के प्रगाढ़ पण्डित, प्रसिद्ध प्राच्यविद्याविशारद, प्रख्यात शिक्षाशास्त्री एव उपर्युक्त सस्कृत-पालि इत्यादि भाषाओं के व्याकरण मे भलीभाँति निष्णात थे।

उनके परम भागवत पिता दिवगत **श्री ललितमोहन** बगाल (अधुना बाँगला देश) के जैसोर जिले के एक प्रख्यात सस्कृतज्ञ तथा सस्कृत अध्ययन अध्यापन निरत पण्डितकुल मे उत्पन्न हुए थे। ललित बाबू काशी के सस्कृत अग्रेजी, हिन्दी, बँगला, उर्दू के विद्वानो मे मूर्धन्य तो थे ही, वैष्णव साहित्य और उसका शिरोमणि श्रीमद्भागवत उनके नखाग्र मे था। ज्ञान, कर्म और भक्ति का अपूर्व समन्वय उनके जीवन मे हुआ था और इन सभी का सम्पूर्ण दाय पुत्र सत्याशुमोहन मे आ गया था। जीवन के अन्त तक अध्ययन करते रहना, भिन्न भिन्न शास्त्रो का रसास्वादन करते रहना भी सत्याशुमोहन ने पिता मे ही सीखा था।

इन्होने १९२२ ई० मे दर्शनशास्त्र को लेकर काशी विश्वविद्यालय से एम० ए० परीक्षा पास की और परीक्षार्थियो मे आपका स्थान सर्वोच्च रहा। इस समय ये (उत्तरकाल मे महामहोपाध्याय और पद्मविभूषण) पण्डित गोपीनाथ कविराजजी के व्यक्तिगत सम्पर्क मे आये और उनसे न्यायवैशेषिक दर्शन, भाषातत्त्व तथा पालिभाषा एव साहित्य का अध्ययन किया। इसके अनन्तर भिक्षु अनागारिक धर्मपाल और धर्मश्री से भी इन्होने पालि का अध्ययन किया। १९२३ मे इन्होने एल० टी० की परीक्षा भी, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय से पास की। ये काशी के गवर्नमेण्ट सस्कृतकालेज के साधोलाल स्कॉलर भी रहे।

सन् १९२४ मे ये प्राध्यापक नियुक्त हुए। दूसरे वर्ष ये दिल्ली के रामजस कालेज मे प्राध्यापक पद प्राप्त करके चले गये एव १९२८ मे कानपुर के सनातनधर्म कालेज मे प्राध्यापक नियुक्त हुए। इन सस्थाओं मे अत्यन्त सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त करने पर भी काशी नगरी इनको निरन्तर अपनी ओर आकृष्ट करती रहती थी, जिसके परिणाम स्वरूप ये कानपुर छोडकर काशीस्थ गवर्नमेण्ट सस्कृतकॉलेज के 'सरस्वतीभवन' लाइब्रेरी मे लाइब्रेरियन बने। इसके पहले ही सन् १९३० मे ये सस्कृत मे एम० ए० पास कर चुके थे।

चाहे अध्यापन करे, चाहे लाइब्रेरियन पद का दायित्व सँभाले, सभी स्थितियो मे इन्होने अधिकारियो की तथा अन्य विद्वज्जनो की प्रशसा अर्जित की। लाइब्रेरियन रहते समय इन्होने ग्रन्थो की तरह-तरह से सेवा करके वाणी की अद्भुत पूजा की। उच्चकोटि के विद्वान् तो ये थे ही किन्तु इस समय ग्रन्थ सरक्षण तथा ग्रन्थागार-विषयक ज्ञान इन्होने पूर्णरूपेण प्राप्त किया। ग्रन्थो पर इनका अगाध प्रेम था और पुस्तको को ये देवी सरस्वती का प्रतीक मानते थे। घर मे एव अन्यत्र भी पुस्तक पर हस्तार्पण ये इतनी श्रद्धा से तथा आदर की भावना से करते थे जैसे कि वह एक स्नेहपात्र सजीव प्राणी हो।

अपने परमभागवत पिता के सेन्ट्रल हिन्दू ब्वायज स्कूल से असामयिक अवकाश-ग्रहण से ये १९३३ मे उसी पद पर बुला लिये गये। छह साल अत्यन्त यश और जनप्रियता अर्जित करके शिष्यो के प्रिय अध्यापक बनकर हिन्दू स्कूल मे रहने के अनन्तर ये विश्वविद्यालय कर्तृपक्ष से, टीचर्स ट्रेनिग कॉलेज मे 'स्पेशल इग्लिश' पढ़ाने के लिए स्थानान्तरित कर दिये गये। १९५१-५२ मे इन्होने इसी कालेज का प्राचार्यपद भी सँभाला। इस सस्था मे भी इनकी

शैक्षणिक तथा प्रशासनिक योग्यता का बहुत समादर हुआ। इसी कॉलेज से सन् १९६० में आप सेवा-निवृत्त हुए।

ये बड़े सफल अध्यापक थे। शिक्षण के निमित्त ये डाइरेक्ट मेथड के पक्षपाती थे। इनकी दृष्टि में शिक्षा जीवन भर साधना, अध्ययन, अध्यापन एवं प्रयोग की एक लम्बी परम्परा होती है। प्रत्येक प्रकार के बन्धन से वह मुक्ति देती है तथा आत्मा का सच्चे अर्थ में प्रसार-सम्पादन करती है।[१]

इन्होंने 'सरल संस्कृत व्याकरण' नाम का एक व्याकरणग्रन्थ लिखा था जिससे प्रथमा, मध्यमा, हाईस्कूल, इन्टरमीडिएट सभी वर्ग के संस्कृत के छात्र बहुत उपकृत हुए। व्याकरण जैसे कठिन विषय का इसमें सरल, हृदयग्राही और मौलिकरूप से विवेचन किया गया है जिसके कारण अभी भी भिन्न-भिन्न स्तर के छात्र इसके लिए आग्रह करते हैं।

अध्ययन इनकी एक तपस्या थी और ये एकदेशदर्शिता से परे थे। प्राचीन और आधुनिक, प्राच्य तथा पाश्चात्त्य, प्राच्यविद्या तथा दर्शन-विषयक एव पाश्चात्त्य साहित्य, विज्ञान तथा दर्शन-विषयक, बौद्ध-जैनधर्म-सम्बन्धित ग्रन्थ तथा वेद, उपनिषद्, पुराण, उपपुराण, स्मृति, तन्त्रआगम, आयुर्वेद, होमियोपैथी इत्यादि नानाविषयक ग्रन्थ-रत्नों से इन्होंने एक विशाल पारिवारिक ग्रन्थागार बनाया था। अपना ग्रन्थागार तथा अन्य ग्रन्थागारों के ग्रन्थों की विषयवस्तु, ग्रन्थों के प्रकाशन, सस्करण, मूल्य इत्यादि वे सटीक रूप से स्मृति से बतला देते थे। 'सैकेन्द्रिया ग्रन्थशाला' ने मानो उनमें एक सचल, सजीव, मूर्तिमान् रूप लिया था।

ये एक निष्ठावान् ब्रह्मतेज से परिपूर्ण आस्तिक ब्राह्मण थे। श्रीमद्भागवत, महाभारत, रामायण का पारायण इन्होंने बहुशः किया। गायत्री-सन्ध्या बिना किये ये अस्वस्थ दशा में भी जल तक नही पीते थे। ये अपने सिद्धान्त के पक्के थे। क्या नीति या आदर्शगत सिद्धान्त की रक्षा के लिए, क्या सत्यपालन हेतु, क्या ब्राह्मण के नीति-नियम के पालन के लिए ये किसी भी शक्ति के सामने झुकते नही थे—स्नेह, ममता, भय, निन्दा किसी भी कारण ये अपनी नीति से भ्रष्ट नही होते थे।

४ नवम्बर सन् १९७६ ई० मे हृदयरोग के आकस्मिक आक्रमण के कारण काशी में ही इनका निधन हो गया!

इनका परिवार आचारवान् व्यक्तियों के कारण नितान्त प्रसिद्ध है। इनके दो विद्वान् पुत्र तथा तीन विदुषी पुत्रियाँ पिता के द्वारा प्रदर्शित शोभन आचार से सम्पन्न होकर अध्यापन कार्य करती हैं। उनकी विदुषी अनुजा डॉ० भक्तिसुधा मुखोपाध्याय ने संस्कृत की आराधना में अपना जीवन ही लगा दिया है। मत्स्यपुराण के मार्मिक अध्ययन पर आश्रित इनका महानिबन्ध (थीसिस) इनके दीर्घ अध्यवसाय एवं गाढ़ अनुशीलन का सद्यः परिचायक है। हिन्दू विश्वविद्यालय के महिला-महाविद्यालय में अनेक वर्षों तक संस्कृतसाहित्य का निष्ठापूर्वक अध्यापन करने के अनन्तर गतवर्ष रीडर पद से इन्होंने अब अवकाश ग्रहण किया है।[२]

(४) बलदेव उपाध्याय—इस ग्रन्थ का लेखक भी आचार्य ध्रुवजी का अन्यतम शिष्य था। वह अपना परिचय यहाँ अपने ही शब्दों में दे रहा है।

●

1. "Education is life-long Sadhana,—study, teaching and practice for freedom from bondage of all kinds and expansion of the self in the truest sense of the term."

२. श्री मुखोपाध्यायजी का यह परिचय स्वयं भक्तिसुधाजी ने लिखा है। इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।



आचार्य बलदेव उपाध्याय



पितृश्री पं० रामसुचित उपाध्याय



मातृश्री मूर्तिदेवी



गुरुदेव, पं० रामउदित उपाध्याय

आत्म-परिचय

उत्तरप्रदेश के सबसे पूर्वी बलिया-मण्डल में गंगा तथा सरयू के द्वारा आप्लावित पुण्यभूमि से सम्पन्न 'दुआबा' परगने के अन्तर्गत 'सोनबरसा' नामक ग्राम में शारदीय नवरात्र की द्वितीया तिथि सं० १९५६ वि० (तदनुसार १० अक्टूबर, १८९९ ई०) में एक मध्यमवित्तीय सरयूपारीण ब्राह्मण परिवार में मेरा जन्म हुआ। पूज्य पिताजी का नाम था पण्डित रामसुचित उपाध्याय तथा माताजी का मूर्ति देवी। पिताजी की आर्थिक स्थिति नितान्त सामान्य थी। नाममात्र की भूसम्पत्ति दो-चार बीघों में सीमित थी। मेरे पूर्वजों के द्वारा तान्त्रिकी दीक्षा से दीक्षित शिष्यों की एक आस्तिक-परम्परा अवश्य विद्यमान थी जिनके द्वारा समय-समय पर आर्थिक सहायता प्राप्त होने से पिताजी कुटुम्ब का भरण-पोषण सामान्य रीति से करने में समर्थ थे। आस्तिक शिष्यों की यह परम्परा लगभग एक सौ वर्षो से भी अधिक प्राचीन थी। मेरे पञ्चम पूर्वपुरुष अध्यात्मरसिक भगवद्भक्त सन्त थे जिन्होने पुत्र के रूप में प्रथम सन्तान को प्राप्त कर एकदम घर से नाता तोड़कर पूर्ण वैराग्य ले लिया और अपने कतिपय भक्त अनुयायियों के साथ तीर्थाटन करना, भगवान् की नैष्ठिक पूर्जा-अर्चा करना तथा भागवत का मनन-निदिध्यासन के साथ प्रवचन करना ही उनके जीवन की दैनिकचर्या का अग बन गया। उस युग में तीर्थों का भ्रमण तथा भगवद्विग्रह का दर्शन पैदल ही चलकर करना पडता था। व्यक्तित्व आकर्षक था। फलतः इन्ही तीर्थयात्राओं मे उनके आचरण एव भागवत-प्रवचन से आकृष्ट होकर रास्ते मे पड़ने वाले गाँवों के सदाचारी गृहस्थ उनके शिष्य बन गये तथा उनसे दीक्षा लेकर अध्यात्ममार्ग का अनुसरण करने लगे। फलत. पूरबी उत्तरप्रदेश तथा पश्चिमी बिहार में मेरे पूर्वजों के ये सदाचारी, धर्मनिष्ठ शिष्य फैले हुए थे। आध्यात्मिक रिक्थ के रूप में ये शिष्य मेरे पूज्य पिताजी को प्राप्त हुए। इन्ही शिष्यो को अध्यात्म-रामायण तथा श्रीमद्भागवत की कथा सुनाकर उनसे दक्षिणारूप मे जो कुछ धन प्राप्त होता था, उसीसे वे अपनी जीविका चलाते, कुटुम्ब का पालन करते और अपनी छोटी गृहस्थी के योगक्षेम की सुव्यवस्था करते थे।

पिताजी

मेरे पिताजी ने संस्कृतशिक्षा अयोध्याजी में पाई थी। मेरे ग्राम के समीपस्थ 'बैरिया' ग्राम के एक सन्त महात्मा ने अयोध्या में एक वैष्णव स्थान की महन्थी पाई थी। वे इस क्षेत्र के छात्रों को अपने स्थान में रखते थे, भोजन-छाजन की व्यवस्था करते और अपनी पाठशाला में इन्हें संस्कृत की शिक्षा देते थे। पिताजी भी ऐसी ही छात्र-मण्डली में अन्तर्भुक्त होकर अयोध्या गये तथा ज्योतिष एवं कर्मकाण्ड का अभ्यास किया। अपने पिता पण्डित मेघूदत्त उपाध्याय के वार्धक्य के कारण पिता की सेवा करने के लिए तथा उनके साथ-साथ शिष्यों में घूमने के लिए पिताजी को अधिक पढ़ने का अवकाश ही नहीं मिल सका। अयोध्या के वैष्णव वातावरण में परिपुष्ट होने के कारण पिताजी स्वभावतः भगवान् लक्ष्मी-नारायण के परम भक्त, आस्तिक उपासक एवं सदाचारी सन्त थे। १६ वर्ष के वय में ही उनके वृद्ध पिता का अकस्मात्

देहावसान हो गया। फलतः गृहस्थी का पूरा भार उन्हीं के दुर्वल कन्धों के ऊपर आ टिका। संस्कृत पढ़ाना छोड़ देना पड़ा और शिष्यों में घूम-घूमकर भागवती कथा का प्रवचन कर अपनी जीविका चलाना ही उनका अर्थोपार्जन का एकमात्र साधन बन गया।

पिताजी व्यासवृत्ति से अपना जीवन-यापन करते थे। उनके कोमल हृदय में भगवान् के प्रति सहज अनुरक्ति का बीज विद्यमान था जो श्रीमद्भागवत के पढ़ने से, भगवान् की लीला की सरस कथा सुनाने से तथा अध्यात्मचिन्तन से अंकुरित, पुष्पित तथा कालान्तर में फलित हो चला। वे अपनी कथा को साहित्य के संयोग से ललित तथा हृदयावर्जक बना देते थे।

पिताजी की वैष्णव भक्ति अनेक रूपों में प्रकाशित होती थी। वे प्रतिवर्ष नियमपूर्वक जन्माष्टमी का उत्सव करते थे। श्रीकृष्ण की 'दोलायात्रा' बड़े प्रेम तथा भक्ति के साथ सम्पादित की जाती थी। इसे हमारी ओर 'डोल धरना' कहते हैं। इस उत्सव को मनाने के लिए पिताजी दालान की चूने से सफेदी कराते थे तथा उस पर सुन्दर-सुन्दर हिन्दी की उपदेशात्मक कविताएँ भी गेरू रंग से लिखवाते थे जो देखने में बड़ी ही भव्य लगती थीं।

१९०७ ई० में लिखी उनकी नोटबुक आज भी मेरे पुस्तकालय का भूषण है। सुडौल अक्षरों में लिखे गये संस्कृत तथा हिन्दी के अभिराम सरस पद्यों का यह सुभग संग्रह आज भी गौरव बनाये हुए है। उनके संग्रह के दो चार पद्यों की अभिरामता देखिए—

दाहिने हाथ से बाँये हाथ की महत्ता अधिक होने पर भी दान के लिए उद्यमशील न होने के कारण ब्रह्मा ने उसे 'शौचाधिकारी'—सफाई का जमादार बना दिया है। इस भाव से सम्पन्न यह चमत्कारी पद्य पढ़िये —

गृह्णात्येष रिपोः शिरः प्रजविनं कर्षत्यहो वाजिनं
धृत्वा चर्मधनुः प्रयाति समरं संग्रामभूमावपि।
चौर्यं, द्यूतमपि, स्त्रियं, न शपथं जानति वामः करो
दानानुद्यमतां विलोक्य विधिना शौचाधिकारी कृतः॥

संकल्प करने के लिए जल लेने के समय दाहिना हाथ ही आगे बढ़ता है, बायाँ हाथ पीठ की ओर सटक जाता है। यही हेतु है दाहिने हाथ की पवित्रता का एवं वामहस्त की जघन्यता का --

यद्यपि का नो हानिः परकीयां चरति रासभो द्राक्षाम्।
असमञ्जसमिति मत्वा तथापि परितप्यते चेतः॥

आशय है कि यदि गदहा दूसरे के अंगूरों को चरता है, तो अपनी इसमें हानि क्या है? परन्तु अपने से सम्बद्ध न होने पर भी इस अटपटी बात को देखकर अपना चित्त स्वयं सन्तप्त होता है। विषम अनौचित्य का प्रदर्शन कितने सुन्दर दृष्टान्त द्वारा यहाँ अभिव्यक्त किया गया है।

हिन्दी के दो पद्य यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। पहले पद्य में मानव जीवन के सफल यापन की एक रमणीय पद्धति बतलाई गई है, तो दूसरे पद्य में राधारानी के नेत्रों का कमनीय वर्णन है—

सुनिये सबही कहिये न कछू, विधि या रहिये यहिं बागर में।
मिलिये सबसे दुरभाव नहीं, बसिये सतसंग उजागर में।
करिये व्रतनेम महातप से जेहिते तरिये भवसागर में।
'रसखान' गोबिन्दहिं यों भजिये जस नागरि को चित गागर में॥

एक ही झपाके तें छपाके मन मोह दृग
ऐसे शारदा के ना उमा के ना रमा के हैं ।
दसहु दिसा के मनसा के फल देन हारे,
करन निसा के इमि ताके और काके हैं ।
जायके जहाँ के तहाँ मीन जल ढाँके गये
हरिन दरीन ढाँके कमल कहाँ के हैं ।
सदन समा के सुखमा के उपमा के चारु
चंचल चलाके नैन बाँके राधिका के हैं ॥

इस पद्य-चतुष्टयी से पिताजी की साहित्यिक अभिरुचि तथा मानसिक रुझान की दिशा का संकेत सद्यः मिल जाता है । फलतः वे जैसे-तैसे कथा कहने वाले व्यास नहीं थे, अपितु रस से स्निग्ध हृदय वाले सहृदय विदग्ध थे ।

माताजी

माताजी उस युग की महिला थी जब स्त्रियों को शिक्षा देने की घटना ही अनहोनी मानी जाती थी । शिक्षित न होने पर भी वे बुद्धिमती थीं और घर-गिरस्ती के कामों में पूरी आस्था एव निष्ठा से लगी रहती थीं । भोजपुर मण्डल में बालक के जन्म, जनेऊ तथा विवाह आदि संस्कारों के अनुष्ठान के समय जिन मनोहर गीतों का गायन किया जाता है उनका एक मनोरम भण्डार उनकी जिह्वा पर सर्वदा विराजमान रहता था । भोजपुरी गीतों के गायन की उन्हें अच्छी जानकारी थी । उनकी मधुर वाणी के द्वारा गाये गीतों में अलौकिक आकर्षण था । आजकल संस्कार-सम्बन्धी भोजपुरी लोकगीतों का जो मुद्रित रूप उपलब्ध होता है, उसका बहुत कुछ श्रेय हमारी माताजी को है । बात ऐसी हुई कि जिस परिवार में मेरी कनिष्ठ भगिनी सौ० जानकी देवी का विवाह हुआ, उसमें उसकी सास जीवित न थीं । फलतः वहाँ उसे उचित समय पर गेय गीतों से परिचित कराने वाला कोई व्यक्ति न था । माताजी ने इस त्रुटि की पूर्ति स्वयं करा दी । उन्होंने इन आवश्यक लोकगीतों को अपनी कन्या के कल्याण तथा उपयोग के लिए स्वयं लिख डाला । इनका लोकगीतों का अर्थसहित सुन्दर सम्पादन कर मेरे अनुज डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने **भोजपुरी लोकगीत** के नाम से दो खण्डों में प्रकाशित किया है (हिन्दी साहित्यसम्मेलन, प्रयाग) । इतना ही नही, इन गीतों का आकर्षण कृष्णदेवजी के लिए इतना प्रभावशाली सिद्ध हुआ कि इन्होंने भोजपुरी लोक-साहित्य के प्रचार तथा प्रसार में अपने जीवन को समर्पित कर दिया । फलतः लोक-सस्कृति के ये माने-जाने विद्वानों में गिने जाते हैं तथा इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए इन्होंने अमेरिका तथा यूरोप की कई यात्राएँ की हैं । लोक-संस्कृति के इस प्रचार-प्रसार में मेरी माताजी का प्रयास कम श्लाघनीय नहीं माना जा सकता । वे स्वभाव से ही भगवद्भक्त थीं तथा दीनजनों की यथाशक्ति सहायता किया करती थीं ।

फलतः भगवत्-परायण पिता तथा संस्कृति-परायणा माता की ज्येष्ठ सन्तान तथा ज्येष्ठ आत्मज होने का जो गौरव मुझे प्राप्त है, उसे मैं उस करुणावरुणालय की अगाध अनुकम्पा का ही प्रसाद मानता हूँ ।

शिक्षा-दीक्षा

अपने जन्मस्थान 'सोनबरसा' के ही प्राइमरी हिन्दी स्कूल में मेरी आरम्भिक हिन्दी-शिक्षा सम्पन्न हुई । आठ-नौ वर्ष के वय तक हिन्दी पढ़ने-लिखने तथा समझने-बूझने की योग्यता

मुझे प्राप्त हो गई। मेरे घर की पोथियों में लल्लूलाल के द्वारा रचित 'प्रेमसागर' की एक प्राचीन मुद्रित प्रति मुझे मिल गई। उसको मैं आदि से अन्त तक कई बार पढ़ गया। पढ़ने से दो प्रकार के लाभ मुझे मिले। एक तो मैं हिन्दी में निबद्ध सन्दर्भ को समझने में आंशिक रूप से परिचित हो गया। प्रेमसागर की भाषा में व्रजभाषा का पुट बड़ा ही प्रभावशाली था। 'लड़ने के लिए आया वह नीच, माथे पर नाच रही है मीच' के समान वाक्यों की उसमें प्रचुरता थी। सर्वांशतः तो नहीं, परन्तु अंशतः समझने से भाषा के निबन्धों की जानकारी मुझे हो गई। साथ ही साथ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की पूरी कथा से भी मुझे उसी काल में परिचय हो गया। यह परिचय उस समय और भी गाढ़ हो गया जब मैं अपने पिताजी के साथ शिष्यों में जाता तथा उनके द्वारा व्याख्यात भागवत की कथा सुनने का मुझे अवसर मिलता। फलतः संस्कृत भाषा से परिचय होने के पूर्व ही मैं भागवत की कथा से पूर्णतया परिचित हो गया। उस कोमल वय में भागवती कथा की स्निग्धता तथा अभिरामता की जो छाप मेरे हृदय पर पड़ी, वह मेरे जीवन की एक अमिट अनुभूति है। इन घटनाओं ने श्रीमद्भागवती कथा के सुनने-समझने की ओर मेरी चित्त-वृत्ति को जो मोड दिया, वह मेरे जीवन की एक बहुमूल्य निधि है।

मेरी स्कूली शिक्षा बलिया के गवर्नमेण्ट हाईस्कूल में पूरी हुई (१९११ ई० से लेकर १९१४ ई० तक)। इन्ट्रेन्स परीक्षा (जो उस समय 'स्कूल लीविंग सर्टिफिकेट' परीक्षा कहलाती थी) मैने फैजाबाद गवर्नमेण्ट हाईस्कूल से (१९१६ ई०) प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की तथा पूरे उत्तरप्रदेश के उत्तीर्ण छात्रों में योग्यताक्रम से मेरा चतुर्थ नंबर था और इसके लिए मुझे दो वर्षो तक सरकारी छात्रवृत्ति भी प्राप्त हुई थी। स्कूल के छात्रजीवन में दो अध्यापकों के शिक्षण का प्रचुर प्रभाव मेरे जीवन पर पड़ा। ये दोनों सुयोग्य अध्यापक बंगाली ब्राह्मण थे—(१) श्री रणेन्द्रनाथ मोइत्र तथा (२) श्री तारापद भट्टाचार्य। इनके अध्यापन का, सच्चरित्रता का तथा सदाचार का पूरा प्रभाव आस्थावान् छात्रों के ऊपर पड़ा था और उन छात्रों में मैं अपनी भी गणना करता हूँ।

उच्च शिक्षा के लिए मैं सेन्ट्रल हिन्दू कालेज, वाराणसी में १९१६ ई० के जुलाई में प्रविष्ट हुआ और वहीं से इण्टर (१९१८), बी० ए० (१९२०) तथा एम० ए० परीक्षाएँ भी उत्तीर्ण कीं (१९२२ ई०)। एम० ए० में संस्कृतसाहित्य में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ और उत्तीर्ण छात्रों में मेरा योग्यतास्थान प्रथम रहा। इण्टर तथा बी० ए० कक्षाओं में संस्कृत के मेरे अध्यापकों में पण्डित नीलकमल भट्टाचार्य तथा पण्डित गुरुपद भट्टाचार्य मुख्य थे। दोनों ही चरित्रवान् आदर्श गुरु थे। नीलकमल बाबू संस्कृतव्याकरण के पारंगत विद्वान् थे, तो गुरुबाबू साहित्य के मर्मज्ञ थे और प्रख्यात विद्वान् महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के सुयोग्य शिष्य होने के कारण ये काव्यशास्त्र की गूढ़ समस्याओं का समाधान करने में प्रवीण थे। एम० ए० कक्षा में मुझे महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा तथा आचार्य आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव से वेद, दर्शन तथा साहित्य के गम्भीर अध्ययन तथा अनुशीलन का सुवर्ण अवसर प्राप्त हुआ।

अंग्रेजी पढ़ने के साथ ही साथ मैं संस्कृत का भी अध्ययन करने लगा। इस विषय में मेरे गुरु थे—मेरे ही पितृव्यचरण **पण्डित रामउदित उपाध्यायजी**, जो मेरे पिताजी के एकमात्र अनुज थे। काशी से मेरे कुटुम्ब का शैक्षणिक सम्बन्ध अनेक वर्षों पूर्व ही सम्पन्न हुआ था। मेरे परिवार के ही पण्डित **रामयत्न उपाध्यायजी** ने काशी के विद्वान् गुरुजनों के चरणों में बैठकर अपनी संस्कृतविद्या का अध्ययन पूर्ण किया था। मेरे पितृव्य पण्डित रामउदित

उपाध्याय की आरम्भिक संस्कृतशिक्षा तो आरा के तिवारीजी (पण्डित बालगोविन्द तिवारीजी) की विख्यात पाठशाला में, हमारे ग्राम के समीप 'मठिया' ग्राम के निवासी **पण्डित गणपति मिश्र** व्याकरणाचार्य के अध्यापकत्व में सम्पन्न हुई थी। व्याकरण के टीकाग्रन्थों के अध्ययन के निमित्त वे काशी आकर संस्कृतकालेज के लब्धप्रतिष्ठ वैयाकरण तात्याशास्त्रीजी के शिष्य हुए और उन्ही की कृपा से पाणिनिव्याकरण में विशेष व्युत्पत्ति सम्पादित की। आज से सौ साल पूर्व ही मेरे 'अजिया श्वशुर' पण्डित **यागेश्वर ओझाजी** बालशास्त्री के सतीर्थ्य थे और दोनों सज्जनों ने काशीनाथ शास्त्री के चरणों में बैठकर व्याकरणशास्त्र का तलस्पर्शी वैदुष्य अर्जित किया। मेरे चाचाजी जब भारत-धर्म-महामण्डल द्वारा स्थापित 'ब्रह्मचर्याश्रम' के प्रधान पण्डित थे, तब मै १९१० ई० मे काशी आया और सस्कृत का अध्ययन आरम्भ किया। दोनों भाषाओं की—सस्कृत तथा अग्रेजी की—मेरी पढ़ाई साथ ही साथ चलती थी। १९२२ ईस्वी में एम० ए० उत्तीर्ण होने के समय मै सस्कृतकालेज से साहित्याचार्य के अनेक खण्डों को पास कर चुका था। शेष खण्डों की पूर्ति भी कालान्तर में हुई।

छात्र-जीवन की अविस्मरणीय घटनाएँ

डॉ० गणेशप्रसाद से पहली भेंट

१९१८ ईस्वी के जुलाई मास के पठनसत्र के आरम्भ से पहले ही गणितशास्त्र के ख्यातनामा विद्वान् डॉ० गणेशप्रसादजी अध्यक्ष पद पर नियुक्त हो चुके थे। वे बनारस की सिविल लाइन्स में एक बॅगले में रहते थे और यही से घोड़ागाड़ी पर चढ़ कर वे कमच्छा में स्थित सेन्ट्रल हिन्दूकालेज मे आते थे। वे समय के बड़े ही पावन्द थे। उनका समय नपा तुला होता था। कालेज खुलने के ठीक समय पर वे उसके दरवाजे पर पहुँच जाते थे। अपने कमरे का ताला वे स्वय बन्द करते थे। कमरे के पूर्णतया बन्द होने से आश्वस्त होने के निमित्त वे बन्द ताले को तीन वार जोरो से झटका देते थे। खट खट खट—की तीन बार आवाज होने पर ही वे जाने के लिए उद्यत होते थे। कभी जल्दीवाजी मे वे कोई काम नही करते थे। यह उनका नित्य का नियम था। इसमें किसी प्रकार की त्रुटि नही होती थी।

जुलाई में कालेज खुलने से कुछ पहले मै अपने चाचाजी पण्डित रामउदित उपाध्यायजी के साथ सेन्ट्रल हिन्दूकालेज मे प्रविष्ट होने के लिए काशी आया। कालेज के भूतपूर्व अध्यक्ष प्रोफेसर फनी बाबू (फणिभूषण अधिकारी दर्शनविभाग के अध्यक्ष) के स्थान पर डॉ० गणेशप्रसादजी की नियुक्ति की खवर पाकर हम लोगो ने नये अध्यक्ष महोदय से भेंट करने का निश्चय किया। बलिया शहर के समीपस्थ जीराबस्ती ग्राम के डॉ० प्रसाद के निवासी होने से सुप्त आत्मीयता की भावना ही इसके लिए प्रेरिका थी। अपराह्न में चाचाजी के साथ मैं जब उनके बॅगले में प्रविष्ट हुआ, तो उनकी विचित्र वेषभूशा ने हमें आश्चर्य-चकित कर दिया। आँगन में बैठकर वे कुछ लिखपढ़ रहे थे। वे श्याम रग के नाटे कद के व्यक्ति थे। वे नीले रंग का खद्दर का पाजामा पहने हुए थे, जिसे उन्होंने सफेद रँग की कुछ मोटी सुतली से ऊपर से बाँध रखा था जिससे वह पाजामा खिसककर नीचे न गिर जाय। देखते ही मालूम पड़ा कि ये एकदम सीधे-सादे व्यक्ति है—दिखावे से कोसों दूर, दम्भ के कट्टर शत्रु तथा सादगी के जीते-जागते पुतले। हमारे चाचाजी बलिया के 'जुबिली संस्कृतकालेज' के प्रिन्सिपल हैं—यह परिचय पाकर वे बड़े प्रसन्न हुए और मुझे यथायोग्य उचित साहाय्य का आश्वासन दिया। शास्त्र की चर्चा छिड़ने पर वे निर्भीक रूप से कहने लगे—पण्डितजी, मैने गणितशास्त्र के विषय में गम्भीर गवेषणा की है, नवीन तथ्यों को खोज निकाला है। ये ही तथ्य यदि संस्कृत में

निबद्ध कर दिये जायँ, तो वही वेद बन जायगा। वेद भी तो इसी प्रकार की खोज से निर्धारित किये गये सिद्धान्तों का ही तो समुच्चय है। उनके इस कथन से तथा उनकी वेद-सम्बन्धिनी विचित्र भावना से हम लोगों को आश्चर्य हुआ परन्तु सच्चाई, दम्भहीनता तथा सादगी की छाप हमारे हृदय पर सदा के लिए अंकित हो गई।

डॉक्टर गणेशप्रसादजी कायदा-कानून के बड़े जानकार थे। वे छात्रों पर कृपा रखने वाले एक सफल अध्यापक भी थे। सन् १९१८ ई०–१९२३ ई० तक पाँच वर्षों तक आपने हिन्दूविश्वविद्यालय की निश्छल सेवा की। प्रशासन के कार्य में नितान्त पटु, डॉक्टर साहब सफल अध्यक्ष सिद्ध हुए, परन्तु अध्यापन कार्य में अधिक समय तथा विशेष व्यवस्था को दृष्टि में रखकर उन्होंने अपने कार्य को गणित के विभागीय अध्यक्ष तक ही सीमित रखा। वे हिन्दू विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी समिति के बड़े ही प्रतिष्ठित सदस्य थे जिनकी स्थिति का प्रत्येक सदस्य नितान्त इच्छुक रहता था, क्योंकि उनकी अनुपस्थिति रहने पर कितने ही प्रस्ताव नियम के विरुद्ध पास हो जाया करते थे।

उपाधि-सहित सम्पूर्ण नाम लिखने के वे बड़े पक्षपाती थे। एक दिन मेरे मित्र, संस्कृत के प्राध्यापक पण्डित बटुकनाथ शर्मा किसी आवेदनपत्र पर डॉक्टर साहब की संस्तुति की अभिलाषा से उनके पास गये। गणेशप्रसादजी कागज देखते ही जोर से चिल्लाकर बोलने लगे —Panditji, what have you done ? पण्डितजी आपने यह क्या किया ? हमारे मित्र किसी भयकर अशुद्धि या असंगति की भावना से ठिठक गये। तब डॉक्टर साहब ने मृदुल स्वर में कहा —You have not added M. A. after your name. Insist on adding your degree after your name. I always write Dr. Ganesh Prasad, D. Sc. आप अपने नाम के बाद अपनी उपाधि लिखना भूल गये हैं। ऐसा न करें। अपने नाम के बाद अपनी शैक्षणिक उपाधि एम० ए० अवश्य लिखा करें। मुझे देखिए। मैं हमेशा अपने को डॉ० गणेश प्रसाद डी० एस-सी० लिखता हूँ। नाम के पीछे उपाधि लिखना हमलोग अकिञ्चित्कर मानते हैं, परन्तु डॉक्टर साहब उपाधि लिखने को बड़ा महत्त्व देते थे। उसके बिना केवल नाम लिखने को वे अधूरा ही मानते थे। गणित के अगाध विद्वान् होने पर भी वे इन छोटी से छोटी बातों पर भी विशेष ध्यान दिया करते थे। यह उनके बहुमुखी व्यक्तित्व का एक अविभाज्य अंग ही बन गया था।

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ का प्रथम दर्शन

नोबुलपुरस्कारविजेता होने के नाते कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ की ख्याति ससार की साहित्य-गोष्ठियों में अनायास व्याप्त हो गयी थी। भारतवर्ष के साहित्यमनीषी उनका भव्य स्वागत करने के लिए सर्वदा उत्सुक तथा लालायित रहते थे। सन् १९१८ ईस्वी के आसपास उन्होंने हिन्दूविश्वविद्यालय में पदार्पण किया तथा हिन्दूकालेज के विशाल 'हाल' में उनका भव्य स्वागत किया गया। उस समय इन्होंने एक छोटा सा भाषण भी किया था जिसमें भारतीय साहित्य की विशिष्टता का अभिराम परिचय था। दूसरे ही दिन पूर्वाह्ण में थियासोफिकल सोसाइटी में भी इनका स्वागत बड़े समारोह के साथ किया गया। उस समारोह में रविबाबू ने अपना एक लघुकाय रूपक भी सुनाया था जिसका मंचन विश्वभारती के मांगलिक पर्व के अवसर पर पूर्व ही किया गया था। रूपक सुनाने के समय कविवर का अभिनेता स्वरूप स्वतः परिस्फुरित हो रहा था। रविबाबू उच्च-आसनासीन होकर अपना अंग्रेजी रूपक इतनी रमणीय स्वरभंगिमा में सुना रहे थे कि प्रतीत होता था कि वह नाटक अपने पूरे वैभव के साथ अभिनीत किया

जा रहा हो। नाटक मे तीन ही पात्र थे। रविबाबू इन पात्रो के वार्तालाप को विभिन्न स्वरभगिमा (इन्टोनेशन) मे कह रहे थे जिससे पात्रो का पार्थक्य स्पष्ट झलक रहा था। अभिनेता तो वे स्वय एकाकी ही थे, परन्तु उनके कथन का ढग इतना विभिन्नतायुक्त वैचित्र्य सम्पन्न था कि पात्रो का पार्थक्य समझने मे श्रोताओं को किसी प्रकार का क्लेश उठाना नही पड़ता था। भाव के अनुसार उनका स्वर कभी आरोह मे ऊपर चढ़ता था, तो कभी अवरोह मे नीचे उतरता था, इतनी स्वाभाविकता तथा नाटकीयता से कि ऑख मूँद लेने पर भी श्रोताओं के सामने पूरे नाटक का चित्र उपस्थित हो जाता था। नाटक को सुनकर श्रोता लोग मुग्ध हो गये। इस मण्डली मे वाराणसी के उच्चकोटि के विद्वान् तथा साहित्यिक लोग उपस्थित होकर कविवर के मधुर अभिनय का रसास्वादन कर रहे थे।

नाटक की समाप्ति पर इन्ही विज्ञजनो ने छात्रो को धीरे से परामर्श दिया कि रविबाबू से किसी स्व रचित गीतिका के गायन के लिए आग्रह करो। फिर क्या था ? छात्रो ने बडी नम्रता एव विनय से गायन का प्रस्ताव रविबाबू के सामने रखा। पहले तो कविवर ने बडा हीलाहवाला किया कि मै कवि हूँ, गायक नही हूँ। गीतो की रचना तो कर लेता हूँ, परन्तु गाने की लोच मेरे गले मे नही है। परन्तु हम सब लडके कब मानने लगे इनके कथन को। बडा आग्रह किया। कविवर पसीजे और बडी सुन्दर तथा मीठी वाणी मे उन्होने अपना वह सुप्रसिद्ध भारत गीत सुनाया

अयि भुवनमनोमोहिनी
अयि निर्मलसूर्यकरोज्ज्वल-धरणी
जनक-जननी-जननी।

नीलसिन्धुजलधौत चरणतल,
अनिल—विकम्पित श्यामल अंचल,
अम्बर-चुम्बित- भाल हिमाचल,
शुभ्र-तुषार-किरीटिनी॥

प्रथम प्रभात उदय तव गगने, प्रथम सामरव तव तपोवने,
प्रथम प्रचारित तव वनभवने, ज्ञान धर्म कत काव्यकाहिनी॥
चिर कल्याणमयी तुमि धन्य, देश विदेशे वितरिछ अन्न,
जान्हवी यमुना विगलित करुना, पुण्य पियूष स्तन्यवाहिनी॥

रविबाबू की सुरीली आवाज मे गाये गये इस गीत से मानो अमृत बरसने लगा, सहृदय श्रोता उसका पान कर आनन्दविभोर हो गये। रविबाबू की कोमलकान्तपदावली तथा मञ्जुल मधुर वाणी की विपुल प्रशसा करते हुए श्रोतागण अघाते नही थे। ऐसा था भव्य व्यक्तित्व कवीन्द्र रवीन्द्र का। कवि की मृदुल सहृदयता की छाप सदा सर्वदा के लिए मेरे हृदय पर अमिटरूपेण पड गई। वह छाप आज इतने सुदीर्घ काल के अनन्तर भी हृदय पर अंकित है, विराजमान है।

पण्डित विष्णु दिगम्बर की वह संगीत संध्या

सन् १६२० ईस्वी की वह अविस्मरणीय सन्ध्या वेला। स्थान सेन्ट्रल हिन्दूकालेज के परिसर के दक्षिण भाग मे विद्यमान 'किग एडवर्ड होस्टल' का ऊपरी 'हाल'। भारतविश्रुत पण्डित विष्णु दिगम्बरजी का सगीतमय उपदेश सुनने के लिए कालेज के छात्र उपस्थित थे। पण्डितजी का व्यक्तित्व नितान्त आकर्षक था। लम्बे शरीर पर कषायरग मे रँगा हुआ एक

झूल लटक रहा था। गले में तुलसी की माला विराजमान थी। दोनों हाथों में बजाने के लिए करताल शोभित हो रहे थे। भव्य ललाट के ऊपर चन्दन का तिलक चमक रहा था। पण्डितजी ने खड़े होकर और बीच-बीच में करतालों को बजाकर अपनी सुरीली आवाज में, तुलसीकृत रामायण की कथा कहना आरम्भ किया। उत्तरकाण्ड के आरम्भ की कथा सुनाकर विष्णु दिगम्बरजी भरतजी के चरित्र का सुचारु चित्रण करने लगे। रामायण की कथा मैंने पहले भी सुनी थी और बाद में भी सुनता ही आता हूँ, परन्तु उस दिन की कथा में जो आनन्द आया, जो रस की धारा पण्डितजी ने अपने कोमल शब्दों के द्वारा प्रवाहित की उसकी तुलना कहाँ ? वे प्रथम श्रेणी के प्रवीण शास्त्रीय गायक थे और साथ ही साथ उदात्त कोटि के साधक भी थे। संगीत एवं साधना के मञ्जुल सामरस्य के कारण इनकी कथा में जो अद्भुत चमत्कार उत्पन्न हुआ, जो लोकातीत आकर्षण छलक उठा, उसका फीका आभास भी शब्दों के माध्यम से देना असम्भव प्रतीत हो रहा है।

दिगम्बरजी तुलसीदासजी के दोहो और चौपाइयों को गाकर सुनाते थे, उनका रहस्य बतलाते थे और भरतजी के चरित्र की मीमांसा करते थे। उत्तरकाण्ड के आरम्भ में ही भरत तथा हनुमानजी के मिलने का सूचक यह प्रसिद्ध दोहा है--

राम प्रानप्रिय नाथ तुम्ह, सत्यबचन मम तात।
पुनि पुनि मिलत भरत सुनि, हरष न हृदयँ समात॥

दोहे का आशय स्पष्ट है। हनुमानजी भरतजी से कह रहे है—हे नाथ, तुम रामजी के प्राणों से भी प्रिय हो। हे तात, यह मेरा वचन सत्य है। इस वचन को सुनकर भरतजी बारम्बार हनुमानजी से मिलते है। हर्ष उनके हृदय में समाता ही नहीं। इस दोहे के उत्तरार्ध को पण्डित दिगम्बरजी ने इतने सुन्दर ढग से कहा कि श्रोता आनन्द से लोट-पोट हो गये। तृतीय चरण को उन्होने बड़े द्रुत स्वर में इतनी शीघ्रता से पढ़ सुनाया कि मालूम पड़ता था कि भरतजी हनुमानजी के बारम्बार गले लग रहे हों। 'पुनि पुनि' की अनेक बार आवृत्तियाँ की। चतुर्थ चरण में, इसके विपरीत बात हुई। 'हरष न हृदय समात' के 'हरष' शब्द के अक्षर-अक्षर पर विलम्बित स्वर में विराम लेते गये—'ह-र-ष' अन्तिम पद 'समात' में वे अन्तिम अक्षर को सुदीर्घ काल तक विलम्बित स्वर में कहते गये (समाऽऽऽत) जिससे हरष की विपुलता की व्यञ्जना श्रोताओं के सामने स्वतः परिस्फुरित होने लगी।

पण्डित विष्णुदिगम्बरजी गायक-शिरोमणि थे। फलतः उनका साधारण गायन भी महत्ता से परिपूर्ण था। उनके इस गायन की स्मृति को लेखक अपने हृदय में एक बहुमूल्य निधि के रूप सँजोये हुए है। तथास्तु।

अध्यापकों की अध्यापन शैली : एक विवेचना

मुझे संस्कृत के बड़े ही धुरन्धर तथा अलौकिक प्रतिभा से सम्पन्न तीन दिग्गज विद्वानों से पढ़ने का तथा उनके गम्भीर व्याख्यानों को मनोयोग से सुनने-समझने का सुयोग प्राप्त हुआ है। अतएव मैं अपने वैयक्तिक अनुभव के आधार पर उनकी अध्यापन-शैली की विशिष्टता का निरूपण संक्षेप में यहाँ करना चाहूँगा। ये तीनों ही कुछ समय तक एक साथ काशी में निवास करते थे तथा हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध थे। ये तीनों थे (१) म० म० पण्डित रामावतार शर्मा, (२) आचार्य आनन्दशंकर ध्रुव तथा (३) म० म० पण्डित गोपीनाथ कविराज। इन तीनों की संस्कृत वैदुषी अनेक दृष्टियों से विभिन्न एवं विलक्षण थी। अध्ययन शैली की विभिन्नता के कारण इनकी अध्यापन-शैली में विभेद होना अनिवार्य था।

इन तीनों विद्वानों में पण्डित रामावतारजी विलक्षण प्रतिभा के धनी व्यक्ति थे, उस प्रतिभा के, जिसके विषय में शास्त्र का विश्रुत वचन है—

प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता ।

जो नव-नव उन्मेष रखनेवाली प्रज्ञा की ही अपर संज्ञा है । नया से नया भी ग्रन्थ क्यों न हो ? वे उसका अध्यापन पूर्व-चिन्तन तथा मनन के बिना ही किया करते थे । 'व्यक्ति-विवेक' का उस समय १९२० ई० के आस-पास अनन्तशयन ग्रन्थावली मे प्रथमवार प्रकाशन हुआ था । पटियाला के निवासी साहित्यिक **माधवशास्त्री** नामक एक सुयोग्य छात्र को पण्डितजी समयाभाव के कारण प्रात:काल टहलने के समय ही पढ़ाते थे । कश्मीर के मर्मज्ञ साहित्य-वेत्ता **महिमभट्ट** ने इस दुरूह ग्रन्थ में ध्वन्यालोक के तथ्यों का बड़ी नृशसता से खण्डन किया है । रामावतारजी ध्वन्यालोक के सिद्धान्त को प्रथमत: बतला कर 'व्यक्तिविवेक' की आलोचना को समझाते थे । इतना ही नही, महिमभट्ट के कथन का वे स्वयं खण्डन कर आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त का मण्डन भी करते जाते थे । इसी प्रकार उन्होने पूरे ग्रन्थ का गम्भीर अध्यापन इसी शैली से किया । खण्डनात्मक प्राचीन ग्रन्थ पूर्वचिन्तन मनन की अपेक्षा रखता था, परन्तु शर्माजी को इसकी आवश्यकता ही नहीं थी । एक बार सुनते ही समग्र खण्डन-प्रक्रिया सामने खड़ी हो जाती थी । हम लोगों को ऋग्वेद का अध्यापन भी इसी शैली में करते थे । पूरा मन्त्र छात्रों से सुन कर उसका प्रथमत सारांश बताना, तदनन्तर एक-एक शब्द को लेकर उसके अर्थ की विवेचना करना उनकी शैली की विशिष्टता थी । तदनन्तर सायण के भाष्य को सुन कर जो उनकी अरुचि होती थी उसे भी वे बतलाते थे । फलत: शास्त्र के अन्तराल में पैठने की उनकी सूझ इतनी अपूर्व थी कि अपनी विशदता तथा उर्वरता के कारण वह छात्रों के हृदय में सद्य. प्रवेश कर जाती थी । जिस ग्रन्थ के सिद्धान्त पर उनकी आस्था थी, तथा तर्क-वितर्क की कसौटी पर कसने पर जो प्रामाणिक उतरता था, उसे ही वे पढ़ाते थे, अन्य को नही । तभी तो प्रिन्सिपल ध्रुवजी द्वारा श्रीभाष्य को पढ़ाने का आग्रह करने पर भी उन्होंने उसे कभी नहीं पढ़ाया, क्योंकि उनकी दृष्टि मे उसके सिद्धान्त तर्कसगत प्रतीत नहीं होते थे । शारीरक भाष्य को ही वे एम० ए० की कक्षा में पढ़ाते थे । ग्रन्थों की आनुपूर्वी उनकी जिह्वा पर जो नाचती थी ।

आचार्य ध्रुवजी की अध्यापन शैली इससे विभिन्न ही थी । वे आधुनिक पाश्चात्त्य शैली से शिक्षित विद्वान् के समान उस तथ्य के विषय में विद्वानों की टीका-टिप्पणी को प्रथमतः बतलाते थे । तदनन्तर उसकी आलोचना कर विरुद्ध अश को त्याज्य बतला कर अपना व्यक्तिगत मत प्रकट करते थे । बी० ए० मे शतपथ ब्राह्मण का 'मनोरवसर्पण' वाला अंश पाठ्यक्रम में था जिसे पढ़ाते समय ध्रुवजी पाश्चात्त्य वैदिक विद्वानों की व्याख्या का प्रथमतः उल्लेख करते, अनन्तर उसकी आलोचना करते और अन्त में अपना निसृष्टार्थ बतलाते थे । वे तुलनात्मक शैली के पुरस्कर्ता थे सब विषयों के अध्ययन में । साहित्य शास्त्र का अध्यापन तब तक पूरा नहीं होता था, जब तक 'वर्सफोर्ड' का 'प्रिन्सिपुल्स ऑफ क्रिटिसिजमो' तथा अरस्तु का 'पोइटिक्स' से व्याख्यात तत्तत् सिद्धान्तों का परिचय तथा तुलना वे कक्षा में पूरी तरह बता नहीं देते थे । पाश्चात्त्यों के 'ड्रेमेटिक लाइन्स' की दशरूपक की 'पञ्चसन्धि' के साथ बिना तुलना किये उनका अध्यापन पूर्ण नहीं होता था । फलतः उनके द्वारा व्याख्यात 'काव्यप्रकाश' का काव्यलक्षण एक सीमित पौरस्त्य सिद्धान्त न होकर एक विश्वजनीन सिद्धान्त के रूप में उभर आता था । क्यों न हो ? वे गम्भीर 'तुलनात्मक आलोचना' के एक प्रवीण पारखी मनस्वी जो थे ।

पण्डित-प्रवर गोपीनाथजी की अध्यापन शैली अपने में विलक्षणता लिए हुए थी । धर्म

तथा दर्शन का वे पृथक्-पृथक् अध्यापन नहीं करते थे। धर्म व्यवहार-पक्ष को अग्रसर करता है, तो दर्शन सिद्धान्त-पक्ष की आलोचना का पक्षपाती होता है। ऐसी मान्यता रखने वाले कविराजजी, शास्त्र के अन्तस्तल में प्रवेश करने की अद्‌भुत क्षमता रखते थे। **तुलनात्मक धर्मविज्ञान** के पुरस्कर्ता विद्वानों में वे अग्रगण्य थे। विश्व के धार्मिक सम्प्रदायों को वे असंपृक्त, बन्द कमरों में विभक्त होकर पृथक् सत्ताशील स्वीकार नहीं करते थे। प्रत्युत एक ही महत्तम धर्मकल्पतरु की उन्हें विभिन्न शाखाएँ एवं टहनियाँ मानते थे। फलतः किसी धार्मिक तत्त्व की विवेचना में समग्र सम्प्रदायों के दृष्टिकोण को सामने रखकर वे व्याख्या करते थे। 'तन्त्र' धर्म-कल्पद्रुम का सारतम भाग उपस्थित करता है। वे इस तन्त्र के माने-जाने मर्मज्ञ विद्वान् थे। उनके व्याख्यान देने की शैली तुलनात्मक तथा सरल सुबोध थी। उसे सुनकर दुरूह तथ्यों की अवगति अनायासेन हो जाती थी। परन्तु उनका उसी विषय का प्रतिपादक लेख बड़ा ही ठोस, कसावदार तथा नितान्त तथ्य-संवलित होता था जिसे समझने के लिए पुनः पुनः मनन की अपेक्षा होती थी। कहा जा सकता है कि कविराजजी का लेख सूत्रशैली में निबद्ध होने से दुरूह हो जाता था, परन्तु उनका व्याख्यान भाष्य-शैली में होने से बड़ा ही आकर्षक एवं रोचक होने से लौकिक दृष्टान्तों के सहारे सद्यः हृदय में प्रवेश कर जाता था। कविराजजी किसी भी ग्रन्थ का 'पंक्तिशः अध्यापन नहीं कर सकते थे। सिद्धान्त के प्रतिपादन के प्रति अत्यधिक आग्रह होने से वे किसी ग्रन्थपक्ति के भीतर अपने को बाँध नहीं सकते थे।

मेरी दृष्टि में ये तीनों ही दिग्गज विद्वान् अपनी अपनी दिशा में अलौकिक थे। दुरूह विषय को सुबोध बनाने में इन तीनो का वैदुष्य अप्रतिम था।

अध्यापन कार्य

मैं १९२२ ई० के अप्रैल मास में एम० ए० (संस्कृत साहित्य) में प्रथम श्रेणी में प्रथम उत्तीर्ण हुआ और केवल तीन महीनों के भीतर ही २७ जुलाई १९२२ को संस्कृत विभाग में रिक्त प्रवक्ता पद पर मेरी नियुक्ति हो गयी। तब से लेकर १९६० ई० के ३१ मार्च तक सुदीर्घ ३८ वर्षों तक मैंने अध्यापन कार्य इसी विभाग में क्रमशः प्रवक्ता, रीडर तथा अध्यक्ष (अस्थायी) के पदों पर किया। पटना विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष के पद पर आचार्य ध्रुवजी मुझे सरकारी आदेश पर साग्रह भेज रहे थे, परन्तु काशी विश्वविद्यालय से नैसर्गिक स्नेह तथा आन्तरिक लगाव होने के कारण मैंने वह पद स्वीकार नहीं किया और अपने ही पद पर बना रहा। सेवा-निर्मुक्त होने पर पाँच वर्षों के लिए स्थानीय वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय की मैंने सेवा की—प्रारम्भिक दो वर्षों तक इतिहास-पुराण विभाग के अध्यक्ष पद पर तथा तदनन्तर तीन वर्षों तक अनुसन्धान विभाग के संचालक पद पर। संस्कृत विश्वविद्यालय में मुझ जैसे एकांगी व्यक्ति की नियुक्ति का श्रेय विश्वविद्यालय के कुलपति पण्डित सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी को है जिन्हें व्यक्तियों के गुण-दोष को आँकने की अद्भुत क्षमता थी और जो विश्वविद्यालय के हित को किसी वैयक्तिक हित की अपेक्षा अधिक महनीय एवं माननीय मानने के लिए यथार्थतः विख्यात थे। इस प्रकार मैंने ४३ तैंतालीस वर्षों की एक लम्बी अवधि के कालखण्ड को संस्कृत साहित्य के विभिन्न शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन में बड़े मनोयोग तथा लगन के साथ लगाया तथा भगवती शारदा के विशाल मन्दिर के किसी कोने में स्थित अज्ञानान्धकार को दूर कर किञ्चित् प्रकाशित करने का आत्मसन्तोष प्राप्त किया।

●

उपाध्याय-साहित्य
मेरी रचनाएँ

लिखने की ओर मुझे प्रवृत्त करने का श्रेय पण्डित रामावतार शर्माजी को है। अन्य गुरुओं की अपेक्षा उनका सान्निध्य मुझे अधिक प्राप्त हुआ। शर्माजी की जिह्वा पर प्राचीन कवियो के स्फुट कमनीय पद्य ही नही, अपितु उनके काव्यो के सर्ग के सर्ग आनुपूर्वीरूप से विराजमान रहते थे। फलत संस्कृत की रसमयी सूक्तियो को सुनाकर एव लिखाकर वे अपने छात्रो के हृदय मे साहित्य सौन्दर्य के परखने की क्षमता उत्पन्न करते, साहित्य के प्रति अकृत्रिम आकर्षण की तीव्रता पैदा करते तथा सुकवियो का जीवनवृत्त बतलाकर ऐतिहासिक अभिरुचि की अभिरामता के कारण बनते। उनकी ही अनुकम्पा से मुझे संस्कृत का ललित साहित्य पढने तथा कविजनो का ऐतिहासिक विवरण जानने की स्वत प्रवृत्ति अपने अध्यापनकाल के प्रभात मे ही जाग उठी। उस प्रवृत्ति के फलस्वरूप मैने दो ग्रन्थो की रचना की— **सूक्तिमुक्तावली** (१९३२ ईस्वी) मे संस्कृत कवियो के उद्भट पद्यो का श्लाघनीय सग्रह ही नही है, अपितु उनका नितान्त चोजभरी हिन्दी मे चटकदार अनुवाद भी है। इसका परिवर्धित नूतन संस्करण 'सूक्तिमञ्जरी' के नाम से चौखम्भा विद्याभवन ने प्रकाशित किया है (१९७० ई०)। **संस्कृत-कविचर्चा** उसी आरम्भिक काल की मेरी समीक्षात्मक रचना है जिसमे संस्कृतसाहित्य के विश्रुत महाकवियो की जीवनी, ग्रन्थ तथा उनकी कविता की सोदाहरण समीक्षा प्रस्तुत की गई है। इस अप्राप्य ग्रन्थ का परिवर्धित संस्करण इधर **संस्कृत-सुकविसमीक्षा** के नाम से प्रकाशित हुआ है (चौखम्भा विद्याभवन १९७८)। 'संस्कृत कविचर्चा' हिन्दी मे इस विषय की प्रथम प्रामाणिक रचना होने के कारण इसका अनुवाद नेपाली भाषा मे लेखक की अनुमति के विना ही अनेक संस्करणो मे प्रकाशित होता रहा है।

सम्पादित संस्कृत-ग्रन्थ

१	१९२६	वररुचि—प्राकृतप्रकाश	(वसन्तराजकृत सञ्जीवनी, सदानन्द कृत सुबोधिनी के साथ सम्पादित) द्वितीय संस्करण १९७५ सरस्वती भवन सीरीज, वाराणसी।
२	१९२८	भामह—काव्यालकार	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
३	१९३१	हर्ष—नागानन्द	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
४	१९३२	भरत—नाट्यशास्त्र	चौखम्भा, द्वितीय स० १९८०
५	१९४०	सायण—वेदभाष्य-भूमिका-सग्रह	चौखम्भा, द्वितीय स० १९८०
६	१९४३	माधवाचार्य—शकरदिग्विजय	श्रवणनाथ ज्ञानमन्दिर हरिद्वार, तृतीय संस्करण १९७५

७. १९६७ भक्तिचन्द्रिका—शाण्डिल्यभक्तिसूत्र की नारायण तीर्थ रचित व्याख्या — संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी

८. अग्निपुराणम् — चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

९. कालिकापुराणम् — चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

संस्कृतविश्वविद्यालय के अनुसन्धान-संस्थान के निदेशक के रूप में सम्पादित तथा भूमिका-प्रस्तावना से संवलित संस्कृतग्रन्थों का नाम नीचे दिया जाता है। इनका सम्पादन विभिन्न विद्वानों ने किया है, परन्तु इनका विशिष्ट निरीक्षण एवं नियोजन मेरे द्वारा किया गया है जिनमें मैंने प्रत्येक ग्रन्थ की महत्त्वसूचक ऐतिहासिक प्रस्तावना संस्कृत में निबद्ध की है।

भगवद्गीता भाष्य—भट्टभास्कर रचित १९६५

प्रक्रियाकौमुदीविमर्शः—आद्याप्रसाद मिश्र रचित, १९६७

भारतस्य सांस्कृतिको विजयः—मूल हिन्दी लेखक हरिदत्त वेदालङ्कार, संस्कृतानुवादक कालिकाप्रसाद शुक्ल, १९६७

भक्तिरत्नावली—विष्णुपुरीरचित सटीक, १९६८

बृहत्संहिता—वराहमिहिर-रचित, द्वितीय सं०, १९६८

वाक्यपदीय—भर्तृहरिकृत (टीका पं० रघुनाथ शर्मा कृत) द्वितीय भाग, १९६८

हयतग्रन्थः—(अरबीय सिद्धान्तज्योतिष) सुखानन्द उपाध्याय रचित, १९६७

पारसीकप्रकाशः—(फ़ारसी का संस्कृत में व्याकरण) बिहारी कृष्णदास रचित, १९६५

अभिधम्मत्थ संगहो—(पालि में बौद्धदर्शन) 'अभिधर्मप्रकाशिनी' व्याख्या तथा बृहत् टीका-भाष्य-सहित। दो भाग, १९६७

नित्याषोडशिकार्णवः—(दो प्राचीन टीकाओं से युक्त) (योगतन्त्र ग्रन्थमाला संख्या १) १९६८ ई०

सम्पादित ग्रन्थों का परिचय

संस्कृतग्रन्थों के विमर्शात्मक संस्करण निकालने के प्रति मेरी अभिरुचि आरम्भ से रही है। इसके लिए मुझे अपने अग्रजतुल्य वरिष्ठ साहित्यिक साहित्याचार्य **पण्डित बटुकनाथ शर्मा** का सहयोग प्राप्त होता रहा। आरम्भिक तीनों ग्रन्थों का संस्करण मेरे तथा शर्माजी के संयुक्त सम्पादकत्व में प्रकाशित है। वे हैं—भामह काव्यालंकार (१९२८), वररुचि प्राकृत-प्रकाश (१९२६) तथा भरतनाट्यशास्त्र (१९३२ ई०)। इन ग्रन्थों के संस्करणों की उस युग के प्रख्यात समीक्षकों ने शोधपत्रिकाओं में बड़ी प्रशंसा की तथा निर्दिष्ट आविर्भावकाल को प्रमाणित माना। **काव्यालंकार** की विस्तृत अंग्रेजी भूमिका में भामह के आविर्भावकाल का जो गम्भीर निर्णय किया गया है उसका औचित्य तथा प्रामाण्य डॉ० नोबेल (मारबुर्ग विश्वविद्यालय के जर्मन संस्कृतज्ञ) तथा डॉ० तुची (रोम विश्वविद्यालय के इतालियन संस्कृतज्ञ) ने स्वीकार किया है (द्रष्टव्य इंडियन ऐन्टिक्वेरी, १९३०)। प्राकृतप्रकाश का संस्करण संजीवनी एवं सुबोधिनी नामक प्राचीन टीकाओं से संवलित है। **संजीवनी** 'इंडिया आफिस लाइब्रेरी' (लण्डन) के एकमात्र दुर्लभ हस्तलेख के आधार पर है जिसकी विलक्षण लेख-पद्धति ने डॉ० ग्रियर्सन तथा

प्रो० कावेल जैसे आंग्ल संस्कृतज्ञों के दीर्घ प्रयत्नों को असफल कर दिया था। दैवयोग से मुझे इस टीका के प्रथम परिच्छेद की एक सुबोध प्रति 'सरस्वतीभवन' में उपलब्ध हुई जिसके आधार पर उस विचित्र लिपि का रहस्य समझ में आया और पूरे ग्रन्थ का विमर्शात्मक संस्करण प्रस्तुत किया गया। इसका नूतन संस्करण संस्कृतविश्वविद्यालय से चार टीकाओं, हिन्दी अनुवाद, भाषाशास्त्रीय टिप्पणी तथा साधनिका से मण्डित होकर प्रकाशित किया गया है। नाट्यशास्त्र का हस्तलेख बड़ा ही प्रामाणिक तथा विशुद्ध था। फलतः हमलोगों का यह संस्करण काव्यमाला एवं गायकवाड संस्कृत सीरीज से (बड़ौदा में) प्रकाशित संस्करणों से अनेक अंशों में विभिन्न तथा विलक्षण माना गया है। अनेक दशकों तक अप्राप्य रहने के अनन्तर अभी हाल में ही इसका नूतन संस्करण प्रकाशित हुआ है। इन तीन ग्रन्थों के संस्करण निकालने के बाद पण्डित बटुकनाथ शर्माजी का निधन हो गया। फलतः निम्नलिखित मान्य संस्कृत ग्रन्थों का संस्करण मैने अपने ही प्रयास से प्रकाशित किया—

(४) **श्रीहर्ष : नागानन्द**—नवीन संस्कृत टीका तथा हिन्दी अनुवाद के साथ, १६३१ ई०।

(५) **सायण : वेदभाष्यभूमिकासंग्रह**—सायणाचार्य ने अपने वेदभाष्यों के आरम्भ में जो महनीय वैदिक-तथ्य-संवलित भूमिकाएँ निबद्ध की हैं, उन्हीं का एकत्र संग्रह है। आरम्भ में सायण की जीवनी, ग्रन्थ तथा महत्त्व के विषय में गम्भीर विवेचन संस्कृत तथा अंग्रेजी दोनों भाषाओं में है (१६४०)।

(६) **माधवाचार्य : शंकर-दिग्विजय**—ऐतिहासिक भूमिका, विस्तृत दार्शनिक टिप्पण, तथा हिन्दी अनुवाद के साथ श्रवणनाथ ज्ञानमन्दिर हरिद्वार द्वारा प्रकाशित, १६४३।

(७) **नारायण तीर्थ : भक्तिचन्द्रिका**—शाण्डिल्यभक्तिसूत्र की यह प्रमेयबहुला व्याख्या काशी के प्रख्यात संन्यासी नारायणतीर्थ की बहुमूल्य रचना है जिसमें भक्ति-शास्त्र के सम्बन्ध में वैष्णव सम्प्रदायों के सिद्धान्त, भक्ति का वैदिक उद्गम आदि विषयों का विस्तारशः वर्णन है (रचनाकाल १८वीं शती का आरम्भ काल)। ग्रन्थ की प्रस्तावना में मैंने धर्म की महत्ता, वैदिक धर्म के स्वरूप तथा अखिल मतों की उपजीव्यता, भक्ति का वैदिक संहिता में उद्गम, व्याख्या की महत्ता आदि का विस्तृत विवेचन संस्कृतभूमिका में किया है। भक्तितत्त्वविवरण, त्रिविधभक्तिविवरण, 'नारदभक्तिसूत्र' तथा 'भक्तिमीमांसा' नामक प्राचीन भक्तिसूत्रों को सम्मिलित कर स्वप्नेश्वर की प्राचीन व्याख्या से यह संवलित कर दिया गया है (संस्कृतविश्वविद्यालय से प्रकाशित, १६६७ ई०, वाराणसी)। फलतः यह ग्रन्थ भक्तिशास्त्र का सांगोपांग विवेचक तथा भक्तिशास्त्रीय प्रमेयों का महनीय विमर्शात्मक अपूर्व ग्रन्थ है।

(८) **अग्निपुराण**—चौखम्भा से प्रकाशित। आरम्भ में विस्तृत विवेचनात्मक भूमिका से समन्वित, जिसमें पुराणस्थ विषयों का विस्तृत अन्वेषण किया गया है।

(९) **कालिकापुराण**—भगवती कालिका के स्वरूप तथा तत्सम्बन्धी तान्त्रिक उपासना का यह पुराण विधिवत् वर्णन करता है। आरम्भ में तन्त्रशास्त्रीय प्रमेयों तथा अनुष्ठान-विधिविधानों के सुचारु वर्णन से युक्त विस्तृत प्रस्तावना से मैंने इसे मण्डित

किया है। उपपुराण होने पर भी महत्त्व की दृष्टि में यह किसी देवीमहापुराण से न्यून नहीं है।

हिन्दी-ग्रन्थसूची

ईस्वी	पुस्तक-नाम	प्रकाशक
१९२८	रसिक गोविन्द और उनकी कविता	हिन्दी प्रचारणी सभा, बलिया
१९३२	सूक्तिमुक्तावली	हरिदास, मथुरा
१९३२	संस्कृतकविचर्चा	मास्टर खेलाड़ीलाल, काशी
१९३४	संस्कृत साहित्य का इतिहास	शारदा मन्दिर, काशी
१९४२	भारतीय दर्शन	शारदा मन्दिर, काशी
१९४६	आचार्य सायण और माधव	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
	बौद्धदर्शन	शारदा मन्दिर, काशी
१९४७	धर्म और दर्शन	शारदा मन्दिर, काशी
	आर्य संस्कृति के मूलाधार	शारदा मन्दिर, काशी
१९४८	भारतीय साहित्य शास्त्र, द्वितीय खण्ड	प्रसाद परिषद्, काशी
१९४९	भारतीय साहित्य शास्त्र प्रथम खण्ड	प्रसाद परिषद्, काशी
१९५०	आचार्य शंकर	हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग
१९५४	भागवत सम्प्रदाय	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
	वैदिक साहित्य और संस्कृति	शारदा संस्थान, वाराणसी
१९६५	पुराण-विमर्श	चौखम्भा विद्याभवन, काशी
१९६९	संस्कृत शास्त्रों का इतिहास	शारदा मन्दिर, काशी
	संस्कृत वाङ्मय	शारदा मन्दिर काशी
	वैदिक कहानियाँ	शारदा मन्दिर, काशी
१९७०	भारतीय दर्शन सार	सस्ता साहित्य मंडल दिल्ली
	भारतीय वाङ्मय में श्री राधा	विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
	सूक्ति मंजरी	चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी
१९७७	संस्कृत आलोचना	हिन्दी समिति, लखनऊ
	संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास	शारदा संस्थान, काशी
१९७८	बौद्धदर्शन मीमांसा	चौखम्भा पुस्तकालय, वाराणसी
	भारतीय धर्म और दर्शन	चौखम्भा ओरियन्टालिया, काशी
	ज्ञान की गरिमा	सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली
१९७९	भारतीय दर्शन की रूपरेखा	चौखम्भा विश्वभारती, वाराणसी
	काव्यानुशीलन	त्रिपोलिया बाजार, जयपुर
१९८०	वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त	चौखम्भा अमर भारती, काशी
१९८२	काशी की पाण्डित्य-परम्परा	विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
१९८५	भारतीय साहित्य का अनुशीलन	शारदा संस्थान, वाराणसी
	भारतीय धर्म और दर्शन का अनुशीलन	शारदा संस्थान, वाराणसी
१९८७	विमर्शचिन्तामणिः (संस्कृत)	शारदा संस्थान, वाराणसी

अन्य भाषाओं में अनूदित ग्रन्थों की सूची

भाषा	ग्रन्थनाम	अनुवादक	प्रकाशक
उड़िया	भारतीय दर्शन	श्री गोविन्द चन्द्र मिश्र	उत्कल साहित्य अकादमी १९९९
उर्दू	सस्कृत साहित्य का इतिहास	—	सेन्टर ऑफ प्रोमोशन ऑफ उर्दू लिटरेचर, नई दिल्ली
कन्नड़	शकराचार्य	श्री एम० रामचन्द्र शास्त्री	काव्यालय प्रकाशन, मैसूर १९६४
कन्नड़	भारतीय दर्शन	श्री एम० रामचन्द्र शास्त्री	इन्स्टीट्यूट ऑफ कन्नड़ स्टडीज, गंगोत्री, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर १९७०
कन्नड़	भारतीय साहित्य शास्त्र भाग १-२		" " (यत्रस्थ)
कन्नड़	सस्कृत साहित्य का इतिहास	श्री एस० रामचन्द्र शास्त्री	बैगलोर विश्वविद्यालय, बैगलोर १९८०
तेलुगु	भारतीय दर्शन	श्री रामशरण वेकट	साधना तेलानी ग्रन्थ मडल गुन्टूर (श्रौत याग)
नेपाली	सस्कृत कवि चर्चा		काठमाण्डू १९३५
बरमी	बौद्धदर्शन मीमासा		रगून
सिघली	बौद्धदर्शन मीमासा		कोलम्बो, श्रीलका

पुरस्कार

भारतीय दर्शन, शकरदिग्विजय, बौद्धदर्शनमीमासा, भारतीय साहित्यशास्त्र, भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा आदि ग्रन्थ अपने विषय के मार्गदर्शक ग्रन्थ है। ये समस्त ग्रन्थ अपनी प्रामाणिकता, विद्वत्ता, तथा गभीरता के कारण हिन्दीसाहित्यसम्मेलन प्रयाग, हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग, डालमिया ट्रस्ट हरिद्वार आदि विशिष्ट सस्थाओं के द्वारा विभिन्न वर्षों में पुरस्कृत किये गये है। ऐसे विशिष्ट पुरस्कारों की सख्या बीस है। इनमे अन्तिम पुरस्कार उत्तर-प्रदेश शासन, सस्कृत एकेडमी के द्वारा १९८३ ई० मे प्रदत्त 'विश्वसम्कृतभारती' नामक पुरस्कार है जो एक लाख रुपयो का है।

प्राप्त मानद उपाधियाँ एवं अन्य सम्मान

वर्ष	उपाधि/सम्मान	संस्था
१९६७	सर्टिफिकेट ऑफ आनर	भारतसरकार, राष्ट्रपति डॉ० जाकिर हुसेन द्वारा प्रदत्त
१९७२	साहित्यवारिधि	हिन्दीसाहित्यसम्मेलन, प्रयाग
१९७७	वाचस्पति	सम्पूर्णानन्द सस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी
१९८२	कालिदास साहित्य रत्न	कालिदास अकादमी, उज्जैन

१६८३	अभिनन्दनग्रन्थ-समर्पण	गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत संस्थान, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित अभिनन्दनग्रन्थ १६८३
१६८४	पद्मभूषण	भारतसरकार, राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह द्वारा प्रदत्त १६८४

भारतीय दर्शन तथा तन्त्र के अलौकिक मर्मज्ञ विद्वान् पण्डित गोपीनाथ कविराजजी के गाढ़ सम्पर्क तथा सान्निध्य में आने से दर्शनशास्त्र के अध्ययन की ओर मेरी रुचि बढ़ी तथा मैने भिन्न-भिन्न दर्शनों के मूलसिद्धान्तपरक ग्रन्थों का अध्ययन किया। आज से चालीस वर्ष पूर्व हिन्दी में ऐसा कोई सुवोध ग्रन्थ नही था जिसकी सहायता से जिज्ञासु जन तथा विद्यालयीय छात्र दर्शन के गम्भीर तथ्यों को सुबोध भाषा में समझकर अपने ज्ञान की वृद्धि करता। इसी त्रुटि को दूर करने के लिए मैंने सहज-सुवोध शैली में, दुरूह शास्त्रीय भाषा का वर्जन कर, सरल हिन्दी में ग्रन्थ लिखने का प्रयास किया। **भारतीय दर्शन** उसी प्रयास की चरम परिणति है। कविराजजी का परामर्श मुझे सुलभ था। ग्रन्थ को स्थान-स्थान पर उन्होंने अपनी लेखनी से शुद्ध किया जिसके लिये मैं उनका अत्यन्त आभार मानता हूँ। तन्त्रशास्त्र के सिद्धान्तों का विवेचन उन्हीं के परामर्श का परिणाम है। फलत प्रकाशन के वर्ष में यह अखिलभारतीय साहित्यसम्मेलन (प्रयाग) के द्वारा 'मगलाप्रसाद पुरस्कार' के द्वारा सत्कृत तथा सम्मानित किया गया और हिन्दीजगत् ने इस भारतीय दर्शन को एक स्वर से हिन्दी दर्शन-साहित्य का शिरोमणि तथा 'पथिकृत्' ग्रन्थ माना जिसने अन्य लेखकों के लिए तत्त्वज्ञान के विषय में लिखने के मार्ग को प्रशस्त कर दिया। इस ग्रन्थ के प्रणयन से मुझे अपनी लेखनी के ऊपर दृढ़ विश्वास जमा और अपने लेख की प्रभविष्णुता पर आत्मविश्वास जग गया। इस रचना को अखिलभारतीय कीर्ति प्राप्त हुई। इसका अनुवाद उड़िया, तेलुगु तथा कन्नड़ (मैसूर विश्वविद्यालय द्वारा) में किया गया तथा उन भाषाओं के विद्वानों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। आज यह अपने नवम संस्करण के द्वारा जिज्ञासुओं की सेवा कर रहा है।

दर्शनविषयक ग्रन्थो के प्रणयन में मैने मल्लिनाथी पद्धति—'नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते' का यथाशक्ति अनुसरण करने का प्रयत्न किया है। मूल ग्रन्थ के गम्भीर अनुशीलन के आधार पर निर्मित इन महनीय ग्रन्थो में विषय के मौलिक उपन्यास पर विशेष आग्रह किया गया है। साहित्य, सिद्धान्त एवं समीक्षा को दृष्टि में रख कर प्रत्येक दर्शन के साहित्य का, तदनन्तर उसके सिद्धान्तों का तथा उन सिद्धान्तों की अद्वैत दृष्टि से की गई समीक्षा का सुव्यवस्थित रूप से प्रतिपादन किया गया है। भाषा के बोधगम्य तथा शैली के आकर्षक होने से इन ग्रन्थों का अध्ययन करना कभी भी भारभूत प्रतीत नहीं होता। भारतीय दर्शन की इसी शैली का यथावत् अनुसरण मैंने **बौद्धदर्शनमीमांसा** में भी किया है। बौद्धदर्शन के नाना सम्प्रदायों का—हीनयान, महायान, मन्त्रयान, कालचक्रयान आदि का मार्मिक विवेचन ग्रन्थ की मौलिकता का स्पष्ट परिचायक है। इसीलिए मर्मज्ञ आलोचकों की दृष्टि में 'हिन्दी में ही क्यों, अंग्रेजी भाषा में भी इतनी सर्वांगपूर्ण पुस्तक नहीं है जिसमें बौद्ध धर्म तथा दर्शन के इतिहास तथा सिद्धान्तों का इतना प्रामाणिक विवेचन किया गया हो।' इस पञ्चखण्डात्मक ग्रन्थ में बौद्धों के विख्यात सम्प्रदायचतुष्टयी, बौद्धन्याय, बौद्धयोग एवं बौद्धतन्त्र का मार्मिक विवरण ग्रन्थ की विशालता का स्पष्ट प्रमाण है। महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज की सम्मति है कि बौद्धदर्शन का यह सर्वांगीण विवेचन इतना विशाल है

कि इसकी विशालता को देखकर बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् भी आश्चर्य-चकित हो उठेंगे।[१] वे इसे बौद्धधर्म और दर्शन के सिद्धान्त जानने के लिए एक छोटा विश्वकोष ही मानते है। हिन्दी मे अपने विषय की सर्वश्रेष्ठ रचना होने के कारण यह हिन्दी जगत् के सर्वश्रेष्ठ पारितोषिक 'हरजीलाल डालमिया पुरस्कार' से सम्मानित है। बर्मी तथा सिंघली जैसी एशियाई भाषाओं में अनूदित होने का गौरव इस रचना को प्राप्त है।

वेदान्त के दार्शनिक तत्त्व के परिज्ञान के लिए मैंने **आचार्य शंकर** नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया[२] जिसमे आदि शङ्कराचार्य के विस्तृत जीवनचरित, तद्रचित ग्रन्थ, आविर्भाव-काल एव अद्वैत दर्शन के सिद्धान्तो का विशद प्रतिपादन किया गया है। शकरस्थापित पञ्चपीठों के उदय तथा अभ्युदय का तथा पीठासीन आचार्यों का इतिहास-वर्णन इस ग्रन्थ को ऐतिहासिक महत्त्व प्रदान करता है। पुस्तक की प्रामाणिकता एव उपादेयता का अनुमान इसके कन्नड़ अनुवाद से[३] भी लगाया जा सकता है। इसका प्रामाण्य पीठो के वर्तमान आचार्य भी एक स्वर से स्वीकारते है। इस ग्रन्थ का प्रणयन उपलब्ध 'शकरदिग्विजयो' के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित है। इत पूर्व मैने माधवाचार्यरचित **शंकरदिग्विजय** का हिन्दी अनुवाद दार्शनिक तथा ऐतिहासिक टिप्पणियो से तथा विस्तृत ऐतिहासिक भूमिका से सवलित कर प्रकाशित किया था जो इस महनीय ग्रन्थ का प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद है।[४]

उस दिन आदरसवलित विस्मय का भाव अकस्मात् मेरे मन मे जाग्रत हुआ जब काशी मे कामकोटीश्वर शिवमन्दिर के शिलान्यास के अवसर पर काञ्चीमठ के काशीस्थ मन्त्री ने मुझसे शिलान्यास के निमित्त निर्मित गर्त मे पॉच ईंटो को रखने के लिए सातिशय आग्रह किया। उनका कहना था, काञ्चीमठ के शकराचार्य का मेरे लिए यही आदेश है। मेरे आश्चर्य प्रकट करने पर उन्होने कहा कि शकराचार्यजी ने आपके 'आचार्य शकर' के कन्नड अनुवाद को अच्छी तरह पढ़ा है, ग्रन्थ की प्रामाणिकता की वे सराहना करते थे और इसीलिए उनका वह आदेश है। तब मुझे भासित हुआ कि जिस ग्रन्थ का प्रामाण्य परम्परा-पदासीन शकराचार्य स्वय कर रहे है, वह ग्रन्थ अवश्यमेव महत्त्वपूर्ण है। अन्य चारो पीठो के शकराचार्यों की भी इस विषय मे सहमति है। तभी तो श्री करपात्री महाराज ने ज्योतिर्मठ के विवादप्रसग मे मेरे इस ग्रन्थ को प्रयाग के उच्च न्यायालय मे अपना पक्ष सिद्ध करने के लिए साक्षीरूप मे प्रस्तुत किया था। तथास्तु।

भागवत सम्प्रदाय

वैष्णवधर्म के ग्रन्थो तथा सिद्धान्तो का आलोडन कर मैने दो ग्रन्थो का प्रणयन किया है —

(१) भागवत सम्प्रदाय तथा **(२) भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा।**

भागवत सम्प्रदाय का नूतन परिबृंहित सस्करण **वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त** नाम से हाल मे (१९७८ ई०) प्रकाशित किया गया है। वैष्णव-सम्प्रदायों ने भारतीय जनमानस पर तथा भारतीय साहित्य पर जो अपनी अमिट छाप जमाई है, उसका अध्ययन

---

१ I congratulate Pandit Baldeva Upadhyay on having successfully fulfilled a self-imposed and heavy task the enormity of which staggers even giants —Foreword p 28

२ प्रकाशक—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।

३ प्रकाशक—काव्यालय पब्लिशर्स, जयनगर, मैसूर।

४ प्रकाशक—श्रवणनाथ ज्ञानमन्दिर, हरिद्वार।

इस महनीय ग्रन्थ का उद्देश्य है। यह ग्रन्थ वैष्णव समुदायो के तत्त्वज्ञान तथा साधना-सम्बन्धी सिद्धान्तो को प्रकाश मे लाता है तथा बृहत्तर भारत के देशो तथा साहित्य मे व्याप्त वैष्णव प्रभावो का पुखानुपुख रूप से तुलना मूलक विवरण प्रस्तुत करता है। इसका उत्कृष्ट प्रभाव भारतीय साहित्य, कलाकौशल तथा सामान्य जनजीवन पर अधिक परिमाण मे पड़ा है। वैष्णवधर्म के महनीय प्रभाव से भारतीय साहित्य सौन्दर्य तथा माधुर्य का उत्स है। यह मानव जीवन की कोमल एव ललित भावनाओं का अक्षय स्रोत है, जीवनसरिता को सरस मार्ग पर प्रवाहित करने वाला मानसरोवर है। वात्सल्य एव शृगार की नाना अभिव्यक्तियो के चारु चित्रण मे भारतवर्ष का साहित्य जितना सरस तथा रस-स्निग्ध है, उतना ही वह भक्त हृदय की नम्रता, सहानुभूति और आत्मसमर्पण की भावना से कोमल तथा हृदयावर्जक है।[1] वैष्णव धर्म ने ही इस भारतभूमि पर प्रथमत अहिसा का शखनाद किया था जिसकी प्रतिध्वनि जैनधर्म तथा बौद्ध धर्म मे आज भी गूँज रही है। वैष्णव सम्प्रदाय की इन शाखाओं के उद्भव-विकास, साहित्य एव सिद्धान्तो का विवरण इस ग्रन्थ की भूयसी विशिष्टता है।

भारतीय वाङ्मय में श्री राधा

पटना की राष्ट्रभाषापरिषद् की व्याख्यानमाला का परिबृहित तथा परिमार्जित स्वरूप इस ग्र ग मे बड़ी सहृदयता के साथ उपन्यस्त है। श्री राधा के भारतीय साहित्य मे उद्भव एव विकास की अभिराम परम्परा की विशद व्याख्या के कारण यह ग्रन्थ नितान्त प्रौढ, प्रामाणिक तथा प्राञ्जल है। यहाँ तीन आलोको मे राधा चित्रित की गई है। इतिहास, दर्शन तथा साहित्य—इन तीनो के रगीन आलोक मे राधा की उदात्त कल्पना पाठको के सामने एक नितान्त स्निग्ध तथा दिव्य आनन्द की परम्परा प्रस्तुत करती है। इतिहास मे राधा की मूर्ति का स्फुरण कब होता है ? आनन्दरसामृतमूर्ति व्रजनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र की शक्ति के रूप मे राधा वैष्णव दर्शन के क्षितिज पर किस प्रकार उदय लेती है ? दक्षिण तथा उत्तर भारत मे विभिन्नभाषीय साहित्य मे राधा का चित्रण किन रूपो मे किया जाता है। इन व्यापक समस्याओं का समाधान करना इस ग्रन्थ की महती उपलब्धि है। हिन्दीजगत् के एक विशिष्ट दशाक (१९६५ ई०–१९७५ ई०) मे सर्वश्रेष्ठ मौलिक ग्रन्थ की गरिमा मे मण्डित होने से इस ग्रन्थ को प्रयाग की 'हिन्दुस्तानी अकादमी' ने अपने सर्वश्रेष्ठ दो सहस्र रूप्यको के पुरस्कार से पुरस्कृत किया है।[2]

साहित्य-इतिहास एवं आलोचना

सस्कृत का साहित्य विशाल एव वैविध्यसम्पन्न है। वेद, पुराण, ललित साहित्य (दृश्यकाव्य, श्रव्यकाव्य, गीतिकाव्य एव खण्डकाव्य), शास्त्रीय साहित्य—इन विविध खण्डो मे विभक्त सस्कृतसाहित्य का इतिहास निबद्ध करना बडी विषम समस्या है, परन्तु इस समस्या का मैने यथाशक्ति नाना ग्रन्थों के प्रणयन द्वारा समाधान करने का अश्रान्त प्रयास किया है। **वैदिक साहित्य और संस्कृति**[3] वेद के विपुल साहित्य एव धार्मिक, सामाजिक दशा का विवरण प्रस्तुत कर भारतीय समीक्षको एव पाश्चात्त्य आलोचको की विचारधाराओं को एक साथ आलोचनात्मक ढग से उपस्थित करता है। **आचार्य सायण और माधव**[4] वेद के अनुशीलन

---

१ विशेष द्रष्टव्य—वैष्णव सम्प्रदायो का साहित्य-सिद्धान्त, पृ० २२।

२ प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६५ ई०।

३ प्रकाशक—शारदा संस्थान वाराणसी, पंचम सस्करण, १९८० ई०।

४ प्रकाशक—हिन्दी साहित्यसम्मेलन, प्रयाग।

का इतिहास तथा वेदभाष्यकार सायणाचार्य और उनके प्रेरक अग्रज गुरुकल्प माधवाचार्य के जीवनचरित्र, ग्रन्थ तथा साहित्यिक महत्त्व का प्रतिपादन कर पूर्व ग्रन्थ का पूरक ग्रन्थ कहलाने की योग्यता रखता है। पुराणसाहित्य का अनुशीलन **पुराणविमर्श**[1] का विषय है जिसमें पुराण का लक्षण, देशकाल, पौराणिक भूगोल, पौराणिक धर्म और देवता, पौराणिक प्रतीकवाद तथा वेदार्थ का उपबृहण आदि विषयो का विशद विवरण ग्रन्थ की अपूर्वता तथा परिपूर्णता का पर्याप्त दिग्दर्शन है।

संस्कृतसाहित्य का इतिहास[2] देववाणी के ललित साहित्य के स्वरूप, उदय तथा अभ्युदय, कविकृति तथा उनकी आलोचना बड़े ही विस्तार तथा वैशद्य के साथ प्रस्तुत करता है। साहित्य के प्रेरक तथा उपजीव्य ग्रन्थो मे रामायण तथा महाभारत के साथ श्रीमद्भागवत को साहित्य की मुख्यधारा मे लाने का तथा मध्ययुगीन भक्तिसाहित्य पर उसके अन्तरग प्रभाव के द्योतन का श्रेय इसी ग्रन्थ को प्राप्त है। इसमे दिखलाया गया है कि किस प्रकार रामायण, पञ्चतन्त्र तथा चाणक्यनीतिशास्त्र ने विश्व मे भ्रमण कर नानादेशीय साहित्य पर अपनी अमिट छाप डाली है और सप्रमाण सिद्ध किया है कि सस्कृतसाहित्य एकागी साहित्य न होकर सर्वाङ्गीण साहित्य है जिसकी प्रभा से विश्वसाहित्य उद्द्योतित हुआ है तथा जिसने अपने सास्कृतिक सन्देश से इस वैविध्यपूर्ण जगत् का महान् उपकार किया है। यह ग्रन्थ मनुस्मृति के इस विश्रुत तथ्य का भाष्य प्रस्तुत करता है जो भारतवर्ष तथा सस्कृत भाषा को ही सस्कृति का आदिवाहक, प्रभावक तथा प्रेरणास्रोत सिद्ध करता है।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

इसका कन्नड भाषा मे विशद अनुवाद कर्नाटक प्रदेश मे नितान्त लोकप्रिय हुआ है। इससे अधिक आश्चर्यमयी घटना है इसका उर्दू अनुवाद, जो 'केन्द्रीय उर्दू सस्थान' के द्वारा प्रस्तुत होकर उर्दूभाषीय बुद्धिजीवियो को सस्कृतसाहित्य की दिव्य विभूति एव लालित्य का परिचय प्रदान करता है।

संस्कृत-शास्त्रों का इतिहास[3] इसी का पूरक ग्रन्थ है जो सस्कृत के छ महनीय शास्त्रो—आयुर्वेद, ज्योतिष, साहित्यशास्त्र, छन्द शास्त्र, कोशविद्या एव व्याकरणशास्त्र का सागोपाग ऐतिहासिक तथा विमर्शात्मक प्रतिपादन कर सस्कृत मे निबद्ध शास्त्रीय विषयो का ऐतिहासिक दृष्टि से आलोचन करने का अवसर प्रदान करता है।

सस्कृत भाषा के आलोचनाशास्त्र के गूढ सिद्धान्तो के परिचय के निमित्त मैने दो ग्रन्थों का प्रणयन किया है—**संस्कृत आलोचना**[4] तथा **भारतीय साहित्यशास्त्र**[5] (दो खण्ड)। प्रथम ग्रन्थ सस्कृत-आलोचना-शास्त्र के महनीय सिद्धान्तो का प्रतिपादन है जिसमें काव्य, काव्यरूप एव काव्य-सिद्धान्त का विशद विवेचन बड़ी ही सरल सुखद शैली मे किया गया है। दूसरा ग्रन्थ बड़ा विशाल है। यह साहित्यशास्त्र का शृखलाबद्ध इतिहास प्रस्तुत कर आलोचना के विभिन्न सम्प्रदायो के—रस, रीति, गुण, अलकार आदि के उदय एव अभ्युदय का ऐतिहासिक

---

१. प्रकाशक—चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९७९ ई० (द्वि० सं०)।
२. प्रकाशक—शारदा सस्थान, वाराणसी, दशम सस्करण (१९७८ ई०)।
३. प्रकाशक—शारदा संस्थान, वाराणसी १९६७ ई०।
४. प्रकाशक—हिन्दी समिति, लखनऊ (तृतीय सं०)।
५. प्रकाशक—नन्दकिशोर एण्ड सन्स, वाराणसी (तृतीय सं०)।

अनुशीलन भी प्रस्तुत करता है। इसके दूसरे भाग में औचित्य, रीति, वृत्ति तथा वक्रोक्ति नामक काव्य-तत्त्वों का निरूपण ऐतिहासिक दृष्टि से किया गया है। तुलनात्मक दृष्टि से तथ्य-प्रतिपादन इसे गौरव प्रदान करता है। पाश्चात्त्य आलोचना में इन तत्त्वों के समानान्तर तत्त्वों का विवेचन किस प्रकार किया गया है ? इसका विशद विवेचन आलोचना के नये आयामो की दिशा प्रदर्शित करता है।

निष्कर्ष यह कि सस्कृत भाषा में निबद्ध विशाल साहित्य के स्वरूप तथा महत्त्व के प्रतिपादन का कठिन कार्य अत्यन्त निष्ठा से निष्पन्न कर ग्रन्थकार अन्त सन्तोष का अनुभव कर रहा है कि अज्ञात तथा अल्पज्ञात विषयों का विशेष विवरण देकर उसने उन्हें सुज्ञात तथा परिज्ञात बनाने का यथाशक्ति प्रयास किया है।

परिवार-परिचय

मेरे पिताजी पण्डित रामसुचित उपाध्याय के एक ही अनुज थे पण्डित राम उदित उपाध्यायजी। इनकी चर्चा ऊपर की गई है। व्याकरण तथा साहित्य के गम्भीर विद्वान् होने के अतिरिक्त ये एक कर्मठ एव व्यवहार-कुशल व्यक्ति थे। इन्होने बलिया नगर मे स्थापित 'जुबिली संस्कृत पाठशाला' को अपनी व्यवहार कुशलता से एक महनीय महाविद्यालय (कालेज) का रूप प्रदान कर सस्कृत के प्रचार-प्रसार मे विशेष योगदान दिया। इनके आत्मज पण्डित ब्रह्मदेव उपाध्यायजी ज्योतिष, कर्मकाण्ड तथा वैद्यक के अच्छे विद्वान् थे। इनके तीन पुत्र है और ये तीनों ही अपने-अपने विषय के डॉक्टर है—डॉ० शिवशकर उपाध्याय, बिहार विश्व विद्यालय मुजफ्फरपुर मे संस्कृतविभाग के रीडर है, जिनका अग्रेजी में निबद्ध नारदपुराण-विषयक महानिबन्ध भक्तिशास्त्र का गम्भीर विवेचक तथा दार्शनिक तथ्यों का प्रकाशक है। मध्यम पुत्र डॉ० उमाशंकर उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय में गणित के अध्यापक है तथा कनिष्ठ पुत्र डॉ० कन्हैया शंकर उपाध्याय भी प्रयाग विश्वविद्यालय में गणितविभाग के लोकप्रिय व्याख्याता है।

मेरे दोनों अनुज अपने विषय के लब्धकीर्ति प्राध्यापक एव लोकप्रिय ग्रन्थरचयिता है। डॉ० वासुदेव उपाध्याय पटना विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग के रीडर थे जिन्होंने अनेक विद्वत्तापूर्ण इतिहास तथा कला-विषयक ग्रन्थों का प्रणयन कर अखिलभारतीय कीर्ति अर्जित की है। 'गुप्तसाम्राज्य का इतिहास' (दो भाग) लिख कर इन्होंने कम उम्र में ही मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त किया था। प्राचीन भारत के इतिहास, शिलालेख तथा कला के मर्मज्ञ होने के कारण इनके ग्रन्थ विद्वानों के द्वारा प्रशसित तथा लोकप्रिय हैं। इनके नाम हैं—विजयनगर साम्राज्य का इतिहास (सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली), पूर्व-मध्यकालीन भारत, भारतीय गौरव (लीडर प्रेस, प्रयाग), भारत के प्राचीन ग्राम (भार्गव प्रेस, प्रयाग), प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान (चौखम्भा सस्कृत सीरीज, वाराणसी), प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन (दो भागों में विभक्त), प्राचीन भारतीय मुद्राएँ (प्रज्ञा प्रकाशन, पटना), 'भारत के प्राचीन स्तूप, गुहा तथा मन्दिर', गुप्त अभिलेख 'बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना), अग्रेजी में 'सोशियो-रिलिजस कण्डिशन आफ नार्थ इण्डिया' तथा 'क्रिमिनोलाजी' (चौखम्भा विश्वभारती, वाराणसी)। इन ग्रन्थों के ऊपर इन्हें अनेक पुरस्कार तथा पदक प्राप्त हुए थे जिनके नाम हैं—मंगलाप्रसाद पुरस्कार, जोध सिंह पुरस्कार, बगाल हिन्दी-मण्डल पुरस्कार, हीरालाल स्वर्णपदक एवं गुलेरी पदक, हनुमान मन्दिर पुरस्कार (कलकत्ता)। इन्हें दिवंगत हुए अभी दो-चार वर्ष ही व्यतीत हुए है। इनके दोनों पुत्र तथा पौत्र उच्चशिक्षाप्राप्त हैं तथा सरस्वती

की सेवा मे लगे हुए है—सुरेन्द्रनाथ उपाध्याय (प्राध्यापक, केन्द्रीय विद्यालय, राँची), डॉ० विजयशकर उपाध्याय (रीडर, नृतत्त्व-विज्ञान विभाग, राँची विश्वविद्यालय), पौत्र राजेश कुमार उपाध्याय (राँची कालेज मे विज्ञान-व्याख्याता, राँची)।

मेरे द्वितीय अनुज है—डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय जो भारतीय लोकसस्कृति के प्रौढ़ विद्वान् के रूप मे विद्वद्गोष्ठी मे नितरा प्रसिद्ध है। ये भोजपुरी भाषा तथा साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् माने जाते है। अपने उत्कृष्ट वैदुष्य के कारण इंगलैण्ड, अमेरिका तथा यूरोप मे अनेक बार निमन्त्रित होकर अनेक विश्वविद्यालयो मे भारत की लोक सस्कृति तथा समाज-विज्ञान पर व्याख्यान दिया है। जर्मनी के मारबुर्ग मे आयोजित जर्मन लोक-साहित्य-सम्मेलन मे एकमात्र भारतीय प्रतिनिधि के रूप मे सम्मिलित हुए (१९६५ ई०) तथा अगले वर्ष गटिगन विश्वविद्यालय मे भारतीय लोक-सस्कृति पर व्याख्यान दिया सम्मानित प्रोफेसर के रूप मे (१९६६ ई०)। रोमानिया के बुखारेस्ट नगर मे सयोजित अन्तर्राष्ट्रीय फोकलोर काग्रेस मे भारतसरकार का प्रातिनिध्य किया (१९६९ ई०)। अमेरिका मे इण्डियाना विश्वविद्यालय के द्वारा निमन्त्रित होकर भारतीय लोकसस्कृति पर व्याख्यान दिया (१९६६ ई०) तथा जार्जिया के एटलान्टा विश्वविद्यालय मे भी भारतीय लोकगीतो तथा लोक कला के ऊपर भाषण किया (१९८० ई०)। भारतीय लोकसस्कृति के विषय मे एक सस्थान की स्थापना की है (वाराणसी मे) जहाँ से एतद् विषयक अनेक ग्रन्थो का प्रकाशन हुआ है। इन्होने भारत के लोकसस्कृति विषयक ज्ञान के प्रचार प्रसार मे अपने जीवन को सर्वथा समर्पित कर दिया है। इन्होने इस विषय मे अनेक प्रौढ़, विद्वत्तापूर्ण तथा ज्ञानवर्धक ग्रन्थो का प्रणयन तथा सम्पादन किया है। (१) मौलिक ग्रन्थ—भोजपुरी और उसका साहित्य, भोजपुरी साहित्य का इतिहास, लोक-साहित्य की भूमिका, हिन्दूविवाह की उत्पत्ति एव विकाश, आचलिक रेखाचित्र। (२) सम्पादित ग्रन्थ—भोजपुरी लोकगीत (२ भाग, हिन्दीसाहित्यसम्मेलन, प्रयाग), भारतीय लोक-सस्कृति, हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास भाग १६ (लोकसाहित्य, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी), अवधी लोकगीत। अग्रेजी मे भी ग्रन्थो का प्रणयन तथा संपादन किया है जिनके नाम है—फोकलोर आफ उत्तर प्रदेश, इण्डियन फोकलोर, स्टडीज इन इण्डियन फोक कल्चर, सम ऐस्पेक्ट्स आफ इण्डियन फोक कल्चर।

इनके दोनो पुत्र उच्चशिक्षा प्राप्त है तथा भारतीय विद्या के प्रशिक्षण मे सलग्न है। प्रथम पुत्र डॉ० हरिशकर उपाध्याय अमेरिका मे जार्जिया स्टेट के एटलाण्टा विश्वविद्यालय मे भारतीय इतिहास तथा समाज शास्त्र के प्राध्यापक है तथा द्वितीय पुत्र डॉ० रविशकर उपाध्याय अपने पिता के ही पद चिह्नो का अनुसरण कर हिन्दी तथा भोजपुरी के गम्भीर अध्ययन मे सलग्न है।

मेरे दोनो आत्मज विद्या के क्षेत्र मे उच्च शिक्षा प्राप्त कर सरस्वती की सेवा मे समर्पित जीवन बिता रहे है। मेरे ज्येष्ठ पुत्र गौरीशकर उपाध्याय एम० ए० (सस्कृत तथा हिन्दी) हाल ही मे सामाजिक शिक्षा के सहायक निदेशक पद से सेवानिर्मुक्त हुए है। कनिष्ठ पुत्र डॉ० गोपाल शकर उपाध्याय धातुकी विभाग, आई० आई० टी० (कानपुर) मे वरिष्ठ प्रोफेसर के पद पर नियुक्त है। इन्होने धातुकी (मेटलर्जी) की उच्च शिक्षा रूस के मास्को विश्वविद्यालय से प्राप्त की है, रूसी भाषा के अच्छे ज्ञाता हैं और उसी भाषा मे अपने मौलिक वैज्ञानिक ग्रन्थ का प्रणयन भी किया है। अपनी वैज्ञानिक तथा तकनीकी विद्वत्ता के कारण 'पाउडर मेटलर्जी' विषयक अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विद्वद्गोष्ठियो (सेमिनार) में समादृत होकर यूरोप तथा अमेरिका

का अनेक बार भ्रमण किया है। मेरे पाँच पौत्रों में से गोपालजी के दोनों पुत्र—अनीश तथा आशीष—अभी बालक हैं और स्कूल में शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। तीनों वयस्क पौत्र गौरीशंकरजी के पुत्र हैं। तीनों ही उच्च शिक्षा प्राप्त कर विभिन्न संस्थानों में कार्य कर रहे हैं। डॉ० लक्ष्मीनारायण (एम० एस-सी०, पी-एच० डी०) केन्द्रीय शासन द्वारा स्थापित 'इण्डियन स्कूल आफ माइन्स' (धनबाद, बिहार) में सांख्यिकी का व्याख्याता है; मेरा प्रथम प्रपौत्र सिद्धार्थ तथा प्रपौत्री श्रुति इसी पौत्र की सन्तानें हैं। सुधीरनारायण (एम० ए०) पुस्तकालयविज्ञान की प्रौढ़ शिक्षा प्राप्त कर राजकीय डिग्री कालेज (चकिया, वाराणसी) का वरिष्ठ पुस्तकालयाध्यक्ष है और उनकी पुत्री सौम्या है। सुनील नारायण (एम० एस-सी०) वाणिज्य-प्रबन्धशास्त्र की उच्च शिक्षा प्राप्त कर काशी में ही एक विख्यात उद्योग-सस्थान में कार्य-निरत हैं और उन्हीं के दो पुत्र हैं। मेरा वरिष्ठ दौहित्र डॉ० रवीन्द्रकुमार दूबे आजकल आई० आई० टी० कानपुर में धातुकी विभाग में प्रोफेसर है। इसने इगलैण्ड के वेल्स विश्वविद्यालय में बड़े परिश्रम से अपने विज्ञान में उल्लेखनीय अनुसन्धान किया है। गोपाल तथा रवीन्द्र कुमार—दोनों का सम्मिलित वैज्ञानिक ग्रन्थ अग्रेजी में आक्सफोर्ड से सम्मान के साथ प्रकाशित हुआ है। ग्रन्थ की महत्ता से प्रेरित होकर उसका अनुवाद स्पेनी भाषा मे अर्जेन्टाइना (दक्षिणी अमेरिका) से प्रकाशित हुआ है तथा सुयोग्य वैज्ञानिकों के द्वारा बहुशः समादृत तथा चर्चित है। इसका आत्मज अभिषेक एउ निखिल विद्यालय में पढ़ते है। इधर कई वर्षों से रवीन्द्रजी प्राचीन भारतीय धातु-शास्त्र पर भी महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे है। सस्कृत वाङ्मय में यत्र-तत्र उपलब्ध धातु-सम्बन्धी सामग्री को उन्होंने एकत्र कर उसका वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करने का स्तुत्य कार्य किया है। इस दिशा में प्रकाशित उनके लेख अन्तर्राष्ट्रीय एव राष्ट्रीय विद्वानों द्वारा समादृत हुए है। महाभारत में यह वर्णन आया है कि राजसूय यज्ञ के अवसर पर युधिष्ठिर को अनेक राजाओं ने ढेर की ढेर पिपीलक स्वर्ण भेंटस्वरूप प्रदान किया है—

मेरुमन्दरयोर्मध्ये शैलोदामभितो नदीम् ।
ये ते कीचकवेणूनां छायां रम्यामुपासते ॥
खसा एकासना ह्यर्हा प्रदरा दीर्घवेणवः ।
पारदाश्च कुलिन्दाश्च तंगणाः परतगणाः ॥
तद् वै पिपीलिकं नाम उद्धृतं यत् पिपीलिकैः ।
जातरूपं द्रोणमेयमहार्षुः पुंजशो नृपाः ॥

—सभापर्व, ५२, २-४

रवीन्द्रजी ने अपने विशद वैज्ञानिक विवेचन से यह सिद्ध किया है कि पिपीलक स्वर्ण अत्यधिक शुद्धता वाला स्वर्ण-चूर्ण था, जो चींटियों एवं दीमकों द्वारा एकत्रित स्वर्णयुक्त मिट्टी से पैनिग (Panning) विधि द्वारा प्राप्त किया जाता था। प्राचीन ग्रीक इतिहासकारों हिरोडोटस, प्लीनी आदि ने भी भारत में उपलब्ध Ants' Gold के बारे में अपनी पुस्तकों में लिखा है। रवीन्द्रजी ने उसकी भी वैज्ञानिक विवेचना कर सिद्ध किया है कि यह महाभारत में वर्णित पिपीलक स्वर्ण से भिन्न था। उनका कार्य शास्त्र, इतिहास एवं तकनीक के मिले-जुले पटल पर अवस्थित है। रवीन्द्रजी इसी प्रकार प्राचीन भारतीय धातु-शास्त्र की अस्मिता में श्रीवृद्धि करते रहें—यही भगवान् भूतभावन बाबा विश्वनाथ से प्रार्थना है।

इस प्रकार मेरे परिवार के समग्र सदस्य उच्च शिक्षा से मण्डित हैं, अपने-अपने ढग से भगवती शारदा की सेवा में समर्पित हैं तथा भारतीय विद्या के प्रचार-प्रसार में संलग्न है।

मेरे परिवार का महिलावर्ग भी पर्याप्तरूपेण शिक्षित एवं प्रबुद्ध है। मेरी भ्रातुष्पुत्री श्रीमती निर्मला उपाध्याय (एम० ए०) राँची के एक महनीय शिक्षासस्थान में प्राध्यापिका है। मेरी कनिष्ठ पुत्री डॉ० मालती त्रिपाठी ने 'वामनपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन' शीर्षक बड़े ही उपयोगी महानिबन्ध (थीसिस) का प्रणयन किया है जिसमें वामनपुराण के वर्ण्य विषयो का बड़ा ही सांगोपांग विवेचन है। मेरी एकमात्र पौत्री डॉ० सुषमा त्रिपाठी हिन्दू विश्वविद्यालय के 'महिला महाविद्यालय' में साख्यिकी विभाग की प्राध्यापिका है। सांख्यिकी-विषयक उसकी थीसिस जर्मन परीक्षक के द्वारा बहुशः प्रशसित की गई है। मेरी कनिष्ठ पुत्र-वधू डॉ० गीता उपाध्याय का महानिबन्ध 'पोलिटिकल थाट इन सस्कृत काव्य' सस्कृतकाव्यों में राजनीति के तथ्यों का निरूपण कर सामयिकता से सुतरा मण्डित है। इसमें राजनीति-विषयक नवीन तथ्यों का सकलन बड़ी विद्वत्ता से किया गया है। मेरी दौहित्र-वधू डॉ० मजु दूबे का महानिबन्ध 'कन्सेप्ट आफ गाड इन वैष्णव फिलासोफिकल सिस्टम्स' वैष्णव दर्शनो में बहुश. चर्चित ईश्वर के स्वरूप का विवेचन बड़े पाण्डित्य तथा अनुसन्धान के साथ करता है तथा रामानुज, निम्बार्क, मध्व तथा वल्लभ के दर्शनों मे वर्णित ईश्वर के तुलनात्मक रूप का विवरण प्रस्तुत कर जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी तात्त्विक सामग्री प्रस्तुत करता है। मेरी कनिष्ठ भ्रातुष्पुत्री डॉ० वीणा द्विवेदी ने अपने 'पद्मावत मे लोकसस्कृति' नामक महानिबन्ध मे जायसी के काव्य का अध्ययन एक नई दिशा से किया है जो सर्वथा प्रशसनीय है।

अन्त मे, मै अपनी चिरजीवन-सगिनी श्रीमती शिवमुनि देवी, जिसका निधन फाल्गुन शुक्ल त्रयोदशी (= २० मार्च १९८९) को हुआ, के विषय मे दो-चार शब्द कहना अप्रासगिक नहीं समझता। यह देवी मेरी रचनाओं के अन्तराल मे छाया के समान सर्वदा विद्यमान रही है। गृहस्थी का समग्र बोझ अपने ऊपर लेकर इसने मुझे सासारिक झझटो से सदा मुक्त रखा था और ऐसे शान्त वातावरण का निर्माण किया था, जो लेखन के लिए आवश्यक मानसिक संतुलन का व्यवस्थापक होता है। अपने एकमात्र भाई के सन्तान- रहित होने के कारण यह अपने मातृकुल के लिए सदा चिन्तित रहती थी। विधि की जैसी विडम्बना! अपनी रचनाओं की प्रेरणाशक्ति के रूप मे इस सौभाग्यशालिनी का गुण मानता हुआ मै यही अपना परिचय समाप्त करता हूँ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः !

काशीस्थविदुषामेषा चर्चा चर्यासमन्विता।
विश्वनाथ-पदाम्भोजे सप्रमोदं समर्प्यते ॥



परिशिष्ट १

वाराणसी-माहात्म्य : पुराणों में

वाराणसी का माहात्म्य पुराणसाहित्य में विशेषरूप से प्राप्त होता है। पुराण के स्थलों का निर्देश यहाँ दिया जाता है—

अग्निपुराण	अध्याय ११२ । १–७
कूर्मपुराण	प्रथम भाग २९ अ०
नारदपुराण	प्रथम भाग ६ अ० । ३४–७०
	द्वितीय भाग २९ अ० । १–७२
	द्वितीय भाग अ० ४८–५१
पद्मपुराण	तृतीय खण्ड अ० ३३–३६
मत्स्यपुराण	तृतीय खण्ड अ० १७९ से १८४ तक
लिङ्गपुराण	प्रथम भाग अ० १०३ । ७–७८
वामनपुराण	प्रथम भाग अ० ३ । ३१–३६
शिवपुराण	चतुर्थ खण्ड अ० २३ । १–५७
स्कन्दपुराण	चतुर्थ (काशी) खण्ड, अ० २५, २६, ३०, ६४

स्कान्दे काशीखण्डे काशीमाहात्म्यम्—

कार्त्तिकेयः अगस्त्य प्रति—पञ्चविंशतितमेऽध्याये—

भूर्भुवः स्वस्तले वापि न पातालतलेऽमलम्
नोर्ध्वलोके मया दृष्टं तादृक् क्षेत्रं क्वचिन्मुने ॥ २१ ॥
न तत्पुण्यैर्न तद्दानैर्न तपोभिर्न तज्जपैः ।
न लब्धं विविधैर्यज्ञैर्लभ्यमैशादनुग्रहात् ॥ २३ ॥
ईश्वरानुग्रहादेव काशीवासः सुदुर्लभः ।
सुलभः स्यान्मुने नूनं न वै सुकृतकोटिभिः ॥ २४ ॥
अन्यैव काचित् सा सृष्टिर्विधातुर्यातिरेकिणी ।
न तत्क्षेत्रगुणान् वक्तुमीश्वरोऽपीश्वरो यतः ॥ २५ ॥
अहो मतेः सुदौर्बल्यमहो भाग्यस्य दौर्विधम् ।
अहो मोहस्य माहात्म्यं यत्काशीह न सेव्यते ॥ २६ ॥
यावज्जीवं वसेद् यस्तु क्षेत्रमाहात्म्यविभ्रमः ।
जन्ममृत्युभयं हित्वा स याति परमां गतिम् ॥ ६४ ॥
ब्रह्महा योऽभिगच्छेद्वै दैवाद्वाराणसीं पुरीम् ।
तस्य क्षेत्रस्य माहात्म्याद् ब्रह्महत्या निवर्तते ॥ ६६ ॥
अविमुक्तं न मुञ्चेत संसारभयमोचनम् ।
प्राप्य विश्वेश्वरं देवं न स भूयोऽभिजायते ॥ ७० ॥

कूर्मपुराणे—प्रथमभागे—२६ अध्याये—

न दानैर्न तपोभिश्च न यज्ञैर्नापि विद्यया ।
प्राप्यते गतिरुत्कृष्टा याऽविमुक्तेन लभ्यते ॥ २१ ॥
अविमुक्तं परं ज्ञानमविमुक्तं परं पदम् ।
अविमुक्तं परं तत्त्वमविमुक्तं परं शिवम् ॥ ४३ ॥
ये स्मरन्ति सदा कालं विन्दन्ति च पुरीमिमाम् ।
तेषां विनश्यति क्षिप्रमिहामुत्र च पातकम् ॥ ७३ ॥

गायन्ति सिद्धाः किल गीतकानि ये वाराणस्यां निवसन्ति विप्राः ।
तेषामथैकेन भवेद् विमुक्तिर्ये कृत्तिवासं शरणं प्रपन्नाः ॥ ३० ॥

—अध्याये २६

मात्स्ये देवी प्रति सदाशिवस्य उक्तिः—१८० अध्याये

विषयासक्तचित्तोऽपि त्यक्तधर्मरतिर्नरः ।
इह क्षेत्रे मृतः सोऽपि संसारं न पुनर्विशेत् ॥

वाराणसी तु भुवनत्रयसारभूता रम्या सदा मम पुरी गिरिराजपुत्रि ।
अत्रागता विविधदुष्कृतकारिणोऽपि पापक्षयाद्विरजसः प्रतिभान्ति मर्त्याः ॥ ७८ ॥
एतत् स्मृतं प्रियतमं मम देवि नित्यं क्षेत्रं विचित्रतरुगुल्मलतासुपुष्पम् ।
अस्मिन्मृतास्तनुभृतः पदमाप्नुवन्ति मूर्खाऽऽगमेन रहितापि न संशयोऽत्र ॥ ७९ ॥

—१८१ अध्याये तत्रैव

अविमुक्ते परा सिद्धिरविमुक्ते परा गतिः ।
जप्तं दत्तं हुतं चेष्टं तपस्तप्तं कृतं च यत् ॥ १६ ॥
ध्यानमध्ययनं दानं सर्वं भवति चाक्षयम् ।
जन्मान्तर-सहस्रेण यत्पापं पूर्वसञ्चितम् ॥ १७ ॥
अविमुक्ते प्रविष्टस्य तत्सर्वं व्रजति क्षयम् ।
अविमुक्ताग्निना दग्धमग्नौ तूलमिवाहितम् ॥ १८ ॥

लिङ्गपुराणे प्रथमभागे १०३ अध्याये—

किं मया वर्ण्यते देवि ह्यविमुक्तफलोदयः ।
पापिनां यत्र मुक्तिः स्यान्मृतानामेकजन्मना ॥ ७५ ॥
अन्यत्र तु कृतं पापं वाराणस्यां विनश्यति ।
वाराणस्यां कृतं पापं पैशाच्यनरकावहम् ।
कृत्वा पापसहस्राणि पिशाचत्वं वरं नृणाम् ॥ ७६ ॥
न तु शक्रसहस्रत्वं स्वर्गे काशीपुरीं विना ॥ ७७ ॥

वामने समीक्षितसंस्करणे—तृतीयाध्याये—

विलासिनीनां रशनास्वनेन श्रुतिस्वनैर्ब्राह्मणपुङ्गवानाम् ।
शुचिस्वरत्वं गुरवो निशम्य हास्यादशासन्त मुहुर्मुहुस्तान् ॥ ३१ ॥
व्रजत्सु योषित्सु चतुष्पथेषु, पदान्यलक्तारुणितानि दृष्ट्वा ।
ययौ शशी विस्मयमेव यस्यां किं स्वित् प्रयाता स्थलपद्मिनीनाम् ॥ ३२ ॥
तुङ्गानि यस्यां सुरमन्दिराणि रुन्धन्ति चन्द्रं रजनीमुखेषु ।
दिवापि सूर्यं पवनाप्लुताभिः दीर्घाभिरेवं सुपताकिकाभिः ॥ ३३ ॥

भृङ्गाश्च यस्यां शशिकान्तभित्तौ प्रलोभ्यमानाः प्रतिबिम्बितेषु ।
आलेख्ययोषिद्विमलाननाब्जेष्वीयुर्भ्रमाश्चैव च पुष्पकान्तरम् ॥ ३४ ॥
परिभ्रमश्चापि पराजितेषु नरेषु संमोहन-खेलनेन ।
यस्यां जलक्रीडनसंगतासु न स्त्रीषु शंभो गृहदीर्घिकासु ॥ ३५ ॥
न चैव कश्चित् परमन्दिराणि रुणद्धि शंभो सहसा ऋतेऽक्षान् ।
न चाबलानां तरसा पराक्रमं करोति यस्यां सुरतं हि मुक्त्वा ॥ ३६ ॥
पाशग्रन्थिर्गजेन्द्राणां दानच्छेदो मदच्युतौ ।
यस्यां मानमदौ पुंसां करिणां यौवनागमे ॥ ३७ ॥
प्रियदोषाः सदा यस्यां कौशिका नेतरे जनाः ।
तारागणेऽकुलीनत्वं गद्ये वृत्तच्युतिर्विभो ॥ ३८ ॥
भूतिलुब्धा विलासिन्यो भुजंगपरिवारिताः ।
चन्द्रभूषितदेहाश्च यस्यां त्वमिव शंकर ॥ ३९ ॥



परिशिष्ट २

अर्थवत्त्वपरिष्कारः

पाणिनीयशब्दानुशासने प्रातिपदिकसंज्ञाविधानार्थं सूत्रद्वयं प्रवर्तते— अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् कृत्तद्धितसमासाश्चेति । तत्र प्रथमसूत्रेण प्रकृतिप्रत्ययविभागरहितस्य कस्मिंश्चिदर्थे रूढस्य शब्दस्य प्रातिपदिकसंज्ञा भवति । द्वितीयेनोत्तरसूत्रेण तु प्रकृतिप्रत्ययविभागवतोऽर्थवतः शब्दस्वरूपस्य भवति प्रातिपदिकसंज्ञा । उभयत्र प्रातिपदिकार्थमर्थवच्छब्दस्वरूपमावश्यकमस्ति । तत्र किन्नामार्थवत्त्वमिति जिज्ञासायां ? प्राचीनवैयाकरणैः प्रथमसूत्रे अर्थविषयकबोधजनकत्वमर्थवत्त्वम् द्वितीयसूत्रे च एकार्थीभावेन लौकिकप्रयोगे प्रसिद्धत्वमर्थवत्त्वमिति द्विविधमर्थवत्त्वं स्वीकृतम् । द्विविधार्थवत्त्वस्वीकारे तेषां तात्पर्यमिदमस्ति यत् अर्थविषयकबोधजनकत्वमर्थवत्त्वमिति लक्षणं सामान्यतः प्रत्ययमात्रेऽपि संगच्छते, तेन हरिषु इत्यत्र सोरपि प्रातिपदिकसंज्ञा माभूदेतदर्थं पूर्वसूत्रे अप्रत्ययः इति पर्युदासो भवति सार्थकः । यद्येवंभूतमर्थवत्त्वं तत्र न स्यात्तदा 'अप्रत्ययः' इति पर्युदासो व्यर्थ एव भवेत् । हरिषु इत्यत्र प्रत्ययस्य प्रातिपदिकसंज्ञाफलन्तु औत्सर्गिकैकवचनापत्तिरिति बोध्यम् ।

कृत्तद्धित-समासाश्चेत्युत्तरसूत्रे तु 'कृत्तद्धितान्तञ्चैवार्थवन्न केवलाः कृतस्तद्धिता वेति भाष्योक्तसिद्धान्तात्', धात्वादीनां विशुद्धानां लौकिकोऽर्थो न विद्यते इति हरिवचनाच्च एकार्थीभावेन लौकिकप्रयोगे प्रसिद्धत्वमर्थवत्त्वमित्युक्तम् । एकार्थीभावश्च शब्दविशिष्टा काचिच्छक्तिरेव । तथा चैकार्थीभावात्मकशक्तिज्ञानाधीनबोध-जनकत्वमर्थवत्त्वमिति फलति ।

अत्र नवीन-वैयाकरणनागेशभट्टप्रभृतयः सूत्रद्वयेऽपि एतत्संज्ञाफलभूतविभक्तीतर-समभिव्याहारानपेक्षयाऽर्थबोधजनकत्वमर्थवत्त्वमङ्गीकृतवन्तः । उभयत्रैकार्थवत्त्वस्वीकारे चैतल्लाघवमस्ति यत् प्राचीनमते विभिन्नरूपेण बोधद्वयं प्रति अर्थवत्त्वद्वयोपस्थितिद्वयस्य कारणता वक्तव्या । अस्माकं मते सूत्रद्वये अर्थवत्त्वस्यैकत्वे तु बोधद्वयं प्रत्येकरूपेणैवार्थवत्त्वोपस्थितेः कारणमिति लाघवम् ।

किञ्च पूर्वसूत्रे 'अप्रत्यय' इति पर्युदासो न कर्त्तव्य इति महल्लाघवम् । अर्थवत्त्वलक्षणसमन्वयश्चैव क्रियते एतस्यार्थवत्त्वेन विवक्षितस्य या संज्ञा प्रातिपदिकसंज्ञा तत्फलभूता या विभक्तिस्तदितरानपेक्षयेत्यर्थः । प्रत्ययमात्रस्यात्रार्थवत्त्वन्तु नैव भविष्यति, यतो हरिषु इत्यत्र सुप्प्रत्ययस्य या प्रातिपदिकसंज्ञा तत्फलभूतविभक्तीतरा प्रकृतिस्तत्समभिव्याहारापेक्षयैवार्थवत्त्व भवति । रामेत्यत्र प्रातिपदिकसंज्ञाफलभूतविभक्त्यपेक्षत्वेऽपि तदितरानपेक्षयैवार्थबोधकत्वात् प्रातिपदिकत्वं निष्पद्यते । न चैवंभूतार्थवत्त्वस्वीकारे रमा, गौरीत्यादौ रम्, गौरित्यस्य या प्रातिपदिकसंज्ञा तत्फलभूतविभक्तीतरष्टाप् ङीष् तदपेक्षयैवार्थवत्त्वमतः प्रातिपदिकसंज्ञा न स्यादिति वाच्यम्, अर्थवत्त्वपरिष्कारे विभक्तिपदस्य प्रत्ययपरत्वात् । अर्थात् एतत्संज्ञाफलभूतप्रत्ययेतरसमभिहारानपेक्षयाऽर्थबोधजनकत्व-मर्थवत्त्वमिति स्वीकारेणादोषात् । न चैवमपि इन्द्राणीत्यत्र इन्द्रेत्यस्य या प्रातिपदिकसंज्ञा तत्-फलभूतप्रत्ययेतर आनुगागनः, तत्समभिव्याहारापेक्षत्वेन प्रातिपदिकत्वानुपपत्तिरिति वाच्यम्,

एतत् संज्ञाफलभूतप्रत्ययेतर इत्यस्य स्थाने एतत्संज्ञाफलभूतेतरपरिष्कारेणादोषात् । पुनरपि 'एधाञ्चक्रे' इत्यत्र दोषः स्यात्, यतो हि—एधाञ्चक्रे इत्यादौ एधामित्यस्य या प्रातिपदिकसंज्ञा तत्फलभूतेतरत्वं चक्रे इत्यस्य तत्समभिव्याहारापेक्षयैवार्थवत्त्वादिति चेत् । अत्रोच्यते—एतन्निष्ठोद्देश्यतानिरूपित—विधेयताश्रयेतर—समभिहारानपेक्षयाऽर्थबोधजनकत्वमर्थवत्त्वमिति परिष्कारेणादोषात् । 'चक्रे' इत्यस्य एधाम्निष्ठोद्देश्यतानिरूपितविधेयताश्रयत्वस्यैव सत्त्वादिति भावः। न चैवं कुम्भकार इत्यत्र कारेत्यस्य प्रातिपदिकसंज्ञा न स्यात् यतः कारेत्यस्य स्वनिष्ठोद्देश्यतानिरूपित—विधेयताश्रयेतर—कुम्भसमभिव्याहारेणैवार्थवत्त्वमिति वाच्यम्, स्वनिष्ठोद्देश्यतानिरूपितविधेयताश्रयेतरो यः पदेतरस्तत्समभिव्याहारानपेक्षयाऽर्थबोधजनकत्वमर्थवत्त्वमिति स्वीकारेणादोषात् । पञ्चगवधन इत्यादौ पञ्चगवेत्यस्यार्थवत्त्वेन प्रातिपदिकत्वापत्त्या डीबापत्तिः यतस्तस्य धनापेक्षयाबोधकत्वेऽपि धनस्य पदेतरत्वाभावादिति चेत्, पदेतरेत्यस्य स्थाने पूर्वपदेतरस्य निवेशेनादोषात् ।

तदेव स्वनिष्ठोद्देश्यतानिरूपितविधेयताश्रयेतरो यः पूर्वपदेतरस्तत्समभिव्याहारानपेक्षयाऽर्थबोधजनकमर्थवत्त्वमित्यर्थवत्त्वपरिष्कारः स्वीकार्यः ।

अत्रापि दोषः समुपस्थाप्यते तत्समाधानञ्चैवरीत्या शब्दसन्निवेशेन क्रियते इति परिष्कारप्रवाह प्राचलल्लक्षणपरिमार्जने नागेशभट्टप्रभृतीनां वैयाकरणानामिति भावः ।[1]



१. इस परिष्कार के लेखक हैं—पं० चक्रवर्ती रामाधीन चतुर्वेदी (रीडर, संस्कृत महाविद्यालय, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी)। इसके लिए ग्रन्थकार चतुर्वेदीजी का विशेष आभारी है।

परिशिष्ट ३

डॉ० गंगानाथ झा के ग्रन्थ

डॉ० गगानाथ झा ने अनेक महत्त्वशाली तथा विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थो की रचना की। इनकी रचनाओं में सस्कृत के दार्शनिक ग्रन्थो के अग्रेजी अनुवाद ही अधिक प्रसिद्ध है। डॉ० झा भारतीय साहित्य एव सस्कृत भाषा का प्रचार विदेशियो में भी करना चाहते थे। इसी भावना से प्रेरित होकर इन्होंने सस्कृत के कठिन तथा दुरूह दार्शनिक ग्रन्थों का अग्रेजी में अनुवाद किया जिससे ये ग्रन्थ विदेशी विद्वानो के लिए सुलभ हो जायँ।

डॉ० गगानाथ झा की प्रशस्त प्रतिभा का प्रसाद सस्कृत से अग्रेजी में अनूदित इनके ग्रन्थो मे विशेषरूपेण पाया जाता है। **शाबर भाष्य, मेधातिथि-भाष्य तथा खण्डन-खण्ड-खाद्य** जैसे दुर्गम एव दुरूह दार्शनिक ग्रन्थो का अनुवाद अग्रेजी मे प्रस्तुत करना अत्यन्त कठिन कार्य है। बड़े-बड़े सस्कृत के दिग्गज विद्वान् भी इन ग्रन्थो को हृदयगम करने में ही चकरा जाते है, फिर इनका अनुवाद करने की कथा तो दूर रही। परन्तु डॉ० झा ने अपने गम्भीर अध्ययन, कठोर अध्यवसाय तथा अटूट लगन के द्वारा इन दार्शनिक ग्रन्थो को अग्रेजी में सुलभ कर दिया। वास्तव मे इनकी प्रतिभा अनुवाद-प्रवण थी। अत यदि इन्हे 'अनुवाद-शूर' की उपाधि से अलकृत किया जाय, तो कुछ अनुचित न होगा।

डॉ० गंगानाथ झा के ग्रन्थो को साधारणतया तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है—

(क) मौलिक ग्रन्थ

(ख) अनूदित ग्रन्थ

(ग) सम्पादित ग्रन्थ

मौलिक ग्रन्थ

इन मौलिक रचनाओं का सक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है।

(१) **हिन्दू विधि का स्रोत**—डॉ० झा ने सन् १६२६ ई० में पटना विश्वविद्यालय में 'रामदीन लेक्चर्स' रूप में हिन्दी में कुछ व्याख्यान दिये थे। इन्ही व्याख्यानों का संग्रह इस ग्रन्थ में किया गया है जो सन् १६३१ ई० में पटना विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ।

(२) **दि फिलासोफिकल डिसिप्लिन**—कलकत्ता विश्वविद्यालय में सन् १६२६ ई० में डॉ० झा ने 'कमला लेक्चर्स' के नाम से जो भाषण दिये थे उन्हीं का संकलन इस ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ है (कलकत्ता विश्वविद्यालय सन् १६२८ ई०)। इस ग्रन्थ में भारतीय दर्शनों की आचार-मीमांसा का निरूपण बड़े विस्तार से किया गया है। भारतीय दर्शन ज्ञान की उपलब्धि के प्रकारों का वर्णन कर अपने ज्ञानपक्ष का ही स्वरूप प्रकट करता है, परन्तु इतने

से ही उसका लक्ष्य पूर्ण नहीं होता, जब तक यह ज्ञान जीवन के माध्यम से व्यावहारिक जगत् में परिणत नहीं किया जाता। इसी का निर्देश इस ग्रन्थ में है।

(३) **पूर्वमीमांसा इन इट्स सोर्सेज**—यह ग्रन्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सन् १९४२ ई० में प्रकाशित हुआ था। डॉ० उमेश मिश्र ने अपनी आलोचनात्मक सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची से इसे संवलित किया है। मीमांसादर्शन के सिद्धान्तों का निरूपण उनके प्रतिपादक मूल ग्रन्थों के तत्तत् स्थलों के अनुवादों द्वारा किया गया है। विशुद्ध प्रतिपादन की दृष्टि से यही मार्ग श्रेयस्कर है और मीमांसा के मर्मज्ञ विद्वान् होने के नाते डॉ० गंगानाथ झाजी ने इसी मार्ग को सफलतापूर्वक अपनाया है। इसका द्वितीय संस्करण १९६४ ई० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित है।

(४) **शंकर-वेदान्त**—दरभंगानरेश सर रमेश्वर सिंह भाषणमाला के अन्तर्गत व्याख्यानरूप में प्रथम प्रदत्त होकर यह इलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा १९३९ ई० में प्रकाशित हुआ है। इस पाण्डित्यपूर्ण अंग्रेजी ग्रन्थ में अद्वैतवेदान्त की आचार-मीमांसा का विशेषरूपेण प्रतिपादन है। डॉ० झा की सम्मति है कि शंकर द्वारा प्रतिपादित वेदान्त केवल मस्तिष्क को सन्तोष देने वाला दर्शन न होकर मानव जीवन को उदात्त तथा उन्नत बनाने वाला अध्यात्म-मार्ग है।

(५) **योगदर्शन**—पतञ्जलि के योगसूत्रों पर व्यासभाष्य के आधार पर प्रणीत मौलिक अंग्रेजी ग्रन्थ जिसका प्रकाशन थियोसाफिकल सोसाइटी, अड्यार (मद्रास) ने किया है।

(६) **दि प्रभाकर स्कूल ऑफ पूर्वमीमांसा**—डॉ० झा का यह बहुचर्चित तथा बहुप्रशंसित ग्रन्थ डी० लिट्० की थीसिस है। यह नितान्त महत्त्वपूर्ण प्रमेयबहुल ग्रन्थ है जिसमें मीमांसादर्शन में प्रभाकर के सिद्धान्तों का आकलन तथा निरूपण प्रथम बार किया गया है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, १९११ ई०।

(७) **सोर्सेज ऑफ हिन्दू लॉ**—हिन्दू लॉ (हिन्दू विधि) के मूल स्रोतों का इसमें बड़े विस्तार से अनुशीलन किया गया है। विषय से सम्बद्ध समग्र प्रमेयों का विवरण मूल धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों, उनकी टीकाओं एवं निबन्धग्रन्थों के आधार पर दिया गया है। इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित, १९३०–१९३३ ई०।

अभिनन्दनग्रन्थों में प्रकाशित लेख—आर्यन इनवेजन ऑफ इण्डिया—इज इट ए मिथ ? (आचार्य डी० आर० भण्डारकर पुष्पाञ्जलि वालूम, कलकत्ता सन् १९४० ई० में प्रकाशित)। भागवतम् (डॉ० कुप्पु स्वामी शास्त्री कामेमोरेशन वालूम, मद्रास, सन् १९३७); कुमारिल एण्ड वेदान्त (रायल एशियाटिक सोसाइटी, बाम्बे ब्राञ्च न्यू० सी० भाग ६—१९३०, पृ० २२८–३९), ए नोट आन शाबर भाष्य (डॉ० मोदी मेमोरियल वालूम, बम्बई, सन् १९३० ई०)।

प्रभाकर थ्योरी ऑफ एरर—(डॉ० डी० आर० भण्डारकर पुष्पाञ्जलि वालूम कलकत्ता १९४०), रिलिजन—दि नीड आफ दि प्रेजेण्ट जेनेरेशन—(प्रो० के० वी० रङ्गस्वामी एय्यर कामेमोरेशन वालूम, मद्रास १९४० ई०)।

सम रेअर वर्क्स आन वैद्यक (डॉ० एस० कृष्ण स्वामी एयङ्गार कामेमोरेशन वालूम, मद्रास, सन् १९३६ ई०)।

सोर्सेज ऑफ प्रापर्टी अण्डर हिन्दू लॉ (मालवीय कामेमो० वालूम, बनारस १९३२)।

दि टीचिग ऑफ लॉ इन इण्डियन यूनिवर्सिटीज—(रामलिग रेड्डी षष्टि अब्द पूर्ति कामेमो० वालूम, वाल्टेयर १६४०)।

इन विशिष्ट निबन्धो के अतिरिक्त डॉ० झा ने 'इण्डियन थाट' नामक शोधपत्रिका के अनेक अको मे 'न्याय फिलासोफी ऑफ गौतम' शीर्षक से अनेक विमर्शात्मक लेखों को लिखकर प्रकाशित कराया था।

डॉ० झा ने केवल अग्रेजी भाषा मे ही अपने ग्रन्थो की रचना नही की है अपितु राष्ट्रभाषा हिन्दी मे भी दो या तीन ग्रन्थ लिखे है—

(१) कवि-रहस्य—इसमे कवि-जीवन, कवि-शिक्षा आदि विषयो का 'काव्यमीमासा' के आधार पर रोचक वर्णन पाया जाता है।

(२) न्याय-प्रकाश और **(३) वैशेषिक दर्शन**—ये दोनो ग्रन्थ नागरीप्रचारिणी सभा, काशी से सन् १६२० तथा १६२१ ई० मे प्रकाशित हुए। कविरहस्य का प्रकाशन हिन्दुस्तानी अकादमी प्रयाग से सन् १६५० ई० मे हुआ था।

अनूदित ग्रन्थ

अनुवाद के कार्य मे गङ्गानाथ झा की बुद्धि जितनी कुशलता से चलती थी, उतनी अन्यत्र नही। इनकी बुद्धि का वैभव और प्रतिभा का प्रसाद हमे इनके अनूदित दार्शनिक ग्रन्थो मे विशेषरूपेण प्राप्त होता है। इन ग्रन्थो का विवरण यहाँ प्रस्तुत है--

(१) गोतम का न्यायसूत्र—वात्स्यायन के भाष्य तथा डॉ० झा के द्वारा लिखित टिप्पणियो के साथ अग्रेजी मे अनूदित।[1]

(२) गोतम का न्यायसूत्र—वात्स्यायन के भाष्य तथा उद्योतकर के वार्तिक एव वाचस्पति मिश्र की न्याय-वार्तिक-तात्पर्यटीका और उदयनाचार्य की तात्पर्य-परिशुद्धि की टिप्पणियो के साथ अग्रेजी मे अनुवाद।[2]

(३) दि पूर्वमीमांसा शास्त्र ऑफ जैमिनि[3]—डॉ० झा ने इस ग्रन्थ के प्रथम तीन अध्यायो का स्वरचित मौलिक टीका के साथ अग्रेजी मे अनुवाद किया है।

(४) तर्कभाषा—न्यायशास्त्र का यह प्राइमर माना जाता है।[4] यही ग्रन्थ बाद में ओरिएण्टल बुक एजेन्सी पूना से सन् १६२५ ई० मे पुस्तक रूप मे भी प्रकाशित हुआ।

(५) श्लोकवार्तिक—सुप्रसिद्ध विद्वान् कुमारिल भट्ट द्वारा रचित यह नि सन्देह मीमासाशास्त्र का एक उत्कृष्ट तथा कठिन ग्रन्थ है। डॉ० झा ने सुचरित मिश्र की टीका के कतिपय अशो, तथा पार्थसारथि मिश्र की टीका के साथ इसका अग्रेजी मे रूपान्तर किया है।[5]

(६) तन्त्रवार्तिक—कुमारिल भट्ट के द्वारा निर्मित यह शाबरभाष्य की सुप्रसिद्ध टीका है। जैमिनि के पूर्वमीमासासूत्रो पर शबर मुनि के अपना सुप्रसिद्ध 'शाबरभाष्य' लिखा है।

---

१ ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना, सन् १६६३ ई०।

२ 'इण्डियन थॉट' नामक शोधपत्रिका के सन् १६१२ ई० से १६१८ तक के विभिन्न अको मे प्रकाशित।

३ पाणिनि आफिस, इलाहाबाद से १६१६ मे प्रकाशित।

४ 'इण्डियन थॉट' भाग ५, अक (१६१० ई०)।

५ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बगाल, कलकत्ता १६०० ई० (बिब्लोथिका इण्डिका भाग ५)।

इसी भाष्य की यह कुमारिल द्वारा विरचित टीका है जो विषय की कठोरता तथा विस्तार में अद्वितीय है।[१] बड़े परिश्रम से इसका अंग्रेजी में अनुवाद प्रस्तुत किया गया है।

(७) **अद्वैतसिद्धि**—मधुसूदन सरस्वती द्वारा रचित यह ग्रन्थ अद्वैतदर्शन का प्रौढ़ एवं प्रमेय-बहुल प्रतिपादक है। यह बड़ा कठिन ग्रन्थ माना जाता है। अनुवाद डॉ० झा ने किया है।[२]

(८) **मनुस्मृति**—मनुस्मृति के ऊपर मेधातिथि ने अपने पाण्डित्यपूर्ण तथा प्रकाण्ड मनुभाष्य की रचना की है। इसी महान् विद्वत्तापूर्ण भाष्य का डॉ० झा ने बड़े परिश्रम तथा अध्यवसाय के साथ अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया है।[३]

(९) **मनुस्मृति**—डॉ० गंगानाथ झा द्वारा अग्रेजी मे लिखे गये तुलनात्मक टिप्पण तीन भागों में।[४]

(१०) **योगदर्शन**—पतञ्जलि के योगसूत्रों तथा उस पर व्यास द्वारा लिखित भाष्य का अंग्रेजी में अनुवाद। इसके साथ ही वाचस्पति मिश्र की तत्त्व-वैशारदी, विज्ञानभिक्षु का योगवार्तिक तथा भोज के राजमार्तण्ड के टीकाग्रन्थों से टिप्पणियों के साथ अनुवाद।[५]

(११) **पदार्थ-धर्म-संग्रह**—प्रशस्तपाद द्वारा रचित इस ग्रन्थ के ऊपर श्रीधर ने न्यायकन्दली नामक टीका लिखी है। डॉ० झा ने मूल तथा टीका दोनों ग्रन्थों का अनुवाद किया है।[६]

(१२) **शाबरभाष्य**—जैमिनि के मीमासासूत्रों के ऊपर शवर मुनि या स्वामी का शाबर भाष्य अत्यन्त प्रसिद्ध, विद्वत्तापूर्ण तथा दुरूह ग्रन्थ है। इस प्रकाण्ड ग्रन्थ का भी डॉ० झा ने अग्रेजी में रूपान्तर प्रस्तुत किया है। यह ग्रन्थ वास्तव में किसी विद्वान् की वैदुषी का निकषग्रावा है जिस पर कसने पर डॉ० झा की विद्वत्ता निखर उठती है।[७]

(१३) **तत्त्वसंग्रह**—बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षित द्वारा रचित यह बड़ा ही पाण्डित्यपूर्ण विशालकाय ग्रन्थ है। इस पर कमलशील ने टीका लिखी है। डॉ० झा ने इस बौद्ध धर्म के दार्शनिक ग्रन्थ का भी टीका के साथ अनुवाद किया है जो दो बृहत् भागों में प्रकाशित हुआ है।[८]

(१४) **खण्डन-खण्ड-खाद्य**—नैषधीय-चरित के रचयिता महाकवि श्रीहर्ष के द्वारा प्रणीत वेदान्तदर्शन का यह चूडान्त ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ विषय की दृष्टि से जितना दुरूह और कठिन है उतना ही प्रतिपादन की दृष्टि से ठोस तथा गम्भीर है। इस ग्रन्थ को समझना भी पण्डितों के लिए टेढ़ी-खीर है। ऐसे शुष्क तथा दुरूह ग्रन्थ का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद सचमुच ही दुःसाध्य व्यापार है जिसे डॉ० झा ने बड़ी सफलता के साथ सम्पन्न किया है। इस कार्य में डॉ० थीबो ने भी योगदान किया है।[९]

---

१. एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता, सन् १९२४ ई० (बिब्लोथिका इण्डिका नं० १९१)।
२. 'इण्डियन थॉट' भाग ५ तथा ६ (१९१४ ई०) के विभिन्न अंकों में प्रकाशित।
३. कलकत्ता विश्वविद्यालय से पाँच भागों में बृहत् जिल्दों में प्रकाशित (१९२०–२६ ई०)।
४. कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता, भाग १–३, (सन् १९२४–२९ ई०)।
५. थियोसोफिकल पब्लिकेशन, बम्बई १९०७ ई०।
६. 'पण्डित' नामक शोधपत्र के १९०३ ई० से लेकर १९१५ ई० तक के विभिन्न अंकों में प्रकाशित।
७. बड़ौदा ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट (गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज नं० ६६, ७०, ७३, सन् १९३३–३६ ई०)।
८. बड़ौदा ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट सन् १९३७–९ (गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज नं० ८०, ८१ में प्रकाशित)।
९. 'इण्डियन थॉट' पत्रिका के १९०७ से १९१४ ई० तक के अनेक अंकों में प्रकाशित।

(१५) **छान्दोग्योपनिषद्**—शंकराचार्य के भाष्य के साथ इस उपनिषद् का सरल अनुवाद।[1]

(१६) **योगसारसंग्रह**—विज्ञान भिक्षु रचित इस ग्रन्थ का अनुवाद।

(१७) **योगसारसंग्रह**—इसी ग्रन्थ का देवनागरी लिपि में मूल पाठ के साथ अंग्रेजी में अनुवाद किया है।[2]

सम्पादित ग्रन्थ

डॉ० गंगानाथ झा ने अनेक दार्शनिक तथा साहित्यिक ग्रन्थों का सम्पादन भी किया है जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

(१) **मीमांसा-न्यायप्रकाश**—आपदेत द्वारा विरचित इस मीमांसा-ग्रन्थ का सम्पादन डॉ० झा ने 'दि पण्डित' नामक शोधपत्र के विभिन्न अंको में किया है (सन् १९०४ और १९०५ के अंक)।

(२) **गौतम का न्यायसूत्र**—वात्स्यायन के भाष्य तथा खद्योत नामक स्वरचित टिप्पणी (नोट्स) के साथ सम्पादन।[3]

(३) **न्यायदर्शन**—गोतम के सूत्रों के साथ वात्स्यायन का भाष्य। इसके अतिरिक्त डॉ० झा द्वारा लिखित **खद्योत** नामक टीका तथा रघूत्तम द्वारा निर्मित **भाष्यचन्द्र** नामक टीकाओं से संवलित ग्रन्थ का सम्पादन, ढुंढिराज शास्त्री महोदय के साथ।[4]

(४) **जयन्त भट्ट की न्यायकलिका**—भूमिका के साथ इस ग्रन्थ का सम्पादन।[5]

(५) **मीमांसापरिभाषा**—मेडिकल हाल प्रेस, बनारस से १९०५ ई० में सम्पादित कर प्रकाशित।

(६) **भावना-विवेक**—मण्डन मिश्र के द्वारा रचित इस ग्रन्थ का भट्ट उम्बेक की टीका के साथ सम्पादन। साथ में झाजी की भूमिका से सवलित।[6]

(७) मण्डन मिश्र ने श्लोकों में पूरे मीमांसासूत्रों के विषय का संक्षेप बड़ी कुशलता से एक ग्रन्थ में किया था जिसका नाम है—**मीमांसानुक्रमणिका**। परन्तु यह ग्रन्थ बहुत ही संक्षिप्त था। फलतः डॉ० गंगानाथ झा ने इसके ऊपर एक विस्तृत संस्कृत टीका का निर्माण किया जिसका नाम रखा—**मीमांसा-मण्डन**। फलतः इन दोनों का सम्पादन कर चौखम्भा सीरीज में प्रकाशित किया। टीका पाण्डित्यपूर्ण है और टीकाकार के मीमांसा-विषयक वैदुष्य का सद्यः परिचायक तथा प्रमापक है।[7]

(८) **मनुस्मृति**—मेधातिथि के मनुभाष्य के साथ विमर्शात्मक संस्करण।[8]

(९) **तन्त्ररत्न**—पार्थसारथि मिश्र के द्वारा कुमारिल भट्ट की 'टुप् टीका' की यह व्याख्या है। प्रथम भाग का ही सम्पादन।[9]

---

१. जी० ए० नटेसन एण्ड को, मद्रास, सन् १८९९ ई०।
२. थियासोफिकल पब्लिकेशन, बम्बई, सन् १८९४ ई०।
३. ओरिएण्टल बुक एजेन्सी, पूना से सन् १९३१ में प्रकाशित।
४. चौखम्भा संस्कृत सीरीज, सन् १९२५ ई०।
५. सरस्वतीभवन टेक्स्ट्स नं० १७ (सन् १९२५ ई०)।
६. गवर्नमेण्ट प्रेस, इलाहाबाद, सन् १९२२।
७. चौखम्भा संस्कृत सीरीज, काशी।
८. एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, १९३२ ई०।
९. सरस्वतीभवन टेक्स्ट्स, काशी, जम् १९३० ई०।

(१०) वादविनोद—शकर मिश्र द्वारा रचित न्यायविषयक उपादेय ग्रन्थ का प्रकाशन।[१]

(११) खण्डनखण्ड-खाद्य—श्रीहर्ष के इस सुप्रसिद्ध ग्रन्थ का डॉ० झा ने **विद्यासागरी** अथवा **खण्डन-फक्किका-विभञ्जन** (आनन्दपूर्णरचित) तथा चित्सुख, शंकर मिश्र एवं रघुनाथ की टीकाओं के कतिपय अंशों को उद्धृत करते हुए सम्पादन किया है।[२]

(१२) पुरुष-परीक्षा—मैथिलकोकिल विद्यापति द्वारा रचित पुरुषपरीक्षा नामक ग्रन्थ का विद्वत्तापूर्ण सम्पादन।[३]

डॉ० गंगानाथ झा ने इन दार्शनिक ग्रन्थो के अतिरिक्त संस्कृतसाहित्य के अनेक काव्यग्रन्थों का भी सम्पादन किया है जिससे इनकी दर्शन की रुचि के साथ ही साथ साहित्यिक रुचि का भी पता चलता है।

(१) कादम्बरी—बाणभट्ट की अनुपम कृति का यह सक्षिप्त संस्करण है जो विश्वविद्यालयों के पाठ्य ग्रन्थ के रूप मे सम्पादित किया गया था।

(२) प्रसन्नराघव नाटक—इस नाटक की भावबोधिनी नामक नवीन सस्कृत टीका डॉ० झा ने लिखी है।

(३) मेघदूतम्—कालिदास के खण्डकाव्य मेघदूत का यह सम्पादित रूप है।



१. इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, सन् १९१५ ई०।

२. चौखम्भा संस्कृत सीरीज, काशी, सन् १९१४ ई०।

३. वेलवेडियर प्रिन्टिंग वर्क्स, इलाहाबाद, सन् १९११ ई०।

काशी की प्राचीन संस्कृत-सभायें

संस्कृतकालेज के आरम्भिक युग में दो सभाओं का संक्षिप्त परिचय प्राप्त होता है। काशी के महाराजाधिराज उदितनारायण सिह शर्मा (१७९६ ई०-१८३५ ई०) संस्कृतविद्या के प्रचारक तथा वैदिकधर्म के उन्नायक के रूप में नितान्त प्रख्यात है। इनके सुयोग्य अनुज थे **प्रसिद्धनारायण सिंह शर्मा**। दोनों व्यक्तियों ने **काशीधर्मसभा** स्थापित करने में बड़ी अभिरुचि प्रकाशित की। उस युग के विख्यात विद्वान् श्रीभैरव मिश्र तथा चन्द्रनारायण तर्कालङ्कार जैसे मनीषियो से मन्त्रणा कर काशिराज ने **काशीधर्मसभा** की स्थापना की जिसमें वैदिक धर्म के विषय में गम्भीर गवेषणा की जाती थी तथा धर्मविषयक जिज्ञासाओं का यथाशास्त्र समाधान प्रस्तुत किया जाता था। दुर्दैव से इन सज्जन का निधन शीघ्र ही हो गया, परन्तु इनके द्वारा की गई धार्मिक प्रेरणा का अवसान नहीं हुआ। उदितनारायण सिंह के पुत्र तथा उत्तराधिकारी काशिराज ईश्वरीप्रसादनारायण सिह ने उस युग के विख्यात पण्डित पण्डित वस्तीराम द्विवेद तथा ताराचरण तर्करत्न प्रभृति के प्रोत्साहन से **काशीधर्मसभा** की स्थापना १९२६ वि० (१८७० ई०) में पौष मास की कृष्ण द्वादशी को की। इस सभा का ध्येय इन शब्दों में वर्णित है—

धर्मसक्रान्तेषु केषुचिद् विषयेषु जातसशयेभ्यः साक्षात् पत्रादिद्वारा वा पृच्छद्भ्यो लोकेभ्यो यथाशास्त्रमुत्तरदानम्, धर्मसम्बन्धिन कमपि विषयमवलम्ब्य संस्कृतगिरा सुललितबन्धस्य . प्रबन्धस्य निर्माणम्, सभाया प्रवृत्ताया तद्विषये विचारश्च लोकेभ्यो देशीयभाषया तदर्थप्रतिपादनम्।

यह तो सामान्य उद्देश्य ठहरा। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य था। सस्कृतविद्या के उत्थान के लिए छात्रों की परीक्षा ली जाय जो कार्य तब तक कही भी नहीं होता था और पारितोषिक आदि वितरण के साथ ही साथ 'व्याकरण प्रविष्ट' आदि नामक उपाधियों के लिए प्रशंसापत्र का वितरण भी किया जाय। इस सभा के उद्योग से पूर्वनिर्दिष्ट कार्य विधिवत् सम्पन्न होने लगा। काशिराज इसके लिए प्रतिवर्ष एक सहस्र रुपयों का दान भी देते थे। यह है काशीधर्मसभा का संक्षिप्त परिचय।

सस्कृतकालेज के अध्यापकों ने भी एक सभा स्थापित की जिसका नाम था—**संस्कृत समाजसभा**। इसमें शास्त्रीय विषयों पर गम्भीर शास्त्रार्थ होता था। प्रश्नकर्ता विद्वान् लिखित प्रश्न करते थे जिनका समाधान अन्य पण्डितजन करते थे, कभी-कभी विद्वान् विषय पर निबन्ध प्रस्तुत करता था जिसका विवेचन उपस्थित पण्डितजन करते थे। कुछ आश्चर्य मालूम पड़ता है कि वैयाकरण विषयों की चर्चा नगण्य थी। सांख्य, योग, न्याय तथा वेदान्त ही शास्त्रार्थ के विषय होते थे। प्रतिमास की कृष्ण प्रतिपद् को ही सभा नियमतः सम्पन्न होती थी। सभा विद्यालय के भीतर होती थी, परन्तु अधिकतर बाबू प्रमदादास मित्र के आवास पर सभा के होने का उल्लेख मिलता है। सभा में सम्मिलित होने वाले उत्तर-प्रत्युत्तर करने वाले विद्वानों

में पं० रामकृष्ण शास्त्री, केशव शास्त्री, गङ्गाधर शास्त्री तथा पण्डित राममिश्र शास्त्री के नाम उल्लिखित किये गये हैं। प्रमदादास मित्र पाश्चात्त्य दर्शन एवं पश्चिमी विज्ञान से परिचय रखते थे। फलतः न्यायसम्बन्धी विषयों के विज्ञान का तारतम्य करने तथा दोनों के साम्य-वैषम्य दिखलाने में उनका नाम अनेकत्र शास्त्रार्थों में आता है। पण्डित बेचनराम त्रिपाठी विद्यालय के सांख्यशास्त्र के अध्यापक थे। इस विषय में शास्त्रार्थ करने के अतिरिक्त वे साहित्य के ग्रन्थों का भी सम्पादन करते थे। वे काव्य कला के परीक्षण में प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। उन्होंने लोलिम्बराज के हरिविजय काव्य का सम्पादन किया था। फलतः काशीविद्यासुधानिधि (जनवरी १८६७ ई०) में उनकी इसकी संक्षिप्त आलोचना प्रकाशित की गई उपलब्ध है। पं० बापूदेव शास्त्री के वे समकालीन अध्यापक थे। इसी वर्ष की पत्रिका में उनका भी ज्योतिष विषय पर लेख प्रकाशित है। सुधानिधि के १८७७ ई० के अक्टूबर अक में रानी विक्टोरिया की प्रशंसा में अनेक पण्डितों की कवितायें प्रकाशित हैं जिनमें पं० रामकृष्ण शास्त्री, पं० रामचन्द्र शास्त्री पौराणिक, दण्डिभट्ट नामधारी आन्ध्रदेशीय पण्डित विश्वनाथ मुख्य हैं। ढुण्ढिराज शास्त्री धर्माधिकारी भी संस्कृतसभा के प्रमुख व्याख्याता पण्डित थे। विक्टोरिया भारतवर्ष की राजराजेश्वरी पद से अलंकृत की गई थीं। इसके उपलक्ष्य में पण्डितों की कतिपय रचनायें यहाँ दी जाती हैं—

शत्रुर्नीचति मित्रमुच्चति महीपालावली प्रह्वति
प्राज्ञः प्राज्यति तेजसां ततिरपि प्रोदण्डमार्तण्डति।
कीर्तिः पूर्णशशाङ्कति प्रतिदिनं राजानति स्वप्रजा
यस्याः सा जयताच्चिरं विजयिनी श्रीराजराजेश्वरी॥

—बेचनरामपण्डितस्य

यत्कीर्तिः शिशिरांशुकान्तिनिचयः सत्तर्क्यते पण्डितैः
स्वर्गङ्गामवगाहते सितरुचिर्हंसीव लोकोत्तरा।
इन्द्रेण प्रतिमार्ग्यते त्रिभुवने श्वेताश्व उच्चैःश्रवा
यत्कीर्त्या धवलीकृते त्रिनयनः स्वीयं वृषं मार्गति॥

—विश्वनाथदण्डिभट्टस्य

आनमन्नृपसहस्रविस्फुरन्मौलिरत्नलसदङ्घ्रिपङ्कजा।
अप्रमेयकरुणातरङ्गिणी श्रीमती विजयिनी विराजते॥
तदुत्सवे सम्मिलिता इदानीं श्रीविश्वनाथं वयमर्थयामः।
यावन्मही तिष्ठति पातु तावदार्येश्वरी भारतवर्षमेतत्॥

—शीतलाप्रसादत्रिपाठिनः

काशी धर्मसभा का ही कार्य था छात्रों की परीक्षा लेना तथा उसकी सुव्यवस्था करना। लगभग दो सौ परीक्षार्थी होते थे और सकल शास्त्रों के विद्यार्थियों की परीक्षा होती थी। इसके लिए परीक्षक, परीक्षक-सहायक तथा परीक्षक-निरीक्षक को निश्चित करना धर्मसभा का कार्य था। प्रत्येक शास्त्र के सुयोग्य उत्तीर्ण छात्रों को पारितोषिक तथा उपाधि दी जाती थी। प्रथम श्रेणी की उपाधि की 'विद्यापारंगत', द्वितीय श्रेणी की 'विद्याप्रवीण' तथा तृतीय श्रेणी की 'विद्याप्रविष्ट' और पारितोषिक ५० रुपयों से लेकर १० रुपैया तक था। काशी के आढ्य नागरिक भी अपनी ओर से इसके अतिरिक्त पुरस्कार देते थे। हिन्दी के सुप्रसिद्ध बाबू हरिश्चन्द्र भी ऐसे दाताओं में अग्रगण्य थे। वह यजुर्वेद के पाठ तथा व्याख्यान में समर्थ व्यक्ति को एक

सहस्र का पारितोषिक देते थे। उन्होंने यह नियम बना रखा था कि यदि कोई वनिता वेदान्त के अतिरिक्त किसी विद्या में सम्यक् परीक्षा देती है, तो उसे हरिश्चन्द्र उस श्रेणी के नियत पारितोषिक से आठ गुना अधिक पारितोषिक प्रदान करते थे। इस तथ्य से हम परिचित नहीं हैं। भारतेन्दु का इस प्रकार नारीशिक्षा तथा संस्कृत की उन्नति के लिए प्रदत्त पुरस्कार उस युग का सर्वाधिक पारितोषिक था।

वनिता काचिद् वेदान्तातिरिक्तायाः कस्याश्चिद् विद्यायाः कस्यामपि श्रेण्यां सम्यक्परीक्षां दास्यति चेत् तस्यै श्रीमान् बाबू हरिश्चन्द्रः तच्छ्रेणीनियतात् पारितोषिकादष्टगुणाधिकं पारितोषिकं प्रदास्यति।

—काशीसुधानिधि १८७१ ई०

इस युग के प्रख्यात पण्डित

पण्डित प्रेमचन्द्र तर्कबागीश—ये बंगाल के बर्दवान मण्डल के एक कुलीन ब्राह्मण कुल में जनमे थे। शास्त्रों के प्रौढ़ अध्ययन के निमित्त कलकत्ता संस्कृतकालेज में प्रवेश लिया जब वहाँ उस युग के प्रख्यात अंग्रेजी संस्कृतज्ञ प्रोफेसर विल्सन अध्यापक थे। वहीं साहित्यशास्त्र के अध्यापक नियुक्त किये गये। अनेक संस्कृत-ग्रन्थों की व्याख्याओं का प्रणयन किया जिनमें नैषध (आदिम ११ सर्ग), काव्यादर्श, राघवपाण्डवीय तथा उत्तररामचरित की व्याख्यायें मुख्य थीं। अध्यापन-कार्य से विश्राम लेने पर ये वृद्धावस्था में काशी आये और यहीं १८६७ ईस्वी की २५ मार्च को शिवसायुज्य प्राप्त किया। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के गुरु होने के कारण बंगाली पण्डितों में विशेष कीर्ति अर्जित की।

पण्डित हीरानन्द चौबे—गत शताब्दी के उत्तरार्ध में काशी के प्रधान पण्डितों में हीरानन्दजी की गणना की जाती है। ये गोरखपुर मण्डल के निवासी थे। संस्कृत-कालेज में ही इनकी शिक्षा हुई। कालेज में ही बीस वर्षों तक साहित्य के अध्यापक रहे। अवकाश लेने के पूर्व ही ये आगरा की सरकारी कचहरी में धर्माधिकारी पद के लिए चुन लिये गये जहाँ ये अभियोगों के निस्तारण में स्थानीय जिला-न्यायाधीश की सहायता किया करते थे। १८६७ ईस्वी में काशी में इनका निधन हुआ। मनोरम काव्यरचना के लिए उस युग में विशेष लब्धप्रतिष्ठ कवि थे।

पण्डित रामजसनजी—संस्कृत-कालेज में अध्यापक थे। हितोपदेश का प्रथम हिन्दी अनुवाद किया था जिसे काशी की ही लाजरस कम्पनी ने अपने 'मेडिकल हाल' नामक प्रेस में छाप कर प्रकाशित किया था।

पं० सत्यव्रत सामश्रमी—पण्डितजी ने 'हिन्दू कमेन्टेटर' नामक एक संस्कृत मासिक पत्रिका का प्रकाशन सितम्बर १८६७ ईस्वी से आरम्भ किया था। सामश्रमीजी ही उसके सम्पादक तथा प्रकाशक दोनों थे। इसमें सामवेद-मन्त्रों की संस्कृत व्याख्या तथा बंगाली में अनुवाद प्रकाशित किये जाने की सूचना है। इस पत्रिका का वार्षिक मूल्य उस समय ९ नौ रुपैया था जो अग्रिम रूप में दिया जाता था। विशेष पता नहीं चलता कि यह पत्रिका कितने काल तक जीवित रही।

पण्डित गोविन्ददेव शास्त्री—ने राजशेखर कवि के बालरामायण तथा जयदेव के 'प्रसन्नराघव' नाटक का प्रथम संस्करण प्रकाशित किया था। इन नाटकों के सम्पादक होने पर

भी वे संस्कृत-कालेज में हिन्दू ज्योतिष शास्त्र के अध्यापक थे। फलतः इन विभिन्न शास्त्रों के ज्ञाता थे।

पण्डित छोटूराम—पण्डितजी संस्कृतकालेज के अध्येता छात्र थे। पीछे ये पटना-कालेज के सहायक संस्कृत प्रोफेसर हुए। इन्होंने 'वेणीसहार' नाटक की व्याख्या लिखी थी जो बनारस के लाइट प्रेस, १८६७ में मुद्रित हुई थी और कलकत्ता विश्वविद्यालय में बी० ए० परीक्षा का पाठ्यग्रन्थ थी।

गुलजार पण्डित—ये १८७१ के आसपास विद्यमान थे। इनका सस्कृत-कालेज से सम्पर्क था। इन्होंने 'मानवधर्म-प्रकाश' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया था जिसमें मनुस्मृति का अनुवाद तथा हिन्दी में टीका भी की गई है।

ताराचरण तर्करत्न—महाराज काशीनरेश के सभापण्डितजी के 'शृगाररत्नाकर' का प्रकाशन उसी युग में हुआ था। इस ग्रन्थ की आलोचना 'दी पण्डित' के एक अक (१ सितम्बर, १८६६ ई०) में दी गयी है।

पण्डित बेचनराम त्रिपाठी—त्रिपाठीजी अपना हस्ताक्षर बेचनराम शर्मा के नाम से किया करते थे। ये संस्कृत कालेज के बड़े ही प्रतिष्ठित तथा गण्यमान्य विद्वानों में परिगणित किये जाते थे। 'काशी-विद्यासुधानिधि' में इनके द्वारा सम्पादित अनेक दार्शनिक तथा काव्य ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है जिनमें 'शारीरक-मीमासा-न्यायसग्रह', योगचन्द्रिका तथा आनन्द-वृन्दावन-चम्पू मुख्य हैं। पहिले ग्रन्थ के लेखक का नाम है 'भगवत्-प्रकाशात्मा' और विषय अद्वैतवेदान्त है। संस्कृत-कालेज के ही नेसफील्ड साहब की आज्ञा से इसका मुद्रण १८८८ ई० में हुआ था। योगचन्द्रिका बेचनरामजी की अर्धमौलिक रचना है। उन्होंने पातञ्जल योगसूत्र के प्राचीन टीकाकारों (भाष्य, भोजवृति) की व्याख्याओं के आधार पर इसका प्रणयन किया है। आनन्द-वृन्दावन-चम्पू **कवि कर्णपूर** की प्रख्यात रचना है जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण तथा राधा की ललित लीलाओं का बड़ा ही कमनीय अभिराम वर्णन है। ततः पूर्व वह ग्रन्थ अज्ञात था। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पुस्कालय से पाण्डुलिपि प्राप्त कर पण्डितजी ने इसका श्लाघ्य संस्करण प्रकाशित किया है।

पण्डित बेचनराम का जीवनवृत्त प्राप्त नही है, परन्तु पूर्वोक्त ग्रन्थों की भूमिका में इन्होंने कतिपय तथ्यों का प्रकाशन किया है जो इनके व्यक्तित्व को बहुशः उजागर करते है। 'शारीरकमीमांसा-न्यायसंग्रह' के आरम्भिक वर्णन से प्रतीत होता है कि ये गौरी ग्राम के निवासी थे। ज्येष्ठ भ्राता का नाम था भवानीदत्त जिनसे इन्होंने व्याकरण का अध्ययन किया था। इनके दर्शनशास्त्रों के गुरु थे श्री रामनिरञ्जन स्वामी जिनसे इन्होंने वेदान्त तथा सांख्ययोग का विधिवत् गम्भीर अध्ययन किया था। इनको अपने आभिजात्य का बड़ा अभिमान था। अनेक स्थलों पर इन्होंने अपने को 'कान्यकुब्जो द्विजः' कहकर अपना परिचय दिया है। ये राजकीय विद्यालय में व्याकरण तथा सांख्य शास्त्र के अध्यापक थे। इन शास्त्रों को ३६ वर्षों तक पढ़ाया। सेवा से निवृत्त होने पर इन्हें पेन्शन में आधा मासिक वेतन प्राप्त होता था। इनका अध्यापनकाल १८५२ ई० से लेकर १८८८ ईस्वी तक था। इसी कालखण्ड के प्रधान पण्डितों में **हरिनाथ पण्डित** भी थे जिनसे ग्रन्थों के हस्तलेख इन्हें प्राप्त होते थे। संस्कृत-कालेज में व्याकरण के प्रधानाध्यापक **पण्डित बस्तीराम द्विवेदी** थे जिनसे हस्तलेख की प्राप्ति की सूचना इन्होंने यत्रतत्र दी है। आनन्दवृन्दावन चम्पू का सम्पादन ग्रिफिथ साहब के आदेश पर

१८७४ ई० के अक्टूबर में आरम्भ किया था। कविता भी बड़ी सुन्दर करते थे। इसी चम्पू के आरम्भ में यह सुन्दर पद्य बेचनरामजी की रचना है—

कः सति सुधासमुद्रे धत्ते बुद्धिं सरःसु मलिनेषु।
पक्वे चूतफले को लभ्येकुरुते धियं फलेऽन्यस्मिन्॥

पण्डित ढुण्ढिराज शास्त्री धर्माधिकारी—विद्यालय के भाषानुवाद-विभाग के मान्य अध्यापक थे। ये अंग्रेजी भाषा के मर्मज्ञ विद्वान् थे। अंग्रेजी दार्शनिक ग्रन्थ का संस्कृत में इन्होंने पाण्डित्यपूर्ण अनुवाद किया है। अंग्रेजी काव्य के भी ज्ञाता थे। इन्होंने गोल्डस्मिथ कवि के 'हर्मिट' नामक कविता का पद्यबद्ध अनुवाद किया है जो नितान्त अभिराम तथा आवर्जक है। कविता का शीर्षक है—प्रोषितप्रियसमागमः। ४० पद्यों की इस कविता में बड़ा ही काव्यसौन्दर्य प्रस्फुटित होता है।

—काशी विद्यासुधानिधि, मार्च १८७१ ई० में प्रकाशित



परिशिष्ट ५

पण्डित मथुराप्रसाद मिश्र

काशी का संस्कृत विद्वान्
अंग्रेजी भाषा का मर्मज्ञ महान् ॥

आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व सस्कृतभाषा की प्रद्योतकारिणी विद्यानगरी काशी ने अंग्रेजी भाषा के ऐसे वरेण्य विद्वान् को जन्म दिया जिसकी अलौकिक विद्वत्ता की वैजयन्ती आज भी फहराती है तथा अंग्रेजी भाषा की चमत्कारिणी गरिमा की कहानी आज भी विद्वज्जनों के मुँह से सुनी जाती है। ऐसे विद्वान् का नाम था—पण्डित मथुराप्रसाद मिश्र जो उस युग के अंग्रेजीशिक्षित भारतीय विद्वानों की मण्डली में शीर्षस्थान के अधिकारी थे। अंग्रेजी भाषा के विशुद्ध उच्चारण, गम्भीर अर्थज्ञान एवं प्रशासनिक व्यवस्था के लिए मिश्रजी सर्वदा लब्धकीर्ति विद्वान् रहेंगे।

उस युग में काशी में संस्कृत कालेज की स्थापना हो चुकी थी। संस्कृत का पठन-पाठन विधिवत् होने लगा था, परन्तु अंग्रेजी के अध्यापन की आवश्यकता प्रतीत हुई और इस कार्य के निमित्त इस कालेज के अंगभूत गवर्नमेण्ट स्कूल की स्थापना की गई। इस स्कूल का हेड मास्टर अग्रेज सज्जन ही हुआ करता था, क्योंकि शासन की दृष्टि में भारतीयों में इस शैक्षणिक संस्थान के संचालन का सर्वथा अभाव ही प्रतीत होता था। संयोगवशात् पण्डित मथुराप्रसाद मिश्रजी के अंग्रेजी भाषा के लोकातीत वैदुष्य ने अँग्रेज अधिकारियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। मिश्रजी का अंग्रेजी भाषा का उच्चारण इतना विशुद्ध होता था कि उनके भाषण को सुनकर किसी भी श्रोता को उनके भारतीयत्व का कभी ध्यान ही नहीं होता था। उनके विशुद्ध अग्रेजीउच्चारण के विषय में अनेक कहानियां सुनी जाती हैं। आसपास के दो कमरों में एक में अंग्रेज सज्जन भाषण करते हों तथा दूसरे में मिश्रजी करते हों, तो दोनों के उच्चारण में किसी प्रकार का पार्थक्य नहीं होता था। दोनों के अंग्रेजी शब्दों की उच्चारण-विधि—उसका टोन इतना समान होता था कि किसी को भनक भी नहीं होती थी कि एक कमरे में भारतीय व्यक्ति अंग्रेजी बोल रहा है। इतना विशुद्ध उच्चारण होता था मथुराप्रसादजी का। विलायत का शिक्षित अंग्रेज तथा काशी का शिक्षित व्यक्ति दोनों के उच्चारण में इतनी आश्चर्यजनक समता थी।

अंग्रेजी भाषा का ज्ञान भी पण्डित मथुराप्रसादजी का लोकातीत था जिसे देखकर अंग्रेज विद्वान् भी आश्चर्य से चकित हो जाते थे। उस युग में नेसफील्ड नामक सज्जन उत्तरप्रदेश के शिक्षाविभाग के डाइरेक्टर (निदेशक) थे। उन्होंने भारतीय बालकों को अंग्रेजी-व्याकरण की शिक्षा देने के लिए 'इंगलिश ग्रामर' नाम से अनेक खण्डों में व्याकरण की पुस्तकों का निर्माण किया था। पुस्तक तैयार हो जाने पर उन्होंने मिश्रजी की सम्मति लेने के लिए उन्हें अपनी पुस्तकें दिखलाई। पण्डित मथुराप्रसादजी ने उनका निरीक्षण किया और अनेक त्रुटियों का पता लगाकर नेसफील्ड साहब को दिखलाया। साहब अपनी गलती मानने में

आनाकानी कर रहे थे। दूसरे ही दिन पण्डितजी ने प्रामाणिक अंग्रेजी व्याकरणों का एक स्थूलकाय बंडल साहब को देते हुये कहा कि इन्हें देख जाइये। इनकी प्रामाणिकता के विषय में किसी को सन्देह नहीं है। इनका विवेचन तो आपके ग्रन्थ की प्रामाणिकता को असिद्ध कर रहा है। साहब ने तत्तत् स्थलों का निरीक्षण किया और अपनी गलती को स्वीकारा और मिश्रजी की अंग्रेजी भाषा की शास्त्रीय व्युत्पत्ति को देखकर वह दंग हो गया। एक सप्ताह के भीतर ही उस गुणग्राही डाइरेक्टर ने पण्डितजी को क्वीन्स कालिजियेट स्कूल का हेडमास्टर बना दिया। यह पहला अवसर था जब उस स्कूल के हेडमास्टर के गरिमामय पद पर किसी भारतीय की नियुक्ति हुई थी। तब से मिश्रजी ने इस महनीय पद का कार्यभार सँभालने, प्रशासनिक कार्य का निष्पादन करने तथा अध्यापन कार्य में संलग्न रहने में अपना जीवन बिताया।

पण्डित मथुराप्रसादजी नियम के बड़े पक्के तथा अनुशासन के बड़े प्रेमी थे। काशी में दशाश्वमेध घाट के पास ही उनका निजी मकान था जो आज भी उनके वंशजों का निवास-स्थान है। पण्डितजी पालकी के द्वारा स्कूल जाया करते थे। पालकी दोनों ओर से बन्द रहती थी। उसके दोनों किवाड़ लगे रहते थे। इसलिए कि कोई उन्हें देख न ले। स्कूल के अहाते में पहुँचने पर ही किवाड़ खुलते थे। पालकी से मिश्रजी अपने कमरे में जाते थे और थोड़ी देर विश्राम कर व्यवस्था देखने के लिए बरामदे से होकर वे पूरे स्कूल का चक्कर लगाते थे। उस समय क्या मजाल किसी की, जो इधर-उधर उन्हें झाँक-झूँक कर देखे। अनुशासन की वे जीवित प्रतिमा थे। चक्कर लगाकर वे अपने कमरे में आते या पढ़ाने के लिए एक-दो कक्षाओं में छात्रों का अध्यापन करते। वह अनुशासनशीलता का युग था। तिस पर पण्डित जी जैसा अनुशासनप्रेमी व्यक्ति होना नितान्त दुर्लभ है।

पण्डितजी की अपने छात्रों पर कृपा बरसती रहती थी। वे छात्रों से बड़ा प्रेम करते थे। अध्यापन तथा अनुशासन दोनों के द्वारा वे अपने छात्रों के सात्त्विक जीवन का निर्माण करते थे। छात्र भी पण्डितजी के लिए अपनी जान निछावर किये बैठे रहते थे, पण्डितजी की आज्ञा का अक्षरशः पालन करते थे और उनकी सेवा में अपना जीवन लगाकर चरितार्थ करना चाहते थे। इस विषय में एक प्रख्यात् प्रसंग का निर्देश करना समुचित होगा। मिश्र जी के अध्यापन-काल में मुसलमानों के कर्णधार सर सैयद अहमद खाँ काशी में सदर आला थे और उनका पुत्र महमूद मिश्रजी का चहेता छात्र था। मिश्रजी उसे बहुत मानते थे और वह भी अपने गुरु का सेवानिष्ठ भक्त था। आगे चलकर वह प्रयाग हाईकोर्ट का गण्यमान्य प्रथम भारतीय जज्ज हुआ। सुनते है कि उससे पहिले हाईकोर्ट की महनीय गद्दी पर विलायत में शिक्षित बार-ऐट-लॉ पदवीधारी अंग्रेज सज्जनों का ही एकाधिपत्य था। वे ही न्यायाधीश का कार्य करते थे। डॉ० महमूद इस नियम का प्रथम अपवाद था। उसका इलाहाबाद में बड़ा ही शानदार बँगला था। वह पण्डितजी का सेवापरायण छात्र था। बनारस आने पर पण्डितजी के घर जाता, विनम्रता से प्रणाम करता और उन्हें प्रयाग में आने का न्यौता दे आता। एक बार मथुराप्रसादजी त्रिवेणीस्नान करने के लिए प्रयाग गये हुए थे। शिष्य की विनीत प्रार्थना ध्यान पर चढ़ गई। वे भेंट करने के लिए डॉ० महमूद के शानदार बँगले पर पहुँचे। पण्डितजी चमरौधा देशी जूता पहनते थे। बँगले का दरवाजा खुला। पं० जी उसमें दाखिल हुए। डॉ० महमूद ने उनका बड़ा स्वागत किया। बातचीत का प्रवाह जब थमा, तब उसने देखा कि पण्डितजी नंगे पाँव हैं। पूछने पर पण्डितजी ने अपने देशवाली जूते की ओर इशारा किया।

डॉ० महमूद ने मिट्टी मे सना हुआ चमरौधा जूता उठाया और अपने कमरे की सबसे ऊँची मखमली कुर्सी के ऊपर रख दिया। मथुराप्रसादजी ने बड़ा होहल्ला मचाया। उसे डाँटा कि क्या कर रहा है। मैले-कुचैले जूते को ऊँची कुर्सी पर क्यो रख रहा है। डॉ० महमूद ने तुरन्त जवाब दिया—गुरुजी महाराज, इन्ही जूतियो के बदौलत ही तो यह आरामकुर्सी नसीब हुई है। यदि मै आपसे शिक्षा नही पाता, तो यह आनशान कहाँ मिलती। पण्डितजी चुप हो गये। श्रद्धालु शिष्य के कार्य को स्वीकृति देनी ही पडी। ऐसा था औदार्य मथुराप्रसादजी का अपने शिष्यो के प्रति।

उस युग मे अग्रेजी सीखने के लिए छात्रोपयोगी ग्रन्थो का सर्वथा अभाव था। विशेषकर हिन्दी जानने वाले व्यक्ति के लिए अग्रेजी सीखना एक दुर्लभ व्यापार था। ऐसे कोश का अभाव था जिसमे अग्रेजी शब्दो का अर्थ हिन्दी मे दिया गया हो। पण्डित मथुराप्रसादजी की दृष्टि इस कमी को पूरा करने की ओर स्वत आकृष्ट हुई और उन्होने अपने ग्रन्थो के द्वारा इसे पूरा कर दिया। मिश्रजी के इन आरम्भिक ग्रन्थो को पढ़कर ज्ञान प्राप्त करने का सुयोग लेखक को मिला था। १६१० ई० की यह घटना है। बलिया मण्डल के पूरबी भाग मे स्थित सोनवर्सा ग्राम मे महाराजा डुमराँव की छावनी थी जहाँ जमीन्दारी के लेन-देन का काम होता था। सयोगवश इस काम की देखरेख के लिए एक अग्रेज सज्जन की नियुक्ति हुई और उन्ही की कृपा से गाँव के प्राइमरी स्कूल मे अग्रेजी पढ़ाने की कक्षा खुली, परन्तु बालको के लिए उपयुक्त ग्रन्थ का मिलना ही कठिन था जिनके द्वारा अग्रेजी की पढ़ाई की जाय। हमारे शिक्षक उसी गॉव मे अग्रेजी पढ़े लिखे सज्जन मुन्शी रघुनाथ लाल थे जिन्हे हम लोग 'मास्टर साहब' कहते थे। उन्होने पूरी कक्षा के बालको के लिए काशी के लाजरस प्रेस मे छपी मथुराप्रसादजी के द्वारा लिखी गई हिन्दी अग्रेजी के अनुवाद की पुस्तके मँगाई। तब किसी प्रकार यह शिक्षण सम्पन्न हो सका। उस युग के छात्रो के अग्रेजी सीखने का कार्य मिश्रजी की इन्ही पुस्तको से होता था।

पण्डित मथुराप्रसाद का सर्वातिशायी अलौकिक ग्रन्थ था—ट्रीलिगुअल डिक्शनरी[1] (अग्रेजी त्रिभाषा कोश)। यह काशी के ही लाजरस प्रेस द्वारा प्रकाशित किया गया था। गत शताब्दी मे काशी का यही प्रेस सस्कृत तथा अग्रेजी की पुस्तको या बहुलता से प्रकाशन करता था। इस कोश मे अग्रेजी शब्दो का अर्थ तीन भाषाओं—अग्रेजी हिन्दी तथा उर्दू—मे दिया गया है। यह ग्रन्थ मिश्रजी के अग्रेजी-ज्ञान का कीर्ति स्तम्भ है।

पण्डित मथुराप्रसादजी सस्कृत के भी ज्ञाता थे। वे धार्मिक व्यक्ति थे। उन्होने बालको की शिक्षा के लिए सस्कृत-पाठशाला खोल रखी थी जो आज भी यथाकथचित् चलती है। उनका सनातन-धर्मावलम्वी कुटुम्व आज भी काशी मे विद्यमान है। उनके पौत्र प० दुर्गा प्रसाद मिश्र लेखक के पुरातन छात्र है तथा उनके प्रपौत्र प० ज्वालाप्रसाद मिश्र जिला-विद्यालय-निरीक्षक है। ये दोनो ही सज्जन मिश्रजी की कुलमर्यादा की रक्षा मे सलग्न है। ऐसे ही आदर्श ब्राह्मणचरित्र की महाभारत मे भीष्म पितामह ने स्पृहा की थी जो पितृ-पैतामही धुर को अविश्रान्त भाव से वहन करते है—

येषां बालाश्च वृद्धाश्च पितृपैतामही धुरम्। वहन्ति नावसीदन्ति तेभ्यो वै स्पृहयामहे॥

ट्रिलिंगुअल डिक्शनरी का परिचय

मिश्रजी के त्रिविध भाषानिष्ठ अग्रेजी कोश (अग्रेजी नाम—ट्रिलिगुअल डिक्शनरी)

---

१ Trilingual Dictionary

के विषय में सस्कृत-कालेज से ही प्रकाशित काशीविद्यासुधानिधि (अग्रेजी नाम—दी पण्डित) प्रथम खण्ड (१८६६ ई०) प्रथम अक के पृष्ठ २२ पर यह सूचना प्रकाशित है जिसमें इस महनीय ग्रन्थ के विषय मे उपयोगी सामग्री सकलित है। वह सूचना इस प्रकार है—

A Trilingual Dictionary, being a comprehensive lexicon in English, Urdu and Hindi exhibiting the syllabiation, pronunciation and etymology of English words with their exaplanation in English, Urdu and Hindi in the Roman character by Mathura Prasad Mishra, second master, Queen's College, Benaras.

This work, containing nearly 1350 demy octavo pages of closely printed matter in Brevie type, is too heavy to be sent by Bookpost It may be procured directly from us by Bangy Dak, from any bookseller in Calcutta, Madras and Bombay or from the Trubneir Co London Rs 16=00.

Concentrates in itself the utility of the dictionaries of Webster, Richardson, Senart, Worcester, Forbes and Monier Williams.

इस विवरण से ग्रन्थ के विषय मे आवश्यक सूचना उपलब्ध होती है। यह अग्रेजी भाषा का कोश अपने नाम के अनुसार अग्रेजी, उर्दू तथा हिन्दी मे था। उर्दू तथा हिन्दी दोनो के शब्द रोमन लिपि मे दिये गये थे। इसमे अग्रेजी शब्दो के सिलेबुल, उच्चारण तथा व्युत्पत्ति दी गई थी। यह कोश परिमाण मे भी विशाल तथा विराट् था। इसमे करीब-करीब मुद्रित सामग्री सकलित की गई थी। पृष्ठ सख्या १३५० थी (एक हजार तीन सौ पचास)। पूरा ग्रन्थ लम्बे-लम्बे पृष्ठो मे एक विशेष टाइप मे मुद्रित किया गया था। यह इतना भारी था कि डाक के द्वारा भेजा नही जा सकता था। इसलिए इसे ले जाने के लिए बहँगी की जरूरत बताई गई है। यह ग्रन्थ कलकत्ता, मद्रास, बम्बई के किसी पुस्तकविक्रेता से तथा लण्डन मे नाम्ना निर्दिष्ट अग्रेजी-विक्रेता से खरीदा जा सकता था। इसका मूल्य १६)। इसमे उस युग के प्रसिद्ध कोषकारो—बेवस्टर, रिचर्डसन, मोनियर विलियम्स आदि के द्वारा प्रणीत कोषग्रन्थो की उपयोगिता समाविष्ट की गई थी।

पण्डित मथुराप्रसाद मिश्र के त्रिभाषीय अग्रेजी-कोश के विषय मे तत्कालीन सुयोग्य सस्कृतज्ञ डॉ० हाल साहब की सम्मति इस प्रकार 'दी पण्डित' (१ फरवरी १८६८ ईस्वी) मे अकित है—After a thorough examination of Mathura Prasad's Dictionary, I consider it to be a remarkable advance on any work of the same kind that has preceded it. Covering as it does, and very adequately, the ground of two leading Indian languages, it may be regarded as one of the most valuabel linguistic helps to the Indian official that has appeared for many years, and it is, of course, equally valuable to the Indian student of English. ये मिश्रजी उस समय बनारस क्वीन्सकालेज के सेकेण्ड मास्टर (द्वितीय अध्यापक) के रूप मे सेवानिरत थे। प्रमदादास मित्र के सहयोगियो में एक अग्रेजी विद्वान् का परिचय मिलता है। उनका नाम था ए० ई० गफ़, बी० ए०। ये सस्कृत-कालेज मे ही ऐंग्लो-सस्कृत प्रोफेसर थे।

गत शताब्दी के उत्तरार्ध मे प्रकाशित ग्रन्थ **मन्त्रमीमांसा** की परीक्षा से मिश्रजी के विषय में उपयोगी तथ्यो का परिचय मिलता है। उस युग में काशी के प्रख्यात विद्वान् **रामनिश्र** शास्त्री ने इस ग्रन्थ की भूमिका में मथुरा प्रसाद मिश्रजी की प्रेरणा से उक्त ग्रन्थ का प्रणयन

बताया है। मिश्रजी की धार्मिक जिज्ञासा थी कि—(१) क्या इस युग में त्रैवर्णिकों के लिए गायत्री से भिन्न मन्त्र लेने की आवश्यकता है, (२) सन्यासी गृहस्थों को मन्त्रोपदेश कर सकता है ? तथा (३) वैदिक मन्त्रों से अतिरिक्त तान्त्रिक मन्त्रों का लेना आवश्यक है ? राममिश्र शास्त्रीजी ने इस विषय का निर्धारण तथा समस्या का समाधान संस्कृत में निबद्ध **मन्त्रमीमांसा** में किया था जो १६४३ विक्रमी में समाप्त हुई तथा भारत जीवन प्रेस में मुद्रित हुई थी। इस ग्रन्थ के आरम्भ में कतिपय पद्य उपलब्ध होते हैं जिन्हें ग्रन्थकार ने 'ग्रन्थ-कारयितृकुलकीर्तनम्' नाम से उल्लिखित किया है—

उन्नावमण्डलगतत्रिदशापगायाः
कूलेऽस्ति बक्सर इति प्रथितः प्रदेशः ।
केचिद् द्विजाः प्रतिवसन्ति हि तत्र
कान्यकुब्जोत्तमाः परमसामग -कौथुमीयाः ॥
तेष्वास्त धर्मपरमः सुजनाग्रगण्यः
तत्र स्थितो नवलदत्त इति प्रसिद्धः ।
मित्रास्पदो हिमकरस्य सहोदरो यः
कीर्त्यामभूत् हिमकरस्य विसारिकायाम् ॥
वैद्यनाथ इति तस्य सुतोऽभूत्
पैतृकं खलु समर्थयमानः ।
कान्यकुब्ज—गुणनीय —गुणाढ्यो
बक्सर—प्रति —निवासपरश्च ॥
तत्सुतस्तु खलु सेवकरामः विश्वनाथपुर-वास-पवित्रः ।
पूर्वपूरुषचरित्रसमेतः सर्वलोकपरिशीलितकीर्तिः ॥
तस्मादुदैदयदयो मथुराप्रसादमिश्रः
स्वधर्म-परिरक्षण- धीरवीरः ।
योऽयं श्रिया सह निरर्गलपूर्णपूर्णं
वाग्वैभवं ननु समार्जयदार्जवेन ॥

शास्त्रीजी मथुराप्रसादजी को 'कान्यकुब्जकुलालंकरण' बतलाते हैं जिससे उनके प्रति विशेष सम्मान की भावना प्रकटित होती है। पूर्वोक्त पद्यों से पता चलता है कि उन्नाव जिले में गंगा के तट पर स्थित बक्सर नामक विशिष्ट ग्राम था जिसमें कौथुमी शाखा वाले सामवेदी उत्तम कान्यकुब्ज विप्र निवास करते थे। वहीं हिमकर के मित्र नवलदत्त मिश्र निवास करते थे। उन्हीं के पुत्र हुए वैद्यनाथ मिश्र जो बकसर में ही निवास करते थे। इनके पुत्र सेवकराम काशी में आकर बस गये। मथुराप्रसादजी इन्हीं के पुत्र थे जो स्वधर्मपरायण, लक्ष्मी से सम्पन्न तथा वाग्वैभव से सर्वथा पूर्ण काशी में ही निवास करते थे। इस प्रकार पण्डित मथुराप्रसाद मिश्र नवलदत्त मिश्र के प्रपौत्र, वैद्यनाथ मिश्र के पौत्र तथा सेवकराम मिश्र के पुत्र थे। उनके वाग्वैभव की जो प्रशंसा शास्त्रीजी ने यहाँ की है वह उस युग में नितान्त प्रसृत थी।

प्रमदादास मित्र

१८६६ ईस्वी के आस-पास प्रमदादासजी संस्कृत-कालेज के सहायक एंग्लो-संस्कृत प्रोफेसर थे। ये उस युग के बड़े ही योग्य अध्यापक तथा संस्कृत-ग्रन्थों के अंग्रेजी अनुवादक के रूप में विशेष प्रख्यात थे। इन्हें संस्कृत भाषा का गम्भीर ज्ञान था। अपने एक लेख में इन्होंने

प्रो० विल्सन साहब के सस्कृत-कोश के परिबृंहित सस्करण में उस युग के प्रख्यात संस्कृत व्याकरण के विद्वान् गोल्डस्टूकर के द्वारा जोड़ी गई टिप्पणियों की अयुक्तता का प्रदर्शन किया है तथा दूसरे लेख में बाइबिल के उपदेशों की मनुस्मृति तथा महाभारत में निर्दिष्ट उपदेशों से समता दिखलाई है।[१]

इस कोष में रचयिता मथुराप्रसाद मिश्र उस समय बनारस क्वीन्स कालेज के सेकेण्ड मास्टर थे अर्थात् हेडमास्टर या प्रिन्सिपल के नीचे उनका स्थान था। मथुराप्रसादजी की योग्यता का अनुमान लगाया जा सकता है। उस युग के प्रख्यात अग्रेजी-सस्कृत-कोषों के वैशिष्ट्य से संवलित होने से पण्डितजी की योग्यता का पूरा परिचय मिलता है। वे अंग्रेजी तथा संस्कृत भाषा के ही विद्वान् न थे, अपितु फारसी भाषा का भी ज्ञान रखते थे, नहीं तो अग्रेजी शब्दों का उर्दू पर्याय देने में उनकी योग्यता कहाँ से काम कर सकती थी। ग्रन्थ की रचना १८६६ ईस्वी से पूर्व की गई थी। मुझे तो प्रतीत होता है कि पण्डित मथुराप्रसाद मिश्र ही इन तीनों भाषाओं का ज्ञान अर्जित कर प्रथम भारतीय कोषकार थे। भाषाओं के क्रमनिर्देश में हिन्दी का उल्लेख उर्दू के अनन्तर किया गया है जो उर्दू की अपेक्षा इसकी लघुता का सद्यः सूचक है। यह ऐतिहासिक तथ्य अन्य प्रमाणों से भी प्रमाणित किया जा सकता है।



१. द्रष्टव्य 'पण्डित रिविजिटेड' प्रथम भाग, पृ० १-७ तथा पृ० १८०-१६३

परिशिष्ट ६

नीलकण्ठ गोरे

काशी का संस्कृत विद्वान्
ईसाई मत का पादरी महान्

भारतवर्ष में ईसाईमत के प्रचुर प्रचार का अपना आवश्चर्यजनक इतिहास है। १९वी शताब्दी के प्रथम चरण में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की राजनीतिक तथा प्रशासनिक स्थिरता के साथ ही साथ ईसाईमत के [illegible] प्रचार का मार्ग प्रशस्त हो गया। यूरोप के ईसाई प्रचारकों ने इसका लाभ उठाया और भारतवर्ष मे अपने धर्म के प्रचार के लिए उन्होंने छल, बल, कल का सहारा लेकर अद्भुत कार्य कर दिखाया जिसकी समता करना दूसरे धर्मावलम्बियों के लिए अत्यन्त कठिन तथा उद्वेगजनक था। यूरोप के सब राष्ट्रों ने अपने-अपने प्रचारकों को आर्थिक साधनों से सवलित कर भारत में इस धार्मिक पुण्यसचय के लिए भेजा। इसका परिणाम सामने आया और पूरे भारतवर्ष में ये धर्मप्रवारक छा गये।

इन प्रचारकों की दृष्टि भारत की सर्वश्रेष्ठ धार्मिक नगरी काशी की ओर आकृष्ट हुई। उस युग मे 'रोडप्रीचिंग' (सड़क पर खड़े होकर ईसाई-धर्म-प्रचार) के प्रति उपदेशकों का बड़ा आकर्षण था। सुविज्ञ तथा धर्मप्रवण ईसाई पादरी काशी की सड़कों के किनारे खड़े होकर उच्च स्वर से हिन्दी में स्वधर्म का प्रचार करते थे। मडक के एक किनारे ये पादरी लोग चिल्ला-चिल्ला कर कहते थे ऐ आसमानी बाप, हमे आज की रोटी दो (यह ईसाई प्रार्थना का आदिम वाक्य है) और उधर दूसरे किनारे पर खड़े काशी के स्कूली छोकरे चिल्ला कर जवाब देते—यह नालायक भूखा है जो अपने भगवान् से, आसमानी बाप से, केवल रोटी की प्रार्थना करता है, किसी अच्छी वस्तु की प्रार्थना नही करता।

इसी तरह का घमासान वाग्युद्ध चलता रहता था। इस युद्ध मे लड़के ही हार मान लेते, ईसाई प्रचारक अपने प्रचार कार्य में तन-मन-धन से सलग्न जो रहता था। धर्मनगरी काशी के इसी वातावरण में एक ऐसे सस्कृत-विद्वान् का जन्म हुआ जिसने अपने वैदिक धर्म का गाढ़ अनुशीलन कर ईसाईमत के खण्डन के लिए सस्कृत-पद्यों में ग्रन्थ का निर्माण किया, परन्तु ईसाइयों की कलियुगी माया का शिकार बन स्वयं ही ईसाई मत में दीक्षित हो गया और इस मत के प्रचार कार्य में उसने अपना समग्र जीवन ही लगा दिया। काशी के इस ईसाई पण्डित की कीर्ति समग्र यूरोप में व्याप्त हो गई और वह ईसाई धर्मप्रचारकों के प्रबल आक्रमण का परिणत फल माना जाने लगा। इस काशी के सस्कृत विद्वान् का नाम था—

नीलकण्ठ शास्त्री गोरे

'गोरे' आस्पदधारी इस महाराष्ट्र ब्राह्मण के जीवनवृत्त की कहानी औपन्यासिक रोमांचकता से सर्वथा मण्डित एवं आकर्षणकारिणी है। गोरे कुल का मूल स्थान दक्षिणभारत

महाराष्ट्र में काशीपुरा नामक स्थान बतलाया जाता है। नीलकण्ठ शास्त्री के पूर्वज काशी में आने से पूर्व बुन्देलखण्ड के शासकों, राजाओं और नवाबों के दीवान का काम करते थे। इनके पितामह दिनकर भट्ट गोरे बाँदा के नवाब अली बहादुर के दीवान थे और काशी में ही अन्नपूर्णासत्र चलाते थे जिसमें ब्राह्मणों के भोजन-छाजन की व्यवस्था की जाती थी। गोरे लोगों का आचरण पूरा वैदिक था। नीलकण्ठ का जन्म काशी में ही ८।२।१८२५ ई० में हुआ। इनके पिता का नाम शिव्रान पन्त गोरे था। पिता ने बनारस संस्कृत-कॉलेज में अपने पुत्र को अध्ययन के लिए नहीं भेजा, क्योंकि उन्हें वहाँ के छात्रों में हिन्दू धर्म के प्रति श्रद्धा की न्यूनता की आशंका जागरूक थी। फलतः घर में ही नीलकण्ठ को शिक्षा दी गई और घर पर ही इन्होंने व्याकरण तथा दर्शन शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन किया। गोरेकुल पूर्वरूप में शैव था, परन्तु पीछे वह वैष्णव बन गया। इस परिवर्तन का कारण नीलकण्ठ शास्त्री ने लण्डन में जाने पर प्रख्यात अंग्रेज सस्कृतज्ञ मोनियर विलियम्स को बतलाया कि आदिशंकराचार्य स्वयं विष्णु के उपासक थे। सूतसहिता एव शिवगीता, जिनमें शिव के दार्शनिक स्वरूप का विवेचन है, शंकराचार्य के बाद की रचनायें है। घर पर काशी के पण्डितों की शिक्षा पाकर नीलकण्ठ का ज्ञान वैदिक विधि-विधान एव दार्शनिक सिद्धान्तों में परिनिष्ठित हो गया। वे धार्मिक विषयों पर शास्त्रार्थ करने में अभिरुचि रखने लगे और इसी का परिणाम था कि उनका परिचय काशी में ईसाई मत के प्रमुख प्रचारक **मिस्टर स्मिथ** के साथ हो गया।

ईसाई प्रचारकों के प्रचार कार्य का ऊपर विवरण दिया गया है। नीलकण्ठ बुद्धिमान् एवं शास्त्रवेत्ता तो थे ही। पादरी स्मिथ को उन्होने अपनी वाक्चातुरी एव तर्क-युक्ति से ईसाई मत का इतना प्रबल खण्डन कर सुनाया कि वह इनकी विद्या-बुद्धि से चमत्कृत हो गया। स्मिथ से इनकी पहली मुलाकात १८४४ ई० के अप्रैल में हुई और दूसरी भेंट ग्यारह महीनों के बाद १८४५ ई० के अप्रैल महीने में हुई। स्मिथ ने नीलकण्ठ को मतपरीक्षा नामक संस्कृत-ग्रन्थ (जान म्यूर लिखित) दिया था जिसमें हिन्दू धर्म का पर्याप्त खण्डन संस्कृत-पद्यों में किया गया था। इस ग्रन्थ से प्रभावित होकर नीलकण्ठ गोरे ने सस्कृत-पद्यों में **शास्त्रतत्त्वविनिर्णयः** लिखा जिसमें ईसाई मत के खण्डन के साथ-साथ वैदिक धर्म का मण्डन किया गया था। गोरे की तीव्र बुद्धि का परिचय इसी घटना से लग जाता है कि ग्रन्थलेखन के समय उनकी उम्र केवल उन्नीस साल की थी। इसी बीच में इन्होंने हिन्दी में लिखी 'ईसाई मत के विषय में सन्देह' नामक पुस्तिका स्मिथ साहब को भेजी। सस्कृत-ग्रन्थ तो ईसाईमत का सुव्यवस्थित तार्किक खण्डन ही है।

ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय

नीलकण्ठ शास्त्री ने उन्नीस वर्ष के वय में ही ईसाई बाइबिल का अध्ययन तथा मनन बड़ी गम्भीरता के साथ किया। भारतीय वैदिक-धर्म-सम्मत ग्रन्थों का भी उन्होंने बड़ी निष्ठा के साथ अध्ययन किया था। बाइबिल के तथ्यों का खण्डन करने में उनकी तीव्र बुद्धि दीख पड़ती है। **शास्त्रतत्त्वविनिर्णयः** में ७८४ अनुष्टुप् हैं। यह छः परिच्छेदों में विभक्त है। इसमें स्वमत का मण्डन तथा ईसाई मत का खण्डन गम्भीर तर्कों के सहारे किया गया है। जीसस क्राइस्ट के जीवन की अलौकिक घटनाओं का तथा उनके द्वारा प्रचारित उपदेशों का खण्डन नीलकण्ठ की कल्पनाशक्ति का सद्यः परिचायक है। द्वितीय परिच्छेद में परमत का खण्डन है। ईसाई मत ग्रहण करने से ही मानव कल्याण, जीसस के स्पर्श मात्र से गम्भीर रोग, कुष्ठ रोग

आदि का निवारण, बिना आधार तथा प्रमाण के उनके उपदेशो का ग्रहण आदि तथ्यों का खण्डन उन्होने किया है । वैदिक धर्म के गम्भीर तत्त्व अल्पबुद्धि व्यक्तियों के द्वारा उनका सम्यक् ज्ञान न होने पर कैसे त्याज्य माने जायँ —

न खल्वत्यन्तगम्भीर आशयः पारमेश्वरः ।
अल्पबुद्ध्यर्पितैर्दोषैस्त्यक्तुं युज्येत सर्वथा ॥ (२।२)
तस्माच्छुद्धतरं शास्त्रं वैदिकं मङ्गलावतम् ।
क्षुद्रबुद्धिसमुद्भूतैर्न त्याज्यं दोषसंशयैः ॥ (६।२०२)
इदमत्यन्तविमलं खलु वेदान्तदर्शनम् ।
स्वबुद्धिकल्पितैर्दोषैर्न त्यक्तुं युज्यते क्वचित् ॥ (६बी १५६)
हन्तास्मदीयं शास्त्रं ये त्यजन्ति लघुदर्शनाः ।
दोषाभासाकुलहृदस्तेभ्यः खिद्याम्यहं भृशम् ॥ (६बी १७६)

बाइबिल के मतो का खण्डन इतनी गम्भीरता तथा युक्तियो के सहारे किया गया है कि उनका खण्डन करना नितान्त कठिन है ।

वैष्णव धर्म के सिद्धान्तो का वर्णन बडी प्रौढ़ भाषा मे किया गया है । गोविन्द की शरण को छोडकर प्राणियो के लिए मुक्ति का कोई मार्ग नही है—

अत एकान्तभावेन जगतां पतिरच्युत. ।
उपासनीय. पुरुषैः स हि ज्ञानं प्रयच्छति ॥ (६।३८)
अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते ।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥ (६।३९)

वैदिक धर्म की गम्भीरता के विषय मे लेखक का कथन है—

यथार्थभगवद्रूपबोधकं दृढहेतुमत् ।
गम्भीरं च प्रसन्नं च शास्त्रमस्माकमेव हि ॥ (६बी १६१)

इस प्रकार नीलकण्ठ शास्त्री गोरे ने इस प्रमाण-पुर सर प्रणीत ग्रन्थ में वैदिक धर्म की गम्भीरता, व्यापकता तथा तार्किकता की सिद्धि के लिए बहुत विस्तृत तर्कों का उपन्यास किया है । इस ग्रन्थ की भाषा तथा भाव दोनों श्लाघनीय है और लेखक के सस्कृत भाषा तथा वैदिक धर्म के उत्कृष्ट ज्ञान के सद्य परिचायक है ।[1]

पादरी स्मिथ नीलकण्ठ के वैदुष्य, धार्मिक ज्ञान एव खण्डन-मण्डन-प्रक्रिया से इतना प्रभावित हुआ कि वह उन्हे ईसाई मत मे दीक्षित करने के लिए उतावला हो गया । उसने उनको अपने वश में करने के लिए अपना मायाजाल उनपर फेंका । जब नीलकण्ठ मिलने आते, तो उनका अपूर्व सत्कार करता, आर्थिक सहायता देता तथा अपने वश में करने के नये-नये आकर्षण निकालता । घर पर नीलकण्ठ शास्त्री को शान्ति नही मिलती । पिता ने उनका विवाह भी कर दिया था, परन्तु गृहस्थ्य जीवन की अभिरामता उन्हे आकृष्ट करने में समर्थ नही थी । नीलकण्ठ के पिता को अपने पुत्र का ईसाई प्रचारकों के साथ घनिष्ठ परिचय खलने लगा और उन्होंने उसे रोका भी अपनी शक्तिभर, परन्तु नीलकण्ठ को पादरी स्मिथ का सम्पर्क शान्ति प्रदान करता तथा उनका मन धीरे-धीरे ईसाईमत की ओर आकृष्ट हो गया ।

१ ग्रन्थ के सम्पादक हैं प० सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे, प्रकाशक सिन्धिया ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट, उज्जैन, १९५१ ई० ।

ईसाई धर्म में दीक्षित होने की उनकी अभिलाषा की प्रबलता देखकर काशी की पण्डितमण्डली चकित हो गई, उसे सर्वथा रोका परन्तु बनारस के ईसाई कलक्टर ने काशी में यह नवीन घटना तूल न पकड़ ले इस विचार से उन्हे जौनपुर में भेज दिया जहाँ १८४८ ई० की १४ मार्च को यह वैदिक ब्राह्मण सर्वात्मना ईसाई धर्म मे दीक्षित हो गया। उसका नया नाम हुआ पादरी **नेहेमियाह गोरेह**। इस समय नीलकण्ठ का वय २३ साल का था। इस घटना की समग्र ईसाई जगत् मे चर्चा हुई और यह कार्य ईसाई प्रचारकों की सर्वातिशायी क्रान्तिकारी सफलता मानी गई।

परिवार की दशा

इस अप्रत्याशित घटना का प्रभाव नीलकण्ठ के परिवार पर बडा विषम हुआ। उनके वृद्ध पिता तो इतने टूट गये कि वे परिवार का सम्बन्ध तोडकर घर-बार छोड कर तीर्थभ्रमण के लिए निकल गये। अन्त में हरिद्वार मे १८६१ ई० मे उनका देहावसान हो गया। नीलकण्ठ की धर्मपत्नी की दीनदशा किन शब्दो मे वर्णित की जाय ? नीलकण्ठ ने उसे अपने नये आवास मे रहने के लिए बुला भेजा, परन्तु उनकी धर्मपत्नी ने इसे अस्वीकार कर दिया। कचहरी में उसे पाने के लिए मुकदमा किया, परन्तु इस कार्य मे भी वे सफल न हो सके। अनन्तर बनारस के कलक्टर ने एक भीषण आडम्बर रचा। एक दिन लगभग बीस अग्रेज तथा देशी ईसाइयो ने एक विचित्र नाटक रचा। गाजे-बाजे के साथ ईसाइयो का दल पालकी मे नीलकण्ठ को वैवाहिक वेष मे बैठाकर जुलूस के रूप मे नीलकण्ठ के श्वशुर के आवास पर जा धमका। जो देखता, वह आश्चर्य से चकित हो जाता। ईसाई पुरुषविहीन उस घर मे घुस गये और तीसरी मजिल पर जॉता पीस रही लक्ष्मीबाई को बलात् घसीट कर लाने लगे। उसने प्रतिवाद किया। इसपर उन्होने उस पर थूका और सीढ़ियो से घसीटकर नीचे उतारा और उसी पालकी पर बैठाकर दलबल के साथ लौट गये। कलक्टर ने पुलिस को सरक्षण के लिए लगा रखा था। फलत दर्शको ने इस अनुचित व्यवहार को रोकने से अपने को दूर ही रखा। लक्ष्मीबाई नीलकण्ठ के नये आवास पर लाई गयी और उसे रहने के लिए बाध्य किया गया। इसके पिता ने कचहरी का आश्रय लिया, परन्तु वे सर्वथा असफल ही रहे। लक्ष्मीबाई बलात् नीलकण्ठ के पास रहने लगी। उसे एक कन्या पैदा हुई। उसे ईसाई बनाने के लिए आग्रह ने जोर पकड़ा। वह बेचारी सर्वथा अपनी असम्मति देती रही। परन्तु अन्ततोगत्वा १।१२।१८५३ ई० को उसे बलात् ईसाई धर्म मे दीक्षित कर दिया गया। इस घटना से लक्ष्मीबाई को बड़ी ठेस लगी। वह विक्षिप्त सी हो गई और दो दिनों के भीतर उसके प्राणपखेरू उड़ गये (३।१२।१८५३ ई०)। इस प्रकार लक्ष्मीबाई ने अपनी वैदिक धर्म के प्रति गाढ़ निष्ठा के कारण प्राण त्याग दिया। नीलकण्ठ की सुखमय दाम्पत्य जीवन बिताने की लालसा सर्वदा के लिए अन्तर्हित हो गई। हा हन्त !!!

पादरी नीलकण्ठ काशी लौट आया और सस्कृत-कालेज के प्रिन्सिपल डॉ० बेलेन्टाइन के सहायक पण्डित के पद पर नियुक्त हो गया। छः वर्षों के बाद उसके जीवन में नया मोड़ आया और ईसाई धर्म के प्रचार का कार्य उसे सुपुर्द किया गया। पंजाब के महाराजा रणजीत सिह को पराजित कर अंग्रेजों ने उनके पुत्र दिलीप सिंह को ईसाई बनाया और नीलकण्ठ को धार्मिक शिक्षा देने के लिए उनका ट्यूटर बनाया गया। वे दिलीप सिंह के साथ यूरोप गये। लन्दन मे पहुँचने पर नीलकण्ठ का बड़ा स्वागत किया गया। उस समय महारानी विक्टोरिया

से उनका साक्षात् कराया गया। महारानी उनसे मिलकर बड़ी प्रसन्न हुई और काशी के विद्वान् पण्डित को ईसाई धर्म में दीक्षित पाकर उसने ईसाई प्रचारकों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। जान म्यूर के द्वारा पादरी नीलकण्ठ की उस युग के विद्वान् संस्कृतज्ञ मैक्सम्यूलर से भेंट कराई गई जो उन्हें देखकर बड़े चमत्कृत हुए। नीलकण्ठ शास्त्री ने संस्कृत में अपना परिचय दिया, परन्तु मैक्सम्यूलर ने कभी जीवन में संस्कृत-भाषण नहीं सुना था। उसने पूछा कि आप किस भाषा में बोल रहे हैं ? शास्त्रीजी ने कहा मै संस्कृत बोल रहा हूँ। क्या आप वही **मैक्सम्यूलर हैं** जिसने ऋग्वेद का संस्करण प्रकाशित किया है ? साहब ने कहा कि वही व्यक्ति हूँ, परन्तु संस्कृत बोलते किसी को नही सुना था। इसलिए आपको समझ न सका। दोनों में घनिष्ठ प्रेम हो गया। ईसाई होने पर नीलकण्ठ शास्त्री की मन स्थिति के विषय में विभिन्न मत प्रचलित हैं। एक पक्ष का कहना है कि शास्त्री ने ईसाइयों की मत-विभिन्नता तथा पारस्परिक वैमनस्य को देखा तो उन्हें इस घटना से बड़ा दु:ख हुआ। मैक्सम्यूलर का कहना है कि उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ और वे विष खाने वाले व्यक्ति के समान अपने को अशान्त तथा पागल मानने लगे थे—He felt like a man who has taken poison.

दूसरे पक्ष का कहना है कि ईसाई धर्म की दीक्षा से नीलकण्ठ स्वयं को अत्यन्त प्रसन्न, शान्तचित्त एवं भाग्यशाली मानते थे। वे एकान्त में चिन्तन करते हुए 'श्री खृष्टगीता' के श्लोकों का पाठ बड़े प्रेम तथा श्रद्धा से करते थे जैसे वैष्णवजन भागवत या भगवद्गीता का पाठ सस्कृत में किया करते है। बाइबिल के उपदेशों की सस्कृत पद्यो में निबद्ध यह श्री खृष्टगीता भगवद्गीता के समान ही उपदेशप्रद ग्रन्थ है। जो कुछ भी हो, विलायत से लौटने पर नीलकण्ठ पूना और बम्बई के महाराष्ट्र पण्डितों में ईसाईमत का प्रचार करते थे। आरम्भ में उन्हें इस कार्य में सफलता भी मिली, परन्तु वैदिक धर्म की जागृति, विशेषत: प्रार्थना-समाज के द्वारा धर्मप्रचार के कारण उनका प्रभाव मन्द पड़ गया, उपदेशों का आकर्षण कम हो गया, परन्तु इतना होने पर भी ईसाईमत के प्रचार में उनका उत्साह एव प्रभाव सर्वदा स्मरणीय रहेगा।

ईसाई मत का प्रचार

ईसाई बनने के अनन्तर नीलकण्ठ ने अपनी पूरी शक्ति, वाक्चातुरी का प्रयोग ईसाई धर्म के प्रचार में लगाया। उनका प्रचारक्षेत्र किसी एक स्थान पर सीमित न था, बनारस, बम्बई, पूना, मऊ, कलकत्ता, जबलपुर, नागपुर, राँची, पण्ढरपुर, इन्दौर, कानपुर, शोलापुर, दिल्ली, अमृतसर, देहरादून आदि स्थानों पर उन्होंने मत के प्रचार का कार्य बड़ी निष्ठा, अदम्य उत्साह तथा दृढ़ लगन से किया और ऐसे समय जब इन स्थानों पर यातायात की व्यवस्था न थी। न रेल का साधन था, न सड़कों की सुविधा थी। काशी के पण्डित होने का उन्होंने लाभ उठाया। लोगों को आकृष्ट करने के लिए वे कहा करते थे कि मुझे स्वप्न में ईसाई धर्म के प्रचार का दैवी आदेश प्राप्त हुआ है। इसी धर्म के प्रचार से भारत की उन्नति हो सकती है। फलत: उनका प्रचार कार्य बड़ा विशाल तथा विस्तृत था। अशिक्षित सामान्यजनों का ही आकर्षण न था, अपितु पढ़े-लिखे सुसभ्य सुशिक्षित व्यक्ति भी आकृष्ट होते थे। तभी तो पूना की प्रसिद्ध विदुषी पण्डिता रमा बाई तथा पंजाब के खड्गसिंह आदि भी इनके उपदेशों से प्रभावित होकर ईसाई मत में दीक्षित हो गये। नीलकण्ठ ने पाश्चात्त्य दर्शन का ज्ञान भी बढ़ा लिया, क्योंकि उन्होंने अपने सुदीर्घ अनुशीलन से ग्रीक, लैटिन तथा हिब्रू भाषाओं का भी

विशिष्ट परिचय प्राप्त कर लिया। वे दूसरी बार भी इंग्लैण्ड गये और वहाँ के ईसाई पादरियों से सम्मानित किये गये। ईसाई मत के पारस्परिक वैमनस्य से वे खिन्न रहते थे। भारत में उनका प्रभाव घटने लगा। पुणे के प्रसिद्ध चिपलूणकर शास्त्री ने अपनी 'निबन्धमाला' में इनका जमकर खण्डन किया और नवीन युवकों को बतलाया कि नीलकण्ठ को दैवी आदेश की बात कपोलकल्पित है और उनके वाग्जाल में वे नहीं फँसें। नीलकण्ठ के अनुज गोविन्द शास्त्री गोरे ने इन्हें शास्त्रार्थ में ललकारा और चुनौती दी कि यदि वे बाइबिल के सिद्धान्तों की प्रामाणिकता सिद्ध कर दें, तो वे ईसाई बन जायेंगे। परन्तु नीलकण्ठ इस कार्य में सर्वथा असफल रहे। पुणे में स्वामी दयानन्द सरस्वती का भाषण सुनने के लिए श्रोताओं का जमघट लगता था, परन्तु नीलकण्ठ के ईसाई भाषणों को सुनने कोई शिष्ट व्यक्ति नहीं जाता था। केवल नीच जातियों में ही वे प्रचार करते रहे।

ग्रन्थरचना

ईसाई होने के बाद नीलकण्ठ ने ईसाई मत के प्रचारार्थ संस्कृत, हिन्दी एवं मराठी में अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया जिनमें कतिपय नाम इस प्रकार हैं—

(१) **सतमत-निरूपण**—का परिबृंहित संस्करण निकाला। मूल ग्रन्थ जॉनम्यूर द्वारा संस्कृत पद्यों में निबद्ध है। इन्होंने इस लोकप्रिय ग्रन्थ के अनेक संस्करण प्रकाशित कराये। हिन्दू धर्म के खण्डन में पुराणों के पद्यों के संकलन से इसका उपबृंहण किया गया है।

(२) **वेदान्तमत का विचार और ख्रिष्टीय मत का सार**—यह मौलिक ग्रन्थ है जिसकी रचना १८५३ ई० में हुई। ग्रन्थकार का नाम नहीं है। उसके स्थान पर केवल काशी के पण्डित का नाम है। 'काशी के एक पंडित से बनाया गया' लिखा है।

(३) **षड्दर्शन-दर्पण**—१८६० ई० में प्रकाशित यह हिन्दी ग्रन्थ ग्रन्थकार का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। लेखक ने अपने मत का पुष्ट तथा विशद प्रतिपादन किया है। उस समय ये कलकत्ता के 'बिशप कालेज' के विद्वान् प्रोफेसर के रूप में निर्दिष्ट हैं। इसका अंग्रेजी अनुवाद अगले वर्ष १८६१ ई० में प्रकाशित हुआ। अनुवादक का नाम है फिट्ज एडवर्ड हाल, जो उस समय मध्यप्रदेश के स्कूल-निरीक्षक थे। ग्रन्थ का अंग्रेजी नाम है—ए नेशनल रिपुटेशन आफ दी हिन्दू फिलासोफिकल सिस्टम्स।

नीलकण्ठ गोरे का जन्म १८२५ ई० मे हुआ और १८९५ ई० में सत्तर वर्ष की आयु में निधन बम्बई में हुआ। बम्बई में इनकी कब्र के ऊपर सामान्य लेख अंकित है जिसमें उनकी मृत्यु के समय का केवल निर्देश मात्र है।

ईसाई बनने से पहिले संस्कृत में प्रणीत इनके ग्रन्थ **शास्त्रतत्त्वविनिर्णयः** का रचनाकाल १७७६ शक सं० है (१८४४ ई०)। इस समय लेखक का वय केवल १९ वर्ष था। इस प्रकार काशी के इस प्रतिभाशाली पण्डित ने ईसाई मत के प्रचार में नई दिशा दिखलाई। यही उनकी विशेषता है।

अंग्रेजी में इनके दो जीवनचरित हैं—

(१) पादरी स्मिथ के द्वारा रचित हिन्दी नाम वाला ग्रन्थ—**द्विज**। नीलकण्ठ के दो जन्म हुए—ब्राह्मण वंश में तथा दूसरा ईसाई मत में। फलतः यह नाम अन्वर्थक है। रचनाकाल १८५० ई०। ईसाईमत के विरोध में हिन्दुओं के द्वारा प्रचारित तथ्यों का खण्डन इसमें है।

जानम्यूर के ग्रन्थ की इसमें विस्तृत आलोचना की गई है। फलत· यह ग्रन्थ नितान्त उपादेय है।

(२) गार्डन द्वारा प्रणीत 'लाइफ ऑफ फादर गोरेह' (१६०० ई०) = पादरी गोरे का जीवनचरित। पहिले ग्रन्थ की अपेक्षा कम महत्त्व रखता है।

'शाश्वततत्त्वविनिर्णय' के अन्तिम पद्यो मे ग्रन्थकार की वैदिक धर्म मे आदर-भावना का विशद परिचय मिलता है—

नमो भगवते तुभ्यं विष्णवेऽतर्क्यशक्तये ।
पवित्रे वैदिके धर्मे श्रद्धां त्वामर्थयामहे ॥
हन्ताऽस्मदीयशास्त्रं ये त्यजन्ति लघुदर्शनाः ।
दोषाभासाकुलहृदस्तेभ्यः खिद्याम्यहं भृशम् ॥



परिशिष्ट ७

काशीवासी एक यूनानी संस्कृतज्ञ

डेमेट्रियस गैलेनोस (१७६० ई०–१८३३ ई०)

प्राचीन यूनान कला तथा साहित्य के क्षेत्र मे समस्त पाश्चात्त्य जगत् का गुरु-स्थानीय है। वहाँ से विकीर्ण होने वाली ज्ञान-किरणों ने पश्चिमी संसार के अज्ञानान्धकार को दूर करने में सर्वथा कृतकृत्यता प्राप्त की थी। १८वी शताब्दी में वह मुसलमान तुर्क साम्राज्य के द्वारा परास्त होकर उसका दास बना हुआ था। उसके निवासी दूर-दूरस्थ देशों से व्यापार करते थे तथा अपने देश का नाम व्यापार के जगत् में उजागर किये हुए थे। भारतवर्ष में भी ये व्यापारी विशेषतः कलकत्ता, नारायणपुर तथा ढाका में अपनी बस्तियाँ बनाकर व्यापार करते थे। इनके लिए एक ईसाई धर्मगुरु की आवश्यकता थी जो इनके धार्मिक कार्यों का सम्पादन ख्रिष्टीय विधि-विधानो के द्वारा विधिवत् करावे। इसी कार्य के लिए डेमिट्रियस गैलेनोस यूनान से भारतवर्ष ईसाई धर्मोपदेशक के रूप में १८वी सदी के अन्तिम चरण में आया था। गैलेनोस का जन्म यूनान के प्रख्यात नगर एथेन्स में १७६० ई० में हुआ। उसने 'पैटमास' नामक टापू के ईसाई विद्यालय में ईसाई धर्म का शिक्षण प्राप्त किया। उसका उद्देश्य था पूरबी देशों में जाकर ईसाई धर्म का प्रचार करना और इसीलिए वह बंगाल में रहने वाले यूनानी सौदागरों की धार्मिक शिक्षा-दीक्षा के लिए कलकत्ते आया। वहाँ केवल छह सालों तक अध्यापन किया और साथ में व्यापार भी। तदनन्तर वह संस्कृत की शिक्षा प्राप्त करने के लिए काशी चला आया। १७९३ ईस्वी के आस-पास और तब से लेकर अपने निधन पर्यन्त (१८३३ ई०) लगातार ४० साल के सुदीर्घ कालखण्ड मे वह वाराणसी में ही रहा, देवभाषा का अध्ययन किया तथा संस्कृत के मान्य ग्रन्थो का अपनी मातृभाषा (यूनानी) में अनुवाद किया।

काशी के उनके सहायक तथा परामर्शदाता थे **मुंशी शीतल सिंह**। 'बनारस राज का तवारीख' (फारसी में निबद्ध तथा लखनऊ से प्रकाशित) के अनुसार १७७६ ई० में जनमे शीतल सिंह १८१६ ई० में काशीनरेश महाराजा उदितनारायण सिंह के मुन्शी नियुक्त किये गये। ये अनेक भाषाओं के ज्ञाता, सुयोग्य शासक, 'हिकमत' के विशेष जानकार तथा 'बेखुद' के तखल्लुस से कविता लिखने वाले एक उच्चकोटि के शायर थे। 'रिलिजस सेक्ट्स ऑफ हिन्दूज' (हिन्दुओं के धार्मिक सम्प्रदाय) नामक ग्रन्थ में उस युग के प्रख्यात अंग्रेज संस्कृतज्ञ विल्सन साहब ने लिखा है कि उन्होंने उस ग्रन्थ की सामग्री दो विद्वान् भारतीयों के फारसी ग्रन्थों से संकलित की है, जिनमें एक थे—**मथुरानाथ** जो वाराणसी के हिन्दूकालेज के पुस्तकालयाध्यक्ष थे और दूसरे थे—**शीतलप्रसाद** जो बनारस के राजा (काशीनरेश) के मुन्शी थे। इनका निधन १८५४ ई० में १८ दिसम्बर को हुआ। इन्हीं शीतलप्रसाद (जो ब्राह्मण थे) के उद्योग से गैलेनोस का परिचय तत्कालीन काशीनरेश महाराज उदितनारायण सिंह के साथ हुआ और इन्हीं के परामर्श तथा उत्साह से प्रेरित होकर उन्होंने संस्कृत का गम्भीर अध्ययन

किया और सुयोग्य सस्कृतज्ञ के रूप में कीर्ति प्राप्त की। इनके सस्कृतशिक्षक का ठीक परिचय नहीं मिलता, परन्तु मृत्युकालीन 'विल' (मृत्यु-पत्र) में इनका नाम **पण्डित शिवराम** दिया गया है जिन्हें तीन सौ रुपया देने की व्यवस्था की गई थी। गैलेनोस का निधन वाराणसी में ही १८३३ ई० में हुआ और उन्होंने अपने मृत्युपत्र मे लिखा है कि चार सौ रुपये मुन्शी शीतलप्रसाद को दे दिये जायें जिससे वे मेरी कब्र के लिए जमीन खरीद लें, जहाँ मृत्यु के बाद मेरा शरीर गाड़ा जायेगा। इस विवरण से स्पष्ट है कि गैलेनोस को शीतलप्रसाद के सौजन्य तथा मैत्री पर गाढ़ विश्वास था, अन्यथा इन आवश्यक कार्यों का भार उनके ऊपर डालने का औचित्य कथमपि सिद्ध नही होता।

काशी मे गैलेनोस के शील, स्वभाव तथा आचार विचार का परिचय कलकत्ते के **बिशप हेबर** के द्वारा लिखित 'यात्रा विवरण' के अवलोकन से मिलता है। १८२४ ई० के आस-पास बिशप हेबर काशी आये थे। उन्होने लिखा है--

'वाराणसी के यूरोपदेशीय व्यक्तियो मे एक यूनानी रहता है जो हिन्दू धर्म के विषय मे विशेष जानता है। उसका स्वभाव बडा ही शिष्ट तथा कोमल है। वह बहुत दिनो से काशी में रहता है। अपने ही साधनो से जीवन-निर्वाह करता है। वह सस्कृत का अध्ययन करता है। वह [illegible] देश की भाषा का बडा ही सुयोग्य विद्वान् है। वह अग्रेजो से कम सम्पर्क रखता है, परन्तु काशी के प्रधान हिन्दू-परिवारो के साथ वह बडी मित्रता रखता है। मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि वह अपने देश को छोडकर काशी मे केवल सस्कृत पढ़ने के निमित्त निवास करता है।'

यह गैलेनोस के काशीनिवास के समय का विवरण है। इससे स्पष्ट है कि वह सस्कृत भाषा का बड़ा नैष्ठिक अध्येता था तथा हिन्दू परिवारो के साथ गाढ़ सम्पर्क रखता था और हिन्दूसमाज मे प्रतिष्ठा तथा सम्मान का भाजन था।

गैलेनोस को काशी से बडा प्रेम था। वह सस्कृत का गाढ़ अनुशीली था। उसके द्वारा अपनी मातृभाषा यूनानी मे अनूदित सस्कृत-ग्रन्थो का विवरण सक्षिप्तरूप से दिया जाता है। अपने निधन के समय अपने ग्रन्थों, अनुवादो के हस्तलेखो को उसने अपने जन्मनगर एथेन्स के पुस्तकालय को समर्पित कर दिया था जहाँ वे सात भागों मे उसकी मृत्यु के अनन्तर प्रकाशित किये गये (१८४५–१८५३ ई०)।

प्रथम खण्ड (१८४५) मे उसकी सक्षिप्त जीवनी के साथ भर्तृहरि के, लघुचाणक्य के तथा पण्डितराज जगन्नाथ के भामिनीविलास के चुने हुए पद्यो का अनुवाद प्रस्तुत किया गया है।

खण्ड २ मे जैन कवि अमरचन्द्र के 'बाल भारत' का, खण्ड ३ मे भगवद्गीता का (जिसकी रचना १८०२ ई० में की गई), खण्ड ४ में रघुवश का, खण्ड ५ में इतिहास-समुच्चय का (मूल सस्कृत की प्रति अभी तक उपलब्ध नही हुई है), खण्ड ६ मे पञ्चतन्त्र, हितोपदेश तथा शुकसप्तति का तथा अन्तिम खण्ड ७ मे देवी-माहात्म्य (दुर्गासप्तशती) का अनुवाद यूनानी भाषा में प्रकाशित हुए है।

इनके अतिरिक्त गैलेनोस ने सस्कृत भाषा के कोश की भी सामग्री इकट्ठी की थी। इस कोश में संस्कृत के अतिरिक्त बँगला, हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के शब्द पर्यायरूप से दिये गये हैं। यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। एक सस्कृत-अंग्रेजी-यूनानी कोश के

प्रकाशन के निमित्त सामग्री एकत्र की थी। परन्तु यह कार्य भी अधूरा ही रह गया। जितना उपलब्ध है, वह अंश भी पृष्ठों की अस्त-व्यस्तता के कारण उपयोगी होने पर भी प्रकाशन के योग्य नहीं है।

उपरिनिर्दिष्ट अनुवादों में से देवी-माहात्म्य के यूनानी अनुवाद का विवरण, विश्लेषण तथा मूल्यांकन हाल में ही प्रकाशित हुआ है 'पुराणम्' पत्रिका के एक लेख में (भाग २४, संख्या एक, जनवरी १९८२, रामनगर दुर्ग, वाराणसी)। इसके अध्ययन से अनुवादक के गम्भीर संस्कृत-ज्ञान का परिचय मिलता है। उसने बड़ी योग्यता से इस ग्रन्थ का यूनानी भाषा में पद्यानुवाद प्रस्तुत किया है। गैलेनोस ने 'भागवतपुराण' का भी अनुवाद किया था, परन्तु यह अनुवाद भी अधूरा ही उपलब्ध होता है।

इस प्रकार काशीवासी इस यूनानी विद्वान् ने काशी में संस्कृत का अध्ययन किया तथा अपनी मातृभाषा यूनानी में संस्कृत-ग्रन्थों के प्रथम बार अनुवाद प्रस्तुत कर समग्र यूरोप के विद्वानों की ज्ञानवृद्धि में अभूतपूर्व योगदान दिया। इस युग में अंग्रेज विद्वानों ने भी संस्कृत का अध्ययन किया तथा ग्रन्थों का प्रणयन किया, परन्तु उसका प्रधान लक्ष्य राजनीतिक था। शासन के सौकर्य तथा दृढ़ता के लिए ही उनका संस्कृत-प्रेम था, परन्तु यूनानी गैलेनोस के संस्कृताध्ययन का उद्देश्य विशुद्ध साहित्यिक था। यूरोप के विद्वानों को संस्कृत भाषा तथा साहित्य से परिचित कराना ही उसका मुख्य लक्ष्य था और इस शोभन प्रयास में वह सर्वथा कृतकार्य रहा। इस प्रकार काशी की पाण्डित्य-परम्परा को विदेशों में परिचित कराने के लिए हम इस यूनानी विद्वान् डेमेट्रियस गैलेनोस के सर्वथा आभारी है और इस विस्मृतप्राय विदेशी संस्कृतज्ञ के नाम तथा काम को अधिक परिचित कराने के लिए यह विवरण यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।[१]



१. विशेष के लिए द्रष्टव्य 'जर्मन स्कालर्स ऑन इण्डिया' नामक ग्रन्थ, भाग २, पृ० २५१–२६३ (नचिकेता पब्लिकेशन्स, दिल्ली, १९७६)।

परिशिष्ट ८

१८५० ई०–१८६० ई० के विद्वान्

वि० स० १६४१ (=१८८४ ई०) मे काशी के पण्डितों की सभा मे **सिंहस्थगुरुनिर्णय** के विषय मे व्यवस्था दी गई थी। इसके विषय मे इसी नाम से एक सस्कृतमयी पुस्तिका का भी अमर यन्त्रालय मे अम्बिकाचरण चट्टोपाध्याय के द्वारा प्रकाशन किया गया था। यह यन्त्रालय (प्रेस) काशी के रामापुर मुहल्ले मे था। उस व्यवस्थापत्र मे नीचे लिखे पण्डितो की सम्मति हस्ताक्षर के साथ है। फलत गत शताब्दी के उत्तरार्ध (१८५० ई०–१८६० ई०) कालखण्ड मे प्रधान पण्डितो की यह सूची ऐतिहासिक महत्त्व रखती है।

पण्डितों के नाम

१ बापूदेव शास्त्री
२ देवकृष्ण शर्मा
३ लक्ष्मण शर्मा ज्योतिर्विद्
४ बलदेव शर्मा
५ मयूरेश्वर शर्मा (दिष्टवित्)
६ वामनाचार्य
७ श्यामाचरण शर्मा
८ सुन्दरजी (ज्योतिषी)
६ राजाजी शर्मा
१० शालिग्राम शर्मा
११ देवनारायण शर्मा
१२ रामशकर शर्मा
१३ दु खभञ्जन शर्मा
१४ द्वारिकादत्त शर्मा
१५ मङ्गल शर्मा
१६ विनायक शास्त्री वेताल
१७ रामदीन शर्मा
१८ सुधाकर द्विवेदी
१६ रघुनाथ ज्योतिर्विद्
२० रामचन्द्र ज्योतिर्विद्
२१ भवानी प्रसाद शर्मा
२२ बापूभट्ट शर्मा चिपोलकर
२३ गङ्गाधर शर्मा उपाध्याय
२४ रामदीन शर्मा (काशीराज के आश्रित पण्डित)
२५ अनन्तराम शर्मा
२६ गणेशदत्त शर्मा (ज्योतिर्विद्)
२७ सखाराम भट्ट
२८ अनन्तराम भट्ट
२६ आत्माराम धर्माधिकारी
३० कृष्णशर्मा धर्माधिकारी
३१ ढुण्ढिराज धर्माधिकारी
३२ भिकूपन्त शेष
३३ राजाराम शास्त्री कार्लेकर
३४ बालशास्त्री रानडे
३५ गङ्गाधर शास्त्री हर्डीकर
३६ बैजनाथ दीक्षित चतुर्धर
३७. रामचन्द्र शास्त्री कुटे
३८ चन्द्रशेखर शर्मा
३६ राम लाल शर्मा
४०. बस्तीराम शर्मा

४१ हरिकृष्ण शर्मा
४२ अम्बिकादत्त शर्मा
४३ विभवराम शर्मा
४४ भैरवदत्त शर्मा
४५ बेचनराम शर्मा
४६ शीतलाप्रसाद त्रिपाठी
४७ ताराचरण शर्मा (काशिराज-पण्डित)
४८ राधामोहन तर्कभूषण
४९ कालीप्रसाद शर्मा शिरोमणि
५० कैलाशचन्द्र शर्मा
५१ मदनमोहन शर्मा शिरोमणि
५२ नवीन नारायण तर्कालङ्कार
५३ रामदुलार शर्मा (विद्यामणि)
५४ बेचाराम शर्मा (सार्वभौम)
५५ कालीकुमार देव शर्मा
५६ आनन्द चन्द्र शर्मा
५७ कालीदास शर्मा
५८ कृपाकृष्ण याज्ञिक
५९ विश्वनाथ शर्मा अग्निहोत्री
६० गयादत्त शर्मा
६१ ईश्वरदत्त शर्मा
६२ इन्द्रदत्त शर्मा
६३ पातीराम शर्मा
६४ गोपालदत्त शुक्ल
६५ सीताराम शर्मा गावली
६६ वैद्यनाथ मिश्र
६७ छगनजी शर्मा ज्योतिर्विद्
६८ हरिशकर ज्योतिर्विद्
६९ हाकमदत्त शर्मा
७० मदनमोहन शर्मा पाठक
७१ दामोदर शास्त्री भारद्वाज
७२ गङ्गाधर शास्त्री मानवल्ली
७३ बापू शास्त्री पटवर्धन
७४ भाऊ शास्त्री
७५ केशव शास्त्री मराठे
७६ सीताराम शास्त्री
७७ सुब्रह्मण्य शास्त्री द्रविड
७८ रामाचार्य शर्मा
७९ राजाराम शास्त्री मेहदले
८० विश्वनाथ शास्त्री
८१ गोपाल शास्त्री
८२ मन्नूभट्ट श्री ब्रह्म
८३ परमेश्वरदत्त व्यास
८४ शिवकुमार शर्मा
८५ राममिश्र शास्त्री
८६ सुदर्शन शर्मा
८७ हरिनाथ द्विवेद
८८ कुबेरपति शर्मा
८९ शोभाराम शर्मा
९० नित्यानन्द शर्मा
९१ मोहकराम शर्मा
९२ मनोहर शर्मा मैथिल
९३ सङ्गमलाल शर्मा
९४ जयदेव शर्मा
९५. युगलकिशोर पाठक

सहायक-ग्रन्थ-सूची

अम्बिकादत्त व्यास—साहित्य नवनीत (लेखसंग्रह, षष्ठ स० वाराणसी १६१६)।

काणे, म० म० पी० बी०—हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र (दोनो भाग) भ० ओ० रि० इ० पूना।

कुबेरनाथ सुकुल—वाराणसी वैभव, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना १६७८।

केदारदत्त जोशी—म० म० प० सुधाकर द्विवेदी का जीवन और कृतियाँ (लेखक द्वारा प्रकाशित, वाराणसी १६६३)।

गंगाधर शास्त्री—राजाराम शास्त्री का जीवनचरित (पण्डित, भाग १०, लाजरस प्रेस काशी से प्रकाशित)।

गंगाधर शास्त्री—बाल शास्त्री की जीवनी (सस्कृत) 'दी पण्डित' पत्र मे प्रकाशित, लाजरस प्रेस, वाराणसी।

गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी—आत्मकथा और सस्मरण (शारदा प्रकाशन, वाराणसी १६६७)।

गोपीनाथ कविराज—काशी की सारस्वत साधना (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना)।

नारायणशास्त्री खिस्ते—विद्वच्चरित पञ्चकम्—(सरस्वती भवन टेक्स्ट् स० २७, वाराणसी, १६२८)।

नारायणशास्त्री पटवर्धन—बालशास्त्री का जीवनचरित (राजराजेश्वरी प्रेस, काशी)।

नारायणशास्त्री पटवर्धन—बापूदेव शास्त्री की जीवनी (प्र० राजराजेश्वरी प्रेस दुर्गाघाट, काशी)।

प्रज्ञा—रजत जयन्ती अक (हिन्दू विश्वविद्यालय १६७६ ई०)।

प्रमथनाथ तर्कभूषण—विजयप्रकाश. (अमरयन्त्र प्रेस, काशी १८६१ ई०)।

भगवतीप्रसाद सिंह—मनीषी की लोकयात्रा (विश्वविद्यालय प्रकाशन, काशी १६६८ ई०)।

महथा सुखदेव नारायण सिंह—रामावतार गाथा (भारतीय शास्त्र समादर समिति, छपरा, बिहार १६७८)।

मथुराप्रसाद दीक्षित—दयानन्दजी का काशी का सच्चा शास्त्रार्थ (प्र० केशवपुरी, वाराणसी)।

माधवप्रसाद मिश्र—विशुद्धानन्द चरितावली।

रघुनन्दन त्रिपाठी—हरिहरचरितम् हिन्दी अनुवाद सहित (मुरारका संस्कृत कालेज, पटना सिटी, १६६८ विक्रमी)।

रामचन्द्र झा—विद्वद्विभूति, चौखम्भा सस्कृत सीरीज आफिस काशी, १६७१।

रामचन्द्र मालवीय—सस्कृत के विद्वान् तथा पण्डित (चौखम्भा विद्याभवन, काशी, १६७२)।

रामचन्द्रशास्त्री जोशी—वैदिक विद्वानाँचा परिचय (मराठी), भाग ३, शाके १६०३; पुणें वेदपाठशाला प्रकाशन, पूना।

बंगीय महामहोपाध्यायार जीवनी—(बँगला, कलकत्ता)।

शताब्दी स्मारिका—मुरारका संस्कृत कालेज, पटना, १९७६ ।

शिवकुमार शास्त्री—यतीन्द्र-जीवन-चरितम् (गंगा प्रसाद ट्रस्ट, कानपुर) ।

श्रीधर शास्त्री बारे—याज्ञवल्क्यचरित्र (मराठी) प्रकाशक, लेखक स्वयं, नासिक ।

संस्कृतसाहित्य सम्मेलन पत्रिका—(हरिहर कृपालु द्विवेदी विशेषांक), प्रकाशक मुरारका संस्कृत कालेज, पटना, १९७१ ई० ।

सत्यनारायण शास्त्री अभिनन्दनग्रन्थ—(चौखम्भा विद्याभवन, १९६१, काशी) ।

सन्तशरण वेदान्ती—करपात्रीजी का जीवनचरित, (धर्मसघ, वाराणसी) ।

सारस्वती सुषमा—(वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय की शोधपत्रिका) वर्ष १, अंक १, १९४२ ई० । वर्ष ३३, अंक ३-४, १९७६ ई०, वाराणसी ।

सीताराम चतुर्वेदी—महामना मालवीयजी का जीवनचरित (विक्रम परिषद्, बनारस १९४३ ई०) ।

सीताराम चतुर्वेदी—मालवीयजी का जीवनचरित (सूचना तथा प्रकाशन मंत्रालय, दिल्ली) ।

सीताराम विष्णु केलकर—वैदिक विद्वानांचा परिचय, (भाग १, शाके १८७४ । भाग २, शाके १८८४) पुणें वेद पाठशाला प्रकाशन, पुणें (पूना) ।

सुधाकर द्विवेदी—गणक तरङ्गिणी (द्वितीय सं०, सम्पादक पद्माकर द्विवेदी; वाराणसी) ।

सुरेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय—भास्करानन्द-चरितामृत (बँगला, तृतीय संस्करण, १९२२ ई०, कलकत्ता) ।

स्मारिकाएँ— (प्रकाशक वेदवेदाग विद्यालय, रामघाट, काशी) ।

Autobiographical notes of Dr. Ganganath Jha, Published by Ganganath Jha Research Institute, Allahabad. Vol. 30.

Ganganath Jha Centenary Volume, G. N. Jha Research Journal Vol. xxix Allahabad.

G. N. Kaviraja Commemoration Volume. All India Sanskrit Parishad, Lucknow, 1967.

G. N. Kaviraja Commemoration Volume, G. N. Jha Research Journal, Vol. xxxii, Allahabad.

History of Government Sanskrit College, Banaras, U. P. Government, Lucknow.

K. C. Chattopadhyay Felicitation Volume, G. N. Jha Research Institute, Allahabad.

Malaviya Commemoration Volume, Banaras Hindu University, 1930.

Malaviya Centenary Volume, Banaras Hindu University, Varanasi, 1961.

Mark Twain : More Tramps Abroad, London.

Oman, Prof. John Campbel : Mystics, Ascetics and Saints of India.

Dr. Umesh Mishra Commemoration Volume, Ganga Nath Jha Research Institute, Allahabad, 1970.

●

(१)

नामानुक्रमणिका

आ

इ

ई

उ

घ

च

छ

ज

प

फ

ब

भ

ल



पाश्चात्य विद्वान्

(२)

ग्रन्थानुक्रमणिका

उ

ऋ

ए

ऐ

औ

क

ख

ग

च

द

य

र

श

ष

स



अंग्रेजी ग्रन्थ

